❀ ओ ३ म् ❀

श्रीमद्रामचन्द्रग्रन्थमालाया —

(प्रथमप्रसूनरूपा)

श्रीमद्विद्वद्वर-वरदराजाचार्य्य-प्रणीता

❀ लघुसिद्धान्तकौमुदी ❀

तत्र

(पूर्वार्द्धरूपः प्रथमो भागः)

———❀———

सा चेयं

श्रीभीमसेन-शास्त्रि-प्रभाकर-निर्मितया

भैमीनाम्न्यातिपरिष्कृत-

हिन्दीव्याख्यया

समुद्भासिता

———❀———

प्राप्ति-स्थानम्

लाजपतराय मार्केट नम्बर

दीवानहाल के सामने,

दिल्ली

———

प्रथम संस्करणम् (२०००)

मूल्यं रूप्यकाण्यष्टौ (८-००)

सम्वत् २००६ वै०

सन् १९५० ई०

प्रकाशक—
भीमसेन शास्त्री प्रभाकर,
गाधीनगर, दिल्ली ।

मुद्रक—
१ प० कूडाराम
'शान्तिप्रेस' नया बाजार, दिल्ली ।
(पृष्ठ १ से ४६४ तक)
२ सेठ गोपीनाथ
'नवीनप्रेस' फ़ैज बाजार, दिल्ली ।
(शेष समग्र ग्रन्थ)

प्रकरण-सूची

प्राक्कथनम्

यह ग्रन्थ १७ अगस्त १६४१ मे लिखा जाना आरम्भ होकर सन् १६४६ के अगस्त के अन्तिमचरण मे समाप्त हुआ था। बीच के कुछ वर्षो मे सामग्री के अभाव वा कुछ अन्य सासारिक परिस्थितियो के कारण यह रुक गया था। इसका मुद्रण १६४६ के अगस्तमास के अन्तिम चरण से आरम्भ होकर दिसम्बर १६४६ मे समाप्त हुआ है। मुद्रण के इस काल मे मातृभूमि के खण्डश होने का दुर्भाग्यपूर्ण काल भी सम्मिलित है। पाकिस्तान बनने से लेखक को जो आर्थिक वा मानसिक क्षति हुई—वह वर्णनातीत है। इसका प्रभाव ग्रन्थ पर भी पडा। लेखक के मन मे जैसा इसका सौन्दर्यावह रूप चित्रित था—वैसा न बन पड़ा। कागजो की महर्घता वा दुर्लभता भी कम रुकावट न थी। बाजार मे इस साइज का कागज मिलना बहुत ही कठिन था। हम ने कई बार इसे मुद्रण के बीच मे ही छोड देना चाहा, पर हमे सदा यही ध्यान आता रहा कि जिस ग्रन्थ को इतने परिश्रम से लिखा गया है उसका कम-से-कम एक सस्करण तो जनता के आगे आ जाना चाहिये—फिर जनता जाने और उसका काम जाने। हमारे कई विद्वान् मित्रों ने भी हमे धैर्य बन्धाया और कहा—"तुम्हारा परिश्रम व्यर्थ नहीं जायगा, अभी भारत मे गुणग्राहको का अभाव नहीं हुआ, एक बार ग्रन्थ किसी-न किसी प्रकार मुद्रित अवश्य करा लो"। आज वृद्धो के शुभाशीर्वाद और मित्रों की मङ्गल-प्रेरणास्वरूप यह ग्रन्थ आप लोगों के सामने प्रस्तुत है।

यह ग्रन्थ दिल्ली के—'शान्ति प्रेस' और 'नवीन प्रेस' नामक दो मुद्रणालयों मे मुद्रित हुआ है। इस ग्रन्थ का प्राय एकतिहाई भाग सुन्दर विलायती कागज पर मुद्रित किया गया है। शेष दोतिहाई भाग कागज़ की दुर्लभता वा महर्घता के कारण देशी कागज़ पर। इस हिन्दीयुग मे जब कि भारत की राजधानी मे सस्कृत तो क्या, सस्कृतगर्भ हिन्दी के लिए भी उपयुक्त टाइप आदि का अभाव है—इस से अधिक सुन्दर वा शुद्ध सस्करण छपने की आशा नहीं की जा सकती।

इस ग्रन्थ को प्रकाशित करने का उद्देश्य कुछ धनादि का अर्जन करना नहीं है। यह ग्रन्थ प्राचीन भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धार के उद्देश्य से लिखा और प्रकाशित किया गया है। यह तो "घाटे का सौदा" है। यद्यपि 'पाकिस्तान' बनने से पूर्व हमारा विचार इस ग्रन्थ को अत्यल्प नाममात्र मूल्य पर देने का था तथापि अब अपनी आर्थिक परिस्थितियों के कारण वैसा नहीं किया जा सकता। फिर भी यह ग्रन्थ लागत से बहुत कम मूल्य पर घाटा सह कर दिया जा रहा है। सम्पूर्ण व्यय का विवरण इस प्रकार है—

१	कागज प्राय १७० रिम	४६८०=)
२	छपाई आदि	४२००)
३	संशोधनादि का व्यय	७८३॥=)
४	जिल्द, फोल्डिङ्ग आदि	१५००)
५	मजदूरी आदि फुटकर	१६३।)
६	विद्वज्जनोपहार	८६०)
	योग	१२५४७)

कुल दो हजार प्रतियों का यह संस्करण छपवाया गया है। इस प्रकार यह ग्रन्थ हमें प्राय सवा छ रुपया प्रतिपुस्तक के हिसाब से पड़ता है। परन्तु हम यह ग्रन्थ चार रुपये आठ आना प्रतिपुस्तक के हिसाब दे रहे हैं। इस प्रकार हमें ३५४७) रु० का घाटा रहेगा। इसके अतिरिक्त बुकसैलरों वा ब्याज आदि का खर्चा जोडने से यह घाटा पाञ्च हजार रुपयों से भी ऊपर पहुँच जायगा। पर इतना होने पर भी यदि जनता वा संस्कृतान्वेषणप्रेमी इस ग्रन्थ को अपना कर कुछ लाभान्वित हो सके तो मैं अपने परिश्रम को सफल मानूंगा और इस ग्रन्थ का उत्तरार्ध तथा इसी प्रकार की विस्तृत-व्याख्यायुत 'सिद्धान्तकौमुदी' और 'अष्टाध्यायी' भी शीघ्रातिशीघ्र प्रकाशित करने में सफल हो सकूंगा।

निवेदको
विदुषामनुचरो
भीमसेनः
[शास्त्री प्रभाकर]

गांधीनगर दिल्ली
(यमुना पार)
६—१—५०

———

आत्म-निवेदनम्

—— o × o ——

सस्कृतभाषा सब भाषाओ की जननी है अत एव वह ससार. की अत्यन्त प्राचीनतम भाषा है—यह बात प्राय निर्विवाद सिद्ध है। यदि कोई पुरुष सस्कृत-भाषा पर अधिकार करले तो ससार की किसी भी भाषा पर उसका आधिपत्य अल्पायास से ही सिद्ध हो सकता है। इसके अतिरिक्त सस्कृताध्ययन का एक और भी बडा प्रयोजन है। क्योंकि प्राय ससार भर की सम्पूर्ण सास्कृतिक परम्पराओं वा कलाकौशल आदि विद्याओं का आदिस्रोत भारत और तत्कालीन भाषा सस्कृत ही रही है अत ससार की सास्कृतिक परम्परा वा उसके सच्चे इतिहास का ज्ञान होना तब तक सम्भव नहीं जब तक संस्कृतभाषा पर आधिपत्य प्राप्त न कर लिया जावे। हिन्दू, आर्यों के लिए सस्कृत का जानना तो और भी आवश्यक है, क्योकि उनकी सारी की सारी धार्मिक वा सास्कृतिक परम्परा सस्कृतभाषा मे ही निबद्ध है। सस्कृतभाषा मे केवल भारत का ही नहीं किन्तु विश्व और मानवजाति का लाखो वर्ष पूर्व का इतिहास अब इस जीर्णावस्था मे भी सुरक्षित है।

यद्यपि सस्कृतभाषा लाखों वर्षों तक विश्व मे लोकव्यवहार वा बोलचाल की भाषा रह चुकी है और उसमे यह गुण ससार की किसी भी भाषा से कम नहीं है—तथापि विधिवशात् लोकव्यवहार वा बोलचाल से सर्वथा उठ जाने के कारण वह आज मृतभाषा [Dead Language] कही जाती है। अत आज के युग मे उसका अध्ययन विना व्याकरणज्ञान के होना सम्भव नहीं। ससार मे केवल सस्कृत ही एक ऐसी भाषा है जिसका व्याकरण सर्वाङ्गीण और पूर्ण [Complete] कहा जा सकता है। सस्कृतभाषा के व्याकरणों मे महामुनि पाणिनिनिर्मित पाणिनीयव्याकरण ही इस समय तक के बने व्याकरणों मे सर्वश्रेष्ठ, अत्यन्तपरिष्कृत, वेदाङ्गों मे गणनीय, प्राचीन और लब्धप्रतिष्ठ है।

महामुनि पाणिनिजी का काल अभी निश्चित नहीं हुआ, परन्तु इतना तो निर्विवाद है कि उनका आविर्भाव भगवान् बुद्ध से बहुत पूर्व हो चुका था। कुछ

विद्वानों की सम्मति मे छन्द सूत्र के निर्माता श्रीपिङ्गल उनके छोटे भ्राता थे† । उनका जन्म निरुक्तकार यास्क से या तो कुछ पहले या समकाल मे हुआ प्रतीत होता है*। महामुनि पाणिनि सरीखा वैयाकरण ससार मे फिर आजतक उत्पन्न नहीं हुआ । साङ्गोपाङ्ग वेद, उसकी अनेकविध शाखाएँ, ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषत्, कल्प, ज्योतिष, इतिहास, कोष, विविध कलात्मक साहित्य काव्यादि, अनेकविध देशीय वा प्रान्तीय भाषाओ के सूक्ष्मप्रभेदक ग्रन्थ, इस प्रकार न जाने अन्य भी

---

† सम्भवत यह मत ठीक ही है। पिङ्गल भी अपने ज्येष्ठ भ्राता का अनुकरण करते हुए अष्टाध्यायी के समान छन्द सूत्र को आठ ही अध्यायो मे निबद्ध करते हैं। षड्गुरु-शिष्य अपनी वेदार्थदीपिका मे लिखता है—

"तथा च सूत्यते हि भगवता पिङ्गलेन पाणिन्यनुजेन 'क्वचिन्नवकाश्चत्वार' इति परिभाषा"। अर्थात् पाणिनि के अनुज=कनिष्ठ भ्राता भगवान् पिङ्गल ने 'क्वचिन्नव काश्चत्वार' सूत्र बनाया। यह सूत्र पिङ्गल के छन्द सूत्र मे ३।३३ पर पढा गया है।

ध्यान रहे कि पाणिनि के नाम से प्रचलित 'पाणिनीयशिक्षा' भी पाणिनि के कनिष्ठ भ्राता पिङ्गल द्वारा ही छन्दोबद्ध की गई है। पाणिनि ने अपनी शिक्षा निश्चय ही सूत्रबद्ध की थी। 'बनारस सस्कृत सीरीज' के शिक्षासङ्ग्रह मे छपी ऋग्वेदीय पाणिनीयशिक्षा पर एक व्याख्या 'शिक्षाप्रकाश' नामक है। उसका कर्ता सम्भवत यादवप्रकाश वा हलायुध है। उसके आरम्भ मे यह दूसरा श्लोक आया है—"व्याख्याय पिङ्गलाचार्यसूत्राण्यादौ यथायथम्। शिक्षां तदीयां व्याख्यास्ये पाणिनीयानुसारिणीम्"। इसी प्रकार आगे—"ज्येष्ठभ्रातृभिर्विहितो [ज्येष्ठ-१] व्याकरणेऽनुजस्तत्र भगवान् पिङ्गलाचार्यस्तन्मतमनुभाव्य शिक्षां वक्तुं प्रतिजानीते" [शिक्षासंग्रह पृष्ठ ३८५]

आर्यसमाज के प्रवर्त्तक श्रीस्वामीदयानन्दसरस्वती ने जिन शिक्षासूत्रों पर अपना व्याख्यान लिखा है—सम्भवत वे वास्तविक पाणिनिशिक्षा के सूत्र हैं। काशिका मे उद्धृत शिक्षासूत्र इसी शिक्षा के ही सूत्र प्रतीत होते हैं।

*श्रीयास्क ने अपने निरुक्त मे पाणिनि का एक सूत्र उद्धृत किया है—'पर सन्निकर्ष. संहिता (देखो निरुक्त १।१७।)। हमारा तो यह विचार है कि पिङ्गलपाणिनि और यास्क सम्भवत समकालीन ही हैं। 'उरोबृहतीति यास्कस्य' (छन्द सूत्र ३. ३०) सूत्र मे पिङ्गल यास्क का स्मरण करता है। यास्क 'पर सन्निकर्ष सहिता' कह कर पाणिनि का स्मरण करता है और पाणिनि ।६।२।८५। के गण मे पिङ्गल का तथा ।४।३।७३। के गण में पिङ्गलकृत 'छन्दोविचिति' ग्रन्थ का स्मरण करता है।

कितना विशाल वाङ्मय उनके अध्ययन और मनन का विषय रहा होगा—इसकी आज कल्पना भी नहीं की जा सकती। उनका निस्सन्देह लोक एव वेद पर समानरूप से अधिकार था। वे अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ अष्टाध्यायी मे प्रत्यक्षत वा अप्रत्यक्षत सैकडों व्यक्तियों, ग्रन्थो और स्थानो का स्मरण करते है+। इसमे कुछ सन्देह नहीं कि उन्हे सृष्टि के आदि से चली आ रही इतिहासपरम्परा, साहित्य, कला, दर्शन आदि का पूर्ण ज्ञान था। सचमुच वह अलौकिकप्रतिभाशाली व्यक्ति थे। उन जैसे व्यक्ति को जन्म देकर भारत का मुख चिरकाल तक उज्ज्वल रहेगा। इस प्रकार के व्यक्ति सृष्टि मे बार बार उत्पन्न नहीं होते। एक सुभाषित के अनुसार उनका निधन एक जङ्गली सिंह के कारण हुआ माना जाता है†।

पाणिनि के व्याकरण का सम्भवत उसकी विशेषताओ के कारण बहुत शीघ्र प्रचार हुआ। लोगो ने पाणिनीयव्याकरण के आगे पूर्व के सब व्याकरणों को तुच्छ वा हेय समझा। इनके कई शताब्दी बाद कात्यायन और पतञ्जलि ने पाणिनीयव्याकरण को परिष्कृत करने का अपूर्व कार्य किया। कात्यायन ने अपने वार्त्तिकों द्वारा सूत्रार्थ वा पाणिनि के गुप्त आशयो को भली प्रकार प्रकट किया। महामुनि पतञ्जलि ने रही-सही सब कसर पूरी करके पाणिनीयव्याकरण की

+ यथा—वासुदेवार्जुनाभ्या वुन् (४ ३ ९८), कठचरकाल्लुक् (४ ३ १०७), पाराशर्यशिलालिभ्या भिक्षुनटसूत्रयोः (४ ३ ११०), तित्तिरिवरतन्तुखण्डिकोखाच्छण् (४ ३ १०२), काश्यपकौशिकाभ्यामृषिभ्या णिनि (४ ३ १०३), कालापिवैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च (४ ३ १०४), पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु (४ ३ १०५), शौनकादिभ्यश्छन्दसि (४ ३ १०६), कर्मन्दकृशाश्वादिनि (४ ३ १११), सिन्धुतक्षशिलादिभ्योऽणञौ (४ ३ ९३), तूदीशलातुरवर्मतीकूचवारात् (४ ३ ९४), लोपः शाकल्यस्य (८ ३ १९), लङ शाकटायनस्यैव (३ ४ १११), ऋतो भारद्वाजस्य (७ २ ६३) इत्यादि।

† सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिने,
मीमासाकृतमुन्ममाथ सहसा हस्ती मुनि जैमिनिम्।
छन्दोज्ञाननिधिं जघान मकरो वेलातटे पिङ्गलम्,
अज्ञानावृतचेतसामतिरुषा कोऽर्थस्तिरश्चां गुणैः॥ (शार्दूलविक्रीडित छन्द)

कीर्त्तिपताका चहु दिशाओं मे फहरा दी। पाणिनीयव्याकरण पर पतञ्जलि का लिखा "महाभाष्य" नामक ग्रन्थ अत्यन्त प्रामाणिक और अपनी शैली का अपूर्व भाष्य है*।

इस प्रकार सैकड़ो वर्षो तक पाणिनीयव्याकरण अपने असली रूप अर्थात् सूत्रपाठ के क्रमानुसार पठनपाठन मे प्रचलित रहा√। परन्तु जब सस्कृत का स्थान अपभ्रश वा प्राकृत आदि भाषाओं ने लेना शुरू किया—और सस्कृत केवल साहित्य मे ही प्रयुक्त होने लगी तब लोगो को जरा असुगमता का भास हुआ। तब उन्होने सूत्रक्रम के साथ प्रक्रियाक्रम का भी प्रचलन आरम्भ किया। इसके फलस्वरूप पाणिनिव्याकरण का आश्रय करते हुए माधवीय धातुवृत्ति, प्रक्रिया-कौमुदी, प्रक्रियासर्वस्व, सिद्धान्तकौमुदी आदि अनेक ग्रन्थ बने। परन्तु जिस प्रकार पाणिनि का व्याकरण अपने से पूर्ववर्त्ती सब व्याकरणो मे मूर्धस्थानीय बन पडा था, ठीक उसी प्रकार श्रीभट्टोजिदीक्षित की 'सिद्धान्त कौमुदी' भी प्रक्रिया-पन्थ का सर्वोत्तम ग्रन्थ बना। दीक्षितजी की यह कृति प्रक्रियामार्ग की पराकाष्ठा वा चरमसीमा समझनी चाहिये।अत एव भारत मे उसके ग्रन्थ का महान् आदर हुआ। दीक्षितजी पाणिनीयव्याकरण मे कृतभूरिपरिश्रम थे। अष्टाध्यायीक्रमानुसार लिखा गया उनका 'शब्द-कौस्तुभ' नामक ग्रन्थ उनके पाण्डित्य का परिचायक है। कई लोग दीक्षितजी की कुछ अशुद्धियो को देखकर उनके पाण्डित्य पर आक्षेप करते है—यह उनकी भूल है, अशुद्धियां करना मानव का स्वभाव है। इससे दीक्षितजी की कीर्त्तिचन्द्रिका कलङ्कित नहीं की जा सकती†।

---

*पतञ्जलि के विषय मे विस्तृतविचार "महर्षि पतञ्जलि और तत्कालीन भारत" नामक लघुपुस्तक मे देखे। यह पुस्तिका 'गुरुकुल विश्वविद्यालय काङ्गडी हरिद्वार' से प्रकाशित हुई है।

√ देखो 'इत्सिङ्ग की भारत यात्रा'।

† भट्टोजिदीक्षित का काल सत्रहवी शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है। नाम के अन्त मे 'जी' के प्रयोग से इनका दाक्षिणात्य होना प्रतीत होता है परन्तु इनका निवास काशी मे था। इनके पिता का नाम श्रीलक्ष्मीधरपण्डित तथा गुरु का नाम श्रीशेषकृष्ण था। दीक्षितजी के पुत्र श्रीभानुजीदीक्षित की अमरकोष पर 'व्याख्यासुधा' नामक व्याख्या अत्यन्त प्रसिद्ध है। दीक्षितजी केवल वैयाकरण ही न थे किन्तु धर्मशास्त्र, कर्मकाण्ड आदि के भी महापण्डित थे। इनके बनाए ग्रन्थो की सङ्ख्या ३१ बताई जाती है।

इन्हीं दीक्षितजी के शिष्य श्रीवरदराज ने+ आजकल के समय आरम्भ से ही सिद्धान्तकौमुदी के अध्ययन मे विद्यार्थियों की असमर्थता देखते हुए 'मध्य सिद्धान्त कौमुदी' और 'लघु सिद्धान्त-कौमुदी' नामक दो ग्रन्थ सिद्धान्तकौमुदी को सङ्क्षिप्त करके लिखे। इन्हे सिद्धान्तकौमुदी का सङ्क्षिप्त सस्करण कहा जा सकता है। उनका विचार पाणिनीयव्याकरण मे बालकों का सरलता से प्रवेश कराना था। यह बात ग्रन्थारम्भ मे स्वयं उन्होने स्वीकार की है । इन दोनो सङ्क्षिप्त सस्करणो मे 'लघु-सिद्धान्त-कौमुदी' नामक ग्रन्थ विशेषरूप से प्रचलित हुआ है। प्राय विद्यार्थी प्रारम्भ मे इसे पढ कर तदनन्तर 'सिद्धान्तकौमुदी' के अध्ययन मे प्रवृत्त हुआ करते है।

लघुकौमुदी वा सिद्धान्तकौमुदी पर—जहा तक मेरा विचार है—अभी तक कोई आधुनिक ढग पर विश्लेषणात्मक मर्म समझाने वाली विस्तृत हिन्दीव्याख्या नही निकली, जो थोडी बहुत हिन्दीव्याख्याए मिलती भी है वे भी प्राय सब पुरानी शैली की केवल सस्कृतशब्दो के स्थान पर हिन्दी पर्याय रख देने मात्र मे

+ श्रीवरदराज का काल भी दीक्षितजी वाला है। श्रीवरदराज के पिता का नाम 'दुर्गातनय' था। इन्होने मध्यकौमुदी और लघुकौमुदी के अतिरिक्त 'सारकौमुदी' और 'गीर्वाणपदमञ्जरी' नामक अन्य ग्रन्थ भी लिखे थे। श्रीवरदराज ने यद्यपि 'सिद्धान्तकौमुदी' का सङ्क्षिप्त सस्करण ही 'लघुकौमुदी' बनाया है, तथापि प्रकरणो की दृष्टि से लघुकौमुदी का क्रम 'सिद्धान्तकौमुदी' के क्रम से बहुत श्रेष्ठ है। सिद्धान्तकौमुदी मे अव्ययप्रकरण के बाद 'स्त्रीप्रत्ययप्रकरण' आरम्भ हो जाता है, पर लघुकौमुदी मे स्त्रीप्रत्ययप्रकरण सब प्रकरणो के अन्त मे रखा गया है—और यह उचित भी है क्योंकि विना कृदन्त और तद्धितान्त का ज्ञान प्राप्त किये स्त्रीप्रत्ययप्रकरण के—'टिड्ढाणञ्. . ' 'कृदिकारादक्तिन' आदि सूत्रो का समझना अतीव दुष्कर है। इसीप्रकार कारकप्रकरण के विषय मे भी समझना चाहिये। कारकप्रकरणगत 'कर्तृकरणयोस्तृतीया, अकथितञ्च' आदि सूत्र तथा अभिहित अनभिहित आदि की व्यवस्था विना तिङन्त और कृदन्त प्रकरणो के ज्ञान के समझनी कठिन है। अत. वरदराज ने तिङन्त और कृदन्त प्रकरणों के अनन्तर ही कारकप्रकरण को रखा है।

· नत्वा वरदराज श्रीगुरून् भट्टोजिदीक्षितान् ।
करोति पाणिनीयाना मध्यसिद्धान्तकौमुदीम् ॥
नत्वा सरस्वती देवीं शुद्धा गुण्या करोम्यहम् ।
पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीम् ॥

ही सन्तोष प्रकट करने वाली है। ग्रन्थकार के एक एक शब्द वा विचार का विस्फोरण कर पाठकों के हृदयो मे उसे अङ्कित कर देने का तो किसी को विचार ही उपस्थित नही हुआ। उदाहरणत —आप 'स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था', 'नप्त्रादीना ग्रहण व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम्', 'अष्टभ्य इति वक्तव्ये कृतात्वनिर्देशो जश्शसोर्विषय आत्व ज्ञापयति'—इत्यादि स्थलो को उन टीकाओं मे देखे, आप सन्तुष्ट नहीं हो सकेंगे।

आज जब भारत स्वतन्त्र हुआ है—और हिन्दी उसकी राष्ट्रभाषा बनने जा रही है—निस्सन्देह विदेशी वा स्वदेशी लोग उसकी राष्ट्रभाषा हिन्दी को अपना देंगे। परन्तु यह निश्चित-सा है कि बिना सस्कृत का अच्छा अध्ययन किये हिन्दी मे प्रौढता प्राप्त करना दुष्कर ही नहीं वरन् असम्भव सा है। अत इस काल मे सस्कृतप्रचार के लिए हमे हिन्दी मे ऊँचे-सेऊँचे ज्ञानवर्धक अन्वेषणात्मक ग्रन्थ सरल से-सरल रीत्या लिखने चाहिये। हमने अपनी व्याख्या इसी विचार को दृष्टिगोचर रखते हुए लिखी है। इसमे हमारी मुख्यदृष्टि अन्वेषण पर ही रही है। जिसे आज के युग मे व्याख्या का एक प्रमुख अङ्ग माना जाता है। मूल मे जहा-जहा कोई कठिन स्थल आया है वहा वहां हमने ग्रन्थविस्तर का भय छोड उसका पूरा-पूरा वर्णन किया है। ऊपर के उद्धृत स्थलो पर आप हमारा व्याख्यान देख कर यह अनुभव करने लगेंगे कि अब इस विषय पर कुछ शेष नहीं रहता।

यह व्याख्या सार्वजनीन अर्थात् सर्वजनोपयोगिनी है। इसे अत्यल्प ज्ञान वाले विद्यार्थी, व्युत्पन्न विद्यार्थी, जिज्ञासु, व्याकरणप्रेमी, अध्यापक, अन्वेषण-प्रेमी—जो भी देखेंगे अपने-अपने सामर्थ्यानुकूल पूर्ण उपयोगी पाएंगे। अध्यापक यदि इसका स्वय विचार करके विद्यार्थियों को पाठ पढ़ाएंगे, तो वे ग्रन्थकार का आशय अपने छात्रों के हृदयपटल पर अतिशीघ्र अङ्कित करने मे समर्थ हो सकेंगे। इसी प्रकार यदि छात्र अपने अध्यापकों से ग्रन्थ का पाठ पढ़ कर इस व्याख्या का अवलोकन करेंगे तो उन्हे निश्चय ही अपूर्व लाभ होगा। एवम् अन्वेषणप्रेमी विदेशी वा स्वदेशी विद्वानों के लिए भी यह समानरूपेण उपयुक्त सिद्ध होगी।

हमने व्याकरण जैसे कठिन विषय को सरल से सरल करने का पूरा-पूरा प्रयत्न किया है। अनेक विवादास्पद स्थलों का स्पष्टीकरण करते हुए भिन्न-भिन्न विद्वानों की सम्मति भलीभाँति लिखकर अपनी सम्मति भी स्पष्टरूपेण अङ्कित की है। कई कठिन स्थल अत्यन्त सरल रीति से लौकिक उदाहरण देकर स्पष्ट

किये गये है, यथा—'न लुमताङ्गस्य' की अनित्यता वाला स्थल, स्थानिवद्भाव मे 'अनल्विधौ' वाला अश आदि।

इस ग्रन्थ की कुछ मोटी-मोटी विशेषताए निम्नलिखित है—१ सूत्रार्थ, २ अभ्यास, ३ शब्दसूची, ४ अव्ययप्रकरण।

सूत्रार्थ—

जहा तक हमे ज्ञात है कि लघुकौमुदी के किसी टीकाकार ने 'सूत्र से अर्थ कैसे उत्पन्न होता है'—इस पर कुछ भी विचार नहीं किया। लघुकौमुदी तो क्या सिद्धान्तकौमुदी तक के कुछ टीकाकारों को छोडकर प्राय सब व्याख्याकर्त्ताओ ने इस विशेषता की ओर कुछ ध्यान नहीं दिया। तीन अक्षरो के सूत्र का पैतीस अक्षरो वाला अर्थ कैसे हो गया—यह वे नही बताते। केवलमात्र वृत्ति को घोट कर सूत्रार्थ का स्मरण करना महान् दोषावह है। मैंने अनेक अच्छे-अच्छे व्युत्पन्न विद्यार्थी देखे है जो प्रत्येक सूत्र का अर्थ तो बता सकते है परन्तु सूत्र का पदच्छेद तक नहीं कर सकते। यह सारा दोष केवलमात्र वृत्ति घोटने (रटने) का है। हमारे विचार मे तो प्रत्येक विद्यार्थी को व्याकरण अध्ययन करने से पूर्व पाणिनिजी का 'अष्टाध्यायी-सूत्रपाठ' क्रमपूर्वक कण्ठस्थ करना चाहिये। इससे वृत्ति रटने की आवश्यकता नहीं रहती, केवलमात्र वृत्ति को समझ लेना ही पर्याप्त होता है, क्योंकि सूत्रों का पौर्वापर्य तो विदित होता ही है। हमारी यह निश्चित धारणा है कि विना अष्टाध्यायीक्रम जाने—प्रक्रियामार्ग से 'पूर्वत्रासिद्धम्', एकसञ्ज्ञाधिकार, एकादेशाधिकार, भसञ्ज्ञा, पदसञ्ज्ञा, 'तद्धितश्चासर्वविभक्ति' वाला परिगणन आदि अनेक सूत्र वा स्थल ठीक ठीक रीति से कदापि हृदयङ्गम नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त अष्टाध्यायी मे दर्जनों प्रकरण एकत्रितावस्था मे अपने-अपने स्थान पर अवस्थित है। आपको यदि प्रक्रिया मे कोई सूत्र भूल जाए या सन्देह पड़ जाय तो आप अष्टाध्यायी का वह सम्पूर्ण प्रकरण मन में पढ़ सकते हैं, तुरन्त आपका सन्देह मिट जायगा अथवा वह विस्मृत सूत्र याद आ जायगा। यथा—आपको कहीं प्रक्रिया मे इत्सञ्ज्ञक सूत्र के विषय मे सन्देह है तो आप अष्टाध्यायी का वह प्रकरण मन ही मन पढ़ कर अपना सन्देह निवारण

कर सकते है। अष्टाध्यायी का इत्सञ्ज्ञक प्रकरण प्रथमाध्याय के तृतीयपाद के आरम्भ मे निम्नप्रकारेण है—

उपदेशेऽजनुनासिक इत् ।१।३।२।।
हलन्त्यम् ।१।३।३।।
न विभक्तौ तुस्मा १।३।४।।
आदिर्ञिटुडव १।३।५।।
ष प्रत्ययस्य ।१।३।६।।
चुटू ।१।३।७।।
लशक्वतद्धिते ।१।३।८।।
तस्य लोप ।१।३।९।।

इस प्रकरण के अतिरिक्त इत्सञ्ज्ञाविषयक सूत्र आपको अन्यत्र कहीं भी अष्टाध्यायी मे नहीं मिलेगा। यह विशेषता प्रक्रियामार्गगामी कौमुदी आदि ग्रन्थो मे उत्पन्न नहीं की जा सकती। इसी प्रकार—णत्व, षत्व, कित्त्व, पित्त्व, प्रगृह्य-सञ्ज्ञा, आत्मनेपदप्रक्रिया, परस्मैपदप्रक्रिया, समासान्त, एकसञ्ज्ञाधिकार, एकादेशाधिकार आदि दर्जनों प्रकरण आपको एकत्रावस्थित अष्टाध्यायी मे मिल सकेंगे। पटना कालेज के व्याकरणशास्त्र के प्रधानाध्यापक श्री पण्डित हरिशङ्कर शर्मा पाण्डेय स्वनिर्मित 'आर्ष पाणिनीय व्याकरणम्' मे इस विषय पर अत्यन्त मार्मिक लेखनी उठाते हुए लिखते है—

"यच्छास्त्र वटुभिर्दिनै कतिपयै क्रीडामनस्कैरपि,
स्वाचार्याश्रमवासिभि सरलया रीत्या पुराधीयते।
गुर्वर्थं परिपूर्णमुत्तमतया सङ्क्षिप्तकायञ्च यत्,
तत्कीदृग्विपरीतरूपमधुना हा हन्त! जोघुष्यते ?।।
तदिदानीं महाकाय भीमरूप गृहीतवत्।
यद्दृष्ट्वा प्रपलायन्ते बाला कोमलबुद्धय ।।
योऽप्याग्रहेण पठति पाणिनिक्रमवर्जितम्।
तदवश्य स सम्पूर्णं यापयत्यत्र जीवितम् ।।
अयि विद्वद्वरा धीरा निजशिष्यायुष. क्षयम्।
रात्रिन्दिवं जायमानं मनागपि न पश्यथ!।।
तस्मात्क्रमेण सूत्राणि पठनीयानि यत्नत।
अनुवृत्त्यादिसौकर्यात्तदर्थोऽपि न दुर्ग्रह. ।।

पाणिनीयपठनाय पाणिनेर्यं क्रम स न कदापि हीयताम् ।
वृत्तिघोषणमहापरिश्रमान्मुक्तिरेव फलमस्य दृश्यताम् ॥"

तो हमने इस व्याख्यान मे लघुकौमुदी के प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद, पदों का विभक्ति-वचन, पिछले सूत्रो से आ रहे अनुवर्त्तित पद और उनका विभक्ति-वचन, समास और आवश्यक प्रत्यय तथा परिभाषाओं के कारण होने वाले परिवर्त्तनों का पूरा-पूरा वर्णन किया है। इसके पढ़ने से विद्यार्थी के हृदय मे सूत्रार्थ के प्रति तनिक भी सन्देह शेष नहीं रह जाता—वह सूत्र के अन्दर तक घुस कर स्वय ही वृत्ति वाला अर्थ निकाल सकता है। मेरे ध्यान मे आज तक इस प्रकार का प्रयत्न लघुकौमुदी पर नहीं किया गया।

अभ्यास—

इस ग्रन्थ की दूसरी बडी विशेषता—"अभ्यास" है। प्राय प्रत्येक प्रकरण वा अवान्तर प्राकरणिक विषय के अन्त मे 'अभ्यास' जोड़ दिया गया है। ये अभ्यास साधारण पुस्तकों के अभ्यासो की तरह नहीं है, किन्तु महान् परिश्रम से जुटाए गये अभ्यास है। सन्धिप्रकरण के अभ्यासों मे आप ऐसे अनेक उदाहरण पाएगे—जो अन्यत्र मिलने दुर्लभ हैं। इसी प्रकार अन्य अभ्यासों मे भी विद्यार्थियों की ज्ञानविवृद्धि के लिये अनेक भ्रमोत्पादक रूप भ्रमोच्छेदपूर्वक बडे परिश्रम से सङ्गृहीत किये गये हैं, इन्हे देखकर विद्वत्समाज को निश्चय ही सन्तोष होगा। हमारी यह धारणा है कि यदि इन अभ्यासों को कोई छात्र युक्तरीत्या अभ्यस्त (हल) कर ले तो वह साधारण सिद्धान्तकौमुदी पढ़े-लिखे छात्र से अधिक व्युत्पन्न होगा। विद्यार्थियो को इन अभ्यासों का पुन -पुन मनन करना चाहिये। व्याख्यागत सभी विशिष्ट बाते प्राय इन अभ्यासों मे प्रश्नरूप से पूछ ली गई है।

शब्दसूची—

इस व्याख्या की तीसरी असाधारण विशेषता है—'शब्दसूची'। आपको आजतक के मुद्रित व्याकरणग्रन्थों मे इस प्रकार का प्रयत्न कहीं भी किया गया नहीं मिलेगा। इन शब्दसूचियों का उद्देश्य विद्यार्थियों को अनुवादादि के लिये अत्यन्त उपयोगिशब्दसङ्ग्रह प्रदान करना है। इन सूचियों मे प्राय दो हजार (२०००) चुने हुए शब्दों का सार्थ सङ्ग्रह किया गया है। इनमे से कई सूचियां तो अत्यन्त कठोर परिश्रम से सङ्ग्रह की गई हैं। शब्दों के प्राय लोकप्रचलित

प्रसिद्ध अर्थ ही दिये गये है। विशेष-विशेष स्थानो पर काव्यकोषादि के वचन भी टिप्पणरूपेण दे दिये है। विद्यार्थियो के सुभीते के लिए णत्वप्रक्रियानिर्देशक चिह्न भी सर्वत्र लगा दिये है।

अव्यय-प्रकरण--

इस व्याख्या की चौथी बड़ी तथा सब से अधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता है—'अव्ययप्रकरण'। आपको कही भी इस प्रकार की व्याख्या सहित 'अव्यय-प्रकरण' देखने को नही मिलेगा। प्रत्येक अव्यय का विस्तृत अर्थ, उसका उदाहरण [जहा तक हो सका है किसी प्रसिद्ध सूक्ति वा सुभाषित को ही चुना गया है] तथा तद्विषयक विस्तृतान्वेषण आप इस प्रकरण मे देख सकेगे। यह प्रकरण ४७ पृष्ठो मे समाप्त हुआ है। इस प्रकरण के कई अव्यय विवाद का विषय बने हुए है—उन सब का स्पष्टीकरण पूर्णरीत्या किया गया है। इन मे किन्हीं अव्ययो पर कई-कई मास भी सोच-विचार किया गया है और कई आदरणीय विद्वानो की सम्मति भी ली गई है। इस प्रकरण को लिखने मे सब से बड़ी सहायता हमारे विशाल सस्कृत पुस्तकालय की है जिस पर हमने प्राय तीस हजार रुपये व्यय कर, चुने हुए तीन हजार सस्कृत ग्रन्थ सगृहीत किए है†। यदि यह पुस्तकालय हमारे पास न होता तो स्यात् यह प्रकरण अथवा समग्र ही यह ग्रन्थ लिखा ही न जा सकता।

इस ग्रन्थ के मुद्रण वा प्रूफ आदि के सशोधन में मुझे प्राय अपने सब अन्तेवासियों ने यथाशक्ति पूरा-पूरा साहाय्य प्रदान किया है। चिरञ्जीव पुत्रकल्प श्यामसुन्दर ने इसमे अधिक परिश्रम किया है। मैं उसे भूयोभूय शुभाशीर्वाद प्रदान करता हूँ।

श्रीपण्डित दीनानाथजी शास्त्री सारस्वत विद्यावागीश भूतपूर्व प्रिंसिपल सनातनधर्म सस्कृत कालेज मुलतान का वर्णन न करना स्यात् कृतघ्नता की पराकाष्ठा मानी जायगी। गुरुकल्प श्रीपण्डितजी ने जिस परिश्रम, नि स्वार्थपरायणता, तन्मयता और लग्न के साथ इस ग्रन्थ का आदि से अन्त तक सशोधन किया और अनेक स्थलों पर अपने दीर्घकालीन-अध्यापन के अनुभव से अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण विशेष-विशेष बाते सुझाई —वे वर्णनातीत है। जहा तक मै समझ सका हूँ

† यह विशाल पुस्तकालय सौभाग्यवश पाकिस्तान के डेराइस्माईलखान (N W F P.) नामक नगर से किसी प्रकार बचकर यहा दिल्ली मे सुरक्षित पहुँच गया है। परन्तु स्थानादि की ठीक व्यवस्था न होने से आजकल इसकी अस्तव्यस्त दशा होती चली जा रही है।

कि पण्डितजी ने स्नेहातिरेक से इस कार्य्य को अपना ही कार्य्य समझ लिया था—जो उनके उच्च व्यक्तित्व का ज्वलन्त प्रमाण है। उनकी आदरणीय सम्मति ग्रन्थारम्भ से पूर्व आगे के पृष्ठो मे विद्वज्जनो के अवलोकनार्थ मुद्रित की गई है। मैं नतमस्तक होकर केवल उनका आभार प्रदर्शन करने के अतिरिक्त और कर ही क्या सकता हू।

इतना परिश्रम करने पर भी इस ग्रन्थ मे कुछ त्रुटिया रह गई है—जिनका यहा प्रदर्शन करना व्यर्थ सा है। आशा है विद्वज्जन अपनी उदारवृत्ति से सूचित करेंगे।

यह है हमारा आत्मनिवेदन। अब आगे आप का काम है कि लेखक को उत्साहित कर आगे सेवा करने का अवसर दे या न दे।

इति निवेदयति

गाधीनगर (यमुनापार) दिल्ली — विदुषामनुचरो

(माघ कृष्ण २ सवत् २००६) — भीमसेनः [शास्त्री प्रभाकरः]

द्वित्राः शब्दाः

[लेखक—श्रीपण्डित दीनानाथजी शास्त्री सारस्वत विद्यावागीश]

'लघुवैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी' श्रीमद्भट्टोजिदीक्षितशिष्येण श्रीवरदराजेन बालाना कृते प्राणायि। यद्यपि इय शब्दतो 'लघुकौमुदी', परमर्थतस्तथा न। यदि अदसीया अर्थाः कार्त्स्न्येन अधिगता स्यु, तद् 'वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी' अथवा एतदेव कथ्यतां यद् 'व्याकरण' कठिन न तिष्ठेत्। परं विषादस्य व्यतिकरो यद्—अद्यतनाः परीक्षार्थिन सर्व्वाम् 'लघुकौमुदीं' न, किन्तु तदीय पूर्वार्धमधीयते। पूर्व्वार्धस्यापि तेषामन्तरङ्गज्ञान सर्व्वथा न भवति। यदि स्यात्, तत् तेषा हृदि उत्तरार्द्धाध्ययनस्यापि उत्कटाभिलाषो जागरूक स्यात्। व्याकृतिपठनस्य फलं शब्दशुद्धिर्भाषाशुद्धिश्च। तत्फल लघुकौमुद्या निगदशब्दनेन न जायते, किन्तु तदन्तःप्रवेशेन। तदन्त प्रवेशे जाते 'कौमुद्या' स आस्वाद आसाद्यते यः काव्योपन्यासाध्ययनेनापि नासाद्येत।

तस्यैवास्वादस्य विद्यार्थिनां साधारणाध्यापकाना च आसक्ति स्याद्—इति विचिन्तयता गीर्वाणवाणीप्रणयिना डेराइस्माइलखानाभिजनेन श्रीभीमसेन-शास्त्रि-महाभागेन महत् परिश्रम्य 'लघुकौमुद्या.' इय हिन्दीटीका प्राणायि। यद्यपि प्रणेता

संस्कृतटीकामपि कर्तुमत्वम्भूष्णुरासीत्, तथापि सर्वसाधारणाना हिन्दी-भाषाभिज्ञाना च लाभस्तथा न भवितुमर्हति, यथा हिन्दीटीकया—इति विविच्य स हिन्दीटीकामकार्षीत्। संस्कृतटीकाया कदाचित् प्रणेतुरज्ञान गुप्तीभवति, परमत्र तथा नास्ति। अद्यत्वे हिन्दीटीकैव ज्ञानस्य निकषोऽस्ति। एतदभिप्रेत्यैव प्रणेत्रा हिन्दीटीकायामध्यवसितम्। सा च बहुमूल्यापि तेन एतज्जिज्ञासुभ्योऽल्पमूल्येन स्वय हानिं सोढ्वापि दीयेत। इदानीमदसीयः पूर्वार्द्धोऽमुना प्रकाश्यते। उत्तरार्द्धः पुनः प्रकाश्येत। ततश्च 'सिद्धान्तकौमुद्या' अपि ईदृश्येव टीका पाठकेभ्य' समर्प्येत।

टीकाया आलोचना प्रयोजनीयता नापेक्षते। इय स्वय स्वपरिचायिका वरीवर्त्ति। विदुषो लेखकस्यात्र महान् परिश्रमः प्रत्यक्ष एव। महती सुगमता, सुस्पष्टता, विशदता चात्र वर्वर्त्ति। शब्दानामुच्चारणानि कार्त्स्न्येन लिखितानि। सूत्रार्था सम्यक् प्रस्फोटिता.। शब्देषु व्याक्रिया-प्रक्रिया वैशद्येनाङ्किता। शब्दान्तराणा सूची अपि निर्दिष्टा, येन अनुवादेपि महिष्ठो लाभ आशास्येत। विशिष्टविषया अपि सम्यक् सन्दृब्धा, येन ज्ञानवृद्धिस्तत्पिपासा च विशद जागृयात्। अह लेखकमाशिषा युनज्मि यद्—यत् सदुद्देश्यमभिसन्धाय तेनेद प्रणयन कृतम्, तस्य साफल्य तस्य भूयाद् भूयात्।

भाद्रपदशुक्ला
२ बुधे स० २००३ वै०

इति हृदा आशासाम —
दीनानाथशर्मा शास्त्री सारस्वतः।
[विद्यावागीश, विद्यानिधि, विद्याभूषण,
प्रिंसिपल स० ध० संस्कृतकालेज
मुलतान सिटी]

सानुरोध निवेदन

[लेखक—श्रीपण्डित दीनानाथजी शास्त्री सारस्वत, विद्यावागीश]

जब यह भैमी व्याख्या मैंने देखी थी, उसे पर्याप्त समय बीत चुका है। पाकिस्तान काण्ड ने एक दुःखद अवसर उपस्थित किया। इस व्याख्या के प्रणेता बहुत हानि प्राप्तकर इसके छपवाने मे हतोत्साह हो चुके थे, पर मैंने इन्हे बहुत आश्वासन दिया, और इसे पूर्ण करने की प्रेरणा की। परमात्मा की कृपा से अब यह पुस्तक प्रकाशित होकर पाठको के करकमलों मे है। आज इस हिन्दी के राष्ट्रभाषात्व के युग मे व्याकरण-जैसे कठिन माने जाने वाले विषय पर हिन्दी-टीका की अपेक्षा थी, वह अब आप सज्जनों के समक्ष है। जिस सदुद्देश्य से यह लिखी गई है, उसी उद्देश्य से इसका प्रचार भी अपेक्षित है। आज एक सौ पृष्ठो की छोटी सी पुस्तक छपती है, उसका मूल्य कम से कम २)-२॥) रख दिया जाता है, परन्तु यह बडे आकार का सात सौ पृष्ठों का पोथा बडे सस्ते मूल्य केवल [redacted]) मे दिया जा रहा है। सब माननीय अध्यापक महोदयो का कर्त्तव्य है कि इसका प्रत्येक सस्कृत के विद्यार्थी मे प्रचार करे। यह केवल प्राज्ञ वा प्रथमा ही नहीं, यह विशारद, मध्यमा, शास्त्री आदि श्रेणियो के भी पास रखने योग्य है। न केवल विद्यार्थियो अपितु सभी अध्यापकों के भी पास रखने योग्य है। न केवल छात्रो अध्यापको, प्रत्युत पुस्तकालयों मे भी स्थान पाने योग्य है। यदि पाकिस्तानकाण्ड न होता, तो यह ग्रन्थ सभी को घर बैठे-बैठे २) मे मिलता। पर अब [redacted]) भी बहुत कम मूल्य है। आशा है—सभी आचार्यकुल, गुरुकुल, ऋषिकुल तथा सस्कृतमहा-विद्यालय एव विद्यालयों मे इसका प्रचार होगा। इसके शीघ्र बिकने पर शेष उत्तरार्ध भी शीघ्र प्रकाशित किया जा सकेगा। मेरा प्रत्येक परिचित—अपरिचित प्रिंसिपल, अध्यापक तथा छात्रगण से सानुरोध निवेदन है कि इस का प्रचार स्व-कर्त्तव्य समझकर निःस्वार्थ भाव से करे।

निवेदक —

माघकृष्णा गणेशचतुर्थी
शनिवासरे स० २००६ वै०

दीनानाथशर्मा शास्त्री सारस्वतः।
[विद्यावागीश, विद्यानिधि, विद्याभूषण]
प्रिंसिपल श्रीरामदल संस्कृत हिन्दी विद्यालय,
देहली।

* ओ३म् *

* अथ लघुसिद्धान्तकौमुदी *

भैमीव्याख्यया समुपबृंहिता ।

[व्याख्याकर्त्तुर्मङ्गलाचरणम्]

आप्यतेऽन्विष्यमाणो न यः कुत्रचिद्
योगिविद्वज्जनैर्हा कुतोऽन्यैर्नरैः ।
आदिमध्यान्तशून्यं प्रभुं निर्गुणं
स्वस्य चित्तोपशान्त्यै तमेवाश्रये ॥ १ ॥

सर्वाभिलाष—दातारं, शरणागत—तारकम् ।
अभिलाषशतं त्यक्त्वा, प्रपन्नोऽस्मि जगद्गुरुम् ॥ २ ॥
व्याख्याता सूरिभिः कामं, लघुसिद्धान्तकौमुदी ।
भाषाटीका तथाप्यस्या, ज्ञानदा नैव दृश्यते॥ ३ ॥
अक्षरार्थपराः सर्वे, विमुखा भाववर्णनात् ।
वृथानपेक्षं जल्पन्तः, पाण्डित्यमदगर्विताः ॥ ४ ॥
तेभ्यः खिन्नो विनोदाय, बालानामुपकारिणीम् ।
स्वाधीतस्य प्रचाराय, टीकामेतां करोम्यहम् ॥ ५ ॥
सुस्पष्टपदलालित्यं, सुष्ठु भावस्य कीर्तनम् ।
चटून् दृष्ट्वा कृतं सर्वं, न च पाण्डित्यगर्वतः ॥ ६ ॥
टीकामेतां जगद्दृष्ट्वा, गदिष्यत्येकया गिरा ।
बालानामुपकारोऽभूद्, यः कृतो नैव केनचित् ॥ ७ ॥
कृपा स्याज्जगदीशस्य, यत्नो मे सफलो भवेत् ।
यतो मौर्ख्याभिभूतस्य, को देवादपरोऽस्ति मे ॥ ८ ॥

[लघु०] नत्वा सरस्वतीं देवीं शुद्धां गुण्यां करोम्यहम् ।
पाणिनीयप्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीम् ॥ १ ॥

अन्वयः—अहम् [वरदराज] शुद्धां गुण्यां सरस्वतीं देवीं नत्वा पाणिनीय-प्रवेशाय लघुसिद्धान्तकौमुदीं करोमि ।

अर्थः—मै [वरदराज] शुद्ध तथा गुणो से युक्त सरस्वती देवी को नमस्कार कर के, पाणिनि के बनाये व्याकरणशास्त्र मे (बालको के) प्रवेश के लिये 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' को बनाता हूँ ।

व्याख्या—ज्ञान की अधिष्ठात्री (स्वामिनी) एक देवी मानी जाती है, जिसे सरस्वती कहते है । ग्रन्थकार ने आदि मे उसे इसलिये नमस्कार किया है कि वह प्रसन्न होकर मेरे ऊपर कृपा करे जिससे मै ग्रन्थ बनाने मे समर्थ हो सकू । इस ग्रन्थ के बनाने वाले वरदराज नामक पण्डित है । इनका सम्पूर्ण वृत्तान्त भूमिका मे लिखा है देख ले । जिससे किसी भाषा के शुद्ध अशुद्ध होने का ज्ञान हो, उसे उस भाषा का व्याकरण कहते है । संस्कृत भाषा के अनेक व्याकरण है । यथा—पाणिनीय, मुग्धबोध, सारस्वत आदि । संस्कृत भाषा के सम्पूर्ण व्याकरणों मे पाणिनि-मुनि का बनाया व्याकरण ही सब से श्रेष्ठ और प्रचलित है । इसके अध्ययन मे कठिनता का अनुभव कर वरदराज ने यह 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' बनाई है । 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' शब्द का अर्थ "कुछ व्याकरण सिद्धान्तो को चादनी के समान प्रकाशित करने वाली" है ।

टिप्पणी—गुण्याम्=प्रशस्ता गुणा सन्त्यस्या इति=गुण्या । ताम्=गुण्याम् । ['रूपादाहतप्रशसयोर्यप्' (५ । २ । १२०) इति सूत्रस्थेन 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' इति वार्तिकेन यप् ।] पाणिनीयप्रवेशाय = पाणिनिना प्रोक्तम् = पाणिनीयम्, तस्मिन् प्रवेश = पाणिनीय-प्रवेशस्तस्मै = पाणिनीय-प्रवेशाय । लघुसिद्धान्तकौमुदी = लघव. = असमग्रा ये सिद्धान्ता = ऊहापोहकृत-निश्चितविचारास्तेषां कौमुदी = कौमुदीव = चन्द्रिकेव । [अत्रत्यः कौमुदीशब्द कौमुदीवेत्यर्थे लाक्षणिक ।] यथा हि ज्योत्स्ना तमो निरस्य सकलभावान् प्रकाशयति, दिनकरकिरणजनित तापमुपशमयति, तथैयमप्यज्ञानन्दूरीकृत्य महाभाष्यादिदुरूह-ग्रन्थजनित तापमुपशमय्य व्याकरण सिद्धान्तान् मानसे प्रकटीकरोतीति सादृश्यम् ।

[लघु०] अइउण् ॥१॥ ऋलृक् ॥२॥ एओङ् ॥३॥ ऐऔच् ॥४॥ हयवरट् ॥५॥ लँण् ॥६॥ ञमङणनम् ॥ ७ ॥ झभञ् ॥८॥ घढधष् ॥९॥ जबगडदश् ॥१०॥ खफछठथचटतव् ॥११॥ कपय् ॥१२॥ शषसर् ॥ १३ ॥ हल् ॥१४॥

इति माहेश्वराणि सूत्राण्यणादिसञ्ज्ञार्थानि । एषामन्त्या इतः । हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः । लण्मध्ये त्वित्सञ्ज्ञकः ।

अर्थः—ये चौदह सूत्र माहेश्वर अर्थात् महादेव से आये हुए हैं। इनका प्रयोजन अण आदि सञ्ज्ञा करना है। इनके अन्त्य वर्ण इत्सञ्ज्ञक हैं। हकार आदियो मे अकार उच्चारण के लिये है। परन्तु 'लण' सूत्र मे वह इत्सञ्ज्ञक है।

व्याख्या— कहते हैं कि महामुनि पाणिनि विद्यार्थि-अवस्था मे अत्यन्त मन्दमति थे। जब इन्हे पढने से भी कुछ ज्ञान न हुआ, तब ये खिन्न हो गुरुकुल छोड तपस्या करने के लिए हिमाचल पर चले गये। वहा इन्होने शिवजी की आराधना की। शिवजी ने प्रसन्न हो, चौदहबार डमरू बजाया। उससे पाणिनि ने 'अइउण्' आदि चौदह सूत्र प्राप्त किये। इस लिये इन सूत्रो को माहेश्वर अर्थात् महादेव से प्राप्त हुआ कहते है। परन्तु कई एक इस बात को प्रमाण-शून्य होने से गलत मानते है। उनका कथन है कि इन सूत्रो को बनाने वाले पाणिनि ही है*। परन्तु चाहे कुछ भी क्यो न हो, इतना तो निर्विवाद सिद्ध है कि ये सूत्र व्याकरण के प्राण है। इनके बिना पाणिनीय-व्याकरण चल ही नही सकता। इनका उपयोग आगे चल 'अण्' आदि सञ्ज्ञाओ के करने मे किया जावेगा। हम वहीं पर इन्हे स्पष्ट करेंगे।

जो अन्त मे रहे उसे अन्त्य या अन्तिम कहते है, इन चौदह सूत्रो के 'ण्, क्, ङ्, च्, ट्, ण, म्, ञ्, ष, श्, व् य्, र्, ल्' ये चौदह वर्ण अन्त्य है। इनकी इत्सञ्ज्ञा है अर्थात् ये इत् नाम वाले है। ध्यान रहे कि इस शास्त्र मे सञ्ज्ञा, सञ्ज्ञक और सञ्ज्ञी शब्दो का बहुत व्यवहार होता है। जो नाम हो वह सञ्ज्ञा और जिसका नाम हो वह सञ्ज्ञक या सञ्ज्ञी होता है। जैसे 'इसका नाम देवदत्त है' यहा 'देवदत्त' यह शब्द सञ्ज्ञा और सामने खडा हुआ हाड मास वाला लम्बा चौडा मनुष्य सञ्ज्ञक या सञ्ज्ञी है। इसी प्रकार यहा ण क् आदि सञ्ज्ञक या सञ्ज्ञी होगे और 'इत्' यह सञ्ज्ञा होगी। प्रत्येक वस्तु की सञ्ज्ञा व्यवहार की आसानी के लिये ही होती है, यथा मेरी सञ्ज्ञा 'भीमसेन' है। इससे यह होगा कि लोग मुझे व्यवहार मे आसानी से ला सकेंगे। कोई मुझे बुलाना चाहेगा तो कहेगा 'भीमसेन ! आओ', कोई मुझे पढ़ाना चाहेगा तो कहेगा 'भीमसेन ! पढो', कोई खिलाना चाहेगा तो कहेगा 'भीमसेन ! खाओ', कोई मेरा पता पूछेगा तो कहेगा 'भीमसेन कहा है ?' अब कल्पना करे कि यदि मेरा कोई नाम न होता तो जिसने मुझे बुलाना होता वह दूसरे के प्रति क्या कहता ? कि 'उस दुबले पतले मनुष्य को जिसका रङ्ग ऐसा २ है, सिर पर अमुक २ रङ्ग की पगडी है, पैर में फ़ला प्रकार का जूता है, लाओ'। तब सम्भव है कि सुनने वाला पुरुष उसे न समझ पाता। अथवा मेरी जगह किसी अन्य को ला खडा करता, तो कहने का तात्पर्य यह है कि नाम अर्थात् सञ्ज्ञा के बिना न तो जगत् का व्यवहार और न ही शास्त्र का व्यवहार चल सकता

---

* यह विषय ग्रन्थ के अन्त में 'प्रत्याहार-सूत्र किसने बनाये' नामक निबन्ध में देखें।

है। व्यवहार के लिये आवश्यक है कि जिसका हम व्यवहार करना चाहे उसकी कोई न कोई सञ्ज्ञा अवश्य करे। बिना सञ्ज्ञा के कभी व्यवहार नहीं चल सकता। यहा आगे 'आदिरन्त्येन सहेता (४) आदि सूत्रो मे इन ण, क् आदि अक्षरो का व्यवहार करना है, अत इनकी इत्" यह सञ्ज्ञा की जाती है।

हमारी लिपि अर्थात् वर्णमाला मे दो प्रकार के अक्षर है। एक तो 'अ, इ, उ' आदि स्वर, दूसरे 'क्, ख्, ग्, घ्' आदि व्यञ्जन या हल्। व्यञ्जनो का उच्चारण स्वरो के मिलाये बिना नही हो सकता। इसलिये आजकल की वर्णमाला की छोटी २ पुस्तको मे भी 'क, ख, ग, घ, ङ' इत्यादि प्रकार से अकार युक्त व्यञ्जन देखने मे आते है *।

इन चौदह सूत्रो में हयवरट्' सूत्र के हकार से व्यञ्जन आरम्भ होते हैं। इनमे भी अकार केवल इसीलिये है कि इनका उच्चारण हो सके, क्योंकि अकार के बिना 'ह् य् व् र् ट्' इस प्रकार उच्चारण नही हो सकता। अत· अकार का इनमे ग्रहण नही करना चाहिये। यदि अलग २ अकार ग्रहण के लिये होता तो उसका बार २ उच्चारण न होता। क्योंकि ग्रहण तो एकबार के उच्चारण से भी हो जाता, तो पुन ग्रन्थ क्यो बढाते ?।

'लण' इस सूत्र मे लकारस्थ [लकार मे ठहरा हुआ] अकार उच्चारण के लिये नहीं किन्तु प्रयोजन-वशात् इत्सञ्ज्ञक है। इसका प्रयोजन 'रँ' प्रत्याहार सिद्ध करना है जो आगे 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्र पर मूल मे ही स्पष्ट हो जावेगा। हम भी इसकी वहीं व्याख्या करेंगे।

टिप्पणी—महेश्वरादागतानि=माहेश्वराणि। 'तत आगत (१०६४) इत्यण्। अण आदिर्यासा ता अणादय अणादश्च ता सज्ञा=अणादिसज्ञा। अणादिसज्ञा अर्थ प्रयोजनमेषान्तानीमानि=अणादिसंज्ञार्थानि।

अन्त्या वर्णा इतो ज्ञेयाः, प्रत्याहारोपयोगिनः।
अकारोऽत्र सुखार्थोऽस्ति, इत्तु लणसूत्रगः स्मृतः॥ १॥

---

*व्यञ्जनों के साथ स्वर मिलाने का प्रकार यथा—

क्+अ=क, क्+आ=का, क्+इ=कि, क्+ई=की, क्+उ=कु, क्+ऊ=कू, क्+ऋ=कृ, क्+ॠ=कॄ, क्+लृ=क्लृ, क्+ए=के, क्+ऐ=कै, क्+ओ=को, क्+औ=कौ, क्+अं=कं, क्+अः=कः। इसी प्रकार अन्य व्यञ्जनों के साथ भी सयोग कर लेना चाहिए। इनमें से 'कि' पर विशेष ध्यान देना चाहिए। प्राय कई बालक 'कि' में 'इ' को प्रथम और क् को पश्चात् लिखा माना करते हैं, उन्हें उपर्युक्त प्रकार से अपनी भ्रान्ति दूर कर लेनी चाहिए। ध्यान रहे कि बिना स्वर व्यञ्जन का सयोग जाने कदाचित इस ग्रन्थ में प्रवेश नही हो सकता।

[लघु०] १. सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१ **हलन्त्यम्** । १ । ३ । ३ ॥

उपदेशेऽन्त्यं हलित् स्यात्। उपदेश आद्योच्चारणम्।
सूत्रेष्वदृष्टम्पदं सूत्रान्तरादनुवर्त्तनीयं सर्वत्र ।

अर्थः—उपदेश मे वर्त्तमान अन्त्य हल् इत्सञ्ज्ञक हो। आद्यो के उच्चारण को अथवा धातु आदि के आद्य उच्चारण को उपदेश कहते है। सूत्रो मे जो पद न हो [पर वृत्ति मे दिखाई दे] वह पद सर्वत्र पिछले [या कहीं २ अगले] सूत्रो से ले लेना चाहिये ।

व्याख्या—इस व्याकरण के प्रथम कर्त्ता महामुनि पाणिनि है। इन्हो ने 'अष्टाध्यायी' नामक जगत्प्रसिद्ध ग्रन्थ रचा है । इस ग्रन्थमे आठ अध्याय और प्रत्येक अध्याय मे चार २ पाद है । अर्थात् सब मिला बत्तीस पाद अष्टाध्यायी मे है । हर एक पाद मे भिन्न भिन्न सङ्ख्याओ मे सूत्र है । इन सब की तालिका निम्न-प्रकार से समझनी चाहिये* ।

अध्याय नाम	प्रथमपादे	द्वितीयपादे	तृतीयपादे	चतुर्थपादे	सम्पूर्ण सङ्ख्या
प्रथमाध्याये	७४	७३	९३	१०९	३४९
द्वितीयाध्याये	७१	३८	७३	८५	२६७
तृतीयाध्याये	१५०	१८८	१७६	११७	६३१
चतुर्थाध्याये	१७६	१४४	१६५	१४४	६२९
पञ्चमाध्याये	१३५	१४०	११९	१६०	५५४
षष्ठाध्याये	२१८	१९९	१३८	१७५	७३०
सप्तमाध्याये	१०३	११८	१२०	९७	४३८
अष्टमाध्याये	७४	१०८	११७	६८	३६७
समग्र अष्टाध्यायी की सूत्र सङ्ख्या—					३९६५

प्राचीन काल मे यह सम्पूर्ण अष्टाध्यायी कण्ठस्थ की जाती थी। + तदनन्तर व्याकरण पढ़ा जाता था । तभी तो काशिकाकार जयादित्य, पदमञ्जरीकार हरदत्त, शेखरकार

*अष्टाध्यायीसूत्र सङ्ख्याविषयक एक निबन्ध हमने बड़े परिश्रम से लिखा है, वह इस ग्रन्थ के अन्त में जोड़ दिया गया है । प्रत्येकअध्याय और प्रत्येक पाद की सूत्रसङ्ख्या का विस्तृत विचार वहीं देखें ।

+ देखो "इत्सिङ्ग की भारत यात्रा" चौंतीसवा परिच्छेद ।

नागेशभट्ट सरीखे विद्वान् उत्पन्न होते थे। परन्तु अब इस परिपाटी के मन्द हो जाने से वैसे विद्वान् उत्पन्न नही होते। अब भी यदि इस परिपाटी का पुनरुद्धार होजावे तो पुन वैसे विद्वान् निकलने लग पडे गे। 'कर्त्तव्योऽत्र यत्न'।

इस ग्रन्थमे अष्टाध्यायी के सूत्र बिखरे हुए है। उन सूत्रो के आगे तीन अङ्क लिखे है। इन मे से पहला अष्टाध्यायी के अध्याय का सूचक, दूसरा पादसूचक तथा तीसरा सूत्र-सूचक समझना चाहिये। यथा—हलन्त्यम्। १। ३। ३॥ यहा '१' से तात्पर्य प्रथमाध्याय, '३' से तात्पर्य तृतीयपाद और अन्तिम '३' से तात्पर्य तीसरे सूत्र से है। तो इसप्रकार यह सूत्र प्रथमाध्याय के तृतीय पाद का तीसरा है ऐसा ज्ञान होता है। एवम् आगे भी सर्वत्र समझ लेना। पाणिनि के सूत्रपाठ के अर्थ करने का विचित्र ढग है। कई पदो का सूत्रो मे नामो-निशान नही होता परन्तु अर्थ करते समय वे आ जाया करते हैं। अत सूत्रो के अर्थ करने के ढग पर कुछ थोडा विचार करते है।

१—सब से प्रथम सूत्रों का पदच्छेद करना चाहिये जैसे—हलन्त्यम्। १। ३। ३॥ हल। अन्त्यम्। आदिरन्त्येन सहेता। १। १। ७०॥ आदि। अन्त्येन। सह। इता। इको यणचि। ६। १। ७६॥ इक। यण्। अचि। अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय। १। १। ६८॥ अण्। उदित्। सवर्णस्य। च। अप्रत्यय। कई स्थानो पर पिछले सूत्रों से तथा कही २ अग्रिम सूत्रों से भी* पद ले लिये जाते हैं। महामुनि पाणिनि ने यद्यपि इनकी इस स्वरित के चिह्न से व्यवस्था की थी, परन्तु अब वह व्यवस्था बिगड गई है। अब तो गुरु-परम्परा से जो जो पद पीछे से या आगे से लिया जाता है लिया जाना चाहिये। इसमे अपनी ओर से कोई गडबड नही करनी चाहिये। यथा—हलन्त्यम्। यहा पिछले 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' सूत्र से 'उपदेशे' और 'इत्' ये दो पद आते हैं। इन पदो को भी पदच्छेद में लिखना चाहिये और कोष्ठ में बता देना चाहिये कि ये पद कहा से आते हैं+। यथा—उपदेशे। ['उपदेशेऽजनुनासिक इत्' सूत्र से]। हल्। अन्त्यम्। इत्। ['उपदेशेऽजनुनासिक इत्' सूत्र से]।

(२) पदच्छेद के बाद उन पदो की विभक्तिया जाननी चाहिये। यथा—हलन्त्यम्। उपदेशे। ७। १। अन्त्यम्। १। १। हल्। १। १। इत्। १।१। [यहा पहले अङ्क से

---

*यथा 'ईश से' (७।२।७७) सूत्र में अगले सूत्रसे 'ध्वे' पद लाया जाता है।

+इस अनुवृत्ति का व्यवहार लोक में भी देखा जाता है, जैसे किसी ने कहा 'भरत को चार आम दो' राम को तीन'। अब यहा 'राम को तीन' यह वाक्य अपूर्ण है, इसकी पूर्णता 'आम दो' इतने पद मिलाकर 'राम को तीन आम दो' इस प्रकार हो जाती है, तो यहाँ 'आम दो' इन दो पदों की अनुवृत्ति समझनी चाहिए। इस प्रकार इसका लोक में सर्वत्र अतीव प्रयोग देखा जाता है।

विभक्ति तथा दूसरे अङ्क से वचन समझना चाहिए।] आदिरन्त्येन सहेता। आदि ।१।१। अन्त्येन।३।१। सह इत्यव्ययपदम्। इता।३।१। इको यणचि। इक ।६।१। यण् ।१।१। अचि।७।१। अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः। अण ।१।१। उदित् ।१।१। सवर्णस्य ।६।१। च= इत्यव्ययपदम्। अप्रत्यय ।१।१। स्मरण रहे कि कई स्थानो पर विभक्ति का लुक् तथा अन्य विभक्ति के स्थान पर अन्य विभक्ति भी लगी रहती है। इसे सूत्रकार की गलती नही समझो जाती क्योंकि 'छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति' अर्थात् सूत्र वेद की नाई होते है। जैसे वेद मे विभक्ति का लुक् तथा अन्य विभक्ति के स्थान पर अन्य विभक्ति* लगी रहती है, वैसे सूत्रो मे भी होता है। विभक्ति का लुक् यथा— 'न लोप प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) यहा 'न' और 'प्रातिपदिक' शब्दो से परे षष्ठी-विभक्ति का लुक् हुआ२ है। अन्यविभक्ति के स्थान पर अन्य विभक्ति लगे रहने के उदाहरण आगे यत्र तत्र बहुत आएंगे।

(३) पदच्छेद और विभक्ति जानने के पश्चात समास जानना चाहिए। समास कहीं होता है और कहीं नही भी होता। यथा 'तस्य लोप' (३) इस सूत्र मे कोई समास नहीं। 'तुल्यास्यप्रयत्न सवर्णम्' (१०) इत्यादि सूत्रो मे समास है। आवश्यक तद्धितादि का समावेश भी हमने समास मे कर दिया है। अर्थात् समास के जानने के साथ२ आवश्यक तद्धित आदि प्रत्यय भी जान लेने चाहिये।

(४) इतना जान लेने के पश्चात् महामुनि पाणिनि के अर्थ करने के नियमो का ध्यान रख कर सूत्र का अर्थ करना चाहिये। पाणिनि के वे नियम प्राय ये है—

१ षष्ठी स्थानेयोगा।१।१।४८॥

२ तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य।१।१।६५॥

३ तस्मादित्युत्तरस्य।१।१।६६॥

४ अलोऽन्त्यस्य।१।१।५१॥

५ आदे परस्य।१।१।५३॥

६ इको गुणवृद्धी।१।१।३॥

७ अचश्च।१।२।२८॥

८ येन विधिस्तदन्तस्य।१।१।७१॥

९ यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे [वा०] इत्यादि।

इन सब को हम यथा-स्थान स्पष्ट करेंगे।

---

* यह समाधान सब करते आये हैं। पर यह किसीने नही लिखा कि सारे वाङ्मय को नियन्त्रित करने वाले भगवान् पाणिनि क्यों अपने बनाये नियमों की आपही अवहेलना करते हैं? । यह विषय पर्याप्त गवेषणा का है। आशा है विद्वज्जन इस ओर ध्यान देंगे।

पीछे 'एषामन्त्या इत' कह के ण् क् आदियों को 'इत्' कह आये हैं। अब वह सूत्रों से सिद्ध करते हैं। 'हलन्त्यम्'। उपदेशे। ७। १॥ ['उपदेशेऽजनुनासिक इत्' सूत्र से] हल्। १। १॥ अन्त्यम्। १। १॥ इत्। १। १॥ ['उपदेशेऽजनुनासिक इत्' सूत्र से] अर्थ—[उपदेशे] उपदेश में विद्यमान [अन्त्यम्] अन्तिम [हल्] हल् व्यञ्जन [इत्] इत्सञ्ज्ञक होता है। यदि उपदेश में कहीं हमें अन्त्य हल् मिलेगा तो वह इत्सञ्ज्ञक होगा। अब प्रश्न यह पैदा होता है कि उपदेश क्या है? इसका उत्तर ग्रन्थकार यह देते हैं कि **'उपदेश आद्योच्चारणम्'** आद्योच्चारण उपदेश होता है। इस आद्योच्चारण शब्द पर शेखरादि व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में बहुत विवाद है। हम उस विवाद के निकट नहीं जाते, क्योंकि वह प्रपञ्च बालकों की समझ में नहीं आ सकता। यहां सरल मार्ग यह है कि यहां षष्ठीतत्पुरुषसमास है—आद्यानाम् उच्चारणम्=आद्योच्चारणम्। जो आद्य अर्थात् शिव, पाणिनि, कात्यायन तथा पतञ्जलि का उच्चारण है, उसे 'उपदेश' कहते हैं। भाष्यकार ने सब स्थल नियत कर दिये हैं, उनका कथन है कि प्रत्याहार-सूत्र,[१] धातुपाठ, गणपाठ, प्रत्यय, आगम और आदेश ये सब उपदेश हैं। इनमें अन्त्य हल् इत्सञ्ज्ञक होता है।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—२ अदर्शनं लोपः।१।१।५९॥

प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसञ्ज्ञं स्यात्।

अर्थः—विद्यमान का अदर्शन लोप सञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—स्थानस्य। ६। १। ['स्थानेऽन्तरतम' सूत्र से 'स्थाने' पद आकर विभक्तिविपरिणाम से षष्ठ्यन्त हो जाता है।] अदर्शनम्। १। १। लोप। १। १। अर्थ—[स्थानस्य] विद्यमान का [अदर्शनम्] न सुनाई देना [लोप.] लोप होता है। यहाँ अदर्शन सञ्ज्ञी तथा लोप सञ्ज्ञा है। हमने 'अदर्शन' का अर्थ 'न सुनाई देना' किया है। इसका यह कारण है कि यह 'शब्दानुशासन' अर्थात् शब्द-शास्त्र है। इसमें शब्दों के साधु [ठीक] असाधु [गलत] होने का विवेचन है। शब्द कान से सुने जाते हैं, आँख से देखे नहीं जाते अतः यहाँ पर 'अदर्शन' का अर्थ 'न दिखाई देना' की अपेक्षा 'न सुनाई देना' ही युक्त है। ऐसा अर्थ करने पर 'दृश्' धातु को ज्ञानार्थक मानना

---

१ प्रत्याहारसूत्र यथा—'अइउण्' आदि। धातुपाठ यथा—'डुपचष् पाके' आदि। गणपाठ यथा—नदट्, देवट्, आदि। प्रत्यय यथा—तृच्, तृन्, तसिल्, आदि। आगम यथा—कुक्, टुक्, इट्, आदि। आदेश यथा—'अर्वणस्त्रसावनञः' (२६२) द्वारा 'तृ' आदेश इत्यादि।

"प्रत्यया शिवसूत्राणि, आदेशा आगमास्तथा।
धातुपाठो गणेपाठ, उपदेशाः प्रकीर्त्तिताः"॥

चाहिये । ज्ञान—आंख, कान, नाक आदि सब से हो सकता है । 'शब्दानुशासन' का अधिकार होने से हम यहा ज्ञान कान-विषयक ही मानेगे । यहा 'स्थानेऽन्तरतम ' (१७) से स्थान शब्द लाने का तात्पर्य यह है कि विद्यमान का अदर्शन ही लोप सञ्ज्ञक हो, अविद्यमान का अदर्शन लोपसञ्ज्ञक न हो । यथा—'दधि, मधु' यहाँ 'क्विप्' प्रत्यय कभी नहीं हुआ अत उसका अदर्शन है । यदि पीछे से स्थान शब्द न लावे तो यहा क्विप् प्रत्यय का अदर्शन होने से प्रत्ययलक्षणद्वारा 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' (७७७) से तुक् प्राप्त होगा जोकि अनिष्ट है, अत 'स्थान' शब्द की अनुवृत्ति कर विद्यमान के अदर्शन की ही लोपसञ्ज्ञा करनी युक्त है ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**३ तस्य लोपः ।१।३।९॥**

तस्येतो लोपः स्यात् । णादयोऽणाद्यर्थाः ॥

अर्थः—उस इत्सञ्ज्ञक का लोप होता है । ण् आदि 'अण्' आदियों के लिये हैं ।

व्याख्या—तस्य ।६।१। इत ।६।१। ['उपदेशेऽजनुनासिक इत्' सूत्र से प्रथमान्त 'इत्' पद आकर विभक्ति-विपरिणाम से षष्ठ्यन्त हो जाता है] । लोप ।१।१। अर्थ—[तस्य] उस [इत] इत्सञ्ज्ञक का [लोप] लोप होता है । अब यहा यह शङ्का उत्पन्न होती है कि यदि इस सूत्र मे 'तस्य' पद न लेते तो भी अर्थ मे कोई हानि नही हो सकती थी, क्योकि 'इत ' पद की अनुवृत्ति तो आ ही रही है । इस का समाधान यह है कि यदि 'तस्य' पद ग्रहण न करते तो इत्सञ्ज्ञक के अन्त्य वर्ण का लोप होता, सम्पूर्ण इत्सञ्ज्ञक का लोप न होता । तथाहि—'ञिमिदा स्नेहने, टुनदि समृद्धौ, डुकृञ् करणे' यहाँ 'आदिर्ञिटुडव ' (४६२) सूत्र द्वारा ञि, टु, डु, की इत्सञ्ज्ञा होकर लोप प्राप्त होने पर 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) सूत्र द्वारा अन्त्य इकार, उकार का लोप होता है जो कि अनिष्ट है । अब यदि सूत्र मे 'तस्य' पद ग्रहण करते हैं तो यह दोष नहीं आता क्योकि आचार्य का 'तस्य' यह कहना जतलाता है कि आचार्य सारे का लोप चाहते हैं केवल अन्त्य का नही ।

अब इस सूत्र से ण् , क् , ङ् , च् , आदि इतों का लोप प्राप्त होता है । इस पर कहते हैं कि इनका लोप नही करना, क्योकि इनसे अण् आदि प्रत्याहार बनाये जायेंगे । यदि इनका लोप करना होता तो इनका ग्रहण किस लिये करते ? अत इनका लोप नहीं करना चाहिये ।

अब इत्सञ्ज्ञको से प्रत्याहार बनाने के लिये अग्रिम सूत्र लिखते है.—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—**४ आदिरन्त्येन सहेता ।१।१।७०॥**

अन्त्येनेता सहित आदिर्मध्यगानां स्वस्य च सञ्ज्ञा स्यात् ।

यथाण् इति 'अइउ' वर्णानां सञ्ज्ञा । एवमक्, अच्, हल्, अल् इत्यादयः ।

अर्थः—अन्त्य इत् से युक्त आदिवर्ण, मध्यगत वर्णों की तथा अपनी सञ्ज्ञा हो । जैसे 'अण्' यह 'अ इ उ' वर्णों की सञ्ज्ञा है । इसी प्रकार अक्, अच्, हल्, अल् आदि भी जान लेने चाहियें ।

व्याख्या—आदि ।१।१। अन्त्येन ।३।१। सह=इत्यव्ययपदम् । इता ।३।१। स्वस्य ।६।१। ["स्वं रूपं शब्दस्याशब्दसञ्ज्ञा' से । 'स्वम्' यह प्रथमान्त पद आकर विभक्ति-विपरिणाम से षष्ठ्यन्त हो जाता है ।] यह सूत्र सञ्ज्ञाधिकार के बीच पढा जाने से सञ्ज्ञासूत्र है । यहां 'अन्त्येनेता सहादि' अर्थात् 'अन्त्य इत् से युक्त आदि' यह सञ्ज्ञा है । अब सञ्ज्ञी का निर्णय करना है कि सञ्ज्ञी कौन हो ? क्योंकि सूत्र में तो किसी का निर्देश ही नहीं । आदि और अन्त्य अवयव शब्द हैं । अवयवों से अवयवी लाया जाता है । अतः यहां अवयवी ही सञ्ज्ञी होगा । उस अवयवी [समुदाय] से आदि और अन्त्य सञ्ज्ञा होने के कारण निकल जायेंगे । शेष मध्यगत वर्ण ही सञ्ज्ञी ठहरेंगे । पुनः 'स्वस्य' पद की अनुवृत्ति आकर आदि भी सञ्ज्ञी हो जाएगा । इस प्रकार आदि तथा मध्यगत वर्ण सञ्ज्ञी बनेंगे । तो अब इस सूत्र का अर्थ यह हुआ— अर्थ—[अन्त्येन] अन्त्य [इता] इत् से [सह] युक्त [आदि] आदि वर्ण [स्वस्य] अपनी तथा मध्यगत वर्णों की सञ्ज्ञा होता है । यहां हमने 'स्वस्य' पद से आदि का ग्रहण किया है, पर कोई पूछ सकता है कि 'स्वस्य' पद से अन्त्य का ग्रहण कर 'अन्त्य इत् से युक्त आदि अन्त्य तथा मध्यगत वर्णों की सञ्ज्ञा हो' ऐसा अर्थ क्यों न किया जाय ? इसका उत्तर यह है कि 'स्व' यह सर्वनाम है । सर्वनाम प्रधान का ही निर्देश कराने वाले होते हैं, अप्रधान का नहीं । 'अन्त्येनेता सहादि' यहां प्रधान आदि है, अन्त्य नहीं । क्योंकि 'सहयुक्तेऽप्रधाने' (२।३।१९) से अप्रधान में ही तृतीया होती है, अतः 'स्व' यह सर्वनाम प्रधान=आदि का ही ग्रहण करायेगा, अप्रधान अन्त्य का नहीं ।

'अइउण्' यहां अन्त्य इत्=ण् है । आदि 'अ' है । अतः अन्त्य इत् से युक्त आदि 'अण्' हुआ । यह सञ्ज्ञा है । 'इ उ' मध्यगत तथा 'अ' आदि ये तीन सञ्ज्ञी हैं । इसी प्रकार अच्, अक्, हल्, अल् आदि भी जानने चाहियें । इन अण् आदि सञ्ज्ञाओं को पाणिनि से पूर्ववर्ती आचार्य 'प्रत्याहार' कहते चले आ रहे हैं । यहां इस शास्त्र में भी इनके लिये प्रत्याहार शब्द व्यवहृत होता है ।

यहां अन्त्य और आदि 'अ इ उण्' आदि सूत्रों की अपेक्षा से नहीं लेने, किन्तु मन में रखे समुदाय की अपेक्षा से लेने हैं । यथा—'इउण् ऋऌक्' इस समुदाय का आदि 'इ'

और अन्त्य 'क्' है। अन्त्य युक्त आदि=इक् सञ्ज्ञा होगा। 'रट्ल' यहा 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) से लकारस्थ अकार इत् है। समुदाय का आदि 'र्' है। अन्त्य अँ है। अन्त्य युक्त आदि र्+अँ='रँ' यह सञ्ज्ञा होगा। इस सञ्ज्ञा के 'र' और 'ल्' दो ही सञ्ज्ञी हैं।

अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि अण् आदि प्रत्याहारो मे आदि और मध्यगत वर्ण सञ्ज्ञी होते है तो इक् प्रत्याहार मे 'क्' भले ही न आये, पर ण् तो आना चाहिये, क्योंकि वह मध्यगत वर्ण है। इसका उत्तर यह है कि आचार्य पाणिनि की शैली से यह प्रतीत होता है कि मध्यगत वर्ण यदि इत्सञ्ज्ञक होगे तो उनका प्रत्याहारो के सञ्ज्ञियो मे ग्रहण न होगा। तथाहि—यदि वे सञ्ज्ञी होते तो 'अच्' प्रत्याहार मे 'क्' का भी ग्रहण होता क्योकि यह मध्यवर्ण है। 'क्' के ग्रहण होने से 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) इस सूत्र के 'अनुनासिक' इस पद मे 'क्' इस अच् के परे होने पर सकारस्थ इकार को 'इको यणचि' (१५) मे यण् तथा यण् का 'लोपो व्योर्वलि' (४२१) से लोप होकर 'अनुनास्क' हुआ होता, पर आचार्य पाणिनि ने ऐसा नही किया। इससे यह विदित होता है कि इत्सञ्ज्ञक मध्यवर्त्ती होने पर भी सञ्ज्ञी नही होते।

'अइउण्' आदि चौदह सूत्रो से यद्यपि अनेक प्रत्याहार वन सकते हैं तथापि इस व्याकरण शास्त्र मे जिनका व्यवहार किया गया है उनकी सङ्ख्या चवालीस (४४) है। कई लोग 'रँ' प्रत्याहार को नही मानते उनके मत मे तेतालीस (४३) प्रत्याहार होते हैं। इनमें से बयालीस ('रँ' प्रत्याहार मानने वालों के मत मे इक्तालीस ४१) प्रत्याहार तो मुनिवर पाणिनि ने स्वय सूत्रो में व्यवहृत किये हैं। शेष दो में से एक 'ञम्' उणादि सूत्रों का तथा दूसरा 'चय्' वार्त्तिक-पाठ का है। हम इन प्रत्याहारो के लिखने से पूर्व यह बता देना आवश्यक समझते है कि प्रत्याहारगत वर्णों के जानने का सुगम उपाय क्या है? प्रत्याहार-गत वर्णों के जानने का सुगम उपाय यह है कि निम्नलिखित बातों को अच्छी तरह से बुद्धि मे बिठा लिया जाए।

(क) वर्गों के पाञ्चवे 'ञमङणनम्' सूत्र में हैं।

(ख) वर्गों के चौथे 'झभञ्, घढधष्' सूत्रो में है।

(ग) वर्गों के तीसरे 'जबगडदश्' सूत्र मे हैं।

(घ) वर्गों के दूसरे वर्ण 'खफछठथ' तक हैं।

(ङ) वर्गों के प्रथम वर्ण 'चटतव्, कपय्' सूत्रों मे हैं।

(च) ऊष्मवर्ण 'शषसर्, हल्' सूत्रो में हैं।

(छ) अन्तःस्थवर्ण 'यवरट्, लँण्' सूत्रो में हैं।

(ज्ञ) स्वरवर्ण 'अइउण्, ऋलृक्, एओङ्, ऐऔच्, सूत्रों मे ।

इसके अतिरिक्त जिन सूत्रों के बीच से कटाव हो कर प्रत्याहार बनते है उन सूत्रों के स्थान भी याद रखने योग्य हैं। वे स्थान निम्नलिखित है—

अइउण् । यहाँ 'इ' से कटाव होकर इक्, इच् तथा 'उ' से कटाव हो कर उक् प्रत्याहार बनता है।

हयवरट् । यहा 'य' से कटाव हो कर यण्, यञ्, यम्, यय्, यर् प्रत्याहार 'व' से कटाव होकर वल् प्रत्याहार तथा 'र्' से कटाव हो कर र प्रत्याहार बनता है।

ञमङणनम् यहा 'म' से कटाव होकर मय् तथा 'ङ' से कटाव होकर ङम् प्रत्याहार बनता है।

झभञ् । यहा 'भ' से कटाव होकर भष् प्रत्याहार बनता है।

जबगडदश् । यहा 'ब' से कटाव होकर बश् प्रत्याहार बनता है।

खफछठथचटतव् यहा 'छ' से कटाव होकर छव् प्रत्याहार बनता है।

इस व्याकरण मे व्यवहृत होने वाले प्रत्याहारों का निम्न के दो श्लोकों मे सङ्ग्रह यथा—

ङणाटञ्वात् स्मृतो ह्येकः, चत्वारश्च चमान्मताः।
शलाभ्यां षड् यरात्पञ्च, षाद्द्वौ च कणतस्त्रयः। १ ॥
केषाञ्चिच्च मते रोऽपि, प्रत्याहारोऽपरो मतः।
लस्थावर्णेन वाञ्छन्त्य—नुनासिकबलादिह । २ ॥

प्रत्याहार	सञ्ज्ञी—वर्ण	उदाहरण
१ अण्	अ, इ, उ।	उरण्रपर [२६]
२ अक	अ, इ, उ, ऋ, ऌ।	अक सवर्णे दीर्घ [४२]
३ इक्	इ, उ, ऋ, ऌ।	इको यणचि [१५]
४ उक्	उ, ऋ, ऌ।	उगितश्च [१२४६]
५ एङ्	ए, ओ।	एङ पदान्तादति [४३]
६ अच्	सम्पूर्ण स्वर	इको यण् अचि [१५]
७ इच्	'अ' को छोड कर सब स्वर।	नाद् इचि [१२७]
८ एच्	ए, ओ, ऐ, औ।	एचोऽयवायाव [२२]
९ ऐच्	ऐ, औ।	वृद्धिराद् ऐच् [३२]
१० अट्	स्वर, ह,य, व, र।	अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि [१३८]

११ अण्	स्वर, ह, अन्त स्थ ।	अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय [११]
१२ इण्	'अ' को छोड स्वर, ह, अन्त स्थ ।	इण षीध्वलुङ्लिटा धोङ्गात् [५१४]
१३ यण्	अन्त स्थ ।	इको यण् अचि [१५]
१४ अम्	स्वर, ह, अन्त स्थ, वर्गपञ्चम।	पुम खयि+अम्परे [६४]
१५ यम्	अन्त स्थ, वर्गपञ्चम ।	हलो यमा यमि लोप । [६६७]
१६ ञम्	वर्गपञ्चम ।	ञमन्ताड्ड ।[उणा० १११]
१७ ङम्	ङ, ण, न ।	ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम् [८६]
१८ यञ्	अन्त स्थ, वर्गपञ्चम, झ, भ ।	अतो दीर्घो यञि [३६०]
१९ झष्	वर्ग-चतुर्थ ।	एकाचो बशो भष झषन्तस्य स्ध्वो [२५३]
२० भष्	'झ' को छोड वर्ग-चतुर्थ ।	एकाचो बशो भष्० [२५३]
२१ अश्	स्वर, ह, अन्त स्थ, वर्गों के ५,४,३।	भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि [१०८]
२२ हश्	ह, अन्त स्थ, वर्गों के ५,४,३ ।	हशि च [१०७]
२३ वश्	व, र, ल, वर्गों के ५,४,३ ।	नेड्वशि कृति [८००]
२४ जश्	वर्ग-तृतीय ।	झला जशोऽन्ते [६७]
२५ झश्	वर्गों के चतुर्थ, तृतीय ।	झला जश् झशि [१६]
२६ बश्	ब, ग, ,ड, द ।	एकाचो बशो भष्० [२५३]
२७ छव्	छ, ठ, थ, च, ट, त ।	नश्छवि+अप्रशान् [६५]
२८ यय्	अन्त स्थ, सब वर्ग ।	अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण [८६]
२९ मय्	'ञ' को छोड कर सब वर्ग ।	मय उञो वो वा [५८]
३० झय्	वर्गों के ४र्थ, ३य, २य, प्रथम ।	झयो होऽन्यतरस्याम् [७५]
३१ खय्	वर्गों के प्रथम द्वितीय ।	पुम खयि+अम्परे [६४]
३२ चय्	वर्गों के प्रथम वर्ण ।	चयो द्वितीया शरि पौष्कर-सादेरिति वाच्यम् [वा० १४]
३३ यर्	अन्त स्थ, वर्ग, श, ष, स ।	यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा [६८]
३४ झर्	वर्गों के ४, ३, २, १, श, ष, स ।	झरो झरि सवर्णे [७३]
३५ खर्	वर्गों के १, २, श, ष, स ।	खरि च [७४]
३६ चर्	वर्गों के १, श, ष, स ।	अभ्यासे चर् च [३६६]
३७ शर्	श, ष, स ।	ङ्णो कुक्टुक् शरि [८६)
३८ अल्	सब स्वर, सब व्यञ्जन ।	अलोऽन्त्यस्य (२१)
३९ हल्	सब व्यञ्जन ।	हलोऽनन्तरा सयोग (१३)

४०	वल्	'य' को छोड सब व्यञ्जन।	लोपो व्योर्वलि (४२९)
४१	रल	'य' 'व' छोड सब व्यञ्जन।	रलो व्युपधाद्धलादेः सश्च (८८१)
४२	झल्	वर्गों के ४, ३, २, १, ऊष्म।	झलो झलि (४७८)
४३	शल्	ऊष्म वर्ण।	शल इगुपधादनिटः क्सः (५९०)
४४	र्	र, ल।	उरण् र-पर (२९) इसे कई वैयाकरण स्वीकार नही करते हैं।

अब व्याकरण-शास्त्र मे महोपकारक वक्ष्यमाण सवर्णसञ्ज्ञा और सवर्णग्राहक के उपयोगी अच् के अठारह भेद सिद्ध करते है।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—५ ऊकालोऽज्झ्रस्व-दीर्घ-प्लुतः ।१।२।२७॥

उश्च ऊश्च ऊ३श्च=वः। वां काल इव कालो यस्य सोऽच् क्रमाद् ध्रस्व-दीर्घ-प्लुतसञ्ज्ञः स्यात्। स प्रत्येकमुदात्तादिभेदेन त्रिधा ॥

अर्थः—एकमात्रिक, द्विमात्रिक तथा त्रिमात्रिक उकार के उच्चारणकाल के सदृश जिस अच् का उच्चारणकाल हो, वह अच् क्रमश ह्रस्व, दीर्घ-प्लुत सञ्ज्ञक होता है। उस अच के तीनों भेदो मे हर एक के पुन उदात्त आदि तीन २ भेद होते है।

व्याख्या—ऊकाल ।१।१। अच् ।१।१। ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत ।१।१। समास—उश्च ऊश्च ऊ३श्च=व। इतरेतरद्वन्द्व। व कालो यस्य स=ऊकाल। बहुव्रीहिसमास। (एकमात्रिक उकार, द्विमात्रिक उकार तथा त्रिमात्रिक उकार का द्वन्द्व करने से 'जस्' विभक्ति मे 'व' रूप निष्पन्न होता है। यहा सब उकार लक्षणाशक्ति से अपने२ उच्चारणकाल के सदृश अर्थ वाले हैं।) ह्रस्वश्च दीर्घश्च प्लुतश्च=ह्रस्वदीर्घप्लुत। इतरेतरद्वन्द्व। (यहा इतरेतरद्वन्द्व होने से यद्यपि बहुवचन होना चाहिये था तथापि सौत्र होने के कारण एकवचन होगया है।) अर्थ—(ऊकाल) एकमात्रिक उकार के सदृश उच्चारणकाल वाला, द्विमात्रिक उकार के सदृश उच्चारणकाल वाला तथा त्रिमात्रिक उकार के सदृश उच्चारणकाल वाला (अच्) अच्, क्रमश. (ह्रस्व-दीर्घ-प्लुत) ह्रस्व दीर्घ तथा प्लुत सञ्ज्ञक होता है। भाव—यदि एकमात्रिक* उकार के उच्चारणकाल के समान किसी अच् का उच्चारण-काल

---

* कई लोग—जितनी देर में आँख झपकती है उसे 'मात्रा' कहते हैं। कुछ लोग—जितनी देर में बिजली चमकती है उसे 'मात्रा' कहते हैं। अन्य लोग—जितनी देर में झरोखे के बीच कण दिखाई देता है उसे 'मात्रा' कहते हैं। इतर लोग—चाष=नीलकण्ठ पक्षी जितनी देर में बोलता है उसे 'मात्रा'

होगा तो वह ह्रस्व, यदि द्विमात्रिक उकार के उच्चारण-काल के समान किसी अच् का उच्चारण काल होगा तो वह दीर्घ और यदि त्रिमात्रिक उकार के उच्चारणकाल के समान अच् का उच्चारण-काल होगा तो वह प्लुत सञ्ज्ञक होगा।

कुक्कुट के 'कु कू कू३' शब्द मे क्रमश ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत उकार का उच्चारण स्पष्ट प्रतीत होता है अत यहा दृष्टान्त के लिये उकार को उपयुक्त समझा गया है वरन् 'आकाल' आदि भी कहा जा सकता था।

इस प्रकार अचो के ह्रस्व, दीर्घ, और प्लुत ये तीन २ भेद हो जाते है। (ध्यान रहे कि यहा सामान्यत कथन किया गया हैं, सब अचो के तीन २ भेद नही होते हैं, पर हा यह तीनो भेद अचो के ही होते है अन्य वर्णों के नहीं) अब अग्रिम तीन सूत्रों से प्रत्येक के उदात्त, अनुदात्त और स्वरित तीन २ भेद कहे जाते है।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—६ उच्चैरुदात्तः ।१।२।२९॥

[ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेषूर्ध्वभागे निष्पन्नोऽजुदात्तसञ्ज्ञः स्यात्]

सञ्ज्ञा-सूत्रम्—७ नीचैरनुदात्तः ।१।२।३०॥

[ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेष्वधोभागे निष्पन्नोऽजनुदात्त-सञ्ज्ञः स्यात्।]

अर्थः—भागो वाले तालु आदि स्थानो मे जो अच ऊपरले भाग मे बोला जाय वह 'उदात्त' होता है ॥ ६ ॥

भागो वाले तालु आदि स्थानो मे जो अच निचले भाग मे बोला जाय वह 'अनुदात्त' होता है ॥ ७ ॥

व्याख्या—'उच्चै' इत्यव्ययपदम्। उदात्त ।१।१। अच् ।१।१। ('ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घ-प्लुत' सूत्र से)॥६॥ 'नीचै' इत्यव्ययपदम्। अनुदात्त ।१।१। अच् ।१।१। ('ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घ-प्लुत' सूत्र से) ॥७॥ 'उच्चैस्' शब्द का अर्थ ऊँचा तथा 'नीचैस्' शब्द का अर्थ नीचा है। भाष्य के प्रमाणानुसार वर्णों का अपने २ स्थानों में ही ऊँचा व नीचापन समझना चाहिये। यदि स्थान अखण्ड हो अर्थात् उनके भाग न हो सकते हो तो ऊँचा नीचापन नहीं बन सकता। अत स्थानो के दो भाग मानने पडेंगे एक ऊँचा भाग दूसरा नीचा भाग। वृत्ति मे इसीलिये 'सभाग' शब्द लिखा गया है। अर्थ —(उच्चै) अपने स्थान के ऊपर वाले भाग मे

–मानते हैं। ये सब प्राचीन शिक्षाकार आचार्यों के मत हैं। परन्तु आजकल एक सैकेण्ड के समय को मात्रा समय मानना सरल प्रतीत होता है। ह्रस्व के बोलने में एक सैकेण्ड, दीर्घ के बोलने मे दो सैकेण्ड तथा प्लुत के बोलने में तीन सैकेण्ड का समय लगाना चाहिए।

उच्चार्यमाण (अच्) अच् (उदात्त) उदात्तसञ्ज्ञक होता है ॥ ६ ॥ (नीचै) अपने स्थान के नीचे वाले भाग मे उच्चार्यमाण (अच्) अच् (अनुदात्त) अनुदात्तसञ्ज्ञक होता है ॥ ७ ॥ यथा अकार का 'कण्ठ' स्थान है। यदि अकार कण्ठ मे उपरले भाग से बोला जायगा तो उदात्त, यदि निचले भाग मे बोला जायगा तो अनुदात्त सञ्ज्ञक होगा। इसी प्रकार इकार यदि अपने तालुस्थान के उपरले भाग मे बोला जायगा तो उदात्त, यदि निचले भाग से बोला जायगा तो अनुदात्त सञ्ज्ञक होगा। एवम् आगे उकार आदियो के विषय मे भी जान लेना चाहिये।

कुछ लोग 'जो ऊची स्वर से बोला जाय वह उदात्त होता है' ऐसा अनर्थ किया करते है। उनके अनर्गल–प्रलाप से सावधान रहना चाहिये, क्योकि तब मानसिक जप मे उदात्तत्व न माना जा सकेगा, पर यह अनिष्ट है।

नोट—इन सूत्रो की वृत्ति 'लघुकौमुदी' मे नही दी गई। हमने सुगमता के लिये 'सिद्धान्तकौमुदी' से ले कर कोष्ठ मे दे दी है।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—८ **समाहारः स्वरितः । १ । २ । ३१ ॥**

उदात्तानुदात्तत्वे वर्णधर्मौ समाह्रियेते यस्मिन् सोऽच् स्वरितसञ्ज्ञः स्यात् । स नवविधोऽपि प्रत्येकमनुनासिकाननुनासिकत्वाभ्यां द्विधा ।

अर्थः—उदात्त और अनुदात्त वर्णों के धर्म जो उदात्तत्व और अनुदात्तत्व ये दोनो जिस अच् मे विद्यमान हो वह अच् 'स्वरित' सञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—उदात्तस्य ।६।१। अनुदात्तस्य ('उच्चैरुदात्त' से 'उदात्त तथा 'नीचैरनुदात्त' से 'अनुदात्त' पद का अनुवर्त्तन होता है। इन दोनो का यहा षष्ठी–विभक्ति मे विपरिणाम हो जाता है। ये दोनो पद भाष्य के प्रमाणानुसार धर्मप्रधान है, अर्थात् इनका अर्थ उदात्तत्व और अनुदात्तत्व है।) समाहार ।१।१। (समाहरणम्=समाहार., भावे घञ्। समाहारोऽस्त्यस्मिन्निति समाहार, 'अर्श आदिभ्योऽच' [११९१] इति मत्वर्थीयोऽच-प्रत्यय।) स्वरित ।१।१। अर्थ —(उदात्तस्य=उदात्तत्वस्य) उदात्तपने (अनुदात्तस्य=अनुदात्तत्वस्य) और अनुदात्तपने के (समाहार) मेल वाला (अच) अच (स्वरित) स्वरितसञ्ज्ञक होता है। पूर्व-सूत्रो मे स्थानों के दो भाग कह आये है, एक ऊपर वाला भाग और दूसरा नीचे वाला भाग। जो अच् इन दोनों भागो से बोला जाए उसे 'स्वरित' कहते है। यथा अकार का 'कण्ठ' स्थान होता है, यदि अकार कण्ठ के उपरले और निचले दोनों भागो से बोला जायगा तो 'स्वरित' सञ्ज्ञक होगा। इसी प्रकार अपने २ स्थानों के दोनों भागों से बोले जाने वाले इकार आदि भी 'स्वरित' सञ्ज्ञक होंगे।

अब इस प्रकार ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत प्रत्येक के उदात्त, अनुदात्त तथा स्वरित तीन २ भेद हो कर प्रत्येक अच् के नौ २ भेद हो जाते है। (ध्यान रहे कि यह सामान्यत कथन किया गया है,) क्योकि जिन अचो के ह्रस्व या दीर्घ नही होते, उनके ता छः २ भेद ही होते है।) ये नौ भेद निम्नलिखित है—

१ ह्रस्व	उदात्त	४ दीर्घ	उदात्त	७ प्लुत	उदात्त
२ "	अनुदात्त	५ "	अनुदात्त	८ "	अनुदात्त
३ "	स्वरित	६ "	स्वरित	९ "	स्वरित

इन नौ भेदो मे भी हर एक के पुन अनुनासिक तथा अननुनासिक धर्मों के कारण दो २ भेद होकर प्रत्येक अच् के अठारह २ भेद हो जाते है यह सब अग्रिम सूत्र मे प्रतिपादन किया गया है।

कोई समय था जब इन उदात्त आदि स्वरो का प्रयोग लोक मे भी किया जाता था, पर अब इन का प्रचार लोक से सर्वथा नष्ट हो गया है। ये प्राय वेद मे ही प्रयुक्त होते है। वेद मे इनका सङ्केत चिह्नो द्वारा किया जाता है। उदात्त के लिये कोई चिह्न नही होता, अनुदात्त के नीचे पडी रेखा तथा स्वरित के ऊपर खडी रेखा का चिह्न होता है। यथा—

उदात्त— अ । इ । । इत्यादि ।

अनुदात्त— अ॒ । इ॒ । उ॒ । " ।

स्वरित— अ॑ । इ॑ । उ॑ । " ।

सामवेद आदि मे अन्य प्रकार के भी चिह्न होते है जो वैदिक ग्रन्थों से जानने चाहिये।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—९ मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः ।

। १ । १ । ८ ॥

मुख-सहित-नासिकयोच्चार्यमाणो वर्णोऽनुनासिकसञ्ज्ञः स्यात्। ❀ तदित्थम्—अ इ उ ऋ एषां वर्णानां प्रत्येकमष्टादश भेदाः। लृ-वर्णस्य द्वादश, तस्य दीर्घाभावात्। एचामपि द्वादश, तेषां ह्रस्वाभावात्।

❀अत्र "मुखसहितया नासिकया" इति व्यास एव न्याय्य । समासे तु शाकपार्थिवादित्वात् 'सहित' पदलोपप्राप्ति ।

अर्थः—मुख सहित नासिका से बोला जाने वाला वर्ण 'अनुनासिक' सञ्ज्ञक होता है। इस प्रकार—'अ, इ, उ, ऋ' इन वर्णों मे प्रत्येक के अठारह २ भेद हो जाते हैं। 'लृ' वर्ण के—दीर्घ न होने से बारह भेद हो जाते है। एचों (ए, ओ, ऐ, औ) के भी—ह्रस्व न होने से बारह २ भेद होते है।

व्याख्या— मुख-नासिका-वचन ।१।१। अनुनासिक ।१।१। समास —मुखेन सहिता= मुख-सहिता, तृतीया-तत्पुरुष-समास, मुख-सहिता नासिका=मुखनासिका, 'शाकपार्थिवादीना सिद्धय उत्तरपदलोपस्योपसङ्ख्यानम्' इति वार्तिकेन समास । उच्यत इति वचन (वर्ण इत्यर्थ), कर्मणि ल्युट । मुखनासिकया वचन =मुखनासिकावचन । तृतीया-तत्पुरुष-समास । अर्थ —(मुख-नासिका-वचन) मुख सहित नासिका से बोला जाने वाला वर्ण (अनुनासिक) 'अनुनासिक' सञ्ज्ञक होता है।

भाव यह है कि मुख से तो प्रत्येक वर्ण बोला ही जाता है, पर जो मुख और नासिका दोनो से बोला जाए वह अनुनासिक होता है। यथा ङ्, ञ्, ण्, न्, म् इत्यादि मुख और नासिका दोनो से बोले जाते है अत 'अनुनासिक' सञ्ज्ञक है। इसी प्रकार यदि अच् मुख और नासिका दोनो से बोला जाएगा तो 'अनुनासिक' होगा और यदि केवल मुख से ही बोला जायगा तो 'अननुनासिक (न अनुनासिक, जो अनुनासिक नहीं) होगा। इस प्रकार पीछे कहे नौ २ भेदो के अनुनासिक और अननुनासिक धर्म के कारण अठारह २ भेद हो जाते हैं।

अब अचो का सामान्यत भेदनिरूपण करके विशेषत निरूपण करते हैं।

'अ, इ, उ, ऋ' इन मे से प्रत्येक वर्ण के अठारह भेद होते है। 'लृ' वर्ण के बारह भेद होते है। इस का दीर्घ न होने से छः भेद कम हो जाते हैं। 'एच्' अर्थात् 'ए, ओ, ऐ, औ' वर्णों के भी बारह भेद होते है, क्योकि इनको ह्रस्व नही होता। ह्रस्व न होने से छः २ भेद कम हो जाते है। यह ध्यान रहे कि 'ए, ऐ' व 'ओ, औ' परस्पर ह्रस्व दीर्घ नहीं, किन्तु सब दीर्घ और भिन्न २ जाति वाले है। इन सब की तालिका यथा—

अ, इ, उ, ऋ, लृ	अ, इ, उ, ऋ, ए, ओ, ऐ, औ	अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ
१ ह्रस्व उदात्त अनुनासिक	७ दीर्घ उदात्त अनुनासिक	१३ प्लुत उदात्त अनुनासिक
२ " " अननुनासिक	८ " " अननुनासिक	१४ " " अननुनासिक
३ " अनुदात्त अनुनासिक	९ " अनुदात्त अनुनासिक	१५ " अनुदात्त अनुनासिक
४ " " अननुनासिक	१० " " अननुनासिक	१६ " " अननुनासिक
५ " स्वरित अनुनासिक	११ " स्वरित अनुनासिक	१७ " स्वरित अनुनासिक
६ " " अननुनासिक	१२ " " अननुनासिक	१८ " " अननुनासिक

प्रकरण का सार:—

इस प्रकरण का सार यह है कि सजातीय (एक ही स्थान वाले) अचो मे परस्पर तीन प्रकार के भेद होते है। १ कालकृत भेद। २ स्थान भाग कृत भेद। ३ नासिकाकृत भेद।

'ऊकालोऽज्ह्रस्वदीर्घप्लुत' (४) सूत्र कालकृत भेद करता है। 'उच्चैरुदात्त, नीचैरनुदात्त, समाहार स्वरित' (६, ७, ८) ये सब स्थानभागकृत भेद करते हैं।

'मुखनासिकावचनोऽनुनासिक' (६) यह सूत्र नासिकाकृत भेद करता है। उदाहरण यथा—

अँ, अ, अँ, अ, अँ, अ।

आँ, आ, आँ, आ, आँ आ।

आँ३, आ३, आँ३, आ३, आँ३, आ३।

१ 'अँ' और 'अ' मे केवल नासिका कृत भेद है क्योकि पहला अनुनासिक और दूसरा अननुनासिक है। दोनों एक मात्रिक हैं अत कालकृत भेद नहीं है दोनो उदात्त होने के कारण स्थान के उर्ध्वभाग मे निष्पन्न होते हैं अत स्थानभागकृत भेद भी नही है।

२ 'अ' और 'अँ' में नासिकाकृत तथा स्थान भागकृत दो प्रकार का भेद है। क्योंकि पहला अननुनासिक तथा कण्ठ स्थान के ऊर्ध्वभाग मे निष्पन्न होता है, दूसरा अनुनासिक तथा कण्ठ स्थान के अधोभाग मे निष्पन्न होता है। इन दोनों मे कालकृत भेद नही है क्योंकि दोनो एकमात्रिक हैं।

३ 'अ' और 'आँ' में तीनों प्रकार का भेद है। पहला एकमात्रिक तथा दूसरा द्विमात्रिक है। अत कालकृत भेद हुआ, पहला उदात्त होने से ऊर्ध्वभाग मे निष्पन्न होने वाला तथा दूसरा अनुदात्त होने से अधोभाग में निष्पन्न होने वाला है अत स्थानभागकृत भेद हुआ, पहला अननुनासिक तथा दूसरा अनुनासिक है अत नासिकाकृत भेद हुआ।

सजातीय अर्थात् एक स्थान वाले अचों मे इन तीन भेदों से अतिरिक्त अन्य कोई भेद नहीं हो सकता, पर विजातीय अर्थात् भिन्न२ स्थानों वाले अचों में चौथा 'स्थानकृत' भेद भी हुआ करता है। यथा—'अँ' और 'ई' में पहला कण्ठस्थानीय तथा दूसरा तालुस्थानीय है अत स्थानकृत भेद है।

नोट—विद्यार्थियों को अचों के परस्पर इन चार प्रकार के भेदों का सुचारु रूप से अभ्यास कर लेना चाहिये।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१० **तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्।**

१ । १ । ६ ॥

ताल्वादिस्थानमाभ्यन्तरप्रयत्नश्चेत्येतद् द्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः सवर्ण-सञ्ज्ञं स्यात् ।

अर्थः—तालु आदि स्थान तथा आभ्यन्तर-प्रयत्न ये दोनो जिस वर्ण के जिस वर्ण से तुल्य हो वह वर्णजाल (अक्षर- समुदाय) परस्पर सवर्णसञ्ज्ञक होता है ।

व्याख्या—तुल्यास्यप्रयत्नम् ।१।१। सवर्णम् ।१।१। समास —आस्ये (मुखे) भवम्= आस्यम्, 'शरीरावयवाच्च' (१०६१) इति भवार्थे यत्प्रत्यय । 'यस्येति च' (२३६) इत्य-लोपे 'हलो यमा यमि लोप ' (६६७) इति यकारलोप , प्रकृष्टो यत्न =प्रयत्न , यद्वा प्रारम्भिको यत्न प्रयत्न 'कुगतिप्रादय '(२४६) इति प्रादिसमास । आस्यञ्च प्रयत्नश्च=आस्यप्रयत्नौ, इतरेतरद्वन्द्व । तुल्यौ आस्य-प्रयत्नौ यस्य (वर्णजालस्य) तत्=तुल्यास्यप्रयत्नम् बहुव्रीहि-समास ।अर्थ —(तुल्यास्य- प्रयत्नम्) जिस वर्ण समूह का पारस्परिक ताल्वादिस्थान तथा आभ्यन्तर प्रयत्न तुल्य हो वह (सवर्णम्) परस्पर सवर्ण-सञ्ज्ञक होता है ।

स्थान कण्ठ से शुरु होते है अत 'ताल्वादि'की अपेक्षा 'कण्ठादि' कहना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । कई लोग—'तालुन आदिस्ताल्वादि (कण्ठ)। तालु आदिर्ये-षान्तानीमानि=ताल्वादीनि । ताल्वादिश्च ताल्वादीनि च=ताल्वादीनि, एकशेष । इस प्रकार विग्रह कर के कण्ठ को भी ला घसीटते है, परन्तु हमारी सम्मति मे सीधा 'कण्ठादि' न कह कर 'ताल्वादि' कहना द्रविड-प्राणायाम से कम नही ।

लोक मे आभ्यन्तर तथा बाह्य यत्नो के लिये सामान्यतया 'प्रयत्न' शब्द प्रयुक्त होता है, पर शास्त्र मे इन दोनों के लिये 'यत्न' शब्द का ही प्रयोग होता है । इस सूत्र मे 'यत्न' शब्द के साथ 'प्र' जुड़ा हुआ है, जो बाह्ययत्न को हटा कर आभ्यन्तरयत्न का ही बोध कराता है । तथाहि—'प्रारम्भिको यत्न =प्रयत्न , अथवा प्रकृष्टो यत्न =प्रयत्न ' जो पहला यत्न अथवा उत्कृष्ट यत्न हो उसे 'प्रयत्न' कहते है । इस रीति से 'आभ्यन्तर' ही 'प्रयत्न' ठहरता है, क्योंकि वह वर्णोत्पत्ति से पूर्व होता है तथा वर्णोत्पत्ति का कारण होने से उत्कृष्ट है । बाह्ययत्न वर्णोत्पत्ति के पश्चात् होने तथा वर्णोत्पत्ति मे कारण न होने से वैसा नहीं है ।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि जब तक सम्पूर्ण स्थान और सम्पूर्ण प्रयत्न तुल्य न हो तब तक 'सवर्ण' सञ्ज्ञा नहीं होती । यथा 'इ' और 'ए' वर्णों का प्रयत्न तुल्य है, तालुस्थान भी तुल्य है, परन्तु 'ए' का 'इ' से कण्ठस्थान अधिक है अत इन की सवर्णसञ्ज्ञा

नही होती। सवर्णसञ्ज्ञा न होने से 'भवति×एव' इत्यादि मे अनिष्ट सवर्ण-दीर्घ की निवृत्ति हो जाती है। यह सब मुनिवर पाणिनि के 'यजुष्येकेषाम्' (८।३।१०४) यजुषि+एकेषाम्) सूत्र में सवर्णदीर्घ न कर के यण् करने से विदित होता है।

अब यहा यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि सम्पूर्ण स्थान+प्रयत्न के साम्य होने से ही सावर्ण्य माना जायगा तो 'क' और 'ङ' की सवर्ण सञ्ज्ञा न हो सकेगी, क्योंकि कण्ठस्थान और स्पृष्ट प्रयत्न के तुल्य होने पर भी ङकार का नासिकास्थान अधिक होता है। और यदि इन की सवर्ण-सञ्ज्ञा न होगी तो 'क्विन्प्रत्ययस्य कु' (३०४) सूत्र मे ककार ङकार का ग्रहण न कराएगा इस से 'प्राङ्' आदि प्रयोगो मे नकार को ङकार न हो कर अनिष्ट प्रयोग निष्पन्न होगे। इसका समाधान यह है कि सूत्र मे आस्य+प्रयत्न के तुल्य होने का उल्लेख है। 'आस्य' का अर्थ 'मुख मे होने वाला स्थान' है। ककार और ङकार का मुख में होने वाला स्थान=कण्ठ तुल्य ही है। 'नासिका' तो मुख से बाहर का स्थान है, फिर चाहे तुल्य हो या न हो चिन्ता नही, सवर्णसञ्ज्ञा हो जाती है। निष्कर्ष यह है कि—

यदि किसी वर्ण के मुखगत कण्ठादि स्थान तथा आभ्यन्तर यत्न अन्य वर्ण से पूरी तरह से तुल्य हो तो वे परस्पर 'सवर्ण' सञ्ज्ञक होते हैं।

स्मरण रहे कि 'ए' और 'ऐ' की तथा 'ओ' और 'औ' की सम्पूर्ण स्थान+प्रयत्न के साम्य होने पर भी सवर्णसञ्ज्ञा नही होती, इस का कारण यह है कि मुनिवर पाणिनि ने 'एओङ्' 'ऐऔच्' सूत्रों में दोनो का पृथक २ निर्देश किया है।

[लघु०] वा०—१ ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्।

अर्थः—ऋकार और लृकार वर्णों की परस्पर 'सवर्ण' सञ्ज्ञा कहनी चाहिये।

व्याख्या—'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' (१०) सूत्र के अनुसार ऋकार और लृकार की परस्पर 'सवर्ण' सञ्ज्ञा नहीं हो सकती है, क्योंकि ऋकार का स्थान मूर्धा और लृकार का स्थान दन्त है। परन्तु 'तवल्कार' आदि प्रयोगों के लिये इनकी सवर्ण-सञ्ज्ञा करना महा आवश्यक है। इस त्रुटि की पूर्त्ति मुनिवर कात्यायन ने उपर्युक्त वार्त्तिक द्वारा करदी है। अब दोनों का स्थानसाम्य न होने पर भी सवर्णसञ्ज्ञा सिद्ध हो जाती है।

नोट—'न हि सर्वः सर्वं जानाति' [हर एक पुरुष हर एक बात का ज्ञाता नही हुआ करता।] इस न्यायानुसार मुनिवर पाणिनि से जो कुछ छूट गया उसकी पूर्त्ति करने तथा मुनिवर पाणिनि के सूत्रपाठ का तात्पर्य समझाने के लिये महामुनि कात्यायन ने 'वार्त्तिक+पाठ' का निर्माण किया है। इस 'वार्त्तिक-पाठ' की भी त्रुटियों को दूर करने के लिये तथा श्रीकात्यायन का आशय स्पष्ट करने के लिये महामुनि पतञ्जलि ने 'महाभाष्य' नामक अति-

सुन्दर बृहत्काय ग्रन्थ रचा है। यही तीनों मुनि व्याकरण के 'मुनित्रय' कहलाते हैं और इन के कारण ही इस पाणिनीय-व्याकरण को 'त्रिमुनिव्याकरणम्' कहते है। इन मुनियों में उत्तरोत्तर मुनि अर्थात् पाणिनि से कात्यायन तथा कत्यायन से पतञ्जलि अधिक प्रामाणिक है। इस का कारण यह है कि जगत् में यह नियम है कि सब से पहले पुरुष को जिन कठिनाइयों का सामना करना पडता है वैसा उत्तरोत्तर पुरुषों को नहीं, क्योंकि पहले पुरुष की सम्पूर्ण विचार धारा उत्तर पुरुष को अनायास प्राप्त हो जाती है इस से वह उस से आगे के लिये यत्न किया करता है अत एव बुद्धिमान् लोग उत्तरोत्तर को अधिक प्रामाणिक माना करते हैं। **'उत्तरोत्तरं मुनीनां प्रामाण्यम्'** यह उक्ति भी इसी आधार पर आश्रित है।

सूचना—इस ग्रन्थ मे कात्यायन को वार्त्तिकों के आदि में **'वा०'** ऐसा चिह्न कर दिया गया है।

सवर्णसञ्ज्ञा में स्थान और प्रयत्न का उपयोग होने से अब उनका विवेचन किया जाता है।

[लघु०] अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः।

अर्थः— अठारह प्रकार के अवर्ण, कवर्ग, हकार तथा विसर्ग का कण्ठ स्थान होता है।

व्याख्या—अकुहविसर्जनीयानाम् ।६।३। कण्ठ ।१।१। समास —अश्च कुश्च हश्च विसर्जनीयश्च=अकुहविसर्जजनीया, तेषाम्=अकुहविसर्जनीयानाम्, इतरेतरद्वन्द्व । यहा 'अ' से लोकप्रसि-द्ध्यनुसार सारे का सारा अवर्णकुल तथा 'कु' से कवर्ग का ग्रहण समझना चाहिये। विसर्जनीय और विसर्ग पर्याय अर्थात् एकार्थवाची शब्द हैं। यहा यह ध्यान रहे कि विसर्गों का कण्ठस्थान तभी होता है जब वे आकाराश्रित अर्थात् अकार से परे होते हैं; जैसा कि पाणिनि के नाम से प्रचलित शिक्षा में कहा गया है—

'अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थान भागिनः' [श्लो० २२]

अयोगवाहों (यम, अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय) का वही स्थान होता है जिस के वे आश्रित होते हैं। यम और अनुस्वार नासिकास्थानीय ही रहते हैं, क्योंकि 'शिक्षा' में कहा गया है—

'अनुस्वारयमानाञ्च नासिकास्थानमुच्यते' । [श्लोक० २२]

अर्थात् अनुस्वार और यमों का 'नासिका' स्थान होता है। अब अयोगवाहों में शेष रहे जिह्वामूलीय, उपध्मानीय और विसर्ग। इन में से जिह्वामूलीय का 'जिह्वामूल' ही स्थान निश्चित है, इसी प्रकार उपध्मानीय भी सदैव पकार व फकार के आश्रित होने से

ओष्ठस्थानीय ही रहते हैं। तो अब विसर्ग के सिवाय अयोगवाहों मे अन्य कोई अनियतस्थान वाला नहीं रहा। उदाहरण यथा—'कवि' यहा इकाराश्रित होने से विसर्जनीय का तालु-स्थान होता है। 'भानु' यहा उकाराश्रित होने से विसर्जनीय का ओष्ठस्थान है। 'रामयो' यहा ओकाराश्रित होने से विसर्गजीनय का कण्ठ+ओष्ठ स्थान है। इसी प्रकार अन्यत्र भी जिस २ के आश्रित विसर्ग होगे उस २ का वह २ स्थान विसर्गों का भी होगा।

[लघु०] इचुयशानां तालु।

अर्थः—अठारह प्रकार के इवर्ण, चवर्ग, दो प्रकार के यकार तथा शकार का 'तालु' स्थान होता है।

व्याख्या—इचुयशानाम् ।६।३। तालु ।१।१। समास·—इश्च चुश्च यश्च शश्च=इचुयशा·, तेषाम्=इचुयशानाम्, इतरेतरद्वन्द्व। यहां लोकप्रसिद्ध्यनुसार 'इ' से इवर्णकुल, 'चु' से चवर्ग तथा 'य' से अनुनासिक दोनो प्रकार के यकारो का ग्रहण होता है। दान्तों के पीछे जो कठिन मुख की छत है उसे 'तालु' कहते है।

[लघु०] ऋ-टु-र-षाणां मूर्धा।

अर्थः—अठारह प्रकार के ऋवर्ण, टवर्ग रेफ तथा षकार का 'मूर्धा' स्थान होता है।

व्याख्या—ऋटुरषाणाम् ।६।३। मूर्धा ।१।१। समास·—ऋ च टुश्च रश्च षश्च=ऋटुरषा, तेषाम्=ऋटुरषाणाम्, इतरेतरद्वन्द्व। 'तालु' स्थान से पीछे मुख की छत का जो कोमल भाग है उसे 'मूर्धा' कहते है। आजकल षकार का उच्चारण सम्यग् रीत्या नहीं हुआ करता अत· इसका विशेष ध्यान रखना चाहिये।

[लघु०] लृ-तु-ल-सानां दन्ताः।

अर्थः—बारह प्रकार के लृकार, तवर्ग, दो प्रकार के लकार तथा सकार का 'दन्त' स्थान होता है।

व्याख्या—लृतुलसानाम् ।६।३। दन्ताः ।१।३। समास·—लृ च तुश्च लश्च सश्च=लृतुलसा, तेषाम्=लृतुलसानाम्, इतरेतरद्वन्द्व। यहा 'दन्त' से तात्पर्य ऊपर वाले दान्तो के पीछे साथ लगे हुए मास से है, अतएव भग्न दान्तो वाला पुरुष भी इन वर्णों का उच्चारण कर सकता है।

[लघु०] उ-पूपध्मानीयानामोष्ठौ।

अर्थः—अठारह प्रकार के उकार, पवर्ग तथा उपध्मानीय का ओष्ठ (होंठ) स्थान होता है।

व्याख्या—उपूपध्मानीयानाम् ।६।३। ओष्ठौ ।१।२। समास—उश्च पुश्च उपध्मानीयश्च=उपूपध्मानीयाः, तेषाम्=उपूपध्मानीयानाम् । इतरेतरद्वन्द्व । अच् से परे तथा पकार फकार से पूर्व ' ' इस प्रकार उपध्मानीय होते हैं । इनका विवेचन आगे इसी प्रकरण मे किया जायगा ।

[लघु०] ञ-म-ङ-ण-नानां नासिका च ।

अर्थः—ञ्, म्, ङ्, ण्, न् इन पाञ्च वर्णों का 'नासिका' स्थान भी होता है ।

व्याख्या—ञमङणनानाम् ।६।३। नासिका ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । समास—ञश्च मश्च ङश्च णश्च नश्च=ञमङणनाः, तेषाम्=ञमङणनानाम्, इतरेतरद्वन्द्व । आदिष्वकार उच्चारणार्थ । यहां मूल मे 'च' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि इन वर्णों का अपने २ वर्गों का स्थान भी होता है । यथा—ञकार का तालुस्थान और नासिकास्थान दोनों हैं । इस प्रकार मकारादि मे भी समझ लेना चाहिये ।

[लघु०] एदैतोः कण्ठ-तालु ।

अर्थः—बारह प्रकार के एकार तथा ऐकार का 'कण्ठ' और 'तालु' स्थान होता है ।

व्याख्या—एदैतोः ।६।२। कण्ठतालु ।१।१। एच्च ऐच्च=एदैतौ, तयोः=एदैतोः, इतरेतरद्वन्द्व । कण्ठश्च तालु च=कण्ठ=तालु । प्राण्यङ्गत्वात् समाहार-द्वन्द्व । मूल में तकार सुखपूर्वक उच्चारण के लिये ग्रहण किया गया है, इसे तपर नहीं समझना चाहिये ।

[लघु०] ओदौतोः कण्ठोष्ठम् ।

अर्थः—बारह प्रकार के ओकार तथा औकार का 'कण्ठ' और 'ओष्ठ' स्थान होता है ।

व्याख्या—ओदौतोः ।६।२। कण्ठोष्ठम् ।१।१। समास—ओच्च औच्च=ओदौतौ, तयोः=ओदौतोः, इतरेतर-द्वन्द्व । दन्ताश्च ओष्ठौ च=दन्तोष्ठम्, प्राण्यङ्गत्वात् समाहारद्वन्द्व । 'ओत्वोष्ठयोः समासे वा' इति वा पररूपता । यहां भी मूल मे तकार मुख-सुखार्थ ही समझना चाहिये ।

[लघु०] वकारस्य दन्तोष्ठम् ।

अर्थः—वकार का 'दन्त' और 'ओष्ठ' स्थान होता है ।

व्याख्या—वकारस्य ।६।१। दन्तोष्ठम् ।१।१। समास—दन्ताश्च ओष्ठौ च=दन्तोष्ठम्, प्राण्यङ्गत्वात् समाहारद्वन्द्व । 'ओत्वोष्ठयोः समासे वा' इति वा पररूपता । जो लोग

वकार के उच्चारण मे दोनो ओष्ठो का प्रयोग करके उसे बकार बना देते है। उन्हे यह वचन ध्यान से पढना चाहिये।

[लघु०] जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्।

अर्थः—जिह्वामूलीय का स्थान जिह्वा की जड होता है।

व्याख्या—जिह्वामूलीयस्य ।६।१। जिह्वामूलम् ।१।१। जिह्वा का मूल स्थान प्रायः कण्ठ के ही निकट होता है। अच् से परे तथा ककार खकार से पूर्व '‿' ऐसा चिह्न जिह्वामूलीय का होता है, इसका विवेचन आगे इसी प्रकरण मे मूल मे ही किया जावेगा।

[लघु०] नासिकाऽनुस्वारस्य।

अर्थः—अनुस्वार का नासिका-स्थान होता है।

व्याख्या—नासिका ।१।१। अनुस्वारस्य ।६।१। 'मुखनासिकावचनोऽनुनासिक' (६) मे 'मुख' ग्रहण का यही प्रयोजन है कि अनुस्वार की 'अनुनासिक' सञ्ज्ञा न हो जाय। यदि ऐसा होता, तो 'सँव्वत्सर' मे अनुस्वार को परसवर्ण अनुनासिक वकार न होता। यही 'स्थानी प्रकल्पयेदेतावनुस्वारो यथा यणम्' इस स्थल पर महाभाष्य मे सूचित किया गया है।

अच् से परे '—' इस प्रकार के चिह्न को 'अनुस्वार' कहते है। इसका विवेचन आगे मूल मे ही किया जायगा।

[लघु०] इति स्थानानि।

अर्थः— ये स्थान समाप्त हुए।

[लघु०] यत्नो द्विधा, आभ्यन्तरो बाह्यश्च। आद्यः पञ्चधा, स्पृष्टेषत्स्पृष्टेषद्विवृतविवृतसंवृतभेदात्। तत्र स्पृष्टं प्रयतनं स्पर्शानाम्। ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम्। ईषद्विवृतमूष्मणाम्। विवृतं स्वराणाम्। ह्रस्वस्यावर्णस्य प्रयोगे संवृतम्। प्रक्रिया-दशायान्तु विवृतमेव।

अर्थः—यत्न दो प्रकार का होता है, एक 'आभ्यन्तर' और दूसरा 'बाह्य'। पहिला आभ्यन्तर-यत्न पाञ्च प्रकार का होता है, १ स्पृष्ट, २ ईषत्स्पृष्ट, ३ ईषद्विवृत, ४ विवृत, ५ संवृत। इनमे से स्पृष्ट-प्रयत्न स्पर्श अक्षरों का होता है। ईषत्स्पृष्ट-प्रयत्न अन्तःस्थ अक्षरों का होता है। ईषद्विवृत-प्रयत्न ऊष्म अक्षरों का होता है। स्वरो का विवृत-प्रयत्न होता है।

ह्रस्व अवर्ण का उच्चारण-काल मे संवृत-प्रयत्न और प्रयोग-सिद्धि के समय विवृत-प्रयत्न होता है।

व्याख्या—कोशिश को 'यत्न' कहते है। वह यत्न यहा दो प्रकार का होता है। एक वर्ण की उत्पत्ति से पूर्व और दूसरा वर्ण की उत्पत्ति के पश्चात्। जो यत्न वर्णोत्पत्ति से पूर्व किया जाता है उसे 'आभ्यन्तर' तथा जो वर्णोत्पत्ति के अनन्तर किया जाता है उसे 'बाह्य' कहते है। इनमे प्रथम 'आभ्यन्तर' यत्न पान्च प्रकार का होता है। यथा— १ स्पृष्ट २ ईषत्स्पृष्ट, ३ ईषद्विवृत, ४ विवृत, ५ सवृत। वर्णों की उत्पत्ति मे जिह्वा के अग्र, उपाग्र, मध्य तथा मूल भागो का उपयोग हुआ करता है। जिह्वा का स्थान को छूना 'स्पृष्ट', थोडा छूना ईषत्स्पृष्ट, थोडा दूर रहना 'ईषद्विवृत', दूर रहना 'विवृत' तथा हट कर समीप रहना 'सवृत' यत्न कहाता है।

स्पर्श अर्थात् 'क' से लेकर 'म' पर्यन्त वर्णों का 'स्पृष्ट' प्रयत्न है, अर्थात् इनके उच्चारण में जिह्वा [यह उपलक्षणमात्र है, पवर्गके उच्चारण मे ओष्ठ भी समझ लेना चाहिए।] को स्थान के साथ स्पर्शरूप यत्न करना पडता है। अन्तस्थ अर्थात् य्, व्, र्, ल्, वर्णों का 'ईषत्स्पृष्ट' प्रयत्न है, अर्थात् इनके उच्चारण मे जिह्वा [ओष्ठ भी] को स्थान के साथ थोडा स्पर्शरूप यत्न करना पडता है। ऊष्म अर्थात् श्, ष्, स्, ह् वर्णों का 'ईषद्विवृत' प्रयत्न है, अर्थात् इनके उच्चारणमें जिह्वा को स्थान से थोडी दूर रखना चाहिये। स्वरो का 'विवृत' प्रयत्न है, अर्थात् इनके उच्चारण मे जिह्वा [उकार के उच्चारण में ओष्ठ] स्थान से दूर रखनी चाहिये। ह्रस्व अवर्ण का 'सवृत' प्रयत्न है, अर्थात् इसके उच्चारण में जिह्वा को स्थान से हटा कर उसके समीप रखना चाहिये।

इन सब प्रयत्नों का शिक्षा-ग्रन्थों मे यथावत् वर्णन किया गया है वही देखें। इन प्रयत्नो से व्याकरण में और तो कोई दोष नहीं आता किन्तु ह्रस्व अकार दीर्घ अकार का सवर्णी नहीं हो सकता, क्योंकि ह्रस्व अकार का सवृत और दीर्घ अकार का विवृत प्रयत्न होता है। सावर्ण्य न होने से 'दण्ड×आनयन' इत्यादि मे 'अक. सवर्णे दीर्घ' (४२) द्वारा सवर्णदीर्घ न हो सकेगा। इस दोष की निवृत्ति के लिये महामुनि पाणिनि ने इस शास्त्र मे प्रक्रिया-अवस्था में ह्रस्व अकार को विवृत माना है, इससे दोनो की सवर्ण-सञ्ज्ञा हो जाने मे कोई दोष नहीं आता। इस विषय का विस्तार 'काशिका' आदि व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखें।

अब बाह्य-यत्न का वर्णन किया जाता है—

अघोषाश्च। हशः संवारा नादा घोषाश्च। वर्गाणां प्रथम-तृतीय-पञ्चमा यण-श्चाल्पप्राणाः। वर्गाणां द्वितीय-चतुर्थौ शलश्च महाप्राणाः।

अर्थः—बाह्ययत्न ग्यारह प्रकार का होता है। १—विवार, २—सवार, ३—श्वास, ४—नाद, ५—अघोष, ६—घोष,* ७—अल्पप्राण, ७—महाप्राण, ६—उदात्त, १०—अनुदात्त, ११—स्वरित। 'खर्' प्रत्यहार विवार, श्वास तथा अघोष यत्न वाले होते हैं। 'हश्' प्रत्याहार सवार, नाद तथा घोष यत्न वाले होते हैं। वर्गों के प्रथम, तृतीय, पञ्चम और यण् अल्पप्राणयत्न वाले होते हैं। वर्गों के द्वितीय, चतुर्थ और शल् महाप्राण यत्न वाले होते हैं।

व्याख्या—'हश सवारा नादा घोषाश्च' 'यणश्चाल्पप्राणा' इन दोनो स्थानों पर 'च' से 'अच्' का ग्रहण होता है। अत अच्—सवार, नाद, घोष तथा अल्पप्राण यत्न वाले हैं। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित भी अचों के ही यत्न हैं इन का वर्णन पीछे हो चुका है अत यहा इन के विषय मे कुछ नहीं कहा गया।

यद्यपि यह वर्णन ध्वनिशास्त्र का विषय है तथापि यहा विवार आदि का सङ्क्षिप्त सरलार्थ लिख देना अनुचित न होगा।

विवार=वर्णोच्चारण के समय मुख के खुलने को विवार कहते हैं। जिन वर्णों के उच्चारण करते समय मुख खुलता है वे विवार-यत्न वाले कहाते हैं। **सवार**=वर्णोच्चारण के समय मुख के विकास न होने को सवार कहते हैं। **श्वास**=वर्णोच्चारण के समय श्वास चलने को श्वास यत्न कहते हैं। **नाद**=वर्णोच्चारण के समय नाद अर्थात् गम्भीर ध्वनि होने को नाद यत्न कहते हैं। **घोष**=वर्णोच्चारण के समय घोष अर्थात् गूंज का उठना घोष तथा गूंज का न उठना **अघोष** यत्न कहाता है। **अल्पप्राण**=वर्णोच्चारणके समय प्राण-वायु के अल्प उपयोग को अल्पप्राण तथा अधिक उपयोग को **महाप्राण** कहते हैं।

अब स्थान+यत्न-प्रकरण में आए हुए† १ स्पर्श, २ अन्त स्थ या अन्त स्था, ३ ऊष्म, ४ स्वर, ५ जिह्वामूलीय, ६ उपध्मानीय, ७ अनुस्वार और ८ विसर्ग इन आठ शब्दों की व्याख्या स्वय ग्रन्थकार करते हैं—

---

*यहा पर "अघोष, घोष" ऐसा उपर्युक्त पाठ होने मे अन्वय ठीक हो जाता है, फिर एक २ छोड़ देने से "विवार, श्वास, अघोष" तथा "सवार, नाद, घोष" यह क्रम ठीक हो जाता है।

† तत्र स्पृष्ट प्रयतन स्पर्शानाम्, ईषत्स्पृष्टम् अन्त स्थानाम्, ईषद्विवृतम् ऊष्मणाम्, विवृत स्वराणाम्, जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्, उपूपध्मानीयानामोष्ठौ, नासिकाऽनुस्वारस्य, अकुहविसर्जनीयान कण्ठ।

[लघु०] कादयो मावसानाः स्पर्शाः। यणोऽन्तस्थाः। शल ऊष्माणः। अचः स्वराः। ≍ क ≍ ख इति कखाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशो जिह्वामूलीयः। ≍ प ≍ फ इति पफाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृश उपध्मानीयः। 'अं अः' इत्यचः परावनुस्वारविसर्गौ।

अर्थः—'क' से लेकर 'म' पर्यन्त स्पर्श वर्ण हैं। यण् अर्थात् 'य, व, र, ल' ये चार वर्ण अन्तस्थ व अन्तस्था* हैं। शल् अर्थात् 'श, ष, स, ह' ये चार वर्ण ऊष्म हैं। अच प्रत्याहार स्वर होता है। 'क' अथवा 'ख' वर्ण से पूर्व [तथा अच् से परे] आधे विसर्ग के तुल्य जिह्वामूलीय होता है। 'प' अथवा 'फ' वर्ण से पूर्व [तथा अच से परे] आधे विसर्ग के तुल्य उपध्मानीय होता है। 'अं, अः' यहाँ अकार स्वर से परे क्रमशः अनुस्वार तथा विसर्ग हैं।

व्याख्या— 'क' से 'म' तक स्पर्श वर्ण हैं। यहाँ लौकिक क्रम का आश्रयण किया गया है जो आज तक प्रसिद्ध चला आ रहा है। प्रत्याहारसूत्रों में 'क' से 'म' तक मिलना असम्भव है अतः कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग ये पचीस वर्ण ही स्पर्श-सञ्ज्ञक होते हैं। इनका नाम स्पर्श इस कारण से है क्योंकि इनका उच्चारण जिह्वा [ओष्ठ भी] का स्थान के साथ स्पर्श होने से होता है। 'य, व, र, ल' इन चार वर्णों को अन्तस्थ व अन्तस्था इसलिये कहते हैं क्योंकि ये स्वर और व्यञ्जनों के बीच में रहते हैं। प्रत्याहार-सूत्रों में भी स्वरों और व्यञ्जनों के मध्य इनको पढ़ा गया है। ये व्यञ्जन भी हैं और स्वर भी। अंग्रेजी में इनको अर्धस्वर भी इसीलिये कहा जाता है। 'इको यणचि' (१५) 'इग्यणः-सम्प्रसारणम्' (२५६) आदि सूत्र भी यही प्रगट करते हैं+। 'श, ष, स, ह' ये चार वर्ण ऊष्म कहाते हैं। इनको ऊष्म कहने का कदाचित् यह प्रयोजन है कि इनके उच्चारण से गरम वायु निकलती है†। 'क' या 'ख' परे होने पर विसर्ग के स्थान पर जिह्वामूलीय तथा 'प' या 'फ' परे होने पर उपध्मानीय होते हैं यह आगे 'कुप्वोः ≍ क ≍ पौ च' (९८) सूत्र पर स्पष्ट करेंगे। ये जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय आधे विसर्ग के सदृश होते हैं। यहाँ सादृश्य

---

* 'अन्तस्थ' शब्द का उच्चारण रामवत् तथा 'अन्तस्था' शब्द का उच्चारण विश्वपा शब्दवत् होता है।

+ कुछ लोगों का विचार है कि प्रसिद्धलिपिक्रम में स्पर्शों और ऊष्मों के मध्य में वर्त्तमान होने से इनका नाम अन्तस्थ पड़ गया है।

† कुछ लोगों की राय है कि इनके उच्चारण से शरीर में उष्णता=गरमी का अधिक सञ्चार होता है अतः ये ऊष्म कहाते हैं।

उच्चारण की अपेक्षा से नहीं किन्तु लिपि की अपेक्षा से समझना चाहिए। यथा विसर्ग का स्वरूप 'ः' इन ऊपर नीचे लिखे दो गोल शून्य चिह्नों से प्रकट किया जाता है, इनका आधा '‿' यही उपध्मानीय और जिह्वामूलीय का स्वरूप समझना चाहिये। अनुस्वार की आकृति '—' इस प्रकार ऊपर एक बिन्दुरूप होती है। यह सदा स्वर के ऊपर लिखा जाता है परन्तु इसकी स्थिति सदा स्वर के अनन्तर स्वीकार की जाती है। अनुस्वार का चिह्न यथा—अं, इं, उं, कं, किं, कुं इत्यादि। विसर्ग की आकृति 'ः' इस प्रकार दो गोल चिह्नों से प्रकट की जाती है यह सदा स्वर के आगे प्रयुक्त किया जाता है। इसकी स्थिति भी स्वर के अनन्तर स्वीकार की जाती है। विसर्ग का उदाहरण यथा—अः, इः, उः, कः, किः, कुः इत्यादि।

अथ स्थान-बोधक-चक्रम्।

कण्ठ	तालु	ओष्ठौ	मूर्धा	दन्ता	नासिका	कण्ठतालु	कण्ठोष्ठम्	दन्तोष्ठम्	जिह्वामूलम्
अ	इ	उ	ऋ	लृ	ञ्	ए	ओ	व्	‿क
क्	च्	प्	ट्	त्	म्	ऐ	औ		‿ख
ख्	छ्	फ्	ठ्	थ्	ङ्				
ग्	ज्	ब्	ड्	द्	ण्				
घ्	झ्	भ्	ढ्	ध्	न्				
ङ्	ञ्	म्	ण्	न्	—				
ह्	य्	‿प	र्	ल्					
ः	श्	‿फ	ष्	स्					

अथ आभ्यन्तर-यत्न-बोधक-चक्रम्।

स्पृष्टम्	ईषत्स्पृष्टम्	विवृतम्		ईषद्विवृतम्	संवृतम्
क ख ग घ ङ	य	अ	ए	श	ह्रस्वस्य
च छ ज झ ञ	व	इ	ओ	ष	अवर्णस्य
ट ठ ड ढ ण	र	उ	ऐ	स	उच्चारणकाले
त थ द ध न	ल	ऋ	औ	ह	
प फ ब भ म		लृ			

अथ बाह्य-यत्न-बोधक-चक्रम् ।

विवार, श्वास, अघोष.	संवार, नाद, घोष.	अल्पप्राणः	महाप्राणः	उदात्तानुदात्तस्वरिताः
क ख	ग घ ङ	क ग ङ	ख घ	अ
च छ	ज झ ञ	च ज ञ	छ झ	इ
ट ठ	ड ढ ण	ट ड ण	ठ ढ	उ
त थ	द ध न	त द न	थ ध	ऋ
प फ	ब भ म	प ब म	फ भ	ऌ
श	य व		श	ए
ष	र ल	य [सब स्वर]	ष	ओ
स	ह	र	स	ऐ
	[सब स्वर]	ल	ह	औ

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—११ अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः । ।१।१।६८॥

प्रतीयते=विधीयत इति प्रत्ययः । अविधीयमानोऽण् उदिच्च सवर्णस्य सञ्ज्ञा स्यात् । अत्रैवाण् परेण णकारेण । कु, चु, टु, तु, पु, एत उदितः । तदेवम्—अ इत्यष्टादशानां सञ्ज्ञा, तथेकारोकारौ । ऋकारस्त्रिंशतः, एवम् ऌकारोऽपि । एचो द्वादशानाम । अनुनासिकाननुनासिकभेदेन यवला द्विधा, तेनाननुनासिकास्ते द्वयोर्द्वयोः सञ्ज्ञा ।

अर्थः—जिस का विधान किया जाय उसे 'प्रत्यय' कहते हैं । अप्रत्यय अर्थात् न विधान किया हुआ अण् और उदित् सवर्णों की तथा अपनी सञ्ज्ञा वाला हो । केवल इसी सूत्र में अण् प्रत्याहार पर णकार से गृहीत होता है । 'कु, चु, टु, तु, पु' इनको उदित् कहते हैं इस प्रकार 'अ' यह अठारह प्रकार की सञ्ज्ञा वाला हो जाता है । इसी प्रकार 'इ'

और 'उ' भी। ऋकार तीस प्रकार की सञ्ज्ञा वाला होता है। इसी प्रकार लृकार भी। एच् प्रत्याहार का प्रत्येक बारह २ प्रकार की सञ्ज्ञा है। अनुनासिक और अननुनासिक भेद से य्, व्, ल् दो प्रकार के होते है, अत अनुनासिक य्, व्, ल् ही दो २ प्रकार की सञ्ज्ञा होंगे।

व्याख्या—अण् ।१।१। उदित् ।१।१। सवर्णस्य ।६।१। च इत्यव्ययपदम्। स्वस्य ।६।१। [चकार के बल से 'स्वरूपं शब्दस्याशब्दसञ्ज्ञा' सूत्र से 'स्वम्' पद आ कर षष्ठ्यन्त मे परिणत हो जाता है।] अप्रत्यय ।१।१। समास—उत्=ह्रस्व उवर्णः इत् यस्मात् स उदित् बहुव्रीहि-समास। प्रतीयते=विधीयते इति प्रत्यय, प्रतिपूर्वाद् इण कर्मणि अच्-प्रत्यय। न प्रत्यय =अप्रत्यय, नञ्तत्पुरुषसमास। अर्थ—(अप्रत्यय) न विधान किया हुआ (अण्) अण् और (उदित्) उदित् (सवर्णस्य) सवर्णियो की (च) तथा (स्वस्य) अपने स्वरूप की सञ्ज्ञा होता है।

'प्रत्यय' शब्द यहा यौगिक है, इसका अर्थ है 'विधान किया हुआ'। यथा—'इको यण् अचि' (१५) सूत्र मे 'यण्' और 'सनाशसभिक्ष उ' (८४०) सूत्र मे 'उ' विधान किया गया है। अत ये दोनो प्रत्यय है।

अण् तथा इण् प्रत्याहार दो प्रकार से बन सकते है। एक—'अइउण्' के णकार से और दूसरा 'लण्' के णकार से। कहा पूर्व णकार से तथा कहा पर णकार से इन का ग्रहण करना चाहिये? इस विषय में भाष्यकार का निर्णय यह है—

'परेणैवेण्ग्रहाः सर्वे, पूर्वेणैवाण्ग्रहा मताः।
ऋतेऽणुदित्सवर्णस्येत्येतदेकं परेण तु॥'

अर्थात् इण् प्रत्याहार सर्वत्र पर 'लण्' वाले णकार से तथा अण् प्रत्याहार 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय' (११) को छोड सर्वत्र 'अइउण्' वाले णकार से ग्रहण करना चाहिये। 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय' सूत्र मे अण् प्रत्याहार 'लण्' वाले णकार से ग्रहण किया जाता है। इस नियम के अनुसार यहां 'अण्' पर णकार से ग्रहण होता है। तो इस प्रकार यहा 'अण्' मे 'अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, ल्, इन चौदह वर्णों का ग्रहण होता है। यदि ये वर्ण अविधीयमान [न विधान किये हुए] होंगे तो अपनी तथा अपने सवर्णियो की सञ्ज्ञा होंगे यथा—'इको यण् अचि' (१५) यहा इक् और अच् अविधीयमान है—विधान नहीं किये गये [विधान तो यण् ही किया गया है], इससे इक्-प्रत्याहारान्तर्गत 'इ, उ, ऋ, लृ' ये चार वर्ण अपनी तथा अपने सवर्णियों की सञ्ज्ञा होंगे। इस से 'सुधी+उपास्य' यहा दीर्घ ईकार के स्थान पर भी यण् हो जाता है। एवम् अच् प्रत्याहार के अन्तर्गत 'अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ' ये नौ वर्ण भी अपनी तथा

अपने सवर्णियो की सञ्ज्ञा होंगे। इससे 'दधि+आनय' यहा दीर्घ आकार के परे होने पर भी यण् सिद्ध हो जाता है।

'कुँ, चुँ, टुँ, तुँ, पुँ' ये इस शास्त्र मे उदित् माने जाते है। इनके उकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्र से इत्सञ्ज्ञा होती है। यद्यपि 'कुँ, चुँ, टुँ, तुँ, पुँ' इन समुदायो का कोई सवर्ण नही होता तथापि इन समुदायों के आदि वर्ण 'क्, च्, ट्, त्, प्' के सवर्णों का तथा उनके स्वरूप का यहा ग्रहण समझना चाहिये। 'क्' के सवर्ण 'ख्, ग्, घ्, ङ्' ये चार वर्ण है अत 'कु' कहने से इन चार वर्णों तथा पाञ्चवें अपने रूप 'क्' अर्थात् कुल मिला कर पाञ्च वर्णों का ग्रहण होगा। इसी प्रकार 'चु' से चवर्ग, 'टु' से टवर्ग, 'तु' से तवर्ग तथा 'पु' से पवर्ग ग्रहण होगा।

उदित् के साथ 'अप्रत्यय' का सम्बन्ध नही है, अत उदित् चाहे विधीयमान हो या अविधीयमान, प्रत्येक अवस्था मे अपनी तथा अपने सवर्णों की सञ्ज्ञा होगा। यथा— 'चो कु' (६०६) यहा 'चु' अविधीयमान और 'कु' विधीयमान है, दोनो अपने तथा अपने सवर्णों के ग्राहक होगे। 'अण्' के साथ 'अप्रत्यय' का सम्बन्ध इसलिये किया गया है कि 'सनाशसभिक्ष उ' (८४०) इत्यादि स्थानो मे विधीयमान उकार आदि सवर्णों के ग्राहक न हो, इससे दीर्घ ऊकार आदि प्रसक्त न होंगे।

अब अ, इ, उ, ऋ, ऌ, ए, ओ, ऐ, औ, ह्, य्, व्, र्, ल् ये सञ्ज्ञाएं हैं, इनके सञ्ज्ञी निम्नप्रकार से होते है।

अ, इ, उ, ।

इन सञ्ज्ञाओ के पीछे लिखे अनुसार अठारह २ सञ्ज्ञी होते है।

ऋ, ऌ ।

वार्त्तिक (१) से इन दोनों की सवर्णसञ्ज्ञा हो जाने के कारण प्रत्येक वर्ण के तीस २ सञ्ज्ञी होते हैं। ['ऋ' के १८+'ऌ' के १२]

ए, ओ, ऐ, औ ।

ह्रस्व न होने के कारण इन सञ्ज्ञाओ में से प्रत्येक वर्ण के पीछे लिखे अनुसार बारह २ सञ्ज्ञी होते हैं।

य्, व्, ल् ।

ये दो प्रकार के होते हैं, एक अनुनासिक और दूसरे अननुनासिक। अण् प्रत्याहार में अननुनासिक य्, व्, ल् का पाठ है, अत अननुनासिक ही अपनी तथा दूसरे अनुनासिकों की सञ्ज्ञा होते है। यहां यह भी समझ लेना चाहिये कि दीर्घ तथा प्लुत वर्ण अण् प्रत्या-

अण्प्रत्याहारान्तर्गत न होने से सवर्णों के ग्राहक नहीं हुआ करते । ह्रस्व वर्ण ही [एच् दीर्घ ही] अणो में गृहीत होते हैं, अत वे ही सवर्णों के ग्राहक हैं ।

रेफ और हकार अणो के अन्तर्गत होते हुए भी किसी अन्य वर्ण के ग्राहक नही होते, क्योंकि **'रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति'** अर्थात् रेफ और ऊष्म वर्णों के सवर्ण नही हुआ करते ।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—**१२ परः सन्निकर्षः संहिता ।१।४।१०८॥**

वर्णानामतिशयितः सन्निधिः सहिता-सञ्ज्ञः स्यात् ।

अर्थः—वर्णों की अत्यन्त समीपता 'सहिता'-सञ्ज्ञक होती है ।

व्याख्या—पर. ।१।१। सन्निकर्ष ।१।१। सहिता ।१।१। अर्थ—(पर.) अत्यन्त (सन्निकर्ष) सामीप्य (संहिता) 'सहिता' सञ्ज्ञक होता है । दो वर्णों के मध्य आधी मात्रा से कम का व्यवधान सम्भव नही हो सकता, यही अत्यन्त समीपता 'सहिता' कहाती है ।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—**१३ हलोऽनन्तराः संयोगः । १। १। ७॥**

अज्भिरव्यवहिता हलः संयोग-सञ्ज्ञाः स्युः ।

अर्थः—अचो के व्यवधान से रहित हलों की 'संयोग' सञ्ज्ञा हो ।

व्याख्या—हल ।१।३। अनन्तरा ।१।३। सयोग ।१।१। समास —अविद्यमानम् अन्तरम्=व्यवधान येषान्तेऽनन्तरा , बहुव्रीहि-समास । अर्थ —(अनन्तरा) जिन मे अन्तर अर्थात् व्यवधान नहीं ऐसे (हल) हल् (सयोग) सयोग-सञ्ज्ञक होते हैं । व्यवधान [परदा] सदा विजातीयो का ही हुआ करता है; सजातीयो का नहीं । हल् के विजातीय अच् है । अत यदि हल् अचो के व्यवधान से रहित होगे तो उन की संयोग सञ्ज्ञा होगी । सूत्र मे 'हल ' पद में बहुवचन विवक्षित नहीं, किन्तु जाति मे बहुवचन किया गया है । इस से दो या दो से अधिक हलो की सयोग-सञ्ज्ञा सिद्ध हो जाती है । उदाहरण यथा— भृट्, यहा 'भ्रस्ज्' शब्द के आगे 'सु' प्रत्यय के लोप होने पर स् और ज् की सयोग-सञ्ज्ञा हो कर 'स्को संयोगाद्योरन्ते च' (३०९) सूत्र से संयोग के आदि सकार का लोप हो जाता है । इसी प्रकार 'इन्द्र ' मे नकार दकार और रेफ की, 'उष्ट्र ' मे षकार टकार और रेफ की एवमन्यत्र भी सयोगसञ्ज्ञा समझ लेनी चाहिये ।

नोटः—ध्यान रहे कि प्रत्येक हल् की संयोगसञ्ज्ञा नहीं होती किन्तु सम्पूर्ण हल् समुदाय की ही हुआ करती है । चाहे वह हल्-समुदाय दो हलो का हो अथवा दो से अधिक हलों का हो ।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१४ सुप्तिङन्तं पदम् । १ । ४ । १४ ॥

सुबन्तं तिङन्तञ्च पदसञ्ज्ञं स्यात् ।

अर्थः—सुबन्त और तिङन्त शब्द-स्वरूप पद-सञ्ज्ञक होते है ।

व्याख्या—सुप्तिङन्तम् ।१।१। पदम् ।१।१। समास—सुप् च तिङ् च=सुप्तिङौ, इतरेतरद्वन्द्व । सुप्तिङौ अन्तौ यस्य तत्=सुप्तिङन्तम् (शब्दस्वरूपम्), बहुव्रीहि समास । अर्थ—(सुप्तिङन्तम्) सुबन्त और तिङन्त शब्द-स्वरूप (पदम्) पद-सञ्ज्ञक होते है । [यहा शब्दानुशासन-शास्त्र के प्रस्तुत होने से 'सुप्तिङन्तम्' पद का 'शब्द-स्वरूपम्' विशेष्य अध्याहार कर लिया जाता है ।] 'स्वौजसमौट्——' (११८) सूत्र मे विधान किये गए इक्कीस (२१) प्रत्यय 'सुप्' तथा 'तिप्तस्झिसिप्——' (३७५) सूत्र मे विधान किये गए अठारह (१८) प्रत्यय 'तिङ' कहाते हैं । ये सुप् व तिङ् प्रत्यय जिसके अन्त मे हो उन की पद-सञ्ज्ञा होती है । यहा यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि इन प्रत्ययो से युक्त सम्पूर्ण समुदाय की ही पद सञ्ज्ञा होती हैं । केवल प्रकृति व प्रत्यय की नही । उदाहरण यथा—'राम ,पुरुष , देवस्य, पुरुषस्य' इत्यादि सुप् अन्त मे होने के कारण 'पद'सञ्ज्ञक है । 'पचति, पठति, अपचत्, अपठत्' इत्यादि तिङ् अन्त मे होने के कारण 'पद' सञ्ज्ञक है । इस सूत्र मे 'अन्त' ग्रहण का प्रयोजन आगे (१५५) सूत्र पर स्पष्ट करेंगे ।

[लघु०] इति सञ्ज्ञा-प्रकरणं समाप्तम् ।

अर्थः—यह सञ्ज्ञा-प्रकरण समाप्त होता है ।

व्याख्या—इस प्रकरण मे यद्यपि व्याकरण-गत सम्पूर्ण सञ्ज्ञाओ का समावेश नहीं किया गया है, तथापि सन्धि-प्रकरण के लिए उपयोगी प्राय सभी सञ्ज्ञाओं का इस मे वर्णन आ गया है । 'प्राय ' कथन का यह तात्पर्य है कि 'अदेङ् गुण ' (२५) 'वृद्धिरादैच' (३२), 'अचोऽन्त्यादिटि' (३६), 'तस्य परमाम्रेडितम्' (३६) प्रभृति सूत्रो से गुण, वृद्धि, टि और आम्रेडित आदि अन्य भी सन्ध्युपयोगी सञ्ज्ञाए आगे कही गई है ।

इति भैमी-व्याख्ययोपबृंहितायां लघुसिद्धान्त-कौमुद्यां सन्ध्युपयोगिसञ्ज्ञानां प्रायोवर्णनं समाप्तम् ॥

अभ्यास (१)

१ 'क्, श्, ए, व्, ञ्, स्, ख, ह्, अ, र, ऋ' इन वर्णों के स्थान तथा दोनो प्रकार के यत्न लिख कर यथासम्भव सवर्णों का निर्देश करो ।

२ 'अण्, इच्, रल्, जम्, यण, छव्, खय, झय, रँ' इन प्रत्याहारो की ससूत्र सिद्धि कर के तदन्तर्गत वर्णों का सङक्षिप्त रीत्या उल्लेख करें ।

३ अचो मे परस्पर कितने प्रकार का अन्तर सम्भव है, उदाहरण दे कर स्पष्ट करे ।

४ कौन सूत्र 'ऋ' सञ्ज्ञा करता है ? इस के कितने और कौन २ से सञ्ज्ञी होते है ? ।

५ 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय ' सूत्र मे 'अप्रत्यय ' पद का क्या अभिप्राय है और इसका किस के साथ सम्बन्ध है ? सोदाहरण स्पष्ट करे ।

६ सञ्ज्ञा और सञ्ज्ञी स्पष्ट करते हुए 'अदर्शन लोप ' सूत्र के 'अदर्शनम्' पद का विवेचन करे ।

७ 'इत ' पद के पीछे से प्राप्त होने पर भी 'तस्य लोप ' सूत्र मे 'तस्य' पद के ग्रहण का क्या प्रयोजन है ? ।

८ उदात्त, अनुदात्त और स्वरित में परस्पर भेद बताओ ।

९ 'उपदेश' किसे कहते है ? यथाधीत स्पष्ट करे ।

१० 'अष्टाध्यायी' किसने बनाई है ? इस मे कितने अध्याय और कितने पाद है ? 'लघु-सिद्धान्त-कौमुदी' के साथ 'अष्टाध्यायी' का क्या सम्बन्ध है ? ।

११ 'त्रिमुनि व्याकरणम्' और 'उत्तरोत्तर मुनीना 'प्रामाण्यम्' का भाव स्पष्ट करो ।

१२ 'लघु-सिद्धान्त-कौमुदी' शब्द का अर्थ लिख कर इस के कर्त्ता के विषय मे सङ्क्षिप्त नोट लिखें ।

१३ 'उँ' और 'इँ' में, 'ऋ' और 'लृ' मे, 'एँ' और 'ओ' मे, 'औ' और 'औ' में पारस्परिक भेद बताए ।

१४ आभ्यन्तर और बाह्य यत्नो के भेद लिख कर उनका सार्थ विवेचन करें ।

१५ यदि सम्पूर्ण स्थान तुल्य होने पर ही सवर्ण-सञ्ज्ञा होती है तो क्या 'क' और 'ङ' की सवर्णसञ्ज्ञा नहीं होगी ? ।

१६ 'लृ' और 'ऐ' के बारह २ भेद सूत्रों द्वारा सिद्ध करे ।

१७ 'सयोग' सञ्ज्ञा क्या प्रत्येक वर्ण की होती है या समुदाय की ? सोदाहरण स्पष्ट करे ।

१८ 'अर्ध-विसर्ग-सदृश उपध्मानीय ' इस वचन का विवेचन करे ।

१९ निम्न-लिखित सूत्रो का सूत्रस्थ पदों द्वारा अर्थ निकाल कर व्याख्यान करे— तुल्यास्य-प्रयत्न सवर्णम् । अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय । हलोऽनन्तरा सयोग । ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुत । समाहार स्वरित ।

२० पद, सहिता, अनुनासिक और लोप सञ्ज्ञा करने वाले सूत्र सार्थ लिखे ।

२१ 'इति सञ्ज्ञा-प्रकरण समाप्तम्' इस वचन की विस्तृत समालोचना करें ।

२२ 'विसर्जनीय' के स्थान का शास्त्ररीत्या विवेचन करें ।

अथाऽच्सन्धि-प्रकरणम् ।

अब अचों की सन्धि का प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है। इस प्रकरण में अचों अर्थात् स्वरों का स्वरों के साथ मेल दिखाया जाएगा।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१५ इको यणचि । ६ । १ । ७६ ॥

इकः स्थाने यण् स्यादचि संहितायां विषये । 'सुधी+उपास्य' इति स्थिते—

अर्थः—संहिता के विषय में अच् के विद्यमान होने पर इक् के स्थान पर यण् हो जाता है। 'सुधी+उपास्य' ऐसे स्थित होने पर [अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है।]

व्याख्या—इकः ।६।१। यण् ।१।१। अचि=भावसप्तम्यन्तम् । संहितायाम्=विषय-सप्तम्यन्तम् ['संहितायाम्' यह पीछे से अधिकार चला आ रहा है।] महामुनि पाणिनि ने अपने सूत्रों का अर्थज्ञान कराने के लिये कुछ विशेष नियम बनाये हैं, जो कि अष्टाध्यायी के प्रथमाध्याय के प्रथमपाद के अन्तर्गत हैं, यह हम पीछे कह चुके हैं। उनमें 'षष्ठीस्थानेयोगा' (१।१।४८) यह भी एक नियम है, इसका तात्पर्य यह है कि इस शास्त्र में षष्ठीविभक्ति का अर्थ 'स्थान पर' ऐसा करना चाहिए। यथा—'इकः' ।६।१। इसका अर्थ हुआ 'इक् के स्थान पर'। 'एचः' ।६।१। इसका अर्थ हुआ 'एच् के स्थान पर'। परन्तु यह नियम वहां लागू नहीं होगा, जहां सम्बन्ध नियत किया गया होगा। यथा—'ऊद् उपधाया गोहः' (६।४।८९)। ऊत् ।१।१। उपधायाः ।६।१। गोहः ।६।१। यहां गोह् का सम्बन्ध उपधा से नियत किया गया है, अतः यहां स्थानषष्ठी का प्रसङ्ग न होगा। इस विषय का विस्तार काशिका [अष्टाध्यायी की एक व्याख्या] आदि में देखना चाहिए। यहां 'इकः' इसमें स्थानषष्ठी है, इससे 'इक् के स्थान पर' ऐसा इसका अर्थ होगा। 'अचि' यहां भावसप्तमी या सतिसप्तमी है*। अर्थः—[इकः] इक् के स्थान पर [यण्] यण् होता है [अचि] अच् होने पर [संहितायाम्] संहिता के विषय में। अच् विद्यमान हो तो संहिता के विषय में अर्थात् संहिता करने की इच्छा होने पर इक् [इ, उ, ऋ, ऌ] के स्थान पर यण् [य्, व्, र्, ल्] करना चाहिये। यहां यण् विधान किया गया है, अतः यह अण् प्रत्याहार के अन्तर्गत होता हुआ भी 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' (११) से अपने सवर्णियों [अनुनासिक य् व् ल् वर्णों] का ग्राहक नहीं होगा। इक् और अच् दोनों अविधीयमान अण् हैं, अतः ये अपने सवर्णियों के ग्राहक होंगे।

---

*यह सप्तमी 'यस्य च भावेन भावलक्षणम्' (२।३।३७) सूत्र से विधान की जाती है। इस सप्तमी का 'विद्यमान होने पर' या 'होने पर' ऐसा अर्थ होता है।

'सुधीभिरुपास्य' इस तृतीयातत्पुरुष समास मे 'सुपो धातुप्रातिपदिकयो' (७२१) से भिस् और सु का लुक् होने पर 'सुधी+उपास्य' यह रूप हुआ।

'१ संहितैकपदे नित्या, २ नित्या धातूपसर्गयोः।
३ नित्या समासे, ४ वाक्येतु, सा विवक्षामपेक्षते ॥'

एकपद अर्थात् अखण्डपद में, धातु और उपसर्ग मे तथा समास मे सहिता नित्य करनी चाहिये, वाक्य मे सहिता करना 'वक्ता' [यह उपलक्षणार्थ है, 'लेखक' भी समझ लेना चाहिये।] की इच्छा पर निर्भर है, चाहे करे या न करे। इनके उदाहरण यथा—१ चय, जय। यहा 'चे+अ' 'जे+अ' इस अवस्था मे अयादेश एकपद होने के कारण नित्य होता है। २ 'प्र+एति' यहा धातु और उपसर्ग मे नित्य सहिता होने से वृद्धि हो नित्य 'प्रैति' रूप ही बनेगा। ३ 'गजेन्द्र' यहा 'गजानामिन्द्र' इस प्रकार का समास होने से नित्य गुणादेश होगा। ४ 'नाह वेद्मि' यहा वाक्य होने से 'न अह वेद्मि' या 'नाह वेद्मि' दोनों प्रयोग शुद्ध , वक्ता चाहे जिसका प्रयोग करे।

'सुधी+उपास्य' यहा समास है, अत सहिता नित्य होगी। इस प्रकार सहिता का विषय होने पर 'इको यणचि' (१५) सूत्र प्रवृत्त हुआ। यहा सकार में उकार, धकार मे ईकार तथा 'उपास्य' शब्द का आदि उकार इक् है। यदि सकारस्थ उकार='इक' को यण् करें तो धकारस्थ ईकार='अच्' विद्यमान है। यदि धकारस्थ ईकार='इक्' को यण् करे तो सकारस्थ उकार या 'उपास्य' शब्द का आदि उकार='अच्' विद्यमान है तथा यदि 'उपास्य' शब्द के आदि उकार='इक्' को यण् करें तो पकारस्थ आकार या विपरीत दिशा मे धकारस्थ ईकार='अच्' विद्यमान रहता है। तो अब यह शङ्का उत्पन्न होती है कि किस अच् के विद्यमान रहते किस इक के स्थान पर यण् किया जावे? इस शङ्का की निवृत्ति के लिये अग्रिम सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—१६ तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य ।१।१।६५॥

सप्तमीनिर्देशेन विधीयमानं कार्यं वर्णान्तरेणाव्यवहितस्य पूर्वस्य बोध्यम् ।

अर्थः—सप्तम्यन्त के निर्देश से क्रियमाण कार्य अन्य वर्णों के व्यवधान से रहित पूर्व के स्थान पर जानना चाहिए।

व्याख्या—तस्मिन्=सप्तम्यन्तानुकरण लुप्तसप्तम्येकवचनान्तम्*। ['इकोयणचि' (१५) आदियों में स्थित 'अचि' आदि सप्तम्यन्त पदो का अनुकरण यहा 'तस्मिन्' शब्द से किया गया है। इसके आगे सप्तमी विभक्ति का 'सुपांसुलुक्—' (७।१।३९) सूत्र से लुक्

*'तस्मिन्' इत्यत्र नागेशस्तु 'अत्री' त्यादि-सप्तम्यन्तार्थकतच्छब्दात् सप्तमीति मन्यते।

हुआ २ है। इसका अर्थ 'इको यणचि' (१५) आदियो मे स्थित 'अचि' आदि सप्तम्यन्त पदों के होने पर' ऐसा होता है।] इति=इत्यव्ययपदम्। निर्दिष्टे ।७।१। पूर्वस्य ।६।१।

इति शब्द पदके अर्थ को उल्टा कर दिया करता है, अर्थात् इसके जोडने से शब्द-परक पद अर्थपरक और अर्थपरक पद शब्दपरक हो जाते है। यथा—'वृक्ष' इस पद का अर्थ लोक मे विद्यमान पदार्थ विशेष है, अत यह अर्थपरक है। अब यदि इसके आगे 'इति' शब्द जोड दे 'वृक्ष इति', तो इसका अर्थ 'वृक्ष' यह लिखा हुआ शब्द हो जायगा। शब्दपरक पद से अर्थपरक पद हो जाना 'नवेति विभाषा' (।१।१।४३।) सूत्र मे 'सिद्धान्त-कौमुदी' मे देखे। तो अब यहा 'तस्मिन्' इस लुप्तसप्तम्यन्त पद का अर्थ "इको यणचि" (१५) आदियो मे स्थित 'अचि' आदि सप्तम्यन्त पदो के होने पर" ऐसा था। 'इति' के जोडने से यह शब्द-परक से अर्थ-परक हो गया, अर्थात इसका अर्थ 'इको यणचि' आदियो मे स्थित 'अचि' आदि सप्तम्यन्त पदो के अर्थो के होने पर' ऐसा हो गया।

'निर्दिष्टे' पद 'तस्मिन्' पद का विशेषण है। 'निर्' का अर्थ निरन्तर और 'दिश्' धातु का अर्थ 'उच्चारण करना' है। तो इस प्रकार 'निर्दिष्टे' पद का अर्थ 'निरन्तर उच्चरित 'होने पर' ऐसा हो जाता है।

'तस्मिन्' और 'निर्दिष्टे' इन दोनो पदो मे भाव-सप्तमी है। भाव-सप्तमी का अर्थ 'होने पर' ऐसा हुआ करता है। इसे 'सति सप्तमी' भी कहते हैं। यह 'यस्य च भावेन भाव-लक्षणम्' (२ ३ ३७) सूत्र से विधान की जाती है, यथा—'गच्छत्सु बालकेषु त्व स्थित' यहा भाव-सप्तमी है। इस प्रकार इस सूत्र का यह अर्थ हुआ—(तस्मिन्निति) 'इको यणचि' आदि सूत्रों में स्थित 'अचि' आदि सप्तम्यन्त पदों के अर्थों के (निर्दिष्टे) निरन्तर उच्चरित होने पर (पूर्वस्य) पूर्व के स्थान पर [कार्य होता है]।

यदि सप्तम्यन्त पद के अर्थ से व्यवधान-रहित पूर्व को कार्य करेंगे तो तभी वह सप्तम्यन्त पद का अर्थ निरन्तर उच्चरित हो सकेगा। अत. निरन्तर कथन से यह प्राप्त हुआ कि 'सप्तम्यन्त पदार्थ के उच्चरित होने पर उससे व्यवधान-रहित पूर्व के स्थान पर कार्य हो'।

यथा—'इको यणचि' (१५) सूत्र मे 'अचि' यह सप्तम्यन्त पद है। इस सप्तम्यन्त पद का अर्थ यहा 'सुधी+उपास्य' में सकारोत्तर उकार, धकारोत्तर ईकार, 'उपास्य' शब्द का आदि उकार तथा पकारोत्तर आकार है। अब हमें इन में से ऐसा सप्तम्यन्त पदार्थ चुनना है, जिस से अव्यवहित पूर्व 'इक्' हो, हम उसी 'इक्' के स्थान पर ही 'यण्' करेंगे। तो ऐसा सप्तम्यन्त पदार्थ यहां 'उपास्य' शब्द के आदि वाले उकार के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हो सकता है, क्योंकि अन्यों से पूर्व अव्यवहित इक् नहीं है। तथाहि—पकारोत्तर

आकार को यदि सप्तम्यन्त पदार्थ अच् माने तो उस से अव्यवहित पूर्व 'उपास्य' शब्द का उकार नहीं होता, पकार का व्यवधान पडता है। यदि धकारस्थ ईकार को सप्तम्यन्त पदार्थ अच् मानें तो उस से अव्यवहित पूर्व सकारस्थ उकार नही होता, धकार का व्यवधान पडता है। यदि सकारोत्तर उकार को सप्तम्यन्त पदार्थ अच् माने तो इस से पूर्व कोई इक् नही रहता। अतः 'उपास्य' शब्द का आदि उकार ही सप्तम्यन्त पद का अर्थ=अच् होने योग्य है और इस से अव्यवहित पूर्व धकारोत्तर ईकार के स्थान पर ही यण् होना चाहिये।*

यह परिभाषा-सूत्र है। परिभाषा-सूत्रो का उपयोग रूप सिद्धि मे नहीं हुआ करता किन्तु इनका उपयोग सूत्रो के अर्थ करने मे ही होता है, अर्थात् इनकी सहायता से हम सूत्रों का अर्थ किया करते है। यहा भी इस सूत्र को रखने का तात्पर्य 'इको यणचि' (१५) सूत्र का अर्थ करना ही है। इस सूत्र की सहायता से 'इको यणचि' (१५) का यह अर्थ होगा— अच् होने पर, उससे अव्यवहित पूर्व इक् के स्थान पर यण् होता है संहिता के विषय मे।

शास्त्र मे पर-सप्तमी नाम की किसी सप्तमी का विधान नही किया गया। यही सूत्र जब सप्तम्यन्त पद के अर्थ से अव्यवहित पूर्व को कार्य करने के लिये कहता है तो एक प्रकार से भावसप्तमी ही पर-सप्तमी हो जाया करती है। अत कई लोग 'इको यणचि' (१५) सूत्र का अर्थ 'इक् के स्थान पर यण् हो अच् परे होने पर संहिता के विषय मे' ऐसा भी किया करते हैं। यह अर्थ भी शुद्ध है। आगे चलकर ग्रन्थकार भी इस परिभाषा को सूत्रार्थ के साथ मिलाते हुए 'परे होने पर' ऐसा ही अर्थ करेंगे।

तो अब धकारस्थ ईकार के स्थान पर यण् अर्थात् य्, व्, र्, ल् प्राप्त होते हैं। यहा यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन चारो मे से कौन सा यण् ईकार के स्थान पर किया जावे ?। इस शङ्का को दूर करने के लिये ग्रन्थकार, पाणिनि जी की अन्य परिभाषा को उद्धृत करते हैं।

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—१७ स्थानेऽन्तरतमः ।१।१।४९॥

प्रसङ्गे सति सदृशतम आदेशः स्यात्। सुध्य्+उपास्य इति जाते।

अर्थः—प्रसङ्ग अर्थात् प्रसक्ति [प्राप्ति] होने पर अत्यन्त सदृश आदेश होता है। 'सुध्य्+उपास्य' इस प्रकार हो जाने पर [अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है।]

---

*ध्यान रहे कि कार्य केवल अव्यवहित को ही नहीं होता किन्तु जो अव्यवहित होते हुए पूर्व भी हो उसे कार्य होता है। इसीलिये यहा विपरीतता मे भी कार्य न होगा अर्थात् 'उपास्य' वाले उकार की विपरीत दिशा मे धकारोत्तर ईकार सप्तम्यन्त पदार्थ अच मानें तो उकार को यण न होगा, यद्यपि इसमें कोई व्यवधान नही, तथापि उकार पूर्व नही।

व्याख्या—स्थाने ।७।१। अन्तरतम ।१।१। यहां 'अन्तर' शब्द का अर्थ 'सदृश' है। अतिशयितोऽन्तर:=अन्तरतम । अर्थ —(स्थाने) प्राप्ति होने पर (अन्तरतम:) अत्यन्त सदृश आदेश* होता है।

एक के स्थान पर बहुतों की यदि प्राप्ति हो तो उनमें से जो स्थानी+ के अत्यन्त सदृश होगा वही स्थानी के स्थान पर आदेश होगा। वर्णों की सदृशता न तो आकृति से और न ही तराजू से तोल कर की जा सकती है। इनकी सदृशता अर्थ, स्थान, प्रयत्न अथवा मात्रा की दृष्टि से ही देखी जा सकती है। आगे इनके उदाहरण यत्र तत्र आएंगे, हम इनका स्पष्टी-करण भी वहीं करेंगे।

यहां ईकार के साथ यणों की सदृशता अर्थ, प्रयत्न और मात्रा की दृष्टि से तो हो नहीं सकती, अब शेष रहे स्थान की दृष्टि से ही समता करेंगे। ईकार का स्थान 'इचुयशानां तालु' के अनुसार 'तालु' है। यणों में तालुस्थान यकार का है, अत ईकार के स्थान पर यकार होकर 'सुध्य्+उपास्य' ऐसा हो जायगा।

इस सूत्र में 'अन्तर' शब्द के साथ 'तमप्' जोड़ा गया है, इस कारण 'सदृशों में भी जो अत्यन्त सदृश हो वही आदेश हो' ऐसा अर्थ हो जाता है। इसका फल 'वाग्घरि' प्रयोग पर 'हल्सन्धि' में स्पष्ट करेंगे।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१८ अनचि च ।८।४।४७॥

अचः परस्य यरो द्वे वा स्तो न त्वचि । इति धकारस्य द्वित्वम् ।

अर्थः—अच् से परे यर् को विकल्प करके द्वित्व हो जाता है परन्तु अच् परे होने पर नहीं होता। इस सूत्र से धकार को द्वित्व हो जाता है।

व्याख्या—अच ।५।१। ['अचो रहाभ्यां द्वे' से] यर ।६।१। ['यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' से] द्वे ।१।२। ['अचो रहाभ्यां द्वे' से] वा इत्यव्ययपदम्। ['यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' से] अनचि ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। समास:—न अच्=अनच्, तस्मिन्=अनचि, नञ्समास । 'नञ्' प्रतिषेधार्थक अव्यय है। प्रतिषेध दो प्रकार का होता है। एक पर्युदास-प्रतिषेध और दूसरा प्रसज्य-प्रतिषेध। तथाहि—

---

*जो किसी के स्थान में उसको हटा कर होता है उसे 'आदेश' कहते हैं। 'शत्रुवदादेश' आदेश शत्रु के समान होता है—शत्रु जैसा व्यवहार करता है। वह स्थानी को हटा कर वहां स्वयं बैठ जाता है। यथा 'सुधी+उपास्य' में ईकार के स्थान पर होने वाला 'य्' आदेश है।

+जिसके स्थान पर आदेश होता है उसे 'स्थानी' कहते हैं। यथा 'सुधी+उपास्य' में ईकार स्थानी है।

द्वौ नञौ तु समाख्यातौ, पर्युदास-प्रसज्यकौ।
पर्युदासः सदृग्ग्राही, प्रसज्यस्तु निषेध-कृत् ॥ १ ॥
प्राधान्यं तु विधेर्यत्र, प्रतिषेधेऽप्रधानता।
पर्युदासः स विज्ञेयो, यत्रोत्तरपदेन नञ् ॥ २ ॥
अप्राधान्यं विधेर्यत्र, प्रतिषेधे प्रधानता।
प्रसज्यस्तु स विज्ञेयः, क्रियया सह यत्र नञ् ॥ ३ ॥

इन तीनो श्लोको का तात्पर्य निम्नरीत्या जानना चाहिये।

पर्युदास—प्रतिषेध

१ इस मे विधि की प्रधानता तथा निषेध की अप्रधानता होती है। यथा—'अब्राह्मणमानय'। यहा लाने की प्रधानता है निषेध की नही, क्योकि लाने का निषेध नही किया गया।

२ इस मे 'नञ्' उत्तर-पद का निषेध किया करता है। यथा—'अब्राह्मणमानय'। यहा 'उत्तरपद' 'ब्राह्मण' का निषेध किया गया है।

३ इस मे जिस का निषेध किया जाता है पुन. विधि मे उस के सदृश का ही ग्रहण किया जाता है। यथा—'अब्राह्मणमानय'। यहा ब्राह्मण का निषेध किया गया है, अब जो लाया जायगा वह भी ब्राह्मण के सदृश अर्थात् पुरुष ही होगा, पत्थर आदि नही लाए जाएगे।

प्रसज्य—प्रतिषेध

१ इस मे विधि की अप्रधानता तथा निषेध की प्रधानता होती है यथा—'अनृत न वक्तव्यम्'। यहा 'बोलना चाहिये' इस विधि की अप्रधानता और 'न बोलना चाहिये' इस निषेध की प्रधानता है।

२ इसमे 'नञ्' क्रिया का निषेध किया करता है। यथा—'अनृतं न वक्तव्यम्'। यहां 'नञ्' ने 'बोलना चाहिये' इस क्रिया का निषेध कर दिया है।

३ यहां केवल निषेध ही होता है। यथा—'अनृत न वक्तव्यम्'। यहा केवल निषेध ही है।

हम विद्यार्थियो के अभ्यास के लिये इन दोनो प्रकार के निषेधों के कुछ उदाहरण दे रहे हैं, इनका अत्यन्त सावधानता से अभ्यास करना चाहिये।

प्रसज्य के उदाहरण—

१ 'न व्यापार-शतेनापि शुकवत् पाठ्यते वकः'।

यहां 'न पाठ्यते' * इस प्रकार क्रिया का निषेध किया गया है और इसी निषेध की यहा प्रधानता है, अतः यहा 'प्रसज्य' प्रतिषेध है।

२ 'न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः'।

यहां 'न प्रविशन्ति' इस प्रकार क्रिया का निषेध किया गया है और इसी निषेध की यहां प्रधानता है, अत यहां 'प्रसज्य' प्रतिषेध है।

३ 'शत्रुणा न हि सन्दध्यात्'।

यहां 'न सन्दध्यात्' इस प्रकार क्रिया का निषेध किया गया है और इसी निषेध की यहा प्रधानता है, अतः यहां 'प्रसज्य' प्रतिषेध है।

४ 'न कुर्यान्निष्फलं कर्म'।

यहां 'न कुर्यात्' इस प्रकार क्रिया का निषेध किया गया है और इसी निषेध की यहां प्रधानता है, अत यहां 'प्रसज्य' प्रतिषेध है।

५ 'एवं पुरुषकारेण विना दैवं न सिध्यति'।

यहां 'न सिध्यति' इस प्रकार क्रिया का निषेध किया गया है और इसी निषेध की यहां प्रधानता है, अत यहां 'प्रसज्य' प्रतिषेध है।

पर्युदास के उदाहरण—

१ 'पुत्रः शत्रुरपण्डितः'।

'अपण्डित' यहां पर 'नञ्' उत्तर-पद का निषेध करता है। विधि की प्रधानता है। किन्च—विधि में निषिध्यमान के सदृश का ग्रहण होता है, अत. यहां 'पर्युदास' प्रतिषेध है।

२ 'जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः'।

'अनाथ' यहां पर 'नञ्' उत्तर-पद का निषेध करता है। विधि की प्रधानता है। किन्च—विधि में निषिध्यमान के सदृश का ग्रहण होता है, अत यहां 'पर्युदास' प्रतिषेध है।

३ 'दूरादस्पर्शनं वरम्'।

'अस्पर्शनम्' यहां पर 'नञ्' उत्तर-पद का निषेध करता है। विधि की प्रधानता

---

*यद्यपि यहां पर पद्य में क्रिया के साथ 'नञ्' साक्षात् नहीं; तथापि

"यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य स।

अर्थतो ह्यसमर्थानाम् आनन्तर्यमकारणम्।" [न्यायद० १२६]

इस न्यायदर्शनोद्धृत पद्यानुसार 'क्रियया सह यत्र नञ्' वाली बात समन्वित हो जाती है।

है। किञ्च— विधि में निषिध्यमान के सदृश का ग्रहण होता है, अत यहां 'पर्युदास' प्रतिषेध है।

४ 'नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति'।

'अप्राप्यम्' यहां पर 'नञ्' उत्तर-पद का निषेध करता है। विधि की प्रधानता है। किञ्च—विधि में निषिध्यमान के सदृश का ग्रहण होता है, अत यहां 'पर्युदास' प्रतिषेध है।

५ 'समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः'।

'अपेयाः' यहां पर 'नञ्' उत्तर-पद का निषेध करता है। विधि की प्रधानता है। किञ्च—विधि में निषिध्यमान के सदृश का ग्रहण होता है, अत यहां 'पर्युदास' प्रतिषेध है।

यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि प्राय समास में पर्युदास और असमास में प्रसज्य प्रतिषेध हुआ करता है। 'प्राय' इसलिये कहा गया है कि कहीं २ इस नियम का उल्लङ्घन भी हो जाया करता है। यथा—'अनचि च' 'सुडनपुंसकस्य' इत्यादि में समास होने पर भी 'प्रसज्य' प्रतिषेध है।

'अनचि' यहां प्रसज्य-प्रतिषेध है, अत 'अच् परे होने पर द्वित्व न हो' इस निषेध की ही प्रधानता होगी, विधि की नहीं। अर्थात् अच् परे न हो, अच् से भिन्न चाहे अन्य वर्ण परे हो या न हो द्वित्व हो जायगा। इस का फल यह होगा कि अवसान में भी द्वित्व हो जायगा। यथा—वाक्क्, वाक्। यदि 'अनचि' में पर्युदास-प्रतिषेध होता तो सदृश का ग्रहण होने से अच् के सदृश=हल् के परे होने पर द्वित्व होता, 'वाक्' इत्यादि अवसान में द्वित्व न हो सकता। अत पर्युदास की अपेक्षा प्रसज्य-प्रतिषेध मानना ही उपयुक्त है। किञ्च—यदि यहां मुनिवर पाणिनि को पर्युदास-प्रतिषेध अभीष्ट होता, तो वे 'अनचि' न कह कर इस के स्थान पर 'हलि' ही कह देते, इस से एक वर्ण का लाघव भी हो जाता; परन्तु उनके ऐसा न कहने से यह प्रतीत होता है कि यहां पर्युदास-प्रतिषेध नहीं किन्तु प्रसज्य-प्रतिषेध है।

अर्थ—(अच) अच् से परे (यरः) यर् प्रत्याहार के स्थान पर (वा) विकल्प करके (द्वे) दो शब्द-स्वरूप हो जाते हैं। (अनचि) परन्तु अच् परे होने पर नहीं होते।

कार्य का होना और पक्ष में न होना 'विकल्प' कहाता है। एक को दो करने का नाम 'द्वित्व' है। द्वित्व हो भी और न भी हो, इसे द्वित्व का विकल्प कहते हैं।*

---

*ध्यान रहे कि विकल्प के दोनों रूप शुद्ध हुआ करते हैं। इनमें से चाहे जिसका प्रयोग करें हमारी इच्छा पर निर्भर है।

'सुध्य्+उपास्य' यहा मकारोत्तर उकार=अच् से परे यर्=धकार को इस सूत्र से विकल्प करके द्वित्व करने से दो रूप बन जाते है—

१ सुध्ध्य्+उपास्य [जहा द्वित्व होता है ।]

२ सुध्य्+उपास्य [जहा द्वित्व नही होता है ।]

अब द्वित्व वाले पक्ष मे अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१६ झलां जश्झशि ।८।४।५३॥

स्पष्टम् । इति पूर्व-धकारस्य दकारः ।

अर्थः—झश् प्रत्याहार परे होने पर झलो के स्थान पर जश हो जाते हैं । इस सूत्र से पूर्व धकार के स्थान पर दकार हो जाता है ।

व्याख्या—झलाम् ।६।३। जश् ।१।१। झशि ।७।१। अर्थ –(झशि) 'झश्' प्रत्याहार परे होने पर (झलाम्) झलो के स्थान पर (जश्) 'जश्' हो जाता है ।

'झलाम्' पद मे 'षष्ठी स्थाने-योगा' (१।१।४८) के अनुसार स्थान-षष्ठी है । 'झशि' पद सप्तम्यन्त है, अत 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' (१६) सूत्र के अनुसार झश् से अव्यवहितपूर्व झल् को ही जश् होगा, अर्थात् झश् परे होने पर झलो को जश् होगा* ।

झल् प्रत्याहार में वर्गों के चतुर्थ, तृतीय, द्वितीय, प्रथम और ऊष्म वर्ण आते हैं । इनके स्थान पर जश् अर्थात् वर्गों के तृतीय वर्ण [ज्, ब्, ग्, ड, द्] हो जाते हैं, यदि झश् अर्थात् वर्गों के तृतीय चतुर्थ वर्ण परे हों तो ।

'सु ध् ध् य्+उपास्य' यहा द्वित्व वाले पक्ष में इस सूत्र से पूर्व धकार=झल को जश् होता है, क्योंकि इसमे परे परला धकार=झश् विद्यमान है । जश् पाञ्च हैं—१ ज्, २ ब्, ३ ग्, ४ ड्, ५ द् । यहा 'स्थानेऽन्तरतम' (१७) के अनुसार धकार के स्थान पर दकार=जश् होता है [देखो—'लृ-तु-ल-सानां दन्ता'] । यथा—

१ सुद्ध्य्+उपास्य [द्वित्व पक्ष में जश्त्व होकर]

२ सुध्य्+उपास्य [द्वित्वाभाव पक्ष में]

अब दोनों पक्षों मे समान रूप से अग्रिम-सूत्र प्राप्त होता है ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२० संयोगान्तस्य लोपः ।८।२।२३॥

संयोगान्तं यत् पदं तस्य लोपः स्यात् ।

अर्थः—जिस पद के अन्त में सयोग हो उसका लोप हो जाता है ।

---

*इस कारण परले 'ध्' को जश् नहीं होगा, क्योंकि समक्षस्थित 'य्' झश नहीं ।

व्याख्या—संयोगान्तस्य ।६।१। पदस्य ।६।१। [यह अधिकार पीछे से आरहा है।] लोप ।१।१। समास—संयोगोऽन्तो यस्य तत्=संयोगान्तम्, बहुव्रीहि-समास । अर्थ—(संयोगान्तस्य) जिसके अन्त मे संयोग है ऐसे (पदस्य) पद का (लोप) लोप हो जाता है।

पाणिनीय-व्याकरण मे 'येन विधिस्तदन्तस्य' [१।१।७१] यह भी एक नियम है। इसका भाव यह है कि विशेषण के साथ तदन्त-विधि करनी चाहिये। यथा—'अचो यत्' (७७३) यहा 'धातो' पद की अनुवृत्ति आकर 'अच ।५।१। धातो ।५।१। यत् ।१।१।' ऐसा हो जाता है। इसमे 'अच' पद 'धातो' पद का विशेषण है, इसमे तदन्त-विधि होकर 'अजन्त धातु से यत् प्रत्यय हो' ऐसा अर्थ बन जाता है। इस नियम के अनुसार यहां यदि 'संयोगस्य लोप' सूत्र भी बनाते, तो भी 'संयोगस्य' पद के 'पदस्य' पद के विशेषण होने के कारण तदन्त-विधि होकर उपर्युक्त अर्थ सिद्ध हो सकता था, पुन यहा स्पष्ट-प्रतिपत्ति अर्थात् विद्यार्थियो के क्लेश का ध्यान रख अनायास-ज्ञान के लिये ही मुनि ने 'अन्त' पद का ग्रहण किया है।

"सुद्ध्य्+उपास्य, सुध्य्+ उपास्य" इन रूपो मे क्रमश 'सुद्ध्य्' और 'सुध्य्' संयोगान्त पद है। 'हलोऽनन्तरा संयोग' (१३) के अनुसार 'द्, ध्, य्' अथवा 'ध्, य्' वर्णों की संयोग-सञ्ज्ञा है। 'सुप्तिङन्त पदम्' (१४) सूत्र द्वारा यहा पद-सञ्ज्ञा होती है। यद्यपि इस के अन्त मे भिर्म्=सुप् लुप्त हो चुका है, तथापि 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' (१९०) द्वारा सुबन्त के अक्षुण्ण रहने से पद सञ्ज्ञा में कोई दोष नही होता। इस प्रकार दोनो पक्षो में सम्पूर्ण संयोगान्त-लोप प्राप्त होता है। अब अग्रिम-परिभाषा द्वारा केवल अन्त के लोप का विधान करते हैं।

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—**२१ अलोऽन्त्यस्य । १ । १ । ५२॥**

***षष्ठी-निर्दिष्टस्यान्त्यस्याल आदेशः स्यात् । इति यलोपे प्राप्ते—**

अर्थः—आदेश—षष्ठी-निर्दिष्ट के अन्त्य अल् के स्थान पर होता है। इस सूत्र से (दोनो पक्षो में) यकार के लोप के प्राप्त होने पर (अग्रिम वार्त्तिक द्वारा निषेध हो जाता है।)

व्याख्या—स्थाने ।७।१। ['षष्ठी स्थाने-योगा' से] विधीयमान आदेश [ये अध्याहार किये जाते है।] षष्ठ्या ।३।१। ['षष्ठी स्थानेयोगा' से] प्रथमान्त 'षष्ठी' शब्द आ कर तृतीयान्त-रूपेण परिणत हो जाता है।] निर्दिष्टस्य ।६।१। [इसका अध्याहार किया गया है।]

---

*अत्र 'षष्ठीनिर्दिष्टोऽन्त्यस्याल आदेश स्यात्' इति क्वाचित्क पाठोऽपपाठ एव।

अन्त्यस्य ।६।१। अल. ।६।१। अर्थ —(स्थाने) स्थान पर विधान किया आदेश (षष्ठ्या) षष्ठी-विभक्ति से निर्देश किये गये के (अन्त्यस्य) अन्त्य (अल) अल् के स्थान पर होता है।

इसका सार यह है कि जो आदेश षष्ठी-निर्दिष्ट के स्थान पर प्राप्त होता है वह उसके अन्तिम अल् को होता है। यथा—'त्यदादीनाम् अ' (१६३) त्यदादियों को 'अ' हो। यहा 'षष्ठी स्थाने-योगा' (१।१।४८) सूत्र से सम्पूर्ण त्यदादियों के स्थान पर 'अ' प्राप्त होता है, परन्तु इस परिभाषा (२१) से त्यदादियों के अन्त्य अल् को 'अ' हो जाता है। 'त्यदादीनाम्' यह यहा षष्ठी-निर्दिष्ट है।

'रायो हलि' (२१९) हलादि विभक्ति परे होने पर रै शब्द को आकार आदेश होता है। यहा सम्पूर्ण 'रै' के स्थान पर प्राप्त आदेश इस परिभाषा द्वारा अन्त्य अल्=ऐकार को हो जाता है। 'राय' यह यहा षष्ठी-निर्दिष्ट है।

'दिव औत्' (२६४) सु परे होने पर दिव् शब्द को औकार आदेश होता है। यहा सम्पूर्ण 'दिव्' के स्थान पर प्राप्त आदेश इस परिभाषा द्वारा अन्त्य अल्=वकार को ही होता है। 'दिव.' यह यहां षष्ठी-निर्दिष्ट है।

'दिव उत्' (२६५) पदान्त में दिव् को उकार आदेश हो। यहां सम्पूर्ण दिव् के स्थान पर प्राप्त आदेश इस परिभाषा द्वारा अन्त्य अल्=वकार को ही होता है। 'दिव' यह यहां षष्ठी-निर्दिष्ट है।

'सयोगान्तस्य लोप' (२०) सयोगान्त पद का लोप होता है। यहां सम्पूर्ण संयोगान्त पद के स्थान पर प्राप्त लोप इस परिभाषा द्वारा अन्त्य अल् के स्थान पर ही होता है। 'सयोगान्तस्य' यह यहां षष्ठी-निर्दिष्ट है।

यह परिभाषा-सूत्र है, अत इसका उपयोग रूप-सिद्धि में न होकर सूत्रार्थ करने में ही होता है। इस की सहायता से 'सयोगान्तस्य लोपः' (२०) सूत्र का यह अर्थ होता है—सयोगान्त पद के अन्त्य अल् का लोप हो जाता है। इस प्रकार—

१ सुद्ध्य्+उपास्य । २ सुध्य्+उपास्य ।

इन दोनों पदों में अन्त्य अल् यकार का ही लोप प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम वार्त्तिक से यकार के लोप का भी निषेध हो जाता है।

[लघु०] वा०—२ यणः प्रतिषेधो वाच्यः ॥

सुद्ध्युपास्यः, सुध्युपास्यः। मद्ध्वरिः, मध्वरिः। धात्त्रंशः, धात्रंशः। लाकृतिः।

अर्थः—संयोग के अन्त में यणों के लोप का निषेध कहना चाहिये।

व्याख्या—यह वार्तिक 'संयोगान्तस्य लोप.' (२०) सूत्र का है। जिस सूत्र पर जो

वार्तिक पढ़ा जाता है वह तद्विषयक ही समझा जाता है। 'संयोगान्तस्य लोप' (२०) सूत्र—सयोगान्त पद के अन्त्य अल् का लोप करता है, अब यदि वे अन्त्य अल् यण् (य्, व्, र्, ल्) होंगे तो उनका लोप न होगा।

इस प्रकार इस वार्तिक से पूर्वोक्त रूपों में प्राप्त यकार-लोप का निषेध हो जाता है।

१ सु द् ध् य् + उपास्य । २ सु ध् य् + उपास्य । ये दोनों उसी तरह अवस्थित रहते हैं।

हमारी लिपि [देव-नागरी] का नियम है कि 'अज्झीन परेण सयोज्यम्' अर्थात् अच् से रहित हल्, अग्रिम वर्ण के साथ मिला देना चाहिये। इस नियमानुसार हलों का अग्रिम वर्णों के साथ संयोग करके 'सुद्ध्युपास्य' और 'सुध्युपास्य' ये दो रूप बनते हैं। अब समास होने से प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा होकर विभक्ति आने पर 'सुद्ध्युपास्य', 'सुध्युपास्य' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

नोटः— 'सुधी+उपास्य' इस प्रकार विसर्ग वाला रूप प्रक्रिया-दशा में रखना अत्यन्त अशुद्ध है, क्योंकि समास मे विभक्तियों के लुक् के बाद सन्धि और उसके बाद सु आदि प्रत्यय करने उचित होते है पूर्व नहीं। अत यहाँ 'सुधी+उपास्य' ऐसी दशा में प्रथम सन्धि करके 'सुध्युपास्य' बना लेना उचित है, तदनन्तर सु प्रत्यय लाकर उसके स्थान पर विसर्ग आदेश करने से 'सुध्युपास्य' प्रयोग सिद्ध करना चाहिये। [*]

'मधु+अरि' यहा 'इको यणचि' (१५) सूत्र से धकारोत्तर उकार के स्थान पर यण् प्राप्त होता है, पुनः 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) द्वारा ओष्ठ-स्थान के तुल्य होने के कारण उकार के स्थान पर वकार ही हो जाता है—'म ध् व् + अरि'। अब 'अनचि च' (१८) से धकार को वैकल्पिक द्वित्व होकर द्वित्व पक्ष में 'झलां जश्झशि' (१९) से आदि धकार को दकार करने पर—१. 'मद्ध्व+अरि और २ मध्व्+अरि' ये दो रूप बनते हैं। अब इस दशा में दोनों पक्षों में 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) की सहायता से 'संयोगान्तस्य लोप' (२०) सूत्र द्वारा धकार के लोप के प्राप्त होने पर 'यणः प्रतिषेधो वाच्य' वार्तिक से उसका निषेध हो जाता है। अब 'सु' प्रत्यय लाकर उसके स्थान पर विसर्ग आदेश करने से 'मद्ध्वरि, मध्वरि' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

'धातृ+अंश' यहां 'इकोयणचि' (१५) सूत्र से तकारोत्तर ऋकार के स्थान पर यण् प्राप्त होता है, पुन 'स्थानेऽन्तरतम' (१७) द्वारा मूर्धा-स्थान के तुल्य होने से ऋकार के

---

[*] 'सुधी+उपास्य' में 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' (५९) से प्रकृति-भाव नहीं होता, 'न समासे' (वा०-६) से निषेध हो जाता है। 'न भू सुधियो' (२८२) से यणिन्षेध भी नहीं होता, क्योंकि वह अजादि सुप् में निषेध करता है। किञ्च—'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' इस न्याय से वह 'एरनेकाच —' (२००) के यण् का निषेध कर सकता है, 'इकोयणचि' (१५) के नहीं।

स्थान पर रेफ ही आदेश हो जाता है—'धात्र्+अंश'। अब 'अनचि च' (१८) सूत्र से तकार को वैकल्पिक द्वित्व होकर दोनों पक्षों में 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) की सहायता से 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) सूत्र द्वारा रेफ के लोप के प्राप्त होने पर 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' (वा० २) वार्त्तिक से उसका निषेध हो जाता है। अब 'सु' प्रत्यय लाकर विसर्ग आदेश करने से 'धात्त्रंशः, धात्रंशः' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

'लृ+आकृतिः' यहां 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) सूत्र की सहायता से 'इको यणचि' (१५) सूत्र द्वारा दन्त-स्थान वाले लृकार के स्थान पर तादृश दन्त-स्थानीय लकार आदेश होकर 'सु' प्रत्यय लाकर विसर्ग आदेश करने से 'लाकृतिः' प्रयोग सिद्ध होता है।

'सुद्ध्युपास्यः' और 'मद्ध्वरिः' प्रयोगों की सिद्धि एक समान होती है। 'धात्त्रंशः' में जश्त्व की तथा 'लाकृतिः' में द्वित्व और जश्त्व दोनों की प्रवृत्ति नहीं होती।

टिप्पणी—सुधीभिः=विद्वद्भिः उपास्यः=आराधनीयः=सुद्ध्युपास्यो भगवान् विष्णु-रित्यर्थः। [विद्वानों द्वारा आराधना करने योग्य भगवान् विष्णु।] मधोः=तदाख्यस्य दैत्यस्य अरिः=शत्रुः=मद्ध्वरिः, भगवान् विष्णुः। ['मधु' नामक दैत्य को मारने के कारण भगवान् विष्णु 'मद्ध्वरि' कहाते हैं।] धातुः=ब्रह्मणः, अंशः=भागः=धात्त्रंशः। [ब्रह्मा का भाग।] लृ आकृतिरिव आकृतिः=स्वरूपं यस्य सः=लाकृतिः, वंशी-वादन-समये वक्रा-कृतिश्श्रीकृष्ण इत्यर्थः। [बांसुरी बजानेके समय 'लृ' के समान टेढ़ी आकृति वाले श्रीकृष्ण]

अभ्यास (२)

(१) अधोलिखित रूपों में सूत्रोपपत्ति-पूर्वक सन्धिच्छेद करो।

१ धस्लादेशः। २ मात्राज्ञा। ३ वद्ध्वागमनम्। ४ यद्यपि। ५ लनुबन्धः। ६ कर्त्त्रायुः। ७ भ्रृविदम्। ८ करोत्ययम्। ९ लाकारः। १० पित्त्रधीनम्। ११ चार्वङ्गी। १२ वार्येति। १३ लादेशः। १४ धात्त्रेतत्। १५ गुर्वाज्ञा। १६ह्ययम्। १७ गम्लादेशः। १८ असौ। १९ खल्वैहि। २० दध्यत्र। २१ मद्ध्वामयः। २२ अस्त्यनुभवः। २३ कुर्विदम्। २४ भर्त्रादेशः। २५ पुनर्वस्वृक्षः।

(२) निम्नलिखित रूपों में सूत्रोपपत्ति-पूर्वक सन्धि करो।

१ शशी+उदियाय। २ सिध्यतु+एतत्। ३ भाति+अम्बरे। ४ धातु+आदेशः। ५ पातृ+असौ। ६ लृ+अङ्कः। ७ शिशु+अङ्कः। ८ नृ+आत्मजः। ९ स्मृति+आदेशः। १० अनु+आदेशः। ११ पितृ+अर्चा। १२ अपि+पुतत। १३ वृक्षेषु+अभिलाषः। १४ त्वष्टृ+आकाङ्क्षा। १५ दर्वी+असौ। १६ अभि+उदयः। १७ प्रति+एकः। १८ वधू+अलङ्कारः। १९ वस्तु+अस्ति। २० भ्रातृ+उत्क्रमः।

(३) 'लाकृति' का क्या विग्रह है ? 'लृ' शब्द का षष्ठ्येकवचन तथा प्रथमैकवचन क्या बनेगा ? अथवा 'लृ' शब्द का उच्चारण लिखो ।

(४) प्रसज्य और पर्युदास प्रतिषेधो का तात्पर्य अपनी भाषा मे स्पष्ट करते हुए 'नाय शशी' और 'अश्राद्धभोजी ब्राह्मण' मे कौन सा निषेध है सोपपत्तिक लिखें ।

(५) 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' 'अलोऽन्त्यस्य' तथा 'स्थानेऽन्तरतम' ये सूत्र यदि न होते तो कौन २ सी हानियां होती ? सोदाहरण स्पष्ट करें ।

(६) 'अनचि च' सूत्र मे कौन सा प्रतिषेध है और वैसा मानने की क्या आवश्यकता है ? ।

(७) संहिता की विवक्षा कहां २ नित्य और कहा २ ऐच्छिक हुआ करती है ? सप्रमाण सोदाहरण विवेचन करें ।

(८) 'सुधी+उपास्य' मे 'इकोऽसवर्णे—' सूत्र से प्रकृतिभाव क्यो नहीं होता ? अथवा 'न भू-सुधियो' से यणिनषेध क्यों नहीं होता ? ।

—०※०—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२२ एचोऽयवायावः ।६।१।७८॥

एचः क्रमाद् अय्, अव्, आय्, आव् एते स्युरचि ।

अर्थः—अच् परे होने पर एच् के स्थान पर क्रमश अय्, अव्, आय्, आव् आदेश हो जाते हैं ।

व्याख्या—एच ।६।१। ['षष्ठी स्थाने-योगा' के अनुसार यहा स्थान-षष्ठी है ।] अयवायाव ।१।३। अचि ।७।१। ['इको यणचि' सूत्र से] सहितायाम् ।७।१। [यह पीछे से अधिकृत है ।] समास—अय् च अव् च आय् च आव् च=अयवायावः इतरेतरद्वन्द्व । अर्थ—(अचि) अच् परे होने पर (संहितायां) संहिता के विषय में (एच.) एच् के स्थान पर (अयवायाव) अय्, अव्, आय्, आव् हो जाते हैं ।।

'एच्' प्रत्याहार के मध्य 'ए, ओ, ऐ, औ' ये चार वर्ण आते हैं । इनके स्थान पर 'अय्, अव्, आय्, आव्' ये चार आदेश होते हैं यदि इनसे परे अच् अर्थात् स्वर हों तो ।

'संहिता' के विषय में पीछे लिख चुके है, वही नियम यहा और अन्यत्र सब जगह समझ लेना चाहिये ।

'अचि' यहा भाव-सप्तमी है, यह पूर्ववत् 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' (१६) परिभाषा द्वारा पर-सप्तमी हो जाती है ।

यहां वृत्ति में 'क्रमात्' पद 'यथा-सङ्ख्यमनुदेश समाना.' (२३) परिभाषा के कारण आया हुआ है । अब इस परिभाषा को स्पष्ट करते है—

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्—२३ यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम् ।१।३।१०॥

समसम्बन्धी विधिर्यथासङ्ख्य स्यात्। हरये। विष्णवे। नायकः। पावकः।

अर्थः—[सङ्ख्या की दृष्टि से] समान सम्बन्ध वाली विधि सङ्ख्या के अनुसार हो।

व्याख्या—समानाम् ।६।३। अनुदेश ।१।१। यथा-सङ्ख्यम् ।१।१। समास—सङ्ख्याम् अनतिक्रम्येति यथासङ्ख्यम्, अव्ययीभाव-समास । यहा समानता सङ्ख्या की दृष्टि से अभिप्रेत है। अर्थ—(समानाम्) समान सङ्ख्या वालो का (अनुदेश) कार्य्य (यथा-सङ्ख्यम्) सङ्ख्या के अनुसार अर्थात् बारी २ से होता है।

'समानाम्' मे 'षष्ठीशेषे' (१०१) सूत्र द्वारा सम्बन्ध में षष्ठी हुई है। यदि यहा 'कर्तृ-कर्मणो कृति' (२।३।६५) सूत्र द्वारा कर्म मे षष्ठी माने तो जहा स्थानी के साथ तुल्य सङ्ख्या वालो का विधान किया जाएगा, वहां ही इस सूत्र की प्रवृत्ति हो सकेगी, यथा—'एचोऽयवायाव' सूत्र मे। परन्तु जहा विधीयमान सम-सङ्ख्यक न होंग किन्तु प्रकारान्तर से समान सङ्ख्या होती होगी वहा इस सूत्र की प्रवृत्ति न हो सकेगी, यथा—'समूलाकृत जीवेषु हन्कृञ्ग्रह' (३।४।३६) यहा विधीयमान 'णमुल्' एक है, इसकी किसी के साथ समान सङ्ख्या नही है, तीन उपपदो की तीन धातुओ के साथ समान सङ्ख्या है। यहा यदि यथासङ्ख्य नहीं करत तो अनिष्ट हो जाता है। अत 'समानाम्' पद मे कर्मणि षष्ठी न मान कर शेष-षष्ठी मानना ही युक्त है।

'एचोऽयवायाव' (२२) सूत्र द्वारा विहित 'अय्, अव्, आय, आव्' यह आदेश-रूप विधि सम-विधि है, क्योंकि एच् (ए, ओ, ऐ, औ) भी चार हैं और अय्, अव, आय्, आव् ये आदेश भी चार है। अत इस परिभाषा द्वारा यह विधि बारी २ अर्थात् पहले को पहला, दूसरे को दूसरा, तीसरे को तीसरा और चौथे को चौथा इस ढग से होगी। 'ए' पहले को पहला अय्, 'ओ' दूसरे को दूसरा अव 'ऐ' तीसरे को तीसरा आय् तथा 'औ' चौथे को चौथा आव होगा। इन सब के क्रमशः उदाहरण यथा—

हरे+ए=हर् अय्+ए=हरये। विष्णो+ए=विष्ण् अव्+ए=विष्णवे।

इन दोनों उदाहरणो में 'हरि' और 'विष्णु' शब्दों से चतुर्थी का एकवचन 'ङे' आने पर ङकार अनुबन्ध का लोप हो 'घेर्ङिति' (१७२) सूत्र से गुण हो जाता है।

नै+अक=न् आय्+अक=नायकः। पौ+अक=प आव्+अक=पावक.।

इन दोनों उदाहरणों मे 'नी' और 'पू' धातुओं से 'ण्वुल्' प्रत्यय आने पर अनुबन्धों का लोप तथा 'वु' के स्थान पर अकादेश होकर 'अचोञ्णिति' (१८२) सूत्र से क्रमश. ईकार

ऊकार को ऐकार औकार वृद्धि हो जाती है। इसी प्रकार भावुक, चयनम्, गायन, पवन आदि प्रयोगो मे भी अयादि-प्रक्रिया समझ लेनी चाहिये।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२४ वान्तो यि प्रत्यये। ६। १। ७८॥

यकारादौ प्रत्यये परे ओदौतोर् अव् आव् एतौ स्तः।

गव्यम्। नाव्यम्।

अर्थः—यकारादि प्रत्यय परे होने पर 'ओ' को अव् तथा 'औ' को आव् हो जाता है।

व्याख्या—वान्त ।१।१। यि ।७।१। प्रत्यये ।७।१। मुनि-वर पाणिनि के 'येन विधिस्तदन्तस्य' (१।१।७१) नियम का 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' यह वार्तिक अपवाद है। इसका अभिप्राय यह है कि सप्तम्यन्त एकाल् विशेषण से तदन्त-विधि न हो किन्तु तदादि-विधि हो। यहा 'यि' यह सप्तम्यन्त एकाल् है और 'प्रत्यये' का विशेषण है, अत इससे तदादि-विधि होकर 'यादौ प्रत्यये' ऐसा बन जायगा। समास—व अन्ते यस्य स =वान्त, वकाराद् कार उच्चारणार्थ, बहुव्रीहि-समास। जिसके अन्त मे 'व्' हो उसे वान्त कहते हैं। यहा वान्त मे अभिप्राय पूर्व-सूत्र-पठित अव्, आव् आदेशों से है। यहाँ स्थानी 'ओदौतोश्चेति वक्तव्यम्' वार्तिक मे ओ और औ समझने चाहियें। अर्थ - (यि=यादौ) जिसके आदि में 'य्' हो ऐसे (प्रत्यये) प्रत्यय के परे होने पर (वान्त) 'ओ' और 'औ' के स्थान पर अव् और आव् आदेश हो जाते हैं। इनके उदाहरण यथा—

'गो+य' [यहा 'गो' से 'गोपयसोर्यत्' (४।३।१६०) द्वारा 'यत्' प्रत्यय होता है।] यहा 'य' यह यकारादि प्रत्यय परे है अत गकारोत्तर ओकार के स्थान पर अव् आदेश हो— ग्+अव्+य=गव्य। अब विभक्ति लाने से 'गव्यम्' प्रयोग सिद्ध होता है। [गोर्विकार = गव्यम्, दुग्ध-दध्यादिकमित्यर्थ। दूध, दही आदि गौ के विकार 'गव्य' कहाते हैं।]

'नौ+य' [यहा 'नौ' से तार्य='तरने योग्य' अर्थ में 'नौ वयो-धर्म——' (४।४।९१) सूत्र से 'यत्' प्रत्यय होता है।] यहा 'य' यह यकारादि प्रत्यय परे है अत. नकारोत्तर औकार के स्थान पर आव् आदेश होकर विभक्ति लाने से 'नाव्यम्' प्रयोग सिद्ध होता है। [नावा तार्यम्=नाव्यं जलम्, नौका से तरने योग्य जल को 'नाव्य' कहते हैं, यथा— 'गङ्गाया नाव्यं जलं वर्त्तते'।]

इन उदाहरणों में 'अच्' परे न होने के कारण 'एचोऽयवायाव॰' (२२) सूत्र से काम नहीं चल सकता था अत यह सूत्र बनाना पड़ा है।

[लघु०] वा०—३ अध्वपरिमाणे च ॥

गव्यूतिः ।

अर्थः—'गो' शब्द से 'यूति' शब्द परे होन पर ओकार को वान्त (अव्) आदेश हो जाता है, यदि समुदाय मे मार्ग का परिमाण (माप) अर्थ ज्ञात हो तो ।

व्याख्या—गो ।६।१। यूतौ ।७।१। ['गोयूतौ छन्दस्युपसङ्ख्यानम्' से] वान्त ।१।१। ['वान्तो यि प्रत्यये' से] अध्व-परिमाणे ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । अर्थ—(यूतौ) 'यूति' शब्द परे होने पर (गो) 'गो' शब्द के ओकार के स्थान पर (वान्त) 'अव्' आदेश हो (अध्व-परिमाण) मार्ग के परिमाण अर्थात् माप के गम्यमान होने पर । उदाहरण यथा—

गो+यूति=ग् अव्+यूति=गव्यूति । इस का अर्थ 'दो कोस' है । जहा मार्ग-परिमाण अर्थ न होगा वहा 'गोयूति ' बनेगा ।

यहा पर यकारादि प्रत्यय न होने से यह वार्त्तिक बनाना पडा है ।

अभ्यास (३)

१ निम्न-लिखित रूपो मे सन्धिच्छेद कर के सूत्रो द्वारा उसे सिद्ध करे ।

१ वटवृक्ष * । २ ग्लायति । ३ भवति । ४ गणयति । ५ माण्डव्य † । ६ स्तावक । ७ नयति । ८ गायन्ति । ९ नाविक । १० शयनम् । ११ जय । १२ गोपयति । १३ औपगव । १४ चय । १५ चिलाय । १६ अलावीत् । १७ पवन । १८ नय । १९ त्रायते । २० कवये । २१ चय । २२ मनवे । २३ रायौ । २४ पपावसाविह । २५ द्रवति ।

२ निम्न-लिखित रूपों में सन्धि कर के सूत्रों द्वारा उसे सिद्ध करें ।

१ असौ+अयम् । २ असे+ए । ३ चे+अन । ४ लो+अन । ५ चोरे+अति । ६ भौ+उक । ७ गै+अक । ८ साधो+ए । ९ शङ्को+य×। १० अग्नौ+इह । ११ भौ+अयति १२ पो+इत्र । १३ शे+आन । १४ भो+अन । १५ ग्लौ+औ । १६ बाभ्रो+य ‡। १७ गो+यूति । १८ बालौ+अत्र ।

३ 'एचोऽयवायाव ' सूत्र मे यदि 'अचि' पद का अनुवर्त्तन न करें तो कौन सा दोष उत्पन्न हो जायगा ?

*'वटो+अक्ष ' इतिच्छेद ।

†'मण्डु' शब्दाद् गोत्रापत्ये 'गर्गादिभ्यो यञ्' (१००५) इति यञ् ।

×शङ्कु शब्दात् 'तस्मै हितम्' (५।१।५) इत्यधिकारे 'उगवादिभ्यो यत् ' (५। १। २) इति यत् प्रत्यय ।

‡बभ्रु शब्दाद् अपत्येऽर्थे 'मधु बभ्र्वोर्ब्राह्मण-कौशिकयो ' (४।१।१०६) इति यञ्, ञित्वादादि-वृद्धौ ' ओर्गुण ' (१००२) इति गुण ।

४ 'यथा-सङ्ख्यमनुदेश समानाम्' सूत्र की सोदाहरण व्याख्या करते हुए 'समानाम्' पद पर प्रकाश डाले ।

५ 'वान्तो यि प्रत्यये' और 'अध्व-परिमाणे च' के निर्माण का प्रयोजन बताए ।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—२५ अदेङ् गुणः । १ । १ । २ ॥

अद् एङ् च गुण-सञ्ज्ञः स्यात् ।

अर्थः—अ, ए, ओ, इन तीन वर्णों की 'गुण' सञ्ज्ञा होती है ।

व्याख्या—अत् ।१।१। एङ् ।१।१। गुण ।१।१। अर्थ—(अत्, एङ्) अ, ए, ओ ये तीन वर्ण (गुण) गुण-सञ्ज्ञक होते हैं । इस सूत्र पर जो वक्तव्य है वह अग्रिम सूत्र पर लिखा जायगा ।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—२६ तपरस्तत्कालस्य । १ । १ । ६९ ॥

तः परो यस्मात् स च, तात् परश्चोच्चार्यमाणसमकालस्यैव सञ्ज्ञा स्यात् ।

अर्थः—'त्' जिससे परे है और 'त्' से जो परे है वह अपने सदृश काल वालों की सञ्ज्ञा होता है ।

व्याख्या—तपर ।१।१। तत्कालस्य ।६।१। स्वस्य ।६।१। ['स्व रूप शब्दस्याशब्द-सञ्ज्ञा' से विभक्ति-विपरिणाम करके] समास—तात् पर =तपर , पञ्चमी-तत्पुरुष । त' परो यस्मादसौ तपर , बहुव्रीहि-समास । तस्य=तपरत्वेनोच्चार्यमाणस्य काल इव कालो यस्य स तत्काल , तस्य=तत्कालस्य, बहुव्रीहि-समास । अर्थ—(तपर) 'त्' जिससे परे है और 'त्' से जो परे है वह (तत्कालस्य) अपने काल के समान काल वालो की तथा (स्वस्य) अपनी सञ्ज्ञा होता है ।

'अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्यय ' (११) सूत्र द्वारा अण् अपने तथा अपने सवर्णों के बोधक होते हैं, यह पीछे कह चुके है । यह सूत्र उसका अपवाद (निषेध करने वाला) है । जिसके आगे या पीछे 'त्' लगाया जाए वह केवल अपना तथा अपने काल के सदृश काल वाले सवर्णों का ही ग्राहक हो अन्य सवर्णों का न हो, यही इस सूत्र का तात्पर्य है । यथा—'अदेङ् गुण ' (२५) यहा 'अ' तपर है, क्योकि इससे परे 'त्' है, एवम् 'एङ्' भी तपर है, क्योंकि यह 'त्' से परे है । अब यहा 'अ' और 'एङ्' ये दोनों तपर अण्-प्रत्याहार के अन्तर्गत होते हुए भी 'अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्यय ' (११) सूत्र द्वारा अपने सम्पूर्ण सवर्णों का ग्रहण न कराएगे, किन्तु उन्हीं सवर्णों का ग्रहण कराएगे जिनका काल इनके साथ तुल्य होगा ।

अ' यह एक मात्रिक है, अतः यह अपने एक-मात्रिक सवर्णों का ही बोधक होगा दीर्घादियों का नहीं। एङ्, अर्थात् 'ए', 'ओ' द्वि-मात्रिक हैं, अतः ये अपने द्विमात्रिक सवर्णों के ही बोधक होंगे ह्रस्वादियों के नहीं। तात्पर्य यह हुआ कि तपर 'अ'—केवल अपने समकाल वाले छः ह्रस्व भेदों का ही ग्राहक होगा सम्पूर्ण अठारह भेदों का नहीं। इसी प्रकार तपर 'ए' 'ओ'—केवल अपने समकाल वाले छः दीर्घ भेदों के ही ग्राहक होंगे सम्पूर्ण बारह भेदों के नहीं। एवम् तपर इ, उ, ऋ, आ, ई आदियों में भी समझ लेना चाहिये।*

तो अब 'अदेङ् गुणः' (२५) सूत्र का यह अर्थ हुआ—'ह्रस्व अकार, दीर्घ एकार तथा दीर्घ ओकार गुणसञ्ज्ञक होते हैं'। अब अग्रिम सूत्र में गुण-सञ्ज्ञा का उपयोग दिखाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२७ आद् गुणः।६।१।८६॥

अवर्णादचि परे पूर्व-परयोरेको गुण आदेशः स्यात्। उपेन्द्रः। गङ्गोदकम्।

अर्थः—अवर्ण से अच् परे होने पर पूर्व+पर के स्थान पर एक गुण आदेश हो जाता है।

व्याख्या—'अष्टाध्यायी के छठे अध्याय के प्रथम पाद में 'एकः पूर्वपरयोः' (६।१।८२) यह अधिकार सूत्र है। इसका अधिकार 'ख्यत्यात्परस्य' (६।१।१०९) सूत्र के पूर्व तक जाता है। इस अधिकार+ में 'पूर्व पर दोनों के स्थान पर एक आदेश होता है'। यह 'आद् गुणः' (२७) सूत्र भी इसी अधिकार में पढ़ा गया है। आत् ।५।१। अचि ।७।१। ['इको यणचि' से] पूर्वपरयोः ।६।२। एकः ।१।१। ['एकः पूर्वपरयोः' यह अधिकृत है] गुणः ।१।१। अर्थः—(आत्) अवर्ण से (अचि) अच् परे होने पर

---

* ध्यान रहे कि इस तपर से अतिरिक्त विभक्ति-तपर भी हुआ करता है। यथा- 'आद्गुणः' (२७) यहां पर 'आत्' यह 'आ' शब्द की पञ्चमी का 'त्' है अतः यहां पर ह्रस्व (उपेन्द्रः) दीर्घ (रमेशः) दोनों अकारों का ग्रहण हो जाता है। इसमें 'उपसर्गादृति धातौ' (३७) सूत्र ज्ञापक है। 'उपसर्गात्' यहां पञ्चमी का 'त्' है यदि यहां पर भी 'तपरस्तत्कालस्य' (२६) का उपयोग करते हैं, तो फिर उससे परे स्थित 'ऋ' में तपर-ग्रहण व्यर्थ हो जाता है।

+इस अधिकार के २१ सूत्र 'लघुकौमुदी' में प्रयुक्त किये गये हैं। तथाहि—१ अन्तादिवच्च। (४१), २ आद्गुणः। (२७), ३ वृद्धिरेचि। (३३), ४ एत्येधत्यूठ्सु। (३४), ५ आटश्च। (१९७), ६ उपसर्गादृति धातौ। (३७), ७ औतोम्शसोः। (२१४), ८ एङि पररूपम्। (३८), ९ ओमाङोश्च। (४०), १० उस्यपदान्तात्। (४९२), ११ अतो गुणे। (२७४), १२ अकः सवर्णे दीर्घः। (४२), १३ प्रथमयोः पूर्वसवर्णः। (१२६), १४ तस्माच्छसो नः पुंसि (१३७), १५ नादिचि (१२७), १६ दीर्घाज्जसि च (१६२), १७ अमि पूर्वः (१३५), १८ सम्प्रसारणाच्च (२५८), १९ एङः पदान्तादति (४३), २० ङसि-ङसोश्च (१७३), २१ ऋत उत् (२०८), इन सूत्रों को सदा ध्यान में रखना चाहिए।

(पूर्वपरयो) पूर्व और पर के स्थान पर (एक) एक (गुण) गुण आदेश होता है।

अवर्ण से अवर्ण परे होने पर 'अक सवर्णे दीर्घ' (४२) तथा अवर्ण से 'ए, ओ ए, औ' परे होने पर 'वृद्धिरेचि (३३) सूत्र इस गुण को बाध लेते हैं अत अवर्ण से इकार उकार, ऋकार तथा लृकार परे होने पर ही गुण प्रवृत्त होता है।

उदाहरण यथा— उपेन्द्र'। [विष्णु]।

'उप+इन्द्र' यहा पकारोत्तर अवर्ण से परे इन्द्र' का आदि अच् इ' विद्यमान ह अत पूर्व=अवर्ण तथा पर=इवर्ण दोनों के स्थान पर एक गुण प्राप्त होता है। अदेङ गुण' (२५) सूत्र के अनुसार अ, ए, ओ' ये तीन गुण हैं। अब इन तीनों में से कौन सा गुण अ+इ' के स्थान पर किया जाए? इस शङ्का के उत्पन्न होने पर स्थानेऽन्तरतम' (१७) सूत्र से स्थान-कृत आन्तर्य द्वारा 'अ+इ' क स्थान पर 'ए' गुण हो जाता है। ['अ+इ' का स्थान कण्ठ+तालु' है गुणो मे कण्ठ+तालु स्थान वाला 'ए' ही है।] उप 'ए' न्द्र='उपेन्द्र' * प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

'गङ्गोदकम्'। [गङ्गा का जल]

गङ्गा+उदक' यहां गकारोत्तर 'आ' अवर्ण है, इससे परे 'उदक' का आदि उ अच विद्यमान है। 'आ+उ' का स्थान 'कण्ठ+ओष्ठ' है। तीनों गुणों में कण्ठ+ओष्ठ' स्थान 'ओ' का ही है अत पूर्व=आ और पर=उ इन दोनों के स्थान पर+ 'अाद् गुण' (२७) द्वारा 'ओ' यह एक गुण आदेश हो कर गङ्ग् ओ' दक= गङ्गोदकम् प्रयोग सिद्ध होता है।

अवर्ण से ऋ, लृ परे वाले उदाहरणों म उरण्रपर' (२९) सूत्र का उपयोग किया जाता है, वह सूत्र 'र' प्रत्याहार क आश्रित है, अत प्रथम 'र' प्रत्याहार की सिद्धि के लिये 'इत्' सञ्ज्ञा करने वाला सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—२८ उपदेशेऽजनुनासिक इत्।१।३।२॥

उपदेशेऽनुनासिकोऽज् इत्सञ्ज्ञ' स्यात्। प्रतिज्ञानुनासिक्या पाणिनीया। 'लण्' सूत्रस्थावर्णेन सहोच्चार्यमाणो रेफो रलयो' सञ्ज्ञा।

अर्थः—जो अच् उपदेश अवस्था में अनुनासिक हो, उसकी इत् सञ्ज्ञा होती है।

---

*'जब समास' दे में सन्धि हो चुकती है तब विभक्ति की उत्पत्ति हुआ करती है' यह हम पीछे लिख चुके हैं, सवत्र नहीं लिखेंगे।

+यद्यपि 'गङ्गा+उदक' में 'आ+उ' स्थानी क त्रिमात्र होने से आदेश 'ओ' भी सदृशतम त्रिमात्र होना चाहिए, तथापि 'अदेङ गुण' [२५] में एङ क 'तपर' होने मे द्विमात्र 'ओ' ही गुण एक हो जाता है। यह पूर्व सूत्र में सङ्केतित कर आये हैं।

प्रतिज्ञेति—पाणिनि के वर्ण प्रतिज्ञा अर्थात् गुरु परम्परा के उपदेश से अनुनासिक धर्म वाले हैं। **लण् इति**—लण् सूत्र में स्थित लकारोत्तर अवर्ण (अन्त्य) के साथ युक्त हुआ रेफ (आदि) र् और ल् वर्णों की सञ्ज्ञा होता है।

व्याख्या—उपदेशे ।७।१। अनुनासिकः ।१।१। अच् ।१।१। इत् ।१।१। अर्थ—(उपदेशे) उपदेश अवस्था में (अनुनासिकः) अनुनासिक (अच्) अच् (इत्) इत् सञ्ज्ञक होता है।

महामुनि पाणिनि ने अपने व्याकरण में अनुनासिक अचों पर (ँ) इस प्रकार का चिह्न किया था* परन्तु अब वह अनुनासिक पाठ परिभ्रष्ट हो गया है। अतः अब अनुनासिक जानने की व्यवस्था इस प्रकार समझनी चाहिये—

"प्रतिज्ञाऽनुनासिक्याः पाणिनीयाः"।

पाणिनीयाः=पाणिनिना प्रोक्ता वर्णाः, प्रतिज्ञया=गुरुपरम्परोपदेशेन आनुनासिक्याः=अनुनासिकधर्मवन्तः सन्तीति शेषः। अर्थ—पाणिनि से कहे गये वर्ण गुरु परम्परा के उपदेशानुसार अनुनासिक धर्म वाले जानने चाहियें। तात्पर्य यह है कि अनुनासिक के विषय में अब तक आ रही गुरु परम्परा का आश्रय करना ही युक्त है। गुरुपरम्परा से जो २ अनुनासिक चला आ रहा है उसे अनुनासिक और जो अनुनासिक नहीं माना जा रहा उसे अनुनासिक न मानना ही ठीक है।

इस सूत्र से 'लण्' में लकारोत्तर अकार की इत् सञ्ज्ञा हो जाती है, क्योंकि गुरु परम्परा से 'लणमध्येत्त्वित्सञ्ज्ञकः' ऐसा प्रवाद चला आ रहा है अतः यह अनुनासिक 'लँण्' इस रूप में है।

इस अन्त्य इत्=अकार के साथ 'हयवरट्' सूत्र का 'र' [देखो—'हकारादिष्वकार उच्चारणार्थः'।] मिलाने से र्+अँ='रँ' प्रत्याहार बन जाता है, इस 'रँ' प्रत्याहार के अन्तर्गत 'र्' और 'ल्' ये दो वर्ण आते हैं। णकार 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा इत्-सञ्ज्ञक है अतः मध्यवर्ती होने पर भी उसका ग्रहण नहीं होता।

अब 'रँ' प्रत्याहार का अग्रिम सूत्र में उपयोग बतलाते हैं—

---

*जैसे 'एधँ वृद्धौ, गम्लृँ गतौ, यजँ देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु' इनमें अनुनासिक का चिह्न होने से ये अकार पाणिनि को 'इत्' अभीष्ट हैं। अनुदात्तेत् होने से एध धातु आत्मनेपदी और स्वरितेत् होने से यज धातु उभयपदी है। 'गम्लृ' धातु में लृकार न अनुदात्त है और न स्वरित अतः अवशिष्ट उदात्त है, उदात्तेत् होने से गम्लृ धातु परस्मैपदी है। इत् सञ्ज्ञा किसी प्रयोजन के लिये होती है। प्रयोजनाभाव में अकार उच्चारणार्थक ही होता है।

[लघु०] परिभाषा सूत्रम्—२६ उरण्रपरः ।१।१।५०॥

'ऋ इति त्रिंशतः सञ्ज्ञे' त्युक्तम्, तत्स्थाने योऽण् स रपरः सन्नेव प्रवर्त्तते । कृष्णर्द्धिः । तवल्कारः ।

अर्थ.—'ऋ' यह तीस की सञ्ज्ञा है यह हम पीछे ('अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः' सूत्र पर) कह चुके हैं । उस तीस प्रकार वाले 'ऋ' के स्थान पर यदि अण् करना हो तो वह 'र्' प्रत्याहार परे वाला ही प्रवृत्त होता है ।

व्याख्या—उः ।६।१। ['ऋ' शब्द का षष्ठी के एकवचन मे 'पितुः' के समान उः प्रयोग बनता है।] अण् ।१।१। रपरः ।१।१। समास—रः परो यस्माद् असौ रपरः, बहुव्रीहि समास । अर्थ—(उः) 'ऋ' वर्ण के स्थान पर (अण्) अण् अर्थात् अ, इ, उ (रपरः) 'र्' प्रत्याहार परे वाले होते हैं।

'अणुदित् सवर्णस्य चाप्रत्ययः' (११) सूत्र पर 'ऋ' की तीस सञ्ज्ञाओं का प्रतिपादन कर चुके हैं उस 'ऋ' के स्थान पर यदि अण् (अ इ उ) आदेश होगा तो वह 'र्' प्रत्याहार परे वाला अर्थात् उससे परे र् और ल् भी होंगे । यथा—अर्, अल्, आर्, आल, इर्, इल, उर्, उल् इत्यादि । उदाहरण यथा—

'कृष्णर्द्धिः' [कृष्ण की समृद्धि] । कृष्ण+ऋद्धिः' यहा णकारस्थ अवर्ण से परे ऋकार=अच् के विद्यमान होने से 'आद् गुणः' (२७) सूत्र द्वारा पूर्व+पर के स्थान पर एक गुण प्राप्त होता है । 'अ+ऋ' का स्थान 'कण्ठ+मूर्धा' है । तीनों गुणों में 'कण्ठ' स्थान तो सब का मिलता है पर मूर्धा स्थान किसी का नहीं मिलता । अब यदि पूर्व+पर के स्थान पर 'अ' गुण करें तो उस से परे 'र्' प्रत्याहार प्राप्त हो जाता है । 'र्' प्रत्याहार में र् और ल दो वर्ण आते हैं, 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) द्वारा 'ऋ' के स्थान पर अण् करने से उस से परे 'र्' और 'ऌ' के स्थान पर अण् करने से उस से परे 'ल' भी साथ प्रवृत्त हो जाता है । यहां पूर्व+पर के स्थान पर एकादेश होने से 'ऋ' के स्थान पर अण् (अ) करना है अतः उस से परे 'र्' भी हो जाता है । इस प्रकार 'अर्' का स्थान 'कण्ठ+मूर्धा' होने से स्थानी और आदेश तुल्य हो जाते हैं । तो अब 'अर्' करने से कृष्ण् 'अर्' द्धिः = 'कृष्णर्द्धिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

'तवल्कारः' [तेरा ऌकार] । 'तव+ऌकारः' यहा 'आद् गुणः' (२७) से गुण एकादेश प्राप्त होने पर 'उरण्रपरः' (२६) से 'र्' प्रत्याहार भी परे प्राप्त होता है । अब 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) सूत्र से लपर अण् होकर तव् 'अल्' कारः = 'तवल्कारः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

अभ्यास (४)

१ निम्न लिखित रूपों में सन्धिच्छेद कर उस सूत्रों द्वारा सिद्ध करो—
१ गजेन्द्र । २ परीक्षोत्सव । ३ वसन्तर्तु । ४ रमेश । ५ सूर्योदय । ६ गणेश । ७ देवर्षि । ८ ममत्कार । ९ हितोपदेश । १० तथेति । ११ अत्यन्तोर्ध्वम् । १२ परमोत्तम । १३ नेति । १४ यथेच्छम् । १५ उमेश । १६ महर्षि । १७ यज्ञोपवीतम् । १८ महेष्वास । १९ विकलेन्द्रिय । २० तवोत्साह । २१ वेदर्क । २२ दयोदयोज्ज्वल ।

२ अधोलिखित प्रयोगों में उपपत्ति पूर्वक सूत्रों द्वारा सन्धि करो—
१ महा+ईश । २ तीव्र+उच्चारण । ३ राम+इतिहास । ४ न+उपलब्धि । ५ भाष्य कार+इष्टि । ६ परम+उपकारक । ७ स्वच्छ+उदक । ८ सतत+उद्यत । ९ तव+ लृदन्त । १० ग्रीष्म+ऋतु । ११ सप्त+ऋषि । १२ मम+लृवर्ण ।

३ (क) 'उरण्रपर' (२९) में अण् प्रत्याहार किस णकार से ग्रहण करना चाहिये ? और क्यों ? ।

(ख) 'ऋ' की तीस सञ्ज्ञाओं का उल्लेख करो ।

(ग) 'र' प्रत्याहार की ससूत्र सिद्धि लिख कर तदन्तर्गत वर्णों को लिखते हुए 'र' प्रत्याहार स्वीकार करने का प्रयोजन बताओ ।

(घ) अनुनासिक जानने की आज कल क्या व्यवस्था है ? सप्रमाण सविस्तर लिखो ।

(ङ) तपर करने का क्या प्रयोजन है ? सोदाहरण सप्रमाण स्पष्ट करो ।

(च) 'आद् गुणः' सूत्र किस २ का अपवाद है, सोदाहरण लिखो ।

—०❀०—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३० लोपः शाकल्यस्य ।८।३।१९॥

अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोर्यवयोर्लोपो वाऽशि परे ।

अर्थः—अश् प्रत्याहार परे होने पर अवर्ण पूर्व वाले पदान्त यकार वकार का विकल्प करके लोप हो जाता है ।

व्याख्या—अ पूर्वयोः ।६।२। ['भो भगो अघो अ पूर्वस्य योऽशि' से 'अ-पूर्वस्य' अंश की अनुवृत्ति आकर वचन विपरिणाम हो जाता है ।] व्योः ।६।२। ['व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य' से] पदान्तयोः ।६।२। ['पदस्य' यह पीछे से अधिकार चला आ रहा है । 'व्योः' का विशेषण होने से इससे तदन्त विधि होकर वचन विपरिणाम से द्विवचन हो जाता है ।] लोपः ।१।१। शाकल्यस्य ।६।१। अशि ।७।१। ['भो भगो अघो अ पूर्वस्य योऽशि' से]

समास—अ = अवर्ण पूर्वौ याभ्या तौ = अ पूर्वौ, तयो = अपूर्वयो , बहुव्रीहि समास । व च य् च = य्वौ, तयो = य्वो इतरेतर द्वन्द्व । अर्थ—(अ पूर्वयो) अवर्ण पूर्व वाले (पदान्तयो) पदान्त (य्वो) वकार यकार का (अशि) अश परे होने पर (लोप) लोप हो जाता है । (शाकल्यस्य) यह कार्य शाकल्याचार्य का है ।

यह लोप शाकल्याचार्य—जो पाणिनि से पूव याकरण के एक महान् आचार्य हो चुके थे—के मत में होता है पाणिनि के मत में नहीं । हमें दोनों आचार्य प्रमाण हैं अत विकल्प से लोप होगा । उदाहरण यथा—

'हरे+इह' विष्णो+इह' यहा 'हरे' और 'विष्णो' पद सम्बोधन के एकवचमान्त होने से सुप्तिङन्त पदम्' (१४) के अनुसार पद-सञ्ज्ञक हैं । इन दोनों में 'एचोऽयवायाव ' (२२) सूत्र से क्रमश एकार को अय् और ओकार को अव् आदेश हो कर—'हर् अय्+इह' 'विष्ण अव्+इह' बन जाते हैं । अब पुन दोनों रूपों में 'इह' के आदि इकार=अश् के परे होने पर पदान्त यकार वकार का विकल्प से लोप हो—

लोप पक्षे	लोपाभाव पक्षे
१ हर अ + इह ।	२ हर् अय् + इह ।
१ विष्ण अ + इह ।	२ विष्ण अव् + इह ।

अब लोप पक्ष के रूपों में 'आद् गुण ' (२७) सूत्र द्वारा 'अ + इ' के स्थान पर 'ए' यह गुण एकादेश प्राप्त होता है । अब इसके निवारणार्थ अग्रिम सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] अधिकार सूत्रम्—३१ पूर्वत्रासिद्धम् । ८ । २ । १॥

सपाद-सप्ताध्यायी प्रति त्रिपाद्यसिद्धा, त्रिपाद्यामपि पूर्व प्रति पर शास्त्रमसिद्धम् । हर इह, हरयिह । विष्ण इह, विष्णविह ।

अर्थ— सवा सात अध्यायों के प्रति त्रिपादी-सूत्र असिद्ध होते हैं और त्रिपादी सूत्रों में भी पूर्वशास्त्र के प्रति पर शास्त्र असिद्ध होता है ।

व्याख्या— 'अष्टाध्यायी' में आठ अध्याय और प्रत्येक अध्याय में चार चार पाद हैं यह सब पीछे सञ्ज्ञा प्रकरण में विस्तार पूर्वक स्पष्ट कर चुके हैं । सात अध्याय सम्पूर्ण और आठवें अध्याय के प्रथम पाद के व्यतीत होने पर आठवें अध्याय के दूसरे पाद का यह प्रथम सूत्र है । यह अधिकार सूत्र है । अधिकारसूत्र स्वय कुछ नहीं किया करते किन्तु अग्रिम सूत्रों में अनुवृत्ति के लिये हुआ करते हैं । इनकी अवधि [हद] नियत हुआ करती है । इस सूत्र का अधिकार यहां से लेकर ' अ अ' (८ । ४ । ६८) सूत्र अर्थात् अष्टाध्यायी के अन्त तक जाता है । आठवें अध्याय का दूसरा, तीसरा तथा चौथा पाद इसके अधिकार

में आता है। यह सूत्र इन तीनों पादों के सूत्रों में जा कर अनुवृत्ति करता है कि तू (पूर्वत्र इत्यव्ययपदम्) पूर्व शास्त्र में (असिद्धम्) असिद्ध है अर्थात् पूर्व की दृष्टि में तेरा कोई अस्तित्व ही नहीं। इससे यह होता है कि इन तीन पादों के सूत्र पूर्वपठित सवा सात (८। १ ।) अध्यायों की दृष्टि में तथा इन (८। २ ३ ४) में भी पूर्व के प्रति पर सूत्र असिद्ध हो जाता है। यथा—'आद्गुणः' (२७) सवा सात अध्यायों के अन्तर्गत सूत्र है। [यह छठे अध्याय के प्रथम पाद का ८६ वां सूत्र है।] इसकी दृष्टि मे आठवें अध्याय के तीसरे पाद मे वर्त्तमान लोपः शाकल्यस्य' (३०) सूत्र असिद्ध है अतः आद् गुणः' (२७) सूत्र लोपः शाकल्यस्य' (३०) सूत्र द्वारा किये गये यकार वकार के लोप को नहीं देखता इसे तो अब भी यकार वकार पडे हुए दीख रहे हैं। अवर्ण से परे यकार वकार के दिखाई देने से 'आद् गुणः' (२७) द्वारा गुण एकादेश नहीं होता। 'हर इह' 'विष्ण इह' ऐसे ही अवस्थित रहते हैं। तो इस प्रकार—लोप पक्ष में 'हर इह विष्ण इह' तथा लोपाभाव पक्ष में हरयिह, विष्णविह रूप सिद्ध होते हैं।*

अभ्यास (५)

(१) कौमुदी मे लिखा लम्बा चौडा अर्थ पूर्वत्रासिद्धम् (३१) सूत्र से कैसे निकल आता है, सविस्तर स्पष्ट करें।

(२) सूत्र में विकल्प वाची पद के न होने पर भी लोपः शाकल्यस्य' सूत्र कैसे वैकल्पिक लोप किया करता है ?।

(३) 'हरय्+ए' विष्णव्+ए' रूपों में लोपः शाकल्यस्य' सूत्र द्वारा क्या यकार वकार का लोप हो जाय ?।

(४) 'हरय्+इह', विष्णव्+इह' यहां जब 'लोपः शाकल्यस्य' से यकार वकार का लोप प्राप्त होता है तब 'यणः प्रतिषेधो वाच्यः' वार्तिक से उनके लोप का निषेध क्यों नहीं हो जाता ?।

(५) निम्न लिखित रूपों में सन्धिच्छेद कर सूत्र समन्वय पूर्वक रूप सिद्धि करो—
१ गुरा आयाते। २ प्रभ इदानीम्। ३ गौर आगच्छ। ४ भाना अपि। ५ रवा उदिते। ६ न धातु लोप आर्धधातुके। ७ श्रिय उत्कण्ठित। ८ तयागच्छन्ति। ९ विधा उदिते। १० वन ऋषय।

---

*त्रिपादियों में पूर्व के प्रति पर शास्त्र की असिद्धि में उदाहरण यथा—'किम्वुक्तम्'। यहां पर मोऽनुस्वारः' [८।३।२३] इस पूर्व त्रिपादी के प्रति 'मय उञो वो वा' [८।३।३३] इस पर त्रिपादी सूत्र के असिद्ध होने से [अर्थात् व की जगह उ=अच् होने से] म् को अनुस्वार नहीं होता।

(६) अधो लिखित रूपों में सूत्र समन्वय पूर्वक सन्धि करो—

१ रामौ+आगच्छत । २ तस्मै+अदात् । ३ ते+इच्छति । ४ बाले+इह । ५ एते+आगता । ६ ये+इह । ७ इतौ+अनार्षे । ८ स्थले+इदानीम् । ९ बालौ+आगतौ । १० कस्मै+अयच्छत् ।

—०❀०—

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्— ३२ वृद्धिरादैच् । १ । १ । १ ॥

आदैच् वृद्धि-सञ्ज्ञः स्यात् ।

अर्थ—'आ, ऐ, औ' वृद्धि सञ्ज्ञक होते हैं ।

व्याख्या—वृद्धि ।१।१। आत् ।१।१। ऐच् ।१।१। अर्थ—(आत्, ऐच्) दीर्घ आकार दीर्घ ऐकार तथा दीर्घ औकार (वृद्धि) वृद्धि सञ्ज्ञक होते हैं । 'आदैच्' यहां पर तपर किया गया है । यह तपर 'आ' के लिये नहीं किन्तु ऐच्' के लिये किया गया है, क्योंकि 'आ' तो अण् प्रत्याहार के अन्तर्गत न होने से 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय' (११) सूत्र द्वारा स्वत ही सवर्णों का ग्रहण नहीं कराता, पुन उसके लिये निषेध कैसा ? अत यहा ऐच के ग्रहण से प्लुत सवर्णों का ग्रहण न हो अथवा 'देव + ऐश्वर्य' में त्रिमात्र स्थानी तथा 'गङ्गा + ओघ' मे चतुमात्र स्थानी होने से ऐ–औ भी कहीं त्रिमात्र चतुर्मात्र न हों, किन्तु द्विमात्र हों इस लिये तपर किया गया है । इससे—दीर्घ आकार, दीर्घ ऐकार, तथा दीर्घ औकार इन तीन वर्णों की 'वृद्धि' सञ्ज्ञा होती है ।

अब अग्रिम सूत्र में इस सञ्ज्ञा का फल दिखाते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्— ३३ वृद्धिरेचि । ६ । १ । ८ । ७॥

आदेचि परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । गुणापवादः । कृष्णैकत्वम् । गङ्गौघः । देवैश्वर्यम् । कृष्णौत्कण्ठ्यम् ।

अर्थ—अवर्ण से एच् परे होने पर पूर्व + पर के स्थान पर एक वृद्धि आदेश हो जाता है । गुणेति—यह सूत्र 'आद् गुण (२७) सूत्र का अपवाद है ।

व्याख्या—आत् । ५ । १ । ['आद् गुण' से] एचि । ७ । १ । पूर्वपरयो । ६ । २ । एक । १ । १ । ['एक पूर्वपरयो' यह अधिकृत है ।] वृद्धि । १ । १ । अर्थ—(आत्) अवर्ण से (एचि) एच् परे होने पर (पूर्व-परयो) पूर्व + पर के स्थान पर (एक) एक (वृद्धि) वृद्धि हो जाती है । यह सूत्र 'आद् गुण' (२७) सूत्र का अपवाद है । बहुत विषय वाला उत्सर्ग और थोड़े विषय वाला अपवाद हुआ करता है । 'आद्

गुण' (२७) सूत्र बहुत विषय वाला है क्योंकि इसका अवर्ण से परे अच् मात्र विषय है। वृद्धिरेचि' (३३) सूत्र थोड़े विषय वाला है क्योंकि इसका अवर्ण से परे अच् प्रत्याहार के अन्तर्गत केवल एच् ही विषय है। उत्सर्ग और अपवाद दोनों प्रकार के सूत्र महा मुनि पाणिनि ने बनाये हैं अत हमें कोई ऐसा हल ढूंढना है जिससे दोनों प्रकार के सूत्र सार्थक हो जाएं, कोई अनर्थक न हो। अब यदि अपवाद के विषय मे भी उत्सर्ग प्रवृत्त करते हैं तो अपवाद सूत्र निरर्थक हो जाते है क्योंकि तब इन्हे प्रवृत्त होने के लिये कोई स्थान ही नहीं मिल सकता। और यदि उत्सर्ग के विषय में अपवाद प्रवृत्त करते हैं तो उतने मात्र में प्रवृत्त होकर अपवाद सार्थक हो जाता है और शेष बचे हुए में उत्सर्ग भी प्रवृत्त हो सकता है इस प्रकार दोनों सार्थक हो जाते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि उत्सर्ग के विषय में ही अपवाद प्रवृत्त करना युक्त है। तो अब आद् गुण' (२७) के विषय में 'वृद्धिरेचि' (३३) सूत्र प्रवृत्त होकर एच्' के स्थानों को उससे छीन लेगा, शेष बचे हुए स्थानों में वह प्रवृत्त होगा। उदाहरण यथा—

कृष्णैकत्वम्' (कृष्ण की एकता)। कृष्ण+एकत्व यहा णकारोत्तर अवर्ण से परे 'एकत्व' शब्द का आदि एकार=एच् वर्तमान है। अत वृद्धिरेचि (३३) सूत्र द्वारा पूर्व=अ और पर=ए के स्थान पर एक वृद्धि आदेश प्राप्त होता है। 'अ + ए' का स्थान कण्ठ + तालु' है इधर वृद्धि-सञ्ज्ञकों में 'ए' का स्थान 'कण्ठ + तालु' है अत 'अ + ए' के स्थान पर ऐ' यह एक वृद्धि आदेश होकर कृष्ण 'ऐ' कत्व= कृष्णैकत्वम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

गङ्गौघ' (गङ्गा का प्रवाह)। 'गङ्गा + ओघ' यहा पूर्व=आ और पर=ओ का 'कण्ठ + ओष्ठ' स्थान है अत वृद्धिरेचि' (३३) सूत्र द्वारा पूर्व + पर के स्थान पर 'कण्ठ + ओष्ठ' स्थान वाला 'औ' यह एक वृद्धि आदेश होकर गङ्ग् 'औ' घ='गङ्गौघ' प्रयोग सिद्ध होता है।

'देवैश्वर्यम् (देवताओं का ऐश्वर्य)। 'देव + ऐश्वर्य' यहां पूर्व=अ और पर=ऐ का 'कण्ठ + तालु' स्थान है, अत वृद्धिरेचि' (३३) सूत्र द्वारा पूर्व + पर के स्थान पर 'कण्ठ + तालु' स्थान वाला ऐ' यह एक वृद्धि आदेश होकर देव ऐ' श्वर्य='देवैश्वर्यम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

'कृष्णौत्कण्ठ्यम्' (कृष्ण की उत्कण्ठा)। 'कृष्ण+औत्कण्ठ्य' यहा पूर्व=अ और पर=औ का 'कण्ठ + ओष्ठ' स्थान है, अत वृद्धिरेचि (३३) सूत्र द्वारा पूर्व+पर के स्थान पर 'कण्ठ + ओष्ठ' स्थान वाला 'औ' यह एक वृद्धि आदेश होकर कृष्ण् 'औ' त्कण्ठ्य='कृष्णौत्कण्ठ्यम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

अभ्यास (६)

१ निम्न लिखित रूपों में सूत्रार्थ समन्वय पूर्वक सन्धि करो—

१ पञ्च+एते । २ जन+एकता । ३ तण्डुल+ओदन । ४ राम+औत्सुक्य । ५ नृप+ऐश्वर्य । ६ महा+औषध । ७ एक+एक । ८ राजा+एष । ९ महा+औदार्य । १० वीर+एक । ११ महा+एन । १२ दर्शन+औत्सुक्य । १३ अस्य+औचिती । १४ सुख+औपयिक । १५ दीर्घ+एरण्ड ।

२ निम्न लिखित प्रयोगों में सूत्रार्थ समन्वय पूर्वक सन्धिच्छेद करो—

१ अत्रैकमत्यम् । २ पूर्वैन । ३ भृत्यौद्धत्यम् । ४ पण्डितौक । ५ बालैषा । ६ चित्तै काग्र्यम् । ७ तथैव । ८ महौजस । ९ बिम्बौष्ठी* । १० तवैवम् । ११ सत्यैतिह्यम् । १२ ममौदासीन्यम् । १३ कर्मौर्ध्वदैहिकम् । १४ दीर्घैकार । १५ ज्ञातौषधि । १६ महौष्ण्यम् । १७ प्लुतौकार । १८ स्थूलैण । १९ मैवम् । २० स्थूलौतु * ।

३ उत्सर्ग और अपवाद किसे कहते हैं ? अपवाद के विषय में उत्सर्ग की प्रवृत्ति क्यों नहीं हुआ करती ? ।

४ 'वृद्धिरेचि' सूत्र गुण का अपवाद है, इस वचन की व्याख्या करो।

५ 'वृद्धिरादैच्' सूत्र में तपर करने का क्या प्रयोजन है ? ।

—०※०—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**३४ एत्येधत्यूठ्सु** ।६।१।८७॥

अवर्णादेजाद्योरेत्येधत्योरूठि च परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । पररूप गुणापवादः । उपैति । उपैधते । प्रष्ठौहः । एजाद्योः किम् ? उपेतः । मा भवान् प्रेदिधत् ।

अर्थः—अवर्ण से पर यदि एच् प्रत्याहार आदि वाली 'इण्' तथा 'एध्' धातु हो अथवा ऊठ् हो तो पूर्व+पर के स्थान पर एक वृद्धि आदेश हो जाता है । **पररूपेति**—यह सूत्र 'एङि पररूपम्' (३८) तथा 'आद् गुणः' (२७) का अपवाद है ।

व्याख्या—आत् ।५।१। ['आद् गुणः' से] एजाद्योः ।७।२। ['वृद्धिरेचि' सूत्र से 'एचि' पद की अनुवृत्ति आती है । यह पद 'एति' और 'एधति' का ही विशेषण बन सकता है असम्भव होने से 'ऊठ्' का नहीं, अतः वचन विपरिणाम से द्विवचन और 'यस्मिन्विधि स्तदादावल्ग्रहणे' से तदादि विधि होकर 'एजाद्योः' ऐसा बन जाता है ।] एत्येधत्यूठ्सु

* 'बिम्बोष्ठी' और 'स्थूलोतु' भी होता है । देखो—'सिद्धान्तकौमुदी में 'ओत्वोष्ठयोः समासे वा' (वा०) ।

।७।३। [एति+एधति+ऊठ्सु] पूर्वं परयो ।६।२। एक ।१।१। ['एक पूर्व परयो' यह अधिकृत है] वृद्धि ।१।१। ['वृद्धिरेचि' से] अर्थ —(आत्) अवर्ण से (एजाद्यो) एजादि (एत्येधत्यूठ्सु) इण् और एध् धातु परे होन पर अथवा ऊठ् परे होने पर (पूर्व परयो) पूर्व+पर के स्थान पर (एक) एक (वृद्धि) वृद्धि आदेश होता है। उदाहरण यथा—

'उपैति' (पास आता है)। उप+एति' ('एति' यह पद 'इण् गतौ' (अदा०) धातु के लट् लकार के प्रथम पुरुष का एकवचन है) यहा पकारोत्तर अवर्ण से परे एजादि 'इण्' धातु वर्त्तमान है, अत इस सूत्र से पूर्व = अ और पर = ए के स्थान पर ऐ' यह एक वृद्धि आदेश हो कर उप् 'ऐ' ति= 'उपैति' प्रयोग सिद्ध होता है।

'उपैधते' (पास बढ़ता है)। उप + एधते' ('एधते' यह प॰ 'एध वृद्धौ' (भ्वा०)धातु के लट् लकार क प्रथमपुरुष का एकवचन है) यहा अवर्ण से परे एजादि एध धातु वर्त्तमान है अत पूर्व = अ और पर= ए के स्थान पर एक 'ऐ' वृद्धि आदेश हो कर—उप् 'ऐ धते = 'उपैधते' प्रयोग सिद्ध होता है।

'प्रष्ठौह ' (प्रष्ठवाह का×)। 'प्रष्ठ + ऊह ' (यहा 'ऊठ्' है। कैसे है ? यह हलन्त पुलॅ्लिङ्ग में 'विश्ववाह्' शब्द पर स्पष्ट होगा।) यहा अवर्ण से ऊठ् परे है अत पूर्व=अ और पर =ऊ दोनों के स्थान पर 'औ' यह वृद्धि एकादेश हो कर प्रष्ठ् औ' ह ='प्रष्ठौह ' प्रयोग सिद्ध होता है।

यह सूत्र ऊठ् के विषय में गुण का तथा इण् और एध के विषय में आगे वक्ष्यमाण 'एङि पर रूपम् ' (३८) सूत्र का अपवाद है।

अब यहा यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस सूत्र में इण् और एध् धातु का एजादि क्यों कहा गया है ? अर्थात् यदि एजादि न कहते तो कौन सी हानि हो जाती ? इस का उत्तर यह है कि एजादि न कहने से 'उपेत ' और 'प्रेदिधत्' प्रयोगों में भी वृद्धि हो जाती जो नितान्त अशुद्ध है। तथाहि–'उपेत ' (समीप पहुँचा, युक्त अथवा वे दोनों पास आते हैं)। 'उप + इत ' ('इत ' यह पद 'इण् गतौ' धातु का क्तान्त रूप है अथवा लट लकार के प्रथम पुरुष का द्विवचन है) यहा अवर्ण से परे 'इण्' धातु तो है पर वह एजादि नहीं अत वृद्धि न हो कर 'आद् गुण ' (२७) सूत्र से 'ए' यह गुण एकादेश ही होगा। इस से उप् 'ए' त ='उपेतः' यह इष्ट रूप सिद्ध हो जायगा। 'मा भवान् प्रेदिधत्' (आप अधिक न बढ़ावें) ['इदिधत्' यह णिजन्त एध् धातु के लुङ् लकार के प्रथम पुरुष का एकवचन है। यहा 'न माङ्योगे' सूत्र से 'आट्' आगम नहीं होता इसी बात को जतलाने के लिये यहां 'मा' पद का प्रयोग किया

×उद्दण्डता दूर करने के लिए जिसके गले में भारी काष्ठ बाँध देते हैं ऐसे बछड़े को 'प्रष्ठवाह' कहते हैं।

गया है ।] यहा अवर्ण से परे 'एध्' धातु तो वर्त्तमान ह, पर वह एजादि नहीं अत इस सूत्र से वृद्धि न हो 'आद् गुण' (२७) सूत्र द्वारा गुण हो जायगा । इस से प्र् 'ए' न्धित् = 'प्रेदिधत्' यह इष्ट रूप सिद्ध हो जायगा ।

ये दोनो उक्त सूत्र के प्रत्युदाहरण हैं । विपरीत उदाहरणों को प्रत्युदाहरण कहत है अर्थात् 'यदि सूत्र में यह न कहते तो यह अशुद्ध हो जाता इस प्रकार जो प्रयोग दर्शाए जाते है उन्हें प्रत्युदाहरण कहत है ।

सूत्र मे 'एति' और 'एधति' से इण् और 'एध्' धातु का ही ग्रहण समझना चाहिये । जैसे वर्णों से स्वार्थ में कार' प्रत्यय लगाया जाता है [अकार, इकार, उकार ऋकार आदि] वैसे धातुओं के निर्देश करने म भी इ (इक) या 'ति' (श्तिप्) लगाए जाते है । यथा— गमि व गच्छति, एधि व एधति, चलि व चलति आदि । इन सब का तात्पर्य गम्, एध्, चल् आदि मूल धातुओं स ही होता है ।

[लघु०] वा०—४ अक्षादूहिन्यामुपसङ्ख्यानम् ॥

अक्षौहिणी सेना ।

अर्थ.—'अक्ष' शब्द क अन्त्य अवर्ण से ऊहिनी' शब्द का आदि ऊकार परे होने पर पूर्व + पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो जाता है । ऐसा अधिक वचन करना चाहिये ।

व्याख्या—(अक्षात् ।५।१।) 'अक्ष' शब्द से (ऊहिन्याम् ।७।१।) 'ऊहिनी' शब्द परे होने पर (पूर्व-परयो) पूव + पर क स्थान पर (एक) एक (वृद्धि) वृद्धि आदेश हो जाता है, एसा (उपसङ्ख्यान कर्त्तव्यम्) अधिक वचन करना चाहिये ।

ध्यान रहे कि इस प्रकरण म आत और 'अचि' की अनुवृत्ति होने से सर्वत्र पूर्व से अवर्ण और पर मे अच् का ग्रहण होता है ।

उदाहरण यथा—अक्षौहिणी † । अक्ष + ऊहिनी' [अक्षाणाम् ऊहिनीति षष्ठीतत्पुरुष समास] यहा अ + ऊ' का स्थान कण्ठ + ओष्ठ' होने से तादृश स्थान वाला औ' वृद्धि एकादेश हो—अक्ष् 'औ हिनी= 'अक्षौहिनी' बना । अब 'पूर्वपदात् सञ्ज्ञायामग ' (८।४।३) सूत्र से नकार को णकार आदेश करने से अक्षौहिणी' प्रयोग सिद्ध होता है ।

---

†'अक्षौहिणी' विशेष परिमाण वाली सेना कहाती है । इसका परिमाण यथा—
'अक्षौहिण्या प्रमाणं तु खाङ्गाष्टैकद्विकैर्गजै । रथैरेतैर्हयैस्त्रिघ्नै पञ्चघ्नैश्च पदातिभि ' ॥

२१८७०	रथ	अक्षौहिणी सेना
२१८७०	हाथी	
६५६१०	घोड़ (रथवाहकों से अतिरिक्त)	
१०६३५०	पैदल	

यहां गुण की प्राप्ति में वृद्धि विधान की गई है अत यह वार्त्तिक गुण का अपवाद है।

[लघु०] वा०—५ प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु ॥

प्रौहः । प्रौढः । प्रौढिः । प्रैषः । प्रैष्यः ।

अर्थ—'प्र' शब्द के अन्त्य अवर्ण से ऊह, ऊढ, ऊढि, एष तथा एष्य शब्दों का आदि अच परे होने पर पूर्व और पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो जाता है।

व्याख्या—प्रात् ।५।१। ऊहोढोढ्येषैष्येषु ।७।३। पूर्व परयो ।६।२। एक । १ । १ । वृद्धि ।१।१। ['वृद्धिरेचि' से] समास—ऊहश्च ऊढश्च ऊढिश्च एषश्च एष्यश्च तेषु= ऊहोढोढ्येषैष्येषु । इतरेतरद्वन्द्व । अर्थ—(प्रात्) 'प्र' शब्द से (ऊहोढोढ्येषैष्येषु) ऊह, ऊढ, ऊढि, एष तथा एष्य शब्द परे होने पर (पूर्व परयो) पूर्व + पर के स्थान पर (एक) एक (वृद्धि) वृद्धि आदेश हो । उदाहरण यथा—

प्र + ऊह = प्र् 'औ' ह='प्रौह' ।	[उत्तम तर्क व उत्तम तर्क करने वाला]
प्र + ऊढ = प्र् 'औ' ढ='प्रौढ' ।	[बढ़ा हुआ व अधेड़]
प्र + ऊढि = प्र 'औ' ढि='प्रौढि' ।	[प्रौढता व शेखी]
प्र + एष = प्र् 'ऐ' ष='प्रैष' ।	[प्रेरणा, घञन्तोऽत्र इष धातु]
प्र + एष्य = प्र् 'ऐ' ष्य='प्रैष्य' ।	[प्रेरणीय, सेवक, यदन्तोऽत्र इष धातु]

'प्रैष, प्रैष्य' यहा 'एङि पररूपम्' (३८) से पररूप प्राप्त था, शेष स्थानों पर 'आद् गुण' (२७) सूत्र से गुण प्राप्त था। यह वार्त्तिक इन दोनों का अपवाद है।

[लघु०] वा०—६ ऋते च तृतीया-समासे ॥

सुखेन ऋत=सुखार्तः । तृतीयेति किम् ? परमर्तः ।

अर्थः—तृतीया-समास में अवर्ण से ऋत शब्द का आदि ऋवर्ण परे होने पर पूर्व + पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो जाता है।

व्याख्या—आत् ।५।१। ('आद् गुणः' सूत्र से) ऋते ।७।१। पूर्व-परयोः ।६।२। एकः ।१।१। ('एक पूर्व परयो' यह अधिकृत है) वृद्धि ।१।१। ('वृद्धिरेचि' से) तृतीया समासे ।७।१। अर्थ—(तृतीया-समासे) तृतीया तत्पुरुष समास में (आत्) अवर्ण से (ऋते) 'ऋत' शब्द परे होने पर (पूर्व परयो) पूर्व + पर के स्थान पर (एक) एक (वृद्धि) वृद्धि आदेश हो जाता है।

उदाहरण यथा—'सुखेन ऋत' यह लौकिक विग्रह है। अलौकिक-विग्रह अर्थात् 'सुख टा, ऋत सु' में 'सुपो धातु प्रातिपदिकयो' (७२१) सूत्र द्वारा टा और सु का लुक् हो-

जाने पर 'सुख + ऋत' ऐसा बनता है। अब इस वार्तिक से पूव=अवर्ण और पर=ऋवर्ण के स्थान पर वृद्धि करनी है। 'अ + ऋ' का स्थान 'कण्ठ + मूर्धा' है। 'कण्ठ + मूर्धा' स्थान वाला वृद्धि सञ्ज्ञकों में कोई नहीं सब का 'कण्ठ' स्थान ही तुल्य है। अब यदि 'आ' यह वृद्धि एकादेश करें तो 'उरण्रपर' (२९) सूत्र से रपर होकर 'आर्' हो जाने से 'कण्ठ+मूर्धा स्थान तुल्य हो जायगा। तो ऐसा करने से—सुख् 'आर्' त= सुखात' प्रयोग हो कर विभक्ति लाने से 'सुखार्त' सिद्ध हो जाता है। इसका अर्थ—सुख से प्राप्त हुआ अर्थात् सुखी है।

अब यहां यह विचार उपस्थित होता है कि अवर्ण से 'ऋत' परे होने पर वृद्धि का विधान तो समास में करना ही चाहिये, क्योंकि सुखेन + ऋत यहा लौकिक विग्रह में वृद्धि न हो कर गुण एकादेश होने से 'सुखेनर्त' प्रयोग बन सके। परन्तु तृतीया का ही समास हो अन्य विभक्तियों का न हो इस कथन का क्या प्रयोजन है? क्यों समास मात्र में ही वृद्धि का विधान न कर दिया जाए? इस का उत्तर ग्रन्थकार यह देते हैं कि यदि 'तृतीया न कहगे, समास मात्र में ही वृद्धि विधान करेंगे तो 'परमश्चासौ ऋत =परम + ऋत' यहां गुण न हो कर वृद्धि हो जायगी, क्योंकि समास तो यहा भी है। अब यहा कर्म धारय समास में गुण हो कर 'परमर्त' यह इष्ट प्रयोग सिद्ध हो जाता है। 'परमत का अर्थ 'मुक्त' है।

[लघु०] वा०—७ प्र-वत्सतर कम्बल-वसनार्ण दशानाम् ऋणे ॥
प्रार्णम्। वत्सतरार्णम्। इत्यादि।

अर्थ—प्र, वत्सतर, कम्बल, वसन, ऋण तथा दश इन छः शब्दों के अन्त्य अवर्ण से परे 'ऋण' शब्द का आदि ऋवर्ण होने पर पूर्व+पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो जाता है।

व्याख्या—प्र वत्सतर-कम्बल वसनार्ण दशानाम् ।६।३। [यहा पञ्चमी विभक्ति के स्थान पर षष्ठी विभक्ति समझनी चाहिये।] ऋणे ।७।१। पूर्वपरयो ।६।२। एक ।१।१। वृद्धि ।१।१। ['वृद्धिरेचि से] अर्थ—(प्र वत्सतर कम्बल वसनार्ण दशानाम्) प्र, वत्सतर, कम्बल, वसन ऋण तथा दश इन शब्दों से (ऋणे) ऋण शब्द परे होने पर (पूर्व परयो) पूर्व + पर के स्थान पर (एक) एक (वृद्धि) वृद्धि आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—

१ प्र + ऋण = प्र 'आर्' ण='प्रार्णम्' [अधिक व उत्तम ऋण]
२ वत्सतर + ऋण = वत्सतर् 'आर्' ण='वत्सतरार्णम्' [बछड़े के लिये लिया हुआ ऋण]
३ कम्बल + ऋण = कम्बल 'आर ण='कम्बलार्णम्' [कम्बल का ऋण]
४ वसन + ऋण = वसन् 'आर्' ण='वसनार्णम्' [कपड़े का ऋण]
५ ऋण + ऋण = ऋण् 'आर्' ण='ऋणार्णम्' [ऋण चुकाने के लिये लिया हुआ दूसरा ऋण]
६ दश + ऋण = दश 'आर् ण='दशार्ण' [जहां दश प्रकार के जल हों=देश-विशेष]

ध्यान रहे कि अन्तिम उदाहरण में बहुव्रीहि समास है। इसमें 'ऊशन्' के नकार का 'न लोप प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) सूत्र से लोप हो जाता है। यह वार्त्तिक भी गुण एकादेश का अपवाद है।

अभ्यास (७)

(१) निम्नलिखित रूपों में सोपपत्तिक उत्सर्गनिर्देश करते हुए सूत्रों द्वारा सन्धि सिद्ध करो—

१ विश्वौहः। २ प्रौहः। ३ भारौहः। ४ अवैति। ५ परैमि। ६ ऋणार्णम्। ७ उपैता (तृच्)। ८ अवैधते। ९ प्रौढि। १० अक्षौहिणी। ११ प्रैति। १२ समेधते। १३ दशार्णः। १४ प्रैष्य। १५ प्रैधे।

(२) 'एत्येधत्यूठ्सु' सूत्र में 'एजादि' ग्रहण क्यों किया गया है?।

(३) 'ऋते च तृतीयासमासे' में समास ग्रहण तथा तृतीया ग्रहण का क्या प्रयोजन है?।

(४) 'अक्षौहिणी' सेना का परिमाण बताओ।

(५) एति और एधति में 'ति' ग्रहण का क्या प्रयोजन है?।

(६) 'उपसङ्ख्यान' किसे कहते हैं?।

(७) एत्येधत्यूठ्सु', प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु 'अक्षाद्दूहिन्यामुपसङ्ख्यानम्' ये सूत्र + वार्त्तिक किस २ के अपवाद हैं?।

—०❀०—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—३५ उपसर्गाः क्रिया-योगे।१।४।५८॥

प्रादयः क्रिया-योगे उपसर्ग-सञ्ज्ञाः स्युः। १ प्र। २ परा। ३ अप। ४ सम्। ५ अनु। ६ अव। ७ निस्*। ८ निर्। ९ दुस्*। १० दुर्। ११ वि। १२ आङ्। १३ नि। १४ अधि। १५ अपि। १६ अति। १७ सु। १८ उद्। १९ अभि। २० प्रति। २१ परि। २२ उप। एते प्रादयः।

---

*कई लोग यहां शङ्का किया करते हैं कि निस् और निर् में तथा दुस् और दुर् में किसी एक का ही पाठ उपसर्गों में करना चाहिये दोनों का नहीं, क्योंकि सान्त भी सर्वत्र 'ससजुषो रुः' (८।२।६६) से रेफान्त ही हो जाया करते हैं। इसका समाधान यह है कि निस्, दुस् में जो सकार को रु होता है, उसके असिद्ध होने से प्राप्त कार्य नहीं हो पाते जैसे—'निरयते, दुरयते' में 'उपसर्गस्यायतौ' (८।२।१९) से लत्व नहीं होता क्योंकि उस की दृष्टि में 'र्' असिद्ध है। 'निर्, दुर्' में लत्व हो जाता है—'निलयते दुलयते'। इस लिये इन्हें भिन्न २ पढ़ा गया है।

अर्थ —क्रिया योग में प्रादि 'उपसर्ग' सञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—प्रादय ।१।३। [इसी सूत्र का अश, जिसे योग विभाग करके भाष्यकार ने अलग किया है।] उपसर्गा ।१।३। क्रिया-योगे ।७।१। समास —'प्र' शब्द आदिर्येषान्ते प्रादय । तद् गुण सविज्ञान बहुव्रीहि समास । क्रियया योग = क्रिया-योग, तस्मिन् क्रिया योगे। तृतीया तत्पुरुष समास । अर्थ —(क्रिया योगे) क्रिया के साथ अन्वित होने पर (प्रादय) 'प्र' आदि २२ शब्द (उपसर्गा) उपसर्ग सञ्ज्ञक होते हैं। यह सूत्र 'प्राग्रीश्वरा न्निपाता' (१।४।५६) के अधिकार में पढा गया है अत इन की निपात सञ्ज्ञा भी साथ ही समझ लेनी चाहिये। निपात सञ्ज्ञा का प्रयोजन 'अव्यय' बनाना है। [देखो—'स्वरादि निपातमव्ययम्' (३६७)] प्रादि कौन २ से हैं ? इस का ज्ञान 'गण पाठ' से होता है। मूल में प्रादि गण दे दिया गया है। 'गण पाठ' महामुनि पाणिनि ने रचा है। प्रादि गण पर विशेष विचार आगे यत्र तत्र बहुत किया जायेगा।

नोट —प्रादि गण में 'उद् के स्थान पर 'उत्' पाठ प्राय सब लघुकौमुदियों तथा सिद्धान्तकौमुदियों में देखा जाता है। पर वह अशुद्ध है क्योंकि उदश्चर सकर्मकात्' (७११), 'उदि कूले रुजि वहो' (३।२।३१), 'उद स्था स्तम्भो पूर्वस्य' (७०) इत्यादि पाणिनि सूत्रों से इस के दकारान्त होने का ही निश्चय होता है।

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—३६ भूवादयो धातव ।१।३।१॥

क्रिया-वाचिनो भ्वादयो धातु-सञ्ज्ञाः स्यु ।

अर्थ —क्रिया के वाचक 'भू' आदि धातु सञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—भूवादय ।१।३। धातव ।१।३। समास —भूश्च वाश्च भूवौ, इतरेतर द्वन्द्व । 'वा गति-गन्धनयो' इत्यादादिको धातु । आदिश्च आदिश्च=आदी। भूवौ आदी येषा ते भूवादय बहुव्रीहि समास । प्रथम आदि शब्द प्रभृति वचन, द्वितीय आदि शब्द प्रकार वचन । भू प्रभृतयो व सदृशा इत्यर्थ । 'वा' धातुना सादृश्य क्रिया वाचकत्वेनैव बोध्यम् । अर्थ —(भू वादय) क्रिया वाची भ्वादि (धातव) धातु-सञ्ज्ञक हों। क्रिया काम को कहते हैं। खाना पीना, उठना, बैठना, करना आदि क्रियाए हैं। क्रिया अर्थ वाले भ्वादि [यहा केवल भ्वादि-गण ही नहीं समझना चाहिये, अपितु समग्र धातु पाठ का ग्रहण करना चाहिये।] धातु-सञ्ज्ञक होते हैं। यहा यदि क्रिया वाची नहीं कहते तो 'या पश्यति' (जिन स्त्रियों को देखता है।) यहा 'या + शस् में 'आतो धातो' (१६७) से आकार का अनिष्ट लोप प्राप्त होता है, क्योंकि भ्वादियों में 'या' का पाठ देखा जाता है। अब क्रिया-वाची कहने

से यह दोष नहीं आता क्योंकि यहां 'या' का अर्थ क्रिया नहीं अपितु 'जो' है। यह टाबन्त सर्वनाम है।

अब अग्रिम सूत्र में उपसर्ग और धातु-सञ्ज्ञा का फल बतलाते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३७ उपसर्गादृति धातौ ।६।१।८६॥

अवर्णान्तादुपसर्गादृकारादौ धातौ परे वृद्धिरेकादेशः स्यात्। प्रार्च्छति।

अर्थ—अवर्णान्त उपसर्ग से ऋकारादि धातु परे हो तो पूर्व+पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो।

व्याख्या—आत् ।५।१। ['आद् गुणः' से इस की अनुवृत्ति आती है, 'उपसर्गात्' का विशेषण होने के कारण इस से तदन्त विधि हो जाती है।] उपसर्गात् ।५।१। ऋति ।७।१। [धातौ' का विशेषण होने के कारण 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' द्वारा इस से तदादि विधि हो जाती है।] धातौ ।७।१। पूर्वपरयोः ।६।२। एक ।१।१। ['एकः पूर्वपरयोः' यह अधिकृत है] वृद्धिः ।१।१। ['वृद्धिरेचि' से] अर्थ—(आत्=अवर्णान्तात्) अवर्णान्त (उपसर्गात्) उपसर्ग से (ऋति=ऋकारादौ) ऋकारादि (धातौ) धातु परे होने पर (पूर्वपरयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (एकः) एक (वृद्धिः) वृद्धि आदेश हो जाता है।

उदाहरण यथा—'प्रार्च्छति' (जाता है)। 'प्र + ऋच्छति' यहां 'ऋच्छ्' (भ्वा० व तुदा०) यह गमनक्रिया वाची होने से 'भूवादयो धातवः' (३६) के अनुसार धातुसञ्ज्ञक है इस के साथ योग होने के कारण 'उपसर्गाः क्रियायोगे' (३५) सूत्र द्वारा 'प्र' की उपसर्ग सञ्ज्ञा हो जाती है। तो अब 'प्र' इस अवर्णान्त उपसर्ग से 'ऋच्छ्' यह ऋकारादि धातु परे वर्तमान है, अतः 'उरण्रपरः' (२९) की सहायता से 'उपसर्गादृति धातौ' (३७) द्वारा पूर्व=अ और पर=ऋ के स्थान पर 'आर्' यह एक वृद्धि आदेश हो कर—प्र 'आर्' च्छति='प्रार्च्छति' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यह सूत्र भी 'आद् गुणः' (२७) द्वारा प्राप्त गुण एकादेश का अपवाद समझना चाहिये।

अभ्यास (८)

(१) प्रादि-गण में कितने अजन्त और कितने हलन्त शब्द हैं ?।

(२) प्रादि गण में 'उत्' अथवा 'उद्' कौन सा पाठ युक्त है, सप्रमाण लिखो ?।

(३) 'निस्–निर्' 'दुस–दुर' ये दो २ क्यों पढ़े गये हैं ?।

(४) भूवादयो धातवः' सूत्र में वकार का आगमन कैसे और क्यों हो जाता है। क्या

'भ्वादयो धातव' सूत्र बनाने से काम नहीं चल सकता था ? अथवा—'भूवादयो धातव' सूत्र की व्याख्या करें ।

(५) अधोलिखित रूपों में सोपपत्तिक सूत्र निर्देश करते हुए सन्धि करें—

१ प्र+ऋञ्जते । २ कन्या+ऋञ्जते । ३ परा+ऋद्ध्नोति । ४ बाला+ऋद्ध्नोति । ५ प्र+ऋणोति । ६ न+ऋणोति । ७ उप+ऋच्छन् । ८ का+ऋच्छन् ।*

—०❀०—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३८ एङि पररूपम् ।६।१।९२॥

आदुपसर्गादेङादौ धातौ परे पररूपमेकादेशः स्यात् । प्रेजते । उपोषति ।

अर्थ॰—अवर्णान्त उपसर्ग से एङादि धातु परे हो तो पूर्व+पर के स्थान पर पररूप एकादेश हो जाता है ।

व्याख्या—आत् । ५ । १ । ['आद् गुणः' से इस पद की अनुवृत्ति आती है । 'उपसर्गात्' का विशेषण होने से इस से तदन्त विधि हो जाती है ।] उपसर्गात् ।५।१। ['उपसर्गाः क्रियायोगे'... 'इति धातौ' से] एङि । ७ । १ । ['धातौ' का विशेषण होने से 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' द्वारा तदादि विधि हो जाती है ।] पूर्वपरयोः । ६ । २ । एकम् ।१।१। ['एकः पूर्वपरयोः' यह अधिकृत है । 'एकः' के स्थान पर 'एकम्', 'पररूपम्' का विशेषण होने से किया गया है । अथवा 'आदेश' होने से 'एक' ही रहता है ।] पररूपम् ।१।१। अर्थः—(आत्=अवर्णान्तात्) अवर्णान्त (उपसर्गात्) उपसर्ग से (एङि=एङादौ) एङादि (धातौ) धातु परे होने पर (पूर्वपरयोः) पूर्व + पर के स्थान पर (एकम्) एक (पररूपम्) पररूप आदेश हो जाता है । 'पररूप' से तात्पर्य 'पर' का है, 'रूप' ग्रहण स्पष्ट प्रतिपत्ति (बोध) के लिये है ।

उदाहरण यथा—'प्रेजते' (अत्यन्त चमकता† है) 'प्र + एजते' ['एजृ दीप्तौ' धातु के लट् लकार के प्रथम पुरुष का एकवचन है] यहां 'प्र' यह अवर्णान्त उपसर्ग और 'एजते' यह एङादि धातु है । अतः पूर्व (अ) और पर (ए) के स्थान पर एक पररूप 'ए' आदेश करने से—प्र 'ए' जते='प्रेजते' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

'उपोषति' (जलाता है) । उप + ओषति' ['उष दाहे' धातु के लट् लकार के

---

*यहां अत्यन्त सावधानी से सन्धि करनी चाहिये क्योंकि इस में कुछ गुण के उदाहरण भी मिश्रित कर दिये गये हैं ।

† 'एज कम्पने' धातु परस्मैपदी है अतः यहां 'अत्यन्त कांपता है' ऐसा अर्थ करना नितान्त अशुद्ध है ।

प्रथम पुरुष का एकवचन है]। यहां उप' यह अवर्णान्त उपसर्ग और 'ओषति' यह ओकारादि धातु है। अतः पूर्व (अ) और पर (ओ) के स्थान पर एक पररूप 'ओ' आदेश करने से—उप् ओ' षति='उपोषति' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

यह सूत्र 'वृद्धिरेचि' (३३) सूत्र का अपवाद है। ध्यान रहे कि एति और एधति के विषय में इस का भी अपवाद 'एत्येधत्यूठ्सु' (३४) सूत्र है।

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—३९ अचोऽन्त्यादि टि ।१।१।६४॥

अचां मध्ये योऽन्त्यः स आदिर्यस्य तट्टिसञ्ज्ञं स्यात्।

अर्थः— अचों में जो अन्त्य अच्, वह है आदि में जिसके, उस शब्द समुदाय की टि सञ्ज्ञा होती है।

व्याख्या— अचः ।६।१। [यहां 'यतश्च निर्धारणम्' सूत्र द्वारा निर्धारण में षष्ठी विभक्ति होती है। यथा 'नृणां ब्राह्मणः श्रेष्ठः'। किञ्च यहां जाति में एकवचन हुआ समझना चाहिये।] अन्त्यादि ।१।१। टि ।१।१। समासः—अन्ते भवोऽन्त्यः, अन्त्य आदिर्यस्य शब्द स्वरूपस्य तत् अन्त्यादि, बहुव्रीहि समास। अर्थः—(अचः) अचों के मध्य में (अन्त्यादि) जो अन्त्य अच, वह है आदि में जिसके ऐसा शब्द स्वरूप (टि) 'टि' सञ्ज्ञक होता है। यथा—'मनस्' यहां अचों में अन्त्य अच् नकारोत्तर अकार है, वह जिसके आदि में है ऐसा शब्द-स्वरूप 'अस्' है, अतः इस की इस सूत्र से 'टि' सञ्ज्ञा हो जाती है। एवम्—'पतत्' यहां 'अत्' की, 'आताम्' यहां 'आम्' की, 'ध्वम्' यहां 'अम्' की तथा 'अग्निचित्' यहां 'इत्' की 'टि' सञ्ज्ञा समझनी चाहिये। जहां अन्त्य अच से परे अन्य कोई वर्ण नहीं होता, वहां उस अन्त्य अच् की ही 'टि' सञ्ज्ञा हो जाती है। यथा—'कुल' यहां अचों में अन्त्य अच् लकारोत्तर अकार है, यह किसी के आदि में नहीं। यथा 'देवदत्तस्यैकः पुत्रः स एव ज्येष्ठः स एव कनिष्ठः' इस न्यायानुसार अपने ही आदि और अपने ही अन्त में वर्त्तमान है अतः यहां केवल 'अ' की ही 'टि' सञ्ज्ञा होती है। [इस विषय का स्पष्टीकरण 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' सूत्र की व्याख्या समझने के बाद ही हो सकता है।]

अब अग्रिम वार्त्तिक में 'टि' सञ्ज्ञा का उपयोग दिखाते हैं—

[लघु०] वा०—८ शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम् ॥

तच्च टेः। शकन्धुः। कर्कन्धुः। कुलटा। मनीषा। आकृतिगणोऽयम्। मार्तण्डः।

अर्थः—शकन्धु आदि शब्दों में (उन की सिद्धि के अनुरूप) पररूप कहना चाहिये। (तत्) वह पररूप (टेः) टि (च) और अच के स्थान पर समझना चाहिये।

व्याख्या—शकन्ध्वादिषु ।७।३। पररूपम् । १ । १ । वाच्यम् । १ । १ । अर्थ—(शकन्ध्वादिषु) शकन्धु आदि शब्दों में (पररूपम्) पररूप (वाच्यम्) कहना चाहिये ।

शकन्धु आदि बन बनाए अथात् पर रूप कार्य किये हुए शब्द एक गण में मुनिवर कात्यायन ने पढ़े हैं । इस गण का प्रथम शब्द 'शकन्धु' होने से इस गण का नाम शकन्ध्वादि गण है* । अब इस वार्तिक द्वारा कात्यायन जो कहते हैं इन मे पर रूप कर लेना चाहिये इस पर प्रश्न उत्पन्न होता है कि किस के स्थान पर पर रूप करें ? इस का उत्तर सुतरां यह मिल जाता है कि योग के अनुसार इन को विभक्त कर उन २ के स्थान पर पर रूप किया जाये, जिन के स्थान पर पर रूप करने से गणपठित शब्द सिद्ध हो जाते हैं । जिस प्रकरण में यह वार्तिक पढ़ा गया है इस प्रकरण में 'आत्' और 'अचि' पदों की अनुवृत्ति आ रही है तथा वह 'एक: पूर्वपरयो:' (६।१।८२) के अधिकार के अन्तर्गत है । अत: प्रकरण वशात् तो यही प्राप्त होता है कि—पूर्व अवर्ण और पर अच् के स्थान पर एक पर रूप आदेश हो । अब यदि प्रकरणागत इन के स्थान पर पररूप एकादेश करते हैं तो और तो सब गण पठित शब्द सिद्ध हो जाते हैं, केवल 'मनीषा' और 'पतञ्जलि' शब्द सिद्ध नहीं होते क्योंकि यहां 'मनस् + ईषा' और 'पतत् + अञ्जलि' इस प्रकार छेद होने से अवर्ण नहीं मिलता । अब यदि प्रकरणागत अवर्ण की बजाय 'टि' कर दें [टि और अच् के स्थान पर पररूप एकादेश हो ।] तो सब शब्द जैसे गण में पढ़े गये हैं वैसे के वैसे सिद्ध हो जाते हैं, कोई दोष नहीं आता । अत: इन शकन्ध्वादियों में पूर्व=टि और पर=अच् के स्थान पर पररूप एकादेश करना ही युक्त है । ग्रन्थकार ने अपने मन में यह सब विचार कर 'तच्च टे:' कहा है । शकन्ध्वादि गण पठित शब्द यथा—

१—'शकन्धु' [शकानाम्=देशविशेषाणाम् अन्धु=कूप:, शकन्धु: । गवेषणीयोऽस्य प्रयोग: ।] । 'शक + अन्धु' यहां ककारोत्तर अकार की 'अचोऽन्त्यादि टि' (३९) सूत्र से 'टि' संज्ञा हो जाती है । इस टि और 'अन्धु' शब्द के आदि अकार के स्थान पर एक पररूप 'अ' हो कर विभक्ति लाने से—शक् 'अ' न्धु='शकन्धु' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

२—'कर्कन्धु' [कर्काणाम्=राजविशेषाणाम् अन्धु=कूप:, कर्कन्धु:‡ । अन्वेषणीयोऽस्य

*इसी प्रकार अन्यत्र भी सर्वत्र समझ लेना चाहिये यथा—प्रादि-गण, सर्वादि-गण, स्वरादि गण आदि । गणों के पाठ से महान् लाघव होता है, अन्यथा सभी शब्दों को सूत्रों में पढ़ने से बहुत गौरव हो जायगा ।

‡बेर के वृक्ष का नाम 'कर्कन्धू' है । यह कर्कोपपद 'डुधाञ् धारणपोषणयो:' (जु०) धातु से औणादिक 'कू' प्रत्यय करने से सिद्ध होता है । इस का निपातन उणादि के 'अन्दू-दृम्भू-जम्बू-कफेलू-कर्कन्धू दिधिषू' (९३) इस सूत्र में किया गया है कर्कम्=कण्टकं दधातीति कर्कन्धू: । यह शब्द पुलिङ्ग

प्रयोग ।]। 'कर्क+अन्धु' यहां भी पूर्ववत् ककारोत्तर अकार=टि और 'अन्धु' शब्द के आदि अकार के स्थान पर 'अ' यह एक पररूप आदेश करने से—कर्क् 'अ' न्धु='कर्कन्धु' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

३—'कुलटा' [व्यभिचारिणी स्त्री]। 'कुल+अटा' यहां लकारोत्तर अकार=टि और 'अटा' शब्द के आदि अकार के स्थान पर 'अ' यह एक पररूप आदेश करने से—कुल् 'अ' टा='कुलटा'× प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

४—'मनीषा' [बुद्धि]। मनस्+ईषा' यहां 'अचोऽन्त्यादि टि' (३१) से 'अस् की टि' सञ्ज्ञा है। इस टि और 'ईषा' शब्द के आदि ईकार के स्थान पर 'ई' यह एक पररूप आदेश करने से—मन् ई' षा='मनीषा'* प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

ग्रन्थकार ने यहां सम्पूर्ण शकन्ध्वादि गण नहीं लिखा। निम्न लिखित शब्द भी इसी गण में आते हैं—

५—'हलीषा' [हलस्य ईषा=दण्ड हलीषा। हल का दण्ड]। 'हल+ईषा' यहां लकारोत्तर अकार=टि और 'ईषा' शब्द के आदि ईकार क स्थान पर ई' यह एक पर रूप आदेश करने से—हल 'ई' षा=हलीषा'† प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

६—'लाङ्गलीषा' [लाङ्गलस्य=हलस्य ईषा=दण्ड =लाङ्गलीषा। हल का दण्ड।]। 'लाङ्गल+ईषा' यहां लकारोत्तर अवर्ण=टि और ईषा शब्द के आदि ईकार के स्थान पर 'ई' यह एक पररूप हो कर—लाङ्गल् 'ई' षा= लाङ्गलीषा' प्रयोग सिद्ध होता है।

—और स्त्रीलिङ्ग दोनों प्रकार का होता है। 'कर्कन्धु' ऐसा ह्रस्वोकरान्त शब्द भी कहीं २ बेरवाची मिलता है। वहां 'उणादयो बहुलम्' (८४८) सूत्र में 'बहुल ग्रहण क सामर्थ्य से 'कू' प्रत्यय की बजाय 'कु' प्रत्यय हुआ समझना चाहिये। बेर वाची इस 'कर्कन्धु' शब्द का शक न्ध्वादियों में पाठ करना व्यर्थ है क्योंकि वहां 'डुधाञ्' धातु है 'अन्धु' शब्द नहीं। अत वहां पर रूप करने की कोई आवश्यकता ही नहीं। कुछ लोग बेर वाची 'कर्कन्धु' शब्द का 'कर्क+अन्धु' ऐसा छेद कर के पर रूप करते हैं, जैसा कि क्षीरस्वामी ने अमरकोष की टीका तथा श्रीहेमचन्द्राचार्य ने अपने 'अभिधान चिन्तामणि' कोष में लिखा है। परन्तु उन की यह कल्पना ठीक नहीं, क्योंकि इस से ऐसा कोई अर्थ नहीं निकल सकता जिस का बेर से दूर का भी सम्बन्ध हो सकता हो।

×अट गतौ (भ्वा) इत्यस्माद् 'नन्दि-ग्रहि-पचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' (७८६) इति कर्त्तर्यचि 'अजाद्यतष्टाप्' (१२४५) इति टापि अटेति सिध्यति। अटतीत्यटा। कुलानामटा=कुलटा। कुलान्यटतीति विग्रहे तु कर्मण्यणि 'टिड्ढ—' (१२४७) इति ङीपि कुलाटीति स्यात्।

*इष गतौ (भ्वा०) इत्यस्माद् भावे 'गुरोश्च हलः' (८६८) इति अ प्रत्यये। स्त्रियामित्यधिकारात् ततष्टाप्, मनस ईषा=गतिः, मनीषा। बुद्धिर्मनीषेत्युच्यते।

†कई लोग 'मनीषा' की देखादेखी 'हलीषा' का भी हलन्+ईषा ऐसा छेद करते हैं पर यह भारी भूल है।

७—'पतञ्जलि' [व्याकरणमहाभाष्यकार भगवान् पतञ्जलि]। 'पतत्+अञ्जलि' यहां 'अत्' की 'टि' सञ्ज्ञा है। इस टि और 'अञ्जलि' शब्द के आदि अकार के स्थान पर 'अ' यह एक पररूप हो कर—'पत अ' ञ्जलि=पतञ्जलि * प्रयोग सिद्ध होता है।

८—'सारङ्ग' [चातक व हरिण]। 'सार+अङ्ग' यहां रेफोत्तर अवर्ण=टि और 'अङ्ग' शब्द के आदि अकार के स्थान पर 'अ' यह एक पररूप आदेश करने से—'सार् अ' ङ्ग='सारङ्ग' प्रयोग सिद्ध होता है।

यहां यह ध्यान रहे कि चातक और हरिण अर्थ में ही इसका शकन्ध्वादियों में पाठ है, अन्य अर्थ में शकन्ध्वादियों में पाठ न होने से 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) द्वारा सवर्ण दीर्घ हो कर 'साराङ्ग' बन जाता है। अतएव गणपाठ में 'सारङ्गः पशुपक्षिणोः' ऐसा उल्लेख किया गया है।

९—'सीमन्त' [सीम्नोऽन्त =सीमन्त]। 'सीम+अन्त'× यहां मकारोत्तर अवर्ण=टि और 'अन्त' शब्द के आदि अकार के स्थान पर 'अ' यह पररूप एकादेश करने से—'सीम् 'अ' न्त=सीमन्त' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। केशों की सीमा के अन्त अर्थात् माग को 'सीमन्त' कहते हैं। स्त्रियां जब कङ्घी द्वारा बाल सवारती हैं तो बालों के मध्य जो रेखा सी हो जाती है उसे सीमन्त या माग कहते हैं। 'माग' से भिन्न अर्थ में इस का शकन्ध्वादि गण में पाठ न होने के कारण 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्ण दीर्घ हो कर 'सीमान्त'† बनेगा।

❀ 'आकृति-गणोऽयम्'‡। समास—आकृत्या=स्वरूपेण=कार्यदर्शनेन गण्यते=परिचीयत इति आकृतिगणः। अर्थ—(अयम्) यह शकन्धु आदि शब्दों का समूह (आकृतिगणः) आकृति से गिना जाता है। इस का भाव यह है कि शकन्ध्वादि जितने शब्द गण में पढ़े गये हैं, ये इतने ही हैं, ऐसा नहीं समझना चाहिये। किन्तु जिस २ शब्द में पररूप कार्य हुआ दीखे उसे शकन्ध्वादि गण में गिन लेना चाहिये। यथा—'मार्तण्ड'

---

*पतन् अञ्जलिर्यस्मिन् नमस्कारत्वाद् असौ पतञ्जलिः, बहुव्रीहिः समासः। तपस्यन्त्या गोपीनाम्न्याः स्त्रिया अञ्जलेः सर्परूपेण पतितोऽयं पतञ्जलिरिति इतिहास-संवादे तु 'अञ्जलेः पतन्' इति विग्रहः। तत्र च मयूरव्यंसकादित्वात् समासः।

× यहां समास में विभक्ति लोप होने से पदत्व के कारण 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) सूत्र से नकार का लोप हो जाता है।

† इस का अर्थ है—भूमि आदि की सीमा का अन्त।

‡ इस गण के आकृति-गण होने में 'प्रोपाभ्यां समर्थाभ्याम्' (१।३।४२) [सम+अर्थाभ्याम्], 'स्ववद्रूपयोः समर्थयोः' (२।३।५७) [सम+अर्थयोः] इत्यादि पाणिनि के निर्देश प्रमाण हैं।

शब्द लोक में प्रसिद्ध है, इस में पररूप हुआ मिलता है अतः इसे भी शकन्ध्वादिगण के अन्तर्गत समझना चाहिये। इस की साधन प्रक्रिया यथा—'मृतश्चासौऽण्डम्' इस कर्मधारय समास में विभक्तियों का लुक् हो कर 'मृत + अण्ड' हो जाता है। अब तकारोत्तर अवर्ण तथा 'अण्ड' शब्द के आदि अकार के स्थान पर 'अ' यह पररूप एकादेश करने से मृत् 'अ' ण्ड='मृतण्ड' बन जाता है। मृतण्डे भवः=मार्तण्डः,* यहां 'तत्र भवः' (१०८१) से अण् 'तद्धितेष्वचामादेः' (९३८) से आदि वृद्धि तथा 'यस्येति च' (२३६) से अकार का लोप हो जाता है †।

[लघु०] विधि सूत्रम्—४० ओमाङोश्च ।६।१।९३॥

ओमि आङि चात् परे पररूपमेकादेशः स्यात् । शिवायोंनमः । 'शिव + एहि' इति स्थिते—

अर्थः—अवर्ण से ओम् अथवा आङ् परे हो तो पूर्व+पर के स्थान पर एक पर रूप आदेश हो जाता है।

व्याख्या—आत् ।५।१। ['आद् गुणः' से] ओमाङोः ।७।२। च इत्यव्ययपदम्। पूर्वपरयोः ।६।२। एकः ।१।१। ['एकः पूर्व-परयोः' यह अधिकृत है।] पररूपम् ।१।१। ['एङि पररूपम्' से] समासः—ओम् च आङ् च=ओमाङौ तयोः=ओमाङोः इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(आत्) अवर्ण से (ओमाङोः) ओम् अथवा आङ् परे होने पर (पूर्वपरयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (पररूपम्) पररूप (एकः) एकादेश हो जाता है।

'ओम्' यह अव्यय तथा 'आङ्' यह उपसर्ग है। 'आङ्' के ङकार की प्रयोग दशा में इत्' सञ्ज्ञा हो जाती है, अतः 'तस्य लोपः' (३) से लोप होने के कारण 'आ' शेष रह जाता है।

उदाहरण यथा—'शिवायोंनमः' [ओं नमः शिवाय=शिव जी के प्रति नमस्कार हो।] शिवाय + ओंनमः' ('ओम्+नमः' यहां 'मोऽनुस्वारः' [७७] से मकार को अनुस्वार हो 'वा पदान्तस्य' [८०] से उसे वैकल्पिक परसवर्ण नकार हो जाता है।) यहाँ यकारोत्तर अवर्ण से 'ओम्' परे है अतः पूर्व=अवर्ण और पर=ओकार के स्थान पर 'ओ' पररूप आदेश हो कर शिवाय 'ओ' नमः = शिवायोंनमः' प्रयोग सिद्ध होता है।

---

* मार्तण्ड=मरे हुए अण्डे में होने वाला=सूर्य इस की कथा मार्कण्डेय पुराण के १०५ वें अध्याय में देखें।

† कश्चिदत्र—मृतोऽण्डो यस्य सः=मृतण्डः, मृतण्डस्य अपत्यम्=मार्तण्डः, 'तस्यापत्यम्' (१००१) इत्यण् इत्येवं विगृह्णाति।

'शिवेहि' [शिव जी आओ] । शिव ! आ+इहि' यहां 'आद् गुणः' (२७) सूत्र से 'आ+इ' के स्थान पर 'ए' यह गुण एकादेश हो कर—'शिव एहि' रूप बना । अब यहां 'आङ' न होने से 'ओमाङोश्च' सूत्र प्राप्त नहीं होता इस पर 'ए' में आङत्व लाने के लिये अग्रिम अतिदेश सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—४१ अन्तादिवच्च । ६ । १ । ८३ ॥

योऽयमेकादेशः स पूर्वस्यान्तवत् परस्यादिवत् स्यात् । शिवेहि ।

अर्थ —जो यह एकादेश किया जाता है वह पूर्व के अन्त के समान तथा पर के आदि के समान होता है ।

व्याख्या—एक ।१।१। पूर्वपरयोः ।६।२। ('एकः पूर्वपरयोः' से) अन्तादिवत् इत्यव्ययपदम् । च इत्यव्ययपदम् । समास—अन्तश्च आदिश्च=अन्तादी, इतरेतर द्वन्द्व । अन्तादिभ्यां तुल्यम्=अन्तादिवत् 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (११४८) इति वति प्रत्यय । अर्थ —(एक) यह एकादेश (पूर्वपरयोः) पूर्व और पर के (अन्तादिवत्) अन्त और आदि के समान होता है । तात्पर्य यह है कि 'एकः पूर्वपरयोः' (६।१।८२) सूत्र से जिस एकादेश का अधिकार किया गया है वह एकादेश पूर्व के अन्त के समान तथा पर के आदि के समान होता है । इस सम्पूर्ण एकादेश के अधिकार में पूर्व और पर वर्ण ही स्थानी हैं, इन वर्णों के एकादेश के अखण्ड होने से इन में अन्त और आदि नहीं बन सकते । अतः यहां पूर्व से पूर्व वर्ण घटित (पूर्व वर्ण वाला) शब्द तथा पर से पर-वर्ण घटित (पर वर्ण वाला) शब्द ग्रहण किया जाता है । यथा—क्षीरप+इन' यहां 'आद् गुणः' (२७) से पकारोत्तर अकार तथा 'इन' शब्द के आदि इकार के स्थान पर 'ए' यह एक गुणादेश हो 'एकाजुत्तरपदे णः' (२८६) से णत्व करने पर 'क्षीरपेण' बनता है । यहां एकादेश 'ए' है । यह 'ए' पूर्व शब्द अर्थात् 'क्षीरप' शब्द के अन्त=अ के समान तथा पर शब्द अर्थात् 'इन' के आदि=इ के समान होगा । अर्थात् इस 'ए' को अकार मान कर अकाराश्रित कार्य तथा इकार मान कर इकाराश्रित कार्य हो जाएंगे । इस सूत्र के उदाहरण 'काशिका' आदि व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखने चाहियें ।

'शिव+एहि' यहां 'ए' यह एकादेश है । यह एकादेश पूर्व शब्द के अन्त के समान होगा । पूर्व शब्द 'आ' है । इस का अन्त भी 'आ' है (क्योंकि एक अक्षर में—वही अपना आदि और वही अपना अन्त हुआ करता है । जैसे किसी का एक पुत्र हो तो उस के लिये वही बड़ा और वही छोटा हुआ करता है) । अतः यह 'आ' 'आङ्' के सदृश होगा अर्थात् जो २ कार्य 'आङ्' के रहने पर हो सकते हैं, वे इस के रहने पर भी होंगे । 'आङ्' के होने से 'ओमाङोश्च' (४०) सूत्र प्रवृत्त होता है, वह अब 'ए' के होने से भी होगा । तो इस

प्रकार 'ओमाङोश्च' (४०) सूत्र से पूर्व+पर के स्थान पर एक पररूप 'ए' हो कर—शिव् 'ए' हि = 'शिवेहि' प्रयोग सिद्ध होता है ।

प्रश्न:—'ओमाङोश्च' (४०) सूत्र में यदि 'आङ्' का ग्रहण न भी करें तो भी 'शिवेहि' आदि रूप यथेष्ट सिद्ध हो सकते हैं । तथाहि—'शिव+आ+इहि' यहां प्रथम 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्ण दीर्घ हो—'शिवा + इहि' बन जायगा, पुनः 'आद् गुणः' (२७) से गुण एकादेश करने से—'शिवेहि' प्रयोग सिद्ध हो जायगा । तो 'ओमाङोश्च' (४०) सूत्र में 'आङ्' ग्रहण क्यों किया गया है ? ।

उत्तर—पाणिनीय व्याकरण में '**असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे**' एक परिभाषा है । इस का अभिप्राय यह है कि जहां अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग कार्य युगपत्=इकट्ठे उपस्थित हों वहां बहिरङ्ग को असिद्ध समझ कर प्रथम अन्तरङ्ग कार्य कर लेना चाहिये । बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग कार्यों का विस्तार पूर्वक विचार व्याकरण के उच्च-ग्रन्थों में किया गया है वहीं देखें । यहां इतना समझ लेना चाहिये कि '**धातूपसर्गयोः कार्यमन्तरङ्गम्**' अर्थात् धातु+उपसर्ग का कार्य अन्तरङ्ग होता है । 'शिव+आ+इहि' यहां 'आ' यह उपसर्ग तथा 'इहि' यह धातु है । अतः 'आ + इ' के स्थान पर गुण कार्य अन्तरङ्ग होने से प्रथम होगा, सवर्ण दीर्घ बहिरङ्ग होने से प्रथम न होगा । इस से जब 'शिव+एहि' बन जायगा तब यदि 'ओमाङोश्च' (४०) में 'आङ्' का ग्रहण न करेंगे तो 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश हो कर—'शिवैहि' ऐसा अनिष्ट प्रयोग बन जायगा । अतः इस की निवृत्ति के लिये सूत्र में 'आङ्' का ग्रहण अत्यावश्यक है ।

नोटः—ध्यान रहे कि 'ओमाङोश्च' (४०) सूत्र 'वृद्धिरेचि' (३३) तथा 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) दोनों का अपवाद है ।

अभ्यास (६)

(१) आकृति गण किसे कहते हैं ? शकन्ध्वादि गण के आकृति-गण होने में क्या प्रमाण है ? सविस्तर प्रकाश डालें ।

(२) 'नैजते' में 'एङि पररूपम्', 'अव+एहि' में 'एत्येधत्यूठ्सु', 'लाङ्गल+ईषा' में 'आद् गुणः', 'कुल + अटा' तथा 'सा+अस्यात्'* में 'अकः सवर्णे दीर्घः' सूत्र क्यों प्रवृत्त नहीं होते ? ।

(३) 'तच्च टे' यह किस की उक्ति है ? इस का क्या अभिप्राय और क्या आधार है ? स्पष्ट सविस्तर प्रतिपादन करें ।

---

* अत्र 'आङ्' बोध्य ।

(४) 'अन्तादिवच्च' सूत्र की आवश्यकता बताते हुए सूत्रार्थ पर विशेष प्रकाश डालें।

(५) 'कर्कन्धु' शब्द पर क्षीरस्वामी आदि की प्रक्रिया का उल्लेख कर उस का खण्डन करें।

(६) सारङ्ग, साराङ्ग सीमन्त सीमान्त कुलटा, कुलाटी, इन पदयुगलों का परस्पर सप्रमाण भेद निरूपण करें।

(७) अधोलिखित प्रयोगों मे सन्धिच्छेद कर के उसे सूत्रों द्वारा प्रमाणित करें—
१ कोमित्यवोचत्। २ प्रेषयति। ३ पतञ्जलि। ४ कदोढा *। ५ उपेहि। ६ अधर्यात् *। ७ मार्तण्ड। ८ अवेजते। ९ लाङ्गलीषा। १० प्रोषति। ११ मनीषा। १२ प्रेषणीयम्। १३ कृष्णेहि। १४ अद्योढा *।

(८) निम्न लिखित वचनों की सोदाहरण व्याख्या करें—
१ यथा देवदत्तस्यैक पुत्र स एव ज्येष्ठ स एव कनिष्ठ। २ असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे। ३ धातूपसर्गयो कार्यमन्तरङ्गम्।

(९) 'टि' सञ्ज्ञा विधायक सूत्र का व्याख्यान करें।

—०❀०—

[लघु०] विधि सूत्रम्—४२ अक सवर्णे दीर्घ ।६।१।९८॥

अक' सवर्णेऽचि परे पूर्वपरयोर्दीर्घ एकादेश' स्यात्। दैत्यारिः। श्रीशः। विष्णूदयः। होतॄकार।

अर्थ'—अक् से सवर्ण अच् परे होने पर पूर्व + पर के स्थान में दीर्घ एकादेश हो जाता है।

व्याख्या—अक ।५।१। सवर्णे ।७।१। अचि ।७।१। ('इको यणचि' से) पूर्व परयो ।६।२। एक ।१।१। ('एक पूर्वपरयो' यह अधिकृत है) दीर्घ ।१।१। अर्थ—(अक) अक से (सवर्णे) सवर्ण (अचि) अच् परे होने पर (पूर्व परयो) पूव+पर के स्थान में (एक) एक (दीर्घ) दीघ आदेश हो जाता है।

अक प्रत्याहार में 'अ, इ, उ, ऋ, लृ' ये पाञ्च वर्ण आते हैं इन से परे यदि इन का कोई सवर्ण अच् हो तो इन दोनों के स्थान पर एक दीर्घ हो जाता है। यद्यपि दीर्घ अच बहुत हैं तथापि 'स्थानेऽन्तरतम' (१७) से वही दीर्घ किया जाता है जो इन स्थानियों के तुल्य होता है। उदाहरण यथा—

१–'दैत्यारि' (दैत्यों के शत्रु=भगवान् विष्णु)। 'दैत्य+अरि' यहा यकारोत्तरवर्ती अकार 'अक्' है, इस से परे 'अरि' शब्द का आदि अकार सवर्ण अच् है। अत इन दोनों

* एषु सवत्र 'आङ्' बोध्य।

के स्थान पर 'स्थानेऽन्तरतम' (१७) द्वारा 'आ' यह दीर्घ एकादेश हो कर विभक्ति लाने से—दैत्य् 'आ' रि='दैत्यारि' प्रयोग सिद्ध होता है। दैत्यानाम् अरि =दैत्यारि ।

२—'श्रीश' (लक्ष्मी के स्वामी=भगवान् विष्णु)। 'श्री+ईश' यहां रेफोत्तर ईकार 'अक्' और उससे परे 'ईश' शब्द का आदि ईकार सवर्ण अच् है। इन दोनों के स्थान पर 'ई' यह सवर्ण दीर्घ एकादेश हो कर विभक्ति लाने से—श्र् 'ई' श='श्रीश' प्रयोग सिद्ध होता हैं। श्रिय ईश =श्रीश ।

३—'विष्णूदय' (विष्णो =तन्नाम देव विशेषस्य, सूर्यस्य वा उदय =आविर्भाव उन्नतिर्वा विष्णूदय)। 'विष्णु+उदय' यहां णकारोत्तर उकार 'अक्' है इस से परे 'उदय' शब्द का आदि उकार सवर्ण अच् है अत पूर्व+पर के स्थान पर 'ऊ' यह सवर्ण दीर्घ एकादेश करने से—विष्ण् 'ऊ' दय='विष्णूदय' प्रयोग सिद्ध होता है।

४—'होतॄकार' (होतुऋकार =होतॄकार । होता का ऋकार)। 'होतृ+ऋकार' यहां पूर्व + पर के स्थान पर 'ॠ' यह एक सवर्ण दीर्घ हो कर—होत् 'ॠ' कार='होतॄकार' प्रयोग सिद्ध होता है।

लृकार का उदाहरण अप्रसिद्ध तथा कठिन होने से यहा नहीं दिया गया 'सिद्धान्त-कौमुदी' में दिया गया है, वहीं देखें।

यह सूत्र अकार के विषय में 'आद् गुण' (२७) सूत्र का तथा अन्यत्र 'इकोयणचि' (१५) सूत्र का अपवाद है।

अभ्यास (१०)

(१) अधो-लिखित प्रयोगों में सन्धिच्छेद कर के सूत्रों द्वारा उसे प्रमाणित करो—

१दण्डाग्रम्। २ मधूदके। ३ दधीन्द्र। ४ होतॄश्य। ५ कुमारीहते। ६ पितॄणाम्। ७ विद्यानन्द। ८ भूमीश। ९ परमार्थ। १० यथार्थ। ११ विधूदय। १२ विद्यार्थी। १३ महीन। १४ वेदाभ्यास,। १५ कमलाकर:। १६ कर्तॄषि १७ भानूदय। १८ पक्तॄजीषम्। १९ तरूर्ध्वम्। २० गिरीश।

(२) अधो लिखित रूपों में सूत्रार्थसमन्वय दर्शाते हुए सन्धि करो —

१ कदा + अगात्। २ महती+इच्छा। ३ हरि + इन्द्र। ४ मधु+उत्तमम्। ५ कर्तृ + ऋद्धि। ६ सनक+आदि। ७ फलानि + इमानि। ८ कारु + उत्तम। ९ नेतृ + ऋभुक्षा। १० वधू+उत्सव। ११ कदा + अत्र। १२ सती + ईश। १३ श्रद्धा + अस्ति। १४ मुनि+इन्द्र। १५ अन्त+आदि। १६ यदा + आसीत्। १७ नदी+इदानीम्। १८ तरु+उपेत। १९ भर्तृ+ऋद्धि। २० तुल्य+आस्य।

(३) 'अक सवर्णे दीर्घ' सूत्र किस २ का अपवाद है?

—०ॐ:०—

[लघु०] विधि सूत्रम्—४३ एङः पदान्तादति ।६।१।१०९॥

पदान्तादेङोऽति परे पूर्व-रूपम् एकादेशः स्यात् । हरेऽव । विष्णोऽव ।

अर्थ—पदान्त एङ् से अत् परे होने पर पूर्व+पर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश हो जाता है ।

व्याख्या—पदान्तात् ।५।१। एङः ।५।१। अति ।७।१। पूर्व परयोः ।६।२। एकः ।१।१। ['एकः पूर्व परयोः' यह अधिकृत है ।] पूर्वः ।१।१। ['अमि पूर्वः' से] अर्थः— (पदान्तात्) पदान्त (एङः) एङ् से (अति) अत् परे होने पर (पूर्व-परयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (एकः) एक (पूर्वः) पूर्वरूप आदेश हो जाता है ।

एङ्' प्रत्याहार मे 'ए, ओ' ये दो वर्ण आते हैं यदि ये वर्ण पद के अन्त मे स्थित हो और इन से परे अत् अर्थात् ह्रस्व अकार हो तो पूर्व+पर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश हो जाता है । यह सूत्र 'एचोऽयवायाव (२२) सूत्र का अपवाद है ।

उदाहरण यथा—[१] 'हरेऽव' (हे हरे ! रक्षा करो) । 'हरे+अव यहा 'हरे यह सम्बोधन का एकवचनान्त होने से पद है इस पद के अन्त वाले एकार=एङ् से 'अव' शब्द का आदि अत् परे है, अतः इन दोनों के स्थान पर एक पूर्वरूप 'ए' हो कर—हर् 'ए' व='हरेऽव प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

[२] 'विष्णोऽव' (हे विष्णो ! रक्षा करो) । 'विष्णो + अव' यहा भी पूर्ववत् पूर्व= ओकार और पर=अकार के स्थान पर एक पूर्वरूप ओ' हो कर—विष्ण् 'ओ' व='विष्णोऽव' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

नोट—'ऽ' यह चिह्न करें या न करें अपनी इच्छा पर निर्भर है । यह केवल इस बात को प्रकट करता है कि यहा पहले अकार था* । कई लोग इस चिह्न को अकार समझ कर वैसा उच्चारण करते हैं वह उन की भूल है, क्योंकि जब एकादेश हो गया तो अन्य वर्ण कहा से आया ? ।

सूत्र में एङ' को पदान्त कहने का अभिप्राय यह है कि 'जे+अ=जय , ने+अ=नय भो+अ=भव ' इत्यादि प्रयोगों में अपदान्त एङ से अत परे होने पर पूर्वरूप एकादेश न हो ।

---

* यह चिह्न अत्यन्त आधुनिक है, तभी तो 'भ्यसो भ्यम्' (२२३) सूत्र के महाभाष्य में लिखा है—"किमयं 'भ्यम्' शब्द आहोस्विद् 'अभ्यम्' शब्द ? । कुतः सन्देह ? समानो निर्देशः" । यहा 'समानो निर्देश ' मे सिद्ध होता है कि पहले उक्त चिह्न नहीं था प्रत्युत भट्टोजिदीक्षित के समय में भी नहीं था । समुद्राभ्रद्यो घमोऽग्रन्थे' इस सूत्र को लिख कर दीक्षित ने वृत्ति में ['अग्रन्थे' इतिच्छेदः] ऐसा लिखा है यदि तब यह चिह्न होता तब 'घमोऽग्रन्थ होने से छेद लिखना व्यर्थ था । चिह्नों पर विशेष टिप्पण आगे (१३१) सूत्र पर देखें ।

अभ्यास (११)

(१) निम्न लिखित प्रयोगों में सन्धिच्छेद कर उसे सूत्रों द्वारा प्रमाणित करें—

१ अग्नेऽत्र। २ वायोऽत्र। ३ गुरवेऽद्यात्। ४ रामोऽस्ति। ५ पचतेऽसौ। ६ नमोऽस्तु। ७ संसारेऽधुना। ८ सर्पोऽहम्। ९ तेऽत्र। १० ब्राह्मणोऽब्रवीत्। ११ वटोऽयम्। १२ ब्रह्मणेऽस्तु। १३ वचनोऽनुनासिक। १४ स्थानेऽन्तरतम। १५ पण्डितोऽपि।

(२) सूत्रार्थ समन्वय पूर्वक सन्धि करें—

१ ते + अकमका। २ पुरुषो + अत्र। ३ वने + अस्मिन्। ४ ततो + अ यत्र। ५ आधारो + अधिकरणम्। ६ सहयुते + अप्रधाने। ७ उपो + अधिके च। ८ अभ्यासा + अत्र। ९ को + अपि। १० अन्धो + असौ। ११ के + अपि। १२ लोके + अत्र। १३ इको + असवर्णे। १४ एचो + अयवायाव। १५ उपदेशे + अज्।

(३) एङ पदान्तादति' में 'पदान्त' ग्रहण का क्या प्रयोजन है?।

—०❀०—

[लघु०] विधि सूत्रम्—४४ **सर्वत्र विभाषा गो** ।६।१।११९॥

लोके वेदे चैङन्तस्य गोरति वा प्रकृतिभाव' पदान्ते। गो अग्रम्। एङन्तस्य किम्? गोः।

अर्थ—लोक और वेद में एङन्त 'गो' शब्द को पदान्त में विकल्प कर के प्रकृति भाव हो जाता है।

व्याख्या—सर्वत्र इत्यव्ययं पदम्*। पदान्तस्य ।६।१। ['एङ पदान्तादति' से 'पदान्तात्' पद आ कर विभक्ति विपरिणाम से षष्ठ्यन्त हो जाता है। इसे यदि सप्तमी विभक्ति में परिणत करें तो भी कुछ दोष नहीं होता, जैसा कि ग्रन्थकार ने वृत्ति में किया है।] एङः ।६।१। ['एङ पदान्तादति' से विभक्ति विपरिणाम द्वारा प्राप्त होता है।] यह 'गो' पद का विशेषण है, अतः इस से 'येन विधिस्तदन्तस्य' द्वारा तदन्तविधि हो कर 'एङन्तस्य'

*पीछे से 'यजुषि=यजुर्वेद में' की अनुवृत्ति आ रही है उस की निवृत्ति के लिये यहां 'सर्वत्र' पद का ग्रहण किया गया है। लौकिक और वैदिक के भेद से संस्कृत भाषा दो प्रकार की होती है। लौकिक भाषा लोक अर्थात् काव्यादि लौकिक ग्रन्थों में प्रयुक्त होती है यहां लौकिक भाषा के लिये केवल 'भाषा' शब्द का प्रयोग किया जाता है। यथा— प्रत्यये भाषायां नित्यम्। वैदिक भाषा वेद में ही प्रयुक्त होती है, उसके लिये यहां कुछ विशेष नियम हैं। परन्तु यह सूत्र 'सर्वत्र' अर्थात् दोनों भाषाओं में समानरूप से प्रवृत्त होता है।

बन जाता है ।] गो ।६।१। अति ।७।१। ['एङ पदान्तादति' से] विभाषा ।१।१। प्रकृत्या ।३।१। ['प्रकृत्यान्त पादम यपरे' से] अवस्थान भवतीति शेष । अर्थ —(सर्वत्र) चाहे यजुर्वेद हो या अन्य वेद अथवा लोक ही क्यों न हो सब जगह (पदान्तस्य) पदान्त (एङ = एङन्तस्य) जो एङ—तदन्त (गो) गो शब्द का (अति) अत् परे होने पर (विभाषा) विकल्प कर के (प्रकृत्या) स्वभाव से अवस्थान हो जाता है ।

एङन्त गो शब्द से ओदन्त गो शब्द का ग्रहण समझना चाहिये , क्योंकि एदन्त गो शब्द तो कभी हो ही नहीं सकता ।

प्रकृति का अर्थ **स्वभाव** है । वर्णों का स्वभाव उन का स्वरूप ही हो सकता है । 'प्रकृति से रहते हैं या प्रकृति भाव को प्राप्त होते हैं इस का तात्पर्य प्रयोग का मूल अवस्था मे रह जाना अर्थात् कोई विकार न होना है । अतएव प्रकृति भाव स्थल में संहिताकार्य–सन्धि नही होती ।

गो+अग्र' ['गवाम् अग्रम्' ऐसा यहा षष्ठी तत्पुरुष समास है ।] यहा यद्यपि समास के कारण गो शब्द से परे 'आम्' सुप का सुपो धातु प्रातिपदिकयो ' (७२१) सूत्र से लुक् हुआ २ है तथापि प्रत्यय लोपे प्रत्यय लक्षणम्' (१९०) सूत्र की सहायता से यहा 'सुप्तिङन्त पदम्' (१४) द्वारा इस की पद सञ्ज्ञा अक्षुण्ण है अत गो शब्द के अन्त में पदान्त एङ वर्तमान है, इस के आगे 'अग्र' शब्द का आदि अत् भी मौजूद है । तो यहा गो शब्द प्रकृति स अर्थात अपने स्वरूप में सन्धि कार्य से रहित वैसे का वैसा विकल्प से रहेगा । जहां प्रकृतिभाव होगा वहां विभक्ति लाने से—'गो अग्रम्' प्रयोग सिद्ध हागा । ध्यान रहे कि यहा प्रथम एङ पदान्तादति' (४३) से पूर्व रूप प्राप्त था । पुन उसे बान्ध कर 'अवङ् स्फोटायनस्य' (४७) से वैकल्पिक अवङ् प्राप्त होता था । यह सूत्र उस का अपवाद समझना चाहिये । जहा प्रकृति भाव नहीं होगा वहा 'अवङ् स्फोटायनस्य' (४७) सूत्र प्रवृत्त होगा* ।

यहा 'एङन्त' कहने का यह प्रयोजन है कि ओदन्त गो शब्द को ही प्रकृतिभाव हो उकारान्त गोशब्द को न हो । यद्यपि गोशब्द स्वयम् ओदन्त है उकारान्त नहीं तथापि समास में 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' (९९२) सूत्र से ह्रस्व करने पर उकारान्त हो जाया करता है ।

---

*यहां कई लोग विकल्प पक्ष में 'एङ पदान्तादति (४३) से पूर्वरूप कर 'गोऽग्रम्' ऐसा मूल में पाठ लिखते हैं यह उन की भूल है क्योंकि यह सूत्र 'अवङ् स्फोटायनस्य' (४७) सूत्र का अपवाद है, 'एङ पदान्तादति' (४३) सूत्र का नहीं अत इस के प्रवृत्त हो चुकने पर उसी की ही प्रवृत्ति करनी योग्य है । हा जब वह प्रवृत्त हो चुकेगा तब वैकल्पिक होने से पक्ष में एङ पदान्तादति (४३) सूत्र भी प्रवृत्त हो जायगा ।

उदाहरण यथा—'चित्रगु+अग्रम्' [चित्रा गावो यस्य स चित्रगु, बहुव्रीहि समास । चित्र गोरग्रम् इति षष्ठी तत्पुरुष-समासे सुब्लुकि रूपमिदम् ।] यहां गोशब्द के एङन्त न होने से सर्वत्र विभाषा गो' (४४) से प्रकृतिभाव नहीं होता 'इको यणचि' (१५) से उकार को वकार हो कर विभक्ति लाने पर 'चित्रग्वग्रम्' प्रयोग बन जाता है* ।

यहां गोशब्द को पदान्त में प्रकृतिभाव इसलिये कहा गया है कि अपदान्त में प्रकृतिभाव न हो जाय । यथा—'गो + अस्' [यहां गोशब्द से ङसि व ङस् प्रत्यय किया गया है ।] यहां पदान्त न होने से यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होता, 'ङसि ङसोश्च' (१७३) सूत्र से पूर्वरूप हो कर गो' प्रयोग बन जाता है । इस की विशेषतया सिद्धि 'अजन्त पुंल्लिङ्ग प्रकरण' मे 'गो' शब्द पर देखें† ।

अब प्रकृतिभाव के अभाव पक्ष मे 'अवङ् स्फोटायनस्य' (४७) सूत्र प्रवृत्त करने के लिये दो परिभाषाएं लिखते हैं—

[लघु०] परिभाषा सूत्रम्—४५ अनेकाल् शित् सर्वस्य ।१।१।५५॥

[अनेकाल् य आदेशः शिच्च, स सर्वस्य षष्ठी निर्दिष्टस्य स्थाने स्यात् ।]

नोट.—यहां वृत्ति हमारी जोड़ी हुई है ग्रन्थकार ने स्पष्ट होने से वृत्ति नहीं लिखी।

अर्थ —जिस आदेश म अनेक अल (वर्ण) हों तथा जिस का शकार इत्सञ्ज्ञक हो वह सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होता है । इस परिभाषा के प्राप्त होने पर [अग्रिम परिभाषा प्रवृत्त हो जाती है ।]।

व्याख्या—अनेकाल् ।१।१। शित् ।१।१। सर्वस्य ।६।१। समास —न एक =अनेक, नञ्तत्पुरुष । अनेकोऽल् यस्य स =अनेकाल्, बहुव्रीहि समासः । श् (शकारः) इत् यस्य स शित्, बहुव्रीहि समास । अर्थ —(अनेकाल) अनेक अलों वाला तथा (शित्) शकार इत् वाला आदेश (सर्वस्य) सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होता है ।

'अल्' प्रत्याहार में सम्पूर्ण वर्ण आ जाते हैं अत अल या वर्ण पर्याय अर्थात् एकार्थ वाची शब्द हैं । जिस आदेश में एक से अधिक अल् या वर्ण हों अथवा जिस आदेश के शकार की इत्सञ्ज्ञा होती हो तो वह आदेश सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होगा ।

*ध्यान रहे कि यदि किसी अवयवी का एक अवयव विकृत हो जाय, तो भी वह वही रहता है अन्य नहीं हो जाता यथा— यदि किसी कुत्ते की पूंछ कट जाए तो भी वह कुत्ता ही रहता है अन्य नहीं हो जाता । इसी प्रकार यहां यद्यपि गो शब्द का अवयव ओकार विकृत हो कर उकार बन गया है तथापि वह गो शब्द ही रहता है ।

† 'हे चित्रगोऽग्रम्' में भी प्रकृतिभाव न होगा, क्योंकि यहां एङ् लाक्षणिक है प्रतिपदोक्त नहीं । इस की विशेष व्याख्या अ ग्रन्थ देखें ।

अलोऽन्त्यस्य' (२१) सूत्र कहता है कि आदेश स्थानी के अन्त्य अल् को हो, परन्तु यह सूत्र अनेकाल् तथा शित् आदेशों को सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर होना बतलाता है। अतः यह सूत्र 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) सूत्र का अपवाद है।*

अनेकाल आदेश का उदाहरण यथा—रामैः। यहां 'भिस्' स्थानी के सम्पूर्ण स्थान पर 'अतो भिस ऐस्' (१४२) से ऐस् आदेश होता है। यह सूत्र न होता तो 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) द्वारा भिस के अन्त्य सकार को फिर उस के बाधक 'आदेः परस्य' (७२) से आदि को 'ऐस्' हो जाता।

शित् आदेश का उदाहरण यथा—इतः। यहां 'इदम्' स्थानी के सम्पूर्ण स्थान पर 'इदम इश्' (११९७) से इश् आदेश होता है। यह सूत्र न होता तो 'अलोन्त्यस्य' (२१) द्वारा 'इदम्' अन्त्य मकार को इश् हो जाता।

प्रश्न—जितने 'इश' आदि शित् आदेश हैं वे सब अनेक अलों वाले हैं अनेकाल् होने के कारण ही वे सब सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर हो सकते हैं। पुनः सूत्र में 'शित्' के लिये विशेष यत्न क्यों किया गया है ?।

उत्तर—इस प्रकार शित् ग्रहण के बिना भी कार्य के सिद्ध हो जाने से महामुनि पाणिनि यह परिभाषा जतलाना चाहते हैं कि **'नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्'** अर्थात् अनुबन्धों के कारण किसी को अनेकाल् नहीं मान लेना चाहिये जब तक कि उस के अन्य अल् अनेक न हों। जिस की इत्सञ्ज्ञा होती है उसे अनुबन्ध कहते हैं। 'इश्' आदि में शकार आदि की इत्सञ्ज्ञा होती है अतः शकार आदि अनुबन्ध हैं। अब यदि 'इश्' में अनुबन्ध शकार को छोड़ दें तो केवल 'इ' रह जाता है। तब यह अनेकाल् नहीं रहता, अतः यह सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर प्राप्त नहीं हो सकता। इस लिये 'शित्' ग्रहण आवश्यक है। इस की विशेष व्याख्या व्याकरण के उच्चग्रन्थों में देखें।

[लघु०] परिभाषा सूत्रम्—४६ ङिच्च ।१।१।५२।।

ङिदनेकालप्यन्त्यस्यैव स्यात् ।

अर्थ—ङित् आदेश चाहे अनेकाल् भी क्यों न हो अन्त्य अल् के स्थान पर होगा।

व्याख्या—ङित् ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। अन्त्यस्य ।६।१। अलः ।६।१। ['अलोऽन्त्यस्य' से] समासः—ङ् (ङकार) इत् यस्य स ङित्, बहुव्रीहि समासः। अर्थः—(ङित्) ङकार इत् वाला आदेश (अन्त्यस्य) अन्त्य (अलः) अल के स्थान पर होता है। यह सूत्र 'अनेकाल शित् सर्वस्य' (४५) सूत्र का अपवाद है। जिस आदेश के ङकार की इत्सञ्ज्ञा

*इसी प्रकार 'आदेः परस्य' (७२) सूत्र का भी यह अपवाद समझना चाहिये।

होती हो फिर वह चाहे अनेक अलों वाला भी क्यों न हो सम्पूर्ण स्थानी के स्थान पर न होकर अन्त्य अल् के स्थान पर ही होगा। इस सूत्र का उदाहरण अग्रिम सूत्र पर देखें।

[लघु०] विधि सूत्रम्—४७ अवङ् स्फोटायनस्य ।६।१।१२०॥

पदान्त एङन्तस्य गोरवङ् वा स्यादचि। गवाग्रम्। गोऽग्रम्। पदान्ते किम्? गवि।

अर्थ—पदान्त में जो एङ्, तदन्त गो शब्द को अच् परे होने पर विकल्प कर के अवङ् आदेश हो जाता है।

व्याख्या—पदान्तस्य ।६।१। [एङः पदान्तादति' से विभक्ति विपरिणाम कर के प्राप्त होता है। इसका सप्तमी विभक्ति में भी विपरिणाम हो सकता है जैसा कि ग्रन्थकार ने किया है।] एङः ।६।१। [एङः पदान्तादति' से विभक्ति विपरिणाम कर के प्राप्त होता है यह 'गो' पद का विशेषण है अतः इस से तदन्त विधि हो कर एङन्तस्य' बन जाता है।] गोः ।६।१। [सर्वत्र विभाषा गोः से] अचि ।७।१। ['इको यणचि' से] अवङ् ।१।१। स्फोटायनस्य ।६।१। [यहां स्फोटायन' ग्रहण उन के सत्कार के लिये है, क्योंकि 'विभाषा' पद तो पीछे से आ ही जाता है।] अर्थ—(पदान्तस्य) पद के अन्त वाला (एङन्तस्य) जो एङ्, तदन्त (गोः) गो शब्द के स्थान पर (अचि) अच् परे रहते (अवङ्) अवङ् आदेश हो जाता है (स्फोटायनस्य) स्फोटायन आचार्य के मत में।

'स्फोटायन' पाणिनि से पूर्व-वर्त्ती व्याकरण के आचार्य हो चुके हैं इस सूत्र में पाणिनि ने उन के मत का उल्लेख किया है। यह अवङ् आदेश स्फोटायन आचार्य के मत में होता है अन्य आचार्यों के मत में नहीं होता। हम सब आचार्य प्रमाण हैं, अतः अवङ् आदेश विकल्प से होगा*।

उदाहरण यथा—'गो+अग्र' यहां समास में षष्ठी के बहुवचन 'आम्' का लुक् हुआ है अतः प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम् (१९०) द्वारा 'सुप्तिङन्तं पदम्' (१४) से 'गो' की पद सञ्ज्ञा है। इस के अन्त में पदान्त एङ्=ओ वर्तमान है। इस से परे 'अग्र' शब्द का आदि अकार अच् भी वर्त्तमान है। अतः इस सूत्र से 'गो' को अवङ् आदेश प्राप्त होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) से इस आदेश की अन्त्य अल्=ओकार के स्थान पर प्राप्ति होती है, परन्तु अनेक अलों वाला होने के कारण 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' (४५) द्वारा सम्पूर्ण 'गो' के स्थान पर प्राप्त होता है। पुनः 'ङिच्च' (४६) सूत्र की सहायता से अन्त्य

*परन्तु यह व्यवस्थित विभाषा होने से 'गवाक्ष' में नित्य ही अवङ् होगा वहां पर 'गो अक्ष' तथा 'गोऽक्ष' रूप नहीं बनेंगे। कहीं पर यह अवङ् होगा ही नहीं।

अल् 'ओ' को अवङ् आदेश हो कर— ग् अवङ् + अग्र हो जाता है। अब ङकार की 'हलन्त्यम्' (१) से इत्सञ्ज्ञा और 'तस्य लोपः' (३) से लोप हो 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्ण दीर्घ एकादेश होने पर— गवाग्र बना। अब विभक्ति लाने से— गवाग्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है। जिस पक्ष में अवङ् आदेश नहीं होता वहां 'एङः पदान्तादति' (४३) से पूर्व रूप हो कर गोऽग्रम्' प्रयोग बन जाता है। इस प्रकार प्रकृतिभाव वाले रूप सहित तीन रूप हो जाते हैं।

प्रकृतिभाव पक्ष में — १ गो अग्रम्। ['सर्वत्र विभाषा गोः']।

प्रकृतिभाव के अभाव में— { २ गवाग्रम्। ['अवङ् स्फोटायनस्य']।
३ गोऽग्रम्। [एङः पदान्तादति']।

यहां पदान्त ग्रहण इस लिये किया है कि अपदान्त एङन्त गो को अवङ न हो। यथा—गो+इ=गवि। यहां गो शब्द से परे सप्तमी का एकवचन ङि' प्रत्यय किया गया है अतः यहां गो शब्द पदान्त नहीं। इस लिये अवङ् आदेश न हो कर 'एचोऽयवायावः (२२) से अव् आदेश हो जाता है।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

१ गवेश, गवीश। २ गवेश्वर, गवीश्वर। ३ गो अधिप, गवाधिप गोऽधिप। ४ गवालय। ५ गवेच्छा गवीच्छा। ६ गवोदय, गवुदय। ७ गवर्द्धि गवृद्धि। ८ गवाढ्य गवुढ्य। ९ गवाक्ष।

ध्यान रहे कि अवङ् आदेश में केवल ङकार की ही इत्सञ्ज्ञा होती है। वकारोत्तर अकार अनुनासिक नहीं अतः 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्र से उस की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती। यदि इस का भी इत्सञ्ज्ञा हो जाती तो लोप हो जाने से 'गवाग्रम्, गवाधिप आदि में सवर्ण दीर्घ तथा गवेश्वर गवर्द्धि' आदि में गुण न हो सकता।

[लघु०] विधि सूत्रम्—४८ इन्द्रे च ।६।१।१२१॥

गोरवङ् स्याद् इन्द्रे । गवेन्द्रः ।

अर्थः—(एङन्त) गो शब्द को इन्द्र शब्द परे होने पर अवङ आदेश हो जाता है।

व्याख्या—एङः ।६।१। [एङः पदान्तादति से विभक्ति विपरिणाम कर के। यह 'गो' पद का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि हो कर 'एङन्तस्य' बन जाता है।] गोः ।६।१। [सर्वत्र विभाषा गोः से] इन्द्रे ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। अवङ् ।१।१। [अवङ् स्फोटायनस्य' से] अर्थः—(एङः) एङन्त (गोः) गो शब्द के स्थान पर (अवङ) अवङ आदेश हो जाता है (इन्द्रे) इन्द्र शब्द परे होने पर। यह सूत्र 'अवङ् स्फोटायनस्य (४७)

सूत्र का अपवाद है। उस से यहां विकल्प कर के अवङ् प्राप्त होता था इस सूत्र से नित्य हो जाता है।

उदाहरण यथा—'गवेन्द्र' (श्रेष्ठ व बड़ा बैल)। 'गो+इन्द्र' [गवां गोषु वा इन्द्र =श्रेष्ठ ।]=ग् अवङ + इन्द्र = गव+इन्द्र = गवेन्द्र ['आद् गुण']।

एङन्त' इस लिये कहा है कि 'चित्रगु + इन्द्र' [चित्रगूनामिन्द्र = स्वामी, षष्ठी तत्पुरुष ।]='चित्रग्विन्द्र । यहा एङन्त न होने से अवङ आदेश न हो कर 'इको यणचि' (१५) से यण्=वकार हो जाता है। ध्यान रहे कि सूत्र की वृत्ति में 'एङन्त' कहना ग्रन्थकार से छूट गया है।

यहा 'पदान्त' की अनुवृत्ति लाने की कोई आवश्यकता नहीं क्योकि अपदान्त में एङन्त गो से परे इन्द्र शब्द आ ही नही सकता।

नोट—काशिका कार श्रीजयादित्य ने इस सूत्र से अगले प्लुत प्रगृह्या अचि नित्यम्' (६।१।१२२) सूत्र में 'नित्यम्' पद का ग्रहण नहीं किया, किन्तु इसी 'इन्द्र च' (६।१।१२१) सूत्र मे ही 'नित्यम्' पद का ग्रहण किया है। पर ऐसा मानना ठीक प्रतीत नहीं होता क्योंकि यहा 'नित्यम्' पद के ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं। यदि यह कहा जाय कि—'यहा 'नित्यम्' पद ग्रहण न करने से 'इन्द्रे च' (४८) सूत्र विकल्प से अवङ् करता क्योंकि 'सर्वत्र विभाषा गो' (४४) से 'विभाषा' पद की अनुवृत्ति आ रही है" तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि 'इन्द्रे च' (४८) सूत्र तो आरम्भ सामर्थ्य से ही नित्य हो जायगा, उस के लिये नित्यम्' पद के ग्रहण की कोई आवश्यकता ही नहीं। महाभाष्य पढ़ने से भी यही विदित होता है।

[लघु०] विधि सूत्रम्—४६ दूराद्धूते च ।८।२।८४॥ ✓

दूरात् सम्बोधने वाक्यस्य टेः प्लुतो वा स्यात्।

अर्थ—दूर से सम्यग्बोध कराने में प्रयुक्त जो वाक्य उस की टि को विकल्प कर के प्लुत हो जाता है।

व्याख्या—दूरात् ।५।१। हूते ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। वाक्यस्य ।६।१। टे ।६।१। प्लुत ।१।१। ['वाक्यस्य टे प्लुत उदात्त' यह अधिकार आ रहा है।] वा इत्यव्ययपदम्। [भाष्यकार ने सम्पूर्ण प्लुत के प्रकरण को विकल्प कर दिया है अत यहा पर 'वा' प्राप्त हो जाता है।] 'ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च' (भ्वा० उ०) इस धातु से भाव में 'क' प्रत्यय करने करने पर 'हूत' शब्द सिद्ध होता है। इस का अर्थ 'बुलाना' है। परन्तु यहा इस से सम्बोधन=अच्छी तरह से जनाना' अर्थ अभिप्रेत है। अर्थ—(दूरात्) दूर से (हूते)

सम्यग्बोध कराने म प्रयुक्त (वाक्यस्य) जो वाक्य उस की (टे) टि को (वा) विकल्प कर के (प्लुत) प्लुत हो जाता है।

जिस देश में ठहरे हुए का वाक्य सम्बोध्यमान [सम्यक् जनाया जाता हुआ] साधारण प्रयत्न से न सुन सके किन्तु विशेष प्रयत्न से सुन सकता हो उस देश को 'दूर' कहते हैं। उस दूर देश से किसी को कुछ जनाने या बुलाने के लिये जो वाक्य प्रयुक्त किया जाता है उसकी टि को विकल्प कर के प्लुत होता है। उदाहरण यथा—हम से देवदत्त ऐसे स्थान पर ठहरा हुआ है जहा हम उसे साधारण प्रयत्न से बोल कर कुछ बोध नहीं करा सकते तो अब हमारा स्थान दूर हुआ। इस दूर स्थान से हम ने जो 'एहि देवदत्त !' 'सक्तून् पिब देवदत्त !' इत्यादि वाक्य प्रयुक्त किये इन वाक्यों की टि को विकल्प कर के प्लुत होगा।

[प्लुत पक्ष में]	[प्लुताभाव पक्ष में]
१ एहि देवदत्त ३ ! ।	१ एहि देवदत्त ! ।
२ सक्तून् पिब देवदत्त ३ ! ।	२ सक्तून् पिब देवदत्त ! ।

यहा यह ध्यान में रखना चाहिये कि जिस वाक्य में हूयमान [सम्यग् जनाया जाता हुआ] अन्त में होगा उसी वाक्य की टि को प्लुत होगा जहां हूयमान अन्त में न होगा उस वाक्य की टि को प्लुत न होगा। यथा—'देवदत्त ! एहि', 'देवदत्त ! सक्तून् पिब' यहां हूयमान=देवदत्त अन्त में नहीं है अत टि को प्लुत न होगा।

इस प्रकार प्लुत का विधान कर अब उस का यहा उपयोग दिखाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—५० प्लुत-प्रगृह्या अचि नित्यम् ।६।१।१२२॥

एतेऽचि प्रकृत्या स्यु । आगच्छ कृष्ण ३ ! अत्र गौश्चरति ।

अर्थ—प्लुत और प्रगृह्य-सञ्ज्ञक अच परे होने पर प्रकृति से रहते हैं।

व्याख्या—प्लुत प्रगृह्या ।१।३। अचि ।७।१। नित्यम् ।२।१। [क्रिया विशेषणमेतत्] प्रकृत्या ।३।१। [प्रकृत्यान्त पादम्' से] समास—प्लुताश्च प्रगृह्याश्च=प्लुत प्रगृह्या इतरेतरद्वन्द्व। अर्थ—(प्लुत प्रगृह्या) प्लुत और प्रगृह्य सञ्ज्ञक (अचि) अच परे होने पर (नित्यम्) नित्य (प्रकृत्या) प्रकृति से=स्वभाव से=वैसे के वैसे अर्थात् सन्धि कार्य से रहित रहते हैं। उदाहरण यथा—'आगच्छ कृष्ण ३ ! अत्र गौश्चरति' (आओ कृष्ण ! यहां गौ चर रही है।) यहा 'आगच्छ कृष्ण' यह एक वाक्य है। इस की टि=णकारोत्तर अकार को 'दूराद्धूते च' (४९) से वैकल्पिक प्लुत होता है। जिस पक्ष मे प्लुत होता है वहा प्रकृतिभाव हो जाने से णकारोत्तर प्लुत अकार तथा 'अत्र' शब्द के आदि अकार के स्थान पर 'अक सवर्णे दीर्घ' (४२) से सवर्णदीर्घ नहीं होता वैसे का वैसा अर्थात्

'आगच्छ कृष्ण ३ ! अत्र गौश्चरति' ही रहता है। जिस पक्ष में प्लुत नहीं होता वहां प्रकृतिभाव न होने से सवर्णदीर्घ हो जाता है—'आगच्छ कृष्णात्र गौश्चरति'।

इस के अन्य उदाहरण यथा—

१ 'सक्तून् पिब देवदत्त ३ ! अह गच्छामि', 'सक्तून् पिब देवदत्ताह गच्छामि'।

२ 'कार्यं कुरु राम ३ ! एष आगत', 'कार्यं कुरु रामैष आगत'।

३ आगच्छ हरे ३ ! अत्र क्रीडेम', 'आगच्छ हरेऽत्र क्रीडेम'।

४ 'आगच्छ राम ३ ! अत्रास्ति लक्ष्मण', 'आगच्छ रामात्रास्ति लक्ष्मण'।

इस सूत्र में 'नित्यम्' पद के ग्रहण का प्रयोजन 'सिद्धान्तकौमुदी' मे स्पष्ट किया गया है, वहीं देखें।

अब प्रगृह्य सञ्ज्ञकों के उदाहरणों के लिये प्रगृह्य सञ्ज्ञा करने वाले सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—५१ ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् ।१।१।११॥

ईदूदेदन्तं द्विवचनं प्रगृह्यं स्यात् । हरी एतौ । विष्णू इमौ । गङ्गे अमू ।

अर्थः—ईदन्त ऊदन्त तथा एदन्त द्विवचन प्रगृह्य-सञ्ज्ञक हों।

व्याख्या—ईदूदेत् ।१।१। द्विवचनम् ।१।१। प्रगृह्यम् ।१।१। समास—ईच्च ऊच्च एच्च=ईदूदेत्, समाहारद्वन्द्व । तपरकरणमसन्देहार्थम् । 'ईदूदेत्' यह पद 'द्विवचनम्' पद का विशेषण है अतः 'येन विधिस्तदन्तस्य' द्वारा इस से तदन्त विधि हो जाती है। अर्थ—(ईदूदेत्) ईदन्त, ऊदन्त तथा एदन्त (द्विवचनम्) द्विवचन (प्रगृह्यम्) प्रगृह्यसञ्ज्ञक हों। उदाहरण यथा—'हरी एतौ' (ये दो हरि अर्थात् घोड़े व बन्दर हैं) यहां रेफोत्तर ईकार ईदन्त द्विवचन है* इस की इस सूत्र से प्रगृह्य सञ्ज्ञा होती है। प्रगृह्य सञ्ज्ञा होने से 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' (५०) सूत्र द्वारा प्रकृतिभाव हो जाता है, अतः एकार=अच् परे होने पर भी 'इको यणचि' (१५) से ईकार को यण् नहीं होता।

'विष्णू इमौ' (ये दो विष्णु हैं) यहां णकारोत्तर ऊकार ऊदन्त द्विवचन है†, इस की इस सूत्र से प्रगृह्य सञ्ज्ञा होती है। प्रगृह्य सञ्ज्ञा होने से 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्'

---

* हरि शब्द से प्रथमा या द्वितीया का द्विवचन 'औ' आने पर 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (१२६) से रेफोत्तर इकार तथा औ के स्थान पर पूर्वसवर्ण दीर्घ ईकार हो कर 'हरी' शब्द सिद्ध होता है। यहां 'ई' यह एकादेश परादिवद्भाव ('अन्तादिवच्च' से द्विवचन तथा व्यपदेशिवद्भाव से ईदन्त है।

† यहां भी पूर्ववत् विष्णु शब्द से प्रथमा या द्वितीया का द्विवचन 'औ' आने पर 'ऊ' यह एक पूर्वसवर्णदीर्घ आदेश हो जाता है। यह एकादेश परादिवद्भाव से द्विवचन तथा व्यपदेशिवद्भाव (इसका वर्णन 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' सूत्र पर देखें) से ऊदन्त है।

अमुष्मै अमूभ्याम् अमीभ्य	अमुष्यै अमूभ्याम् अमूभ्य	अमुष्मै अमूभ्याम् अमीभ्यः
अमुष्मात् ,, ,,	अमुष्या , ,,	अमुष्मात् , ,,
अमुष्य अमुयो अमीषाम्	,, अमुयो अमूषाम्	अमुष्य अमुयो अमीषाम्
अमुष्मिन् ,, अमीषु	अमुष्याम् ,, अमूषु	अमुष्मिन् ,, अमीषु

अदस् शब्द के मकार से परे ईत् और ऊत् × इस चिह्न वाले स्थानों के सिवाय और कहीं नहीं मिल सकते अर्थात् पुल्ँलिङ्ग में प्रथमा के बहुवचन तथा प्रथमा द्वितीया के द्विवचन में और स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग में प्रथमा द्वितीया के द्विवचन में मकार से परे ईत् ऊत् उपलब्ध होते हैं†। इन में से स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग वाले इस सूत्र के उदाहरण नहीं होते, क्योंकि वहां पूर्वले 'ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्' (५१) सूत्र से ही प्रगृह्यसञ्ज्ञा सिद्ध हो जाती है। केवल पुल्ँलिङ्ग के 'अमू, अमी' इन दो रूपों के लिये ही यह सूत्र बनाया गया है।

उदाहरण यथा—'अमी ईशा' (ये स्वामी हैं)। यहां पुल्ँलिङ्ग में 'अदस्' शब्द से प्रथमा का बहुवचन 'जस्' करने पर त्यदाद्यत्व, पररूप, जस् को शी आदेश तथा गुण हो कर 'अदे' बन जाता है। अब 'एत ईद् बहुवचने' (८।२।८१) सूत्र से 'ए' को 'ई' तथा दकार को मकार करने से 'अमी' प्रयोग सिद्ध होता है। इस के आगे 'ईशा' पद लाने से 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) द्वारा सवर्णदीर्घ प्राप्त होता है जो अब इस सूत्र से प्रगृह्यसञ्ज्ञा होने से प्रकृतिभाव के कारण नहीं होता।

नोट—यहां पूर्वसूत्र (१।१।११) की दृष्टि में 'अमी' के स्थान पर 'अदे' था क्योंकि 'एत ईद् बहुवचने' (८।२।८१) सूत्र त्रिपादीस्थ होने से उस की दृष्टि में असिद्ध है। 'अदे' एदन्त तो था परन्तु द्विवचन न था बहुवचन था अतः पूर्वसूत्र प्रवृत्त नहीं हो सकता था, इस लिये यह सूत्र बनाना पड़ा है। यदि इस (१।१।१२) की दृष्टि में भी 'एत ईद् बहुवचने' (८।२।८१) सूत्र असिद्ध होने से 'अमी' के स्थान पर 'अदे' माना जावे तो यह सूत्र व्यर्थ हो जायगा क्योंकि तब इस अदस् के मकार से परे ईत् ऊत् कहीं नहीं मिल सकेगा। [अदस् शब्द में मकार का आना तथा उस से आगे ईत्, ऊत् का होना 'एत ईद् बहुवचने' (३५७) तथा 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' (३८६) की ही कृपा का फल है।] अतः इस की दृष्टि में 'अमी' असिद्ध नहीं होता मकार से परे ईकार की प्रगृह्य सञ्ज्ञा हो जाती है।

† यद्यपि अदस् शब्द के मकार से परे 'अमीभ्य, अमूभ्य, अमीषाम् अमूषाम्' इत्यादियों में भी ईत्, ऊत् पाये जाते हैं तथापि यहां इन का ग्रहण नहीं होता। क्योंकि प्रगृह्यसञ्ज्ञा करने का प्रयोजन प्रकृतिभाव करना होता है। वह अच् परे होने पर 'इको यणचि' (१५) आदि सूत्रों द्वारा स्वरसन्धि प्राप्त होने पर ही सार्थक हो सकता है अन्यत्र 'भ्य, भि, षाम्' आदियों का व्यवधान होने से स्वरसन्धि के प्राप्त न होने के कारण सार्थक नहीं हो सकता। अतः इस सूत्र के उपयोगी 'अमू' और 'अमी' ये दो ही शब्द हैं।

द्वितीय उदाहरण यथा—'राम कृष्णावमू आसाते' (वे दो राम और कृष्ण बैठे हैं)। यहां 'रामकृष्णौ + अमू' में एचोऽयवायाव' (२२) से अव् आदेश हो जाता है। 'राम कृष्णौ' पद इस बात को जतलाने के लिये लिखा गया है कि 'अमू' पुल्ँलिङ्ग का है, स्त्रीलिङ्ग या नपुंसकलिङ्ग का नहीं। स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग का अमू' इस सूत्र का उदाहरण नहीं होता*। 'अमू + आसाते' यहां 'अमू' की प्रगृह्यसञ्ज्ञा होने से प्रकृतिभाव के कारण 'इको यणचि' (१५) से यण नहीं होता।

नोट— अदस्' शब्द से 'औ' विभक्ति लाने पर सकार को अकारादेश, पररूप तथा वृद्धि एकादेश हो कर—'अदौ हुआ। अब 'अदसोऽसेर्दादु दो म' (८।२।८०) से दकार को मकार तथा औकार को ऊकार करने से 'अमू' सिद्ध होता है। यद्यपि 'अमू' में ऊदन्त द्विवचन होने के कारण पूर्व सूत्र से प्रगृह्यसञ्ज्ञा सिद्ध हो सकती थी तथापि 'अदसोऽसेर्दादु दो म' (८।२।८०) से किये मत्व और ऊत्व के असिद्ध होने से उस की दृष्टि में 'अदौ' रहता था अत यह सूत्र बनाया गया है। इस की दृष्टि में तो आरम्भ सामर्थ्य से ही असिद्ध नहीं होता यह पहले कह चुके हैं।

मात् किम्? । अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि सूत्र में 'मात्' अर्थात् 'म् से परे' ऐसा क्यों कहा गया है? क्योंकि मकार के अतिरिक्त अन्य किसी वर्ण से परे ईत् व ऊत् अदस्

---

* स्त्रीलिङ्ग में अदस् शब्द से परे प्रथमा या द्वितीया का द्विवचन 'औ' आने पर अत्व, पररूप, टाप्, 'औङ आप' (२१६) से शी तथा 'आद् गुण' (२७) से गुण हो कर 'अदे' हुआ। पुन 'अदसोऽसेदादु दो म' (३५६) से मत्व और ऊत्व करने पर 'अमू' प्रयोग सिद्ध होता है। यहां पूर्व-सूत्र की दृष्टि में 'अदे' होने से एदन्त द्विवचन है, अत इस को उस सूत्र (१।१।११) से प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो सकती है। इस के लिये इस सूत्र (१।१।१२) के बनाने की कोई आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार—नपुंसकलिङ्ग में 'औ' आने पर त्यदाद्यत्व, पररूप, 'नपुंसकाच्च' (२३५) से शी आदेश तथा आद् गुण' (२७) से गुण हो कर 'अदे' हुआ। पुन अदसोऽसेदादु दो म (३५६) मे मत्व और ऊत्व करने पर 'अमू' प्रयोग सिद्ध होता है। यहा पर भी पूर्व सूत्र की दृष्टि में 'अदे' होने से एदन्त द्विवचन है अत प्रगृह्य सञ्ज्ञा सिद्ध है। इस के लिये भी इस सूत्र के रचने की कोई आवश्यकता नहीं। इस से सिद्ध होता है कि—केवल पुल्ँलिङ्ग के 'अमू, अमी' शब्दों के लिये ही यह सूत्र बनाया गया है।

'बाले अमू आसाते' इत्यादि स्त्रीलिङ्गप्रयोगे कुले अमू उत्कृष्टे' इत्यादि क्लीबप्रयोगे च 'ईदूदेद्—' (५१) इत्यनेनैव प्रगृह्यता। न च 'राम कृष्णावमू आसाते' इत्यादि पुल्ँलिङ्गप्रयोगवद् अत्राप्यारम्भसामर्थ्याद् 'अदसो मात्' (५२) इत्यनेनैव प्रगृह्यता किन्न स्यात्? इति वाच्यम्, यत पुंसि 'अमू आसाते' इत्यत्र तु पूर्वेण प्रगृह्यता न सम्भवतीति युक्तम् 'अदसो मात्' (५२) इतिसूत्रे आरम्भसामर्थ्यम्, परन्त्वत्र स्त्रियां क्लीबे तु पूर्वेण सिद्धायां प्रगृह्यसञ्ज्ञायां नास्त्यारम्भसामर्थ्यम् अत स्त्रियां क्लीबे च (५१) इत्यनेनैव प्रगृह्यता, पुंसि 'अदसो मात्' (५२) इत्यनेनैवेति शम्।

के तीनों लिङ्गों के रूपों में कहीं नहीं पाए जाते अत 'मात्' ग्रहण न करने से भी 'अमू, अमी' शब्दों की ही प्रगृह्यसञ्ज्ञा होगी। इस का उत्तर है—'अमुकेऽत्र'। अर्थात् 'मात्' का ग्रहण न करने से अमुकेऽत्र' प्रयोग मे दोष आयेगा। तथाहि—अदस शब्द से परे 'अव्यय सर्वनाम्नामकच प्राक्टे (१२२६) सूत्र द्वारा 'अकच् प्रत्यय हो कर 'अदकस्' बनने पर अदसोऽसेर्दादु दो म' (३५६) स मुत्व हो—अमुकस् शब्द निष्पन्न होता है। अब इस के आगे प्रथमा का बहुवचन जस् प्रत्यय लाने पर त्यदाद्यत्व, पररूप, जस शी' (१५२) से शी आदेश तथा 'आद् गुण' (२७) स गुण एकादेश हो कर अमुके' प्रयोग सिद्ध होता है। अब इस के आगे 'अत्र' पद् लाने स एङ पदान्तादति (४३) द्वारा पूर्वरूप करने पर 'अमुकेऽत्र' (वे यहां हैं) बन जाता है। यदि सूत्र मे मात्' ग्रहण न करते तो यहां ककार से परे भी *प्रगृह्य-सञ्ज्ञा हो कर प्रकृतिभाव हो जाता, इस से 'एङ पदान्तादति' (४३) सूत्र प्रवृत्त न हो सकता, अत 'मात्' ग्रहण किया गया है।

प्रश्नः—यह आप का प्रत्युदाहरण ठीक नहीं, क्योंकि यहां 'ईत्' अथवा 'ऊत्' नहीं। आप को तो अपने प्रत्युदाहरण में मकार से भिन्न किसी अन्य वर्ण से परे 'ईत' या ऊत्' ही दिखाने चाहियें थे। आप के प्रत्युदाहरण में तो ककार स परे 'एत्' दिखाया गया है।

उत्तर—'ईदूदेद्—' (५१) इस पूर्व सूत्र से यहां 'ईत्, ऊत्, एत्' इन तीनों की अनुवृत्ति आ रही थी पर तु इस सूत्र में मात्' ग्रहण के सामर्थ्य से 'एत्' का अनुवर्त्तन नहीं किया जाता, क्योंकि म् से परे अदस शब्द में कहीं 'एत्' नही पाया जाता। अब यदि यहां मात्' का ग्रहण नहीं करेंगे तो 'एत्' की भी अनुवृत्ति आ जाने से 'अमुकेऽत्र' यहां प्रगृह्य-सञ्ज्ञा होने से प्रकृतिभाव के कारण सन्धि न हो सकेगी अत 'एत्' की अनुवृत्ति रोकने के लिये 'मात्' पद का ग्रहण करना अत्यावश्यक है।

अभ्यास (१२)

(१) क्या वर्ण उच्छृङ्खल हो जाया करते हैं जो उन के लिय प्रकृतिभाव का उपदेश किया जाता है? अन्यथा प्रकृतिभाव का क्या प्रयोजन?।

(२) निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दीजिये—

(क) 'इन्द्रे च' सूत्र की वृत्ति में किस बात की कमी रह गई है? और उस से क्या दोष उत्पन्न होता है?।

(ख) 'सर्वत्र विभाषा गो' में 'सर्वत्र' पद के ग्रहण का क्या प्रयोजन है?।

---

* क्योंकि 'तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते' इस से 'अदकस्' भी 'अदस्' शब्द माना जाता।

(ग) 'दूराद्धूते च' सूत्र के अर्थ में 'विकल्प' कहां से आ जाता है ?।

(घ) 'देवदत्त एहि' इस वाक्य की टि को प्लुत क्यों नहीं होता ?।

(ङ) आगच्छ कृष्णात्र गौश्चरति' क्या यह शुद्ध है ?।

(च) 'इन्द्रे च' सूत्र बनाने की क्या आवश्यकता थी ? क्या पूर्व सूत्र से 'गवेन्द्र' सिद्ध नहीं हो सकता था ?

(छ) 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' सूत्र में 'शित्' ग्रहण पर प्रकाश डालें।

(ज) अदसो मात्' सूत्र स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग के 'अमू' में क्यों प्रवृत्त नहीं होता ?।

(३) निम्नलिखित रूपों में या तो सन्धि करो अथवा सन्धि न करने का कारण बताओ— १ कवी अत्र। २ योगी अत्र। ३ वायू अत्र। ४ रामे अत्र। ५ माले अत्र। ६ कुले इमे उत्कृष्टे एधेते अधुना। ७ धनुषी एते अस्य। ८ धने अस्मिन्। ९ वर्धेते अस्मिन्। १० ऋतू अतीतौ। ११ पाणी उत्क्षिपति। १२ हस्ती उत्क्षिपति। १३ बालिके अधीयाते। १४ नेत्रे आमृशति। १५ वटू उत्कूर्देते अत्र। १६ अमी अश्नन्ति। १७ बालावमू अश्नीत। १८ कुमार्यावमू अश्नीत। १९ ते अत्र। २० कन्ये आसाते। २१ अमू इन्द्र प्रस्थे दृष्टौ। २२ कवी आगच्छत।

(४) 'इन्द्रे च नित्यम्' ऐसा पाठ मानने वालों का क्या अभिप्राय है ? क्या नित्यम्' पद हटा देने से कोई दोष उत्पन्न हो जाता है ?।

(५) 'मात् किम् ? अमुकेऽत्र' इस अंश की व्याख्या करते हुए प्रत्युदाहरण में दोष की उद्भावना कर के उस का समाधान करें।

(६) 'हरी एतौ' में कौन ईदन्त द्विवचन है सप्रमाण स्पष्ट करें।

(७) 'गवाक्ष' प्रयोग के अन्य विकल्प गो अक्ष, गोऽक्ष' क्यों नहीं बनते ?।

(८) अलोऽन्त्यस्य, अनेकाल शित् सर्वस्य ङिच्च' इन तीन परिभाषाओं मे कौन उत्सर्ग और कौन अपवाद है ? प्रत्येक का उदाहरण प्रदर्शन पूर्वक स्पष्टीकरण करें।

—०❀०—

अब निपातों की प्रगृह्य सञ्ज्ञा करने के लिये प्रथम निपात विधायक सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—५३ चादयोऽसत्त्वे ।१।४।५७॥

अद्रव्यार्थाश्चादयो निपाताः स्युः।

अर्थः—यदि चादियों का द्रव्य अर्थ न हो तो उन की निपात सञ्ज्ञा होती है।

व्याख्या—चादयः ।१।३। असत्त्वे ।७।१। निपाताः ।१।३। ['प्राग्रीश्वरान्निपाताः'

यह अधिकृत है ।] समास—च = च शब्द आदिर्येषां ते चादय , तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि समास । न सत्त्वम् = असत्त्वम्, तस्मिन् = असत्त्वे, नञ् तत्पुरुष । यहां प्रसज्य प्रतिषेध है यदि पर्युदास प्रतिषेध माने तो अनर्थक चादियों की निपात सञ्ज्ञा न हो सकेगी । अर्थ—(असत्त्वे) द्रव्य अर्थ न होने पर (चादय) चादि शब्द (निपाता) निपात सञ्ज्ञक होते हैं ।

जिस में सङ्ख्या पाई जावे या जिस के लिये सर्वनाम का प्रयोग हो सके, उसे 'द्रव्य' कहते हैं । चादि गण आगे 'अव्यय प्रकरण' में आ जायगा । उदाहरण यथा—'लोध नयन्ति पशु मन्यमाना ' यहां 'पशु' शब्द का अर्थ 'सम्यक् = ठीक प्रकार से' ऐसा है । अत यह अद्रव्यवाची होने से निपात सञ्ज्ञक होता है । यदि 'पशु' का अर्थ 'जानवर' होगा, तो वह द्रव्यवाची होने से निपात सञ्ज्ञक न होगा । यथा—पशु नयन्ति । निपात सञ्ज्ञा होने से (३६७) सूत्र द्वारा 'अव्यय' सञ्ज्ञा हो जाती है, इस से विभक्ति का लुक् हो जाता है यह सब आगे 'अव्यय प्रकरण' में सविस्तर लिखेंगे ।

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—**५४ प्रादय । १ । ४ । ५८ ॥**

एतेऽपि तथा ।

अर्थ—अद्रव्यार्थक प्रादि भी निपात-सञ्ज्ञक होते हैं ।

व्याख्या—असत्त्वे ।७।१। ['चादयोऽसत्त्वे' से] प्रादय ।१।३। निपाता ।१।३। ['प्राग्रीश्वरान्निपाता ' यह अधिकृत है ।] अर्थ—(असत्त्वे) द्रव्य अर्थ न होने पर (प्रादय) प्र आदि शब्द (निपाता) निपात-सञ्ज्ञक होते हैं । प्रादि-गण पीछे (३५) सूत्र पर मूल में ही आ चुका है ।

'प्राग्रीश्वरान्निपाता ' (१।४।५६।) सूत्र से अष्टाध्यायी में निपातों का अधिकार आरम्भ किया जाता है अर्थात् इस सूत्र से ले कर 'अधिरीश्वरे (१।४।९६।) सूत्रपर्यन्त निपात सञ्ज्ञक कहे गये हैं । इसी अधिकार में पाणिनि ने 'प्रादय उपसर्गा क्रियायोगे' ऐसा एक सूत्र पढ़ा है । इस का अर्थ यह है—'प्र' आदि बाईस शब्द क्रियायोग में निपात सञ्ज्ञक होते हुए उपसर्ग सञ्ज्ञक होते हैं । अब इस अर्थ से यह दोष उत्पन्न होता है कि जहां क्रिया योग नहीं वहां निपात सञ्ज्ञा नहीं हो सकती । परन्तु हमें तो क्रियायोग में उपसर्ग सञ्ज्ञा के साथ साथ तथा क्रियायोगाभाव में भी निपात सञ्ज्ञा करनी इष्ट है । भाष्यकार भगवान् पतञ्जलि ने इस एक सूत्र से ये दोनों कार्य न होते देख कर इस के दो विभाग कर दिये हैं । १—प्रादय । २—उपसर्गा क्रियायोगे । तो अब प्रथम सूत्र से क्रियायोगाभाव में तथा दूसरे सूत्र से क्रियायोग में निपात-सञ्ज्ञा सिद्ध हो जाती है । क्रियायोगाभाव म

निपात सञ्ज्ञा करने का प्रयोजन—'यच्चदन्तो ऽपि मूर्खः' इत्यादि में लुब्लुक आदि कार्य करना है। क्रियायोग में निपात सञ्ज्ञा करने का प्रयोजन—'प्राच्छति' आदि में अव्ययसञ्ज्ञा कर विभक्ति का लुक् करना है।

द्रव्य अर्थ में प्रादियों की निपात सञ्ज्ञा नहीं होती। यथा प्रादियों में 'वि' शब्द पढ़ा गया है यदि इस का अर्थ पक्षी होगा तो द्रव्यार्थक होने से इस की निपात-सञ्ज्ञा न होगी। 'वि = पक्षी विं पश्य' इत्यादि।

अब अग्रिम सूत्र द्वारा निपातों की प्रगृह्य सञ्ज्ञा करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—५५. निपात एकाजनाङ् ।१।१।१४॥

एकोऽच् निपात आङ्वर्जः* प्रगृह्यः स्यात्। इ इन्द्रः। उ उमेशः। वाक्य-स्मरणयोरङित्। आ एवं नु मन्यसे। आ एवं किल तत्। अन्यत्र ङित्—ईषदुष्णम्=ओष्णम्।

अर्थः—आङ् को छोड़ कर एक अच् मात्र निपात प्रगृह्यसञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—निपातः ।१।१। एकाज् ।१।१। अनाङ् ।१।१। प्रगृह्यः ।१।१। ['ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्' से] समासः—एकश्चासावच्=एकाच् कर्मधारयसमासो न तु बहुव्रीहिः। न आङ्=अनाङ्, नञ्तत्पुरुषः। अर्थः—(अनाङ्) आङ् से भिन्न (एकाज्) एक अच् रूप (निपातः) निपात (प्रगृह्यः) प्रगृह्य सञ्ज्ञक होता है।

उदाहरण यथा—इ इन्द्रः [ओह! यह इन्द्र है।], उ उमेशः [जान पड़ता है कि यह महादेव है।]। यहां 'इ' और 'उ' एक अच् रूप तथा अद्रव्यार्थक होने से चादयो ऽसत्त्वे (५३) द्वारा निपात सञ्ज्ञक हैं अतः इस सूत्र से इन की प्रगृह्य सञ्ज्ञा हो कर (५०) द्वारा प्रकृतिभाव के कारण अकः सवर्णे दीर्घः (४२) से प्राप्त सवर्णदीर्घ नहीं होता। यहां 'इ' निपात आश्चर्य करने में तथा 'उ' निपात वितर्क करने में प्रयुक्त हुआ है।

'एकाच्' यहां 'एकश्चासावच्=एकाच्' [एक भी हो और वह अच् भी हो] इस प्रकार कर्मधारय समास करना ही उचित है। यदि 'एकोऽच् यस्मिन् स एकाच्' [एक अच् जिस में हो वह] इस प्रकार बहुव्रीहि समास करेंगे तो—'च+अस्ति=चास्ति' में सवर्णदीर्घ न हो सकेगा, क्योंकि तब 'च' की भी प्रगृह्य सञ्ज्ञा हो जायगी।

चादिगण में 'आ' तथा प्रादिगण में 'आङ्' इस प्रकार दो निपात पढ़े गये हैं। इन में से प्रथम 'आ' की इस सूत्र से प्रगृह्य सञ्ज्ञा हो जाती है पर दूसरे 'आङ्' की इस सूत्र में

* वर्ज्यते=त्यज्यत इति=वर्जः, कर्मणि घञ् प्रत्ययः। आङा वर्जः=आङ्वर्जः, तृतीया तत्पुरुषः। आङ्भिन्न इत्यर्थः।

'अनाङ' कहने के कारण प्रगृह्य सञ्ज्ञा नहीं होती। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि आ और आङ प्रयोग में 'आ' के रूप में ही मिलते हैं, ऐसी दशा में यह कैसे विदित हो कि यह आ है और यह आङ। इस के लिये भाष्यकार ने यह व्यवस्था की है—

ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः।
एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित् ॥

अर्थात्—अल्प (थोड़ा) अर्थ में, क्रिया के योग में, मर्यादा और अभिविधि अर्थ में जो आकार हो उसे ङित्—आङ् समझना चाहिये। पूर्व कही बात को अन्यथा करने के लिये प्रयुक्त वाक्य में तथा स्मरण अर्थ में अङित्—'आ' समझना चाहिये।

१ ईषदर्थे यथा—आ + उष्ण = ओष्णम्। [यहां 'प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया' वार्त्तिक से नित्य-समास होता है। नित्य समासों का स्वपद विग्रह नहीं हुआ करता, मूल में इसी लिये 'ईषदुष्णम्' ऐसा अस्वपद विग्रह दिखाया गया है। 'ओष्णम्' का अर्थ 'थोड़ा गरम' है।] यहां 'आङ्' होने से प्रगृह्य सञ्ज्ञा नहीं होती अतः प्रकृतिभाव न होने के कारण 'आद् गुणः' (२७) सूत्र से गुण एकादेश हो जाता है।

२ क्रिया-योगे यथा—आ + इहि = एहि (आओ), आ+इत = एत (वे दो आते हैं)। यहां 'इण गतौ' इस अदादि-गणीय क्रिया का योग है अतः 'आङ' होने से प्रगृह्य सञ्ज्ञा नहीं होती। प्रगृह्य सञ्ज्ञा न होने से प्रकृतिभाव भी नहीं होता 'आद् गुणः' (२७) से गुण हो जाता है।

३ मर्यादायां* यथा—आ+अलवरात=आलवराद् मेघो वृष्टः। (अलवर देश तक परन्तु अलवर देश को छोड़ कर मेघ बरसा) यहां मर्यादा अर्थ होने से 'आ' ङित् अर्थात् 'आङ' है अतः प्रगृह्य सञ्ज्ञा न होने के कारण प्रकृतिभाव नहीं होता, 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ हो जाता है।

४ अभिविधौ* यथा—आ+अलवराद्=आलवराद् मेघो वृष्टः। (अलवर देश तक

* तेन विनेति मर्यादा, तेन सहेत्यभिविधिः। मर्यादा और अभिविधि में यह भेद होता है कि मर्यादा में अवधि का ग्रहण नहीं होता और अभिविधि में ग्रहण होता है। यथा—'अलवर तक मेघ बरसा' यहां मेघ बरसने की अवधि 'अलवर' है। मर्यादा में इस अवधि का ग्रहण न होने से यह तात्पर्य होगा कि अलवर देश को छोड़ कर उस तक मेघ बरसा। अभिविधि में इस अवधि का ग्रहण होने से यह तात्पर्य होगा कि अलवर देश सहित उस तक मेघ बरसा। अन्य उदाहरण यथा—'आ पाटलिपुत्राद् वृष्टो मेघः, आ कुमारं यशः पाणिनेः' इत्यादि।

अर्थात् अलवर देश मे भी मेघ बरसा) यहा अभिविधि अर्थ होने से 'आ' ङित् अर्थात् 'आङ्' है अत प्रगृह्य सञ्ज्ञा न होने के कारण प्रकृतिभाव नहीं होता सवर्णदीर्घ हो जाता है।

अब 'आ' के उदाहरण—

१ वाक्ये यथा—'आ एवं नु मन्यसे' (अब तू ऐसा मानता है, अर्थात् पहले तू ऐसा नहीं मानता था अब मानने लगा है।) यहा आ' के अङित् होने से प्रगृह्य सञ्ज्ञा हो कर प्रकृतिभाव हो जाता है। वृद्धिरेचि' (३३) सूत्र से वृद्धि एकादेश नहीं होता।

२ स्मरणे यथा—'आ एव किल तत्' (हा वह ऐसा ही है) यहा 'आ' के अङित् होने से प्रगृह्य सञ्ज्ञा हो कर प्रकृतिभाव हो जाता है। 'वृद्धिरेचि' (३३) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता।

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—५६ ओत् । १ । १ । १५ ॥

ओदन्तो निपात प्रगृह्य स्यात् । अहो ईशा' ।

अर्थ'—ओकार अन्त वाला निपात प्रगृह्य सञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—ओत् ।१।१। निपात ।१।१। ['निपात एकाजनाङ्' से] प्रगृह्य ।१।१। [ईदूदेद् द्विवचन प्रगृह्यम्' से] 'ओत' यह 'निपात' पद का विशेषण है, अत इस से तदन्त विधि होती है। अर्थ —(ओत्=ओदन्त) ओदन्त (निपात) निपात (प्रगृह्य) प्रगृह्य सञ्ज्ञक होता है। यथा—'अहो ईशा' (अहो ! ये स्वामी हैं।) यहा अद्रव्यवाची होने से 'चादयोऽसत्त्वे' (५३) द्वारा 'अहो' निपात सञ्ज्ञक है इस की इस सूत्र से प्रगृह्य सञ्ज्ञा हो जाती है। प्रगृह्य सञ्ज्ञा होने से प्रकृतिभाव के कारण 'एचोऽयवायाव' (२२) द्वारा अवादेश नहीं होता। ध्यान रहे कि यहा एक अच् रूप निपात न होने से पूर्वसूत्र द्वारा प्रगृह्य सञ्ज्ञा नहीं हो सकती थी।

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—५७ सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे।१।१।१६॥

सम्बुद्धि-निमित्तक ओकारो वा प्रगृह्योऽवैदिक इतौ परे। विष्णो इति। विष्ण इति। विष्णविति।

अर्थ'—सम्बुद्धि निमित्तक ओकार—अवैदिक अर्थात् वेद में न पाए जाने वाले 'इति' शब्द के परे होने पर विकल्प कर के प्रगृह्य सञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—सम्बुद्धौ ।७।१। [निमित्त सप्तम्येषा] ओत् ।१।१। ['ओत्' से] अनार्षे ।७।१। इतौ ।७।१। प्रगृह्य ।१।१। ['ईदूदेद् द्विवचन प्रगृह्यम्' से] शाकल्यस्य ।६।१। समास — ऋषिर्वेद, उक्तञ्च मेदिनीकोषे—'ऋषिर्वेदे वसिष्ठादौ दीधितौ च पुमानयम्' ऋषौ (वेदे)

भव =आर्ष, 'तत्र भव (१०८६) इत्यण्, न आर्ष =अनार्षस्तस्मिन्=अनार्षे नञ्तत्पुरुष। 'अवैदिके इत्यर्थ । अर्थ —(अनार्षे) वेद मे न पाए जाने वाले (इतौ) इति शब्द के परे होने पर (सम्बुद्धौ) सम्बुद्धि को निमित मान कर पैदा हुआ (ओत्) ओकार (प्रगृह्य) प्रगृह्य सञ्ज्ञक होता है (शाकल्यस्य) शाकल्य के मत में। अन्य आचार्यों के मत में प्रगृह्य सञ्ज्ञा नही होती पर तु हमें सब आचार्य्य प्रमाण हैं, अत विकल्प से प्रगृह्य सञ्ज्ञा होगी।

उदाहरण यथा—'विष्णो इति'। विष्णु शब्द से परे सम्बुद्धि [सम्बोधन के एकवचन को सम्बुद्धि कहते हैं। देखो—'एकवचन सम्बुद्धि' (१३२)] करने पर ह्रस्वस्य गुण' (१६१) सूत्र से सम्बुद्धि को निमित्त मान कर गुण हो कर—विष्णो+स हुआ। अब एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धे (१३४) सूत्र से सकार का लोप करने पर विष्णो' पद सिद्ध हो जाता है। इस के आगे 'इति' पद लाने से एचोऽयवायाव' (२२) द्वारा ओकार का अव् आदेश प्राप्त होता था जो अब इस सूत्र से प्रगृह्य सञ्ज्ञा होने से प्रकृतिभाव के कारण नहीं होता। अन्य आचार्यों के मत में प्रगृह्य सञ्ज्ञा न होने से अव् आदेश हो कर विष्णव इति' बना। अब इस दशा में पदान्त वकार का लोप शाकल्यस्य' (३०) सूत्र से वैकल्पिक लोप हो जाता है। लोप पक्ष में विष्ण इति' और लोपाभाव पक्ष मे विष्णविति' इस प्रकार कुल मिला कर तीन रूप सिद्ध होते हैं।

यह उदाहरण वेद का नही वेद मे तो 'इति' शब्द परे होने पर प्रगृह्य सञ्ज्ञा नहीं होती किन्तु अव आदेश हो जाता है। यथा—'एता गा ब्रह्मबन्धविित्यब्रवीत्' [यह काठक संहिता का वचन है]।*

नोट—वस्तुत अन्य आचार्यों के मत में 'विष्णविति' ही रूप होता है विष्ण इति' नहीं। क्योंकि जब शाकल्य आचार्य के मत में ओ को अव ही नहीं होता तो पुन उस के मत में वकार का लोप कैसे सम्भव हो सकता है। काशिका आदि प्राचीन ग्रन्थों में सर्वत्र इस सूत्र पर दो ही उदाहरण लिखे मिलते हैं लोप वाला रूप कहीं नहीं देखा जाता।

[लघु०] विधि सूत्रम्—५८ मय उञो वो वा ।८।३।३३॥

मयः परस्य उञो वो वा स्यादचि। किम्वुक्तम्। किमु उक्तम्।

अर्थ—मय प्रत्याहार से परे उञ् निपात को विकल्प कर के व्' आदेश हो जाता है अच परे हो तो।

व्याख्या—मय ।५।१। उञ ।६।१। व ।१।१। वकारादकार उच्चारणार्थं । वा इत्यव्ययपदम्। अचि ।७।१। ['ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम् से] अर्थ —(मय) मय् प्रत्या-

* इस सूत्र पर प्राय सब ग्रन्थकार पदपाठ का ही उदाहरण देते हैं। लौकिक उदाहरण भी दे सकते हैं, कोई निषेध नहीं करता जैसा कि पुरुषोत्तमदेव ने 'भाषा वृत्ति में दिया है।

हार से परे (उञ) उञ् के स्थान पर (वा) विकल्प कर क (व) व आदेश होता है (अचि) अच परे हो तो। मय प्रत्याहार म अकार को छोड कर अन्य सब वर्गस्थ वर्ण आ जाते हैं।

उदाहरण यथा— किम् उ उक्तम् (क्या कहा?) यहा उञ के एक अच् रूप निपात होने से 'निपात एकाजनाङ' (५५) सूत्र प्राप्त होता है। इसे बान्ध कर इस सूत्र से वैकल्पिक वकार हो जाता है। जहा वकार आदेश होता है वहा— किम्वुक्तम्' प्रयोग सिद्ध होता है। वकारादेश के अभाव म यथाप्राप्त प्रगृह्य सञ्ज्ञा हो कर प्रकृतिभाव के कारण सवर्ण दीर्घ नहीं होता—'किम् उ उक्तम्। इस प्रकार दो रूप सिद्ध होते हैं।

नोट—यह सूत्र 'मोऽनुस्वार' (८।३।२३) सूत्र की दृष्टि में पर त्रिपादी होने से असिद्ध है अत 'किम्वुक्तम्' यहा हल्=वकार परे होने पर भी मोऽनुस्वार' (७७) से मकार को अनुस्वार नहीं होता। तथा हि—

'त्रिपादीये वकारे तु नानुस्वारः प्रवर्त्तते।'

नोट—ध्यान रहे कि उञ का ञकार 'हलन्त्यम्' (१) मे इत्सञ्ज्ञक हो कर 'तस्य लोप' (३) मे लुप्त हो जाता है।

अभ्यास (१३)

(१) अधोलिखित प्रयोगों में सूत्र निर्देश पूर्वक सन्धि करो या सन्ध्यभाव का कारण बताओ— १ भानविति। २ शम्वस्तु वेदि। ३ वाय इति। ४ अहो आश्चर्यम्। ५ तद्वस्य परेत। ६ शम्भो इति। ७ अथो इति। ८ उ उत्तिष्ठ। ९ नो इदानीम्। १० एन्द्राद् हरिभक्ति। ११ अहो अद्य महोष्णता। १२ इ इन्द्र पश्य।

(२) कहा २ 'आ' ङित् और कहा २ अङित् होता है? सोदाहरण स्पष्ट करो।

(३) 'प्रादय उपसर्गा क्रियायोगे' इस एक योग के विभाग करने की क्या आवश्यकता है? उदाहरण दे कर स्पष्ट करो।

(४) 'किम्वुक्तम्' यहा मोऽनुस्वार' (७७) सूत्र क्यो प्रवृत्त नहीं होता?

(५) 'निपात एकाजनाङ्' सूत्र की व्याख्या करते हुए 'एकाच्' पद का विशेष स्पष्टीकरण करो तथा इस में बहुव्रीहि समास मान लेने से क्या दोष उत्पन्न हो जाता है? इस का भी निर्देश करो।

(६) 'वस्तुत 'विष्ण इति' रूप नहीं बनता' इस कथन की सप्रमाण व्याख्या करें।

(७) उदाहरण प्रदर्शन पूर्वक मर्यादा और अभिविधि का परस्पर भेद बताए।

[लघु०] विधि सूत्रम्—५६ इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ॥६।१।१२४॥

पदान्ता इको ह्रस्वा वा स्युरसवर्णेऽचि। ह्रस्वविधिसामर्थ्यान्न स्वरसन्धि । चक्रि अत्र । चक्र्यत्र । पदान्ता इति किम् ? गौर्यौ ।

अर्थः—असवर्ण अच् परे होने पर पदान्त इक् को विकल्प कर के ह्रस्व हो जाता है । **ह्रस्वविधीति**—ह्रस्वविधान करने के सामर्थ्य से स्वर सन्धि नहीं होती ।

व्याख्या—पदान्तस्य ।६।१ [एङ पदान्तादति' से विभक्तिविपरिणाम करके] इक ।६।१। असवर्णे ।७।१। अचि ।७।१। ['इको यणचि' से] ह्रस्व ।१।१। शाकल्यस्य ।६।१। च इत्य व्ययपदम् । अर्थ —(असवर्णे) असवर्ण (अचि) अच् परे होने पर (पदान्तस्य) पदान्त (इक) इक् के स्थान पर (ह्रस्व) ह्रस्व हो जाता है (शाकल्यस्य) शाकल्य आचार्य के मत में । अन्य आचार्यों के मत में नहीं होता इमें सब आचार्य प्रमाण हैं अत ह्रस्व विकल्प से होगा ।

उदाहरण यथा—'चक्री + अत्र' (विष्णु यहा है ।) यहां पदान्त इक् ईकार है, इस से परे 'अ' यह असवर्ण अच वर्त्तमान है अत इक् को विकल्प करके ह्रस्व होगया । जहा ह्रस्व हुआ वहा— चक्रि अत्र' । जहा ह्रस्व न हुआ वहां 'इको यणचि' (१५) से यण होकर 'चक्र्यत्र' इस प्रकार दो रूप सिद्ध होते है ।

एवम् अन्य उदाहरण यथा—१ मधु* अस्ति मध्वस्ति । २ दधि अस्ति, दध्यस्ति । ३ वस्तु आनय, वस्त्वानय ।४ वारि अत्र, वार्यत्र । योगि आगच्छति, योग्यागच्छति ।६ धनि अवोचत्, धन्यवोचत् । ७ नन्द् एधते नन्द्येधते ।८ जाह्नवि अवतरति, जाह्नव्यवतरति । ९ बलि ऋत , बल्यृत । १० भवति एव, भवत्येव ।११ धातृ अत्र, धात्रत्र ।

अब जहा ह्रस्व करते हैं वहा यह शङ्का उत्पन्न होती है कि यहा इको यणचि' (१५) सूत्र से यण् क्यों न किया जावे ? इसका उत्तर यह है कि यदि वहा भी यण् हो जावे तो पुन इस सूत्र से ह्रस्व करना व्यर्थ होजायगा क्योंकि तब दोनों पक्षों में 'चक्र्यत्र' रूप समान हो जायगा जो इस सूत्र के बिना भी 'इको यणचि' (१५) सूत्र से सिद्ध हो सकता है । अत इस सूत्र द्वारा ह्रस्व करने के सामर्थ्य से यहा सन्धि न होगी । [ध्यान रहे कि मूल में 'स्वरसन्धि' कथन इस लिये किया गया है कि वहा स्वर सन्धि के अतिरिक्त अन्य कोई सन्धि प्राप्त नहीं हो सकती ।]

---

* ध्यान रहे कि ह्रस्वों को भी 'पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्ति' न्याय से ह्रस्व हो जाया करता है । इस का फल स्पष्ट ही है । यह विषय इस सूत्र के भाष्य में अत्यन्त स्पष्ट है ।

इस सूत्र मे 'असवर्णे' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि 'योगी + इच्छति=योगीच्छति, कुमारी + ईहते=कुमारीहते' इत्यादियों में सवर्ण अच् परे होन पर ह्रस्व न हो।

'पदान्त' ग्रहण इस लिये किया गयाहै कि-'गौरी+औ' यहा अपदान्त इक् को ह्रस्व न हो जाय। 'इको यणचि' (१५) से यण हो कर गौर्यौ बन जाय।

अब प्रसङ्गवश 'गौर्यौ' म द्वित्व करने वाला सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—६० अचो रहाभ्यां द्वे ।८।४।४६॥

अचः पराभ्यां रेफहकाराभ्यां परस्य यरो द्वे वा स्त । गौर्य्यौ ।

अर्थ —अच् से परे जो रेफ या हकार उस से परे यर् को विकल्प करके द्वित्व हो जाता है।

व्याख्या—अचः ।५।१। रहाभ्याम् ।५।२। यर ।६।१। [यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' से] द्वे ।१।२। वा इत्यव्ययपदम् । [यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' से] अर्थ —(अचः) अच् से परे (रहाभ्याम्) जो रेफ या हकार उस से परे (यर) यर के (द्वे) दो शब्दस्वरूप (वा) विकल्प कर के हो जाते हैं।

उदाहरण यथा—'गौर् यौ' यहा अच 'औ' से पर रेफ है उस से परे यर यकार को विकल्प करके द्वित्व हाकर द्वित्वपक्ष में 'गौर्य्यौ' तथा द्वित्वाभावपक्ष में 'गौर्यौ' इस प्रकार दो रूप बन जाते हैं। इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

१ आर्य्य, आर्य । २ अर्क्क अर्क । ३ कार्य्यम्, कार्यम् । ४ हर्य्यनुभव, हर्यनुभव । ५ उर्व्वी, उर्वी । ६ आह्ल्लाद, आह्लाद । ७ अर्ज्जुन, अर्जुन । ८ आर्त्त, आर्त । ९ आह्व्वय, आह्वय । १० आर्द्द्रकम्, आर्द्रकम् । ११ ब्रह्म्मा, ब्रह्मा । १२ अर्त्थ, अर्थ । १३ न ह्य्यस्ति, न ह्यस्ति । १४ गर्ब्भ, गर्भ । १५ ऊर्द्ध्वम्, ऊर्ध्वम् । १६ दुर्ग्ग दुर्ग । १७ अर्घ्घ्य, अर्घ्य । १८ मूर्च्छ्ना, मूर्छ्ना । १९ अपह्न्नुते, अपह्नुते । २० मूर्क्ख, मूर्ख । २१ शर्म्मा, शर्मा । २२ विसर्ग्ग विसर्ग । २३ प्रार्ण्णम्, प्रार्णम् । २४ कर्म्म कर्म । २५ निर्ज्झर, निर्झर ।

अब प्रसङ्गत प्राप्त हुए द्वित्व को कह कर पुन 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' (५१) सूत्र पर निषेधक वार्त्तिक लिखते हैं—

[लघु०] वा०—९ न समासे ॥

वाप्यश्व ।

अर्थः—समास में अच् परे होने पर पदान्त इक को ह्रस्व नहीं होता ।

व्याख्या—वापी + अश्व [बावड़ी में घोड़ा। वाप्यामश्व = वाप्यश्व, 'सहसुपा' इति समास।] यहां समास में विभक्तियों का लुक् होने पर 'प्रत्यय लोपे प्रत्यय लक्षणम्' (१६०) सूत्र द्वारा ईकार पदान्त हो जाता है, इसे असवर्ण अच् (अ) परे होने पर ह्रस्व प्राप्त था जो अब इस वार्त्तिक के निषेध के कारण नहीं होता। 'इको यणचि' (१५) से यण् हो कर विभक्ति लाने से— वाप्यश्व' सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार— सुध्युपास्य, मध्वरि, गौर्यात्मज, नद्युदय, चार्वङ्गी, मात्राज्ञा, वध्वागमनम्, लाकृति' प्रभृति रूपों में भी समझ लेना चाहिये।

[लघु०] विधि सूत्रम्—६१ **ऋत्यक** ।६।१।१२५॥

ऋति परे पदान्ता अकः प्राग्वद् वा। ब्रह्म ऋषिः। ब्रह्मर्षिः। पदान्ताः किम् ? आर्च्छत्।

अर्थः—ऋत् अर्थात् ह्रस्व ऋकार परे होने पर पदान्त अक् को विकल्प से ह्रस्व हो जाता है।

व्याख्या—ऋति ।७।१। पदान्तस्य ।६।१। ['एङ पदान्तादति' से] अक ।६।१। ह्रस्व ।१।१। शाकल्यस्य ।६।१। ['इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च' से] अर्थ—(ऋति) ह्रस्व ऋवर्ण परे होने पर (पदान्तस्य) पदान्त (अक) अक् के स्थान पर (ह्रस्व) ह्रस्व हो जाता है (शाकल्यस्य) शाकल्य आचार्य के मत में। अन्य आचार्यों के मत में न होने से विकल्प हो जायगा।

उदाहरण यथा—'ब्रह्मा + ऋषि' यहां 'ऋषि' शब्द का आदि ऋत परे है, अत मकारोत्तर पदान्त आकार को विकल्प करके ह्रस्व होकर—'ब्रह्म ऋषि' तथा ह्रस्वाभावपक्ष में 'आद् गुण' (२७) से गुण, रपर होकर ब्रह्मर्षि' बना। [अथवा 'ब्रह्म + ऋषि' ऐसे छेद में ह्रस्व को ह्रस्व होगा। ब्रह्मण =वेदस्य ऋषि —ब्रह्मर्षिरित्यादि विग्रह।]

पूर्व (५६) सूत्र सवर्ण परे होने पर प्रवृत्त नहीं होता था तथा अकार को ह्रस्व भी नहीं करता था, इन दोनों आवश्यकताओं के लिये यह सूत्र बनाया गया है। जैसा कि महाभाष्य में कहा है—'सवर्णार्थम् अनिगन्तार्थञ्च'। सवर्ण परे होने पर यथा—होतृ ऋश्य, होतृश्य। यहा पूर्व सूत्र प्रवृत्त नहीं हो सकता था। अकार का उदाहरण ब्रह्म ऋषि, ब्रह्मर्षि।

ध्यान रहे कि जहां २ ह्रस्व करेंगे वहा २ पूर्ववत् ह्रस्वविधान के सामर्थ्य से स्वर सन्धि नहीं होगी।

इस सूत्र में भी पूर्ववत् 'पदान्त' का ग्रहण होता है, अत अपदान्त अक् को ह्रस्व नहीं होता। उदाहरण यथा—'आ + ऋच्छत्' [यह तौदादिक 'ऋच्छ्' अथवा भौवादिक 'ऋ'

धातु के लङ् लकार व प्रथम पुरष का एकवचन है। 'आ' यह यहा 'आट' आगम समझना चाहिये।] यहा आ' (ट) पदान्त नहीं अत ऋत् परे होने पर भी इसे ह्रस्व नहीं होता। 'आटश्च' (१९७) से पूर्व+पर के स्थान पर 'आर' वृद्धि होकर— आच्छत्' बन जाता है।

'इकोऽसवर्णे—' (५९) सूत्र समास में प्रवृत्त नहीं होता है, परन्तु यह सूत्र समास में भी प्रवृत्त हो जाता है। यथा— सप्त ऋषीणाम्, सप्तर्षीणाम्।*

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

१ कन्य ऋज्वी, कन्यर्ज्वी। २ कुमारि ऋतुमती, कुमार्य्‌ऋतुमती। ३ प्रज्ञ ऋतम्भरा, प्रज्ञर्तम्भरा। ४ पुरुष ऋषभ, पुरुषर्षभ। ५ मह ऋषि, महर्षि। ६ शङ्खध्म ऋणी, शङ्खध्मर्णी। ७ कर्तृ ऋणि, कर्तृणि।

[लघु०] इत्यच्सन्धि प्रकरणम्।

अर्थ—यह अचो की सन्धि का प्रकरण समाप्त होता है।

प्रश्नः— अच्सन्धि' शब्द में 'स्तो श्चुना श्चु' (६२) से श्चुत्व क्यो न हो?।

उत्तर—'अकच्स्वरौ तु कर्त्तव्यौ' इस भाष्य के निर्देश से नहीं होता।

इति भैमीव्याख्ययोपबृंहितायां
लघुसिद्धान्तकौमुद्यामच्सन्धि-
प्रकरणं समाप्तम्॥

---

*'प्राच्छर्ति' में यह प्रकृतिभाव नहीं होता इस की स्पष्टता 'सिद्धान्तकौमुदी' में देखें।

❀ अथ हल्-सन्धि-प्रकरणम् ❀

अब हलों अर्थात् व्यञ्जनों का व्यञ्जनों के साथ मेल दिखाया जायगा।

[लघु०] विधि सूत्रम्—६२ स्तोः श्चुना श्चुः ।८।४।४०॥

सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे शकारचवर्गौ स्तः। रामश्शेते। रामश्चिनोति। सच्चित्। शार्ङ्गिञ्जय।

अर्थः—सकार तवर्ग के स्थान पर, शकार चवर्ग के साथ योग होने पर शकार चवर्ग हो जाते हैं।

व्याख्या—स्तोः ।६।१। श्चुना ।३।१। श्चुः ।१।१। समास—स् च तुश्च=स्तु, तस्य = स्तोः, समाहार द्वन्द्व। [यद्यपि समाहार द्वन्द्व में नपुंसकलिङ्ग होता है, तथापि यहां सौत्र पुंस्त्व जानना चाहिये।] श् च चुश्च=श्चु, तेन=श्चुना, समाहारद्वन्द्व। अर्थ—[स्तोः] सकार तवर्ग के स्थान पर [श्चुना] शकार चवर्ग के साथ [श्चुः] शकार चवर्ग हो जाता है। भाव—'स, त्, थ्, द्, ध्, न्' इन वर्णों के स्थान पर 'श्, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्' ये वर्ण हो जाते हैं, यदि 'स, त्, थ्, द्, ध्, न्' से 'श, च्, छ्, ज, झ, ञ्' इन वर्णों का योग [मेल] हो तो।

यहां स्थानी—'स, त, थ्, द्, ध्, न्' ये छः वर्ण हैं।

और आदेश—श्, च्, छ्, ज्, झ्, ञ्' ये छः वर्ण हैं।

अतः स्थानी के स्थान पर आदेश 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' (२३) द्वारा क्रमशः से होंगे अर्थात् स को श्, त् को च्, थ् को छ्, द् को ज्, ध् को झ तथा न् को ञ होगा।

ध्यान रहे कि यहां स्थानी और आदेश के विषय में यथासङ्ख्य होता है परन्तु योग के विषय में यथासङ्ख्य नहीं होता, अर्थात् यहां यह नहीं समझना चाहिये कि सकार को शकार—शकार के योग में, तकार को चकार—चकार के योग में, थकार को छकार—छकार के योग में, दकार को जकार—जकार के योग में, धकार को झकार—झकार के योग में तथा नकार को ञकार—ञकार के योग में ही होता है। किंतु योग चाहे किसी 'श्चु' का हो—सकार को शकार, तकार को चकार, थकार को छकार, दकार को जकार, धकार को झकार तथा नकार को ञकार ही होगा। यदि योग के विषय में भी यथासङ्ख्य होता तो 'शात्' (६३) सूत्र से निषेध करने की कुछ आवश्यकता न होती, क्योंकि शकार से परे तो तवर्ग को चवर्ग प्राप्त ही नहीं हो सकता था। अतः निषेध करने से ज्ञात होता है कि आचार्य योग के विषय में यथासङ्ख्य नहीं चाहते।

उदाहरण यथा—१ 'रामश्शेते' [राम सोता है]। 'रामस + शेते' [राम शब्द से सुँ प्रत्यय करने पर 'ससजुषा रुः' (१०५) से रुँ तथा खरवसानयोर्विसर्जनीयः' (९३) से विसर्ग हो पुन 'वा शरि' (१०४) से विकल्प कर के विसग होने पर और तद्भाव पक्ष में सकार करने पर—रामस् शेते, राम शेते ये दो प्रयाग बनते हैं। यहा विसर्गाभाव पक्ष में सत्व वाले रूप का ग्रहण किया गया है।] यहा सकार का शकार के साथ योग होने से उस के स्थान पर क्रमानुसार शकार हो 'रामश्शेते' प्रयोग सिद्ध होता है।

अब ग्रन्थकार यह जतलाने के लिये कि योग के विषय में यथासङ्ख्य नहीं होता सकार का अन्य उदाहरण देते है—२ 'रामश्चिनोति' [राम चुनता है]। 'रामस्+चिनोति' [राम शब्द से सुँ प्रत्यय करने पर ससजुषो रुः' (१०५) से उसे रुँ तथा खरवसानयो विसर्जनीयः' (९३) से विसर्ग हो पुन विसर्जनीयस्य सः' (१०३) से सकार हो जाता है।] यहां सकार का चकार के साथ योग होने से उस के स्थान पर क्रमानुसार शकार हो 'रामश्चिनोति' प्रयोग सिद्ध होता है।

३ 'सच्चित् [सत् और ज्ञान] सत्+चित्' यहां तकार का चकार के साथ योग है अत उस के स्थान पर क्रमानुसार चकार हो 'सच्चित्' प्रयोग सिद्ध होता है। [वस्तुत यहा 'स्तोः श्चुना श्चुः' (८।४।४०) के असिद्ध होने से प्रथम 'झलां जशोऽन्ते' (८।२।३९) से तकार को दकार हा पुन 'खरि च' (८।४।५५) के असिद्ध होने से स्तोः श्चुना श्चुः' (८।४।४०) से दकार को जकार हो कर 'खरि च' (७४) से चकार हो जाता है।]

४ 'शार्ङ्गिञ्जय' [हे विष्णो ! तुम्हारी जय हो]। 'शार्ङ्गिन्+जय' यहा नकार का जकार के साथ योग है अत नकार के स्थान पर ञकार हो कर शार्ङ्गिञ्जय' प्रयोग सिद्ध होता है।

योग वर्ण के आगे या पीछे दोनों अवस्थाओं में हो सकता है, किसी को यह न समझ लेना चाहिये कि यदि श्चु आगे आएगे तो स्तु को श्चु होगा। चाहे श्चु—स्तु से आगे आए या पीछे, स्तु को श्चु हो जायगा। यथा—'राज+न्+अस्' यहां नकार का पूव जकार के साथ योग होने पर उसके स्थान पर ञकार हो 'राज्ञः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

प्रश्न—यदि योग में आगे पीछे का नियम नहीं, तो 'अच्सन्धि' में स को श् हो जावे, 'शात्' (९३) सूत्र निषेध नहीं कर सकता। 'अच तकारे' में तकार को चकार होजावे।

उत्तर—'अल्पाच्तरम्' (९८६) इस सूत्र के निर्देश से, 'सिद्धमनच्त्वात्' इस वार्त्तिक के प्रयोग से तथा 'अकच्स्वरौ तु कर्त्तव्यौ प्रत्यङ्गं मुक्तसंशयौ' इस भाष्य के प्रमाण्य से यह प्रमाणित होता है कि चकार के सामने भी सकार तवर्ग को श्चुत्व नहीं होता।

[लघु०] निषेध सूत्रम्—६३ शात् ।८।४।४४॥

शात्परस्य तवर्गस्य चुत्वं न स्यात् । विश्नः । प्रश्नः ।

अर्थः—शकार से परे तवर्ग के स्थान पर चवर्ग नहीं होता ।

व्याख्या—शात् ।५।१। तोः ।६।१। ['तोः षि' से] । 'न' इत्यव्ययपदम् । ['न पदान्ताट्टोरनाम्' से] क्या नहीं होता ? इस जिज्ञासा के उत्पन्न होने पर सुतरां यही आएगा कि जो प्राप्त होता है वह नहीं होता । शकार से परे तवर्ग के स्थान पर 'स्तोः श्चुना श्चुः' (६२) से चवर्ग ही प्राप्त हो सकता है अन्य कोई प्राप्त नहीं हो सकता * अतः यहां भी उसी का निषेध समझना चाहिये । अर्थः—[शात्] शकार से परे [तोः] तवर्ग के स्थान पर चवर्ग [न] नहीं होता । उदाहरण यथा—

१ 'विश् न' [यहां 'विच्छँ गतौ' (तुदा०) धातु से † 'यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ्' (८६०) द्वारा नङ् प्रत्यय तथा 'च्छ्वोः शूडनुनासिके च' (८४३) द्वारा छकार को शकार हो गया है ।] यहां 'स्तोः श्चुना श्चुः' (६२) द्वारा नकार को ञकार प्राप्त था जो अब इस सूत्र के निषेध के कारण नहीं होता । विश्नः ।

२ 'प्रश् न' [यहां 'प्रच्छँ ज्ञीप्सायाम्' (तुदा०) धातु से पूर्ववत् नङ् प्रत्यय तथा छकार को शकार आदेश हुआ २ है ।] यहां 'स्तोः श्चुना श्चुः' द्वारा नकार को ञकार प्राप्त था जो अब इस सूत्र के निषेध के कारण नहीं होता । प्रश्नः ‡ । इसी तरह 'क्लिश्नाति' ।

स्मरण रहे कि यह सूत्र (८।४।४४) 'स्तोः श्चुना श्चुः' (८।४।४०) से परे होने के 'पूर्वत्रासिद्धम्' (३१) द्वारा असिद्ध होने पर भी वचनसामर्थ्य से उस की दृष्टि में असिद्ध नहीं होता, उस का अपवाद हो जाता है । ['अपवादो वचनप्रामाण्यात्' इति भाष्यम् ।]

इस सूत्र से विधान किया निषेध नकार के सिवाय तवर्गस्थ अन्य वर्णों से प्रायः सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि 'श' से परे 'त्, थ्, द्, ध्' होने पर 'व्रश्चभ्रस्ज—' (३०७) द्वारा षत्व हो जाया करता है ।

---

* यहां 'अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा' इस परिभाषा को भी ध्यान में रखना चाहिये ।

† 'विच्छँ' यहां पर अनुनासिक, अच् की इत्संज्ञार्थ है । अच् स्वरार्थ है । स्वर का कोई चिह्न न दीखने से उदात्त स्वर समझना चाहिये । उदात्तेत् धातु परस्मैपदी होती है । 'यत' यहां पर अच् में अधोरेखा अनुदात्त की है । अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपदी है । 'यजँ' यहां पर अच् में ऊर्ध्वरेखा स्वरित की है । स्वरितेत् होने से उभयपदी होगी ।

‡ यहां 'ग्रहिज्या ' (६३४) सूत्र द्वारा सम्प्रसारण नहीं होता, क्योंकि 'प्रश्ने चासन्नकाले' (३।२।११७) सूत्र में महामुनि ने स्वयं सम्प्रसारण नहीं किया ।

अभ्यास (१४)

(१) १ प्रामाद् + चलित । २ हरिस + छन्नर । ३ ईश्वराद् + जगद् + जायते । ४ सोम सुन् + झकार । ५ हश् + नाथति । ६ याच् + ना । ७ शश् + नाथ । ८ अश् + मित्यम् । ६ शश्+नथतु । १० जश् + त्वम् । ११ श+तिप्* ।

(२) निम्नलिखित रूपों में सत्रसम वय पूर्वक सन्धिच्छेद करो ? ।

१ कृष्णश्चपन्न । २ यज्ञ । ३ अग्निचिच्छिनत्ति । ४ नारदश्शशाप । ५ भूज्जौ । ६ सच्छास्त्र ।

(३) श्चुत्व विधि में कहा यथासङ्ख्य हाता है और कहा नहीं होता ? सप्रमाण लिखो ?।

(४) 'स्तो श्चुना श्चु' सूत्र की दृष्टि मे 'शात्' सूत्र असिद्ध है । तो भला असिद्ध कैसे सिद्ध का निषेध कर सकता है ? ।

—० ❀ ०—

[लघु०] विधि सूत्रम्—६४ ष्टुना ष्टु । ८।४।४१॥

स्तोः ष्टुना योगे ष्टुः स्यात् । रामष्षष्ठः । रामष्टीकते । पेष्टा । तट्टीका । चक्रिण्ढौकसे ।

अर्थः—सकार तवर्ग के स्थान पर, षकार टवर्ग के साथ योग होने पर षकार टवर्ग हो जाता है ।

व्याख्या—स्तो ।६।१। ['स्तो श्चुना श्चु' से] । ष्टुना ।३।१। ष्टु ।१।१। समास —ष च टुश्च=ष्टु , तेन=ष्टुना, समाहारद्वन्द्व । सौत्रम् पु स्त्वम् । अर्थ —[स्तो] सकार तवर्ग के स्थान पर [ष्टुना] षकार टवर्ग के साथ [ष्टु] षकार टवर्ग हो जाता है । भाव—'स, त्, थ्, द्, ध्, न्' इन छ वर्णों के स्थान पर 'ष्, ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण' ये छ वर्ण हो जाते हैं यदि 'ष्, ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्' इन छ वर्णों का योग अर्थात् मेल हो तो । यहा भी पूर्ववत् स्थानी और आदेश के विषय में यथासङ्ख्य होता है योग के विषय में यथासङ्ख्य नहीं होता । यदि योग के विषय में भी यथासङ्ख्य होता तो षकार से परे तवर्ग को टवर्ग प्राप्त ही न हो सकता, पुन उस के निषेध के लिये 'तो षि' (६६) सूत्र क्यों

---

* वस्तुत यह 'शात्' (६३) का उदाहरण नहीं । यहा तकार झल परे होने से 'व्रश्चभ्रस्ज (३०७) द्वारा शकार को षकार प्राप्त था, जो असन्देहार्थ नहीं किया गया । अथवा यदि 'शात्' (६३) का उदाहरण मान लिया जावे, तब भी कोई हानि नहीं क्योंकि सार्वधातुक सञ्ज्ञा करने के लिये 'श्तिप्' को शित् अवश्य करना चाहिये तब उस के सामर्थ्य से षत्व नहीं होगा तब फिर चुत्व प्राप्ति में 'शात्' (६३) निषेधक बनेगा ।

बनाते ? अतः इस से यह जाना जाता है कि ष्टुत्वविधि में योगविषयक यथासङ्ख्य नहीं होता। उदाहरण यथा—

१ रामष्षष्ठः । [राम छठा है ।] 'रामस्+षष्ठः' ['राम' प्रातिपदिक से सु प्रत्यय लाने पर रुत्व विसर्ग हो 'वा शरि' (१०४) द्वारा विकल्प कर के विसर्ग होने पर तदभावपक्ष में सकार आदेश हो जाता है । जिस विसर्गाभाव पक्ष में सकार आदेश होता है उसी का यहां ग्रहण किया गया है ।] यहां षकार के साथ योग होने से सकार को षकार हो 'रामष्षष्ठः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

२ 'रामष्टीकते' । [राम जाता है ।] 'रामस+टीकते' [यहां राम शब्द से सु' प्रत्यय ला कर रुत्व, विसर्ग हो, 'विसर्जनीयस्य सः' (१०३) से पुनः सकारादेश हो जाता है] यहां टकार के साथ सकार का योग है । अतः सकार को षकार आदेश हो रामष्टीकते' प्रयोग सिद्ध होता है ।

नोट—सकार का यह दूसरा उदाहरण यह जतलाने के लिये ही दिया गया है कि योग के विषय में यथासङ्ख्य नहीं हुआ करता ।

३ 'पेष्टा' [पीसने वाला, पीसना] 'पेष+ता' ['पिष्लृँ सञ्चूर्णने' (रुधा०) धातु से तृच् प्रत्यय या लुट् के प्रथम पुरुष का एकवचन करने पर 'पुगन्तलघूपधस्य च' (४५१) सूत्र से इकार को एकार गुण हो जाता है ।] यहां षकार के साथ योग होने से तकार को टकार हो कर—'पेष्टा प्रयोग सिद्ध होता है ।

नोट—'ष्टु परे होने पर' ऐसा न कह कर 'ष्टु के साथ योग होने पर' ऐसा इस लिये कहा गया है कि 'पेष्टा' आदियों में 'ष्टु' का पूर्वयोग होने पर भी 'स्तु' को 'ष्टु' हो जाए ।

४ 'तट्टीका' । [उस की टीका, अथवा वह टीका] 'तद्+टीका' [यहां 'तस्य टीका' ऐसा षष्ठी तत्पुरुष अथवा कर्मधारयसमास हो 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' वार्त्तिक से पुंवद्भाव समझना चाहिये ।] यहां टकार के योग में दकार को डकार हो कर खरि च' (७४) सूत्र से डकार को टकार करने से 'तट्टीका' प्रयोग सिद्ध होता है । ग्रन्थकार को यहां पर बल्कि 'सच्चित्' प्रयोग पर ही 'खरि च' (७४) सूत्र लिखना उचित था ।

नोट—यहां पर कुछ लोग 'तत्+टीका' ऐसा छेद करके सीधा ष्टुत्व कर दिया करते हैं, यह नितान्त अशुद्ध होता है, क्योंकि 'ष्टुना ष्टुः' (८।४।४१) सूत्र की दृष्टि में 'खरि च' (८।४।५५) सूत्र असिद्ध है अतः ष्टुत्व से पूर्व चर्त्व नहीं हो सकता, और यदि 'तद्' शब्द को दकारान्त न मान कर तकारान्त मानते हैं तो यहां तो कोई दोष नहीं आता परन्तु 'अतितद्, अतितदौ, अतितदः' इत्यादि प्रयोग उपपन्न नहीं हो सकते । अतः उपर्युक्त छेद ही युक्त है ।

२ 'चक्रिण्ढौकसे । [हे चक्रधारिन्! तुम जाते हो।] 'चक्रिन्+ढौकसे' यहां ढकार का योग होने से नकार को णकार होकर 'चक्रिण्ढौकसे' प्रयोग सिद्ध होता है।

[लघु०] निषेध सूत्रम्—६५ न पदान्ताट्टोरनाम् ।८।४।४२॥

पदान्तात् टवर्गात् परस्यानाम स्तो ष्टुर्न स्यात् । षट् सन्त । षट् ते । पदान्तात् किम् ? ईट्टे । टो: किम् ? सर्पिष्टमम् ।

अर्थ—पदान्त टवर्ग से परे 'नाम्' के नकार को छोड कर अन्य सकार तवर्ग को षकार टवर्ग नहीं होता।

व्याख्या—पदान्तात् ।५।१। टो ।५।१। अनाम् ।६।१। [यहां षष्ठी के एकवचन ङस् का लुक् हो गया है।]। स्तो ।६।१। [स्तो: श्चुना श्चु: से]। ष्टु ।१।१। [ष्टुना ष्टु: से]। न इत्यव्ययपदम्। अर्थ—[पदान्तात्] पदान्त [टो] टवर्ग से परे [अनाम्] नाम्शब्द के अवयव से भिन्न [स्तो] सकार तवर्ग को [ष्टु] षकार टवर्ग [न] नहीं होता। यह सूत्र 'ष्टुना ष्टु:' (६४) का अपवाद है। इसके उदाहरण यथा—

१ 'षट् सन्त'। [छ: सज्जन] 'षड्+सन्त' [यहां 'षड' सुबन्त होने से पदसञ्ज्ञक है। इस रूप में प्रथम 'ड: सि धुट्' (८६) द्वारा वैकल्पिक 'धुट्' होता है। जहां 'धुट्' नहीं होता, उस पक्ष का यहां ग्रहण समझना चाहिये।] यहां 'खरि च' (८।४।५५) के असिद्ध होने से 'ष्टुना ष्टु:' (८।४।४१) द्वारा सकार को षकार प्राप्त होता है। पुन: इस सूत्र से उस का निषेध हो जाता है क्योंकि यहां पदान्त टवर्ग [डकार] से परे स्तु [सकार] को ष्टुत्व [षकार] करना है। अब 'खरि च' (७४) से डकार को टकार हो कर—'षट् सन्त' प्रयोग सिद्ध होता है।

२ षट् ते'। [वे छ:] 'षड्+ते' यहां 'खरि च' (८।४।५५) के असिद्ध होने से ष्टुना ष्टु: (८।४।४१) द्वारा ष्टुत्व अर्थात् तकार को टकार प्राप्त होता है, इस पर इस सूत्र से निषेध होकर पुन: 'खरि च' (७४) से चर्त्व टकार करने से 'षट् ते' प्रयोग सिद्ध होता है।

इसी प्रकार—लिविनमित्त इयन लिटसु आदि प्रयोगों में भी ष्टुत्व का निषेध समझ लेना चाहिये।

पदान्तात् किम् ? ईट्टे ।

अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि पदान्त टवर्ग क्यों कहा ? केवल टवर्ग ही कह देते तो क्या हानि थी ? इस का उत्तर यह है कि यदि 'पदान्त' न कहते तो 'ईट्टे' [मैं स्तुति करता हूं] यह प्रयोग अशुद्ध हो जाता। तथाहि—

'ईड्+ते [ईडँ स्तुतौ (अदा०) धातु से लट्, उसे 'त' आदेश, शप्, उस का लुक् तथा 'त' की टि=अकार को एकार हो यह रूप निष्पन्न होता है।] यहां 'खरि च

(८ । ४ । ५५) के असिद्ध होने से प्रथम 'ष्टुना ष्टु' (८ । ४ । ४१) से तकार को टकार तदनन्तर 'खरि च' (८ । ४ । ५५) से डकार को टकार होकर 'ईट्टे' प्रयोग सिद्ध होता है। अब यदि 'न पदान्ताट्टोरनाम्' (६५) सूत्र में 'टो' पद का विशेषण 'पदान्तात्' नहीं बनाते तो यहा अपदान्त डकार से परे भी तवर्ग को टवर्ग करने का निषेध हो जाता, जो अनिष्ट था। अब 'पदान्तात्' कहने से कुछ भी दोष नहीं आता।

टो किम् ? सर्पिष्टमम् ।

प्रश्नः—इस सूत्र में 'टवर्ग' का ग्रहण क्यों किया गया है ? केवल 'न पदान्तादनाम्' इतना ही कह देते, अर्थात् 'पदान्त वर्णों से परे नाम् के नकार को छोड़ अन्य सकार तवर्ग को षकार टवर्ग नहीं होता' इतने मात्र के कथन से क्या हानि हो सकती थी ? ।

उत्तर—यदि 'टवर्ग' का ग्रहण न करते तो पदान्त षकार से परे भी 'स्तु' को 'ष्टु' होने का निषेध हो जाता इस से 'सर्पिष्टमम्' आदि प्रयोगों में ष्टुत्व न हो सकने से अनिष्ट हो जाता। तथाहि—'सर्पिस्' शब्द से 'तमप्' प्रत्यय करने पर 'ह्रस्वात्तादौ तद्धिते' (८ । ३ । १०१) सूत्र से सकार को षकार हो 'सर्पिष् + तम'। अब 'ष्टुना ष्टु' (६४) से ष्टुत्व अर्थात् तकार को टकार करने से 'सर्पिष्टम' प्रयोग निष्पन्न होता है। यहा 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (१६४) सूत्र से 'सर्पिष्' की पद सञ्ज्ञा होने के कारण षकार पदान्त हो जाता है*। अब यदि 'न पदान्ताट्टोरनाम्' (६५) सूत्र में 'टो' का ग्रहण न करते तो यहां पदान्त षकार से परे तकार को टकार होने का निषेध हो अनिष्ट रूप हो जाता अतः सूत्र में 'टो' का ग्रहण परमावश्यक है।

[लघु०] वा०—१० अनाम्नवति-नगरीणामिति वाच्यम् ॥

षण्णाम् । षण्णवतिः । षण्णगर्यः ।

अर्थ.—"पदान्त टवर्ग से परे नाम्, नवति तथा नगरी शब्दों के नकार को छोड़ अन्य सकार तवर्ग को षकार टवर्ग न हो" ऐसा कहना चाहिये।

व्याख्या—सूत्रकार [भगवान् पाणिनि] ने 'न पदान्ताट्टोरनाम्' (६५) में केवल नाम् के नकार को ही ष्टुत्वनिषेध से मुक्त किया था, अतः नवति तथा नगरी शब्दों में ष्टुत्व-निषेध प्राप्त होने से दोष उत्पन्न होता था। यह देख कर वार्तिककार कात्यायन ने वार्तिक

---

* यहा यह शङ्का नहीं करनी चाहिए कि 'झलाञ्जशोऽन्ते (६७) से षकार को डकार हो टवर्ग हो जाने से 'न पदान्ताट्टोरनाम्' (६५) द्वारा ष्टुत्व का निषेध क्यों न हो जाए ? । स्मरण रहे कि 'ह्रस्वात्तादौ तद्धिते' (८।३।१०१) द्वारा किया गया षत्व 'झलाञ्जशोऽन्ते' (८।२।३९) की दृष्टि में असिद्ध है। अतः डकारादेश नहीं होता।

बनाया कि केवल 'नाम्' के नकार को ही ष्टुत्वनिषेध से मुक्त नहीं करना चाहिये, अपितु 'नवति' और 'नगरी' शब्दो को भी ष्टुत्वनिषेध से मुक्त कर देना चाहिये। वार्तिक में पुन 'नाम्' का ग्रहण अनुवादार्थ है। उस के ग्रहण न करने से उस का बाध हो जाता क्योंकि वार्तिक सूत्र का बाधक होता है।

इन के उदाहरण यथा—१ षण्णाम्। [छः का] षड्+नाम्' ['षष' शब्द से षष्ठी का बहुवचन 'आम्' प्रत्यय करने पर 'षष्+ आम्। ष्णान्ता षट् (२६७) से 'षष्' की षट सञ्ज्ञा होकर 'षट्चतुर्भ्यश्च' (२६६) से 'आम्' को नुडागम कर षष्+ नाम्'। अब स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (१६४) से पद सञ्ज्ञा हो 'झलाञ्जशोऽन्ते' (६७) से षकार का डकार करने से षड्+नाम्' रूप बनता है।] यहा 'न पदान्ताट्टोरनाम् (६५) सूत्र में ष्टुत्व निषेध से 'नाम्' को मुक्त कर देने के कारण पदान्त टवर्ग = डकार से परे नकार को ष्टुना ष्टु' (६४) से ष्टुत्व = णकार हो, प्रत्यये भाषायां नित्यम्' (११) वार्तिक द्वारा डकार को भी णकार करने से षण्णाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

२ षण्णवति'। [छियानवे] 'षड्+ नवति [षडधिका नवति' या 'षट् च नवतिश्च' इस विग्रह में क्रमश तत्पुरुष और द्वन्द्व करने पर विभक्तियों का लुक हो 'षड्+ नवति' होता है। यहा उसी का ग्रहण है।] 'अनाम्नवति—'(१०) इस वार्तिक में ष्टुत्व निषेध से 'नवति' के मुक्त हो जाने के कारण यहा पदान्त टवर्ग = डकार से परे नकार को 'ष्टुना ष्टु' (६४) से ष्टुत्व= णकार हो कर 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा (६८) सूत्र द्वारा डकार को भी विकल्प करके णकार करने पर विभक्ति लाने से 'षण्णवति' तथा 'षड्णवति' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

३ 'षण्णगर्यं'। [छः नगरियां हैं] 'षड्+नगर्यं' 'अनाम्नवति— (१०) इस वार्तिक में ष्टुत्व निषेध से 'नगरी' के भी मुक्त हो जाने के कारण यहा पदान्त टवर्ग=डकार से पर नकार को 'ष्टुना ष्टु' (६४) से ष्टुत्व=णकार हो 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' (६८) सूत्र द्वारा डकार को भी विकल्प करके णकार करने से 'षण्णगर्यः तथा 'षड्णगर्यं ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—६६ तोः षि।८।४।४३॥

तवर्गस्य षकारे परे न ष्टुत्वम्। सन्षष्ठः।

अर्थ—षकार परे होने पर तवर्ग के स्थान पर षकार टवर्ग नहीं होता।

व्याख्या—तो।६।१। षि।७।१। न इत्यव्ययपदम्। ['न पदान्ताट्टोरनाम्' से]

ष्टु ।१।१। [ष्टुना ष्टु ' से] । अर्थ —[षि] षकार परे होने पर [तो] तवर्ग के स्थान पर [ष्टु] षकार टवर्ग [न] नहीं होता। यह सूत्र 'ष्टुना ष्टु ' (६४) का अपवाद है ।

उदाहरण यथा—'सन् + षष्ठ' यहां षकार के योग में 'ष्टुना ष्टु ' (६४) से नकार को णकार प्राप्त होता है, जो अब इस सूत्र से निषेध कर देने के कारण नहीं होता । 'सन् षष्ठ' ।

(१) नोट—स्मरण रहे कि यद्यपि यहां 'ष्टु' की अनुवृत्ति आती है तथापि तवर्ग के स्थान पर प्राप्त टवर्ग का ही इस सूत्र से निषेध होता है, क्यों कि षकार तो टवर्ग के स्थान पर प्राप्त ही नहीं होता । जो प्राप्त नहीं उस का पुनः निषेध कैसे सम्भव हो सकता है ? ।

(२) नोट—यद्यपि यह सूत्र भी 'शात्' (६३) सूत्र के समान 'ष्टुना ष्टु ' की दृष्टि में असिद्ध है, तथापि वचनसामर्थ्य से उस का यह अपवाद है । ['अपवादो वचनप्रामाण्यात्' इति भाष्यम् ।] ।

अभ्यास (१५)

(१) इन अधोलिखितरूपों में सन्धिविच्छेद कर सन्धि विधायक सूत्र लिखो ?

१ न पदान्ताट्टोरनाम् । २ कृषीष्ट । ३ गरुत्मानडयते । ४ टिङ्गाणाम्—। ५ पेष्टुम् । ६ सोमसुड्ढौकसे । ७ इष्ट । ८ अजुर्नष्टकरोति ।

(२) निम्नलिखित रूपों में सूत्र निर्देश पूर्वक सन्धि करो—

१ भवान् + षण्ढ । २ हरिस् + षडङ्गमधीते । ३ परिव्राट्+साधु । ४ सोमसुन्+ षडङ्गमधीते । ५ अग्निचित्+ठकार । ६ राट्+नगरी ।

(३) 'ष्टुना ष्टु ' (८।४।४१) की दृष्टि में 'तो षि' (८।४।४३) सूत्र असिद्ध है तो किस प्रकार यह उस का अपवाद हो सकता है ? ।

—०❀०—

[लघु०] विधि सूत्रम्—६७ झलां जशोऽन्ते । ८ । २ । ३९ ॥

पदान्ते झलां जशः स्युः । वागीशः ।

अर्थः—पद के अन्त में वर्तमान झलों के स्थान पर जश हों ।

व्याख्या—पदस्य । ६ । १ । [यह अधिकृत है ।] अन्ते । ७ । १ । झलाम् । ६ । ३ । जशः । १ । ३ । अर्थ —[पदस्य] पद के [अन्ते] अन्त में [झलाम्] झलों के स्थान पर [जशः] जश् हो जाते हैं । भाव—झल् प्रत्याहार में वर्गों के चौथे, तीसरे, दूसरे, पहले तथा ऊष्म वर्ण आते हैं । ये वर्ण यदि पद के अन्त में स्थित होंगे तो इनके स्थान पर 'जश्' अर्थात् वर्गों के तीसरे वर्ण हो जाएंगे । 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) से जिस २ का जिस

२ के साथ स्थान तुल्य होगा उस २ के स्थान पर वह २ आदेश होगा। यहां हम सम्पूर्ण जशों की तालिका नीचे दे देते हैं—

झल वर्ण (जिन क स्थान पर 'जश्' होता है)					स्थान	जश वर्ण (जो आदेश होते हैं।)
झ्	ज	छ	च्	श्	तालु	ज्
भ	ब	फ	प		ओष्ठ	ब्
घ	ग	ख	क	ह*	कण्ठ	ग
ढ	ड	ठ्	ट्	ष	मूर्धा	ड
ध्	द्	थ	त्	स्†	दन्त	द्

उदाहरण यथा—१ 'वागीश'। [बृहस्पति] 'वाक्+ईश' [वाचामीश =वागीश। षष्ठीतत्पुरुष। यहा समास मे विभक्तियों का लुक होने पर 'चो कु' (३०६ से पदान्त चकार को ककार हो जाता है] यहा इस सूत्र से पदान्त ककार के स्थान पर जश्=गकार हो कर विभक्ति आने से 'वागीश' सिद्ध होता है।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

२ सुप्+अन्त=सुबन्त। [सुप् अन्ते यस्य स सुबन्त।] ३ तिप्+अन्त=तिबन्त। [तिप् अन्ते यस्य स तिबन्त।] ४ समिध+अत्र=समिदत्र। ५ समिध्+आधानम्=समिदाधानम्। ६ सम्राट्+इच्छति=सम्राडिच्छति। ७ विद्युत्+गच्छति=विद्युद्गच्छति। ८ त्रिष्टुभ्+आदि=त्रिष्टुबादि। ९ अनुष्टुभ्+एव=अनुष्टुबेव। १० वाक्+अत्र=वागत्र। ११ जगत्+ईश=जगदीश। [जगत ईश =जगदीश] १२ अग्निमथ्+भ्याम्=अग्निमद्भ्याम्। १३ षष+आगच्छन्ति=षडागच्छन्ति। १४ अप+ज=अब्जम्। [अद्भ्यो जायत इत्यब्जम्]।

इस सूत्र का फल प्राय तभी दिखाई देता है जब झलों से परे 'खर' न हों। खर परे होने पर इस के किये कार्य को 'खरि च (७४) नष्ट कर देता है। यथा—'जगत्+तिष्ठति' यहा 'झला जशोऽन्ते (६७) से त् को द् हो 'खरि च' (७४) से पुन 'त्' हो गया है। इस लिये यह अश प्रत्याहार परे होने पर लगेगा।

ध्यान रहे कि इस सूत्र की दृष्टि में 'खरि च' (८।४।५५) तथा 'स्तो श्चुना श्चु' (८।४।४०) आदि सूत्र असिद्ध हैं, परन्तु उनकी दृष्टि में यह असिद्ध नहीं।

* 'हो ढ' (२५१) आदि 'ह्' के जश्त्व को बाध लेते हैं।

† 'ससजुषो रु (१०५) पदान्त में स् के जश्त्व को बाध लेता है।

[लघु०] विधि सूत्रम्—६८ यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा ।
८।४।४५॥

यरः पदान्तस्यानुनासिके परेऽनुनासिको वा स्यात् ।
एतन्मुरारिः, एतद् मुरारिः ।

अर्थ—अनुनासिक परे होने पर पदान्त यर् के स्थान पर विकल्प करके अनुनासिक हो जाता है ।

व्याख्या—पदान्तस्य । ६।१। [न पदान्ताट्टोरनाम् से विभक्तिविपरिणाम कर के ।] यर ।६।१। अनुनासिके ।७।१। अनुनासिक ।१।१। वा' इत्यव्ययपदम् । अर्थ—[अनुनासिके] अनुनासिक परे होने पर [पदान्तस्य] पदान्त [यर] यर के स्थान पर [वा] विकल्प कर के [अनुनासिक] अनुनासिक हो जाता है । जो वर्ण मुख और नासिका दोनों से बोला जाय उसे 'अनुनासिक' कहते हैं । [देखो सञ्ज्ञाप्रकरण में 'मुखनासिकावचनोऽनुनासिक' (६)] अनुनासिक अच और हल् दोनों प्रकार के होते हैं । पदान्त यर से परे अनुनासिक अच कहीं नहीं देखा जाता अतः यहां हल् अनुनासिकों का ग्रहण होगा । हल अनुनासिक पाञ्च हैं—१ ङ । २ ञ् । ३ ण । ४ न् । ५ म् । इन पाञ्च वर्णों में से किसी वर्ण के परे होने पर पदान्त यर को विकल्प कर के अनुनासिक होगा । स्थानेऽन्तरतम' (१७) से वही अनुनासिक होगा जिसका यर् के साथ स्थान तुल्य होगा । यथा—तवर्ग को न्, कवर्ग को ङ चवर्ग को ञ, टवर्ग को ण्, पवर्ग को म् ।

उदाहरण यथा—'एतद्+मुरारि' [एतस्य मुरारि=एतद्मुरारि, षष्ठीतत्पुरुष । अथवा—एष मुरारि=एतद्मुरारि कर्मधारयसमास ।] यहां समास में विभक्तियों का लुक् हो चुकने पर 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' (१९०) की सहायता से 'सुप्तिङन्तम्पदम्' (१४) द्वारा एतद् की पद सञ्ज्ञा हो जाती है, इस प्रकार दकार पद का अन्त ठहरता है । इस से परे मकार 'मुखनासिकावचनोऽनुनासिक' (६) के अनुसार अनुनासिक है । इस के परे होने पर अब दकार=यर् को अनुनासिक करना है । 'स्थानेऽन्तरतम' (१७) से दकार को नकार ही अनुनासिक होगा ['लृतुलसानां दन्ताः'] । तो इस प्रकार दकार को विकल्प कर के अनुनासिक नकार हो कर विभक्ति लाने से "एतन्मुरारि, एतद्मुरारि" ये दो रूप सिद्ध होते हैं ।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

१ अग्निचित् + नयति=अग्निचिद् + नयति [झलां जशोऽन्ते] = अग्निचिन्नयति । २ तद् + न=तन्न । ३ दिग्+नाग=दिङ्नाग । इसी प्रकार– कन्र्मम् नित्यम्' 'नद्याम्नीभ्य' 'आण् नद्या' इत्यादि ।

यर् प्रत्याहार मे अन्तस्थ वर्ण, सब वर्गों के वर्ण तथा श् ष, स् वर्ण आते हैं। यद्यपि वर्गों के वर्णों के अतिरिक्त इन सब वर्णों के उदाहरण इस सूत्र पर नहीं मिल सकते [क्यों कि 'रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति' और य् व पदान्त नहीं मिलते] तथापि यहा 'यर्' ग्रहण अग्रिम 'अचो रहाभ्या द्वे' (६०) अनचि च (१८) आद सूत्रों मे अनुवृत्ति के लिये है और यहा कोई दोष भी नही आता।

पदान्त ग्रहण का यह प्रयाजन है कि—शङ्क्ष्म आदि म अपदान्त यरो को अनुनासिक न हो।

[लघु०] वा—११ प्रत्यये भाषायां नित्यम् ॥

तन्मात्रम्। चिन्मयम्।

अर्थ—लोक में अनुनासिकादि प्रत्यय परे होने पर पदान्त यर् को नित्य अनुनासिक हो जाता है।

व्याख्या—प्रत्यये। ७। १। भाषायाम्। ७। १। नित्यम्। १। १। यह वार्त्तिक 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' (६८) सूत्र पर भाष्य में पढा गया है अत तद्विषयक ही समझना चाहिये। इस लिये इस का ऐसा अर्थ होगा—(भाषायाम्) लोक में (अनुनासिके) अनुनासिकादि (प्रत्यये) प्रत्यय परे होने पर (पदान्तस्य) पदान्त (यर) यर के स्थान पर (नित्यम्) नित्य (अनुनासिक) अनुनासिक हो जाता है।

उदाहरण यथा—'तन्मात्रम्' [उतना ही]। 'तद् + मात्र' [तत् प्रमाण यस्येति तन्मात्रम्, 'प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच' (११६४) इति मात्रच् प्रत्यय।] यहा 'मात्रच्' प्रत्यय हो कर तद्धितान्त की प्रातिपदिक सञ्ज्ञा होने से 'सुपो धातु प्रातिपदिकयो' (७२१) द्वारा तद् शब्द से परे सु प्रत्यय का लुक हो जाता है अत 'एतद्मुरारि' प्रयोग गत 'एतद्' शब्द की तरह यहा दकार पदान्त है। इस पदान्त दकार=यर से परे 'मात्रच्' यह अनुनासिकादि प्रत्यय किया गया है अत दकार को तत्सदृश नकार नित्य अनुनासिक हो कर विभक्ति लाने से 'तन्मात्रम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

'चिन्मयम्' [चेतनस्वरूप]। चित्+ मय' [चिदेव चिन्मयम् 'नित्य वृद्धशरादिभ्य' (१११०) इत्यत्र 'नित्यम् इति योग विभागात् स्वार्थे मयट।] यहा मयट्' प्रत्यय हो कर तद्धितान्त की प्रातिपदिक सञ्ज्ञा हाने से 'सुपो धातु प्रातिपदिकयो' (७२१) द्वारा सु प्रत्यय का लुक हो जाता है अत तकार पदान्त है। इस पदान्त तकार को प्रथम 'झला जशोऽन्ते' (६७) सूत्र मे दकार हो कर पुन इस वार्त्तिक से नित्य अनुनासिक नकार हो जाता है, तब विभक्ति लाने से 'चिन्मयम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

ध्यान रहे कि इस वार्त्तिक से भी सूत्रवत् पदान्त यर् को ही अनुनासिक विधान किया जाता है अपदान्त यर् को नहीं। अत एव— स्वप्न, यत्न, तुभ्नाति, बध्नाति, मृद्नाति' आदि प्रयोगों में अनुनासिकादि प्रत्यय परे होने पर भी अपदान्त यर् को अनुनासिक नहीं होता।

नोट— यहां यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि 'झलां जशोऽन्ते' (८।२।३९) सूत्र की दृष्टि में यह सूत्र (८।४।४५) असिद्ध है अतः जहां २ 'झलां जशोऽन्ते' (६७) सूत्र का विषय होगा वहां २ प्रथम जश्त्व हो कर पश्चात् अनुनासिक होगा।

अभ्यास (१६)

(१) निम्नलिखित रूपों में सूत्र समन्वय करते हुए सन्धिच्छेद करो—

१ षण्मासाः। २ एतन्मनोहर। ३ इणिनषेध। ४ तण्णकार *। ५ त्रिष्टुम्नाम। ६ तन्न। ७ सन्मार्ग। ८ मृण्मयम्। ९ त्रुड्भि। १० सामसुन्नवति। ११ त्वङ्मनसी। १२ ककुबीश। १३ ककुम्नायक। १४ वाङ्मयम्। १५ अम्मयम्।

(२) निम्नलिखित प्रयोगों में सूत्रोपन्यासपूर्वक सन्धि करो—

१ विपद्+मग्न। २ यद्+नैति। ३ तद्+ञकार †। ४ मनाक्+हसति। ५ अप+मात्र। ६ अग्निचित्+ङकार। ७ कतिचित्+दिनानि। ८ मद्+नीति। ९ धिक्+मूर्खम्।

(३) निम्नलिखित रूपों में सूत्र समन्वय करते हुए सन्धि करो, अथवा सन्धि न करने का कारण बताओ।

१ वेद्+मि। २ गरुत्+मत् ‡। ३ गृभ्+णाति। ४ प्रश्+न।

(४) (क) खर् परे होने पर 'झलां जशोऽन्ते' का फल क्यों नहीं प्रतीत होता?।

(ख) 'शङ्ख्म' में अनुनासिक क्यों नहीं होता?।

(ग) सुप् न होने पर भी 'एतन्मुरारि' में दकार कैसे पदान्त है?।

—०❀०—

[लघु०] विधि सूत्रम्—६९ तोर्लि ।८।४।६०॥ ✓

तवर्गस्य लकारे परे परसवर्णः। तल्लयः। विद्वाँल्लिखति। नस्यानुनासिको लः।

---

* यहां अनुनासिक विधायक सूत्र के असिद्ध होने से प्रथम ष्टुत्व कर लेना चाहिये।

† यहां पर प्रथम श्चुत्व कर लेना चाहिये।

‡ यहां पर 'तसौ मत्वर्थे' (११८२) सूत्र से भ सञ्ज्ञा होती है। पदान्त न होने से अनुनासिक नहीं होता।

अर्थ—लकार परे होने पर तवर्ग के स्थान पर पर सवर्ण आदेश होता है।

व्याख्या—तो ।६।१। लि ।७।१। पर सवर्ण ।१।१। ['अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण' से] समास—परस्य सवर्णः=परसवर्णः, षष्ठी तत्पुरुष। अर्थ—(लि) लकार परे होने पर (तो) तवर्ग के स्थान पर (पर सवर्ण) पर सवर्ण आदेश होता है। भाव यह है कि तवर्ग से जब लकार परे होगा तो उसके स्थान पर—पर अर्थात् लकार का सवर्ण आदेश किया जायगा। लकार का लकार के सिवाय अन्य कोई सवर्ण नहीं अतः तवर्ग के स्थान पर लकार ही आदेश होगा।

लकार दो प्रकार का होता है एक अनुनासिक (लँ) और दूसरा अननुनासिक (ल)। 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) के अनुसार तवर्गस्थ अनुनासिक वर्ण के स्थान पर अनुनासिक लकार तथा अननुनासिक वर्ण के स्थान पर अननुनासिक लकार होगा। तवर्ग में नकार के सिवाय अन्य कोई अनुनासिक नहीं अतः केवल नकार के स्थान पर ही अनुनासिक लकार तथा शेष तवर्गीय वर्णों के स्थान पर अननुनासिक लकार होगा। उदाहरण यथा—

तल्लयः। [उस में नाश व उस का नाश] तद् + लयः [तस्मिँस्तस्य वा लयः = तल्लयः, सप्तमीतत्पुरुषः षष्ठीतत्पुरुषो वा।] यहां तवर्ग=दकार से परे लकार विद्यमान है अतः दकार के स्थान पर पर सवर्ण=लकार कर के विभक्ति लाने से 'तल्लयः' प्रयोग सिद्ध होता है।

विद्वाल्ँ लिखति'। [विद्वान् लिखता है।] विद्वान् + लिखति' इस दशा में 'तोर्लि' (६९) सूत्र से नकार को पर सवर्ण लकार आदेश होता है परन्तु नकार के अनुनासिक होने से लकार भी अनुनासिक आदेश हो कर विद्वाल्ँ लिखति' प्रयोग सिद्ध होता है।

इसके कुछ अन्य उदाहरण यथा—

३ विपद् + लीन=विपल्लीन। ४ कश्चिद् + लभते=कश्चिल्लभते। ५ कुशान् + लुनाति = कुशाल्ँ लुनाति। ६ महान् + लाभ = महाल्ँ लाभ। ७ उद् + लेख=उल्लेख। ८ धनवान् + लुनीते=धनवाल्ँ लुनीते। ९ हनुमान् + लङ्का दहति=हनुमाल्ँ लङ्कां दहति। १० हसन् + लेढि = हसल्ँ लेढि। ११ जगद् + लीयते=जगल्लीयते। १२ तद् + लीला= तल्लीला। १३ तद् + लीन=तल्लीन। १४ यद् + लक्षणम्=यल्लक्षणम्। १५ चिद् + लय =चिल्लय। इत्यादि*।

ध्यान रहे कि यह सूत्र 'झलां जशोऽन्ते' (६७) की दृष्टि में असिद्ध है, अतः जहां २

* 'तस्मात्+ऌकारात्' इत्यादि में 'तोर्लि' (६९) प्रवृत्त नहीं होगा, क्योंकि इस में ऌ-स्वर है, 'ल' नहीं। केवल जश्त्व ही होगा 'तस्माद् ऌकारात्'।

उस का विषय होगा वहां २ प्रथम जश्त्व हो कर पश्चात् 'तोर्लि' (६६) सूत्र प्रवृत्त होगा। यथा—जगत् + लीयते=जगद् + लीयते=जगल्लीयते।

[लघु०] विधि सूत्रम्—७० उदः स्था-स्तम्भोः पूर्वस्य।८।४।६१॥

उदः परयोः स्था-स्तम्भोः पूर्व-सवर्णः।

अर्थः—'उद्' से (परे) स्था और स्तम्भ् को पूर्वसवर्ण हो।

व्याख्या—उदः।५।१। स्था स्तम्भोः।६।२। पूर्वस्य।६।१। सवर्णः।१।१। ['अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से*] अर्थः—(उदः) 'उद्' उपसर्ग से (स्था स्तम्भोः) स्था और स्तम्भ् के स्थान पर (पूर्वस्य) पूर्व का (सवर्णः) सवर्ण आदेश होता है।

'उदः' यहां दिग्योग में पञ्चमी है अर्थात् 'उद्' से किसी दिशा में स्थित स्था और स्तम्भ् को पूर्वसवर्ण होगा। वर्णों में दो ही दिशा सम्भव हो सकती हैं, एक पर और दूसरी पूर्व। अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या 'उद्' से पूर्वस्थित स्था और स्तम्भ् को पूर्व सवर्ण हो या परस्थित स्था और स्तम्भ को पूर्वसवर्ण हो? किञ्च—यह भी प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या व्यवधान से रहित पूर्व या पर स्थित स्था और स्तम्भ को पूर्व सवर्ण हो या व्यवहित पूर्व या पर स्थित स्था और स्तम्भ को भी पूर्वसवर्ण हो?। इन शङ्काओं की निवृत्ति के लिये अग्रिम परिभाषा सूत्र लिखते हैं।

[लघु०] परिभाषा सूत्रम्—७१ तस्मादित्युत्तरस्य।१।१।६६॥

पञ्चमी-निर्देशेन क्रियमाणं कार्यं वर्णान्तरेणाऽव्यवहितस्य परस्य ज्ञेयम्।

अर्थः—पञ्चम्यन्त के निर्देश से क्रियमाण कार्य अन्य वर्णों के व्यवधान से रहित पर के स्थान पर जानना चाहिये।

व्याख्या—तस्माद् इति पञ्चम्यन्तानुकरणं लुप्तपञ्चम्येकवचनान्तम्। ['उदः स्था स्तम्भोः' आदि सूत्रों में स्थित 'उदः' आदि पञ्चम्यन्त पदों का अनुकरण यहां 'तस्मात्' शब्द से किया गया है, इस के आगे पञ्चमी के एकवचन का 'सुपां सुलुक्——'(७।१।३६)

---

* यद्यपि 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' सूत्र में 'परसवर्णः' है, तथापि अनुवृत्ति केवल 'सवर्णः' की ही आती है। इस का कारण यह है कि अनुवृत्ति अधिकृत पदों की ही आया करती है और अधिकृति 'स्वरितेनाधिकारः' (१।३।११) इस सूत्र से स्वरित स्वर के बल से होती है। पूर्व समय में उक्त सूत्र में स्वरित-स्वर केवल 'सवर्णः' पर था, 'पर' पर नहीं। यद्यपि अब स्वरितादि स्वर चिह्न नहीं रहे तथापि 'प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीयाः' की तरह 'प्रतिज्ञास्वरिताः पाणिनीयाः' भी जानना चाहिये। अथवा 'पर' में षष्ठी का लोप समझना चाहिये।

सूत्र से लुक् हुआ समझना चाहिय।] इति इत्यव्ययपदम्। निर्दिष्टात् ।२।१। [तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' सूत्र से विभक्ति विपरिणाम द्वारा] उत्तरस्य ।६।१। अर्थ —(तस्माद् इति निर्दिष्टात्) 'उद स्था स्तम्भो पूर्वस्य' आदि सूत्रों में स्थित 'उद्' आदि पञ्चम्यन्त पदों के निरन्तर उच्चारण किये गये अर्थों से (उत्तरस्य) परल के स्थान पर कार्य होता है।

पञ्चम्यन्त पदों के अर्थों का निर तर उच्चारण तभी हो सकता है जब उन से अव्यवहित [व्यवधान रहित] उत्तर को कार्य्य हा अत यह सुतराम् आ जाता है कि सूत्रों में स्थित पञ्चम्यन्त पदों के अर्थों से अव्यवहित पर को कार्य हो। इस सूत्र की विशेष व्याख्या 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूवस्य (१६) सूत्र के समान समझ लेनी चाहिये। हम यहां पिष्ट पेषण करना नहीं चाहते।

इस सूत्र से अन्ततो गत्वा यह ज्ञात हाता है कि उदाहरणों मे पञ्चम्य त पद के अर्थ से अव्यवहित पर को ही कार्य हो, पूर्व का अथवा व्यवहित पर को कार्य न हो। यथा— उद् + प्रस्थानम्' यहा यद्यपि उद्' स स्था परे है, तथापि प्र' शब्द का मध्य में व्यवधान होने से उद स्थास्तम्भो० (७०) सूत्र द्वारा पूर्व सवण नहीं होता। इसी प्रकार तिङ्ङतिङ' (८।१।२८) [अतिङन्त से तिङन्त को निघात अर्थात् सर्वानुदात्तस्वर हो।] सूत्र ईडे अग्निम्' में प्रवृत्त नहीं होता, क्योंकि अग्निम् इस अतिङन्त पद स ईड' यह तिङन्त पद् परे नहीं पूर्व में वर्त्तमान है।

यह परिभाषा सूत्र है। परिभाषाए प्रयोगसिद्धि में स्वतन्त्रतया कुछ काय नहीं किया करतीं, अपितु सूत्रों के अर्थों में मिश्रित हो कर प्रयागसिद्धि किया करती है, यह हम पीछे लिख चुके हैं। इस के अनुसार यह परिभाषा भी उद स्था स्तम्भो पूर्वस्य' (७०) आदि सूत्रों के साथ मिल कर एकार्थ उत्पन्न करगी। तो अब उद स्थास्तम्भो पूवस्य' (७०) सूत्र का यह अर्थ हो जायगा— उद्' स अव्यवहित पर स्था और स्तम्भ् को पूर्व सवर्ण आदश हो। इसी प्रकार 'तिङ्ङतिङ (८। ।२८) सूत्र का यह अर्थ होगा—अतिङन्त पद से अव्यवहित पर तिङन्त के स्थान पर निघात अर्थात् सर्वानुदात्त-स्वर हो।

'उद्+स्थान' 'उद्+स्तम्भन' इन दानों स्थानों पर 'उद्' से परे अव्यवहित स्था और स्तम्भ विद्यमान हैं, अत इन क स्थान पर पूर्व सवण करना है। अब 'स्था स्तम्भो' के षष्ठ्यन्त होने से 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) सूत्र से इन के अन्त्य अल् के स्थान पर पूर्व सवर्ण प्राप्त होता है इस पर 'अलाऽन्त्यस्य' (२१) के अपवाद अग्रिम सूत्र को लिखते हैं—

[लघु०] परिभाषा सूत्रम्—७२ आदेः परस्य ।१।१।५३॥

परस्य यद् विहित तन् तस्यादेर्बोध्यम। इति सूत्रार्थः।

अर्थः—पर के स्थान पर जो कार्य विधान किया जाता है वह कार्य उस (पर) के के आदि वर्ण के स्थान पर समझना चाहिये ।

व्याख्या—आदेः ।६।१। अलः ।६।१। ['अलोऽन्त्यस्य' सूत्र से] परस्य ।६।१। अर्थः—(परस्य) पर के स्थान पर विधान किया कार्य (आदेः) उसके आदि (अलः) अल् के स्थान पर होता है । यहां सूत्रार्थ अनुकूल पदों का अध्याहार कर के ही किया जाता है ।

'उद् + स्थानम्' 'उद् + स्तम्भनम्' यहां 'तस्मादित्युत्तरस्य' (७१) परिभाषा की सहायता से, 'उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य' (७०) सूत्र द्वारा परले स्था और स्तम्भ् का पूर्वसवर्ण होना था अब वह इस परिभाषा द्वारा परले के आदि अर्थात् सकार को होगा ।

अब यहां यह विचार प्रस्तुत होता है कि स को पूर्व (दकार) का कौन सवर्ण हो ? क्योंकि पूर्व (दकार) का एक सवर्ण नहीं किन्तु पांच सवर्ण है—'त्, थ्, द्, ध्, न्' । इस सन्देह की निवृत्ति के लिये 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) सूत्र उपस्थित हो कर कहता है कि 'प्राप्त हुए आदेशों में अत्यन्त सदृश आदेश हो' । इसके अनुसार अब हमें 'त्, थ्, द्, ध्, न्' इन पाञ्च वर्णों में से सकार के अत्यन्त सदृश वर्ण ढूंढना है । यदि यहां स्थानकृत आन्तर्य (सादृश्य) देखते हैं तो वह 'लृतुलसानां दन्ताः' के अनुसार सब में समान है, अतः इस आन्तर्य से काम नहीं निकल सकता । अर्थकृत और प्रमाणकृत सादृश्य तो इन में हो नहीं सकते । अतः अब शेष बचे गुणकृत आन्तर्य अर्थात् यत्नों द्वारा सादृश्य से ही परीक्षा करेंगे । यत्न—आभ्यन्तर और बाह्य दो प्रकार के होते हैं । इन में प्रथम आभ्यन्तर-यत्न तो सकार के साथ उन पाञ्चों में से किसी का नहीं मिलता, क्योंकि 'ईषद्विवृतमूष्मणाम्' के अनुसार सकार का 'ईषद्विवृत' और उन पाञ्चों का 'तत्र स्पृष्टं प्रयतनं स्पर्शानाम्' के अनुसार 'स्पृष्ट' है । अतः बाह्य यत्नों की ही परीक्षा करते हैं । सकार का 'विवार, श्वास, अघोष और महाप्राण' बाह्य यत्न है ।

उन पाञ्चों के निम्नप्रकार से बाह्य होते हैं—

त्	विवार,	श्वास,	अघोष,	अल्प प्राण ।
थ्	,,	,,	,,	महाप्राण ।
द्	संवार,	नाद,	घोष,	अल्प प्राण ।
ध्	,,	,,	,,	महाप्राण ।
न्	,,	,,	,,	अल्प प्राण ।

इन पाञ्चों में थकार के सिवाय अन्य कोई सकार के तुल्य बाह्य यत्नों वाला नहीं; अतः सकार के स्थान पर पूर्वसवर्ण थकार ही होता है—'उद् थ्थान, उद् थ्तम्भन' । अब अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—७३ झरो झरि सवर्णे ।८।४।६५।।

हल परस्य झरो वा लोप सवर्णे झरि ।

अर्थ —सवर्ण झर परे हो तो हल् से परे झर् का विकल्प कर के लोप हो जाता है।

व्याख्या—हल ।५।१। ['हलो यमां यमि लोप ' से] झर ।६।१। लोप ।१।१। ['हलो यमा यमि लोप ' से] अन्यतरस्याम् ।७।१। ['झयो होऽन्यतरस्याम्' से] सवर्णे ।७।१। झरि ।७।१। अथ —(हल) हल से* (झर) अव्यवहित पर झर का (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में (लोप) लोप हो जाता है यदि (सवर्णे) सवर्ण (झरि) झर परे हो तो ।

यहा निमित्त † और स्थानियों ‡ का यथासङ्ख्य नहीं होता अर्थात् यहा 'झ का झ परे होने पर, भ का भ् परे होने पर, घ का घ् परे होने पर, ढ का ढ पर होने पर' इत्यादि क्रम से लोप नहीं होता क्योंकि यदि एसा अभीष्ट होता तो पाणिनि जी झरा झरि' इतना ही सूत्र बनाते 'सवर्णे पद का ग्रहण न करते, अत विदित होता है कि वे सवर्ण झर् मात्र परे होने पर झर का लोप चाहते हैं । इसका प्रयोजन 'उद् थ तम्भन' आदि प्रयोगों में थकार आदि का लोप करना है।

'उद् थ थान' 'उद् थ् तम्भन' यहा इस सूत्र से झर् = प्रथम थकार का विकल्प कर के लोप हो जाता है, क्योंकि इस से परे थकार और तकार क्रमश सवर्ण झर् विद्यमा हैं ।

लोप पक्षे			लोपाभाव पक्षे		
१	उद्	थान ।	१	उद्	थ् थान ।
२	उद्	तम्भन ।	२	उद्	थ् तम्भन।

अब इन सब स्थानों पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—७४ खरि च ।८।४।५५।।

खरि झलां चर' स्युः । इत्युदो दस्य त' । उत्थानम् । उत्तम्भनम् ।

---

* हल् से परे झर का लोप विहित होने से 'पत्त्रम, दत्त्वा, तत्त्वम्, सत्त्वम्, कित्त्वम्, डित्त्वम् मित्त्रम्, क्षत्त्रिय, छत्त्रम्, छात्त्र, पुत्त्र ' इत्यादि में 'त्' का और 'वाग्ग्मी में 'ग' का लोप नहीं होगा। जो लोग-पत्र, तत्व, कित्व, वाग्मी आदि रूप लिखते हैं, वे अपाणिनीय हैं ।

† जिस के होने पर कोई काय हो उसे 'निमित्त' कहते हैं । यथा 'इको यणचि (१५) में अच परे होने पर इक् को यण् होता है तो यहां 'अच् निमित्त है। 'झरो झरि सवर्णे (७३) सूत्र में झर् परे होने पर झर् का लोप कहा गया है तो यहा परला 'झर निमित्त है।

‡ जिस के स्थान पर कुछ किया जाता है उसे 'स्थानी' कहते हैं। यथा—'झरो झरि सवर्णे (७३) में झर् के स्थान पर लोप विहित होने से 'झर् स्थानी है इसी प्रकार इको यणचि (१५) आदि में इक् आदि स्थानी हैं ।

अर्थ —खर् प्रत्याहार परे होने पर झलों के स्थान पर चर् हो जाता है । इस सूत्र से 'उद्' के दकार को तकार हो गया ।

व्याख्या—खरि ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । झलाम् ।६।३। ['झलां जश् झशि' से] चर ।१।३। ['अभ्यासे चर् च' से वचन विपरिणाम कर के] अर्थ —(खरि) खर प्रत्याहार परे होने पर (झलाम्) झलों के स्थान पर (चर) चर् हो जाते हैं ।

वर्गों के प्रथम, द्वितीय तथा श , ष स वर्ण—'खर' कहाते हैं । वर्गों के प्रथम तथा श्, ष, स वर्ण— चर्' कहाते हैं । वर्गों के पञ्चम वर्णों को छोड कर शेष सब वर्गस्थ वर्ण तथा ऊष्म वर्ण—'झल प्रत्याहार के अन्तर्गत हो जाते हैं ।

'श, ष् स्' इन झलों के स्थान पर 'श ष् स' ही चर् होते हैं । यथा— निश्चय , रामश्चिनोति' यहां चकार खर परे होने पर शकार झल को शकार चर ही हुआ है । 'वृष्टि , वृष्ट दृष्टि , दृष्ट ' यहां टकार खर परे होने पर षकार झल् को षकार चर ही हुआ है । 'अस्ति, अस्तु, स्त , परास्त , रामस्स्य' यहां खर परे होने पर सकार झल को सकार चर् ही हुआ है ।

झल् प्रत्याहारान्तर्गत हकार मे परे कभी खर् नहीं आता, क्योंकि खर् से पूर्व हकार को सदैव 'हो ढ ' (२५१) द्वारा ढकार हो जाता है ।

प्रश्नः—यदि 'श , ष स' के स्थान पर श , ष्, स' ही होते हैं और हकार की ज़रूरत ही नहीं, तो झल् की बजाय झय और चर् की बजाय चय ही क्यों नहीं कह देते ? ।

उत्तर—'खरि च' (७४) सूत्र में झल् और चर् की पीछे से अनुवृत्ति आ रही है, उसी से यहां काम चल जाता है, अब यदि झय और चय कहेंगे तो पिछले किसी सूत्र से अनुवर्त्तन न होने के कारण यहां ही उनका ग्रहण करना पड़ेगा, इस से लाघव की बजाय गौरव दोष ही उत्पन्न होगा, अत इन अनुवर्तित झल् और चर पदों से ही काम चलाने में लाघव है, किञ्च इन के ग्रहण से कोई दोष तो उत्पन्न होता ही नहीं ।

'स्थानेऽ न्तरतम ' (१७) सूत्र द्वारा जिस झल् का जिस चर् के साथ साम्य होगा, वही उसी के स्थान पर आदेश होगा । इन सब की तालिका निम्न प्रकार से समझनी चाहिये—

झल् (वे वर्ण जिन के स्थान पर आदेश होते हैं।)	साम्य स्थान	चर् (आदेश होने वाले वर्ण)
घ, ग्, ख, क	कण्ठ	क्
झ ज, छ च	तालु	च्
ढ, ड ठ्, ट्	मूर्धा	ट
ध् द्, थ, त्	दन्त	त
भ, ब, फ, प	ओष्ठ	प्
श्		
ष		
स्		

भाव—वर्गों के दूसरे, तीसरे तथा चौथे वर्णों को वर्गों के प्रथम वर्ण हो जाते हैं, यदि उन से परे वर्गों के पहले, दूसरे तथा श्, ष्, स्, वर्ण हों तो।

अब इस सूत्र से—

१ उद् थ थान		१ उद् थान
२ उद् थ् तम्भन		२ उद् तम्भन

इन चारों स्थानों पर 'उद्' के दकार को तकार हो जाता है। तो इस प्रकार—

लोपाभावे	लोप पक्षे
१ उत्थ्थानम्	१ उत्थानम्
२ उत्थ्तम्भनम्	२ उत्तम्भनम्

ये दो २ रूप सिद्ध होते हैं।

नोट—ध्यान रहे कि 'उत्थ्थानम्, उत्थ्तम्भनम्' इन लोपाभाव वाले रूपों में 'उद स्था स्तम्भो पूर्वस्य' (८।४।६१) सूत्र द्वारा किये गये पूर्व-सवर्ण के असिद्ध होने से 'खरि च' (८।४।५५) द्वारा थकार को तकार नहीं होता। [विशेष 'सिद्धान्त कौमुदी' तथा उस की टीकाओं में देखें।]

अभ्यास (१७)

(१) सूत्र समन्वय करते हुए सन्धि करो—

१ भेद् + तुम्। २ शिण्ड + ढि। ३ उद् + स्थापयति। ४ भगवान्+लक्षते। ५ छेद् + तव्यम्। ६ रुन्द् + ध। ७ प्रत् + त्तम्। ८ लिभ् + सा। ९ उद् + स्तम्भते। १० उद् + स्थित। ११ बन्द्+धुम्। १२ उद् + स्तम्भितुम्।

(२) सूत्रोपपत्तिपूर्वक सन्धिच्छेद करो—

१ पिण्ढि। २ भिन्त। ३ तुग्ध। ४ उत्थाय। ५ उत्तम्भिता। ६ युयुत्सत। ७ अग्निमत्सु। ८ भ्रत्त। ९ दग्ध। १० ऊर्गीयते*। ११ अवत्तम्। १२ उत्थातव्यम्। १३ आरिप्सते। १४ निव धा [तृच्]।

(३) 'झरो झरि सवर्णे' सूत्र में 'सवर्ण' ग्रहण का क्या प्रयोजन है? उदाहरण दे कर स्पष्ट करें।

(४) 'तोर्लि' सूत्र द्वारा नकार को अनुनासिक लकार क्यों होता है? अननुनासिक ही हो जाय।

(५) खर् परे होने पर श्, ष्, स् के स्थान पर कौन २ से चर होंगे?।

(६) निमित्त स्थानी और आदेश किसे कहते हैं? सोदाहरण स्पष्ट करें।

(७) 'आदे: परस्य' और 'तस्मादित्युत्तरस्य' परिभाषाओं का क्या अर्थ है? और यह अर्थ कैसे निष्पन्न होता है?।

(८) निम्न लिखित प्रश्नों का उत्तर दें—

(क) खर परे होने पर हकार के स्थान पर क्या होगा?।

(ख) 'उत्थ्थानम्' यहां 'खरि च' द्वारा थकार को तकार क्यों नहीं होता?।

(ग) 'उद् + प्रस्थानम्' में सन्धि करो।

—०❀०—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—७५ झयो होऽन्यतरस्याम् ।८।४।६२॥

झय परस्य हस्य वा पूर्वसवर्णः। नादस्य घोषस्य संवारस्य महाप्राणस्य हस्य तादृशो वर्गचतुर्थः। वाग्घरिः। वाग्हरिः।

अर्थ—झय से परे हकार को विकल्प करके पूर्व-सवर्ण हो।

नादस्येति—नाद, घोष, संवार और महाप्राण यत्न वाले हकार के स्थान पर वैसा वर्गों का चतुर्थ होगा।

व्याख्या—झयः ।५।१। हः ।६।१। अन्यतरस्याम् ।७।१। पूर्वस्य ।६।१। ['उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य से] सवर्णः ।१।१। ['अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से] अर्थः—(झयः) झय् से अव्यवहित पर (हः) 'ह्' के स्थान पर (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में (पूर्वस्य) पूर्व का (सवर्णः) सवर्ण आदेश होता है। भाव—झय् प्रत्याहार में पञ्चम वर्णों को छोड़ कर शेष सब वर्गस्थ वर्ण आ जाते हैं। इन से परे हकार हो तो उस के स्थान पर पूर्व (झय) का सवर्ण (चतुर्थ) आदेश हो जाता है।

---

* ऊक् + गीयते = ऊग + गीयते = ऊर्गीयते।

उदाहरण यथा— वाग्घरि (वाणी का शेर अर्थात् बोलने में चतुर)। 'वाक्+हरि' यहां प्रथम 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से ककार का गकार आदेश हो—'वाग्+हरि'। अब यहां झय् गकार है, इस से परे हकार के स्थान पर पूर्व अर्थात् गकार का सवर्ण आदेश करना है। गकार के—क ख् ग् घ् ङ ये पांच सवर्ण हैं। इन में से यहां कौन हो? ऐसी शङ्का उत्पन्न होने पर 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) सूत्र उपस्थित हो कर कहता है कि जो हकार के साथ अत्यन्त सदृश हो वही हकार के स्थान पर आदेश किया जाय। अब यदि स्थानकृत आन्तर्य देखते हैं तो हकार के सब सदृश ठहरते हैं, क्योंकि, 'अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः' के अनुसार हकार और कवर्ग दोनों का कण्ठ स्थान है। अर्थकृत तथा प्रमाणकृत आन्तर्य तो यहां हो ही नहीं सकते। अतः अब शेष बचे गुणकृत आन्तर्य (अर्थात् यत्नों द्वारा सादृश्य) से ही सदृशता जाचेंगे। आभ्यन्तर यत्न तो इन का हकार के साथ तुल्य हो नहीं सकता। 'ईषद्विवृतमूष्मणाम्' के अनुसार हकार ईषद्विवृत तथा 'स्पृष्टं प्रयतनं स्पर्शानाम्' के अनुसार कवर्ग स्पृष्ट है। अतः अब बाह्य यत्न देखेंगे। हकार का बाह्ययत्न—संवार, नाद, घोष और महाप्राण है। कवर्ग में इस प्रकार के बाह्ययत्न वाला केवल घकार ही है इस से हकार के स्थान पर विकल्प कर के घकार हो विभक्ति लाने से पूर्वसवर्णपक्ष में वाग्घरि और तदभावपक्ष में 'वाग्हरि' इस प्रकार दो रूप बन जाते हैं। वाचि वाचो वा हरि (सिंह)=वाग्घरि।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

१ तद्+हानि=तद्धानि। २ अच्+हीन=अज्+हीन=अज्झीनम्। ३ मधुलिड्+हसति=मधुलिड्ढसति। ४ अब्+हस्ती=अब्भस्ती। ५ अज्+ह्रस्वदीर्घप्लुत=अज्झ्रस्वदीर्घप्लुत। ६ स्याड्+ह्रस्वश्च=स्याड्ढ्रस्वश्च। ७ दिग्+हस्ती=दिग्घस्ती। ८ सम्पद्+हर्ष=सम्पद्धर्ष। ९ रत्नमुड्+हरति=रत्नमुड्ढरति। १० वणिग्+हस्ती=वणिग्घस्ती।

इन सब स्थानों पर पूर्वसवर्णाभाव पक्ष में भी प्रयोग जान लेना चाहिये। यहां सर्वत्र हकार के स्थान पर पूर्वले अक्षर के वर्ग का चतुर्थ वर्ण ही होता है क्योंकि आन्तर्य परीक्षा में वह ही हकार के अत्यन्त सदृश हो सकता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—७६ शश्छोऽटि। ८।४।६३॥

झयः परस्य शस्य छो वाऽटि। 'तद्+शिव' इत्यत्र दस्य श्चुत्वेन जकारे कृते 'खरि चे'ति जकारस्य चकारः। तच्छिव', तच्शिव'।

अर्थ—झय् से परे शकार को विकल्प कर के छकार हो जाता है, अट् परे हो तो।

व्याख्या—झयः।५।१। ['झयो होऽन्यतरस्याम्' से] शः।६।१। छः।१।१।

अन्यतरस्याम् ।७।१। ['झयो होऽन्यतरस्याम्' से] अटि ।७।१। अर्थः—(झय) झय् से परे (श) 'श्' के स्थान पर (छ) छ् हो जाता है (अटि) अट परे होने पर (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में अर्थात् विकल्प से ।

यह सूत्र 'स्तो श्चुना श्चु' (८।४।४०) और 'खरि च (८।४।५५) दोनों की दृष्टि में असिद्ध है। इन दोनों में भी 'स्तो श्चुना श्चु' (८।४।४०) की दृष्टि में 'खरि च' (८।४।५५) असिद्ध है अत सब से प्रथम 'स्तो श्चुना श्चु' (६२) फिर 'खरि च' (७४) तदनन्तर 'शश्छोऽटि' (७६) सूत्र प्रवृत्त होगा। उदाहरण यथा—

तद् + शिव=तज+शिव ('स्तो श्चुना श्चु')='तच् शिव' ('खरि च) अब यहा झय् चकार है इस से परे शकार वर्तमान है और उस शकार से भी इकार=अट् परे है अत इस सूत्र से शकार को वकल्पिक छत्व हो कर विभक्ति लाने से छत्वपक्ष में 'तच्छिव' और छत्वाभाव पक्ष में 'तच्शिव' इस प्रकार दो रूप सिद्ध होते हैं।

इसके अन्य उदाहरण यथा—

१ मधुलिट्+शेते=मधुलिट छेते। २ वाक्+शेते=वाक छेते। ३ मत्+श्वशुर =मच+श्वशुर +मच्छ्वशुर । ४ यावत्+शक्यम्=यावच् + शक्यम्=यावच्छक्यम्। ५ जगत्+शान्ति=जगच्+ शान्ति=जगच्छान्ति । ६ तद्+श्रुत्वा=तज्+श्रुत्वा=तच्+श्रुत्वा=तच्छ्रुत्वा। ७ कश्चित्+शेते= कश्चिच्+शेते=कश्चिच्छेते। ८ प्राक्+शेते=प्राक्छेते।

नोट—यहां 'वा पदान्तस्य' (८।४।५९) सूत्र से पदान्तस्य' पद का भी अनुवर्तन होता है। विभक्तिविपरिणाम से वह पञ्चम्यन्त हो कर 'झय' का विशेषण बन जाता है। इस से यह अर्थ हो जाता है—पदान्त झय् से परे शकार को छकार हो विकल्प कर के अट् परे हो तो। 'पदान्त' पद लाने का यह प्रयोजन है कि— विरप्शम्, चक्शौ' आदियों में अपदान्त पकार ककार दियों से परे शकार को छकार न हो जाय।

[लघु०] वा—१२ छत्वममीति वाच्यम् ॥

तच्छ्लोकेन ।

अर्थः—पदान्त झय से परे शकार को वैकल्पिक छकारादेश—अट् परे की बजाय अम् परे होने पर कहना चाहिये।

व्याख्या—मुनिवर पाणिनि के 'शश्छोऽटि' (७६) सूत्र से 'तच्छ्लोकेन, तच्छ्मश्रुणा' आदि प्रयोग सिद्ध नहीं हो सकते थे क्योंकि इन में शकार से परे लकार है, लकार अट् प्रत्याहार में नहीं आता। अत इनकी सिद्धि के लिये महामुनि कात्यायन वार्तिक रचते हुए लिखते हैं कि—(छत्वम् ।१।१) छत्व (अमि) अम् प्रत्याहार परे होने पर हो (इति वाच्यम्) ऐसा कहना चाहिये ।

कात्यायन का पाणिनि के 'शश्छोऽटि (७६) सूत्र के अन्य किसी अंश से मतभेद नहीं, केवल 'अटि' अंश से ही मतभेद है। वे चाहते हैं कि 'अटि' को हटा कर इसके स्थान पर 'अमि' कर देना चाहिये। ऐसा करने से तच्छ्लोकेन' आदि रूप सिद्ध हो जाते हैं। तथाहि –

तद्+श्लोक=तज्+श्लोक ['स्तोः श्चुना श्चुः' (६२)]=तच्+श्लोक ['खरि च' (७४)] यहां झय्=चकार से शकार परे विद्यमान है। इस से 'ल्' यह अम् परे है। अतः विकल्प कर के शकार को छकार हो कर विभक्ति लाने से छत्वपक्ष में तच्छ्लोकेन और छत्वाभावपक्ष में 'तच्श्लोकेन' ये दो रूप सिद्ध होते हैं। [स श्लोक =तच्छ्लोक, यद्वा तस्य श्लोक =तच्छ्लोक, तेन=तच्छ्लोकेन। उस श्लोक से]।

इसी प्रकार अन्य उदाहरण यथा—

१ तच्छ्मशानम्, तच्श्मशानम्। [तच्चादश्श्मशानञ्च, अथवा तस्य श्मशानमिति विग्रहः। यद्वा व्यस्तमेवास्तु।]

२ एतच्छ्मश्रु, एतच्श्मश्रु। [एतच्चादश्श्मश्रु च अथवा एतस्य श्मश्रु, इति विग्रहः। यद्वा व्यस्तमेवास्तु।]

३ यच्छ्नाप्रत्ययः। [यः श्नाप्रत्ययः इति अथवा यस्य श्नाप्रत्ययः इति विग्रहः।]

४ सोमसुच्छ्लाघा। [सोमसुतः श्लाघा इति विग्रहः।]

५ भूभृच्छ्लक्ष्णः। [भूभृच्चासौ श्लक्ष्णश्चेति विग्रहः।]

६ अग्निचिच्छ्लेष्मा। [अग्निचितः श्लेष्मेति विग्रहः।]

७ तच्छ्लिष्टः। [स चासौ श्लिष्टश्चेति विग्रहः।]

अभ्यास (१८)

(१) झय् से परे हकार को पूर्वसवर्ण वर्ग चतुर्थ ही क्यों होता है? अन्य कोई क्यों नहीं हो जाता? सप्रमाण विवेचन करें।

(२) शश्छोऽटि' सूत्र में 'अटि' पद पढ़ने से क्या दोष उत्पन्न होता था? श्रीकात्यायन ने उसका क्या उपाय किया है?।

(३) "विरप्शम् तच्श्चुत्वम् चक्शौ, सकृच्श्चोतति" इत्यादियों में छत्व क्यों नहीं होता?।

(४) "भवान्+हसति, प्राङ+हसति, भगवान्+हृषीकेश, धनवान्+हृष्ट" इत्यादि प्रयोगों में हकार को पूर्वसवर्ण क्यों न कर दिया जाए?।

(५) श्चुत्व, चर्त्व और छत्व में कौन प्रथम और कौन पश्चात् होता है? इसका क्या कारण है?।

— ❀ —

[लघु०] विधि सूत्रम्—७७ मोऽनुस्वारः ।८।३।२३॥

मान्तस्य पदस्यानुस्वारो हलि । हरिं वन्दे ।

अर्थः—हल् परे हो तो मकारान्त पद के स्थान पर अनुस्वार हो जाता है ।

व्याख्या—मः ।६।१। पदस्य ।६।१। [यह अधिकार पीछे से आ रहा है] अनुस्वारः ।१।१। हलि ।७।१। ['हलि सर्वेषाम्' से] 'मः' यह 'पदस्य' का विशेषण है अतः इस से 'येन विधिस्तदन्तस्य (१।१।७२) द्वारा तदन्तविधि हो कर 'मान्तस्य पदस्य' ऐसा बन जाता है । अर्थः—(हलि) हल् परे होने पर (मः=मान्तस्य) मकारान्त (पदस्य) पद के स्थान पर (अनुस्वारः) अनुस्वार होता है। 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) द्वारा मकारान्त पद के अन्त्य अल्=मकार को ही अनुस्वार होगा ।

उदाहरण यथा—'हरिं वन्दे' (मैं हरि को नमस्कार करता हूं ।) हरिम् + वन्दे' यहां मकारान्त पद 'हरिम्' है इसकी सुबन्त होने 'सुप्तिङन्तं पदम्' (१४) द्वारा पद सञ्ज्ञा है । इस से परे 'व्' यह हल् विद्यमान है अतः मकारान्त पद के अन्त्य अल्=मकार को अनुस्वार आदेश हो कर 'हरिं वन्दे' प्रयोग सिद्ध होता है । *

इसके अन्य उदाहरण यथा—मातरम् + वन्दे=मातरं वन्दे, पुस्तकम्+पठति=पुस्तकं पठति, गुरुम्+नमति=गुरुं नमति, शत्रुम् + जयति=शत्रुं जयति । इत्यादि ।

'हल परे होने पर' इस लिये कहा गया है कि तम्+आगच्छति=तमागच्छति, यम्+ऋषिम्=यमृषिम्, तम् + ऌकारम्=तम्ऌकारम्' इत्यादि स्थानों पर अच् परे रहते अथवा अवसान में अनुस्वार न हो जाय ।

पद ग्रहण का यह प्रयोजन है कि—'गम्यते, नम्यते' इत्यादि स्थानों पर हल् परे रहते हुए भी अपदान्त मकार को अनुस्वार न हो जाय ।

[लघु०] विधि सूत्रम्—७८ नश्चापदान्तस्य झलि ।८।३।२४॥

नस्य मस्य चापदान्तस्य झल्यनुस्वारः । यशांसि । आक्रंस्यते । झलि किम् ? मन्यसे ।

अर्थः— झल् परे होने पर अपदान्त नकार मकार को अनुस्वार हो जाता है ।

व्याख्या—नः ।६।१। च इत्यव्ययपदम् । अपदान्तस्य ।६।१। झलि ।७।१। मः ।६।१। अनुस्वारः ।१।१। ['मोऽनुस्वारः' से] अन्वयः—अपदान्तस्य नः मः च झलि

---

* कई लोग 'हरिम्वन्दे, सम्वृत्तः' इत्यादि लिखते हैं, सो ठीक नहीं अनुस्वार आवश्यक है । हां परसवर्ण वैकल्पिक है—हरिवँ वन्दे, हरिं वन्दे ।

अनुस्वार । अर्थ — (झलि) झल् परे होने पर (अपदान्तस्य) अपदान्त (न) नकार (च) और (म) मकार के स्थान पर (अनुस्वार) अनुस्वार हो जाता है। उदाहरण यथा—

'यशांसि' (बहुत यश)। 'यशान्+सि' ['यशस' शब्दाज्जसि जश्शसो शि' (२३७) इति शावादेशे 'शि सर्वनामस्थानम् (२३८) इति तस्य सर्वनामस्थानतायां 'नपुंसकस्य झलचः' (२३९) इति नुमागमे सान्तमहत संयोगस्य' (३४२) इति सान्तसंयोगान्तस्योपधाया दीर्घे च कृते— यशान्सि' इति निष्पद्यते।] यहां सकार झल परे होने से अपदान्त नकार को अनुस्वार करने से 'यशांसि' प्रयाग सिद्ध होता है।

आक्रंस्यते' (आक्रमण होगा)। 'आक्रम् + स्यते [आङ्पूर्वात् 'क्रमु पादविक्षेपे' (भ्वा०) इति धातो कर्तरि लृट, 'आङ उद्गमने' (१।३।४०) इत्यात्मनेपदम्।] यहां अपदान्त मकार को पूर्वसूत्र से अनुस्वार प्राप्त नहीं हो सकता है अब इस सूत्र से सकार झल परे होन से उसे अनुस्वार हो कर 'आक्रंस्यते' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इस सूत्र में 'झलि' का ग्रहण इस लिये किया गया है कि—"गम् + यसे=गम्यसे, मन् + यसे=मन्यसे, हन् + यसे=हन्यसे" इत्यादि स्थानों मे झल परे न होने के कारण अनुस्वार न हो जाय।

'अपदान्तस्य' ग्रहण करने से 'राजन्पाहि ब्रह्मन्पाहि' इत्यादियों में पदान्त नकार को अनुस्वार नहीं होता।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

१ पयान्+सि=पयांसि। २ आयम्+स्यते=आयंस्यते। ३ अनम् + सीत्=अनंसीत्। ४ नम् + स्यति=नंस्यति। इत्यादि।

[लघु०] विधि सूत्रम्—७९ अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ।८।४।५८॥

स्पष्टम्। शान्तः।

अर्थ—यय् परे होने पर अनुस्वार को पर सवर्ण होता है।

व्याख्या—अनुस्वारस्य ।६।१। ययि ।७।१। परसवर्णः ।१।१। समास—परस्य सवर्णः=परसवर्णः, षष्ठीतत्पुरुषसमास। अथवा पर इति लुप्तषष्ठीकं पृथक् पदम्, सवर्ण इति तु स्वरितत्वादधिकृतम्। अर्थ—(ययि) यय परे होने पर (अनुस्वारस्य) अनुस्वार के स्थान पर (परसवर्णः) पर सवर्ण आदेश होता है।

भाव—सब वर्गस्थ वर्ण तथा अन्तःस्थ वर्ण यय प्रत्याहार के अन्दर आ जाते हैं इन के परे होने पर अनुस्वार को पर अर्थात् यय का सवर्ण आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—

'शान्त' (शान्त व नष्ट)। 'शाम् + त [शमु उपशमे (दिवा०), क्त, वा दान्त शान्तेत्यादिनिपातनान्नट, अनुनासिकस्य क्वीति दीर्घ।] यहां नश्चापदान्तस्य झलि'

(७८) सूत्र से अपदान्त मकार को अनुस्वार हो 'शांत' ऐसा बना अब इस सूत्र से तकार यय् परे होने पर अनुस्वार को परसवर्ण करना है। तकार के सवर्ण—'त्, थ्, द्, ध्, न्' ये पाञ्च वर्ण हैं। इन में नासिकास्थान के सादृश्य के कारण अनुस्वार के सदृश नकार है अतः अनुस्वार को नकार हो कर विभक्ति लाने से 'शान्त' प्रयोग सिद्ध होता है।

इस के कुछ अन्य उदाहरण यथा—१ अन्+कित=अंकित=अङ्कित। २ अन्+चित=अंचित=अञ्चित। ३ कुन्+ठित=कुंठित=कुण्ठित। ४ दाम्+त=दांत=दान्त। ५ गुम्+फित=गुंफित=गुम्फित। इत्यादि।

यहां 'यय्' ग्रहण स्पष्टार्थ है। यय् ग्रहण न करने से भी कोई दोष नहीं आ सकता। तथाहि—"आक्रंस्यते दंशनम् अंहिप" इत्यादि प्रयोगों में "रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति" [रेफ तथा ऊष्म अर्थात् श ष स ह वर्णों के सवर्ण नहीं होते।] इस वचन के कारण परसवर्ण नहीं होगा तथा अचों के परे होने पर तो अनुस्वार ही नहीं मिल सकेगा।

इस सूत्र का 'य, व्, र, ल' के परे होने पर यद्यपि कोई उदाहरण नहीं तथापि अग्रिम 'वा पदान्तस्य' (८०) सूत्र में इनका उपयोग दिखाया जायगा।

नोट—ग्रन्थकार ने इस सूत्र की वृत्ति [जो सूत्र पर संस्कृत में उस का अर्थ लिखा होता है उसे 'वृत्ति' कहते हैं] नहीं लिखी केवल 'स्पष्टम्' लिखा है। इस का आशय यह है कि इस सूत्र का अर्थ स्पष्ट है अर्थात् इस सूत्र में अन्य किसी सूत्र के पद की अनुवृत्ति नहीं आती। यह सूत्र ही अपनी आप वृत्ति है। एवमन्यत्र भी समझ लेना चाहिये।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—८० वा पदान्तस्य ।८।४।५९॥

पदान्तस्यानुस्वारस्यययि परे परसवर्णो वा स्यात्।
त्वङ्करोषि, त्वं करोषि।

अर्थः—यय् परे हो तो पदान्त अनुस्वार को विकल्प कर के परसवर्ण हो जाता है।

व्याख्या—वा इत्यव्ययपदम्। पदान्तस्य ।६।१। अनुस्वारस्य ।६।१। ययि ।७।१। परसवर्णः ।१।१। ['अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' से] अर्थः—(ययि) यय् परे होने पर (पदान्तस्य) पदान्त (अनुस्वारस्य) अनुस्वार के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (परसवर्णः) परसवर्ण आदेश होता है। यह सूत्र पूर्वसूत्र का अपवाद है अतः पूर्व सूत्र अपदान्त अनुस्वार का और यह पदान्त अनुस्वार को यय् परे होने पर परसवर्ण करेगा।

उदाहरण यथा—'त्वङ्करोषि, त्वं करोषि' (तू करता है)। 'त्वम्+करोषि' यहां 'त्वम्' इस पद के अन्त्य मकार को 'मोऽनुस्वारः' (७७) सूत्र से अनुस्वार हो कर 'त्वं+

करोषि बना। अब इस सूत्र से पदान्त अनुस्वार को पर=ककार का सवर्ण ङकार करने से—'त्वङ करोषि'। परसवर्णाभावपक्ष में—त्वं करोषि'। [पर=ककार के "क्, ख्, ग, घ ङ" ये पाञ्च सवर्ण हैं स्थानकृत आन्तर्य से ककार को ङकार ही होगा।]

इसी प्रकार—तङ् कथम् चित्रपक्षङ डयमानम् पुरुषाऽवधीत् । [परसवर्णपक्षे]
तं कथं चित्रपक्षं डयमानं पुरुषोऽवधीत् । [परसवर्णाभावे]

य्, व्, ल्' वर्ण सानुनासिक और निरनुनासिक भेद से दो प्रकार के होते हैं यह हम पीछे सञ्ज्ञा प्रकरण में बता चुके हैं। य, व, ल्' के परे होने पर अनुस्वार के स्थान पर स्थानी अनुस्वार के अनुनासिक होने से स्थानेऽन्तरतम' (१७) द्वारा सानुनासिक 'य्, व्, ल्' ही होंगे। यथा—१ सम्+वत्सर=सं+वत्सर=सव्ँवत्सर । २ दानम्+यच्छति=दानं+यच्छति=दानयँ यच्छति । ३ अहम्+लिखामि=अहं+लिखामि=अहलँ् लिखामि। इत्यादि।

[लघु०] विधि सूत्रम्—८१ मो राजि समः क्वौ ।८।३।२५॥

क्विबन्ते राजतौ परे समो मस्य म एव स्यात्। सम्राट्।

अर्थ—क्विबन्त राज् धातु परे हो तो सम् के मकार को मकार ही हो [अर्थात् अनुस्वार न हो]।

व्याख्या—समः ।६।१। मः ।६।१। [मोऽनुस्वारः' से] मः ।१।१। क्वौ ।७।१। राजि ।७।१। क्वि (प्) यह प्रत्यय है। इस व्याकरण में जहां २ प्रत्यय का ग्रहण होता है वहां २ तदन्त अर्थात् वह प्रत्यय जिस के अन्त में होता है ऐसे समूह [प्रकृति+प्रत्यय] का ग्रहण किया जाता है। इस नियम के अनुसार क्विप से तदन्त विधि हो कर 'क्विबन्त' बन जायगा। अर्थ—(क्वौ) क्विबन्त (राजि) राज् धातु परे हो तो (समः) सम् के (मः) मकार के स्थान पर (मः) मकार आदेश होता है।

'सम्' यह अव्यय होने के कारण सुबन्त होने से पद सञ्ज्ञक है। इस के मकार को क्विबन्त 'राज' धातु परे होने पर 'मोऽनुस्वारः' (७७) से अनुस्वार प्राप्त था। इस सूत्र से सम् के मकार को मकार किया गया है, इसका अभिप्राय यह है कि मकार, मकार ही बना रहे अनुस्वार न हो जाय।

उदाहरण यथा—सम्+राट् [चक्रवर्ती राजा। 'राजृ दीप्तौ' (भ्वा०) इत्यस्मात् 'सत्सूद्विष—' इति क्विपि, क्विब्लोपे, सावागते 'हल्ङ्याब्भ्यः'—इति सोर्लोपे, पदान्ते 'व्रश्च भ्रस्ज—' इति षत्वे, डत्वे, अवसाने चर्त्वे च कृते 'राट्' इति सिध्यति ।] यहां मकार को 'मोऽनुस्वारः' (७७) सूत्र से अनुस्वार नहीं होता, इस प्रकार 'सम्राट्' पद सिद्ध होता है।

इसी प्रकार—सम्राजौ सम्राज सम्राजम्, सम्राजा । इत्यादि ।

नोट—'सम्राज्ञी' शब्द वेद में देखा जाता है, परन्तु लोक में यह शब्द चिन्तनीय है, राज्ञी' का सिद्धि कर के 'सम्' से योग होने पर क्विबन्त न होने से 'म्' नहीं हो सकता । अथवा 'सम्राज' शब्द से भी ङीप् नहीं हो सकता । तब स्त्रीलिङ्ग में भी 'सम्राट्' ही रहेगा ।

[लघु०] विधि सूत्रम्—८२ हे मपरे वा ।८।३।२६ ॥

मपरे हकारे मस्य मो वा । किम्ह्मलयति, किं ह्मलयति ।

अर्थ—जिस हकार से परे मकार हो, उस हकार के परे होने पर मकार के स्थान पर विकल्प कर मकार होता है ।

व्याख्या—मपरे ।७।१। हे ।७।१। म ।६।१। ['मोऽनुस्वारः' से] म ।१।१। ['मो राजि सम क्वौ' स] वा इत्यव्ययपदम् । समास —म परो यस्मादसौ मपरस्तस्मिन्=मपरे । बहुव्रीहि समास । अर्थ —(मपरे) मकार परे वाले (ह) हकार के परे होने पर (म) मकार के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (म) मकार आदेश हो जाता है । यह सूत्र 'मोऽनुस्वारः' (७७) का वैकल्पिक अपवाद है ।

उदाहरण यथा— किम्+ह्मलयति' [क्या चलता वा हिलता है ? ।] यहां मकार परे वाला हकार परे है अतः मकार को मकार अर्थात् अनुस्वाराभाव हो—'किम्ह्मलयति' । पक्ष में 'मोऽनुस्वारः' (७७) से अनुस्वार हो—'किं ह्मलयति' । इस प्रकार के दो रूप सिद्ध होते है ।

इसी प्रकार—"कथम्ह्मलयति, कथं ह्मलयति" इत्यादि रूप होते है ।

[लघु०] वा०—१३ यवलपरे यवला वा ॥

कियँ ह्यः, किं ह्यः । किवँ ह्वलयति, किं ह्वलयति । किलँ ह्लादयति, किं ह्लादयति ।

अर्थः—यकार, वकार अथवा लकार परे वाला हकार परे हो तो मकार के स्थान पर क्रमशः विकल्प कर के यकार, वकार तथा लकार हो जाते हैं ।

व्याख्या—यवलपरे ।७।१। हे ।७।१। [मपरे वा' से] म ।६।१। [मोऽनुस्वारः' से] यवलाः ।१।३। वा इत्यव्ययपदम् । समास —यश्च वश्च लश्च=य व लाः, इतरेतरद्वन्द्व । एष्वकार उच्चारणार्थ । यवला परा यस्मादसौ यवलपरस्तस्मिन्=यवलपरे । बहुव्रीहि समास । अर्थ —(यवलपरे) य, व, ल परे वाले (हे) हकार के परे होने पर (म)

म् के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (यवला) यकार वकार लकार हो जाते हैं। यह वार्त्तिक 'मोऽनुस्वार' (७७) का वैकल्पिक अपवाद है। जिस पक्ष में 'य् व् ल्' नहीं होंगे उस पक्ष में 'मोऽनुस्वार' (७७) से अनुस्वार हो जाएगा। यहां यथासंख्यमनुदेश समानाम् (२३) से आदेश और निमित्तों को क्रमश समझ लेना चाहिये। अर्थात् यकार परे वाला हकार परे होगा तो मकार को यकार, वकार, परे वाला हकार परे होगा तो मकार को वकार तथा लकार परे वाला हकार परे होगा तो मकार को लकार आदेश होगा।

उदाहरण यथा—'किम् + ह्य' (कल क्या था ?) यहां यकार परे वाला हकार परे है अत मकार का विकल्प कर के यकार होगा। अनुनासिक और अननुनासिक भेद से यकार दो प्रकार का होता है। यहां 'स्थानेऽन्तरतम' (१७) से अनुनासिक मकार को अनुनासिक यकार हो कर—'कियँ ह्य'। पक्ष में 'मोऽनुस्वार' (७७) से अनुस्वार हो कर 'किं ह्य' इस प्रकार दो रूप हुए।

'किम् + ह्वलयति' (क्या जाता है ?) यहां वकार परे वाला हकार परे है अत मकार को विकल्प कर के अनुनासिक वकार हो कर—'किव्ँ ह्वलयति'। पक्ष में मोऽनुस्वार (७७) से अनुस्वार हो कर—'किं ह्वलयति' इस प्रकार ये दो रूप सिद्ध हुए।

'किम् + ह्लादयति' (कौन वस्तु प्रसन्न करती है) यहां लकार परे वाला हकार परे है। अत मकार को विकल्प कर के अनुनासिक लकार हो कर—'किल्ँ ह्लादयति'। पक्ष में 'मोऽनुस्वार' (७७) से अनुस्वार हो कर—'किं ह्लादयति' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

इसी प्रकार—१ मित्रल्ँ ह्लादते, मित्रं ह्लादते। २ इदय्ँ ह्यस्तनम्, इदं ह्यस्तनम्। ३ किव्ँ ह्वयतु, किं ह्वयतु। इत्यादि।

नोट—सर्वत्र कौमुदीग्रन्थों में मकार के स्थान पर अनुनासिक 'यँ, वँ, लँ' ही हुए २ प्राप्त होते है। टीकाकारों का कथन है कि 'य, व, ल्' अनुनासिक और निरनुनासिक भेद से दो प्रकार के होते हैं। यहां अनुनासिक मकार के स्थान पर दोनों के प्राप्त होने पर 'स्थानेऽन्तरतम' (१७) से अनुनासिक यकार वकार लकार होते हैं। शेखरकार श्री नागेशभट्ट ने इस मत का खण्डन किया है। उन का कथन है कि 'य्, व्, ल्' विधान किए गए है। विधीयमान अण् अपने सवर्णियों के ग्राहक नहीं होते। [देखो—'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्यय' (११)] अत यहां अनुनासिक 'य्, व, ल्' नहीं हो सकेंगे किन्तु जैसे विधान किए गए हैं वैसे निरनुनासिक ही होंगे। यथा—'मतुप' के अनुनासिक मकार के स्थान पर 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्य' (१०६२) से अनुनासिक वकार नहीं होता किन्तु निरनुनासिक वकार ही होता है। इस में प्रमाण—

१ 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्'। (११६)

२ 'संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः'। (८१७)

३ 'तद्धानासामुपधानो मन्त्र इतीष्टिकासु०। (५।४।१२५)

इत्यादि सूत्रों में महामुनि पाणिनि ने 'मतुप्' के अनुनासिक मकार के स्थान पर अनुनासिक वकार नहीं किया। कौमुदीपक्ष के समर्थकों में कई एक यह कहते हैं कि सूत्रगत विधीयमान अण् ही अपने सवर्णियों का ग्रहण नहीं कराते। वार्त्तिकगत अण् विधीयमान होते हुए भी सवर्णियों का ग्रहण कराते हैं। [देखो शेखर पर 'चिदस्थिमाला' में किसी का मत] परन्तु ऐसा होने पर 'सँव्वत्सरः, विद्वाँल्लिखति' इत्यादि सूत्रोदाहरणों में अनुनासिक न होना चाहिये। तथा अन्यों का कथन है कि 'ऋत उत्' (२०८) में 'उ' विधीयमान है वह अपने सवर्णियों का ग्रहण नहीं करा सकता, तो पुनः इसे क्यों मुनि ने तपर किया है? अतः इस से यह प्रतीत होता है कि विधीयमान भी अण् कहीं २ अपने सवर्णियों का ग्रहण कराते हैं'। इस से यहां विधीयमान भी अण्='य्, व्, ल्' अपने सवर्णियों के ग्राहक होंगे। और जो मतुप्' के मकार का अननुनासिक वकार होता है यह 'अर्थवदधातु——' (११६) आदि सूत्रों के ज्ञापक से होता है।

हम ने दोनों पक्षों को सयुक्तिक दिखा दिया है आगे विद्वज्जन ही स्वयं सत्य असत्य का निर्णय कर लें।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—८३ नपरे नः।८।३।२७॥

नपरे हकारे परे मस्य नो वा। किन्ह्नुते। किं ह्नुते।

अर्थः—नकार परे वाला हकार परे हो तो मकार के स्थान पर विकल्प कर के नकार हो जाता है।

व्याख्या—नपरे।७।१। हे।७।१। ['हे मपरे वा' से] मः।६।१। ['मोऽनुस्वारः' से] नः।१।१। वा इत्यव्ययपदम् ['हे मपरे वा' से]। समासः—नः परो यस्मात् स नपरस्तस्मिन्=नपरे। बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(नपरे) नकार परे वाला (हे) हकार परे हो तो (मः) म् के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (नः) नकारादेश हो जाता है। यह सूत्र भी 'मोऽनुस्वारः' (७७) का वैकल्पिक अपवाद है। पक्ष में 'मोऽनुस्वारः' (७७) से अनुस्वार आदेश होगा।

उदाहरण यथा—'किम्+ह्नुते' (क्या छिपाता है?) यहां नकार परे वाला हकार परे है, अतः मकार को वैकल्पिक नकार होकर—'किन्ह्नुते'। पक्ष में 'मोऽनुस्वारः' (७७) से अनुस्वार हो कर 'किं ह्नुते' इस प्रकार दो रूप सिद्ध हुए।

इसी प्रकार—१ कथन्ह्नुते, कथ ह्नुते। २ यन्ह्नुते, य ह्नुते। ३ तन् ह्नोतुम्, त ह्नोतुम्। इत्यादि।

अभ्यास (१६)

(१) निम्नलिखित रूपों में सूत्रसमन्वयपूर्वक सन्धिच्छेद करो।

१ तपांसि। २ भूमाङ खनति। ३ आम्रञ् चूषति। ४ फलन ह्नुते। ५ पुल्ँ लिङ्गम्। ६ ऊर्ध्वंश्च्यवते। ७ विद्वांस। ८ तल्ँ लिखामि। ९ निष्फलवँ ह्वानम्। १० नदी तरति। ११ कथयँ ह्य। १२ सत्य शिव सुन्दरम्। १३ धनयँ यच्छति। १४ कान्त। १५ सम्राज। १६ त्वलँ लामशं। १७ राम रमेशम् भजे। १८ सर्वम्बलवताम्पथ्यम्। १९ त्ववँ वक्ता। २० पण्डित। २१ अहङ्कार २२ अहवँ वसामि।

(२) (क) 'मा गृध कस्यस्विद्धनम्' यहां अन्त्य मकार को 'मोऽनुस्वार' से अनुस्वार क्यों नहीं होता? यदि कहो कि अपदान्त (?) है तो नश्चापदान्तस्य झलि' से हो जाय।

(ख) "एव लृकारोऽपि, ओं, पुस्तक" इत्यादि प्रयोग क्या शुद्ध ह? सप्रमाण लिखो।

(ग) 'राजन्+पाहि' यहां अनुस्वार क्यों न हो?।

(घ) 'तन्यते' यहां 'नश्चापदान्तस्य झलि' सूत्र क्यों प्रवृत्त नहीं होता?।

(ङ) 'अनुस्वारस्य ययि पर सवर्ण' यहां 'पर' पद को पृथक मानने की क्या आवश्यकता है?।

(३) सम्राजी' शब्द क्या अशुद्ध है??

(४) 'कियँ ह्य' आदि में अनुनासिक यकारादि करना कहां तक शुद्ध है? शेखरकार का क्या मन्तव्य है? सप्रमाण यथाधीत विस्तृत टिप्पण करें।

(५) 'मपरे, मपरे, यवलपरे' पदों में समास बता कर उस का विग्रह लिखो।

—०※०—

[लघु०] विधि सूत्रम्—८४ ड सि धुँट् ।८।३।२९॥

डात् परस्य सस्य धुँट् वा।

अर्थ—डकार परे विकल्प कर के सकार का अवयव धुँट हो जाता है।

व्याख्या—ड ।५।१। सि ।७।१। धुँट् ।१।१। वा इत्यव्ययपदम्। [हे मपरे वा' से] 'ड' यह पञ्चम्यन्त है। 'तस्मादित्युत्तरस्य' (७१) के अनुसार डकार से अव्यवहित पर का अवयव 'धुँट्' होना चाहिये। 'सि' यह सप्तम्यन्त पद है। 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे

पूर्वस्य' (१६) के अनुसार सकार से अव्यवहित पूर्व का अवयव 'धुँट्' होना चाहिये। अब धुँट किस का अवयव हो ? यह शङ्का उत्पन्न होती है। इस का समाधान यह है—"उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्" अर्थात् जहां पञ्चमी और सप्तमी दोनों से निर्देश किया गया हो वहां पञ्चमी का निर्देश ही बलवान् होता है। इस नियम के अनुसार 'ड' यहां पञ्चमी का निर्देश ही बलवान् हुआ। अतः डकार से अव्यवहित पर=सकार को ही धुँट का आगम होगा। अर्थ —(डः) डकार से परे (वा) विकल्प कर के (सि) सकार का अवयव (धुँट्) धुँट हो जाता है।

उदाहरण यथा—षड्+सन्तः [छः सज्जन] यहां 'खरि च' (८।४।५५) के असिद्ध होने से इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है। यहां डकार से परे 'सन्त' पद का आदि सकार विद्यमान है, अतः उस सकार का अवयव 'धुँट' यह शब्दसमुदाय विकल्प से होगा। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या 'धुँट्' सकार का आद्यवयव हो या अन्त्यावयव ? इस शङ्का की निवृत्ति के लिये अग्रिम परिभाषा सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] परिभाषा सूत्रम्—८५ आद्यन्तौ टकितौ ।१।१।४५॥

टित्कितौ यस्योक्तौ तस्य क्रमादाद्यन्तावयवौ स्तः । षट्त्सन्तः, षट् सन्तः ।

अर्थ:—टित् और कित् जिस के अवयव कहे गये हों वे उस के क्रमशः आद्यवयव तथा अन्तावयव होते हैं।

व्याख्या—आद्यन्तौ ।१।२। टकितौ ।१।२। समासः—आदिश्च अन्तश्च=आद्यन्तौ। इतरेतरद्वन्द्वः। टश्च कश्च=टकौ। टकारादकार उच्चारणार्थः। इतरेतरद्वन्द्वः। टकौ इतौ ययोस्तौ टकितौ। बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(टकितौ) टकार इत् वाला तथा ककार इत् वाला क्रमशः (आद्यन्तौ) आद्यवयव तथा अन्तावयव होता है। किस का अवयव होता है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर सुतरां यह आ जाता है कि जिस का अवयव विधान किया गया हो। 'क्रमशः' शब्द 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' (२३) परिभाषा द्वारा प्राप्त होता है।

'षड्+सन्त' यहां 'डः सि धुँट्' (८४) सूत्र से सकार का अवयव धुँट विधान किया गया है। धुँट के टकार की 'हलन्त्यम्' (१) सूत्र से इत् सञ्ज्ञा होती है अतः धुँट टित् है। इस लिये यह सकार का आद्यवयव होगा। 'षड्+धुँट् सन्त' ऐसा हो टकार (हलन्त्यम्) और उकार (उपदेशेऽजनुनासिक इत्) इत्सञ्ज्ञकों का 'तस्य लोपः' (३) से लोप करने पर—'षड्+ध् सन्त'। अब 'खरि च' (७४) सूत्र से सकार खर परे होने पर

षकार को तकार पुन उस तकार को मान डकार को भी टकार हो कर 'षट्त्सन्त'* प्रयोग निष्पन्न हुआ। जिस पक्ष में 'धुँट्' आगम न हुआ उस पक्ष में 'खरि च' (७४) से डकार को टकार हो कर 'षट सन्त' प्रयोग सिद्ध हुआ। इस प्रकार इस के दो रूप बन गये।

इसके अन्य उदाहरण यथा—१ लिट्त्सु, लिट्सु। २ षट्त्सुखानि, षट् सुखानि। ३ तुराषाट्त्समरति तुराषाट ससरति। ४ षट्त्सन्ततय, षट सन्ततय। ५ षट्त्समस्या, षट् समस्या। ६ षट्त्सन्निकर्षा षट सन्निकर्षा। इत्यादि।

[लघु०] विधि सूत्रम्—८६ ङ्णोः कुक्टुक् शरि।८।३।२८॥

ना स्त

अर्थ,—शर परे होने पर ङकार णकार को क्रमश विकल्प करके कुक् और टुक का आगम हो जाता है।

व्याख्या—ङ्णो ।६।२। कुक्टुक ।१।१। शरि ।७।१। वा इत्यव्ययपदम् [हे मपरे वा स]। समास—ङ् च ण् च=ङ्णौ तयो=ङ्णो। इतरेतरद्वन्द्व। कुक् च टुक च=कुक्टुक समाहारद्वन्द्व। अर्थ—(शरि) शर् परे होने पर (ङ्णो) ङकार और णकार के अवयव (कुक्टुक्) कुक् और टुक (वा) विकल्प कर के होते हैं।

कुक् और टुक् कित् हैं अत 'आद्यन्तौ टकितौ' (८५) परिभाषा से ये ङकार णकार क अन्तावयव होंगे।

उदाहरण यथा—प्राङ्+षष्ठ सुगण्+षष्ठ' यहा ङकार णकार से परे षकार शर् विद्यमान है अत ङकार को कुक् तथा णकार को टुक् का आगम हो कर ककार† का लोप हो गया तो—

प्राङ्+क् षष्ठ।	सुगण्+ट् षष्ठ।	[कुक्टुक्पक्षे]
प्राङ+षष्ठ।	सुगण+षष्ठ।	[कुक्टुकोरभावे]

अब कुक टुक् पक्ष में अग्रिम वार्तिक प्रवृत्त होता है।

[लघु०] वा०—१४ चयो द्वितीया शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्॥

प्राङ्ख्षष्ठ, प्राङ्क्षष्ठ, प्राङ् षष्ठ। सुगण्ठ्षष्ठ', सुगण्ट्षष्ठः, सुगण् षष्ठ।

अर्थ—शर परे होने पर चय प्रत्याहार के स्थान पर वर्गों के द्वितीय वर्ण विकल्प कर के हो जाते हैं।

---

* यहा 'धुँट्' आगम असिद्ध है अत 'चयो द्वितीया—(वा०-१४) से तकार को थकार नहीं होता। इसी प्रकार 'षट् स त' में भी समझ लेना चाहिये।

† उकार उच्चारणार्थ है। प्रयोजनाऽभाव से इत् सञ्ज्ञा नहीं होती।

व्याख्या—चय । ।१। द्वितीया ।१।१। शरि ।७।१। पौष्करसादे ।६।१। इति इत्यव्ययपदम् । वाच्यम् ।१।१। अर्थ—(चय) चय अर्थात् वर्गों के प्रथम वर्णों के स्थान पर (द्वितीया) वर्गों के द्वितीय वर्ण हों (शरि) शर् प्रत्याहार परे होने पर (इति) यह (पौष्करसादे) पौष्करसादि आचार्य के मत में (वाच्यम्) कहना चाहिये। अन्य आचार्यों के मत में न होने से विकल्प सिद्ध हो जायगा।

उदाहरण यथा—१ सवथ्सर, सवत्सर । २ अभीफसा, अभीप्सा । ३ अखषरम् अक्षरम् । ४ खषीरम् क्षीरम् । ५ खषमा क्षमा । ६ खिपति, क्षिति । ७ थसरु, त्सरु । ८ अफसरस अप्सरस । ९ विरफ्शिन् विरप्शिन् । १० अखुषि अक्षि । इत्यादि ।

'प्राङ + क् षष्ठ, सुगण + ट षष्ठ' इन दोनों स्थानों पर षकार शर परे रहने के कारण ककार और टकार को क्रमश खकार और ठकार हो कर निम्नलिखित रूप बने—

कुक् पक्ष में { १ प्राङ् ख्षष्ठ । [पौष्करसादि के मत में]
२ प्राङ क्षष्ठ

कुक अभाव में—३ प्राङ् षष्ठ ।

टुक पक्ष में { १ सुगण् ठ्षष्ठ [पौष्करसादि के मत में]
२ सुगण् टषष्ठ

टुक् अभाव में—३ सुगण् षष्ठ

इस के अन्य उदाहरण यथा—१ प्राङ् ख्षु, प्राङ क्षु, प्राङ षु । २ गवाङ ख्षु, गवाङ क्षु, गवाङ् षु । ३ तियङ्ख्श्वपिति, तिर्यङ्कश्वपिति, तियङ्श्वपिति । ४ क्रुङ्खश्वसिति क्रुङ्कश्वसिति, क्रुङ् श्वसिति । ५ उदङ खशृणोति, उदङ कृशृणोति, उदङ शृणोति । ६ सुगण् खसहते, सुगण कृसहते, सुगण सहते । इत्यादि ।

सूचना—ककार और षकार मिल कर 'क्ष' हो जाता है । क्+ष = क्ष ।

नोट—'चयो द्वितीया शरि०' वार्तिक 'अनचि च' (८।४।४७) सूत्र पर पढ़ा गया है । यद्यपि 'खरि च' (८।४।५५) सूत्र इस वार्तिक से परे होने के कारण इसे असिद्ध नहीं समझ सकता, तथापि वार्तिक आरम्भसामर्थ्य से उस की यहां प्रवृत्ति नहीं होती ।

[लघु०] विधि सूत्रम्—**८७ नश्च ।८।३।३० ॥**

नान्तात् परस्य सस्य धुँड् वा । सन्त्सः, सन्सः ।

अर्थ—नान्त से परे सकार को विकल्प कर के धुँट् का आगम होता है ।

व्याख्या—न ।५।१। सि ।७।१। ['ड सि धुँट् से] धुँट् । १।१। च इत्यव्ययपदम् । वा इत्यव्ययपदम् । [हे मपरे वा' से] अर्थ—(न) न् से परे (सि) सकार

का अवयव* (धुँट) धुँट (वा) विकल्प कर के हो जाता है। 'आद्यन्तौ टकितौ' (८५) द्वारा धुँट सकार का आद्यवयव होगा।

उदाहरण यथा—'सन्+स' [वह सज्जन है] यहां न् से सकार परे है अत इसको धुँट का वैकल्पिक आगम हो कर उँट् अनुबन्ध† का लोप हो जाता है। अब 'खरि च' (७४) सूत्र से चर्त्व अर्थात् धकार को तकार करने से—'सन्त्स'। धुँट् अभाव पक्ष में—'सन्स'। इस प्रकार दो रूप सिद्ध होते हैं।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

१ अस्मिन्त्समये, अस्मिन्समये। २ भवान्त्सखा, भवान्सखा। ३ सन्त्साधु, सन्साधु। ४ तान्त्सपत्नान् तान्सपत्नान्। ५ धनवान्त्सहोदर, धनवान्सहोदर। ६ पठन्त्साङ्ख्यम् पठन्साङ्ख्यम्। ७ विद्वान्त्सहते, विद्वान्सहते। ८ पुमान्त्स्त्रिया, पुमान्स्त्रिया। ९ नेम्सिद्धबध्नातिषु च, नेम्सिद्धबध्नातिषु च। १० तान्त्साध्यान्त्साधय तान्साध्यान्साधय। इत्यादि।

नोट—वृत्ति में 'नान्तात्' यह पद 'न' को 'पदात्' का विशेषण कर देने से 'येन विधिस्तदन्तस्य' (१।१।७१) द्वारा प्राप्त होता है। इस से हानि लाभ कुछ नहीं।

प्रश्न—'ड सि धुँट' (८४), 'नश्च' (८७) इन दो ही सूत्रों में 'सि' का ग्रहण होता है। इन्हीं दोनों स्थानों पर "उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्" इस परिभाषा का आश्रय कर 'सस्य' ऐसा मानना पडता है। इस से तो यही अच्छा होता कि यहां 'सि' पद की बजाय स' पद ग्रहण कर लेते।

उत्तर—'स' ऐसा स्पष्ट षष्ठ्यन्त पद न कह कर 'सि' इस प्रकार सप्तम्यन्त पद के ग्रहण का प्रयोजन लाघव करना ही है। 'सि' में १½ मात्रा है परन्तु 'स' में २ मात्रा होती थीं। [स् की आधी, इ की एक, कुल डेढ। स् की आधी, अ की एक, विसर्गों की आधी, कुल दो। अर्धमात्रा का लाघवगौरव है। **"अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः"** यह उक्ति यहां चरितार्थ होती है।]

[लघु०] विधि सूत्रम्—८८ शि तुक् ।८।३।३१ ॥

पदान्तस्य नस्य शे परे तुग्वा । सञ्छम्भुः, सञ्च्छम्भुः, सञ्च्शम्भुः, सञ्शम्भुः ।

---

* 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्' इस परिभाषा से सकार का अवयव धुँट् होगा।

† इत्सञ्ज्ञायोग्यत्वम् अनुबन्धत्वम्।

अर्थः—शकार परे होने पर पदान्त नकार को विकल्प कर के तुक् का आगम* होता है।

व्याख्या—शि ।७।१। न ।६।१। ['नश्च' से] पदस्य ।६।१। [यह अधिकृत है।] वा इत्यव्ययपदम्। ['हे मपरे वा' से] तुक् ।१।१। 'न' यह 'पदस्य' का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि होती है। अर्थः—(शि) शकार परे होने पर (न) नान्त (पदस्य) पद का अवयव (वा) विकल्प करके (तुक्) तुक् हो जाता है। 'तुक्' कित् होने से 'आद्यन्तौ टकितौ' (८५) के अनुसार नान्त पद का अन्तावयव होगा।

उदाहरण यथा—'सन् + शम्भुः' [शम्भु भगवान् सत्स्वरूप है।] यहां शकार परे है, अतः 'सन्' इस नान्त पद का तुक् का आगम हो ककार की इत्सञ्ज्ञा लोप [उकार उच्चारणार्थ है।] तथा 'स्तोः श्चुना श्चुः' (६२) से त् का च् और न् को ञ् हो कर 'सञ् च शम्भुः' हुआ। अब 'शश्छोऽटि' (७६) से विकल्प कर के शकार को छकार हो—'सञ् च छम्भुः' हुआ। पुनः 'झरो झरि सवर्णे' (७३) से चकार का विकल्प करके लोप किया तो—१ सञ्छम्भुः। जहां चकार का लोप न हुआ वहां—२ सञ्च्छम्भुः। जहां छत्व न हुआ वहां—३ सञ्च्शम्भुः। जहां तुक् ही न हुआ वहां श्चुत्व हो—४ सञ्शम्भुः। इस प्रकार चार रूप सिद्ध हुए। इन रूपों के विषय में निम्नलिखित एक श्लोक प्रसिद्ध है—

"अछौ अचछा अचशा अशाविति चतुष्टयम्।
रूपाणामिह तुक् छत्व चलोपानां विकल्पनात्॥"

नोट—विद्यार्थी प्रायः इस रूप की सिद्धि में भूलें कर जाया करते हैं। अतः इस रूप पर यह बात ध्यान में रखनी चाहिये—सब से प्रथम एक ही रूप को पकड़ें, जितने विकल्प होते हैं उन सब को लाद दें। अर्थात् प्रथम एक ही रूप में तुक्, छत्व तथा चकारलोप कर के उसे सम्पूर्ण सिद्ध कर देना चाहिये इस के बाद अन्तिम विकल्प से वैकल्पिक रूपों को पकड़ना आरम्भ करना चाहिये अन्तिम विकल्प चकार लोप है, अतः जहां चकारलोप नहीं हुआ उस रूप को सिद्ध करना चाहिये। इस के बाद छत्व के विकल्प को पकड़ उसे सिद्ध करना चाहिये। तदनन्तर तुक् का विकल्प सिद्ध करना चाहिये। इस प्रकार करने से आप के रूपों में कोई अशुद्धि नहीं आएगी। याद रखें कि शुद्ध सिद्धि के रूपों का वही क्रम होता है जो ऊपर श्लोक में दिया गया है।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

---

* जो किसी के अवयव होते हैं वे 'आगम' और जो किसी के स्थान पर होते हैं वे आदेश कहाते हैं। आगम मित्रवत् और आदेश शत्रुवत् होते हैं।

१ बालाञ्छास्ति । २ विद्वाञ्छ्छोभते । ३ पुत्राञ्छ्छाययति । ४ नमञ शाखा । ५ श्वसञ्छेते । ६ भजञ्छ्छ्वम् । ७ बुद्धिमाञ्छ्शृणोति । ८ धनवान् शूद्र । ९ पठञ्छ्छोचति । १० आगच्छञ्छ्छौनकादय । ११ पुमाञ्छ्श्रूयते । १२ मतिमाञ श्लाघते । इत्यादि । प्रत्येक के चार २ रूप जानने चाहिये ।

[लघु०] विधि सूत्रम्—८९ ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम् ।८।३।३२॥

ह्रस्वात् परो यो ङम् तदन्तं यत्पदं तस्मात्परस्याचो नित्यं ङमुट् । प्रत्यङ्ङात्मा । सुगण्णीश । सन्नच्युत ।

अर्थ—ह्रस्व से परे जो ङम्, वह है अन्त में जिस के ऐसा जो पद, उस से परे अच् को नित्य ङमुट् का आगम होता है ।

व्याख्या—ङम ।५।१। ह्रस्वात् ।५।१। अचि ।७।१। ङमुट् ।१।१। नित्यम् इति क्रियाविशेषण द्वितीयैकवचनान्तम् । यहां पीछे से अधिकृत 'पदात्' पद आ रहा है । 'ङम' यह पद 'पदात्' का विशेषण है, अतः 'ङम' से तदन्त विधि होगी । "उभयनिर्देशे पञ्चमी-निर्देशो बलीयान्" इस परिभाषा के द्वारा ङमुट् 'अचि' का ही अवयव समझा जायगा * । अर्थ—(ह्रस्वात्) ह्रस्व से परे (ङम) जो ङम् तदन्त (पदात्) पद से परे (अच) अच् का अवयव (नित्यम्) नित्य (ङमुट) ङमुट हो जाता है ।

'ङमुट्' में ङम् प्रत्याहार है । उकार उच्चारणार्थ तथा ट 'हलन्त्यम्' (१) से इत्सञ्ज्ञक है । ङम् प्रत्याहार को टित् करने का कोई प्रयोजन नहीं अतः सन्निधियों अर्थात् ङ, ण, न्, के साथ टत्त्व का सम्बन्ध हो कर— ङुट्, णुट्, नुट्' ये तीन आगम होंगे । 'यथासङ्ख्यमनुदेश समानाम्' (२३) के अनुसार ङान्त पद से परे अच् को ङुट, णान्त पद से परे अच् को णुट तथा नान्त पद से परे अच् को नुट का आगम होगा । उदाहरण यथा—

'प्रत्यङ् + आत्मा' (जीवात्मा) । यहां यकारोत्तर ह्रस्व अवर्ण से परे ङ्=ङम् है, अतः प्रत्यङ्' ङान्त पद हुआ । इस से परे आकार को ङुट आगम हो, उट् के चले जाने पर 'प्रत्यङ्ङात्मा' सिद्ध हो जाता है ।

'सुगण्+ईश (सुगणाम्=सुयोग्य गणितज्ञानाम् ईश=स्वामी षष्ठी तत्पुरुष समास) यहां गकारोत्तर ह्रस्व अवर्ण से परे ण=ङम् है अतः 'सुगण' णान्त पद हुआ । इस से परे ईकार को णुट् आगम हो उट के चले जाने पर विभक्ति आने से 'सुगण्णीश' सिद्ध हो जाता है ।

---

* इस की स्पष्टता 'ङ सि धुट्' (८४) में देखें ।

'सन्+अच्युत' (अच्युत भगवान् सत्स्वरूप हैं) यहां सकारोत्तर ह्रस्व अवर्ण से परे न्=ङम् है अतः 'सन्' यह नान्त पद हुआ। इस से परे अकार का नुट् आगम हो उट् के चले जाने से 'सन्नच्युत' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

नोट—इस सूत्र में स्थित 'नित्यम्' पद का अर्थ 'प्रायः' है, अर्थात् यथा "देवदत्त नित्य हसता ही रहता है विष्णुमित्र नित्य खाता ही रहता है" इत्यादि वाक्यों में 'नित्य' शब्द का 'प्रायः' (बहुधा) अर्थ है इसी प्रकार यहां भी समझना चाहिये। अतः "इको यण् अचि, सुप्तिङन्तं पदम्, सन् आद्यन्ता धातवः" इत्यादि सूत्रों में ङमुट् न होने पर भी कोई दोष नहीं आता। "सन्नन्तान्न सनिष्यते" यहां पर दोनों प्रकार के उदाहरण हैं।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

१ कुर्वन्नास्ते। २ विङ्ङतिट। ३ तस्मिन्निति। ४ एकस्मिन्नहनि। ५ गच्छन्नवोचत्। ६ जानन्नपि। ७ भगवन्नत्र। ८ तस्मिन्नणि। ९ हसन्नागच्छति। १० पठन्नपतत्।

'ह्रस्व' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि—भवान्+अत्र=भवानत्र' इत्यादि प्रयोगों में ङमुट् न हो।

अभ्यास (२०)

(१) जहां सप्तमी और पञ्चमी दोनों विभक्तियों द्वारा निर्देश हो वहां 'तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य' तथा 'तस्मादित्युत्तरस्य' इन दोनों परिभाषाओं में किस परिभाषा की प्रवृत्ति होती है? सप्रमाण सोदाहरण स्पष्ट करें।

(२) 'आद्यन्तौ टकितौ' सूत्र की व्याख्या करते हुए उस की आवश्यकता पर सोदाहरण प्रकाश डालें।

(३) "षट्त्सन्त, षट्सन्त" आदि प्रयोगों मे 'चयोद्वितीया—' वार्त्तिक द्वारा वर्ग द्वितीय आदेश क्यों नहीं होता?।

(४) 'प्राङ् ख् षष्ठ' इत्यादि वर्गद्वितीयघटित प्रयोगों में 'खरि च' सूत्र द्वारा चर्त्व क्यों नहीं होता?।

(५) 'ङ सि धुँट्' सूत्र को स्पष्टप्रतिपत्ति के लिये 'ङ स धुँट्' क्यों नहीं कर दिया?।

(६) क्या उपाय किया जाय जिस से सिद्धि करते समय 'सञ्छम्भु' आदि रूपों का ग्रन्थोक्तप्रकार से शुद्ध क्रम सिद्ध हो जाय?।

(७) 'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्' सूत्र द्वारा ङमुट् आगम की नित्यता दर्शाने वाले श्रीपाणिनि जी किस कारण स्वयं 'सन् आद्यन्ता धातवः, इको यण् अचि" आदि सूत्रों में ङमुट् आगम नहीं करते? यथाधीत स्पष्ट करें।

—०❀०—

[लघु०] विधि—सूत्रम्— ९० समः सुटि ।८।३।५॥

समो रुँ स्यात् सुटि ।

अर्थः—सुट् परे होने पर सम् के मकार को रुँ आदेश हो।

व्याख्या—समः ।६।१। सुटि ।७।१। रुँ ।१।१। [मतुवसो रुँ सम्बुद्धौ छन्दसि' से] अर्थः—(सुटि) सुट् परे हो तो (समः) सम् के स्थान पर (रुँ) रुँ आदेश हो जाता है। 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) परिभाषा के अनुसार सम् के अन्त्य अल्=मकार का ही रुँ आदेश होगा।

सम्+स्कर्ता' [यहाँ सम्' पूर्वक डुकृञ् करणे' (तना०) धातु से तृच् प्रत्यय हो सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे' सूत्र से कृ को सुँट् का आगम हो कर उँट् का लोप हो जाता है।] यहाँ सुँट् परे रहने से मकार को रुँ आदेश हो, अनुनासिक उकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्र से इत्संज्ञा कर तस्य लोपः (५) से लोप किया तो 'सर् स्कर्ता' हुआ। अब अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—९१ अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा ।८।३।२॥

अत्र रुँ-प्रकरणे रोः पूर्वस्यानुनासिको वा स्यात् ।

अर्थः—इस रुँप्रकरण में रुँ से पूर्व वर्ण को विकल्प कर के अनुनासिक हो जाता है।

व्याख्या—अत्र इत्यव्ययपदम् । अनुनासिकः ।१।१। पूर्वस्य ।६।१। तु इत्यव्ययपदम् । वा इत्यव्ययपदम् । 'मतुवसो रुँ सम्बुद्धौ छन्दसि' (८।३।१) सूत्र के बाद यह पढ़ा गया है। यहाँ 'अत्र' इसी रुँप्रकरण के लिये है, अतः ससजुषो रुँ' (१०५) सूत्र से किये गये रुँ वाले स्थानों पर यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा। अर्थः—(अत्र) मतुवसो रुँ सम्बुद्धौ छन्दसि' सूत्र से आरम्भ किये गये रुँप्रकरण में (रोः) रुँ से (पूर्वस्य) पूर्व वर्ण को (वा) विकल्प कर के (अनुनासिकः) अनुनासिक हो जाता है।

'सर् + स्कर्ता' यहाँ रुँ से पूर्व सकारोत्तर अकार को अनुनासिक हो—'सँर् + स्कर्ता' हुआ। जिस पक्ष में अनुनासिक नहीं होता वहाँ अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—९२ अनुनासिकात् परोऽनुस्वारः ।८।३।४॥

अनुनासिकं विहाय रोः पूर्वस्मात् परोऽनुस्वारागमः स्यात् ।

अर्थः—जहाँ अनुनासिक होता है उस रूप को छोड़ अन्य पक्ष वाले रूप में रुँ से पूर्व जो वर्ण उस से परे अनुस्वार का आगम होता है।

व्याख्या—अनुनासिकात् ।५।१। रो ।५।१। ['मतुवसो रुँ सम्बुद्धौ छन्दसि' से विभक्ति विपरिणाम द्वारा] पूर्वात् ।५।१। ['अत्रानुनासिक पूर्वस्य तु वा' से विभक्ति विपरिणाम द्वारा] परः ।१।१। अनुस्वारः ।१।१। 'अनुनासिकात्' यहां ल्यब्लोप में पञ्चमी विभक्ति हुई है यथा—प्रासादात् प्रेक्षते । अतः यहां 'विहाय' इस ल्यबन्त का लोप समझना चाहिये । 'अनुनासिकं विहाय' ऐसा इस का तात्पर्य होगा । 'अनुनासिक' शब्द में मत्वर्थीय अच् प्रत्यय हुआ है । अनुनासिकोऽस्त्यस्मिन्नित्यनुनासिकम् । अनुनासिकवद् रूपम् इत्यर्थः । अर्थः—(अनुनासिकात्) अनुनासिक वाले रूप को छोड़ कर (रोः) रुँ से पूर्व जो वर्ण उस से (परः) परे (अनुस्वारः) अनुस्वार का आगम होता है । तात्पर्य यह है कि जिस पक्ष में अनुनासिक नहीं होता उस पक्ष में इस सूत्र से रुँ से पूर्व अनुस्वार का आगम होता है ।

'सर् + स्कर्ता' यहां अनुनासिकाभाव पक्ष में रुँ से पूर्व वर्ण=अकार से परे अनुस्वार का आगम हो—'संर् + स्कर्ता' हुआ । तो अब इस प्रकार—

१ सँर् + स्कर्ता । [अनुनासिक पक्षे]
२ संर् + स्कर्ता । [अनुस्वारागम पक्षे]

ये दो रूप हुए । अब दोनों पक्षों में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—९३ खरवसानयोर्विसर्जनीयः ।८।३।१५॥

खरि अवसाने च पदान्तस्य रेफस्य विसर्गः स्यात् ।

अर्थः—खर् और अवसान परे होने पर पदान्त रेफ के स्थान पर विसर्ग हों ।

व्याख्या—खरवसानयोः ।७।२। पदस्य ।६।१। [यह अधिकृत है ।] रः ।६।१। ['रो रि' से] विसर्जनीयः ।१।१। 'रः' यह 'पदस्य' का विशेषण है अतः 'येन विधिस्तदन्तस्य' (१।१।७१) द्वारा तदन्तविधि हो कर 'रेफान्तस्य पदस्य' ऐसा बन जायगा । समासः—खर् च अवसानञ्च=खरवसाने, तयोः=खरवसानयोः । इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(खरवसानयोः) खर और अवसान परे होने पर (रः) रेफान्त (पदस्य) पद के स्थान पर (विसर्जनीयः) विसर्ग आदेश होते हैं । 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) परिभाषा द्वारा पदान्त रेफ का ही विसर्ग होंगे ।

'सँर् + स्कर्ता, संर् + स्कर्ता' यहां सकार खर परे है अतः पदान्त रेफ को विसर्ग आदेश हो कर—"सँः + स्कर्ता, संः + स्कर्ता" हुआ । अब यहां 'विसर्जनीयस्य सः' (९३) के अपवाद 'वा शरि' (१०४) सूत्र की प्राप्ति होती है, इस पर नित्यसकार-विधानार्थ अग्रिम वार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—१५ सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः ॥

सँस्स्कर्ता, सस्स्कर्ता ।

अर्थ—सम् पुम् तथा कान् शब्दों के विसर्गों को सकार आदेश होता है ।

व्याख्या—सम्पुङ्कानाम् ।६।३। विसर्गस्य* ।६।१। स ।१।१। वक्तव्य ।१।१। समास—सम् च पुम् च कान् च=सम्पुङ्कान तेषाम्=सम्पुङ्कानाम् । इतरेतरद्वन्द्व । अर्थ—(सम्पुङ्कानाम्) सम् पुम् और कान् शब्दों के (विसर्गस्य) विसर्ग के स्थान पर (स) स आदेश (वक्तव्य) कहना चाहिये ।

"सँ+स्कर्ता, स+स्कर्ता" यहां सम् के विसर्ग हैं अतः विसर्ग के स्थान पर सकार आदेश हो कर—"१ सँस्स्कर्ता २ सस्स्कर्ता" ये दो रूप सिद्ध होते हैं । सिद्धान्त कौमुदी' में इस के १०८ रूप बनाये गये हैं, विशेष जिज्ञासु वहीं देखें ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—६४ पुमः खय्यम्परे ।८।३।६॥

अम्परे खयि पुमो रुँ स्यात् । पुँस्कोकिलः, पुंस्कोकिलः ।

अर्थ—अम् प्रत्याहार जिस से परे है ऐसा खय् यदि परे हो तो पुम्‡ शब्द के मकार को रुँ आदेश होता है ।

व्याख्या—पुमः ।६।१। रुँ ।१।१। ['मतुवसो रुँ सम्बुद्धौ छन्दसि' सूत्र से] खयि ।७।१। अम्परे ।७।१। समास—अम् परो यस्माद् असौ=अम्परस्तस्मिन्=अम्परे । बहुव्रीहि समास । अर्थ—(अम्परे) अम् है परे जिस से ऐसे (खयि) खय् प्रत्याहार के परे होने पर (पुमः) पुम् शब्द के स्थान पर (रुँ) रुँ आदेश हो जाता है । 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) से पुम् के मकार को ही रुँ आदेश होगा । उदाहरण यथा—

'पुम्+कोकिल' (पुमांश्चासौ कोकिलश्चेति विग्रहः, कर्मधारयसमासे विभक्तिलुकि 'संयोगान्तस्य लोपः' इति पुंसः सकारलोपः ।) यहां पुम् से परे ककार खय् विद्यमान है, इस से परे ओकार अम् मौजूद है अतः पुम् के मकार को रुँ आदेश हो कर पूर्ववत् अनुना-

---

* महाभाष्य में 'सम्पुङ्कानां सत्वम्' इस प्रकार वार्तिक कह कर फिर कहा गया है कि 'रुँविधौ हि सत्यनिष्टं प्रसज्येत' अर्थात् जब रुँविधि हो चुकने पर अनिष्ट प्रसक्त हो तब सम्, पुम्, तथा कान् को सकार करना चाहिये । तो इस प्रकार विसर्ग के स्थान पर प्राप्त वैकल्पिक सकार रूप अनिष्ट का यहां निवारण किया गया है अतः विसर्गस्य पद प्राप्त हो जाता है ।

‡ समासावस्था में जब 'पुंस्' शब्द के सकार का 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) से लोप हो जाता है तो 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' के अनुसार अनुस्वार को मकार होकर 'पुम्' हो जाता है । उसी का यहां ग्रहण है 'पुम्' कोई नया शब्द नहीं ।

सिकादेश, अनुस्वारागम विसर्ग तथा 'सम्पुङ्कानां सो वक्तव्य' (वा० १४) से सकार करने पर विभक्ति लाने से "पुँस्कोकिल, पुंस्कोकिल" ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

अम्परक खय् इस लिये कहा है कि 'पुंक्षीरम्' आदि में रुँ आदेश न हो। [यहां सकार का संयोगान्त लोप हो कर मोऽनुस्वारः से मकार को अनुस्वार हो जाता है।]

नोट—"पुँस्कोकिल, पुंस्कोकिल" यहां खरवसानयोः—'(९३) सूत्र से रेफ को विसर्ग करने पर 'कुप्वोः ᳲक ᳲपौ च' (९८) सूत्र द्वारा जिह्वामूलीय प्राप्त होते थे, पुनः उस के अपवाद 'सम्पुङ्कानां सो वक्तव्य' (वा० १४) वार्त्तिक से सकार आदेश हो जाता है।

[लघु०] विधि सूत्रम्—९५ नश्छव्यप्रशान् ।८।३।७॥

अम्परे छवि नान्तस्य पदस्य रुँ स्यात्, न तु प्रशान्शब्दस्य।

अर्थः—जिस से परे अम् प्रत्याहार है ऐसे छव् प्रत्याहार के परे होने पर नकारान्त पद को रुँ आदेश हो परन्तु प्रशान् शब्द को न हो।

व्याख्या—नः ।१।१। पदस्य ।६।१। [यह अधिकृत है।] रुँ ।१।१। ['मतुवसो रुँ सम्बुद्धौ छन्दसि' से] अम्परे ।७।१। ['पुमः खय्यम्परे' से] छवि ।७।१। अप्रशान ।१।१। [षष्ठ्यर्थे प्रथमा] समास—अम् परो यस्माद् असौ=अम्परः, तस्मिन्=अम्परे। बहुव्रीहि समास। न प्रशान्=अप्रशान् नञ्तत्पुरुष। नः' यह 'पदस्य' का विशेषण है अतः 'येन विधिस्तदन्तस्य' (१।१।७१) द्वारा इस से तदन्त विधि हो कर 'नान्तस्य पदस्य' बन जाता है। अर्थ—(अम्परे) अम् परे वाला (छवि) छव् परे होने पर (नः) नकारान्त (पदस्य) पद के स्थान पर (रुँ) रुँ आदेश होता है परन्तु (अप्रशान्) प्रशान् शब्द को नहीं होता। 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) परिभाषा द्वारा अन्त्य नकार को ही रुँ आदेश होगा। उदाहरण यथा—

'चक्रिन्+त्रायस्व [हे चक्रिन्! त्वं त्रायस्व] यहां 'चक्रिन्' यह नान्त पद है। इस से परे तकार छव् है, तथा इस छव् से परे रेफ अम् विद्यमान है अतः नकार को रुँ आदेश हो पूर्ववत् अनुनासिकादेश, अनुस्वारागम तथा खरवसानयोर्विसर्जनीयः (९३) से विसर्ग करने पर—"चक्रिँः+त्रायस्व, चक्रिंः+त्रायस्व" ये दो रूप हुए। अब विसर्ग को सकारादेश करने वाला अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—९६ विसर्जनीयस्य सः ।८।३।३४॥

खरि विसर्जनीयस्य सः स्यात्। चक्रिँस्त्रायस्व। चक्रिंस्त्रायस्व। अप्रशान् किम्? प्रशान् तनोति। पदान्तस्येति किम्? हन्ति।

अर्थः—खर् परे होने पर विसर्ग के स्थान पर सकार आदेश हो।

व्याख्या—खरि ।७।१। ['खरवसानयोर्विसर्जनीय' से 'खरि अश्] विसर्जनीयस्य ।६।१। स ।१।१। अर्थ—(खरि) खर् परे होने पर (विसर्जनीयस्य) विसर्गों के स्थान पर (स) स् आदेश होता है। उदाहरण यथा—

"चक्रिँ + त्रायस्व, चक्रिं + त्रायस्व" यहां तकार=खर परे है, अतः विसर्गों को स आदेश हो— चक्रिँस्त्रायस्व, चक्रिंस्त्रायस्व' ये दो रूप सिद्ध हुए।

'अप्रशान् किम् ? प्रशान् तनोति"

नश्छव्यप्रशान्' (९५) सूत्र में प्रशान्' शब्द को रुँ करने का निषेध इस लिये किया है कि प्रशान्+तनोति' यहां अम्परक (अकार परक) छव् (तकार) के परे होने पर भी पदान्त नकार को रुँ आदेश न हो।

"पदान्तस्येति किम् ? हन्ति"

पदस्य' का अधिकार होने से 'हन्ति' आदि स्थानों में अपदान्त नकार को अम्परक छव परे होने पर भी रुँ आदेश नहीं होता।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—९७ नॄन् पे ।८।३।१०॥

'नॄन्' इत्यस्य रुँर्वा पे।

अर्थ—पकार परे होने पर नॄन् शब्द के नकार को विकल्प कर के रुँ आदेश हो।

व्याख्या—नॄन् ।६।१। ['नॄन्' यह द्वितीया विभक्ति के बहुवचन का अनुकरण है। इस के आगे षष्ठी-विभक्ति के एकवचन का लुक् हुआ २ है।] रुँ ।१।१। ['मतुवसो रुँ—' सूत्र से] पे ।७।१। [यहां पकारोत्तर अकार उच्चारण के लिये है अतः 'पुनाति' आदि परे होने पर भी यह सूत्र प्रवृत्त हो जाता है।] उभयथा इत्यव्ययपदम्। ['उभयथर्क्षु' सूत्र से] अर्थ—(पे) पकार परे होने पर (नन्) नॄन् शब्द के स्थान पर (उभयथा) विकल्प कर के (रुँ) रुँ आदेश हो जाता है।

'अलोऽन्त्यस्य' (२१) परिभाषा द्वारा 'नॄन्' के अन्त्य नकार को ही 'रुँ' आदेश होगा। उदाहरण यथा—

'नॄन्+पाहि' [हे राजन् ! त्वं नॄन्=नरान् पाहि=पालय] यहां पकार परे होने से 'नॄन्' के अन्त्य नकार को रुँ आदेश हो पूर्ववत् अनुनासिकादेश, अनुस्वारागम तथा रेफ को विसर्ग करने पर "नॄँः+पाहि, नॄंः + पाहि" ये दो रूप हुए। अब 'विसर्जनीयस्य स' (९६) के प्राप्त होने पर उस का अपवाद अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—९८ कुप्वोः ≍क≍पौ च ।८।३।३७॥

कवर्गे पवर्गे च परे विसर्गस्य ≍क≍पौ स्तः । चाद् विसर्गः ।

नॄँ≍पाहि, नॄँः पाहि, नॄ≍पाहि, नॄः पाहि, नॄन्पाहि ।

अर्थः—कवर्ग पवर्ग परे होने पर विसर्गों को क्रमशः जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय होते हैं। सूत्र में चकार ग्रहण से पक्ष में विसर्ग भी रहते हैं। [ध्यान रहे कि यदि सूत्र में 'वा' कहते तो पक्ष में (९६) सूत्र से विसर्गों को स हो जाता जो अत्यन्त अनिष्ट था।]

व्याख्या—कुप्वोः ।७।२। विसर्जनीयस्य ।६।१। [विसर्जनीयस्य सः' से] ≍क≍पौ ।१।२। च इत्यव्ययपदम् । समासः—≍कश्च ≍पश्च=≍क≍पौ, इतरेतरद्वन्द्वः । यहां ककार पकार ग्रहण इस लिये किया गया है कि जिह्वामूलीय और उपध्मानीय सदा क्रमशः कवर्ग पवर्ग के ही आश्रित रहते हैं। कुश्च पुश्च=कुपू, तयोः=कुप्वोः, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(कुप्वोः) कवर्ग पवर्ग परे होने पर (विसर्जनीयस्य) विसर्गों के स्थान पर क्रमशः (≍क≍पौ) जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय हो जाते हैं। (च) किञ्च पक्ष में विसर्ग भी बने रहते हैं *।

सम्पूर्ण कवर्ग पवर्ग में विसर्ग प्राप्त नहीं हो सकते। विसर्ग केवल 'क, ख, प, फ' इन चार वर्णों के परे होने पर ही मिल सकते हैं। क्योंकि विसर्ग विधान करने वाला 'खरवसानयोः—' (९३) यही एक सूत्र है। यह सूत्र खर् परे होने पर ही विसर्ग आदेश करता है। खर प्रत्याहार में कवर्ग पवर्ग का इन चार वर्णों के सिवाय अन्य कोई वर्ण नहीं आता। अतः यह सूत्र 'क, ख, प, फ' पर होने पर विसर्गों को जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय करता है।

'नॄँः+पाहि नॄः+पाहि' यहां पकार परे होने से विसर्गों को उपध्मानीय हो—नॄँ≍पाहि नॄ≍पाहि। विसर्गपक्ष में—नॄँः पाहि, नॄः पाहि। जहां 'नॄन्पे' (९७) सूत्र से रुँ आदेश नहीं होता उस पक्ष में—नॄन्पाहि। इस प्रकार कुल पाञ्च रूप सिद्ध होते हैं। एवम्—नॄँ≍पश्य' इत्यादि।

नोट—विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय आदि का पाठ अट् तथा शल् प्रत्याहार में स्वीकार किया जाता है। अतः इन के यर प्रत्याहारान्तर्गत होने के कारण 'अनचि च' (१८) सूत्र की भी प्रवृत्ति हो जाया करती है। इस से—"नॄँ≍≍पाहि, नॄँ पाहि" इत्यादि प्रकारेण द्वित्व वाले रूप भी बना करते हैं।

---

* चकार ग्रहण से 'शर्परे विसर्जनीयः' (८।३।३५) सूत्र से विसर्जनीय 'पद' की अनुवृत्ति आ जाती है। "अत जन्तव्य" यहां पर 'शर्परे विसर्जनीयः' (८।३।३५) से जिह्वामूलीय सर्वथा निषिद्ध होगा।

टिप्पणी—अत्र 'कुप्वोः ≍क ≍पौ च' इत्येवमुपलभ्यमानो विसर्जनीयावकल क्वाचित्क पाठस्तु 'खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्य' इति वार्त्तिकेन समाधेय ।

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—**९९ तस्य परमाम्रेडितम् ।८।१।२॥**

द्विरुक्तस्य परम् आम्रेडित स्यात् ।

अर्थ—दो बार कहे गये का परला रूप 'आम्रेडित' सञ्ज्ञक हो ।

व्याख्या—तस्य ।६।१। परम् ।१।१। आम्रेडितम् ।१।१। इस सूत्र से पूर्व 'सर्वस्य द्वे' इस प्रकार द्वित्व का अधिकार किया गया है अत यहा 'तस्य' पद से 'द्विरुक्तस्य' का ग्रहण हो जाता है । अर्थ—(तस्य) उस दो बार पढ़े गए का (परम्) परला रूप (आम्रेडितम्) आम्रेडित सञ्ज्ञक होता है । यथा 'किम्' शब्द के द्वितीयाविभक्ति के बहुवचन 'कान्' पद को 'नित्यवीप्सयो' (८।१।४) सूत्र से द्वित्व किया तो 'कान् कान्' बना । यहा दूसरा 'कान्' शब्द आम्रेडित-सञ्ज्ञक है ।

अब आम्रेडित सञ्ज्ञा का इस रुँ प्रकरण में उपयोग दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—**१०० कानाम्रेडिते ।८।३।१२ ॥**

कान्नकारस्य रुँ स्यादाम्रेडिते । काँस्कान् । कांस्कान् ।

अर्थ—आम्रेडित परे होने पर कान् शब्द के नकार को रुँ आदेश हो ।

व्याख्या—कान् ।६।१। [यहा 'किम्' शब्द के द्वितीया के बहुवचन कान् शब्द का अनुकरण किया गया है । इस से परे षष्ठ्येकवचन का लुक् हुआ २ है ।] आम्रेडिते ।७।१। रुँ ।१।१। ['मतुवसो रुँ–'से] अर्थ—(आम्रेडिते) आम्रेडित परे होने पर (कान्) कान् शब्द को रुँ आदेश हो । 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) परिभाषा से कान् के अन्त्य अल नकार को ही रुँ आदेश होगा । उदाहरण यथा—

'कान्+कान्' यहा दूसरा कान् शब्द आम्रेडित परे है, अत प्रथम कान् शब्द के नकार को रुँ आदेश हो कर पूर्ववत् अनुनासिकादेश, अनुस्वारागम, विसर्ग तथा 'सम्पुंकानां सो वक्तव्य' (वा०–१४) से विसर्ग को सकार आदेश करने पर 'काँस्कान् कांस्कान्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं ।

नोट—ध्यान रहे कि 'तांस्तान्' में 'नश्छव्यप्रशान्' (९४) सूत्र प्रवृत्त होता है ।

अभ्यास (२१)

(१) रुँ से पूर्व होने वाले अनुस्वार और अनुनासिक में से कौन सा आगम है ? और दूसरा क्यों नहीं ?

(२) 'पुमाँश्छला' यहां 'पुम खय्यम्पर' सूत्र से रुत्व (?) हो कर कैसे सिद्धि होगी ।

(३) 'कुप्वोः ᳲक ᳲपौ च' तथा 'कुप्वोः ᳲक ᳲपौ च' इन दो प्रकार के सूत्रपाठों में कौन सा पाठ शुद्ध और कौन सा अशुद्ध है ? कहीं दोनों ही तो अशुद्ध नहीं ? ।

(४) 'सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः' वार्त्तिक का क्या अर्थ है ? और यह अर्थ कैसे निष्पन्न होता है ? ।

(५) सूत्र समन्वय पूर्वक निम्नलिखित प्रयोगों में सन्धिच्छेद करो—

१ विद्वांश्च्यवन २ नॄᳲ पाठयति । ३ पुँस्खञ्ज । ४ कस्मिँश्चित् । ५ पुंश्छिद्राणि । ६ पुँस्प्रवृत्ति । ७ सँस्स्कृतम् । ८ महांस्तुन्दिल । ९ पुंस्पुत्र । १० पुँष्टिट्टिभ । ११ सूयᳲᳲ खेचर चक्रवर्ती । १२ भवाँश्छिनत्ति । १३ पुंस्क्रोध । १४ नॄँᳲᳲ पालयस्व । १५ सस्स्करोति । १६ काँस्कान् । १७ पुंश्चली । १८ भास्वांश्चरति । १९ पुंस्त्वम् । २० बुद्धिमाँश्छाग ।

(६) सूत्र समन्वय करते हुए अधोलिखित प्रयोगों में सन्धि करो—

१ पुम्+प्लीहा । २ पुम्+चर्चा । ३ सम्+स्करोति । ४ रूपवान्+ठक्कुर * । ५ पुम्+फेर । ६ नॄन्+पिपर्त्ति । ७ महान्+तिरस्कार । ८ कान्+कान् । ९ तान्+तान् । १० पुम्+चरित्र । ११ राम+प्रजा+पालयामास । १२ तस्मिन्+चित । १३ बाल+थूत्करोति । १४ पुम्+चष्टा । १५ चक्षुमान्+टिट्टिभ । १६ प्रशान्+चरति । १७ नॄन्+प्रति । १८ पुम्+टिप्पणी । १९ पुम्+खर । २० थ+सत्रिय ।

(७) "शक्नन्+ति, हन्+ति भवन्+ति" इत्यादि स्थानों पर किस से रुँत्व की सम्भावना होती है ? और वह क्यों नहीं होता ?

यह रुँ—प्रकरण यहीं समाप्त होता है ।

—०※०—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१०१ छे च ।६।१।७१॥

ह्रस्वस्य छे तुक् । शिवच्छाया ।

अर्थः—छकार परे हो तो ह्रस्व का अवयव तुक् हो जाता है ।

व्याख्या—ह्रस्वस्य ।६।१। ['ह्रस्वस्य पिति कृति तुक' से] तुक ।१।१। छे ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । संहितायाम् ।७।१। [यह अधिकृत है] अर्थ —(संहितायाम्) संहिता के विषय में (ह्रस्वस्य) ह्रस्व का अवयव (तुक्) तुक हो जाता है (छे) यदि छकार परे हो तो। उदाहरण यथा—

* ध्यान रहे कि रुँत्वविधि (८।३।७) की दृष्टि में ष्टुत्वविधि (८।४।४१) असिद्ध है ।

'शिव + छाया' [शिवस्य छायेति विग्रह षष्ठी-तत्पुरुषसमास] यहां वकारोत्तर ह्रस्व अवर्ण से छकार परे है और समास होने से संहिता का विषय भी है अतः 'आद्यन्तौ टकितौ' (८५) के अनुसार वकारोत्तर अकार का अन्तावयव तुक् हो कर उक् के चले जाने पर—'शिवत् + छाया'। अब 'स्तोः श्चुना श्चुः' (८।४।४०) के असिद्ध होने से 'झलां जशोऽन्ते' (८।२।३९) द्वारा तकार को दकार हो—शिवद्+छाया'। पुनः स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।४०) के प्रति खरि च' (८।४।५५) के असिद्ध होने से प्रथम श्चुत्व अर्थात् दकार को जकार पश्चात् चर्त्व अर्थात् जकार को चकार किया तो–'शिवच्छाया'। अब 'सु' विभक्ति ला कर 'हल्ङ्याब्भ्यः —'(१७९) से उस का लोप हो—'शिवच्छाया' प्रयोग सिद्ध होता है।

ध्यान रहे कि यहां 'चोः कुः' (३०६) द्वारा कवर्ग आदेश नहीं होगा, क्योंकि चर्त्व और श्चुत्व दोनों उसकी दृष्टि में असिद्ध हैं।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण अभ्यास में देखें।

[लघु०] विधि सूत्रम्—१०२ पदान्ताद्वा ।६।१।७४॥

दीर्घात् पदान्ताच्छे तुग्वा । लक्ष्मीच्छाया । लक्ष्मीछाया ।

अर्थ—पदान्त दीर्घ से छकार परे हो तो विकल्प कर के तुक् का आगम होता है।

व्याख्या—दीर्घात् ।५।१। ['दीर्घात्' सूत्र से] पदान्तात् । ५ । १ । छे ।७।१। ['छे च' सूत्र से] तुक् ।१।१। ['ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' से] वा इत्यव्ययपदम् । अर्थः— (दीर्घात्) दीर्घ (पदान्तात्) पदान्त से (छे) छकार परे होने पर (वा) विकल्प करके (तुक्) तुक् का आगम होता है।

तुक् किस का अवयव हो ? पदान्त दीर्घ का हो या छकार का हो ? यह यहां प्रश्न है। "उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्" के अनुसार तो छकार का अवयव होना चाहिये। पर ऐसा नहीं होता, वह दीर्घ का ही अवयव होता है। इस का कारण यह है कि यदि वह छकार का अवयव होता तो कित् होने से छकार के अन्त में होना चाहिये था परन्तु 'विभाषा सेना सुराच्छाया शाला निशानाम्' (२।४।२५) सूत्र में तो छकार के आदि अर्थात् दीर्घ से परे देखा जाता है अतः वह दीर्घ का ही अन्तावयव है यह सिद्ध होता है।

उदाहरण यथा—'लक्ष्मी + छाया [लक्ष्म्याश्छायेति विग्रह, षष्ठी तत्पुरुष ।] यहां पदान्त दीर्घ ईकार से छकार परे विद्यमान है अतः दीर्घ ईकार को विकल्प कर के तुक् का आगम हो कर पूर्ववत् उक् के चले जाने पर जश्त्व=दकार श्चुत्व=जकार तथा चर्त्व=चकार हो कर विभक्ति लाने से—"लक्ष्मीच्छाया, लक्ष्मीछाया" ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

स्मरण रहे कि पहला सूत्र पदान्त अपदान्त कुछ नहीं कहता था इस लिये वह दोनों मे प्रवृत्त होता था। परन्तु यह सूत्र पदान्त में ही प्रवृत्त होता है वह भी तब जब पदान्त दीर्घ होगा। पदान्त—समस्त, व्यस्त, दोनों अवस्थाओं में हो सकता है। ग्रन्थकार ने समस्तावस्था (समास अवस्था) का उदाहरण दिया है। व्यस्तावस्था (समासरहित अवस्था) के उदाहरण—'कुलटाच्छिन्ननासिका' आदि अभ्यास में दिये गये हैं जान लें।

नोट—यदि आङ् और माङ् से परे छकार होगा तो दीर्घ पदान्त होते हुए भी तुक् का आगम नित्य होगा, तब 'पदान्ताद्वा' (१०२) सूत्र प्रवृत्त नहीं होगा। इन के लिये नित्य तुक् विधानार्थ 'आङ्माङोश्च' (६।१।७२) यह नया सूत्र बनाया गया है, इसे 'सिद्धान्तकौमुदी' में देखें।

सूचना— 'मूर्च्छना, मूर्च्छा' आदि में तुक् नहीं समझना चाहिये, किन्तु 'अचो रहाभ्यां द्वे' (६०) से वैकल्पिक द्वित्व तथा 'खरि च' (७४) से चर्त्व होगा। किञ्च 'वाञ्छति' आदि में चकार जोड़ना अशुद्ध है, क्योंकि तुक् प्राप्त नहीं।

अभ्यास (२२)

(१) निम्नलिखित प्रयोगों की सूत्रसमन्वय करते हुए सन्धिच्छेद करें—

१ इच्छति। २ अतूच्छलेन। ३ कुटीच्छन्ना। ४ दन्तच्छद्। ५ असिच्छिन्न। ६ मङ्गलच्छाय। ७ रुद्राच्छिक्का। ८ स्वच्छास्त्र। ९ वैदिकच्छन्दांसि। १० नवच्छिद्राणि। ११ गच्छति। १२ नूतनच्छास्त्र। १३ चिच्छेद। १४ गूढाच्छेकोक्ति। १५ माच्छिदत्। १६ तीक्ष्णाच्छुरिका। १७ स्वच्छन्द। १८ यज्ञच्छाग। १९ गुरुच्छेद। २० कुलटाच्छिन्ननासिका।

(२) "गच्छति, इच्छति" आदि में भी तुक् करने के अनन्तर जश्त्व, चर्त्व होंगे या नहीं ?।

(३) 'पदान्ताद्वा' सूत्र द्वारा विधान किया गया तुक् किस का अवयव होगा ? सप्रमाण लिखें।

यहां तुक् प्रकरण समाप्त होता

—०❀०—

[लघु०] इति हल्सन्धिः॥

अर्थः—यह हल् सन्धि समाप्त हुई।

व्याख्या—सन्धि एक प्रकार का वर्णविकार ही है। यदि वह विकार अच् के स्थान पर हो तो 'अच्सन्धि' हल् के स्थान पर हो तो 'हल्सन्धि' कहाता है। इसी प्रकार विसर्ग-सन्धि आदि के विषय में भी जान लेना चाहिये। लोक में प्रायः यह प्रचलित

है और हम भी लोकवाद् का अनुसरण करते हुए पीछे यही लिख आए हैं कि 'अच् का अच के साथ मेल=विकृति 'अच्सन्धि और हल का हल के साथ मेल'हल्सन्धि'कहाता है"। पर ध्यान देने से यह ठीक प्रतीत नहीं होता । क्योंकि ऐसा मानने से 'वान्तो यि प्रत्यये' (२४) आदि अच्सन्धि के सूत्रों तथा ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्' (८६) आदि हल्सन्धि के सूत्रों में व्यवस्था न बन सकगी । अत यही उचित प्रतीत होता है कि जहा अच् के स्थान पर सन्धि अर्थात सयोगजन्य वर्णविकार करें चाहे उस का निमित्त अच या हल भी हो वहा 'अच्सन्धि' और जहा हल् के स्थान पर सन्धि अर्थात् संयोगजन्य वर्णविकार करें चाहे उस का निमित्त अच् या हल जो भी हो वहा 'हल् सन्धि' होती है । [अचा स्थाने सन्धि = अच्सन्धि हला स्थाने सन्धि = हल्सन्धि] अच्सन्धि में 'झला जश् झशि' (१६) आदि सूत्र प्रकरण-वश लिखे गये हैं । इसी प्रकार हल्सन्धि में विसर्जनीयस्य स' (६६), 'कुप्वो ≍क ≍पौ च' (६८) प्रभृति विसर्गसन्धि के सूत्र भी प्रकरण-वश लिखे गये समझने चाहियें ।

इति भैमी-व्याख्ययोपबृंहितायां
लघु-सिद्धान्त-कौमुद्यां
हल्सन्धिप्रकरणं
समाप्तम् ॥

❀ अथ विसर्ग-सन्धि-प्रकरणम् ❀

अब विसर्ग सन्धि का प्रकरण आरम्भ किया जाता है। इस विषय पर सन्धि प्रकरण के अन्त में प्रकाश डालेंगे।

[लघु०] विधि सूत्रम्—१०३ विसर्जनीयस्य सः ।८।३।३४॥

खरि विसर्जनीयस्य सः स्यात्। विष्णुस्त्राता।

अर्थः—खर् परे होने पर विसर्जनीय के स्थान पर सकार आदेश हो।

व्याख्या—खरि ।७।१। [खरवसानयोर्विसर्जनीयः' से 'खरि' अंश] विसर्जनीयस्य ।६।१। सः ।१।१। सकारादकार उच्चारणार्थः। अर्थः—(खरि) खर् परे होने पर (विसर्जनीयस्य) विसर्जनीय के स्थान पर (सः) सकार आदेश हो जाता है।

उदाहरण यथा—विष्णुः+त्राता = विष्णुस्त्राता। [भगवान् विष्णु रक्षक है]।

यह सूत्र हल्सन्धि में प्रसङ्गवश लिखा गया था वस्तुतः यह विसर्ग-सन्धि का ही है।

ध्यान रहे कि 'सु' (सुँ) प्रत्यय के विसर्ग बनते हैं और विसर्ग को खर् परे होने पर पुनः 'स्' आदेश हो जाता है यह सब 'ससजुषो रुः' (१०५) सूत्र पर स्पष्ट करेंगे।

१ प्रश्न—'विष्णुस्त्राता' यहां विसर्ग को सकार आदेश कर देने पर 'ससजुषो रुः' (१०५) से पुनः 'रुँ' आदेश क्यों नहीं हो जाता?।

उत्तर—रुँत्व विधि (८।२।६६) के प्रति सकारादेश (८।३।३४) असिद्ध है अतः पुनः रुँत्व आदेश नहीं होता।

२ प्रश्न—यदि विसर्जनीय और विसर्ग पर्याय अर्थात् एकार्थ-वाची शब्द हैं तो 'विसर्जनीयस्य सः' सूत्र की बजाय 'विसर्गस्य सः' सूत्र ही क्यों न करदें? इस से कई मात्राओं का लाघव भी हो जाता है। जैसा कहा भी है—"अर्धमात्रा-लाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः"

उत्तर—"पर्यायशब्दानां लाघवगौरवचर्चा नाद्रियते" [प०] अर्थात् एकार्थवाची शब्दों में गौरव लाघव नहीं माना जाता, जैसे कि—'अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः' (९१७) यहां 'शरदादिभ्यः' कहा जा सकता था इसी प्रकार 'अन्यतरस्याम्, विभाषा' आदि में 'वा' कहा जा सकता था। अब यहां 'विसर्गस्य सः' कर देने से भी कुछ लाघव नहीं हो सकता।

[लघु०] विधि सूत्रम्—१०४ वा शरि ।८।३।३६॥

शरि विसर्गस्य विसर्गो वा स्यात् । हरिः शेते, हरिश्शेते ।

अर्थ—शर परे होने पर विसर्ग के स्थान पर विकल्प करके विसर्ग होते हैं।

व्याख्या—शरि ।७।१। विसर्जनीयस्य ।६।१। ['विसर्जनीयस्य सः' से] विसर्जनीय ।१।१। ['शर्परे विसर्जनीयः' से] वा इत्यव्ययपदम् । अर्थः—(शरि) शर् परे होने पर (विसर्जनीयस्य) विसर्ग के स्थान पर (वा) विकल्प से (विसर्जनीयः) विसर्ग आदेश होते हैं ।

शर प्रत्याहार खर प्रत्याहार के अन्दर आ जाता है, अतः 'विसर्जनीयस्य सः' (१०३) के प्राप्त होने पर यह उसका अपवाद आरम्भ किया जाता है। शर् परे होने पर विसर्ग—विसर्गरूप में विकल्प से अवस्थित रहते हैं अर्थात् विसर्ग और स दोनों बने रहते हैं। उदाहरण यथा—

१ हरिः शेते, २ हरिस् + शेते=हरिश्शेते [स्तोः श्चुना श्चुः (६२)]। १ रामः षष्ठः २ रामस् + षष्ठः=रामष्षष्ठः [ष्टुना ष्टुः (६४)]। १ सर्पः सरति। २ सर्पस्सरति।

खर् प्रत्याहार में 'क ख च छ, ट ठ त थ प फ, श, ष, स' इतने वर्ण आते हैं। इन में 'श, ष, स' परे होने पर 'वा शरि' (१०४) तथा 'क, ख, प, फ' परे होने पर 'कुप्वोः ≍क≍पौ च' (९८) प्रवृत्त हो जाता है। शेष बचे "च, छ, ट, ठ, त, थ" वर्णों के परे होने पर ही 'विसर्जनीयस्य सः' (१०३) सूत्र प्रवृत्त होता है। 'विसर्जनीयस्य सः' (१०३) से स् होने पर भी केवल 'त, थ' परे होने पर ही वह अविकृत=विकाररहित=वैसे का वैसा रहता है, क्योंकि 'च, छ' में उसे 'स्तोः श्चुना श्चुः' (६२) से 'श्' और 'ट, ठ' में उसे 'ष्टुना ष्टुः' (६४) से ष् हो जाता है। ग्रन्थकार ने 'विष्णुस्त्राता' यह उदाहरण 'त्' का दिया है। संस्कृत साहित्य में प्रायः थकारादि शब्द के न मिलने के कारण उन्होंने थकार परे का उदाहरण नहीं दिया। थकार परे के 'बालस्थूत्करोति' आदि उदाहरण हैं। इन सब की तालिका निम्नलिखित प्रकार से जाननी चाहिये—

ख्	नरः ≍खादति, नरः खादति ।	कुप्वोः ≍क≍पौ च (९८)।	
फ्	वृक्षः ≍फलति, वृक्षः फलति ।	"	
छ्	वृक्षश्छादयति ।	विसर्जनीयस्य सः (७३),	स्तोः श्चुना श्चुः (६२)।
ठ्	देवष्ठक्कुरः ।	"	ष्टुना ष्टुः (६४)।
थ्	बालस्थूत्करोति ।	"	
च्	पुरुषश्चिनोति ।	"	स्तोः श्चुना श्चुः (६२)।
ट्	बुधष्टीकते ।	"	ष्टुना ष्टुः (६४)।
त्	रामस्त्राता ।	"	

क्	बालः ≍करोति बाल करोति ।	कुप्वोः ≍क≍पौ च (९८) ।
प्	नृप ≍पाति, नृप पाति ।	,,
श्	पुरुष शेते, पुरुषश्शेते ।	वा शरि (१०४), विसर्जनीयस्य सः (१०३), स्तोः श्चुना श्चुः (६२) ।
ष	नृप षष्ठ, नृपष्षष्ठ ।	,, ,, ष्टुना ष्टुः (६४) ।
स	सर्प सरति सर्पस्सरति ।	,, ,,

नोट—'कुप्वोः ≍क≍पौ च' (९८) सूत्र भी विसर्गसन्धि के प्रकरण का है, हल्सन्धि में प्रसङ्गवश लिखा गया था ।

[लघु०] विधि सूत्रम्—१०५ ससजुषो रुँः ।८।२।६६॥

पदान्तस्य सस्य सजुषश्च रुँः स्यात् ।

अर्थः—पद के अन्त वाले सकार तथा सजुष् शब्द के षकार के स्थान पर 'रुँ' आदेश होता है ।

व्याख्या—ससजुषोः ।६।२। [सूत्र में 'रो रि' द्वारा रेफ का लोप हुआ २ है ।] पदस्य ।६।१। [यह अधिकार पीछे से आ रहा है ।] रुँः ।१।१। समास—सश्च सजूश्च= ससजुषौ तयोः=ससजुषोः । इतरेतरद्वन्द्वः । 'पदस्य' इस विशेष्य का 'ससजुषोः' यह विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि हो जाती है । अर्थः—(ससजुषोः) सकारान्त और सजुषशब्दान्त (पदस्य) पद के स्थान पर (रुँः) 'रुँ' आदेश हो जाता है । यहां सम्पूर्ण पद के स्थान पर विहित रुँ' आदेश 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) सूत्र से अन्त्य अल् अर्थात् सकारान्त पद के सकार को तथा सजुष्शब्दान्त पद के षकार को होगा ।

यह सूत्र विसर्ग की उत्पत्ति में कारण है । पदान्त सकार को जब यह रुँ आदेश कर देता है तो उकार की इत्सञ्ज्ञा हो कर 'र' शेष रह जाता है । उस रेफ के स्थान पर अवसान में तथा खर परे होने पर 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः (९३) से विसर्ग आदेश हो जाते हैं । तदनन्तर विसर्ग के स्थान पर यथायोग्य जिह्वामूलीय आदि आदेश हुआ करते हैं । इन सब का ब्योरा हम पीछे लिख चुके हैं ।

अब 'खर्' से भिन्न अक्षर यदि 'र्' से परे हो तो रेफ के स्थान पर क्या २ आदेश होता है ? इस को बतलाने के लिये यह प्रकरण आरम्भ किया जाता है ।

'रुँ' में उकार अनुनासिक होने से 'उपदेशोऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्र द्वारा इत् सञ्ज्ञक होता है । उकार के इत् करने का फल आगे कहा जाएगा ।

'शिवस् + अर्च्यः' (शिव जी पूजनीय हैं) यहां इस सूत्र से पदान्त सकार को रुँ,

पुन रुँ के उकार की इत्सञ्ज्ञा तथा लोप हो कर शिवर् + अर्च्य' हुआ। अब अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१०६ अतो रोरप्लुतादप्लुते ।६।१।११०॥

अप्लुतादत परस्य रो रु स्यादप्लुतेऽति । शिवोऽर्च्य॰।

अर्थः—अप्लुत अत् से परे रुँ को उ आदेश हो जाता है अप्लुत अत पर हो तो।

व्याख्या—अत ।५।१। अप्लुतात् ।५।१। रो ।६।१। उत् ।१।१। [अत उत् सूत्र से] अप्लुते ।७।१। अति ।७।१। [एङ पदान्तादति' से] अर्थ —(अप्लुतात्) अप्लुत (अत) अत् स परे (रो) रुँ के स्थान पर (उत्) उत् हो (अप्लुत) अप्लुत (अति) अत परे हो तो। यहा अत् उत् म तपर करने स ह्रस्व अकार उकार लिये जाते है।

शिवर्+अर्च्य' यहां अप्लुत अत स परे रुँ के स्थान पर उ' हो—'शिव उ + अर्च्य' हुआ। पुन 'आद् गुण' (२७) स अ + उ मिल कर ओ' गुण हुआ तो शिवो+ अर्च्य'। अब एङ पदान्तादति' (४३) से पूर्वरूप करने पर—शिवोऽर्च्य' प्रयोग सिद्ध होता है।

यद्यपि ससजुषो रुँ (१०५) सूत्र के असिद्ध होने स उत्वविधि (६।१।११०) क प्रति रुत्वविधि (८।२।६६) असिद्ध होनी चाहिये थी तथापि वचनसामर्थ्य से असिद्ध नहीं होती क्योंकि यदि रुत्वविधि को असिद्ध मानें तो सारे व्याकरण म रुँ कहीं नहीं मिल सकेगा, यत इस व्याकरण में उत्वोपयोगी रुत्व करने वाला यही एक सूत्र है।

ध्यान रहे कि रुँ के स्थान पर उत् नहीं होता; किन्तु उकार की इत् सञ्ज्ञा हो लोप हो जाने पर शेष बचे र के स्थान पर ही उत् होता है। सूत्र में रुँ के कथन का यह तात्पर्य है कि रुँ के र् को ही उत्व हो अन्य र् को न हो। यथा—प्रातर्+अत्र=प्रातरत्र, धातर्+अत्र= धातरत्र, लङि—अजागर्+इह=अजागरिह। इत्यादियों में रुँ के रेफ के न होने से उत्व नहीं होता।

यहा 'अप्लुत' ग्रहण का प्रयोजन बालकों के लिये अनुपयोगी जान नहीं लिखते। इस का 'सिद्धान्त-कौमुदी में सविस्तार विचार किया गया है वहीं देखें।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

१ बालोऽत्र। २ सोऽपि। ३ पुरुषोऽधुना। ४ मानुषोऽस्य। ५ शुद्धोऽहम्। ६ ज्ञात्वोऽहम्। ७ हस्तोऽस्य। ८ रामोऽस्मि। ९ नूतनोऽभ्यागत। १० ग्रामोऽभ्यर्णो ११ राज्ञोऽभिषेक। १२ सोऽपवाद। १३ ततोऽन्यथा। १४ समाचाराऽन्तिम। १५ सोऽनुस्वार। १६ ज्येष्ठोऽनुज। १७ शान्तोऽनल। १८ वचनोऽनुनासिकः १९ सुबोधोऽसि। न्यूनोऽसि।

[लघु०] विधि सूत्रम्—१०७ हशि च ।६।१।१११॥

तथा। शिवो वन्द्य ।

अर्थ—हश् परे होने पर अप्लुत अत् से परे रुँ के स्थान पर उत् आदेश होता है।

व्याख्या—अप्लुतात् ।५।१। अत ।५।१। रो ।६।१। ['अतो रोरप्लुतादप्लुते' से] उत् ।१।१। ['अत उत' से] हशि ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । अर्थ—(अप्लुतात्) अप्लुत (अत) अत् से परे (रो) रुँ के स्थान पर (उत्) उत् आदेश होता है। (हशि) हश् परे होने पर। उदाहरण यथा—

शिवस् + वन्द्य ' (शिव जी वन्दनीय है) यहां 'ससजुषो रुँ' (१०५) सूत्र से सकार को रुँ हुआ, उकार की इत्संज्ञा तथा लोप करने से—'शिवर् + वन्द्य' बना। अब वकार=हश् परे रहते अप्लुत अत् से परे रेफ को उकार आदेश हो—'शिव उ+वन्द्य' हुआ। पुनः 'आद् गुणः' (२७) से गुण एकादेश किया तो 'शिवो वन्द्य' सिद्ध हुआ।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

ह रामो हसति ।	झ वृक्षो झञ्झया पतित ।
य बालो याति ।	भ सूर्यो भाति ।
व शिवो वन्द्य ।	घ घोरो घोषिणो नाद ।
र बालो रौति ।	ढ शिवो ढक्कां ननाद । [अन्तर्भावितण्यर्थः]
ल बुधो लिखति ।	ध पर्वतो धौत ।
ञ बालो ञकारं पश्यति ।	ज अगदो ज्वरघ्न ।
म मूर्खो मुह्यति ।	ब को बाल ।
ङ जनो ङादिशब्दं न विन्दति ।	ग नरो गच्छति ।
ण को णोपदेशो धातु ।	ड काको डिड्ये ।
न स भक्तो नमतीश्वरम् ।	द नृपो दास्यति ।

'ससजुषो रुँ' (१०५) सूत्र से किया रुँत्व यहां भी पूर्ववत् वचनसामर्थ्य से असिद्ध नहीं होता।

[लघु०] विधि सूत्रम्—१०८ भो भगो-अघो-अ पूर्वस्य योऽशि ।८।३।१७॥

एतत्पूर्वस्य रोर्यादेशोऽशि। देवा इह । देवायिह। भोस्, भगोस्, अघोस् इति सान्ता निपाताः। तेषां रोर्यत्वे कृते—

अर्थ—अश् प्रत्याहार परे होने पर भो भगो अघो तथा अवर्ण पूर्व वाले रुँ के स्थान पर यकार आदेश होता है।

व्याख्या—भोभगोअघोअपूर्वस्य ।६।१। रो ।६।१। ['रो सुपि' से] य ।१।१। अशि ।७।१। समास—भोश्च भगोश्च अघोश्च अश्च = भो भगो अघो अ, इतरेतरद्वन्द्व । सन्धिभाव सौत्र, अथवा एतद्दीयानुकृतसकाराणा रुत्वे यत्वे च तल्लोप । भो भगो अघो अ पूर्वे यस्मात् स भो भगो अघो अपूर्वस्तस्य, बहुव्रीहि समास । अर्थ—(भो भगो अघो अपूर्वस्य) भोपूर्वक, भगोपूर्वक, अघोपूर्वक तथा अवर्णपूर्वक (रो) रुँ के स्थान पर (य) य आदेश हो जाता है (अशि) अश् परे हो तो । उदाहरण यथा—

देवास् + इह = देवारुँ + इह (ससजुषो रुँ) = देवार् + इह यहां इह शब्द का आदि इकार=अश परे है अतः अवर्ण पूर्वक रु को य् हो—'देवाय्+इह' बना । अब लोप शाकल्यस्य (३०) सूत्र से यकार का वैकल्पिक लोप करने से—'देवा इह' तथा 'देवायिह' ये दो रूप सिद्ध होते हैं । ध्यान रहे कि लोप वाले पक्ष में लोप (८।२।१६) के असिद्ध होने से 'आद् गुणः' (६।१।८४) सूत्र द्वारा गुण नहीं होता ।

भोस्, भगोस् तथा अघोस् ये सकारान्त निपात हैं अर्थात् चादिगण में पाठ होने से इन की 'चादयोऽसत्त्वे' (५६) सूत्र द्वारा निपातसञ्ज्ञा है । निपातसञ्ज्ञा होने से 'स्वरादि-निपातमव्ययम्' (३६७) सूत्र से इन की अव्ययसञ्ज्ञा भी हो जाती है । यहां सूत्र में इन के एकदेश [भो, भगो, अघो] का ग्रहण किया गया है । ये सब सम्बोधन [सर्वसाधारण के सम्बोधन में भोस्, भगवान् के सम्बोधन में भगोस् तथा पापी के सम्बोधन में अघोस का प्रायः प्रयोग देखा जाता है ।] में प्रयुक्त होते हैं । उदाहरण यथा—

भोस् + देवाः [हे देवताओ !], भगोस्+नमस्ते [हे भगवन् ! आप को नमस्कार हो], अघोस् + याहि [हे पापिन् ! दूर हो] । इन सब स्थानों पर 'ससजुषो रुँ' (१०५) सूत्र से सकार को रुँ आदेश हो, उकार की इत् सञ्ज्ञा और इस का लोप करने पर—"भोर्+देवाः, भगोर्+नमस्ते, अघोर्+याहि" रूप बने । अब इस सूत्र से रुँ का य् आदेश करने से—"भोय्+देवाः भगोय्+नमस्ते, अघोय्+याहि" इस प्रकार स्थिति हुई । अब अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१०६ हलि सर्वेषाम् ।८।३।२२॥

भो-भगो-अघो-अ-पूर्वस्य यस्य लोपः स्याद्धलि । भो देवाः । भगो नमस्ते । अघो याहि ।

अर्थः—हल परे होने पर भो, भगो, अघो तथा अवर्ण पूर्व वाले यकार का लोप हो जाता है ।

व्याख्या—भो भगो अघो अ पूर्वस्य ।६।१। [भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' से] यस्य ।६।१। ['व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य' से वचनविपरिणाम कर के] लोप ।१।१। [लोपः शाकल्यस्य' से] हलि ।७।१। सर्वेषाम् ।६।३। अर्थः—[भोभगोअघोअ पूर्वस्य] भोपूर्वक, भगोपूर्वक, अघोपूर्वक तथा अवर्णपूर्वक (यस्य) यकार का (हलि) हल् परे होने पर (लोप) लोप हो जाता है (सर्वेषाम्) सब आचार्यों के मत में।

इस सूत्र से यकार का नित्यलोप हो कर "भो देवा भगो नमस्ते, अघो याहि" ये रूप सिद्ध हो जाते हैं।

ग्रन्थकार ने इस सूत्र के अवर्णपूर्वक यकार के लोप का उदाहरण नहीं दिया। 'देवा हसन्ति' आदि स्वयम् उदाहरण ढूंढ लेने चाहियें।

अभ्यास (२३)

(१) सूत्रसमन्वय करते हुए सन्धिच्छेद करो—

१ बाला आगच्छन्ति। २ नरो हन्ति। ३ चाण्डालोऽभिजायते। ४ भो देवदत्त! सर्वेऽत्र मूर्खास्सन्ति। ५ अघो याहि। ६ भो (?) परमात्मन्। ७ कदागुरोकम्मो भवन्त (भवन्त आकस कदा अंगु। आप घर से कब गये ?।)। ८ कोऽद्राल्। ९ दुष्टो जिह्म इहासीत। १० त्रैगुण्यविषया वेदा। ११ धीरो न शोचति। १२ मृग एति। १३ छात्रयिच्छति। १४ पण्डिता भाग्यवन्त। १५ नृपा ददति।

(२) सूत्र निर्देश पूर्वक सन्धि करो—

१ कविस्+करोति। २ हरिस्+तिष्ठति। ३ रविस्+उदेति। ४ लक्ष्मीस्+इच्छति। ५ तन्नस्+आसुव। ६ कृतस्+अत्र। ७ गौस्+गच्छति। ८ अश्वास्+धावन्ति। ९ अपिपर्+अयम्*। १० कृष्णमेघ+तिरस्+दधे। ११ नार्थस्+लृकारोपदेशेन‡। १२ रामस्+अब्रवीत्। १३ भगोस्+परमात्मन्। १४ पुनर्+हसति। १५ हयास्+धावन्ति।

(३) उत्वविधि के प्रति रुत्वविधि सिद्ध है या असिद्ध ? यदि असिद्ध है तो क्यों ?।

(४) 'अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः' इस परिभाषा तथा "पर्यायशब्दानां लाघवगौरवचर्चा नाद्रियते' इस वचन का सोदाहरण स्पष्ट विवेचन करें।

—०※०—

* 'पॄ पालनपूरणयोः' (जुहो०) इति धातोर्लङि प्रथमपुरुषैकवचनमिदम्।

‡ यहां ऱ् को ल् न हो कर उस का वैकल्पिक लोप होगा।

[लघु०] विधि सूत्रम्—११० रोऽसुपि ।८।२।६९ ॥

अह्नो रफादेशो न तु सुपि । अहरहः । अहर्गणः ।

अर्थ —अहन् शब्द के अन्त्य नकार के स्थान पर रेफ आदेश होता है । सुप् परे होने पर नहीं होता ।

व्याख्या—अहन् ।६।१। ['अहन्' सूत्र का अनुवर्त्तन होता है । यहां षष्ठी विभक्ति का लुक् समझना चाहिये ।] र ।१।१। रेफादकार उच्चारणार्थः । असुपि ।७।१। अर्थ —(अहन्) अहन् शब्द के स्थान पर (र) र आदेश होता है (असुपि) परन्तु सुप् परे होने पर नहीं होता । अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्त्य नकार को ही रेफ आदेश होगा। उदाहरण यथा—

अहन् + अहन्=अहर् + अहर=अहरहः । ['अहन् सु' इस पद को 'नित्यवीप्सयोः' (८८६) से द्वित्व हो— अहन् सु अहन् सु बना । पुनः 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) से दोनों सुप्रत्ययों का लुक् करने से—'अहन् अहन्' । अब यहां 'न लुमताङ्गस्य' (१९१) से प्रत्यय लक्षण के निषेध हो जाने से सु=सुप् के परे होने के कारण नकार को रेफ आदेश हो—अहरहन् दूसरे में भी लुक् होने से असुप् होने के कारण रोऽसुपि सूत्र से नकार को रेफ तथा अवसान में उसे विसर्ग आदेश करने पर— अहरहः' प्रयोग सिद्ध होता है ।]

दूसरा उदाहरण—अहन् + गण = अहर् + गण=अहर्गण । [अह्नां गणः=अहर्गणः, षष्ठीतत्पुरुषसमास । 'अहन् आम् + गण सु' इस अलौकिकविग्रह में विभक्तियों का लुक् हो—अहन् + गण । अब यहां 'न लुमताङ्गस्य' (१९१) से प्रत्ययलक्षण के निषेध होने से आम् = सुप् के परे न होने के कारण नकार को रेफ आदेश हो—'अहर्गण' । विभक्ति लाने से—'अहर्गणः' प्रयोग सिद्ध होता है ।]

यह सूत्र 'अहन्' (३६३) [पदान्त में अहन् के नकार को रुँ आदेश हो ।] सूत्र का अपवाद है अर्थात् उस सूत्र से रुँ प्राप्त होने पर इस सूत्र से रेफ आदेश विधान किया जाता है । यदि रुँ आदेश होता तो 'अहरहः' में 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' (१०६) सूत्र द्वारा तथा 'अहर्गणः' में 'हशि च' (१०७) सूत्र द्वारा उत्व हो कर अनिष्ट रूप बन जाता । अब रेफ आदेश करने से उत्व न होगा । इस कारण 'अहरहरत्र, अहरहर्दीप्तिः' 'अहरहर्गच्छति' इत्यादि प्रयोग बनेंगे, 'अहोऽहोत्र' आदि नहीं । यही रुत्व न कह कर रेफ आदेश कहने का प्रयोजन है ।

प्रश्न—आप ने 'रोऽसुपि' सूत्र को 'अहन्' (३६) सूत्र का अपवाद माना है, परन्तु यह उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अपवाद के विषय में उत्सर्ग की प्राप्ति अवश्य हुआ करती है । परन्तु यहां रोऽसुपि' के उदाहरणों में 'अहन्' (३६३) सूत्र प्राप्त नहीं हो

सकता । तथाहि—'रोऽसुपि' सूत्र के "अहन् + अहन्, अहन्+गण" इत्यादि उदाहरण हैं। इन में सुप् का लुक होने से 'न लुमताङ्गस्य' (१९१) द्वारा प्रत्ययलक्षण न हो सकने के कारण पदसञ्ज्ञा न हो सकेगी। पदसञ्ज्ञा न हो सकने से 'अहन्' (३६३) सूत्र प्राप्त नहीं हो सकेगा। अत प्रतीत होता है कि यह सूत्र 'अहन्' (३६३) का अपवाद नहीं किन्तु स्वतन्त्रतया रेफ आदेश विधान करने वाला है।

उत्तर—आप को 'न लुमताङ्गस्य' (१९१) सूत्र के अर्थ में भ्रान्ति हो गई है। उस का अर्थ यह है—"लुक श्लु, लुप शब्दों से प्रत्यय का अदर्शन करने पर इसको मान कर अङ्ग के स्थान पर कार्य नहीं होते" यहां स्पष्ट अङ्ग को कार्य करने का निषेध है। पदसञ्ज्ञा अङ्गकार्य नहीं क्योंकि वह अङ्ग और प्रत्यय दोनों को मिला कर की जाती है। अत लुक आदि शब्दों द्वारा सुप प्रत्यय का लुक हो जाने पर भी पदसञ्ज्ञा सिद्ध हो जाती है और उसके हो जाने से तदाश्रित कार्य भी बेरोकटोक प्राप्त होते हैं। यथा—'राज पुरुष' यहां ङस का लुक होने पर पदसञ्ज्ञा हो जाने के कारण 'न लोप प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) सूत्र से पद के अन्त वाले नकार का लोप सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार अहरह अहगण' आदियों में सुप का लुक हो जाने पर भी पदसञ्ज्ञा होती थी और उस के होने से 'अहन्' (३६३) सूत्र द्वारा रुत्व प्राप्त था। उस के प्राप्त होने पर यह 'रोऽसुपि' सूत्र बनाया गया है अत यह उसका अपवाद है। इसके प्रवृत्त होने में 'न लुमताङ्गस्य (१९१) सूत्र से सुप का अभाव हो जाता है क्योंकि यह अङ्ग के स्थान पर रेफ आदेश करता है।

'असुपि' यहां प्रसज्यप्रतिषेध है। अत सुप परे न हो और चाहे जो हो यह सूत्र प्रवृत्त होगा। यदि यहां पर्युदास प्रतिषेध मानें तो सुप से भिन्न तत्सदृश अर्थात् प्रत्यय परे होने पर ही यह सूत्र प्रवृत्त हो सकेगा, 'अहर्भाति अहरह अहर्गण' इत्यादि स्थानों पर जहां प्रत्यय परे नहीं प्रवृत्त न हो सकेगा केवल 'अहर्वान्' इत्यादि स्थानों पर ही प्रवृत्त होगा। अत यहां पर्युदास प्रतिषेध मानना उचित नहीं प्रसज्यप्रतिषेध मानना ही युक्त है। सुप् का निषेध इस लिये किया गया है कि 'अहोभ्याम् अहोभि' इत्यादि स्थानों पर रेफ न हो कर 'अहन्' (३६३) से रुत्व हो जाय। यदि यहां रेफ आदेश होता तो 'अहो रभ्याम्' की तरह 'हशि च' (१०७) से उत्व न हो सकता और उसके न होने से गुण भी न हो पाता।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—"अहरिदम्, अहर्दानीम् अहर्भाति, अहर्गच्छति' प्रभृति जान लेने चाहियें।

[लघु०] विधि सूत्रम्—१११ रो रि ।८।३।१४॥

रेफस्य रेफे परे लोपः ।

अर्थः—रेफ का रेफ परे होने पर लोप होता है ।

व्याख्या—रः ।६।१। रि ।७।१। लोपः ।१।१। ['ढो ढे लोपः' से] अर्थः—(रः) रेफ का (रि) रेफ परे होने पर (लोपः) लोप हो जाता है। इसी प्रकार का एक सूत्र—'ढो ढे लोपः' (५५०) है। इस का अर्थ—(ढः ।६।१) ढ् का (ढे ।७।१) ढ परे होने पर (लोपः ।१।१) लोप हो जाता है।

इन दोनों सूत्रों का उपयोग अग्रिम सूत्र के उदाहरणों में किया जायगा।

[लघु०] विधि सूत्रम्-११२ ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ।६।३।११०॥

ढरेफयोर्लोपनिमित्तयोः पूर्वस्याणो दीर्घः स्यात् । पुना रमते । हरी रम्यः । शम्भू राजते । अणः किम् ? तृढः । वृढः ।

अर्थः—ढकार और रेफ के लोप में निमित्तभूत जो ढकार और रेफ उन के परे होने पर पूर्व अण् के स्थान पर दीर्घ हो जाता है।

व्याख्या—ढ्रलोपे ।७।१। पूर्वस्य ।६।१। अणः ।६।१। दीर्घः ।१।१। समासः—ढ् च रश्च=ढ्रौ इतरेतरद्वन्द्वः । रेफादकार उच्चारणार्थः । ढ्रौ लोपयतीति ढ्रलोपः, ण्यन्तात् कर्मण्युपपदेऽण्प्रत्ययः । ढकार और रेफ का लोप करने वाले इस व्याकरण में 'ढो ढे लोपः' (५५०) तथा 'रो रि' (१११) में ढकार और रेफ ही हैं। अर्थः—(ढ्रलोपे) ढकार और रेफ का लोप करने वाले अर्थात् ढ वा र के परे होने पर (पूर्वस्य) पूर्व (अणः) अ इ, उ वर्णों के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ हो जाता है। उदाहरण यथा—

'पुनर्+रमते' [फिर खेलता है] यहां रमते के आदि रेफ को मान कर 'पुनर्' के रेफ का रो रि' (१११) सूत्र से लोप हो जाता है। पुनः इस रेफलोप में निमित्त रमते' वाले रेफ के परे होने पर नकारोत्तर अकार=अण् को दीर्घ हो कर—'पुना रमते' प्रयोग सिद्ध होता है।

'हरिस्+रम्यः' [भगवान् विष्णु रमणीय हैं] = हरिरुँ+रम्यः = हरिर+रम्यः=हरि+रम्यः = 'हरी रम्यः'।

शम्भुस्+राजते=शम्भुरुँ+राजते=शम्भुर् + राजते शम्भु+राजते= 'शम्भू राजते'।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

१ अहा रम्यम्। २ ना रम्य ! [नर् + रम्य ! नृशब्दस्य सम्बोधने]। ३ अन्ता राष्ट्रियः।

४ सवितृ रश्मय । ५ नीरुक् । ६ लीढाम् [लिढ् + ढाम्, वह चाटे] । ७ भूपती रक्षति । ८ फेरू रौति । ९ लीढे । १० नीरस । ११ दाशरथी राम । इत्यादि ।

इस सूत्र में अण् प्रत्याहार पीछे कहे अनुसार पूर्व णकार (अ इ उ ण्) से ही लिया जायगा इस से 'तृढ' (मारा), 'वृढ' (तैयार, उद्यत) यहां पूर्व ऋकार को दीर्घ न होगा। तथाहि—"तृढ् + ढ, वृढ् + ढ" यहां 'ढो ढे लोपः' (५५०) सूत्र से ढकार का लोप हो कर— 'तृढ वृढ" प्रयोग सिद्ध होते हैं।

ढलोप का उदाहरण मूल में नहीं दिया गया, इस के—लिढ+ढ=लि+ढ='लीढ' प्रभृति उदाहरण हैं।

यहां 'पूर्वस्य' ग्रहण का प्रयोजन 'सिद्धान्तकौमुदी' में देखना चाहिये।

नोट—'पुना रमते' में कई लोगों के द्वारा किया जाता हुआ 'पुनस् + रमते' यह छेद अशुद्ध है, क्योंकि—यह रेफान्त अव्यय है सकारान्त नहीं। वैसा होने पर 'मनोरथ' की तरह 'पुनो रमते' बन जाता। 'हरस् + रम्य' 'शम्भुस् + राजते' ये छेद तो शुद्ध हैं अकार पूर्व न होने से इन में 'हशि च' (१०७) प्राप्त नहीं।

[लघु०] 'मनस्+रथ' इत्यत्र रुँत्वे कृते 'हशि च' इत्युत्वे 'रो रि' इति लोपे च प्राप्ते—

अर्थ—'मनस् + रथ' यहां ('ससजुषो रुः' से) सकार को रुँ किया तो 'हशि च' से उत्व तथा 'रो रि' से रेफ का लोप प्राप्त हुआ। [इस पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है]

व्याख्या—यहां उत्व और रेफ लोप युगपत् (इकट्ठे) प्राप्त होते हैं। इन दोनों में से कौन हो ? इस शङ्का की निवृत्ति के लिये अग्रिम सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] नियमसूत्रम्—**११३ विप्रतिषेधे परं कार्यम्** । १।४।२॥

तुल्यबलविरोधे परं कार्यं स्यात्। इति लोपे प्राप्ते 'पूर्वत्रासिद्धम्' इति 'रो रि' इत्यस्यासिद्धत्वादुत्वमेव। मनोरथः।

अर्थः—तुल्यबल वालों का विरोध होने पर परकार्य होता है।

व्याख्या—विप्रतिषेधे ।७।१। परम् ।१।१। कार्यम् ।१।१। अर्थः—(विप्रतिषेधे) विप्रतिषेध होने पर (परम्) पर (कार्यम्) कार्य होता है। "अन्यत्रान्यत्रलब्धावकाशयोरेकत्र प्राप्तिस्तुल्यबलविरोधः" । तुल्यबल वाले दो कार्यों के विरोध को विप्रतिषेध कहते हैं। पृथक् २ स्थानों (जहां वे परस्पर प्राप्त नहीं हो सकते) पर चरितार्थ होने वाले सूत्र तुल्यबल वाले कहाते हैं। इन तुल्यबल वालों का यदि विरोध हो जाए तो इन में जो अष्टाध्यायी में परे

पढा गया है वही प्रवृत्त होगा। यथा—'हशि च' सूत्र शिवो वन्द्य ' आदि स्थानों पर चरितार्थ हो चुका है इन स्थानों पर रो रि सूत्र प्रवृत्त नहीं हो सकता और रो रि सूत्र हरी रम्य आदि स्थानों पर चरितार्थ हो चुका है इन स्थाना पर 'हशि च' सूत्र प्राप्त नही हो सकता तो इस प्रकार हशि च और 'रो रि' तुल्यबल वाले हैं। अब इन तुल्यबल वालों का 'मनर+रथ' यहां विरोध उत्पन्न हो गया है। तो यहां वही कार्य होगा जो अष्टाध्यायी म परे पढा गया होगा। हशि च' (६।१।१११) सूत्र से रो रि' (८।३।१४) सूत्र परे पढ़ा गया है अत 'रो रि द्वारा रेफलोप की प्राप्ति हुई। पर तु रो रि' सूत्र त्रिपादी होने के कारण हशि च' की दृष्टि में असिद्ध है [देखो— पूर्वत्रासिद्धम्' (१)] अत हशि च' की दृष्टि म रो रि का अस्तित्व ही नहीं रहता इस से हशि च' स उत्व हो कर– मन उ + रथ'। अब 'आद् गुण (२७) सूत्र से गुण एकान्श कर विभक्ति लाने से— मनोरथ प्रयोग सिद्ध होता है। मनसो रथ =मनोरथ (अभिलाषा)।

इसी प्रकार—१ बालो रोदिति। २ राघवो राम । ३ काका रौति। ४ भूयो रमते। ५ ईश्वरो रचयति । इत्यादि।

[लघु०] विधि सूत्रम्—११४ एतत्तदो' सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि।६।१।१२६॥

अककारयोरेतत्तदोर्य सुप्तस्य लोप स्याद्धलि, न तु नञ्समासे। एष विष्णु। स शम्भु। अको किम ? एषको रुद्रः। अनञ्समासे किम् ? असः शिव। हलि किम् ? एषोऽत्र।

अर्थ—ककार रहित एतद् और तद् शब्द के सु का हल परे होने पर लोप हो जाता है, परन्तु नञ्समास में नही होता।

व्याख्या—एतत्तदो ।६।२। सुलोप ।१।१। अको ।६।२। अनञ्समासे ।७।१। हलि ।७।१। समास —एतच्च तच्च=एतत्तदौ, इतरेतरद्वन्द्व । तयो'=एतत्तदो । सोर्लोप.=सुलोप, षष्ठीतत्पुरुष । न नञ्समास'=अनञ्समास, तस्मिन्=अनञ्समासे, नञ्तत्पुरुष । अविद्यमान ककारो ययोस्तौ=अकौ, तयो=अको बहुव्रीहिसमास । अर्थ —(अको) ककाररहित (एतत्तदो) एतद् और तद् शब्द के (सुलोप) सु का लोप हाता ह (हलि) हल परे हो तो। परन्तु (अनञ्समास) नञ्समास में नहीं होता।

उदाहरण यथा—'एषस्+विष्णु =एष विष्णु [यह विष्णु है]। यहा षकार=हल् परे होने से एतद् शब्द से पर सु' प्रत्यय का लोप हा जाता है।

'सस + शम्भु '= स शम्भु । यहां शकार=हल् परे होने से तद् शब्द से परे 'सु' प्रत्यय का लोप हो जाता है।

एतद् और तद् शब्द की टि से पूर्व जब 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टे' (१२२१) सूत्र से अकच् प्रत्यय हो जाता है तब इन में ककार आ जाता है। तब हल् परे होने पर भी इन से परे सु' प्रत्यय का लोप नहीं हुआ करता। यथा—'एषकस्+रुद्र' यहां सु का लोप न हो कर ससजुषो रुँ' (१०५) से रुत्व, हशि च' (१०७) से उत्व तथा 'आद् गुण (२७) से गुण एकादेश करने से 'एषको रुद्र' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार—"सकस +रुद्र =सको रुद्र, सकस्+शिव =सक शिव" इत्यादि में हल् परे होने पर भी सु का लोप नहीं होता, क्योंकि तद् शब्द ककार से रहित नहीं है।

'अनञ्समासे' यहां प्रसज्यप्रतिषेध है अर्थात् नञ्समास न हो और चाहे समास हो या न हो सु का लोप हो जायगा। यदि यहां पर्युदासप्रतिषेध मानें तो नञ्समास से भिन्न तत्सदृश अर्थात् समास का ग्रहण होने से 'एष रुद्र, स शिव आदि मे सु का लोप न हो सकेगा, अत प्रसज्यप्रतिषध मानना ही युक्त है।

नञ्समास में सुलोप नहीं होता। यथा—'असः शिव, अनेष शिव" [न स = अस, न एष =अनेष।] यहां सुँ को रुँ और रुँ को विसर्ग हो 'वा शरि' (१०२) से विकल्प कर के विसर्ग आदेश होगा। पक्ष में 'विसर्जनीयस्य स' (१०३) से सकार आदेश हो जायगा।

हल् परे होने पर सु का लोप कहा गया है इस से अच परे होने पर सुलोप न होगा। यथा—एषस् + अत्र=एषरुँ + अत्र = एषर् + अत्र=एषउ + अत्र=एषो+अत्र = एषोऽत्र। इसी प्रकार—'सोऽत्र' यहां भी सुलोप न होगा।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

ह स हसति। एष हसति।
य स याति। एष याति।
व स वमति। एष वमति।
र स रमते। एष रमते।
ल स लुनाति। एष लुनाति।
ञ स ञकार। एष ञकार।
म स मुह्यति। एष मुह्यति।
ङ स ङकार। एष ङकार।
ण स णकार। एष णकार।
न स नमति। एष नमति।
झ स झणत्कार। एष झणत्कार।

भ स भाति। एष भाति।
घ स घोष। एष घोष।
ढ स ढकार। एष ढकार।
ध स धावति। एष धावति।
ज स जयति। एष जयति।
ब स बध्नाति। एष बध्नाति।
ग स गच्छति। एष गच्छति।
ड स डिड्ये। एष डिड्ये।
द स ददाति। एष ददाति।
ख स खनति। एष खनति।
फ स फलति। एष फलति।

छ स छादयति । एष छादयति ।
ठ स ठक्कुर । एष ठक्कुर ।
थ स थूत्करोति । एष थूत्करोति ।
च स चलति । एष चलति ।
ट स टिट्टिभ । एष टिट्टिभ ।
त स तरति । एष तरति ।
क स करोति । एष करोति ।
प स पठति । एष पठति ।
श स शेते । एष शेते ।
ष स षण्ढ । एष षण्ढ ।
स स सर्पति । एष सर्पति ।

—*—

[लघु०] विधि सूत्रम्—११५ सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम् ।६।१।३२॥

सस् इत्यस्य सोर्लोपः स्यादचि, पादश्चेल्लोपे सत्येव पूर्येत ।
सेमामविड्ढि प्रभृतिम । सैष दाशरथी रामः ।

अर्थ—यदि केवल लोप होने से ही पाद पूरा होता हो तो अच परे होने पर तद् शब्द के 'सु' का लोप हो जाता है ।

व्याख्या—स ।६।१। [तद् शब्द का प्रथमा के एकवचन में 'सस' रूप बनता है । उस का यहां अनुकरण किया गया है । इस के आगे षष्ठी के एकवचन का "छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति" इस कथन से छन्दोवत् होने के कारण 'सुपां सुलुक—' सूत्र से लुक हो जाता है ।] सुलोप ।१।१। ['एतत्तदो सुलोप —' से] अचि ।७।१। लोपे ।७।१। चेत् इत्यव्ययपदम् । एव इत्यप्यव्ययपदम् ['स्यश्छन्दसि बहुलम्' सूत्र से 'बहुलम्' की अनुवृत्ति आती है । उस से यहां 'एव' पद का ही ग्रहण किया जाता है] । अर्थ —(स) 'सस' के (सुलोप) सु का लोप हो जाता है (अचि) अच परे होने पर (चेत्) यदि (लोपे) लोप होने पर (एव) ही (पाद पूरणम्) पादपूर्त्ति होती हो तो ।

श्लोक आदि क एक विशेष भाग को छन्द शास्त्र में 'पाद' कहते हैं उसी का यहां ग्रहण समझना चाहिये । उदाहरण यथा—

"सेमामविड्ढि प्रभृतिं य ईशिषे ऽया विधेम नवया महा गिरा ।
यथा नो मीढ्वान्त्स्तवते सखा तव बृहस्पते सीषधः सोत नो मतिम् ॥"

यह ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल के चौबीसवें सूक्त का प्रथम मन्त्र है । यहां 'निचृद् जगती' छन्द है । जगतीछन्द के प्रत्येक पाद में बारह २ अक्षर होते हैं । "सेमामविड्ढि प्रभृति य ईशिषे" यह जगतीछन्द का एक पाद है । इस में सस्+इमाम्' इस अवस्था में सकार का लोप हो कर गुण हो जाने से बारह अक्षरों का पाद पूरा हो जाता है । यदि यहां इस सूत्र से सकार का लोप न करते तो सकार को रुँ, रुँ को य और य् का वैकल्पिक लोप हो—

'स इमामविड्ढि प्रभृति य ईशिषे'' इस प्रकार तेरह अक्षरों वाला पाद हो जाता क्योंकि यकारलोप के असिद्ध होने से गुण प्राप्त नहीं हो सकता था। अब यहां इस सूत्र के सकार लोप के त्रैपादिक न होने के कारण सिद्ध होने से बारह अक्षर पूरे हो जाते हैं कोई दोष नहीं आता। द्वितीय उदाहरण यथा—

> "सैष दाशरथी रामः, सैष राजा युधिष्ठिरः।
> सैष कर्णो महात्यागी, सैष भीमो महाबलः॥"

[ये वे भगवान् दशरथनन्दन श्रीराम हैं। ये वे राजा युधिष्ठिर हैं। ये वे महादानी कर्ण हैं। ये वे महाबली भीम हैं।] यह 'अनुष्टुभ्' छन्द है। अनुष्टुभ् छन्द के चार पाद और प्रत्येक पाद में आठ २ अक्षर होते हैं। इन सब पादों में 'सस्+एष' यहां इस सूत्र से स का लोप हो 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि करने पर 'सैष' प्रयोग सिद्ध होता है। इस से आठ २ अक्षरों वाले सब पाद पूरे हो जाते हैं। यदि यहां इस सूत्र से स् का लोप न करते तो सकार को रुँ, रुँ का य और य् का वैकल्पिक लोप हो कर त्रैपादिकतामूलक असिद्ध होने से— 'स एष' या 'सयेष' इस प्रकार रूप हो जाते। इस से प्रत्येक पाद में नौ २ अक्षर हो कर छन्दोभङ्ग हो जाता। अतः यहां पादपूर्त्ति का—सिवाय इस के कि स् का सिद्ध लोप किया जाए, अन्य कोई उपाय नहीं इसलिये स का लोप किया गया है।

'बहुलम्' की अनुवृत्ति से 'एव' इसलिये ग्रहण किया गया है कि यदि किसी अन्य उपाय से पाद पूरा हो सकता हो तो स का लोप न हो। किन्तु जब पादपूर्त्ति का अन्य कोई उपाय न सूझता हो तब लोप करना चाहिये। यथा—

> "सोऽहमाजन्मसिद्धानाम्, आफलोदयकर्मणाम्।
> आसमुद्रक्षितीशानाम्, आनाकरथवर्त्मनाम्॥"

(रघुवंश, सर्ग १, श्लोक ५)

यहां 'सस्+अहम्' में सकार का लोप करने पर 'साहम्' बन जाने से पाद की पूर्त्ति हो जाती है। परन्तु यह पादपूर्त्ति 'अतो रोरप्लुतादप्लुते' (१०६) द्वारा उत्व करने पर भी हो सकती है। अतः यहां स का लोप न कर उत्व ही करेंगे।

आचार्य वामन इस सूत्र के 'पाद' शब्द से ऋग्वेद के पाद का ही ग्रहण करते हैं। इन का कथन है कि यदि ऋग्वेद के पाद की पूर्त्ति होती होगी तो सकार का लोप हो जायगा। परन्तु सूत्र में किसी विशेष स्थान के पाद का उल्लेख न होने से सर्वत्र लोक अथवा वेद में इस की प्रवृत्ति होती है—ऐसा अन्य लोग मानते हैं। ग्रन्थकार ने दोनों मत दिखाने के लिये दोनों उदाहरण दे दिये हैं।

[लघु०] इति विसर्ग-सन्धि-प्रकरणम् ।

अर्थ —यह विसर्ग सन्धि का प्रकरण समाप्त हुआ ।

व्याख्या—तनिक ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सम्पूर्ण प्रकरण विसर्गसन्धि का नहीं है । 'अतो रोरप्लुतादप्लुते (१०६), हशि च (१०७), रोऽसुपि (११०) एतत्तदो—(११४)" आदि सूत्रों का—अवसान अथवा खर् परक न होने से विसर्गों के साथ कुछ भी सम्बन्ध नहीं है । किञ्च यदि इस सम्पूर्ण प्रकरण को विसर्गसन्धिप्रकरण मानें तो 'पञ्चसन्धिप्रकरणम्' यह कथन असङ्गत हो जाता है क्योंकि सब चार प्रकरण ही होते हैं—१ अच्सन्धि प्रकरण । २ प्रकृतिभाव-प्रकरण । ३ हल्सन्धि प्रकरण । ४ विसर्गसन्धि प्रकरण । अत हमारे विचार में यहां दो प्रकरण ही होने चाहियें । 'वा शरि' (१०४) तक विसर्गसन्धि प्रकरण और इससे आगे स्वादिसन्धि प्रकरण । 'वा शरि' (१०४) सूत्र से आगे जितने सूत्र कहे गये हैं उन सब का सु आदि प्रत्ययों के साथ सम्बन्ध है अत आगे 'स्वादिसन्धि प्रकरण' कहना ही अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है । 'सिद्धान्त कौमुदी' में भी ऐसा किया गया है । इस प्रकार पाञ्च सन्धि प्रकरण भी ठीक हो जाते हैं । प्रतीत होता है कि लिपिकारों की भूल से यहां दो प्रकरणों का एक प्रकरण कर दिया गया है ।

[लघु०] समाप्तश्चेद पञ्चसन्धि प्रकरणम् ।

अर्थ —यह पञ्चसन्धिप्रकरण समाप्त हो चुका ।

व्याख्या — '१ अच्सन्धि प्रकरण, २ प्रकृतिभाव प्रकरण, ३ हल्सन्धि प्रकरण ४ विसर्गसन्धि प्रकरण, ५ स्वादिसन्धि प्रकरण" ये पाञ्च सन्धिप्रकरण हैं । यहां कई लोग प्रकृतिभावप्रकरण को सन्धिप्रकरण नहीं मानते । उन का कथन है कि हरी एतौ आदि में प्रकृतिभाव अर्थात् सन्धि का अभाव ही विधान किया गया है किसी सन्धि का विधान नहीं अत प्रकृतिभावप्रकरण को सन्धिप्रकरण में गिनना भूल है । 'पञ्च-सन्धि प्रकरणम्' इस की सङ्गति लगाने के लिये वे "अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण (७९), वा पदान्तस्य (८०)" द्वारा विधान की गई एक अनुस्वार सन्धि की कल्पना करते हैं । परन्तु हमारी सम्मति में 'प्रकृतिभावप्रकरण' के अन्दर "मय उञो वो वा (५८), इकोऽसवर्णे—(५९) ऋत्यकः (६१)' आदि सन्धि करने वाले सूत्र पाए जाते हैं अत प्रकृतिभावप्रकरण भी एक प्रकार का सन्धिप्रकरण ही है । नवीन अनुस्वारसन्धि की कल्पना करना ग्रन्थकार के आशय से विपरीत जान पड़ता है । आगे विद्वज्जन स्वयं युक्तायुक्त का विचार कर लें ।

अभ्यास (२४)

(१) तुल्यबलविरोध किसे कहते हैं ? उदाहरण दे कर समन्वय करें ।

(२) रोऽसुपि' सूत्र किस का और कैसे अपवाद है ?।

(३) 'सोऽचि—' सूत्र में 'एव' पद लाने की क्या आवश्यकता है ?।

(४) पाञ्च सन्धिप्रकरण कौन २ से हैं ? क्या प्रकृतिभावप्रकरण को भी सन्धिप्रकरण में गिनोगे ?।

(५) 'एतत्तदो सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि' सूत्र में 'अनञ्समासे' यहां कौन प्रतिषेध है और क्यों ?।

(६) (क) 'एषकस् + शिव' यहां सुलोप क्यों न हो ?

(ख) 'तूढ' यहां पूर्व अण् को दीर्घ क्यों न हो ?।

(ग) 'मनोरथ' यहां रेफ का लोप क्यों न हो ?।

(घ) 'अजर्घा' यहा सन्धिच्छेद करो।

—०❀०—

इति भैमी व्याख्ययोपबृंहितायां
लघु-सिद्धान्तकौमुद्याम्
पञ्चसन्धि-प्रकरणम्
पूर्त्तिमगात् ॥

❀ अथ षड्लिङ्ग्यामजन्त-पुँल्लिङ्ग-प्रकरणम् ❀

व्याकरण शास्त्र में शब्द तीन प्रकार के होते हैं । १ सुँबन्त, २ तिङन्त ३ अव्यय * । अब सुँबन्त शब्दों का प्रकरण आरम्भ किया जाता है । जिन शब्दों के अन्त में सुँप् प्रत्यय हों उन्हें सुँबन्तशब्द कहते हैं । वे शब्द प्रथम दो प्रकार के होते हैं— १ अजन्त, २ हलन्त । जिन शब्दों के अन्त में अच अर्थात् स्वर हों वे शब्द अजन्त तथा जिन शब्दों के अन्त में हल अर्थात् व्यञ्जन हों वे शब्द हलन्त कहाते हैं । यथा—इस 'राम' शब्द के अन्त में अकार=अच है अत यह अजन्तशब्द है और अजन्तों में भी अकारान्त अजन्त है । 'हरि' इस शब्द के अन्त में इकार=अच् है अत यह अजन्तशब्द है और अजन्तों में भी इकारान्त अजन्त है । 'पितृ' इस शब्द के अन्त में ऋकार=अच् है अत यह अजन्त शब्द है और अजन्तों में भी ऋकारान्त अजन्त है । 'गो' इस शब्द के अन्त में ओकार=अच है अत यह अजन्तशब्द है और अजन्तों में भी ओकारान्त अजन्त है । 'लिह्' इस शब्द के अन्त में हकार=हल् है अत यह हलन्तशब्द है और हलन्तों में भी हकारान्त हलन्त है । 'राजन्' इस शब्द के अन्त में नकार=हल है अत यह हलन्तशब्द है और हलन्तों में भी नकारान्त हलन्त है । इस प्रकार अजन्त और हलन्त भेद से शब्द दो प्रकार के होते हैं । दो प्रकार के भी पुन तीन लिङ्गों के भेद से छ प्रकार के हो जाते हैं । तथाहि—१ अजन्त पुल्ँलिङ्ग, २ अजन्त स्त्रीलिङ्ग, ३ अजन्त नपुंसकलिङ्ग, ४ हलन्त पुल्ँलिङ्ग, ५ हलन्त-स्त्रीलिङ्ग, ६ हलन्त नपुंसकलिङ्ग, । इन छ भेदों के कारण ही इस प्रकरण को 'षड्लिङ्ग प्रकरण' कहते हैं । अब क्रमप्राप्त प्रथम अजन्त पुल्ँलिङ्ग, शब्दों का ही विवेचन किया जाता है । सर्वप्रथम प्रातिपदिक सञ्ज्ञा की जाती है—

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—११६ अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् ।१।२।४५।।

धातु प्रत्यय प्रत्ययान्तञ्च वर्जयित्वाऽर्थवच्छब्दस्वरूप प्रातिपदिक-सञ्ज्ञ स्यात् ।

अर्थः—धातु, प्रत्यय और प्रत्ययान्त को छोड़ कर अर्थ वाला शब्दस्वरूप प्रातिपदिक सञ्ज्ञक होता है ।

व्याख्या—अर्थवत् ।१।१। अधातु ।१।१। अप्रत्ययः ।१।१। प्रातिपदिकम् ।१।१।

---

* यद्यपि अव्ययशब्द भी सुँबन्त ही हैं तथापि इन से परे सम्पूर्ण सुँप् का लुक् हो जाने के कारण इन की उन से विशेषता है अत. ब्राह्मणवसिष्ठन्याय से इन का पृथक् उल्लेख किया गया है ।

समासादि —अर्थोऽस्यास्तीत्यर्थवत् 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' (११८१) इस सूत्र से मतुप प्रत्यय हो कर 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्य' (१०६२) सूत्र से वकार हो जाता है। न धातु =अधातु नञ्तपुरुष । न प्रत्यय =अप्रत्यय, नञ्तत्पुरुष । यहां प्रत्ययशब्द से प्रत्यय और प्रत्ययान्त दोनों का ग्रहण होता है। 'अर्थवत्' इस नपुंसक विशेषण के कारण शब्दस्वरूपम्' इस विशेष्य का अध्याहार किया जाता है, क्योंकि शब्दानुशासन' (शब्द शास्त्र) प्रस्तुत है। अर्थ —(अधातु) धातुरहित (अप्रत्यय) प्रत्यय और प्रत्ययान्त रहित (अर्थवत्) अर्थ वाला शब्दस्वरूप (प्रातिपदिकम्) प्रातिपदिक सञ्ज्ञक होता है। अब इस सूत्र की खण्डशः व्याख्या करते हैं—

(१) जिस शब्द का कुछ न कुछ अर्थ हो वह 'प्रातिपदिक' होता है।

जैसे 'राम' इस शब्द का अर्थ दशरथपुत्र आदि है अतः इस की 'प्रातिपदिक' सञ्ज्ञा हुई।

(२) परन्तु वह धातु न होना चाहिये।

यथा अहन्' यह 'हन्' (अदा०) धातु के लङ् लकार के प्रथमपुरुष वा मध्यमपुरुष का एकवचन है। यहां धातुमात्र ही अवशिष्ट रह गया है, प्रत्यय का लोप हो चुका है, अतः इस की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा न होगी। यदि यहां प्रातिपदिकसञ्ज्ञा कर दी जाती तो 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) सूत्र से नकार का लोप हो कर अनिष्ट रूप बन जाता। अतः सूत्रकार ने 'अधातु' कह कर धातु की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा करने का निषेध कर दिया है अब कोई दोष नहीं आता।

(३) वह अर्थवाला शब्द प्रत्यय न होना चाहिये।

यथा—'हरिषु, करोषि' यहां क्रमशः सुप् और सिप् प्रत्यय हुए २ हैं। यद्यपि ये अर्थवाले भी हैं तथापि इन की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा नहीं होगी। यदि इन की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो जाय तो इन के आगे 'एकवचनमुत्सर्गतः करिष्यते' इस नियमानुसार 'सु' प्रत्यय की उत्पत्ति हो कर अनिष्ट हो जाय। अब अप्रत्यय' के कथन से प्रत्यय की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा न न होने के कारण कोई दोष नहीं आता।

(४) वह अर्थवाला शब्द प्रत्ययान्त भी न होना चाहिये।

यथा—'हरिषु करोषि' यहां समुदाय अर्थवाला है पर प्रत्ययान्त होने से इसकी प्रातिपदिकसञ्ज्ञा न होगी। यदि प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो जाती तो औत्सर्गिक 'सु' की उत्पत्ति हो अनिष्ट हो जाता।

यद्यपि यहां 'घु, 'टि, 'घि' की भान्ति कोई छोटी सञ्ज्ञा भी हो सकती थी तथापि पाणिनि ने पूर्वाचार्यों के अनुरोध से इतनी बड़ी सञ्ज्ञा की है। पाणिनि से पूर्ववर्ती

आचार्य चूंकि प्रातिपदिकसञ्ज्ञा करते चले आये हैं अतः पाणिनि ने भी उन का अनुसरण किया है।

शब्दों के विषय में विद्वानों में दो मत प्रचलित हैं। १ व्युत्पत्तिपक्ष, २ अव्युत्पत्तिपक्ष। अव्युत्पत्तिपक्षवाले विद्वानों का कथन है कि किसी वस्तु की सञ्ज्ञा अपने सञ्ज्ञी को समुदायशक्ति से ही जनाती है उस में अवयवार्थ की कल्पना नहीं करनी चाहिये। अर्थात् 'राम' यह सञ्ज्ञा समुदायशक्ति से ही दशरथ पुत्र रूप सञ्ज्ञी को प्रकट करती है इस में अवयवार्थ की कल्पना नहीं करनी चाहिये—यही अव्युत्पत्तिपक्ष है। व्युत्पत्तिपक्षवाले विद्वानों का कथन है कि प्रत्येक वस्तु की सञ्ज्ञा का कोई न कोई अर्थ—जो उस के अवयवों से निष्पन्न होता है—जरूर हुआ करता है। यथा—'राम' शब्द में 'रम्' (भ्वा० आ०) धातु से 'घञ्' प्रत्यय हुआ २ है। 'रम्' का अर्थ 'खेलना' और 'घञ्' प्रत्यय अधिकार को प्रकट करता है। अर्थात् जिस में (योगी जन) खेलते हैं वह 'राम' है। यही व्युत्पत्तिपक्ष है।

अवयवों द्वारा शब्दों के अर्थ करने की रीति बहुत प्राचीन है। वेद में इस पक्ष का बहुत आदर किया जाता है। परन्तु लोक में व्युत्पत्ति अव्युत्पत्ति दोनों पक्ष चलते हैं। अव्युत्पत्तिपक्ष में—जिस में न कोई धातु और न कोई प्रत्यय माना जाता है—'अर्थवदधातु—' (११६) सूत्र प्रातिपदिकसञ्ज्ञा करता है और व्युत्पत्तिपक्ष—जहां धातु आदि से परे कृत् या तद्धित प्रत्यय की कल्पना होती है—के लिये दूसरा प्रातिपदिकसञ्ज्ञा करने वाला सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—११७ कृत्तद्धितसमासाश्च।१।२।४६॥

कृत्तद्धितान्तौ समासाश्च तथा [प्रातिपदिक-सञ्ज्ञकाः] स्युः।

अर्थः—कृदन्त, तद्धितान्त तथा समास भी पूर्ववत् प्रातिपदिकसञ्ज्ञक हों।

व्याख्या—कृत्तद्धितसमासाः ।१।३। च इत्यव्ययपदम्। प्रातिपदिकाः ।१।३। [यहां पूर्वसूत्र से आ रहे 'प्रातिपदिकम्' पद के वचन और लिङ्ग का विपरिणाम हो जाता है।] समासः—कृच्च तद्धितश्च समासाश्च=कृत्तद्धितसमासाः। इतरेतरद्वन्द्वः। इस सूत्र में पूर्वसूत्र से 'अर्थवत्' पद की अनुवृत्ति होती है। कृत् और तद्धित अकेले अर्थवाले नहीं होते किन्तु जब प्रकृति [जिस से प्रत्यय किया जाता है उसे 'प्रकृति' कहते हैं। प्रत्ययात् पूर्वं क्रियते इति प्रकृतिः।] से युक्त होते हैं तभी अर्थवाले होते हैं। तो इसलिये यहां कृत् से कृदन्त तथा तद्धित से तद्धितान्त लिया जायगा। अर्थः—(कृत्तद्धितसमासाः) कृदन्त तद्धितान्त तथा समास (च) भी (प्रातिपदिकाः) प्रातिपदिकसञ्ज्ञक होते हैं।

अष्टाध्यायी के तृतीयाध्याय में 'कृदतिङ्' (३०२) के अधिकार में कृत् प्रत्यय तथा चतुर्थाध्याय के 'तद्धिता' (९१६) के अधिकार में तद्धित प्रत्यय पढ़े गये हैं। जिज्ञासुओं को वे अष्टाध्यायी में देखने चाहियें। ये प्रत्यय जिस के अन्त में होंगे उस समुदाय अर्थात् इन के सहित प्रकृति की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा होगी। पूर्वसूत्र से प्रत्ययान्तों की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा करने का निषेध किया गया था अब इसके द्वारा कृदन्तों तथा तद्धितप्रत्ययान्तों की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा की जाती है। व्युत्पत्तिपक्ष में—राम, कर्तृ, पितृ कारक आदि कृदन्त तथा औपगव, पाणिनीय, शालीय, मालीय आदि तद्धितान्त शब्द इस के उदाहरण हैं।

"समास भी प्रातिपदिकसञ्ज्ञक होते हैं"।

यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि समास की तो पूर्वसूत्र से ही प्रातिपदिकसञ्ज्ञा सिद्ध है *। क्योंकि न तो वह धातु है न प्रत्यय है और न प्रत्ययान्त है किन्तु अर्थवाला अवश्य होता है। अतः इस की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा करने के लिये पुनः प्रयास किस लिये किया गया है? 'न हि पिष्टस्य पेषणम्' अर्थात् पिसे का पुनः पिसना सम्भव नहीं होता।

इस का उत्तर वैयाकरण यह देते हैं कि यहां समासग्रहण नियम के लिये है—"यदि अनेक पदों का समूह जो कि सार्थक हो प्रातिपदिकसञ्ज्ञक किया जाय तो समास ही प्रातिपदिकसञ्ज्ञक हो अन्य समूह प्रातिपदिकसञ्ज्ञक न हों"। इस नियम से यह लाभ हुआ कि 'देवदत्तो भुङ्क्ते' इत्यादि सार्थक वाक्य जो पहले 'अर्थवदधातु—' (११६) सूत्र से प्रातिपदिकसञ्ज्ञक होते थे अब न होंगे। इस विषय का विस्तार 'सिद्धान्तकौमुदी' की व्याख्याओं में देखना चाहिये।

राजपुरुष, चित्रग्रीव, रामकृष्ण आदि समास के उदाहरण हैं, इनकी प्रातिपदिकसञ्ज्ञा होती है।

तो अब हम इन दो सूत्रों से प्रत्येक शब्द की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा कर सकते हैं।

[लघु०] विधि सूत्रम्—११८ स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिँभ्याम्भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप् ।४।१।२॥

सुँ, औ, जस् इति प्रथमा। अम्, औट्, शस् इति द्वितीया। टा, भ्याम्, भिस् इति तृतीया। ङे, भ्याम्, भ्यस् इति चतुर्थी। ङसिँ, भ्याम्, भ्यस् इति पञ्चमी। ङस्, ओस्, आम् इति षष्ठी। ङि, ओस्, सुप् इति सप्तमी।

---

* जहां २ समास में समासान्त 'टच्' आदि प्रत्यय होते हैं, वहां २ उन समासान्त प्रत्ययों के तद्धित होने से तद्धितान्तत्वेन ही प्रातिपदिकसञ्ज्ञा सिद्ध हो जाती है।

अर्थ —'सुँ औ, जस्' यह प्रथमा विभक्ति अम् औट, शस्" यह द्वितीया विभक्ति, "टा, भ्याम् भिस्" यह तृतीया विभक्ति, 'ङे, भ्याम्, भ्यस" यह चतुर्थी विभक्ति, 'ङसिँ, भ्याम्, भ्यस' यह पञ्चमी विभक्ति 'ङस, ओस आम्" यह षष्ठी विभक्ति, "ङि, ओस्, सुप्"-यह सप्तमी विभक्ति [ङ्यन्त आबन्त तथा प्रातिपदिक स परे हों]।

व्याख्या—स्वौजसमौट्—सुप्।१।१। समास —सुँश्च औश्च जश्च अम् च औट च शश्च, टाश्च भ्याम्च भिश्च, ङेश्च भ्याम्च भ्यश्च, ङसिँश्च भ्याम्च भ्यश्च ङश्च ओश्च आम् च, ङिश्च ओश्च सुप च, एषां समाहार =स्वौजसमौट्–सुप्। इस सूत्र में सु औ जस अम्, औट्, शस् टा, भ्याम्, भिस्, ङे, भ्याम्, भ्यस्, ङसिँ, भ्याम् भ्यस ङस ओस, आम्, ङि, ओस, सुप" इन इक्कीस प्रत्ययों का उल्लेख हैं। इन को सुँप कहा जाता है। सुँ से लेकर सुप् के प् तक सुँप् प्रत्याहार बनता है। इस सूत्र का सम्पूर्ण अर्थ तभी हो सकता है जब हमे यह ज्ञात हो कि यह सूत्र किस २ अधिकार में पढ़ा गया है। अब उन अधिकारों को बताते हैं—

[लघु०] अधिकार सूत्रम्—११९ ङ्याप्प्रातिपदिकात्।४।१।१॥

अधिकार सूत्रम्—१२० प्रत्यय ।३।१।१॥

अधिकार सूत्रम्—१२१ परश्च ।३।१।२॥

इत्यधिकृत्य। ङ्यन्तादावन्तात् प्रातिपदिकाच्च परे स्वादय प्रत्यया॰ स्युः।

अर्थ—"१ ङ्याप्प्रातिपदिकात्, २ प्रत्यय, ३ परश्च" इन तीन सूत्रों का अधिकार कर के [उपर्युक्त 'स्वौजसमौट्—' सूत्र का यह अर्थ निष्पन्न हुआ।] ङ्यन्त, आबन्त और प्रातिपदिक से परे 'सु' आदि इक्कीस प्रत्यय हों।

व्याख्या—हम ग्रन्थकार के इस सूत्रविन्यासक्रम से सहमत नहीं। हमारी सम्मति में एक तो 'स्वौजसमौट्—' सूत्र से पूर्व इन अधिकारसूत्रों को रखना उचित था दूसरा इन अधिकार सूत्रो का क्रम 'प्रत्यय, परश्च ङ्याप्प्रातिपदिकात्' ऐसा होना चाहिये था 'स्वौजसमौट्—' सूत्र इन तीन अधिकारों के अन्तर्गत है अत पहले तीनों अधिकार दर्शाने योग्य थे। 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' यह अधिकार 'प्रत्यय, परश्च' इन दोनों अधिकारों के अन्दर आ जाता है। अत 'प्रत्यय' 'परश्च' सूत्र लिखने के पश्चात् 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' सूत्र लिखना उचित था। हम इन सूत्रों की अपने क्रम से ही व्याख्या करेंगे।

प्रत्ययः।१।१। यह अष्टाध्यायी के तृतीयाध्याय के प्रथमपाद का प्रथम तथा अधिकार सूत्र

है। अष्टाध्यायी में सब से बड़ा यही अधिकार है। इस का अधिकार पाञ्चवें अध्याय की समाप्ति तक जाता है। 'तीसरे, चौथे तथा पाञ्चवें अध्याय में जो प्रकृति से विधान किये जाएं उन की प्रत्यय सञ्ज्ञा हो' यह इस सूत्र का अर्थ है।

जहां २ प्रकृति से प्रत्यय विधान किया जाता है वहां २ सर्वत्र प्रकृति पञ्चम्यन्त होती है। यथा— अचः ।५।१। यत् ।१।१।' 'स्वपः ।५।१। नन् ।१।१।' इन स्थानों पर पञ्चमी दिग्योग में होती है। अब इस दिग्योगपञ्चमी में यह शङ्का उत्पन्न होती है कि क्या प्रत्यय प्रकृति से आगे=परे किया जाय या प्रकृति से पूर्व किया जाय ?। यथा 'अचो यत्' अजन्त धातु से यत् प्रत्यय हो। यहां 'अजन्त धातु से' यह दिग्योग में पञ्चमी है। इस से सन्देह होता है कि अजन्त धातु से पूर्व यत् हो या उस से परे यत् हो ? इस शङ्का की निवृत्ति के लिये महामुनि पाणिनि अन्य अधिकार चलाते हैं—

परश्च । परः ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। 'प्रत्ययः' पद की पूर्वसूत्र से अनुवृत्ति आती है। अर्थ —प्रत्यय परे होता है। अर्थात् जिस से प्रत्यय विधान किया जाता है उस से प्रत्यय परे समझना चाहिये। यथा—'अचो यत्' (७७३) यहां अजन्त धातु से यत् प्रत्यय विधान किया गया है सो यत् प्रत्यय अजन्त धातु से परे होगा। 'स्वपो नन्' (८६१) यहां स्वप् धातु से नन् प्रत्यय विधान किया गया है सो नन् प्रत्यय स्वप् धातु से परे होगा *। अब इस प्रकार प्रत्यय का अधिकार और उस के स्थान का नियम कर अवान्तर अधिकार लिखते हैं—

ङ्याप्प्रातिपदिकात् ।५।१। समास —ङी च आप् च प्रातिपदिकञ्च एषां समाहार =ङ्याप्प्रातिपदिकम्, तस्मात्=ङ्याप्प्रातिपदिकात्। 'ङी' यह भेदक अनुबन्धों से रहित ग्रहण किया गया है, अतः 'ङीप्, ङीष्, ङीन्' सब का सामान्यतः ग्रहण होगा। इसी प्रकार 'आप्' यह भी भेदक अनुबन्धों से रहित होने के कारण टाप्, डाप्, चाप्' सब का ग्राहक होगा। यह अधिकारसूत्र है। इस का अधिकार पाञ्चवें अध्याय की समाप्ति तक जाता है। इस सूत्र में प्रकृति बतलाई गई है। अर्थ —यहां से ले कर पाञ्चवें अध्याय की समाप्ति तक जितने प्रत्यय कहे गये हैं वे ङ्यन्त आबन्त तथा प्रातिपदिक से परे हों। इसी सूत्र के अधिकार में 'स्वौजसमौट्—' (११८) सूत्र पढ़ा गया है। अतः उस सूत्र का यह अर्थ हुआ—"ङ्यन्त आबन्त तथा प्रातिपदिक से परे सुँ, औ, जस् आदि इक्कीस प्रत्यय हों"।

इन इक्कीस प्रत्ययों के सात त्रिक बनते हैं। यथा—१ सुँ, औ जस्। २ अम्,

* तब 'राम+टा' यहां पर टा प्रत्यय टित् होने से 'आद्यन्तौ टकितौ' से राम के आदि में न हो कर राम के परे होगा। इसी प्रकार 'चरेष्ट' (७६९) आदि।

औट् शस्। ३ टा, भ्याम् भिस्। ४ ङे भ्याम् भ्यस्। ५ ङसि, भ्याम्, भ्यस्। ६ ङस्, ओस् आम्। ७ ङि, ओस् सुप्। इन त्रिकों की क्रमश "प्रथमा द्वितीया, तृतीया चतुर्थी पञ्चमी षष्ठी, सप्तमी' ये सञ्ज्ञाए पाणिनि से पूर्ववर्त्ती आचार्यों ने का हुई हैं। महामुनि पाणिनि ने भी इन सञ्ज्ञाओं का उपयोग किया है। [देखो कारकप्रकरण]।

अब इन विधान किये हुए इक्कीस प्रत्ययों की व्यवस्था करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञासूत्रम्—१२२ सुँपः ।१।४।१०२॥

सुँपस्त्रीणि त्रीणि वचनान्येकश एकवचन-द्विवचन-बहुवचनसञ्ज्ञानि स्युः ।

अर्थ—सुँप् का प्रत्येक त्रिक 'एकवचन, द्विवचन, बहुवचन' सञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—सुँपः ।६।१। त्रीणि ।१।३। [तिङस्त्रीणि त्रीणि—' से] एकश इत्यव्ययपदम्। एकवचन द्विवचन बहुवचनानि ।१।३। [तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः' से] अर्थ—(सुँपः) सुँप के जो (त्रीणि त्रीणि) तीन २ वचन, वे (एकशः) प्रत्येक (एकवचन द्विवचन बहुवचनानि) 'एकवचन द्विवचन बहुवचन' सञ्ज्ञक हों।

सुँप् प्रत्याहार के सात त्रिक अर्थात् तीन २ वचन होते हैं। ये सातों 'एकवचन द्विवचन बहुवचन' सञ्ज्ञक होते हैं। 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' (२३) के अनुसार प्रत्येक त्रिक के अन्तर्गत तीन वचन क्रमश एकवचन द्विवचन, बहुवचन सञ्ज्ञक हो जाते हैं। यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	त्रिक सङ्ख्या
प्रथमा	सुँ	औ,	जस्	पहला त्रिक
द्वितीया	अम्	औट्	शस्	दूसरा "
तृतीया	टा	भ्याम्	भिस्	तीसरा "
चतुर्थी	ङे	"	भ्यस्	चौथा "
पञ्चमी	ङसिँ	"	"	पाञ्चवां "
षष्ठी	ङस्	ओस्	आम्	छठा "
सप्तमी	ङि	"	सुप्	सातवां "

ध्यान रहे कि प्रत्येक त्रिक का 'एकवचन + द्विवचन + बहुवचन" ये तीन सञ्ज्ञाएं

मिलती हैं। इन्हें वह अपने अन्तर्गत तीन प्रत्ययों को बांट देता है। यथा—'सुँ, औ, जस' यह एक त्रिक है, इसे 'एकवचन, द्विवचन, बहुवचन' ये तीन सञ्ज्ञाएं प्राप्त होती हैं। यह त्रिक इन तीन सञ्ज्ञाओं को अपने अन्तर्गत तीन प्रत्ययों क्रमशः दे देता है, इस से 'सुँ' यह एकवचन, 'औ' यह द्विवचन, 'जस' यह बहुवचन हो जाता है। इसी प्रकार अन्य छः त्रिकों में भी जान लेना चाहिये।

अब यह बतलाते हैं कि कहां एकवचन और कहां द्विवचन होता है? [बहुवचन के विषय में भी थोड़ी दूर आगे चल कर कहेंगे]।

[लघु०] विधि सूत्रम्—१२३ द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने ।१।४।२२।

द्वित्वैकत्वयोरेते स्तः।

अर्थः—द्वित्व और एकत्व की विवक्षा (कहने की इच्छा) में क्रमशः द्विवचनप्रत्यय और एकवचनप्रत्यय होते हैं।

व्याख्या—द्व्येकयोः ।७।२। द्विवचनैकवचने ।१।२। 'द्व्येकयोः' यहां "द्वौ च एकश्च तेषु=द्व्येकेषु" ऐसा बहुवचन होना चाहिये था, परन्तु मुनि ने ऐसा न कर 'द्व्येकयोः' में द्विवचन ही किया है। उन के ऐसा करने का अभिप्राय यह है कि 'द्वि' शब्द से दो पदार्थ और 'एक' शब्द से एक पदार्थ ऐसा अर्थ ग्रहण न किया जाय किन्तु 'द्वि' शब्द से दो की सङ्ख्या अर्थात् द्वित्व और 'एक' शब्द से एक की सङ्ख्या अर्थात् एकत्व का ग्रहण हो। भाव यह है कि लोक में द्वि और एक शब्द सङ्ख्येयवाची ही प्रसिद्ध हैं सङ्ख्यावाची नहीं *। अर्थात् 'द्वि' शब्द से लोक में दो पदार्थ और 'एक' शब्द से एक पदार्थ ही लिया जाता है न कि दो और एक की सङ्ख्या। "दो पदार्थों में द्विवचन और एक पदार्थ में एकवचन हो" यह अर्थ सुसङ्गत नहीं होता। अतः मुनि ने 'द्व्येकयोः' कह कर द्वि और एक शब्द को सङ्ख्यावाची कर दिया है। इस से अब यह सुसङ्गत अर्थ हो जाता है—(द्व्येकयोः) दो सङ्ख्या अर्थात् द्वित्व और एक सङ्ख्या अर्थात् एकत्व होने पर (द्विवचनैकवचने) द्विवचन और एकवचन प्रत्यय हों।

किस २ अर्थ में कौन २ सा त्रिक हो? यह कारक प्रकरण का विषय है। अतः प्रथम कारकप्रकरणानुसार त्रिक का निर्णय कर चुकने के बाद पुनः इस सूत्र से वचननिर्णय करना

---

* एक, द्वि से ले कर नवदशन् शब्द तक सब शब्द सङ्ख्येयवाची होते हैं अतः पदार्थों के साथ इन का समानाधिकरण्य होता है। यथा—एको बालः, द्वौ पुरुषौ इत्यादि। विंशति आदि शब्द सङ्ख्या और सङ्ख्येय दोनों प्रकार के वाचक होते हैं। यथा—"गवां विंशतिः, ब्राह्मणानामेकोनविंशतिः" इत्यादियों में सङ्ख्यावाची हैं। "गावो विंशतिः, ब्राह्मणा एकोनविंशतिः" इत्यादियों में सङ्ख्येयवाची हैं।

चाहिये। यदि हमें एकत्व की विवक्षा होगी तो हम एकवचन और यदि द्वित्व की विवक्षा होगी तो द्विवचन करेंगे। यह इस सूत्र का सार है।

अब रूपसिद्धि के लिये अवसानसञ्ज्ञा करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—१२४ विरामोऽवसानम् ।१।४।१०६॥

वर्णानामभावोऽवसानसञ्ज्ञः स्यात्। रुत्व विसर्गौ। रामः।

अर्थ—वर्णों का अभाव अवसान सञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—विराम ।१।१। अवसानम् ।१।१। 'विराम' शब्द का दो प्रकार का अर्थ होता है पहला अधिकरण में 'घञ्' प्रत्यय मानने से और दूसरा भाव में 'घञ्' प्रत्यय स्वीकार करने से। प्रथम यथा—विरम्यतेऽस्मिन्निति=विराम [यहां सामीपिक अधिकरण विवक्षित है]। उच्चारण का ठहराव जिस के पास किया जाता है उसे 'विराम' कहते हैं। उच्चारण का ठहराव अन्तिमवर्ण के पास किया जाता है अत इस पक्ष में अन्तिमवर्ण 'विराम' होता है। द्वितीय यथा—विरमण विराम, भावे घञ्। उच्चारण का न होना 'विराम' होता है। अर्थात् किसी वर्ण से परे उच्चारण का न होना 'विराम' कहाता है। इस पक्ष में अन्तिम वर्ण से आगे अभाव की अवसानसञ्ज्ञा होती है। यही पक्ष ग्रन्थकार ने वृत्ति में स्वीकार किया है। पर हैं दोनों ही शुद्ध। अर्थ—(विराम) वर्णों के उच्चारण का अभाव (अवसानम्) अवसान सञ्ज्ञक होता है। यथा—'रामर्' यहां रेफ से आगे उच्चारणाभाव है उसी की यहां अवसान-सञ्ज्ञा है। ध्यान रहे कि पहले पक्ष में रेफ की ही अवसानसञ्ज्ञा होगी।

'रामः'। 'राम' इस शब्द की अव्युत्पत्तिपक्ष में 'अर्थवदधातु—'(११६) से तथा व्युत्पत्तिपक्ष में कृदन्त होने से कृत्तद्धितसमासाश्च' (११७) से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो 'प्रत्यय परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्' (१२०, १२१, १११) इन के अधिकार में 'स्वौज समौट्—' (११८) सूत्र द्वारा इक्कीस प्रत्यय प्राप्त हुए। तदनन्तर 'सुँप' (१२२) से सात त्रिकों के अन्तर्गत तीन २ वचनों की क्रमश एकवचन, द्विवचन, बहुवचनसञ्ज्ञा हो गई। अब प्रथमा के एकत्व की विवक्षा में 'द्वयेकयोर्द्विवचनैकवचने' (१२३) द्वारा राम शब्द से परे 'सुँ' प्रत्यय आ कर 'राम+सुँ' बना। उपदेश में अनुनासिक होने के कारण सकारोत्तर उकार 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) द्वारा इत्सञ्ज्ञक है अत 'तस्य लोप' (३) से उस का लोप हो—'रामस्'। 'सुप्तिङन्त पदम्' (१४) से 'रामस' इस समुदाय की पदसञ्ज्ञा हो 'ससजुषो रुँ' (१०५) से सकार को आदेश किया तो 'राम+रुँ'। पुन उकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) से इत्सञ्ज्ञा तथा 'तस्य लोप' (३) से लोप

हो—'रामर्' । 'विरामोऽवसानम्' (१२४) से रेफोत्तरवर्त्ती अभाव की अवसानसञ्ज्ञा हो, उस के परे होने से 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' (९३) द्वारा रेफ को विसर्गादेश करने पर—राम ' प्रयोग सिद्ध होता है । [विसर्गों के अयोगवाह होने से अयोगवाहों का पाठ यरों में मानने से 'अनचि च' (१८) से विसर्गों को वैकल्पिक द्वित्व भी हो जायगा । राम ः ।]

नोट—जिस पक्ष में रेफ की अवसानसञ्ज्ञा होती है उस पक्ष में 'खरवसानयो—' (९३) सूत्र का "खर परे होने पर रेफ को या अवसान म वर्त्तमान रेफ को विसर्गादेश हो" ऐसा अर्थ हो जाने से कोई दोष नहीं आता ।

[लघु०] विधि सूत्रम्—१२५ सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ ।१।२।६४॥

एकविभक्तौ यानि सरूपाण्येव दृष्टानि तेषामेक एव शिष्यते ।

अर्थः—एकविभक्ति अर्थात् समानविभक्ति के परे होने पर जितने शब्द सरूप=समानरूप वाले ही देखे जाएं, उन में से एक ही रूप शेष रहता है (अन्य रूप लुप्त हो जाते हैं) ।

व्याख्या—सरूपाणाम् ।६।३। [निर्धारणे षष्ठी] एकशेष ।१।१। एकविभक्तौ ।७।१। एव इत्य ययपदम् । ['वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेषः' से] अन्वय —एकविभक्तौ सरूपाणाम् एव (दृष्टानाम्) मध्ये एकशेष स्यादिति । समास —एका चासौ विभक्तिश्च= एकविभक्ति तस्याम्=एकविभक्तौ, कर्मधारयसमास, समानविभक्तावित्यर्थः । समानं रूपं येषान्ते सरूपा तेषाम्=सरूपाणाम् बहुव्रीहिसमास, ज्योतिर्जनपदेत्यादिना समानस्य सभाव । शिष्यत इति शेष कर्मणि घञ् । एकश्चासौ शेषश्च=एकशेष, कर्मधारयसमास । अर्थ —(एकविभक्तौ) समानविभक्ति में (सरूपाणामेव) जितने समानरूप वाले ही शब्द देखे जाएं, उन में से (एकशेष) एक शेष रहता है [अन्य लुप्त हो जाते हैं] ।

यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि यह एकशेष कार्य अन्तरङ्ग* होने से 'औ' आदि विभक्तियों की उत्पत्ति से पूर्व ही होता है ।

---

* 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' (प०) अर्थात् अन्तरङ्ग कार्य करने में बहिरङ्ग कार्य असिद्ध होता है । बहुत निमित्तों की अपेक्षा करने वाला कार्य बहिरङ्ग और थोड़े निमित्तों की अपेक्षा करने वाला कार्य अन्तरङ्ग होता है । अथवा—घरेलू=निज से सम्बन्ध रखने वाला=समीप का=निकट का या अपने भीतर का कार्य अन्तरङ्ग और दूर का अथवा अपने से बाहिर का कार्य बहिरङ्ग होता है । यद्वा—बहुत झञ्झटों वाला कार्य बहिरङ्ग और थोड़े झञ्झटों वाला कार्य अन्तरङ्ग होता है । राम राम यहां एकशेष विभक्त्युत्पत्ति से थोड़ी अपेक्षा वाला [विभक्त्युत्पत्ति में प्रातिपदिकसञ्ज्ञा द्वित्वादि की विवक्षा इत्यादि बहुत बातों

एकविभक्ति अर्थात् समानविभक्ति के परे होने पर जो शब्द एक जैसे ही देखे जाते हैं विरूप नहीं दिखाई देते, उन शब्दों में एक ही शेष रहता है अन्य लुप्त हो जाते हैं। यथा—'मातृ' शब्द दो प्रकार से सिद्ध होता है। एक—नप्तृनेष्टृ—(उणा० २२४) इस उणादिसूत्र द्वारा मान् (नलोप हो कर) अथवा 'मा' धातु से तृजन्त निपातित होता है। इस का अर्थ 'माता=जननी' और इस के रूप 'माता मातरौ, मातरः। मातरम् मातरौ मातॄः' इत्यादि होते हैं। दूसरा—'माङ् माने' (जुहो०) धातु से ण्वुल्तृचौ (७८४) द्वारा तृच् प्रत्यय करने से सिद्ध होता है। इसका अर्थ 'मापने वाला' और इस के रूप 'माता मातारौ, मातारः। मातारम्, मातारौ मातॄन्' इत्यादि होते हैं। अब इन दो प्रकार के 'मातृ' शब्दों का द्वन्द्व करने पर एकशेष नहीं होगा। क्योंकि ये एकविभक्ति=समान विभक्ति में केवल सरूप ही नहीं देखे जाते। इस में सन्देह नहीं कि सुँ टा ङि आदि विभक्तियों में इन दोनों प्रकार के मातृ शब्दों के माता मात्रा मात्रे आदि सरूप ही होते हैं, परन्तु समानविभक्ति में सरूप ही हों ऐसा नहीं देखा जाता। अम्' में औणादिक 'मातृ' शब्द का 'मातरम्' और दूसरे मातृ' शब्द का मातारम्' विरूप होता है सरूप नहीं। हमारी शर्त्त तो यह है कि 'एक अर्थात् एक जैसी=समान विभक्ति परे होने पर जो शब्द सरूप ही रहे, विरूप न हों उन में से एक ही शेष रहता है' इस शर्त्त को इन दो प्रकार के 'मातृ' शब्दों ने पूरा नहीं किया। समानविभक्ति अम्' आदि में इन की विरूपता हो गई है अतः इन का एकशेष नहीं होगा।

प्रत्यर्थं शब्द' अर्थात् प्रत्येक अर्थ के लिये शब्द के उच्चारण की आवश्यकता होती है। इस लिये जब दो तीन या अधिक अर्थों का बोध कराना अभीष्ट होता है तो उस के लिये तद्वाचक शब्दों का उच्चारण भी उतने बार प्राप्त होता है। इस पर यह सूत्र नियम करता है कि उनका उच्चारण एक ही बार हो अनेक बार नहीं। जैसे—जब दो, तीन या अधिक राम कहने हों तो तब रामशब्द का दो तीन या अधिक बार उच्चारण प्राप्त होता है। इस नियम से एक 'राम' शब्द रह जाता है, शेषों का लोप हो जाता है। उन सब के अर्थ का वही शेष रहा हुआ बोध कराता है। जैसा कि कहा गया है—"यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी" अर्थात् जो शेष रहता है वह लोप हुओं के अर्थ का भी बोध कराता है।

—की अपेक्षा होती है] थोड़े निमित्तों वाला बहल् व भीतरी कार्य सा है अतः यह अन्तरङ्ग और विभक्त्युत्पत्ति उस से बहिर्भूत होने से बहिरङ्ग है। अन्तरङ्ग कार्य पहले और बहिरङ्ग कार्य पीछे होगा। यह परिभाषा लोकसिद्ध है। यथा लोक में सवेरे उठ कर मनुष्य अन्तरङ्ग=शौच दन्तधावन स्नानादि या बाबू लोग चाय, वक आदि निजीकार्यों को कर बाद में बहिरङ्ग=बाहिर के या पराये कार्यों को करते हैं वैसे यहां भी समझना चाहिये। इस परिभाषा की विशेष व्याख्या व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखें।

'राम राम' इन दो सरूप शब्दों में इस सूत्र द्वारा एक 'राम' शब्द रह जाता है। अब प्रथमाविभक्ति के द्वित्व की विवक्षा में 'द्वयेकयोर्द्विवचनैकवचने' (११३) सूत्र द्वारा 'औ' प्रत्यय आ कर 'राम + औ' हो जाता है। अब इस स्थिति में 'वृद्धिरेचि' (३३) के प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र उपस्थित होता है—

[लघु०] विधि सूत्र—१२६ प्रथमयो पूर्व-सवर्णः ।६।१।६६॥

अकः प्रथमाद्वितीययोरचि पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेशः स्यात्।

इति प्राप्ते—

अर्थ—अक् प्रत्याहार से प्रथमा या द्वितीया का अच् पर हो तो पूर्व (अक) पर (अच्) के स्थान पर पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश हो जाता है। इस सूत्र के प्राप्त होने पर [अग्रिम निषेध सूत्र प्रवृत्त होता है।]

व्याख्या—अक ।५।१। ['अक सवर्णे दीर्घः' से] प्रथमयो ।६।२। अचि ।७।१। ['इको यणचि' से] पूर्व परयो ।६।२। एक ।१।१। ['एक पूर्वपरयो' यह अधिकृत है।] पूर्व सवर्ण ।१।१। दीर्घ ।१।१। ['अक सवर्णे दीर्घः' से] समास—प्रथमा च प्रथमा च=प्रथमे, तयो =प्रथमयो, एकशेष। विभक्तियां सात हैं, पहले 'प्रथमा' शब्द से उन में से पहली 'सुँ, औ, जस्' विभक्ति का ग्रहण हो जाता है, दूसरे 'प्रथमा' शब्द से अवशिष्ट छः विभक्तियों में प्रथमा अर्थात् 'अम्, औट्, शस' का बोध होता है। इस प्रकार प्रथमयो' शब्द से प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति का ग्रहण हो जाता है। पूर्वस्य सवर्ण = पूर्व-सवर्ण, षष्ठीतत्पुरुषसमास। अर्थ—(अक) अक् प्रत्याहार से (प्रथमयो) प्रथमा द्वितीया विभक्ति का (अचि) अच् परे हो तो (पूर्व परयो) पूर्व+पर के स्थान पर (एकः) एक (पूर्व-सवर्ण) पूर्वसवर्ण (दीर्घ) दीर्घ आदेश होता है। तात्पर्य यह है कि अक और प्रथमा द्वितीया के अच के स्थान पर एक ऐसा आदेश होता है जो पूर्व वर्ण का सवर्ण होते हुए साथ ही दीर्घ भी होता है। यथा—'इ + औ' के स्थान पर पूर्वसवर्णदीर्घ 'ई' होगा, यह पूर्व का सवर्ण है और दीघ भी है। इसी प्रकार—'उ+अ' के स्थान पर 'ऊ', 'ऋ + अ' के स्थान पर 'ॠ' पूर्वसवर्ण दीर्घ होगा। इन सब के उदाहरण आगे यत्र तत्र बहुत आएगे।

राम+औ' यहा मकारोत्तर अकार अक से परे 'औ' यह प्रथमा का अच् विद्यमान है, अत पूर्व + पर के स्थान पर 'आ' यह पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र निषेध करता है—

[लघु०] निषेध सूत्रम्—१२७ नाऽऽदिचि ।६।१।१०१॥

आद् इचि न पूर्वसवर्णदीर्घः । वृद्धिरेचि——रामौ ।

अर्थ—अवर्ण से इच् प्रत्याहार परे होने पर पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश नहीं होता। 'वृद्धिरेचि' से वृद्धि हो गई तो रामौ' सिद्ध हो गया।

व्याख्या—आत् ।५।१। इचि ।७।१। पूर्वपरयोः ।६।२। एकः ।१।१। [एकः पूर्वपरयोः यह अधिकृत है] पूर्वसवर्णः ।१।१। [प्रथमयोः पूर्वसवर्णः से] दीर्घः ।१।१। [अकः सवर्णे दीर्घः' से] न इत्यव्ययपदम्। अर्थः—(आत्) अवर्ण से (इचि) इच् प्रत्याहार परे होने पर (पूर्वपरयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (पूर्वसवर्णः, दीर्घः) पूर्वसवर्णदीर्घ (एकः) एकादेश (न) नहीं होता। अवर्ण को छोड़ सब स्वर इच् प्रत्याहार के अन्दर आ जाते हैं।

राम+औ' यहाँ मकारोत्तर अवर्ण से औ यह इच् प्रत्याहार पर वर्तमान है अतः इस सूत्र से पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हो कर पुनः 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश करने से—राम् औ='रामौ' प्रयोग सिद्ध होता है।

[लघु०] विधि सूत्रम्—१२८ बहुषु बहुवचनम् ।१।४।२१॥

बहुत्वविवक्षायां बहुवचनं स्यात्।

अर्थः—बहुत्व अर्थात् दो सङ्ख्या से अधिक सङ्ख्या की विवक्षा हो तो बहुवचन प्रत्यय होता है।

व्याख्या—बहुषु ।७।३। बहुवचनम् ।१।१। यहाँ बहु' शब्द व्याख्यान से बहुत्व वाची है। अर्थः—(बहुषु) बहुत्व की विवक्षा होने पर (बहुवचनम्) बहुवचन प्रत्यय होता है। यदि दो से अधिक सङ्ख्या की विवक्षा होगी तो प्रकृति से बहुवचन प्रत्यय प्रयुक्त किया जायगा।

'राम राम राम' इन तीन रामशब्दों का या इन से अधिक यथेष्ट रामशब्दों का [दो से अधिक की हमें विवक्षा है चाहे तीन हों या सौ इस से कुछ प्रयोजन नहीं] 'सरूपाणाम्—' (१२५) से एकशेष हो राम हुआ। अब प्रथमा विभक्ति के बहुत्व की विवक्षा में बहुषु बहुवचनम्' (१२८) द्वारा 'जस्' यह बहुवचन प्रत्यय आकर 'राम+जस्' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—१२९ चुटू ।१।३।७॥

प्रत्ययाद्यौ चुटू इतौ * स्तः।

---

* चुटू+इतौ' अत्र 'ईदूदेद्—' (५१) इति प्रगृह्यत्वेन प्रकृतिभावोऽवसेयः।

अर्थ —प्रत्यय के आदि में स्थित चवर्ग टवर्ग इत्सञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—प्रत्ययस्य ।६।१। ['ष प्रत्ययस्य' से] आदी ।१।२। ['आदिर्ञिटुडवः' से वचनविपरिणाम कर के] चुटू ।१।२। इतौ ।१।२। ['उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से वचन विपरिणाम द्वारा] समास —चुश्च टुश्च=चुटू, इतरेतरद्वन्द्व । अर्थ —(प्रत्ययस्य) प्रत्यय के (आदी) आदि में स्थित (चुटू) चवर्ग और टवर्ग (इतौ) इत् सञ्ज्ञक होते हैं।

'राम+जस' यहां 'जस' यह प्रत्यय है, इस के आदि में 'ज्' यह चवर्ग स्थित है अतः इस सूत्र से इस की इत् सञ्ज्ञा हो 'तस्य लोपः' (३) से उस का लोप करने पर 'राम+अस्' हुआ। अब यहां 'हलन्त्यम्' (१) से सकार की इत्सञ्ज्ञा प्राप्त होती है, इस पर उस की निवृत्ति के लिये यत्न करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—१३० विभक्तिश्च ।१।४।१०३॥

सुँप्तिङौ विभक्ति-सञ्ज्ञौ स्तः।

अर्थः—सुँप् और तिङ विभक्तिसञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—सुँप ।१।१। ['सुँप' से विभक्तिविपरिणाम कर के] तिङ ।१।१। ['तिङस्त्रीणि—' से विभक्तिविपरिणाम कर के] विभक्ति ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। अर्थ —(सुप्) सुप और (तिङ) तिङ् (विभक्ति) विभक्तिसञ्ज्ञक होते हैं। 'सञ्ज्ञाविधौ प्रत्यय ग्रहणे तद् तदग्रहणं नास्ति" [जहां प्रत्यय की सञ्ज्ञा की जाय वहां प्रत्यय के ग्रहण होने पर प्रत्ययान्त का ग्रहण नहीं किया जाता इस नियम से यहां सुबन्त और तिङन्त की विभक्ति सञ्ज्ञा नहीं होती किन्तु सुँ' और तिङ् की ही विभक्ति सञ्ज्ञा होती है। सुप् प्रत्याहार 'स्वौजसमौट्—' (११८) सूत्र के 'सुँ' से लकर सप्तमी के बहुवचन 'सुप्' के पकार तक बनता है। अर्थात् सुँ, औ, जस् आदि इक्कीस प्रत्यय 'सुँप्' सञ्ज्ञक होते हैं। तिङ प्रत्याहार 'तिप्तस्झि—' (३७५) सूत्र के 'ति' से लेकर 'महिङ्' के ङकार तक बनता है। अर्थात् तिप्, तस, झि आदि अठारह प्रत्यय 'तिङ्' सञ्ज्ञक होते हैं। इन दोनों सुँप और तिङ प्रत्ययों की विभक्ति सञ्ज्ञा है।

अब विभक्तिसञ्ज्ञा का उपयोग बताते हैं—

[लघु०] निषेध सूत्रम्—१३१ न विभक्तौ तुस्माः ।१।३।४॥

विभक्तिस्थास्तवर्गसकारमकारा नेतः। इति सस्य नेत्त्वम्। रामाः।

अर्थ'—विभक्ति मे स्थित तवर्ग, सकार, मकार इत्सञ्ज्ञक नहीं होते। इस सूत्र से सकार की इत् सञ्ज्ञा का निषेध हो जाता है।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम् । विभक्तौ ।७।१। तुस्माः ।१।३। इतः ।१।३। ['उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से वचनविपरिणाम द्वारा] समास—तुश्च स् च मश्च=तुस्माः इतरेतर द्वन्द्व । अर्थ—(विभक्तौ) विभक्ति में (तुस्माः) तवर्ग, सकार, मकार (इतः) इत्सञ्ज्ञक (न) नहीं होते ।

इस सूत्र से जस्, शस् भिस्, भ्यस्, ङस् ओस् अम् भ्याम्, आम् आदि के अन्त्य हल् की 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञा नहीं होती । तवर्ग के उदाहरण—रामात् सर्वस्मात्, सर्वस्मिन् एधेरन् प्रभृति जानने चाहियें ।

'राम + अस्' यहां 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ प्राप्त होने पर उसे बाध कर 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप प्राप्त होता है । पुनः उस को भी बाध कर 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ आकार करने से 'रामास्' बना । अब पूर्ववत् सकार को रुँ, उकारलोप तथा अवसानसञ्ज्ञक रेफ को विसर्ग करने पर 'रामाः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

किसी का अपनी ओर ध्यान खींचना सम्बोधन कहाता है । यथा—हे राम ! मा ददस्व ! * इत्यादि । सम्बोधन में भी प्रथमा विभक्ति का प्रयोग किया जाता है [देखो कारकप्रकरण (८८९)] । सम्बोधन के द्योतनार्थ पद के आदि में प्रायः 'हे' 'भोस्' आदि अव्ययों का प्रयोग किया जाता है । कहीं २ इन का प्रयोग नहीं भी होता ।

अब सम्बोधन के एकत्व की विवक्षा में 'राम+सुँ' हुआ । इस अवस्था में अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१३२ एकवचनं सम्बुद्धिः ।२।३।४९॥

सम्बोधने प्रथमाया एकवचनं सम्बुद्धिसञ्ज्ञं स्यात् ।

अर्थः—सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति का एकवचन सम्बुद्धि सञ्ज्ञक होता है ।

व्याख्या—सम्बोधने ।७।१। ['सम्बोधने च' सूत्र से] प्रथमायाः ।६।१। ['प्रातिपदिकार्थलिङ्ग प्रथमा' से विभक्तिविपरिणाम कर के] एकवचनम् ।१।१। सम्बुद्धिः ।१।१। अर्थ—(सम्बोधने) सम्बोधन में (प्रथमायाः) प्रथमा का (एकवचनम्) एकवचन (सम्बुद्धिः) सम्बुद्धि-सञ्ज्ञक होता है ।

---

* सम्बोधनवाची पद के आगे आजकल '!' ऐसा चिह्न किया जाता है परन्तु प्राचीनकाल में ऐसा कोई चिह्न न था । इस प्रकार के चिह्नों की परिपाटी प्रायः पश्चिम से आई है । इन से वाक्य सुन्दर, असन्दिग्ध और झटिति अर्थप्रत्यायक हो जाते हैं । इन के ग्रहण में कोई लज्जा की बात नहीं । 'विषादप्यमृतं ग्राह्यम्' ।

इस सूत्र से सम्बोधन के 'सुँ' को सम्बुद्धिसञ्ज्ञा हो जाती है। अब सुँलोप के लिये उपयोगी अङ्गसञ्ज्ञा करने वाला सूत्र लिखते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—१३३ यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् ।१।४।१३॥

यः प्रत्ययो यस्मात् क्रियते तदादि शब्दस्वरूपं तस्मिन्नङ्गं स्यात्।

अर्थः—जो प्रत्यय जिस शब्द से विधान किया जाता है वह है आदि में जिस के ऐसा शब्द स्वरूप उस प्रत्यय के परे होने पर अङ्गसञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—यस्मात् ।५।१। प्रत्ययविधिः ।१।१। तदादि ।१।१। प्रत्यये ।७।१। अङ्गम् ।१।१। समासः—विधानं विधिः, भावे किप्रत्ययः। प्रत्ययस्य विधिः = प्रत्ययविधिः, षष्ठीतत्पुरुषः। तत्=प्रकृतिभूतम् आदिर्यस्य शब्दस्वरूपस्य तत्=तदादि। तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(यस्मात्) जिस प्रकृति से (प्रत्ययविधिः) प्रत्यय का विधान हो (तदादि) वह प्रकृति जिस शब्दस्वरूप के आदि में हो ऐसा प्रकृतिसहित शब्दस्वरूप (प्रत्यये) उस प्रत्यय के परे होने पर (अङ्गम्) अङ्गसञ्ज्ञक होता है। उदाहरण यथा—

भू धातु से परे विहित लट् के स्थान पर 'तिप्' प्रत्यय किया तो बना—'भू+तिप्' पुनः भू धातु से परे 'शप्' किया तो 'भू+शप्+तिप्' हुआ। शकार तथा दो पकारों का लोप करने पर 'भू+अ+ति'। अब यहां अङ्गसञ्ज्ञा करते हैं—

"जिस प्रकृति से प्रत्यय का विधान हो"

यहां 'भू' इस प्रकृति से 'तिप्' इस प्रत्यय का विधान किया गया है।

"वह प्रकृति जिस शब्दस्वरूप के आदि में हो, ऐसा प्रकृतिसहित शब्दस्वरूप—"

वह 'भू' प्रकृति 'अ' इस शब्दस्वरूप के आदि में है और प्रकृतिसहित वह शब्दस्वरूप 'भू+अ' है।

"—उस प्रत्यय के परे होने पर अङ्गसञ्ज्ञक होता है।"

वह प्रत्यय 'तिप्' परे है अतः 'भू+अ' इस समुदाय की अङ्गसञ्ज्ञा हुई।

नोट—यदि सूत्र में 'तदादि' यहां 'आदि' ग्रहण न करते तो केवल उस प्रकृति की ही अङ्गसञ्ज्ञा होती, प्रकृति से आगे तथा प्रत्यय से पूर्वस्थित शब्दस्वरूप की न होती। तब उपर्युक्त उदाहरण में केवल 'भू' ही अङ्गसञ्ज्ञक होता 'अ' साथ न होता। 'आदि' ग्रहण से तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमास के कारण दोनों का ग्रहण हो जाता है; कोई दोष नहीं आता।

ज्ञातव्य—बहुव्रीहिसमास में जिन पदों का समास किया जाता है समास हो चुकने पर प्राय उन पदों से भिन्न किसी अन्य पद के अर्थ की ही प्रधानता हो जाया करती है। यथा— 'पीत' शब्द का अर्थ है 'पीला' और 'अम्बर' शब्द का अर्थ है 'कपड़ा'। अब 'पीत' और 'अम्बर शब्द का बहुव्रीहिसमास किया तो बना— 'पीताम्बर'। इस का अर्थ है— पीले कपड़ों वाला'। इस अर्थ में किसी अन्यपदार्थ (पुरुष) की प्रधानता है जिस के पीले कपड़े हैं। इसी प्रकार 'दृष्टा का अर्थ है 'देखी गई' और 'मथुरा का अर्थ है 'एक नगरी'। अब 'दृष्टा' और 'मथुरा' का बहुव्रीहिसमास किया तो बना— दृष्टमथुर'। इस का अर्थ है— जिस ने मथुरा देखी गई है वह पुरुष'। इस अर्थ में किसी अन्यपदार्थ (पुरुष) की प्रधानता है। अत एव बहुव्रीहिसमास अन्य पदार्थ प्रधान कहाता है। इस बहुव्रीहि समास के पुन दो भेद हो जाते है— १ तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिसमास २ अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहिसमास। जिस बहुव्रीहिसमास में अन्यपदार्थ की प्रधानता के साथ २ समस्यमान पदों के अर्थों का भी प्रवेश हो वह 'तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिसमास' होता है। यथा— पीताम्बर' यहा अन्यपदार्थ = पुरुष की प्रधानता के साथ २ समस्यमान पदों के अर्थ का भी त्याग नहीं हुआ। यदि कहा जाय कि 'पीताम्बरमानय' [पीले कपड़े वाले को लाओ] तो उस पुरुष के साथ पीले कपड़े भी आएगें। अत यहा तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहिसमास है।

जहा अन्यपदार्थ के साथ समस्यमान पदों के अर्थ प्रवेश नहीं होता वह 'अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहिसमास' होता है। यथा—दृष्टमथुर। यहा अन्यपदार्थ =पुरुष की प्रधानता के साथ समस्यमान पदोंके अर्थों का प्रवेश नहीं होता। यदि कहा जाय कि— दृष्टमथुरमानय' (जिस ने मथुरा देखी है उसे लाओ) तो उस पुरुष के साथ देखी गई मथुरा नहीं आएगी अत यहा 'अतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमास' है। इसी प्रकार 'चित्रगुमानय' आदि में समझना चाहिये। उपर्युक्त सूत्र में 'तदादि' [तत्=प्रकृतिभूतम् आदिर्यस्य तत्=तदादि] यहा 'तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि' समास है अत यहां अन्यपदार्थ [जिस के आदि में प्रकृति होगी] के साथ उस [प्रकृति] की भी अङ्गसञ्ज्ञा हो जायगी।

जहा पर केवलमात्र प्रकृति ही होगी उस से आगे तथा प्रत्यय से पूर्व अन्य कोई न होगा, वहा केवल प्रकृति की ही अङ्गसञ्ज्ञा हो जायगी, अर्थात व्यपदेशिवद्भाव से 'तदादि' केवल प्रकृति ही समझी जायगी। [देखो—'आद्यन्तवदेकस्मिन्' (२७८)]

'राम+सुँ' यहा रामशब्द से 'सुँ' प्रत्यय का विधान है अत उस प्रत्यय के परे होने पर तदादि=रामशब्द की अङ्गसञ्ज्ञा हो जाती है।

अब अग्रिमसूत्र में अङ्गसञ्ज्ञा का उपयोग दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१३४ एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः ।६।१।६७॥

एङन्ताद् ह्रस्वान्ताच्चाङ्गाद्धल् लुप्यते सम्बुद्धेश्चेत् ।

अर्थ — एङन्त अङ्ग तथा ह्रस्वान्त अङ्ग से परे सम्बुद्धि के हल् का लोप हो जाता है।

व्याख्या—एङ्ह्रस्वात् ।५।१। सम्बुद्धेः ।६।१। हल ।१।१। ['हल्ङ्या—हल्' से] लोप ।१।१। ['लोपो व्योर्वलि' से] लुप्यते इति लोप:, भावे घञ् । समास — एङ् च ह्रस्वश्च=एङ्ह्रस्वम्, तस्मात्=एङ्ह्रस्वात्, समाहारद्वन्द्व । 'एङ और ह्रस्व से परे सम्बुद्धि के हल का लोप होता है' ऐसा अर्थ होने से 'हे कतरत् कुल' यहां दोष उत्पन्न होता है । तथाहि—नपुंसकलिङ्ग में 'कतर' शब्द से सम्बुद्धि अर्थात् सम्बोधन का एकवचन 'सुँ' करने पर 'अद्ड् डतरादिभ्य: पञ्चभ्य:' (२४१) से उस सुँ को अद्ड आदेश हो जाता है—कतर + अद् (ड)। पुन: डित्त्वसामर्थ्य से रेफोत्तर अकार का लोप हो—कतर + अद्= कतरद्' बनता है । अब 'एङ और ह्रस्व से परे सम्बुद्धि के हल् का लोप होता है' इस प्रकार का यदि अर्थ होगा तो 'कतर—द' यहां रेफोत्तर ह्रस्व अकार से सम्बुद्धि के हल् दकार का लोप प्राप्त होगा जो अनिष्ट है । अत: इसकी निवृत्ति के लिये इस सूत्र में 'अङ्गात्' का अध्याहार किया जाता है [क्योंकि सम्बुद्धि प्रत्यय का विधान होने से एङ और ह्रस्व सुतराम् अङ्ग होंगे ही ।] । एङ्ह्रस्वात्' को 'अङ्गात्' का विशेषण बना तदन्तविधि करने से—'एङन्तह्रस्वान्तादङ्गात्' ऐसा अर्थ निष्पन्न होता है । इस अर्थ के होने से 'कतरद्' आदि में कोई दोष नहीं आता । क्योंकि यहां अङ्ग ह्रस्वान्त नहीं प्रत्युत रेफान्त है रेफोत्तर अकार तो 'अद्ड्' प्रत्यय का ही है । अत: दकारलोप न हो कर इष्ट रूप सिद्ध हो जाता है । अर्थ:— (एङ्ह्रस्वात्) एङन्त और ह्रस्वान्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (सम्बुद्धेः) सम्बुद्धि का (हल) हल् (लोप) लुप्त किया जाता है ।

राम + सुँ='राम + स' यहां 'राम' इस ह्रस्वान्त अङ्ग से परे 'स' यह सम्बुद्धि का हल वर्त्तमान है अत: इस सूत्र से उस का लोप हो 'राम' यह प्रयोग सिद्ध हुआ । 'हे' आदि साथ जोड़ने से— हे राम ! भो राम !' आदि बनेंगे ।

सम्बोधन का द्विवचन और बहुवचन प्रथमावत् सिद्ध होता है । हे रामौ ! हे रामा: !

नोट—सम्बोधन के द्विवचन और बहुवचन में प्रथमा से कुछ भी भेद नहीं हुआ करता भेद सम्बुद्धि में ही होता है । अत: आगे सर्वत्र हम सम्बुद्धि की ही सिद्धि करेंगे । द्विवचन और बहुवचन में स्वयं प्रथमावत् सिद्धि कर लेनी चाहिये ।

अब द्वितीया विभक्ति के रूप सिद्ध किये जाते हैं । द्वितीया के एकवचन में 'राम+अम्' बना । अब यहां क्रमश: 'अक: सवर्णे दीर्घ:' (४२) से सवर्णदीर्घ, 'अतो गुणे' (२७४)

से पररूप तथा 'प्रथमयो पूर्वसवर्ण' (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होते हैं। इस अवस्था में अग्रिमसूत्र से पूर्वसवर्णदीर्घ का बाध हो जाता है।

[लघु०] विधि सूत्रम्—१३५ अमि पूर्वः ।६।१।१०४॥

अकोऽम्यचि पूर्वरूपमेकादेश स्यात्। रामम्। रामा॥

अर्थ.—अक् से अम् में विद्यमान अच् परे हो तो पूर्व + पर के स्थान पर एक पूर्वरूप आदेश होता है।

व्याख्या—अक ।५।१। ['अक सवर्णे दीर्घ' से] अमि ।७।१। अचि ।७।१। ['इको यणचि' से] पूर्वपरयो ।६।२। एक ।१।१। [एक पूर्वपरयो' यह अधिकृत है।] पूर्व ।१।१। अर्थ —(अक) अक् प्रत्याहार से (अमि) अम् प्रत्यय में स्थित (अचि) अच् के परे होने पर (पूर्वपरयो) पूर्व + पर के स्थान पर (एक) एक (पूर्व) पूर्व वर्ण आदेश हो जाता है।

राम + अम् यहा मकारोत्तर अकार अक् से परे अम् का अच् अकार है। अत पूर्व+पर के स्थान पर पूर्व—अकार का रूप हो कर-राम् 'अ म्='रामं' रूप सिद्ध हुआ।

द्वितीया के द्विवचन म 'राम + औट्' हुआ। टकार की 'हलन्त्यम्' (१) से इत् सञ्ज्ञा हो कर तस्य लोप' (३) से लोप हो जाता है—राम + औ। अब इस की सिद्धि प्रथमा के द्विवचन के समान हो जाती है। रामौ।

द्वितीया के बहुवचन में राम + शस्' हुआ। अब शकार की इत्सञ्ज्ञा करने के लिये अग्रिम+सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—१३६ लशक्वतद्धिते ।१।३।८॥

तद्धितवर्जप्रत्ययाद्या लशकवर्गा इत. स्युः।

अर्थः—तद्धितभिन्न प्रत्यय के आदि में स्थित लकार, शकार और कवर्ग इत् सञ्ज्ञक हों।

व्याख्या—प्रत्ययस्य ।६।१। ['प्र प्रत्ययस्य से] आदि ।१।१। ['आदिर्ञिटुडव' से लिङ्ग विपरिणाम कर के] लशकु ।१।१। इत् ।१।१। ['उपदेशेऽजनुनासिक इत्' से] अतद्धिते ।७।१। समास— लश्च शश्च कुश्च एषां समाहार, लशकु, समाहारद्वन्द्व। न तद्धिते=अतद्धिते, नञ्समास। अर्थ —(प्रत्ययस्य) प्रत्यय के (आदि) आदि में स्थित (लशकु) लकार, शकार और कवर्ग (इत्) इत्सञ्ज्ञक होते हैं (अतद्धिते) परन्तु तद्धित मे नहीं होते। तद्धितप्रत्यय मे निषेध होने से कप्, ल, ग्मिनि, श, शस आदि म इत्सञ्ज्ञा न होगी।

'राम + शस्' यहा 'शस' तद्धित नहीं अत इस सूत्र से इस के आदि स्थित शकार

की इत्संज्ञा हुई और लोप हो गया—राम + अस । अब 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर 'रामास' बन गया । इस अवस्था में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१३७ तस्माच्छसो नः पुंसि ।६।१।१००॥

पूर्वसवर्णदीर्घात् परो यः शसः सस्तस्य नः स्यात् पुंसि ।

अर्थः—पूर्वसवर्णदीर्घ से परे जो शस् का सकार उस के स्थान पर नकार हो पुंल्लिङ्ग में ।

व्याख्या—तस्मात् ।५।१। शसः ।६।१। नः ।१।१। पुंसि ।७।१। नकारादकार उच्चारणार्थ । 'तद्' शब्द पूर्व का बोध कराया करता है । इस सूत्र से पूर्व प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (१२६) में पूर्वसवर्णदीर्घ का प्रकरण है । अतः यहां 'तस्मात्' शब्द से भी 'पूर्वसवर्णदीर्घात्' का ग्रहण होगा । अर्थ —(तस्मात्=पूर्वसवर्णदीर्घात्) उस पूर्वविहित पूर्वसवर्णदीर्घ से परे*(शसः) शस् के स्थान पर (नः) न् हो जाता है (पुंसि) पुंल्लिङ्ग में । 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) से यह नकार आदेश शस् के अन्त्य अल् सकार को ही होगा ।

'रामास' यहां मकारोत्तर आकार पूर्वसवर्णदीर्घ है अतः इस से परे शस् के सकार को नकार हो कर—'रामान्' बना ।

अब यहां अनिष्ट णत्व प्राप्त होता है । उस का परिहार करने के लिये ग्रन्थकार प्रथम णत्वविधायक सूत्र लिखते हैं ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१३८ अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि ।८।४।२॥

अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ्, नुम् एतैर्व्यस्तैर्यथासम्भवं मिलितैश्च व्यवधानेऽपि रषाभ्यां परस्य नस्य णः समानपदे । इति प्राप्ते—

अर्थः—अट् प्रत्याहार, कवर्ग पवर्ग, आङ् और नुम् इन का अलग २ या यथासम्भव दो तीन अथवा चारों का मिल कर व्यवधान होने पर भी समानपद में रेफ और षकार से परे नकार को णकार हो जाता है । इस सूत्र के प्राप्त होने पर [अग्रिमसूत्र निषेध करता है] ।

व्याख्या—अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवाये ।७।१। अपि इत्यव्ययपदम् । समानपदे ।७।१। रषाभ्याम् ।५।२। नः ।६।१। णः ।१।१। ['रषाभ्यां नो णः समानपदे' से] णकारादकार

*जहां पूर्वसवर्णदीर्घ न होगा वहां पर पुंल्लिङ्ग में भी शस् के स् को न् न होगा, जैसे—'गाः' । 'गो—शस्' यहां पर 'औतोऽम्शसोः' (२१४) से पूर्व+पर के स्थान 'आ' आदेश है, तब पूर्वसवर्णदीर्घ की प्राप्ति न होने से न भी न हुआ ।

उच्चारणार्थ । इस सूत्र से पूर्व अष्टाध्यायी में 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' सूत्र पढ़ा गया है। वह सूत्र समानपद में रेफ और षकार से परे अव्यवहित (व्यवधान-रहित) नकार को णकार करता है। यथा—चतुर्णाम्, पूष्णः आदि। परन्तु यह सूत्र 'नराणाम्, पुरुषेण' प्रभृति प्रयोगों में व्यवहित नकार को णकार करने के लिये रचा गया है। समास—अट् च कुश्च पुश्च आङ् च नुम् च=अट्कुप्वाङ्नुम इतरेतरद्वन्द्व। तैर्व्यवाय (व्यवधानम्)=अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवाय, तृतीयातत्पुरुष। तस्मिन्=अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवाये, भावसप्तमी। अर्थ—(अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवाये) अट्प्रत्याहार, कवर्ग, पवर्ग, आङ् और नुम् इन से व्यवधान होने पर (अपि) भी (रषाभ्याम्) रेफ और षकार से परे (नः) न् के स्थान पर (णः) ण् हो जाता है (समानपदे) समान अर्थात् अखण्ड पद में।

जिस पद के खण्ड अर्थात् टुकड़े कर उन का स्वतन्त्र रूप से प्रयोग न किया जा सके उसे समानपद या अखण्डपद कहते हैं। 'रामान्' अखण्डपद है इस के खण्ड नहीं किये जा सकते। इसलिये यहां णकार प्राप्त है। 'रघुनाथ, रमानाथ, रामनाम' ये अखण्डपद नहीं इन के खण्ड हो सकते हैं। रघु और नाथ इन दोनों खण्डों का स्वतन्त्र प्रयोग किया जा सकता है। इसलिये इन में णत्व नहीं हुआ।

अब यहां यह विचार उपस्थित होता है कि क्या अट्, कवर्ग आदि सब का व्यवधान हो तो णत्व होता है ? या इन में से किसी एक का व्यवधान होने पर णत्व होता है ?। पहला पक्ष असम्भव है क्योंकि संस्कृतसाहित्य में ऐसा कोई शब्द नहीं जिस में रेफ या षकार से परे अट्, कवर्ग आदि सब से व्यवहित णकार हो। अतः लक्ष्य (उदाहरण) न मिलने के कारण 'सब का व्यवधान हो तो णत्व होता है' यह पक्ष असङ्गत है। दूसरा पक्ष ठीक है, इस से 'नराणाम्, कराणाम्, पुरुषेण' आदि प्रयोगों की सिद्धि हो जाती है। 'करणे यजः' (८०७), 'स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन' (९२६) इत्यादि पाणिनिसूत्रों से भी इस पक्ष की पुष्टि होती है। इन सूत्रों में मुनि ने एक २ का व्यवधान होने पर णकार आदेश किया है। किञ्च—इस पक्ष के अतिरिक्त एक अन्य पक्ष भी महामुनि के सूत्रपाठ से पुष्ट होता है। वह यह है कि 'अट् कवर्ग आदियों में चाहे जितने वर्णों का व्यवधान हो णत्व हो जाय'। मुनि ने—"सरूपाणाम् एकशेष एकविभक्तौ (१२५), कर्मणि द्वितीया (८९१), इन्द्र-पूषार्यम्णां शौ (२८७), ग्राम्य पशु-सङ्घेष्वतरुणेषु स्त्री (१।२।७३)" इत्यादि सूत्रों में यथासम्भव अनेकों का व्यवधान होने पर भी णकार आदेश किया है। ग्रन्थकार ने इन दोनों पक्षों का—एतैर्व्यस्तैर्यथासम्भवं मिलितैश्च इन शब्दों से वर्णन किया है। इन के उदाहरण यथा—

अट्—करणम्, हरणम्, करिणा, हरिणा इत्यादि।

कवर्ग—अर्केण मूर्खाणाम् गर्गेण, अर्घेण इत्यादि।

पवर्ग—दर्पेण, रेफेण, गर्भेण चर्मणा कर्मणा इत्यादि।

आङ्—पर्याणद्धम्, निराणद्धम् इत्यादि।

नोट—इस सूत्र की अनुवृत्ति 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' (४९६) सूत्र में जाती है। अतः यहां उस से णत्व हो जाता है। 'पदव्यवायेऽपि' (८।४।३८) द्वारा निषेध नहीं होता। यही इस के ग्रहण का प्रयोजन है। इस पर विस्तृत विचार व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखें।

नुम्—बृंहणम्, तृंहणम् इत्यादि। यहां 'नुम्' से अनुस्वार अभिप्रेत है। वह अनुस्वार चाहे 'नुम्' के स्थान पर हुआ हो या स्वाभाविक हो इस से कुछ प्रयोजन नहीं। यथा—'बृंहणम्' यहां नुम् के स्थान पर अनुस्वार हुआ २ है। 'तृंहणम्' यहां स्वाभाविक अनुस्वार है।

सूचना—सम्पूर्ण णत्वप्रकरण में रेफ और षकार की तरह ऋवर्ण का भी णत्व में निमित्त समझना चाहिये। अतएव 'अप्तृन्तृच्० प्रशास्तॄणाम्' (२०१) इत्यादि मुनिवर के निर्देश उपलब्ध होते हैं। आगे चल कर ग्रन्थकार 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' (वा० २०) इस वार्त्तिक को स्वयं ही उद्धृत करेंगे।

रामान्=र्+आ+म्+आ+न्। यहां रेफ से परे आ=अट्, म्=पवर्ग, आ=अट् इन तीन वर्णों से व्यवहित नकार है अतः 'अट्कु—' सूत्र से णकार प्राप्त होता है। अब इस का अग्रिमसूत्र से निषेध करते हैं—

[लघु०] निषेध सूत्रम्—१३९ पदान्तस्य ।८।४।३७॥

नस्य णो न। रामान्।

अर्थः—पदान्त नकार को णकार नहीं होता।

व्याख्या—पदान्तस्य ।६।१। न ।६।१। णः ।१।१। ['रषाभ्यां नो णः समानपदे' से] न इत्यव्ययपदम्। ['न भाभूपू—' से] अर्थ—(पदान्तस्य) पद के अन्त वाले (नः) न् के स्थान पर (णः) ण् आदेश (न) नहीं होता।

'रामान्' यह सुँबन्त होने से 'सुँप्तिङन्तं पदम्' (१४) के अनुसार पदसञ्ज्ञक है। यहां 'न्' पदान्त है। अतः 'पदान्तस्य' से णकार का निषेध हो गया। 'रामान्' रूप सिद्ध हो गया।

[लघु०] विधि सूत्रम्—१४० टाङसिङसामिनात्स्याः ।७।१।१२॥

अदन्ताद् टादीनामिनादय स्यु । णत्वम्—रामेण ।

अर्थ—अदन्त (अङ्ग) से परे टा को इन, ङसि को आत् और ङस् का स्य आदेश होता है ।

व्याख्या—अत ।५।१। ['अतो भिस ऐस' से] अङ्गात् ।५।१। ['अङ्गस्य' यह अधिकृत है, इस का विभक्तिविपरिणाम हो जाता है] टाङसिङसाम् ।६।३। इनात्स्या ।१।३। 'अङ्गात्' का विशेषण होने से 'अत्' से तदन्तविधि हो जाती है—'अदन्तात् अङ्गात्' । अर्थ —(अत =अदन्तात्) अदन्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (टा ङसि ङसाम्) टा ङसि, ङस् के स्थान पर (इनात्स्या) इन, आत् स्य आदेश हो जाते हैं । 'यथासङ्ख्यमनुदेश समानाम्' (२३) के अनुसार आदेश क्रमश होंगे।

राम + टा' यहा 'राम' अदन्त अङ्ग है । इस से परे 'टा' का इन आदेश हो जाता है । 'राम + इन' इस अवस्था में आद् गुण (२७) से गुण एकादेश तथा अट्कु—(१३८) से णकार आदेश हो कर रामेण' रूप सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि यहा 'पदान्तस्य' (१३९) द्वारा णत्व का निषेध नहीं होता, क्योंकि यहा न पदान्त नहीं, पदान्त अ है ।

तृतीया के द्विवचन में भ्याम्' आने पर 'राम+भ्याम्' हुआ । अब अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१४१ सुँपि च ।७।३।१०२॥

यञादौ सुँपि अतोऽङ्गस्य दीर्घः । रामाभ्याम् ।

अर्थ—यञादि सुँप परे होने पर अदन्त अङ्ग को दीर्घ हो जाता है ।

व्याख्या—यञि ।७।१। ['अतो दीर्घो यञि से] सुँपि ।७।१। अत ।६।१। [अतो दीर्घो यञि' से] अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] दीर्घ ।१।१। [अतो दीर्घो यञि' से] । यञि' पद 'सुपि' पद का विशेषण है और अल् है इस लिये इस से तदादि विधि हो कर 'यञादौ सुपि' बन जायगा । अत ' यह 'अङ्गस्य' का विशेषण है अत इस से तदन्तविधि हो कर 'अदन्तस्य अङ्गस्य हो जायगा । अर्थ —(यञि) यञादि (सुँपि) सुँप परे होने पर (अत) अदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (दीर्घ) दीर्घ हो जाता है । यञ् एक प्रत्याहार है यञादि सुप—भ्याम् भ्यस् आदि हैं ।

'राम+भ्याम्' यहा 'भ्याम्' यञादि सुप है, अत 'राम' इस अदन्त अङ्ग को दीर्घ हो— 'रामाभ्याम्' प्रयोग सिद्ध हुआ ।

तृतीया के बहुवचन में 'भिस' प्रत्यय आकर 'राम+भिस' हुआ। अब 'सुँपि च' (१४१) से दीर्घ के प्राप्त होने पर उस का अपवाद अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१४२ अतो भिस ऐस् ।७।१।१०६॥

अनेकाल्शित सर्वस्य । रामैः ।

अर्थ—अदन्ताद् अङ्गात् परस्य भिस ऐस् स्यात् । अदन्त अङ्ग से परे भिस के स्थान पर ऐस हो जाता है ।

व्याख्या—अत ।५।१। अङ्गात् ।५।१। ['अङ्गस्य' यह अधिकृत है, इस की विभक्ति का यहां विपरिणाम हो जाता है ।] भिस ।६।१। ऐस् ।१।१। 'अङ्गात्' का विशेषण होने से 'अत' से तदन्तविधि हो जायगी । अर्थ —(अत =अदन्तात्) अदन्त (अङ्गात) अङ्ग से परे (भिस) भिस के स्थान पर (ऐस) ऐस हो जाता है । यह आदेश 'तस्मादित्युत्तरस्य' (७१) से उत्तर भिस् को होता है, पर 'भिस ' के षष्ठीनिर्दिष्ट होने से 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) द्वारा अन्त्य सकार को प्राप्त होता है, फिर 'आने परस्य' (७२) से पूर्व को प्राप्त है उस को बान्ध कर अनेकाल्शित् सर्वस्य' (४५) द्वारा सम्पूर्ण भिस के स्थान पर हो जाता है ।

'राम + भिस' यहां 'राम' यह अदन्त अङ्ग है अत इस से परे प्रकृत सूत्र द्वारा भिस के स्थान पर ऐस हो कर—राम+ऐस् । अब 'वृद्धिरेचि (३३) से पूर्व + पर के स्थान पर 'ऐ' वृद्धि हो रुत्व विसर्ग करने से—'रामैः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

अब रामशब्द के चतुर्थी विभक्ति के रूप सिद्ध किये जाते हैं । एकवचन में 'राम + ङे' हुआ । अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१४३ ङेर्यः ।७।१।१३॥

अतोऽङ्गात् परस्य ङेर्यादेशः ।

अर्थ—अदन्त अङ्ग से परे 'ङे' के स्थान पर 'य' आदेश हो ।

व्याख्या—अत ।५।१। ['अतो भिस ऐस' से] अङ्गात् ।५।१। ['अङ्गस्य' यह अधिकृत है । यहां विभक्तिविपरिणाम हो जाता है ।] ङे ।६।१। [ङे + ङस=ङे+अस्=ङेस्=ङे, 'ङसिँङसोश्चे' ति पूर्वरूपम् ।] य ।१।१। अर्थ —(अत =अदन्तात्) अदन्त (अङ्गात) अङ्ग से परे (ङे) ङे के स्थान पर (य) 'य' आदेश होता है । ध्यान रहे कि 'य' आदेश सस्वर है ।

'राम + ङे' यहां 'राम' यह अदन्त अङ्ग है अत इस से परे ङे को 'य' आदेश हो—'राम+य' हुआ । यहां 'य' यञादि तो है पर सुप नहीं। सुप तो 'ङे' था, वह

अब रहा नहीं। अत 'सुपि च' (१४१) से दीर्घ प्राप्त नहीं हो सकता। अब य में सुप्त्व धर्म लाने के लिये अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] अतिदेश सूत्रम्—१४४ स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ।१।१।५५।

आदेशः स्थानिवत् स्यात्, न तु स्थान्यलाश्रयविधौ। इति स्थानिवत्त्वात् 'सुपि चे' ति दीर्घ'—रामाय। रामाभ्याम्।

अर्थ'—आदेश स्थानी के समान होता है परन्तु स्थानी अल् के आश्रित यदि कार्य करना हो तो नहीं होता। इस सूत्र से यकार के स्थानिवत् हो जाने से 'सुपि च' से दीर्घ हो कर 'रामाय' हुआ।

व्याख्या—स्थानिवत् इत्यव्ययपदम्। आदेश ।१।१। अनल्विधौ ।७।१। समास — स्थानिना तुल्य इति स्थानिवत् 'तेन तुल्य क्रिया चेद् वति' (११४८) इति वतिप्रत्यय। १ अला विधि =अल्विधि, तृतीयातत्पुरुष। २ अल (परस्य) विधि =अल्विधि, पञ्चमी तत्पुरुष। ३ अल (स्थाने) विधि =अल्विधि, षष्ठीतत्पुरुष। ४ अलि (परे) विधि= अल्विधि, सप्तमीतत्पुरुष। न अल्विधि =अनल्विधि तस्मिन्=अनल्विधौ, नञ्तत्पुरुष। यहां अल् स्थानी या स्थानी का अवयव ही ग्रहण किया जाता है। अर्थ—(आदेश) आदेश (स्थानिवत्) स्थानी के समान होता है। परन्तु (अनल्विधौ) स्थान्यल् द्वारा, स्थान्यल से पर स्थान्यल् के स्थान पर या स्थान्यल् के परे होने पर विधि करनी हो तो स्थानिवत् नहीं होता। भाव—जिस के स्थान पर कुछ किया जाय उसे 'स्थानी' कहते हैं। यथा—'ङेर्य' (१४३) द्वारा 'ङे' के स्थान पर 'य' किया जाता है अत ङे' स्थानी है। 'इको यणचि' (१५) द्वारा इक् के स्थान पर यण किया जाता है अत 'इक' स्थानी है। जो स्थानी के स्थान पर किया जाता है उसे 'आदेश' कहते हैं। यथा—'ङेय' (१४३) में य और 'इको यणचि' (१५) में यण् आदेश है। **"आदेश स्थानिवत्=स्थानी के समान होता है"** अर्थात् जो कार्य स्थानी के होने से सिद्ध होते हैं वे आदेश के होने से भी सिद्ध हो जाते हैं। उदाहरण यथा—

'राम+य' यहां 'य' यमादि तो है पर सुप नहीं, अत 'सुपि च' (१४१) प्राप्त नहीं हो सकता। अब प्रकृत सूत्र द्वारा आदेश 'य' के स्थानिवत्=ङेवत् होने से 'य' में सुप्त्व धर्म आ जाने के कारण 'सुपि च' (१४१) से दीर्घ हो कर—'रामाय' रूप सिद्ध हो जाता है।

निम्नलिखित अवस्थाओं में आदेश स्थानिवत् न होगा—

(१) स्थानी अल् के द्वारा कोई विधि करनी हो तो आदेश स्थानिवत् नहीं होता। यथा—'व्यूढोरस्केन' [व्यूढम् उरो यस्य स व्यूढोरस्कः, तेन=व्यूढोरस्केन।

बहुव्रीहिसमास ।] यहां विसर्ग के स्थान पर 'सोऽपदादौ' (८।३।३८) से सकार हुआ है। वार्त्तिककार एवं भाष्यकार ने विसर्ग का अट् प्रत्याहार में पाठ माना है। अब यदि इस सकार को स्थानिवद्भाव से विसर्ग मान लें तो यह अट् प्रत्याहार के अन्तर्गत हो जायगा। तब 'अट्कु—' (१३८) द्वारा नकार को णकार प्राप्त होगा जो अनिष्ट है। यहां स्थानी=विसर्ग=अल् के द्वारा णत्वविधि करनी है अतः आदेश=स् स्थानिवत्=विसर्गवत् न होगा।

(२) स्थानी अल् से परे कोई विधि करनी हो तो आदेश स्थानिवत् नहीं होता। यथा—द्यौः। 'दिव्' शब्द से सुँ प्रत्यय करने पर 'दिव औत्' (२६४) सूत्र द्वारा 'व्' को 'औ' हो—'दि औ स्' बना। अब यहां 'औ' इस आदेश को स्थानिवत् अर्थात् वकारवत् हल् मानने से 'हल्ङ्याब्भ्यो—' (१७९) द्वारा सकार का लोप प्राप्त होता है जो अनिष्ट है। यहां स्थानी अल्=वकार से परे लोपविधि करनी है अतः आदेश (औ) स्थानिवत् (वकारवत्) न होगा।

(३) स्थानी अल् के स्थान पर कोई विधि करना हो तो आदेश स्थानिवत् नहीं होता। यथा—द्युकामः। यहां 'दिव्+काम' में 'दिव उत्' (२६५) सूत्र द्वारा 'व्' का 'उ' होता है। यदि इस 'उ' आदेश को स्थानिवत्=वकारवत् मानें तो उस के वल् प्रत्याहार के अन्तर्गत होने के कारण 'लोपो व्योर्वलि' (४२१) द्वारा वकारलोप प्राप्त होता है जो अनिष्ट है। यहां स्थानी अल्=वकार के स्थान पर लोपविधि करनी है अतः आदेश (उ) स्थानिवत् (वकारवत्) न होगा।

(४) स्थानी अल् के परे होने पर उस से पूर्व कोई विधि करनी हो तो भी आदेश स्थानिवत् नहीं होता। यथा—क इष्टः। 'इष्टः' यहां यजँधातु के यकार के स्थान पर इकार किया गया है। 'कस्+इष्ट' यहां 'ससजुषो रुः' (१०५) से रुँ आदेश कर अनुबन्धलोप किया तो—कर्+इष्ट हुआ। अब यहां 'इष्ट' के इकार आदेश को स्थानिवत्=यकारवत् हशप्रत्याहारान्तर्गत मानें तो 'हशि च' (१०७) से रेफ के स्थान पर उत्व प्राप्त होता है जो अनिष्ट है। यहां स्थानी अल् यकार है उस के परे होने पर उस से पूर्व रेफ को उत्वविधि करनी है अतः आदेश (इ) स्थानिवत् (यकारवत्) न होगा।

नोट—इस सूत्र पर उपयोगी सब बातें हम ने लिख दी हैं। विद्यार्थियों को इस सूत्र का खूब अभ्यास कर लेना चाहिये आगे व्याकरण में यत्र तत्र इस का बहुत उपयोग होगा।

चतुर्थी के द्विवचन में 'रामाभ्याम्' पूर्ववत् सिद्ध होता है।

चतुर्थी के बहुवचन में 'भ्यस्' प्रत्यय आ कर 'राम+भ्यस्' हुआ। अब 'सुँपि च' (१४१) के प्राप्त होने पर उस का अपवाद अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१४५ बहुवचने झल्येत् ।७।३।१०३॥

झलादौ बहुवचने सुपि अतोऽङ्गस्यैकारः । रामेभ्यः । सुपि किम् ? पचध्वम् ।

अर्थः—झलादि बहुवचन सुप् परे हो तो अदन्त अङ्ग के स्थान पर एकार आदेश हो ।

व्याख्या—अतः ।६।१। ['अतो दीर्घो यञि' से । यहां विभक्ति का विपरिणाम हो जाता है] अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] बहुवचने ।७।१। झलि ।७।१। सुँपि ।७।१ ['सुँपि च' से] एत् ।१।१। 'अङ्गस्य' का विशेषण होने से 'अतः' से तदन्तविधि तथा 'सुँपि' का विशेषण होने से 'झलि' से 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' द्वारा तदादिविधि हो जाती है । अर्थः—(झलि=झलादौ) झलादि (बहुवचने) बहुवचन (सुपि) सुप् परे हो तो (अतः=अदन्तस्य) अदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (एत्) ए आदेश हो जाता है । 'अचश्च' (१।२।२८) और 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) परिभाषाओं द्वारा यह 'ए' आदेश अन्त्य अच्=अत् के स्थान पर ही होगा ।

'राम+भ्यस्' यहां 'भ्यस्' बहुवचन है, इस के आदि में भकार झल् है और यह सुँप् भी है । अतः इस के परे होने से प्रकृत सूत्र द्वारा मकारोत्तर अकार को एकार हो सकार को रुँत्व विसर्ग करने से 'रामेभ्यः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

'सुँपि' कथन से इस सूत्र की प्रवृत्ति सुँप् में ही होती है । अन्यथा 'पचध्वम्' [तुम सब पकाओ] यहां भी एकार आदेश हो 'पचेध्वम्' ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता । 'ध्वम्' झलादि बहुवचन तो है पर सुँप् नहीं तिङ् है । इसकी साधनप्रक्रिया तिङन्तप्रकरण में स्पष्ट होगी ।

अब रामशब्द के पञ्चमी के रूप सिद्ध किये जाते हैं । पञ्चमी के एकवचन में ङसिँ प्रत्यय आ कर 'राम+ङसिँ' बना । इस अवस्था में 'टाङसि—' (१४०) द्वारा ङसिँ को आत् आदेश हो सवर्णदीर्घ करने पर—'रामात्' हुआ । अब तकार झल् के पदान्त होने से 'झलां जशोऽन्ते' (६७) द्वारा तकार को दकार करने से—'रामाद्' । इस अवस्था में 'विरामोऽवसानम्' (१२४) सूत्र से दकार की अवसानसञ्ज्ञा हो कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१४६ वाऽवसाने ।८।४।५६॥

अवसाने झलां चरो वा । रामात्, रामाद् । रामाभ्याम् । रामेभ्यः । रामस्य ।

अर्थः—अवसान में झलों को चर् विकल्प से हो।

व्याख्या—अवसाने ।७।१। झलाम् ।६।३। [झलां जश्झशि' से] चर् ।१।१। [अभ्यासे चर्च' से] वा इत्यव्ययपदम्। अर्थ —(अवसाने) अवसान में (झलाम्) झलों के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (चर) चर् हो जाते हैं।

रामाद्' यहां अवसान में इस सूत्र से दकार झल का तकार चर् विकल्प से आदेश करने पर—'रामात्, रामाद्' दो रूप सिद्ध होते हैं।

नोट—अनेक वैयाकरण 'वाऽवसाने' (१४६) सूत्र को 'झलां जशोऽन्ते' (६७) सूत्र का अपवाद मानते हैं। अत 'रामात्' में प्रथम 'वाऽवसाने' (१४६) से तकार को तकार कर पक्ष में 'झलां जशोऽन्ते' (६७) द्वारा दकार किया करते हे। किन्त्व——जहां २ कौमुदी में 'जश्त्व चर्त्वे' [जश्त्व और चर्त्व होते हैं] लिखा रहता है, वे वहां जश तु अचर्त्वे' [चर्त्वाभावपक्ष में जश् हो जाता है] ऐसा पदच्छेद स्वाकार किया करते हैं। परन्तु—— हमारी सम्मति में यह मत युक्त प्रतीत नहीं होता। क्योंक ऐसा मानने स रत्नमुष' शब्द के 'रत्नमुट, रत्नमुड्' ये दो रूप न बन सकेंगे। तथाहि—प्रथम चर्त्व करने से षकार को षकार हो कर—'रत्नमुष' बनेगा। तदनन्तर जश्त्व हो—रत्नमुड' । इस प्रकार रत्नमुष्, रत्नमुड' ये दो रूप बन जायेंगे 'रत्नमुट्' रूप न बन सकेगा। यद्यपि वे इस का 'ष्णान्ता षट्' (२९७) आदि निर्देशों से परिहार किया करते हैं, तथापि उन निर्देशो से उन २ कल्पनाओं के करने की अपेक्षा प्रथम जश्त्व कर तदनन्तर चर्त्व करने में ही लाघव प्रतीत होता है। इस का विशेष विवरण हमारी सिद्धान्तकौमुदी में देखें।

पञ्चमी के द्विवचन में पूर्ववत रामाभ्याम्' प्रयोग सिद्ध होता हैं। बहुवचन मे चतुर्थी विभक्ति के बहुवचन के समान 'रामेभ्य' रूप बनता है।

अब रामशब्द से षष्ठी के बहुवचन में 'ङस्' प्रत्यय आता है और 'टाङसिङसामिनात्स्याः' (१४०) सूत्र से उस के स्थान पर 'स्य' आदेश हो कर 'रामस्य' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

षष्ठी के द्विवचन में 'ओस्' प्रत्यय आ कर 'राम+ओस्' हुआ। अब वृद्धि एकादेश को बाधकर 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप की प्राप्ति होती है। इस अवस्था में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१४७ ओसि च ।७।३।१०४॥

(ओसि परे) अतोऽङ्गस्यैकारः। रामयो ।

अर्थ.—ओस परे होने पर अदन्त अङ्ग के स्थान पर एकार आदेश हो।

व्याख्या—ओसि ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । अत ।६।१। [अतो दीर्घो यञि से] अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] एत् ।१।१। अङ्गस्य' का विशेषण होने से अत से तदन्तविधि हो जाती है । अर्थ—(ओसि) ओस परे होने पर (अत) अदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (एत्) 'ए' आदेश हो जाता है । अलोऽन्त्यपरिभाषा से अङ्ग के अन्त्य अल् अकार को ही एकार आदेश होगा ।

राम + ओस' यहां अदन्त अङ्ग 'राम' है । उस से परे ओस् है । अत ओसि च से अङ्ग के अन्त्य अकार को एकार हो कर 'रामे + ओस्' इस अवस्था में एचोऽयवायाव (२२) से एकार के स्थान पर अय् आदेश हो जाता है—रामयोस । अब सकार को रुँत्व विसर्ग करने से रामयो' रूप सिद्ध होता है ।

षष्ठी के बहुवचन में 'आम्' प्रत्यय आ कर 'राम + आम्' हुआ । अब सवर्णदीर्घ के प्राप्त होने पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

(लघु०) विधि सूत्रम्—१४८ ह्रस्वनद्यापो नुट् ।७।१।५४॥

ह्रस्वान्ताद् नद्यन्ताद् आबन्ताच्चाङ्गात् परस्यामो नुडागमः ।

अर्थ—ह्रस्वान्त, नद्यन्त तथा आबन्त अङ्गों से परे आम् का अवयव नुट हो जाता है ।

व्याख्या—ह्रस्वनद्याप ।५।१। अङ्गात् ।५।१। [अङ्गस्य यह अधिकृत है । यहां विभक्ति का विपरिणाम हो जाता है] आम ।६।१। ['आमि सर्वनाम्न सुट्' से विभक्ति विपरिणाम कर के] नुट ।१।१। समास—ह्रस्वश्च नदी च आप् च=ह्रस्वनद्याप्, समाहार द्वन्द्व । तस्मात्=ह्रस्वनद्याप । यह 'अङ्गात् का विशेषण है अत इस से तदन्तविधि हो जाती है । अर्थ—(ह्रस्वनद्याप) ह्रस्वान्त, नद्यन्त तथा आबन्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (आम) आम् का अवयव (नुट) नुट हो जाता है । नुट् टित है अत 'आद्यन्तौ टकितौ (८२) द्वारा 'आम् का आद्यवयव होगा ।

'राम+आम्' यहां 'राम' ह्रस्वान्त अङ्ग है, इस से पर आम् विद्यमान है । अत प्रकृतसूत्र से आम का आद्यवयव नुट हो गया—'राम+नुट आम । नुट में टकार 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञक है, उकार उच्चारणार्थ है; न अवशिष्ट रहता है । राम् + नाम्' इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१४९ नामि ।६।४।३॥

(नामि परे) अजन्ताङ्गस्य दीर्घः । रामाणाम् । रामे । रामयोः । एत्वे कृते—

अर्थ—नाम् परे हो तो अजन्त अङ्ग के स्थान पर दीर्घ हो जाता है। बहुवचन में ण्त्व करने पर (अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है।)

व्याख्या—नामि ।७।१। अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] दीर्घः ।१।१। ['ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से] 'अचश्च' (१ २८) परिभाषा द्वारा 'अचः' पद उपस्थित हो कर 'अङ्गस्य' का विशेषण बन जाता है अतः इस से तदन्त विधि हो कर 'अजन्तस्य' बन जायगा। अर्थ—(नामि) नाम् परे होने पर (अचः) अजन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ हो जाता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा द्वारा यह दीर्घ अजन्त अङ्ग के अन्त्य अल्=अच् का ही होगा।

'राम+नाम्' यहां नाम् परे होने से अजन्त अङ्ग 'राम' के अन्त्य अकार को दीर्घ हो कर 'रामा नाम्'। अब इस अवस्था में 'अट्कुप्वाङ्–'(१३८) से आ=अट्, म्=पवर्ग, आ=अट् के व्यवधान होने पर भी नकार के स्थान पर णकार हो कर—'रामाणाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

सप्तमी के एकवचन में 'ङि' प्रत्यय आ कर 'राम+ङि' हुआ। ङकार की 'लशक्वतद्धिते' (१३६) से इत् सञ्ज्ञा हो लोप करने पर 'राम+इ' बना। अब 'आद् गुणः' (२७) से गुण एकादेश हो कर 'रामे' प्रयोग सिद्ध होता है।

सप्तमी के द्विवचन में 'रामयोः' रूप षष्ठी के द्विवचन की तरह सिद्ध होता है।

सप्तमी के बहुवचन में 'राम+सुप्' यहां पकार की इत्सञ्ज्ञा और लोप हो कर 'बहुवचने झल्येत्' (१४५) से मकारोत्तर अकार को एकार आदेश करने पर 'रामे+सु' हुआ। अब अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१५० आदेशप्रत्यययोः ।८।३।५६॥

इण्कुभ्यां परस्यापदान्तस्यादेशः, प्रत्ययावयवश्च यः सस्तस्य मूर्धन्यादेशः। ईषद्विवृतस्य सस्य तादृश एव षः। रामेषु। एवं कृष्णादयोऽप्यदन्ताः।

अर्थः—इण् प्रत्याहार और कवर्ग से परे अपदान्त जो आदेशरूप सकार अथवा प्रत्यय का अवयव जो सकार उस के स्थान पर मूर्धन्य (मूर्धास्थान वाला) आदेश हो। ईषद्विवृतप्रयत्न वाले सकार के स्थान पर वैसा ईषद्विवृत षकार ही होगा। इसी प्रकार 'कृष्ण' आदि अदन्त (पुंलिङ्ग) शब्दों के रूप बनेंगे।

व्याख्या—इण्कोः ।५।१। [यह अधिकृत है] आदेशप्रत्यययोः ।६।२। अपदान्तस्य ।६।१। ['अपदान्तस्य मूर्धन्यः' यह अधिकृत है] सः ।६।१। ['सहेः साडः सः' से] मूर्धन्यः ।१।१। समास—इण् च कुश्च=इण्कु, तस्मात्=इण्कोः, समाहारद्वन्द्व। पुंस्त्व

मार्षम् । आदेशश्च प्रत्ययश्च=आदेश प्रत्ययौ तयो =आदेश प्रत्यययो , इतरेतरद्वन्द्व । यहां व्याख्यान द्वारा 'आदेश' के साथ अभेदात्मिका षष्ठी और 'प्रत्यय' के साथ अवयवषष्ठी है । अर्थात 'आदेशस्य = आदेश का सकार' इस का तात्पर्य होगा—'आदेशरूप सकार' । 'प्रत्ययस्य=प्रत्यय का सकार' इस का तात्पर्य होगा—'प्रत्यय का अवयव सकार' । यदि आदेशस्य यहां अभेदात्मिका षष्ठी न मान कर अवयवषष्ठी मानते हैं तो तिसृणाम्' यहां भी 'तिसृ' आदेश के अवयव सकार का इण् से परे मूर्धन्य प्राप्त होता है जो अनिष्ट है । अभेदात्मिका षष्ठी मानने से कोई दोष नहीं आता क्योंकि 'तिसृ' में सकार आदेशरूप नहीं , आदेश का अवयव है । आदेशरूप तो 'तिसृ' सम्पूर्ण है । इसी प्रकार यदि 'प्रत्ययस्य' यहां अवयवषष्ठी न मान कर अभेदात्मिका षष्ठी मानें तो "रामेषु हरिषु करोषि चिनोषि" आदि प्रयोग तथा "हलि सर्वेषाम् (१०१) बहुषु बहुवचनम् (१२८) लिङ्सिचावात्मनेपदेषु (५८१)' इत्यादि पाणिनि के निर्देश अनुपपन्न होंगे। तब 'सात्पदाद्योः' (१२४१) सूत्र द्वारा सात् को षत्व करने का निषेध भी अयुक्त हो जायगा । अतः 'प्रत्ययस्य' में अवयव षष्ठी ही युक्तियुक्त कार्यसाधिका तथा पाणिनि सम्मता है । अर्थ —(इणकोः) इण् प्रत्याहार या कवर्ग से परे (आदेश प्रत्यययोः) आदेशरूप या प्रत्यय के अवयव (अपदान्तस्य) अपदान्त (सः) स के स्थान पर (मूर्धन्यः) मूर्धास्थानीय वर्ण आदेश होता है ।

यहां इण्प्रत्याहार (११) सूत्र पर लिखी व्यवस्थानुसार पर अर्थात् 'लण्' के णकार तक ग्रहण किया जाता है । मूर्ध्नि भवः=मूर्धन्यः जो वर्ण मूर्धा स्थान से निष्पन्न हो उसे मूर्धन्य कहते हैं । मूर्धन्य वर्ण आठ हैं—ऋ ॠ, ट ठ ड ढ ण र , ष । यहां स्थानी सकार के साथ इन में से किसी का स्थान तुल्य हो यह असम्भव है । अब शेष रहा यत्न । सकार का 'ईषद्विवृत' आभ्यन्तर यत्न तथा 'विवार, श्वास अघोष' बाह्ययत्न है । मूर्धन्य वर्णों में इस प्रकार के यत्न वाला 'ष' के अतिरिक्त अन्य कोई वर्ण नहीं अतः सकार के स्थान पर षकार ही मूर्धन्य आदेश होगा ।*

'रामे+सु' यहां मकारोत्तर एकार इण् है । इस से परे 'सु' प्रत्यय के अवयव अपदान्त सकार को इस सूत्र से मूर्धन्य षकार हो कर—'रामेषु' प्रयोग सिद्ध होता है ।

आदेशरूप सकार के उदाहरण— सुष्वाप प्रभृति हैं । इण् कवर्ग से परे षत्वविधान करने से—'रामस्य पुरुषस्य इत्यादियों में सकार को षकार नहीं होता । एवम् 'अपदान्त' कहने से—'कविस्तिष्ठति हरिस्तत्र इत्यादियों में पदान्त सकार को षकार नहीं होता।

---

*यद्यपि 'मूर्धन्य' के स्थान पर 'ष' लिखने में ही लाघव था तथापि 'इणः षीध्वम्— (५१४) आदि सूत्रों में 'ष' की अनुवृत्ति जाने से अनिष्टापत्ति हो जाती क्योंकि एधाञ्चकृढ्वे' में मूर्धन्य ढ अभीष्ट है ष नहीं—अतः 'मूर्धन्य' लिखा गया है ।

रामशब्द की सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	रामः	रामौ	रामाः
द्वितीया	रामम्	,,	रामान्
तृतीया	रामेण	रामाभ्याम्	रामैः
चतुर्थी	रामाय	,,	रामेभ्यः
पञ्चमी	रामात्, रामाद्	,,	,,
षष्ठी	रामस्य	रामयोः	रामाणाम्
सप्तमी	रामे	,,	रामेषु
सम्बोधन	हे राम !	हे रामौ !	हे रामाः !

यद्यपि ग्रन्थकार ने सम्बोधनविभक्ति को प्रथमाविभक्ति के अनन्तर रखा है, तथापि आजकल यह सब विभक्तियों के अन्त में प्रचलित है। यहां हम ने लौकिकक्रम का अनुसरण किया है।

इस प्रकार सब अकारान्त पुंलिङ्गों के उच्चारण होते हैं। जिन में कुछ विशेषता है उन का कथन आगे मूल में स्वयं ग्रन्थकार करेंगे। हम यहां रामवत् कुछ उपयोगी शब्दों का अर्थ सहित सङ्ग्रह दे रहे हैं। जिन शब्दों के आगे '*' इस प्रकार का चिह्न है उन में यह विधि जान लेनी चाहिये।

अथ पशुपक्षिकीटादयः।

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
१ अश्व	घोड़ा	१० कुक्कुर*	कुत्ता	२० खर*	गधा
उलूक	उल्लू	कुञ्जर*	हाथी	गज	हाथी
उष्ट्र*	ऊँट	कुरङ्ग*	हरिण	गण्डक	गैण्डा
कपोत	कबूतर	कूर्म*	कछुआ	गर्दभ	गधा
५ काक	कौआ	कृकलास	गिरगिट	गृध्र*	गीध
कीट	कीड़ा	१५ कोक	चकवा	२५ घोटक	घोड़ा
कीर*	तोता	कोल	सूअर	चकोर*	चकोर
कीश	बानर	कौशिक	उल्लू	चरणायुध	मुर्गा
कुक्कुट	मुर्गा	खग	पक्षी	चाष*	नीलकण्ठ
		खद्योत	जुगनू	चिल्ल	चील

शब्द	अर्थ
३० छाग	बकरा
ज्योतिरिङ्गण	जुगनू
ताम्रचूड	मुर्गा
तुरङ्ग*	घोड़ा
दिवान्ध	उल्लू
३५ द्विरद	हाथी
ध्वाङ्क्ष*	कौआ
नकुल	नेवला
नक्र*	नाका
पारावत	कबूतर
४० पिक	कोयल
बर्हिण	मोर
भालुक	रीछ
भृङ्ग*	भ्रमर
भेक	मेंढक
४५ भ्रमर*	भौंरा
मकर*	मगरमच्छ
मण्डूक	मेंढक
मत्कुण	खटमल
मत्स्य	मच्छ
५० मधुप	भौंरा
मयूर*	मोर
मर्कट	बन्दर
मशक	मच्छर
महिष*	भैंसा
५५ मार्जार*	बिल्ला
मूषिक*	चूहा
मृग*	हरिण
मृगादन	चीता
मेष*	मेढ़ा
६० बक	बगुला
वराह*	सूअर
वर्त्तक	बटेर
वायस	कौआ
वानर*	बन्दर
६५ वृक*	भेड़िया
वृश्चिक	बिच्छू
वृषभ*	बैल
शलभ	पतङ्गा
शशक	खरगोश
७० शाखामृग*	बन्दर
शुक	तोता
शृगाल	गीदड़
श्येन	बाज
षट्पद	भ्रमर
७५ सर्प*	सांप
सारमेय*	कुत्ता
सारङ्ग*	पपीहा
हरिण	मृग

अथ सम्बन्धवाचकाः ।

शब्द	अर्थ
अग्रज	बड़ा भाई
८० आवुत्त	बहनोई
जनक	पिता
तनय	पुत्र
देवर*	देवर
दौहित्र*	दोहता
८५ धव	पति
पितामह	दादा
पितृव्य*	चाचा
पितृ	
ष्वस्रेय*	बुआ का पुत्र
पौत्र*	पोता
९० प्रपितामह	परदादा
प्रपौत्र*	परपोता
भगिनी	
पुत्र*	भाजा
भागिनेय	भांजा
भ्रातृव्य*	भतीजा, शत्रु
९५ भ्रात्रीय*	भतीजा
मातामह	नाना
मातुल	मामा
मातुलेय	मामा का पुत्र
मातृ	
ष्वस्रेय*	मौसी का पुत्र
१०० वैमात्रेय*	सौतेला भाई
श्याल	साला
श्वशुर*	ससुर
सोदर*	सगा भाई
स्वस्रीय*	भांजा

अथ खाद्यान्नादिवाचकाः ।

शब्द	अर्थ
१०५ अपूप	पूआ
अक्षोटक	अखरोट
आम्र*	आम
कुलत्थ	कुलथी
केशर*	केसर
११० कोविदार*	कचनार
खर्जूर*	खजूर

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
गुड	गुड	अर्चक	पुजारी	दुर्विनीत	अनम्र
गृञ्जन	गाजर	अश्वारोह*	घुडसवार	देव	देवता
गोधूम	गन्दुम	आलोचक	आलोचना	धनिक	धनी
११५चणक	चना		करने वाला	१७०नट	नटवा
चम्पक	चम्पा	आसिक	तलवारदार	नर्मद	मसखरा
तिल	तिल		योद्धा	नापित	नाई
दशाङ्गुल	खरबूजा	१४५ऐकागा		नाविक	मल्लाह
दाडिम	अनार	रिक*	चोर	निशाचर*	राक्षस
१२ नारिकेल	नारियल	कर्णेजप	चुगलखोर	१७५निरङ्कुश	बेहाश
निम्ब	नीम	काण	काना	निःस्व	निर्धन
पटोल	परवल	कृतघ्न	नाशुक्रगुजार	नृप*	राजा
परुषक*	फालसा	कृतज्ञ	शुक्रगुजार	नैयायिक	न्याय
पर्पट	पापड़	१५०कृपण	कञ्जूस		शास्त्रवेत्ता
१२५पुष्पराज	गुलाब	केशव	श्रीकृष्ण	न्यायाधीश	जज
बिभीतक	बहेड़ा	कोविद	पण्डित	१८०पथिक	मुसाफिर
माष*	माष	क्षत्रिय*	क्षत्री	परिचारक*	सेवक
मुद्ग	मूंग	खल	दुष्ट	पाचक	रसोइया
लवङ्ग	लौंग	१५५गधन	लोभी	पुरन्दर*	इन्द्र
१३०वटक	पकौड़ा	गुप्तचर*	सी आई डी	बधिर*	बहरा
वाताद	बादाम	घस्मर*	पेटू	१८५बालचर*	स्काउट
वेशवार*	मसाला	चिकित्सक	वैद्य	भारक*	कुली
शाक	तरकारी	चिरक्रिय*	सुस्त	मन्मथ	कामदेव
सर्षप*	सरसों	१६०जागरूक*	सावधान	मल्ल	पहलवान
१३५संयाव	हलुआ	जाल्म	असमीक्ष्य	मायिक	मायावी
अथ मनुष्यवर्गस्थ-शब्दाः ।			कारी	१९०मितम्पच	कञ्जूस
अकिञ्चन	निर्धन	जिह्म	कुटिल	मीमांसक	मीमांसा
अज्ञ	मूर्ख	तस्कर*	चोर		शास्त्रवेत्ता
अध्यापक	पढ़ाने वाला	तूष्णीक	चुप	याचक	मांगने वाला
अध्वनीन	मुसाफिर	१६५दर्शक	देखने वाला	याष्टीक	लाठीधारी
१४०अन्ध	अन्धा	दानव	दैत्य		योद्धा

शब्द	अर्थ
राथक	रथी
१९९वक्र*	टेढ़ा
वचनेस्थित	आज्ञाकारी
विप्र *	ब्राह्मण
वैयाकरण	व्याकरण वेत्ता
वैश्य	वैश्य
२००वैहासिक	मसखरा
शाक्तीक	शक्तिधारी योद्धा
शूद्र*	शूद्र
सतीर्थ्य	सहपाठी
सहृदय	काव्यमर्म वेत्ता
२०५स्तावक	स्तुति करने वाला
स्वच्छन्द	स्वतन्त्र

अथ व्यावसायिक-शब्दाः ।

शब्द	अर्थ
अधमर्ण	कर्ज़ा लेने वाला
अयस्कार*	लोहार
आपणिक	दुकानदार
२१०उत्तमर्ण	कर्ज़ा देने वाला
कान्दविक	हलवाई
कुम्भकार*	कुम्हार
कुविन्द	जुलाहा
घटिकाकार*	घड़ीसाज़
२१५चर्मकार*	चमार
चित्रकार*	फ़ोटोग्राफ़र
तन्तुवाय	जुलाहा
ताम्बूलिक	पान बेचने वाला
निर्णेजक	धोबी
२२०पटकार*	जुलाहा
पश्यतोहर*	सुनार
मालाकार *	माली
रजक	रङ्गरेज़
रथकार*	बढ़ई
२२५सुवर्णकार*	सुनार
सूचीकार*	दरज़ी

अथ विविध-शब्दाः ।

शब्द	अर्थ
अनुग्रह*	कृपा
अपराध	कसूर
अब्द	वर्ष
२३०अभ्युदय	उन्नति
अरघट्ट	रेंहट
अर्क*	सूर्य
अर्घ*	मूल्य
अर्णव	समुद्र
२३५अशिक्षित	अनपढ़
असुर*	दैत्य
आकर*	खान
आखण्डल	इन्द्र
आतप	धूप
२४०आपण	बाज़ार
आभीर*	अहीर
आय	आमदनी
आलय	घर
आविष्कार*	ईजाद
२४५आश्विन	असौज
आषाढ	आषाढ़
आसार*	ज़ोर की वर्षा
उदन्त	खबर
उद्भव	उत्पत्ति
२५०उपद्रव*	उपद्रव
उपयोग	इस्तमाल
उपाय	तरीका
एकक	अकेला
ऐरावत	इन्द्रकाहाथी
२५५कन्दर*	गुफ़ा
कपर्द	शिव जटा
कलङ्क	दोष
कवल	ग्रास
कागद	कागज़
२६०कारावास	जेलखाना
कार्त्तिक	कार्तिक
कुप्रबन्ध	दुर्व्यवस्था
कुबेर*	कुबेर
कूट	पहाड़ की चोटी
२६५कूप	कूँआ
कोलाहल	शोरगुल
कोष*	खज़ाना
क्रम*	सिलसिला
क्षय*	नाश

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
२७०खेद	दुःख	फाल्गुन	फागुन	वेशन्त	छोटातालाब
गर्व*	अभिमान	००बहिष्कार*	बायकाट	वैशाख	वैशाख मास
चन्द्र*	चान्द	भाद्रपद	भादों	वैश्वानर*	अग्नि
चैत्र*	चैत मास	भूधर*	पर्वत	व्यय	खर्च
जय	जीत	मयूख	किरण	३३०व्याज	बहाना
२७५ज्येष्ठ	जेठ मास	मध्याह्न	दोपहर	व्यायाम	कसरत
ज्यैष्ठ	,, ,,	३०५महाविद्या		शक्र*	इन्द्र
तडाग	तालाब	लय	कालेज	शिशिर*	शिशिर ऋतु
तानपूर*	तम्बूरा	माघ	माघमास	शैल	पर्वत
तार्क्ष्य*	गरुड़	मारुत	वायु	३३५श्रावण	श्रावण मास
२८०त्रास	भय	मार्गशीर्ष*	अगहन	सङ्केत	इशारा
त्रिदिव	स्वर्ग	मित्र*	सूर्य	सत्कार*	सम्मान
दाव	बनकीआग	३१०मुकुर*	दर्पण	सदंशक	चिमटा
नाक	स्वर्ग	मृदङ्ग	तबला	सन्देह	शक
नाद	शब्द	याम	पहर	३४०सन्दोह	समूह
२८५नाश	नाश	रय*	वेग	समीर*	वायु
निकष*	कसौटी	रुग्ण	बीमार	संवत्सर*	वर्ष
निर्झर*	झरना	३१५रुद्र*	शिव	स्कन्द	कार्त्तिकेय
न्याय	इन्साफ़	वध	घात	स्वभाव	आदत
पङ्क	कीचड़	वसन्त	बसन्त ऋतु	३४५हठ	ज़िद्द
२९०पाखण्ड	ढकोसला	विद्यालय	स्कूल	हायन	वर्ष
पारिजात	स्वर्ग का वृक्ष	विनायक	गणेश	हृषीकेश	श्रीकृष्ण
पावक	अग्नि	३२०विमर्श	विचार	हेमन्त	हेमन्त ऋतु
पाषाण	पत्थर	विलम्ब	देर	हेरम्ब*	गणेश
पौष*	पौषमास	विलाप	रोना	३५०ह्रद †	गहरातालाब
२९५प्रणय	प्रेम	विवाह	शादी		
प्रत्यूष*	प्रातःकाल	विस्रम्भ*	विश्वास		
प्रदोष*	सायङ्काल	३२५विश्वविद्यालय	यूनिवर्सिटी		
प्रहर*	पहर				

† इस सङ्ग्रह में रुग्ण कृतज्ञ, कृतघ्न, अन्ध आदि कई शब्द त्रिलिङ्गी भी हैं। उन का लिङ्ग विशेष्य के अनुसार होता है। विशेष्य के पुंल्लिङ्ग होने पर ही उन का रामशब्दवत् उच्चारण समझना चाहिये। एवम् आगे भी व्यवस्था समझ लेनी चाहिये।

इत्सञ्ज्ञकों के विषय में विशेष स्मरणीय सूचना

"सुडस्योरुकारेकारौ जशटङपाश्चेत." (सि० कौ०)

अथवा— "जकारश्च शकारश्च टकारश्च ङपावपि ।
सुङस्योरुदितौ चैव सुपि सप्त स्मृता इतः ॥"

अर्थ—सुँ और ङसिँ के अन्त्य उकार इकार तथा अन्यत्र सुपों में स्थित जकार शकार टकार ङकार और पकार इत्सञ्ज्ञक होते हैं । इत्सञ्ज्ञकों के प्रयोजन निम्नलिखित हैं—

(१) सुँ—में उकार अनुबन्ध का यह प्रयोजन है कि 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' (२६२) सूत्र में 'असो' कथन से 'सुँ' का निषेध हो जाय। यदि उकार अनुबन्ध न करते तो हमें 'असि' कहना पड़ता । तब 'सादि प्रत्यय में निषेध हो' ऐसा अर्थ हो जाने से 'सुप्' में भी निषेध हो जाता जो अनिष्ट था ।

(२) जस्, शस्—में जकार और शकार परस्पर के भेद के लिये है। अत एव—'दीर्घाज्जसि च' (१६२), 'तस्माच्छसो नः पुंसि' (१३७) आदि सूत्र उपपन्न हो जाते हैं ।

(३) औट्—में टकार 'सुट्' प्रत्याहार के लिये है। सुट् प्रत्याहार का उपयोग 'सुडनपुंसकस्य' (१६३) सूत्र में होता है ।

(४) टा—में टकार 'द्वितीयाटौस्स्वेनः' (२८०) सूत्र में ग्रहण के लिये है। अन्यथा—'द्वितीयौस्स्वेन' सूत्र होने पर 'आ' का कहीं पता भी न चलता ।

(५) ङे, ङसिँ, ङस्, ङि—इन में ङकार 'तीयस्य ङित्सु वा' (वा०—१६) तथा 'घेर्ङिति' (१७२) प्रभृति ङित्कार्यों के लिये है। 'ङसिँ' में इकार 'ङस्' से भेद करने के लिये है। भेद का प्रयोजन—'टाङसिङसाम्—' (१४०) में भिन्न २ आदेश करना है ।

(६) सुप्—में पकार 'सुप्' प्रत्याहार के लिये किया गया है ।

इस के अतिरिक्त—"जस् शस् भ्यस्, ङस् ओस, अम्, भ्याम्, आम्" प्रत्ययों के अन्त्य सकार मकार की 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञा नहीं होती, 'न विभक्तौ तुस्माः' (१३१) से निषेध हो जाता है—

"सकारो जश्शसोरोसि ङसि भ्यसि न चेद् भवेत् ।
मकारश्च तथा ज्ञेय आमि भ्यामि स्थितस्त्वमि ॥"

अभ्यास (२५)

(१) व्युत्पत्ति और अव्युत्पत्ति पक्षों का सोदाहरण विवेचन करते हुए यह लिखें कि किस सूत्र से किस पक्ष में प्रातिपदिक सञ्ज्ञा होती है ?

(२) प्रातिपदिकसञ्ज्ञाविधायक सूत्रों की व्याख्या करते हुए 'समास' ग्रहण पर प्रकाश डालें।

(३) निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दें—

(क) 'ङेय' यहां 'ङे' में कौन सी विभक्ति है ?।

(ख) 'रामान्' यहां णकारादेश क्यों नहीं होता ?।

(ग) 'जस्' के सकार की इत्सञ्ज्ञा क्यों नहीं होती ?।

(घ) 'शस' के सकार को कौन नकारादेश करता है ?।

(ङ) सुपों में किस २ की किस २ सूत्र से इत्सञ्ज्ञा होती है ?।

(४) निम्नलिखित रूपों में कहां २ णत्वविधि शुद्ध और कहां २ अशुद्ध है ? सहेतुक लिखें—

१ मृगेन। २ हरिणाणाम्। ३ गर्वेन। ४ इष्टानाम्। ५ सदशकेण। ६ अशिक्षितेण। ७ नृणाम्। ८ पाषाणाणाम्। ९ रामणाम। १० कारावासेन। ११ द्राघिमानम्। १२ षट्पदाणाम्। १३ मूर्छया। १४ वृषभेन। १५ केशवेण। १६ विमर्शणीयम्। १७ चौरानाम्। १८ वैदुष्येन। १९ परकीयेन। २० त्रयेम। २१ समर्थानि। २२ वर्त्तकेण। २३ दर्शकेण। २४ शासकेण। २५ प्राज्ञाणाम्। २६ शिक्षकेन। २७ सरटेण। २८ रूप्यकेन।

(५) इन में णत्वविधि का निमित्त बताओ—

१ उष्ट्रेण। २ तात्पर्याणाम्। ३ धृतराष्ट्रेण। ४ प्रहारेण। ५ पितृष्वसर्येण।

(६) णत्वविधि में क्या सब का व्यवधान आवश्यक होता है या एक २ का ? सयुक्तिक स्पष्ट करें।

(७) क्या 'वाऽवसाने' सूत्र 'झलां जशोऽन्ते' सूत्र का अपवाद है ?।

(८) "यज्ञदत्तस्तस्कर, देवस्य" इत्यादि में षत्व क्यों न हो ?।

(९) निम्नलिखित रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—

१ राम। २ राम। ३ रामयो। ४ रामै। ५ रामस्य। ६ रामाय। ७ रामेषु। ८ रामाणाम्। ९ रामम्। १० रामा।

(१०) क्या दोष होगा यदि—

चहुवचने कल्पेत् में 'बहुवचने' न हो स्थानिवत्सूत्र में 'अनल्विधौ' न हो, अर्थवत्सूत्र में 'अप्रत्यय' न हो एङ्ह्रस्वात्—में 'अङ्ग' का अध्याहार न हो।

(११) 'अट्कु—,सरूपाणाम्—,प्रथमयो—,यस्मात्—,आदेश—" इन सूत्रों की विस्तृत व्याख्या करें।

—॥ ० ॥—

जिन अकारान्त शब्दों में 'राम' शब्द की अपेक्षा कुछ अन्तर होता है अब उन का वर्णन करते हैं। उन में सर्वादिगण के शब्द मुख्य हैं अतः प्रथम सर्वादिगण दर्शाते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१५१ सर्वादीनि सर्वनामानि।१।१।२६॥

सर्वादीनि शब्दस्वरूपाणि सर्वनामसञ्ज्ञानि स्युः। सर्व। विश्व। उभ। उभय। डतर। डतम। अन्य। अन्यतर। इतर। त्वत्। त्व। नेम। सम। सिम। पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायाम सञ्ज्ञायाम्। स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्। अन्तर बहिर्योगोपसंव्यानयोः। त्यद्। तद्। यद्। एतद्। इदम्। अदस्। एक। द्वि। युष्मद्। अस्मद्। भवतु। किम्। [इति पञ्चत्रिंशत् सर्वादयः।]

अर्थः—सर्व आदि शब्दस्वरूप सर्वनामसञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—सर्वादीनि।१।३। [नपुंसकलिङ्ग के कारण 'शब्दस्वरूपाणि' विशेष्य का अध्याहार किया जाता है।] सर्वनामानि।१।३। समास—सर्वः (सर्वशब्द) आदिः (आद्यवयव) येषां (शब्दस्वरूपाणाम्) तानि सर्वादीनि। तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमास। अद् सर्वेषाम् (४४७), हलि सर्वेषाम्' (१०६) प्रभृति सूत्रों में सर्वशब्द से भी सर्वनाम कार्य (सुट्) देखा जाता है अतः सर्वशब्द की भी सर्वनामसञ्ज्ञा करने के लिये यहां 'तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि' समास मानना ही युक्त है।

सर्वादिगण में पैंतीस (३५) शब्द आते हैं, जो ऊपर मूल में लिखे हुए हैं। इन का श्लोकों में सङ्ग्रह यथा—

सर्वान्यविश्वोभयनेमयत्तद्, किंयुष्मदस्मद्द्विभवत्त्यदेतद्।
उभत्वतौ विज्ञजनैरुदीरितौ, सम सिमत्वान्यतरेतरा अपि॥ १॥

एकेदमदसो ज्ञेया डतरो डतमस्तथा।
स्वमज्ञातिधनेऽनाम्नि कालदिग्देशवृत्तयः॥ २॥

पूर्वापरावरपरा उत्तरो दक्षिणाधरौ।
अन्तरं चोपसंव्याने बहिर्योगे तथाऽपुरि॥ ३॥

इन सब का विवेचन आगे यथास्थान किया जायगा ।

सर्वनाम सञ्ज्ञा अन्वर्थ अर्थात् अर्थानुसार है । इस गण में पढ़े हुए शब्द यदि 'सभी' के वाचक होंगे तो तभी इन की सर्वनामसञ्ज्ञा होगी, अन्यथा नहीं । अत एव यदि किसी व्यक्तिविशेष का नाम 'सर्व' होगा तो वहां सर्वनामसञ्ज्ञा न होगी । इसी प्रकार 'सर्वम् अतिक्रान्त=अतिसर्व , तस्मै=अतिसर्वाय' इत्यादि स्थानों पर गौण होने पर भी सर्वनामता न होगी । 'सर्वनाम' यह महासञ्ज्ञा करना इस में प्रमाण है अन्यथा घु टि भ के समान कोई छोटी सञ्ज्ञा भी कर सकते थे । इस विषय का विस्तार 'सिद्धान्तकौमुदी' में देखना चाहिये ।

सर्वादिगण के अजन्त शब्दों का प्राय 'जस् ङे ङसि, आम् और ङि' इन पाञ्च विभक्तियों में रामशब्द की अपेक्षा अन्तर होता है । शेष विभक्तियों में रामवत् रूप बनते हैं । अत इन पाञ्च विभक्तियों में ही रूप सिद्ध किये जाएंगे ।

सर्वशब्द का अर्थ 'सब' अर्थात् समूचा समुदाय है । समुदाय दो प्रकार का होता है— १ उद्भूतावयव २ अनुद्भूतावयव । जहां वक्ता की केवल समुदाय कहने की इच्छा होती है वहां अनुद्भूतावयवसमुदाय होता है । जहां वक्ता का अभिप्राय समुदाय कहने के साथ २ तदन्तर्गत व्यक्तियों से भी हुआ करता है वहां उद्भूतावयव समुदाय होता है । अत अनुद्भूतावयवसमुदाय की विवक्षा में एकवचन और उद्भूतावयवसमुदाय की विवक्षा में द्विवचन और बहुवचन होगा ।

सर्वशब्द के प्रथमा के एकवचन और द्विवचन में रामशब्दवत् 'सर्वः सर्वौ' प्रयोग बनते हैं ।

प्रथमा के बहुवचन में 'जस्' प्रत्यय आ कर 'सर्व+जस्' हुआ । अब 'सर्वादीनि सर्वनामानि' (१५१) सूत्र से सर्वशब्द की सर्वनामसञ्ज्ञा हो कर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१५२ जसः शी ।७।१।१७॥

अदन्तात् सर्वनाम्नो जसः शी स्यात् । अनेकाल्त्वात् सर्वादेशः—सर्वे ।

अर्थः—अदन्त सर्वनाम से परे जस् के स्थान पर शी आदेश हो ।

व्याख्या—अतः ।५।१। ['अतो भिस ऐस्' से] सर्वनाम्नः ।५।१। ['सर्वनाम्नः स्मै' से] जसः ।६।१। शी ।१।१। 'सर्वनाम्नः' का विशेषण होने से 'अतः' से तदन्तविधि होती है । अर्थ—(अतः) अदन्त (सर्वनाम्नः) सर्वनाम से परे (जसः) जस् के स्थान पर (शी) शी आदेश होता है ।

'प्रत्ययः' (१२०) के अधिकार में न पढ़े जाने से शी की प्रत्ययसञ्ज्ञा नहीं होती, परं तु हां ! जब वह जस् के स्थान पर हो जाता है तब स्थानिवद्भाव से उस की प्रत्यय-

सञ्ज्ञा हो जाती है। तात्पर्य यह है कि जब तक जस के स्थान पर शी आदेश नहीं होगा तब तक वह प्रत्ययसञ्ज्ञक भी न होगा। प्रत्ययसञ्ज्ञा न होने से 'लशक्वतद्धिते' (१३६) द्वारा उस के शकार की इत् सञ्ज्ञा नहीं होगी, क्योंकि उस सूत्र से प्रत्यय के आदि शकार की इत् सञ्ज्ञा की जाती है। अत शिद्भाव के कारण शी सर्वादेश नहीं होता, किन्तु अनेकाल (श्+ई) होने से 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' (४५) द्वारा सर्वादेश हो जाता है।

"आदेशकरणात्पूर्वं यत शीति न प्रत्यय ।
तस्मात्तस्य शकारस्तु लशक्वेति न हीद्भवेत ॥ १ ॥
सर्वादेशो न शिद्भावात् ततो भवितुमर्हति ।
अनेकाल्त्वाद् भवेदेव विज्ञैरेतदुदीरितम ॥ २ ॥"

'सर्व+जस्' यहां प्रकृतसूत्र से जस् के स्थान पर शी आदेश हो स्थानिवद्भाव के कारण शी में प्रत्ययत्व आने से लशक्वतद्धिते' (१३६) द्वारा शकार की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है, तब शकार का लोप करने पर गुण एकादेश हो कर 'सर्वे' प्रयोग सिद्ध होता है।

ध्यान रहे कि यहां यद्यपि ह्रस्व 'शि' आदेश करने पर भी 'आद् गुण (२७) द्वारा गुण एकादेश करने से 'सर्वे' प्रयोग सिद्ध हो सकता है, तथापि अग्रिम नपुंसकाच्च' (२३५) आदि सूत्रों में अनुवृत्ति के लिये उसे दीर्घ किया गया है। अन्यथा— वारिणी मधुनी आदि दीर्घघटित प्रयोग न बन सकते (देखो २४५ सूत्र)।

द्वितीया और तृतीया विभक्ति में रामशब्दवत् रूप बनते हैं। द्वितीया—सर्वम् सर्वौ, सर्वान्। तृतीया—सर्वेण सर्वाभ्याम् सर्वैः।

चतुर्थी के एकवचन में 'सर्व + ङे'। इस अवस्था में सर्वनामसञ्ज्ञा हो कर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१५३ सर्वनाम्न स्मै ।७।१।१४॥

अत' सर्वनाम्नो 'ङे' इत्यस्य स्मै' स्यात्। सर्वस्मै।

अर्थ —अदन्त सर्वनाम से परे 'ङे' के स्थान पर 'स्मै' आदेश हो।

व्याख्या—अत ।५।१।['अतो भिस ऐस्' से] सर्वनाम्न ।५।१। ङ ।६।१। ['ङेर्य' से] स्मै ।१।१। [विभक्तिलोप आर्ष] 'अत' यह 'सर्वनाम्न' का विशेषण है, इस लिये इस से तदन्तविधि हो जाती है। अर्थ —(अत) अदन्त (सर्वनाम्न) सर्वनाम से परे (ङे) के के स्थान पर (स्मै) स्मै आदेश होता है। यह सूत्र 'ङेर्य' (१४३) सूत्र का अपवाद है।

'सर्व+ङे' यहां अदन्त सर्वनाम 'सर्व' है। इस से परे 'ङे' वर्तमान है। अत प्रकृत सूत्र से ङे के स्थान पर स्मै आदेश हो कर 'सर्वस्मै' प्रयोग सिद्ध हुआ।

चतुर्थी के द्विवचन और बहुवचन में क्रमशः 'सर्वाभ्याम्, सर्वेभ्यः' सिद्ध होते हैं।

पञ्चमी के एकवचन में 'ङसि' प्रत्यय आकर 'सर्व+ङसि' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१५४ ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ।७।१।१५॥

अतः सर्वनाम्नो ङसिङ्योरेतौ स्तः। सर्वस्मात्।

अर्थः—अदन्त सर्वनाम से पर ङसि और ङि के स्थान पर क्रमशः स्मात् और स्मिन् आदेश होते हैं।

व्याख्या—अतः ।५।१। ['अतो भिस ऐस्' से] सर्वनाम्नः ।५।१। ['सर्वनाम्नः स्मै' से] ङसिङ्योः ।६।२। स्मात्स्मिनौ ।१।२। 'सर्वनाम्नः' के विशेषण होने से 'अतः' से तदन्तविधि होगी। अर्थः—(अतः) अदन्त (सर्वनाम्नः) सर्वनाम से परे (ङसिङ्योः) ङसि और ङि के स्थान पर (स्मात्स्मिनौ) स्मात् और स्मिन् आदेश होते हैं। यथासङ्ख्यपरिभाषा से ङसि को स्मात् और ङि को स्मिन् होगा। ध्यान रहे कि स्मात् और स्मिन् के अन्त्य तकार और नकार की 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा इत् सञ्ज्ञा न होगी 'न विभक्तौ तुस्माः' (१३१) से निषेध हो जायगा।

'सर्व + ङसि' यहां अदन्त सर्वनाम 'सर्व' है इस से परे ङसि मौजूद है। अतः प्रकृतसूत्र से ङसि के स्थान पर स्मात् हो कर 'सर्वस्मात्' प्रयोग सिद्ध हुआ।

षष्ठी के एकवचन और द्विवचन में 'सर्वस्य, सर्वयोः' प्रयोग रामशब्द के समान सिद्ध होते हैं।

षष्ठी के बहुवचन में आम् प्रत्यय आ कर—'सर्व + आम्' हुआ। अब सर्वनाम सञ्ज्ञा हो कर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१५५ आमि सर्वनाम्नः सुट्।७।१।५२॥

अवर्णान्तात् परस्य सर्वनाम्नो विहितस्याऽऽमः सुडागमः। एत्त्वषत्वे—सर्वेषाम्। सर्वस्मिन्। शेषं रामवत्।

अर्थः—अवर्णान्त (अङ्ग) से परे तथा सर्वनाम से विहित आम् को सुट् का आगम हो जाता है।

व्याख्या—आत् ।५।१। ['आज्जसेरसुक्' से] अङ्गात् ।५।१। ['अङ्गस्य' यह अधिकृत है। इस का पञ्चमी में विपरिणाम हो जाता है।] सर्वनाम्नः ।५।१। आमि ।७।१। सुट् ।१।१। 'आत्' पद 'अङ्गात्' पद का विशेषण है अतः 'येन विधिस्तदन्तस्य' (१७१) द्वारा तदन्तविधि हो कर—'अवर्णान्ताद् अङ्गात्' बनेगा।

अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि सुट् किस का अवयव हो ? । यह तो ज्ञात है कि 'आद्यन्तौ टकितौ' (८५) द्वारा यह आद्यवयव होता है परन्तु किस का आद्यवयव हो ? यह यहां ज्ञातव्य है । 'अङ्गात्' में पञ्चमी का निर्देश किया गया है, अतः 'तस्मादित्युत्तरस्य' (७१) के अनुसार सुट् अङ्ग से परे आम् का अवयव होना चाहिये । आमि' में सप्तमी का निर्देश किया गया है अतः तस्मिन्निति—' (१६) के अनुसार सुट् आम् से पूर्व अङ्ग का अवयव होना चाहिये । तो अब सुट् किस का अवयव हो ? ऐसी शङ्का होने पर "उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्" (देखो पृष्ठ—१३८) के अनुसार पञ्चमी निर्देश के बलवान् होने से सुट्, अङ्ग से पर = आम् का ही अवयव ठहरता है । तो इस प्रकार आमि पद को 'आम' बना कर सम्बन्ध में षष्ठी स्वीकार करेंगे । यहां स्पष्ट 'आम' न कह कर 'आमि' कहने का प्रयोजन आगे त्रेस्त्रय' (१६२) आदि सूत्रों में उस का अनुवर्त्तन करना ही है । अर्थ —(आत्) अवर्णान्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (सर्वनाम्नः) तथा सर्वनाम से विहित (आमः) आम् का अवयव (सुट्) सुट् हो जाता है ।

प्रश्न —'आप ने अवर्णान्त सर्वनाम से पर आम् को सुट् का आगम हो ऐसा सरलार्थ न कर यह अपूर्व अर्थ क्यों किया है ? ।

उत्तर—यदि आप का अर्थ करते तो येषाम्, तेषाम् आदि प्रयोग सिद्ध न हो सकते । तथाहि—यद् और तद् सर्वनाम से आम् प्रत्यय कर के त्यदादीनामः' (१९३) से दकार को अकार और अतो गुणे (२७४) से पररूप करने पर त + आम् य + आम्' हुआ । अब यहां आप का अर्थ मानने से सुट् प्राप्त नहीं हो सकता । क्योंकि यहां अवर्णान्त सर्वनाम से परे आम् वर्त्तमान नहीं । जो अवर्णान्त है वह सर्वनाम नहीं और जो सर्वनाम है वह अवर्णान्त नहीं । सर्वनामसञ्ज्ञा यद् तद्' आदि दकारान्तों की ही की गई है । परन्तु—हमारे उपर्युक्त अर्थ से कोई दोष नहीं आता । यथा—यहां अवर्णान्त अङ्ग 'य, त' हैं, इन से परे यद्, तद् सर्वनाम से विहित आम् विद्यमान है, अतः इसे सुट् का आगम हो जायगा । यह अर्थ जसः शी (१५२) सर्वनाम्नः स्मै (१५३)' आदि सूत्रों में भी समझ लेना चाहिये, अन्यथा 'ये, यस्मै यस्मात्' आदि में शी आदि सर्वनामकार्य न हो सकेंगे ।

'सर्व+आम्' यहां अवर्णान्त अङ्ग है सर्व' । इस से परे, सर्वनाम (सर्व) से विहित 'आम्' विद्यमान है । अतः इसे सुट् का आगम हो—'सर्व + सुट् आम्' । सुट् में टकार इत् है और उकार उच्चारणार्थ है, अतः स अवशिष्ट रहता है—'सर्व + साम' । सुट् का आगम आम् को कहा गया है । जिसको आगम होता है वह उस का अवयव माना जाता है । उस के ग्रहण से उस का भी ग्रहण हो जाता है । जैसा कि कहा भी है—"यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते" । अतः 'साम् आम् से भिन्न नहीं । इस से 'साम्' का ग्रहण आदि

बहुवचन ठहरता है इस के परे होने से 'बहुवचने झल्येत्' (१४५) द्वारा अकार को एकार तथा 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से साम् प्रत्यय के अवयव सकार को मूर्धन्य षकार करने से 'सर्वेषाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

सप्तमी के एकवचन में 'सर्व+ङि' हुआ। यहां 'ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ' (१५४) से ङि' को स्मिन् हो कर 'सर्वस्मिन्' प्रयोग सिद्ध हुआ। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्रथमा	सर्व	सर्वौ	सर्वे	पञ्चमी	सर्वस्मात्	सर्वाभ्याम्	सर्वेभ्य
द्वितीया	सर्वम्	"	सर्वान्	षष्ठी	सर्वस्य	सर्वयो	सर्वेषाम्
तृतीया	सर्वेण	सर्वाभ्याम्	सर्वैः	सप्तमी	सर्वस्मिन्	"	सर्वेषु
चतुर्थी	सर्वस्मै		सर्वेभ्य	सम्बोधन	हे सर्व !	हे सर्वौ !	हे सर्वे !

[लघु०] एवं विश्वादयोऽप्यदन्ताः।

व्याख्या—अब अन्य अदन्त पुंल्लिङ्ग सर्वनामों के विषय में कहते हैं कि—विश्व आदि अदन्त (सर्वनाम) भी इसी तरह होते हैं। विश्व शब्द का अर्थ 'सम्पूर्ण' है। सर्वादिगण में पाठ होने से 'सर्वादीनि सर्वनामानि' (१५१) द्वारा सर्वनामसञ्ज्ञा हो कर शी, स्मै आदि सर्वनामकार्य हो जाएंगे। शेष रामवत् प्रक्रिया होगी। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्रथमा	विश्व	विश्वौ	विश्वे	पञ्चमी	विश्वस्मात्	विश्वाभ्याम्	विश्वेभ्य
द्वितीया	विश्वम्	"	विश्वान्	षष्ठी	विश्वस्य	विश्वयो	विश्वेषाम्
तृतीया	विश्वेन	विश्वाभ्याम्	विश्वैः	सप्तमी	विश्वस्मिन्	"	विश्वेषु
चतुर्थी	विश्वस्मै	"	विश्वेभ्य	सम्बोधन	हे विश्व !	हे विश्वौ !	हे विश्वे !

[लघु०] उभशब्दो नित्यं द्विवचनान्तः। उभौ २। उभाभ्याम् ३। उभयोः २। तस्येह पाठोऽकजर्थः।

व्याख्या—सर्वादिगण में विश्व शब्द के बाद 'उभ' शब्द आता है। इस का अर्थ है 'दोनों' (Both)। अतः यह सदा द्विवचनान्त ही प्रयुक्त होता है। एकवचन और बहुवचन प्रत्ययों में असम्भव होने से इस का प्रयोग नहीं होता। इस की प्रक्रिया रामशब्दवत् समझनी चाहिये। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	०	उभौ	०	पञ्चमी	०	उभाभ्याम्	०
द्वितीया	०	"	०	षष्ठी	०	उभयो	०
तृतीया	०	उभाभ्याम्	०	सप्तमी	०	"	०
चतुर्थी	०	"	०	सम्बोधन	०	हे उभौ !	०

अब यहा यह शङ्का उत्पन्न होती है कि उभशब्द मे सर्वनामसञ्ज्ञा का कोई कार्य नहीं किया गया, क्योंकि सर्वनामसञ्ज्ञा के सब कार्य या तो बहुवचन में होते हैं या एक वचन में। यथा "जस शी (१५२), आमि सर्वनाम्न सुट (१५५)" ये बहुवचन मे होते हैं "सर्वनाम्न स्मै (१५३), ङसिङयो स्मात्स्मिनौ (१५४)" ये एकवचन में होते हैं। द्विवचन में कोई कार्य नहीं देखा जाता। तो पुन किस लिये 'उभ' शब्द को सर्वादिगण म डाल कर उस की सवनामसञ्ज्ञा करने का प्रयत्न किया गया है ? । इस शङ्का को मन में रख कर ग्रन्थकार उत्तर देते हैं कि—

"तस्येह पाठोऽकजर्थः"

अर्थात् इस उभशब्द का सर्वादिगण म पाठ कर इस की सर्वनामसञ्ज्ञा करने का प्रयोजन 'अकच्' प्रत्यय विधान करना ही है। तात्पर्य यह है कि सवशब्द पर कहे गये 'जस शी' (१५२) आदि कार्य ही केवल सवनामकार्य नहीं, किन्तु सर्वनामकार्य तो और भी है। यदि उभशब्द पर शी आदि कोई कार्य नहीं होता तो भले ही न हो, इस की सवनामसञ्ज्ञा तो अन्य कार्य के लिये ही की गई है। तथाहि—'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टे' (१२२६) सर्वनामों की टि से पूर्व अकच् प्रत्यय हो। उभशब्द की सर्वनामसञ्ज्ञा होने से अकच् प्रत्यय हो कर—उभ अकच अ+औ = 'उभकौ' रूप हो जाता है। यदि इस की सर्वनामसञ्ज्ञा न होती तो अकच् न हो सकता। विशेष 'सिद्धान्त कौमुदी' में देखें।

[लघु०] उभयशब्दस्य द्विवचनं नास्ति। डतर—डतमौ प्रत्ययौ। 'प्रत्यय ग्रहणे तदन्तग्रहणम्' इति तदन्ता ग्राह्याः। नेम इत्यर्धे। समः सर्वपर्याय.। तुल्यपर्यायस्तु न। 'यथासङ्ख्यमनुदेश समानाम्' इति ज्ञापकात्।

अर्थ —'उभय' शब्द का द्विवचन नहीं होता। डतर और डतम प्रत्यय होते हैं। 'प्रत्यय के ग्रहण मे तदन्त का ग्रहण हो इस परिभाषा से तदन्त अर्थात् डतरान्त और डतमान्त शब्दों का ग्रहण करना चाहिये। नेम शब्द अर्ध (आधा) अर्थ मे सर्वादिगण में समझना चाहिये। सर्वपर्याय अर्थात् 'सब' अर्थ के वाचक समशब्द का सर्वादियों मे पाठ है तुल्यपर्याय—समान अर्थ के वाचक का नहीं। इस में ज्ञापक पाणिनि का 'यथासङ्ख्य मनुदेश समानाम्' (२३) सूत्र है।

व्याख्या—सर्वादिगण मे 'उभ' शब्द के बाद 'उभय' शब्द आता है। यह शब्द उभशब्द से 'अयच' प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है। वार्त्तिककार श्रीकात्यायन के अनुसार इस का द्विवचन-प्रत्ययों में प्रयोग नहीं किया जाता। इस का अर्थ है—दो अवयवो वाला।

यथा—उभयो मणिः [दो हिस्सों वाली मणि], उभये मणयः [दो हिस्सों वाली मणियाँ]। इस की रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	उभय	०	उभये	पञ्चमी	उभयस्मात्	०	उभयेभ्यः
द्वितीया	उभयम्	०	उभयान्	षष्ठी	उभयस्य	०	उभयेषाम्
तृतीया	उभयेन	०	उभयैः	सप्तमी	उभयस्मिन्	०	उभयेषु
चतुर्थी	उभयस्मै	०	उभयेभ्यः	सम्बोधन	हे उभय !	०	हे उभये !

सर्वादि गण में उभयशब्द के बाद 'डतर, डतम' का नम्बर आता है। ये दोनों प्रत्यय हैं। इनके विधायक तीन तद्धितसूत्र हैं। (१) किंयत्तदोर्निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच् (१२३२), (२) वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच् (१२३३), (३) एकाच्च प्राचाम् (५ ३ ९४)। किम्, यद्, तद् और एक इन चार सर्वनामों से डतर और डतम प्रत्यय हो कर आठ शब्द बनते हैं। (१) कतर, (२) कतम, (३) यतर, (४) यतम, (५) ततर, (६) ततम, (७) एकतर, (८) एकतम। सर्वादिगण में 'डतर, डतम' के पाठ से इन आठशब्दों का ही ग्रहण होता है। क्योंकि—"न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, न केवलः प्रत्ययः" अर्थात् न केवल प्रकृति का और न केवल प्रत्यय का ही प्रयोग करना चाहिये—इस सिद्धान्त के अनुसार केवल डतर डतम का कहीं प्रयोग नहीं हो सकता। किञ्च—"प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्" [प्रत्यय का ग्रहण होने पर तदन्त अर्थात् वह प्रत्यय जिस के अन्त में है उस के सहित उस प्रत्यय का ग्रहण करना चाहिये] इस नियम से डतरप्रत्ययान्त और डतमप्रत्ययान्त उपर्युक्त आठ शब्दों का ही ग्रहण प्रसक्त होगा। अतः इन आठ शब्दों की ही सर्वनामसञ्ज्ञा होगी, केवल डतर डतम प्रत्ययों की नहीं।

प्रश्न—पाणिनि-जी को यदि यह प्रत्ययग्रहण-परिभाषा अभीष्ट होती तो वे 'सुप्तिङन्तं पदम्' (१४) सूत्र के स्थान पर 'सुप्तिङ् पदम्' ऐसा छोटा सूत्र रचते, क्योंकि सुँप् और तिङ् के प्रत्यय होने से सुँबन्त और तिङन्त का सुतरां ग्रहण हो जाता ?।

उत्तर—'सुप्तिङन्तं पदम्' (१४) सूत्र में मुनि के 'अन्त' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि—"सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति" अर्थात् जहां प्रत्यय की सञ्ज्ञा की जा रही हो वहां प्रत्ययग्रहण-परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती।

प्रश्न—यदि ऐसा है तो यहां डतर और डतम प्रत्ययों की सर्वनामसञ्ज्ञा करने पर वह परिभाषा क्यों प्रवृत्त हो रही है ?। यहां भी उसे प्रवृत्त नहीं होना चाहिये ?।

उत्तर—यह बात सत्य है। परन्तु यहां केवल उन प्रत्ययों की सञ्ज्ञा करने का कुछ भी प्रयोजन न होने से उपर्युक्त परिभाषा की प्रवृत्ति हो जाती है। क्योंकि जब इस लोक में मन्द से मन्द बुद्धि वाला पुरुष भी प्रयोजन के बिना किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता तो क्या महाबुद्धिमान् जगद्गुरु भगवान् पाणिनि व्यर्थ के लिये इन की सर्वनामसञ्ज्ञा करेंगे? कदापि नहीं।

कतर आदि शब्दों का उच्चारण पुल्लिङ्ग में 'सर्व' शब्द की तरह होता है। कतर (दो में कौन) शब्द की रूपमाला यथा—

प्रथमा	कतर	कतरौ	कतरे
द्वितीया	कतरम्	”	कतरान्
तृतीया	कतरेण	कतराभ्याम्	कतरैः
चतुर्थी	कतरस्मै	”	कतरेभ्यः
पञ्चमी	कतरस्मात्	कतराभ्याम्	कतरेभ्यः
षष्ठी	कतरस्य	कतरयोः	कतरेषाम्
सप्तमी	कतरस्मिन्	”	कतरेषु
सम्बोधन	हे कतर!	हे कतरौ!	हे कतरे!

इसी प्रकार—कतम (बहुतों में कौन), यतर (दो में जो), यतम (बहुतों में जो), ततर (दो में वह) ततम (बहुतों में वह), एकतर (दो में एक), एकतम (बहुतों में एक), शब्द भी समझने चाहियें।

डतर, डतम के अनन्तर सर्वादिगण में 'अन्य' (दूसरा) शब्द आता है। इस का उच्चारण सर्वशब्दवत् होता है। यथा—

प्रथमा	अन्य	अन्यौ	अन्ये
द्वितीया	अन्यम्	”	अन्यान्
तृतीया	अन्येन	अन्याभ्याम्	अन्यैः
चतुर्थी	अन्यस्मै	”	अन्येभ्यः
पञ्चमी	अन्यस्मात्	अन्याभ्याम्	अन्येभ्यः
षष्ठी	अन्यस्य	अन्ययोः	अन्येषाम्
सप्तमी	अन्यस्मिन्	”	अन्येषु
सम्बो०	हे अन्य!	हे अन्यौ!	हे अन्ये!

अन्यशब्द के बाद 'अन्यतर' शब्द आता है। इस का अर्थ है—दोनों में से एक। इसे डतरप्रत्ययान्त नहीं समझना चाहिये। इसी प्रकार का एक 'अन्यतम' शब्द भी लोक में देखा जाता है। इस का अर्थ है—बहुतों में से एक। इसे भी डतमप्रत्ययान्त नहीं समझना चाहिये। ये दोनों शब्द अव्युत्पन्न हैं। इन में से प्रथम 'अन्यतर' शब्द का गण में पाठ है अतः इस की सर्वनामसञ्ज्ञा हो जाती है। दूसरे 'अन्यतम' शब्द का गण में पाठ नहीं अतः इस की सर्वनामसञ्ज्ञा न होगी रामशब्दवत् उच्चारण होगा। 'अन्यतर' शब्द का उच्चारण सर्वशब्दवत् होता है। यथा—

प्र०	अन्यतर	अन्यतरौ	अन्यतरे
द्वि०	अन्यतरम्	”	अन्यतरान्
तृ०	अन्यतरेण	अन्यतराभ्याम्	अन्यतरैः
च०	अन्यतरस्मै	”	अन्यतरेभ्यः
प०	अन्यतरस्मात्	अन्यतराभ्याम्	अन्यतरेभ्यः
ष०	अन्यतरस्य	अन्यतरयोः	अन्यतरेषाम्
स०	अन्यतरस्मिन्	”	अन्यतरेषु
सम्बो०	हे अन्यतर!	हे अन्यतरौ!	हे अन्यतरे!

अन्यतरशब्द के बाद 'इतर' शब्द आता है। इस का अर्थ 'भिन्न' है। इस का उच्चारण सर्वशब्दवत् होता है—

प्र०	इतर	इतरौ	इतरे	प०	इतरस्मात्	इतराभ्याम्	इतरेभ्य
द्वि०	इतरम्	”	इतरान्	ष०	इतरस्य	इतरयो	इतरेषाम्
तृ०	इतरेण	इतराभ्याम्	इतरै	स०	इतरस्मिन्	”	इतरेषु
च०	इतरस्मै	”	इतरेभ्य	सम्बो०	हे इतर !	हे इतरौ !	हे इतरे !

इतरशब्द के अनन्तर सर्वादिगण में अदन्त शब्द 'त्व' आता है। इस का अर्थ भी भिन्न' है। यह वेद में ही प्रयुक्त होता है। इस का उच्चारण सर्वशब्दवत् होता है। यथा—

प्र०	त्व	त्वौ	त्वे	प०	त्वस्मात्	त्वाभ्याम्	त्वेभ्य
द्वि०	त्वम्	”	त्वान्	ष०	त्वस्य	त्वयो	त्वेषाम्
तृ०	त्वेन	त्वाभ्याम्	त्वै	स०	त्वस्मिन्	”	त्वेषु
च०	त्वस्मै	”	त्वेभ्य	सम्बो०	हे त्व !	हे त्वौ !	हे त्वे !

त्वशब्द के अनन्तर अदन्त सर्वनाम 'नेम' आता है। अर्ध (आधा) अर्थ में इस का सर्वादिगण मे पाठ अभीष्ट है। अवधि आदि अर्थों में पाठ न होने से सर्वनामसञ्ज्ञा नहीं होगी। तब रामवत् उच्चारण होगा। अर्धवाची सर्वनाम नेमशब्द का विशेष विवेचन 'प्रथम चरम—' (१६०) सूत्र पर देखें।

सर्वादिगण में नेमशब्द के बाद 'सम' आता है। इस के 'सब' और 'तुल्य' दो अर्थ होते हैं। 'सब' अर्थ में इस की सर्वनामसञ्ज्ञा होती है, 'तुल्य' अर्थ में नहीं होती। इस का कारण यह है कि पाणिनि मुनि ने 'यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्' (२३) इस सूत्र में 'समानाम्' कहा है। यहां समशब्द तुल्यवाचक है। यदि इस अर्थ में इसका सर्वादिगण में पाठ होता तो 'समानाम्' की बजाय 'समेषाम्' होता। सर्वनामसञ्ज्ञक समशब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	सम	समौ	समे	प०	समस्मात्	समाभ्याम्	समेभ्य
द्वि०	समम्	,,	समान्	ष०	समस्य	समयो	समेषाम्
तृ०	समेन	समाभ्याम्	समैः	स०	समस्मिन्	,,	समेषु
च०	समस्मै	,,	समेभ्य	सम्बो०	हे सम !	हे समौ !	हे समे !

इस के बाद 'सिम' शब्द का पाठ है। इस का अर्थ 'सब' है। इस की रूपमाला

प्र०	सिम	सिमौ	सिमे	प०	सिमस्मात्	सिमाभ्याम्	सिमेभ्य
द्वि०	सिमम्	,,	सिमान्	ष०	सिमस्य	सिमयो	सिमेषाम्
तृ०	सिमेन	सिमाभ्याम्	सिमैः	स०	सिमस्मिन्	,,	सिमेषु
च०	सिमस्मै	,	सिमेभ्यः	सम्बो०	हे सिम !	हे सिमौ !	हे सिमे !

इस के बाद "पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायाम् असञ्ज्ञायाम्" यह गण सूत्र आता है। इस का अर्थ यह है—सञ्ज्ञाभिन्न व्यवस्था अर्थ हो तो 'पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर' ये सात शब्द सर्वादिगण मे समझे जावें। इस गणसूत्र की विशेष व्याख्या तथा पूर्वादि शब्दों के उच्चारण आगे (१२६) सूत्र पर देखे।

पूर्वादियों के अनन्तर 'स्वम् अज्ञातिधनाख्यायाम्' यह गणसूत्र आता है। इस का अर्थ यह है—बन्धु और धन अर्थ से भिन्न अन्य अर्थ वाला स्वशब्द सर्वादिगण में समझा जावे। इसका विशेष व्याख्यान आगे (१२७) सूत्र पर देखें।

स्वशब्द के बाद 'अन्तरं बहिर्योगोपसंख्यानयो' यह गणसूत्र आता है। इस का अर्थ यहहै—बाह्य और परिधानीय अर्थ वाला 'अन्तर' शब्द सर्वादिगण में समझा जाए। इस का विशेष विवरण भी आगे (१२८) सूत्र पर देखें।

अन्तरशब्द के बाद त्यदादिगण आता है। [त्यदादिगण सर्वादिगण के अन्तर्गत एक गण है, नया गण नहीं। इस में 'त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि, युष्मद्, अस्मद्, भवतु, किम्' ये बारह शब्द आते हैं।] त्यदादियों में केवल 'एक' शब्द ही अदन्त है। यदि 'एक' शब्द सङ्ख्यावाचक हो तो वह नित्य एकवचनान्त होता है और यदि अन्य [प्रधान, प्रथम, केवल, अन्य, साधारण, समान, अल्प] अर्थों का वाचक हो तो इस से द्विवचन तथा बहुवचन प्रत्यय भी होते हैं। यथा—'यजुष्येकेषाम्' (८. ३. १०२)। इस की सर्वनामसञ्ज्ञा प्रत्येक अवस्था में होती है। प्रथम सङ्ख्यावाची 'एक' शब्द का उच्चारण यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	एकः	०	०	पञ्चमी	एकस्मात्	०	०
द्वितीया	एकम्	०	०	षष्ठी	एकस्य	०	०
तृतीया	एकेन	०	०	सप्तमी	एकस्मिन्	०	०
चतुर्थी	एकस्मै	०	०	त्यदादियों का प्राय सम्बोधन नहीं हुआ करता।			

प्रधान आदि अर्थों में 'एक' शब्द की रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	एक	एकौ	एके	प०	एकस्मात्	एकाभ्याम्	एकेभ्यः
द्वि०	एकम्	,,	एकान्	ष०	एकस्य	एकयो	एकेषाम्
तृ०	एकेन	एकाभ्याम्	एकैः	स०	एकस्मिन्	,,	एकेषु
च०	एकस्मै	,,	एकेभ्यः	सम्बो०	हे एक !	हे एकौ !	हे एके !

नोट—अत्र कोष —"एकोऽन्यार्थे प्रधाने च, प्रथमे केवले तथा।
साधारणे समानेऽल्पे, सङ्ख्यायाञ्च प्रयुज्यते" ॥

[लघु०] सञ्ज्ञासूत्रम्—१५६ पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसञ्ज्ञायाम्। १। १। ३३॥

एतेषां व्यवस्थायामसञ्ज्ञायां सर्वनामसञ्ज्ञा गणसूत्रात् सर्वत्र या प्राप्ता सा जसि वा स्यात्। पूर्वे, पूर्वाः। असञ्ज्ञायां किम्? उत्तराः कुरवः। स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था। व्यवस्थायां किम्? दक्षिणा गाथकाः। कुशला इत्यर्थः।

अर्थ—(१) पूर्व (२) पर (३) अवर (४) दक्षिण, (५) उत्तर (६) अपर, (७) अधर इन सात शब्दों की सञ्ज्ञाभिन्न व्यवस्था अर्थ में गण सूत्र से जो सर्वनामसञ्ज्ञा सब जगह प्राप्त थी वह जस् परे होने पर विकल्प से हो।

व्याख्या—पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि ।१।३। व्यवस्थायाम् ।७।१। असञ्ज्ञायाम् ।७।१। विभाषा ।१।१। जसि ।७।१। ['विभाषा जसि' से] सर्वनामानि ।१।३। ['सर्वादीनि सर्वनामानि' से]। समास—पूर्वञ्च परञ्च अवरञ्च दक्षिणञ्च उत्तरञ्च अपरञ्च अधरञ्च [यहां नपुंसकलिङ्ग 'शब्दस्वरूपम्' इस विशेष्य के कारण लगाया गया है।] = पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि इतरेतरद्वन्द्वः। न सञ्ज्ञा=असञ्ज्ञा, तस्याम्=असञ्ज्ञायाम्, नञ्तत्पुरुष। अर्थ—(असञ्ज्ञायाम्) सञ्ज्ञाभिन्न (व्यवस्थायाम्) व्यवस्था अर्थ हो तो (पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि) पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अपर, अधर ये सात शब्द (जसि) जस् परे होने पर (विभाषा) विकल्प कर के (सर्वनामानि) सर्वनामसञ्ज्ञक हों।

सञ्ज्ञाभिन्न व्यवस्था अर्थ में पूर्वादि सातों शब्दों की 'पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसञ्ज्ञायाम्' इस गण सूत्र से [यह गणसूत्र सर्वादिगण में पीछे आ चुका है] सर्वनामसञ्ज्ञा की जा चुकी है। अब वही सर्वत्र प्राप्त सर्वनामसञ्ज्ञा जस् में विकल्प कर के की जाती है।

प्रश्न—यह सूत्र एक बार सर्वादिगण में पढ़ा जा चुका है पुनः यहां सूत्रपाठ में इस के पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं। केवल जस् में विकल्प करने के लिये 'पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि' इतना ही सूत्र पर्याप्त है। 'व्यवस्थायामसञ्ज्ञायाम्' इस के ग्रहण का क्या प्रयोजन है?

उत्तर—आप का यह विचार ठीक नहीं। क्योंकि वैसा करने से गणसूत्र से तो इन की सञ्ज्ञाभिन्न व्यवस्था में ही सर्वनामसञ्ज्ञा होगी और यहां सञ्ज्ञा होने तथा व्यवस्था न होने पर भी इन की सर्वनामसञ्ज्ञा हो जायगी। अतः यहां भी 'व्यवस्थायाम् असञ्ज्ञायाम्' कहना अत्यावश्यक है।

अब हमें यह जानना है कि 'व्यवस्था' क्या होती है। ग्रन्थकार ने व्यवस्था का यह लक्षण किया है—

"स्वाभिधेयापेक्षावधिनियमो व्यवस्था"

अपेक्ष्यत इत्यपेक्षः, कर्मणि घञ्। स्वस्य (पूर्वादिशब्दस्य) अभिधेयेन (वाच्येन) अपेक्षस्य (अपेक्ष्यमाणस्य) अवधेर्नियमो व्यवस्था। अर्थ—जहां पूर्व आदि शब्दों के अपने अर्थों से अवधि के नियम की अपेक्षा हो वहां व्यवस्था समझनी चाहिये। उदाहरण यथा—

काशी पूर्वा। कुतः ? प्रयागात्। यहां 'पूर्वा' शब्द का अर्थ पूर्वदिशास्थित काशी देश है। इस अर्थ से अवधि के नियम की आकाङ्क्षा होती है। अर्थात् 'काशी पूर्व है' यह सुनने वालों को यहां यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि 'किस से पूर्व है ?'। इस पर उत्तर मिलता है कि 'प्रयाग से'। तो यहां पूर्वाशब्द का अर्थ क्योंकि अवधि के नियम ['प्रयागात्' इस प्रकार] की अपेक्षा=आकाङ्क्षा करता है अतः यहां व्यवस्था है।

पूर्वे रावणादयः। केभ्यः ? कंसादिभ्यः। यहां पूर्वशब्द का अर्थ पूर्वकालस्थित रावण आदि व्यक्ति हैं। इन अर्थों से अवधि के नियम की अपेक्षा=आकाङ्क्षा=जिज्ञासा होती है कि किस से रावण आदि पूर्व हुए हैं ?। इस पर उत्तर मिलता है कि 'कंस आदियों से'। तो यहां पूर्वशब्द का अर्थ क्योंकि अवधि के नियम ['कंसादिभ्यः' इस प्रकार] की अपेक्षा करता है, अतः यहां व्यवस्था है।

पूर्वस्यां रविरुदेति। यहां पूर्वाशब्द का अर्थ दिशा-विशेष है। दिशाविशेषों का सङ्केत सुमेरुपर्वत की अपेक्षा से अनादिकाल से चला आ रहा है। तो इस प्रकार यहां भी व्यवस्था है।

तात्पर्य यह हुआ कि जहां पूर्व आदि शब्दों के प्रयोग होने पर 'कहां से ?', 'किस से ?', 'किन से ?' इत्यादि प्रकारेण जिज्ञासा हो वहां व्यवस्था समझनी चाहिये।

ध्यान रहे कि व्यवस्था में पूर्वादि शब्द तीन प्रकार के होते हैं। (१) देशवाची, यथा—काशी पूर्वा। (२) कालवाची यथा—पूर्वे रावणादयः। (३) दिशावाची यथा—पूर्वस्यां रविरुदेति। यदि इन तीनों से अतिरिक्त पूर्वादि शब्द होंगे तो वहां व्यवस्था न होगी। यथा—अधरे रागः (निचले होठ पर लाली है)।

"व्यवस्थायां किम् ? दक्षिणा गाथका. ।"

'दक्षिणा गाथका' (चतुर गायक)। यहा दक्षिणशब्द का अर्थ 'चतुर' है। इस से अवधि के नियम की आकाङ्क्षा नहीं होती। अत यहा व्यवस्था न होने से इस की सर्वनामसञ्ज्ञा न होगी। [सर्वनामसञ्ज्ञा न होने स पक्ष मे 'जस शी' (१५२) द्वारा शी आदेश न होगा।] इसी प्रकार—'अय बाल उत्तरे प्रत्युत्तरे शक्त' [यह बालक जवाब सवाल में चतुर है।] यहा 'उत्तर शब्द का अर्थ 'जवाब' तथा प्रत्युत्तर' शब्द का अर्थ 'जवाब का जवाब' है। इन अर्थों से किसी प्रकार भी अवधि के नियम की जिज्ञासा नहीं होती। अत व्यवस्था में वर्त्तमान न होने के कारण इन की सर्वनामसञ्ज्ञा न होगी। इस से पक्ष मे 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' (१५६) सूत्र प्रवृत्त न होगा।

"असञ्ज्ञायां किम् ? उत्तरा कुरव."

व्यवस्था होने पर भी पूर्वादि शब्द किसी की सञ्ज्ञा नहीं होने चाहियें। यदि ये किसी की सञ्ज्ञा होंगे तो व्यवस्था में वर्त्तमान होने पर भी इन की सर्वनामसञ्ज्ञा न होगी। यथा 'उत्तरा कुरव' [उत्तरकुरुदेश] *। सुमेरुपर्वत को अवधि मान कर 'उत्तर कुरु' इस प्रकार देश व्यवस्था की गई है। अत यहां 'उत्तर' शब्द व्यवस्था मे वर्त्तमान है। परन्तु 'उत्तर कुरु' इस प्रकार कुरुदेश की सञ्ज्ञा होने से उत्तरशब्द की सर्वनामसञ्ज्ञा न होगी।

जहा पूर्व आदि शब्द किसी की सञ्ज्ञा न होंगे और व्यवस्था मे वर्त्तमान होंगे वहा निम्नप्रकारेण प्रयोगसिद्धि होगी—

'पूर्व+जस्' यहा 'सर्वादीनि सर्वनामानि' (१५१) सूत्र से पूर्वशब्द की नित्य सर्वनामसञ्ज्ञा प्राप्त होने पर 'पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरा ' इस प्रकृतसूत्र से जस् मे वह विकल्प कर के हो जाती है। सर्वनामपक्ष में 'जस शी' (१५२) से जस को शी, अनुबन्धलोप तथा गुण एकादेश करने पर 'पूर्वे' प्रयोग सिद्ध होता है। सर्वनामाभावपक्ष में रामशब्दवत् पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर 'पूर्वा' प्रयोग बन जाता है।

इसी प्रकार पर आदि शब्दों के भी—पर, परा। अवरे, अवरा। दक्षिणे, दक्षिणा। उत्तरे, उत्तरा। अपरे, अपरा। ये दो २ रूप बनते हैं। इन शब्दों की रूपमाला आगे लिखेंगे।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१५७ स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्।१।१।३४॥

---

* कुरुशब्दो देशविशेषे बहुवचनान्त प्रयुज्यते। सम्प्रति रूस का यूक्रेनप्रदेश 'उत्तरकुरु' देश है—ऐसा विचारकों का मत है। परन्तु अन्य लोग 'कुरुक्षेत्र' को ही 'उत्तरकुरु' देश मानते हैं।

ज्ञातिधनान्यवाचिनः स्वशब्दस्य प्राप्ता सञ्ज्ञा जसि वा । स्वे, स्वाः । आत्मीया आत्मान इति वा । ज्ञातिधनवाचिनस्तु स्वाः=ज्ञातयोऽर्था वा ।

अर्थ — ज्ञाति (बान्धव) और धन अर्थ से भिन्न अन्य अर्थ वाले स्वशब्द की प्राप्त सर्वनामसञ्ज्ञा जस् मे विकल्प से हो।

व्याख्या — स्वम् ।१।१। ['शब्द स्वरूपम्' की दृष्टि से नपुंसक लिखा गया है।] अज्ञातिधनाख्यायाम् ।७।१। विभाषा ।१।१। जसि ।७।१। ['विभाषा जसि' से] सर्वनाम ।१।१। ['सर्वादीनि सर्वनामानि' से वचनविपरिणाम कर के] समास — ज्ञातिश्च धनञ्च=ज्ञातिधने, तयोर् आख्या (सञ्ज्ञा)=ज्ञातिधनाख्या तस्याम्=ज्ञातिधनाख्यायाम् द्वन्द्वगर्भषष्ठीतत्पुरुष । न ज्ञातिधनाख्यायाम्=अज्ञातिधनाख्यायाम्, नञ्तत्पुरुष । अर्थ — (अज्ञातिधनाख्यायाम्) ज्ञाति और धन अर्थ से भिन्न अन्य अर्थों म (जसि) जस परे होने पर (स्वम्) स्वशब्द (विभाषा) विकल्प करके (सवनाम) सर्वनाम सञ्ज्ञक होता है।

सर्वादिगण में भी यह सूत्र पढ़ा गया है। उस से ज्ञाति और धन अर्थ से भिन्न अन्य अर्थों मे स्वशब्द की सर्वनामसञ्ज्ञा सर्वत्र प्राप्त हाती थी। पुन इस सूत्र के द्वारा उसी प्राप्त सर्वनामसञ्ज्ञा का जस् में विकल्प किया गया है।

स्वशब्द के चार अथ होते हैं—(१) आत्मा (खुद अथवा स्वयम्), (२) आत्मीय (खुद का=अपना), (३) ज्ञाति (बान्धव=रिश्तेदार), (४) धन। इन चार अर्थों में से प्रथम दो अर्थों में स्वशब्द की सर्वनामसञ्ज्ञा होती है, पिछले दो अर्थों में नहीं। प्रकृतसूत्र से वही सर्वत्र प्राप्त सर्वनामसञ्ज्ञा जस् में विकल्प कर के की जाती है। सर्वनाम पक्ष मे जस् को शी, अनुबन्धलोप तथा गुण एकादेश हो कर 'स्वे' प्रयोग बना। सर्वनामाभावपक्ष में रामशब्दवत् 'स्वा' रूप सिद्ध हुआ।

ज्ञाति और धन अर्थ मे सर्वनामसञ्ज्ञा न होने से 'स्व' शब्द का रामशब्दवत् उच्चारण होगा। अत जस् मे कवल 'स्वा' ही बनेगा।

"ज्ञातिरात्मा तथात्मीयश्चतुर्थं धनमेव च
अर्था प्रोक्ताः स्वशब्दस्य कोषे बुद्धिमतां वरैः ॥१॥
आत्मात्मीयार्थयोरेव सर्वनाम स्मृतं बुधैः ।
यो ज्ञातिधनवाची स्यात् सर्वनाम न कीर्त्यते ॥२॥"

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—१५८ अन्तरं बहिर्योगोपसंव्यानयोः ।१।१।३५॥

बाह्ये परिधानीये चार्थेऽन्तरशब्दस्य प्राप्ता सञ्ज्ञा जसि वा । अन्तरे, अन्तरा वा गृहाः—बाह्या इत्यर्थः । अन्तरे, अन्तरा वा शाटकाः—परिधानीया इत्यर्थः ।

अर्थः—बाह्य और परिधानीय अर्थ में अन्तरशब्द की सर्वत्र प्राप्त सर्वनाम सञ्ज्ञा जस् में विकल्प से हो ।

व्याख्या—अन्तरम् ।१।१। बहिर्योगोपसंव्यानयोः ।७।२। जसि ।७।१। विभाषा ।१।१। ['विभाषा जसि' से] सर्वनाम ।१।१। ['सर्वादीनि सर्वनामानि' से] समास—बहिः=अनावृतो देशः, तेन योगः=सम्बन्धो यस्य स बहिर्योगः, बहुव्रीहि समास । उपसंवीयते=परिधीयते इत्युपसंव्यानम् † । बहिर्योगश्च उपसंव्यानं च=बहिर्योगोपसंव्याने । तयोः=बहिर्योगोपसंव्यानयोः । इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(बहिर्योगोपसंव्यानयोः) बाहर से सम्बन्धित तथा नीचे पहनने योग्य वस्त्रादिक अर्थ में (अन्तरम्) अन्तरशब्द (जसि) जस् परे होने पर (विभाषा) विकल्प कर के (सर्वनाम) सर्वनामसञ्ज्ञक होता है ।

बाह्य अर्थात् बाहरस्थित तथा नीचे पहनने योग्य वस्त्रादिक अर्थ में अन्तरशब्द को इसी प्रकार के गणसूत्र द्वारा जो सर्वनामसञ्ज्ञा सर्वत्र प्राप्त थी उसी का यहां जस् में विकल्प किया गया है । सर्वनामपक्ष में जस् को शी, अनुबन्धलोप तथा गुण एकादेश हो—'अन्तरे' बनेगा । तदभावपक्ष में पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश करने पर—'अन्तराः' सिद्ध होगा । अन्तरे, अन्तरा वा गृहाः [बाहरस्थित घर । प्रायः चाण्डाल आदियों के घर नगर की चारदिवारी से बाहर ही हुआ करते हैं । देखो मनुस्मृति—१०.५१।] । अन्तरे अन्तराः वा शाटकाः [नीचे पहनने योग्य वस्त्र=धोती आदि] ।

बहिर्योगोपसंव्यानयोः किम् ? अनयोर्ग्रामयोः अन्तरे तापसः प्रतिवसति [इन दो गावों के मध्य तपस्वी रहता है] । यहां 'अन्तर' शब्द का अर्थ 'मध्यदेश' है । अतः सर्वनामसञ्ज्ञा न होने से सर्वनामकार्य न होंगे । [यह प्रत्युदाहरण गणसूत्र का ही है । एवम्—'आवयोरन्तरे जाताः पर्वताः सरितो द्रुमाः' रामा० ।] इसी प्रकार—'इमे अत्यन्तराः मम' ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१५६ पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा ।७।१।१६॥

एभ्यो ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ वा स्तः । पूर्वस्मात्, पूर्वात् । पूर्वस्मिन्, पूर्वे । एवम्परादीनाम् * । शेषं सर्ववत् ।

---

† 'अन्तरीयोपसंव्यानपरिधानान्यधोंऽशुके' इत्यमरः ।

* रूपाणि कोष्ठगानीति शेषः ।

अर्थ—पूर्व आदि नौ शब्दों से परे ङसि और ङि को क्रमशः स्मात् और स्मिन् आदेश विकल्प से हों।

व्याख्या—पूर्वादिभ्यः ।५।३। नवभ्यः ।५।३। ङसिङ्योः ।६।२। स्मात्स्मिनौ ।१।२। [ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ' से] वा इत्यव्ययपदम् । अर्थः—(पूर्वादिभ्यः) पूर्व आदि (नवभ्यः) नौ शब्दों से परे (ङसिङ्योः) ङसि और ङि के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (स्मात्स्मिनौ) स्मात् और स्मिन् आदेश होते हैं।

पूर्वोक्त त्रिसूत्री (१५६, १५७ १५८) में स्थित नौ शब्दों का उन्हीं अर्थों में यहां ग्रहण है। गणसूत्रों द्वारा नित्य सर्वनामसञ्ज्ञा विहित होने से इन से परे स्मात् और स्मिन् आदेश नित्य प्राप्त होते थे। अब इस सूत्र से विकल्प किया जाता है। पूर्वस्मात्, पूर्वस्मिन्। पक्ष में रामवत् प्रक्रिया हो कर—पूर्वात् पूर्वे।

अब पूर्वोक्त अर्थों में पूर्व आदि शब्दों के उच्चारण लिखे जाते हैं—

१ पूर्व (पहला)

प्र०	पूर्वः	पूर्वौ	पूर्वे, पूर्वाः
द्वि०	पूर्वम्	„	पूर्वान्
तृ०	पूर्वेण	पूर्वाभ्याम्	पूर्वैः
च०	पूर्वस्मै	„	पूर्वेभ्यः
पं०	पूर्वस्मात् पूर्वात्	„	„
ष०	पूर्वस्य	पूर्वयोः	पूर्वेषाम्
स०	पूर्वस्मिन् पूर्वे	„	पूर्वेषु
सं०	हे पूर्व !	हे पूर्वौ !	हे पूर्वे !, पूर्वाः !

२ पर (दूसरा)

प्र०	परः	परौ	परे, पराः
द्वि०	परम्	„	परान्
तृ०	परेण	पराभ्याम्	परैः
च०	परस्मै	„	परेभ्यः
पं०	परस्मात् परात्	„	„
ष०	परस्य	परयोः	परेषाम्
स०	परस्मिन् परे	„	परेषु
सं०	हे पर !	हे परौ !	हे परे !, पराः !

३ अवर (न्यून आदि)

प्र०	अवरः	अवरौ	अवरे, अवराः
द्वि०	अवरम्	„	अवरान्
तृ०	अवरेण	अवराभ्याम्	अवरैः
च०	अवरस्मै	„	अवरेभ्यः
पं०	अवरस्मात् अवरात्	„	„

४ दक्षिण (दहिना)

प्र०	दक्षिणः	दक्षिणौ	दक्षिणे, दक्षिणाः
द्वि०	दक्षिणम्	„	दक्षिणान्
तृ०	दक्षिणेन	दक्षिणाभ्याम्	दक्षिणैः
च०	दक्षिणस्मै	„	दक्षिणेभ्यः
पं०	दक्षिणस्मात् दक्षिणात्		

ष०	अवरस्य	अवरयोः	अवरेषाम्
स०	अवरस्मिन्, अवरे	,,	अवरेषु
सं०	हे अवर !	हे अवरौ !	हे अवरे !, अवरा !

ष०	दक्षिणस्य	दक्षिणयोः	दक्षिणेषाम्
स०	दक्षिणस्मिन्, दक्षिणे	,,	दक्षिणेषु
सं०	हे दक्षिण !	हे दक्षिणौ !	हे दक्षिणे !, हे दक्षिणा !

५ उत्तर (अगला)

प्र०	उत्तर	उत्तरौ	उत्तरे उत्तरा
द्वि०	उत्तरम्	,,	उत्तरान्
तृ०	उत्तरेण	उत्तराभ्याम्	उत्तरैः
च०	उत्तरस्मै	,,	उत्तरेभ्य
पं०	उत्तरस्मात्, उत्तरात्	,,	,,
ष०	उत्तरस्य	उत्तरयो	उत्तरेषाम्
स०	उत्तरस्मिन्, उत्तरे	,,	उत्तरेषु
सं०	हे उत्तर !	हे उत्तरौ !	हे उत्तरे !, उत्तरा !

६ अपर (दूसरा)

प्र०	अपर	अपरौ	अपरे, अपरा
द्वि०	अपरम्	,,	अपरान्
तृ०	अपरेण	अपराभ्याम्	अपरैः
च०	अपरस्मै	,,	अपरेभ्य
पं०	अपरस्मात्, अपरात्	,,	,,
ष०	अपरस्य	अपरयो	अपरेषाम्
स०	अपरस्मिन्, अपरे	,,	अपरेषु
सं०	हे अपर !	हे अपरौ !	हे अपरे !, हे अपरा !

७ अधर (नीचा)

प्र०	अधर	अधरौ	अधरे, अधरा
द्वि०	अधरम्	,	अधरान्
तृ०	अधरेण	अधराभ्याम्	अधरैः
च०	अधरस्मै	,,	अधरेभ्य
पं०	अधरस्मात्, अधरात्	,,	,,
ष०	अधरस्य	अधरयोः	अधरेषाम्
स०	अधरस्मिन्, अधरे	,,	अधरेषु
सं०	हे अधर !	हे अधरौ !	हे अधरे !, अधरा !

८ स्व (आत्मा आत्मीय)

प्र०	स्व	स्वौ	स्वे, स्वा
द्वि०	स्वम्	,	स्वान्
तृ०	स्वेन	स्वाभ्याम्	स्वैः
च०	स्वस्मै	,,	स्वेभ्य
पं०	स्वस्मात्, स्वात्	,	,,
ष०	स्वस्य	स्वयो	स्वेषाम्
स०	स्वस्मिन्, स्वे	,,	स्वेषु
सं०	हे स्व !	हे स्वौ !	हे स्वे !, हे स्वा !

९ अन्तर (बाह्य या परिधानीय)

प्र०	अन्तर	अन्तरौ	अन्तरे, अन्तरा	ष०	अन्तरस्य	अन्तरयो	अन्तरेषाम्
द्वि०	अन्तरम्	,,	अन्तरान्	स०	अन्तरस्मिन् / अन्तरे	,,	अन्तरेषु
तृ०	अन्तरेण	अन्तराभ्याम्	अन्तरैः	सं०	हे अन्तर !	हे अन्तरौ !	हे अन्तरे !, हे अन्तरा !
च०	अन्तरस्मै	,,	अन्तरेभ्य				
प०	अन्तरस्मात् / अन्तरात्	,,	,,				

यहां पूर्व आदि ९ शब्द समाप्त होते हैं ॥

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—१६० प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च ।१।१।३२॥

एते जसि उक्तसञ्ज्ञा वा स्युः । प्रथमे, प्रथमाः । तयः प्रत्ययः—द्वितये, द्वितयाः । शेषं रामवत् । नेमे, नेमाः । शेषं सर्ववत् ।

अर्थः—प्रथम, चरम, तयप्रत्ययान्त, अल्प, अर्ध, कतिपय और नेम ये शब्द जस् परे होने पर विकल्प कर के सर्वनाम-सञ्ज्ञक हों।

व्याख्या—प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाः ।१।३। च इत्यव्ययपदम् । जसि ।७।१। विभाषा ।१।१। ['विभाषा जसि' से] सर्वनामानि ।१।३। ['सर्वादीनि सर्वनामानि' से] समासः—प्रथमश्च चरमश्च तयश्च अल्पश्च अर्धश्च कतिपयश्च नेमश्च = प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाः, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(प्रथम—नेमाः) प्रथम, चरम, तय, अल्प, अर्ध, कतिपय और नेम ये शब्द (जसि) जस् परे होने पर (विभाषा) विकल्प कर के (सर्वनामानि) सर्वनामसञ्ज्ञक होते हैं।

इन शब्दों में 'नेम' शब्द के अतिरिक्त अन्य किसी शब्द का सर्वादिगण में पाठ नहीं, अतः शेष सब शब्दों की जस् को छोड़ अन्य विभक्तियों में रामशब्दवत् प्रक्रिया होगी। जस् में सर्वनामपक्ष में 'जसः शी' (१५२) आदि कार्य होंगे । तदभावपक्ष में रामवत् प्रक्रिया जाननी चाहिये। इन के उच्चारण यथा—

प्रथम (पहला)

प्र०	प्रथम	प्रथमौ	प्रथमे, प्रथमाः
द्वि०	प्रथमम्	,,	प्रथमान्
तृ०	प्रथमेन	प्रथमाभ्याम्	प्रथमैः
च०	प्रथमाय	,,	प्रथमेभ्यः
प०	प्रथमात्	,,	,,

चरम (अन्तिम)

प्र०	चरम	चरमौ	चरमे, चरमाः
द्वि०	चरमम्	,,	चरमान्
तृ०	चरमेण	चरमाभ्याम्	चरमैः
च०	चरमाय	,,	चरमेभ्यः
प०	चरमात्	,,	,,

ष०	प्रथमस्य	प्रथमयोः	प्रथमानाम्	ष०	चरमस्य	चरमयोः	चरमाणाम्
स०	प्रथमे	,,	प्रथमेषु	स०	चरमे	,,	चरमेषु
सं०	हे प्रथम !	हे प्रथमौ !	हे प्रथमे !, प्रथमाः !	सं०	हे चरम !	हे चरमौ !	हे चरमे !, चरमाः !

चरमशब्द के बाद 'तय' आता है। 'तय' प्रत्यय है। **'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्'** इस परिभाषानुसार तयप्रत्ययान्त का ही ग्रहण किया जायगा। यद्यपि **"सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति"** इस ज्ञापक से तदन्तों का ग्रहण नहीं होना चाहिये था तथापि केवल तय प्रत्यय की सञ्ज्ञा करना निष्प्रयोजन होने से तदन्तों का ग्रहण हो जाता है। तयप्रत्ययान्त शब्द—द्वितय, त्रितय, चतुष्टय, पञ्चतय, षट्तय, सप्ततय, अष्टतय, नवतय दशतय आदि जानने चाहियें। किञ्च—द्वि और त्रि शब्दों से परे तयप् को 'द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा' (११६६) सूत्र से अयच् आदेश हो कर 'द्वय' और 'त्रय' शब्द भी बन जाते हैं। ये भी स्थानिवद्भाव से तयप्प्रत्ययान्त होने के कारण इस से प्रकृत सूत्र द्वारा सर्वनामसञ्ज्ञक होते हैं।

द्वितय (द्वौ अवयवौ यस्य, दो अवयवों वाला—जोड़ा)

प्र०	द्वितयः	द्वितयौ	द्वितये, द्वितयाः	प०	द्वितयात्	द्वितयाभ्याम्	द्वितयेभ्यः
द्वि०	द्वितयम्	,,	द्वितयान्	ष०	द्वितयस्य	द्वितययोः	द्वितयानाम्
तृ०	द्वितयेन	द्वितयाभ्याम्	द्वितयैः	स०	द्वितये	,,	द्वितयेषु
च०	द्वितयाय	,,	द्वितयेभ्यः	सं०	हे द्वितय !	हे द्वितयौ !	हे द्वितये !, द्वितयाः !

इसी प्रकार—द्वय, त्रितय, त्रय, चतुष्टय, पञ्चतय प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं।

अल्प (थोड़ा)				**अर्ध** (आधा)			
प्र०	अल्पः	अल्पौ	अल्पे, अल्पाः	प्र०	अर्धः	अर्धौ	अर्धे, अर्धाः
द्वि०	अल्पम्	,,	अल्पान्	द्वि०	अर्धम्	,,	अर्धान्
तृ०	अल्पेन	अल्पाभ्याम्	अल्पैः	तृ०	अर्धेन	अर्धाभ्याम्	अर्धैः
च०	अल्पाय	,,	अल्पेभ्यः	च०	अर्धाय	,,	अर्धेभ्यः
प०	अल्पात्	,,	,,	प०	अर्धात्	,,	,,
ष०	अल्पस्य	अल्पयोः	अल्पानाम्	ष०	अर्धस्य	अर्धयोः	अर्धानाम्
स०	अल्पे	,,	अल्पेषु	स०	अर्धे	,,	अर्धेषु
सं०	हे अल्प !	हे अल्पौ !	हे अल्पे !, अल्पाः !	सं०	हे अर्ध !	हे अर्धौ !	हे अर्धे !, अर्धाः !

कतिपय (कुछ)

प्रथमा	कतिपय	कतिपयौ	कतिपये, कतिपया
द्वितीया	कतिपयम्	,,	कतिपयान्
तृतीया	कतिपयेन	कतिपयाभ्याम्	कतिपयैः
चतुर्थी	कतिपयाय	,,	कतिपयेभ्यः
पञ्चमी	कतिपयात्	,,	,,
षष्ठी	कतिपयस्य	कतिपययोः	कतिपयानाम्
सप्तमी	कतिपये	,,	कतिपयेषु
सम्बोधन	हे कतिपय !	हे कतिपयौ !	हे कतिपये !, कतिपया !

'कतिपय' शब्द के अनन्तर 'नेम' शब्द आता है। अर्धवाचक नेमशब्द सर्वनाम-सञ्ज्ञक होता है—यह पीछे कह आये हैं। उसी का प्रकृतसूत्र में ग्रहण समझना चाहिये, अन्य का नहीं। रूपमाला यथा—

प्र०	नेम	नेमौ	नेमे, नेमाः	पं०	नेमस्मात्	नेमाभ्याम्	नेमेभ्यः
द्वि०	नेमम्	,,	नेमान्	ष०	नेमस्य	नेमयोः	नेमेषाम्
तृ०	नेमेन	नेमाभ्याम्	नेमैः	स०	नेमस्मिन्	,,	नेमेषु
च०	नेमस्मै	,,	नेमेभ्यः	सं०	हे नेम !	हे नेमौ !	हे नेमे !, नेमाः !

[लघु०] वा०—१६ तीयस्य ङित्सु वा ।

द्वितीयस्मै, द्वितीयायेत्यादि । एवं तृतीया ।

अर्थः—ङित् विभक्तियों में तीयप्रत्ययान्तों की विकल्प कर के सर्वनामसञ्ज्ञा होती है।

व्याख्या—तीयस्य ।६।१। ङित्सु ।७।३। वा इत्यव्ययपदम् । सर्वनामता ।१।१। [प्रकरण-प्राप्त]। 'तीय' यह एक प्रत्यय है। केवल इस की सञ्ज्ञा का कोई प्रयोजन नहीं; अतः 'सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति' इस निषेध के होते हुए भी 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' परिभाषा से तीयप्रत्ययान्तों का ही ग्रहण किया जाएगा। ङ् इत् यस्य असौ=ङित्, जिस विभक्ति के ङकार की इत्सञ्ज्ञा हो उसे ङित् विभक्ति कहते हैं। ङित् विभक्तियां चार हैं—ङे, ङसिँ, ङस्, ङि ।

ङे में सर्वनामसञ्ज्ञा होने से 'सर्वनाम्नः स्मै' (१५३) तथा ङसिँ और ङि में सर्वनामसञ्ज्ञा होने से 'ङसिँङ्योः स्मात्स्मिनौ' (१५४) सूत्र प्रवृत्त होगा। ङस् में कुछ

विशेषता नहीं * । पक्ष में जहां सर्वनामसञ्ज्ञा न होगी वहां रामशब्दवत् प्रक्रिया होगी । द्वितीय (दूसरा) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	द्वितीय	द्वितीयौ	द्वितीया
द्वि०	द्वितीयम्	,,	द्वितीयान्
तृ०	द्वितीयेन	द्वितीयाभ्याम्	द्वितीयैः
च०	द्वितीयस्मै / द्वितीयाय	,,	द्वितीयेभ्य
पं०	द्वितीयस्मात् / द्वितीयात्	,,	,,
ष०	द्वितीयस्य	द्वितीययो	द्वितीयानाम्
स०	द्वितीयस्मिन् / द्वितीये	,,	द्वितीयेषु
सं०	हे द्वितीय !	हे द्वितीयौ !	हे द्वितीया !

इसी प्रकार 'तृतीय' (तीसरा) शब्द का उच्चारण भी समझ लेना चाहिये ।

अभ्यास (२६)

(१) व्यवस्था का लक्षण लिख उस का सोदाहरण विस्तृत विवेचन करें ।

(२) (क) किस अर्थ में 'सम' की सर्वनामसञ्ज्ञा होती है और क्यों ? ।

(ख) द्वितीय और द्वितय शब्दों के उच्चारण में क्या अन्तर है ? । सप्रमाण लिखो ।

(ग) 'जस शी' यहां शी को ह्रस्व क्यों नहीं किया ? ।

(घ) 'उभ' शब्द की सर्वनामसञ्ज्ञा करने का क्या प्रयोजन है ? ।

(ङ) 'स्व' शब्द के कितने अर्थ होते हैं और किस २ अर्थ में उस की सर्वनाम सञ्ज्ञा की गई है ? ।

(३) 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' सूत्र का क्यों कैसे और कौनसा विचित्र अर्थ ग्रन्थकार ने किया है ? सविस्तर लिखो ।

(४) तद्गुणसंविज्ञान और अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि का भेद प्रतिपादन करते हुए 'सर्वादीनि सर्वनामानि' सूत्र में इन में से किस का आश्रय किया जाता है वर्णन करो ? ।

(५) सर्वादिगणपठित त्रिसूत्री का पुनः अष्टाध्यायी में क्यों उल्लेख किया गया है ?

(६) निम्नलिखित परिभाषाओं का सोदाहरण विवेचन करें—

१ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम् । २ सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति । ३ यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते । ४ उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान् । ५ न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, न केवलः प्रत्ययः ।

(७) (क) 'सर्व, अर्ध, तृतीय, नेम, सम' शब्दों के षष्ठी बहुवचन में रूप सिद्ध करो ।

---

* यहां पुंलिङ्ग में यद्यपि सर्वनामसञ्ज्ञा का कोई फल नहीं तथापि स्त्रीलिङ्ग में 'द्वितीयस्यै, तृतीयस्यै' प्रयोगों में 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च' (२२०) सूत्र द्वारा स्याट् आगम तथा ह्रस्व होना फल है ।

(ख) 'उभ, अर्ध, द्वितय, द्वितीय, पूर्व, स्व अन्तर, एक' शब्दों के पञ्चमी के एकवचन में रूप सिद्ध करो ? ।

(ग) 'अवर, कतिपय, चरम, स्व, प्रथम' शब्दो के प्रथमा के बहुवचन मे रूप सिद्ध करो ? ।

सर्वादिगण के अदन्त शब्द यहा समाप्त होते हैं।

—०※०—

रामशब्द की अपेक्षा विशिष्ट उच्चारण वाले शब्दों मे 'निर्जर' शब्द का प्रमुखस्थान है। अत यहा अब उस का वर्णन किया जाता है—

निर्गतो जराया=निर्जर । ['निरादय' क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' इति समास, उपसर्जन-ह्रस्व ।] देवता को 'निजर' कहते हैं, क्योंकि वह जरा (बुढ़ापा) से रहित होता है।

प्रथमा के एकवचन में रामशब्द के समान 'निर्जर' रूप बनता है।

प्रथमा क द्विवचन में 'निजर + औ'। यहा अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१६१ जराया जरसन्यतरस्याम् ।७।२।१०१॥

अजादो विभक्तौ ।

अर्थ—अजादि विभक्ति परे होने पर जरा शब्द को विकल्प कर के जरस् आदेश हो।

व्याख्या—अचि ।७।१। ['अचि र ऋत' से] विभक्तौ ।७।१। ['अष्टन आ विभक्तौ' से] जराया ।६।१। जरस ।१।१। अन्यतरस्याम् ।७।१। विभक्तौ' का विशेषण होने से 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' द्वारा 'अचि पद से तदादिविधि हो 'अजादौ' बन जाता है। अर्थ—(अचि) अजादि (विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में (जराया) जरा शब्द के स्थान पर (जरस्) जरस् आदेश हो जाता है।

औ, जस् (अस), अम्, औट्, शस् (अस), टा (आ), ङे (ए), ङसि (अस्), ङस् (अस), ओस्, आम्, ङि (इ), ओस्—ये तेरह अजादि विभक्तिया हैं।

'निर्जर + औ' यहा अजादि विभक्ति परे है औ'। परन्तु यहा जरा शब्द नहीं 'निर्जर' शब्द वर्तमान है। इस का समाधान अग्रिम परिभाषा से करते हैं—

[लघु०] पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च (प)।

अर्थ—'पद' तथा 'अङ्ग' के अधिकार में जिस के स्थान पर आदेश विधान किया जाए, उस के तथा वह जिसके अन्त में है उस समुदाय के भी स्थान पर आदेश होता है।

व्याख्या—'पदस्य' यह अष्टमाध्याय के प्रथमपाद का सोलहवां सूत्र है। यह अधिकार-सूत्र है। इस का अधिकार 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' (८।३।५५) सूत्र तक जाता है। इसे पदाधिकार कहते है। ['अलुगुत्तरपदे' इत्ययमुत्तरपदाधिकारोऽपि पदाधिकारग्रहणेन गृह्यते' इति तत्त्वबोधिनीकारा श्रीज्ञानेन्द्रस्वामिनः ।]

'अङ्गस्य' यह छठे अध्याय के चौथे पाद का प्रथम सूत्र है। यह भी अधिकार सूत्र है। इस का अधिकार सातवें अध्याय की समाप्ति तक जाता है। इसे अङ्गाधिकार कहते है।

इन दोनों अधिकारो मे जिस के स्थान पर आदश का विधान किया गया हो उसके तथा वह जिस समुदाय के अन्त मे हो उस समुदाय के भी स्थान मे आदेश होता है।

'जराया जरसन्यतरस्याम्' (१६१) सूत्र अङ्गाधिकार मे पढा गया है। इस सूत्र में जरस् आदेश जरा के स्थान पर विधान किया गया है। अत वह अकेले जरा शब्द के स्थान पर भी होगा और जरा शब्द जिस के अन्त मे होगा ऐसे 'निर्जर' प्रभृति शब्दों के स्थान पर भी होगा।

अब 'अनेकाल्शित् सर्वस्य' (४४) सूत्र से सम्पूर्ण 'निर्जर' शब्द के स्थान पर जरस् आदेश प्राप्त होता हैं। इस पर अग्रिम-परिभाषा प्रवृत्त होती है—

[लघु०] निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति (प)।

अर्थ—जिस का निर्देश किया गया हो उस के स्थान पर ही आदेश होते हैं।

व्याख्या—सूत्र में जो साक्षात् निर्दिष्ट किया गया हो उस के स्थान पर ही आदेश करना चाहिये। अन्य के स्थान पर नहीं। 'जराया   ' सूत्र में जरस् आदेश जरा के स्थान पर ही कहा गया है, अत यह 'निर्जर' के अन्तर्गत 'जरा' के स्थान पर ही होगा सम्पूर्ण निर्जर के स्थान पर नहीं।

यहा यह शङ्का उत्पन्न होती है कि जब आदेश निर्दिश्यमान के स्थान पर ही करना अभीष्ट है तो पुन पूर्वोक्त तदन्तग्रहण परिभाषा का क्या लाभ ?। इस का उत्तर यह है कि तदन्तग्रहण परिभाषा से केवल इतना लाभ होता है कि प्रथम जो तदन्तों में आदेश की बिल्कुल प्राप्ति नही होती थी सो अब हो जाती है। यथा—यदि तदन्तग्रहणपरिभाषा न होती तो 'निर्जर' शब्द में जरस आदेश की बिल्कुल प्राप्ति ही न होती, क्योंकि वहां 'निर्जर' शब्द है, 'जरा' नहीं। अब इस परिभाषा से तदन्तघटित 'निर्जर' के जरा मे भी आदेश की प्रवृत्ति हो जाती है—यह यहां लाभ है।

अब यहा यह सन्देह होता है कि 'निर्जर' शब्द में 'जरा' नहीं 'जर' है। आदेश जरा के स्थान पर ही होता है अत यहां जरस नहीं होना चाहिये। इस अवचन को दूर करने के लिये अग्रिम-परिभाषा प्रवृत्त होती है—

[लघु०] एकदेशविकृतमनन्यवत् (प)। इति जरशब्दस्य जरस्—
निर्जरसौ, निर्जरस पक्षे हलादौ च रामवत्।

अर्थ—अवयव के विकृत हो जाने पर भी अवयवी अन्य के समान नहीं हो जाता।

व्याख्या—यह परिभाषा लोकन्याय पर आश्रित है। अर्थात् जैसे लोक म किसी कुत्ते की पूँछ कट जाने पर वह गधा घोडा नहीं हो जाता, वैसे कुत्ता ही रहता है इसी प्रकार यहा शास्त्र मे भी 'निजर' के अन्तर्गत जरा के जर हो जाने पर भी वह जरा ही रहता है कुछ अन्य नहीं हो जाता। इस से जर को भी जरस् हो जाता है।

निर्जर + औ' यहा 'जर' को 'जरस्' आदेश हो कर—'निर्जरस्+औ' = 'निर्जरसौ' रूप सिद्ध हो जाता है। पक्ष में रामशब्दवत् प्रक्रिया हो कर निजरौ' रूप बनता है। इसी प्रकार आगे भी अजादि विभक्तियों में समझ लेना चाहिये। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	निर्जर	निर्जरसौ, निर्जरौ	निर्जरसः, निर्जरा'
द्वितीया	निर्जरसम्, निर्जरम्	" "	", निर्जरान्
तृतीया	निर्जरसा, निर्जरेण	निर्जराभ्याम	निर्जरै
चतुर्थी	निर्जरसे, निर्जराय	"	निर्जरेभ्य
पञ्चमी	निर्जरस, निर्जरात्	"	"
षष्ठी	", निर्जरस्य	निर्जरसो', निर्जरयो'	निर्जरसाम्, निर्जराणाम्
सप्तमी	निर्जरसि, निर्जरे	" "	निर्जरेषु
सबोधन	हे निर्जर!	हे निर्जरसौ! हे निर्जरौ!	हे निर्जरसः!, हे निर्जरा:!

इसी प्रकार जराशब्दान्त 'दुर्जर' प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं।

ध्यान रहे कि—इन, आत्, स्य, य तथा नुट् आदियों से जरस् आदेश पर है, अत प्रथम जरस् आदेश प्रवृत्त हो कर तदनन्तर उन की प्रवृत्ति होगी। यदि प्रथम 'इन' आदि आदेश हो जाते तो टा में 'निर्जरसिन', ङसिँ में 'निर्जरसात्' तथा ङस्, ङे और आम् में हलादि हो जाने से जरस् आदेश न हो—'निर्जरस्य', निजराय' और 'निर्जराणाम्' यह एक एक रूप बन जाता।

प्रश्न—निर्जर शब्द से तृतीया का बहुवचन भिस् करने पर जब 'अतो भिस ऐस' (१४२) से भिस् को ऐस हो जाता है तब जरस आदेश क्यों नहीं होता ?।

उत्तर—"सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातस्य" [सन्निपात=सयोग, लक्षणम्=निमित्तं यस्य स सन्निपातलक्षणो विधिः। तम्=सन्निपातं विहन्तीति—तद्विघात, कर्मण्युपपदे कर्त्तर्यण्। तस्य अनिमित्तम्भवति——कारणन्न भवतीत्यर्थः।] जिसके विद्यमान होने पर जो कार्य हुआ हो वह कार्य उस निमित्त के विघातक कार्य में निमित्त नहीं हुआ करता। तथा अत्र——अदन्त अङ्ग निर्जर के होने से 'अतो भिस ऐस' (१४२) द्वारा भिस के स्थान में ऐस हुआ है। तो यह ऐस् आदेश——अदन्त अङ्ग को नष्ट करने वाले=जरस आदेश का निमित्त नहीं होगा—अर्थात् इसे मान कर जरस आदेश न हो सकेगा।

प्रश्न*—यदि ऐसा है तो 'रामाय' में 'सुपि च' (१४१) से दीर्घ आदेश भी न होना चाहिये। क्योंकि अदन्त अङ्ग को निमित्त मान कर उत्पन्न हुआ 'य' आदेश—अदन्तत्व के विघातक दीर्घ का निमित्त न हो सकेगा।

उत्तर—यह सत्य है, परन्तु पाणिनि के 'कष्टाय क्रमणे' (७२८) और भाष्यकार के 'धर्माय नियमः=धर्मनियमः' (पस्पशाह्निके) प्रभृति निर्देशों तथा सम्पूर्ण संस्कृतसाहित्य के अनुरोध से इस स्थल पर उपर्युक्त परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती।

[यहां अदन्त पुंल्लिङ्ग समाप्त होते हैं।]

— ❀ —

अब आकारान्त पुंल्लिङ्ग 'विश्वपा' शब्द का वर्णन करते हैं—

[लघु०] विश्वपाः।

व्याख्या—विश्वं पातीति—विश्वपाः। विश्वकर्मोपपद 'पा रक्षणे' (अदा०) धातु से 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' (७९९) सूत्र से विच् प्रत्यय हो उस का सर्वापहार लोप हो जाता है। संसार के रक्षक—परमात्मा को 'विश्वपा' कहते हैं। प्रथमा के एकवचन में सुँ प्रत्यय आ कर 'विश्वपा+सुँ' हुआ। अब उकार की इत्संज्ञा और लोप होने पर सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग हो कर 'विश्वपाः' प्रयोग सिद्ध होता है।

विश्वपा+औ' यहां 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि प्राप्त होने पर उसे बाध कर 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—१६२ दीर्घाज्जसि च।६।१।१०२॥

दीर्घाज्जसि इचि च परे न पूर्वसवर्णदीर्घः। वृद्धिः—विश्वपौ। विश्वपाः। हे विश्वपाः। विश्वपाम्। विश्वपौ।

अर्थ—दीर्घ से जस अथवा इच् प्रत्याहार परे होने पर पूर्वसवर्णदीर्घ आदेश नहीं होता।

व्याख्या—दीर्घात् ।५।१। जसि ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। इचि ।७।१। ['नादिचि' से] पूर्वपरयो ।६।२। एक ।१।१। ['एक पूर्वपरयो' यह अधिकृत है।] पूर्वसवर्ण ।१।१। ['प्रथमयो पूर्वसवर्णः' से] दीर्घः ।१।१। ['अक सवर्णे दीर्घः' से] न इत्यव्ययपदम्। ['नादिचि' से] अर्थ—(दीर्घात्) दीर्घ से (जसि) जस (च) अथवा (इचि) इच प्रत्याहार परे होने पर (पूर्वपरयो) पूर्व + पर के स्थान पर (पूर्वसवर्ण, दीर्घ, एक) पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश (न) नहीं होता।

'विश्वपा+औ' यहां पकारोत्तर आकार दीर्घ है। इस से परे औकार=इच् वर्त्तमान है। अत पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हो गया। तब वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश हो कर विश्वपौ' रूप सिद्ध हुआ।

प्रथमा के बहुवचन में—विश्वपा + जस् = विश्वपा + अस। इस अवस्था मे प्रकृतसूत्र से पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हो जाता है। तब 'अक सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ हो कर 'विश्वपा' प्रयोग सिद्ध होता ह।

प्रश्न—'विश्वपा+औ' में 'नादिचि' (१२७) से भी पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हो सकता है, तथा जस मे उस के हो जाने से भी कोई अनिष्ट नहीं होता, तो पुन 'दीर्घाज्जसि च' (१६२) सूत्र के बनाने की क्या आवश्यकता है?।

उत्तर—यद्यपि इस सूत्र का फल इस स्थान पर कुछ प्रतीत नहीं होता, तथापि 'पप्यौ, पप्य' आदि स्थानों पर इस का फल स्पष्ट होगा। यहा तो न्यायवशात् ही इसे लिख दिया गया है।

द्वितीया में—विश्वपा+अम्। पूर्वसवर्णदीर्घ को बाध कर 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप हो—'विश्वपाम्' प्रयोग बना।

द्वितीया के द्विवचन में 'विश्वपौ' प्रथमा के समान बनता है।

द्वितीया के बहुवचन में—विश्वपा+शस्=विश्वपा + अस। यहा पूर्वसवर्णदीर्घ को बाध कर अग्रिम कार्य होता है।

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—१६३ सुडनपुंसकस्य ।१।१।४२॥

स्वादिपञ्चवचनानि सर्वनामस्थानसञ्ज्ञानि स्युरक्लीबस्य ।

अर्थ—नपुंसकलिङ्ग से भिन्न अन्य लिङ्ग के सुँ आदि पाञ्च प्रत्यय सर्वनामस्थान सञ्ज्ञक होते हैं ।

व्याख्या—सुँट् ।१।१। अनपुंसकस्य ।६।१। सर्वनामस्थानम् ।१।१। ['शि सर्वनामस्थानम्' से] समास—न नपुंसकस्य=अनपुंसकस्य, नञ्समास । पर्युदासप्रतिषेध । अर्थ—(अनपुंसकस्य) नपुंसक से भिन्न अन्य लिङ्ग का (सुँट्) सुँट् प्रत्याहार (सर्वनामस्थानम्) सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक होता है ।

स्वौजसमौट् ' (११८) सूत्र के सुँ से लेकर औट के टकार तक सुँट् प्रत्याहार बनता है । इस मे 'सुँ, औ, जस, अम्, औट' इन पाञ्च प्रत्ययों का ग्रहण होता है । ये पाञ्च प्रत्यय पुलँलिङ्ग या स्त्रीलिङ्ग से परे हों तो इन की सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा होती है । अब अग्रिमसूत्र मे इस सञ्ज्ञा का उपयोग दर्शाते है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१६४ स्वादिष्वसर्वनामस्थाने ।१।४।१७।।

कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु पूर्वं पदं स्यात् ।

अर्थ—सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक प्रत्ययों को छोड़ कर 'सुँ' से लेकर 'कप्' पर्यन्त प्रत्ययों के परे होने पर पूर्वशब्दस्वरूप पदसञ्ज्ञक हो ।

व्याख्या—स्वादिषु ।७।३। असर्वनामस्थाने ।७।१। पदम् ।१।१। ['सुप्तिङन्तं पदम्' से] समास—सुँप्रत्यय आदिर्येषान्ते स्वादय, तेषु=स्वादिषु, बहुव्रीहिसमास । न सर्वनामस्थाने=असर्वनामस्थाने, नञ्समास । 'असर्वनामस्थाने' यह 'स्वादिषु' का विशेषण है । इस में एकवचन आर्ष समझना चाहिये । 'स्वादिषु' यह सप्तम्यन्त है । अत 'तस्मिन्निति ' (१६) परिभाषा से पूर्वशब्दसमुदाय ही पदसञ्ज्ञक होगा । अर्थ—(असर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान भिन्न (स्वादिषु) सुँ आदि प्रत्ययों के परे होने पर पूर्वशब्दसमुदाय (पदम्) पदसञ्ज्ञक होता है ।

चतुर्थ अध्याय के प्रथम प्रत्यय 'सुँ' से लेकर पाञ्चवें अध्याय के अन्तिम प्रत्यय कप्' तक सब प्रत्यय 'स्वादि' कहलाते हैं । इन स्वादि प्रत्ययों मे 'सुँ, औ, जस, अम, औट' इन पाञ्च प्रत्ययों की सर्वनामस्थान सञ्ज्ञा है । इन सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक पाञ्च प्रत्ययों से भिन्न अन्य स्वादि प्रत्यय यदि परे हों तो उन से पूर्वशब्दसमुदाय पदसञ्ज्ञक होता है ।

'विश्वपा + अस्' (शस्) यहां शस् प्रत्यय सर्वनामस्थान से भिन्न स्वादि है, अत इस के परे होने से पूर्वशब्दसमुदाय 'विश्वपा' की पदसञ्ज्ञा प्राप्त होती है । इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—१६५ यचि भम् ।१।४।१८॥

यकारादिषु अजादिषु च कप्प्रत्ययावधिषु स्वादिष्वसर्वनामस्थानेषु पूर्वं भसञ्ज्ञं स्यात् ।

अर्थ—सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक प्रत्ययों को छोड़ कर 'सु' से लेकर 'कप्' प्रत्यय पर्यन्त यकारादि और अजादि प्रत्यय परे होने पर पूर्वशब्दसमुदाय भसञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—असर्वनामस्थाने ।७।१। स्वादिषु ।७।३। ['स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' से] यचि ।७।१। भम् ।१।१। समास—य् च अच् च=यच्, तस्मिन्=यचि, समाहारद्वन्द्व ['समासान्तविधिरनित्य' इति 'द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्समाहारे' इति टच् न] । 'यस्मिन् विधि' परिभाषा से तदादिविधि हो कर 'यकारादिषु अजादिषु' ऐसा बन जायगा । यहां भी पूर्ववत् 'तस्मिन्निति' (१६) परिभाषा से पूर्वशब्दसमुदाय की ही भसञ्ज्ञा होगी। अर्थ—(असर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान से भिन्न (यचि) यकारादि या अजादि (स्वादिषु) स्वादि प्रत्यय परे हों तो (भम्) पूर्वशब्दसमुदाय भसञ्ज्ञक होता है।

'विश्वपा + अस्' (शस्) यहां 'अस्' प्रत्यय अजादि है अतः इस के परे होने से पूर्वशब्दसमुदाय 'विश्वपा' की भसञ्ज्ञा प्राप्त होती है।

अब यहां यह प्रश्न उठता है कि क्या जैसे लोक में एक व्यक्ति की दो सञ्ज्ञाएं देखी जाती हैं वैसे यहां भी शस् आदियों के परे होने पर पूर्व की पद और भ दोनों सञ्ज्ञाएं की जाएं या कोई एक ? यदि एक की जाय तो कौन सी एक ? इस पर अग्रिमसूत्र निर्णय करता है—

[लघु०] अधिकार-सूत्रम्—१६६ आकडारादेका सञ्ज्ञा ।१।४।१॥

इत ऊर्ध्वं 'कडाराः कर्मधारये' इत्यतः प्राग् एकस्यैकैव सञ्ज्ञा ज्ञेया, या पराऽनवकाशा च ।

अर्थ—इस सूत्र से लेकर 'कडाराः कर्मधारये' सूत्र तक एक की एक ही सञ्ज्ञा हो।

व्याख्या—यह प्रथमाध्याय के चतुर्थ पाद का पहला सूत्र है। यह अधिकार-सूत्र है। इस का अधिकार दूसरे अध्याय के दूसरे पाद के अन्तिमसूत्र 'कडाराः कर्मधारये' (२।२।३८) तक जाता है। इस प्रकार इस के अधिकार में तीन पाद होते हैं। आ इत्यव्ययपदम् । कडारात् ।५।१। एका ।१।१। सञ्ज्ञा ।१।१। अर्थ—(कडारात्) 'कडाराः कर्मधारये' सूत्र (आ) तक (एका) एक (सञ्ज्ञा) सञ्ज्ञा हो।

'कडाराः' सूत्र तक यदि एक ही सञ्ज्ञा करेंगे तो शेष सब सञ्ज्ञाएं जो युग

ने उस सूत्र तक की हैं व्यर्थ हो जाएगी, अत यहा 'एक की एक ही सञ्ज्ञा हो दो न हों'*
ऐसा मुनि का अभिप्राय समझना चाहिये।

अब पुन सशय उठता है कि इस सूत्र से 'एक की एक सञ्ज्ञा हो दो न हो' यह तो निर्णीत हो गया परन्तु कौन सी सञ्ज्ञा हो ? यह सन्देह वैसे का वैसा बना रहता है। इस का ग्रन्थकार समाधान करते हैं कि—

"या पराऽनवकाशा च"

अर्थात् जो पर या निरवकाश हो—वह हो। यदि दोनो सञ्ज्ञाए सावकाश [भिन्न भिन्न स्थानों पर प्रवृत्त हो चुकी] हों तो पर सञ्ज्ञा और यदि एक सावकाश और एक अनवकाश [जिसे प्रवृत्त होने के लिये कोई स्थान न मिला हो] हो तो वह अनवकाश सञ्ज्ञा ही हो।

ग्रन्थकार का ऐसा लिखना युक्त ही है। जहा दोनो सञ्ज्ञाए सावकाश होंगी वहा विप्रतिषेध होने से 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) द्वारा पर सञ्ज्ञा ही होनी चाहिये। जहा एक सावकाश और एक निरवकाश होगी वहा निरवकाश सञ्ज्ञा को ही स्थान देना युक्तिसङ्गत है *। क्योंकि यदि सावकाश सञ्ज्ञा वहा पर भी अनवकाशसञ्ज्ञा को न होने दे तो उस अनवकाश सञ्ज्ञा का करना ही व्यर्थ हो जाय। अत अनवकाश और सावकाश दोनों के एक साथ एक ही स्थान पर प्राप्त होने पर अनवकाश सञ्ज्ञा ही होगी †।

प्रकृत में पद सञ्ज्ञा को भ्याम् आदि म अवकाश=स्थान प्राप्त है, क्योंकि वहा अजादि और यकारादि के न होने से भ सञ्ज्ञा प्राप्त नहीं हो सकती। परन्तु भ सञ्ज्ञा अनवकाश है अर्थात् इसे कोई स्थान नहीं मिलता, क्योंकि जब यह यकारादियों और अजादियों में प्रवृत्त होने लगती है तब पद सञ्ज्ञा भी उपस्थित हो जाती है। अत यहा पूर्वकथितनियमानुसार अनवकाशसञ्ज्ञा का होना ही युक्त है। तो इस प्रकार यह निर्णय हुआ कि—यकारादि और अजादि प्रत्यय परे होने पर भ सञ्ज्ञा तथा शेष हलादि प्रत्ययों के परे होने पर पद सञ्ज्ञा हो। हम बालकों के ज्ञान के लिये इसे और अधिक स्पष्ट करते हैं—

(१) 'सुँ, औ, जस्, अम्, औट्' इन पाञ्चों के परे रहते न तो पदसञ्ज्ञा होती है और न भसञ्ज्ञा। परन्तु ध्यान रहे कि पुंलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग तक ही यह नियम सीमित है नपुंसकलिङ्ग में नहीं क्योंकि इन की सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा इन दो ही लिङ्गों में

* लोक में भी ऐसा देखा जाता है। यथा—यदि भूखे और तृप्त के मध्य अन्नदान का प्रश्न उपस्थित होतो भूखे को ही अन्न देना उचित समझा जाता है, क्योंकि वही अन्न का अधिकारी है।

† दो अनवकाश सञ्ज्ञाओं की किसी एक रूप में युगपत् प्राप्ति इस प्रकरण में कहीं नहीं देखी जाती, अत उस की चर्चा नहीं की गई है।

की गई है। नपुंसक में सुँ पर रहते पद तथा औं अम् पर रहते भ सञ्ज्ञा होती है। जस के स्थान पर नपुंसक में 'शि' आदेश हो जाया करता है, उस की 'शि सर्वनामस्थानम्' (२३८) से सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा होती है, अतः उस के परे रहते न तो पद सञ्ज्ञा होती है और न भ सञ्ज्ञा।

(२) शस्, टा, ङे, ङसिँ ङस् ओस् आम् ङि—इन के परे रहने पर पूर्व की भसञ्ज्ञा होती है; क्योंकि ये सर्वनामस्थान से भिन्न होते हुए अजादि स्वादि हैं। ध्यान रहे कि अनुबन्धों का लोप कर देने से शस् आदि प्रत्यय अजादि हो जाते हैं।

(३) यदि आम् विशुद्ध अर्थात् नुट् आगम से रहित हो तो उस से पूर्व भसञ्ज्ञा होती है। अन्यथात्व होने पर अजादि न होने से पदसञ्ज्ञा ही हो जाती है। यथा वनानाम् में पदसञ्ज्ञा हुई है।

(४) उपर्युक्त सुँप् प्रत्ययों के अतिरिक्त अन्य सुँप् प्रत्ययों (भ्याम्, भिस्, भ्यस्, नुट् सहित आम्, सुप्) के परे रहते पूर्व की पदसञ्ज्ञा होती है।

यहां यह सुँबन्तप्रक्रियोपयोगी विवरण ही लिखा है। विद्यार्थियों को चतुर्थ तथा पञ्चम अध्यायों में स्थित अन्यान्य प्रत्ययों के विषय में भी पूर्वोक्त आधार से व्यवस्था समझ लेनी चाहिये। यह विषय व्याकरण में अत्यन्त महत्त्व वाला है अतः छात्रों को इस का पुनः पुनः अभ्यास करना आवश्यक है।

तो इस प्रकार 'विश्वपा + अस्' यहां भसञ्ज्ञा हुई। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१६७ आतो धातोः ।६।४।१४०॥

आकारान्तो यो धातुस्तदन्तस्य भस्याङ्गस्य लोपः। अलोऽन्त्यस्य। विश्वपः। विश्वपा। विश्वपाभ्याम् इत्यादि।

अर्थः—आकारान्त धातु जिस के अन्त में हो ऐसे भसञ्ज्ञक अङ्ग का लोप हो जाता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से अङ्ग के अन्त्य अल्—आकार का ही लोप होगा।

व्याख्या—आतः ।६।१। धातोः ।६।१। भस्य ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। [ये दोनों अधिकृत हैं] लोपः ।१।१। ['अल्लोपोऽनः' से] 'आतः' यह 'धातोः' का तथा 'धातोः' यह 'भस्य' का विशेषण है, अतः विशेषणों से तदन्तविधि हो जाती है। अर्थः—(आतः) आकारान्त (धातोः) धातु जिस के अन्त में हो ऐसे (भस्य) भसञ्ज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग का (लोपः) लोप हो जाता है। 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) परिभाषा से अङ्ग के अन्त्य अल्—आकार का ही लोप होगा।

'विश्वपा + अस्' यहां आकारान्त धातु 'पा' है तदन्त भसञ्ज्ञक अङ्ग 'विश्वपा' है। इस के अन्त्य अल् आकार का लोप कर रुत्व विसर्ग करने से 'विश्वपः' प्रयोग सिद्ध होता है।

विश्वपा+आ (टा) यहां भी अन्त्य आकार का लोप हो कर 'विश्वपा' रूप सिद्ध होता है।

अजादि विभक्तियों में इसी प्रकार आकार का लोप होगा, हलादि विभक्तियों में कोई विशेष कार्य नहीं होगा। रूपमाला यथा—

प्र०	विश्वपा	विश्वपौ	विश्वपाः	प०	विश्वपः❀	विश्वपाभ्याम्	विश्वपाभ्यः
द्वि०	विश्वपाम्	,,	विश्वपः❀	ष०	,, ❀	विश्वपोः❀	विश्वपाम्❀
तृ०	विश्वपा❀	विश्वपाभ्याम्	विश्वपाभिः	स०	विश्वपि❀	,, ❀	विश्वपासु
च०	विश्वपे❀	,,	विश्वपाभ्यः	सं०	हे विश्वपाः!	हे विश्वपौ!	हे विश्वपाः!

❀ इन स्थानों पर आकार का लोप होता है।

[लघु०] एवं शङ्खध्मादयः।

व्याख्या—शङ्खं धमतीति—शङ्खध्माः, शंख बजाने वाला। 'शङ्खध्मा' आदि शब्दों के रूप भी 'विश्वपा' के समान होते हैं। आदि से—सोमपा, मधुपा कीलालपा आदि शब्दों का ग्रहण जानना चाहिये।

[लघु०] धातोः किम्? हाहान्। हाहै। हाहाः २। हाहौ २। हाहाम्। हाहे।

व्याख्या—'आतो धातोः' (१६७) में—धातु के आकार का लोप होता है—यह क्या कहा गया है? इसलिये कि 'हाहान्' आदि में 'हाहा' शब्द के आकार का लोप न हो जाय। तथाहि—'हाहा' शब्द अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है। इस का अर्थ है 'गन्धर्व विशेष'। 'हाहाहूहूश्चैवमाद्या गन्धर्वास्त्रिदिवौकसाम्' इत्यमरः। यह शब्द किसी धातु से निष्पन्न नहीं होता अतः शसादियों में भसञ्ज्ञा होने पर भी इस के आकार का लोप नहीं होता। 'हाहा' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	हाहाः	हाहौ	हाहाः	प०	हाहाः†	हाहाभ्याम्	हाहाभ्यः
द्वि०	हाहाम्	,,	हाहान्❀	ष०	,, †	हाहौः‡	हाहाम्†
तृ०	हाहा†	हाहाभ्याम्	हाहाभिः	स०	हाहे*	,, ‡	हाहासु
च०	हाहै‡	,,	हाहाभ्यः	सं०	हे हाहाः!	हे हाहौ!	हे हाहाः!

सर्वनामस्थानप्रत्ययों में विश्वपावत् प्रक्रिया होती है।

❀ पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर शस् के सकार का नकार हो जाता है।

† इन सब स्थानों पर 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) प्रवृत्त होता है।

‡ इन स्थानों पर 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश होता है।

* यहां 'आद् गुणः' (२७) से गुण हो जाता है।

अभ्यास (२७)

(१) निम्नलिखित वचनों का सोदाहरण विवेचन करो—

१ या पराऽनवकाशा च। २ पदाङ्गाधिकारे तस्य च तन्तस्य च। ३ निर्दिश्यमान स्यादेशा भवन्ति। ४ एकदेशविकृतमनन्यवत्। ५ सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्त तद्विघातस्य।

(२) (क) 'निजरै' में जरस् आदेश क्यों नहीं होता ?

(ख) हाहा प्रयोग कहां २ बनता है ?

(ग) सर्वनाम और सर्वनामस्थान में भेद बताओ।

(घ) 'हाहान्' में आकारलोप क्यों नहीं हुआ ?

(ङ) सुँपों में अजादि प्रत्यय कितने और कौन २ से हैं ?

(३) निम्नलिखित अधिकारों की अवधि बताओ—

१ पदाधिकार। २ अङ्गाधिकार। ३ एकसञ्ज्ञाधिकार। ४ प्रत्ययाधिकार। ५ एकादेशाधिकार।

(४) सुँप प्रत्ययों के परे रहते कहां २ भसञ्ज्ञा और कहां २ पदसञ्ज्ञा होती है ?।

(५) दीर्घाज्जसि च' सूत्र के विना भी क्या विश्वपौ आदि प्रयोग सिद्ध हो सकते हैं ? यदि हां ! तो सूत्र रचने की क्या आवश्यकता ?।

(६) निजर, हाहा और सोमपा शब्दों की रूपमाला लिखो।

(७) विश्वपो, निर्जरस हाहौ' प्रयोगों की ससूत्र साधनप्रक्रिया लिखो।

[यहां आकारान्त पुंल्लिङ्ग समाप्त होते हैं]

—•※•—

[लघु०] हरिः। हरी।

व्याख्या—अब ह्रस्व इकारान्त शब्दों का वर्णन करते हैं। हरि' शब्द के कोषों में अनेक अर्थ लिखे हैं। यथा—

"हरिर्विष्णावहाविन्द्रे भेके सिंहे हये रवौ।
चन्द्रे कोले प्लवङ्गे च यमे वाते च कीर्त्तित ॥"

हरि शब्द के बारह अर्थ होते हैं—(१) भगवान् विष्णु, (२) साँप, (३) इन्द्र, (४) मेंडक, (५) शेर, (६) घोड़ा (७) सूर्य, (८) चन्द्र, (९) सूअर, (१०) वानर, (११) यमराज, (१२) वायु।

प्रथमा के एकवचन में—हरि+सुँ=हरि + स । सकार को रुँत्व और रेफ को विसर्ग करने से 'हरि:' प्रयोग बना ।

प्रथमा के द्विवचन में 'हरि + औ' । इस अवस्था में 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ इकार हो कर 'हरी' रूप बनता है ।

प्रथमा के बहुवचन में—'हरि + अस्' (जस्) । इस अवस्था में पूर्वसवर्णदीर्घ को बाध कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१६८ जसि च ।७।३।१०६॥

ह्रस्वान्तस्याङ्गस्य गुणः । हरयः ।

अर्थः—जस् परे होने पर ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण हो जाता है ।

व्याख्या—जसि ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । ह्रस्वस्य ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] गुणः ।१।१। ['ह्रस्वस्य गुणः' से] विशेषण होने से 'ह्रस्वस्य' से तदन्तविधि होती है । अर्थः—(जसि) जस् परे होने पर (ह्रस्वस्य) ह्रस्वान्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (गुणः) गुण हो जाता है । अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह गुण अङ्ग के अन्त्य वर्ण के स्थान पर होगा ।

'हरि+अस्' यहां ह्रस्वान्त अङ्ग 'हरि' है । इस से परे जस् वर्त्तमान है । अतः प्रकृतसूत्र द्वारा अङ्ग के अन्त्य अल्—इकार के स्थान पर एकार गुण हो गया । 'हरे + अस' इस स्थिति में 'एचोऽयवायावः' (२२) से एकार को अय् आदेश हो कर रुत्व विसर्ग करने से—'हरयः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

सम्बोधन के एकवचन में—'हे हरि + स' । 'एकवचनं सम्बुद्धिः' (१३२) से सम्बुद्धिसञ्ज्ञा होकर 'एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' (१३४) से सकारलोप प्राप्त होता है । इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१६६ ह्रस्वस्य गुणः ।७।३।१०८॥

सम्बुद्धौ । हे हरे ! । हरिम् । हरीन् ।

अर्थः—सम्बुद्धि परे होने पर ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण हो जाता है ।

व्याख्या—सम्बुद्धौ ।७।१। ['सम्बुद्धौ च' से] ह्रस्वस्य ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] गुणः ।१।१। 'ह्रस्वस्य' से तदन्तविधि हो जाती है । अर्थः—(सम्बुद्धौ) सम्बुद्धि परे होने पर (ह्रस्वस्य) ह्रस्वान्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (गुणः) गुण हो जाता है । अलोऽन्त्यपरिभाषा द्वारा यह गुण अङ्ग के अन्त्य अल् के स्थान पर होगा ।

हे हरि+स्' यहां सम्बुद्धि पर है, अत ह्रस्वान्त अङ्ग हरि' के अन्त्य इकार का एकार गुण हो जाता है। तब अङ्ग के एङन्त हो जाने से 'एङ्ह्रस्वात्   ' (१३४) सूत्र से सम्बुद्धि का लोप हो कर 'हे हर !' प्रयोग सिद्ध हुआ।

द्वितीया के एकवचन मे हरि+अम्' इस अवस्था में 'अमि पूर्वः (१३५) से पूर्वरूप एकादेश हो कर 'हरिम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

द्वितीया के द्विवचन में प्रथमावत् 'हरी' रूप बनता है।

बहुवचन में 'हरि+अस्' (शस) इस दशा में 'प्रथमयो पूर्वसवर्णः' (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ ईकार हो कर 'तस्माच्छसो न पु सि' (१३७) से सकार को नकार करने पर हरीन्' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहां पदान्तस्य' (१३८) से नकार को णकार का निषेध हो जाता है।

'हरि+आ (टा)' यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१७० शेषो घ्यसखि।१।४।७॥

शेष इति स्पष्टार्थम्। अनदीसञ्ज्ञौ ह्रस्वौ याविदुतौ तदन्त सखिवर्जं घिसञ्ज्ञम्।

अर्थः—जिन की नदीसञ्ज्ञा नहीं ऐसे जो ह्रस्व इकार और उकार तदन्त शब्दों की घिसञ्ज्ञा होती है परन्तु सखि' शब्द की नहीं होती।

व्याख्या—शेष ।१।१। ह्रस्व ।१।१। [ङिति ह्रस्वश्च' से] यू ।१।२। [यू स्त्र्याख्यौ नदी से] घि ।१।१। असखि ।१।१। समास —इश्च उश्च, यू, इतरेतरद्वन्द्व । न सखिः= असखि नञ्तत्पुरुष । इस सूत्र से पूर्व विशेष २ अवस्थाओं में ह्रस्व की नदी सञ्ज्ञा की गई है अत जिस ह्रस्व की नदी सञ्ज्ञा नहीं की गई वह ह्रस्व यहां 'शेष ' पद से गृहीत किया गया है। 'शेष ह्रस्व ' ये यू' के प्रत्येक के साथ अन्वित होते हैं। अर्थात् शेष ह्रस्व इकार, शेष ह्रस्व उकार' यह इन का अर्थ है। 'शब्दस्वरूपम्' इस विशेष्य का ऊपर से अध्याहार कर लिया जाता है। 'शेष ह्रस्व' यू' ये उस के विशेषण बना दिये जाते हैं। तब विशेषण से तदन्तविधि हो जाती है। अर्थ —(शेष) जिन की नदीसञ्ज्ञा नहीं ऐसे (ह्रस्व) ह्रस्व (यू) इकार उकार जिन के अन्त में हैं वे शब्दस्वरूप (घि) घिसञ्ज्ञक होते हैं परन्तु (असखि) सखि शब्द नहीं होता।

कहां २ नदीसञ्ज्ञा नहीं होती ?

(१) पुल्लिङ्ग में ह्रस्व इकारान्त तथा ह्रस्व उकारान्त शब्द नदीसञ्ज्ञक नहीं होते। यथा—हरि अरि, भानु गुरु आदि।

(२) स्त्रीलिङ्ग मे ङित् विभक्तियों के परे रहते जिस पक्ष में 'ङिति ह्रस्वश्च' (२२२) द्वारा नदीसञ्ज्ञा नहीं होती।

इन दो स्थानों के अतिरिक्त अन्य सब स्थानों पर ह्रस्व इकारान्त उकारान्त शब्दों की नदीसञ्ज्ञा हो जाती है। अतः उपर्युक्त दो स्थान ही इस सूत्र के विषय हो सकते हैं।

सूत्र में 'शेष' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि नदी सञ्ज्ञा करने से जो शेष ह्रस्व इकारान्त और ह्रस्व उकारान्त शब्द रहें उन की ही घिसञ्ज्ञा हो अन्यों की न हो। परन्तु यह प्रयोजन 'शेष' ग्रहण के बिना भी सिद्ध हो सकता है। क्योकि घिसञ्ज्ञा सामान्य होने से उत्सर्ग और 'ङिति ह्रस्वश्च' (२२२) द्वारा विहित नदीसञ्ज्ञा विशेष होने से अपवाद है। अपवाद के विषय को छोड कर ही उत्सर्ग प्रवृत्त हुआ करते हैं। इस से प्रथम नदीसञ्ज्ञा हो कर शेष अवशिष्टों की ही घिसञ्ज्ञा सुतरां प्राप्त हो जायगी। इस के लिये 'शेष' पद के ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं। तथापि यहां मुनि ने बात को बिल्कुल स्पष्ट करने के लिये 'शेष' का ग्रहण कर दिया है। अर्थात् मुनि ने यह समझा कि कदाचित् मन्दमति लोग इस बात को न समझ सकें अतः 'शेष' पद लिख कर स्पष्ट कर देना उचित है।

'हरि' शब्द की नदीसञ्ज्ञा नहीं होती अतः इस की घि-सञ्ज्ञा हुई। अब घिसञ्ज्ञा का फल दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१७१ आङो नाऽस्त्रियाम् ।७।३।१२०॥

घेः परस्याङो ना स्यादस्त्रियाम्। आङ् इति टासञ्ज्ञा। हरिणा। हरिभ्याम्। हरिभिः।

अर्थः—घिसञ्ज्ञक से परे आङ का ना आदेश हो परन्तु स्त्रीलिङ्ग में नहीं। 'आङ' यह टा की सञ्ज्ञा है।

व्याख्या—घेः ।५।१। ['अच्च घेः' से] आङः ।६।१। ना ।१।१। [विभक्तिलोप आर्ष] अस्त्रियाम् ।७।१। समास—न स्त्रियाम्=अस्त्रियाम्, नञ्तत्पुरुष। अर्थ—(अस्त्रियाम्) स्त्रीलिङ्ग से भिन्न अन्य लिङ्ग मे (घेः) घिसञ्ज्ञक से परे (आङः) आङ के स्थान पर (ना) ना आदेश होता है।

पाणिनि से पूर्ववर्त्ती आचार्य टा को 'आङ' कहते चले आ रहे हैं। पाणिनि ने भी यहां उसी सञ्ज्ञा का व्यवहार किया है।

'हरि+आ' यहां घिसञ्ज्ञक है 'हरि'। इस से परे टा को ना हो 'अट्कुप्वाङ्' (१३८) सूत्र से नकार को णकार करने पर 'हरिणा' प्रयोग सिद्ध होता है।

द्विवचन में 'हरिभ्याम्' और बहुवचन में 'हरिभिः' सिद्ध होते हैं।

चतुर्थी के एकवचन में—हरि+ए (ङे)। यहां घिसञ्ज्ञा हो कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१७२ घेर्ङिति ।७।३।१११॥

घिसञ्ज्ञकस्य ङिति सुपि गुणः । हरये ।

अर्थः—ङित् सुप् परे रहते घिसञ्ज्ञक को गुण हो।

व्याख्या—घेः ।६।१। गुणः ।१।१। ['ह्रस्वस्य गुणः' से] ङिति ।७।१। सुपि ।७।१। ['सुपि च' से] अर्थः—(ङिति) ङित् (सुपि) सुँप् परे होने पर (घेः) घिसञ्ज्ञक के स्थान पर (गुणः) गुण आदेश होता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से गुण अङ्ग के अन्त्य वर्ण को ही होगा।

'हरि + ए' यहां घिसञ्ज्ञक हरि है। इस से परे ङित् सुँप् 'ए' है। अतः घि के अन्त्य वर्ण इकार के स्थान पर एकार गुण हो कर—'हरे + ए' बना। अब इस स्थिति में 'एचोऽयवायावः' (२२) से रेफोत्तर एकार को अय् होकर 'हरये' प्रयोग सिद्ध हुआ।

द्विवचन में 'हरिभ्याम्' और बहुवचन में 'हरिभ्यः' रूप बनते हैं।

पञ्चमी के एकवचन में 'हरि + अस्' (ङसिँ)। यहां घिसञ्ज्ञा हो कर 'घेर्ङिति' (१७२) सूत्र से इकार को एकार गुण हुआ। तब 'हरे + अस्' इस स्थिति में पदान्त न होने से 'एङः पदान्तादति' (४३) से पूर्वरूप नहीं हो सकता। 'एचोऽयवायावः' (२२) से अय् आदेश प्राप्त होता है। इस पर इस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१७३ ङसिँ-ङसोश्च ।६।१।१०७॥

एङो ङसिँ-ङसोरति पूर्वरूपमेकादेशः । हरेः २ । हर्योः । हरीणाम् ।

अर्थः—एङ् (ए, ओ) से ङसिँ या ङस् का अकार परे हो तो पूर्व + पर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश हो।

व्याख्या—एङः ।५।१। ['एङः पदान्तादति' से] ङसिँ-ङसोः ।६।२। च इत्यव्ययपदम्। अति ।७।१। ['एङः पदान्तादति' से] पूर्व-परयोः ।६।२। एकः ।१।१। ['एकः पूर्वपरयोः' यह अधिकृत है] पूर्वः ।१।१। ['अमि पूर्वः' से] अर्थः—(एङः) एङ् प्रत्याहार से (ङसिँ-ङसोः) ङसिँ अथवा ङस् का (अति) अत् परे हो तो (पूर्वपरयोः) पूर्व + पर के स्थान पर (एकः) एक (पूर्वः) पूर्व वर्ण आदेश होता है।

'हरे + अस्' यहां एकार एङ् से ङसिँ का अकार परे है अतः पूर्व + पर के स्थान पर एकार पूर्वरूप हो कर सकार को रुत्व विसर्ग करने से 'हरेः' प्रयोग सिद्ध हुआ।

आकार का उदाहरण 'भानो' आगे आएगा।

षष्ठी के एकवचन में पूर्ववत् 'हरे' रूप बनता है।

द्विवचन मे 'हरि + ओस्' इस दशा में 'इको यणचि' (१५) से यण हो कर सकार का रुँत्व विसर्ग करने पर 'हर्योः' रूप बनता है।

बहुवचन में 'हरि + आम्'। यहां ह्रस्वान्त अङ्ग 'हरि' है अतः 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' (१४८) से आम् को नुट् का आगम हो अनुबन्धलोप और 'नामि' (१४६) से दीर्घ करने पर 'हरी + नाम्'। अब 'अट्कुप्वाङ्...' (१३८) सूत्र से नकार को णकार करने से—'हरीणाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

सप्तमी के एकवचन में—हरि + इ (ङि)। यहां घिसञ्ज्ञा हो कर 'घेर्ङिति' (१७२) से गुण प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१७४ अच्च घेः ।७।३।११९॥

इदुद्भ्यामुत्तरस्य ङेरौत्, घेरत्। हरौ। हर्योः। हरिषु। एवं कव्यादयः।

अर्थः—ह्रस्व इकार तथा ह्रस्व उकार से परे ङि को औत् और घि को 'अत्' आदेश हो।

व्याख्या—इदुद्भ्याम् ।५।२। ['इदुद्भ्याम्' से] ङेः ।६।१। ['ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' से] औत् ।१।१। ['औत्' से] घेः ।६।१। अत् ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। अर्थः—(इदुद्भ्याम्) ह्रस्व इकार तथा ह्रस्व उकार से परे (ङेः) ङि के स्थान पर (औत्) औ आदेश हो (च) तथा (घेः) घिसञ्ज्ञक के स्थान पर (अत्) ह्रस्व अकार आदेश हो। अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह अत् आदेश घि के अन्त्य अल् को ही होगा।

'हरि+इ' यहां इस सूत्र से ङि (इ) को 'औ' और घिसञ्ज्ञक 'हरि' शब्द के इकार के स्थान पर अकार आदेश हुआ। तब 'हर+औ' इस दशा मे 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश हो कर 'हरौ' रूप सिद्ध हुआ।

द्विवचन में पूर्ववत् 'हर्योः' रूप सिद्ध होता है।

सप्तमी के बहुवचन में 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से प्रत्यय के अवयव सकार को षकार हो 'हरिषु' प्रयोग सिद्ध होता है। समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	हरिः	हरी	हरयः	पं०	हरेः	हरिभ्याम्	हरिभ्यः
द्वि०	हरिम्	"	हरीन्	ष०	"	हर्योः	हरीणाम्
तृ०	हरिणा	हरिभ्याम्	हरिभिः	स०	हरौ	"	हरिषु
च०	हरये	"	हरिभ्यः	सं०	हे हरे !	हे हरी !	हे हरयः !

इसी प्रकार कवि आदि शब्दों की प्रक्रिया होती है। बालकोपयोगी कुछ शब्दों का संग्रह यहां दे रहे हैं—

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
१ अग्नि	आग	चक्रपाणि	भगवान् विष्णु	५५बालधि	पूंछ
अङ्घ्रि❀	चरण	चरणग्रन्थि	गिट्टा	बृहस्पति	देवगुरु
अञ्जलि	जुड़े हुए दोनों	चूडामणि	शिरोरत्न	भर्तृहरि❀	प्रसिद्ध राजा
	हाथ	३०जठराग्नि	पेट की अग्नि	भागुरि❀	एक मुनि
अतिथि	मेहमान	जलधि	समुद्र	भारवि❀	एक कवि
५ अद्रि❀	पहाड़	ज्ञाति	रिश्तेदार	६० भूपति	राजा
अराति	शत्रु	दिनमणि	सूर्य	मणि	मणि
अरि❀	शत्रु	दिवाकीर्त्ति	नापित	मरीचि	किरण
अलि	भ्रमर	३५दुन्दुभि	नगारा	मातलि	इन्द्र का सारथि
अवधि	सीमा	दुर्मति	दुष्ट बुद्धि वाला	मारुति	हनुमान्
१०असि	तलवार	धूर्जटि	शिव	६५मुनि	मुनि
आधि	मानसिक पीड़ा	धन्वन्तरि❀	प्रसिद्ध वैद्य	मृगपति	शेर
इषुधि	तरकस	ध्वनि	आवाज	मेधातिथि	मनुस्मृति के
उडुपति	चन्द्र	४०नमुचि	एक दैत्य		एक टीकाकार
उदधि	समुद्र	निधि	खजाना	मौलि	सिर
१५उपाधि	उपाधि	निशापति	चन्द्र	यति	सन्यासी
उषापति	सूर्य	नृपति	राजा	७०ययाति	प्रसिद्ध राजा
ऊर्मि❀	लहर	पत्ति	पैदल सेना	रमापति	भगवान् विष्णु
ऋषि❀	मन्त्रद्रष्टा	४५पयोधि	समुद्र	रवि❀	सूर्य
कपि	वानर	पयोराशि	समुद्र	रश्मि	किरण
२०कलानिधि	चन्द्र	परिधि	गोल दाइरा	राशि	ढेर
कलि	झगड़ा	पवि	वज्र	७५रोहिणी	
कवि	कविता करने	पशुपति	शिव	पति	चन्द्र
	वाला	५०पाणि	हाथ	वकवृत्ति	स्वार्थी
कुपीटयोनि	अग्नि	पाणिनि	प्रसिद्ध मुनि	वह्नि	आग
कृमि❀	कीड़ा	प्रजापति	ब्रह्मा	वाक्पति	बृहस्पति
२५गिरि	पहाड़	प्रणिधि	दूत	वारिधि	सागर
ग्रन्थि	गाँठ	प्रतिनिधि	नुमाइन्दा	८०वारिराशि	समुद्र

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अ ी
वाल्मीकि	सुप्रसिद्ध मुनि	शेवधि	निधि पद्म आदि	सभापति	सभा का प्रधान
व्याधि	बीमारी	सनाभि	ज्ञात भाई	९५सारथि	रथ वाहक
विधि	दैव	९०सन्धि	मल	सुगन्धि	इष्ट गन्ध से
व्रीहि	चावल	सप्तसप्ति	सूर्य		युक्त
८९शकुनि	पक्षी	सप्ति	घोडा	सुमति	श्रेष्ठ बुद्धि वाला
शाल्मलि	सेंबल का वृक्ष	समाधि	योग का एक	सूरि॰	विद्वान्
शतरश्मि	चन्द्र		श्र३	सेनापति	सेना नायक

१०० हिमगिरि॰ = हिमालय

हरि शब्द की अपेक्षा सखि, पति, कति त्रि और द्वि शब्दों में कुछ अन्तर पडता है अतः अब इन का क्रमशः वर्णन किया जाता है। प्रथम सखि (मित्र) शब्द यथा—

शेषो घ्यसखि' (१७०) सूत्र से 'सखि' शब्द की घिसञ्ज्ञा नहीं होती। प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा होकर इस से स्वादि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं। प्रथमा के एकवचन मे—सखि + सुँ = सखि + स्। इस अवस्था मे अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१७५ अनङ् सौ ।७।१।९३॥

सख्युरङ्गस्यानङादेशोऽसम्बुद्धौ सौ ।

अर्थ—सम्बुद्धिभिन्न सुँ परे रहते अङ्गसञ्ज्ञक सखि शब्द के स्थान पर अनङ् आदेश हो।

व्याख्या—सख्युः ।६।१। ['सख्युरसम्बुद्धौ' से] अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] अनङ् ।१।१। असम्बुद्धौ ।७।१। ['सख्युरसम्बुद्धौ' से] सौ ।७।१। यहां 'सौ' से प्रथमा के एकवचन का ग्रहण होता है सप्तमी के बहुवचन का नहीं क्योंकि सप्तमी का बहुवचन मानने से 'असम्बुद्धौ' निषेध व्यर्थ हो जाता है। अर्थ—(असम्बुद्धौ) सम्बुद्धिभिन्न (सौ) सुँ परे होने पर (अङ्गस्य) अङ्गसञ्ज्ञक (सख्युः) सखि शब्द के स्थान पर (अनङ्) अनङ् आदेश हो।

अनङ् में ङकार इत् है। नकारोत्तर अकार उच्चारणार्थ है। ङित् होने के कारण 'ङिच्च' (४६) द्वारा यह अनङ् आदेश सखि शब्द के अन्त्य अल्=इकार के स्थान पर होगा।

'सखि + स' यहां सुँ परे है, अतः इकार को अनङ् आदेश हो अङ् के चले जाने पर—सख् अन् + स्='सखन् + स्' हुआ। इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—१७६ अलोऽन्त्यात् पूर्व उपधा ।१।१।६४॥

अन्त्यादल पूर्वो वर्ण उपधा-सञ्ज्ञः ।

अर्थ —अन्त्य अल से पूर्व वर्ण उपधासञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—अन्त्यात् ।५।१। अल ।५।१। पूर्व ।१।१। उपधा ।१।१। अर्थ—(अन्त्यात्) अन्त्य (अल) अल से (पूर्व) पूर्व वर्ण (उपधा) उपधासञ्ज्ञक हो।

अल् प्रत्याहार में सब वर्ण आ जाते हैं अतः अल और वर्ण पर्यायवाची हैं। समुदाय के अन्तिम वर्ण से पूर्व वर्ण की उपधा सञ्ज्ञा होती है। यथा—पठ् पच् पत् अत् इत्यादि में अन्त्य वर्ण से पूर्व अकार उपधासञ्ज्ञक है। बुध् युध् रुध् इत्यादि में अन्तिम वर्ण से पूर्व उकार उपधासञ्ज्ञक है। वृत् वृध् इत्यादि में अन्त्य वर्ण से पूर्व ऋकार उपधासञ्ज्ञक है।

सखन् + स् यहां अङ्ग में अन्त्य अल नकार है इस से पूर्व वर्ण अकार है इस की उपधासञ्ज्ञा हुई। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१७७ सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ ।६।४।८॥

नान्तस्योपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने ।

अर्थ—सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे हो तो नकारान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ हो जाता है।

व्याख्या—न ।६।१। ['नोपधायाः' से। यहां 'सुपां सुलुक्' सूत्र द्वारा षष्ठी का लुक् हुआ है। 'अङ्गस्य' का विशेषण होने से इस से तदन्तविधि हो 'नान्तस्य' बन जाता है।] अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] उपधायाः ।६।१। ['नोपधायाः' से] दीर्घः ।१।१। ['ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से] असम्बुद्धौ ।७।१। सर्वनामस्थाने ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। समासः—न सम्बुद्धौ=असम्बुद्धौ नञ्तत्पुरुषः। अर्थः—(असम्बुद्धौ) सम्बुद्धिभिन्न (सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे होने पर (न) नान्त (अङ्गस्य) अङ्ग की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ आदेश होता है।

'सखन् + स्' यहां नान्त अङ्ग 'सखन्' है, इस से परे सर्वनामस्थान है 'स्'। यह सम्बुद्धिभिन्न भी है। अतः प्रकृतसूत्र से उपधा अकार को दीर्घ हो—'सखान् + स्' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—१७८ अपृक्त एकाल् प्रत्ययः ।१।२।४१॥

एकाल् प्रत्ययो यः, सोऽपृक्तसञ्ज्ञः स्यात् ।

अर्थ—एक अल रूप प्रत्यय अपृक्तसञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—अपृक्त ।१।१। एकाल् ।१।१। प्रत्ययः ।१।१। समास—एकश्चासावल्= एकाल्, कर्मधारयसमास । एकशब्दोऽत्र असहायवाची। अर्थ—(एकाल्) एक अल् रूप (प्रत्ययः) प्रत्यय (अपृक्तः) अपृक्तसञ्ज्ञक हो। भाव—जो प्रत्यय केवल एक अल् रूप हो या एक अल् रूप हो गया हो उस की अपृक्तसञ्ज्ञा होती है।

सखान्+स्' यहां 'स' यह एक अल् रूप प्रत्यय है अतः प्रकृत सूत्र से इस की अपृक्तसञ्ज्ञा हुई। अब अग्रिमसूत्र से इस का लोप करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१७६ हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल् । ६ । १ । ६६ ॥

हलन्तात् परम्, दीर्घौ यौ ङ्यापौ तदन्ताच्च परम्, 'सु-ति-सि' इत्येतद् अपृक्तं हल् लुप्यते ।

अर्थ—हलन्त से अथवा दीर्घ 'ङी' या 'आप्' जिस के अन्त में हों उस से परे 'सु ति सि' प्रत्ययों के अपृक्त हल् का लोप होता है।

व्याख्या—हल्ङ्याब्भ्यः ।५।३। दीर्घात् ।५।१। सु ति सि ।१।१। अपृक्तम् ।१।१। हल् ।१।१। लोपः ।१।१। [लोपो व्योर्वलि' से] समास—हल् च ङी च आप् च=हल्ङ्यापः, तेभ्यः=हल्ङ्याब्भ्यः, इतरेतरद्वन्द्व । यहां 'शब्दस्वरूपम्' अथवा 'अङ्गम्' का अध्याहार कर उस के ये हलादि विशेषण बना दिये जाते हैं। इस से तदन्तविधि हो कर 'हलन्तात् ङ्यन्ताद् आबन्तात्' ऐसा बन जाता है। सूत्रस्थ 'दीर्घात्' पद ङी और 'आप्' के साथ ही सम्बद्ध हो सकता है हल् के साथ नहीं क्योंकि हल् दीर्घ नहीं हुआ करता। तो अब 'हलन्तात् दीर्घङ्यन्तात् दीर्घाबन्तात्' ऐसा हो जायगा। 'हल्ङ्याब्भ्यः' में पञ्चमी विभक्ति दिग्योग में हुई है अतः तस्मादित्युत्तरस्य (७१) की सहायता से 'परम्' का अध्याहार कर लेंगे। सुश्च तिश्च सिश्च=सु ति सि समाहारद्वन्द्व । 'सुतिसि अपृक्तं हल्' इस का अर्थ है—सु ति सि जो अपृक्त हल् । यहां सन्देह होता है कि अपृक्तसञ्ज्ञा तो एक अल् रूप प्रत्यय की की जाती है पुनः 'सु ति, सि' ये कैसे हल् और अपृक्त बन सकते हैं। इस का समाधान यह है कि जब 'सु ति सि' के उकार तथा इकार का लोप हो जाता है तब अवशिष्ट स्, त्, स् को ही 'सु, ति सि' समझ लेना चाहिये क्योंकि वे उन से ही शेष बचे हैं। इस प्रकार वे अपृक्त भी होंगे और हल् भी होंगे। कई लोग—'सुतिसेरपृक्तम्= सुतिस्यपृक्तम्' ऐसा षष्ठीतत्पुरुषसमास मान कर 'सु ति सि के अपृक्त हल् का लोप हो' इस प्रकार अर्थ किया करते हैं। यह अर्थ भी शुद्ध तथा स्पष्ट है। 'लोप' यहां कर्म में घञ् प्रत्यय हुआ है—लुप्यत इति लोपः। जो लुप्त किया जाय उसे 'लोप' कहते हैं। यह 'हल्'

पद का विशेषण है। अर्थ —(हल्ङ्याब्भ्यः दीर्घात्) हल् से परे तथा दीर्घ ङी और आप जिस के अन्त मे हैं उस से परे (सुतिसि) सु ति सि ये (अपृक्तम्) अपृक्तसञ्ज्ञक (हल) हल् (लोप) लुप्त हो जाते हैं। उदाहरण यथा—

हलन्त से परे— राजान्+स्' (सुँ) यहां नकार हल से परे अपृक्त सुँ का लोप हो जाता है। अहन् + त' ('इतश्चे'ति तिप इकारलोप) यहां नकार हल से परे अपृक्त ति का लोप हो जाता है। 'अहन्+स' (इतश्चेति सिप इकारलोप) यहां हल से परे अपृक्त सि का लोप हो जाता है।

दीर्घ ङी* से परे— कुमारी + स' (सुँ) यहां दीर्घ ङी से परे अपृक्त सुँ का लोप हो जाता है। दीर्घ ङी से परे ति और सि का आना असम्भव है।

दीर्घ आप* से परे—'बाला + स' (सुँ) यहां दीर्घ आप से परे अपृक्त सुँ का लोप हो जाता है। दीर्घ आप से परे भी ति और सि नहीं आया करते।

यद्यपि ङी और आप् स्वतः ही दीर्घ हुआ करते हैं, इन के लिये पुनः दीर्घ का कथन व्यर्थ सा प्रतीत होता है तथापि समास मे इन के ह्रस्व हो जाने पर उन से परे लोप न हो—इसलिये सूत्र में दीर्घ का ग्रहण किया गया है। यथा—निष्कौशाम्बिः [निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः ' इति विग्रहः निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' इति समासः, गोस्त्रियोः—इत्युपसर्जनह्रस्वः ।] यहां ङी के ह्रस्व हो जाने से उस से परे सुँ का लोप नहीं होता। एवम्— अतिखट्वः, अतिमालः आदि में भी ह्रस्व आप से परे सुँलोपाभाव समझ लेना चाहिये।

प्रश्न—हलन्त से परे हल के लोप की कुछ आवश्यकता नहीं क्योंकि वहां 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) से भी लोप सिद्ध हो सकता है।

उत्तर—संयोगान्तलोप करने से निम्नलिखित दोष प्राप्त होते हैं। तथाहि—

(१) राजान्+स' यहां संयोगान्तलोप करने पर उस के असिद्ध होने से 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) द्वारा नकार का लोप न हो सकेगा।

(२) 'उखास्रत् + स, पर्णध्वत् + स्' यहां संयोगान्तलोप करने पर उसके असिद्ध होने से तकार के पदान्त न रहने पर जश्त्व न हो सकेगा।

(३) 'भिदिर् विदारणे' (रुधा०) धातु के लङ् लकार के मध्यमपुरुष के एकवचन में सिप, श्नम्, और 'दश्च' (२७३) सूत्र से दकार को रुँ आदेश करने पर 'अभिनर्+स्' हुआ। अब यदि यहां संयोगान्तलोप करते हैं तो 'अभिनर+अत्र' यहां 'अतो रोरप्लुतादप्लुते'

---

* भेदक अनुबन्धों से रहित होने के कारण 'ङी' से ङीप्, ङीष्, ङीन् का तथा 'आप्' से टाप्, डाप्, चाप् का ग्रहण होता है। इन प्रत्ययों का विवेचन स्त्रीप्रत्यय प्रकरण में देखें।

(१०६) सूत्र से उत्व नहीं हो सकता क्योंकि सकारलोप के असिद्ध होने से उसका व्यवधान पड़ता है। इस से 'अभिनोऽत्र' सिद्ध नहीं होता।

(४) 'अबिभर + त' (इतश्च ति तिप् इकारलोप ।) यहां संयोगान्तलोप से कार्य सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि 'रात्सस्य' (२०६) सूत्र द्वारा रेफ से पर सकार के लोप का ही नियम है।

अतः हल् से परे भी हल् का लोप अवश्य करना चाहिये—यह यहां सिद्ध होता है। इस विषय पर श्लोक प्रसिद्ध है—

"संयोगान्तस्य लोपे हि नलोपादिर्न सिध्यति।
रात्तु तेनैव लोपः स्याद् हलस्तस्माद्विधीयते॥"

'सखान् + स' यहां नकार हल् से परे अपृक्त सुँ का लोप होकर 'सखान्' बना। अब नकार का लोप करते हैं —

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१८० न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य ।८।२।७॥

प्रातिपदिकसञ्ज्ञकं यत्पदं तदन्तस्य नस्य लोपः स्यात्। सखा।

अर्थः—प्रातिपदिकसञ्ज्ञक जो पद उस के अन्त्य नकार का लोप हो जाता है।

व्याख्या—प्रातिपदिक ।६।१। [यहां 'सुपां सुलुक् ' सूत्र से षष्ठी का लुक् हुआ है।] पदस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] अन्तस्य ।६।१। न ।६।१। [यहां भी षष्ठी का लुक् हुआ है] लोपः ।१।१। अर्थः—(प्रातिपदिक) प्रातिपदिकसञ्ज्ञक (पदस्य) पद के (अन्तस्य) अन्त (न) न् का (लोपः) लोप हो जाता है।

यदि सूत्र में 'प्रातिपदिक' का ग्रहण न करते केवल 'पद' का ही ग्रहण करते तो 'अहन्' यहां भी नकार का लोप हो जाता क्योंकि यहां पदसञ्ज्ञा अक्षुण्ण है। इसी प्रकार यदि 'पद' का ग्रहण न करते केवल 'प्रातिपदिक' का ही ग्रहण करते तो 'राजान् + औ' यहां भी नकार का लोप हो जाता क्योंकि प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तो यहां भी है। अतः दोनों का ग्रहण किया गया है।

'सखान्' यह प्रातिपदिकसञ्ज्ञक पद है। यद्यपि प्रातिपदिकसञ्ज्ञा 'सखि' शब्द की ही थी तो भी 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' से यहां भी प्रातिपदिकसञ्ज्ञा विद्यमान है। इसी प्रकार सुँ—सुप् का लोप होने पर भी आगे आने वाले 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' (१६) सूत्र की सहायता से सुँबन्त हो जाने के कारण 'सुँप्तिङन्तं पदम्' (१४) द्वारा पदसञ्ज्ञा हो जाती है। तो प्रकृत सूत्र से इस के नकार का लोप हो—'सखा' प्रयोग सिद्ध होता है।

'सखि+औ' यहां पूर्वसवर्णदीर्घ को बाधकर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] अतिदेशसूत्रम्—१८१ सख्युरसम्बुद्धौ ।७।१।९२॥

सख्युरङ्गात् परं सम्बुद्धिवर्जं सर्वनामस्थानं णिद्वत् स्यात् ।

अर्थ—अङ्गसञ्ज्ञक सखि शब्द से परे सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान णिद्वत्—णित् के समान हो अर्थात् णित् के परे होने पर जो कार्य होते हैं उस के परे होने पर भी वे कार्य हों।

व्याख्या—अङ्गात् ।५।१। ['अङ्गस्य' यह अधिकृत है। यहां विभक्ति का विपरिणाम हो जाता है] सख्युः ।५।१। असम्बुद्धौ ।७।१। [यह प्रथमान्त हो जायगा] सर्वनामस्थानम् ।१।१। ['इतोऽत् सर्वनामस्थाने' से] णित् ।१।१। ['गोतो णित्' से] समास—न सम्बुद्धिः = असम्बुद्धिः, नञ्तत्पुरुष । अर्थ—(अङ्गात्) अङ्गसञ्ज्ञक (सख्युः) सखिशब्द से परे (असम्बुद्धिः) सम्बुद्धिभिन्न (सर्वनामस्थानम्) सर्वनामस्थान (णित्) णित् हो।

यह अतिदेश सूत्र है। अतिदेशसूत्रों का यह काम होता है कि जो जो नहीं उसे वह बना देते हैं। यथा सिंहो माणवकः (बालक शेर है)। बालक शेर नहीं होता परन्तु उसे शेर कह दिया जाता है। इस का तात्पर्य अन्ततोगत्वा सादृश्य में समाप्त होता है—बालक शेर के समान (शूर) है। यहां सर्वनामस्थान को णित् कहा गया है, परन्तु उस में न तो ण् है और न ही उस की इत्सञ्ज्ञा होती है। तो यहां 'णित्' अतिदेश का तात्पर्य 'णिद्वत्' होगा। अर्थात् णित् परे रहते जो कार्य होते हैं उस के परे रहते भी होंगे।

'सखि+औ' यहां अङ्गसञ्ज्ञक सखि से परे सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान 'औ' है। यह णित्=णिद्वत् हुआ। अब अग्रिमसूत्र में इस का फल कहते हैं—

[लघु०] विधिसूत्रम्—१८२ अचो ञ्णिति ।७।२।११५॥

अजन्ताङ्गस्य वृद्धिः, ञिति णिति च परे । सखायौ, सखायः । हे सखे ! । सखायम्, सखायौ, सखीन् । सख्या । सख्ये ।

अर्थ—ञित् अथवा णित् परे रहते अजन्त अङ्ग को वृद्धि हो।

व्याख्या—अचः ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। [अधिकृत है] ञ्णिति ।७।१। वृद्धिः ।१।१। ['मृजेर्वृद्धिः' से] समास—ञ् च ण् च ञ्णौ तावितौ यस्य तत् ञ्णित्, तस्मिन्=ञ्णिति, द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिसमास । अर्थ—(ञ्णिति) ञित् अथवा णित् परे रहते (अचः) अजन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (वृद्धिः) वृद्धि हो। अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्त्य अल् के स्थान पर वृद्धि होगी।

'सखि + औ' यहां 'औ' णित् परे है, अतः सखि के अन्त्य अल् इकार को ऐकार

वृद्धि हो—'सखै + औ' हुआ। अब 'एचोऽयवायाव' (२२) से ऐकार का आय आदेश हो कर 'सखायौ' प्रयोग सिद्ध होता है।

'सखि+अस्' (जस्) यहां भी पूर्ववत् णिद्वद्भाव, वृद्धि और आय आदेश हो कर सकार को रुँत्व विसर्ग करने पर 'सखायः' प्रयोग सिद्ध होता है।

'हे सखि + स' यहां सम्बुद्धि में हरिशब्द के समान 'ह्रस्वस्य गुणः' (१६१) से इकार को एकार गुण हो एङन्त हो जाने से 'एङ्ह्रस्वात् ०' (१३४) सूत्र द्वारा सम्बुद्धि के हल् का लोप करने पर 'हे सखे' सिद्ध होता है।

'सखि+अम्' यहां भी पूर्ववत् सर्वनामस्थान का णिद्वद्भाव उस के परे रहते वृद्धि तथा ऐकार को आय आदेश हो कर— सखायम् प्रयोग सिद्ध होता है।

द्वितीया के द्विवचन में 'सखायौ' प्रथमावत् बनता है।

बहुवचन में 'सखि + अस' (शस्) इस दशा में पूर्वसवर्णदीर्घ होकर 'तस्माच्छसो नः पुंसि' (१३७) द्वारा सकार को नकार करने पर— सखीन् प्रयोग सिद्ध हुआ। ध्यान रहे कि शस् के सर्वनामस्थान न होने से णिद्वद्भाव नहीं होगा।

तृतीया के एकवचन मे 'सखि+आ' (टा) इस स्थिति में 'इको यणचि' (१५) से यण् आदेश हो—'सख्या' प्रयोग सिद्ध होता है। स्मरण रहे कि सखि की घिसञ्ज्ञा न होने से 'आङो नाऽस्त्रियाम्' (१७१) द्वारा 'टा' को 'ना' नहीं होता।

तृतीया के द्विवचन में 'सखिभ्याम्'। बहुवचन में 'सखिभिः'।

'सखि + ए' (ङे) यहां घिसञ्ज्ञा के न होने से 'घेर्ङिति' (१७२) द्वारा गुण नहीं होता। 'इको यणचि' (१५) से यण् हो कर 'सख्ये' प्रयोग बनता है।

'सखि + अस (ङसिँ) यहां 'इको यणचि' (१५) से इकार को यकार हो— 'सख्य् + अस्' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१८३ ख्यत्यात्परस्य ।६।१।१०६॥

'खि-ति' शब्दाभ्यां 'खी-ती' शब्दाभ्यां कृतयणादेशाभ्यां परस्य ङसिँङसोरत उः । सख्युः २ ।

अर्थः—जिन के स्थान पर यण् किया गया हो ऐसे खिशब्द, तिशब्द, खीशब्द अथवा तीशब्द से परे ङसिँ और ङस् के अकार को उकार आदेश हो जाता है।

व्याख्या—ख्यत्यात् ।५।१। परस्य ।६।१। ङसिँङसोः ।६।२। ['ङसिँङसोश्च' से] अतः ।६।१। ['एङः पदान्तादति' से, विभक्तिविपरिणाम कर के] उत् ।१।१। ['ऋत उत्' से] समासः—ख्यश्च त्यश्च = ख्यत्यम्, तस्मात् = ख्यत्यात्, समाहारद्वन्द्वः। यकारादकार

उच्चारणार्थ है* । खि' या 'ती' शब्द के इवर्ण को यण करने से ख्य और ति या ती शब्द के इवर्ण का यण करने से त्य् रूप बनता है। उन्ही का यहा ग्रहण करना चाहिये। ख्यत्यात यह पञ्चम्यन्त है अत तस्मादित्युत्तरस्य (७१) सूत्र मे स्वय ही ख्य और त्य् से परे कार्य होना था पुन मुनि का परस्य ग्रहण करना एक पूर्व परयो अधिकार की निवृत्ति के लिये है। अर्थ —(ख्यत्यात) यणादेश किये हुए खि खी और ति, ती शब्दो से (परस्य) परे (ङसिँ ङसा) ङसिँ और ङस के (अत) अकार के स्थान पर (उत) उकार आदेश होता है।

सख्य + अस यहा यणादेश किया हुआ खि' शब्द है अत इस से परे ङसिँ के अकार को उकार हो— सख्य् + उस् बना। अब सकार का रुँत्व विसर्ग करने से 'सख्यु प्रयोग सिद्ध हुआ।

द्विवचन में चतुर्थी के समान सखिभ्याम् । बहुवचन में सखिभ्य '।

षष्ठी के एकवचन म पूर्ववत् सख्यु बनता है।

सखि+ओस यहा यण हो कर रुँत्व विसर्ग करने से 'सख्यो ' बना।

सखि + आम् इस स्थिति म ह्रस्वान्त अङ्ग को नुट का आगम हो अनुबन्धलोप कर नामि (१४९) से दीर्घ करने पर 'सखीनाम् रूप बनता है।

सखि+इ (ङि) यहा घिसञ्ज्ञा न होने से 'अच्च घे (१७४) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता। तब यण आदेश प्राप्त होने पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१८४ औत् ।७।३।११८॥

इदुद्भ्यां परस्य ङेरौत् । सख्यौ । शेष हरिवत् ।

अर्थ —ह्रस्व इकार और ह्रस्व उकार से परे 'ङि को औ हो जाता है।

व्याख्या—इदुद्भ्याम् ।५।२। ['इदुद्भ्याम् से] ङे ।६।१। [ङेराम्नद्याम्नीभ्य ' से] औत् ।१।१। अर्थ —(इदुद्भ्याम्) ह्रस्व इकार तथा उकार से परे (ङे) ङि के स्थान पर (औत्) औकार ‡ आदेश होता है।

यह औत्सर्ग सूत्र (सामान्य सूत्र) है। 'अच्च घे (१७४) इस का अपवाद है। अत

---

* ध्यान रहे कि यदि यहां अकार को उच्चारणार्थ न मान ख्य और त्य शब्दों का ग्रहण कर सङ्ख्य' अपत्य आदि शब्दों के ख्य और त्य का ग्रहण करेंगे तो 'सख्युर्य , पत्युन , अपत्यस्य च इत्यादि निर्देश विपरीत पडेंगे।

‡ यहा पर श्री प श्रीधरानन्द जी शास्त्री व्याकरणाचार्य भ्रान्तिवश तकार को इत् लिखते और उस का प्रयोजन सर्वादेश करना बताते हैं।

इम के विषय में इस की प्रवृत्ति नहीं होती। उकार का उदाहरण नहीं मिलता उस का यहां ग्रहण 'अच्च घेः' (१७४) आदि अग्रिम सूत्रों में अनुवृत्ति के लिये है।

'सखि+ङ्' यहां इकार को औकार आदेश हो 'इको यणचि' (१५) से यण् करने पर 'सख्यौ' रूप बनता है।

द्विवचन में 'सख्योः' षष्ठी के समान बनता है।

बहुवचन में सखि+सु=सखिषु [आदेशप्रत्यययोः]। रूपमाला यथा—

प्र०	सखा	सखायौ	सखायः	प० सख्युः	सखिभ्याम्	सखिभ्यः
द्वि०	सखायम्	,,	सखीन्	ष० ,,	सख्योः	सखीनाम्
तृ०	सख्या	सखिभ्याम्	सखिभिः	स० सख्यौ	,,	सखिषु
च०	सख्ये	,,	सखिभ्यः	सं० हे सखे!	हे सखायौ!	हे सखायः!

अब 'पति' शब्द का वर्णन करते हैं। 'पति' का अर्थ 'स्वामी' है। प्रथम दो विभक्तियों में 'हरि' शब्द के समान प्रक्रिया होती है। तृतीया के एकवचन में 'शेषो घ्यसखि' (१७०) सूत्र से घिसञ्ज्ञा प्राप्त होती है। इस पर अग्रिम सूत्र से नियम करते हैं—

[लघु०] नियम-सूत्रम्—१८५ पतिः समास एव ।१।४।८॥

घि-सञ्ज्ञः। पत्या। पत्ये। पत्युः २। पत्यौ। शेषं हरिवत्। समासे तु—भूपतये।

अर्थः—'पति' शब्द समास में ही घिसञ्ज्ञक होता है। [समास से भिन्न स्थल में नहीं]।

व्याख्या—पतिः ।१।१। समासे ।७।१। एव इत्यव्ययपदम्। घि ।१।१। ['शेषो घ्यसखि' से] अर्थः—(पतिः) पतिशब्द (समासे) समास में (एव) ही (घि) घिसञ्ज्ञक होता है।*

समास और असमास दोनों अवस्थाओं में पतिशब्द की 'शेषो घ्यसखि' (१७०) सूत्र से घिसञ्ज्ञा प्राप्त होती थी। अब इस सूत्र से नियम किया जाता है कि समास में ही पति शब्द की घिसञ्ज्ञा हो असमास में नहीं।

घिसञ्ज्ञा के यहां तीन कार्य होते हैं। १ 'आङो नाऽस्त्रियाम्' (१७१) से टा का ना आदेश। २ ङे, ङसि ङस में 'घेर्ङिति' (१७२) द्वारा गुण। ३ 'अच्च घेः' (१७४) द्वारा ङि को औकार और घि को अकार आदेश। असमासावस्था में पति शब्द की घिसञ्ज्ञा

---

* इस सूत्र में यद्यपि 'एव' पद के विना भी 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः' द्वारा उपर्युक्त नियम सिद्ध हो सकता था तथापि— समास में पतिशब्द ही घिसञ्ज्ञक हो अन्य शब्द न हों इस विपरीत नियम की आशङ्का से बचने के लिये यहां मुनि ने 'एव' पद का ग्रहण किया है।

न होने से ये तीनों विकार्य न होंगे। तब इन विभक्तियों में सखिशब्दवत् प्रक्रिया होगी। यथा—

'पति + आ' यहा यण् आदेश हो—'पत्या' बना।

पति+ए' (ङे) यहा भी यण् आदेश करने पर पत्ये' बना।

'पति+अस (ङसि व ङस) इस दशा म यण् आदेश हो ख्यत्यात परस्य' (१८३) से उकार आदेश करने पर पत्यु' बना।

पति+इ (ङि) इस अवस्था मे 'औत्' (१८४) से ङि को औकार हो इको यणचि (१५) से यण् करने पर 'पत्यौ' रूप सिद्ध होता है। समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	पति	पती	पतय	प	पत्यु	पतिभ्याम्	पतिभ्य
द्वि०	पतिम्		पतीन्	ष०	,	पत्यो	पतीनाम्
तृ	पत्या	पतिभ्याम्	पतिभि	स	पत्यौ		पतिषु
च०	पत्ये		पतिभ्य	स	हे पते!	हे पती!	हे पतय!

समास में पति' शब्द की घिसञ्ज्ञा हो जायगी अत 'हरि' शब्द के समान रूप चलेंगे। भूपति (पृथ्वी का पति=राजा) में 'भुव पति =भूपति' इस प्रकार षष्ठीतत्पुरुष समास है। इस की रूपमाला यथा—

प्र०	भूपति	भूपती	भूपतय	प०	भूपते	भूपतिभ्याम्	भूपतिभ्य
द्वि०	भूपतिम्	,	भूपतीन्	ष	,,	भूपत्यो	भूपतीनाम्
तृ०	भूपतिना	भूपतिभ्याम्	भूपतिभि	स०	भूपतौ	,,	भूपतिषु
च०	भूपतये	,	भूपतिभ्य	स०	हे भूपते!	हे भूपती!	हे भूपतय

इसी प्रकार—नरपति नृपति मृगपति गृहपति, पृथ्वीपति क्षितिपति, लोकपति, दंशपति राष्ट्रपति पशुपति गणपति, सेनापति प्रभृति शब्दों के रूप जानने चाहियें।

विशेष— बहुपति (ईषदून पति) शब्द में बहुच प्रत्यय है, जो कि—'विभाषा सुपो बहुच पुरस्तात्तु (५।३।६८) इस सूत्र से प्रकृति से पूर्व होगा। उस का उच्चारण पति' की तरह होगा। यदि 'बहु' शब्द अभीष्ट हो तब 'भूपति' की तरह होगा।

प्रश्न—'सीताया पतये नम' इत्यादि स्थानों पर समास न होने से कैसे घिसञ्ज्ञा कर दी गई है?

उत्तर—यहा पर 'छन्दोवत् कवय कुर्वन्ति' इस परिभाषा से 'षष्ठीयुक्तश्छन्दसि वा (१।४।६) से घिसञ्ज्ञा कर लेनी चाहिये। अथवा— तत्पुरुषे कृति बहुलम्' (८१२) सूत्र में बहुलग्रहणसामर्थ्यात् यहा षष्ठी का समास में अलुक जान कर घि-सञ्ज्ञा कर लेनी चाहिये।

[लघु०] कतिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः ।

अर्थः— 'कति' शब्द नित्य बहुवचनान्त होता है ।

व्याख्या— 'किम्' शब्द से 'डति' प्रत्यय करने पर 'कति' शब्द सिद्ध होता है। इस का प्रयोग सदा बहुवचन में ही होता है एकवचन और द्विवचन में नहीं । क्योंकि कति (कितने) शब्द बहुत्व का ही वाचक है एक दो का नहीं ।

कति + अस् (जस्) इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१८६ बहु-गण-वतु-डति सङ्ख्या ।१।१।२२॥

अर्थः—बहुशब्द गणशब्द वतुप्रत्ययान्त शब्द तथा डतिप्रत्ययान्त शब्द 'सङ्ख्या' सञ्ज्ञक होते हैं ।

व्याख्या— बहु-गण-वतु-डति ।१।१। सङ्ख्या ।१।१। समासः—बहुश्च गणश्च वतुश्च=बहु-गण-वतु-डति समाहारद्वन्द्वः । वतु और डति प्रत्यय हैं अतः 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' से तदन्त शब्दों का ही ग्रहण होगा । केवल प्रत्ययों की सञ्ज्ञा करना निष्प्रयोजन होने से 'सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति' यह निषेध प्रवृत्त न होगा । अर्थः—(बहु-गण-वतु-डति) बहुशब्द गणशब्द वतुप्रत्ययान्त शब्द तथा डति प्रत्ययान्त शब्द (सङ्ख्या) सङ्ख्या सञ्ज्ञक होते हैं ।

कति+अस् यहां प्रकृतसूत्र से 'कति' शब्द की सङ्ख्या सञ्ज्ञा हो जाती है । अब अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—१८७ डति च ।१।१।२४॥

डत्यन्ता सङ्ख्या षट्सञ्ज्ञा स्यात् ।

अर्थः—डति प्रत्ययान्त सङ्ख्या षट्सञ्ज्ञक हो ।

व्याख्या—डति ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । सङ्ख्या ।१।१। ['बहु-गण-वतु-डति सङ्ख्या' से] षट् ।१।१। ['ष्णान्ता षट्' से] ।अर्थः—(डति) डतिप्रत्ययान्त (सङ्ख्या) सङ्ख्यासञ्ज्ञक शब्द (षट्) षट् सञ्ज्ञक होते हैं ।

'कति + अस्' यहां कतिशब्द डतिप्रत्ययान्त है और साथ ही सङ्ख्यासञ्ज्ञक भी है अतः इस की षट्सञ्ज्ञा हो जाती है । 'आकडारात्—' (१६६) इस अधिकार से बहिर्भूत होने के कारण यहां एक की दो सञ्ज्ञाएं हुईं । अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१८८ षड्भ्यो लुक् ।७।१।२२॥

जश्शसो ।

अर्थ —षट्सञ्ज्ञकों से परे जस् और शस् का लुक् हो जाता है ।

व्याख्या— षड्भ्यः ।५।३। जश्शसोः ।६।२। ['जश्शसोः शि' से] लुक् ।१।१। अर्थ —(षड्भ्यः) षट्सञ्ज्ञकों से परे (जश्शसोः) जस् और शस् का (लुक्) लुक् हो जाता है ।

'कति+अस्' यहां 'कति' शब्द की षट्सञ्ज्ञा है। इस से परे जस् विद्यमान है अतः जस् का लुक् होगा। अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि लुक् किसे कहते हैं ? इस का समाधान अग्रिमसूत्र से करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—१८९ प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः ।१।१।६०॥

लुक्-श्लु-लुप्शब्दैः कृतं प्रत्ययादर्शनं क्रमात् तत्तत्सञ्ज्ञं स्यात् ।

अर्थ —लुक् श्लु और लुप् शब्दों से जो प्रत्यय का अदर्शन किया जाता है, वह (अदर्शन) क्रमशः लुक्, श्लु और लुप् सञ्ज्ञक होता है ।

व्याख्या—प्रत्ययस्य ।६।१। अदर्शनम् ।१।१। ['अदर्शनं लोपः' से] लुक्श्लुलुपः ।१।३। यहां 'प्रत्यय का अदर्शन लुक्, श्लु, लुप् सञ्ज्ञक हो' ऐसा अर्थ प्रतीत होता है। इस से एक ही प्रत्यय के अदर्शन की 'लुक् श्लु लुप्' ये तीन सञ्ज्ञाएं हो जाती हैं। इस से 'हन्ति' में शप् का लुक् होने पर 'श्लौ' (६०४) से द्वित्व प्राप्त होता है। 'जुहोति' में शप् का श्लु होने से 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' (४६६) से वृद्धि प्राप्त होती है। अतः इन के साङ्कर्य की निवृत्ति के लिये 'लुक्-श्लु-लुपः' पद की आवृत्ति (दो बार पाठ) कर एक स्थान पर उस का तृतीयान्ततया विपरिणाम कर लेना चाहिये। अर्थ —(लुक्श्लुलुब्भिः) लुक्, श्लु और लुप् शब्दों से जो (प्रत्ययस्य) प्रत्यय का (अदर्शनम्) अदर्शन किया जाता है वह क्रमशः (लुक्श्लुलुपः) लुक्, श्लु और लुप् सञ्ज्ञक होता है। भाव —१ प्रत्यय का अदर्शन 'लुक्' सञ्ज्ञक होता है। २ प्रत्यय का अदर्शन 'श्लु' सञ्ज्ञक होता है। ३ प्रत्यय का अदर्शन 'लुप्' सञ्ज्ञक होता है। अब इस अर्थ से 'हन्ति' आदि में कोई दोष नहीं आता क्योंकि 'हन्ति' में शप्प्रत्यय का अदर्शन लुक्सञ्ज्ञक है श्लुसञ्ज्ञक नहीं, अतः 'श्लौ' (६०४) से द्वित्व नहीं होता। 'जुहोति' में शप्प्रत्यय का अदर्शन श्लुसञ्ज्ञक है लुक्सञ्ज्ञक नहीं अतः 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' (४६६) से वृद्धि नहीं होती। इसी प्रकार अन्यत्र भी जान लेना चाहिये। तो अब हमें विदित हो गया कि प्रत्यय के अदर्शन को ही 'लुक्' कहते हैं।

'कति+अस्' यहां अस् का लुक् अर्थात् अदर्शन हो कर 'कति' प्रयोग सिद्ध होता

है। अब यहां 'जसि च' (१६८) द्वारा गुण की आशङ्का करने के लिए प्रथम जस् की स्थापना करते हैं—

[लघु०] परिभाषा सूत्रम्—१९० प्रत्ययलोपे प्रत्यय-लक्षणम्। १।१।६२॥

प्रत्यये लुप्ते तदाश्रितं कार्यं स्यात्। इति 'जसि चे' ति गुणे प्राप्ते—

अर्थः—प्रत्यय के लुप्त हो जाने पर भी तदाश्रित कार्य हो जाते हैं। इस सूत्र से 'जसि च' (१६८) द्वारा कति में गुण प्राप्त होता है। इस पर [अग्रिमसूत्र निषेध कर देता है।]

व्याख्या—प्रत्ययलोपे ।७।१। प्रत्ययलक्षणम् ।१।१। समासः—प्रत्ययस्य लोपः = प्रत्ययलोपः तस्मिन्=प्रत्ययलोपे। षष्ठीतत्पुरुषसमासः। प्रत्ययो लक्षणं (निमित्तम्) यस्य तत् प्रत्ययलक्षणम्, कार्यम् इत्यर्थः। बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(प्रत्ययलोपे) प्रत्यय का लोप हो जाने पर भी (प्रत्ययलक्षणम्) प्रत्यय को मान कर होने वाला कार्य हो जाता है।

कई कार्य प्रत्यय को मान कर हुआ करते हैं। यथा—'जसि च' (१६८) यह 'जस्' प्रत्यय को मान कर ह्रस्वान्त अङ्ग के स्थान पर गुण करता है। 'सुपि च' (१४१) यह यञादि सुँप् प्रत्यय को मान कर अदन्त अङ्ग को दीर्घ करता है। 'सुँप्तिङन्तं पदम्' (१४) यह सुँप् तथा तिङ् प्रत्यय को मान कर ही पदसञ्ज्ञा करता है। इस प्रकार के कार्य उस प्रत्यय के लुप्त हो जाने पर भी हो जाते हैं—यह इस सूत्र का तात्पर्य है। यथा—'रामः' यहां जिस प्रकार सुँप् प्रत्यय के रहते पदसञ्ज्ञा हो जाती है वैसे 'लिट्, विद्वान्, भगवान्' आदियों में सुँप् प्रत्यय के लुप्त हो जाने पर भी पदसञ्ज्ञा सिद्ध हो जाती है।

'कति' यहां जस् प्रत्यय का लोप हो चुका है, अब इस सूत्र से उस के न रहने पर भी उस को मान कर 'जसि च' (१६८) द्वारा गुण प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम सूत्र निषेध करता है।

प्रश्न—इस सूत्र द्वारा प्रत्यय के लोप में ही प्रत्ययलक्षण होता है परन्तु 'कति' में प्रत्यय का लुक् हुआ है लोप नहीं तो यहां कैसे प्रत्ययलक्षण (गुण) प्राप्त हो सकता है?

उत्तर—जैसे लोक में एक व्यक्ति की अनेक सञ्ज्ञाएं रखी जाती हैं वैसा इस शास्त्र में भी होता है। तव्यत्, तव्य, अनीयर आदि प्रत्ययों की कृत् और कृत्य दोनों सञ्ज्ञाएं हैं।

जहा शास्त्र म एक सञ्ज्ञा करना अभीष्ट हाता है वहा स्पष्ट कह दिया जाता है यथा—आकडारादेका सञ्ज्ञा (१।४।१)। यहा प्रत्यय के अदशन का अदर्शन लोप' (२) से लाप सञ्ज्ञा की गई हैं। उसी अदशन की पुन प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुप (१८६) सूत्र से लुक श्लु और लुप सञ्ज्ञाए का जाती ह। तो इस प्रकार लुक, श्लु आर लुप तीनो सञ्ज्ञाओ क साथ लाप' सञ्ज्ञा वत्तमान रहता हे। इस से 'कति म प्रत्यय लक्षण प्राप्त हाता है।

[लघु०] निषध सूत्रम्—१९१ न लुमताङ्गस्य ।१।१।६२॥

लुमता शब्दन लुप्ते तन्निमित्तमङ्गकार्यं न स्यात्। कति २। कतिभि। कतिभ्य २। कतीनाम्। कतिषु।

अर्थ—लु वाले (लुक, श्लु लुप) शब्दो से यदि प्रत्यय का लोप हुआ हो तो तन्निमित्तक (उस प्रत्यय को निमित्त मान कर हान वाला) अङ्ग काय नहीं हाता।

व्याख्या—लुमता ।३।१। प्रत्ययलोपे ।७।१। ['प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' से] अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] प्रत्ययलक्षणम् ।१।१। न इत्यव्ययपदम्। समास—लु इत्येकदेशोऽस्त्यस्य स लुमान्, तेन लुमता। तदस्यास्ती तिसूत्रेण मतुप्प्रत्यय। प्रत्ययस्य लाप =प्रत्ययलाप तस्मिन्=प्रत्ययलापे, षष्ठीतत्पुरुष। अर्थ—(लुमता) लु वाल शब्द से (प्रत्ययलोप) प्रत्यय का लोप होने पर (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (प्रत्ययलक्षणम्) उस प्रत्यय को मान कर होने वाला कार्य (न) नहीं होता। लु वाले शब्द तीन ह—१ लुक, २ श्लु, ३ लुप। यह सूत्र पूवकथित प्रत्ययलक्षण सूत्र का अपवाद है।

कति' में जस् प्रत्यय का लु वाल शब्द=लुक स अदर्शन हुआ हैं तो यहा प्रत्यय लक्षण काय (गुण) न होगा।

ध्यान रहे कि यह निषेध तभी होगा जब अङ्ग क स्थान पर प्रत्ययलक्षण काय करना होगा। यदि अङ्ग के स्थान पर काय न हागा तो लु वाल शब्दो से अदर्शन होने पर भी प्रत्ययलक्षण हो जायगा। यथा—पञ्चन्, सप्तन् यहा षड्भ्यो लुक् (१८८) से जस् और शस् का लुक हाने पर भी सुप्तिङन्त पदम् (१४) सूत्र से पदसञ्ज्ञा हो जाती है। पदसञ्ज्ञा हा जाने से नलाप (१८०) द्वारा नकार का लाप हो जाता है। पदसञ्ज्ञा केवल अङ्ग की ही नहीं हाती किन्तु प्रत्ययविशिष्ट अङ्ग की हुआ करती है इस से प्रत्ययलक्षण म कोई बाधा नहीं होती। इसी प्रकार यङ्लुगन्त प्रक्रिया म यङ लुक हाने पर भी यङन्तमूलक द्वित्व हो ही जाता है। यह विषय विस्तारपूर्वक 'रोऽसुपि (११०) सूत्र पर लिख आए हैं वहीं देखे।

द्वितीया के बहुवचन शस में भी जस् की तरह कति' प्रयाग बनता है। प्रत्ययलक्षण द्वारा गुणप्राप्ति तथा उस का निषेध यहा नहीं होता।

कति + भिस् = कतिभिः । कति + भ्यस् = कतिभ्यः । यहां सकार को रुँ और रेफ को विसर्ग आदेश हो जाते हैं ।

'कति + आम्' यहां 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' (१४८) सूत्र से ह्रस्वान्त अङ्ग का नुट् आगम, अनुबन्धलोप तथा 'नामि' (१४६) से दीर्घ होकर—'कतीनाम्' प्रयोग सिद्ध होता है । [अथवा षट्त्व के कारण 'षट्चतुर्भ्यश्च' (२६६) सूत्र से नुट् का आगम कर दीर्घ कर लेना चाहिये । इस की स्पष्टता 'रामाणाम्' प्रयोग पर 'सिद्धान्तकौमुदी' की टीकाओं में देखना चाहिये ।]

सप्तमी के बहुवचन में 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से मूर्धन्य षकार होकर 'कतिषु' रूप बनता है ।

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	०	०	कति	प०	०	०	कतिभ्यः
द्वि०	०	०		ष०	०	०	कतीनाम्
तृ०	०	०	कतिभिः	स०	०	०	कतिषु
च०	०	०	कतिभ्यः	सं०	०	०	हे कति !

[लघु०] युष्मदस्मत्षट्सञ्ज्ञकास्त्रिषु सरूपाः ।

अर्थः—युष्मद्, अस्मद् और षट्सञ्ज्ञक शब्द तीनों लिङ्गों में समान रूप वाले होते हैं ।

व्याख्या—समानानि रूपाणि येषां ते सरूपाः, बहुव्रीहिसमासः । 'कति' शब्द षट्सञ्ज्ञक है, अतः तीनों लिङ्गों में एक समान रूप बनेंगे । यथा—कति पुरुषाः ? कति नार्यः ? कति फलानि ? । इसी प्रकार युष्मद् और अस्मद् के भी—'अहम्पुरुषः, अहं नारी, त्वं पुरुषः, त्वं नारी' इत्यादि समान रूप बनते हैं ।

[लघु०] त्रिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः । त्रयः । त्रीन् । त्रिभिः । त्रिभ्यः ॥

अर्थः—'त्रि' शब्द नित्य बहुवचनान्त है ।

व्याख्या—'त्रि' शब्द का अर्थ 'तीन' है । तीन—बहुसङ्ख्या का वाचक है अतः एकत्व और द्वित्व का प्रकृति के अर्थ—बहुत्व के साथ अन्वय न हो सकने के कारण एकवचन द्विवचन नहीं आते ।

ध्यान रहे कि प्रधान होने पर ही 'त्रि' शब्द नित्य बहुवचनान्त होता है, गौण अवस्था में तो इस से एकवचन और द्विवचन भी हुआ करते हैं जैसा कि आगे 'प्रियत्रि' शब्द में किया गया है ।

'त्रि+अस्' (जस्) इस अवस्था मे जसि च (१६८) सूत्र से गुण हो एचोऽयवायाव ' (२२) से अय् आदेश करने पर—त्रयस्= त्रय ' रूप बनता है।

'त्रि + अस्' (शस्) इस स्थिति मे पूर्वसवर्णदीर्घ हो सकार का नकार करने पर त्रीन्' प्रयोग सिद्ध होता है।

त्रि + भिस् = त्रिभि । त्रि+भ्यस्=त्रिभ्य । सकार का रुँत्व विसर्ग हो जाते है।

त्रि + आम्' इस दशा मे अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता ह—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१६२ त्रेस्त्रय ।७।१।५३॥

त्रि-शब्दस्य त्रयादेश' स्यादामि । त्रयाणाम । त्रिषु । गौणत्वेऽपि —प्रियत्रयाणाम् ।

अर्थ —आम् परे हो तो 'त्रि' शब्द के स्थान पर त्रय आदश हो।

व्याख्या—त्रे ।६।१। त्रय ।१।१। आमि ।७।१। [आमि सर्वनाम्न सुट्' से] अर्थ —(आमि) आम् परे रहते (त्रे) त्रिशब्द के स्थान पर (त्रय) त्रय आदेश हो। अनेकाल् होने स यह आदेश सर्वादेश होगा।

सूत्र में त्रिशब्द सङ्ख्यावाचक नहीं शब्दवाचक है अत हरिवत उच्चारण होने से त्रे'' यहा एकवचन हा गया है।

त्रि + आम्' यहा आम् परे हे अत त्रिशब्द का त्रय आदेश हो—'त्रय + आम्'। अब ह्रस्वान्त अङ्ग को नुट् आगम अनुब न्धलोप 'नामि (१४६) से दीर्घ तथा 'अट्कुप्वाङ (१३८) से णत्व करने पर 'त्रयाणाम्' रूप सिद्ध होता है।

'त्रि + सु' (सुप्) यहा 'आदेशप्रत्यययो ' (१५०) स सकार का षकार हो कर—त्रिषु' रूप सिद्ध हुआ।

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	०	०	त्रय	पं०	०	०	त्रिभ्य
द्वि०	०	०	त्रीन्	ष०	०	०	त्रयाणाम्
तृ०	०	०	त्रिभि	स०	०	०	त्रिषु
च०	०	०	त्रिभ्य	सं०	०	०	हे त्रय !

बहुव्रीहिसमास में अन्य पद प्रधान रहता है, समस्यमान पद गौण अर्थात् अप्रधान रहते हैं। यह हम पीछे (१३३) सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं। जब समास मे 'त्रि' शब्द गौण होता है तब भी इस सूत्र से उस के स्थान पर 'त्रय' आदेश हो जाता है। सूत्र मे 'त्रे' यहा एकवचन करना इस में प्रमाण है, अन्यथा 'अष्टाभ्य औश्' (३००) की तरह यहां भी 'त्रयाणा त्रय ' सूत्र बनाते।

प्रिया त्रय यस्य स =प्रियत्रि । जिसे तीन प्रिय हों उसे 'प्रियत्रि' कहते हैं । प्रियत्रि + आम्' इस स्थिति में त्रि के स्थान पर त्रय आदेश हो—प्रियत्रय + आम् । तब ह्रस्वान्त अङ्ग को नुट् आगम, अनुबन्धलोप, ह्रस्वान्त अङ्ग को दीर्घ तथा नकार को णकार हो कर प्रियत्रयाणाम्' प्रयोग सिद्ध होता है । अन्य विभक्तियों में रूप हरि' की तरह होते हैं ।

प्र० प्रियत्रि	प्रियत्री	प्रियत्रय	प० प्रियत्रे		प्रियत्रिभ्याम्	प्रियत्रिभ्य
द्वि० प्रियत्रिम्		प्रियत्रीन्	ष०	,,	प्रियत्र्यो	प्रियत्रयाणाम्
तृ० प्रियत्रिणा	प्रियत्रिभ्याम्	प्रियत्रिभि	स० प्रियत्रौ		,,	प्रियत्रिषु
च० प्रियत्रये	,,	प्रियत्रिभ्य	स० हे प्रियत्रे !		हे प्रियत्री !	हे प्रियत्रय !

अब सङ्ख्यावाचक द्वि (दो) शब्द का बयान करते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१६३ त्यदादीनाम ।७।२।१०२॥

एषामकारो विभक्तौ । द्विपर्यन्तानामेवेष्टि' । द्वौ २ । द्वाभ्याम् ३ । द्वयोः २ ।

अर्थ.—विभक्ति परे रहते त्यद् आदि शब्दों के स्थान पर अकार आदेश हो । **द्विपर्यन्तानामिति**—द्वि तक ही त्यदादियों को अकार करना इष्ट है ।

व्याख्या—त्यदादीनाम् ।६।३। अ ।१।१। विभक्तौ ।७।१। ['अष्टन आ विभक्तौ से] समास —त्यद् शब्द आदिर्येषान्ते त्यदादय तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि-समास । सर्वादिगण के अन्तर्गत त्यदादिगण आया है । यह त्यद् शब्द स आरम्भ होता है । इस की अवधि भाष्यकार ने 'द्वि' शब्द पर्यन्त नियत की है । इस प्रकार इस गण में 'त्यद्, तद्, यद्, एतद्, इदम्, अदस्, एक, द्वि' ये आठ शब्द आते हैं । अर्थ —(विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (त्यदादीनाम्) त्यद् आदि शब्दों के स्थान पर (अ) अकार आदेश हो । अलोऽन्त्यपरिभाषा से त्यदादियों के अन्त्य अल् को अकार आदेश होगा ।

'द्वि' शब्द द्वित्व का वाचक होने से सदा द्विवचनान्त प्रयुक्त होता है । द्विवचन प्रत्यय आने पर सब विभक्तियों में प्रथम प्रकृतसूत्र द्वारा इकार का अकार हो द्व' बन जाता है । तब रामशब्द के समान प्रक्रिया हो कर रूप सिद्ध होते हैं । सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	०	द्वौ †	०	प०	०	द्वाभ्याम्	०
द्वि०	०	,, †	०	ष०	०	द्वयो ‡	०
तृ०	०	द्वाभ्याम् ❀	०	स०	०	,,	०
च०	०	,,	०	त्यदादियो का प्राय सम्बोधन नहीं होता ।			

† 'द्वि + औ' यहां अकार अन्तादेश हो वृद्धि हो जाती है ।

❀ 'द्वि + भ्याम्' इस दशा में अकार अन्तादेश हो 'सुपि च' से दीर्घ हो जाता है ।

‡ 'द्वि + ओस्' यहां अकार अन्तादेश हो 'ओसि च' से एकार तथा एचोऽयवायाव' से अय् आदेश हो जाता है ।

अभ्यास (२८)

(१) अव्ययों से अतिरिक्त ऐसे कौन से शब्द हैं जो तीनों लिङ्गों में सरूप अर्थात् समान रूप वाले होते हैं ?

(२) 'सीतायाः पतये नमः' यहां समास न होने पर भी कैसे 'घि' सञ्ज्ञा हो जाती है ?

(३) निम्नलिखित सञ्ज्ञाओं में कौन २ सञ्ज्ञा प्रकृति की और कौन २ प्रत्यय की होती है ? ससूत्र यथाधीत टिप्पण करें—

१ अपृक्त । २ अङ्ग । ३ आङ् । ४ उपधा । ५ सर्वनाम । ६ सङ्ख्या । ७ षट् । ८ घि । ९ सर्वनामस्थान । १० विभक्ति । ११ भ । १२ पद । १३ प्रातिपदिक । १४ सम्बुद्धि । १५ बहुवचन ।

(४) (क) न लुमताङ्गस्य' सूत्र में 'अङ्गस्य' ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

(ख) शेषो घ्यसखि' सूत्र में 'शेष पद का ग्रहण क्यों किया है ?

(ग) हल्ङ्याब्भ्यो ' सूत्र में दीर्घात' ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

(घ) अतिदेश किसे कहते हैं ? इस का क्या लाभ होता है ?

(ङ) प्रत्यय का लुक् होने पर भी क्या प्रत्ययलक्षण हुआ करता है ?

(५) इस व्याकरण में क्या एक की एक सञ्ज्ञा करनी उचित है या बहुत—सप्रमाण स्पष्ट करें ।

(६) ख्यत्यात् परस्य' सूत्र में परस्य' ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

(७) 'अपत्य' आदि शब्दों से पर ङसिँ या ङस् के अकार को 'ख्यत्यात्परस्य' द्वारा उकार आदेश होगा या नहीं, स्पष्ट करें ।

(८) 'संयोगान्तस्य लोपे हि ' इस श्लोक की व्याख्या करें ।

(९) हरौ ग्रयाणाम्, सख्युः, पत्ये, कति, सखा, हरे, भूपतये, सखायौ, त्रियत्रय — इन दस रूपों की सूत्रनिर्देशपूर्वक साधनप्रक्रिया लिखें ।

(१०) 'शेषो घ्यसखि सूत्र की व्याख्या करें ।

[यहां ह्रस्व इकारान्तपुंल्लिङ्ग समाप्त होते हैं ।]

—•—

अब ईकारान्त पुंल्लिङ्ग शब्दों का वर्णन किया जाता है—

[लघु०] पाति लोकमिति पपीः सूर्यः । दीर्घाज्जसि च—पप्यौ २ । पप्यः । हे पपीः । पपीम् । पपीन् । पप्या । पपीभ्याम् ३ ।

पपीभिः । पप्ये । पपीभ्य २ । पप्यः २ । पप्यो । दीर्घत्वान्न नुट्—पप्याम् । ङौ तु सवर्ण-दीर्घः—पपी । पप्योः । पपीषु । एवं वातप्रम्यादयः ।

व्याख्या—'पा रक्षणे' (अदा०) धातु से औणादिक 'ई' प्रत्यय कर द्वित्व और आकार का लोप करने से 'पपी' शब्द सिद्ध होता है [देखो—'पापा किद् द्वे च' उणा० (४३४)]। जगत् का रक्षक होने से सूर्य 'पपी' कहाता है। प्रातिपदिक सञ्ज्ञा हो कर इस से सुँ आदि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं—

पपी + स (सुँ) इस स्थिति में सकार को रेफ और विसर्ग करने पर 'पपीः' रूप बनता है। ध्यान रहे कि यहां 'ङी' के न होने से 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७९) सूत्र द्वारा सुँ का लोप नहीं होता।

पपी + औ यहां 'प्रथमयोः—' (१२६) सूत्र से प्राप्त पूर्वसवर्णदीर्घ का 'दीर्घाज्जसि च' (१६२) सूत्र से निषेध होकर 'इको यणचि' (१५) से ईकार को यण्= यकार करने से 'पप्यौ' प्रयोग सिद्ध होता है।

पपी + अस' (जस्) यहां पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हो ईकार को यण्=यकार करने से 'पप्यः' रूप बनता है।

'पपी + अम्' यहां पूर्वसवर्णदीर्घ को बाध कर 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप एकादेश करने पर 'पपीम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

पपी + अस (शस्) यहां पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर 'तस्माच्छसो नः पुंसि' (१३७) से सकार को नकार करने से 'पपीन्' रूप बनता है।

पपी + आ' (टा) 'इको यणचि' (१५) से यण् हो 'पप्या' बना।

तृतीया चतुर्थी और पञ्चमी के द्विवचन में 'पपीभ्याम्' बनता है।

तृतीया के बहुवचन में 'पपीभिः'। सकार को रुँत्व विसर्ग हो जाते हैं।

चतुर्थी के एकवचन में—'पप्ये'। 'इको यणचि' से यण् हो जाता है।

पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में 'पपी + अस' इस दशा में यण् हो कर 'पप्यः' रूप बन जाता है।

पपी + ओस् इस अवस्था में यण् हो कर 'पप्योः' बनता है।

पपी+आम्' इस स्थिति में दीर्घ होने से नुट् का आगम नहीं होता। पुँल्लिङ्ग होने से नदी सञ्ज्ञा भी नहीं होती। तब यण् हो कर 'पप्याम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

'पपी+इ (ङि) यहां सवर्णदीर्घ हो कर 'पपी' बनता है।

पपी + सु (सुप्) यहां सकार को षकार हो कर 'पपीषु' बनता है।

'पपी' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	पपी	पप्यौ	पप्य	प०	पप्य	पपीभ्याम्	पपीभ्य
द्वि०	पपाम्	,,	पपीन्	ष०		पप्यो	पप्याम्
तृ०	पप्या	पपीभ्याम्	पपीभि	स०	पपी		पपीषु
च०	पप्ये		पपीभ्य	सं०	हे पपी !	हे पप्यौ !	हे पप्य !

इसी प्रकार—ययी (मार्ग) वातप्रमी (मृग विशेष) आदि शब्दों के रूप होते हैं।

[लघु०] बह्व्य श्रेयस्यो यस्य स बहुश्रेयसी।

व्याख्या— बहु' शब्द से स्त्रीलिङ्ग में बह्वादिभ्यश्च' (१२५६) द्वारा ङीष प्रत्यय करने पर बह्वी' शब्द निष्पन्न होता है। इसी प्रकार 'प्रशस्य' शब्द से द्विवचन विभज्योपपदे ' (१२१८) सूत्र द्वारा 'ईयसुन्' प्रत्यय करने तथा प्रशस्यस्य श्र ' (१२११) से श्र' आदेश और 'उगितश्च' (१२४६) से ङीप प्रत्यय करने पर श्रेयसी' शब्द बनता है। अतिशयेन प्रशस्या=श्रेयसी। बह्व्य श्रेयस्यो यस्य स =बहुश्रेयसी। अतिप्रशसनीय बहुत स्त्रियों वाला पुरुष 'बहुश्रेयसी कहाता है। यहा बह्वी' और श्रेयसी' पदों का बहुव्रीहि समास हो गया है। स्त्रिया पुवत् ' (९६८) सूत्र से समास में बह्वी पद को पुवत अर्थात् बहु शब्द हो जाता है। ईयसो बहुव्रीहेर्नेति वाच्यम् इस निषेध के कारण उपसर्जनह्रस्व नहीं होता। समासान्त 'कप् प्रत्यय प्राप्त था परन्तु ईयसश्च' (५।४।१५६) से निषिद्ध हो गया।

समास होने के कारण प्रातिपदिक सञ्ज्ञा हो कर सुँ आदि प्रत्यय आते हैं—

'बहुश्रेयसी+स्' (सुँ) यहा श्रेयसी' शब्द ङ्यन्त है अत ङी से परे सुँ का 'हल्ङ्याब्भ्य ' (१७९) सूत्र से लोप हो कर 'बहुश्रेयसी' बनता है।

प्रथमा के द्विवचन में 'बहुश्रेयस्यौ तथा बहुवचन में 'बहुश्रेयस्य बनता है। दोनों स्थानों पर यण् हो जाता है।

सम्बोधन के एकवचन में— हे बहुश्रेयसी+स् इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है।

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—१९४ यूस्त्र्याख्यौ नदी।१।४।३॥

ईदूदन्तौ नित्यस्त्रीलिङ्गौ नदीसञ्ज्ञौ स्तः।

अर्थ —ईदन्त और ऊदन्त नित्यस्त्रीलिङ्ग शब्द नदीसञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—यू ।१।२। स्त्र्याख्यौ ।१।२। नदी ।१।१। समास —ई च ऊ च=यू ['यू + औ इत्यत्र पूर्वसवर्णदीर्घ, 'दीर्घाज्जसि च' इति निषेधाभावश्छान्दस] इतरेतर

द्वन्द्व । स्त्रियम् आचक्षाते इति स्त्र्याख्यौ [स्त्रीकर्मोपपदाद् आङ्पूर्वात् चक्षिङ्धातोः कर्तरि मूलविभुजादित्वात् कप्रत्यये, ख्याञादेशे, आकारलोपे उपपदसमासे च कृते 'स्त्र्याख्य'—शब्दो निष्पद्यते] । यहां शब्दशास्त्र के प्रस्तुत होने से 'यू' का विशेष्य 'शब्दौ' अध्याहृत किया जाता है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो जायगी । 'स्त्र्याख्यौ' का अर्थ 'स्त्रियाम्' कहने से भी सिद्ध हो सकता है अतः यहां इस के फलस्वरूप 'नित्य' शब्द का अध्याहार किया जाता है । अर्थ—(स्त्र्याख्यौ) नित्यस्त्रीलिङ्गी (यू) ईदन्त और ऊदन्त शब्द (नदी) नदीसञ्ज्ञक होते हैं * ।

जिन शब्दों का केवल स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयोग होता है वे शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग कहाते हैं । 'ग्रामणी, खलपू' आदि शब्द पुँल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग दोनों में देखे जाते हैं अतः ये नित्यस्त्रीलिङ्ग नहीं, इन की नदीसञ्ज्ञा न होगी । नदी, गौरी, वधू आदि शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग हैं वे यहां उदाहरण समझने चाहियें । [वस्तुतः नित्यस्त्रीलिङ्ग शब्दों के विषय में विस्तारपूर्वक विचार सिद्धान्तकौमुदी के अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण में देखें] ।

श्रेयसी शब्द ङ्यन्त होने से नित्यस्त्रीलिङ्ग है, अतः इस की तो इस सूत्र से नदीसञ्ज्ञा निर्बाध होगी ही परन्तु बहुश्रेयसी में श्रेयसीशब्द गौण हो जाता है, इस की इस सूत्र से नदीसञ्ज्ञा नहीं हो सकती—इस पर अग्रिम वार्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—१७ प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च ।

पूर्वं स्त्र्याख्यस्योपसर्जनत्वेऽपि नदीत्वं वक्तव्यमित्यर्थः ।

अर्थः—यहां नदीसञ्ज्ञा में प्रथमलिङ्ग का भी ग्रहण होता है अर्थात् जो शब्द पहले नित्यस्त्रीलिङ्ग हैं और बाद में समासवशात् गौण हो जाने से अन्य लिङ्ग में चले गये हैं उन की भी पहले के लिङ्ग के द्वारा नदीसञ्ज्ञा कर लेनी चाहिये ।

व्याख्या—इस वार्तिक से 'बहुश्रेयसी' में स्थित 'श्रेयसी' शब्द की नदीसञ्ज्ञा हो जाती है । अब इस का फल अग्रिमसूत्र में दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१९५ **अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः** ।७।३।१०७॥

सम्बुद्धौ । हे बहुश्रेयसि ! ।

अर्थः—अम्बार्थ तथा नद्यन्त अङ्गों को सम्बुद्धि परे रहते ह्रस्व हो जाता है ।

व्याख्या—अम्बार्थनद्योः ।६।२। अङ्गयोः ।६।२। ['अङ्गस्य' यह अधिकृत है]

---

* इस सूत्र से वर्णों की भी नदीसञ्ज्ञा हो जाती है अन्यथा 'दीव्यन्ती' आदि उदाहरणों में आच्छीनद्योर्नुम् (३६५) से नुम् न हो सकता । [इसी सूत्र पर 'तत्त्वबोधिनी' यहां द्रष्टव्य है ।]

ह्रस्व: ।१।१। सम्बुद्धौ ।७।१। [सम्बुद्धौ च से] अम्बा अर्थो यस्य स = अम्बार्थः, बहुव्रीहिसमास । अम्बार्थश्च नदी च=अम्बार्थनद्यौ, तयो:=अम्बार्थनद्योः, इतरेतरद्वन्द्व । 'अङ्गस्य' का विशेषण होने से इस से तदन्तविधि हो जाती है । अर्थ —(अम्बार्थनद्योः) अम्बा=माता अर्थ वाले तथा नद्यन्त (अङ्गयोः) अङ्गों के स्थान पर (सम्बुद्धौ) सम्बुद्धि पर रहते (ह्रस्व) ह्रस्व हो जाता है । अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह ह्रस्व अङ्ग के अन्त्य अल् के स्थान पर होगा । अम्बार्थकों के उदाहरण आगे अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण में आएंगे ।

हे बहुश्रेयसी + स्' यहां 'श्रेयसी' की नदीसञ्ज्ञा है नद्यन्त शब्द 'बहुश्रेयसी' है । इस से परे सम्बुद्धि वर्त्तमान है । अतः प्रकृतसूत्र से ईकार को ह्रस्व हो एङ्ह्रस्वात् (१३४) से सम्बुद्धि के हल् का लोप करने पर 'हे बहुश्रेयसि !' प्रयोग सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि ह्रस्व हो जाने पर ह्रस्वविधानसामर्थ्य से 'ह्रस्वस्य गुणः' (१६६) द्वारा गुण नहीं होगा अन्यथा 'अम्बार्थनद्योर्गुणः' सूत्र ही पढ देते ।

द्वितीया के एकवचन में 'बहुश्रेयसी + अम्' यहां पूर्वसवर्णदीर्घ को बाध कर 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'बहुश्रेयसीम्' प्रयोग सिद्ध होता है ।

द्वितीया के बहुवचन में 'बहुश्रेयसी + अस्' (शस्) इस स्थिति में पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर 'तस्माच्छसो नः पुंसि' (१३७) सूत्र से सकार को नकार करने पर 'बहुश्रेयसीन्' बनता है ।

बहुश्रेयसी+आ (टा)=बहुश्रेयस्या । यहां 'इको यणचि' (१५) से यण् हो जाता है ।

तृतीया, चतुर्थी तथा पञ्चमी के द्विवचन में 'बहुश्रेयसीभ्याम्' सिद्ध होता है ।

तृतीया के बहुवचन में 'बहुश्रेयसीभिः' । सकार को रुँत्व विसर्ग हो जाते हैं ।

चतुर्थी के एकवचन में 'बहुश्रेयसी+ए' (ङे) इस स्थिति में नदीसञ्ज्ञा हो कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१६६ आण् नद्याः ।७।३।११२॥

नद्यन्तात् परेषां ङितामाडागमः ।

अर्थः—नद्यन्त शब्दों से परे ङित् प्रत्ययों का आट् आगम हो ।

व्याख्या—आट् ।१।१। [सूत्र में 'यरोऽनुनासिक—' द्वारा अनुनासिक हुआ है] नद्याः ।५।१। अङ्गात् ।५।१। ['अङ्गस्य' अधिकृत है ।] ङितः ।६।१। ['घेर्ङिति' से विभक्ति विपरिणाम कर के] अर्थ —(नद्याः) नद्यन्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (ङितः) ङित् का अवयव (आट्) आट् हो जाता है । आट् टित् है अतः 'आद्यन्तौ टकितौ' (८५) द्वारा ङितों का आद्यवयव होगा ।

'बहुश्रेयसी + ए' यहां 'ए' ङित् है 'बहुश्रेयसी' नद्यन्त है। अतः ङित् से पूर्व आट् का आगम हो—'बहुश्रेयसी + आ ए' हुआ। इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१९७ आटश्च ।६।१।८८॥

आटोऽचि परे वृद्धिरेकादेशः। बहुश्रेयस्यै। बहुश्रेयस्याः २। नद्यन्तत्वान्नुट्—बहुश्रेयसीनाम्।

अर्थः—आट् से अच् परे रहते पूर्व+पर के स्थान पर वृद्धि एकादेश हो।

व्याख्या—आटः ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। अचि ।७।१। ['इको यणचि' से] पूर्वपरयोः ।६।२। एकः ।१।१। [एकः पूर्वपरयोः' यह अधिकृत है] वृद्धिः ।१।१। ['वृद्धिरेचि' से] अर्थः—(आटः) आट् से (अचि) अच् परे रहते (पूर्वपरयोः) पूर्व+पर के स्थान पर (एकः) एक (वृद्धिः) वृद्धि आदेश हो।

'बहुश्रेयसी+आ ए' यहां आट् से परे 'ए' अच् वर्त्तमान है, अतः पूर्व (आ) पर (ए) के स्थान पर ऐकार वृद्धि एकादेश हो गया। तब 'बहुश्रेयसी+ऐ' इस दशा में 'इको यणचि' (१५) से यण् हो कर 'बहुश्रेयस्यै' प्रयोग सिद्ध हुआ।

नोट—यद्यपि यहां 'वृद्धिरेचि' (३३) से भी वृद्धि हो सकती थी, तथापि 'ऐक्षत' (आ+ईक्षत) आदि प्रयोगों में 'आटश्च' के विना कार्य सिद्ध नहीं हो सकता था इस लिये इस की रचना आवश्यक था। यहां न्यायवशात् इसे प्रवृत्त किया गया है।

चतुर्थी और पञ्चमी के बहुवचन में बहुश्रेयसीभ्यः। सकार को रुँत्व विसर्ग हो जाते हैं।

पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में 'बहुश्रेयसी+अस्' इस दशा में नदीसंज्ञा हो कर 'आण्नद्याः' (१९६) से आट् का आगम और 'आटश्च' (१९७) से वृद्धि हो जाती है। तब 'बहुश्रेयसी+आस्' इस अवस्था में यण् हो सकार को रुँत्व विसर्ग करने से 'बहुश्रेयस्याः' प्रयोग सिद्ध होता है।

षष्ठी के द्विवचन में यण् हो कर 'बहुश्रेयस्योः' बना।

षष्ठी के बहुवचन में 'बहुश्रेयसी+आम्' इस स्थिति में नद्यन्त होने से 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' (१४८) सूत्र द्वारा नुट् आगम हो 'बहुश्रेयसीनाम्' रूप सिद्ध होता है।

सप्तमी के एकवचन में 'बहुश्रेयसी+इ' (ङि) इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—१९८ ङेराम्नद्याम्नीभ्यः ।७।३।११६॥

नद्यन्ताद्, आबन्ताद्, 'नी'शब्दाच्च परस्य ङेराम्। बहुश्रेयस्याम्। शेषं पपीवत्।

अर्थ.—नद्यन्त, आबन्त तथा 'नी' शब्द से पर 'ङि' के स्थान पर आम् आदेश हो।

व्याख्या—ङेः ।६।१। आम् ।१।१। नद्याम्नीभ्यः ।५।३। अङ्गेभ्यः ।५।३। [अङ्गस्य अधिकृत है। इस का विभक्तिविपरिणाम हो जाता है।] समास—नदी च आप् च नीश्च=नद्याम्न्यः (यरोऽनु० इत्यनुनासिक) तेभ्यः = नद्याम्नीभ्यः इतरेतरद्वन्द्वः। नदी और आप् अङ्ग के विशेषण हैं अतः येन विधिस्तदन्तस्य (१।१।७) द्वारा इन से तदन्तविधि हो जाता है *। आप् के प्रत्यय होने से प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम् परिभाषा द्वारा भी इस से तदन्तविधि हो सकता है। अर्थ —(नद्याम्नीभ्यः) नद्यन्त आबन्त और नी (अङ्गेभ्यः) अङ्गों से पर (ङेः) ङि के स्थान पर (आम्) आम् आदेश होता है।

बहुश्रेयसी + ङि यहां बहुश्रेयसी नद्यन्त अङ्ग है, अतः इस से परे ङि को आम् हो गया। बहुश्रेयसी + आम् इस स्थिति में स्थानिवद्भाव से आम् ङित् है। अब यहां 'आण्नद्याः' (१६९) से आट् का आगम तथा ह्रस्वनद्यापो नुट् (१४८) से नुट् का आगम युगपत् प्राप्त होता है। दोनों सावकाश [आट्—'बहुश्रेयस्यै' आदियों में तथा नुट्—'बहुश्रेयसीनाम्' आदियों में चरितार्थ हैं] हैं अतः 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) से पर कार्य आट् आगम हो कर—'बहुश्रेयसी+आ आम्' हुआ। अब यद्यपि आम् परे होने से नुट् आगम प्राप्त हो सकता है और इस में आम् का अवयव होने से आट् आगम बाधा नहीं डाल सकता है तथापि **'विप्रतिषेधे यद् बाधितं तद् बाधितमेव'** [अर्थात् विप्रतिषेधस्थल में जिस शास्त्र का एक बार बाध हो जाता है उस का पुनः प्रवृत्ति नहीं होती] इस नियमानुसार नुट् नहीं होता। तब आटश्च (१९७) से वृद्धि तथा 'इको यणचि' (१५) से यण् आदेश हो 'बहुश्रेयस्याम्' प्रयोग बनता है।

बहुश्रेयसी + सु (सुप्) = बहुश्रेयसीषु। यहां आदेशप्रत्यययोः (१५०) से सकार को षकार हो जाता है। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	बहुश्रेयसी	बहुश्रेयस्यौ	बहुश्रेयस्यः
द्वि०	बहुश्रेयसीम्		बहुश्रेयसीन्
तृ०	बहुश्रेयस्या	बहुश्रेयसीभ्याम्	बहुश्रेयसीभिः

* ग्रन्थकार के अनुरोध से हम ऐसा कर रहे हैं वस्तुतः 'नी' शब्द में भी तदन्तविधि हो जाता है वह भी 'अङ्ग' का विशेषण है। अन्यथा ग्रामण्याम् में आम् आदेश हो जाता है।

च०	बहुश्रेयस्यै	बहुश्रेयसीभ्याम्	बहुश्रेयसीभ्य
प०	बहुश्रेयस्या	,,	,,
ष०	,,	बहुश्रेयस्या	बहुश्रेयसीनाम्
स०	बहुश्रेयस्याम्		बहुश्रेयसाषु
स०	हे बहुश्रयसि !	ह बहुश्रयस्यौ !	हे बहुश्रयस्य !

[लघु०] अङयन्तत्वान्न सुलोप । अतिलक्ष्मी । शेष बहुश्रयमावत् ।

व्याख्या— लक्ष दशन अङ्कने च (चुरा) इस धातु स लक्षमु ट् च (उणा० ४४०) सूत्र द्वारा ई प्रत्यय तथा मुट् का आगम हा कर लक्ष्मा' शब्द निष्पन्न हाता है । लक्ष्मीमतिक्रान्त =अतिलक्ष्मी , लक्ष्मी का अतिक्रमण करने वाला पुरुष अतिलक्ष्मी' कहाता है ।

अतिलक्ष्मी+स्' (सुँ) । ङयन्त न होन से सुँ का लोप नहीं होता , रुँत्व विसग करने पर अतिलक्ष्मी ' रूप बनता है ।

इस के शेष रूप 'बहुश्रेयसी के समान बनत हैं। इस में 'लक्ष्मी' शब्द पहले नित्यस्त्रीलिङ्ग है अब इस के गौण हो जान पर भी प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च' (वा० १७) वार्त्तिक द्वारा नदीसञ्ज्ञा हो जाती हैं। अत नदी के सब पूर्वोक्त कार्य हो जाते है। इस की समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	अतिलक्ष्मी	अतिलक्ष्म्यौ	अतिलक्ष्म्य
द्वि०	अतिलक्ष्मीम्		अतिलक्ष्मीन्
तृ०	अतिलक्ष्म्या	अतिलक्ष्मीभ्याम्	अतिलक्ष्मीभि
च०	अतिलक्ष्म्यै	,,	अतिलक्ष्मीभ्य
प०	अतिलक्ष्म्या	,	,,
ष०		अतिलक्ष्म्यो	अतिलक्ष्मीणाम्
स०	अतिलक्ष्म्याम्	,	अतिलक्ष्मीषु
स०	हे अतिलक्ष्मि !	ह अतिलक्ष्म्यौ !	हे अतिलक्ष्म्य !

[लघु०] प्रधी ।

व्याख्या— प्रध्यायतीति प्रधी (विशेष रूप से मनन करने वाला) । प्रधी शब्द प्रपूवक ध्यै चिन्तायाम्' (भ्वा० प०) धातु स ध्यायत सम्प्रसारणञ्च इस वार्त्तिक द्वारा क्विप् प्रत्यय तथा सम्प्रसारण करने पर सिद्ध हाता है । व्युत्पत्तिपक्ष म कृदन्त हाने के कारण इस की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो जाती है ।

प्रधी + स्' (सुँ) इन्न्त न होने से 'हल्ङ्याब्भ्य ' (१७९) द्वारा सकार का लोप न हुआ। रुत्व विसर्ग हो कर प्रधी ।

प्रधी + औ' इस अवस्था में पूर्वसवर्णदीर्घ के प्राप्त होने पर दीर्घाज्जसि च' (१६२) सूत्र से उस का निषेध हो जाता है। पुन इको यणचि' (१५) से यण् प्राप्त होने पर अग्रिम अपवाद सूत्र प्राप्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—१९९ अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियँङुवँङौ ।६।४।७७॥

श्नुप्रत्ययान्तस्य, इवर्णोवर्णान्तस्य धातो , भ्रू इत्यस्य च, अङ्गस्य इयँङुवँङौ स्तोऽजादौ प्रत्यये परे। इति प्राप्ते—

अर्थ—अजादि प्रत्यय परे होने पर श्नु प्रत्ययान्त रूप इवर्णान्त और उवर्णान्त धातु रूप तथा भ्रू रूप अङ्गो के स्थान पर इयँङ और उवँङ् आदेश होते हैं।

व्याख्या—अचि ।७।१। श्नु धातु-भ्रुवाम् ।६।३। अङ्गानाम् ।६।३। [अङ्गस्य' इस अधिकृत का वचनविपरिणाम हो जाता है।] य्वो ।६।२। इयँङुवँङौ ।१।२। 'श्नु, धातु, भ्रू ये सब अङ्ग होने चाहियें। अङ्गसञ्ज्ञा प्रत्यय पर होने पर ही हुआ करती है अत 'प्रत्यय' पद का अध्याहार हो अचि' का विशेषण बना कर 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे द्वारा तदादिविधि करने पर अजादौ प्रत्यये बन जायगा। श्नुश्च धातुश्च भ्रूश्च श्नु धातु भ्रुव तेषाम्=श्नु धातु भ्रुवाम् इतरेतरद्वन्द्व । 'श्नु यह प्रत्यय है प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम् के नियमानुसार तदन्त अर्थात् श्नुप्रत्ययान्त का ही ग्रहण होगा। भ्रू यह शब्द है, भ्रमु अनवस्थान (दिवा० प) धातु से भ्रमेश्च डू' (उणा २२७) द्वारा डू प्रत्यय करने पर इस की निष्पत्ति होती है। इस का विशेष वर्णन आगे अजन्त स्त्रीलिङ्ग प्रकरण में किया जाएगा। इश्च उश्च=यू इतरेतरद्वन्द्व तयो =य्वो । यह श्नु धातु भ्रुवाम्' पद के धातु' अंश का ही विशेषण है क्योंकि श्नु और भ्रू के सदा उवर्णान्त होने से उन के साथ इस का सम्बन्ध नहीं हो सकता। धातु अंश का विशेषण होने से य्वो' से तदन्तविधि हो कर इवर्णान्तस्य उवर्णान्तस्य च धातो' ऐसा बन जाता है। इस प्रकार समुच्चित अर्थ यह होता है—(अचि) अजादि प्रत्यय परे होने पर (श्नु धातु भ्रुवाम्) श्नु प्रत्ययान्त रूप इवर्णान्त और उवर्णान्त धातु रूप तथा भ्रू शब्द (अङ्गानाम्) इन अङ्गों के स्थान पर (इयँङुवँङौ) इयँङ् और उवँङ् आदेश होते हैं।

ङिच्च' (४६) सूत्र द्वारा ये आदेश अङ्ग के अन्त्य इकार उकार के स्थान पर होते हैं। 'स्थानेऽन्तरतम (१७) से इवर्ण को इयँङ् तथा उवर्ण को उवँङ् आदेश होगा। इन आदेशों में अँङ् की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है इय्, उव् शेष रहते हैं।

प्रधी + औ' यहां 'औ' यह अजादि प्रत्यय परे है। प्रधी में 'धी' इवर्णान्त धातु है। [यद्यपि धातु 'ध्यै' था तो भी 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' के अनुसार इसे भी इवर्णान्त मान लिया जाता है। इसी प्रकार यद्यपि प्रत्ययान्त हो जाने से यह प्रातिपदिक हो गया है तथापि "क्विबन्ता धातुत्वं न जहति" इस से इस का धातुत्व भी अक्षत रह जाता है।] तो प्रकृतसूत्र से इसके इकार के स्थान पर इयँङ् आदेश प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र निषेध कर यण् विधान करता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२०० एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य ।६।४।८२॥

धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य इवर्णः, तदन्तो यो धातुः, तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य यण् स्याद् अजादौ प्रत्यये परे। प्रध्यौ। प्रध्यम्। प्रध्यः। प्रध्यि। शेषं पपीवत्।

अर्थः—धातु का अवयव जो संयोग वह पूर्व में नहीं है जिस इवर्ण के, वह इवर्ण है अन्त में जिस धातु के, वह धातु है अन्त में जिस के, ऐसा जो अनेक अचों वाला अङ्ग, उस के स्थान पर यण् हो अजादि प्रत्यय परे होने पर।

व्याख्या—एः ।६।१। अनेकाचः ।६।१। असंयोगपूर्वस्य ।६।१। यण् ।१।१। ['इणो यण्' से] धातोः ।६।१। [अचि श्नुधातुभ्रुवाम्० से। श्नु और भ्रू का—उवर्णान्त होने से 'इ' के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता अतः उन का अनुवर्तन नहीं किया जाता] अचि ।७।१। ['अचि श्नु०' से] 'एः' यह षष्ठी का एकवचन है। इस का अर्थ है—इवर्णस्य। 'धातोः' पद आवर्तित [दो बार पढा हुआ] किया जाता है। एक 'धातोः' पद 'एः' का विशेष्य बन जाता है जिस से 'एः' से तदन्तविधि होकर 'इवर्णान्तस्य धातोः' ऐसा हो जाता है। दूसरा 'धातोः' पद 'असंयोगपूर्वस्य' पद के संयोग अंश के साथ सम्बन्धित होता है। 'अङ्गस्य' यह अधिकृत है। इस का 'एधातोः' (इवर्णान्तस्य धातोः) यह विशेषण है। अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर—इवर्णान्तधात्वन्तस्य अङ्गस्य' ऐसा अर्थ होता है। 'अनेकाचः' पद 'अङ्गस्य' का विशेषण है। अनेके अचो यस्य यस्मिन् वा सोऽनेकाच्, तस्य=अनेकाचः, बहुव्रीहिसमास। 'असंयोगपूर्वस्य' का 'एः' के साथ सामानाधिकरण्य है। नास्ति संयोगः पूर्वो यस्य सोऽसंयोगपूर्वः, नञ्बहुव्रीहिसमास। इस प्रकार यह अर्थ हुआ—(धातोः असंयोगपूर्वस्य) धातु का अवयव संयोग जिस के पूर्व में नहीं ऐसा (एः) जो इवर्ण, वह है अन्त में जिस के ऐसी (धातोः) जो धातु, वह है अन्त में जिस के ऐसा (अनेकाचः) जो अनेक अचों वाला (अङ्गस्य) अङ्ग उस के स्थान पर (यण्) यण् आदेश होता है (अचि) अजादि प्रत्यय परे हो तो।

तात्पर्य—अजादि प्रत्यय परे होने पर उस अनेकाच् अङ्ग को यण् आदेश होता है जिस के अन्त में इवर्णान्त धातु है। परन्तु धातु के इवर्ण से पूर्व धातु का अवयव संयोग न हो।

और ह्रस्वनद्याप ' (१४८) के विप्रतिषेध होने पर परत्व के कारण नुट् ही होगा यण् नहीं।

प्रधी+इ (ङि) यहां सवर्णदीर्घ को बाध कर इयँङ् प्राप्त होता है। पुनः उसे भी बाध कर एरनेकाचः से यण् करने पर प्रध्यि रूप सिद्ध होता है।

प्रधी+सु (सुप्) यहां आदेशप्रत्यययोः (१५) से मूर्धन्य आदेश हो— प्रधीषु'।

सम्बुद्धि अर्थात् सम्बोधन के एकवचन में नद्यन्त न होने से अम्बार्थनद्यो (१६५) द्वारा ह्रस्व नहीं होता। हे प्रधी !। प्रधी शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	प्रधी	प्रध्यौ	प्रध्य	प०	प्रध्य	प्रधीभ्याम् प्रधीभ्य
द्वि०	प्रध्यम्	,,		ष०	प्रध्यो	प्रध्याम्
तृ०	प्रध्या	प्रधीभ्याम्	प्रधीभि	स०	प्रध्यि	प्रधीषु
च०	प्रध्ये		प्रधीभ्य	सं०	हे प्रधी !	हे प्रध्यौ ! हे प्रध्य !

विशेष वक्तव्य—ऊपर कहा गया प्रधी शब्द प्रपूर्वक ध्यै चिन्तायाम् धातु से क्विप् प्रत्यय करने से सिद्ध होता है। इस प्रकार से निष्पन्न हुआ प्रधी' शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग नहीं होता। यह पुंल्लिङ्ग स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग सब प्रकार का हो सकता है। अतः यू स्त्र्याख्यौ नदी (१६४) से इस की नदीसञ्ज्ञा नहीं होती। यदि प्रथम 'ध्यै चिन्तायाम्' धातु से क्विप् प्रत्यय कर के धी शब्द बना दिया जावे तो वह नित्यस्त्रीलिङ्ग होने से नदीसञ्ज्ञक होगा। तब प्रकृष्टा धीर्यस्य स प्रधी इस प्रकार समस्त किया हुआ पुंल्लिङ्ग प्रधी शब्द भी प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च (वा० १७) से नदीसञ्ज्ञक हो जायगा। तब आट् नुट् आदि नदीकार्य भी होंगे।

प्रधी (प्रकृष्टा धीर्यस्य स प्रधीः। उत्तम बुद्धि वाला)

प्र०	प्रधी	प्रध्यौ	प्रध्य	प०	प्रध्या ॐ	प्रधीभ्याम् प्रधीभ्य
द्वि०	प्रध्यम्			ष०	ॐ प्रध्यो	प्रधीनाम्+
तृ०	प्रध्या	प्रधीभ्याम्	प्रधीभि	स०	प्रध्याम्†	प्रधीषु
च०	प्रध्यै ॐ		प्रधीभ्य	सं०	हे प्रधि !×	हे प्रध्यौ ! हे प्रध्य !

ॐ आण्नद्याः आटश्च एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य'।

+ यहां एरनेकाचः ' से यण् तथा ह्रस्वनद्यापः ' से नुट् का विप्रतिषेध होने पर परकार्य नुट् हो जाता है।

† यहां ङेराम्नद्याम्नीभ्यः ' से ङि को आम् 'आण्नद्याः' से आट् 'आटश्च' से वृद्धि तथा एरनेकाचः ' से यण् हो जाता है। *

× अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः, एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः"।

प्रश्न—नित्यस्त्रालिङ्ग धी शब्द म अचि श्नु सूत्र द्वारा इयँङ् हो— धियौ धियः आदि रूप बना करते हैं। परन्तु जिस नित्यस्त्रीलिङ्ग शब्द के स्थान पर इयँङ उवँङ हो वहा प्रथम नेयँङुवँङ् ' २२६) सूत्र से नदीसञ्ज्ञा का सर्वत्र निषेध हो जाता है तत्पश्चात् 'ङिति ह्रस्वश्च (२२२) से ङित विभक्तियो म तथा वाऽऽमि (२३०) से आम् म नदीसञ्ज्ञा का विकल्प किया जाता है जैसा कि अजन्तस्त्रालिङ्गप्रकरण म श्री शब्द पर होता है। तो इस प्रकार 'प्रकृष्टा धायस्य इस विग्रह वाल प्रधी शब्द म भी आप को वैसा करना चाहिये। आप के वैसा न करने का क्या कारण है?।

उत्तर—'नेयँङुवँङ् (२२६) सूत्र वहा पर निषेध करता है जहा इयङ, उवँङ् प्राप्त नहा किन्तु सानात हुआ करते हैं। अतएव इयङुवँङारस्त्री न कह कर सूत्र म स्थान शब्द का ग्रहण किया गया है। 'प्रधी' शब्द में प्रत्यक्ष यण होता है इयँङ नहीं अतः नदीत्व का निषेध न होगा। ङिति ह्रस्वश्च तथा वाऽऽमि' म 'इयँङुवङ्स्थानौ की अनुवृत्ति आती है अतः व भी प्रवृत्त न होंगे।

[लघु०] एवं ग्रामणी। ङौ तु ग्रामण्याम्।

व्याख्या—ग्राम नयतीति = ग्रामणी। ग्राम कर्मोपपद 'णीञ् प्रापणे' (भ्वा० उ०) धातु से कर्त्ता म 'क्विप् च' (८०२) सूत्र से क्विप प्रत्यय करने पर 'ग्रामणी' (ग्राम का नेता नम्बरदार) शब्द निष्पन्न होता है। 'अग्रग्रामाभ्यां नयतेर्णो वाच्यः' वार्त्तिक से यहां नकार को णकार हुआ है।

'ग्रामणी' शब्द में 'नी' इवर्णान्त धातु है। इस के इवर्ण से पूर्व धातु का कोई अवयव संयोगयुक्त नहीं। तदन्त ग्रामणी शब्द अनेकाच् अङ्ग भी है। अतः अजादि प्रत्ययों म सर्वत्र 'एरनेकाचः' (२००) से यण हो जायगा। 'अचि श्नु ' (१९९) से इयँङ् न होगा। 'ग्रामणी' शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग नहीं, किन्तु सब लिङ्गो म साधारण है अतः यू स्त्र्याख्यौ नदी (१९४) से नदी सञ्ज्ञा न होगी। तब आट् नुट् आदि नदीकार्य न होंगे सम्बुद्धि में ह्रस्व भी न हो सकेगा। समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	ग्रामणी ※	ग्रामण्यौ	ग्रामण्यः	प०	ग्रामण्यः	ग्रामणीभ्याम्	ग्रामणीभ्यः
द्वि०	ग्रामण्यम्	,,	,,	ष०	,,	ग्रामण्योः	ग्रामण्याम्
तृ०	ग्रामण्या	ग्रामणीभ्याम्	ग्रामणीभिः	स०	ग्रामण्याम्†		ग्रामणीषु
च०	ग्रामण्ये	,,	ग्रामणीभ्यः	सं०	हे ग्रामणीः!	हे ग्रामण्यौ!	हे ग्रामण्यः!

इस प्रकार 'अग्रणी' तथा 'सेनानी' शब्द होंगे।

※ ङ्यन्त न होने से सुलोप नहीं होता।

† 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' सूत्र में 'नी' के साक्षात् निर्देश के कारण ङि को आम्' आदेश हो जाता है। नदीसञ्ज्ञा न होने से आट् का आगम नहीं होता।

अब 'एरनेकाच   का अधिक स्पष्ट करने के लिये उस के प्रत्युदाहरण दर्शाते हैं—

[लघु०] अनेकाच. किम्—नीः, निया, निय । अमि शसि च परत्वाद् इयँङ्—नियम्, निय । ङेराम्—नियाम् ।

व्याख्या—'एरनेकाच   सूत्र म कहा गया है कि 'अङ्ग अनेकाच् हो' यह क्यो कहा ? इस का फल है 'नी' शब्द में यण् न होना । 'नी' (णीञ् प्रापणे' धातु से क्विप प्रत्यय करने पर 'नी' शब्द निष्पन्न होता है । इस का अर्थ ले जाने वाला = नेता' है ।) शब्द एकाच् है अनेकाच् नहीं, अत इस में यण् आदेश न हो सकेगा अचि श्नु '(१९९) सूत्र से इयँङ् हो जायगा । इस की समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	नी †	नियौ	निय	प०	निय *	नीभ्याम्	नीभ्य
द्वि०	नियम् ‡	„	„ ‡	ष०	*	नियो	नियाम्
तृ०	निया	नीभ्याम्	नीभि	स०	नियाम् ×		नीषु
च०	निये *	„	नीभ्य	सं०	हे नी ! ℛ	हे नियौ !	हे निय !

† ङ्यन्त न होने से सुँ लोप नहीं होता ।

‡ अम और शस में क्रमशः 'अमि पूर्व तथा प्रथमया पूर्वसवर्ण सूत्र को परत्व के कारण 'अचि श्नु ' बाध लेता है । इसी प्रकार एरनेकाच   द्वारा विहित यण भी इन का बाधक समझ लेना चाहिये ।

* सब लिङ्गों में साधारण होने से नी' शब्द की नदीसञ्ज्ञा नहीं होती । अत आट् आदि नदीकार्य नहीं होते ।

× ङेराम्नद्याम्नीभ्य ' ।

ℛ नदीत्व न होने के कारण 'अम्बार्थ ' द्वारा ह्रस्व न होगा ।

[लघु०] असयोगपूर्वस्य किम ? सुश्रियौ, यवक्रियौ ।

व्याख्या—'एरनेकाच ' (२००) सूत्र में कहा गया था कि धातु क इवर्ण से पूर्व सयोग नहीं होना चाहिये—यह क्यों कहा ? इस का फल है सुश्रियौ' और 'यवक्रियौ' में यण न होना । इन स्थानों पर धातु के इवर्ण से पूर्व संयोग है अत यण् न हुआ तब इयँङ् हो कर रूप बना ।

[ध्यान रहे कि संयोग भी जब धातु का अवयव होगा तभी यण निषेध होगा । सुश्री' आदि शब्दों में संयोग धातु का अवयव है । 'उन्नी शब्द में संयोग धातु का अवयव नहीं, उपसर्ग के तकार को मिला कर बना है अत निषेध न होगा यण् हो जायगा । 'उन्न्यौ, उन्न्य ' आदि रूप बनेंगे ।]

सुष्ठु श्रयतीति सुश्री (अच्छी तरह आश्रय करने वाला)। सुपूर्वक 'श्रिञ् सेवायाम्' (भ्वा० उ०) धातु से 'क्विब्वचिप्रच्छि०' (उणा० २१६) इस सूत्र से क्विप् प्रत्यय और दीर्घ करने पर 'सुश्री' शब्द निष्पन्न होता है। तीनों लिङ्गों में साधारण होने के कारण इस की नदीसञ्ज्ञा न होगी। समग्र रूपमाला यथा—

प्र० सुश्री *	सुश्रियौ	सुश्रियः		पं० सुश्रियः ‡	सुश्रीभ्याम्	सुश्रीभ्यः
द्वि० सुश्रियम्	,,	,,		ष० ,,	सुश्रियोः	सुश्रियाम् ‡
तृ० सुश्रिया	सुश्रीभ्याम्	सुश्रीभिः		स० सुश्रियि †	,,	सुश्रीषु
च० सुश्रिये ‡	,,	सुश्रीभ्यः		सं० हे सुश्रीः !	हे सुश्रियौ !	हे सुश्रियः !

* अङ्यन्त होने से सुँलोप नहीं होता।

‡ नदीसञ्ज्ञा न होने से आट् आदि नदीकार्य नहीं होते।

† यहां न तो नदीसञ्ज्ञा है और न ही नीशब्द है अतः 'ङेराम्०' द्वारा ङि को आम् नहीं होता।

सूचना—सु=शोभना श्रीर्यस्य स सुश्रीः। इस प्रकार विग्रह मानने पर भी सुश्री शब्द के रूपों में कोई अन्तर नहीं आता। 'प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च' (वा० १७) वार्त्तिक की सहायता से 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१९४) द्वारा नदीसञ्ज्ञा प्राप्त होने पर इयँङुवँङ्स्थानी होने के कारण 'नेयँङुवँङ्०' (२२६) सूत्र से निषेध हो जाता है। इसी प्रकार आगे शुद्धधी सुधी' आदि शब्दों में भी समझ लेना चाहिये। यहां 'ङिति ह्रस्वश्च' (२२२) से ङित् विभक्तियों में तथा 'वाऽऽमि' (२३०) से आम् में वैकल्पिक नदीत्व की भी आशङ्का नहीं करनी चाहिये क्योंकि जिस स्त्रीलिङ्ग अङ्ग से ङित् व आम् का विधान हो उस की उन सूत्रों से वैकल्पिक नदीसञ्ज्ञा की जाती है (देखो—शेखर में 'ङिति ह्रस्वश्च')। यहां ङित् और आम् का विधान तो सुश्री सुधी आदि पुंल्लिङ्ग शब्दों से किया गया है और नदीसञ्ज्ञा उन के अवयव श्री, धी आदि शब्दों की करनी है। अतः नदीसञ्ज्ञा सर्वथा न होगी। लघुकौमुदी और मध्यकौमुदी के विवृतिकार, खन्ना के सस्कृतकालेज के प्रिंसिपल श्री पण्डित विश्वनाथ जी शास्त्री प्रभाकर तथा लघुकौमुदी के हिन्दी व्याख्याकार पं० श्रीधरानन्द जी शास्त्री व्याकरणाचार्य को 'सुश्री' शब्द पर महती भ्रान्ति हो गई है। वे यहां नदीसञ्ज्ञा करना बतलाते हैं। यदि वैसा हो तो सुधी आदि शब्दों में भी नदीत्व प्रसक्त होगा, जो उनके भी मत में अनिष्ट है। 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१९४) के महाभाष्य पर "श्रियै अतिश्रियै ब्राह्मण्यै, क्व मा भूत्—श्रिये अतिश्रिय ब्राह्मणाय" ये वचन यहां विशेष मननीय हैं।

इसी प्रकार 'यवक्री' (जौ खरीदने वाला) शब्द के रूप होते हैं। यह भी 'असंयोगपूर्वस्य' का प्रत्युदाहरण है। यवान् क्रीणातीति—यवक्री, यवकर्मोपपदात् 'डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये (क्र्या० उ०) इति धातो 'क्विप् च' (८०२) इति क्विप्प्रत्ययः। इस की समग्र रूपमाला यथा—

प्र० यवक्री	यवक्रियौ	यवक्रियः	प० यवक्रियः	यवक्रीभ्याम्	यवक्रीभ्यः
द्वि० यवक्रियम्			ष० ,,	यवक्रियोः	यवक्रियाम्
तृ० यवक्रिया	यवक्रीभ्याम्	यवक्रीभिः	स० यवक्रियि		यवक्रीषु
च० यवक्रिये	,,	यवक्रीभ्यः	सं० हे यवक्री !	हे यवक्रियौ !	हे यवक्रियः !

इस शब्द की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'सुश्री' शब्द के समान होती है। सर्वत्र अजादि प्रत्ययों में इयँङ् हो जाता है। नदीसञ्ज्ञा कहीं नहीं होती।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—२०१ गतिश्च ।१।४।५९॥

प्रादयः क्रियायोगे गतिसञ्ज्ञाः स्युः।

अर्थः—क्रियायोग में प्रादि शब्द गतिसञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—प्रादयः ।१।३। [प्रादयः से] क्रियायोगे ।७।१। ['उपसर्गाः क्रियायोगे' से] गतिः ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। अर्थः—(प्रादयः) प्र आदि बाईस शब्द (क्रियायोगे) क्रिया के योग में (गतिः) गतिसञ्ज्ञक (च) भी होते हैं।

यह सूत्र एकसञ्ज्ञाधिकार के अन्तर्गत पढ़ा गया है। इस अधिकार में 'उपसर्गाः क्रियायोगे' (३५) सूत्र द्वारा क्रियायोग में प्रादियों की उपसर्गसञ्ज्ञा कह आए हैं। एक की दो सञ्ज्ञा न हो सकने से पुनः इन की गतिसञ्ज्ञा सिद्ध नहीं हो सकती अतः दोनों सञ्ज्ञाओं के समावेश के लिये मुनि ने सूत्र में 'च' शब्द का ग्रहण किया है।

ध्यान रहे कि 'प्राग्रीश्वरान्निपाताः' (१।४।५६) के अधिकार में पठित होने से इन दो सञ्ज्ञाओं के साथ निपातसञ्ज्ञा का भी समावेश होता है। निपातसञ्ज्ञा का फल 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' (३६७) द्वारा अव्ययसञ्ज्ञा करना है।

प्रश्न—क्रियायोग में प्रादियों की गतिसञ्ज्ञा करना अनावश्यक है। क्योंकि क्रियायोग में इन की उपसर्ग सञ्ज्ञा है ही। जहां २ गति को कार्य कहा है वहां २ उपसर्ग का नाम कर देना चाहिये। इस से सर्वत्र कार्य चल सकता है।

उत्तर—गति सञ्ज्ञा केवल इन बाईस प्रादियों की ही नहीं, जिस से आप सर्वत्र काम चलाने की ठान रहे हैं। गतिसञ्ज्ञा तो बहुत से अन्य शब्दों की भी इस शास्त्र में का

गई है। यथा—'ऊर्यादिच्विडाचश्च' (१।४।६०) [ऊर्यादि, च्व्यन्त तथा डाजन्त शब्द क्रियायोग में गतिसञ्ज्ञक हों।] 'अनुकरणञ्चानितिपरम्' (१।४।६१) ['इति' पर न हो तो क्रियायोग में अनुकरण की गतिसञ्ज्ञा हो] इत्यादि। तो अब यदि सर्वत्र 'गति' के स्थान पर 'उपसर्ग' रख कर काम चलाते हैं तो अन्य गतिसञ्ज्ञकों का क्या गति होगी? उन के लिये पुनः गतिग्रहण करना पड़ेगा। अतः प्रादियों को भी क्रियायोग में गति सञ्ज्ञा कर सब को एक कोटि में रख समान भाव से कार्य करना उचित है।

अब गतिसञ्ज्ञा करने का यही फल दर्शाते हैं—

[लघु०] वा०—१८ गतिकारकेतरपूर्वपदस्य यण् नेष्यते।

शुद्धधियौ।

अर्थः—जिस शब्द का पूर्वपद गतिसञ्ज्ञक या कारक से भिन्न हो उस के स्थान पर 'एरनेकाचः' द्वारा यण् नहीं होता।

व्याख्या—कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ये छः कारक हैं। इन का विशेष विवेचन आगे 'कारकप्रकरण' में किया जायगा। जिस शब्द में 'एरनेकाचः' (२००) सूत्र प्रवृत्त हो उस का पूर्वपद या तो गतिसञ्ज्ञक होना चाहिये अथवा कारक। यदि इन दोनों से भिन्न कोई अन्य होगा तो 'एरनेकाचः' द्वारा यण् न होगा।

शुद्धा धीर्यस्य सः शुद्धधीः (शुद्ध बुद्धि वाला) बहुव्रीहिसमासः। यहां 'शुद्धा' शब्द पूर्वपद और 'धी' शब्द उत्तरपद है। पूर्वपद न तो गतिसञ्ज्ञक है और न कारक है। अतः सब शर्तें पूर्ण होने पर भी अजादि प्रत्यय में 'एरनेकाचः' द्वारा यण् न होगा, 'अचि श्नु॰' (१९९) से इयँङ् हो जायगा।

'शुद्धधी' शब्द में समास से पूर्व 'धी' शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग था अतः अब 'प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च' (वा० १७) की सहायता से 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१९४) द्वारा इस की नदीसञ्ज्ञा प्राप्त होती है। इस पर 'नेयङुवँङ्॰' (२२९) से निषेध हो जाता है। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	शुद्धधीः	शुद्धधियौ	शुद्धधियः
द्वि०	शुद्धधियम्	,,	,,
तृ०	शुद्धधिया	शुद्धधीभ्याम्	शुद्धधीभिः
च०	शुद्धधिये	,,	शुद्धधीभ्यः
प०	शुद्धधियः	शुद्धधीभ्याम्	शुद्धधीभ्यः
ष०	,,	शुद्धधियोः	शुद्धधियाम्
स०	शुद्धधियि	,,	शुद्धधीषु
सं०	हे शुद्धधीः !	हे शुद्धधियौ !	हे शुद्धधियः !

इसी प्रकार 'मन्दधी, तीक्ष्णधी, सूक्ष्मधी' आदि शब्दों के रूप होंगे।

नोट—'शुद्धधी' शब्द का 'शुद्धं ध्यायति' इस प्रकार यदि विग्रह इष्ट हो तो कर्म

कारक के पूर्वपद होने के कारण यण् हो जायगा। तब 'शुद्धध्यौ, शुद्धध्य' इस प्रकार रूप बनेंगे। परन्तु नदीसञ्ज्ञा वहां भी न होगी, क्योंकि वहां स्त्रीलिङ्ग 'धी' शब्द ही नहीं रहेगा।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२०२ न भूसुधियोः ।६।४।८५॥

एतयोरचि सुँपि यण्न। सुधियौ, सुधियः इत्यादि।

अर्थः—अजादि सुँप् प्रत्यय परे रहते भू और सुधी शब्द को यण् न हो।

व्याख्या—अचि ।७।१। ['अचि श्नु०' से *] सुँपि ।७।१। ['ओः सुँपि' से] यण् ।१।१। ['इणो यण्' से] न इत्यव्ययपदम्। भूसुधियोः ।६।२। 'अचि' पद 'सुँपि' पद का विशेषण है, अतः 'यस्मिन्विधिः०' द्वारा तदादिविधि हो कर 'अजादौ सुँपि' बन जायगा। समास—भूश्च सुधीश्च=भूसुधियौ, तयोः=भूसुधियोः, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(अचि) अजादि (सुँपि) सुँप् परे होने पर (भूसुधियोः) भू और सुधी शब्द के स्थान पर (यण्) यण् (न) नहीं होता।

सुध्यायतीति सुधीः (भली प्रकार चिन्तन करने वाला=बुद्धिमान्)। सुपूर्वक 'ध्यै चिन्तायाम्' (भ्वा० प०) धातु से 'ध्यायतेः सम्प्रसारणञ्च' वार्त्तिक द्वारा क्विप् प्रत्यय तथा सम्प्रसारण करने पर 'सुधी' शब्द निष्पन्न होता है। इस में पूर्वपद (सु) 'गतिश्च' सूत्र द्वारा गतिसञ्ज्ञक है अतः अजादि प्रत्ययों में यण् निषेध नहीं होता, एरनेकाचः० द्वारा यण् प्राप्त होता है। इस पर इस सूत्र से उस का निषेध हो इयँङ् हो जाता है। इस की रूपमाला यथा—

प्र०	सुधीः	सुधियौ	सुधियः	प०	सुधियः	सुधीभ्याम्	सुधीभ्यः
द्वि०	सुधियम्	,,	,,	ष०	,,	सुधियोः	सुधियाम्
तृ०	सुधिया	सुधीभ्याम्	सुधीभिः	स०	सुधियि		सुधीषु
च०	सुधिये	,,	सुधीभ्यः	सं०	हे सुधीः!	हे सुधियौ!	हे सुधियः!

नोट—'सु=शोभना धीर्यस्य स सुधीः' इस विग्रह में भी उच्चारण इसी तरह होगा। नदीसञ्ज्ञा प्राप्त होने पर 'नेयँङ्०' (२२१) सूत्र से निषेध हो जायगा।

सूचना—इस सूत्र से 'सुध्युपास्यः' में यण् का निषेध नहीं होता। क्योंकि वहां यण्, अजादि सुँप् को मान कर नहीं किन्तु 'उपास्य' के उकार को मान कर प्रवृत्त होता है।

* श्नो यस्वनि इत्यत 'अचि' इत्यनुवर्तत इति मन्वानो बालमनोरमाकारोऽत्र भ्रान्तः।

[लघु०] सुखमिच्छतीति—सुखी । सुतमिच्छतीति—सुती । सुख्यौ । सुत्यौ । सुख्यु । सुत्यु' । शेष प्रधीवत् ।

व्याख्या—सुखम् आत्मन इच्छतीति—सुखी । जो अपने लिये सुख चाहे उसे सुखी' कहते हैं । सुतम् आत्मन इच्छतीति—सुती । जो अपने लिये सुत—पुत्र चाहे उसे सुती कहते हैं । इन शब्दों की साधनप्रक्रिया पर विशेष ध्यान देना चाहिये । तथाहि—सुख + अम्' तथा सुत + अम्' इन सुबन्तों से 'सुप आत्मन क्यच' (७२०) सूत्र द्वारा क्यच् प्रत्यय हो कर 'सनाद्यन्ता धातव ' (४६८) से सुख अम् क्यच्' तथा 'सुत अम् क्यच्' इन समुदायों की धातुसञ्ज्ञा हो जाती है । अब 'सुपो धातु प्रातिपदिकयो ' (७२१) सूत्र से अम् का लुक् हो कर क्यचि च' (७२२) से अकार को ईकार करने पर 'सुखीय, सुतीय रूप बन जाते हैं । इन का अर्थ क्रमश 'अपने लिये सुख चाहना' और 'अपने लिये पुत्र चाहना' है । अब इन धातुओं से कर्त्ता अर्थ में 'क्विप च (८०२) सूत्र से क्विप् प्रत्यय कर अतो लोप (४७०) से अकारलोप तथा लोपो व्योर्वलि' (४२९) से यकार का लोप हो कर—सुखी' और 'सुती' शब्द निष्पन्न होते हैं । क्विबन्ता धातुत्वं न जहति' इस नियमानुसार इन की धातुसञ्ज्ञा भी अक्षत है ।

'सुखी + स (सुँ), सुती + स् (सुँ)' यहा ङ्यन्त न होने से सुँ का लोप नहीं होता । रुँत्व विसर्ग हो कर—सुखी सुती ।

'सुखी+औ सुती + औ' यहा अजादि प्रत्ययों में सर्वत्र धातु के इकार को 'एरनेकाच ' (२००) से यण होता चला जायगा—सुख्यौ सुत्यौ ।

'सुखी + अस् (ङसि व ङस्) सुती + अस (ङसि व ङस्) यहा प्रथम 'एरनेकाच ' से यण हो सुख्य् + अस् , सुत्य् + अस् बन जाता है । तब 'ख्यत्यात् परस्य (१८३) सूत्र से अकार को उकार हो 'सुख्यु , सुत्यु प्रयोग निष्पन्न होते हैं । इन शब्दों के उच्चारण यथा—

	सुखी		
प्र०	सुखी	सुख्यौ	सुख्य
द्वि०	सुख्यम्	,,	,,
तृ०	सुख्या	सुखीभ्याम्	सुखीभि
च०	सुख्ये	,,	सुखीभ्य
प०	सुख्यु:	,,	,,
ष०	,,	सुख्यो	सुख्याम्
स०	सुख्यि	,,	सुखीषु
सं०	हे सुखी: !	हे सुख्यौ !	हे सुख्य !

	सुती		
प्र०	सुती	सुत्यौ	सुत्य
द्वि०	सुत्यम्	,,	,,
तृ०	सुत्या	सुतीभ्याम्	सुतीभि
च०	सुत्ये	,	सुतीभ्य
प०	सुत्यु	,,	,,
ष०	,,	सुत्यो	सुत्याम्
स०	सुत्यि	,,	सुतीषु
सं०	हे सुती !	हे सुत्यौ !	हे सुत्य !

इसी प्रकार—लूनी क्षामी, प्रस्तीमी आदि शब्दों के रूप होते हैं। इन शब्दों में क्त प्रत्यय के तकार के स्थान पर नकार मकार आदि आदेश होते हैं। ये आदेश त्रिपादी होने से 'ल्यत्यात् परस्य' (१८३) सूत्र की दृष्टि में असिद्ध हैं अतः उस में उकार आदेश करने में कोई बाधा नहीं होती।

अभ्यास (२६)

(१) यदि प्रादियों की गतिसञ्ज्ञा न कर उपसर्गसञ्ज्ञा से ही काम चलाया जाय तो क्या दोष उत्पन्न होगा ?

(२) प्रधी { प्रध्यायतीति प्रधी । प्रकृष्टा धीर्यस्य स प्रधी । } | सुश्री { सुश्रयतीति सुश्री । सु (शोभना) श्रीर्यस्य स सुश्री । }

सुधी { सुध्यायतीति सुधी । सु (शोभना) धीर्यस्य स सुधी । } | शुद्धधी { शुद्धा धीर्यस्य स शुद्धधी । शुद्धं ध्यायतीति शुद्धधी । }

इन चार शब्दों में विग्रहभेद से रूपों में कौन २ सा भेद हो सकता है ? सविस्तर लिखो।

(३) अजादि प्रत्ययों के परे रहते निम्नलिखित शब्दों में कहां यण् और कहां इयँङ् होता है ? कारणनिर्देशपूर्वक तत्तद्विधायक सूत्र लिखो—

१ प्रस्तीमी। २ ग्रामणी। ३ सुधी। ४ यवक्री। ५ मन्दधी। ६ सुश्री। ७ प्रधी। ८ सुखी। ९ नी। १० सुती।

(४) निम्नलिखित शब्दों में यण् होगा या इयँङ् ? समझ कर लिखो—

१ पपी। २ बहुश्रेयसी। ३ अतिलक्ष्मी। ४ ययी।

(५) (क) किस २ विभक्ति में नदीसञ्ज्ञा के कारण अन्तर होता है ?

(ख) अग्रणी तथा सेनानी शब्द के अम् तथा आम् में क्या रूप बनेंगे ?

(ग) सुध्युपास्य में न भूसुधियोः द्वारा यणिनषेध क्या नहीं होता ?

(६) सन्धि प्रकरण में सवर्णदीर्घ यण् का और इस प्रकरण में यण् सवर्णदीर्घ का बाधक होता है—इस कथन की पुष्टि सोदाहरण प्रमाणनिर्देशपूर्वक करते हुए प्रधी और पपी शब्द के सप्तमी के एकवचन का रूप लिखो।

(७) सूत्रों की व्याख्या करो—

१ अचि श्नु । २ एरनेकाचः । ३ यू स्त्र्याख्यौ नदी। ४ न भूसुधियोः।

(८) यदागमास्तद्गुणीभूताः, क्विबन्ता धातुत्वम्, प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च गतिकारकेतर, विप्रतिषेधे यद्— इन वचनों का तात्पर्य व्यक्त करो।

(९) सूत्र निर्देशपूर्वक सिद्धि करो—

१ सुत्यु । २ नियाम् । ३ शुद्धधियौ । ४ बहुश्रेयसि । ५ पपी । ६ अति-लक्ष्म्यै । ७ सुधियि । ८ यवक्रियौ । ९ प्रध्यै । १० बहुश्रेयसीनाम् ।

[यहां ईकारान्त पुंल्लिङ्ग समाप्त होते हैं ।]

—०❀०—

अब ह्रस्व उकारान्त शब्दों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] शम्भुर्हरिवत् । एवम्—भान्वादयः ।

अर्थ—शम्भु (भगवान् शिव) शब्द के रूप हरिशब्द के समान होते हैं । इसी प्रकार भानु (सूर्य) आदि अन्य उकारान्त पुंल्लिङ्ग शब्दों के भी रूप होते हैं ।

व्याख्या—शम्भु शब्द को ह्रस्व उकारान्त होने से हरि के समान 'शेषो घ्यसखि' (१७०) सूत्र से घिसञ्ज्ञा होती है, अतः घिसञ्ज्ञा के कार्य 'हरि' शब्द के समान ही होंगे । यहां गुण उकार के स्थान पर ओकार ही होगा । रूपमाला यथा—

प्र०	शम्भुः	शम्भू	शम्भवः ‡	पं०	शम्भोः *	शम्भुभ्याम्	शम्भुभ्यः
द्वि०	शम्भुम्	,,	शम्भून्	ष०	,,	शम्भ्वोः	शम्भूनाम्
तृ०	शम्भुना †	शम्भुभ्याम्	शम्भुभिः	स०	शम्भौ §	,,	शम्भुषु
च०	शम्भवे ×	,,	शम्भुभ्यः	सं०	हे शम्भो ! ✠	हे शम्भू !	हे शम्भवः !

‡ 'जसि च' से गुण हो अव् आदेश हो जाता है ।

† घिसञ्ज्ञा होने से 'आङो नाऽस्त्रियाम्' द्वारा आ को ना हो जाता है ।

× 'घेर्ङिति' से गुण हो अव् आदेश हो जाता है ।

* 'घेर्ङिति' से गुण तथा 'ङसिङसोश्च' से पूर्वरूप हो जाता है ।

§ 'अच्च घेः' से ङि को औ तथा घि को अत् हो जाता है ।

✠ 'ह्रस्वस्य गुणः' से गुण हो सुलोप हो जाता है ।

इसी प्रकार निम्नलिखित शब्दों के रूप बनेंगे—

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
१ अजातशत्रु*	युधिष्ठिर	अंशु	किरण	इषु *	बाण
अणु	परमाणु	आखु	चूहा	उन्दुरु*	चूहा
अध्वर्यु *	यजुर्वेद का ज्ञाता	इक्षु*	गन्ना	१५ ऊरु *	पट्ट
अनूरु*	सूर्य का सारथि	१० इक्ष्वाकु *	एक राजा	ऊर्णायु	मेष—भेडा
५ अभीशु*	किरण व लगाम	इच्छु	चाहने वाला	ऋजु	सरल
असु	प्राण	इन्दु	चन्द्र	ऋतु	मौसम

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
ओतु	बिल्ला	तरु	वृक्ष	७०प्रज्ञु	टेढ़े घुटने वाला
२०कटु	† तीखा (मरिचवत्)	४९तिग्मांशु	सूर्य	प्रभु*	स्वामी
		तितउ	चलनी	प्रांशु	उन्नत
कारु*	कारीगर	तुहिनांशु	चन्द्र	बन्धु	बान्धव
कृशानु	अग्नि	त्सरु*	तलवार की मूठ	बाहु	भुजा
केतु	झण्डी, एक ग्रह	दद्रु*	रोग विशेष	७१बुभुक्षु*	भूखा
क्रोष्टु*	गीदड़	५०दयालु	दया वाला	भिक्षु*	याचक
२१क्रतु	यज्ञ	दस्यु	डाकू	भीरु*	डरपोक
क्षवथु	खांसी	दिदृक्षु*	दर्शनाभिलाषी	भृगु*	एक ऋषि
गुग्गुलु	गूगल	देवदारु*	दियार का वृक्ष	मञ्जु	खूबसूरत
गुरु*	गुरु	धातु	सुवर्णादि धातु	८०मनु	पहला राजा
गृध्नु	लालची	५१निद्रालु	निद्राशील	मन्यु	क्रोध
३०गोमायु	गीदड़	पङ्गु	लङ्गड़ा	मरु*	रेगिस्तान
चण्डांशु	सूर्य	पटु	चतुर	मित्रयु*	मित्रवत्सल
चरिष्णु	चालाक	परमाणु	ज़र्रा	मुमूर्षु*	मरणेच्छुक
चरु*	हव्यान्न	पशु	जानवर	८१मृगयु*	शिकारी
चिकीर्षु*	करने का इच्छुक	६०परशु	कुल्हाड़ा	मृत्यु	मौत
३१जन्तु	प्राणी	पलाण्डु	प्याज़	मेरु	एक पर्वत
जायु	औषध	पाण्डु	प्रसिद्ध नृप	यदु	प्रसिद्ध नृप
जिज्ञासु	जानने का इच्छुक	पांशु	धूलि	रघु*	प्रसिद्ध नृप
जिष्णु	इन्द्र व अर्जुन	पायु	गुदा	९०रङ्कु*	मृगविशेष
जीवातु	जीवन औषध	६१पिचु	कपास	राहु*	ग्रह विशेष
४०तनु	पतला	पिपासु	प्यासा	रिपु*	शत्रु
तन्तु	तागा	पीलु	पीलु का वृक्ष	रेणु	मट्टी
तन्द्रालु	बहुत ऊँघनेवाला	पुरु*	प्रसिद्ध नृप	लघु	छोटा
तरक्षु*	विशेष भेड़िया	पृथु	प्रसिद्ध नृप	९१वटु	बालक

† भाषा में आजकल मरिच पिप्पली आदि को तिक्त अर्थात् तीखा तथा निम्ब आदि को कड़वा समझा जाता है। परन्तु वैद्यकशास्त्रों में ठीक इस से विपरीत होता है। वहां मरिच आदि को कटु तथा निम्ब आदि को 'तिक्त' कहा जाता है। अतएव 'त्रिकटु' शब्द से शास्त्र में—'काली मिर्च, पिप्पली, सुण्ठी' इन तीनों का ग्रहण होता है।

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
वनायु	अरब देश	व्यसु	मृत	सानु	पर्वत की चोटी
वन्दारु*	वन्दनशील	शङ्कु	कील	१२०सिन्धु	सागर
वमथु	वमन (सूंड का पानी)	शत्रु*	दुश्मन	साधु	मद्यविशेष
		११०शयालु	निद्राशील	सुधांशु	चन्द्र
वायु	हवा	शयु	अजगर	सूनु	पुत्र
१००विधु	चन्द्र	शरारु*	हिंस्र	सेतु	पुल
विन्दु	बून्द	शिशु	बालक	१२५स्तनयित्नु	बादल
विभावसु	अग्नि, सूर्य	शीतगु	चन्द्र	स्थाणु	शाखाहीन वृक्ष
विभु	व्यापक	११५श्रद्धालु	श्रद्धालु	स्वर्भानु	राहु
विष्णु	भगवान् विष्णु	श्वयथु	सूजन शोथ	स्वादु	स्वादिष्ट
१०५वेणु	बांस	सक्तु	सत्तू	हिमांशु	चन्द्र
वेपथु	कांपना	साधु	सज्जन	१३०हेतु	कारण

शम्भु शब्द की अपेक्षा क्रोष्टु (गीदड । 'शृगाल वञ्चक क्रोष्टु फेरु फेरव जम्बुका इत्यमर) शब्द के रूपों में अन्तर पड़ता है। अत अब उस का वर्णन करते हैं—

[लघु०] अतिदेश सूत्रम्—२०३ तृज्वत् क्रोष्टुः ।७।१।९५॥

असम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने परे क्रोष्टुशब्दस्य स्थाने 'क्रोष्टृ' शब्द प्रयोक्तव्य इत्यर्थ ।

अर्थ—सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे होने पर 'क्रोष्टु' शब्द के स्थान पर 'क्रोष्टृ' शब्द का प्रयोग करना चाहिये—यह सूत्र का तात्पर्य है (अर्थ नहीं। अर्थ व्याख्या में देखें।)

व्याख्या—तृज्वत् इत्यव्ययपदम्। क्रोष्टु ।१।१। असम्बुद्धौ ।७।१। ['सख्युरसम्बुद्धौ' से] सर्वनामस्थाने ।७।१। [इतोऽत्सर्वनामस्थाने से] तृचा तुल्यम्—तृज्वत्, 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' (११४८) इति वतिप्रत्यय । प्रत्ययग्रहणपरिभाषा से तृजन्त का ग्रहण होता है। 'तृज्वत्' का अर्थ है—तृजन्त के समान। अर्थ—(असम्बुद्धौ) सम्बुद्धिभिन्न (सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे रहते (क्रोष्टुः) क्रोष्टुशब्द (तृज्वत्) तृच्प्रत्ययान्त के समान होता है। यह अतिदेश सूत्र है; अतिदेश कई प्रकार के होते हैं, यहां रूपातिदेश है।

तृजन्त शब्द—कर्तृ हर्तृ दातृ आदि अनेक हैं; इन में से यहां क्रोष्टु शब्द के स्थान पर कौन सा तृजन्त हो? इस का उत्तर यह है कि 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) से

अथकृत आन्तय [अर्थ के तुल्य होने से जो सादृश्य देखा जाता है उस अथकृत आन्तय कहते हे] द्वारा क्रोष्टु के स्थान पर क्रोष्टृ ही तृजन्त आदेश होगा। क्रोष्टु और क्रोष्टृ दोनो का एक ही अथ हे।

क्रोष्टु+स (सु) यहा सम्बुद्धिभिन्न सवनामस्थान 'सु परे है अत क्रोष्टु के स्थान पर क्रोष्टृ आदेश हो कर— क्रोष्टृ+स हुआ। इस अवस्था में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता हैं–

[लघु०] विधि सूत्रम्—२०४ ऋतो ङि–सर्वनामस्थानयो।

।७।३।११०॥

ऋतोऽङ्गस्य गुणो ङौ सर्वनामस्थाने च। इति प्राप्ते—

अर्थ —ङि अथवा सवनामस्थान परे होने पर ऋदन्त अङ्ग के स्थान पर गुण हो जाता है। इस सूत्र के प्राप्त होने पर (अग्रिम इसे बान्ध लेता हे।)

व्याख्या—ऋत ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] गुण ।१।१। [ह्रस्वस्य गुण से] ङि सवनामस्थानयो ।७।२। समास —ङिश्च सवनामस्थानञ्च=ङिसर्वनामस्थाने तयो =ङिसर्वनामस्थानयो इतरेतरद्वन्द्व। अङ्गस्य का विशेषण होने से ऋत' से तद न्तविधि हो जाती है। अथ —(ऋत) ऋदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (गुण) गुण होता है (ङिसवनामस्थानयो) ङि अथवा सवनामस्थान परे हो तो।

अलोऽन्त्यपरिभाषा तथा इको गुणवृद्धी (१।१।३) परिभाषा से अन्त्य ऋकार के स्थान पर ही गुण होगा। किञ्च इसके साथ उरण्रपर (२६) सूत्र द्वारा रपर हो अर हो जायगा।

क्रोष्टृ+स यहा सु सवनामस्थान परे है अत प्रकृत सूत्र से ऋकार के स्थान पर अर् गुण प्राप्त होता हे। इस पर अग्रिम सूत्र निषेध कर अनङ् आदेश करता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२०५ ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च।

।७।१।९४॥

ऋदन्तानाम् उशनसादीनां चानङ् स्यादसम्बुद्धौ सौ।

अर्थ —सम्बुद्धिभिन्न सु परे होने पर ऋदन्तो तथा उशनस् (शुक्र आचार्य) पुरुदंसस् (बिल्ली) और अनेहस् (समय) शब्दों को अनङ् आदेश हो।

व्याख्या—असम्बुद्धौ ।७।१। ['सख्युरसम्बुद्धौ से] सौ ।७।१। अनङ ।१।१। ['अनङ् सौ से] ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसाम् ।६।३। अङ्गानाम् ।६।३। [अङ्गस्य' अधिकार का

वचनविपरिणाम हो जाता है ।] च इत्यव्ययपदम् । समास —ऋच्च उशना च पुरुदंसा च अनेहा च=ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहस , तेषाम्=ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसाम् इतरेतरद्वन्द्व । 'अङ्गानाम्' का विशेषण होने से ऋदुशनस् पद से तदन्तविधि हो जाती है। अर्थ —(असम्बुद्धौ) सम्बुद्धिभिन्न (सौ)सु पर हो तो (ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसाम्) ऋदन्त उशनस्शब्दान्त तथा अनेहस्शब्दान्त (अङ्गानाम्) अङ्गों के स्थान पर (अनङ) अनङ् आदेश होता है ।

अनङ् आदेश म ङकार इत्संज्ञक है अकार उच्चारणार्थ है । 'अन्' ही अवशिष्ट रहता है । ङित् होने से यह आदेश ङिच्च (४६) सूत्र द्वारा अन्त्य अल्—ऋवर्ण या सकार क स्थान पर होगा । किञ्च ध्यान रहे कि केवल उशनस आदि शब्दों के स्थान पर भी व्यपदेशिवद्भाव (२७८) से अनङ् आदेश हो जायगा ।

क्रोष्टृ + स् यहा सम्बुद्धिभिन्न सुँ परे है अत प्रकृत सूत्र से ऋकार को अनङ् आदेश हो अनुबन्ध लोप करने पर—'क्रोष्टन् + स्' हुआ । इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२०६ **अप्-तृन्-तृच्-स्वसृ-नप्तृ-नेष्टृ-त्वष्टृ-क्षत्तृ-होतृ-पोतृ-प्रशास्तॄणाम् ।६।४।११॥**

अबादीनामुपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने । क्रोष्टा, क्रोष्टारौ, क्रोष्टार । क्रोष्टारम् , क्रोष्टून् ।

अर्थ —सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे होने पर अप , तृन्प्रत्ययान्त, तृच्प्रत्ययान्त स्वसृ, नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ होतृ, पोतृ और प्रशास्तृ शब्दों की उपधा को दीर्घ हो ।

व्याख्या—अप्-तृन् प्रशास्तॄणाम् ।६।३। उपधाया ।६।१। ['नोपधाया' से] दीर्घ ।१।१। ['ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽण' से] असम्बुद्धौ ।७।१। सर्वनामस्थाने ।७।१। ['सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' से] समास —आपश्च तृन् च तृच् च स्वसा च नप्ता च नेष्टा च त्वष्टा च क्षत्ता च होता च पोता च प्रशास्ता च=अप्-तृन्तृच् प्रशास्तार , तेषाम्=अप्तृन् प्रशास्तॄणाम्, इतरेतरद्वन्द्व । तृन् और तृच् प्रत्यय हैं अत प्रत्ययग्रहणपरिभाषा द्वारा तदन्तविधि हो जाती है । अर्थ —(अप्-तृन् प्रशास्तॄणाम्) अप् , तृन्प्रत्ययान्त तृच्प्रत्ययान्त, स्वसृ नप्तृ नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ होतृ, पोतृ तथा प्रशास्तृ शब्दों की (उपधाया) उपधा के स्थान पर (दीर्घ) दीर्घ होता है (असम्बुद्धौ) सम्बुद्धिभिन्न (सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे होने पर । अन्त्य वर्ण से पूर्व वर्ण उपधासंज्ञक होता है—यह पीछे (१७६) सूत्र पर कहा गया है ।

इस सूत्र पर विशेष विचार स्वयं ग्रन्थकार आगे ऋदन्त प्रकरण में करेंगे अतः हम भी उस की वहीं व्याख्या करेंगे।

'क्रोष्टन्+स' यहां एकदेशविकृतमनन्यवत् के अनुसार क्रोष्टन् शब्द तृजन्त है। इस की उपधा नकार से पूर्व टकारोत्तर अकार है। सम्बुद्धिभिन्न सुँ=सर्वनामस्थान परे है ही अतः प्रकृतसूत्र से उपधा को दीर्घ हो गया। क्रोष्टान्+स् इस स्थिति में हल्ङ्याब्भ्यः (१७९) से सकार लोप हो 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) से नकार का भी लोप हो गया तो—'क्रोष्टा' प्रयोग सिद्ध हुआ।

सूचना—यद्यपि सुँ में 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (१७७) सूत्र द्वारा भी उपधादीर्घ सिद्ध हो सकता है तथापि औ जस् आदियों में नान्त न होने से उपधादीर्घ नहीं हो सकता। अतः प्रकृतसूत्र की रचना आवश्यक है। तब यह सुँ में न्यायवशात् प्रवृत्त हो जाता है।

क्रोष्टु+औ=क्रोष्टृ+औ यहां सुँ परे न होने से अनङ् आदेश नहीं होता। 'ऋतो ङि ' (२०४) सूत्र से गुण हो 'अप्तृन् ' (२०६) से उपधादीर्घ हो जाता है—क्रोष्टारौ।

क्रोष्टु+अस (जस्)=क्रोष्टृ+अस्। यहां भी पूर्ववत् गुण और उपधादीर्घ करने पर 'क्रोष्टारः' सिद्ध होता है।

क्रोष्टु+अम्=क्रोष्टृ+अम्। गुण और उपधादीर्घ हो कर 'क्रोष्टारम्' सिद्ध हुआ। ध्यान रहे कि यह गुण, पूर्वसवर्णदीर्घ तथा 'अमि पूर्वः' (१२९) आदि प्राप्त कार्यों का अपवाद है।

'क्रोष्टु+अस् (शस्)' यहां सर्वनामस्थान न होने से तृज्वद्भाव नहीं होता। पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर सकार को नकार करने से 'क्रोष्टून्' सिद्ध होता है।

'क्रोष्टु+आ (टा)' यहां वैकल्पिक तृज्वद्भाव करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२०७ विभाषा तृतीयादिष्वचि ।७।१।९७॥

अजादिषु तृतीयादिषु क्रोष्टुर्वा तृज्वत्। क्रोष्ट्रा। क्रोष्ट्रे।

अर्थः—अजादि तृतीयादि विभक्ति परे होने पर 'क्रोष्टु' शब्द विकल्प से तृज्वत् हो।

व्याख्या—क्रोष्टुः ।१।१। तृज्वत् इत्यव्ययपदम्। ['तृज्वत्क्रोष्टुः' से] विभाषा इत्यव्ययपदम्। तृतीयादिषु ।७।३। अचि ।७।१। 'अचि' पद 'तृतीयादिषु' का विशेषण है अतः तदादिविधि हो कर 'अजादिषु' बन जायेगा। अर्थः—(अचि) अच् जिस के आदि

में है ऐसी (तृतीयादिषु) तृतीया आदि विभक्ति परे हो तो (क्रोष्टु) क्रोष्टुशब्द (विभाषा) विकल्प कर के (तृज्वत्) तृजन्त के समान होता है।

तृतीयादि विभक्तियों में अजादि विभक्तियां आठ हैं ।१ टा (आ) २ ङे (ए), ३ ङसि (अस), ४ ङस् (अस्) ५ ओस् ६ आम् ७ ङि, ८ ओस्।

जिस पक्ष में क्रोष्टृ आदेश न होगा वहां सर्वत्र घिसञ्ज्ञा हो कर 'शम्भु' शब्द के समान प्रक्रिया होगी।

तृतीया के एकवचन में 'क्रोष्टु + आ' इस स्थिति में अजादि तृतीयादि विभक्ति परे होने से विकल्प से तृज्वद्भाव हुआ। तृज्वद्भाव पक्ष में 'क्रोष्टृ + आ' इस स्थिति में 'इको यणचि' (१५) से ऋकार को रेफ आदेश हो कर 'क्रोष्ट्रा' प्रयोग सिद्ध हुआ। तृज्वत् के अभाव में घिसञ्ज्ञा हो कर टा को ना आदेश करने पर 'क्रोष्टुना' रूप सिद्ध होता है।

भ्याम्, भिस्, भ्यस् और सुप् तृतीयादि होने पर भी हलादि हैं अतः इन में तृज्वद्भाव न होगा।

चतुर्थी के एकवचन में 'क्रोष्टु + ए' इस दशा में विकल्प कर के तृज्वद्भाव हुआ। तृज्वद्भाव पक्ष में यण् हो— क्रोष्ट्रे रूप सिद्ध हुआ। तदभावपक्ष में 'घेर्ङिति' (१७२) द्वारा गुण हो अव् आदेश करने पर— 'क्रोष्टवे' रूप सिद्ध होता है।

तृज्वद्भाव पक्ष में पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में 'क्रोष्टृ + अस्' इस दशा में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२०८ ऋत उत् ।६।१।१०८॥

ऋतो ङसि-ङसोरति उद् एकादेशः । रपरः ।

अर्थः—ऋत् से ङसि अथवा ङस् का अत् परे हो तो पूर्व+पर के स्थान पर उत् एकादेश हो। 'उरण्रपरः' (२९) से रपर भी हो जायगा।

व्याख्या—ऋतः ।५।१। ङसि-ङसोः ।६।२। ['ङसि-ङसोश्च' से] अति ।७।१। ['एकः पूर्वपरयोः' से] पूर्वपरयोः ।६।२। एकः ।१।१। ['एकः पूर्वपरयोः' यह अधिकृत है'] उत् ।१।१। अर्थः—(ऋतः) ह्रस्व ऋकार से (ङसि-ङसोः) ङसि अथवा ङस् का (अति) अत् परे हो तो (पूर्व-परयोः) पूर्व + पर के स्थान पर (एकः) एक (उत्) ह्रस्व उकार आदेश होता है। 'उरण्रपरः' (२९) से रपर हो कर 'उर्' आदेश बन जायगा।

प्रश्न—प्रत्यय अर्थात् विधीयमान अण् अपने सवर्णों का ग्राहक नहीं होता— यह पीछे 'अणुदित्' (११) सूत्र में कहा गया है। इस नियमानुसार 'ऋत उत्' यहां विधीयमान उकार से सवर्णों का ग्रहण न होगा। इस से दीर्घ ऊकार आदि के एकादेश

होने की आशङ्का नहीं की जा सकती। तो पुनः 'ऋत उत्' में उकार का तपर करने का क्या प्रयोजन है ?।

उत्तर—यहां उकार का तपर करने से आचार्य यह जनाना चाहते हैं कि—"भाव्यमानोऽप्यण् क्वचित् सवर्णान् गृह्णाति" अर्थात् कहीं २ विधीयमान भी अण् अपने सवर्णों का ग्राहक हुआ करता है। अतएव—'यवलपरे यवला वा (वा० १२) वार्त्तिक द्वारा अनुनासिक यकार आदियों का विधान हो जाता है। इसी प्रकार—'अदसोऽसे—' (३५६) सूत्र में प्राचीन वैयाकरणों ने उकार से ह्रस्व और दीर्घ दोनों प्रकार के उकारों का ग्रहण किया है। यहां का विशेष विवेचन हमारी 'सिद्धान्त कौमुदी' में देखें।

'क्रोष्टृ+अस्' यहां ऋत् से परे ङसि व ङस का अत् विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से पूर्व (ऋ) और पर (अ) के स्थान पर उर् एकादेश हो—'क्रोष्ट् उर् स्' हुआ। अब अग्रिम नियम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] नियम सूत्रम्—२०६ रात् सस्य ।८।२।२४॥

रेफात् संयोगान्तस्य सस्यैव लोपो नान्यस्य। रेफस्य विसर्गः। क्रोष्टुः। क्रोष्टोः।

अर्थ—रेफ से परे यदि संयोगान्त लोप हो तो सकार का ही हो, अन्य का न हो।

व्याख्या—रात् ।५।१। संयोगान्तस्य ।६।१। सस्य ।६।१। लोपः ।१।१। [संयोगान्तस्य लोपः से] रेफ से परे संयोगान्त सकार का लोप 'संयोगान्तस्य लोपः' से ही सिद्ध हो जाता है पुनः इसका कथन 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः' के अनुसार नियमार्थ है। अतः 'एव' पद प्राप्त हो जाता है। अर्थः—(रात्) रेफ से परे (संयोगान्तस्य) संयोग के अन्त में वर्त्तमान (सस्य) सकार का (एव) ही (लोपः) लोप होता है अन्य किसी वर्ण का नहीं।

उदाहरण यथा—'ऊर्क्'। ऊर्ज शब्द से सुँ का लुक् होने पर 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) द्वारा जकार का लोप प्राप्त होता है, वह अब इस नियम के कारण नहीं होता।

नोट—ध्यान रहे कि नियमसूत्रों के उदाहरण वही होते हैं जो लोक में प्रत्युदाहरण समझे जाते हैं। नियमसूत्रों की चरितार्थता भी इसी में है। 'पतिः समास एव' (१८४) का उदाहरण वस्तुतः 'पत्ये' ही है 'भूपतये' नहीं इसी प्रकार 'रात्सस्य' (२०६) का उदाहरण 'ऊर्क्' ही है 'क्रोष्टुः' नहीं। बालकों के बोध के लिये ही 'भूपतये' आदि रूपों में नियमसूत्रों की प्रवृत्ति दर्शाई गई है।

'क्रोष्ट् उर् स्' यहां पर 'रात्सस्य' (२०६) की सहायता से 'संयोगान्तस्य लोपः'

(२०) से मकार का लोप हो कर अवसान में 'खरवसानयो' (९३) से रेफ का विसर्ग करने से 'क्रोष्टुः' रूप सिद्ध होता है। तृज्वद्भाव के अभाव में 'घिसञ्ज्ञा होकर घेर्ङिति' (१७२) से गुण तथा ङसि-ङसोश्च (१७९) से पूर्वरूप होकर 'क्रोष्टोः' प्रयोग बनता है।

षष्ठी के द्विवचन में 'क्रोष्टु+ओस्' इस दशा में तृज्वद्भाव हो कर यण् करने से 'क्रोष्ट्रोः' रूप हुआ। तदभाव पक्ष में भी उकार को वकार होकर—'क्रोष्ट्वोः' प्रयोग सिद्ध हुआ।

षष्ठी के बहुवचन में 'क्रोष्टु+आम्' इस दशा में तृज्वद्भाव तथा ह्रस्वनद्याप (१४८) से नुट् युगपत् प्राप्त होते हैं। इस पर 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) से पर होने के कारण तृज्वद्भाव ही प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम वार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—१६ नुम्-अचि-र-तृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन।

क्रोष्टूनाम्। क्रोष्टरि। पक्षे हलादौ च शम्भुवत्।

अर्थः—नुम्, अच् परे होने पर रेफादेश (अचि र ऋतः) और तृज्वद्भाव—इन से पूर्वविप्रतिषेध के कारण नुट् हो जाता है।

व्याख्या—तुल्य बल वाले दो कार्यों का विप्रतिषेध होने पर 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) द्वारा अष्टाध्यायीक्रमानुसार परकार्य विधान किया जाता है। इस से—मनोरथः, वृक्षाभ्याम् आदि प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। परन्तु ऐसा करने में व्याकरण में कहीं २ दोष भी आ जाते हैं। क्योंकि वहां परकार्य करना इष्ट नहीं हुआ करता पूर्वकार्य इष्ट होता है। तो उन दोषों की निवृत्ति के लिये 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' सूत्र को 'विप्रतिषेधेऽपरं कार्यम्' इस प्रकार पढ़ 'अपर' अर्थात् पूर्वकार्य का विप्रतिषेध में विधान कर इष्ट सिद्ध किया जाता है। परन्तु कहां २ 'अपरं कार्यम्' करें—इसके लिये भगवान् कात्यायन ने अपने वार्त्तिकों में उन २ स्थानों का परिगणन कर दिया है। यह वार्त्तिक उन में एक है। इन परिगणित स्थानों के अतिरिक्त सर्वत्र परकार्य और इन में पूर्वकार्य होगा।

भाष्यकार भगवान् पतञ्जलि 'पर' शब्द का इष्टवाची मान कर दोष निवृत्त कर लेते हैं। यथा—'अस्तीष्टवाची परशब्दः, तद्यथा—परं धाम गत इष्टं धाम गत इति गम्यते। तद् य इष्टवाची परशब्दस्तस्येदं ग्रहणम्। विप्रतिषेधे परं यद् इष्टं तद् भवतीति'।

नुम् ['इकोऽचि विभक्तौ'] अच् परे होने पर रेफादेश ['अचि र ऋतः'] और तृज्वद्भाव ['तृज्वत्क्रोष्टुः', 'विभाषा तृतीयादिष्वचि']—इन तीन कार्यों के साथ यदि नुट् ['ह्रस्वनद्यापो नुट्'] का विप्रतिषेध हो तो नुट् ही होता है। ये तीनों यद्यपि अष्टाध्यायी में सूत्रक्रम से पर हैं और इन की अपेक्षा नुट् पूर्व है तथापि नुट् हो जाता है। नुम् का

उदाहरण 'तिसृ' शब्द पर आगे मूल में ही स्पष्ट हो जायगा। यहां तृज्वद्भाव का उदाहरण दिया जाता है--

'क्रोष्टु + आम्' यहां नुट् का तृज्वद्भाव के साथ विप्रतिषेध है अतः प्रकृतवार्त्तिक द्वारा पूर्वविप्रतिषेध से नुट् हो 'नामि' (१४९) से दीर्घ करने पर 'क्रोष्टूनाम्' रूप सिद्ध हुआ।

'क्रोष्टु + इ' (ङि) यहां 'इ' यह अजादि तृतीयादि विभक्ति परे है अतः विकल्प से तृज्वद्भाव हो गया। तृज्वद्भाव पक्ष में 'ऋतो ङि०' (२०४) से अर् गुण हो कर 'क्रोष्टरि' रूप बना। तदभाव पक्ष में 'अच्च घेः' (१७४) से ङि को औ तथा उकार को अकार कर वृद्धि करने से 'क्रोष्टौ' हुआ।

'हे क्रोष्टु + स्' यहां सम्बुद्धि में तृज्वद्भाव के निषेध के कारण 'तृज्वत्क्रोष्टुः' प्रवृत्त न हुआ। 'ह्रस्वस्य गुणः' (१६९) से गुण हो 'एङ्ह्रस्वात्०' (१०४) द्वारा सम्बुद्धि के सकार का लोप करने पर 'हे क्रोष्टो!' रूप बना। 'हे क्रोष्टः' लिखने वाले सावधान रहें।

प्रथमा	क्रोष्टा	क्रोष्टारौ	क्रोष्टारः
द्वितीया	क्रोष्टारम्	,,	क्रोष्टून्
तृतीया	क्रोष्ट्रा, क्रोष्टुना	क्रोष्टुभ्याम्	क्रोष्टुभिः
चतुर्थी	क्रोष्ट्रे, क्रोष्टवे	,,	क्रोष्टुभ्यः
पञ्चमी	क्रोष्टुः, क्रोष्टोः	,,	,,
षष्ठी	,, ,,	क्रोष्ट्रोः, क्रोष्ट्वोः	क्रोष्टूनाम्
सप्तमी	क्रोष्टरि, क्रोष्टौ	,, ,,	क्रोष्टुषु
सम्बोधन	हे क्रोष्टो !	हे क्रोष्टारौ !	हे क्रोष्टारः !

अभ्यास (३०)

(१) 'ऋत उत्' में तपर करने का क्या प्रयोजन है? सविस्तर पूर्वपक्ष का प्रतिपादन कर उत्तरपक्ष का निर्देश करें।

(२) पूर्वविप्रतिषेध और परविप्रतिषेध किसे कहते हैं? इन दोनों का 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इस एक ही सूत्र से कैसे प्रतिपादन किया जाता है?

(३) 'रात्सस्य' सूत्र की व्याख्या करते हुए इस बात को स्पष्ट करो कि नियमसूत्रों के प्रत्युदाहरण ही वस्तुतः उदाहरण होते हैं।

(४) किस आन्तर्य के कारण क्रोष्टु शब्द के स्थान पर क्रोष्टृ आदेश होता है?

(५) 'हे क्रोष्टः' प्रयोग के शुद्धाशुद्ध होने का विवेचन करें।

(६) सूत्रनिर्देशपूर्वक निम्नलिखित प्रयोगों की सिद्धि करें—

१ क्रोष्टा । २ क्रोष्टू । ३ क्रोष्टूनाम् । ४ क्रोष्टारौ । ५ भानो । ६ क्रोष्टुः । ७ शम्भवः । ८ शम्भो । ९ क्रोष्टा । १० क्रोष्टरि ।

(यहां ह्रस्व उकारान्त पुंल्लिङ्ग समाप्त होते हैं ।)

—॥ ० ॥—

अब ऊकारान्त पुंल्लिङ्ग शब्दों का वर्णन किया जाता है ।

[लघु०] हूहूः, हूह्वौ, हूह्वः । हूहून् इत्यादि ।

व्याख्या— हूहू अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है । इस का अर्थ गन्धर्व है । इस की रूपमाला यथा—

प्र०	हूहूः	हूह्वौ †	हूह्वः †	प०	हूह्वः *	हूहूभ्याम्	हूहूभ्यः
द्वि०	हूहूम् ×		हूहून् ‡	ष०	*	हूह्वोः *	हूह्वाम् *
तृ०	हूह्वा *	हूहूभ्याम्	हूहूभिः	स०	हूह्वि *	*	हूहूषु
च०	हूह्वे *	,,	हूहूभ्यः	सं०	हे हूहूः !	हे हूह्वौ !	हे हूह्वः !

† 'दीर्घाज्जसि च' से पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हो कर 'इको यणचि' से यण् हो जाता है ।

× यहां 'अमि पूर्वः' से पूर्वरूप हो जाता है ।

‡ पूर्वसवर्ण दीर्घ हो कर 'तस्माच्छसो नः पुंसि' से नत्व हो जाता है ।

* सर्वत्र 'इको यणचि' से यण् हो जाता है ।

[लघु०] 'अतिचमू' शब्दे तु नदीकार्यं विशेषः । हे अतिचमु ! । अतिचम्वै । अतिचम्वाः । अतिचमूनाम् । अतिचम्वाम् ।

व्याख्या— 'चमू' शब्द ऊदन्त नित्यस्त्रीलिङ्ग है । इस का अर्थ है—सेना । चमूम् अतिक्रान्तः=अतिचमूः, 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया' इति समासः । जो सेना का अतिक्रमण कर गया हो उसे 'अतिचमू' कहते हैं । 'अतिचमू' शब्द की 'प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च' वार्त्तिक की सहायता से 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१९४) सूत्र द्वारा नदीसञ्ज्ञा हो जाती है । अतः नदीकार्य अर्थात् सम्बुद्धि में ह्रस्व, ङितों में आट् का आगम, आम् को नुट् आगम और ङि को आम् आदेश ये छः कार्य हो जाते हैं । रूपमाला यथा—

प्रथमा	अतिचमूः †	अतिचम्वौ	अतिचम्वः
द्वितीया	अतिचमूम्	,,	अतिचमून्
तृतीया	अतिचम्वा	अतिचमूभ्याम्	अतिचमूभिः
चतुर्थी	अतिचम्वै ‡	,,	अतिचमूभ्यः
पञ्चमी	अतिचम्वाः ‡	,,	,,
षष्ठी	,, ‡	अतिचम्वोः	अतिचमूनाम् ×
सप्तमी	अतिचम्वाम् ✠	,,	अतिचमूषु
सम्बोधन	हे अतिचमु ! *	हे अतिचम्वौ !	हे अतिचम्वः !

† ङ्यन्त न होने से सुँलोप नहीं होता।

‡ आण्नद्याः, आटश्च, इको यणचि।

× ह्रस्वनद्यापो नुट्।

✠ ङेराम्नद्याम्नीभ्यः, आण्नद्याः, आटश्च, इको यणचि।

* अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः, एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः।

[लघु०] खलपूः।

व्याख्या—खलं पुनातीति खलपूः। खल कर्मोपपद 'पूञ् पवने' (क्र्या०उ०) धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'खलपू' शब्द निष्पन्न होता है। झाड़ू द्वारा स्थान को शुद्ध करने वाले नौकर को 'खलपू' कहते हैं। 'खलपू' शब्द में ऊकार धातु का अवयव है।

'खलपू+स्' यहां ङयन्तादि न होने से सुँलोप नहीं होता। रुँत्व विसर्ग हो कर—'खलपूः' बनता है।

'खलपू'+'औ' यहां पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होने पर दीर्घाज्जसि च (१६२) से इस का निषेध हो जाता है। अब 'इको यणचि (१५) से यण् प्राप्त होने पर 'क्विबन्ता धातुत्वं न जहति' के अनुसार धातु होने से उस का बाध कर 'अचि श्नु धातु (१९९) से उवँङ् प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२१० ओः सुँपि।६।४।८३॥

धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य उवर्णः, तदन्तो यो धातुः, तदन्तस्यानेकाचोऽङ्गस्य यण् स्यादचि सुँपि। खलप्वौ, खलप्वः।

अर्थः—धातु का अवयव संयोग पूर्व में नहीं जिस उवर्ण के, वह उवर्ण है अन्त में जिस धातु के, वह धातु है अन्त में जिस के ऐसा जो अनेकाच् अङ्ग उस को यण् हो अजादि सुप् परे होने पर।

व्याख्या—ओः।६।१। अनेकाचः।६।१। असंयोगपूर्वस्य।६।१। [एरनेकाचोऽसंयोग

पूर्वस्य मे] धातो ।६।१। अचि ।७।१। ['अचि श्नु गातु ' से] सुपि ।७।१। यण् ।१।१। ['इणो यण् से] 'ओ पद 'उ शब्द के षष्ठी का एकवचन है। इस का अर्थ है— उवर्णस्य । 'धातो पद की आवृत्ति की जाती है। एक धातो पद ओ का विशेष्य बन जाता है जिस से 'ओ' से तदन्तविधि हो कर उवर्णान्तस्य धातो' ऐसा हो जाता है। दूसरा धातो पद असयोगपूर्वस्य पद के सयोग' अंश के साथ सम्बद्ध होता है। अङ्गस्य यह अधिकृत है। इस का 'ओधातो (उवर्णान्तस्य धातो) यह विशेषण है। अत विशेषण से तदन्तविधि हो कर— उवर्णान्तधात्वन्तस्य अङ्गस्य' ऐसा अर्थ हो जाता है। अनेकाच पद अङ्गस्य' का विशेषण है। असयोगपूर्वस्य का 'ए' के साथ सामाना धिकरण्य है। अर्थ —(धातो असयोगपूर्वस्य) धातु का अवयव सयोग जिस के पूर्व में नहीं ऐसा (ओ) जो उवर्ण तदन्त (धातो) जो धातु तदन्त (अनेकाच) अनेक अचों वाले (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (यण्) यण् आदेश हो (अचि) अजादि (सुपि) सुप् परे होने पर । तात्पर्य—अजादि सुप् प्रत्यय परे रहते उस अनेकाच अङ्ग का यण् आदेश हो।। है जिस के अन्त में उवर्णान्त धातु हो परन्तु धातु के उवर्ण से पूर्व धातु का अवयव सयोग न हो।

'एरनेकाच '(२००) सूत्र का विषय इवर्णान्त है और इस का विषय उवर्णान्त धातु है। वह प्रत्येक प्रकार के अजादि प्रत्ययों में यण् करता है और यह केवल अजादि सुप में। शेष सब बातें दोनों में समान हैं। दोनों 'अचि श्नु- (१११) के अपवाद हैं।

खलपू + औ यहा 'पू उवर्णान्त धातु है, इस के उवर्ण से पूर्व धातु का कोइ अवयव सयोगयुक्त नहीं। अनेकाच् अङ्ग खलपू' है इस से परे 'औ' यह अजादि सुप वर्त्तमान है ही। अत अलोऽन्त्यपरिभाषा की सहायता से प्रकृतसूत्र द्वारा ऊकार का यण् = वकार हो कर— खलप्वौ रूप बना।

स्त्रीलिङ्ग न होने के कारण खलपू शब्द की नदीसञ्ज्ञा नहीं होती अत आट आदि नदीकार्य नहीं होते। सर्वत्र अजादि सुपों में यण् हो जाता है। रूपमाला यथा—

प्र०	खलपू	खलप्वौ	खलप्व	प०	खलप्व	खलपूभ्याम्	खलपूभ्य
द्वि०	खलप्वम्‡	,,	‡	ष०	,,	खलप्वो	खलप्वाम्
तृ०	खलप्वा	खलपूभ्याम्	खलपूभि	स०	खलप्वि	,,	खलपूषु
च०	खलप्वे	,,	खलपूभ्य	स०	हे खलपू !	हे खलप्वौ !	हे खलप्व !

‡ अम् और शस् में परत्व के कारण यण् होजाता है।

[लघु०] एव सुल्वादय ।

व्याख्या—'खलपू' शब्द के समान ही 'सुलू' 'उल्लू' आदि शब्दों के रूप होते हैं। सुष्ठु लुनातीति सुलूः (अच्छी प्रकार से काटने वाला)। उत्कृष्टं लुनातीति उल्लूः (उत्कृष्ट रीति से काटने वाला)। 'लूञ् छेदने' (क्र्या० उ०) धातु से कर्त्ता में क्विप् प्रत्यय करने से इन की निष्पत्ति होती है। सर्वत्र अजादि सुपों में यण् हो जाता है। ध्यान रहे कि 'उल्लू' में संयोग धातु का अवयव नहीं उपसर्ग के तकार का मिला कर बना है अतः यण् करने में कोई बाधा नहीं होती। इन दोनों की रूपमाला यथा—

	सुलू				उल्लू		
प्र०	सुलूः	सुल्वौ	सुल्वः	प्र०	उल्लूः	उल्ल्वौ	उल्ल्वः
द्वि०	सुल्वम्	,,	,,	द्वि०	उल्ल्वम्	,,	
तृ०	सुल्वा	सुलूभ्याम्	सुलूभिः	तृ०	उल्ल्वा	उल्लूभ्याम्	उल्लूभिः
च०	सुल्वे	,,	सुलूभ्यः	च०	उल्ल्वे		उल्लूभ्यः
पं०	सुल्वः		,,	पं०	उल्ल्वः		,,
ष०	,,	सुल्वोः	सुल्वाम्	ष०	,,	उल्ल्वोः	उल्ल्वाम्
स०	सुल्वि		सुलूषु	स०	उल्ल्वि	,,	उल्लूषु
सं०	हे सुलूः !	हे सुल्वौ !	हे सुल्वः !	सं०	हे उल्लूः !	हे उल्ल्वौ !	हे उल्ल्वः !

[लघु०] स्वभूः । स्वभुवौ । स्वभुवः ।

व्याख्या—स्वस्माद्भवतीति स्वभूः । 'स्व'पूर्वक 'भू सत्तायाम्' (भ्वा० प०) धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'स्वभू' शब्द निष्पन्न होता है। ब्रह्मा को स्वभू कहते हैं।

स्वभू+सुँ=स्वभूः । ङ्यन्तादि न होने से सुँ का लोप नहीं होता।

स्वभू+औ इस दशा में प्रथम 'इको यणचि' (१५) से यण् प्राप्त है। उस का बाध कर पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त हुआ। उस का 'दीर्घाज्जसि च' (१६२) से निषेध हो गया। पुनः इको यणचि से यण् प्राप्ति, उस का बाध कर 'अचि श्नु०' (१९९) से उवँङ् आदेश की प्राप्ति, उस को बाध कर 'ओः सुपि' (२१०) से यण् प्राप्त होता है। इस यण् का 'न भूसुधियोः' (२०२) से निषेध हो जाता है। तब उवँङ् आदेश हो कर 'स्वभुवौ' रूप सिद्ध होता है। इस प्रकार आगे अजादि विभक्तियों में सर्वत्र उवँङ् कर लेना चाहिये। रूपमाला यथा—

प्र०	स्वभूः	स्वभुवौ	स्वभुवः	पं०	स्वभुवः	स्वभूभ्याम्	स्वभूभ्यः
द्वि०	स्वभुवम्			ष०		स्वभुवोः	स्वभुवाम्
तृ०	स्वभुवा	स्वभूभ्याम्	स्वभूभिः	स०	स्वभुवि		स्वभूषु
च०	स्वभुवे		स्वभूभ्यः	सं०	हे स्वभूः !	हे स्वभुवौ !	हे स्वभुवः !

इसी प्रकार—स्वयम्भू (ब्रह्मा) आत्मभू (कामदेव) प्रतिभू (जामिन) शब्द होंगे।

[लघु०] वर्षाभू ।

व्याख्या—वर्षासु भवतीति वर्षाभूः (दुर, मेंढक)। वर्षा पूर्वक 'भू सत्तायाम्' (भ्वा०प०) धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर वर्षाभू शब्द निष्पन्न होता है। यहां अजादियों में 'ओः सुपि' (२१०) द्वारा प्राप्त यण् का 'न भूसुधियोः' (२०२) से निषेध हो जाता है। पर अग्रिमसूत्र से पुनः यण् करते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२११ वर्षाभ्वश्च ।६।४।८४॥

अस्य यण् वा स्यात् अचि सुपि। वर्षाभ्वौ इत्यादि।

अर्थ—अजादि सुप् प्रत्यय पर होने पर वर्षाभू शब्द का यण् हो।

व्याख्या—अचि ।७।१। [अचिश्नु० से] सुपि ।७।१। [ओः सुपि से] वर्षाभ्वः ।६।१। च इत्यव्ययपदम्। यण् ।१।१। [इणो यण् से] अर्थ—(अचि) अजादि (सुपि) सुप् परे रहते (वर्षाभ्वः) वर्षाभू शब्द के स्थान पर (यण्) यण् हो। अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्त्य अल् ऊकार को यण् होगा। रूपमाला यथा—

प्र०	वर्षाभूः	वर्षाभ्वौ	वर्षाभ्वः
द्वि०	वर्षाभ्वम्	,,	,,
तृ०	वर्षाभ्वा	वर्षाभूभ्याम्	वर्षाभूभिः
च०	वर्षाभ्वे		वर्षाभूभ्यः
पं०	वर्षाभ्वः	वर्षाभूभ्याम्	वर्षाभूभ्यः
ष०	"	वर्षाभ्वोः	वर्षाभ्वाम्
स०	वर्षाभ्वि	,,	वर्षाभूषु
सं०	हे वर्षाभूः !	हे वर्षाभ्वौ !	हे वर्षाभ्वः !

ध्यान रहे कि नदीसञ्ज्ञा न होने से आट् आदि कार्य न होंगे।

[लघु०] दृन्भू ।

व्याख्या—दृन् अव्यय के उपपद होने पर 'भू' धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर दृन्भू शब्द निष्पन्न होता है। दृन्=हिंसा भवते=प्राप्नोतीति दृन्भूः। वर्तमान उपलब्ध संस्कृत साहित्य में इस के प्रयोगों के उपलब्ध न होने से इस के अर्थ में बड़ा विवाद है। कई इस का अर्थ सर्पविशेष व वज्र करते हैं, कोई इसे वानर व सूर्यवाची मानते हैं।

अजादि विभक्तियों में 'ओः सुपि' (२१०) से प्राप्त यण् का 'न भूसुधियोः' (२०२) से निषेध हो जाता है। तब अग्रिमवार्त्तिक से पुनः यण् हो जाता है—

[लघु०] वा०—२० दृन्करपुनः पूर्वस्य भुवो यण् वक्तव्यः ॥

दृन्भ्वौ। एवं करभूः।

अर्थः—अजादि सुप् परे होने पर दृन् कर और पुनर् पूर्व वाले 'भू' शब्द के स्थान पर यण् आदेश करना चाहिये।

व्याख्या—यह वार्त्तिक वर्षाभ्वश्च (२११) सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है। दृन्भू करभू और पुनर्भू शब्दों के ऊकार को यण् हो अजादि सुप् परे हो तो—यह इस वार्त्तिक का तात्पर्य है।

दृन्भू शब्द को इस वार्त्तिक से यथास्थान यण् हो जाता है। रूपमाला यथा—

प्र० दृन्भूः	दृन्भ्वौ	दृन्भ्वः		पं० दृन्भ्वः	दृन्भूभ्याम्	दृन्भूभ्यः
द्वि० दृन्भ्वम्				ष०	दृन्भ्वोः	दृन्भ्वाम्
तृ० दृन्भ्वा	दृन्भूभ्याम्	दृन्भूभिः		स० दृन्भ्वि	,,	दृन्भूषु
च० दृन्भ्वे	,,	दृन्भूभ्यः		सं० हे दृन्भूः!	हे दृन्भ्वौ!	हे दृन्भ्वः

इसी प्रकार करभू और पुनर्भू शब्दों के रूप बनते हैं। करे भवतीति करभूः (नख= नाखून) पुनर्भवतीति पुनर्भूः (पुनः पैदा होने वाला)। कर और पुनर् के उपपद रहते भू सत्तायाम् (भ्वा० प०) धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर करभू और पुनर्भू शब्द निष्पन्न होते हैं। अजादि विभक्तियों में पूर्वोक्त वार्त्तिक से यण् हो जाता है। रूपमाला यथा—

करभू				पुनर्भू		
प्र० करभूः	करभ्वौ	करभ्वः		प्र० पुनर्भूः	पुनर्भ्वौ	पुनर्भ्वः
द्वि० करभ्वम्				द्वि० पुनर्भ्वम्	,,	,,
तृ० करभ्वा	करभूभ्याम्	करभूभिः		तृ० पुनर्भ्वा	पुनर्भूभ्याम्	पुनर्भूभिः
च० करभ्वे		करभूभ्यः		च० पुनर्भ्वे		पुनर्भूभ्यः
पं० करभ्वः		,,		पं० पुनर्भ्वः	,,	,,
ष० ,,	करभ्वोः	करभ्वाम्		ष०	पुनर्भ्वोः	पुनर्भ्वाम्
स० करभ्वि		करभूषु		स० पुनर्भ्वि		पुनर्भूषु
सं० हे करभूः!	हे करभ्वौ!	हे करभ्वः!		सं० हे पुनर्भूः!	हे पुनर्भ्वौ!	हे पुनर्भ्वः!

सूचना—पुनः ब्याही हुई स्त्री इस अर्थ में 'पुनर्भू' शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग होता है पुंल्लिङ्ग नहीं। स्त्रीलिङ्ग में इस का उच्चारण 'सिद्धान्त कौमुदी' में देखना चाहिये।

अभ्यास (३१)

(१) 'लुलू + अतुस् = लुलुवतुः पुपू + अतुस् = पुपुवतुः' इत्यादियों में 'ओः सुपि' से यण् क्यों न हो?

(२) 'खलप्वौ खलप्वः' आदि में 'एरनेकाचः' से यण् क्यों नहीं होता? क्या 'पू' धातु नहीं है?

(३) स्वभू वर्षाभू, आत्मभू करभू खलपू आत्मभू और हूहू शब्दों के द्वितीया तथा सप्तमी के एकवचन म रूप सिद्ध करो।

(४) उवँङ् आदेश 'ओ सुपि' के यण का बाधक है या इको यणचि के यण का ? सप्रमाण स्पष्ट करें।

(५) एरनेकाच सूत्र की अपेक्षा ओ सुपि सूत्र म क्या विशेषता है ?

(६) 'ओ सुपि' सूत्र का सोदाहरण विवेचन कर।

[यहां दीर्घ ऊकारान्त पुल्ँलिङ्ग समाप्त होते हैं]

— * —

अब ऋकारान्त पुल्ँलिङ्ग शब्दों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] धाता। हे धातः ! । धातारौ। धातारः।

व्याख्या—डुधाञ् धारणपोषणयो (जुहो० उ०) धातु से कर्त्ता म तृन् व तृच प्रत्यय करने पर 'धातृ' शब्द निष्पन्न होता है। दधातीति धाता धारण पोषण करने के कारण परमात्मा का नाम धातृ है।

'धातृ' शब्द के सर्वनामस्थान प्रत्ययों म क्रोष्टु शब्द के समान रूप बनते हैं।

सुँ में ऋदन्त होने से 'ऋदुशनस्' सूत्र से अनङ् आदेश अप्तृन्तृच् से उपधादीर्घ, हल्ङ्याब्भ्यः से अपृक्त सकार का लोप और न लोप (१८०) से नकार का लोप हो कर धाता' रूप बना।

सम्बुद्धि में हे धातृ + स्' इस दशा में अनङ् आदेश नहीं होता। ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' (२०४) से गुण = अर् हो सुँलोप और रेफ को विसर्ग करने से—हे धातः ! रूप सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि सम्बुद्धि मे निषेध के कारण उपधादीर्घ नहीं होगा।

[लघु०] वा०—२१ ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्।

धातॄणाम्।

अर्थ—सम्पूर्ण णत्वप्रकरण में ऋवर्ण स परे भी नकार को णकार आदेश कहना चाहिये।

व्याख्या—यह वार्त्तिक सम्पूर्ण णत्वविधायक सूत्रों का शेष समझना चाहिये अतः प्रत्येक णत्वविधायक सूत्र में इस की प्रवृत्ति होती है। इस से जिस २ व्यवधान या नियम के अधीन रेफ व षकार से परे णत्व करना कहा गया है वहा २ सर्वत्र ऋवर्ण का भी सङ्ग्रह कर लेना चाहिये—यह इस वार्त्तिक का तात्पर्य है।

धातृ + नाम् यहां ऋवर्ण से परे इस वार्त्तिक की सहायता से 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' (२६७) सूत्र द्वारा नकार को णकार हो कर 'धातॄणाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

सप्तमी के एकवचन में 'ऋतो ङि—' (२०४) से गुण हो कर 'धातरि' रूप बना।

सुप् में 'आदेश—' (१५०) से षत्व हो 'धातृषु' रूप सिद्ध होता है।

'धातृ' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	धाता	धातारौ	धातारः	पं०	धातुः	धातृभ्याम्	धातृभ्यः
द्वि०	धातारम्	,,	धातॄन्	ष०	,,	धात्रोः	धातॄणाम्
तृ०	धात्रा	धातृभ्याम्	धातृभिः	स०	धातरि	,,	धातृषु
च०	धात्रे	,,	धातृभ्यः	सं०	हे धातः !	हे धातारौ !	हे धातारः !

निम्नलिखित शब्दों के रूप भी इसी तरह होते हैं—

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
१ अध्येतृ	पढ़ने वाला	पठितृ	पढ़ने वाला
कथयितृ	कहने वाला	२० पातृ	रक्षक व पीने वाला
कर्तृ	करने वाला	पूजयितृ	पूजने वाला
क्षत्तृ	सारथि व द्वारपाल	पोतृ	ऋत्विज विशेष
५ गणयितृ	गिनने वाला	प्रशास्तृ	ऋत्विज व राजा
गन्तृ	जाने वाला	प्रष्टृ	पूछने वाला
छेत्तृ	काटने वाला	२५ बोद्धृ	जानने वाला
जेतृ	जीतने वाला	भर्तृ	स्वामी व पति
ज्ञातृ	जानने वाला	भेत्तृ	तोड़ने वाला
१० तरितृ	तैरने वाला	भोक्तृ	खाने वाला
त्वष्टृ	विश्वकर्मा	योद्धृ	युद्ध करने वाला
दातृ	देने वाला	३० रक्षितृ	रक्षा करने वाला
द्रष्टृ	देखने वाला	रचयितृ	रचने वाला
धर्तृ	धारण करने वाला	वक्तृ	बोलने वाला
१५ ध्यातृ	ध्यान करने वाला	वसितृ	पहनने वाला
नप्तृ	पोता व दोहता	वस्तृ	रहने वाला
नेतृ	नेता व सञ्चालक	३५ वेत्तृ	जानने वाला
नेष्टृ	सोमयज्ञ कराने वाला ऋत्विज्	वोढृ	उठाने वाला
		शङ्कितृ	शङ्का करने वाला

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
शमयितृ	शान्त करने वाला	स्तोतृ	स्तुति करने वाला
शयितृ	सोने वाला	स्थातृ	ठहरने वाला
४० शासितृ	शासन करने वाला	स्नातृ	स्नान करने वाला
श्रोतृ	सुनने वाला	स्मर्तृ	स्मरण करने वाला
सवितृ	सूर्य व प्रेरक	५० स्रष्टृ	पैदा करने वाला
सान्त्वयितृ	तसल्ली देने वाला	हर्तृ	हरने वाला
सोढृ	सहन करने वाला	होतृ ‡	यज्ञ करने वाला
४५ स्खलितृ	स्खलित होने वाला		

[लघु०] एवं नप्त्रादयः ।

व्याख्या—नप्तृ नेष्टृ त्वष्टृ क्षत्तृ होतृ पोतृ और प्रशास्तृ शब्दों के रूप भी धातृ शब्द के समान होंगे। सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान में अप्तृन्— (२ ६) सूत्र से इन की उपधा को दीर्घ हो जायेगा।

नप्तृ, नेष्टृ आदि शब्द औणादिक तृन्नन्त व तृजन्त हैं। उणादियों में तीन सूत्रों द्वारा प्रायः बीस शब्द तृन्नन्त व तृजन्त सिद्ध किये गये हैं। यथा—

१ शस् + तृच् =शस्तृ । [यह ऋत्विज् या भाट की सञ्ज्ञा है ।]
२ शास + तृन्*=शास्तृ । [यह ऋत्विज् या भगवान् बुद्ध की सञ्ज्ञा है ।]
३ क्षद् + तृच्†=क्षत्तृ । [सारथि द्वारपाल वैश्या से शूद्र से उत्पन्न अथवा दासीपुत्र जैसे विदुर ।]
४ क्षुद् + तृच् =क्षोत्तृ । [मुसल]
५ प्रशास+ तृच् =प्रशास्तृ । [ऋत्विज् व राजा ।]
६ उद् नी+तृच =उन्नेतृ । [ऋत्विज्]
७ प्रति हृ+तृच् =प्रतिहर्तृ [ऋत्विज्]
८ उद् गा+तृच् =उद्गातृ [यज्ञ में साम का गान करने वाला]

तृन्तृचौ शंसिक्षदादिभ्यः संज्ञायां चानिटौ (उणा० २५१)

—o ❀ o—

‡ ध्यान रहे आम् में सब ऋदन्तों को णत्व हो जाता है। अतः चिह्न नहीं लगाया।

* तत्त्वबोधिनीकाराः श्रीज्ञानेन्द्रस्वामिनोऽन्ये च उज्ज्वलदत्तप्रभृतयः वृत्तिकृतोऽत्र तृ प्रत्ययमेवाहुः परं भाष्यमर्मविन्नागेशस्त्वत्र तृचमेवाभिदधाति। दृश्यतामत्रत्यः शेखरः। प्रक्रियाकौमुदीप्रसिद्धटीकाकारः श्रीविट्ठलाचार्योऽप्यत्रानुकूलः।

† क्षदि सौत्रो धातुः। शकलीकरणे भक्षणे चायमिति दीक्षिताः। सम्भृताविति उज्ज्वलदत्तः।

९ हन् + तृच् = हन्तृ । [चोर व डाकू]
१० मन् + तृच् = मन्तृ । [विद्वान्]

बहुलम् न्यासादिः । [उ० २५२]

—— ० ॐ ० ——

११	नप्तृ	[पौत्र दौहित्र ।	तृन्नन्त व तृजन्त निपातित है ।]
१२	नेष्टृ	[ऋत्विग्विशेष ।	” ” ” ”]
१३	त्वष्टृ	[विश्वकर्मा ।	” ” ”]
१४	होतृ	[ऋत्विज् ।	” ” ”]
१५	पोतृ	[ऋत्विग्विशेष ।	” ” ”]
१६	भ्रातृ	[भाई ।	” ” ” ”]
१७	जामातृ	[दामाद ।	” ” ” ”]
१८	मातृ	[माता ।	” ” ”]
१९	पितृ	[पिता ।	” ” ” ” ”]
२०	दुहितृ	[लड़की ।	” ” ” ”]

नप्तृ नेष्टृ त्वष्टृ होतृ पोतृ भ्रातृ जामातृ मातृ पितृ दुहितृ (उणा० २५३)

—— ॐ ० ——

इस प्रकरण में प्रतिप्रस्थातृ, प्रस्तोतृ दस्तृ † शस्तृ और अप्तृ ‡ इतने शब्द अधिक अन्यत्र देखे जाते हैं। उपदेष्टृ और धातृ शब्द का भी यहां उज्ज्वलदत्त ने न जाने किस लिये गिन रखा है। और न जाने श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी उस का किस लिये अपनी उणादिवृत्ति में अनुसरण किया है ? सरस्वतीकण्ठाभरणकार धारेश्वर महाराज भोज, दण्डनारायण प्रक्रियासर्वस्वकार नारायणभट्ट प्रक्रियाकौमुदी की प्रसादटीका के रचयिता श्रीविट्ठलाचार्य और दुर्गसिंह प्रभृति इन का उल्लेख नहीं करते। यद्यपि ये सञ्ज्ञा शब्द हैं तथापि गण में इन के पाठ की कल्पना करना निष्प्रयोजन लोकविरुद्ध और प्रमाणशून्य है।

सूचना—स्वसृ यातृ देवृ ननान्दृ, नृ और सव्येष्टृ ये छः शब्द भी यद्यपि औणादिक हैं तथापि ये ऋप्रत्ययान्त हैं, तृन्नन्त व तृजन्त नहीं। अतः इन के दीर्घ या दीर्घाभाव

† दस्ता दयकृत् इति प्रक्रियासर्वस्वे नारायणभट्टः । न क्वाप्यन्यत्राय शब्दोऽवलोक्यत।

‡ महाराज भोजदेव ने आप् ह्रस्वश्च इसप्रकार सूत्र बना कर अप्तृ शब्द सिद्ध किया है। दण्डनारायण ने अपनी वृत्ति में 'अप्तृ' का अर्थ यज्ञ किया है। वर्तमान उपलब्ध संस्कृत-साहित्य में इस का पता नहीं चलता। परन्तु अप्तोर्याम अप्तर्यामन्' आदि शब्दों के देखने से प्रतीत होता है कि यज्ञ अर्थ में इस का कहीं प्रयोग अवश्य हुआ होगा। इसी प्रकार चोर आदि अर्थों में हन्तृ शब्द के प्रयोग अन्वेषणीय हैं।

का यहां प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। इन में से स्वसृ शब्द का ही सूत्र में ग्रहण है अत उसे ही दीर्घ होगा अन्य किसी शब्द को न होगा।

प्रश्न—यदि नप्तृ नेष्टृ आदि सातों शब्द पूर्वोक्तरीत्या तृन्नन्त व तृजन्त हैं तो इन की उपधा को दीर्घ 'अप तृन् तृच् स्वसृ' इतने से ही सिद्ध हो सकता है क्योंकि सूत्र में तृन् और तृच् को दीर्घ कहा ही है। पुन सूत्र में इन के पृथक उल्लेख का क्या कारण है?

उत्तर—इस प्रकार सिद्ध होने पर सूत्र में इन के पुन ग्रहण का एक महान् प्रयोजन है। ग्रन्थकार के शब्दों में ही देखिये—

[लघु०] नप्त्रादीनां ग्रहणं व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम्। तेनेह न—पिता, पितरौ, पितरः। पितरम्। शेष धातृवत्। एवं जामात्रादयः।

अर्थ—नप्तृ आदि तृन्नन्त व तृजन्त शब्दों का ग्रहण व्युत्पत्तिपक्ष में नियम के लिये है। अर्थात् यदि व्युत्पत्तिपक्ष में औणादिक शब्दों को तृन्नन्त व तृजन्त समझा जाय तो नप्तृ नेष्टृ त्वष्टृ क्षत्तृ होतृ, पोतृ और प्रशास्तृ इन सात शब्दों की उपधा को ही 'अप्तृन्तृच्—' सूत्र से दीर्घ हो अन्य किसी औणादिक तृजन्त तृन्नन्त को दीर्घ न हो।*

व्याख्या—कुछ लोग औणादिक शब्दों को व्युत्पन्न और कुछ अव्युत्पन्न मानते हैं। अव्युत्पन्न मानने वालों के पक्ष में नप्तृ आदि शब्दों में न कोई धातु और न कोई प्रत्यय माना जाता है। अत उन के मत में 'अप तृन् तृच् स्वसृ' इतने सूत्रमात्र से काम नहीं चलता। उन के मत में नप्तृ नेष्टृ आदि शब्दों का दीर्घ विधानार्थ ग्रहण करना आवश्यक है ही।

अब रहे व्युत्पत्तिपक्ष वाले ये लोग औणादिक शब्दों में प्रकृति प्रत्यय, आगम विकार और आदेश आदि सब यथावत् मानते हैं। नप्तृ आदि शब्दों को ये लोग तृन्नन्त व तृजन्त मानते हैं। अत इन के मत में 'अप्तृन्तृच्स्वसृ' इतने मात्र से ही दीर्घ सिद्ध हो सकता है। इस लिये इन के मत में इन शब्दों का सूत्र में ग्रहण व्यर्थ हो जाता है। इस पर ग्रन्थकार यह उत्तर देते हैं कि इन का ग्रहण नियम के लिये है। जैसे—

आप ने अपने नौकर को कहा कि—तुम बाज़ार से फल और बेर लाओ। इस से क्या विदित हुआ? यही न, कि आप की दृष्टि में बेर फल नहीं हैं, क्योंकि यदि होते तो आप बेरों को पुन लाने के लिये न कहते।

---

* 'उणादिनिष्पन्नानां तृन्तृजन्तानां दीर्घश्चेद्? नप्त्रादीनामेव, न तु पित्रादीनाम्" इति नियमोऽत्र बोध्य।

इन ब्राह्मणों को दक्षिणा दो और वसिष्ठ को भी दे देना। इस से क्या आया ? यही न कि आप की दृष्टि में वसिष्ठ ब्राह्मण नहीं यदि होता तो आप पृथक् निर्देश न करते।

इन हिन्दुओं को दो २ आने दो और बलदेवसिंह को भी दे देना। इस से क्या आया ? यही न कि आप की दृष्टि में सिख हिन्दु नहीं तभी तो आप बलदेवसिंह का पृथक् निर्देश करते हैं।

इसी प्रकार पाणिनि जी के— 'तृन्नन्त तृजन्त शब्दों को दीर्घ हो तथा नप्तृ आदि शब्दों को भी दीर्घ हो' इस वचन से क्या आया ? यही न कि वे यहां तृन्नन्त तृजन्त शब्दों में औणादिक तृन्नन्त तृजन्त शब्दों का ग्रहण नहीं मानते अष्टाध्यायीस्थ तृन्नन्त तृजन्त शब्दों को ही यहां 'तृन्, तृच्' में ग्रहण करते हैं तभी तो औणादिक तृन्नन्त तृजन्त शब्दों के दीर्घ के लिये उन्होंने इन का पृथक् उल्लेख किया है।

तात्पर्य यह है कि नप्तृ नेष्टृ आदि सात औणादिक तृन्नन्त तृजन्त शब्दों के अतिरिक्त अन्य किसी औणादिक तृन्नन्त तृजन्त शब्द की उपधा को दीर्घ न होगा। सूत्रगत तृन्, तृच् से अष्टाध्यायीस्थ तृन्नन्त तृजन्त शब्दों का ग्रहण हो कर केवल उन की उपधा को ही दीर्घ होगा।

ऋकारान्त औणादिक शब्द

उपधादीर्घ हो जाता है।	उपधादीर्घ नहीं होता।
१ नप्तृ। २ नेष्टृ। ३ त्वष्टृ। ४ क्षत्तृ। ५ होतृ। ६ पोतृ। ७ प्रशास्तृ। ८ उद्गातृ। ९ स्वसृ। [यद्यपि सूत्र में उद्गातृ का उल्लेख नहीं तथापि भाष्यकार के उद्गातारः (२.१.१पर) प्रयोग से इस को भी दीर्घ हो जाता है।]	१ शमितृ। २ शास्तृ। ३ ध्यातृ। ४ उन्नेतृ। ५ प्रतिहर्तृ। ६ हन्तृ। ७ मन्तृ। ८ प्रतिस्थातृ। ९ प्रस्तोतृ। १० ब्रह्मन्तृ। ११ शस्तृ। १२ अप्तृ। १३ भ्रातृ। १४ जामातृ। १५ मातृ*। १६ पितृ। १७ दुहितृ। १८ नृ। १९ यातृ। २० सव्येष्ठृ। २१ ननान्दृ। २२ सव्येष्ठृ।

पितृ (पिता) शब्द का उच्चारण यथा—

* यदि इन शब्दों में कहीं अष्टाध्यायीस्थ तृन्नन्त व तृजन्त मानेंगे तो तब दीर्घ हो जायगा। यथा केवल औणादिकों के लिये ही है। यथा—माता (मापने वाला) मातारौ मातारः। हन्ता (मारने वाला) हन्तारौ हन्तारः। मन्ता (मनन करने वाला) मन्तारौ मन्तारः।

प्र०	पिता	पितरौ	पितर	प०	पितु	पितृभ्याम्	पितृभ्य
द्वि०	पितरम्	,,	पितॄन्	ष		पित्रो	पितॄणाम्
तृ०	पित्रा	पितृभ्याम्	पितृभि	स	पितरि	,,	पितृषु
च०	पित्रे		पितृभ्य	स०	हे पित !	हे पितरौ !	हे पितर !

इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया धातृ शब्द के समान होती है। केवल सर्वनामस्थान में उपधादीर्घ का अभाव होता है। सु में सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ (१७७) से उपधा दीर्घ हो जाता है।

इसी प्रकार पूर्वोक्त शस्तृ आदि शब्दों के उच्चारण होते हैं। निदर्शनार्थ 'भ्रातृ' शब्द का उच्चारण यथा—

प्र०	भ्राता	भ्रातरौ	भ्रातर	प०	भ्रातु	भ्रातृभ्याम्	भ्रातृभ्य
द्वि	भ्रातरम्	,,	भ्रातॄन्	ष		भ्रात्रो	भ्रातॄणाम्
तृ०	भ्रात्रा	भ्रातृभ्याम्	भ्रातृभि	स	भ्रातरि	,,	भ्रातृषु
च०	भ्रात्रे	,,	भ्रातृभ्य	स०	हे भ्रात !	हे भ्रातरौ !	हे भ्रातर !

पूर्वोक्त उपधादीर्घाभाव वाले औणादिक शब्दों में मातृ दुहितृ ननान्दृ और यातृ ये चार शब्द स्त्रीलिङ्ग हैं अतः इन का विवेचन आगे अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण में किया जायगा।

अब नृ (मनुष्य) शब्द का वर्णन करते हैं। नृशब्द की सम्पूर्ण प्रक्रिया पितृ शब्द के समान होती है। सर्वनामस्थान में इसे उपधादीर्घ नहीं हुआ करता। षष्ठी के बहुवचन में यहां केवल अन्तर हुआ करता है—

'नृ + आम्' इस दशा में ह्रस्व का नुट् का आगम हो कर नृ + नाम्। अब 'नामि' (१४६) से नित्य दीर्घ प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र विकल्प करता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२१२ नृ च ।६।४।६॥

अस्य नामि वा दीर्घः । नृणाम् । नॄणाम् ।

अर्थ—नाम् परे हो तो 'नृ' शब्द के ऋकार को विकल्प कर के दीर्घ हो।

व्याख्या—नृ ।६।१। [यहां षष्ठी का लुक् समझना चाहिये] च इत्यव्ययपदम्। उभयथा इत्यव्ययपदम्। ['छन्दस्युभयथा' से] दीर्घः ।१।१। [ढ्रलोपे—' से] नामि ।७।१। ['नामि' से] अर्थ—(नामि) नाम् परे होने पर (नृ) नृशब्द के स्थान पर (उभयथा) विकल्प कर के (दीर्घः) दीर्घ आदेश हो जाता है। 'अचश्च' (१२२८) परिभाषा द्वारा ऋवर्ण को दीर्घ होगा।

नृ+नाम् यहां प्रकृतसूत्र से वैकल्पिक दीर्घ हो कर दोनों पक्षों में ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम् (वा २१) वार्त्तिक की सहायता से रषाभ्यां नो णः समानपदे (२६७) सूत्र से णत्व हो कर 'नृणाम्' और 'नृणाम्' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं। नृशब्द की रूपमाला यथा—

णीञ् प्रापणे (भ्वा० उ०) इत्यस्मात् 'नयतेर्डिच्च' (उणा० २५८) इति ऋप्रत्यये, डित्वाट्टेर्लोपे नृशब्दः सिध्यति। नयति कार्याणीति ना=पुरुषो नेता वा।

प्र०	ना	नरौ	नरः	पं०	नुः	नृभ्याम् नृभ्यः
द्वि०	नरम्	,,	नॄन्	ष०	,,	नत्रोः नॄणाम् नृणाम्
तृ०	न्रा	नृभ्याम्	नृभिः	स०	नरि	,, नृषु
च०	न्रे	,,	नृभ्यः	सं०	हे नः!	हे नरौ! हे नरः!

नोट— नरो गच्छन्ति इत्यादि वाक्यों में अकारान्त 'नर' शब्द का प्रयोग नहीं, इसी नृशब्द के प्रथमा के बहुवचन का प्रयोग है अतः वाक्य शुद्ध है।

सूचना— इस शब्द पर एक श्लोक प्रसिद्ध है—

लक्ष्म्या वै जायते भानुः सरस्वत्यापि जायते।
अत्र षष्ठीपदं गुप्तं यो जानाति स पण्डितः॥
(भा=कान्तिः, नुः=पुरुषस्य)

अभ्यास (३२)

(१) (क) नॄन् में नकार को णकार क्यों नहीं होता?

(ख) ऋ और लृ शब्दों का उच्चारण लिखो।

(ग) 'भ्रातर्देहि पितरत्र, नगच्छ' इत्यादि में उत्व क्यों न हो?

(घ) 'नुः च' यहां 'नुः' में कौन सी विभक्ति है?

(ङ) औणादिक तृजन्त होने पर भी 'उद्गातृ' को क्यों दीर्घ हो जाता है?

(२) निम्नलिखित शब्दों में कहां २ उपधादीर्घ करना चाहिये और कहां २ नहीं? कारण निर्देश पूर्वक लिखो—

१ प्रीतृ। २ पोतृ। ३ दातृ। ४ नेतृ। ५ प्रशास्तृ। ६ हन्तृ। ७ उद्गातृ। ८ भ्रातृ। ९ सवितृ। १० जामातृ। ११ स्तोतृ। १२ त्वष्टृ। १३ अध्येतृ। १४ ध्यातृ। १५ नृ।

(३) 'नप्त्रादिग्रहणं व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्थम्' इस पङ्क्ति का भाव स्पष्ट करते हुए यह लिखो कि इस का रूपसिद्धि पर क्या प्रभाव पड़ता है?

(४) मातृशब्द यदि औणादिक न मान कर अष्टाध्यायी के तच प्रत्यय से निष्पन्न मानें तो क्या अन्तर होगा ?

(५) क्या 'प्रवशातृ' में भी 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' वार्त्तिक से णत्व हो जायगा ?

(६) शतृशब्द के सुँ ङस ङि का क्या रूप बनेगा ?

[यहां ऋदन्त पुल्लिङ्ग समाप्त होते हैं ।]

संस्कृतसाहित्य में ऋदन्त लृदन्त और एदन्त ऐसा कोई प्रसिद्ध शब्द नहीं जिस का बालकों के लिये वर्णन करना उपयोगी हो अतः ग्रन्थकार ओकारान्त पुल्लिङ्ग गो शब्द का वर्णन करते हैं ।

[लघु०] अतिदेश सूत्रम्—२१३ गोतो णित् ।७।१।९०॥

ओकाराद् विहितं सर्वनामस्थानं णिद्वत् । गौः, गावौ, गावः ।

अर्थः—ओकारान्त शब्द से विधान किया हुआ सर्वनामस्थान णिद्वत् हो ।

व्याख्या—गोतः ।५।१। सर्वनामस्थानम् ।१।१। [इतोऽत् सर्वनामस्थाने से विभक्तिविपरिणाम कर के] णित् ।१।१। यह अतिदेशसूत्र है, अतः णित् का तात्पर्य होगा—णिद्वत् । अर्थात् जो २ कार्य णित् के होने से होते हैं वे सब सर्वनामस्थान के परे होने से भी हो जाएंगे ।

१ यहां पर कात्यायनजी ने दो वार्त्तिक लिखे हैं । (१) ओतो णिद् इति वाच्यम् । (२) विहितविशेषणञ्च । इन का अभिप्राय यह है कि—यदि केवल गोशब्द से परे ही सर्वनामस्थान णित् हो तो सुद्यो शब्द के—सुद्यौः सुद्यावौ सुद्यावः ये रूप सिद्ध न हो सकेंगे । अतः सूत्र में 'गोतः' पद को हटा उस के स्थान पर 'ओतः' यह सामान्य निर्देश करना ही उचित है । परन्तु केवल उस 'ओतः' से भी पूरा काम नहीं चल सकता, क्योंकि तब 'हे भानो+स्', 'हे वायो+स्' इत्यादि स्थानों पर भी णिद्वत् हो कर वृद्धि आदि अनिष्ट प्रसक्त होगा । अतः यहां 'विहितम्' यह भी 'सर्वनामस्थानम्' का विशेषण कर देना चाहिये । 'हे वायो+स्', 'हे भानो+स' आदि प्रयोगों में सर्वनामस्थान, ओकारान्त से विधान नहीं किया गया अपितु भानु वायु आदि उकारान्त शब्दों से विधान किया गया है । अतः णिद्वद्भाव न होने से कोई दोष नहीं आता । अर्थ—(गोतः = ओतः) ओकारान्त से (विहितम्, सर्वनामस्थानम्) विधान किया हुआ सर्वनामस्थान (णित्) णिद्वत् होता है ।

'गो+स्' (सुँ) यहां ओकारान्त शब्द 'गो' है इस से विहित सर्वनामस्थान सुँ है । अतः प्रकृतसूत्र से सर्वनामस्थान णिद्वत् हुआ । णिद्वत् होने पर 'अचो ञ्णिति'

(१८२) सूत्र से गो के अन्त्य ओकार को औकार वृद्धि हो कर रुँत्व विसर्ग करने से गौः प्रयोग सिद्ध हुआ।

प्रथमा और द्वितीया के द्विवचन में गो + औ इस दशा में प्रकृतसूत्र से णिद्वत् 'अचो ञ्णिति (१८२) से औकार वृद्धि और औकार को 'एचोऽयवायावः' (२२) से आव् आदेश हो कर गावौ प्रयोग सिद्ध हुआ।

जस् में भी इसी तरह णिद्वत् वृद्धि और आव् आदेश हो कर गावः' रूप बना।

'गो+अम्' यहां पर 'अमि पूर्वः' (१३५) को बाध कर गोतो णित् (२१३) से णिद्वद्भाव प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२१४ औतोऽम्शसोः ।६।१।६१॥

ओतोऽम्शसोरचि आकार एकादेशः । गाम्, गावौ, गाः । गवा । गवे । गोः २ इत्यादि ।

अर्थः—ओकार से अम् व शस् का अच् परे हो तो पूर्व+पर के स्थान पर आकार एकादेश हो।

व्याख्या—आ ।१।१। [यहां विभक्ति का लुक् हो जाता है] ओतः ।५।१। अम्शसोः ।६।२। अचि ।७।१। ['इको यणचि' से] पूर्वपरयोः ।६।२। एकः ।१।१। ['एकः पूर्वपरयोः' यह अधिकृत है।] अर्थः—(ओतः) ओकार से (अम्शसोः) अम् व शस् का (अचि) अच् परे हो तो (पूर्वपरयोः) पूर्वपर के स्थान पर (आ) आकार (एकः) एकादेश हो।

गो + अम्' यहां ओकार से परे अम् का अच् वर्त्तमान है अतः प्रकृतसूत्र से ओकार और अकार के स्थान पर आकार एकादेश हो कर गाम् रूप सिद्ध हुआ।

गो+अस्' (शस्) यहां भी प्रकृतसूत्र से आकार एकादेश हो रुँत्व विसर्ग करने से गाः रूप बनता है। ध्यान रहे कि आकार पूर्वसवर्णदीर्घघटित नहीं अतः 'तस्माच्छसो' (१३७) से सकार को नकार न होगा।

तृतीया और चतुर्थी के एकवचन में एचोऽयवायावः (२२) से अव् आदेश हो कर क्रमशः 'गवा' और गवे बना।

पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में ङसिङसोश्च (१७३) से पूर्वरूप हो कर गोः सिद्ध होता है। स्मरण रहे कि पदान्त न होने से पूर्वरूप आदि कार्य नहीं होते। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

गो=बैल (गमेर्डो)

प्र० गौः	गावौ	गावः	प० गोः	गोभ्याम्	गोभ्यः
द्वि० गाम्	„	गाः	ष० „	गवोः	गवाम्
तृ० गवा	गोभ्याम्	गोभिः	स० गवि	„	गोषु
च० गवे	„	गोभ्यः	सं० हे गौः !	हे गावौ !	हे गावः !

(यहां ओकारान्त पुल्लिङ्ग समाप्त होते हैं ।)

अब ऐकारान्त पुल्लिङ्ग रै शब्द का वर्णन करते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२१५ रायो हलि ।७।२।८५॥

अस्याकारादेशो हलि विभक्तौ । राः, रायौ, रायः राभ्यामित्यादि ।

अर्थः—हलादि विभक्ति परे होने पर रै शब्द के एकार को आकार आदेश हो जाता है।

व्याख्या—रायः ।६।१। आ ।१।१। ['अष्टन आ विभक्तौ' से] हलि ।७।१। विभक्तौ ।७।१। हलि पद 'विभक्तौ' पद का विशेषण है अतः तदादिविधि हो कर 'हलादौ विभक्तौ' बन जायगा । अर्थः—(हलि=हलादौ) हलादि (विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (रायः) रै शब्द के स्थान पर (आ) आकार आदेश होता है । अलोऽन्त्यपरिभाषा से ऐकार को आकार होगा ।

रा दाने (अदा० प०) धातु से 'रातेर्डैः' (उणा० २२४) सूत्र द्वारा डै प्रत्यय कर टिलोप करने से 'रै' शब्द निष्पन्न होता है । राति=ददाति श्रेयोऽर्थं वा पात्रेभ्य इति राः । रायते=दीयत इति रा इति वा । धन सूर्य या सुवर्ण को रै कहते हैं ।

सुँ भ्याम् ३ भिस्, भ्यस् २ सुप्—ये आठ हलादि विभक्तियां हैं । इन में प्रकृतसूत्र से रै को आकार आदेश हो जायगा । अन्यत्र अजादियों में एचोऽयवायावः (२२) से आय् आदेश होगा । रूपमाला यथा—

प्र० राः	रायौ	रायः	प० रायः	राभ्याम्	राभ्यः
द्वि० रायम्			ष० „	रायोः	रायाम्
तृ० राया	राभ्याम्	राभिः	स० रायि	„	रासु
च० राये	„	राभ्यः	सं० हे राः !	हे रायौ !	हे रायः !

(यहां ऐकारान्त पुल्लिङ्ग समाप्त होते हैं ।)

[लघु०] ग्लौः । ग्लावौ । ग्लावः । ग्लौभ्याम् इत्यादि ।

व्याख्या—'ग्लै हर्षक्षये' (भ्वा० प०) धातु से 'ग्लानुदिभ्यां डौः' (उणा० २२३) सूत्र द्वारा डौ प्रत्यय कर टिलोप करने से 'ग्लौ' शब्द निष्पन्न होता है । ग्लायति=कमलस्य हर्षक्षयं करोति (अन्तर्भावितण्यर्थः) इति ग्लौः=चन्द्रः ।

'ग्लौ' शब्द के औकार को सर्वत्र अजादि प्रत्ययों में 'एचोऽयवायावः' (२२) से आव् आदेश हो जाता है। हलादि विभक्तियों में कोई अन्तर नहीं होता। सुप् में केवल षत्व विशेष है। रूपमाला यथा—

प्र० ग्लौः	ग्लावौ	ग्लावः	पं० ग्लावः	ग्लौभ्याम्	ग्लौभ्यः
द्वि० ग्लावम्	,,	,,	ष० ,,	ग्लावोः	ग्लावाम्
तृ० ग्लावा	ग्लौभ्याम्	ग्लौभिः	स० ग्लावि	,,	ग्लौषु
च० ग्लावे	,,	ग्लौभ्यः	सं० हे ग्लौः !	हे ग्लावौ !	हे ग्लावः !

इसी प्रकार 'जनौ' प्रभृति शब्दों के रूप होंगे।

[लघु०] इत्यजन्ताः पुंल्लिङ्गाः [शब्दाः]।

अर्थः—यहां 'अजन्तपुंल्लिङ्ग' शब्द समाप्त होते हैं।

व्याख्या—'अजन्त' शब्द में स्पष्टप्रतिपत्ति के लिये कुत्व नहीं किया गया। यहां 'अजन्त पुंल्लिङ्ग प्रकरण' समाप्त होता है। इस के अनन्तर 'अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण' आरम्भ किया जायगा।

अभ्यास (३३)

(१) 'गोतो णित्' सूत्र में दोषों की उद्भावना कर के भगवान् कात्यायन के वचनों के अनुसार उन का समाधान करो।

(२) क्या कारण है कि ग्रन्थकार ने ऋदन्त शब्दों के आगे ओदन्त शब्द लिखे हैं ?

(३) 'रायो हलि' सूत्र में 'हलि' पद का ग्रहण न करें तो क्या दोष उत्पन्न होगा ?

(४) 'औतोऽम्शसोः' सूत्र का पदच्छेद कर यह बताए कि यह सूत्र ग्लौ शब्द मे क्यों प्रवृत्त (?) होता है ?

(५) 'गो+अस्' (ङसि व ङस्) यहां 'एचोऽयवायावः' और 'एङः पदान्तादति' सूत्रों में कौन प्रवृत्त (?) होगा ? कारण साथ लिखो।

(६) गो, रै और ग्लौ शब्दों का उच्चारण लिखते हुए गाः, गौः, राभ्याम् और ग्लावि प्रयोगों की ससूत्र साधनप्रक्रिया लिखो।

(७) 'अजन्ताः' यहां कुत्व क्यों नहीं होता ?

(यहां औकारान्त पुंल्लिङ्ग समाप्त होते हैं।)

इति भैमीव्याख्ययोपबृंहितायां
लघु-सिद्धान्त-कौमुद्याम्
अजन्तपुंल्लिङ्गप्रकरणं
पूर्तिमगात्।

[लघु०] विधि सूत्रम्—२१६ औङ आपः ।७।१।१८॥

आबन्तादङ्गात् परस्य औङः शी स्यात् । 'औङ्' इत्यौकारविभक्तेः सञ्ज्ञा । रमे । रमाः ।

अर्थः—आबन्त अङ्ग से परे औङ को शी आदेश हो । औङ् यह 'औ'कार विभक्ति—औ और औट् की सञ्ज्ञा है ।

व्याख्या— आपः ।५।१। अङ्गात् ।५।१। ['अङ्गस्य' इस अधिकृत का विभक्ति विपरिणाम हो जाता है ।] औङः ।६।१। शी ।१।१। [जसः शी' से] 'आपः' यह 'अङ्गात्' पद का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि हो कर आबन्ताद् अङ्गात् बन जाता है । अर्थः—(आपः) आबन्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (औङः) औङ के स्थान पर (शी) शी आदेश होता है ।

पाणिनिजी से पूर्ववर्ती आचार्य प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन को 'औङ्' कहते थे । महामुनि पाणिनि ने भी उसी सञ्ज्ञा का अपने शास्त्र में व्यवहार किया है ।

रमा + औ' यहां आबन्त अङ्ग रमा से परे औङ् को शी आदेश हुआ । अब स्थानिवद्भाव से शी में प्रत्ययत्व ला कर प्रत्यय के आदि शकार की 'लशक्वतद्धिते' (१३६) से इत्सञ्ज्ञा और 'तस्य लोपः' (३) से लोप हो—रमा+ई । पुनः 'आद् गुणः' (२७) से गुण एकादेश करने से 'रमे' प्रयोग सिद्ध होता है ।

रमा+अस्' (जस्) यहां पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होता है उस का 'दीर्घाज्जसि च' (१६२) से निषेध हो जाता है । अब 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ हो कर रुँत्व विसर्ग करने से 'रमाः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

हे रमा + स' यहां सम्बुद्धि में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२१७ सम्बुद्धौ च ।७।३।१०६॥

आप एकारः स्यात् सम्बुद्धौ । 'एङ्ह्रस्वाद्—' इति सम्बुद्धिलोपः । हे रमे !, हे रमे !, हे रमाः ! । रमाम् । रमे । रमाः ।

अर्थः—सम्बुद्धि परे होने पर 'आप' को ए आदेश हो ।

व्याख्या—सम्बुद्धौ ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । आपः ।६।१। ['आङि चापः' से] अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है ।] एत् ।१।१। [बहुवचने झल्येत्' से] 'अङ्गस्य' का विशेषण होने से 'आपः' से तदन्तविधि हो कर 'आबन्तस्य अङ्गस्य' बन जायगा । अर्थः— (सम्बुद्धौ) सम्बुद्धि परे होने पर (आपः=आबन्तस्य) आबन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के

स्थान पर (एत्) एकार आदेश हो। अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्त्य आकार को एकार आदेश होगा।

हे रमा + स् यहां 'स्' यह सम्बुद्धि परे है ही अतः प्रकृतसूत्र से आकार को एकार हो गया। तब 'हे रमे + स' इस स्थिति में एङ्ह्रस्वात्—' (१३४) सूत्र से सम्बुद्धि के सकार का लोप होने से हे रमे !' रूप सिद्ध हुआ।

सम्बोधन के द्विवचन और बहुवचन में प्रथमा के समान प्रक्रिया होती है—हे रमे !, हे रमा: !।

ध्यान रहे कि सम्बोधन के एकवचन और द्विवचन में एक समान रूप बनने पर भी प्रक्रिया में बडा अन्तर होता है।

रमा + अम्' इस अवस्था में अमि पूर्वः (१३५) से पूर्वरूप एकादेश हो कर रमाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

द्वितीया के द्विवचन में प्रथमावत् रमे रूप बनता है।

द्वितीया के बहुवचन में रमा + अस' (शस्)। इस स्थिति में दीर्घ से परे जस् व इच् वर्तमान न होने से 'नादिचि' च (१६२) से पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध न हुआ। अतः पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर रुँत्व विसर्ग करने से—'रमाः' प्रयोग सिद्ध हुआ। ध्यान रहे कि तस्माच्छसो नः पुंसि' (१३७) सूत्र पुल्लिङ्ग में ही शस् के सकार को नकार आदेश करता है अन्यत्र नहीं अतः एव यहां स्त्रीलिङ्ग में उस की प्रवृत्ति न होगी। एवम् आगे भी इस प्रकरण में सर्वत्र जान लेना चाहिये।

रमा + आ (टा) यहां सवर्णदीर्घ प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्——२१८ आङि चापः ।७।३।१०५॥

आङि ओसि चाप एकारः। रमया। रमाभ्याम्। रमाभिः।

अर्थः—आङ् अथवा ओस् परे हो तो 'आप' को 'ए' आदेश हो।

व्याख्या—आङि ।७।१। ओसि ।७।१। [ओसि च' से] च इत्यव्ययपदम्। आपः ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है।] एत् ।१।१ [बहुवचने झल्येत्' से] आपः ' यह अङ्गस्य' पद का विशेषण है, अतः तदन्तविधि हो कर 'आबन्तस्य अङ्गस्य बन जायगा। अर्थः— (आङि) आङ (च) अथवा (ओसि) ओस् परे होने पर (आपः =आबन्तस्य) आबन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (एत्) एकार आदेश हो। अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्त्य आकार के स्थान पर ही एकार आदेश होगा।

'टा' विभक्ति को ही पूर्वाचार्य 'आङ्' कहते हैं—यह पीछे (१७१ सूत्र पर) स्पष्ट हो चुका है।

रमा + आ' इस दशा में आङ् परे रहने पर आबन्त अङ्ग 'रमा' के अन्त्य आकार को एकार हुआ। तब 'एचोऽयवायावः' (२२) सूत्र से एकार को अय् हो कर 'रमया' रूप सिद्ध हुआ।

'रमा + भ्याम्'=रमाभ्याम्। 'रमा + भिस्=रमाभिः। यहां ह्रस्व अकार से परे न होने के कारण भिस्' को ऐस्' नहीं हुआ।

'रमा + ए' (ङे) यहां वृद्धि एकादेश के प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२१६ याडापः ।७।३।११३॥

आपो ङितो याट्। वृद्धिः—रमायै। रमाभ्याम् २। रमाभ्यः २। रमायाः २। रमयोः २। रमाणाम्। रमायाम्। रमासु।

अर्थः—आबन्त अङ्ग से परे ङित् वचनों को 'याट्' आगम हो।

व्याख्या—याट् ।१।१। आपः ।५।१। अङ्गात् ।५।१। ['अङ्गस्य' इस अधिकृत का विभक्तिविपरिणाम हो जाता है।] ङितः ।६।१। ['घेर्ङिति' से] **अर्थः—(आपः =आबन्तात्) आबन्त (अङ्गात्) अङ्ग से परे (ङितः) ङिद्वचन का अवयव (याट्) याट् हो।** याट् में टकार इत्सञ्ज्ञक है, अतः उस का लोप हो जाता है। टित् होने से याट् ङिद्वचनों का आद्यवयव होता है।

रमा + ए इस अवस्था में आबन्त अङ्ग 'रमा' से परे ङित् प्रत्यय 'ङे' को 'याट्' आगम हुआ। तब 'रमा+या ए' इस स्थिति में 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश हो कर रमायै रूप सिद्ध हुआ।*

पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में 'रमा+अस्' इस अवस्था में प्रकृतसूत्र से याट् आगम हो 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ करने पर 'रमायाः' रूप बनता है।

षष्ठी और सप्तमी के द्विवचन में रमा + ओस्' इस दशा में 'आङि चापः' (२१८) सूत्र से मकारोत्तर आकार को एकार हो अय् आदेश करने से रमयोः' प्रयोग सिद्ध होता है।

षष्ठी के बहुवचन में 'रमा + आम्' इस अवस्था में आबन्त होने से 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' (१४८) से नुट् आगम तथा 'अट्कुप्वाङ्—' (१३८) से नकार को णकार हो कर रमाणाम् प्रयोग सिद्ध होता है।‡

---

* ध्यान रहे कि यहां आगम 'याट्' है आट् नहीं, अतः 'आटश्च' (१९७) प्रवृत्त न होगा। 'समुदायो ह्यर्थवान् तस्यैकदेशोऽनर्थकः'।

‡ रमा+नाम् इत्यत्र 'पूर्वत्रासिद्धम्... इतिपरिभाषया दीर्घस्यापि दोष इति केचिदाहुः। वस्तुतस्तु नैतादृशेषु मुधा सूत्रप्रवृत्तिः। अत्र निरतरभियाऽस्माभिर्नैनन् प्रपञ्च्यते। सिद्धान्तकौमुदी व्याख्यावसरे स्फुटीकरिष्यते।

सप्तमी के एकवचन में 'रमा+ङि' इस अवस्था में ङेराम्नद्याम्नीभ्यः (१६८) सूत्र से ङि' को 'आम्' आदेश हो आम् में स्थानिवद्भाव से ङित्व ला कर याडापः' (२१६) से याट् का आगम हो जाता है। तब 'रमा + या आम्' इस स्थिति में सवर्णदीर्घ करने से रमायाम् प्रयोग सिद्ध होता है।

सप्तमी के बहुवचन में 'रमा + सु' इस दशा में इण् व कवर्ग न होने से षत्व नहीं होता—रमासु। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	रमा	रमे	रमाः	प०	रमायाः	रमाभ्याम्	रमाभ्यः
द्वि०	रमाम्	"	"	ष०	"	रमयोः	रमाणाम्
तृ०	रमया	रमाभ्याम्	रमाभिः	स०	रमायाम्	"	रमासु
च०	रमायै	"	रमाभ्यः	सं०	हे रमे !	हे रमे !	हे रमाः !

[लघु०] एवं दुर्गाम्बिकादयः ।

अर्थः—इसी प्रकार सभी आकारान्त स्त्रीलिङ्ग—दुर्गा अम्बिका आदि शब्दों के रूप बनेंगे।

व्याख्या—हम बालकों के लिये अत्यन्त उपयोगी कुछ शब्दों का सङ्ग्रह यहां दे रहे हैं। इन का उच्चारण रमावत् होता है। इन में भी पूर्ववत् '*' इस चिह्न वाले स्थानों में णत्वविधि जान लेनी चाहिये—

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
१ अङ्गना	स्त्री	अर्चा	पूजा मूर्त्ति	आशा	दिशा उम्मेद
अचला	पृथ्वी	अवस्था	हालत	आस्था	पूज्यबुद्धि
अजा	बकरी	अविद्या	अज्ञान	इच्छा	चाह
अट्टालिका	अटारी	असूया	परगुणों में दोष	२१ इज्या	यज्ञ
५ अधित्यका	पर्वत के ऊपर		लगाना	इन्दिरा*	लक्ष्मी
	की भूमि	१२ अहिंसा	हिंसा न करना	ईप्सा	पाने की इच्छा
अनामिका	कनिष्ठा के साथ	आकाङ्क्षा*	इच्छा	ईर्ष्या*	दाह
	वाली अङ्गुली	आख्या	नाम	ईहा	इच्छा चेष्टा
अनित्यता	नश्वरता	आज्ञा	हुक्म	३० उग्रता	भयानकता
अनुज्ञा	आज्ञा	आत्मजा	पुत्री	उत्कण्ठा	प्रबल इच्छा
अमावस्या	अमावस	२ आपगा	नदी	उपकार्या*	तम्बू
१ अयोध्या	प्रसिद्ध नगर	आशङ्का	शक	उपमा	सादृश्य

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
उपत्यका	पर्वत के समीप	६० क्षुधा	भूख	छाया	छाया
	की भूमि	खेला	खेल	छिक्का	छींक
३५ उपेक्षा*	लापरवाही	गङ्गा	प्रसिद्ध नदी	छुरिका*	छुरी
उमा	पार्वती	गदा	गदा	९० जटा	जटा
उर्वरा*	उपजाऊ भूमि	गवेषणा	खोज तलाश	जडता	मूर्खता
उषा*	प्रभात	६५ गुञ्जा	रत्ती	जनता	पबलिक
एला	इलायची	गुटिका	गाली	जलौका	जोक
४ कथा	कहानी	गुडाका	निद्रा	जाया	स्त्री
कनीनिका	नेत्र पुतली	गुहा	गुफा	९५ जिज्ञासा	ज्ञान की इच्छा
कन्था	गोदडी	गोशाला	गौओं का स्थान	जिह्वा	जीभ
कन्या	क्वारी लडका	७० ग्रीवा*	गर्दन	जीविका	गुज़ारा
कपर्दिका	कौडी	घटा	मेघों व हाथियों	जुगुप्सा	निन्दा
४५ कला	चन्द्रकला आदि		का समूह	ज्या	धनुष डोरी
कल्पना	रचना	घण्टिका	छोटी घण्टी	१०० झञ्झा	तूफ़ान
कशा	चाबुक	घृणा	दया अरुचि	तन्द्रा*	ऊघना
कस्तूरिका*	कस्तूरी	घोषणा	ढिंढोरा	तनया	पुत्री
कान्ता	मनोहरा	७५ चन्द्रिका*	चान्दनी	तपस्या	तपस्या
५ काष्ठा	दिशा, चरम	चपला	विद्युत्	तमिस्रा*	अन्धरी रात
	सीमा	चर्चा	लेप विचार	१ ५तारा	बाली की पत्नी
कुत्सा	निन्दा	चर्या*	चालचलन	तितिक्षा*	सहनशीलता
कुलटा	व्यभिचारिणी	चिकित्सा	इलाज	तुला	तराजू
कुल्या	नहर	८० चिकीर्षा*	करने की इच्छा	त्रिपथगा	गङ्गा
कृपा*	दया	चिता	चिता	त्रियामा*	रात्रि
५५ केका	मयूर-वाणी	चिन्ता	फ़िकर	११० त्रेता	त्रेतायुग
कौशल्या	राममाता	चूडा	चोटी	दक्षिणा‡	यज्ञान्त में दक्ष
क्षपा*	रात्रि	चेतना	समझ, ज्ञान	दया	रहम
क्षमा*	माफ़ी	८५ चेष्टा	हरकत	दशा	हालत
क्ष्मा*	पृथ्वी	छटा	चमक	दद्रु*	दाद

‡ दिशावाची दक्षिणा शब्द का उच्चारण तो सर्व शब्दवत् होता है।

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
११९दारा*	स्त्री†	निष्ठा	स्थिति विश्वास	प्रतिभा	प्रत्युत्पन्न बुद्धि
दीर्घिका*	बावली	नौका	किश्ती	प्रतिमा	मूर्त्ति, सदृशता
दुर्गा*	पार्वती	पताका	झण्डा	प्रतिष्ठा	इज्जत
दूषिका*	नेत्रों का मल	पतिव्रता	पतिव्रता	१५०प्रभा*	दीप्ति
देवता	इन्द्र आदि	१३९पद्मा	लक्ष्मी	प्रसन्नता	खुशी
१२०दोला	पालकी पींग	परम्परा*	सिलसला	प्रसूता	प्रसूत हुई
धरा*	पृथ्वी	परिचर्या*	सेवा	प्रहेलिका	पहेली
धारणा	विचार	परीक्षा*	जाञ्च	बाधा	रुकावट
धारा*	धार	पाठशाला	विद्यालय	१५१भाषा*	बोली
ध्वजा‡	ध्वजवती सेना	१४ पिङ्गला	एक नाडी	भुजा+	बाहु
१२९नवोढा	नवविवाहिता	पिपासा	प्यास	भ्रातृजाया	भाई की पत्नी
नासा	नासिका	पिपीलिका	च्योंटी	मज्जा	हड्डियों का सार
नित्यता	सदा होना	पीडा	दुःख	मञ्जूषा*	पेटी सन्दूक
निद्रा*	नींद	पूर्णिमा	पूरणमासी	१६०मथुरा*	प्रसिद्ध नगरी
निन्दा	शिकायत	१४९प्रतिज्ञा	प्रण	मदिरा*	शराब
१३ निशा	रात्रि हल्दी	प्रतिपदा	परवा तिथि	मन्दुरा*	अश्वशाला

† संस्कृतसाहित्य में स्त्रीवाची दार शब्द ही बहुधा प्रयुक्त होता है। तब यह अदन्त पुल्लिङ्ग तथा नित्यबहुवचनान्त ही हुआ करता है। यथा—

'आपदर्थे धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद्धनैरपि। आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि॥
[महाभारत १। १५६। २७।]

दशरथदारानधिष्ठाय भगवान् वसिष्ठः प्राप्तः। [उत्तररामचरित ४ अङ्क]

'एते वयममी दाराः।' [कुमार ६। ६३।]

परन्तु यह कहीं २ आबन्त भी मिलता है। तब यह बहुवचनान्त नहीं होता। यथा—

'क्रोडा हारा तथा दारा आप एते यथाक्रमम्। क्रोडे हारे च दारेषु शब्दाः प्रोक्ता मनीषिभिः॥'

श्रीमद्भागवत ७ १४ ११ में एकवचनान्त दार शब्द प्रयुक्त भी हुआ है। यथा—

"अप्येकाम् आत्मनो दारां नृणां स्वत्वग्रहो यतः।

श्रीहेमचन्द्राचार्य 'दार' शब्द को भी एकवचनान्त मानते हैं। उन्हों ने किसी ग्रन्थ का प्रयोग भी उद्धृत किया है। यथा—

"धमप्रजासम्पन्ने दारे नान्यं कुर्वीत" इति।

‡ पताका अर्थ में 'ध्वज' शब्द अदन्त होता है और तब वह प्रायः पुल्लिङ्ग होता है।

+ यह शब्द प्रायः अदन्त पुल्लिङ्ग ही प्रयुक्त होता है।

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
मरुमरीचिका	मृगतृष्णा	१६०लालसा	अभिलाषा	शकुन्तला	दुष्यन्त पत्नी
माया	प्रकृति, छल	लाला	लार	२२०शङ्का	शक
१६५माला	माला	लिप्सा	लाभेच्छा	शय्या	शयनस्थान
मुद्रा*	मोहर	लीला	क्रीडा	शर्करा*	शक्कर
मूषा*	कुठाली	लेखा	रेखा	शलाका	सलाई
मृत्सा	अच्छी मट्टी	१६५वडवा	घोडी	शाखा	टहनी
मृत्स्ना	अच्छी मट्टी	वनिता	स्त्री	२२५शारदा	सरस्वती
१७०मृद्वीका	द्राक्षा	वन्ध्या	बान्झ	शाला	घर
मेखला	कमरबन्द	वरटा	हंस का मादा	शिक्षा*	उपदेश
मेना	हिमाचल पत्नी	वर्त्तिका	बटेर	शिखा	चोटी
यवनिका	पर्दा	२००वसा	चरबी	शिञ्जा	भूषणों का शब्द
यातना	तीव्र वेदना	वसुधा	पृथ्वी	२३०शिला	पत्थर
१७५यात्रा*	प्रस्थान	वाटिका	फुलबगिया	शिवा	दुर्गा गीदडी
रक्षा*	पालना	वात्या	आंधी	शिबिका	पालकी
रचना	बनाना कृति	वामा	सुन्दरी	शोभा	चमक
रजस्वला	मासिक धर्म	२०५वाराङ्गना	वेश्या	श्रद्धा	विश्वास
	वती स्त्री	वार्त्ता	व्यापार, संवाद	२३५श्लाघा	प्रशंसा
रथ्या	गली	वालुका	रेत	सङ्ख्या	सङ्ख्या
१८०रसना	जीभ	विचिकित्सा	संशय	सञ्ज्ञा	नाम
राका*	पूर्णमासी	विजया	भाग	सटा	सिंह की ग्रीवा
राजिका	राई	२१०विद्या	विद्या		के बाल
राधा	प्रसिद्ध गोपी	विधवा	पतिरहिता	सत्क्रिया*	सत्कार
रुजा	रोग, पीडा	विसूचिका	हैज़ा रोग	२४०सधवा	जीवितभर्तृ का
१८५रेखा*	लकीर	विष्ठा	टट्टी मल	सन्ध्या	सान्झ
रेणुका	परशुराममाता	वीणा	वाद्यविशेष	सपर्या*	सेवा
लक्षणा	शब्द शक्ति	२१५वेदना	दुःख	सभा	सभा
	विशेष	वेश्या	पण्य स्त्री	समज्ञा	यश
लता	बेल	व्यथा	दुःख	२४५समस्या	समस्यापूर्त्यर्थं
लाक्षा*	लाख	व्यवस्था	नियम		श्लोकपाद

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
सरघा*	मधुमक्खी	सुधा	अमृत	२६०स्वतन्त्रता	आज़ादी
सरटा	छिपकली	सुरा*	शराब	हरिद्रा*	हल्दी
सहायता	मदद	२५५सुषमा*	बहुत शोभा	हिक्का	हिचकी
सहिष्णुता	सहनशीलता	सेना	फौज	हिमाद्रिजा	पार्वती
२५ सास्ना	गलकम्बल	सेवा	सेवा	हिमाद्रि	
सीमा †	हद	सोदर्या*	सगी बहिन	तनया	पार्वती
सुता	लडकी	स्पर्धा	बराबरी करना	२६५हेषा*	हिनहिनाहट

२६६—होरा*=एक घण्टा।

आकारान्त स्त्रीलिङ्ग में 'रमा' शब्द की अपेक्षा सर्वनामशब्दों तथा कुछ अन्य शब्दों में थोडा अन्तर पडता है अब वह बताया जाता है। प्रथम सर्वनामशब्दों का वर्णन करते हैं।

सर्व' शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् प्रत्यय करने से 'सर्वा' शब्द निष्पन्न होता है। लिङ्गविशिष्टपरिभाषा × से इस की भी सर्वत्र सर्वनामसञ्ज्ञा हो जाती है।

ङित् विभक्तियों और आम् को छोड कर शेष सब विभक्तियों में इस का 'रमा' शब्द वत् उच्चारण होता है।

'सर्वा + ए' (ङे)। यहा 'याडाप' (२१६) द्वारा याट् का आगम प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२२० सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च।७।३।११४॥

---

† यह शब्द नकारान्त स्त्रीलिङ्ग भी होता है।

× युवा खलति पलित-वलिन जरतीभि' (२।१।६७) इस सूत्र द्वारा युवन् शब्द का 'खलति पलित, वलिन, जरती इन समानाधिकरण शब्दों के साथ कर्मधारयसमास बताया गया है। इन शब्दों में 'जरती' शब्द स्त्रीलिङ्ग है। 'जरती' शब्द का 'युवन्' इस पुंलिङ्ग के साथ तब तक समानाधिकरण नहीं हो सकता जब तक 'युवन्' को 'युवति न बना दिया जाय। इस प्रकार 'जरती शब्द के ग्रहण से यह प्रतीत होता है कि महामुनि पाणिनि— युवन् के ग्रहण से 'युवति आदि स्त्रीलिङ्गों का भी ग्रहण चाहते हैं। अतएव परिभाषा निष्पन्न होती है—

"प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्।"

अर्थात् प्रातिपदिक के ग्रहण होने पर उस प्रातिपदिक के विशेष लिङ्गों का भी ग्रहण हो जाता है। यथा—'युवन्' के ग्रहण में 'युवति' का ग्रहण होता है। इसी प्रकार सर्वनामसञ्ज्ञा करते समय सर्वादिगण में सर्वा आदि स्त्रीलिङ्गों का भी समावेश समझ लेना चाहिए। इस परिभाषा का सङ्क्षिप्त नाम लिङ्गविशिष्टपरिभाषा है।

आबन्तात् सर्वनाम्नो ङित' स्याट् स्याद्, आपश्च ह्रस्वः। सर्वस्यै। सर्वस्याः २। सर्वासाम्। सर्वस्याम। शेष रमावत्।

अर्थ—आबन्त सर्वनाम से परे ङित् प्रत्ययों को स्याट का आगम हो और साथ ही आबन्त अङ्ग के आप् को ह्रस्व भी हो।

व्याख्या—आप ।५।१। [याडाप' से] सर्वनाम्न ।५।१। ङित ।६।१। ['घेर्ङिति' से विभक्तिविपरिणाम कर के] स्याट् ।१।१। ह्रस्व ।१।१। [सूत्रपाठे तु—'झलां जशोऽन्ते' इति जश्त्वे झयो होऽन्यतरस्याम्' इति पूर्वसवर्णत्वे च कृते स्याड्ढ्रस्व' इति प्रयोग प्रयुज्यते।] च इत्यव्ययपदम्। सर्वनाम्न' का विशेषण होने से आप से तदन्तविधि हो कर 'आबन्तात्' बन जाता है। अर्थ करते समय इस की आवृत्ति की जाती है। अर्थ—(आप = आबन्तात्) आब त (सर्वनाम्न) सर्वनाम से परे (ङित) ङित् वचनों का अवयव (स्याट्) 'स्याट्' हो जाता है (च) और साथ ही (आप = आबन्तस्य) आबन्त के स्थान पर (ह्रस्व) ह्रस्व आदेश हो जाता है।

ङे ङसि ङस, ङि—ये चार ङित् विभक्तिया हैं इन में याट का आगम प्राप्त था इस सूत्र से स्याट का आगम विधान किया जाता है। अत यह सूत्र याडाप' (२११) सूत्र का अपवाद है। स्याट्' में टकार इत्सञ्ज्ञक है, अत टित् होने से ङित् प्रत्यय का आद्यवयव होता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा मे आबन्त के अन्त्य आकार को ह्रस्व होता है।

सर्वा+ए' (ङे) यहा प्रकृतसूत्र से 'स्याट' का आगम तथा आप को ह्रस्व हो कर 'सर्व + स्या ए हुआ। अब वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश करने पर सर्वस्यै प्रयोग सिद्ध होता है।

पञ्चमी व षष्ठी के एकवचन में सर्वा + अस् (ङसि व ङस) इस अवस्था में स्याट का आगम और आप का ह्रस्व हो जाता है। तब सवर्णदीर्घ करने पर सर्वस्या प्रयोग निष्पन्न होता है।

षष्ठी के बहुवचन में सर्वा + आम्' इस स्थिति में 'आमि सर्वनाम्न सुट (१५५) से सुट् आगम हो कर अनुबन्धलोप करने से सर्वासाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

ङि' में 'सर्वा + ङि' इस दशा में ङेराम्नद्याम्नीभ्य' (१८८) से ङि को आम् आदेश और प्रकृतसूत्र से स्याट का आगम और आप को ह्रस्व हो कर सवर्णदीर्घ करने से सर्वस्याम् रूप बनता है।

सर्वा' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	सर्वा	सर्वे	सर्वा	प०	सर्वस्या	सर्वाभ्याम्	सर्वाभ्य
द्वि०	सर्वाम्	,,	,,	ष०	,,	सर्वयो	सर्वासाम्
तृ०	सर्वया	सर्वाभ्याम्	सर्वाभि	स०	सर्वस्याम्	,,	सर्वासु
च०	सर्वस्यै	,,	सर्वाभ्य	सं०	हे सर्वे !	हे सर्वे !	हे सर्वा !

[लघु०] एवं विश्वादय आबन्ता ।

अर्थ—इसी प्रकार 'विश्वा' आदि आबन्त सर्वनामों की प्रक्रिया भी जान लेनी चाहिये।

व्याख्या—निम्नलिखित आबन्त सर्वनामों के रूप 'सर्वा' शब्दवत् होते हैं—

१ विश्वा। २ उभा*। ३ कतरा†। ४ कतमा। ५ यतरा। ६ यतमा। ७ ततरा। ८ ततमा। ९ एकतरा। १० एकतमा। ११ अन्या। १२ अन्यतरा‡। १३ इतरा। १४ त्वा। १५ नेमा×। १६ समा+। १७ सिमा। १८ पूर्वा—। १९ परा। २० अवरा।

---

* 'उभा' शब्द सदा द्विवचनान्त ही प्रयुक्त होता है। अतः यहां इस में कोई सर्वनामकार्य नहीं होता। 'अहश्च रात्रिश्च उभे च सन्ध्ये धर्मश्च जानाति नरस्य वृत्तम्'।

'उभय' शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'टाप्' प्रत्यय नहीं होता किन्तु गौरादिगण में पाठ होने के कारण अथवा तयप्प्रत्ययान्त होने से 'टिड्ढाणञ्—' (१२१७) सूत्र से 'ङीप्' प्रत्यय हो कर 'उभयी' शब्द निष्पन्न होता है। इस का द्विवचन में प्रयोग नहीं होता। उच्चारण 'नदी' शब्दवत् होता है। "उभयीं सिद्धिमुभाववापतु" (रघुवंश ८.२३)।

† 'कतरा' आदि आठ शब्द डतरप्रत्ययान्त और डतमप्रत्ययान्त हैं। इन का पीछे (१५१) सूत्र पर स्पष्टीकरण कर चुके हैं।

‡ इसे डतरप्रत्ययान्त नहीं समझना चाहिए। 'अन्य' शब्द से डतर और डतम प्रत्ययों का विधान नहीं। अन्यतर और अन्यतम शब्द स्वतन्त्र अव्युत्पन्न हैं। इन में से प्रथम 'अन्यतर' शब्द सर्वादिगण में पठित होने से सर्वनामसञ्ज्ञक है, दूसरा नहीं। अतः 'अन्यतमा' शब्द का 'रमा' शब्दवत् उच्चारण होता है।

× 'अर्ध' अर्थ में ही इस की सर्वनामता इष्ट है, अन्यथा 'रमा' शब्दवत् उच्चारण होगा। 'प्रथमचरम—' (१६०) सूत्र का स्त्रीलिङ्ग में कुछ प्रभाव नहीं पड़ता।

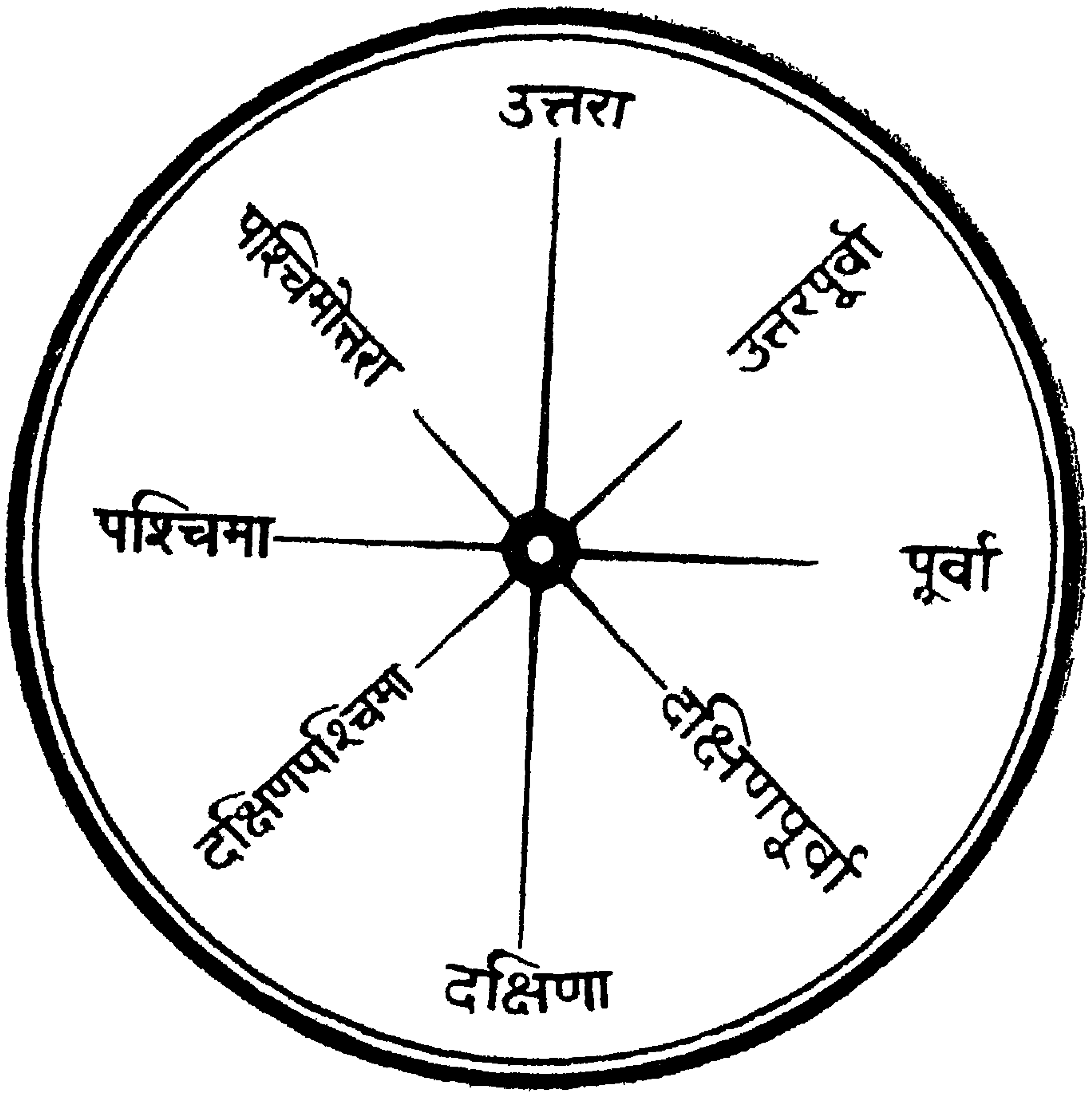
+ 'सर्व' अर्थ में ही सर्वनामता इष्ट है। 'तुल्य' अर्थ में तो 'रमा' शब्दवत् उच्चारण होगा।

— 'पूर्वा' आदि नौ शब्दों का उच्चारण सर्वावत् ही होता है, कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता। यद्यपि जस् में इन की सर्वनामसञ्ज्ञा १५६, १५७, १५८ सूत्रों से विकल्प कर के होती है, तथापि इस से यहां स्त्रीलिङ्ग में कोई भेद नहीं पड़ता क्योंकि यहां अदन्त न होने से 'जसः शी' (१५२) सूत्र प्रवृत्त नहीं हो सकता। ध्यान रहे कि 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' (१५९) सूत्र ङसि और ङि में सर्वनामसञ्ज्ञा का विकल्प नहीं करता किन्तु स्मात् और स्मिन् आदेशों का ही विकल्प करता है। सर्वनामसञ्ज्ञा तो

२१ दक्षिणा। २२ उत्तरा। २३ अपरा। २४ अधरा। २५ स्वा। २६ अन्तरा।
२७ एका *।

उत्तरस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोर् अन्तराला दिक्=उत्तरपूर्वा‡। 'दिङ्नामान्यन्तराले' (२.२.२६) इति बहुव्रीहिसमासः, 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' इति पुंवद्भावः।

१ पूर्व, २ पश्चिम, ३ उत्तर और ४ दक्षिण ये चार दिशाएं होती हैं। दो दिशाओं के बीच में आने वाला कोना 'उपदिशा' कहलाता है। इस प्रकार उपदिशाएं भी चार हो जाती हैं। यथा—



उत्तर और पूर्व दिशा की मध्यवर्ती उपदिशा 'उत्तरपूर्वा' कहलाती है। 'उत्तरपूर्वा' शब्द की प्रथम तीन विभक्तियों में रमावत् प्रक्रिया होती है।

—इन में भी नित्य बनी रहती है। अतएव 'पूर्वस्यां, पूर्वस्याम्' आदि प्रयोगों में सर्वनामतामूलक स्याट् आदि कार्य करने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। पाणिनि की बुद्धिमत्ता का यह ज्वलन्त प्रमाण है।

* सङ्ख्यावाची 'एक' शब्द एकवचनान्त ही प्रयुक्त होगा। अन्य, मुख्य आदि अर्थों में इस का सब वचनों में उच्चारण होगा।

‡ प्रायः सब वैयाकरण यहां 'उत्तरस्याश्च पूर्वस्याश्च दिशोर्यद् अन्तरालम्' इस प्रकार विग्रह करते हैं। परन्तु बालकों के लिए यह विग्रह कुछ कठिन है, क्योंकि वे 'यद् अन्तरालम्' इस नपुंसक का 'उत्तरपूर्वा' इस स्त्रीलिङ्ग के साथ सम्बन्ध नहीं समझ सकते। अतः उन के सौकर्यार्थ उपयुक्त नवीन विग्रह रखा गया है।

चतुर्थी के एकवचन में उत्तरपूर्वा+ए (ङे) इस स्थिति में 'सर्वादीनि सर्वनामानि' (१५१) सूत्र से नित्य सर्वनामसञ्ज्ञा होने के कारण 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च' (२२) से स्याट् का आगम और आप् को ह्रस्व नित्य प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र से सर्वनामसञ्ज्ञा का विकल्प किया जाता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—२२१ विभाषा दिक्समासे बहुव्रीहौ ।१।१।२७।।

सर्वनामता वा। उत्तरपूर्वस्यै, उत्तरपूर्वायै।

अर्थः—दिशाओं के बहुव्रीहिसमास में सर्वादि विकल्प कर के सर्वनामसञ्ज्ञक हों।

व्याख्या—दिक्समासे ।७।१। बहुव्रीहौ ।७।१। सर्वादीनि ।१।३। विभाषा ।१।१। सर्वनामानि ।१।३। [सर्वादीनि सर्वनामानि से] समासः—दिशां समासः = दिक्समासः, षष्ठीतत्पुरुष। अर्थः—(दिक्समासे बहुव्रीहौ) दिशाओं के बहुव्रीहिसमास में (सर्वादीनि) सर्वादिगणपठित शब्द (विभाषा) विकल्प कर के (सर्वनामानि) सर्वनामसञ्ज्ञक होते हैं।

दिशाओं का बहुव्रीहिसमास 'दिङ्नामान्यन्तराले' (२.२.२६) सूत्र से विधान किया जाता है। यहां उसी का ग्रहण अभीष्ट है।

'उत्तरपूर्वा' शब्द में दिशाओं का बहुव्रीहिसमास हुआ है अतः प्रकृतसूत्र से इस की विकल्प कर के सर्वनामसञ्ज्ञा होगी। सर्वनामसञ्ज्ञापक्ष में सर्वावत् स्याट् का आगम और आप् को ह्रस्व आदि कार्य होंगे। सर्वनामसञ्ज्ञा के अभाव में रमावत् याट् का आगम आदि कार्य होंगे। आम् में सर्वनामपक्ष में सुट् आगम और तदभावपक्ष में नुट् आगम विशेष होगा। रूपमाला यथा—

प्रथमा	उत्तरपूर्वा	उत्तरपूर्वे	उत्तरपूर्वाः
द्वितीया	उत्तरपूर्वाम्	,,	,,
तृतीया	उत्तरपूर्वया	उत्तरपूर्वाभ्याम्	उत्तरपूर्वाभिः
चतुर्थी	उत्तरपूर्वस्यै—पूर्वायै	,,	उत्तरपूर्वाभ्यः
पञ्चमी	उत्तरपूर्वस्याः—पूर्वायाः	,,	,,
षष्ठी	,, ,,	उत्तरपूर्वयोः	उत्तरपूर्वासाम्—पूर्वाणाम्
सप्तमी	उत्तरपूर्वस्याम्—पूर्वायाम्	,,	उत्तरपूर्वासु
सम्बोधन	हे उत्तरपूर्वे !	हे उत्तरपूर्वे !	हे उत्तरपूर्वाः !

इसी प्रकार—दक्षिणपूर्वा, पूर्वोत्तरा पश्चिमोत्तरा, पश्चिमदक्षिणा, पूर्वदक्षिणा आदि शब्दों के उच्चारण होते हैं* ।

[लघु०] तीयस्येति वा सञ्ज्ञा । द्वितीयस्यै, द्वितीयायै । एवं तृतीया ।

व्याख्या—'तीयस्य ङित्सु वा' (वा० १६) द्वारा तीयप्रत्ययान्त द्वितीया (दूसरी) और तृतीया (तीसरी) शब्द केवल ङित् वचनों में ही विकल्प से सर्वनाम सञ्ज्ञक होते हैं। अतः 'ङे, ङसि ङस्, ङि' इन चार विभक्तियों में दो २ रूप बनते हैं अर्थात् जहां सर्वनामसञ्ज्ञा होती है वहां 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च' (२२०) से स्याट् का आगम और आप् को ह्रस्व हो जाता है । सर्वनामसञ्ज्ञा के अभाव में 'याडापः' (२१६) से याट् का आगम हो जाता है । इस प्रकार ङिद्वचनों में दो २ रूप बनते हैं । रूपमाला यथा—

प्र०	द्वितीया	द्वितीये	द्वितीयाः
द्वि०	द्वितीयाम्	,,	,,
तृ०	द्वितीयया	द्वितीयाभ्याम्	द्वितीयाभिः
च०	द्वितीयस्यै, द्वितीयायै	,,	द्वितीयाभ्यः
प०	द्वितीयस्याः, द्वितीयायाः	,,	,,
ष०	,, ,,	द्वितीययोः	द्वितीयानाम्
स०	द्वितीयस्याम्, द्वितीयायाम्	,,	द्वितीयासु
स०	हे द्वितीये !	हे द्वितीये !	हे द्वितीयाः !

इसी प्रकार तृतीया शब्द का उच्चारण होता है ।

ध्यान रहे कि 'तीयस्य ङित्सु वा' द्वारा आम् में सर्वनामता नहीं होती अतः पक्ष में सुट् का आगम नहीं होता । उत्तरपूर्वा और द्वितीया के उच्चारण में यही अन्तर है ।

[लघु०] 'अम्बार्थे'ति ह्रस्वः—हे अम्ब !, हे अक्क !, हे अल्ल ! ।

व्याख्या—अम्बा, अक्का अल्ला आदि शब्दों का अर्थ 'माता'=पर्यायवर्ती है । इन की प्रक्रिया रमाशब्दवत् होती है केवल सम्बुद्धि में ही कुछ विशेष है । सम्बुद्धि में 'अम्बार्थनद्योः—' (११२) से ह्रस्व हो कर 'एङ्ह्रस्वात्—' (१३४) से सुलोप हो जाता है । इस प्रकार 'हे अम्ब !, हे अक्क !, हे अल्ल !' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं ।

---

* 'दिङ्नामान्यन्तराले' सूत्र द्वारा होने वाले बहुव्रीहिसमास में पूर्वनिपात का कोई नियम नहीं होता । अतएव—"दक्षिणपूर्वा, पूर्वदक्षिणा । पश्चिमदक्षिणा, दक्षिणपश्चिमा । पश्चिमोत्तरा उत्तरपश्चिमा । उत्तरपूर्वा, पूर्वोत्तरा । इत्यादि रूप काशिका (२.२.२६) में दिए गये हैं । "नक्षत्रत्रितयं पादमाश्रितं पूर्वदक्षिणम्" इत्यादि मार्कण्डेयपुराण (५८.२०) आदि के वचन भी इस में प्रमाण हैं ।

सूचना—ध्यान रहे कि महाभाष्य में दो अच् वाले अम्बार्थकों को ही ह्रस्व करना बताया है। अम्बाडा अम्बाला, अम्बिका आदि शब्द दो अच वाले नहीं अपितु दो से अधिक अचो वाले हैं अतः अम्बार्थक होने पर भी इन का ह्रस्व न होगा। हे अम्बाडे ! हे अम्बाले ! हे अम्बिक ! इत्यादिप्रकारेण रूप बनेंगे। दृश्यताम् (७ ३ १०७) सूत्रस्थ महाभाष्यम्—अम्बार्थ द्व्यचः यदि इति। सिद्धान्तकौमुद्यां तु 'असंयुक्ता ये डलकास्तद्वतां ह्रस्वो न' इति वार्त्तिकम्पठितम् तदपि भाष्यानुसारि। पर सरल पन्थास्तु भाष्योक्त एव।

अम्बा शब्द का रूपमाला यथा—

प्र०	अम्बा	अम्बे	अम्बाः	प०	अम्बायाः	अम्बाभ्याम्	अम्बाभ्यः
द्वि०	अम्बाम्			ष०	,,	अम्बयोः	अम्बानाम्
तृ०	अम्बया	अम्बाभ्याम्	अम्बाभिः	स०	अम्बायाम्		अम्बासु
च०	अम्बायै	,,	अम्बाभ्यः	सं०	हे अम्ब !	हे अम्बे !	हे अम्बाः !

इसी प्रकार—अक्का, अल्ला आदि शब्दों के रूप बनते हैं।

नोट—'अल्ला' शब्द मुसलमानों ने बेतरह पकड रक्खा है अम्बा अल्ला आदि शब्द दुर्गा (शक्ति) के माने जाते हैं। इसलिये सम्भव है कि मुसलमान शाक्त हिन्दुओं से निकले हों और कालक्रम से आचारादिभिन्नता के कारण हम से पृथक् हो गये हों—इस में आश्चर्य नहीं। इसी प्रकार ईसाइयों का गिर्जाघर भी शायद 'गिरिजा गृह' ही हो वे भी शाक्तों से निकले हों।

[लघु०] जरा, जरसौ इत्यादि। पक्षे हलादौ च रमावत्।

व्याख्या—'जॄष् वयोहानौ' (दिवा० परस्मै०) धातु से 'स्त्रियाम्' (३ ३ ९४) के अधिकार में 'षिद्भिदादिभ्योऽङ्' (३ ३ १०४) सूत्र से अङ् प्रत्यय तथा 'ऋदृशोऽङि गुणः' (७ ४ १६) से अर् गुण हो कर टाप् प्रत्यय करने से 'जरा' शब्द सिद्ध होता है। 'जरा' शब्द का अर्थ 'बुढ़ापा' है।

अजादि विभक्तियों में सर्वत्र सर्वप्रथम 'जराया जरसन्यतरस्याम्' (१६१) सूत्र से 'जरा' के स्थान पर 'जरस्' आदेश हो जाता है। जरस् के अभाव में रमावत् प्रक्रिया होगी। रूपमाला यथा—

प्र०	जरा	जरसौ जरे	जरसः, जराः
द्वि०	जरसम् जराम्	,,	,, ,,
तृ०	जरसा जरया	जराभ्याम्	जराभिः
च०	जरसे जरायै	,,	जराभ्यः

प०	जरस जरायाः	जराभ्याम्	जराभ्य
ष०	,,	जरसो जरयो	जरसाम् जराणाम्
स०	जरसि, जरायाम्	,, ,,	जरासु
सं०	हे जरे !	हे जरसौ ! हे जरे !	हे जरस ! हे जरा !

नोट—'जरा + औ' यहां परत्व के कारण शी आदेश से पूर्व जरस् आदेश हो जाता है, यदि प्रथम शी आदेश होता तो 'जरसी' यह अनिष्ट रूप बन जाता। एवम् आगे भी जान लेना चाहिये।

[लघु०] गोपा विश्वपावत्।

व्याख्या—गा पाति=रक्षतीति गोपा। 'गो कर्मोपपदात् 'पा रक्षणे' (अदा० प०) इत्यस्माद्धातो क्विपि लौकिके वा विग्रहे 'गोपा' शब्दो निष्पद्यते। गौओं की रक्षा करने वाली स्त्री 'गोपा' कहाती है।

'गोपा + सुँ'। गोपाशब्द के अन्त में 'पा' धातु है 'आप्' नहीं, अतः 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७६) से सुँ-लोप नहीं होता। सकार को रुँत्व विसर्ग हो कर 'गोपाः' प्रयोग सिद्ध होता है।

'गोपा + औ' यहां भी आबन्त न होने से 'औङ आपः' (२१६) से शी आदेश नहीं होता। पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होने पर उस का भी 'दीर्घाज्जसि च' (१६२) से निषेध हो जाता है। अब 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश हो कर 'गोपौ' प्रयोग सिद्ध होता है।

'गोपा + अस्' (जस्) यहां भी पूर्ववत् पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हो जाता है। तब 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ हो कर—'गोपाः' रूप बनता है।

गोपा+अम्=गोपाम्। [अमि पूर्वः (१३५)]

गोपा+अस् (शस्) यहां भसञ्ज्ञक आकार का 'आतो धातोः' (१६७) से लोप हो कर 'गोपः' बनता है।

इसी प्रकार आगे सर्वत्र भसञ्ज्ञकों में आकार का लोप होता जाता है। रूपमाला यथा—

प्र०	गोपाः	गोपौ	गोपाः	प०	गोपः ※	गोपाभ्याम्	गोपाभ्यः
द्वि०	गोपाम्	,,	गोपः ※	ष०	,, ※	गोपोः ※	गोपाम् ※
तृ०	गोपा ※	गोपाभ्याम्	गोपाभिः	स०	गोपि ※	,, ※	गोपासु
च०	गोपे ※	,,	गोपाभ्यः	सं०	हे गोपाः !	हे गोपौ !	हे गोपाः !

※ इन स्थानों पर भसञ्ज्ञा हो कर आकार का लोप हो जाता है। इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया अजन्तपुंलिङ्गान्तर्गत 'विश्वपा' शब्द के समान होती है।

नोट—'क' प्रत्यय से सिद्ध 'गोप' शब्द से स्त्रीत्वविवक्षा में जातेरस्त्री—' (१२६९) सूत्र से ङीष् प्रत्यय कर 'गोपी' शब्द बनता है। इस का अर्थ है—गोप जाति की स्त्री। इस का उच्चारण आगे आने वाले 'नदी शब्द के समान होता है।

(यहां आकारान्त स्त्रीलिङ्ग समाप्त होते हैं।)

—•❀•—

अब ह्रस्व इकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] मति । मत्या।

व्याख्या—'मनँ ज्ञाने (दिवा० आत्मने०) धातु से क्तिन् प्रत्यय करने पर मति' शब्द सिद्ध होता है। मन्यतेऽनयेति मति। मननं वा मतिः। बुद्धि और ज्ञान को मति' कहते हैं।

इस का उच्चारण ङिद्वचनों से अन्यत्र प्राय 'हरि' शब्द के समान होता है। तथाहि—

मति + सुँ = मतिः। सकार को रुँत्व विसर्ग हो जाते हैं।

मति + औ = मती। प्रथमयो —' (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ हो जाता है।

'मति + अस (जस्) इस स्थिति में 'जसि च' (१६८) से गुण हो कर अय् आदेश करने से मतयः' रूप सिद्ध होता है।

द्वितीया के बहुवचन में 'मति + अस् (शस) इस दशा में पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर सकार का रुँत्व विसर्ग हो जाते हैं—मतीः। ध्यान रहे कि तस्माच्छस —' (१२७) सूत्र में 'पुंसि' कहने से यहां स्त्रीलिङ्ग में नकार आदेश नहीं होता।

'मति + आ' (टा) यहां घिसञ्ज्ञा रहने पर भी आङो नाऽस्त्रियाम्' (१७१) द्वारा टा को ना नहीं होता, क्योंकि 'अस्त्रियाम्' कथन के कारण उस की स्त्रीलिङ्ग में प्रवृत्ति नहीं होती। अब 'इको यणचि' (१५) से यण् हो कर मत्या' प्रयोग सिद्ध होता है।

मति + ए' (ङे) यहां घिसञ्ज्ञा होने से 'घेर्ङिति (१७२) द्वारा गुण प्राप्त होता है। अब अग्रिम सूत्र द्वारा पक्ष में नदीसञ्ज्ञा का विधान करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञासूत्रम्—२२२ ङिति ह्रस्वश्च ।१।४।६॥

इयँङुवँङ्स्थानौ स्त्रीशब्दभिन्नौ नित्यस्त्रीलिङ्गावीदूतौ, ह्रस्वौ च इवर्णोवर्णौ स्त्रियां वा नदीसञ्ज्ञौ स्तो ङिति। मत्यै, मतये। मत्याः २, मतेः २।

अर्थः—'स्त्री'शब्द को छोड़ कर इयँङुवँङ्स्थानी नित्यस्त्रीलिङ्ग ईकार ऊकार ङिद्वचनों में विकल्प कर के नदीसञ्ज्ञक होते हैं। किञ्च—स्त्रीलिङ्ग में ह्रस्व इकारान्त और ह्रस्व उकारान्त शब्द भी ङिद्वचनों में विकल्प कर के नदीसञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या— ङिति ।७।१। ह्रस्व ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। इस सूत्र के दो खण्ड हैं। प्रथम यथा—अस्त्री ।१।१। इयँङुवँङ्स्थानौ ।१।२। [नेयँङुवँङ्स्थानावस्त्री से] य्वाख्यौ ।१।२। यू ।१।२। नदी ।१।१। [यू स्त्र्याख्यौ नदी' से] वा इत्यव्ययपदम्। ['वाऽऽमि' से] समासः—न स्त्री=अस्त्री नञ्तत्पुरुषः। स्त्रीशब्दं वर्जयित्वेत्यर्थः। इयँङ् च उवँङ् च= इयँङुवँङौ इतरेतरद्वन्द्वः। इयँङुवँङौ स्थान-स्थितियोस्तौ इयँङुवँङ्स्थानौ बहुव्रीहिसमासः। स्त्रियमाचक्षाते इति स्त्र्याख्यौ नित्यस्त्रीलिङ्गावित्यर्थः। ई च ऊ च=यू, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(अस्त्री) 'स्त्री शब्द को छोड़ कर (इयँङुवँङ्स्थानौ) जिन के स्थान पर इयँङ् उवँङ् आदेश होते हैं ऐसे (स्त्र्याख्यौ) नित्यस्त्रीलिङ्गी (यू) ईकार ऊकार (ङिति) ङिद्वचनों में (वा) विकल्प कर के (नदी) नदीसञ्ज्ञक होते हैं।

भावः—जिस नित्यस्त्रीलिङ्ग शब्द के ईकार ऊकार के स्थान पर इयँङ् उवँङ् आदेश हों उस की ङिद्वचनों में विकल्प कर के नदीसञ्ज्ञा हो जाती है। परन्तु यह नियम स्त्री शब्द पर लागू नहीं होता। उदाहरण यथा— श्री, भ्रू' यहां क्रमशः ईकार ऊकार नित्यस्त्रीलिङ्गी हैं, इन के स्थान पर क्रमशः इयँङ् उवँङ् आदेश होते हैं, अतः ङित् विभक्तियों में इन की विकल्प कर के नदीसञ्ज्ञा होगी।

सूत्र के इस प्रथम खण्ड का उपयोग आगे इसी प्रकरण में 'श्री आदि शब्दों में किया जाएगा। अब मति' शब्दोपयोगी द्वितीय खण्ड की व्याख्या करते हैं—

स्त्र्याख्यौ ।१।२। ह्रस्व ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। यू ।१।२। वा इत्यव्ययपदम्। नदी ।१।१। ङिति ।७।१। समासः—स्त्रियम् आचक्षाते इति स्त्र्याख्यौ, स्त्रीलिङ्गावित्यर्थः। अत्र नित्यस्त्रीत्वमविवक्षितम्। ह्रस्व इति 'यू' इत्यनेन सम्बध्यते। इश्च उश्च=यू। ह्रस्वौ इदुतावित्यर्थः। अर्थः—(स्त्र्याख्यौ) स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान (ह्रस्व=ह्रस्वौ) ह्रस्व (यू) इकार उकार (च) भी (ङिति) ङित् परे होने पर (वा) विकल्प कर के (नदी) नदीसञ्ज्ञक होते हैं।

भावः—यदि स्त्रीलिङ्ग में इकारान्त या उकारान्त शब्द आएगा तो ङिद्वचनों में उस की विकल्प कर के नदीसञ्ज्ञा हो जायगी। यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि इकारान्त और उकारान्त शब्द चाहे नित्यस्त्रीलिङ्ग हों या न हों केवल स्त्रीलिङ्ग में वर्तमान होने से ही उन की नदीसञ्ज्ञा हो जायगी।

इस नियम के प्रभाव से स्त्रीलिङ्ग में प्रत्येक ह्रस्व इकारान्त और ह्रस्व उकारान्त शब्द ङिद्वचनों में विकल्प कर के नदीसञ्ज्ञक हो जाता है। नदीत्वपक्ष में आट् आदि नदी कार्य और तदभावपक्ष में 'शेषो घ्यसखि' (१७०) से घिसञ्ज्ञा हो कर गुण आदि घिकार्य होते हैं।

मति + ए इस दशा में ह्रस्व इकारान्त स्त्रीलिङ्ग मति शब्द से परे ङित् प्रत्यय के होने से वैकल्पिक नदीसञ्ज्ञा हुई। नदीत्वपक्ष में 'आण्नद्याः' (१९६) द्वारा ङित् को आट् आगम 'आटश्च' (१९७) से वृद्धि तथा इकार का यण करने से 'मत्यै' रूप बनता है। नदीसञ्ज्ञा के अभाव में घिसञ्ज्ञा हो जाती है। और तब 'घेर्ङिति' (१७२) से इकार को एकार गुण हो कर अय् आदेश करने पर 'मतये' रूप बनता है।

पञ्चमी और षष्ठी के एकवचन में 'मति+अस्' इस अवस्था में नदीसञ्ज्ञा, आट् आगम, वृद्धि, यण् और सकार को रुत्व विसर्ग हो कर 'मत्याः' रूप सिद्ध होता है। नदी सञ्ज्ञा के अभाव में घिसञ्ज्ञा, गुण और 'ङसिङसोश्च' (१७३) से पूर्वरूप हो कर 'मतेः' रूप निष्पन्न होता है।

षष्ठी के बहुवचन में 'मति + आम्' इस दशा में 'ह्रस्वनद्यापः—' (१४८) से ह्रस्वमूलक नुट् आगम हो कर 'नामि' (१४९) से दीर्घ करने पर 'मतीनाम्' रूप सिद्ध होता है।

मति + इ' (ङि) यहां नदीसञ्ज्ञा के पक्ष में 'ङेराम्नद्याम्नीभ्यः' (१९८) से ङि का आम् तथा 'औत्' (१८४) सूत्र द्वारा ङि को औकार युगपत् प्राप्त होते हैं। 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) के अनुसार पर कार्य औकार ही उचित प्रतीत होता है। इस पर अग्रिमसूत्र द्वारा पुनः आम् आदेश का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२२३ इदुद्भ्याम् ।७।३।११७॥

इदुद्भ्यां नदीसञ्ज्ञकाभ्यां परस्य ङेराम्। मत्याम्, मतौ। शेषं हरिवत्।

अर्थः—नदीसञ्ज्ञक ह्रस्व इकार और उकार से परे ङि को आम् आदेश हो।

व्याख्या—नदीभ्याम् ।५।२। [ङेराम्नद्याम्नीभ्यः से वचनविपरिणाम कर के] इदुद्भ्याम् ।५।२। ङेः ।६।१। आम् ।१।१। [ङेराम्—' से] समासः—इच्च उच्च = इदुतौ, ताभ्याम् = इदुद्भ्याम्। इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(नदीभ्याम्) नदीसञ्ज्ञक (इदुद्भ्याम्) ह्रस्व इकार और ह्रस्व उकार से परे (ङेः) ङि के स्थान पर (आम्) आम् आदेश हो जाता है। यह सूत्र 'औत्' (१८४) सूत्र का अपवाद है।

'मति + ङि' यहां प्रकृतसूत्र से ङि को आम् हो कर मति + आम् हुआ। अब आण्नद्याः' (१९६) से आट् आगम और 'ह्रस्वनद्याप —' (१४८) से नुट् आगम दोनों युगपत् प्राप्त होते हैं। परन्तु परत्व के कारण आट का आगम हो जाता है—मति + आट् आम्। आटश्च' (१९७) से वृद्धि और इकार को यण करने पर 'मत्याम्' प्रयोग सिद्ध होता है। नदीसञ्ज्ञा के अभाव में घिसञ्ज्ञा हो कर अच्च घेः (१७४) से ङि को औकार और घि को अकार अन्तादेश हो कर वृद्धि एकादेश करने से 'मतौ' रूप सिद्ध होता है।

हे मति + सुँ। यहां ह्रस्वस्य गुणः' (१९६) से इकार गुण और 'एङ्ह्रस्वात्—(१३४) से सम्बुद्धि का लोप हो कर 'हे मते!' रूप सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—

प्र०	मतिः	मती	मतयः	पं०	मत्याः, मतेः	मतिभ्याम्	मतिभ्यः
द्वि०	मतिम्	,,	मतीः	ष०	,,	मत्योः	मतीनाम्
तृ०	मत्या	मतिभ्याम्	मतिभिः	स०	मत्याम्, मतौ	,,	मतिषु
च०	मत्यै, मतये	,,	मतिभ्यः	सं०	हे मते!	हे मती!	हे मतयः!

[लघु०] एवं बुद्ध्यादयः।

अर्थः—इसी प्रकार बुद्धि आदि शब्दों की प्रक्रिया होती है।

व्याख्या—बालकों की ज्ञानविवृद्धि के लिये मतिवत् शब्दों का कुछ उपयोगी सङ्ग्रह यहां दे रहे हैं। * इस चिह्न वाले स्थानों में पूर्ववत् णत्व जान लेना चाहिये।

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
१ अङ्गुलि	अङ्गुल	आवृत्ति	दुहराना	२० उपलब्धि	प्राप्ति ज्ञान
अपकृति	अपकार	आहति	आघात	ओषधि	दवाई
अवनि	पृथ्वी	आहुति	आहुति	कण्डूति	खुजली
आकृति	आकार	इष्टि	इच्छा	कान्ति	सौन्दर्य
५ आकृष्टि	आकर्षण	१५ उक्ति	वचन	कृति	कार्य प्रयत्न
आक्रान्ति	आक्रमण	उत्क्रान्ति	बाहर निकलना	२५ कृत्ति	चमड़ा
आर्ति	दुःख	उन्नति	उन्नति	कृषि*	खेती
आलि	पङ्क्ति	उपकृति	उपकार	केलि	हंसी ठट्ठा
आवलि	,,	उपपत्ति	तर्क उपपन्नता हेतु	कोटि	धनुष का कोना करोड़ ‡
१ आवसति	वास घर				

‡ करोड़ अर्थ में 'कोटि' शब्द एकवचनान्त होता है।

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
क्रान्ति	आक्रमण	प्रसृति	प्रसार वृद्धि	वमि	वमन
३ ख्याति	प्रसिद्धि	६०प्रहेलि	पहेली	वल्लरि*	मञ्जरी
गति	चाल, गमन	प्राप्ति	मिलन	९०वल्लि	लता
गीति	गान छन्दोभेद	प्लुति	छलांग	वसति	वास, घर
गुप्ति	छिपाना	बुद्धि	अक्ल	वस्ति	मूत्राशय
च्युति	गिरना	भक्ति	श्रद्धा भिक्षता	वान्ति	वमन
५छर्दि	वमन राग	६५भणिति	कथन	विकृति	विकार
छवि	कान्ति, चमक	भित्ति	दीवार	९५विगीति	निन्दा
जग्धि	सहभोज	भीति	डर	विच्छित्ति	बिच्छेद, चमत्कार
जनि	उत्पत्ति	भुक्ति	भोजन खाना	विज्ञप्ति	प्रार्थना घोषणा
जाति	मनुष्यत्व आदि	भुशुण्डि	बन्दूक	वित्ति	ज्ञान विवेक
४०तमि	अन्धेरी रात	७०भूति	कल्याण	विधुति	कम्पन
तिथि	तारीख	भूमि	पृथ्वी	१००विनति	नम्रता, प्रार्थना
दृष्टि	नज़र	भृति	मज़दूरी	विपत्ति	आपत्ति
द्युति	चमक, आभा	भेरि*	नगारा	विरति	हटना, समाप्ति
धूलि	धूल	भ्रान्ति	भ्रम	विवृति	टीका, व्याख्या
४५निकृति	छल	७५भ्रुकुटि	भौंह चढ़ाना	विशुद्धि	विशेष शुद्धि
नियति	भाग्य, क़िस्मत	मुक्ति	छुटकारा	१०५विस्मृति	भूलना
निराकृति	खण्डन	मूर्त्ति	प्रतिमा	विहति	मारना
नीति	नीति, चालाकी	यष्टि	छड़ी	वीचि	तरङ्ग
पङ्क्ति	कतार	युक्ति	उपाय	वृत्ति	जीविका
५०पद्धति	मार्ग	८०युवति	जवान स्त्री	वृष्टि	वर्षा
पर्याप्ति	पूर्णता	योनि	उत्पत्तिस्थान	११०वेणि	केशों की चोटी
प्रतिपत्ति	ज्ञान प्राप्ति	रजनि	रात्रि	व्यक्ति	पृथगात्मक जन
प्रतीति	विश्वास	राजनीति	राजनीति	व्याकृति	व्याकरण
प्रत्यासत्ति	समीपता		(Politics)	व्रतति	लता
५५प्रत्युक्ति	उत्तर	रीति	चाल, रिवाज	शक्ति	ताकत
प्रशस्ति	प्रशंसा	८५रुचि	अनुराग	११५शुक्ति	सीपी
प्रसुप्ति	निद्रा	रूढि	प्रसिद्धि	शान्ति	शान्ति
प्रसूति	प्रसव, सन्तान	लिपि	वर्णमाला	शुद्धि	सफ़ाई

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
श्रुति	वेद, सुनना	सूक्ति	सुन्दर वचन	स्फूर्त्ति	फुर्ती
सम्पत्ति	धन दौलत	संवित्ति	ज्ञान	स्मृति	यादाश्त,
१२०सम्भूति	उत्पत्ति	१२५संहति	समूह		धर्मशास्त्र
समष्टि	सम्पूर्णता	स्तुति	प्रशंसा	१३०स्वाति	नक्षत्रविशेष
सिद्धि	सिद्ध होना	स्थिति	ठहरना, मर्यादा		

—०※०—

अब स्त्रीलिङ्ग में 'त्रि' (तीन) शब्द के रूप दिखलाते हैं। त्रिशब्द नित्य बहुवचनान्त—यह पीछे (२६४) पृष्ठ पर स्पष्ट कर चुके हैं।

त्रि + अस् (जस्) इस दशा में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२२४ त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृ-चतसृ।७।२।९९॥

स्त्रीलिङ्गयोरेतयोरेतौ स्तो विभक्तौ।

अर्थः—विभक्ति परे होने पर स्त्रीलिङ्ग में त्रि शब्द को 'तिसृ' और 'चतुर्'शब्द को 'चतसृ' आदेश होता है।

व्याख्या—विभक्तौ।७।१। ['अष्टन आ विभक्तौ' से] त्रिचतुरोः।६।२। स्त्रियाम्।७।१। तिसृचतसृ।१।१। समासः—तिसृ च चतसृ च = तिसृचतसृ, समाहारद्वन्द्वः। अर्थः—(विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (स्त्रियाम्) स्त्रीलिङ्ग में (त्रिचतुरोः) त्रि और चतुर् शब्दों के स्थान पर क्रमशः (तिसृचतसृ) तिसृ और चतसृ आदेश होते हैं।

'त्रि+अस्' (जस्) यहां जस् विभक्ति परे है अतः प्रकृतसूत्र से 'त्रि' शब्द के स्थान पर 'तिसृ' आदेश हो गया। 'तिसृ+अस्' इस स्थिति में पूर्वसवर्णदीर्घ को बाध कर 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' (२०४) से गुण प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२२५ अचि र ऋतः*।७।२।१००॥

तिसृ चतसृ एतयोर्ऋकारस्य रेफादेशः स्यादचि। गुणदीर्घोत्वानामपवादः। तिस्रः २। तिसृभिः। तिसृभ्यः २। आमि नुट्।

अर्थः—अच् परे होने पर तिसृ और चतसृ शब्दों के ऋकार को रेफ आदेश हो जाता है।

---

* अलोऽन्त्यपरिभाषयैव सिद्धे 'ऋतः' इति अनुवर्तमाने—'तिसृचतसृ' इत्यस्य षष्ठ्यन्तत्वकल्पनाय। अन्यथा त्रिचतुरोरित्यस्यैवानुवृत्त्यापत्तौ रादेशेन तिसृचतसृबाधापत्तेरिति शेखरे नागेशः। वस्तुतस्तु तत्रैव स्वरितत्वं न तत्र। अन्यथा अचि रश्चेत्येव वदेत्। योग्यतयैव तत्कल्पनासिद्ध्या तदर्थमेवेति बोध्यम्।

व्याख्या—अचि ।७।१। र ।१।१। ऋत ।६।१। तिसृचतसृ ।६।२। [त्रिचतुरो स्त्रियां तिसृचतसृ से विभक्ति विपरिणाम करके] अर्थ— (अचि) अच् परे होने पर (तिसृचतसृ) तिसृ और चतसृ शब्दों के (ऋत) ऋकार को (र) रेफ आदेश होता है।

प्रश्न—अच् परे होने पर ऋकार को रेफ आदेश तो इको यणचि (१५) से ही सिद्ध है; पुनः इस सूत्र की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर—गुणदीर्घोत्वानाम् अपवादः अर्थात् तिसृ + अस् यहां जस् में ऋतो ङि—' (२०४) से प्राप्त होने वाले गुण को तिसृ + अस् यहां शस् में प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (१२६) द्वारा प्राप्त होने वाले पूर्वसवर्णदीर्घ को तथा प्रियचतसृ + अस्' यहां ङसि और ङस् में ऋत उत् (२०८) से प्राप्त होने वाले उत्व को बाधने के लिये इस सूत्र से ऋकार के स्थान पर रेफ आदेश किया गया है। इस प्रकार यह सूत्र गुण, दीर्घ और उत्व का अपवाद है।

तिसृ + अस् यहां गुण का बाध कर रेफ आदेश कर सकार को रुँत्व विसर्ग करने से—तिस्रः रूप बना।

त्रि + अस्' (शस्) यहां तिसृ आदेश हो कर पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होता है पुनः उसे बाध कर प्रकृत-सूत्र से रेफ आदेश हो जाता है—तिस्रः।

त्रि + भिस् = तिसृ+भिस् = तिसृभिः । तिसृभ्यः ।

'त्रि+आम्' यहां त्रेस्त्रयः' (१६२) से प्राप्त त्रय आदेश को बाध कर त्रिचतुरो— (२२४) से तिसृ आदेश हो जाता है। तिसृ+आम्' इस स्थिति में ह्रस्वनद्यापो नुट् (१४८) से नुट् आगम और अचि र ऋतः (२२५) से रेफ आदेश युगपत् प्राप्त होते हैं। विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) के अनुसार परकार्य रेफ आदेश होना चाहिये। परन्तु नुम् अचिर तृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' (वा० १८) इस कात्यायनवचन से यहां पूर्वविप्रतिषेध मान कर पूर्व कार्य नुट् आगम हो जाता है। अब तिसृ+नाम् इस दशा में नामि' (१४९) से दीर्घ प्राप्त होता है इस पर अग्रिमसूत्र से उसका निषेध करते हैं—

[लघु०] निषेध सूत्रम्—२२६ न तिसृचतसृ ।६।४।४॥

एतयोर्नामि दीर्घो न । तिसृणाम् । तिसृषु ।

अर्थः—नाम् परे होने पर तिसृ और चतसृ शब्दों का दीर्घ नहीं होता।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम्। तिसृचतसृ ।६।१। ['छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति' इस परिभाषा के बल से यहां 'सुपां सुलुक्—' सूत्र द्वारा षष्ठी का लुक् समझना चाहिये।] नामि ।७।१। [नामि से] दीर्घः ।१।१। ['ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से] अर्थः— (नामि) नाम् परे होने पर (तिसृचतसृ) तिसृ और चतसृ शब्दों को (दीर्घः) दीर्घ (न) नहीं होता।

'तिसृ+नाम्' यहां दीर्घ का निषेध हो कर ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम् (वा० २) इस कात्यायनवचन से नकार का णकार करने पर तिसृणाम् प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—

प्र०	०	०	तिस्रः	प०	०	०	तिसृभ्यः
द्वि०	०	०	,,	ष०	०	०	तिसृणाम्
तृ०	०	०	तिसृभिः	स०	०	०	तिसृषु
च०	०	०	तिसृभ्यः	सम्बोधन नहीं होता।			

इसी प्रकार चतुर् (चार) शब्द के स्त्रीलिङ्ग में रूप बनते हैं—चतस्रः २ चतसृभिः, चतसृभ्यः २ चतसृणाम्, चतसृषु। इसका वर्णन हलन्तस्त्रीलिङ्ग में यथा स्थान ग्रन्थकार स्वयं करेंगे।

[लघु०] द्वे २। द्वाभ्याम् ३। द्वयोः २।

व्याख्या—'द्वि' (दो) शब्द द्वित्व का वाचक होने से सदा द्विवचनान्त प्रयुक्त होता है। अब स्त्रीलिङ्ग में इस की प्रक्रिया दिखलाई जाती है।

द्वि शब्द से प्रथमा के द्विवचन में 'द्वि+औ' इस स्थिति में 'त्यदादीनामः' (१९३) सूत्र से विभक्ति परे होने के कारण इकार को अकार हुआ। तब 'द्व + औ' इस दशा में स्त्रीत्वविवक्षा में अकारान्त होने के कारण 'अजाद्यतष्टाप्' (१२४९) सूत्र से टाप् प्रत्यय हुआ। टाप् के टकार और पकार इत्संज्ञक होने से लुप्त हो जाते हैं। 'द्व् आ+औ' इस स्थिति में सवर्णदीर्घ और 'औङ आपः' (२१६) से औ को शी आदेश और गुण होकर 'द्वे' रूप सिद्ध होता है।

भ्याम् में त्यदाद्यत्व होने पर अकारान्त हो जाने से टाप्, सवर्णदीर्घ हो कर 'द्वाभ्याम्' प्रयोग बनता है।

ओस् में त्यदाद्यत्व, टाप्, सवर्णदीर्घ, आकार को 'आङि चापः' (२१८) से एकार, अय् आदेश और सकार को रुँत्व विसर्ग हो कर 'द्वयोः' रूप सिद्ध होता है।*

रूपमाला यथा—

---

* ध्यान रहे कि पुंलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग के 'द्वाभ्याम्' और 'द्वयोः' प्रयोगों में महान् अन्तर है।

प्र०	०	ङे	०	प	०	द्वाभ्याम्	०
द्वि०	०	,	०	ष०	०	द्वयो	०
तृ०	०	द्वाभ्याम्	०	स	०	,	०
च०	०	,,	०		सम्बोधन नहीं होता।		

(यहां पर ह्रस्व इकारान्त स्त्रीलिङ्ग समाप्त होते हैं।)

—— ※ •——

[लघु०] गौरी। गौर्यौ। गौर्यः। हे गौरि!। गौर्यै इत्यादि।

व्याख्या—गौर शब्द से 'षिद्गौरादिभ्यश्च' (१२५१) सूत्र द्वारा ङीष् प्रत्यय करने पर भसञ्ज्ञक अकार का लोप हो कर गौरी' शब्द निष्पन्न होता है। गौरी का अर्थ 'पार्वती' है। नित्यस्त्रीलिङ्ग होने से 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१६४) द्वारा इस की नदीसञ्ज्ञा हो जाती है।

प्रथमा के एकवचन में गौरी + स' इस अवस्था में ङ्यन्त होने से 'हल्ङ्याब्भ्य —' (१७१) सूत्र से अपृक्त सकार का लोप हो कर गौरी' रूप बनता है।

औ में पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होता है उसका दीर्घाज्जसि च (१६२) सूत्र से निषेध हो जाता है। तब 'इको यणचि' (१५) से यण् आदेश हो कर 'गौर्यौ' रूप बनता है। ध्यान रहे कि 'गौर्यौ आदि में अचो रहाभ्यां द्वे' (६०) सूत्र द्वारा यकार यर् को द्वित्व हो कर पक्ष में गौर्य्यौ प्रभृति रूप भी बनते हैं।

जस् में भी पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हो कर यण्—यकार करने पर गौर्यः रूप बनता है।

'गौरी + अम् = गौरीम्। 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप हो जाता है।

गौरी + अस्' यहां शस् में पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर सकार को रुँत्व विसर्ग करने से 'गौरीः रूप बनता है।

टा में 'इको यणचि (१५) से यण हो कर गौर्या' रूप सिद्ध होता है।

गौरी + ए' (ङे)। यहां यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१६४) से नदीसञ्ज्ञा हो कर आण्नद्याः' (१६६) से आट् आगम, आटश्च' (१६७) से वृद्धि और 'इको यणचि' (१५) से यण यकार करने से गौर्यै' रूप बनता है।

गौरी+अस' (ङसि व ङस्) इस दशा में नदीसञ्ज्ञा, आट् आगम वृद्धि और यण यकार हो कर गौर्याः' रूप सिद्ध होता है।

ओस् में यण हो कर गौर्योः बनता है।

षष्ठी के बहुवचन आम् में नदीसञ्ज्ञा हो कर नदीमूलक नुट्, अनुबन्धलोप और नकार को णकार करने से गौरीणाम् प्रयोग सिद्ध होता है।

सप्तमी के एकवचन ङि में 'गौरी + ङि' इस दशा में 'ङेराम्—' (१६८) से ङि का आम्, 'आण्नद्याः' (१६६) से आट् आगम, 'आटश्च' (१६७) से वृद्धि तथा 'इको यणचि' (१५) से यकार आदेश करने पर गौर्याम् प्रयोग सिद्ध होता है।

सम्बुद्धि में नदीसञ्ज्ञा होने से 'अम्बार्थ—' (१६५) से ह्रस्व हो कर 'एङ्ह्रस्वात्०' (१३४) से सकार का लोप हो जाता है—हे गौरि!। रूपमाला यथा—

प्र०	गौरी	गौर्यौ	गौर्यः	पं०	गौर्याः	गौरीभ्याम्	गौरीभ्यः
द्वि०	गौरीम्	,,	गौरीः	ष०	,,	गौर्योः	गौरीणाम्
तृ०	गौर्या	गौरीभ्याम्	गौरीभिः	स०	गौर्याम्	,,	गौरीषु
च०	गौर्यै	,,	गौरीभ्यः	सं०	हे गौरि!	हे गौर्यौ!	हे गौर्यः!

[लघु०] एवं नद्यादयः।

अर्थः—इसी प्रकार नदी (दरिया) आदि ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के रूप बनते हैं।

व्याख्या—हम बालकों के लिए अत्यन्त उपयोगी कुछ शब्दों का सङ्ग्रह यहाँ दे रहे हैं। इन का उच्चारण गौरीवत् होता है। इन में भी पूर्ववत् '*' इस चिह्न वाले शब्दों में णत्वप्रक्रिया जान लेनी चाहिये—

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
१अक्षौहिणी	विशेष परिमाण वाली सेना	आनुपूर्वी*	क्रम, सिलसिला	एकादशी	एकादशी
		आन्वी		कटी	कमर नितम्ब
अङ्गुली	अङ्गुल	आन्वीक्षिकी*	तर्कशास्त्र	कठिनी	खड़िया मिट्टी
अटवी	जङ्गल	आमलकी	आँवला	कदली	केले का पेड़
अनीकिनी	सेना	इङ्गुदी	गोंदी	२५कबरी*	गुत्त
५अनुक्रमणी	सूची	१५इन्द्राणी	इन्द्र की स्त्री	कमठी	कछुई
अनुचरी*	दासी	उज्जयिनी	उज्जैन नगर	करिणी	हथिनी
अमरावती	इन्द्र की नगरी	उदीची	उत्तर दिशा	कर्त्तनी	कैंची
अरण्यानी	बड़ा जङ्गल	उर्वशी	एक अप्सरा	कस्तूरी*	कस्तूरी
अवाची	दक्षिण दिशा	उर्वी*	पृथ्वी	३० काकमाची	मकोय
१०अश्मरी*	पथरी रोग	२० ऋतुमती	रजस्वला	काकली	धीमी मधुर ध्वनि

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
काकिणी	कौडी	६०गुडूची	गिलाय	८५दैनन्दिनी	प्रतिदिन होने
काकी	कौआ की मादा	गुर्वी*	भारी		वाली डायरी
कादम्बरी*	मदिरा	गृध्रसी	एक रोग	दोहदवती	अभिलाषवती
३५कादम्बिनी	मेघमाला	गृहिणी	भार्या		गर्भिणी
कामिनी	स्त्री	गोष्ठी	सभा मजलिस	द्रौपदी	द्रुपद कन्या
कामुकी	प्रेयाश स्त्री	६५गोस्तनी	द्राक्षा विशेष	धमनी	नाडी शिरा
कालिन्दी	यमुना नदी	घृतचौरी*	कचौरी	धरित्री*	पृथ्वी
काली	देवी विशेष	छागी	बकरी	९०नगरी*	नगर
४०कावेरी*	एक नदी	जगती	पृथ्वी एक छन्द	नटी	नट की स्त्री
काशी	बनारस	जननी	माता	नदी	दरिया
किङ्किणी	घुंघरू	७०जीवनी	जीवन शक्ति	नन्दिनी	पुत्री, सुरभि की
किंवदन्ती	अफ़वाह		देने वाली		लडकी
कुटी	झोंपडी	ज्यौत्स्नी	चान्दनी रात	नलिनी	कमलिनी
४५कुट्टनी	दलाला स्त्री	टिप्पणी	नोट	९५नागवल्ली	पान की बेल
कुटुम्बिनी	भार्या	तटिनी	नदी	नाडी	शिरा
कुमारी*	क्वारी लडकी	तपस्विनी	तपस्या करने	नान्दी	नाटक के आरम्भ
कुवेणी	मच्छलियों की		वाली		का मङ्गल
	टोकरी	७५तमी	अन्धेरी रात	नारी*	स्त्री
केतकी	केवडा (क्षुप)	तरङ्गिणी	नदी	निशीथिनी	रात्रि
५०काकी	चकवी	तरुणी	जवान स्त्री	१००पञ्चवटी	एक स्थान
कौमुदी	चान्दनी	तामसी	तमोगुणवती	पतिवत्नी	सधवा
कौमोदकी	विष्णु की गदा	तिरस्करिणी	परदा घूंघट	पत्नी	भार्या
कौशाम्बी	एक नगर	८०त्रयी*	ऋग्यजु साम	पदवी	मार्ग, पद
क्षत्रियाणी	क्षत्रिय की स्त्री	दासी	नौकरानी	पद्मिनी	कमलों का समूह
५५गर्दभी	गधी	दूती	संदेश ले जाने	१०५परिपाटी	सिलसला
गर्भिणी	गर्भवती		वाली	पाञ्चाली	द्रौपदी, एक
गायत्री*	एक छन्द	देवकी	श्रीकृष्णमाता		शैली
गाली	अपशब्द	देवी	दुर्गा देवपत्नी	पार्वती	दुर्गा
गुटी	गोली			पितामही	दादी

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
पिप्पली	पिपली	मन्त्रिणी	मन्त्री स्त्री	राजधानी	राजधानी
११०पुत्री*	बेटी	मन्दाकिनी	स्वर्गङ्गा	राज्ञी	रानी
पुरन्ध्री*	पति पुत्रवती	मर्कटी	वानरी	१६५रुक्मिणी	कृष्ण की पटरानी
पुरी*	नगरी	१४०मसी	स्याही	रुद्राणी	पार्वती
पुंश्चली	व्यभिचारिणी	महती	बड़ी	रेवती	बलराम प०नी
पुष्करिणी	हथिनी	महामारी*	प्लग आदि	रोहिणी	एक नक्षत्र
११५पुष्पवती	रजस्वला	महिषी*	भैंस पटरानी	लेखनी	कलम
पृथिवी	भूमि	मही	पृथ्वी	१७०लेखिनी	कलम
पृथ्वी	भूमि	१४५माता		वरूथिनी	सेना
पेषणी	पीसने की शिला	मही	नानी	वसुमती	पृथ्वी
पौर्णमासी	पूर्णिमा	मातुलानी	मामी भाग	वंशी	बांसुरी
१२०प्रणाली	तरीका	मातुली	मामी	वाणी	वाणी
प्रतीची	पश्चिम दिशा	मालती	चम्बेली की	१७५वापी	बावड़ी
प्रतोली	गली		लता	वामी	घोड़ी
प्रसाधनी	कङ्घी	मुम्बापुरी*	बम्बई नगर	वायसी	कव्वी
प्राची	पूर्व दिशा	१५० मुरली	बांसुरी	वाराणसी	बनारस
१२५बदरी*	बेर का वृक्ष	मृडानी	पार्वती	वारुणी	मद्य, पश्चिम
बिसिनी	कमल का पौदा	मेदिनी	पृथिवी	१८० वाहिनी	सेना, नदी
भट्टिनी	महारानी	मैत्री*	मित्रता	विदुषी*	पढ़ी लिखी स्त्री
भवती	आप (स्त्री)	मोहमयी	बम्बई मोह	विभावरी*	रात्रि
भवानी	दुर्गा		वाली	विष्णुपदी	गङ्गा
१३० भागीरथी	गङ्गा	१५५मौर्वी*	धनुष की डोरी	वीथी	रास्ता गली
भामिनी	कोपशीला स्त्री	यक्षी*	कुबेर की स्त्री	१८५वैजयन्ती	पताका
भारती	संस्कृत भाषा	यवनानी	यवनों की लिपि	वैतरणी	नरक की नदी
भ्रूकुटी	भौंहों का	याज्ञसेनी	द्रौपदी	वैदेही	सीता
	तिरछा करना	यामिनी	रात्रि	वैयासिकी	व्यास-रचना
भेरी*	बड़ा नगारा	१६०युवती	जवान स्त्री	व्याघ्री*	मादा बाघ
१३५भ्रुकुटी	भृकुटी	रजनी	रात	१९०शतघ्नी	तोप
मञ्जरी*	कोंपल	राक्षसी	राक्षस स्त्री	शतपदी	कानखजूरा

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
शफरी*	विशेष मछली	सपत्नी	सौकन	सूरी*	कुन्ती
शमी	जण्डा का वृक्ष	सरस्वती	वाग्देवी	सैरन्ध्री*	दासी
शर्वरी*	रात्रि	सरोजिनी	कमल समूह	सौदामनी	विद्युत्
१९९शाटी	वस्त्र साड़ी	२०९साध्वी	पतिव्रता	२१९स्रोतस्वती	नदी
शुण्ठी	सोंठ	सामग्री*	सम्पूर्णता द्रव्य	हसन्ती	अंगीठी
शुनी	कुत्तिया	सिंहवाहिनी	भगवती दुर्गा	हरिणी	हरिन की मादा
शैली	रीति	सिंही	शेरनी	हरीतकी	हरड़
श्रेणी	पंक्ति किसम	सीमन्तिनी	स्त्री	हिमानी	बरफ़ समूह
२००सखी	सहेली	२१०सुन्दरी*	रूपवती	ह्रादिनी	वज्र विद्युत्
सङ्ग्रहणी	एक रोग	सूची	सूई नोक		— * —

[लघु०] लक्ष्मीः । शेषं गौरीवत् ।

व्याख्या—'लक्ष दर्शनाङ्कनयोः (चुरा० उ०) धातु से लक्षेर्मुट् च (उणा० ४४०) सूत्र द्वारा ई प्रत्यय और मुट् का आगम करने से लक्ष्मी शब्द निष्पन्न होता है। लक्ष्मी शब्द ङ्यन्त नहीं अतः इस से परे 'हल्ङ्याब्भ्यो—' (१७९) सूत्र द्वारा सुलोप नहीं होता। शेष सब विभक्तियों में गौरीशब्दवत् प्रक्रिया होती है। रूपमाला यथा—

प्र०	लक्ष्मीः	लक्ष्म्यौ	लक्ष्म्यः	पं०	लक्ष्म्याः*	लक्ष्मीभ्याम्	लक्ष्मीभ्यः
द्वि०	लक्ष्मीम्		लक्ष्मीः	ष०	*	लक्ष्म्योः	लक्ष्मीणाम्*
तृ०	लक्ष्म्या	लक्ष्मीभ्याम्	लक्ष्मीभिः	स०	लक्ष्म्याम्*		लक्ष्मीषु
च०	लक्ष्म्यै*		लक्ष्मीभ्यः	सं०	हे लक्ष्मि !*	हे लक्ष्म्यौ !	हे लक्ष्म्यः !

*इन स्थानों पर नदीसञ्ज्ञा हो कर आट् आदि नदीकार्य होते हैं।

[लघु०] एवं तरी-तन्त्र्यादयः ।

अर्थः—तरी तन्त्री आदि अन्य औणादिक ईप्रत्ययान्त शब्दों के रूप भी लक्ष्मी शब्द के समान होते हैं।

व्याख्या—'अवि-तॄ-स्तॄ-तन्त्रिभ्य ईः' (उणा० ४३८) इस औणादिक सूत्र से "१ अवी (रजस्वला स्त्री) २ तरी (नौका), ३ स्तरी (धूम) ४ तन्त्री (वीणा)" इन चार ईप्रत्ययान्त शब्दों की निष्पत्ति होती है। इन का उच्चारण भी लक्ष्मीवत् होता है। ङ्यन्त न होने से इन में भी सुँलोप नहीं होता। इस विषय पर एक श्लोक प्रसिद्ध है—

"अवी-तन्त्री-तरी-लक्ष्मी-धी-ह्री-श्रीणामुणादिषु ।
सप्तस्त्रीलिङ्गशब्दानां सुलोपो न कदाचन ॥"

परन्तु इन में स्तरी शब्द नहीं आता अतः यह श्लोक इस प्रकार पढ़ना चाहिये —

"अवी-तन्त्री-स्तरी-लक्ष्म्य, तरी-धी-ह्री-श्रियस्तथा।
उणादावष्ट निष्पन्ना न सुलोपस्य भागिन ॥"

[लघु०] स्त्री । हे स्त्रि ! ।

व्याख्या—'स्त्यै शब्दसङ्घातयोः' (भ्वा० प०) धातु से स्त्यायतेर्ड्रट्' (उणा० ६ ५) सूत्र द्वारा ड्रट् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप टिलोप 'लोपो व्योर्वलि' (४२१) से यकारलोप, 'टिड्ढाणञ्—' (१२४७) से ङीप् प्रत्यय और यस्येति च' (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप करने से स्त्री' शब्द निष्पन्न होता है। स्त्री शब्द ङ्यन्त है।

'स्त्री + सुँ' यहां ङ्यन्त होने से हल्ङ्याब्भ्यो —' (१७९) सूत्र द्वारा अपृक्त सकार का लोप हो जाता है—स्त्री ।

सम्बुद्धि में 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१९४) सूत्र द्वारा स्त्रीशब्द की नदीसञ्ज्ञा हो जाती है। तब 'अम्बार्थ—' (१९५) सूत्र से ह्रस्व और एङ्ह्रस्वात्—' (१३४) सूत्र से सकार लोप हो कर 'हे स्त्रि !' प्रयोग सिद्ध होता है।

'स्त्री + औ' यहां धातु का ईकार न होने से इयँङ् प्राप्त नहीं होता। पूर्वसवर्णदीर्घ का भी 'दीर्घाज्जसि च' (१६२) से निषेध हो जाता है। 'इको यणचि' (१५) से ही केवल यण् प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२२७ स्त्रियाः ।६।४।७९॥

अस्येयँङ् स्याद् अजादौ प्रत्यये परे । स्त्रियौ । स्त्रियः ।

अर्थः—अजादि प्रत्यय परे होने पर स्त्री शब्द के ईकार को इयँङ् आदेश हो।

व्याख्या—स्त्रियाः ।६।१। इयँङ् ।१।१। अचि ।७।१। ['अचि श्नुधातु से] 'प्रत्यये' का अध्याहार कर यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे' द्वारा तदादिविधि हो कर अजादौ प्रत्यये' बन जाता है। अर्थः—(अचि = अजादौ) अजादि (प्रत्यये) प्रत्यय परे होने पर (स्त्रियाः) स्त्रीशब्द के स्थान पर (इयँङ्) इयँङ् आदेश हो। अलोऽन्त्य परिभाषा से स्त्रीशब्द के अन्त्य ईकार के स्थान पर इयँङ् आदेश होगा।

'स्त्री + औ' यहा 'औ' यह अजादि प्रत्यय परे होने से प्रकृतसूत्र द्वारा इयँङ् आदेश हो कर स्त्रियौ' बना।

स्त्री + अस' (जस) यहा भी इयँङ हो कर स्त्रिय ' बनता है।

स्त्री + अम् यहा अमि पूव (१३५) को बान्ध कर प्रकृत-सूत्र से नित्य इयँङ् प्राप्त होता है, इस पर अग्रिमसूत्र स विकल्प करत हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२२८ वाऽम्शसो ।६।४।८०॥

अमि शसि च स्त्रिया इयँङ् वा स्यात्। स्त्रियम्, स्त्रीम्। स्त्रिय', स्त्री। स्त्रिया। स्त्रियै। स्त्रिया' २। परत्वान्नुट्—स्त्रीणाम्। स्त्रीषु।

अर्थ—अम् व शस परे होने पर स्त्रीशब्द को विकल्प कर के इयँङ हो।

व्याख्या—वा इत्यव्ययपदम्। अम्शसो ।७।२। स्त्रियाः ।६।१। ['स्त्रियाः' स] इयँङ् ।१।१। [अचि श्नु ' से] अर्थ—(अम्शसो) अम् और शस् परे होने पर (स्त्रियाः) स्त्रीशब्द के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (इयँङ) इयँङ होता है।

स्त्री + अम्' यहाँ प्रकृतसूत्र से ईकार को विकल्प करके इयँङ् हो गया। इयँङपक्ष में अनुबन्धों का लोप हो कर—स्त्रियम्। इयङ् के अभाव में अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप हो कर—स्त्रीम्। इस प्रकार अम् में स्त्रियम् स्त्रीम् ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

'स्त्री + अस् (शस) यहा भी वाऽम्शसो सूत्र से इयँङ् हो कर—स्त्रिय। पक्ष मे पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर—स्त्री। इस प्रकार शस् में स्त्रिय, स्त्री' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

तृतीया के एकवचन में स्त्री + आ' इस अवस्था में स्त्रियाः (२२७) सूत्र से इयँङ् हो कर स्त्रिया रूप बनता है।

चतुर्थी के एकवचन में 'स्त्री + ए' इस दशा में यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१९४) सूत्र से नित्य नदीसञ्ज्ञा हो जाती है। यद्यपि स्त्रीशब्द के स्थान पर इयँङ् होता है, तथापि स्त्रीशब्द का वर्जन होने से ङिति ह्रस्वश्च' (२२२) से ङित् प्रत्ययों में नदीसञ्ज्ञा का विकल्प नहीं होता। नदीसञ्ज्ञक होने से आण्नद्याः' (१९६) से आट् का आगम और 'आटश्च (१९७) से वृद्धि होने के अनन्तर स्त्री + ऐ' इस स्थिति में 'स्त्रियाः (२२७) सूत्र से इयँङ् हो कर स्त्रियै प्रयोग निष्पन्न होता है।

'स्त्री+अस्' (ङसिँ व ङस्) यहाँ भी पूर्ववत् नदीसञ्ज्ञा होने से आट्, वृद्धि और इयँङ् हो कर—'स्त्रियाः' बना।

ओस में स्त्रियाः' (२२७) से इयँङ् हो कर स्त्रियोः बना।

षष्ठी के बहुवचन में 'स्त्री + आम्' इस दशा में इयँङ् और नुट् दोनों की युगपत् प्राप्ति होने पर परत्व के कारण नुट् का आगम हो जाता है। अब 'अट्कुप्वाङ्० ' (१३८) से नकार को णकार हो कर 'स्त्रीणाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

स्त्री+ङि' यहां पर नदीसञ्ज्ञा होने से 'ङेराम्—' (१६८) सूत्र से ङि को आम्, आट् का आगम, वृद्धि और 'स्त्रियाः' (२२७) से इयँङ् हो कर 'स्त्रियाम्' प्रयोग बनता है। रूपमाला यथा—

प्र०	स्त्री	स्त्रियौ	स्त्रियः	प०	स्त्रियाः	स्त्रीभ्याम्	स्त्रीभ्यः
द्वि०	स्त्रियम्, स्त्रीम्	,,	स्त्रियः, स्त्रीः	ष०	,,	स्त्रियोः	स्त्रीणाम्
तृ०	स्त्रिया	स्त्रीभ्याम्	स्त्रीभिः	स०	स्त्रियाम्	,,	स्त्रीषु
च०	स्त्रियै	,,	स्त्रीभ्यः	सं०	हे स्त्रि!	हे स्त्रियौ!	हे स्त्रियः!

— ❀ —

नोट—स्त्रीशब्द अपने ढङ्ग का अकेला ही है। इस प्रकार के उच्चारण वाला स्त्रीलिङ्ग में अन्य कोई शब्द नहीं है।

[लघु०] श्रीः। श्रियौ। श्रियः।

व्याख्या—श्रयति हरिम् इति श्रीः। लक्ष्मी व शोभा को 'श्री' कहते हैं। 'श्रिञ् सेवायाम्' (भ्वा० उभ०) धातु से 'क्विब्वचिप्रच्छिश्रिस्रुद्रुप्रुज्वां दीर्घोऽसम्प्रसारणञ्च' (उणा० २१५) सूत्र द्वारा क्विप् प्रत्यय तथा प्रकृति को दीर्घ करने से श्री शब्द निष्पन्न होता है। श्रीशब्द ङ्यन्त नहीं इस में ईकार धातु का अवयव है। अतः 'हल्ङ्याब्भ्यो—' (१७९) से सुँ-लोप नहीं होता—श्रीः।

'श्री+औ' यहां धातु के अवयव ईकार से पूर्व धातु का अवयव 'श्' यह संयोग वर्त्तमान है, अनेकाच् भी नहीं, अतः 'एरनेकाचः—' (२००) से यण् नहीं होता। 'अचि श्नु०' (१९९) से ईकार को इयँङ् आदेश हो कर 'श्रियौ' प्रयोग बनता है।

श्री + अस् (जस्) = श्रियः। यहां भी 'अचि श्नु०' (१९९) से इयँङ् हो जाता है।

'हे श्री + स्' यहां सम्बुद्धि में 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१६४) से नित्यनदीसञ्ज्ञा होने के कारण 'अम्बार्थनद्योः—' (१६५) द्वारा ह्रस्व प्राप्त होता है। परन्तु यह अनिष्ट है, अतः इस के वारण के लिये नदीसञ्ज्ञा का निषेध करते हैं—

[लघु०] निषेध सूत्रम्—२२६ नेयँङुवँङ्स्थानावस्त्री।१।४।४॥

इयॅंडुवॅंडो स्थितिर्ययोस्तावीदूतौ नदीसञ्ज्ञौ न स्त, न तु स्त्री।
हे श्री ! । श्रियै, श्रिये । श्रिया २, श्रिय २ ।

अर्थ—जिन ईकार ऊकार के स्थान पर इयॅंङ् उवॅंङ होते हैं उन की नदीसञ्ज्ञा नहीं होती । परन्तु स्त्रीशब्द की तो होती ही है ।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम् । इयँडुवॅंङस्थानौ ।१।२। यू ।१।२। नदी । १।१। ['यू स्त्र्याख्यौ नदी' से] अस्त्री ।१।१। समास—इयँङ च उवॅंङ च=इयँडुवॅंङौ इतरेतरद्वन्द्व । इयँडुवँङौ स्थान (स्थिति) ययोस्तौ=इयँडुवँङस्थानौ बहुव्रीहिसमास । ई च ऊ च=यू, इतरेतरद्वन्द्व । न स्त्री=अस्त्री नञ्समास । अर्थ —(इयँडुवँङस्थानौ) जिन के स्थान पर इयँङ उवँङ आदेश होते हैं ऐसे (यू) ईकार ऊकार (नदी) नदीसञ्ज्ञक (न) नहीं होते । (अस्त्री) परन्तु स्त्रीशब्द पर यह नियम लागू नहीं होता।

श्रीशब्द के ईकार के स्थान पर अजादि प्रत्ययों में 'अचि श्नु ' (१९९) सूत्र द्वारा इयँङ् आदेश होता है अतः प्रकृतसूत्र द्वारा अजादिप्रत्ययों में तथा अन्यत्र * भी इस में नदीसञ्ज्ञा का निषेध हो जायगा ।

हे श्री+स' यहां नदीसञ्ज्ञा का निषेध हो जाने से नदीमूलक ह्रस्व नहीं होता । सकार को रुँत्व और रेफ का विसर्ग आदेश करने से— हे श्री !' प्रयोग सिद्ध होता है।

श्री+अम्=श्रियम् । श्री + अस् (शस)=श्रिय । श्री + आ (टा)=श्रिया । सर्वत्र अचि श्नु—' (१९९) से इयँङ् हो जाता है ।

चतुर्थी के एकवचन में श्री + ए' इस दशा में 'यू स्त्र्याख्यौ नदी (१९४) सूत्र से प्राप्त नदीसञ्ज्ञा का नेयँडुवॅंङ्—' (२२१) से निषेध हो जाता है । पुन 'ङिति ह्रस्वश्च (२२२) सूत्र से विकल्प कर के नदीसञ्ज्ञा हो जाती है। नदीसञ्ज्ञा के पक्ष में आट् का आगम वृद्धि और इयँङ् हो कर श्रियै बनता है । इस प्रकार ङे में 'श्रियै श्रिये' ये दो रूप सिद्ध होते हैं ।

पञ्चमी व षष्ठी के एकवचन में 'श्री+अस्' इस स्थिति में पूर्ववत् नदीसञ्ज्ञा का विकल्प हो जाता है । नदीपक्ष में आट, वृद्धि और इयँङ् हो कर श्रियाः बनता है । नदी के अभाव में केवल इयङ हो कर 'श्रियः' सिद्ध होता है । इस प्रकार ङसि और ङस् में श्रियाः, श्रियः' ये दो रूप निष्पन्न होते हैं।

---

* ध्यान रहे कि नदीसञ्ज्ञा का निषेध केवल वहां ही नहीं होता जहां इयङ् उवँङ होते हैं। किन्तु इयँडुवङ्स्थानी शब्द में अन्यत्र भी—जहां इयँङ उवँङ नहीं होते—निषेध हो जाता है । यथा—श्री शब्द में इयङ तो अजादि विभक्तियों में ही होता है परन्तु नदीसञ्ज्ञा का निषेध अजादियों में तथा अन्यत्र सम्बुद्धि में भी हो जाता है ।

षष्ठी के बहुवचन में श्री+आम् इस स्थिति में 'यू स्त्र्याख्यौ नदी (१९४) से प्राप्त नित्यनदीत्व का 'नेयँङुवँङ—' (२२१) से निषेध हो जाता है। आम् के ङित् न होने से 'ङिति ह्रस्वश्च' (२२२) द्वारा नदीत्व का विकल्प नहीं हो सकता। इस पर अग्रिमसूत्र द्वारा नदीसञ्ज्ञा का विकल्प करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—२३० वाऽऽमि ।१।४।५॥

इयँङुवँङ्स्थानौ स्त्र्याख्यौ यू आमि वा नदीसञ्ज्ञौ स्त, न तु स्त्री। श्रीणाम्, श्रियाम्। श्रियाम्, श्रियि।

अर्थः—जिन के स्थान पर इयँङ् उवँङ् होते हैं ऐसे नित्यस्त्रीलिङ्ग ईकार ऊकार आम् परे होने पर विकल्प कर के नदीसञ्ज्ञक हों। परन्तु यह विकल्प स्त्रीशब्द में प्रवृत्त नहीं होता।

व्याख्या—इयँङुवँङ्स्थानौ ।१।२। ['नेयँङुवँङ—' से] स्त्र्याख्यौ ।१।२। यू ।१।२। नदी ।१।१। [यू स्त्र्याख्यौ नदी' से] वा इत्यव्ययपदम्। आमि ।७।१। अर्थ—(इयँङुवँङ् स्थानौ) जिन के स्थान पर इयङ् उवँङ् आदेश होते हैं ऐसे (स्त्र्याख्यौ) नित्यस्त्रीलिङ्ग (यू) ईकार ऊकार (आमि) आम् परे होने पर (वा) विकल्प कर के (नदी) नदी सञ्ज्ञक होते हैं।

श्री + आम् यहां इयँङ्स्थानी नित्यस्त्रीलिङ्ग ईकार को आम् परे रहते प्रकृतसूत्र से विकल्प कर के नदीसञ्ज्ञा हो जाती है। नदीसञ्ज्ञापक्ष में नद्यन्त होने से 'ह्रस्वनद्याप —' (१४८) से नुट् और 'अट्कुप्वाङ्— (१३८) से नकार को णकार होने से 'श्रीणाम्' और अभावपक्ष में अचि श्नु— (१९९) से इयँङ् हो कर 'श्रियाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

सप्तमी के एकवचन में श्री + इ इस दशा मे 'ङिति ह्रस्वश्च' (२२२) से नदी सञ्ज्ञा के विकल्प होने से नदीत्वपक्ष में ङेराम्— (१९८) सूत्र से ङि को आम् आदेश हो कर आट् का आगम, वृद्धि और इयँङ् आदेश करने से 'श्रियाम्' रूप बनता है। नदीत्वाभाव में केवल इयँङ् आदेश हो कर 'श्रियि' रूप निष्पन्न होता है। रूपमाला यथा—

प्र०	श्रीः	श्रियौ	श्रियः
द्वि०	श्रियम्	,,	,,
तृ०	श्रिया	श्रीभ्याम्	श्रीभिः
च०	श्रियै, श्रिये	,,	श्रीभ्यः
पं०	श्रियाः, श्रियः	,,	,,

ष०	श्रिया श्रिय	श्रियो	श्रीणाम्, श्रियाम्
स०	श्रियाम्, श्रियि	,,	श्रीषु
स०	हे श्री !	हे श्रियौ !	हे श्रिय !

इसी प्रकार धी (बुद्धि) ह्री (लज्जा) भी (डर) प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं।

※ विशेष ध्यातव्य ※

(१) ध्यान रहे कि नदीसञ्ज्ञा का उपयोग केवल 'ङे, ङसिँ, ङस, ङि आम् और सम्बुद्धि' इन छः स्थानों पर ही होता है।

(२) जिस शब्द में इयँङ उवँङ् आदेश होते हों उस शब्द की प्रथम 'नेयँङुवँङ्—' (२२१) सूत्र मे सर्वत्र छः स्थानों पर नदीसञ्ज्ञा का निषेध हो जाता है।

(३) नदीत्व के निषेध क बाद ङिद्वचनों तथा आम् में क्रमश 'ङिति ह्रस्वश्च' (२१२) और वाऽऽमि' (२३०) से नदीत्व का विकल्प हो जाता है।

(४) शेष सम्बुद्धि ही बच रहती है जिसमें वैस का वैसा नदीत्वनिषेध बना रहता है। इस प्रकार नेयँङुवँङ्—' (२२१) सूत्र केवल सम्बुद्धि में ही चरितार्थ होता है।

(५) उपयुक्त किसी नियम से स्त्रीशब्द प्रभावित नहीं होता, क्योंकि सवत्र 'अस्त्री' कहा गया है। अत स्त्रीशब्द की 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१९४) स नित्य ही नदीसञ्ज्ञा होती है।

(यहां ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग समाप्त होते हैं।)

—०※—

अब उकारान्त स्त्रीलिङ्ग 'धेनु' (गाय) शब्द का वर्णन करते हैं—

[लघु०] धेनुर्मतिवत्।

व्याख्या— धेनु' शब्द की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'मति' शब्दवत् होती है। रूपमाला यथा—

प्र०	धेनु	धेनू	धेनव
द्वि०	धेनुम्	,,	धेनू
तृ०	धेन्वा†	धेनुभ्याम्	धेनुभि
च०	धेन्वै, धेनवे※	,,	धेनुभ्य
प०	धेन्वा, धेनो※	धेनुभ्याम्	धेनुभ्य
ष०	,, ,, ※	धेन्वो	धेनूनाम्
स०	धेन्वाम्, धेनौ※	,,	धेनुषु
स०	हे धेनो !	हे धेनू !	हे धेनव !

† स्त्रीलिङ्ग होने के कारण घिसञ्ज्ञा होने पर भी 'आङो नाऽस्त्रियाम्' (१७१) द्वारा टा को ना नहीं होता।

※ ङिद्वचनों में 'ङिति ह्रस्वश्च' (२१२) द्वारा नदीसञ्ज्ञा का विकल्प हो जाता

है। नदीपक्ष में नदीकार्य होते हैं। यथा—ङे में आट् का आगम और वृद्धि हो कर यण् हो जाता है। ङसि और ङस् में भी ऐसा ही होता है। ङि में इदुद्भ्याम् (२२३) से ङि को आम् आदेश आट् और वृद्धि होकर यण् हो जाता है। नदीत्वाभाव में ङिद्वचनों की प्रक्रिया 'शम्भु' शब्द के समान होती है।

संस्कृतसाहित्य में उदन्त नित्यस्त्रीलिङ्ग शब्द बहुत कम हैं। फिर भी हम बालोपयोगी कुछ शब्दों का सङ्ग्रह यहां दे रहे हैं।

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
१अचिराशु	बिजली	१०काकु	शोक व भय से	रेणु	धूल
अभ्रमु*	ऐरावत हाथी		विकृतस्वर	२०वार्त्ताकु	बैंगन
	की स्त्री	कुहु	कोकिलालाप	वितद्रु*	एक नदी
अलाबु	लताविशेष	खर्जु	खुजली	सरयु*	,, ,,
इर्वारु*	ककड़ी	गण्डु	तकिया, गांठ	सिन्धु	,, ,,
५उडु†	नक्षत्र तारा	चञ्चु‡	चोंच	स्नायु	नस
कच्छु	रोग विशेष	१५जम्बु	जामुन	२५हनु	कपोलों का
कण्डु	खुजली	तनु	शरीर		उपरला भाग
कन्दु‡	कड़ाही	दनु	दैत्यों की माता		
करेणु	हथिनी	रज्जु	रस्सी		

— ० —

उकारान्त स्त्रीलिङ्गों में क्रोष्टु (गीदड़ी) शब्द में अन्तर पड़ता है। अब वह बताया जाता है—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—२३१ स्त्रियाञ्च ।७।१।९६॥

स्त्रीवाची क्रोष्टुशब्दस्तृजन्तवद्रूपं लभते।

अर्थः—स्त्रीवाची क्रोष्टु शब्द तृजन्त के सदृश रूप को प्राप्त होता है अर्थात् स्त्रीलिङ्ग में क्रोष्टु के स्थान पर क्रोष्टृ आदेश हो जाता है।

व्याख्या—स्त्रियाम् ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। क्रोष्टु ।१।१। तृज्वत् इत्यव्ययपदम्। ['तृज्वत्क्रोष्टुः' से]। तृचा तुल्यम् = तृज्वत्, तृजन्तवदित्यर्थः। अर्थः—(स्त्रियाम्) स्त्रीलिङ्ग में (च) भी (क्रोष्टु) क्रोष्टु शब्द (तृज्वत्) तृजन्त के समान होता है।

अर्थकृत आन्तर्य (सादृश्य) द्वारा क्रोष्टु के स्थान पर क्रोष्टृ आदेश ही होता है।

क्रोष्टु के स्थान पर क्रोष्टृ आदेश हो जाने पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

---

† अस्य क्लीबत्वमपीष्टम्।

‡ अस्य पुंस्त्वमपीष्टम्।

[लघु०] विधि सूत्रम्—२३२ ऋन्नेभ्यो ङीप् ।४।१।५॥

ऋदन्तेभ्यो नान्तेभ्यश्च स्त्रियां ङीप। क्रोष्ट्री गौरीवत् ।

अर्थ—स्त्रीलिङ्ग में ऋदन्त और नकारान्त शब्दों से ङीप प्रत्यय हो।

व्याख्या—स्त्रियाम् । ७ । १ । [यह अधिकृत है ।] प्रातिपदिकेभ्य । ५ । ३ । [ङ्याप्प्रातिपदिकात् से वचनविपरिणाम कर के] ऋन्नेभ्य ।५।३। ङीप् ।१।१। समास—ऋतश्च नाश्च = ऋन्नाः तेभ्य = ऋन्नेभ्य । इतरेतरद्वन्द्व । ऋन्नेभ्य' से तदन्तविधि हो जाने से 'ऋदन्तनान्तेभ्य' बन जाता है । अर्थ—(ऋन्नेभ्य) ऋदन्त और नान्त (प्रातिपदिकेभ्य)प्रातिपदिकों से परे (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में (ङीप) ङीप प्रत्यय हो जाता है ।

ऋदन्त प्रातिपदिकों से यथा—

कर्तृ + ङीप्=कर्तृ + ई=कर्त्री । हर्तृ + ङीप् = हर्तृ + ई=हर्त्री । नान्त प्रातिपदिकों से यथा—

दण्डिन् + ङीप्=दण्डिन्+ई=दण्डिनी । योगिन्+ङीप्=योगिन् + ई=योगिनी ।

क्रोष्टृ' शब्द ऋदन्त है अतः ङीप प्रत्यय हो गया । 'ङीप्' का 'ई' बच रहता है । ङकार की 'लशक्वतद्धिते' (१३६) से और पकार की 'हलन्त्यम्' (१) से इत्सञ्ज्ञा हो जाती है । तब क्रोष्टृ + ई' इस स्थिति में यण आदेश हो कर 'क्रोष्ट्री' यह ईकारान्त शब्द बन जाता है ।

ङ्यन्त होने से क्रोष्ट्री शब्द के रूप गौरी शब्द के समान होते हैं । रूपमाला यथा—

प्र० क्रोष्ट्री	क्रोष्ट्र्यौ	क्रोष्ट्र्यः		प० क्रोष्ट्र्याः	क्रोष्ट्रीभ्याम्	क्रोष्ट्रीभ्यः
द्वि० क्रोष्ट्रीम्		क्रोष्ट्रीः		ष०	क्रोष्ट्र्योः	क्रोष्ट्रीणाम्
तृ० क्रोष्ट्र्या	क्रोष्ट्रीभ्याम्	क्रोष्ट्रीभिः		स० क्रोष्ट्र्याम्	,,	क्रोष्ट्रीषु
च० क्रोष्ट्र्यै	,,	क्रोष्ट्रीभ्यः		सं० हे क्रोष्ट्रि !	हे क्रोष्ट्र्यौ !	हे क्रोष्ट्र्यः !

इसी प्रकार—कर्त्री (करने वाली) धात्री (धारण करने वाली), पात्री (पालन करने वाली) प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं ।

(यहां ऊकारान्त स्त्रीलिङ्ग समाप्त होते हैं ।)

[लघु०] भ्रूः श्रीवत् ।

व्याख्या—भ्रमु अनवस्थाने' (दिवा० परस्मै) धातु से 'भ्रमेश्च डूः'

(उणा० २२६) सूत्र द्वारा डू प्रत्यय कर टिलोप करने से भ्रू (भौं) शब्द निष्पन्न होता है। भ्रू शब्द के रूप श्री शब्द के समान बनेंगे। इस में 'अचि श्नुधातुभ्रुवाम्—' (१९९) से उवँङ् आदेश होता है। अत उवँङ की स्थिति इस में होने से 'नेयँङुवँङ्—' (२२१) स नदीसञ्ज्ञा का निषेध और ङिद्वचनों में ङिति ह्रस्वश्च' (२२२) से तथा आम् में वाऽऽमि' (२३) से विकल्प श्री' शब्द के समान ही होता है। रूपमाला यथा—

प्र०	भ्रू	भ्रुवौ	भ्रुव
द्वि०	भ्रुवम्	,	,,
तृ०	भ्रुवा	भ्रूभ्याम्	भ्रूभि
च०	भ्रुवै, भ्रुवे	,	भ्रूभ्य
प०	भ्रुवा , भ्रुव	,,	,
ष	,, ,,	भ्रुवो	भ्रूणाम भ्रुवाम्
स०	भ्रुवाम्, भ्रुवि	,,	भ्रूषु
स०	हे भ्रू !	हे भ्रुवौ !	हे भ्रुव !

इसी प्रकार भू (पृथ्वी) शब्द के रूप होते हैं।

[लघु०] स्वयम्भू' पु वत्।

अर्थः—स्वयम्भू शब्द का उच्चारण पु लिङ्गप्रोक्त स्वयम्भू' शब्द के समान होता है।

व्याख्या—स्वयम्भू शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग नहीं किन्तु विशेष्यलिङ्ग के आश्रित है। अत इस की 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१९४) से नदीसञ्ज्ञा नहीं होती। 'ओः सुपि (२१०) से प्राप्त होने वाले यण् का न भूसुधियो' (२०२) से निषेध हो जाता है। पुन 'अचि श्नु—' (१९९) से उवँङ हो जाता है।

स्वयम्भू (दैवी, आदि शक्ति) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	स्वयम्भू	स्वयम्भुवौ	स्वयम्भुव
द्वि०	स्वयम्भुवम्	,,	,,
तृ	स्वयम्भुवा	स्वयम्भूभ्याम्	स्वयम्भूभि
च०	स्वयम्भुवे	,,	स्वयम्भूभ्य
प०	स्वयम्भुव	स्वयम्भूभ्याम्	स्वयम्भूभ्य
ष०	,,	स्वयम्भुवो	स्वयम्भुवाम्
स०	स्वयम्भुवि	,,	स्वयम्भूषु
स०	हे स्वयम्भू !	हे स्वयम्भुवौ !	हे स्वयम्भुव

नोट—वधू, जम्बू, चमू, गुग्गुलू, श्वश्रू कमण्डलू, सहितोरू वामोरू, शफोरू, कद्रू आदि शब्दों के रूप गौरी शब्दवत् होते है। केवल ङ्यन्त न होने स सुलोप नहीं होता। निदर्शनाथ वधू' शब्द का उच्चारण यथा—

प्र०	वधूः	वध्वौ	वध्वः	प०	वध्वाः	वधूभ्याम्	वधूभ्यः
द्वि०	वधूम्		वधूः	ष०	,,	वध्वोः	वधूनाम्
तृ०	वध्वा	वधूभ्याम्	वधूभिः	स०	वध्वाम्	,,	वधूषु
च०	वध्वै		वधूभ्यः	सं०	हे वधु !	हे वध्वौ !	हे वध्वः !

(यहां ऊकारान्त स्त्रीलिङ्ग समाप्त होते हैं ।)

—•※•—

अब ऋदन्त स्त्रीलिङ्गों का वर्णन करते हैं । स्वसृ (बहिन) आदि ऋदन्त शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में ऋन्नेभ्यो ङीप् (२३२) से ङीप् प्राप्त होता है । इस का अग्रिम सूत्र से निषेध करते हैं—

[लघु०] निषेध सूत्रम्—२३१ न षट्-स्वस्रादिभ्यः ।४।१।१०॥

ङीप्टापौ न स्तः ।

स्वसा तिस्रश्चतस्रश्च ननान्दा दुहिता तथा ।
याता मातेति सप्तैते स्वस्रादय उदाहृताः ॥

स्वसा । स्वसारौ ।

अर्थः—षट्सञ्ज्ञकों तथा स्वसृ आदियों से परे ङीप् और टाप् नहीं हुआ करते ।

स्वसृ आदियों का कारिका मे परिगणन करते हैं—१ स्वसृ (बहिन) २ तिसृ (त्रि को स्त्रीलिङ्ग मे हुआ आदेश), ३ चतसृ (चतुर् का स्त्रीलिङ्ग में हुआ आदेश) ४ ननान्दृ (पति की बहिन, ननन्द), ५ दुहितृ (लड़की) ६ यातृ (पति के भाई की पत्नी), ७ मातृ (माता) । ये सात शब्द स्वस्रादि कहे गये हैं ।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम् । षट्स्वस्रादिभ्यः ।५।३। ङीप् ।१।१। ['ऋन्नेभ्यो ङीप्' से] टाप् ।१।१। ['अजाद्यतष्टाप्' से] समासः—षट् च स्वस्रादयश्च=षट्स्वस्रादयः, तेभ्यः=षट्स्वस्रादिभ्यः इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(षट्स्वस्रादिभ्यः) षट्सञ्ज्ञकों तथा स्वस्रादि शब्दों से परे (ङीप्) ङीप् और (टाप्) टाप् (न) नहीं होते ।

स्वस्रादिगण मूल में श्लोकबद्ध दे दिया गया है । षट्सञ्ज्ञा पीछे (१८७) सूत्र द्वारा षष्, पञ्चन्, सप्तन् आदि शब्दों की कही गई है ।

'स्वसृ' शब्द की सम्पूर्ण प्रक्रिया अजन्तपुंलिङ्गान्तर्गत 'भ्रातृ' शब्द के समान होती है । केवल शस् में ही सकार का नकार न हो कर 'स्वसॄः' बनता है । रूपमाला यथा—

प्र०	स्वसा❀	स्वसारौ†	स्वसारः†	पं०	स्वसुः‡	स्वसृभ्याम्	स्वसृभ्यः
द्वि०	स्वसारम्†	†	स्वसॄः	ष०	,, ‡	स्वस्रोः	स्वसॄणाम्
तृ०	स्वस्रा	स्वसृभ्याम्	स्वसृभिः	स०	स्वसरि×	,,	स्वसृषु
च०	स्वस्रे		स्वसृभ्यः	सं०	हे स्वसः !*	हे स्वसारौ !	हे स्वसारः !

❀ 'ऋदुशनस— (२०५) अप्तृन्तृच— (२०६), हल्ङ्याब्भ्यः — (१७९), नलोपः — (१८)' ।

† 'ऋतो ङि—(२०४) अप्तृन्—(२०६)' ।

‡ 'ऋत उत् (२०८), रात्सस्य (२०९)' ।

× "ऋतो ङि— (२०४)" ।

* 'ऋतो ङि—(२०४) हल्ङ्याब्भ्यः—(१७९)' ।

[लघु०] माता पितृवत् । शसि—मातॄः ।

व्याख्या—मातृ (माता) शब्द की प्रक्रिया अजन्तपुंलिङ्गप्रोक्त 'पितृ' शब्दवत् होती है । केवल शस् में नत्व न होने से 'मातॄः' यह विशेष है । रूपमाला यथा—

प्र०	माता	मातरौ	मातरः	पं०	मातुः	मातृभ्याम्	मातृभ्यः
द्वि०	मातरम्	,,	मातॄः	ष०	,,	मात्रोः	मातॄणाम्
तृ०	मात्रा	मातृभ्याम्	मातृभिः	स०	मातरि	,,	मातृषु
च०	मात्रे	,,	मातृभ्यः	सं०	हे मातः !	हे मातरौ !	हे मातरः !

इसी प्रकार—ननान्दृ, दुहितृ और यातृ शब्दों के उच्चारण होते हैं ।

(यहां ऋदन्त स्त्रीलिङ्ग समाप्त होते हैं ।)

—०❀०—

[लघु०] द्यौर्गोवत् ।

व्याख्या—'द्यो' शब्द का अर्थ आकाश वा स्वर्ग है । 'द्यौः स्त्री स्वर्गान्तरिक्षयोः' इत्यौणादिकपदार्णवे श्रीपेरुसूरयः । 'द्युत दीप्तौ' (भ्वा० आत्मने०) धातु से बहुल के कारण औणादिक 'डो' प्रत्यय करने से 'द्यो' शब्द निष्पन्न होता है । इसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया अजन्तपुंलिङ्गान्तर्गत 'गो' (पृष्ठ २११) शब्द के समान होती है । रूपमाला यथा—

प्र	द्यौ †	द्यावौ†	द्याव †	प०	द्या *	द्याभ्याम्	द्योभ्य
द्वि०	द्याम् ‡		द्या ‡	ष०	*	द्यवा	द्यवाम्
तृ	द्यवा	द्याभ्याम्	द्याभि	स०	द्यवि		द्यासु
च०	द्यवे		द्याभ्य	स०	हे द्यौ !	हे द्यावौ !	हे द्याव !

† ओतो णिदिति वाच्यम् अचो ञ्णिति (१८१)।

‡ औतोऽम्शसो (२१४)।

* ङसि ङसाश्च (१७३)।

इसी प्रकार स्त्रीलिङ्ग गो (गाय) शब्द का उच्चारण होता है।

(यहाँ ओकारान्त स्त्रीलिङ्ग समाप्त होते हैं।)

—०❀—

[लघु०] रा पुंवत्।

व्याख्या — रै शब्द पुंलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग दोनों प्रकार का होता है। स्त्रीलिङ्ग में भी उच्चारण पुंलिङ्ग के समान होता है किञ्चिन्मात्र भी अन्तर नहीं होता। रूपमाला यथा—

प्र	रा	रायौ	राय	प	राय	राभ्याम्	राभ्य
द्वि०	रायम्	,,	,,	ष०	,,	रायो	रायाम्
त०	राया	राभ्याम्	राभि	स०	रायि	,,	रासु
च०	राये		राभ्य	स०	हे रा !	हे रायौ !	हे राय

हलादि विभक्तियों में 'रायो हलि' (२१५) से आकार आदेश तथा अजादि विभक्तियों में आय् आदेश हो जाता है।

[लघु०] नौग्लौवत्।

व्याख्या— 'णुद प्रेरणे' (तुदा० प०) धातु से 'ग्लानुदिभ्यां डौ' (उणा० २२२) सूत्र द्वारा डौ प्रत्यय हो कर टि का लोप करने से 'नौ' (नौका) शब्द निष्पन्न होता है। इस की समग्र प्रक्रिया अजन्तपुंलिङ्गान्तर्गत 'ग्लौ' (पृ ३१३) शब्द के समान होती है। रूपमाला यथा—

प्र०	नौ	नावौ	नाव	प०	नाव	नौभ्याम्	नौभ्य
द्वि०	नावम्		,,	ष०	,,	नावो	नावाम्
त०	नावा	नौभ्याम्	नौभि	स०	नावि		नौषु
च	नावे		नौभ्य	स०	हे नौ !	हे नावौ !	हे नाव !

सर्वत्र अजादि विभक्तियों में एचोऽयवायावः (२२) से औकार का आव् आदेश हो जाता है।

[लघु०] इत्यजन्ताः स्त्रीलिङ्गाः [शब्दाः]।

अर्थ—यहां अजन्तस्त्रीलिङ्ग शब्द समाप्त हैं।

अभ्यास (३४)

(१) निम्नलिखित प्रश्नों का उत्तर दीजिये—

(क) क्या कारण है कि इयङ्स्थानी होने पर भी 'स्त्री' शब्द में नदीसञ्ज्ञा का निषेध नहीं होता?

(ख) 'रमायै' में आटश्च सूत्र क्यों प्रवृत्त नहीं होता?

(ग) क्या कारण है कि अजन्त स्त्रीलिङ्ग प्रकरण में ह्रस्व अकारान्त शब्दों का वर्णन नहीं किया गया?

(घ) 'औङ्' किसे कहते हैं और उस का किस सूत्र में व्यवहार किया गया है?

(२) लिङ्गविशिष्टपरिभाषा का सोदाहरण विवेचन करें।

(३) 'गुणादीर्घौत्वानामपवादः' का तात्पर्य उदाहरणप्रदर्शनपूर्वक व्यक्त करें।

(४) निम्नलिखित रूपों की सिद्धि करते हुए यथासम्भव वैकल्पिक रूपों का भी प्रदर्शन करें।

१ तिस्रः। २ मातॄः। ३ द्यौः। ४ अक्क!। ५ रमया। ६ स्त्रियम्। ७ श्रीणाम्। ८ मती। ९ द्वे। १० स्त्रि!। ११ मत्यै। १२ उत्तरपूर्वायाम्। १३ श्रीः!। १४ रमायाम्। १५ स्त्रियौ।

(५) 'हे श्रीः!' यहां इयङ् आदेश न होने पर भी कैसे 'नेयँङुवँङ्—' सूत्र प्रवृत्त हो जाता है?।

इति भैमीव्याख्ययोपबृंहितायां

लघुसिद्धान्तकौमुद्याम्

अजन्त-स्त्रीलिङ्ग-प्रकरणं

समाप्तम्।

अथाजन्त-नपुंसकलिङ्ग-प्रकरणम्

अब क्रमप्राप्त अज तनपुसक श दों का विवेचन करते हे। सवप्रथम अदन्त शब्दों का नम्बर आता है।

ज्ञा अवबोधन (क्र्या० परस्मै) धातु स ल्युट प्रत्यय करने पर ज्ञान' शब्द सिद्ध हाता है।

ज्ञान + स (सुँ)। यहा अग्रिमसूत्र प्रवृत्त हाता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२३४ अतोऽम् ।७।१।२४॥

अतोऽङ्गात् क्लीबात् स्वमोरम् । अमि पूर्व —ज्ञानम् ।
'एङ्ह्रस्वाद् ' इति हल्लोप'—हे ज्ञान ! ।

अर्थ —अदन्त नपुसकलिङ्ग अङ्ग से परे सुँ और अम् का अम् आदेश हो ‡।

व्याख्या— अत ।५।१। अङ्गात् ।५।१। [अङ्गस्य इस अधिकृति का वचन विपरिणाम हो जाता है।] नपुसकात् ।५।१। स्वमा ।६।२। ['स्वमोनपुसकात स] अम् ।१।१। समास — सुश्च अम् च=स्वमौ तयो =स्वमो इतरेतरद्वन्द्व । अङ्गात्' का विशेषण होने से अत से तद् तविधि हो कर अद् ताद् अङ्गात् बन जाता है। अथ — (अत =अदन्तात्) अदन्त (नपुसकात्) नपुसक (अङ्गात्) अङ्ग से परे (स्वमा) सुँ और अम् के स्थान पर (अम्) अम् आदेश हो। अनकाल हाने से अम् आदश सर्वादश होगा।

---

‡ कइ लोग अतोम् सूत्र का अत ।६।१। म ।१।१। इस प्रकार पदच्छेद करते हुए—अद त नपुसक अङ्ग से परे सु और अम् को म आदेश हो ऐसा अथ करते हैं। इस प्रकार सु में सकार को म् आदेश हो कर—'ज्ञानम् प्रयोग ठीक सद्ध हो जाता है। अम् के विषय में आद परस्य परिभाषा द्वारा अम् के आदि अकार को मकार आदेश हो कर मयोगान्त लोप करने से 'ज्ञानम् भी सिद्ध हो जाता है। किन्त सम्बुद्धि में प्रक्रिया अतीव सरल हो जाती है अर्थात् ज्योंही सम्बुद्धि क सकार को मकार करते हैं त्योंही एङहस्वात् सम्बुद्धे से उस का लोप हो जाता है, अ ता दवच्च स पूर्वा त कल्पना का कष्ट नहीं उठाना पडता।

शेखरकार आदियों ने इस मत की खूब आलोचना की है। उन का कथन है कि 'म आदश मानने पर ज्ञानम् आदियों में सुपि च से दीघ प्राप्त होगा जो अनिष्ट है। किन्त 'एङहस्वात्— क भाष्य से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भाष्यकार अम् आदेश ही मानते हैं म् आदेश नहीं।

स्वनार्नपुसकात' (२४४) सूत्र मे सुँ और अम् का लुक् प्राप्त था ह्रस्व अकारान्त शब्दों में यह सूत्र उस का बाध करता है। अम् को अम् इसीलिए विधान किया गया है। 'द्विबद्ध सुबद्ध भवति ।

ज्ञान + स्' यहा प्रकृतसूत्र से सुँ का अम् आदेश हो कर अमि पूव (१३५) से पूवरूप करने पर ज्ञान् अम् = ज्ञानम्' प्रयाग सिद्ध हाता है।

ध्यान रहे कि 'सुँ' विभक्तिसञ्ज्ञक है अत इस के स्थान पर आदश होने वाला अम् भी विभक्तिसञ्ज्ञक होगा। अत एव हलन्यम्' (१) द्वारा प्राप्त अम के मकार की इत्सञ्ज्ञा का न विभक्तौ तुस्मा (१३१ , से निषेध हो जायगा।

सम्बुद्धि में हे ज्ञान+स् इस स्थिति में परत्व के कारण सम्बुद्धिलोप का बा ध कर प्रकृतसूत्र से सुँ को अम् आदश हो कर अमि पूव (१३५) स पूवरूप करने पर ज्ञानम् हुआ। पुन एङ्ह्रस्वा सम्बुद्धे' (१३४) से सम्बुद्धि के हल्—मकार का लोप करने पर 'हे ज्ञान प्रयाग सिद्ध हाता है* ।

प्रथमा क द्विवचन में ज्ञान + औ इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त हाता हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२३५ नपुंसकाच्च ।७।१।१९॥

क्लीबाद् औङ श्री स्यात्। भसञ्ज्ञायाम्—

अर्थ —नपुंसकलिङ्ग अङ्ग से परे 'औ' को शी आदेश हो जाता है। भसञ्ज्ञा करने पर (अग्रिमसूत्र प्रवृत्त हाता है।)

व्याख्या—नपुंसकात् ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। अङ्गात् ।५।१। [अङ्गस्य इस अधिकृति का वचनविपरिणाम हो जाता है।] औङ ।६।१। [औङ आप ' से] शी ।१।१। [जस शी मे] अर्थ —(नपुंसकात्) नपुंसक (अङ्गात) अङ्ग से परे (औङ) औङ के स्थान पर (शी) शी आदेश हो। प्रथमा तथा द्वितीया के द्विवचन की औङ सञ्ज्ञा है—यह पीछे 'औङ आप ' (२१६) सूत्र पर लिख चुके हैं।

ज्ञान + औ यहा शी आदेश होकर अनुबन्धलोप करने से ज्ञान+ई हुआ। अब ई' यह 'औ' के स्थान पर आदेश हाने के कारण स्थानिवत्त्वेन स्वादि है। 'सुडनपुंसकस्य' (१६३) में नपुंसक का वजन होने से सवनामस्थान भी नहीं। किञ्च यह अजादि भी है अत इस के परे होने पर यचि भम्' (१६५) से ज्ञानशब्द की भसञ्ज्ञा हो जाती है। भसञ्ज्ञा होने से अग्रिमसूत्र द्वारा नकारोत्तर अकार का लोप प्राप्त होता है। तथाहि—

---

* हे ज्ञान+स्=हे ज्ञान+अम्=हे ज्ञान+म यहा पूवरूप अकार को 'अन्तादिवच्च से पूव का अन्त मान लेने से ज्ञान यह ह्रस्वान्त अङ्ग हो जाता है। तब इससे परे सम्बुद्धि हल्=मकार का लोप हो जाता है।

[लघु०] विधि सूत्रम्—२३६ यस्येति च ।६।४।१४८॥

ईकारे तद्धिते च परे भस्यवर्णावर्णयोर्लोपः । इत्यल्लोपे प्राप्ते—

अर्थः—ईकार या तद्धित परे होने पर भसञ्ज्ञक इवर्ण अवर्ण का लोप हो जाता है।

व्याख्या—यस्य ।६।१। भस्य ।६।१। [यह अधिकृत है।] इति ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। तद्धिते ।७।१। [नस्तद्धिते से] लोपः ।१।१। [अल्लोपोऽनः से] समास—इश्च अश्च=यम्, तस्य=यस्य, समाहारद्वन्द्व। अर्थ—(ईति) ईकार (च) अथवा (तद्धित) तद्धित परे होने पर (भस्य) भसञ्ज्ञक (यस्य) इवर्ण अवर्ण का (लोपः) लोप हो जाता है।

इस सूत्र के उदाहरण आगे यथास्थान बहुत आएंगे।

ज्ञान+ई यहां ईकार परे है अतः भसञ्ज्ञक अकार का लोप प्राप्त होता है, पर यह अनिष्ट है। अतः इस के निषेध के लिये अग्रिम वार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—(२२) औङः श्यां प्रतिषेधः।

ज्ञाने।

अर्थ—औङ् के स्थान पर आदेश हुए शी के परे होने पर 'यस्येति च' सूत्र का निषेध हो जाता है।

व्याख्या—यह वार्त्तिक 'यस्येति च' सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है अतः इस से उसी का निषेध होता है। औङः ।६।१। श्याम् ।७।१। प्रतिषेधः ।१।१। अर्थ—(औङः) औङ् के स्थान पर हुए (श्याम्) शी के परे होने पर (प्रतिषेधः) यस्येति च सूत्र का निषेध हो जाता है।

ज्ञान+ई' यहां प्रकृत वार्त्तिक से 'यस्येति च' (२३६) द्वारा प्राप्त अकारलोप का निषेध हो जाता है। अब 'आद् गुणः' (२७) से एकार गुण हो कर 'ज्ञाने' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्रथमा के बहुवचन में 'ज्ञान+जस्' इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२३७ जश्शसोः शिः ।७।१।२०॥

क्लीबाद् अनयोः शिः स्यात्।

अर्थ—नपुंसकलिङ्ग से परे जस् और शस् को 'शि' आदेश हो।

व्याख्या—नपुंसकात् ।५।१। [स्वमोर्नपुंसकात् से] जश्शसोः ।६।२। शिः ।१।१। समास—जश्च शश्च=जश्शसौ तयोः=जश्शसोः, इतरेतरद्वन्द्व। अर्थ—(नपुंसकात्) नपुंसकलिङ्ग से परे (जश्शसोः) जस् और शस् के स्थान पर (शिः) शि आदेश हो।

जस् और शस् प्रत्यय हैं अत स्थानिवद्भाव से शि भी प्रत्यय है। प्रत्यय होने से इस के शकार की लशक्वतद्धिते (१३६) से इत्सञ्ज्ञा हो जाती है। शेष इ' ही बच रहता है।

ज्ञान+शि=ज्ञान+इ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञासूत्रम्—२३८ शि सर्वनामस्थानम् ।१।४।४१॥

'शि' इत्येतद् उक्तसञ्ज्ञं स्यात्।

अर्थ—'शि' यह सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—शि ।१।१। सर्वनामस्थानम् ।१।१। अर्थ —(शि) शि (सर्वनामस्थानम्) सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक हो

नपुंसकलिङ्ग में जस् की सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा नहीं होती—यह पीछे 'सुडनपुंसकस्य' (१६३) सूत्र पर बताया जा चुका है। और शस् की तो सुट् न होने से किसी भी लिङ्ग में सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा नहीं होती। तो यहां नपुंसक में जस् और शस् के स्थान पर होने वाला 'शि' आदेश स्थानिवद्भाव से किसी भी प्रकार सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक नहीं हो सकता, परन्तु इस की सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा करनी इष्ट है। अत इस सूत्र से उस का विधान किया गया है।

'ज्ञान+इ' यहां शि की सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा हो गई। अब इस का उपयोग दिखलाते हैं—

[लघु०] विधिसूत्रम्—२३९ नपुंसकस्य झलचः ।७।१।७२॥

झलन्तस्याजन्तस्य च क्लीबस्य नुम् स्यात् सर्वनामस्थाने।

अर्थ—सर्वनामस्थान परे होने पर झलन्त और अजन्त नपुंसक को नुम् का आगम हो जाता है।

व्याख्या—नपुंसकस्य ।६।१। झलचः ।६।१। नुम् ।१।१। [इदितो नुम् धातोः' से] सर्वनामस्थाने ।७।१। ['उगिदचां सर्वनामस्थाने—' से] समास —झल् च अच् च=झलच्, समासान्तविधेरनित्यत्वाद् 'द्वन्द्वाच्चुद—' इति न टच्। तस्य=झलचः, समाहारद्वन्द्व। 'नपुंसकस्य' का विशेषण होने से 'झलचः' से तदन्तविधि हो जाती है। अर्थ—(सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे होने पर (झलचः) झलन्त और अजन्त* (नपुंसकस्य) नपुंसकलिङ्ग का अवयव (नुम्) नुम् हो जाता है ‡।

---

* 'अचः परस्मैव झलो नुम्विधानम्' इस भाष्य के नियम से मांसि (मांस+जस्), गवाञ्चि (पूजार्थक) आदि में नुम् न होगा।

‡ यहां हम 'मिदचोऽन्त्यात्पर' (२४) परिभाषा का किञ्चित् आश्रय ले कर ही अर्थ कर रहे हैं। नपुंसकस्य' में अवयवषष्ठी है—इस का निर्णय परिभाषा से ही होता है।

'ज्ञान + इ' यहां ज्ञान' यह अजन्तनपुंसक है, इस से परे 'इ' यह सर्वनामस्थान विद्यमान है। अतः 'नपुंसकस्य झलचः' से ज्ञान' को नुम् का आगम प्राप्त होता है। अब यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह नुम् आगम नपुंसक का कौन सा अवयव हो? क्या आद्य अवयव हो या अन्त अवयव? अथवा और ही कुछ हो?। इस की अग्रिम परिभाषा से व्यवस्था करते हैं—

[लघु०] परिभाषा सूत्रम्—२४० मिदचोऽन्त्यात् परः ।१।१।४६॥

अचां मध्ये योऽन्त्यः, तस्मात्परस्तस्यैवान्तावयवो मित् स्यात्।
उपधादीर्घः—ज्ञानानि। पुनस्तद्वत्। शेषं पुंवत्।

अर्थः—समुदाय के अचों में जो अन्त्य अच् उस से परे मित् का आगम होता है। किञ्च वह उस समुदाय का अन्तावयव माना जाता है।

व्याख्या—मित् ।१।१। अचः ।६।१। अन्त्यात् ।५।१। परः ।१।१। अन्तः ।१।१। [आद्यन्तौ टकितौ से] समासः—म् इत् यस्य स मित्, बहुव्रीहिसमासः। अच इति निर्धारणे षष्ठी, सौत्रमेकवचनं जात्यभिप्रायेण। यस्य समुदायस्य मिद् विहितः तस्य समुदायस्य अचाम्मध्य इत्यर्थः। अर्थः—(मित्) मित् आगम (अचः) जिस समुदाय को विधान किया गया हो उस समुदाय के अचों के मध्य में (अन्त्यात्) जो अन्त्य अच् उस से (परः) परे होता है। किञ्च वह उसी समुदाय का (अन्तः) अन्त अवयव समझा जाता है ×।

भावः—जिस समुदाय को मित् (म् इत् वाला—नुम् आदि) कहा जाय उस समुदाय में जितने अच् हों, उन में से अन्तिम अच् से परे मित् रखा जाना चाहिये, तथा उस मित् को उस समुदाय का अन्तिम अवयव समझना चाहिये।

× यदि मित् समुदायभक्त=समुदाय का अवयव न माना जाय तो 'वहंलिह' आदि प्रयोगों में पदमूलक अनुस्वार न हो सकेगा। तथाहि—वहं लेढीति वहंलिहः। 'वह' कर्म उपपद रहते 'लिह्' धातु से 'वहाभ्रे लिहः' (३.२.३२) से खश् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप करने से 'वहलिह' होता है। अब 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' (७९७) से 'वह' को मुम् का आगम हो कर 'वहम्+लिह' बनता है। 'वह' पदसञ्ज्ञक था अब यदि मुम् को उसका अवयव नहीं मानते तो 'वहम्' यह मान्त पद नहीं हो सकता—जो अनिष्ट है। अब मित् के अन्तावयव स्वीकृत होने से मान्त पद हो जाता है और इस प्रकार अनुस्वार सिद्ध हो जाता है।

ध्यान रहे कि सूत्र का यह अंश जहां उपयोगी होगा वहीं प्रवृत्त होगा, प्रयोजनाभाव में इस का उपयोग न होगा। [देखो शेखर और चिदस्थिमाला]

ज्ञान+इ यहां ज्ञान इस समुदाय को मित्–नुम् विधान किया गया है। 'ज्ञान' में दो अच् हैं, एक जकारोत्तर आकार और दूसरा नकारोत्तर अकार। तो अन्त्य अच् नकारोत्तर अकार से परे 'नुम्' रखा जायगा और यह ज्ञानशब्द का अन्तावयव समझा जायगा।

ज्ञानुम्+इ यहां नुम् के उम् का लोप हो कर ज्ञानन्+इ' हुआ। नुम् करने से पूर्व 'ज्ञान' अङ्ग था, परन्तु अब नुम् के अन्तावयव हो जाने से ज्ञानन् यह नान्त अङ्ग हो गया है। नान्त हो जाने पर सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ (१७७) से उस की उपधा का दीर्घ हो कर ज्ञानान्+इ='ज्ञानानि प्रयोग सिद्ध होता है।

द्वितीया के एकवचन में 'ज्ञान+अम्' इस स्थान में 'अतोऽम् (२३४) से अम् को अम् आदेश हो जाता है। इस का लाभ स्वमोर्नपुंसकात् (२४४) से अम् का लुक नहीं होता। पुन 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप हो कर ज्ञानम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

द्वितीया के द्विवचन में ज्ञान+औ' (औट्) इस स्थिति में पूर्ववत् नपुंसकाच्च (२३५) से औ को शी आदेश हो कर अनुबन्ध लोप और गुण करने से 'ज्ञाने' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहां भी पूर्ववत् भसञ्ज्ञा, भसञ्ज्ञक अकार के लोप की प्राप्ति तथा उस का वारण कर लेना चाहिये।

द्वितीया के बहुवचन में ज्ञान+शस्' इस स्थिति में पूर्ववत् जश्शसोः शिः (२३७) से शि आदेश, अनुबन्धलोप शि सर्वनामस्थानम्' (२३८) से सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा 'नपुंसकस्य झलचः' (२३९) से नुम् आगम तथा नान्त अङ्ग की उपधा का दीर्घ हो कर 'ज्ञानानि' प्रयोग सिद्ध होता है।

नोट—नपुंसकलिङ्ग में प्रायः प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के रूप तथा उन की प्रक्रिया एक समान हुआ करती है। हम आगे प्रथमा विभक्ति की ही सिद्धि करेंगे उस से द्वितीया की भी सिद्धि समझ लेनी चाहिये।

नपुंसक में प्रायः तृतीयादि विभक्तियों के रूप पुंलिङ्ग के समान होते हैं अतः यहां उन की भी सिद्धि नहीं करेंगे। हां जहां कुछ विशेष होगा वहां पूरी २ प्रक्रिया लिखेंगे। ज्ञान शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	ज्ञानम्	ज्ञाने	ज्ञानानि
द्वि०	,,	,,	,,
तृ०	ज्ञानेन	ज्ञानाभ्याम्	ज्ञानैः
च०	ज्ञानाय	,,	ज्ञानेभ्यः
पं०	ज्ञानात्	ज्ञानाभ्याम्	ज्ञानेभ्यः
ष०	ज्ञानस्य	ज्ञानयोः	ज्ञानानाम्
स०	ज्ञाने	,,	ज्ञानेषु
सं०	हे ज्ञान!	हे ज्ञाने!	हे ज्ञानानि!

[लघु०] एवं धन-वन फलादयः ।

अर्थ — इसी तरह धन वन फल आदि ह्रस्व अकारान्त नपुंसक शब्दों के रूप बनते हैं ।

व्याख्या—बालकों की ज्ञानविवृद्धि के लिये ज्ञानवत् शब्दों का कुछ उपयोगी सङ्ग्रह यहां दे रहे हैं । *' इस चिह्न वाले स्थानों में पूर्ववत् णत्वप्रक्रिया जान लेनी चाहिये । अनुवाद के जिज्ञासु छात्रों को क्रियाशब्द विशेष देखने चाहियें ।

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
१ अक्षर*	अकारादि वर्ण	आर्द्रक	अदरक	क्षेत्र*	खेत
अगार*	गृह	आसन	आसन	गवेषण	खोज
अग्निकोण	दक्षिणपूर्वीकोना	२५ आस्तिक्य	परलोक स्वीकार	४५ गौरव*	गुरुत्व प्रतिष्ठा
अग्निहोत्र*	होम		करना	चन्दन	चन्दन
५ अघ	पाप	आस्य	मुख	चरण	(पु० न०) पैर
अङ्ग	काय का अवयव	उदर*	पेट	चरित	चालचलन
अञ्जन	सुरमा	ऋत	मानसिक सत्य	चाञ्चल्य	चञ्चलता
अनृत	झूठ	ऐक्य	एकता	५० चातुर्य*	निपुणता
अन्तरिक्ष	आकाश	३० ओदन	भात	चामीकर*	सुवर्ण
१० अन्तःपुर*	रनवास	औत्सुक्य	उत्कण्ठा	चिबुक	ठोडी
अभ्र*	बादल	कङ्कण	कंगन	चिह्न	निशान
अभ्रक*	अभ्रक	कज्जल	काजल	चौर्य*	चोरी
अमृत	जल अमृत	कनक	सुवर्ण धत्तूरा	५५ जठर*	पेट
अम्भोज	पद्म	३५ कमल	कमल	जल	पानी
१५ अम्ल	छाछ, खट्टा	कव्य	पितरों के लिये	जाड्य	मूर्खता
अरविन्द	पद्म		दिया गया अन्न	जातिफल	जयफल
अवसान	विराम, समाप्ति	काञ्चन	सुवर्ण	जाम्बूनद	सोना
अस्त्र*	फेंकने योग्य	कार्य*	काम	६० टङ्कण	सुहागा
	बाण आदि	कुण्ड	हाण्डी	तत्त्व	यथार्थ रूप
अहिफेन	अफ़ीम	४० कुमुद	रात में खिलने	तथ्य	सत्य
२० अंशुक	महीन वस्त्र		वाला श्वेतकमल	तन्त्र*	शास्त्रविशेष
आधिक्य	ज्यादती	कौटिल्य	कुटिलता	तर्पण	देवता ऋषि और
आर्जव	सिधाई	क्षीर*	दूध		पितरों को जलदान

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
६५ताम्बूल	पान	बाल्य	लड़कपन	लवित्र*	दराती चाकू
तारुण्य	जवानी	बीज	कारण	लशुन	लहसुन
तिमिर*	अन्धकार	९५भय	डर	लाङ्गल	हल
तुत्थ	नीला थोथा	भुवन	लोक	लाङ्गूल	पूंछ
तृण	तिनका	भोजन	खुराक	१२५लाघव	हलकापन,
७०तैल	तेल	मनोमालिन्य	रंजीदगी		तन्दुरुस्ती
तोक	सन्तान	मार्दव	कोमलता	लालन	लाड करना
तोय	पानी	१००मित्र*	दोस्त	लालित्य	सौन्दर्य
दाक्षिण्य	चतुरता	मुख	मुँह	लेख्य	दस्तावेज
दास्य	दासता	मूल्य	दाम, कीमत	वक्त्र*	मुख
७५दुःख	दुःख	मौन	चुप्पी	१३०वङ्ग	रांगा कली
दुर्भिक्ष*	अकाल	यन्त्र*	कल व औज़ार	वचन	कथन
दैव	भाग्य	१०५यवस	घास तृण	वज्र*	इन्द्र का अस्त्र
द्वार*	दरवाज़ा	युद्ध	लड़ाई		हीरा
धन	धन	योजन	चार कोस	वन	जंगल
८०नयन	आंख	यौतक	दहेज़ का धन	वसन	वस्त्र
नवनीत	मक्खन	यौतुक	दहेज़ का धन	१३५वाक्य	वाक्य
नास्तिक्य	परलोक स्वीकार	११०यौवन	जवानी	वाङ्मय	शास्त्र
	न करना	रत्न	मणि	वाद्य	बाजा
नेत्र*	आंख	रसायन	जरा व्याधि	वार्त्त	तन्दुरुस्ती
नैपुण्य	निपुणता		नाशक औषध	वार्धक्य	बुढ़ापा
८५पङ्कज	कमल	रहस्य	पोशीदा	१४०वासर*	(पु० न०) दिन
पत्र*	पत्ता	राज्य	राज	वाहन	सवारी
पाण्डित्य	विद्वत्ता	११५रामठ	हींग	वितुन्नक	धनिया
पार्थक्य	जुदाई	लक्षण	भेददर्शक चिह्न	विवर*	छिद्र बिल
पुष्प*	फूल	ललाट	माथा	विश्वभेषज	सौंठ
९०पैशुन्य	चुगलखोरी	ललाम	प्रधान, सुन्दर	१४५विष*	जहर
फल	फल	लवङ्ग	लौंग	वीर्य*	बल पराक्रम
फेन	झाग	१२०लवण	नमक	वृत्त	सदाचार

शब्द	अर्थ
वृन्त	जिस से फल बन्धे रहते हैं
वृन्द	समूह
१५०वेतन	तनख़्वाह
वैचित्र्य*	विचित्रता
वैद्यक	हिकमत
वैधव्य	विधवापन
वैर*	दुश्मनी
१५५व्यलीक	अपकार अप्रिय
व्यसन	विपत्ति, कामज व क्रोधज दोष
व्रण	(पु० न०) क्षत घाव
शस्त्र*	हथियार
शास्त्र*	धर्मग्रन्थ
१६ शूल	दर्द, एक अस्त्र
शैथिल्य	शिथिलता
शैशव	लड़कपन
सख्य	मित्रता
सङ्गीत	नाचना गाना, बजाना तीनों
१६५सत्य	सच
सत्र*	यज्ञ
सदन	घर
सरसिज	कमल
सरसिरुह*	कमल, पद्म
१७०साक्ष्य*	गवाही
सादृश्य	सदृशता
साधन	उपकरण

शब्द	अर्थ
साध्वस	डर
सान्त्वन	दिलासा देना
१७५सामर्थ्य	ताकत
साहस	ज़बरदस्ती
साहाय्य	सहयोग सहायता
सिक्थ	मोम
सिन्दूर*	सिन्दूर
१८०सिंहासन	राजा का तख़्त
सुकृत	पुण्य
सुख	सुख
सुदर्शन	विष्णु का चक्र
सुवर्ण	सोना
१८५सोपान	सीढ़ी
सौकर्य*	आसानी
सौभाग्य	खुशनसीबी
स्तेय	चोरी
स्तोत्र*	स्तुतिग्रन्थ
१९०स्थण्डिल	यज्ञार्थ संस्कृत भूमि
स्थान	जगह
स्थाविर*	बुढ़ापा
स्थैर्य*	स्थिरता
स्फुलिङ्ग	(त्रि०) अग्निकण
१९५स्यन्दन	रथ
स्वस्तिक	गणेशचिह्न
हरिताल	हड़ताल
हर्म्य*	धनियों का घर, महल
हल	हल

शब्द	अर्थ
२००हवन	होम
हव्य	देवयोग्य अन्न
हाटक	सुवर्ण
हालाहल	विषविशेष
हास्तिक	हाथियों का टोला
२०५हास्य	हँसी
हित	भलाई
हिम	बरफ़
हिरण्य	सुवर्ण
हृदय	दिल
२१०हैयङ्गवीन	माखन

— ❀ —

अथ क्रिया-शब्दाः ।

१अन्वेषण	ढूंढना
अपक्षेपण	नीचे फेंकना
अर्चन	पूजना
अवरोहण	उतरना
५आक्रमण	हमला करना
आचमन	आचमन करना
आदान	लेना
आनयन	लाना
आरोहण	चढ़ना
१०आवरण	ढांपना
आश्रयण	आश्रय करना
उत्क्षेपण	ऊपर फेंकना
उत्थान	उठना
उद्घाटन	खोलना
१५उन्मज्जन	जल से निकलना
उपवेशन	बैठना

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
उपार्जन	कमाना	४५चिन्तन	चिन्ता करना	निरीक्षण	देख भाल करना
कथन	कहना	चुम्बन	चूमना	७५निवसन	निवास करना
कम्पन	कापना	चूर्णन	चूर्ण करना	निष्कासन	निकालना
करण	करना	चोरण	चुराना	निष्पीडन	निचोडना
कर्त्तन	काटना	छेदन	छेदन करना	पचन	पकाना
क्रन्दन	रोना पीटना	५०जपन	जप करना	पठन	पढना
क्रयण	खरीदना	जल्पन	बकवाद करना	८०पतन	गिरना
क्रीडन	खेलना	जागरण	जागना	पलायन	भागना
२५क्षरण	झरना	जीवन	जीना	पान	पीना
खण्डन	तोडना, निषेध	ज्ञान	जानना	पालन	पालना
	करना	५५ज्वलन	जलना	पिधान	ढापना
खादन	खाना	डयन	उडना	८५पूजन	पूजना
खेलन	खेलना	तपन	तपना	पेषण	पीसना
गणन	गिनना	तरण	तैरना	पोषण	पालना, पोसना
३० गन्धन	सूंघना, सूचन	ताडन	ताडना करना	प्रक्षालन	धोना
गमन	जाना	६० तोलन	तोलना	प्रक्षेपण	फेंकना
गर्जन	गरजना	तोषण	खुश होना	९० प्रशंसन	प्रशंसा करना
गर्हण	निन्दा करना	त्यजन	छोडना	प्रसारण	फैलाना
गवेषण	ढूंढना	त्रोटन	तोडना	प्रेषण	भेजना
३५गान	गाना	दहन	जलाना	प्रोञ्छन	पोंछना
गुञ्जन	गूंजना	६५दर्शन	देखना	बन्धन	बान्धना
ग्रसन	ग्रसना	दान	देना	९५बोधन	जानना
ग्रहण	ग्रहण करना	दोहन	दोहना	भक्षण	खाना
घर्षण	घिसना	ध्यान	चिन्तन करना	भरण	पालना
४०घोषणा	घोषणा करना	नमन	झुकना	भर्जन	भूनना
चयन	चुनना	७०नर्त्तन	नाचना	भर्त्सन	झिड़कना
चरण	खाना, घूमना	निगरण	निगलना	१०० भाषण	बोलना
चर्वण	चबाना	निन्दन	निन्दा करना	भिक्षण	भीख मांगना
चलन	चलना	निमज्जन	डुबकी लगाना	भेदन	तोड़ना

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
भ्रमण	घूमना	लेखन	लिखना	शयन	सोना
मण्डन	सजाना, पुष्ट	१२०लेपन	लीपना	शिक्षण	शिक्षा देना
	करना	लेहन	चाटना	१४०श्रवण	सुनना, कान
१०५मथन	मथना	वञ्चन	ठगना	ष्ठीवन	थूकना
मरण	मरना	वन्दन	नमस्कार करना	सङ्ग्रहण	सङ्ग्रह करना
मान	मापना	वपन	बोना, मूंडना	संयोजन	जोड़ना
मार्गण	ढूंढना	१२५वमन	वमन करना	सान्त्वन	दिलासा देना
मिश्रण	मिलाना	वयन	बुनना	१४५सीवन	सीना
११०मेलन	मिलना	वरण	वरना	सूचन	सूचित करना
मोचन	छोड़ना	वर्षण	बरसना	सेवन	सेवा करना व
यजन	यज्ञ करना	वादन	बजाना		इस्तेमाल करना
याचन	मांगना	१३०विक्रयण	बेचना	स्तवन	स्तुति करना
रक्षण	रक्षा करना	विक्षेपण	बिखेरना	स्पर्शन	छूना
११५रचन	रचना, बनाना	विखनन	गाड़ना	१५०स्मरण	याद करना
रञ्जन	रंगना, प्रसन्न	विलेखन	खरोचना	स्वीकरण	स्वीकार करना
	करना	विसर्जन	छोड़ना	हनन	मारना
रोदन	रोना	१३५विस्मरण	भूलना	हरण	हरना
लङ्घन	लाङ्घना, उपवास	वेष्टन	घेरना	हसन	हँसना
	करना	व्रजन	जाना	१५५हिंसन	हिंसा करना

कतर (दो में कौन) शब्द अजन्तपुंलिङ्ग में डतरप्रत्ययान्त बताया जा चुका है। यह शब्द विशेष्यलिङ्ग के आश्रित होने से त्रिलिङ्गी है। यहां नपुंसक में इस की प्रक्रिया दिखाते हैं—

कतर + स् (सुँ)। यहां 'अतोऽम्' (२३४) से अम् आदेश प्राप्त होता है, इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२४१ अद्ड्* डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः । ७।१।२५॥

* 'अद्ड् डतरादिभ्यः ०' यहां 'ष्टुना ष्टुः' (६४) से दकार को डकार हो कर 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) से संयोगान्तलोप करने पर 'अड् डतरादिभ्यः' हो जाना चाहिए था परन्तु ऐसा नहीं किया गया। इस का कारण यह है कि वैसा करने से 'अड्' आदेश है या 'अद्ड्' इस का पता नहीं चल सकता था। अतः स्पष्टप्रतिपत्ति के लिए मुनि ने सन्धि नहीं की है।

एभ्यः क्लीबेभ्यः स्वमोरद्‌ड् आदेशः स्यात् ।

अर्थः—डतर आदि पाञ्च नपुंसक शब्दों से परे सुँ और अम् को अद्‌ड् आदेश हो ।

व्याख्या—डतरादिभ्यः ।५।३। पञ्चभ्यः ।५।३। नपुंसकेभ्यः ।५।३। ['स्वमोर्नपुंसकात्' से वचनविपरिणाम कर के] स्वमोः ।६।२। अद्‌ड् ।१।१। समासः—डतर आदिर्येषां ते डतरादयः तेभ्यः = डतरादिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । डतरादि पाञ्च शब्द सर्वादिगण के अन्तर्गत आते हैं । १ डतर, २ डतम, ३ अन्य, ४ अन्यतर ५ इतर—ये पाञ्च डतरादि कहाते हैं । इन में डतर और डतम प्रत्यय हैं, अतः प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम् परिभाषा द्वारा डतरप्रत्ययान्त और डतमप्रत्ययान्त शब्दों का ग्रहण होगा । अर्थः—(डतरादिभ्यः) डतरप्रत्ययान्त, डतमप्रत्ययान्त, अन्य, अन्यतर और इतर (पञ्चभ्यः) इन पाञ्च (नपुंसकेभ्यः) नपुंसक शब्दों से परे (स्वमोः) सुँ और अम् को (अद्‌ड्) अद्‌ड् आदेश हो ।

यह सूत्र 'अतोऽम्' (२३४) का अपवाद है ।

कतर + स यहां सकार को अद्‌ड् आदेश हो कर—कतर + अद्‌ड् । 'हलन्त्यम्' (१) से अन्त्य हल्=डकार की इत्सञ्ज्ञा होने से लोप हो कर—'कतर + अद्' । अब यहां 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होता है, परन्तु यह अनिष्ट है, टिलोप ही इष्ट है । अतः इस का अग्रिमसूत्र से विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२४२ टेः ।६।४।१४३॥

डिति भस्य टेर्लोपः । कतरत्, कतरद् । कतरे । कतराणि । हे कतरत् । शेषं पुंवत् । एवं कतमत्, इतरत्, अन्यत्, अन्यतरत् । अन्यतमस्य त्वन्यतममित्येव ।

अर्थः—डित् परे होने पर भसञ्ज्ञक टि का लोप हो ।

व्याख्या—डिति ।७।१। ('तिविंशतेर्डिति' से) भस्य ।६।१। (यह अधिकृत है) टेः ।६।१। लोपः ।१।१। ('अल्लोपोऽनः' से) अर्थः—(डिति) डित् परे होने पर (भस्य) भसञ्ज्ञक (टेः) टि का (लोपः) लोप होता है ।

'कतर + अद्' यहां स्थानिवद्भाव से 'अद्' स्वादि है । तथा अजादि और असर्वनामस्थान भी है, अतः इस के परे होने से 'यचि भम्' (१६५) द्वारा पूर्व की भसञ्ज्ञा हो जाती है । भसञ्ज्ञा होने से 'अद्‌ड्' इस डित् के परे होने पर भसञ्ज्ञक टि=अकार का

प्रकृतसूत्र से लोप हो—कतर+अद्=कतरद् । तब 'वाऽवसाने' (१४९) से दकार को विकल्प करके चर् = तकार हो कर—'१ कतरत् २ कतरद्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं ।

कतर + औ यहां 'नपुंसकाच्च' (२३) से औ को शी आदेश अनुबन्ध लोप और गुण करने से 'कतरे' प्रयोग सिद्ध होता है ।

कतर+अस् (जस्) यहां 'जश्शसोः शिः' (३७) से जस् को शि आदेश हो कर 'शि सर्वनामस्थानम्' (२३८) से इसकी सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा हो जाती है । पुनः 'नपुंसकस्य झलचः' (२३९) से नुम् का आगम हो 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' (१७७) से दीर्घ कर नकार को णकार करने से— 'कतराणि' प्रयोग सिद्ध होता है ।

हे कतर+स (सु) यहां भी पूर्ववत् सकार को अद्ड् आदेश हो कर भसञ्ज्ञक टि का लोप कर चर्त्व करने से—'हे कतरत्, हे कतरद्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं । ध्यान रहे कि यहां 'एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' (१२४) से तकार का लोप नहीं होता क्योंकि 'कतर' यह ह्रस्वान्त अङ्ग नहीं, अन्त का अकार तो प्रत्यय का अवयव है प्रकृति का नहीं ।

प्रश्न—अद्ड् आदेश को डित् न करके केवल 'अद्' आदेश का ही विधान क्यों न किया जाय ? ।

उत्तर—यदि केवल 'अद्' आदेश का विधान करते तो 'अम्' में तो कुछ अन्तर न होता क्योंकि अम् के स्थान पर हुए 'अद्' को स्थानिवत् मानने से 'अमि पूर्वः' (१३९) से पूर्वरूप हो कर 'कतरत्' सिद्ध हो जाता । परन्तु सु में अद् आदेश होने पर 'अतो गुणे' (२७४) को बाध कर पूर्वसवर्णदीर्घ हो कर 'हे कतरात् ! हे कतराद्' ऐसे अनिष्ट रूप बन जाते । अतः इसे डित् करना ही युक्त है ।

प्रश्न—यदि पूर्वसवर्णदीर्घ का निवारण ही अभीष्ट है तो केवल 'द्' या 'त्' आदेश का ही विधान क्यों नहीं करते ? ।

उत्तर—यदि केवल दकार व तकार आदेश ही विधान करते हैं तो प्रथमा और द्वितीया में तो कोई दोष नहीं आता किन्तु सम्बुद्धि में 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' (१२४) से उसका लोप हो कर 'हे कतर' यह अनिष्ट रूप बन जाता है । अतः 'अद्ड्' आदेश ही ठीक है ।

> डित्त्वाभावेऽमि सिद्धेऽपि सावनिष्टं प्रसज्यते ।
> दाऽऽदेशे तु कृते शुद्धे सम्बुद्धौ तत्स्थितिः कुतः ।

द्वितीया विभक्ति में भी प्रथमा विभक्तिवत् प्रक्रिया होती है । तृतीयादि विभक्तियों में पुंल्लिङ्गवत् प्रक्रिया जाननी चाहिए । रूपमाला यथा—

प्र०	कतरत्-द्	कतरे	कतराणि	पं०	कतरस्मात्*	कतराभ्याम्	कतरेभ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	कतरस्य	कतरयोः	कतरेषाम्†
तृ०	कतरेण	कतराभ्याम्	कतरैः	स०	कतरस्मिन्*	,,	कतरेषु
च०	कतरस्मै ×	,,	कतरेभ्यः	सं०	हे कतरत्-द्!	हे कतरे!	हे कतराणि!

× सर्वनाम्नः स्मै (१५१)।

* ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ (१५४)।

† आमि सर्वनाम्नः सुट् (१५५) बहुवचने झल्येत् (१५२)।

इसी प्रकार—१ यतर (दो में जो), २ ततर (दो में वह), ३ कतम (बहुतों में कौन), ४ यतम (बहुतों में जो) ५ ततम (बहुतों में वह) ६ एकतम (बहुतों में एक) ७ अन्य (दूसरा), ८ अन्यतर (दो में एक), ९ इतर (भिन्न) शब्दों के उच्चारण होते हैं। ध्यान रहे कि ये सब शब्द त्रिलिङ्गी हैं विशेष्यलिङ्ग के आश्रित रहते हैं। इनका विशेष्य नपुंसक होगा तो ये नपुंसक में प्रयुक्त होंगे।

नोट—अन्यतर और अन्यतम ये दोनों शब्द अव्युत्पन्न हैं डतरान्त व डतमान्त नहीं। इनमें प्रथम तो सर्वादिगण में पढ़ा गया है और डतरादि पाञ्चों में भी आता है अतः इसका उच्चारण कतरवत् होता है। परन्तु अन्यतम शब्द सर्वादिगण में नहीं आता अतः इसका उच्चारण ज्ञानवत् होता है। अद्ड् आदेश नहीं होता। तथा स्मै, स्मात्, सुट् और स्मिन् भी नहीं होते।

एकतर (दो में एक) शब्द डतर प्रत्ययान्त है, अतः इसकी प्रक्रिया 'कतर' शब्दवत् प्राप्त होती है, परन्तु यह अनिष्ट है। इसके प्रथमा और द्वितीया विभक्ति में ज्ञानवत् रूप ही इष्ट हैं, अतः अग्रिम वार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—(२३) एकतरात् प्रतिषेधः।

एकतरम्।

अर्थः—नपुंसकलिङ्ग में एकतर शब्द से परे सुँ और अम् को अद्ड् आदेश नहीं होता।

व्याख्या—एकतरात् ।५।१। प्रतिषेधः ।१।१। यह वार्त्तिक भाष्य में अद्ड् आदेश के प्रकरण में पढ़ा गया है अतः यह उसी का निषेध करता है। अर्थः—(एकतरात्) एकतर शब्द से परे (प्रतिषेधः) सुँ और अम् को अद्ड् आदेश नहीं होता।

अद्ड् आदेश न होने से 'ज्ञान' शब्दवत् प्रक्रिया होगी। रूपमाला यथा—

प्र०	एकतरम्	एकतरे	एकतराणि	प०	एकतरस्मात्*	एकतराभ्याम् एकतरेभ्य
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	एकतरस्य	एकतरयो एकतरेषाम्*
तृ०	एकतरेण	एकतराभ्याम्	एकतरै	स०	एकतरस्मिन्*	,, एकतरेषु
च०	एकतरस्मै*	,,	एकतरेभ्य	सं०	हे एकतर !	हे एकतरे ! हे एकतराणि !

ध्यान रहे कि * इन स्थानों पर सर्वनामकार्य निर्बाध हो जाते हैं ।

अभ्यास (३५)

(१) नपुंसकलिङ्ग में अम् को पुन अम् विधान करने का क्या प्रयोजन है ?

(२) यदि 'मिदचोऽन्त्यात्पर परिभाषा न होती तो क्या २ दोष उत्पन्न हो जाते— सोदाहरण विवेचन करें ।

(३ अद्ड्' आदेश को डित करने का क्या प्रयोजन है ?

(४) क्या एकतर' शब्द डतरप्रत्ययान्त है यदि है तो किस सूत्र (?) से अदड आदेश किया जाता है ?

(५) क्या अन्यतम शब्द का उच्चारण कतम' शब्द की तरह होता है ? यदि नहीं तो क्यों ? क्या यह डतमप्रत्ययान्त नहीं ?

(६) ज्ञाने आदि प्रयोगों में औङ्स्थानिक शी को दीर्घ करन का क्या प्रयोजन है ?

(७) शि' की सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा क्यों विधान की गई है ? क्या जस्स्थानिक होने से उस की वह सञ्ज्ञा स्वत ही प्राप्त नहीं हो सकती थी ?

(८) सूत्रनिर्देशपूर्वक सिद्धि करें—

१ कतरत् । २ अन्यतमम् । ३ ज्ञानानि । ४ ज्ञाने । ५ एकतरम् । ६ अन्यतमात् ।

(९) 'अतोऽम्' सूत्र में अम् का छेद करें या म् का ? अपने विचार प्रकट करें ।

(यहां ह्रस्व अकारान्त नपुंसक समाप्त होते हैं ।)

—०॥०—

श्रियम्पातीति = श्रीपम् (कुलम्) । जो कुल आदि लक्ष्मी की रक्षा करे उसे श्रीपा' कहते हैं । यह शब्द विशेष्यलिङ्ग के आश्रित होने से त्रिलिङ्गी है । पुंल्लिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग में इसका उच्चारण 'विश्वपा' शब्दवत् होता है । नपुंसकलिङ्ग में इसके उच्चारण में कुछ विशेष है—यह अग्रिम सूत्र द्वारा दर्शाया जाता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२४३ ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य ।

१।२।४७॥

अजन्तस्यत्येव । श्रीपम् । ज्ञानवत् ।

अर्थ—नपुंसकलिङ्ग में अजन्त प्रातिपदिक को ह्रस्व हो जाता है।

व्याख्या—ह्रस्वः ।१।१। नपुंसके ।७।१। प्रातिपदिकस्य । ।१। ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत सदा अच् के स्थान पर ही हुआ करते हैं। जहां इनका विधान होता है वहां 'अचः (अच् के स्थान पर) यह षष्ठ्यन्त पद उपस्थित हो जाता है। [यह 'अचश्च' परिभाषा का तात्पर्य है।] यहां भी 'अचः' पद उपस्थित हो कर 'प्रातिपदिकस्य' का विशेषण बन जायगा। तब 'येन विधिस्तदन्तस्य' द्वारा इससे तदन्तविधि हो कर—'अजन्तस्य प्रातिपदिकस्य' बन जायगा। अर्थ—(नपुंसके) नपुंसकलिङ्ग में (अचः) अजन्त (प्रातिपदिकस्य) प्रातिपदिक के स्थान पर (ह्रस्वः) ह्रस्व हो जाता है। 'अलोऽन्त्यस्य' परिभाषा से अन्त्य अच् के स्थान पर ही ह्रस्व होता है।

श्रीपा यहां अन्त्य आकार को ह्रस्व हो कर 'श्रीप' शब्द बन जाता है। अब इस से स्वादिप्रत्यय उत्पन्न हो कर सम्पूर्ण प्रक्रिया 'ज्ञान' शब्दवत् होती चली जाती है। रूपमाला यथा—

प्र०	श्रीपम्	श्रीपे	श्रीपाणि
द्वि०	„	„	„
तृ०	श्रीपेण	श्रीपाभ्याम्	श्रीपैः
च०	श्रीपाय	„	श्रीपेभ्यः
पं०	श्रीपात्	श्रीपाभ्याम्	श्रीपेभ्यः
ष०	श्रीपस्य	श्रीपयोः	श्रीपाणाम्
स०	श्रीपे	„	श्रीपेषु
सं०	हे श्रीप !	हे श्रीपे !	हे श्रीपाणि !

नोट—'श्रीपाणि' आदि प्रयोगों में 'एकाजुत्तरपदे णः' (२८६) से ही णत्व होता है। भिन्न २ पद होने के कारण 'अट्कुप्वाङ्—' (१३८) से णत्व नहीं हो सकता।

इसी प्रकार विशेष्य के नपुंसक होने पर—विश्वपा, गोपा, कीलालपा, सोमपा आदि धात्वन्त आकारान्त शब्दों के उच्चारण होते हैं।

(यहां आकारान्त नपुंसक शब्द समाप्त होते हैं)

—०❀०—

[लघु०] द्वे २।

व्याख्या—'द्वि' (दो) शब्द त्रिलिङ्गी है। विशेष्य के नपुंसक होने पर यह भी नपुंसक हो जाता है।

'द्वि+औ' यहां 'त्यदादीनामः' (१९३) से इकार को अकार, 'नपुंसकाच्च' (२३५) से 'औ' को 'शी' आदेश, अनुबन्धलोप तथा 'आद् गुणः' (२७) से गुण एकादेश करने से 'द्वे' प्रयोग सिद्ध होता है।

'द्वि + भ्याम्'। त्यदाद्यत्व हो कर 'सुपि च' (१४१) से दीर्घ करने पर द्वाभ्याम् रूप सिद्ध होता है।

द्वि+ओस्। त्यदाद्यत्व 'ओसि च' (१४७) से अकार को एकार तथा एचोऽयवायावः (२२) से अय् आदेश करने पर सकार का रुँ त्व और रेफ को विसर्ग हो कर द्वयोः प्रयोग सिद्ध होता है। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	०	द्वे	०	पं०	०	द्वाभ्याम्	०
द्वि०	०	,,	०	ष०	०	द्वयोः	०
तृ०	०	द्वाभ्याम्	०	स०	०	,,	०
च०	०	,,	०	सम्बोधन नहीं होता।			

नोट—ध्यान रहे कि यद्यपि स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग में 'द्वि' शब्द के एक समान रूप होते हैं। तथापि इन दोनों में प्रक्रिया का महान् अन्तर है।

[लघु०] त्रीणि २।

व्याख्या—त्रि (तीन) शब्द भी विशेष्यलिङ्ग के आश्रित होने से त्रिलिङ्गी होता है। यह सदा बहुवचनान्त होता है। नपुंसकलिङ्ग में इस की प्रक्रिया यथा—

त्रि + अस् (जस् व शस्) इस स्थिति में शि आदेश, सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा, नुम् आगम और सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ (१७७) से उपधादीर्घ हो कर अट्कुप्वाङ्— (१३८) से नकार को णकार आदेश करने से 'त्रीणि' प्रयोग सिद्ध होता है।

त्रि + भिस् = त्रिभिः। त्रि + भ्यस् = त्रिभ्यः।

षष्ठी के बहुवचन में त्रि + आम् इस दशा में त्रेस्त्रयः (१६२) से त्रय आदेश, ह्रस्वमूलक नुट् आगम तथा नामि (१४६) से दीर्घ कर नकार को णकार करने से त्रयाणाम् प्रयोग सिद्ध होता है।

त्रि + सु (सुप्) = त्रिषु। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	०	०	त्रीणि	पं०	०	०	त्रिभ्यः
द्वि०	०	०	,,	ष०	०	०	त्रयाणाम्
तृ०	०	०	त्रिभिः	स०	०	०	त्रिषु
च०	०	०	त्रिभ्यः	सम्बोधन नहीं होता।			

'वृञ् वरणे' (स्वा० उभ०) धातु से औणादिक 'इञ्' प्रत्यय करने से 'वारि' शब्द सिद्ध होता है। यद्यपि सरस्वती अर्थ में 'वारि' शब्द स्त्रीलिङ्ग भी होता है यथा—

'वारिस्तु सरस्वत्यां स्त्रियां मता' (इत्यौणादिकपदार्णवे श्रीपेरुसूरिमहोदयाः), तथापि 'जल' अर्थ में नित्यनपुंसक ही हुआ करता है।

वारि + स (सुँ)। यहां अदन्त न होने से अतोऽम् (२३४) द्वारा सकार को अम् आदेश नहीं होता। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२४४ स्वमोर्नपुंसकात् ।७।१।२३॥

लुक् स्यात्। वारि।

अर्थ—नपुंसकलिङ्ग से परे सुँ और अम् का लुक् हो।

व्याख्या—स्वमोः ।६।२। नपुंसकात् ।५।१। [षड्भ्यो लुक्' से] समास—सुश्च अम् च = स्वमौ तयोः = स्वमोः। इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(नपुंसकात्) नपुंसक से परे (स्वमोः) सुँ और अम् का लुक् हो जाता है।

यह उत्सर्गसूत्र है। इसका अपवाद 'अतोऽम्' (२३४) सूत्र और उस का भी 'अद्ड् डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः' (२४१) सूत्र पीछे लिख चुके हैं। यह लुक् सुँ और अम् के सम्पूर्ण स्थान पर प्रवृत्त होता है।

प्रश्न—'आदेः परस्य' (७२) द्वारा यह लुक् अम् के आदि अकार के स्थान पर क्यों न हो जाय ?

उत्तर—'प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः' (१८९) सूत्र में बताया जा चुका है कि लुक् प्रत्यय के अदर्शन को कहते हैं। यहां अम् का लुक् करना है। अम् का अकार या मकार प्रत्यय नहीं किन्तु सम्पूर्ण समुदाय 'अम्' ही प्रत्यय है। अतः यदि सम्पूर्ण अम् का अदर्शन करेंगे तो तभी लुक् सार्थक होगा अन्यथा नहीं। इस से सम्पूर्ण अम् का लुक् होता है, केवल आदि अकार का नहीं।

वारि + स। यहां प्रकृतसूत्र से सकार का लुक् हो कर 'वारि' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्रथमा के द्विवचन में 'वारि + औ' इस स्थिति में 'नपुंसकाच्च' (२३५) से 'औ' को 'शी' हो कर अनुबन्धलोप करने से 'वारि + ई' हुआ। अब अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२४५ इकोऽचि विभक्तौ* ।७।१।७३॥

इगन्तस्य क्लीबस्य नुम् अचि विभक्तौ। वारिणी। वारीणि।

अर्थ—अजादि विभक्ति परे होने पर इगन्त नपुंसक को नुम् का आगम हो।

---

* 'इकोऽचि सुपि' इत्येव सुवचम् इति नागेशो मन्यते।

व्याख्या—इकः ।६।१। नपुंसकस्य ।६।१। [नपुंसकस्य फलम् से] नुम् ।१।१। ['इदितो नुम् धातोः' से] अचि ।७।१। विभक्तौ ।७।१। नपुंसकस्य का विशेषण होने से इकः से तदन्तविधि हो कर 'इगन्तस्य नपुंसकस्य' बन जाता है। 'अचि' से तदादि विधि हो कर 'अजादौ विभक्तौ' बन जाता है। अर्थः—(अचि=अजादौ) अजादि (विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (इकः=इगन्तस्य) इगन्त (नपुंसकस्य) नपुंसक का अवयव (नुम्) नुम् हो जाता है। मित् होने से यह नुम् का आगम अन्त्य अच् से परे होता है।

वारि+ई। यहां 'वारि' यह इगन्त नपुंसक है। इस से परे 'ई' यह अजादि विभक्ति वर्त्तमान है। अतः प्रकृतसूत्र से इगन्त को नुम् का आगम हो कर अनुबन्धलोप और नकार को णकार करने से 'वारिणी' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्रथमा के बहुवचन में वारि+अस् (जस्)। इस स्थिति में पूर्ववत् शि आदेश, उसकी सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा, नुम् आगम, अनुबन्धलोप उपधादीर्घ तथा नकार को णकार आदेश हो कर 'वारीणि' प्रयोग सिद्ध होता है।

हे वारि+स्। यहां 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२२४) से सुँ का लुक् हो कर 'हे वारि !' हुआ। अब यहां 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' (१९०) से सम्बुद्धि का निमित्त मान कर 'ह्रस्वस्य गुणः' (१६९) से गुण प्राप्त होता है। परन्तु 'न लुमताऽङ्गस्य' (१९१) के निषेध के कारण प्रत्ययलक्षण नहीं हो सकता। हमें यहां पाक्षिक गुण करना अभीष्ट है। अतः 'न लुमताऽङ्गस्य' (१९१) की अनित्यता सिद्ध करते हैं—

[लघु०] 'न लुमता—' इत्यस्यानित्यत्वात् पक्षे सम्बुद्धिनिमित्तो गुणः—हे वारे। हे वारि ! । आङो ना—वारिणा। 'घेर्ङिति' इति गुणे प्राप्ते—

अर्थः—'न लुमताऽङ्गस्य' (१९१) यह निषेध अनित्य है। अतः पक्ष में 'ह्रस्वस्य गुणः' (१६९) से सम्बुद्धिनिमित्तक गुण भी हो जाता है। गुणपक्ष में—हे वारे ! और गुणाभाव में—हे वारि !।

व्याख्या—'न लुमताऽङ्गस्य' (१९१) सूत्र अनित्य है। इस में ज्ञापक 'इकोऽचि विभक्तौ' (२४५) सूत्र में 'अचि' पद का ग्रहण है। हम इसे समझाने के लिये पक्षात्मक ढंग से विचार करते हैं। तथाहि—

पूर्वपक्षी—'इकोऽचि विभक्तौ' सूत्र में 'अचि' पद के ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

उत्तरपक्षी—वारि + भ्याम् इत्यादि रूपों में भ्याम् आदि हलादि विभक्तियों में नुम् न हो जाय इसलिये सूत्र में 'अचि' पद का ग्रहण किया गया है।

पूर्वपक्षी—वारिभ्याम् आदि रूपों में यदि नुम् हो भी जाय तो भी उस का 'न लोप—' (१८०) द्वारा लोप हो जाने से कोई दोष नहीं आएगा। अतः 'अचि' पद का ग्रहण व्यर्थ है।

उत्तरपक्षी—तो 'हे वारि' यहां लुक् हुए सम्बुद्धि को निमित्त मान कर नुम् न हो जाय, इसलिये 'अचि' पद का ग्रहण किया है।

पूर्वपक्षी—सम्बुद्धि में भी 'न लोप—' से नकार का लोप हो जायगा।

उत्तरपक्षी—ऐसा नहीं हो सकता क्योंकि सम्बुद्धि में 'न ङिसम्बुद्ध्योः' (२८१) सूत्र नकार का लोप नहीं करने देता। अतः 'हे वारिन्!' आदि अनिष्ट प्रयोगों की निवृत्ति के लिये 'अचि' पद का ग्रहण करना आवश्यक है।

पूर्वपक्षी—ओहो! सम्बुद्धि में तो नुम् प्राप्त ही नहीं हो सकता क्योंकि विभक्ति का लुक् होने से 'न लुमताऽङ्गस्य' (१९१) से प्रत्ययलक्षण का निषेध हो जाता है। अतः 'अचि' पद का ग्रहण व्यर्थ है।

उत्तरपक्षी—आप का कथन सत्य है। इस प्रकार 'अचि' पद के बिना भी 'वारिभ्याम्, हे वारि' आदि प्रयोगों के सिद्ध हो जाने पर आचार्य के पुनः 'अचि' पद के ग्रहण से 'न लुमताऽङ्गस्य' (१९१) सूत्र की अनित्यता स्पष्ट प्रतीत होती है।

पूर्वपक्षी—'अचि' पद के ग्रहण से भला आप कैसे 'न लुमताऽङ्गस्य' (१९१) सूत्र की अनित्यता का अनुमान करते हैं?

उत्तरपक्षी—यदि 'न लुमताऽङ्गस्य' (१९१) निषेध नित्य होता, तो सम्बुद्धि में उस का आश्रय कर के नुम् ही प्राप्त न हो सकता। पुनः उस के निषेध के लिये 'अचि' पद की कोई आवश्यकता ही न होती। परन्तु आचार्य का उस के निषेध के लिये यत्न करना सिद्ध करता है कि आचार्य 'न लुमताऽङ्गस्य' (१९१) निषेध को नित्य नहीं मानते।

'हे वारि' यहां सम्बुद्धि में 'न लुमताऽङ्गस्य' (१९१) निषेध के अनित्य होने से अनित्यपक्ष में 'ह्रस्वस्य गुणः' (१२९) से गुण हो कर—'हे वारे!' और नित्यपक्ष में गुण न होने से—'हे वारि!' इस प्रकार दो रूप सिद्ध होते हैं*।

---

* यद्यपि 'इकोऽचि विभक्तौ' के भाष्य में 'हे त्रपो!' और 'एङ्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' के भाष्य में 'हे त्रपु!' ऐसे दो प्रयोग पाये जाते हैं तथापि हमारा मत प्रत्येक इगन्त नपुंसक के सम्बुद्धि में दो दो

द्वितीया विभक्ति में भी प्रथमावत् प्रक्रिया होती है।

तृतीया के एकवचन में 'वारि+आ (टा) इस स्थिति में इकोऽचि—' (७.१.७३) की अपेक्षा पर होने के कारण 'आङो नाऽस्त्रियाम्' (७.३.१२०) से टा को ना आदेश हो कर नकार को णकार करने से 'वारिणा' प्रयोग सिद्ध होता है।

वारि + भ्याम् = वारिभ्याम्। वारि+भिस् = वारिभिः।

चतुर्थी के एकवचन में 'वारि + ए' इस अवस्था में घिसञ्ज्ञा हो कर नुम् की अपेक्षा पर होने के कारण 'घेर्ङिति' (१७२) द्वारा गुण प्राप्त होता है। परन्तु यहां नुम् करना ही अभीष्ट है। अतः अग्रिम वार्त्तिक से पूर्वविप्रतिषेध का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(२४) वृद्ध्यौत्वतृज्वद्भावगुणेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषेधेन ॥

वारिणे। वारिणः २। वारिणोः २। 'नुमचिर—' (वा० १६) इति नुट्—वारीणाम्। वारिणि। हलादौ हरिवत्।

अर्थः—वृद्धि, औत्व, तृज्वद्भाव और गुण इन के साथ विप्रतिषेध होने पर, पूर्व भी नुम् प्रवृत्त हो जाता है।

व्याख्या—'अचो ञ्णिति' (७.२.११५) से प्राप्त वृद्धि, 'अच्च घेः' (७.३.११९) से प्राप्त औत्व, 'तृज्वत्क्रोष्टुः' (७.१.९५) और 'विभाषा तृतीयादि—' (७.१.९७) से प्राप्त तृज्वद्भाव तथा 'घेर्ङिति' (७.३.१११) से प्राप्त गुण यद्यपि नुम् (७.१.७३) से पर हैं और 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) के अनुसार इन की ही प्रवृत्ति उचित है तथापि नुम् की प्रवृत्ति पूर्वविप्रतिषेध से हो जाती है। अर्थात् इन के साथ नुम् का विप्रतिषेध होने पर 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' (११३) का दूसरा अर्थ—'अपरं कार्यम्' मान कर नुम् की प्रवृत्ति हो जाती है।*

—रूप बनाना स्वीकार नहीं करता। 'न लुमताऽङ्गस्य' निषेध के अनित्य होने से केवल कहीं २ त्रपो! आदि पूर्वमहानुभावों के लिखे रूपों में ही गुण का समाधान करना चाहिये न कि सर्वत्र विकल्प नहीं तो फिर अव्यवस्था हो जायगी। कैयट ने 'इकोऽचि विभक्तौ' सूत्र के प्रदीप में इस का उल्लेख भी किया है।

* इन के उदाहरण भाष्य में अतीव सरल उपाय से समझाए गये हैं। तद्यथा—

गुणवृद्ध्यौत्वतृज्वद्भावेभ्यो नुम् पूर्वविप्रतिषिद्धम्। तत्र गुणस्यावकाशः—अग्नये वायवे। नुमोऽवकाशः—त्रपुणी, जतुनी। इहोभयं प्राप्नोति—त्रपुणे जतुने। वृद्धेरवकाशः—सखायौ सखायः। नुम

'वारि + ए' यहां पूर्वविप्रतिषेध के कारण गुण को बान्ध कर इकोऽचि विभक्तौ (२४५) से नुम् का आगम हो कर नकार को णकार करने से 'वारिणे' प्रयोग सिद्ध होता है।

'वारि + अस्' (ङसि व ङस्) यहां भी घेर्ङिति' (१७२) से प्राप्त गुण को पूर्व विप्रतिषेध के कारण नुम् बान्ध लेता है—वारिणः ।

'वारि + ओस्' यहां परत्व के कारण 'इको यणचि' (१५) को बान्ध कर नुम् प्रवृत्त हो जाता है—वारिणोः ।

षष्ठी के बहुवचन में वारि + आम् इस दशा में 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' (१४८) से आम् को नुट् का और 'इकोऽचि विभक्तौ' (२४५) से अङ्ग को नुम् का आगम प्राप्त हुआ। 'नुमचिर—' (वा० १६) वार्त्तिक के द्वारा पूर्वविप्रतिषेध से नुट् हो गया। तब 'नामि' (१४९) से दीर्घ और नकार को णकार करने पर 'वारीणाम्' प्रयोग सिद्ध हुआ।

नोट—यदि नुम् हो जाता तो वह 'वारि' का ही अवयव होता, आम् का नहीं। तब नाम् परे न रहने से 'नामि' द्वारा दीर्घ न हो सकता। किञ्च तब अङ्ग के अजन्त न होकर नान्त हो जाने से वारिणाम् ऐसा अनिष्ट प्रयोग बन जाता।

सप्तमी के एकवचन में वारि+इ' इस अवस्था में अच्च घेः (१७४) से ङि को औत्व और 'इकोऽचि विभक्तौ (२४५) से अङ्ग को नुम् प्राप्त होने पर वृद्ध्यौत्व———(वा० २४) वार्त्तिक से पूर्वविप्रतिषेध के कारण नुम् हो जाता है। तब नकार को णकार होकर—'वारिणि' प्रयोग सिद्ध होता है। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	वारि	वारिणी	वारीणि	प०	वारिणः	वारिभ्याम्	वारिभ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	वारिणोः	वारीणाम्
तृ०	वारिणा	वारिभ्याम्	वारिभिः	स०	वारिणि	,,	वारिषु
च०	वारिणे	,,	वारिभ्यः	सं०	हे वारि !, वारे !	हे वारिणी !	हे वारीणि !

नोट—'वारि' शब्द की तरह उच्चारण वाले शब्द संस्कृत साहित्य में शायद ही कुछ हों। नपुंसक में इदन्त शब्द प्रायः भाषितपुंस्क ही मिलते हैं। उन का उच्चारण आगे आने वाले 'सुधि' शब्द की तरह होता है।

—स एव। इहोभयं प्राप्नोति—अतिसखीनि ब्राह्मणकुलानि। औत्वस्यावकाशः—अग्नौ, वायौ। नुमः स एव। इहोभयं प्राप्नोति—त्रपुणि, जतुनि। तृज्वद्भावस्यावकाशः—क्रोष्टा, क्रोष्टुना। नुमः स एव। इहोभयं प्राप्नोति—कुशक्रोष्टुनेऽरण्याय, प्रियक्रोष्टुने वृषलकुलाय। नुम् भवति पूर्वविप्रतिषेधेन।

[महाभाष्ये 'स्त्रियाश्च' इत्यत्र द्रष्टव्यम्]

दधि (दही) शब्द के उच्चारण में वारि की अपेक्षा कुछ अन्तर पड़ता है। प्रथमा और द्वितीया विभक्ति की प्रक्रिया तो वारिशब्द के समान ही होती है कुछ विशेष नहीं होता परन्तु तृतीया आदि अजादि विभक्तियों में निम्नप्रकारेण प्रक्रिया होती है।

दधि + आ (टा) यहां घिसञ्ज्ञा होने से आङो ना— (१७१) द्वारा टा को ना आदेश प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२४६ अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः । ७।१।७५॥

एषामनङ् स्याट् टादावचि।

अर्थ—तृतीयादि अजादि विभक्ति परे होने पर अस्थि दधि सक्थि और अक्षि शब्दों के स्थान पर उदात्त* अनङ् आदेश हो।

व्याख्या—अचि ।७।१। विभक्तिषु ।७।३। ['इकोऽचि विभक्तौ' से वचनविपरिणाम कर के] तृतीयादिषु ।७।३। [तृतीयादिषु भाषित— से] अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णाम् ।६।३। अनङ् ।१।१। उदात्तः ।१।१। समास—अस्थि च दधि च सक्थि च अक्षि च = अस्थिदधिसक्थ्यक्षीणि, तेषाम् = अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णाम्। 'प्रकृतिवदनुकरणं भवति' इति परिभाषया प्राप्यक्षिशब्दस्यानङ्। 'अचि' से तदादिविधि हो कर अजादिषु तृतीयादिषु विभक्तिषु' बन जाता है। अर्थ—(अचि) अजादि (तृतीयादिषु) तृतीया आदि (विभक्तिषु) विभक्तियों के परे होने पर (अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णाम्) अस्थि दधि सक्थि और अक्षि शब्दों के स्थान पर (अनङ्) अनङ् आदेश हो जाता है और वह (उदात्तः) उदात्त होता है।

अनङ् आदेश में ङकार इत्सञ्ज्ञक है। अतः ङिच्च (४६) सूत्र द्वारा यह अन्त्य इकार के स्थान पर आदेश होगा। अनङ् में नकारोत्तर अकार उच्चारणार्थ है। इस की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती।†

टा, ङे ङसि, ङस् ओस् आम ङि और ओस् ये आठ तृतीयादि अजादि विभक्तियां हैं।

'दधि+आ' यहां प्रकृतसूत्र से अन्त्य इकार को अनङ् आदेश होकर—दधन्+आ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

---

* लघुकौमुदी में स्वरप्रकरण नहीं है अतः हम स्वरप्रक्रिया पर विचार नहीं कर रहे विशेषजिज्ञासु काशिका आदि का अवलोकन करें।

† उच्चारणार्थकों की स्थिति उच्चारण के अनन्तर नहीं रहती अर्थात् प्रक्रियाकाल में वे नहीं लिये जाते। यथा यहां उच्चारण करते समय तो 'अनङ्' कहेंगे परन्तु प्रक्रिया के समय 'अन्ङ्' रखेंगे।

[लघु०] विधि सूत्रम्—२४७ अल्लोपोऽनः ।६।४।१३४॥

अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थान-यजादि-स्वादिपरो योऽन्, तस्याकारस्य लोपः। दध्ना । दध्ने । दध्नः २ । दध्नोः २ ।

अर्थ—अङ्ग के अवयव अन् शब्द के अकार का लोप हो जाता है यदि सर्वनामस्थान भिन्न यकारादि अजादि स्वादि प्रत्यय परे हो तो।

व्याख्या—अत् ।६।१। [यहां 'सुपां सुलुक्०' से षष्ठी का लुक् हुआ है ।] लोपः ।१।१। अनः ।६।१। भस्य ।६।१ [यह अधिकृत है] अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] जिससे परे सर्वनामस्थानभिन्न यकारादि व अजादि प्रत्यय हों उसे 'भ' कहते हैं—यह पीछे (पृष्ठ २३१) स्पष्ट कर चुके हैं। अर्थ—(अङ्गस्य) अङ्ग के अवयव (भस्य) सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक प्रत्ययों से भिन्न यकारादि व अजादि स्वादि प्रत्यय परे वाले (अनः) अन् के (अतः) अत् का (लोपः) लोप हो जाता है।*

'दधन्+आ' यहां सर्वनामस्थानभिन्न अजादि प्रत्यय टा परे होने से अङ्ग के अवयव अन् के अकार का लोप हो कर 'दध्ना' प्रयोग सिद्ध होता है।

'दधि+ए' (ङे) यहां अनङ् आदेश होने पर प्रकृतसूत्र से भसञ्ज्ञक अन् के अकार का लोप हो कर 'दध्ने' प्रयोग सिद्ध होता है।

'दधि+अस्' (ङसिँ व ङस्) यहां भी पूर्ववत् अनङ् आदेश हो कर भसञ्ज्ञक अन् के अकार का लोप करने से 'दध्नः' प्रयोग सिद्ध होता है।

ओस् में 'दध्नोः' और आम् में 'दध्नाम्' भी पूर्वोक्त प्रकारेण बनते हैं।

ङि में 'दधि+इ' इस अवस्था में अनङ् आदेश होकर 'दधन्+इ' हुआ। अब

* यहां 'भस्य' और 'अङ्गस्य' ये दो अधिकार आ रहे हैं। "भसञ्ज्ञक अङ्ग के अवयव अन् के अकार का लोप हो" इस प्रकार यदि अर्थ करें तो—अनसा, मनसा आदियों में आदि अकार का भी लोप हो जायगा। यदि—"अन्नन्त भसञ्ज्ञक अङ्ग के अकार का लोप हो" इस प्रकार अर्थ करें तो—तक्ष्णा आदियों में तकारोत्तर अकार के लोप की भी प्राप्ति आएगी। यदि—"अन्नन्त भसञ्ज्ञक अङ्ग के अन् के अकार का लोप हो" इस प्रकार अर्थ करें तो—अनस्तक्ष्णा इत्यादियों में भी आदि अकार का लोप प्राप्त होगा। अतः इन सब दोषों से बचने का उपाय केवल यही है कि उपर्युक्त अर्थ किया जाय। यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि मूलगत अर्थ और इन अर्थों में केवल यही भेद है कि मूलगत अर्थ में 'भस्य' का सम्बन्ध 'अनः' से किया गया है और इन सब अर्थों में इस का सम्बन्ध 'अङ्गस्य' के साथ किया गया है। इस विषय पर विस्तृत विचार प्रौढमनोरमा शब्दरत्न आदि व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखना चाहिये। यहां इतना जानना ही पर्याप्त है।

'अल्लोपोऽन' (२४७) से अन् के अकार का नित्यलोप प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम सूत्र से विकल्प करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२४८ विभाषा ङिश्योः ।६।४।१३६॥

अङ्गावयवोऽसर्वनामस्थान-यजादि-स्वादिपरो योऽन्, तस्याकारस्य लोपो वा स्याद् ङिश्योः परयोः। दध्नि, दधनि । शेषं वारिवत् । एवम् अस्थि-सक्थ्यक्षि ।

अर्थ —अङ्ग के अवयव अन् शब्द के अकार का विकल्प करके लोप हो जाता है यदि सर्वनामस्थानभिन्न यकारादि व अजादि स्वादि प्रत्ययों में से केवल 'ङि' व 'शी' परे हो तो।

व्याख्या—विभाषा ।१।१। ङिश्योः ।७।२। अत् ।६।१। लोप ।१।१। अन ।६।१। ['अल्लोपोऽन' से] भस्य ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। [ये दोनों अधिकृत हैं।] समास — ङिश्च शी च = ङिश्यौ, तयोः = ङिश्योः । इतरेतरद्वन्द्व । अर्थ —(अङ्गस्य) अङ्ग के अवयव (भस्य) सर्वनामस्थानभिन्न यकारादि व अजादि स्वादि प्रत्यय परे वाले (अन) अन् के (अत्) अकार का (विभाषा) विकल्प करके (लोप) लोप हो जाता है (ङिश्योः) ङि अथवा शी परे होने पर।

यहां 'शी' यह नपुंसकलिङ्ग वाला दीर्घ ही लिया जाता है। ह्रस्व शि तो 'शि सर्वनामस्थानम्' (२१८) से सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक होता है उसके परे होने पर भसञ्ज्ञा का होना ही असम्भव है।

'दधन् + इ' यहां ङि परे है, अतः प्रकृतसूत्र से अन् के अकार का विकल्प कर के लोप हो गया। लोपपक्ष में—'दध्नि' और लोपाभावपक्ष में—'दधनि' इस प्रकार दो रूप सिद्ध हुए। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	दधि	दधिनी	दधीनि
द्वि०	,,	,,	,,
तृ०	दध्ना	दधिभ्याम्	दधिभिः
च०	दध्ने	,,	दधिभ्यः
पं०	दध्नः	दधिभ्याम्	दधिभ्यः
ष०	,,	दध्नोः	दध्नाम्
स०	दध्नि, दधनि	,,	दधिषु
सं०	हे दधे !, दधि !	हे दधिनी !	हे दधीनि !

इसी प्रकार—अस्थि (हड्डी), सक्थि (ऊरु, जङ्घा) और अक्षि (आँख) शब्दों के रूप बनते हैं।

[लघु०] सुधि । सुधिनी । सुधीनि । हे सुधे !, हे सुधि ! ।

व्याख्या—'सुधी' शब्द विशेष्यलिङ्ग के आश्रित होने से त्रिलिङ्गी है। 'कुलम्' आदि के विशेष्य होने पर यह नपुंसक हो जाता है। नपुंसक में 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' (२४३) से ह्रस्व हो कर 'सुधि' शब्द बन जाता है। प्रथमा और द्वितीया विभक्ति में इस की प्रक्रिया वारिशब्दवत् होती है। तृतीयादि विभक्तियों में कुछ विशेष होता है। वह अग्रिमसूत्र द्वारा बतलाया जाता है—

[लघु०] अतिदेश सूत्रम्—२४६ तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य ।७।१।७४॥

प्रवृत्तिनिमित्तैक्ये भाषितपुंस्कम् इगन्तं क्लीबं पुंवद्वा टादावचि। सुधिया, सुधिनेत्यादि।

अर्थः—यदि प्रवृत्तिनिमित्त एक हो तो इगन्त नपुंसक भाषितपुंस्क शब्द अजादि तृतीयादि विभक्तियों के परे होने पर विकल्प कर के पुंवत् होता है।

व्याख्या—तृतीयादिषु ।७।३। अचि ।७।३। विभक्तिषु ।७।३। इक् ।१।१। ['इकोऽचि विभक्तौ' से वचन और विभक्ति का विपरिणाम कर के] नपुंसकम् ।१।१। ['नपुंसकस्य झलचः' से] भाषितपुंस्कम् ।१।१। पुंवत् इत्यव्ययपदम्। गालवस्य ।६।१। 'अचि' से तदादिविधि तथा 'इक्' से तदन्तविधि हो जाती है। समास—भाषितः पुमान् येन प्रवृत्तिनिमित्तेन तत् भाषितपुंस्कम्, बहुव्रीहिसमासः। तद् अस्यास्तीति—भाषितपुंस्कम्। 'अर्श आदिभ्योऽच्' इति मत्वर्थीयोऽच्प्रत्ययः। 'शब्दस्वरूपम्' इति विशेष्यमध्याहार्यम्। अर्थ—(तृतीयादिषु) तृतीयादि (अचि=अजादौ) अजादि (विभक्तिषु) विभक्तियों के परे होने पर (इक्=इगन्तम्) इगन्त (नपुंसकम्) नपुंसक शब्द (भाषितपुंस्कम्) जो पुंल्लिङ्ग में भी उसी प्रवृत्तिनिमित्त से भाषित हुआ हो, (गालवस्य) गालव आचार्य के मत में (पुंवत्) पुंलिङ्गवत् होता है।

गालव के मत में पुंवत् और अन्य आचार्यों के मत में पुंवत् न होने से पुंवद्भाव का विकल्प ही जायगा। पुंवद्भाव का अभिप्राय यह है कि जो २ कार्य पुंलिङ्ग में होते हैं वे यहां नपुंसक में भी हो जायें।

('प्रवृत्तिनिमित्त' किसे कहते हैं ?)

प्रत्येक शब्द का अपने वाच्य को बोधन कराने का कोई न कोई निमित्त अवश्य हुआ करता है। इस निमित्त को ही प्रवृत्तिनिमित्त कहते हैं। यथा—'घट' शब्द का घड़े को बोध कराने का निमित्त 'घटत्व' है, अर्थात् घट को घट इसीलिये कहते हैं क्योंकि इस में

घटत्व पाया जाता है। यदि घटत्व न पाया जाए तो उस कोई भी घट न कहे। तो यहां घटत्व' प्रवृत्तिनिमित्त हुआ। शुक्ल को शुक्ल कहने का प्रवृत्तिनिमित्त शुक्लत्व है। यदि शुक्ल में शुक्लत्व न पाया जाए तो उस कोई भी शुक्ल न कहे। पाचक को पाचक कहने का प्रवृत्तिनिमित्त 'पाककर्तृत्व' अर्थात् पकाने की क्रिया का करना है। यदि रसोइये में पकाना न पाया जाय तो उसे कोई भी पाचक न कहे। इसी प्रकार देवदत्त आदि शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्त तत्तद् विशेष आकृति ही होती है। सार यह है कि जिस विशेषता के कारण कोई शब्द अपने अर्थ को जनाता है, उस शब्द की वह विशेषता ही उस का प्रवृत्तिनिमित्त होता है। तथाहि—

१	घट	शब्द की विशेषता	घटत्व '	ही प्रवृत्तिनिमित्त है।
२	'पट	,, ,, ,,	'पटत्व	,, ।
३	'यज्ञदत्त	,, ,,	' आकृति विशेष'	,, ।
४	सुधी'	,, ,, ,,	शोभनध्यानवत्त्व '	,, ,, ,, ।
५	सुलू	,, ,,	शोभनलवनकर्तृत्व '	,, ।
६	धातृ	,, ,,	धारणकर्तृत्व '	,, ,, ।
७	'अनादि	,, ,,	'आदिहीनता	,, ,, ।
८	ज्ञातृ'	,, ,, ,,	''ज्ञानकर्तृत्व '	,, ,, ,, ।
९	'प्रद्यु	,, ,, ,,	'निर्मलाकाशवत्त्व	,, ।
१०	'प्ररि'	,, ,,	''प्रकृष्टधनवत्त्व	,, ,, ।
११	'सुनु'	,,	शोभननौकावत्त्व''	,, ।*

सूत्र का भावार्थ—जिस इगन्त नपुंसकलिङ्गी शब्द का जो प्रवृत्तिनिमित्त नपुंसक में हो यदि वही प्रवृत्तिनिमित्त उस का पुंलिङ्ग में भी हो तो तृतीयादि अजादि विभक्तियों के परे होने पर उस में विकल्प कर के पुंलिङ्गवत् कार्य होते हैं।

सुधि शब्द इगन्त नपुंसक है। इस का प्रवृत्तिनिमित्त शोभनध्यानकर्तृत्व है। पुंल्लिङ्ग में भी इस का वही प्रवृत्तिनिमित्त होता है। अतः तृतीयादि अजादि विभक्तियों में इसे विकल्प कर के पुंवत्कार्य होंगे। पुंवत्पक्ष में पुनः वही दीर्घान्त 'सुधी' शब्द आ जायगा। तब 'न भूसुधियोः' (२०१) से यण् का निषेध हो कर 'अचि श्नु—' (१९९) से

* प्रवृत्तिनिमित्तम्पदशक्यतावच्छेदकम्। यथा घटत्वं घटपदस्य प्रवृत्तिनिमित्तम्। एवं शुक्लादिपदस्य शुक्लत्वम्, पाचकादेः पाकः, देवदत्तादेस्तत्तत्पिण्डादौ प्रवृत्तिनिमित्तम्भवति। प्रवृत्तिनिमित्तशब्दस्य व्युत्पत्तिः—प्रवृत्तेः=शब्दानामर्थबोधनशक्तेः निमित्तम्=प्रयोजकम् इति। तच्च शक्यतावच्छेदकम्मवतीति ज्ञेयम्। तल्लक्षणञ्च प्रकारतया शक्तिग्रहविषयत्वम्—इति तत्त्वचिन्तामणौ श्रीगङ्गेशोपाध्यायाः।

इयँङ् करने पर 'सुधिया' आदि रूप बनेंगे। जिस पक्ष में पुंवत् न होगा उस पक्ष में वारि शब्दवत् प्रक्रिया हो कर 'सुधिना' आदि रूप सिद्ध होंगे। इस की रूपमाला यथा—

प्रथमा	सुधि	सुधिनी	सुधीनि
द्वितीया	,,	,,	,,
तृतीया	सुधिया सुधिना	सुधिभ्याम्	सुधिभिः
चतुर्थी	सुधिये, सुधिने	,,	सुधिभ्यः
पञ्चमी	सुधियः, सुधिनः	,,	,,
षष्ठी	,, ,,	सुधियोः सुधिनोः	सुधियाम्, सुधीनाम्
सप्तमी	सुधियि, सुधिनि	,, ,,	सुधिषु
सम्बोधन	हे सुधे !, हे सुधि !	हे सुधिनी !	हे सुधीनि !

इसी प्रकार निम्नलिखित शब्द भी भाषितपुंस्क हैं। इन में भी वैकल्पिक पुंवद्भाव हो जाता है। पुंवत्पक्ष में 'हरि' शब्द की तरह तथा उस के अभाव में 'वारि' शब्द की तरह प्रक्रिया होती है।

१ अनादि = जिस का आदि न हो (ब्रह्म)।
२ सादि = जिस का आदि हो (कार्यम्)।
३ सुकवि = अच्छे कवि वाला (कुलम्)।
४ सुमुनि = अच्छे मुनियों वाला (वनम्)।
५ सुनिधि = अच्छे खज़ाने वाला (राष्ट्रम्)।
६ सुमणि = अच्छे मणियों वाला (भूषणम्)।
७ सुध्वनि = अच्छी आवाज़ वाला (वाद्यम्)।
८ निरादि = आदिहीन (ब्रह्म)।
९ सुसूरि = अच्छे विद्वानों वाला (कुलम्)।
१० अतिकवि = कवियों का उल्लङ्घन करने वाला (कुलम्)।
११ अतिमुनि = मुनियों का उल्लङ्घन करने वाला (कुलम्)।
१२ अतिनिधि = निधि का उल्लङ्घन करने वाला (कुलम्)।
१३ अतिमणि = मणियों का उल्लङ्घन कर्त्ता (कुलम्)।
१४ अतिध्वनि = ध्वनि को लांघा हुआ (वनम्)।

[लघु०] मधु। मधुनी। मधूनि। हे मधो !, हे मधु !।

व्याख्या— 'मधु' शब्द पुंनपुंसक होता है। पुंलिङ्ग में इस का अर्थ '१ वसन्त ऋतु, २ चैत्रमास, ३ दैत्यविशेष' आदि होता है। नपुंसक में इस का अर्थ '१ शहद, २ मद्य' आदि होता है। अत एव प्रवृत्तिनिमित्त के एक न होने से यह भाषितपुंस्क नहीं होता। नपुंसक में इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया वारिशब्दवत् होती है; किञ्चित् भी अन्तर नहीं होता। रूपमाला यथा—(मधु = शहद)

प्र०	मधु	मधुनी	मधूनि	पं०	मधुन	मधुभ्याम्	मधुभ्य
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	मधुनो	मधूनाम्
तृ०	मधुना	मधुभ्याम्	मधुभि	स०	मधुनि	,,	मधुषु
च०	मधुने	,,	मधुभ्य	सं०	हे मधो ! मधु !	हे मधुनी !	हे मधूनि !

इसी प्रकार निम्नलिखित शब्दों का उच्चारण होता है। * यह चिह्न षत्व प्रक्रिया का द्योतक है—

१ वसु=धन। २ वस्तु=पदार्थ, चीज। ३ अम्बु=जल। ४ जतु=लाख। ५ अश्रु*=आंसु। ६ श्मश्रु*=दाढ़ी मूंछ। ७ तालु=दान्तों के पीछे कठिन मुख की छत। ८ हिङ्गु=हींग। ९ शिलाजतु= शिलाजीत। १० जत्रु*=गले के नीचे की दो हड्डियाँ स्कन्धसन्धि। ११ पीलु†=पीलु का फल। १२ उडु‡=नक्षत्र तारा। १३ दारु*=लकड़ी×। १४ त्रपु*=जो अग्नि को पा कर मानो लज्जा से पिघल जाता है—सीसा व रांगा।

† पीलु' शब्द पुंलिङ्ग और नपुंसक दोनों लिङ्गों में प्रयुक्त होता है। परन्तु इसका पुंलिङ्ग में पीलु-वृक्ष और नपुंसक में पीलु फल' अर्थ होता है। अतः प्रवृत्तिनिमित्त के एक न होने के कारण यह भाषितपुंस्क नहीं होता। इस विषय पर एक श्लोक प्रसिद्ध है—

"पीलुर्वृक्षः फलं पीलु पीलुने न तु पीलवे।
वृक्षे निमित्तं पीलुत्वं तज्जत्वं तत्फले पुनः ॥"

‡ उडु' शब्द स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग दोनों में प्रयुक्त होता है; अतः यह भाषितपुंस्क नहीं होता।

× कुछ लोगों के मत में 'दारु' शब्द पुंलिङ्ग भी माना जाता है। तब यह भाषितपुंस्क भी हो जायगा। इसी प्रकार देवदारु शब्द के विषय में भी समझना चाहिये। "अमुं पुरः पश्यसि देवदारुम्" रघुवंश—२ ३६।

नोट—ध्यान रहे कि विशुद्ध उदन्त नपुंसक शब्द संस्कृतसाहित्य में बहुत थोड़े हैं। हाँ ! भाषितपुंस्क पर्याप्त मिल सकते हैं। इनका वर्णन आगे देखें।

[लघु०] सुलु। सुलुनी। सुलूनि। सुल्वा, सुलुनेत्यादि।

व्याख्या—सुष्ठु लुनातीति सुलु (शस्त्रम्)। जो भली प्रकार काटता है उसे सुलु' कहते हैं। विशेष्यलिङ्ग के आश्रित होने से यह शब्द त्रिलिङ्गी है। नपुंसक में पूर्ववत् (२४३) सूत्र से ह्रस्व होकर सुधीशब्दवत् प्रक्रिया होती है। प्रवृत्तिनिमित्त के

एक होने से तृतीयादि अजादि विभक्तियों में इस भी वैकल्पिक पुंवद्भाव हो जाता है। पुंवत्पक्ष में 'ओः सुपि' (२१०) से यण् होता है। रूपमाला यथा—

प्रथमा	सुलु	सुलुनी	सुलूनि
द्वितीया	,,	,,	,,
तृतीया	सुल्वा, सुलुना	सुलुभ्याम्	सुलुभिः
चतुर्थी	सुल्वे, सुलुने	,,	सुलुभ्यः
पञ्चमी	सुल्वः, सुलुनः	,,	,,
षष्ठी	,, ,,	सुल्वोः सुलुनोः	सुल्वाम्, सुलूनाम्
सप्तमी	सुल्वि, सुलुनि	,,	सुलुषु
सम्बोधन	हे सुलो ! हे सुलु !	हे सुलुनी !	हे सुलूनि !

इसी प्रकार निम्नलिखित शब्द भी भाषितपुंस्क हैं। पुंवत्पक्ष में इनका उच्चारण भानुवत् तथा पुंवद्भाव के अभाव में मधुवत् होता है—

१ गुरु=बड़ा
२ लघु=छोटा
३ साधु=सरल सूधा
४ पटु=चतुर
५ विभु=व्यापक
६ असु=मरा हुआ
७ जिज्ञासु=जानने की इच्छा वाला
८ पिपासु=पीने की इच्छा वाला
९ श्रद्धालु=श्रद्धा करने वाला
१० सहिष्णु=सहन करने वाला
११ वन्दारु=वन्दनशील
१२ ऋजु=सरल
१३ दयालु=दया करने वाला
१४ दिदृक्षु=देखने का इच्छुक
१५ चिकीर्षु=करने का इच्छुक
१६ स्वादु=स्वादिष्ट
१७ मञ्जु=मिले हुए घुटनों वाला
१८ प्रज्ञु=टेढ़े घुटनों वाला
१९ तनु=सूक्ष्म
२० वर्त्तिष्णु=वर्त्तनशील, होने वाला
२१ विजिगीषु=जीतने का इच्छुक
२२ वर्धिष्णु=वृद्धिशील
२३ कटु=तीखा (मरिचवत्)
२४ स्पृहयालु=इच्छा करने वाला
२५ संशयालु=संशयशील
२६ कमण्डलु*=सन्न्यासियों का जलपात्र
२७ कम्बु×=शंख
२८ शीधु‡=गन्ने से निर्मित शराब
२९ जीवातु‡=जीवन औषध
३० जानु†=घुटना
३१ सानु+=पहाड़ की चोटी
३२ मृदु=कोमल

---

* 'अस्त्री कमण्डलुः कुण्डी' इत्यमरप्रामाण्याद्भाषितपुंस्कोऽयम्।

× 'शङ्खः स्यात्कम्बुरस्त्रियौ' इत्यमरप्रामाण्याद्भाषितपुंस्कोऽयम्।

‡ 'पुन्नपुंसकयोर्दारु जीवातु स्थाणु शीधव' इति त्रिकाण्डशेषः। 'जीवातुरस्त्रियां भक्ते जीविते जीवनौषधे' इति मेदिनी।

† जानुशब्दोऽर्धर्चादिः। + 'स्नुः प्रस्थः सानुरस्त्रियाम्' इत्यमरप्रामाण्यादस्य पुन्नपुंसकता। अत्र विशेषस्तु सिद्धान्तकौमुद्यामवसेयः।

इसी प्रकार—सुशिशु, सुतरु, सुवायु, सुगुरु, सुप्रभु, सुक्रतु, सुपरशु, सुबाहु, सुधातु, सुबन्धु, सुकेतु, सुजन्तु, सुतन्तु, सुपांशु, सुलघु, सुपटु—प्रभृति शब्द होते हैं।

नोट—भाषितपुंस्क शब्द प्रायः विशेषणवाची ही होते हैं; विशुद्ध भाषितपुंस्कों की गणना तो नगण्य सी है। [विशुद्ध यथा— कमण्डलु, कम्बु, शीधु, जीवातु आदि] विशेष्य के नपुंसक होने पर ही ये नपुंसक होते हैं।

अब ऋकारान्त नपुंसक शब्दों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] धातृ। धातृणी। धातृणि। हे धातः!, हे धातृ! धात्रा। धातृणा। धातृणाम्। एवं ज्ञात्रादयः।

व्याख्या—दधातीति धातृ (कुलम्)। जो धारण करे उसे धातृ कहते हैं। यह शब्द भी विशेष्यलिङ्ग के आश्रित होने से त्रिलिङ्गी है। विशेष्य के नपुंसक होने पर इसके नपुंसक में रूप बनते हैं। इसकी रूपमाला यथा—

प्रथमा	धातृ	धातृणी	धातृणि
द्वितीया	,,		
तृतीया	धात्रा, धातृणा×	धातृभ्याम्	धातृभिः
चतुर्थी	धात्रे, धातृणे×	,,	
पञ्चमी	धातुः, धातृणः×	,,	
षष्ठी	,, ×	धात्रोः, धातृणोः×	धातृणाम्×
सप्तमी	धातरि, धातृणि×	,,	धातृषु
सम्बोधन	हे धातः!, हे धातृ!	हे धातृणी!	हे धातृणि!

×इन तृतीयादि अजादि विभक्तियों में 'तृतीयादिषु भाषित—' (२४१) सूत्र से वैकल्पिक पुंवद्भाव हो जाता है। पुंवत्पक्ष में अजन्तपुंलिङ्गान्तर्गत 'धातृ' शब्द के समान प्रक्रिया होती है। पुंवद्भाव के अभाव में 'वारि' शब्दवत् कार्य होते हैं। किन्तु टा में ना आदेश न हो कर नुम् ही होता है। ध्यान रहे कि 'धातृ' शब्द की घिसञ्ज्ञा नहीं है अतः ङे, ङसि, ङस्, ङि विभक्तियों में 'घेर्ङिति' (१७२) और 'अच्च घेः' (१७४) के साथ नुम् को झगड़ना नहीं पड़ता।

आम् में यद्यपि दोनों पक्षों में एक जैसे रूप बनते हैं तथापि पुंवद्भाव के अभाव में प्रक्रिया में कुछ अन्तर होता है। अर्थात् नुट् का आगम पूर्वविप्रतिषेध से नुम् को बाध लेता है।

हे धातृ, हे धातः' में 'न लुमताऽङ्गस्य' की अनित्यता के कारण दो रूप बनते हैं।

अनित्यतापक्ष में सर्वनामस्थानता न होने से ऋतो ङि— से गुण न हो कर 'ह्रस्वस्य गुणः' से गुण होगा।

इसी प्रकार ज्ञातृ आदि शब्दों के नपुंसकलिङ्ग में रूप होते हैं—

१ ज्ञातृ = जानने वाला कुल आदि	६ छेत्तृ = काटने वाला कुल आदि
२ कर्तृ = करने वाला ,,	७ दातृ = देने वाला
३ कथयितृ = कहने वाला	८ वक्तृ = बोलने वाला ,, ,,
४ गणयितृ = गिनने वाला ,,	९ श्रोतृ = सुनने वाला ,,
५ जेतृ = जीतने वाला ,, ,,	१० हर्तृ = हरने वाला ,, ,,

ध्यातृ गन्तृ, रचयितृ पाठतृ प्रभृति शब्दों की स्वयं कल्पना कर लेनी चाहिये।

नोट—ऋदन्त विशुद्ध नपुंसक शब्दों का संस्कृत साहित्य में प्रायः अभाव ही है। सब के सब ऋदन्त शब्द नपुंसक में प्रायः भाषितपुंस्क ही मिलते हैं।

अब आकारान्त 'प्रद्यो' शब्द का वर्णन करते हैं—

'प्रकृष्टा द्यौर्यस्य यस्मिन् वा तत्=प्रद्यु (दिनम्)। प्रकृष्ट अर्थात् सुन्दर व निर्मल आकाश वाले दिन को 'प्रद्यो' कहते हैं। प्रद्यो शब्द में 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य' (२४३) से ह्रस्व करना है, परन्तु ओकार के स्थान पर स्थानकृत आन्तर्य से अकार और उकार दोनों प्राप्त होते हैं। इनमें से कौन सा ह्रस्व किया जाय ? इसका निर्णय अग्रिमसूत्र करता है—

[लघु०] नियम सूत्रम्—२५० एच इग्घ्रस्वादेशे ।१।१।४७॥

आदिश्यमानेषु ह्रस्वेषु (मध्ये*) एच इगेव स्यात्। प्रद्यु। प्रद्युनी। प्रद्यूनि। प्रद्युनेत्यादि।

अर्थ—जब ह्रस्व आदेश का विधान हो तब एचों के स्थान पर इक् ही ह्रस्व हो।

व्याख्या—एचः ६।१। इक् ।१।१। ह्रस्वादेशे ।७।१। समास—ह्रस्वस्य आदेशः = ह्रस्वादेशः, तस्मिन्=ह्रस्वादेशे, षष्ठीतत्पुरुषः। अर्थ—(एचः) एच् के स्थान पर (ह्रस्वादेशे) ह्रस्व आदेश विधान करने पर (इक्) इक् ह्रस्व होता है। यद्यपि एच् और इक् दोनों चार २ हैं तथापि यहां यथासङ्ख्यविधि नहीं होती। यथासङ्ख्यविधि अपूर्वविधि में ही प्रवृत्त हुआ करती है नियमविधि में नहीं। अतः 'स्थानेऽन्तरतमः'

---

* मध्य इत्यपपाठः, तद्योगे षष्ठ्या एवौचित्यात्—इति शेखरे नागेशः।

(१७) से यहा एकार और ऐकार के स्थान पर इकार तथा ओकार और औकार के स्थान पर उकार हो जायगा।

ध्यान रहे कि एचों के अपने ह्रस्व नही होते, एचामपि द्वादश, तथा ह्रस्वाभावात्' यह पीछे कहा जा चुका है। एच संयुक्तस्वर हैं अर्थात् दो दो स्वर मिलकर बने हैं। अकार और इकार के संयोग से एकार ऐकार तथा अकार और उकार के संयोग से ओकार औकार की उत्पत्ति हुई है। इस अवस्था में एचों को अकार और इकार तथा उकार प्राप्त होते हैं। अब इस सूत्र के नियम से इकार और उकार ही ह्रस्व होगे अवर्ण नहीं।

प्रद्यो यहा ओकार को उकार ह्रस्व होकर 'प्रद्यु' हुआ। अब इस की रूपमाला मधुशब्दवत् होती है—

प्र०	प्रद्यु	प्रद्युनी	प्रद्यूनि	प०	प्रद्युन	प्रद्युभ्याम्	प्रद्युभ्य
द्वि०	,,	,,		ष०	,,	प्रद्युनो	प्रद्यूनाम्
तृ०	प्रद्युना	प्रद्युभ्याम्	प्रद्युभि	स०	प्रद्युनि		प्रद्युषु
च०	प्रद्युने		प्रद्युभ्य	स०	हे प्रद्यो! प्रद्यु!	हे प्रद्युनी!	हे प्रद्यूनि!

यहा पर धातुवृत्तिकार श्रीमाधव जी लिखते हैं कि तृतीयादि विभक्तियों में पुंवद्भाव नहीं होता। क्योंकि नपुंसक में—प्रद्यु और पुंलिङ्ग में—प्रद्यो शब्द होने से दोनों इगन्त नहीं रहते। इगन्त शब्दों की ही 'तृतीयादिषु भाषित—' (२४६) सूत्र में भाषितपुंस्कता कही गई है। परन्तु अन्य कई लोग इसे स्वीकार नहीं करते वे कहते हैं कि पुंलिङ्गगत प्रद्यो शब्द ही नपुंसक में 'प्रद्यु' शब्द बना है अत एकदेशविकृतन्याय से दोनों एक ही हैं। नपुंसकगत इगन्त प्रद्यु शब्द पुंलिङ्ग में भी वर्त्तमान होने से पुंवद्भाव हो जायगा। ऐसा मानने वालों के मत में—प्रद्यवा प्रद्युना (टा) प्रद्यवे, प्रद्युने (ङे) प्रद्यो, प्रद्युन (ङसि व ङस्) प्रद्यवो प्रद्युनो (ओस्) प्रद्यवाम्, प्रद्यूनाम् (आम्), प्रद्यवि प्रद्युनि (ङि)—इस प्रकार दो २ रूप बनेंगे।

अब ऐकारान्त प्रै' शब्द का वर्णन करते हैं—

[लघु०] प्ररि। प्ररिणी। प्ररीणि। एकदेशविकृतमनन्यवत्—प्रराभ्याम्।

व्याख्या—प्रकृष्टो रा = धन यस्य तत् = प्ररि (कुलम्)। जिसका विपुल धन हो उसे 'प्रै' कहते हैं। नपुंसक में 'एच इग्घ्रस्वादेशे' (२५०) की सहायता से 'ह्रस्वो नपुंसके—' (२४३) द्वारा ह्रस्व—इकार हो कर 'प्ररि' शब्द बन जाता है। अब इसका उच्चारण 'वारि' शब्दवत् होता है।

प्र	प्रि	प्रिणी	प्रीणि	प०	प्रिणः	प्राभ्याम्	प्राभ्यः
द्वि०	,,		,,	ष	,	प्रिणोः	प्रीणाम्
तृ	प्रिणा	प्राभ्याम्	प्राभि	स०	प्रिणि	,,	प्रासु
च	प्रिणे		प्राभ्य	स०	हे प्रि !, प्रे !	हे प्रिणी !	हे प्रीणि !

१ नोट—भ्याम् भिस भ्यस् और सुप् में एकदेशविकृतमनन्यवत्' (पृष्ठ २३५) की सहायता से पुन वही रै शब्द माना जाने से रायो हलि' (२१५) द्वारा इकार को आकार होकर प्राभ्याम्' आदि रूप सिद्ध होते हैं।

२ नोट—यहां भी पूर्वोक्त प्रधी' शब्द की तरह श्रीमाधव के मत में पुंवद्भाव नहीं होता। अन्यों के मत में हो जाता है। पुंवद्भाव में—प्राया, प्रिणा इत्यादिप्रकारेण दो २ रूप बनते हैं।

३ नोट—प्रि + आम्' यहां नुमचिर (वा० १६) से नुम को बाध कर नुट हो जाता है। पुन नामि' (१४६) से दीर्घ तथा 'एकाजुत्तरपदे णः' (२८६) से णत्व हो कर प्रीणाम् बनता है। ध्यान रहे कि 'प्रि + नाम्' यहां नुट हो चुकने पर रायो हलि (२१५) से आत्व नहीं होगा क्योंकि तब सन्निपात परिभाषा (देखो पृष्ठ २३६) विरोध करेगी। 'नामि' यह दीर्घ तो आरम्भसामर्थ्य से ही सन्निपात परिभाषा की सर्वत्र अवहेलना किया करता है।

अब औकारान्त 'सुनौ' शब्द का वर्णन करते हैं—

[लघु०] सुनु। सुनुनी। सुनूनि। सुनुनेत्यादि।

व्याख्या—सु = शोभना नौर्यस्य तत् = सुनु (कुलम्)। जिस की सुन्दर नौका हो उसे 'सुनौ' कहते हैं। नपुंसक में 'एच इग्घ्रस्वादेशे' (२५) के नियमानुसार ह्रस्वो नपुंसके—' (२४३) से औकार का उकार ह्रस्व हो कर सुनु' शब्द बन जाता है। इसका उच्चारण 'मधु' शब्दवत् होता है। रूपमाला यथा—

प्र०	सुनु	सुनुनी	सुनूनि	प	सुनुनः	सुनुभ्याम्	सुनुभ्यः
द्वि	;	,,	,,	ष०		सुनुनोः	सुनूनाम्
तृ०	सुनुना	सुनुभ्याम्	सुनुभि	स	सुनुनि		सुनुषु
च०	सुनुने		सुनुभ्य	स०	हे सुनो ! सुनु !	हे सुनुनी !	हे सुनूनि !

यहां भी पूर्ववत् श्रीमाधव के मतानुरोध से पुंवद्भाव नहीं किया गया। वस्तुत यहां भी पुंवद्भाव हो जाता है। पुंवत्पक्ष में ह्रस्व का पुन औकार बन जाता है। तब

आदि आदेश करने से— सुनावा, सुनावे सुनाव ९ सुनावो २ सुनावाम् सुनसवि—* भी पक्ष में बन जाते हैं।

[लघु०] इत्यजन्ता नपुंसकलिङ्गाः [शब्दाः]

अर्थ—यहां अजन्तनपुंसकलिङ्ग शब्द समाप्त होते हैं।

अभ्यास (३६)

(१) न लुमताऽङ्गस्य सूत्र की अनित्यता कैसे और क्यों सिद्ध की जाती है? सप्रमाण सोदाहरण व्याख्यान करें।

(२) 'वारीणाम्' में नुट् होता है या नुम्? दोनों में क्या अन्तर है? सहेतुक प्रतिपादन करें।

(३) 'प्रवृत्तिनिमित्त' किसे कहते हैं? पीलु शब्द पर उसे घटाएं।

(४) प्रधी' शब्द नपुंसक में भाषितपुंस्क मानना चाहिये या नहीं? सहेतुक उभय पक्षों का प्रतिपादन कर अपनी सम्मति बताओ।

(५) 'एच इग्घ्रस्वादेशे' सूत्र की व्याख्या करते हुए इस की आवश्यकता पर एक विस्तृत नोट लिखो।

(६) निम्नलिखित सूत्रों की विस्तृत व्याख्या करें—

१ तृतीयादिषु । २ अल्लोपोऽनः । ३ अस्थिदधि । ४ विभाषा ङिश्योः । ५ स्वमोर्नपुंसकात् ।

(७) सूत्रनिर्देशपूर्वक सिद्धि करें—

१ अक्ष्णा । २ प्रधाम्याम् । ३ वारिणी । ४ हे धातः ! । ५ सुद्यवि । ६ त्रीणि । ७ दधानि । ८ द्रु ।

(८) सक्थि, सुनौ, पीलु—शब्दों का उच्चारण लिखें।

इति भैमीव्याख्ययोपबृंहितायां
लघु-सिद्धान्त-कौमुद्याम्
अजन्त-नपुंसकलिङ्ग-प्रकरणं
पूर्तिमगात्।

❀ अथ हलन्त-पुँल्लिङ्ग-प्रकरणम् ❀

अब क्रमप्राप्त हलन्तपुंलिङ्ग शब्दों का विवेचन करते हैं। 'ह य व र ट्' (प्रत्याहार सूत्र ५) के क्रमानुसार सर्वप्रथम हकारान्त शब्दों का नम्बर आता है।

[लघु०] विधि सूत्रम्—२५१ हो ढः ।८।२।३१॥

हस्य ढः स्याज्झलि पदान्ते च। लिट्, लिड्। लिहौ। लिहः। लिड्भ्याम्। लिट्त्सु, लिट्सु।

अर्थः—झल् परे होने पर या पदान्त में हकार के स्थान पर ढकार हो जाता है।

व्याख्या—झलि ।७।१। [झलो झलि से] पदस्य ।६।१। [यह अधिकृत है।] अन्ते ।७।१। [स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से] हः ।६।१। ढः ।१।१। अर्थ—(झलि) झल् परे होने पर या (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में (हः) ह् के स्थान पर (ढः) ढ् हो जाता है। सूत्र में ढकारोत्तर अकार उच्चारणार्थ है।

लेढीति=लिट्। चाटने वाले को 'लिह' कहते हैं। 'लिह आस्वादने' (अदा० उभ०) धातु से कर्त्ता में 'क्विप् च' (८०२) सूत्र द्वारा क्विप् प्रत्यय हो उस का सर्वापहारी लोप* करने से 'लिह्' शब्द सिद्ध होता है। लिह् के कृदन्त होने से 'कृत्तद्धित—' (११७) सूत्र से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर सुँ आदि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं।

लिह्+स् (सुँ)। इस दशा में 'हल्ङ्याब्भ्यो—' (१७९) से अपृक्त सकार का लोप हो जाता है। तब 'प्रत्ययलोपे—' (१९०) सूत्र की सहायता से 'सुप्तिङन्तं पदम्' (१४) सूत्र द्वारा 'लिह्' की पदसञ्ज्ञा होने से पद के अन्त में हकार के स्थान पर 'हो ढः' (२५१) सूत्र से ढकार हो जाता है। पुनः 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से ढकार को डकार तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक टकार करने से—'लिट्, लिड्' ये दो रूप बनते हैं।

लिह् + औ=लिहौ। लिह् + अस् (जस्)=लिहः।

लिह् + अम्=लिहम्। लिह् + औ (औट्)=लिहौ।

लिह्+अस् (शस्)=लिहः। लिह् + आ (टा)=लिहा।

---

* जो लोप सम्पूर्ण प्रत्यय आदि का अदर्शन कर देता है उसे सर्वापहारी लोप कहते हैं। क्विन्, क्विप्, विट्, विच् आदि प्रत्ययों का सर्वापहारी लोप होता है।

लिह् + भ्याम् यहां 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (१६४) सूत्र से लिह् की पदसञ्ज्ञा है, हकार पदान्त में स्थित है। अतः 'हो ढः' (२५१) से हकार को ढकार तथा 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से ढकार का डकार हो कर 'लिड्भ्याम्' रूप सिद्ध होता है। भिस और भ्यस में भी इसी प्रकार 'लिड्भिः' और 'लिड्भ्यः' रूप बनते हैं।

लिह + ए (ङे) = लिहे। लिह्+अस (ङसिँ व ङस्) = लिहः।

लिह + ओस् = लिहोः। लिह् + आम् = लिहाम्। लिह + इ (ङि) = लिहि।

सप्तमी के बहुवचन में लिह+सु (सुप्) इस स्थिति में 'हो ढः' (२५१) सूत्र से पदान्त हकार को ढकार तथा 'झलां जशोऽन्ते' (६७) सूत्र से उस जश्त्व—डकार हो कर 'लिड्+सु' बना। अब 'खरि च' (८.४.५५) सूत्र के असिद्ध होने से 'डः सि धुट्' (८.३.२९) सूत्र द्वारा वैकल्पिक धुँट करने से अनुबन्धों के चले जाने पर—१ लिड ध्सु, २ लिड् सु हुआ। अब यहां 'ष्टुना ष्टुः' (६४) सूत्र द्वारा प्रथम रूप में धकार को ढकार और दूसरे रूप में सकार को षकार प्राप्त होता है। इस का 'न पदान्ताट्टोरनाम्' (६५) से निषेध हो जाता है। पुनः 'खरि च' (७४) सूत्र द्वारा प्रथम रूप में धकार को तकार और उस तकार को खर् मान कर डकार को टकार करने से— लिट्त्सु। दूसरे रूप में डकार को टकार करने पर— लिट्सु'। इस प्रकार दो रूप सिद्ध होते हैं।

ध्यातव्य— लिट्त्सु, लिट्सु इन दोनों रूपों में 'खरि च' (७४) द्वारा किया चर्त्व असिद्ध है, अतः 'चयो द्वितीयाः—' (वा० १४) से प्रथम रूप में तकार को थकार तथा दूसरे रूप में टकार को ठकार नहीं होता।

झल परे होने पर 'हो ढः' (२५१) सूत्र के उदाहरण 'वोढा' आदि हैं जो आगे मूल में ही स्पष्ट हो जाएंगे।

लिह् (चाटने वाला) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	लिट्-ड्	लिहौ	लिहः
द्वि०	लिहम्	,,	,,
तृ०	लिहा	लिड्भ्याम्	लिड्भिः
च०	लिहे	,,	लिड्भ्यः
पं०	लिहः	लिड्भ्याम्	लिड्भ्यः
ष०	,,	लिहोः	लिहाम्
स०	लिहि	,,	लिट्त्सु, ट्सु
सं०	हे लिट्-ड्!	हे लिहौ!	हे लिहः!

इसी प्रकार—मधुलिह (भ्रमर), पुष्पलिह् (भ्रमर), कुसुमलिह् (भ्रमर) गुडलिह् (गुड़ चाटने वाला) शिरोरुह (केश), भूरुह (वृक्ष) सरोरुह् (कमल) सरसीरुह (कमल), पर्णरुह (वसन्त ऋतु)—प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं।

नोट—हलन्त शब्दों की अजादि विभक्तियों में प्रायः कोई कार्य विशेष नहीं करना पड़ता। व्यञ्जनों को स्वरों के साथ मिलाना मात्र ही कार्य होता है। हलादि विभक्तियों में

कुछ कार्य होता है । अर्थात् सु, भ्याम्, भिस् भ्यस् और सुप् इन पाञ्च स्थलों में ही रूप बनाने पड़ते हैं । हम आगे प्रायः इन में ही सिद्धि करेंगे ।

दुह्=दोहने वाला (दोग्धीति धुक्) ।

'दुह प्रपूरणे' (अदा० उभ०) धातु से कर्त्ता में 'क्विप् च' (८०२) सूत्र से क्विप् प्रत्यय करने पर उस का सर्वापहारी लोप हो कर 'दुह्' शब्द निष्पन्न होता है । अब इस से स्वादियों की उत्पत्ति होती है—

दुह् + स् (सुँ)—यहां 'हल्ङ्याब्भ्यो—' (१७९) से सकार का लोप हो 'दुह्' इस अवस्था में 'हो ढः' (२५१) सूत्र प्राप्त होता है । इस पर अग्रिम अपवादसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२५२ दादेर्धातोर्घः ।८।२।३२॥

झलि पदान्ते चोपदेशे दादेर्धातोर्हस्य घः स्यात् ।

अर्थः—उपदेश में जो दकारादि धातु, उस के हकार को घकार हो जाता है झल् परे होने पर या पदान्त में ।

व्याख्या—दादेः ।६।१। धातोः ।६।१। हः ।६।१। ['हो ढः' से] घः ।१।१। झलि ।७।१। ['झलो झलि' से] पदस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] अन्ते ।७।१। ['स्कोः—' से] यहां भाष्यकार के व्याख्यान से उपदेश में ही 'दादि' ग्रहण किया जाता है । समासः—द् =दकार आदौ आदिर्वा यस्य स दादिस्तस्य दादेः, बहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(झलि) झल् परे होने पर या (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में (दादेः) उपदेश में दकार आदि वाली (धातोः) धातु के (हः) हकार के स्थान पर (घः) घ् आदेश हो जाता है । घकार में अकार उच्चारणार्थ है । यह सूत्र यद्यपि 'हो ढः' (८.२.३१) सूत्र की दृष्टि में असिद्ध है, तथापि वचनसामर्थ्य से यह उस का अपवाद है—'अपवादो वचनप्रामाण्यात्' ।

'उपदेश' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि 'अधोक्' यहां दुह् के अजादि होने पर भी घत्व हो जाए और 'दामलिट्' यहां दादि धातु होने पर भी घत्व न हो* ।

---

* अधोक् यह 'दुह्' धातु के लङ् लकार के प्रथम व मध्यमपुरुष का एकवचन है । 'दादेर्धातोर्घः' में 'उपदेश' ग्रहण न करने से 'अदोह्' इस स्थिति में हकार को घकार नहीं हो सकता क्योंकि 'दुह्' धातु को अट् का आगम होने से 'यदागमा— (देखो पृष्ठ २१५) परिभाषा के अनुसार वह अजादि हो गई है, दादि नहीं रही पुनः यदि यहां 'उपदेश' ग्रहण करते हैं तो हकार को घकार हो जाता है क्योंकि उपदेश=आद्योच्चारण में तो यह दादि ही थी, अजादि तो बाद=दूसरे उच्चारण में बनी है । घकार करने पर 'एकाचः— सूत्र से दकार को धकार हो जश्त्व चर्त्व करने से—'अधोक्-ग् ये दो रूप सिद्ध हो जाते

दुह् यह उपदेश में दादि धातु‡ है। अतः इस सूत्र से पदान्त में हकार को घकार हो कर— दुघ् हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२५३ एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः । ८।२।३७॥

धात्ववयवस्यैकाचो झषन्तस्य बशो भष् स्यात्, से ध्वे पदान्ते च। धुक्, धुग्। दुहौ। दुहः। धुग्भ्याम्। धुक्षु।

अर्थः—धातु का अवयव जो झषन्त एकाच्, उस के बश् को भष् हो, सकार अथवा ध्व परे होने पर या पदान्त में।

व्याख्या—धातोः ।६।१। [‘दादेर्धातोर्घः' से] एकाचः ।६।१। बशः ।६।१। भष् ।१।१। झषन्तस्य ।६।१। स्ध्वोः ।७।२। पदस्य ।६।१। [अधिकृत है] अन्ते ।७।१। [‘स्कोः—' से] अन्वयः—धातोः (अवयवस्य) एकाचो झषन्तस्य बशो भष् (स्यात्) स्ध्वोः पदस्य अन्ते (च)। अर्थः—(धातोः) धातु के अवयव (एकाचः) एक अच् वाले (झषन्तस्य) झषन्त भाग के (बशः) बश् अर्थात् ब् ग् ड् द् वर्णों के स्थान पर (भष्) भष् अर्थात् भ् घ् ढ् ध् वर्ण हो जाते हैं (स्ध्वोः) सकार अथवा ध्व शब्द परे हो या (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में।

इस सूत्र के अर्थ में हम ने अनुवृत्तिलब्ध ‘धातोः' पद का ‘एकाचः झषन्तस्य' के साथ सामानाधिकरण्य नहीं किया। अर्थात् ‘एक अच् वाली झषन्त धातु के बश् को भष् हो' इस प्रकार का अर्थ नहीं किया। ऐसा अर्थ करने से यह दोष प्राप्त होता था कि जहां एक अच् वाली धातु न होती वहां भष् प्राप्त न होता*। यथा— ‘गर्दभ' शब्द से ‘तत्करोति तदाचष्टे' (चुरा० ग० सू०) द्वारा णिच् प्रत्यय करने पर ‘सनाद्यन्ता धातवः' (४६८) से धातुसञ्ज्ञा हो कर कर्त्ता में क्विप् प्रत्यय करने से ‘गर्दभ्' शब्द निष्पन्न होता है। यहां एक

—हैं। इसी प्रकार—‘दामलिह्' शब्द में उपदेश में धातु के दादि न होकर लकारादि होने से घत्व नहीं होता। ‘हो ढः' (२५१) से ढत्व हो जश्त्व चर्त्व करने पर—‘दामलिट्-ड्' सिद्ध होते हैं। दाम लेढीति दामलिट्, दामलिहमात्मन इच्छतीति-दामलिट्। इस की विशेष प्रक्रिया सिद्धान्तकौमुदी में देखें।

‡ क्विबन्ता विडन्ता विजन्ताः शब्दा धातुत्वं न जहति (क्विबन्त, विडन्त और विजन्त शब्दों की धातुसञ्ज्ञा बनी रहती है) इस परिभाषानुसार यहां ‘दुह्' की धातुसञ्ज्ञा पूर्ववद् अक्षुण्ण है।

* यदि एकाच् अनेकाच् सब धातुओं में सम्भाव करना है तो ‘एकाचः' की क्या आवश्यकता है? यहां यह शङ्का नहीं करनी चाहिये क्योंकि ‘एकाचः' ग्रहण न करने से ढत्व कर चुकने पर ‘दामलिट्' में भी अनिष्ट सम्भाव प्राप्त होगा।

अच् वाली धातु न होने से भष्भाव प्राप्त नहीं होता। परन्तु हमें भष्भाव कर 'गधप्' रूप बनाना अभीष्ट है। अतः यहां 'धातोः' पद का 'एकाचो बशो भष्—झषन्तस्य' इस के साथ अवयव—अवयवी सम्बन्ध करना ही युक्त है। अर्थात् 'धातु का अवयव जो एकाच् झषन्त उस के बश् का भष् हो' ऐसा अर्थ करना चाहिये। ऐसा करने से 'गदभ्' इस धातु का अवयव एकाच् झषन्त 'दभ्' हो जाता है। इस से उस के दकार का धकार सिद्ध हो जाता है।

दुघ् यह व्यपदेशिवद्भाव‡ से धातु का अवयव है और एकाच् झषन्त भी है अतः इस के बश्—दकार का स्थानकृत आन्तर्य से धकार हो कर 'धुघ्' हुआ। अब जश्त्व और वैकल्पिक चर्त्व करने से— धुक्, धुग् ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

भ्याम् में—'दुह् + भ्याम्' इस स्थिति मे पदान्त में हकार को घकार 'एकाच—' (२५३) से दकार को धकार तथा जश्त्व—गकार हो कर 'धुग्भ्याम्' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार भिस् में 'धुग्भिः' और भ्यस् में 'धुग्भ्यः' सिद्ध होते हैं।

दुह्+सु (सुप्)। यहां भी पदान्त में घकारादेश, भष्त्व से दकार का धकार तथा 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से जश्त्व—गकार और 'खरि च' (७४) से चर्त्व—ककार कर षत्व करने से 'धुक्षु' सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—

प्र०	धुक्, ग्	दुहौ	दुहः	प०	दुहः	धुग्भ्याम्	धुग्भ्यः
द्वि०	दुहम्			ष०	,,	दुहोः	दुहाम्
तृ०	दुहा	धुग्भ्याम्	धुग्भिः	स०	दुहि	,,	धुक्षु
च०	दुहे	,,	धुग्भ्यः	सं०	हे धुक्, ग्!	हे दुहौ!	हे दुहः!

इसी प्रकार—गोदुह् (गौ दोहने वाला=ग्वाला) अजादुह् (बकरी दोहने वाला) दह् (जलाने वाली=अग्नि), आश्रयदह् (अग्नि) काष्ठदह् (अग्नि) प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं।

[लघु०] विधि सूत्रम्—२५४ वा द्रुह-मुह-ष्णुह-ष्णिहाम्। ८।२।३३॥

एषां हस्य वा घः स्याज्झलि पदान्ते च। ध्रुक्, ध्रुग्, ध्रुट्, ध्रुड्। द्रुहौ। द्रुहः। ध्रुग्भ्याम्, ध्रुड्भ्याम्। ध्रुक्षु, ध्रुट्त्सु, ध्रुट्सु। एवम्—मुक्, मुग्, मुट्, मुड् इत्यादयः।

‡ इसे 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' (२७८) सूत्र पर देखें।

अर्थ—द्रुह मुह् ष्णुह्, ष्णिह्—इन धातुओं क हकार को झल् परे होने पर या पदान्त में विकल्प कर के घकार हो जाता है।

व्याख्या—वा इत्यव्ययपदम्। द्रुह् मुह ष्णुह ष्णिहाम् ।६ ३। ह ।६।१। [हो ढ ' से] घ ।१।१। [दादेर्धातोर्घः से] झलि ।७।१। [झलो झलि से] पदस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] अन्ते ।७।१। [स्को—' से] समास—द्रुहश्च मुहश्च ष्णुहश्च ष्णिह च= द्रुह मुह ष्णुह ष्णिह तेषाम्=द्रुह मुह ष्णुह ष्णिहाम्। इतरेतरद्वन्द्व। द्रुहादिषु त्रिषु अकार उच्चारणार्थः। अर्थ—(द्रुह मुह ष्णुह ष्णिहाम्) द्रुह मुह्, ष्णुह् और ष्णिह धातुओं के (ह) हकार के स्थान पर (वा) विकल्प कर के (घ) घकार आदेश होता है (झलि) झल परे होने पर या (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में।

द्रुह' में दादेर्धातोर्घः' (२५२) द्वारा घत्व के नित्य प्राप्त होने पर तथा अन्यों के दादि न होने से घत्व के अप्राप्त होने पर इस सूत्र से वैकल्पिक घत्व किया जाता है अत यह प्राप्ताप्राप्तविभाषा है।

द्रुह्=द्रोह करने वाला [द्रुह्यतीति ध्रुक्]।

द्रुह जिघांसायाम्' (दिवा प० रधादिस्वाद्वेट) धातु से कर्त्ता में क्विप् प्रत्यय कर उस का सर्वापहारी लोप करने से द्रुह' शब्द निष्पन्न होता है।

द्रुह+स् (सुँ)। यहा 'हल्ङ्याब्भ्य—' (१७६) सूत्र से सकारलोप हो कर पदान्त में हकार को वा द्रुह— (२५४) सूत्र द्वारा वैकल्पिक घकार तथा घकाराभावपक्ष में 'हो ढ' (२५१) सूत्र से ढकार कर दोनों पक्षों में 'एकाच— (२५३) सूत्र से दकार को धकार हो गया तो—ध्रुघ् ध्रुढ। अब 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से जश्त्व तथा वाऽवसाने' (४६) सूत्र से वैकल्पिक चर्त्व करने से—'१ ध्रुक २ ध्रुग्, ३ ध्रुट्, ४ ध्रुड ये चार रूप सिद्ध होते हैं।

द्रुह्+भ्याम्' यहा पदान्त हकार को घकार तथा पक्ष में ढकार हो कर दोनों पक्षों में एकाच—' (२५३) से दकार को धकार हो जाता है। पुन 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से दोनों पक्षों में जश्त्व हो कर—१ ध्रुग्भ्याम्, २ ध्रुड्भ्याम्' ये दो रूप बनते हैं। इसी प्रकार भिस और भ्यस में भी दो २ रूप होते हैं।

द्रुह्+सु (सुप)। यहा वा द्रुह—' (२५४) से पदान्त हकार को वैकल्पिक घकार हो कर 'एकाचो बश—' (२५३) सूत्र से दकार को धकार जश्त्व से घकार को गकार षत्व तथा चर्त्व से गकार को ककार करने से—ध्रुक्षु=ध्रुक्षु रूप सिद्ध होता है। घत्वाभाव में—पदान्त हकार को 'हो ढ' (२५१) से ढकार, भष्त्व से दकार को धकार

जश्त्व से ढकार को डकार, 'ड सि धुट (८४) से वैकल्पिक धुट् आगम, अनुबन्धलोप तथा खरि च' (७४) से चर्त्व करने पर— १ ध्रुटत्सु २ ध्रुटसु' ये दो रूप बनते हैं। तो इस प्रकार कुल मिला कर— १ ध्रुक्षु, २ ध्रुट्त्सु, ३ ध्रुटसु'' ये तीन रूप सिद्ध होते हैं। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्रथमा	ध्रुक–ग्, ध्रुट–ड्	द्रुहौ	द्रुह
द्वितीया	द्रुहम्	,,	,,
तृतीया	द्रुहा	ध्रुग्भ्याम् ध्रुड्भ्याम्	ध्रुग्भि ध्रुड्भि
चतुर्थी	द्रुहे	, ,,	ध्रुग्भ्य ध्रुडभ्य
पञ्चमी	द्रुह	,, ,	,, ,,
षष्ठी	,,	द्रुहो	द्रुहाम्
सप्तमी	द्रुहि	,	ध्रुक्षु ध्रुटत्सु, ध्रुटसु
सम्बोधन	हे ध्रुक ग, ध्रुट ड !	हे द्रुहौ !	हे द्रुह !

इसी प्रकार—मित्रद्रुह (मित्राय द्रुह्यति=मित्रद्रोही) प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं।

मुहँ वैचित्ये' (दिवा० प० रधादित्वाद्वेट) धातु से क्विप प्रत्यय कर उस का सर्वापहारी लोप करने से मुह' (मुह्यतीति मुक=मोह करने वाला) शब्द निष्पन्न होता है। इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया द्रुह' शब्दवत होती है केवल भष्भाव नहीं होता। रूपमाला यथा—

प्रथमा	मुक ग मुट् ड्	मुहौ	मुह
द्वितीया	मुहम्		
तृतीया	मुहा	मुग्भ्याम्, मुडभ्याम्	मुग्भि , मुड्भि
चतुर्थी	मुहे	,, ,,	मुग्भ्य मुडभ्य
पञ्चमी	मुह	,	,
षष्ठी	,	मुहो	मुहाम्
सप्तमी	मुहि	,,	मुक्षु, मुटत्सु मुटसु
सम्बोधन	हे मुक ग, मुट ड !	हे मुहौ !	हे मुह !

[लघु०] विधि सूत्रम्—२५५ धात्वादे ष· स ।६।१।६२॥

[धातोरादे· षस्य स स्यात् ।] स्नुक्, स्नुग्, स्नुट् स्नुड् । एव स्निक् इत्यादि ।

अर्थ —धातु के आदि षकार के स्थान पर सकार आदेश हो।

व्याख्या—धात्वादेः ।६।१। षः ।६।१। सः ।१।१। समास—धातोः आदिः = धात्वादिः तस्य=धात्वादेः, षष्ठीतत्पुरुष । सः इत्यत्र अकार उच्चारणार्थ । अर्थ—(धात्वादेः) धातु के आदि (षः) ष् के स्थान पर (सः) स् आदेश होता है ।

'धातु' कहने से 'षोडश' 'षट्' आदि में षकार को सकार नहीं होता तथा 'आदि' कथन से 'कर्षति' आदियों में धातु के अन्त्य षकार को सकार नहीं होता ।

'ष्णुह उद्गिरणे' (दिवा० प० वेट्) 'ष्णिह प्रीतौ' (दिवा० प० वेट्) इन धातुओं के आदि षकार को प्रकृतसूत्र से सकार हो कर णकार को भी नकार हो जाता है । क्योंकि यह नियम है कि—"निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः" अर्थात् (निमित्त+अपाये) निमित्त=कारण के नाश होने पर (नैमित्तिकस्य) नैमित्तिक—उस निमित्त से उत्पन्न हुए कार्य का भी (अपायः) नाश हो जाता है* । यहां षकार से परे होने के कारण ही नकार को 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' (२६७) से णकार हुआ था । जब निमित्त षकार ही न रहा तब नैमित्तिक कार्य णकार भी न रहा ।

स्नुह्, स्निह्—दोनों से कर्त्ता में क्विप् हो कर उस का सर्वापहारीलोप करने से स्नुह्, स्निह् शब्द सिद्ध होते हैं । इन दोनों की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'द्रुह्' शब्द के समान होती है । केवल 'एकाचो बशो—' (२५३) से भष्भाव नहीं होता । स्नुह् [स्नुह्यतीति स्नुक्=वमन करने वाला] शब्द की रूपमाला यथा—

प्रथमा	स्नुक्-ग्, स्नुट्-ड्	स्नुहौ	स्नुहः
द्वितीया	स्नुहम्	„	„
तृतीया	स्नुहा	स्नुग्भ्याम्, स्नुड्भ्याम्	स्नुग्भिः, स्नुड्भिः
चतुर्थी	स्नुहे	„	स्नुग्भ्यः, स्नुड्भ्यः
पञ्चमी	स्नुहः	„	„
षष्ठी	„	स्नुहोः	स्नुहाम्
सप्तमी	स्नुहि	„	स्नुक्षु, स्नुट्त्सु, स्नुट्सु
सम्बोधन	हे स्नुक्-ग्, ट्-ड् !	हे स्नुहौ !	हे स्नुहः !

इसी प्रकार स्निह् (स्निह्यतीति स्निक्=स्नेह करने वाला) शब्द के रूप चलते हैं ।

विश्ववाह् (जगत् को चलाने वाले=भगवान्)

विश्वं वहतीति विश्ववाट् । विश्वकर्मोपपद 'वह प्रापणे' (भ्वा० उ० अनिट्) धातु से कर्त्ता में 'वहश्च' (३।२।६४) सूत्र द्वारा ण्वि प्रत्यय, णित्त्व के कारण उपधावृद्धि तथा ण्वि के चले जाने पर उपपदसमास करने से 'विश्ववाह्' शब्द निष्पन्न होता है ।

* यहां नाश से तात्पर्य पुनः पूर्वावस्था में आ जाना है लोप नहीं ।

'विश्ववाह' शब्द के सर्वनामस्थान प्रत्ययों में 'लिह्' शब्दवत् रूप बनते हैं। भसञ्ज्ञकों में कुछ विशेष होता है। वह अग्रिम सूत्रों में बताया जाता है—

[लघु०] सञ्ज्ञासूत्रम्—२५६ इग्यणः सम्प्रसारणम् ।१।१।४४॥

यणः स्थाने प्रयुज्यमानो य इक्, स सम्प्रसारणसञ्ज्ञः स्यात् ।

अर्थः—यण् के स्थान पर विधान किया इक् सम्प्रसारणसञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—इक् ।१।१। यणः ।६।१। सम्प्रसारणम् ।१।१। अर्थः—(यणः) यण् के स्थान पर विधान किया (इक्) इक् (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारणसञ्ज्ञक होता है। यहां यथासङ्ख्य अथवा स्थानकृत आन्तर्य से यकारस्थानिक इवर्ण वकारस्थानिक उवर्ण रेफस्थानिक ऋवर्ण तथा लकारस्थानिक ऌवर्ण सम्प्रसारणसञ्ज्ञक होगा।

इस शास्त्र में सम्प्रसारण का दो प्रकार के स्थानों पर उपयोग किया जाता है। एक विधिसूत्रों में और दूसरा अनुवादसूत्रों में। जिन सूत्रों में सम्प्रसारण का साक्षात् विधान किया जाता है वे विधिसूत्र कहाते हैं। यथा—'वाह ऊठ्' (२५७) भसञ्ज्ञक वाह के स्थान पर सम्प्रसारण ऊठ् हो। 'वचिस्वपि—' (५४७) वच् स्वप् और यजादि धातुओं को कित् परे होने पर सम्प्रसारण हो। इत्यादि। जहां सम्प्रसारण का नाम ले कर कोई अन्य कार्य किया जाता है वहां सम्प्रसारण का अनुवाद होता है। यथा—'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) सम्प्रसारण से अच् परे होने पर पूर्वपर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश हो। 'हलः' (८१६) हल् से परे सम्प्रसारण को दीर्घ हो। इत्यादि।

यणस्थानिक इक् की सम्प्रसारणसञ्ज्ञा होने से अनुवादस्थलों में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती क्योंकि सर्वत्र सम्प्रसारण विद्यमान रहने से अन्य कार्य अबाध हो जाते हैं। परन्तु विधिस्थलों में महान् झगड़ा उपस्थित हो जाता है, क्योंकि सदैव यह नियम होता है कि प्रथम सञ्ज्ञी वर्त्तमान रहता है और बाद में उस की सञ्ज्ञा की जाती है। इस नियमानुसार पहले यणस्थानिक इक् वर्त्तमान होना चाहिये और पीछे सम्प्रसारणसञ्ज्ञा का विधान करना चाहिये। इस प्रकार 'वाह ऊठ्' (२५७) द्वारा वाह में तब सम्प्रसारण होगा जब यणस्थानिक इक् होगा। परन्तु यणस्थानिक इक् तब हो सकता है जब कि 'वाह ऊठ्' (२५७) सूत्र प्रवृत्त हो कर सम्प्रसारण कर दे। इस प्रकार यहां अन्योऽन्याश्रय दोष आ कर महान् झगड़ा उपस्थित हो जाता है। क्योंकि अन्योऽन्याश्रय कार्य हो नहीं सकते। जब पहला हो तब उस का आश्रित दूसरा हो और जब दूसरा हो तब उस का आश्रित पहला हो। इस दशा में कोई भी नहीं हो सकता। भाष्यकार ने भी कहा है—"अन्योऽन्याश्रयाणि कार्याणि न प्रकल्पन्ते"।

इस झगडे का उपस्थित होने पर भाष्यकार सूत्रशाटकन्याय के आश्रय से इस का समाधान करते हैं। उन का कथन है कि जैसे कोई पुरुष सूत ले कर जुलाहे के पास जा कर कहता है कि 'अस्य सूत्रस्य शाटकं वय' इस सूत का वस्त्र बुन। अब यहां 'वस्त्र बुन' पर यह सन्देह होता है कि यदि यह वस्त्र है तो बुनना कैसे ? क्योंकि वस्त्र बुना नहीं जा सकता। और यदि यह बुनने योग्य है तो वस्त्र कैसा ? क्योंकि बुनना वस्त्र में सम्भव नहीं हो सकता। इस प्रकार विरोध आने पर लोक में भावी सञ्ज्ञा का आश्रय किया जाता है अर्थात् उस पुरुष का यह आशय समझा जाता है कि इस का ऐसा बुन जिस से यह वस्त्र हो जाय। इसी प्रकार यहां विधिप्रदेशों में भी भावीसञ्ज्ञा का आश्रयण करना चाहिये। यथा— 'वाह ऊठ्' (२५७) भसञ्ज्ञक वाह् के स्थान पर ऐसा करो कि जिस से किया हुआ कार्य सम्प्रसारणसञ्ज्ञक हो जावे। तो इस प्रकार विधिप्रदेशों में दोष का परिहार हो जाता है।

अब इस प्रकरण में सम्प्रसारणसञ्ज्ञा का उपयोग दिखाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२५७ वाह ऊठ् ।६।४।१३२॥

भस्य वाहः सम्प्रसारणम् ऊठ् ।

अर्थः—भसञ्ज्ञक वाह् के स्थान पर सम्प्रसारण ऊठ् हो।

व्याख्या—भस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] वाहः ।६।१। सम्प्रसारणम् ।१।१। ['वसोः सम्प्रसारणम्' से] ऊठ् ।१।१। अर्थः—(भस्य) भसञ्ज्ञक (वाहः) वाह् के स्थान पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण (ऊठ्) ऊठ् हो। पूर्वसूत्रानुसार वाह् के वकार को ही ऊठ् होगा।

विश्ववाह् + अस् (शस्)। यहां 'यचि भम्' (१६५) से वाह् की भसञ्ज्ञा है अतः प्रकृतसूत्र से इस के वकार को ऊठ् हो जाता है। ऊठ् के ठकार की 'हलन्त्यम्' (१) से इत्सञ्ज्ञा और 'तस्य लोपः' (३) से लोप हो कर विश्व ऊ आह् + अस् हुआ। अब अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२५८ सम्प्रसारणाच्च ।६।१।१०५॥

सम्प्रसारणादचि पूर्वरूपमेकादेशः । वृद्धिः—विश्वौहः । इत्यादि ।

अर्थः—सम्प्रसारण से अच् परे होने पर पूर्व + पर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश हो जाता है।

व्याख्या—सम्प्रसारणात् ।५।१। च इत्यव्ययपदम् । अचि ।७।१। ['इको यणचि'

स] पूर्वपरयोः ।६।२।—एकः ।१।१। ['एकः पूर्वपरयोः' यह अधिकृत है] पूर्वः ।१।१। [अमि पूर्वः से] अर्थः —(सम्प्रसारणात्) सम्प्रसारण से (अचि) अच् परे होने पर (पूर्वपरयोः) पूर्व + पर के स्थान पर (एकः) एक (पूर्वः) पूर्वरूप आदेश हो।

विश्व ऊ आह्+अस् यहां ऊ' यह सम्प्रसारण है, इस से परे 'आ' यह अच् है अतः पूर्व (ऊ) और पर (आ) के स्थान पर एक पूर्वरूप ऊ' हो कर 'विश्व ऊ ह्+अस' हुआ। अब 'एत्येधत्यूठ्सु' (३४) सूत्र से वकारोत्तर अकार और ऊठ के ऊकार के स्थान पर 'औ' वृद्धि हो कर—सकार को रुँत्व और रेफ को विसर्ग करने से 'विश्वौहः' प्रयोग सिद्ध होता है।

इसी प्रकार आगे सर्वत्र भसञ्ज्ञकों में प्रक्रिया होती चली जाती है। 'विश्ववाह्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्रथमा	विश्ववाट्-ड्	विश्ववाहौ	विश्ववाहः
द्वितीया	विश्ववाहम्	,,	विश्वौहः
तृतीया	विश्वौहा	विश्ववाड्भ्याम्	विश्ववाड्भिः
चतुर्थी	विश्वौहे	,,	विश्ववाड्भ्यः
पञ्चमी	विश्वौहः	,,	
षष्ठी	,,	विश्वौहोः	विश्वौहाम्
सप्तमी	विश्वौहि	,,	विश्ववाट्त्सु-ट्सु
सम्बोधन	हे विश्ववाट्-ड्!	हे विश्ववाहौ!	हे विश्ववाहः!

इसी प्रकार—१ रथवाह् (रथ हाकने वाला), २ शकटवाह् (छकड़ा हाकने वाला) ३ भारवाह् (भार उठाने वाला), ४ उष्ट्रवाह् (ऊँट हाकने वाला), ५ प्रष्ठवाह् (सिखाने के लिये जोते हुए बैल आदि) प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं*।

अनडुह्=बैल [अनः = शकटं वहतीत्यनड्वान्]।

अनडुह् शब्द पाणिनीयगणपाठ में पाञ्च बार प्रयुक्त हुआ है [१ उरःप्रभृति २ ऋष्यादि, ३ कुलालादि, ४ गर्गादि ५ शरत्प्रभृति]। शाकटायन के उणादिसूत्रों में इस की सिद्धि नहीं की गई। महाराज भोजप्रणीत सरस्वतीकण्ठाभरण के "अनसि वहेः क्विप् डश्चानसः" (अ० २ पा० १ सू० ३४१) इस औणादिक सूत्र द्वारा अनस्कर्मोपपद वह् धातु से क्विप् प्रत्यय, अनस् के सकार का डकारादेश 'क्विब्लोपः', 'वचिस्वपि—' (५४७) द्वारा सम्प्रसारण तथा 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से पूर्वरूप करने पर अनडुह् शब्द निष्पन्न होता है।

---

* कई लोग—वारिवाह्, भूवाह् प्रभृति अनङ्कारा तापपद शब्दों की कल्पना करते हैं परन्तु महाभाष्य पढने से वह अप्रामाणिक प्रतीत होती है [देखो—६.४.१३ पर भाष्य, प्रदीप, तत्त्वबोधिनी]।

अनडुह् + स (सुँ) । यहां अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२५९ चतुरनडुहोरामुदात्तः ।७।१।९८॥

अनयोराम् स्यात्सर्वनामस्थाने परे ।

अर्थः—सर्वनामस्थान परे होने पर चतुर् और अनडुह् शब्दों का अवयव आम् हो जाता है ।

व्याख्या—चतुरनडुहोः ।६।२। आम् ।१।१। उदात्तः ।१।१। सर्वनामस्थाने ।७।१। [इतोऽत्सर्वनामस्थाने से] अर्थः—(सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे होने पर (चतुरनडुहोः) चतुर् और अनडुह् शब्दों का अवयव (उदात्तः) उदात्त (आम्) आम् हो जाता है । आम् मित् है क्योंकि हलन्त्यम् (१) से इस के मकार की इत्सञ्ज्ञा होती है । अतः यह मिदचोऽन्त्यात्परः (२४०) के अनुसार चतुर् और अनडुह् शब्दों के अन्त्य अच् से परे होगा ।

ग्रन्थकार ने उदात्त शब्द स्वरप्रकरणोपयोगी जान कर वृत्ति में छोड़ दिया है । लघुकौमुदी में स्वरप्रकरण नहीं है ।

'अनडुह्+स' यहां सुँ यह सर्वनामस्थान परे है अतः अनडुह् शब्द के अन्त्य अच्=उकार से परे आम् का आगम हो कर— अनडु आम् ह्+स हुआ । अब अनुबन्ध मकार का लोप हो कर इको यणचि' (१५) से यण् हो जाता है । तब 'अनड्वाह्+स' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२६० सावनडुहः ।७।१।८२॥

अस्य नुम् स्यात्सौ परे । अनड्वान् ।

अर्थः—सुँ परे होता अनडुह् शब्द का अवयव नुम् हो जाता है ।

व्याख्या—सौ ।७।१। अनडुहः ।६।१। नुम् ।१।१। [आच्छीनद्योर्नुम्' से] अर्थः—(सौ) सुँ परे होने पर (अनडुहः) अनडुह् शब्द का अवयव (नुम्) नुम् हो जाता है ।

यहां यह सन्देह होता है कि 'चतुरनडुहो—' (२५९) सूत्र का सावनडुहः (२६०) सूत्र अपवाद है । क्योंकि दोनों का विषय एक है अर्थात् दोनों अनडुह् शब्द को आगम करते हैं । इन में से प्रथम (चतुरनडुहो—) सम्पूर्ण सर्वनामस्थान में विहित होने से उत्सर्ग और दूसरा (सावनडुहः) केवल सर्वनामस्थानान्तर्गत 'सुँ' में विहित होने से उस का अपवाद होने योग्य है । अतः सुँ में 'सावनडुहः' (२६०) सूत्र ही प्रवृत्त होना चाहिये,

चतुरनडुहो— (२५१) नहीं। क्योंकि उत्सर्ग की प्रवृत्ति अपवादविषय को छोड़ कर ही हुआ करती है—'प्रकल्प्य चापवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते'।

इस का उत्तर यह है कि 'आच्छीनद्योर्नुम्' (३६५) सूत्र से यहाँ 'आत्' की अनुवृत्ति आती है। जिस से—'सुँ परे होने पर अनडुह् को नुम् का आगम होता है परन्तु वह अवर्ण से परे होता है'—ऐसा अर्थ हो जाता है। तो अब यदि आम् का आगम नहीं करते तो अनडुह् शब्द में अवर्ण नहीं आ सकता और यदि अवर्ण नहीं आता तो नुम् प्रवृत्त नहीं हो सकता। अतः नुम् को अपनी प्रवृत्ति के लिये विवश हो कर आम् को छूट देनी पड़ती है। अतः प्रथम आम् होकर पश्चात् नुम् होता है। इन में उत्सर्ग—अपवादभाव नहीं होता।

'अनड्वाह् + स्' यहां आकार से परे नुम् हो कर अनुबन्धों (उकार मकार) के चले जाने पर—'अनड्वान् ह् + स' हुआ। अब 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७६) सूत्र से सकार का तथा 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) सूत्र से हकार का लोप हो कर 'अनड्वान्' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि संयोगान्तलोप (८.२.२३) असिद्ध है अतः न लोपः— (८.२.७) सूत्र से नकार का लोप नहीं होगा।

हे अनडुह् + अ (सुँ)। यहां सम्बुद्धि में आम् (२५६) प्राप्त होने पर उस का अपवाद अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२६१ अम् सम्बुद्धौ ।७।१।९९॥

चतुरनडुहोरम् स्यात्सम्बुद्धौ। हे अनड्वन्!। हे अनड्वाहौ। हे अनड्वाहः। अनडुहम्। अनडुहा।

अर्थः—सम्बुद्धि परे हो तो चतुर् और अनडुह् शब्दों का अवयव अम् हो जाता है।

व्याख्या—चतुरनडुहोः।६।२। [चतुरनडुहोरामुदात्तः' से] अम्।१।१। सम्बुद्धौ ।७।१। अर्थः—(सम्बुद्धौ) सम्बुद्धि परे होने पर (चतुरनडुहोः) चतुर् और अनडुह् का अवयव (अम्) अम् हो जाता है।

यह सूत्र 'चतुरनडुहो—' (२५६) सूत्र का अपवाद है। इस के प्रवृत्त होने पर भी 'सावनडुहः' (२६०) द्वारा नुम् हो जाता है। क्योंकि वहां 'आत्' की अनुवृत्ति आने से वह अवर्ण से परे होता है।

हे अनडुह् + स् यहां सम्बुद्धि परे है अतः 'मिदचोऽन्त्यात्परः' (२४०) के नियमानुसार 'अम्सम्बुद्धौ' (२६१) द्वारा अनडुह् के अन्त्य अच् उकार से परे अम् का

आगम हो कर यण करने से अनड्वह्+स् हुआ। पुन सावनडुह (२६०) सूत्र से नुम् का आगम कर सकारलोप और संयोगान्तलोप करने से— हे अनडवन् प्रयोग सिद्ध होता है।

अनडुह + औ = अनडु आम् ह् + औ = अनडवाहौ । अनडवाह । अनडवाहम् । अनड्वाहौ । शस में सर्वनामस्थान परे न होने के कारण आम् का आगम नहीं होता— अनडुह ।

अनडुह + भ्याम् यहां स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१६४) सूत्र से अनुडुह की पदसञ्ज्ञा हो कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२६२ वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः ।८।२।७२॥

मान्तवस्वन्तस्य स्रंसादेश्च दः स्यात्पदान्ते । अनडुद्भ्याम् इत्यादि । मान्तेति किम् ? विद्वान् । पदान्तेति किम् ? स्रस्तम्, ध्वस्तम् ।

अर्थ—पद के अन्त में मान्त वसुप्रत्ययान्त को तथा स्रंसु ध्वंसु और अनडुह शब्दों को दकार आदेश हो जाता है।

व्याख्या—सः ।६।१। ['ससजुषो रुः' का एक अंश] वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहाम् ।६।३। पदानाम् ।६।३। ['पदस्य' इस अधिकृत का यहां वचनविपरिणाम हो जाता है] दः ।१।१। समास—वसुश्च स्रंसुश्च ध्वंसुश्च अनडवान् च = वसुस्रंसुध्वंस्वनडुह, तेषाम्=वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहाम्, इतरेतरद्वन्द्व । 'स' यह 'वसु' अंश का ही विशेषण है। स्रंसु और ध्वंसु में किसी प्रकार का दोष न आने से तथा अनडुह का असम्भव होने से विशेषण नहीं बन सकता। विशेषण होने से सः से तदन्तविधि हो जाती है। शतृ के स्थान पर आदेश होने से स्थानिवद्भाव से वसु भी प्रत्ययसञ्ज्ञक है अतः प्रत्यय होने से उस से भी तदन्त विधि हो जाती है। स्रंसु आदि भी 'पद' के विशेषण होने से तदन्तविधि को प्राप्त होते हैं। अर्थ—(सः) सान्त (वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहाम्) वसुप्रत्ययान्त और स्रंसु ध्वंसु तथा अनडुह अन्त वाले (पदानाम्) पदों को (दः) दकार आदेश होता है। दकार में अकार उच्चारणार्थ है, आदेश 'द्' ही होता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा' से यह दकारादेश पद के अन्त का ही होता है।

अनडुह + भ्याम यहां व्यपदेशिवद्भाव से अथवा पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च (पृष्ठ २३३) के अनुसार अनडुह के अन्त्य हकार को प्रकृत सूत्र से दकार आदेश होकर 'अनडुद्भ्याम' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार भिस् में 'अनडुद्भिः' तथा

भ्यस में 'अनडुद्भ्यः' रूप बनता है। सुप् में दकारादेश हो कर 'खरि च' (७४) से चर्त्व हो जाता है— अनडुत्सु। अनडुह् शब्द की रूपमाला यथा—

प्रथमा	अनड्वान्	अनड्वाहौ	अनड्वाहः
द्वितीया	अनड्वाहम्	,,	अनडुहः
तृतीया	अनडुहा	अनडुद्भ्याम्	अनडुद्भिः
चतुर्थी	अनडुहे	,,	अनडुद्भ्यः
पञ्चमी	अनडुहः		,,
षष्ठी		अनडुहोः	अनडुहाम्
सप्तमी	अनडुहि		अनडुत्सु
सम्बोधन	हे अनड्वन् !	हे अनड्वाहौ !	हे अनड्वाहः !

अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'ससजुषो रुः' (१०५) सूत्र से 'स' पद की अनुवृत्ति ला कर 'वसु' का विशेषण बना कर तदन्तविधि कर 'सान्त वस्वन्त' क्यों कहा गया है ? जब कि वह है ही सकारान्त ? इसका उत्तर यह है कि यदि 'सान्त' न कहते केवल वस्वन्त का ही दकारादेश करते तो 'विद्वान्' यहां पर भी नकार का दकार आदेश हो जाता क्योंकि यह भी वस्वन्त है। अब सूत्र में सान्त कथन से कोई दोष नहीं आता क्योंकि 'विद्वान्' यह सान्त नहीं किन्तु नान्त वस्वन्त है। विद्वान् कैसे वस्वन्त है ? यह आगे विद्वस् शब्द पर इसी प्रकरण में स्पष्ट हो जायगा।

पदान्त अर्थात् पद के अन्त को आदेश कहने से 'स्रस्+तम् = स्रस्तम्, ध्वस + तम् = ध्वस्तम्' यहां अपदान्त सकार को दकार आदेश नहीं होता। ध्यान रहे कि यहां क्रमशः स्रंसु ध्वंसु धातुओं से 'क्त' प्रत्यय हो कर अनुनासिक का लोप हुआ है।

वस्वन्तों में दकारादेश के उदाहरण 'विद्वद्भ्याम्' आदि आगे आएंगे। स्रंसु ध्वंसु दोनों भ्वादिगणीय सेट् आत्मनेपदी धातु हैं। एक का अर्थ 'गिरना' और दूसरे का अर्थ 'ध्वस होना = नाश होना' है। इन के उदाहरण उखास्रस् और पर्णध्वस् शब्द हैं। यथा—

{ उखास्रस् = बटलोई से गिरने वाला धान्यकण आदि। उखायाः स्रंसते इत्युखास्रत्। कर्तरि क्विप्, उपपदसमासः। }

प्र०	उखास्रत्-द्	उखास्रसौ	उखास्रसः	प०	उखास्रसः	उखास्रद्भ्याम्	उखास्रद्भ्यः
द्वि०	उखास्रसम्			ष०		उखास्रसोः	उखास्रसाम्
तृ०	उखास्रसा	उखास्रद्भ्याम्	उखास्रद्भिः	स०	उखास्रसि		उखास्रत्सु
च०	उखास्रसे	,,	उखास्रद्भ्यः	सं०	हे उखास्रत्-द् !	हे उखास्रसौ !	हे उखास्रसः !

* यहां 'सर्वत्र पदान्त में वसुस्रंसु—' (२६२) से दत्व हो जाता है।

पर्णध्वस्=पत्तों का नाश करने वाला। पर्णानि ध्वंसते इति पर्णध्वत्। क्विप्, उपपदसमास।

प्रथमा	पर्णध्वत्-द्	पर्णध्वसौ	पर्णध्वसः
द्वितीया	पर्णध्वसम्		,,
तृतीया	पर्णध्वसा	पर्णध्वद्भ्याम्	पर्णध्वद्भिः
चतुर्थी	पर्णध्वसे		पर्णध्वद्भ्यः
पञ्चमी	पर्णध्वसः	,,	,,
षष्ठी		पर्णध्वसोः	पर्णध्वसाम्
सप्तमी	पर्णध्वसि		पर्णध्वत्सु
सम्बोधन	हे पर्णध्वत्-द्!	हे पर्णध्वसौ!	हे पर्णध्वसः!

यहां भी सर्वत्र पदान्त में पूर्ववत् दत्व हो जाता है।

तुरासाह्=इन्द्र।

[तुरम्=वेगवन्तं साहयति=अभिभवति इति तुराषाट्। तुरकर्मोपपदात् 'षह मर्षणे' (भ्वा० आ०) इत्यस्माद्धातोः 'क्विप् च' (८०२) इति क्विप्। उपपदसमासः। 'अन्येषामपि दृश्यते' (६.३.१३६) इति दीर्घः। जो वेग वाले को दबा लेता है उसे तुरासाह् कहते हैं। यह इन्द्र का नाम है।]

तुरासाह्+स (सुँ)। यहां 'हल्ङ्याब्भ्यो—' (१७९) से सकारलोप हो कर 'हो ढः' (२५१) सूत्र द्वारा हकार को ढकार तथा 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से ढकार को डकार करने पर—'तुरासाड्' हुआ। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२६३ सहेः साडः सः ।८।३।५६॥

साड्रूपस्य सहेः सस्य मूर्धन्यादेशः स्यात्। तुराषाट्, तुराषाड्। तुरासाहौ। तुरासाहः। तुराषाड्भ्याम् इत्यादि।

अर्थः—सह् धातु से बने 'साड' शब्द के सकार को मूर्धन्य आदेश हो।

व्याख्या—सहेः ।६।१। साडः ।६।१। सः ।६।१। मूर्धन्यः ।१।१। ['अपदान्तस्य मूर्धन्यः' से] मूर्ध्नि भवः=मूर्धन्यः। शरीरावयवाच्चेति यत्। अर्थः—(सहेः) सह् धातु का जो (साडः) साड् उस के (सः) सकार के स्थान पर (मूर्धन्यः) मूर्धा स्थान वाला वर्ण हो जाता है। सकार के स्थान पर आन्तर्य से ईषद्विवृत प्रयत्न वाला षकार ही मूर्धन्य होता है।

सह् का साड् रूप पदान्त मे ही बनता है अत पदान्त में सह के सकार को मूर्धन्य आदेश हो यह फलितार्थ हुआ।

'तुरासाड्' यहां साड' यह रूप सह धातु से बना है। अत प्रकृतसूत्र से इस के सकार को मूर्धन्य षकार हो कर वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व करने पर— तुराषाट तुराषाड्' ये दो रूप बनते हैं। तमभ्यनन्दत्प्रथमं प्रबोधितः प्रजेश्वरः शासनहारिणा हरेः ... नमिवधाअ्रीतस्तुराषाडिव शार्ङ्गिणम् (रघु १५४०)। तुरासाह् की रूपमाला यथा—

प्र०	तुराषाट्-ड्	तुरासाहौ	तुरासाहः	पं०	तुरासाहः	तुराषाड्भ्याम्	तुराषाड्भ्यः
द्वि०	तुरासाहम्	,,	,,	ष०	,,	तुरासाहोः	तुरासाहाम्
तृ०	तुरासाहा	तुराषाड्भ्याम्	तुराषाड्भिः	स०	तुरासाहि	,,	तुराषाट्त्सु-ट्सु
च०	तुरासाहे	,,	तुराषाड्भ्यः	सं०	हे तुराषाट्-ड्!	हे तुरासाहौ!	हे तुरासाहः!

इसी प्रकार—पृतनासाह् प्रभृति शब्दों के रूप जानने चाहियें।

(यहां हकारान्त पुंल्लिङ्ग समाप्त होता है।)

—— • ——

यद्यपि हकारान्त शब्दों के अनन्तर प्रत्याहारक्रम से यकारान्त शब्द आने चाहियें थे तथापि इन का विरलप्रयोग* तथा उन में किसी प्रकार का विशेषकार्य न देख कर ग्रन्थकार उन्हें छोड़ कर वकारान्त शब्दों का निरूपण करते हैं।

सुदिव्=अच्छे अर्थात् निर्मल आकाश वाला दिवस (दिन) आदि या अच्छे स्वर्ग वाला पुरुष आदि। 'दिव्' शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग है। इस का अर्थ आकाश व स्वर्ग है। 'द्यौ दिवौ द्वे स्त्रियाम्' इत्यमरः। सु=शोभना द्यौः=आकाशो नाको वा यस्य स सुद्यौः। इस प्रकार बहुव्रीहि समास में 'सुदिव्' शब्द पुंल्लिङ्ग हो जाता है। प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर इस से स्वादि उत्पन्न होते हैं—

सुदिव + स् (सुँ)। यहां 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७९) से सकारलोप प्राप्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२६४ दिव औत् ।७।१।८४॥

दिव् इति प्रातिपदिकस्य औत् स्यात् सौ। सुद्यौः। सुदिवौ।

अर्थः—सुँ परे होने पर दिव् इस प्रातिपदिक को औकार हो जाता है।

व्याख्या—दिवः ।६।१। औत् ।१।१। सौ ।७।१। ['सावनडुहः' से] संस्कृत में दो 'दिव्' शब्द हैं। एक अव्युत्पन्न प्रातिपदिक और दूसरा 'दिवुँ क्रीडाविजिगीषा——' (दिवा० प० सेट्) यह धातु। इस सूत्र में 'दिव्' इस अव्युत्पन्न प्रातिपदिक का ही ग्रहण

* यथा व्याकरण में अय्, आय, इय, चय, यय आदि।

होता है दिवुँ' धातु का नहीं। इस में कारण यह है कि—"निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य" (परिभाषा) अर्थात् यदि निरनुबन्ध (अनुबन्धहीन) का ग्रहण सम्भव हो सके तो सानुबन्ध (अनुबन्धसहित) का ग्रहण नहीं करना चाहिये। यहा सूत्र में दिव में उकारानुबन्धरहित दिव् का ग्रहण किया है; अत दिव इस प्रातिपदिक निरनुबन्ध का ही ग्रहण होगा सानुबन्ध दिवुँ का नहीं। औत् में तकार उच्चारणार्थ है आदेश औ' ही होता है। प्रयोजनाभाव से तकार की इत्सञ्ज्ञादि न होगी। यदि तकार भी साथ आदेश होता तो अनेकाल् होने से सर्वादेश हो जाता। अर्थ —(दिव) दिव् इस प्रातिपदिक के स्थान पर (औत्) औ आदेश हो (सौ) सुँ परे होने पर।

यह सूत्र अङ्गाधिकार में पढ़ा गया है अत दिव् और दिवशब्दान्त दोनो को औकार आदेश होगा। ध्यान रहे कि अलोऽन्त्यपरिभाषा से दिव के वकार को ही औकार आदेश होगा।

सुदिव्+स् यहा 'सुँ' परे है अत प्रकृत सूत्र से वकार को औकार करने पर इको यणचि १५) से इकार को यकार हो कर रुँत्व विसर्ग करने से 'सुद्यौ' प्रयोग सिद्ध होता है *।

सुदिव् + औ=सुदिवौ। सुदिव + अस् (जस)=सुदिव । सुदिवम्। सुदिवौ। सुदिव् + अस् (शस्)=सुदिव ।

सुदिव+भ्याम् यहां अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२६५ दिव उत् ।६।१।१२८॥

दिवोऽन्तादेश उकारः स्यात्पदान्ते। सुद्युभ्याम् इत्यादि।

अर्थ—पद के अन्त में दिव को उकार अन्तादेश हो।

व्याख्या—दिव ।६।१। उत् ।१।१। पदान्ते ।७।१। [एङ पदान्तादति' से विभक्तिविपरिणाम करके] अर्थ —(पदान्ते) पदान्त में (दिव) दिव् शब्द के स्थान

---

* 'सुदिव्+स में औकारादेश तथा सुलोप युगपत् प्राप्त होते हैं। परन्तु औकारादेश नित्य और सुलोप अनित्य होने से प्रथम औकारादेश हो जाता है। जो विधि दूसरे के प्रवृत्त होने या न होने पर समानरूप से प्रसक्त हो वह दूसरे की अपेक्षा नित्य होती है। जैसा कि कहा भी है—

कृताकृतप्रसङ्गी यो विधि स नित्य" (परि०)।

यहा सुलोप कर देने पर भी प्रत्ययलक्षण द्वारा सु को मान कर औकारादेश हो सकता है अत औकारादेश नित्य है। परन्तु औकारादेश कर देने पर हल् न होने से सुलोप नहीं हो सकता अत सुलोप अनित्य है। नित्य और अनित्य में नित्य ही बलवान् होता है।

पर (उत्) ह्रस्व उकार आदेश हो। अलोऽन्त्यपरिभाषा से दिव् के अन्त्य अल्—वकार को ही उकार आदेश होगा। ध्यान रहे कि यहां भी पूर्ववत् दिव् प्रातिपदिक का ही ग्रहण किया जाता है।

सुदिव् + भ्याम् यहां स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१६४) द्वारा पदसञ्ज्ञा होने से पदान्त में वकार को उकारादेश तथा इको यणचि (१५) सूत्र से यण् करने पर सुद्युभ्याम् रूप बनता है। इसी प्रकार भिस् भ्यस् और सुप् में भी समझ लेना चाहिये। रूपमाला यथा—

प्र०	सुद्यौ	सुदिवौ	सुदिवः	पं०	सुदिवः	सुद्युभ्याम्	सुद्युभ्यः
द्वि०	सुदिवम्	,,	,,	ष०	,,	सुदिवोः	सुदिवाम्
तृ०	सुदिवा	सुद्युभ्याम्	सुद्युभिः	स०	सुदिवि	,,	सुद्युषु
च०	सुदिवे	,,	सुद्युभ्यः	सं०	हे सुद्यौः !	हे सुदिवौ !	हे सुदिवः !

इसी प्रकार—प्रियदिव्, अतिदिव्, शुभदिव् दुर्दिव् प्रभृति शब्दों के रूप जानने चाहियें।

(यहां वकारान्त पुंल्लिङ्ग समाप्त होते हैं।)

—❀—

अभ्यास (३७)

(१) अनडुह् और विश्ववाह् शब्द के जस् और शस् में सदृश (?) रूप क्यों बनते हैं ? कारण बताओ। यदि नहीं तो भी कारण लिखो।

(२) अनड्वान् और अनड्वन् में, सुदिवौ और सुद्यौ में लिट् और लिण्ट में सुडुभ्याम् और धुभ्याम् में ससूत्र प्रक्रिया सम्बन्धी अन्तर बताओ।

(३) 'सूत्रशाटकन्याय' किसे कहते हैं और व्याकरण में इस का कहां और कैसा उपयोग होता है ?

(४) निम्नलिखित वचनों का जहां तक हो सके सोदाहरण विवेचन करो—

१ निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः। २ प्रकल्प्य चापवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते। ३ निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य। ४ अपवादो वचनप्रामाण्यात्। ५ अन्योऽन्याश्रयाणि कार्याणि न प्रकल्प्यन्ते। ६ कृताकृतप्रसङ्गी यो विधिः स नित्यः।

(५) तुराषाट्, सुद्युभ्याम्, प्रद्युः विश्वौहि, उत्वाजम्भ्याम्, स्निक्—इन रूपों की सूत्रनिर्देशपूर्वक सिद्धि करो।

(६) (क) चतुरनडुहो— और सावनडुह ' में उत्सर्ग अपवादभाव क्या नहीं होता ?

(ख) लिटत्सु में किस प्रकार तकार का थकार प्राप्त होता है और किस प्रकार उस की निवृत्ति होती है ?

(ग) सुद्यौ में औकारादेश करने से पूर्व सुँलोप क्या नहीं हो जाता ?

(घ दिव औत् में दिवुँ धातु का ग्रहण क्यों नहीं होता ?

(ङ) मूर्धन्य शब्द का क्या विग्रह और क्या अर्थ है ?

(७) निम्नलिखित सूत्रों की व्याख्या करें—

१ एकाचो बशो भष—। २ दादेर्धातोर्घ । ३ सम्प्रसारणाच्च । ४ वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः ।

— ❀ —

अब रेफान्त पुल्लिङ्ग चतुर् (चार, सङ्ख्येयवाची) शब्द का वर्णन करते हैं। चतेरुरन् (उणा० ७३६) सूत्र से चतुर् शब्द की निष्पत्ति होती है। चतुर् शब्द नित्यबहुवचनान्त होता है।

चतुर् + अस् (जस्)। यहां जस् यह सर्वनामस्थान परे है अतः चतुरनडुहो— (२९१) सूत्रसे आम् का आगम हो कर इको यणचि' (१५) से यण करने पर चत्वारः प्रयोग सिद्ध होता है।

चतुर् + अस (शस्)=चतुरः । शस के सर्वनामस्थान न होने से आम् का आगम नहीं होता।

चतुर् + भिस = चतुर्भिः । चतुर् + भ्यस = चतुर्भ्यः ।

चतुर्+आम् । यहां ह्रस्वादि न होने से 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' (१४८) द्वारा नुट प्राप्त नहीं हो सकता अतः उस की सिद्धि के लिये अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२६५ षट्चतुर्भ्यश्च ।७।१।५५॥

षट्सञ्ज्ञकेभ्यश्चतुरश्चामो नुडागमः स्यात् ।

अर्थः—षट्सञ्ज्ञकों से तथा चतुर् शब्द से परे आम् को नुट् का आगम हो जाता है।

व्याख्या—षट्चतुर्भ्यः ।५।३। च इत्यव्ययपदम् । आमः ।६।१। [आमि सर्वनाम्नः सुट्' से। यहां 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्' के अनुसार षष्ठ्यन्ततया विपरिणाम हो जाता है।] नुट् ।१।१। ['ह्रस्वनद्यापो नुट्' से] अर्थः—(षट्चतुर्भ्यः) षट्सञ्ज्ञकों से तथा चतुर् शब्द से परे (च) भी (आमः) आम् का अवयव (नुट्) नुट् हो जाता है।

इसी प्रकरण में आगे (२६७) सूत्र से षट्सञ्ज्ञा की जाएगी यहाँ उसी का ग्रहण है। चतुर् शब्द की षट्सञ्ज्ञा नहीं होती अतः इसका पृथक् ग्रहण किया है।

चतुर् + आम्। यहां प्रकृत सूत्र से नुट् का आगम हो कर चतुर् + नाम् हुआ। अब अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२६६ रषाभ्यां नो णः समानपदे।८।४।१॥

एकपदस्थाभ्यां रेफषकाराभ्यां परस्य नस्य णः स्यात्। 'अचो रहाभ्यां द्वे' (६०) चतुर्ण्णाम्, चतुर्णाम्।

अर्थः—एक पद में स्थित रेफ व षकार से परे नकार को णकार आदेश हो।

व्याख्या—रषाभ्याम्।५।२। नः।६।१। णः।१।१। समानपदे।७।१। समानञ्चाद पदं च=समानपदम्। कर्मधारयसमासः। रश्च षश्च=रषौ, ताभ्याम्=रषाभ्याम्। इतरेतरद्वन्द्वः। रेफादकारः षकाराकारश्चोच्चारणार्थः। 'णः' इत्यत्राप्यकार उच्चारणार्थो बोध्यः। अर्थः—(समानपदे) एक पद में (रषाभ्याम्) रेफ व षकार से परे (नः) न् के स्थान पर (णः) ण् आदेश हो। [र्+न=र्ण ष+न=ष्ण]

'समानपद' कथन से पूर्वोक्तरीत्या अखण्डपद का ही ग्रहण होता है। अतः—'अग्निर्नयति वायुर्नयति चतुर्नवति' इत्यादियों में रेफ से परे नकार को णकारादेश नहीं होता।

इस सूत्र के उदाहरण—आस्तीर्णम् अवगीर्णम् कुष्णाति, पुष्णाति आदि हैं।

अपृन्—प्रशास्तॄणाम् (२०६) इत्यादि प्रयोगों* तथा क्षुभ्नादिगण (८.४.३९) में 'नृनमन, तृप्नु' को णत्व निषेध करने से यहां रेफ और षकार की तरह ऋवर्ण को भी णत्व का निमित्त मानना चाहिये। इसके उदाहरण—मातॄणाम् पितॄणाम् नृणाम् आदि हैं।

'चतुर्+नाम' यहां प्रकृतसूत्र से नकार को णकारादेश हो कर चतुर्णाम् हुआ। अब 'अचो रहाभ्यां द्वे' (६०) से णकार को वैकल्पिक द्वित्व करने से— चतुर्ण्णाम्, चतुर्णाम्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

नोट—यहां णत्व करते समय प्रायः सुबोध विद्यार्थियों को सन्देह हुआ करता है कि चतुर्णाम् में तो अट्कुप्वाङ्— (१३८) से ही णत्व हो सकता है, क्योंकि वहां 'व्यवधानेऽपि णत्वं स्यात्' कहा है। अर्थात् व्यवधान होने पर भी णत्व हो जाता है। इस

* 'न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्' (२.३.६९) इत्यादिषु 'तृ' 'तृन' इति प्रत्याहारस्येष्टत्वाद् णत्वाभावो जिघृक्षितरूपविनाशभियेति बोध्यम्।

से यह विदित होता है कि यदि व्यवधान न होगा तब तो अवश्य ही हो जायगा। पुष्णाति मुष्णाति आदियों में भी ष्टुत्व से णत्व सिद्ध हो सकता है। अत यह सूत्र निरर्थक है।

परन्तु तनिक ध्यान देने पर इस की उपयोगिता स्पष्ट समझ में आ जाती है। अष्टाध्यायी में प्रथम यह सूत्र और तदनन्तर अटकुप्वाङ्— (१३८) सूत्र पढ़ा गया है। अटकुप्वाङ्—'(१३८) सूत्र में पूर्णरूपेण यह सूत्र अनुवर्त्तित होता है। यदि यह सूत्र न बनाते तो उस में अनुवृत्ति कहा से आती ?। 'पुष्णाति मुष्णाति' आदियों में यद्यपि ष्टुत्व से सिद्धि हो सकती है तथापि अट आदि के व्यवधान मे णत्वसिद्धि के लिये उस का ग्रहण अवश्य प्रयोजनीय है। अन्यथा 'पुरुषेण, पुरुषाणाम्' आदि सिद्ध न हो सकेंगे।

सप्तमी के बहुवचन में चतुर्+सु इस स्थिति में सकार—खर परे होने से खरवसानयो— (९३) द्वारा रेफ को विसर्ग आदेश प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] नियम सूत्रम्—२६८ रो सुपि ।८।३।१६॥

रोरेव विसर्जनीय सुपि। षत्वम्। षस्य द्वित्वे प्राप्ते—

अर्थ—सप्तमी के बहुवचन सुप् के परे होने पर रु के स्थान पर ही विसर्ग आदेश हो। (अन्य रेफ के स्थान पर न हो)

व्याख्या—रो ।६।१। सुपि ।७।१। विसर्जनीय ।१।१। ['खरवसानयोर्विसर्जनीय' से] अर्थ—(सुपि) सप्तमी का बहुवचन 'सुप' प्रत्यय परे होने पर (रो) रु के स्थान पर (विसर्जनीय) विसर्जनीय आदेश हों। सुप् परे होने पर रु (र्) के स्थान पर विसर्गादेश खरवसानयो— (९३) सूत्र से ही सिद्ध है, पुन इस का आरम्भ नियमार्थ ही है—सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थ'। अर्थात् सुप परे होने पर रु के रेफ को ही विसर्ग आदेश हो अन्य रेफ को न हो।

'चतुर+सु' यहा रु का रेफ नहीं अत इसे विसर्ग आदेश न हुआ। आदेश प्रत्यययो' (१५०) द्वारा सकार को षकार करने से—चतुर्षु' प्रयोग सिद्ध हुआ। अब यहा 'अचो रहाभ्यां द्वे' (६०) सूत्र द्वारा षकार को वैकल्पिक द्वित्व प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र निषेध करता है—

[लघु०] निषेध सूत्रम्—२६९ शरोऽचि ।८।४।४९॥

अचि परे शरो न द्वे स्तः। चतुर्षु।

अर्थ —अच् परे हो तो शर् को द्वित्व नहीं होता।

व्याख्या—अचि ।७।१। शरः ।६।१। न इत्यव्ययपदम्। ['नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य' से] द्वे ।१।२। ['अचो रहाभ्यां द्वे' से] अर्थः—(अचि) अच् परे होने पर (शरः) शर् के स्थान पर (द्वे) दो शब्दस्वरूप (न) न हों।

'चतुर्षु' यहां षकार अच् परे है अतः षकार शर् को द्वित्व नहीं होता। इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

१ दर्शनम्। २ स्पर्शनम्। ३ आर्षम्। ४ वर्षणम्। ५ चिकीर्षा। ६ जिहीर्षा। ७ मुमूर्षा। ८ काश्यम्। ९ अर्शः। १० घर्षणम्। ११ कर्षकः। १२ वर्षुकः। १३ कर्षापणम्। १४ वर्षा। १५ हर्षः। इत्यादि।*

निम्नलिखित स्थलों में अच् परे न होने से निषेध नहीं होता। 'अनचि च' (१८) अथवा 'अचो रहाभ्यां द्वे' (६०) से द्वित्व हो जाता है—

१ कृष्णः। २ कार्ष्णः। ३ दर्श्यते। ४ भीष्मः। ५ यष्टिः। ६ अश्वः। ७ अश्मरी। ८ अश्नाति। ९ श्मश्रु। १० अशिश्वी। ११ अष्टौ। १२ विश्रान्तः। १३ ईर्ष्यति। इत्यादि।

अच् परे होने पर भी शर् से अतिरिक्त वर्ण (यर्) को द्वित्व हो ही जायगा—

१ अर्कः। २ अर्थः। ३ निर्झरः। ४ दुर्गः। ५ कवर्गः। ६ मूर्खः। ७ निर्भरः। ८ मूर्च्छना। ९ ऊर्मिः। १० आह्वानम्। ११ नह्यस्ति। १२ उर्वी। १३ आढ्यः। १४ आह्लादः। १५ अपह्नुते। इत्यादि।

'चतुर्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	०	०	चत्वारः	पं०	०	०	चतुर्भ्यः
द्वि०	०	०	चतुरः	ष०	०	०	चतुर्णाम्, चतुर्ण्णाम्
तृ०	०	०	चतुर्भिः	स०	०	०	चतुर्षु
च०	०	०	चतुर्भ्यः	सम्बोधन संख्यावाचकों का नहीं होता।			

इसी प्रकार 'परमचतुर्' आदि शब्दों के रूप होते हैं।

(यहां रेफान्त पुँल्लिङ्ग समाप्त होते हैं)

———:०:———

अब वकारान्तों का वर्णन किया जाता है—

---

* इस सूत्र का निषेध शकार और षकार तक ही सीमित रहता है। सकार के द्वित्व का प्रसङ्ग कहीं नहीं प्राप्त होता। [विशेष स्वयं विचार करें]

प्रपूर्वक शमुँ उपशमे (दिवा० प० से०) धातु से क्विप् अनुनासिकस्य— (७२७) से दीर्घ करने पर प्रशाम् (शान्त) शब्द निष्पन्न होता है।

प्रशाम् + स (सुँ)। यहां सकारलोप हो कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२७० मो नो धातोः ।८।२।६४॥

धातोर्मस्य नः स्यात् पदान्ते। प्रशान्। प्रशान्भ्याम् इत्यादि।

अर्थः—पदान्त में धातु के मकार को नकार आदेश हो।

व्याख्या—धातोः ।६।१। मः ।६।१। नः ।१।१। पदस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] अन्ते ।७।१। [स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से] अर्थः—(पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में (धातोः) धातु के (मः) मकार के स्थान पर (नः) न् आदेश होता है।*

प्रशाम् यहां एकदेशविकृतमनन्यवत् (पृष्ठ २३५) के अनुसार शम् धातु का मकार है अतः प्रकृत सूत्र से इसे नकार आदेश हो कर—'प्रशान्' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यह नकारादेश (८.२.६४) 'न लोपः—' (८.२.७) सूत्र की दृष्टि में असिद्ध है अतः उस तो यहां मकार ही दिखाई देता है। इस से नकार का लोप नहीं होता।

प्रशाम् (शान्त) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	प्रशान्	प्रशामौ	प्रशामः	पं०	प्रशामः	प्रशान्भ्याम्	प्रशान्भ्यः
द्वि०	प्रशामम्	,,		ष०		प्रशामोः	प्रशामाम्
तृ०	प्रशामा	प्रशान्भ्याम्	प्रशान्भिः	स०	प्रशामि		प्रशान्त्सु न्सु‡
च०	प्रशामे	,,	प्रशान्भ्यः	सं०	हे प्रशान्!	हे प्रशामौ!	हे प्रशामः!

‡ यहां मो नो धातोः सूत्र द्वारा नकार आदेश हो कर नश्च (८७) सूत्र से वैकल्पिक धुट् का आगम हो जाता है। धुट्पक्ष में खरि च (७४) से चर्त्व हो कर 'प्रशान्त्सु' और धुट् के अभाव में प्रशान्सु बन जाता है।

इसी प्रकार—प्रदाम्, प्रताम्, प्रकाम् प्रभृति शब्दों के रूप बनते हैं।

किम् (कौन। 'कायतेर्डिमि' इत्युणादिसूत्रेण साधु)

किम् शब्द सर्वादिगणपठित है अतः सर्वादीनि— (१५१) सूत्र से इस की सर्वनामसञ्ज्ञा हो जाती है। यह शब्द त्रिलिङ्गी है। यहां पुंल्लिङ्ग का प्रकरण होने से पुंल्लिङ्ग में रूप दिखाए जाएंगे।

---

* 'मः' इति 'धातोः' इत्यस्य विशेषणत्वे तु तदन्तविधिना मकारान्तस्य धातोर्नकारादेशः स्यात्पदान्ते इत्यर्थो निष्पद्यते। तदाऽलोऽन्त्यविधिनाऽन्त्यमकारस्य नकारादेशो बोध्यः।

'किम्+स' (सुँ)। यहां 'हल्ङ्याब्भ्य —' (१७६) से सकार का लोप प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२७१ किमः कः ।७।२।१०३॥

किमः कः स्याद्विभक्तौ । कः । कौ । के । इत्यादि सर्ववत् ।

अर्थः—विभक्ति परे होने पर किम् को 'क' आदेश हो ।

व्याख्या—किमः ।६।१। कः ।१।१। विभक्तौ ।७।१। [अष्टम आ विभक्तौ से] अर्थ —(विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (किमः) किम् शब्द के स्थान पर (कः) 'क' आदेश हो । 'क' आदेश सस्वर होने से अनेकाल् है अतः अनेकाल्परिभाषा से सम्पूर्ण किम् के स्थान पर होगा ।

इस सूत्र से सर्वत्र स्वादियों में किम् को 'क' आदेश हो जाता है । तदनन्तर सर्वशब्द के समान प्रक्रिया होती है । ध्यान रहे कि 'क' आदेश स्थानिवद्भाव से सर्वनामसञ्ज्ञक होता है । रूपमाला यथा—

प्र०	कः	कौ	के‡	प०	कस्मात्❀	काभ्याम्	केभ्यः
द्वि०	कम्	,,	कान्	ष०	कस्य	कयोः	केषाम्×
तृ०	केन	काभ्याम्	कैः	स०	कस्मिन्❀		केषु
च०	कस्मै†	,,	केभ्यः		सम्बोधन नहीं होता ।		

‡ 'जसः शी' (१५२)। † 'सर्वनाम्नः स्मै' (१५३)। ❀ 'ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ' (१५४)। × 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' (१५५)।

इदम्=यह (निकटतम *)

इदम् ‡ शब्द भी सर्वादिगण में पठित होने से सर्वनामसञ्ज्ञक है । यह त्रिलिङ्गी है । यहां पुंल्लिङ्ग का प्रकरण होने से पुंल्लिङ्ग में रूप दिखाए जाते हैं—

इदम्+स् (सुँ)। यहां 'त्यदादीनामः' (१९३) सूत्र से मकार को अकार प्राप्त होता है । इस पर अग्रिम सूत्र निषेध करता है—

---

* 'इदमस्तु सन्निकृष्टे, समीपतरवर्त्ति चैतदो रूपम् ।
अदसस्तु विप्रकृष्टे, तदिति परोक्षे विजानीयात् ॥"

अर्थ —इदम् शब्द का प्रयोग निकटतम—अर्थात् जिसे अङ्गुली से बताया जा सके—के लिये, एतद् का निकटतर के लिये अदस् का दूरस्थ के लिये और तद् का परोक्ष—जो दिखाई न दे रहा हो—के लिये होता है ।

‡ 'इन्देः कमिन्नलोपश्च' (उणा० ५९६) इति सिध्यति ।

[लघु०] विधि सूत्रम्—२७२ इदमो मः ।७।२।१०८॥

इदमो मस्य मः स्यात्सौ परे । त्यदाद्यत्वापवादः ।

अर्थ —सुँ परे होने पर इदम् शब्द के मकार को मकार आदेश हो । यह सूत्र त्यदादियों के स्थान पर होने वाले अत्व का अपवाद है ।

व्याख्या—इदमः ।६।१। मः ।१।१। सौ ।७।१। [तदोः सः सावनन्त्ययोः से] अर्थ —(इदमः) इदम् शब्द के स्थान पर (मः) म् आदेश हो (सौ) सुँ परे होने पर। यह मकारादेश अलोऽन्त्यपरिभाषा से इदम् शब्द के अन्त्य अल्—मकार के स्थान पर ही होता है । मकार को पुनः मकार आदेश करने का तात्पर्य 'त्यदादीनामः' (१९३) सूत्र द्वारा प्राप्त अकारादेश का निषेध करना है अर्थात् इदम् का मकार मकाररूपेण ही स्थित रहता है, सुँ परे होने पर उस के स्थान पर अन्य कुछ आदेश नहीं होता ।

इस सूत्र से इदम्+स यहां अत्व नहीं होता । अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२७३ इदोऽय् पुंसि ।७।२।१११॥

इदम इदोऽय् स्यात्सौ पुंसि । सोर्लोपः । अयम् । त्यदाद्यत्वे—

अर्थ —सुँ परे होने पर पुंल्लिङ्ग में इदम् शब्द के 'इद्' भाग को अय् आदेश हो ।

व्याख्या—इदमः ।६।१। ['इदमो मः' से] इदः ।६।१। अय् ।१।१। पुंसि ।७।१। सौ ।७।१। ['मः सौ' से] अर्थ —(सौ) सुँ परे होने पर (पुंसि) पुंल्लिङ्ग में (इदमः) इदम् शब्द के अवयव (इदः) इद् के स्थान पर (अय्) अय् आदेश हो । अनेकाल्परिभाषा द्वारा अय् आदेश सम्पूर्ण इद् के स्थान पर होगा । ग्रहणसामर्थ्य से यकार का लोप न होगा किञ्च प्रयोजनाभाव से इत्सञ्ज्ञा भी न होगी ।*

इदम् + स यहां पुंल्लिङ्ग में प्रकृतसूत्र से इद् को अय् आदेश हो कर अय् अम् + स् हुआ । अब 'हल्ङ्याब्भ्यो—' (१७९) से सकार का लोप करने पर 'अयम्' प्रयोग सिद्ध होता है ।

'इदम् + औ' यहां सुँ परे नहीं है अतः इदमो मः प्रवृत्त न होगा 'त्यदादीनामः' (१९३) सूत्र से मकार को अकार आदेश हो कर इद अ + औ हुआ । अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२७४ अतो गुणे ।६।१।९५॥

---

* पुंसीति किम् ? इयं ब्राह्मणी । साविति किम् ? इमौ पुत्रौ ।

अपदान्तादतो गुणे पररूपमेकादेशः ।

अर्थः—अपदान्त अत् से गुण परे होने पर पूर्व-पर के स्थान पर पररूप एकादेश हो ।

व्याख्या—अपदान्तात् ।५।१। [उस्यपदान्तात् से] अतः ।५।१। गुणे ।७।१। पूर्वपरयोः ।६।२। एकम् ।१।१। ['एकः पूर्वपरयोः' यह अधिकृत है] पररूपम् ।१।१। [एङि पररूपम् से] अर्थः—(अपदान्तात्) अपदान्त (अतः) अत् से परे (गुणे) गुणसञ्ज्ञक वर्ण हो तो (पूर्वपरयोः) पूर्व + पर के स्थान पर (एकम्) एक (पररूपम्) पररूप आदेश हो । अदेङ् गुणः (२५) के अनुसार अ, ए, ओ ये तीन वर्ण गुणसञ्ज्ञक हैं । यह सूत्र सवर्णदीर्घ तथा वृद्धि आदि का अपवाद है । उदाहरण यथा—

पच + अन्ति = पच् अ' न्ति = पचन्ति । यज + अन्ति = यज् अ' न्ति = यजन्ति । एध + ए = एध् ए' = एधे । इत्यादि ।

इद् अ + औ यहां दकारोत्तर अपदान्त अत् से परे 'अ' यह गुण विद्यमान है, अतः पूर्व (अ) और पर (अ) दोनों के स्थान पर एक पररूप 'अ' हो कर इद + औ हुआ । अब अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२७५ दश्च ।७।२।१०९॥

इदमो दस्य मः स्याद्विभक्तौ । इमौ । इमे । त्यदादेः सम्बोधनं नास्तीत्युत्सर्गः ।

अर्थः—विभक्ति परे होने पर इदम् शब्द के दकार को मकार आदेश हो । **त्यदादेरिति**—सामान्यतया त्यद् आदि शब्दों का सम्बोधन नहीं होता ।

व्याख्या—विभक्तौ ।७।१। [अष्टन आ विभक्तौ से] इदमः ।६।१। मः ।१।१। ['इदमो मः' से । मकारादकार उच्चारणार्थः ।] दः ।६।१। च इत्यव्ययपदम् । अर्थः—(विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (इदमः) इदम् शब्द के (दः) द् के स्थान पर (मः) म् आदेश हो ।

'इद + औ' यहां विभक्ति 'औ' परे है अतः प्रकृतसूत्र से दकार को मकार हो कर 'इम + औ' हुआ । अब रामशब्दवत् पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होने पर नादिचि (१२७) सूत्र से उस का निषेध हो जाता है । पुनः 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश करने पर 'इमौ' प्रयोग सिद्ध होता है ।

'इदम् + अस्' (जस्) । यहां त्यदाद्यत्व पररूप तथा 'दश्च' सूत्र से दकार को

मकार आदेश हो कर इम + अस' हुआ। अब एकदेशविकृत न्याय से इम शब्द की भी सर्वादीनि सर्वनामानि (१५१) से सर्वनामसंज्ञा हो जाती है। तब जस शी (१५२) से जस को शी आदेश हो कर अनुबन्धलोप तथा गुण एकादेश करने पर—इमे प्रयोग सिद्ध होता है।

त्यदादियों [त्यद तद यद् एतद इदम् अदस एक द्वि युष्मद् अस्मद, भवतु किम्] का सम्बोधन प्रायः नहीं हुआ करता। प्रायः' इसलिये कहा है कि भाष्य में कहीं २ हे स' आदि प्रयोग भी प्राप्त होते हैं। मूल का अक्षरार्थ यह है—(त्यदादे) त्यदादिगण का (सम्बोधनम्) सम्बोधन (नास्ति) नहीं होता (इति) यह (उत्सर्ग) सामान्यनियम है।

'इदम् शब्द के सम्बोधन में भी वही रूप बनते हैं जो उस के प्रथमा में बनते हैं। परन्तु लोक में इन का प्रयोग कहीं नहीं देखा जाता।

इदम् + अम् यहां त्यदाद्यत्व पररूप 'दश्च (२७५) से दकार को मकारादेश तथा अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप करने पर इमम् सिद्ध होता है।

इदम् + अस' (शस्)। त्यदाद्यत्व पररूप दकार को मकारादेश तथा पूर्वसवर्ण दीर्घ कर सकार को नकारादेश करने से इमान् प्रयोग सिद्ध होता है।

इदम् + आ (टा)। यहां त्यदाद्यत्व तथा पररूप हो कर 'इद + आ इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२७६ अनाप्यकः ।७।२।११२॥

अककारस्येदम इदोऽन् आपि विभक्तौ। आप् इति प्रत्याहारः। अनेन।

अर्थः—ककाररहित इदम् शब्द के 'इद्' भाग को 'अन्' आदेश हो तृतीयादि विभक्ति परे हो तो।

व्याख्या—अकः।६।१। इदमः।६।१। ['इदमो मः' से] इदः।६।१। [इदोऽय् पुंसि से] अन् ।१।१। आपि ।७।१। विभक्तौ ।७।१। ['अष्टन आ विभक्तौ' से] यहां 'आप्' यह टा के आकार से सुप् के पकार तक प्रत्याहार समझना चाहिये। नास्ति कः (ककारः) यस्मिन् सः=अक् तस्य=अकः बहुव्रीहिसमास। अर्थ—(अकः) ककार रहित (इदमः) इदम् शब्द के (इदः) इद् भाग के स्थान पर (अन्) अन् आदेश हो (आपि) तृतीयादि (विभक्तौ) विभक्ति परे हो तो। इदम् शब्द में जब 'अव्ययसर्वनाम्नामकच्प्राक्टेः' (१२२६) सूत्र से अकच् प्रत्यय किया जाता है तब वह 'इदकम्' इस प्रकार ककारसहित

हो जाता है। तब 'अन्' आदेश के निषेध के लिये सूत्र में 'अकः' अर्थात् ककाररहित कहा है। यह विस्तरपूर्वक सिद्धान्तकौमुदी में स्पष्ट किया जाएगा।

ध्यान रहे कि 'अन्' आदेश अनेकाल् होने से सम्पूर्ण 'इद्' भाग के स्थान पर होता है।

'इद् + आ' यहां प्रकृत सूत्र से इद् भाग को अन् आदेश हो कर 'अन् अ + आ' हुआ। पुनः 'टाङसिङसाम्—' (१४०) सूत्र से आ को इन आदेश तथा 'आद् गुणः' (२७) द्वारा गुण एकादेश करने पर 'अनेन' प्रयोग सिद्ध होता है।

'इदम्+भ्याम्' यहां त्यदाद्यत्व तथा पररूप हो कर 'इद+भ्याम्' इस स्थिति में 'अनाप्यकः' (२७६) सूत्र से अन् आदेश प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम अपवादसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२७७ हलि लोपः ।७।२।११३॥

अककारस्येदम इदो लोपः स्यादापि हलादौ। "नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे" (प०)।

अर्थः—तृतीयादि हलादि विभक्ति परे हो तो ककाररहित इदम् शब्द के इद् भाग का लोप हो जाता है। **नानर्थक इति**—अभ्यासविकार को छोड़ कर अन्यत्र अनर्थकों में 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता।

व्याख्या—अकः ।६।१। ['अनाप्यकः' से] इदमः ।६।१। ['इदमो मः' से] इदः ।६।१। ['इदोऽय् पुंसि' से] लोपः ।१।१। आपि ।७।१। ['अनाप्यकः' से] हलि ।७।१। विभक्तौ ।७।१। ['अष्टन आ विभक्तौ' से] 'हलि' यह 'विभक्तौ' पद का विशेषण है और साथ ही सप्तम्यन्त अल् भी है अतः 'यस्मिन्विधि—' से तदादिविधि हो जाती है। अर्थः—(अकः) ककाररहित (इदमः) इदम् शब्द के अवयव (इदः) इद् का (लोपः) लोप हो जाता है। (हलि=हलादौ) हलादि (आपि) तृतीयादि विभक्ति परे हो तो। यह सूत्र पिछले 'अनाप्यकः' (२७६) सूत्र का अपवाद है।

'इद+भ्याम्' यहां 'भ्याम्' यह तृतीयादि हलादि विभक्ति परे है अतः यहां 'अनाप्यकः' (२७६) सूत्र को बाध कर 'हलि लोपः' (२७७) सूत्र से 'इद्' का लोप प्राप्त होता है। परन्तु 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) सूत्र से इद् के अन्त्य दकार का लोप होना चाहिये। इस पर—

"नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे"

यह परिभाषा प्रवृत्त हो कर कहती है कि अनर्थक में 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) सूत्र प्रवृत्त नहीं

हुआ करता है। यदि अभ्यास का विकार अनर्थक भी हो तो भी यह (अलोऽन्त्यस्य) प्रवृत्त हो जाता है*। कौन अनर्थक और कौन सार्थक होता है? इस का निर्णय निम्न परिभाषा से होता है—

"समुदायो ह्यर्थवान् तस्यैकदेशोऽनर्थकः"

अर्थात् समुदाय सार्थक और उस का एक भाग निरर्थक हुआ करता है। तो इस प्रकार इद यह सम्पूर्ण समुदाय सार्थक और इस का इद् यह अवयव निरर्थक है। अनर्थक में अलोऽन्त्यविधि नहीं हुआ करती अतः यहां भी दकार का लोप न हो कर सम्पूर्ण इद् भाग का ही लोप हो जायगा— अ + भ्याम्। अब यहां 'सुपि च' (१४१) सूत्र से हमें दीर्घ करना अभीष्ट है, परन्तु उस से वह हो नहीं सकता, क्योंकि उस के अर्थ में अदन्त अङ्ग का दीर्घ हो ऐसा लिखा है। यहां अत् अङ्ग तो है पर अदन्त अङ्ग नहीं। अतः इस की सिद्धि के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] परिभाषा सूत्रम्—२७८ आद्यन्तवदेकस्मिन्।१।१।२०॥

एकस्मिन् क्रियमाणं कार्यमादाविव अन्त इव च स्यात्। सुपि चेति दीर्घः। आभ्याम्।

अर्थः—जैसे आदि और अन्त में कार्य होते हैं वैसे एक वर्ण में भी कार्य हों।

व्याख्या—आद्यन्तवत् इत्यव्ययपदम्। एकस्मिन्।७।१। समासः—आदिश्च अन्तश्च=आद्यन्तौ इतरेतरद्वन्द्वः। तयोरिव=आद्यन्तवत्। 'तत्र तस्येव' इति वतिप्रत्ययः। अर्थः—(आद्यन्तवत्) आदि और अन्त में जैसे कार्य होते हैं वैसे (एकस्मिन्) एक वर्ण में भी हों।

आदि और अन्त शब्द सापेक्ष अर्थात् दूसरे की अपेक्षा आश्रय करने वाले हैं। जब तक अन्य वर्ण न हों, आदि और अन्त नहीं बन सकते। जैसा कि भाष्य में कहा है—

"यस्मात्पूर्वं नास्ति परमस्ति स आदिरित्युच्यते।
यस्मात्पूर्वमस्ति परञ्च नास्ति सोऽन्त इत्युच्यते।"

अर्थात् जिस से पूर्व कोई नहीं, परे है वह—'आदि' तथा जिस के पूर्व तो है परे नहीं वह—'अन्त' कहाता है। इस प्रकार आदि और अन्त में विधान किये गये कार्य केवल एक वर्ण में प्राप्त नहीं हो सकते। अतः उनकी एक असहाय वर्ण में भी प्रवृत्ति कराने के

* यथा—बिभर्ति, पिपर्ति आदियों में अभ्यास के अन्त्य ऋकार को इकार आदेश हो जाता है। अन्यथा यहां भी सम्पूर्ण अभ्यास के स्थान पर आदेश होता।

लिये यह सूत्र आरम्भ किया गया है। उदाहरण यथा—जैसे रामाभ्याम् पुरुषाभ्याम् यहां अदन्त अङ्ग का सुपि च (१४१) से दीर्घ होता है वैसे— अ + भ्याम्' यहां केवल अत् को भी दीर्घ हो कर आभ्याम् बनेगा। आदि का उदाहरण—जैसे भविष्यति यहां वलादि स्य को आर्धधातुकस्येड् वलादेः (४१) से इट् का आगम होता है वैसे आतिष्टाम् आतिषु' इत्यादियों में केवल स को भी होगा।

नोट—भाष्यकार ने इस सूत्र को और अधिक विस्तृत करने के लिये व्यपदेशिवद् एकस्मिन् ऐसा लिखा है। मुख्य व्यवहार को व्यपदेश कहते हैं। सोऽस्यास्तीति व्यपदेशी उस वाले का नाम व्यपदेशी हुआ। अर्थात् मुख्य का नाम व्यपदेशी है। इस मुख्य के समान एक में भी कार्य हो जाते हैं। यथा— एकाचो बशो भष्— (२५३) का मुख्य उदाहरण गर्धप है। यहां गर्दभ धातु का अवयव एकाच् झषन्त दभ है। परन्तु 'धुक' यहां ऐसा नहीं। यहां धातु भी वही है और एकाच् झषन्त भी वही है अर्थात् दोनों अभिन्न हैं इसमें भी मुख्य के समान कार्य्य हो जाएंगे। ये उदाहरण पाणिनि के आद्यन्तवदेकस्मिन्' सूत्र से सिद्ध नहीं हो सकते थे अतः भाष्यकार को व्यपदेशिवदेकस्मिन् इस प्रकार रचना पड़ा। शास्त्र में इसे ही व्यपदेशिवद्भाव कहा गया है। व्यपदेशिवद्भाव का अर्थ गौण को भी मुख्य के समान मानना है।

'इदम् + भिस्' यहां त्यदाद्यत्व, पररूप हलि लोपः' (२७७) से इद् भाग का लोप हो जाता है। तब अ + भिस् इस स्थिति में व्यपदेशिवद्भाव से 'अतो भिस ऐस्' (१४२) द्वारा भिस् का ऐस् प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र निषेध करता है—

[लघु०] निषेध सूत्रम्—२७९ नेदमदसोरकोः ।७।१।११॥

अककारयोरिदमदसोर्भिस ऐस् न। एभिः। अस्मै। एभ्यः। अस्मात्। अस्य। अनयोः २। एषाम्। अस्मिन्। एषु।

अर्थ—ककाररहित इदम् और अदस् शब्द के भिस् को ऐस् नहीं होता।

व्याख्या—अकोः ।६।२। इदमदसोः ।६।२। भिसः ।६।१। ऐस् ।१।१। [अतो भिस ऐस्' से] न इत्यव्ययपदम्। नास्ति कः ययोस्तौ = अकौ तयोः = अकोः बहुव्रीहि समास। अर्थः—(अकोः) ककाररहित (इदमदसोः) इदम् और अदस् शब्द के (भिसः) भिस् के स्थान पर (ऐस्) ऐस् (न) न हो।

'अ + भिस्' यहां प्रकृतसूत्र से भिस् को ऐस् न हुआ। तब बहुवचने झल्येत्' (१४५) सूत्र से एत्व होकर सकार का रुँत्व और रेफ को विसर्ग करने से—'एभिः' रूप सिद्ध हुआ।

चतुर्थी के एकवचन में इदम्+ए' (ङे) इस अवस्था में सर्वनाम्न स्मै (१५८) सूत्र से एकार का स्मै आदेश तथा अनाप्यक (२७६) से इद् को अन् आदेश युगपत् प्राप्त होते हैं। विप्रतिषेधपरिभाषा से परकार्य अन् आदेश होने योग्य है। परन्तु यह अनिष्ट है। इसके लिये निम्न परिभाषा प्रवृत्त होती है—

"पूर्व पर-नित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः" (प०)

अर्थात् पूर्व से पर, पर से नित्य, नित्य से अन्तरङ्ग और अन्तरङ्ग से अपवाद बलवान् होता है। नित्य उसे कहते हैं कि जो अपने विरोधी के प्रवृत्त होने पर भी प्रवृत्त हो सके। यथा—यहाँ स्मै आदेश नित्य है क्योंकि वह अपने विरोधी अन् आदेश के प्रवृत्त हो जाने पर भी प्रवृत्त हो सकता है। पर से नित्य बलवान् होता है अतः अनाप्यक (७ २ ११२) के पर होने पर भी 'सर्वनाम्नः स्मै' (७ १ १४) सूत्र के नित्य होने से स्मै आदेश हो जायगा। 'इद+स्मै' इस स्थिति में हलि लोपः (२७७) से इद् भाग का लोप हो कर 'अस्मै' प्रयोग सिद्ध होता है।

इदम् + अस् (ङसि) = इद + अस। यहा भी पूर्ववत् नित्य होने से अन् आदेश को बाध कर ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ' (१५९) सूत्र से स्मात् आदेश हो जाता है। तब हलि लोपः (२७७) से इद् का लोप करने से 'अस्मात्' रूप बनता है।

इदम्+अस् (ङस)=इद + अस्। नित्य होने से प्रथम टाङसिङसाम्— (१४०) सूत्र से स्य आदेश हो जाता है। तब इद् भाग का लोप हो कर अस्य प्रयोग सिद्ध होता है।

इदम् + ओस = इद + ओस। यहा अनाप्यक' (२७६) सूत्र से अन् आदेश ओसि च (१४७) से एत्व तथा एचोऽयवायावः (२२) से अय् आदेश करने पर अनयोः' रूप बनता है।

इदम् + आम्। त्यदाद्यत्व पररूप, नित्य होने से 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' (१५५) से सुट् इद् भाग का लोप और बहुवचने झल्येत्' (१५९) से एत्व करने पर—एसाम्= एषाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

इदम्+इ (ङि) = इद+इ। यहा प्रथम स्मिन् आदेश हो कर तदनन्तर इद् भाग का लोप हो जाता है— अस्मिन्'।

इदम्+सु (सुप्)। त्यदाद्यत्व, पररूप, इद् का लोप एत्व और षत्व करने पर एषु' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—

प्र० अयम्	इमौ	इमे	प० अस्मात्	आभ्याम्	एभ्य
द्वि० इमम्	,,	इमान्	ष० अस्य	अनयो	एषाम्
तृ० अनेन	आभ्याम्	एभि	स० अस्मिन्	,,	एषु
च० अस्मै	,,	एभ्य	सम्बोधन नास्तीति प्रायोवाद ।		

[लघु०] विधि सूत्रम्—२८० द्वितीयाटौस्स्वेन ।२।४।३४॥

इदमेतदोरन्वादेशे । किञ्चित्कार्यं विधातुमुपात्तस्य कार्यान्तरं विधातु पुनरुपादानमन्वादेश । यथा—अनेन व्याकरणमधीत-मेन छन्दोऽध्यापयेति । अनयो॰ पवित्र कुलम् एनयो प्रभूत स्वम् इति । एनम् । एनौ । एनान् । एनेन । एनयो २ ।

अर्थ —द्वितीया टा और ओस विभक्तियों के परे होन पर अन्वादेश मे इदम और एतद् शब्द का 'एन आदेश हो । किञ्चित् इति—किसी काय का विधान करने के लिये ग्रहण किये हुए का पुन दूसरे काय का विधान करने के लिये ग्रहण करना 'अन्वादेश कहाता है ।

व्याख्या—इदम ।६।१। [इदमोऽन्वादेशे—' से] एतद ।६।१। [एतदस्त्र तसौ— से] अन्वादेशे ।७।१। [इदमोऽन्वादेशे—' से] द्वितीयाटौस्सु ।७।३। एन ।१।१। समास —द्वितीया च टा च आस् च=द्वितीयाटौस , तेषु=द्वितीयाटौस्सु इतरेतरद्वन्द्व । अर्थ —(अन्वादेशे) अन्वादश में (इदम) इदम् शब्द क स्थान पर तथा (एतद) एतद् शब्द क स्थान पर (एन) एन आदेश हो (द्वितीयाटौस्सु) द्वितीया, टा और ओस् विभक्ति परे होने पर ।

अन्वादेश किसे कहते है ?

किसी अपूर्व कार्य को जनान या विधान करन के लिये जिस का प्रथम एक बार ग्रहण हो चुका हो ; यदि पुन दूसर कार्य का जनाने या विधान करन क लिय उस का पुन ग्रहण किया जावे तो वह पुनग्रहण अन्वादेश कहाता है । यथा—१ अनेन व्याकरणम् अधीतम् एन छन्दोऽध्यापय । इस ने व्याकरण पढ़ लिया है अब इसे छन्दश्शास्त्र पढ़ाओ । यहा व्याकरण पढ़ लिया है' इस कार्य के लिये अनेन=इस ने' का ग्रहण किया गया है । पुन छन्दोऽध्यापन क लिये भी उस का ग्रहण किया गया है अत दूसरी बार उस का ग्रहण 'अन्वादेश' हुआ । २ अनयो पवित्र कुलम् एनयो प्रभूत स्वम् । इन दोनों का पवित्र कुल है तथा इन का धन भी बहुत है । यहा प्रथम पवित्र कुल कहने के लिये ग्रहण किये हुए

इमौ दोनों का पुनः बहुत भन कहने के लिये दोबारा ग्रहण किया गया है अतः यह दूसरी बार वाला ग्रहण 'अन्वादेश' है। इसी प्रकार—इमं बालकं शिक्षामपाठ्य, अथो एनं वेदमध्यापय। इस बालक को तुम शिक्षा पढ़ा चुके हो अब इसे वेद पढ़ाओ। यहां वेद पढ़ाने के लिये पुनः उस का ग्रहण अन्वादेश है। अनयोश्छात्त्रयोः शोभनं शीलम्, अथो एनयोः कुशाग्रा मेधा। ये दोनों छात्र अच्छे आचार वाले हैं और इन की बुद्धि भी तीक्ष्ण है। यहां बुद्धि तीक्ष्ण है यह जताने के लिये पुनः इन का ग्रहण अन्वादेश है।

अन्वादेश में द्वितीया=अम्, औट्, शस् तथा टा और ओस् [षष्ठी और सप्तमी दोनों विभक्तियों का] इन पाञ्च प्रत्ययों के परे होने पर इदम् और एतद् शब्द को एन आदेश हो जाता है। अन्य विभक्तियों में अनन्वादेश की भान्ति रूप चलते हैं*। 'एतद्' शब्द का वर्णन आगे आएगा यहां अब इदम् शब्द प्रस्तुत है—

१ इदम्+अम्=एन+अम्=एनम्। २ इदम्+औट्=एन+औ=एनौ। ३ इदम्+शस्=एन+अस्=एनान्। ४ इदम्+टा=एन+आ=एन+इन=एनेन। ५ इदम+ओस=एन+ओस्=एनयोः।

नोट—'एन' आदेश अनेकाल् होने से अनेकाल्परिभाषा द्वारा सम्पूर्ण 'इदम्' के स्थान पर होता है।

इन सब का दो श्लोकों में उदाहरण यथा—

"इमं विद्धि हरेर्भक्तं, विद्ध्यथैनं शिवार्चकम्।
इमाविमान् वित्त शैवान्, एनावेनांस्तु वैष्णवान्॥१॥
अनेन पूजितः कृष्णोऽथैनेन गिरिशोऽर्चितः।
अनयोः केशवः स्वामी, शिवः स्वामी ह्यथैनयोः॥२॥"

(यहां मकारान्त पुंल्लिङ्ग समाप्त होते हैं।)

—•※•—

अभ्यास (३८)

(१) [क] 'किम्' शब्द ही सर्वनामों में पढ़ा गया है 'क' शब्द नहीं, पुनः 'के कस्मै' आदियों में क्यों सर्वनामकार्य हो जाते हैं?

---

* यद्यपि अन्य विभक्तियों में रूप अनन्वादेश की भान्ति होते हैं तो भी प्रक्रिया में बड़ा अन्तर होता है। अन्वादेश में इदम् शब्द के स्थान पर 'अश्' आदेश हो कर शकार का लोप करने पर अदन्त सर्वनाम की तरह कार्य होते हैं। यह सब सप्रयोजन विस्तारपूर्वक सिद्धान्तकौमुदी में देखें।

[ख] इदम् शब्द में स्वतः ही ककार का श्रवण नहीं होता, पुनः उस के निषेध के लिये 'अनाप्यकः' आदि में यत्न क्यों किया गया है ?

[ग] 'अयम्' में त्यदाद्यत्व क्यों नहीं होता ? यदि उस के प्रवृत्त्यभाव का कोई कारण है तो वह 'इमौ, इमे' आदि में क्यों नहीं ?

[घ] 'अग्निर्नयति' में णत्व क्यों नहीं होता ?

[ङ] पुष+नाति = पुष्णाति यहां ष्टुत्व होता है या णत्व ? अन्यतर की प्रवृत्ति का सहेतुक विवेचन करो ।

(२) [क] आदि और अन्त का लक्षण लिख कर व्यपदेशिवद्भाव का सोदाहरण विवेचन करें ।

[ख] अन्वादेश का लक्षण लिख कर उस का सोदाहरण स्पष्टीकरण करो किञ्च यह भी लिखो कि अन्वादेश में 'इदम्' के स्थान पर क्या क्या परिवर्त्तन होते हैं ।

[ग] नानर्थके— परिभाषा की आवश्यकता पर टिप्पणी लिखें ।

[घ] प्रशान् यहां नकार का लोप क्यों नहीं होता ?

[ङ] चतुर्षु में रेफ को विसर्गादेश क्यों नहीं होता ?

(३) चत्वारः, केषाम्, प्रशान्त्सु, चतुर्णाम्, अयम्, अनया, अस्मै, एषु—इन सूत्रों की सूत्रनिर्देशपूर्वक सिद्धि करो ।

(४) 'अनाप्यकः, दश्च, शराऽचि, रषाभ्यां नो णः समानपदे, आद्यन्तवदेकस्मिन्' सूत्रों की व्याख्या करें ।

—•❀•—

अब नकारान्त पुँल्लिङ्ग शब्दों का विवेचन करते हैं—

[लघु०] राजा ।

राजन् = राजा ('राजृ दीप्तौ' इत्यस्मात् 'कनिन् युवृषि—' इत्यौणादिके कनिनि साधु) ।

'राजन् + स् (सुँ)' यहां 'हल्ङ्याब्भ्यः— (१७९) सूत्र से सुँलोप तथा 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (१७७) से उपधादीर्घ युगपत् प्राप्त होते हैं । परन्तु परत्व के कारण प्रथम उपधादीर्घ हो कर पश्चात् सुँलोप हो जाता है—राजान् + स = राजान् । अब 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) सूत्र से नकार का लोप हो कर 'राजा' रूप सिद्ध होता है ।

'राजन् + औ' यहां 'सर्वनामस्थाने—' (१७७) से उपधादीर्घ हो कर 'राजानौ

यहां यह ध्यान में रखना चाहिये कि व्याकरण में समास के अन्तिम पद को उत्तरपद तथा आदिम पद को पूर्वपद कहते हैं। यथा—राज्ञः पुरुषः=राजपुरुषः। यहां 'राजन्' यह षष्ठ्यन्त पूर्वपद तथा 'पुरुष' यह प्रथमान्त उत्तरपद है।

ब्रह्मनिष्ठः। ब्रह्मणि निष्ठा यस्य स ब्रह्मनिष्ठः। ब्रह्म में स्थिति या विश्वास रखने वाला 'ब्रह्मनिष्ठ' कहाता है। 'ब्रह्मन्ङि निष्ठा सु' यहां बहुव्रीहिसमास में 'सुपो धातु—' (७२१) सूत्र से ङकार का लोप प्राप्त होता है परन्तु 'न ङिसम्बुद्ध्योः' (२८१) सूत्र उस लोप का निषेध कर देता है क्योंकि प्रत्ययलक्षणपरिभाषा से 'ङि' परे स्थित है। अब 'ङावुत्तरपदे—' वार्त्तिक से उस निषेध का निषेध हो कर पुनः 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) से नकारलोप हो जाता है। यहां 'ङि' से परे 'निष्ठा' यह उत्तरपद विद्यमान है। 'ब्रह्मनिष्ठा' ऐसा होने पर 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' (९५२) सूत्र द्वारा ह्रस्व हो कर विभक्ति लाने से 'ब्रह्मनिष्ठः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार—'आत्मविश्वासः', 'चर्मतिलः' आदि प्रयोग जानने चाहियें।

राजन्+अस् (शस्) यहां 'अल्लोपोऽनः' (२४७) सूत्र से भसञ्ज्ञक 'अन्' के अकार का लोप हो कर—राज्न्+अस् हुआ। अब 'स्तोः श्चुना श्चुः' (६२) सूत्र से नकार को ञकार करने पर—राज्ञ्+अस्=राज्ञः प्रयोग सिद्ध होता है।

नोट——ज्ञ यह संयुक्त व्यञ्जन है। ज और ञ के संयोग से इस की निष्पत्ति होती है। लिखने की सुविधा के लिये इस का ऐसा स्वरूप माना गया प्रतीत होता है। 'ज्ञ' को पृथक् वर्ण मान कर इस का 'ग्य' वा 'ज्य' 'ग्न' 'ज्ञ' आदि उच्चारण करना नितान्त अशुद्ध और शास्त्रविरुद्ध है। यदि यह अपूर्व वर्ण बन जाता तो शिक्षाकार इस के उच्चारण का भी कहीं निर्देश करते परन्तु उन्हों ने ऐसा कहीं नहीं किया। इस को अपूर्व वर्ण मानने से 'स्तोः श्चुना श्चुः' (६२) द्वारा श्चुत्व भी न हो सकेगा। यथा—'तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्' 'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम्' 'यज्ज्ञात्वा मुच्यतेऽशुभात्' इत्यादि। सिद्धान्तकौमुदी के 'जनोर्ज्ञः' पर शेखरकार का वक्तव्य भी द्रष्टव्य है—'जञयोर्गे लोकवेदसिद्धतादृशाध्वनेर्लिपिविशेषस्य चानुवादकमभियुक्तवचनं न त्विदं वर्णान्तरम्, शिक्षादावपरिगणितत्वेन तत्सत्त्वे मानाभावात्। अत एव 'तज्ज्ञानम्' इत्यादौ श्चुत्वसिद्धिः'। किञ्च यदि इस का उच्चारण 'ग्य' आदि होता तो प्राकृत में—मणाज्ज (मनोज्ञ), जण्ण (यज्ञ) अहिज्जा (अभिज्ञ) सव्वज्जा (सर्वज्ञ) इत्यादियों में इस प्रकार आदि में जकार व णकार न होता। अतः 'ज्ञ' कोई स्वतन्त्र वर्ण नहीं यह सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'क्ष' के विषय में भी समझना चाहिये। यह भी 'क्+ष' के संयोग से उत्पन्न होता है।

राजन्+आ (टा) भसञ्ज्ञक अन् के अकार का लोप हो कर श्चुत्व करने से—राज् ञ्+आ='राज्ञा' प्रयोग सिद्ध होता है।

राजन्+भ्याम् इस स्थिति में 'न लोप—' (१८०) से पदान्त नकार का लोप हो जाता है। तब राज+भ्याम् इस अवस्था में 'सुपि च' (१४१) से दीर्घ प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] नियम सूत्रम्—२८२ नलोपः सुप्स्वरसञ्ज्ञातुग्विधिषु कृति। ८।२।२॥

सुब्विधौ स्वरविधौ सञ्ज्ञाविधौ कृति तुग्विधौ च नलोपोऽसिद्धो नान्यत्र 'राजाश्व' इत्यादौ। इत्यसिद्धत्वाद् आत्वमेत्वमैस्त्वं च न। राजभ्याम्। राजभिः। राजभ्यः २। राजनि, राज्ञि। राजसु।

अर्थः—सुब्विधि स्वरविधि सञ्ज्ञाविधि तथा कृत्प्रत्ययपरक तुग्विधि करने में ही नकार का लोप असिद्ध होता है अन्यत्र नहीं। यथा—राजाश्व इत्यादियों में असिद्ध नहीं होता। इस सूत्र से यहां नकारलोप के असिद्ध होने से आ भाव ए भाव ऐस् भाव नहीं होता।

व्याख्या—नलोपः ।१।१। सुप्स्वरसञ्ज्ञातुग्विधिषु ।७।३। कृति ।७।१। असिद्धः ।१।१। ['पूर्वत्रासिद्धम्' से लिङ्गविपरिणाम कर के] समासः—नस्य लोपः=नलोपः षष्ठीतत्पुरुष। सुप् च स्वरश्च सञ्ज्ञा च तुक् च=सुप्स्वरसञ्ज्ञातुकः इतरेतरद्वन्द्वः। तेषां विधयः=सुप्स्वरसञ्ज्ञातुग्विधयः, तेषु=सुप्स्वरसञ्ज्ञातुग्विधिषु षष्ठीतत्पुरुष। विधिशब्दोऽत्र भावसाधनः। विधानं विधिः। यहां सुबादिगत शेषषष्ठी के साथ विधिशब्द का समास हुआ जानना चाहिये। सुब्विधिः—सुपो विधिः। यहां शेष में षष्ठी होने के कारण 'सुप्सम्बन्धी विधि' ऐसा अर्थ हो जाता है। सुप्सम्बन्धी विधि दो प्रकार की हो सकती है एक तो सुप के स्थान पर यथा—राजभिः। यहां 'अतो भिस ऐस्' (१४२) सूत्र से भिस् सुप् के स्थान पर ऐस् प्राप्त होता है। दूसरी सुप् परे होने पर, यथा—राजभ्याम्, राजभ्यः। यहां सुप् परे होने पर आत्व तथा एत्व प्राप्त होता है। स्वरविधिः=स्वरस्य विधिः। यहां स्वर कर्म में शेषत्व की विवक्षा से षष्ठी विभक्ति हुई है। 'स्वर को विधान करना' यह अर्थ यहां अभिप्रेत है। सञ्ज्ञाविधिः=सञ्ज्ञाया विधिः। यहां भी कर्म में शेषत्व की विवक्षा से षष्ठी विभक्ति हुई है। 'सञ्ज्ञा को विधान करना' यह अर्थ यहां अभिप्रेत है। तुग्विधिः=तुको विधिः। यहां भी तुक्-कर्म में शेषत्व की विवक्षा से षष्ठी विभक्ति जाननी चाहिये। 'कृति' यह तुग्विधि के साथ ही सम्बन्ध रखता है असम्भव होने से अन्यों के साथ नहीं।

अर्थ 'कृत् परे होने पर तुक् का विधान करना' यह अर्थ निष्पन्न होता है। अर्थः—(सुप्स्वर सञ्ज्ञातुग्विधिषु) सुप्सम्बन्धी विधान, स्वरविधान सञ्ज्ञाविधान तथा कृत् प्रत्यय परे होने पर तुग्विधान करने में (नलोपः) नकार का लोप (असिद्धः) असिद्ध होता है।

ये जितनी विधियां गिनाई गई हैं सब सवा सात अध्यायों में स्थित हैं। अतः इन विधियों के प्रति नकार का लोप त्रिपादीस्थ होने से ही 'पूर्वत्रासिद्धम्' (३१) द्वारा असिद्ध है पुनः यहां इन विधियों में नकारलोप को असिद्ध कहना नियमार्थ है— 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः'। अर्थात् इन विधियों में ही नकार का लोप असिद्ध हो अन्य विधियों में न हो। यथा—राज्ञोऽश्वः = राजाश्वः। राजन् ङस् अश्व सुँ यहां षष्ठीतत्पुरुषसमास में 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' (७२१) सूत्र से ङस् और सुँ का लुक् हो—राजन् अश्व। 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) सूत्र से नकार का लोप हो—राज अश्व। अब यहां नलोप के असिद्ध होने से 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) द्वारा सवर्णदीर्घ नहीं हो सकता। पुनः इस उपर्युक्त नियम से नकारलोप के सिद्ध हो जाने से वह हो जाता है। तो इस प्रकार—'राजाश्वः' रूप निष्पन्न होता है। इसी प्रकार—दण्ड्यश्वः योग्यात्मा मन्त्र्याज्ञा आदि प्रयोगों में नकारलोप के सिद्ध होने से यण्, 'राजेश्वरः' आदि प्रयोगों में गुण तथा राजीयति, राजायते में क्रमशः 'क्यचि च' (७२२) से ईत्व और 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' (४८३) से दीर्घ हो जाता है। इस सूत्र का यही प्रयोजन है।

राज + भ्याम् यहां 'सुपि च' (१४१) से आत्व, राज+भिस् यहां 'अतो भिस ऐस्' (१४१) से भिस् को ऐस्, राज + भ्यस् यहां 'बहुवचने झल्येत्' (१४५) से एत्व ये सुब्विधियां प्राप्त होती हैं। इन के प्रति नकारलोप असिद्ध ही है अतः इन में से कोई भी कार्य न होगा। राजभ्याम् राजभिः राजभ्यः।

राजन्+इ (ङि)। यहां 'विभाषा ङिश्योः' (२४८) सूत्र से भसञ्ज्ञक अन् के अकार का वैकल्पिक लोप हो जाता है। लोपपक्ष में श्चुत्व हो कर— 'राज्ञि'। लोपाभाव में— राजनि। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	राजा	राजानौ	राजानः	पं०	राज्ञः	राजभ्याम्	राजभ्यः
द्वि०	राजानम्	,,	राज्ञः	ष०	,,	राज्ञोः	राज्ञाम्
तृ०	राज्ञा	राजभ्याम्	राजभिः	स०	राज्ञि, राजनि		राजसु
च०	राज्ञे	,,	राजभ्यः	सं०	हे राजन्!	हे राजानौ!	हे राजानः!

इसी प्रकार निम्नलिखित शब्दों के रूप होते हैं—

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
१ अकिञ्चनिमन्	= आकिञ्चन्य, निर्धनता	३ आशिमन्	= आशुता शीघ्रता
२ अणिमन्	= अणुत्व, अणुपना	४ ऋजिमन्	= आर्जव सरलता

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
५ कालिमन्	= कालत्व, कृष्णता	१६ भूमन्	= बहुत्व बहुतायत
६ क्षेपिमन्	= क्षिप्रत्व शीघ्रता	१७ महिमन्	= महत्त्व बडप्पन
७ क्षोदिमन्	= क्षुद्रत्व, क्षुद्रता	१८ लघिमन्	= लघुत्व हलकापन
८ खण्डिमन्	= खण्डत्व टुकड़ापन	१९ वरिमन्	= उरुत्व महत्ता
९ गरिमन्	= गुरुत्व भारीपन	२० वर्षिमन्	= वृद्धत्व बुढ़ापा
१० चारिमन्	= चारुत्व, सुन्दरता	२१ वृषिमन्	= वृषत्व वीर्यवत्ता
११ तनिमन्	= तनुत्व पतलापन	२२ साधिमन्	= साधुत्व सज्जनता
१२ नदिमन्	= अन्तकत्व निकटता	२३ स्वादिमन्	= स्वादुत्व स्वादुपन
१३ पटिमन्	= पटुत्व, पटुता	२४ ह्रसिमन्*	= ह्रस्वत्व छुटप्पन
१४ पाण्डिमन्	= पाण्डुत्व, पीलापन		एवम्—तक्षन्—मूधन्—वृषन्,
१५ प्रेमन्	= प्रियत्व प्यार स्नेह		अश्वत्थामन् आदि ।

[लघु०] यज्वा । यज्वानौ । यज्वानः ।

व्याख्या—'यज् (भ्वा० उभ०) धातु से सुयजोर्ङ्वनिप् (३।२।१०३) सूत्र द्वारा भूतकालिक ङ्वनिप् प्रत्यय हो कर यज्वन् शब्द सिद्ध होता है । इष्टवान् इति यज्वा जो यज्ञ कर चुका है वह यज्वन् कहाता है ।

यज्वन् शब्द की सम्पूर्ण प्रक्रिया राजन् शब्दवत् होती है, केवल भसञ्ज्ञकों में 'अल्लोपोऽनः (२४७) सूत्र द्वारा प्राप्त अत् के लोप का निषेध हो जाता है । तथाहि—

[लघु०] निषेध सूत्रम्—२८३ न संयोगाद्वमन्तात् ।६।४।१३७।।

वमन्तसंयोगादनोऽकारस्य लोपो न । यज्वनः । यज्वना । यज्वभ्याम् । ब्रह्मणः । ब्रह्मणा ।

अर्थ—वकारान्त और मकारान्त संयोग से परे अन् के अकार का लोप नहीं होता ।

व्याख्या—वमन्तात् ।५।१। संयोगात् ।५।१। अनः ।६।१। अल्लोपः ।१।१। ['अल्लोपोऽनः' से] न इत्यव्ययपदम् । समास—वश्च म् च=वमौ इतरेतरद्वन्द्वः । वकारादकार उच्चारणार्थः । वमौ अन्तौ यस्य स वमन्तः, तस्मात्=वमन्तात्, बहुव्रीहि

---

* ये सब शब्द पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा (११५२) द्वारा इमनिच् प्रत्यय करने से निष्पन्न होते हैं । इमनिच्प्रत्ययान्त सब शब्द पुंल्लिङ्ग हुआ करते हैं । केवल 'प्रेमन्' शब्द ही कहीं २ नपुंसक में प्रयुक्त होता है ।

समास । अर्थः—(वमन्तात्) वकारान्त और मकारान्त (संयोगात्) संयोग से परे (अनः) अन् के (अल्लोपः) अकार का लोप (न) नहीं होता ।

'यज्वन् + अस् (शस्)' यहां 'यज्व् अन्' शब्द में 'ज्व्' यह वकारान्त संयोग है अतः इस से परे अन् के अकार का लोप न हुआ—'यज्वनः' सिद्ध हुआ । एवम् आगे भी भसञ्ज्ञकों में समझ लेना चाहिए । रूपमाला यथा—

प्र०	यज्वा	यज्वानौ	यज्वानः	पं०	यज्वनः	यज्वभ्याम्	यज्वभ्यः
द्वि०	यज्वानम्		यज्वनः	ष०	,,	यज्वनोः	यज्वनाम्
तृ०	यज्वना	यज्वभ्याम्	यज्वभिः	स०	यज्वनि	,,	यज्वसु
च०	यज्वने		यज्वभ्यः	सं०	हे यज्वन्!	हे यज्वानौ!	हे यज्वानः!

मकारान्त संयोग का उदाहरण 'ब्रह्मन्' है । ब्रह्मा अथवा ब्राह्मण को 'ब्रह्मन्' कहते हैं । 'ब्रह्मन् + अस् (शस्)' यहां 'ब्रह्म्-अन्' शब्द में 'ह्म्' यह मकारान्त संयोग है अतः इस से परे भसञ्ज्ञक अन् के अकार का लोप न हुआ—'ब्रह्मणः' । रूपमाला यथा—

प्र०	ब्रह्मा	ब्रह्माणौ	ब्रह्माणः	पं०	ब्रह्मणः	ब्रह्मभ्याम्	ब्रह्मभ्यः
द्वि०	ब्रह्माणम्	,,	ब्रह्मणः	ष०	,,	ब्रह्मणोः	ब्रह्मणाम्
तृ०	ब्रह्मणा	ब्रह्मभ्याम्	ब्रह्मभिः	स०	ब्रह्मणि	,,	ब्रह्मसु
च०	ब्रह्मणे	,,	ब्रह्मभ्यः	सं०	हे ब्रह्मन्!	हे ब्रह्माणौ!	हे ब्रह्माणः!

इसी प्रकार—१ आत्मन् (आत्मा) । २ अश्मन् (पत्थर) । ३ पुष्पधन्वन् (कामदेव) । ४ शार्ङ्गधन्वन् (विष्णु) । ५ सुपर्वन् (बाण, देवता) । ६ अनर्वन् (शत्रुरहित) । ७ कृष्णवर्त्मन् (अग्नि) । ८ मातरिश्वन् (वायु) । ९ सुधर्मन् (देवसभा) । १० अकृष्णकर्मन् (शुभ कर्मों वाला) । ११ अग्रजन्मन् (बड़ा भाई, ब्राह्मण) । १२ अनन्तात्मन् (परमात्मा) । १३ अस्थिधन्वन् (शिव) । १४ अनुजन्मन् (छोटा भाई) । १५ अदृष्टकर्मन् (अनभ्यासी) । १६ अनात्मन् (जो पदार्थ आत्मा नहीं—शरीर आदि) । १७ शक्मन् (कर्म निघण्टु—२।१) । १८ परिज्मन् (चन्द्रमा अथवा अग्नि, अथवा चारों तरफ जाने वाला) । १९ सुशर्मन् (प्राचीनकाल का एक राजा अच्छी तरह सुखी) । २० शतधन्वन् (प्राचीनकाल का एक राजा)—इत्यादि शब्दों के रूप होते हैं ।

वृत्रहन्=इन्द्र ।

[वृत्रं हतवान् इति वृत्रहा । 'ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप्' (३.२.८७) इति भूते कर्तरि क्विप्]

'वृत्रहन् + स् (सुँ)' । यहां 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' (१७७) द्वारा नान्त की उपधा को दीर्घ प्राप्त होता है । इस पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] नियम सूत्रम्—२८४ इन्हन्पूषार्यम्णां शौ ।६।४।१२॥

एषां शावेवोपधाया दीर्घो नान्यत्र । इति निषेधे प्राप्ते—

अर्थ—इन्नन्त हन्शब्दान्त, पूषन्शब्दान्त तथा अर्यमन्शब्दान्त अङ्गों को शि परे होने पर ही दीर्घ हो अन्यत्र न हो । इससे निषेध प्राप्त होने पर (अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है ।)

व्याख्या—इन्हन्पूषार्यम्णाम् ।६।३। अङ्गानाम् ।६।३। ['अङ्गस्य' इस अधिकृति का वचनविपरिणाम हो जाता है ।] शौ ।७।१। उपधायाः ।६।१। ['नोपधायाः' से] दीर्घ ।१।१। ['ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से] । 'अङ्गानाम्' के विशेषण होने से इन्हन्पूषार्यम्णाम्' से तदन्तविधि हो जाती है । अर्थ—(इन्हन्पूषार्यम्णाम्) इन्नन्त, हन्नन्त पूषन्शब्दान्त तथा अर्यमन्शब्दान्त (अङ्गानाम्) अङ्गों की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर (दीर्घ) दीर्घ हो जाता है (शौ) शि परे होने पर ।

नपुंसकलिंग में 'शि' की 'शि सर्वनामस्थानम्' (२३८) सूत्र द्वारा सर्वनामस्थान सञ्ज्ञा होती है, अतः उस के परे होने पर सूत्र में गिनाये सब शब्दों की उपधा को सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (१७७) से दीर्घ हो सकता है । पुनः इस सूत्र द्वारा दीर्घविधान 'सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः' के अनुसार नियमार्थ है । अर्थात्—" इनकी उपधा को यदि दीर्घ हो तो 'शि' परे होने पर ही हो अन्यत्र न हो" यह नियम फलित होता है ।

'वृत्रहन्+स्' यहां हन् शब्दान्त से परे 'सुँ' वर्त्तमान है 'शि' नहीं अतः प्रकृतनियम से यहाँ दीर्घ प्राप्त नहीं हो सकता । इस पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२८५ सौ च ।६।४।१३॥

इन्नादीनामुपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सौ परे । वृत्रहा । हे वृत्रहन् ! ।

अर्थ—इन्नन्त आदि अङ्गों की उपधा को दीर्घ हो, सम्बुद्धि भिन्न सुँ परे होने पर ।

व्याख्या—इन्हन्पूषार्यम्णाम् ।६।३। ['इन्हन्पूषार्यम्णां शौ' से] अङ्गानाम् । ६।३। ['अङ्गस्य' यह अधिकृत है] उपधायाः ।६।१। ['नोपधायाः' से] दीर्घ ।१।१। ['ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से] असम्बुद्धौ ।७।१। ['सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' से] सौ ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । अर्थ—(असम्बुद्धौ) सम्बुद्धिभिन्न (सौ) सुँ परे होने पर (इन्हन्पूषार्यम्णाम्) इन्नन्त, हन्नन्त, पूषन्शब्दान्त तथा अर्यमन्शब्दान्त (अङ्गानाम्) अङ्गों की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर (दीर्घ) दीर्घ हो जाता है । पूर्वसूत्र के नियम

से 'सु' में दीर्घ नहीं हो सकता था, अब इससे सु' में हो जाता है। शेष 'शि' भिन्न सर्वनामस्थान में पूर्वनियमानुसार निषेध ही रहेगा।

वृत्रहन्+स्' यहां प्रकृतसूत्र से दीर्घ हो जाता है–वृत्रहान्+स्। अब 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७९) से सकारलोप तथा 'न लोपः—' (१८०) से नकार का लोप होकर 'वृत्रहा' प्रयोग सिद्ध होता है।

'वृत्रहन्+औ' यहां प्राप्त उपधादीर्घ का 'इन्हन्पूषार्यम्णां शौ' (२८४) सूत्र से निषेध हो जाता है। 'अट्कुप्वाङ्—' (१३८) से णत्व भी नहीं हो सकता क्योंकि समान पद नहीं है। अतः णत्व करने के लिये अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२८६ एकाजुत्तरपदे णः ।८।४।१२॥

एकाजुत्तरपदं यस्य तस्मिन्समासे पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिस्थस्य नस्य णः स्यात्। वृत्रहणौ।

अर्थः—एक अच् है उत्तरपद में जिस के, ऐसे समास में पूर्वपद में ठहरे निमित्त (ऋ, र्, ष्) से परे प्रातिपदिकान्त, नुम् तथा विभक्ति में स्थित नकार को णकार हो जाता है।

व्याख्या—एकाजुत्तरपदे ।७।१। पूर्वपदाभ्याम् ।५।२। ['पूर्वपदात्सञ्ज्ञायामगः' से] रषाभ्याम् ।५।२। न ।६।१। णः ।१।१। ['रषाभ्यां नो णः समानपदे' से] प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु ।७।३। ['प्रातिपदिकान्त—' से] समासः—एकोऽच् यस्मिन् तद् एकाच्, बहुव्रीहिसमास। एकाच् उत्तरपदं यस्य स एकाजुत्तरपदः (समासः), तस्मिन् = एकाजुत्तरपदे, बहुव्रीहिसमास। पूर्वे पदे ययोस्तौ पूर्वपदौ (रषौ), ताभ्याम् = पूर्वपदाभ्याम् (रषाभ्याम्) बहुव्रीहिसमास। प्रातिपदिकस्य अन्तः = प्रातिपदिकान्तः षष्ठीतत्पुरुष। प्रातिपदिकान्तश्च नुम् च विभक्तिश्च = प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तयः, तेषु = प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु, इतरेतरद्वन्द्व। अर्थः—(एकाजुत्तरपदे) जिस समास में उत्तरपद एक अच् वाला हो उस समास में (पूर्वपदाभ्याम्) पूर्वपद वाले (रषाभ्याम्) रेफ षकार से परे (प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु) प्रातिपदिक के अन्त में, नुम् में, तथा विभक्ति में स्थित (न) नकार के स्थान पर (णः) णकार हो जाता है।

'वृत्रहन्+औ' यहां उपपदसमास में 'वृत्र' यह पूर्वपद तथा 'हन्' यह उत्तरपद है। उत्तरपद 'हन्' एक अच् वाला है। पूर्वपद में तकरोत्तर रेफ भी विद्यमान है अतः उससे परे प्रातिपदिक के अन्त में स्थित नकार को णकार हो कर 'वृत्रहणौ' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे सर्वनामस्थानों में—'वृत्रहणः, वृत्रहणम्, वृत्रहणौ' रूप बनते हैं।

'वृत्रहन्+अस' (शस्) यहा 'एकाजुत्तरपदे णः' (८ ४ १२) के असिद्ध होने से 'अल्लोपोऽन' (६ ४ १३४) द्वारा अन् के अकार का लोप हो जाता है। 'वृत्रहन्+अस्' इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२८७ हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु ।७।३।५४॥

ञिति णिति च प्रत्यये नकारे च परे हन्तेर्हकारस्य कुत्वं स्यात् । वृत्रघ्नः । इत्यादि । एवं शार्ङ्गिन्, यशस्विन्, अर्यमन्, पूषन् ।

अर्थ—ञित् णित् प्रत्यय परे होने पर अथवा नकार परे होने पर हन् धातु के हकार को कवर्ग (घकार) आदेश हो जाता है।

व्याख्या—हन्तेः ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] हः ।६।१। ञ्णिन्नेषु ।७।३। कु ।१।१। ['चजोः कु घिण्ण्यतोः' से] समास—ञ् च ण् च = ञ्णौ, इतरेतरद्वन्द्व । ञ्णौ इतौ ययोस्तौ = ञ्णितौ (अङ्गाधिकारत्वात्प्रत्ययौ), बहुव्रीहिसमास । ञ्णितौ च नश्च = ञ्णिन्नास्तेषु = ञ्णिन्नेषु, इतरेतरद्वन्द्व । अर्थ—(ञ्णिन्नेषु) ञित् णित् प्रत्यय तथा नकार परे होने पर (अङ्गस्य) अङ्गसञ्ज्ञक (हन्तेः) हन् धातु के (हः) हकार के स्थान पर (कु) कवर्ग आदेश हो जाता है। हकार का—संवार नाद, घोष तथा महाप्राण यत्न है, कवर्गों में तत्सदृश केवल घकार ही है अतः हकार के स्थान पर घकार ही कवर्ग आदेश होगा। †

'वृत्रह्न्+अस्' यहा नकार परे है अतः प्रकृतसूत्र से हकार को कवर्ग घकार आदेश हो कर 'वृत्रघ्नः' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे भसञ्ज्ञकों में जब 'अल्लोपोऽनः' (२४७) से अन् के अकार का लोप हो जाता है तब नकार परे होने से हकार को घकार हो जाता है। यथा—टा में—'वृत्रघ्ना' ङे में—'वृत्रघ्ने', ङसि और ङस् में—'वृत्रघ्नः' ओस् में 'वृत्रघ्नोः', आम् में—'वृत्रघ्नाम्,' रूप बनते हैं। ङि में 'विभाषा ङिश्योः' (२४८) द्वारा अन् के अकार का विकल्प कर के लोप हो जाता है अतः लोपपक्ष में नकार परे रहने से 'वृत्रघ्नि' और लोपाभाव में नकार परे न होने के कारण वृत्रहणि रूप बनते हैं। रूपमाला यथा—

प्र० वृत्रहा	वृत्रहणौ	वृत्रहणः	प० वृत्रघ्नः	वृत्रहभ्याम्	वृत्रहभ्यः
द्वि० वृत्रहणम्	,,	वृत्रघ्नः	ष० ,,	वृत्रघ्नोः	वृत्रघ्नाम्
तृ० वृत्रघ्ना	वृत्रहभ्याम्	वृत्रहभिः	स० वृत्रहणि, वृत्रघ्नि	,,	वृत्रहसु
च० वृत्रघ्ने	,,	वृत्रहभ्यः	स० हे वृत्रहन्!	हे वृत्रहणौ!	हे वृत्रहणः!

† ञित् के उदाहरण घातः आदि तथा णित् के उदाहरण 'जघान' आदि आगे आयेंगे।

इसी प्रकार—ब्रह्महन्, भ्रूणहन् शब्दों के उच्चारण होते हैं।

शार्ङ्गिन् = विष्णु।

[शार्ङ्गम् = शृङ्गनिर्मितं धनुरस्यास्तीति शार्ङ्गी। 'अत इनिठनौ' इतीनिप्रत्ययः।]

प्र०	शार्ङ्गी❀	शार्ङ्गिणौ‡	शार्ङ्गिणः	प०	शार्ङ्गिणः	शार्ङ्गिभ्याम्	शार्ङ्गिभ्यः
द्वि०	शार्ङ्गिणम्	,,	,,	ष०	,,	शार्ङ्गिणोः	शार्ङ्गिणाम्
तृ०	शार्ङ्गिणा	शार्ङ्गिभ्याम्	शार्ङ्गिभिः	स०	शार्ङ्गिणि	,,	शार्ङ्गिषु—
च०	शार्ङ्गिणे	,,	शार्ङ्गिभ्यः	स०	हे शार्ङ्गिन्!	हे शार्ङ्गिणौ!	हे शार्ङ्गिणः!

❀ यहां 'इन्हन्पूषार्यम्णां शौ' (२८४) इस नियम से उपधादीर्घ के निषेध हो जाने पर 'सौ च' (२८५) सूत्र से दीर्घ हो जाता है। सकार और नकार का लोप पूर्ववत् होता है।

‡ 'शार्ङ्गिणौ' आदियों में 'अट्कुप्वाङ्—' (१३८) से णत्व हो जाता है। 'हे शार्ङ्गिन्!' में 'पदान्तस्य' (१३९) सूत्र द्वारा णत्वनिषेध होता है।

— 'शार्ङ्गिषु' में सुब्विधि न होने से नकार का लोप असिद्ध नहीं होता, अतः षत्व करने में बाधा नहीं होती।

इस प्रकार के उच्चारण वाले शब्द संस्कृतसाहित्य में बहुत हैं। कुछ का बालोपयोगि संग्रह नीचे दिया जाता है। ❀ इस चिह्न वाले रूपों में णत्व जान लेना चाहिये।

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
१ अऋणिन्, अनृणिन्	= ऋणरहित	अनुविधायिन्	= आज्ञाकारी
अक्षविन्	= जुआरिया	अन्तर्यामिन्❀	= सर्वव्यापक ब्रह्म
अग्रगामिन्	= आगे जाने वाला	अन्तेवासिन्	= शिष्य
५ अज्ञानिन्	= ज्ञानरहित, मूर्ख	१५ अभिघातिन्	= प्रहार करने वाला
अतिशायिन्	= बढ़ा हुआ	आगामिन्	= आगे आने वाला
अधिकारिन्❀	= अधिकार वाला	आततायिन्	= अग्नि आदि लगाने वाला
अधीतिन्†	= पढ़ा हुआ, विद्वान्	आत्मघातिन्	= आत्महत्यारा
अनुजीविन्	= सेवक	उत्तराधिकारिन्❀	= जानशीन
१० अनुपकारिन्❀	उपकार न करने वाला	२० उपजीविन्	= नौकर
अनुयायिन्	= पीछे चलने वाला, सेवक	उपयोगिन्	= उपयोगी
		ऊर्मिमालिन्	= समुद्र

† इस के योग में पूर्व में सप्तमी होती है—व्याकरणे अधीती।

शब्द	अर्थ
एकाकिन्	= अकेला
कञ्चुकिन्	= रनवास में रहने वाला वृद्ध पुरुष
२५ कपटिन्	= कपटी छली
कपालिन्	= महादेव
करटिन्	= हाथी
करिन्❀	= हाथी
कलापिन्	= मोर
३० कामिन्	= कामी
किरणमालिन्	= सूर्य
कुण्डलिन्	= साप
कूटसाक्षिन्❀	= झूठा गवाह
कृतिन्	= पण्डित
३५ केशरिन्❀	= शेर
क्रान्तदर्शिन्	= अतीतद्रष्टा
क्रोधिन्	= क्रोधी
क्षणविध्वंसिन्	= क्षणिक
क्षेत्रिन्❀	= खेत वाला
४० क्षेमिन्	= सुखी
खड्गिन्	= गेण्डा
गृहमेधिन्	= गृहस्थी
गृहिन्❀	= ,,
गृहीतिन्	= समझा हुआ, ज्ञानी
४५ घातिन्	= हिंसक
घोणिन्	= सूअर
चक्रवर्त्तिन्	= चक्रवर्त्ती राजा
चक्रिन्❀	= विष्णु व कुम्हार
जन्मिन्	= जन्म वाला, प्राणी
५० जम्भभेदिन्	= इन्द्र
जितकाशिन्	= विजयी
ज्ञानिन्	= ज्ञानी
तपस्विन्	= तपस्वी
त्यागिन्	= त्यागी
५५ दंष्ट्रिन्❀	= सूअर
दण्डिन्	= डण्डे वाला
दन्तिन्	= हाथी
दीर्घदर्शिन्	= दीर्घदर्शी
दूरदर्शिन्	= दूरदर्शी
६० देहिन्	= जीवात्मा
द्वारिन्❀	= द्वारपाल
द्वीपिन्	= गेण्डा
धनिन्	= धनवान्
धारावाहिन्	= लगातार बहने वाला
६५ धारिन्❀	= धारा वाला
नयशालिन्	= नीतिज्ञ
निवासिन्	= रहने वाला
पक्षिन्❀	= पक्षी, परिन्दा
परदर्शिन्	= विदेशी
७० परमेष्ठिन्	= ब्रह्मा
परिपन्थिन्	= शत्रु
पादचारिन्❀	= पैदल
पार्श्ववर्त्तिन्	= सेवक
पाशिन्	= शिकारी
७५ पाषण्डिन	= पाखण्डी
पिनाकिन्	= शिव
पुष्करिन्❀	= हाथी
प्रकम्पिन्	= कापने वाला
प्रणयिन्	= प्रेमी

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
८० प्रतिवादिन्	= जवाब देने वाला, मुद्दालह	१०५ मेधाविन्	= बुद्धिमान्
प्रतिवेशिन्	= हमसाया पड़ोसी	योगिन्	= योगी
प्रत्यर्थिन्	= शत्रु	रथारोहिन्❀	= रथ सवार
प्रवासिन्	= परदेश गया हुआ	रूपधारिन्❀	= रूप को धारण करने वाला
प्राणिन्	= प्राणी	रूपशालिन्	= सुन्दर
८५ फणिन्	= फणों वाला साँप	११० रोगिन्❀	= बीमार
फलिन्	= फलों वाला वृक्ष	लाङ्गलिन्	= बलराम
बलशालिन्	= बलवान्	लिङ्गिन्	= साधु
बलिध्वंसिन्	= विष्णु	लोभिन्	= लोभी
बलिन्	= बलवान्	वनमालिन्	= श्रीकृष्ण
९० बुद्धिशालिन्	= बुद्धिमान्	११५ वनवासिन्	= वन में रहने वाला
ब्रह्मचारिन्❀	= ब्रह्मचारी	वशवर्त्तिन्	= वश में रहने वाला आज्ञाकारी
ब्रह्मवादिन्	= ब्रह्म की चर्चा करने वाला	वशिन्	= वशीभूत, आज्ञाकारी
भागिन्	= हिस्सेदार	वाग्मिन्	= बोलने में चतुर
भिक्षाशिन्	= भीख माँग कर खाने वाला भिक्षुक	वादिन्	= वाद करने वाला
		१२० विकाशिन्	= खिलने वाला
९५ भोगिन्	= भोगी, साँप व राजा	विटपिन्	= वृक्ष
मण्डलिन्	= साँप	वियोगिन्	= वियोग वाला, विरही
मनस्विन्	= प्रशान्त मन वाला, समझदार	वीचिमालिन्	= समुद्र
		वैरिन्❀	= वैर करने वाला, शत्रु
मनीषिन्❀	= मन से विचारने वाला बुद्धिमान्	१२५ व्यभिचारिन्❀	= दुष्ट आचार वाला बदमाश
मन्त्रिन्❀	= मन्त्री, वज़ीर	व्यवायिन्	= व्यभिचारी
१०० मरीचिमालिन्	= सूर्य	व्यापिन्	= व्यापक
मस्करिन्❀	= सन्न्यासी	व्योमचारिन्❀	= आकाश में घूमने वाला, पक्षी
मानिन्	= अभिमानी		
मालिन्	= मालार्युक्त	व्रतिन्	= व्रत वाला
मुण्डिन्	= मुण्डे हुए सिर वाला	१३० शमिन्	= शान्त

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
शरीरिन्❀	=जीवात्मा	सङ्ग्राहिन्❀	= कब्ज़ करने वाला पदार्थ
शास्त्रदर्शिन्	=शास्त्रों को जानने वाला	१४५सञ्चारिन्❀	= घूमने वाला
शास्त्रिन्❀	= शास्त्रज्ञ	सत्यवादिन्	= सत्य बोलने वाला
शिखण्डिन्	= मोर	सब्रह्मचारिन्❀	= सहपाठी, सहाध्यायी
१३५शिखरिन्❀	= पर्वत	समीक्ष्यकारिन्❀	= सोच समझ कर काम करने वाला
शिखिन्	= मोर	सहकारिन्❀	= सहयोग करने वाला
शिल्पिन्	= शिल्पी व कारीगर	१५०सव्यसाचिन	= अर्जुन
शूरमानिन्	= अपने आप को शूर मानने वाला	साक्षिन्❀	= गवाह
शेषशायिन्	= विष्णु	सादिन्	= घुड़सवार
१४०श्रमिन्❀	= मेहनती	स्वामिन्	= स्वामी मालिक
श्रेष्ठिन्	= सेठ, धनवान्	हस्तिन्	= हाथी
संयमिन्	= संयमी	१५५हितैषिन्❀	= हित चाहने वाला
सङ्गिन्	= सङ्गी साथी		

—०—

सूचना—(क) इन्नन्तों के आम् में दीर्घ सर्वथा न लिखना चाहिये सु में तो अवश्य करना चाहिये।

(ख) इन्नन्त शब्दों को यदि स्त्रीलिङ्ग में लाना हो तो इन से आगे 'ऋन्नेभ्यो ङीप्' (२३२) द्वारा ङीप् प्रत्यय किया जाता है। 'ङीप्' के अनुबन्धों का लोप हो 'ई' अवशिष्ट रहता है। यथा—योगिनी भोगिनी धनिनी आदि। तब इन का उच्चारण नदीशब्दवत् होता है।

(ग) हिन्दी में इन्नन्त शब्द प्रायः ईकारान्त हो जाया करते हैं। यथा—योगी, भोगी, धनी आदि।

पूषन्=सूर्य

[व्युत्पत्तिपक्षे 'श्वन्नुक्षन् ' (उणा० १५७) इत्युणादिसूत्रेण 'पूषँ वृद्धौ' (भ्वा० प०) इत्यस्माद्धातो कनिन्प्रत्ययान्तो निपात्यते ।]

प्र०	पूषा ‡	पूषणौ†	पूषणः	पं०	पूष्णः	पूषभ्याम्	पूषभ्यः
द्वि०	पूषणम्	,,	पूष्णः ❀	ष०	,,	पूष्णोः	पूष्णाम्
तृ०	पूष्णा	पूषभ्याम्	पूषभिः	स०	पूष्णि-पूषणि—	,,	पूषसु
च०	पूष्णे	,,	पूषभ्यः	सं०	हे पूषन्!	हे पूषणौ!	हे पूषणः!

‡ इन्हन्पूषार्यम्णां शौ सौ च।

† इत्यादौ तु इन्हन्निति नियमान्न दीर्घः। णत्वमत्र 'अट्कु—' सूत्रेण भवति। भसञ्ज्ञकेषु तु अल्लोपे कृते 'रषाभ्यां नो णः समानपदे' इति णत्वं बोध्यम्।

❀'अल्लोपोऽनः' (२४७)। — 'विभाषा ङिश्योः' (२४८)।

अर्यमन्=सूर्य

[व्युत्पत्तिपक्षे 'श्वन्नुक्षन्—' (उणा० १९७) इत्युणादिसूत्रेण अर्योपपदाद् 'माङ् माने' (जुहो० आ०) इत्यस्माद्धातोः कनिन्प्रत्ययान्तो निपात्यते।]

प्र०	अर्यमा	अर्यमणौ	अर्यमणः	पं०	अर्यम्णः	अर्यमभ्याम्	अर्यमभ्यः
द्वि०	अर्यमणम्	,,	अर्यम्णः	ष०		अर्यम्णोः	अर्यम्णाम्
तृ०	अर्यम्णा	अर्यमभ्याम्	अर्यमभिः	स०	अर्यम्णि-अर्यमणि	,,	अर्यमसु
च०	अर्यम्णे	,,	अर्यमभ्यः	सं०	हे अर्यमन्!	हे अर्यमणौ!	हे अर्यमणः!

णत्व सर्वत्र 'अट्कु—' (१३८) सूत्र से होता है।

यशस्विन्=यशस्वी—कीर्तिमान्

[यशोऽस्यास्तीति—यशस्वी 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' (११८४) इति मत्वर्थे विनिप्रत्ययः]

प्र०	यशस्वी	यशस्विनौ	यशस्विनः	पं०	यशस्विनः	यशस्विभ्याम्	यशस्विभ्यः
द्वि०	यशस्विनम्	,,	,,	ष०	,,	यशस्विनोः	यशस्विनाम्
तृ०	यशस्विना	यशस्विभ्याम्	यशस्विभिः	स०	यशस्विनि	,,	यशस्विषु
च०	यशस्विने	,,	यशस्विभ्यः	सं०	हे यशस्विन्!	हे यशस्विनौ!	हे यशस्विनः!

नोट—यहां 'यशस्विन्' में विन्प्रत्यय होने से 'इन्' अनर्थक तथा 'शार्ङ्गिन्' में इन्प्रत्यय होने से 'इन्' सार्थक है। "समुदायो ह्यर्थवान् तस्यैकदेशोऽनर्थकः"। सार्थक और अनर्थक के मध्य सार्थक का ही सर्वत्र ग्रहण किया जाता है अतः इस के अनुसार 'यशस्विन्' आदि शब्दों में 'इन्हन्—' (२८४) तथा 'सौ च' (२८५) सूत्र प्रवृत्त नहीं हो सकते थे। परन्तु इस विषय की—"अनिनस्मिन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति" [जिन सूत्रों में अन्, इन्, अस्, मन् का ग्रहण हो वे सूत्र इनके सार्थक

अथवा अनर्थक होने पर भी एतदन्तों में प्रवृत्त हो जाते हैं † ।] इस परिभाषा से अनर्थक इन्' होने पर भी 'इन्हन् ' आदि सूत्रों की प्रवृत्ति हो जाती है । इस बात को जनाने के लिये ही ग्रन्थकार ने यहां 'यशस्विन्' यह इन् का दूसरा उदाहरण दिया है, अन्यथा शार्ङ्गिन्' यह उदाहरण तो वे द ही चुके थे ।

मघवन्=इन्द्र

[व्युत्पत्तिपक्षे 'श्व-उक्षन् ' (उणा० १५७) इति सूत्रेण मह पूजायाम्' (भ्वा० प०) इति धातोः कनिन्प्रत्ययो हस्य घो वुगागमश्च निपात्यते ।]

[लघु०] विधि सूत्रम्—२८८ मघवा बहुलम् ।६।४।१२८॥

'मघवन्' शब्दस्य वा तृ इत्यन्तादेशः स्यात् । ऋ इत्* ।

अर्थः—मघवन् शब्द का विकल्प कर के 'तृँ' अन्तादेश हो । ऋकार की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है ।

व्याख्या—मघवा ।१।१। [यहां षष्ठीविभक्ति के अर्थ में प्रथमा विभक्ति जाननी चाहिये ।] बहुलम् ।१।१। तृँ ।१।१। ['अर्वणस्त्रसावनञः' से । यहां प्रथमा विभक्ति का लुक् जानना चाहिये] अर्थ —(मघवा) मघवन् शब्द के स्थान पर (बहुलम्) विकल्प कर के‡ (तृँ) 'तृँ' यह आदेश हो ।

यद्यपि यह तृँ आदेश अनेकाल् होने से 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' (४५) सूत्र द्वारा सम्पूर्ण 'मघवन्' शब्द के स्थान पर होना चाहिये तथापि नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्'' (अनुबन्धों के कारण अनेकाल्ता नहीं माननी चाहिये) इस परिभाषा से इस के अनेकाल् न होने से सर्वादेश नहीं होता किन्तु अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्तादेश हो जाता है ।

मघवतृँ' यहां ऋकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्र से इत्सञ्ज्ञा और 'तस्य लोपः' (३) से लोप हो कर 'मघवत्' शब्द बन जाता है । जिस पक्ष में तृँ आदेश नहीं होता उस पक्ष का विवेचन आगे करेंगे ।

---

† परिभाषोदाहरणानि यथा—राज्ञ इत्यत्र अन् अर्थवान्, दाम्न इत्यत्र तु अनर्थकः । शार्ङ्गी इत्यत्र इन् अर्थवान्, यशस्वी इत्यत्र तु अनर्थकः । सुपया इत्यत्र अस् अर्थवान्, सुस्रोता इत्यत्र तु अनर्थकः । अस्मत्वाद् दीर्घः । सुशर्मा इत्यत्र मन् अर्थवान्, सप्रथिमा इत्यत्र तु अनर्थकः । मन (४।१।११) इति न ङीप् ।

* यहां 'ऋ' यह विभक्तिरहित निर्दिष्ट किया गया है । प्रक्रियादशा में अविभक्तिक निर्देश करने में भी कोई दोष नहीं होता ।

‡ 'बहुलम्' पद केवल विकल्प के लिये ही नहीं है अपितु—'मघवान्' रूप में उपधादीर्घ करने पर संयोगान्तलोप असिद्ध न हो—इस के लिये भी समझना चाहिये ।

'मघवत्+स् (सुँ) इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२८९ उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः । ७ । १ । ७० ॥

अधातोरुगितो नलोपिनोऽञ्चतेश्च नुमागमः स्यात् सर्वनामस्थाने परे । मघवान् । मघवन्तौ । मघवन्तः । हे मघवन् ! । मघवद्भ्याम् । तृत्वाभावे—मघवा । सुटि राजवत् ।

अर्थः—सर्वनामस्थान परे होने पर धातुभिन्न उगित् को तथा जिस के नकार का लोप हो चुका हो ऐसी 'अञ्चु' धातु को नुम् का आगम हो जाता है ।

व्याख्या—उगिदचाम् ।६।३। सर्वनामस्थाने ।७।१। अधातोः ।६।१। नुम् ।१।१। ['इदितो नुम् धातोः' से] समास—उक् इत् येषां ते=उगितः, बहुव्रीहिसमासः । उगितश्च अच् च=उगिदचः, तेषाम्=उगिदचाम्, इतरेतरद्वन्द्वः । 'अच्' शब्देनेह लुप्तनकारस्य 'अञ्चु गतिपूजनयोः' (भ्वा० प०) इति धातोर्ग्रहणं भवति । न धातुः=अधातुस्तस्य=अधातोः नञ्समासः । अधातोरिति उगितामेव विशेषणं सम्भवति न तु अञ्चतेरिति बोध्यम् । अर्थः—(सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे होने पर (अधातोः) धातु से भिन्न (उगिदचाम्) उक्-प्रत्याहार इत् वाले शब्दों का तथा नकार लुप्त हुई अञ्चु धातु का अवयव (नुम्) नुम् हो जाता है ।

भावः—जिन शब्दों में उकार, ऋकार, लृकार वर्णों की इत्सञ्ज्ञा होती है और यदि वे धातु नहीं तो सर्वनामस्थान परे होने पर उन को नुम् का आगम हो जाता है ।

'मघवत्+स्' यहां तृँ के ऋकार की इत्सञ्ज्ञा हुई है अतः यह उगित् है, इस से परे 'सुँ' यह सर्वनामस्थान भी विद्यमान है । इसलिये 'मिदचोऽन्त्यात्परः' (२४०) परिभाषा की सहायता से प्रकृतसूत्र से अन्त्य अच् से परे नुम् का आगम हो कर—मघवनुम् त्+स् =मघवन् त्+स्' हुआ । अब 'हल्ङ्याब्भ्यः' (१७९) से सकार तथा 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) से तकार का लोप हो कर—मघवन्' । पुनः प्रत्ययलक्षण द्वारा सुँ को मान कर 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (१७७) से उपधादीर्घ करने से 'मघवान्' रूप निष्पन्न होता है ।

नोट—यहां 'संयोगान्तस्य लोपः' (८. २. २३) द्वारा किया लोप उपधा को दीर्घ करने में असिद्ध नहीं होता । इस का कारण 'मघवा बहुलम्' (२८८) सूत्र में 'बहुल' ग्रहण है । 'बहुल' ग्रहण का तात्पर्य यह होता है कि लोकप्रसिद्ध इष्टरूप में जितनी बाधाएं उपस्थित

होती हैं न हों। 'मघवान्' रूप लोक में प्रसिद्ध है यथा—"हविर्जक्षिति निःशङ्को मखेषु मघवा नसौ" (भट्टि)। अत इस की सिद्धि के अनुरूप उपधादीर्घ करने में संयोगान्तलोप असिद्ध नहीं होता। नकार का लोप भी इसी कारण नहीं होता। 'बहुल' शब्द पर विशेष विचार कृदन्तों में कृत्यल्युटो बहुलम् (७७२) सूत्र पर किया जायगा।

तृत्वपक्ष में रूपमाला यथा—

प्र० मघवान्	मघवन्तौ×	मघवन्तः		प० मघवतः	मघवद्भ्याम्	मघवद्भ्यः
द्वि० मघवन्तम्	,,	मघवतः		ष० ,,	मघवतोः	मघवताम्
तृ० मघवता	मघवद्भ्याम्‡	मघवद्भिः		स० मघवति	,,	मघवत्सु
च० मघवते	,,	मघवद्भ्यः		सं० हे मघवन्!†	हे मघवन्तौ!	हे मघवन्तः!

× यहां इतना विशेष है कि नुम् का आगम होकर 'नश्चापदान्तस्य झलि' (७८) सूत्र से अनुस्वार और 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (७९) से परसवर्ण—नकार हो जाता है।

‡ इत्यादियों में 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से जश्त्व दकार हो जाता है।

† यहां नुम् का आगम हो कर संयोगान्तलोप हो जाता है। सम्बुद्धि परे होने से 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (१७७) द्वारा उपधादीर्घ नहीं होता। नकारलोप का निषेध पूर्ववत् 'न ङिसम्बुद्ध्योः' (२८१) द्वारा हो जाता है।

तृत्व के अभाव में—

जहां तृ आदेश नहीं होता वहां सुट् अर्थात् सर्वनामस्थान तक तो 'राजन्' शब्दवत् रूप बनते हैं। मघवा, मघवानौ, मघवानः, मघवानम्, मघवानौ।

'मघवन् + अस्' (शस्) यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२६० श्वयुवमघोनामतद्धिते* ।६।४।१३३॥

अन्नन्तानां भसञ्ज्ञकानाम् एषाम् अतद्धिते परे सम्प्रसारणं स्यात्। मघोनः। मघवभ्याम्। एवं श्वन्, युवन्।

---

* इस सूत्र पर एक सुभाषित अत्यन्त प्रसिद्ध है—

प्रश्न — "काचं मणिं काञ्चनमेकसूत्रे,
ग्रथ्नासि बाले! किमिदं विचित्रम्।
उत्तरम्— विचारवान् पाणिनिरेकसूत्रे,
श्वानं युवानं मघवानमाह॥" [illegible]

माला गूंथती हुई किसी बाला से प्रश्न किया गया कि तुम कांच, मणि और सोने को एक—

अर्थः—'अन्' शब्द जिन के अन्त में है ऐसे भसञ्ज्ञक श्वन्, युवन्, मघवन् शब्दों को तद्धितभिन्न प्रत्यय परे होने पर सम्प्रसारण हो जाता है।

व्याख्या—अनाम् ।६।३। ['अल्लोपोऽन' सूत्र से वचनविपरिणाम करके।] भानाम् ।६।३। ['भस्य' इस अधिकार का वचनविपरिणाम हो जाता है] श्वयुवमघोनाम् ।६।३। सम्प्रसारणम् ।१।१। ['वसो सम्प्रसारणम्' से] अतद्धिते ।७।१। समास —श्वा च युवा च मघवा च = श्वयुवमघवान , तेषाम् = श्वयुवमघोनाम्, इतरेतरद्वन्द्व । न तद्धित = अतद्धितस्तस्मिन्=अतद्धिते, नञ्समास । यहा पर्युदास प्रतिषेध होने से तद्धित से भिन्न तत्सदृश अर्थात् प्रत्यय का ग्रहण होता है। 'अनाम्' से तद् तविधि होती है। अर्थ — (अनाम्) अन्नन्त (भानाम्) भसञ्ज्ञक (श्वयुवमघोनाम्) श्वन् युवन्, तथा मघवन् शब्दों को (अतद्धिते) तद्धितभिन्न प्रत्यय परे होने पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण हो जाता है।

'मघवन् + अस्' यहा मघवन् शब्द अन्नन्त भी है, भसञ्ज्ञक भी है और इससे परे तद्धितभिन्न शस्' प्रत्यय भी विद्यमान है अत 'इग्यण सम्प्रसारणम्' (२५६) के अनुसार प्रकृतसूत्र से वकार को उकार सम्प्रसारण हो कर—'मघ उ अन् + अस्'। 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से उकार और अकार के स्थान पर पूर्वरूप उकार हो—'मघ उ न् + अस्'। अब 'आद् गुण' (२७) सूत्र से गुण एकादेश करने पर—मघोन् + अस्=मघोनस='मघोन' रूप सिद्ध होता है। इसी प्रकार अन्य भसञ्ज्ञकों में भी जानना चाहिये। भ्याम् आदियों में राजनशब्दवत् नकार का लोप हो जाता है—मघवभ्याम्, मघवभि, मघवभ्य । इस तृत्वाभावपक्ष में रूपमाला यथा—

प्र० मघवा	मघवानौ	मघवान		प० मघोन	मघवभ्याम्	मघवभ्य
द्वि० मघवानम्	,,	मघोन		ष० ,,	मघोनो	मघोनाम्
तृ० मघोना	मघवभ्याम्	मघवभि		स० मघोनि	,	मघवसु
च० मघोने	,,	मघवभ्य		स० हे मघवन्!	हे मघवानौ!	हे मघवान !

यद्यपि श्वन्, युवन् तथा मघवन् शब्द स्वयम अन्नन्त ('अन' अन्त वाले) हैं,

---

—ही सूत्र (तागे) में क्यों गूथ रही हो ? । वह उत्तर देती है—विचारवान् पाणिनिमुनि ने भी तो एक सूत्र में कुत्ते, युवा और इन्द्र को पढ़ा है।

अत्यन्त समुचित उत्तर है। जब पाणिनि जैसे बुद्धिमान् लोग भी असमान वस्तुओं को एक स्थान में बिठाते हैं तो मैं बाला (मूर्खा) ऐसा करूं तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ?

वस्तुत यह कोई काव्य नहीं कि सहचरभिन्नता दोष हो। शब्दशास्त्र में ऐसी बात नहीं देखी जानी चाहिये। इस पद्य को कवि का विनोद समझना चाहिये।

इनके लिये 'अनाम्' पद का अनुवर्त्तन करना कुछ उचित प्रतीत नहीं होता, तथापि यदि यहां 'अनाम्' पद का अनुवर्त्तन न करते तो तृँ आदेश पक्ष में मघवत, मघवत' आदि रूपों में 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' के न्यायानुसार मघवन्' शब्द समझ लिये जाने से सम्प्रसारण हो जाता जो कि अतीव अनिष्ट था। परन्तु अब अन्नन्त मघवन्' इस प्रकार के कथन से कुछ भी दोष नहीं होता, क्योंकि तृत्वपक्ष में अन्नन्त मघवन् नहीं किन्तु तान्त मघवन् है। यदि यहां कोई यह शंका करे कि एकदेशविकृतन्याय से इसे अन्नन्त भी मान लेंगे अतः आप का 'अनाम्' यह कथन दोषनिवृत्ति के लिये नहीं बन सकता तो उसका उत्तर यह है कि एकदेशविकृतन्याय लोकमूलक है। जैसे लोक में पुच्छकटे कुत्ते में कुत्ते का तो व्यवहार होता है परन्तु पूंछ के विषय में पूंछ का व्यवहार नहीं होता, इसी प्रकार यहां 'मघवत्' शब्द में 'मघवन्' शब्द का तो व्यवहार होता है परन्तु अन्नन्तत्व का व्यवहार नहीं होता अतः 'अनाम्' का अनुवर्त्तन करने से दोष निवृत्त हो जाता है।

'तद्धितभिन्न' कथन का यह अभिप्राय है कि माघवनम् [मघवा देवता अस्य हविष तत्=माघवनम्। 'साऽस्य देवता' (१०३८) इति मघवन्शब्दादणि 'तद्धितेष्वचामादे' (९३९) इत्यादिवृद्धौ विभक्त्युत्पत्तौ— माघवनम्' इति सिध्यति।] यहां 'अण्' तद्धित के परे होने पर सम्प्रसारण आदेश न हो।

श्वन्=कुत्ता

यह शब्द व्युत्पत्तिपक्ष में 'श्वन्नुक्षन् ' (उणा० १५७) सूत्र द्वारा 'टुओँश्वि गतिवृद्ध्योः' (भ्वा० प०) धातु से कनिन् प्रत्यय तथा इकारलोप करने पर निपातित हुआ है। इस की रूपमाला यथा—

प्र० श्वा	श्वानौ	श्वानः	पं० शुनः	श्वभ्याम्	श्वभ्यः
द्वि० श्वानम्	,,	शुनः	ष० ,,	शुनोः	शुनाम्
तृ० शुना	श्वभ्याम्	श्वभिः	स० शुनि	,,	श्वसु
च० शुने		श्वभ्यः	सं० हे श्वन्!	हे श्वानौ!	हे श्वानः!

श्वन्+अस्' (शस्) यहां 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' सूत्र से सम्प्रसारण हो— शु अन्+अस्। 'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप हो—शुन्+अस्='शुनः'। इसी प्रकार आगे भी असर्वनामस्थानों में समझ लेना चाहिये।

युवन्=जवान, श्रेष्ठ

[व्युत्पत्तिपक्षे 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' (अदा० प०) इति धातोः 'कनिन् युवृषि तक्षि राजि धन्वि द्यु प्रतिदिवः' (उणा० १५६) इति सूत्रेण युवन्शब्दः सिध्यति।]

सर्वनामस्थानों में इसकी प्रक्रिया राजन्-शब्दवत् होती है। युवा, युवानौ, युवान, युवानम् युवानौ।

'युवन्+अस्' (शस्) यहां 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' (२९०) सूत्र से वकार को सम्प्रसारण उकार हो जाता है—यु उ अन्+अस्। अब 'सम्प्रसारणाच्च' (२८८) से पूर्वरूप तथा 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ करने पर—'यून्+अस' बन जाता है। अब इस स्थिति में 'श्वयुवमघोनामतद्धिते' (२९०) सूत्र से यकार को भी इकार सम्प्रसारण प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र निषेध करता है—

[लघु०] निषेध सूत्रम्—२९१ न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम् ।६।१।३६॥

सम्प्रसारणे परतः पूर्वस्य यणः सम्प्रसारणं न स्यात्। इति 'यस्य नेत्त्वम्। अत एव ज्ञापकादन्त्यस्य यणः पूर्वं सम्प्रसारणम्। यूनः। यूना। युवभ्याम् इत्यादि।

अर्थः—सम्प्रसारण परे होने पर पूर्व यण् को सम्प्रसारण नहीं होता। **इति यस्येति**—इस सूत्र के कारण यकार को इकार नहीं होता। **अत एवेत्यादि**— इस ज्ञापक से यह भी सिद्ध हो जाता है कि प्रथम अन्त्य यण् को सम्प्रसारण करना चाहिये।

व्याख्या—सम्प्रसारणे ।७।१। सम्प्रसारणम् ।१।१। न इत्यव्ययपदम्। अर्थः—(सम्प्रसारणे) सम्प्रसारण परे होने पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण (न) नहीं होता। 'यून्+अस्' यहां सम्प्रसारण परे है अतः पूर्व यकार को सम्प्रसारण नहीं होता—यूनस्= 'यूनः'। अब यहां शङ्का उत्पन्न होती है कि यदि पूर्व यकार को पहले सम्प्रसारण कर लिया जाय और बाद में वकार को सम्प्रसारण करें तो 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' (२९१) सूत्र निषेध न कर सकेगा, अतः यहां ऐसा क्यों न किया जाए ? । इसके समाधान में कहा है—अत एव ज्ञापकादित्यादि। अर्थात् यदि ऐसा किया जाए तो 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' (२९१) सूत्र व्यर्थ हो जायगा क्योंकि तब इसे कोई भी स्थान प्रवृत्ति के लिये नहीं मिल सकेगा। जब सम्प्रसारण परे होने पर कहीं पर भी सम्प्रसारण नहीं मिलेगा तब निषेध कैसा ? । अतः इस निषेधकरणसामर्थ्य से यह सूचित होता है कि जहां दो यण् हों वहां यदि सम्प्रसारण करना हो तो पहले अन्तिम यण् को सम्प्रसारण करना चाहिये। इस नियमानुसार अन्तिम यण् को सम्प्रसारण हो चुकने पर जब प्रथम यण् को सम्प्रसारण प्राप्त होता है तब इस सूत्र से निषेध हो जाता है।

'युवन्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र० युवा	युवानौ	युवान	प० यून	युवभ्याम्	युवभ्य
द्वि० युवानम्	,,	यून	ष० ,,	यूनो	यूनाम्
तृ० यूना	युवभ्याम्	युवभि	स० यूनि	,	युवसु
च० यूने	,	युवभ्य	सं० हे युवन्!	हे युवानौ!	हे युवान!

[लघु०] अर्वा । हे अर्वन्! ।

व्याख्या—[व्युत्पत्तिपक्ष 'ऋ गतौ' (भ्वा० प०) इत्यस्माद्धातोर् 'अन्ये भ्योऽपि दृश्यते' (७९९) इतिसूत्रेण वनिप्प्रत्यये, गुणे, रपरत्वे 'अर्वन्' इतिशब्दः सिध्यति ।] 'अर्वन्' शब्द का अर्थ 'घोड़ा' होता है ।

सुँ में और सम्बुद्धि में— अर्वा हे अर्वन्!' ये दोनों रूप राजन् शब्द के समान होते हैं ।

'अर्वन्+औ' यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—२९२ अर्वणस्त्रसावनञः ।६।४।१२७॥

नञा रहितस्य 'अर्वन्' इत्यस्याङ्गस्य 'तृँ' इत्यन्तादेशो न तु सौ । अर्वन्तौ । अर्वन्तः । अर्वद्भ्याम् इत्यादि ।

अर्थः—'नञ्' से रहित 'अर्वन्' इस अङ्ग को 'तृँ' यह अन्तादेश होता है परन्तु सुँ परे होने पर नहीं होता ।

व्याख्या—अनञः ।६।१। अर्वणः ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है ।] तृँ ।१।१। [यहां विभक्ति का लुक् हुआ २ है ।] असौ ।७।१। समास—न विद्यते नञ् यस्य स = अनञ्, तस्य = अनञः । नञ्बहुव्रीहिसमास । न सुः=असुः, तस्मिन्=असौ । नञ्तत्पुरुष । अर्थ—(अनञः) नञ से रहित (अङ्गस्य) अङ्गसञ्ज्ञक (अर्वणः) अर्वन् शब्द के स्थान पर (तृँ) 'तृँ' यह आदेश हो जाता है परन्तु (असौ) सुँ परे होने पर नहीं होता ।

यह आदेश अलोऽन्त्यविधि से अन्त्य अल्=नकार के स्थान पर प्रवृत्त होता है । यहां अनेकाल्विधि से सर्वादेश नहीं हो सकता, क्योंकि 'तृँ' में अनुनासिक ऋकार की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है—'नानुबन्धकृतमनेकाल्त्वम्' ।

'अर्वन्+औ' यहां नकार को तृँ आदेश हो—अर्वत्+औ । 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' (२८९) से नुम् का आगम हो—अर्वनुँत्+औ = अर्वन्त्+औ ।

'नश्चापदान्तस्य झलि' (७८) सूत्र से नकार को अनुस्वार तथा 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (७९) से परसवर्ण—नकार होकर 'अर्वन्तौ' प्रयोग सिद्ध होता है ।

इसी प्रकार आगे समझ लेना चाहिये । ध्यान रहे कि केवल सर्वनामस्थानों में ही नुम् का आगम होता है । रूपमाला यथा—

प्र०	अर्वा×	अर्वन्तौ	अर्वन्तः
द्वि०	अर्वन्तम्	,,	अर्वतः
तृ०	अर्वता	अर्वद्भ्याम्	अर्वद्भिः
च०	अर्वते	,,	अर्वद्भ्यः
पं०	अर्वतः	अर्वद्भ्याम्	अर्वद्भ्यः
ष०	,,	अर्वतोः	अर्वताम्
स०	अर्वति	,,	अर्वत्सु
सं०	हे अर्वन्!×	हे अर्वन्तौ!	हे अर्वन्तः!

× यहां 'सुँ' होने से 'तृँ' आदेश नहीं होता ।

'अर्वणस्त्रसावनञः' (२६२) सूत्र में 'अनञः' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि—न अर्वा=अनर्वा । नञ्तत्पुरुष । 'अनर्वन्' शब्द को सुँभिन्न विभक्तियों में 'तृँ' आदेश न हो जावे । 'अनर्वन्' का उच्चारण 'यज्वन्' शब्द की तरह होता है ।

पथिन् (मार्ग) । मथिन् (मथनी) । ऋभुक्षिन् (इन्द्र) ।

'मन्थँ विलोडने' (भ्वा० प०) धातु से 'मन्थः' (उणा० ४५१) सूत्र द्वारा कित् 'इनि' प्रत्यय करने पर 'अनिदिताम्० ' (३३४) सूत्र से उपधा के नकार का लोप करने से 'मथिन्' शब्द सिद्ध होता है । मन्थति=विलोडयति दध्यादिकम् इति मन्था ।

'पत्लृँ गतौ' (भ्वा० प०) धातु से 'पतेः स्थ च' (उणा० ४५२) सूत्र द्वारा इनि प्रत्यय तथा तकार को थकारादेश हो 'पथिन्' शब्द सिद्ध होता है । पतन्ति=गच्छन्ति यत्र स पन्था ।

ऋभुक्ष=स्वर्गो वज्रो वा सोऽस्यास्तीति ऋभुक्षा । 'ऋभुक्ष' शब्द से मत्वर्थीय 'इनि' प्रत्यय (११८७) करने पर 'ऋभुक्षिन्' शब्द सिद्ध होता है ।

पथिन्+स् (सुँ) । मथिन्+स् (सुँ) । ऋभुक्षिन्+स् (सुँ) । इस अवस्था में निम्नलिखितसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—२६३ पथिमथ्यृभुक्षामात् ।७।१।८५॥

एषामाकारोऽन्तादेशः सौ परे ।

अर्थः—पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षिन् शब्दों को सुँ परे होने पर आकार अन्तादेश हो ।

व्याख्या—पथिमथ्यृभुक्षाम् ।६।३। आत् ।१।१। सौ ।७।१। ['सावनडुहः' से] समासः—पन्थाश्च मन्थाश्च ऋभुक्षाश्च=पथिमथ्यृभुक्षाणः, तेषाम्—पथिमथ्यृभुक्षाम् इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(पथिमथ्यृभुक्षाम्) पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षिन् शब्दों को (सौ)

सु परे रहते (आत्) आकार आदेश हो । अलोऽन्त्यविधि से यह आकार आदेश अन्त्य अल्-नकार के स्थान पर होगा ।

तो इस सूत्र से आकार आदेश करने पर—पथि आ + स्, मथि आ + स्, ऋभुक्षि आ+स् । अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२६४ इतोऽत् सर्वनामस्थाने ।७।१।८६॥

पथ्यादेरिकारस्य अकारः स्यात् सर्वनामस्थाने परे ।

अर्थ—पथिन् मथिन् तथा ऋभुक्षिन् शब्द के इकार को सर्वनामस्थान परे होने पर अकार हो जाता है ।

व्याख्या—पथिमथ्यृभुक्षाम् ।६।३। ['पथिमथ्यृभुक्षामात्' से] इतः ।६।१। अत् ।१।१। सर्वनामस्थाने ।७।१। अर्थ—(पथिमथ्यृभुक्षाम्) पथिन् मथिन् तथा ऋभुक्षिन् शब्दों के (इतः) इकार के स्थान पर (अत्) अत् आदेश हो जाता है (सर्वनामस्थाने) यदि सर्वनामस्थान परे हो तो ।

इस सूत्र से इकार को अकार करने पर—'पथ आ + स् मथ आ + स् ऋभुक्ष आ + स्' हुआ । अब इन तीनों में से प्रथम दो में तो अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है परन्तु तीसरे में सवर्णदीर्घ करने से—ऋभुक्षास्="ऋभुक्षा" रूप सिद्ध होता है ।

[लघु०] विधि सूत्रम्—२६५ थो न्थः ।७।१।८७॥

पथिमथोस्थस्य न्थादेशः स्यात्, सर्वनामस्थाने परे । पन्थाः । पन्थानौ ।

अर्थ—पथिन् तथा मथिन् शब्दों के थकार को न्थ् आदेश हो जाता है सर्वनाम स्थान परे हो तो ।

व्याख्या—पथिमथोः ।६।२। ['पथिमथ्यृभुक्षामात्' से, ऋभुक्षिन् में थकार न होने से उसकी अनुवृत्ति नहीं होती] थः ।६।१। न्थः ।१।१। अत्र थकारोत्तरोऽकार उच्चारणार्थः । सर्वनामस्थाने ।७।१। ['इतोऽत्सर्वनामस्थाने' से] अर्थ—(पथिमथोः) पथिन् और मथिन् शब्द के (थः) थ् के स्थान पर (न्थः) न्थ् आदेश हो जाता है (सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे हो तो ।

तो इस सूत्र से न्थ् आदेश हो कर सवर्णदीर्घ करने से "पन्थ् आ स्=पन्था, मन्थ् आ स्=मन्था" रूप सिद्ध होते हैं ।

पथिन् + औ, मथिन् + औ ऋभुक्षिन् + औ—इन में सु परे न होने से 'पथिमथ्यृभुक्षामात्' (२६३) सूत्र से नकार को आकार आदेश नहीं होता । 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' (२६४) सूत्र से इकार को अकार हो कर प्रथम दो रूपों में 'थो न्थः' (२६५) सूत्र से

थकार को न्थ् करके 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (१७७) सूत्र द्वारा तीनों रूपों में नान्त की उपधा को दीर्घ हो जाता है—पन्थानौ, मन्थानौ ऋभुक्षाणौ ।

पथिन् + अस् (शस्), मथिन् + अस् (शस्), ऋभुक्षिन् + अस् (शस्)—यहां सर्वनामस्थान परे न होने से 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' (२६४) तथा 'सर्वनामस्थाने चा०' प्रवृत्त नहीं होते । अब इनमें अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२६६ भस्य टेर्लोपः ।७।१।८८॥

भसञ्ज्ञकस्य पथ्यादेष्टेर्लोपः स्यात् । पथः । पथा । पथिभ्याम् । एवम्—मथिन्, ऋभुक्षिन् ।

अर्थः—भसञ्ज्ञक पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षिन् शब्दों की टि का लोप हो जाता है ।

व्याख्या—भस्य ।६।१। [यहां वचनविपरिणाम कर के 'भानाम्' कर देना चाहिये] पथिमथ्यृभुक्षाम् ।६।३। ['पथिमथ्यृभुक्षामात्' से] टेः ।६।१। लोपः ।१।१। अर्थः—(भस्य = भानाम्) भसञ्ज्ञक (पथिमथ्यृभुक्षाम्) पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षिन् शब्दों की (टेः) टि का (लोपः) लोप हो जाता है ।

इस सूत्रसे टि (इन्) का लोप होकर—"पथ् + अस् = पथः, मथ् + अस् = मथः, ऋभुक्ष् + अस् = ऋभुक्षः" रूप सिद्ध होते हैं । इसी प्रकार आगे भी भसञ्ज्ञकों में जान लेना चाहिये ।

अन्यत्र = पदसञ्ज्ञकों में 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) सूत्र से नकार का लोप हो जाता है । रूपमाला यथा—

ऋभुक्षिन्

प्र०	ऋभुक्षा	ऋभुक्षाणौ	ऋभुक्षाण	प०	ऋभुक्ष	ऋभुक्षिभ्याम्	ऋभुक्षिभ्य
द्वि०	ऋभुक्षाणम	,,	ऋभुक्ष	ष०	,,	ऋभुक्षो	ऋभुक्षाम्
तृ०	ऋभुक्षा	ऋभुक्षिभ्याम्	ऋभुक्षिभि	स०	ऋभुक्षि	,,	ऋभुक्षिषु
च	ऋभुक्षे	,	ऋभुक्षिभ्य	स०	हे ऋभुक्षा !	हे ऋभुक्षाणौ !	हे ऋभुक्षाण !

इसमें णत्व 'अट्कु ' (१३८) सूत्र से होता है।

पञ्चन् = पाच

['पञ्चन्' शब्द सिद्धान्तकौमुदीपठित उणादिसूत्रों में सिद्ध नही किया गया। उणादिसूत्रों के वृत्तिकार श्रीउज्ज्वलदत्त कनिन् युवृषि०' (उणा०) सूत्र पर बहुल द्वारा पचि" (भ्वा० प०, चुरा० उभ०) धातु से कनिन् प्रत्यय करके इसे सिद्ध करते हैं। प्रक्रियासर्वस्वकार श्रीनारायणभट्ट उणादि सूत्रों में 'पञ्चेश्च' सूत्र पढ कर इसकी सिद्धि करते हैं । सरस्वतीकण्ठाभरणकार श्रीभोजन्व— द्वि यु वृषि तक्षि राजि ध्वनि पचि द्यु प्रतिदिवभ्य कनिन्" इस प्रकार सूत्र बनाकर इसकी सिद्धि करत हे। 'श्रीदुर्गसिंह' अपनी वृत्ति में पचि विस्तारे' (चुरा० उ०) धातु से पञ्चेरनि ' सूत्र द्वारा अनि' प्रत्यय ला कर इसकी निष्पति मानते हैं।]

'पञ्चन्' शब्द तीनों लिङ्गों में एक समान रहने वाला तथा नित्यबहुवचनान्त प्रयुक्त हुआ करता है। अत इससे 'जस्' आदि बहुवचन ही होते हैं।

'पञ्चन् + जस्' यहा अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—२६७ ष्णान्ता षट् ।१।१।२३॥

षान्ता नान्ता च सङ्ख्या षट्सञ्ज्ञा स्यात् । 'पञ्चन्' शब्दो नित्य बहुवचनान्त । पञ्च । पञ्च । पञ्चभि । पञ्चभ्यः २ । नुट्—

अर्थः—षकारान्त और नकारान्त सङ्ख्या षट्सञ्ज्ञक होती है। 'पञ्चन्' शब्द नित्यबहुवचनान्त होता है।

व्याख्या—ष्णान्ता ।१।१। सङ्ख्या ।१।१। ['बहुगणवतुडति सङ्ख्या' स] षट् ।१।१ *। समास —ष् च नश्च=ष्णौ, नकारादकार उच्चारणार्थ । ष्णौ अन्तौ यस्या

*षट यह सञ्ज्ञा अन्वर्थ अर्थात् अर्थ के अनुसार की गई है। इस सञ्ज्ञा के सञ्ज्ञी— १ पञ्चन् २ षष् ३ सप्तन् ४ अष्टन्, ५ नवन् ६ दशन् ये छै शब्द होते हैं। अत इस सञ्ज्ञा का नाम 'षट युक्त ही है।

सा ष्णान्ता । बहुव्रीहिसमास । अर्थ —(ष्णान्ता) षकारान्त और नकारान्त (सङ्ख्या सङ्ख्या (षट्) षट्सञ्ज्ञक होती है ।

'पञ्चन्' शब्द नकारान्त सङ्ख्या है, अत इस की 'षट्' सञ्ज्ञा हो कर इस से परे 'षड्भ्यो लुक्' (१८८) सूत्र द्वारा जस् का लुक हो 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) सूत्र से नकार का भी लोप कर देने से 'पञ्च' प्रयोग सिद्ध होता है । 'शस्' में भी इसी तरह—'पञ्च' ।

पञ्चन् + भिस्=पञ्चभिः ['न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०)] ।

पञ्चन् + भ्यस्=पञ्चभ्यः [न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य] ।

पञ्चन् + आम् । यहां 'ष्णान्ता षट्' (२६७) सूत्र से षट् सञ्ज्ञा होकर 'षट्चतुर्भ्यश्च' (२६६) सूत्र द्वारा आम को नुट् का आगम हो जाता है—पञ्चन् नुट् आम=पञ्चन् + नाम् । अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२९८ नोपधायाः ।६।४।७॥

नान्तस्योपधाया दीर्घः स्यान्नामि परे । पञ्चानाम् । पञ्चसु ।

अर्थः—'नाम्' परे होने पर नान्त की उपधा को दीर्घ हो जाता है ।

व्याख्या—न ।६।१। [यहां षष्ठी का लुक् समझना चाहिये । यह 'अङ्गस्य' का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि होती है ।] अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] उपधायाः ।६।१। दीर्घः ।१।१। ['ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से] नामि ।७।१। ['नामि' सूत्र से] अर्थ —(नामि) नाम् परे होने पर (न) नान्त (अङ्गस्य) अङ्ग की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ हो जाता है ।

'पञ्चन्+नाम्' यहां 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (१६४) से पदत्व होने पर 'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) सूत्र से प्राप्त नकारलोप के असिद्ध होने से 'नोपधायाः' (२९८) सूत्र द्वारा उपधादीर्घ हो कर पश्चात् नकारलोप करने से 'पञ्चानाम्' प्रयोग सिद्ध होता है ।

नोट—'पञ्चन् + नाम्' यहां 'नलोपः' द्वारा यदि नकार का लोप कर दिया जाता तो उस के असिद्ध होने से 'नामि' (१४९) द्वारा दीर्घ नहीं हो सकता था । अतः 'नोपधायाः' सूत्र बनाया गया है ।

पञ्चन् + सुप्=पञ्चसु । 'नलोपः' से नकार का लोप हो जाता है । रूपमाला यथा—

प्र०	०	०	पञ्च	पं०	०	०	पञ्चभ्यः
द्वि०	०	०	,,	ष०	०	०	पञ्चानाम्
तृ०	०	०	पञ्चभिः	स०	०	०	पञ्चसु
च०	०	०	पञ्चभ्यः				

पञ्चन् शब्द के अनन्तर षष्' (छ) शब्द की बारी आती है परन्तु यह षकारान्त है, यहा नकारान्तों का प्रकरण चल रहा है अत इस का विवेचन आगे यथास्थान षकारान्तो में किया जायगा। षष्' शब्द के बाद सप्तन्' (सात) शब्द आता है। इस का समग्र प्रक्रिया पञ्चन्' शब्दवत् होती है कुछ भी विशेष नहीं होता।

सप्तन् = सात

['षपँ समवाय' (भ्वा० प०) इत्यस्मात् सप्यशूभ्या तुट् च' (उणा० १५५) इतिसूत्रेण कनिन्प्रत्यये तुडागमे च कृते साधु।]

प्र०	०	०	सप्त †	प०	०	०	सप्तभ्य ⊛
द्वि०	०	०	,, †	ष०	०	०	सप्तानाम ‡
तृ०	०	०	सप्तभि ⊛	स०	०	०	सप्तसु ⊛
च०	०	०	सप्तभ्य ⊛			—०—	

† 'ष्णान्ता षट्' (२६७) से षटसञ्ज्ञा होकर षड्भ्यो लुक्' (१८८) से जस् और शस् का लुक् हो जाता है। तब 'न लोप ' (१८०) से पदान्त नकार का लोप करने से उक्त रूप सिद्ध होते हैं।

⊛ 'न लोप प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०)।

‡ षट्सञ्ज्ञा षट्चतुर्भ्यश्च' (२६६) से नुडागम, नोपधाया' (२६८) स उपधा दीर्घ तथा न लोप ' से नकार का लोप हो जाता है।

अष्टन्=आठ

[अशूँ व्याप्तौ' (स्वा० आ०) इत्यस्मात् 'सप्यशूभ्या तुट् च' (उणा० १५५) इतिसूत्रेण कनिनि तुडागमे च कृत साधु।]

'अष्टन्' शब्द भी पञ्चन् और सप्तन् शब्दों की तरह सदा बहुवचनान्त प्रयुक्त होता है।

'अष्टन्+अस' (जस्) ' यहा अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—२९९ अष्टन आ विभक्तौ ।७।२।८४॥

अष्टन आत्व वा स्याद् हलादौ विभक्तौ।

अर्थः—हलादि विभक्ति परे होने पर 'अष्टन्' शब्द को विकल्प करके आकार अन्तादेश हो जाता है।

व्याख्या—अष्टन ६।१। आ ।१।१। विभक्तौ ।७।१। हलि ।७।१। ['रायो हलि' इस अग्रिमसूत्र से। यह 'विभक्तौ' का विशेषण है। अत 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे'

द्वारा तदादिविधि होकर 'हलादौ' बन जाता है।] अर्थ—(अष्टन) अष्टन् शब्द के स्थान पर (आ) 'आ' यह आदेश हो जाता है। (हलि=हलादौ) यदि हलादि (विभक्तौ) विभक्ति परे हो तो।

अलोऽन्त्यविधि के अनुसार यह आकार आदेश अन्त्य अल्=नकार के स्थान पर होता है।

यह आत्व 'अष्टनो दीर्घात्' (६ १ १६८)* सूत्र में दीर्घग्रहणसामर्थ्य से वैकल्पिक माना जाता है। क्योंकि यदि यह नित्य होता तो सर्वत्र दीर्घ ही के प्राप्त होने से सूत्र में 'दीर्घात्' का ग्रहण व्यर्थ हो जाता—उसका ग्रहण न किया जाता। पुन इस के ग्रहण से आत्व की वैकल्पिकता स्पष्ट हो जाती है।

यह सूत्र हलादि विभक्तियों में प्रवृत्त होता है। यहां जस् और शस् तो जकार और शकार के लुप्त हो जाने से अजादि हैं। अत इसकी प्रवृत्ति नहीं हो सकती। इस शका की निवृत्ति अग्रिमसूत्र से करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३०० अष्टाभ्य औश् ।७।१।२१॥

कृताकाराद् अष्टन. परयोर्जश्शसोर् औश् स्यात्। 'अष्टभ्य' इति वक्तव्ये कृतात्वनिर्देशो जश्शसोर्विषये आत्व ज्ञापयति। अष्टौ। अष्टौ। अष्टाभिः। अष्टाभ्यः। अष्टानाम्। अष्टासु। आत्वाभावे—अष्ट २ इत्यादि पञ्चवत्।

अर्थः—कृताकार अर्थात् आकार आदेश किये हुए 'अष्टन्' शब्द से परे जस् और शस् को 'औश्' आदेश हो जाता है।

व्याख्या—अष्टाभ्य ।५।३। जश्शसो ।६।२। ['जश्शसो शि' से] औश् ।१।१। भ्यस् विभक्ति में अष्टन् शब्द के 'अष्टाभ्य' और 'अष्टभ्य' ये दो रूप बनते हैं। परन्तु यहां 'अष्टाभ्य' रूप 'अष्टन्' शब्द का नहीं किन्तु 'अष्टा' शब्द का है। 'अष्टा' शब्द आकार अन्तादेश किये हुए अष्टन्' शब्द का अनुकरण है। बहुवचन का प्रयोग शब्दों के बाहुल्य की दृष्टि से अथवा मुख्य अष्टन् को बताने के लिये किया गया है। अर्थ—(अष्टाभ्यः) 'अष्टा' शब्द अर्थात् आकार अन्तादेश किये हुए 'अष्टन्' शब्द से परे (जश्शसो) जस् और शस् को (औश्) औश् आदेश हो जाता है।

औश् आदेश शित् होने के कारण 'अनेकाल्शित्सर्वस्य' (४५) सूत्र द्वारा सम्पूर्ण

---

*[illegible] सूत्र का अर्थ—'दीर्घान्त अष्टन् शब्द से परे शस् आदि विभक्ति उदात्त होती है'।

जस् और शस् के स्थान पर होता है। ध्यान रहे कि यह सूत्र 'षड्भ्यो लुक्' (१८८) सूत्र का अपवाद है।

अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'अष्टन आ विभक्तौ' (२९९) सूत्र से हलादि विभक्तियों में 'अष्टन्' को आकार अन्तादेश करने का विधान किया गया है, इस से जस् और शस् के अजादि होने के कारण जबकि 'अष्टन्' को आकार आदेश ही नहीं होता तो पुन उससे परे जस् और शस् को औश् विधान कैसे सम्भव हो सकता है? इस का उत्तर देते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं कि— 'अष्टाभ्य इति वक्तव्ये कृतात्वनिर्देशो जश्शसो विषय आत्व ज्ञापयति"। अर्थात् महामुनि को यदि अष्टन् शब्द से परे केवल जस् और शस् को 'औश्' ही विधान करना होता तो वे अष्टाभ्य औश्' सूत्र में 'अष्टाभ्य पद की बजाय अष्टभ्य' ऐसा लिखते, क्योंकि इस से एक मात्रा की बचत हो सकती थी। परन्तु मुनि के ऐसा न कर 'अष्टाभ्य' लिखने से यह विदित होता है कि मुनि आत्व किये हुए 'अष्टन्' शब्द की ओर निर्देश कर रहे हैं। परन्तु जस् और शस् में आत्व करने वाला कोई सूत्र नहीं है, अत यहां पाणिनि के निर्देशसामर्थ्य से ही जस्, शस् में भी वैकल्पिक आत्व का होना विदित होता है।

'अष्टन्+अस्' (जस् व शस्) यहां 'अष्टाभ्य औश्' में आत्व निर्देश के कारण आकार अन्तादेश तथा सूत्र से जस् व शस् को 'औश्' सर्वादेश हो कर 'अष्ट आ औ'। 'अक सवर्णे दीर्घ' (४२) से सवर्णदीर्घ तथा 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश करने पर 'अष्टौ' प्रयोग सिद्ध होता है।

भिस् और भ्यस् में हलादि विभक्ति परे होने के कारण अष्टन आ विभक्तौ' (२९९) से नकार को आकार आदेश हो कर सवर्णदीर्घ करने से—अष्टाभि, अष्टाभ्य।

अष्टन्+आम्। यहां ष्णान्ता षट्' (२९७) सूत्र से षट्सञ्ज्ञा हो कर 'षट्चतुर्भ्यश्च' (२९६) सूत्र द्वारा नुट् का आगम करने से—अष्टन्+नाम्। अब 'नाम्' के हलादि होने से 'अष्टन आ विभक्तौ' (२९९) सूत्र से नकार को आकार आदेश हो कर सवर्णदीर्घ करने से 'अष्टानाम्' प्रयोग सिद्ध होता

अष्टन्+सुप्=अष्टासु ['अष्टन आ विभक्तौ']।

जहां आत्व नहीं होगा वहां सम्पूर्ण रूपमाला और सिद्धि 'पञ्चन्' शब्दवत् होगी।

स्मरणीय—आत्व अनात्व दोनों पक्षों में आम् विभक्ति में 'अष्टानाम्' एक सा रूप बनता है। परन्तु उन दोनों पक्षों की प्रक्रियाओं के अन्तर का ध्यान रखना चाहिये।

दोनों पक्षों में रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहु——वचन (आत्वपक्षे)	(अनात्वपक्षे)
प्रथमा	०	०	अष्टौ	अष्ट
द्वितीया	०	०	,,	,,
तृतीया	०	०	अष्टाभिः	अष्टभिः
चतुर्थी	०	०	अष्टाभ्यः	अष्टभ्यः
पञ्चमी	०	०	,,	,,
षष्ठी	०	०	अष्टानाम्	अष्टानाम्
सप्तमी	०	०	अष्टासु	अष्टसु

'अष्टन्' शब्द के अनन्तर 'नवन्' (नौ) और 'दशन्' (दस) शब्द आते हैं। ये भी सदा बहुवचनान्त हैं। इन की रूपमाला और सिद्धि 'पञ्चन्' शब्दवत् होती है।

नवन् (नौ)				दशन् (दस)			
प्र०	०	०	नव	प्र०	०	०	दश
द्वि०	०	०	,,	द्वि०	०	०	,,
तृ०	०	०	नवभिः	तृ०	०	०	दशभिः
च०	०	०	नवभ्यः	च०	०	०	दशभ्यः
प०	०	०	,,	प०	०	०	,,
ष०	०	०	नवानाम्	ष०	०	०	दशानाम्
स०	०	०	नवसु	स०	०	०	दशसु

इसी प्रकार—एकादशन् (११), द्वादशन् (१२), त्रयोदशन् (१३), चतुर्दशन् (१४), पञ्चदशन् (१५), षोडशन् (१६), सप्तदशन् (१७) अष्टादशन् (१८), नवदशन् (१९) शब्दों के रूप होते हैं।

(यहां नकारान्त पुंल्लिङ्ग समाप्त होते हैं।)

——०❀०——

अभ्यास (३९)

(१) पूर्वपक्षी द्वारा उत्थापित 'नोपधायाः' सूत्र की व्यर्थता बतला कर उस का समाधान करो।

(२) (क) 'नलोपः सुप्स्वरसञ्ज्ञा०' नियम का क्या लाभ है?

(ख) 'अवर्णयास्त्रसावनञः' सूत्र में 'अनञ' ग्रहण का क्या प्रयोजन है?

(ग) 'श्वयुव ' सूत्र पर प्रसिद्ध सूक्ति लिख कर इस के तात्पर्य का विवेचन करो।

(घ) षट्सञ्ज्ञा की अन्वर्थता पर संक्षिप्त नोट लिखो।

(ङ) 'मघवन्' शब्द का दोनों पक्षों में उच्चारण लिखो।

(३) निम्नलिखित वचनों की प्रकरणनिर्देशपूर्वक व्याख्या करो—

(क) अत एव ज्ञापकादन्त्यस्य यणः पूर्वं सम्प्रसारणम्"।

(ख) ' अष्टभ्य इति वक्तव्ये कृतात्वनिर्देशो जश्शसोविषय आत्वं ज्ञापयति"।

(ग) "अनिनस्मिन्ग्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति"।

(४) अधोलिखित रूपों की ससूत्र प्रक्रिया बताओ—

१ यज्वनि। २ राज्ञ। ३ ब्रह्मा। ४ वृत्रहणि। ५ पथ। ६ मन्था। ७ अष्टौ।
८ पञ्च। ९ वृत्रहा। १० अर्वन्तौ। ११ मघोन। १२ यूनि। १३ अमुभिभ्याम्।

(५) निम्नलिखित शब्दों का केवल शस् में रूप लिखो—

१ अश्वत्थामन्। २ पुष्पधन्वन्। ३ मथिन्। ४ मघवन्। ५ श्वन्। ६ पञ्चन्।
७ अष्टन्। ८ अर्वन्। ९ भ्रूणहन्। १० पूषन्।

(६) सूत्रों की व्याख्या करो—

१ एकाजुत्तरपदे णः। २ हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु। ३ सौ च। ४ न संयोगाद्वमन्तात्।
५ उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः। ६ न ङिसम्बुद्ध्योः। ७ थो न्थः। ८ अष्टाभ्य
औश्। ९ इन्हन्पूषार्यम्णां शौ।

(७) डावुत्तरपदे प्रतिषेधो वक्तव्य ' वार्त्तिक का भाव प्रतिपादन करो।

(८) (क) क्या 'ञ' तथा 'न' स्वतन्त्र वर्ण हैं? इन पर विवेचनात्मक नोट लिखो।

(ख) 'अर्वणस्त्रसावनञः' द्वारा प्रतिपादित 'तृ' आदेश अनेकाल् होने पर भी
क्यों सर्वादेश नहीं होता?

(ग) 'मघवा बहुलम्' सूत्र में 'बहुलम्' ग्रहण का क्या प्रयोजन है?

(घ) "अष्टानाम्' पर दोनों पक्षों की प्रक्रियाएं स्पष्ट करो।

(ङ) 'अष्टन आ विभक्तौ' द्वारा विहित आकार आदेश वैकल्पिक क्यों समझा
जाता है?

—o ❀ o—

एभ्यः क्विन् स्यात्* । अञ्चेः सुप्युपपदे । युजिक्रुञ्चोः केवलयोः । क्रुञ्चेर्नलोपाभावश्च निपात्यते । कनावितौ ।

अर्थः—ऋत्विज्, दधृष्, स्रज्, दिश्, उष्णिह्—ये पांच क्विन्नन्त शब्द निपातित किये जाते हैं तथा सुबन्त उपपद होने पर 'अञ्चु' धातु से उपपदरहित युजि और क्रुञ्च् धातु से भी क्विन् प्रत्यय हो जाता है । किञ्च क्विन् परे रहते क्रुञ्च् के नकार का लोप भी नहीं होता ।

व्याख्या—ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिक् ।१।१। अञ्चुयुजिक्रुञ्चाम् ।६।३। च इत्यव्ययपदम् । क्विन् ।१।१। [स्पृशोऽनुदके क्विन्' से] । समास—ऋत्विक् च दधृक् च स्रक् च दिक् च उष्णिक् च = ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिक् समाहारद्वन्द्व । अञ्चुश्च युजिश्च क्रुङ् च = अञ्चुयुजिक्रुञ्च, तेषाम् = अञ्चुयुजिक्रुञ्चाम्, इतरेतरद्वन्द्व । पञ्चम्यर्थे सौत्रत्वात्षष्ठी । इस सूत्र में दो वाक्य हैं—१ ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिक् । २ अञ्चुयुजिक्रुञ्चां च क्विन् । पहले वाक्य में पाणिनि जी ने बने बनाये पांच शब्द गिनाये हैं । सूत्रकार का स्वय सब कार्य कर के पढ़ देना निपातन कहाता है† । इन पाच शब्दों का निपातन किया गया है । 'क्विन्' के प्रकरण में पढ़े जाने के कारण इन शब्दों को भी क्विन्न त समझना चाहिये । दूसरे वाक्य में तीन धातुओं में क्विन्' प्रत्यय का विधान किया गया है । अर्थ—(ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिक्) ऋत्विज्, दधृष्, स्रज्, दिश् और उष्णिह् ये पाच क्विन्नन्त शब्द निपातित किये जाते हे । (च) तथा (अञ्चुयुजिक्रुञ्चाम्) अञ्चु, युजि तथा क्रुञ्च् धातुओं से (क्विन्) क्विन्' प्रत्यय हो जाता है ।

निपातनों के साथ २ अञ्चु आदि तीन धातुओं से 'क्विन्' प्रत्यय विधान करने से यह विदित होता है कि इन धातुओं में भी कुछ २ निपातन कार्य होते हैं । वे निपातनकार्य शिष्टग्रन्थों के अनुसार निम्नलिखित हैं—

(१) सुबन्त उपपद होने पर ही 'अञ्चु' धातु से क्विन् होता है ।

(२) उपपदरहित 'युजि' और 'क्रुञ्च्' धातु से क्विन् होता है ।

(३) 'क्विन्' परे होने पर 'क्रुञ्च्' के उपधाभूत नकार का 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' (३३४) द्वारा लोप नहीं होता ।

ऋत्विज् आदि पांच शब्दों में महामुनि ने निम्नलिखित कार्य किये हैं—

---

* 'एभ्यः क्विन् स्यात्' यह वचन ऋत्विज आदि पांच शब्दों के अन्तर्गत यज आदि पाञ्च धातुओं को तथा सूत्र में साक्षात् पढे गये अञ्चु आदि तीन धातुओं को लक्ष्य करके कहा गया है ।

† लक्षणं विनैव निपतति=प्रवर्त्तते लक्ष्येषु इति निपातनम् ।

१ ऋत्विज्—में 'ऋतु' उपपद वाली यज्' (भ्वा० उ०) धातु से क्विन् उस का सर्वलोप, वचि-स्वपि ' (५४७) से सम्प्रसारण, 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से पूर्वरूप तथा 'इको यणचि' (१५) से यण् किया गया है।

२ दधृष्—में धृष्' (स्वा० प०) धातु से क्विन् उस का सर्वलोप, द्वित्वादिक कार्य तथा अन्तोदात्तत्व किया गया है। यह शब्द पुल्ँलिङ्ग है। आगे षकारान्तों में इस का विवेचन किया जायगा।

३ स्रज्—में 'सृजँ' (तुदा० प०) धातु से क्विन्, उस का सर्वलोप, ऋकार से परे अम् का आगम तथा यणादेश किया गया है। यह शब्द जकारान्त स्त्रीलिङ्गप्रकरण में आगे कहा जायगा।

४ दिश्—में दिशँ' (तुदा० प०) धातु से कर्मकारक में क्विन् प्रत्यय कर उस का सर्वापहारिलोप किया गया है। यह शब्द शकारान्त स्त्रीलिङ्गप्रकरण में आगे कहा जायगा।

५. उष्णिह्—में 'उद्' पूर्वक 'स्निह्' (दिवा० प०) धातु से क्विन्, उस का सर्वापहारिलोप, उद् के दकार का भी लोप तथा सकार को षकार किया गया है। यह शब्द भी आगे हकारान्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण में कहा जायगा।

अब क्रमप्राप्त जकारान्त पुल्ँलिङ्ग शब्दों में प्रथम 'ऋत्विज्' शब्द का विवेचन किया जाता है। यह शब्द क्विन्नन्त निपातन किया गया हैं। 'क्विन्' प्रत्यय आ जाने से क्या २ लाभ होते हैं तथा उस का किस प्रकार सर्वापहारिलोप किया जाता है—यह बतलाने के लिये अब अग्रिमसूत्रों का विवेचन किया जाता है—

ऋत्विज्+क्विन्' * यहां 'हलन्त्यम्' (१) से नकार की तथा 'लशक्वतद्धिते' (१३६) से ककार की इत्सञ्ज्ञा हो लोप हो जाता है†। इकार उच्चारणार्थ है। तो इस प्रकार—'ऋत्विज्+व्' हुआ। अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

---

* वस्तुत क्विन्नन्त 'ऋत्विज शब्द बना बनाया निपातन किया गया है, इसकी सिद्धि करने की आवश्यकता नहीं। और यदि सिद्धि करनी भी हो तो ऋत्विज्+क्विन्' ऐसा नहीं लिखा जा सकता, क्योंकि तब प्रथम ऋतूपपद यज' धातु से क्विन् कर उस का सर्वापहारिलोप कर बाद में उसको मान सम्प्रसारण आदि होने चाहियें, लोप से पूर्व नहीं। अतः बालकों के ज्ञान व सौकर्य के लिये ही यह अलीक मार्ग अवलम्बन किया समझना चाहिये।

† 'क्विन्' प्रत्यय में नकार का ग्रहण क्विन् और क्विप् में भेद करने के लिये तथा ककार का ग्रहण कित् कार्यों के लिये है।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—३०२ कृदतिङ् ।३।१।९३॥

अत्र धात्वधिकारे तिङ्भिन्नः प्रत्ययः कृत्सञ्ज्ञः स्यात् ।

अर्थः—'धातोः' (३.१.९१) इस अधिकार में पठित प्रत्यय कृत्सञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—तत्र इत्यव्ययपदम् । [तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' से] अतिङ् ।१।१। [यह अधिकृत है] कृत् ।१।१। अर्थः—(तत्र) उस 'धातोः' के अधिकार में (अतिङ्) तिङ्भिन्न (प्रत्ययः) प्रत्यय (कृत्) कृत्सञ्ज्ञक हो ।

इस सूत्र से एक सूत्र पीछे अष्टाध्यायी में 'धातोः' (७६६) इस प्रकार का एक अधिकार चलाया गया है । इस अधिकार का तात्पर्य यह है कि तृतीय अध्याय तक जितने प्रत्यय विधान किये जाएं वे सब धातु से परे हों । इस अधिकार को चला कर अब 'तत्र अतिङ् प्रत्ययः कृत्" ऐसा कथन किया गया है । अर्थात् उस धात्वधिकार में तिङ्भिन्न प्रत्यय कृत्सञ्ज्ञक होता है । यह सूत्र अष्टाध्यायी के तृतीय अध्याय के प्रथम पाद में स्थित है । इस पाद में दो धात्वधिकार हैं । एक—'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्' (३.१.२२) सूत्र में और दूसरा 'धातोः' (३.१.९१) यह उपर्युक्त । यहां 'तत्र' शब्द द्वितीय धात्वधिकार को लक्ष्य कर के प्रयुक्त किया गया है । इसीलिये ही वृत्ति में 'अत्र' कहा गया है। अतः प्रथम धात्वधिकार में धातु से परे विहित प्रत्यय की कृत्सञ्ज्ञा नहीं होती।

'अतिङ्' कहने से इस धात्वधिकार में पठित होने पर भी तिङ्प्रत्यय कृत्सञ्ज्ञक न होगा। यथा—भवति, पठति, पठन्तु आदि । यदि यहां भी कृत्सञ्ज्ञा हो जाती तो 'कृत्तद्धितसमासाश्च' (११७) सूत्र से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर स्वादिप्रत्यय उत्पन्न हो जाने से—'भवति, पठति, पठन्तु' इस प्रकार अनिष्ट रूप हो जाते ।

ऋत्विज्+व् (क्विन्) । यहां क्विन् की कृत्सञ्ज्ञा हो जाती है; क्योंकि यह द्वितीय अधिकार में पठित तथा तिङ्भिन्न प्रत्यय है ।

अब पुनः यहां अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३०३ वेरपृक्तस्य ।६।१।६५॥

अपृक्तस्य वस्य लोपः ।

अर्थः—अपृक्तसञ्ज्ञक वकार का लोप हो जाता है ।

व्याख्या—वेः ।६।१। अपृक्तस्य ।६।१। लोपः ।१।१। ['लोपो व्योर्वलि' से] यहां 'वि' में इकार उच्चारणार्थ है, क्योंकि 'वि' अपृक्त नहीं बन सकता । 'अपृक्त एकाल्प्रत्ययः' (१७८) सूत्र द्वारा एकाल् प्रत्यय की अपृक्तसञ्ज्ञा होती है। अर्थः—(अपृक्तस्य) अपृक्तसञ्ज्ञक (वेः) वकार का (लोपः) लोप हो जाता है ।

'ऋत्विज्+व्' यहां वकार अपृक्त है अतः प्रकृतसूत्र से इस का लोप हो कर 'ऋत्विज्' ही अवशिष्ट रहता है। अब इस के कृदन्त होने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर सुँ आदि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं।

'ऋत्विज्+स्' (सुँ)। यहां 'हल्ङ्याब्भ्यः०' (१७९) सूत्र से सुँ का लोप हो जाता है। 'ऋत्विज्' इस अवस्था में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३०४ क्विन्प्रत्ययस्य कुः ।८।२।६२॥

क्विन्प्रत्ययो यस्मात् तस्य कवर्गोऽन्तादेशः स्यात् पदान्ते। अस्यासिद्धत्वाच् 'चोः कुः' (३०६) इति कुत्वम्। ऋत्विक्, ऋत्विग्। ऋत्विजौ। ऋत्विग्भ्याम्।

अर्थः—'क्विन्' प्रत्यय जिस से किया जाय, उस को पदान्त में कवर्ग अन्तादेश हो जाता है। इस सूत्र के असिद्ध होने से 'चोः कुः' (३०६) द्वारा कुत्व हो जाता है।

व्याख्या—क्विन्प्रत्ययस्य ।६।१। कुः ।१।१। पदस्य ।६।१। [यह अधिकृत है।] अन्ते ।७।१। ['स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से] समासः—क्विन् प्रत्ययो यस्मात् स क्विन्प्रत्ययः, तस्य=क्विन्प्रत्ययस्य। बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(क्विन्प्रत्ययस्य) क्विन्' प्रत्यय जिस से किया गया हो उस के स्थान पर (कुः) कवर्ग आदेश हो जाता है (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में। अलोऽन्त्यविधि से यह आदेश अन्त्य अल् के स्थान पर होता है। अत एव वृत्ति में 'अन्तादेशः' लिखा है। यहां 'कु' से 'अणुदित्०' (११) द्वारा कवर्ग समझा जाता है— यह हम सञ्ज्ञाप्रकरण में उसी सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं।

यहां इस सूत्र से केवलमात्र यह अभिप्राय नहीं समझना चाहिये कि 'पदान्त में क्विन्नन्त शब्द के अन्त को कवर्ग आदेश होता है'। यदि केवल इतना ही अभीष्ट होता तो 'क्विनः कुः' सूत्र रचते 'प्रत्यय' शब्द साथ न जोडते। अतः 'प्रत्यय' शब्द साथ लगाने का यह प्रयोजन है कि 'क्विन्प्रत्ययो यस्मात्' इस प्रकार बहुव्रीहिसमास मान कर अब अक्विन्नन्तों अर्थात् क्विन्भिन्न अन्यप्रत्ययान्तों को भी कवर्ग अन्तादेश हो जावे। हां, कहीं उसे क्विन् हो चुका हो। यह सब आगे मूल में ही स्पष्ट हो जायगा।

प्रकृत में 'ऋत्विज्' यह शब्द क्विन्नन्त है अतः पदान्त में इस सूत्र से जकार को कवर्ग—गकार प्राप्त होता है। इस के अतिरिक्त आगे आने वाले 'चोः कुः' (३०६) सूत्र से भी जकार को कवर्ग अर्थात् गकार प्राप्त होता है। पूर्वत्रासिद्धम् (३१) द्वारा 'चोः कुः' (८.२.३०) की दृष्टि में 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (८.२.६२) सूत्र असिद्ध है, अतः 'चोः

कु' द्वारा ही कुत्व—गकार हो कर—ऋत्विग्। 'वाऽवसाने' (१४६) से विकल्प कर के चर्त्व—ककार करने से—'ऋत्विक्, ऋत्विग्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

यद्यपि क्विन्प्रत्ययस्य कु' (३०४) और 'चो कु' (३०६) इन दोनों सूत्रों में से किसी एक के द्वारा यहां कार्य सिद्ध हो सकता है, तथापि अन्यत्र भिन्न २ उदाहरणों में कार्यसिद्धि के लिये दोनों सूत्रों का होना आवश्यक है। यथा—'प्राङ्' यहां चवर्ग न होने से 'चो कु' (३०६) प्रवृत्त नहीं होता, 'क्विन्प्रत्ययस्य कु' (३०४) से कार्य होता है। 'सुयुक्, सुयुग्' यहां क्विन्प्रत्यय न होने से 'क्विन्प्रत्ययस्य कु' (३०४) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता, 'चो कु' (३०६) से ही कुत्व होता है।

सूचना—वस्तुत 'ऋत्विक्, ग्' में 'क्विन्प्रत्ययस्य कु' द्वारा ही कुत्व होता है चो कु' द्वारा नहीं। यह सब विस्तारपूर्वक सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या में लिखेंगे।

'ऋत्विज्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	ऋत्विक्, ग्	ऋत्विजौ	ऋत्विज
द्वि०	ऋत्विजम्	,,	,,
तृ०	ऋत्विजा	ऋत्विग्भ्याम् ×	ऋत्विग्भि ×
च०	ऋत्विजे	,, ×	ऋत्विग्भ्य ×
प०	ऋत्विज	,, ×	,, ×
ष०	,,	ऋत्विजो	ऋत्विजाम्
स०	ऋत्विजि	,,	ऋत्विक्षु※
स०	हे ऋत्विक्, ग्!	हे ऋत्विजौ!	हे ऋत्विज!

× इन स्थानों पर 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (१६४) सूत्र द्वारा पदसञ्ज्ञा होने से 'चोः कु' सूत्र से कुत्व हो जाता है।

※ यहां भी पदत्व के कारण 'चो कु' से कुत्व-गकार, 'खरि च' (७४) से गकार को चर्त्व-ककार तथा 'आदेशप्रत्यययो' (१५०) स सकार को षकार हो जाता है। फिर 'क्ष' आकृति हो जाती है।

युज्=योगी

'युजिर् योगे' (रुधा० उभ०) धातु से 'ऋत्विग्दधृक्—' (३०१) सूत्र से क्विन्प्रत्यय होकर उसका सर्वापहारी लोप हो जाता है। इस प्रकार 'युज्' शब्द के कृदन्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर स्वादिप्रत्यय उत्पन्न होते हैं।

युज्+स् (सुँ)—यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३०५ युजेरसमासे ।७।१।७१।

युजेः सर्वनामस्थाने नुम् स्यादसमासे । सुँलोपः । संयोगान्त-लोपः । कुत्वेन नस्य ङः । युङ् । अनुस्वारपरसवर्णौ—युञ्जौ, युञ्जः । युग्भ्याम् ।

अर्थः—सर्वनामस्थान परे होने पर युज् को नुम् का आगम होता है, परन्तु समास में नहीं होता ।

व्याख्या—सर्वनामस्थाने ।७।१। ['उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' से] युजेः ।६।१। नुम् ।१।१। ['इदितो नुम् धातोः' से] असमासे ।७।१। अर्थः—(सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे होने पर (युजेः) युज् धातु का अवयव (नुम्) नुम् हो जाता है (असमासे) परन्तु समास में नहीं होता ।

ध्यान रहे कि 'ऋत्विग्दधृक्०' (३०१) सूत्र में तथा 'युजेरसमासे' (३०४) इस सूत्र में युजि' इस प्रकार इकार ग्रहण करना 'कार' प्रत्यय की भांति स्वार्थ में 'इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे' इस इक् प्रत्यय द्वारा नहीं समझना चाहिये, किन्तु इनमें 'युजिर् योगे' (रुधा० उभ०) धातु का अनुकरण किया गया है । अतः इन सूत्रों में 'युज समाधौ' (दिवा०) धातु का ग्रहण नहीं होता । विस्तार के लिये सिद्धान्तकौमुदी देखें ।

'युज्+स्' यहां सर्वनामस्थान परे है अतः युजेरसमासे' सूत्र से नुम् का आगम हो—यु नुम् ज+स् । मकार और उकार अनुबन्धों का लोप होकर—युन्ज्+स् । हल्ङ्याब्भ्यो०' (१७९) से सकार का लोप—युन्ज् । 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) से जकार का लोप कर 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०५) से नकार को ङकार करने से—'युङ्' प्रयोग सिद्ध होता है ।

'युज्+औ' यहां भी सर्वनामस्थान परे होने के कारण 'युजेरसमासे' सूत्र द्वारा नुम् का आगम—यु नुम् ज्+औ । 'नश्चापदान्तस्य झलि' (७८) सूत्र से नकार को अनुस्वार तथा अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः (७९) सूत्र द्वारा अनुस्वार को परसवर्ण—ञकार हो कर 'युञ्जौ' सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि परसवर्ण—के असिद्ध होने से 'चोः कुः' (३०६) द्वारा ञकार को ङकार नहीं होता । रूपमाला यथा—

× चो कु, खरि च, आदेशप्रत्यययोः ।

सुयुज्=सुयोगी

सुपूर्वक 'युजिर् योगे' (रुधा० उभ०) धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'सुयुज्' शब्द निष्पन्न होता है। ध्यान रहे कि यहां 'ऋत्विग्दधृक्—' (३१) सूत्र द्वारा क्विन् प्रत्यय नहीं होता, क्योंकि वहां निरुपपद युज् से क्विन् विधान किया गया था, यहां 'सु' यह उपपद विद्यमान है।

सुयुज्+स् (सु) । यहां समास में निषेध होने से 'युजेरसमासे' (३०५) द्वारा नुम् का आगम नहीं होता। हल्ङ्याब्भ्य —' (१७९) से सकार का लोप होकर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३०६ चो कुः ।८।२।३०॥

चवर्गस्य कवर्गः स्याज्झलि पदान्ते च । सुयुक्, सुयुग् । सुयुजौ । सुयुग्भ्याम् । खन् । खञ्जौ । खन्भ्याम् ।

अर्थः—झल् परे होने पर या पद के अन्त में चवर्ग को कवर्ग आदेश हो जाता है।

व्याख्या—चोः ।६।१। कुः ।१।१। झलि ।७।१। ['झलो झलि' से] पदस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] अन्ते ।७।१। ['स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से] अर्थः—(झलि) झल् परे होने पर या (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में (चोः) चवर्ग के स्थान पर (कुः) कवर्ग आदेश हो जाता है।

'सुयुज्' यहां पद के अन्त में चवर्ग जकार को कवर्ग गकार होकर 'वाऽवसाने' (१४६) सूत्र से वैकल्पिक चर्त्व ककार करने पर—'सुयुक्, सुयुग्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—

व्रश्चादीनां सप्तानां छशान्तयोश्च षकारोऽन्तादेशः स्याज् झलि पदान्ते च । जश्त्व-चर्त्वे । राट्, राड् । राजौ । राजः । राड्भ्याम् । एवं विभ्राट् । देवेट् । विश्वसृट् ॥

अर्थः—झल् परे होने पर या पदान्त में व्रश्च्, भ्रस्ज्, सृज्, मृज्, यज्, राज्, भ्राज् इन सात धातुओं को तथा शकारान्त और छकारान्तों को षकार अन्तादेश हो जाता है ।

व्याख्या—व्रश्च्-भ्रस्ज्-...-छशाम् ।६।३। षः ।१।१। झलि ।७।१। ['झलो झलि' से] पदस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] अन्ते ।७।१। ['स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से]। समास—व्रश्चश्च भ्रस्जश्च सृजश्च मृजश्च यजश्च राजश्च भ्राजश्च छश्च श् च्=व्रश्च-...-भ्राज-च्छशः, तेषाम्=व्रश्च-...-भ्राज-च्छशाम्, इतरेतरद्वन्द्वः । व्रश्चादिष्वकार उच्चारणार्थः, अथवोदात्ताद्यनुबन्धप्रदर्शनार्थः । यहां 'व्रश्च' आदि सात धातु हैं तथा छ्, श् ये दो वर्ण हैं। ये दोनों वर्ण 'शब्दस्वरूपम्' विशेष्य के विशेषण हैं। शब्दानुशासन का सम्पूर्ण अष्टाध्यायी में अधिकार होने से 'शब्दस्वरूपम्' यह उपलब्ध हो जाता है। अतः तदन्तविधि होकर शकारान्त छकारान्त शब्दस्वरूप ऐसा अर्थ हो जाता है। अर्थः—(व्रश्च-...-छशाम्) व्रश्च्, भ्रस्ज्, सृज्, मृज्, यज्, राज्, भ्राज् तथा छकारान्त और शकारान्त शब्दों के स्थान पर (षः) 'ष्' आदेश हो जाता है (झलि) झल परे होने पर या (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में। अलोऽन्त्यविधि से यह आदेश अन्त्य अल् के स्थान पर होता है।

'राज्' यहां पदान्त में प्रकृत सूत्र से जकार को षकार हो कर 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से षकार को डकार तथा 'वाऽवसाने' सूत्र से वैकल्पिक चर्त्व टकार करने पर 'राट्, राड्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं। सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	राट्-ड्	राजौ	राजः	पं०	राजः	राड्भ्याम् ×	राड्भ्यः ×
द्वि०	राजम्	,,	,,	ष०	,,	राजोः	राजाम्
तृ०	राजा	राड्भ्याम् ×	राड्भिः ×	स०	राजि	,,	राट्सु-ट्त्सु❀
च०	राजे	,, ×	राड्भ्यः ×	सं०	हे राट्-ड् !	हे राजौ !	हे राजः !

× व्रश्चेति षत्वे, 'झलां जशोऽन्ते' (६७) इति डकारः ।

❀ षत्वे जश्त्वे च कृते 'डः सि धुट्' (८४) इति वा धुडागमे 'खरि च' (७४) इति चर्त्वम् ।

विभ्राज्=विशेष शोभायुक्त

'वि पूर्वक 'भ्राजृँ दीप्तौ' (भ्वा० आ०) धातु से कर्त्ता में क्विप् प्रत्यय करने पर 'विभ्राज्' शब्द सिद्ध होता है। कृदन्त होने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर सुँ आदि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं—

विभ्राज्+स् (सुँ)। 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७९) से सकारलोप, 'व्रश्च—' (३०७) से जकार को षकार 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से षकार को डकार तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व टकार करने से 'विभ्राट्, विभ्राड्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—

प्र०	विभ्राट्-ड्	विभ्राजौ	विभ्राजः	पं०	विभ्राजः	विभ्राड्भ्याम्×	विभ्राड्भ्यः×
द्वि०	विभ्राजम्	,,	,,	ष०	,,	विभ्राजोः	विभ्राजाम्
तृ०	विभ्राजा	विभ्राड्भ्याम्×	विभ्राड्भिः×	स०	विभ्राजि	,,	विभ्राट्सु-ट्त्सु*
च०	विभ्राजे	×	विभ्राड्भ्यः×	सं०	हे विभ्राट्!	हे विभ्राजौ!	हे विभ्राजः!

× व्रश्चेति षत्वे 'झलां जशोऽन्ते' (६७) इति जश्त्वम्।

* षत्वे, जश्त्वे, वा धुडागमे चर्त्वम्।

देवेज्=देवताओं का यजन करने वाला।

[देवान् यजत इति देवेट्। 'देव' कर्मोपपदाद् यजते (भ्वा० उभ०) क्विपि, 'किद्वाद् वचिस्वपियजादीनां किति' (५४७) इति सम्प्रसारणत्वे 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) इति पूर्वरूपत्वे, गुणे च कृते देवेज् इतिशब्दो निष्पद्यते।] कृदन्त होने से प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा हो कर स्वादि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं। इस की रूपमाला यथा—

प्र०	देवेट्-ड्	देवेजौ	देवेजः	पं०	देवेजः	देवेड्भ्याम्	देवेड्भ्यः
द्वि०	देवेजम्	,,		ष०	,,	देवेजोः	देवेजाम्
तृ०	देवेजा	देवेड्भ्याम्	देवेड्भिः	स०	देवेजि	,,	देवेट्त्सु-ट्सु
च०	देवेजे	,,	देवेड्भ्यः	सं०	हे देवेट्!	हे देवेजौ!	हे देवेजः!

यहां 'यज्' होने से पदान्त में पूर्ववत् 'व्रश्च—' (३०७) सूत्र से षत्व तथा 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से जश्त्व डकार हो जाता है।

सूचना—यहां 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) सूत्र बहुव्रीहिसमासवश प्राप्त होता था, परन्तु भाष्यकार के 'उपयट् काम्यति' प्रयोग के निर्देश से नहीं होता। यह विषय विस्तारपूर्वक सिद्धान्तकौमुदी में देखें।

विश्वसृज्=जगत् के रचयिता, भगवान्

[विश्वं सृजतीति विश्वसृट्। विश्वकर्मोपपदात् 'सृज्' विसर्गे (तुदा० प०) इत्यस्मात्कर्तरि क्विपि 'विश्वसृज्' इतिशब्दो निष्पद्यते।] इस की रूपमाला यथा—

प्र०	विश्वसृट्-ड्	विश्वसृजौ	विश्वसृजः	प०	विश्वसृजः	विश्वसृड्भ्याम् विश्वसृड्भ्यः
द्वि०	विश्वसृजम्	,,	,,	ष०	विश्वसृजोः	विश्वसृजाम्
तृ०	विश्वसृजा	विश्वसृड्भ्याम्	विश्वसृड्भिः	स०	विश्वसृजि	विश्वसृट्त्सु-ट्सु
च०	विश्वसृजे	,,	विश्वसृड्भ्यः	सं०	हे विश्वसृट्-ड्!	हे विश्वसृजौ! हे विश्वसृजः!

यहां 'सृज्' धातु होने से 'व्रश्च०' (३०७) सूत्र से पदान्त में जकार को षकार तथा 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से षकार को डकार हो जाता है। 'रज्जुसृड्भ्याम्' इस भाष्यप्रयोग से यहां पर कुत्व नहीं होता। विशेष सिद्धान्तकौमुदी में देखें।

परिव्राज्=सन्यासी

इस शब्द की सिद्धि के लिये ग्रन्थकार उणादिसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] "परौ व्रजे षः पदान्ते"

परावुपपदे व्रजेः क्विप् स्याद् दीर्घश्च पदान्ते षत्वमपि। परिव्राट्, परिव्राड्।

अर्थः—'परि' उपपद होने पर व्रज् (भ्वा० प०) धातु से क्विप् प्रत्यय हो और धातु के अकार को दीर्घ हो। किञ्च—पदान्त में षत्व भी होना चाहिये।

व्याख्या—यह शाकटायनमुनिप्रणीत उणादिसूत्र (२१८) है। परौ ।७।१। व्रजेः ।५।१। क्विप् ।१।१। ['क्विब् वचिप्रच्छ्यायतस्तु—' से] पदान्ते ।७।१। षः ।१।१। अर्थः—(परौ) 'परि' उपपद होने पर (व्रजेः) व्रज् धातु से (क्विप्) क्विप् प्रत्यय तथा (दीर्घः) दीर्घ होता है। किञ्च (पदान्ते) पदान्त में (षः) षकार भी हो जाता है।

जिस पद के साथ रहने पर कोई कार्य विधान किया जाता है उसे 'उपपद' कहते हैं, उपपद सदा पूर्व में ही प्रयुक्त हुआ करता है। [देखो—तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् (९१३), उपपदमतिङ् (९१४)]। यहां 'परि' उपपद होने पर 'व्रज्' धातु से क्विप् का विधान है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि परिपूर्वक व्रज् धातु से क्विप् हो अन्यथा नहीं।

क्विप के साथ धातु का दीर्घ करने का भी विधान है। ह्रस्व दीर्घ और प्लुत अचों के ही धर्म हैं अतः विना कहे भी ये अचों के स्थान पर समझने चाहियें। अतः यहां 'व्रज्' धातु के अन्तर्गत रेफोत्तर अकार को ही दीर्घ होगा।

पदान्त में विहित षत्व अलोऽन्त्यविधि से जकार के स्थान पर होगा।

परिव्रज्+क्विप्=परिव्राज्+क्विप्। क्विप का सर्वापहारी लोप करने से—परिव्राज्। कृदन्त होने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर स्वादियों की उत्पत्ति होती है।

परिव्राज्+स्(सुँ) यहां हल्ङ्याब्भ्यः (१७६) से सकार का लोप कर पदान्त में षत्व करने पर—परिव्राष्। झलां जशोऽन्ते' (६७) से जश्त्व—डकार तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व टकार करने से 'परिव्राट्, परिव्राड्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—

प्र० परिव्राट्-ड्	परिव्राजौ	परिव्राजः	पं० परिव्राजः	परिव्राड्भ्याम्	परिव्राड्भ्यः
द्वि० परिव्राजम्	,,	,,	ष० ,,	परिव्राजोः	परिव्राजाम्
तृ० परिव्राजा	परिव्राड्भ्याम्	परिव्राड्भिः	स० परिव्राजि	,,	परिव्राट्त्सु-ट्सु
च० परिव्राजे	,,	परिव्राड्भ्यः	सं० हे परिव्राट्-ड्!	हे परिव्राजौ!	हे परिव्राजः!

पदान्त में सर्वत्र 'परौ व्रजेः षः पदान्ते' द्वारा षत्व तथा 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से जश्त्व हो जाता है।

विश्वराज्=विश्वपति, भगवान्

[विश्वस्मिन् राजत इति विश्वराट्। विश्वोपपदाद् राजते (भ्वा० उ०) 'सत्सूद्विष' ' (३.२.६१) इति क्विपि उपपदसमासे विश्वराज् इतिशब्दो निष्पद्यते।]

विश्वराज्+स्(सुँ)। यहां सकारलोप हो व्रश्च (३०७) सूत्र से जकार को षकार, 'झलां जशोऽन्ते' (६७) द्वारा षकार को डकार तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व टकार करने पर— विश्वराट्, विश्वराड्'। अब इन दोनों अवस्थाओं में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३०८ विश्वस्य वसुराटोः ।६।३।१२७॥

विश्वशब्दस्य दीर्घोऽन्तादेशः स्याद् वसौ राट्शब्दे च परे। विश्वाराट्, विश्वाराड्। विश्वराजौ। विश्वाराड्भ्याम्।

अर्थः—वसु अथवा राट् शब्द परे होने पर विश्व शब्द को दीर्घ अन्तादेश होता है।

व्याख्या—विश्वस्य ।६।१। दीर्घः ।१।१। ['ढ्लोपे पूर्वस्य—' से] वसुराटोः ।७।२। अर्थः—(वसुराटोः) वसु अथवा राट् शब्द परे होने पर (विश्वस्य) 'विश्व' शब्द के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यविधि से यह दीर्घ अन्त्य अच् के स्थान पर होगा।

यहां 'राट्' का ग्रहण पदान्त का उपलक्षण है अतः 'राट्' हो या 'राड्', दोनों अवस्थाओं में दीर्घ हो जाता है।

इस सूत्र से दीर्घ करने पर—'विश्वाराट्, विश्वाराड्' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—

प्र०	विश्वाराट्-ड्	विश्वराजौ	विश्वराजः
द्वि०	विश्वराजम्	„	„
तृ०	विश्वराजा	विश्वाराड्भ्याम्	विश्वाराड्भिः
च०	विश्वराजे	„	विश्वाराड्भ्यः
पं०	विश्वराजः	विश्वाराड्भ्याम्	विश्वाराड्भ्यः
ष०	„	विश्वराजोः	विश्वराजाम्
स०	विश्वराजि	„	विश्वाराट्त्सु-ट्सु
सं०	हे विश्वाराट्-ड्!	हे विश्वराजौ!	हे विश्वराजः!

भ्याम्, भिस्, भ्यस् में षत्व और डत्व हो कर दीर्घ हो जाता है। सुप् में षत्व, डत्व हो कर वैकल्पिक धुट् का आगम हो जाता है।

भृस्ज्=भठियारा व भड़भूंजा

'भ्रस्जँ पाके' (तुदा० उभ०) धातु से क्विप्, 'ग्रहिज्या—' (६३४) से सम्प्रसारण, 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से पूर्वरूप करने से 'भृस्ज्' शब्द बनता है। भृज्जतीति=भृट्।

भृस्ज्+स्। सकार का लोप हो कर—भृस्ज्। अब 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) से जकारलोप के प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३०६ स्कोः संयोगाद्योरन्ते च ।८।२।२६॥

पदान्ते झलि च परे यः संयोगस्तदाद्योः सकारककारयोर्लोपः स्यात्। भृट्। सस्य श्चुत्वेन शः। 'झलां जश् झशि' (१९) इति शस्य जः। भृज्जौ। भृड्भ्याम्।

अर्थः—पदान्त में या झल् परे होने पर संयोग के आदि वाले सकार ककार का लोप हो जाता है।

व्याख्या—स्कोः ।६।२। संयोगाद्योः ।६।२। लोपः ।१।१। ['संयोगान्तस्य लोपः' से]

इत्यव्ययपदम्। समास—स् च क् च=स्कौ, तयोः=स्कोः। इतरेतरद्वन्द्वः। संयोगस्य आदौ=संयोगादी, तयोः=संयोगाद्योः। षष्ठीतत्पुरुषः। अर्थ—(झलि) झल् परे होने पर या (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में स्थित (संयोगाद्योः) जो संयोग उस के आदि सकार ककार का (लोपः) लोप हो जाता है।

यद्यपि यह सूत्र संयोगान्तस्य लोपः (२०) की दृष्टि में असिद्ध है तथापि वचनसामर्थ्य से उसका अपवाद है।

भृस्ज् यहां पद के अन्त में प्रकृतसूत्र से संयोग के आदि वाले सकार का लोप हो—'भृज्'। 'व्रश्च— (३०७) सूत्र से जकार को षकार, जश्त्व से षकार को डकार तथा वैकल्पिक चर्त्व से टकार करने पर—भृट्, भृड्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

'भृस्ज्+औ' यहां पदान्त व झल् परे न होने से संयोग के आदि सकार का प्रकृतसूत्र से लोप नहीं होता। झलां जश् झशि (१९) और 'स्तोः श्चुना श्चुः' (६२) दोनों प्राप्त होते हैं। जश्त्व के असिद्ध होने से प्रथम श्चुत्व से सकार को शकार हो—भृश्ज्+औ। पुनः 'झलां जश् झशि' (१९) से तालुस्थानिक शकार के स्थान पर तादृश जश्—जकार करने पर 'भृज्जौ' प्रयोग सिद्ध होता है। रूपमाला यथा—

प्र० भृट्,ड्	भृज्जौ	भृज्जः	पं० भृज्जः	भृड्भ्याम्	भृड्भ्यः
द्वि० भृज्जम्	,,	,,	ष० ,,	भृज्जोः	भृज्जाम्
तृ० भृज्जा	भृड्भ्याम्	भृड्भिः	स० भृज्जि	,,	भृट्त्सु,ट्सु
च० भृज्जे	,,	भृड्भ्यः	सं० हे भृट्,ड्!	हे भृज्जौ!	हे भृज्जः!

अभ्यास (४०)

(१) 'ऋत्विक्' आदि प्रयोगों में 'चोः कुः' अथवा 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' दोनों में से किसी एक के द्वारा कार्य सिद्ध हो सकता है, तो पुनः दो सूत्रों के निर्माण का क्या प्रयोजन है?

(२) युञ्जौ, युञ्जः—आदि प्रयोगों में झल् परे होने पर भी 'चोः कुः' सूत्र द्वारा कुत्व क्यों नहीं होता?

(३) क्विन्प्रत्यय का सर्वापहार लोप कैसे किया जाता है? ससूत्र लिखें। किञ्च इस के करने का लाभ ही क्या है?

(४) 'युजेरसमासे' सूत्र में 'युजि' के साथ इकार जोड़ने का क्या अभिप्राय है?

(५) निम्नलिखित सूत्रों की सोदाहरण विस्तृत व्याख्या करो—
१ स्कोः—, २ ऋत्विग्दधृक्—, ३ क्विन्प्रत्ययस्य कुः, ४ युजेरसमासे।

(६) १ खन्त्सु २ परिव्राट् ३ विश्वाराट् ४ भृट, ५ भृज्जौ, ६ युग्भ्याम्, ७ विश्वसृट्, ८ दवेड्भ्याम् ९ ऋत्विक्षु—इन प्रयोगों की सूत्रप्रदर्शनपूर्वक साधनप्रक्रिया लिखें।

(७) जब सयोगान्तलोप की दृष्टि मे स्कोः सयोगाद्योरन्ते च' सूत्र असिद्ध है, तो पुन वह उसे कैसे बाध लेता है ?

(८) पदान्त में षकार के स्थान पर किस सूत्र से जश्त्व होता है ? और वह जश्त्व कौन वर्ण होना चाहिये सोपपत्तिक स्पष्ट करो।

(९) 'कृदतिङ्' सूत्र पर 'अत्र धात्वधिकार' का क्या अभिप्राय है ?

(१०) 'राजा' यह किस २ शब्द का किस २ विभक्ति का रूप है ?

(उत्तर—राजन् सु, राज् टा)

यहां जकारान्त पुंल्लिङ्ग समाप्त होते हैं।

——❀——

अब दकारान्त पुंल्लिङ्गों का वर्णन करते हैं—

त्यद्=वह

'त्यजि तनि-यजिभ्यो डित्' (उणा० १२९) इस सूत्र द्वारा 'त्यजँ हानौ' (भ्वा० प०) धातु से डित् 'अदि' प्रत्यय करने से टि का लोप कर देने पर 'त्यद्' शब्द निष्पन्न होता है। इस का लोक मे प्रयोग कहीं नही देखा जाता। वेद मे इस का प्रचुर प्रयोग होता है ❀। अकेले ऋग्वेद मे ही पुंल्लिङ्ग त्यद् के प्रथमा के एकवचन का प्राय छत्तीस बार प्रयोग हुआ है। सर्वादिगणान्तर्गत होने से इसे सर्वनामकार्य भी होते हैं।

❀ परन्तु 'स्यश्छन्दसि बहुलम्' (६ १ १३०) सूत्र से इस का लोक मे भी प्रयोग अशुद्ध प्रतीत नही होता। अत एव वेणीसंहारनाटक मे—

"सूतो वा सूतपुत्रो वा यो वा स्यो वा भवाम्यहम्। (३ ३५) ऐसा क्वचित् पाठ भेद पाया जाता है।

'त्यजि तनि —' (उणा० १२६) सूत्र पर श्वेतवनवासी के श्लोक भी द्रष्टव्य हैं—
स्यत्तद्यदस्त्रय सर्वा—दिगणे पठिता अमी। तत्राद्यौ तु परोक्षार्थौ तृतीयस्तन्निरूपक ॥ १ ॥
आद्यस्य लोके न क्वापि प्रयोग परिदृश्यते। वेदे त्वेषस्य वाजीति प्रभृतिष्वथ गम्यते ॥२॥
स्यश्छन्दसीतिसूत्रस्थच्छन्दोग्रहणलिङ्गत ।
लोकेऽप्यस्य प्रयोगोऽस्तीत्येतदभ्युपगम्यते ॥ ३ ॥

त्यद् + स् (सुँ)। यहां 'त्यदादीनाम' (१९३) सूत्र द्वारा दकार का अकार तथा अतो गुणे' (२७४) सूत्र से पररूप एकादेश करने पर—त्य + स। यही बात ग्रन्थकार निर्देश करते हैं—

[लघु०] त्यदाद्यत्वम्पररूपत्वञ्च ।

अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३१० तदोः सः सावनन्त्ययोः ।७।२।१०६॥

त्यदादीनां तकारदकारयोरनन्त्ययोः सः स्यात् सौ । स्यः । त्यौ । त्ये । सः । तौ । ते । यः । यौ । ये । एषः । एतौ । एते । अन्वादेशे—एनम् । एनौ । एनान् । एनेन । एनयोः ॥

अर्थ — सुँ पर होने पर त्यदादियों के अनन्त्य (अन्त में न रहने वाले) तकार दकार का सकार हो जाता है।

व्याख्या— त्यदादीनाम् ।६।३। ['त्यदादीनाम' में] तदोः ।६।२। सः ।१।१। सौ ।७।१। अनन्त्ययोः ।६।२। समास —न अन्त्ययोः = अनन्त्ययोः , नञ्समास । अर्थ — (सौ) सुँ परे होने पर (त्यदादीनाम्) त्यदादियों के (अनन्त्ययोः) अनन्त्य (तदोः) तकार दकार को (सः) सकार आदेश हो जाता है।

त्य+स। यहां प्रकृतसूत्र से त्यद् शब्द के अनन्त्य तकार को सकार हो कर—स्य+स्। सकार को रुँत्व और रेफ को विसर्ग करने पर—स्यः प्रयोग सिद्ध हुआ। इस की रूपमाला यथा—

प्र० स्यः	त्यौ	त्ये		प० त्यस्मात्	त्याभ्याम्	त्येभ्यः
द्वि० त्यम्	,,	त्यान्		ष० त्यस्य	त्ययोः	त्येषाम्
तृ० त्येन	त्याभ्याम्	त्यैः		स० त्यस्मिन्	,,	त्येषु
च० त्यस्मै	,,	त्येभ्यः		सम्बोधन प्रायः नहीं होता		

यहां सर्वत्र त्यदाद्यत्व और पररूप कर प्रथम 'त्य' इस प्रकार अदन्त सर्वनाम बना लेना चाहिये। तब इस की प्रक्रिया 'सर्व' शब्दवत् चलती है। केवल स्यः में कुछ विशेष है जो पीछे बताया जा चुका है।

तद् = वह

यह शब्द भी तनुँ विस्तारे' (तना० उभ०) धातु से त्यजितनि ' (उणा० १२९) सूत्र द्वारा अदि' प्रत्यय करने से निष्पन्न होता है।

तद्+स् (सुँ)। यहाँ भी त्यदाद्यत्व तथा पररूप होकर— त+स्। पुन 'तदो स —'(३१०) सूत्र से अनन्त्य तकार को सकार आदेश कर रुँत्व विसर्ग करने से—'स' प्रयोग सिद्ध होता है।

इसकी रूपमाला यथा—

प्र०	स	तौ	ते	प०	तस्मात्	ताभ्याम्	तेभ्य
द्वि०	तम्	,,	तान्	ष०	तस्य	तयो	तेषाम्
तृ०	तेन	ताभ्याम्	तै	स०	तस्मिन्	,,	तेषु
च०	तस्मै		तेभ्य				

——❀——

यहा भी पूर्ववत् 'त्यदादीनाम' (१९३) से दकार का अकार तथा 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप होकर 'त' इस प्रकार अदन्त सर्वनाम बन जाता है। तब इसकी प्रक्रिया 'सर्व' शब्दवत् होती है। सुँ विभक्ति का विशेष पीछे बताया गया है।

यद्=जो

यह शब्द भी 'यजँ देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु' (भ्वा० उभ०) धातु से 'त्यजि तनि यजिभ्यो डित्' (उणा० १२६) सूत्र द्वारा 'अदि' प्रत्यय करने से सिद्ध होता है।

रूपमाला यथा—

प्र०	य	यौ	ये	प०	यस्मात्	याभ्याम्	येभ्य
द्वि०	यम्	,,	यान्	ष	यस्य	ययो	येषाम्
तृ०	येन	याभ्याम्	यै	स०	यस्मिन्	,,	येषु
च०	यस्मै	,,	येभ्य				

——❀——

यहा भी पूर्ववत् त्यदाद्यत्व और पररूप कर 'य' शब्द बन जाने पर सर्वनामकार्य हो जाते हैं। ध्यान रहे कि इसमें अनन्त्य तकार दकार न होने से सुँ में 'तदो स —' (३१०) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता।

एतद्=यह [निकटतम]

'इण गतौ (अदा० प०) धातु से 'एतेस्तुट् च' (उणा० १३०) सूत्र द्वारा अदि प्रत्यय तथा 'तुट्' का आगम करने पर 'एतद्' शब्द निष्पन्न होता है।

एतद्+स् (सुँ)। यहाँ 'त्यदादीनाम' (१९३) से दकार को अकार, 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप, 'तदो स —' (३१०) से अनन्त्य तकार को सकार तथा 'आदेश प्रत्यययो' (१५०) से इस सकार को षकार करने पर—एषस्= एष' प्रयोग सिद्ध होता है।

इनकी रूपमाला यथा—

प्र०	एष	एतौ	एते	प०	एतस्मात्	एताभ्याम्	एतभ्य
द्वि०	एतम्	,,	एतान्	ष०	एतस्य	एतयो	एतेषाम्
तृ०	एतेन	एताभ्याम्	एतै	स०	एतस्मिन		एतेषु
च०	एतस्मै	,	एतेभ्य				

यहा भी सवत्र यत्वाद्यत्व—पररूप होकर 'एत श द बन जाने पर सव श द की तरह सवनाम काय हाते है। सुँ विभक्ति का विशेष बता चुके हैं।

अन्वादेश म द्वितीयाटौस्स्वन (२८०) सूत्र द्वारा द्वितीया टा और ओस् विभक्तिया म एतद् शब्द के स्थान पर 'एत' आदेश हो जाता ह। शेष विभक्तिया म कुछ अन्तर नहा पडता।

अन्वादेश म रूपमाला यथा—

प्र०	एष	एता	एते	प	एतस्मात्	एताभ्याम्	एतभ्य
द्वि	एनम्❀	एनौ❀	एनान्❀	ष०	एतस्य	एनयो ❀	एतेषाम्
तृ०	एनेन❀	एताभ्याम्	एतै	स०	एतस्मिन	❀	एतेषु
च०	एतस्मै	,,	एतेभ्य		❀द्वितीयाटौस्स्वेन (२८०)		

नोट—त्यदादियों का प्राय सम्बोधन नही हुआ करता—यह हम पीछ लिख चुके है। यदि बनेगा भी तो प्रथमावत् बनेगा। सम्बुद्धि म 'एङ्ह्रस्वात्— का खयाल कर लेना चाहिये।

सूचना —ऊपर त्यदादियो के पुल्ँलिङ्ग के रूप दिये गये ह। स्त्रीलिङ्ग और नपुसकलिङ्ग के रूप आगे तत्तत्प्रकरणों मे देखें।

———❀———

अब दकारान्तों म युष्मद् और अस्मद् का प्रकरण आरम्भ किया जाता है। युष्मद् और अस्मद् शब्द तीनों लिङ्गों में एक समान होते हैं—यह हम पीछे अजन्त पुल्ँलिङ्ग मे 'कति' शब्द पर लिख चुके हैं।

युष्मद् और अस्मद् शब्दों की सिद्धि में बहुत सारे सूत्र प्रयुक्त होते हैं अत यह बालकों को कठिन प्रतीत होती है। हम इसे यथाशक्ति सरल तथा सुबोध बनान का प्रयास करेंगे। बालकों को इनकी सिद्धि से पूर्व इनके उच्चारण भली भाति कठस्थ कर लेने चाहिये। ऐसा करने से एक तो ये शब्द सरल दूसरे झटिति समझ में आ जाते हैं

इन दोनों की रूपमाला यथा—

*युष्मद् = तुम				*अस्मद् = मैं		
प्र०	त्वम्	युवाम्	यूयम्	प्र०	अहम्	आवाम्	वयम्
द्वि०	त्वाम्	,,	युष्मान्	द्वि०	माम्	,,	अस्मान्
तृ०	त्वया	युवाभ्याम्	युष्माभिः	तृ०	मया	आवाभ्याम्	अस्माभिः
च०	तुभ्यम्	,,	युष्मभ्यम्	च०	मह्यम्	,,	अस्मभ्यम्
प०	त्वत् द्	,,	युष्मत् द्	प०	मत् द्	,,	अस्मत् द्
ष०	तव	युवयोः	युष्माकम्	ष०	मम	आवयोः	अस्माकम्
स०	त्वयि	,,	युष्मासु	स०	मयि	,,	अस्मासु

युष्मद् और अस्मद् दोनों शब्दों में एक ही सूत्र प्रवृत्त होते हैं अतः हम भी इनकी सिद्धि इकट्ठी दिखायेंगे।

युष्मद् + सुँ, अस्मद् + सुँ। यहां अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३११ ङे प्रथमयोरम् ।७।१।२८॥

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य 'ङे' इत्येतस्य प्रथमाद्वितीययोश्चामादेशः स्यात्।

अर्थः—युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे 'ङे' को तथा प्रथमा और द्वितीया विभक्ति को अम् आदेश हो जाता है।

व्याख्या—युष्मदस्मद्भ्याम् ।५।२। ['युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' से] ङे ।६।१। [यहां षष्ठीविभक्ति का लुक् समझना चाहिये।] प्रथमयोः ।६।२। अम् ।१।१। समासः— प्रथमा च प्रथमा च = प्रथमे, तयोः = प्रथमयोः, एकशेषः । यहां पहले 'प्रथमा' शब्द से प्रथमाविभक्ति तथा दूसरे 'प्रथमा' शब्द से द्वितीया विभक्ति अभिप्रेत है †। अर्थः— (युष्मदस्मद्भ्याम्) युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे (ङे) ङे के स्थान पर तथा (प्रथमयोः) प्रथमा व द्वितीया विभक्ति के स्थान पर (अम्) 'अम्' आदेश हो जाता है।

इस सूत्र से सुँ का अम् आदेश हो कर—युष्मद् + अम्, अस्मद् + अम्। यहां 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा अम् के मकार की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती। 'न विभक्तौ तुस्माः' (१३१) सूत्र से निषेध हो जाता है। अब अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

---

* 'युष्यसिभ्यां मदिक्' (उणा० १३६) युषि सौत्रः।

† पहले 'प्रथमा' शब्द से सात विभक्तियों में से प्रथमाविभक्ति का ग्रहण हो जाता है, शेष द्वितीया आदि छः विभक्तियाँ बच रहती हैं। अब दूसरे 'प्रथमा' शब्द से उन छः अवशिष्ट विभक्तियों में से प्रथमाविभक्ति अर्थात् द्वितीया विभक्ति का ग्रहण हो जाता है। यह यहां तत्त्व है।

[लघु०] विधि सूत्रम्—३१२ त्वाहौ सौ ।७।२।६४॥

अनयोर्मपर्यन्तस्य त्वाहावादेशौ स्तः सौ परे ।

अर्थः—सुँ परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों को मपर्यन्त (म् भी साथ लेना है) क्रमशः त्व अह आदेश हो जाते हैं ।

व्याख्या—युष्मदस्मदोः ।६।२। ['युष्मदस्मदोरनादेशे' से] मपर्यन्तस्य ।६।१। [यह अधिकृत है ।] त्वाहौ ।१।२। सौ ।७।१। समासः—त्वश्च अहश्च = त्वाहौ, इतरेतर द्वन्द्वः । अर्थः—(सौ) सुँ परे होने पर (मपर्यन्तस्य = मपर्यन्तयोः) 'म्' तक (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् के स्थान पर (त्वाहौ) क्रमशः त्व और अह आदेश होते हैं ।

युष्मद् में युष्म् और अस्मद् में अस्म् ये मपर्यन्त भाग हैं । सुँ परे होने पर इन के स्थान पर क्रमशः त्व और अह आदेश होते हैं ।

युष्मद् + अम्, अस्मद् + अम्—यहां सुँ के स्थान पर हुए अम् आदेश को सुँ मान कर प्रकृतसूत्र से क्रमशः मपर्यन्त त्व और अह आदेश करने से—त्व अद् + अम्, अह अद् + अम् । अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३१३ शेषे लोपः ।७।२।६०॥

एतयोष्टिलोपः । त्वम् । अहम् ॥

अर्थः—युष्मद् और अस्मद् की टि का लोप हो जाता है ।

व्याख्या—युष्मदस्मदोः ।६।२। ['युष्मदस्मदोरनादेशे' से] मपर्यन्तात् ।५।१। ['मपर्यन्तस्य' इस अधिकृति का विभक्तिविपरिणाम हो जाता है ।] शेषे ।७।१। लोपः ।१।१। अर्थः—(युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के (मपर्यन्तात्) मपर्यन्त भाग से आगे (शेषे) शेष भाग में (लोपः) लोप प्रवृत्त होता है ।

मपर्यन्त भाग से आगे शेष भाग 'अद्' होता है । इस के लोप का इस सूत्र से विधान किया गया है । यह 'अद्' भाग युष्मद् और अस्मद् का 'टि' भाग ही होता है अतः वृत्ति में टि के लोप का कथन किया गया है ।

सावधानता—यहां यह नहीं समझना चाहिये कि युष्मद् और अस्मद् शब्द में आदेशों से अवशिष्ट शेष भाग का लोप होता है । यथा यहां त्व और अह आदेश हो चुकने पर 'अद्' भाग शेष रहता है । यदि ऐसा मानेंगे तो यहां तो कार्य चल जायगा, परन्तु

'युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम्' आदियो मे न हो सकेगा। क्योकि वहा 'युष्मद् अस्मद्' शब्दो के स्थान पर कुछ आदेश नही होता। अत यहा 'अपर्यन्तस्य' की अनुवृत्ति ला कर म् से आग के भाग को शेष समझना चाहिये।

इस सूत्र का दूसरा अर्थ भी होता है और कहीं २ लघुकौमुदी मे वह उपलब्ध भी होता है। वह यह है—

"आत्व यत्वनिमित्तेतरविभक्तौ परतो युष्मदस्मदोरन्त्यस्य लोप स्यात्।"

अर्थ—जिस विभक्ति के परे होने पर आत्व और यत्व विधान नही होते, उस विभक्ति के परे होन पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों के अन्त्य अर्थात् दकार का लोप हो जाता है।

व्याख्या—अष्टन आ विभक्तौ से विभक्तौ' पद की अनुवृत्ति आ जाने से इस अर्थ की उत्पत्ति इस प्रकार से होती है—(शेषे) शेष (विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (युष्मदस्मदो) युष्मद् और अस्मद् का (लोप) लोप हो जाता है। अलोऽन्त्यविधि से यह लोप अन्त्य अल् दकार के स्थान पर होता है।

इस सूत्र से पूर्व 'युष्मदस्मदोरनादेशे (३२१) सूत्र द्वारा अनादेश हलादि विभक्तियो के परे होन पर आत्व तथा 'योऽचि' (३२०) सूत्र से अनादेश अजादि विभक्तियो के परे होन पर यत्व का विधान किया जाता है। यदि यत्व और आत्व निमित्तक विभक्तियो से भिन्न अन्य शेष विभक्तिया परे हो तो दकार का लोप हो जाता है। काशिकाकार ने उन सब शेष विभक्तिया की गणना एक श्लोक मे कर दी है जिन मे आत्व और यत्व प्रवृत्त नहीं हो सकते। तथाहि—

"पञ्चम्याश्च चतुर्थ्याश्च, षष्ठीप्रथमयोरपि।
यान्यद्विवचनान्यत्र, तेषु लोपो विधीयते॥"

अर्थात् पञ्चमी, चतुर्थी षष्ठी तथा प्रथमा विभक्तियों के एकवचन और बहुवचन शेषविभक्तिया हैं। इनके परे होने पर 'शेषे लोप' से युष्मद् और अस्मद् के अन्त्य दकार का लोप हो जाता है।

त्व अद्+अम्, अह अद्+अम्—यहा शेषे लोप' से टि अर्थात् अद् का लोप हो कर—त्व+अम्, अह+अम्। पुन 'अमि पूर्व' (१३५) सूत्र से पूर्वरूप एकादेश करने से 'त्वम् अहम्' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

अन्त्यलोप वाले पक्ष में—'त्व अद्+अम् अह अद्+अम्' यहा प्रथम 'अतो गुणे (२७४) से पररूप एकादेश होकर त्वद्+अम्,अहद्+अम्'। अब 'शेषे लोप

से अन्त्य दकार का लोप कर अमि पूर्वः (१३५) से पूर्वरूप किया तो— त्वम् अहम् प्रयोग सिद्ध हुए।

युष्मद्+औ अस्मद्+औ—यहाँ ङे प्रथमयोरम् (३११) सूत्र से औकार को अम् आदेश हो जाता है। युष्मद्+अम् अस्मद्+अम्' इस दशा में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३१४ युवावौ द्विवचने ।७।२।९२॥

द्वयोरुक्तावनयोर्मपर्यन्तस्य युवावौ स्तो विभक्तौ ।

अर्थ —विभक्ति परे होने पर द्वित्वकथन में युष्मद् और अस्मद् को मपर्यन्त क्रमशः युव और आव आदेश हो जाते हैं।

व्याख्या—विभक्तौ ।७।१। ['अष्टन आ विभक्तौ' से] युष्मदस्मदोः ।६।२। ['युष्मदस्मदोरनादेशे' से] मपर्यन्तस्य ।६।१। [अधिकृत है।] युवावौ ।१।२। द्विवचने ।७।१। समास —द्वयोर् वचनम् कथनम् = द्विवचनम्, तस्मिन् = द्विवचने। षष्ठीतत्पुरुष। यहाँ 'द्विवचने' का विभक्तौ के साथ समानाधिकरण कर लेने से 'द्विवचन विभक्ति परे होने पर' ऐसा अर्थ अभीष्ट नहीं। क्योंकि यदि ऐसा अभीष्ट होता तो महामुनि 'द्विवचने' न कहकर 'द्वित्वे' ही कह देते। उनके 'द्वित्वे' न कहकर 'द्विवचने' कथन का यह तात्पर्य है कि चाहे एकवचन, द्विवचन बहुवचन जो भी विभक्ति परे हो द्वित्वकथन में युष्मद् और अस्मद् को मपर्यन्त युव, आव आदेश हो जाते हैं। यथा—युवाम् अतिक्रान्त = अतियुवाम् आवाम् अतिक्रान्त = अत्यावाम्। यहाँ सुँ परे होने पर भी युव और आव आदेश हो जाते हैं। यहाँ का विशेष विचार 'सिद्धान्तकौमुदी' में देखें। अर्थ —(विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (द्विवचने) द्वित्वकथन में (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के (मपर्यन्तस्य) मपर्यन्त भाग को (युवावौ) क्रमशः युव और आव आदेश हो जाते हैं।

युष्मद्+अम्, अस्मद्+अम्—यहाँ द्वित्वकथन में 'युवावौ द्विवचने' (३१४) सूत्र द्वारा मपर्यन्त क्रमशः युव, आव आदेश करने पर—युव अद्+अम्, आव अद्+अम्। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३१५ प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् ।७।२।८८॥

औङ्येतयोरात्वं लोके। युवाम्। आवाम्।

अर्थ —लोक में प्रथमा का द्विवचन परे होने पर युष्मद् और अस्मद् को आकार आदेश हो जाता है।

व्याख्या—प्रथमायाः ।६।१। च इत्यव्ययपदम्। द्विवचने ।७।१। भाषायाम् ।७।१। युष्मदस्मदोः ।६।२। [युष्मदस्मदोरनादेशे से] आ ।१।१ ['अष्टन आ विभक्तौ' से] अर्थ —(भाषायाम्) लोक में (प्रथमायाः) प्रथमाविभक्ति के (द्विवचने) द्विवचन परे होने पर (च) भी (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् के स्थान पर (आ) आकार आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यविधि से यह आदेश अन्त्य अल्—दकार के स्थान पर होता है।

युव अद्+अम्, आव अद्+अम् - यहां दकार को प्रकृतसूत्र से आकार आदेश होकर 'युव अ आ+अम्, आव अ आ+अम्' हुआ। अब 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ और 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप करने पर—'युवाम्, आवाम्' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

युष्मद्+जस्, अस्मद्+जस्—यहां 'ङे प्रथमयोरम्' (३११) से जस् को अम् आदेश हो जाता है। 'युष्मद्+अम्, अस्मद+अम्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३१६ यूयवयौ जसि ।७।२।६३॥

अनयोर्मपर्यन्तस्य यूयवयौ स्तो जसि। यूयम्। वयम्।

अर्थ —जस् परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों को मपर्यन्त क्रमशः यूय और वय आदेश हो जाते हैं।

व्याख्या—युष्मदस्मदोः ।६।२। [युष्मदस्मदोरनादेशे' से] मपर्यन्तस्य ।६।१ [यह अधिकृत है।] यूयवयौ ।१।२। जसि ।७।१। अर्थ —(जसि) जस् परे होने पर (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के (मपर्यन्तस्य) मपर्यन्त भाग के स्थान पर (यूयवयौ) यूय और वय आदेश होते हैं।

'युष्मद्+अम्, अस्मद्+अम्' यहां अम् को जस् मान कर उसके परे होने पर प्रकृतसूत्र द्वारा मपर्यन्त क्रमशः यूय और वय आदेश हो— यूय अद्+अम्, वय अद्+अम्'। अब 'शेषे लोपः' (३१३) से टिलोप तथा 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप करने पर—'यूयम्, वयम्' प्रयोग सिद्ध होते हैं। अन्त्यलोपपक्ष में 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप हो 'शेषे लोपः' (३१३) से अन्त्य दकार का लोप हो जाने पर 'अमि पूर्वः' (१३५) द्वारा पूर्वरूप हो जाता है—यूयम्, वयम्।

द्वितीया के एकवचन में—'युष्मद्+अम्, अस्मद्+अम्'। यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३१७ त्वमावेकवचने ।७।२।९७॥

एकस्योक्तावनयोर्मपर्यन्तस्य त्वमौ स्तो विभक्तौ ।

अर्थ—विभक्ति परे होने पर एकवचन में युष्मद् और अस्मद् के मपर्यन्त को त्व और म आदेश हो जाते हैं।

व्याख्या—विभक्तौ ।७।१। [अष्टन आ विभक्तौ से] युष्मदस्मदोः ।६।२। ['युष्मदस्मदोरनादेशे' से] मपर्यन्तस्य ।६।१। [यह अधिकृत है।] त्वमौ ।१।२। एकवचने ।७।१। समास—एकस्य वचनम्—कथनम्=एकवचनम्, तस्मिन्=एकवचने। षष्ठीतत्पुरुषसमास। यहां एकवचने का विभक्तौ के साथ समानाधिकरण कर एकवचन विभक्ति परे होने पर' ऐसा अर्थ अभीष्ट नहीं। क्योंकि तब महामुनि 'एकवचन' न कह कर 'एकत्वे' ऐसा कह देते। अतः यहां एकवचन कहने का यह तात्पर्य है कि चाहे एकवचन, द्विवचन व बहुवचन जो भी विभक्ति परे हो युष्मद् और अस्मद् को एकत्व कथन में मपर्यन्त त्व और म आदेश हो जाते हैं। यथा—त्वाम् अतिक्रान्तौ=अतित्वाम्, माम् अतिक्रान्तौ=अतिमाम्। यहां द्विवचन परे होने पर भी युष्मद् और अस्मद् के एकार्थवाची होने से त्व, म आदेश हो जाते हैं। विशेष सिद्धान्तकौमुदी में देखें।

'युष्मद्+अम्, अस्मद्+अम्' यहां क्रमशः मपर्यन्त 'त्व, म' आदेश होकर—त्व अद्+अम्, म अद्+अम्। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३१८ द्वितीयायाञ्च ।७।२।८७॥

अनयोरात् स्यात् । त्वाम् । माम् ।

अर्थ—द्वितीया विभक्ति परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों को आकार आदेश हो जाता है।

व्याख्या—युष्मदस्मदोः ।६।२। ['युष्मदस्मदोरनादेशे' से] आ ।१।१। ['अष्टन आ विभक्तौ' से] द्वितीयायाम् ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। अर्थः—(द्वितीयायाम्) द्वितीया विभक्ति परे होने पर (च) भी (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर (आ) आकार आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यविधि द्वारा यह आदेश अन्त्य दकार के स्थान पर होता है।

'त्व अद्+अम्, म अद्+अम्' यहां प्रकृतसूत्र से दकार को आकार आदेश हो त्व अ आ+अम् म अ आ+अम्'। अब 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप, 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ तथा 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'त्वाम्, माम्' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

युष्मद्+औट्, अस्मद्+औट्—यहां 'ङे प्रथमयोरम्' (३११) सूत्र से अम् आदेश होकर—'युष्मद्+अम् अस्मद्+अम्'। 'युवावौ द्विवचने' (३१४) से मपर्यन्त युव और आव हो—'युव अद्+अम् आव अद्+अम्'। अब 'द्वितीयायाञ्च' (३१८) से दकार को आकार, 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ तथा 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप एकादेश करने से 'युवाम्, आवाम्' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

सूचना—प्रथमा विभक्ति के 'युवाम्, आवाम्' में तथा द्वितीया विभक्ति के 'युवाम्, आवाम्' में आकारविधायक सूत्र का भेद है। प्रथमा में 'प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम्' (३१५) द्वारा तथा द्वितीया में 'द्वितीयायाञ्च' (३१८) से आकार आदेश होता है।

युष्मद्+शस्, अस्मद्+शस् यहां अनुबन्ध शकार का लोप होकर 'युष्मद्+अस् अस्मद्+अस्'। अब इस अवस्था में 'ङे प्रथमयोरम्' (३११) द्वारा अम् आदेश प्राप्त होने पर अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है।

[लघु०] विधि सूत्रम्—३१९ शसो न ।७।१।२९॥

आभ्यां शसो नः स्यात्। अमोऽपवादः। आदेः परस्य। संयोगान्तलोपः। युष्मान्, अस्मान्।

अर्थः—युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे शस् के स्थान पर नकार आदेश हो जाता है।

व्याख्या—युष्मदस्मद्भ्याम्।५।२।['युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' से] शसः ।६।१। न ।१।१।[यहां विभक्ति का लुक् समझना चाहिये।] अर्थः—(युष्मदस्मद्भ्याम्) युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे (शसः) शस् के स्थान पर (न) न् आदेश हो जाता है।

अम् आदेश के प्राप्त होने पर यह आदेश विधान किया गया है अतः यह उसका अपवाद है।

यह नकारादेश अलोऽन्त्यपरिभाषा से अन्त्य अल् अर्थात् सकार के स्थान पर

प्राप्त होता था, परन्तु 'आद परस्य' (७२) से उसका बाध हो शस्=अस् के आदि अर्थात् अकार के स्थान पर होता है।

युष्मद्+अस्, अस्मद्+अस्' यहां प्रकृतसूत्र से अकार को नकार आदेश हो युष्मद्+न् स्, अस्मद्+न् स्'। अब 'द्वितीयायाञ्च' (३१८) सूत्र से दकार को आकार तथा 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्ण दीर्घ हो— युष्मान्स्, अस्मान्स्। पुनः 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) से सकार का लोप करने पर—'युष्मान्, अस्मान्' प्रयोग सिद्ध होते हैं। ध्यान रहे कि यहां संयोगान्तलोप के असिद्ध होने से 'न लोपः—' (१८०) द्वारा नकार का लोप नहीं होता किञ्च 'अट्कुप्वाङ्—' (१३८) द्वारा प्राप्त णत्व का भी 'पदान्तस्य' (१३९) द्वारा निषेध हो जाता है।

युष्मद्+आ (टा), अस्मद्+आ (टा)—यहां एकवचन होने के कारण 'त्वमावेकवचने' (३१७) से मपर्यन्त त्व और म आदेश हो— त्व अद्+आ म अद्+आ हुए। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३२० योऽचि ।७।२।८९।।

अनयोर्यकारादेशः स्यादनादेशेऽजादौ परतः । त्वया । मया ।

अर्थः—अनादेश अजादि विभक्ति पर होने पर युष्मद् और अस्मद् को यकार आदेश हो जाता है।

व्याख्या—युष्मदस्मदोः ।६।२। ['युष्मदस्मदोरनादेशे से] य ।१।१। अनादेशे ।७।१। ['युष्मदस्मदोरनादेशे' से] अचि ।७।१। विभक्तौ ।७।१। ['अष्टन आ विभक्तौ' से] 'अचि' यह 'विभक्तौ' का विशेषण है अतः 'यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे' द्वारा तदादि विधि होकर 'अजादौ विभक्तौ' ऐसा बन जाता है। अर्थः—(अनादेशे) अनादेश (अचि) अजादि (विभक्तौ) विभक्ति परे हो तो (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों को (य) य् आदेश हो जाता है।

जिन अजादि विभक्तियों के स्थान पर कोई आदेश नहीं होता वे अनादेश अजादि विभक्तियां कहाती हैं। उनके परे होने पर युष्मद् और अस्मद् को य् आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यविधि से यह आदेश अन्त्य अल् दकार के स्थान पर होता है।

त्व अद्+आ, म अद्+आ' यहां 'आ' यह अनादेश अजादि विभक्ति परे है अतः प्रकृतसूत्र से दकार को यकार आदेश होकर 'अतो गुणे' (२७४) सूत्र से पररूप करने पर—त्वय्+आ='त्वया', मय्+आ='मया' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

'अनादेश' कथन के कारण 'युष्मत्, अस्मत्' आदि रूपों में यकारादेश नहीं होता।

क्योंकि यहां पञ्चमी के बहुवचन 'भ्यस्' के स्थान पर 'पञ्चम्या अत्' (३२५) द्वारा 'अत्' यह अजादि आदेश हुआ है।

'युष्मद्+भ्याम्, अस्मद्+भ्याम्' यहां 'युवावौ द्विवचने' (३१४) से क्रमशः मपर्यन्त युव और आव आदेश होकर 'युव अद्+भ्याम्, आव अद्+भ्याम्'। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३२१ युष्मदस्मदोरनादेशे ।७।२।८६॥

अनयोरात् स्याद् अनादेशे हलादौ विभक्तौ। युवाभ्याम्। आवाभ्याम्। युष्माभिः। अस्माभिः।

अर्थः—अनादेश हलादि विभक्तियों के परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर आकार आदेश हो जाता है।

व्याख्या—युष्मदस्मदोः ।६।२। अनादेशे ।७।१। हलि ।७।१। ['रायो हलि' से] विभक्तौ ।७।१। आ ।१।१। [अष्टन आ विभक्तौ' से] अर्थः—(अनादेशे) अनादेश (हलि=हलादौ) हलादि (विभक्तौ) विभक्ति परे होने पर (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर (आ) 'आ' यह आदेश हो जाता है। यह आकार आदेश अलोऽन्त्यविधि से अन्त्य अल् दकार के स्थान पर होता है।

'युव अद्+भ्याम्, आव अद्+भ्याम्' यहां 'भ्याम्' यह अनादेश हलादि विभक्ति परे है अतः दकार को आकार होकर पररूप तथा सवर्णदीर्घ करने से—'युवाभ्याम्, आवाभ्याम्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

अनादेश के फलस्वरूप 'युष्मभ्यम्' से 'भ्यम्' पक्ष में यह आ—आदेश नहीं होगा।

'युष्मद्+भिस्, अस्मद्+भिस्' यहां 'युष्मदस्मदोरनादेशे' (३२१) सूत्र से दकार को आकार तथा सवर्णदीर्घ होकर 'युष्माभिः, अस्माभिः' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

'युष्मद्+ङे, अस्मद्+ङे' यहां 'ङे प्रथमयोरम्' (३११) से अम् आदेश होकर 'युष्मद्+अम्, अस्मद्+अम्'। अब अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३२२ तुभ्यमह्यौ ङयि ।७।२।९५॥

अनयोर्मपर्यन्तस्य। टिलोपः। तुभ्यम्। मह्यम्।

अर्थः—'ङ' परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों को क्रमशः मपर्यन्त तुभ्य और मह्य आदेश हो जाते हैं।

व्याख्या —युष्मदस्मदोः ।६।२। [युष्मदस्मदोरनादेशे' से] मपर्यन्तस्य ।६।१। [यह अधिकृत है ।] तुभ्यमह्यौ ।१।२। ङयि ।७।१। अर्थ —(ङयि) ङे परे होने पर (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के (मपर्यन्तस्य) मकारपर्यन्त भाग के स्थान पर क्रमशः (तुभ्यमह्यौ) तुभ्य और मह्य आदेश हो जाते हैं ।

युष्मद्+अम्, अस्मद्+अम् यहां स्थानिवद्भाव से अम् को ङे मानकर प्रकृतसूत्र से तुभ्य और मह्य आदेश होकर 'तुभ्य अद्+अम्, मह्य अद्+अम्' अब टिलोपपक्ष में 'शेषे लोपः' (३१८) से अन्त का लोप तथा अमि पूर्वः (१९४) से पूर्वरूप करने पर 'तुभ्यम्, मह्यम्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं । अन्त्यलोपपक्ष में प्रथम 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप होकर पुनः 'शेषे लोपः' (३१८) से दकारलोप तथा 'अमि पूर्वः' (१९४) से पूर्वरूप करने पर— तुभ्यम्, मह्यम् प्रयोग सिद्ध होते हैं ।

'युष्मद्+भ्यस्, अस्मद्+भ्यस्' यहां अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३२३ भ्यसोऽभ्यम् ।७।१।३०॥

आभ्यां परस्य भ्यसोऽभ्यम् इत्यादेशः स्यात् । युष्मभ्यम् । अस्मभ्यम् ।

अर्थ —युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे भ्यस् को अभ्यम् आदेश हो ।

व्याख्या—युष्मदस्मद्भ्याम् ।५।२। ['युष्मदस्मद्भ्याम् ङसोऽश्' से] भ्यसः ।६।१। अभ्यम् ।१।१। अर्थ —(युष्मदस्मद्भ्याम्) युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे (भ्यसः) भ्यस् के स्थान पर (अभ्यम्) अभ्यम् आदेश हो जाता है ।

'युष्मद्+भ्यस्, अस्मद्+भ्यस्' यहां भ्यस् को अभ्यम् आदेश होकर टिलोप❀ करने से 'युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं ।

ध्यान रहे कि 'शेषे लोपः' (३१८) में अन्त्यलोप मानने वाले 'भ्यसो भ्यम्' इस प्रकार सूत्र पढ़ कर उस का 'भ्यस् के स्थान पर भ्यम् हो' ऐसा अर्थ करते हैं । अतः उनके मत में भी यथेष्ट रूप सिद्ध हो जाते हैं ।

'युष्मद्+ङसि, अस्मद्+ङसि' यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्— ३२४ एकवचनस्य च ।७।१।३२॥

आभ्यां ङसेरत् । त्वत् । मत् ।

❀यहां अनादेश अजादि विभक्ति न होने से (३२०) सूत्र से यकारादेश नहीं होता । एवम्—'भ्यम्' पक्ष में भी (३२१) से आकारादेश की अप्रवृत्ति जाननी चाहिये ।

अर्थः—युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे ङसि का 'अत्' आदेश हो।

व्याख्या—युष्मदस्मद्भ्याम् ।५।२। ['युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' से] पञ्चम्याः ।६।१। [पञ्चम्या अत्' से] एकवचनस्य ।६।१। च इत्यव्ययपदम्। अत् ।१।१। ['पञ्चम्या अत्' से] अर्थः—(युष्मदस्मद्भ्याम्) युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे (पञ्चम्याः) पञ्चमी के (एकवचनस्य) एकवचन के स्थान पर (च) भी (अत्) 'अत्' यह आदेश हो जाता है।

'युष्मद्+ङसि अस्मद्+ङसि' यहां प्रकृतसूत्र से अत् आदेश (ध्यान रहे कि अत् आदेश अनेकाल् होने से सर्वादेश होता है) होकर—'युष्मद्+अत्, अस्मद्+अत्'। 'त्वमावेकवचने' (३१७) से मपर्यन्त 'त्व म' होकर—'त्व अद्+अत्, म अद्+अत्'। अब 'शेषे लोपः' (३१३) से टिलोप तथा 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप एकादेश करने पर 'त्वत्, मत्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं। अन्त्यलोपपक्ष में 'अतो गुणे' से पररूप 'शेषे लोपः' से दकारलोप तथा पुनः पररूप करने पर 'त्वत्, मत्' रूप सिद्ध होते हैं।

सूचना—'अत्' आदेश में 'हलन्त्यम्' (१) द्वारा तकार की इत्संज्ञा नहीं होती, 'न विभक्तौ तुस्माः' (१३१) सूत्र निषेध करता है।

'युष्मद्+भ्यस्, अस्मद्+भ्यस्' यहां 'भ्यसोऽभ्यम्' (३२३) के प्राप्त होने पर उसका अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—**३२५ पञ्चम्या अत् ।७।१।३१।।**

आभ्यां पञ्चम्या भ्यसोऽत् स्यात्। युष्मत्। अस्मत्।

अर्थः—युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे पञ्चमी के भ्यस् को 'अत्' आदेश हो।

व्याख्या—युष्मदस्मद्भ्याम् ।५।२। ['युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश्' से] पञ्चम्याः ।६।१। भ्यसः ।६।१। ['भ्यसोऽभ्यम्' से] अत् ।१।१। अर्थः—(युष्मदस्मद्भ्याम्) युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे (पञ्चम्याः) पञ्चमी के (भ्यसः) भ्यस् के स्थान पर (अत्) 'अत्' आदेश हो जाता है।

'युष्मद्+भ्यस्, अस्मद्+भ्यस्' यहां प्रकृतसूत्र से पञ्चमी के भ्यस् को अत् आदेश होकर—'युष्मद्+अत्, अस्मद्+अत्'। अब 'शेषे लोपः' (३१३) से टिलोप होकर 'युष्म्+अत्=युष्मत्, अस्म्+अत्=अस्मत्' प्रयोग सिद्ध होते हैं। अन्त्यलोपपक्ष में अन्त्य दकार का लोप होकर पररूप करने से—'युष्मत्, अस्मत्' सिद्ध होते हैं।

'युष्मद्+ङस्, अस्मद्+ङस्' यहां 'त्वमावेकवचने' (३१७) के प्राप्त होने पर उसका अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३२६ तवममौ ङसि ।७।२।९६।।

अनयोर्मपर्यन्तस्य तवममौ स्तो ङसि ।

अर्थ — ङस् परे होने पर युष्मद् और अस्मद् शब्दों के मपर्यन्त के क्रमशः 'तव' और 'मम' आदेश होते हैं ।

व्याख्या—युष्मदस्मदोः ।६।२। [युष्मदस्मदोरनादेशे से] मपर्यन्तस्य ।६।१। [यह अधिकृत है ।] तवममौ ।१।२। ङसि ।७।१। अर्थः—(ङसि) ङस् परे होने पर (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के (मपर्यन्तस्य) मकारपर्यन्त भाग के स्थान पर क्रमशः (तवममौ) तव और मम आदेश होते हैं ।

युष्मद्+ङस्, अस्मद्+ङस् यहां प्रकृतसूत्र से मपर्यन्त को 'तव, मम' आदेश करने पर—तव अद्+ङस्, मम अद्+ङस् । अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम् - ३२७ युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश् ।७।१।२७।।

युष्मदस्मद्भ्यां परस्य ङसोऽशादेशः स्यात् । तव । मम । युवयोः । आवयोः ।

अर्थ—युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे ङस् के स्थान पर 'अश्' आदेश हो ।

व्याख्या—युष्मदस्मद्भ्याम् ।५।२। ङसः ।६।१। अश् ।१।१। अर्थः—(युष्मदस्मद्भ्याम्) युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे (ङसः) ङस् के स्थान पर (अश्) अश् आदेश हो जाता है । 'अश्' आदेश शित् होने से 'आदेः परस्य' को बाध कर सर्वादेश होता है ।

'तव अद्+ङस्, मम अद्+ङस्' यहां अश् आदेश होकर—तव अद्+अ (अश्), मम अद्+अ (अश्)' । अब 'शेषे लोपः' (३१३) से अद् का लोप तथा 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप एकादेश करने से—'तव, मम' ये दो रूप सिद्ध होते हैं । अन्त्यलोपपक्ष में भी दकार का लोप होकर पररूप एकादेश करने से रूप सिद्ध हो जाते हैं ।

'युष्मद्+ओस्, अस्मद्+ओस्' यहां 'युवावौ द्विवचने' (३१४) से मपर्यन्त

क्रमश युव, आव होकर— युव अद + आस, आव अद् + आस्'। 'योऽचि (३२०) से दकार को यकारादेश होकर— युव अय् + ओस्, आव अय् + ओस्'। अतो गुणे' (२७४) से पररूप एकादेश करने पर 'युवयो, आवयो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

'युष्मद् + आम् अस्मद् + आम्' अब अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३२८ साम आकम् ।७।१।३३॥

आभ्यां परस्य साम आकम् स्यात्। युष्माकम्। अस्माकम्। त्वयि। मयि। युवयो। आवयो। युष्मासु। अस्मासु।

अर्थ—युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे साम् को आकम् आदेश हो।

व्याख्या—युष्मदस्मद्भ्याम् ।५।२। [युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश् से] साम ।६।१। आकम् ।१।१। अर्थ—(युष्मदस्मद्भ्याम्) युष्मद् और अस्मद् शब्दों से परे (साम) साम् के स्थान पर (आकम्) आकम् आदेश हो।

युष्मद् और अस्मद् शब्दों के अदन्त न होने से इनसे परे आम् को 'आमि सर्वनाम्न सुट् (१५५) से सुट न हो सकने के कारण जब साम् ही नहीं होता तो पुन उसके स्थान पर आकम् आदेश कैसे सम्भव हो सकता है? यह प्रश्न यहां उपस्थित होता है। इसका उत्तर यह है कि यहां साम्' निर्देश भावी (आगामी=आगे होने वाले) सुट्' की निवृत्ति के लिये है। अर्थात् आकम् आदेश करने पर अन्त्यलोपपक्ष मे शेषे लोप' (३१३) सूत्र से जब अन्त्य दकार का लोप हो जाता है तब युष्मद् अस्मद् के अदन्त हो जाने से 'आमि सर्वनाम्न सुट् (१५५) सूत्र से जो सुट्' का आगम प्राप्त होता है, उसकी निवृत्ति के लिये यहां साम्' के स्थान पर आकम्' आदेश कर रहे हैं। इससे 'आकम् आदेश करने पर अन्त्यलोपपक्ष मे अवर्णान्त हो जाने पर भी सुट् का आगम नहीं होता।

बालोपयोगी सार यह है कि यह सूत्र दो कार्य करता है। एक तो यह आम् के स्थान पर आकम् आदेश करता है। दूसरा यह दकारलोप हो जाने पर प्राप्त सुडागम का निषेध करता है।

'युष्मद् + आम्, अस्मद् + आम्' यहां 'साम आकम्' सूत्र से आम् को आकम् करने पर—युष्मद् + आकम्, अस्मद् + आकम्। अब अन्त्यलोपपक्ष में 'शेषे लोप' (३१३) से दकार का लोप होकर सवर्णदीर्घ करने पर 'युष्माकम्, अस्माकम्' ये रूप सिद्ध होते हैं। टिलोपपक्ष मे भी 'शेषे लोप' से टि=अद् का लोप होकर—'युष्म् +

आकम् = युष्माकम्, अस्म् + आकम् = अस्माकम्' सिद्ध हो जाते हैं।

सूचना—यदि आकम् की बजाय अकम् इस प्रकार कहा होता तो अन्त्य लोपपक्ष में शेष लोप से दकार का लोप होकर पररूप एकादेश करने पर युष्मकम् अस्मकम् इस प्रकार अनिष्ट रूप बन जाते। अतः आकम् आदेश ही युक्त है।

युष्मद् + ङि अस्मद् + ङि यहां ङकार अनुबन्ध का लोप होकर 'त्वमावेकवचने' (३१७) से क्रमशः मपर्यन्त के त्व और म आदेश करने से— त्व अद् + इ, म अद् + इ। 'योऽचि' (३२०) से दकार को यकार तथा 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप एकादेश होकर त्वयि, मयि प्रयोग सिद्ध होते हैं।

युष्मद् + सु (सुप्) अस्मद् + सु (सुप्) यहां 'युष्मदस्मदोरनादेशे' (३२१) से दकार को आकार होकर सवर्णदीर्घ करने से 'युष्मासु अस्मासु' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

— ० —

अब युष्मद् अस्मद् विषयक सूत्रों पर कुछ अत्यन्त उपयोगी नोट लिखे जाते हैं। इनसे निश्चय ही बालकों को अपूर्व लाभ होगा। ध्यान देकर पढ़ें —

१ (मपर्यन्त आदेशों के विषय में)

(क)—एकवचन में—सु और अम् को छोड़कर अन्य सब स्थानों में 'त्वमावेकवचने' (३१७) प्रवृत्त हो जाता है। सु में 'त्वाहौ सौ' (३१४) ङे में 'तुभ्यमह्यौ ङयि' (३२२) ङस् में 'तवममौ ङसि' (३२६) अपवाद हैं। तथाहि—

ङस सु ङेविभक्तिश्च विनैकवचने सदा।
एकोक्तौ तु त्वमादेशौ मपर्यन्ताविती रितौ ॥१॥
तुभ्यमह्यौ ङयि स्याता त्वाहौ सौ मुनिचोदितौ।
ङस्यादेशौ तथा ख्यातौ तवेति च ममेत्यपि ॥२॥

(ख)—द्विवचनों में सर्वत्र मपर्यन्त युव आव आदेश होते हैं। इनका कोई अपवाद नहीं। तथाहि—

अपवादं विनादेशौ युवावौ भवतः सदा।

(ग)—बहुवचन में जस् को छोड़कर अन्य कहीं भी मपर्यन्त आदेश नहीं होता। जस् में 'यूयवयौ जसि' से यूय, वय आदेश होते हैं। तथाहि—

जसमेकम्परित्यज्य आदेशो भूम्नि नो भवेत्।

जसि यूयवयादेशौ मपर्यन्ताविती रितौ ॥

—❀—

२ (विभक्तिस्थानिक आदेशों के विषय में)

शस त्यक्त्वा द्वितीयाया प्रथमायास्तथैव ङे ।
अमादेशो बुधै प्रोक्त शसोऽकारस्य न स्मृत ॥१॥
साम आक ङसोऽश्प्रोक्तोऽत् पञ्चम्येकबहुत्वयो ।
ऋत एभ्यो न चादेशो विभक्तीना क्वचिद्भवेत् ॥२॥

अर्थ —शस् को छोडकर द्वितीया के तथा प्रथमा और ङे के स्थान पर अम् आदेश हो जाता है। शस के अकार को नकार आदेश होता है ॥१। साम् (आम्) को आकम् ङस् का अश पञ्चमी के एकवचन और बहुवचन का अत् आदेश होता है। इन आदेशों के बिना अन्य किसी विभक्ति के स्थान पर कोई आदेश नहीं होता ॥२॥

—❀—

३ (आत्व और यत्व के विषय मे)

(क)— सुपि चौङि भिसि भ्यामि द्वितीयाया तथैव च ।
आत्वमेषु दकारस्य त्रिभि सूत्रैर्मुनीरितै ॥

अर्थ —प्रथमा के द्विवचन (औ), द्वितीया, भ्याम्, भिस् तथा सुप् मे दकार को आकार हो जाता है। दकार का आकार करने वाले तीन सूत्र हैं—१ प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् (३१५) २ द्वितीयाया च (३१८) ३ युष्मदस्मदोरनादेशे (३२१)

(ख)—योऽचिसूत्रेण यादेश आङि ओसि तथैव ङौ ।

अर्थ —आङ् (टा), ओस तथा ङि परे होने पर दकार को यकार आदेश हो जाता है।

—❀—

४ ('शेषे लोप' सूत्र के विषय में)

पञ्चम्याश्च चतुर्थ्याश्च षष्ठीप्रथमयोरपि ।
यान्यद्विवचनान्यत्र तेषु लोपो विधीयते ॥

अर्थ —पञ्चमी चतुर्थी, षष्ठी तथा प्रथमा के एकवचन और बहुवचन के पर होने पर शेषलोप सूत्र प्रवृत्त हुआ करता है।

—०—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३२६ युष्मदस्मदोः षष्ठी-चतुर्थी-द्वितीयास्थयोर्वान्नावौ ।८।१।२०॥

पदात्परयोरपादादौ स्थितयोः षष्ठ्यादिविशिष्टयोर्वान्नावौ इत्यादेशौ स्तः ।

अर्थ —पद से पर पाद के आदि में न ठहरे हुए षष्ठी चतुर्थी तथा द्वितीया विभक्ति से युक्त युष्मद् अस्मद् शब्दों के स्थान पर क्रमशः वाम् नौ आदेश होते हैं।

व्याख्या—पदात् ।५।१। [यह अधिकृत है।] षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः ।६।२। युष्मदस्मदोः ।६।२। वान्नावौ ।१।२। अपादादौ ।७।१। [यह अधिकृत है।] समास —न पादादौ=अपादादौ, प्रसज्यप्रतिषेध । नञ्समास । अर्थ —(पदात्) पद से परे (षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः) षष्ठी चतुर्थी तथा द्वितीया विभक्ति के साथ वर्त्तमान (युष्मदस्मदोः) युष्मद् अस्मद् शब्दों के स्थान पर क्रमशः (वान्नावौ) वाम् नौ आदेश हो जाते हैं। (अपादादौ) परन्तु पाद के आदि में नहीं होते।

यह सूत्र केवल षष्ठ्यादि के द्विवचन में ही प्रवृत्त होता है एकवचन व बहुवचन में नहीं। एकवचन और बहुवचन में अग्रिम तीन सूत्र इसके अपवाद हैं। सूत्र के उदाहरण यथा—

द्वितीया—लोको वां (युवाम्) पश्यति । लोको नौ (आवाम्) पश्यति ।

चतुर्थी—ईशो वां (युवाभ्याम्) ददाति । ईशो नौ (आवाभ्याम्) ददाति ।

षष्ठी—धनमिदं वाम् (युवयोः) अस्ति । धनमिदं नौ (आवयोः) अस्ति ।

यहां कोष्ठ में लिखे शब्दों के स्थान पर वाम्, नौ आदेश हुए हैं।

'पद से परे' इसलिए कहा गया है कि—युवामीशो रक्षतु । आवां दुष्टस्तुदति । युवाभ्यां भ्राता ददाति । आवाभ्यां माता ददाति । युवयोर्धनमस्ति । आवयोर्धनमस्ति । इत्यादि स्थानों पर आदेश न हों। यहां 'युवाम्' आदि पद से पर नहीं हैं।

'अपादादौ' इसलिए कहा है कि श्लोक के पाद के आदि में युवाम्, आवाम्'

आदि के स्थान पर वाम् नौ आदेश न हो जाएं*। यथा—

> दयालो ! देव ! विख्यात ! आवयोर्हरसि व्यथाम् ।
> अतः शरणमापन्नौ आवां रक्ष निजाङ्कित ॥

यहां 'आवयोः' और 'आवाम्' के पद से परे होने पर भी पाद के आदि में वर्तमान होने के कारण नौ आदेश प्राप्त नहीं होता।

'युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः' में 'स्थ' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि षष्ठ्यादि विभक्तियों के साथ रहने पर ही 'युष्मद् अस्मद्' शब्दों को 'वाम् नौ' आदेश हों समास में विभक्ति के लुप्त हो जाने पर न हों। यथा—'इमौ युष्मत्पुत्रौ गच्छतः। इमावस्मत्पुत्रौ वदतः' यहां युवयोः पुत्रौ=युष्मत्पुत्रौ, आवयोः पुत्रौ=अस्मत्पुत्रौ इस प्रकार षष्ठीतत्पुरुष समास है। समास में विभक्ति का लुक् हो जाने से 'वाम्, नौ' आदेश नहीं होते।

अब इस सूत्र के अपवाद आरम्भ किये जाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३३० बहुवचनस्य वस्नसौ ।८।१।२१॥

उक्तविधयोरनयोः षष्ठ्यादिबहुवचनान्तयोर्वस्नसौ स्तः ।

अर्थः—पद से परे, पाद के आदि में न ठहरे हुए, षष्ठी, चतुर्थी तथा द्वितीया के बहुवचनों से युक्त युष्मद्, अस्मद् शब्दों को क्रमशः वस्, नस् आदेश हो जाते हैं।

व्याख्या—पदात् ।५।१। [अधिकृत है।] षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः ।६।२। [पूर्वसूत्र से] युष्मदस्मदोः ।६।२। [पूर्वसूत्र से] बहुवचनस्य ।६।१। [यह 'युष्मदस्मदोः' का विशेषण है, अतः विभक्तिविपरिणाम तथा तदन्तविधि से 'बहुवचनान्तयोः' बन जाता है।] वस्नसौ ।१।२। अपादादौ ।७।१। [यह भी अधिकृत है।] अर्थः—(पदात्) पद से परे (षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः) षष्ठी चतुर्थी तथा द्वितीया सहित वर्तमान (बहुवचनस्य=बहुवचनान्तयोः) बहुवचनान्त (युष्मदस्मदोः) युष्मद्, अस्मद् शब्दों के स्थान पर क्रमशः (वस्नसौ) वस्, नस् आदेश हो जाते हैं। परन्तु (अपादादौ) पाद के आदि में नहीं होते। यह सूत्र पूर्वसूत्र का अपवाद है। इसके

---

* यह निषेध श्लोक के द्वितीय तृतीयादि पादों के लिए किया गया है, प्रथम पाद के लिए नहीं। क्योंकि प्रथम पाद में तो 'पदात्' इस अधिकार से ही व्यभिचार निवृत्ति हो सकती थी।

उदाहरण यथा—

षष्ठी—गावो व (युष्माकम्) सन्ति । अत्रा न (अस्माकम्) सन्ति ।

चतुर्थी—गावो वो (युष्मभ्यम्) दीयन्ते । अन्ना नो (अस्मभ्यम्) दीयन्ते ।

द्वितीया—गावो व (युष्मान्) पश्यन्ति । अन्ना न (अस्मान्) पश्यन्ति ।

पद से पर निम्नलिखित उदाहरणों— युष्माकं धनमस्ति । २ अस्माकं जलमस्ति । ३ युष्मभ्यं दीयते । ४ अस्मभ्यं दीयते । ५ युष्माकं श्रद्धाऽस्ति । ६ अस्माकं श्रद्धाऽस्ति । इत्यादियों में वस् नस् आदेश न हो ।

'अपादादौ' इसलिये कहा गया है कि—

"न शृणोति हितं पापी, युष्माकं वित्तहारक ।'

इत्यादियों में युष्माकम् के स्थान पर वस् आदेश न हो ।

'स्थ ग्रहण का प्रयोजन पूर्ववत्— अयं युष्म पुत्रो (युष्माकं पुत्र) गच्छति, अयम् अस्म पुत्रो (अस्माकं पुत्र) गच्छति' इत्यादियों में वस्, नस् आदेश न करना ही है ।

अब वाम्, नौ का दूसरा अपवाद लिखते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्— ३३१ तेमयावेकवचनस्य ।८।१।२२॥

उक्तविषयोरनयो षष्ठीचतुर्थ्येकवचनान्तयोस्ते मे एतौ स्त ।

अर्थ—पद से पर पाद के आदि में न ठहरे हुए, षष्ठी तथा चतुर्थी के एक वचनों से युक्त, युष्मद् अस्मद् शब्दों को क्रमश 'ते मे' आदेश हो जाते हैं ।

व्याख्या— पदात् ।५।१। [अधिकृत है] षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयो ।६।२। युष्मदस्मदो ।६।२। [युष्मदस्मदो षष्ठी ' से] एकवचनस्य । ६।१। [युष्मदस्मदो ' का विशेषण होने से पूर्ववत् 'एकवचनान्तयो ' बन जाता है ।] तेमया ।१।२। अपादादौ ।७।१। [अधिकृत है] अर्थ —(पदात्) पद से परे, (षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयो) षष्ठी चतुर्थी तथा द्वितीया के सहित वर्तमान (एकवचनस्य = एकवचनान्तयो) एकवचनान्त (युष्मदस्मदो) युष्मद् अस्मद् शब्दों के स्थान पर क्रमश (तेमयौ) 'ते, मे' आदेश होते हैं । परन्तु (अपादादौ) पाद के आदि में नहीं होते ।

यह सूत्र युष्मदस्मदो षष्ठी ' (३२९) सूत्र का अपवाद है । इसका भी 'त्वामौ द्वितीयाया (३३२) यह अग्रिमसूत्र अपवाद है । अत यह सूत्र षष्ठी तथा चतुर्थी के एकवचनान्तों में ही प्रवृत्त होता है । ग्रन्थकार ने भी वृत्ति में इसीलिए द्वितीया

का ग्रहण नहीं किया। इसके उदाहरण यथा—

षष्ठी—ईश ! अहं ते (तव) दासोऽस्मि। त्वं मे (मम) दासोऽसि।

चतुर्थी—नमस्ते (तुभ्यम्) ऽस्तु। भोजनं मे (मह्यम्) प्रयच्छतु।

पद से पर इसलिए कहा है कि—तव दास एव जनः। ममास्ति प्रयोजनम्। तुभ्यं धनं दास्यामि। मह्यम् मोदकम् रोचते। इत्यादियों में 'ते मे' आदेश न हो जाए।

'अपादादौ' इसलिये कहा है कि—

"पुरा पश्यन्नरो मूर्ख, तव कार्यं करिष्यति" इत्यादि में आदेश न हो जाय।

अब इस सूत्र का अपवाद कहते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३३२ त्वामौ द्वितीयायाः ।८।१।२३॥

द्वितीयैकवचनान्तयोस्त्वा मा इत्यादेशौ स्तः ॥

अर्थः—पद से पर, पाद के आदि में न ठहरे हुए, द्वितीया के एकवचन से युक्त युष्मद्, अस्मद्' शब्दों को क्रमशः 'त्वा मा' आदेश हो जाते हैं।

व्याख्या—पदात्। ५।१। [अधिकृत है।] द्वितीयायाः। ६।१। एकवचनस्य। ६।१। [तेमयावेकवचनस्य से। 'युष्मदस्मदोः' का विशेषण है, अतः विभक्तिविपरिणाम तथा तदन्तविधि होकर 'एकवचनान्तयोः' बन जाता है।] युष्मदस्मदोः। ६।२। [युष्मदस्मदोः षष्ठी' से] त्वामौ। १।२। अपादादौ। ७।१। [यह भी अधिकृत है।] अर्थः—(पदात्) पद से पर (द्वितीयायाः) द्वितीया के (एकवचनस्य=एकवचनान्तयोः) एकवचनान्त (युष्मदस्मदोः) युष्मद् अस्मद् शब्दों के स्थान पर क्रमशः (त्वामौ) त्वा मा आदेश हो जाते हैं (अपादादौ) परन्तु पाद के आदि में नहीं होते।

यह सूत्र 'तेमयावेकवचनस्य' (३३१) सूत्र का अपवाद है। इसके उदाहरण यथा—

लोकस्त्वा (त्वाम्) पश्यति। लोको मा (माम्) पश्यति।

'पद से परे' इसलिये कहा है कि—"त्वां लोकाः पश्यन्ति। मां लोकाः पश्यन्ति" इत्यादियों में 'त्वा मा' आदेश न हो।

'अपादादौ' इसलिये कहा है कि—"स जगद्रक्षको न्वां मां सदा पालयिष्यति" इत्यादियों में आदेश न हो।

अब ग्रन्थकार इन सब सूत्रों के उदाहरण दो श्लोकों में दर्शाते हैं—

[लघु०] श्रीशस्त्वाऽवतु माऽपीह, दत्तात् ते मेऽपि शर्म सः ।
स्वामी ते मेऽपि स हरिः, पातु वाम् अपि नौ विभुः ॥१॥
सुखं वां नौ ददात्वीशः पतिर्वाम् अपि नौ हरिः ।
सोऽव्याद् वो नः, शिवं वो नो दद्यात्, सेव्योऽत्र वः स नः ॥२॥

अर्थ—(इह) इस लोक में (श्रीशः) लक्ष्मीपति विष्णु (त्वा = त्वाम्) तुझे (अपि) तथा (मा = माम्) मुझे (अवतु) बचावें। (सः) वह भगवान् विष्णु (ते = तुभ्यम्) तेरे लिये (अपि) तथा (मे = मह्यम्) मेरे लिये (शर्म) कल्याण को (दत्तात्) दे। (सः) वे (हरिः) भगवान् विष्णु (ते = तव) तेरे (अपि) तथा (मे = मम) मेरे (स्वामी) स्वामी हैं। (विभुः) सर्वव्यापक हरि (वाम् = युवाम्) तुम दोनों को (अपि) तथा (नौ = आवाम्) हम दोनों को (पातु) बचावें ॥१॥ (ईशः) भगवान् (वाम् = युवाभ्याम्) तुम दोनों के लिये तथा (नौ = आवाभ्याम्) हम दोनों के लिये (सुखम्) सुख (ददातु) दें। (हरिः) श्रीविष्णु (वाम् = युवयोः) तुम दोनों का (अपि) तथा (नौ = आवयोः) हम दोनों का (पतिः) स्वपति है। (सः) वह भगवान् विष्णु (वः = युष्मान्) तुम सबको तथा (नः = अस्मान्) हम सबको (अव्यात्) बचावे। (सः) वह जगत्प्रसिद्ध विष्णु (वः = युष्मभ्यम्) तुम सबके लिये तथा (नः = अस्मभ्यम्) हम सबके लिये (शिवम्) कल्याण (दद्यात्) प्रदान करे। (सः) वह विष्णु (वः = युष्माकम्) तुम सबका तथा (नः = अस्माकम्) हम सबका (सेव्यः) सेवनीय है।

व्याख्या—यहाँ पहले द्वितीया, चतुर्थी तथा षष्ठी के एकवचन का, पीछे द्विवचन का तदनन्तर बहुवचन का उदाहरण दिया गया है। हमने अर्थ करते समय कोष्ठ में स्पष्ट कर दिया है।

[लघु०] वा०—(२६) समानवाक्ये युष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः ।
एकतिङ् वाक्यम् । तेनेह न—ओदनं पच तव भविष्यति । इह तु स्यादेव—शालीनान्ते ओदनं दास्यामि ॥

अर्थ—युष्मद् अस्मद् शब्दों के स्थान पर होने वाले वाम्, नौ आदि आदेश समानवाक्य अर्थात् एक वाक्य में होते हैं। एकतिङ् इति—एक तिङन्त वाला वाक्य कहाता है।

व्याख्या—पूर्वोक्त वाम्, नौ' आदि आदश समान वाक्य मे प्रवृत्त हाते हैं। अथात् इन सूत्रो क विषय म निमित्त और निमित्ती का एक ही वाक्य मे वत्तमान होना आवश्यक है। पद से पर 'वाम् नो' आदि आ-शो का विधान है। यहा पद निमित्त तथा वाम् नौ' आदि आदश निमित्ती हे। यदि निमित्त अ य वाक्य म तथा निमित्ती अन्य वाक्य मे स्थित हागा तो ये आदश न होंगे।

इस वात्तिक के उदाहरण दने से पूव वाक्य क्या होता ह ? इस जिज्ञासा की निवृत्ति के लिये वाक्य का लक्षण करते हैं— एकतिङ् वाक्यम्"। एक = मुख्य तिङ् = तिङन्तो यस्य यस्मिन् वा स एकतिङ्। जिसमे एक तिङ त मुख्य व विशेष्य ❀ हो—उस वाक्य' कहते हैं।

अब वार्त्तिक का प्रयाजन दिखाते हुए प्रत्युदाहरण देते हैं—

ओदन पच तव भविष्यति'। यहा एक वाक्य नही दो वाक्य है। ओदन पच' यह पहला वाक्य तथा 'तव भविष्यति यह दूसरा वाक्य है। यहा दूसरे वाक्य मे स्थित तव' के स्थान पर 'ते' आदश नहीं होता, क्योंकि उसका निमित्त पद (पच) एक वाक्य मे स्थित नहीं।

'शालीना ते ओदन दास्यामि" यहा 'शालीनाम् यह निमित्त एक वाक्य मे स्थित है अत इससे परे 'तुभ्यम्' के स्थान पर ते आदश हो जाता है।

[लघु०] वा०—(२७) एते वान्नावादयोऽनन्वादेशे वा वक्तव्या। धाता ते भक्तोऽस्ति, धाता तव भक्तोऽस्तीति वा। अन्वादेशे तु नित्य स्यु —तस्मै ते नम इत्येव।

अर्थ —अन्वादेश न होने पर पूर्वोक्त वाम्, नौ आदि आदश विकल्प से होते हैं। [तात्पय यह है कि अन्वादेश म नित्य होते हैं।]

व्याख्या— किसी काय्य को विधान करने के लिये ग्रहण किये हुए का पुन दूसरे काय को विधान करने के लिये ग्रहण अन्वादेश कहाता है' यह हम पीछे 'इदम् शब्द पर स्पष्ट कर चुके हैं। जहा अन्वादेश न हागा वहा पूर्वोक्त 'वाम् नौ, वस्, नस, ते, मे त्वा मा आदेश विकल्प से प्रवृत्त होगे। जहा अन्वादश होगा वहा नित्य होंगे। यथा—

❀ 'विशेष्य' के कथन से—' पश्य मृगस्ते धावति" (अपने दौडते हुए मृग को देखो) इत्यादि दो तिङन्ता वाले भी वाक्य हो जाते है। इनमे भी 'पश्य' इस एक तिङन्त की ही विशेष्यता है।

'धाता ते भक्तोऽस्ति । धाता तव भक्तोऽस्ति । यहां अन्वादेश न होने से 'तव' को 'ते' आदेश विकल्प से प्रवृत्त होता है ।

'योऽग्निर्हव्यवाट् तस्मै ते नमः । इत्यादि वाक्यों में अन्वादेश होने से 'तुभ्यम्' के स्थान पर नित्य 'ते' आदेश होता है ।

इति दान्तेषु युष्मदस्मत्प्रकरणम् ।

— —

[लघु०] सुपात् , सुपाद् । सुपादौ ।

व्याख्या—सु=शोभनौ पादौ यस्य सः=सुपात् । बहुव्रीहिसमासः । संख्यासुपूर्वस्य (५.४.१४०) इति पादस्याऽकारलोपः समासान्तः । सुन्दर पैरों वाले को 'सुपाद्' कहते हैं ।

सुपाद्+स् (सुँ)=सुपाद् [हल्ङ्याब्भ्यः— (१७९)] =सुपात्—द् ['वाऽवसाने (१४६)]। सुपाद्+औ=सुपादौ । सुपादः । सुपाद्+अस् (शस्) । अब यहां अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—३३३ पादः पत् ।६।४।१३०॥

पाच्छब्दान्तं यदङ्गं भं तदवयवस्य पाच्छब्दस्य पदादेशः स्यात् । सुपदः । सुपदा । सुपाद्भ्याम् ॥

अर्थः—पाद् शब्दान्त भसञ्ज्ञक अङ्ग के अवयव 'पाद्' शब्द के स्थान पर 'पद्' आदेश होता है ।

व्याख्या—पादः । ६ । १ । [यह 'अङ्गस्य' का विशेषण है अतः इससे तदन्त विधि होकर पादन्तस्य बन जाता है ।] भस्य । ६ । १ । [यह अधिकृत है ।] अङ्गस्य । ६ । १ । [यह अधिकृत है ।] पत् । १ । १ । अर्थः—(पादः=पादन्तस्य) 'पाद्' अन्त वाले (भस्य) भसञ्ज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (पत्) पद् आदेश हो जाता है ।

'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' (पृष्ठ २३४) इस पूर्वोक्त परिभाषा के अनुसार 'पाद्' के स्थान पर ही पद् आदेश होगा ।

सुपाद्+अस् (शस्) । यचि भम् (१६५) के अनुसार 'सुपाद्' की भसञ्ज्ञा है । इसके अवयव 'पाद्' शब्द के स्थान पर 'पद्' आदेश होकर—सुपद्+अस्

=सुपद् । इसी प्रकार अन्य भसञ्ज्ञकों में भी समझ लेना चाहिये । समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	सुपात्-द्	सुपादौ	सुपादः	पं०	सुपदः ×	सुपाद्भ्याम्	सुपाद्भ्यः
द्वि०	सुपादम्	,,	सुपदः ×	ष०	,, ×	सुपदोः ×	सुपदाम् ×
तृ०	सुपदा ×	सुपाद्भ्याम्	सुपाद्भिः	स०	सुपदि ×	,, ×	सुपात्सु †
च०	सुपदे ×	,,	सुपाद्भ्यः	सं०	हे सुपात्-द् !	हे सुपादौ !	हे सुपादः !

× 'सर्वत्र पादः पत्' (३३३) से पद् आदेश होता है ।

† 'खरि च' (७४) से चर्त्व—तकार हो जाता है ।

इसी प्रकार—द्विपाद्, त्रिपाद् प्रभृति शब्दों के रूप बनते हैं ।

अभ्यास (४१)

(१) 'शेषे लोपः' सूत्र की व्याख्या करते हुए दोनों प्रकार का अर्थ सोदाहरण स्पष्ट करो।

(२) 'युष्मद्, अस्मद्' शब्द अवर्णान्त नहीं होते अतः 'सुट्' का आगम स्वतः ही प्राप्त नहीं हो सकता तो पुनः 'साम आकम्' में ससुट् निर्देश का क्या प्रयोजन है ?

(३) किस किस विभक्ति में 'शेषे लोपः' सूत्र की प्रवृत्ति होती है ?

(४) 'शसो न' द्वारा होने वाला नकारादेश किसके स्थान पर होता है ? सप्रमाण लिखो।

(५) 'युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम्' में 'योऽचि' द्वारा यकारादेश क्यों नहीं होता ?

(६) वाम्, नौ आदेशों के कौन २ अपवाद हैं ससूत्र सोदाहरण लिखो ।

(७) 'ङे प्रथमयोरम्' सूत्र के अर्थ में 'द्वितीया' विभक्ति का कहां से ग्रहण हो जाता है ?

(८) 'भ्यसो भ्यम्' सूत्र के दो प्रकार के अर्थों का विवेचन करते हुए उनका पृथक् २ प्रयोजन लिखो।

(९) { "अकार्यं कार्यवच्छास्ति मम कार्यं न युज्यते ।
न शृणोति महामूर्खो युष्माकं वित्तहारकः ॥" }

यहां पर 'मम' और 'युष्माकम्' के स्थान पर क्या कोई आदेश हो सकता है ? सप्रमाण लिखो ।

(१०) 'युवावौ द्विवचने' और 'त्वमावेकवचने' सूत्रों की व्याख्या करते हुए रेखाङ्कित पदों का विशेष स्पष्टीकरण करो ।

(११) "एषः, त्वम्, युष्माकम्, त्वयि, अस्मान्, आवाभ्याम्, सुपदः, त्वत्, मम, माम्, एनयोः, एतेषाम्, तस्मिन्, यस्मै, आवयोः"—इन रूपों की ससूत्र साधन-प्रक्रिया लिखो।

(१२) अधोलिखित सूत्रों की व्याख्या करो—

१ पादः पत्। २ योऽचि। ३ द्वितीयायाञ्च। ४ वाहऊठ्। ५ तत्रा स सावनन्त्ययो। ६ समानवाक्ये युष्मदस्मदोश्शा वक्तव्या।

(१३) ऐसा शब्द बताओ जिसके नाना भ्यसां तथा दोनों 'आम' रूप की वा सिद्धि का भेद पड़ा हो।

यहां दकारान्त पुल्लिंग समाप्त होते हैं।

— —

अब थकारान्त पुल्लिङ्ग का वर्णन करते हैं—

[लघु०] अग्निमत्, अग्निमद्। अग्निमथौ। अग्निमथः॥

व्याख्या—अग्निं मथ्नातीति—अग्निमत्। अग्नि कर्मोपपदाद् 'मन्थ विलोडने' (भ्वा० प०) इत्यस्मात् क्विपि 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' (३२४) इति नलोपे अग्निमथ् इति शब्दः सिध्यति।†

'अग्निमथ्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	अग्निमत्, द् +	अग्निमथौ	अग्निमथः
द्वि०	अग्निमथम्	,,	,,
तृ०	अग्निमथा	अग्निमद्भ्याम् *	अग्निमद्भिः
च०	अग्निमथे	,,	अग्निमद्भ्यः
पं०	अग्निमथः	अग्निमद्भ्याम्	अग्निमद्भ्यः
ष०	,,	अग्निमथोः	अग्निमथाम्
स०	अग्निमथि	,,	अग्निमत्सु
सं०	हे अग्निमत्, द्!	हे अग्निमथौ!	हे अग्निमथः!

+ हल्ङ्याब्भ्यः—(१७९), झलां जशोऽन्ते (६७) वाऽवसाने (१४६)।

* झलां जशोऽन्ते (६७)। झलां जशोऽन्ते, खरि च (७४)

यहां थकारान्त पुल्लिङ्ग समाप्त होते हैं।

———

अब चकारान्त पुल्लिङ्गों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३३४ अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति।६।४।२४॥

हलन्तानामनिदितामङ्गानामुपधाया नस्य लोपः किति ङिति।

---

† इदितो मन्थेस्तु नलोपाभावाद् अग्निमन्, अग्निमन्थावित्यादि।

नुम् । संयोगान्तस्य लोपः । नस्य कुत्वेन ङः । प्राङ् । प्राञ्चौ । प्राञ्चः ॥

अर्थः—जिनके इकार की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती ऐसे हलन्त अङ्गों की उपधा के नकार का कित् ङित् परे होने पर लोप हो जाता है।

व्याख्या—अनिदिताम् ।६।३। हलः ।६।१। ['अङ्गस्य' का विशेषण होने से तदन्तविधि होकर 'हलन्तस्य' बन जाता है] अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है।] उपधायाः ।६।१। न ।६।१। ['श्नान्नलोपः' से यहां षष्ठी का लुक् हुआ है।] लोपः ।१।१। ['श्नान्नलोपः' से] क्ङिति ।७।१। समास—इत् (ह्रस्वेकार) इत् (इत्सञ्ज्ञक) येषान्ते=इदितः, बहुव्रीहिसमासः । न इदितः=अनिदितः, तेषाम्=अनिदिताम्, नञ्समासः । क् च ङ् च=क्ङौ, इतरेतरद्वन्द्वः । क्ङौ इतौ यस्य स क्ङित्, तस्मिन्=क्ङिति, बहुव्रीहिसमासः । 'अनिदिताम्' इस प्रकार बहुवचननिर्देश करने से 'हलः' और 'अङ्गस्य' दोनों में वचनविपरिणाम अर्थात् बहुवचन हो जाता है। अर्थः—(अनिदिताम्) जिनके इकार की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती ऐसे (हलः=हलन्तानाम्) हलन्त (अङ्गस्य=अङ्गानाम्) अङ्गों की (उपधायाः) उपधा के (न=नस्य) नकार का (लोपः) लोप हो जाता है (क्ङिति) कित् ङित् परे हो तो।

'प्र' पूर्वक 'अञ्चुँ गतिपूजनयोः' ⁄ (भ्वा० प०) धातु से 'ऋत्विग्दधृक्०' (३०१) सूत्र से क्विन् प्रत्यय करने पर उसका सर्वापहारी लोप हो जाने से—'प्र अञ्च्'। अब यहां प्रत्ययलक्षण द्वारा कित् क्विन् प्रत्यय को मान कर 'अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति' (३३४) सूत्र से नकार❀ का लोप हो जाने पर 'प्र अच्' हुआ । अब इस की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा† होकर सुँ आदि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं।

प्र अच्+स् (सुँ)। 'उगिदचाम्—' (२८६) से नुम् का आगम—'प्र अनुम्च्+

⁄ यहाँ केवल गति अर्थ ही विवक्षित है पूजन अर्थ नहीं। अन्यथा 'नाञ्चेः पूजायाम्' (३४१) सूत्र से नकारलोप का निषेध हो जायगा। पूजा अर्थ में रूप आगे दर्शाए जावेंगे।

❀ 'अञ्चु' धातु में ञकार की उत्पत्ति नकार से ही समझनी चाहिये। ['स्तोः श्चुना श्चुः']

†इस प्रकरण में 'प्र अच्, प्रति अच्, समि अच्' इस प्रकार सन्ध्यभाव में ही प्रातिपदिकसञ्ज्ञा की जाती है। यह सब शसादियों में 'अचः' (३३५) आदि द्वारा अकार लोपादि प्रक्रिया की सुविधा के लिये ही किया गया है।

स्। उम् अनुबन्ध का लोप होकर प्र अन्च् + स्। 'हल्ङ्याब्भ्यो—' (७६) से सुलोप, 'संयोगान्तस्य लोपः' ([illegible]) से चकारलोप — प्र अन्। अब 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) से नासिकास्थानीय नकार के स्थान पर तादृश ङकार होकर—प्र अङ्। 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) सूत्र से सवर्णदीर्घ एकादेश करने पर 'प्राङ्' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्र अच + औ। 'उगिदचाम्—' (२८९) से नुम् आगम, उम् अनुबन्ध का लोप, 'नश्चापदान्तस्य झलि' (७८) से नकार के स्थान पर अनुस्वार तथा 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (७९) से परसवर्ण ञकार करने पर—प्र अञ्च + औ = प्राञ्चौ†। इसी प्रकार सम्पूर्ण सर्वनामस्थान में प्रक्रिया होती है।

प्र अच् + अस् (शस्)। अब सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा न होने से 'उगिदचाम्—' (२८९) सूत्र से नुम् आगम नहीं हो सकता। यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३३५ अचः ।६।४।१३८॥

लुप्तनकारस्याञ्चतेर्भस्याकारस्य लोपः स्यात् ॥

अर्थः—लुप्त नकार वाली अञ्च धातु के भसञ्ज्ञक अकार का लोप हो जाता है।

व्याख्या—अचः ।६।१। [यहां 'अच्' से लुप्तनकार वाली अञ्चु धातु का निर्देश किया गया है।] भस्य ।६।१। [यह अधिकृत है।] अत् ।६।१। लोपः ।१।१। [अल्लोपोऽनः से] अर्थः - (अचः) लुप्त नकार वाली अञ्चु धातु के (भस्य) भसञ्ज्ञक (अत् = अतः) अकार का (लोपः) लोप हो जाता है।

'प्र अच् + अस्'। यहां 'अच्' यह लुप्तनकार अञ्चु है, 'यचि भम्' (१६५) से इसकी भसञ्ज्ञा भी है अतः प्रकृतसूत्र से इसके अकार का लोप होकर — प्रच् + अस्। अब अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है।—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३३६ चौ ।६।३।१३७॥

लुप्ताकारनकारेऽञ्चतौ परे पूर्वस्याणो दीर्घः स्यात्। प्राचः। प्राचा।

---

*क्विन्, उसका सर्वापहारलोप, 'अनिदिताम्—' (३३४) द्वारा नकारलोप— इतनी प्रक्रिया स्वयं सब विभक्तियों में जान लेनी चाहिये। हम इसे बार बार नहीं लिखेंगे।

† नस्य श्चुत्वं तु न भवति, अनुस्वारं प्रति श्चुत्वस्यासिद्धत्वात्

प्राग्भ्याम् । प्रत्यङ् । प्रत्यञ्चौ । प्रतीचः । प्रत्यग्भ्याम् । उदङ् । उदञ्चौ ॥

अर्थः—लुप्त अकार नकार वाली 'अञ्चु' धातु के परे होने पर पूर्व अण् को दीर्घ हो जाता है ।

व्याख्या—चौ । ७ । १ [यहां चु से लुप्त अकार नकार वाली 'अञ्चु' धातु का ग्रहण होता है ।] पूर्वस्य । ६ । १ । अणः । ६ । १ । दीर्घः । १ । १ । ['ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से] अर्थ—(चौ) लुप्त अकार नकार वाली 'अञ्चु' धातु के परे होने पर (पूर्वस्य) पूर्व (अणः) अण् के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ हो जाता है ।

'प्र च् + अस्' यहां लुप्ताकारनकारवाली 'च्' यह 'अञ्चु' धातु परे है अतः पूर्व अण् अर्थात् 'प्र' के रफोत्तर अकार का दीर्घ होकर—प्राच् + अस = 'प्राचः' प्रयोग सिद्ध होता है । इसी प्रकार आगे भी भसञ्ज्ञा में जान लेना चाहिये ।

नोट—यद्यपि यहां 'अचः' (३३५) और 'चौ' (३३६) सूत्रों के विना भी 'प्र अच् + अस्' इस अवस्था में 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ होकर 'प्राचः' प्रयोग सिद्ध हो सकता था तथापि इन सूत्रों की 'प्रतीचः' आदि के लिये परमावश्यकता थी अतः यहां भी न्यायवशात् प्रवृत्ति कर दी गई है ।

'प्राच्' (पूर्वदिशा देश व काल) शब्द का सम्पूर्ण उच्चारण यथा—

प्र०	प्राङ्	प्राञ्चौ	प्राञ्चः	पं०	प्राचः	प्राग्भ्याम्	प्राग्भ्यः
द्वि०	प्राञ्चम्	,,	प्राचः	ष०	,,	प्राचोः	प्राचाम्
तृ०	प्राचा	प्राग्भ्याम्❀	प्राग्भिः	स०	प्राचि	,,	प्राक्षु †
च०	प्राचे	,,	प्राग्भ्यः	सं०	हे प्राङ् !	हे प्राञ्चौ !	हे प्राञ्चः !

❀ यहां 'चोः कुः' (३०६) की दृष्टि में 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) तथा 'झलां जशोऽन्ते' (६७) दोनों के असिद्ध होने से प्रथम चकार को ककार होकर पुनः 'झलां जशोऽन्ते' से गकार करने पर 'प्राग्भ्याम्' आदि रूप सिद्ध होते हैं। यहाँ पर भत्व न होने से 'अचः' तथा 'चौ' न होंगे, सवर्णदीर्घ होकर उक्त प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसी प्रकार हलादि विभक्तियों में आगे भी जानना ।

† यहाँ 'चोः कुः' (३०६) द्वारा कुत्व होकर 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से सकार को षकार हो जाता है ।

'प्रति' पूर्वक 'अञ्चु' धातु से 'ऋत्विग्दधृक्०' (३०१) से क्विन्, उसका सर्वापहारलोप, 'अनिदितां हल०' (३३४) से नकारलोप, प्रातिपदिकसञ्ज्ञा

व्याख्या—उदः ।५।१। अचः ।६।१। [अचः से] भस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] अत् ।६।१। ['अल्लोपोऽनः' से] ईत् ।१।१। अर्थः—(उदः) उद् से परे (अचः) लुप्त नकार वाली अञ्चुँ धातु के (अत्) अकार के स्थान पर (ईत्) ईकार आदेश हो जाता है।

उद् अच्+अस। यहां प्रकृतसूत्र से अकार को ईकार होकर—उद् ईच्+अस = 'उदीचः' प्रयोग सिद्ध होता है। उदच्' (उत्तरदिशा, देश व काल) शब्द की सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	उदङ्	उदञ्चौ	उदञ्चः	पं०	उदीचः	उदग्भ्याम्	उदग्भ्यः
द्वि०	उदञ्चम्	,,	उदीचः	ष०	,,	उदीचोः	उदीचाम्
तृ०	उदीचा	उदग्भ्याम्	उदग्भिः	स०	उदीचि		उदक्षु
च०	उदीचे	,,	उदग्भ्यः	सं०	हे उदङ्!	हे उदञ्चौ!	हे उदञ्चः!

[लघु०] विधिसूत्रम्—३३८ समः समि ।६।३।९२॥

वप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परे [समः सम्यादेशः स्यात्।]। सम्यङ्। सम्यञ्चौ। समीचः। सम्यग्भ्याम्॥

अर्थः—वप्रत्ययान्त अञ्चुँ धातु परे हो तो सम् के स्थान पर समि आदेश हो जाता है।

व्याख्या—वप्रत्यये❀ ।७।१। [विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतौ वप्रत्यये से] अञ्चतौ ।७।१। [विष्वग्देवयोश्च से] समः ।६।१। समि ।१।१। समासः—वः प्रत्ययो यस्मात् स वप्रत्ययः। तस्मिन्=वप्रत्यये। बहुव्रीहिसमासः। व से यहाँ क्विन्, क्विप् आदि वकारघटित प्रत्यय अभिप्रेत हैं। अर्थः—(वप्रत्यये) जिससे व' प्रत्यय किया गया हो ऐसे (अञ्चतौ) अञ्चुँ धातु के परे होने पर (समः) सम् के स्थान पर (समि) समि आदेश हो जाता है।

'समि' में इकार अनुनासिक नहीं अतः 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (२८) सूत्र से उसकी इत्संज्ञा नहीं होती।

❀ कई लोग 'विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये' (६.३.९१) ऐसा पाठ मान कर 'समः समि' (३३८) सूत्र में 'अप्रत्यये' का अनुवर्तन किया करते हैं। तब इस सूत्र का—"अविद्यमान प्रत्ययान्त अञ्चुँ धातु के परे होने पर सम् को समि आदेश हो" ऐसा अर्थ होता है। 'अविद्यमान प्रत्यय' से क्विन् क्विप् आदि प्रत्ययों का ही ग्रहण होता है, क्योंकि ये प्रत्यय सर्वापहारलोप के कारण सदा अविद्यमान ही रहते हैं।

'सम् पूर्वक अञ्चु' धातु से 'ऋत्विग्दधृक्—' (३०१) द्वारा क्विन् उसका सर्वापहारलोप तथा अनिदितां हल (३३४) से नकारलोप होकर— सम् अच। अब वप्रत्ययान्त या अप्रत्ययान्त अञ्चु' पर होने के कारण सम सभि' (३३८) द्वारा सम् को समि आदेश होकर सु आदि की उत्पत्ति होती है—

समि अच्+स। 'उगिदचाम् (२८६) से नुम् उम् अनुबन्ध का लोप सुँलोप तथा संयोगान्तलोप होकर—'समि अन्'। क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) से नकार को ङकार तथा 'इको यणचि (१५) से यण करने पर— सम्यङ् प्रयोग सिद्ध होता है। सम्यञ्चौ, सम्यञ्च —यहाँ पूर्ववत् नुम् अनुस्वार तथा परसवर्ण जानें।

सम् अच+अस् (शस्)। सम समि' से समि आदेश अचः' (३३५) से अकारलोप तथा चौ' (३३६) से पूर्व इकार को दीर्घ करने से— समीच'। 'सम्यञ्च' (ठीक चलने वाला) शब्द की समग्र रूपमाला यथा—

प्र० सम्यङ्	सम्यञ्चौ	सम्यञ्च	प० समीच	सम्यग्भ्याम्	सम्यग्भ्य
द्वि० सम्यञ्चम्	„	समीच	ष० „	समीचा	समीचाम्
तृ० समीचा	सम्यग्भ्याम्	सम्यग्भि	स० समीचि	„	सम्यक्षु
च० समीचे	„	सम्यग्भ्य	सं० हे सम्यङ्!	हे सम्यञ्चौ!	हे सम्यञ्च!

[लघु०] विधि सूत्रम्— ३३६ सहस्य सध्रिः।६।३।६४॥

वप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परे [सहस्य सध्र्यादेशः स्यात्]।

अर्थ—वप्रत्ययान्त अञ्चु धातु परे होने पर 'सह' के स्थान पर 'सध्रि' आदेश हो जाता है।

व्याख्या—वप्रत्ययान्ते ।७।१। अञ्चतौ ।७।१। ['विष्वग्देवयोश्च ' से] सहस्य ।६।१। सध्रि ।१।१। अर्थ —(वप्रत्यये) जिस से 'व प्रत्यय किया गया हो ऐसे (अञ्चतौ) अञ्चु धातु के परे होने पर (सहस्य) 'सह' के स्थान पर (सध्रि) 'सध्रि' आदेश हो।

यहां भी अनुनासिक न होने से सध्रि के इकार की इत्संज्ञा नहीं होती।

सह' पूर्वक अञ्चु' धातु से पूर्ववत् क्विन्, उसका सर्वापहारलोप, नकारलोप तथा 'सहस्य सध्रि' (३३६) से सह' के स्थान पर 'सध्रि' आदेश होकर—'सध्रि अच्'। अब प्रातिपदिकसंज्ञा होकर सुँ आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति होती है।

सध्रि अच्+स्। नुम् आगम, उम्लोप, सुँलोप संयोगान्तलोप तथा 'क्विन्प्रत्य

यस्य कुः' (३०४) से नकार को ङकार करने से—सध्रि अङ्='सध्र्यङ्' प्रयोग सिद्ध होता है। सध्र्यञ्चौ, सध्र्यञ्चः—आदि में पूर्ववत् 'अनुस्वारपरसवर्णौ' कर लेने चाहियें।

सह अच्+अस (शस्)। सहस्य सध्रिः' द्वारा सध्रि आदेश, 'अचः' (३३५) द्वारा अकारलोप तथा 'चौ' (३३६) द्वारा पूर्व अण्=इकार को दीर्घ करने से 'सध्रीचः'।

'सध्र्यच्' (साथ चलने वाला, साथी) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र० सध्र्यङ्	सध्र्यञ्चौ	सध्र्यञ्चः	पं० सध्रीचः	सध्र्यग्भ्याम्	सध्र्यग्भ्यः
द्वि० सध्र्यञ्चम्	,,	सध्रीचः	ष० ,,	सध्रीचोः	सध्रीचाम्
तृ० सध्रीचा	सध्र्यग्भ्याम्	सध्र्यग्भिः	स० सध्रीचि		सध्र्यक्षु
च० सध्रीचे	,,	सध्र्यग्भ्यः	सं० हे सध्र्यङ्! हे सध्र्यञ्चौ! हे सध्र्यञ्चः!		

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३४० तिरसस्तिर्यलोपे ।६।३।९३॥

अलुप्ताकारेऽञ्चतौ वप्रत्ययान्ते परे तिरसस्तिर्यादेशः स्यात्।
तिर्यङ्। तिर्यञ्चौ। तिर्यञ्चः। तिर्यग्भ्याम्॥

अर्थः—जिस के अकार का लोप नहीं हुआ ऐसे वप्रत्ययान्त 'अञ्चुँ' धातु के परे होने पर 'तिरस्' को 'तिरि' आदेश हो।

व्याख्या—अलोपे ।७।१। वप्रत्यये ।७।१। अञ्चतौ ।७।१। [विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये से] तिरसः ।६।१। तिरि ।१।१। समासः—नास्ति लोपो यस्य सोऽलोपस्तस्मिन्=अलोपे। नञ्बहुव्रीहिसमासः। यहां लोप से तात्पर्य 'चौ' द्वारा किये अकारलोप से ही है। अर्थः—(अलोपे) अलुप्त अकार वाली (वप्रत्यये) वप्रत्ययान्त (अञ्चतौ) अञ्चुँ धातु के परे होने पर (तिरसः) तिरस् के स्थान पर (तिरि) तिरि आदेश हो जाता है।

अञ्चुँ धातु के अकार का लोप भसञ्ज्ञकों में ही 'अचः' (३३५) द्वारा हुआ करता है। अतः भसञ्ज्ञा के अभाव में ही तिरस् को तिरि आदेश होता है। भसञ्ज्ञकों में 'तिरि' आदेश नहीं होता।

'तिरस्' पूर्वक 'अञ्चुँ' धातु से क्विन्, उसका सर्वापहार लोप, नकारलोप, 'तिरसस्तिर्यलोपे' (३४०) से तिरस् के स्थान पर तिरि आदेश होकर—'तिरि अच्'। अब सुँ प्रत्यय आकर नुम् आगम, उम् लोप, सुँलोप, संयोगान्तलोप तथा 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' से कुत्व अर्थात् नकार को ङकारादेश और पुनः 'इको यणचि' (१५) से यण् होकर 'तिर्यङ्' (तिर्यङ् योनि, पशु पक्षि आदि) प्रयोग सिद्ध होता है। इस की रूपमाला यथा—

प्र०	तिर्यङ्	तिर्यञ्चौ	तिर्यञ्चः	पं०	तिरश्चः	तिर्यग्भ्याम्	तिर्यग्भ्यः
द्वि०	तिर्यञ्चम्	,,	तिरश्चः ×	ष०		तिरश्चोः	तिरश्चाम्
तृ०	तिरश्चा	तिर्यग्भ्याम्	तिर्यग्भिः	स०	तिरश्चि		तिर्यक्षु
च०	तिरश्चे	,,	तिर्यग्भ्यः	सं०	हे तिर्यङ्!	हे तिर्यञ्चौ!	हे तिर्यञ्चः!

× तिरस् अच्+अस् । यहां 'अचः' (३५) सूत्र से अकार का लोप होकर 'स्तोः श्चुना श्चुः' (६२) से श्चुत्व हो जाता है । इसी प्रकार आगे भी भसञ्ज्ञकों में समझ लेना चाहिये । ध्यान रहे कि इन स्थानों पर तिरि नहीं होगा क्योंकि यहाँ अल्लोप है ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—३४१ नाञ्चेः पूजायाम् ।६।४।३०॥

पूजार्थस्याञ्चतेरुपधाया नस्य लोपो न । प्राङ् । प्राञ्चौ । नलोपाभावादल्लोपो न । प्राञ्चः । प्राङ्भ्याम् । प्राङ्क्षु । एवम् पूजार्थे प्रत्यङ्ङादयः ॥

अर्थः—पूजार्थक 'अञ्चुँ' धातु के उपधाभूत नकार का लोप नहीं होता ।

व्याख्या—पूजायाम् ।७।१। अञ्चेः ।६।१। उपधायाः ।६।१। ['अनिदितां हल उपधायाः—' से] न ।६।१। ['श्नान्नलोपः' से यहां षष्ठी का लुक् हुआ है ।] लोपः ।१।१। ['श्नान्नलोपः' से] न इत्यव्ययपदम् । अर्थः—(पूजायाम्) पूजा अर्थ में (अञ्चेः) अञ्चुँ धातु के (उपधायाः) उपधा के (न=नस्य) नकार का (लोपः) लोप (न) नहीं होता ।

अञ्चुँ धातु के दो अर्थ होते हैं । एक गति और दूसरा पूजा । पूजा अर्थ में 'अनिदिताम्०' (३३४) द्वारा नकारलोप प्राप्त होने पर 'नाञ्चेः पूजायाम्' (३४१) से निषेध कर दिया जाता है । अतः गति अर्थ होने पर ही नकार का लोप होता है पूजा अर्थ में नहीं । पीछे 'प्राङ्' से लेकर 'तिर्यङ्' तक सर्वत्र गत्यर्थक अञ्चुँ धातु का ही प्रयोग हुआ है । अब पूजा अर्थ में प्रयोग दिखलाते हैं—

प्राञ्च्—'प्र पूर्वक पूजार्थक अञ्चुँ' धातु से क्विन्, उसका सर्वापहारलोप, 'अनिदितां हल—' (३३४) से उपधाभूत नकार का लोप प्राप्त होने पर—'नाञ्चेः पूजायाम्' (३४१) से निषेध, सवर्णदीर्घ हो प्रातिपदिक सञ्ज्ञा करने से सुँ आदि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं । नलोपी अञ्चुँ न होने से 'उगिदचाम्—' (२८६) वाला नुम् भी न होगा ।

प्राञ्च्+स् । सुँलोप, संयोगान्तलोप तथा 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) से नकार को ङकार होकर—'प्राङ्' ।

नोट——नकारलोप के निषेध का फल शसादियों में स्पष्ट होता है। सर्वनामस्थान तक तो गत्यर्थक और पूजार्थक दोनों अवस्थाओं में प्रक्रियाओं का अन्तर होने पर भी रूप एक समान होते हैं।

प्र०	प्राङ्	प्राञ्चौ	प्राञ्चः	पं०	प्राञ्चः	प्राङ्भ्याम्	प्राङ्भ्यः
द्वि०	प्राञ्चम्	,,	×	ष०	,,	प्राञ्चोः	प्राञ्चाम्
तृ०	प्राञ्चा	प्राङ्भ्याम् †	प्राङ्भिः	स०	प्राञ्चि	,,	प्राङ्क्षु, ङ्‌षु, ङ्षु ❀
च०	प्राञ्चे	,,	प्राङ्भ्यः	सं०	हे प्राङ्!	हे प्राञ्चौ!	हे प्राञ्चः!

× 'प्राञ्च्+अस्' यहां नकारलोप न होने से 'अचः' (२३५) द्वारा भसञ्ज्ञक अकार का भी लोप नहीं होता, उसके अर्थ में 'लुप्तनकारस्याञ्चतेः' ऐसा लिख चुके हैं। फिर 'चौ' से दीर्घ भी नहीं होता। किन्तु सवर्णदीर्घ होकर कार्यनिष्पत्ति होती है।

† 'प्राञ्च्+भ्याम्' यहाँ संयोगान्तलोप होकर 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) द्वारा नकार को ङकार हो जाता है।

❀ 'प्राञ्च्+सु' यहां संयोगान्तलोप तथा नकार को ङकार हो—'ङ्णोः कुक्टुक् शरि' (८६) द्वारा विकल्प कर के कुक् आगम होकर एकपक्ष में 'चयो द्वितीयाः शरि—' (वा० १४) वार्त्तिक द्वारा ककार को खकार हो जाता है। पुनः दोनों पक्षों में 'आदेश प्रत्यययोः' (१५०) से षत्व हो जाता है।

पूजायाम्—'प्रत्यञ्च्'

प्र०	प्रत्यङ्	प्रत्यञ्चौ	प्रत्यञ्चः	पं०	प्रत्यञ्चः	प्रत्यङ्भ्याम्	प्रत्यङ्भ्यः
द्वि०	प्रत्यञ्चम्	,,	,,	ष०	,,	प्रत्यञ्चोः	प्रत्यञ्चाम्
तृ०	प्रत्यञ्चा	प्रत्यङ्भ्याम्	प्रत्यङ्भिः	स०	प्रत्यञ्चि	,,	प्रत्यङ्क्षु, ङ्षु, ङ्षु
च०	प्रत्यञ्चे	,,	प्रत्यङ्भ्यः	सं०	हे प्रत्यङ्!	हे प्रत्यञ्चौ!	हे प्रत्यञ्चः!

पूजायाम्—'उदञ्च्'

प्र०	उदङ्	उदञ्चौ	उदञ्चः	पं०	उदञ्चः	उदङ्भ्याम्	उदङ्भ्यः
द्वि०	उदञ्चम्	,,	,,	ष०	,,	उदञ्चोः	उदञ्चाम्
तृ०	उदञ्चा	उदङ्भ्याम्	उदङ्भिः	स०	उदञ्चि	,,	उदङ्क्षु ङ्षु, ङ्षु
च०	उदञ्चे	,,	उदङ्भ्यः	सं०	हे उदङ्!	हे उदञ्चौ!	हे उदञ्चः

नकारलोप न होने से शसादियों में 'उद ईत्' (३०७) प्रवृत्त न होगा।

पूजायाम्—'सम्यञ्च्

०	सम्यट	सम्यञ्चौ	सम्यञ्च	प०	सम्यञ्च	सम्यड्भ्याम्	स यड्भ्य
द्वि०	सम्यञ्चम्			ष०		सम्यञ्चो	सम्यञ्चाम्
तृ०	सम्यञ्चा	सम्यग्भ्याम्	सम्यट भि	स०	सम्यञ्चि		सम्यङ्क्षु क्षु, षु
च०	सम्यञ्चे		सम्यड्भ्य	स०	हे सम्यड !	हे सम्यञ्चौ !	हे सम्यञ्च !

भसज्ञा म अकार का लाप तथा दीघ न होगा। सम समि' (३३८) तो लोप वा अलोप दोनों पक्षों म सवत्र हो ही जाता हे।

पूजाया— सध्र्यञ्च

प्र०	सध्राङ	सध्राञ्चौ	सध्राञ्च	प०	सध्राञ्च	सध्राड्भ्याम्	सध्राड्भ्य
द्वि०	सध्र ञ्चम्	,,		ष०		सध्राञ्चो	सध्राञ्चाम्
तृ	सध्राञ्चा	सध्राड्भ्याम्	सध्राड भि	स०	सध्राञ्चि	,	सध्र्यट्त्षु, त्सु षु
च०	सध्राञ्चे		सध्र्यड्भ्य	स०	हे सध्राङ !	हे सध्राञ्चौ !	हे सध्राञ्च !

भत्व म अच से अ का लोप तथा चौ से दीघ न होगा। सध्रि' तो लोप तथा अलोप दानो मे ही सर्वत्र हो जाता है।

पूजाया— तिर्यञ्च्'

प्र०	तियङ	तियञ्चौ	तियञ्च	प०	तिर्यञ्च	तिर्यड्भ्याम्	तिर्यड्भ्य
द्वि०	तियञ्चम्		,	ष०		तियञ्चो	तियञ्चाम्
तृ०	तिर्यञ्चा	तिर्यड्भ्याम्	तियड्भि	स०	तियञ्चि		तिर्यङ्क्षु, क्षु, षु
च०	ति ञ्चे		तिर्यड्भ्य	स०	हे तिर्यङ् !	हे तियञ्चौ !	हे तियञ्च !

इसम नकारलोप न हाने स अच' (३२५) द्वारा अकारलाप कहीं नहीं होता, अत तिरसस्तियलापे (३४०) द्वारा सवत्र तिरि' आदेश हो जाता है।

[लघु०] क्रुङ्। क्रुञ्चौ। क्रुङ्भ्याम्॥

व्याख्या—'क्रुञ्चँ गतिकौटिल्याल्पीभावयो (भ्वा० प०) धातु से 'ऋत्विग्द धृक् (३०१) द्वारा क्विन्प्रयय उसका सवापहारलोप तथा 'अनिदिताम् ' (३३४) द्वारा नलोप प्राप्त होने पर लोपाभाव का निपातन करने से क्रुञ्च्' शब्द निष्पन्न होता है। भाष्यकार के मत में यह नोपध धातु है, अत लोप की प्राप्ति ही नही है। इसकी रूपमाला यथा—

प्र०	क्रुङ्†	क्रुञ्चौ	क्रुञ्च	प०	क्रुञ्च	क्रुङ्भ्याम्	क्रुङ्भ्य
द्वि०	क्रुञ्चम्	,,	,,	ष०	,,	क्रुञ्चो	क्रुञ्चाम्
तृ०	क्रुञ्चा	क्रुङ्भ्याम्×	क्रुङ्भि	स०	क्रुञ्चि	,,	क्रुङ्क्षु क्रुङ्षु, षु
च०	क्रुञ्चे	,,	क्रुङ्भ्य	सं०	हे क्रुङ् !	हे क्रुञ्चो !	हे क्रुञ्च !

† क्रुञ्च्+स्। सुँलोप संयोगान्तलोप, निमित्तापाये ' द्वारा ञकार को नकार तथा 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) से कुत्व=ङकार हो जाता है।

× संयोगान्तलोप होकर 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) से कुत्व हो जाता है।

[लघु०] पयोमुक्, पयोमुग्। पयोमुचौ। पयोमुग्भ्याम्॥

व्याख्या—पयो जलं मुञ्चतीति—पयोमुक् [क्विप्प्रत्ययः]। 'पयोमुच्' शब्द क्विन्नन्त नहीं किन्तु क्विबन्त है अतः सर्वत्र पदान्त में 'चोः कुः' (३०६) प्रवृत्त होता है। पयोमुच् (बादल) शब्द की सम्पूर्ण रूपमाला यथा—

प्र०	पयोमुक्, ग्†	पयोमुचौ	पयोमुचः	प०	पयोमुचः	पयोमुग्भ्याम्	पयोमुग्भ्यः
द्वि०	पयोमुचम्	,,		ष०	,,	पयोमुचोः	पयोमुचाम्
तृ०	पयोमुचा	पयोमुग्भ्याम्%	पयोमुग्भिः	स०	पयोमुचि	,,	पयोमुक्षु*
च०	पयोमुचे	,,	पयोमुग्भ्यः	सं०	हे पयोमुक्, ग् !	हे पयोमुचौ !	हे पयोमुचः !

† हल्ङ्याब्भ्यः० (१७९), चोः कुः (३०६), झलां जशोऽन्ते (६७), वाऽवसाने (१४६)।

% चोः कुः (३०६) झलां जशोऽन्ते (६७)।

* चोः कुः (३०६), झलां जशोऽन्ते (६७), खरि च (७४)।

अभ्यास (४२)

(१) अप्रत्यय और वप्रत्यय से क्या अभिप्राय है? इस प्रकरण में इनका कहां कहां उपयोग किया गया है?।

(२) पूजापक्ष में अञ्च् के नकार का लोप (?) कैसे हो जाता है? लोप करने वाला सूत्र लिखें।

(३) 'क्रुञ्च्' शब्द से क्विन् प्रत्यय होने पर भी नकार का लोप नहीं होता—इसमें क्या कारण है?

(४) पूजापक्ष में शसादि में 'तिर्यञ्च्' शब्द की भसञ्ज्ञा होने पर भी 'अचः' द्वारा अकार का लोप क्यों नहीं होता?

(५) उदञ्च् शब्द म पूनापक्ष म 'उन इत्' सूत्र क्या प्रवृत्त नहा होता ?

(६) प्र+अच् प्रति+अच सम्+अच्' इस प्रकार सन्ध्यभाव म ही इनकी प्रतिपादिकसञ्ज्ञा करने का क्या प्रयोजन है ?

(७) निम्नलिखित रूपा का सूत्रोपन्यासपूर्वक साधनप्रक्रिया दर्शाओ—
१ प्राच २ प्रतीच ३ उदीच ४ समीच ५ तिरश्च ६ पयोमुक ७ अग्निमत् ८ प्रङ्खु ९ तिर्यङ् १ प्राङ्।

(८) निम्नलिखित श दों की रूपमाला लिखो—
१ क्रुञ्च २ अग्निमथ ३ सह+अञ्च् (दोनो पक्षो म), ४ तिरस+अञ्च (दोनो पक्षो म) ५ प्रति+अञ्च् (दोनों पक्षो म)।

(९) निम्नलिखित सूत्रो की व्याख्या करो—
१ अनिदिता हल उपधाया क्ङिति। २ अच । ३ चौ। ४ तिरसस्तिर्यलोप। ५ उद ईत्। ६ सहस्य सध्रि ॥

यहा चकारान्त पुल्लिंग समाप्त होते है ।

अब तकारान्त पुल्लिङ्गों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] उगित्वान्नुम्।

व्याख्या—'महत्' (बडा) श द 'वर्तमाने पृषन्महद्—' (उणा० २४१) इस सूत्र से अप्रत्ययान्त निपातित तथा शतृवत् अतिदेश किया गया है।

महत्+स् (सुँ)। यहा शतृवत अतिदेश। ['शतृ' प्रत्यय के ऋ' की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है अत वह उगित् है। शतृवत् अतिदेश के कारण यह 'महत्' शब्द भी उगित हो जाता है।] के कारण उगित् होने से 'उगिदचा सर्वनामस्थाने ' (२८९) से नुम् आगम होकर—महनुँम्त्+स्=महन्त्+स्। अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—३४२ सान्तमहतः संयोगस्य ।६।४।१०॥

सान्तसंयोगस्य महतश्च यो नकारस्तस्योपधाया दीर्घ स्यादसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने। महान्। महान्तौ। महान्त । हे महन्। महद्भ्याम् ॥

अर्थ—सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे होने पर सकारान्त संयोग तथा महत्

शब्द के नकार की उपधा को दीर्घ हो जाता है ।

व्याख्या—सान्त ।६।१। [यहाँ षष्ठीविभक्ति का लुक् हुआ है । यह 'संयोगस्य' का विशेषण है ।] संयोगस्य ।६।१। महत ।६।१। न ।६।१। ['नोपधायाः' से । यहां षष्ठी का लुक् हुआ है ।] उपधायाः ।६।१। ['नोपधायाः' से] दीर्घ ।१।१। ['ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से] असम्बुद्धौ ।७।१। सर्वनामस्थाने ।७।१। ('सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' से) अर्थ—(सान्त) सकारान्त (संयोगस्य) संयोग के तथा (महत) महत् शब्द के (न = नस्य) नकार की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर (दीर्घ) दीर्घ आदेश हो जाता है (असम्बुद्धौ) सम्बुद्धिभिन्न (सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे होने पर । सकारान्त संयोग की उपधा को दीर्घ करने के उदाहरण आगे—विद्वांसौ, विद्वांसः यशांसि मनांसि आदि आ जाएंगे ।

महन्त्+स् । यहां प्रकृतसूत्र से महत् शब्द के अवयव नकार की उपधा—हकारोत्तर अकार को दीर्घ हो कर 'महान्त्+स' । अब सुँलोप तथा संयोगान्तलोप होकर 'महान्' प्रयोग सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि संयोगान्तलोप के असिद्ध होने से नकार का लोप नहीं होता । 'महत्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र० महान्	महान्तौ†	महान्तः	पं० महतः	महद्भ्याम्	महद्भ्यः
द्वि० महान्तम्	,,	महतः	ष० ,,	महतोः	महताम्
तृ० महता	महद्भ्याम्+	महद्भिः	स० महति	,,	महत्सु
च० महते	,,	महद्भ्यः	सं० हे महन्* !	हे महान्तौ !	हे महान्तः !

† 'उगिदचाम्—' (२८९) से नुम्, 'सान्तमहत—' (३४२) से उपधादीर्घ तथा अनुस्वार परसवर्णप्रक्रिया जान लेनी चाहिये ।

+ 'झलां जशोऽन्ते' (६७)

* यहां 'उगिदचाम्—' (२८९) से नुम् होकर सुँलोप तथा संयोगान्तलोप हो जाता है । ध्यान रहे कि यहां सम्बुद्धि परे होने से 'सान्तमहत—' (३४२) प्रवृत्त नहीं होता ।

[लघु०]—विधि सूत्रम्—३४३ अत्वसन्तस्य चाधातोः ।६।४।१४।

अत्वन्तस्योपधाया दीर्घो धातुभिन्नासन्तस्य चासम्बुद्धौ सौ परे । धीमान् । धीमन्तौ । धीमन्तः । हे धीमन् । शसादौ महद्वत् ।

अर्थ—सम्बुद्धि भिन्न सुँ परे होने पर 'अतु' जिसके अन्त में हो उसकी उपधा

को दीर्घ होता है एवम् धातु को छोड़कर अस् जिसके अन्त में हो उसकी उपधा को भी दीर्घ हो जाता है।

व्याख्या—अतु ।६।१। [यहां षष्ठी का लुक् हुआ है। 'अङ्गस्य' का विशेषण होने से तदन्तविधि होकर 'अत्वन्तस्य' बन जाता है।] असन्तस्य ।६।१। च इत्यव्ययपदम् । अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है।] उपधायाः ।६।१। ['नोपधायाः' से] दीर्घः ।१।१। ['ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से] असम्बुद्धौ ।७।१। ['सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' से] सौ ७।१। ['सौ च' से] अर्थ—(अतु + अन्तस्य) अत्वन्त (अङ्गस्य) अङ्ग की (च) तथा (अधातोः) धातुभिन्न (असन्तस्य) अस् अन्त वाले (अङ्गस्य) अङ्ग की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ होता है (असम्बुद्धौ) सम्बुद्धिभिन्न (सौ) सुँ परे हो तो।

अतु से 'मतुँप्, वतुप्, डवतु' आदि प्रत्ययों का ग्रहण होता है। अस्—अन्त' का उदाहरण आगे मूल में 'वेधस्' आदि स्पष्ट हो जायगा। यहां अत्वन्त का उदाहरण दर्शाया जाता है—

धीमत् = बुद्धिमान्

[धीरस्त्यस्येति धीमान्। धीशब्दात् 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' इति मतुप्]

'धी' शब्द से मतुप् प्रत्यय करने पर 'धीमत्' शब्द निष्पन्न होता है।

'धीमत् + स्' यहां 'धीमत्' शब्द के अतु + अन्त (मतु = म् + अतु) होने से प्रथम † 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' (३४३) से उपधादीर्घ होकर—धीमात् + स्। पुनः 'उगिदचाम्०' (२८६) से नुम् आगम—धीमान् त् + स्। अब सुँलोप और संयोगान्तलोप होकर—'धीमान्' प्रयोग सिद्ध होता है। 'धीमत्' की समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	धीमान्	धीमन्तौ	धीमन्तः	पं०	धीमतः	धीमद्भ्याम्	धीमद्भ्यः
द्वि०	धीमन्तम्	,,	धीमतः	ष०	,,	धीमतोः	धीमताम्
तृ०	धीमता	धीमद्भ्याम्	धीमद्भिः	स०	धीमति	,,	धीमत्सु
च०	धीमते	,,	धीमद्भ्यः	सं०	हे धीमन्!	हे धीमन्तौ!	हे धीमन्तः!

† ध्यान रहे कि 'धीमत् + स्' में 'अत्वसन्तस्य—' (४५) द्वारा उपधादीर्घ तथा 'उगिदचाम्०' (८६) से नुम् आगम युगपत् प्राप्त होते हैं। नुम् आगम नित्य तथा पर होने पर भी प्रथम नहीं होता। क्योंकि यदि ऐसा किया जाए तो पुनः कहीं अत्वन्त ही न मिल सके। अतः वचनसामर्थ्य से प्रथम उपधादीर्घ होकर पश्चात् नुम् आगम होता है।

+ सम्बुद्धि में 'अत्वसन्तस्य०' (३४३) द्वारा दीर्घ नहीं होता।

इसी प्रकार—भगवत्, बुद्धिमत्, धनवत्, मतिमत् आदि मत्वन्त व वत्वन्त शब्दों के रूप होते हैं।

[लघु०] भातेर्डवतुः। डित्त्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः। भवान्। भवन्तौ। भवन्तः। शत्रन्तस्य—भवन्।

व्याख्या— भवतु=भवत् (आप)

'भा दीप्तौ' (अदा० प०) धातु से 'भातेर्डवतुः' (उणा० ६३) इस औणादिकसूत्र द्वारा 'डवतु' प्रत्यय करने से—'भा+डवतु'। डवतु के अनुबन्धों का लोप कर 'अवत्' शेष रह जाता है—'भा+अवत्' अब 'भा' की भसञ्ज्ञा न होने पर भी डवतु को डित् करने के सामर्थ्य से भकारोत्तर आकार का 'टेः' (२४२) से लोप होकर—'भवत्' शब्द निष्पन्न होता है।

भवत्+स् (सु)। अत्वन्त होने से 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' (३४३) से उपधादीर्घ, 'उगिदचाम्०' (२८९) से नुम् आगम, सुँलोप तथा संयोगान्तलोप करने से 'भवान्' प्रयोग सिद्ध होता है। इस की सम्पूर्ण प्रक्रिया 'धीमत्' शब्द के समान होती है। रूपमाला यथा—

प्र०	भवान्	भवन्तौ	भवन्तः	प०	भवतः	भवद्भ्याम्	भवद्भ्यः
द्वि०	भवन्तम्	,,	भवतः	ष०	,,	भवतोः	भवताम्
तृ०	भवता	भवद्भ्याम्	भवद्भिः	स०	भवति	,,	भवत्सु
च०	भवते	,,	भवद्भ्यः	सं०	हे भवन्!+	हे भवन्तौ!	हे भवन्तः!

+ सम्बुद्धि में 'अत्वसन्तस्य०' (३४३) प्रवृत्त नहीं होता।

'भवत्' शब्द त्यदाद्यन्तर्गत सर्वनाम है। सर्वनामसञ्ज्ञा का प्रयोजन 'भवकान्' आदि में 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः' (१२२९) द्वारा अकच् प्रत्यय आदि करना है। त्यदादियों का यद्यपि सम्बोधन नहीं होता तथापि ऊपर सम्भावनामात्र से दर्शाया गया है।

भवत्=भवत् [होता हुआ]

'भू सत्तायाम्' (भ्वा० प०) धातु से लट्, उसके स्थान पर शतृ प्रत्यय, शतृ के सार्वधातुक होने से शप् विकरण, गुण, अवादेश तथा 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप करने पर 'भवत्' शब्द निष्पन्न होता है। यह 'भवत्' शब्द शतृप्रत्ययान्त है। शतृ प्रत्यय के ऋकार की 'उपदेशेऽजनु०' (२८) से इत्सञ्ज्ञा होती है। अतः 'भवत्' शब्द

उगित् है। उगित् होने से सर्वनामस्थान में इसे नुम् आगम हो जायगा। इसकी रूपमाला यथा—

प्र०	भवन् †	भवन्तौ	भवन्त	प०	भवत	भवद्भ्याम्	भवद्भ्य
द्वि०	भवन्तम्		भवत	ष०		भवतो	भवताम्
तृ०	भवता	भवद्भ्याम्	भवद्भि	स०	भवति	,,	भवत्सु
च०	भवते		भवद्भ्य	स०	हे भवन्!	हे भवन्तौ!	हे भवन्त!

† यहाँ अत्वन्त न होने से 'अत्वसन्तस्य चाधातोः' (३४३) सूत्र से उपधादीर्घ नहीं होता। नुम्, सुँलोप तथा संयोगान्तलोप पूर्ववत् होते हैं।

इसी प्रकार—गच्छत् (जाता हुआ), चलत् (चलता हुआ) पतत् (गिरता हुआ) खादत् (खाता हुआ) प्रभृति शत्रन्त शब्दों के रूप होते हैं। शत्रन्तों का बृहत् संग्रह उत्तरार्ध में शतृ प्रकरण में देखें।

अब शत्रन्त शब्दों में कुछ विशेष प्रक्रिया वाले शब्द कहे जाते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—३४४ उभे ❀ अभ्यस्तम् ।६।१।५॥

षाष्ठद्वित्वप्रकरणे ये द्वे विहिते ते उभे समुदिते अभ्यस्तसञ्ज्ञे स्तः।

अर्थः—छठे अध्याय के द्वित्व प्रकरण में द्वित्व से जिन दो शब्दस्वरूपों का विधान किया जाता है वे दोनों समुदित (इकट्ठे हुए, न कि पृथक्) अभ्यस्तसञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—उभे ।१।२। द्वे ।१।२। ['एकाचो द्वे प्रथमस्य' से] अभ्यस्तम् ।१।१। अर्थः—(उभे) समुदित (द्वे) दोनों शब्दस्वरूप (अभ्यस्तम्) अभ्यस्त सञ्ज्ञक होते हैं।

द्वित्व अर्थात् एक शब्द को दो शब्द विधान करने वाले अष्टाध्यायी में दो प्रकरण आते हैं। पहला—छठे अध्याय के प्रथमपाद के प्रथमसूत्र से लेकर बारहवें सूत्र तक। दूसरा अष्टम अध्याय के प्रथमपाद के प्रथमसूत्र से लेकर १५वें सूत्र तक। यहां अभ्यस्त सञ्ज्ञा षष्ठाध्याय वाले शब्दस्वरूपों की होती है अष्टमाध्याय वाले शब्दस्वरूपों की नहीं। इसका कारण यह है कि—"अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा" (प०) अर्थात्

❀ 'उभे + अभ्यस्तम्' में 'ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्' (५१) द्वारा प्रगृह्यसञ्ज्ञा और प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् (५०) द्वारा प्रकृतिभाव हो जाने से सन्धि नहीं होती। एवम् वृत्ति में 'ते उभे समुदिते अभ्यस्तसञ्ज्ञे' यहाँ पर भी सन्ध्यभाव जानना चाहिए।

विधि और निषेध समीप पठित के होते हैं दूरपठित के नहीं। 'उभे अभ्यस्तम्' (६.१.२५) सूत्र छठे अध्याय के द्वित्वप्रकरण में पढा गया है अतः अभ्यस्तसञ्ज्ञा भी छठे अध्याय के द्वित्वप्रकरण में विहित समुदित शब्दस्वरूपों की हो होगी।

'द्वे' पद का अनुवर्त्तन होने पर भी 'उभे' का ग्रहण इस बात को बतलाने के लिये है कि दोनों की इकट्ठी अभ्यस्तसञ्ज्ञा हो प्रत्येक की पृथक् २ न हो। इससे 'ननिजति' आदि में 'अभ्यस्तानामादिः' (६.१.१८६) द्वारा प्रत्यक का आद्युदात्त न होकर समुदित को होता है। इसका विशेष विवेचन काशिका और महाभाष्य में देखना चाहिये।

ददत्='ददत्' (देता हुआ)

दा (डुदाञ् दाने जुहो० उभ०) धातु से लट्, उसको शतृ, शप् प्रत्यय, शप् का श्लु (लोप), श्लु परे होने पर षष्ठाध्यायस्थ 'श्लौ' (६.१.१०) सूत्र से द्वित्व, अभ्यासह्रस्व तथा 'श्नाभ्यस्तयोरातः' (६११) से आकारलोप होकर 'ददत्' शब्द निष्पन्न होता है।

षाष्ठद्वित्वप्रकरणस्थ 'श्लौ' (६.१.७) सूत्र से द्वित्व होने के कारण 'दद्' की 'उभे अभ्यस्तम्' (३४४) से अभ्यस्तसञ्ज्ञा हो जाती है।

अब अग्रिमसूत्र द्वारा अभ्यस्तसञ्ज्ञा का प्रयोजन बतलाते हैं—

[लघु०] निषेध सूत्रम्— ३४५ नाभ्यस्ताच्छतुः ।७।१।७८॥

अभ्यस्तात् परस्य शतुर्नुम् न स्यात्। ददत्, ददद्। ददतौ। ददतः।

अर्थः—अभ्यस्त से परे शतृ प्रत्यय को नुम् का आगम नहीं होता।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम्। अभ्यस्तात्। ५।१। शतुः।६।१। नुम्।१।१। ['इदितो नुम् धातोः' से] अर्थः—(अभ्यस्तात्) अभ्यस्तसञ्ज्ञक से परे (शतुः) शतृ का अवयव (नुम्) नुम् (न) नहीं होता।

ददत्+स् (सु)। यहाँ 'उगिदचाम्—' (२८९) से प्राप्त नुम् आगम का 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (३४५) से निषेध हो जाता है। अब 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७९) से सुँलोप कर जश्त्व चर्त्व प्रक्रिया से—'ददत्, ददद्' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार आगे भी सर्वनामस्थानों में नुम् का निषेध कर लेना चाहिये। इसकी रूपमाला यथा—

प्र०	ददत्-द्	ददतौ	ददतः	प०	ददतः	ददद्भ्याम्	ददद्भ्यः
द्वि०	ददतम्			ष०	,,	ददतोः	ददताम्
तृ०	ददता	ददद्भ्याम्❀	ददद्भिः	स०	ददति		ददत्सु
च०	ददते		ददद्भ्यः	सं०	हे ददत्-द्!	हे ददतौ!	हे ददतः!

❀ झलां जशोऽन्ते' (६७)

इसीप्रकार—दधत् (धारण करता हुआ), जुह्वत् (हवन करता हुआ), बिभ्यत् (डरता हुआ) बिभ्रत् (धारण करता हुआ) जहत् (छोड़ता हुआ) आदि जुहोत्यादिगणीय शत्रन्त धातुओं के रूप जान लेने चाहियें।

अब कुछ उन शत्रन्तों का वर्णन करते हैं जिन में षाष्ठद्वित्व न होने से अभ्यस्त सञ्ज्ञा तो नहीं होती किन्तु नुम् का निषेध अभीष्ट होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—३४६ जक्षित्यादयः षट् ।६।१।६।।

षड् धातवोऽन्ये जक्षितिश्च सप्तम एतेऽभ्यस्तसञ्ज्ञाः स्युः। जक्षत्। जक्षतौ। जक्षतः। एवं जाग्रत्, दरिद्रत्, शासत्, चकासत्।।

अर्थः—जागृ आदि छः धातु तथा सातवां 'जक्ष्' धातु ये सब अभ्यस्तसञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—जक्ष् ।१।१। इत्यादयः ।१।३। षट् ।१।३। अभ्यस्तम् ।१।१। ('उभे अभ्यस्तम्' से) समासः—इति (इतिशब्देन जक्षपरामर्शो भवति) आदिर्येषान्ते=इत्यादयः, अतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः 'षड्' इतिग्रहणात्। अर्थः—(जक्ष्) जक्ष् धातु तथा (इत्यादयः) जक्ष् से अगली (षट्) छः धातुएं (अभ्यस्तम्) अभ्यस्तसञ्ज्ञक होते हैं।

इन सात धातुओं का सङ्ग्रह एक श्लोक में किया गया है—

> "जक्षि जागृ-दरिद्रा शास्-दीधीङ् वेवीङ् चकास्तथा।
> अभ्यस्तसञ्ज्ञा विज्ञेया धातवो मुनिभाषिताः॥"

१ जक्षँ भक्षहसनयोः (अदा० प०)। २ जागृ निद्राक्षये (अदा० प०)। ३ दरिद्रा दुर्गतौ (अदा० प०)। ४ चकासृँ दीप्तौ (अदा० प०)। ५ शासुँ अनुशिष्टौ (अदा० प०)। ६ दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः (अदा० आ०)। ७ वेवीङ् वेतिना तुल्ये (अदा० आ०)। इन सात में पिछली दीधीङ् और वेवीङ् धातुओं का प्रयोग वेद में ही होता है। इनके शत्रन्त रूप क्रमशः यथा—१ जक्षत्=खाता व हँसता

हुआ। २ जाग्रत्=जागता हुआ। ३ दरिद्रत्=दुर्गति को प्राप्त होता हुआ। ४ चकासत्=चमकता हुआ। ५ शासत्=शासन करता हुआ। ६ दीध्यत्=क्रीडा करता हुआ। ७ वेव्यत्=गति करता हुआ।

इन सातों शत्रन्तों से सर्वनामस्थान परे होने पर 'उगिदचाम्०' (२८६) द्वारा नुम् आगम प्राप्त था जो अब 'जक्षित्यादयः षट्' (३४६) सूत्र से अभ्यस्तसञ्ज्ञा हो जाने के कारण 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (३४५) द्वारा निषिद्ध हो जाता है। उदाहरणार्थ 'जक्षत्' की रूपमाला यथा—

प्र०	जक्षत्-द्†	जक्षतौ	जक्षतः	पं०	जक्षतः	जक्षद्भ्याम्	जक्षद्भ्यः
द्वि०	जक्षतम्	,,	,,	ष०	,,	जक्षतोः	जक्षताम्
तृ०	जक्षता	जक्षद्भ्याम्	जक्षद्भिः	स०	जक्षति	,,	जक्षत्सु
च०	जक्षते	,,	जक्षद्भ्यः	सं०	हे जक्षत्-द्!	हे जक्षतौ!	हे जक्षतः!

† सुँलोप, जश्त्व, चर्त्व।

इसीप्रकार अन्य छः शत्रन्तों के रूप भी बनते हैं।

अभ्यास (४३)

(१) 'अभ्यस्त' सञ्ज्ञाविधायक सूत्र कौन कौन से हैं तथा इस सञ्ज्ञा का लाभ ही क्या है?

(२) 'जक्षित्यादयः षट्' सूत्र में छः धातुओं का उल्लेख है तो पुनः सात धातुओं का ग्रहण कैसे हो जाता है?

(३) 'द्वे' पद का अनुवर्तन होने पर भी 'उभे अभ्यस्तम्' सूत्र में 'उभे' ग्रहण का क्या प्रयोजन है?

(४) सर्वनामसञ्ज्ञक भवत् तथा शत्रन्त भवत् शब्द में क्या अन्तर है?

(५) "तकारान्त पुंल्लिङ्ग चार प्रकार के होते हैं" इस कथन की सोदाहरण व्याख्या करें।

(६) सर्वनामसञ्ज्ञक 'भवतु' शब्द में सर्वनामकार्य तो कोई होता नहीं तो पुनः इसके सर्वनामसञ्ज्ञक होने का क्या प्रयोजन है?

(७) जक्षित्यादि धातु कौन २ से हैं?

(८) "अनन्तरस्य विधिर्वा भवति प्रतिषेधो वा" इस परिभाषा का क्या तात्पर्य है तथा 'उभे अभ्यस्तम्' सूत्र पर इसका क्या उपयोग किया गया है?

(९) 'सान्तमहतः संयोगस्य' और 'उभे अभ्यस्तम्' सूत्र की विस्तृत व्याख्या करें ।

(१०) 'उभे अभ्यस्तम्' सूत्र में स्त्र सञ्ज्ञा क्यों नहीं हुई ?

(११) निम्नलिखित रूपों की सूत्रनिर्देशपूर्वक साधनप्रक्रिया लिखें —

महान्ता धीमन् न्त, नचना ।

(१२) भगवत्, भाम्रत् अतिमहत् निम्यन् त्रवातवत् गवत् — इन शब्दों की प्रथमा के एकवचन में साधनप्रक्रिया दर्शाते हुए रूप बना दिजें ।

यहां तकारान्त पुल्लिङ्ग समाप्त होते हैं ।

——

—(तकारान्तों के विषय में विशेष सूचना)—

तकारान्त पुल्लिङ्गों को चार श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं—

(१) महत् शब्द । सान्तमहतः संयोगस्य (३४२) सूत्र में केवल 'महत्' शब्द का वर्णन होने से यह अपने ढङ्ग का आप ही शब्द है, अतः इसके सदृश अन्य किसी तकारान्त पुल्लिङ्ग का उच्चारण नहीं होता ।

(२) अत्वन्त शब्द । इस श्रेणी में मतुबन्त, वत्वन्त, क्तवत्वन्त तथा डवतु प्रत्ययान्त सर्वनाम 'भवत्' शब्द आता है । मतुबन्तों और क्तवत्वन्तों का बृहत् सङ्ग्रह उत्तरार्ध में अपने अपने प्रकरणों में देखें ।

(३) शत्रन्त शब्द । इस श्रेणी में अभ्यस्त शत्रन्तों को छोड़ अन्य सब शत्रन्त आ जाते हैं ।

(४) अभ्यस्त शत्रन्त । इस श्रेणी में ददत्, दधत् प्रभृति जुहोत्यादिगण के शत्रन्त तथा जक्षत् आदि अदादिगण के सात शत्रन्तों के प्रयोग सम्मिलित हैं ।

बालकों के अभ्यासार्थ कुछ तकारान्त शब्द नीचे साथ लिखे जाते हैं इन के आगे १, २, ३, ४ के अङ्क इन की श्रेणी के बोधक हैं—

१	विद्यावत् (२) = विद्या वाला, विद्वान्	५	भक्तिमत् (२) = भक्तिवाला, भक्त
२	पचत् (३) = पकाता हुआ	६	महत् (१) = बड़ा
३	वविषत् (४) = व्याप्त होता हुआ	७	नेनिजत् (४) = पवित्र व पुष्ट करता हुआ
४	चकासत् (४) = चमकता हुआ	८	गुणवत् (२) = गुणों वाला

९	दरिद्रत् (४)	= दुर्गति को प्राप्त करता हुआ
१०	चिन्तयत् (३)	= सोचता हुआ
११	जाग्रत् (४)	= जागता हुआ
१२	विचारयत् (३)	= विचार करता हुआ
१३	विचारवत् (२)	= विचार वाला विचारवान्
१४	मधुमत् (२)	= मिठासयुक्त मीठा
१५	सुमहत् (१)	= बहुत बड़ा
१६	जुह्वत् (४)	= हवन करता हुआ
१७	भूतवत् (२)	= जो गुज़र चुका है
१८	पृच्छत् (३)	= पूछता हुआ
१९	शासत् (४)	= शासन करता हुआ
२०	हतवत् (२)	= जो मार चुका है
२१	जहत् (४)	= छोड़ता हुआ
२२	दीप्यत् (३)	= चमकता हुआ
२३	व्रजत् (४)	= गमन करता हुआ
२४	सृष्टवत् (२)	= जो पैदा कर चुका है

[लघु०] गुप् । गुपौ । गुपः । गुब्भ्याम् ।

व्याख्या — गुप् = रक्षा करने वाला ।

गोपायतीति—गुप् । गुपू रक्षणे' (भ्वा० प०) इत्यस्मात् 'क्विप् च' (८०२) इति क्विपि गुप्' शब्दः सिध्यति । रूपमाला यथा—

प्र०	गुप्-ब्❀	गुपौ	गुपः
द्वि०	गुपम्	,,	,,
तृ०	गुपा	गुब्भ्याम्+	गुब्भिः
च०	गुपे	,,	गुब्भ्यः
पं०	गुपः	गुब्भ्याम्	गुब्भ्यः
ष०	,,	गुपोः	गुपाम्
स०	गुपि	,,	गुप्सु†
सं०	हे गुप्-ब्!	हे गुपौ!	हे गुपः!

❀ सुँलोप, जश्त्व, चर्त्व । + झलां जशोऽन्ते । † जश्त्व, चर्त्व ।

यहां पकारान्त पुंल्लिंग समाप्त होते हैं ।

—❀—

[लघु०] विधि सूत्रम्— ३४७ त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च ।३।२।६०।।

त्यदादिषूपपदेष्वज्ञानार्थाद् दृशेः कञ् स्याच्चात् क्विन् ।

अर्थ —त्यद् आदि शब्दों के उपपद रहने पर ज्ञानभिन्न अर्थ के वाचक 'दृश्' धातु से कञ् और क्विन् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—त्यदादिषु । ७ । ३ । दृशः । ५ । । अनालोचने । ७ । १ । कञ् । १ । १ । च' इत्यव्ययपदम् । क्विन् । १ । १ । [स्पृशोऽनुदके क्विन्' से] समास—आलोचनं ज्ञानम्, न आलोचनम् = अनालोचनम् तस्मिन् = अनालोचने । नञ्समास । अर्थ—(त्यदादिषु) त्यद् आदि उपपद अर्थात् समीप ठहरने पर (अनालोचने) ज्ञान से भिन्न अर्थ में (दृशः) दृश् धातु से (कञ्) कञ् प्रत्यय (च) तथा (क्विन्) क्विन् प्रत्यय होता है ।

अष्टाध्यायी के तृतीयाध्याय के प्रथमपाद में धातोः (७६६) यह अधिकार चलाया गया है । यह अधिकार तृतीयाध्याय की समाप्ति पर्यन्त जाता है इस अधिकार में सप्तम्यन्त पदों की 'तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्' (६५३) सूत्र द्वारा उपपदसञ्ज्ञा की जाती है । उपपदसञ्ज्ञा का प्रयोजन 'उपपदमतिङ्' (६५४) द्वारा समास होकर पूर्वनिपात करना है । यह सब समासों में स्पष्ट हो जायगा । यहां पर 'त्यदादिषु' सप्तम्यन्त होने से उपपद है ।

तादृश् = उसके समान, वैसा ।

स इव पश्यतीति विग्रहः । कर्मकर्त्तरि प्रयोगः । ज्ञानविषयो भवतीत्यर्थः । दृशेरत्र ज्ञानविषयत्वापत्तिमात्रवृत्तित्वादज्ञानार्थता । तद्' पूर्वक अज्ञानार्थक*दृश् (भ्वा० प०) धातु से 'त्यदादिषु' (३४७) सूत्र से कञ् और पक्ष में क्विन् प्रत्यय होकर—१ कञ् पक्ष में—तद् दृश् + कञ्‡ = तद् दृश । २ क्विन् पक्ष में—तद् दृश् + क्विन्† = तद् दृश् । अब दोनों पक्षों में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३४८ आ सर्वनाम्नः ।६।३।९०॥

सर्वनाम्न आकारोऽन्तादेशः स्याद् दृग्दृशवतुषु । तादृक्, तादृग् । तादृशौ । तादृशः । तादृग्भ्याम् ॥

अर्थ—दृग् दृश और वतु परे होने पर सर्वनाम को आकार अन्तादेश हो जाता है ।

---

* यह विषय सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या में स्पष्ट है ।

‡ लशक्वतद्धिते (१३६), हलन्त्यम् (१) ।

† सर्वापहारी लोप ।

व्याख्या—दृग्दृशवतुषु । ७ । ३ । ['दृग्दृशवतुषु' से] सर्वनाम्नः । ६ । १ । आ । १ । १ । ['छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति' इस अतिदेश से यहां 'सुपां सुलुक्०' द्वारा प्रथमा का लुक् हो जाता है ।] अर्थ — (दृग्दृशवतुषु) दृग्, दृश और वतु परे होने पर (सर्वनाम्नः) सर्वनाम के स्थान पर (आ) आकार आदेश हो जाता है । अलोऽन्त्यविधि से यह आदेश अन्त्य अल् के स्थान पर होता है ।

यहाँ 'दृग्' से तात्पर्य क्विन्नन्त दृश् से तथा 'दृश' से तात्पर्य कञन्त दृश् से है ।

इस सूत्र से दोनों पक्षों में 'तद्' इस सर्वनाम के दकार को आकार होकर सवर्णदीर्घ करने से कञ्पक्ष में 'तादृश' और क्विन्पक्ष में 'तादृश्' बना । कञ्पक्ष वाले 'तादृश' शब्द का उच्चारण 'राम' शब्दवत् होता है । यथा—

प्र०	तादृशः	तादृशौ	तादृशाः	पं०	तादृशात्	तादृशाभ्याम्	तादृशेभ्यः
द्वि०	तादृशम्	,,	तादृशान्	ष०	तादृशस्य	तादृशयोः	तादृशानाम्
तृ०	तादृशेन	तादृशाभ्याम्	तादृशैः	स०	तादृशे	,,	तादृशेषु
च०	तादृशाय	,,	तादृशेभ्यः	सं०	हे तादृश !	हे तादृशौ !	हे तादृशाः !

सम्बोधन का प्रयोग प्रायः नहीं देखा जाता । इसी प्रकार—१ यादृश = जैसा । २ एतादृश = ऐसा । ३ त्वादृश = तुझ जैसा । ४ मादृश = मुझ जैसा । ५ अस्मादृश = हम जैसा । ६ युष्मादृश = तुम सब जैसा । ७ भवादृश = आप जैसा । ८ कीदृश❀ = कैसा । ९ ईदृश❀ = ऐसा । इत्यादि शब्दों के कञ्पक्ष में रूप बनते हैं[1] ।

'तादृश्' यहां क्विन्नन्तपक्ष में प्रक्रिया यथा—'तादृश् + स्' यहां सुँ-लोप होकर 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) सूत्र के असिद्ध होने से 'व्रश्च-भ्रस्ज०' (३०७) सूत्र द्वारा शकार को षकार हो जाता है—तादृष् । 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से षकार को डकार तथा 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) से डकार को गकार होकर—तादृग् । अब 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व करने पर—'तादृक्, तादृग्' ये दो रूप बनते हैं । क्विन्नन्त 'तादृश्' की समग्र रूपमाला यथा—

❀ 'इदंकिमोरीश्की' (११६७) सूत्र से इदम् को ईश् तथा किम् को की आदेश होता है ।

१ स्त्रीलिङ्ग में ङीप् होकर 'नदी' की तरह रूप और नपुंसक में 'ज्ञान' की तरह रूप होंगे । वत्वन्त के उदाहरण—'यावत्, तावत्, एतावत्, कियत्, इयत्' इत्यादि समझने चाहियें ।

प्र०	तादृक् ग	तादृशा	तादृश	प०	तादृश	तादृग्भ्याम्	तादृग्भ्य
द्वि०	तादृशम्	,,	,	ष०	,	तादृशो	तादृशाम्
तृ०	तादृशा	तादृग्भ्याम्'	तादृग्भि	स०	तादृशि	,	तादृक्षु†
च०	तादृशे	,	तादृग्भ्य	सं०	हे तादृक् ग !	हे तादृशो !	हे तादृश !

सम्बोधन का प्रयोग प्राय नहीं देखा जाता।

१ क्रमश षत्व डत्व और कुत्व हो जाता है।

† षत्व डत्व और कुत्व होकर खरि च (७४) के असिद्ध होने से प्रथम आदेशप्र यययो' (१५०) से षत्व होकर पुन चर्त्व करने से प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसी प्रकार—१ यादृश्=जैसा। २ एतादृश्=ऐसा। ३ त्वादृश्=तुझ जैसा। ४ मादृश्=मुझ जैसा। ५ अस्मादृश्=हम जैसा। ६ युष्मादृश्=तुम सब जैसा। ७ भवादृश्=आप जैसा। ८ कीदृश=कैसा। ९ ईदृश=ऐसा। इत्यादि क्विन्नन्त शब्दों के रूप बनते हैं। स्त्रीलिङ्ग म भी क्विन् प्रत्ययान्त के इसी प्रकार रूप बनते हैं। नपुंसक में प्रथमा द्वितीया को छोड़कर इसी तरह।

[लघु०] व्रश्चेति ष। जश्त्व चर्त्वे। विट्, विड्। विशौ। विश। विड्भ्याम्॥

व्याख्या— विश्=वैश्य अथवा प्रजा।

'विशँ प्रवेशने (तुदा प०) धातु से क्विप् प्रत्यय करने से 'विश्' शब्द निष्पन्न होता है।

विश्+स्। सुँलोप 'व्रश्चभ्रस्ज ' (३०७) से शकार को षकार, जश्त्व से षकार को डकार तथा 'वाऽवसाने' (१४६) द्वारा वैकल्पिक चर्त्व=टकार करने पर 'विट्, विड्' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

'विश्' की रूपमाला यथा—

प्र०	विट्-ड्	विशौ	विश	प०	विश	विड्भ्याम्	विड्भ्य
द्वि०	विशम्	,	,	ष०	,	विशो	विशाम्
तृ०	विशा	विड्भ्याम्❀	विड्भि	स०	विशि	,	विट्त्सु, ट्सु†
च०	विशे	,	विड्भ्य	सं०	हे विट्-ड् !	हे विशौ !	हे विश !

❀ व्रश्च—' (३०७) द्वारा षत्व तथा 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से डत्व हो जाता है।

† षत्व, डत्व तथा धुट्प्रक्रिया।

[लघु०] विधि सूत्रम्—३४९ नशेर्वा ।८।२।६३॥

नशे कवर्गोऽन्तादेशो वा स्यात् पदान्ते । नक्, नग्, । नट्, नड् । नशौ । नशः । नग्भ्याम्, नड्भ्याम् ॥

अर्थः—पदान्त में नश् शब्द को विकल्प करके कवर्ग अन्तादेश होता है।

व्याख्या—नशेः । ६ । १ । वा इत्यव्ययपदम् । कुः । १ । १ । ['क्विन्प्रत्ययस्य कुः' से] पदस्य । ६ । १ । [यह अधिकृत है ।] अन्ते । ७ । १ । ['स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से] अर्थः—(नशेः) नश् के स्थान पर (वा) विकल्प करके (कुः) कवर्ग आदेश होता है (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में । अलोऽन्त्यविधि से यह आदेश अन्त्य अल् के स्थान पर होगा ।

नश्=नाश होने वाला, नश्वर ।

'णश अदर्शने' (दिवा० प० रधादित्वादिट्) धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'नश्' शब्द सिद्ध होता है।

नश्+स् । सुँलोप होकर 'नशेर्वा' (८ २ ६३) के असिद्ध होने से 'व्रश्च भ्रस्ज—' (८ २ ३६) द्वारा शकार को षकार 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से षकार को डकार होकर—नड् । अब एक पक्ष में 'नशेर्वा' (३४९) से कवर्ग—गकार हो जाता है, तब वैकल्पिक चर्त्व करने पर—'नक् नग्' । दूसरे पक्ष में केवल चर्त्व करने से—नट्, नड् । इस प्रकार चार प्रयोग सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—

प्रथमा	नक्, नग्, नट्, नड्	नशौ	नशः
द्वितीया	नशम्	,,	,,
तृतीया	नशा	नग्भ्याम्, नड्भ्याम्❀	नग्भिः, नड्भिः
चतुर्थी	नशे	,, ,,	नग्भ्यः, नड्भ्यः❀
पञ्चमी	नशः	,, ,,	,, ,,
षष्ठी	,,	नशोः	नशाम्
सप्तमी	नशि		नक्षु, नट्त्सु, नट्सु
सम्बोधन	हे नक्, ग्, ट्, ड् !	हे नशौ !	हे नशः !

❀ षत्वे, जश्त्वेन डत्वे, 'नशेर्वा' (३४९) इतिविकल्पेन कत्वे रूपद्वयम् ।

[लघु०] विधिसूत्रम्—३५० स्पृशोऽनुदके क्विन् ।३।२।५८।

अनुदके सुप्युपपदे स्पृशेः क्विन्। घृतस्पृक्, घृतस्पृग्। घृतस्पृशौ। घृतस्पृशः।

अर्थः—'उदक' शब्द से भिन्न अन्य सुबन्त उपपद हो तो 'स्पृश्' धातु से क्विन् प्रत्यय होता है।

व्याख्या—स्पृशः। ५।१। अनुदके। ७।१। क्विन्। १।१। सुपि। ७।१। [सुपि स्थः से] अर्थः—(अनुदके) उदकभिन्न† (सुपि) सुबन्त उपपद हो तो (स्पृशः) स्पृश धातु से (क्विन्) क्विन् प्रत्यय होता है।

घृतस्पृश् = घी को छूने वाला।

घृतं स्पृशतीति घृतस्पृक्। यहाँ स्पृश (६ उ० प०) धातु के उपपद उदक शब्द नहीं है किन्तु घृत सुबन्त है अतः 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' (५१०) से क्विन् प्रत्यय उसका सर्वापहार लोप तथा उपपदसमास करने से घृतस्पृश शब्द निष्पन्न होता है।

घृतस्पृश+स्। सुँलोप 'व्रश्चभ्रस्ज' (३०७) से शकार का षकार 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से षकार को डकार, 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) से डकार को गकार तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्व ककार करने पर—घृतस्पृक्, घृतस्पृग् ये दो रूप सिद्ध होते हैं। समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	घृतस्पृक्-ग्	घृतस्पृशौ	घृतस्पृशः	पं०	घृतस्पृशः	घृतस्पृग्भ्याम्	घृतस्पृग्भ्यः
द्वि०	घृतस्पृशम्	,,	,,	ष०		घृतस्पृशोः	घृतस्पृशाम्
तृ०	घृतस्पृशा	घृतस्पृग्भ्याम्[1]	घृतस्पृग्भिः	स०	घृतस्पृशि		घृतस्पृक्षु
च०	घृतस्पृशे		घृतस्पृग्भ्यः	सं०	हे घृतस्पृक्-ग्!	हे घृतस्पृशौ!	हे घृतस्पृशः!

१ क्रमशः षत्व, डत्व, कुत्व।

इसी प्रकार—मन्त्रस्पृश्, जलस्पृश्, तृणस्पृश्, वारिस्पृश्, स्पृश् (यह क्विबन्त

---

† यदि 'उदक' उपपद हो तो स्पृश् से क्विन् नहीं होगा, किन्तु 'कर्मण्यण्' (७०६) द्वारा सामान्यविहित अण् प्रत्यय होकर 'उदकस्पर्श' बन जायगा। यद्यपि 'उदक' उपपद होनेपर क्विप् प्रत्यय करने से भी 'उदकस्पृश्' शब्द निष्पन्न हो सकता है और 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) में बहुव्रीहिसमास के आश्रयण से कुत्व भी हो सकता है तथापि 'अनुदके' कथन के कारण क्विप् भी नहीं होता, ऐसा काशिकाकार आदि प्राचीन वैयाकरणों का मत है, परन्तु नव्य लोगों का कथन है कि क्विप् प्रत्यय तो हो जाता है परन्तु 'अनुदके' कथनसामर्थ्य से कुत्व नहीं होता। अतः 'उदकस्पृट्' आदि रूप बनते हैं।

है, यहां भी 'क्विन्प्रत्ययो यस्मात्' इस प्रकार बहुव्रीहि के आश्रयण से कुत्व हो जाता है) आदि शब्दों के रूप बनते हैं।

यहां शकारान्त पुंल्लिंग समाप्त होते हैं।

अब षकारान्त पुंल्लिङ्गों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] दधृक्, दधृग्। दधृषौ। दधृषः। दधृग्भ्याम्॥

व्याख्या—'दधृष्' शब्द 'ऋत्विग्दधृक्०' (३०१) सूत्र से 'ञिधृषा' (स्वा० प०) धातु से क्विन्नन्त निपातित होता है।

दधृष्+स्। सुँलोप, जश्त्व से डकार, क्विन्प्रत्ययस्य कुः (३०४) से गकार तथा वैकल्पिक चर्त्व से ककार होकर—'दधृक्, दधृग्' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

दधृष् (तिरस्कार करने वाला) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	दधृक्-ग्	दधृषौ	दधृषः	पं० दधृषः	दधृग्भ्याम्	दधृग्भ्यः
द्वि०	दधृषम्	,,	,,	ष० ,,	दधृषोः	दधृषाम्
तृ०	दधृषा	दधृग्भ्याम्†	दधृग्भिः	स० दधृषि	,,	दधृक्षु
च०	दधृषे	,,	दधृग्भ्यः	सं० हे दधृक्-ग्!	हे दधृषौ!	हे दधृषः!

† क्रमशः जश्त्व से डकार और कुत्व से गकार हो जाता है।

[लघु०] रत्नमुट्, रत्नमुड्। रत्नमुषौ। रत्नमुड्भ्याम्॥

व्याख्या— रत्नमुष् = रत्न चुराने वाला।

रत्नानि मुष्णातीति रत्नमुट्। रत्नकर्म उपपद होने पर मुषँ स्तेये (क्र्या० प०) धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर उपपदसमास होकर 'रत्नमुष्' शब्द निष्पन्न होता है। यह क्विन्नन्त नहीं अतः 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' द्वारा कुत्व नहीं होता।

रत्नमुष्+स्। सुँलोप, जश्त्व से डकार तथा वैकल्पिक चर्त्व से टकार होकर—'रत्नमुट्, रत्नमुड्' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं। इस की रूपमाला यथा—

प्र०	रत्नमुट्-ड्	रत्नमुषौ	रत्नमुषः	पं० रत्नमुषः	रत्नमुड्भ्याम्	रत्नमुड्भ्यः
द्वि०	रत्नमुषम्	,,	,,	ष० ,,	रत्नमुषोः	रत्नमुषाम्
तृ०	रत्नमुषा	रत्नमुड्भ्याम्†	रत्नमुड्भिः	स० रत्नमुषि	,,	रत्नमुट्त्सु, ट्सु
च०	रत्नमुषे	,,	रत्नमुड्भ्यः	सं० हे रत्नमुट्-ड्!	हे रत्नमुषौ!	हे रत्नमुषः!

† झलां जशोऽन्ते (६७)।

[लघु०] षट्, षड् । षड्भिः । षड्भ्यः २। षण्णाम् । षट्सु ॥

व्याख्या—'षो अन्तकर्मणि' (दिवा० प०) धातु से 'पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्' सूत्र द्वारा 'षष्' शब्द निष्पन्न होता है। षष् (छः) शब्द नित्य बहुवचनान्त प्रयुक्त होता है—

षष्+अस् (जस् व शस्)। 'ष्णान्ता षट्' (२६७) से षट्संज्ञा होकर 'षड्भ्यो लुक्' (१८८) से जस् व शस् का लुक् हो जाता है। अब 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से जश्त्व डकार तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व टकार होकर—षट्, षड् ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

भिस् व भ्यस् में जश्त्व हो जाता है—षड्भिः, षड्भ्यः।

षष्+आम्। षट्संज्ञा होकर 'षट्चतुर्भ्यश्च' (६) सूत्र से आम् को नुट् आगम हो जाता है—षष्+नाम्। अब आम् अजादि नहीं रहा अतः भसंज्ञा न हुई, 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (१६४) से पदसंज्ञा होकर 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से जश्त्व डकार, 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' (वा० ११) से डकार को णकार तथा 'ष्टुना ष्टुः' (६४) से नकार को णकार करने पर 'षण्णाम्' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहां पदान्त होने पर भी 'न पदान्ताट्टोरनाम्' (६५) सूत्र से ष्टुत्व का निषेध नहीं होता क्योंकि उसमें 'अनाम्' कहकर नाम् के विषय में छूट दे दी गई है।

षष्+सु (सुप्)। यहां पदान्त में जश्त्व—डकार होकर 'डः सि धुट्' (८४) से वैकल्पिक धुट् आगम तथा 'खरि च' (७४) से यथासम्भव दोनों पक्षों में चर्त्व करने से—'षट्त्सु, षट्सु' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	०	०	षट्, षड्	पं०	०	०	षड्भ्यः
द्वि०	०	०	,, ,,	ष०	०	०	षण्णाम्
तृ०	०	०	षड्भिः	स०	०	०	षट्त्सु, षट्सु
च०	०	०	षड्भ्यः	सम्बोधन प्रायः नहीं होता।			

ध्यान रहे कि 'षष्' शब्द षट्संज्ञक होने से तीनों लिङ्गों में एक समान रहता है।

[लघु०] रुत्वं प्रति षत्वस्यासिद्धत्वात् 'ससजुषो रुः' (१०५) इति रुत्वम्।

विधि सूत्रम्— **३५१ र्वोरुपधाया दीर्घ इकः ।८।२।७६॥**

रेफवान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घः स्यात् पदान्ते ।

पिपठीः । पिपठिषौ । पिपठिषः । पिपठीर्भ्याम् ॥

अर्थः—रेफान्त और वान्त धातु के उपधा इक् को पदान्त में दीर्घ हो जाता है।

व्याख्या—वोंः ।६।२। [यह 'धातोः' का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि होती है] धातोः । ६ । १ । ['लिपि धातोः रुर्वा' से] उपधायाः । ६ । १ । इकः । ६ । १ । दीर्घः । १ । १ । पदस्य । ६ । १ । [यह अधिकृत है ।] अन्ते । ७ । १ । ['स्को संयोगाद्योरन्ते च' से] समासः—र् च व् च=वौं तयोः=वोंः, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(वोंः) रफान्त और वान्त (धातोः) धातु की (उपधायाः) उपधा के (इकः) इक् का (दीर्घः) दीर्घ हो जाता है (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में।

पिपठिष् = पढने की इच्छा करने वाला ।

पठितुमिच्छतीति—पिपठीः । 'पठँ व्यक्तायां वाचि' (भ्वा० प०) धातु से सन्प्रत्यय, द्वित्व, अभ्यासकार्य, अभ्यास का इकारादेश, इट् आगम तथा 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से सकार को षकार होकर— पिपठिष' । अब 'सनाद्यन्ता धातवः' (४६८)सूत्र से धातुसञ्ज्ञा कर क्विप्प्रत्यय उसका सर्वापहारलोप तथा 'अतो लोपः' (४७०) से अकार का लोप करने पर—'पिपठिष्' शब्द निष्पन्न होता है। कृदन्त होने से इस की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा होकर सुँ आदि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं।

पिपठिष्+स् । हल्ङ्याब्भ्यः— (१७९) से सुँलोप होकर—'पिपठिष्' । 'ससजुषो रुः' (८ २ ६६) की दृष्टि मे 'आदेशप्रत्यययोः' (८ ३ ५९) के असिद्ध होने से यहां षकार को सकार मानकर रुँत्व करने पर—पिपठिरुँ=पिपठिर् । अब 'वोंरुपधाया दीर्घ इकः' (३५१) सूत्र से रेफान्त धातु 'पिपठिर्' की उपधाभूत इकार को दीर्घ होकर—'पिपठीर्' । 'खरवसानयोः—' (९३) से विसर्ग आदेश करने पर 'पिपठीः' प्रयोग सिद्ध होता है।

पिपठिष्+औ=पिपठिषौ । इत्यादि ।

'पिपठिष्+भ्याम्' । यहाँ भी रुँत्व तथा दीर्घ होकर—पिपठीर्भ्याम् ।

'पिपठिष्+सु' (सुप्) । रुँत्व तथा दीर्घ होकर—पिपठीर+सु । अब 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से षत्व तथा 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' (९३) से विसर्ग आदेश युगपत् प्राप्त होते हैं। परन्तु षत्व के असिद्ध होने से प्रथम विसर्ग आदेश हो जाता है—पिपठीः सु । पुनः 'वा शरि' (१०४) से विकल्प कर के विसर्गों को विसर्ग और पक्ष में 'विसर्जनीयस्य सः' (१०३) से सकार आदेश हो जाता है—१ पिपठीः सु, २ पिपठीस्सु । अब इन दोनों रूपों में क्रमशः विसर्ग और सकार का व्यवधान पड़ने से ईकार-इण् से

परे सकार को 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से षत्व प्राप्त नहीं हो सकता। इस पर षत्व करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— ३५२ नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि। ।८।३।५८।।

एतैः प्रत्येकं व्यवधानेऽपि इण्कुभ्यां परस्य सस्य मूर्धन्यादेशः स्यात्। ष्टुत्वेन पूर्वस्य षः—पिपठीष्षु। पिपठीःषु।

अर्थः—नुम्, विसर्जनीय और शर् इन में किसी एक के व्यवधान होने पर भी इण् कवर्ग से परे सकार को मूर्धन्य आदेश हो जाता है।

व्याख्या—इण्कोः ।५।१। [यह अधिकृत है।] नुम्विसर्जनीयशर्व्यवाये ।७।१। अपि इत्यव्ययपदम्। सः ।६।१। [सहेः साडः सः' से] मूर्धन्यः ।१।१। ['अपदान्तस्य मूर्धन्यः' से] समासः—नुम् च विसर्जनीयश्च शर् च=नुम्विसर्जनीयशरः, इतरेतरद्वन्द्वः। तेषां व्यवायः (व्यवधानम्)=नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायः, तस्मिन्=नुम्विसर्जनीयशर्व्यवाये, षष्ठीतत्पुरुषः। यहां भाष्यकार ने प्रत्येक का व्यवधान स्वीकार किया है [प्रत्येकं व्यवायशब्दः परिसमाप्यत इति भाष्यम्]। अर्थः—(इण्कोः) इण् प्रत्याहार अथवा कवर्ग से पर (सः) स् के स्थान पर (मूर्धन्यः) मूर्धन्य आदेश (नुम्विसर्जनीयशर्व्यवाये) नुम्, विसर्ग अथवा शर् इन में से किसी एक का व्यवधान होने पर (अपि) भी हो जाता है। सकार को मूर्धन्य (मूर्धा स्थान वाला) षकार हो जाता है—यह पीछे 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं।

'पिपठीःसु' यहां विसर्ग का व्यवधान तथा 'पिपठीस्सु' यहां शर् सकार का व्यवधान होने पर भी इण् ईकार से पर दोनों जगह प्रकृतसूत्र से सकार को मूर्धन्य षकार हो जाता है—१ पिपठीःषु, २ पिपठीस्षु। अब सकारपक्ष में 'ष्टुना ष्टुः' (६४) से सकार को षकार होकर—"१ पिपठीःषु, २ पिपठीष्षु" इस प्रकार दो रूप निष्पन्न होते हैं। इसकी समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	पिपठीः	पिपठिषौ	पिपठिषः
द्वि०	पिपठिषम्	,,	,,
तृ०	पिपठिषा	पिपठीर्भ्याम्	पिपठीर्भिः
च०	पिपठिषे	,,	पिपठीर्भ्यः
पं०	पिपठिषः	,,	,,
ष०	पिपठिषः	पिपठिषोः	पिपठिषाम्
स०	पिपठिषि	,,	पिपठीःषु / पिपठीष्षु
सं०	हे पिपठीः !	हे पिपठिषौ !	हे पिपठिषः !

—❀—

[लघु०] चिकीः । चिकीर्षौ । चिकीर्भ्याम् । चिकीर्षु ॥

व्याख्या—चिकीर्ष् = करने की इच्छा वाला । कर्त्तुमिच्छतीति चिकीः । डुकृञ् करणे (तना० उभ०) धातु से 'धातोः कर्मणः—' (७०१) से सन्प्रत्यय, 'इको झल्' (७०६) से कित्व के कारण गुणाभाव, 'अज्झनगमां सनि' (७०८) से दीर्घ, 'ऋत इद्धातोः' (६६०) से इत्व रपर, 'हलि च' (६१२) से उपधादीर्घ, द्वित्व, अभ्यासकार्य, 'कुहोश्चुः' (४५६) से चुत्व तथा 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से षत्व होकर—चिकीर्ष । अब 'सनाद्यन्ता धातवः' (४६८) से धातुसञ्ज्ञा होकर कर्त्ता में क्विप्, उसका सर्वापहार लोप तथा 'अतो लोपः' (४७०) से अकार का लोप करने पर—'चिकीर्ष्' शब्द निष्पन्न होता है ।

'चिकीर्ष् + स्' यहाँ सुँलोप होकर 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) के प्राप्त होने पर 'रात्सस्य' (२०६) के नियमानुसार सकार का लोप हो जाता है—'चिकीर्' । अब अवसान में 'खरवसानयोः—' (९३) से रेफ को विसर्ग करने पर—'चिकीः' प्रयोग सिद्ध होता है । इसकी रूपमाला यथा—

प्र०	चिकीः	चिकीर्षौ	चिकीर्षः	पं०	चिकीर्षः	चिकीर्भ्याम्	चिकीर्भ्यः
द्वि०	चिकीर्षम्	"	"	ष०	"	चिकीर्षोः	चिकीर्षाम्
तृ०	चिकीर्षा	चिकीर्भ्याम्†	चिकीर्भिः	स०	चिकीर्षि	"	चिकीर्षु*
च०	चिकीर्षे	"	चिकीर्भ्यः	सं०	हे चिकीः !	हे चिकीर्षौ !	हे चिकीर्षः !

† यहां पदान्त में 'रात्सस्य' (२०६) के नियमानुसार सकार का लोप हो जाता है । ध्यान रहे कि 'रात्सस्य' (८.२.२४) की दृष्टि में षत्व (८.३.५९) असिद्ध है । वह इसे सकार ही समझता है ।

* यहां 'रोः सुपि' (११०) के नियमानुसार रेफ को विसर्ग नहीं होते हैं ।

अभ्यास (४४)

(१) क — उपपद किसे कहते हैं ? सूत्र बता कर व्याख्यान करें ।

ख — 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' सूत्र में 'अनुदके' कथन का क्या प्रयोजन है ?

ग — 'चिकीर्षौ' में षकार खर् परे होने पर भी रेफ को विसर्गादेश क्यों नहीं होता ?

(२) पिपठिष्, तादृश्, चिकीर्ष्, घृतस्पृश्—शब्दों की प्रकृतिप्रत्ययनिर्देशपुरःसर शब्दनिष्पत्ति करो ।

(३) 'चिकीर्ष् + सुप्' यहां षकार होने से 'रात्सस्य' सूत्र कैसे प्रवृत्त हो सकता है ?

किञ्च रफ को विपर्गान्श भी क्या नहीं हाता ?

(४) निम्नलिखित शब्दों की सूत्रनिर्देशपुरःसर सिद्धि करो—

१ षट् । २ यादक । ३ नक । ४ षण्णाम् । ५ न्ष्ग्भ्याम् । ६ घृतस्पृक् । ७ पिपत्री । ८ विट् । ९ चिकी । १० पिपठीष्षु ।

(५) नुम्विसन्तनायश थ्व येऽपि वोरुपधाया १घ इक , आ सर्वनाम्न — इन सूत्रा की सविस्तर यारया करे ।

(६) चिकीष रिपठिष् इदश उदश्वस्पृश—श दों की रूपमाला लिख ।

यहा षकारान्त पुर्ल्लिंग समाप्त होते हैं ।

—※—

[लघु०] विद्वान् । विद्वांसौ । हे विद्वन् ।।

व्याख्या— विद् ज्ञाने' (अदा० प०) धातु से लट् , उसक स्थान पर शतृ, शप् उसका लुक तथा विद शतुवसु' (८३८) से शतृ को वसु आदश करने से विद्वस शब्द निष्पन्न हाता ह। वसु आदश म उकार की इत्सञ्ज्ञा होती है अत विद्वस्' शब्द उगित् है ।

विद्वस+स् । उगित् होने से उगिदचाम् ' (२८९) द्वारा नुम् आगम सान्तमहत सयोगस्य (३४२) स सान्तसयोग क नकार की उपधा को दीर्घ होकर— विद्वान्स्+स् । अब सुँलोप तथा सयागान्तस्य लोप (२०) से सयोगान्तलोप करने स विद्वान् प्रयोग सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि यहा सयोगान्तलोप के असिद्ध होने से नकार का लाप नहीं हाता । किञ्च सान्त नस्वन्त न होने स 'वसुस्र सुध्वस्वनडुहा द' (२६२) द्वारा दत्व भी नही होता ।

विद्वस्+औ । नुम् आगम तथा सान्तमहत ' (३४२) से दीर्घ हो— विद्वान्स्+औ । नश्चापदान्तस्य झलि' (७८) से नकार को अनुस्वार करने पर 'विद्वांसौ' प्रयोग सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि यय् के परे न होने से 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण ' (७९) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता । कई लोग 'विद्वाँसौ' वा 'विद्वान्सौ' लिखते हैं—वे ठीक नहीं । इसी प्रकार –'विद्वांस ' आदि बनते हैं ।

विद्वस्+अस् (शस्) । यहा अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३५३ वसोः सम्प्रसारणम् ।६।४।१३१।।

वस्वन्तस्य भस्य सम्प्रसारणं स्यात्। विदुषः । वसुस्रंसु—(२६२) इति दः—विद्वद्भ्याम् ।

अर्थः— वसुप्रत्ययान्त भसञ्ज्ञक अङ्ग को सम्प्रसारण हो जाता है ।

व्याख्या—वसोः । ६। १। ['भस्य' का विशेषण होने से अथवा प्रत्यय होने से तदन्तविधि हो जाती है।] भस्य । ६। १। [अधिकृत है।] अङ्गस्य । ६। १। [अधिकृत है] सम्प्रसारणम् । १। १। अर्थः—(वसोः =वस्वन्तस्य) वसुँप्रत्ययान्त (भस्य) भसञ्ज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण हो जाता है ।

विद्वस्+अस्। यहां 'विद्वस्' यह वसुँप्रत्ययान्त भसञ्ज्ञक अङ्ग है अतः इस के द्वितीय वकार ('न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' का ध्यान कर लें) को उकार सम्प्रसारण होकर—विदु अस्+अस्। 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से पूर्वरूप तथा 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०)† से प्रत्यय के सकार को षकार करने पर—विदुषस्='विदुषः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार आगे भी अजादि विभक्तियों में प्रक्रिया होती है ।

'विद्वस्+भ्याम्' यहां 'वसुस्रंसु०' (२६२) से दकार होकर 'विद्वद्भ्याम्' प्रयोग सिद्ध होता है। इसीप्रकार अन्य हलादि विभक्तियों में प्रक्रिया जान लेनी चाहिये ।

हे विद्वस्+स्। यहां नुम्, सुलोप तथा संयोगान्तलोप करने से—'हे विद्वन्'। सम्बुद्धि होने से 'सान्तमहतः०' (३४२) से दीर्घ न होगा।

विद्वस् (विद्वान्) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	विद्वान्	विद्वांसौ	विद्वांसः	पं०	विदुषः	विद्वद्भ्याम्	विद्वद्भ्यः
द्वि०	विद्वांसम्	,,	विदुषः	ष०	,,	विदुषोः	विदुषाम्
तृ०	विदुषा	विद्वद्भ्याम्	विद्वद्भिः	स०	विदुषि	,,	विद्वत्सु
च०	विदुषे	,,	विद्वद्भ्यः	सं०	हे विद्वन्!	हे विद्वांसौ!	हे विद्वांसः!

† ऋग्वेद । १ । २५ । ६ । के भाष्य में सायणमाधव ने 'दाशुषे' प्रयोग में 'शासिवसिघसीनां च' (५५४) से षत्व किया है, पर यह ठीक नहीं। पूर्वोत्तरसाहचर्य से इस सूत्र में 'वस्' धातु ही इष्ट है आदेश व प्रत्यय नहीं। अतः यहाँ 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व करना चाहिये।

इसीप्रकार निम्नलिखित शब्दों के रूप होते हैं—

शब्द	अर्थ	प्रत्यय	शस् का रूप
१ ऊषिवस्	जो रह चुका है	क्वसु	ऊषुष
२ तस्थिवस	जो ठहर चुका है		तस्थुष
३ सेदिवस	जो गमन कर चुका है	,	सेदुष
४ शुश्रुवस	जो सुन चुका है		शुश्रुष
५ उपेयिवस्	जो प्राप्त कर चुका है		उपेयुष
६ अनाश्वस	जिसने भोजन न किया		अनाशुष
७ अधिजग्मिवस्	जो प्राप्त कर चुका है		अधिजग्मुष

ईयसुन्प्रत्ययान्तों के रूप भी प्रायः विद्वस् शब्द की तरह होते हैं। केवल शसादियों में सम्प्रसारणकार्य तथा भ्यस् आदि में दत्व नहीं होता। जिसप्रकार 'श्रेयस्' (बहुत अच्छा) शब्द का उच्चारण यथा—

प्र०	श्रेयान्	श्रेयांसौ	श्रेयांस	पं०	श्रेयस	श्रेयोभ्याम्	श्रेयोभ्य
द्वि०	श्रेयांसम्	,	श्रेयस	ष०	,	श्रेयसो	श्रेयसाम्
तृ०	श्रेयसा	श्रेयोभ्याम्[1]	श्रेयोभि	स०	श्रेयसि	,	श्रेयःसु श्रेयस्सु†
च०	श्रेयसे	,,	श्रेयोभ्य	स०	हे श्रेयन् !	हे श्रेयांसौ !	हे श्रेयांस !

१ ससजुषो रुः (१०५), हशि च (१०७)। † वा शरि (१०८)

इसीप्रकार— १ अल्पीयस् = दोनों में थोड़ा। २ कनीयस् = दोनों में छोटा। ३ यवीयस् = दोनों में जवान अथवा छोटा। ४ प्रेयस् = बहुत प्यारा। ५ वर्षीयस = बहुत बूढ़ा। ६ गरीयस् = बहुत भारी। ७ वरीयस् = बहुत श्रेष्ठ। ८ स्थेयस् = बहुत स्थिर। प्रभृति शब्दों के रूप बनते हैं।

नोट—जब ईयसुन्प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग में आते हैं तब 'उगितश्च' (१२४६) से ङीप् प्रत्यय होकर—श्रेयसी, अल्पीयसी कनीयसी प्रभृति शब्द बन जाते हैं। वसुँप्रत्ययान्तों से भी स्त्रीत्व में ङीप् होता है परन्तु सम्प्रसारण विशेष होता है।

---

* इन में इट् आगम भसञ्ज्ञा में प्रवृत्त नहीं होता। 'अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः' (प०) अर्थात् इस व्याकरण शास्त्र में निमित्त को विनाशोन्मुख देखकर तत्प्रयुक्त कार्य नहीं करना चाहिये। जब 'वसु' प्रत्यय, भसञ्ज्ञा में वकार का सम्प्रसारण हो जाने से वलादि ही नहीं रहता तब तत्प्रयुक्त कार्य वलादिलक्षण इट आगम भी नहीं होता।

यथा—विदुषी, ऊषुषी आदि। इन सब का उच्चारण नदीवत् समझना चाहिये। नपुंसक में पदान्त में दत्व होगा—विद्वत् आदि।

[लघु०] विधि सूत्रम्—३५४ पुंसोऽसुङ्।७।१।८९॥

सर्वनामस्थाने विवक्षितेऽसुङ् स्यात्। पुमान्। हे पुमन्। पुमांसौ। पुंसः। पुंभ्याम्। पुंसु॥

अर्थः—सर्वनामस्थान की विवक्षा होने पर 'पुंस्' शब्द को असुङ् हो जाता है।

व्याख्या—सर्वनामस्थाने।७।१। ['इतोऽत्सर्वनामस्थाने' से] पुंसः।६।१। असुङ्।१।१। 'सर्वनामस्थाने' में परसप्तमी मानने से 'परमपुमान्' यहां अनिष्ट स्वर प्राप्त होता है। अतः 'विवक्षिते' का अध्याहार कर भावसप्तमी मान लेते हैं। अर्थः—(सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान विवक्षित होने पर (पुंसः) पुंस् शब्द के स्थान पर (असुङ्) असुङ् आदेश हो जाता है।

सर्वनामस्थान (सुँ, औ, जस्, अम्, औट्) लाने से पूर्व उसके लाने की इच्छा मात्र होने पर ही असुङ् आदेश हो जाता है। असुङ् ङित् है, अतः वह 'ङिच्च' (४६) द्वारा 'पुंस्' के अन्त्य अल् सकार के स्थान पर होता है।

पुंस्=पुरुष

'पूञ् पवने' (क्र्या० उभ०) धातु से 'पूञो डुम्सुन्' ❀ (उणा० ६१८) द्वारा 'डुम्सुन्' प्रत्यय होकर 'उणादयो बहुलम्' (३.३.१) सूत्र में बहुलग्रहणसामर्थ्य से 'आदिर्ञिटुडवः' (४६२) द्वारा डु की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती किन्तु 'चुटू' (१२९) से केवल डकार की ही इत्सञ्ज्ञा होकर उन् अनुबन्ध का लोप करने से—पु+उम्स्। डित्व करणसामर्थ्य से टि का भी लोप होकर—प्+उम्स्=पुम्स्। अब 'नश्चापदान्तस्य झलि' (७८) द्वारा मकार को अनुस्वार करने पर 'पुंस्' शब्द निष्पन्न होता है।

अब 'सुँ' सर्वनामस्थान करने की इच्छामात्र में, प्रत्यय करने से पूर्व ही 'पुंसोऽसुङ्' (३५४) द्वारा सकार को असुङ् आदेश होने पर 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' से अनुस्वार भी अपने पूर्वरूप मकार में परिणत हुआ—पुमस्। अब सुँप्रत्यय लाने पर

❀ 'पातेर्डुम्सुन्' इति पाठान्तरम्। सूते सस्य पः ह्रस्वो म्सुः प्रत्यय इति स्त्रियामिति सूत्रे भाष्य उक्तम्। न्यासे तु—'पुनातेर्मक्सुन् ह्रस्वश्चे'ति पठितम्। उपेयप्रतिपत्त्यर्था उपाया अव्यवस्थिता इति तत्त्वम्।

उगिदचाम्—' (२८६) से नुम्, अनुबन्धलोप 'सान्तमहतः—' (३४२) से दीर्घ सुँलोप तथा संयोगान्तलोप होकर—'पुमान्' प्रयोग सिद्ध होता है।

सम्बुद्धि में केवल 'सान्तमहत—' (३४२) से दीर्घ नहीं होता शेष सब प्रक्रिया सुँ प्रत्ययवत् जानें—हे पुमन्!।

पुंस्+औ=पुमस+औ। नुम् दीर्घ तथा अनुस्वार होकर—पुमांसौ। इसी प्रकार अन्य सर्वनामस्थान प्रत्ययों में भी जान लें।

अब आगे की विभक्तियों की विवक्षा में असुङ् न होगा। पुंस्+अस (शस्)= पुंसः।

पुंस्+भ्याम्। यहां 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) से संयोगान्त सकार का लोप होकर 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' इस न्यायानुसार अनुस्वार पुनः मकाररूप में परिणत हो जाता है—पुम्+भ्याम्। अब 'मोऽनुस्वारः' (७७) से पदान्त मकार को अनुस्वार तथा 'वा पदान्तस्य' (८०) द्वारा उसे विकल्प करके परसवर्ण—मकार करने से—'पुम्भ्याम्, पुंभ्याम्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

पुंस्+सुप। संयोगान्तलोप, अनुस्वार की मकाररूप में परिणति तथा 'मोऽनुस्वारः' (७७) से अनुस्वार होकर 'पुंसु' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहां यय् परे न रहने से 'वा पदान्तस्य' (८०) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता।

पुंस् शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	पुमान्	पुमांसौ	पुमांसः	पं०	पुंसः	पुम्भ्याम्	पुम्भ्यः
द्वि०	पुमांसम्	,,	पुंसः	ष०	,,	पुंसोः	पुंसाम्
तृ०	पुंसा	पुम्भ्याम्†	पुम्भिः	स०	पुंसि	,,	पुंसु
च०	पुंसे		पुम्भ्यः	सं०	हे पुमन्!	हे पुमांसौ!	हे पुमांसः!

† भ्याम्, भिस् और भ्यस् में अनुस्वारपक्षीय रूप भी जान लेवें।

[लघु०] 'ऋदुशनस्—' (२०५) इत्यनङ्। उशना। उशनसौ।

वा०—(२८) अस्य सम्बुद्धौ वाऽनङ्, नलोपश्च वा वाच्यः॥

---

† ध्यान रहे कि अयोगवाहों (यम, अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय) की गणना अट्प्रत्याहार तथा शर्प्रत्याहार में भाष्यकार ने स्वीकार की है। इससे अनुस्वार को हल् मानकर संयोगसंज्ञा हो जाती है।

हे उशन् !, हे उशनन् !, हे उशनः ! । हे उशनसौ । उशनोभ्याम् । उशनःसु । उशनस्सु ।

अर्थः — उशनस् शब्द के सकार को विकल्प करके अनङ् होता है तथा नकार का लोप भी विकल्प करके हो जाता है।

व्याख्या— उशनस् = शुक्राचार्य्य ।

'वश कान्तौ' (अदा० प०) धातु से 'वशेः कनसिः' (उणा० ६७८) द्वारा 'कनसि' प्रत्यय तथा 'ग्रहिज्या०' (६३४) से सम्प्रसारण और 'सम्प्रसारणाच्च' (२५८) से पूर्वरूप होकर 'उशनस्' शब्द निष्पन्न होता है।

उशनस् + सुँ । यहां 'ऋदुशनस्०' (२०५) सूत्र से सकार को अनङ् आदेश होकर ङकार अनुबन्ध के लुप्त हो जाने पर—उशन अन् + स् । 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप हो—उशनन् + स । 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (१७७) से नान्त की उपधा को दीर्घ हो—उशनान् + स । 'हल्ङ्याब्भ्यो०' (१७६) सूत्र से सुँलोप तथा 'न लोपः०' (१८०) से नकार का लोप होकर—'उशना' प्रयोग सिद्ध होता है।

उशनस् + औ = उशनसौ । इत्यादि ।

सम्बुद्धि में हे उशनस् + सुँ । यहां 'अस्य सम्बुद्धौ वाऽनङ्, नलोपश्च वा वाच्यः' वार्त्तिक से विकल्प कर के 'अनङ्' होकर अनङ्पक्ष में अनुबन्धलोप, पररूप, सुँलोप तथा विकल्प करके नकार का लोप करने से—'हे उशन, हे उशनन्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं। 'अनङ्' के अभाव में सुलोप, रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने पर—'हे उशनः' यह एक रूप सिद्ध होता है। सब मिलाकर सम्बुद्धि में तीन रूप बनते हैं—

१ हे उशन ! ।
२ हे उशनन् ! ।
३ हे उशनः ! ।

"सम्बोधने तूशनसस्त्रिरूपम्,
सान्तं तथा नान्तमथाप्यदन्तम् ॥"

उशनस् + भ्याम् । यहां पदान्त में 'ससजुषो रुः' (१०५) से रुँत्व, 'हशि च' (१०७) से उत्व तथा 'आद् गुणः' (२७) से गुण होकर—'उशनोभ्याम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

उशनस् + सुप् । यहां पदान्त में रुँत्व, 'खरवसानयोः—' (९३) से विसर्ग आदेश हो 'विसर्जनीयस्य सः' (१०३) सूत्र के प्राप्त होने पर उसके अपवाद 'वा शरि'

(१०४) सूत्र से वैकल्पिक विसर्ग आदेश करने से— उशनः सु उशनस्सु ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं। इसकी रूपमाला यथा—

प्रथमा	उशना	उशनसौ	उशनसः
द्वितीया	उशनसम्	,,	,,
तृतीया	उशनसा	उशनोभ्याम्	उशनोभिः
चतुर्थी	उशनसे	,,	उशनोभ्यः
पञ्चमी	उशनसः		
षष्ठी	,,	उशनसोः	उशनसाम्
सप्तमी	उशनसि	,,	उशनःसु उशनस्सु
सम्बोधन	हे उशन! उशनन्! उशनः!	हे उशनसौ!	हे उशनसः!

नोट— 'अस्य सम्बुद्धौ' यह वस्तुतः वार्त्तिक नहीं काशिकाकार का वचन है। पता नहीं लग सका कि यह वचन उन्होंने कहां से लिया है। भाष्य में इसका कुछ पता नहीं चलता। अतः कई लोग इसे अप्रमाण मानते हैं।

[लघु०] अनेहा। अनेहसौ। हे अनेहः॥

व्याख्या— अनेहस् = समय।

नञ् उपपद वाली 'हन हिंसागत्योः' (अदा० प०) धातु से 'नञि हन एह च' (उणा० ६६३) सूत्र द्वारा 'असि प्रत्यय* तथा हन् को एह्' आदेश होकर नञ्कार्य करने से—'अनेहस्' शब्द निष्पन्न होता है। इसकी प्रक्रिया भी उशनस् शब्दवत् होती है केवल सम्बुद्धि में इसका एक रूप बनता है। रूपमाला यथा—

प्र०	अनेहा†	अनेहसौ	अनेहसः	पं०	अनेहसः	अनेहोभ्याम्	अनेहोभ्यः
द्वि०	अनेहसम्		,,	ष०	,,	अनेहसोः	अनेहसाम्
तृ०	अनेहसा	अनेहोभ्याम्×	अनेहोभिः	स०	अनेहसि	,,	अनेहःसु, स्सु[1]
च०	अनेहसे	,,	अनेहोभ्यः	सं०	हे अनेहः[2]!	हे अनेहसौ!	हे अनेहसः!

† 'ऋदुशनस्—' (२ ४) से अनङ् अनुबन्धलोप, पररूप, नान्त की उपधा का दीर्घ, सुँलोप तथा नलोप होकर— अनेहा' सिद्ध होता है।

× 'ससजुषो रुः' (१ ४), 'हशि च' (१०७), 'आद्गुणः' (२७)।

१ रुँत्व विसर्ग होकर 'वा शरि' (१०४) हो जाता है।

२ सुलोप, रुँत्व तथा अवसान में रेफ को विसर्ग हो जाते हैं।

---

* शेखरकार तथा उसके अनुयायी बालमनोरमाकार का 'अनेहस्' शब्द को असुन्नन्त बतलाना ठीक नहीं, क्योंकि वैसा मानने से 'उगिदचाम् ' द्वारा नुम् आगम प्राप्त होगा।

[लघु०] वेधा । वेधसौ । हे वेध ।। वेधोभ्याम् ।

व्याख्या— वेधस् = ब्रह्मा ।

विपूर्वक डुधाञ् धारणपोषणयो' (जुहो० उभ०) धातु से 'विधाञो वेध च (उणा० ६६४) इस औणादिकसूत्र द्वारा 'असि' प्रत्यय तथा सोपसर्ग 'धा' को 'वेध्' आदेश होकर 'वेधस्' शब्द निष्पन्न होता है ।

वेधस + सुँ । अत्वसन्तस्य चाधातो' (३४३) से दीर्घ, हल्ङ्याब्भ्य ' (१७९) से सुँलोप तथा प्रकृति के सकार को रुत्व विसर्ग करने से—'वेधा प्रयोग सिद्ध होता है ।

आगे की विभक्तियों में समस्त प्रक्रिया अनेहस' की तरह होती हैं । रूपमाला यथा—

प्र०	वेधा	वेधसौ	वेधस	प०	वेधस	वेधोभ्याम्	वेधोभ्य
द्वि०	वेधसम्	,	,	ष०	,	वेधसो	वेधसाम्
तृ०	वेधसा	वधोभ्याम्+	वेधोभि	स०	वेधसि		वेध सु, वेधस्सु
च०	वधसे	,,	वेधाभ्य	स०	हे वेध !×	हे वधसौ !	हे वेधस !

+ रुत्व उत्व तथा गुण हो जाता है । × सुँलोप, रुत्व तथा विसर्ग होते हैं ।

इसीप्रकार—१ वनौकस् (बन्दर) २ दिवौकस् (देवता), ३ हिरण्यरेतस् (सूर्य व अग्नि) ४ चन्द्रमस् (चन्द्रमा) ५ सुमनस् (देवता), ६ प्रचेतस् (वरुण), ७ सुमेधस (अच्छी बुद्धि वाला) ८ नृचक्षस् (मनुष्यों पर दृष्टि रखने वाला। अथर्व० ७।४२।१, ८।३।१०।), ९ जातवेदस् (अग्नि) १० अङ्गिरस् (एक ऋषि), ११ विश्ववेदस् (सब कुछ जानने वाला) १२ पुराधस् (पुरोहित), १३ वयोधस् (तरुण, जवान)—प्रभृति शब्दों के रूप बनते हैं ।

[लघु०]—विधि सूत्रम्—३५५ अदस औ सुँलोपश्च ।७।२।१०७।।

अदस औत् स्यात् सौ परे सुँलोपश्च । तदो—(३१०) इति स ।

असौ । त्यदाद्यत्वम् । पररूपत्वम् । वृद्धि ।।

अर्थ—सुँ परे होने पर अदस् शब्द के अन्त सकार को औकार तथा सुँ का लोप हो जाता है ।

व्याख्या—सौ ।७।१। [तदो स सावनन्त्ययो' से] अदस ।६।१। औ ।१।१। [यहां विभक्ति का लुक् हुआ है ।] सुँलोप ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । समास —सोर्लोप = सुलोप, षष्ठीतत्पुरुष । अर्थ—(सौ) सुँ परे होने पर (अदस) अदस् शब्द के

स्थान पर (औ) 'औ' आदेश होता है (च) तथा (सुँलोप) सुँ का भी लोप हो जाता है। अलोऽन्त्यविधि द्वारा यह औकार आदेश अन्त्य अल्-सकार के स्थान पर होगा। 'अदस औ' इस अंश में यह सूत्र 'त्यदादीनाम' (१६३) सूत्र का अपवाद है।

अदस्* + सुँ । यहां 'त्यदादीनाम' (१६३) के प्राप्त होने पर 'अदस औ सुँलोपश्च' (३५५) सूत्र से सकार को औकार तथा सुँ का लोप होकर—अद + औ । 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि एकादेश करने से—'अदौ' । अब लुप्त हुए सुँप्रत्यय को मान कर 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' (३१०) सूत्र से दकार को सकार करने पर—'असौ' प्रयोग सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि 'अदौ' इस अवस्था में अदसोऽसेर्दादु दो मः (८.२.८०) सूत्र भी प्राप्त होता है परन्तु 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' (७.२.१०६) सूत्र की दृष्टि में असिद्ध होने से वह प्रवृत्त नहीं होता।

अदस् + औ । यहां 'त्यदादीनाम' (१६३) सूत्र से सकार को अकार तथा 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप होकर — अद + औ'। अब वृद्धिरेचि (३३) से वृद्धि एकादेश करने पर — अदौ'। इस अवस्था में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३५६ अदसोऽसेर्दादु दो मः ।८।२।८०॥

अदसोऽसान्तस्य दात् परस्य उदूतौ, दस्य मश्च। आन्तरतम्याद् ह्रस्वस्य उ, दीर्घस्य ऊ । अमू । जसः शी । गुणः ।

अर्थः—जिस के अन्त में सकार न हो ऐसे अदस् शब्द के दकार से पर वर्ण को उकार और ऊकार हो जाता है तथा दकार को मकार भी होता है।

व्याख्या—अदसः ।६।१। असेः ।६।१। दात् ।५।१। उ ।१।१। दः ।६।१। मः ।१।१। समासः—नास्ति सिः = सकारः (सकाराद् इकार उच्चारणार्थः ।) यस्मिन् सः = असिः, तस्य = असेः । नञ्बहुव्रीहिसमासः । यह 'अदसः' का विशेषण है अतः इससे तदन्तविधि हो जाती है। उश्च ऊश्च = उ, समाहारद्वन्द्वः । अर्थः—(असेः) असान्त अर्थात् जिस के अन्त में सकार विद्यमान नहीं ऐसे (अदसः) अदस् शब्द के (दात्) दकार से पर वर्ण को (उ) उकार तथा ऊकार हो जाता है तथा (दः) दकार के स्थान पर (मः) म् भी हो जाता है।

असान्त अदस् शब्द के दकार से परे वाला वर्ण प्रायः ह्रस्व या दीर्घ हुआ करता

---

* अदस् शब्द का सर्वादिगणान्तर्गत त्यदादियों में पाठ आया है। अतः इसकी 'सर्वादीनि सर्वनामानि' (१५१) सूत्र से सर्वनाम सञ्ज्ञा भी यथावसर समझ लेनी चाहिये।

है ×। 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) द्वारा ह्रस्व वर्ण के स्थान पर ह्रस्व उकार तथा दीर्घ वर्ण के स्थान पर दीर्घ ऊकार होगा +।

'अदौ' यहां असान्त अदस् शब्द के दकार से परे दीर्घ औकार विद्यमान है। अतः प्रकृतसूत्र से औकार को ऊकार तथा दकार को मकार होकर—'अमू' प्रयोग सिद्ध होता है।

अदस्+अस् (जस्)। यहां 'त्यदादीनामः' (१९३) से सकार को अकार 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप 'जसः शी' (१५२) से जस् को शी तथा 'आद्गुणः' (२७) सूत्र से गुण होकर—'अदे'। अब 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' (३५६) के प्राप्त होने पर उसका अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३५७ एत ईद् बहुवचने ।८।२।८१॥

अदसो दात्परस्य एत ईद्, दस्य च मो बह्वर्थोक्तौ। अमी। पूर्वत्रासिद्धम् (३१) इति विभक्तिकार्यं प्राक्, पश्चाद् उत्व-मत्वे। अमुम्। अमू। अमून्। मुत्वे कृते घिसञ्ज्ञाया नाभावः॥

अर्थः—अदस् शब्द के दकार से परे एकार को ईकार तथा दकार को मकार हो जाता है बहुत अर्थों की उक्ति में।

व्याख्या—अदसः।६।१। दात्।५।१। ['अदसोऽसेः—' से] एतः।६।१। ईत्।१।१। दः।६।१। मः।१।१। ['अदसोऽसे—' से] बहुवचने।७।१। समासः—बहूनां वचनम् उक्तिः = बहुवचनम्, तस्मिन् = बहुवचने*। षष्ठीतत्पुरुषसमासः।

× कहीं अपवादवश 'ह्रस्व' भी हो जाता है, जैसे—अदद्र्यङ्, अमुमुयङ्। यहाँ टकार से परे 'र्' है।

+ आन्तर्य अर्थात् सादृश्य चार प्रकार का होता है—यह हम पीछे 'स्थानेऽन्तरतमः' (१७) सूत्र पर लिख चुके हैं। यहाँ प्रमाणकृत आन्तर्य द्वारा ह्रस्व के स्थान पर ह्रस्व तथा दीर्घ के स्थान पर दीर्घ होता है।

* यहां 'बहुवचन' शब्द से पारिभाषिक बहुवचन—जस्, शस् आदि का ग्रहण नहीं करना चाहिये। क्योंकि वैसा अर्थ करने से 'अदेभ्यः = अमीभ्यः, अदेभिः = अमीभिः' आदि प्रयोगों के सिद्ध हो जाने पर भी 'अदे = अमी' यहां प्रयोगसिद्धि न हो सकेगी। क्योंकि 'अदे' में एकार स्वयं बहुवचन है इससे परे अन्य कोई बहुवचन नहीं है। अतः यहाँ 'बहुवचने' पद को यौगिक स्वीकार कर 'बहुतों की उक्ति अर्थात् बहुत्व की विवक्षा में' ऐसा अर्थ करना उचित है। इस अर्थ से 'अदे' आदि सब स्थानों पर बहुत्व की विवक्षा वर्तमान रहने से कोई दोष प्राप्त नहीं होता। इस सूत्र पर भाष्यकार ने लिखा है—

{ नेदं पारिभाषिकस्य बहुवचनस्य ग्रहणम्। किं तर्हि ? अन्वर्थग्रहणमेतत्। बहूनामर्थानां वचनम् = बहुवचनम्॥ }

अथ —(बहुवचने) बहु व की विवक्षा म (अन्स) अदस शब्द के अवयव (दात्) दकार स परे (एत) ए' के स्थान पर (ईन) ई' आदेश हो जाता है तथा (द) उस दकार के स्थान पर (म) म् आदश हो जाता ह।

अदे' यहा प्रकृतसूत्र से एकार को इकार तथा दकार का मकार होकर—'अमी' प्रयोग सिद्ध होता है।

अदस्+अम्। यहा यन्त्याद्यत्व और पररूप होकर— अन्+अम्। अब यहा अमि पूव (६ १ १०४) म पूवरूप तथा अदसोऽदात्तु दो म (८ २ ८०) से उत्व मत्व युगपत् प्राप्त होते ह। पूवत्रासिद्धम् (३१) द्वारा उत्वमत्वविधायक सूत्र के असिद्ध होने स प्रथम पूवरूप हाकर 'अन्म् बन जाता ह। तन्न तर उत्व मत्व हो अमुम्' प्रयोग सिद्ध हाता ह।

"पूर्वत्रासिद्धम् (३१) इति विभक्तिकार्यं प्राक्, पश्चादुत्वमत्वे।"

अर्थात् पूवत्रासिद्धम्' (३१) सूत्र स—'अदसोऽसे— (३५६) तथा 'एत ईद् बहुवचने' (३५७) सूत्र के असिद्ध होने स प्रथम 'अमि पूर्वं' (१३५) आदि सूत्रों द्वारा विभक्तिकार्य होगा तदनन्तर उन सूत्रों की प्रवृत्ति होगी। परन्तु अब इस पर यह विचार उपस्थित होता ह कि क्या 'पूर्वत्रासिद्धम् से कार्य असिद्ध किया जाता है या शास्त्र असिद्ध ?

यदि किये हुए काय को असिद्ध मानेंगे तो प्रथम काय का विद्यमान होना आवश्यक होगा क्योंकि यदि कार्य ही विद्यमान न रहेगा तो पुन वह असिद्ध कैस हो सकेगा ? अत कार्यासिद्धपक्ष म प्रथम 'विप्रतिषेधे पर कार्यम्' (११३) सूत्र के बल से भावी असिद्ध कार्य कर चुकने पर पश्चात् 'पूवत्रासिद्धम्' से वह पूव की दृष्टि म असिद्ध होगा अन्यथा नहीं। इस पक्ष मे 'अद+अम् यहा प्रथम 'विप्रतिषधे पर कायम्' द्वारा पूवरूप की अपेक्षा पर हाने से उत्व-मत्व होकर—'अमु+अम्' बन जायगा। तदनन्तर 'पूवत्रासिद्धम्' द्वारा मुकार्य को पूवरूप की दृष्टि म असिद्ध माना जायगा। अब इस मुकाय के असिद्ध माने जाने पर भी पूवरूप नहीं हो सकगा, क्योंकि—' देवदत्तस्य ह तरि हते देवदत्तस्य पुनरुन्मज्जन न भवति" अथात् देवदत्त के हन्ता के मारे जाने पर भी देवदत्त की पुनरुत्पत्ति नहीं हा सकती। इस न्यायानुसार द' के हन्ता 'मु' के असिद्ध होने पर भी पुन 'द' नहीं आ सकेगा, क्योंकि उसका तो विनाश हो चुका है। इस प्रकार 'द' के न आने से अ नहीं मिलेगा तब 'अमि पूर्वं' द्वारा पूर्वरूप न हो सकेगा। अत यह पक्ष ठीक नहीं।

अब यदि शास्त्रासिद्ध पक्ष स्वीकार करते हैं तो इस पक्ष मे दोनों सूत्रों के युगपत् प्राप्त होने पर 'पूर्वत्रासिद्धम्' द्वारा परशास्त्र असिद्ध अर्थात् अभावात्मक हो जाता है। इससे पूर्वले सवासात अध्यायों के सूत्रों की दृष्टि मे वह सूत्र नहा रहता उसके न रहने से विप्रतिषेध नहीं हो सकता, क्योंकि विप्रतिषेध वहा होता है जहा अ यत्रान्यत्रलब्धावकाश सूत्र परस्पर की दृष्टि मं भावात्मक होते हुए एक स्थान पर प्राप्त हो। यहा पूर्व की दृष्टि में पर सूत्र अभावात्मक होने से वर्तमान नहीं रहता अत प्रथम पूर्वसूत्र प्रवृत्त होता है और तदनन्तर असिद्ध सूत्र। इस प्रकार इस पक्ष क स्वीकार करने से 'अद + अम्' यहा पर 'अदसोऽस —' तथा अमि पूर्व ' इन दोनों सूत्रों के युगपत् प्राप्त होने पर 'पूर्वत्रा सिद्धम्' द्वारा 'अमि पूर्व (६ १ १०४) की दृष्टि मे अदसोऽसे -- (८ २ ८०) सूत्र असिद्ध अर्थात् अभावात्मक हो जाता है। अत प्रथम पूर्वरूप होकर 'अदम्' हो जाने पर पश्चात् उत्व मत्व करने से 'अमुम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार कोई दोष उत्पन्न नहीं होता।

अत पूर्वत्रासिद्धम्' (३१) सूत्र मे शास्त्रासिद्ध पक्ष ही स्वीकार करना चाहिये कार्यासिद्ध नहीं। अत एव ग्रन्थकार ने भी 'पूर्वत्रासिद्धम्' (३१) सूत्र की वृत्ति में इसी पक्ष का अनुमोदन किया है—" सपादसप्ताध्यायीं प्रति त्रिपाद्यसिद्धा, त्रिपाद्यामपि पूर्व प्रति पर शास्त्रम् असिद्धम्'। विप्रतिषेधे पर कार्यम्' (११३) सूत्र पर भी यही स्वीकार किया है— 'पूर्वत्रासिद्धमिति 'रोरी' त्यस्यासिद्धत्वाद् उत्वमेव"। भाष्यकार भी इसी पक्ष के पक्षपाती हैं—"पूर्वत्रासिद्धे नास्ति विप्रतिषेधोऽभावादुत्तरस्य"। इस विषय का अन्यविस्तृत विचार व्याकरण के उच्चग्रन्थों मे देखे।

अदस + अस् (शस्)। त्यदाद्यत्व और पररूप होकर— अद + अस्। अब अदसोऽसे —' (३५६) के असिद्ध होने से, प्रथम विभक्तिकार्य—पूर्वसवर्णदीर्घ और शस् के सकार का नकार करने से—'अदान्'। अब 'अदसोऽसे —' से दकारोत्तर आकार को ऊकार तथा दकार को मकार होकर 'अमून्' प्रयोग सिद्ध होता है।

अदस् + आ (टा)। त्यदाद्यत्व और पररूप होकर—अद + आ। अब यहा यद्यपि अदसोऽसे —' के असिद्ध होने से, प्रथम विभक्तिकार्य अर्थात् 'टाङसिङसामिनात्स्या' (१४०) सूत्र से टा को इन आदेश प्राप्त होता है तथापि 'न मुने' (३५८) सूत्र के आरम्भसामर्थ्य से† वह नहा होता अत 'अदसोऽसे —' से दकारोत्तर अकार को उकार

† यदि यहाँ टा को इन कर दें तो 'न मु ने' (३५८) सूत्र बनाने का कुछ प्रयोजन नहा रहता। अत इसका बनाना तभी सार्थक किया जा सकता है जब 'इन' आदेश न होकर 'मु' हो जाए। यही इसका आरम्भसामर्थ्य है।

तथा दकार को मकार हो जाता है—अमु + आ। अब यहां 'मु' भाव के असिद्ध होने से 'शेषो घ्यसखि' (१७०) द्वारा घिसञ्ज्ञा नहीं हो सकती और बिना घिसञ्ज्ञा के 'आङो नाऽस्त्रियाम्' (१७१) सूत्र से टा को ना नहीं हो सकता पर हम 'ना' करना अभीष्ट है। अतः 'मु' भाव को सिद्ध करने के लिए अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] निषेध सूत्रम्— २५८ न मु ने ।८।२।३॥

'ना' भावे कर्त्तव्ये कृते च 'मु' भावो नासिद्धः। अमुना। अमूभ्याम्। अमीभिः। अमुष्मात्। अमुष्य। अमुयोः २। अमीषाम्। अमुष्मिन्। अमीषु॥

अर्थ —— 'ना' आदेश करना हो या कर चुके हों तो 'मु' आदेश असिद्ध नहीं होता।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम्। मु। १।१। ने। ७।१। असिद्धम्। १।१। [पूर्वत्रासिद्धम् से] समास —म् च उश्च = मु। समाहारद्वन्द्व। 'ने' यह 'ना' शब्द के सप्तमी का एकवचन है—ना + ङि = ना + इ = ने। यहां भावसप्तमी या वैषयिक सप्तमी समझनी चाहिये। अर्थ —(ने) 'ना' के विषय में अथवा 'ना' परे होने पर × (मु) 'मु' आदेश (असिद्धम्) असिद्ध (न) नहीं होता।

'अमु + आ' यहां ना के विषय में 'मु' आदेश असिद्ध न हुआ तो घिसञ्ज्ञा होकर 'आङो नाऽस्त्रियाम्' (१७१) से टा को ना करने पर— 'अमुना' प्रयोग सिद्ध हुआ।

सूचना—ध्यान रहे कि 'अमुना' में 'ना' के परे होने पर 'मु' आदेश के असिद्ध होने से 'सुपि च' (१४१) द्वारा दीर्घ प्राप्त होता है। वह भी 'न मु ने' (३५८) से 'मु' आदेश के सिद्ध हो जाने पर नहीं होता। इसीलिये तो 'ने' में दो प्रकार की सप्तमी स्वीकार कर के "ना करने में या ना परे होने पर" ऐसा अर्थ किया गया है।

अदस् + भ्याम्। त्यदाद्यत्व और पररूप करने पर 'सुपि च' (१४१) से दीर्घ हो जाता है—अदाभ्याम्। अब 'अदसोऽसे —' (३५६) से उत्व मत्व करने से—'अमूभ्याम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

अदस् + भिस्। त्यदाद्यत्व और पररूप कर 'अद + भिस्'। इस अवस्था में 'अतो भिस ऐस्' (१४२) प्राप्त होता है परन्तु उसका 'नेदमदसोरकोः' (२७१) से निषेध हो जाता है। अब 'बहुवचने झल्येत्' (१४२) द्वारा एकारादेश कर 'एत ईद् बहुवचने'

× भावसप्तमी का 'पर' अर्थ में पर्यवसान हुआ करता है—यह हम पीछे 'तस्मिन्निति' (१६) सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं।

(३५६) से एकार को इकार तथा दकार को मकार करने से— अमीभि प्रयोग सिद्ध होता है।

अदस्+ए (ङे)। त्यदाद्यत्व पररूप, 'सर्वनाम्न स्मै (१५३) से ङे को स्मै, उत्व तथा 'आदेशप्रत्यययो, (१५०) से षत्व होकर—'अमुष्मै' प्रयोग सिद्ध होता है।

अदस्+भ्यस्। यदाद्यत्व, पररूप 'बहुवचने झल्येत् (१४५) से एत्व तथा 'एत ईद् बहुवचने' (३५७) से ईत्व मत्व होकर—'अमीभ्य'।

अदस्+अस् (ङसि)। त्यदाद्यत्व पररूप तथा ङसिङ्यो स्मात्स्मिनौ' (१५४) से 'स्मात् आदेश उत्व मत्व तथा षत्व होकर— अमुष्मात्'।

अदस्+अस (ङस)। त्यदाद्यत्व, पररूप टङसिङसामिनात्स्या' (१४०) से स्य आदेश उत्व मत्व तथा षत्व होकर—'अमुष्य'।

अदस्+आस्'। त्यदाद्यत्व, पररूप, 'ओसि च' (१४७) से एत्व, एचोऽयवायाव (२२) से अय् आदेश होकर—अदया। अब उत्व मत्व होकर— अमुयो'।

'अदस्+आम्। त्यदाद्यत्व, पररूप, आमि सर्वनाम्न सुट्' (१५५) से सुट आगम, 'बहुवचने झल्येत्' (१४५) से एत्व, 'एत ईद् बहुवचने (३५७) से ईत्व मत्व और षत्व करने से—'अमीषाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

अदस्+इ (ङि)। सर्वनामसञ्ज्ञा होकर 'ङसिङ्यो स्मात्स्मिनौ' (१५४) से ङि को स्मिन् सु आदेश तथा षत्व करने पर—'अमुष्मिन्'।

अदस्+सु (सुप्)। त्यदाद्यत्व पररूप, 'बहुवचने' झल्येत्' (१४५) से एत्व, 'एत ईद् बहुवचने (३५७) से ईत्व मत्व तथा आदेशप्रत्यययो' (१५०) से षत्व करने पर—'अमीषु। अदस् (वह) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	असौ	अमू	अमी	प०	अमुष्मात्	अमूभ्याम्	अमीभ्य
द्वि०	अमुम्	,,	अमून्	ष०	अमुष्य	अमुयो	अमीषाम्
तृ०	अमुना	अमूभ्याम्	अमीभि	स०	अमुष्मिन्	,,	अमीषु
च०	अमुष्मै	,,	अमीभ्य		सम्बोधन प्राय नहीं होता।		

अभ्यास (४५)

१ (क) विद्वान्' में वसुस्र सु ' सूत्र से दत्व क्यों नहीं होता ?

(ख) 'विद्वांसौ' मे अनुस्वार को परसवर्ण क्यों नहीं होता ?

(ग) 'अनेहस्' को असुन्नन्त मानने में क्या दोष उत्पन्न होगा ?

२ व्याख्या करो—

(क) 'सम्बोधने तूशनसस्त्रिरूपं सान्तं तथा नान्तमथाप्यदन्तम्।'

(ख) "आन्तरतम्याद् ह्रस्वस्य उ दीर्घस्य ऊ।"

(ग) "अकृत व्यूहा पाणिनीया।"

(घ) "अन्स श्रा सुलोपश्च, अदसोऽसेर्दादु दो म, वसो सम्प्रसारणम्।"

३ पुंसु, नेशोभ्याम्, अमी, विद्वद्भ्याम्, अमुना, असौ, अमू, तस्थुष, अमुष्मिन्, विद्वन्"—इन रूपों की ससूत्र साधनप्रक्रिया लिखो।

४ एत इद् बहुवचने सूत्र की व्याख्या करते हुए 'बहुवचनपद पारिभाषिक नहीं किन्तु यौगिक है"—इसकी व्याख्या करो।

५ जब अनुस्वार का पाठ हल्प्रत्याहार में नहीं आता तो पुनः 'पुंस्+भ्याम्' आदि में कैसे संयोगसञ्ज्ञा होकर संयोगान्तलोप हो जाता है?

६ निम्नलिखित शब्दों की रूपमाला लिखकर प्रथमा के एकवचन में ससूत्र सिद्धि करें—१ वनौकस्, २ उशनस्, ३ अनेहस्, ४ पुंस्, ५ गरीयस्, ६ वेधस्, ७ अदस्।

७ "पूर्वत्रासिद्धम्" सूत्र द्वारा कार्यासिद्ध और शास्त्रासिद्ध पक्षों में से किस पक्ष का प्रतिपादन होता है—सोदाहरण सप्रयोजन सविस्तर व्याख्या करो।

८ 'न मु ने' सूत्र की व्याख्या करते हुए 'कर्त्तव्ये कृते च' कथन का विवेचन करो।

९ पुंस् और विद्वस् शब्दों की प्रकृतिप्रत्ययनिर्देशपुरःसर निष्पत्ति लिखो।

१० 'पुंसोऽसुङ्' सूत्र पर—'सर्वनामस्थाने परे होने पर' ऐसा न कहकर 'सर्वनामस्थाने विवक्षिते' ऐसा क्यों कहा गया है?

यहां सकारान्त पुंल्लिङ्ग समाप्त होते हैं।

[लघु०] इति हलन्ताः पुंल्लिङ्गाः [शब्दाः]।

अर्थः—यहां 'हलन्त पुंल्लिङ्ग' शब्द समाप्त होते हैं।

इति भैमीव्याख्ययोपबृंहितायां लघुसिद्धान्तकौमुद्यां हलन्तपुंल्लिङ्गप्रकरणं पूर्त्तिमगात्॥

—ः—

* अथ हलन्त-स्त्रीलिङ्ग-प्रकरणम् *

— * —

अब क्रमप्राप्त हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण का आरम्भ किया जाता है। इस प्रकरण में भी सब शब्द प्रत्याहारक्रम से कहे गये हैं। अब प्रथम 'हयवरट्' के क्रमानुसार हकारान्त शब्द कहे जाते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३५९ नहो धः ।८।२।३४॥

नहो हस्य धः स्याज्झलि पदान्ते च ।

अर्थः—नह् धातु के हकार का धकार हो जाता है झल् परे होने पर या पदान्त में।

व्याख्या—झलि ।७।१। ['झलो झलि' से] पदस्य ।६।१। [यह अधिकृत है।] अन्ते ।७।१। ['स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' से] नहः ।६।१। धः ।१।१। धकारादकार उच्चारणार्थः । अर्थः—(झलि) झल् परे होने पर या (पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में (नहः) नह् धातु के स्थान पर (धः) ध् आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यविधि द्वारा यह आदेश नह् धातु के अन्त्य अल् हकार के स्थान पर होगा।

इस सूत्र का उपयोग 'उपानह्' शब्द में किया जाता है अतः प्रथम 'उपानह्' शब्द सिद्ध किया जाता है।

[लघु०] विधि सूत्रम्—३६० नहि-वृति-वृषि-व्यधि-रुचि-सहि-तनिषु क्वौ ।६।३।११५॥

क्विबन्तेषु पूर्वपदस्य दीर्घः । उपानत्, उपानद् । उपानहौ । उपानत्सु ।

अर्थः—क्विबन्त नह्, वृत्, वृष्, व्यध्, रुच्, सह् और तन् धातु परे हों तो पूर्वपद को दीर्घ हो जाता है।

व्याख्या—नहि वृति वृषि व्यधि रुचि सहि तनिषु ।७।३। क्वौ ।७।१। पूर्वस्य ।६।१। दीर्घः ।१।१। ['ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' से] यह सूत्र उत्तरपदाधिकार में पढ़ा गया है अतः 'पूर्वस्य' का 'पदस्य' विशेषण उपलब्ध हो जाता है। यद्यपि 'क्वि' ग्रहण से क्विप्,

क्विन् दोनो का ग्रहण हो सकता है तथापि नह् आदि धातु से क्विन् का विधान न होने से अवशिष्ट क्विप् का ही ग्रहण होता है। अथ —(क्वौ) क्विप् पर होने पर (नहि वृतिवृषि) जो नह, वृत्, वृष व्यध् रुच्, मह और तन् धातु इनके पर होने पर (पूर्वस्य) पूर्व (पदस्य) पद के स्थान पर (दीर्घ) दीर्घ हो जाता है। 'अलोऽन्त्यस्य' (२१) तथा 'अचश्च' (१ २ २८) परिभाषाओं द्वारा यह दीर्घ पूर्वपद के अन्त्य अच् के स्थान पर होता है।

"क्विप् पर होने पर जो नह् वृत् आदि धातु उनके पर होने पर —इसका अभिप्राय "क्विबन्त नह वृत् आदि धातु पर होने पर" ऐसा समझना चाहिये। अतएव वृत्ति में यही लिखा है।

उपानह् = जूता।

'उप' पूर्वक 'णहँ बन्धने' (दिवा० उभ०) धातु से क्विप्, उसका सर्वापहारलोप तथा प्रत्ययलक्षण द्वारा उसे मानकर 'नहि-वृति' (३६०) से पूर्वपद के अन्त्य अच को दीर्घ होकर— 'उपानह्' शब्द निष्पन्न होता है।

उपानह् + स् (सुँ)। अपृक्त सकार का लोप होकर 'नहो धः' (३५६) द्वारा पदान्त हकार को धकार, जश्त्व से दकार और चर्त्व से वैकल्पिक तकार करने पर— 'उपानत्, उपानद्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

उपानह् + भ्याम्। यहां पदान्त में 'नहो धः' (३५६) से हकार को धकार पुनः जश्त्व से दकार करने पर 'उपानद्भ्याम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

उपानह् + सु (सुप्)। 'नहो धः' (३५६) से धकार, जश्त्व से दकार तथा 'खरि च' (७४) से तकार होकर 'उपानत्सु' प्रयोग सिद्ध होता है। समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	उपानत् द्	उपानहौ	उपानहः	पं०	उपानहः	उपानद्भ्याम्	उपानद्भ्यः
द्वि०	उपानहम्	,,		ष०	,,	उपानहोः	उपानहाम्
तृ०	उपानहा	उपानद्भ्याम्	उपानद्भिः	स०	उपानहि	,,	उपानत्सु
च०	उपानहे	,,	उपानद्भ्यः	सं०	हे उपानत् द्!	हे उपानहौ!	हे उपानहः!

इसी प्रकार—परीणह् प्रभृति शब्दों के रूप बनते हैं। ध्यान रहे कि 'उपानह्' प्रभृति शब्दों का स्त्रीत्व, विशेषण लगाते समय प्रकट होता है। यथा— इयम् उपानत्। इमे उपानहौ।

सूचना—ग्रन्थकार का 'नहि वृति०' (३६०) सूत्र यहां लिखना उचित प्रतीत

नहीं होता यदि लिखना ही था तो 'नहो धः' (३५६) सूत्र से पूर्व लिखना अधिक सौन्दर्यावह हो सकता था।

नोट—'नहि वृति०' सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—वृत्—नीवृत् (पुं० स्त्री०) =जनपद, देश। वृष्—प्रावृष् (स्त्री०)=वर्षा ऋतु। व्यध्—हृदयाविध् (त्रि०)= हृदय को बींधने वाला। रुच—नीरुच् (त्रि०)=नीरोगी। सह्—ऋतीसह (त्रि०) =दुःखों को सहने वाला। तन्—परीतत् (त्रि०)=चारों ओर फैलने वाला।

[लघु०] क्विन्नन्तत्वात् कुत्वेन घः। उष्णिक्, उष्णिग्। उष्णिहौ। उष्णिग्भ्याम्॥

व्याख्या— उष्णिह् = छन्दविशेष।

'उष्णिह्' शब्द 'उद्' पूर्वक 'ष्णिहँ (दिवा० प०)' धातु से क्विन्नन्त निपातन किया जाता है। [देखो—'ऋत्विग्दधृक०' (३०१) सूत्र।]

उष्णिह् + सुँ। सुँलोप, क्विन्नन्त होने से 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) द्वारा हकार को घकार, जश्त्व से घकार को गकार तथा वैकल्पिक चर्त्व से गकार को ककार हो कर— 'उष्णिक्, उष्णिग्' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं। रूपमाला यथा—

प्र०	उष्णिक्, ग्	उष्णिहौ	उष्णिहः
द्वि०	उष्णिहम्	,,	,,
तृ०	उष्णिहा	उष्णिग्भ्याम्❀	उष्णिग्भिः
च०	उष्णिहे	,,	उष्णिग्भ्यः
पं०	उष्णिहः	उष्णिग्भ्याम्	उष्णिग्भ्यः
ष०	,,	उष्णिहोः	उष्णिहाम्
स०	उष्णिहि	,,	उष्णिक्षु†
सं०	हे उष्णिक्, ग्!	हे उष्णिहौ!	हे उष्णिहः!

❀ क्विन्प्रत्ययस्य कुः (३०४), झलां जशोऽन्ते (६७)।

† कुत्व, जश्त्व, षत्व, 'खरि च' (७४) से चर्त्व।

यहां हकारान्त स्त्रीलिङ्ग समाप्त होते हैं।

—०—

[लघु०] द्यौः। दिवौ। दिवः। द्युभ्याम्॥

व्याख्या—'दिव्' शब्द विशुद्ध अवस्था में नित्यस्त्रीलिङ्ग होता है। पुंल्लिङ्ग आदि में इसका प्रयोग बहुव्रीहिसमासवश हुआ करता है। इसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया 'सुदिव्' (पृष्ठ ४०८) शब्दवत् होती है। 'दिव् (आकाश व स्वर्ग)' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र० द्यौ †	दिवौ	दिवः	पं० दिवः	द्युभ्याम्	द्युभ्यः
द्वि० दिवम्	,,	,,	ष० ,,	दिवोः	दिवाम्
तृ० दिवा	द्युभ्याम्+	द्युभिः	स० दिवि	,,	द्युषु
च० दिवे	,,	द्युभ्यः	सं० हे द्यौः !	हे दिवौ !	हे दिवः !

† दिव औत् (२६४)। + दिव उत् (२६५)।

यहां वकारान्त स्त्रीलिङ्ग समाप्त होते हैं।

—o—

[लघु०] गीः । गिरौ । गिरः । एवम्—पूः ॥

व्याख्या— गिर् = वाणी।

'गॄ निगरणे (तुदा० प०) धातु से क्विप्, उसका सर्वापहार लोप, 'ॠत इद्धातोः' (६६०) से इत्व तथा 'उरण्रपरः' (२९) से रपर करने पर 'गिर्' शब्द निष्पन्न होता है।

गिर्+स् (सुँ)। सुँलोप होकर 'क्विबन्ता धातुत्वं न जहति' (पृष्ठ ३६५) इस कथन से धातु होने से पदान्त में 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' (३५१) से उपधादीर्घ होकर 'गीर्' बना। अब रेफ को विसर्ग आदेश करने से—'गीः' प्रयोग सिद्ध होता है।

गिर्+औ=गिरौ। यहां पदान्त न होने से उपधादीर्घ नहीं होता।

गिर्+भ्याम्। यहां 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' (१६४) द्वारा पद संज्ञा होने से 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' (३५१) से उपधादीर्घ हो जाता है—गीर्भ्याम्।

गिर्+सुप्। यहां पदान्त में उपधादीर्घ होकर सकार को षकार हो जाता है—गीर्षु। ध्यान रहे कि यहां 'रोः सुपि' (२६८) के नियमानुसार रेफ को विसर्ग आदेश नहीं होते। समग्र रूपमाला यथा—

प्र० गीः	गिरौ	गिरः	पं० गिरः	गीर्भ्याम्	गीर्भ्यः
द्वि० गिरम्	,,	,,	ष० ,,	गिरोः	गिराम्
तृ० गिरा	गीर्भ्याम्	गीर्भिः	स० गिरि	,,	गीर्षु
च० गिरे	,,	गीर्भ्यः	सं० हे गीः !	हे गिरौ !	हे गिरः !

इसी प्रकार— पुर् = नगर।

'पॄ पालनपूरणयोः' (जुहो० प०) धातु से क्विप्, उसका सर्वापहारलोप, 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' (६११) से उत्व तथा 'उरण्रपरः' (२९) से रपर करने पर 'पुर्'

शब्द निष्पन्न होता है। इसकी भी सम्पूर्ण प्रक्रिया 'गिर्' शब्द की तरह होती है।

रूपमाला यथा—

प्र०	पूः❀	पुरौ	पुरः	प०	पुरः	पूर्भ्याम्	पूर्भ्यः
द्वि०	पुरम्	,,	,,	ष०	,,	पुरोः	पुराम्
तृ०	पुरा	पूर्भ्याम्	पूर्भिः	स०	पुरि	,,	पूर्षु
च०	पुरे	,,	पूर्भ्यः	सं०	हे पूः !	हे पुरौ !	हे पुरः !

इसी प्रकार—धुर् (गाडी का अग्रिम भाग) प्रभृति शब्दों के रूप बनते हैं।

[लघु०] चतस्रः । चतसृणाम् ॥

व्याख्या— चतुर् = चार।

स्त्रीलिङ्ग मे विभक्ति परे होने पर चतुर् शब्द को त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ (२२४) सूत्र से 'चतसृ' आदेश हो जाता है।

चतसृ+अस् (जस्)। 'ऋतो ङि०' (२०४) से गुण प्राप्त होने पर उसके अपवाद 'अचि र ऋतः' (२२५) सूत्र से रेफ आदेश करने पर—'चतस्रः' प्रयोग सिद्ध होता है।

चतसृ+अस (शस्)। यहां सर्वनामस्थान न होने से पूर्वोक्त गुण प्राप्त नहीं होता। 'प्रथमयोः०' (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ प्राप्त होने पर उसका अपवाद रेफ आदेश हो जाता है—चतस्रः ।

चतसृ+आम्। 'अचि र ऋतः' (२२५) को बाधकर 'नुमचिर० (वा० १६) की सहायता से पूर्वविप्रतिषेध से ह्रस्वनद्यापो नुट् (१४८) से नुट् का आगम हो जाता है—चतसृ+नाम्। अब नामि (१४९) से प्राप्त होने वाले दीर्घ का 'न तिसृ चतसृ' (२२६) सूत्र से निषेध हो जाता है, पुनः 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्' (वा० २१) से णत्व होकर 'चतसृणाम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

चतसृ (स्त्रीलिङ्ग में चतुर्) शब्द की रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	०	०	चतस्रः	प०	०	०	चतसृभ्यः
द्वि०	०	०	,,	ष०	०	०	चतसृणाम्
तृ०	०	०	चतसृभिः	स०	०	०	चतसृषु
च०	०	०	चतसृभ्यः				

यहां रेफान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द समाप्त होते हैं।

❀ इसका भ्रामक रूप इस उक्ति मे प्रसिद्ध है—"का पूः वः" (का, पूः = नगरी, वः = युष्माकम्। तुम्हारी कौन सी नगरी है।)

[लघु०] का। के। काः। सर्वावत्।

व्याख्या— किम् = कौन।

किम् शब्द के पुँल्लिङ्ग में रूप कह चुके हैं। अब स्त्रीलिङ्ग में रूप सिद्ध किये जाते हैं।

विभक्ति परे होने पर सर्वत्र 'किमः कः' (२७१) द्वारा किम् को 'क' आदेश हो जाता है। पुनः स्त्रीत्व की विवक्षा में 'अजाद्यतष्टाप्' (१२४५) से टाप् प्रत्यय होकर 'का' शब्द निष्पन्न होता है। इससे स्यादियों की उत्पत्ति होने पर सम्पूर्ण प्रक्रिया 'सर्वा' शब्दवत् होती है। 'का' (स्त्रीलिङ्ग में किम् शब्द) की रूपमाला यथा—

प्र०	का	के	काः	प०	कस्याः†	काभ्याम्	काभ्यः
द्वि०	काम्	,,		ष०	†	कयोः❀	कासाम्×
तृ०	कया❀	काभ्याम्	काभिः	स०	कस्याम्†	❀	कासु
च०	कस्यै†	,,	काभ्यः		सम्बोधन प्रायः नहीं होता।		

❀ आङि चापः (२१८)। † सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च (२२०)। × सुट्।

[लघु०] विधि सूत्रम्— २६१ यः सौ।७।२।११०॥

इदमो दस्य यः। इयम्। त्यदाद्यत्वम्। पररूपत्वम्। टाप्। 'दश्च' (२७५) इति मः। इमे। इमाः। इमाम्। अनया। 'हलि लोपः' (२७७) आभ्याम्। आभिः। अस्यै। अस्याः। अनयोः। आसाम्। अस्याम्। आसु॥

अर्थः— सुँ परे होने पर इदम् के दकार को यकार हो जाता है।

व्याख्या— इदमः।६।१। ['इदमो मः' से] दः।६।१। ['दश्च' से] यः।१।१। सौ।७।१। अर्थः— (इदमः) इदम् शब्द के (दः) द् के स्थान पर (यः) य् आदेश हो जाता है (सौ) सुँ परे होने पर।

यह सूत्र केवल स्त्रीलिङ्ग में ही प्रवृत्त होता है। क्योंकि पुँल्लिङ्ग में सुँ परे होने पर 'इदोऽय् पुंसि' (२७३) सूत्र से इद् को अय् आदेश हो जानेसे दकार नहीं मिल सकता। नपुंसक में भी सुँ का लुक् हो जाने से इसे अवकाश नहीं मिलता।

'इदम्' शब्द के पुँल्लिङ्ग में रूप सिद्ध किये जा चुके हैं, अब स्त्रीलिङ्ग में रूप सिद्ध करते हैं—

इदम्+स (सुँ)। यहां प्रकृतसूत्र से दकार को यकार हो कर सुँ का लोप हो जाता है—इयम्। ध्यान रहे कि यहां 'इदमो मः' (२७२) के निषेध के कारण त्यदाद्यत्व नहीं होता।

इदम्+औ। त्यदाद्यत्व, पररूप, 'अजाद्यतष्टाप्' (१२४५) से टाप्, अनुबन्धलोप कर सवर्णदीर्घ करने से—इदा+औ। अब 'दश्च' (२७५) सूत्र से दकार को मकार 'औङ आपः' (२१६) से औकार को शी, अनुबन्धलोप तथा गुण करने पर—'इमे'।

इदम्+अस (जस)। त्यदाद्यत्व, पररूप, टाप, सवर्णदीर्घ तथा 'दश्च' (२७५) से दकार को मकार होकर—इमा+अस। अब 'दीर्घाज्जसि च' (१६२) से पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध होकर 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ और रुत्व कर विसर्ग करने से—'इमाः'।

इदम्+अम्। त्यदाद्यत्व, पररूप, टाप, सवर्णदीर्घ, 'दश्च' (२७५) सूत्र से दकार को मकार तथा 'अमि पूर्वः' (१३५) से पूर्वरूप होकर—'इमाम्'।

इदम्+अस् (शस्)। त्यदाद्यत्व, पररूप, टाप, सवर्णदीर्घ तथा दकार को मकार होकर पूर्वसवर्णदीर्घ करने से—इमास्=इमाः।

नोट—जस में सवर्णदीर्घ और शस् में पूर्वसवर्णदीर्घ यह अन्तर ध्यान रखना चाहिये।

इदम्+आ (टा)=इद+आ=इदा+आ। अब यहां 'अनाप्यकः' (२७६) सूत्र से इद् भाग का अन् आदेश, 'आङि चापः' (२१८) से प्रकृति के आकार को एकार तथा 'एचोऽयवायावः' (२२) से अय् आदेश करने पर—अनया।

इदम्+भ्याम्=इद+भ्याम्=इदा+भ्याम्। 'हलि लोपः' (२७७) से इद् भाग का लोप होकर—आभ्याम्।

इदम्+भिस्=इद+भिस्=इदा+भिस्=आभिः। ['हलि लोपः']।

इदम्+ए (ङे)=इद+ए=इदा+ए। अब सर्वनामसञ्ज्ञा होकर प्रथम नित्य होने से 'सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च' (२२) सूत्र से स्याट् आगम और आप् को ह्रस्व हो जाता है—इद+स्या ए। अब 'वृद्धिरेचि' (३३) से वृद्धि और 'हलि लोपः' (२७७) से इद् भाग का लोप करने से—'अस्यै'।

इदम्+अस (ङसिँ व ङस्)=इद+अस्=इदा+अस्। यहां भी पूर्ववत् सर्वनामसञ्ज्ञा, स्याट् आगम तथा आप् को ह्रस्व होकर—इद स्या अस्। अब 'अकः सवर्णे दीर्घः' (४२) से सवर्णदीर्घ तथा 'हलि लोपः' (२७७) से इद् का लोप होकर—अस्यास्='अस्याः'।

इदम् + आस् = इद + ओस् = इदा + आस् । 'अनाप्यक' (२७६) से इद् को अन् आदेश, 'आङि चाप (२१८) से आप् को एकार तथा एकार को अय आदेश करने पर—'अनया ।

इदम् + आम् = इद + आम् = इदा + आम् । सर्वनामसञ्ज्ञा होकर आमि सर्वनाम्न सुट्' (१५५) से सुट का आगम तथा 'हलि लोप (२७७) से इद् का लोप हो जाता है—'आसाम्'।

इदम् + इ (ङि) = इद + इ = इदा + इ । यहा 'ङराम्नद्याम्नीभ्य' (१९८) से ङि का आम् 'सर्वनाम्न स्याड् ढ्रस्वश्च' (२२०) से स्याट् आगम और आप् को ह्रस्व, 'हलि लोप' (२७७) से इद् का लोप तथा सवर्णदीर्घ करने पर—'अस्याम्'।

इदम् + सुप् = इद + सु = इदा + सु = आसु ('हलि लोप') ।

'इदम्' (यह) शब्द की स्त्रीलिङ्ग में रूपमाला यथा—

प्र०	इयम्	इमे	इमा	प०	अस्या	आभ्याम्	आभ्य
द्वि०	इमाम्	,,	,,	ष०	,,	अनयो	आसाम्
तृ०	अनया	आभ्याम्	आभि	स०	अस्याम्	,	आसु
च०	अस्यै	,,	आभ्य		सम्बोधन प्राय नहीं होता ।		

नोट —अन्वादेश मे द्वितीया, टा और ओस् विभक्तियों के परे होने पर 'द्वितीया टौस्स्वेन' (२८०) से इदम् को एन आदेश हो जाता है । तब टाप् प्रत्यय होकर विभक्ति कार्य करने से—"एनाम्, एने, एना, एनया, एनयो" रूप बन जाते हैं ।

[लघु०] त्यदाद्यत्वम् । टाप्—स्या, त्ये, त्या । एव तद्, एतद् ॥

व्याख्या— त्यद् = वह ।

'त्यद्' शब्द के पुल्लिङ्ग में रूप दर्शाए जा चुके हैं । अब स्त्रीलिङ्ग मे रूप दर्शाए जाते हैं—

त्यद् + स् (सुँ) । त्यदाद्यत्व, पररूप, टाप, सवर्णदीर्घ, 'तदो स सावनन्त्ययो' (३१०) से तकार को सकार तथा 'हल्ङ्याब्भ्य —' (१७९) से अपृक्त सकार का लोप होकर—'स्या'।

त्यद् + औ = त्य + औ = त्या + औ । 'औङ आप' (२१६) से शी आदेश तथा अनुबन्धलोप कर गुण करने से—'त्ये'।

आगे सर्वत्र त्यदाद्यत्व पररूप और टाप् होकर 'त्या' रूप बन जाता है। तब इस की प्रक्रिया 'सर्वा' शब्दवत् होती है। रूपमाला यथा—

प्र० स्या	त्ये	त्याः	पं० त्यस्याः	त्याभ्याम्	त्याभ्यः
द्वि० त्याम्	,,	,,	ष० ,,	त्ययोः	त्यासाम्
तृ० त्यया	त्याभ्याम्	त्याभिः	स० त्यस्याम्	,,	त्यासु
च० त्यस्यै	,,	त्याभ्यः	सम्बोधन प्रायः नहीं होता।		

तद् = वह।

'तद्' शब्द की भी प्रक्रिया 'त्यद्' शब्द के समान होती है।

तद्+सुँ। त्यदाद्यत्व, पररूप, टाप्, सवर्णदीर्घ होकर—'ता+स'। अब 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' (३१०) से तकार को सकार तथा 'हल्ङ्याब्भ्यः—' (१७९) से सुँ का लोप होकर—'सा'। 'तद्' शब्द की स्त्रीलिङ्ग में रूपमाला यथा—

प्र० सा	ते	ताः	पं० तस्याः	ताभ्याम्	ताभ्यः
द्वि० ताम्	,,	,,	ष० ,,	तयोः	तासाम्
तृ० तया	ताभ्याम्	ताभिः	स० तस्याम्	,,	तासु
च० तस्यै	,,	ताभ्यः	सम्बोधन प्रायः नहीं होता।		

एतद् = यह।

'एतद्' शब्द की भी प्रक्रिया 'त्यद्, तद्' शब्दों की तरह होती है। रूपमाला यथा—

प्र० एषा	एते	एताः	पं० एतस्याः	एताभ्याम्	एताभ्यः
द्वि० एताम्	,,	,,	ष० ,,	एतयोः	एतासाम्
तृ० एतया	एताभ्याम्	एताभिः	स० एतस्याम्	,,	एतासु
च० एतस्यै	,,	एताभ्यः	सम्बोधन प्रायः नहीं होता।		

यहां दकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द समाप्त होते हैं।

[लघु०] वाक्, वाग्। वाचौ। वाग्भ्याम्। वाक्षु॥

व्याख्या— **वाच् = वाणी**

'वच परिभाषणे' (अदा० प०) धातु से 'क्विब्वचि—' वार्त्तिक द्वारा क्विप्, दीर्घ और सम्प्रसारण का अभाव करने पर 'वाच्' शब्द निष्पन्न होता है। पदान्त में इसे 'चोः कुः' (३०६) द्वारा सर्वत्र कवर्गादेश हो जाता है। 'वाच्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	वाक्, वाग्	वाचौ	वाचः	पं०	वाचः	वाग्भ्याम्	वाग्भ्यः
द्वि०	वाचम्	,,	,,	ष०	,,	वाचोः	वाचाम्
तृ०	वाचा	वाग्भ्याम्[0]	वाग्भिः	स०	वाचि	,,	वाक्षु†
च०	वाचे	,,	वाग्भ्यः	सं०	हे वाक्, ग्!	हे वाचौ!	हे वाचः!

* सुँलोप होकर 'चोः कुः' (३०६) से चकार को ककार होकर वाऽवसाने चर्त्व हो जाते हैं।

[0] चोः कुः, झलां जशोऽन्ते (६७)।

† चोः कुः, झलां जशोऽन्ते आदेशप्रत्यययोः (१५०), खरि च (७४)।

इसी प्रकार—शुच् (शोक) त्वच् (त्वगिन्द्रिय) प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं।

[लघु०] अप्शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः। 'अप्तृन्०' (२०६) इति दीर्घः। आपः। अपः॥

व्याख्या— अप् = जल

'अप्' शब्द संस्कृतसाहित्य में नित्य बहुवचनान्त[1] तथा स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होता है।

---

१ त्रि, चतुर्, पञ्चन् आदि शब्दों का बहुवचन में प्रयोग तो समझ में आ सकता है परन्तु जब अप्, दार आदि शब्दों का बहुवचन में प्रयोग सामने आता है तो वैसा कोई कारण प्रतीत नहीं होता। आधुनिक कई वैज्ञानिक दो गैसों के संयोग को ही जलतत्त्व नाम देते हैं, शायद सूक्ष्म अनुसन्धान से किन्हीं अन्य गैसों का भी मिश्रण प्रतीत हो और उन सब के संयोगात्मक तत्त्व 'अप्' को प्राचीन आर्यों ने नित्यबहुवचनान्त माना हो अथवा जल के अनेक सूक्ष्म बिन्दुओं के कारण यह बहुवचनान्त माना गया हो। किञ्च जल, वारि आदि को बहुवचन न मानकर 'अप्' को ही बहुवचनान्त मानने का कारण शायद 'आप्लृ व्याप्तौ' धातु भी हो जिससे अप् शब्द की निष्पत्ति होती है। 'दार' शब्द शायद इसलिये बहुवचनान्त माना गया हो कि पूर्वकाल में एक पुरुष की अनेक स्त्रियाँ होती थीं। किञ्च 'दॄ विदारणे' धातु भी शायद इस में कारण हो जिस से अन्यत्र भार्या आदि में न होने के कारण वे नित्य बहुवचनान्त न बन सके हों। सिकता और वर्षा शब्द तो सिकताकणों और जलकणों के समूह के कारण ही बहुवचनान्त माना गया प्रतीत होता है जहाँ एक कण की विवक्षा होती है वहाँ एकवचन का भी प्रयोग देखा जाता है। यथा महाभाष्य में—"एका च सिकता तैलदानेऽसमर्था"।

ये सब सङ्क्षिप्तरीत्या भिन्न २ विद्वानों की धारणाएं हैं। हमारा तो विचार है कि शायद इन में से एक भी ठीक न हो। यह विषय पर्याप्त अनुसन्धान का है—आशा है 'सिद्धान्तकौमुदी' की व्याख्या में इसे कुछ स्पष्ट कर पायेंगे।

अप्+अस (जस्)। जस्' प्रत्यय सर्वनामस्थानसञ्ज्ञक होता है अत उस के परे हाने पर 'अप्तृन् ' (२०६) सूत्र द्वारा 'अप्' की उपधा को दीर्घ होकर— आपस्= आप' प्रयोग बनता है।

अप+अस् (शस्)। शस की सवनामस्थान सञ्ज्ञा नहीं अत इस के परे होने पर उपधादीर्घ नहीं होता। स्वर व्यञ्जन का सयोग होकर रुँत्व विसर्ग करने से—'अप'।

अप्+भिस्। यहा अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्— ३६२ अपो भि ।७।४।४८॥

अपस्तकारो भादौ प्रत्यये। अद्भि। अद्भ्य २। अपाम्। अप्सु॥

अर्थ—भकारादि प्रत्यय परे होने पर 'अप्' क पकार को तकार आदेश हा जाता है।

व्याख्या—अप।६।१।त।१।१।['अच उपसर्गात्त से] भि।७।१। ['अङ्गस्य' का अधिकार हाने से प्रत्यये उपलब्ध हो जाता है। वह प्रत्यये' विशेष्य और 'भि' विशेषण है। विशेषण के अल् होने से तदादिविधि होकर—'भादौ प्रत्यये' बन जाता है।] अथ—(भादौ प्रत्यये) भकारादि प्रत्यय परे होने पर (अप) 'अप्' शब्द के स्थान पर (त) त् आदेश हो जाता हे। अलोऽन्त्यविधि से यह आदेश अन्त्य अल् पकार के स्थान पर होगा। सुपों में भकारादि प्रत्यय भ्याम् और भिस् के अतिरिक्त कोई नहीं है।

'अप्+भिस्' यहा प्रकृतसूत्र से पकार को तकार होकर जश्त्व करने से—अद्भि। इसी प्रकार—अद्भ्य।

अप्+आम्=अपाम् अप्+सुप्=अप्सु। यहा भकारादि प्रत्यय न होने से तकार न होगा। समग्र रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	०	०	आप	पञ्चमी	०	०	अद्भ्य
द्वितीया	०	०	अप	षष्ठी	०	०	अपाम्
तृतीया	०	०	अद्भि	सप्तमी	०	०	अप्सु
चतुर्थी	०	०	अद्भ्य	सम्बोधन	०	०	हे आप!

यहा पकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द समाप्त होते हैं।

[लघु०] दिक्, दिग्। दिश। दिग्भ्याम्॥

व्याख्या— दिश् = दिशा

यह शब्द 'ऋत्विग्दधृक्' (३०१) सूत्र से क्विन्नन्त निपातन किया गया है।

दिश्+सुँ। सुँलोप, 'व्रश्चभ्रस्ज' (३०७) से षत्व, 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से डत्व, 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) से गकार तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व=ककार करने से— दिक्, दिग्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

दिश+भ्याम्। पदान्त में षत्व डत्व और कुत्व होकर—दिग्भ्याम्।

'दिश्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	दिक्, ग्	दिशौ	दिशः	प०	दिशः	दिग्भ्याम्	दिग्भ्यः
द्वि०	दिशम्	,,	,,	ष०	,,	दिशोः	दिशाम्
तृ०	दिशा	दिग्भ्याम्	दिग्भिः	स०	दिशि	,,	दिक्षु
च०	दिशे	,,	दिग्भ्यः	सं०	हे दिक्, ग्!	हे दिशौ!	हे दिशः!

इसी शब्द का 'आप चैव हलन्तानाम्' से आप् करने पर 'दिशा' शब्द बन जाता है, तब 'रमा' की तरह रूप चलते हैं।

[लघु०] 'त्यदादिषु' (३४७) इति दृशेः क्विन्विधानादन्यत्रापि कुत्वम्। दृक्, दृग्। दृशौ। दृग्भ्याम्॥

व्याख्या— दृश् = आंख, दृष्टि।

दृश्यन्तेऽथा अनयेति विग्रहे सम्पदादित्वाद् दृशेः क्विप्। 'दृश्' शब्द क्विबन्त है क्विन्नन्त नहीं।

दृश्+सुँ। यहां अपृक्त सकार का लोप होकर पदान्त में 'व्रश्चभ्रस्ज' (३०७) सूत्र से शकार को षकार, 'झलां जशोऽन्ते' (६७) से षकार को डकार, 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) से डकार को कुत्व गकार तथा 'वाऽवसाने' (१४६) सूत्र से वैकल्पिक चर्त्व ककार करने से— 'दृक्, दृग्' ये दो रूप बनते हैं।

नोट—यद्यपि यहां क्विन् प्रत्यय न होने से 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) द्वारा कुत्व न होना चाहिये था तथापि 'क्विन्प्रत्ययो यस्मात्' ऐसा विग्रह कर बहुव्रीहिसमास स्वीकार करने से कुत्व हो जाता है कोई दोष प्रसक्त नहीं होता। तात्पर्य यह है कि जिस धातु से कहीं भी क्विन्प्रत्यय देखा गया हो चाहे अब उस से वह किया गया हो या न हो उसे कुत्व हो जायगा। 'दृश्' धातु से यहां तो क्विन् नहीं हुआ किन्तु 'तादृश्' शब्द में 'त्यदादिषु' (३४७) सूत्र द्वारा देखा जाता है अतः यहां क्विन् के अभाव में भी कुत्व हो जायगा।

दृश् + भ्याम् । षत्व, डत्व और कुत्व होकर—दृग्भ्याम् ।

दृश्[1] शब्द की रूपमाला यथा—

प्र	दृक्, ग्	दृशौ	दृश	प०	दृश	दृग्भ्याम्	दृग्भ्य
द्वि०	दृशम्	,,	,	ष०		दृशा	दृशाम्
तृ०	दृशा	दृग्भ्याम्	दृग्भि	स०	दृशि	,	दृक्षु
च०	दृशे	,,	दृग्भ्य	सं०	हे दृक्, ग्!	हे दृशौ !	हे दृश !

इसी प्रकार—एतादृश्, यादृश् आदि के स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग समझने चाहियें ।

यहां शकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द समाप्त होते हैं ।

[लघु०] त्विट्, त्विड् । त्विषौ । त्विड्भ्याम् ॥

व्याख्या— त्विष् = कान्ति ।

त्विषँ दीप्तौ' (भ्वा० उभ०) धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'त्विष्' शब्द निष्पन्न होता है । 'त्विष्' शब्द की सम्पूर्ण प्रक्रिया पुंल्लिङ्ग के रत्नमुष् शब्द के समान होती है । रूपमाला यथा—

प्र०	त्विट्, ड्❀	त्विषौ	त्विष	प०	त्विष	त्विड्भ्याम्	त्विड्भ्य
द्वि०	त्विषम्	,,		ष०	,,	त्विषो	त्विषाम्
तृ०	त्विषा	त्विड्भ्याम्†	त्विड्भि	स०	त्विषि	,	त्विट्त्सु, ट्सु×
च०	त्विषे	,	त्विड्भ्य	सं०	हे त्विट्, ड् !	हे त्विषौ !	हे त्विष !

❀ झलां जशोऽन्ते (६७) वाऽवसाने (१४६) । † झलां जशोऽन्ते (६७) × जश्त्व और धुट् प्रक्रिया ।

इसी प्रकार—प्रावृष् (वर्षा ऋतु), रुष् (क्रोध) प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं ।

[लघु०] 'ससजुषो रु' (१०५) इति रुँत्वम् । सजूः । सजुषौ । सजूर्भ्याम् ॥

व्याख्या— सजुष् = मित्र ।

समानं जुषते=सेवत इति सजूः । जुषीँ प्रीतिसेवनयो ' (तुदा० आ०) इति क्विप् । 'सहस्य सः सञ्ज्ञायाम्' (६ ३ ७८) इति सूत्रेण, 'ससजुषो रु' इति निपातनाद्वा सहस्य स भाव ।

---

१ 'तादृश्' शब्द के रूपों में से 'ता' हटा दिया जाय तो 'दृश' के रूप हो जाते हैं ।

'सजुष् + सुँ । सुँलोप होकर 'ससजुषो रुः' (१०५) सूत्र से सजुष् के षकार को रुँ आदेश, 'र्वोरुपधाया दीर्घ इकः' (३५१) से उपधादीर्घ तथा रकार का रुँत्व विसर्ग करने से 'सजूः' प्रयोग सिद्ध होता है।

'सजुष + भ्याम्' । पदान्त में रुँत्व और पूर्वोक्तरीत्या उपधादीर्घ होकर— 'सजूर्भ्याम्' ।

सजुष् + सुप् । रुँत्व और उपधादीर्घ होकर—सजूर् + सु । अब षत्व के असिद्ध होने से प्रथम 'खरवसानयोः—' (९३) से विसर्ग आदेश हो जाता है—सजूः + सु । पुनः 'वा शरि' (१०४) से विकल्प कर के विसर्ग का विसर्ग और पक्ष में 'विसर्जनीयस्य सः' (१०३) से सकार आदेश होकर 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' (३५२) सूत्र से दोनों पक्षों में सकार को मूर्धन्य षकार करने से—१ सजूः षु, २ सजूष्षु । अब सकार वाले पक्ष में ष्टुत्व हो जाता है। इस प्रकार— १ सजूः षु, २ सजूष्षु ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

'सजुष्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	सजूः	सजुषौ	सजुषः	प०	सजुषः	सजूर्भ्याम्	सजूर्भ्यः
द्वि०	सजुषम्	,,	,,	ष०	,,	सजुषोः	सजुषाम्
तृ०	सजुषा	सजूर्भ्याम्	सजूर्भिः	स०	सजुषि	,,	सजूः षु, सजूष्षु
च०	सजुषे	,,	सजूर्भ्यः	सं०	हे सजूः !	हे सजुषौ !	हे सजुषः !

इसी प्रकार— **आशिष् = आशीर्वाद**

आङ् पूर्वक 'शास्' (अदा० आ०) धातु से क्विप् प्रत्यय 'आशासः क्वावुपसङ्ख्यानम्' वार्त्तिक से इत्व तथा 'शासिवसिघसीनाञ्च' (५५४) द्वारा मूर्धन्य षकार करने पर 'आशिष्' शब्द निष्पन्न होता है। यहां का षत्व (८.३.६०) 'ससजुषो रुः' (८.२.६६) की दृष्टि में असिद्ध है, अतः पदान्त में सकार समझ कर सर्वत्र 'ससजुषो रुः' (१०५) से रुँत्व हो जाता है। शेष सम्पूर्ण प्रक्रिया पूर्ववत् होती है। रूपमाला यथा—

प्र०	आशीः	आशिषौ	आशिषः	प०	आशिषः	आशीर्भ्याम्	आशीर्भ्यः
द्वि०	आशिषम्	,,	,, ❀	ष०	आशिषः	आशिषोः	आशिषाम्
तृ०	आशिषा	आशीर्भ्याम्	आशीर्भिः	स०	आशिषि	,,	आशीः षु, आशीष्षु
च०	आशिषे	,,	आशीर्भ्यः	सं०	हे आशीः !	हे आशिषौ !	हे आशिषः !

यहां षकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द समाप्त होते हैं।

[लघु०] असौ । उत्व-मत्वे—अमूः, अमूः । अमुया । अमूभिः । अमुष्यै ।

❀ कई लोग शस् में—"परमात्मा जनेभ्य आशीददात" इस प्रकार भ्रम से अशुद्ध लिखते हैं, 'आशिषो ददाति' लिखना चाहिये।

अमूभ्यः । अमुष्याः । अमुयोः । अमूषाम् । अमुष्याम् । अमूषु ॥

व्याख्या—'अदस्' शब्द की पुंल्लिङ्ग में प्रक्रिया लिख चुके हैं, अब स्त्रीलिङ्ग में लिखते हैं।

अदस्+सुँ। यहां पुंल्लिङ्ग के समान ही 'अदस औ सुँलोपश्च' (३५५) द्वारा सकार को औकार और सुँ का लोप, 'तदोः सः—' (३१०) से दकार को सकार और वृद्धि होकर—'असौ' प्रयोग सिद्ध होता है।

अदस+औ। त्यदाद्यत्व, पररूप, टाप् और सवर्णदीर्घ होकर—अदा+औ। 'औङ आपः' (२१६) से औ को शी हो गुण एकादेश करने से—अदे'। अब 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' (३५६) से एकार को ऊकार तथा दकार को मकार करने पर—'अमू'।

अदस्+अस (जस्)=अदा+अस्। 'दीर्घाज्जसि च' (१६२) सूत्र से पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध होकर सवर्णदीर्घ हो जाता है—अदाः। अब ऊत्व मत्व करने से—'अमूः' सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहां अदन्त सर्वनाम न होने से जस् को शी आदेश तथा एकार न होने के कारण 'एत ईद्०' (३५७) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता।

अदस+अम्=अदा+अम्। पूर्वरूप कर ऊत्व मत्व करने से—'अमूम्'।

अदस्+अस् (शस)। पूर्वसवर्णदीर्घ होकर ऊत्व मत्व हो जाते हैं—'अमूः'।

अदस्+आ (टा)=अदा+आ। 'आङि चापः' (२१८) से आप् को एकार आदेश होकर अय् आदेश करने से—अदया। अब ऊत्व मत्व करने से—'अमुया' सिद्ध होता है।

अदस्+भ्याम्=अदा+भ्याम्। ऊत्व मत्व करने से—अमूभ्याम्। इसी प्रकार—अमूभिः, अमूभ्यः।

अदस+ए (ङे)=अदा+ए। सर्वनामसञ्ज्ञा हो कर 'सर्वनाम्नः स्याड् ढ्रस्वश्च' (२२०) से स्याट् आगम और आप् को ह्रस्व हो—अद स्या ए। पुनः वृद्धि करके उत्व, मत्व और षत्व करने से—'अमुष्यै'।

अदस्+अस् (ङसि व ङस्)=अदा+अस=अदस्याः। अब उत्व, मत्व और षत्व करने पर—'अमुष्याः'।

अदस्+ओस्=अदा+ओस्। 'आङि चापः' (२१८) से एकार और 'एचोऽयवायावः' (२२) से अय् आदेश हो—अदयोः। पुनः उत्व मत्व करने पर—'अमुयोः'।

अदस्+आम्=अदा+आम्। सुट् आगम कर उत्व मत्व और षत्व हो जाता है—'अमूषाम्'।

अदस्+इ (ङि)=अदा+इ । 'ङेराम्नद्याम्नीभ्य (१६८) से ङि को आम् हो स्याट् आगम और आप को ह्रस्व करने से—अन्स्याम् । अब उत्व मत्व और षत्व करने पर— अमुष्याम्' ।

अदस्+सुप्=अदा+सु । उत्व मत्व और षत्व होकर— अमूषु' ।

'अदस्' शब्द की स्त्रीलिङ्ग में रूपमाला यथा—

प्र० असौ	अमू	अमूः	प० अमुष्याः	अमूभ्याम्	अमूभ्यः
द्वि० अमूम्	,,	,,	ष० ,,	अमुयोः	अमूषाम्
तृ० अमुया	अमूभ्याम्	अमूभिः	स० अमुष्याम्	,,	अमूषु
च० अमुष्यै	,,	अमूभ्यः	सम्बोधन प्रायः नहीं होता ।		

नोट—स्त्रीलिङ्ग में अदस् शब्द की सिद्धि करते समय सुँ को छोड़ अन्य सब विभक्तियों में सर्वप्रथम 'अदा' रूप बना लेना चाहिये । तब 'सर्वा' शब्द के समान प्रक्रिया कर के 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' (३५६) सूत्र प्रवृत्त करना चाहिये । ऐसा करने से प्रक्रिया में अशुद्धि नहीं हो सकेगी ।

सूचना—अप्सरस्, उषस्, सुमनस् प्रभृति सकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों के रूप वेधस् शब्द के तुल्य होते हैं कुछ विशेष नहीं होता है । हां ! इनमें पुष्पवाचक 'सुमनस्' बहुवचन में होता है ।

यहां सकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्द समाप्त होते हैं ।

[लघु०] इति हलन्ताः स्त्रीलिङ्गाः [शब्दाः] ॥

अर्थः—यहाँ हलन्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का प्रकरण समाप्त होता है ।

अभ्यास (४६)

(१) निम्नलिखित शब्दों के सब विभक्तियों में रूप लिखो—
सुमनस्, त्विष्, उपानह्, दिव्, अप्, सजुष्, इदम् (स्त्रीलिङ्ग के अन्वादेश में), एतद् (स्त्रीलिङ्ग), चतुर् (स्त्रीलिङ्ग) किम् (स्त्रीलिङ्ग), अदस् (पुंलिङ्ग स्त्रीलिङ्ग दोनों) ।

(२) दृश्, उष्णिह्, दिश् आदि शब्द यदि पुंलिङ्ग में भी मान जाएं तो भी इन के रूपों में कोई अन्तर नहीं आता तो पुनः इन्हें स्त्रीलिङ्ग में स्वीकार करने का क्या प्रयोजन है ?

(३) उपानह् + भ्याम् यहां पदान्त में 'हो ढः' सूत्र प्रवृत्त क्यों नहीं होता ?

(४) 'अप्शब्दो नित्यं बहुवचनान्तः' इस पर यथाधीत नोट लिखें ।

(५) 'क्विन्' प्रत्यय न होने पर भी 'दृशः' में क्विन्प्रत्ययस्य कुः' सूत्र कैसे प्रवृत्त हो जाता है ।

(६) निम्नलिखित सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करो—

"१ अपो भि । २ य सौ । ३ नहो धः । ४ नहिवृति "।

(७) सूत्रोपन्यासपूर्वक निम्नलिखित रूपों की सिद्धि करो—

१ अद्भिः । २ अनया । ३ उपानत् । ४ अमूषाम् । ५ चतस्रः । ६ आपः । ७ पूः । ८ द्यौः । ९ एनया । १० अमूः । ११ सजूष्षु । १२ इयम् । १३ गीर्षु । १४ चतसृणाम् । १५ कस्याम् । १६ उष्णिक् । १७ द्युषु । १८ अमुष्यै । १९ तस्याः । २० दिक् ।

इति भैमी व्याख्ययो—
पबृंहिताया लघुसिद्धान्त
कौमुद्या हलन्त स्त्रीलिङ्ग-
प्रकरणं पूर्त्तिमगात् ॥

——❀——

अथ हलन्त-नपुंसकलिङ्ग-प्रकरणम्

—※—

[लघु०] स्वमोर्लुक् । दत्वम् । स्वनडुत्, स्वनडुद् । स्वनडुही । चतुरनडुहो— (२५९) इत्याम् । स्वनड्वाहि । पुनस्तद्वत्* । शेषं पुंवत् ।

व्याख्या— स्वनडुह्=अच्छे बैलों वाला कुल व यन्त्र आदि ।

सु शोभना, अनड्वाहः—वृषभा यस्य तत्=स्वनडुत् । यहां 'सु' और 'अनडुह' का बहुव्रीहिसमास होता है । समाससञ्ज्ञा होने के कारण 'कृत्तद्धितसमासाश्च' (११७) द्वारा प्रातिपदिक सञ्ज्ञा होकर स्वादि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं ।

स्वनडुह्+स् (सुँ) । यहां 'हल्ङ्याब्भ्यो—' (१७९) द्वारा सुँ लोप प्राप्त होता है । परन्तु अपवाद होने के कारण उसे बाधकर 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) द्वारा सुँ का लुक् हो जाता है । पुनः 'प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्' (१९०) द्वारा पदसञ्ज्ञा† हो जाने से 'वसुस्रंसु०' (२६२) सूत्र से हकार को दकार× तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व तकार होकर—'स्वनडुत्, स्वनडुद्' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं ।

स्वनडुह्+औ । यहां 'नपुंसकाच्च' (२३९) सूत्र से 'औ' को 'शी' आदेश होकर अनुबन्धलोप करने से—'स्वनडुही' ।

---

* पुनः उसी प्रकार अर्थात् द्वितीया विभक्ति के रूप भी प्रथमाविभक्ति के समान होते हैं । क्योंकि नपुंसक में सुँ के समान अम् का भी लुक् हो जाता है । 'औ' तथा 'औट्' में तो कोई अन्तर ही नहीं, और शस् को भी जस् के समान 'शि' आदेश होता है । यह नियम प्रायः सर्वत्र नपुंसक में प्रयुक्त होता है ।

† ध्यान रहे कि पदसञ्ज्ञा अङ्गकार्य नहीं क्योंकि यह अङ्ग (प्रकृति) और प्रत्यय दोनों की समुदित सञ्ज्ञा है । अतः पदसञ्ज्ञा करने में 'न लुमताऽङ्गस्य' (१९१) द्वारा प्रत्ययलक्षण का निषेध नहीं होता ।

× 'वसुस्रंसु०' (२६२) यद्यपि अङ्गकार्य है, अतः यहां तदन्त में भी प्रवृत्त होता है (देखो—"पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च") ।

स्वनडुह्+ जस्। यहां 'जश्शसोः शिः' (२३७) से शि आदेश, 'शि सर्वनाम स्थानम्' (२३८) से उसकी सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा, 'चतुरनडुहोराम् उदात्तः' (२५६) से आम् का आगम तथा 'नपुंसकस्य झलचः' (२३६) से नुम् का आगम होकर—'स्वनडु आन् ह् + इ'। अब 'इको यणचि' (१५) से यण् और 'नश्चापदान्तस्य झलि' (७८) से नकार को अनुस्वार करने से—'स्वनड्वांहि' प्रयोग सिद्ध होता है।

स्वनडुह् + अम्। यहां भी सुँ की तरह 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) सूत्र से अम् का लुक् होकर पूर्ववत् अन्त में हकार को दकार तथा वैकल्पिक चर्त्व करने से—'स्वनडुत्, स्वनडुद्'।

औट् में औ की तरह तथा शस् में जस् की तरह रूप बनते हैं। शेष विभक्तियों में पुंवत् (पुँल्लिङ्ग की तरह) रूप होते हैं।

'स्वनडुह्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	स्वनडुत्, द्	स्वनडुही	स्वनड्वांहि
द्वि०	,,	,,	,,
तृ०	स्वनडुहा	स्वनडुद्भ्याम्	स्वनडुद्भिः
च०	स्वनडुहे	,,	स्वनडुद्भ्यः
पं०	स्वनडुहः	स्वनडुद्भ्याम्	स्वनडुद्भ्यः
ष०	,,	स्वनडुहोः	स्वनडुहाम्
स०	स्वनडुहि	,,	स्वनडुत्सु
सं०	हे स्वनडुत्, द्!	हे स्वनडुही!	हे स्वनड्वांहि!

भ्याम्, भिस्, भ्यस् और सुप् में दत्व हो जाता है।

यहां हकारान्त नपुंसक शब्द समाप्त होते हैं।

[लघु०] वाः। वारी। वारि। वार्भ्याम्॥

व्याख्या— वार् = जल

वार् + सुँ। 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) से सुँ का लुक् होकर अवसान में रेफ को विसर्ग हो जाते हैं—'वाः'।

वार् + औ। 'नपुंसकाच्च' (२३५) से औ को शी होकर—वार् + शी = वारी।

वार + जस्। 'जश्शसोः शिः' (२३७) से जस् को शि होकर—वार् + शि = वारि'। ध्यान रहे कि रेफ का झलों में पाठ न होने से यहां 'नपुंसकस्य झलचः' (२३६) से नुम् आगम नहीं होता।

'वार् (जल) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	वा	वारी	वारि	प०	वार	वाभ्याम्	वाभ्य
द्वि०	,,	,	,,	ष०	,	वारो	वाराम्
तृ०	वारा	वार्भ्याम्	वाभि	स०	वारि	,,	वाषु †
च०	वारे	,,	वाभ्य	सं०	हे वा !	हे वारी !	हे वारि !

† यहां रु॑ का रेफ न होने से विसर्ग आदेश नहीं होते—'रो सुपि' (२६८)।

[लघु०] चत्वारि ॥

व्याख्या— चतुर्' शब्द त्रिलिङ्गी नित्य बहुवचनान्त होता है। यहां नपुंसक में इसकी प्रक्रिया दर्शाई जाती है—

चतुर्+जस्=चतुर्+शि। 'शि सर्वनामस्थानम्' (२८८) द्वारा 'शि' की सर्वनामस्थान सञ्ज्ञा होकर 'चतुरनडुहो'—(२५६) से आम् का आगम तथा 'इको यणचि' (१५) सूत्र से यण् आदेश होकर—'चत्वारि'। इसी प्रकार शस् में। शेष विभक्तियों में पुंवत् प्रक्रिया जाननी चाहिये। रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन	विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	०	०	चत्वारि	पञ्चमी	०	०	चतुर्भ्य
द्वितीया	०	०	,,	षष्ठी	०	०	चतुर्णाम्
तृतीया	०	०	चतुर्भि	सप्तमी	०	०	चतुर्षु
चतुर्थी	०	०	चतुर्भ्य	सम्बोधन नहीं होता।			

यहां रेफान्त नपुंसक शब्द समाप्त होते हैं।

[लघु०] किम्। के। कानि ॥

व्याख्या—किम्+सुँ। 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) से सुँ का लुक् होकर—'किम्'। अब विभक्ति परे न होने से 'किमः कः' (२७१) से 'क' आदेश नहीं हो सकता प्रत्ययलक्षण भी 'न लुमताङ्गस्य' (१९१) के निषेध के कारण नहीं हो पाता।

किम्+औ। यहां विभक्ति परे होने के कारण 'किमः कः' (२७१) से क आदेश हो औ को शी और गुण करने से— 'के'।

किम्+जस्। क आदेश होकर ज्ञानशब्द की तरह प्रक्रिया चलती है—कानि। रूपमाला यथा—

प्र०	किम्	के	कानि	प०	कस्मात्❀	काभ्याम्	केभ्य
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	कस्य	कयो	केषाम्†
तृ०	केन	काभ्याम्	कै	स०	कस्मिन्❀	,,	केषु
च०	कस्मै+	,,	केभ्य	सम्बोधन नहीं होता।			

+ सर्वनाम्नः स्मै (१५३)। ❀ ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ (१५४)।

† आमि सर्वनाम्नः सुट् (१५५)।

[लघु०] इदम् । इमे । इमानि ॥

व्याख्या—नपुंसकलिङ्ग में 'इदम्' शब्द की प्रक्रिया यथा—

इदम्+सुँ । 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) से सुँ का लुक् होकर—'इदम्'। विभक्ति का लुक् होने से 'इदमो मः' (२७२) तथा त्यदाद्यत्व आदि नहीं होते ।

इदम्+औ । त्यदाद्यत्व, पररूप, शी आदेश, गुण और 'दश्च' (२७५) द्वारा दकार को मकार होकर—'इमे'।

इदम्+जस् । त्यदाद्यत्व, पररूप, शि आदेश उसकी सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा, अकारान्त होने से नुम् आगम, उपधादीर्घ और दकार को मकार करने पर—'इमानि'।

द्वितीया में भी इसी तरह रूप बनते हैं । शेष पुंवत् जानें । रूपमाला यथा —

प्र०	इदम्	इमे	इमानि	प०	अस्मात्	आभ्याम्	एभ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	अस्य	अनयोः	एषाम्
तृ०	अनेन	आभ्याम्	एभिः	स०	अस्मिन्	,,	एषु
च०	अस्मै	,,	एभ्यः		सम्बोधन नहीं होता ।		

[लघु०] वा०—(२९) अन्वादेशे नपुंसके एनद्वक्तव्यः ॥

एनत्, एनद् । एने । एनानि । एनेन । एनयोः ॥

अर्थः—द्वितीया, टा और ओस् विभक्ति परे होने पर नपुंसकलिङ्ग में अन्वादेश में इदम् और एतद् शब्द के स्थान पर 'एनत्' आदेश हो जाता है ।

व्याख्या—यह वार्त्तिक 'द्वितीयाटौस्स्वेनः' (२८०) सूत्र पर भाष्य में पढ़ा गया है अतः यह तद्विषयक ही है ।

यह 'एनत्' आदेश अम् के लिये ही किया गया है, क्योंकि अन्य विभक्तियों (औट्, शस्, टा, ओस्) में तो द्वितीयाटौस्स्वेनः (२८०) से भी कार्य निकल सकता है । भाष्यकार ने भी यही स्वीकार किया है—"एनदिति नपुंसकैकवचने वक्तव्यम्, कुण्डमानय, प्रक्षालयैनत्" ।

इदम्+अम् । यहां 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) से अम् का लुक् होकर प्रत्ययलक्षण का निषेध होने पर भी एनद्विधानसामर्थ्य से अम् को मानकर प्रकृतवार्त्तिक से

'एनत्' आदेश हो जाता है। पुनः नरत्व चर्त्व करने पर— एनत् एनद्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

इदम्+औट्=इदम्+शी=एनत्+इ। त्यदाद्यत्व, पररूप, तथा गुण एकादेश होकर— एने'

इदम्+शस=इदम्+शि=एनत्+इ। त्यदाद्यत्व पररूप, नुम् आगम तथा उपधादीर्घ होकर— एनानि।

इदम्+टा= एनत्+आ। यदाद्यत्व पररूप तथा 'टाङसिङसामिनात्स्याः' (१४०) से टा को इन आदेश और गुण एकादेश करने पर—'एनेन'।

इदम्+ओस्=एनत्+ओस=एन+ओस्। ओसि च' (१४७) से अकार को एकार होकर अय आदेश करने से— एनयोः'।

नोट—वस्तुतः अम् से भिन्न अन्य विभक्तियों में उपर्युक्त भाष्य के वचन से द्वितीयाटौस्स्वेनः' (२८०) द्वारा 'एन' आदेश ही होता है, एनत् नहीं। हम ने यह सब मतान्तर के आश्रय से ही लिखा है।

नपुंसकलिङ्ग के अन्वादेश में 'इदम्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	इदम्	इमे	इमानि	पं०	अस्मात्	आभ्याम्	एभ्यः
द्वि०	एनत् द्	एने	एनानि	ष०	अस्य	एनयोः	एषाम्
तृ०	एनेन	आभ्याम्	एभिः	स०	अस्मिन्	,,	एषु
च०	अस्मै	,,	एभ्यः		सम्बोधन में प्रयोग नहीं होता।		

यहां मकारान्त नपुंसक शब्द समाप्त होते हैं

[लघु०] अहः। विभाषा ङिश्योः (२४८)—अह्नी, अहनी। अहानि॥

व्याख्या— अहन् = दिन।

अहन्+सुँ। 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) से सुँ का लुक्, रोऽसुपि' (११०)※ से नकार को रेफ आदेश और 'खरवसानयोः—' (९३) से उसे विसर्ग करने पर 'अहः'† प्रयोग सिद्ध होता है।

अहन्+औ। यहां 'यचि भम्' (१६५) सूत्र द्वारा भसञ्ज्ञा होने के कारण 'विभाषा ङिश्योः' (२४८) से अन् के अकार का विकल्प से लोप हो जाता है— अह्नी, अहनी'।

※ यहाँ 'अहन्' (३६३) सूत्र से रुँत्व न होकर 'असुपि' के सामर्थ्य से रत्व होगा।

† 'अहः इदम्' की सन्धि 'अहरिदम्'। इसी प्रकार 'अहर्भाति'। देखो सन्धिप्रकरण सूत्र (११०)।

अहन्+जस=अहन्+शि। यहां सर्वनामस्थाने चा ' (१७७) से उपधा दीर्घ हो जाता है—'अहानि'।

अहन्+आ (टा)। भसञ्ज्ञा होकर 'अल्लोपोऽन' (२४७) से अन् के अकार का नित्य लोप हो जाता है—'अह्ना'।

अहन्+भ्याम्। यहां अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्— ३६३ अहन् ।८।२।६८॥

अहन् इत्यस्य रु॑ पदान्ते। अहोभ्याम्॥

अर्थः—पदान्त में 'अहन्' के नकार के स्थान पर रु॑ आदेश हो जाता है।

व्याख्या—अहन्।६।१। [यहां षष्ठी का लुक् हुआ है।] रु॑।१।१। ['ससजुषो रु॑' से] पदस्य।६।१। [यह अधिकृत है] अन्ते।७।१। ['स्कोः ' से] अर्थः—(पदस्य) पद के (अन्ते) अन्त में (अहन्) अहन् शब्द के स्थान पर (रु॑) रु॑ आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यविधि से यह आदेश अन्त्य अल्—नकार के स्थान पर होता है।

अहन्+भ्याम्। यहां प्रकृतसूत्र से नकार को रु॑ आदेश होकर 'हशि च' (१०७) से उत्व तथा 'आद् गुणः' (२७) से गुण करने पर—अहोभ्याम्। इसी प्रकार—अहोभिः, अहोभ्यः।

अहन्+इ (ङि)। भसञ्ज्ञा होकर 'विभाषा ङिश्योः' (२४८) से विकल्प कर के अन् के अकार का लोप हो जाता है—अह्नि, अहनि।

अहन्+सुप्। रु॑त्व विसर्ग होकर—अहः सु। 'वा शरि' (१०४) से विकल्प कर के विसर्ग तथा पक्ष में 'विसर्जनीयस्य सः' (९९) से विसर्ग के स्थान पर सकार आदेश होकर—'अहः सु, अहस्सु'।

समग्र रूपमाला यथा—

प्रथमा	अहः	अह्नी, अहनी	अहानि
द्वितीया	,,	,, ,,	,,
तृतीया	अह्ना	अहोभ्याम्	अहोभिः
चतुर्थी	अह्ने	,,	अहोभ्यः
पञ्चमी	अह्नः	,,	,,
षष्ठी	,,	अह्नोः	अह्नाम्
सप्तमी	अह्नि, अहनि	,,	अहः सु, अहस्सु
सम्बोधन	हे अहः !	हे अह्नी, अहनी !	हे अहानि !

[लघु०] दण्डि ॥

व्याख्या—दण्डोऽस्यास्तीति—दण्डि कुलम। 'अत इनिठनौ' (११८७)।

दण्डिन्+सुँ। यहां 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) से सुँ का लुक् होकर—'न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य' (१८०) से नकार का भी लोप हो जाता है—दण्डि।

हे दण्डिन्+सुँ। सुँ का लुक् होकर नकारलोप प्राप्त होता है। इस पर अग्रिम वार्त्तिक से विकल्प होता है—

[लघु०] वा०—(३०) "सम्बुद्धौ नपुंसकानां नलोपो वा वाच्यः" ॥

हे दण्डिन् !, हे दण्डि !। दण्डिनी। दण्डीनि। दण्डिना। दण्डिभ्याम् ॥

अर्थः—सम्बुद्धि परे होने पर नपुंसकों के नकार का विकल्प कर के लोप होता है।

व्याख्या—'हे दण्डिन्' यहां प्रत्ययलक्षण द्वारा सम्बुद्धि के परे होने से नकार का विकल्प कर के लोप हो जाता है। लोपपक्ष में—हे दण्डि !, लोपाभावपक्ष में— हे दण्डिन् !।

दण्डिन्+औ=दण्डिन्+शी=दण्डिनी।

दण्डिन्+अस् (जस्)=दण्डिन्+शि। 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (१७७) से उपधादीर्घ होकर—'दण्डीनि†।

दण्डिन् (दण्ड वाला कुल आदि) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	दण्डि	दण्डिनी	दण्डीनि	पं०	दण्डिनः	दण्डिभ्याम्	दण्डिभ्यः
द्वि०	"	"	"	ष०	"	दण्डिनोः	दण्डिनाम्
तृ०	दण्डिना	दण्डिभ्याम्	दण्डिभिः	स०	दण्डिनि	"	दण्डिषु
च०	दण्डिने	"	दण्डिभ्यः	सं०	हे दण्डि न् !	हे दण्डिनी !	हे दण्डीनि !

[लघु०] सुपथि। टेर्लोपः—सुपथी। सुपन्थानि ॥

व्याख्या—सुन्दराः पन्थानो यस्मिन् तत् सुपथि नगरम्।

सुपथिन्+सुँ। यहां 'दण्डिन्' के समान सुँलुक् तथा नकारलोप होकर—'सुपथि'।

सुपथिन्+औ=सुपथिन्+ई (शी)। भसञ्ज्ञा होकर 'भस्य टेर्लोपः' (२६६) से 'इन्' भाग का लोप हो जाता है—'सुपथी'।

सुपथिन्+जस्=सुपथिन्+शि। यहां 'शि' की सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा होकर 'इतोऽत्सर्वनामस्थाने' (२६४) से इकार को अकार तथा 'थो न्थः' (२६५) सूत्र से

† यहाँ 'इन्हन्पूषार्यम्णां शौ' (२८८) के नियम के कारण दीर्घनिषेध नहीं होता है।

थकार को न्थ आदेश हो जाता है। अब 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' (१७७) से उपधा दीर्घ करने पर—'सुपन्थानि'।

सुपथिन् (सुन्दर मार्गों वाला नगर आदि) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	सुपथि	सुपथी	सुपन्थानि	पं०	सुपथः	सुपथिभ्याम्	सुपथिभ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	सुपथोः	सुपथाम्
तृ०	सुपथा	सुपथिभ्याम्	सुपथिभिः	स०	सुपथि	,,	सुपथिषु
च०	सुपथे	,,	सुपथिभ्यः	सं०	हे सुपथि, न्!	हे सुपथी!	हे सुपन्थानि!

यहां नकारान्त नपुंसकलिङ्ग समाप्त होते हैं।

[लघु०] ऊर्क्, ऊर्ग्। ऊर्जी। ऊर्न्जि। नरजानां संयोगः॥

व्याख्या— ऊर्ज् = बल व तेज।

'ऊर्ज बलप्राणनयोः' (चु० उभ०) धातु से क्विप् प्रत्यय करने पर 'ऊर्ज्' शब्द निष्पन्न होता है।

ऊर्ज् + सुँ। सुँ का लुक् होकर 'चोः कुः' (३०६) द्वारा जकार को गकार तथा 'वाऽवसाने' (१४६) से वैकल्पिक ककार करने पर—'ऊर्क्, ऊर्ग्'।

ऊर्ज् + औ = ऊर्ज् + शी = ऊर्जी।

ऊर्ज् + जस् = ऊर्ज् + शि। यहां 'नपुंसकस्य झलचः' (२३९) से नुम् आगम होकर—'ऊर्न्जि'† सिद्ध होता है। समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	ऊर्क्, ग्	ऊर्जी	ऊर्न्जि	पं०	ऊर्जः	ऊर्ग्भ्याम्	ऊर्ग्भ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	ऊर्जोः	ऊर्जाम्
तृ०	ऊर्जा	ऊर्ग्भ्याम्	ऊर्ग्भिः	स०	ऊर्जि	,,	ऊर्क्षु
च०	ऊर्जे	,,	ऊर्ग्भ्यः	सं०	हे ऊर्क्, ग्!	हे ऊर्जी!	हे ऊर्न्जि!

यहां जकारान्त नपुंसक शब्द समाप्त होते हैं।

---

† 'ऊर्ञ्जि' लिखने वाले सावधान रहें। क्योंकि वैसा लिखने से रेफ सब से पहले पढ़ा जायगा, जैसे—'कार्त्स्न्यं' आदि में होता है। परन्तु हमें नकार (नुम्) का पाठ रेफ से पूर्व करना इष्ट है। अतः 'ऊर्न्जि' इस ढंग से ही लिखना चाहिये। ग्रन्थकार ने भी लेखकों की इस भ्रान्ति की ओर ध्यान देते हुए—"नरजानां संयोगः" (नकार, रेफ और जकार का संयोग है) ऐसा स्पष्ट लिख दिया है। अत एव रेफ का बीच में व्यवधान पड़ने से नकार को श्चुत्व नहीं होता।

[लघु०] तत् । ते । तानि । यत् । ये । यानि । एतत् । एते । एतानि ॥

व्याख्या—तद् + सुँ । सुँ का लुक् होकर वैकल्पिक चत्व हो जाता है—'तत्,तद्' । ध्यान रहे कि यहां सुँ का लुक् हो जाने से 'तदोः सः ' (२१०) द्वारा सकारादेश नहीं होता । इसी प्रकार यद् और एतद् शब्दों में भी समझ लेना चाहिये ।

तद्+औ । त्यदाद्यत्व, पररूप, औ को शी आदेश तथा गुण एकादेश करने पर—'ते' ।

तद् + जस् । त्यदाद्यत्व, पररूप जस् को शि आदेश, नुम् आगम और उपधादीर्घ होकर—'तानि' ।

द्वितीया में भी इसी प्रकार होता है । शेष पुंवत् जाने ।

तद्' (वह) शब्द की नपुंसकलिङ्ग में रूपमाला यथा—

प्र०	तत्, तद्	ते	तानि	पं०	तस्मात्	ताभ्याम्	तेभ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	तस्य	तयोः	तेषाम्
तृ०	तेन	ताभ्याम्	तैः	स०	तस्मिन्	,,	तेषु
च०	तस्मै	,,	तेभ्यः		सम्बोधन नहीं होता ।		

इसी प्रकार नपुंसकलिङ्ग में यद् (जो) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	यत्, यद्	ये	यानि	पं०	यस्मात्	याभ्याम्	येभ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	यस्य	ययोः	येषाम्
तृ०	येन	याभ्याम्	यैः	स०	यस्मिन्	,,	येषु
च०	यस्मै	,,	येभ्यः		सम्बोधन नहीं होता ।		

इसी प्रकार नपुंसकलिङ्ग मे 'एतद्' (यह) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	एतत्, एतद्	एते	एतानि	पं०	एतस्मात्	एताभ्याम्	एतेभ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	एतस्य	एतयोः	एतेषाम्
तृ०	एतेन	एताभ्याम्	एतैः	स०	एतस्मिन्	,,	एतेषु
च०	एतस्मै	,,	एतेभ्यः		सम्बोधन नहीं होता ।		

यहां दकारान्त नपुंसक-शब्द समाप्त होते हैं ।

[लघु०] गवाक् । गोची । गवाञ्चि । पुनस्तद्वत् । गोचा । गवाग्भ्याम् ॥

व्याख्या— गो अञ्च् = गौ के पास प्राप्त होने वाला ।

गामञ्चतीति—गवाक् । 'गो' कर्म उपपद होने पर गत्यर्थक अञ्चु (भ्वा० प०)

धातु से 'ऋत्विग्दधृक ' (३०१) सूत्र से क्विन्प्रत्यय, उसका सर्वापहारलोप, 'अनिदिताम् ' (३३४) से उपधा के नकार का लोप होकर— गो अच् । अब इस से स्वादि उत्पन्न होते हैं—

सुँ में—गो अच्+स् । 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) स सुँ का लुक्, 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (८ २ ६२) के असिद्ध होने से 'चोः कुः' (८ २ ३०) द्वारा चकार को ककार होकर जश्त्व चर्त्व प्रक्रिया करने से—'गो अक, गो अग् । अब गो' शब्द के ओकार तथा अक्' शब्द के अकार के मध्य तीन प्रकार की सन्धि ['अवङ् स्फोटायनस्य' (४७) से वैकल्पिक अवङ् तथा सवर्णदीर्घ, अवङ् अभाव मे 'सर्वत्र विभाषा गोः' (४४) से वैकल्पिक प्रकृतिभाव, प्रकृतिभाव के अभाव मे 'एङः पदान्तादति' (४३) से पूर्वरूप] होने से छः रूप सिद्ध होते हैं। यथा—(अवङ्पक्ष मे) १ गवाक् २ गवाग् । (प्रकृतिभावपक्ष मे) ३ गोअक , ४ गो अग् । (पूर्वरूपपक्ष मे) ५ गोऽक् ६ गोऽग ॥

'औ' मे—गोअच्+औ । यहां 'नपुंसकाच्च' (२३५) से 'औ' की शी, अनुबन्ध लोप, यचि भम्' (१६५) से भसञ्ज्ञा तथा 'अचः' (३३५) सूत्र से अकार का लोप होकर—'गोची' यह एक ही रूप सिद्ध होता है । इस प्रकार गति अर्थ मे भसञ्ज्ञा के सब स्थलों म यही बात समझनी चाहिये ।

'जस्' में—गो अच्+जस् । 'जश्शसोः शिः' (२३७) से जस् को शि आदेश, उसकी सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा होकर उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' (२८६) सूत्र से नुम् आगम, 'नश्चापदान्तस्य झलि' (७८) से नकार को अनुस्वार, 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' (७९) से परसवर्ण अकार तथा तीनों प्रकार की सन्धि करने से—' गवाञ्चि, गोअञ्चि, गोऽञ्चि'' ये तीन रूप सिद्ध होते हैं ।

द्वितीया विभक्ति में भी प्रथमावत् प्रक्रिया होती है ।

टा में—गोअच्+आ (टा) । भसञ्ज्ञा होकर 'अचः' (३३५) से अकार का लोप हो जाता है— गोचा' ।

भ्याम् में—गो अच्+भ्याम् । यहां भसञ्ज्ञा न होने से अकारलोप नहीं होता है । पदान्त में 'चोः कुः' (३०६) द्वारा कुत्व गकार करने पर तीन प्रकार की सन्धि हो जाती है—"१ गवाग्भ्याम्, २ गोअग्भ्याम्, ३ गोऽग्भ्याम्" । इसी प्रकार—भिस्, भ्यस् और सुप् मे तीन २ रूप बना लेने चाहियें ।

गतिपक्ष में 'गोअञ्च्' शब्द की रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	गवाक्, ग् / गोअक्, ग् / गोऽक्, ग्	गोची	गवाञ्चि / गोअञ्चि / गोऽञ्चि
द्वि०	गवाक्, ग् / गोअक्, ग् / गोऽक्, ग्	गोची	गवाञ्चि / गोअञ्चि / गोऽञ्चि
तृ०	गोचा	गवाग्भ्याम् / गोअग्भ्याम् / गोऽग्भ्याम्	गवाग्भिः / गोअग्भिः / गोऽग्भिः
च०	गोचे	गवाग्भ्याम् / गोअग्भ्याम् / गोऽग्भ्याम्	गवाग्भ्यः / गोअग्भ्यः / गोऽग्भ्यः
पं०	गोचः	गवाग्भ्याम् / गोअग्भ्याम् / गोऽग्भ्याम्	गवाग्भ्यः / गोअग्भ्यः / गोऽग्भ्यः
ष०	गोचः	गोचोः	गोचाम्
स०	गोचि	गोचोः	गवाक्षु† / गोअक्षु / गोऽक्षु
सं०	हे गवाक्, ग् ! / हे गोअक्, ग् ! / हे गोऽक्, ग् !	हे गोची !	हे गवाञ्चि ! / हे गोअञ्चि ! / हे गोऽञ्चि !

† यहां 'खरि च' (७४) से हुआ चर्त्व 'चयो द्वितीयाः' (पृष्ठ १३६) की दृष्टि में असिद्ध है अतः चय् न होने से खकार आदेश नहीं होता।

ये सब रूप गत्यर्थक 'अञ्चुँ' धातु के हैं। यदि 'अञ्चुँ' धातु पूजार्थक होगी तो निम्नप्रकारेण प्रक्रिया होगी—

गो अञ्च् = गाय की पूजा करने वाला।

'गो' कर्मोपपद 'अञ्चुँ' धातु से क्विन्, उसका सर्वापहारलोप, 'नाञ्चेः पूजायाम्' (३४१) से नकार के लोप का निषेध हो जाता है। अब प्रातिपदिकसञ्ज्ञा होकर स्वादि प्रत्यय उत्पन्न होते हैं—

सुँ से—गोअञ्च्+सुँ। 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) से सुँ का लुक्, 'संयोगान्तस्य लोपः' (२०) सूत्र से संयोगान्त चकार का लोप, 'निमित्तापाये' के न्यायानुसार ञकार को पुनः नकार तथा उसे 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) सूत्र से ङकार करने पर—'गो अङ्'। अब तीन प्रकार की सन्धि करने से—'१ गवाङ्, २ गोअङ्, ३ गोऽङ्' ये तीन रूप सिद्ध होते हैं।

'औ' में—गो अञ्च्+औ। 'नपुंसकाच्च' (२३५) सूत्र से 'औ' को शी आदेश होकर तीन प्रकार की सन्धि करने से—"१ गवाञ्ची, २ गोअञ्ची, ३ गोऽञ्ची" ये तीन रूप सिद्ध होते हैं। ध्यान रहे कि लुप्तनकार 'अञ्चुँ' न होने से 'अचः' से अकार का लोप न होगा। इस प्रकार भत्व में सर्वत्र जानना।

'जस्' मे—गो अञ्च्+जस्। जस् को शि आदेश होकर नकारलोप न होने के कारण सर्वनामस्थान परे होने पर भी 'उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः' (२८९) से नुम् आगम नहीं होता। 'नपुंसकस्य झलचः' (२३९) से भी नुम् न होगा, क्योंकि यहां पर 'अचः परस्यैव झलो नुम्विधानम्' यह व्यवस्था की गई है। अब तीन प्रकार की सन्धि करने से—"१ गवाञ्चि, २ गोअञ्चि, ३ गोऽञ्चि" ये तीन रूप सिद्ध होते हैं।

द्वितीया विभक्ति में भी प्रथमावत् प्रक्रिया होती है।

'टा' में—गोअञ्च्+आ (टा)। नकार का लोप न होने के कारण 'अचः' (३३५) सूत्र प्रवृत्त नहीं होता। केवल तीन प्रकार की सन्धि करने से—"१ गवाञ्चा, २ गोअञ्चा, ३ गोऽञ्चा' ये तीन रूप सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार—ङे, ङसि, ङस्, ओस्, आम् और ङि में प्रक्रिया होती है।

'भ्याम्' में—गोअञ्च्+भ्याम्। संयोगान्तस्य लोपः (२०) सूत्र से चकारलोप, 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' के न्यायानुसार ञकार को नकार तथा 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) से उसे ङकार होकर तीन प्रकार की सन्धि करने से—"१ गवाङ्भ्याम्, २ गोअङ्भ्याम्, ३ गोऽङ्भ्याम्' ये तीन रूप सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार—भिस् और भ्यस् में भी प्रक्रिया होती है।

'सुप्' में—'गोअञ्च्+सुप्'। संयोगान्तलोप, ञकार को नकार तथा 'क्विन्प्रत्ययस्य कुः' (३०४) से उसे ङकार होकर—गोअङ्+सु। 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से षत्व, 'ङ्णोः कुक्टुक् शरि' (८६) सूत्र से कुक् आगम करने पर तीनों प्रकार की सन्धि हो जाती है—

अवङ्पक्ष में——— गवाङ्क्षु, गवाङ्षु।
प्रकृतिभावपक्ष में——— गोअङ्क्षु, गोअङ्षु।
पूर्वरूपपक्ष में——— गोऽङ्क्षु, गोऽङ्षु। ॐ

पूजापक्ष में 'गोअञ्च्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	गवाङ्	गवाञ्चौ	गवाञ्चः	द्वि० गवाञ्चम्	गवाञ्चौ	गवाञ्चः
	गोअङ्	गोअञ्चौ	गोअञ्चः	गोअञ्चम्	गोअञ्चौ	गोअञ्चः
	गोऽङ्	गोऽञ्चौ	गोऽञ्चः	गोऽञ्चम्	गोऽञ्चौ	गोऽञ्चः

ॐ यहाँ पक्ष में "चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेः" (वा० १४) से वर्गद्वितीय—खकार हो जाता है। इससे सुप् में तीन रूप और बढ़ कर नौ रूप हो जाते हैं।

तृ० गवाञ्चा	गवाङ्भ्याम्	गवाङ्भि	प० गवाञ्च	गवाङ्भ्याम्	गवाङ्भ्य
गोअञ्चा	गोअङ्भ्याम्	गोअङ्भि	गोअञ्च	गोअङ्भ्याम्	गोअङ्भ्य
गोऽञ्चा	गोऽङ्भ्याम्	गोऽङ्भि	गोऽञ्च	गोऽङ्भ्याम्	गोऽङ्भ्य

च० गवाञ्चे	गवाङ्भ्याम्	गवाङ्भ्य	ष० गवाञ्च	गवाञ्चो	गवाञ्चाम्
गोअञ्चे	गोअङ्भ्याम्	गोअङ्भ्य	गोअञ्च	गोअञ्चो	गोअञ्चाम्
गोऽञ्चे	गोऽङ्भ्याम्	गोऽङ्भ्य	गोऽञ्च	गोऽञ्चो	गोऽञ्चाम्

स० गवाञ्चि	गवाञ्चो	गवाङ्क्षु, गवाङ्षु गवाङ्क्ष्षु
गोअञ्चि	गोअञ्चो	गोअङ्क्षु, गोअङ्षु गोअङ्क्ष्षु
गोऽञ्चि	गोऽञ्चो	गोऽङ्क्षु गोऽङ्षु, गोऽङ्क्ष्षु

स० सम्बोधन में प्रथमावत् रूप बनते हैं।

तो इस प्रकार गतिपक्ष में ४९ रूप तथा पूजापक्ष में ६६ रूप अर्थात् कुल मिलाकर ४९ + ६६ = ११५ रूप बनते हैं। जस् और शस् में पूजा और गति दोनों पक्षों में एक समान रूप बनते हैं अतः एक सौ पन्द्रह रूपों में छः रूप घटा देने पर—११५—६ = १०९ रूप अवशिष्ट रहते हैं। यद्यपि पूजापक्ष में सुप् में 'चया द्वितीया ' वार्त्तिक से वर्ग द्वितीय आदेश होने से तीन रूप और बढ़ कर एक सौ बारह रूप होते हैं तथापि यहां सूत्रकार के मतानुसार एक सौ नौ (१०९) रूपों का परिगणन समझना चाहिये। इस शब्द पर एक रोचक प्रश्नोत्तर प्रसिद्ध है। तथाहि—

प्रश्न — जायन्ते नव सौ, तथाऽमि च नव, भ्याम्भिस्भ्यसां सङ्गमे
षट्सङ्ख्यानि, नवैव सुप्यथ जसि त्रीण्येव तद्वच्छसि ।
चत्वार्यन्यवचःसु कस्य विबुधाः ! शब्दस्य रूपाणि तज्-
जानन्तु प्रतिभास्ति चेन्निगदितुं षाण्मासिकोऽत्रावधिः ॥ (शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्)

१ यद्यपि तीन भ्याम् प्रत्ययों, दो भ्यस् प्रत्ययों एवं पञ्चमी षष्ठी तथा इतर विभक्तियों में भी रूपों के एक जैसा होने से एक सौ नौ (१०९) रूप युक्त नहीं कहे जा सकते तथापि यहां—"उसी एक विभक्ति में यदि रूपों की समानता पाई जाए तो उसे एक रूप मानना चाहिये, इतरेतर विभक्तियों में नहीं" यह अभिप्राय इष्ट होने से कोई दोष नहीं आता। किञ्च यहां सम्बोधन के रूपों के परिगणन का प्रश्न नहीं उठाना चाहिये, क्योंकि सम्बोधन विभक्ति तो विशेष प्रकार की प्रथमा विभक्ति ही होती है ('सम्बोधने च')।

भावार्थ—हे बुधजनो ! यदि आप में बुद्धि है तो हम आपको छः मास का अवसर प्रदान करते हैं आप उस शब्द को जानने का प्रयत्न करें जिस के सुँ, अम् और सुप् में नौ नौ, भ्याम् भ्यस् और भिस में छः छः जस् और शस् में तीन तीन तथा अन्यवचनों में चार चार रूप बनते हैं।

उत्तर— { "गवाक्शब्दस्य रूपाणि क्लीबेऽर्चागतिभेदतः ।
असन्ध्यवङ्पूर्वरूपैर्नवाधिकशतं मतम् ॥" }

भावार्थ—नपुंसकलिङ्ग में गति और पूजा के भेद से तथा प्रकृतिभाव, अवङ् और पूर्वरूप के कारण गोपूर्वक क्विबन्त अञ्च् के एक सौ नौ रूप होते हैं। तथाहि—

{ "स्वम्सुप्सु नव षड् भादौ षट्के स्युस्त्रीणि जश्शसोः ।
चत्वारि शेषे दशके रूपाणीति विभावय ॥" }

भावार्थ—इस शब्द के सुँ अम् तथा सुप् में नौ नौ, भ्याम् भिस् आदि छः भकारादियों में छः छः, जस् शस् में तीन तीन तथा शेष दसों में चार चार रूप होते हैं।

यहां चकारान्त नपुंसक शब्द समाप्त होते हैं।

[लघु०] शकृत् । शकृती । शकृन्ति ॥

व्याख्या— शकृत् = मल व विष्ठा ।

शकृत्+सुँ । 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) से सुँ का लुक् होकर जश्त्व चर्त्व प्रक्रिया करने से—'शकृत्, शकृद्' ।

शकृत्+औ=शकृत्+शी=शकृती ।

शकृत्+जस्=शकृत्+शि । झलन्त होने से 'नपुंसकस्य झलचः' (२३९) से नुम् आगम, अनुस्वार और परसवर्ण करने पर—'शकृन्ति' ।

'शकृत्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	शकृत्, द्	शकृती	शकृन्ति	प०	शकृतः	शकृद्भ्याम्	शकृद्भ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	शकृतोः	शकृताम्
तृ०	शकृता	शकृद्भ्याम्	शकृद्भिः	स०	शकृति	,,	शकृत्सु
च०	शकृते	,,	शकृद्भ्यः	सं०	हे शकृत्, द् !	हे शकृती !	हे शकृन्ति !

इसी प्रकार—यकृत् (जिगर) प्रभृति शब्दों के रूप होते हैं।

[लघु०] ददत् । ददती ॥

व्याख्या— ददत् = देता हुआ कुल आदि (शत्रन्तोऽयम्)

ददत्+सुँ । सुँ का लुक होकर जश्त्व-चर्त्व प्रक्रिया से— ददत्, ददद्' ।

ददत्+औ = ददत्+शी = ददती ।

ददत्+जस = ददत्+शि = ददत्+इ । यहां 'उगिदचाम्' (२८९) सूत्र द्वारा अथवा 'नपुंसकस्य झलचः' (२३९) सूत्र द्वारा नित्य नुम् का आगम प्राप्त होता है परन्तु 'उभे अभ्यस्तम्' (३४४) से अभ्यस्तसञ्ज्ञा होकर 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (३४५) द्वारा उसका निषेध हो जाता है । अब वैकल्पिक नुम् करने के लिये अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि सूत्रम्—३६४ वा नपुंसकस्य ।७।१।७९॥

अभ्यस्तात् परो यः शता तदन्तस्य क्लीबस्य वा नुम् सर्वनामस्थाने । ददन्ति, ददति ॥

अर्थ —अभ्यस्तसञ्ज्ञक से परे जो शतृँ प्रत्यय तदन्त नपुंसकलिङ्ग को सर्वनाम स्थान परे होने पर विकल्प कर के नुम् आगम हो जाता है ।

व्याख्या— अभ्यस्तात् ।५।१। शतुः ।६।१। [नाभ्यस्ताच्छतुः से] नपुंसकस्य ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। [अधिकृत है] वा इत्यव्ययपदम् । नुम् ।१।१। ['इदितो नुम् धातोः' से] सर्वनामस्थाने ।७।१। ['उगिदचां सर्वनामस्थाने' से] अर्थः—(अभ्यस्तात्) अभ्यस्तसञ्ज्ञक से परे (शतुः) जो शतृ प्रत्यय तदन्त (नपुंसकस्य) नपुंसक (अङ्गस्य) अङ्ग का अवयव (वा) विकल्प कर के (नुम्) नुम् हो जाता है (सर्वनामस्थाने) सर्वनामस्थान परे हो तो ।

ददत्+इ । यहां 'शि' यह सर्वनामस्थान परे है अभ्यस्त होने से 'नाभ्यस्ताच्छतुः' (३४५) से नुम्निषेध प्राप्त था, पर नपुंसकत्व में प्रकृतसूत्र से विकल्प कर के नुम् का आगम होकर अनुस्वार परसवर्ण प्रक्रिया करने से—'ददन्ति, ददति' ये दो रूप बनते हैं ।

'ददत्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	ददत्, द्	ददती	ददन्ति, ददति
द्वि०	,,	,,	,,
तृ०	ददता	ददद्भ्याम्	ददद्भिः
च०	ददते	,,	ददद्भ्यः
पं०	ददतः	ददद्भ्याम्	ददद्भ्यः
ष०	,,	ददतोः	ददताम्
स०	ददति	,,	ददत्सु
सं०	सम्बोधन प्रथमावत् होता है ।		

करने से— 'तुदति' प्रयोग सिद्ध होता है। सम्पूर्ण रूपमाला यथा –

प्र०	तुदत्, द्	तुदन्ती,तुदती	तुदन्ति	पं०	तुदतः	तुदद्भ्याम्	तुदद्भ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	तुदतोः	तुदताम्
तृ०	तुदता	तुदद्भ्याम्	तुदद्भिः	स०	तुदति	,,	तुदत्सु
च०	तुदते	,,	तुदद्भ्यः	सं०	सम्बोधन प्रथमावत् ।		

प्रकृतसूत्र से भ्वादि, दिवादि, तुदादि चुरादि तथा अदादिगण की 'या' आदि आकारान्त धातुओं से तथा स्य के आगे शतृँ प्रत्यय होने पर नपुंसक के द्विवचन शी में वैकल्पिक नुम् का आगम प्राप्त होता है। इस पर भ्वादि, चुरादि तथा दिवादिगणीय धातुओं को अग्रिमसूत्र द्वारा नित्य विधान करते हैं—

[लघु०] विधि सूत्रम्— ३६६ शप्श्यनोर्नित्यम् ।७।१।८१॥

शप्श्यनोरात् परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्य नित्यं नुम् शीनद्योः ।

पचन्ती । पचन्ति । दीव्यत् । दीव्यन्ती । दीव्यन्ति ॥

अर्थ —शप् व श्यन् के अवर्ण से परे जो शतृँ प्रत्यय का अवयव (त), तदन्त अङ्ग को नित्य नुम् का आगम हो जाता है शी अथवा नदी† परे हो तो।

व्याख्या—शप्श्यनोः । ६ । २ । आत् । ५ । १ । ['आच्छीनद्योर्नुम्' से] शतुः । ६ । १ । [नाभ्यस्ताच्छतुः' से] अङ्गस्य । ६ । १ । [यह अधिकृत है।] नित्यम् । २ । १ । (क्रियाविशेषणम्) । नुम् । १ । १ । ['आच्छीनद्योर्नुम्' से] अर्थ — (शप्श्यनोः) शप व श्यन् के (आत्) अवर्ण से परे (शतुः) जो शतृँ का अवयव, तदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग का अवयव (नित्यम्) नित्य (नुम्) नुम् हो जाता है (शीनद्योः) शी और नदी परे हो तो।

भ्वादि और चुरादिगण में शप् तथा दिवादिगण में श्यन् विकरण हुआ करता है। भ्वादि, चुरादि तथा दिवादिगणीय शत्रन्तों को इस सूत्र से शी परे होने पर नित्य नुम् आगम हो जाता है।

पचत् = पकाता हुआ (कुलादि)

पच् (डुपचँष् पाके) यह भ्वादिगणीय उभयपदी धातु है। इस से परे शतृँ प्रत्यय तथा शप् विकरण होकर पच् शप् शतृँ =पच् अ अत्। अब यहां 'यस्मात्प्रत्यय

---

† नदी का उदाहरण 'भवन्ती, दीव्यन्ती आदि है।

विधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्' (१३३) सूत्र द्वारा पच्+अ='पच' की अङ्गसञ्ज्ञा होकर 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप एकादेश करने से 'पचत्' शब्द निष्पन्न होता है।

पचत्+औ=पचत्+ई (शी)। यहां 'अन्तादिवच्च' (४१) की सहायता से 'पच' की अङ्गसञ्ज्ञा हो जाती है। इस से पर 'त्' यह शतृँ प्रत्यय का अवयव है, तदन्त अङ्ग 'पचत्' है। इस से परे 'शी' के रहने से प्रकृतसूत्र द्वारा नित्य नुम् का आगम होकर अनुस्वारपरसवर्णप्रक्रिया हो जाती है—'पचन्ती'।

पचत्+जस्=पचत्+शि। झलन्त होने से नुम् का आगम और पूर्ववत् अनुस्वार परसवर्णप्रक्रिया करने से—'पचन्ति' प्रयोग सिद्ध होता है।

'पचत्' शब्द की नपुंसक में रूपमाला यथा—

प्र०	पचत्-द्	पचन्ती	पचन्ति	पं०	पचतः	पचद्भ्याम्	पचद्भ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	पचतोः	पचताम्
तृ०	पचता	पचद्भ्याम्	पचद्भिः	स०	पचति	,,	पचत्सु
च०	पचते	,,	पचद्भ्यः	सं०	हे पचत्-द्!	हे पचन्ती!	हे पचन्ति!

इसी प्रकार—गच्छत् (जाता हुआ) चलत् (चलता हुआ) भवत् (होता हुआ) नयत् (ले जाता हुआ) नमत् (नमस्कार करता हुआ) वदत् (बोलता हुआ) इत्यादि अन्य भ्वादिगणीय तथा चोरयत् (चुराता हुआ) प्रभृति चुरादिगणीय धातुओं के रूप भी समझ लेने चाहियें।

दीव्यत् = खेलता हुआ व चमकता हुआ (कुलादि)

'दिवुँ क्रीडाविजिगीषा ...' (दिवा० प०) धातु से शतृँ प्रत्यय तथा श्यन् विकरण होकर—दिव्+श्यन्+शतृँ=दिव्+य+अत्। अब 'हलि च' (८.२.७७) से दीर्घ तथा 'अतो गुणे' (२७४) से पररूप एकादेश करने पर 'दीव्यत्' शब्द निष्पन्न होता है।

दीव्यत्+औ=दीव्यत्+ई (शी)। यहां श्यन् के यकारोत्तर अवर्ण से परे शतृँ का अवयव तकार विद्यमान है, अतः तदन्त 'दीव्यत्' को शी परे होने पर नित्य नुम् का आगम होकर अनुस्वारपरसवर्णप्रक्रिया करने से—'दीव्यन्ती' प्रयोग सिद्ध होता है।

जस् में पूर्ववत्—'दीव्यन्ति'।

'दीव्यत्' शब्द की नपुंसक में रूपमाला यथा—

प्र०	दीव्यत्-द्	दीव्यन्ती	दीव्यन्ति	पं०	दीव्यतः	दीव्यद्भ्याम्	दीव्यद्भ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	दीव्यतोः	दीव्यताम्
तृ०	दीव्यता	दीव्यद्भ्याम्	दीव्यद्भिः	स०	दीव्यति	,,	दीव्यत्सु
च०	दीव्यते	,,	दीव्यद्भ्यः	सं०	हे दीव्यत्-द्!	हे दीव्यन्ती!	हे दीव्यन्ति!

इसीप्रकार—सीव्यत् (सीता हुआ), अस्यत् (फेंकता हुआ), कुप्यत् (क्रोध करता हुआ), शुष्यत् (शुद्ध होता हुआ) इत्यादि शत्रन्त दिवादिगणीय धातुओं के रूप होते हैं।

{ शत्रन्तों पर विशेष स्मरणीय वक्तव्य }

(१) अभ्यस्तसञ्ज्ञक शब्द। इस श्रेणी में ददत्, दधत्, जुह्वत्, बिभ्यत्, जाग्रत्, जक्षत् दरिद्रत्, प्रभृति शब्द आते हैं। इन शब्दों का 'शी' में नुम् का आगम प्राप्त नहीं होता। 'शि' में 'वा नपुंसकस्य' (३६४) से विकल्प कर के नुम् हो जाता है।

(२) शप् व श्यन् विकरण के शत्रन्त। भ्वादि और चुरादिगणीय धातुओं से शप् विकरण तथा दिवादिगणीय धातुओं से श्यन् विकरण हुआ करता है। इनके शत्रन्तों को शी तथा शि दोनों में नित्य नुम् का आगम हो जाता है। यथा—भवत्, भवन्ती, भवन्ति। चोरयत्, चोरयन्ती, चोरयन्ति। दीव्यत् दीव्यन्ती, दीव्यन्ति।

(३) तुदादि, आकारान्त अदादि तथा 'लृट् सद्वा' (८३५) के शत्रन्त। इन को शी में आच्छीनद्योर्नुम् (३६१) द्वारा वैकल्पिक तथा शि में नपुंसकस्य झलचः' (२३६) से नित्य नुम् का आगम हो जाता है। यथा—तुदत् तुदन्ती तुदती, तुदन्ति। यात् यान्ती याती, यान्ति। भविष्यत्, भविष्यन्ती भविष्यती, भविष्यन्ति।

(४) उपर्युक्त गणों से भिन्नगणीय धातुओं के शत्रन्त। इस श्रेणी में शी परे होने पर नुम् आगम बिलकुल नहीं होता। शि' में झलन्तत्वात् नित्य नुम् होता है। यथा—(क्र्यादिगणीय) मुष्णत् मुष्णती, मुष्णन्ति। (तनादिगणीय) कुर्वत्, कुर्वती कुर्वन्ति। इत्यादि।॥

॥ शतृ प्रत्ययान्त शब्द उगित् हुआ करते हैं अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में उगितश्च' (१२४६) सूत्र से ङीप् प्रत्यय होता है। ङीप् के अनुबन्धों का लोप होकर 'ई' अवशिष्ट रह जाता है। 'यू स्त्र्याख्यौ नदी' (१६४) से 'ई' की नदीसञ्ज्ञा है। तब जैसे 'शी' में जैसे २ नित्य व वैकल्पिक नुम् होता है वैसे २ नित्य व वैकल्पिक नुम् ई' परे होने पर भी हो जाता है।

यथा—शप् और श्यन् विकरणीय धातुओं से शी में नित्य नुम् होता है, तो नदीसञ्ज्ञक 'ई' में भी नित्य नुम् हो जायगा। तथाहि —

अब बालकों के अभ्यासार्थ नीचे कुछ शत्रन्त अपने गणबोधक अङ्कसहित लिखे जाते हैं—

१ चलत् (२), २ विन्दत् (३), ३ जाग्रत् (१), ४ पठत् (२) ५ विशत् (३), ६ शासत् (१), ७ लिखत् (३), ८ विश्राम्यत् (२), ९ बिभ्यत् (१), १० ब्रुवत् (४), ११ दण्डयत् (२), १२ सृजत् (३) १३ दधत् (१), १४ मुञ्चत् (३) १५ कुर्वत् (४), १६ कथयत् (२) १७ नृत्यत् (२), १८ जुह्वत् (१), १९ सिञ्चत् (३) २० यात् (३), २१ करिष्यत् (३)॥

यहां तकारान्त नपुंसकशब्द समाप्त होते हैं।

		नपुंसक के 'शी (औ)' में	नदीसंज्ञक 'ई' अर्थात् स्त्रीलिङ्ग में	
श्यन्विकरणीय शब्विकरणीय	१	भवन्ती	भवन्ती, भवन्त्यौ, भवन्त्यः।	उच्चारण नदीवत्
	२	नमन्ती	नमन्ती, नमन्त्यौ, नमन्त्यः।	,, ,,
	३	पतन्ती	पतन्ती, पतन्त्यौ, पतन्त्यः।	,, ,,
	४	चोरयन्ती	चोरयन्ती, चोरयन्त्यौ, चोरयन्त्यः।	,, ,,
	५	गणयन्ती	गणयन्ती, गणयन्त्यौ, गणयन्त्यः।	,, ,,
	६	दीव्यन्ती	दीव्यन्ती, दीव्यन्त्यौ, दीव्यन्त्यः।	,, ,,
	७	अस्यन्ती	अस्यन्ती, अस्यन्त्यौ अस्यन्त्यः।	,, ,,
	८	श्राम्यन्ती	श्राम्यन्ती, श्राम्यन्त्यौ, श्राम्यन्त्यः।	,, ,,

तुदादिगणीय, आकारान्त अदादिगणीय तथा 'लृट्' सद्' वाले शत्रन्तों से 'शी' में वैकल्पिक नुम् होता है तो 'ई' में भी वैकल्पिक नुम् होगा। तथाहि—

तुदादि०	१ तुदन्ती, तुदती	तुदन्ती, तुदन्त्यौ, तुदन्त्यः।	उच्चारण नदीवत्।
		तुदती, तुदत्यौ, तुदत्यः।	,, ,,
	२ लिखन्ती, लिखती	लिखन्ती, लिखन्त्यौ, लिखन्त्यः	,, ,,
		लिखती, लिखत्यौ, लिखत्यः	,, ,,
आकारान्त अदा०	३ यान्ती, याती	यान्ती, यान्त्यौ, यान्त्यः।	,, ,,
		याती, यात्यौ, यात्यः।	,, ,,
	४ पान्ती, पाती	पान्ती, पान्त्यौ, पान्त्यः।	,, ,,
		पाती, पात्यौ, पात्यः।	,, ,,

[लघु०] धनु । धनुषी । 'सान्त ' (३४२) इति दीर्घ । 'नुम्विसर्जनीय ' (३५२) इति ष । धनूंषि । धनुषा । धनुर्भ्याम् । एवम्—चक्षुर्हविरादय ॥

व्याख्या—'धन्' (जुहो० प०) धातु से औणादिक उस् प्रत्यय करने पर 'धनुस्' शब्द निष्पन्न होता है। 'धनुस्' का अर्थ है—धनुष।

धनुस्+सुँ। 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) से सुँ का लुक् होकर रुँत्व विसर्ग करने से—'धनुः'। 'पुर्' की तरह रेफान्त धातु न होने से 'र्वोरुपधाया—' (३५१) से दीर्घ नहीं होता।

धनुस्+औ। नपुंसकाच्च (२३५) से शी आदेश होकर 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) से षत्व हो जाता है—धनुषी।

तुदादि	५	करिष्यन्ती, करिष्यती	करिष्यन्ती करिष्यन्त्यौ करिष्यन्त्य	उच्चारण नदीवत्
			करिष्यती करिष्यत्यौ करिष्यत्य ।	,, ,,

उपर्युक्त गणों से भिन्नगणीय शत्रन्त धातुओं के 'शी' में नुम् नहीं होता तो नदीसञ्ज्ञक 'ई' में भी नुम् न होगा। तथाहि—

क्रया०	१	अश्नती	अश्नती, अश्नत्यौ अश्नत्य ।	उच्चारण नदीवत्।
	२	मुष्णती	मुष्णती मुष्णत्यौ, मुष्णत्य ।	,, ,,
अदा०	३	अदती	अदती, अदत्यौ, अदत्य ।	,, ,,
	४	घ्नती	घ्नती, घ्नत्यौ, घ्नत्य ।	,, ,,
जुहो०	५	जुह्वती	जुह्वती, जुह्वत्यौ जुह्वत्य ।	,, ,,
	६	ददती	ददती, ददत्यौ, ददत्य ।	,, ,,
स्वा०	७	प्राप्नुवती	प्राप्नुवती, प्राप्नुवत्यौ, प्राप्नुवत्य ।	,, ,,
	८	शृण्वती	शृण्वती, शृण्वत्यौ शृण्वत्य ।	,, ,,
तना०	९	कुर्वती	कुर्वती, कुर्वत्यौ, कुर्वत्य ।	,, ,,
	१०	तन्वती	तन्वती, तन्वत्यौ, तन्वत्य ।	,, ,,
रुधा०	११	जानती	जानती, जानत्यौ, जानत्य ।	,, ,,
	१२	रुन्धती	रुन्धती, रुन्धत्यौ, रुन्धत्य ।	,, ,,

धनुस्+जस्=धनुस्+इ (शि)। 'नपुंसकस्य झलचः' (२३६) द्वारा नुम् आगम और 'सान्तमहतः संयोगस्य' (३४२) से नान्त संयोग की उपधा को दीर्घ होकर—धनून्स्+इ। अब 'नश्चापदान्तस्य झलि' (७८) से नकार को अनुस्वार तथा उसके व्यवधान में भी 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' (५४२) द्वारा षत्व होकर—'धनूंषि' प्रयोग सिद्ध होता है।

भ्याम्, भिस् और भ्यस् में 'ससजुषो रुः' (१०५) से रुँत्व होकर रेफ का ऊर्ध्वगमन हो जाता है—धनुर्भ्याम्, धनुर्भिः, धनुर्भ्यः।

धनुस्+सु (सुप्)। यहां षत्व और रुँत्व के युगपत् प्राप्त होने पर षत्व के असिद्ध होने से सर्वप्रथम रुँत्व हो जाता है। अब विसर्ग आदेश होकर 'वा शरि' (१०४) से पक्ष में वैकल्पिक विसर्गादेश और दूसरे पक्ष में 'विसर्जनीयस्य सः' (१०३) से सकारादेश हो जाता है—धनुः सु, धनुस् सु। अब प्रथमरूप में विसर्ग के व्यवधान में और दूसरे रूप में सकार शर् के व्यवधान में 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' (५४२) सूत्र द्वारा षत्व हो—धनुः षु, धनुस्षु। अब सकार वाले पक्ष में 'ष्टुना ष्टुः' (६४) से ष्टुत्व षकार करने पर—'धनुः षु, धनुष्षु' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

धनुस्* (धनुष्) शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	धनुः	धनुषी	धनूंषि	पं०	धनुषः	धनुर्भ्याम्	धनुर्भ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	धनुषोः	धनुषाम्
तृ०	धनुषा	धनुर्भ्याम्	धनुर्भिः	स०	धनुषि		धनुःषु, धनुष्षु
च०	धनुषे	,,	धनुर्भ्यः	सं०	हे धनुः!	हे धनुषी!	हे धनूंषि!

* कई वैयाकरण 'धनुस्' शब्द में 'आदेशप्रत्यययोः' (१५०) सूत्र द्वारा षत्व करके 'धनुष्' शब्द बना कर सुँ आदि प्रत्यय लाया करते हैं। तब वे सुँप्रत्यय में 'स्वमोर्नपुंसकात्' (२४४) द्वारा सुँलुक् कर षत्व के असिद्ध होने से 'ससजुषो रुः' (१०५) द्वारा रुँत्व और उसके रेफ को विसर्गादेश कर 'धनुः' प्रयोग सिद्ध करते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि षत्व के अनन्तर स्वादि उत्पन्न होते तो ग्रन्थकार 'धनूंषि' में षत्वसिद्धि के लिये—'नुम्विसर्जनीयेति षः' ऐसा न कहते षत्व तो वहाँ सिद्ध ही होता। और जो लोग यह कहते हैं कि षत्व होते हुए भी जब झलन्तलक्षण नुम् हो जाता है तब निमित्त के न रहने से निमित्तीषकार भी सकाररूप में परिणत हो जाता है अतः तब 'नुम्विसर्जनीय' (३५२) द्वारा सकार को पुनः षकार करना आवश्यक होता है, उसीका ग्रन्थकार ने 'नुम्विसर्जनीयेति षः' द्वारा निर्देश किया है। पर यह समाधान भी रुचिकर प्रतीत नहीं होता, क्योंकि प्रथम तो

इसी प्रकार—१ वपुस = शरीर। २ हविस् = होम करने योग्य घृतादि। ३ चक्षुस् = आंख। ४ जनुस = जन्म। ५ यजुस् = यजुर्वेद। ६ ज्योतिस् = नक्षत्र। ७ आयुस् = आयु, उमर। ८ अरुस् = मर्म। ९ अर्चिस् = प्रकाश। १० सर्पिस = घृत। ११ तनुस् = शरीर। इत्यादि शब्दों के रूप होते हैं।

[लघु०] पय । पयसी। पयांसि। पयोभ्याम् ॥

व्याख्या— पयस् = जल व दूध।

पयस् + सुँ। सुँलुक होकर रुँत्व विसर्ग करने से—'पय'।

पयस् + औ = पयस + शी = पयस् + ई = 'पयसी'।

पयस + जस् = पयस् + इ (शि)। 'नपुंसकस्य झलच' (२३९) से नुम् का आगम, 'सान्महत संयोगस्य' (३४२) से उपधादीर्घ तथा 'नश्चापदान्तस्य झलि' (७८) से अनुस्वार होकर—'पयांसि'।

पयस् + भ्याम्। यहां 'ससजुषो रुँ' (१०५) से रुँत्व, 'हशि च' (१०७) से उत्व तथा 'आद् गुण' (२७) से गुण होकर—'पयोभ्याम्'। समग्र रूपमाला यथा—

प्र०	पय	पयसी	पयांसि	पं०	पयस	पयोभ्याम्	पयोभ्य
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	पयसो	पयसाम्
तृ०	पयसा	पयोभ्याम्	पयोभि	स०	पयसि	,,	पय सु, पयस्सु
च०	पयसे	,,	पयोभ्य	सं०	हे पय !	हे पयसी !	हे पयांसि !

'निमित्तापाये ' परिभाषा ही अनित्य है। और इसे नित्य भी स्वीकार करें तो भी 'अकृतव्यूहा पाणिनीया' आदि परिभाषाओं द्वारा प्रथम षत्व करना युक्त न बन सकेगा।

कहीं कहीं 'सिद्धान्तकौमुदी' के संस्करणों में जो "षत्वस्यासिद्धत्वाद् रुत्वम्" ऐसा पाठ देखा जाता है—उसका तात्पर्य—सुँ का लुक् होने पर पदान्त में षत्व और रुँत्व के युगपत् प्राप्त होने पर षत्व के असिद्ध होने से रुँत्व हो जाता है—ऐसा समझना चाहिये।

और जो लोग षकारान्त होने में यह युक्ति देते हैं कि यदि यह सान्त होता तो आगे सान्त 'पयस्' शब्द लिखने की कोई आवश्यकता न होती, क्योंकि उसके प्रयोग भी इसी तरह होते हैं—कोई अन्तर नहीं होता। इस पर हमारा निवेदन यह है कि 'पयस्' शब्द का उल्लेख केवल 'भ्याम्' आदियों मे 'हशि च' (१०७) द्वारा उत्वविशेष दर्शाने के लिये ही किया गया है। पयस शब्द के भ्याम् आदि में—'पयोभ्याम्, पयोभि' प्रयोग बनते हैं परन्तु 'धनुस्' शब्द के 'धनुर्भ्याम्, धनुर्भि' आदि बनते हैं। अत 'पयस्' शब्द का उल्लेख 'धनुस्' शब्द को षान्त प्रमाणित नहीं कर सकता।

इसी प्रकार निम्नलिखित शब्दों के रूप होते हैं—

शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ	शब्द	अर्थ
१ अम्भस्	जल	तपस्	तप	रोधस्	नदी का किनारा
अयस्	लोहा	१५ तमस्	अन्धकार		
अर्णस्	जल	तेजस्	दीप्ति	रहस्	तेजी, वेग
अर्शस्	बवासीर	नभस्	आकाश	३० वक्षस्	छाती
५ आगस्	अपराध	पाथस्	जल	वचस्	वचन
उरस्	छाती	मनस्	मन	वयस्	उम्र व परिन्दा
ऊधस्	गौ का आपीन चक्षु।	२० महस्	तेज		
		यशस्	यश	वर्चस्	तेज
एनस्	पाप	यादस्	जलजीव	शिरस्	सिर
ओकस्†	घर	रक्षस्	राक्षस	३५ श्रेयस्	धर्म व मोक्ष
१० ओजस्	बल व तेज	रंहस्	तेजी, वेग	सरस	तालाब
अहस	पाप	२५ रजस्	धूलि	स्रोतस्	झरना
चेतस	चित्त	रहस्	एकान्त	सहस्	बल
छन्दस्	गायत्री आदि छन्द	रेतस्	वीर्य व बीज		

ये ही शब्द जब बहुव्रीहि में किसी के विशेषण बन जावें, तो नपुंसकलिङ्ग में तो उच्चारण इसी प्रकार होगा। परन्तु पुंल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग में 'वेधस्' के समान उच्चारण होगा—प्रसन्नमना पुरुष, प्रसन्नमना स्त्री। प्रसन्नमनस पुमास स्त्रियो वा। प्रसन्नमनस पुमास स्त्रिय वा।

[लघु०] सुपुम्। सुपुंसी। सुपुमासि॥

व्याख्या—शोभना पुमासो यस्मिन् तत् सुपुम् (कुलम्)। जिस कुल आदि में अच्छे २ पुरुष हों उस कुल आदि को 'सुपुंस' कहते हैं।

सुपुंस्+सुँ। यहा सुँ का लुक् होकर 'संयोगान्तस्य लोप' (२०) द्वारा सकार का

---

† इसी का कूट प्रश्न पूछा जाता है—'कदागुरोकसो भवन्त ?'। 'कदा अगु, ओकसो भवन्त' यह छेद है।

भी लोप हो जाता है । अब निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' द्वारा अनुस्वार अपने पूर्व वाले रूप मकार में परिणत हो जाता है—'सुपुम्' ।

सुपुस्+औ=सुपुस्+शी=सुपुस्+ई=सुपुंसी ।

सुपुस्+जस् । यहां जस के स्थान पर भावी 'शि' सर्वनामस्थान की विवक्षा में 'पुंसोऽसुङ्' (३५४) द्वारा असुङ् आदेश होकर—सुपुमस+जस् । पुनः 'शि' आदेश झलन्तलक्षण नुम्, सान्तमहत '(३४२) से दीर्घ तथा नश्चापदान्तस्य झलि (७८) से अनुस्वार होकर—'सुपुमांसि' ।

सुपुंस्' शब्द की नपुंसक में रूपमाला यथा—

प्र०	सुपुम्	सुपुंसी	सुपुमांसि	पं०	सुपुंसः	सुपुम्भ्याम्	सुपुम्भ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	,,	सुपुंसोः	सुपुंसाम्
तृ०	सुपुंसा	सुपुम्भ्याम्	सुपुम्भिः	स०	सुपुंसि	,,	सुपुंसु
च०	सुपुंसे	,,	सुपुम्भ्यः	सं०	हे सुपुम्!	हे सुपुंसी!	हे सुपुमांसि!

नोट—वस्वन्त नपुंसकों का उच्चारण—विद्वत्-द्, विदुषी, विद्वांसि । उपेयिवत्, उपेयुषी, उपेयिवांसि । उपेयिवद्भ्याम् । उपेयिवत्सु । इस प्रकार होगा । अन्य सकारान्तों का नपुंसक में—ज्यायः, ज्यायसी, ज्यायांसि आदि ।

[लघु०] अदः । विभक्तिकार्यम् । उत्व मत्वे । अमू । अमूनि । शेषं पुंवत् ॥

व्याख्या—अब अदस्' शब्द के नपुंसक में रूप सिद्ध किये जाते हैं ।

अदस्+सुँ । सुँलुक् होकर रुँत्व विसर्ग करने से—अदः † ।

अदस+औ=अदस+ई (शी) । उत्व मत्व के असिद्ध होने से प्रथम त्यदाद्यत्व पररूप, और गुण एकादेश होकर—'अदे' । अब 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' (३५६) सूत्र से एकार को ऊकार तथा दकार को मकार होकर—'अमू' ।

अदस्+जस्=अदस्+शि । त्यदाद्यत्व, पररूप, नुम् आगम तथा उपधादीर्घ होकर—अदानि । अब 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' (३५६) सूत्र से उत्व मत्व करने से—'अमूनि' ।

द्वितीया में भी इसी तरह प्रयोग बनते हैं । शेष प्रक्रिया पुंवत् होती है ।

---

† यहाँ अदस् शब्द के सान्त होने से 'अदसोऽसेर्दादु दो मः' (३५६) द्वारा उत्व मत्व नहीं होता है । विभक्ति परे न होने के कारण 'त्यदादीनामः' (१९३) सूत्र भी प्रवृत्त नहीं हो सकता ।

नपुंसक में 'अदस्' शब्द की रूपमाला यथा—

प्र०	अदः	अमू	अमूनि	पं०	अमुष्मात्	अमूभ्याम्	अमीभ्यः
द्वि०	,,	,,	,,	ष०	अमुष्य	अमुयोः	अमीषाम्
तृ०	अमुना	अमूभ्याम्	अमीभिः	स०	अमुष्मिन्	,,	अमीषु
च०	अमुष्मै	,,	अमीभ्यः		सम्बोधन नहीं होता।		

अभ्यास (४७)

(१) 'ऊर्न्जि' रूप पर "नरजानां संयोगः" लिखने की क्या आवश्यकता थी? सविस्तर सोदाहरण स्पष्ट करो।

(२) नपुंसक में किन किन प्रत्ययों के परे होने पर भसञ्ज्ञा और सर्वनामस्थानसञ्ज्ञा हुआ करती है? ससूत्र स्पष्ट करें।

(३) हलन्त नपुंसक' में ऐसा कौन सा शब्द आया है जिसके सुँ और अम् के रूपों में भेद होता है? (उत्तर—अन्वादेश में इदम्' शब्द)।

(४) गतिपक्ष के 'गवाक्षु' आदि रूपों में 'चयो द्वितीयाः' क्यों प्रवृत्त नहीं होता।

(५) "धनुस् शब्द से सान्त अवस्था में ही स्वादिप्रत्यय उत्पन्न होते हैं"—इस कथन की सोदाहरण सप्रमाण पुष्टि करो।

(६) 'अदः' प्रयोग में उत्व मत्व क्यों नहीं होते? कम स कम त्यदाद्यत्व तो होना ही चाहिये था।

(७) 'इदम्' शब्द के नपुंसक के अन्वादेश में 'एनत्' आदेश क्यों विधान किया गया है, क्या 'एन' आदेश से काम नहीं चल सकता था? भाष्यानुकूल तात्पर्य स्पष्ट करें।

(८) "नपुंसकलिङ्ग में शत्रन्त शब्द चार प्रकार के होते हैं"—इस कथन की परस्पर भेदनिर्देशपूर्वक सोदाहरण व्याख्या करें।

(९) वारि, ददति, तुदति, पचति, दीव्यति, दीव्यन्ति, के, इमे, ते, ये, एते—आदि प्रयोग क्या आप को कहीं अन्यशब्द वा धातु की वा अन्य विभक्ति आदि की भ्रान्ति तो उत्पन्न नहीं कराते? यदि कराते हैं तो कहां कहां? सविस्तर लिखें।

(१०) 'गो अञ्च्' शब्द के १०१ रूपों की सङ्क्षिप्तरीत्या सिद्धि करें।

(११) गवाक् शब्द के १०१ रूपों की सङ्ख्या पर पूर्वपक्षियों के आक्षेप लिख कर उनका समाधान करें।

(१२) तत्, यत्, एतत् – इन मे 'तदो सः—' द्वारा सकारादेश क्यों न हो ?

(१३) 'वार्षु' में खर् परे होने पर भी रेफ को विसर्ग आदेश क्यों नहीं होता ?

(१४) ऊर्जि, चत्वारि, सुपुमांसि, धनूंषि, पयोभिः, धनुष्षु, तपांसि, हे दण्डि ! सुपन्थानि, अह्नी, इमे, स्वनडुत्, अमूनि—इन प्रयोगों की सूत्रनिर्देशपूर्वक सविस्तर सिद्धि करें ।

यहां सकारान्त नपुंसक शब्द समाप्त होते हैं ।

[लघु०] इति हलन्ता नपुंसकलिङ्गा [शब्दा] ॥

अर्थः—यहां हलन्त नपुंसकलिङ्ग शब्दों का प्रकरण समाप्त होता है ।

व्याख्या—षड्लिङ्गप्रकरण भी यहां समाप्त समझना चाहिये ।

इति भैमी व्याख्ययोपबृंहिताया लघुसिद्धान्त-कौमुद्यां हलन्त-नपुंसक लिङ्ग-प्रकरणं पूर्त्तिमगात् ॥

—❀—

* अथाऽव्यय-प्रकरणम् *

संस्कृतसाहित्य में दो प्रकार के शब्द पाये जाते हैं। १ विकारी, २ अविकारी। जो शब्द विभक्तिवचनवशात् विकार को प्राप्त होते हैं वे 'विकारी' कहाते हैं। इस कोटि मे सुबन्त† और तिङन्त शब्द आते हैं। जो शब्द सदा सब परिस्थितियों में विकाररहित अर्थात् एकसमान रहते हैं वे 'अविकारी' कहाते हैं। यथा—च, न, यदि, अपि, नाना, विना आदि। व्याकरण मे अविकारी शब्दों को अव्यय कहते हैं। अब यहां उक्त अव्ययों का प्रकरण आरम्भ किया जाता है।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्— ३६७ स्वरादिनिपातमव्ययम् । ।१।१।३६।।

स्वरादयो निपाताश्चाव्ययसञ्ज्ञा स्युः ।

अर्थः—स्वर् आदि शब्द तथा निपात अव्ययसञ्ज्ञक हों।

व्याख्या—स्वरादिनिपातम् ।१।१। अव्ययम् ।१।१। समासः—'स्वर्' शब्द आदिर्येषां ते स्वरादयः। स्वरादयश्च निपाताश्च = स्वरादिनिपातम्। समाहारद्वन्द्वः। अर्थः—(स्वरादिनिपातम्) स्वर् आदि शब्द तथा निपात (अव्ययम्) अव्ययसञ्ज्ञक होते हैं। स्वरादि शब्द पाणिनिमुनिविरचित 'गणपाठ' मे पढ़े गये हैं। निपात—अष्टाध्यायी के प्रथमाध्याय के चतुर्थपादान्तर्गत 'प्राग्रीश्वरान्निपाताः' (१.४.५६) के अधिकार में पढ़े गये हैं। अव्ययसञ्ज्ञा का प्रयोजन सुब्लुक् आदि आगे मूल में ही स्पष्ट हो जायगा।

अब मूलगत स्वरादिगण—अर्थ, उदाहरण तथा विस्तृतटिप्पण सहित नीचे दिया जा रहा है। इस गण में बालोपयोगी अत्यन्त प्रसिद्ध शब्दों पर चिह्न (+) कर दिया गया है।

---

† यहां सुबन्त से तात्पर्य अव्ययभिन्न सुबन्त से है।

स्वरादि-गण

शब्द	अर्थ	उदाहरण व स्पष्टीकरण
१ स्वर् +	स्वर्ग व परलोक	पुण्यकर्माण स्वर्गच्छन्ति । मनुष्य प्रेत्य स्वर्गच्छति । 'स्वर्गे परे च लोके स्व ' इत्यमर ।
२ अन्तर् +	मध्य	गृहस्यान्तर्विगाहते ।
३ प्रातर् +	प्रात काल	{ प्रातर्द्यूतप्रसङ्गेन मध्याह्ने स्त्रीप्रसङ्गत । रात्रौचौरप्रसङ्गेन कालोगच्छति धीमताम्॥[1] }
४ पुनर् +	फिर	गच्छतु भवान् पुनर्दर्शनाय ।
५ सनुतर्[2]	छिपना	सनुतश्चौरो गच्छति ।

नोट—उपर्युक्त पाञ्चों अव्यय रेफान्त हैं, अत 'हशि च' (१०७) आदि द्वारा उत्वादिकार्य नहीं होते । यथा—प्रातर्गच्छ, पुनरत्र, अन्तरस्ति, सनुतर्धेहि त तत । प्रातोऽत्र, पुनोऽपि—लिखने वाले विद्यार्थी सावधान रहें ।

१ द्यूतप्रसङ्ग = भारतम्, स्त्रीप्रसङ्ग = रामायणम्, चौरप्रसङ्ग = भागवतम् ।

२ 'सनुतर्' अव्यय का प्रयोग प्राय लोक मे नहीं देखा जाता । वेद में इस का प्रयोग पाया जाता है । ऊपर का उदाहरण 'गणरत्नमहोदधि' से उद्धृत किया गया है । अमरकोषादि लौकिक कोषों में इसका उल्लेख नहीं ।

निघण्टु मे यह अव्यय 'निर्णीतान्तर्हित' अर्थ में पढा गया है । निर्णीतञ्च तद् अन्तर्हितञ्चेति कर्मधारय ' (स्कन्दमाहेश्वरकृत निरुक्तभाष्यटीका) । जो छिपा हुआ तो हो परन्तु निर्णीत हो—उसे 'सनुतर्' कह सकते हैं । व्याकरण के सब ग्रन्थों में इसका अर्थ 'अन्तर्धान' अर्थात् छिपना लिखा है । परन्तु श्रीसायण अपने वेदभाष्य में सर्वत्र इसका अर्थ 'छिपा हुआ' करते हैं । यथा—"(सनुत) अन्तर्हितनामैतत् ' [ऋग्वेद १ ४२ ११] । "सनुतरित्यन्तर्हितनाम' [ऋग्वेद ९ ४१ ९] । "सनुतश्चरन्तम् = निगूढ चरन्तम्" [ऋग्वेद ५ २ ४] । इसका 'छिपा हुआ' अर्थ करने से गणरत्नमहोदधिकार का उदाहरण भी बडा सुन्दर प्रतीत होता है—सनुतश्चौरो गच्छति (छिपा हुआ चोर जा रहा है) ।

६	उच्चैस्+	ऊँचा	उच्चैः पर्वताः सन्ति ।
७	नीचैस्+	नीचा	नीचैर्गच्छति रथः ।
८	शनैस्+	आहिस्ता	शनैः पन्थाः शनैः कन्थाः शनैः पर्वतलङ्घनम् ।
९	ऋधक्	सत्य	ऋधग्वदन्ति विद्वांसः ।

नोट—लौकिककोषों मे प्रायः इसका उल्लेख नहीं मिलता। वेद में इसका प्रचुर प्रयोग है।

१०	ऋते +	बिना व बगैर	ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः ।

नोट—इस शब्द के योग में 'अन्यारा‌द्‌ ' (२ ३ २९) सूत्र से पञ्चमी विभक्ति का विधान होता है। लोक में द्वितीया का भी क्वाचित्क प्रयोग देखा जाता है। उसका समाधान कई लोग "ततोऽन्यत्रापि दृश्यते" से करते हैं।

११	युगपत्+	एक साथ	युगपद् गच्छन्ति बालकाः ।
१२	आरात्+	दूर व समीप	आराद् दुष्टात् सदा वसेत् (दूरे)। आराद्वीशाद् सेद् बुधः (समीपे)।

नोट—इस शब्द के योग में 'अन्याराद् ' (२ ३ २९) सूत्र से पञ्चमी विभक्ति का विधान होता है।

१३	पृथक् +	भिन्न व इलहदा	दुष्टः कार्यात्पृथक्कार्यः । ईश्वरात्पृथग्जगन्नास्ति ।

नोट—इस शब्द के योग में 'पृथग्विना ' (२ ३ ३२) सूत्र से द्वितीया, तृतीया तथा पञ्चमी विभक्ति का विधान होता है।

—आर्यसमाज के प्रवर्त्तक श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने अष्टाध्यायीभाष्य तथा वेदाङ्गप्रकाश 'अव्ययार्थ' में 'सनुत' का 'सदा' अर्थ किया है। वेदाङ्गप्रकाश में उन्होंने 'सनुत पुरुषार्थे प्रयतेरन्' ऐसा उदाहरण भी दिया है। पता नहीं इन के अर्थ का क्या आधार है।

१४ ह्यस् +	गुजरा हुआ पिछला दिन	ह्योऽस्माकं परीक्षाऽभवत् ।
१५ श्वस् +	आगे आने वाला दिन	श्व कार्यमद्य कुर्वीत । श्वोऽस्माकं गृहे यज्ञो भविता ।
१६ दिवा+	दिन	पीनोऽयं देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते । दिवा च रात्रिश्च तयोः समाहारः = दिवारात्रम् । निद्रया ह्रियते नक्तं दिवा च व्यर्थकर्मभिः । (भा० १ १६ ९)
१७ रात्रौ	रात	दिवा काकरवाद् भीता रात्रौ तरति नर्मदाम् ।

नोट—गणरत्नमहोदधि' में इसका उल्लेख नहीं, परन्तु काशिकादि सब ग्रन्थों में है । समझ नहीं पड़ता कि जब 'रात्रि' शब्द से काम चल सकता है तब इसके मानने की क्या आवश्यकता है । यजुर्वेद के (२३ ४) मन्त्र के सिवाय अन्य किसी वेद में 'रात्रौ' शब्द नहीं पाया जाता । यजुर्वेद के (२३ ४) मन्त्र के पदपाठ के देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यहां अव्यय का प्रयोग नहीं है किन्तु 'रात्रि' शब्द के सप्तमी के एकवचन का प्रयोग है ।

'प्रक्रियाकौमुदी' की प्रसाद' टीका में टीकाकार ने "रात्रौ वृत्तं तु द्रक्ष्यसि" यह उदाहरण लिख स्वयं ही असन्तुष्ट होकर 'रात्रौचर' यह नया उदाहरण दिया है । हमें किसी कोष व काव्यादि में इस नये शब्द का प्रयोग उपलब्ध नहीं हुआ ।

१८ सायम्+	सायङ्काल	सायं सन्ध्यामुपासीत ।

नोट—इसी अर्थ में घञन्त साय' शब्द का भी प्रयोग देखा जाता है । वह घञन्त होने से पुल्ँलिङ्ग माना जाता है । 'सङ्ख्याविसायपूर्वस्याह्नस्याहन्यतरस्यां ङौ' (६ ३ १०९) सूत्र में इसी का ग्रहण होता है—सायाह्नि, सायाहनि, सायाह्ने । इस विषय में सायंचिरंप्राह्णे ' (४ ३ २३) सूत्र की काशिकावृत्ति भी द्रष्टव्य है ।

१९ चिरम्+	देर तक	मुहूर्त्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम् । चिरं जीवतु मे भर्ता ।

नोट—दीर्घकालवर्त्ती पदार्थ में त्रिलिङ्गी 'चिर' शब्द का बहुधा प्रयोग हुआ करता है। यथा—

चिरजीविन्—'अश्वत्थामा बलिर्व्यासो हनुमांश्च विभीषणः ।
कृपः परशुरामश्च सप्तैते चिरजीविनः ॥'
अथ राज्ञो बभूवैव वृद्धस्य चिरजीविनः । [रामायण]

चिरजीविका—वृणीष्व वित्तं चिरजीविकाञ्च । [कठोपनिषदि]

चिरायुस्—लब्धदौहृदा च वीर्यवन्तं चिरायुषं पुत्रं जनयति । [सुश्रुते]

चिरलोक—स एष पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दः । [तै० उप०]

इसी प्रकार चिरक्रिय, चिरपाकी प्रभृति शब्दों में भी समझ लेना चाहिये। उपर्युक्त 'चिरं जीवतु मे भर्ता' प्रभृति 'चिरम्' अव्यय के उदाहरण भी 'चिर' शब्द से क्रियाविशेषणत्वेन निष्पन्न हो सकते हैं। अतः इस अव्यय का फल—'चिरञ्जीवी, चिरञ्जीवक' प्रभृति कतिपय शब्दों में ही देखा जाता है। 'चिरन्तन' भी 'चिर' शब्द से निष्पन्न हो सकता है—देखो 'सायंचिरम्०' (४.३.२३) सूत्र पर काशिकावृत्ति।

२०	मनाक्+	थोड़ा	रे पान्थ विह्वलमना न मनागपि स्याः ।
२१	ईषत् +	थोड़ा व आसान	पात्रे ईषदपि दानं कल्याणकरम् । ईषत्करः कटो भवता।
२२	जोषम्	सुख, चुप्पी	जोषमास्ते जितेन्द्रियः । जोषं कुरु मूढ ! ।
२३	तूष्णीम्+	मौन	न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह । [गीता]
२४	बहिस् +	बाहर (बाह्य)	बहिर्गच्छ इतः स्थानात् । न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते ।
२५	अवस्	बाहर (बाह्य)	अवो गच्छति । [गणरत्नमहोदधि]

नोट— इसका प्रयोग अन्वेषणीय है।

२६ अधस् +	नीचे	'अध पश्यसि किं बाले ! तत्र किं पतितं भुवि । रे रे मूढ न जानासि गत तारुण्यमौक्तिकम् ॥ 'अधोऽध पश्यत कस्य महिमा नोपचीयते ॥
२७ समया +	समीप	त्वा समयास्ते । [तेरे समीप है ।]
	मध्य	ग्राम समयास्ते । [ग्राम के मध्य है ।]

नोट—इसके योग में द्वितीया का विधान ह ।

२८ निकषा +	समीप	'समेत्य लङ्का निकषा हनिष्यति' । [शिशुपालवधे]

नोट—इसके योग में भी द्वितीया का विधान है ।

२९ स्वयम् +	अपने आप व खुद	स्वयमिच्छामि पठितुम् । स्वयङ्कृतमिद कम ।*
३० वृथा +	व्यर्थ	'वृथा वृष्टि समुद्रेषु वृथा तृप्तस्य भोजनम् । वृथा दान समर्थस्य वृथा दीपो दिवापि च ॥'
३१ नक्तम् +	रात (में)	नक्तञ्चरोऽसौ सहसा प्रयाति ।

नोट—सस्कृत साहित्य में 'नक्त' इस प्रकार का अजन्त नपु सक शब्द भी क्वाचित्क प्रयुक्त होता है । तद्घटित शब्द यथा—

नक्तचर—"जयेत् नक्तचरान् सवान् सपुरोहित भूगत " । (?)

नक्तभोजिन्—"हविष्यभोजन स्नान सत्यमाहारलाघवम् ।"

'अग्निकार्यमध शय्या नक्तभोजी षडाचरेत् ॥" (भविष्यपु०)

इसे अव्यय मानना भी परमावश्यक है । अन्यथा—नक्तञ्चर नक्तञ्चारी प्रभृति शब्द उपपन्न न हो सकेंगे ।

३२ नञ् +	नहीं	न निन्दित कर्म तदस्ति लोके, सहस्रशो यन्न मया व्यधायि । सोऽह विपाकावसरे मुकुन्द ! क्रन्दामि सम्प्रत्यगतिस्तवाग्रे ॥

* चतुर सखि मे भर्ता यल्लिखति च त। परा न वाचयति ।
तस्मादप्यधिको मे स्वयमपि लिखित स्वय न वाचयति ॥

नोट—इसके अनुबन्ध ञकार का लोप हो जाता है, अतः प्रयोग मे 'न' ही आता है। यह अनुबन्धकरण इसलिये किया गया है कि—'नलोपो नञः' (६.३.७२) द्वारा इसी नकार का ग्रहण हो (यथा—अनेकधा), अग्रिम 'न' का न हो, अतः 'नैकधा' आदियों मे नकार का लोप नही होता। इस 'नञ्' के अनेक अर्थ होते हैं। यहां बालोपयोगी साधारण अर्थ लिख दिया है। ईषत् अर्थ मे भी कुछ कुछ प्रसिद्ध है—'अनुदरा कन्या'। विशेष विस्तार सिद्धान्तकौमुदी' की व्याख्या मे देखें।

३३ न +	नहीं	"चित्रं चित्रं किमथ चरितं नैकभावाश्रयाणाम्। सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।" इसी प्रकार—गमिकर्मीकृतनैकनीवृता, नैकधा, नान्तरीयम् प्रभृति।
३४ हेतौ	निमित्त	हेतौ हृष्यति। [गणरत्नमहोदधि]

नोट—हमे किसी ग्रन्थ में इस अव्यय का प्रयोग नहीं मिल सका। किसी कोषकार ने इसका उल्लेख नहीं किया। ऊपर दिया श्रीवर्धमान का उदाहरण भी सारहीन प्रतीत होता है। 'हेतौ हृष्यति' का अर्थ है—'निमित्त से प्रसन्न होता है'। यह अर्थ भावसप्तम्यन्त 'हेतु' शब्द से भी सिद्ध हो सकता है। अतः इसके प्रयोग अन्वेषणीय है।

३५ इद्धा	प्रकाश [जाहिर]	'समिद्धमिद्धेश महो ददासि'। [गणरत्नमहोदधि]

नोट—यह अव्यय हमें किसी ग्रन्थ मे नहीं मिला। किसी कोषकार ने इसका उल्लेख नहीं किया। चारों वेदसंहिताओं में भी इसका कहीं पता नहीं चलता। ऊपर का उदाहरण गणरत्नमहोदधिकार श्रीवर्धमान का है। अन्य सब ग्रन्थकारो ने इसे ही उद्धृत किया है। प्रतीत होता है कि अन्य ग्रन्थकारों को इसके अतिरिक्त अन्य कोई उदाहरण नहीं मिल सका। वाचस्पत्यकोषकार श्रीतारानाथ ने यह उदाहरण भागवत

का माना है परन्तु हम यह भागवत म नहा मिल सका । सम्भव है कि यह भागवत म ही हा और हमार दृष्टिगोचर न हुआ हो । पर तु इतना तो सत्य ह कि वत्तमान उपल घ सस्कृतसाहि य म इसके प्रयोग अन्वेषणीय हे ।

३६ अद्धा

१ सचमुच	'अद्धा नकिरन्यस्त्वावान्' (ऋग्वेद १ ४२ १३)। [हे प्रभो ! सचमुच तेर जैसा कोइ नहीं]।
२ सत्य	'क अद्धा वेद' (ऋ० ३ ५४ ५) [इस ससार का कौन सत्य जानता है ।]
३ साक्षात् व प्रत्यक्ष	त्वयि मेऽनन्यविषया मतिमधुपतेऽसकृत् । रतिमुद्वहतादद्धा गङ्गेवौघमुदन्वति ॥ [भागवत १ ८ ४२]†
४ नि सन्देह	'यास्यत्यद्धाऽकुतोभयम्' [भागवत १ १२ २८]। (नि सन्दह वह अमरपद को पावेगा)※

३७ सामि

१ आधा	१ सामि कार्यं त्वया कृतम् ।
२ निन्दित	२ साम्यधम सेवितोऽनेन ।

३८ वत्

नोट—यह प्रत्यय है । 'वतिप्रत्ययान्त अव्यय हो' यह इसके ग्रहण का प्रयोजन है । यहा 'तेन तुल्य क्रिया चेद्वति ' (५ १ ११४), तत्र तस्येव' (५ १ ११५), तदर्हम्' (५ १ ११६) इन तीन सूत्रों से विहित 'वति' प्र यय का ही ग्रहण समझना चाहिय । 'ब्राह्मणवत्, क्षत्रियवत्'– ये दो वतिप्रत्ययान्त के उदाहरण दिये गये हैं । इसीप्रकार—नृपवत् बालवत्, चौरवत् आदि अन्य वत्यन्त भी जान लेने चाहिये । यह 'वति' प्रत्यय सादृश्य अर्थ म प्रयुक्त होता है ।

---

† हे मधुपते ! जैसे गङ्गा का प्रवाह निरन्तर समुद्र की ओर बढता रहता है वैसे ही साक्षात् आप मे मेरी सवदा अनन्यप्रीति हो ।

※ एष ह वा अनद्धापुरुषो यो न देवानर्चति न पितॄन् । [शत० ८ ३ १ २४] यहाँ पर समास में उसका प्रयोग है ।

यथा—ब्राह्मणवत् = ब्राह्मण के समान, क्षत्रियवत् = क्षत्रिय के समान इत्यादि। वस्तुतः इस अव्यय का पाठ यहां उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि वत्प्रत्ययान्तों की अव्ययसञ्ज्ञा तो 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' (३६८) से ही सिद्ध हो सकती है।

३९ सना	सदा व नित्य	सना भवः = सनातनो धर्मः। ['सायंचिरम्—' इति ट्युप्रत्ययस्तुडागमश्च]। सनातनस्य धर्मस्य मूलमेतत्सनातनम्। [महाभारते]
४० सनत्	सदा व नित्य	सनत्कुमार [सदा कुमार]।
४१ सनात्	सदा व नित्य	सनादेव दस्युहत्याय जज्ञिषे [ऋ० १ ५१ ६]

नोट—यह अव्यय प्रायः वेद में ही देखा जाता है।

४२ उपधा	भेद	

नोट—यह अव्यय हमें किसी ग्रन्थ में प्रयुक्त तथा किसी कोष में लिखा नहीं मिला। काशिका, गणरत्नमहोदधि आदि प्राचीन व्याकरण ग्रन्थों में इस का पाठ उपलब्ध नहीं। हमारा कुछ ऐसा विचार है कि यह बाद में [स्यात् 'प्रक्रियाकौमुदी' के समय से] स्वरादिगण में सम्मिलित कर लिया गया है। पर हमें यह विदित नहीं हो सका कि सम्मिलित करने वाले ने कौन से ऐसे प्रयोग देखे हैं जिनके कारण उसे परवश (मजबूर) होकर इसे अव्यय मानना पड़ा है। आशा है कि अन्वेषणप्रेमी विद्वज्जन इस ओर अवश्य ध्यान देंगे।

४३ तिरस्+	टेढ़ा व तिरछा	तिरोदृष्ट्या समीक्षते।
	छिपना	अभिवृष्य मरुत्सस्यं कृष्णमेघस्तिरोदधे।
	अनादर	गीर्भिर्गुरूणां परुषाक्षराभि- स्तिरस्कृता यान्ति नरा महत्त्वम्। अलब्धशाणोत्कषणा नृपाणां न जातु मौलौ मणयो वसन्ति॥

नोट—'छिपना' अर्थ में तिरस् अव्यय का प्रयोग प्रायः धातु के साथ ही पाया जाता है। 'तिरोऽन्तर्धौ' (१ ४ ७) सूत्र द्वारा छिपना अर्थ में तिरस् की गति सञ्ज्ञा हो जाती है। गतिसञ्ज्ञा होने से 'कुगतिप्रादयः' (२ २ १८) सूत्र द्वारा समास हो जाता है। समास होने के कारण 'समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्' (७ १ ३७) से क्त्वा को ल्यप् हो जाता है—यथा—तिरोभूय, तिरोधाय इत्यादि।

परन्तु 'कृञ्' धातु के योग में छिपना अर्थ होने पर भी 'विभाषा कृञि' (१ ४ ७१) सूत्र द्वारा 'तिरस्' की विकल्प कर के गतिसञ्ज्ञा होती है। गतिसञ्ज्ञा वाले पक्ष में 'कुगतिप्रादयः' (२ २ १८) द्वारा समास होकर क्त्वा को ल्यप् हो जाता है। यथा—तिरस्कृत्य। गतिसञ्ज्ञा के अभाव वाले पक्ष में समास न होने से क्त्वा को ल्यप् नहीं होता। यथा—तिरः कृत्वा†।

४४ अन्तरा+	मध्य	'अक्षेत्रे बीजमुत्सृष्टमन्तरैव विनश्यति'।
	विना	न च प्रयोजनमन्तरा चाणक्यः स्वप्नेऽपि चेष्टते। [मुद्राराक्षसे]

नोट—इस अव्यय के योग में 'अन्तरान्तरेण युक्ते' (२ ३ ४) द्वारा द्वितीया विभक्ति का विधान किया जाता है।

४५ अन्तरेण+	विना	क्रियान्तरान्तरायमन्तरेणार्यं द्रष्टुमिच्छामि। [मुद्राराक्षसे]
	मध्य	त्वां मां चान्तरेण हरिः।

नोट—इस अव्यय के योग में भी 'अन्तरान्तरेण युक्ते' (२ ३ ४) द्वारा द्वितीया विभक्ति का विधान है।

---

† गति पक्ष में 'तिरसोऽन्यतरस्याम्' (८ ३ ४२) सूत्र द्वारा विसर्ग को विकल्प कर के सकारादेश हो जाता है। यथा—तिरस्कृत्य, तिरःकृत्य। परन्तु 'तिरः कृत्वा' में गतिसञ्ज्ञा न होने से सकारादेश भी नहीं होता।

४६ ज्योक्	बहुत समय	'सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या'। [छान्दोग्योपनिषदि]

नोट—यह अव्यय वैदिकसाहित्य में ही प्रयुक्त देखा जाता है। लौकिकग्रन्थों में इसका प्रयोग नहीं देखा जाता। इसके शीघ्र, समाप्ति आदि अन्य अर्थ भी हैं।

४७ कम्	जल	कञ्जम् = पद्मम् [पानी में पैदा होने वाला, कमल]।
	मस्तक	कञ्जाः = केशाः [मस्तक पर पैदा होने वाले, केश]।
	कुत्सित व निन्दनीय	कन्दर्पः = कामः [जिसके कारण कुत्सित अभिमान हो, काम]
	सुख	कंयुः = सुखी [अत्र 'कंशंभ्यां बभयुस्तितुतयसः' (५.२.१३८) इति मत्वर्थीयो 'युस्' प्रत्ययः। सित्वाच्च 'सिति च' इति पदत्वेन मोऽनुस्वारः। वैकल्पिकपरसवर्णश्च—'कय्ँयुः'।]
४८ शम् +	सुख व शान्ति	शङ्करः शङ्करोतु नः।
४९ सहसा +	विना विचारे	सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
	यकदम	सहसाग्निरिवोत्थितः।
५० विना +	बगैर	दुर्भगाभरणप्रायो ज्ञानं भारः क्रियां विना।

नोट— इसके योग में 'पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम्' (२.३.३२) सूत्र से द्वितीया, तृतीया तथा पञ्चमी का विधान होता है।

५१ नाना +	अनेक	नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्, रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि। स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिबन्धमतिमञ्जुलमातनोति ॥ (तुलसीरा०)

विना | नाना नारी निष्फला लोकयात्रा ।

नोट—इस शब्द के योग म भी पूर्वोक्त सूत्र से द्वितीया, तृतीया तथा पञ्चमी विभक्ति का विधान है ।

सूचना—विना और नाना का पाठ भी 'वत्' की तरह यहा य-य सा प्रतीत होता है । तद्धितश्चासर्वविभक्ति (३६८) से ही इनकी अव्ययसञ्ज्ञा सिद्ध हो जाती है ।

५२ स्वस्ति+ मङ्गल व कल्याण | स्वस्त्यस्तु ते ।

नोट—इस अ यय क या ा म नम स्वस्ति ' (८६८) सूत्र से चतुर्थी विभक्ति विधान की जाती है । उदाहरण म तुभ्यम् क स्थान पर ते' आदेश हुआ है ।

५३ स्वधा पितरों क उद्देश्य से त्याग करना | पितृभ्य स्वधा ।

नोट—इस अव्यय क योग म भी पूर्वोक्त सूत्र से चतुर्थी विभक्ति होती है । इसक अन्य भी अनेक अर्थ शतपथब्राह्मणादि ग्र थों म किय गये हैं । इसके अतिरिक्त वैदिकसाहित्य मे स्वधा' इस प्रकार आका रान्त स्त्रीलिङ्ग भी दखा जाता है । यथा—

१ अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीत [ऋग्वेद १ १६४ ३८]

२ आदह स्वधामनु । [ऋग्वेद १ ६ ४]

३ नमो व पितर स्वधायै । [यजुर्वेद २ २] इत्यादि ।

५४ अलम् + भूषण (सजाना) | अलङ्कृत्य सुतादान दैव धम प्रचक्षते । [मनु०]

नोट—यहा भूषणेऽलम्' (१ ४ ६३) सूत्र से 'अलम्' की गतिसञ्ज्ञा हो जाने से 'कुगतिप्रादय (९४६) द्वारा समास हो जाता है । अत 'समासेऽनञ्पूर्वे ' (८८४) सूत्र से क्त्वा को ल्यबादेश होता है ।

पर्याप्ति (काफी होना)	अलं भुक्तवान्। अलमस्त्यस्य धनम्।
शक्ति (सामर्थ्य)	अलं मल्लो मल्लाय। दैत्येभ्यो हरिरलम्।

नोट—शक्ति अर्थात् सामर्थ्य अर्थ मे 'अलम्' के योग मे 'नमः स्वस्ति ' (८९८) सूत्र द्वारा चतुर्थी विभक्ति होती है। 'अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम्' इस वार्तिक मे पर्याप्ति का तात्पर्य सामर्थ्य से ही है, पूर्वोक्त पर्याप्ति से नही।

वारण (रोकना)	अलं महीपाल ! तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात्। न पादपोन्मूलनशक्तिरंहः, शिलोच्चये मूर्च्छति मारुतस्य ॥ (रघु०) अलमतिप्रसङ्गेन।

नोट—ऐसे स्थलों पर प्रायः तृतीया विभक्ति प्रयुक्त होती है। विशेष 'सिद्धान्तकौमुदी' में देखें।

५५ वषट् ५६ श्रौषट् ५७ वौषट्	देवताओं के निमित्त हविःत्याग	वषडस्तु तुभ्यम् (यजुर्वेद ११ ३९) अस्तु श्रौषट् पुरो अग्निम्। (ऋग्वेदे १ १३९ १) इसका उदाहरण अन्वेषणीय है।

नोट—इन मे से 'वषट्' के योग में 'नमःस्वस्ति ' (८९८) द्वारा चतुर्थी होती है।

५८ अन्यत्	अन्य, इतर, भिन्न	देवदत्त आयातोऽयञ्च यज्ञदत्त । [गणरत्न०]

नोट—इसके प्रयोग भी अन्वेषणीय हैं।

५९ अस्ति	सत्त्व = विद्यमानता	अतिथिर्बालकश्चैव राजा भार्या तथैव च । अस्ति नास्ति न जानन्ति देहि देहि पुनः पुनः ॥ (चाणक्य०) अस्तिक्षीरा ब्राह्मणी । अस्त्यहमार्येणादिष्टः । (मुद्राराक्षस)। अस्ति परलोके मतिरस्येत्यास्तिकः ।	
६० उपांशु	विजन (एकान्त)	परिचेतुमुपांशु धारणां कुशपूतं प्रवयास्तु विष्टरम् । (रघु०)	

नोट—"जिह्वोष्ठौ चालयेत्किञ्चिद् देवतागतमानसः । निजश्रवणयोग्यः स्यादुपांशुः स जपः स्मृतः" । इस लक्षण वाला जप भी 'उपांशु' कहाता है परन्तु वह उकारान्त पुंल्लिङ्ग है—अव्यय नहीं ।

६१ क्षमा	क्षमा	क्षमा करोतु भवान् । [व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि]

नोट—इस अव्यय का संस्कृतसाहित्य में प्रयोग अन्वेषणीय है ।

६२ विहायसा	आकाश	विहायसा पश्य विहङ्गराजम् । [हेमचन्द्र]

नोट—इस अव्यय के प्रयोग अन्वेषणीय हैं । उपर्युक्त उदाहरण श्रीहेमचन्द्राचार्यप्रणीत 'अभिधान चिन्तामणि' का है ।

६३ दोषा	रात्रि	दोषापि नूनमहिमांशुरसौ किलेति । [माघे ४।४६] दिवाभूता रात्रिः, दोषाभूतमहः । [महाभाष्ये १।१।४१]

नोट—'दोषा' यह आकारान्त स्त्रीलिङ्ग भी प्रयुक्त हुआ करता है । यथा—'तत कथाभिः समतीत्य दोषाम्' (भट्टि० २२।२४) ।

६४ मृषा +	मिथ्या व असत्य	अयं दरिद्रो भवितेति वैधसीं लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम् ।

		मृषा न चक्रेऽल्पितकल्पपादप प्रणीय दारिद्र्यदरिद्रतां नल । [नैषधे]
६५ मिथ्या+	झूठ व असत्य	यो यावन्निह्नुवीतार्थं मिथ्या यावति वा वदेत् । तौ नृपेण ह्यधर्मज्ञौ दाप्यौ तद्द्विगुणं दमम् ॥ (मनु०)
	व्यर्थ	ज्योतिषं जलदे मिथ्या, मिथ्या श्वासिनि वैद्यकम् । योगो बह्वशने मिथ्या, मिथ्या ज्ञानञ्च मद्यपे ॥
६६ मुधा +	व्यर्थ	सीतया रामचन्द्रस्य गले कमलमालिका । मुधा बुधा भ्रमन्त्यत्र प्रत्यक्षेपि क्रियापदे ॥ (अत्र 'प्रत्यक्षेपि' क्रिया)
६७ पुरा +	प्रबन्ध=निरन्तर क्रिया करना	उपाध्यायेन स्म पुराधीयते । अविरतमपाठीत्यर्थः ।
	निकट आगामी काल	गच्छ पुरा देवो वर्षति । समनन्तरं वर्षिष्यतीत्यर्थः । अत्र 'यावत्पुरानिपातयोर्लट्' (१ ३ ४) इति लट् ।
	व्यतीत प्राचीन काल	पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे, कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः । अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावाद् अनामिका सार्थवती बभूव ॥
६८ मिथो	एकान्त व आपस में	मन्त्रयन्ते मिथो । [शब्दकौस्तुभे]

नोट—इस अव्यय के प्रयोग अन्वेषणीय हैं । किञ्च ध्यान रहे कि इससे अच् परे होने पर 'ओत्' (५६) सूत्र प्रवृत्त होकर प्रगृह्यसञ्ज्ञा कर देता है । यथा—मिथो अत्र, मिथो इति ।

६९ मिथस् +	एकान्त	मिथो भजेताप्रसवात् सकृत्सकृदृतावृतौ (मनु० ६ ७०) ['रहसि' इति कुल्लूकः]

	परस्पर	असाक्षिकेषु त्वर्थेषु मिथो विवदमानयो । अविन्दस्तत्त्वत स च शपथेनापि लम्भयत् ॥ (मनु०)
७० प्रायस् +	बहुधा (अक्सर)	प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव या त्यापद ।†
७१ मुहुस् +	बार बार (पुन २)	मुहुर्मुहुर्वारि पिबेदभूरि ।
७२ प्रवाहुकम् ७३ प्रवाहिका	समानकाल, शीघ्र	प्रवाहुक गृह्णीयात् । [प्रक्रियाकौमुदी प्रसादटीका]

नोट—कई गणपाठों म 'प्रवाहुकम्' के स्थान पर 'प्रवाहिका' पाठ पाया जाता है। इन अव्ययो क प्रयोग सस्कृतसाहित्य मे अन्वेषणीय हैं। किसी कोष म इनका उल्लेख नहीं। ग्रहणीरोगवाची'प्रवाहिका' शब्द टाबन्त होता है। स्वामी दयान द सरस्वती ने प्रवाहुकम्' पाठ मान कर उसका 'प्राबल्य अथ किया है। इस अथ में 'प्रवाहुक्' शब्द तो काठकसहिता मे देखा जाता है—' देवा वा असुरान् यज्ञमभिजित्य ते प्रवाहुग् ग्रहान् गृह्णाना आयन्"। [काठक २६ ६]। सम्भव है कि इस शब्द का किसी लुप्त शाखा म पाठ हो।

७४ आर्यहलम्	बलात्कार करना	आर्यहल गृह्णाति । [गणरत्नमहोदधौ]

नोट—इस के प्रयोग अन्वेषणीय हैं।

७५ अभीक्ष्णम् +	निरन्तर, पुन २	वते प्रहारा निपतन्त्यभीक्ष्णम् ।
७६ साकम् + ७७ सार्धम् +	साथ	पित्रा साक सार्धं वाऽऽगत पुत्र ।

नोट—साकम्, साधम् इन दोनों अव्ययों के योग में अप्रधान मे 'सहयुक्तेऽप्रधाने' (२ ३ १६) द्वारा तृतीया विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार—'समम्, सत्रा सह' इनके साथ भी तृतीया का विधान है।

७८ नमस् +	नमस्कार	येन धौता गिर पुसा विमलै शब्दवारिभि । तमश्चाज्ञानज भिन्न तस्मै पाणिनये नम ॥

† 'प्राय' इस प्रकार अकारान्त शब्द भी होता है—निन्दाप्राया सेवा त्यजेत्।

नोट—इस अव्यय के योग में 'नमःस्वस्ति ' (८६८) द्वारा चतुर्थी विभक्ति हो जाती है। इस अव्यय के 'अन्न, वज्र' आदि अन्य अर्थ भी वेद में प्रसिद्ध हैं।

७९ हिरुक्	वर्जन=छोड़ना	य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्। [ऋग्वेदे १। १६४। ३२]

नोट—यह अव्यय प्रायः वैदिकसाहित्य में ही प्रसिद्ध है।

८० धिक् +	धिक्कार	राम सीतां लक्ष्मणं जीविकार्थे, विक्रीणीते यो नरस्तञ्च धिक् धिक्। अस्मिन्पद्ये योऽपशब्दं न वेत्ति, व्यर्थप्रज्ञं पण्डितं तं च धिक् धिक्॥

नोट—इस अव्यय के योग में 'उभसर्वतसोः कार्या ' द्वारा द्वितीया का विधान होता है।

८१ अथ +	प्रारम्भ	अथ शब्दानुशासनम्। अथ योगानुशासनम्।
	आनन्तर्य	अथातो ब्रह्मजिज्ञासा [वेदान्तशास्त्रे १। १]। [अथ=साधनचतुष्टयानन्तरमित्यर्थः] अथ प्रजानामधिपः प्रभाते—(रघुवंशे)। [अथ=निशाशयनानन्तरमित्यर्थः।]
	संशय	शब्दो नित्योऽथानित्यः? (महाभाष्ये)।
	समुच्चय	भीमोऽथार्जुनः।
	पक्षान्तर	अथ मरणमवश्यमेव जन्तोः—(वेणीसंहारे)। अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि (गीता०)

नोट—'अथ' शब्द का अर्थ मङ्गल नहीं हुआ करता किन्तु

१. अत्र 'इवे प्रतिकृतौ' इति विहितस्य कनः 'जीविकार्थे चापण्ये' इति लुपोऽभावाद् रामकं सीतिकां लक्ष्मणकम् इत्येवं प्रयोगाः साधवः।

अन्य अर्थ का वाचक यह यदि आदि में प्रयुक्त किया जाए तो मङ्गल का द्योतक हो जाता है। यथा—'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' (यहां भी आनन्तर्य अर्थ ही है)। यह शब्द माङ्गलिक माना जाता है, मङ्गलार्थ नहीं।

८२ अम् — शीघ्र और अल्प — इसके प्रयोग अन्वेषणीय हैं।

नोट—वर्त्तमान उपलब्ध लौकिक व वैदिक साहित्य में हमें यह शब्द कहीं नहीं मिला। भट्टोजिदीक्षित आदि इसे प्रत्यय मानते हैं। उनका कथन है कि 'अमु च छन्दसि' (५.४.१२) सूत्र से विहितप्रत्ययान्त की अव्ययसञ्ज्ञा होती है। उदाहरण यथा—प्र तं नय प्रतरं वस्यः—(यजुर्वेद १२.२६)। परन्तु चाहे यहां 'अम्' से प्रत्यय भी समझ लें तो भी 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' (३६८) से ही इसके अव्ययसञ्ज्ञक हो जाने से यहां ग्रहण व्यर्थ सा प्रतीत होता है।

८३ आम् + — स्वीकार करना — आम् ! ज्ञातम्।

नोट—कई लोग यहां भी पूर्ववत् 'किमेत्तिङव्यय—' (५.४.११) आदि सूत्रों से आम्प्रत्ययान्तों की अव्ययसञ्ज्ञा मानते हैं।

८४ प्रताम् — ग्लानि — इसके उदाहरण अन्वेष्टव्य हैं।

८५ प्रशान् — तुल्य, सदृश, समान — प्रशान् देवदत्तो यज्ञदत्तेन। [गणरत्नमहोदधौ]

नोट—इसके प्रयोग अन्वेषणीय हैं।

८६ मा + — मत — माऽस्तु।

८७ माङ् + — मत — भगवन् ! मा स्म भूदेवम्।

नोट—यहां का विशेष विचार 'माङि लुङ्' (४३५) सूत्र पर देखें।

आकृतिगणोऽयम् ।

यह स्वरादिगण आकृतिगण है । आकृतिगण का तात्पर्य (३६) सूत्र पर शकन्ध्वादिगण में समझा कर लिख चुके हैं ।

वस्तुतः पाणिनि के गणपाठ में कालक्रम से जितने फेरफार हुए हैं, उतने स्यात् ही व्याकरण के किसी ग्रन्थ में हुए हों । स्वरादिगण में कई शब्द जो आज से चार शताब्दी पूर्व उसमें न थे आज विद्यमान हैं । कई शब्द इस गण से निकाल कर चादिगण में सम्मिलित कर दिये गये हैं❀ इन सब को सहेतुक पृथक् २ करना—एक महान् परिश्रम साध्य कार्य है । यदि प्रभु की इच्छा हुई तो 'सिद्धान्तकौमुदी' की व्याख्या में आप यह सब देख सकेंगे ।

स्वरादिगण में गिनने योग्य कुछ अन्य शब्द यथा—

१ समम् = साथ । २ सत्रा = साथ । ३ भूयस् = पुनः फिर । ४ झटिति = शीघ्र व जल्दी । ५ झगिति = शीघ्र व जल्दी । ६ तरसा = शीघ्र व जल्दी । ७ द्राक् = शीघ्र व जल्दी । ८ अञ्जसा = शीघ्र व जल्दी । ९ मङ्क्षु = शीघ्र व जल्दी । १० सपदि = उसी समय, तत्क्षण । ११ कामम् = यथेच्छ, बेशक । १२ संवत् = वर्ष ('संवत्सर' का संक्षिप्त रूप है) । १३ बदि = कृष्णपक्ष ('बहुलदिवस' का संक्षिप्त रूप है) । १४ शुदि = शुक्ल पक्ष ('शुक्लदिवस' का सङ्क्षिप्त रूप है) । १५ साक्षात् = सामने, दर्शन । १६ साचि = टेढा । १७ अजस्रम् = निरन्तर, हमेशा । १८ अनिशम् = निरन्तर, हमेशा । १९ वरम् = अच्छा । २० स्थाने = उचित । २१ कृतम् = 'अलम्' के अर्थ में बस निषेध, रोकना । २२ प्रादुस् = प्रकट होना । २३ आविस् = प्रकट करना । २४ प्रकामम् = यथेच्छ । २५ उषा = रात । २६ ओम् = अङ्गीकार करना, परब्रह्म । २७ अवश्यम् = निश्चय से । २८ सन्ततम् = निरन्तर व हमेशा । २९ साम्प्रतम् = इस समय, ठीक । ३० परम् = लेकिन, परन्तु, किन्तु । ३१ सुष्ठु = अच्छा । ३२ दुष्ठु = निकृष्ट । ३३ मिथु = दो । ३४ कु = कुत्सित, थोड़ा । ३५ चिरेण = देर तक । ३६ चिराय = देर तक । ३७ चिररात्राय = देर तक ।

❀ यथा 'मिथो' अव्यय का पाठ स्वरादियों में न होकर चादियों में ही होना उचित प्रतीत होता है । यदि स्वरादियों में पाठ मानेंगे तो 'चादयोऽसत्त्वे' (५३) द्वारा निपात सञ्ज्ञा न होगी । तब निपात न होने से 'ओत्' (५६) सूत्र द्वारा —'मिथो + अत्र, मिथो + इति' आदि रूपों में प्रगृह्यसञ्ज्ञा उपपन्न न हो सकेगी ।

३८ चिरात्=दूर तक। ३९ चिरस्य=दूर तक। ४० सु=पूजा व सत्कार (यथा—सुब्राह्मणा) बहुत—(सुशोका)। इत्यादि अन्य भी यथाप्रयोग शिष्टग्रन्थों से जान लेने चाहिये।

'स्वरादिनिपातमव्ययम्' (३६७) सूत्र में निपातों की भी अव्ययसञ्ज्ञा की गई है। निपातों का सम्पूर्णतया वर्णन अष्टाध्यायी में 'प्राग्रीश्वरान्निपाताः' (१ ४ ५६) सूत्र के अधिकार में किया गया है। अब चादिगण का परिगणन करते हैं। ध्यान रहे कि चादियों की निपातसञ्ज्ञा (५३) सूत्र में कर चुके हैं।†

शब्द	अर्थ	उदाहरण व स्पष्टीकरण
१ च +	समुच्चय, और	ईश्वरं गुरुञ्च भजस्व।
	नोट—'च' के अर्थों का विवेचन द्वन्द्वसमास में देखें।	

† चादिगण को यदि स्वरादिगण में सम्मिलित कर दें तो भी इसकी सञ्ज्ञा सिद्ध हो सकती है। तो पुनः इसकी निपातसञ्ज्ञा का प्रयोजन यह है कि 'चादयोऽसत्त्वे' (५३) सूत्र में 'असत्त्व' कथन के कारण द्रव्यवाचक चादियों की निपात सञ्ज्ञा और उसके कारण अव्यय सञ्ज्ञा न हो। यथा—

'पशु' शब्द चादिगण में पढ़ा गया है। 'पशु' शब्द के दो अर्थ होते हैं। एक—पशु=चौपाया, दूसरा—सम्यक्=अच्छी तरह। चौपाया अर्थ वाला 'पशु' शब्द द्रव्यवाचक होने से न निपातसञ्ज्ञक होता है और न अव्ययसञ्ज्ञक। यथा—'पशुपश्य' (चौपाये को देखो) यहाँ अव्ययसञ्ज्ञा न होने से 'पशु' शब्द से परे द्वितीयाविभक्ति का लुक् नहीं होता। 'पशु पश्य' (ठीक तरह से देखो) यहां 'पशु' शब्द द्रव्यवाचक नहीं अतः उसकी अव्यय सञ्ज्ञा होकर सुब्लुक हो जाता है। इसीप्रकार लक्ष्मीवाचक 'मा' शब्द की अव्ययसञ्ज्ञा नहीं होती, निषेधवाचक की हो जाती है।

अब यदि चादियों का पाठ स्वरादियों में ही होता और उसकी निपातसञ्ज्ञा न की जाती तो 'पशु पश्य' इत्यादि स्थलों की तरह 'पशु पश्य' इत्यादियों में भी अव्ययसञ्ज्ञा हो जाने से अनिष्ट हो जाता जो अब नहीं होता। सार यह है कि—स्वरादियों में तो द्रव्यवाचकों की भी अव्ययसञ्ज्ञा हो जाती है, यथा—'स्वः पश्य' (स्वर्ग को देख)। परन्तु चादियों में द्रव्यवाचक की नहीं होती। किञ्च—'निपाता आद्युदात्ताः' (फिट्सूत्र ४ ८०) द्वारा आद्युदात्त स्वर भी निपातसञ्ज्ञा का प्रयोजन है।

२ वा +	विकल्प	यवैर्वा व्रीहिभिर्वा यजेत ।
		'श्वशुरगृहनिवासः स्वर्गतुल्यो नराणाम्, यदि भवति विवेकी पञ्च वा षड् दिनानि ।'

नोट—इसके उपमादि अन्य अर्थ भी होते हैं ।

३ ह	पादपूर्ति	इति ह स्माहुराचार्याः । तस्य ह शतं जाया बभूवुः ।

नोट—यह शब्द पादपूर्ति के लिये तथा कहीं कहीं वाक्यपूर्ति व शैलीवशात् शोभा के लिये वैदिकसाहित्य व प्राचीनसाहित्य में प्रयुक्त होता है । इसके सम्बोधन आदि अन्य अर्थ भी होते हैं ।

४ अह	१ आचारातिक्रमण	स्वयमह ओदनं भुङ्क्ते आचार्यं सक्तून् पाययति ।
		स्वयमह रथेन याति, उपाध्यायं पदातिं गमयति ।
	२ पूजा	अह माणवको भुङ्क्ते ।
५ एव +	अवधारण	पार्थ एव धनुर्धरः ।
		अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव ।

नोट—सादृश्य, अनवक्लृप्ति आदि इसके अन्य अर्थ भी देखे जाते हैं ।

ध्यान रहे कि 'च' से लेकर 'एव' तक का प्रयोग पाद व वाक्य के आदि में नहीं होता । "पादादौ न च वक्तव्याश्चादयः प्रायशो बुधैः" (वाग्भटालङ्कारे) । इस प्रकार 'खलु' 'तु' आदि के विषय में भी जानना चाहिये ।

६ एवम् +	१ उक्त बात का निर्देश	एववादिनि देवर्षौ—(कुमार० ६ ८४) ।
	२ निश्चय	एवमेतत् ।
	३ स्वीकार	एवं कुरु ।

७ नूनम् +	१ तक [खयाल दौड़ाना]	पूर्व मया नूनमभीप्सितानि, पापानि कर्माण्यसकृत्कृतानि । तत्रायमद्यापतितो विपाको दुःखेन दुःखं यदहं विशामि ॥ (रामायण)
	२ निश्चय ही	'अद्यापि नूनं हरकोपवह्निस्त्वयि ज्वलत्यौर्व इवाम्बुराशौ ।' (शाकु०)
८ शश्वत् +	१ नैरन्तर्य	शश्वत्सत्यं वदेत्
	२ नित्य	क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
९ युगपत् +	एक साथ	आगता युगपत् सर्वे ।
१० भूयस् +	पुनः, फिर	भूय एव महाबाहो ! शृणु मे परमं वचः । (गीता) { भूयोऽपि सिक्तः पयसा घृतेन, न निम्बवृक्षो मधुरत्वमेति ॥ }
	आधिक्य	भूयो देहि सत्पात्राय ।
११ कूपत्	प्रश्न, वितर्क, प्रशंसा	कूपद्य गायति । [गणरत्नमहोदधौ]

नोट—इस अव्यय के प्रयोग अन्वेषणीय हैं ।

१२ सूपत्	'कूपत्' वाला अर्थ	इसका प्रयोग लोक वेद में कहीं उपलब्ध नहीं ।
१३ कुवित्	बहुत	कुविन्नो अग्निरुचथस्य वीरसद् । (ऋ० १ । १४३ । ६) ।

नोट - इस अव्यय का प्रयोग वैदिकसाहित्य में पर्याप्त पाया जाता है परन्तु लौकिकसाहित्य में बिलकुल नहीं ।

१४ नेत् ।	शङ्का	नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम । (निरुक्ते)

नोट—यह अव्यय गवेषणीय है । वेद में 'नेत्' का प्रयोग तो

अनेक बार आया है परन्तु वहां सर्वत्र पदपाठकारों ने 'न+इत्' ऐसा छेद ही माना है। ऊपर का उदाहरण निरुक्त का है। उसमें भी ऋक्परिशिष्ट (अष्टमाष्टक षष्ठाध्याय द्वितीयवर्गान्त) से उद्धृत किया गया है। शब्दकौस्तुभादि ग्रन्थों में इसे ही उद्धृत किया गया है।

१५ चेत् +	यदि	"अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः।" (गीता)
१६ चण् +	यदि	अयञ्च मरिष्यति। चेन्मरिष्यतीत्यर्थः।

नोट—'च' यह अव्यय यदि णित् हो तो उसका अर्थ 'यदि' होता है, जैसा कि ऊपर 'काशिका' का उदाहरण दिया गया है। अनुबन्धरहित यह समुच्चय आदि अर्थों का वाचक होता है। [देखो—'निपातैर्यद्यदि—' (८.१.३०)]

१७ यत्र +	जहां	यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति। "यत्र विद्वज्जनो नास्ति श्लाघ्यस्तत्राल्पधीरपि निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते"। (चाण०)

नोट—इसके अनवक्लृप्ति आदि अन्य भी अनेक अर्थ होते हैं। यद्यपि त्रलन्त होने से 'तद्धितश्चासर्वविभक्तिः' (३६८) सूत्र द्वारा ही इसकी अव्ययसञ्ज्ञा सिद्ध हो सकती है तथापि यहां चादियों में पाठ निपातसञ्ज्ञा के लिये है। निपातसञ्ज्ञा का प्रयोजन 'निपातैर्यद्यदि—' (८.१.३०) सूत्र में स्पष्ट है।

१८ कच्चित् +	इष्ट बात के प्रश्न में	आपाद्यते न व्ययमन्तरायैः, कच्चिन्महर्षेस्त्रिविधं तपस्तत्। [रघु०] "कच्चिद्विद्याविनीतांश्च नराञ्ज्ञानविशारदान्। यथार्हं गुणतश्चैव दानेनाभ्युपपद्यसे"। [महाभारत]
१९ नह		नह भोक्ष्यसे। [गणरत्नमहोदधौ]

नोट—'नह प्रत्यारम्भे' इति श्रीवधमान निश्चितनिषध इति कौस्तुभे दीक्षित । यह अव्यय न और ह' इन दो अव्ययों क समुदाय से बनाया गया है। इसके उदाहरण गवषणीय हैं।

२० हन्त + | १ विषाद दुःख 'काचमूल्येन विक्रीतो ह त चिन्तामणिमया ।

२हर्ष सुख प्रसन्नता हन्त ! भो ! लब्ध मया स्वास्थ्यम्' ।

३ वाक्यारम्भ 'हन्त ते कथयिष्यामि दि या ह्यात्मविभूतय । (गी०)

४ अनुकम्पा दया हा हन्त ! हन्त ! नलिना गज उज्जहार' ।

२१ माकिर् | मत (निषध) 'माकिर्नो दुरिताय धायी । (ऋग्वेद १ १४८ ५)

नोट—शाकटायनाचाय इस अ यय का सान्त मानते हैं। इसका प्रयोग केवल वेद में ही उपलब्ध होता है।

२२ माकिम् | मत (निषेध) |

नोट—वैदिकसाहि य म माकीम्' ऐसा दीघघटित पाठ दखा जाता है। यथा— माकिर्नेशन्माकीं रिषन्माकीं सशारि केवटे" (ऋग्वेद ६ ५४ ७)।

२३ नकिर् | निषेध सत्यमद्धा नकिर यस्त्वावान् ।'(ऋ० १ ५२ १३)

२४ नकिम् | निषेध

नोट—वैदिकसाहित्य म नकीम् इसप्रकार दीघघटित पाठ देखा जाता है। यथा—"नकीमिन्द्रो निकर्तव' (ऋग्वेदे ८ ७८ ५)।

२५ माङ् | मत (निषेध) | मा कार्षी मा हार्षी ।

नोट—अनुबन्ध ङकार का लोप होकर 'माङ' का 'मा' ही अवशिष्ट रहता है। ध्यान रहे कि इस अव्यय का स्वरादियों म भी पाठ किया गया है। श्रीनागेश के विचार में इसका वहा पाठ व्यथ है क्योंकि यहा पढ़ने से स्वर (अन्तोदात्त) में तो कोई अन्तर आता ही

नहीं, उलटा—यहां पढ़ने के कारण लक्ष्मीवाची 'मा' शब्द की अव्यय सञ्ज्ञा नहीं होती—जो न करनी ही अभीष्ट है। यहां का विशेष विचार सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या में करेंगे।

२६ नञ् +	नहीं	न हि सुशिक्षितोऽपि वटु स्वस्कन्धमारोढु पटु ।

नोट—इसका भी स्वरादियों में पाठ श्रीनागेश के मतानुसार अप्रामाणिक है—देखो 'लघुशब्देन्दुशेखर'।

२७ यावत् +	१ अवधि (पर्यन्त)	स्तन्यत्यागं यावत् पुत्रयोरवेक्षस्व'। (उत्तरराम०) 'सर्पकोटरं यावत्'। (पञ्चतन्त्रे)
	२ जब (यदा)	यावदुत्थाय निरीक्षते तावद्धंसोऽवलोकित '(पञ्च०)
	३ जब तक	'यावद्वित्तोपार्जनसक्तस्तावन्निजपरिवारो रक्त'। 'यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहम्—' (भर्तृहरि)।
	४ उस समय तक, तब तक	'तद् यावद् गृहिणीमाहूय सङ्गीतकमनुतिष्ठामि'। 'यावदिमां छायामाश्रित्य प्रतिपालयामि'। (शाकु०)

नोट—'जितना' अर्थ में त्रिलिङ्गी 'यावत्' शब्द का भी बहुधा प्रयोग देखा जाता है। यथा—

"पुरे तावन्तमेवास्य तनोति रविरातपम्
दीर्घिकाकमलोन्मेषो यावन्मात्रेण साध्यते।" (कुमार०)

'यावान् अर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः"॥ (गीता)

२८ तावत् +	पहले (अन्य काम करने से पूर्व)	आर्ये! इतस्तावद् आगम्यताम्।
	तब तक	तावच्च शोभते मूर्खो यावत्किञ्चिन्न भाषते।

नोट— यावत्' की तरह 'तावत्' शब्द भी त्रिलिङ्गी परिमाणवाची हुआ करता है। यथा—

'यावती सम्भवेद् वृत्तिस्तावती स्यातुमहसि ।

२९ त्वै | विशेष | अथ त्वै प्रकृत्यते । [गणरत्नमहोदधौ]

| वितर्क | त्वस्त्वा एषोऽभिगच्छति । [गणरत्नमहोदधौ]

नोट—यह अव्यय ब्राह्मणग्रन्थों के कतिपय प्रयोगों के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं हो सका । शतपथ (माध्यन्दिनीय) के (१२ २ २ १२) में इसका प्रयोग देखा जाता है। एवम् अन्य ब्राह्मणों में भी क्वाचित्क प्रयोग हैं।

३० न्वै | विशेष वितर्क | को न्वा एषोऽभिगच्छति । [गणरत्नमहोदधौ]

नोट—कई लोग 'त्वै' के स्थान पर 'न्वै' का पाठ करते हैं। परन्तु ब्राह्मणग्रन्थों में दोनों का पाठ देखा जाता है। न्वै' का पाठ निदर्शनार्थ माध्यन्दिनीय शतपथ में (१२ ४ १ ३) के स्थान पर देखें।

३१ ह्वै | वितर्क | इसका उदाहरण व प्रयोग वर्तमान उपलब्ध संस्कृतसाहित्य में हमारे दृष्टिगोचर नहीं हुआ।

३२ रै | १ दान (देना) | रै करोति । दानं ददातीत्यर्थः ।

| २ अनादर | त्वं रै किं करिष्यसि ।

नोट—इस अव्यय के उपर्युक्त दोनों उदाहरण 'प्रक्रियाकौमुदी की 'प्रसादटीका' के हैं। 'प्रौढमनोरमा' में भी इन्हें उद्धृत किया गया है। अन्यत्र प्रयोग अन्वेषणीय है ।

३३ श्रौषट् | पहले स्वरादिगण में व्याख्या की जा चुकी है।

३४ वौषट् | पहले स्वरादिगण में व्याख्या की जा चुकी है।

३५ स्वाहा | देवताओं के निमित्त हविर्दान में | अग्नये स्वाहा ।

३६ स्वधा	पहले स्वरादियों मे व्याख्या की जा चुकी है ।	
३७ वषट्	पहल स्वरादियो मे व्याख्या की जा चुकी है ।	

नोट—स्वरादियों मे कथित श्रौषट् आदि अनेक अच वालो का यहा पुनग्रहण स्वरभेद के लिये ही है ।

३८ तुम्	तूँ २ कह कर अनादर करना	गुरु हुङ्कृत्य तुङ्कृत्य ’ ।

नोट—यहा 'तुम्' से उपयु क्त उदाहरणगत 'तुम्' के ग्रहण में हमारा मन सन्देह करता हे । आगे सुधीजन ही युक्तायुक्त को विचारें ।

३९ तथाहि +	किसी प्रसिद्ध बात के निदर्शन म	' त वेधा विदध नून महाभूतसमाधिना । तथाहि सर्वे तस्यासन् परार्थैकफला गुणा " ॥ [रघु०]

नोट—यह अव्यय 'तथा' और 'हि' इन दो अ ययों के समुदाय से रचा गया है ।

४० खलु +	१ निश्चय वस्तुत सचमुच	'न खल्वनिर्जित्य रघु कृती भवान्' (रघु०) । 'पुत्रादपि प्रियतर खलु तेन दानम्' (पञ्चतन्त्रे)
	२ अनुनय करना	'न खलु न खलु बाण सन्निपात्योयमस्मिन्' (शाकु०)
	३ जिज्ञासा पूछताछ	स खल्वधीते वेदम् ।
	४ नियम, अवधारण	'प्रवृत्तिसारा खलु मादृशा धिय' (गणरत्नमहोदधौ) प्रवृत्तिसारा एवेत्यर्थं ।
	५ निषेध	खलु कृत्वा ।['अलखल्वो प्रतिषेधयो '(३ ४ १८)]

नोट—'न पादादौ खल्वादय ' वाला वामनसूत्र निषेधार्थकभिन्न 'खलु' के लिये है ।

४१ किल +	१ प्रसिद्ध बात कहने में	'कंसं जघान किल वासुदेवः'। बभूव योगी किल कार्तवीर्यः।
	२ अरुचि	'एवं किल कश्चिद्वन्ति'। [केषाञ्चिदेव कथनं वक्तुररुचिविषय इत्यर्थः।]
	३ न्यक्कार तिरस्कार	स किल योत्स्यते'। [तस्य योधनशक्तिराहित्य द्योतनात् तिरस्कारो गम्यते।]
	४ सम्भावना	पार्थः किल विजेष्यते कुरून्' [पार्थकर्तृकं कुरुविजय सम्भावनाविषय इत्यर्थः।]
	५ अलीक अवास्त-विक बात कहने में	'प्रसह्य सिंहः किल तां चकर्ष' (रघु०)। सिंहकर्तृक नन्दिनीकर्षणं वस्तुतोऽलीकमित्यर्थः।
४२ अथो	समुच्चय	'स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या— (मनु०)
	आनन्तर्य	'इति प्रविश्याभिहिता द्विजन्मना, मनोगतं सा न शशाक शंसितुम्। अथो वयस्यां परिपार्श्ववर्तिनीम्, विवर्तितानञ्जननेत्रमैक्षत॥" (कुमार०)

नोट—इस अव्यय के भी प्रायः 'अथ' के समान अर्थ होते हैं। किञ्च—इसके आगे स्वर आने पर 'ओत् (५६) सूत्र द्वारा प्रगृह्य सञ्ज्ञा हो जाती है। तब प्रकृतिभाव होने के कारण सन्धि नहीं होती। यथा—अनेन व्याकरणमधीतमथो एनं छन्दोऽध्यापयेति।

४३ अथ

इसका विवेचन स्वरादियों में हो चुका है। स्वरादियों में इस के पाठ का प्रयोजन बतलाते हुए श्रीभट्टोजिदीक्षित 'प्रौढमनोरमा' में लिखते हैं— 'स्वरादियों में इसके पढ़ने का प्रयोजन यह है कि मङ्गलरूपसत्त्ववाची 'अथ' शब्द की भी अव्ययसञ्ज्ञा सिद्ध हो जावे। यथा नैषध में— (१५.६)।

"उदस्य कुम्भीरथ शातकुम्भजाश्चतुष्कचारुत्विषि वेदिकादरे।
यथाकुलाचारमथावनीन्द्रजां पुरन्ध्रिवर्गः स्नपयाम्बभूव॥"

यहा 'अथ स्नपयाम्बभूव' का अर्थ 'मङ्गल स्नपन चकार' ऐसा है। निपातों मे पढ़ा गया यह 'अथ' शब्द तो स्वरूप से ही मङ्गलजनक होता है किन्तु उसका वाचक नहीं होता।'

तत्त्वबोधिनीकार श्रीज्ञानेन्द्रस्वामी आदि ने दीक्षितजी के इसी कथन का अनुकरण किया है। परन्तु दीक्षितजी के ये विचार हमें कुछ रुचिकर प्रतीत नहीं होते, क्योंकि यदि ऐसा माना जावे तो केवल स्वरादियों के अन्तर्गत पाठ से ही काम चल सकता है निपातों में गिनने की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। हमारा तो कुछ ऐसा विचार है कि स्वरादियों में इस का पाठ ही प्रक्षिप्त है। इसका पाठ केवल चादियो में ही है। इस विषय पर विशेष विचार 'सिद्धान्तकौमुदी' की व्याख्या में व्यक्त करेंगे।

४४ सुष्ठु + | प्रशस्त अच्छा | 'सुष्ठु शोभसे आर्यपुत्र'।

४५ स्म + | भूतकाल में | 'क्रीणन्ति स्म प्राणमूल्यैर्यशासि' (माघे)

नोट—यहा भूतकाल में भी 'लट् स्मे' (३ २ ११८) तथा 'अपरोक्षे च' (३ २ ११९) सूत्र से लट् हो जाता है।

४६ आदह

१ हिंसा	'आदहारीन् पुरदर'। [गणरत्नमहोदधौ]
२ उपक्रम	'आदह भक्तस्य भोजनाय' [गणरत्नमहोदधौ]
३ कुत्सन	'दुर्वादह यदि करिष्यसि' [गणरत्नमहोदधौ]

नोट—इस अव्यय का हमें कहीं प्रयोग नहीं मिल सका। श्री दीक्षितजी को भी इसका प्रयोग उपलब्ध नहीं हुआ यह उन्होंने स्पष्ट 'शब्दकौस्तुभ' मे स्वीकार किया है।

उपसर्ग विभक्ति स्वर प्रतिरूपकाश्च। (गणसूत्रम्)

अर्थः—उपसर्गप्रतिरूपक, विभक्तिप्रतिरूपक तथा स्वरप्रतिरूपक भी चादियों में पढ़ने चाहिये। जो वस्तुत उपसर्ग तो न हों किन्तु उपसर्ग के समान प्रतीत हों उन्हें

'उपसर्गप्रतिरूपक' कहते हैं। इसीप्रकार—विभक्ति के समान प्रतीत होने वाले 'विभक्ति प्रतिरूपक' तथा अच् के समान प्रतीत होने वाले 'स्वरप्रतिरूपक' कहाते हैं।

(उपसर्गप्रतिरूपक यथा—)

४७ अवदत्तम् | दिया हुआ किमन्नम् अवदत्तं त्वया ?

नोट—यहां 'अव' के उपसर्ग न होने के कारण 'दा' धातु को 'अच उपसर्गात्तः' (७.४.४७) सूत्र द्वारा तान्त आदेश नहीं होता। 'दो दद् घोः' (७.४.४६) सूत्र से 'दद्' आदेश ही होता है। ध्यान रहे कि 'अव' उपसर्ग के योग में 'अवत्तम्' रूप बनता है। इसी प्रकार—

"अवदत्तं विदत्तं च प्रदत्तञ्चादिकर्मणि।
सुदत्तमनुदत्तञ्च निदत्तमिति चेष्यते ॥"

(विभक्तिप्रतिरूपक यथा—)

४८ अहंयु | अहङ्कारवान् | "अहंयुनाऽथ क्षितिप शुभंयु रूचे वचस्तापसकुञ्जरेण" । [भट्टि० १.२०]

नोट—'अहम्' यह विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय है। 'अस्मद्' शब्द के प्रथमा के एकवचन के समान प्रतीत होता है परन्तु है उससे नितान्त भिन्न ही। इस अव्यय से 'अहंशुभमोर्युस्' (११९२) सूत्र द्वारा मत्वर्थीय 'युस्' प्रत्यय हो जाता है। अहम् अस्यास्तीति—'अहंयु'। 'अहंयु' शब्द उकारान्त त्रिलिङ्गी हो जाता है (ध्यान रहे कि इसे सकारान्त समझना भूल है। सित्त्व पदत्वार्थ है। अतः 'मोऽनुस्वारः' से अनुस्वार हो जाता है)। 'अहंयु' शब्द में यदि 'अस्मद्' शब्द होता तो 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' (७.२.९८) द्वारा मपर्यन्त मद् आदेश होकर—'मद्यु' ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता।

इसीप्रकार 'शुभम्' (पवित्रता व भाग्य) इस विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय से भी 'युस्' प्रत्यय होकर—'शुभंयु' शब्द निष्पन्न होता है। इस का उदाहरण भी ऊपर साथ ही दे दिया है।

चिरेण, चिराय, चिरात्, चिरे, चिरस्य, अकस्मात्, मम ['क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैः शिरसां सतीव' (कुमार० १ १२), 'ममत्व गतराज्यस्य', 'ममता मता'] इत्यादि अव्ययों को भी कई लोग स्वरादियों में न पढ कर चादियों में पढ़ते हैं। ये सब विभक्ति प्रतिरूपक अव्यय हैं। विभक्ति न होने पर भी इन में विभक्ति का भ्रम होता है। इन में सुबन्तविभक्ति का भ्रम होने से इन को सुबन्तप्रतिरूपक अव्यय भी कहते हैं। तिङन्तप्रतिरूपक अव्यय का उदाहरण यथा—

४९ अस्तिक्षीरा | क्षीरवती गौ आदि | अस्ति ममैकाऽस्तिक्षीरा गौः।

नोट—अस्ति (विद्यमानम्) क्षीरं (दुग्धम्) यस्याः सा = अस्तिक्षीरा। बहुव्रीहिसमास। यहां 'अस्ति' यह विद्यमानार्थं विभक्ति प्रतिरूपक अव्यय है। यदि यह तिङन्त होता तो इसका सुबन्त 'क्षीर' शब्द के साथ समास न हो सकता। [देखो—'अनेकमन्यपदार्थे' (६३५)]।

वस्तुतः 'अस्ति' को तिङन्तप्रतिरूपक अव्यय मानना उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि इसका पीछे स्वरादियों में पाठ आ चुका है। अतः इसकी अव्ययसञ्ज्ञा तो सिद्ध है ही। इसके स्थान पर 'अस्मि' (मैं) का उदाहरण यहां के लिये युक्त है। 'अस्मि' के उदाहरण यथा—

१ "त्वाम् अस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति" (साहित्यदर्पणे)

२ "दासे कृतागसि भवत्युचितः प्रभूणाम्
पादप्रहार इति सुन्दरि ! नास्मि दूये"।

३ "आसमृतेरस्मि जगत्सु जातः" (किरा० ३।६)।

योगशास्त्र में प्रसिद्ध 'अस्मिता' शब्द भी इस अव्यय से निष्पन्न होता है। इसीप्रकार—अस्तु, आह, आस प्रभृति भी तिङन्तप्रतिरूपक अव्यय हैं।

(स्वरप्रतिरूपक यथा—)

५० अ	आक्षेप	अ पचसि त्व जाल्म !
	सम्बोधन	अ अनन्त !
५१ आ	१ पूर्वप्रक्रान्त वाक्य के अन्यथा करने म	आ एव नु मन्यसे । [अब तू ऐसा मानता है । अर्थात् पहले तू ऐसा नहीं मानता था अब मानने लगा है ।]
	२ स्मरण	आ एव किल तत् । [ओह ! वह ऐसा ही है ।]
५२ इ	सम्बोधन, विस्मय	इ इन्द्र पश्य ।
५३ ई	सम्बोधन	ई ईश !
५४ उ	सम्बोधन, वितर्क	उ उमेश !
५५ ऊ	सम्बोधन	ऊ ऊषरे बीज वपति ।
५६ ए	,,	ए इतो भव ।
५७ ऐ	,,	ऐ इतो भव ।
५८ ओ	,,	ओ श्रावय ।
५९ औ	,,	औ महात्मन् ! ।

नोट—इन अव्ययों से अच् परे होने पर 'निपात एकाजनाङ्' (५५) सूत्र द्वारा प्रगृह्यसञ्ज्ञा होकर प्रकृतिभाव हो जाता है । ये सब स्वरप्रतिरूपक अव्यय हैं ।

६० पशु	ठीक तरह	लोध नयन्ति पशु मन्यमाना ।
६१ शुकम्	शीघ्र	शुक गच्छति । [प्रक्रियाकौमुदी की प्रासादटीका]

नोट—इस के प्रयोग अन्वेषणीय हैं ।

६२ यथाकथाच	अनादर	'यथाकथाच दीयते' [गणरत्नमहोदधौ]

नोट—प्रयोग गवेषणीय हैं ।

६३ पाट्	सम्बोधन	पाट् पान्था !
६४ प्याट्	,,	प्याट् पाठका !
६५ अङ्ग +	सम्बोधन	'तृणेन कार्य भवतीश्वराणा किमङ्ग ! वाग्घस्तवता नरेण' । 'प्रभुरपि जनकानामङ्ग भो याचकस्ते ।

नोट—'अङ्ग' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं । यथा—

' क्षिप्रे च पुनरर्थे च सङ्गमासूययोस्तथा ।
हर्षे सम्बोधने चैव ह्यङ्गशब्दः प्रयुज्यते ॥''

६६ है	सम्बोधन	है राम ! पाहि माम् ।
६७ हे +	,,	हे राम ! मा पालय ।
६८ भोस् +	,,	क कोऽत्र भो ! दौवारिकाणाम् ।
६९ अये +	,,	अये ! गौरीनाथ ! त्रिपुरहर ! शम्भो ! त्रिनयन !
७० घ	पादपूर्त्ति, हिंसा प्रातिलोम्य	घ हिनस्ति मृग व्याधा । [प्रक्रियाकौमुदी प्रासादटीका]

नोट——इस अव्यय का प्रयोग आधुनिक उपलब्ध संस्कृतसाहित्य में नहीं मिलता । अथर्ववेद में 'घ' का पाठ तीन स्थानों पर आया है परन्तु वहा अव्यय का प्रयोग न होकर धातु का रूप प्रयुक्त किया गया है ।

७१ विषु	साम्य	विषु विद्यतेऽस्येति—विषुवत् । समरात्रिन्दिव काल (Equinox) इत्यर्थ । उक्तञ्च भारते— "भवति सहस्रगुण दिनस्य राहो विषुवति चाक्षयमश्नुते फलम् ॥"
	नाना	उदाहरणम्मृग्यम् ।
७२ एकपदे	शीघ्र	'निहन्त्यरीनेकपदे य उदात्त स्वरानिव' (माघे०) ।

	अचानक	कथमेकपदे निरागसं जनमाभाष्यमिमं न मन्यसे' (रघु० ८ ४८)
७३ पुत्	कुत्सा गर्हा	उदाहरणम्मृग्यम् ।
	नोट—शब्दकौस्तुभ प्रौढमनोरमा, व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि आदि ग्रन्थों में यहां 'पुत्' पाठ रखकर पुत् = कुत्सितमवयवं छादयतीति—पुच्छम्'' ऐसा उदाहरण भी लिखा हुआ है ।	
७४ आत	इतोऽपि = इस कारण से भी	'आतश्च सूत्रत एव' (महाभाष्ये पस्पशाह्निके)

आकृतिगणोऽयम् ।

यह चादिगण भी आकृतिगण है। प्रयोग में देखे जाने वाले कुछ अन्य शब्द यथा—

१ आहोस्वित् = विकल्प । २ उताहो = विकल्प । ३ दिष्ट्या = बधाई व आनन्द । ४ चाटु = चापलूसी । ५ चटु = चापलूसी । ६ इति = समाप्ति । ७ इव = सादृश्य, तरह । ८ अद्यत्वे = आजकल । ९ जातु = कदाचित् । १० नो = नहीं । ११ अह्नाय = शीघ्र । १२ अहो = आश्चर्य । १३ व = सादृश्य (मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियो वत्सतरौ मम) । १४ प्रसह्य = बलपूर्वक, जबरदस्ती । १५ किञ्च = और भी, इसके अतिरिक्त । १६ ते = तुम से (त्वया) । १७ मे = मुझ से (मया) ['तेमेशब्दौ निपातेषु (५ २ १०) इति काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ । श्रुतं ते (त्वया) वचनं तस्य', 'विलस्य वाणी न कदापि मे (मया) श्रुता' ।] इत्यादि शिष्टग्रन्थों के प्रयोगानुसार जान लेने चाहियें ।

यहां यह ध्यान रखने योग्य है कि यद्यपि स्वरादि और चादि दोनों आकृतिगण हैं तथापि जिन में निपातस्वर (आद्युदात्त) इष्ट हो उन्हें चादियों में और जिन में इष्ट न हो उन्हें स्वरादियों में गिनना चाहिये । किञ्च जहां दोनों प्रकार के स्वर अभीष्ट हों उन को दोनों गणों में पढ़ना युक्त है । इन चादियों से अतिरिक्त अन्य भी बहुत से निपात होते हैं । उन सब की भी 'स्वरादिनिपातमव्ययम्' (३६७) सूत्र से अव्ययसञ्ज्ञा हो जाती है । इन सब का विवेचन जानने के इच्छुक 'प्राग्रीश्वरान्निपाताः' (१ ४ ५६) के अधिकार को अष्टाध्यायी व काशिकावृत्ति में देखें ।

प्र' आदि भी निपाताधिकार में प्रादय (१ ४ ५८) द्वारा निपातसञ्ज्ञक होकर अव्ययसञ्ज्ञक हो जाते हैं। इन प्रादियो का क्रिया के योग में तथा क्रियायोग के अभाव में भी स्वतन्त्ररीत्या प्रयोग हुआ करता है। क्रिया के योग मे इन की (३५) सूत्र से उपसर्गसञ्ज्ञा विशेष है। निपातसञ्ज्ञा तो दोनों अवस्थाओ मे ही अक्षुण्ण बनी रहती है।

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्— ३६८ तद्धितश्चासर्वविभक्तिः ।१।१।३७॥

यस्मात् सर्वा विभक्तिर्नोत्पद्यते स तद्धितान्तोऽव्ययं स्यात्।

अर्थ—जिस तद्धितान्त से वचनत्रयात्मिका सब विभक्तियां उत्पन्न नहीं हो सकतीं वह अव्ययसञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—तद्धित ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। असर्वविभक्ति ।१।१। अव्ययम् ।१।१। [स्वरादिनिपातमव्ययम्' से] समास—नोत्पद्यन्ते सर्वा वचनत्रयात्मिका* विभक्तयो यस्मात् सोऽसर्वविभक्ति, बहुव्रीहिसमास। अर्थ—(असर्वविभक्तिः) जिस से वचनत्रयात्मिका सम्पूर्ण विभक्तियां उत्पन्न नहीं हो सकतीं वह (तद्धित = तद्धितान्त†) तद्धितान्त (च) भी (अव्ययम्) अव्ययसञ्ज्ञक होता है।

यथा—'अत' (इस से) इस तद्धितान्त से सब विभक्तियां उत्पन्न नहीं हो सकतीं अर्थात् 'इस से को, इस के द्वारा, इसके लिये' इत्यादि विभक्तियों वाला व्यवहार इस से नहीं हो सकता। इसलिये यह अव्ययसञ्ज्ञक है। इसलिये—'अत्रत' 'तत्रत' 'कुत्रत' आदि प्रयोग ठीक नहीं।

---

* "एकवचनमुत्सर्गतः करिष्यते" इस महाभाष्य के कथन से सब विभक्तियों का एकवचन तो सब शब्दों से स्वतः सिद्ध है ही, अतः 'असर्वविभक्ति' यह कथन व्यर्थ हो जाता है। इसलिये यहां इसका यह आशय समझना चाहिये कि—जिस तद्धितान्त से सब विभक्तियों के सब वचनों की उत्पत्ति न हो उसकी अव्ययसञ्ज्ञा होती है।

† केवलस्य तद्धितस्य प्रयोगाभावेन फलाभावात् सञ्ज्ञाविधावपि तदन्तविधिरिति भावः।

प्रशस्त पचतीति—पचतिरूपम् [प्रशंसायां रूपप्' (५ ३ ६६)] ईषत् पचतीति—पचतिकल्पम् [ईषदसमाप्तौ कल्पब ' (५ ३ ६७)]। यहां इन तद्धितान्तों से भी सब वचनत्रयात्मिका विभक्तियां उत्पन्न नहीं हो सकतीं अत इन की भी अव्ययसञ्ज्ञा होकर सुप का लुक प्राप्त होता है—जो अत्यन्त अनिष्ट है। किञ्च वचनत्रयात्मिका सब विभक्तियां तो उभय शब्द से भी उत्पन्न नहीं होतीं और यह तद्धितान्त भी है अत इसकी भी अव्यय सञ्ज्ञा होकर सुब्लुक् आदि दोष प्राप्त होते हैं। इस पर उन उन तद्धितप्रत्ययों का परिगणन करते हैं जिन के अन्त में आने से अव्यय सञ्ज्ञा होती है। †

[लघु०] परिगणन कर्त्तव्यम्। तसिलादय प्राक्पाशप । शस्प्रभृतय प्राक् समासान्तेभ्य । अम्। आम्। कृत्वोऽर्था । तसि-वती। ना नाञौ। एतदन्तमव्ययम्। अत इत्यादि।

अर्थ —उन तद्धित प्रत्ययों का परिगणन करना चाहिये

(क) 'तसिल्' से लेकर 'पाशप्' के पूर्व तक सब प्रत्यय।

(ख) 'शस्' से लेकर समासान्तों के पूर्व तक सब प्रत्यय।

(ग) 'अम्' और 'आम्' प्रत्यय।

(घ) 'कृत्वसुच्' तथा उस के अर्थ वाले अन्य प्रत्यय।

(ङ) 'तसि' और 'वति' प्रत्यय।

(च) 'ना' और 'नाञ्' प्रत्यय।

ये तद्धितप्रत्यय जिन के अन्त में हों उनकी अव्ययसञ्ज्ञा होती है। यथा— अत ' (यहां 'तसिल्' प्रत्यय अन्त में है)।

व्याख्या— उपर्युक्त सब प्रत्यय अष्टाध्यायी के क्रम से कहे गये हैं। जिन्हें अष्टाध्यायी कण्ठस्थ होगी उन के लिये यह सब समझना अत्यन्त सुकर है। हम कोष्ठ में ससूत्र इनका स्पष्टीकरण करते हैं—

---

† यहां यह ध्यान रहे कि इस परिगणन के विना दोषनिवृत्ति असम्भव है, अत यह 'तद्धितश्चासर्वविभक्ति ' सूत्र व्यर्थ सा हो जाता है। अत एव प्राचीन वैयाकरणों ने इस परिगणन को स्वरादिगण में सम्मिलित कर दिया है। [देखो—काशिकावृत्ति १ १ ३७]

(क) तसिलादय प्राक्पाशपः।

प्रत्यय	सूत्र	सार्थ उदाहरण व स्पष्टीकरण
तसिल	'पञ्चम्यास्तसिल्' (५ ३ ७)	कुत = किस से, सवत = सब से, अत = इस से यत = जिस से, तत = उस से, बहुत = बहुतो से, इत्यादि।
	पर्यभिभ्याञ्च' (५ ३ ६)	परित = चहु ओर, अभित = दोनो ओर।
त्रल	सप्तम्यास्त्रल्' (५ ३ १०)	कत्र = कहा, तत्र = वहा, यत्र = जहा, अत्र = यहा, सवत्र = सब जगह, अन्यत्र = दूसरी जगह, बहुत्र = बहुत जगह, इत्यादि।
ह	'इदमो ह' (५ ३ ११)	इह = यहा।
	'वाह च च्छन्दसि' (५ ३ १३)	कुह = कहा (वेद मे ही प्रयोग होता है)।
अत्	'किमोऽत्' (५ ३ १२)	क्व = कहा।
दा	'सर्वैकान्यकिंयत्तद काले दा' (५ ३ १५)	सवदा = सदा, सदा = हमेशा, कदा = कब, एकदा = एक बार, अ यदा = अन्य बार, यदा = जब, तदा = तब।
र्हिल	'इदमो र्हिल्' (५ ३ १६)	एतर्हि = इस समय।
	'अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम्' (५ ३ २१)	कर्हि = कब, यर्हि = जब, तर्हि = तब, इत्यादि।
धुना	'अधुना' (५ ३ १७)	अधुना = अब। [भाष्य के मत से 'अधुना' प्रत्यय है, इदम्' को इश्' होकर उसका लोप हो जाता है]
दानीम्	'दानीञ्च (५ ३ १८)	इदानीम् = अब।
	'तदो दा च' (५ ३ १९)	तदानीम् = तब।

द्यस् आदि (निपातन)	'सद्य परुत्परार्यैषमः परेद्यव्यद्य पूर्वेद्युरन्येद्युरन्यतरेद्युरितरेद्युर परेद्युरधरेद्युरुभयेद्युरुत्तरेद्यु' (५ ३ २२)	सद्य = उसी समय, फौरन, तत्काल । परुत = पूवले वर्ष (में)। परारि = पहिले से पहिले वर्ष (में) परार । एषमस् (एषम)= इस वर्ष । परेद्यवि = परले दिन, परसों। अद्य = आज । पूर्वेद्युस् ()= पूर्व दिन । अन्येद्युस् ( )= अन्य दिन । अन्यतरेद्युस् ( ) = अन्य से अन्य दिन । इतरेद्युस ( )= अन्य दिन। अपरेद्युस् ( )= अन्य दिन। अधरेद्युस् ( ) = परले दिन, परसो । उभयेद्युस् ( )= दोनों दिन (में) । उत्तरेद्युस् ( )= अगले दिन ।
	'द्युश्चोभयाद्वक्तव्य '	उभयद्युस ( ) = दोनों दिन ।
थाल्	'प्रकारवचने थाल्' (५ ३ २३)	यथा = जैसे, तथा = वैसे सर्वथा = सब प्रकार से, उभयथा = दोनों तरह से, इत्यादि ।
थमु	इदमस्थमु ' (५ ३ २४)	इत्थम् = इस प्रकार ।
	'किमश्च' (५ ३ २५)	कथम् = कैसे, किस प्रकार ।
था	'था हेतौ च च्छन्दसि" (५ ३ २६)	कथा = किस कारण से [वेद में ही प्रयोग होता है] ।
अस्ताति	दिक्शब्देभ्य सप्तमी पञ्चमी-प्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्व स्ताति ' (५ ३ २७)	पुरस्तात् = पूर्व में, पूर्व से, पूर्व (दिशा, देश और काल तीनों के लिये)। इसी प्रकार—अधस्तात् इत्यादि ।
अतसुच्	'दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच्' (५ ३ २८)	दक्षिणत = दक्षिण में, दक्षिण से दक्षिण (दिशा और देश केवल दो के लिये)। उत्तरत = उत्तर में, उत्तर से उत्तर (दिशा, देश और काल तीनों के लिये)।

	'विभाषा परावराभ्याम्' (५ ३ २९)	परत = पर मे पर से, पर। अवरत = पीछे मे, पाछे से पीछे। (दिशा, देश और काल)
अस्तातेर्लुक्	'अञ्चेर्लुक्' (५ ३ ३०)	प्राक = पूव मे, पूव से, पूर्व (दिशा देश काल)।
रिल रिष्टातिल्	'उपर्युपरिष्टात्' (५ ३ ३।)	उपरि उपरिष्टात् } ऊपर मे, ऊपर से, ऊपर (दिग्देशकाल)।
आति	'पश्चात् (५ ३ ३१)	पश्चात् = पीछे ['अस्ताति' की तरह अर्थ]
अ आ	'पश्च पश्चा च च्छन्दसि' (५ ३ ३३)	पश्च पश्चा } पीछे (अस्तात्यर्थे, वेद एव प्रयोग ।)
आति	'उत्तराधरदक्षिणादाति' (५ ३ ३४)	उत्तरात् = अस्तात्यर्थे, यथा - उत्तरस्तात्। अधरात् = अस्तात्यर्थे, यथा—अधरस्तात्। दक्षिणात् = अस्तात्यर्थे, यथा — दक्षिणस्तात्।
एनप	'एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः' (५ ३ ३५)	उत्तरेण, अधरेण, दक्षिणेन। सब जगह 'अस्ताति' वाला अर्थ केवल पञ्चमी का ग्रहण नहीं, एवमग्रे।
आच्	'दक्षिणादाच्' (५ ३ ३६)	दक्षिणा (अस्तात्यर्थे)।
आहि	'आहि च दूरे' (५ ३ ३७)	दक्षिणाहि (अस्तात्यर्थे)।
	'उत्तराच्च' (५ ३ ३८)	उत्तराहि (अस्तात्यर्थे)।
असि	पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम्' (५ ३ ३९)	पुरस् ( ), अधस् ( ), अवस् ( )। (अस्ताति की तीनों विभक्तियों वाला अर्थ)
धा	सङ्ख्याया विधार्थे धा' (५ ३ ४२)	एकधा = एक प्रकार, द्विधा = दो प्रकार, त्रिधा = तीन प्रकार। इसी प्रकार—चतुर्धा, पञ्चधा, षोढा, षड्धा आदि।

थ्यमुञ्	'एकाद्धो ध्यमुञन्यतरस्याम्' (५ ३ ४४)	एकध्यम् = एक प्रकार ।
धमुञ्	'द्वित्र्योश्च धमुञ'(५ ३ ४५)	द्वधम् = दो प्रकार त्रेधम् = तीन प्रकार ।
एधाच	'एधाच्च' (५ ३ ४६)	द्वेधा = दो प्रकार त्रधा = तीन प्रकार ।

अब इस के आगे 'याप्ये पाशप्' (५ ३ ४७) इस सूत्र से पाशप् प्रत्यय का विधान किया जाता है। 'पाशप स पूर्व का ग्रहण होने से पाशप प्रत्ययान्त की अव्यय सञ्ज्ञा नहीं होती। अतएव—याप्या (निन्दिता) वैयाकरण = वैयाकरणपाश इत्यादियो में सुप् का लुक् नहा होता। सुप का लुक् तो अव्यय स परे ही हुआ करता है। देखो—'अव्ययादाप्सुप' (३७२)।

(ख) शस्प्रभृतय. प्राक् समासान्तेभ्यः ।

प्रत्यय	सूत्र	सार्थ उदाहरण व स्पष्टीकरण
शस्	'बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम्' (५ ४ ४२) इत्यादि	बहुश = बहुत (कर्मादिकारक)। अल्पश = थोड़ा (कर्मादिकारक)। इत्यादि।
तसि	'प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसि ' (५ ४ ४४)	प्रद्युम्ना वासुदेवत प्रति [प्रद्युम्न वासुदेव का प्रतिनिधि है]। अभिमन्युरर्जुनत प्रति।
	'आद्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम् (वार्त्तिक)	आदौ इति आदित । मध्ये इति—मध्यत ।
	'अपादाने चाहीयरुहो ' (५ ४ ४५)	चौरादिति चौरतो बिभेति। अध्ययनादिति अध्ययनत पराजयते ।
	'अतिग्रहाव्यथनक्षेपेष्वकर्त्तरि तृतीयाया ' (५ ४ ४६)इत्यादि	वृत्तेनेति वृत्ततोऽतिगृह्यते । चारित्रेणेति चारित्रतोऽतिगृह्यते । इत्यादि ।
च्वि	'अभूततद्भावे कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्त्तरि च्वि ' (५ ४ ५०) इत्यादि ।	अशुक्ल शुक्ल सम्पद्यते त करोतीति शुक्लीकरोति। इत्यादि ।

साति	'विभाषा साति कात्स्न्र्ये' (५ ४ ५२) इत्यादि।	उदकीभवति—उदकसाद्भवति लवणम्। इत्यादि
त्रा	देये त्रा च (५ ४ ५५) इत्यादि।	ब्राह्मणत्रा करोति। ब्राह्मणाधीन देय करोतीत्यर्थ। 'राजा स यज्वा विबुधव्रजत्रा कृत्वाध्वराज्योपमयेव राज्यम्'। (नैषध-३ २४)
डाच्	'अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच्' (५ ४ ५७) इत्यादि	पटपटाभवति। दमदमाकरोति। इत्यादि॥

इससे आगे समासान्त आरम्भ हो जाते हैं। तदन्तों की अव्ययसञ्ज्ञा नहीं होती। यथा—व्यूढोरस्क।

(ग) 'अम्' और 'आम्'।

अम्	'अमु च छन्दसि' (५ ४ १२)	'प्रतर नयाम'। [वेद एव]
आम्	'किमेत्तिङव्ययघ दाम्वद्रव्यप्रकर्षे' (५ ४ ११)	पचतितराम्। पचतितमाम्। [अच्छा पकाता है।] इत्यादि।

(घ) कृत्वोऽर्थाः॥

कृत्वसुच्	'सख्याया क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' (५ ४ १७)	पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते। [पाञ्च बार खाता है] सप्तकृत्व = सातबार।
सुच	'द्वित्रिचतुर्भ्य सुच्' (५ ४ १८)	द्वि = दो बार। त्रि = तीनबार। चतु = चार बार।
	'एकस्य सकृच्च' (५ ४ १९)	सकृत् = एक बार।
धा	'विभाषा बहोर्धाऽविप्रकृष्टकाले' (५ ४ २०)	बहुधा = अनेक बार।

(ङ) 'तसि और वति' प्रत्यय ।

तसि	तसिश्च' (४ ३ ११३)	सुदामत । पीलुमूलत । हिमवत्त ।T
वति	'तेन तुल्य क्रिया चेद्वति ' 'तत्र तस्येव (५ ४ ११४-११६) इत्यादि ।	ब्राह्मणेन तुल्य वत्तत इति ब्राह्मणवत् । मथुर यामिव—मथुरावत् स्रुघ्ने प्राकार । इत्यादि ।

(च) 'ना' और 'नाञ' प्रत्यय ।

ना नाञ्	विनञ्भ्या नानाञौ न सह (५ २ २७)	विना = पृथक् नाना = पृथक	यहा का वक्तव्य पीछे स्वरादिगण म (५० ५१) शब्दों पर लिख चुके हैं।

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्— **३६६ कृन्मेजन्त । १ । १ । ३८ ॥**

कृद्यो मान्त एजन्तश्च तदन्तमव्यय स्यात् । स्मारम् स्मारम । जीवसे । पिबध्यै ॥

अर्थ—मकारान्त व एजन्त कृत्प्रत्यय जिस के अन्त म हो उस की अव्ययसञ्ज्ञा होती है।

व्याख्या—कृत । १ । १ । मेजन्त । १ । १ । अव्ययम् । १ । १ । [स्वरादिनिपातमव्ययम्' से] समास —म् च एच् च = मेचौ । इतरेतरद्वन्द्व । मचौ अन्ते यस्य स मेजन्त । बहुव्रीहिसमास सौत्रमत्वात् कुत्वाभाव । ध्यान रहे कि केवल कृत्प्रत्यय का प्रयोग नहीं हो सकता अत सञ्ज्ञाविधि में भी तदन्तविधि होकर 'कृत् से 'कृदन्त' का ग्रहण होता है। अथ —(मेजन्त) मकारान्त और एजन्त (कृत = कृदन्त) जो कृत्, वह जिसके अन्त में हो ऐसा शब्द (अव्ययम्) अव्ययसञ्ज्ञक होता है।

णमुल , कमुल, खमुञ् , तुमुन्—ये चार प्रत्यय ही कृत्प्रत्ययों में मान्त होते हैं। इनके उदाहरण यथा—

---

† ध्यान रहे कि यहाँ का 'तसि' प्रत्यय पीछे शस् प्रभृति मे आए हुए 'तसि' प्रत्यय से भिन्न है।

णमुल्—स्मार स्मारम्। स्मृ चिन्तायाम्' (भ्वा० प०) धातु से आभीक्ष्ण्ये णमुल च' (३ ४ २२) सूत्र द्वारा णमुल् प्रत्यय, अनुब धलोप, अचो ञ्णिति' (१८२) से वृद्धि और रपर करने से—'स्मारम्'। अब नित्यवीप्सयो' (८ १ ४) से द्वि व हाकर—स्मार स्मारम्' प्रयोग सिद्ध होता है †। यहा अ त म अम् (णमुल) यह कृत प्रत्यय विद्यमान रहने स अव्ययसञ्ज्ञा हो जाती है। अ ययसञ्ज्ञा हाने म कृद तत्वात् सुप् की उत्पत्ति होने पर वक्ष्यमाण (३७२) सूत्र स उसका लुक हो जाता है। 'स्मार स्मार गुरोर्वच' (प्रौढमनोरमा) [गुरु जी के वचनो का बार बार स्मरण कर क]।

कमुल्—'अग्निर्वै दवा विभाज नाशक्नुवन्' (विभक्तुमित्यथ)। यहा शकि णमुल्कमुलौ' (३ ४ १२) द्वारा णमुल् प्रत्यय हो जाता है। इसी सूत्र से 'अपलुप नाशकत्' (अपलोप्तुमित्यर्थं) यहा कमुल्' प्रत्यय हो जाता है।

खमुञ्—चौरङ्कारम् आक्रोशति'। यहा 'कृ' धातु स कमण्याक्रोशे कृञ खमुञ्' (३ ४ २५) सूत्र द्वारा 'खमुञ्' प्रत्यय हो जाता है।

तुमुन्—पठितुम् (पढ़ने के लिये), भवितुम् (होने के लिये) इत्यादियों में तुमुन्ण्वुलौ—' (८४६) आदि सूत्रो से 'तुमुन् प्रत्यय होता है।

ध्यान रहे कि णमुल् आदि चारों कृत्प्रत्यय अनुबन्धों का लाप हो जाने से मकारान्त हो जाते हैं। यथा—णमुल्—अम् कमुल्—अम्, खमुञ—अम्, तुमुन्—तुम्।

कृत्प्रत्ययों में एजन्तप्रत्यय [एकारान्त, ओकारा त, ऐकारान्त, औकारान्त] तुमर्थे से—' (३ ४ ६) आदि सूत्रो से वेद म विधान किये जाते है। तदन्तों की भी अ ययसञ्ज्ञा हाती है। उदाहरण यथा—

प्रत्यय	उदाहरण	विधायकसूत्र	प्रत्यय	उदाहरण
से	वक्षे	तुमर्थे सेसेनसेअसेन्क्सेकसेनध्यैअध्यैन्कध्यैकध्यैन्शध्यैशध्यैन्तवैतवेङ्तवेनः (३ ४ ९)	कध्यै	आहुवध्यै
सेन्	एषे		कध्यैन्	आहुवध्यै
अस	जीवस		शध्यै	मादयध्यै
असेन्	जीवस		शध्यैन्	पिबध्यै
क्से	प्रेषे		तवै	दातवै
कसेन्	श्रियसे		तवेङ्	सूतवे
अध्यै	उपाचरध्यै		तवेन्	कर्त्तवे
अध्यैन्	उपाचरध्यै			

† आभ्यानार्थे णिचि मित्वे ह्रस्वे 'चिण्णमुलो' इति वा दीघ।

प्रत्यय	उदाहरण	सूत्र
निपातन	प्रयै, रोहिष्यै अव्यथिष्यै	'प्रयै रोहिष्यै अव्यथिष्यै' (३।४।१०)
तवै	म्लेच्छितवै	'कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः' (३।४।१४)
केन्	अवगाहे	

इत्यादि कृदन्त शब्द वेद में ही प्रयुक्त होते हैं। अव्ययसञ्ज्ञा का प्रयोजन सुब्लुक् आदि होता है।

[लघु०] सञ्ज्ञा सूत्रम्—३७० क्त्वा-तोसुन्-कसुनः ।१।१।३९।।

एतदन्तमव्ययम्। कृत्वा। उदेतोः। विसृपः ॥

अर्थः—क्त्वा, तोसुन् और कसुन् प्रत्यय जिनके अन्त में हों वे भी अव्ययसञ्ज्ञक होते हैं।

व्याख्या—क्त्वा-तोसुन्-कसुनः ।१।१।३। अव्ययानि ।१।१।३। ['स्वरादिनिपातमव्ययम्' से वचनविपरिणाम द्वारा]। केवल प्रत्यय की सञ्ज्ञा का कुछ भी प्रयोजन न होने से तदन्तविधि हो जाती है। अर्थः—(क्त्वातोसुन्-कसुनः) क्त्वा, तोसुन् और कसुन् प्रत्यय जिनके अन्त में हों वे (अव्ययानि) अव्ययसञ्ज्ञक होते हैं। उदाहरण यथा—

क्त्वा—कृत्वा, पठित्वा, भूत्वा, गत्वा आदि। यहां 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' (३।४।२१) सूत्र से क्त्वा प्रत्यय हो जाता है। अतः क्त्वाप्रत्ययान्त होने के कारण इनकी अव्ययसञ्ज्ञा हो जाती है। अव्ययसञ्ज्ञा का प्रयोजन सुब्लुक् (३७२) आदि है।

तोसुन्—उदेतोः, अपाकर्तोः, आविःनितोः आदि। यहां 'भावलक्षणे स्थेण्कृञ्वदिचरिहुतमिजनिभ्यस्तोसुन्' (३।४।१६) सूत्र द्वारा तोसुन् (तोस्) प्रत्यय हो जाता है। अतः इनकी अव्ययसञ्ज्ञा हो जाती है।

कसुन्—विसृपः, आतृदः। यहां 'सृपितृदोः कसुन्' (३।४।१७) सूत्र द्वारा 'कसुन्' (अस्) प्रत्यय हो जाता है। अतः इन की अव्ययसञ्ज्ञा हो जाती है।

क्त्वा, तोसुन् और कसुन् इन तीन प्रत्ययों में तोसुन् और कसुन् केवल वेद में तथा क्त्वा प्रत्यय लोक वेद दोनों में प्रयुक्त होता है। ये तीन प्रत्यय भी कृत्सञ्ज्ञक होते हैं।

[लघु०] सञ्ज्ञासूत्रम्— ३७१ अव्ययीभावश्च ।१।१।४०।।

अधिहरि ।।

अर्थः — अव्ययीभावसमास भी अव्ययसञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या— अव्ययीभावः ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। अव्ययम् ।१।१। ['स्वरादिनिपातमव्ययम्' से] अर्थः — (अव्ययीभावः) अव्ययीभावसमास (च) भी (अव्ययम्) अव्ययसञ्ज्ञक होता है।

समासप्रकरण में अव्ययीभावसमास का विवेचन किया गया है वहीं देखें। उदाहरण यथा—

अधिहरि [हरौ इत्यधिहरि । (हरि में)]

यहां विभक्त्यर्थ में 'अव्ययं विभक्ति०' (९०८) सूत्र द्वारा अव्ययीभावसमास हो जाता है। अव्ययीभावसमास होने से अव्ययसञ्ज्ञा हो जाती है। अव्ययसञ्ज्ञा का प्रयोजन सुब्लुक् आदि होता है। इसी प्रकार 'यथाशक्ति' आदियों में भी समझ लेना चाहिये।

अब अव्ययसञ्ज्ञा का प्रयोजन दर्शाने के लिये अग्रिमसूत्र लिखते हैं—

[लघु०] विधिसूत्रम्— ३७२ अव्ययादाप्सुपः ।२।४।८२।।

अव्ययाद्विहितस्याप सुपश्च लुक् । तत्र शालायाम् ।।

अर्थः—अव्यय से विहित आप् (टाप् आदि) और सुप् प्रत्ययों का लुक् हो जाता है।

व्याख्या—अव्ययात् ।५।१। आप्सुपः ।६।१। लुक् ।१।१। ['ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः' से] आप् च सुप् च = आप्सुप्, तस्य = आप्सुपः, समाहारद्वन्द्वः । अर्थः — (अव्ययात्) अव्यय से विधान किए हुए (आप्सुपः) आप् और सुप् प्रत्ययों का (लुक्) लुक् हो जाता है। 'आप्' से टाप्, डाप् आदि स्त्रीप्रत्ययों का तथा 'सुप्' से सु, औ, जस् आदि का ग्रहण होता है। उदाहरण यथा—

तत्र शालायाम् [उस शाला में]। यहां 'तत्र' यह अव्यय 'शाला' इस स्त्रीलिङ्ग का विशेषण है, अतः इस से 'अजाद्यतष्टाप्' (१२४५) द्वारा टाप् प्रत्यय होकर प्रकृतसूत्र से लुक् हो जाता है।

'सुप्' का लुक् तो प्रत्येक अव्यय से होता है। इस सूत्र विषयक विशेष विचार 'सिद्धान्तकौमुदी' की व्याख्या में देखें।

अब 'अव्यय' का लक्षण करने के लिये एक अत्यन्त प्राचीन श्लोक (गोपथब्राह्मण की ब्रह्मपरक श्रुति) उद्धृत करते हैं—

[लघु०] "सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥"

अर्थ—जो तीनों लिङ्गों, सब विभक्तियों और सब वचनों में विकार को प्राप्त नहीं होता—एक जैसा ही रहता है—बदलता नहीं, वह अव्यय कहाता है।

व्याख्या—'अव्ययम्' यह अन्वर्थ (अर्थानुसारिणी) सञ्ज्ञा है। नास्ति व्ययः = विनाशः = विकृतिर्यस्य यस्मिन् वा, तद् अव्ययम्। जिस में किसी प्रकार की विकृति न हो—प्रत्येक अवस्था में एक जैसा स्वरूप रहे उसे 'अव्यय' कहते हैं। इसी लक्षण को ऊपर के श्लोक में और अधिक परिष्कृत किया गया है। श्लोक में 'विभक्ति' से तात्पर्य कर्म आदि कारक और 'वचन' से एकत्व, द्वित्व और बहुत्व का ग्रहण समझना चाहिये।

अब 'अव' और 'अपि' उपसर्गों के विषय में श्रीभागुरि आचार्य का मत दर्शाते हैं—

[लघु०] "वष्टि† भागुरिरल्लोपम् अवाप्योरुपसर्गयोः।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा॥"

वगाहः। अवगाहः। पिधानम्। अपिधानम्॥

अर्थ—भागुरि आचार्य 'अव' और 'अपि' उपसर्गों के (आदि) अकार का लोप चाहते हैं तथा हलन्त शब्दों से स्त्रीत्वबोधक 'आप्' प्रत्यय भी विधान करना चाहते हैं।

व्याख्या—'भागुरि' आचार्य सम्भवतः पाणिनि से पूर्व के आचार्य हो चुके हैं। परन्तु अष्टाध्यायी में पाणिनि ने उनके मत का कहीं उल्लेख नहीं किया। 'भागुरि' के मत में 'अव' और 'अपि' उपसर्गों के आदि अकार का लोप हो जाता है, अन्य आचार्यों के मत में न होने से विकल्प सिद्ध हो जाता है। उदाहरण यथा—

---

† वष्टेश्छान्दसत्वेन प्रयोगश्चिन्त्य इति नागेशः। एतज्ज्ञापकाद् भाषायामप्यस्य प्रयोग इति तत्त्वबोधिनीबालमनोरमाकारादयः।

भागुरिसम्मतलोपपक्षे	लोपाभावे (अन्येषां मते)	अर्थ
१ वगाह	अवगाह	गोता
२ पिधानम्	अपिधानम्	ढकना
३ वकाश	अवकाश	अवसर

इसी प्रकार अन्य धातुओं के योग में भी शिष्टग्रन्थानुसार लोप समझना चाहिये।

किञ्च—'हलन्त शब्दों से स्त्रीलिङ्गबोधक टाप् हो' यह भी भागुरि आचार्य चाहते हैं। पाणिनि के मत में हलन्तों से टाप् विधायक कोई सूत्र नहीं अतः विकल्प सिद्ध हो जायगा। उदाहरण यथा—

१	वाच् (वाणी)	वाच्+टाप् (आ)=वाचा।
२	निश् (रात्रि)	निश्+टाप् (आ)=निशा।
३	दिश् (दिशा)	दिश्+टाप् (आ)=दिशा।

इसीप्रकार—

४	क्षुध् (भूख)	क्षुध्+टाप् (आ)=क्षुधा।
५	गिर् (वाणी)	गिर्+टाप् (आ)=गिरा।
६	प्रतिपद् (पहली तिथि)	प्रतिपद्+टाप् (आ)=प्रतिपदा।
७	सम्पद् (सम्पत्ति)	सम्पद्+टाप् (आ)=सम्पदा।
८	विपद् (विपत्ति)	विपद्+टाप् (आ)=विपदा।

परन्तु शेखरकार श्रीनागेश इस टाप् वाले पक्ष को अप्रामाणिक मानते हैं। विशेष जिज्ञासु उनका मत वहीं देखें।

[लघु०] इत्यव्ययप्रकरणं समाप्तम्।

इति सुबन्तम्।

इति पूर्वार्धम्॥

अर्थः—यहां 'अव्ययप्रकरण' और उसके साथ ही सुबन्त प्रकरण समाप्त होता है। किञ्च ग्रन्थ का पूर्वार्ध भी यहीं समाप्त जानना।

अभ्यास (४८)

(१) 'मिथो' अव्यय का स्वरादिगण में पाठ उपयुक्त है या नहीं, सप्रमाण सोदाहरण विवेचन करो।

(२) तद्धितश्चासर्वविभक्ति' सूत्र की व्याख्या करते हुए 'असर्वविभक्ति' पद का तात्पर्य स्पष्ट करो और यह भी लिखो कि इस सूत्र के रचे जाने पर भी परिगणन की क्या आवश्यकता थी ?

(३) उपसर्गप्रतिरूपक और विभक्तिप्रतिरूपक अव्ययों का स्वीकार करने की क्या आवश्यकता है, उदाहरण देकर स्पष्ट करो ।

(४) निम्नलिखित अव्ययों का सार्थ सोदाहरण स्पष्टीकरण करो तथा इनकी अव्यय सञ्ज्ञा करने वाला सूत्र भी सार्थ लिखो—

अथ, पठितुम्, परस्तात्, स्थाने, अलम्, नाना विरूप, यर्हि पुरा, अस्ति
एषम तिरस्, अन्तरा, चिरम्, कम्, समया, कच्चित्, अस्मि, ऐकध्यम्,
जीवस, परुत् खलु प्रसह्य यथाशक्ति, किल, सनुतर् ।

(५) "परिगणन कर्त्तव्यम्' यह कह कर किन किन प्रत्ययों का परिगणन किया गया है—सोदाहरण लिखो ।

(६) स्वर्, अन्तर्, प्रातर् आदि अव्यय यदि सकारान्त होते तो क्या अनिष्ट हो जाता, सोदाहरण सप्रमाण लिखो ।

(७) 'भागुरि' आचार्य के मत में क्षुध्, दिश् निश् वाच्, प्रतिपद्, सम्पद् आदि शब्दों के क्या २ रूप बनते हैं ? सप्रमाण स्पष्ट करो ।

(८) मान्त कृत्प्रत्यय कौन कौन से हैं ? तदन्तों की अव्ययसञ्ज्ञा किस सूत्र से होती है ?

(९) 'अव्ययसञ्ज्ञा' की अन्वर्थता सिद्ध कर 'अव्यय' का सार्थ लक्षण लिखो ।

(१०) 'यत्र' अव्यय का चादिगण में पाठ क्यों किया गया है ? 'तद्धितश्चासर्वविभक्ति' से भी इसकी अव्ययसञ्ज्ञा सिद्ध हो सकती है ।

(११) (क) 'चादयोऽसत्त्वे' में 'असत्त्वे' कथन का क्या अभिप्राय है ?
(ख) 'चण्' और 'च' में तथा 'नञ्' और 'न' में अन्तर बताओ ।
(ग) 'तिरःकृत्वा' और 'तिरःकृत्य' इन दोनों के अर्थ का भेद स्पष्ट करो ।

इति श्रीभाटियावंशावतंस स्वर्गीय श्रीरामचन्द्र-वर्म सूनु-श्रीभीमसेन-शास्त्रि-कृतायां भैम्यभिधविस्तृतव्याख्ययोपेतायां लघुसिद्धान्त-कौमुद्याम् अव्यय-प्रकरणं समाप्तम् ।

समाप्तञ्चात्रपूर्वार्द्धम् ॥ शुभं भूयात् ॥

परिशिष्टम्

पूर्वार्द्ध-मूल-गत-सूत्राणाम् अकारादि-वर्णानुक्रमणिका

* सूत्रों के आगे (   ) इस प्रकार कोष्ठान्तर्गत अङ्क, उन सूत्रों के ग्रन्थगतक्रम के सूचक हैं। ग्रन्थ के प्रत्येक सूत्र से पूर्व उनका अङ्क लिखा है।

— ❀ —

पूर्वार्द्ध-गत-वार्त्तिकानाम् अकारादिवर्णानुक्रमणिका

—— ० ❀ ० ——

परिभाषादीनामनुक्रमणिका

(यहां व्याख्या वा मूल गत परिभाषाओं न्यायों तथा विशेषवचनों की सूची दी जा रही है।)

—— ० ❀ ० ——

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी

भैमीव्याख्या

अव्यय – प्रकरण

भीमसेन शास्त्री

एम्० ए०, पीएच्० डी०, साहित्यरत्न

भैमी प्रकाशन

५३७, लाजपतराय मार्केट, दिल्ली—११०००६

प्रकाशक—

मैत्री प्रकाशन

५३७, लाजपतराय मार्केट,

दिल्ली—११०००६

मूल्य - पचास रुपये केवल।

प्रथम संस्करण : १९८३

बी. के. कम्पोजिंग एजेन्सी दिल्ली द्वारा कम्पोज करवा कर राधा प्रेस, मेन रोड, गांधी नगर, दिल्ली में मुद्रित।

आत्म - निवेदन

आज से तेंतीस वर्ष पूर्व सन् १९५० में जब लघु - सिद्धान्त - कौमुदी की भैमी - व्याख्या का पूर्वार्धरूप प्रथम भाग प्रकाशित हुआ था तब से लेकर आज तक इस व्याख्या का स्वागत होता चला आ रहा है। एक बार जो इस व्याख्या को देख लेता है सदा के लिये इस का भक्त बन जाता है। अध्यापक हो या छात्र उसे फिर दूसरी व्याख्या की अपेक्षा नहीं रहती। देश-विदेश के जाने-माने विद्वानों, विद्यार्थियों, शोधच्छात्रों तथा संस्कृतप्रेमी जिज्ञासु पाठकों के इतने अधिक स्नेहपत्र, शुभाशंसन, अभिनन्दनपत्र और प्रशस्तिपत्र प्राप्त हुए हैं, जो सम्भवतः कई सौ पृष्ठों में समा सकते हैं। अनेक शुभाकाङ्क्षी गुरुजनों ने विशेषतः इस व्याख्या के अव्ययप्रकरण की भूरि भूरि प्रशंसा की है और यहाँ तक लिखा है कि यदि लेखक (भैमीव्याख्याकार) ने अपने जीवन में अन्य कोई प्रणयन न कर केवल अव्ययप्रकरण ही लिखा होता तो केवल यह प्रकरण ही उसे अमर करने में सर्वथा समर्थ था। यदि यह प्रकरण पृथक् भी छापा जाये तो छात्रों को बहुत लाभ पहुंच सकेगा। परन्तु लेखक को अमर होने की तो कभी अभिलाषा ही उत्पन्न नहीं हुई, हां समय आने पर इस प्रकरण को पृथक् छपवाने का सुझाव जरूर उस के दिल में बैठ गया। अब जब इस व्याख्या के द्वितीय संस्करण के छापने का प्रसङ्ग उत्पन्न हुआ तो लेखक ने सारे पूर्वार्ध का निरीक्षण करते हुए इस अव्यय प्रकरण पर भी दृष्टिपात किया। प्रथम संस्करण वाला पूर्वोक्त बहुचर्चित अव्ययप्रकरण लेखक ने २०-२२ वर्ष की अल्पायु में में ही लिखा था। उसके बाद भी लेखक निरन्तर व्याकरण के अध्ययन-अध्यापन में जुटा रहा। अब तेंतीस वर्षों के बाद जब लेखक ने इसका पुनरवलोकन प्रारम्भ किया तो उसे यह प्रकरण पर्याप्त छोटा तथा अपूर्ण सा लगने लगा (हालांकि प्रथम संस्करण में यह ४८ पृष्ठों में व्याख्यात किया गया था)। उस के विचार मे यह प्रकरण और अधिक नये नये सुभाषितों और सूक्तियों से विभूषित किया जाना चाहिये था। किञ्च उस के मनमें बार बार यह भी विचार उत्पन्न हुआ कि चादियों और स्वरादियों के आकृतिगण होने से अन्य जो अनेक अव्यय लोक में प्रसिद्ध हैं उन का भी पूर्णरीत्या संकलन करना चाहिये। इस के साथ तद्धितप्रत्ययान्त प्रत्येक अव्यय का जहां प्रथम संस्करण में नाममात्र का उल्लेख था उनकी भी सोदाहरण सटिप्पण व्याख्या प्रस्तुत करने की उस की तीव्र अभिलाषा जागृत हुई। इन सब के फलस्वरूप लेखक ने छः मासों के गहन अध्ययन के बाद इस समूचे प्रकरण को दुबारा लिखना प्रारम्भ किया और प्रत्येक अव्यय के प्रत्येक अर्थ पर खूब ऊहापोह कर अच्छे से अच्छा उदाहरण साहित्यजगत् से छांटना प्रारम्भ किया। अनेक नये अव्ययों का

संग्रह किया गया और उन सब के यथासम्भव साहित्यगत उदाहरण भी ढूँढे गये। इस प्रकार यह प्रकरण कलेवर में धीरे धीरे बढ़ता चला गया। अव्ययों की संख्या जहां पहले संस्करण में तीन सौ के लगभग थी अब सवा पांच सौ तक जा पहुँची। प्रत्येक उदाहृत सुभाषित वा सूक्ति के मूलस्रोत को ढूँढने का भी पूरा पूरा प्रयास किया गया। इसके लिये कई ग्रन्थों का अनेक बार पारायण भी किया गया। विविध कोषों की भी सहायता ली गई। वेद, उपनिषत्, ब्राह्मण आदि वैदिक साहित्य से भी कई अव्ययों के उदाहरण छांटे गये। कई स्थानों पर अव्ययार्थ को स्पष्ट करने के लिए उद्धृत वचनों के हिन्दी भाषा में अर्थ भी दिये गये। संस्कृतसाहित्य में इस समय अनुपलब्ध अव्ययों पर भी यथास्थान टिप्पण किये गये। प्रकरणान्त में इस ग्रन्थ में आये सब अव्ययों की अकारादिक्रम से वर्णानुक्रमणिका भी दे दी गई ताकि किसी भी अव्यय को ढूँढने में कठिनाई न रहे। परिणामत: यह अव्यय-प्रकरण पहले से लगभग दुगना हो गया। यह है इस ग्रन्थ को दुबारा गुम्फन करने की संक्षिप्त कहानी। लेखक अपने प्रयत्न में पूर्वापेक्षा कितना सफल हुआ है इसका विवेचन तो विद्वज्जन ही करेंगे। जहाँ तक लेखक का सम्बन्ध है उस ने अपनी आयु के प्रकर्ष तथा अर्धशताब्दी तक व्याकरण के अपने अध्ययन-अध्यापन का पूरा पूरा लाभ उठाते हुए इस प्रकरण को संवारने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी। हिन्दी में इस प्रकार अव्ययों का विवेचन प्रथम बार प्रकाशित हो रहा है। लेखक को पूर्ण आशा है कि इस से विद्यार्थियों, अध्यापकों बल्कि सर्वसाधारण पाठकों को भी बहुत लाभ होगा.।

जिन लोगों के पास भैमीव्याख्या के प्रथम भाग का प्रथम संस्करण है उनके संग्रहण के लिये यह ग्रन्थ पृथक् रूप से छपवाया गया है ताकि वे पूर्वसंस्करण की न्यूनता को इस ग्रन्थ से पूर्ण कर सकें। जो लोग लघुकौमुदी की भैमीव्याख्या का दिग्दर्शन करना चाहते हैं वे इस स्वल्प मूल्य वाले ग्रन्थ का अवलोकन कर उस विशाल व्याख्या की कुछ झलक पा सकें—इसलिये भी यह ग्रन्थ पृथक् रूप से मुद्रित किया गया है।

भैमीनाम्नीं महाव्याख्यां बोद्धुं चेत्किञ्चिदस्ति धीः।
तदा विचिन्त्यतां भ्रातर्व्याख्यैषा मेऽव्ययानुगा ॥१॥
लघुनैतेन ग्रन्थेन स्पष्टमेष्यति मे श्रमः।
भैमीव्याख्याविनिर्माणेऽहर्निशं यो मया कृतः ॥२॥

मुखर्जी स्ट्रीट, गांधी नगर
दिल्ली - ११००३१
विजयदशमी (१६-१०-१९८३)

सुरभारतीसमुपासको विदुषामनुचरो
भीमसेन: शास्त्री

अथाऽव्यय-प्रकरणम्

सँस्कृतसाहित्य में दो प्रकार के शब्द पाये जाते हैं। १. विकारी, २. अविकारी। जो शब्द विभक्तिवचनवशात् विकार को प्राप्त होते हैं वे 'विकारी' कहाते हैं। इस कोटि में सुँबन्त[1] और तिङन्त शब्द आते हैं। जो शब्द सदा सब विभक्तियों में विकाररहित अर्थात् एकसमान रहते हैं वे 'अविकारी' कहाते हैं। यथा—च, न, यदि, अपि, नाना, विना आदि। व्याकरण में अविकारी शब्दों को 'अव्यय' कहते हैं। अब यहां उन अव्ययों का प्रकरण आरम्भ किया जाता है।

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(३६७) **स्वरादिनिपातमव्ययम्** ।१।१।३६।।

स्वरादयो निपाताश्चाव्ययसञ्ज्ञाः स्युः ।।

अर्थः—स्वर् आदि शब्द तथा निपात अव्ययसञ्ज्ञक हों।

व्याख्या—स्वरादिनिपातम् ।१।१। अव्ययम् ।१।१। समासः—'स्वर्'शब्द आदिर्येषान्ते स्वरादयः। स्वरादयश्च निपाताश्च = स्वरादिनिपातम्। समाहारद्वन्द्वः। अर्थः—(स्वरादिनिपातम्) स्वर् आदि शब्द तथा निपात (अव्ययम्) अव्ययसञ्ज्ञक होते हैं। स्वरादि शब्द पाणिनिमुनिविरचित 'गणपाठ' में पढ़े गये हैं। निपात—अष्टाध्यायी के प्रथमाध्याय के चतुर्थपादान्तर्गत **प्राग्रीश्वरान्निपाताः** (१.४.५६) के अधिकार में पढ़े गये हैं। अव्ययसञ्ज्ञा का प्रयोजन सुँब्लुक् आदि आगे मूल में ही स्पष्ट हो जायेगा।

अब मूलगत स्वरादिगण—अर्थ, उदाहरण तथा विस्तृत टिप्पण सहित नीचे दिया जा रहा है। इस गण में बालोपयोगी अत्यन्त प्रसिद्ध शब्दों पर चिह्न (*) कर दिया गया है।

स्वरादि-गण

[१] स्वर्* ।।

स्वर्गे परे च लोके स्वः—इत्यमरः। १. स्वर्ग-लोक—**पुण्यकर्माणः स्वर्गच्छन्ति। देवाः स्वस्तिष्ठन्ति।** २. परलोक—**स्वर्गतस्य क्रिया कार्या पुत्रैः परमभक्तितः** (उद्धृत)। ३. सुखविशेष—**यन्न दुःखेन सम्भिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्। अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्** (तन्त्रवार्त्तिक)।

[२] अन्तर्* ।।

१. में, अन्दर, भीतर, मध्य आदि—**अप्स्वन्तरमृतम् अप्सु भेषजम्** (ऋ० १.२३.१९), जल में अमृत है जल में औषध है। **अप्रकटीकृतशक्तिः शक्तोऽपि जनस्तिरस्क्रियां लभते। निवसन्नन्तर्दारुणि लङ्घ्यो वह्निर्न तु ज्वलितः** (पञ्च० १. ३२)। **अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते** (विक्रमो०), निरुद्धप्राण मुमुक्षुओं से वह

---

१. यहां सुँबन्त से तात्पर्य अव्ययभिन्न सुँबन्तों से है।

भगवान् अन्दर अर्थात् अपने हृदय में खोजा जाता है। इन अर्थों में इस अव्यय के साथ प्रायः सप्तम्यन्त पद का प्रयोग होता है पर कहीं-कहीं षष्ठयन्त वा द्वितीयान्त का भी प्रयोग देखा जाता है। यथा—**त्वमग्ने सर्वभूतानामन्तश्चरसि साक्षिवत्** (याज्ञ० ७.१०४)। **अन्तर्देवान् मर्त्यांश्च** (ऋ० ८.२.४), देवों और मर्त्यों के बीच में। २. पकड़ना—**अन्तर्हत्वा मूषिकां श्येनो गतः** (काशिका १.४.६५), बाज़ चुहिया को मार कर पकड़ ले गया।

[३] प्रातर्* ॥

१. प्रातःकाल, सुबह, सवेरे—**प्रातर्द्यूतप्रसङ्गेन मध्याह्ने स्त्रीप्रसङ्गतः। रात्रौ चौरप्रसङ्गेन कालो गच्छति धीमताम्** (सुभाषित)। द्यूतप्रसङ्गः=महाभारतम्, स्त्री-प्रसङ्गः=रामायणम्, चौरप्रसङ्गः=भागवतम्।

[४] पुनर्* ॥

१. फिर, दुबारा—**न पुनरेवं प्रवर्त्तितव्यम्** (शाकुन्तल० ६)। **भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ?। गच्छतु भवान् पुनर्दर्शनाय** (स्वप्न० १)। २. 'तु' के अर्थ में—**पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवं शिरीषपुष्पं न पुनः पतत्रिणः** (कुमार० ५.४)। पुनः-पुनः=बार-बार—**विघ्नैः पुनःपुनरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारभ्य चोत्तमजना न परित्यजन्ति** (मुद्रा० २.१७)। किं पुनः=कहना ही क्या—**मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः। कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे** (मेघ० १.३)। पुनरपि=पुनः पुनः=बार बार—**पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्। इह संसारे खलु दुस्तारे कृपया पारे पाहि मुरारे** (चर्पट० ८)।

[५] सनुतर् ॥

१. छिपना—**सनुतश्चौरो गच्छति** (गणरत्न०)। इस अव्यय का प्रयोग लोक में नहीं पाया जाता। अमरकोष आदि लौकिक कोषों में इस का कहीं उल्लेख नहीं। वेद में इस के प्रयोग मिलते हैं।[1]

नोट—उपर्युक्त पाञ्चों अव्यय रेफान्त हैं अतः रु का रेफ न होने से **हशि च** (१०७) आदि द्वारा उत्व आदि कार्य नहीं होते। **यथा**—स्वर्गतः, प्रातर्गच्छ, पुनरत्र,

---

१. निघण्टु में यह 'निर्णीतान्तर्हित' अर्थ में पढ़ा गया है। निर्णीतं च तद् अन्तर्हितं चेति कर्मधारयः (स्कन्दमाहेश्वरकृत निरुक्तभाष्यटीका)। जो छिपा हुआ पर निर्णीत हो उसे 'सनुतर्' कहते हैं। श्रीसायण अपने वेदभाष्य में सर्वत्र इस का अर्थ 'छिपा हुआ' करते है—**सनुतश्चरन्तम्**—निगूढं चरन्तम् (ऋ० ५.२.४ सायणभाष्य)। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपने अष्टाध्यायीभाष्य तथा वेदाङ्गप्रकाश के 'अव्ययार्थ' में 'सनुतः' का 'सदा' अर्थ लिखा है। **सनुतः पुरुषार्थे प्रयतेरन्**—यह उन्होंने उदाहरण भी दिया है। इस प्रकार **आरे द्वेषांसि सनुतर्दधाम** (ऋ० ५.४५.५) इस ऋचा का अर्थ होगा—हम सदा शत्रुओं को दूर रखें। यह अर्थ भी सुसंगत प्रतीत होता है।

अन्तर्गृहे, **सनुतर्धेहि तं ततः** (ऋ० ८.९७.३)। प्रातोऽत्र, पुनोऽपि लिखने वाले विद्यार्थी सावधान रहें।

[६] उच्चैस्* ॥

१. महान्—**किं पुनर्यस्तथोच्चैः** (मेघ० १.१७)। २. ऊँचे पर, ऊँचे में—**पश्चादुच्चैर्भुजतरुवन०** (मेघ० १.३६)। **विपद्युच्चैः धैर्यम्** (नीति० ५६)। **उच्चैरुदात्तः** (१.२.२९)। ३. जोरदार आवाज में—**उच्चैर्विहस्य** (रघु० २.१२)। ४. अत्यधिक—**विदधति भयमुच्चैर्वीक्ष्यमाणा वनान्ताः** (ऋतु० १.२२)।

[७] नीचैस्* ॥

१. मन्द आवाज से (प्रायः क्रियाविशेषण)—**नीचैः शंस हृदि स्थितो ननु स मे प्राणेश्वरः श्रोष्यति** (अमरु० ६८)। २. नीचे, नीचे की ओर—**नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण** (मेघ० २.४६)। ३. धीरे से, मन्दगति से—**नीचैर्वाति समीरणः** (व्या० च०)। ४. विनीत, नम्र—**तथापि नीचैर्विनयाददृश्यत** (रघु० ३.३४)।

[८] शनैस्* ॥

१. धीरे से (क्रियाविशेषण)—**शनैर्याति पिपीलिका** (व्या० च०)। **धर्मं शनैः सञ्चिनुयाद्वल्मीकमिव पुत्तिकाः** (मनु० ४.२३८)। **कुरु पदानि घनोरु! शनैः शनैः** (वेणी० २.२१)। **शनैश्चरः**। **शनैः पन्थाः शनैः कन्था शनैः पर्वतलङ्घनम्** (सुभाषित०)।

[९] ऋधक् ॥

१. सत्य—**ऋधग्वदन्ति विद्वांसः** (गणरत्न०)। गणरत्नमहोदधि में इस के कुछ अन्य अर्थ भी लिखे हैं—वियोग-शीघ्र-सामीप्य-लाघवेष्वित्यन्ये। लौकिककोषों में इस का प्रायः उल्लेख नहीं मिलता पर वेद में इस के प्रचुर प्रयोग हैं—**किं स ऋधक् कृणवद्** (ऋ० ४.१८.४)।

[१०] ऋते* ॥

१. विना, बग़ैर—**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः** (सुप्रसिद्ध), ज्ञान के विना मुक्ति नहीं। **ऋते रवेः क्षालयितुं क्षमेत कः क्षपा-तमस्काण्ड-मलीमसं नभः** (माघ० १.३८), सूर्य के विना रात्रि के अन्धकार से मलिन आकाश को कौन धो कर निर्मल बना सकता है?

नोट—'ऋते' के योग में **अन्यारादितरर्तेदिक्छब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते** (२.३.२९) सूत्र से पञ्चमी विभक्ति का विधान किया गया है। जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणों में स्पष्ट है। लोक में इस के योग में कहीं कहीं द्वितीया का प्रयोग भी देखा जाता है। **ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे** (गीता० ११.३२)। चान्द्रव्याकरण में इस के योग में द्वितीया का विधायकसूत्र भी पढ़ा गया है—**ऋते द्वितीया च** (चान्द्र० २.१.८४)। पाणिनीय वैयाकरण इस का समाधान—**ततोऽन्यत्रापि दृश्यते** इस वार्त्तिकांश से करते हैं।

प्र

[११] युगपत्* ॥

१. एक साथ, एक ही समय में— **सहस्रमक्ष्णां युगपत् पपात** (कुमार० ३.१)। **युगपज्ज्ञानानुपपत्तिर्मनसो लिङ्गम्** (न्यायदर्शन १.१.१६)।

[१२] आरात्* ॥

आराद् **दूरसमीपयो**रित्यमरः। १. दूर—आराद् दुष्टात् सदा वसेत्। दुष्ट से सदा दूर रहे। २. समीप, निकट—**तमर्च्यम् आराद् अभिवर्त्तमानम्** (रघु० २.१०)। ग्रामादारादारामः—गांव के पास बगीचा है।

नोट—'आरात्' के योग में **अन्यारादितरर्ते दिक्छब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते** (२.३.२९) सूत्र से पञ्चमी विभक्ति का विधान है।

[१३] पृथक्* ॥

१. अलग, भिन्न—**शंखान् दध्मुः पृथक् पृथक्** (गीता० १.१८)। **सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः** (गीता० ५.४)। २. विना, बग़ैर—रामं पृथग् नहि सुखम्।

नोट—'विना' अर्थ वाले पृथक् के योग में **पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम्** (२.३.३२) सूत्र से द्वितीया, तृतीया तथा पञ्चमी विभक्ति का विधान है।

[१४] ह्यस्* ॥

१. बीत चुका पिछला दिन (Yesterday)—ह्योऽस्माकं परीक्षाऽभूत्। ह्यो भवम्—ह्यस्त्यं ह्यस्तनं वा। **ऐषमोह्यःश्वसोऽन्यतरस्याम्** (४.२.१०४) सूत्र से पाक्षिक त्यप् हो जाता है। तदभाव में **सायं-चिरं-प्राह्णे-प्रगेऽव्ययेभ्यष्टयुटयुलौ तुँट् च** (४.३.२३) से टयुप्रत्यय हो कर उसे तुँट् का आगम हो जाता है। ह्यस्त्यम्=अतीत कल से सम्बन्ध रखने वाला कार्य आदि।

[१५] श्वस्* ॥

१. Tomorrow आने वाला कल—**श्वःकार्यमद्य कुर्वीत पूर्वाह्णे चाऽपराह्णिकम्। नहि प्रतीक्षते मृत्युः कृतमस्य न वा कृतम्** (महाभारत० १२.३२१.७३)। **वरमद्य कपोतः श्वोमयूरात्**—नौ नकद न तेरह उधार।

[१६] दिवा* ॥

१. दिन—दिवा च रात्रिश्च दिवारात्रम्, दिन और रात। **निद्रया ह्रियते नक्तं दिवा च व्यर्थकर्मभिः** (भागवत० १.१६.९)। २. दिन में—**पीनोऽयं देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते** (लोकोक्ति)।

[१७] रात्रौ ॥

१. रात में—**रात्रौ वृत्तं तु द्रक्ष्यसि। रात्रौचरः**। ये दोनों उदाहरण गणरत्नमहोदधि के हैं। 'रात्रौ' को अव्यय मानना हमारे विचार में युक्त प्रतीत नहीं होता। 'रात्रि' शब्द से ही काम चल सकता है। यदि इसे अव्यय मानना ही अभीष्ट है तो 'रात्रौ' को विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय माना जा सकता है।

[१८] सायम्*॥

१. सायङ्काल, शाम का समय—**प्रयता प्रातरन्वेतु सायं प्रत्युद्व्रजेदपि** (रघु० १.९०)। **सायंप्रातर्मनुष्याणामशनं वेदनिर्मितम्। नान्तरा भोजनं दृष्टमुपवासी तथा भवेत्** (महाभारत० १२.१९३.१०)।

नोट—इसी अर्थ में घञन्त 'साय' शब्द का भी प्रयोग देखा जाता है। वह घञन्त होने से पुंलिङ्ग माना जाता है। **संख्या-वि-सायपूर्वस्या-ह्नस्याहनन्यतरस्यां ङौ** (६.३. १०९) सूत्र में इसी का ग्रहण होता है—सायाह्नि, सायाहनि, सायाह्ने। इस विषय में **सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुँट् च** (४.३.२३) सूत्र की काशिका-वृत्ति भी द्रष्टव्य है।

[१९] चिरम्*॥

१. देर तक—**मुहूर्त्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम्** (महाभारत ५.१३३. १५); देर तक धूँआ देने की अपेक्षा थोड़ी देर तक प्रज्वलित होना श्रेष्ठ है। चिरं जीवतु मे भर्ता।

नोट—दीर्घकालवर्त्ती पदार्थ में त्रिलिङ्गी चिर शब्द बहुधा प्रयुक्त होता है। इसी से ही चिरजीविन्, चिरायुष्, चिरक्रिय, चिरकारिन् आदि शब्द निष्पन्न होते हैं। 'चिरं जीवतु मे भर्ता' आदि 'चिरम्' अव्यय के उदाहरण भी चिरशब्द से क्रियाविशे-षणत्वेन निष्पन्न हो सकते हैं। इस अव्यय का फल 'चिरञ्जीवी, चिरञ्जीवकः' प्रभृति कतिपय शब्दों में ही देखा जाता है। 'चिरन्तनः' भी चिरशब्द से निष्पन्न हो सकता है। देखें—**सायंचिरंप्राह्णे**० (४.३.२३) सूत्र पर काशिकावृत्ति।

[२०] मनाक्*॥

१. ज़रा, थोड़ा-सा—**कुतूहलाक्रान्तमना मनागभूत्** (नैषध० १.११९)। **रे पान्थ विह्वलमना न मनागपि स्याः** (भामिनी० १.३६)।

[२१] ईषत्*॥

१. थोड़ा, स्वल्प, कुछ—**ईषदीषच्चुम्बितानि भ्रमरैः** (शाकुन्तल० १.४)। **ईषच्च कुरुते सेवां तमेवेच्छन्ति योषितः** (पञ्च० १.१५२)। २. आसानी से, बिना कठिनाई से—ईषत्करः कटो भवता; (८७६) सूत्र पर इस व्याख्या में इस उदाहरण का विवेचन देखें।

[२२] जोषम्*॥

तूष्णीमर्थे सुखे जोषम् इत्यमरः। १. चुप्प, शान्त—**जोषमाप न विशिष्य बभाषे** (नैषध० ५.७८)। **किमिति जोषमास्यते?** (शाकुन्तल० ५)। २. सुखपूर्वक—जोषमास्ते जितेन्द्रियः; जितेन्द्रिय पुरुष सुख से रहता है।

[२३] तूष्णीम्*॥

मौने तु तूष्णीम् इत्यमरः। चुप्प—**न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह** (गीता० २.९)।

[२४] बहिस्*॥

१. बाहर, बाहर से—**स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः** (मनु० २.१०३)। **अन्तर्विषमया ह्येता बहिश्चैव मनोहराः। गुञ्जाफलसमाकाराः स्वभावादेव योषितः** (पञ्च० ४.८७)। २. बाह्य—**न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते** (उत्तर-राम० ६.१२)।

[२५] अवस् ॥

१. बाहर, नीचे आदि—**अवो गच्छति** (गणरत्न०)। इस के प्रयोग अन्वे-ष्टव्य हैं।

नोट—पञ्चम्यन्तात् सप्तम्यन्तात् प्रथमान्ताद्वा अवरशब्दात् **पूर्वाऽधराऽवराणामसि पुरधवश्चैषाम्** (५.३.३९) इति असिँप्रत्यये अवरशब्दस्य च 'अव्' इत्यादेशे **तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः** (३६८) इत्यनेनैवाव्ययत्वे सिद्धे स्वरादौ पाठश्चिन्त्य इति केचित्।

[२६] अधस्*॥

१. नीचे—**अधः पश्यसि किं वृद्धे तव किं पतितं भुवि। रे रे मूढ न जानासि गतं तारुण्यमौक्तिकम्** (चाणक्य०)। अधोऽधः=नीचे और नीचे—**अधोऽधः पश्यतः कस्य महिमा नोपचीयते। उपर्युपरि पश्यन्तः सर्व एव दरिद्रति** (हितोप० २.२)।

[२७] समया*॥

१. समीप—ग्रामं समया रम्या पुष्पवाटिका। **वि सिन्धवः समया सस्रुरद्रिम्** (ऋ० १.७३.६); पर्वत के समीप नदियां बहती हैं। अमरकोष में इस का अर्थ 'मध्य' भी दिया गया है—**समयाऽन्तिकमध्ययोरि**त्यमरः। इस अर्थ में प्रयोग कम हैं।

नोट—इस के योग में द्वितीया का विधान है [देखें विभक्त्यर्थप्रकरणपरि-शिष्ट (११)]।

[२८] निकषा*॥

१ समीप—**विलङ्घ्य लङ्कां निकषा हनिष्यति** (माघ० १.६८), क्या आप को याद है कि आप ने समुद्र पार कर के लङ्का के समीप रावण को मारा था? **अभिज्ञावचने लृँट्** (७६१) से भूतकाल में लृँट् का प्रयोग है। पूरा श्लोक सार्थ इस व्याख्या की लकारार्थप्रक्रिया में इसी सूत्र पर देखें।

नोट—इस के योग में भी पूर्ववत् द्वितीया विभक्ति का विधान है।

[२९] स्वयम्*॥

१. आत्मना, अपने आप—**इन्द्रोऽपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितैर्गुणैः** (चाणक्य०)।[१]

---

१. दो सहेलियां अपने-अपने पति का गुणबखान इस प्रकार करती हैं—
चतुरः सखि मे भर्ता यल्लिखति च तत् परो न वाचयति।
तस्मादप्यधिको मे स्वयमपि लिखितं स्वयं न वाचयति॥ (समयोचित०)

[३०] वृथा*॥

१. व्यर्थ, बेकार, निरर्थक—**वृथा वृष्टिः समुद्रेषु वृथा तृप्तस्य भोजनम्। वृथा दानं समर्थस्य वृथा दीपो दिवाऽपि च** (सुभाषित०)।

[३१] नक्तम्*॥

रात्रि (में)—**न नक्तं दधि भुञ्जीत** (चरक सूत्र० ७.५८), रात में दही सेवन न करे। २. रात—नक्तं च दिवा च नक्तंदिवम्। **अचतुर०** (५.४.७७) सूत्र से निपातन होता है।

नोट—संस्कृतसाहित्य में 'नक्त' इस प्रकार का अजन्त नपुंसक शब्द भी रात्रि-वाचक विद्यमान है। इस से नक्तचर, नक्तभोजिन्, नक्तान्ध, नक्तमाल प्रभृति शब्द बनते हैं। पर यहां मकारान्त अव्यय मानना भी परम आवश्यक है। अन्यथा—नक्तञ्चरः, नक्तञ्चारी, नक्तन्तनम्, नक्तन्दिनम्, नक्तन्दिवम् प्रभृति शब्द न बन सकेंगे।

[३२] नञ्*॥

१. नहीं, प्रतिषेध—**एकः स्वादु न भुञ्जीत, स्वार्थमेको न चिन्तयेत्। एको न गच्छेदध्वानं नैकः सुप्तेषु जागृयात्** (सुभाषितसुधा०)। प्रतिषेध दो प्रकार का होता है—पर्युदास और प्रसज्य। इस का विवेचन पीछे (१८) सूत्र पर कर चुके हैं।

नोट—'नञ्' के अन्त्य ञकार का लोप हो जाता है अतः प्रयोग में 'न' ही आता है। यह अनुबन्ध इसलिये लगाया गया है कि **नलोपो नञः**(९४७) सूत्र में इसी नकार का ग्रहण हो अग्रिमपठित 'न' का न हो। अतः 'नैकधा'(नैषध० २.२) आदियों में उस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। इस नञ् के अनेक अर्थ होते हैं। यहां सरल साधारण प्रसिद्ध अर्थ लिख दिया है। 'ईषत्' अर्थ में भी यह कुछ२ प्रसिद्ध है—अनुदरा (अल्पोदरी) कन्या। नञ् के अर्थों का विशेष विस्तार वैयाकरणभूषणसार आदि उच्च ग्रन्थों में देखें।

[३३] न*॥

१. नहीं, प्रतिषेध—**योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति** (गीता० ५.६)। न चिरेण = नचिरेण। सुप्सुपेति समासः। **चित्रं चित्रं किमथ चरितं नैकभावाश्रयाणाम्। सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः** (हितोप० २.१६०)। इसी प्रकार—नैकधा, नान्तरीयम्, गमिकर्मीकृतनैकनीवृता (नैषध० २.४०) आदियों में समझना चाहिये।

[३४] हेतौ॥

१. निमित्त (में)—**हेतौ हृष्यति** (गणरत्न०)।

नोट—यह अव्यय हमें किसी ग्रन्थ में नहीं मिला। गणरत्नमहोदधि का यह उदाहरण भी सप्तम्यन्त हेतुशब्द से सिद्ध हो सकता है। अतः इस के प्रयोग अन्वेष्टव्य हैं।

[३५] इद्धा॥

१. प्रकट, जाहिर—**समिद्धमिद्धेश महो ददासि** (गणरत्न०)।

नोट—यह अव्यय हमें किसी ग्रन्थ में नहीं मिला। किसी कोषकार ने इस का उल्लेख नहीं किया। वैदिक साहित्य में भी इस का कहीं पता नहीं चला। उपर्युक्त उदाहरण गणरत्नमहोदधिकार श्रीवर्धमान (वैक्रम० ११९७) का है। अन्य सब व्याख्याकारों ने इसे ही उद्धृत किया है। वाचस्पत्यकोषकार ने यह उदाहरण भागवत का माना है परन्तु हमें यह भागवत में नहीं मिला।

[३६] अद्धा ॥

१. वस्तुतः, यथार्थतः—**एष ह वा अनद्धा पुरुषो यो न देवानर्चति न पितॄन् न मनुष्यान्** (शत० ब्रा० ८.३.१.२४); जो देवताओं पितरों और मनुष्यों की पूजा नहीं करता वह वस्तुतः मनुष्य नहीं। **को अद्धा वेद** (ऋ० ३.५४.५); इस संसार को यथार्थतः कौन जान सकता है?। २. सचमुच, निस्सन्देह—**अद्धा नकिरन्यस्त्वावान्** (ऋ० १.४२.१३); हे प्रभो! सचमुच तेरे जैसा कोई नहीं। **यास्यत्यद्धाऽकुतोभयम्** (भागवत० १.१२.२८); निस्सन्देह वह अमरपद को पायेगा। ३. साक्षात्—**त्वयि मेऽनन्यविषया मतिर्मधुपतेऽसकृत्। रतिमुद्वहतादद्धा गङ्गेवौघमुदन्वति** (भागवत० १.८.४२); हे मधुपते! जैसे गङ्गा का प्रवाह निरन्तर समुद्र की ओर बढ़ता रहता है वैसे ही साक्षात् आप में मेरी सर्वदा अनन्यप्रीति हो।

[३७] सामि*॥

१. आधा—सामिकृतम्, सामिभुक्तम्। **सामिभुक्तविषयाः समागमाः** (रघु० १९.१६)। **अभिवीक्ष्य सामिकृतमण्डनं यतीः** (माघ० १३.३१)। **सामि** (२.१.२२) इति समासः। २. निन्दित, आक्षेपयोग्य—उदाहरणम्मृग्यम्।

[३८] वत्*। ब्राह्मणवत्। **क्षत्रियवत्** ॥

नोट—'वत्' यह प्रत्यय है। वतिँप्रत्ययान्त अव्यय हों—यह इस के ग्रहण का प्रयोजन है। यहां **तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः** (११४८), **तत्र तस्येव** (११४९), **तदर्हम्** (५. १. ११६) इन तीन सूत्रों से विहित वतिँप्रत्यय का ही ग्रहण समझना चाहिये। ब्राह्मणवत्, क्षत्रियवत्—ये दो वतिँप्रत्ययान्त के उदाहरण दिये गये हैं। इसी प्रकार—नृपवत्, बालवत्, चौरवत् आदि अन्य वत्यन्त शब्द भी जान लेने चाहियें। यह वतिँप्रत्यय सादृश्य अर्थ में प्रयुक्त होता है। यथा—ब्राह्मणवत्=ब्राह्मण के समान, क्षत्रियवत्=क्षत्रिय के समान इत्यादि। वस्तुतः इस अव्यय का पाठ यहां उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वतिँप्रत्ययान्तों की अव्ययसंज्ञा तो **तद्धितश्चासर्वविभक्तिः** (३६८) से ही सिद्ध है।

[३९] सना ॥

१. सदा, हमेशा, नित्य—**सना भूवन् द्युम्नानि मोत जारिषुः** (ऋ० १.१३९.८); धन नित्य रहें कभी नष्ट न हों। सना भवः—सनातनो धर्मः, **सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुँट् च** (४.३.२३) इति ट्युप्रत्ययस्तस्य च तुँडागमः। **एष धर्मः सनातनः** (उत्तरराम० ५.२२)।

[४०] सनत् ।।

१. सदा, हमेशा, नित्य—सनत्कुमारः (नित्य ब्रह्मचारी ब्रह्मपुत्र) ।

[४१] सनात् ।।

१. सदा, हमेशा, नित्य—**अशत्रुर्जनुषा सनादसि** (ऋ० १.१०२.८), हे इन्द्र! तू जन्म से ही सदा शत्रुरहित है । यह अव्यय वेद में ही देखा जाता है ।

[४२] उपधा ।।

नोट—इस अव्यय का प्रयोग हमें कहीं नहीं मिला । श्रीसभापतिशर्मोपाध्याय सिद्धान्तकौमुदी की 'लक्ष्मी' व्याख्या में इस अव्यय पर टिप्पण करते हुए **उपधा धर्माद्यैर्यत्परीक्षणम्** इस अमरकोषोक्त वचन की विवृति करने लगते हैं । यह ठीक नहीं । क्योंकि अमरकोषोक्त 'उपधा' आबन्त स्त्रीलिङ्ग है अव्यय नहीं ।

[४३] तिरस्*।।

१. टेढ़ा या तिरछा—**स तिर्यङ् यस्तिरोऽञ्चति**—इत्यमरः । तिरोदृष्टया समीक्षते । २. छिपना—**इति व्याहृत्य विबुधान् विश्वयोनिस्तिरोदधे** (कुमार० २.६२)। ३. अनादर—**गीर्भिर्गुरूणां परुषाक्षराभिस्तिरस्कृता यान्ति नरा महत्त्वम् । अलब्धशाणोत्कषणा नृपाणां न जातु मौलौ मणयो वसन्ति** (भामिनी० १.७२) ।[1]

नोट—छिपना आदि अर्थों में तिरस् का प्रयोग प्रायः धातु के साथ ही पाया जाता है । **तिरोऽन्तर्धौ** (१.४.७०) सूत्र द्वारा छिपना अर्थ में तिरस् की गतिसंज्ञा हो जाती है । गतिसंज्ञा होने से **कुगतिप्रादयः** (६४६) द्वारा समास हो जाता है । समास होने के कारण **समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्** (८८४) से क्त्वा को ल्यप् हो जाता है । यथा—तिरोभूय, तिरोधाय इत्यादि । परन्तु कृञ् धातु के योग में 'छिपना' अर्थ होने पर भी **विभाषा कृञि** (१.४.७१) सूत्रद्वारा 'तिरस्' की विकल्प से गतिसंज्ञा होती है । गतिपक्ष में **कुगतिप्रादयः** (६४६) से समास हो कर क्त्वा को ल्यप् हो जाता है । यथा—तिरस्कृत्य । गतिसंज्ञा के अभाव में समास न होने से क्त्वा को ल्यप् नहीं होता । यथा—तिरः कृत्वा ।[2]

[४४] अन्तरा*।।

१. अन्दर से—**भवद्भिरन्तरा प्रोत्साह्य कोपितो वृषलः** (मुद्रा० ३); आप

---

१. वैदिक साहित्य में 'तिरस्' अव्यय का प्रयोग धातुयोग के बिना अकेले भी बहुत आता है यथा—**तिर इव वै देवा मनुष्येभ्यः** (शत० ब्रा० ३.१.१.८), देवता मनुष्यों से छिपे से रहते है । **स्त्रियस्तिर इवैव पुंसो जिघत्सन्ति** (शत० ब्रा० १.६.२.१२), स्त्रियां पुरुषों को मानो गुप्तरूप से खा जाती हैं । परन्तु लौकिक साहित्य में इस का प्रयोग प्रायः भू, धा, कृ धातुओं के योग में ही दृष्टिगोचर होता है ।

२. गतिपक्ष में **तिरसोऽन्यतरस्याम्** (८.३.४२) द्वारा विसर्ग को विकल्प से सकारादेश हो जाता है । यथा—तिरस्कृत्य, तिरःकृत्य । परन्तु 'तिरःकृत्वा' में गतिसंज्ञा न होने से सकारादेश भी नहीं होता ।

लोगों ने अन्दर से भड़का कर चन्द्रगुप्त को कुपित कर दिया है। २. मध्य में, बीच में—**त्रिशङ्कुरिव अन्तरा तिष्ठ** (शाकुन्तल० २), त्रिशङ्कु की तरह मध्य में लटके रहो। **मैनम् अन्तरा प्रतिबन्धय** (शाकुन्तल० ६); इसे बीच में मत टोको। **नाऽद्याच्चैव तथान्तरा** (मनु० २.५६) सवेरे-शाम दो भोजनों के मध्य में कुछ न खाए। ३. अन्दर ही अन्दर—**अक्षेत्रे बीजमुत्सृष्टमन्तरैव विनश्यति** (मनु० १०.७१), अयोग्य खेत में डाला गया बीज अन्दर ही अन्दर नष्ट हो जाता है। ४. बिना, बग़ैर—**न प्रयोजनमन्तरा चाणक्यः स्वप्नेऽपि चेष्टते** (मुद्रा०), प्रयोजन के विना चाणक्य स्वप्न में भी चेष्टा नहीं करता। ५. मार्ग में, रास्ते में—**अन्तरा चारणेभ्यस्त्वदीयं जयोदाहरणं श्रुत्वा त्वामिहस्थमुपागताः** (विक्रमो० १), मार्ग में ही चारणों से तुम्हारी यशोगाथा सुनकर तुम्हारे पास यहां आये हैं। ६. सदृश—**न द्रक्ष्यामः पुनर्जातु धार्मिकं राममन्तरा** (रामायण० २.५७.१३) राम सदृश धार्मिक पुरुष फिर हम कभी नहीं देखेंगे।

नोट—अन्तराऽन्तरेणयुक्ते (२.३.४) सूत्रद्वारा अन्तरा के योग में द्वितीया विभक्ति का विधान है।

[४५] अन्तरेण*॥

१. बिना, बग़ैर—**न राजापराधमन्तरेण प्रजास्वकालमृत्युश्चरति** (उत्तरराम० २)। न चान्तरेण नावं तरीतुं शक्येयं सरित्। **क्रियान्तरान्तरायमन्तेरण आर्यं द्रष्टुमिच्छामि** (मुद्रा० ३), यदि किसी काम में विघ्न न हो तो आप के दर्शन करना चाहता हूं। २. मध्य में, बीच में, के विषय में—**त्वां माञ्चान्तरेण कमण्डलुः** (महाभाष्य), तेरे और मेरे बीच कमण्डलु है। **अथ भवन्तमन्तरेण कीदृशोऽस्या दृष्टिरागः**? (शाकुन्तल० २), आप के विषय में इस का चक्षूराग कैसा था?

नोट—इस के योग में भी पूर्ववत् द्वितीया का विधान है।[1]

[४६] ज्योक्॥

१. दीर्घ काल तक, लम्बे समय यक—**ज्योक् च सूर्यं दृशे** (ऋ० १.२३.२१)। **सर्वमायुरेति ज्योग्जीवति महान् प्रजया पशुभिर्भवति महान् कीर्त्या** (छान्दोग्योपनिषत् २.११.२)।

नोट—यह अव्यय प्रायः वैदिकसाहित्य में प्रयुक्त देखा जाता है।

[४७] कम्॥

१. जल—कं (जले) जायत इति **कञ्जम् (कमलम्)**। कम् (जलम्) अलंकरोतीति कमलम्। २. सुख—**कम्**=**सुखम्** अस्त्यस्येति कंयुः=सुखी। **कंशम्भ्यां ब-भ-युस्-ति-तु-त-यसः** (५.२.१३८) इति मत्वर्थीयो युस्। **सिति च** (१.४.१६) इति पदत्वेनानुस्वारपरसवर्णौ। ३. सिर—कं (शिरसि) जायन्त इति कञ्जाः=केशाः।

१. **अन्तराऽन्तरेणयुक्ते** (२.३.४) सूत्र के भाष्य में भाष्यकार ने अन्तरा और अन्तरेण को निपात माना है। परन्तु निपातसंज्ञा करने के लिये तब इन का पाठ चादियों में मानना होगा। अतः यहां स्वरादियों में इन का पाठ प्रक्षिप्त समझना चाहिये

कं (शिरः) धारयतीति **कन्धरा**=**ग्रीवा**। ४. **निन्दनीय**—कं (कुत्सितः) दर्पोऽस्येति कन्दर्पः=कामः।

[४८] शम्* ॥

१. सुख, शान्ति, कल्याण—**शं (कल्याणं)** करोतीति शङ्करः। शङ्करः शं करोतु नः। शं (सुखम्) अस्त्यस्येति शंयुः=सुखी। पूर्ववद् युस्।

नोट—कम्-शम्शब्दयोर्विभक्तिप्रतिरूपकाव्ययत्वे सिद्धे स्वरादौ पाठश्चिन्त्य इति केचिदाहुः।

[४९] सहसा* ॥

१. विना, विचारे, यकदम, अचानक—**सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्** (किरात० २.३०)। **सहसोत्पतिताः सर्वे स्वासनेभ्यः ससंभ्रमम्** (रामायण० २.१६.४)।

[५०] विना* ॥

१. विना, बग़ैर—**दुर्भगाभरणप्रायो ज्ञानं भारः क्रियां विना** (हितोप० १.१८)।

नोट—इस अव्यय के योग में **पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम्** (२.३.३२) सूत्र से द्वितीया, तृतीया तथा पञ्चमी विभक्ति का विधान है।

[५१] नाना* ॥

१. विना, बग़ैर—**नाना नारीं निष्फला लोकयात्रा** (गणरत्न०), विना स्त्री के लोकयात्रा निष्फल है। २. अनेक प्रकार के—**नानाफलैः फलति कल्पलतेव भूमिः** (नीति० ३७)। **नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः** (गीता० १.९)। ३. पृथक् रूप में—**मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति** (कठो० ४.१०)। **विश्वं न नाना शम्भुना** (बोपदेव), यह जगत् शम्भु से पृथक् नहीं।

नोट—इस अव्यय के योग में भी पूर्वोक्तसूत्र से द्वितीया, तृतीया तथा पञ्चमी विभक्ति का विधान है।

वक्तव्य—विना और नाना का पाठ भी 'वत्' की तरह यहां स्वरादियों में व्यर्थ सा प्रतीत होता है। **तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः** (३६८) से ही इन की अव्ययसंज्ञा सिद्ध हो सकती है।

[५२] स्वस्ति* ॥

१. मङ्गल, कल्याण, सुख—**स्वस्त्यस्तु ते** (रघु० ५.१७)। **स्वस्ति भवते** (शाकुन्तल० २)।

नोट—इस अव्यय के योग में **नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च** (८९८) सूत्र से चतुर्थी विभक्ति का विधान है।

[५३] स्वधा ॥

१. पितरों के निमित्त अन्न आदि देते समय उच्चार्यमाण विशिष्ट शब्द—पितृभ्यः स्वधा।

प्र

नोट—इस अव्यय के योग में भी पूर्ववत् चतुर्थी का विधान है ।

[५४] अलम्* ।।

१. भूषित करना, सजाना—**वाण्येका समलंकरोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते** (नीति० १५) । **अलङ्कृत्य सुतादानं दैवं धर्मं प्रचक्षते** (मनु० ३.२८)[1] । २. पर्याप्त होना, काफी होना, समर्थ होना—**तस्यालमेषा क्षुधितस्य तृप्त्यै** (रघु० २.३९)। **अर्हस्येनं शमयितुमलं वारिधारासहस्रैः** (मेघ० २.५३) । **अलम्मल्लो मल्लाय** (काशिका)[2] । ३. निषेध करना, मना करना, रोकना—**अलं महीपाल तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात्** (रघु० २.३४) । अलं हसितेन[3]। अलं बहु विकथ्य, बहुत डींग न मारिये। अलम् अन्यथा गृहीत्वा, अन्यथा ग्रहण न कीजिये । यहां के स्पष्टीकरण के लिये (८७८) सूत्र पर हमारी व्याख्या देखें ।

[५५–५७] वषट् । श्रौषट् । वौषट् ।।

१. देवताओं के निमित्त हविर्दान में—वषडस्तु तुभ्यम् (यजु० ११.३९) । **अस्तु श्रौषट् पुरो अग्निम्** (ऋ० १.१३९.१) । **सोमस्याग्ने वीहि वौषट्** (ऐतरेय ब्रा० ४.५.४.६) ।

नोट—इन में से 'वषट्' के योग में **नमःस्वस्ति०** (८९८) द्वारा चतुर्थी विभक्ति होती है ।

[५८] अन्यत् ।।

१. अन्य, पुनः, इस के अतिरिक्त —**देवदत्त आयातोऽन्यच्च यज्ञदत्तः** (गण-रत्न०) । प्रयोग अन्वेषणीय हैं । विभक्ति-प्रतिरूपक अव्यय मान कर काम चल सकता है ।

[५९] अस्ति ।।

१. विद्यमान, मौजूद—**अतिथिर्बालकश्चैव राजा भार्या तथैव च । अस्ति नास्ति न जानन्ति देहि देहि पुनः पुनः** (चाणक्य०) । अस्तिक्षीरा (अस्ति = विद्य-मानं क्षीरमस्याः) गौः । अस्ति (विद्यमानः परलोकः) इति मतिरस्येत्यास्तिकः । **अस्ति-नास्ति-दिष्टं मतिः** (४.४.६०) इति ठक्, **ठस्येकः** (१०२४) इति ठस्य इका-देशः । अस्तित्वम् ।

नोट—इसे तिङन्तप्रतिरूपक अव्यय भी माना गया है । विशेष चादिगण में 'अस्तिक्षीरा' शब्द पर देखें ।

---

१. यहां **भूषणेऽलम्** (१.४.६३) सूत्र से 'अलम्' की गतिसंज्ञा हो कर **कु-गति-प्रादयः** (९४९) द्वारा समास हो कर **समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्** (८८४) से क्त्वा को ल्यप् हो जाता है ।

२. इस अर्थ में **नमःस्वस्तिस्वाहा०** (८९८) सूत्रस्थ **अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम्** (वा० ५२) वार्त्तिक से अलम् के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है ।

३. ऐसे स्थलों में अलम् के साथ तृतीया विभक्ति का प्रयोग होता है । इस के स्पष्टी-करण के लिये इस व्याख्या के विभक्त्यर्थ-परिशिष्ट में (२०) संख्या देखें ।

[६०] उपांशु ॥

उपांशु विजनेऽव्ययम् इति विश्वः । १. एकान्त—**परिचेतुमुपांशु धारणां कुशपूतं प्रवयास्तु विष्टरम्** (रघु० ८.१८); रघु ने वृद्धावस्था को प्राप्त हो कर एकान्त में धारणा का अभ्यास करने के लिये कुशापवित्र आसन को ग्रहण किया ।

नोट—**जिह्वौष्ठौ चालयेत् किञ्चिद् देवतागतमानसः । निजश्रवण-योग्यः स्यादुपांशुः स जपः स्मृतः ।** इस प्रकार का जप भी 'उपांशु' कहाता है परन्तु वह प्रायः उकारान्त पुंलिङ्ग होता है अव्यय नहीं ।

[६१] क्षमा ॥

१. क्षमा, माफ़ी—**क्षमा करोतु भवान्** (व्या० सि० सु०)।

नोट—इस अव्यय के संस्कृतसाहित्य में प्रयोग अन्वेषणीय हैं । यदि इसे अव्यय मानना ही हो तो विभक्तिप्रतिरूपक माना जा सकता है, अथवा स्वरभेदार्थ यहां पाठ किया गया है ।

[६२] विहायसा ॥

१. आकाश—**विहायसा पश्य विहङ्गराजम्** (हेमचन्द्र) । **विहायसा रम्यमितो विभाति** (व्या० सि० सु०)। इस अव्यय के प्रयोग अन्वेषणीय हैं। संस्कृत में आकाशवाचक तथा पक्षिवाचक सकारान्त विहायस् शब्द बहुत प्रसिद्ध है—**विहायाः शकुनौ पुंसि, गगने पुन्नपुंसकम्**—इति मेदिनी ।

[६३] दोषा ॥

१. रात्रि—**दोषापि नूनमहिमांशुरसौ किलेति** (माघ० ४.४६), रात्रि के समय भी वह (चन्द्र) सूर्य है ऐसा समझ कर । **दोषामन्यम् अहः** (महाभाष्य), घने बादलों या धुन्ध के कारण अपने आप को रात्रि समझने वाला दिन । यहां 'दोषा' के अव्यय होने से **खित्यनव्ययस्य** (८०६) से ह्रस्व नहीं होता ।

नोट—'दोषा' यह रात्रिवाचक आकारान्त स्त्रीलिङ्ग भी प्रयोग में देखा जाता है । यथा—**ततः कथाभिः समतीत्य दोषाम्** (भट्टि० २२.२४) ।

[६४] मृषा* ॥

असत्य, झूठ, मिथ्या । **अयं दरिद्रो भवितेति वैधसीं लिपिं ललाटेऽर्थिजनस्य जाग्रतीम् । मृषा न चक्रेऽल्पितकल्पपादपः प्रणीय दारिद्र्यदरिद्रतां नलः ।** (नैषध० १.१५) । **मृषा मिथ्या च वितथे**—इत्यमरः ।

[६५] मिथ्या* ॥

१.झूठ असत्य—**मिथ्यैव व्यसनं वदन्ति मृगयामीदृग्विनोदः कुतः** (शाकुन्तल० २.५) । २. व्यर्थ, बेकार—**ज्योतिषं जलदे मिथ्या, मिथ्या श्वासिनि वैद्यकम् । योगो बह्वशने मिथ्या, मिथ्याज्ञानं च मद्यपे** (समयोचित०) ।

[६६] मुधा ॥

१. व्यर्थ में—**रात्रिः सैव पुनः स एव दिवसो मत्वा मुधा जन्तवः** (वैराग्य० ४४)।

सीतया रामचन्द्रस्य गले कमलमालिका । मुधा बुधा भ्रमन्त्यत्र प्रत्यक्षेपि क्रियापदे (सुभाषित०) । 'प्रत्यक्षेपि' इति कर्मणि लुँङ्प्रयोगः ।

[६७] पुरा* ॥

१. प्राचीन समय में, व्यतीतकाल में—**पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासः । अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावाद् अनामिका सार्थवती बभूव** (सुभाषित०) । **पुरा सरसि मानसे विकचसारसालिस्खलत्-परागसुरभीकृते पयसि यस्य यातं वयः । स पल्वलजलेऽधुना मिलदनेकभेकाकुले, मरालकुलनायकः कथय रे कथं वर्तताम्** (भामिनी० १.२)। २. प्रबन्ध (क्रियासातत्य) में—**उपाध्यायेन स्म पुराधीयते** (गणरत्न०) उपाध्याय ने निरन्तर पाठ किया । ३. निकट भविष्य में—**आलोके ते निपतति पुरा सा बलिव्याकुला वा** (मेघ०२.२२), बलिकर्म में लगी हुई शीघ्र ही वह तेरी दृष्टि में आएगी। **पुरा सप्तद्वीपां जयति वसुधामप्रतिरथः** (शाकुन्तल० ७.३३), आगे निकट भविष्य में यह (सर्वदमन) अप्रतिम योधा बन कर सप्तद्वीपा सम्पूर्ण पृथ्वी को विजय करेगा । इस अर्थ में 'पुरा' के योग में **यावत्पुरानिपातयोर्लट्** (३.३.४)से भविष्यत्काल में भी लँट् का प्रयोग होता है ।

[६८] मिथो ॥

१. एकान्त । २. परस्पर—**मन्त्रयन्ते मिथो** (शब्दकौस्तुभ) ।

नोट—इस अव्यय के प्रयोग अन्वेषणीय हैं । कुछ लोग 'मिथो+अत्र, मिथो+इति, इत्यादियों में **ओत्** (५६) सूत्रद्वारा प्रगृह्यसंज्ञा कर प्रकृतिभाव करते है। परन्तु इस प्रकार मानने से इस का पाठ चादियों में करना होगा अन्यथा **चादयोऽसत्त्वे** (५३) से निपातसंज्ञा न हो सकेगी ।

[६९] मिथस्* ॥

मिथोऽन्योन्यं रहस्यपि—इत्यमरः । १. परस्पर—**तन्मिथः सवर्णसंज्ञं स्यात्** (लघुसिद्धान्तकौमुदी १० सूत्र पर) । **कामान् माता पिता चैनं यदुत्पादयतो मिथः** (मनु० २.१४७) । २. एकान्त—**रत्नाकरं वीक्ष्य मिथः स जायां रामाभिधानो हरिरित्युवाच** (रघु० १३.१), मिथः=रहसि । **भर्तुः प्रसादं प्रतिनन्द्य मूर्ध्ना वक्तुं मिथः प्राक्रमतैवमेनम्** (कुमार० ३.२) ।

[७०] प्रायस् * ॥

१. बहुधा, अक्सर, बहुत बार—**प्रायो भृत्यास्त्यजन्ति प्रचलितविभवं स्वामिनं सेवमानाः** (मुद्रा० ४.२२) । **प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यान्त्यापदः** (नीति० ८४) । २. सम्भवतः—**तव प्राज्ञ प्रसादादिह प्रायः प्राप्स्यामि जीवितम्** (महाभारत०)

नोट—इसी अर्थ में घञन्त पुंलिङ्ग 'प्राय' शब्द का भी बहुत प्रयोग देखा जाता है । यथा—मृतप्रायो गर्दभः, शालिप्राया भूमिः, कष्टप्रायं शरीरम् । पूर्ण अर्थ में भी इस घञन्त का प्रयोग देखा जाता है—अमृतप्रायं वचनम् । प्रायोपवेशनम्=अन्नादित्यागपूर्वक मृत्यु के लिये बैठ जाना, मरणव्रत रखना ।

[७१] मुहुस्* ॥

१. पुनः पुनः, बार बार—**ग्रीवाभङ्गाभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने दत्तदृष्टिः** (शाकुन्तल० १.७) । **मुहुर्लक्ष्योद्भेदा मुहुरधिगमाभावगहना । मुहुः सम्पूर्णाङ्गी मुहुरतिकृशा कार्यवशतः । मुहुर्भ्रश्यद्बीजा मुहुरपि बहुप्रापितफलेत्यहो चित्राकारा नियतिरिव नीतिर्नयविदः** (मुद्रा० ५.३) । **मुहुर्मुहुः**=बार बार—**मुहुर्मुहुर्वारि पिबेदभूरि** (सुभाषित) ।

[७२-७३] प्रवाहुकम् । प्रवाहिका ॥

१. समानकाल, उसी समय । २. ऊर्ध्व । **प्रवाहुकं गृह्णीयात्** (गणरत्न०) ।

नोट—कई गणपाठों में 'प्रवाहुकम्' के स्थान पर 'प्रवाहिका' पाठ पाया जाता है । इन अव्ययों के प्रयोग अन्वेषणीय हैं । किसी कोष में इन का उल्लेख नहीं । ग्रहणीरोगवाची 'प्रवाहिका' शब्द टाबन्त होता है । स्वामी दयानन्दसरस्वती ने 'प्रवाहुकम्' पाठ मान कर उस का 'प्राबल्य' अर्थ किया है । इस अर्थ में 'प्रवाहुक्' शब्द तो काठकसंहिता में देखा जाता है—**देवा वा असुरान् यज्ञमभिजित्य ते प्रवाहुग्ग्रहान् गृह्णाना आयन्** (काठकसंहिता २९.६) । सम्भव है कि इस शब्द का किसी लुप्तशाखा में उल्लेख हो ।

[७४] आर्यहलम् ॥

१. बलपूर्वक, ज़बरदस्ती—**आर्यहलं गृह्णाति** (गणरत्न०) ।

नोट—इस अव्यय के प्रयोग अन्वेषणीय हैं ।

[७५] अभीक्ष्णम्* ॥

१. निरन्तर, बार बार, पुनः पुनः—**क्षते प्रहारा निपतन्त्यभीक्ष्णम्** (पञ्च० २.१९२) ।

[७६] साकम्* ॥

१. के साथ—**आस्स्व साकं मया सौधे माधिष्ठा निर्जनं वनम्** (भट्टि० ८.७९) । **साकं ग्रावगणैर्लुठन्ति मणयो बालार्कबिम्बोपमाः** (भामिनी० १.४०) ।

नोट—साकम्, सार्धम्, समम्, सह आदि सहार्थक अव्ययों के योग में अप्रधान में **सहयुक्तेऽप्रधाने** (२.३.१९) द्वारा तृतीया विभक्ति का विधान है ।

[७७] सार्धम्* ॥

१. के साथ—**नाश्नीयाद् भार्यया सार्धं नैनामीक्षेत चाश्नतीम्** (मनु० ४.४३) । **वनं मया सार्धमसि प्रपन्नः** (रघु० १४.६३) ।

[७८] नमस्* ॥

१. नमस्कार—**नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति** (नीति० ९१) । **येन धौता गिरः पुंसां विमलैः शब्दवारिभिः । तमश्चाज्ञानजं भिन्नं तस्मै पाणिनये नमः** (पाणिनीयशिक्षा ५८) ।

नोट—इस अव्यय के योग में **नमःस्वस्तिस्वाहा०** (८९८) सूत्र द्वारा चतुर्थी विभक्ति का विधान है । इस अव्यय के 'अन्न, वज्र' आदि अन्य अनेक अर्थ भी वेद में प्रसिद्ध हैं ।

[७९] हिरुक् ॥

पृथग्विनाऽन्तरेणर्तेहिरुङ्नाना च वर्जने—इत्यमरः। १. विना, बग़ैर—**हिरुक् कर्म न मोक्षः स्यात्** (व्या० च०), विना कर्म के मोक्ष दुर्लभ है। २. समीप—**पर्वतस्य हिरुङ् नदी** (व्या० च०), पर्वत के समीप नदी है। ३. तिरोहित—**य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्** (ऋ० १.१६४.३२)।

नोट—यह अव्यय प्रायः वैदिकसाहित्य में उपलब्ध होता है।

[८०] धिक्* ॥

१. धिक्कार—**धिक् तां च तं च मदनं च इमाञ्च माञ्च** (नीति० २)। **रामं सीतां लक्ष्मणं जीविकार्थे विक्रीणीते यो नरस्तञ्च धिग् धिक्। अस्मिन् पद्ये योऽपशब्दं न वेत्ति व्यर्थप्रज्ञं पण्डितं तञ्च धिग्धिक्** (सुभाषित०)।[1]

नोट—इस अव्यय के योग में **उभसर्वतसोः कार्या०** (वा०) द्वारा द्वितीया का विधान है।

[८१] अथ* ॥

१. आरम्भ अर्थ में—**अथ शब्दानुशासनम्** (अष्टाध्याय्या आदौ)। अथ **योगानुशासनम्** (योगदर्शन १.१)। २. अनन्तर अर्थ में—**अथ प्रजानामधिपः प्रभाते जायाप्रतिग्राहितगन्धमाल्याम्। वनाय पीतप्रतिबद्धवत्सां यशोधनो धेनुमृषेर्मुमोच** (रघु० २.१); अथ=निशानयनानन्तरमित्यर्थः। **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** (वेदान्तसूत्र १.१.१), अथ=साधनचतुष्टयानन्तरमित्यर्थः। ३. विकल्प अर्थ में—**शब्दो नित्योऽथानित्यः** (गणरत्न०), शब्द नित्य है या अनित्य ?। ४. प्रश्न या प्रश्नावतरण में (यह बताइये—इस अर्थ में)—**अथ सा तत्रभवती किमाख्यस्य राजर्षेः पत्नी** (शाकुन्तल० ७), अच्छा तो यह बताइये कि वह आदरणीया किस राजर्षि की पत्नी है ?। **न चेन्मुनिकुमारोऽयम् अथ कोऽस्य व्यपदेशः ?** (शाकुन्तल० ७), यदि यह मुनिकुमार नहीं तो इस का कुल क्या है ?। **अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः** (गीता० ३.३६), तो यह पुरुष किस से प्रयुक्त हुआ पापाचरण करता है ?। ५. समुच्चय में—**गणितमथ कलां वैशिकीम्** (मृच्छ० २.३), गणित तथा वेश्यागृहसम्बन्धी कला को। **मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रूरथ पितृष्वसा। सम्पूज्या गुरुपत्नीवत् समास्ता गुरुभार्यया** (मनु० २.१३१)। ६. यदि, अगर (पक्षान्तर) अर्थ में—**अथ चेत् त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि** (गीता० २.३३); यदि तुम इस धार्मिक संग्राम को नहीं करोगे। **अथ मरणमवश्यमेव जन्तोः किमिति मुधा मलिनं यशः क्रियेत** (हितोप० ३.१४१), यदि मृत्यु अवश्य होनी ही है तो व्यर्थ में अपना यश क्यों कलङ्कित किया जाये ?। ७. मङ्गल—इस अर्थ का विवेचन चादिगणप्रोक्त 'अथ' निपात पर देखें।

[८२] अम् ॥

१. शीघ्र, २. अल्प। इस के प्रयोग अन्वेषणीय हैं।

---

१. अत्र **इवे प्रतिकृतौ** (१२३४) इति विहितस्य कनः **जीविकार्थे चापण्ये** (५.३.९९) इति लुपोऽभावाद् 'रामकम्, सीतिकाम्, लक्ष्मणकम्' इत्येव प्रयोगाः साधवः।

नोट—वर्त्तमान उपलब्ध लौकिक वा वैदिकसाहित्य में हमें यह अव्यय कहीं नहीं मिला। दीक्षित आदि इसे प्रत्यय मानते हैं। उन का कथन है कि **अमु च च्छन्दसि** (५.४.१२) सूत्र से विहित अम्प्रत्ययान्त की अव्ययसंज्ञा होती है। उदाहरण यथा—**प्र तं नय प्रतरं वयस्यः** (यजु० १२.२६)। परन्तु चाहे यहां 'अम्' से प्रत्यय भी समझ लें तो भी **तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः** (३६८) से ही इस के अव्ययसंज्ञक हो जाने से यहां ग्रहण व्यर्थ सा प्रतीत होता है।

[८३] आम् ॥

१. स्वीकृति या स्मृति द्वारा 'जी हां' के अर्थ में—**आम्! ज्ञातम्** (शाकुन्तल० ३)।

नोट—कई वैयाकरण यहां भी पूर्ववत् **किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे** (५.४.११) आदि सूत्रों से विहित आम्प्रत्ययान्तों की अव्ययसंज्ञा मानते हैं।

[८४] प्रताम् ॥

१. ग्लानि—इस के उदाहरण अन्वेष्टव्य हैं।

नोट—'प्रताम्' शब्द प्रपूर्वक तम् (**तमुँ काङ्क्षायाम्**) धातु से क्विँप् प्रत्यय कर उपधादीर्घ (७२७) करने से निष्पन्न होता है। यहां सुँब्लुक् हो जाने पर **मो नो धातोः** (२७०) से इस के मकार को नकार नहीं होता क्योंकि यदि ऐसा करना होता तो आचार्य इस गण में प्रशान् (प्रतान्) शब्दों को नकारान्त निर्दिष्ट न करते।

[८५] प्रशान् ॥

१. तुल्य, सदृश, समान—**प्रशान् देवदत्तो यज्ञदत्तेन** (गणरत्न०)।

नोट—इस के प्रयोग अन्वेषणीय हैं। कई वैयाकरण 'प्रशान्' के स्थान पर 'प्रशाम्' पाठ मानते हैं। कुछ अन्य लोग यहां 'प्रतान्' शब्द को भी पढ़ते हैं।

[८६] मा* ॥

१. निषेध (मत) अर्थ में—**मा जानीत विदर्भजामविदुषीम्** (नैषध० १५.८६)। **मा ब्रूहि दीनं वचः** (नीति० ५१)। **माऽसमीक्ष्य परं स्थानं पूर्वमायतनं त्यजेत्** (हितोप० १.१०२)। **मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि** (गीता० २.४७)। २. 'ऐसा न हो' इस अर्थ में—**मा कश्चिन्ममाप्यनर्थो भवेत्** (पञ्च० ५), ऐसा न हो कि मुझ पर भी कोई अनर्थ आ पड़े। **लघु एनां परित्रायस्व मा कस्यापि तपस्विनो हस्ते पतिष्यति** (शाकुन्तल० २), शीघ्र ही इसे बचाइये ऐसा न हो कि यह किसी तपस्वी के हाथ में पड़ जाये। ३. धिक्कार—**मा जीवन् यः परावज्ञादुःखदग्धोऽपि जीवति** (माघ० २.४५), धिक्कार है उस के जीवन पर जो शत्रुओं से तिरस्कृत हुआ भी जीता है।

नोट—कुछ वैयाकरण इस अव्यय को नहीं मानते केवल अग्रिम 'माङ्' को ही स्वीकार करते हैं। इस विषय का स्पष्टीकरण इस व्याख्या के द्वितीय-भागस्थ **माङि लुङ्** (४३५) सूत्र पर देखें।

[८७] माङ्* ॥

१. मत—**पापे रतिं मा कृथाः** (भागवत० २.७७), पाप में प्रेम मत कर।

'स्म' के साथ इस के प्रयोग बहुत प्रसिद्ध हैं—**क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते** (गीता० २.३)। **माङि लुङ्** (४३५) तथा **स्मोत्तरे लँङ् च** (४३६) सूत्रों द्वारा केवल माङ् के योग में लुङ् तथा स्म के साथ लँङ् लुँङ् का विधान है। **न माङ्योगे** (४४१) से अट् आट् के आगम नहीं होते।[1]

आकृतिगणोऽयम् ॥

यह स्वरादिगण आकृतिगण है अर्थात् स्वरादिशब्द केवल इतने ही नहीं जितने परिगणित किये गये हैं, अपितु इन के अतिरिक्त अन्य जिन शब्दों में अव्ययकार्य पाया जाये उन को भी इस गण में सम्मिलित कर लेना चाहिये। आकृतिगण का स्पष्टीकरण पीछे (३९)सूत्र पर कर चुके हैं। स्वरादिगण में गिनने योग्य कुछ अन्य शब्द यथा—

(१) समम्*=के साथ। **दुर्जनेन समं सख्यं प्रीतिञ्चापि न कारयेत्। उष्णो दहति चाङ्गारः शीतः कृष्णायते करम्** (हितोप० १.८०)। इस के योग में तृतीया विभक्ति होती है—**सहयुक्तेऽप्रधाने** (२.३.१९)।

(२) सत्रा*=साथ। **सत्रा पुत्रकलत्रमित्रनिवहैः** (रामचरितम्० २.९४)। पूर्ववत् तृतीया।

(३) झटिति*=शीघ्र। **झटिति पराशयवेदिनो हि विज्ञाः** (नैषध०)।

(४) तरसा*=शीघ्र। **तरसा तां समुत्पाट्य चिक्षेप बलवद्बली** (रामायण० ५.४४.११)। तृतीयान्त 'तरस्' से काम चल सकता है, इसे अव्यय मानना अनावश्यक है।

(५) द्राक्*=शीघ्र। **द्राग्विद्रुतं कातरैः** (गणरत्न०), कायर शीघ्र भाग गये।

(६) अञ्जसा=शीघ्र। **स गच्छत्यञ्जसा विप्रो ब्रह्मणः सद्म शाश्वतम्** (मनु० २.२४)।

(७) मङ्क्षु=शीघ्र। **मङ्क्षूदपाति परितः पटलैरलीनाम्** (माघ० ५.३७), भौंरों के समूह चारों तरफ झटपट उड़ गये।

(८) सपदि*=शीघ्र, तत्क्षण। सपदि **कुमुदिनीभिर्मीलितम्** (माघ० ११.२४)।

(९) भूयस्*=पुनः, फिर। **भूयः स भूतेश्वरपार्श्ववर्त्ती किञ्चिद्विहस्यार्थपतिं बभाषे** (रघु० २.४६)। अत्यधिक, बार बार। **भूयोऽपि सिक्तः पयसा घृतेन न निम्बवृक्षो मधुरत्वमेति** (सुभाषित०)।

(१०) कामम्*=भले ही। **कामं धीरस्वभावेयं स्त्रीस्वभावस्तु कातरः** (स्वप्न० ४.८)। **मनस्वी म्रियते कामं कार्पण्यं नैव गच्छति** (हितोप० १.१३३)। निश्चय ही। **कामं व्यसनवृक्षस्य मूलं दुर्जनसंगतिः** (कथासरित्०)। कामम्=निश्चय ही।

(११) संवत्*(सवँ॒वत्)=वर्ष, विशेषतः वैक्रमाब्द। 'संवत्सर' का संक्षेप है।

---

१. **मा निषाद ! प्रतिष्ठां त्वम् अगमः शाश्वतीः समाः।**
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकम् अवधीः काम-मोहितम् ॥ (रामायण० १.२.१५)
यहां 'अगमः' में अट् आगम आर्ष समझना चाहिये। अथवा यहां माङ् का प्रयोग न हो कर पूर्वोक्त 'मा' का प्रयोग ही समझा जा सकता है।

(१२) बदि*=कृष्णपक्ष। 'बहुलदिवस' का संक्षेप है। 'वदि' भी लिखते हैं।

(१३) शुदि*=शुक्लपक्ष। 'शुक्ल-दिवस' का संक्षेप है। 'सुदि' भी होता है।

(१४) साक्षात्*=प्रत्यक्ष, सामने उपस्थित। **मृगानुसारिणं साक्षात् पश्यामीव पिनाकिनम्** (शाकुन्तल० १.६)। **साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः** (निरुक्त १)।

(१५) साचि=टेढ़ा। **साचि लोचनयुगं नमयन्ती** (किरात० ६.४४)।

(१६) अजस्रम्*=निरन्तर। **पश्चात्पुच्छं वहति विपुलं तच्च धूनोत्यजस्रम्** (उत्तरराम० ४.२६)।

(१७) अनिशम्*=निरन्तर। **तपति तनुगात्रि मदनस्त्वामनिशं मां पुनर्दहत्येव** (शाकुन्तल० ३.१४)।

(१८) वरम्*=अच्छा, अपेक्षाकृत अच्छा। **वरमद्य कपोतः श्वोमयूरात्** (लोकोक्ति)। **याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाऽधमे लब्धकामा** (मेघ० ६)। **वरं भिक्षाशित्वं न च परधनाऽऽस्वादनसुखम्** (हितोप० १.१३७)।

(१९) स्थाने*=उचित, ठीक, योग्य। **स्थाने भवानेकनराधिपः सन्नकिञ्चनत्वं मखजं व्यनक्ति** (रघु० ५.१६)।

(२०) कृतम्*='अलम्' के अर्थ में, बस, निषेध, रोकना। **अथवा कृतं सन्देहेन** (शाकुन्तल० १), अथवा अब सन्देह नहीं करना चाहिये। **प्रत्युवाच तमृषिर्निशम्यतां सारतोऽयमथवा गिरा कृतम्** (रघु० ११.४१)। इस के योग में तृतीया का प्रयोग होता है।

(२१) प्रादुस्*=प्रकट, उत्पन्न। **ज्यानिनादमथ गृह्णती तयोः प्रादुरास बहुलक्षपाच्छविः** (रघु० ११.१५), राम-लक्ष्मण के धनुष की टंकार को सुनती हुई कृष्णपक्ष की रात्रि के समान वर्ण वाली ताडका प्रकट हुई। इस का प्रयोग प्रायः भू, कृ, अस् धातुओं के साथ ही मिलता है।

(२२) आविस्*=प्रकट। **तमस्तपति घर्मांशौ कथमाविर्भविष्यति** (शाकुन्तल० ५.१४), सूर्य के चमकते हुए अन्धेरा कैसे प्रकट होगा?। **तेषामाविरभूद् ब्रह्मा परिम्लानमुखश्रियाम्** (कुमार० २.२)।

(२३) प्रकामम्*=यथेच्छ, बहुत। **प्रकाममभ्यस्यतु नाम विद्यां सौजन्यमभ्यासवशादलभ्यम्** (सुभाषित)। **जातो ममायं विशदः प्रकामं प्रत्यर्पितन्यास इवान्तरात्मा** (शाकुन्तल० ४.२२)। अनव्यय 'प्रकाम' शब्द भी बहुधा प्रयुक्त होता है—**न प्रकामभुजः श्राद्धे स्वधासंग्रहतत्पराः** (रघु० १.६६)।

(२४) उषा=रात्रि का अन्त, भोर वेला, प्रातः काल। **उषा रात्रेरवसाने**—इत्यमरः। **उषा स्याद्रजनीशेषे 'उषः' इत्यपि दृश्यते**—इति रभसः। इस के प्रयोग अन्वेष्टव्य हैं। सुप्रसिद्ध 'उषस्' शब्द सकारान्त स्त्रीलिङ्ग है—उषाः, उषसौ, उषसः।

(२५) ओम्*=स्वीकार करना। **द्वितीयश्चेद् ओमिति ब्रूमः** (साहित्यदर्पण० १)। **ओमित्युक्तवतोऽथ शार्ङ्गिणः** (माघ० १.७५)। **ओमित्युच्यताममात्यः** (मालती० ६), मन्त्री को कह दो कि हमें स्वीकार है। 'ओम्' यह परब्रह्म का वाचक भी है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् (कठोप० २.१५) ।

(२६) अवश्यम्*=जरूर, अवश्य। **अवश्यं यातारश्चिरतरमुषित्वाऽपि विषयाः** (वैराग्य० १२) । समास में कृत्यप्रत्ययान्त शब्द के परे होने पर 'अवश्यम्' के मकार का लोप हो जाता है—**लुम्पेदवश्यमः कृत्ये** (वा०) । यथा—अवश्यपाच्यम्, अवश्यलाव्यम्, अवश्यस्तुत्यः ।

(२७) सम्प्रति*=अब । **सम्प्रति मित्रलाभः प्रस्तूयते यस्यायमाद्यः श्लोकः** (हितोप० १) ।

(२८) साम्प्रतम्*=अब, आजकल । **धनं साम्प्रतं वन्ध्यमास्ते न विद्या** (कस्यचित्) । उचित, युक्त, मुनासिब— **हन्त स्थानं क्रोधस्य साम्प्रतं देव्याः** (वेणीसंहार० १) । **युक्ते द्वे साम्प्रतं स्थाने**—इत्यमरः ।

(२९) सुष्ठु*=अच्छा, ठीक, युक्त । अथवा सुष्ठु खल्विदमुच्यते । सुष्ठूक्तं त्वया । बहुत अच्छी तरह – **सुष्ठु शोभस आर्यपुत्र एतेन विनयमाहात्म्येन** (उत्तरराम० १) । इस का स्वरभेदार्थ चादियों में भी परिगणन किया गया है ।

(३०) दुष्ठु=बुरा । **यत्र मा दुष्ठु मन्यसे** (बुद्धचरित० ४.८४) । **निन्दायां दुष्ठु सुष्ठु प्रशंसने**—इत्यमरः ।

(३१) मिथु या मिथुर् (?)=दोनों, परस्पर । **ब्रह्मादयस्तनुभृतो मिथुरर्द्यमानाः** (भागवत० ११.६.१४) ।

(३२) असाम्प्रतम्*=अयुक्त । **विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्** (कुमार० २.५५) ।

(३३) कु*=कुत्सित, बुरा । **कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति** (देवीक्षमा० १) । थोड़ा, अल्प—**सुपूरा स्यात् कुनदिका** (पञ्च० १.२६) । पृथ्वीवाचक 'कु' अव्यय नहीं है उकारान्त स्त्रीलिङ्ग है—**गोत्रा कुः पृथिवी पृथ्वी क्ष्मावनिर्मेदिनी मही**—इत्यमरः । कौ मोदत इति कुमुदम् ।

(३४) सु*=अच्छा, अच्छी तरह । **सुजीर्णमन्नं सुविचक्षणः सुतः सुशासिता स्त्री नृपतिः सुसेवितः । सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत्कृतं सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम्** (हितोप० १.२२) ।

(३५) चिरेण*=चिर काल बाद । **कियच्चिरेण आर्यपुत्रः प्रतिपत्तिं दास्यति** (शाकुन्तल० ६), कितने चिर बाद आर्यपुत्र सन्देश भेजेंगे ? । **चिरेण संज्ञां प्रतिलभ्य भूयो विचिन्तयामास विशालनेत्रा** (रामायण० सुन्दर० ३२.८), बहुत काल के बाद होश में आकर वह विशालाक्षी पुनः सोचने लगी। नचिरेण, अचिरेण=शीघ्र । 'न' अव्यय के साथ सुप्सुपा-समास हो कर 'नचिरेण' तथा 'नञ्' अव्यय के साथ नञ्तत्पुरुषसमास होकर 'अचिरेण' बनता है । **योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति** (गीता० ५.६) । **अचिरेणैव सीदति** (मनु० ७.१३४) ।

(३६) चिराय*=चिर काल तक, देर तक । **प्रीताऽस्मि ते सौम्य चिराय जीव**

(रघु० १४.५६)। **काकोऽपि जीवति चिराय बलिञ्च भुङ्क्ते** (पञ्च० १.२५)।

(३७) चिररात्राय=चिरकाल के लिये। **प्रतियाते महारण्यं चिररात्राय राघवे। बभूव नगरे मूर्च्छा बलमूर्च्छाजनस्य च** (रामायण० २.४०.१८), राम के चिरकाल के लिये वन को चले जाने पर नगर में मूर्छा छा गई।

(३८) चिरात्*=बहुत काल के बाद। **भो भगिनीसुत! किमिति चिराद् दृष्टोऽसि** (पञ्च० ४), हे भाञ्जे! क्या कारण है बहुत काल के बाद दिखाई दिये हो?। चिर तक, बहुत काल तक—**तदक्षयं महद् दुःखं नोत्सहे सहितुं चिरात्** (रामायण० २.२०.४६), मैं उस अक्षय महान् दुःख को बहुत काल तक न सह सकूंगी। नचिरात्-अचिरात्=शीघ्र। **तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्। भवामि नचिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्** (गीता० १२.७)। **अचिराद्रुपकर्त्तुराचरेदथवाऽऽत्मौपयिकीमुपक्रियाम्। पृथुरित्थमथाणुरस्तु सा न विशेषे विदुषामिह ग्रहः** (नैषध० २.१४)।

(३९) चिरस्य=चिरकाल के बाद। **समानयंस्तुल्यगुणं वधूवरं चिरस्य वाच्यं न गतः प्रजापतिः** (शाकुन्तल० ५.१५), तुल्य गुणों वाले वधू-वर का जोड़ा बनाते हुए आज चिरकाल के बाद प्रजापति निन्दा को प्राप्त नहीं हुआ। **चिरस्य बत पश्यामि दूराद् भरतमागतम्** (रामायण० २.१००.५)।

(४०) चिरे=देर तक। **चिरे कुर्यात्** (शतपथब्रा०)। इस का लोक में प्रयोग बहुत कम होता है।

इस प्रकार शिष्टग्रन्थों के प्रयोग से अन्य स्वरादि भी जानने चाहियें।

स्वरादिनिपातमव्ययम् (३६७) सूत्र में निपातों की भी अव्ययसंज्ञा की गई है। निपातों का सम्पूर्ण वर्णन अष्टाध्यायी में **प्राग्रीश्वरान्निपाताः** (१.४.५६) सूत्र के अधिकार में किया गया है। इस अधिकार के दो सूत्र **चादयोऽसत्त्वे** (५३) तथा **प्रादयः** (५४) पीछे अच्सन्धिप्रकरण में निर्दिष्ट किये जा चुके हैं। चादि तथा प्रादि गणों में पठित शब्द असत्त्व अर्थ में निपात होते हैं। इन में से प्रादिगण का निर्देश (३५) सूत्र पर पीछे किया जा चुका है अब चादिगण का परिगणन करते हैं। निपात होने से चादि अव्यय हैं—यह नहीं भूलना चाहिये।[1]

---

१. चादिगण को यदि स्वरादिगण में सम्मिलित कर देते तो भी इस की अव्ययसंज्ञा सिद्ध हो सकती थी तो पुनः इस की निपातसंज्ञा का यह प्रयोजन है कि **चादयोऽसत्त्वे** (५३) सूत्र में 'असत्त्व' कथन के कारण द्रव्यवाचक चादियों की निपातसंज्ञा और उस के कारण अव्ययसंज्ञा न हो। यथा—

'पशु' शब्द चादिगण में पढ़ा गया है। 'पशु' शब्द के दो अर्थ होते हैं। एक—पशु=चौपाया, जानवर, दूसरा पशु=सम्यक्, अच्छी तरह। चौपाया अर्थ वाला 'पशु' शब्द द्रव्यवाचक होने से न निपातसंज्ञक होता है और न अव्ययसंज्ञक। यथा—पशुं पश्य (चौपाये को देखो), यहां अव्ययसंज्ञा न होने से पशु शब्द से परे द्वितीयाविभक्ति का लुक् (३७२) नहीं होता। पशु पश्य (ठीक

[१] च* ॥

१. समुच्चय[1]—**अजरामरवत्प्राज्ञो विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत्** (हितोप० ३)। **स शापो न त्वया राजन् न च सारथिना श्रुतः** (रघु० १.७८)। २. अन्वाचय—**भो भिक्षामट गाञ्चानय** (गणरत्न०), भिक्षा के लिये घूमो और (यदि मार्ग में गौ मिल जाये तो) गाय को भी लेते आना। ३. इतरेतरयोग—**तयोर्जगृहतुः पादान् राजा राज्ञी च मागधी। तौ गुरुर्गुरुपत्नी च प्रीत्या प्रतिननन्दतुः** (रघु० १.५७)। ४. समाहार—**पाणी च पादौ च पाणिपादम्** (गणरत्न०)। ५. परन्तु, लेकिन—**शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य** (शाकुन्तल० १.१५)। **अजातमृतमूर्खाणां वरमाद्यौ न चान्तिमः** (हितोप० १३)। ६. तुल्ययोगिता (ज्यों ही त्यों ही)—**ते च प्रापुरुदन्वन्तं बुबुधे चादिपूरुषः** (रघु० १०.६); ज्योंही वे क्षीरसागर पर पहुंचे त्योंही आदिपुरुष (विष्णु) जाग गये। ७. अवधारण (ही)—**अतीतः पन्थानं तव च महिमा वाङ्मनसयोः** (गणरत्न०), हे देव! यस्तव महिमा स वाङ्मनसयोः पन्थानं मार्गमतीत एव। **कर्मक्षयाच्च निर्वाणम्** (व्या० च०), कर्मों के क्षय से ही मोक्ष प्राप्त होता है। ८. यदि (अगर)—**जीवितुं चेच्छसे मूढ हेतुं मे गदतः शृणु** (महाभारत), हे मूढ! यदि तुम जीना चाहते हो तो मुझ से कारण सुनो। ९. पादपूर्ति—**भीमः पार्थस्तथैव च** (गणरत्न०)।

[२] वा* ॥

१. विकल्प—**यवैर्वा व्रीहिभिर्वा यजेत** (सुप्रसिद्धा श्रुतिः)। २. अथवा, या—**काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्। व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा** (हितोप० १.१)। **श्वशुरगृहनिवासः स्वर्गतुल्यो नराणां यदि भवति विवेकी पञ्च वा षड् दिनानि** (समयोचित०)[2]। ३. समुच्चय—**अस्ति ते माता स्मरसि वा तातम्**

तरह से देखो), यहां 'पशु' शब्द द्रव्यवाचक नहीं अतः निपात होने से उस की अव्ययसंज्ञा हो कर सुँब्लुक् हो जाता है। इसीप्रकार लक्ष्मीवाचक 'मा' शब्द की अव्ययसंज्ञा नहीं होती, निषेधवाचक की ही होती है।

अब यदि चादियों का पाठ स्वरादियों में ही होता और उन की निपातसंज्ञा न की जाती तो 'पशु पश्य' इत्यादि स्थलों की तरह 'पशुं पश्य' इत्यादियों में भी अव्ययसंज्ञा हो जाने से अनिष्ट हो जाता जो अब नहीं होता। सार यह है कि—स्वरादियों में तो द्रव्यवाचक की भी अव्ययसंज्ञा हो जाती है, यथा—स्वः पश्य (स्वर्ग को देख)। परन्तु चादियों में द्रव्यवाचक की नहीं होती। किञ्च—**निपाता आद्युदात्ताः** (फिट्सूत्र ८०) द्वारा आद्युदात्तस्वर भी निपातसंज्ञा का प्रयोजन है।

१. समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतरयोग, समाहार—शब्दों की विस्तृत व्याख्या इस व्याख्या के द्वन्द्वसमासप्रकरण में **चार्थे द्वन्द्वः** (९८२) सूत्र पर देखें।

२. इस श्लोक का उत्तरार्ध इस प्रकार है—**दधि-मधु-घृतलोभान्मासमेकं वसेच्चेद् भवति विगतलज्जो मानवो मानहीनः**। (मालिनी छन्द है)।

(उत्तररामचरित ४) । ४. इव=सदृश—**जातां मन्ये तुहिनमथितां पद्मिनीं वाऽन्यरूपाम्** (मेघ० २.२०), मैं मानता हूं कि वह मेरी प्रिया हिममर्दित कमलिनी की तरह विकृतरूप को प्राप्त हो गई है। **हृष्टो गर्जति चातिदर्पितबलो दुर्योधनो वा शिखी** (मृच्छ० ५.६), प्रसन्न एवम् अतिगर्वित बल वाले दुर्योधन के समान मोर गरज रहा है। ५. वाक्यालंकार—**परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते** (पञ्च० १.२८)।

[३] ह ॥

१. कहते हैं, सुनते हैं—इस प्रकार पिछली अतीत घटना को बताने में—**तस्य ह शतं जाया बभूवुः** (ऐतरेयब्रा०), कहते हैं कि उस की सौ स्त्रियां थीं। **द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च** (बृहदारण्यकोप० १.३.१), सुनते हैं कि देव और असुर दोनों प्रजापति की सन्तानें हैं। **उषस्तिर्ह चाक्रायण इभ्यग्रामे प्रद्राणक उवास** (छान्दोग्योप० १.१.१), कहते हैं कि चक्र का गोत्रापत्य उषस्ति महावतों के ग्राम में दुर्गत अवस्था में रहता था। पादपूर्त्ति में—**इति ह स्माहुराचार्याः** (गणरत्न०)।

नोट—इस का प्रयोग बहुधा वैदिक ब्राह्मणसाहित्य में देखा जाता है।

[४] अह ॥

१. आचारातिक्रमण—**स्वयमह ओदनं भुङ्क्त आचार्यं सक्तून् पाययति। स्वयमह रथेन याति, उपाध्यायं पदातिं गमयति** (काशिका ८.२.१०४)। २. पूजा—**अह माणवको भुङ्क्ते** (गणरत्न०)। ३. विनियोग—**त्वमह ग्रामं गच्छ। अयमहारण्यं गच्छतु** (गणरत्न०)।

[५] एव* ॥

१. अवधारण (ही)—**सत्यमेव जयते नाऽनृतम्** (मुण्डकोप० ३.१.६)। **कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः** (गीता० ३.२०)। **भवितव्यं भवत्येव नारिकेलफलाम्बुवत्** (सुभाषित०)। **अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव** (पञ्च० ५.२६)। २. ज्यों ही, as soon as—**उपस्थितेयं कल्याणी नाम्नि कीर्तित एव यत्** (रघु० १.८७)। ३. की तरह—**श्रीस्तवैव मेऽस्तु** (गणरत्न०), तेरे समान मेरा धन हो।

नोट—ध्यान रहे कि 'च' से लेकर 'एव' तक का प्रयोग पाद या वाक्य के आदि में नहीं होता। **पादादौ न च वक्तव्याश्चादयः प्रायशो बुधैः** (वाग्भटालङ्कार)। इसी तरह 'खलु' 'तु' आदि के विषय में भी जानना चाहिये।

[६] एवम्* ॥

१. इस प्रकार, इस तरह, ऐसे—**एवमुक्त्वाऽर्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्। विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः** (गीता० १.४७)। **तस्मादेवं विदित्वैनं नाऽनुशोचितुमर्हसि** (गीता० २.२५)। **यावदर्थपदां वाचमेवमादाय माधवः। विरराम महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः** (माघ० २.१३)।

[७] नूनम्* ॥

१. निश्चय से, सचमुच—**नूनं हि ते कविवरा विपरीतबोधा ये नित्यमाहुरबला इति कामिनीस्ताः। याभिर्विलोलतरतारकदृष्टिपातैः शक्रादयोऽपि विजितास्त्वबलाः**

कथं ताः (शृङ्गार० १०) । **क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैःशिरसां सतीव** (कुमार० १.१२) । **नूनं न दृष्टः कविनापि तेन दारिद्र्यदोषो गुणराशिनाशी**[1] (सुभाषितसुधा०) । **तन्नूनं सा वानरी भविष्यति यतस्तस्या अनुरागतः सकलमपि दिनं तत्र गमयसि** (पञ्च० ४) । २. तर्क करना, अनुमान करना, ख़याल दौड़ाना—**पूर्वं मया नूनमभीप्सितानि पापानि कर्माण्यसकृत्कृतानि । तत्रायमद्यापतितो विपाको दुःखेन दुःखं यदहं विशामि** (रामायण० ३.६३.४)। वेद में इस अव्यय के 'अब, अभी, आज' आदि अन्य अर्थ भी होते हैं ।

[८] शश्वत्* ।।

१. नित्य, हमेशा, सदा, निरन्तर—**जीवन्पुनः शश्वदुपप्लवेभ्यः प्रजाः प्रजानाथ पितेव पासि** (रघु० २.४८)। **क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति** (गीता० ९.३१) । शश्वद्भवं शाश्वतं वैरम्, **तत्र भवः** (१०८९) इत्यण् । अनित्योऽव्ययानां टिलोपः, बहिषष्टिलोपवचनाज्ज्ञापकात् । २. पुनः पुनः, बार बार—**उपदा विविशुः शश्वन्नोत्सेकाः कोसलेश्वरम्** (रघु० ४.७०), कोसलेश्वर रघु को बार बार उपहार प्राप्त हुए परन्तु उस में गर्व उत्पन्न नहीं हुआ । ३. साथ साथ, एक साथ—**शश्वद् भुञ्जाते** (गणरत्न०) । **शश्वत्ते मुनयस्तत्र तमसेवन्त योगिनम्** (व्या० च०) ।[2]

[९] युगपत्* ।।

१. एक साथ—**युगपत्पतमानैश्च युगपच्च हतैर्भृशम् युगपत्पतितैश्चैव विकीर्णा वसुधाऽभवत्** (रामायण० ३.२५.४१) । इस अव्यय का उल्लेख पीछे स्वरादियों में नं०(११) पर हो चुका है ।

[१०] भूयस्* ।।

१. पुनः, फिर—**गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्या नरा भारतभूमिभागे । स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्** (विष्णुपुराण २.३.२४)। भूयोभूयः=पुनः पुनः, बार बार—**भूयोभूयो दर्शनेन यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्राग्निरिति व्याप्तिं**

---

१. **अनन्तरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपि जातम् ।**
एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः ।। (कुमार० १.३)
कालिदास की इस सुन्दर उक्ति पर किसी कवि की सुन्दर चुटकी यथा—
एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोरिति यो बभाषे ।
नूनं न दृष्टः कविनापि तेन दारिद्र्यदोषो गुणराशिनाशी ।। (सुभाषितसुधा०)

२. 'ह' और 'शश्वत्' के योग में भूतानद्यतन परोक्ष काल में लिँट् और लँङ् दोनों का प्रयोग हो सकता है—**हशश्वतोर्लङ् च** (३.२.११६) । यथा—इति ह अकरोत्, इति ह चकार । शश्वदकरोत्, शश्वच्चकार । यथा च भट्टिकाव्ये (६.१४३)—

दैवं न विदधे नूनं युष्मत्सुखममावयोः ।
शश्वद् बभूव तद्दुःस्थं यतो नाविति हाकरोत् ।।

गृहीत्वा (तर्कसंग्रह)। **भूयोभूयः शरान् घोरान् विससर्ज महामृधे** (रामायण० ६.४५.१४)। २. अधिक—**रामभद्र ! उच्यतां किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि** (उत्तरराम० अन्ते)। इस अव्यय का वर्णन पीछे (पृष्ठ ५३२) स्वरादियों के आकृतिगणत्व के कारण परिगृहीत शब्दों में भी आ चुका है।

[११] कूपत् ॥

१. प्रश्न या प्रशंसा में—**कूपदयं गायति** (गणरत्न०)।

नोट—इस के प्रयोग अन्वेषणीय हैं।

[१२] सूपत् ॥

१. प्रश्न या प्रशंसा में। इस का प्रयोग कहीं उपलब्ध नहीं हुआ।

[१३] कुवित् ॥

१. बहुत—**कुवित् सोमस्यापाम्** (ऋ० १०.११९.१), मैं ने बहुत सोम पिया।

नोट—इस के प्रयोग वैदिक साहित्य में बहुत हैं पर लोक में नहीं।

[१४] नेत् ॥

१. ऐसा न हो—**नेज्जिह्मायन्त्यो नरकं पताम** (ऋ० खिलपाठ, ३.२२), ऐसा न हो कि कुटिल आचरण करती हुई हम नरक में पड़ जायें। **नेच्छत्रुः प्राशं जयाति** (अथर्व० २.२७.१), ऐसा न हो कि शत्रु हमारा भक्ष्य छीन ले।

नोट—वेद में 'नेत्' का प्रयोग तो अनेक बार आया है परन्तु पदपाठकारों ने सर्वत्र 'न+इत्' ऐसा छेद ही माना है। अतः यह निपातसमुदाय है।

[१५] चेत्* ॥

१. अगर, यदि—**लोभश्चेदगुणेन किं पिशुनता यद्यस्ति किं पातकैः। सत्यं चेत्तपसा च किं शुचि मनो यद्यस्ति तीर्थेन किम्** (नीति० ४४)। **उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्** (गीता० ३.२४)। **अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्य-भाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः** (गीता० ९.३०)। **किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशःशरीरे भव मे दयालुः** (रघु० २.५७)। अथ चेत् (और अगर)—**अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि। ततः स्वधर्मं कीर्तिञ्च हित्वा पापमवाप्स्यसि** (गीता० २.३३)।

नोट—इस अव्यय का प्रयोग वाक्य के आदि में नहीं होता।

[१६] चण् ॥

१. यदि, अगर—**इन्द्रश्च मृडयाति नः** (नागेशद्वारा उद्धृत), इन्द्र यदि हमें सुखी करे। **अयं च मरिष्यति** (काशिका ८.१.३०), यदि यह मरेगा।

नोट—इस निपात में णकार इत्संज्ञक है अतः उस का लोप हो कर 'च' ही अवशिष्ट रहता है। इस णित् 'च' निपात के योग में **निपातैर्यद्-यदि-हन्त-कुविन्ने-च्चेच्चण्-कच्चिद्-यत्र-युक्तम्** (८.१.३०) सूत्र द्वारा तिङन्त को निघातस्वर का निषेध हो जाता है। समुच्चयाद्यर्थक पूर्वोक्त निरनुबन्ध 'च' से पृथक् रखने के लिये ही इसे णित् किया गया है। अतः पूर्वोक्त 'च' के योग में निघातस्वर का निषेध नहीं होता।

[१७] यत्र* ॥

१. जिस स्थान या काल में, जहां—**प्रायो गच्छति यत्र भाग्यरहितस्तत्रैव यान्त्यापदः** (नीति० ८४) । **यत्र विद्वज्जनो नास्ति श्लाघ्यस्तत्राल्पधीरपि । निरस्तपादपे देश एरण्डोऽपि द्रुमायते** (हितोप० १.६९) । **यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति** (सुभाषित०) ।[1]

नोट—त्रल्प्रत्ययान्त होने से यद्यपि **तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः** (३६८) सूत्र द्वारा ही इस की अव्ययसंज्ञा हो सकती है तथापि यहां चादियों में पाठ निपातसंज्ञा के लिये है । निपातसंज्ञा का प्रयोजन **निपातैर्यद्यदिहन्त०** (८.१.३०) सूत्र से निघातस्वर का प्रतिषेध करना है ।

[१८] **कच्चित्*** ॥

१. इष्ट बात के पूछने में—**आयस्ते विपुलः कच्चित् कच्चिदल्पतरो व्ययः । अपात्रेषु न ते कच्चित् कोशो गच्छति राघव** (रामायण० २.१००.५४), राम भरत से पूछते हैं—हे राघव (भरत) क्या तुम्हारा खर्च तुम्हारी आमदनी से कम तो है ? क्या तेरा धन कहीं कुपात्रों पर तो खर्च नहीं हो रहा ? । **कच्चित् स्वादुकृतं भोज्यमेको नाश्नासि राघव । कच्चिदाशंसमानेभ्यो मित्रेभ्यः सम्प्रयच्छसि** (रामायण० २.१००.७५), हे भरत ! क्या तुम स्वादिष्ट भोज्य वस्तु इच्छुक मित्रों को दिये विना अकेले तो नहीं खा जाते ? । **आपाद्यते न व्ययमन्तरायैः कच्चिन्महर्षेस्त्रिविधं तपस्तत्** (रघु० ५.५), महर्षि का त्रिविध तप कहीं विघ्नों से नष्ट तो नहीं हो रहा ?

[१९] नह ॥

१. प्रत्यारम्भ=निश्चितनिषेध—**नह भोक्ष्यसे** (गणरत्न०), तू नहीं खायेगा (न खा)। **चोदितस्यावधीरणे उपालिप्सया प्रतिषेधयुक्त आरम्भः प्रत्यारम्भः** (काशिका ८.१.३१) । २. निषेधमात्र—**नह वै तस्मिंश्च लोके दक्षिणामिच्छन्ति** (अनुपलब्धमूलं काशिकायां प्रत्युदाहरणम्) । **दिप्सन्त इद् रिपवो नह देभुः** (ऋ० १.१४७.३), शत्रु धोखा देना चाहते थे पर दे न सके ।

नोट—यह निपात 'न+ह' इन दो निपातों के समुदाय से बना है ।

[२०] हन्त* ॥

१. हर्ष प्रकट करना—**हन्त भोः शकुन्तलां पतिकुलं विसृज्य लब्धमिदानीं स्वास्थ्यम्** (शाकुन्तल० ४)। **हन्त प्रवृत्तं संगीतकम्** (मालविका० १)। २. अनुकम्पा—**हा हन्त ! हन्त ! नलिनीं गज उज्जहार** (सुभाषित०) । ३. वाक्यारम्भ में—**हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः** (गीता० १०.१९) । ४. विषाद में—**काचमूल्येन विक्रीतो हन्त चिन्तामणिर्मया** (सुभाषित०)। **हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः**—इत्यमरः ।

[२१] माकिर् ॥

१. मत (मत कोई)—**माकिर्नो दुरिताय धायीः** (ऋ० १.१४७.५) । **मा-**

---

१. यत्र—**अनवक्लृप्त्यमर्षगर्हाऽऽश्चर्येषु । नाऽवकल्पयामि, न मर्षये, गर्हे, आश्चर्यं वा, यत्र भवान् वृषलं याजयेत्**—इति तत्त्वबोधिनी ।

किस्तोकस्य नो रिषत (ऋ० ८.६७.११) । शाकटायन इसे सान्त मानते हैं ।

[२२] माकीम् ॥

१. मत (मत कोई)—**माकिर्नेशन्माकीं रिषन्माकीं संशारि केवटे** (ऋ० ६.५४.७) । गण में 'माकिम्' पाठ अपपाठ है ।

[२३] नकिर् ॥

१. न कोई—**सत्यमद्धा नकिरन्यस्त्वावान्** (ऋ० १.५२.१३), सचमुच तेरे जैसा अन्य कोई नहीं है । **नकिर् वक्ता ना दादिति** (ऋ० ८.३२.१५), कोई यह कहने वाला नहीं है कि इन्द्र नहीं देता । **नकिस्तं घ्नन्त्यन्तितो न दूरात्** (ऋ० २.२७.१३), उसे कोई भी न तो समीप से मार सकता है और न दूर से ।

[२४] नकीम् ॥

१. न कोई—**नकीम् इन्द्रो निकर्तवे** (ऋ० ८.७८.५), कोई इन्द्र का तिरस्कार नहीं कर सकता । इस गण में उपलभ्यमान 'नकिम्' पाठ अपपाठ है ।

नोट—माकिर् आदि चारों निपात वेद में ही उपलब्ध होते हैं ।

[२५] माङ्* ॥

१. निषेध (मत)—**धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः । तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मा नो धर्मो हतो वधीत्** (मनु० ८.१५) ।

नोट—अनुबन्ध ङकार का लोप हो कर 'माङ्' का 'मा' ही अवशिष्ट रहता है । ध्यान रहे कि इस का स्वरादियों में भी पाठ किया गया है । नागेशभट्ट के विचार में इस का स्वरादियों में पाठ व्यर्थ है; क्योंकि वहां पढ़ने से स्वर (अन्तोदात्त) में तो कोई अन्तर आता ही नहीं, उल्टा यहां पढ़ने के कारण लक्ष्मीवाची 'मा' शब्द की अव्ययसंज्ञा नहीं होती—जो न करनी ही अभीष्ट है । विशेष विचार सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्याओं में देखें ।

[२६] नञ्* ॥

१. नहीं—**न हि सुशिक्षितोऽपि वटुः स्वस्कन्धमारोढुं पटुः** (भुवनेश०) ।

नोट—इस का स्वरादियों में विवेचन कर चुके हैं । नागेशभट्ट के अनुसार इस का भी स्वरादियों में पाठ अप्रामाणिक है ।

[२७] यावत्* ॥

१. अवधि (पर्यन्त)—**स्तन्यत्यागं यावत् पुत्रयोरवेक्षस्व** (उत्तरराम० ७) । **सर्पकोटरं यावत्** (पञ्च० १) । २. यदा, जब—**यावदुत्थाय निरीक्षते तावद् हंसोऽवलोकितः** (हितोप० ३) । ३. जब तक—**यावत्स्वस्थमिदं कलेवरगृहं यावच्च दूरे जरा** (वैराग्य० ७५)। **यावद्वित्तोपार्जनसक्तस्तावन्निजपरिवारो रक्तः** (मोहमुद्गर० ८) । ४. तब तक, तब तक के लिये—**यावदिमां छायामाश्रित्य प्रतिपालयामि** (शाकुन्तल० १) । **तद् यावद् गृहिणीमाहूय सङ्गीतकमनुतिष्ठामि** (शाकुन्तल० १) । ५. निश्चय ही—**यावद् भुङ्क्ते** (वह निश्चय ही खायेगा) । **यावत्पुरानिपातयोर्लट्** (३.३.४) इति लँट् ।

नोट—'जितना' अर्थ में त्रिलिङ्गी 'यावत्' शब्द का भी बहुधा प्रयोग देखा जाता है। यथा—**यावान् अर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके। तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः** (गीता० २.४६)। **यावती सम्भवेद् वृद्धिस्तावतीं दातुमर्हति** (मनु० ८.१५५)। **यावन्ति पशुरोमाणि** (मनु० ५.३८)।

[२८] तावत्* ।।

१. तब तक—**तावच्च शोभते मूर्खो यावत् किञ्चिन्न भाषते** (हितोप० १)। २. पहले (अन्य कार्य करने से पूर्व)—**आर्ये ! इतस्तावदागम्यताम्** (शाकुन्तल० १)। ३. तो—**एवं कृते तव तावत् क्लेशं विना प्राणयात्रा भविष्यति** (पञ्च० १ कथा ८)। **विग्रहस्तावदुपस्थितः** (हितोप० ३)। ४. निश्चित ही—**त्वमेव तावत् प्रथमो राजद्रोही** (मुद्रा० १)। ५. यावत् के प्रतिसम्बन्ध में—**एकस्य दुःखस्य न यावदन्तं गच्छाम्यहं पारमिवार्णवस्य। तावद् द्वितीयं समुपस्थितं मे छिद्रेष्वनर्था बहुलीभवन्ति** (पञ्च० २.१०६)। **यावत् त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत्** (मनु० २.२३५), माता, पिता और गुरु जब तक जीवित रहें तब तक उन की ही सेवा में रत रहे।

नोट—'उतना' अर्थ में त्रिलिङ्गी 'तावत्' शब्द का भी बहुधा प्रयोग होता है। उदाहरण ऊपर 'यावत्' के नोट में देखें।

[२९] त्वै ।।

१. विशेष—**अयं त्वै प्रकृष्यते** (गणरत्न०)। २. वितर्क—**कस्त्वा एषोऽभिगच्छति** (गणरत्न०)।

नोट—यह निपात ब्राह्मणग्रन्थों के कतिपय प्रयोगों के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं हुआ। शतपथ (माध्यन्दिनीय) के (१२.२.२१२) में इस का प्रयोग देखा जाता है। एवम् अन्य ब्राह्मणों में भी क्वाचित्क प्रयोग हैं।

[३०] न्वै ।।

१. वितर्क—**को न्वा एषोऽभिगच्छति** (गणरत्न०)। पादपूरणेऽपि—इति वर्धमानः।

नोट—कई लोग 'त्वै' के स्थान पर 'न्वै' का पाठ मानते हैं। परन्तु ब्राह्मणग्रन्थों में दोनों का पाठ देखा जाता है। निदर्शनार्थ 'न्वै' का पाठ माध्यन्दिनीय शतपथ में (१२.४.१.३) के स्थान पर देखें।

[३१] द्वै ।।

१. वितर्क। इस का प्रयोग वर्त्तमान उपलब्ध वैदिक वा लौकिक वाङ्मय में हमें कहीं नहीं मिला।

[३२] रै ।।

१. अनादर—**त्वं ह रै किं करिष्यसि** (गणरत्न०)। दान—**रै करोति** (गणरत्न०), दानं ददातीत्यर्थः।

नोट—इस के उदाहरण अन्वेष्टव्य हैं। वर्धमानोक्त उदाहरण ही दीक्षित ने शब्दकौस्तुभ में उद्धृत किये हैं। किसी को भी अन्य कोई उदाहरण नहीं मिला।

[३३—३७] श्रौषट्, वौषट्, स्वाहा, स्वधा, वषट् ॥

इन की व्याख्या स्वरादियों में की जा चुकी है। इन का यहां पुनर्ग्रहण स्वर (आद्युदात्त) के लिये ही समझना चाहिये।

[३८] तुम् ॥

१. तूँ तूँ कह कर निरादर करना—**गुरुं हुंकृत्य तुंकृत्य विप्रं निर्जित्य वादतः। श्मशाने जायते घोरे काकगृध्रोपसेविते** (सुप्रसिद्ध)।

नोट—यहां 'तुम्' से उपर्युक्त उदाहरणगत 'तुम्' के ग्रहण में हमारा मन सन्देह करता है। किसी कोषकार ने इस का उल्लेख नहीं किया।

[३९] तथाहि* ॥

१. क्योंकि, कारण कि, इसीलिये—**तं वेधा विदधे नूनं महाभूतसमाधिना। तथाहि सर्वे तस्यासन् परार्थैकफला गुणाः** (रघु० १.२९)। २. इस तरह, इस प्रकार—**तथाहि रामो भरतेन ताम्यता प्रसाद्यमानः शिरसा महीपतिः। न चैव चक्रे गमनाय सत्त्ववान् मतिं पितुस्तद्वचने व्यवस्थितः** (रामायण० २.१०६.३३)।

नोट—यह निपात 'तथा' और 'हि' इन दो निपातों को मिला कर बना है।

[४०] खलु* ॥

१. शैलीवशात् दबाव (Stress) डालते हुए वाक्यालंकार में—**न खलु धीमतां कश्चिदविषयो नाम** (शाकुन्तल० ४)। **न खलु स उपरतो यस्य वल्लभो जनः स्मरति** (सुभाषित०)। २. अनुनय करना—**न खलु न खलु बाणः सन्निपात्योऽयमस्मिन्। मृदुनि मृगशरीरे तूलराशाविवाग्निः** (शाकुन्तल० १)। **न खलु न खलु मुग्धे साहसं कार्यमेतत्** (नागानन्द० ३)। ३. निश्चय ही, निस्सन्देह, सचमुच—**अनुत्सेकः खलु विक्रमाऽलङ्कारः** (विक्रमो० १), निश्चय ही अभिमानशून्यता वीरता का अलङ्कार है। **न खल्वनिर्जित्य रघुं कृती भवान्** (रघु० ३.५१), निश्चय ही रघु को जीते विना आप कृतकृत्य नहीं हो सकते। **दूरीकृताः खलु गुणैरुद्यानलता वनलताभिः** (शाकुन्तल० १.१६), निस्सन्देह वन की बेलों ने बाग की बेलों को मात दे दी। **पुत्रादपि प्रियतरं खलु तेन दानम्** (पञ्च० २.५५), सचमुच दान पुत्र से भी अधिक प्रिय होता है। ४. प्रश्न पूछने में—**न खलु तामभिक्रुद्धो गुरुः** (विक्रमो० ३), तो क्या गुरु उस पर क्रुद्ध नहीं हुए? **न खलु विदितास्ते तत्र निवसन्तश्चाणक्यहतकेन** (मुद्रा० २), तो क्या उन्हें वहां रहते हुए दुष्ट चाणक्य ने नहीं जाना? ५. निषेध में—**पीत्वा खलु** (मत पिओ), यहां **अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा** (८७८) सूत्र से क्त्वा प्रत्यय हो जाता है। **निर्धारितेऽर्थे लेखेन खलूक्त्वा खलु वाचिकम्** (माघ० २.७०), लेख द्वारा अर्थ के जान लेने पर फिर मौखिक अभिप्राय समझाना व्यर्थ है। ६. हेत्वर्थ में (कारण कि, क्योंकि)—**न विदीर्ये कठिनाः खलु स्त्रियः** (कुमार० ४.५), मैं विदीर्ण नहीं हो रही कारण कि स्त्रियां कठोर होती हैं।

नोट—**न पादादौ खल्वादयः** (वामनसूत्र ५.१.५) यह सूत्र निषेधार्थक से भिन्न 'खलु' के लिये है।

[४१] किल* ।।

१. वार्ता अर्थात् ऐतिह्य बात कहने में—**बभूव योगी किल कार्त्तवीर्यः** (रघु० ६.३८), सुनते हैं कि कार्तवीर्य नाम वाला एक ब्रह्मवेत्ता था। **जघान कंसं किल वासुदेवः** (महाभाष्ये ३.२.१११), कहते हैं कि वासुदेव ने कंस को मार डाला। २. निश्चय से—**इदं किलाव्याजमनोहरं वपुः** (शाकुन्तल० १.१८), निश्चय से यह शरीर स्वाभाविक सुन्दर है। **स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायम्** (ऋ० १.४७.१) निश्चय ही यह सोम स्वादु है और मधुर है। ३. अलीक अर्थात् अवास्तविक बात कहने में—**प्रसह्य सिंहः किल तां चकर्ष** (रघु० २.२७), सिंह ने बलपूर्वक उस नन्दिनी को दबोचने का बहाना किया। **अयि कठोर यशः किल ते प्रियम्** (उत्तरराम० ३.२७), ऐ निर्दय! तुझे यश प्यारा है यह झूठ है। **द्राघीयसा वयोऽतीतः परिक्लान्तः किलाध्वना** (किरात० ११.२), वह बूढ़ा कपटरूप से दीर्घ मार्ग के कारण थका हुआ प्रतीत हो रहा था। ४. सम्भावना में—**पार्थः किल विजेष्यते कुरून्** (गणरत्न०), आशा है कि अर्जुन कौरवों को जीतेगा। **गुरून् किलातिशेते शिष्यः** (व्या० च०), सम्भावना है कि शिष्य गुरुओं से बढ़ जायेगा। ५. अरुचि में—**एवं किल केचिद्वदन्ति** (गणरत्न०), [हम तो नहीं मानते] परन्तु कुछ लोग ऐसा कहते हैं। ६. निरादर में—**त्वं किल योत्स्यसे** (गणरत्न०), तू और फिर युद्ध करेगा अर्थात् युद्ध करना तेरे बूते से बाहर है। ७. हेतु अर्थ में (क्योंकि)—**क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्त्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः** (रघु० २.५३), क्योंकि घाव से बचाता है इस कारण उग्र क्षत्रशब्द तीनों लोकों में प्रसिद्ध है।

[४२] अथो ।।

इस के भी प्रायः 'अथ' की तरह अर्थ होते हैं। १. समुच्चय ('च' के अर्थ) में—**स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम्। विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः**(मनु० २.४०)। २. अनन्तर—**अथो वयस्यां परिपार्श्ववर्त्तिनीं विवर्त्तिताऽनञ्जननेत्रमैक्षत** (कुमार० ५.५१), तब अञ्जनशून्य नेत्रों वाली पास खड़ी सखी को पार्वती ने देखा।

नोट—'अथो' निपात (५३) है अतः इस के आगे स्वर वर्ण आने पर **ओत्** (५६) सूत्र द्वारा प्रगृह्यसंज्ञा हो जाती है। तब प्रकृतिभाव होने से सन्धि नहीं होती। यथा—अनेन व्याकरणमधीतमथो एनं छन्दोऽध्यापयेति (सि० कौ०)।

[४३] अथ* ।।

इस का विवेचन स्वरादियों में हो चुका है। स्वरादियों में इस के पढ़ने का प्रयोजन यह है कि मङ्गलरूपसत्त्ववाचक 'अथ' शब्द की भी अव्ययसंज्ञा सिद्ध हो जाये। यथा नैषध० (१५.६) में—

उदस्य कुम्भीरथ शातकुम्भजाश्चतुष्कचारुत्विषि वेदिकोदरे।
यथाकुलाचारमथावनीन्द्रजां पुरन्ध्रिवर्गः स्नपयाम्बभूव ताम्।।

यहां 'अथ स्नपयाम्बभूव' का 'मङ्गलं स्नपनं चकार' ऐसा अर्थ है। निपातों में पढ़ा

गया यह 'अथ' अन्य अर्थ का वाचक होता हुआ केवल स्वरूपमात्र से मङ्गल का द्योतन कराता है। यथा —**अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** (वेदान्तदर्शन १.१.१), यहां आनन्तर्य अर्थ का वाचक 'अथ' शब्दस्वरूप अर्थात् ध्वनिमात्र से माङ्गलिक (मङ्गलद्योतक) है। कहा भी है—

ओंकारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तेन माङ्गलिकावुभौ ॥

[४४] सुष्ठु* ॥

इस का विवेचन स्वरादियों के आकृतिगणत्वेन परिगणित संग्रह में कर चुके हैं। यहां निपातों में इस का पुनर्ग्रहण **निपाता आद्युदात्ताः** (फिट्सूत्र ८०) द्वारा आद्युदात्तस्वर के लिये ही किया गया है। स्वरादियों में प्रायः **फिषोऽन्त उदात्तः** (फिट्सूत्र १) से अन्तोदात्त स्वर होता है। जिन में दोनों स्वर अभीष्ट होते हैं उन अनेकाचों का दोनों जगह पाठ किया जाता है। ध्यान रहे कि एकाचों में स्वरसंबंधी कोई अन्तर नहीं होता।

[४५] स्म* ॥

१. भूतकाल में—**भासुरको नाम सिंहः प्रतिवसति स्म** (पञ्च० १)। **क्रीणन्ति स्म प्राणमूल्यैर्यशांसि** (माघ० १८.१५)। इस के योग में भूतकाल में भी लँट् का प्रयोग होता है—देखें **लँट् स्मे** (७६३) तथा **अपरोक्षे च** (३.२.११९)। २. शब्द सौन्दर्य बढ़ाने के लिये प्रायः 'मा' (मत) के साथ—**भर्तुर्विप्रकृतापि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः** (शाकुन्तल० ४.१८)। **मा स्म सीमन्तिनी काचिज्जनयेत् पुत्रमीदृशम्** (हितोप० २.७)। ३. पादपूर्ति के लिये—**तु हि च स्म ह वै पादपूरणे** —इत्यमरः।

[४६] आदह ॥

१. हिंसा— **आदहारीन् पुरन्दर** (गणरत्न०)। २. उपक्रम—**आदह भक्तस्य भोजनाय** (गणरत्न०)। ३. कुत्सन—**कुर्वादह यदि करिष्यसि** (गणरत्न०)।

नोट—इस अव्यय का हमें कहीं प्रयोग नहीं मिल सका। भट्टोजिदीक्षित को भी इस का प्रयोग उपलब्ध नहीं हुआ, यह उन्होंने शब्दकौस्तुभ में स्पष्ट स्वीकार किया है।

उपसर्ग-विभक्ति-स्वर-प्रतिरूपकाश्च (गणसूत्रम्) ॥

अर्थः—उपसर्गप्रतिरूपक, विभक्तिप्रतिरूपक तथा स्वरप्रतिरूपक भी चादियों में पढ़ने चाहियें। जो वस्तुतः उपसर्ग तो न हों पर आकृत्या उपसर्ग के समान प्रतीत हों उन्हें 'उपसर्गप्रतिरूपक' कहते हैं। इसी प्रकार विभक्ति अर्थात् विभक्त्यन्त के समान प्रतीत होने वाले 'विभक्तिप्रतिरूपक' तथा स्वर अर्थात् अच् के समान प्रतीत होने वाले 'स्वरप्रतिरूपक' कहलाते हैं। उपसर्गप्रतिरूपक यथा—

[४७] अवदत्तम् ॥

१. दिया जा चुका। किमन्नम् अवदत्तं त्वया ?

नोट—अव+दा+क्त=अव+दद्+त=अवदत्तम् । यहां 'अव' उपसर्ग नहीं अपितु उपसर्गप्रतिरूपक (उपसर्ग के सदृश दिखाई देने वाला) निपात है । अतः उपसर्ग न होने से इस से परे 'दा' धातु के आकार को **अच उपसर्गात्तः** (७.४.४७)[1] सूत्रद्वारा त् आदेश नहीं होता । **दो दद् घोः** (८२७)[2] द्वारा सम्पूर्ण 'दा' के स्थान पर दद् आदेश ही होता है । ध्यान रहे कि 'अव' उपसर्ग के योग में 'दा' के आकार को त् आदेश करने पर—अव+द् त्+क्त=अवत्तम् रूप बनता है । इसी प्रकार—

अवदत्तं विदत्तं च प्रदत्तञ्चादिकर्मणि ।
सुदत्तमनुदत्तञ्च निदत्तमिति चेष्यते ।। (महाभाष्ये)

इन में अनु, प्र, सु, वि और नि को भी उपसर्गप्रतिरूपक निपात समझना चाहिये ।

विभक्तिप्रतिरूपक यथा—

[४८] अहंयुः ।।

१. अहङ्कारवान्—**स शुश्रुवांस्तद्वचनं मुमोह राजाऽसहिष्णुः सुतविप्रयोगम् । अहंयुनाऽथ क्षितिपः शुभंयुरूचे वचस्तापसकुञ्जरेण** (भट्टि० १.२०), महाराज दशरथ विश्वामित्र के उन वचनों को सुन कर पुत्रवियोग को सहन न करते हुए मोह को प्राप्त हो गए । तब अहंकारवान् तापसश्रेष्ठ विश्वामित्र ने अपना कल्याण चाहने वाले राजा को यह वचन कहा ।

नोट—'अहम्' यह अहङ्कारवाचक विभक्तिप्रतिरूपक निपात है । 'अस्मद्' शब्द के प्रथमैकवचनान्त के समान प्रतीत होता है, परन्तु है यह उस से नितान्त ही भिन्न । इस निपात (अव्यय) से मत्वर्थ में **अहंशुभमोर्युस्** (११९२) सूत्रद्वारा युस् प्रत्यय हो जाता है । अहम् (अहङ्कारः) अस्त्यस्येति—अहंयुः । 'अहंयु' शब्द उकारान्त त्रिलिङ्गी हो जाता है । ध्यान रहे कि इसे सकारान्त समझना भूल है । प्रत्यय का सित्त्व पदसंज्ञार्थ है । अतः भसंज्ञा न हो कर पदसंज्ञा के कारण **मोऽनुस्वारः** (७७) से मकार को अनुस्वार हो जाता है । 'अहंयु' शब्द में यदि 'अस्मद्' शब्द होता तो **प्रत्ययोत्तरपदयोश्च** (७.२.९८) द्वारा मपर्यन्त मद् आदेश होकर 'मद्युः' ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता ।

इसी प्रकार 'शुभम्' (सुख, कल्याण) इस विभक्तिप्रतिरूपक निपात से भी युस् प्रत्यय हो कर—शुभम् अस्त्यस्येति 'शुभंयुः' निष्पन्न होता है । इस का साहित्यगत प्रयोग भी ऊपर के श्लोक में आ चुका है । **अहंकारवानहंयुः शुभंयुस्तु शुभान्वितः**—इत्यमरः ।

चिरेण, चिराय, चिरात्, चिरे, चिरस्य—इत्यादि अव्ययों को भी कई लोग

---

१. **अच उपसर्गात्तः** (७.४.४७)—अजन्त उपसर्ग से परे घुसंज्ञक दा धातु के आकार को 'त्' आदेश हो जाता है तकारादि कित् प्रत्यय परे हो तो ।

२. **दो दद् घोः** (८२७)—घुसंज्ञक दा धातु को 'दद्' यह सर्वादेश हो जाता है तकारादि कित् प्रत्यय परे हो तो ।

स्वरादियों में न पढ़ कर चादियों में ही पढ़ते हैं। ये सब विभक्तिप्रतिरूपक निपात या अव्यय हैं। विभक्ति न होने पर भी इन में विभक्ति का सा भ्रम होता है। सुब्विभक्त्यन्त का भ्रम होने से इन को **सुबन्तप्रतिरूपक** निपात भी कहते हैं। अब तिङन्तप्रतिरूपक निपात का उदाहरण देते हैं—

[४६] अस्तिक्षीरा ।।

अस्तिक्षीरा=क्षीरवती (गाय आदि)। अस्ति (विद्यमानम्) क्षीरं (दुग्धम्) यस्याः सा—अस्तिक्षीरा। बहुव्रीहिसमासः। यहां 'अस्ति' यह विद्यमानार्थक तिङन्त-प्रतिरूपक निपात (अव्यय) है। यदि यह वस्तुतः तिङन्त होता तो इस का सुबन्त क्षीरशब्द के साथ बहुव्रीहिसमास न हो सकता [देखें—**अनेकमन्यपदार्थे** (६३५)]। किसी घटना, कथा या वर्णन को आरम्भ करने में भी 'अस्ति' निपात का प्रयोग देखा जाता है। यथा—**अस्ति पूर्वमहं व्योमचारी विद्याधरोऽभवम्** (कथासरित्० २२.५६)। इसी निपात से अस्तिकायः, अस्तित्व आदि शब्द बनते हैं।

कुछ लोगों का कहना है कि 'अस्ति' का पीछे स्वरादियों में पाठ आ चुका है अतः इसे तिङन्तप्रतिरूपक के रूप में उदाहृत करना बेकार है[1]। इस के स्थान पर अस्मि (मैं) का उदाहरण यहां के लिये उपयुक्त है। 'अस्मि' के उदाहरण यथा—**त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति** (साहित्य० ४), अस्मि=अहं वच्मि इत्यर्थः। **दासे कृतागसि भवत्युचितः प्रभूणां पादप्रहार इति सुन्दरि नास्मि दूये** (साहित्य० १०), हे सुन्दरि ! अपराधी सेवक पर प्रभु पादप्रहार करें यह उचित ही है अतः मैं दुःखी नहीं हो रहा हूं। **अन्यत्र यूयं पुष्पावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः** (काव्यप्र० ३.२०), हे सखियो ! आप दूसरी जगह फूल चुनो मैं यहां चुनता हूं। **नृमांसमस्मि विक्रीणे गृह्यतामित्युवाच सः** (कथासरित्०), मैं नरमांस बेच रहा हूं लीजिये ऐसा उस ने कहा। योगशास्त्र में प्रसिद्ध अस्मिता शब्द भी इसी निपात से निष्पन्न होता है। इसी प्रकार—'अस्तु' आदि अन्य भी तिङन्तप्रतिरूपक निपात समझ लेने चाहियें।

---

१. उन का यह भी कहना है कि 'अस्ति' शब्द का अर्थ 'धन' भी होता है इस से अस्तिमान् (धनवान्) शब्द निष्पन्न होता है। अतः सत्त्ववाचक होने से स्वरादियों में ही इस का पाठ उचित है। क्योंकि यहां **चादयोऽसत्त्वे** (५३) में 'असत्त्वे' कथन के कारण धनवाचक 'अस्ति' शब्द की निपातसंज्ञा न हो सकेगी। परन्तु अन्य लोग उन के इस विचार से सहमत नहीं उन का कथन है कि (५.२.९४) सूत्रस्थ महाभाष्य के अवलोकन से यह सुतरां प्रमाणित होता है कि इस का स्वरादियों में पाठ अप्रामाणिक है चादियों में ही पाठ उचित है। अस्तिमान् का वास्तविक अर्थ 'सत्ता वाला' है। लोक में सत्ता प्रायः धनमूलक मानी जाती है अतः इस का अर्थ 'धनवान्' भी हो गया है।

स्वरप्रतिरूपक यथा—

[५०] अ ॥

१. सम्बोधन—अ अनन्त । २. आक्षेप (निन्दा) में—**अपचसि जाल्म** (सि० कौ०), हे दुष्ट ! तुम गर्हितरीत्या पकाते हो । अनेक वैयाकरण इस अर्थ में नञ् के नकार का **नञो नलोपस्तिङि क्षेपे** (वा०) वार्तिक द्वारा लोप हुआ मानते हैं, स्वतन्त्रतया **'अ'** निपात का प्रयोग नहीं ।

[५१] आ ॥

१. पूर्व प्रकान्त वाक्य के अन्यथा करने में—**आ एवं नु मन्यसे** (काशिका), अब तू ऐसा मानता है, अर्थात् पहले तू ऐसा नहीं मानता था अब मानने लगा है । २. स्मरण में—**आ एवं किल तत्** (काशिका), ओह ! वह ऐसा ही है । इस का विवेचन पीछे **निपात एकाजनाङ्** (५५) सूत्र पर कर चुके हैं ।

[५२] इ ॥

१. सम्बोधन—**इ इन्द्रं पश्य** (काशिका), ऐ ! इन्द्र को देखो । २. विस्मय—**इ इन्द्रः** (सि० कौ०), ओह ! यह इन्द्र है ।

[५३] ई ॥

१. सम्बोधन—**ई ईश !** । **ई ईदृशः संसारः** (गणरत्न०) ।

[५४] उ ॥

१. सम्बोधन—**उ उत्तिष्ठ** (गणरत्न०)। २. वितर्क—**उ उमेशः** (सि० कौ०), जान पड़ता है कि उमेश है ।

[५५—५६] ऊ । ए । ऐ । ओ । औ ॥[1]

१. सम्बोधन—**ऊ ऊषरे बीजं वपति । ए इतो भव । ऐ वाचं देहि । ओ श्रावय** (गणरत्न०)। **औ महात्मन् !** ।

नोट—इन स्वरप्रतिरूपक निपातों को अच् परे होने पर **निपात एकाजनाङ्** (५५) सूत्रद्वारा प्रगृह्यसंज्ञा हो कर प्रकृतिभाव हो जाता है, अतः स्वरसन्धि नहीं होती ।

[६०] पशु ॥

१. ठीक तरह से—**लोधं नयन्ति पशु मन्यमानाः** (ऋ० ३.५३.२३) ।

[६१] शुकम् ॥

१. शीघ्र—**शुकं गच्छति** (गणरत्न०), शीघ्र जाता है ।

नोट—इस के प्रयोग अन्वेषणीय हैं । कुछ कोषकार यहां 'शकम्' पाठ **मानते हैं** ।

---

१. **स्वरादिरिति सम्बोधन-भर्त्सनाऽनुकम्पा-पादपूरण-प्रतिषेधेषु यथासम्भवं भवति**—इति गणरत्नमहोदधौ वर्धमानः ।

[६२] यथाकथाच ॥

१. अनादर—**यथाकथाच दीयते** (गणरत्न०)। **यथाकथाच दक्षिणा** (गणरत्न०)। **यथाकथाच दीयते क्रियते वा याथाकथाचम्** (व्या० च०)। '**याथाकथाचम्**' तद्धितान्त प्रयोग है।

नोट—यह निपातसमुदाय है। इस के प्रयोग अन्वेष्टव्य हैं।

[६३-६४] पाट्। प्याट् ॥

१. सम्बोधन—**पाट् पान्थ, प्याट् पावक** (हेमचन्द्र)[1]।

[६५] अङ्ग* ॥

१. सम्बोधन—**अङ्ग कच्चित्कुशली तातः** (कादम्बरी०)। **प्रभुरपि जनकानामङ्ग भो याचकस्ते** (महावीर० ३.५)। **अङ्गाधीष्व भक्तं ते दास्यामि** (काशिका ८.२.९६), अरे भाई पढ़ो मैं तुझे भात दूंगा। २. किम्+अङ्ग=किमङ्ग=कितना अधिक—**तृणेन कार्यं भवतीश्वराणां किमङ्ग वाग्हस्तवता नरेण** (पञ्च० १.७१)। ३. बात ही क्या—**शक्तिरस्ति कस्यचिद्विदेहराजस्य च्छायामप्यवस्कन्दयितुं किमङ्ग जामातरम्** (महावीर० ३)।

नोट—कोषकारों ने इस निपात के ये अर्थ गिनाये हैं—**क्षिप्रे च पुनरर्थे च सङ्गमासूययोस्तथा। हर्षे सम्बोधने चैव ह्यङ्गशब्दः प्रयुज्यते।**

[६६] है ॥

१. सम्बोधन—**है राम पाहि माम्।**

[६७] हे* ॥

१. सम्बोधन—**हे कृष्ण हे यादव हे सखेति** (गीता० ११.४१)।

[६८] भोस्* ॥

१. सम्बोधन—**भोस्तपोधनाः! चिन्तयन्नपि न खलु स्वीकरणमत्रभवत्याः स्मरामि** (शाकुन्तल० ५)। **भो भोः पण्डिताः श्रूयताम्** (हितोप० प्रस्तावना)।[2]

[६९] अये* ॥

१. सम्बोधन—**अये गौरीनाथ! त्रिपुरहर! शम्भो! त्रिनयन!** (वैराग्य० ८७)। २. आश्चर्य—**अये कुमारलक्ष्मणः प्राप्तः** (उत्तरराम० १)।

---

१. **सम्बोधनेऽङ्ग भोः प्याट् पाट् हे है हंहो अरेऽयि रे**—इत्यभिधानचिन्तामणिः।

२. कुछ वैयाकरण 'भो' इस प्रकार का ओदन्त निपात भी मानते हैं। **अहो आहो हो उताहो च नो अंहो अथो इमे। भो प्रयुक्ताश्च ओदन्ता अष्टावित्यागमे स्मृताः** (शाकटायन लघुवृत्ति पृ० २९ बनारससंस्करण)। **भो सुन्दरि** (जैनेन्द्रमहावृत्ति ५.४.३)। साहित्य में इस के प्रयोग अन्वेष्टव्य हैं [पाणिनीयतन्त्र में इस प्रकार की मान्यता हमारे दृग्गोचर कहीं नहीं हुई]।

[७०] द्य ।

१. पादपूर्ति; २. हिंसा; ३. प्रातिलोम्य । **द्य हिनस्ति मृगं व्याधः** (प्रक्रिया० प्रसाद) ।

नोट—इस निपात का प्रयोग हमें कहीं नहीं मिला। अथर्ववेद में 'द्य' का पाठ तीन स्थानों पर आया है परन्तु वहां सर्वत्र अव्यय का प्रयोग न हो कर धातु का रूप प्रयुक्त किया गया है ।

[७१] विषु ॥

१. साम्य, समता । विषु (साम्यम्) अस्त्यस्येति विषुवान् । समरात्रिन्दिवः कालः (Equinox) इत्यर्थः । विषुवद् वृत्तम्=भूमध्यरेखा=Equator । २. चहुँ ओर, नाना दिशाओं में—विषु (सर्वासु दिक्षु) अञ्चतीति विष्वक् । **छायासुप्तमृगः शकुन्तनिवहैर्विश्वग्विलुप्तच्छदः** (पञ्च० २.२) । **समन्ततस्तु परितः सर्वतो विष्वगित्यपि**—इत्यमरः ।

[७२] एकपदे* ॥

१. एकदम, एकसाथ—**निहन्त्यरीनेकपदे य उदात्तः स्वरानिव** (माघ० २.९५)। २. अकस्मात्, अचानक—**अयमेकपदे तया वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे** (विक्रमो० ४.३) । **कथमेकपदे निरागसं जनमाभाष्यमिमं न मन्यसे** (रघु० ८.४८) ।

[७३] युत् ॥

१. कुत्सा, गर्हा । उदाहरणम्मृग्यम् ।

नोट—शब्दकौस्तुभ, प्रौढमनोरमा, व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि आदि ग्रन्थों में यहां 'पुत्' पाठ दे कर—**पुत् कुत्सितमवयवं छादयतीति पुच्छम्**—ऐसा उदाहरण भी लिखा हुआ मिलता है ।

[७४] आतस् ॥

१. इतोऽपि=इस कारण से भी—**आतश्च सूत्रत एव** (महाभाष्य० पस्पशाह्निक) । **आतस्त्वां प्रति कोपनस्य तरलः शापोदकं दक्षिणः** (व्या० सि० सु०) ।

आकृतिगणोऽयम् ॥

यह चादि भी आकृतिगण है। प्रयोग में देखे जाने वाले कुछ अन्य अव्यय यथा—

(१) अयि*=१. कोमल सम्बोधन । **अयि कठोर यशः किल ते प्रियम्** (उत्तरराम० ३.२७) । **अयि विद्युत् प्रमदानां त्वमपि च दुःखं न जानासि** (मृच्छ० ५.३२)। **अयि मातर्देवयजनसम्भवे देवि सीते** (उत्तरराम० ४) । २. पूछने में—**अयि जानीषे रेभिलस्य सार्थवाहस्योद्वसितम्?** (मृच्छ० ४) । **अयि जीवितनाथ जीवसि** (कुमार० ४.३) ।

(२) रे*=सम्बोधन । **रे रे चातक सावधानमनसा मित्र क्षणं श्रूयताम्**

(नीति०)। **रे पान्थ! विह्वलमना न मनागपि स्याः** (भामिनी० १.३६)। **दिने दिने त्वं तनुरेधि रेऽधिकम्** (नैषध० १.६०)।

(३) अरे=अपने से निकृष्टों के सम्बोधन में—**आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः** (बृ० उ० २.५), अरी ! आत्मा ही देखने योग्य, सुनने योग्य तथा मनन करने योग्य है। यहां याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी को सम्बोधित कर रहे हैं।

(४) अरेरे=क्रोध या निरादर से सम्बोधन करने में—**अरेरे राधागर्भभारभूत सूतापसद** (वेणी० ३)।

(५) भगोस्=देवों या मान्यों के सम्बोधन में—**भगो नमस्ते** (भगवन् ! आप को नमस्कार हो)। **सा होवाच मैत्रेयी यन्नु मे इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात् कथं तेनामृता स्यामिति** (बृ० उ० २.४.२), वह मैत्रेयी बोली—हे भगवन् ! यदि यह सम्पूर्ण पृथ्वी धन से परिपूर्ण हुई मेरी हो जाये तो भी मैं कैसे उस से मुक्त हो जाऊंगी ?

(६) अघोस्=निकृष्ट पापी या दुष्ट को सम्बोधित करने में—**अघो याहि** (रे दुष्ट ! तू जा)।

(७) हंहो=प्रायः मध्यमदर्जे के जनों को सम्बोधित करने में—**हंहो ब्राह्मण ! मा कुप्य** (मुद्रा० १)। **हंहो तिष्ठ सखे ! विवेक ! बहुभिः प्राप्तोऽसि पुण्यैर्मया** (हेमचन्द्र), हे मित्र विवेक! तू मेरे पास रह जा, मैं ने तुम्हें बड़े पुण्यों से पाया है।

(८) हा*=१. दुःख, शोक या खेद प्रकट करने में—**हा कष्टं ललिता लवङ्गलतिका दावाग्निना दह्यते** (भामिनी० १.५५)। **हा पितः ! क्वासि हे सुभ्रु !** (भट्टि० ६.११)। **हाहा तथापि विषया न परित्यजन्ति** (वैराग्य० १५)। **हाहा देवि ! स्फुटति हृदयं ध्वंसते देहबन्धः** (उत्तरराम० ३. ३८)। २. आश्चर्य प्रकट करने में—**हा कथं महाराजदशरथस्य धर्मदाराः प्रियसखी मे कौशल्या** (उत्तरराम० ४)।

(९) अहह=१. खेदातिशय प्रकट करने में—**तुषाराद्रेः सूनोरहह पितरि क्लेशविवशे, न चासौ सम्पातः पयसि पयसां पत्युरुचितः** (नीति० २८), पिता हिमालय के क्लेशविवश होने पर उस के पुत्र मैनाक का समुद्र में डुबकी लगाना अच्छा न था। २. आश्चर्य या अद्भुत अर्थ में—**अहह महतां निःसीमानश्चरित्रविभूतयः** (नीति० २७), आश्चर्य है कि महापुरुषों के चरित का माहात्म्य सीमारहित होता है।

(१०) अहो*=१. महत्त्व या आश्चर्य प्रकट करने में—**अहो मधुरमासां दर्शनम्** (शाकुन्तल० १)। **अहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता** (किरात० १.३३)। **अहो कामी स्वतां पश्यति** (शाकुन्तल० २.२)। **अहो रूपमहो वीर्यमहो सत्त्वमहो द्युतिः। अहो दीप्तिरहो कान्तिरहो शीलमहो बलम्। अहो शक्तिरहो भक्तिरहो प्रज्ञा हनूमतः** (रामचरित० १.५२)। २. खेद या दुःख प्रकट करने में—**अहो दुष्यन्तस्य संशयमारूढाः पिण्डभाजः** (शाकुन्तल० ५)। **विधिरहो बलवानिति मे मतिः** (नीति० ८५)।

अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् (गीता० १.४४)। ३. सम्बोधन—अहो हिरण्यक ! श्लाघ्योऽसि । अतोऽहमपि त्वया सह मैत्रीमिच्छामि (हितोप०)।

(११) सह*=के साथ। शशिना सह याति कौमुदी सह मेघेन तडित् प्रलीयते (कुमार० ४.३३)। सहैव दशभिः पुत्रैर्भारं वहति गर्दभी (चाणक्य०)।

(१२) जातु*=सर्वथा, बिलकुल, कभी भी—न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते (मनु० २.९४)। अलब्धशाणोत्कषणा नृपाणां न जातु मौलौ मणयो वसन्ति (भामिनी० १.७२)।

(१३) इत्=ही—अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व (ऋ० १०.३४.१३), जूआ मत खेल, खेती ही कर। अर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते (निरुक्त)। लौकिक-साहित्य में इस का स्थान प्रायः 'एव' ने ले लिया है।

(१४) नो*=नहीं, नञ् के अर्थ में। भार्या साधु सुवंशजापि भजते नो यान्ति मित्राणि च, न्यायारोपितविक्रमाण्यपि नृणां येषां नहि स्याद्धनम् (पञ्च० ५.२४)। पुष्पाणां प्रकरः स्मितेन रचितो नो कुन्दजात्यादिभिः (अमरु० ४३)। विदुषां वदनाद्वाचः सहसा यान्ति नो बहिः। याताश्चेन्न पराञ्चन्ति द्विरदानां रदा इव (भामिनी० १.६४)।

(१५) नोचेत्*=यदि नहीं तो—नोचेच्चेतः प्रविश सहसा निर्विकल्पे समाधौ (वैराग्य० ६६)। धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते, नोचेद् अनूत्पद्यन्ते न धर्महानिर्भवति (आपस्त० ध० १.२०.३.४)।[1]

(१६) नहि*=नहीं, निश्चित निषेध। नहि तापयितुं शक्यं सागराम्भस्तृणोल्कया (हितोप० १.८६)। अनुहुङ्कुरुते घनध्वनिं नहि गोमायुरुतानि केसरी (माघ० १६.२५)। नहि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं काङ्क्षति षट्पदाली (रघु० ६.६९)। कियन्मात्रं जलं विप्र ! जानुदघ्नं नराधिप। तथापीयमवस्था ते नहि सर्वे भवादृशाः (सुभाषितरत्न०)।

(१७) उत*=१. अथवा, या, विकल्प—वीरो रसः किमयमेत्युत दर्प एव (वीरचरित०)। किमिदं गुरुभिरुपदिष्टमुत धर्मशास्त्रेषु पठितमुत मोक्षप्राप्तियुक्तिरियम् (कादम्बरी०)। तत्किमयमातपदोषः स्यादुत यथा मे मनसि वर्त्तते (शाकुन्तल० ३)। एकमेव वरं पुंसामुत राज्यमुताश्रमः (गणरत्न०)। २. भी, 'अपि' के अर्थ में—प्रियं

---

१. इन अव्ययों या निपातों में अनेक शब्द दो अव्ययों के संयोग से बने हैं। यथा—नोचेत्, नहि, प्रत्युत, यद्यपि, अतीव, किमपि, किञ्च आदि। क्या इन को एक ही अव्यय मानें या दो का समुदाय ? इस विषय में हम कुछ कहने की स्थिति में नहीं हैं। कारण कि पाणिनिद्वारा अव्ययों के निरूपण का मूल आधार स्वरव्यवस्था थी जो उस समय लोक और वेद दोनों में समानरूप से व्यापृत थी। अद्यत्वे स्वरव्यवस्था लोक से सर्वथा उठ चुकी है अतः इन लौकिक अव्ययों में कौन संयुक्त और कौन एक अव्यय है—यह निर्देश करना एक दुष्कर कार्य है।

मा कृणु देवेषु मा शूद्र उतार्ये (अथर्व० १९.६२.१), मुझे देवताओं का प्यारा बना, शूद्र और आर्य का भी। ३. श्लोक के अन्त में पादपूर्त्यर्थ—**धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत** (गीता० १.४०)।

(१८) किम्*=१. क्यों, क्या। **किं बद्धः सरितां नाथः क्लेशिताः किं वनौकसः। त्यक्तव्या यदि वैदेही किं हतो दशकन्धरः** (रामचरित० ४० ६३), यदि मुझे सीता का त्याग ही करना था तो समुद्र को क्यों बांधा, वनवासी वानरों को क्यों क्लेश दिया, रावण को क्यों मारा ?। **न जाने संसारः किममृतमयः किं विषमयः** (वैराग्य० ८९)। २. कुत्सा, निन्दा अर्थ में—**स किंसखा साधु न शास्ति योऽधिपम्** (किरात० १.५), वह कुत्सित मित्र है जो राजा को ठीक सलाह नहीं देता।

(१९) किमुत*=कहना ही क्या। **ऋषिप्रभावान्मयि नान्तकोऽपि प्रभुः प्रहर्तुं किमुतान्यहिंस्राः** (रघु० २.६२), ऋषि के प्रभाव से मुझ पर यम भी प्रहार नहीं कर सकता दूसरे हिंसक जीवों का तो कहना ही क्या ?

(२०) किमु*=१. कहना ही क्या। **यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता। एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्** (हितोप० प्रस्तावना)। २. अथवा क्या—**किमु विषविसर्पः किमु मदः** (उत्तरराम० १.३५)। ३. क्या—**प्रियसुहृत्सार्थः किमु त्यज्यते** (आप्टे०)।

(२१) किमिति*=किस कारण से, किस लिये—**किमित्यपास्याभरणानि यौवने धृतं त्वया वार्धकशोभि वल्कलम्** (कुमार० ५.४४)। **तत् किमित्युदासते भरताः** (मालती० १), तो नटवर्ग क्यों उदास है ?

(२२) किमिव*=क्या (इव वाक्यालंकार में है)—**किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाऽऽकृतीनाम्** (शाकुन्तल० १.१८)। **स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिव न हि रम्यं मृगदृशः** (शृङ्गार० ६)।

(२३) किमपि*=१. कुछ अनिर्वाच्य—**किमपि कमनीयं वपुरिदम्** (शाकुन्तल० ३.७), यह शरीर इतना सुन्दर है कि बखान नहीं किया जा सकता। २. कुछ—**जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः** (मालती० १.८)।

(२४) प्रत्युत*=के विपरीत, उल्टा—**कृतमपि महोपकारं पय इव पीत्वा निरातङ्कः। प्रत्युत हन्तुं यतते काकोदरसोदरः खलो जगति** (भामिनी० १.७५), किये हुए महोपकार को दूध की तरह पी कर निःशङ्क हुआ दुर्जन सांप की तरह उल्टा मारने को दौड़ता है। **विषादे कर्तव्ये विदधति जडाः प्रत्युत मुदम्** (वैराग्य० ५८), दुःख प्रकट करना चाहिये पर मूढ लोग इस के विपरीत प्रसन्नता प्रकट करते हैं।

(२५) अकाण्डे*=अचिन्तित रूप से, अचानक—**दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा** (शाकुन्तल० २.१३), कुछ कदम चल कर वह सुन्दरी कुशाङ्कुर से पांव छिल गया है इस का बहाना कर अचानक रुक गई।

(२६-२७) चित्*, चन*। ये दोनों निपात प्रायः किसी भी विभक्त्यन्त या

प्रत्ययान्त किम् शब्द के अन्त में जुड़ कर असाकल्य या अनिश्चितता को प्रकट करते हैं। यथा—कश्चित् (कोई), काचित्, किञ्चित्, केनचित्, कस्मैचित्, कस्मिँश्चित्, क्वचित्, कुत्रचित्, कथञ्चित्, कदाचित्, कुतश्चित्। इसी प्रकार—कश्चन, काचन, केचन, कदाचन आदि। उदाहरण यथा—**न कश्चित् कस्यचिन्मित्रं न कश्चित् कस्यचिद्रिपुः। व्यवहारेण मित्राणि जायन्ते रिपवस्तथा** (हितोप० १.७१)। **नाऽपृष्टः कस्यचिद् ब्रूयात्** (मनु० २.११०)। **कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति**(देवीक्षमा० १)। **कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन**(गीता० २.४७)। **यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवम्** (नीति० ७)।

(२८) अमा=**अमा सह समीपे च** इत्यमरः। साथ या समीप—अमा (सह) वसतश्चन्द्रार्कौ अस्यां साऽमावस्या। अमा (राज्ञः समीपे) वर्तत इत्यमात्यः। वेद में इस के गृह आदि अन्य अर्थ भी होते हैं।

(२९) आहो*=अथवा, या—**वैखानसं किमनया व्रतमाप्रदानाद् व्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम्। अत्यन्तमेव सदृशेक्षणवल्लभाभिराहो निवत्स्यति समं हरिणाङ्गनाभिः**(शाकुन्तल० १.२४)। **दारत्यागी भवाम्याहो परस्त्रीस्पर्शपांसुलः**(शाकुन्तल० ५.२९)।

(३०) उताहो*=अथवा, या—**उताहो हतवीर्यास्ते बभूवुः पृथिवीक्षितः** (रामायण० ७.३१.४)। **कच्चित् त्वमसि मानुषी उताहो सुराङ्गना** (व्या० च०)।

(३१) स्वित्=वितर्क में—**दनुजः स्विदयं क्षपाचरो वा वनजे नेति बलं बतास्ति सत्त्वे** (किरात० १३.८), क्या यह दानव हो सकता है या राक्षस ? क्योंकि जंगली प्राणी में तो इतना बल नहीं हो सकता। **तपोबलेनैष विधाय भूयसीस्तनूरदृश्याः स्विदिषून् निरस्यति** (किरात० १४.६०), क्या यह तपस्वी अपने तपोबल से अनेक शरीरों को रच कर बाण छोड़ रहा है ?। किम् (सर्वनाम न कि अव्यय) शब्द के साथ जुड़ कर वितर्कपूर्वक जिज्ञासा में—**कास्विदियमवगुण्ठनवती**(शाकुन्तल० ५.१३), यह घूंघट वाली स्त्री कौन हो सकती है ?। किम्+स्वित्=केवल प्रश्न में—**कस्यस्विद् हृदयं नास्ति किंस्विद्वेगेन वर्धते। अश्मनो हृदयं नास्ति नदी वेगेन वर्धते॥ किंस्विद् गुरुतरं भूमेः किंस्विदुच्चतरं च खात्। माता गुरुतरा भूमेः खात् पितोच्चतरस्तथा॥** महाभारतवनपर्वस्थ यक्षोपाख्यान में इस के बहुत सुन्दर उदाहरण हैं। इन स्थानों पर 'किंस्वित्' का अर्थ 'कौन सी वस्तु' है।

(३२) आहोस्वित्*=अथवा—**आहोस्वित् प्रसवो ममापचरितैर्विष्टम्भितो वीरुधाम्** (शाकुन्तल० ५.९), अथवा मेरे पापों के कारण पौधों में पुष्पादि का आना रुक गया है।

(३३) अतीव*=बहुत ही, अत्यन्त। **भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः** (गीता० १२.२०)। **अतीव खलु ते कान्ता वसुधा वसुधाधिप। गतासुरपि यां गात्रैर्मां विहाय निषेवसे** (रामायण० ४.२०.६), तारा अपने पति की मृत्यु पर विलाप करती हुई कहती है—हे राजन्! निश्चय से तुझे वसुधा मेरे से भी अधिक प्यारी है जो तुम

मुझे छोड़ कर मर कर भी इस से लिपटे हुए हो। **त्वञ्चातीव दुर्गतस्तेन तत्तुभ्यं दातुं सयत्नोऽहम्** (हितोप० १)।

(३४) बत* = १. सम्बोधन में—**बत वितरत तोयं तोयवाहा नितान्तम्** (गणरत्न०), ऐ बादलो खूब पानी बरसाओ। **त्यजत मानमलं बत विग्रहैर्न पुनरेति गतं चतुरं वयः** (रघु० ९.४७), हे ललनाओ! मान का त्याग कर दो, कलह करना छोड़ दो, उपभोगयोग्य यह जवानी फिर वापस नहीं आती। २. खेद या दुःख प्रकट करने में—**अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्** (गीता० १.४५), आश्चर्य तथा खेद है कि हम इतना बड़ा पाप करने में उद्यत हो रहे हैं। ३. अनुकम्पा प्रकट करने में—**क्व बत हरिणकानां जीवितञ्चातिलोलं क्व च निशितनिपाता वज्रसाराः शरास्ते** (शाकुन्तल० १.१०), हाय! कहां तो इन बेचारे हरिणों का अतिचञ्चल जीवन और कहां वज्र की तरह तीक्ष्ण धार वाले तुम्हारे बाण। ४. आश्चर्य प्रकट करने में—**अहो बत महच्चित्रम्** (कादम्बरी०)। ५. प्रसन्नता या सन्तोष प्रकट करने में—**अपि बतासि स्पृहणीयवीर्यः** (कुमार० ३.२०)।

(३५) अद्यापि* = आज भी, अब तक भी—**अद्यापि नोज्झति हरः किल कालकूटम्** (चौरपञ्चा० ५०)। **अद्यापि रत्नाकर एव सिन्धुः** (सुभाषित०)। **गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु** (वेणी० १.११)। **तृष्णे जृम्भसि पापकर्मपिशुने नाद्यापि संतुष्यसि** (वैराग्य० २)।

(३६) प्रभृति* = तब से ले कर (आज तक)। **शैशवात् प्रभृति पोषितां प्रियाम्** (उत्तरराम० १.४५)। इस के योग में पञ्चमी का प्रयोग होता है। तद्दिनात् प्रभृति, ततः प्रभृति, अतः प्रभृति, अद्यप्रभृति आदि। इस का विशेष विवेचन (५५२) सूत्रस्थ टिप्पण में देखें।

(३७) तु* = १. किन्तु, परन्तु, लेकिन—**स सर्वेषां सुखानामन्तं ययौ। एकं तु सुतमुखदर्शनसुखं न लेभे** (कादम्बरी०)। **मनस्वी म्रियते कामं कार्पण्यं न तु गच्छति** (हितोप० १.१३३)। इस अर्थ में किम् या परम् के साथ इस का प्रयोग बहुधा देखा जाता है। 'किन्तु' और 'परन्तु' ये निपातसमुदाय 'तु' की तरह अर्थ देते हैं—**भाग्येनैतत् सम्भवति किन्त्वस्मिन्नात्मसन्देहे प्रवृत्तिर्न कार्या** (हितोप० १)। **अवैमि चैनामनघेति किन्तु लोकापवादो बलवान् मतो मे** (रघु० १४.४०)[1]। २. अवधारण (ही) अर्थ में—**भीमस्तु पाण्डवानां रौद्रः** (गणरत्न०), भीम ही पाण्डवों में भयङ्कर था। **धर्मे स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित्तु महात्मनः** (हितोप० १.१०३)। **स तु भवतु दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला** (वैराग्य० ५३)। ३. वैपरीत्यप्रतिपादन करने में—**अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्। उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्** (हितोप० १.७०)।

---

१. ध्यान रहे कि 'तु' का वाक्य के आदि में प्रयोग नहीं होता लेकिन 'किन्तु' 'परन्तु' का हो सकता है—**किन्तु वध्वां तवैतस्यामदृष्टसदृशप्रजम्। न मामवति सद्वीपा रत्नसूरपि मेदिनी** (रघु० १.६५)।

मृद्घटवत् सुखभेद्यो दुःसन्धानश्च दुर्जनो भवति । सुजनस्तु कनकघटवद् दुर्भेद्यश्चाशु सन्धेयः (हितोप० १.९२) । ३. विशेषता या उच्चता प्रतिपादन करने में—**मिष्टं पयो मिष्टतरं तु दुग्धम्** (गणरत्न०), पानी मीठा होता है पर दूध उस से अधिक मीठा होता है। **सुकृदुःखकरावाध्याविन्तिमस्तु पदे पदे** (हितोप० प्रस्तावना १३) । ४. हेतु (क्योंकि)—**वृद्धानां वचनं ग्राह्यमापत्काले ह्युपस्थिते। सर्वत्रैवं विचारे तु भोजनेऽप्यप्रवर्तनम्** (हितोप० १.२३)। **हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्** (गीता० २.५) । ५. और अब (दूसरी तरफ)—**अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम** (गीता० १.७)। **सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ** (गीता० १८.३६) । ६. पादपूर्ति के लिये—**अर्थेन तु विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधसः । क्रियाः सर्वा विनश्यन्ति ग्रीष्मे कुसरितो यथा** (हितोप० १.१२५) ।

(३८) ननु* । १. अवधारण (निश्चय ही, वस्तुतः, सचमुच)—**ननु प्रवातेऽपि निष्कम्पा गिरयः** (शाकुन्तल० ६), तोफ़ान में भी निश्चय ही पर्वत निश्चल रहते हैं। **ननु वज्रिण एव वीर्यमेतद् विजयन्ते द्विषतो यदस्य पक्ष्याः** (विक्रमो० १.१७), वस्तुतः यह इन्द्र का ही बल है जो उस के पक्षपाती शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हैं। **मन्निन्दया यदि जनः परितोषमेति नन्वप्रयत्नसुलभोऽयमनुग्रहो मे** (शान्तिशतक), मेरी निन्दा से यदि लोग प्रसन्न होते हैं तो यह निश्चय ही मुझे बिना यत्न उन का अनुग्रह प्राप्त हो रहा है। **ननु वक्तृविशेषनिःस्पृहा गुणगृह्या वचने विपश्चितः** (किरात० २.५), सचमुच भाषण के विषय में गुणग्राही विद्वज्जन वक्ता की ओर ध्यान नहीं दिया करते वे तो भाषण की सारासारता को ही देखा करते हैं। २. सम्बोधन—**ननु मूर्खाः पठितमेव युष्माभिस्तत्काण्डे** (उत्तरराम० ४), ऐ मूर्खो ! उस काण्ड में यह विषय तो तुम पढ़ ही चुके हो। ३. प्रार्थना, याचना—**ननु मां प्रापय पत्युरन्तिकम्** (कुमार० ४.३२), कृपया मुझे मेरे पति के पास पहुंचा दो। ४. पूछताछ (Enquiry) करने में—**ननु समाप्तकृत्यो गौतमः** (मालविका० ४), क्या गौतम ने अपना काम समाप्त कर लिया है ? । परवर्ती भारतीय तर्क शैली में प्रायः 'ननु' से ही शङ्का का आरम्भ किया जाता है।

(३९) हि* । १. केवल, सिर्फ—**धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः** (हितोप० १.२६) । **मूढो हि मदनेनायास्यते** (कादम्बरी०) । २. हेत्वर्थ में (क्योंकि)—**अग्निरिहास्ति धूमो हि दृश्यते** (गणरत्न०) । **जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च** (गीता० २.२७), हि=यतः । ३. अवधारण (ही, वस्तुतः, निश्चय से आदि)—**न हि सुशिक्षितोऽपि वटुः स्वस्कन्धमारोढुं पटुः** (लौकिक० २२०) । **देव प्रयोगप्रधानं हि नाट्यशास्त्रं किमत्र वाग्व्यवहारेण** (मालविका० १) । **प्रकृतिसिद्धमिदं हि महात्मनाम्** (नीति० ५२) । ४. उदाहरण प्रदर्शन करने में—**प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत् । सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः** (रघु० १.१८) । ५. पादपूर्ति या वाक्यालंकार के लिये—**भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि** (गीता० १.११) । 'हि' का वाक्य के आदि में प्रयोग नहीं होता।

(४०) नाम*। १. नामक, नाम वाला, नाम से प्रसिद्ध -- **अस्ति दाक्षिणात्ये जनपदे महिलारोप्यं नाम नगरम्** (पञ्च० १)। **अस्ति मगधदेशे चम्पकवती नाम अरण्यानी** (हितोप० १)। **अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराजः** (कुमार० १.१)। २. वस्तुतः—**वीणा हि नाम असमुद्रोत्थितं हि रत्नम्** (मृच्छ० ३), वीणा वस्तुतः एक ऐसा रत्न है जो समुद्र से उत्पन्न नहीं हुआ। **विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि नाम** (शाकुन्तल० १), वस्तुतः तपोवन में विनीतवेष से प्रवेश करना चाहिये। **तन्नाम निष्ठुराः पुरुषाः** (मृच्छ० ५.३२), वस्तुतः पुरुष कठोर होते हैं। ३. सम्भावना—**को नाम राज्ञां प्रियः** (पञ्च० १.१५६) राजाओं का कौन प्यारा हो सकता है ? **को नाम पाकाभिमुखस्य जन्तुर्द्वाराणि दैवस्य पिधातुमीष्टे** (उत्तरराम० ७.४), जब दैव फल देने को उद्यत हो तो भला कौन पुरुष उस के द्वार बन्द कर सकता है ? **अतनुषु विभवेषु ज्ञातयः सन्तु नाम** (शाकुन्तल० ५.८), धन के आधिक्य में बन्धुओं के बन जाने की सम्भावना है। **अये पदशब्द इव, मा नाम रक्षिणः** (मृच्छ० ३), अरे पांव की आहट सुनाई दे रही है। मेरे विचार में रक्षी का शब्द न होगा। ४. अपमानाश्रित क्रोध प्रकट करने में—**ममापि नाम दशाननस्य परैः परिभवः** (गणरत्न०), क्या शत्रुओं द्वारा मुझ रावण का भी तिरस्कार ! । **ममापि नाम सत्त्वैरभिभूयन्ते गृहाः** (शाकुन्तल० ६), क्या हमारे भवनों पर भी भूतों द्वारा आक्रमण किया जा रहा है ? ५. मिथ्या-छल-कपट प्रकट करने में --**परिश्रमं नाम विनीय च क्षणम्** (कुमार० ५.३२), क्षण भर थकावट को दूर करने का बहाना कर के। **कार्तान्तिको नाम भूत्वा** (दशकु०), कपट से ज्योतिषी बन कर। ६. आश्चर्य में --**आश्चर्यमन्धो नाम पर्वतमारोक्ष्यति** (काशिका ३.३.१५१), आश्चर्य है कि अन्धा होता हुआ भी पहाड़ पर चढ़ रहा है। **आश्चर्यं बधिरो नाम व्याकरणमध्येष्यते** (काशिका ३.३.१५१)। **आश्चर्यं यदि मूको नामाधीयीत** (सि० कौ०)। ऐसे स्थलों पर **शेषे लृडयदौ** (३.३.१५१) सूत्र से लृँट् का प्रयोग होता है। परन्तु 'यदि' शब्द का भी साथ में प्रयोग हो तो लिँङ् ही होता है।

(४१) इव*। १. सादृश्य (के समान, की तरह)—**छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्** (रघु० २.६), छाया के समान राजा दिलीप उस नन्दिनी का अनुसरण करता था। **असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता** (मृच्छ० १.३४), दुर्जन पुरुष की सेवा के समान दृष्टि अन्धकार में व्यर्थ अर्थात् असफल हो रही है। **शुनः पुच्छमिव व्यर्थं जीवितं विद्यया विना** (चाणक्य०), विद्या के विना मनुष्य का जीवन कुत्ते की पूंछ की तरह व्यर्थ है। २. उत्प्रेक्षा (जैसा कि, मानो)—**साक्षात् पश्यामीव पिनाकिनम्** (शाकुन्तल० १.६), जैसा कि मानो मैं साक्षात् शिव को देख रहा हूं। **वर्षतीवाञ्जनं नभः** (मृच्छ० १.३४), आकाश मानो सुरमा बरसा रहा है। ३. स्वल्प—**कडार इवायम्** (गणरत्न०), यह कुछ कुछ पीला है। ४. वाक्यालंकार—**कथमिवैतद्भविष्यति** (गणरत्न०)।

(४२) इति*। १. समाप्ति अर्थ में—**इति रघुवंशे प्रथमः सर्गः**। २. हेत्वर्थ में—**वैदेशिकोऽस्मीति पृच्छामि** (उत्तरराम० १), मैं विदेशी हूं इसलिये पूछ रहा हूं।

पुराणमित्येव न साधु सर्वम् (मालविका० १.२), पुराना है इसलिये सब ठीक नहीं होता। **हन्तीति पलायते** (सि० कौ०), मारता है इसलिये भागता है। **अयं रत्नाकरोऽम्भोधिरित्यसेवि धनाशया। धनं दूरेऽस्तु वदनमपूरि क्षारवारिभिः** (साहित्य०)। **शरीरस्य विनाशो मा भूदिति मयेदमुत्क्षिप्य समानीतम्** (कादम्बरी०)। ३. पूर्वोक्त या कथित के निर्देश में—**इत्थममुं विलपन्तममुञ्चद् दीनदयालुतयाऽवनिपालः। रूपमदर्शि धृतोऽसि यदर्थं गच्छ यथेच्छमथेत्यभिधाय** (नैषध० १.१४३)। **इत्युक्तवन्तं परिरभ्य दोर्भ्याम्** (किरात० ११.८०)। **ज्ञास्यति कियद्भुजो मे रक्षति मौर्वीकिणाङ्क इति** (शाकुन्तल० १.१३)। ४. शब्दनिर्देश में—**सख्यशिश्वीति भाषायाम्** (४.१.६२)। **विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम्** (५७०)। **अहो, अथो इति निपातेषु पठितौ। अमरा निर्जरा देवा इत्यमरः।** ५. वक्ष्यमाण के निर्देश में—**रामाभिधानो हरिरित्युवाच** (रघु० १३.१), राम ने वक्ष्यमाण प्रकारेण वचन कहे। ६. के विषय में, के सम्बन्ध में—**शीघ्रमिति सुकरं निभृतमिति चिन्तनीयम्** (शाकुन्तल० ३), जहां तक शीघ्रता का सम्बन्ध है वह आसान है पर जहां गुप्तरूप का सम्बन्ध है वह चिन्तनीय है। ७. विवक्षा में—**तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्** (११८१), वह उस का है अथवा उस में है ऐसी विवक्षा होने पर प्रथमान्त समर्थ से मतुँप् प्रत्यय होता है।

(४३) दिष्टया* । हर्ष का विषय, आनन्द का विषय, सौभाग्य—**दिष्टया प्रतिहतममङ्गलम्** (मालती० ४), हर्ष का विषय है कि अमङ्गल नष्ट हो गया है। **दिष्टया धर्मपत्नीसमागमेन पुत्रमुखदर्शनेन चाऽऽयुष्मान् वर्धते** (शाकुन्तल० ७)। **दिष्टया सोऽयं महाबाहुरञ्जनानन्दवर्धनः। यस्य वीर्येण कृतिनो वयं च भुवनानि च** (उत्तरराम० १.३२)। यह विभक्तिप्रतिरूपक निपात है।

(४४) नु* । १. सन्देहमिश्रित प्रश्न में—**स्वप्नो नु माया नु मतिभ्रमो नु** (शाकुन्तल० ६.१०), क्या यह स्वप्न था या कोई माया अथवा बुद्धि का व्यामोह ही था ? इस का 'किम्' शब्द या किम्शब्दोत्पन्न कथम्, क्व आदि शब्दों के साथ बहुधा प्रयोग उपलब्ध होता है। तब 'क्या' के साथ 'सम्भवतः' या 'वस्तुतः' का भाव भी जुड़ा रहता है—**ततो दुःखतरं नु किम्** ? (गीता० २.३३), वस्तुतः इस से अधिक और क्या दुःख हो सकता है। **कथं नु गुणवद् विन्देयं कलत्रम्** (दशकु०), गुणवती भार्या को पाना कैसे मेरे लिये सम्भव हो सकेगा ?

(४५-४६) यद्, तद्। चूंकि—इसलिये। **यदचेतनोऽपि पादैः स्पृष्टः प्रज्वलति सवितुरिनकान्तः। तत्तेजस्वी पुरुषः परकृतनिकृतिं कथं सहते** (नीति० २९)। चूंकि अचेतन सूर्यकान्त भी सूर्य के पादों (किरणों) से छुआ हुआ जलने लग जाता है इसी कारण तेजस्वी पुरुष दूसरों के किये तिरस्कार को कैसे सह सकता है ? केवल 'यद्' का भी बहुत प्रयोग देखा जाता है—**किं शेषस्य भरव्यथा न वपुषि क्ष्मां न क्षिपत्येष यत्** (मुद्रा० २.१८), क्या शेषनाग के शरीर में भारजनित पीड़ा नहीं होती जो वह पृथ्वी को फेंक नहीं देता।

(४७) यदपि=यद्यपि। **वक्रः पन्था यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तरस्याम्** (मेघ० १.२७)।

(४८-४६) ते, मे। ये दोनों विभक्तिप्रतिरूपक निपात हैं जो क्रमशः 'त्वया' और 'मया' के अर्थों में प्रयुक्त होते हैं। **श्रुतं ते वचनं तस्य** (वामनवृत्ति ५.२.१०), त्वया तस्य वचनं श्रुतमित्यर्थः। **वेदानधीत इति नाधिगतं पुरा मे** (वही, ५.२.१०), मे=मया। **बिलस्य वाणी न कदापि मे श्रुता** (पञ्च० ३.२१२), मया न श्रुतेत्यर्थः। **श्रुतं ते राजशार्दूल। श्रुतं मे भरतर्षभ** (गणरत्न०)। वामन ने अपने सूत्रों में भी इन को निपात माना है—**ते-मे-शब्दौ निपातेषु** (वामनसूत्र० ५.२.१०)।

(५०) मम=मेरा। इसे निपात मान कर 'ममत्व, ममता, निर्मम' आदि शब्द सिद्ध होते हैं—**क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैः शिरसां सतीव** (कुमार० १.१२), ममशब्दात् त्वप्रत्यय इति मल्लिनाथः। ममेति षष्ठयन्तप्रतिरूपको निपात इति वल्लभः।

(५१) वाम्=तुम दोनों। इसे भी कई वैयाकरण विभक्तिप्रतिरूपक निपात मानते हैं। **गेयं केन विनीतौ वाम्**(रघु० १५.६६), वाम्=युवाम् इत्यर्थः। प्रथमा के द्विवचन में 'वाम्' दुर्लभ है अतः इसे निपात माना है।

(५२) अस्तु=१. स्वीकृति—**एवमस्तु को नाम दोषः** (गणरत्न०)। अस्तुङ्कारः='अस्तु' करने वाला। **अस्तोश्चेति वक्तव्यम्** इति वार्तिकेन मुँम्। अस्त्विति तिङन्तप्रतिरूपकमव्ययम् इति तत्त्वबोधिनी। २. असूया (क्रोध)—**अस्तु ज्ञास्यसि कालेन सोऽल्पेनैव न भूयसा** (मूलं मृग्यम्)। ३. पीड़ा (दुःख)—**अस्तु नाम विधुरेण वेधसा साधुरप्यलमुपाधिभिर्धुवम्। बाध्यते**—(मूलं मृग्यम्), दुःख का विषय है कि प्रतिकूल दैव सज्जन को भी नाना छलों से बहुत दुःखी करता है। ४, निषेध—**अस्तु सान्त्वा** (गणरत्न०), अब सामप्रयोग (शान्त्युपाय) को रहने दो इस से कुछ सिद्ध न होगा।

(५३) नास्ति=अविद्यमान। यह भी तिङन्तप्रतिरूपक निपात है। इसी से 'नास्तिकः, नास्तिवादः, नास्तिक्यम्, नास्तिक्षीरा' प्रभृति शब्द सिद्ध होते हैं। देखें पाणिनिसूत्र—**अस्ति-नास्ति-दिष्टं मतिः** (४.४.६०)।

(५४) येन=जिस से। **विलर गिरमुदारां येन मूकाः पिकाः स्युः**(गणरत्न०), ऐसी वाणी बोलो जिस से कोयलें चुप हो जायें।

(५५) तेन=इस से, इस कारण से। **अपराद्धोऽहमत्रभवत्सु, न च मर्षितः, तेन तप्ये नितान्तम्** (व्या० च०)। **येन दाता तेन श्लाघ्यः** (गणरत्न०)।

(५६) अकस्मात्*=अचानक, एकदम, विना कारण के। **इक्ष्वाकुवंशप्रभवः कथं त्वां त्यजेदकस्मात् पतिरार्यवृत्तः**(रघु० १४.५५)। **नाऽकस्माच्छाण्डिली मातर्विक्रीणाति तिलैस्तिलान्** (पञ्च० २.७२)। **अकस्माद्भवः**—आकस्मिकः।

(५७) प्रसह्य*=बलपूर्वक, जबरदस्ती। **प्रसह्य मणिमुद्धरेद् मकरवक्त्रदंष्ट्रान्तरात्** (नीति० ३)। **प्रसह्य सिंहः किल तां चकर्ष** (रघु० २.२७)। **प्रसह्य वित्तानि**

हरन्ति चौराः(हेमचन्द्र)। इसी से ही 'प्रसह्यकारी, प्रसह्यहरणम्' आदि शब्द बनते हैं।

(५८) अह्नाय=शीघ्र, फौरन। **अह्नाय तावदरुणेन तमो निरस्तम्** (रघु० ५.७१)।

(५९) व=सदृश। **मणीव उष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम** (महाभारत १२.१७२.१२)। **अत्र तु इवार्थे वशब्दो वाशब्दो वा बोध्यः**—सि० कौ०।

(६०) समन्तात्*=चहुँ ओर[1]। हेमचन्द्र ने इसे विभक्तिप्रतिरूपक निपात माना है। **लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्तात्** (गीता० ११.३०)। **कालागुरुर्दहनमध्यगतः समन्तात् लोकोत्तरं परिमलं प्रकटीकरोति** (भामिनी० १.६६)।

(६१) भवतु=अलम्(बस, निषेध) का अर्थ। **गोत्रेण पुष्करावर्त्त ! किं त्वया गर्जितैः कृतम् ! विद्युताऽलं भवत्वद्भिर्हंसा ऊर्ध्वबिलं घनम्** (द्व्या०)।

(६२) बलवत्=पूरी तरह से, पूर्णरूपेण। **बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः** (शाकुन्तल० १.२)। **पुनर्वशित्वाद् बलवन्निगृह्य** (कुमार० ३.६९)।

(६३) तदपि=तो भी। **तदपि तव गुणानामीश पारं न याति** (शिवमहिम्न-स्तोत्र)।

(६४) यस्मात्=जिस कारण से, क्योंकि। **अवजानासि मां यस्मादतस्ते न भविष्यति। मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेति त्वां शशाप सा** (रघु० १.७७)।

(६५) तस्मात्=इसलिये। **तस्माद् युध्यस्व भारत** (गीता० २.१८)।

(६६) आः(स्)। १. स्मरण में—**आः, उपनयतु भवान् भूर्जपत्त्रम्** (विक्रमो० २)। २. क्रोध प्रकट करने में—**आः कथमद्यापि राक्षसत्रासः** (उत्तरराम० १)। **आः पापे तिष्ठ तिष्ठ** (मालती० ८)। ३. क्रोधपूर्वक अपाकरण में—**आः क एष मयि स्थिते चन्द्रमभिभवितुमिच्छति बलात्** (मुद्रा० १)। **आः ! वृथामङ्गलपाठक** (वेणी० १)। ४. सन्ताप(दुःख) प्रकट करने में—**विद्यामातरमाः प्रदर्श्य नृपशून् भिक्षामहे निस्त्रपाः** (उद्भट)। (**आः स्मरणेऽपाकरणे कोपसन्तापयोस्तथा**—इति मेदिनी)।

(६७) ही। विस्मय में—**हतविधिलसितानां ही विचित्रो विपाकः** (माघ० ११.६४), आश्चर्य है कि अभागे विधाता की चेष्टाओं का विचित्र फल है।

(६८) वै*=अवधारण(ही)—**पिता वै गार्हपत्योऽग्निः** (मनु० २.२३१)। **आपो वै नरसूनवः** (मनु० १.१०)। **आत्मा वै पुत्रनामासि** (कौषी० ब्रा० २.१६)।

(६९) किञ्च*=और भी, इस के अतिरिक्त, पुनः। **किञ्च सर्वगुणसम्पन्नोऽपि भेदेन बध्यते** (पञ्च० ४)। **किञ्च काव्यस्योपादेयत्वमग्निपुराणेऽप्युक्तम्** (साहित्य० १)। **किञ्च काव्याद् धर्मप्राप्तिर्भगवन्नारायणचरणारविन्दस्तवादिना** (साहित्य० १)।

(७०) यदि*=अगर (पक्षान्तर)—**यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः**

---

१. इसी अर्थ में 'समन्ततस्' अव्यय भी बहुत प्रसिद्ध है। यथा—**मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः** (गीता० ६.२४)। **समन्ततस्तु परितः सर्वतो विष्वगित्यपि**—इत्यमरः। समन्तादिति समन्ततः, आद्यादित्वात्तसिरित्यमरव्याख्यायां भानुजि-दीक्षितः।

(पञ्च० २.१३८)। **नोलूकोऽप्यवलोकते यदि दिवा सूर्यस्य किं दूषणम्** (नीति० ९३)।

(७१) यद्यपि=अगरचे, यद्यपि—**यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः** (गीता० १.३७)। **यद्यपि बहु नाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्। स्वजनः श्वजनो मा भूत्सकलं शकलं सकृच्छकृत्** (सुभाषित०)।

(७२) यद्वा*=अथवा। **यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः** (गीता० २.६)।

(७३) यदि वा*=अथवा। **स्नेहं दयां च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि। आराधनाय लोकानां मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा** (उत्तरराम० १.१२)।

(७४) अथवा*। १. 'वा' के अर्थ में—**व्यवहारं परिज्ञाय वध्यः पूज्योऽथवा भवेत्** (हितोप० १.५८)। २. पक्षान्तर में—**अथवा कृतवाग्द्वारे वंशेऽस्मिन् पूर्वसूरिभिः** (रघु० १.४)।

(७५) वारं वारम्*=बारबार—**मनसि विचारय वारं वारम्** (चर्पट० ११)।

(७६) प्रेत्य। १. परलोक—**अन्यो धनं प्रेत्यगतस्य भुङ्क्ते** (गणरत्न०)। २. इस संसार से गया हुआ—प्रेत्यभावः, प्रेत्यलोकः। **प्रेत्यामुत्र भवान्तरे** इत्यमरः।

(७७) पुरतः(स्)*=सामने, आगे। **यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः** (नीति०)। **स्यात्पुरः पुरतोऽग्रतः**—इत्यमरः।

(७८) प्रायेण*=प्रायः, अक्सर, बहुधा। **प्रायेणाऽधममध्यमोत्तमगुणः संवासतो जायते** (पञ्च० १.२७३)। **प्रायेण नीचा व्यसनेषु मग्ना निन्दन्ति दैवं न तु कुकृतं स्वम्** (महाभारत० ८.९१.१)। वामन शिवराम आप्टे आदि कोषकारों ने इसे अव्यय माना है। परन्तु अनेक वैयाकरण 'प्राय' (पुं०) शब्द से **प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्** (वा०) द्वारा तृतीया विभक्ति हुई मान कर इसे अव्यय नहीं मानते।

(७९) प्रायशः (स्)*=प्रायः, अक्सर, बहुधा। **आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि** (मेघ० १.१०)। इसे तद्धितशस्-प्रत्ययान्त माना जा सकता है। तब **तद्धितश्चासर्वविभक्तिः** (३६८) से अव्यय-संज्ञा हो जायेगी।

(८०) वस्तुतः(स्)*=यथार्थतः, दर असल, हकीकत में, सत्यतः, मूलतः—**वस्तुतः लृकारस्य ऋकारग्राहकत्वं न कुत्राप्युपलभ्यते** (तत्त्वबोधिनी संज्ञाप्रकरण)।

(८१) अथ किम्*=जी हां। **सर्वथा अप्सरःसम्भवैषा। अथ किम्** (शाकुन्तल० १)। **अपि वृषलमनुरक्ताः प्रकृतयः? अथ किम्** (मुद्रा० १)।

(८२) अन्वक्=पीछे। **तां देवतापित्रतिथिक्रियार्थामन्वग्ययौ मध्यमलोकपालः** (रघु० २.१६)। **अन्वगन्वक्षमनुगेऽनुपदं क्लीबमव्ययम्**—इत्यमरः।

(८३) अपि वा*=अथवा। **हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा** (रघु० १.१०)।

(८४) कस्मात्*=क्यों, किस कारण, किस लिये। **अचेतनं नाम गुणं न लक्षयेन्मयैव कस्मादवधीरिता प्रिया** (शाकुन्तल० ६.१३)। इस विभक्तिप्रतिरूपक

अव्यय से नञ्समास हो कर 'अकस्मात्' अव्यय बनता है। पुनः इस अव्यय से अकस्माद्भव आकस्मिकः (विनयादित्वाट् ठकि टेर्लोपः) सिद्ध होता है।

(८५) प्रगे=प्रातःकाल, सुबह सवेरे। **सायं स्नायात् प्रगे तथा** (मनु० ६.६)। इसी से ही 'प्रगेशयः' (प्रभात में सोने वाला) आदि निष्पन्न होते हैं। **सायंचिरंप्राह्णे-प्रगेऽव्ययेभ्यष्टयुटयुलौ तुँट् च** (१०८३) सूत्र में अनव्यय प्रगशब्द को एत्व निपातन किया गया है।

(८६) परश्वः (स्)*=आगामी कल से अगला दिन, परसों। **परश्वो यास्यति मुनिः। अनागतेऽह्नि श्वः परश्वश्च परेऽहनि**—इत्यमरः।

(८७) स्राक्=शीघ्र। **स्राक् सरन्त्यभिसारिकाः** (हेमचन्द्र)।

(८८) अरम्=शीघ्र। **अरं याति तुरङ्गमः** (हेमचन्द्र)।

(८९) रहः (स्)*=एकान्त, एकान्त में, चुपके से। **अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात् संगतं रहः** (शाकुन्तल० ५.२४)। रहो भवं रहस्यम्, दिगादित्वाद्यत्। रहस् शब्द सकारान्त नपुंसक भी होता है। यथा—**रहस्यनुज्ञामधिगम्य भूभृतः** (किरात० १.३)।

(९०) उपजोषम्=१. अपनी इच्छा के अनुसार, स्वेच्छा से। **यथोपजोषं वासांसि परिधाय**—(भागवत० ८.९.१५), अपनी इच्छानुसार वस्त्र धारण करके। २. 'दिष्टया' के अर्थ में—**उपजोषं ते पुत्रो जातः** (हेमचन्द्र), बड़े आनन्द की बात है कि तेरा पुत्र उत्पन्न हुआ है। 'समुपजोषम्' भी देखा जाता है। **दिष्टया समुपजोषञ्चेत्यानन्दे**—इत्यमरः।

स्वरादियों और चादियों का ठीक तरह से पृथक् २ निरूपण एक दुष्कर कार्य है। कुछ स्वरादि शब्द चादियों में तथा कुछ चादि शब्द स्वरादियों में मिश्रित हो गये हैं। कुछ शब्द तो दोनों ही गणों में पढ़े गये हैं। परन्तु यहां यह ध्यातव्य है कि जिन में निपातस्वर (आद्युदात्त) इष्ट हो उन्हें चादियों में तथा जिन में अन्तोदात्त-स्वर इष्ट हो उन्हें स्वरादियों में गिनना चाहिये। किञ्च जहां दोनों प्रकार के स्वर अभीष्ट हों उन को दोनों ही गणों में पढ़ना चाहिये[1]। इन चादियों से अतिरिक्त अन्य भी बहुत से निपात होते हैं। उन सब की भी **स्वरादिनिपातमव्ययम्** (३६७) सूत्र से अव्ययसंज्ञा हो जाती है। इन सब का विवेचन जानने के इच्छुक **प्राग्रीश्वरान्निपाताः** (१.४.५६) के अधिकार को अष्टाध्यायी या काशिकावृत्ति में देखें[2]।

---

१. परन्तु यह स्वरव्यवस्था अनेकाच् शब्दों के लिये ही समझनी चाहिये एकाच् शब्दों के लिये नहीं, क्योंकि एकाच् शब्दों में चाहे आद्युदात्त स्वर हो या अन्तोदात्त, कोई अन्तर ही नहीं पड़ता।

२. निपातों के विषय में एक सूक्ति बहुत प्रसिद्ध है—

इयन्त इति संख्यानं निपातानां न विद्यते।
प्रयोजनवशादेते निपात्यन्ते पदे पदे॥

प्र आदि शब्द भी निपाताधिकार में **प्रादयः** (५४) सूत्रद्वारा निपातसंज्ञक होकर अव्ययसंज्ञक हो जाते हैं। इन प्र आदियों का क्रिया के योग में तथा कुछ का क्रियायोग के अभाव में भी स्वतन्त्ररीत्या प्रयोग हुआ करता है। क्रिया के योग में इन की **उपसर्गाः क्रियायोगे** (३५) सूत्र से उपसर्गसंज्ञा विशेष है। निपातसंज्ञा तो दोनों अवस्थाओं में ही अक्षुण्ण बनी रहती है। अब प्रादियों में क्रियायोग के अभाव में स्वतन्त्रतया प्रयुक्त होने वाले कुछ प्रसिद्ध २ निपातों का विवेचन करते हैं—

(१) अनु। १. पीछे—**विष्णोः पश्चाद् अनुविष्णु** (सि० कौ०)। **आश्वास्यादौ तदनु कथयेर्माधवीयामवस्थाम्** (मालती० ६.२६)। २. के साथ साथ (लम्बाई में)—**अनुगङ्गं वाराणसी** (व्या० च०), गङ्गातट के साथ साथ बनारस बसा हुआ है। ३. हीन अर्थ में—**अनु पाणिनिमन्ये वैयाकरणाः** (व्या० च०), अन्य वैयाकरण पाणिनि से नीचे हैं। **अन्वर्जुनं धानुष्काः** (व्या० च०), अन्य धनुर्धारी अर्जुन से हीन हैं। इसी प्रकार—**अन्वाम्रं फलानि** आदि। ४. लक्षण (निशानी) अर्थ में—**वृक्षमनु विद्योतते विद्युत्** (काशिका), बिजली वृक्ष के समीप चमक रही है। इसी प्रकार—**क्रमेण सुप्तामनु संविवेश सुप्तोत्थितां प्रातरनूदतिष्ठत्** (रघु० २.२४)। ५. इत्थम्भूताख्यान (वह इस तरह का है—इस प्रकार कहने) में—**साधुर्देवदत्तो मातरमनु**, देवदत्त माता के प्रति सद्व्यवहारी है। ६. भाग (हिस्सा) अर्थ में—**लक्ष्मीर्हरिमनु** (सि० कौ०), लक्ष्मी विष्णु का भाग है। ७. वीप्सा—**वृक्षं वृक्षमनु सिञ्चति** (सि० कौ०), प्रत्येक वृक्ष को सींचता है। ८. हेतुयुक्त अनन्तर अर्थ में—**जपमनु प्रावर्षत्** (सि० कौ०), जप के कारण जप के बाद वर्षा हुई। ९. के अनुसार—अनुक्रमम्, अनुज्येष्ठम्, अनुरूपम्। इस के अन्य भी अनेक अर्थ आकरग्रन्थों में देखें। ध्यान रहे कि प्रायः इन अर्थों में इस की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो जाती है तब **कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया** (२.३.८) सूत्र से इस के योग में द्वितीया विभक्ति हो जाती है। विशेष सिद्धान्तकौमुदी में देखें।

(२) आङ्=आ। १. ईषत् (थोड़ा) अर्थ में—ओष्णम् (ईषदुष्णम्—कुछ गरम)। २. मर्यादा अर्थ में—**ओदकान्ताद् आवनान्ताद्वा प्रियं प्रोष्यमनुव्रजेत्** (धर्मशास्त्रे), तालाब या वन के अन्त तक प्रवास करते बन्धु के साथ जाये। इसीप्रकार—**आ परितोषाद् विदुषां न साधु मन्ये प्रयोगविज्ञानम्** (शाकुन्तल० १.२)। **आ विन्ध्याद् उत्तरपथः**। ३. अभिविधि अर्थ में—**आ कुमाराद् यशः पाणिनेः**, पाणिनि का यश बच्चों तक अर्थात् बच्चों को भी अभिव्याप्त कर रहा है। इसीप्रकार—**आमूलाच्छ्रोतुमिच्छामि** (शाकुन्तल० १)। मर्यादा और अभिविधि अर्थों में **आङ् मर्यादावचने** (१.४.८८) से आङ् की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो जाती है तब इस के योग में **पञ्चम्यपाङ्परिभिः** (२.३.१०) सूत्र से पञ्चमीविभक्ति हो जाती है।

(३) अधि। १. स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध में—**अधि ब्रह्मदत्ते पाञ्चालाः** (काशिका), पाञ्चालदेश ब्रह्मदत्त के अधीन है। **अधि पाञ्चालेषु ब्रह्मदत्तः** (काशिका), ब्रह्मदत्त पाञ्चालदेश का अधिकृत राजा है। इसी प्रकार—**अधि रामे भूः, अधि भुवि रामः** (सि० कौ०)। ध्यान रहे कि यहां **अधिरीश्वरे** (१.४.९६) सूत्र से 'अधि' की

कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो कर उस के योग में **यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी** (२.३.६) द्वारा कभी स्वामिवाचक से तथा कभी स्ववाचक से सप्तमी विभक्ति हो जाती है। २. में, के विषय में—**हरौ इत्यधिहरि** (हरि में या हरि के विषय में)। अव्ययीभावसमास के नित्य होने से लौकिकविग्रह में 'अधि' लिखा नहीं जा सकता।

(४) अपि। १. प्रश्न में—**अपि सन्निहितोऽत्र कुलपतिः** (शाकुन्तल० १), क्या कुलपति आश्रम में हैं ? **अप्यग्रणीर्मन्त्रकृतामृषीणां कुशाग्रबुद्धे कुशली गुरुस्ते ?** (रघु० ५.४)। **अपि क्रियार्थं सुलभं समित्कुशम्** (कुमार० ५.३३)। २. थोड़ा, स्तोक, बिन्दु, ज़रा सा अंश आदि अर्थों में—**सर्पिषोऽपि स्यात्, मधुनोऽपि स्यात्** (काशिका), घृत का अंश होगा, मधु का अंश होगा। ३. कामचारानुज्ञा—**अपि सिञ्च अपि स्तुहि** (काशिका), तुम्हारी इच्छा है सींचो या स्तुति करो। ४. सम्भावना प्रकट करने में (शायद)—**अपि नाम कुलपतेरियमसवर्णक्षेत्रसम्भवा स्यात्** (शाकुन्तल० १)। **अपि नाम रामभद्रः पुनरपीदं वनमलङ्कुर्यात्** (उत्तरराम० २)। ५. समुच्चय (भी)—**अस्ति मे सोदरस्नेहोऽप्येतेषु** (शाकुन्तल० १)। **विष्णुशर्मणापि पाठितास्ते राजपुत्राः** (पञ्च० प्रस्तावना)। ६. चाहे हो—**अपि धन्वन्तरिर्वैद्यः किं करोति गतायुषि** (सुभाषित०)। **अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्** (उत्तरराम० १.२८)। ७. ज़ोर या Stress देने के लिये—**विधुरपि विधियोगाद् ग्रस्यते राहुणासौ** (हितोप० १.१६)। **यूयमप्यनेन कर्मणा परिश्रान्ताः** (शाकुन्तल० १)। ८. कवियों द्वारा विरोधाभास प्रदर्शित करने में—**खर्वामपि अखर्वपराक्रमाम्, श्यामामपि यशःसमूहश्वेतीकृतत्रिभुवनाम्** (शिवराज० २)। ९. 'किम्' के साथ लग कर अनिश्चय में—**व्यतिषजति पदार्थानान्तरः कोऽपि हेतुः** (उत्तरराम० ६.१२)। **केऽपि एते प्रवयसः त्वां दिदृक्षवः** (उत्तरराम० ४)।

(५) अभि। १. लक्षण (निशानी)—**वृक्षमभि विद्योतते विद्युत्** (काशिका), वृक्ष के सामने बिजली चमक रही है। २. इत्थम्भूताख्यान—**साधुर्देवदत्तो मातरमभि** (काशिका)। ३. वीप्सा—**वृक्षं वृक्षमभि सिञ्चति**। ४. आभिमुख्य में—**अग्निमभि शलभाः पतन्ति** (काशिका), पतंगे अग्नि के अभिमुख गिर रहे हैं। आभिमुख्य अर्थ में वैकल्पिक अव्ययीभावसमास का भी विधान है—**अभ्यग्नि शलभाः पतन्ति**। लक्षणादि अर्थों में 'अभि' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो कर उस के योग में द्वितीया विभक्ति हो जाती है।

(६) प्रति। १. लक्षण—**वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत्** (काशिका)। **तौ दम्पती स्वां प्रति राजधानीं प्रस्थापयामास वशी वसिष्ठः** (रघु० २.७०)। **मन्दौत्सुक्योऽस्मि नगरगमनं प्रति** (शाकुन्तल० १)। २. इत्थम्भूताख्यान—**साधुर्देवदत्तो मातरं प्रति** (काशिका)। ३. भाग—**यदत्र मां प्रति स्यात्तद् दीयताम्** (काशिका), इस में मेरा जो हिस्सा हो वह दीजिये। ४. वीप्सा—**वृक्षं वृक्षं प्रति सिञ्चति**। ५. प्रतिनिधि—**अभिमन्युरर्जुनतः प्रति** (काशिका), अभिमन्यु अर्जुन का प्रतिनिधि है। **प्रद्युम्नो वासुदेवतः प्रति** (काशिका), प्रद्युम्न वासुदेव का प्रतिनिधि है। ६. प्रतिदान (बदले में

देना)—**तिलेभ्यः प्रति यच्छति माषान्** (काशिका), तिलों के बदले माष देता है। **शेफालीभ्यो ददुर्लास्यं प्रति गन्धाञ्च मारुताः** (व्या० च०), वायु ने शेफालिका से गन्ध ले कर उस के बदले उन्हें नृत्य दे दिया[1]। ७. आभिमुख्य में—**अग्निं प्रति शलभाः पतन्ति, प्रत्यग्नि शलभाः पतन्ति**। पूर्ववत् वैकल्पिक अव्ययीभावसमास हो जाता है।

(७) परि। १. लक्षण (निशानी)—**वृक्षं परि विद्योतते विद्युत्** (काशिका), वृक्ष पर बिजली चमक रही है। २. इत्थम्भूताख्यान—**साधुर्देवदत्तो मातरं परि**। ३. भाग—**यदत्र मां परि स्यात्तद्दीयताम्**, इस में मेरा जो भाग है वह दे दीजिये। ४. वीप्सा—**वृक्षं वृक्षं परि सिञ्चति**। ५. मर्यादा—**परि त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः**, त्रिगर्तदेश तक(पर त्रिगर्त को छोड़ कर)मेघ बरसा। ६. दुःखी, तंग—**परिग्लानोऽध्ययनाय** =पर्यध्ययनः[2]।

(८) अप। तक, मर्यादा अर्थ में—**अप त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः**, त्रिगर्तदेश तक (पर त्रिगर्त में नहीं) मेघ बरसा। **अपपरी वर्जने** (१.४.८७) से कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो कर उस के योग में—**पञ्चम्यपाङ्परिभिः** (२.३.१०) से पञ्चमी हो जाती है।

(९) उप। १. हीन, निम्न—**उप हरिं सुराः** (सि० कौ०), देवता हरि से निम्नकोटि के हैं। **शक्रादय उपाच्युतम्**(बोपदेव), इन्द्र आदि भगवान् विष्णु से निम्नस्तर के हैं। २. अधिक—**उप परार्धे हरेर्गुणाः** (सि० कौ०), हरि के गुण परार्धसंख्या से भी अधिक हैं। **यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी** (२.३.९) इस सूत्र से अधिक अर्थ के वाचक उप के योग में सप्तमी विभक्ति हो जाती है।

(१०) अति। १. अतिशय, आधिक्य—**अतिदानाद् बलिर्बद्धो नष्टो मानात् सुयोधनः। विनष्टो रावणो लौल्याद् अति सर्वत्र वर्जयेत्**(चाणक्य०)। नातिदूरे=बहुत दूर नहीं=निकट। २. अतिक्रमण में—**अति देवांस्ते मनुजाः परार्थे ये तनुत्यजः**(व्या० च०), वे मनुष्य देवताओं का अतिक्रमण कर जाते हैं जो दूसरों के लिये प्राण देते हैं। **अति देवान् कृष्णः** (सि० कौ०)। **श्रिया समानान् अति सर्वान् स्याम्** (अथर्व० ११.१.२१), मैं लक्ष्मी में समान लोगों से आगे बढ़ जाऊँ। **अतिरतिक्रमणे च**(१.४.९४) से कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो कर उस के योग में द्वितीया विभक्ति हो जाती है।

अब तद्धितान्त अव्ययों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—**(३६८) तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः ।१।१।३७।।**

यस्मात् सर्वा विभक्तिर्नोत्पद्यते स तद्धितान्तोऽव्ययं स्यात् ।।

अर्थः—जिस तद्धितान्त से वचनत्रयात्मिका सब विभक्तियां उत्पन्न नहीं हो सकतीं वह अव्ययसञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—तद्धितः ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। असर्वविभक्तिः ।१।१। **अव्ययम्**

---

१. प्रतिनिधि और प्रतिदान में प्रति की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो कर इस के योग में पञ्चमी हो जाती है। देखें इस व्याख्या का विभक्त्यर्थपरिशिष्ट (३८, ३९)।

२. **पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या** (वा० ६१) इस वार्त्तिक से नित्यसमास हो जाता है अतः लौकिकविग्रह में 'परि' का प्रयोग नहीं हो सकता।

।१।१। (**स्वरादिनिपातमव्ययम्** से)। समासः—नोत्पद्यन्ते सर्वा वचनत्रयात्मिका[1] विभक्तयो यस्मात् सोऽसर्वविभक्तिः, बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(असर्वविभक्तिः) जिस से वचनत्रयात्मिका सम्पूर्ण विभक्तियां उत्पन्न नहीं हो सकतीं वह (तद्धितः=तद्धितान्तः[2]) तद्धितान्त (च) भी (अव्ययम्) अव्ययसंज्ञक होता है।

यथा—अतः (इस से) इस तद्धितान्त से सब विभक्तियां उत्पन्न नहीं हो सकतीं, अर्थात् 'इस से को, इस से द्वारा, इस से के लिये' इत्यादि विभक्तियों वाला व्यवहार यहां सम्भव नहीं हो सकता। इसलिये यह अव्ययसंज्ञक है। अत एव—अत्रतः, तत्रतः, कुत्रतः आदि प्रयोग ठीक नहीं।

प्रशस्तं पचतीति—पचतिरूपम् [**प्रशंसायां रूपप्** (५.३.६६)], ईषद् असम्पूर्ण पचतीति पचतिकल्पम् [**ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः** (५.३.६७)]। यहां इन तद्धितान्तों से भी वचनत्रयात्मिका सब विभक्तियां उत्पन्न नहीं हो सकतीं अतः इन की भी अव्ययसंज्ञा हो कर सुँप् का लुक् प्राप्त होता है—जो अत्यन्त अनिष्ट है। किञ्च वचनत्रयात्मिका सब विभक्तियां तो 'उभय' शब्द से भी उत्पन्न नहीं होतीं और यह तद्धितान्त भी है अतः इस की भी अव्ययसंज्ञा हो कर सुँब्लुक् आदि दोष प्राप्त होते हैं। इस पर उन उन तद्धितप्रत्ययों का परिगणन करते हैं जिन के अन्त में आने से अव्ययसंज्ञा होती है[3]।

[लघु०] परिगणनं कर्तव्यम्। तसिँलादयः प्राक्पाशपः। शस्प्रभृतयः प्राक् समासान्तेभ्यः। अम्। आम्। कृत्वोऽर्थाः। तसि-वसी। ना-नाञौ। एतदन्तमव्ययम्। अत इत्यादि॥

अर्थः—उन तद्धित प्रत्ययों का परिगणन करना चाहिये—

[क] 'तसिँल्' से ले कर 'पाशप्' के पूर्व तक के सब प्रत्यय।

[ख] 'शस्' से ले कर समासान्तों के पूर्व तक के सब प्रत्यय।

[ग] 'अम्' और 'आम्' प्रत्यय।

[घ] 'कृत्वसुँच्' तथा उस के अर्थ वाले अन्य प्रत्यय।

---

१. **एकवचनमुत्सर्गतः करिष्यते**—इस महाभाष्य के कथन से सब विभक्तियों का एकवचन तो सब शब्दों से स्वतः सिद्ध है ही, अतः 'असर्वविभक्तिः' यह कथन व्यर्थ हो जाता है। इसलिये यहां इस का आशय यह समझना चाहिये कि जिस तद्धितान्त से सब विभक्तियों के सब वचनों की उत्पत्ति न हो उस की अव्ययसंज्ञा होती है।

२. केवलस्य तद्धितस्य प्रयोगाभावेन फलाभावात् संज्ञाविधावपि तदन्तविधिः।

३. यहां यह ध्यान रहे कि इस परिगणन के बिना दोषनिवृत्ति असम्भव है, अतः यह **तद्धितश्चासर्वविभक्तिः** (३६८) सूत्र व्यर्थ सा है। अत एव प्राचीन वैयाकरणों ने इस परिगणन को स्वरादिगण में सम्मिलित कर दिया है। देखें काशिकावृत्ति (१.१.३६)।

[ङ] 'तसिँ' और 'वतिँ' प्रत्यय।

[च] 'ना' और 'नाञ्' प्रत्यय।

ये तद्धितप्रत्यय जिन के अन्त में हों उन की अव्ययसंज्ञा होती है। यथा—'अतः' (यहां एतद् शब्द से तसिँल् प्रत्यय किया गया है)।

व्याख्या—उपर्युक्त सब प्रत्यय अष्टाध्यायी के क्रम से कहे गये हैं। जिन को अष्टाध्यायी का सूत्रपाठ कण्ठस्थ है उन के लिये यह सब समझना अत्यन्त सुकर है। हम यहां इन प्रत्ययों का ससूत्र सोदाहरण विवेचन प्रस्तुत करते हैं—

[क] तसिँलादयः प्राक् पाशपः ॥

(तसिँल् से लेकर पाशप् के पूर्व तक के सब प्रत्यय)

(तसिँल्)—[**पञ्चम्यास्तसिँल्** (५.३.७), **पर्यभिभ्यां च** (५.३.९)]।

इतः (स्)[1]=इस से, इस कारण से। **तस्मादितो मयान्यत्र गन्तव्यं कानने क्वचित्** (कथासरित्०)।

ततः (स्)=उस से, उस कारण से। इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः।

अतः (स्)=इस से, इस कारण से। **अतः परीक्ष्य कर्तव्यं विशेषात् सङ्गतं रहः** (शाकुन्तल० ५.२४)। **अतोऽहम्ब्रवीमि** (पञ्च० १)।

कुतः (स्)=किस से, किस कारण से, कहां से। **कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्** (गीता० २.२)।

यतः (स्)=जिस से, जिस कारण से, जहां से। **यतो जातानि भुवनानि विश्वा** (श्वेता० ४.४)। **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते** (तै० उप० ३.१)।

सर्वतः (स्)=सब ओर से, चहुं ओर से। **सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षि-शिरोमुखम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति** (गीता० १३.१३)। सर्वतो नगरं प्राकारः।

अन्यतः (स्)=अन्य से। **तीर्थोदकं च वह्निश्च नान्यतः शुद्धिमर्हतः** (उत्तर-राम० १.१३)।

परितः (स्)=चहुं ओर से। **वेदीं हुताशनवतीं परितः प्रकीर्णाश्छायाश्चरन्ति बहुधा भयमादधानाः** (शाकुन्तल० ३.२४)। परितः कृष्णं गोपाः।

अभितः (स्)=चारों ओर, दोनों ओर, निकट। **परिजनो यथाव्यापारं राजानमभितः स्थितः** (मालविका० १)। **पादपैः पत्रपुष्पाणि सृजद्भिरभितो नदीम्** (रामायण० २.९५.८)। **ततो राजाऽब्रवीद् वाक्यं सुमन्त्रमभितः स्थितम्** (रामायण)।

उभयतः (स्)=दोनों ओर। उभयतो मार्गं वृक्षाः।

नोट—उभयतः, सर्वतः, परितः, अभितः—इन के योग में द्वितीया विभक्ति का विधान है। देखें—इसी व्याख्या के तृतीयभाग का विभक्त्यर्थपरिशिष्ट (१०, ११)।

---

१. 'इतः' आदि ये तद्धितान्त अव्यय प्रायः सब प्रसिद्ध हैं अतः इन पर * यह चिह्न अङ्कित नहीं किया है।

(त्रल्)—[**सप्तम्यास्त्रल् (५.३.१०)**]।

सर्वत्र=सब जगह, सब में, सब स्थानों पर। **साधवो न हि सर्वत्र चन्दनं न वने वने** (चाणक्य०)। **अति सर्वत्र वर्जयेत्** (चाणक्य०)।

कुत्र=कहां, कहां पर। **कुत्र नु खलु गत आर्यवसन्तकः**(स्वप्न० ४)। **शङ्काभिः सर्वमाक्रान्तमन्नं पानं च भूतले। प्रवृत्तिः कुत्र कर्तव्या जीवितव्यं कथं नु वा** (हितोप० १.२४)।

अन्यत्र=अन्य जगह, दूसरी जगह पर। **विना मलयमन्यत्र चन्दनं न प्ररोहति** (पञ्च० १.४१)।

अत्र=यहां, यहां पर, इस पर, इस में। **यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः**(पञ्च० १.२१७)। **तन्मद्रं न कृतं यदत्र मारात्मके विश्वासः कृतः**(हितोप० १)।

यत्र=जहां, जिस में। तत्र=वहां, उस में। **यत्र विद्वज्जनो नास्ति श्लाघ्यस्तत्राल्पधीरपि। निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते** (हितोप० १.६९)[1]।

एकत्र=एक जगह पर, एक में। **घृतकुम्भसमा नारी तप्ताङ्गारसमः पुमान्। तस्माद् घृतं च वह्निञ्च नैकत्र स्थापयेद् बुधः** (हितोप० १.११८)।

अमुत्र=उस में, परलोक में। **अनेनैवार्भकाः सर्वे नगरेऽमुत्र भक्षिताः** (कथासरित्०)। **नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः** (मनु० ४.२३९)। **प्रेत्यामुत्र भवान्तरे**— इत्यमरः।

बहुत्र=बहुतों में, बहुत स्थानों में। पूर्वत्र=पूर्व में। उत्तरत्र=अगले में। उभयत्र (दोनों में) इत्यादि।

(ह)—[**इदमो हः (५.३.११), वा ह च च्छन्दसि (५.३.१३)**]।

इह=यहां, इस में। **इह लोके हि धनिनां परोऽपि स्वजनायते**(पञ्च० १.५)। **अत्युत्कटैः पापपुण्यैरिहैव फलमश्नुते** (हितोप० १.८३)।

कुह=कहां। वेद में ही प्रयोग होता है। **यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरम्** (ऋ० २.१२.५)।

(अत्)—[**किमोऽत् (५.३.१२)**]।

क्व=कहां, किस स्थान पर। **क्व गताः पृथिवीपालाः ससैन्यबलवाहनाः**।

---

१. 'अत्र' और 'तत्र' के आगे भवत् (आप) शब्द का प्रयोग 'पूज्य, आदरणीय' आदि अर्थ को प्रकट करने के लिये किया जाता है। **पूज्ये तत्रभवानत्रभवांश्च भगवानपि**—इत्यभिधानचिन्तामणौ हेमचन्द्रः। जब आदरणीय पुरुष या स्त्री, वक्ता के सामने या निकट हो तो 'अत्रभवान्, अत्रभवती' आदि का, जब दूर हो तो 'तत्रभवान्, तत्रभवती' आदि का प्रयोग होता है। यथा— **अत्रभवान् प्रकृतिमापन्नः** (शाकुन्तल० २)। **वृक्षसेचनादेव परिश्रान्तामत्रभवतीं लक्षये** (शाकुन्तल० १)। **असाधुदर्शी तत्रभवान् काश्यपः, य इमामाश्रमधर्मे नियुङ्क्ते**(शाकुन्तल० १)।

वियोगसाक्षिणी येषां भूमिरद्यापि तिष्ठति (हितोप० ४.६४)। **क्व वयं क्व परोक्षमन्मथो मृगशावैः सममेधितो जनः** (शाकुन्तल० २.१६)। **क्व सूर्यप्रभवो वंशः** (रघु० १.२)। क्वचित्=कहीं पर, कभी, किसी दिन। **क्वचित् पृथ्वीशय्यः क्वचिदपि च पर्यङ्कशयनः** (नीति० ७३)। **कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति** (देवीक्षमा० १)। इसी प्रकार—क्वापि=कभी, कहीं पर।

(दा)—[**सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा (५.३.१५)**]।

सर्वदा=हमेशा। **स्वजनोऽपि दरिद्राणां सर्वदा दुर्जनायते** (पञ्च० १.५)।

सदा=हमेशा। 'दा' प्रत्यय के परे रहते **सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि** (१२०६) से 'सर्व' को वैकल्पिक 'स' आदेश हो जाता है। **सदाभिमानैकधना हि मानिनः** (माघ० १.६७)।

एकदा=एक बार, कभी। **अहमेकदा दक्षिणारण्ये चरन्नपश्यम्** (हितोप० १)।

अन्यदा=अन्य समय में। **अन्यदा भूषणं पुंसां क्षमा लज्जेव योषिताम्। पराक्रमः परिभवे वैयात्यं सुरतेष्विव** (माघ० २.४४)।

कदा=कब, किस समय। **परदारपरद्रव्यपरद्रोहपराङ्मुखः। गङ्गा ब्रूते कदागत्य मामयं पावयिष्यति** (सुभाषित०)। कदागुरोकसो भवन्तः ?। कदाचित्, कदाचन, कदापि=कभी। **कदाचित् कुपिता माता न कदाचिद् हरीतकी** (सुभाषित०)। **आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कदाचन**। (तै० उप० २.४)।

यदा=जब। **यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवम्** (नीति० ७)।

तदा=तब। **यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्** (गीता० ४.७)।

(र्हिल्)—[**इदमो र्हिल् (५.३.१६), अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम् (५.३.२१)**]।

एतर्हि=इस समय, अब। **भवन्तमेतर्हि मनस्विगर्हिते विवर्त्तमानं नरदेव वर्त्मनि। कथं न मन्युर्ज्वलयत्युदीरितः शमीतरुं शुष्कमिवाग्निरुच्छिखः** (किरात० १.३२)।

कर्हि=कब। वेद में प्रायः प्रसिद्ध है। लोक में—कर्हिचित्=कभी भी। **अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्** (मनु० २.४)।

यर्हि=जब। तर्हि=तब। **सुषिरो वै पुरुषः स वै तर्ह्येव सर्वो यर्ह्याशितः** (मैत्रा० सं० ३.६.२), मनुष्य निश्चय ही भीतर से खोखला है, वह तभी पूर्ण हो जाता है जब खा कर तृप्त हो जाता है।

(धुना)—[**अधुना (५.३.१७)**]।

अधुना=अब, इस समय। **पुरा यत्र स्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरिताम्** (उत्तरराम० २.२७)।

(दानीम्)—[**दानीञ्च (५.३.१८), तदो दा च (५.३.१९)**]।

इदानीम्=अब। तदानीम्=तब। **वत्से प्रतिष्ठस्वेदानीम्** (शाकुन्तल० ४)। **नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्** (ऋ० १०.१२९.१)।

(सद्यस् आदि निपातन)—[**सद्यःपरुत्परार्यैषमःपरेद्यव्यद्यपूर्वेद्युरन्येद्युरन्यतरेद्यु-रितरेद्युरपरेद्युरधरेद्युरुभयेद्युरुत्तरेद्युः** (५.३.२२), **द्युश्चोभयाद्वक्तव्यः** (वा०)]।

सद्यः (स्) =समानेऽहनि, उसी दिन, उसी समय, फौरन, तत्काल। **सद्यो बलहरा नारी सद्यो बलकरं पयः** (चाणक्य०)। **नाऽधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव** (मनु० ४.७२)।

परुत् =पिछले वर्ष, गत वर्ष में। परुज्जातस्सुतस्तव।

परारि=गत वर्ष से पूर्व वर्ष में। परारि वृष्टिः समभूदपूर्वा।

ऐषमः (स्) =इस वर्ष में। महार्घता वृद्धिमुपागतैषमः, इस वर्ष महंगाई बढ़ गई है।

परेद्यवि=परले दिन, परसों। स तु गन्ता परेद्यवि, वह तो परसों जायेगा।

अद्य=इसी दिन, आज। **श्वःकार्यमद्य कुर्वीत** (महाभारत० १२.३२१.७३)।

पूर्वेद्युः (स्) =पूर्व दिन, गत दिन, पिछले दिन। **प्रातःकृतार्थानि यथा विरेजु-स्तथा न पूर्वेद्युरलङ्कृतानि** (भट्टि० ११.२१)।

अन्येद्युः (स्) =अन्य दिन। **अन्येद्युरात्मानुचरस्य भावं जिज्ञासमाना मुनिहोम-धेनुः** (रघु० २.२६)।

इतरेद्युः (स्) =अन्य दिन। अपरेद्युः (स्) =अन्य दिन। **ततोऽपरेद्युस्तं देशमा-जगाम स वीर्यवान्** (रामायण० १.११.२४)। अधरेद्युः (स्) =परले दिन, परसों। उभयेद्युः (स्) =दोनों दिनों में। उत्तरेद्युः (स्) =अगले दिन। उभयद्युः (स्) =दोनों दिनों में।

(थाल्)—[**प्रकारवचने थाल्** (५.३.२३)]।

यथा=जैसे। तथा=वैसे। **यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति। तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति** (मनु० २.२१८)। **यथा नदीनदाः सर्वे सागरे यान्ति संस्थितिम्। तथैवाश्रमिणः सर्वे गृहस्थे यान्ति संस्थितिम्** (मनु० ६.९०)।

सर्वथा=सब प्रकार से, सब तरह से। **सर्वथा व्यवहर्तव्यं कुतो ह्यवचनीयता। यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः** (उत्तरराम० ५)।

अन्यथा=अन्य प्रकार से, विपरीत। **यदभावि न तद्भावि भावि चेन्न तदन्यथा। इति चिन्ताविषघ्नोऽयमगदः किं न पीयते** (हितोप० प्रस्तावना ३०)।

उभयथा=दोनों प्रकार से, दोनों अवस्थाओं में। **उभयथाऽपि घटते** (विक्रमो० ३)। **छन्दस्युभयथा** (३.४.११७)।

(थमुँ)—[**इदमस्थमुँः** (५.३.२४), **किमश्च** (५.३.२५)]।

इत्थम्=इस तरह, इस प्रकार। **इत्थममुं विलपन्तममुञ्चद् दीनदयालुतया-ऽवनिपालः** (नैषध० १.१.४३)।

कथम्=कैसे किस तरह, किस प्रकार। **कथं मारात्मके त्वयि विश्वासः?** (हितोप० १)। **कथं नु शक्योऽनुनयो महर्षेर्विश्राणनाच्चान्यपयस्विनीनाम्** (रघु० २.५४)। कथमपि=किसी तरह, बड़ी कठिनता से। **तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः**

कौतुकाधानहेतोः (मेघ० १.३) । **कथमपि भुवनेऽस्मिन् तादृशाः सम्भवन्ति** (मालती० २.६)। कथं कथमपि=बड़ी कठिनता से। **कथं कथमप्युत्थाय चलितः** (पञ्च० १) । कथञ्चित्, कथञ्चन=किसी तरह, बड़ी मुश्किल से। **कथञ्चिदीशा मनसां बभूवुः** (कुमार० ३.३४) । **न लोकवृत्तं वर्त्तेत वृत्तिहेतोः कथञ्चन** (मनु० ४.११) ।

(था)—[**था हेतौ च च्छन्दसि** (५.३.२६)] ।

कथा=किस कारण से। वेद में ही प्रयोग होता है। **कथा विधात्यप्रचेताः** (ऋ० १.१२०.१), अज्ञानी कैसे कार्य कर सकता है?

(अस्ताति)—**दिक्छब्देभ्यः सप्तमी-पञ्चमी-प्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः** (५.३.२७) ।

पुरस्तात्=सामने, पूर्व में, पूर्व से, पूर्व (दिशा, देश या काल), **गुरोरपीदं धनमाहिताग्नेर्नश्यत् पुरस्तादनुपेक्षणीयम्** (रघु० २.४४) । **रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत् पुरस्तात्** (मेघ० १.१५)। **पुरस्तादपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्** (परिभाषा)। इसी प्रकार—

परस्तात्=आगे, परे, दूसरी ओर। **वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्** (श्वेता० ३.४) । **परस्ताज्ज्ञायत एव** (शाकुन्तल० १) ।

अधस्तात्=नीचे, नीचे की ओर। **धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण** (सांख्यका० ४४) । **तस्याधस्ताद् वयमपि रतास्तेषु पर्णोटजेषु** (उत्तरराम० २.२५) ।

(अतसुँच्)—[**दक्षिणोत्तराभ्यामतसुँच्** (५.३.२८), **विभाषा परावराभ्याम्** (५.३.२९)] ।

दक्षिणतः (स्)=दक्षिण में, दक्षिण से, दक्षिण (दिशा और देश केवल दो के लिये)। **उत्तराहि वसन् रामः समुद्राद् रक्षसां पुरीम् । अवैल्लवणतोयस्य स्थितां दक्षिणतः कथम्** (भट्टि० ८.१०७)। इसी प्रकार—उत्तरतः=उत्तर में, उत्तर से, उत्तर। परतः=परे, पर से, पर। अवरतः=पीछे से। ये दिशा, देश और काल तीनों के लिये प्रयुक्त होते हैं।

(अस्तातेर्लुक्)—[**अञ्चेर्लुक्** (५.३.३०)] ।

प्राक्=पहले, आगे, पूर्व में, पूर्व से, पूर्व (दिशा, देश या काल)। **प्राक् पादयोः पतति खादति पृष्ठमांसम्** (हितोप० १.८१) । **प्राङ् नाभिवर्धनात् पुंसो जातकर्म विधीयते** (मनु० २.२९) । **प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः प्राङ्मुख उपविश्य महता यत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म, तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुं किम्पुनरियता सूत्रेण** (महाभाष्य १.१.१) । **प्राग्गामि पुण्यं नृणाम्** (हेमचन्द्र), मनुष्यों का पुण्य आगे चलता है। इसी प्रकार प्रत्यक्=विपरीत दिशा। आदि शब्द जानने चाहियें।

(रिल्, रिष्टात्)—[**उपर्युपरिष्टात्** (५.३.३१)] ।

उपरि=ऊपर (दिशा, देश, काल) । **अवाङ्मुखस्योपरि पुष्पवृष्टिः पपात**

विद्याधरहस्तमुक्ता (रघु० २.६०)। उपर्युपरि=ऊपर ऊपर। **उपर्युपरि पश्यन्तः सर्व एव दरिद्रति** (हितोप० २.२)।

उपरिष्टात्=ऊपर (दिशा, देश, काल,)। **संजातव्यर्थपक्षाः परहितकरणे नोपरिष्टान्न चाधः** (वैराग्य० ११०)। **इत्युपरिष्टाद् व्याख्यातम्।**

(आति)—[**पश्चात्** (५.३.३२)]।

पश्चात्=पीछे, अस्तात्यर्थे। **लघ्वी पुरा वृद्धिमती च पश्चात्** (नीति० ४६)। **गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः** (शाकुन्तल० १.३३)। **पश्चात्पुच्छं वहति विपुलं तच्च धूनोत्यजस्रम्** (उत्तरराम० ४.२६)। **पश्चात्तापः।**

(अ, आ,)—[**पश्च पश्चा च च्छन्दसि** (५.३.३३)]।

पश्च=पीछे। पश्चा=पीछे। वेद में ही प्रयुक्त होते हैं।

(आतिँ)—[**उत्तराधरदक्षिणादातिः** (५.३.३४)]।

उत्तरात्, अधरात्, दक्षिणात्। अस्ताति वाला अर्थ। उत्तराद् वसति (उत्तरस्यां दिशि वसतीत्यर्थः)। उत्तरादागतः। उत्तराद् रमणीयम् (काशिका)। इसी प्रकार —अधराद्वसति, दक्षिणाद्वसति आदि।

(एनप्)—[**एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः** (५.३.३५)]।

उत्तरेण, अधरेण, दक्षिणेन। सब जगह 'अस्ताति' वाला अर्थ, केवल पञ्चमी का ग्रहण नहीं। इस के योग में **एनपा द्वितीया** (२.३.३१) द्वारा द्वितीया विभक्ति का विधान है—**तत्रागारं धनपतिगृहान् उत्तरेणास्मदीयम्** (मेघ० २.१२), हमारा घर कुबेर के भवन के निकट उत्तर में है। **दण्डकां दक्षिणेनाहं सरितोऽद्रीन् वनानि च** (भट्टि० ८.१०८)। **उत्तरेण स्रवन्तीम्** (मालती० ९.२४)। **दक्षिणेन वृक्षवाटिकाम् आलाप इव श्रूयते** (शाकुन्तल० १)।

(आच्)—[**दक्षिणादाच्** (५.३.३६)]।

दक्षिणा=दक्षिण में, आदि। अस्तात्यर्थे। दक्षिणा ग्रामात् (सि० कौ०), ग्राम के दक्षिण में। आच्प्रत्ययान्त के योग में **अन्यारादितरर्तेदिक्छब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते** (२.३.२९) सूत्र से पञ्चमी विभक्ति हो जाती है।

(आहि)—[**आहि च दूरे** (५.३.३७), **उत्तराच्च** (५.३.३८)]।

दक्षिणाहि=दक्षिण में। उत्तराहि=उत्तर में। अस्तात्यर्थे। दक्षिणाहि ग्रामात्, उत्तराहि ग्रामात् (सि० कौ०), ग्राम से दूर दक्षिण में, ग्राम से दूर उत्तर में। इस के योग में भी पूर्ववत् पञ्चमी विभक्ति होती है। **उत्तराहि वसन् रामः समुद्रात्** (भट्टि० ८.१०७), समुद्र से दूर उत्तर में रहते हुए राम ने।

(असिँ)—[**पूर्वाधरावराणामसिँ पुरधवश्चैषाम्** (५.३.३९)]।

पुरः (स्)=आगे, सामने, पूर्व में, पूर्व से, पूर्व (अस्तात्यर्थे)। **अमुं पुरः पश्यसि देवदारुम्** (रघु० २.३६)। **तव प्रसादस्य पुरस्तु सम्पदः** (शाकुन्तल० ७.३०); **तस्य स्थित्वा कथमपि पुरः** (मेघ० १.३)।

अधः (स्) = नीचे, नीचे में, नीचे से (अस्तात्यर्थे)। इस का पहले स्वरादियों में व्याख्यान किया जा चुका है।

अवः (स्) = न्यून, निम्न, बाह्य आदि (अस्तात्यर्थे)। इस का भी पहले स्वरादियों में व्याख्यान कर चुके हैं।

(धा)—[**सङ्ख्याया विधार्थे धा** (५.३.४२)]।

एकधा = एक प्रकार से। न एकधा = अनेकधा, नैकधा। **जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा** (गीता० ११.१३)। **अधुनीत खगः स नैकधा** (नैषध० २.२)।

द्विधा = दो प्रकार, दो प्रकार से। **द्विधा कृत्वाऽऽत्मनो देहमर्धेन पुरुषोऽभवत्** (मनु० १.३२)। **द्विधा भिन्नाः शिखण्डिभिः** (रघु० १.३९)।

त्रिधा = तीन प्रकार से। **एकैव मूर्त्तिर्बिभिदे त्रिधा सा** (कुमार० ७.४४)।

चतुर्धा = चार प्रकार से। **चतुर्धा विभजात्मानम् आत्मनैव दुरासदे** (रामायण० ७.८६.११)। इसी प्रकार—पञ्चधा, षड्धा, षोढा, सप्तधा, अष्टधा, नवधा, बहुधा आदि।

(ध्यमुँञ्)—[**एकाद्धो ध्यमुँञन्यतरस्याम्** (५.३.४४)]।

ऐकध्यम् = एक बार। **ऐकध्यं भुङ्क्ते** (काशिका)।

(धमुँञ्)—[**द्वित्र्योश्च धमुँञ्** (५.३.४५)]।

द्वैधम् = दो प्रकार। **श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात् तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ** (मनु० २.१४)।

त्रैधम् = तीन प्रकार। **त्रैधमेष भजति त्रिभिर्गुणैः** (माघ० १४.६१)।

(एधाच्)—[**एधाच्च** (५.३.४६)]।

द्वेधा = दो प्रकार से। **वेधां द्वेधा भ्रमं चक्रे कान्तासु कनकेषु च। तासु तेष्वप्यनासक्तः साक्षाद् भर्गो नराकृतिः** (कुवलया०)।

त्रेधा = तीन प्रकार से। **त्रेधा विभज्य रचितां वहसेऽद्य वेणीम्** (चम्पूभारत ६.३०)। **तुभ्यं त्रेधा स्थितात्मने** (रघु० १०.१६)।

अब इस के आगे **याप्ये पाशप्** (५.३.४७) सूत्र से पाशप् प्रत्यय का विधान किया जाता है। **तसिँलादयः प्राक् पाशपः**—में पाशप् से पूर्व का ग्रहण होने से पाशप् प्रत्ययान्त की अव्ययसंज्ञा नहीं होती। अत एव—याप्यो (निन्दितो) वैयाकरणः = 'वैयाकरणपाशः' इत्यादियों में सुँप् का लुक् नहीं होता, क्योंकि सुँब्लुक् तो अव्यय से परे ही हुआ करता है। देखें—**अव्ययादाप्सुँपः** (३७२)।

[ख] शस्प्रभृतयः प्राक् समासान्तेभ्यः॥

(शस् से ले कर समासान्तों से पूर्व तक के प्रत्यय)

(शस्)—[**बह्वल्पार्थाच्छस् कारकादन्यतरस्याम्** (५.४.४२)]।

बहुशः (स्) = बहुतों को, बहुतों से, बहुतों के लिये आदि। प्रत्येक कारक में प्रयोग होता है। बहूनि ददातीति बहुशो ददाति। बहुभिर्ददातीति बहुशो ददाति। बहुभ्यो

ददातीति बहुशो ददाति। इसी तरह अन्य कारकों में भी समझ लेना चाहिये। एवम्—अल्पशः। भूरिशः। स्तोकशः। आदि। एकशः, द्विशः, त्रिशः, शतशः, सहस्रशः—आदि में **सङ्ख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्** (५.४.४३) द्वारा वीप्सा में शस् प्रत्यय होता है। एकशो ददाति—एक एक करके देता है। द्विशो ददाति—दो दो देता है। न एकशः—अनेकशः=अनेक बार, **अनेकशो निर्जितराजकस्त्वम्** (भट्टि० २.५२)। इसी प्रकार—पादशो ददाति, कार्षापणशो ददाति। आदि।

(तसिँ)—[**प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः** (५.४.४४)]।

प्रद्युम्नो वासुदेवतः प्रति, प्रद्युम्न वासुदेव का प्रतिनिधि है। **अभिमन्युरर्जुनतः प्रति**, अभिमन्यु अर्जुन का प्रतिनिधि है। कर्मप्रवचनीय 'प्रति' के योग में जो पीछे (पृष्ठ ५६४ पर) पञ्चमी कह चुके हैं उसी का यहां ग्रहण है।

(तसिँ)—[**आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्** (वा०)]।

इस वार्त्तिकद्वारा सब विभक्तियों के अर्थ में तसिँ प्रत्यय होता है अतः इसे 'सार्वविभक्तिकस्तसिः' कहा जाता है। यथा—आदौ इति आदितः=आदि में। **तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्** (१.२.३२), आदित आदावित्यर्थः। मध्य इति मध्यतः। **अक्षीणवृत्तो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः** (महाभारते यक्षोपाख्याने), वृत्तेनेति वृत्ततः। **विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्त्रियाणां तु वीर्यतः** (मनु० २.१५५), ज्ञानेनेति ज्ञानतः, वीर्येणेति वीर्यतः। **अस्य शिशोर्मातरं नामतः पृच्छामि** (शाकुन्तल० ७), नाम्ना इति नामतः।

(तसिँ)—[**अपादाने चाहीयरुहोः** (५.४.४५)]।

चौरादिति चौरतो बिभेति। अध्ययनादिति अध्ययनतः पराजयते।

(तसिँ)—[**अतिग्रहाव्यथनक्षेपेष्वकर्तरि तृतीयायाः** (५.४.४६)]।

वृत्ततोऽतिगृह्यते। चारित्रतोऽतिगृह्यते। अन्यानतिक्रम्य वृत्तेन चारित्रेण वा गृह्यत इत्यर्थः। वृत्ततो न व्यथते। वृत्तेन न चलतीत्यर्थः। वृत्ततः क्षिप्तः। वृत्तेन निन्दित इत्यर्थः। इत्यादि।

(च्विँ)—[**कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः** (५.४.५०)]।

अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यते तं करोतीति शुक्ली[1] करोति। शुक्ली भवति। शुक्ली स्यात्। **अस्मद्विना मा भृशम् उन्मनी[2] भूः** (किरात० ३.३९)।

(साति़ँ)—[**विभाषा साति कार्त्स्न्ये** (५.४.५२) आदि]।

कृत्स्नम् अनुदकम् उदकं सम्पद्यत इति उदकी भवति, उदकसाद् भवतीति वा। वर्षासु कृत्स्नं लवणपिण्डमुदकसाद् भवति। अग्नी[3] भवति, अग्निसाद् भवति शस्त्रम्।

---

१. च्वौ, तस्य सर्वापहारलोपे, प्रत्ययलक्षणेन तमाश्रित्य **अस्य च्वौ** (१२४२) इति अकारस्य ईकारः। शुक्लीति पृथक् पदमव्ययम्। अव्ययत्वात् सुंपो लुक्।

२. अनुन्मना उन्मना भवतीति विग्रहः। च्वौ सर्वापहारलोपे, **अरुर्मनश्चक्षुश्चेतोरहोरजसां लोपश्च** (५.४.५१) इति सकारलोपे, अस्य ईत्वे च कृते रूपसिद्धिः।

३. च्व्यन्तमेतद्रूपम्। **च्वौ च** (१२४५) इति दीर्घः।

(त्रा)—[**देये त्रा च** (५.४.५५), **तदधीनवचने** (५.४.५४) आदि]।

ब्राह्मणत्रा करोति। ब्राह्मणाधीनं देयं करोतीत्यर्थः। राजसात् करोति। राजाधीनं करोतीत्यर्थः। **राजा स यज्वा विबुधव्रजत्रा कृत्वाध्वराज्योपमयैव राज्यम्** (नैषध० ३.२४)।

(डाच्)—[**अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच्** (५.४.५७) इत्यादि]।

पटपटा करोति (पटत् इस प्रकार की ध्वनि करता है)। दमदमा करोति। इन की सिद्धि इस व्याख्या के चतुर्थभागस्थ (१२४६) सूत्र पर देखें।

इस के बाद समासान्त आरम्भ हो जाते हैं। तदन्तों की अव्ययसंज्ञा नहीं होती। यथा—व्यूढोरस्कः।

[ग] अम्। आम्—अम् और आम् प्रत्यय।

(अमुँ)—[**अमु च च्छन्दसि** (५.४.१२)]।

प्रतरं न आयुः (ऋ० ४.१२.६)। वेद में ही प्रयोग होता है।

(आमुँ)—[**किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे** (५.४.११)]।

किन्तराम्। किन्तमाम्। पचतितराम्। पचतितमाम्। इस का विवेचन इस व्याख्या के चतुर्थभागस्थ (१२२०) सूत्र पर देखें।

[घ] कृत्वोऽर्थाः—कृत्वसुँच् तथा उस के अर्थ वाले प्रत्यय।

(कृत्वसुँच्)—[**संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुँच्** (५.४.१७)]।

पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते (पांच बार खाता है)। सप्तकृत्वः=सात बार।

(सुँच्)—[**द्वित्रिचतुर्भ्यः सुँच्** (५.४.१८)]।

द्विर्भुङ्क्ते (दो बार खाता है)। त्रिस्=तीन बार। चतुस्=चार बार। **त्रिराचमेदपः पूर्वं द्विः प्रमृज्यात्ततो मुखम्** (मनु० २.६०)।

(सुँच्)—[**एकस्य सकृच्च** (५.४.१९)]।

सकृत्[1]=एक बार। **सकृदंशो निपतति सकृत् कन्या प्रदीयते। सकृदाह ददानीति त्रीण्येतानि सतां सकृत्** (मनु० ९.४७)। न सकृत् असकृत्=बार बार। **असकृदेकरथेन तरस्विना** (रघु० ९.२३)।

(धा)—[**विभाषा बहोर्धाऽविप्रकृष्टकाले** (५.४.२०)]।

बहुधा=थोड़े २ अन्तर पर बहुत बार। **बहुधा दिवसस्य भुङ्क्ते** (काशिका)। **बहुकृत्वो दिवसस्य भुङ्क्ते** (काशिका)।

[ङ] तसिँ-वती—तसिँ और वतिँ प्रत्यय।

(तसिँ)—[**तेनैकदिक्** (४.३.११२), **तसिँश्च** (४.३.११३)]।

सुदामतः (स्)=जो सुदामन् पर्वत (या मेघ) की दिशा में हो। हिमवत्तः (स्)=जो हिमालय की दिशा में हो। पीलुमूलतः (स्)=जो पीलुमूल की दिशा में हो। ध्यान रहे कि यहां का तसिँ प्रत्यय पीछे शस्प्रभृति में आये तसिँप्रत्यय से नितान्त भिन्न है।

१. एकशब्दात्सुँचि एकस्य च सकृदादेशे संयोगान्तलोपे रूपसिद्धिः।

(वतिँ)—[**तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः** (५.१.११४)]।

ब्राह्मणेन तुल्यं वर्तत इति ब्राह्मणवद् वर्त्तते। ब्राह्मण जैसा व्यवहार करता है। **प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्** (चाणक्य०)। गुरुवद् गुरुपुत्रे वर्तितव्यम्। इसी प्रकार—यद्वत्=जैसे, तद्वत्=वैसे, यथावत्=ठीक तरह। आदि।

(वतिँ)—[**तत्र तस्येव** (५.१.११५)]।

मथुरायामिव स्रुघ्ने प्राकारः—मथुरावत् स्रुघ्ने प्राकारः। मथुरा में जैसे प्राकार है वैसे स्रुघ्न में है। यज्ञदत्तस्येव—यज्ञदत्तवद् देवदत्तस्य दन्ताः। यज्ञदत्त के दान्तों की तरह देवदत्त के दान्त हैं।

(वतिँ)—[**तदर्हम्** (५.१.११६)]।

राजानमर्हतीति—राजवदस्य पालनं क्रियताम्। ऋषिवदस्य समादरः कर्त्तव्यः।

[च] **ना-नाञौ**—ना और नाञ् प्रत्यय।

(ना, नाञ्)—[**विनञ्भ्यां ना-नाञौ न सह** (५.२.२७)]।

विना=बग़ैर। **विना मलयमन्यत्र चन्दनं न प्ररोहति** (पञ्च० १.४१)।

नाना=बग़ैर। **नाना नारीं निष्फला लोकयात्रा** (गणरत्न०)। इन दोनों का उल्लेख पीछे स्वरादिगण में हो चुका है। विशेष वक्तव्य वहीं देखें।

यहां पर तद्धितान्त अव्ययों का वर्णन समाप्त होता है। अब अग्रिम दो सूत्रों द्वारा कृदन्त अव्ययों को प्रस्तुत करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—**(३६९) कृन्मेजन्तः।१।१।३८॥**

कृद् यो मान्त एजन्तश्च तदन्तमव्ययं स्यात्। स्मारं स्मारम्। जीवसे। पिबध्यै॥

अर्थः—मकारान्त कृत्प्रत्यय या एजन्त कृत्प्रत्यय जिस के अन्त में हो उस की अव्ययसञ्ज्ञा हो जाती है।

व्याख्या—कृत्।१।१। मेजन्तः।१।१। अव्ययम्।१।१। (**स्वरादिनिपातमव्ययम्** से)। समासः—म् च एच् च—मेचौ, इतरेतरद्वन्द्वः। मेचौ अन्तौ यस्य स मेजन्तः, बहुव्रीहिसमासः। सौत्रमत्वात्कुत्वाभावः। ध्यान रहे कि केवल कृत्प्रत्यय का प्रयोग नहीं हो सकता अतः संज्ञाविधि में भी तदन्तविधि हो कर 'कृत्' से कृदन्त का ग्रहण होता है। अर्थः—(मेजन्तः) मकारान्त या एजन्त (कृत्=कृदन्तः) जो कृत्, वह जिस के अन्त में हो ऐसा शब्द (अव्ययम्) अव्ययसंज्ञक होता है।

णमुँल्, कमुँल्, खमुँञ्, तुमुँन्—ये चार प्रत्यय ही कृत्प्रत्ययों में मान्त होते हैं। इन के उदाहरण क्रमशः यथा—

णमुँल्—स्मारं स्मारम्। **स्मृ चिन्तायाम्** (भ्वा० प०) धातु से **आभीक्ष्ण्ये णमुँल् च** (८८५) सूत्रद्वारा णमुँल् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा **अचो ञ्णिति** (१८२) से वृद्धि और रपर करने से—स्मारम्। 'स्मारम्' यह कृदन्त है, इस के अन्त में णमुँल् (अम्) यह कृत्प्रत्यय किया गया है। अतः प्रकृतसूत्र से अव्ययसंज्ञा होने के कारण

कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकत्वेन उत्पन्न सुँप् का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हो जाता है। अब **नित्यवीप्सयोः** (८८६) से द्वित्व हो कर 'स्मारं स्मारम्' प्रयोग सिद्ध होता है। इसीप्रकार—ध्यायं ध्यायम्[1]। **ध्यायं ध्यायं परं ब्रह्म स्मारं स्मारं गुरोर्गिरः। सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यां कुर्मः प्रौढमनोरमाम्** (प्रौढमनोरमादौ), परब्रह्म का बार बार ध्यान कर तथा गुरुजी के वचनों का बार बार स्मरण कर मैं (भट्टोजिदीक्षित) सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्या प्रौढमनोरमा की रचना करता हूं।

कमुँल्—यह प्रत्यय वेद में ही प्रयुक्त होता है। **अग्निं वै देवा विभाजं नाशक्नुवन्** (मैत्रा० सं० १.६.४), विभाजम्=विभक्तुमित्यर्थः। यहां विपूर्वक भज् धातु से णमुँल् प्रत्यय किया गया है। **अपलुपं नाशक्नोत्** (मैत्रा० सं० १.६.५), अपलुपम्= अपलोप्तुमित्यर्थः। अपपूर्वक लुप् धातु से कमुँल् प्रत्यय किया गया है। विभाजम् और अपलुपम् दोनों के अन्त में मकारान्त कृत् है अतः इन की प्रकृतसूत्र से अव्ययसंज्ञा हो कर **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से सुँप् का लुक् हो जाता है।

खमुँञ्—चोरङ्कारम् आक्रोशति (तुम चोर हो—ऐसा कह कर गाली देता है)। यहां 'कृ' धातु से **कर्मण्याक्रोशे कृञः खमुँञ्** (३.४.२५) सूत्र द्वारा खमुँञ् प्रत्यय किया गया है। मकारान्त कृत् प्रत्यय अन्त में होने के कारण 'चोरङ्कारम्' की अव्ययसंज्ञा हो कर सुँब्लुक् हो जाता है।

तुमुँन्—पठितुम् (पढ़ने के लिये), भवितुम् (होने के लिये)। इन में **तुमुँण्वुलौ०** (८४९) आदि सूत्रों से तुमुँन् (तुम्) प्रत्यय किया जाता है। मकारान्त कृत् प्रत्यय अन्त में होने के कारण अव्ययसंज्ञा हो कर इन से परे सुँप् का लुक् हो जाता है। अनुवादोपयोगी तीन सौ से अधिक सार्थ तुमुँन्प्रत्ययान्तों का एक बृहत्संग्रह इस व्याख्या के तृतीयभागस्थ (८५०) सूत्र पर दिया गया है वहीं देखें।

ध्यान रहे कि णमुँल् आदि चारों कृत्प्रत्यय अनुबन्धों का लोप हो जाने से मकारान्त हो जाते हैं। यथा—णमुँल्=अम्, कमुँल्=अम्, खमुँञ्=अम्, तुमुँन् =तुम्।

कृत्प्रत्ययों में एजन्तप्रत्यय (एकारान्त, ओकारान्त, ऐकारान्त, औकारान्त) **तुमर्थे से-सेन्०** (३.४.९) आदि सूत्रों से वेद में विधान किये जाते हैं। तदन्तों की भी प्रकृतसूत्र से अव्ययसंज्ञा हो जाती है। अव्ययसंज्ञा का प्रयोजन सुँब्लुक् आदि है। तथाहि—

१. से—वक्षे (कहने के लिये)।[2]
२. सेन् (से)=एषे (जाने के लिये)।
३. असे—जीवसे (जीने के लिये)।
४. असेन् (असे)—पूर्वोक्त उदाहरण।

---

१. इन की पूरी सिद्धि इस व्याख्या के तृतीयभागस्थ (८८६) सूत्र पर देखें।

२. **तुमर्थे से-सेन्-असे-असेन्-क्से-कसेन्-अध्यै-अध्यैन्-कध्यै-कध्यैन्-शध्यै-शध्यैन्-तवै-तवेङ्-तवेनः** (३.४.९)—वेद में तुमुँन् प्रत्यय के अर्थ में धातु से परे से, सेन्

५. क्से (से) —प्रेषे (भेजने के लिये)।
६. कसेन् (असे)—श्रियसे (श्रयितुम्)।
७. अध्यै पृणध्यै (भरने के लिये)।
८. अध्यैन् (अध्यै)—पूर्वोक्त उदाहरण।
९ कध्यै (अध्यै)--आहुवध्यै (आह्वातुम्)।
१०. कध्यन् (अध्यै)—पूर्वोक्त उदाहरण।
११. शध्यै (अध्यै)—मादयध्यै (मादयितुम्)।
१२. शध्यैन् (अध्यै)—पिबध्यै (पीने के लिये)।
१३. तवै—दातवै (देने के लिये)।
१४. तवेङ् (तवे)—सूतवे (जनने के लिये)।
१५. तवेन् (तवे) --कर्तवे (करने के लिये)।
१६. कै प्रत्ययान्त—प्रयै (जाने के लिये)।[1]
१७. इष्यै „ —रोहिष्यै (रोढुम्)।
१८. „ „ —अव्यथिष्यै (अव्यथनाय)
१९. के प्रत्ययान्त— दृशे (देखने के लिये)।[2]
२०. „ —विख्ये (विख्यातुम्)।
२१. तवै —न म्लेच्छितवै (अपशब्द नहीं बोलने चाहिये)।[3]
२२. केन् (ए) — अवगाहे (अवगाहितव्यम्)।
२३. एश् प्रत्ययान्त—अवचक्षे (अवख्यातव्यम्)।[4]

अब ग्रन्थकार अन्य कृदन्त अव्ययों का निरूपण करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(३७०) **क्त्वा-तोसुँन्-कसुँनः** ।१।१।३९।।

एतदन्तमव्ययम्। कृत्वा। उदेतोः। विसृपः ।।

अर्थः—क्त्वा, तोसुँन् और कसुँन् प्रत्यय जिस के अन्त में हो वह भी अव्ययसंज्ञक होता है।

व्याख्या—क्त्वा-तोसुँन्-कसुँनः ।१।३। अव्ययानि ।१।३। (**स्वरादिनिपातमव्ययम्** से वचनविपरिणाम द्वारा)। केवल प्रत्यय की संज्ञा का कुछ भी प्रयोजन न होने से तदन्तविधि हो जाती है। अर्थः —(क्त्वा-तोसुँन्-कसुँनः) क्त्वा, तोसुँन् या कसुँन् प्रत्यय जिन के अन्त में हों वे शब्द (अव्ययानि) अव्ययसंज्ञक होते हैं। उदाहरण यथा—

आदि पन्द्रह प्रत्यय होते हैं। इन प्रत्ययों में अनुबन्धभेद स्वरभेद के लिये या गुणवृद्धिनिषेध आदि के लिये समझना चाहिये।

१. **प्रयै-रोहिष्यै-अव्यथिष्यै** (३.४.१०)—तुमुँन् प्रत्यय के अर्थ में प्रयै, रोहिष्यै और अव्यथिष्यै ये तीन कृदन्त शब्द वेद में निपातित किये जाते हैं।

२. **दृशे विख्ये च** (३.४.११)—तुमुँन् प्रत्यय के अर्थ में दृशे और विख्ये ये दो कृदन्त शब्द वेद में निपातित किये जाते हैं।

३. **कृत्यार्थे तवै-केन्-केन्य-त्वनः** (३.४.१४)—कृत्यप्रत्ययों के अर्थ में वेद में तवै, केन्, केन्य और त्वन् प्रत्यय धातु से परे होते हैं। तवै और केन् प्रत्यय एजन्त कृत्प्रत्यय हैं अतः एतदन्तों की ही अव्ययसंज्ञा होती है अन्यदन्तों की नहीं।

४. **अवचक्षे च** (३.४.१५)—कृत्यप्रत्यय के अर्थ में वेद में 'अवचक्षे' यह कृदन्त शब्द निपातित किया जाता है।

क्त्वा (त्वा)—कृत्वा, पठित्वा, भूत्वा, गत्वा आदि । यहां **समानकर्तृकयोः पूर्वकाले** (८७९) सूत्र से क्त्वा प्रत्यय हो जाता है । अतः क्त्वाप्रत्ययान्त होने के कारण इन की प्रकृतसूत्र से अव्ययसंज्ञा हो जाती है । अव्ययसंज्ञा का प्रयोजन सुँब्लुक् (३७२) आदि होता है ।

तोसुँन् (तोस्)—उदेतोः (उदय होने तक), प्रवदितोः (बोलने तक), प्रचरितोः (चलने तक) आदि । यहां **भावलक्षणे स्थेण्कृञ्वदिचरिहुतमिजनिभ्यस्तोसुँन्** (३.४.१६) सूत्र द्वारा तोसुँन् (तोस्) प्रत्यय हो जाता है । अतः इन की अव्ययसंज्ञा हो जाती है ।

कसुँन् (अस्)—विसृपः, आतृदः । यहां **सृपितृदोः कसुँन्** (३.४.१७) सूत्र-द्वारा कसुँन् प्रत्यय हो जाता है । अतः प्रकृतसूत्र से तदन्तों की अव्ययसंज्ञा हो जाती है ।

क्त्वा, तोसुँन् और कसुँन् इन तीन प्रत्ययों में तोसुँन् और कसुँन् केवल वेद में तथा क्त्वा प्रत्यय लोक और वेद दोनों में समानरूप से प्रयुक्त होता है । ये तीनों प्रत्यय भी कृत्संज्ञक हैं ।

अब अव्ययीभावसमास की भी अव्ययसंज्ञा करते हैं—

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—**(३७१) अव्ययीभावश्च ।१।१।४० ॥**

अधिहरि ॥

अर्थः - अव्ययीभावसमास भी अव्ययसंज्ञक होता है ।

व्याख्या—अव्ययीभावः ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । अव्ययम् ।१।१। (**स्वरादिनिपातमव्ययम्** से) । अर्थः—(अव्ययीभावः) अव्ययीभावसमास (च) भी (अव्ययम्) अव्ययसंज्ञक होता है ।

अव्ययीभावसमास का विवेचन इस व्याख्या के समासप्रकरण में किया गया है वहीं देखें । उदाहरण यथा—

अधिहरि [हरौ—इत्यधिहरि, हरि में] । यहां विभक्त्यर्थ में **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि०** (९०८) सूत्र द्वारा अव्ययीभावसमास हो कर समासकार्य करने पर 'अधिहरि' शब्द निष्पन्न होता है[1] । इस की प्रकृतसूत्र से अव्ययसंज्ञा हो जाती है अतः समासत्व के कारण प्रातिपदिक से उत्पन्न सुँ—सुँप् का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हो जाता है । इसी प्रकार—'यथाशक्ति' आदियों में समझ लेना चाहिये ।

अब अव्ययसंज्ञा करने के मुख्य प्रयोजन सुँब्लुक् का प्रतिपादन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(३७२) अव्ययादाप्सुँपः ।२।४।८२॥**

अव्ययाद्विहितस्य आपः सुँपश्च लुक् । तत्र शालायाम् ॥

---

१. इस की सम्पूर्ण सिद्धि अव्ययीभावसमास प्रकरण में देखें ।

अर्थः—अव्यय से विधान किये गये **आप्** (टाप् आदि स्त्रीप्रत्ययों) तथा **सुँप्** प्रत्ययों का लुक् हो जाता है।

व्याख्या—अव्ययात् ।५।१। आप्सुँपः ।६।१। लुक् ।१।१। (**ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः** से)। आप् च सुँप् च आप्सुँप्, तस्य=आप्सुँपः, समाहारद्वन्द्वः। **अर्थः** —(अव्ययात्) अव्यय से विधान किये गये (आप्सुँपः) आप् और सुँप् प्रत्यय का (लुक्) लुक् हो जाता है। आप् से टाप्, डाप्, चाप् आदि स्त्रीप्रत्ययों का तथा सुँप् से सुँ, औ, जस् आदि का ग्रहण होता है। उदाहरण यथा—

तत्र शालायाम् (उस शाला में)। यहां 'तत्र' यह अव्यय 'शाला' इस स्त्रीलिङ्गी पद का विशेषण है अतः इस से **अजाद्यतष्टाप्** (१२४५) द्वारा टाप् प्रत्यय हो कर प्रकृतसूत्र से लुक् हो जाता है।

सुँप् का लुक् तो प्रत्येक अव्यय से होता ही है—च+सुँ=च। वा+सुँ= वा। इस सूत्र पर विशेष विचार सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्याओं में देखें।

अब अव्यय का लक्षण करने के लिये एक प्राचीन श्लोक (गोपथब्राह्मण की ब्रह्मपरक श्रुति) उद्धृत करते हैं—

[लघु०] सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम्॥

अर्थः—जो तीनों लिङ्गों, सब विभक्तियों और सब वचनों में विकार को प्राप्त नहीं होता—एक जैसा रहता है—बदलता नहीं, वह अव्यय कहाता है।

व्याख्या—अव्ययम् यह अन्वर्थ अर्थात् अर्थानुसारिणी संज्ञा है। नास्ति व्ययः =विनाशः=विकृतिर्यस्य यस्मिन् वा तद् अव्ययम्। जिस में किसी प्रकार की विकृति न हो—प्रत्येक अवस्था में एक जैसा स्वरूप रहे उसे अव्यय कहते हैं। इसी लक्षण को ऊपर के श्लोक में और अधिक परिष्कृत किया गया है। श्लोक में 'विभक्ति' से तात्पर्य कर्म आदि कारक और 'वचन' से एकत्व, द्वित्व, बहुत्व का ग्रहण समझना चाहिये।

अब 'अव' और 'अपि' उपसर्गों के विषय में भागुरि आचार्य का मत दर्शाते हैं—

[लघु०] वष्टि[1] भागुरिरल्लोपम् अवाप्योरुपसर्गयोः।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा॥

वगाहः। अवगाहः। पिधानम्। अपिधानम्॥

अर्थः—भागुरि आचार्य 'अव' और 'अपि' उपसर्गों के (आदि) अकार का लोप चाहते हैं तथा हलन्त शब्दों से स्त्रीत्वबोधक 'आप्' प्रत्यय भी विधान करना चाहते हैं।

---

१. वशेश्छान्दसत्वेन प्रयोगश्चिन्त्य इति नागेशः। एतज्ज्ञापकाद् भाषायामप्यस्य प्रयोग इति तत्त्वबोधिनी-बालमनोरमाकारादयः।

व्याख्या—भागुरि आचार्य सम्भवतः पाणिनि से पूर्ववर्त्ती वैयाकरण हो चुके हैं। जगदीश तर्कालङ्कार ने शब्दशक्तिप्रकाशिका में उन के अनेक मन्तव्यों का उल्लेख किया है। परन्तु अष्टाध्यायी में पाणिनि ने उन के मत का कहीं उल्लेख नहीं किया। भागुरि के मत में 'अव' और 'अपि' उपसर्गों के आदि अकार का लोप हो जाता है[1]। अन्य आचार्यों के मत में न होने से विकल्प सिद्ध हो जाता है। उदाहरण यथा—

(१) वगाहः, अवगाहः (स्नान आदि)। अवपूर्वक गाह् (**गाहूँ विलोडने,** भ्वा० आ०) धातु से भाव आदि में घञ् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप करने से 'अवगाहः' प्रयोग सिद्ध होता है। परन्तु भागुरि आचार्य के मत में 'अव' उपसर्ग के अकार का लोप हो कर—'वगाहः' प्रयोग बनता है। हमें सब आचार्य मान्य हैं अतः लोक में 'अवगाहः, वगाहः' दोनों प्रयोग मान्य हैं। इसी प्रकार शिष्टप्रयोगानुसार अन्य प्रत्ययों में भी समझ लेना चाहिये। साहित्यगत कुछ उदाहरण यथा—**सुभगसलिलाऽवगाहाः** (शाकुन्तल० १.३)। **जलावगाहक्षणमात्रशान्ता** (रघु० ५.४७)। **दग्धानामवगाहनाय विधिना रम्यं सरो निर्मितम्** (शृङ्गारतिलक)। **पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य** (कुमार० १.१)। **तमोऽपहन्त्री तमसां वगाह्य** (रघु० १४.७६)। **सुरभीकृतमपि नीरं वगाहमानमत्तमतङ्गजमदधाराभिः कटूकुर्वन्** (शिवराज० २)।

इसी प्रकार—अवतंसः—वतंसः (कर्णभूषण या शिरोभूषण, श्रेष्ठ)। **यैर्वतंसकुसुमैः प्रियमेताः** (माघ० १०.६७)। **पित्तेन दूने रसने सितापि तिक्तायते हंसकुलावतंस** (नैषध० ३.९४)। अवस्था—वस्था (हालत, दशा)। **कुम्भोऽप्येतां पितुरुपनतां वीक्ष्य वस्थां वपुष्मान्** (महावीर० ६.४४)। **अवस्था वस्तूनि प्रथयति च सङ्कोचयति च** (नीति० ३६)। अवक्रयः – वक्रयः (मूल्य)। अवक्रीयतेऽनेनेति अवक्रयः, **पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण** (८७२) इति घः। **मूल्यं वस्नोऽप्यवक्रय** इत्यमरः। भागुरिमतेऽकारलोपे वक्रयः। **मूल्ये वस्नाऽर्घ-वक्रयाः** इति हेमचन्द्रः। अवक्रमः—वक्रमः (आप्टे०)।

(२) पिधानम्, अपिधानम् (ढांपना या ढक्कन)। अपिपूर्वक धा (**डुधाञ् धारण-पोषणयोः,** जुहो० उ०) धातु से भाव या करण में ल्युट् प्रत्यय करने पर **युवोरनाकौ** (७८५) सूत्र से यु को अन आदेश हो कर विभक्ति लाने से 'अपिधानम्' प्रयोग निष्पन्न होता है। भागुरि आचार्य के मत में 'अपि' के अकार का लोप हो कर—'पिधानम्' बनेगा। हमें सब आचार्य मान्य हैं अतः लोक में 'अपिधानम्, पिधानम्' दोनों प्रयोग चलते हैं। इसी प्रकार अन्य प्रत्ययों में भी शिष्टप्रयोगानुसार जान लेना चाहिये। 'अपि' के अकारलोप के साहित्यगत कुछ उदाहरण यथा—**गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वाऽपि प्रवर्त्तते। कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः** (मनु० २.२००)। **भुजङ्गपिहितद्वारं पातालमधितिष्ठति** (रघु० १.८०)। **अधित काऽपि मुखे सलिलं सखी प्यधित कापि सरोजदलैः स्तनौ** (नैषध० ४.१११)। लोपाभाव पक्ष में भी प्रयोग

---

१. यहां यह ध्यातव्य है कि 'अपि' के साहचर्य के कारण 'अव' के भी आद्य अकार का ही लोप होता है अन्त्य का नहीं।

उपलब्ध होते हैं—**अपिधाय बिलद्वारं गिरिशृङ्गेण तत्तदा** (रामायण० ४.१०.५)। **ध्वनति मधुपसमूहे श्रवणमपिदधाति** (गीत० ५.३)।

इसी प्रकार—नह् (**णह बन्धने,** दिवा० उ०) धातु के साथ प्रायः 'अपि' के अकार का लोप देखा जाता है—**मन्दारमाला हरिणा पिनद्धा** (शाकुन्तल० ७.२)। **कुसुममिव पिनद्धं पाण्डुपत्त्रोदरेण** (शाकुन्तल० १.१९)। **कवचं पिनह्य** (भट्टि० ३.४७)। **पिनह्य तानि पुष्पाणि केशेषु वरवर्णिनी** (महाभारत० १३.४२.९)। लोपाभाव में भी — **अभिजानामि पुष्पाणि तानीमानीह लक्ष्मण। अपिनद्धानि वैदेह्या मया दत्तानि कानने** (रामायण० ३.६४.२७)।

यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि भागुरि का यह मत हमें यहां विस्तृत रूप से नहीं लेना चाहिये। अतः यह विकल्प हमारी इच्छा पर निर्भर नहीं है बल्कि कुछ शिष्टप्रयोगों तक ही सीमित है। पाणिनीयमत में भागुरिसम्मत प्रयोगों को पृषोदरादित्वेन सिद्ध किया जा सकता है।

किञ्च—'हलन्त शब्दों से स्त्रीलिङ्गबोधक आप् (टाप्) हो' यह भी भागुरि आचार्य चाहते हैं। पाणिनि के मत में हलन्त शब्दों से टाप् का विधान करने वाला कोई सूत्र नहीं अतः विकल्प सिद्ध हो जायेगा। उदाहरण यथा —

१. वाच् (वाणी)	भागुरिमते—वाच्+आ (आप्)=वाचा।[1]
२. निश् (रात्रि)	भागुरिमते—निश्+आ (आप्) =निशा।[2]
३. दिश् (दिशा)	भागुरिमते—दिश्+आ (आप्)=दिशा।[3]
इसी प्रकार—	
४. क्षुध् (भूख)	भागुरिमते—क्षुध्+आ (आप्)=क्षुधा।[4]
५. गिर् (वाणी)	भागुरिमते—गिर्+आ (आप्)= गिरा।[5]
६. तृष् (प्यास, लोभ)	भागुरिमते—तृष्+आ (आप्)= तृषा।[6]
७. रुज् (पीडा)	भागुरिमते—रुज्+आ (आप्)= रुजा।[7]
८. मुद् (प्रसन्नता)	भागुरिमते—मुद्+आ (आप्) = मुदा।[8]

---

१. **ब्रह्माणी वचनं वाचा जल्पितं गदितं गिरा**—इति शब्दार्णवः। **तच्छ्रुत्वा ब्राह्मणेन तिसृभिर्वाचाभिः स्वजीवितार्धं दत्तम्** (पञ्च० ४)।

२. **या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी** (गीता० २.६९)। निशाकर, निशाचर आदि शब्द इसी से बनते हैं। **दिवा-विभा-निशा०** (३,२.२१)।

३. **दिशागजस्तु तच्छ्रुत्वा प्रत्याहांशुमतो वचः** (रामायण० १.४१.९)।

४. **स्त्रीरत्नं विविधान् भोगान् वस्त्राण्याभरणानि च। न चेच्छति नरः किञ्चित् क्षुधया कलुषीकृतः** (वह्निपुराण, प्रेतोपाख्यान)।

५. **तां गिरां करुणां श्रुत्वा** (दशरथविलापनाटकम्, शब्दकल्पद्रुम में उद्धृत)।

६. **लोभेन बुद्धिश्चलति लोभो जनयते तृषाम्** (हितोप० १.१४२)।

७. **निपातात्तव शस्त्राणां शरीरे याऽभवद् रुजा** (महाभारत० ८.३४.१४९)।

८. **तत्पार्श्ववर्तिनी कन्या शुश्रावाथ मुदावती** (मार्कण्डेयपु० ११६.३०)।

९. प्रतिपद् (पड़वा तिथि) भागुरिमते—प्रतिपद्+आ (आप्) = प्रतिपदा।[1]

१०. वीरुध् (विस्तृत बेल) भागुरिमते—वीरुध्+आ (आप्) = वीरुधा।[2]

इत्थम्—दृश्—दृशा (नेत्र); शुच्—शुचा (शोक); रुष्—रुषा (क्रोध); विपद्—विपदा (विपत्ति); आपद्—आपदा; रुच्—रुचा (कान्ति); मृद्—मृदा (मिट्टी); त्वच्—त्वचा (चमड़ी); त्विष्—त्विषा (कान्ति); ऋच्—ऋचा (ऋग्मन्त्र) आदि समझने चाहियें।

परन्तु शेखरकार श्रीनागेश इस आप् वाले पक्ष को अप्रामाणिक मानते हैं। विशेष जिज्ञासु उन का मत वहीं देखें।

[लघु०] इत्यव्ययप्रकरणं समाप्तम् ॥

इति सुबन्तम् ॥

इति पूर्वार्धम् ॥

अर्थः—यहां अव्ययप्रकरण और इस के साथ सुबन्तप्रकरण समाप्त होता है। किञ्च ग्रन्थ का पूर्वार्ध भी यहां समाप्त समझना चाहिये।

अभ्यास (४९)

(१) 'मिथो' का स्वरादिगण में पाठ उपयुक्त है या नहीं, विवेचन करें।

(२) **तद्धितश्चासर्वविभक्तिः** सूत्रगत 'असर्वविभक्तिः' को स्पष्ट करते हुए यह बताएं कि इस सूत्र के रहते परिगणन की क्या ज़रूरत है?

(३) उपसर्गप्रतिरूपक तथा विभक्तिप्रतिरूपकों का सोदाहरण विवेचन करें।

(४) निम्नस्थ अव्ययों को सार्थ सोदाहरण स्पष्ट करें तथा इन की अव्यय-संज्ञा करने वाला सूत्र भी अर्थसहित लिखें—
अथ, पठितुम्, परस्तात्, स्थाने, अलम्, नाना, विसृपः, यर्हि, पुरा, अस्ति, ऐषमः, अन्तरा, चिरम्, सार्धम्, कच्चित्, परुत्, जीवसे, खलु, प्रसह्य, यथाशक्ति, किल, सनुतर्।

(५) 'परिगणनं कर्तव्यम्' कह कर किन२ प्रत्ययों का परिगणन किया है?

(६) स्वर्, अन्तर्, प्रातर् यदि सकारान्त हों तो क्या अनिष्ट होगा?

(७) भागुरि के मत में निम्नस्थों का क्या रूप होगा सोदाहरण लिखें—
क्षुध्, वाच्, अपिधानम्, प्रतिपद्, मुद्, अवगाहः, निश्।

(८) मान्त कृत्प्रत्यय कौन २ से हैं? तदन्तों की अव्ययसंज्ञा कैसे होती है?

(९) अव्ययसंज्ञा की अन्वर्थता सिद्ध कर अव्यय का सार्थ लक्षण लिखें।

(१०) 'यत्र' का पाठ चादियों में क्यों किया गया है?

---

१. **देवानामथ यक्षाणां गन्धर्वाणां च सत्तम। आदौ प्रतिपदा येन त्वमुत्पन्नोऽसि पावक** (वराहपुराण, महातपोपाख्यान, अग्न्युत्पत्तिनामाध्याय)।

२. **श्रेष्ठमसि भेषजानां वसिष्ठं वीरुधानाम्** (अथर्व० ६.२१.२)।

(११) निम्नस्थ प्रश्नों का संक्षिप्त उत्तर दें—

(क) **चादयोऽसत्त्वे** में 'असत्त्वे' क्यों कहा गया है ?

(ख) 'चण्' और 'च' में तथा 'नञ्' और 'न' में अन्तर बताएं।

(ग) तिरःकृत्वा और तिरःकृत्य में प्रक्रिया-भेद स्पष्ट करें।

——: :o: :——

शून्य-वेद-नभो-नेत्रे वैक्रमे शुभवत्सरे।
आश्विनस्य सिते पक्षे परिबृंहितरूपधृक् ॥१॥

सर्वत्र शोधितो यत्नाद् बहुत्र परिवर्धितः।
समापन्ननवाऽऽकारः पुनराद्यः प्रकाशितः ॥२॥

पूर्वमुद्रितभागेऽस्मिन् संशुद्धि-परिवर्धने।
विदुषा लेखकेनैव कृते नाऽन्येन केनचित् ॥३॥

श्रमस्यास्य महन्मूल्यं ज्ञास्यन्ति वीतमत्सराः।
रत्नस्यार्घे प्रमाणं हि ज्ञातारो न पृथग्जनाः ॥४॥

विद्वत्सु छात्रवर्गेषु गवेषणपरेषु च।
आदरं प्राप्नुयान्नूनं मत्कृतिः पूर्वतोऽधिकम् ॥५॥

द्वितीयावृत्तिः { आश्विन २०४०, वैक्रमाब्द / अक्तूबर सन् १९८३ }

इति भूतपूर्वखण्ड-भारतान्तर्गत-सिन्धुतटवर्त्ति-डेराइस्माईलखाना-
ख्यनगरवास्तव्य-भाटियावंशावतंस-स्वर्गत-श्रीमद्रामचन्द्र-
वर्मसूनुना एम्० ए० साहित्यरत्नेत्याद्यनेकोपाधि-
भृता वैद्येन भीमसेनशास्त्रिणा विरचितायां
लघुसिद्धान्तकौमुद्या भैमीव्याख्याया-
मव्ययप्रकरणं पूर्त्तिमगात्।

[समाप्तञ्चात्र पूर्वाऽर्धम् ॥]

[शुभम्भूयादध्यायकानामध्यापकानाञ्च ॥]

(१) परिशिष्ट—विशेष-स्मरणीय-पद्यतालिका

[भैमीव्याख्या-प्रथमभागस्थ दर्जनों पद्यों में से व्याकरणसम्बन्धी कुछ विशेष स्मरणीय पद्य यहां प्रस्तुत किये गये हैं ।]

(१) प्रत्ययाः शिवसूत्राणि आदेशा आगमास्तथा ।
धातुपाठो गणे पाठ उपदेशाः प्रकीर्तिताः ॥ (पृष्ठ ८)

(२) परेणैवेण्ग्रहाः सर्वे पूर्वेणैवाऽण्ग्रहा मताः ।
ऋतेऽणुदित्सवर्णस्येत्येतदेकं परेण तु ॥ (पृष्ठ २६)

(३) संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः ।
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥ (पृष्ठ ३५)

(४) द्वौ नञौ तु समाख्यातौ पर्युदास-प्रसज्यकौ ।
पर्युदासः सदृग्ग्राही प्रसज्यस्तु निषेधकृत् ॥ (पृष्ठ ३८)

(५) तुम्बिकातृणकाष्ठञ्च तैलं जलमुपागतम् ।
स्वभावादूर्ध्वमायाति रेफस्यैतादृशी गतिः ॥ (पृष्ठ ५४)

(६) अक्षौहिण्याः प्रमाणं तु खाऽङ्गाष्टैकद्विकैर्गजैः ।
रथैरेतैर्हयैस्त्रिघ्नैः पञ्चघ्नैश्च पदातिभिः ॥ (पृष्ठ ६१)

(७) ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाऽभिविधौ च यः ।
एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित् ॥ (पृष्ठ ६०)

(८) जश्छौ ञचछा ञचशा ञशाविति चतुष्टयम् ।
रूपाणामिह तुक्-छत्व-चलोपानां विकल्पनात् ॥ (पृष्ठ १३१)

(९) सैष दाशरथी रामः सैष राजा युधिष्ठिरः ।
सैष कर्णो महात्यागी सैष भीमो महाबलः ॥ (पृष्ठ १५६)

(१०) विद्वान्कीदृग्वचो ब्रूते को रोगी कश्च नास्तिकः ।
कस्याश्चन्द्रं न पश्यन्ति सूत्रं तत्पाणिनेर्वद ॥ (पृष्ठ १६०)

(११) जकारश्च शकारश्च टकारश्च ङपावपि ।
सुङस्योरुदितौ चैव सुपि सप्त स्मृता इतः ॥ (पृष्ठ १६१)

(१२) सकारो जश्शसोरोसि ङसि भ्यसि न चेद्ङसि ।
मकारश्च तथा ज्ञेय आमि भ्यामि स्थितस्त्वमि ॥ (पृष्ठ १६२)

(१३) संयोगान्तस्य लोपे हि नलोपादिर्न सिध्यति ।
रात्तु तेनैव लोपः स्याद् हलस्तस्माद्विधीयते ॥ (पृष्ठ २३०)

(१४) लक्ष्म्या वै जायते भानुः सरस्वत्यापि जायते ।
अत्र षष्ठीपदं गुप्तं यो जानाति स पण्डितः ॥ (पृष्ठ २८१)

(१५) एकोना विंशतिः स्त्रीणां स्नानार्थं सरयूं गता ।
विंशतिः पुनरायाता एको व्याघ्रेण भक्षितः ॥ (पृष्ठ २८१)

(१६) अवी-तन्त्री-स्तरी-लक्ष्मी-तरी-धी-ह्री-श्रियां भियः ।
अङ्यन्तत्वात् स्त्रियामेषां न सुलोपः कदाचन ।। (पृष्ठ ३०६)

(१७) पाणिनेर्न नदी गङ्गा यमुना च स्थली नदी ।
प्रभुः स्वातन्त्र्यमापन्नो यदिच्छति करोति तत् ।। (पृष्ठ ३०६)

(१८) पीलुर्वृक्षः फलं पीलु पीलुने न तु पीलवे ।
वृक्षे निमित्तं पीलुत्वं तज्जत्वं तत्फले पुनः ।। (पृष्ठ ३४३)

(१९) इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपतरवर्त्ति चैतदो रूपम् ।
अदसस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजानीयात् ।। (पृष्ठ ३७०)

(२०) काचं मणिं काञ्चनमेकसूत्रे ग्रथ्नासि बाले किमिदं विचित्रम् ।
विचारवान् पाणिनिरेकसूत्रे श्वानं युवानं मघवानमाह ।। (पृष्ठ ३९३)

(२१) पञ्चम्याश्च चतुर्थ्याश्च षष्ठीप्रथमयोरपि ।
यान्यद्विवचनान्यत्र शेषे-लोपो विधीयते ।। (पृष्ठ ४२२)

(२२) जक्षि-जागृ-दरिद्रा-शास्-दीधीङ्-वेवीङ्-चकास्तथा ।
अभ्यस्तसंज्ञा विज्ञेया धातवो मुनिभाषिताः ।। (पृष्ठ ४५५)

(२३) सम्बोधने तूशनसस्त्रिरूपं सान्तं तथा नान्तमथाप्यदन्तम् ।
माध्यन्दिनिर्वष्टि गुणं त्विगन्ते नपुंसके व्याघ्रपदां वरिष्ठः ।।
(पृष्ठ ४७१)

(२४) जायन्ते नव सौ, तथामि च नव, भ्याम्भिस्भ्यसां सङ्गमे,
षट् संख्यानि, नवैव सुप्यथ जसि त्रीण्येव तद्वच्छसि ।
चत्वार्यन्यवचःसु कस्य विबुधाः! शब्दस्य रूपाणि तज्
जानन्तु प्रतिभास्ति चेन्निगदितुं षाण्मासिकोऽत्रावधिः ।। (पृष्ठ ५०४)

(२५) गवाक्शब्दस्य रूपाणि क्लीबेऽर्चागति-भेदतः ।
असन्ध्यवङ्पूर्वरूपैर्नवाधिकशतं मतम् ।। (पृष्ठ ५०४)

(२६) रामं सीतां लक्ष्मणं जीविकार्थे विक्रीणीते यो नरस्तं च धिग्धिक् ।
अस्मिन्पद्ये योऽपशब्दं न वेत्ति व्यर्थप्रज्ञं पण्डितं तञ्च धिग्धिक् ।।
(पृष्ठ ५३०)

(२७) अवदत्तं विदत्तं च प्रदत्तञ्चादिकर्मणि ।
सुदत्तमनुदत्तञ्च निदत्तमिति चेष्यते ।। (पृष्ठ ५४६)

(२८) सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ।। (पृष्ठ ५८०)

(२९) वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः ।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा ।। (पृष्ठ ५८०)

(२) परिशिष्ट—ग्रन्थ-संकेत-तालिका

[इस व्याख्या में प्रायः ग्रन्थों का पूरा नाम दिया गया है। क्वचित् जो ग्रन्थ-संकेत दिये गये हैं उन की तालिका यहां प्रस्तुत की जा रही है।]

अथर्व० =अथर्ववेद
अमरु० =अमरुशतक
आप० ध० =आपस्तम्बधर्मसूत्र
ऋ० =ऋग्वेद
ऋतु० =ऋतुसंहार
उत्तरराम० =उत्तररामचरित
ऐ० ब्रा० =ऐतरेयब्राह्मण
कठोप० =कठोपनिषत्
कथासरित्० =कथासरित्सागर
काव्यप्र० =काव्यप्रकाश
किरात० =किरातार्जुनीय
कुमार० =कुमारसम्भव
कुवलया० =कुवलयानन्द
कौषी० ब्रा० =कौषीतकिब्राह्मण
गणरत्न० =गणरत्नमहोदधि
गीत० =गीतगोविन्द
गीता० =श्रीमद्भगवद्गीता
चर्पट० =चर्पटपञ्जरिका
चाणक्य० =चाणक्यनीतिकथा (लुडविक)
चौरपञ्चा० =चौरपञ्चाशिका
तै० उ० =तैत्तिरीयोपनिषत्
दशकु० =दशकुमारचरित
देवीक्षमा० =देवीक्षमापनस्तोत्र
द्व्या० =द्व्याश्रयकाव्य
नागानन्द० =नागानन्दनाटक
नीति० =नीतिशतक (भर्तृहरि)
न्यायद० वा०भा० =न्यायदर्शनवात्स्यायन०
पञ्च० =पञ्चतन्त्र
बृ० उ० =बृहदारण्यकोपनिषत्
भट्टि० =भट्टिकाव्य
भामिनी० =भामिनीविलास
मनु० =मनुस्मृति
महावीर० =महावीरचरित
मालती० =मालतीमाधव
मालविका० =मालविकाग्निमित्र
मार्कण्डेयपु० =मार्कण्डेयपुराण
मुण्डकोप० =मुण्डकोपनिषत्
मुद्रा० =मुद्राराक्षस
मृच्छ० =मृच्छकटिक
मेघ० =मेघदूत
मैत्रा० सं० =मैत्रायणीसंहिता
मोहमुद्गर० =मोहमुद्गरस्तोत्र
यजु० =यजुर्वेद
याज्ञ० =याज्ञवल्क्यस्मृति
रघु० =रघुवंश
रामचरित० =रामचरित (युवराजकवि)
लौकिक० =भुवनेशलौकिकन्यायसाहस्री
वामनवृत्ति० =काव्यालंकारसूत्रवृत्ति
विक्रमो० =विक्रमोर्वशीय
वेणी० =वेणीसंहार
वैराग्य० =वैराग्यशतक (भर्तृहरि)
व्या० च० =व्याकरणचन्द्रोदय
व्या० सि०सु० =व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि
शत० ब्रा० =शतपथब्राह्मण
शिवराज० =शिवराजविजय
शृङ्गार० =शृङ्गारशतक (भर्तृहरि)
श्वेता० =श्वेताश्वतरोपनिषत्
समयोचित० =समयोचितपद्यमालिका
सांख्यका० =सांख्यकारिका
साहित्य० =साहित्यदर्पण
सि० कौ० =वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी
सुभाषित० =सुभाषितरत्नभाण्डागार
सुभाषितसुधा० =सुभाषितसुधानिधि
स्वप्न० =स्वप्नवासवदत्त (भास)
हितोप० =हितोपदेश

(३) परिशिष्ट—अव्यय-तालिका

[इस ग्रन्थ में व्याख्यात अव्ययों की वर्णानुक्रमणिका यहां दी गई है।]

———

● भैमीप्रकाशन के ग्रन्थों की नवीन मूल्यसूची ●

वैद्य भीमसेन शास्त्री M.A. Ph. D. की मुद्रित अनुपम कृतियां

(१) **लघु-सिद्धान्त-कौमुदी भैमीव्याख्या प्रथम भाग।** यह भाग पञ्च-सन्धि-षड्लिङ्ग-अव्ययप्रकरणात्मक है। यह द्वितीय बार मुद्रित हुआ है। इस नवीनतम संस्करण में लेखक ने अनेक नये संशोधन वा परिवर्धन किये हैं। विषय को परिमार्जित तथा स्पष्ट करने के लिए सैंकड़ों नये उदाहरण तथा दो सौ से अधिक नये शोधपूर्ण फुटनोट तथा टिप्पण दिये गये हैं। अव्ययप्रकरण को पहले से लगभग दुगना कर दिया गया है। इस प्रकार प्रायः दो सौ पृष्ठों की ठोस सामग्री पूर्वापेक्षया इस संस्करण में अधिक संगृहीत है। अन्य भागों की तरह इस भाग को भी समानरूप में परिणत किया गया है। चार प्रकार के नवीन आधुनिक टाइपों के द्वारा सुन्दर शुद्धतम छपाई, अंग्रेज़ी पक्की सिलाई, स्क्रीनप्रिंटिङ आकर्षक सम्पूर्ण कपड़े की मजबूत जिल्द। (२३ × ३६) ÷ १६ साइज के लगभग साढ़े छः सौ पृष्ठों का मूल्य केवल एक सौ रु०।

(२) **लघु-सिद्धान्त-कौमुदी भैमीव्याख्या द्वितीय भाग।** इस भाग में तिङन्त-प्रकरण (दस गण तथा एकादश प्रक्रिया) की अत्यन्त विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गई है। ७५० पृष्ठों पर आश्रित यह महाकाय भाग वैयाकरणजगत् में अपना अपूर्व स्थान बना चुका है। इस का विशेष विवरण विस्तृत सूचीपत्र में देखें। पूर्ववत् सुन्दर छपाई, ग्रेज़ी पक्की सिलाई, स्क्रीनप्रिंटिङ कपड़े की मनोहर मज़बूत जिल्द। मूल्य केवल एक सौ रु०।

(३) **लघु-सिद्धान्त-कौमुदी भैमीव्याख्या तृतीय भाग।** इस भाग में कृदन्त 'र कारक प्रकरणों का विस्तृत वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। सुप्रसिद्ध कृत्प्रत्ययों के लिये कई विशाल शब्दसूचियां अर्थ तथा ससूत्रटिप्पणों के साथ बड़े यत्न से गुम्फित की गई हैं, जिन में अढ़ाई हज़ार से अधिक शब्दों का अपूर्व संग्रह है। प्रायः प्रत्येक प्रत्यय पर संस्कृतसाहित्य में से अनेक सुन्दर सुभाषितों या सूक्तियों का संकलन किया गया है। कारकप्रकरण लघुकौमुदी में केवल सोलह सूत्रों तक ही सीमित है जो स्पष्टतः बहुत अपर्याप्त है। भैमीव्याख्या में इन सोलह सूत्रों की विस्तृत व्याख्या करते हुए अन्त में अत्यन्त उपयोगी लगभग पचास अन्य सूत्र-वार्त्तिकों की भी सोदाहरण सरल व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इस प्रकार कुल मिलाकर कारकप्रकरण ५६ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। अनेक प्रकार के उपयोगी परिशिष्टों सहित यह भाग लगभग चार सौ पृष्ठों में समाश्रित हुआ है। पूर्ववत् अङ्ग्रेज़ी पक्की सिलाई, स्क्रीनप्रिंटिङ आकर्षक कपड़े की सम्पूर्ण जिल्द। मूल्य केवल पचास रु०।

(४) **लघु-सिद्धान्त-कौमुदी भैमीव्याख्या चतुर्थ भाग।** इस भाग में समास, तद्धित तथा स्त्रीप्रत्यय प्रकरणों की नवीन शैली से विस्तृत व्याख्या की गई है। यह भाग शीघ्र उपलब्ध होगा।

(५) **अव्ययप्रकरणम्** । लघुकौमुदी का अव्ययप्रकरण भैमीव्याख्यासहित पृथक् छपवाया गया है । इस में लगभग सवा पाञ्च सौ अव्ययों का सोदाहरण साङ्गोपाङ्ग विवेचन प्रस्तुत किया गया है । प्रत्येक अव्यय पर वैदिक वा लौकिक संस्कृतसाहित्य से अनेक सुन्दर सुभाषितों वा सूक्तियों का संकलन किया गया है । कठिन सूक्तियों का अर्थ भी साथ में दे दिया गया है । आजतक इतना शोधपूर्ण परिश्रम इस प्रकरण पर पहली बार देखने में आया है । साहित्यप्रेमी विद्यार्थियों तथा शोध में लगे जिज्ञासुओं के लिये यह ग्रन्थ विशेष उपादेय है । सुन्दर अंग्रेज़ी सिलाई, आकर्षक जिल्द । मूल्य केवल पच्चीस रु० ।

(६) **वैयाकरण-भूषणसार (धात्वर्थनिर्णय) भैमीभाष्य** । इस हिन्दी भाष्य से इस ग्रन्थ की दुरूहता समाप्त हो गई है । अब परीक्षा में भूषणसार की पंक्तियों को रटने की कोई आवश्यकता नहीं रही । सरल भाषा में लिखे इस ग्रन्थ का एक बार पारायण करना ही पर्याप्त है । देश-विदेश में समानरूप से आदृत यह ग्रन्थ विद्वत्समाज में अपना गौरवपूर्ण स्थान पा चुका है । सजिल्द मूल्य केवल तीस रुपये ।

(७) **बालमनोरमा-भ्रान्ति-दिग्दर्शन** । यह निबन्ध विद्वत्समाज की आंखों को खोलने वाला विलक्षण शोधपत्र है । एक बार पढ़ जाइये, ज्ञानवृद्धि के साथ साथ आप का मनोरञ्जन भी होगा । मूल्य केवल पांच रुपये ।

(८) **प्रत्याहारसूत्रों का निर्माता कौन ?** । इति माहेश्वराणि सूत्राणि—के अन्धविश्वासरूप तिमिर से मुक्त होने के लिये यह शोधपत्र प्रत्येक जिज्ञासु के लिये संग्रहणीय, मननीय तथा अभ्यसनीय है । अश्रुतपूर्व दरजनों प्रमाणों के आलोक में निश्चय ही वर्षों से छाया इस विषय का अज्ञान मिट जायेगा । मूल्य केवल बारह रु० ।

(९) **न्यास-पर्यालोचन** । यह ग्रन्थ व्याकरणसंबन्धी सैंकड़ों अश्रुत विषयों का आगार है । इस प्रकार का शोधपूर्ण प्रयत्न व्याकरणविषय पर प्रथम बार प्रकाशित हुआ है । इस के विषयवार वैशिष्ट्य के लिये पुस्तकसूची देखें । स्क्रीन प्रिंटिड सुन्दर जिल्द, पक्की अङ्ग्रेज़ी सिलाई । मूल्य केवल एक सौ रु० ।

विद्यार्थियों तथा अध्यापकों को विशेष कमीशन दिया जाता है ।

विस्तृत सूचीपत्र के लिए लिखें—

भैमी प्रकाशन

५३७, लाजपतराय मार्केट,

दिल्ली-११०००६

पुस्तक-सूची

[देश-विदेश के सैंकड़ों विद्वानों द्वारा प्रशंसित संस्कृत व्याकरण के मूर्धन्य विद्वान् श्री वैद्य भीमसेन शास्त्री एम्० ए० पी० एच० डी० द्वारा लिखित उच्चकोटि के अनमोल संग्रहणीय व्याकरणग्रन्थों की सूची]

१९८०

---

१. लघुसिद्धान्तकौमुदी—भैमीव्याख्या (चार भाग)

२. वैयाकरणभूषणसार—भैमीभाष्योपेत

३. बालमनोरमाभ्रान्तिदिग्दर्शन

४. प्रत्याहारसूत्रों का निर्माता कौन ?

५. न्यास-पर्यालोचन

भैमी प्रकाशन

५३७, लाजपतराय मार्केट

दिल्ली-११० ००६

"लघु-सिद्धान्त-कौमुदी—भैमीव्याख्या"

[वैद्य भीमसेन शास्त्री एम्० ए०, पी० एच्० डी० कृत विश्लेषणात्मक भैमीनामक विस्तृत हिन्दी व्याख्या सहित] प्रथम भाग

लेखक के दीर्घकालिक व्याकरणाध्यापन का यह निचोड़ है। कौमुदी पर इस प्रकार की विस्तृत वैज्ञानिक विश्लेषणात्मक हिन्दी व्याख्या आज तक नहीं निकली। इस व्याख्या में प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद, विभक्तिवचन, समास-विग्रह, अनुवृत्ति, अधिकार, सूत्रगत तथा अनुवर्तित प्रत्येक पद का अर्थ परिभाषाजन्य विशेषता, अर्थ की निष्पत्ति, उदाहरण प्रत्युदाहरण तथा विस्तृत सिद्धि देते हुए छात्रों और अध्यापकों के मध्य आने वाली प्रत्येक शंका का पूर्णतया विस्तृत समाधान प्रस्तुत किया गया है। इस हिन्दी व्याख्या की देश-विदेश के डेढ़ सौ से अधिक विद्वानों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। स्थान-स्थान पर परिपठित विषय के आलोडन के लिये बड़े यत्न से पर्याप्त विस्तृत अभ्यास सङ्गृहीत किये गये हैं। इस व्याख्या की रूपमालाओं में अनुवादोपयोगी लगभग दो हज़ार शब्दों का अर्थ सहित बृहत्संग्रह प्रस्तुत करते हुए णत्वप्रक्रियोपयुक्त प्रत्येक शब्द को चिह्नित किया गया है। आज तक लघुकौमुदी की किसी भी व्याख्या में ऐसी विशेषता दृष्टि-गोचर नहीं होती। व्याख्या की सबसे बड़ी विशेषता अव्ययप्रकरण है। प्रत्येक अव्यय के अर्थ का विस्तृत विवेचन करके उसके लिए विशाल संस्कृत वाङ्मय से किसी न किसी सूक्ति व प्रसिद्ध वचन को सङ्गृहीत करने का प्रयास किया गया है। अकेला अव्यय-प्रकरण ही लगभग साठ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। एक विद्वान् समालोचक ने ग्रन्थ की समालोचना करते हुए यहां तक कहा था कि—**"यदि लेखक ने अपने जीवन में अन्य कोई प्रणयन न कर केवल अव्यय-प्रकरण ही लिखा होता तो केवल यह प्रकरण ही उसे अमर करने में सर्वथा समर्थ था।"** सन्धिप्रकरण में लगभग एक हजार अभूतपूर्व नये उदाहरण विद्यार्थियों के अभ्यास के लिए संकलित किये गये हैं—उदाहरणार्थ अकेले **'इको यणचि'** सूत्र पर ३५ नये उदाहरण दिये गये हैं। इस व्याख्या में ग्रन्थगत किसी भी शब्द की रूपमाला को **तद्वत्** नहीं लिखा गया प्रत्युत प्रत्येक शब्द एवं धातु की पूरी-पूरी सार्थ रूपमाला दी गई है। स्थान-स्थान पर समझाने के लिये नाना प्रकार के कोष्ठकों और चक्रों से यह ग्रन्थ ओत-प्रोत है। इस प्रकार का यत्न व्याकरण के किसी भी ग्रन्थ पर अद्ययावत् नहीं किया गया। यह व्याख्या छात्रों के लिए ही नहीं अपितु अध्यापकों तथा अनुसन्धान-प्रेमियों के लिए भी अतीव उपयोगी है। अन्त में अनुसन्धानोपयोगी कई परिशिष्ट दिये गये हैं। यह ग्रन्थ भारत-सरकार द्वारा सम्मानित हो चुका है। बृहदाकार २० × २६ ÷ ८ साइज के लगभग सात सौ पृष्ठों में इस व्याख्या का केवल पूर्वार्ध भाग समाप्त हुआ है। पूर्वार्ध भाग का लागत से भी कम मूल्य केवल तीस रुपया रखा गया है।

पाण्डीचरी स्थित अरविन्दयोगाश्रम का प्रमुख त्रैमासिक पत्र 'अदिति' इस व्याख्या के विषय में लिखता है—

"जहां तक हमें ज्ञात है यह आधुनिक शैली से विश्लेषणपूर्वक विषय का मर्म समझाने वाली अपने ढंग की पहली व्याख्या है। व्याख्याकार ने भाष्यशैली में आधुनिक-व्याख्याशैली का पुट देकर सर्वांग सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है। इस में मूल ग्रन्थ के एक-एक शब्द व विचार को पूरा-पूरा खोल कर पाठकों के हृदय पर अंकित कर देने का सुन्दर यत्न किया गया है। विद्वान् व्याख्याकार ने लघुसिद्धान्त-कौमुदी की भैमी-नामक सर्वांगपूर्ण व्याख्या प्रकाशित कर के राष्ट्रभाषा की महान् सेवा की है। व्याकरण में प्रवेश के इच्छुक छात्र, व्युत्पन्न विद्यार्थी, जिज्ञासु, व्याकरणप्रेमी, अध्यापक और अन्वेषक सभी के लिये यह ग्रन्थरत्न एक-सा उपयोगी सिद्ध होगा।"

हिन्दी के प्रमुख मासिक पत्र 'सरस्वती' की सम्मति—

"लघुकौमुदी पर अब तक हिन्दी में कोई विश्लेषणात्मक व्याख्या नहीं निकली है। प्रस्तुत व्याख्या की लेखनशैली, क्लिष्ट स्थलों का विस्तृत उद्घाटन तथा सूत्रों की प्राञ्जल व्याख्या प्रत्येक संस्कृतप्रेमी पाठक पर अपना प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकेगी। पुस्तक न केवल विद्यार्थियों वरन् संस्कृत का अध्ययन करने वाले सभी लोगों के लिये संग्रहणीय है।"

उत्तर भारत का प्रमुख पत्र 'नवभारत टाइम्स' लिखता है कि—

"लेखक महोदय ने कई वर्षों के कठोर परिश्रम के पश्चात् यह ग्रन्थ तैयार किया है जो उपयोगी है। ग्रन्थकर्ता स्वयं विद्याव्यसनी हैं और विद्याप्रसार ही उनके जीवन की लगन है। हमें पूरी-पूरी आशा है कि आबाल-वृद्ध संस्कृत-प्रेमी इस ग्रन्थरत्न को अपनाकर परिश्रमी लेखक के इस प्रकार अन्य भी अपूर्व ग्रन्थ प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त करेंगे।"

दिल्ली का प्रमुख हिन्दी दैनिक 'हिन्दुस्तान' लिखता है—

"वैसे तो कौमुदी की अनेक हिन्दी टीकाएं निकल चुकी हैं; मगर इस व्याख्या की अपनी विशेषताएं हैं। इसमें व्याकरण शास्त्र के अध्ययन-अध्यापन के आधुनिक तरीकों का सहारा लिया गया है। सूत्रार्थ और अभ्यास इसी के उदाहरण हैं। लघु-कौमुदी में आये प्रत्येक सूत्र की अर्थविधि को जानने के बाद विद्यार्थी को वृत्ति घोटने की आवश्यकता न रहेगी। वह सूत्रार्थ समझ कर स्वयमेव उसकी वृत्ति तैयार करने योग्य हो सकेगा। लघुकौमुदी के आये प्रत्येक शब्द के रूप देकर टीकाकार ने शब्द-रूपावली का पृथक् रखना व्यर्थ कर दिया है। इसी सिलसिले में करीब दो हजार शब्दों की अर्थसहित सूची देकर टीकाकार ने इस विशेषता को चार चाँद लगा दिये हैं। अव्यय प्रकरण इस पुस्तक की पाँचवी बड़ी विशेषता है —। यह हिन्दी टीका विद्यार्थियों के लिए उपयोगी है। एक बार अध्यापक से पढ़ने के बाद वे इस टीका के सहारे बड़े आराम से पुनरावृत्ति कर सकते हैं। उन्हें ट्यूटर रखने की आवश्यकता न रहेगी।

यह टीका उनके लिए ट्यूटर का काम करेगी। आशा है कि संस्कृत व्याकरण का अध्यापन करने वाली संस्थाएं इस ग्रन्थ का हृदय से स्वागत करेंगी।'

राष्ट्रपति द्वारा पुरस्कृत, पदवाक्यप्रमाणज्ञ, **स्व० श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु,** आचार्य पाणिनि महाविद्यालय काशी की सम्मति—

"मैंने लघुसिद्धान्तकौमुदी पर श्रीभीमसेनशास्त्रिकृत भैमीव्याख्या सूक्ष्मरीत्या देखी है। काश ! कि शास्त्री जी ने ऐसी व्याख्या अष्टाध्यायी पर लिखी होती। परन्तु इतना मैं निःसन्देह कह सकता हूं कि इस प्रकार विशद स्पष्ट ओर सर्वांगीण व्याख्या लघुकौमुदी पर पहली बार देखने को मिली है। इस व्याख्या में अष्टाध्यायी पद्धति का जो पदे-पदे मण्डन किया गया है उसे देख कर मुझे अपार हर्ष होता है।"

अनुसन्धानविद्यानिष्णात **डॉ० वासुदेवशरण जी अग्रवाल** की सम्मति—

"मैंने लघुसिद्धान्तकौमुदी पर श्रीभीमसेन शास्त्री जी की विशद भैमीव्याख्या का अवलोकन किया। यह व्याख्या मुझे बहुत पसन्द आई। ऐसा स्तुत्य परिश्रम हिन्दी भाषा के माध्यम द्वारा ही सर्वप्रथम प्रकट हुआ है। यह व्याख्या कठिन से कठिन विषय को भी अत्यन्त सरलशैली से हृदयंगम कराने में सफल हो सकी है। प्रश्न-उत्तर, शंका-समाधान, सूत्रार्थ का स्फोरण करते समय स्थान-स्थान पर परिभाषाओं का उपयोग, अविकल रूपावलियां, सार्थ शब्दसंग्रह तथा परिश्रम से जुटाए गये अभ्यास आदि इस व्याख्या की अपनी विशेषताएं हैं। अव्ययप्रकरण का निखार प्रथम बार इस में देखने को मिला है। व्याकरण के ग्रन्थों पर इस प्रकार की व्याख्याएं निःसन्देह प्रशंसनीय हैं। यदि शास्त्री जी इस प्रकार की व्याख्या सिद्धान्त-कौमुदी पर भी लिखें तो छात्रों और अध्यापकों का बहुत उपकार होगा। मैं हृदय से इस ग्रन्थ के प्रचार एवं प्रसार की कामना करता हूं।"

"लघु-सिद्धान्त-कौमुदी—भैमीव्याख्या"

(द्वितीय भाग—तिङन्तप्रकरण)

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी के इस भाग में दस गण और एकादश प्रक्रियाओं की विशद व्याख्या प्रस्तुत की गई है। तिङन्तप्रकरण व्याकरण की पृष्ठास्थि (Backbone) समझा जाता है। क्योंकि धातुओं से ही विविध शब्दों की सृष्टि हुआ करती है। अतः इस भाग की व्याख्या में विशेष श्रम किया गया है। लगभग दो सौ ग्रन्थों के आलोडन से इस भाग की निष्पत्ति हुई है। प्रत्येक सूत्र के पदच्छेद, विभक्तिवचन, समासविग्रह, अनुवृत्ति, अधिकार, प्रत्येक पद का अर्थ, परिभाषाजन्य वैशिष्ट्य, अर्थनिष्पत्ति, उदाहरण-प्रत्युदाहरण और सारसंक्षेप के अतिरिक्त प्रत्येक धातु के दसों लकारों की रूपमाला सिद्धिसहित दिखाई गई है। वैयाकरणनिकाय में सैंकड़ों वर्षों से चली आ रही अनेक भ्रान्तियों का सयुक्तिक निराकरण किया गया है। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में विद्यार्थियों के प्रवेश के लिए यत्र-तत्र अनेक भाषावैज्ञानिक नोट्स भी दिये हैं। चार

सौ से अधिक सार्थ उपसर्गयोग तथा उनके लिए विशाल संस्कृतसाहित्य से चुने हुए एक सहस्र से अधिक उदाहरणों का अपूर्व संग्रह प्रस्तुत किया गया है। लगभग डेढ़ हजार रूपों की ससूत्र सिद्धि और एक सौ के करीब शास्त्रार्थ और शंका-समाधान इसमें दिये गए हैं। अनुवादादि के सौकर्य के लिए छात्रोपयोगी णिजन्त, सन्नन्त, यङन्त, भावकर्म आदि प्रक्रियाओं के अनेक शतक और संग्रह भी अर्थसहित दिए गए हैं। जैसे नानाविध लौकिक उदाहरणों से प्रक्रियाओं को इसमें समझाया गया है वैसे अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। इससे प्रक्रियाओं का रहस्य विद्यार्थियों को हस्तामलकवत् स्पष्ट प्रतीत होने लगता है। अन्त में अनुसन्धानोपयोगी छः प्रकार के परिशिष्ट दिये गए हैं। ग्रंथ का मुद्रण आधुनिक बढ़िया मैप्लीथो कागज़ पर अत्यन्त शुद्ध व सुन्दर ढंग से पांच प्रकार के टाइपों में किया गया है। सुन्दर, बढ़िया, सम्पूर्ण कपड़े की जिल्द तथा पक्की अंग्रेजी सिलाई ने ग्रन्थ को और अधिक चमत्कृत कर दिया है। यह ग्रन्थ भी भारत सरकार से सम्मानित हो चुका है। यह भाग २३ × ३६ ÷ १६ आकार के ७५० पृष्ठों में समाप्त हुआ है। मूल्य लागत से भी कम केवल तीस रुपये।

इस भाग के विषय में **श्री पं० चारुदेव जी शास्त्री** पाणिनीय लिखते हैं—

"इतनी विस्तृत व्याख्या आज तक कभी नहीं हुई। यह अद्वितीय ग्रन्थ है। यह व्याख्या न केवल बालकों अपितु उपाध्यायों के लिए भी उपयोगी है। शब्दसिद्धि सर्वत्र स्फटिकवत् स्फुट और हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष, परिपूर्ण और असन्दिग्ध है कि इस के ग्रहण के लिए अध्यापक की अपेक्षा नहीं रहती। कौमुदीस्थ प्रत्येक धातु की अविकलरूपेण सूत्राद्युपन्यासपूर्वक सविस्तर सिद्धि दी गई है। व्याख्यांश में भी यह कृति अत्यन्त उपकारक है। स्थान-स्थान पर धात्वर्थप्रदर्शन के लिए साहित्य से उद्धरण दिये गये हैं। धातूपसर्गयोग को भी बहुत सुन्दर काव्यनाटकों से उद्धृत उदाहरणों से स्पष्ट किया गया है। यह इस कृति की अपूर्वता है। इस व्याख्या के प्रणयन में शास्त्री जी ने अथाह प्रयत्न किया है। महाभाष्य, न्यास, पदमञ्जरी आदि का वर्षों तक अवगाहन करके उन्होंने यह व्याख्या लिखी है—।"

इस भाग के विषय में दिल्ली का **नवभारत टाइम्स** लिखता है—

"संस्कृत व्याकरण के अध्ययन में कौमुदी ग्रन्थों का अपना स्थान है। प्रायः लघुकौमुदी से ही व्याकरण का आरम्भ किया जाता है। परन्तु इस ग्रन्थ का समझना आसान नहीं है। छात्रों के लिए यह ग्रन्थ वज्र के समान कठोर है। प्रस्तुत ग्रन्थ में श्रीभीमसेनशास्त्री ने इस की हिन्दी व्याख्या की है। व्याख्याकार राजधानी के सुप्रसिद्ध वैयाकरण हैं। इस व्याख्या को देखकर हम दावे के साथ कह सकते हैं कि ऐसी व्याख्या लघु तो क्या, सिद्धान्तकौमुदी की भी नहीं प्रकाशित हुई। इस व्याख्या का प्रथम भाग आज से बीस वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था। तब इसका भारी स्वागत हुआ था। जनता को उस के उत्तरार्द्ध भाग की व्याख्या की तभी से उत्कट लालसा रही है। लेखक ने अब इसे प्रकाशित कर जहां छात्रों का उपकार किया है, वहां शिक्षकों, प्राध्यापकों को भी उपकृत किया है। इस में लेखक का गहन अध्ययन, कठोर परिश्रम

तथा विद्वत्ता स्थान-स्थान पर प्रकट होते ही हैं। छात्रोपयोगी किसी भी विषय का विवेचन छोड़ा नहीं गया। यह इस की बड़ी भारी विशेषता है। इस भाग में तिङन्त-प्रकरण (दशगण तथा एकादश प्रक्रियाओं) का अत्यन्त विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है। यह प्रकरण धातुसम्बन्धी होने से व्याकरण का प्राण है। इस में प्रत्येक धातु के दस लकारों की ससूत्र प्रक्रिया साध कर उनकी सारी रूपमाला भी दी गई है। इससे विद्यार्थियों को धातुरूपावलियों की आवश्यकता नहीं रहती। छः सौ के करीब टिप्पणियां तथा साढ़े चार सौ से अधिक उपसर्गयोग इस ग्रन्थ की अपनी अपूर्व विशेषता है। इन के लिए व्याख्याकार ने महान् श्रम कर विपुल संस्कृत-साहित्य से जो डेढ़ हजार के करीब अत्यन्त सुन्दर संस्कृत की सूक्तियों का चयन किया है। वह स्तुत्य है। सैंकड़ों उपयोगी शंका समाधान तथा णिजन्त, सन्नन्त, यङन्त भावकर्म आदि अर्थ सहित कई शतक विद्यार्थियों के लिए निश्चय ही उपयोगी सिद्ध होंगे। इस ग्रन्थ की उत्कृष्टता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि अकेली भूधातु पर ही विद्वान् व्याख्याकार ने ६० पृष्ठों में अपनी व्याख्या पूर्ण की है।

संक्षेप में इस व्याख्या को लघुकौमुदी का महाभाष्य कह सकते हैं। यह ग्रंथ न केवल छात्रों, परीक्षार्थियों तथा उपाध्यायों, अध्यापकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा बल्कि अनुसंधान में रुचि रखने वालों के लिए भी परमोपयोगी एवं सहायक सिद्ध होगा। इसे पढ़ने से जहां व्याकरण जैसे शुष्क विषय में सरसता पैदा होती है वहां अनुसंधान कार्य को भी बढ़ावा मिलता है। हिन्दी में ऐसे ग्रंथ स्वागत योग्य हैं।" (२६.८.७१)

"लघु-सिद्धान्त-कौमुदी—भैमीव्याख्या"

(तृतीय एवं चतुर्थ भाग—प्रेस में)

भैमीव्याख्या के अन्तिम तृतीय तथा चतुर्थ भाग शीघ्र छपने जा रहे हैं। तृतीय भाग में कृदन्त और कारक एवं चतुर्थ भाग में समास तद्धित और स्त्रीप्रत्यय का विस्तृत वैज्ञानिक तुलनात्मक विवेचन किया गया है। कृदन्तप्रकरण में तव्यत्-अनीयर् प्रत्ययान्तों, क्त्वाप्रत्ययान्तों, ल्यबन्तों और तुमुन्नन्तों की सार्थ विस्तृत तालिका देखते ही बनती है। क्त और क्तवतु प्रत्ययान्तों की तालिका भी बड़े यत्न से संगृहीत की गई है। यह भाग काव्यादि के सुन्दर उदाहरणों से यत्र तत्र ओत-प्रोत है। स्थान-स्थान पर अनुसंधानोपयोगी विशेष टिप्पण और शंका-समाधान दिये गये हैं। कारक-प्रकरण को पर्याप्त लम्बा और स्पष्ट किया गया है। इस के स्पष्टीकरणार्थ मूलातिरिक्त अन्य अनेक सूत्र भी सार्थ सोदाहरण दिये गये हैं। इस प्रकरण का बालोपयोगी शुद्धाशुद्धविवेचन विशेष उपयोगी है। समास और तद्धितप्रकरण का इतना विस्तृत व्याख्यान पहली बार इस व्याख्या में उपलब्ध हुआ है। प्रत्येक प्रकरण के अन्त में अभ्यास दिये गये हैं। स्त्रीप्रत्ययों पर छात्रोपयोगी विस्तृत तालिका इस व्याख्या की अपनी विशेषता है। ग्रन्थ के अन्त में अनुसन्धानोपयोगी नाना प्रकार के परिशिष्ट बड़े काम की वस्तु हैं।

"वैयाकरण-भूषण-सार—भैमीभाष्योपेत"
(धात्वर्थनिर्णयान्त)

वैयाकरण-भूषणसार वैयाकरणनिकाय में लब्धप्रतिष्ठ ग्रन्थ है। व्याकरण के दार्शनिक सिद्धान्तों के ज्ञान के लिये इस का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतएव एम्० ए०, आचार्य, शास्त्री आदि व्याकरण की उच्च परीक्षाओं में यह पाठ्यग्रन्थ के रूप में स्वीकृत किया गया है। परन्तु इस ग्रन्थ पर हिन्दी भाषा में कोई भी सरल व्याख्या आज तक नहीं निकली—हिन्दी तो क्या अन्य भी किसी प्रांतीय व विदेशी भाषा में इसका अनुवाद तक उपलब्ध नहीं। विश्वविद्यालयों के छात्र तथा उच्च कक्षाओं में व्याकरण विषय को लेने वाले विद्यार्थी प्रायः सब इस ग्रन्थ से त्रस्त थे। परन्तु अब इस के विस्तृत आलोचनात्मक सरल हिन्दीभाष्य के प्रकाशित हो जाने से उनका भय जाता रहा। छात्रों व अध्यापकों के लिये यह ग्रन्थ समानरूपेण उपयोगी है। इस ग्रन्थ के गूढ़ आशयों को जगह-जगह वक्तव्यों व फुटनोटों में भाष्यकार ने भली भांति व्यक्त किया है। भैमीभाष्यकार व्याकरणक्षेत्र में लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् हैं, तथा वर्षों से व्याकरण के पठनपाठन का अनुभव रखते हैं। अतः छात्रों व अध्यापकों के मध्य आने वाली प्रत्येक छोटी-से-छोटी समस्या को भी उन्होंने खोलकर रखने में कोई कसर नहीं छोड़ी। जगह-जगह वैयाकरणों और मीमांसकों के सिद्धान्त को खोलकर तुलनात्मक-रीत्या प्रतिपादित किया गया है। इस भाष्य की महत्ता इसी से व्यक्त है कि अकेली दूसरी कारिका पर ही विद्वान् भाष्यकार ने लगभग साठ पृष्ठों में अपना भाष्य समाप्त किया है। विषय को समझाने के लिये अनेक चार्ट दिये गये हैं जैसे—वैयाकरणों और नैयायिकों का बोधविषयक चार्ट, धातु की साध्यावस्था और सिद्धावस्था का चार्ट, प्रसज्य और पर्युदास प्रतिषेध का चार्ट आदि। पूर्वपीठिका में भाष्यकार ने व्याकरण के दर्शन-शास्त्र का विस्तृत क्रमबद्ध इतिहास देकर मानो सुवर्ण में सुगन्ध का काम किया है। ग्रन्थ के अन्त में अनुसन्धानप्रेमी छात्रों के लिये सात परिशिष्ट तथा आदि में विस्तृत विषयानुक्रमणिका दी गई है जो अनुसन्धान-क्षेत्र में अत्यन्त काम की वस्तु हैं। वस्तुतः व्याकरण में एक अभाव की पूर्ति भाष्यकार ने की है। इस भाष्य की प्रशंसा में देश-विदेश के विद्वानों के प्रशंसा-पत्र धड़ाधड़ आ रहे हैं। **भारत सरकार द्वारा यह ग्रन्थ सम्मानित हो चुका है।** ग्रन्थ का मुद्रण बढ़िया मैप्लीथो कागज़ पर अत्यन्त शुद्ध व सुन्दर ढंग से छः प्रकार के टाइपों में किया गया है। सुन्दर बढ़िया सम्पूर्ण कपड़े की जिल्द तथा पक्की अंग्रेज़ी सिलाई ने ग्रन्थ को और अधिक चमत्कृत कर दिया है। मूल्य २५ रुपये।

"नवभारत टाइम्स" इस ग्रन्थ की आलोचना करता हुआ लिखता है—

"ग्रन्थ के भावों और गूढ़ आशयों को व्यक्त करने वाले पदे-पदे वक्तव्यों और पादटिप्पणों से लेखक का गम्भीर अध्ययन व श्रम स्पष्ट झलकता है। पञ्चमी और त्रयोदशी कारिकाओं पर अकर्मक और सकर्मक धातुओं के लक्षण का आशय जैसा इस भाष्य में स्पष्ट किया गया है अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। इस तरह के अन्य भी

शतशः स्थल उदाहरण रूप में प्रस्तुत किये जा सकते हैं। शास्त्रीजी की शैली अध्येताओं व पाठकों के मन में उत्पन्न होने वाली सम्भावित शंकाओं को बटोर-बटोर कर ध्वस्त करने की क्षमता रखती है। द्वितीय कारिका की व्याख्या का लगभग सत्तर पृष्ठों में समाप्त होना ज्वलन्त प्रमाण है। हिन्दी में इस प्रकार के यत्न स्तुत्य हैं।"

(९ मार्च, १९६९)

बम्बई विश्वविद्यालय के संस्कृतविभाग के अध्यक्ष **डाक्टर त्र्यम्बक गोविन्द माईणकर** लिखते हैं—

"Students of Grammar will always remain indebted to Bhim Sen Shastriji for his very valuable help available in his commentary. I wish Bhim Sen Shastriji writes similar commentaries on other works in the field of Grammar and renders service both to the subject of his love and to the world of students and scholars I once again congratulate him."

अर्थात् श्रीभीमसेन शास्त्री के इस बहुमूल्य व्याख्यान को पाकर व्याकरण के विद्यार्थी उन के सदा ऋणी रहेंगे। मैं चाहता हूं कि शास्त्री जी इस प्रकार की व्याख्यायें व्याकरण के अन्य ग्रन्थों पर भी प्रकाशित करते हुए विद्यार्थियों तथा अनुसन्धानप्रेमियों का उपकार करेंगे। मैं शास्त्री जी को उनके इस कार्य के लिए पुनः बधाई देता हूं।

डा० सत्यव्रत जी शास्त्री व्याकरणाचार्य, प्रोफेसर एवं संस्कृतविभागाध्यक्ष, दिल्ली विश्वविद्यालय लिखते हैं—

"वैयाकरणभूषणसार ग्रन्थ के क्लिष्ट शब्दावली में लिखा होने के कारण विद्यार्थियों को इसे समझने में बहुत कठिनाई हो रही थी। इसी कठिनाई को दूर करने की सदिच्छा से प्रेरित हो सुप्रसिद्ध वैयाकरण पं० भीमसेन शास्त्री ने हिन्दी में इसकी सरल और सुबोध व्याख्या लिखी है। शास्त्री जी का व्याकरणशास्त्र का अध्ययन अति गहन है। विषय स्पष्टातिस्पष्ट हो, इस विषय में सतत उद्योगशील रहे हैं। इसका यह परिणाम है कि उन की व्याख्या में गहराई भी है और विशदता भी। यह व्याख्या विद्वानों के लिए एवं विद्यार्थियों के लिए एक समान उपयोगी है।"

स्व० श्री पण्डित **कुबेरदत्तजी शास्त्री व्याकरणाचार्य** प्रिंसिपल श्री राधाकृष्ण संस्कृतमहाविद्यालय, खुर्जा लिखते हैं—

"वैयाकरणभूषणसार पर विशद भैमीभाष्य को पाकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। ऐसा परिश्रम हिन्दी में प्रथम बार हुआ है। यह भाष्य न केवल विद्यार्थियों व परीक्षार्थियों के लिए अपितु अध्यापकों के लिए भी अत्यन्त उपयोगी है। व्याख्यान की शैली नितान्त हृदयहारिणी तथा स्तुत्य है। व्याकरण के अन्य दार्शनिक ग्रंथों की भी इसी शैली में उन्हें व्याख्या करनी चाहिये। मैं शास्त्री जी को उनकी सरल कृति पर बधाई देता हूं।"

डा० रामचन्द्र जी द्विवेदी प्रोफेसर एवं संस्कृतविभागाध्यक्ष, जयपुर यूनिवर्सिटी अपने एक पत्र में लिखते हैं—

"I gratefully acknowledge receipt of a copy of the Vaiyakarana-Bhusana-Sara. Your knowledge of the grammar is profound and subtle and the world of scholars expect many such good works from your pen."

अर्थात् **"आप का व्याकरणविषयक ज्ञान गम्भीर एवं व्यापक है। विद्वत्समाज आप की लेखनी से इस प्रकार की अनेक सुन्दर कृतियों की आशा करता है।"**

गुरुकुल झज्झर के आचार्य तपोमूर्ति **श्रीभगवान्देवजी आर्य** लिखते हैं—

"आप का परिश्रम स्तुत्य है। छात्रों के लिए इस ग्रन्थ का आर्यभाषानुवाद कर के आपने महान् उपकार किया है। आप को अनेकशः बधाइयां।"

बालमनोरमा-भ्रान्ति-दिग्दर्शन

[लेखक—वैद्य भीमसेन शास्त्री M. A. Ph. D. साहित्यरत्न]

श्री भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्तकौमुदी पर श्री वासुदेव दीक्षित की बनाई हुई बालमनोरमा टीका सुप्रसिद्ध छात्रोपयोगी ग्रन्थ है। पिछली अर्धशताब्दी में इसके कई संस्करण मद्रास, लाहौर, बनारस और दिल्ली आदि महानगरों में अनेक दिग्गज विद्वानों के तत्त्वाधान में प्रकाशित हो चुके हैं। परन्तु शोक से कहना पड़ता है कि इन स्वनामधन्य विद्वान् सम्पादकों ने इस ग्रन्थ के साथ ज़रा भी न्याय नहीं किया, इसे पढ़ने तक का भी कष्ट नहीं किया। यही कारण है कि इस में अनेक हास्यास्पद और घिनौनी अशुद्धियां दृष्टिगोचर होती हैं। इस से पठन-पाठन में बहुत विघ्न उपस्थित होता है। इस शोधपूर्ण लघु निबन्ध में बालमनोरमाकार की कुछ सुप्रसिद्ध भ्रान्तियों की सयुक्तिक समीक्षा प्रस्तुत की गई है। आप इस शोधपत्र को पढ़ कर मनोरंजन के साथ-साथ प्रक्रियामार्ग में अन्धानुकरण न करने तथा सदैव सजग रहने की भी प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं। इसमें स्थान-स्थान पर विद्वानों की प्रमादपूर्ण सम्पादन कला पर भी अनेक चुभती चुटकियां ली गई हैं। यह निबन्ध प्रकाशकों, सम्पादकों, अध्यापकों एवं विद्यार्थियों सब की आंखों को खोलने वाला एक समान उपयोगी है। हिन्दी में इस प्रकार का साहसपूर्वक प्रयत्न पहली बार किया गया है। अनेक प्रकार के टाइपों में मैप्लीथो कागज पर छपे सुन्दर शोधपत्र का मूल्य—पांच रुपये केवल।

प्रत्याहारसूत्रों का निर्माता कौन ?

[लेखक—वैद्य भीमसेन शास्त्री M.A. Ph. D. साहित्यरत्न]

इस शोधपूर्ण लघु निबन्ध में प्रत्याहार सूत्रों (अइउण् आदि) के निर्माता के विषय में खूब ऊहापोहपूर्वक पूर्ण विचार किया गया है। दर्जनों नये प्रमाणों का युक्तियुक्त विवेचन पहली बार इस विषय पर प्रस्तुत किया गया हैं। एक बार इसे पढ़ जाइये आप अन्धविश्वास के घेरे से अपने आपको अवश्य मुक्त पाएंगे। अनेक प्रकार के टाइपों में मैप्लीथो कागज पर छपे सुन्दर शोधपत्र का मूल्य—पांच रुपये केवल।

न्यास—पर्यालोचन

[A CRITICAL STUDY OF JINENDRA BUDDHI'S NYASA]

यह ग्रन्थ काशिका की प्राचीन सर्वप्रथम व्याख्या काशिकाविवरणपञ्चिका अपरनाम न्यास पर लिखा गया बृहत्काय शोधप्रबन्ध है जिसे **दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा** पी० एच्० डी० की उपाधि के लिये स्वीकृत किया गया है। यह शोधप्रबन्ध वैद्य भीमसेन शास्त्री द्वारा कई वर्षों के निरन्तर अध्ययन स्वरूप बड़े परिश्रम से लिखा गया है। इसमें कई प्रचलित धारणाओं का खुल कर विरोध किया गया है। जैसे न्यासकार को अब तक बौद्ध समझा जाता है परन्तु इसमें उसे पूर्णतया वैदिकधर्मी सिद्ध किया गया है। यह शोधप्रबन्ध छः अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में न्यास और न्यासकार का सामान्य परिचय देते हुए न्यासकार का काल, निवास-स्थान, न्यास का वैशिष्ट्य, न्यास की प्रसन्नपदा प्रवाहपूर्णा शैली तथा न्यास और पदमञ्जरी का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। द्वितीय अध्याय में 'न्यास के ऋणी उत्तर-वर्त्ती वैयाकरण' नामक अत्यन्त शोधपूर्ण नवीन विषय प्रस्तुत किया गया है। इस में केवल पाणिनीय वैयाकरणों को ही नहीं लिया गया अपितु पाणिनीतर चान्द्र, जैनेन्द्र, कातन्त्र, शाकटायन, भोजकृत सरस्वतीकण्ठाभरण, हैमशब्दानुशासन, मलयगिरिशब्दा-नुशासन, संक्षिप्तसार, मुग्धबोध तथा सारस्वत इन दस प्रमुख व्याकरणों को भी सम्मिलित किया गया है। तृतीयाध्याय में 'उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों द्वारा न्यास का खण्डन' नामक अपूर्व विषय प्रतिपादित है। इस में उत्तरवर्त्ती वैयाकरणों द्वारा की गई न्यासकार की आलोचनाओं पर कारणनिर्देशपूर्वक युक्तायुक्तरीत्या खुल कर विचार उपस्थित किये गये हैं। चतुर्थ अध्याय में 'न्यास की सहायता से काशिका का पाठसंशोधन' नामक महत्त्वपूर्ण विषय का वर्णन है। इसमें काशिका ग्रन्थ की अद्यत्वे मान्य सम्पादकों (?) द्वारा हो रही दुर्दशा का विशद प्रतिपादन करते हुए उसके अनेक अशुद्ध पाठों का न्यास के आलोक में सहेतुक शुद्धीकरण प्रस्तुत किया गया है। पञ्चम अध्याय में न्यासकार की भ्रान्तियों तथा न्यास के एक सौ भ्रष्ट-पाठों का विस्तृत लेखा-जोखा उपस्थित किया गया है। छठा अध्याय अनेक नवीन बातों से उपबृंहित उपसंहारात्मक है। व्याकरण का यह ग्रन्थ पाणिनीय व पाणिनीतर व्याकरण के क्षेत्र में अपने ढंग का सर्वप्रथम किया गया अनूठा ज्ञानवर्धक प्रयास है। यह ग्रन्थ प्रत्येक पुस्तकालय के लिए संग्राह्य है तथा व्याकरणशास्त्र में शोधकार्य करने वाले शोधच्छात्रों के लिए नितान्त उपयोगी है। सुन्दर मैप्लीथो कागज़, पक्की अंग्रेज़ी सिलाई, स्क्रीनप्रिंटिड, आकर्षक मजबूत जिल्द से सुशोभित ग्रन्थ का मूल्य—केवल एक सौ रुपये।

प्राप्तिस्थान—

भैमी प्रकाशन

५३७ लाजपतराय मार्केट, (दीवान हाल के सामने)

दिल्ली—११०००६

BHAIMI PRAKASHAN

(1) LAGHU SIDDHANT KAUMUDI—BHAIMI VYAKHYA PART-I

Bhaimi Vyakhya of Shri Bhim Sen Shastri is unique and first of its kind published in Hindi, in its detailed and scientific exposition of the Laghu Siddhant Kaumudi. The fact that part-I (पूर्वार्ध) runs into more than 600 pages (large size), speaks for the pains-taking nature, depth of learning and experience of the author. He has left no stone unturned to make the subject as simple and easy to grasp as possible for the students and to achieve this aim, he has combined traditional method with the modern and scientific method of teaching and analysis.

The author has taken great pains to bring home to students the meaning of the Sutras without the help of Vrittis. At the end of each section have been appended excercises, prepared with great care and caution to remove the doubts of studens. Declensions of all the words mentioned in the L. S. K. have been given in the Bhaimi Vyakhya. This does away with the need to have a separate Roopmala. The author has also given a list of about 2000 words with meanings. These include many rare and uncommon words. This is a real help in translation. The unique feature of the publication is the section on Avyaya (अव्यय), which has been acclaimed by eminent scholars and erudite pandits as an original contribution to the subject. The several indexes at the end are very useful.

The language of the work is very simple and lucid. The difficult and knotty points have been handled deftly. On controversial subjects, the views of all the well-known authorities have been quoted. The author is not a blind follower of tradition in matter of interpretation and meaning of Sutras. Wherever he

differs, he gives convincing arguments in support of his own view, which gives a stamp of his deep study, research and vast teaching experience. Bhaimi Vyakhya in short is a self-tutor and is of immense help to teachers and research scholars. For a book of about 650 pages of large size, the price of Rs. 30/- is extremely low.

(2) LAGHU SIDDHANT KAUMUDI—BHAIMI VYAKHYA PART-II

Part-II of Bhaimi Vyakhya on Laghu Siddhant Kaumudi deals with the तिङन्त section which is known as the backbone of Sanskrit grammar. The work is an original commentary in the traditional style, which combines the modern scientific technique of exposition and comparative analysis. The work is unique in the प्रक्रिया portion. The author has given detailed प्रक्रिया of about 1500 verbal forms besides conjugations of more than 300 verbs in all the ten tenses and moods. The use and meaning of different उपसर्गs in combination with verbs has been illustrated in about 1000 quotations taken from the famous Sanskrit works. For the benefit of students, exercises have been given at the end of each sub-section. The causal, desiderative, intensive and denominative verbal forms have been ably explained. One hundred illustrations of each of these forms have been given with meaning. The inclusion of well-known controversies, with the view point of each side and author's own, is a special feature of the work. In many places, the author has offered new solutions to difficult problems left un-attended even by Varadaraja himself. At the end of the publication have been appended six indexes, of which special mention may be made of no. 5.

This voluminous work running into 750 pages has been priced Rs. 30/- only which is very low, keeping in view its technical excellence and the labour involved in bringing out in such a publication.

(3) LAGHU SIDDHANT KAUMUDI—BHAIMI VYAKHYA PART-III-IV

The last two parts of the Bhaimi Vyakhya on **L.S.K.** are being readied for the press. Like the first two parts these parts too

deal in great details with कृदन्त, कारक, समास, तद्धित and स्त्रीप्रत्यय and contain excellent material for research scholars. The section on Karakas has been elaborated by inclusion of a sufficient number of new Sutras not found in the original L.S.K. of Varadaraja. The exposition of Samas and Taddhit has also been done at such a great length for the first time. As in the fiirst two parts, exercises have been added at the end of each sub-section.

(4) VAIYAKARAN BHUSHAN SARA

Vaiyakaran Bhushan Sara of Kaundbhatt is an important treatise of Sanskrit grammar and occupies a special position for its exposition of the principles of philosophy of grammar. This has been prescribed as a text-book for M.A., Acharya, Shastri etc. degrees. The work is quite a difficult one and at places incomprehensible for even the brilliant students. This is evident from the fact that till recently no translation of V.B.S. in English, Hindi or any other language of country (except in Sanskrit) was available. The Bhaimi Bhashya of Shri Bhim Sen Shastri has filled this long felt need. Bhim Sen Shastri is an eminent Sanskrit scholar and grammar is dear to his heart. He has been teaching Sanskrit grammar for more than 3 decades and through his researches has carved out a place for himself in the field. This is borne out by the commentary on the धात्वर्थ-निर्णय of V.B.S. This commentary has won him laurels from whithin and outside the country and has been given recognition by the Government of India too. The explanations of the knotty points in simple and flowing language are remarkable. His style of raising the doubt and putting forth its solution is commendable. Particularly praiseworthy are elucidations of Karikas 2, 5 and 13. At the end of the book, the author has given indexes which are very useful for teachers, students and reasearch scholars. Dr Satya Vrat Shastri, Professor and Head of Sanskrit Department, Delhi University has contributed a scholarly introduction.

The book has been printed very nicely on maplitho paper and is clothbound. This makes it very useful, particularly for libraries. It is priced only Rs. 25/- which is considered on the low side keeping in view the prices of research work of comparative merit.

(5) A STUDY OF NYASA

Recently the famous research work of Shastriji under the caption 'Nyasa Paryalochana' (in Hindi) has been published. This is an original contribution towards the study of 'Kasika-Vivarana-Panjika' also known as 'Nyasa' the earliest known commentary on 'Kasika' and it has been accepted for the award of Ph.D. degree by the University of Delhi. Infact, it is the result of Shastriji's many years' continuous study and loving labour. Several current notions have been boldly contradicted. For example, Nyasakara is still believed to be a Buddhist, but in this thesis several evidences have been put forward to show that he was a follower cf Vedic religion.

The thesis is divided into six chapters. The first chapter, while giving general introduction to the Nyasa and its author, deals with the latter's time and place, the salient features of Nyasa, its elegant and fluent style and a comparatiive study of Nyasa and Hardatta's Padamanjari.

The second chapter deals with entirely a new research subject 'Later Grammarians' indebtedness to Nyasa'. This discusses not only Paninian grammars but also includes the ten main non-Paninian grammars, viz. Chandra, Jainendra, Katantra, Sakatayana, Saraswatikanthabharan, Hemchandra's Sabdanusasana, Malayagiri-sabdanusasana, Sankshiptasara, Mugdhabodha & Sarasvata.

The third chapter entitled 'Refutation of Nyasa by Later Grammarians' discusses another topic not touched upon earlier by anyone. Here the author examines the later grammarians' criticisms of Nyasakara by presenting in elaborated details the reasons for their soundness or otherwise.

The forth chapter deals with an important issue 'Correction of Kasika-texts in the context of Nyasa'. The author has pointed out at length the grave mistakes committed by the modern eminent scholars in editing Kasika and has offered rectification of several of its incorrect texts with justifications in the context of Nyasa.

The fifth chapter gives a detailed account of the misconceptions of Nyasakara and an hundred incorrect readings.

The sixth chapter gives the conclusion adding several new facts.

In the field of Paninian and non-Paninian grammars this work is most reliable and uniquely informative first attempt of its own kind. Needless to say, this publication is a must for every library and is exceedingly useful for research scholars in the field of Sanskrit grammar.

The book is printed on fine maplitho paper and is clothbound costing Rs. 100/- only. (PP. 20+432)

(6) BALMANORMA BHRANTI-DIGDARSHAN

This research paper in Hindi by Shri Bhim Sen Shastri points out the glaring mistakes and contradictions, which are eyesores to both students and teachers, in the various editions of Balmanorama edited by eminent scholars from different centres in the country. The author through convincing arguments has established that these learned scholars have not only not taken any pains to edit the work carefully but have blindly followed each other, not noticing even the self-evident errors. The paper is priced Rs. 5/-

(7) PRATYAHAR SUTRORN KA NIRMATA KAUN ?
(Who is the author of Pratyahar aphorisms ?)

It is for the first time the problem of the authoship of the Pratyahar Sutras has been analysed in such depth. The learned author has furnished many convincing arguments and produced numerous documentary evidence in support of his theory. The essay is an eye-opener to those who are easily let astray by blind faith. The paper is priced Rs. 5/-

These books can be had of—

BHAIMI PRAKASHAN
537, Lajpat Rai Market, (Opp. : Diwan Hall)
DELHI-110006

हमारे प्रकाशनों के प्राप्ति-स्थल

१. मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स प्रा० लि०
रानी झांसी रोड, नई दिल्ली

२. मोतीलाल बनारसीदास, बंगला रोड,
जवाहरनगर, दिल्ली-११०००७

३. चौखम्बा ओरियण्टालिया
बंगलो रोड, दिल्ली-११०००७

४. विश्वेश्वरानन्द बुक एजेन्सी
साधु आश्रम, होशियारपुर

५. चौखम्बा विद्याभवन
चौक, वाराणसी

६. चौखम्बा विश्वभारती
चौक, वाराणसी

७. मोतीलाल बनारसीदास
अशोक राजपथ, पटना

किसी भी प्रकार की असुविधा होने पर आप हमें लिखें—

मैमी प्रकाशन
५३७, लाजपतराय मार्केट
दिल्ली-११०००६

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी

भैमीव्याख्या

(तृतीय भाग)

भीमसेन शास्त्री

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी

भैमीव्याख्या

[तृतीय भाग]

[कृदन्त-कारक-प्रकरणम्]

भीमसेन शास्त्री

एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्यरत्न

- प्राप्ति-स्थान -

भैमी प्रकाशन

५३७, लाजपतराय मार्केट, दिल्ली-११०००६

प्रकाशक :
नचिकेता भाटिया
6442, मुखर्जी स्ट्रीट
गान्धीनगर, दिल्ली-110031

LAGHU-SIDDHĀNTA KAUMUDĪ-BHAIMĪ VYĀKHYĀ
Part III, Fourth Edition 2008

लघुसिद्धान्तकौमुदी भैमीव्याख्या
तृतीय भाग, चतुर्थ संस्करण २००८

मूल लेखक : **भीमसेन शास्त्री (1920-2002)**

मुख्य वितरक :
भैमी प्रकाशन
537, लाजपतराय मार्केट
दिल्ली-110006

मूल्य : तीन सौ पच्चीस रुपये केवल
Price : Rs. Three hundred twentyfive only.

मुद्रक : **राधा प्रेस**, गान्धीनगर,
दिल्ली-110031

॥ ओ३म् ॥

लघुसिद्धान्तकौमुद्या भैमीव्याख्याविभूषितः ।
तार्तीयस्तन्यते भागः कृदन्तकारकात्मकः ॥

अनुपासितवृद्धानां विद्या नातिप्रसीदति ।

(वाक्यपदीय २.४८७)

जिन लोगों ने ज्ञानवृद्धों की उपासना नहीं की, उनकी विद्या फलती फूलती नहीं –(**महावैयाकरण भर्तृहरि**) ।

ऋग्वेद में व्याकरणमहिमा–

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य ।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्याँ आ विवेश ॥

(ऋग्वेद ४.५८.३)

***

अर्थ :–मनुष्यों में एक बैल घुस गया है जो दिव्य गुणों से युक्त महान् देव है । इस के चार सींग, तीन पैर, दो सिर और सात हाथ हैं । यह तीन स्थानों पर बन्धा हुआ बार बार शब्द करता है* । इस शब्द देवता के साथ अपना सायुज्य स्थापित करने के लिए हमें व्याकरण पढ़ना चाहिए । **–पतञ्जलि (महाभाष्यकार)**

---

*चार सींग–नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात । तीन पैर–भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान तीन काल । दो सिर–नित्य और अनित्य शब्द। सात हाथ–सात विभक्तियां । बन्धे रहने के तीन स्थान–छाती, कण्ठ और सिर ।

आत्म-निवेदन

लघुसिद्धान्तकौमुदी की भैमीव्याख्या का यह तृतीयखण्ड व्याकरण-जिज्ञासुओं के आगे प्रस्तुत करते मुझे अपार हर्ष हो रहा है । इस में संदेह नहीं कि इस खण्ड को तैयार करने में पर्याप्त समय लगा है परन्तु कोई भी पाठक इसे पढ़ कर कम से कम इतना अवश्य अनुभव करेगा कि इस के प्रणयन में काफी परिश्रम किया गया है ।

कृदन्त-कारक-प्रकरणात्मक यह खण्ड भी पहले खण्डों की तरह सब प्रकार की विशेषताओं से संवलित है । प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद, विभक्ति, अनुवृत्ति, समास, परिभाषाजन्य विशेषता तथा पदों से निकला अर्थ दे कर पुनः उस की सरल शब्दों में व्याख्या प्रस्तुत की गई है। वरदराज ने इस सूत्र का ऐसा अर्थ क्यों और कैसे किया है—इसे समझाने का पूरा पूरा प्रयास किया गया है । उदाहरणार्थ **आधारोऽधिकरणम्** (९०२) सूत्र पर वरदराज ने इस का अर्थ इस प्रकार लिखा है—**कर्तृकर्मद्वारा तन्निष्ठक्रियाया आधारः कारकमधिकरणं स्यात्** । यह अर्थ सूत्र के पदों से कैसे निकला—इसे आप इस व्याख्या में अच्छी तरह समझ सकते हैं ।

मूल लघुकौमुदी में आने वाले प्रत्येक रूप का अर्थ या विग्रह दर्शाते हुए उस की पूर्ण सिद्धि तो दी ही गई है परन्तु उस रूप के अतिरिक्त अन्य अनेक उदाहरण भी विशाल संस्कृत वाङ्मय से यथासम्भव प्रत्येक सूत्र पर संगृहीत किये गये हैं जिस से सूत्र का विषय पूरी तरह जिज्ञासुओं के हृदयंगम हो सके । संक्षेप में कहें तो इस खण्ड में मूल उदाहरणों के अतिरिक्त लगभग तीन सहस्र अन्य नये उदाहरण अर्थसहित दिये गये हैं । आवश्यक स्थानों पर फुटनोटों में प्रायः शास्त्रीय टिप्पणियां भी साथ दे दी गई हैं।

इस व्याख्या में लघुकौमुदी की प्रत्येक पंक्ति का भाव स्पष्ट करने में कोई कसर छोड़ी नहीं गई । प्रायः टीकाकार लघुकौमुदी के जिन स्थलों को छोड़ देते या नाममात्र का अनुवाद या टिप्पणी कर देते हैं वहां इस व्याख्या में उन उन स्थानों का पूरा पूरा विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है । उदाहरणार्थ लघुकौमुदी के इन स्थलों को देखें—**अतः क्विँप्** (पृ० २२३); **क्तिन्नपीष्यते** (पृ० २१८); **लँडित्यनुवर्त्तमाने पुनर्लड्ग्रहणात् प्रथमासामानाधिकरण्येऽपि क्वचित्** (पृ० १२५); **तेनाप्रथमासामानाधिकरण्ये प्रत्ययोत्तरपदयोः सम्बोधने लक्षणहेत्वोश्च नित्यम्** (पृ० १३९) **केचिदविहिता अप्यूह्याः** (पृ० १७०); **अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा** (पृ० ३०८); **कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव** (पृ० ३२७); **परिमाणमात्रे—द्रोणो व्रीहिः** (पृ० २९९) इत्यादि । आप इस व्याख्या में इन के विवरण को देख कर अवश्य ही सन्तुष्ट हो जायेंगे ऐसी व्याख्याकार को पूरी आशा है ।

व्युत्पन्न विद्यार्थियों के मन में स्थान स्थान पर उठने वाली शङ्काओं को भी दे कर उन का इस व्याख्या में समाधान प्रस्तुत किया गया है। यथा—**ईद्यति** (७७४); **चजोः कु घिण्यतोः** (७८१), **दो दद् घोः** (८२७) आदि सूत्रों का इस व्याख्या में अवलोकन करें।

लघुकौमुदीकार के सूक्ष्म इङ्गितों की ओर इस व्याख्या में विशेष ध्यान दिया गया है। यथा—**अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः०** (८७८) सूत्र पर वरदराज ने जहां 'अलम्' का उदाहरण 'अलं दत्त्वा' दिया है वहां 'खलु' का उदाहरण 'खलु पीत्वा' न दे कर 'पीत्वा खलु' दिया गया है। यहां विपरीतक्रम क्यों किया गया है? इस का समाधान आप इस व्याख्या में यथास्थान देख सकते हैं।

ग्रन्थकार की विसङ्गतियों की ओर भी इस व्याख्या में प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है। यथा **ल्वादिभ्यः** (८१८) की वृत्ति में ग्रन्थकार ने ल्वादियों की संख्या २१ दी है परन्तु प्वादियों में केवल एक धातु के बढ़ जाने से उस की संख्या **प्वादीनां ह्रस्वः** (६९०) पर चौबीस गिनाई गई है—यह विसङ्गति कैसी? आप को इस का यथेष्ट सन्तोषप्रद उत्तर इस व्याख्या में यथास्थान मिलेगा। इसी प्रकार लघुकौमुदी के अशुद्ध पाठों की भी इस व्याख्या में ऊहापोह की गई है। यथा—**पचो वः** (८२२) सूत्र पर '**क्षै क्षये**' पाठ, **ऋल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद् वाच्यः** (वा० ५०) वार्तिक पर '**पूनिः**' पाठ का विवरण इस व्याख्या में द्रष्टव्य है।

प्रायः प्रत्येक प्रसिद्ध प्रत्यय के लिये संस्कृतवाङ्मय से चुनी हुई सुन्दर उक्तियों, सुभाषितों या प्रयोगों से भी इस व्याख्या को विभूषित करने का प्रयास किया गया है। लगभग छः सौ से भी अधिक सुन्दर उक्तियां इस में संगृहीत की गई हैं। ये सब वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण, सूत्रग्रन्थ, मनुस्मृति, रामायण, महाभारत, पुराण, महाकाव्य, नाटक, भट्टिकाव्य, पञ्चतन्त्र, हितोपदेश, भर्तृहरि-शतकत्रय आदियों से संकलित की गई हैं। कठिन उक्तियों का प्रायः हिन्दी में अर्थ भी दिया गया है। इस का उद्देश्य व्याकरण में भी काव्यों की तरह रसवत्ता का अनुभव कराना है।

सुप्रसिद्ध अनेक प्रत्ययों के लिये छात्रों के लिये उपयोगी कई विशाल शब्दसूचियां अर्थ और टिप्पणी सहित अकारादिक्रम से इस में जोड़ी गई है। इस सूचियों में लगभग अढ़ाई हज़ार से अधिक शब्दों का संग्रह है। कुछ प्रधान सूचियां इस प्रकार हैं—

(१) तव्यत्-तव्य-अनीयर् प्रत्ययान्त शब्दसूची (कुल शब्द २०५)।
(२) क्त-क्तवतुँप्रत्ययान्त शब्दसूची (कुल शब्द २५०)।
(३) शतृँ प्रत्ययान्त शब्दसूची (कुल शब्द १५२)।
(४) शानच्प्रत्ययान्त शब्दसूची (कुल शब्द १०२)।
(५) उणादिप्रत्ययान्त शब्दसूची (कुल शब्द १००)।
(६) तुमुँन्प्रत्ययान्त शब्दसूची (कुल शब्द ३११)।
(७) ल्युट्प्रत्ययान्त शब्दसूची (कुल शब्द २७५)।
(८) क्त्वाप्रत्ययान्त शब्दसूची (कुल शब्द ३५०)।

(६) ल्यप्प्रत्ययान्त शब्दसूची (कुल शब्द ३५०) ।

आशा है विद्यार्थियों को अनुवाद आदि में इन से बहुत लाभ होगा ।

कारकप्रकरण लघुकौमुदी में केवल १६ सूत्रों तक ही सीमित है जो स्पष्टतः बहुत अपर्याप्त है । इस व्याख्या में इन सोलह सूत्रों की विस्तृत व्याख्या करते हुए अन्त में अत्युपयोगी लगभग पचास अन्य सूत्रों की भी सोदाहरण सरल संक्षिप्त व्याख्या दी गई है । इस प्रकार इस व्याख्या में कारकप्रकरण के ६५ सूत्र व्याख्यात हुए हैं । कुल मिला कर लघुकौमुदी का कारकप्रकरण इस में ५६ पृष्ठों में व्याख्यात हुआ है, आशा है इस से आरम्भिक जिज्ञासु अवश्य लाभान्वित हो सकेंगे ।

पहले भागों की तरह इस भाग में भी प्रत्येक अवान्तर प्रकरण के अन्त में प्रयाससाध्य अभ्यास जुटाए गये हैं । इन में लगभग २०० प्रश्न पूछे गये हैं । ये प्रश्न आधुनिक परीक्षा के प्रश्नों की तरह नहीं हैं । इन प्रश्नों के उत्तर इसी व्याख्या में ही निहित हैं । इस व्याख्या के अवगाहन से ही विद्यार्थी उन प्रश्नों का उत्तर पा सकते हैं ।

इस भाग में भी पूर्ववत् प्रत्येक प्रत्यय के अनुबन्धों का प्रयोजन बतलाना इस व्याख्या का मुख्य लक्ष्य रहा है। इस से विद्यार्थियों को पाणिनि के अन्तस्तल तक पहुंचने का अवसर प्राप्त होता है और वे पाणिनीयशास्त्र के महत्त्व को हृदयंगम कर लेते हैं ।

ये हैं इस व्याख्या के कुछ उद्दिष्ट लक्ष्य । लेखक कहां तक अपने उद्देश्य में सफल हुआ है इस का निर्णय वा परीक्षण करना पाठकों का ही काम है ।

इस व्याख्या के संशोधक प्रसिद्ध वैयाकरण श्री पं० चारुदेव जी शास्त्री एम्० ए०, एम्० ओ० एल्० (पाणिनीय) रहे हैं। शास्त्री जी ने इस भाग के प्रायः प्रत्येक शब्द को पढ़ कर अनेक स्थानों पर अपने अनुभवपूर्ण टिप्पण तथा संशोधन सुझाए हैं —मैं वयोवृद्ध शास्त्रीजी का चिर कृतज्ञ हूं ।

इस ग्रन्थ के मुद्रण तथा प्रूफ़संशोधन में सर्वाधिक सहयोग देने वाले मेरे दो पुत्र ही रहे हैं—श्रीपतञ्जलिकुमार शास्त्री एम्० ए०, एम्० फिल् तथा अश्विनीकुमार विद्यार्थी । इन दोनों के प्रयत्न से ही यह ग्रन्थ पाठकों तक इस रूप में पहुँच सका है ।

आज की महर्घता में जहां काग़ज़ और छपाई आदि के दाम आकाश को छू रहे हैं–इस पुस्तक का मुद्रण कराना कोई आसान कार्य नहीं है, पुनरपि जैसे कैसे यह कार्य सम्पन्न हो सका है–इस की मुझे प्रसन्नता है । यदि कृपालु पाठकों का सहयोग रहा तो इस के अन्तिम तीन भाग (समास, तद्धित, स्त्री–प्रत्यय) भी शीघ्र मुद्रित हो सकेंगे । इति शम् ।

मुकर्जी स्ट्रीट — सुरभारती-समुपासक
गांधीनगर, दिल्ली-३१ — **भीमसेन शास्त्री**
वियजदशमी (११.१०.१९८०)

द्वितीय संशोधित संस्करण (२००१ ई०)

विषय-सूची

श्रीमद्वरदराजाचार्य्यप्रणीता

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी

श्रीभीमसेनशास्त्रिनिर्मितया भैमीव्याख्ययोद्भासिता

[तृतीयो भागः]

—:o:—

पाणिन्यादिमुनीन् वन्दे नीरक्षीरविवेकिनः ।
यत्कृपालेशतः कृत्स्ना देववाणी प्रकाशते ॥१॥
लघुसिद्धान्तकौमुद्या भैमीव्याख्याविभूषितः ।
कृदन्तादिरयम्भागस्तार्तीयस्तन्यते मया ॥२॥
यत्नस्यास्य महत्त्वं मे कृतिः संवक्ष्यति स्वयम् ।
न हि कस्तूरिकामोदः शपथेन विभाव्यते ॥३॥

—:o:—

अथ कृदन्तप्रकरणम्

अब कृदन्तप्रकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

व्याख्या—**सुप्तिङन्तं पदम्** (१४) के अनुसार पीछे सुबन्त और तिङन्त प्रकरणों का वर्णन हो चुका है । सुबन्तों का पूर्वार्ध और तिङन्तों का उत्तरार्ध के प्रथम भाग में । अब **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) के अनुसार प्रथम कृदन्त (कृत् + अन्त) प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

कृत् यह प्रत्ययविशेषों की संज्ञा है । इस का वर्णन पीछे **कृदतिङ्** (३०२) सूत्र पर कर चुके हैं । वहां पर क्विप्, क्विन्, कञ् आदि कुछ कृत्प्रत्ययों का विधान भी किया गया था परन्तु वह सब प्रासङ्गिक था । अब उन का विधिवत् प्रकरण प्रस्तुत

किया जा रहा है । कृदन्तों का ज्ञान विद्यार्थियों के लिये अत्यावश्यक है । इन के ज्ञान से अनुवाद तथा भाषण आदि में संस्कृत की सुषमा बहुत निखरती है । यथा **सोऽगमत्, सोऽपश्यत्** इन तिङन्त प्रयोगों के स्थान पर **स गतः, स गतवान्, तेन दृष्टम्, स दृष्टवान्** आदि कृदन्तों का प्रयोग बहुत सुन्दर प्रतीत होता है[1] । हितोपदेश, पञ्चतन्त्र तथा संस्कृतनाटक आदियों का अधिकांश भाग इन कृदन्तप्रयोगों से भरा पड़ा है । अतः आरम्भिक विद्यार्थियों को इन के ज्ञान से बहुत लाभ पहुंच सकता है । किञ्च यह प्रकरण विशेष कठिन भी नहीं है । यहां तिङन्तप्रकरण की तरह अनेक प्रकार के सूत्रों से रूप सिद्ध नहीं किया जाता अपितु प्रायः तीन-चार सूत्रों से ही प्रयोग सिद्ध हो जाता है । हम ने इस प्रकरण को पूर्ववत् पूरे यत्न से खोलने का प्रयास किया है। विद्यार्थी वा जिज्ञासु यदि थोड़ा सा भी यत्न करेंगे तो इस प्रकरण में शीघ्र निष्णात हो कर लाभान्वित हो सकेंगे ।

अथ कृदन्ते कृत्यप्रक्रिया

अब कृदन्तों के वर्णन में प्रथम कृत्यप्रक्रिया का प्रकरण प्रारम्भ होता है—

[लघु०] अधिकारसूत्रम्—**(७६६) धातोः ।३।१।९१॥**

आ तृतीयाध्यायसमाप्तेर्ये प्रत्ययास्ते धातोः परे स्युः । कृदतिङ् (३०२) इति कृत्सञ्ज्ञा ॥

अर्थः—यहां से ले कर अष्टाध्यायी में तृतीय अध्याय की समाप्ति पर्यन्त जिन प्रत्ययों का वर्णन किया गया है वे धातु से परे हों । **कृदतिङ्** (३०२) सूत्र से इन प्रत्ययों की कृत्सञ्ज्ञा होती है ।

व्याख्या—धातोः ।५।१। 'प्रत्ययः' 'परश्च' दोनों का अधिकार आ रहा है । यह भी अधिकारसूत्र है । इस का अधिकार अष्टाध्यायी में तृतीयाध्याय की समाप्ति-पर्यन्त जाता है—ऐसा महाभाष्य में स्वीकार किया गया है । अर्थः—(प्रत्ययाः) यहां से ले कर तृतीयाध्याय की समाप्ति पर्यन्त कहे जाने वाले प्रत्यय (धातोः) धातु से (पराः) परे होते हैं । इन प्रत्ययों में तिङ् प्रत्यय भी आ जाते हैं यद्यपि वे भी धातु से परे होते हैं तथापि **कृदतिङ्** (३०२) सूत्र में 'अतिङ्' की व्यवस्थानुसार तिङ्प्रत्ययों को छोड़ कर अन्य प्रत्ययों की ही कृत्सञ्ज्ञा होती है[2] । अतिङ् में नञ् पर्युदास अर्थ में

---

१. **एकतिङ् वाक्यम्** के अनुसार प्रत्येक वाक्य में एक तिङन्त अवश्य होता है, सो यहां भी स गतोऽस्ति, स गत आसीत्, तेन दृष्टमस्ति, तेन दृष्टमासीत् इत्यादि पूर्ण वाक्य समझना चाहिए । तिङन्त के अनायास गम्यमान होने से इसे छोड़ दिया जाता है ।

२. ध्यान रहे कि सन्, क्यच्, काम्यच्, क्यङ्, क्यष्, आचारक्विप्, णिच्, यङ्, यक्, आय, णिङ्, सिच्, क्स, स्य, तास्, शप्, श्यन्, श, श्ना, श्नम्, आदि कुछ प्रत्यय

है। कृत्संज्ञा करने का प्रयोजन **कर्तरि कृत्** (७६९) आदि सूत्रों के द्वारा कृत्प्रत्ययों का अर्थनिर्देश करना तथा **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) द्वारा कृदन्तशब्दों की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा का विधान करना है। प्रातिपदिकसंज्ञा के कारण ही कृदन्तों से सुप्प्रत्ययों की उत्पत्ति होती है। तिङ् की कृत्संज्ञा नहीं होती अतः तिङन्तों की प्रातिपदिकसंज्ञा न होने से उन से परे सुपों की उत्पत्ति भी नहीं होती।

कुछ लोग यहां अष्टाध्यायी में शङ्का करते हैं कि इस **धातोः** अधिकार के चलाने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। क्योंकि पीछे इसी पाद में **धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्** (७११) सूत्र से 'धातोः' का अनुवर्तन हो ही रहा है अतः उसी से यहां का कार्यनिर्वाह भी हो सकता है—परन्तु उन का यह कथन युक्त नहीं है। कारण कि **आर्धधातुकं शेषः** (४०४) आदि सूत्रों में दो बार 'धातोः' पदों की आवश्यकता पड़ती है वरन् वहां 'धातोरिति विहितः' यह अर्थ नहीं हो सकता तब 'लूभ्याम्' 'लूभिः' इत्यादियों में भी इट् की अनिष्ट प्राप्ति होती—इस का विवेचन उसी सूत्र (४०४) पर पीछे सविस्तर किया जा चुका है।

अब कृदन्तप्रकरण की एक अत्यावश्यक बहुव्यापृत परिभाषा का अवतरण करते हैं—

[लघु०] परिभाषासूत्रम्—**(७६७) वाऽसरूपोऽस्त्रियाम् ।३।१।९४।।**

अस्मिन् धात्वधिकारेऽसरूपोऽपवादप्रत्यय उत्सर्गस्य बाधको वा स्यात् स्त्र्यधिकारोक्तं विना ।।

अर्थः—इस उपर्युक्त धात्वधिकार में असमानरूप वाला[1] अपवादप्रत्यय उत्सर्ग का बाधक विकल्प से हो, परन्तु यह बात स्त्र्यधिकार के प्रत्ययों में लागू नहीं होती।

व्याख्या—वा इत्यव्ययपदम्। असरूपः ।१।१। अस्त्रियाम् ।७।१। तत्र इत्यव्ययपदम् (**तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** से)। समानं रूपं यस्य स सरूपः, **ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचनबन्धुषु** (६.३.८४) इति समानस्य सभावः, बहुव्रीहिसमासः। न सरूपः—असरूपः, नञ्समासः। किसी प्रत्ययविशेष का निर्देश न होने से इस परिभाषा को सामान्यतया उत्सर्ग-अपवादविषयक ही माना जाता है अतः 'उत्सर्गस्य बाधकः' का अध्याहार कर लिया जाता है। अर्थः—(तत्र) पूर्वोक्त 'धातोः' के अधिकार में (असरूपः) असमानरूप वाला अपवाद प्रत्यय (उत्सर्गस्य बाधकः) उत्सर्ग का बाधक (वा) विकल्प से हो। (अस्त्रियाम्[2]) परन्तु यह नियम स्त्र्यधिकार

इस धात्वधिकार से पहले ही अष्टाध्यायी में कहे गये हैं। उन की कृत्संज्ञा नहीं होती। यदि उन की कृत्संज्ञा हो जाये तो तदन्तों से भी सुप्प्रत्ययों की उत्पत्ति होने लगे जो अनिष्ट है।

१. अपवादप्रत्यय की असमानरूपता उत्सर्गप्रत्यय की अपेक्षा से समझनी चाहिए।

२. 'अस्त्रियाम्' पर स्वरित का चिह्न है अतः **स्वरितेनाधिकारः** (१.३.११) के नियमानुसार यहां 'स्त्री' से स्त्र्यधिकार ग्रहण किया जाता है। तृतीयाध्याय के

में प्रवृत्त नहीं होता । तात्पर्य यह है कि वैसे तो अपवाद (विशेष) सर्वत्र उत्सर्ग (सामान्य) का बाधक होता है[१] परन्तु इस धात्वधिकार में वह उत्सर्ग का बाध विकल्प से किया करता है पक्ष में उत्सर्ग की भी प्रवृत्ति हो जाती है । उदाहरण यथा—

तव्यत्तव्यानीयरः (७७१) द्वारा धातुमात्र से तव्यत् तव्य और अनीयर् सामान्य प्रत्यय विधान किये गये हैं । **अचो यत्** (७७३) द्वारा अजन्त धातुओं से विहित यत् प्रत्यय इन का अपवाद है । परन्तु प्रकृतपरिभाषा के कारण यह अपवाद विकल्प से प्रवृत्त होगा पक्ष में तव्यत् आदि भी हो जायेंगे । चेयम् (यत्), चेतव्यम् (तव्यत् या तव्य), चयनीयम् (अनीयर्) । जेयम् (यत्), जेतव्यम् (तव्यत् या तव्य), जयनीयम् (अनीयर्) । देयम् (यत्), दातव्यम् (तव्यत् या तव्य), दानीयम् (अनीयर्) ।

इसी प्रकार तव्यत् तव्य और अनीयर् इन सामान्य प्रत्ययों का **ऋहलोर्ण्यत्** (७८०) से विहित ण्यत् प्रत्यय अपवाद है पर वह अपवाद प्रकृतपरिभाषा के कारण विकल्प से प्रवृत्त होगा, पक्ष में तव्यत् आदि भी हो जायेंगे—कार्यम् (ण्यत्), कर्त्तव्यम् (तव्यत् या तव्य), करणीयम् (अनीयर्) । त्याज्यम् (ण्यत्), त्यक्तव्यम् (तव्यत् या तव्य), त्यजनीयम् (अनीयर्) । हार्यम्, हर्तव्यम्, हरणीयम् ।

ण्वुल्तृचौ (७८४) द्वारा विहित ण्वुल् और तृच् सामान्य प्रत्यय हैं । इन का **इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः** (७८७) से विहित 'क' प्रत्यय अपवाद है । प्रकृतपरिभाषा के कारण यह अपवाद विकल्प से प्रवृत्त होगा पक्ष में ण्वुल् और तृच् भी हो जायेंगे— बुधः (क), बोधकः (ण्वुल्), बोद्धा (तृच्)[२] । क्षिपः (क), क्षेपकः (ण्वुल्), क्षेप्ता

अन्तर्गत **स्त्रियां क्तिन्** (३.३.९४) से लेकर **आक्रोशे नञ्यनिः** (३.३.११२) तक का प्रसिद्ध अधिकार पढ़ा गया है उसी का यहां ग्रहण अभीष्ट है । कुछ लोग चतुर्थाध्यायस्थ 'स्त्रियाम्' (४.१.३) यह स्त्रीप्रत्ययों वाला अधिकार समझते हैं । यह उन की भूल है ।

१. सामान्यविधि को उत्सर्ग तथा विशेषविधि को अपवाद कहते हैं । विशेष सामान्य का बाधक होता है और यह उचित भी है । सामान्यविधि विशेषविधि के विषय को छोड़ कर अन्यत्र प्रवृत्त होती है । जैसा कि कहा गया है—**प्रकल्प्य (परित्यज्य) चापवादविषयं तत उत्सर्गोऽभिनिविशते** । लोक में भी यह देखा जाता है 'ब्राह्मणेभ्यो दधि दीयतां तक्रं कौण्डिन्याय', ब्राह्मणों को (ब्राह्मणमात्र को) दही दिया जाये और कुण्डिनगोत्रज ब्राह्मण को तक्र (मठा) दिया जाये, ऐसा कहने पर सामान्यविधि से प्राप्त दधिदान विशेषविहित तक्रदान से बाधित हो जाता है । कौण्डिन्य ब्राह्मण को दही नहीं दिया जाता, तक्र ही दिया जाता है । अतः अपवाद उत्सर्ग को नित्य बाधता है ।

२. यहां पर दैवादिक **बुध अवगमने** इस अनिट् धातु का प्रयोग किया गया है, यदि भौवादिक बुध धातु का प्रयोग होगा तो धातु के सेट् होने से 'बोधिता' रूप बनेगा ।

(तृच्) । ज्ञः (क), ज्ञायकः[1] (ण्वुल्), ज्ञाता (तृच्) । प्रियः (क)[2], प्रायकः (ण्वुल्), प्रेता (तृच्) । किरः (क), कारकः (ण्वुल्), करिता-करीता[3] (तृच्) ।

इसी तरह ण्वुल् तृच् इन सामान्य प्रत्ययों का **नन्दि-ग्रहि-पचादिभ्यो ल्यु-णिन्यचः** (७८६) द्वारा ग्रह्यादियों से विहित णिनिँप्रत्यय अपवाद है । परन्तु प्रकृतपरिभाषा के कारण यह अपवाद विकल्प से प्रवृत्त होगा, पक्ष में ण्वुल्-तृच् भी हो जायेंगे ; ग्रह् —ग्राही (णिनिँ), ग्राहकः (ण्वुल्), ग्रहीता (तृच्)[4] ।

परन्तु अपवादों का वैकल्पिकत्व तभी होता है जब वे उत्सर्ग के साथ असरूप हों अर्थात् अपवाद और उत्सर्ग का रूप एक-जैसा न हो, भिन्न-भिन्न हो । ध्यान रहे कि यह असरूपता प्रत्ययों से अनुबन्धों को हटा कर ही देखनी चाहिये[5] । यथा **कर्मण्यण्** (७६०) द्वारा विहित अण् प्रत्यय उत्सर्ग है, **आतोऽनुपसर्गे कः** (७६१) द्वारा विधान किया गया 'क' प्रत्यय उसका अपवाद है । यहां अपवाद वैकल्पिक बाध नहीं करेगा अपितु उत्सर्ग का नित्य ही बाध करेगा । कारण कि 'अण्' और 'क' दोनों सरूप = एक जैसे रूप वाले प्रत्यय हैं । अनुबन्धों को हटा कर दोनों का 'अ' रूप ही शेष रहता है । कम्बलं ददातीति—कम्बलदः, गां ददातीति—गोदः । इन में केवल अपवाद 'क' प्रत्यय ही हुआ है ।

अचो यत् (७७३) सामान्यसूत्र है । इस का **ऋहलोर्ण्यत्** (७८०) अपवाद है । पर यत् (य) ण्यत् (य) असरूप प्रत्यय नहीं अतः यहां ण्यत् प्रत्यय नित्य बाध करेगा । कृ—कार्यम्, हृ—हार्यम् । यत् प्रत्यय न होगा ।

इसीप्रकार—**अचो यत्** (७७३) का **एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्** (७७६) द्वारा विधीयमान क्यप् प्रत्यय अपवाद है । पर यत् (य) और क्यप् (य) समान रूप वाले प्रत्यय हैं अतः अपवाद नित्य बाध करेगा—इत्यः, स्तुत्यः, वृत्यः, आदृत्यः ।

ऋहलोर्ण्यत् (७८०) का **पोरदुपधात्** (७७५) अपवाद है । पर ण्यत् (य) यत् (य) सरूप प्रत्यय हैं अतः अपवाद द्वारा उत्सर्ग का नित्य बाध होगा— लभ्यम् ।

यह परिभाषा **स्त्रियां क्तिन्** (८६३) के अधिकार में प्रवृत्त नहीं होती । अतः वहां अपवाद चाहे उत्सर्ग के साथ असरूप भी क्यों न हो उत्सर्ग का नित्य ही बाधक होता है । उदाहरण यथा —

स्त्रियां क्तिन् (८६३) सामान्यसूत्र है । **अ प्रत्ययात्** (८६७) उस का अपवाद है । 'क्तिन्' और 'अ' यद्यपि परस्पर असरूप हैं तथापि अपवाद 'अ' उत्सर्ग 'क्तिन्' का बाध नित्य ही करेगा—चिकीर्षा । जिहीर्षा ।

---

१. ण्वुलि **आतो युँक् चिण्कृतोः** (७५७) इति युँक् ।

२. प्रीणातीति प्रियः । 'प्रायकः' और 'प्रेता' का भी यही अर्थ है पर प्रयोग दुर्लभ है ।

३. **वॄतो वा** (६१५) इत्यनेन इटो वा दीर्घः ।

४. **ग्रहोऽलिटि दीर्घः** (६६३) इतीटो दीर्घः ।

५. जैसाकि पाणिनीय परिभाषापाठ में कहा गया है—**नाऽनुबन्धकृतमसारूप्यम्** अर्थात् अनुबन्धों के कारण विरूपता नहीं माननी चाहिए ।

इस सूत्र पर निम्नलिखित चार बातें विद्यार्थियों को सदा ध्यान में रखनी चाहियें—

(१) उत्सर्ग और अपवाद सूत्रों के दोनों प्रत्यय **धातोः** (७६६) के अधिकार के अन्तर्गत हों।

(२) उन का रूप अनुबन्धों को हटाने के बाद विशुद्ध (Naked) अवस्था में समान न हो।

(३) वे दोनों अष्टाध्यायी के तृतीयाध्यायान्तर्गत **स्त्रियां क्तिन्** (३.३.६४) वाले अधिकार में न पढ़े गये हों।

यदि ये तीनों शर्तें पूरी हों तो—

(४) अपवाद विकल्प से उत्सर्ग का बाधक होगा अर्थात् पक्ष में उत्सर्ग की भी प्रवृत्ति हो जायेगी। अन्यथा वह नित्य ही बाधक होगा जैसाकि सर्वत्र हुआ करता है—

उत्सर्गे चापवादे च धातोरित्यधिकारता।
विमुक्तेष्वनुबन्धेषु न सारूप्यं क्वचिद् भवेत्॥
स्त्र्यधिकारे तृतीयेऽपि नान्तर्भावस्तयोर्यदि।
तदा विचिन्त्यतां भ्रातर् वाऽसौ सामान्यबाधकः॥

नोट—ध्यान रहे कि इस वाऽसरूपपरिभाषा की भी प्रवृत्ति कहीं कहीं नहीं होती। पाणिनीयव्याकरण में ये तीन परिभाषाएं सुप्रसिद्ध हैं—

(१) **ताच्छीलिकेषु वाऽसरूपविधिर्नास्ति।**

(२) **क्त-ल्युट्-तुमुन्-खलर्थेषु वाऽसरूपविधिर्नास्ति।**

(३) **लादेशेषु वाऽसरूपविधिर्नास्ति।**

इन की व्याख्या तथा उदाहरण व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखें।

अब 'कृत्य' संज्ञा विधान करने के लिये अग्रिम अधिकारसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] अधिकारसूत्रम्—(७६८) कृत्याः ३।१।९५॥

ण्वुल्तृचौ (७८४) इत्यतः प्राक् कृत्यसंज्ञाः स्युः॥

अर्थः—ण्वुल्तृचौ (३.१.१३३) सूत्र से पहले जितने प्रत्यय कहे गये हैं उन की कृत्यसंज्ञा हो।

व्याख्या—कृत्याः।१।३। यह अधिकारसूत्र है, इस का अधिकार अष्टाध्यायी में **ण्वुल्तृचौ** (३.१.१३३) सूत्र से पहले तक जाता है[1]। अर्थः—यहां से आगे (प्रत्ययाः) जो प्रत्यय कहे हैं वे (कृत्याः) कृत्यसंज्ञक हों। कृत्यसंज्ञा का उपयोग **तयोरेव कृत्य-क्त-खलर्थाः** (७७०), **कृत्य-ल्युटो बहुलम्** (७७२) आदि सूत्रों में आगे किया गया है।

---

१. **ण्वुल्तृचौ** (३.१.१३४) सूत्र इस अधिकार में नहीं आता अत एव काशिकाकार इस सूत्र को **कृत्याः प्राङ् ण्वुलः** इस प्रकार पढ़ते हैं।

ध्यान रहे कि कृत्यसंज्ञक प्रत्ययों की कृत्संज्ञा भी अक्षुण्ण रहती है । यहां एक-संज्ञा का अधिकार न होने से संज्ञाद्वय का समावेश अनायास सिद्ध हो जाता है । अष्टाध्यायी में (१) तव्यत्, (२) तव्य, (३) अनीयर्, (४) यत्, (५) क्यप्, (६) ण्यत्—ये छः प्रत्यय विविध सूत्रों द्वारा इस कृत्य के अधिकार में कहे गये हैं । वार्त्तिककार ने **केलिमर उपसंख्यानम्** द्वारा सातवां केलिमर् प्रत्यय भी प्रतिपादित किया है । इस प्रकार कृत्यप्रत्यय कुल सात हो जाते हैं—

तव्यं च तव्यतञ्चैवाऽनीयर्-केलिमरौ तथा ।
यतं ण्यतं क्यपं चापि कृत्यान् सप्त प्रचक्षते ॥[१]

अब कृत्यप्रत्ययों का अर्थ-निर्देश करने के लिये प्रथम सामान्यसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(७६९) कर्त्तरि कृत् ।३।४।६७॥

कृत्प्रत्ययः कर्तरि स्यात् । इति प्राप्ते—

अर्थः—कृत्सञ्ज्ञक प्रत्यय कर्त्ता अर्थ में हों । इस सूत्र के प्राप्त होने पर अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

व्याख्या—कर्त्तरि।७।१। कृत्।१।१। प्रत्ययः।१।१। (यह अधिकृत है)। अर्थः—(कृत्) कृत्संज्ञक (प्रत्ययः) प्रत्यय (कर्तरि) कर्त्ता अर्थ में होता है ।

कृत्संज्ञक प्रत्यय कर्त्ता अर्थ में हुआ करते हैं । जैसे ण्वुल् और तृच् कृत्संज्ञक प्रत्यय हैं अतः ये जिस जिस धातु से विधान किये जायेंगे उस उस के कर्त्ता को निर्दिष्ट करेंगे । यथा -- 'कृ' धातु से ण्वुल् (वु) प्रत्यय हो कर 'वु' को 'अक' आदेश तथा ऋकार को वृद्धि करने से 'कारकः' प्रयोग सिद्ध होता है । इस का अर्थ है—करोतीति कारकः अर्थात् 'करने वाला' । इसी प्रकार तृच् (तृ) प्रत्यय करने पर आर्धधातुक-निबन्धन गुण (३८८) हो कर 'कर्त्ता' प्रयोग निष्पन्न होता है। इस का भी अर्थ है—करोतीति कर्त्ता अर्थात् 'करने वाला' ।

तव्यत्, तव्य, अनीयर् आदि वक्ष्यमाण कृत्यप्रत्यय भी कृत्संज्ञक होते हैं, अतः वे भी प्रकृतसूत्र से कर्त्ता अर्थ में प्राप्त होते हैं । इस पर इस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है--

---

१. पाणिनि की इस 'कृत्य' संज्ञा का आश्रय ले कर कल्हण ने श्लेषद्वारा राज-तरङ्गिणी में एक सुन्दर श्लोक लिखा है—

नितान्तं कृतकृत्यस्य गुणवृद्धिविधायिनः ।
श्रीजयापीडदेवस्य पाणिनेश्च किमन्तरम् ॥ (राज० ४.६३५)

अर्थात् काश्मीरनरेश जयापीड और पाणिनि में अन्तर ही क्या है ? पाणिनि कृत्य (प्रत्यय) करता है, जयापीड भी कृत्य (कर्त्तव्य) कर चुका है । पाणिनि गुण-वृद्धि का विधान करता है जयापीड भी गुणवृद्धि (गुणों की वृद्धि) में निरन्तर तत्पर है ।

खल्

[लघु०] विधिसूत्रम्—**(७७०) तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः ।३।४।७०।।**

एते भावकर्मणोरेव स्युः ।।

अर्थः—कृत्यसंज्ञक प्रत्यय, क्त प्रत्यय तथा खलर्थ प्रत्यय भाव और कर्म में ही हों।

व्याख्या—तयोः ।७।२। एव इत्यव्ययपदम् । कृत्यक्तखलर्थाः ।१।३। प्रत्ययाः ।१।३। (**प्रत्ययः** इस अधिकृत का वचनविपरिणाम द्वारा) । इस सूत्र से पूर्व अष्टाध्यायी में **लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः** (३.१.६९) सूत्र पढ़ा गया है, अतः प्रकृत में 'तयोः' से पूर्वोक्त 'कर्मणि' और 'भावे' पदों की ही अनुवृत्ति होती है । कृत्याश्च क्तश्च खलर्थाश्च[1] कृत्य-क्त-खलर्थाः, इतरेतरद्वन्द्वसमासः । अर्थः—(कृत्यक्तखलर्थाः प्रत्ययाः) कृत्यप्रत्यय क्तप्रत्यय तथा खलर्थप्रत्यय (तयोः—भावे कर्मणि) भाव और कर्म में (एव) ही होते हैं । यदि धातु अकर्मक होगी तो ये प्रत्यय भाव में और यदि सकर्मक होगी तो ये प्रत्यय कर्म में होंगे[2] । इन के उदाहरण यथा—

(कृत्य)—तव्यत् तव्य अनीयर् आदि कृत्यप्रत्यय हैं । कर्तव्यः कटो भवता, करणीयः कटो भवता (आप से चटाई बनने योग्य है) । यहां कृ धातु सकर्मक है अतः कृत्यप्रत्यय कर्म में हुआ है । भवता शयितव्यम्, भवता शयनीयम् (आप को सोना चाहिये) । यहां शी धातु अकर्मक है अतः कृत्यप्रत्यय भाव में हुआ है ।

(क्त)—कृतो घटस्त्वया (तुझ से घड़ा बनाया गया है)। यहां 'कृ' धातु सकर्मक है अतः क्त प्रत्यय कर्म में किया गया है । भवता शयितम् (आप से सोया गया) । यहां शीङ् धातु अकर्मक है अतः क्तप्रत्यय भाव में किया गया है ।

(खलर्थ)—ईषत्करः कटो भवता, सुकरः कटो भवता (आप से चटाई बनाना आसान है)। यहां कृ धातु के सकर्मक होने से **ईषद्दुःसुषु०** (८७६) सूत्र द्वारा खल् प्रत्यय कर्म में किया गया है । दुर्जीवमपथ्यभुजा रोगिणा (कुपथ्य खाने वाले रोगी का जीवित रहना कठिन है) । यहां जीव् धातु अकर्मक है अतः पूर्वोक्तसूत्र से खल् प्रत्यय भाव मे किया गया है । इसी प्रकार युच् आदि अन्य खलर्थ प्रत्ययों के विषय में भी समझना चाहिये ।

यद्यपि यहां भाव और कर्म कृत्यप्रत्ययों के वाच्य प्रतिपादित किये गये हैं तथापि क्वचित् इन के साथ साथ इन से अन्य भी कुछ एक अर्थ द्योतित होते हैं । लघुसिद्धान्तकौमुदी में उन का कुछ उल्लेख नहीं किया गया पर विद्यार्थियों के लिये अत्युपयोगी होने से उन का यहां कुछ निर्देश आवश्यक प्रतीत होता है—

(क) **प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च** ।३।३।१६३।। प्रैष (अपने से निकृष्ट नौकर आदि को कार्य में लगाना), अतिसर्ग (किसी को इच्छानुसार काम करने की

---

१. खलोऽर्थः खलर्थः, खलर्थ एवार्थो येषां ते खलर्थाः । खलर्थ खल्, युच् आदि प्रत्यय आगे उत्तरकृदन्त में व्याख्यात हैं वहीं देखें ।

२. 'भावे चाऽकर्मकेभ्यः' इत्यनुवृत्तेस्सकर्मकेभ्यो भावे न सन्तीति बोध्यम् ।

तव्यत्_ तव्य अनीयर्

अनुमति देना) और प्राप्तकाल (जिस का समय आ चुका है ऐसी बात)—इन अर्थों के गम्य होने पर भी कृत्यों का प्रयोग होता है। उदाहरण यथा—

प्रैष में—जलमानेतव्यं त्वया (तुझे पानी लाना होगा), त्वयाऽत्र स्थातव्यम् (तुझे यहां ठहरना होगा)। यहां क्रमशः कर्म और भाव में कृत्य (तव्यत्) प्रत्यय हुआ है पर इस के साथ साथ यह भी द्योतित होता है कि किसी अपने से निकृष्ट को आदेश दिया जा रहा है,

अतिसर्ग में—भवता जलं पातव्यम् (आप को जल पीना चाहिये या यथेच्छ कुछ अन्य), भवता शयितव्यम् (आप को सोना चाहिये या यथेच्छ कुछ अन्य करना चाहिये)। यहां क्रमशः कर्म और भाव में कृत्यप्रत्यय हुआ है पर इस के साथ साथ अतिसर्ग अर्थात् यथेच्छ काम करने की अनुमति भी द्योतित होती है।

प्राप्तकाल में—त्वयेदानीं पलायितव्यम् (तुझे अब भागने का अवसर है), शयनं त्यक्तव्यं त्वया (शयन छोड़ने का तेरा समय है)। यहां क्रमशः भाव और कर्म में कृत्यप्रत्यय हुआ है पर इस के साथ साथ कार्य की प्राप्तकालता भी द्योतित होती है।

ध्यान रहे कि इन अर्थों में लोँट् का भी प्रयोग वैध है। जलमानय, अत्र तिष्ठ आदि।

(ख) **अर्हे कृत्यतृचश्च** (३.३.१६९) योग्य कर्त्ता गम्य या वाच्य हो तो धातु से कृत्य, तृच् और लिँङ् का प्रयोग होता है। उदाहरण यथा—त्वया कन्या वोढव्या (तव्य), त्वं कन्याया वोढा (तृच्), त्वं कन्यां वहेः (लिँङ्) (तुम कन्या को ब्याहने योग्य हो)।

(ग) **शकि लिँङ् च** (३.३.१७२)—यदि धातु के अर्थ की शक्यता (हो सकना) गम्यमान हो तो लिँङ् और कृत्य प्रत्ययों का प्रयोग होता है। उदाहरण यथा—भवता खलु भारो वोढव्यः, भवान् खलु भारं वहेत् (आप से भार उठाया जा सकता है)।

अब कृत्यप्रत्ययों का विधान करने के लिये अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(७७१) तव्यत्तव्यानीयरः ।३।१।९६॥

धातोरेते प्रत्ययाः स्युः। एधितव्यम्, एधनीयं त्वया। भावे—औत्सर्गिकमेकवचनं क्लीबत्वं च। चेतव्यश्चयनीयो वा धर्मस्त्वया॥

अर्थः—धातु से परे तव्यत् तव्य और अनीयर् प्रत्यय होते हैं। **भावे**—भाव में स्वाभाविक एकवचन और नपुंसकलिङ्ग हुआ करता है।

व्याख्या—तव्यत्तव्यानीयरः ।१।३। धातोः ।१।५। (यह अधिकृत है)। प्रत्ययाः ।१।३। पराः ।१।३। [**प्रत्ययः परश्च** अधिकारों से वचनविपरिणाम कर के]। तव्यत् च तव्यश्च अनीयर् च तव्यत्तव्याऽनीयरः, इतरेतरद्वन्द्वसमासः। अर्थः—(धातोः) धातु

से (पराः) परे (तव्यत्तव्यानीयरः) तव्यत् तव्य और अनीयर् (प्रत्ययाः) प्रत्यय होते हैं। किसी भी धातु से इन तीनों प्रत्ययों का समुदित प्रयोग लोक या वेद में कहीं नहीं देखा जाता अतः ये प्रत्यय पर्याय से होते हैं।

तव्यत् का अन्त्य तकार तथा अनीयर् का अन्त्य रेफ **हलन्त्यम्** (१) से इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं। तव्य और अनीय ही शेष रहता है। तव्यत् और तव्य के रूपों में कोई अन्तर नहीं पड़ता केवल उन की स्वरव्यवस्था में ही अन्तर पड़ता है। तव्यत्प्रत्ययान्त शब्द **तित्स्वरितम्** (६.१.१७९) से स्वरितान्त होते हैं परन्तु तव्य-प्रत्ययान्त शब्दों में 'तव्य' का 'त' **आद्युदात्तश्च** (३.१.३) सूत्र से उदात्त रहता है। अनीयर् में रेफ के इत् होने से **उपोत्तमं रिति** (६.१.२११) से अनीयर् का 'नी' उदात्त हो जाता है। लघुसिद्धान्तकौमुदी में स्वरप्रकरण नहीं है अतः विशेषजिज्ञासु इसे काशिका या सिद्धान्तकौमुदी में समझने का प्रयत्न करें।

तव्यत् तव्य और अनीयर् ये तीनों प्रत्यय **धातोः** (७६६) के अधिकार में पढ़े गये हैं अतः **कृदतिङ्** (३०२) से कृत्संज्ञक हैं। परन्तु **कृत्याः** (७६८) से कृत्यसञ्ज्ञक भी हैं। अतः **कर्तरि कृत्** (७६९) से यद्यपि इन को कर्त्ता में होना चाहिये था तथापि उस के अपवाद **तयोरेव कृत्य-क्त-खलर्थाः** (७७०) के अनुसार भाव और कर्म में ही होते हैं। धातु के अर्थ को ही भाव कहते हैं। भाव न तो स्त्री होता है और न पुंलिङ्ग अतः **सामान्ये नपुंसकम्** के अनुसार उस में नपुंसक लिङ्ग ही सम्भव है। इस के अतिरिक्त भाव सदा अद्रव्यरूप होता है, इस से उस में संख्या का योग उपपन्न नहीं होता अतः द्विवचन और बहुवचन नहीं होते केवल एकवचन का ही प्रयोग होता है। एकवचन का प्रयोग महाभाष्य में औत्सर्गिक या स्वाभाविक माना गया है वह विना संख्यायोग के भी हो सकता है [देखें भावकर्मप्रक्रिया पर एतद्विषयक हमारी एक टिप्पण]। जब प्रत्यय भाव में होता है तब कर्त्ता अनुक्त या अनभिहित रहता है, तब **कर्तृकरणयो-स्तृतीया** (८९५) सूत्र से उस में तृतीया विभक्ति हुआ करती है। उदाहरण यथा—

एधितव्यम् एधनीयं वा त्वया (तुझे बढ़ना चाहिये; तुम बढ़ने में समर्थ हो; तुम्हारा बढ़ने का अवसर है इत्यादि)। यहां 'एधँ वृद्धौ' (भ्वा० आत्मने० सेट्) धातु से अनुबन्धलोप कर भाव में **तव्यत्तव्यानीयरः** (७७१) से तव्यत् प्रत्यय किया गया है। तव्यत् प्रत्यय के तकार की इत्संज्ञा और लोप करने से 'तव्य' मात्र शेष रहता है—एध्+तव्य। **आर्धधातुकं शेषः** (४०४) से तव्यत् प्रत्यय आर्धधातुक है अतः **आर्ध-धातुकस्येड् वलादेः** (४०१) से उसे इट् का आगम हो कर—एध्+इट् तव्य=एध्+इतव्य='एधितव्य' यह कृदन्त शब्द बनता है। अब **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) सूत्र से इस की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर सुँ आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति होती है। भाव में नपुंसकलिङ्ग के प्रथमैकवचन में सुँ प्रत्यय लाकर **अतोऽम्** (२३४) से उसे अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप एकादेश करने पर 'एधितव्यम्' प्रयोग सिद्ध होता है। इस के कर्त्ता 'युष्मद्' में अनुक्त होने से तृतीयाविभक्ति होकर 'त्वया' बना। ध्यान रहे कि कर्त्ता चाहे कोई रहेगा तृतीयान्त रहेगा, हां उस के वचन में परिवर्त्तन

हो सकता है पर 'एधितव्यम्' अपरिवर्त्तित रहेगा । यथा—

एधितव्यं त्वया, एधितव्यं युवाभ्याम्, एधितव्यं युष्माभिः ।
एधितव्यं मया, एधितव्यम् आवाभ्याम्, एधितव्यम् अस्माभिः ।
एधितव्यं तेन, एधितव्यं ताभ्याम्, एधितव्यं तैः ।
एधितव्यं तया, एधितव्यं ताभ्याम्, एधितव्यं ताभिः ।
एधितव्यं पुरुषेण, एधितव्यं पुरुषाभ्याम्, एधितव्यं पुरुषैः । इत्यादि ।

तव्यप्रत्यय में भी 'तव्यत्' की तरह सिद्धि होती है केवल तकार का लोप नहीं होता ।

अनीयर् प्रत्यय आर्धधातुक तो है पर वलादि नहीं अतः इट् का आगम नहीं होता शेष प्रक्रिया पूर्ववत् जानें—एध्+अनीयर्=एध्+अनीय=एधनीय=एधनीयं त्वया, युवाभ्याम् इत्यादि ।

सकर्मक धातुओं से जब कर्म में तव्यत् तव्य और अनीयर् प्रत्यय किये जाते हैं तो कर्म उक्त या अभिहित हो जाता है तब उस में द्वितीया विभक्ति न हो कर **प्राति-पदिकार्थ०** (८८८) सूत्र से प्रथमा विभक्ति ही होती है । उदाहरण यथा—

'चिञ् चयने' (स्वा० उभय० अनिट्) धातु सकर्मक है अतः इस से कर्म में तव्यत् आदि प्रत्यय हो जाते हैं । तव्यत् और तव्य के वलादि आर्धधातुक होने से प्राप्त इट् का आगम **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (४७५) से निषिद्ध हो जाता है । अब **सार्वधातुकार्ध-धातुकयोः** (३८८) से आर्धधातुकनिबन्धन इग्लक्षण गुण कर सुबादियों की उत्पत्ति हो कर—'चेतव्यः' प्रयोग सिद्ध होता है । चेतव्यो धर्मस्त्वया मयाऽन्येन सर्वैर्वाऽस्माभिः । अनीयर् प्रत्यय में गुण हो कर **एचोऽयवायावः** (२२) से एकार को अयादेश हो जाता है —चयनीयो धर्मस्त्वया मयाऽन्येन वा । ध्यान रहे कि 'चेतव्य' या 'चयनीय' में कर्म में कृत्यप्रत्यय किया गया है अतः कर्म के अनुसार ही इनमें लिङ्ग विभक्ति और वचनों की व्य-वस्था होगी । यहां 'धर्मः' कर्म पुंलिङ्ग और प्रथमा का एकवचन था अतः 'चेतव्यः' और 'चयनीयः' में भी पुंलिङ्ग और प्रथमा का एकवचन हुआ है । कर्त्ता अनुक्त है अतः उस में **कर्तृकरणयोस्तृतीया** (८९५) से तृतीया विभक्ति हुई है । अनुक्त होने से उसका कृत्य-प्रत्ययान्त से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है अतएव उस के द्विवचनान्त व बहुवचनान्त होने पर भी 'धर्मः' और उस के विशेषण 'चेतव्यः' या 'चयनीयः' आदि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता । यथा—चेतव्यो धर्मो युवाभ्याम्, चेतव्यो धर्मो युष्माभिः । हां यदि कर्म द्विवचनान्त या बहुवचनान्त होगा तो कृत्प्रत्ययान्त भी तद्वत् वचन और लिङ्ग भी ग्रहण कर लेगा । यथा—त्वया पुस्तके पठितव्ये, अस्माभिः सम्माननीया गुरवः, त्वया पुष्पाणि चेतव्यानि ।[1]

---

१. ध्यान रहे कि यहां कृत्यप्रत्ययों के योग में अनुक्त या अनभिहित कर्त्ता में हम ने प्रसिद्धत्वात् तृतीयाविभक्ति के प्रयोग ही दिखाये हैं, परन्तु ऐसे स्थलों पर अनुक्त कर्त्ता में षष्ठीविभक्ति के प्रयोग भी हो सकते हैं । जैसा कि आचार्य पाणिनि ने कहा है—**कृत्यानां कर्तरि वा** (२.३.७१) अर्थात् कृत्यप्रत्ययों के योग में

केलिमर

तव्यत् तव्य और अनीयर् की सिद्धि में ध्यान देने योग्य कुछ बातें—

(१) तव्यत्, तव्य और अनीयर् प्रत्यय धातुमात्र से हो सकते हैं।

(२) तव्यत् और तव्य प्रत्यय वलादि आर्धधातुक हैं अतः यदि धातु सेट् होगी तो इन प्रत्ययों को इट् का आगम हो जाता है। धातु के अनिट् होने पर **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (४७५) से इट् का निषेध हो जाता है। अनीयर् प्रत्यय आर्धधातुक तो है पर वलादि नहीं अतः उसे इट् का आगम प्राप्त ही नहीं होता।

(३) तव्यत् तव्य और अनीयर् प्रत्ययों के परे होने पर यदि कोई प्रतिबन्ध नहीं तो गुण हो जाता है।[1]

(४) इट् और गुण से निपटने के बाद अवान्तर कार्य या सन्धि आदि कर के उसे कृदन्त शब्द बना कर तब उस से स्वादियों की उत्पत्ति करनी चाहिए। यदि भाव में प्रत्यय हुआ हो तो केवल नपुंसकलिङ्ग के प्रथमैकवचन में ही सिद्धि करनी पड़ती है, यदि कर्म में प्रत्यय हुआ हो तो कर्म के लिङ्गवचनानुसार विभक्ति लाई जाती है। स्त्रीलिङ्ग में टाप् आदि प्रत्यय लाये जाते हैं तब सुँ आदि की उत्पत्ति होती है। यथा—त्वया कन्या वोढव्या, अस्माभिः स्त्रियो बहु मन्तव्याः। द्वे अपि कन्ये दर्शनीये। इत्यादि।

अब तव्यत् आदियों के साथ एक अन्य प्रत्यय का भी विधान करने के लिए एक वार्तिक का अवतरण करते हैं—

[लघु०] वा०—(४६)[2] केलिमर उपसंख्यानम् ॥

पचेलिमा माषाः, पक्तव्या इत्यर्थः। भिदेलिमाः सरलाः, भेत्तव्या इत्यर्थः। **कर्मणि प्रत्ययः** ॥

अर्थः—तव्यत्तव्यानीयरः (७७१) सूत्र में केलिमर् प्रत्यय को भी पढ़ना चाहिए।

व्याख्या—केलिमरः ।६।१। उपसङ्ख्यानम् ।१।१। यह वार्त्तिक महाभाष्य में **तव्यत्तव्यानीयरः** (७७१) सूत्र पर पढ़ा गया है अतः तद्विषयक ही समझना चाहिए। अर्थः—तव्यत् आदि प्रत्ययों के साथ (केलिमरः) केलिमर् प्रत्यय का भी (उपसंख्यानम्) उपसंख्यान=परिगणन करना चाहिए।

केलिमर् प्रत्यय में आदि ककार **लशक्वतद्धिते** (१३६) से तथा अन्त्य रेफ

अनुक्त कर्ता में विकल्प से षष्ठीविभक्ति हो जाती है। पक्ष में **कर्तृकरणयोस्तृतीया** (८९५) से तृतीया। यथा—

चेतव्यो धर्मस्त्वया, चेतव्यो धर्मस्तव। एधनीयं त्वया, एधनीयं तव। गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणाम् (मेघदूत ७)।

१. कहीं कहीं पर प्रतिबन्ध भी हुआ करता है। यथा—कुट्+इट् तव्य=कुटितव्यम् यहां पर **गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन् ङित्** (५८७) सूत्र से तव्यत् के ङिद्वत् हो जाने से **क्ङिति च** (४३३) द्वारा लघूपधगुण का निषेध हो जाता है।

२. इस व्याख्या के द्वितीय भाग में चौंतीसवीं वार्त्तिक से आगे वार्त्तिकों के क्रमाङ्क में एक संख्या की वृद्धि अशुद्ध मुद्रित होती चली गई है। उसे पाठक ठीक कर लें। यहां से वार्त्तिक क्रमाङ्क पुनः शुद्ध कर दिया गया है।

कृत्य, ल्युट्

हलन्त्यम् (१) से इत्संज्ञक होकर लुप्त हो जाता है, 'एलिम' ही शेष रहता है।[1] उदाहरण यथा—

पचेलिमा माषाः (पकाने योग्य उड़द)। 'डुपचँष् पाके' (भ्वा० उभय० अनिट्) धातु के अनुबन्धों का लोप हो कर 'पच्' शेष रहता है। इस से केलिमर् प्रत्यय हो कर उस के अनुबन्धों का लोप कर 'पचेलिम' यह कृदन्त शब्द निष्पन्न होता है। इस का विशेष्य 'माषाः' है अतः तदनुसार लिङ्ग-विभक्ति-वचन लाने से 'पचेलिमा माषाः' सिद्ध होता है। यहां कर्म में केलिमर् किया गया है।

भिदेलिमाः सरलाः (तोड़ने या काटने के योग्य चीड़ के पेड़)। यहां 'भिदिर् विदारणे' (रुधा० उभय० अनिट्) धातु से केलिमर् प्रत्यय किया गया है। धातु के इर् का लोप करने पर—भिद्+केलिमर्=भिद्+एलिम। केलिमर् के कित्त्व के कारण **पुगन्तलघूपधस्य च** (४५१) से प्राप्त लघूपधगुण का **क्क्ङिति च** (४३३) से निषेध हो जाता है—भिदेलिम। अब इस कृदन्त शब्द से 'सरलाः' इस विशेष्य के अनुसार लिङ्ग और विभक्तिवचन लाने पर 'भिदेलिमाः सरलाः' सिद्ध होता है। यहां भी कर्म में प्रत्यय किया गया है। इसी प्रकार—'भवतेदम् अवधेलिमम्' आदि प्रयोग जान लेने चाहियें। यहां पर केलिमर् के कित्त्व के कारण **आतो लोप इटि च** (४८६) सूत्र से धा के आकार का लोप हुआ है।

नोट—काशिकाकार ने इस केलिमर् प्रत्यय को कर्मकर्त्ता अर्थ में माना है। उन के मतानुसार 'पचेलिमा माषाः' का अभिप्राय है—अपने आप पकने वाले उड़द अर्थात् ऐसे उड़द जो शीघ्र ही गल जाते हैं। इसी प्रकार 'भिदेलिमाः सरलाः' का अभिप्राय है—अपने आप टूटने वाले चीड़ के पेड़ अर्थात् ऐसे चीड़ के पेड़ जिन का तोड़ना बहुत आसान है। पर भाष्यकार ने इन उदाहरणों की व्याख्या के प्रसङ्ग में 'पक्तव्याः' और 'भेत्तव्याः' लिख कर यह सिद्ध कर दिया है कि यह प्रत्यय कर्म में होता है। भाव में इस प्रत्यय का प्रयोग निषिद्ध तो नहीं पर देखा कहीं नहीं गया। नारायणभट्ट ने प्रक्रियासर्वस्व के कृत्खण्ड में इस पर एक सुन्दर श्लोक लिखा है—

भिदेलिमानि काष्ठानि शालयोऽमी पचेलिमाः।
छिदेलिमा जीर्णरज्जुस्तृणजालं दहेलिमम्॥

अब कृत्यप्रत्ययों के विषय में एक सुप्रसिद्ध नियम का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधिसूत्रम्—**(७७२) कृत्यल्युटो बहुलम्।३।३।११३॥**

क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः
क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य
चतुर्विधं बाहुलकं[2] वदन्ति॥

---

१. ककार अनुबन्ध गुणवृद्धिनिषेध आदि के लिये तथा रेफ अनुबन्ध **उपोत्तमं रिति** (६.१.२११) स्वर के लिये है।

२. बहुलस्य भावो बाहुलकम्। **द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च** (५.१.१३२) इति मनोज्ञादित्वाद्

स्नात्यनेनेति स्नानीयं चूर्णम् ।
दीयतेऽस्मै—दानीयो विप्रः ॥

अर्थः— कृत्यप्रत्यय और ल्युट्प्रत्यय बहुल होते हैं । **क्वचिदिति**—सूत्रों के विधान को बारंबार समझ कर 'बहुल' के चार प्रकार वैयाकरण कहा करते हैं— (१) कहीं प्रवृत्त हो जाना; (२) कहीं प्रवृत्त न होना; (३) कहीं विकल्प से प्रवृत्त होना; (४) और कहीं कुछ और ही हो जाना ।

व्याख्या— कृत्यल्युटः ।१।३। बहुलम् ।१।१। कृत्याश्च ल्युट् च कृत्यल्युटः, इतरेतर-द्वन्द्वः । अर्थः—(कृत्यल्युटः) कृत्य तथा ल्युट् प्रत्यय (बहुलम्) बहुल होते हैं । 'बहुल' का अर्थ है—बहून् अर्थान् लाति=आदत्त इति बहुलम्[१] । अर्थात् अनेक बातों को ग्रहण या प्रकट करने वाला । आचार्य जिस के साथ 'बहुलम्' लगा देते हैं वहां अनेक बातों से उन का आशय होता है[२] । इन आशयों का पूर्वसूरियों ने उपर्युक्त उपेन्द्रवज्रोपनिबद्ध पद्य में चार प्रकार से वर्गीकरण किया है ।

(१) **क्वचित् प्रवृत्तिः**—
'बहुलम्' वाला कार्य कहीं प्रवृत्ति के अयोग्य स्थानों पर भी प्रवृत्त हो जाता है ।

(२) **क्वचिद् अप्रवृत्तिः**—
'बहुलम्' वाला कार्य कहीं प्रवृत्ति के योग्य स्थानों पर भी प्रवृत्त नहीं होता ।

(३) **क्वचिद् विभाषा**—
'बहुलम्' वाला कार्य कहीं विकल्प से प्रवृत्त हो जाता है ।

वुञ् । बह्वर्थादानं बहुलशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तमिति तस्मिन्नेवायं भावप्रत्ययः—(न्यास ३.३.१) ।

१. बहूपपदात् 'ला आदाने' (अदा० पर० अनिट्) इत्यस्माद्धातोर् **आतोऽनुपसर्गे कः** (७९१) इति कप्रत्यये **आतो लोप इटि च** (४८९) इत्याकारलोपः ।

२. 'बहुलम्' शब्द का प्रयोग आचार्य पाणिनि ने लगभग पैंतीस बार अपने सूत्रपाठ में किया है । यह शब्द प्रायः नपुंसक के एकवचन में ही प्रयुक्त किया गया है । आचार्यवर इस का प्रयोग पारिभाषिक शब्द की तरह ही करते प्रतीत होते हैं । परन्तु उन्होंने इस परिभाषा का विवेचन कहीं नहीं किया है । ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्वव्याकरणों में निर्बाधरूपेण प्रयुक्त परिभाषा का उन्होंने भी निर्बाधरूपेण ग्रहण कर लिया है । 'बहुलम्' की व्याख्या में उपर्युक्त पद्य का आदिस्रोत अभी तक अज्ञात है परन्तु इस पद्य की प्राचीनता संशय से परे है । यह श्लोक कातन्त्रोणादि की दुर्गसिंहवृत्ति (१.२६), दशपादी उणादिवृत्ति (पृष्ठ १७७), न्यास (३.३.१) और पदमञ्जरी (३.३.१) आदि में भी उद्धृत है । कहीं यह व्याडिरचित किसी लुप्त ग्रन्थ का ही न हो—यह अभी अपुष्ट है ।

(४) **क्वचिद् अन्यद् एव**—

'बहुलम्' वाले स्थल पर कहीं कुछ और भी कार्य हो सकता है।

उदाहरणार्थ प्रकृतसूत्र में कृत्य और ल्युट् प्रत्ययों को 'बहुलम्' कहा गया है। इस से ये प्रत्यय प्रतिपादित नियमों से विपरीत स्थानों पर भी प्रवृत्त हो जायेंगे।[1] यथा कृत्यप्रत्यय भाव और कर्म अर्थों में विधान किये गये हैं परन्तु ये करण, सम्प्रदान आदि अन्य कारकों में भी देखे जाते हैं—स्नाति अनेन इति स्नानीयं चूर्णम्। उबटन को 'स्नानीय' कहते हैं क्योंकि इस के द्वारा स्नान किया जाता है। यहां स्ना (ष्णा शौचे, अदा० प० अनिट्) धातु से करण में कृत्य (अनीयर्) प्रत्यय हो कर सवर्णदीर्घ हो गया है। दीयतेऽस्मै इति दानीयो विप्रः। जिसे दान दिया जाता है उस ब्राह्मण को 'दानीय' कहते हैं। यहां दा (डुदाञ् दाने; जुहो० उभय० अनिट्) धातु से सम्प्रदान में कृत्यप्रत्यय (अनीयर्) किया गया है। इसी प्रकार—

उद्विजन्तेऽस्माद् इति उद्वेजनीयः (जिस से लोग डरते या घबरा कर परे हटते हैं वह)। यहां अपादान में उद्पूर्वक विज् (ओँविजीँ भयचलनयोः; तुदा० आत्मने० सेट्) धातु से कृत्यप्रत्यय अनीयर् किया गया है। **उद्वेजनीया भूतानां व्याला इव भवन्ति ते** (पञ्च० ३.१३६)।

शेतेऽस्मिन्निति शयनीयम् (जहां सोते हैं ऐसा स्थान या कमरा)। यहां शी (शीङ् शये, अदा० आत्मने० सेट्) धातु से अधिकरण में अनीयर् किया गया है। **परिशून्यं शयनीयमद्य मे** (रघु० ८.६६)।

स्नान्ति अस्याम् इति स्नातव्या मणिकर्णिका (स्नान जहां पर करते हैं ऐसा मणिकर्णिका घाट)। यहां स्ना धातु से अधिकरण में तव्यत् किया गया है। (देखें व्या० चन्द्रो० द्वितीय खण्ड पृष्ठ १५)।

क्रीडन्ति अनेनेति क्रीडनीयम् (जिस से खेलते हैं—खिलौना)। यहां क्रीड् धातु से करण में अनीयर् किया गया है।[2]

इसी तरह ल्युट् के विषय में भी समझना चाहिए। ल्युट् प्रत्यय भाव [हस्—हसनम्, गम्—गमनम्], करण [उपमीयतेऽनेनेति उपमानम्] और अधिकरण [गावो दुह्यन्तेऽस्यामिति गोदोहनी पात्री] में विधान किया गया है[3] पर प्रकृतसूत्र में 'बहुलम्'

१ परन्तु यहां यह नहीं भूलना चाहिए कि इस प्रकार का अर्थ या कारक-परिवर्तन हमारे अधीन नहीं है। हम अपनी इच्छा के अनुसार कृत्य आदि प्रत्ययों का अर्थ परिवर्त्तन नहीं कर सकते। यह तो पूर्ववर्त्ती शिष्टों के प्रयोगों के अनुसार ही अन्वाख्यान किया जाना चाहिए, स्वेच्छा से नहीं। **शिष्टज्ञानार्थाऽष्टाध्यायी** (महाभाष्य ६.३.१०६)।

२. **क्रीडतः (तस्य) क्रीडनीयानि ददुः पक्षिगणांश्च ह।** (महाभारत १३.८६.२१)

३. भाव में—**ल्युट् च** (३.३.११५) नपुंसकविशिष्ट भाव में धातु से परे ल्युट् प्रत्यय होता है।

करण तथा अधिकरण में—**करणाधिकरणयोश्च** (३.३.११७) करण और अधिकरण में धातु से परे ल्युट् प्रत्यय होता है।

यत्

के कारण अन्य कारकों में भी हो जाता है—प्रस्कन्दति अस्माद् इति प्रस्कन्दनम् (जहां से कूदते हैं वह स्थान)। यहां प्रपूर्वक स्कन्द् (स्कन्दिर् गतिशोषणयोः, भ्वा० पर० अनिट्) धातु से अपादान में ल्युट् हो कर यु को अन हो गया है।

राजभोजनाः शालयः। भुज्यन्त इति भोजनाः, राज्ञां भोजनाः—राजभोजनाः शालयः (राजाओं द्वारा खाये जाने वाले शालि-चावल)। यहां भुज् धातु से कर्म में ल्युट् किया गया है।

ये सब 'बहुलम्' के चतुर्धा वर्गीकरण के अन्तर्गत प्रथम प्रकार 'क्वचित्प्रवृत्तिः' के ही उदाहरण हैं। दूसरे 'क्वचिदप्रवृत्तिः' का उदाहरण 'रामो जामदग्न्यः' है। यहां **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** (९४४) सूत्र में बहुल-ग्रहण के कारण समास की अप्रवृत्ति हुई है। इसका विवेचन आगे समासप्रकरण में किया जायेगा। तीसरे 'क्वचिद्विभाषा' का उदाहरण **मघवा बहुलम्** (२८८) सूत्र है। उस की व्याख्या पीछे कर चुके हैं।

चौथे 'क्वचिदन्यदेव' का क्षेत्र बहुत व्यापक है। इस में कहीं प्रकृति बदल जाती है तो कहीं प्रत्यय। कहीं प्राप्त गुण या वृद्धि आदि का अभाव हो जाता है या कहीं कुछ अन्य अतर्कित कार्य हो जाता है। जैसे 'मघवा' की सिद्धि में उपधादीर्घ करते समय संयोगान्तलोप को असिद्ध नहीं माना जाता। 'बहुलम्' के इस चतुर्थ विध के उदाहरण उणादिप्रकरण में प्रायः यत्र-तत्र बहुत मिलते हैं।

अब अन्य कृत्यप्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(७७३) अचो यत् ।३।१।९७॥**

अजन्ताद् धातोर्यत् स्यात्। चेयम्॥

अर्थः—अजन्त धातु से परे यत् प्रत्यय हो।

व्याख्या—अचः ।५।१। यत् ।१।१। धातोः ।५।१। प्रत्ययः ।१।१। परः ।१।१। [**धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—तीनों अधिकृत हैं]। 'अचः' यह 'धातोः' का विशेषण है। अतः विशेषण से तदन्त-विधि होकर 'अजन्ताद् धातोः' बन जाता है। अर्थः—(अचः= अजन्तात्) अजन्त (धातोः) धातु से (परः) परे (यत्) यत् (प्रत्ययः) प्रत्यय होता है। यह भी पूर्ववत् कृत् और कृत्यसञ्ज्ञक है। कृत्य होने से इसकी भी प्रवृत्ति **तयोरेव कृत्य-क्त-खलर्थाः** (७७०) के अनुसार भाव और कर्म में ही होती है। यत् में तकार इत्-संज्ञक है अतः इसका लोप होकर 'य' मात्र शेष रहता है। तकार अनुबन्ध **यतोऽनावः** (६.१.२०७) द्वारा आद्युदात्त स्वर के लिये जोड़ा गया है।

चेयम्—'चिञ् चयने' (स्वा० उभय० अनिट्) धातु के ञकार अनुबन्ध का लोप होकर 'चि' यह अजन्त धातु बन जाती है। यह धातु सकर्मक है। **अचो यत्** सूत्र से इस से कर्म में यत् प्रत्यय तथा **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से इकार के स्थान पर एकार गुण होकर विशेष्यानुसार नपुंसक प्रक्रिया में सुँ ला कर अमादेश (२३४) और पूर्वरूप (१३५) करने पर 'चेयम्' (चुनने योग्य) प्रयोग सिद्ध होता है। चेयं पुष्पं सत्कर्मादि वा। यदि विशेष्य पुंलिङ्ग होगा तो 'चेयः' (धर्मः), और

यदि स्त्रीलिङ्ग होगा तो अजाद्यतष्टाप् (१२४५) से स्त्रीप्रत्यय टाप्, अनुबन्ध-लोप तथा सवर्णदीर्घ होकर सुँ का लोप (१७६) हो जायेगा—चेया सज्जनसंगतिः । ध्यान रहे कि वाऽसरूपविधि से पक्ष में तव्यत् आदि भी होंगे—चेतव्यम्, चयनीयम् आदि ।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) नी+यत्=नेयम् (ले जाने योग्य) ।

(२) जि+यत्=जेयम् (जीतने योग्य) ।

(३) क्षि+यत्=क्षेयम् (क्षीण होने योग्य) ।

(४) श्रु+यत्=श्रो+य=श्रव्यम् । वान्तो यि प्रत्यये (२४) से अवादेश हो जाता है (सुनने योग्य) ।

(५) प्र√हि+यत्=प्रहेयम् (भेजने योग्य) ।

(६) क्री+यत्=क्रेयम् (खरीदने योग्य) ।

(७) पू+यत्=पव्यम् (पवित्र करने योग्य) ।

(८) लू+यत्=लव्यम् (काटने योग्य) ।

(९) अधि√इ+यत्=अध्येयम् (पढ़ने योग्य)[1] ।

(१०) आ√श्रि+यत्=आश्रेयम् (आश्रय करने योग्य) ।

'डुदाञ् दाने' (जुहो० उभय० अनिट्) धातु के अनुबन्धों का लोप होकर 'दा' शेष रहता है । अतः यह अजन्त धातु है । इस से **अचो यत्** इस प्रकृतसूत्र द्वारा कर्म में यत् प्रत्यय होकर 'दा+य' । अब इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(७७४) ईद् यति ।६।४।६५।।

यति परे आत ईत् स्यात् । देयम् । ग्लेयम् ।।

अर्थः—यत् परे होने पर आकार को ईकार आदेश हो ।

व्याख्या—ईत् ।१।१। यति ।७।१। आतः ।६।१। (**आतो लोप इटि च** से) अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है) । 'आतः' यह 'अङ्गस्य' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि होकर 'आदन्तस्य अङ्गस्य' बन जायेगा । अर्थः—(आतः=आदन्तस्य) आकारान्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (ईत्) ईकार आदेश हो (यति) यत् प्रत्यय परे हो तो । अलोऽन्त्यपरिभाषा के अनुसार यह आदेश आकारान्त अङ्ग के अन्त्य अल्=आकार को ही होगा ।

'दा+य' यहां आकारान्त अङ्ग है—'दा' । इससे परे यत् प्रत्यय विद्यमान है । अतः **ईद्यति** इस प्रकृतसूत्र से दा के आकार को ईकार आदेश होकर—'दी+य'

---

१. **एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्** (७७६) सूत्र में 'एति' से इण् गतौ (अदा० प० अनिट्) धातु का ग्रहण होता है इङ् या इक् का नहीं अत एव **तस्मादध्येयं व्याकरणम्** (महाभाष्य पस्पशा०) इत्यादि प्रयोग उपपन्न होते हैं ।

हुआ। अब **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से ईकार को एकार गुण करने पर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'देयम्' (देने योग्य) प्रयोग सिद्ध होता है[1]।

इसी प्रकार 'ग्लै हर्षक्षये' (भ्वा० प० अनिट्) धातु से यत् की विवक्षा में प्रत्यय लाने से पूर्व ही **आदेच उपदेशेऽशिति** (४९३) से ऐकार को आकार आदेश होकर **अचो यत्** (७७३) द्वारा भाव में यत् प्रत्यय लाने से—'ग्ला+य' हुआ। अब **'ईद् यति'** सूत्र से आकार को ईकार आदेश तथा **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से उस ईकार को भी एकार गुण होकर विभक्ति लाने पर 'ग्लेयम्' (ग्लान होना चाहिए) प्रयोग सिद्ध होता है।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

(१) पा पाने—पा+यत्=पी+य=पेयम् (पीने योग्य)।
(२) ज्ञा अवबोधने—ज्ञा+यत्=ज्ञी+य=ज्ञेयम् (जानने योग्य)।
(३) मा माने—मा+यत्=मी+य=मेयम् (मापे जाने योग्य)।
(४) ष्ठा गतिनिवृत्तौ—स्था+यत्=स्थी+य=स्थेयम् (ठहरना चाहिये)।
(५) गै शब्दे—गा+यत्=गी+य=गेयम् (गाने योग्य)।
(६) ध्यै चिन्तायाम्—ध्या+यत्=ध्यी+य=ध्येयम् (ध्यान करने योग्य)।
(७) चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि—ख्या+यत्=ख्यी+य=ख्येयम्, आख्येयम् (कहने योग्य)। चक्षिङः स्थाने ख्याञादेशः (२.४.५४)।
(८) घ्रा गन्धोपादाने—घ्रा+यत्=घ्री+य=घ्रेयम् (सूंघने योग्य)।
(९) ष्णा शौचे—स्ना+यत्=स्नी+य=स्नेयम् (स्नान करना चाहिये)।
(१०) डुधाञ्—धा+यत्=धी+य=धेयम्, निधेयम् (रखने योग्य)[2]।
(११) ओहाक् त्यागे—हा+य=ही+य=हेयम्[3] (छोड़ने योग्य)।

प्रश्न—**ईद्यति** (७७४) सूत्र में ईकार आदेश की बजाय यदि इकार आदेश कर देते तो भी इकार को एकार गुण होकर देयम्, ग्लेयम्, पेयम् आदि सिद्ध हो सकते थे पुनः आचार्य ने दीर्घ आदेश क्यों किया है?

उत्तर—यह सत्य है कि 'इद्यति' सूत्र बनाकर भी यहां कार्य चल सकता था परन्तु आचार्य को इस की अनुवृत्ति अगले **घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-सां हलि** (५८८) सूत्र में ले जा कर 'दीयते, मीयते, स्थीयते, गीयते, पीयते' आदि प्रयोग सिद्ध करने थे,

---

१. गेयं गीतानामसहस्रं ध्येयं श्रीपतिरूपमजस्रम्।
नेयं सज्जनसंगे चित्तं देयं दीनजनाय च वित्तम्॥ (मोहमुद्गरे)

२. हेयं हर्म्यमिदं निकुञ्जभवनं श्रेयं प्रदेयं धनं
पेयं तीर्थपयो हरेर्भगवतो गेयं पदाम्भोरुहम्।
नेयं जन्म चिराय दर्भशयने धर्मे निधेयं मनः
स्थेयं तत्र सिताऽसितस्य सविधे ध्येयं पुराणं महः॥
(व्या० चन्द्रोदय, २य खण्ड पृष्ठ २५)

३. हेयं दुःखमनागतम्—(योगदर्शन २.१६)।

वे बिना दीर्घ आदेश के सिद्ध नहीं हो सकते थे अतः आचार्य ने यहां भी दीर्घविधान कर दिया है।

अब अग्रिमसूत्र में पुनः इसी यत् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(७७५) पोरदुपधात् ।३।१।९८॥

पवर्गान्ताद् अदुपधाद् यत् स्यात्। ण्यतोऽपवादः। शप्यम्। लभ्यम्॥

अर्थः—जिस के अन्त में पवर्ग और उपधा में अत् हो उस धातु से यत् प्रत्यय होता है। यह सूत्र ण्यत् (७८०) का अपवाद है।

व्याख्या—पोः ।५।१। अदुपधात् ।५।१। यत् ।१।१। (**अचो यत्** से)। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—तीनों का अधिकार पीछे से आ रहा है। अत् उपधा यस्य सः—अदुपधः, तस्माद् अदुपधात्। बहुव्रीहिसमासः। 'पोः' यह 'धातोः' का विशेषण है; विशेषण से तदन्तविधि होकर 'पवर्गान्ताद् धातोः' बन जाता है। अर्थः—(पोः= पवर्गान्तात्) अन्त में पवर्ग वाली तथा (अदुपधात्) उपधा में अत् वाली (धातोः) धातु से परे (यत् प्रत्ययः) यत् प्रत्यय हो जाता है। अजन्त न होने से **अचो यत्** (७७३) द्वारा यत् न हो सकता था, **ऋहलोर्ण्यत्** (७८०) इस वक्ष्यमाण सूत्र से ण्यत् प्राप्त था उसका अपवाद यह यत् विधान किया जा रहा है। उदाहरण यथा—

शपँ आक्रोशे (भ्वा० उभय० अनिट्), डुलभँष् प्राप्तौ (भ्वा० आत्मने० अनिट्) ये दोनों धातुएँ अनुबन्धों से मुक्त होकर क्रमशः शप् और लभ् रह जाती हैं इन के अन्त में पवर्ग तथा उपधा में अत् विद्यमान है। अतः **'पोरदुपधात्'** इस प्रकृत सूत्र से ण्यत् का बाधक यत् प्रत्यय होकर विभक्ति लाने से—शप्यम् (शाप के योग्य), लभ्यम् (प्राप्त करने योग्य) प्रयोग सिद्ध होते हैं। ध्यान रहे कि यदि यहां ण्यत् हो जाता तो उसके णित् होने से **अत उपधायाः** (४५५) सूत्र से उपधा के अत् को वृद्धि होकर 'शाप्यम्, लाभ्यम्' ऐसे अनिष्ट रूप बन जाते।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

रम्—रम्यम्। रभ्—रभ्यम्, आरभ्यम्। गम्—गम्यम्। वम्—वम्यम्। तप्—तप्यम्। जप्—जप्यम्। नम्—नम्यम्। कम्—कम्यम् (णिङन्तपक्षेऽचो यदिति यति णेर्लोपे काम्यमिति)। भ्रम्—भ्रम्यम्।

पवर्गान्त कहने से पच्—पाक्यम्, वच्—वाक्यम् आदि में यत् नहीं होता। इन में **ऋहलोर्ण्यत्** (७८०) से ण्यत् होकर उसके णित्त्व के कारण **अत उपधायाः** (४५५) से उपधावृद्धि एवं **चजोः कु घिण्ण्यतोः** (७८१) से कुत्व हो जाता है।

अदुपध कहने से कुप्—कोप्यम्, गुप्—गोप्यम् इत्यादि में यत् न होकर ण्यत् ही होता है।[1] दोनों स्थानों पर लघूपधगुण (४५१) हुआ है। 'अदुपध' में तपर कहा गया है अतः उपधा में दीर्घ आकार होने पर भी यत् न होगा; यथा आप्—आप्यम्, प्राप्यम्। ण्यत् हो जाता है। यत् और ण्यत् में स्वर का ही अन्तर पड़ता है।

---

१. ण्यति तित्स्वरः। यति तु **यतोऽनावः** (६.१.२०७) इत्याद्युदात्तत्वं स्यात्।

अब अग्रिमसूत्र द्वारा अन्य कृत्यप्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७७६) एति-स्तु-शास्-वृ-दृ-जुषः क्यप्
।३।१।१०९।।

एभ्यः क्यप् स्यात् ।।

अर्थः—इण्, स्तु, शास्, वृ, दृ और जुष् धातुओं से क्यप् प्रत्यय हो।

व्याख्या—एति-स्तु-शास्-वृ-दृ-जुषः ।५।१। क्यप् ।१।१। धातोः ।५।१। प्रत्ययः ।१।१। परः ।१।१। (ये तीनों अधिकृत हैं)। 'एति'—यह 'इण् गतौ' धातु का श्तिप्-प्रत्ययान्त रूप है। इस प्रत्यय का विवेचन पीछे (३९८) सूत्र पर सविस्तर किया जा चुका है। एतिश्च स्तुश्च शास् च वृ च दृ च जुष् च एति-स्तु-शास्-वृ-दृ-जुष्, तस्मात् एतिस्तुशास्वृदृजुषः, समाहारद्वन्द्वसमासः। अर्थः—(एतिस्तुशास्वृदृजुषः) इण्, स्तु, शास्, वृ, दृ और जुष् (धातोः) धातु से (परः) परे (क्यप्) क्यप् (प्रत्ययः) प्रत्यय होता है। क्यप् प्रत्यय में ककार **लशक्वतद्धिते** (१३६) से तथा पकार **हलन्त्यम्** (१) से इत्संज्ञक है अतः दोनों का लोप होकर 'य' मात्र शेष रहता है। ककार अनुबन्ध गुण-वृद्धि के निषेध के लिये तथा पकार अनुबन्ध अग्रिमसूत्रद्वारा ह्रस्व को तुँक् आगम प्राप्त कराने के लिये जोड़ा गया है। यह प्रत्यय भी पूर्ववत् कृत् और कृत्य उभयसंज्ञक है। इस सूत्र में प्रतिपादित धातुओं का विवरण इस प्रकार समझना चाहिए—

एति —इण् गतौ (जाना, अदा० प० अनिट्)। इत्यः।[1]

स्तु —ष्टुञ् स्तुतौ (स्तुति करना, अदा० उ० अनिट्)। स्तुत्यः।

शास्—शासुँ अनुशिष्टौ (शिक्षा देना, शासन करना, दण्ड देना, अदा० प० सेट्)। शिष्यः।

वृ —वृञ् वरणे (चुनना, स्वा० क्र्यादि० उभय० सेट्)। वृत्यः।[2]

दृ —दृङ् आदरे, प्रायेणाङ्पूर्वः (आदर व सत्कार करना, तुदा० आत्मने० अनिट्)। आदृत्यः।

जुष् —जुषीँ प्रीतिसेवनयोः (प्रसन्न होना या सेवन करना, तुदा० आत्मने० सेट्)। जुष्यः।

---

१. उपेयम्, अभ्युपेयम् आदि यत्प्रत्ययान्त रूप इस इण् धातु के नहीं हैं। ये रूप ईङ् गतौ (दिवा० आत्मने० अनिट्) धातु के हैं। 'उप + एयम्' में **एङि पररूपम्** (३८) से पररूप हो जाता है। नारायणभट्ट ने प्रक्रियासर्वस्व में इस पर एक सुन्दर श्लोक लिखा है—

ईङ् गताविति धातोर्यत् तस्मादेयमिति स्थिते।
एङीति पररूपे स्यात् उपेयमिति न त्विणः ॥

२. यहां पर 'वृ' से 'वृञ्' का ही ग्रहण करना है 'वृङ् सम्भक्तौ' (क्र्या० आत्मने०) का नहीं ऐसा वार्त्तिककार ने लिखा है—

क्यब्विधौ वृञ्ग्रहणम् (महाभाष्य ३.१.१०९ पर)

इण् और स्तु धातुओं से **अचो यत्** (७७३) द्वारा यत् तथा अन्यों से **ऋहलोर्ण्यत्** (७८०) द्वारा ण्यत् प्राप्त होता था उन का अपवाद यह क्यप् प्रत्यय विधान किया गया है।

इण् और ष्टुञ् (स्तु) धातुओं से प्रकृतसूत्रद्वारा कर्म में क्यप् प्रत्यय करने पर अनुबन्धों का लोप हो कर—'इ+य' तथा 'स्तु+य' हुआ। अब यहां **आर्धधातुकं शेषः** (४०४) से क्यप् के आर्धधातुक होने के कारण **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से गुण प्राप्त होता है परन्तु क्यप् के कित्त्व के कारण **क्क्ङिति च** (४३३) से उस का निषेध हो जाता है। अब इन दोनों में अग्रिमसूत्र द्वारा तुँक् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधिसूत्रम्—**(७७७) ह्रस्वस्य पिति कृति तुँक् ।६।१।६९॥**

इत्यः। स्तुत्यः। शासुँ अनुशिष्टौ—

अर्थः—पित् कृत् परे होने पर ह्रस्व का अवयव तुँक् हो।

व्याख्या—ह्रस्वस्य ।६।१। पिति ।७।१। कृति ।७।१। तुँक् ।१।१। प् इद् यस्य स पित्, तस्मिन् पिति, बहुव्रीहिसमासः। जिस के पकार की इत्संज्ञा हो उसे पित् कहते हैं। शप्, तिप्, सिप्, क्यप् आदि प्रत्यय पित् हैं। अर्थः—(पिति कृति) कृत्संज्ञक पित् के परे होने पर (ह्रस्वस्य) ह्रस्व का अवयव (तुँक्) तुँक् हो जाता है। तुँक् में ककार और उकार इत् होने से लुप्त हो जाते हैं 'त्' मात्र शेष रहता है। तुँक् कित् है अतः **आद्यन्तौ टकितौ** (८५) की व्यवस्थानुसार यह ह्रस्व का अन्तावयव माना जायेगा।

'इ+य, स्तु+य' यहां पर **कृदतिङ्** (३०२) से क्यप् प्रत्यय कृत्संज्ञक है और यह पित् भी है अतः इस के परे होने पर प्रकृतसूत्र से ह्रस्व इकार उकार को तुँक् का आगम कर अनुबन्धलोप करने से—इत्+य=इत्य, स्तुत्+य=स्तुत्य। अब कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर सुँ आदियों की उत्पत्ति हो कर—'इत्यः' (गमन योग्य या पाने योग्य) और 'स्तुत्यः' (स्तुति या प्रशंसा के योग्य) प्रयोग सिद्ध होते हैं।

प्रकृतसूत्र में कृत्संज्ञक कहने से 'पटुतरः, पटुतमः' आदि में तद्धित तरप् तमप् परे होने पर ह्रस्व उकार को तुँक् का आगम नहीं होता।

पित् कहने से 'कृतम्, हुतम्, जितम्' आदि में कृत्संज्ञक क्त के परे होने पर तुँक् का आगम नहीं होता।

ह्रस्व को तुँक् का विधान किया है इस से 'आनीय, आलूय, आहूय' आदि में कृत्संज्ञक पित् ल्यप् प्रत्यय के परे रहते दीर्घ को तुँक् नहीं होता।

पूर्वसूत्रगत शास् धातु के उदाहरण की सिद्धि दर्शाते हैं—

'शासुँ अनुशिष्टौ' धातु से कर्म में **एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्** (७७६) सूत्र से क्यप् प्रत्यय हो कर अनुबन्धों का लोप करने पर 'शास्+य' हुआ। अब इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(७७८) शास इदङ्हलोः ।६।४।३४॥**

शास उपधाया इत् स्यादङि हलादौ क्ङिति च। शिष्यः। वृत्यः। आदृत्यः। जुष्यः॥

अर्थः—अङ् परे हो या हलादि कित् वा ङित् परे हो तो शास् धातु की उपधा के स्थान पर ह्रस्व इकार आदेश हो।

व्याख्या—शासः ।६।१। इत् ।१।१। अङ्हलोः ।७।२। उपधायाः ।६।१। क्ङिति ।७।१। (**अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** से)। अङ्गस्य ।६।१। यह अधिकृत है। अङ् च हल् च=अङ्हलौ, तयोः=अङ्हलोः, इतरेतरद्वन्द्वः। 'क्ङिति' यह अङ् का विशेषण नहीं बन सकता 'हलि' का ही विशेषण सम्भव है। अतः 'हलि' से **यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे** परिभाषा से तदादिविधि हो कर 'हलादौ क्ङिति' बन जाता है। अर्थः—(अङ्गस्य) अङ्गसंज्ञक (शासः) शास् की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर (इत्) ह्रस्व इकार आदेश हो जाता है (अङि हलादौ क्ङिति च) अङ् परे होने पर या हलादि कित् ङित् परे होने पर।

'शास्+य' यहां 'य' (क्यप्) यह हलादि कित् प्रत्यय परे है अतः शास् की उपधा आकार के स्थान पर 'इ' आदेश हो कर—शिस्+य। अब **शासिवसिघसीनां च** (५५४) सूत्र से सकार को मूर्धन्य षकार हो कर विभक्तिकार्य करने से—शिष्यः (शिक्षा देने के योग्य) प्रयोग सिद्ध होता है।

अङ् के उदाहरण—अशिषत्, अशिषताम्, अशिषन् आदि हैं। यहां शास् से परे लुँङ् में च्लि को **सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च** (३.१.५६) से अङ् हो गया है।

हलादि ङित् के उदाहरण—तौ शिष्टः, आवां शिष्वः, वयं शिष्मः आदि हैं। यहां **सार्वधातुकमपित्** (५००) के अनुसार तस्, वस्, मस् हलादि ङित् प्रत्यय परे हैं।

एतिस्तु० (७७६) पर अन्य उदाहरण यथा—

वृत्यः—'वृञ् वरणे' धातु से कर्म में **एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्** (७७६) से क्यप् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप करने से 'वृ+य'। क्यप् के कित्त्व के कारण गुण का निषेध हो जाता है। अब पित् कृत् के परे होने पर **ह्रस्वस्य पिति कृति तुँक्** (७७७) से ह्रस्व ऋकार को तुँक् का आगम हो कर विभक्ति लाने से 'वृत्यः' (चुनने योग्य) प्रयोग सिद्ध होता है।

इसी तरह आङ्पूर्वक 'दृङ् आदरे' धातु से कर्म में क्यप्, गुणनिषेध तथा तुँक् का आगम करने से 'आदृत्यः' (सत्कार करने योग्य) प्रयोग सिद्ध होता है।

जुष्यः—'जुषीँ प्रीतिसेवनयोः' धातु से कर्म में क्यप् प्रत्यय करने पर अनुबन्ध-लोप और लघूपधगुणनिषेध कर विभक्ति लाने से 'जुष्यः' (सेवन करने योग्य) प्रयोग सिद्ध होता है।

ध्यान रहे कि इण् आदि धातुओं से क्यप् के साथ तव्यत् आदि प्रत्यय भी वाऽसरूपविधि से हो जाते हैं—

इण्—इत्यः, एतव्यः, अयनीयः।
स्तु—स्तुत्यः, स्तोतव्यः, स्तवनीयः।
शास्—शिष्यः, शासितव्यः, शासनीयः।

क्यप्, ण्यत्

वृञ्—वृत्यः, वरितव्यः-वरीतव्यः[1], वरणीयः ।
दृङ्—आदृत्यः, आदर्तव्यः, आदरणीयः ।
जुष्—जुष्यः, जोषितव्यः, जोषणीयः ।
अब मृज् धातु से क्यप् का वैकल्पिक विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७७९) **मृजेर्विभाषा ।३।१।११३।।**

मृजेः क्यब्वा । मृज्यः ।।

अर्थः—मृज् धातु से क्यप् प्रत्यय विकल्प से हो ।

व्याख्या—मृजेः ।५।१। विभाषा ।१।१। क्यप् ।१।१। (**एतिस्तुशास्वृदृजुषः क्यप्** से) धातोः ।५।१। प्रत्ययः ।१।१। परः ।१।१। (तीनों अधिकृत हैं) । 'मृजेः' में इक् प्रत्यय धातुनिर्देश के लिये लगाया गया है (देखें ३९८ सूत्र पर यही व्याख्या) । अर्थः—(मृजेः, धातोः) मृज् धातु से (परः) परे (विभाषा) विकल्प से (क्यप्) क्यप् (प्रत्ययः) प्रत्यय होता है ।

मृज् धातु ऋदुपध है । ऋदुपधों से **ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृतेः** (३.१.११०) सूत्र से नित्य क्यप् हुआ करता है । यथा वृत्—वृत्यम् (बर्तना चाहिए), वृध्—वृध्यम् (बढ़ना चाहिए) । इत्थं मृज् धातु से नित्य प्राप्त क्यप् का यहां विकल्प किया जा रहा है ।

मृजूँ शुद्धौ (शुद्ध करना, साफ़ करना; अदा० परस्मै० वेट्) धातु से प्रकृतसूत्र द्वारा कर्म में वैकल्पिक क्यप् प्रत्यय हो जाता है । क्यप्पक्ष में अनुबन्धलोप होकर—मृज्+य । यहां पर **मृजेर्वृद्धिः** (४८२) इस वक्ष्यमाणसूत्र से वृद्धि प्राप्त होती है, इस का **क्ङिति च** (४३३) से निषेध हो जाता है । अब प्रातिपदिकत्वात् विभक्ति लाने से 'मृज्यः' (शुद्ध करने योग्य) प्रयोग सिद्ध होता है ।

मृज् से क्यप् के अभावपक्ष में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७८०) **ऋहलोर्ण्यत् ।३।१।१२४।।**

ऋवर्णान्ताद् हलन्ताच्च धातोर्ण्यत् । कार्यम् । हार्यम् । धार्यम् ।।

अर्थः—ऋवर्णान्त धातु से तथा हलन्त धातु से ण्यत् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—ऋहलोः ।६।२। ण्यत् ।१।१। धातोः ।५।१। प्रत्ययः ।१।१। परः ।१।१। (तीनों अधिकृत हैं) । 'ऋहलोः' में पञ्चमी के अर्थ में षष्ठी का प्रयोग छान्दस है । 'ऋहलोः = ऋहलः' यह 'धातोः' का विशेषण है । विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'ऋवर्णान्ताद् हलन्ताच्च धातोः' बन जाता है । अर्थः—(ऋहलोः = ऋहलः = ऋवर्णान्ताद् हलन्ताच्च) ऋवर्णान्त तथा हलन्त (धातोः) धातु से (परः) परे (ण्यत् प्रत्ययः) ण्यत् प्रत्यय हो जाता है । ऋवर्णान्त धातुओं से **अचो यत्** (७७३) से यत् प्राप्त था इस अंश में यह उस का अपवाद है । ण्यत् में णकार **चुटू** (१२९) द्वारा तथा तकार

---

१. **वृतो वा** (६१५) इतीटो वा दीर्घः ।

हलन्त्यम् (१) द्वारा इत्संज्ञक है। अनुबन्धों का लोप हो कर 'य' मात्र शेष रहता है। ण्यत् में तकार स्वरप्रयोजनार्थ तथा णकार **अचो ञ्णिति** (१८२) से वृद्धि करने के लिये जोड़ा गया है।

ऋवर्णान्त के उदाहरण यथा—

कार्यम्——'डुकृञ् करणे' (तनादि० उभय० अनिट्) धातु के अनुबन्धों का लोप हो कर 'कृ' अवशिष्ट रहता है। यह धातु ऋवर्णान्त है अतः **ऋहलोर्ण्यत्** से कर्म में ण्यत् हो कर इत्संज्ञक णकार और तकार के लुप्त हो जाने पर 'कृ+य'। ण्यत् के णित्त्व के कारण ऋकार को **अचो ञ्णिति** (१८२) से वृद्धि तथा **उरण्रपरः** (२९) से रपर अर्थात् आर् आदेश करने से—कार्+य='कार्य' हुआ। अब कृदन्तत्वात् प्रातिपदिक संज्ञा हो कर नपुंसक के एकवचन में विभक्ति कार्य करने पर 'कार्यम्' (करने योग्य) प्रयोग सिद्ध होता है।

इसी प्रकार 'हृञ् हरणे' (भ्वा० उभय० अनिट्) धातु से 'हार्यम्' (हरने योग्य) तथा 'धृञ् धारणे' (भ्वा० उभय० अनिट्) धातु से 'धार्यम्' (धारण करने योग्य) प्रयोग सिद्ध होते हैं।

हलन्त का उदाहरण—

जिस पक्ष में मृज् से क्यप् नहीं होता उस पक्ष में **ऋहलोर्ण्यत्** इस प्रकृतसूत्रद्वारा हलन्तत्वात् मृज् धातु से ण्यत् प्रत्यय हो जाता है—मृज्+ण्यत्=मृज्+य। अब यहां अग्रिम दो सूत्र प्रवृत्त होते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७८१) चजोः कु घिण्ण्यतोः ।७।३।५२।।

चजोः कुत्वं स्याद् घिति ण्यति च परे ।।

अर्थः—घित् या ण्यत् परे होने पर चकार तथा जकार को कवर्ग आदेश हो।

व्याख्या—चजोः ।६।२। कु ।१।१। (लुप्तविभक्तिकं पदम्)। घिण्ण्यतोः ।७।२। चश्च ज् च—चजौ, तयोः=चजोः। चकारादकार उच्चारणार्थः। घ् इद् यस्य स घित्, घित् च ण्यत् च—घिण्ण्यतौ, तयोः=घिण्ण्यतोः।[1] अर्थः—(घिण्ण्यतोः) घित् अथवा ण्यत् प्रत्यय परे हो तो (चजोः) चकार वा जकार के स्थान पर (कु) कवर्ग आदेश हो जाता है। यहां निमित्त और कार्यी में यथासंख्य नहीं होता[2]। **स्थानेऽन्तरतमः**

---

१. 'घित्+ण्यतोः' में सर्वप्रथम **झलां जशोऽन्ते** (६७) से तकार को जश्त्व=दकार, **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** (६८) से दकार को नकार—घिन्+ण्यतोः। अब **ष्टुना ष्टुः** (६४) से न् को ष्टुत्व=ण् हो जाता है—घिण्ण्यतोः।

२. तात्पर्य यह है कि 'चजोः' और 'घिण्ण्यतोः' में यथासंख्य द्वारा घित् परे होने पर चकार को तथा ण्यत् परे होने पर जकार को कुत्व हो—ऐसा नहीं समझना चाहिये। यदि ऐसा हो तो पाणिनि के **तेन रक्तं रागात्** (१०३०) आदि प्रयोग उपपन्न न हो सकेंगे। यहां 'रागात्' [रञ्ज्+अ (घञ्)] में घित् परे होने पर जकार को कुत्व देखा जाता है।

(१७) द्वारा आन्तर्य के कारण चकार [विवार, श्वास, अघोष, अल्पप्राण] को कुत्व तादृश ककार [विवार, श्वास, अघोष, अल्पप्राण] तथा जकार [संवार, नाद, घोष, अल्पप्राण] को कुत्व तादृश गकार [संवार, नाद, घोष, अल्पप्राण] होगा। उदाहरण यथा—

घित् में—भागः, पाकः। भज् और पच् धातुओं से भाव में घञ् (अ) प्रत्यय करने पर ञित्त्वाद् उपधावृद्धि (४५५) हो कर—भाज्+अ, पाच्+अ। अब घित् घञ् के परे रहते प्रकृतसूत्र से जकार को गकार तथा चकार को ककार करने से 'भागः' 'पाकः' प्रयोग सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार त्यागः, यागः आदियों में भी समझना चाहिए।

ण्यत् परे होने का उदाहरण प्रकरणतः प्राप्त है—

'मृज्+य(ण्यत्)' यहां ण्यत् प्रत्यय परे है अतः प्रकृत-सूत्र से जकार के स्थान पर गकार [कुत्व] हो जाता है—

'मृग्+य'। अब लघूपधगुण के प्राप्त होने पर उस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७८२) मृजेर्वृद्धिः ।७।२।११४॥

मृजेरिको वृद्धिः सार्वधातुकार्धधातुकयोः। मार्ग्यः॥

अर्थः—सार्वधातुक या आर्धधातुक परे हो तो मृज् के इक् (ऋ) के स्थान पर वृद्धि हो।

व्याख्या--मृजेः।६।१। वृद्धिः।१।१। **इको गुणवृद्धी** (१.१.३) परिभाषा से 'इकः' यह षष्ठ्यन्त पद उपस्थित हो जाता है। अर्थः—(मृजेः) मृज् धातु के (इकः) इक् के स्थान पर (वृद्धिः) वृद्धि हो। यहां किसी प्रत्यय के परे होने का निर्देश नहीं किया गया। परन्तु **धातोः कार्यमुच्यमानं तत्प्रत्यये भवति** (यदि कहीं धातु को कार्य कहा गया हो तो वह कार्य उस धातु से विहित प्रत्ययों के परे होने पर ही होता है) इस परिभाषा के बल से यहां मृज् से विहित प्रत्ययों में ही यह वृद्धिरूप कार्य होगा। मृज् से दो प्रकार के प्रत्ययों का विधान सम्भव है—सार्वधातुक या आर्धधातुक। यही सोच कर वरदराज ने यहां सूत्रवृत्ति में 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' कहा है।

'मृग्+य' यहां 'य' यह आर्धधातुक प्रत्यय परे है अतः मृज् (**एकदेशविकृतमनन्यवत्** परिभाषा के अनुसार) के इक्=ऋकार को वृद्धि [आर्] करने से मार्ग्+य='मार्ग्य' बना। अब कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर विभक्ति लाने से 'मार्ग्यः' प्रयोग सिद्ध होता है। इस प्रकार मृज् धातु से क्यप् में 'मृज्यः' तथा ण्यत् में 'मार्ग्यः' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

अब कृत्यप्रत्ययान्त एक शब्द का निपातन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७८३) भोज्यं भक्ष्ये ।७।३।६९॥

भोग्यमन्यत्॥

अर्थः—भक्ष्य (खाने योग्य) अर्थ में 'भोज्य' शब्द प्रयुक्त होता है।

व्याख्या—भोज्यम् ।१।१। भक्ष्ये ।७।१। अर्थः—(भक्ष्ये) खाद्य अर्थ होने पर (भोज्यम्) भोज्य शब्द होता है। यहां 'भोज्य' शब्द निपातन किया जाता है। जहां आचार्य स्वयं सब कार्य कर के निष्पन्न रूप लिख देते हैं उसे निपातन कहते हैं। निपातन में आचार्य ने क्या अप्राप्त कार्य किया है यह स्वयं समझना पड़ता है। यहां आचार्य ने 'भुज पालनाभ्यवहारयोः' (रुधा० उभय० अनिट्) धातु से ण्यत् प्रत्यय, लघूपधगुण और **चजोः कु घिण्ण्यतोः** (७८१) से प्राप्त कुत्व का अभाव कर 'भोज्यम्' प्रयोग सिद्ध किया है। ण्यत् और लघूपधगुण तो यहां सुतरां हो सकते थे पर कुत्व का अभाव किसी से प्राप्त नहीं था अतः कुत्वनिषेध के लिए ही आचार्य ने यह निपातन किया है ऐसा सिद्ध होता है। जहां भक्ष्य (खाने योग्य) अर्थ न होगा वहां भुज् धातु से **ऋहलोर्ण्यत्** (७८०) से ण्यत् प्रत्यय **पुगन्तलघूपधस्य च** (४५१) से लघूपधगुण तथा **चजोः कु घिण्ण्यतोः** (७८१) से कुत्व हो कर विभक्ति लाने से 'भोग्यम्' (भोगने या पालने योग्य) रूप बनेगा। भोज्यं फलम्, भोज्य ओदनः, भोज्या यवागूः। भोग्यं राज्यम्, भोग्यः कम्बलः, वीरभोग्या वसुन्धरा।

इस प्रक्रिया में प्रसिद्धत्वात् कुछ अन्य प्रयोग भी ध्यातव्य हैं—

(१) वास्तव्यः [वसतीति वास्तव्यः, रहने वाला; यहां **वसेस्तव्यत् कर्तरि णिच्च** वार्त्तिक से वस् (रहना) धातु से कर्त्ता अर्थ में तव्यत् प्रत्यय हो जाता है। तव्यत् के णिद्वद्भाव के कारण वस् की उपधा अत् को वृद्धि (४५५) हो जाती है]।

(२) खेयम् [खोदे जाने के योग्य स्थल आदि; यहां खन् धातु से कर्म में **ई च खनः** (३.१.१११) सूत्र से क्यप् प्रत्यय तथा खन् के नकार को ईकारादेश हो कर गुण एकारादेश करने से अभीष्ट रूप सिद्ध होता है]।

(३) शक्यम्, सह्यम् [यहां शक् और सह् धातुओं से **शकिसहोश्च** (३.१.९९) सूत्र द्वारा ण्यत् का अपवाद यत् प्रत्यय हो जाता है। शक्यम्—जो हो सके; सह्यम्—सहन किये जाने के योग्य]।

(४) कृत्यम्, कार्यम् [**विभाषा कृवृषोः** (३.१.१२०) सूत्र से कृ धातु से कर्म में पाक्षिक क्यप् हो जाता है। क्यप्पक्ष में उस के पित्त्व के कारण तुँक् का आगम (७७७) हो कर 'कृत्य' तथा क्यप् के अभाव में **ऋहलोर्ण्यत्** (७८०) से ण्यत्प्रत्यय आ कर वृद्धि करने से 'कार्यम्' बनता है]।

(५) वह्यम् [वहन्त्यनेनेति वह्यं शकटादि, जिस से ढोते हैं ऐसा छकड़ा आदि। यहां करण में **वह्यं करणम्** (३.१.१०२) द्वारा यत्प्रत्ययान्त 'वह्य' शब्द निपातन किया गया है। अन्यत्र—वोढुं योग्यं 'वाह्यम्' (ढोने के योग्य पदार्थ)। यहां ण्यत् ही होगा]।

(६) दृश्यम्, वृत्यम्, वृध्यम् [यहां **ऋदुपधाच्चाऽक्लृपिचृतेः** (३.१.११०) द्वारा ऋदुपध दृश्, वृत् और वृध् धातुओं से क्यप् प्रत्यय हो जाता है। दृश्यम्=देखने योग्य वस्तु; वृत्यम्=वर्तना चाहिये; वृध्यम्=बढ़ना चाहिये]।

(७) अर्यः, आर्यः [**अर्यः स्वामिवैश्ययोः** (३.१.१०३) सूत्र द्वारा ऋधातु से

यत् प्रत्ययान्त 'अर्य' शब्द निपातन किया गया है, इस का अर्थ है स्वामी या वैश्य। अर्तुम् = उपसर्तुं योग्यः—इत्यादि। दूसरे अर्थों में ऋहलोर्ण्यत् (७८०) से ण्यत् प्रत्यय हो कर वृद्धि करने से 'आर्यः' बनेगा—आर्यो ब्राह्मणः (पास जाने योग्य ब्राह्मण)]।

(८) गृह्य (पक्षपाती) : [यहां पदास्वैरि-बाह्या-पक्ष्येषु च (३.१.११९) सूत्र से पक्ष्य = पक्षपाती अर्थ में 'ग्रह्' धातु से क्यप् हो कर कित्त्व के कारण सम्प्रसारण (६३४) हो जाता है। आर्याणां गृह्याः—आर्यगृह्याः (आर्यों के पक्षपाती), गुणानां गृह्याः—गुणगृह्याः (गुणों के पक्षपाती)]।

अब इस प्रक्रिया की समाप्ति पर हम यहां दो सौ धातुओं की तव्यत् और अनीयर् प्रत्ययान्त बालोपयोगी तालिका दे रहे हैं। इस से व्याकरणप्रक्रिया के अभ्यास तथा अनुवादादि में विद्यार्थियों को बहुत लाभ होगा।

१. अट् (घूमना) अटितव्य; अटनीय
२. अद् (खाना) अत्तव्य; अदनीय
३. अर्च् (पूजा करना) अर्चितव्य; अर्चनीय
४. उप √अर्ज् (कमाना) उपार्जयितव्य; उपार्जनीय
५. अर्थ् (मांगना) अर्थयितव्य; अर्थनीय
प्रार्थयितव्य; प्रार्थनीय
६. अश् (खाना) अशितव्य; अशनीय
७. अस् (होना) भवितव्य; भवनीय
८. निर् √अस् (फेंकना) निरसितव्य; निरसनीय
९. प्र √आप् (पाना) प्राप्तव्य; प्रापणीय
१०. आस् (बैठना) आसितव्य; आसनीय
११. अधि √इ (ङ्) (पढ़ना) अध्येतव्य; अध्ययनीय
१२. इ (ण्) (जाना) एतव्य; अयनीय
१३. इष् (चाहना) एषितव्य / एष्टव्य ; एषणीय
१४. निर् √ईक्ष् (देखना) निरीक्षितव्य; निरीक्षणीय
१५. ईह् (चेष्टा करना) ईहितव्य; ईहनीय
१६. ऊह् (तर्क करना) ऊहितव्य; ऊहनीय
१७. एध् (बढ़ना) एधितव्य; एधनीय
१८. कथ् (कहना) कथयितव्य; कथनीय
१९. कम् (चाहना) कामयितव्य / कमितव्य ; कामनीय / कमनीय
२०. कम्प् (कांपना) कम्पितव्य; कम्पनीय
२१. आ √कर्ण् (सुनना) आकर्णयितव्य; आकर्णनीय
२२. आ √काङ्क्ष् (चाहना) आकाङ्क्षितव्य; आकाङ्क्षणीय
२३. प्र √काश् (प्रकाशित होना) प्रकाशितव्य; प्रकाशनीय
२४. कुप् (क्रोध करना) कोपितव्य; कोपनीय
२५. कूज् (कूजना) कूजितव्य; कूजनीय
२६. कृ (करना) कर्तव्य; करणीय
२७. कृत् (काटना) कर्तितव्य; कर्तनीय
२८. क्लृप् (कल्पना करना) कल्पितव्य; कल्पनीय
२९. क्रन्द् (चिल्लाना) क्रन्दितव्य; क्रन्दनीय

३०. क्रम् (कदम बढ़ाना) क्रमितव्य; क्रमणीय
३१. क्री (खरीदना) क्रेतव्य; क्रयणीय
३२. क्रीड् (खेलना) क्रीडितव्य; क्रीडनीय
३३. क्रुध् (क्रोध करना) क्रोद्धव्य; क्रोधनीय
३४. क्षम् (सहना) क्षमितव्य, क्षन्तव्य; क्षमणीय
३५. क्षर् (झरना) क्षरितव्य; क्षरणीय
३६. क्षल् (धोना) क्षालयितव्य; क्षालनीय
३७. क्षि (नष्ट होना) क्षेतव्य; क्षयणीय
३८. क्षिप् (फेंकना) क्षेप्तव्य; क्षेपणीय
३९. खन् (खोदना) खनितव्य; खननीय
४०. खाद् (खाना) खादितव्य; खादनीय
४१. खेल् (खेलना) खेलितव्य; खेलनीय
४२. गण् (गिनना) गणयितव्य; गणनीय
४३. गद् (बोलना) गदितव्य; गदनीय
४४. गम् (जाना) गन्तव्य ; गमनीय
४५. गर्ज् (गर्जना) गर्जितव्य; गर्जनीय
४६. गर्ह् (निन्दा करना) गर्हितव्य; गर्हणीय
४७. गुप् (रक्षा करना) गोपायितव्य, गोपितव्य, गोप्तव्य; गोपायनीय, गोपनीय
४८. गै (गाना) गातव्य; गानीय
४९. ग्रस् (निगलना) ग्रसितव्य; ग्रसनीय
५०. ग्रह् (ग्रहण करना) ग्रहीतव्य; ग्रहणीय
५१. ग्लै (दुःखी होना) ग्लातव्य; ग्लानीय
५२. घट् (घटित होना) घटितव्य; घटनीय
५३. घुष् (घोषणा करना) घोषयितव्य घोषणीय
५४. घ्रा (सूंघना) घ्रातव्य; घ्राणीय
५५. चर् (घूमना) चरितव्य; चरणीय
५६. चल् (चलना) चलितव्य; चलनीय
५७. चि (चुनना) चेतव्य; चयनीय
५८. चिन्त् (चिन्ता करना) चिन्तयितव्य; चिन्तनीय
५९. चुर् (चुराना) चोरयितव्य; चोरणीय
६०. चेष्ट् (चेष्टा करना) चेष्टितव्य; चेष्टनीय
६१. छिद् (काटना) छेत्तव्य; छेदनीय
६२. जन् (पैदा होना) जनितव्य; जननीय
६३. जप् (जपना) जपितव्य; जपनीय
६४. जल्प् (बकवाद करना) जल्पितव्य; जल्पनीय
६५. जागृ (जागना) जागरितव्य; जागरणीय
६६. जि (जीतना) जेतव्य; जयनीय
६७. जीव् (जीना) जीवितव्य; जीवनीय
६८. ज्ञा (जानना) ज्ञातव्य; ज्ञानीय
६९. तड् (ताडित करना) ताडयितव्य; ताडनीय
७०. तन् (विस्तार करना) तनितव्य; तननीय
७१. तप् (तपना) तप्तव्य ; तपनीय
७२. तुद् (दुःख देना) तोत्तव्य; तोदनीय
७३. तुल् (तोलना) तोलयितव्य; तोलनीय
७४. तुष् (प्रसन्न होना) तोष्टव्य; तोषणीय

७५. तॄ (तैरना) तरितव्य-तरीतव्य; तरणीय
७६. त्यज् (छोड़ना) त्यक्तव्य; त्यजनीय
७७. त्रै (पालना) त्रातव्य; त्राणीय
७८. दण्ड् (दण्ड देना) दण्डयितव्य; दण्डनीय
७९. दल् (दलना) दलितव्य; दलनीय
८०. दह् (जलाना) दग्धव्य; दहनीय
८१. दा (देना) दातव्य; दानीय
८२. दिव् (चमकना) देवितव्य; देवनीय
८३. दीप् (दीप्त होना) दीपितव्य; दीपनीय
८४. दुह् (दोहना) दोग्धव्य; दोहनीय
८५. आ √दृ (आदर करना) आदर्तव्य; आदरणीय
८६. दृश् (देखना) द्रष्टव्य; दर्शनीय
८७. द्युत् (चमकना) द्योतितव्य; द्योतनीय
८८. द्विष् (द्वेष करना) द्वेष्टव्य; द्वेषणीय
८९. धा (धारण करना) धातव्य; धानीय
९०. धाव् (भागना) धावितव्य; धावनीय
९१. ध्मा (धौंकना) ध्मातव्य; ध्मानीय
९२. ध्यै (ध्यान करना) ध्यातव्य ध्यानीय
९३. नम् (झुकना) नन्तव्य; नमनीय
९४. नश् (नष्ट होना) नशितव्य नंष्टव्य; नशनीय
९५. निन्द् (निन्दा करना) निन्दितव्य; निन्दनीय
९६. नी (ले जाना) नेतव्य; नयनीय
९७. नृत् (नाचना) नर्तितव्य; नर्तनीय
९८. पच् (पकाना) पक्तव्य; पचनीय
९९. पठ् (पढ़ना) पठितव्य; पठनीय
१००. पत् (गिरना) पतितव्य; पतनीय
१०१. पा (पीना) पातव्य; पानीय
१०२. पा (रक्षा करना) पातव्य; पानीय
१०३. पाल् (रक्षा करना) पालयितव्य; पालनीय
१०४. पिष् (पीसना) पेष्टव्य; पेषणीय
१०५. पीड् (पीडा देना) पीडयितव्य; पीडनीय
१०६. पुष् (पुष्ट करना) पोष्टव्य; पोषणीय
१०७. पू (पवित्र करना) पवितव्य; पवनीय
१०८. पूज् (पूजना) पूजयितव्य; पूजनीय
१०९. पॄ (पालन वा पूर्णकरना) परितव्य परीतव्य; परणीय
११०. प्रच्छ् (पूछना) प्रष्टव्य; प्रच्छनीय
१११. फल् (फलना) फलितव्य; फलनीय
११२. बुध् (जागना) बोद्धव्य; बोधनीय
११३. बुध् (भ्वा० जानना) बोधितव्य; बोधनीय
११४. ब्रू (कहना) वक्तव्य; वचनीय
११५. भक्ष् (खाना) भक्षयितव्य; भक्षणीय
११६. भज् (सेवन करना) भक्तव्य; भजनीय
११७. भण् (कहना) भणितव्य; भणनीय
११८. भञ्ज् (तोड़ना) भङ्क्तव्य; भञ्जनीय
११९. भा (चमकना) भातव्य; भानीय
१२०. भाष् (भाषण करना) भाषितव्य; भाषणीय
१२१. भिक्ष् (मांगना) भिक्षितव्य; भिक्षणीय

१२२. भिद् (तोड़ना) भेत्तव्य; भेदनीय
१२३. भी (डरना) भेतव्य; भयनीय
१२४. भुज् (खाना, पालना) भोक्तव्य; भोजनीय
१२५. भू (होना) भवितव्य; भवनीय
१२६. भूष् (सजाना) भूषयितव्य; भूषणीय
१२७. भृ (धारण करना) भर्तव्य; भरणीय
१२८ भ्रम् (घूमना) भ्रमितव्य; भ्रमणीय
१२९. मन् (मानना) मन्तव्य; मननीय
१३०. मस्ज् (गोता लगाना) मङ्क्तव्य; मज्जनीय
१३१. मा (मापना) मातव्य; मानीय
१३२. मार्ग् (ढूंढना) मार्गयितव्य; मार्गणीय
१३३. मिल् (मिलना) मेलितव्य; मेलनीय
१३४. मील् (आंखें बन्द करना) मीलितव्य; मीलनीय
१३५. मुच् (छोड़ना) मोक्तव्य; मोचनीय
१३६. मुद् (प्रसन्न होना) मोदितव्य; मोदनीय
१३७. मृ (मरना) मर्तव्य; मरणीय
१३८. मृज् (शुद्ध करना) मार्जितव्य / मार्ष्टव्य ; मार्जनीय
१३९ मृष् (सहना) मर्षितव्य; मर्षणीय
१४०. म्लै (म्लान होना) म्लातव्य; म्लानीय
१४१. यज् (यज्ञ करना) यष्टव्य; यजनीय
१४२. यत् (यत्न करना) यतितव्य; यतनीय
१४३ या (जाना) यातव्य; यानीय
१४४. याच् (मांगना) याचितव्य; याचनीय
१४५. युज् (जोड़ना) योक्तव्य; योजनीय
१४६. युध् (युद्ध करना) योद्धव्य; योधनीय
१४७. रक्ष् (रक्षा करना) रक्षितव्य; रक्षणीय
१४८. रच् (रचना करना) रचयितव्य; रचनीय
१४९. आ √ रभ् (शुरू करना) आरब्धव्य; आरम्भणीय[1]
१५०. रम् (क्रीडा करना) रन्तव्य; रमणीय
१५१. रुच् (पसंद आना) रोचितव्य; रोचनीय
१५२. रुद् (रोना) रोदितव्य; रोदनीय
१५३. रुध् (रोकना) रोद्धव्य; रोधनीय
१५४. रुह् (उगना) रोढव्य; रोहणीय
१५५. लभ् (पाना) लब्धव्य; लम्भनीय[2]
१५६. लष् (चाहना) लषितव्य; लषणीय
१५७. लिख् (लिखना) लेखितव्य; लेखनीय
१५८. लिह् (चाटना) लेढव्य; लेहनीय
१५९. लू (छेदन करना) लवितव्य; लवनीय
१६०. अव √ लोक् (देखना) अवलोकितव्य; अवलोकनीय
१६१. आ √ लोच् (देखना) आलोचितव्य; आलोचनीय
१६२. वद् (बोलना) वदितव्य; वदनीय
१६३. वन्द् (नमस्कार करना) वन्दितव्य; वन्दनीय

---

१. रभेरशब्लिटोः (७.१.६३) इति नुमागमः
२. लभेश्च (७.१.६४) इति नुमागमः।

१६४. वप् (काटना-बोना) वप्तव्य; वपनीय
१६५. वम् (वमन करना) वमितव्य; वमनीय
१६६. वर्ण् (वर्णन करना) वर्णयितव्य; वर्णनीय
१६७. वस् (रहना) वस्तव्य[1]; वसनीय
१६८. वह् (ढोना) वोढव्य; वहनीय
१६९. वाञ्छ् (चाहना) वाञ्छितव्य; वाञ्छनीय
१७०. विद् (जानना) वेदितव्य; वेदनीय
१७१. विद् (पाना) वेत्तव्य; वेदनीय
१७२. प्र √विश् (प्रवेश करना) प्रवेष्टव्य; प्रवेशनीय
१७३. वृञ् (वरना) वरितव्य-वरीतव्य; वरणीय
१७४. वृत् (वर्तना) वर्तितव्य; वर्तनीय
१७५. वृध् (बढ़ना) वर्धितव्य; वर्धनीय
१७६. व्रज् (जाना) व्रजितव्य; व्रजनीय
१७७. व्रश्च् (काटना) व्रश्चितव्य, व्रष्टव्य; व्रश्चनीय
१७८. शङ्क् (शंका करना) शङ्कितव्य; शङ्कनीय
१७९. प्र √शंस् (प्रशंसा करना) प्रशंसितव्य; प्रशंसनीय
१८०. शास् (शासन करना) शासितव्य; शासनीय
१८१. शिक्ष् (शिक्षा देना) शिक्षितव्य; शिक्षणीय
१८२. शी (सोना) शयितव्य; शयनीय
१८३. शुच् (शोक करना) शोचितव्य; शोचनीय
१८४. शुभ् (शोभा पाना) शोभितव्य; शोभनीय
१८५. आ √श्रि (आश्रय करना) आश्रयितव्य; आश्रयणीय
१८६. श्रु (सुनना) श्रोतव्य; श्रवणीय
१८७. श्लाघ् (प्रशंसा करना) श्लाघितव्य; श्लाघनीय
१८८. श्वस् (सांस लेना) श्वसितव्य; श्वसनीय
१८९. सह् (सहना) सहितव्य, सोढव्य; सहनीय
१९०. सिच् (सींचना) सेक्तव्य; सेचनीय
१९१. सृ (जाना) सर्तव्य; सरणीय
१९२. सृज् (छोड़ना, पैदा करना) स्रष्टव्य; सर्जनीय
१९३. सेव् (सेवा करना) सेवितव्य; सेवनीय
१९४. स्तु (स्तुति करना) स्तोतव्य; स्तवनीय
१९५. स्था (ठहरना) स्थातव्य; स्थानीय
१९६. स्मृ (स्मरण करना) स्मर्तव्य; स्मरणीय
१९७. स्वप् (सोना) स्वप्तव्य; स्वपनीय
१९८. हन् (मारना) हन्तव्य; हननीय
१९९. हस् (हंसना) हसितव्य; हसनीय
२००. हा (छोड़ना) हातव्य; हानीय
२०१. हिंस् (मारना) हिंसितव्य; हिंसनीय
२०२. हु (हवन करना) होतव्य; हवनीय
२०३. हृ (चुराना) हर्तव्य; हरणीय
२०४. ह्री (शर्माना) ह्रेतव्य; ह्रयणीय
२०५. आ √ह्वे (बुलाना) आह्वातव्य; आह्वानीय

---

१. कर्त्रर्थे तु वास्तव्यः

[तव्यत् आदि में कुछ अवान्तर कार्य]

(१) ब्रू—वक्तव्य-वचनीय; अस्—भवितव्य-भवनीय।

यहां तव्यत् आदि प्रत्ययों की विवक्षा मात्र में ब्रू को वच् (५९६) तथा अस् को भू (५७६) आदेश हो जाता है। 'वक्तव्य' में **चोः कुः** (३०६) से कुत्व विशेष है।

(२) वह्—वोढव्य; सह्—सोढव्य।

वह्+तव्य, सह्+तव्य इस स्थिति में **हो ढः** (२५१) से हकार को ढकार **झषस्तथोर्धोऽधः** (५४९) से तकार को धकार पुनः ष्टुत्व से उसे ढकार हो कर ढोढे-लोप (५५०) हो जाता है—व+ढव्य; स+ढव्य। अब **सहिवहोरोदवर्णस्य** (५५१) से अवर्ण को ओकार करने पर अभीष्ट रूप सिद्ध होते हैं।

(३) दृश्—द्रष्टव्य, सृज्—स्रष्टव्य।

दृश् और सृज् धातुओं से तव्यत् लाने पर **सृजिदृशोर्झल्यमकिति** (६४४) से अम् का आगम हो कर यणादेश करने से—द्रश्+तव्य, स्रज्+तव्य। अब **व्रश्चभ्रस्ज०** (३०७) से षकार तथा **ष्टुना ष्टुः** (६४) से ष्टुत्व करने से अभीष्ट रूप बनते हैं। अनीयर् के झलादि न होने से उस के परे रहते अम् का आगम न हो कर लघूपधगुण हो जाता है – दर्शनीय, सर्जनीय।

(४) रुह्—रोढव्य; लिह्—लेढव्य।

यहां रुह् और लिह् धातु में लघूपधगुण, **हो ढः** (२५१) से हकार को ढकार **झषस्तथोर्धोऽधः** (५४९) से तव्य के तकार को धकार, ष्टुत्व से उसे ढकार तथा ढोढेलोप करने से अभीष्ट रूप सिद्ध होते हैं।

(५) दुह्—दोग्धव्य; दह्—दग्धव्य।

दुह् में लघूपधगुण हो कर **दादेर्धातोर्घः** (२५२) से हकार को घकार, तव्य के तकार को धत्व (५४९) तथा **झलां जश् झशि** (१९) से घकार को गकार करने पर 'दोग्धव्य' रूप निष्पन्न होता है। इसी प्रकार 'दग्धव्य' परन्तु यहां लघूपधगुण नहीं होता।

(६) व्रश्च्—व्रश्चितव्य, व्रष्टव्य।

व्रश्च् धातु ऊदित् होने से **स्वरतिसूति०** (४७६) द्वारा वेट् है। इट् के अभाव में **स्कोः संयोगाद्योरन्ते च** (३०९) से संयोगादि सकार का लोप, **व्रश्चभ्रस्ज०** (३०७) से चकार को षत्व तथा **ष्टुना ष्टुः** (६४) से ष्टुत्व हो जाता है।

(७) लब्धव्य; आरब्धव्य; बोद्धव्य, योद्धव्य आदि।

लभ्, रभ्, बुध्, युध् आदि झषन्त धातुओं से परे तव्यत् के तकार को धत्व (५४९) हो कर **झलां जश् झशि** (१९) से धातु को जश्त्व हो जाता है।

(८) तुष्—तोष्टव्य, पुष् (दिवा०)—पोष्टव्य, पिष्—पेष्टव्य आदि।

इन में लघूपधगुण हो कर ष्टुत्व हो जाता है।

(९) पच्—पक्तव्य, भुज्—भोक्तव्य, मुच्—मोक्तव्य आदि।

इन में **चोः कुः** (३०९) से कुत्व हो जाता है।

(१०) गम्—गन्तव्य; नम्—नन्तव्य; रम्—रन्तव्य आदि।

इन में गम् नम् रम् आदि के अपदान्त मकार को **नश्चाऽपदान्तस्य झलि** (७८) से अनुस्वार हो कर **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** (७९) से परसवर्ण हो जाता है। इसी प्रकार हन्तव्य, मन्तव्य आदि में नकार के विषय में भी समझना चाहिये।

(११) वृञ्—वरितव्य, वरीतव्य; तॄ—तरितव्य, तरीतव्य।

इन में **वॄतो वा** (६१५) से इट् को वैकल्पिक दीर्घ हो जाता है।

(१२) ग्रह्—ग्रहीतव्य।

यहां **ग्रहोऽलिटि दीर्घः** (६९३) से इट् को दीर्घ हो जाता है।

(१३) अद्—अत्तव्य; छिद्—छेत्तव्य; तुद्—तोत्तव्य आदि।

इन में **खरि च** (७४) से चर्त्व हो जाता है।

(१४) गै—गातव्य; ध्यै—ध्यातव्य; ह्वे—ह्वातव्य; त्रै—त्रातव्य आदियों में **आदेच उपदेशेऽशिति** (४९३) से धातु के एच् को आकार आदेश हो जाता है।

(१५) इष्—एषितव्य-एष्टव्य।

यहां **तीषसहलुभरुषरिषः** (६५७) सूत्र से तादि प्रत्यय को विकल्प से इट् हो कर दोनों पक्षों में लघूपधगुण हो जाता है।

(१६) चोरयितव्य, चिन्तयितव्य, भक्षयितव्य, दण्डयितव्य आदि में चौरादिक धातुओं से णिच् आ कर उसे गुण हो कर अयादेश हो जाता है।

(१७) कथयितव्य, गणयितव्य, रचयितव्य—आदि में कथ गण रच आदि धातुओं के अदन्त होने से अल्लोप (४७०) के स्थानिवद्भाव (१४४) के कारण णिच्निमित्तक उपधावृद्धि नहीं होती।

(१८) प्रच्छ्—प्रष्टव्य।

तव्य परे रहते **व्रश्चभ्रस्ज०** (३०७) सूत्र से प्रच्छ् के छकार को षकार हो कर ष्टुत्व करने से अभीष्ट रूप बन जाता है। ध्यान रहे कि छकार से पूर्व च् (तुँक्) का **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** से अपाय अर्थात् विनाश हो जाता है।

(१९) मस्ज्—मङ्क्तव्य, मज्जनीय।

मस्ज् धातु से तव्यत् में **मस्जिनशोर्झलि** (६३६) से नुँम् का आगम हो जाता है। यह आगम **मस्जेरन्त्यात् पूर्वो नुम् वाच्यः**(वा० ४४) इस वार्त्तिक से मस्ज् के जकार से पूर्व होता है—मस्न्ज्+तव्य। अब **स्कोः संयोगाद्योरन्ते च** (३०९) से संयोगादि सकार का लोप, **चोः कुः** (३०६) से जकार को गकार पुनः चर्त्वेन ककार तथा नकार को अनुस्वारपरसवर्ण करने से—मङ्क्तव्य। अनीयर् में मस्ज् के सकार को श्चुत्वेन शकार तथा **झलां जश् झशि** (१९) से शकार को जकार हो जाता है—मज्जनीय।

(२०) नश्—नशितव्य, नंष्टव्य।

नश् धातु **रधादिभ्यश्च** (६३५) से वेट् है। इट्पक्ष में नशितव्य। इट् के

अभाव में झल् परे रहते **मस्जिनशोर्झलि** (६३६) से नुँम् का आगम हो कर षत्व, ष्टुत्व तथा अपदान्त नकार को अनुस्वार हो जाता है—नंष्टव्य।

(२१) गुप्—**गोपायितव्य-गोपितव्य-गोप्तव्य**।

यहां पर गुप् धातु से **आयादय आर्धधातुके वा** (४६९) से आयप्रत्यय विकल्प से होता है। आयपक्ष में इट् का आगम हो कर **अतो लोपः** (४७०) से अकार का लोप हो जाता है। आय के अभाव में ऊदित् होने से इट् का विकल्प होता है।

(२२) कम्—कामयितव्य-कमितव्य।

कम् धातु से **आयादय आर्धधातुके वा** (४६९) से वैकल्पिक णिङ् हो जाता है। णिङ्पक्ष में उपधावृद्धि हो जाती है।

अभ्यास (१)

(१) कृत्यसंज्ञक प्रत्यय कितने और कौन कौन से हैं? प्रत्येक का एक एक विधायक सूत्र लिखें।

(२) वाऽसरूपविधि पर सोदाहरण दो पृष्ठों (२५० शब्दों) का एक लघु-निबन्ध लिखें।

(३) कृत्यप्रत्यय प्रधानतः किन किन कारकों मे होते हैं सोदाहरण स्पष्ट करें।

(४) उत्सर्ग और अपवाद की व्याख्या करते हुए तद्विषयक दो-दो उदाहरण कृत्यप्रकरण में से प्रदर्शित कीजिये।

(५) **चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति** के परिप्रेक्ष्य में 'बहुलम्' शब्द का सोदाहरण स्पष्टीकरण करें।

(६) **धातोः** (७६६) अधिकार चलाने की आवश्यकता पर एक संक्षिप्त नोट लिखें।

(७) कारकों के अतिरिक्त कृत्यों के कुछ अन्य अर्थों पर सोदाहरण प्रकाश डालें।

(८) कृत्यप्रत्ययान्तों की प्रातिपदिक संज्ञा कैसी होती है? सप्रमाण लिखें।

(९) यदि कृत्यप्रत्यय भाव में विहित हो तो कर्त्ता में कौन सी विभक्ति आयेगी? सोदाहरण सप्रमाण स्पष्ट करें।

(१०) यदि कृत्यप्रत्यय कर्म में विहित हो तो कर्त्ता और कर्म में कौन सी विभक्ति आयेगी? सप्रमाण सोदाहरण स्पष्ट करें।

(११) प्रयोजन बतलाएं—

(क) तव्यत् के अन्त में तकार जोड़ने का;

(ख) अनीयर् के अन्त में रेफ जोड़ने का;

(ग) क्यप् के अन्त में पकार जोड़ने का;

(घ) क्यप् के आदि में ककार जोड़ने का;

(ङ) ण्यत् के आदि में णकार जोड़ने का;

(च) यत् के अन्त में तकार जोड़ने का;
(छ) केलिमर् के आदि में ककार जोड़ने का।

(१२) अन्तर बतलाएं—
(क) भोज्य और भोग्य में;
(ख) अर्य और आर्य में;
(ग) भेत्तव्य और भेतव्य में;
(घ) श्रव्य और श्राव्य में;

(१३) ण्यत्-क्यप्-यत् में प्रक्रियाजन्य अन्तर स्पष्ट करें।

(१४) **ईद्यति** में ह्रस्व इकार आदेश ही क्यों न करें ?

(१५) ससूत्र सिद्धि करें—
(क) शिष्यः; देयम्; मार्ग्यः; मृज्यः; स्तुत्यः; भिदेलिमाः; चयनीयः; चेयम्; लभ्यम्; इत्यः; कार्यम्; स्नानीयं चूर्णम्; भोज्या यवागूः; जुष्यः; ग्लेयम्; आदृत्यः; वृत्यः; एधितव्यम्।
(ख) वास्तव्यः; अर्यः; खेयम्; कृत्यम्; सह्यम्; गृह्याः; दृश्यम्; आर्यः; मङ्क्तव्यम्; रोढव्यम्; नंष्टव्यः; सोढव्यः; मज्जनीयम्; ग्रहीतव्यम्; ध्यातव्यम्; अध्ययनीयम्; दोग्धव्यम्; वक्तव्यम्; एष्टव्यम्; द्रष्टव्यम्; योद्धव्यम्।

(१६) निम्नस्थ सूत्रों की व्याख्या करें—
तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः; कृत्यल्युटो बहुलम्; चजोः कु घिण्ण्यतोः; शास इदङ्हलोः; ह्रस्वस्य पिति कृति तुँक्; अचो यत्; वाऽसरूपोऽस्त्रियाम्।

इति कृत्यप्रक्रिया

यहां कृदन्तों में कृत्यप्रक्रिया का प्रकरण समाप्त होता है।

———:o:———

अथ पूर्वकृदन्तम्

अब पूर्वकृदन्तप्रकरण प्रारम्भ किया जाता है।

व्याख्या—कृदन्तप्रकरण के प्रधानतया दो विभाग किये जाते हैं—पूर्वकृदन्त और उत्तरकृदन्त। अष्टाध्यायी के तृतीयाध्याय के प्रथमपादस्थ **धातोः** (३.१.९१) अधिकार से लेकर तृतीयाध्याय के द्वितीयपाद की समाप्तिपर्यन्त पूर्वकृदन्त तथा **उणादयो बहुलम्** (३.३.१) से ले कर आगे के सम्पूर्ण कृत्प्रकरण को उत्तरकृदन्त माना जाता है। यद्यपि पाणिनीयव्याकरण के प्राचीन ग्रन्थों में ऐसा कोई विभाजन दिखाई नहीं देता किञ्च रूपावतार, प्रक्रियाकौमुदी, प्रक्रियासर्वस्व, रूपमाला आदि प्रक्रियाग्रन्थों में भी ऐसा कुछ उल्लेख नहीं मिलता तथापि कौमुदीकार (भट्टोजिदीक्षित)

ण्वुल्, तृच्, अ, उ

ने विषयविभाजन के सौकर्य के लिये ऐसी स्वकल्पित एक रेखा खींच दी है। वैसे तो इस से पूर्व कृत्यप्रकरण भी पूर्वकृदन्तों के अन्तर्गत गिना जाना चाहिये था परन्तु अर्थ की दृष्टि से विलक्षणता के कारण उसे पूर्वकृदन्तों से पूर्व पृथक् निर्दिष्ट किया गया प्रतीत होता है। लघुकौमुदीकार ने विषयविभाजन की दृष्टि से सम्पूर्ण कृदन्तप्रकरण को चार भागों में विभक्त किया है—(१) कृत्यप्रक्रिया। (२) पूर्वकृदन्तप्रकरण। (३) उणादिप्रकरण। (४) उत्तरकृदन्तप्रकरण। इन में प्रथम दो पूर्वकृदन्तप्रकरणस्थ तथा अन्तिम दो उत्तरकृदन्तप्रकरणस्थ समझने चाहियें।

अब पूर्वकृदन्तप्रकरण के सुप्रसिद्ध प्रथम दो प्रत्ययों का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७८४) ण्वुल्तृचौ ।३।१।१३३।।

धातोरेतौ स्तः। कर्तरि कृद् (७६९) इति कर्त्रर्थे।।

अर्थः—धातु से ण्वुल् और तृच् प्रत्यय हों। **कर्तरि कृत्** (७६९) सूत्र के अनुसार ये प्रत्यय कर्ता अर्थ में होंगे।

व्याख्या—ण्वुल्तृचौ ।१।२। धातोः ।५।१। प्रत्ययौ ।१।२। परौ ।१।२। (**धातोः** अधिकृत है। **प्रत्ययः**, **परश्च** इन दोनों अधिकारों का वचनविपरिणाम हो जाता है)। ण्वुल् च तृच् च ण्वुल्तृचौ, इतरेतरद्वन्द्वसमासः। अर्थः—(धातोः) धातु से (परौ) परे (ण्वुल्तृचौ) ण्वुल् और तृच् (प्रत्ययौ) प्रत्यय होते हैं।

ण्वुल् का आद्य णकार **चुटू** (१२९) द्वारा तथा अन्त्य लकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है—'वु' मात्र शेष रहता है। इस के णित् होने से धातु के अन्त्य अच् तथा उपधा के अत् को वृद्धि हो जाती है। किञ्च आकारान्त धातुओं को **आतो युँक् चिण्कृतोः** (७५७) से युँक् का आगम भी हो जाता है। लकार के इत् होने से **लिति** (६.१.१९०) द्वारा लित्स्वर सिद्ध हो जाता है। तृच् में चकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत् हो कर लुप्त हो जाता है—'तृ' मात्र शेष रहता है। तृच् में चकार अनुबन्ध तृन् और तृच् दोनों को 'तृ' द्वारा ग्रहण कराने के लिये लगाया गया है[1]। अन्यथा **निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य**[2] इस परिभाषा द्वारा 'तृ' से तृन् का ग्रहण न होता। ये ण्वुल् और तृच् प्रत्यय **कृदतिङ्** (३०२) के अधिकार में पठित होने से कृत्संज्ञक हैं अतः **कर्तरि कृत्** (७६९) से कर्ता अर्थ में होते हैं।

अब ण्वुल्प्रत्यय के विषय में एक अतीवोपयोगी सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७८५) युवोरनाकौ ।७।१।१।।

यु वु—एतयोरनाकौ स्तः। कारकः। कर्ता।।

१. यथा—**तुरिष्ठेमेयस्सु** (६.४.१५४); **तुश्छन्दसि** (५.३.५९)। ध्यान रहे कि चकार **चितः** (६.१.१६०) द्वारा अन्तोदात्तस्वर की सिद्धि के लिये नहीं जोड़ा गया। वह स्वर तो **आद्युदात्तश्च** (३.१.३) से ही सिद्ध है।

२. सूत्र में जब अनुबन्धरहित प्रत्यय का उल्लेख हो तो उस से सानुबन्ध प्रत्यय नहीं लिया जाता।

अर्थः— यु और वु को क्रमशः अन और अक आदेश हो जाते हैं ।

व्याख्या—युवोः ।६।१। अनाकौ ।१।२। युश्च वुश्च युवु:, तस्य युवोः । समाहारद्वन्द्वः । यहां पर सौत्र पुंस्त्व समझना चाहिये, अन्यथा समाहारद्वन्द्व के नपुंसक होने से 'युवुनः' ऐसा लिखा जाता । अनश्च अकश्च—अनाकौ, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(युवोः) यु और वु के स्थान पर (अनाकौ) अन और अक आदेश हो जाते हैं । अन और अक दोनों अदन्त आदेश हैं । अनेकाल् होने से **अनेकाल्शित्सर्वस्य** (४५) द्वारा दोनों सर्वादेश होते हैं । यथासंख्यपरिभाषा (२३) के अनुसार यु को अन तथा वु को अक आदेश हो जायेगा ।

यु को अन आदेश का उदाहरण अगले सूत्र पर आयेगा । यहां प्रकृत में वु को अक आदेश का उदाहरण प्रस्तुत है—

डुकृञ् करणे (तना० उभय० अनिट्) धातु से **ण्वुल्तृचौ** (७८४) द्वारा कर्ता अर्थ में ण्वुल् प्रत्यय हो जाता है । अनुबन्धों का लोप करने पर 'कृ+वु' इस स्थिति में **युवोरनाकौ** (७८५) सूत्र से वु को अक सर्वादेश हो कर 'कृ+अक' । ण्वुल् णित् था अतः स्थानिवद्भाव के कारण 'अक' आदेश भी णित् हुआ । इस णित् के परे रहते **अचो ञ्णिति** (१८२) द्वारा कृ के ऋकार को आर् वृद्धि करने से—कार्+अक=कारक बनता है । अब कृदन्त होने से इस की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर विशेष्यानुसार सुँपों की उत्पत्ति होकर 'कारकः' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं । करोतीति कारकः । जो करता है वह अर्थात् करने वाला ।

इसी प्रकार—हृञ् धातु से हरतीति हारकः (हरने वाला) । पठ्—पठतीति पाठकः (पढ़ने वाला); **अत उपधायाः** (४५५) से उपधावृद्धि । गै—गायतीति गायकः (गाने वाला); यहां गै धातु को **आदेच उपदेशेऽशिति** (४९३) से आत्व हो कर 'गा' बन जाता है पुनः **आतो युँक् चिण्कृतोः** (७५७) से युँक् का आगम हो कर रूप निष्पन्न होता है । दा—ददातीति दायकः (देने वाला); युँक् का आगम । धा—दधातीति धायकः (धारण करने वाला); पूर्ववत् युँक् । पच्—पचतीति पाचकः (पकाने वाला); उपधावृद्धि । छिद्—छिनत्तीति छेदकः (काटने वाला); लघूपधगुण । ब्रू—ब्रवीतीति वाचकः (कहने वाला); **ब्रुवो वचिः** (५९६) से वच् आदेश हो कर उपधावृद्धि हो जाती है ।

कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) याच्—याचत इति याचकः (मांगने वाला) ।
(२) दह्—दहतीति दाहकः (जलाने वाला); उपधावृद्धि ।
(३) नी—नयतीति नायकः (ले जाने वाला); वृद्धि, आयादेश ।
(४) निन्द्—निन्दतीति निन्दकः (निन्दा करने वाला) ।
(५) लिख्—लिखतीति लेखकः (लिखने वाला) ।
(६) सेव्—सेवत इति सेवकः (सेवा करने वाला) ।
(७) दृश्—पश्यतीति दर्शकः (देखने वाला); लघूपधगुण ।

(८) पूञ्—पुनातीति पावकः (पवित्र करने वाला, अग्नि) ।
(९) धाव्—धावतीति धावकः (दौड़ने वाला, धोने वाला, धोबी) ।
(१०) भिद्—भिनत्तीति भेदकः (भेदन करने वाला) ।
(११) वृध्—वर्धत इति वर्धकः (बढ़ने वाला) ।
(१२) रुध्—रुणद्धीति रोधकः (रोकने वाला) ।
(१३) नृत्—नृत्यतीति नर्तकः (नाचने वाला) ।
(१४) सिच्—सिञ्चतीति सेचकः (सींचने वाला) ।
(१५) वह्—वहतीति वाहकः (ढोने वाला) ।

णिजन्त धातुओं से ण्वुल् प्रत्यय करने पर **णेरनिटि** (५२९) द्वारा णि का लोप हो जाता है । यथा—

(१६) चिन्त्—चिन्तयतीति चिन्तकः (चिन्ता करने वाला) ।
(१७) गण्—गणयतीति गणकः (गिनने वाला) ।
(१८) पाल्—पालयतीति पालकः (पालन करने वाला) ।
(१९) स्थापि—स्थापयतीति स्थापकः (स्थापित करने वाला) ।
(२०) मोदि—मोदयतीति मोदकः (प्रसन्न करने वाला, लड्डू) ।
(२१) पाठि—पाठयतीति पाठकः (पढ़ाने वाला, अध्यापक) ।
(२२) अध्यापि—अध्यापयतीति अध्यापकः (पढ़ाने वाला) ।

अब तृच् प्रत्यय का उदाहरण यथा—

करोतीति कर्ता । यहां पर भी 'डुकृञ् करणे' धातु से कर्ता अर्थ में **ण्वुल्तृचौ** (७८४) से तृच् प्रत्यय हो कर अनुबन्धों का लोप करने से—कृ+तृ । तृच् के वलादि आर्धधातुक होने के कारण **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** (४०१) से इट् का आगम प्राप्त होता है । इस पर **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (४७५) से निषेध हो जाता है । अब **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से कृ के ऋकार को गुण रपर हो कर 'कर्तृ' शब्द निष्पन्न होता है । प्रथमा के एकवचन में सुँ विभक्ति लाने पर 'कर्ता' प्रयोग सिद्ध होता है [सुबन्तप्रक्रिया पूर्वार्ध में देखें] । इसी प्रकार—

(१) हृञ्—हर्तृ—हर्ता (हरने वाला) ।
(२) गम्—गन्तृ—गन्ता (जाने वाला) ।
(३) हन्—हन्तृ—हन्ता (मारने वाला) ।
(४) पच्—पक्तृ—पक्ता (पकाने वाला) ।
(५) भुज्—भोक्तृ—भोक्ता (खाने वाला) ।
(६) स्मृ—स्मर्तृ—स्मर्ता (स्मरण करने वाला) ।
(७) स्तु—स्तोतृ—स्तोता (स्तुति करने वाला) ।
(८) श्रु—श्रोतृ—श्रोता (सुनने वाला) ।
(९) भिद्—भेत्तृ—भेत्ता (तोड़ने वाला) ।
(१०) छिद्—छेत्तृ—छेत्ता (छेदने वाला) ।

ल्यु, णिनि, अच्

(११) ज्ञा—ज्ञातृ—ज्ञाता (जानने वाला)।
(१२) अधि √इङ्—अध्येतृ—अध्येता (अध्ययन करने वाला)।
(१३) स्था—स्थातृ—स्थाता (ठहरने वाला)।
(१४) दुह्—दोग्धृ—दोग्धा (दोहने वाला)।
(१५) वह्—वोढृ—वोढा (ढोने वाला)।
(१६) प्रच्छ्—प्रष्टृ—प्रष्टा (पूछने वाला)।
(१७) दा—दातृ—दाता (देने वाला)।
(१८) क्री—क्रेतृ—क्रेता (खरीदने वाला)।
(१९) मस्ज्—मङ्क्तृ—मङ्क्ता (गोता लगाने वाला)।
(२०) सृज्—स्रष्टृ—स्रष्टा (पैदा करने वाला)।
सेट् धातुओं से परे 'तृ' को इट् का आगम हो जाता है—
(२१) खन्—खनितृ—खनिता (खोदने वाला)।
(२२) पू—पवितृ—पविता (पवित्र करने वाला)।
(२३) खाद्—खादितृ—खादिता (खाने वाला)।
(२४) रच्—रचयितृ—रचयिता (रचने वाला)।
(२५) पाठि—पाठयितृ—पाठयिता (पढ़ाने वाला)।

ध्यान रहे कि भुज्+तृच्=भोक्ता; वह्+तृच्=वोढा; दुह्+तृच्=दोग्धा आदि में अवान्तर सन्धिकार्य ठीक उसी तरह हुआ करते हैं जैसा कि तव्यत्प्रत्ययान्तों की तालिका में दिखा चुके हैं। उस की पुनरावृत्ति व्यर्थ है।

अब अग्रिमसूत्र में अन्य कृत्यप्रत्ययों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] विधिसूत्रम्—**(७८६) नन्दि-ग्रहि-पचादिभ्यो ल्यु-णिन्यचः ।३।१।१३४।।**

नन्द्यादेर्ल्युः, ग्रह्यादेर्णिनिँः, पचादेरच् स्यात्। नन्दयतीति नन्दनः। जनमर्दयतीति जनार्दनः। लवणः। ग्राही। स्थायी। मन्त्री। [पचः]। पचादिराकृतिगणः॥

अर्थः—नन्द्यादियों से ल्यु, ग्रह्यादियों से णिनिँ तथा पचादियों से अच् प्रत्यय हो।

व्याख्या—नन्दि-ग्रहि-पचादिभ्यः ।५।३। ल्युणिन्यचः ।१।३। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं। नन्दिश्च ग्रहिश्च पच् च नन्दि-ग्रहि-पच्, समाहारद्वन्द्वः। नन्दि-ग्रहि-पच् आदिर्येषान्ते नन्दि-ग्रहि-पचादयः, तेभ्यः=नन्दि-ग्रहि-पचादिभ्यः। द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिसमासः। आदिशब्दः प्रत्येकमभिसम्बद्ध्यते। ल्युश्च णिनिश्च अच् च् ल्युणिन्यचः, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(नन्दि-ग्रहि-पचादिभ्यः) नन्द्यादि ग्रह्यादि तथा पचादि (धातुभ्यः) धातुओं से (पराः) परे (ल्यु-णिन्यचः) ल्यु, णिनिँ और अच् (प्रत्ययाः) प्रत्यय होते हैं।

यहां तीन गणों से तीन प्रत्यय विधान किये गये हैं अतः **यथासङ्ख्यमनुदेशः समानाम्** (२३) परिभाषा से क्रमशः अर्थात् नन्द्यादि से ल्यु, ग्रह्यादि से णिनिँ तथा पचादि से अच् प्रत्यय होगा।

नन्द्यादि, ग्रह्यादि और पचादि—ये तीन गण हैं जो पाणिनीय गणपाठ में दिये गये हैं। 'नन्दि' शब्द आदि में रहने से नन्द्यादि, 'ग्रहि' शब्द आदि में रहने से ग्रह्यादि तथा 'पच्' शब्द आदि में रहने से पचादि नाम पड़ा है[1]। 'टुनदिँ समृद्धौ' (भ्वा० परस्मै० सेट्) धातु के इदित् होने से **इदितो नुम् धातोः** (४६३) से नुँम् का आगम हो कर अनुस्वार और परसवर्ण करने पर नन्द् बन जाता है। अब इस से **हेतुमति च** (७००) द्वारा हेतुमण्णिच् प्रत्यय जोड़ कर 'नन्दि' हो जाता है। यही 'नन्दि' यहां नन्द्यादिगण के आदि में गृहीत किया गया है। 'ग्रहि' में शुद्ध 'ग्रह उपादाने' (क्र्या० उभ०)धातु का ग्रहण समझना चाहिये, यहां **इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे** (वा० ३.३. १०८) से इक् प्रत्यय धातुनिर्देश में किया गया है[2]।

ल्यु, णिनिँ और अच् ये तीनों प्रत्यय **कृदतिङ्** (३०२) के अधिकार के अन्तर्गत पठित होने से कृत्सञ्ज्ञक हैं अतः **कर्तरि कृत्** (७६९) के अनुसार कर्त्ता अर्थ में होते हैं।

नन्द्यादियों से ल्यु प्रत्यय होता है। ल्यु का आदि लकार **लशक्वतद्धिते** (१३६) से इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है[3] 'यु' मात्र अवशिष्ट रहता है, जिसे **युवोरनाकौ** (७८५) से अन आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—

नन्दयतीति नन्दनः। यहां णिजन्त 'टुनदिँ समृद्धौ' धातु अर्थात् 'नन्दि' से कर्त्ता अर्थ में प्रकृतसूत्र से ल्यु प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप करने से 'नन्दि+यु'। अब **णेरनिटि** (५२९) से णि का लोप हो कर **युवोरनाकौ** (७८५) से यु को अन आदेश हो जाता है—नन्द्+अन=नन्दन। प्रथमा के एकवचन में सुँ विभक्ति लाने से 'नन्दनः' (प्रसन्न करने वाला, पुत्र) प्रयोग सिद्ध होता है। इन्द्र के वन को भी 'नन्दन' कहते हैं उस में 'नन्दनम्' ऐसा नपुंसक प्रयुक्त होता है।

---

१. वस्तुतः गणपाठ में इन तीन गणों में 'नन्दन' आदि प्रत्ययान्त सिद्ध शब्द ही गिनाये गये हैं। इन शब्दों में प्रयुक्त धातुओं से वैयाकरण ल्यु, णिनिँ, अच् प्रत्ययों का विधान करते हैं। जैसाकि काशिकाकार ने कहा है—
"नन्दिग्रहिपचादयश्च न धातुपाठतः संनिविष्टा गृह्यन्ते, किं तर्हि ? नन्दन-रमणेत्येवमादिषु प्रातिपदिकगणेषु अपोद्धृत्य (बुद्ध्या पृथक्कृत्य) ये पठ्यन्ते ते निर्दिश्यन्ते" (काशिका ३.१.१३४)।

२. इक् के कित् होने पर भी **ग्रहिज्या०** (६३४) से सम्प्रसारण का अभाव सौत्रत्वात् या स्पष्टप्रतिपत्ति के लिये समझना चाहिये।

३. ल्यु में लकार और अच् प्रत्यय में चकार स्वरकार्य के लिये जोड़े गये हैं।

जनमर्दयतीति जनार्दनः (भगवान् विष्णु[1])। यहां 'जन' कर्म के उपपद रहते 'अर्द हिंसायाम्' (मारना) इस चौरादिक णिजन्त धातु से कर्ता अर्थ में नन्द्यादित्वात् ल्यु प्रत्यय, यु को अन आदेश तथा **णेरनिटि** (५२९) से णि का लोप करने पर 'अर्दन' इस कृदन्त के योग में **कर्तृकर्मणोः कृति** (२.३.६५) सूत्र से 'जन' कर्म में षष्ठीविभक्ति लग जाती है—जन ङस्+अर्दन। अब **उपपदमतिङ्** (९५४) सूत्र से उपपदसमास[2] और समासत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर समास के अवयव सुँप् (ङस्) का **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् हो सवर्णदीर्घ करने से 'जनार्दन' बन जाता है। पुनः समासत्वात् प्रातिपदिकत्वेन स्वादियों की उत्पत्ति हो कर प्रथमा के एकवचन में 'जनार्दनः' प्रयोग सिद्ध होता है।

इस गण के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) मधुं तन्नामकं दैत्यं सूदयति=क्षारयति=विनाशयतीति मधुसूदनः (श्रीकृष्ण)। यहां पर णिजन्त 'षूद क्षरणे' (भ्वा० आ० सेट्) धातु से कर्तरि ल्यु प्रत्यय होकर णिच् का लोप करने से 'सूदन', पुनः पूर्ववत् मधुकर्म के साथ उपपद-समास हो कर—मधुसूदनः। मधुशब्द का तात्पर्यार्थ अशुभ कर्म करते हुए मधुसूदन का एक सुन्दर अर्थ ब्रह्मवैवर्त्तपुराण (श्रीकृष्णजन्मखण्ड अ० ११०) में दिया गया है—

---

१. मोक्षप्रदान कर भक्तजनों के जन्मबन्धन को काटने के कारण हरि का नाम जनार्दन है। तद्यथा—जननं जनः, भावे घञ्, **जनिवध्योश्च** (६४२) इति वृद्धि-निषेधः, जनम् (जन्म) अर्दयति=हिनस्ति=नाशयति मोक्षप्रदानेन भक्तस्येति जनार्दनो हरिः।

पापी जन को दण्डद्वारा पीडित करने के कारण हरि को जर्नादन कहते हैं। तद्यथा—जनम् (पापिनम्) अर्दयति=दण्डयतीति जनार्दनो हरिः।

जन नामक समुद्रवासिदैत्यवर्ग को नष्ट करने के कारण हरि को जनार्दन कहते हैं। तद्यथा—जनम् (तन्नामकं समुद्रस्थदैत्यवर्गम्) अर्दयति=हिनस्ति=नाशयतीति जनार्दनो हरिः।

[शाङ्करभाष्ये जनैरर्द्यते=याच्यत इति जनार्दन इत्येवं कर्मणि ल्युटाप्युपपादितो जनार्दनशब्दः; दृश्यतां विष्णुसहस्रनामभाष्ये श्लो० २०]

२. **गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः** इस परिभाषा के अनुसार यह समास 'अर्दन' से परे सुँबुत्पत्ति होने से पूर्व ही हो जाता है। ध्यान रहे कि यद्यपि यहां सप्तमीनिर्दिष्ट न होने से **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** (९५३) सूत्र से 'जन' की उपपदसंज्ञा नहीं हो सकती तथापि गण में प्रातिपदिकपाठ के सामर्थ्य से उस की उपपदसंज्ञा कर उपपदसमास सिद्ध हो जाता है। इसीलिये तो आचार्य ने गणपाठ में धातुओं का निर्देश न कर प्रातिपदिकों का ही पाठ किया है जिस से कुछ अन्य अनिर्दिष्ट बातें भी सिद्ध हो जायें।

परिणामाशुभं कर्म भ्रान्तानां मधुरं मधु।
करोति सूदनं यो हि स एव मधुसूदनः ॥

(२) शोभयतीति—शोभनः [शुभ् णिच्+ल्यु; शोभा बढ़ाने वाला, फलित ज्योतिष में एक विशिष्ट योग]।

(३) वर्धयतीति—वर्धनः [वृध् णिच्+ल्यु; बढ़ाने वाला]।

(४) तपतीति— तपनः [तप्+ल्यु; तपने वाला, सूर्य]।

(५) लुनातीति लवणः [लूञ्+ल्यु; **सार्वधातुकार्ध०** (३८८) से गुण हो कर अवादेश, काटने वाला—रसविशेष, राक्षसविशेष[1]। अत्र गणे निपातनाद् णत्वम्]।

(६) मदयतीति—मदनः [मद् णिच्+ल्यु; मदमस्त करने वाला, कामदेव]।

(७) रमत इति रमयतीति वा रमणः [रम्+ल्यु; रम् णिच्+ल्यु; आनन्द करने वाला या आनन्दित करने वाला]।

इस गण के अन्य शब्द गणपाठ से समझने चाहियें।

ग्रह् आदि धातुओं से कर्त्ता में णिनिँ प्रत्यय होता है। णिनिँ में आद्य णकार और अन्त्य इकार इत्संज्ञक हैं—'इन्' मात्र शेष रहता है। णकार अनुबन्ध वृद्धिकार्य के लिये तथा आकारान्त धातुओं से युँक् आगम के लिये जोड़ा गया है। इकार अनुबन्ध नकार को **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञा से बचाने के लिये जोड़ा गया है। उदाहरण यथा—

गृह्णातीति ग्राही (ग्रहण करने वाला)। ग्रह उपादाने (क्र्या० उभय० सेट्) धातु से कर्त्ता अर्थ में ग्रह्यादित्वात् प्रकृतसूत्र से णिनिँ प्रत्यय करने पर अनुबन्धलोप तथा णिनिँ के णित्त्व के कारण **अत उपधायाः** (४५५) से उपधा के अत् को वृद्धि करने से—ग्राहिन्। प्रथमा के एकवचन में सुँ प्रत्यय आ कर **सौ च** (२८५) से उपधादीर्घ, हल्ङ्यादिलोप (१७९) तथा **नलोपः०** (१८०) से पदान्त नकार का भी लोप करने से 'ग्राही' प्रयोग सिद्ध होता है।

तिष्ठतीति स्थायी (ठहरने वाला)। 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' (भ्वा० परस्मै० अनिट्) धातु से प्रकृतसूत्रद्वारा णिनिँ, अनुबन्धलोप तथा **आतो युँक् चिण्कृतोः** (७५७) से युँक् का आगम हो कर—स्थायिन्। प्रथमा के एकवचन सुँ में पूर्ववत् विभक्तिकार्य करने से—'स्थायी' प्रयोग सिद्ध होता है।

मन्त्रयत इति मन्त्री (मन्त्रणा करने वाला)। 'मत्रिँ गुप्तभाषणे' इस चौरादिक णिजन्त धातु को इदित्त्वात् नुम् का आगम हो कर 'मन्त्रि' बन जाता है। अब इस से कर्त्ता अर्थ में णिनिँ, अनुबन्धलोप तथा **णेरनिटि** (५२९) से णि का लोप होकर—मन्त्रिन्। प्रथमा के एकवचन में पूर्ववत् 'मन्त्री' प्रयोग सिद्ध होता है।

---

१. **लवणस्त्रासितस्तोमस्त्रातारं त्वामुपस्थितः**—(उत्तरराम० १.५०)।

इस गण के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) निवसतीति निवासी (रहने वाला)। निपूर्वक 'वस निवासे' (भ्वा० परस्मै० अनिट्) धातु से णिनिँ हो कर उपधा को वृद्धि हो जाती है—निवासिन्। सुँ में—निवासी।

(२) उत्सहत इत्युत्साही (उत्साह करने वाला)। उद्पूर्वक 'षह मर्षणे' (भ्वा० आत्मने० अनिट्) धातु से णिनिँ हो कर उपधावृद्धि—उत्साहिन्। सुँ में—उत्साही।

(३) अपराध्यतीति अपराधी (अपराध करने वाला)। अपपूर्वक 'राध वृद्धौ' (दिवा० परस्मै०) धातु से णिनिँ हो कर—अपराधिन्। सुँ में—अपराधी।

इस गण के अन्य उदाहरण गणपाठ से समझने चाहियें।

पच् आदि धातुओं से 'अच्' प्रत्यय हो जाता है। अच् में चकार इत्संज्ञक है, 'अ' मात्र प्रत्यय शेष रहता है। उदाहरण यथा—

पचतीति पचः (जो पकाता है वह अर्थात् पकाने वाला)। यहां 'डुपचँष् पाके' (भ्वा उभय० अनिट्) धातु से प्रकृतसूत्रद्वारा कर्त्ता अर्थ में अच् प्रत्यय हो कर अनुबन्ध-लोप करने से—पच्+अ=पच। प्रथमा के एकवचन में सुँ ला कर—'पचः' प्रयोग सिद्ध होता है। स्त्रीलिङ्ग में अजाद्यतष्टाप् (१२४५) से टाप् हो कर—'पचा' (पकाने वाली)।

इस गण के कुछ अन्य उदाहरण—

(१) वक्तीति वचः। वच्+अ=वचः (बोलने वाला)।

(२) वदतीति वदः। वद्+अ=वदः (बोलने वाला)।

(३) चलतीति चलः। चल्+अ=चलः (चलने वाला)।

(४) पततीति पतः। पत्+अ=पतः (गिरने वाला)।

(५) वसतीति वसः। वस्+अ=वसः (रहने वाला)।

इस गण में कुछ शब्द टकार अनुबन्ध के साथ पढ़े गये हैं। यथा—चरट्, देवट्, नदट्, चोरट् आदि। इन के टकार की हलन्त्यम् (१) से इत्संज्ञा हो जाती है, इस प्रकार ये शब्द टित् माने जाते हैं। इन को टित् करने का प्रयोजन स्त्रीत्व की विवक्षा में टिड्ढाणञ्० (१२४७) सूत्रद्वारा इन से टित्-निबन्धन ङीप् प्रत्यय करना है। यथा—

(६) चरतीति चरः (घूमने वाला)। चर्+अच्=चरः। अब स्त्रीलिङ्ग में ङीप् (ई) हो कर यस्येति च (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'चरी' 'अनुचरी' आदि सिद्ध होता है। इसी तरह—

(७) दीव्यतीति देवः (चमकने वाला, देवता)। दिव्+अच्, लघूपधगुण—देवः। स्त्रियाम्—देवी।

(८) नदतीति नदः (शब्द करने वाला, नद)। नद्+अच्=नदः। स्त्रियाम्—नदी।

(६) चोरयतीति चोरः (चुराने वाला, चोर)। चुर्+णिच्+अच्= चोरः। णिलोप (५२६)। स्त्रियाम्—चोरी ब्राह्मणी।

इस गण के अन्य शब्द गणपाठ से ही समझने चाहियें।

पचादिगण का यद्यपि गणपाठ में परिगणन किया गया है तथापि वस्तुतः वह आकृतिगण है। आकृत्या गण्यत इति आकृतिगणः। आकृति से ही इस गण की पहचान है। तात्पर्य यह है कि जहां-जहां कर्तरि अच्प्रत्यय देखा जाये और उसे विधान करने वाला कोई सूत्र वा वचन न हो तो उसे पचादियों में समझ लेना चाहिये। इस के आकृतिगण होने में निम्नस्थ तीन प्रमाण प्रमुख माने जाते हैं—

(क) आचार्य ने **शिवशमरिष्टस्य करे** (४.४.१४३) तथा **कर्मणि घटोऽठच्** (५.२.३५) सूत्रों में 'कर' और 'घट' ये अच्प्रत्ययान्त शब्द प्रयुक्त किये हैं परन्तु इन का पाठ पचादिगण में कहीं नहीं पाया जाता। इस से यही सिद्ध होता है कि इस गण का पाठ परिपूर्ण नहीं है, इन गणपठित शब्दों के अतिरिक्त भी अन्य पचादि शब्द हैं।

(ख) आचार्य ने **यङोऽचि च** (७१८) सूत्रद्वारा अच् प्रत्यय के परे रहते यङ् के लुक् का विधान किया है। परन्तु यङ् से परे अच् प्रत्यय का विधायक कोई वचन नहीं है और न ही इस का गणपाठ में उल्लेख है। इस से यही सिद्ध होता है कि पचादियों का गण में पाठ अपूर्ण है। इन गणपठित शब्दों के अतिरिक्त भी अन्य पचादि शब्द हैं।

(ग) कात्यायन आचार्य ने **अजपि सर्वधातुभ्यो वक्तव्यः** ऐसा एक वार्त्तिक लिखा है। इस से भी गण की अपरिपूर्णता सिद्ध होती है।

इन सब से हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि अच् प्रत्यय करते समय केवल गण का ही आश्रय नहीं करना चाहिये अपितु इसे आकृतिगण समझ कर निर्वाह करना उचित है। इस से युध्यत इति योधः, स्वयं वृणुते पतिम् इति स्वयंवरा, करोतीति करः, धरतीति धरः, हलस्य धरः—हलधरः, गङ्गाधरः, पयोधरः, भूधरः, जलधरः, वारिधरः, स्मरतीति स्मरः, जातेः स्मरः—जातिस्मरः (पूर्वजन्म को स्मरण करने वाला), आशृणोतीति—आश्रवः (आज्ञाकारी) इत्यादि लोक में प्रचलित अनेक शब्द सिद्ध हो जाते हैं।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा 'क' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७८७) **इगुपध-ज्ञा-प्री-किरः कः** ।३।१।१३५।।

एभ्यः कः स्यात्। बुधः। कृशः। ज्ञः। प्रियः। किरः।।

अर्थः—उपधा में इक् प्रत्याहार वाली धातु से तथा ज्ञा, प्री और कॄ धातुओं से 'क' प्रत्यय हो।

व्याख्या—इगुपध-ज्ञा-प्री-किरः ।५।१। कः ।१।१। **धातोः, प्रत्ययः परश्च**—ये

तीनों अधिकृत हैं। इक् उपधा यस्य स इगुपधः, बहुव्रीहिसमासः। इगुपधश्च ज्ञा च प्री च कॄ च—इगुपध-ज्ञा-प्री-किर्, तस्माद् इगुपध-ज्ञा-प्री-किरः। समाहारद्वन्द्वः। समाहारे नपुंसकत्वेऽपि ह्रस्वाभावः सौत्रः, ततः 'प्रकृतिवदनुकरणम्भवति' इति प्रकृतिवद्भावाद् **ॠत इद् धातोः** (६६०) इतीरादेशः। अर्थः—(इगुपध-ज्ञा-प्री-किरः) उपधा में इक् प्रत्याहार वाली तथा ज्ञा, प्री और कॄ (धातोः) धातु से (परः) परे (कः प्रत्ययः) 'क' प्रत्यय हो जाता है।

कृदतिङ् (३०२) से कृत्संज्ञक होने के कारण 'क' प्रत्यय **कर्त्तरि कृत्** (७६९) द्वारा कर्त्ता अर्थ में ही होता है। 'क' में आदि ककार **लशक्वतद्धिते** (१३६) से इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है। 'अ' मात्र शेष रहता है। प्रत्यय के कित्त्व के कारण गुण-निषेध तथा **आतो लोप इटि च** (४८९) से ज्ञा के आकार का लोप सिद्ध हो जाता है।

जिस की उपधा अर्थात् अन्त्य अल् से पूर्व वर्ण इक् (इ, उ, ऋ, लृ) हो उसे इगुपध कहते हैं। यथा—बुध्, क्षिप्, लिख्, कृश् आदि धातु इगुपध हैं। इन से कप्रत्यय के उदाहरण यथा—

बोधति बुध्यत इति वा बुधः (जानने वाला, विद्वान्)। भौवादिक या दैवादिक 'बुध अवगमने' धातु से कर्त्ता में प्रकृतसूत्र से इगुपधत्वात् क प्रत्यय हो कर ककार अनुबन्ध के चले जाने पर कित्त्व के कारण लघूपधगुण का निषेध हो जाता है—बुध्+अ=बुध। अब कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर स्वादियों की उत्पत्ति होती है—बुधः।

इसी तरह—कृश्यतीति कृशः। कृश तनूकरणे (कमजोर होना, कृश होना, पतला होना; दिवा० परस्मै० सेट्) धातु से कर्त्ता में क प्रत्यय तथा लघूपधगुण का निषेध हो कर—कृशः (दुबला-पतला) प्रयोग सिद्ध होता है।

'लिख्' धातु से 'लिखः' (लिखने वाला); 'क्षिप्' धातु से 'क्षिपः' (फेंकने वाला) आदि।

जानातीति—ज्ञः (जानने वाला)। 'ज्ञा अवबोधने' (क्र्या० परस्मै० अनिट्) धातु से प्रकृतसूत्रद्वारा क प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा **आतो लोप इटि च** (४८९) से धातु के आकार का लोप हो कर विभक्तिकार्य करने से—'ज्ञः' (पण्डित, जानकार) प्रयोग सिद्ध होता है। न ज्ञः—अज्ञः (मूर्ख)। नञ्तत्पुरुषसमासः।

प्रीणातीति प्रियः (प्रसन्न करने वाला अर्थात् प्यारा)। यहां 'प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च' (क्र्या० उभय० अनिट्) धातु से कप्रत्यय हो कर कित्त्वाद् गुणनिषेध और **अचि श्नुधातु०** (१९९) से ईकार को इयँङ् आदेश करने से—'प्रियः' प्रयोग सिद्ध होता है।

किरति—विक्षिपतीति किरः (बिखेरने वाला, सूअर)। यहां 'कॄ विक्षेपे' (तुदा० परस्मै० सेट्) धातु से 'क' प्रत्यय हो कर—कॄ+अ। अब कित्त्व के कारण आर्धधातुकनिबन्धन गुण (३८८) का निषेध हो कर **ॠत इद् धातोः** (६६०) से ॠकार को इर् आदेश हो जाता है—किरः।

क

ध्यान रहे कि दिव्, चुर् आदि कुछ इगुपध धातुओं का उल्लेख पचादिगण में भी आया है अतः वहां 'क' न हो कर इस का अपवाद 'अच्' ही होगा—देवः, चोरः आदि।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७८८) आतश्चोपसर्गे ।३।१।१३६।।

प्रज्ञः । सुग्लः ।।

अर्थः—उपसर्ग के उपपद रहते आकारान्त धातु से 'क' प्रत्यय हो जाता है।

व्याख्या—आतः ।५।१। च इत्यव्ययपदम् । उपसर्गे ।७।१। कः ।१।१। (**इगुपध-ज्ञा-प्री-किरः कः** से) धातोः ।५।१। प्रत्ययः ।१।१। परः ।१।१। (तीनों अधिकृत हैं)। 'आतः' यह 'धातोः' का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि हो कर 'आदन्ताद् धातोः' बन जाता है। 'उपसर्गे' यह सप्तम्यन्त पद है। **धातोः** (७६६) के अधिकार में इस प्रकार के सप्तम्यन्त पद **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** (९५३) से उपपदसंज्ञक होते हैं और इन उपपदों का सदा पूर्व में प्रयोग होता है—यह सब आगे समासप्रकरण में स्पष्ट किया जायेगा। अर्थः—(उपसर्गे) उपसर्ग के उपपद रहते (आतः=आदन्तात्) आदन्त (धातोः) धातु से (परः) परे (कः) 'क' (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है। तात्पर्य यह है कि उपसर्गपूर्वक आकारान्त धातु से कर्ता अर्थ में कृत्संज्ञक 'क' प्रत्यय हुआ करता है। उदाहरण यथा—

प्रजानातीति प्रज्ञः (अधिक जानने वाला, सियाना, पण्डित)। यहां पर 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'ज्ञा अवबोधने' इस आकारान्त धातु से प्रकृतसूत्रद्वारा 'क' प्रत्यय हो कर अनुबन्ध ककार के लुप्त हो जाने पर **आतो लोप इटि च** (४८९) से धातु के आकार का भी लोप हो जाता है—प्रज्ञ्+अ=प्रज्ञ। सुँ में—प्रज्ञः।

इसी प्रकार–सुग्लायतीति सुग्लः (अत्यन्त थका हुआ, खिन्न) यहा पर सुपूर्वक 'ग्लै हर्षक्षये' (भ्वा० प० अनिट्) धातु से कप्रत्यय की विवक्षा में **आदेच उपदेशेऽशिति** (४९३) द्वारा धातु के ऐकार को आकार आदेश होकर कप्रत्यय करने से–सुग्ला+अ। अब पूर्ववत् आकार का लोप करने से सुग्ल्+अ=सुग्ल='सुग्लः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा--

(१) प्रतिष्ठत इति प्रस्थः (प्र√स्था+क; प्रस्थान करने वाला)। वने प्रस्थः वनप्रस्थः। वनप्रस्थ एव वानप्रस्थः।

(२) उत्तिष्ठतीति उत्थः (उद्√स्था+क; उठने वाला)। प्रायः समास के अन्त में देखा जाता है। आनन्दोत्थं नयनसलिलम् (मेघदूते); रजांसि समरोत्थानि (रघु० १२.८२); दरीमुखोत्थेन समीरणेन (कुमार० १.८)।

(३) सुम्लायतीति सुम्लः (सु√म्लै+क; बहुत म्लान होने वाला)।

(४) नितरां श्यति नाशयति व्यापारान् इति निशा (नि√शो+क; रात्रि)।

अण्

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(७८९) गेहे कः ।३।१।१४४॥**

गेहे कर्त्तरि ग्रहेः कः स्यात् । गृहम् ॥

अर्थः—ग्रह् धातु से 'क' प्रत्यय हो यदि इस का कर्त्ता गेह अर्थात् घर हो।

व्याख्या—गेहे ।७।१। कः ।१।१। ग्रहः ।५।१। (**विभाषा ग्रहः** से) **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं। अर्थः—(ग्रहः, धातोः) ग्रह् धातु से (परः) परे (कः) 'क' (प्रत्ययः) प्रत्यय होता है (गेहे) घर अर्थ वाच्य हो तो। 'क' प्रत्यय कृत् होने से कर्त्ता अर्थ में होता है उसी कर्त्ता को 'गेहे' यह निर्दिष्ट करता है। उदाहरण यथा—

'ग्रह्' धातु से प्रकृतसूत्र द्वारा कप्रत्यय हो कर ककार अनुबन्ध का लोप हो जाता है—ग्रह्+अ। अब प्रत्यय के कित्त्व के कारण **ग्रहिज्या०** (६३४) सूत्र से धातु के रेफ को सम्प्रसारण ऋकार तथा **सम्प्रसारणाच्च** (२५८) से पूर्वरूप एकादेश हो कर—गृह्+अ=गृह। नपुंसक के एकवचन में—गृहम्। इस का अर्थ है—गृह्णाति धान्यादिकमिति गृहम्। जो धान्य आदि को ग्रहण करता है अर्थात् घर। तात्स्थ्योपाधि से 'मञ्चाः क्रोशन्ति' की तरह गृह में स्थित गृहिणी को भी 'गृहाः' कहते हैं। परन्तु इस अर्थ में गृह-शब्द सदा पुंभूम्नि अर्थात् पुंलिङ्ग के बहुवचन में ही प्रयुक्त होता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(७९०) कर्मण्यण् ।३।२।१॥**

कर्मण्युपपदे धातोरण् प्रत्ययः स्यात्। कुम्भं करोतीति कुम्भकारः ॥

अर्थः—कर्म के उपपद होने पर धातु से परे अण् प्रत्यय हो।

व्याख्या—कर्मणि ।७।१। अण् ।१।१। धातोः ।५।१। प्रत्ययः ।१।१। परः ।१।१। (ये तीनों अधिकृत हैं)। **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** (९५३) के अनुसार 'कर्मणि' यह सप्तम्यन्त उपपदसंज्ञक है। अर्थः—(कर्मणि) कर्म के उपपद होने पर (धातोः) धातु से (परः) परे (अण् प्रत्ययः) अण् प्रत्यय हो जाता है।

यह प्रत्यय **कृदतिङ्** (३०२) से कृत्संज्ञक होने के कारण **कर्तरि कृत्** (७६९) द्वारा कर्त्ता अर्थ में ही होता है। अण् में णकार इत्सञ्ज्ञक है, 'अ' मात्र शेष रहता है। अण् के णित्त्व के कारण **अचो ञ्णिति** (१८२) से अजन्त अङ्ग को तथा **अत उपधायाः** (४५५) से उपधा के अत् को वृद्धि हो जाती है। किञ्च **आतो युँक् चिण्कृतोः** (७५७) से युँक् का आगम भी हो जाता है। उदाहरण यथा—

कुम्भं करोतीति कुम्भकारः (घड़ा बनाने वाला अर्थात् कुम्हार)। यहां पर 'कुम्भ' कर्म के उपपद रहते कृ (डुकृञ् करणे, तना० उ०) धातु से अण् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप तथा **अचो ञ्णिति** (१८२) से आर् वृद्धि करने पर—'कार' इस कृदन्त के योग में कुम्भ कर्म में **कर्तृकर्मणोः कृति** (२.३.६५) से षष्ठी विभक्ति आ कर—'कुम्भ ङस्+कार' बना। अब **गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुँबुत्पत्तेः** इस परिभाषा के परिप्रेक्ष्य में **उपपदमतिङ्** (९५४) से उपपदसमास हो कर समास

के अवयव सुँप् (ङस्) का **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् हो जाता है—कुम्भकार। समासत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा होने के कारण स्वादियों की उत्पत्ति होती है। प्रथमैकवचन में—कुम्भकारः। इसी प्रकार—

(१) शरं लुनातीति शरलावः [शर काटने वाला; शर+लू+अण्]।
(२) काण्डं लुनातीति काण्डलावः [डाली को काटने वाला]।
(३) भाष्यं करोतीति भाष्यकारः [भाष्य करने वाला]।
(४) सूत्रं करोतीति सूत्रकारः [सूत्र बनाने वाला]।
(५) सुवर्णं सुवर्णमयं भूषणादिकं करोतीति सुवर्णकारः [सोने के भूषण बनाने वाला, सुनार]।
(६) ओदनं पचतीति ओदनपाचः [**अत उपधायाः** इत्युपधावृद्धिः]।
(७) पाणिं गृह्णातीति पाणिग्राहः [वधू के हाथ को ग्रहण करने वाला, वर]।
(८) नॄन् शंसतीति[1] नृशंसः [मनुष्यों की हिंसा करने वाला, निर्दयी]।
(९) सार्थं वहतीति सार्थवाहः [टोले का अगुवा; सार्थ √वह्+अण्]।
(१०) वेदम् अधीत इति वेदाध्यायः [वेद पढ़ने वाला; वेद+अधि √इङ्+अण्]।
(११) अश्वान् नयतीति अश्वनायः [घोड़ों को चराने वाला; अश्व √नी+अण्; वृद्धि—आयादेश]।
(१२) कर्त्तारम् अभिप्रैतीति कर्त्रभिप्रायम्[2] [कर्त्ता को प्राप्त होने वाला फल आदि; कर्त्तृ+अभि प्र √इण् + अण्]।
(१३) चर्चाम् पठतीति चर्चापाठः [वैदिक पाठ विशेष को पढ़ने वाला; चर्चा √पठ्+अण्, **अत उपधायाः** (४५५)]।
(१४) गा नयतीति गोनायः [गौओं को चराने वाला, ग्वाला]।
(१५) सूत्रं (प्रयोगानुष्ठानं) धारयतीति सूत्रधारः[3] [नाटक का महा-प्रबन्धक]।
(१६) वारि वहतीति वारिवाहः [मेघ][4]।
(१७) हव्यं वहतीति हव्यवाहः [अग्नि][5]।

---

१. शंसतिरत्र हिंसार्थः।
२. **स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले** (३७९) इत्यत्र यथा।
३. **नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते।**
सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते॥
४. **'अभ्रं मेघो वारिवाहः स्तनयित्नुर्बलाहकः'** इत्यमरः।
५. **तथा हि तोयौघविभिन्नसंहतिः**
स हव्यवाहः प्रययौ पराभवम्। (किरात० १६.६१)

(१८) आश्रयम् (अधिकरणम्) अश्नातीति आश्रयाशः [जिस स्थान पर रहे उस आश्रय को खाने वाला, अग्नि]।

(१९) अश्वम् आरोहतीति अश्वारोहः [घुड़सवार]।

(२०) कर्णम् (अरित्रम्) धारयतीति कर्णधारः [चप्पू को धारण करने वाला, नाविक]।

यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि हम स्वयं यदृच्छा से प्रत्येक स्थान पर अण् का प्रयोग नहीं कर सकते। शिष्टों द्वारा प्रयुक्त प्रयोगों तक ही हमारी सीमा है। अत एव 'ग्रामं गच्छति, आदित्यं पश्यति' इत्यादियों में अनभिधान (लोक में शिष्टों का प्रयोग न होने) के कारण अण् का प्रयोग नहीं होता।

अब अग्रिमसूत्र में अण् के अपवाद 'क' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(७९१) आतोऽनुपसर्गे कः ।३।२।३।।**

आदन्ताद् धातोरनुपसर्गात् कर्मण्युपपदे कः स्यात्। अणोऽपवादः। आतो लोपः० (४८९)। गोदः। धनदः। कम्बलदः। अनुपसर्गे किम्? गोसंदायः।।

अर्थः—कर्म के उपपद रहते उपसर्गरहित आकारान्त धातु से 'क' प्रत्यय हो। यह अण् (७९०) का अपवाद है।

व्याख्या—आतः ।५।१। अनुपसर्गे ।७।१। कः ।१।१। कर्मणि ।७।१। (**कर्मण्यण्** से) धातोः ।५।१। प्रत्ययः ।१।१। परः ।१।१। (ये तीनों अधिकृत हैं)। अविद्यमान उपसर्गो यस्यासौ—अनुपसर्गस्तस्मिन् अनुपसर्गे। बहुव्रीहिसमासः। यहां पञ्चमी के स्थान पर सप्तमी का प्रयोग सौत्र है। 'आतः' यह 'धातोः' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'आदन्ताद् धातोः' उपपन्न हो जाता है। अर्थः—(कर्मणि) कर्म के उपपद रहते (अनुपसर्गे=अनुपसर्गात्) उपसर्ग से रहित (आतः=आदन्तात्) आकारान्त (धातोः) धातु से (परः) परे (कः प्रत्ययः) 'क' प्रत्यय हो जाता है। पूर्वसूत्र **कर्मण्यण्** (७९०) का यह अपवाद है। उदाहरण यथा—

गां ददातीति गोदः [गाय देने वाला]। यहां पर 'गो' कर्म के उपपद रहते 'दा' (डुदाञ् दाने) इस उपसर्गरहित आकारान्त धातु से कर्ता में 'क' प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा **आतो लोप इटि च** (४८९) से धातु के आकार का भी लोप हो कर 'द' इस कृदन्त के योग में 'गो' कर्म में **कर्तृकर्मणोः कृति** (२.३.६५) द्वारा षष्ठीविभक्ति ला कर—गो ङस्+द। अब **गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुँबुत्पत्तेः** परिभाषा के कारण सुँबुत्पत्ति से पूर्व ही **उपपदमतिङ्** (९५४) से उपपदसमास तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से समास के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् हो कर —गोद। **एकदेशविकृतमनन्यवत्** के अनुसार प्रातिपदिकसंज्ञा के अक्षुण्ण रहने से सुँ की उत्पत्ति होकर 'गोदः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार—धनं ददातीति धनदः (धन देने वाला, कुबेर); कम्बलं ददातीति कम्बलदः (कम्बल देने वाला) रूपों की सिद्धि होती है।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) नॄन् पातीति नृपः [मनुष्यों की रक्षा करने वाला, अर्थात् राजा; यहां 'पा रक्षणे' धातु से 'क' प्रत्यय हुआ है]।

(२) भुवं पातीति भूपः [पृथ्वी की रक्षा करने वाला, राजा]।

(३) जलं ददातीति जलदः [जल देने वाला अर्थात् मेघ]।

(४) तोयं ददातीति तोयदः [जल देने वाला अर्थात् मेघ]।

(५) पयो ददातीति पयोदः [जल देने वाला अर्थात् मेघ]।

(६) कृतं जानातीति कृतज्ञः [किये को जानने वाला]। ज्ञा अवबोधने।

(७) मधु पिबतीति मधुपः [मधु अर्थात् पुष्परस को पीने वाला; यहां 'पा पाने' धातु का प्रयोग है]।

(८) बहून् अर्थान् लातीति बहुलम् [बहुत अर्थों को लाने वाला]।

(९) नारं ददातीति नारदः (मेघ)।

(१०) नारं (नरसमूहम्) द्यति (कलहेन अवखण्डयति) इति नारदः [पौराणिक सुप्रसिद्ध देवर्षि नारद]। 'दो अवखण्डने' धातु के ओकार को **आदेच उपदेशे०** (४९३) से आत्व हो जाता है।

(११) पार्ष्णि त्रायत इति पार्ष्णित्रम् [पीछे रहने वाली सेना]। 'त्रैङ् पालने'।

(१२) अङ्गुलिं त्रायत इति अङ्गुलित्रम् [अङ्गुलि की रक्षा करने वाला, दस्ताना]।

तन्तून् वयतीति तन्तुवायः [तन्तुओं को बुनने वाला अर्थात् जुलाहा]। यहां 'वेञ् तन्तुसन्ताने' (बुनना) धातु में इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती **ह्वा-वा-मश्च** (३.२.२) सूत्र से अण् प्रत्यय ही होता है। धातु के एकार को आत्व (४९३) हो कर युँक् का आगम (७५७) हो जाता है।

अनुपसर्ग इति किम् ? गोसंदायः।

प्रकृतसूत्र में उपसर्गरहित इसलिये कहा है कि उपसर्गयुक्त अवस्था में आकारान्त धातु से 'क' प्रत्यय न हो। यथा—गां संददातीति गोसंदायः। यहां गोकर्मोपपद 'सम्' पूर्वक दा धातु से 'क' न हो कर **कर्मण्यण्** (७९०) से अण् प्रत्यय हो जाता है। अण् के णित्त्व के कारण **आतो युँक्०** (७५७) से युँक् का आगम हो कर पूर्ववत् कर्म में षष्ठी तथा **उपपदमतिङ्** (९५४) से उपपदसमास करने से 'गोसंदायः' (गौओं का भली भाँति दान करने वाला) प्रयोग सिद्ध होता है।

[लघु०] वा०—(४७) मूलविभुजादिभ्यः कः।

मूलानि विभुजतीति मूलविभुजो रथः। आकृतिगणोऽयम्। महीध्रः। कुध्रः॥

अर्थः—मूलविभुज आदि शब्दों की सिद्धि के लिये 'क' प्रत्यय कहना चाहिये।

व्याख्या—मूलविभुजादिभ्यः।४।३। (तादर्थ्ये चतुर्थी)। कः।१।१। अर्थः—

(मूलविभुजादिभ्यः) मूलविभुज आदि शब्दों की सिद्धि के लिये (कः) 'क' प्रत्यय कहना चाहिये । उदाहरण यथा—

मूलानि विभुजतीति मूलविभुजो रथः [वृक्षों की जड़ों को टेढ़ा कर देने वाला वा तोड़ने वाला रथ] । यहां 'मूल' कर्मोपपद विपूर्वक 'भुजो कौटिल्ये' (तुदा० प०) धातु से कर्ता कारक में 'क' प्रत्यय, अनुबन्धलोप, कित्त्वात् लघूपधगुण का निषेध तथा कृद्योग में षष्ठीविभक्ति ला कर 'मूल आम् विभुज' इस स्थिति में उपपदसमास हो कर 'मूलविभुजः' प्रयोग सिद्ध होता है।

आकृतिगणोऽयम् । यह मूलविभुजादि आकृतिगण समझना चाहिये। इस का कहीं परिगणन नहीं किया गया। आकृति से ही इस गण की पहचान होती है। जहां कहीं 'क' प्रत्यय किया गया हो पर वह किसी सूत्र या वचन से विधान न किया गया हो तो उसे मूलविभुजादियों के अन्तर्गत समझ लेना चाहिये। 'क' प्रत्यय किये गये की मुख्य पहचान यह होती है कि वहां धातु के आकार का लोप या धातु में गुण-वृद्धि का अभाव हुआ करता है। जैसे 'मूलविभुज' में लघूपधगुण का अभाव है तथा 'दायाद, कलाद' आदि शब्दों में 'दा' धातु के आकार का लोप हुआ है। कहीं-कहीं उपधालोप भी प्राप्त होता है जैसे 'कृतघ्न' आदि में।

मूलविभुजादि के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) महीं धरतीति महीध्रः [मही अर्थात् पृथ्वी को धारण करने वाला, पर्वत]। यहां पर 'मही' कर्म के उपपद रहते 'धृञ् धारणे' (भ्वा० प०) धातु से 'क' प्रत्यय, गुणनिषेध के कारण यणादेश (१५) कृद्योग में षष्ठी तथा उपपदसमास हो कर—महीध्रः ।

(२) कुं (पृथ्वीम्) धरतीति कुध्रः [पर्वत] ।

(३) कृतं हन्तीति कृतघ्नः[1] [किये को न जानने वाला। कृत+हन् अ (क); यहां **गमहनजनखनघसां लोपः०** (५०५) से उपधालोप हो कर **हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु** (२८७) से हकार को घकार आदेश हो जाता है] ।

(४) शत्रुं हन्तीति शत्रुघ्नः [शत्रु को मारने वाला] ।

(५) दायम् (रिक्थम्=पित्रादिधनम्) आदत्त इति दायादः [पैतृक धन का भागी] ।

(६) अपो बिभर्तीति अभ्रम् [पानी को धारण करने वाला, मेघ]।

(७) प्रियम् आचष्ट इति प्रियाख्यः[2] [प्रिय बात कहने वाला; प्रिय+आ √चक्षिङ्+क। **चक्षिङः ख्याञ्** (२.४.५४) से चक्षिङ् को ख्याञ् हो जाता है]।

---

१. **कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः** (पञ्चतन्त्र ४.११) ।

२. **यस्मिन् शतसहस्राणि पुत्रे जाते गवां ददौ ।**
ब्राह्मणेभ्यः प्रियाख्येभ्यः सोऽयमुञ्छेन जीवति ॥ (महाभाष्ये १.४.३)

(८) स्त्रियम् आचक्षात इति स्त्र्याख्यौ [स्त्री को कहने वाले दो; **यू स्त्र्याख्यौ नदी** (१९४)]।

(९) कलाम् (भागम्) आदत्त इति कलादः [सुवर्णादि का एक भाग हर लेने वाला, सुनार[1]]।

(१०) शिरसि रोहन्तीति शिरोरुहाः [सिर पर उगने वाले, सिर के बाल]।

(११) कौ (पृथिव्यां) मोदत इति कुमुदम् [श्वेतकमल]। मुदँ हर्षे।

(१२) सरसि रोहतीति सरोरुहम् [तालाब में उगने वाला, कमल]।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(७९२) चरेष्टः** ।३।२।१६।।

अधिकरण उपपदे। कुरुचरः ।।

अर्थः—अधिकरण के उपपद रहते चर् धातु से ट प्रत्यय हो।

व्याख्या—चरेः ।५।१। टः ।१।१। धातोः ।५।१। प्रत्ययः ।१।१। परः ।१।१। (ये तीनों अधिकृत हैं) अधिकरणे ।७।१। (**अधिकरणे शेतेः** से; **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** के अनुसार यह उपपद है)। 'चरेः' यह 'चरि' का पञ्चम्यन्त रूप है, यहां चर् धातु से धातुनिर्देश में इक् प्रत्यय जोड़ा गया है—**इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे**। अर्थः—(अधिकरणे) अधिकरण के उपपद रहते (चरेः) चर् (धातोः परः) धातु से परे (टः) ट (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है।

'ट' प्रत्यय कृत्संज्ञक होने से कर्त्ता अर्थ में होता है। 'ट' में टकार **चुटू** (१२९) से इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है—'अ' मात्र शेष रहता है। प्रत्यय को टित् करने का प्रयोजन स्त्रीलिङ्ग में **टिड्ढाणञ्०** (१२४७) से ङीप् प्रत्यय करना है—(कुरुचरी)। यह सब आगे स्पष्ट किया गया है। इस सूत्र के उदाहरण यथा—

कुरुषु चरतीति कुरुचरः (कुरुदेश में घूमने वाला[2])। 'कुरु' अधिकरण के उपपद रहते 'चर गतिभक्षणयोः' (भ्वा० परस्मै० सेट्) धातु से कर्त्ता कारक में टप्रत्यय हो कर, टकार अनुबन्ध का लोप हो जाता है—कुरु सुप्+चर् अ। अब कृदन्त चर्+अ='चर' से विभक्ति लाने से पूर्व ही **उपपदमतिङ्** (९५४) से उपपद समास हो कर अवान्तर सुँप् का लुक् (७२१) हो कर—कुरुचर। प्रातिपदिकत्वेन सुँ आदियों की उत्पत्ति होती है। सुँ में—'कुरुचरः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार—

(१) मद्रेषु चरतीति मद्रचरः (मद्र प्रदेश में घूमने वाला)।

(२) नक्तं चरतीति नक्तञ्चरः (रात्रि में घूमने वाला)।

(३) निशायां चरतीति निशाचरः (रात्रि में घूमने वाला, राक्षस)।

---

१. **'नाडिन्धमः स्वर्णकारः कलादो रुक्मकारकः'** इत्यमरः।

२. कुरु, मद्र, पाञ्चाल, कश्मीर आदि जनपदवाची शब्द प्रायः बहुवचन में प्रयुक्त होते हैं।

(४) रात्रौ चरतीति रात्रिचरः[1] (रात्रि में घूमने वाला, राक्षस)।

(५) वने चरतीति वनेचरः[2] (वन में घूमने वाला)।

(६) व्योम्नि चरतीति व्योमचरः (आकाश में घूमने वाला)।

(७) खे (आकाशे) चरतीति खेचरः (आकाश में घूमने वाला, ग्रह-पक्षी आदि)।

(८) वारिणि चरतीति वारिचरः (जल में विचरने वाला, पक्षी आदि)[3]।

प्रत्यय को टित् करने के कारण स्त्रीत्व की विवक्षा में कुरुचर आदि शब्दों से **टिड्ढाणञ्०** (१२४७) द्वारा ङीप् (ई) प्रत्यय होकर **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'कुरुचरी' आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं। यदि प्रत्यय टित् न होता तो **अजाद्यतष्टाप्** (१२४५) से टाप् हो कर 'कुरुचरा' इस प्रकार अनिष्ट रूप बन जाता।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(७९३) भिक्षा-सेनाऽऽदायेषु च ।३।२।१७।।**

भिक्षाचरः। सेनाचरः। आदायेति ल्यबन्तम्—आदायचरः॥

अर्थः—भिक्षा, सेना और आदाय (लेकर)—इन सुबन्तों के उपपद होने पर भी चर् धातु से ट प्रत्यय होता है।

व्याख्या—भिक्षा-सेनाऽऽदायेषु ।७।३। च इत्यव्ययपदम्। चरेः ।५।१। टः ।१।१। (**चरेष्टः** से)। सुँप्सु ।७।३। (**सुँपि स्थः** से वचनविपरिणाम कर के)। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं। अर्थः—(भिक्षा-सेनाऽऽदायेषु) भिक्षा, सेना और आदाय —इन (सुँप्सु) सुँबन्तों के उपपद रहने पर (च) भी (चरेः, धातोः) चर् धातु से (परः) परे (टः प्रत्ययः) 'ट' प्रत्यय हो जाता है।

पूर्वसूत्र में अधिकरण के उपपद होने पर चर् से 'ट' विधान किया गया था परन्तु यहां 'अधिकरण' के उपपद रहने की कोई शर्त नहीं है। भिक्षा आदियों में जो विभक्ति सम्भव हो सके लगा लेनी चाहिये। सूत्र के उदाहरण यथा—

भिक्षां चरतीति भिक्षाचरः (भिक्षार्थ पर्यटन करने वाला)। यहां पर 'भिक्षा' कर्म के उपपद रहते चर् धातु से ट प्रत्यय, अनुबन्धलोप और कृद्योग में भिक्षा कर्म में षष्ठी विभक्ति आ कर 'भिक्षा ङस्+चर'। अब **उपपदमतिङ्** (९५४) से उपपद समास हो कर अन्तर्वर्त्तिनी विभक्ति (ङस्) का लुक् करने से 'भिक्षाचर' शब्द उप-

---

१. यहां पर **रात्रेः कृति विभाषा** (६.३.७१; कृदन्त उत्तरपद परे होने पर रात्रि को विकल्प से मुँम् का आगम हो) सूत्र से पक्ष में मुँम् का आगम हो कर 'रात्रिञ्चरः' रूप भी बनता है।

२. **तत्पुरुषे कृति बहुलम्** (६.३.१३) सूत्र द्वारा यहां अवान्तरविभक्ति (सुँप्) का लुक् नहीं होता। इसी तरह 'खेचरः' में भी जानना चाहिये।

३. **अनृणी चाऽप्रवासी च स वारिचर मोदते** (महाभारत ३.३१३.१५)।

पन्न हो जाता है। पुनः प्रातिपदिकत्वेन इस से स्वादियों की उत्पत्ति होती है। सुँ में—भिक्षाचरः। स्त्रीलिङ्ग में पूर्ववत् टित्त्वात् ङीप् हो कर 'भिक्षाचरी' बनेगा। इसी प्रकार—सेनां चरति प्रविशतीति सेनाचरः (सेना में प्रवेश करने वाला) प्रयोग सिद्ध होता है।

'आदाय' शब्द आङ्पूर्वक 'डुदाञ् दाने' धातु से पूर्वकाल में क्त्वाप्रत्यय और समासवशात् उसे ल्यप् करने के कारण सिद्ध होता है। स्थानिवद्भाव के कारण **क्त्वा-तोसुन्-कसुनः** (३७०) से यह अव्यय है। अतः इस से परे सुँप् का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् समझना चाहिये। 'आदाय' का अर्थ है—'लेकर'। आदाय चरतीति आदायचरः [लेकर घूमने वाला अर्थात् जो प्राप्त होता है उसे लिये-लिये घूमने वाला]। यहां 'आदाय' सुँबन्त के उपपद रहते चर् धातु से टप्रत्यय हो कर पूर्ववत् उपपदसमास करने से 'आदायचरः' प्रयोग सिद्ध होता है।

सह चरतीति सहचरः, स्त्रियाम्—सहचरी[1]। यहां पर कुछ लोग प्रकृतसूत्र में चकार को अनुक्तसमुच्चयार्थ स्वीकार करते हुए 'ट' प्रत्यय का विधान मानते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं। क्योंकि पचादिगण में 'चरट्' इस प्रकार टित् पढ़ा गया है अतः 'सहचर' में पचाद्यच् मान कर सुँप्सुँपा समास मानना उचित है। टित्त्व (चरट् में) के कारण ङीप् करने पर 'सहचरी' भी उपपन्न हो जाता है। इसी प्रकार शनैश्चरति (पङ्गुत्वाद्) इति 'शनैश्चरः' में भी पचाद्यच् जानना चाहिये।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७९४) कृञो हेतु-ताच्छील्याऽऽनुलोम्येषु ।३।२।२०॥

एषु द्योत्येषु करोतेष्टः स्यात् ॥

अर्थः—हेतु (कारण), ताच्छील्य (तत्स्वभावता), आनुलोम्य (अनुकूलता-आज्ञापालनत्व-वशवर्तिता)—ये तीन अर्थ यदि द्योत्य हों तो कर्म के उपपद होने पर 'डुकृञ्' धातु से परे ट प्रत्यय हो।

व्याख्या—कृञः ।५।१। हेतु-ताच्छील्यानुलोम्येषु ।७।३। टः ।१।१। (**चरेष्टः** से) कर्मणि ।७।१। (**कर्मण्यण्** से) **धातोः**, **प्रत्ययः**, **परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं। हेतुश्च ताच्छील्यञ्च आनुलोम्यं च हेतु-ताच्छील्यानुलोम्यानि, तेषु—हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु। इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु) हेतु, ताच्छील्य और आनुलोम्य—ये अर्थ द्योत्य हों तो (कर्मणि) कर्म के उपपद रहते (कृञः धातोः) 'डुकृञ् करणे' धातु से (परः) परे (टः) ट (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है।

'ट' प्रत्यय तो कृत्संज्ञक होने से कर्ता अर्थ में ही होगा परन्तु हेतु आदि अर्थ ऊपर से द्योतित या भासित होंगे। उदाहरण यथा—

हेतु अर्थ के द्योत्य में—

शोककरी कन्या (शोक या दुःख को उत्पन्न करने वाली अर्थात् शोक का कारण कन्या)। पुष्टिकरं रसायनम् (पुष्टि करने वाला अर्थात् पुष्टि का कारण

---

१. प्रेक्ष्य स्थितां सहचरीं व्यवधाय देहम् (रघु० ९.५७)।

रसायन)। अनर्थकरम् आलस्यम् (अनर्थ करने वाला अर्थात् अनर्थ का कारण आलस्य)। शोककरी अविद्या (शोक का कारण अविद्या)। बोधकरी व्याख्या। लज्जाकरः स्वजनविरोधः। शैथिल्यकरोऽतिसारः (शैथिल्य का कारण अतिसार रोग)। उन्नतिकरः सज्जनसंगमः। इत्यादियों में 'शोक' आदि कर्म के उपपद रहते 'कृ' धातु से हेतु के द्योत्य होने पर कर्त्ता कारक में टप्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप, **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से कृ के ऋकार को गुण रपर तथा कृद्योग में षष्ठी के लाने पर 'शोक ङस् +कर'। इस स्थिति में **उपपदमतिङ्** (९५४) से उपपदसमास हो कर सुँब्लुक् और विभक्तिकार्य करने से 'शोककरः' सिद्ध होता है। यदि विशेष्य स्त्रीलिङ्ग में होगा तो 'शोककर' शब्द से टित्त्वाद् **टिड्ढाणञ्०** (१२४७) सूत्र द्वारा ङीप् प्रत्यय हो कर **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप करने पर विभक्तिकार्य हो जायेगा—शोककरी कन्या (शोकं करोतीति शोककरी, शोकहेतुरित्यर्थः)[1]।

ताच्छील्य—तत्स्वभावता द्योत्य होने में—

श्राद्धकरः (श्राद्धं करोति तच्छील इति श्राद्धकरः) अर्थात् श्राद्ध करना जिस का स्वभाव है वह। यहां भी श्राद्धकर्म के उपपद रहते पूर्ववत् टप्रत्यय हो जाता है। इसी प्रकार—तापकरः सूर्यः। आह्लादकरी चन्द्रिका। दयाकरः सज्जनः। दुःखकरो मूर्खः।

आनुलोम्य-वशवर्तिता द्योत्य होने में—

वचनं करोतीति वचनकरः सेवकः (वचनों को मानने वाला अर्थात् आज्ञाकारी सेवक)। वाक्यकरः। आज्ञाकरः। आदि। सर्वत्र टप्रत्यय हो कर पूर्ववत् सिद्धि जाननी चाहिये।

हेतु के द्योत्य में मूलोक्त उदाहरण—

यशस्करी विद्या [यशः करोतीति—यशस्करी, यश को करने वाली अर्थात् यश का कारण विद्या]। यहां 'यशस्' कर्म के उपपद रहते प्रकृतसूत्र से 'कृ' धातु से परे हेतु के द्योत्य में टप्रत्यय, अनुबन्धलोप, आर्धधातुक के परे होने से गुण रपर तथा कृद्योग में **कर्तृकर्मणोः कृति** (२.३.६५) से कर्म यशस् में षष्ठी लाने पर—यशस् ङस्+कर। इस अवस्था में **उपपदमतिङ्** (९५४) से उपपदसमास हो कर **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (ङस्) का लुक् हो जाता है—यशस्+कर। अब लुप्त हुए सुँप् को प्रत्ययलक्षणद्वारा मान कर सकार के पदान्त हो जाने से **ससजुषो रुँः** (१०५) से सकार को रुँ, अनुबन्धलोप तथा **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (९३) से रेफ को विसर्ग करने पर 'यशः+कर'। अब यहां **कुप्वोः ≍क≍पौ च** (९८) से विसर्ग को पाक्षिक जिह्वामूलीय प्राप्त होते हैं। इस पर विसर्ग को सकार आदेश विधान करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

---

१. **जन्मतः स्वजनशोककारिका सम्प्रदानसमयेऽर्थहारिका।**
यौवनेऽपि बहुदोषकारिका दारिका हृदयदारिका पितुः॥ (रथोद्धतावृत्तम्)

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(७६५) अतः कृ-कमि-कंस-कुम्भ-पात्र-कुशा-कर्णीष्वनव्ययस्य ।८।३।४६।।**

आद् उत्तरस्यानव्ययस्य विसर्गस्य समासे नित्यं सादेशः करोत्यादिषु परेषु। यशस्करी विद्या। श्राद्धकरः। वचनकरः॥

अर्थः—ह्रस्व अकार से परे अनव्यय के विसर्ग को समास में नित्य सकार आदेश हो जाता है यदि कृ, कम्, कंस, कुम्भ, पात्र, कुशा और कर्णी इन में से कोई परे हो तो।

व्याख्या—अतः ।५।१। कृ-कमि-कंस-कुम्भ-पात्र-कुशा-कर्णीषु ।७।३। **अनव्ययस्य** ।६।१। विसर्जनीयस्य ।६।१। (**विसर्जनीयस्य सः** से)। सः ।१।१। (**सोऽपदादौ** से; सकारादकार उच्चारणार्थः)। समासे ।७।१। नित्यम् इति द्वितीयैकवचनान्तं क्रिया-विशेषणम् (**नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य** से)। कृ च कमिश्च कंसश्च कुम्भश्च पात्रञ्च कुशा च कुर्णी च—कृ-कमि—कर्ण्यः, तेषु। इतरेतरद्वन्द्वः। न अव्ययस्य अनव्ययस्य, नञ्-तत्पुरुषः। कृ-कमि—आदि में कृ और कमि (कम्) दो धातु हैं, शेष प्रातिपदिक हैं। अर्थः—(अतः) अत् से परे (अनव्ययस्य) अव्ययभिन्न के (विसर्जनीयस्य) विसर्ग के स्थान पर (समासे) समास में (नित्यम्) नित्य (सः) स् आदेश हो जाता है (कृ-कमि—कर्णीषु) कृ, कम् कंस, कुम्भ, पात्र, कुशा, कर्णी इन में से कोई परे हो तो—

यहां विसर्ग को नित्य सकार करने की चार शर्तें हैं—

(१) वह विसर्ग अनव्यय अर्थात् अव्ययभिन्न का अवयव हो।
(२) वह विसर्ग अत् से परे होना चाहिये।
(३) विसर्ग से परे कृ, कम्, कंस आदियों में से कोई होना चाहिये।
(४) उपर्युक्त कार्य समास में ही होना चाहिये।

'यशः+कर' यहां विसर्ग यशस् शब्द का अवयव है जो स्पष्टतः अव्यय नहीं अतः पहली शर्त पूरी है। विसर्ग अत् से परे विद्यमान है, अतः दूसरी शर्त पूरी है। विसर्ग से परे 'कृ' धातु का प्रयोग है अतः तीसरी शर्त पूरी है। **उपपदमतिङ्** (९५४) से उपपदसमास किया गया है अतः चौथी शर्त भी पूरी है। इस प्रकार विसर्ग को प्रकृतसूत्र से नित्य सकार आदेश हो कर 'यशस्कर' बना। अब स्त्रीत्व की विवक्षा में टित्त्व के कारण **टिड्ढाणञ्०** (१२४७) सूत्र से ङीप् प्रत्यय, अनुबन्धों का लोप तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का भी लोप हो कर समासत्वात् प्राति-पदिकसंज्ञा होने से विभक्तिकार्य करने पर 'यशस्करी' (विद्या) प्रयोग सिद्ध होता है।

प्रकृतसूत्र के अन्य उदाहरण—

कृ —अयस्करः (लोहार)।
कम् —अयस्कामः (लोहे को चाहने वाला), पयस्कामः (दूध को चाहने वाला)।

कंस —अयस्कंसः (लोहे का प्याला), पयस्कंसः (दूध का प्याला) ।
कुम्भ—अयस्कुम्भः (लोहे का घड़ा), पयस्कुम्भः (दूध का घड़ा) ।
पात्र —अयस्पात्रम् (लोहे का पात्र), पयस्पात्रम् (दूध का पात्र) ।
कुशा—अयस्कुशा (लोहे से युक्त कुशा[1]) ।
कर्णी—अयस्कर्णी (लोहे की तरह काले या कठोर कानों वाली) ।

पहली शर्त इसलिये है कि अव्यय के विसर्ग को सकार न हो जाये । यथा—पुनःकार, श्वःकारः, स्वःकामः, अन्तःकरणम् ।

दूसरी शर्त इसलिये है कि अत्‌भिन्न से परे सकारादेश न हो जाये । यथा—गीःकारः (गिरं करोति-व्याकरोतीति गीःकारः), धूःकारः (धुरं करोतीति धूःकारः) ।

तीसरी शर्त इसलिये है कि 'पयःपानम्' आदि में सकार आदेश न हो जाये ।

चौथी शर्त इसलिये है कि समास के विना यह कार्य न हो जाये । यथा—यशः कामयते । पयः कामयते ।[2]

अभ्यास (२)

(१) हेतु, ताच्छील्य और आनुलोम्य का विवेचन करते हुए प्रत्येक के तीन तीन उदाहरण दीजिये ।

(२) 'कुम्भकारः' के लौकिक और अलौकिक विग्रहों में कुम्भशब्द से परे विभक्ति का अन्तर क्यों हो जाता है ?

(३) 'उपपद' का क्या अभिप्राय है ? कृदन्तप्रकरण में इस की उपयोगिता पर एक टिप्पण लिखिये ।

(४) कृदन्तप्रकरण के अवान्तर भेदों पर लघुकौमुदी के परिप्रेक्ष्य में एक टिप्पण लिखिये ।

(५) निम्नस्थ प्रत्ययों में अनुबन्धों के जोड़ने का क्या प्रयोजन है ? सोदाहरण स्पष्ट करें—
ण्वुल्, णिनिँ, क, अण्, ट ।

(६) 'कुम्भकारः' आदि में कृदन्त से सुँप् उत्पन्न होने से पहले ही कैसे समास हो जाता है ?

---

१. यज्ञ उद्गातॄणां स्तोत्रगणनार्था उदुम्बरकाष्ठमयी शलाका 'कुशा' इत्युच्यते । शाकपार्थिवादित्वात् सहितशब्दस्य लोपः । अयसः कुशेति षष्ठीसमासस्तु न, जानपदकुण्ड० (४.१.४२) इति ङीषापत्तेरिति श्रीसभापतिशर्मोपाध्यायाः ।

२. इस सूत्र में नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य (८.३.४५) से 'अनुत्तरपदस्थस्य' का भी अनुवर्त्तन होता है अतः पांचवीं शर्त यह भी है कि विसर्ग उत्तरपद में स्थित नहीं होने चाहियें । यही कारण है कि उपर्युक्त चार शर्तों के पूर्ण होने पर भी 'परमपयःकामः' आदि में विसर्ग को सकारादेश नहीं होता । लघुकौमुदी में वरदराज ने बालकों के लिये विशेष उपयोगी न समझ कर इस का उल्लेख नहीं किया ।

(७) पचादियों और मूलविभुजादियों को आकृतिगण मानने पर एक विवेचनात्मक टिप्पणी लिखिए ।

(८) निम्नस्थ के प्रकृति-प्रत्यय, विग्रह और विधायकसूत्र लिखें—
वेदाध्यायः, शत्रुघ्नः, आदायचरः, तन्तुवायः, कुशः, गोदः, स्त्र्याख्यौ, अश्वारोहः, सहचरः, श्राद्धकरः, ज्ञः, महीध्रः, दायादः, किरः, उत्थः, गोनायः ।

(९) 'गृहम्' और 'गृहाः' में परस्पर क्या अन्तर है ?

(१०) 'गोसन्दायः' में कप्रत्यय क्यों नहीं हुआ ?

(११) 'कृतघ्नः' और 'कृतज्ञः' का विग्रह लिखते हुए सप्रमाण प्रत्यय का निर्देश कीजिये ।

(१२) 'आदित्यं पश्यति' इत्यादि में 'कर्मण्यण्' की प्रवृत्ति होगी या नहीं ? सहेतुक लिखें ।

(१३) ससूत्र सिद्धि करें—
जनार्दनः, कुम्भकारः, बुधः, यशस्करी, कुरुचरः, गृहम्, प्रियः, स्थायी, मूलविभुजः, प्रज्ञः, भिक्षाचरः, कारकः, नन्दनः, हर्ता ।

(१४) सूत्रों की व्याख्या करें—
कृञो हेतुताच्छील्या०, इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः, आतश्चोपसर्गे, अतः कृ-कमि-कंस०, आतोऽनुपसर्गे कः, कर्मण्यण् ।

(१५) तृच्, अच्, अण्, क, ण्वुल्, ट, णिनि—इन प्रत्ययों के विधायक सूत्र लिखते हुए प्रत्येक प्रत्यय के पांच पांच उदाहरण विग्रहप्रदर्शनपूर्वक लिखिये ।

———:०:———

[लघु०] विधिसूत्रम्— (७९६) एजेः खश् ।३।२।२८।।

[कर्मण्युपपदे] ण्यन्ताद् एजेः खश् स्यात् ।।

अर्थः—कर्म उपपद हो तो ण्यन्त एज् धातु से खश् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—कर्मणि ।७।१। [कर्मण्यण् से] एजेः ।५।१। खश् ।१।१। धातोः ।५।१। प्रत्ययः ।१।१। परः ।१।१। (ये तीनों अधिकृत हैं) । एजृ कम्पने (भ्वा० परस्मै० सेट्) धातु से **हेतुमति च** (७००) द्वारा णिच् प्रत्यय करने पर 'एजि' बनता है उस का पञ्चम्येकवचनान्त 'एजेः' रूप यहां निर्दिष्ट किया गया है । इस में **इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे** (वा०) वाला इक् प्रत्यय समझने की भूल नहीं करनी चाहिये ।[1] अर्थः—

---

१. खश् को शित् इसलिये किया गया है कि उस की सार्वधातुकसंज्ञा हो जाये जिस से आर्धधातुक परे न होने पर **णेरनिटि** (५२९) द्वारा हेतुमण्णिच् का लोप न हो सके । यदि शुद्ध एज् धातु का ग्रहण अभीष्ट होता तो खश् को शित् करने की आवश्यकता न होती, तब उस का यहां कुछ उपयोग न हो सकता ।

(कर्मणि) कर्म के उपपद होने पर (एजे:,धातो:) ण्यन्त एज् धातु से (परः) परे (खश्) खश् (प्रत्ययः) प्रत्यय होता है। यह सूत्र कर्मण्यण् (७६०) का अपवाद है।

खश् प्रत्यय कृत्संज्ञक है अतः कर्त्तरि कृत् (७६६) की व्यवस्थानुसार कर्त्ता में होगा। 'खश्' में हलन्त्यम् (१) द्वारा शकार तथा लशक्वतद्धिते (१३६) द्वारा खकार इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं 'अ' मात्र शेष रहता है। इसे शित् करने का प्रयोजन तिङ्शित् सार्वधातुकम् (३८६) से सार्वधातुकसंज्ञा करना तथा खित् करने का प्रयोजन वक्ष्यमाण मुँम् आगम आदि करना है जो आगे सिद्धि में स्पष्ट है।

जनम् एजयतीति जनमेजयः [लोगों को कंपा देने वाला, परीक्षित्-पुत्र]। यहां जनकर्मोपपद ण्यन्त एजृँ कम्पने (भ्वा० प० सेट्) अर्थात् 'एजि' धातु से प्रकृत-सूत्रद्वारा कर्त्ता में खश् प्रत्यय, खकार-शकार अनुबन्धों का लोप, शित्त्व के कारण प्रत्यय की सार्वधातुकसंज्ञा (३८६), कर्त्तरि शप् (३८७) द्वारा एजि से परे शप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा कृद्योग में षष्ठी विभक्ति लाने पर—जन ङस्+एजि अ अ। अब दोनों अकारों को अतो गुणे (२७४) से पररूप एकादेश, सार्वधातुकार्द्ध-धातुकयोः (३८८) से धातु के इकार को गुण तथा एचोऽयवायावः (२२) से एकार को अय् आदेश हो जाता है—जन ङस्+एजय। पुनः उपपदमतिङ् (६५४) से उपपद समास कर सुँब्लुक् हो जाता है—जन+एजय। अब इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७६७) **अरुर्द्विषदजन्तस्य मुँम्** ।६।३।६६।।

अरुषो द्विषतोऽजन्तस्य च मुँमागमः स्यात् खिदन्ते परे न त्वव्ययस्य। शित्त्वाच्छबादिः। जनमेजयतीति जनमेजयः।।

अर्थः—अरुस् (मर्मस्थान), द्विषत् (शत्रु) तथा अजन्त शब्दों को मुँम् का आगम हो जाता है खिदन्त उत्तरपद परे हो तो, परन्तु अव्यय को यह आगम नहीं होता।

व्याख्या—अरुर्द्विषदजन्तस्य ।६।१। मुँम् ।१।१। खिति ।७।१। अनव्ययस्य ।६।१। (खित्यनव्ययस्य से)। उत्तरपदे ।७।१। (अलुगुत्तरपदे में अधिकृत है)। अच् अन्तो यस्य सोऽजन्तः, बहुव्रीहिसमासः। अरुश्च द्विषच्च अजन्तश्च अरुर्द्विषदजन्तं तस्य= अरुर्द्विषदजन्तस्य। समाहारद्वन्द्वः। ख् इद् यस्य स खित्, तस्मिन्=खिति। बहुव्रीहिसमासः। 'खिति' यह 'उत्तरपदे' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'खिदन्ते उत्तरपदे' बन जाता है। अर्थः—(खिति=खिदन्ते) खित् प्रत्यय जिस के अन्त में है ऐसे (उत्तरपदे) उत्तरपद के परे होने पर (अरुर्द्विषदजन्तस्य) अरुस्, द्विषत् तथा अजन्त शब्दों का अवयव (मुँम्) मुँम् आगम हो जाता है (अनव्ययस्य) परन्तु अव्यय को यह आगम नहीं होता। मुँम् में उँकार उच्चारणार्थ तथा अन्त्य मकार हलन्त्यम् (१) से इत्संज्ञक है। मित् होने से यह आगम मिदचोऽन्त्यात्परः (२४०) परिभाषा के अनुसार अन्त्य अच् से परे तथा उस का अन्त्यावयव समझा जायेगा।

'जन+एजय' यहां उपपदसमास में 'एजय' यह खिदन्त उत्तरपद है क्योंकि

इस के अन्त में खश् यह खित् प्रत्यय किया गया है। अतः 'जन' इस अजन्त शब्द को प्रकृतसूत्र से मुँम् का आगम होकर मकार अनुबन्ध का लोप करने से—जनम्+एजय=जनमेजय हुआ। अब समास के कारण प्रातिपदिकसंज्ञा कर सुँ विभक्ति लाने से 'जनमेजयः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार—शत्रुम् एजयतीति शत्रुमेजयः (शत्रु को कंपाने वाला); अङ्गम् एजयतीति अङ्गमेजयः (अङ्ग को कंपाने वाला); भ्रातरम् एजयतीति भ्रातृमेजयः (भाई को कंपाने वाला); वृक्षम् एजयतीति वृक्षमेजयः (वृक्ष को कंपाने वाला) आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं।

अरुस् का उदाहरण—अरुः (मर्मस्थानम्) तुदति पीडयतीति अरुन्तुदः (मर्मस्थल को पीडित करने वाला)। यहां अरुस् कर्म के उपपद रहते तुद् धातु से **विध्वरुषोस्तुदः** (३.२.३५) से खश् प्रत्यय तथा उस के सार्वधातुक होने से शविकरण हो कर दोनों अकारों को पररूप हुआ है। अब उपपद समास में खिदन्त 'तुद' इस उत्तरपद के परे रहते प्रकृतसूत्र से अरुस् के अन्त्य अच् से परे मुँम् का आगम हो कर **संयोगान्तस्य लोपः** (२०) से संयोगान्त सकार का लोप हो जाता है—अरुम्+तुद। पदान्त मकार को अनुस्वार और अनुस्वार को वैकल्पिक परसवर्ण करने से—'अरुन्तुदः, अरुंतुदः' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

द्विषत् का उदाहरण—द्विषन्तं शत्रुं तापयतीति द्विषन्तपः (शत्रु को तपाने वाला)। यहां द्विषत् कर्म के उपपद रहते **द्विषत्परयोस्तापेः** (३.२.३९) से ण्यन्त तप् अर्थात् तापि धातु से खच् प्रत्यय, **खचि ह्रस्वः** (६.४.९४) से उपधा को ह्रस्व तथा **णेरनिटि** (५२९) से णि का लोप कर उपपदसमास में द्विषत् के अन्त्य अच् से परे प्रकृतसूत्र से मुँम् का आगम हो जाता है—द्विषम्त्+तप। अब पूर्ववत् संयोगान्त-लोप तथा मकार को अनुस्वार-परसवर्ण करने से 'द्विषन्तपः' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्रकृतसूत्र में 'अनव्ययस्य' की अनुवृत्ति लाई गई है अतः खिदन्त उत्तरपद परे होने पर भी अव्यय को मुँम् का आगम नहीं होता। यथा—आत्मानं दिवा मन्यत इति दिवामन्या रात्रिः [अपने को दिन समझने वाली रात्रि]। यहां पर 'दिवा' शब्द अव्यय है, अतः 'मन्य' इस खिदन्त उत्तरपद के परे होने पर भी इसे मुँम् का आगम नहीं हुआ [मन् धातु से **आत्ममाने खश् च** (८०५) द्वारा खश् प्रत्यय हो कर श्यन् विकरण करने से 'मन्य' उपपन्न होता है]।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७९८) प्रियवशे वदः खच् ।३।२।३८॥

प्रियंवदः । वशंवदः ॥

अर्थः—'प्रिय' वा 'वश' कर्म के उपपद होने पर वद् (बोलना) धातु से खच् प्रत्यय हो।

व्याख्या:—प्रियवशे ।७।१। वदः ।५।१। खच् ।१।१। कर्मणि ।७।१। (**कर्मण्यण्** से)। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं। प्रियश्च वशश्च प्रियवशम्, तस्मिन्=प्रियवशे; समाहारद्वन्द्वः। **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** (९५३) के अनुसार

मनिँन्, क्वनिँप्, वनिँप्, विँच्

'प्रियवशे' उपपद है। अर्थः—(प्रियवशे कर्मणि) प्रिय या वश कर्म के उपपद होने पर (वदः, धातोः) वद् धातु से (परः) परे (खच् प्रत्ययः) खच् प्रत्यय होता है।

यह प्रत्यय भी पूर्ववत् कृत्संज्ञक होने से कर्त्ता अर्थ में होता है। खच् प्रत्यय में **लशक्वतद्धिते** (१३६) से खकार तथा **हलन्त्यम्** (१) से चकार इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं, 'अ' मात्र शेष रहता है। खकार अनुबन्ध मुँम् आगम के लिये तथा चकार अनुबन्ध **खचि ह्रस्वः** (६.४.९४) में उपयोग के लिये जोड़ा गया है। सूत्र के उदाहरण यथा—

प्रियं वदतीति प्रियंवदः [प्रिय वचन बोलने वाला अर्थात् मधुरभाषी]। यहां 'प्रिय' कर्म के उपपद रहते प्रकृतसूत्रद्वारा वद व्यक्तायां वाचि (भ्वा० परस्मै० सेट्) धातु से कर्त्ता अर्थ में खच् प्रत्यय हो कर अनुबन्धों का लोप तथा कृद्योग में **कर्तृकर्मणोः कृति** (२.३.६५) से कर्म में षष्ठीविभक्ति ला कर—'प्रिय ङस्+वद् अ' हुआ। अब **उपपदमतिङ्** (९५४) से उपपदसमास हो कर समास के अन्तर्गत सुँप् (ङस्) का लुक् हो जाता है—प्रिय+वद। पुनः 'वद' इस खिदन्त उत्तरपद के परे होने से 'प्रिय' इस अजन्त शब्द को **अरुर्द्विषदजन्तस्य मुँम्** (७९७) से मुँम् का आगम हो कर पदान्त में मकार को अनुस्वार तथा अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'प्रियंवदः' प्रयोग सिद्ध होता है।

इसी प्रकार—वशम् आयत्तमात्मानं वदतीति वशंवदः [अपनी आयत्तता अर्थात् अधीनता को कहने वाला, वशवर्त्ती, आज्ञाकारी] प्रयोग की सिद्धि होती है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(७९९) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते ।३।२।७५।।

मनिँन्, क्वनिँप्, वनिँप्, विँच्—एते प्रत्यया धातोः स्युः ।।

अर्थः—धातु से परे मनिँन्, क्वनिँप्, वनिँप् और विँच् प्रत्यय हों।

व्याख्या—अन्येभ्यः ।५।३। अपि इत्यव्ययपदम्। दृश्यन्ते इति क्रियापदम्। मनिँन्-क्वनिँब्वनिँपः ।१।३। (**आतो मनिँन्क्वनिँब्वनिँपश्च** से) विँच् ।१।१। (**विँजुपे छन्दसि** से) धातुभ्यः ।५।३। (**धातोः** अधिकार का वचनविपरिणाम हो जाता है) प्रत्ययाः ।१।३। पराः ।१।३। (**प्रत्ययः परश्च** इन दोनों अधिकारों का वचनविपरिणाम हो जाता है) अर्थः—(अन्येभ्यः, अपि, धातुभ्यः) अन्य धातुओं से भी (पराः) परे (मनिँन्-क्वनिँप्वनिँपः, विँच्) मनिँन् क्वनिँप् वनिँप् और विँच् (प्रत्ययाः) प्रत्यय (दृश्यन्ते) देखे जाते हैं।

अष्टाध्यायी में इस से पिछले **आतो मनिँन्क्वनिँब्वनिँपश्च** (३.२.७४) सूत्र में आकारान्त धातुओं से परे वेद में मनिँन् आदि प्रत्यय विधान किये गये हैं। अब यहां अन्य धातुओं से भी उन का लोक में विधान किया जा रहा है। आचार्य ने यहां 'दृश्यन्ते' (देखे जाते हैं) का प्रयोग किया है। अतः शिष्टग्रन्थों में जैसे-जैसे [उपपद-पूर्वक या विना उपपद के] इन के प्रयोग उपलब्ध होते हैं वैसे-वैसे उन का साधुत्व प्रतिपादन करने के लिए यह सूत्र बनाया गया है। अपनी ओर से नये नये शब्द बना कर इन प्रत्ययों का प्रयोग वर्जित है।

मनिँन् प्रत्यय में अन्त्य नकार अनुबन्ध है, इँकार उच्चारणार्थ है; 'मन्' मात्र अवशिष्ट रहता है । नकार अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिये लगाया गया है ।

क्वनिँप् प्रत्यय में आद्य ककार तथा अन्त्य पकार अनुबन्ध हैं, इँकार उच्चारणार्थ है । 'वन्' मात्र शेष रहता है । गुण आदि के निषेध के लिये प्रत्यय को कित् किया गया है । पित् करने का प्रयोजन **ह्रस्वस्य पिति कृति तुँक्** (७७७) द्वारा तुँक् का आगम तथा **अनुदात्तौ सुँप्पितौ** (३.१.४) से प्रत्यय को अनुदात्त करना है ।

वनिँप् प्रत्यय का 'वन्' शेष रहता है । पकार अनुबन्ध पूर्ववत् तुँक् आगम के लिये तथा प्रत्यय के अनुदात्त स्वर के लिये है ।

विच् प्रत्यय में चकार अनुबन्ध स्वर के लिये तथा इँकार उच्चारणार्थ है, 'व्' मात्र शेष रहता है । वकार का भी **वेरपृक्तस्य** (३०३) से लोप हो जाता है । प्रत्यय लाने का फल कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा कर स्वादियों की उत्पत्ति करना है ।

प्रथम प्रत्यय मनिँन् का उदाहरण यथा—

सुशर्मा । सुष्ठु शृणाति हिनस्तीति सुशर्मा [अच्छी तरह हिंसा करने वाला] । यहां पर 'सु' के उपपद रहते शॄ हिंसायाम् (क्र्या० परस्मै० सेट्) धातु से प्रकृतसूत्र-द्वारा कर्ता में मनिँन् प्रत्यय होकर अनुबन्धलोप करने से—सु शॄ+मन् । अब यहां **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** (४०१) से मन् को इट् का आगम प्राप्त होता है । इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(८००) नेड् वशि कृति ।७।२।८।।

वशादेः कृत इण्न स्यात् । शॄ हिंसायाम्—सुशर्मा । प्रातरित्वा ।।

अर्थः—वश्प्रत्याहार जिस के आदि में हो ऐसे कृत्संज्ञक प्रत्यय को इट् आगम न हो ।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम् । इट् ।१।१। वशि ।७।१। कृति ।७।१। 'वशि' यह 'कृति' का विशेषण है । वश् प्रत्याहार होने से अल् है अतः **यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे** परिभाषा से तदादिविधि हो कर 'वशादौ कृति' बन जाता है । 'वशि' और 'कृति' दोनों में षष्ठी के अर्थ में सप्तमी का प्रयोग सौत्र कार्य है, अतः 'वशादौ कृति' का 'वशादेः कृतः' समझ लेना चाहिये । अर्थः—(वशि कृति—वशादेः कृतः) वशादि कृत् का अवयव (इट्) इट् (न) नहीं होता । तात्पर्य यह है कि जिस कृत्प्रत्यय के आदि में वश् प्रत्याहार [व्, र्, ल् तथा वर्गों के तृतीय चतुर्थ और पञ्चम वर्ण] हो उसे इट् का आगम नहीं होता । उदाहरण यथा—

ईश्+वर=ईश्वरः । यहां **स्थेशभासपिसकसो वरच्** (३.२.१७५) सूत्र से वरच् (वर) प्रत्यय किया गया है यह वशादि कृत् है अतः **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** (४०१) से प्राप्त इट् का प्रतिषेध हो जाता है ।

दीप्+र=दीप्रः । यहां दीप् धातु से **नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः** (३.२.१६७) सूत्र से 'र' प्रत्यय किया गया है जो स्पष्टतः वशादि कृत् है अतः इसे प्राप्त इट् आगम का निषेध हो जाता है ।

याच्+नङ्=याच्+ना=याच्ञा । यहां **यज-याच-यत-विच्छ-प्रच्छ-रक्षो नङ्** (८६०) सूत्र से भाव में नङ् प्रत्यय किया गया है जो स्पष्टतः वशादि कृत् है, अतः इसे इट् आगम का प्रतिषेध हो जाता है । बाद में श्चुत्व और टाप् हो कर रूप सिद्ध होता है ।

यहां प्रकृत में 'सुशृ+मन्' इस स्थिति में मनिन् प्रत्यय वशादि कृत् है अतः इसे प्राप्त इडागम का प्रकृतसूत्र से निषेध हो जाता है । अब आर्धधातुक मनिँन् के परे रहते **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से शॄ के ॠकार को अर् गुण हो कर उपपद समास करने से 'सुशर्मन्' शब्द बनता है । पुनः प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर इस से सुँ आदियों की उत्पत्ति होती है । इस की सुँबन्तप्रक्रिया पूर्वार्धगत 'यज्वन्' या 'ब्रह्मन्' शब्द की तरह जाननी चाहिए । इस प्रकार सुँ में—'सुशर्मा' रूप सिद्ध हो जाता है ।

दूसरे प्रत्यय क्वनिँप् का उदाहरण—

प्रातरित्वा । प्रातर् एति गच्छतीति प्रातरित्वा [प्रातःकाल जाने वाला] । यहां पर 'प्रातर्' अव्यय के उपपद रहते इण् गतौ (अदा० परस्मै० अनिट्) धातु से **अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते** (७६६) सूत्र से क्वनिँप् प्रत्यय करने पर अनुबन्धों का लोप हो जाता है—प्रातर्+इ+वन् । क्वनिँप् के कित्त्व के कारण **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से प्राप्त गुण का **क्क्ङिति च** (४३३) से निषेध हो जाता है । अब पित् क्वनिँप् के परे होने पर **ह्रस्वस्य पिति कृति तुँक्** (७७७) से 'इ' को तुँक् का आगम हो कर अनुबन्धलोप और **उपपदमतिङ्** (६५४) से उपपदसमास करने से 'प्रातरित्वन्' शब्द निष्पन्न होता है । इस की सुँबन्तप्रक्रिया पूरी तरह 'यज्वन्' शब्द की तरह होती है । रूपमाला यथा—

प्रातरित्वन् [प्रातःकाल जाने वाला]

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	प्रातरित्वा	प्रातरित्वानौ	प्रातरित्वानः
द्वितीया	प्रातरित्वानम्	,,	प्रातरित्वनः
तृतीया	प्रातरित्वना	प्रातरित्वभ्याम्	प्रातरित्वभिः
चतुर्थी	प्रातरित्वने	,,	प्रातरित्वभ्यः
पञ्चमी	प्रातरित्वनः	,,	,,
षष्ठी	,,	प्रातरित्वनोः	प्रातरित्वनाम्
सप्तमी	प्रातरित्वनि	,,	प्रातरित्वसु
सम्बोधन	हे प्रातरित्वन् !	हे प्रातरित्वानौ !	हे प्रातरित्वानः !

तीसरे प्रत्यय वनिँप् का उदाहरण—

विजावा । विजायत इति विजावा[1] । यहां 'वि' उपसर्ग के उपपद रहते जन्

1. **स्यान्नः सूनुस्तनयो विजावा**—(ऋग्वेद ३.१.२३) । पुत्रपौत्रादिरूपेण स्वयं विजायते प्रसूयत इति विजावा ।

[जनीँ प्रादुर्भावे, दिवा० आ० सेट्] धातु से **अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते** (७९९) से वनिँप् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप करने पर 'वि+जन्+वन्'[1]। अब इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८०१) विड्वनोरनुनासिकस्याऽऽत् ।६।४।४१।।

अनुनासिकस्यात् स्यात् । विजायत इति विजावा । ओणृँ अपनयने—अवावा । विच्—रुष रिष हिंसायाम् । रोट् । रेट् । सुगण् ।।

अर्थः—विट् या वन् प्रत्यय परे हो तो अनुनासिक वर्ण को आकार आदेश हो।

व्याख्या—विँड्-वनोः ।७।२। अनुनासिकस्य ।६।१। आत् ।१।१। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है) । विँट् च वन् च विँड्वनौ, तयोः=विँड्वनोः । इतरेतरद्वन्द्वः । 'अनुनासिकस्य' यह अङ्गस्य का विशेषण है। अतः **येन विधिस्तदन्तस्य** (१.१.७१) द्वारा विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'अनुनासिकान्तस्य अङ्गस्य' बन जायेगा । अर्थः—(विँड्-वनोः) विँट् वा वन् प्रत्ययों के परे होने पर (अनुनासिकस्य=अनुनासिकान्तस्य) अनुनासिकान्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (आत्) दीर्घ आकार आदेश हो जाता है। **अलोऽन्त्यस्य** (२१) से यह आदेश अनुनासिकान्त अङ्ग के अन्त्य अल् अर्थात् अनुनासिक को ही होता है[2]।

विँट् प्रत्यय परे होने पर अनुनासिक को आकार आदेश के उदाहरण वेद में ही मिलते हैं—गोजाः, अब्जाः, गोषाः, बिलखाः, कूपखाः, दधिक्राः, अग्रेगाः आदि । इन में **जनसनखनक्रमगमो विँट्** (३.२.६७) सूत्र से विँट् प्रत्यय होता है। इन उदाहरणों की सिद्धि सिद्धान्तकौमुदी के वैदिकप्रकरण मे देखें। यहां प्रकृत में वन् का उदाहरण प्रस्तुत है—

'वि+जन्+वन्' यहां वन् प्रत्यय परे है अतः प्रकृतसूत्र से जन् के अनुनासिक नकार के स्थान पर आकार आदेश हो कर सवर्णदीर्घ तथा अन्त में उपपदसमास करने पर 'विजावन्' शब्द निष्पन्न हो जाता है। समासत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा के कारण अब इस से सुँ आदियों की उत्पत्ति होती है। इस की समग्र सुँबन्तप्रक्रिया 'राजन्' शब्द की तरह जाननी चाहिये । विजावा, विजावानौ, विजावानः आदि ।

वन् का दूसरा सुप्रसिद्ध उदाहरण—

अवावा । ओणति अपनयति हरतीति अवावा [चुराने वाला, दूर करने वाला अपहरण करने वाला] । यहां ओण् (ओणृँ अपनयने, भ्वा० परस्मै० सेट्) धातु से कर्त्ता में **अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते** (७९९) सूत्र से वनिप् प्रत्यय करने से 'ओण्+वन्' हुआ। अब वन् आर्धधातुक को इट् का आगम प्राप्त होता है परन्तु **नेड् वशि कृति**

---

१. इट् का निषेध **नेड् वशि कृति** (८००) से करना नहीं भूलना चाहिये।

२. अत एव लघुकौमुदीकार वरदराज ने इस सूत्र की वृत्ति में तदन्तविधि न दिखा कर सीधा फलितार्थ ही दे दिया है।

(८००) से उस का निषेध हो जाता है। पुनः **विड्वनोरनुनासिकस्याऽऽत्** (८०१) सूत्र से अनुनासिक णकार को आकार आदेश हो कर--'ओ आ+वन्' इस स्थिति में **एचोऽयवायाव:** (२२) सूत्र से ओकार को अव् आदेश करने से 'अवावन्' यह कृदन्त रूप निष्पन्न होता है। इस की सुँबन्तप्रक्रिया 'राजन्' शब्द की तरह होती है—अवावा, अवावानौ, अवावानः। अवावानम्, अवावानौ, अवाव्नः आदि।

चतुर्थ प्रत्यय विच् के उदाहरण यथा—

रोट्, रेट्। रोषति हिनस्तीति रोट्, रेषति हिनस्तीति रेट् [हिंसा करने वाला]। यहां रुष् और रिष् (रुष रिष हिंसायाम्; भ्वा० परस्मै० सेट्) धातुओं से कर्त्ता अर्थ में **अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते** (७९९) से विच् प्रत्यय कर अनुबन्धलोप करने से रुष्+व्, रिष्+व्। अब **अपृक्त एकाल्प्रत्ययः** (१७८) से व् की अपृक्तसंज्ञा हो कर **वेरपृक्तस्य** (३०३) से उस का लोप हो जाता है रुष्, रिष्। पुनः प्रत्ययलक्षणद्वारा उस लुप्त विँच् आर्धधातुक प्रत्यय को परे मान कर **पुगन्तलघूपधस्य च** (४५१) से दोनों रूपों में लघूपधगुण करने पर—'रोष्, रेष्' ये दो कृदन्त शब्द निष्पन्न होते हैं। कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा कर सुँबन्तप्रक्रिया में सुँ प्रत्यय लाने पर **हल्ङ्याब्भ्यः०** (१७९) से सुँ का लोप तथा पदान्त में जश्त्व (६७) और चर्त्व (१४६) करने से —'रोट्, रोड्; रेट्, रेड्' प्रयोग सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार—

सुगण्। सुष्ठु गणयतीति सुगण् [अच्छा गिनने वाला]। यहां 'सु' उपसर्ग के उपपद रहते गणि[1] (गण संख्याने चुरा०) इस चौरादिक ण्यन्त धातु से **अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते** (७९९) सूत्र से विँच् प्रत्यय, उस का पूर्ववत् सर्वापहार लोप, प्रत्ययलक्षण द्वारा उसे पुनः मान कर **णेरनिटि** (५२९) से णि का लोप तथा अन्त में उपपदसमास करने से 'सुगण्' प्रयोग सिद्ध होता है। इस की रूपमाला यथा-- सुगण्, सुगणौ, सुगणः। सुगणम्, सुगणौ, सुगणः। सुगणा, सुगण्भ्याम्, सुगण्भिः। सुगणे, सुगण्भ्याम्, सुगण्भ्यः। सुगणः, सुगण्भ्याम्, सुगण्भ्यः। सुगणः, सुगणोः, सुगणाम्। सुगणि, सुगणोः, सुगण्ठ्सु-सुगण्ट्सु-सुगण्सु[2]। हे सुगण्!, हे सुगणौ!, हे सुगणः!।

---

१. चौरादिक 'गण संख्याने' धातु अदन्त है अतः इस से **सत्याप-पाश-रूप०** (६१४) सूत्रद्वारा स्वार्थिक णिच् करने पर **अतो लोपः** (४७०) से अकार का लोप हो जाता है। पुनः **अत उपधायाः** (४५५) से वृद्धि करने में अल्लोप स्थानिवत् (६९६) हो कर वृद्धि को रोक देता है। इस का स्पष्टीकरण हम चुरादिगण में इसी धातु पर पीछे कर चुके हैं वहीं देखें।

२. सप्तमी के बहुवचन में 'सुगण्+सु' इस दशा में **ङ्णोः कुँक्टुँक् शरि** (८६) से वैकल्पिक टुँक् का आगम हो कर टुँक्पक्ष में **चयो द्वितीयाः शरि०** (वा० १४) वार्त्तिक से टकार को वैकल्पिक ठकार आदेश हो जाता है—सुगण्ठ्सु। वैकल्पिक ठकार के अभाव में—सुगण्ट्सु। वैकल्पिक टुँक् के अभाव में—सुगण्सु। इस प्रकार तीन रूप सिद्ध होते हैं।

क्विँप्

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८०२) क्विँप् च ।३।२।७६।।

अयमपि दृश्यते । उखास्रत् । पर्णध्वत् । वाहभ्रट् ।।

अर्थः— धातु से परे क्विँप् प्रत्यय भी देखा जाता है ।

व्याख्या—क्विँप् ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । दृश्यत इति क्रियापदम् (अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते से वचनविपरिणामद्वारा) । धातोः, प्रत्ययः, परश्च—ये तीनों अधिकृत हैं । अर्थः—(धातोः) धातु से (परः) परे (क्विँप् प्रत्ययः) क्विँप् प्रत्यय (च) भी (दृश्यते) देखा जाता है । यहां भी 'दृश्यते' के ग्रहण के कारण पूर्ववत् शिष्टप्रयोगों के अनुसार सुँबन्त या उपसर्ग उपपद रहते या विना उपपद के किसी भी धातु से क्विँप् हो जायेगा । कृत्संज्ञक होने से यह कर्त्ता अर्थ में होता है ।

क्विँप् में अन्त्य पकार अनुबन्ध की हलन्त्यम् (१) द्वारा तथा आद्य ककार अनुबन्ध की लशक्वतद्धिते (१३६) सूत्र द्वारा इत्संज्ञा हो जाती है । इँकार उच्चारणार्थ है । अवशिष्ट 'व्' का वेरपृक्तस्य (३०३) से लोप हो जाता है । इस प्रकार क्विँप् का सर्वापहार लोप सिद्ध हो जाता है । क्विँप् में पकार अनुबन्ध ह्रस्वस्य पिति कृति तुँक् (७७७) द्वारा तुँक् आगम के लिये तथा ककार अनुबन्ध गुण-वृद्धि के निषेध के लिये जोड़ा गया है । किञ्च कित्त्व के कारण उपधा में नकार का लोप आदि कुछ अन्य कार्य भी हो जाते हैं ।

सूत्र के उदाहरण यथा—

उखास्रत् । उखायाः स्रंसत इत्युखास्रत् [बटलोई या उखा नामक यज्ञपात्र से गिरने वाला] । यहां 'उखा ङसिँ' इस अपादान कारक के उपपद रहते स्रंस् (स्रंसुँ अवस्रंसने, भ्वा० आत्मने० सेट्) धातु से कर्त्ता कारक में क्विँप् च (८०२) सूत्रद्वारा क्विँप् प्रत्यय, उस का सर्वापहार लोप, प्रत्यय के कित्त्व के कारण अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति (३३४) से उपधा के नकार का लोप तथा अन्त में उपपदसमास करने से 'उखास्रस्' शब्द निष्पन्न होता है । समास के कारण प्रातिपदिक संज्ञा होने से इस से परे स्वादियों की उत्पत्ति होती है । सुँ में हल्ङ्याब्भ्यः० (१७६) से सुँ का लोप होने पर वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः (२६२) से पदान्त में सकार को दकार तथा वाऽवसाने (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व करने पर—उखास्रत्, उखास्रद् ये दो रूप सिद्ध होते हैं । इस की रूपमाला पूर्वार्ध में (२६२) सूत्र पर लिख चुके हैं । वहीं देखें ।

इसी प्रकार—पर्णध्वत् । पर्णाद् ध्वंसत इति पर्णध्वत्[1] (पत्ते से गिरने वाला) । यहां 'पर्ण ङसिँ'[1] इस अपादान के उपपद रहते ध्वंस् (ध्वंसुँ अवस्रंसने, भ्वा० आत्मने० सेट्) धातु से क्विँप् च (८०२) द्वारा क्विँप् प्रत्यय, उस का सर्वापहार लोप, उपधा के नकार का लोप तथा उपपदसमास करने पर 'पर्णध्वस्' । पुनः सुँ में पूर्ववत् वसुँस्रंसुँ-

---

१. हरदत्तमिश्र यहां ध्वंसुँ धातु का अन्तर्भावितण्यर्थ मानते हुए 'पर्णानि ध्वंसत इति पर्णध्वत्' इस प्रकार विग्रह दर्शाते हैं । उन के अनुसार अर्थ होगा—पत्तों को गिराने वाला (देखें पदमञ्जरी ३.२.७६) ।

ध्वंस्वनडुहां दः (२६२) से दत्व तथा **वाऽवसाने** (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व करने पर 'पर्णध्वत्, पर्णध्वद्' प्रयोग सिद्ध होते हैं। इस की रूपमाला पूर्वार्ध में (२६२) सूत्र पर देखें।

वाहभ्रट्[1]। वाहाद् भ्रंशते भ्रश्यतीति वा वाहभ्रट् (घोड़े या वाहन से गिरने वाला) यहां 'वाह ङसिँ' इस अपादान के उपपद रहने पर भ्रंश् (भ्रंशुँ अवस्रंसने, भ्वा० आत्मने० सेट्; अथवा भ्रंशुँ अधःपतने, दिवा० परस्मै०) धातु से **क्विँप् च** (८०२) द्वारा क्विँप् प्रत्यय, उस का सर्वापहारलोप तथा **अनिदितां हलः०** (३३४) से उपधा के नकार का लोप कर उपपद समास करने से 'वाहभ्रश्' शब्द निष्पन्न होता है। सुबन्त-प्रक्रिया में सुँ विभक्ति के आने पर **हल्ङ्याब्भ्यः०** (१७६) से सुँ का लोप हो कर **व्रश्चभ्रस्ज०** (३०७) से शकार को षकार, **झलां जशोऽन्ते** (६७) से पदान्त षकार को डकार तथा **वाऽवसाने** (१४६) से चर्त्वेन वैकल्पिक टकार हो कर 'वाहभ्रट्-वाहभ्रड्' रूप सिद्ध होते हैं। वाहभ्रश् की रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	वाहभ्रट्-ड्	वाहभ्रशौ	वाहभ्रशः
द्वितीया	वाहभ्रशम्	,,	,,
तृतीया	वाहभ्रशा	वाहभ्रड्भ्याम्	वाहभ्रड्भिः
चतुर्थी	वाहभ्रशे	,,	वाहभ्रड्भ्यः
पञ्चमी	वाहभ्रशः	,,	,,
षष्ठी	,,	वाहभ्रशोः	वाहभ्रशाम्
सप्तमी	वाहभ्रशि	,,	वाहभ्रट्त्सु-वाहभ्रट्सु[2]
सम्बोधन—	हे वाहभ्रट्-ड्!	हे वाहभ्रशौ!	हे वाहभ्रशः!

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण—

(१) जलं मुञ्चतीति—जलमुक् [पानी छोड़ने वाला अर्थात् बादल]। जल √मुच्+क्विँप्, **चोः कुः** (३०६)।

(२) अम्बु बिभर्त्तीति अम्बुभृत् (पानी को धारण करने वाला अर्थात् बादल)। अम्बु √भृ+क्विँप्, तुँक्।

(३) मधु लेढीति मधुलिट् [मधु—पुष्परस को चाटने वाला अर्थात् भ्रमर]। मधु √लिह्+क्विप्, **हो ढः** (२५१)।

(४) भुजङ्गं भुङ्क्त इति भुजङ्गभुक् [सांप को खाने वाला अर्थात् गरुड़]। भुजङ्ग √भुज्+क्विँप्, **चोःकुः** (३०६)।

---

१. काशिका में अद्यत्वे 'वाहाभ्रट्' पाठ पाया जाता है। पर शब्दकौस्तुभ (३.२.७६) तथा यहां की तत्त्वबोधिनी को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि यहां पर काशिका में 'वहाभ्रट्' पाठ था। वहात्=स्कन्धाद् भ्रश्यतीति वहाभ्रट्। यहां **अन्येषामपि दृश्यते** (६.३.१३७) से पूर्वपद को दीर्घ हो जाता है।

२. **ङः सि धुँट्** (८४) से वैकल्पिक धुँट् आगम हो कर उभयत्र चर्त्व हो जाता है।

णिनिँ

(५) विषं भुङ्क्त इति विषभुक् [विष खाने वाला]। विष √भुज् + क्विँप्, कुत्व।
(६) विश्वं सृजतीति विश्वसृट् [संसार को पैदा करने वाला, विधाता]। विश्व √सृज् + क्विँप्, **व्रश्चभ्रस्जसृज०** (३०७)।
(७) सुष्ठु शृणोतीति सुश्रुत् [अच्छी तरह सुनने वाला]। सु √श्रु + क्विँप्, तुँक्।[1]
(८) प्रशाम्यतीति प्रशान् [अच्छी तरह शान्त होने वाला]। प्र √शम् + क्विँप्, **अनुनासिकस्य क्विँझलोः क्ङिति** (७२७) से उपधादीर्घ, **मो नो धातोः** (२७०) से पदान्त में मकार को नकार आदेश।
उपपद के विना भी कई स्थानों पर क्विँप् देखा जाता है। यथा—
(९) लेढीति लिट् [चाटने वाला]। लिह् + क्विँप्।[2]
(१०) राजत इति राट् [शोभा पाने वाला, राजा आदि]। राज् + क्विँप्।
(११) भृज्जतीति भृट् [भूनने वाला]। भ्रस्ज् + क्विँप्।
(१२) खञ्जतीति खन् [लंगड़ाने वाला]। खञ्ज् + क्विँप्।
(१३) भुवं बिभर्तीति भूभृत् [पृथ्वी को धारण करने वाला, राजा या पर्वत]। भू √भृञ् + क्विँप्, तुँक्।
(१४) सुष्ठु लुनातीति सुलूः [अच्छी तरह काटने वाला]। सु √लू + क्विँप्।
(१५) वर्षासु भवतीति वर्षाभूः [बरसात में होने वाला, मेंढक]। वर्षा √भू + क्विँप्।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८०३) सुँप्यजातौ णिनिँस्ताच्छील्ये ।३।२।७८।।

अजात्यर्थे सुँपि धातोर्णिनिँस्ताच्छील्ये द्योत्ये। उष्णभोजी ॥

अर्थः—जात्यर्थ से भिन्न सुँबन्त के उपपद होने पर धातु से परे णिनिँ प्रत्यय हो जाता है यदि कर्त्ता का शील—स्वभाव द्योतित हो तो।

व्याख्या—सुँपि ।७।१। अजातौ ।७।१। णिनिँः ।१।१। ताच्छील्ये ।७।१। धातोः ।५।१। प्रत्ययः ।१।१। परः ।१।१। (ये तीनों अधिकृत हैं)। स (धात्वर्थः) शीलं (स्वभावः) यस्य स तच्छीलः; (बहु०)। तच्छीलस्य भावः—ताच्छील्यम्, तस्मिन्=ताच्छील्ये। न जातिः—अजातिः, तस्याम्=अजातौ, नञ्तत्पुरुषः। अर्थः—(अजातौ) जातिभिन्न अर्थ में (सुँपि=सुँबन्ते, उपपदे) सुँबन्त के उपपद होने पर (धातोः) धातु से (परः) परे (णिनिँः प्रत्ययः) णिनिँ प्रत्यय होता है (ताच्छील्ये) धात्वर्थ की कर्तृगत स्वभावता व्यक्त होती हो तो।

---

१. **सुश्रुत् कर्णाभ्यां भूयासम्** (मैं कानों से अच्छा सुनने वाला होऊँ)—(पारस्कर-गृह्यसूत्र २.६.१९)।
२. इन शब्दों की सिद्धि तथा सुँबन्तप्रक्रिया पूर्वार्ध के 'हलन्तपुंलिङ्गप्रकरण' में देखें।

कृत्संज्ञक होने से यह प्रत्यय भी कर्त्ता अर्थ में होता है। णिनिँ में आदि णकार **चुटू** (१२९) द्वारा तथा अन्त्य इँकार **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (२८) से इत्संज्ञक है, 'इन्' मात्र शेष रहता है। इस के अनुबन्धों का प्रयोजन **नन्दिग्रहि०** (७८६) सूत्र पर लिख चुके हैं। सूत्र का उदाहरण यथा—

उष्णं भुङ्क्ते तच्छील इति उष्णभोजी[1] (गरमागरम खाने के स्वभाव वाला)। यहां उष्ण कर्म के उपपद रहते भुज् (भुज पालनाभ्यवहारयोः; रुधा० परस्मै० अनिट्) धातु से कर्त्ता अर्थ में **सुँप्यजातौ णिनिँस्ताच्छील्ये** (८०३) सूत्र से णिनिँ प्रत्यय, अनुबन्धलोप और कृद्योग में षष्ठी लाने पर 'उष्ण ङस्+भुज् इन्' हुआ। अब **पुगन्तलघूपधस्य च** (४५१) से लघूपधगुण तथा **उपपदमतिङ्** (९५४) से उपपद समास कर सुँब्लुक् करने से 'उष्णभोजिन्' यह कृदन्त शब्द निष्पन्न होता है। इस की समस्त सुँबन्तप्रक्रिया हलन्तपुंलिङ्गगत 'शार्ङ्गिन्' शब्द की तरह होती है। सुँ में **सौ च** (२८५) से उपधादीर्घ, हल्ङ्यादिलोप तथा **नलोपः०** (१८०) से नकार का लोप हो कर 'उष्णभोजी' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार—

(१) शीतं भुङ्क्ते तच्छील इति शीतभोजी [ठण्डा खाने के स्वभाव वाला]।
(२) प्रियं वदति तच्छील इति प्रियवादी [प्रियवचन बोलने के स्वभाव वाला]।[2]
(३) सत्यं वदति तच्छील इति सत्यवादी [सत्य बोलने के स्वभाव वाला]।
(४) पुत्रान् अत्तुं शीलेति पुत्रादिनी [पुत्रों को खाने के स्वभाव वाली सर्पिणी]। ङीप्।
(५) मितं भाषन्ते तच्छीला इति मितभाषिणः [थोड़ा बोलने के स्वभाव वाले[3]]।
(६) बहु ददाति तच्छील इति बहुदायी [बहुत देने के स्वभाव वाला]। युँक्।

इस सूत्र में 'सुँपि' के ग्रहण से उपसर्गों का भी ग्रहण अभीष्ट है—ऐसा भाष्यकार का आशय है। अतः उपसर्गों के उपपद होने पर भी ताच्छील्य में णिनिँ की प्रवृत्ति हो जाती है। यथा—

---

१. यहां पर लौकिक-विग्रह कई प्रकार से प्रदर्शित किया जाता है—
(१) उष्णं भोक्तुं शीलमस्येति—उष्णभोजी।
(२) उष्णं भुङ्क्त एवंशील इति—उष्णभोजी।
(३) उष्णं भुङ्क्ते तच्छील इति—उष्णभोजी।
(४) उष्णं भोक्तुं शील इति—उष्णभोजी।
तात्पर्य सब का एक ही है शब्दावली भिन्न भिन्न है। परन्तु अलौकिक विग्रह (जैसाकि सिद्धि में दर्शाया गया है) एक ही होता है दूसरा नहीं।

२. **को विदेशः सविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम्** (पञ्चतन्त्र २.५८)।

३. **सत्याय मितभाषिणाम्** (रघु० १.७)।

(७) अनु (स्वामिनमनु) यातुं शीला:—अनुयायिन: [स्वामी का अनुगमन करने के स्वभाव वाले, सेवक जन][१]।

(८) उपजीवितुं शीला:—उपजीविन: [स्वामी के समीप पलने के स्वभाव वाले अर्थात् सेवक लोग][२]।

(९) अनुजीवितुं शीला:—अनुजीविन:[स्वामी के पीछे लगकर जीविकोपार्जन करने के स्वभाव वाले][३]।

(१०) वि (विशेषेण) सर्त्तुं शीलमस्येति विसारि धाम [स्वभावत: फैलने वाला तेज][४]।

जाति अर्थ में यदि कोई सुँबन्त उपपद होगा तो ताच्छील्य में भी प्रकृतसूत्र से णिनिँ न होगा। यथा—ब्राह्मणान् आमन्त्रयते तच्छील इति ब्राह्मणान् आमन्त्रयिता। यहां आङ्पूर्वक 'मत्रि गुप्तभाषणे' (चुरादि; आत्मने०, सेट्) धातु से ताच्छील्य में जातिवाचक 'ब्राह्मण' कर्म के उपपद रहने के कारण णिनिँ नहीं हुआ अपितु **आक्वेस्तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु** (८३६) के अधिकार में **तृन्** (८३७) सूत्रद्वारा तृन् प्रत्यय हो कर आमन्त्रयितृ—'आमन्त्रयिता' प्रयोग निष्पन्न हुआ है। इस कृत् के योग में **कर्तृकर्मणो: कृति** (२.३.६५) द्वारा प्राप्त षष्ठी का **न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्** (२.३.६९) सूत्र से निषेध हो जाता है अत: अनभिहित कर्म में **कर्मणि द्वितीया** (८९१) से द्वितीया विभक्ति आ कर 'ब्राह्मणान्' प्रयोग किया गया है। इसी तरह—शालीन् भोक्ता, आम्राणि चूषिता आदि।

ताच्छील्य द्योत्य न होने पर भी णिनिँ नहीं होता। यथा—उष्णं भुङ्क्ते आतुर: (रोगी गरम भोजन करता है)। यहां स्वभाव व्यक्त नहीं होता अपितु रोगी का पथ्यरूपेण गरम भोजन करना व्यक्त हो रहा है। अत: **कर्मण्यण्** (७९०) से अण् हो जायेगा—उष्णभोज आतुर:।

बहूपयोगी होने से णिनिँ का विधान करने वाला एक अन्य सूत्र भी यहां ध्यान में रखना आवश्यक है—

कर्तर्युपमाने (३.२.७९)। कर्तृवाचक उपमान उपपद हो तो धातु से परे णिनिँ प्रत्यय होता है। यथा—गज इव गच्छतीति गजगामी (हाथी की तरह चलने वाला); उष्ट्र इव क्रोशतीति उष्ट्रक्रोशी (ऊँट की तरह चिल्लाने वाला); सिंह इव नर्दतीति सिंहनर्दी (शेर की तरह गर्जने वाला); खर इव नदतीति खरनादी (गधे की तरह शब्द करने वाला); ध्वाङ्क्ष इव रौतीति ध्वाङ्क्षरावी (मोटे कौवे की तरह काँय-

---

१. **व्रताय तेनानुचरेण धेनोर्न्यषेधि शेषोऽप्यनुयायिवर्ग:** (रघु० २.४)।

२. **भीमकान्तैर्नृपगुणै: स बभूवोपजीविनाम्।**
अधृष्यश्चाभिगम्यश्च यादोरत्नैरिवार्णव:॥ (रघु० १.१६)।

३. **क्रियासु युक्तैर्नृप! चारचक्षुषो न वञ्चनीया: प्रभवोऽनुजीविभि:**(किरात० १.४)।

४. **पतत्यधो धाम विसारि सर्वत: किमेतदित्याकुलमीक्षितं जनै:** (माघ १.२)।

काँय करने वाला); द्विरद इव गच्छतीति द्विरदगामी (हाथी की तरह गति वाला);[१] बान्धवा इव आक्रोशन्तीति बान्धवाक्रोशिनः[२] (बान्धवों की तरह चिल्लाने वाले) इत्यादि। यहां उपपदस्थ कर्त्ता णिनिँवाच्य कर्त्ता का उपमान है। लौकिकविग्रहगत 'इव' अलौकिक विग्रह में प्रयुक्त नहीं होता, क्योंकि उस में 'इव' का अर्थ पूर्वपदान्तर्गत हो जाता है। उपपद कर्तृवाचक ही होना चाहिये अन्यथा णिनिँ न होगा। यथा—तिलानिव खादति माषान्; शालीनिव भक्षयति कोद्रवान्। यह सूत्र अशीलार्थ तथा जात्यर्थ समझना चाहिये।

[लघु०] विधिसूत्रम्—(८०४) मनः ।३।२।८२॥

सुँपि मन्यतेर्णिनिँः स्यात्। दर्शनीयमानी॥

अर्थः—सुँबन्त के उपपद होने पर मन् (दिवा० आत्मने०) धातु से णिनिँ प्रत्यय हो।

व्याख्या—सुँपि ।७।१। (**सुँप्यजातौ णिनिँ**:० से) मनः ।५।१। णिनिँः ।१।१। (**सुँप्यजातौ णिनिँ**:० से) धातोः ।५।१। प्रत्ययः ।१।१। परः ।१।१। (ये तीनों अधिकृत हैं)। अर्थः—(सुँपि=सुँबन्ते उपपदे) सुँबन्त के उपपद होने पर (मनः) मन् (धातोः) धातु से (परः) परे (णिनिँः प्रत्ययः) णिनिँ प्रत्यय हो। यहां व्याख्यान द्वारा 'मन्' से 'मनँ ज्ञाने' इस दैवादिक धातु का ही ग्रहण अभीष्ट है, 'मनुँ अवबोधने' इस तनादिगणीय का नहीं। कृत्संज्ञक होने से यहां भी णिनिँ कर्ता अर्थ में ही होता है। णिनिँ के अनुबन्धों का पूर्ववत् लोप हो कर 'इन्' मात्र शेष रहता है। सूत्र का उदाहरण यथा—

दर्शनीयं मन्यत इति दर्शनीयमानी (सुन्दर मानने वाला)। 'दर्शनीय' कर्म के उपपद रहते मनँ ज्ञाने (दिवा० आत्मने० अनिट्) धातु से **मनः** सूत्रद्वारा कर्त्ता अर्थ में णिनिँ प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा कृद्योग में कर्म में षष्ठी विभक्ति लाने से—'दर्शनीय ङस्+मन् इन्' हुआ। अब प्रत्यय के णित्त्व के कारण **अत उपधायाः** (४५५) से धातु की उपधा अत् को वृद्धि तथा **उपपदमतिङ्** (९५४) से उपपदसमास कर सुँब्लुक् (७२१) करने से 'दर्शनीयमानिन्' यह कृदन्त शब्द निष्पन्न होता है। समासत्वात् या कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा कर सुँविभक्ति में 'दर्शनीयमानी' प्रयोग सिद्ध होता है। इस की रूपमाला 'शार्ङ्गिन्' शब्द की तरह होती है।

यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि दूसरे को ही दर्शनीय आदि मानने में इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है, अपने आप को मानने में नहीं। अपने आप को मानने

---

१. **सममेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना।**
तेन सिंहासनं पित्र्यमखिलं चारिमण्डलम्॥ (रघु० ४.४)।

२. **बालिनं पतितं दृष्ट्वा वानरा रिपुघातिनम्।**
बान्धवाऽऽक्रोशिनो भेजुरनाथाः ककुभो दश॥ (भट्टि० ६.१२३)।

णिनि खश्

में अग्रिमसूत्रद्वारा खश् और णिनिँ दो प्रत्ययों का विधान किया गया है। इस सूत्र द्वारा सिद्ध किये 'दर्शनीयमानी' का प्रयोग इस प्रकार समझना चाहिये—'दर्शनीयमानी देवदत्तस्य यज्ञदत्तः' अर्थात् यज्ञदत्त देवदत्त को सुन्दर मानता है। 'देवदत्त' कर्म में कृद्योग में **कर्तृकर्मणोः कृति** (२.३.६५) से षष्ठीविभक्ति हुई है। इसी प्रकार—

(१) श्रीकृष्णस्य विष्णुमानिनो वैष्णवाः [वैष्णव श्रीकृष्ण को विष्णु मानते हैं]।

(२) स्वतःप्रमाणमानिनो वेदानामार्याः [आर्य वेदों को स्वतः-प्रमाण मानते हैं]।

(३) सम्पदां तुच्छमानिनो वीतरागाः [वीतराग लोग सम्पत्तियों को तुच्छ मानते हैं]।

(४) मिथ्यामानिनोऽस्य प्रपञ्चस्य वेदान्तिनः [वेदान्ती जगत् को मिथ्या मानते हैं]।

(५) अद्भुतमानिनो भारतस्य वैदेशिकाः [विदेशी जन भारत को अद्भुत मानते हैं]।

(६) ऋषिमानिनो दयानन्दस्यार्यसमाजिकाः [आर्यसमाजी दयानन्द को ऋषि मानते हैं]।

[लघु०] विधिसूत्रम्—(८०५) आत्ममाने खश्च ।३।२।८३।।

स्वकर्मके मनने[1] वर्त्तमानान्मन्यतेः सुँपि खश् स्यात्। चाण्णिनिँः। पण्डितमात्मानं मन्यते—पण्डितम्मन्यः। पण्डितमानी ।।

अर्थः—यदि मन् धातु का कर्त्ता उस का कर्म भी हो तो सुँबन्त के उपपद रहते मन् धातु से परे खश् प्रत्यय हो और णिनिँ भी।

व्याख्या—आत्ममाने ।७।१। खश् ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। सुँपि ।७।१। णिनिँः ।१।१ (**सुँप्यजातौ णिनिँः०** से) मनः ।५।१। (**मनः** से) धातोः ।५।१। प्रत्ययः ।१।१। परः ।१।१। (ये तीनों अधिकृत हैं)। मननं मानः, भावे घञ्; आत्मनः=स्वस्य=कर्तुः मानः=आत्ममानः, तस्मिन्=आत्ममाने, षष्ठीतत्पुरुषः। अर्थः—(आत्ममाने) 'अपने को मानना' अर्थ में (मनः, धातोः) दैवादिक मन् धातु से (सुँपि=सुँबन्त उपपदे) सुँबन्त के उपपद होने पर (खश् प्रत्ययः) खश् प्रत्यय (च) तथा (णिनिः) णिनिँ प्रत्यय हो जाता है।

कृत्संज्ञक होने से ये दोनों प्रत्यय कर्ता अर्थ में ही होते हैं। 'खश्' का 'अ' तथा 'णिनिँ' का 'इन्' मात्र शेष रहता है। इन के अनुबन्धों का प्रयोजन पहले बता चुके हैं। 'मन्' से यहां भी पूर्ववत् दैवादिक 'मन ज्ञाने' धातु का ही ग्रहण अभीष्ट है। सूत्र का उदाहरण यथा—

---

१. स्वः=कर्ता एव कर्म यस्य तथाभूते मनन इत्यर्थः। प्रत्ययस्य कर्तरि विधानात् तस्य च सन्निहितत्वात् स्वशब्देन कर्तैव गृह्यत इति भावः।

आत्मानं पण्डितं मन्यत इति पण्डितम्मन्यः, पण्डितमानी वा (अपने को पण्डित मानने वाला)। यहां मन् धातु का कर्त्ता अपने आपको पण्डित मान रहा है, अतः मन् धातु 'आत्ममाने' अर्थ में प्रयुक्त है। इस दैवादिक मन् (मनँ ज्ञाने, दिवा० आत्मने० अनिट्) धातु से **आत्ममाने खश्च** सूत्रद्वारा कर्त्ता अर्थ में खश् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप तथा कृद्योग में षष्ठी लाने से 'पण्डित ङस् + मन् अ' हुआ। अब शित्त्वात् खश् की सार्वधातुकसंज्ञा होने से **कर्तरि शप्** (३८७) से शप् प्राप्त होता है, परन्तु इस का बाध कर **दिवादिभ्यः श्यन्** (६२९) से श्यन् प्रत्यय हो जाता है-- पण्डित ङस् + मन् य अ। इस स्थिति में श्यन् के अकार तथा खश् के अकार दोनों के स्थान पर **अतो गुणे** (२७४) से पररूप एकादेश पुनः **उपपदमतिङ्** (९५४) से उपपद समास हो कर सुँप् का लुक् (७२१) हो जाता है—'पण्डित + मन्य'। अब खश् के खित् होने से 'मन्य' यह खिदन्त उत्तरपद परे है और इधर 'पण्डित' यह अजन्त पूर्वपद पूर्व में स्थित है, अतः **अरुर्द्विषदजन्तस्य मुँम्** (७९७) सूत्र से पूर्वपद को मुँम् (म्) का आगम हो कर पदान्त मकार को अनुस्वार तथा अनुस्वार को वैकल्पिक परसवर्ण करने से—पण्डित-म्मन्य (पण्डितंमन्य) शब्द निष्पन्न होता है। इस से परे सुँ विभक्ति लाने पर 'पण्डित-म्मन्यः' या 'पण्डितंमन्यः' प्रयोग सिद्ध होता है। खश् के अभाव में णिनिँ (इन्) प्रत्यय हो जाता है—पण्डित ङस् + मन् इन्। इस स्थिति में उपपदसमास तथा **अत उपधायाः** (४५५) से उपधावृद्धि करने से—पण्डितमानिन्, सुँ में—'पण्डितमानी' प्रयोग सिद्ध होता है। यहां प्रत्यय के शित् न होने से श्यन् तथा खित् न होने से मुँम् का आगम नहीं होता।

ध्यान रहे कि मानने वाला यदि अपने को ही पण्डित मान रहा है तो इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है, यदि वह किसी दूसरे को पण्डित मान रहा है तो पुनः पूर्वसूत्र **मनः** (८०४) से केवल णिनिँ ही होगा। यथा—भ्रातुः पण्डितमानी देवदत्तः (देवदत्त भाई को पण्डित मानता है)। खश् प्रत्यय न होगा।

सार यह है कि यदि अपने को माना जाये या दूसरे को, णिनिँ प्रत्यय तो हो सकता है, पर खश् प्रत्यय तभी होगा जब अपने आप को ही माना जाये।

स्वमाने परमाने चोभयत्रापि स्मृतो णिनिः।
परं खशो विधानं तु स्वमान एव केवलम् ॥

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) आत्मानं शूरं मन्यत इति शूरम्मन्यः, शूरमानी।[1]

(२) आत्मानं वीरं मन्यत इति वीरम्मन्यः, वीरमानी।[2]

(३) आत्मानं दर्शनीयं मन्यत इति दर्शनीयम्मन्यः, दर्शनीयमानी।

(४) आत्मानं धन्यं मन्यत इति धन्यम्मन्यः, धन्यमानी।

---

१. **ज्ञास्येऽहमद्य संग्रामे समस्तैः शूरमानिभिः** (भट्टि० १६.४०)।

२. **ज्ञायिष्यन्ते मया चाद्य वीरम्मन्या द्विषद्गणाः** (भट्टि० १६.१४)।

(५) आत्मानं चतुरं मन्यत इति चतुरम्मन्यः, चतुरमानी ।
(६) आत्मानम् ईश्वरं मन्यत इति ईश्वरंमन्यः, ईश्वरमानी ।
(७) आत्मानं साधुं मन्यत इति साधुम्मन्यः, साधुमानी ।[1]
(८) आत्मानं मन्यत इति आत्मम्मन्यः, आत्ममानी ।[2]
(९) आत्मानं बुधं मन्यत इति बुधम्मन्यः, बुधमानी ।
(१०) आत्मानम् आर्यं मन्यत इति आर्यम्मन्यः, आर्यमानी ।
(११) आत्मानं वैयाकरणं मन्यत इति वैयाकरणम्मन्यः, वैयाकरणमानी ।
(१२) आत्मानं विद्वांसं मन्यत इति विद्वन्मन्यः, विद्वन्मानी (२६२, ६८) ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८०६) **खित्यनव्ययस्य ।६।३।६५।।**

खिदन्ते परे पूर्वपदस्य ह्रस्वः, न त्वव्ययस्य । ततो मुँम् । कालिम्मन्या ।।

अर्थः—खित् प्रत्यय जिस के अन्त में है ऐसे उत्तरपद के परे रहने पर (अजन्त) पूर्वपद के स्थान पर ह्रस्व आदेश हो जाता है परन्तु यह आदेश अव्यय के स्थान पर नहीं होता । **ततो मुँम्**—ह्रस्व करने के बाद मुँम् करना चाहिये ।

व्याख्या—खिति ।७।१। अनव्ययस्य ।६।१। उत्तरपदे ।७।१। (**अलुगुत्तरपदे** यह अधिकृत है) । ह्रस्वः ।१।१। (**इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य** से) । ख् इद् यस्यासौ खित् तस्मिन् खिति । बहुव्रीहिसमासः । न अव्ययस्य अनव्ययस्य । नञ्तत्पुरुषः । 'खिति' यह 'उत्तरपदे' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'खिदन्ते उत्तरपदे' बन जाता है । 'उत्तरपदे' कहने से 'पूर्वपदस्य' का आक्षेप किया जाता है । **अचश्च** (१.२.२८) सूत्रद्वारा 'अचः' पद उपस्थित हो कर 'पूर्वपदस्य' का विशेषण बनता है पुनः तदन्तविधिद्वारा 'अजन्तस्य पूर्वपदस्य' उपलब्ध हो जाता है । अर्थः—(खिति= खिदन्ते, उत्तरपदे) खित् प्रत्यय जिस के अन्त में हो ऐसे उत्तरपद के परे होने पर (अजन्तस्य पूर्वपदस्य) अजन्त पूर्वपद के स्थान पर (ह्रस्वः) ह्रस्व आदेश हो जाता है (अनव्ययस्य) परन्तु यह आदेश अव्यय के स्थान पर नहीं होता ।

अजन्त पूर्वपद को विधान किया गया यह ह्रस्वत्व **अलोऽन्त्यस्य** (२१) द्वारा पूर्वपद के अन्त्य अच् के स्थान पर ही होता है । उदाहरण यथा—

आत्मानं कालीं मन्यत इति कालिम्मन्या [अपने आप को काली दुर्गा मानने वाली] । यहां 'काली' कर्मोपपद दैवादिक मन् धातु से **आत्ममाने खश्च** (८०५) सूत्र से खश् (अ) प्रत्यय, श्यन्विकरण, **अतो गुणे** (२७४) से पररूप, कृद्योग में कर्मणि षष्ठी तथा उपपदसमास कर सुँब्लुक् करने से—'काली+मन्य' इस स्थिति में खिदन्त

---

१. **राममुच्चैरुपालब्ध शूरमानी कपिप्रभुः ।**
व्रणवेदनया ग्लायन् साधुंमन्यमसाधुवत् ।। (भट्टि० ६.१२५)।
२. **करोति वैरं स्फुटमुच्यमानः प्रतुष्यति श्रोत्रसुखैरपथ्यैः ।**
विवेकशून्यः प्रभुरात्ममानी महाननर्थः सुहृदां बताऽयम् ।। (भट्टि० १२.८३)।

उत्तरपद 'मन्य' के परे रहते 'काली' के ईकार को प्रकृतसूत्र **खित्यनव्ययस्य** (८०६) से ह्रस्व आदेश हो कर **अरुर्द्विषदजन्तस्य मुँम्** (७९७) से मुँम् (म्) का आगम हो जाता है—कालिम्+मन्य । अब पदान्त मकार को अनुस्वार, अनुस्वार को वैकल्पिक परसवर्ण तथा स्त्रीत्व की विवक्षा में **अजाद्यतष्टाप्** (१२४५) से टाप् (आ) प्रत्यय ला कर सवर्णदीर्घ करने से सुँ विभक्ति में हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् द्वारा 'कालिम्मन्या' (कालिमन्या) प्रयोग सिद्ध होता है।

इसी तरह आत्मानं हरिणीं मन्यत इति हरिणिम्मन्या (अपने आप को हरिणी मानने वाली); आत्मानं सुन्दरीं मन्यत इति सुन्दरिम्मन्या (अपने आप को सुन्दरी मानने वाली); आत्मानं सतीम् मन्यत इति सतिम्मन्या (अपने आप को सती मानने वाली) इत्यादि प्रयोग समझने चाहियें ।

ततो मुँम्—ह्रस्व करने के बाद ही मुँम् करना चाहिये ।

'काली+मन्य' में यदि अजन्त को **अरुर्द्विषदजन्तस्य मुँम्** (७९७) से पहले मुँम् कर दें तो पुनः पूर्वपद के अजन्त न रहने से प्रकृतसूत्र **खित्यनव्ययस्य** (८०६) से ह्रस्व न हो सकेगा, इस तरह समग्र ह्रस्वविधान ही व्यर्थ हो जायेगा । अतः वैयाकरण यहां पहले ह्रस्व और बाद में मुँम् करते हैं तथा इन में परस्पर बाध्यबाधकभाव भी नहीं मानते—यह सब व्याकरण के उच्चग्रन्थों में स्पष्ट किया गया है वहीं देखें । यहां वरदराज ने 'ततो मुँम्' कह कर केवल इस ओर संकेतमात्र किया है ।

इस सूत्र में 'अनव्ययस्य' कहा गया है अतः अव्यय को ह्रस्व-विधान न होगा । यथा—आत्मानं दिवा मन्यत इति दिवामन्या रात्रिः[1] (प्रकाशाधिक्य के कारण अपने आप को दिन मानने वाली रात्रि) । यहां 'दिवा' यह अव्यय है अतः इसे ह्रस्व नहीं होता । किञ्च **अरुर्द्विषदजन्तस्य मुँम्** (७९७) में भी 'अनव्ययस्य' की अनुवृत्ति जाने से उस से मुँम् आगम भी नहीं होता—दिवामन्या । इसी प्रकार दोषामन्यम् अहः (घने बादलों या धुन्ध के कारण अपने को रात्रि समझने वाला दिन) । आत्मानं दोषा रात्रिम् मन्यत इति दोषामन्यमहः । 'दोषा' अव्यय रात्रिवाचक है, इस का विवेचन पीछे पूर्वार्ध में स्वरादिगण पर कर चुके हैं ।

[लघु०] विधिसूत्रम्—(८०७) **करणे यजः** ।३।२।८५।।

करणे उपपदे भूतार्थयजेर्णिनिः कर्त्तरि[2] । सोमेनेष्टवान् सोमयाजी । अग्निष्टोमयाजी ।।

---

१. **दिवामन्या रात्रिः कथमपि न पद्मं विकसितम्** (पुरुषोत्तमदेव की भाषावृत्ति) ।

२. **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** (९५३) की व्यवस्थानुसार 'करणे' यहां उपपद है । कोई भ्रान्तिवश करण अर्थ में ही प्रत्यय न समझ ले इसलिये यहां सूत्र की वृत्ति में ही वरदराज ने 'कर्त्तरि' का प्रयोग किया है । वरन् '**कर्त्तरि कृत्**' (७६९) द्वारा उपलब्ध 'कर्त्तरि' पद का वे सूत्रार्थ में प्रायः निर्देश नहीं करते ।

क्वनिँप् (कर्म, उपपद, भूत कालिक)

अर्थः—करण के उपपद होने पर भूतकाल की क्रिया के वाचक यज् धातु से कर्त्ता अर्थ में णिनिँ प्रत्यय हो।

व्याख्या—करणे ।७।१। यजः ।५।१। भूते ।७।१। (यह अधिकृत है) णिनिँः ।१।१। (**सुप्यजातौ णिनिँ:०** से) **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं। यहां 'भूते' कहा गया है परन्तु शब्दस्वरूप यज् धातु का भूतकाल में रहना सम्भव नहीं; अतः धातु का अर्थ (क्रिया) ही भूतकालिक समझा जाता है। अर्थः—(करणे उपपदे) करण कारक के उपपद होने पर (भूते) भूतकालिक अर्थ में वर्त्तमान (यजः) यज् (धातोः) धातु से (परः) परे (णिनिँः प्रत्ययः) णिनिँ प्रत्यय होता है। कृत्संज्ञक होने से यह प्रत्यय **कर्त्तरि कृत्** (७६६) की व्यवस्था के अनुसार कर्त्ता अर्थ में ही होगा। उदाहरण यथा—

सोमेन इष्टवान्—सोमयाजी (सोमलता से यज्ञ कर चुका हुआ)। यहां यजन करने में सोम करण है, अतः 'सोम' करण के उपपद रहते भूतकालिक क्रिया में वर्त्तमान यज् (यजँ देवपूजा-संगतिकरण-दानेषु भ्वा० उभय० अनिट्) धातु से कर्त्ता अर्थ में प्रकृतसूत्र से णिनिँ प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा **अत उपधायाः** (४५५) से उपधावृद्धि करने पर 'सोम टा+याज् इन्' इस स्थिति में **गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुँबुत्पत्तेः** इस परिभाषा के अनुसार कृदन्त से सुँबुत्पत्ति से पूर्व ही **उपपदमतिङ्** (६५४) से उपपदसमास हो कर अन्तर्वर्त्तिनी विभक्ति का **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् करने से 'सोमयाजिन्' यह कृदन्त शब्द निष्पन्न होता है। कृदन्तत्वात् या समासत्वात् अब इस की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर सुँ आदियों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार सुँ में—'सोमयाजी' प्रयोग सिद्ध होता है। इस की सुबन्तप्रक्रिया 'शार्ङ्गिन्' शब्द की तरह होती है—सोमयाजी, सोमयाजिनौ, सोमयाजिनः इत्यादि।

इसी प्रकार—अग्निष्टोमेन इष्टवान्—अग्निष्टोमयाजी [अग्निष्टोमयाग कर चुका[1]] आदि।

क्वनिँप्

[लघु०] विधिसूत्रम्—(८०८) दृशेः क्वनिँप् ।३।२।९४॥

कर्मणि भूते। पारं दृष्टवान्—पारदृश्वा॥

अर्थः—कर्म के उपपद होने पर भूतकालिक क्रिया में वर्त्तमान दृश् धातु से क्वनिँप् प्रत्यय होता है।

व्याख्या—दृशेः ।५।१। क्वनिँप् ।१।१। भूते (यह अधिकृत है)। कर्मणि ।७।१। (**कर्मणि हनः** से) **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—तीनों अधिकृत हैं। अर्थः—(कर्मणि) कर्म

---

१. **अग्निष्टोमेन यजेत स्वर्गकामः**। स्वर्ग की कामना करने वाला अग्निष्टोमयाग करे—इस विधिवाक्य से यज्ञ के फल (स्वर्ग) के प्रति अग्निष्टोम का करणत्व प्रसिद्ध है। उसी को दृष्टि में रखते हुए यहां करण का उपपदत्व समझना चाहिये। इस पर विशेष विचार पदमञ्जरी आदि व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखें। अध्वरमीमांसा की कुतूहलवृत्ति यहां विशेष द्रष्टव्य है।

क्वनिँप्

के उपपद रहते (भूते) भूतकाल के अर्थ में वर्त्तमान (दृशेर्धातोः) दृश् धातु से (परः) परे (क्वनिँप्) क्वनिँप् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है।

कृत्संज्ञक होने के कारण यह प्रत्यय कर्त्ता अर्थ में होता है। 'क्वनिँप्' के अनुबन्धों का लोप हो कर 'वन्' मात्र शेष रहता है। अनुबन्धों का प्रयोजन पीछे (७६६) सूत्र पर बताया जा चुका है। सूत्र का उदाहरण यथा—

पारं दृष्टवान्—पारदृश्वा (जो पार को देख चुका है अर्थात् पारंगत, पारग निपुण या निष्णात)[1]। 'पार' कर्म के उपपद रहते भूतकाल में कर्त्ता अर्थ में प्रकृतसूत्र से क्वनिँप् (वन्) प्रत्यय हो कर प्रत्यय के कित्त्व के कारण लघूपधगुण का निषेध हो जाता है। पुनः कृद्योग में कर्मणि षष्ठी के लाने पर 'पार ङस्+दृश् वन्' इस स्थिति में **गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुँबुत्पत्तेः** इस परिभाषा के अनुसार कृदन्त से विभक्ति लाने से पूर्व ही **उपपदमतिङ्** (६५४) से उपपदसमास हो कर सुँब्लुक् करने से 'पारदृश्वन्' यह नकारान्त कृदन्त निष्पन्न होता है। इस की सुँबन्त-प्रक्रिया 'यज्वन्' शब्द की तरह होती है—पारदृश्वा, पारदृश्वानौ, पारदृश्वानः आदि।

इसी प्रकार—शास्त्रं दृष्टवान्—शास्त्रदृश्वा, परलोकं दृष्टवान्—परलोक-दृश्वा, मेरुं दृष्टवान्—मेरुदृश्वा, बहु दृष्टवान्—बहुदृश्वा, विश्वदृश्वा आदि समझने चाहियें।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८०६) राजनि युधि-कृञः ।३।२।६५॥

क्वनिँप् स्यात्। युधिरन्तर्भावितण्यर्थः[2]। राजानं योधितवान्—राज-युध्वा। राजकृत्वा॥ (King-maker) [makes kings fight

अर्थः—राजन् कर्म के उपपद होने पर युध् और कृञ् धातुओं से भूतकाल में क्वनिँप् प्रत्यय हो। **युधिरन्तर्भावितण्यर्थः**—युध् धातु के अर्थ में णिच् का अर्थ भी सम्मिलित है।

व्याख्या—राजनि ।७।१। युधि-कृञः ।५।१। क्वनिँप् ।१।१। (**दृशेः क्वनिँप्** से)। कर्मणि ।७।१। (**कर्मणि हनः** से)। भूते ।७।१। (यह अधिकृत है)। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों भी अधिकृत हैं। 'युधि' में इक् प्रत्यय धातुनिर्देश में किया गया है। युधिश्च कृञ् च युधिकृञ्, तस्मात्=युधिकृञः, समाहारद्वन्द्वसमासः। 'राजनि' यह 'कर्मणि' के साथ अन्वित होता है। **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** (६५३) की व्यवस्थानुसार यह उपपद है। अर्थः—(राजनि कर्मणि) 'राजन्' कर्म के उपपद होने पर (भूते) भूतकाल की क्रिया में वर्त्तमान (युधि-कृञः) युध् और कृञ् (धातोः) धातुओं से (परः) परे (क्वनिँप् प्रत्ययः) क्वनिँप् प्रत्यय हो जाता है।

---

१. **गुर्वर्थमर्थी श्रुतपारदृश्वा रघोः सकाशादनवाप्य कामम्।**
गतो वदान्यान्तरमित्ययं मे मा भूत् परीवादनवावतारः॥ (रघु० ५.२४)।

२. अन्तर्भावितोऽनुप्रवेशितो ण्यर्थो यस्मिन्निति अन्तर्भावितण्यर्थः।

क्वनिँप्

कर्तरि कृत् (७६६) के अनुसार यह प्रत्यय कर्त्ता अर्थ में होता है। क्वनिँप् का पूर्वोक्तरीत्या 'वन्' मात्र शेष रहता है। ककार गुणवृद्धि के निषेध के लिये तथा पकार तुँक् आगम के लिये जोड़ा गया है। सूत्र के उदाहरण यथा---

राजानं योधितवान्[1]—राजयुध्वा (राजा को युद्ध करा चुका व्यक्ति)। यहां 'राजन्' कर्म के उपपद रहते भूतार्थ में वर्त्तमान युध् (युधँ सम्प्रहारे, दिवा० आत्मने० अनिट्) धातु से परे कर्त्ता अर्थ में प्रकृतसूत्र से क्वनिँप् (वन्) प्रत्यय हो कर कित्त्व के कारण लघूपधगुण का निषेध, कृद्योग में कर्मणि षष्ठी, उपपदसमास और सुँब्लुक् आदि कार्य करने पर—राजयुध्वन्। सुँ में उपधादीर्घ, सुँलोप तथा पदान्त नकार का भी लोप हो कर—'राजयुध्वा' प्रयोग सिद्ध होता है। इस की रूपमाला 'यज्वन्' शब्द की तरह होती है—राजयुध्वा, राजयुध्वानौ, राजयुध्वानः आदि।

युध् (युद्ध करना, लड़ना) धातु अकर्मक है अतः अकर्मक धातु के उपपद में कर्म कैसे सम्भव हो सकता है? इस शंका का समाधान करते हुए वरदराज लिखते हैं—**युधिरन्तर्भावितण्यर्थः**। अर्थात् यहां युध् धातु के अर्थ में हेतुमण्णिच् (७००) का अर्थ भी संनिविष्ट है। तात्पर्य यह है कि यहां युध् धातु का अर्थ लड़ना नहीं अपितु 'लड़वाना=युद्ध कराना' है। इस से यह धातु सकर्मक हो जाती है, इस प्रकार उपपद में कर्म के आने में कोई आपत्ति नहीं होती[2]।

कृञ् का उदाहरण—

राजानं कृतवान्—राजकृत्वा (राजा को जो बना चुका है वह व्यक्ति)। यहां राजन् कर्म के उपपद रहते भूतार्थ में वर्त्तमान कृ ('डुकृञ् करणे' तनादि० उभय० अनिट्) धातु से कर्त्ता अर्थ में प्रकृतसूत्र से क्वनिँप् (वन्) प्रत्यय, प्रत्यय के कित्त्व के कारण गुणनिषेध, **ह्रस्वस्य पिति कृति तुँक्** (७७७) से तुँक् का आगम, कृद्योग में षष्ठी तथा उपपदसमास और सुँब्लुक् आदि कार्य करने पर—'राजकृत्वन्'। सुँ में—राजकृत्वा। यज्वन् शब्द की तरह रूपमाला—राजकृत्वा, राजकृत्वानौ, राजकृत्वानः आदि। ध्यान रहे कि यहां कृञ् को अन्तर्भावितण्यर्थ मानने की कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। वह स्वतः सकर्मक है।

लड़ाई—कराने वाला

[लघु०] विधिसूत्रम्—(८१०) सहे च ।३।२।९६॥ मिलाने वाला

कर्मणीति निवृत्तम्। सह योधितवान् सहयुध्वा। सहकृत्वा॥

अर्थः—'सह' के उपपद होने पर भूतकाल की क्रिया में वर्त्तमान युध् और कृञ् धातुओं से परे क्वनिँप् प्रत्यय हो। **कर्मणीति निवृत्तम्**—इस सूत्र में 'कर्मणि' की अनुवृत्ति नहीं आती।[3]

---

१. ण्यन्तस्य प्रयोगः, निष्ठायां सेटि (८२४) इति णिलोपः।

२. णिचा सकर्मकत्वलाभः। राज्ञा सह युद्धवानित्येव पर्यवसितोऽर्थः। युध्यमानं राजानं प्रेरितवान्, न तु केनाप्यन्येनायोधयदित्यर्थः।

३. क्योंकि 'सह' के साथ उस का सामानाधिकरण्य सम्भव नहीं हो सकता।

व्याख्या—सहे ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । युधि-कृञः ।५।१। (राजनि युधि-कृञः से) । क्वनिँप् ।१।१। (दृशेः क्वनिँप् से) । भूते, धातोः, प्रत्ययः, परश्च - ये सब अधिकृत हैं । अर्थः—(सहे) 'सह' अव्यय के उपपद होने पर (च) भी (भूते) भूतकाल की क्रिया में वर्त्तमान (युधि-कृञः) युध् और कृञ् (धातोः) धातु से (परः) परे (क्वनिँप् प्रत्ययः) क्वनिँप् प्रत्यय हो जाता है। पूर्ववत् कृत्संज्ञक होने से यह प्रत्यय कर्त्ता अर्थ में समझना चाहिये । उदाहरण यथा—

सह युद्धवान्—सहयुध्वा (किसी के साथ युद्ध कर चुका व्यक्ति)[1] । यहां 'सह' के उपपद रहते युध् धातु से सहे च (८१०) सूत्रद्वारा क्वनिँप् (वन्) प्रत्यय, प्रत्यय के कित्त्व के कारण लघूपधगुण का निषेध तथा उपपदसमास करने से—सहयुध्वन् । सुँ में - सहयुध्वा । यज्वन् की तरह सुँबन्तप्रक्रिया होती है । सहयुध्वा, सहयुध्वानौ, सहयुध्वानः इत्यादि ।

---

१. 'सह योधितवान्—सहयुध्वा' यह मूलोक्त विग्रह उचित नहीं है । पिछले सूत्र में कर्म के उपपद के कारण अकर्मक युध् का अर्थ घटित न होने से उसे अन्तर्भावितण्यर्थ मानना पड़ा था । परन्तु यहां इस प्रकार की कोई बाधा उपस्थित नहीं है । अतः यहां 'सह युद्धवान् इति सहयुध्वा' या 'सह युध्यते स्म इति सहयुध्वा' इस तरह अण्यन्त विग्रह करना ही उचित है । प्राचीन अनेक वैयाकरणों ने स्वस्वग्रन्थों में ऐसा ही विग्रह दर्शाया है । तद्यथा—
सह युद्धवान्—सहयुध्वा (जैनेन्द्रमहावृत्ति २.२.८३) ।
सह युद्धवान्—सहयुध्वा (शाकटायन अमोघा ४.३.१९९) ।
सह युद्धवान्—सहयुध्वा (हैमबृहद्वृत्ति ५.१.१६७) ।
सह युध्यते स्म—सहयुध्वा (सरस्वतीकण्ठा॰ दण्डनारायण १.४.१२६) ।
अत एव नागेशभट्ट को लघुशब्देन्दुशेखर में इसी स्थल पर लिखना पड़ा है—सहयुध्वेति । तेन सह युद्धवानित्यर्थः । इस के अतिरिक्त कवियों के अनेक प्रयोग भी अण्यन्तविग्रह की पुष्टि करते हैं—

संवित्तः सहयुध्वानौ तच्छक्तिं खरदूषणौ (भट्टि॰ ५.३७) ।

अर्थात् राम के साथ युद्ध कर चुके खर और दूषण उस की शक्ति को जानते हैं ।

कथयति परिश्रान्तिं रात्रीतमस्सहयुध्वनाम् ।
अयमपि दरिद्राणप्राणस्तमीदयितस्त्विषाम् ।। (नैषध १९.४)

अर्थात् थका-मान्दा चन्द्रमा रात्रि के अन्धकार के साथ युद्ध कर चुकी अपनी किरणों को (अब प्रातःकाल) विश्राम करने को कह रहा है ।

बुद्धिपूर्वं ध्रुवन्न त्वा राजकृत्वा पिता खलम् ।
सहयुध्वानमन्येन योऽहिनो मामनागसम् ।। (भट्टि॰ ६.१३०)

हे राम ! पिता दशरथ ने तुम्हें दुर्जन जान कर जानबूझ कर राजा नहीं बनाया था जो तुम ने दूसरे (सुग्रीव) के साथ लड़ाई में प्रवृत्त मुझ निरपराध (बाली) को मारा ।

इसी प्रकार—सह कृतवान्—सहकृत्वा (साथ कर चुका व्यक्ति)। यहां प्रत्यय के पित्त्व के कारण **ह्रस्वस्य पिति कृति तुँक्** (७७७) से तुँक् का आगम विशेष है।

नोट—इन क्वनिँप् प्रत्ययान्त शब्दों के स्त्रीलिङ्ग में **वनो र च** (४.१.७) सूत्र से ङीप्प्रत्यय तथा वन् के नकार को रेफ आदेश हो कर पारदृश्वरी, राजकृत्वरी, सहकृत्वरी, परलोकदृश्वरी, शास्त्रदृश्वरी आदि रूप बनते हैं। सहयुध्वन् और राजयुध्वन् में परिवर्त्तन नहीं होता, **वनो न हशः** वार्त्तिक से निषेध हो जाने से स्त्रीलिङ्ग में भी यही रूप रहता है—सहयुध्वा ब्राह्मणी, राजयुध्वा कन्या।

इन शब्दों के स्त्रीत्व के प्रयोग में निम्नस्थ श्लोक यहां विशेष उल्लेखनीय है—

अवावरीं धीतिमिरस्य पीवरीं
संसारसिन्धोः परमार्थदृश्वरीम्।
सुधीवरीं सत्पुरुषार्थसम्पदां
नमामि भक्त्या परया सरस्वतीम्॥

[लौगा० गृ० सूत्र की टीका में]

अर्थात् बुद्धि के तिमिर को हटाने वाली, संसारसिन्धु से बचा कर पार लगाने वाली, सज्जनों की पुरुषार्थसम्पत्ति को पुष्ट करने वाली, परमार्थतत्त्व को देख चुकी सरस्वती देवी को मैं परमश्रद्धा से नमस्कार करता हूं। [अवावन्—अवावरी (हटाने वाली)[1]; पीवन्—पीवरी (पा रक्षणे+क्वनिँप्; रक्षा करने वाली); परमार्थदृश्वन्—परमार्थदृश्वरी (परमार्थं दृष्टवती, **दृशेः क्वनिँप्**, परमार्थतत्त्व को जानने वाली); सुधीवन्—सुधीवरी (डुधाञ् धारणपोषणयोः+क्वनिँप्, धारण-पोषण करने वाली)]।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८११) सप्तम्यां जनेर्डः।३।२।९७॥

अर्थः—सप्तम्यन्त के उपपद होने पर भूतकाल के अर्थ में वर्त्तमान जन् धातु से 'ड' प्रत्यय हो।

व्याख्या—सप्तम्याम्।७।१। जनेः।५।१। डः।१।१। भूते।७।१। प्रत्ययः।१।१। परः।१।१। धातोः।५।१। [ये चारों अधिकृत हैं]। सप्तमी प्रत्ययात्मक है अतः **प्रत्यय-ग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः** के अनुसार सप्तम्यन्त का ग्रहण होता है। **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** (९५३) की व्यवस्थानुसार यह उपपद है। 'जनेः' यहां जन् धातु से इक् प्रत्यय धातु-निर्देश में किया गया है—**इक्-श्तिपौ धातुनिर्देशे**। अर्थः—(सप्तम्याम्=सप्तम्यन्ते उपपदे) सप्तम्यन्त के उपपद होने पर (भूते) भूतकाल के अर्थ में (जनेः, धातो.) जन् धातु से (परः) परे (डः) 'ड' (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है। **कृदतिङ्** (३०२)

---

१. भट्टोजिदीक्षित आदि यहां **वनो न हशः** वार्त्तिक से ङीप्+रत्व का निषेध मानते हैं परन्तु न्यासकार आदि अनेक वैयाकरण इस निषेध को प्रायिक मानते हुए यहां भी ङीप्+रत्व (**वनो र च**) का विधान स्वीकार करते हैं। इस विषय पर विस्तृत विचार हमारे दूसरे ग्रन्थ **न्यास-पर्यालोचन** (भैमी-प्रकाशन, दिल्ली द्वारा प्रकाशित) में किया गया है, विशेष जिज्ञासु इसे वहीं देखें।

द्वारा कृत् होने से यह प्रत्यय **कर्त्तरि कृत्** (७६९) से कर्त्ता अर्थ में होता है। 'ड' प्रत्यय का आदि डकार **चुटू** (१२९) द्वारा इत् हो कर लुप्त हो जाता है, 'अ' मात्र अवशिष्ट रहता है। प्रत्यय को डित् करने का प्रयोजन भसञ्ज्ञा न होने पर भी **टेः** (२४२) द्वारा धातु की टि का लोप करना है —**डित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः** (देखें ४०५ सूत्र पर)।

उदाहरण यथा—सरसि जातम् इति सरसिजं सरोजं वा। (तालाब में पैदा हुआ अर्थात् कमल[1]) यहां सप्तम्यन्त सरस् शब्द के उपपद होने पर जन् (जनी प्रादुर्भावे, दिवा० आत्मने० सेट्) धातु से कर्त्ता अर्थ में **सप्तम्यां जनेर्डः** इस प्रकृतसूत्र से 'ड' प्रत्यय करने पर—'सरस् ङि+जन् ड' हुआ। अब 'ड' प्रत्यय के आदि डकार अनुबन्ध का लोप हो कर डित्वसामर्थ्य से भसंज्ञा न होने पर भी टेः (२४२) द्वारा जन् की टि (अन्) का लोप करने से 'सरस् ङि+ज' इस स्थिति में **गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुँबुत्पत्तेः** परिभाषा से कृदन्त से विभक्त्युत्पत्ति से पूर्व ही **उपपदमतिङ्** (९५४) द्वारा उपपदसमास हो जाता है। तब समास के कारण प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर उस के अवयव सुँप् (ङि) का **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(८१२) तत्पुरुषे कृति बहुलम्।६।३।१३॥**

ङेरलुक्। सरसिजम्। सरोजम्॥

अर्थः—तत्पुरुषसमास में कृदन्त उत्तरपद के परे होने पर सप्तमी का बहुल से अलुक् हो।

व्याख्या—तत्पुरुषे ।७।१। कृति ।७।१। बहुलम् ।१।१। सप्तम्याः ।६।१। (**हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्** से)। अलुक् ।१।१। उत्तरपदे ।७।१। (**अलुगुत्तरपदे** से)। न लुक् अलुक्, नञ्तत्पुरुषसमासः। 'कृति' यह 'उत्तरपदे' का विशेषण है, अतः **येन विधिस्तदन्तस्य** (१.१.७२) द्वारा विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'कृदन्ते उत्तरपदे' बन जाता है। अर्थः—(तत्पुरुषे) तत्पुरुषसमास में (कृति = कृदन्ते) कृत्प्रत्यय जिस के अन्त में हो ऐसे (उत्तरपदे) उत्तरपद के परे होने पर (सप्तम्याः) सप्तमी विभक्ति का (बहुलम्) बहुल से (अलुक्) अलुक् हो जाता है। 'बहुल' से अलुक् (लुक् का अभाव) कहा गया है अतः कहीं लुक् भी हो जायेगा।

'सरस् ङि+ज' में उपपदसमास जो तत्पुरुषसमास के ही अन्तर्गत है, किया गया है। 'ज' यह कृदन्त उत्तरपद परे मौजूद है अतः सप्तमी विभक्ति (ङि) का जो लुक् प्राप्त था वह न हुआ। तो 'सरसिज' और जब लुक् हो गया तो सकार को रुँत्व (१०५), **हशि च** (१०७) से उत्व तथा **आद् गुणः** (२७) से गुण करने पर 'सरोज' शब्द निष्पन्न हुआ। दोनों कृदन्त शब्दों से सुँ विभक्ति लाने पर नपुंसक लिङ्ग के कारण **अतोऽम्** (२३४) से सुँ को अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'सरसिजम्, सरोजम्' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

---

१. **सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यम्** (शाकुन्तल १.२०)।

उपर्युक्त उदाहरण में अलुक् और लुक् दोनों दिखाये गये हैं पर कहीं कहीं केवल अलुक् ही [यथा—वनेचरः, खेचरः] पाया जाता है। यह सब 'बहुल' ग्रहण की ही महिमा है।

पिछले **सप्तम्यां जनेर्डः** (८११) सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण—

(१) मनसि जातम् —मनसिजं मनोजं वा (कामदेव)।

(२) वने जातः—वनजः (वन में पैदा हुआ)।

(३) मन्दुरायां जातः—मन्दुरजः (अश्वशाला में पैदा हुआ)[1]।

(४) उपसरे जातः—उपसरजः (गर्भाधाने जातः)।

(५) देहे जातः—देहजो व्याधिः।

(६) गर्भे जातः—गर्भजो रोगः।

इस 'ड' प्रकरण में एक अन्य सूत्र भी बहुत उपयोगी है—

पञ्चम्यामजातौ (३.२.९८) अर्थात् जातिभिन्न पञ्चम्यन्त के उपपद होने पर भूतकाल में जन् धातु से 'ड' प्रत्यय हो जाता है। यथा—

(१) बुद्धेर्जातः—बुद्धिजः। (२) निर्वेदाज्जातः—निर्वेदजः। (३) धनाज्जातः—धनजो मदः। (४) सन्तोषाज्जातम्—सन्तोषजं सुखम्। (५) आत्मनो जातः—आत्मजः पुत्रः। (६) मखाज्जातम्—मखजं पुण्यम्। (७) कर्मभ्यो जातम्—कर्मजं दुःखम्। (८) कौशल्याया जातः—कौशल्याजो रामः।

जातिभिन्न कहने से—'हस्तिनो जातः, अश्वाज्जातः' इत्यादि में नहीं होता।

[लघु०] विधिसूत्रम्—(८१३) उपसर्गे च संज्ञायाम् ।३।२।९९॥

'प्रजा स्यात् सन्ततौ जने'॥

अर्थः—उपसर्ग उपपद होने पर भूतकाल में जन् धातु से परे 'ड' प्रत्यय हो संज्ञा के विषय में।

व्याख्या—उपसर्गे ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। संज्ञायाम् ।७।१। जनेः ।५।१। डः ।१।१। (**सप्तम्यां जनेर्डः** से) भूते ।७।१। धातोः ।५।१। प्रत्ययः ।१।१। परः ।१।१। (ये चारों अधिकृत हैं)। **तत्रोपपदं०** (९५३) के अनुसार 'उपसर्गे' उपपद है। 'सञ्ज्ञायाम्' यहां विषयसप्तमी है। अर्थः—(उपसर्गे) उपसर्ग उपपद होने पर (भूते) भूतकालिक क्रिया में वर्त्तमान (जनेः, धातोः) जन् धातु से (परः) परे (डः प्रत्ययः) 'ड' प्रत्यय हो जाता है (संज्ञायाम्) संज्ञा के विषय में।

तात्पर्य यह है कि यदि प्रकृतिप्रत्ययसमुदाय से किसी की संज्ञा (नाम) अभिप्रेत हो तो उपसर्गपूर्वक जन् धातु से भूतकाल में ड प्रत्यय होता है। यह प्रत्यय भी पूर्ववत् कृत्संज्ञक होने से कर्त्ता अर्थ में होता है। 'ड' का 'अ' मात्र शेष रहता है। है। उदाहरण यथा—

प्रजाता इति प्रजा (जो उत्पन्न हुई है अर्थात् सन्तति या लोग)। यहां प्रकृति-

---

१. **ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्** (६.३.६२) से यहां ह्रस्व हो जाता है।

प्रत्ययसमुदाय से सन्तति या लोगों की संज्ञा अभिप्रेत है अतः 'प्र' उपसर्ग के उपपद रहते जन् (जनीँ प्रादुर्भावे; दिवा० आत्मने० सेट्) धातु से **उपसर्गे च संज्ञायाम्** इस प्रकृतसूत्र से ड (अ) प्रत्यय, प्रत्यय के डित्त्व के कारण जन् की टि (अन्) का लोप तथा उपपदसमास हो कर 'प्रज' इस स्थिति में स्त्रीत्वविवक्षा में **अजाद्यतष्टाप्** (१२४५) से टाप् (आ) प्रत्यय कर सवर्णदीर्घ और सुँ में सकार का हल्ङ्यादिलोप हो कर 'प्रजा' प्रयोग निष्पन्न होता है।

प्रजा स्यात् सन्ततौ जने यह अमरकोष (३.३.३२) का वचन है। इस का अभिप्राय यह है कि 'प्रजा' शब्द सन्तति=सन्तान अर्थ में तथा जन=लोग अर्थ में प्रयुक्त होता है। सन्तान अर्थ में इस के प्रयोग यथा—**प्रजायै गृहमेधिनाम्** (रघु० १.७); **अवजानासि मां यस्मादतस्ते न भविष्यति। मत्प्रसूतिमनाराध्य प्रजेति त्वां शशाप सा** (रघु० १.७७), इत्यादि। जन=लोग अर्थ में प्रयोग यथा—**प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्** (रघु० १.१८), **प्रजाः प्रजानाथ! पितेव पासि** (रघु० २.४८), इत्यादि। इस अर्थ में जन-लोगों के बहुत्व के कारण प्रायः बहुवचन में प्रयोग मिलते हैं।

अभ्यास (३)

(१) नीचे विग्रह दिया गया है, कृदन्तरूप तथा प्रत्यय का निर्देश करें—
ध्वाङ्क्ष इव रौतीति, आत्मानं कालीं मन्यत इति, पारं दृष्टवान् इति, सरसि जातमिति, जनमेजयतीति, सोमेनेष्टवान् इति, सह युद्धवान् इति, गज इव गच्छतीति, अनुयातुं शीला इति, बुद्धेर्जात इति, उखायाः स्रंसत इति, दर्शनीयं मन्यत इति, प्रियं वदतीति, ओणतीति, मधु लेढीति, राजानं कृतवान् इति।

(२) सप्रमाण अशुद्धि-शोधन कीजिये—
ब्राह्मणानाम् आमन्त्रयिता (तृन्), मूर्खमानी यज्ञदत्तं देवदत्तः, सहयुध्वरी, शास्त्रदृश्वा कन्या, दिवम्मन्या रात्रिः, उष्णं भुङ्क्त इति उष्णभोजी आतुरः।

(३) प्रश्नों का उत्तर दीजिये—
(क) सरसिजम् में समास होने पर भी विभक्ति का लुक् क्यों नहीं हुआ?
(ख) 'अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते' में 'दृश्यन्ते' ग्रहण का क्या प्रयोजन है?
(ग) 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुँम्' में 'अनव्ययस्य' के अनुवर्त्तन का क्या प्रयोजन है?
(घ) 'तिलानिव खादति माषान्' यहां 'णिनिँ' क्यों नहीं होता?
(ङ) 'एजेः खश्' में 'एजेः' से ण्यन्त का ग्रहण किस प्रकार होता है?

(४) खच् और खश् प्रत्ययों में अनुबन्धजन्य अन्तर समझाइये।

(५) 'उष्णभोजी' का चार प्रकार का विग्रह लिखिये।

(६) स्वमाने परमाने च—व्याख्याकार की इस कारिका का विवेचन कीजिये।

(७) 'सहे च' सूत्रस्थ 'सह योधितवान्' इस पाठ की समीक्षा कीजिये ।
(८) क्विबन्तों के विग्रहनिर्देशपूर्वक पांच उदाहरण दीजिये ।
(९) निम्नस्थ शब्दों की सब विभक्तियों में रूपमाला लिखें—
विश्वसृज्, वाहभ्रश्, रेष्, प्रातरित्वन्, सुगण्, अवावन्, पर्णध्वस् ।
(१०) पारदृश्वन्, राजकृत्वन्, सहयुध्वन् शब्दों का स्त्रीलिङ्ग में क्या रूप बनेगा ? सप्रमाण लिख कर 'अवावरी ब्राह्मणी' पर भी मतभेद का निर्देश करें ।
(११) 'ततो मुँम्' वरदराज के इस वचन की व्याख्या करें ।
(१२) विग्रह दर्शाते हुए ससूत्र सिद्धि करें—
वशंवदः, पण्डितम्मन्यः, अरुन्तुदः, उष्णभोजी, सोमयाजी, जनमेजयः, प्रातरित्वा, विजावा, प्रजा, अवावा, रेट्, सरोजम्, विश्वसृट्, पर्णध्वत् ।
(१३) सूत्रों की व्याख्या करें—
नेड् वशि कृति, सुँप्यजातौ०, अरुर्द्विषदजन्तस्य मुँम्, अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते, दृशेः क्वनिँप्, आत्ममाने खश्च, तत्पुरुषे कृति०, मनः, कर्तर्युपमाने ।

—:०:—

अब कृत्प्रत्ययों में सुप्रसिद्ध निष्ठाप्रकरण का आरम्भ करते हुए सर्वप्रथम निष्ठासंज्ञाविधायक सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्— (८१४) क्त-क्तवतू निष्ठा ।१।१।२५।।

एतौ निष्ठासञ्ज्ञौ स्तः ।।

अर्थः—क्त और क्तवतुँ निष्ठासञ्ज्ञक होते हैं ।

व्याख्या—क्त-क्तवतू ।१।२। निष्ठा ।१।१। क्तश्च क्तवतुँश्च क्त-क्तवतू, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(क्त-क्तवतू) क्त और क्तवतुँ प्रत्यय (निष्ठा) निष्ठासंज्ञक होते हैं। अर्थात् जहां जहां निष्ठा कहा जायेगा वहां वहां क्त और क्तवतुँ प्रत्ययों का ही ग्रहण होगा। यथा—**निष्ठा** (८१५), **रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः** (८१६), **निष्ठायां सेटि** (८२४); **न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्** (२.३.६९) इत्यादि ।

क्त और क्तवतुँ प्रत्ययों का आदि ककार **लशक्वतद्धिते** (१३६) से तथा क्तवतुँ का अन्त्य अनुनासिक उकार **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (२८) सूत्र से इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, अतः 'क्त' का त' और 'क्तवतुँ' का 'तवत्' ही शेष रहता है । ये दोनों प्रत्यय **आर्धधातुकं शेषः** (४०४) से आर्धधातुक हैं और साथ ही वलादि भी हैं अतः इट् की प्राप्ति व निषेध आदि के नियम इन प्रत्ययों पर भी लागू होते हैं । इन में ककार अनुबन्ध गुणवृद्धिनिषेध वा सम्प्रसारण आदि कित्कार्यों के लिये तथा उँकार अनुबन्ध **उगितश्च** (१२४६) आदि उगित्कार्यों के लिये जोड़ा गया है ।

क्त और क्तवतुँ प्रत्ययों की प्रक्रिया में प्रायः कुछ भी अन्तर नहीं होता, दोनों में अवान्तरकार्य एक जैसे होते हैं । क्तान्त शब्द के अन्त मे 'वत्' अधिक जोड़ देने से क्तवतुँप्रत्ययान्त शब्द बन जाता है ।

अब अग्रिमसूत्र में निष्ठाप्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— **(८१५) निष्ठा ।३।२।१०२।।**

भूतार्थवृत्तेर्धातोर्निष्ठा स्यात् । तत्र 'तयोरेव०' (७७०) इति भाव-कर्मणोः क्तः । 'कर्त्तरि कृत्' (७६९) इति कर्त्तरि क्तवतुः । उँकावितौ । स्नातं मया । स्तुतस्त्वया विष्णुः । विश्वं कृतवान् विष्णुः ।।

अर्थः —भूतकालिक अर्थ में धातु से परे निष्ठा हो । **तत्र** —उन में क्तप्रत्यय **तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः** (७७०) सूत्रद्वारा भाव और कर्म में तथा क्तवतुँ प्रत्यय **कर्त्तरि कृत्** (७६९) के अनुसार कर्त्ता अर्थ में होता है । निष्ठाप्रत्ययगत उँकार और ककार इत्संज्ञक हैं ।

व्याख्या—निष्ठा ।१।१। भूते ।७।१। धातोः ।५।१। प्रत्ययः ।१।१। परः ।१।१। (ये चारों अधिकृत हैं) । अर्थः—(भूते) भूतकाल की क्रिया में वर्त्तमान (धातोः) धातु से (परः) परे (निष्ठा) निष्ठा (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है । **क्तक्तवतू निष्ठा** (८१४) से क्त और क्तवतुँ की निष्ठा सञ्ज्ञा कह चुके हैं अतः भूतकाल में धातु से परे क्त और क्तवतुँ प्रत्यय होते हैं । ये दोनों प्रत्यय **कृदतिङ्** (३०२) के अधिकार में पढ़े गये हैं, अतः कृत्संज्ञक हैं । कृत्संज्ञक प्रत्यय **कर्त्तरि कृत्** (७६९) द्वारा कर्त्ता अर्थ में हुआ करते हैं । परन्तु इन में केवल क्तवतुँ प्रत्यय ही कर्त्ता अर्थ में होता है क्तप्रत्यय नहीं । इस का कारण **तयोरेव कृत्य-क्त-खलर्थाः** (७७०) सूत्र है। यह **कर्त्तरि कृत्** (७६९) सूत्र का अपवाद है अतः क्तप्रत्यय (अपवादस्थलों को छोड़ कर) भाव और कर्म में ही होता है । यदि धातु अकर्मक हो तो क्तप्रत्यय भाव में, और यदि धातु सकर्मक हो तो वह कर्म में होगा । परन्तु क्तवतुँ प्रत्यय धातु के सकर्मक वा अकर्मक किसी भी प्रकार का होने पर केवल कर्त्ता में ही होता है । दोनों प्रत्ययों का कारक-विषयक यह भेद हृदयंगम कर लेना चाहिये ।

अकर्मक धातु से क्तप्रत्यय का उदाहरण यथा —

स्नातं मया (मुझ से नहाया गया) । यहां 'स्ना' (ष्णा शौचे अदा० परस्मै० अनिट्) धातु अकर्मक है और भूतकाल के अर्थ में विद्यमान है, अतः प्रकृत **निष्ठा** (८१५) सूत्र से भाव=धात्वर्थ में क्तप्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप तथा **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** (४०१) से प्राप्त इट् का **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (४७५) से निषेध करने पर स्ना+त='स्नात' शब्द निष्पन्न होता है । अद्रव्य होने से भाव में **सामान्ये नपुंसकम्** द्वारा नपुंसकलिङ्ग तथा औत्सर्गिक एकवचन का प्रयोग सम्भव है । अतः कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर प्रथमैकवचन में सुँ प्रत्यय आकर **अतोऽम्** (२३४) से सुँ को अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप एकादेश करने से 'स्नातम्' प्रयोग सिद्ध होता है । अनभिहित या अनुक्त होने से इस कर्त्ता में **कर्तृकरणयोस्तृतीया** (८९५) से तृतीयाविभक्ति हो जाती है । प्रत्यय भाव में किया गया है अतः कर्त्ता के प्रभाव से कृदन्त बिलकुल प्रभावित नहीं होता । स्नातं मया, स्नातं त्वया, स्नातं तेन, स्नातम् आवाभ्याम्, स्नातं युवाभ्याम्, स्नातं ताभ्याम्, स्नातम् अस्माभिः, स्नातं

युष्माभिः, स्नातं तैः—इत्यादि सब अवस्थाओं में 'स्नातम्' अपरिवर्त्तित रहता है। कारण स्पष्ट है कि प्रत्यय भाव में किया गया है कर्त्ता में नहीं। इसी प्रकार—त्वया मयाऽन्येन वा चेष्टितं शयितं कम्पितं लज्जितं सुप्तं वा।

सकर्मक धातु से क्तप्रत्यय का उदाहरण यथा—

स्तुतस्त्वया विष्णुः (तुझ से विष्णु स्तुति किया गया है अर्थात् तू ने विष्णु की स्तुति की है)। यहां स्तु (ष्टुञ् स्तुतौ, अदा० उभय० अनिट्) धातु सकर्मक है अतः भूतकाल में इस धातु से प्रकृत **निष्ठा** (८१५) सूत्रद्वारा कर्म में क्तप्रत्यय हो जाता है—स्तु+क्त=स्तु+त=स्तुत। यहां भी पूर्ववत् इण्निषेध तथा प्रत्यय के कित्त्व के कारण **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से प्राप्त गुण का **क्क्ङिति च** (४३३) से निषेध हो जाता है। यहां प्रत्यय कर्म में हुआ है अतः कर्म (विष्णुः) के अनुसार कृदन्त (स्तुत) से लिङ्ग और वचन हो कर 'स्तुतः' प्रयोग सिद्ध होता है। कर्म के अभिहित या उक्त होने से उस में प्रथमा विभक्ति होती है। कर्त्ता अनभिहित या अनुक्त है, अतः **कर्तृ-करणयोस्तृतीया** (८९५) से उस में तृतीया विभक्ति होती है। प्रत्यय कर्म में हुआ है अतः कृदन्त शब्द पर कर्त्ता का कोई प्रभाव नहीं पड़ता, वह तो कर्म के साथ सम्बद्ध है। यथा—स्तुतस्त्वया विष्णुः, स्तुतो मया विष्णुः स्तुतस्तेन विष्णुः, स्तुतो युवाभ्यां विष्णुः, स्तुतस्ताभ्यां विष्णुः, स्तुतोऽस्माभिर्विष्णुः, स्तुतो युष्माभिर्विष्णुः, स्तुतस्तैर्विष्णुः—इत्यादियों में 'स्तुतः' अक्षुण्ण रहता है। हां कर्म के लिङ्ग वा वचन के परिवर्त्तन के साथ ही उस में भी परिवर्त्तन आ जाता है! यथा—स्तुतस्त्वया देवः, स्तुतौ त्वया देवौ, स्तुतास्त्वया देवाः; स्तुता मया देवी, स्तुते त्वया देव्यौ, स्तुतास्तेन देव्यः; स्तुतं मया कार्यम्, स्तुते त्वया कार्ये, स्तुतानि तेन कार्याणि। इसी प्रकार—त्वया भुक्तं फलम्, मया कृतोऽपराधः, अस्माभिर्नीतो दिवसः, कृष्णेन कंसो हतः, येन धौता गिरः पुंसाम्, लब्धास्तावत् प्राणाः, गङ्गाजललवकणिका पीता, शास्त्राण्यधीतानि, जन्मैव व्यर्थतां नीतम्, तमश्चाज्ञानजं भिन्नम् आदि प्रयोगों में कर्मणि क्त समझ लेना चाहिये।

क्तवतुँ प्रत्यय केवल कर्त्ता में ही होता है। तद्यथा—

विश्वं कृतवान् विष्णुः [विष्णु ने विश्व को बनाया]। यहां भूतकाल के अर्थ में वर्त्तमान 'कृ' [डुकृञ् करणे, तनादि० उभय० अनिट्] धातु से कर्त्ता में क्तवतुँ प्रत्यय कर अनुबन्धों का लोप, इट्-निषेध तथा कित्त्व के कारण आर्धधातुकनिबन्धन गुण का भी निषेध हो कर—कृ+तवत्=कृतवत् यह कृदन्त शब्द निष्पन्न होता है। इस की सुबन्तप्रक्रिया 'धीमत्' शब्द की तरह चलती है। सुँ में **अत्वसन्तस्य चाऽधातोः** (३४३) से उपधादीर्घ, **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** (२८९) से नुँम् का आगम, हल्ङ्यादि-लोप तथा संयोगान्त तकार का भी लोप करने से 'कृतवान्' प्रयोग सिद्ध होता है। यहां कृदन्त कर्त्तानुसारी है अतः कर्त्ता 'विष्णुः' में एकवचन के कारण 'कृतवान्' में भी एकवचन का प्रयोग हुआ है। कर्त्ता के लिङ्ग वा वचन का ही यहां अनुसरण होता है। यथा—विश्वं कृतवान् विष्णुः, विश्वं कृतवती देवी, विश्वं कृतवन्तो देवाः, तौ कार्यं

कृतवन्तौ, भाग्यं कृतवत् जगत् आदि । ध्यान रहे कि क्तवतुँप्रत्ययान्त कृदन्त प्रातिपदिक हैं अतः इन के प्रयोग में पुरुषव्यवस्था का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता । पुरुषव्यवस्था धातुओं के लिये है, न कि प्रातिपदिकों के लिये । तात्पर्य यह है कि यहां कर्त्ता चाहे युष्मद् अस्मद् या कुछ अन्य भी क्यों न हो क्तवत्वन्त को इस से कुछ अन्तर नहीं पड़ता; उस पर प्रभाव केवल कर्त्ता के वचन का ही पड़ता है । कर्तृवचन के एकत्व के कारण क्तवत्वन्त में एकवचन, द्वित्व के कारण द्विवचन और बहुत्व के कारण बहुवचन का प्रयोग होता है । यथा—अहं फलं खादितवान् (अस्मि); त्वं फलं खादितवान् (असि); स फलं खादितवान् (अस्ति) । आवां फलं खादितवन्तौ (स्वः); युवां फलं खादितवन्तौ (स्थः); तौ फलं खादितवन्तौ (स्तः) । वयं फलं खादितवन्तः (स्मः); यूयं फलं खादितवन्तः (स्थ); ते फलं खादितवन्तः (सन्ति)[१] ।

क्तवतु के कर्त्रर्थक होने से कर्म अनभिहित या अनुक्त रहता है अतः उस में **कर्मणि द्वितीया** (८९१) से द्वितीया विभक्ति होती है । यहां कृद्योग में **कर्तृकर्मणोः कृति** (२.३.३५) से प्राप्त षष्ठी का **न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्** (२.३.६९) से निषेध हो जाता है ।

क्त और क्तवतुँ प्रत्ययान्त शब्दों की तालिका इस प्रकरण के अन्त में देंगे । अब इन प्रत्ययों के होने से कुछ अवान्तर परिवर्त्तनों के लिये सूत्रों का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८१६) रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः ।८।२।४२।।

रदाभ्यां परस्य निष्ठातस्य नः स्यात्, निष्ठापेक्षया पूर्वस्य धातोर्दस्य च । शॄ हिंसायाम्, 'ॠत इद्०' (६६०) । रपरः । णत्वम् । शीर्णः । भिन्नः । छिन्नः ।।

अर्थः—रेफ या दकार से परे निष्ठा के तकार को नकार आदेश हो और निष्ठा से पूर्व धातु के दकार को भी नकार आदेश हो ।

व्याख्या—रदाभ्याम् ।५।२। निष्ठातः ।६।१। नः ।१।१। (नकारादकार उच्चारणार्थः) । पूर्वस्य ।६।१। च इत्यव्ययपदम् । दः ।६।१। रश्च दश्च रदौ, ताभ्याम्=रदाभ्याम्, इतरेतरद्वन्द्वः । निष्ठायाः त्=निष्ठात्, तस्य=निष्ठातः, षष्ठीतत्पुरुषः । 'पूर्वस्य' में प्रयुक्त 'पूर्व' शब्द सापेक्ष है । किस से पूर्व ? इस जिज्ञासा में निकट प्रयुक्त निष्ठा का ही ग्रहण हो कर 'निष्ठा से पूर्व दकार के स्थान पर' ऐसा उपलब्ध हो जाता है । इस प्रकार का दकार धातु का ही सम्भव हो सकता है । अर्थः—

---

१. संक्षेपरुचिर्लोकः (लोग बोलते समय संक्षेप में ही रुचि रखते हैं) इस न्याय के अनुसार इन स्थानों पर 'अस्ति' आदि का प्रयोग छोड़ दिया जाता है परन्तु अर्थ गम्यमान रहता है । ध्यान रहे कि 'एकतिङ् वाक्यम्' के अनुसार तिङन्त के विना वाक्य अपूर्ण रहता है अतः वाक्य में तिङन्त का होना आवश्यक है ।

(रदाभ्याम्) रेफ या दकार से परे (निष्ठात:) निष्ठा के त् के स्थान पर (न:) न् आदेश हो जाता है, किञ्च (पूर्वस्य) निष्ठा से पूर्व धातु के (द:) द् के स्थान पर (च) भी न् आदेश हो जाता है ।

तात्पर्य यह है कि इस सूत्र से दो कार्य विधान किये जाते हैं—

(१) यदि धातु के अन्त्य रेफ से परे क्त और क्तवतुँ का अव्यवहित तकार हो तो उसे नकार आदेश हो जाता है ।

(२) यदि धातु के अन्त्य दकार से परें क्त और क्तवतुँ का अव्यवहित तकार हो तो उसे तथा स्वयं दकार को भी नकार आदेश हो जाता है ।

क्रमश: उदाहरण यथा—

शीर्ण: [हिंसा किया गया, मारा गया, नष्ट किया गया, बिखेरा गया, ध्वस्त किया गया]। शॄ हिंसायाम् (क्र्या० परस्मै० सेट्) धातु से भूतकाल में **निष्ठा** (८१५) सूत्र से कर्मणि क्तप्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप, **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** (४०१) से प्राप्त इट् का **श्र्युक: किति** (६५०) से निषेध, **सार्वधातुकार्धधातुकयो:** (३८८) से प्राप्त गुण का भी **क्क्ङिति च** (४३३) से वारण हो कर **ॠत इद् धातो:** (६६०) से धातु के ॠकार को इत्व, **उरण्रपर:** (२९) से रपर तथा **हलि च** (६१२) से रेफान्त की उपधा को दीर्घ करने पर—शीर्+त । अब **रदाभ्यां निष्ठातो न: पूर्वस्य च द:** (८१६) इस प्रकृतसूत्र से रेफ से परे निष्ठा के त् को न् आदेश तथा **रषाभ्यां नो ण: समानपदे** (२६७) द्वारा नकार को भी णकार आदेश करने पर—शीर्ण । पुन: प्रथमा के एकवचन में सुँ, रुँत्व और रेफ को विसर्ग आदेश हो कर 'शीर्ण:' प्रयोग सिद्ध होता है । कर्त्ता में क्तवतुँ प्रत्यय करने पर भी इसी तरह 'शीर्णवान्' प्रयोग सिद्ध होगा । इसी तरह जॄ से—जीर्ण:, जीर्णवान्; तॄ से तीर्ण:, तीर्णवान्; नि √गॄ से—निगीर्ण:, निगीर्णवान् आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं ।

दकार से परे निष्ठा के तकार का उदाहरण यथा—

भिन्न:, छिन्न: [तोड़ा गया, काटा गया]। 'भिदिर् विदारणे' (रुधा० उभय० अनिट्) तथा 'छिदिर् द्वैधीकरणे' (रुधा० उभय० अनिट्) धातुएं सकर्मक हैं। अत: **निष्ठा** (८१५) सूत्रद्वारा इन से परे कर्म में क्तप्रत्यय करने पर—भिद्+त, छिद्+त । इट् आगम का **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (४७५) से निषेध हो जाता है । कित्त्व के कारण लघूपधगुण भी नहीं होता । अब प्रकृत **रदाभ्यां निष्ठातो न: पूर्वस्य च द:** (८१६) सूत्र द्वारा दकार से परे तकार को नकार तथा पूर्व दकार को भी न् आदेश करने से—भिन्न, छिन्न । विभक्ति लाने से—'भिन्न:, छिन्न:' प्रयोग सिद्ध होते हैं । कर्त्ता में क्तवतुँ लाने से भी इसी प्रकार प्रक्रिया हो कर विभक्ति कार्य करने से—'भिन्नवान्, छिन्नवान्' प्रयोग सिद्ध होते हैं । इसी प्रकार खिद् से—खिन्न:, खिन्नवान्; क्षुद् से क्षुण्ण:, क्षुण्णवान् (**अट्कुप्वाङ्०, ष्टुना ष्टु:**); उद् √पद् से—उत्पन्न:, उत्पन्नवान्; प्र √सद् से—प्रसन्न:, प्रसन्नवान् आदि रूप बनते हैं ।

सूत्र में 'रदाभ्याम्' कहने से 'कृतः कृतवान्' आदि में तकार को नकार आदेश नहीं होता।

'निष्ठातः' कहने से 'कर्ता, हर्ता' आदि में तृच् के तकार को नकार आदेश नहीं होता।

चरितम्, चरितवान्, मुदितम्, मुदितवान् आदियों में रेफ और दकार से परे निष्ठा का तकार अव्यवहित नहीं, बीच में इट् का व्यवधान पड़ता है अतः प्रकृतसूत्र से नत्व नहीं होता।

मद् (मदीँ हर्षे) धातु का निष्ठा में 'मत्तः, मत्तवान्' बनता है। **श्वीदितो निष्ठायाम्** (७.२.१४) से इट् का निषेध हो जाता है। यहां प्रकृतसूत्र से प्राप्त नत्व का भी **न ध्या-ख्या-पॄ-मूर्च्छि-मदाम्** (८.२.५७) से निषेध हो जाता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(८१७) संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः ।८।२।४३॥**

निष्ठातस्य नः स्यात्। द्राणः। ग्लानः॥

अर्थः—संयोग जिस के आदि में हो ऐसी आकारान्त यण्वान् धातु से परे निष्ठा के तकार को नकार आदेश हो।

व्याख्या—संयोगादेः।५।१। आतः।५।१। धातोः।५।१। यण्वतः।५।१। निष्ठातः।६।१। नः।१।१। (**रदाभ्यां निष्ठातो नः०** से)। संयोग आदिर्यस्य स संयोगादिस्तस्मात् संयोगादेः। बहुव्रीहिसमासः। यण् अस्यास्तीति यण्वान्, तस्माद् यण्वतः। **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्** (५.२.९४) इति मतुप्, **मादुपधायाश्च०** (१०६२) इति मतुपो मकारस्य वकारः। निष्ठायाः त् निष्ठात्, तस्य निष्ठातः। षष्ठीतत्पुरुषः। 'आतः' यह 'धातोः' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर—'आदन्ताद् धातोः' बन जाता है। अर्थः—(संयोगादेः) संयोग जिस के आदि में है ऐसी जो (यण्वतः) यण्-वाली (आतः=आदन्ताद् धातोः) आकारान्त धातु, उस से परे (निष्ठातः) निष्ठा के त् के स्थान पर (नः) न् आदेश हो जाता है।

इस सूत्र द्वारा उस धातु से परे निष्ठा के तकार को नकार आदेश किया जाता है जो तीन शर्तें पूरी करती हो—

(१) उस धातु के आदि में संयोग हो।

(२) उस धातु में कोई यण् (य्, व्, र्, ल्) वर्ण पाया जाये।

(३) वह धातु आकारान्त हो।

इन में से किसी एक शर्त के भी पूरा न होने पर नत्व न होगा। उदाहरण यथा—

द्राणः (कुत्सित, कृच्छ्रापन्न, दुर्गत)। द्रा कुत्सायां गतौ (अदा०, परस्मै० अनिट्) धातु से भूतकाल में निष्ठाप्रत्यय क्त आ कर 'द्रा+त' हुआ। धातु के एकाच् अनुदात्त होने से इट् का निषेध (४७५) हो जाता है। यहां 'द्रा' यह संयोगादि आकारान्त धातु है इस में यण् वर्ण (र्) भी विद्यमान है अतः **संयोगादेरातो धातो-**

यण्वतः (८१७) इस प्रकृत सूत्र से निष्ठा के तकार को नकार आदेश हो कर **अट्-कुप्वाङ्०** (१३८) से नकार को णकार करने से—द्राण। विभक्ति ला कर 'द्राणः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार कर्त्ता में क्तवतु प्रत्यय करने से 'द्राणवान्' प्रयोग बनेगा।

ग्लानः (खिन्न, दुःखी)। यहां ग्लै हर्षक्षये (भ्वा० परस्मै० अनिट्) धातु से निष्ठाप्रत्यय 'क्त' की विवक्षामात्र में **आदेच उपदेशेऽशिति** (४९३) द्वारा धातु के ऐकार को आकार आदेश कर 'क्त' प्रत्यय लाने से—ग्ला+त। धातु के अनुदात्त होने से इट् का आगम नहीं होता। अब यहां 'ग्ला' यह संयोगादि आकारान्त धातु है इस में यण् (ल्) वर्ण भी विद्यमान है अतः प्रकृतसूत्र से निष्ठा के तकार को नकार आदेश हो कर विभक्तिकार्य करने से 'ग्लानः' प्रयोग सिद्ध होता है। क्तवतु में—ग्लानवान्। इसी तरह म्लै हर्षक्षये से—म्लानः, म्लानवान्; श्रा पाके से—श्राणः, श्राणवान् आदि बनेंगे।

इस सूत्र में 'संयोगादेः' कहने से—यातः, यातवान् आदि में नत्व नहीं होगा।
'आतः' कहने से—च्युतः, च्युतवान् आदि में नत्व नहीं होता।
'यण्वतः' कहने से—स्नातः, स्नातवान् आदि में नत्व नहीं होता।

ध्यै—ध्यातः, ध्यातवान्; ख्या—ख्यातः, ख्यातवान् इत्यादि प्रयोगों में इस सूत्र से प्राप्त नत्व का **न ध्या-ख्या-पॄ-मूर्च्छि-मदाम्** (८.२.५७) सूत्र से निषेध हो जाता है। इसी प्रकार मद् (मदी हर्षे, दिवा० परस्मै० सेट्)—मत्तः, मत्तवान्[1] में **रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः** (८१६) से प्राप्त नत्व का भी इसी सूत्र से निषेध हो जाता है।

नोट—ध्यान रहे कि 'द्रा' और 'ग्ला' (ग्लै) अकर्मक धातुएं हैं अतः **तयोरेव कृत्य-क्त-खलर्थाः** (७७०) नियम के अनुसार इन से कर्म में क्त प्रत्यय सम्भव नहीं, वह केवल भाव में ही हो सकता है। परन्तु यदि यहां मूल में भाव में प्रत्यय किया गया होता तो 'द्राणः, ग्लानः' इस प्रकार पुंलिङ्गनिर्देश न होता क्योंकि भाव में तो केवल नपुंसकलिङ्ग का ही प्रयोग होता है। अतः इन स्थानों पर **गत्यर्थाकर्मक-श्लिष-शीङ्-स्था-ऽऽस-वस-जन-रुह-जीर्यतिभ्यश्च** (३.४.७२) सूत्र से कर्त्ता अर्थ में ही क्तप्रत्यय का विधान समझना चाहिये। गत्यर्थक धातु, अकर्मक धातु, श्लिष्, शीङ्, स्था, आस्, वस्, जन्, रुह् और जॄ धातुओं से भूतकाल में भाव-कर्म के अतिरिक्त कर्त्ता अर्थ में भी क्त प्रत्यय हुआ करता है। यथा—(गत्यर्थक) देवदत्तो ग्रामं गतः। (अकर्मक) ग्लानो देवदत्तः, म्लाना लता, भ्रान्तोऽसि, शयितः शिशुः, स्थितोऽस्मि। श्लिष् आदि भी अकर्मक धातुएं हैं इन का सूत्र में पुनरुल्लेख इन के उपसर्गवशात् सकर्मक हो जाने पर भी कर्त्ता में क्त-प्रत्यय के विधान के लिये किया गया है। तद्यथा—(श्लिष्) उपश्लिष्टा वत्सं वानरी; (शीङ्) उपशयितो गुरुं देवदत्तः—देवदत्त गुरु के पास सोया;

---

१. **श्वीदितो निष्ठायाम्** (७.२.१४) से यहां इट् का निषेध हो जाता है। सूत्र का अर्थ—टुओँश्वि तथा ईदित् धातु से परे निष्ठा को इट् आगम नहीं होता।

(स्था) उपस्थितो गुरुं भवान्—आप गुरु के समीप उपस्थित हुए; (आस्) उपासितो गुरुं देवदत्तः—देवदत्त ने गुरु की उपासना की; (वस्) अनूषितो गुरुं देवदत्तः—देवदत्त गुरु के पास रहा; (जन्) अनुजातः कन्यां पुत्रः—कन्या के बाद पुत्र पैदा हुआ; (रुह्) आरूढो वृक्षं देवदत्तः—देवदत्त वृक्ष पर चढ़ा; (जॄ) अनुजीर्णो वृषलीं देवदत्तः—देवदत्त वृषली के पीछे जीर्ण हो गया। इन सब में कर्त्तरि 'क्त' हुआ है। इन से भाव और कर्म में भी यथासम्भव क्त होता है। इस के उदाहरण काशिकादि में देखें।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(८१८) ल्वादिभ्यः ।८।२।४४।।**

एकविंशतेर्लूञादिभ्यः[1] प्राग्वत्। लूनः। ज्या धातुः। ग्रहिज्या० (६३४) इति सम्प्रसारणम्।।

अर्थ—लूञ् आदि इक्कीस धातुओं से परे निष्ठा के तकार के स्थान पर नकार आदेश हो।

व्याख्या—ल्वादिभ्यः ।५।३। निष्ठातः ।६।१। नः ।१।१। (**रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः** से)। लू आदिर्येषां ते ल्वादयस्तेभ्यो ल्वादिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः। निष्ठायाः त् निष्ठात्, तस्य निष्ठातः, षष्ठीतत्पुरुषः। अर्थः—(ल्वादिभ्यः) लू आदियों से परे (निष्ठातः) निष्ठा के त् के स्थान पर (नः) न् आदेश होता है।

---

१ 'विंशति' से 'नवनवति' पर्यन्त सब शब्द स्त्रीलिङ्ग में तथा शत, सहस्र आदि शब्द नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं। विंशति आदि शब्दों का दो प्रकार से प्रयोग किया जाता है—(१) संख्येय या विशेषणरूप से। (२) केवल संख्यारूप से। जब इन शब्दों का विशेष्य के साथ सामानाधिकरण्य होता है तब विशेषणरूप से प्रयुक्त ये शब्द संख्येय माने जाते हैं। यथा—विंशतिर्गावः (बीस गौएं), त्रिंशच्छात्राः (तीस विद्यार्थी), पञ्चाशत् फलानि (पचास फल), विंशतये गोभ्यः (बीस गौओं के लिये), त्रिंशता छात्रैः (तीस छात्रों के द्वारा)। इस स्थिति में ये शब्द स्त्रीलिङ्ग तथा नित्य एकवचनान्त होते हैं। विशेष्य के अनुसार केवल इन की विभक्ति ही बदलती है वचन नहीं। परन्तु जब इन का विशेष्य के साथ सामानाधिकरण्य नहीं होता तब ये संख्येय को न कह कर केवल संख्या को ही कहते हैं। इस अवस्था में इन का सब वचनों में प्रयोग किया जाता है परन्तु लिङ्ग तब भी स्त्रीलिङ्ग ही रहता है। यथा—ब्राह्मणानां विंशतिः (ब्राह्मणों का एक बीसा), छात्राणां द्वे विंशती (छात्रों के दो बीसे), तिस्रो विंशतयो गवाम् (गौओं के तीन बीसे) आदि। ऊपर मूल में 'एकविंशतेर्लूञादिभ्यः' इस स्थल पर 'एकविंशति' शब्द का संख्येयरूप में प्रयोग हुआ है।

विंशत्याद्याः सदैकत्वे सर्वाः संख्येय-संख्ययोः।
संख्यार्थे द्विबहुत्वे स्तस्तासु चानवतेः स्त्रियः।। (अमरकोष २.९.८३)

ल्वादि इक्कीस धातुएं हैं जो पाणिनीय धातुपाठ के क्र्यादिगण में 'वृत्' द्वारा बताई गई हैं[1] । उदाहरण यथा—

लूनः (काटा हुआ) । यहां 'लूञ् छेदने' (काटना; क्र्या० उभय० सेट्) धातु से भूतकाल में **निष्ठा** (८१५) द्वारा कर्म में क्त प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप करने पर —लू+त । **श्र्युकः किति** (६५०) से इट् का निषेध तथा प्रत्यय के कित्त्व के कारण **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से प्राप्त गुण का भी निषेध हो जाता है । अब प्रकृत **ल्वादिभ्यः** (८१८) सूत्र से क्त के तकार को नकार आदेश हो कर—लून । विभक्ति लाने से—लूनः । इसी तरह कर्त्ता में क्तवतु प्रत्यय करने पर—'लूनवान्' (काट चुका) बनेगा ।

अन्य उदाहरण यथा—ज्या वयोहानौ (बूढ़ा होना; क्र्या० परस्मै० अनिट्०; ल्वाद्यन्तर्गत) धातु से भूतकाल में कर्त्ता में निष्ठाप्रत्यय क्त करने पर—ज्या+त । **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (४७५) से इण्निषेध हो कर प्रत्यय के कित्त्व के कारण **ग्रहिज्या०** (६३४) सूत्रद्वारा 'ज्या' के यकार को सम्प्रसारण इकार किया तो—ज् इ आ+त । **सम्प्रसारणाच्च** (२५८) से पूर्वरूप एकादेश—जि+त । इस स्थिति में **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से प्राप्त गुण का **क्ङिति च** (४३३) से निषेध हो जाता है । अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८१९) हलः ।६।४।२॥

अङ्गावयवाद् हलः परं यत् सम्प्रसारणं तदन्तस्य दीर्घः । जीनः ॥

अर्थः—अङ्ग के अवयव हल् से परे जो सम्प्रसारण, तदन्त अङ्ग के स्थान पर दीर्घ हो जाता है ।

व्याख्या—हलः ।५।१। सम्प्रसारणस्य ।६।१। [**सम्प्रसारणस्य** (६.३.१३९) से] दीर्घः ।१।१। (**ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** से) । अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है) । **अङ्गस्य** इस अधिकृत की आवृत्ति की जाती है । एक 'अङ्गस्य' अवयवावयविभाव से 'हलः' के साथ सम्बद्ध हो जाता है—अङ्गस्यावयवो यो हल् तस्मात् । दूसरे 'अङ्गस्य' का 'सम्प्रसारणस्य' यह विशेषण है, अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'सम्प्रसारणान्तस्य

---

१. पीछे **प्वादीनां ह्रस्वः** (६९०) सूत्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में हम ने प्वादिगण का सार्थ विवेचन किया है । उस में यदि प्रथम पूञ् धातु को छोड़ दें तो शेष सब ल्वादिगणान्तर्गत हो जाती हैं । वहां पर चौबीस धातुएं गिनाई गई थीं, पूञ् को छोड़ देने से इस प्रकार तेईस (२३) धातुएं ल्वादियों के अन्तर्गत आ जाती हैं । यहां मूल में जो 'एकविंशतेर्लूनादिभ्यः' कहा गया है वह वहां 'जॄ वयोहानौ' धातु के दो पाठ भेदों (भॄ, धॄ) को छोड़ देने के कारण समझना चाहिए । यदि उन पाठभेदों को भी पृथक् पृथक् धातु मान लें तो प्वादिगण में चौबीस और ल्वादिगण में तेईस धातु होंगी । अन्यथा प्वादिगण में बाईस और ल्वादिगण में इक्कीस धातुएं समझी जायेंगी ।

अङ्गस्य' बन जाता है। अर्थः--- (अङ्गस्य) अङ्ग का अवयव (हलः) जो हल् उस से परे (सम्प्रसारणस्य = सम्प्रसारणान्तस्य) जो सम्प्रसारण, तदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ हो जाता है। **अचश्च** (१.२.२८) और **अलोऽन्त्यस्य** (२१) परिभाषाओं द्वारा यह दीर्घ अन्त्य अच् अर्थात् सम्प्रसारण के अच् को ही होगा। उदाहरण यथा—

प्रकृत में 'जि+त' यहां जकार=हल् अङ्ग का अवयव है। इस से परे 'इ' यह सम्प्रसारण है अतः तदन्त अङ्ग 'जि' के अन्त्य इकार को दीर्घ हो कर—जी+त। अब **ल्वादिभ्यः** (८१८) सूत्र से क्त के तकार को नकार आदेश हो कर विभक्ति लाने से 'जीनः' (जीर्ण हो चुका, बूढ़ा) प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार क्तवतु प्रत्यय में 'जीनवान्' (जीर्ण हो चुका, बूढ़ा) प्रयोग बनेगा।

इस सूत्र में 'हलः' को 'अङ्गस्य' के साथ इस लिये सम्बद्ध किया गया है कि 'दुरुतम्' 'दुरुतवान्' यहां दुर् उपसर्ग के हल् रेफ से परे वेञ् धातु के सम्प्रसारण उकार को दीर्घ न हो जाये।

'हलः' इस लिये कहा है कि 'उतः उतवान्' इत्यादियों में बिना हल् से परे वेञ् धातु के सम्प्रसारण उकार को दीर्घ न हो जाये।

'तदन्तस्य' इसलिये कहा है कि ('विद्धः' बींधा गया, व्यध्+क्त; **ग्रहिज्ये**ति सम्प्रसारणे धत्व-जश्त्वे) आदि में जहां सम्प्रसारणान्त अङ्ग नहीं वहां दीर्घ न हो जाये।

[लघु०] विधिसूत्रम्— **(८२०) ओदितश्च ।८।२।४५।।**

भुजो— भुग्नः । टुओँश्वि—उच्छूनः ।।

अर्थः— ओदित् (ओकार जिसका इत् है ऐसी) धातु से परे निष्ठा के तकार को नकार आदेश होता है।

व्याख्या—ओदितः ।५।१। च इत्यव्ययपदम् । निष्ठातः ।६।१। नः ।१।१। (**रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः** से)। ओद् (ओकारः) इद् यस्य स ओदित्, तस्माद् ओदितः, बहुव्रीहिसमास.। निष्ठायाः त् निष्ठात्, तस्य निष्ठातः, षष्ठीतत्पुरुषः। निष्ठा का धातु से ही विधान किया गया है अतः 'ओदितः' से ओदित् धातु का ही ग्रहण होता है। अर्थः —(ओदितः) ओकार जिस का इत् है ऐसी धातु से परे (निष्ठातः) निष्ठा के त् के स्थान पर (नः) न् आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—

भुग्नः (टेढ़ा किया गया, मरोड़ा गया)। भुजोँ कौटिल्ये (तुदा० परस्मै० अनिट्) धातु का ओकार **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (२८) से इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, भुज् मात्र अवशिष्ट रहता है। इस प्रकार यह धातु ओदित् है। इस ओदित् धातु से भूतकाल में **निष्ठा** (८१५) सूत्रद्वारा कर्म में क्त प्रत्यय करने पर —भुज्+त। धातु के अनुदात्त होने से इट् का निषेध हो जाता है। अब प्रकृत **ओदितश्च** (८२०) सूत्र से क्त के तकार को नकार आदेश तथा इस नत्व के असिद्ध होने से झल् (त्) वर्ण के परे रहते **चोः कुः** (३०६) सूत्र द्वारा भुज् के जकार को कुत्वेन गकार आदेश

कर विभक्ति लाने से 'भुग्नः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी तरह कर्त्ता में क्तवतु प्रत्यय करने पर 'भुग्नवान्' की सिद्धि होती है।

दूसरा उदाहरण यथा—उच्छूनः (फूला हुआ, सूजा हुआ)। टुओँश्वि गतिवृद्ध्योः (गमन करना, बढ़ना-फूलना-सूजना; भ्वा० परस्मै० सेट्) धातु के 'टु' और 'ओँ' अनुबन्धों का लोप हो कर 'श्वि' मात्र अवशिष्ट रहता है। उद्पूर्वक 'श्वि' धातु से भूतकाल में कर्ता अर्थ में निष्ठाप्रत्यय 'क्त' के लाने से—उद् √श्वि + त। धातु सेट् है परन्तु **श्वीदितो निष्ठायाम्** (७.२.१४) द्वारा इट् का निषेध हो जाता है। अब **वचिस्वपियजादीनां किति** (५४७) से यजाद्यन्तर्गत श्वि के वकार को सम्प्रसारण उकार हो कर **सम्प्रसारणाच्च** (२५८) से पूर्वरूप एकादेश हो जाता है—उद् √शु + त। पुनः **हलः** (८१६) सूत्र से उकार को दीर्घ तथा प्रकृत **ओदितश्च** (८२०) से निष्ठा के तकार को नकार आदेश करने पर—उद् √शून। अब **स्तोः श्चुना श्चुः** (६२) से दकार को जकार **खरि च** (७४) से उसे चकार तथा **शश्छोऽटि** (७६) से वैकल्पिक छत्व करने से—उच्छून, उच्शून। विभक्ति ला कर 'उच्छूनः, उच्शूनः' प्रयोग सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार कर्त्रर्थ में क्तवतु प्रत्यय लाने से—उच्छूनवान्, उच्शूनवान् (फूला हुआ, सूजा हुआ) की सिद्धि होती है।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

(१) रुज् (रुजोँ रोगे)—रुग्णः रुग्णवान्।
(२) विज् (ओँविजीँ भयचलनयोः)—उद्विग्नः। उद्विग्नवान्।
(३) हा (ओँहाक् त्यागे) हीनः, हीनवान् [**घुमास्था०** (५८०) से ईत्व]।
(४) व्रश्च् (ओँव्रश्चूँ छेदने)—वृक्णः, वृक्णवान् [**ग्रहिज्येति** (६३४) सम्प्रसारणे, पूर्वरूपे (२५८) **स्कोः०** (३०९) इतिसंयोगादिलोपे कुत्वे नत्वे च रूपसिद्धिः]।

नोट—स्वादय ओदितः यह दिवादिगण के अन्तर्गत एक गणसूत्र है। इस का अभिप्राय यह है कि दिवादिगणान्तर्गत 'षूङ् प्राणिप्रसवे' धातु से ले कर 'व्रीङ् वृणोत्यर्थे' धातु तक सब धातु ओदित् न होते हुए भी ओदित् समझने चाहियें। इस अतिदेश के कारण इन धातुओं से परे भी **ओदितश्च** (८२०) सूत्रद्वारा निष्ठा के तकार को नकार आदेश हो जाता है। यथा—षूङ् प्राणिप्रसवे—सूनः, सूनवान्; दूङ् परितापे दूनः, दूनवान्; डीङ् विहायसा गतौ—डीनः, डीनवान्।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८२१) **शुषः कः** ।८।२।५१॥

निष्ठातस्य कः। शुष्कः॥

अर्थः शुष् (सूखना) धातु से परे निष्ठा के तकार को ककार आदेश हो जाता है।

व्याख्या—शुषः ।५।१। कः ।१।१। (ककारादकार उच्चारणार्थः)। निष्ठातः। ६।१। (**रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः** से)। अर्थः—(शुषः) शुष् धातु से परे

(निष्ठातः) निष्ठा के त् के स्थान पर (कः) 'क्' आदेश होता है। उदाहरण यथा—

शुष्कः (सूखा हुआ)। शुष शोषणे (सूखना; दिवा० परस्मै० अनिट्) धातु अकर्मक है अतः इस से भूतकाल में कर्तरि क्त प्रत्यय हो जाता है—शुष्+त। अब **ष्टुना ष्टुः** (६४) सूत्र से प्राप्त ष्टुत्व के त्रिपादी में पर होने से असिद्ध होने के कारण प्रकृत **शुषः कः** (८२१) सूत्रद्वारा निष्ठा के तकार को ककार आदेश हो कर—शुष्+क् अ=शुष्क। विभक्ति लाने से 'शुष्कः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी अर्थ में क्तवतु प्रत्यय करने पर 'शुष्कवान्' प्रयोग बनेगा।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(८२२) पचो वः।८।२।५२॥**

पक्वः। क्षै क्षये[1]—

अर्थः—पच् धातु से परे निष्ठा के तकार को वकार आदेश हो।

व्याख्या—पचः।५।१। वः।१।१। (वकारादकार उच्चारणार्थः)। निष्ठातः। ६।१। (**रदाभ्यां निष्ठातो नः०** से)। अर्थः—(पचः) पच् धातु से परे (निष्ठातः) निष्ठा के त् के स्थान पर (वः) व् आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—

पक्वः (पकाया गया)। पच् (डुपचँष् पाके; भ्वा० उभय० अनिट्) धातु से भूतकाल में **निष्ठा** (८१५) सूत्रद्वारा कर्मणि क्त (त) प्रत्यय करने पर 'पच्+त' इस स्थिति में प्रकृत **पचो वः** (८२२) सूत्र से निष्ठा के तकार को वकार आदेश हो कर 'पच्+व' बना। अब प्रकृत वत्व के त्रिपादी में परत्वेन असिद्ध होने के कारण झल् वर्ण (त्) के परे होने से **चोः कुः** (३०६) सूत्र द्वारा पच् के चकार को कुत्व=ककार करने पर विभक्ति ला कर 'पक्वः' प्रयोग सिद्ध होता है। पक्वः सूपः, पक्व-मन्नम्, पक्वा यवागूः। इसी प्रकार कर्त्ता में क्तवतु प्रत्यय करने पर 'पक्ववान्' (पका चुका) प्रयोग सिद्ध होता है।

पक्वं फलम् (पका हुआ फल) इत्यादियों में कर्मकर्तृविवक्षा में क्त प्रत्यय का प्रयोग समझना चाहिये।

क्षै क्षये (क्षीण होना, कमजोर होना; भ्वा० प० अनिट्) धातु अकर्मक है अतः **गत्यर्थाकर्मक-श्लिष-शीङ्-स्थास-वस-जन-रुह-जीर्यतिभ्यश्च** (३.४.७२) सूत्र से कर्त्ता अर्थ में भूतकाल में क्त प्रत्यय करने में **आदेच उपदेशेऽशिति** (४९३) से धातु के ऐकार को आकार आदेश हो जाता है। धातु के अनुदात्त होने से इट् का निषेध हो कर 'क्षा+त' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(८२३) क्षायो मः।८।२।५३॥**

क्षामः॥

अर्थः—क्षै (क्षीण होना) धातु से परे निष्ठा के तकार को मकार आदेश होता है।

---

१. लघुसिद्धान्तकौमुदी के अनेक संस्करणों में 'क्षै हर्षक्षये' ऐसा अशुद्ध पाठ मिलता है, यहां का शुद्ध पाठ 'क्षै क्षये' ही है। 'ग्लै म्लै हर्षक्षये' की वासना से कुछ लोग ऐसी अशुद्धि कर देते हैं।

व्याख्या—क्षाय: ।५।१। म: ।१।१। (मकारादकार उच्चारणार्थ:) । निष्ठात: । ६।१। (**रदाभ्यां निष्ठातो न: पूर्वस्य च द:** से) अर्थ:—(क्षाय:) क्षै धातु से परे (निष्ठात:) निष्ठा के त् के स्थान पर (म:) म् आदेश हो जाता है । उदाहरण यथा—

'क्षा+त' इस दशा में प्रकृतसूत्र से निष्ठा के त् को म् आदेश हो कर विभक्ति लाने से 'क्षाम:' (क्षीण, कमजोर, कृश) प्रयोग सिद्ध होता है । क्षुधा क्षाम:—क्षुत्क्षाम:, तृतीयातत्पुरुष; भूख से क्षीण । **क्षामच्छायं भवनमधुना मद्वियोगेन नूनम्** (मेघ० ३.१७)। इसी तरह कर्ता में क्तवतु प्रत्यय करने पर—'क्षामवान्' प्रयोग सिद्ध होता है । इस का अर्थ भी वही है ।

भू सत्तायाम् (भ्वा० परस्मै० सेट्) धातु अकर्मक है अत: इस से क्त प्रत्यय भाव में या कर्त्ता में हो कर **श्रयुक: क्किति** (६५०) से इट् का निषेध होता है—तेन भूतम्, स भूत: । अनुपूर्वक यह धातु सकर्मक हो जाती है तब इस से कर्म में भी क्त हो जाता है । यथा—तेन दु:खमनुभूतम् ।

'भू' धातु से हेतुमण्णिच् में **हेतुमति च** (७००) सूत्रद्वारा णिच् प्रत्यय के णित्त्व के कारण **अचो ञ्णिति** (१८२) से अजन्तलक्षणा वृद्धि औकार तथा **एचोऽयवायाव:** (२२) से औकार को. आव् आदेश हो कर 'भावि' यह णिजन्त रूप निष्पन्न होता है । अब **सनाद्यन्ता धातव:** (४६८) से इस की धातुसंज्ञा हो जाती है । 'भावि' यह सकर्मक धातु है । इस से भूतकाल में **निष्ठा** (८१५) सूत्रद्वारा कर्मणि क्तप्रत्यय हो कर—भावि+त । धातु के अनेकाच् होने के कारण सेट् होने से **आर्धधातुकस्येड् वलादे:** (४०१) से इट् का आगम हो जाता है—भावि+इत । अब यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८२४) निष्ठायां सेटि ।६।४।५२।।

णेर्लोप: । भावित: । भावितवान् । दृह हिंसायाम्—

अर्थ:—इट्युक्त निष्ठा परे हो तो णि का लोप हो जाता है ।

व्याख्या—निष्ठायाम् ।७।१। सेटि ।७।१। णे: ।६।१। (**णेरनिटि** से) । लोप: । १।१। (**अतो लोप:** से) । इटा सह वर्त्तत इति सेट्, तस्मिन् सेटि । बहुव्रीहिसमास: । अर्थ:—(सेटि निष्ठायाम्) सेट् निष्ठा परे होने पर (णे:) णि का (लोप:) लोप हो जाता है । ध्यान रहे कि इट् परे होने से **णेरनिटि** (५२६) द्वारा णि का लोप प्राप्त नहीं था, अत: इस से विधान किया गया है । उदाहरण यथा—

प्रकृत में 'भावि+इत' यहां सेट् निष्ठा परे है अत: **निष्ठायां सेटि** (८२४) सूत्र से णि (इ) का लोप हो कर—भाव्+इत=भावित । अब कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर स्वादियों की उत्पत्ति होती है । प्रथमा के एकवचन में सकार को रुत्व-विसर्ग हो कर 'भावित:' (हुवाया हुआ) प्रयोग सिद्ध होता है ।

इसी प्रकार 'भावि' इस णिजन्त धातु से भूतकाल में कर्त्ता अर्थ में **निष्ठा** (८१५) सूत्रद्वारा क्तवतु (तवत्) प्रत्यय करने पर उसे इट् का आगम हो कर—भावि

+इतवत् । प्रकृतसूत्र से णि का लोप हो जाता है—भाव्+इतवत्=भावितवत् । अब इस कृदन्त से सुँ प्रत्यय लाने पर अत्वसन्तस्य चाऽधातोः (३४३) से अत्वन्त की उपधा को दीर्घ, उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः (२८९) से नुँम् का आगम, हल्ङ्या-दिलोप तथा संयोगान्त तकार का भी लोप करने से 'भावितवान्' प्रयोग सिद्ध होता है। इस का अर्थ है—हुवा चुका अर्थात् जो होने की प्रेरणा दे चुका है।

इस सूत्रद्वारा स्वार्थ तथा हेतुमत् उभयविध णिजन्तों में सेट् निष्ठा के परे होने पर णि का लोप हो जाता है।

स्वार्थणिजन्तों के कुछ उदाहरण यथा—

(१) चोरि (चुर्+णिच्)+इत=चोरितः । क्तवतुँ में—चोरितवान् ।
(२) पीडि (पीड्+णिच्)+इत=पीडितः । क्तवतुँ में—पीडितवान् ।
(३) ताडि (तड्+णिच्)+इत=ताडितः । क्तवतुँ में—ताडितवान् ।
(४) कथि (कथ+णिच्)+इत=कथितः । क्तवतुँ में—कथितवान् ।
(५) पालि (पाल्+णिच्)+इत=पालितः । क्तवतुँ में—पालितवान् ।
(६) पूजि (पूज्+णिच्)+इत=पूजितः । क्तवतुँ में—पूजितवान् ।

हेतुमण्णिजन्तों के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) कारि (कृ+णिच्)+इत=कारितः । क्तवतुँ में—कारितवान् ।
(२) दर्शि (दृश्+णिच्)+इत=दर्शितः । क्तवतुँ में—दर्शितवान् ।
(३) पाठि(पठ्+णिच्)+इत=पाठितः[1] । क्तवतुँ में—पाठितवान् ।
(४) पाति (पत्+णिच्)+इत=पातितः[2] । क्तवतुँ में—पातितवान् ।
(५) श्रावि (श्रु+णिच्)+इत=श्रावितः । क्तवतुँ में—श्रावितवान् ।

दृह हिंसायाम् (भ्वा० परस्मै० सेट्) । दृह् धातु 'हिंसा करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है।

लघुसिद्धान्तकौमुदी के सब मुद्रितसंस्करणों में 'दृह हिंसायाम्' यह पाठ पाया जाता है। परन्तु यह पाठ नितान्त प्रामादिक है। क्योंकि पाणिनीय धातुपाठ के किसी व्याख्याता ने दृह् धातु का यह अर्थ नहीं लिखा है। सब व्याख्याता 'दृह वृद्धौ' पाठ को ही एकस्वर से कहते चले आ रहे हैं। शायद 'तृह हिंसायाम्' इस रौधादिक धातु के ध्यान में यह पाठ अशुद्ध लिखा गया हो। चाहे कारण कोई रहा हो यह पाठ अशुद्ध है, इस के स्थान पर 'दृह वृद्धौ' (बढ़ना) पाठ ही उचित और शुद्ध है।

दृह् धातु अकर्मक है अतः इस से भाव या कर्त्ता में भूतकाल में क्त प्रत्यय करने पर धातु के सेट् होने से इट् का आगम हो कर 'दृहित' रूप बनता है। तेन दृहितम् । दृहितो देवदत्तः ।

---

१. माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः ।
न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये बको यथा ॥ (चाणक्यनीति २.११)

२. कुत्स्याः स्युः कुपरीक्षका हि मणयो यैरर्घतः पातिताः । (पञ्चतन्त्रे)

इसी धातु से विशेष अर्थों में 'दृढ' रूप बनाने के लिये अब अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८२५) दृढः स्थूल-बलयोः । ७।२।२०॥

स्थूले बलवति च निपात्यते ॥

अर्थः—स्थूल और बलवान् अर्थों में 'दृढ' शब्द निपातन किया जाता है ।

व्याख्या—दृढः ।१।१। स्थूलबलयोः ।७।२। बलमस्त्यस्येति बलः, **अर्शआदिभ्योऽच्** (११९१) इति मत्वर्थीयोऽच्प्रत्ययः । स्थूलश्च बलश्च स्थूलबलौ, तयोः स्थूलबलयोः, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(स्थूल-बलयोः) स्थूल अर्थ में या बलवान् अर्थ में (दृढः) 'दृढ' शब्द प्रयुक्त होता है । यहां स्थूल और बलवान् अर्थों में 'दृढ' यह बना-बनाया शब्द निपातित किया जा रहा है । जब कोई कार्य सूत्रों से सिद्ध नहीं होता तब सूत्रकार स्वयं सब कार्य कर अपने मन में शब्द बना कर उसे अपने सूत्रों में पढ़ देते हैं तो इसे निपातन कहा जाता है । सूत्रकार के इन निपातनों में भी वैयाकरण विश्लेषण किया करते हैं कि सूत्रों द्वारा असिद्ध ऐसे कौन-कौन से कार्य हैं जो यहां आचार्यद्वारा किये गये हैं । यहां प्रकृत में दृह् धातु से 'दृढ' शब्द भी सामान्यप्रक्रिया से सिद्ध नहीं होता था, उस से तो 'दृहित' शब्द बनता था जैसा कि ऊपर निर्दिष्ट कर आये हैं । 'दृढ' शब्द को निपातन करते हुए आचार्य ने तीन कार्य किये हैं—

(१) 'दृह्+त' में धातु के सेट् होने पर भी इट् का अभाव ।

(२) 'दृह्+त' में हकार का लोप ।

(३) 'दृ+त' में तकार को ढकार ।

'दृढ' शब्द को कुछ लोग दृंह् (दृहिँ वृद्धौ; बढ़ना; भ्वा० पर० सेट्) धातु से भी निष्पन्न मानते हैं । तब उपर्युक्त तीन कार्यों के अतिरिक्त नुँम् का लोप भी निपातन कार्यों में गिना जायेगा ।

'दृढ' शब्द का निपातन सार्वत्रिक नहीं । किन्तु स्थूल (मोटा) और बलवान् इन दो अर्थों तक ही सीमित है । स्थूल अर्थ में चाहे वह बलवान् न भी हो 'दृढ' शब्द प्रयुक्त होगा । इसी तरह बलवान् अर्थ में चाहे वह आपाततः कृश भी क्यों न हो 'दृढ' शब्द का प्रयोग होगा । यदि ये अर्थ अभिप्रेत नहीं होंगे तो 'दृढ' शब्द न बनकर सामान्यप्रक्रिया के अनुसार दृह् से 'दृहित' या दृंह् से 'दृंहित' बनेगा ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८२६) दधातेर्हिः ७।४।४२॥

तादौ किति । हितम् ॥

अर्थः—तकारादि कित् प्रत्यय परे हो तो धा (डुधाञ् धारणपोषणयोः) धातु के स्थान पर 'हि' आदेश हो ।

व्याख्या—दधातेः ।६।१। हिः ।१।१। ति ।७।१। किति ।७।१। (**द्यति-स्यति-मा-स्थाम् इत् ति किति** से) । अङ्गस्य ।६।१। [यह अधिकृत है] । 'दधातेः' यह 'दधाति' प्रातिपदिक का षष्ठ्यन्त रूप है जो डुधाञ् धारणपोषणयोः (जुहो० उभय०

अनिट्) धातु से धातुनिर्देश में श्तिप् प्रत्यय करने पर बनता है; इस का अर्थ है—धा धातु। 'ति' यह 'किति' का विशेषण है। **यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे** के अनुसार इस से तदादिविधि हो कर 'तकारादौ किति' बन जाता है। 'अङ्गस्य' अधिकार के कारण 'तकारादौ किति' को प्रत्यय ही समझना चाहिये। अर्थः—(ति=तकारादौ) तकार जिस के आदि में हो ऐसे (किति प्रत्यये) कित् प्रत्यय के परे होने पर (दधातेः) डुधाञ् धातु के स्थान पर (हिः) 'हि' आदेश हो जाता है। 'हि' आदेश में एक से अधिक अल् हैं अतः **अनेकाल्शित्सर्वस्य** (४५) द्वारा यह सम्पूर्ण 'धा' के स्थान पर होगा। उदाहरण यथा—

धा (डुधाञ् धारण-पोषणयोः; जुहो० उ० अनिट्) धातु से भूतकाल में कर्म में **निष्ठा** (८१५) सूत्रद्वारा क्त प्रत्यय करने पर धातु के अनुदात्त होने के कारण इट् का निषेध हो जाता है—धा+त। अब **घुमास्थागापाजहातिसां हलि** (५८८) सूत्र से हलादि कित् आर्धधातुक क्त प्रत्यय के परे होने से धा को ईत्व प्राप्त होता है। इस पर प्रकृत **दधातेर्हिः** (८२६) सूत्र से उस का बाध हो कर सम्पूर्ण धा के स्थान पर 'हि' आदेश हो जाता है—हित। पुनः कृदन्त होने के कारण प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर विभक्ति लाने से 'हितम्' (धारण किया हुआ) प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार क्तवतु में 'हितवान्' (धारण कर चुका हुआ) बनेगा। उपसर्गयोग में—विहितम्, विहितवान्; निहितम्, निहितवान्; अभिहितम्, अभिहितवान् आदि। **नाद्रव्ये निहिता काचित् क्रिया फलवती भवेत्** (हितोप०)। **दिनान्ते निहितं तेजः सवित्रेव हुताशनः** (रघु० ४.१)। **सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम्** (नीतिशतक १०)।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(८२७) दो दद् घोः ।७।४।४६।।**

घुसञ्ज्ञकस्य दा इत्यस्य 'दद्' स्यात् तादौ किति। चर्त्वम्—दत्तः ।।

अर्थः—तकारादि कित् प्रत्यय के परे होने पर घुसञ्ज्ञक 'दा' धातु के स्थान पर 'दद्' आदेश हो जाता है। **चर्त्वम्**—**खरि च** (७४) से चर्त्व हो जाता है।

व्याख्या—दः ।६।१। दद् ।१।१। घोः ।६।१। ति ।७।१। किति ।७।१। (**द्यति-स्यति-मा-स्थामित् ति किति** से)। 'दा' शब्द का षष्ठी के एकवचन में **आतो धातोः** (१६७) से आकार का लोप हो कर 'दः' यह रूप बनता है। 'ति' यह 'किति' का विशेषण है अतः पूर्ववत् तदादिविधि हो कर 'तादौ किति' बन जाता है। अर्थः—(ति=तादौ) तकार जिस के आदि में है ऐसे (किति) कित् प्रत्यय के परे होने पर (घोः) घुसंज्ञक (दः) दा धातु के स्थान पर (दद्) दद् आदेश हो जाता है। 'दद्' अनेकाल् है अतः **अनेकाल्शित् सर्वस्य** (४५) द्वारा सम्पूर्ण 'दा' के स्थान पर आदेश होगा। दाप् और दैप् धातुओं को छोड़ कर दारूप वाले और धारूप वाले धातुओं की घुसञ्ज्ञा होती है—यह पीछे **दाधा घ्वदाप्** (६२३) सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं। सूत्र का उदाहरण यथा—

दा (डुदाञ् दाने; जुहो० उभय० अनिट्) धातु घुसंज्ञक है और सकर्मक भी। इस से भूतकाल के अर्थ में कर्म में **निष्ठा** (८१५) सूत्रद्वारा क्त प्रत्यय हो कर ककार अनुबन्ध का लोप तथा धातु के अनुदात्त होने से इट् का निषेध करने पर—दा+त।

अब **घु-मा-स्था०** (५८८) द्वारा प्राप्त ईत्त्व का बाध कर प्रकृतसूत्र से 'दा' के स्थान पर 'दद्' सर्वादेश हो जाता है—दद्+त । पुनः **खरि च** (७४) से दकार के स्थान पर चर्त्व से तकार हो कर—दत्त । विभक्ति लाने से—'दत्तः' (दिया गया) प्रयोग सिद्ध होता है[1] । इसी प्रकार कर्त्ता में क्तवतुँ प्रत्यय करने पर—'दत्तवान्' (दे चुका हुआ) प्रयोग सिद्ध होता है ।

सूत्र में 'घोः=घुसंज्ञक के स्थान पर' इस लिये कहा है कि—'अवदातं मुखम्' [साफ़ किया हुआ मुख; यहां अवपूर्वक 'दैप् शोधने' धातु के ऐकार को **आदेच उपदेशेऽशिति** (४९३) से आत्व कर क्तप्रत्यय किया गया है। ध्यान रहे कि **दाधा घ्वदाप्** (६२३) द्वारा घुसंज्ञा करने में दाप्-दैप् धातुओं को वर्जित माना गया है] इत्यादि में घुसंज्ञा न होने से दद् आदेश न हो जाये ।

'दः' इसलिये कहा है कि 'धीतः, धीतवान्' (धेट् पाने+क्त वा क्तवतुँ) इत्यादि में घुसंज्ञक 'धा' को दद् आदेश न हो जाये ।

दो दद्घोः सूत्रद्वारा विधीयमान आदेश के स्वरूप के विषय में चार प्रकार के मत सम्भव हो सकते हैं—

तकारान्त आदेश—दत् (दत्+घोः=दद्घोः) ।
दकारान्त आदेश—दद् (दद्+घोः=दद्घोः) ।
धकारान्त आदेश—दध् (दध्+घोः=दद्घोः) ।
थकारान्त आदेश—दथ् (दथ्+घोः=दद्घोः) ।

इन सब में जश्त्व करने से सूत्रस्थ 'दद्घोः' निर्देश उपपन्न हो सकता है । इस स्थिति में इस आदेश का युक्त स्वरूप क्या है इस जिज्ञासा में भाष्य में एक प्राचीन कारिका उद्धृत की गई है—

तान्ते दोषो दीर्घत्वं स्याद् दान्ते दोषो निष्ठानत्वम् ।
धान्ते दोषो धत्वप्राप्तिस्थान्तेऽदोषस्तस्मात्थान्तः ॥ (विद्युन्मालावृत्तम्)

अर्थात् यदि इस आदेश को तान्त 'दत्' इस प्रकार मानें तो 'वि+दत्तम्' में **द्यस्ति** (७.३.१२३)[2] सूत्र के द्वारा उपसर्ग को दीर्घ प्राप्त होगा जो अनिष्ट है । यदि इस आदेश को दान्त 'दद्' इस प्रकार मानें तो 'दद्+त' इस अवस्था में **रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः** (८१६) सूत्र से नत्व हो कर 'दन्न' इस प्रकार अनिष्ट रूप बन जायेगा । यदि इस आदेश को धकारान्त 'दध्' इस तरह का मानें तो 'दध्+त'

१. स राज्यं गुरुणा दत्तं प्रतिपद्याधिकं बभौ (रघु० ४.१) ।
२. द्यस्ति (६.३.१२३) सूत्र का दो प्रकार का अर्थ किया जाता है—
(१) इगन्त उपसर्ग को दीर्घ हो जाता है 'दा' के स्थान पर होने वाले तकारान्त उत्तरपद के परे होने पर । (२) इगन्त उपसर्ग को दीर्घ हो जाता है 'दा' के स्थान पर होने वाले तकारादि उत्तरपद के परे होने पर । सूत्र के प्रथम अर्थ में 'विदत्तम्' में उपसर्ग को अनिष्ट दीर्घ प्राप्त होता है दूसरे अर्थ में नहीं ।

इस स्थिति में **झषस्तथोर्धोऽधः** (५४६) से क्त के तकार को धत्व प्राप्त होगा जो नितान्त अनभीष्ट है। अब यदि इस आदेश को थान्त 'दथ्' इस प्रकार का मानें तो कहीं कोई भी दोष प्राप्त नहीं होता अतः इस आदेश को थान्त मानना ही उचित है।

परन्तु काशिकाकार आदि अनेक वैयाकरण इन सब दोषों का परिहार अत्यन्त सरल उपायों से करते हैं। तथाहि—इसे तान्त (दत्) मानने पर भी 'विदत्तम्' में **दस्ति** (६.३:१२३) द्वारा उपसर्ग के इक् को दीर्घ नहीं हो सकता, क्योंकि 'दस्ति' सूत्र का यह अर्थ किया जायेगा—उपसर्ग के इक् को दीर्घ हो दा धातु के स्थान पर होने वाले तकारादि उत्तरपद के परे होने पर। 'वि+दत्तम्' में तकारादि उत्तरपद नहीं अपितु दकारादि है अतः दीर्घ प्राप्त ही न होगा। इसे दान्त और धान्त मानने पर क्रमशः जो नत्व और धत्व दोष गिनाये गये हैं उन का परिहार **सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्त तद्विघातस्य** परिभाषा से हो जाता है। इस परिभाषा का विवेचन (१६१) सूत्र पर सोदाहरण कर चुके हैं। इस प्रकार आदेश को चाहे किसी भी प्रकार का (दत्, दद्, दध्, दथ्) मान लें कहीं कोई दोष प्रसक्त नहीं होता।

लघुकौमुदी में निष्ठाप्रकरण यहां पर समाप्त होता है। अब हम विद्यार्थियों के लिये अत्यन्त उपयोगी अढ़ाई सौ क्त वा क्तवतुँ प्रत्ययान्तों की अर्थसहित एक सटिप्पण तालिका प्रस्तुत कर रहे हैं जिस के अभ्यास से विद्यार्थी निश्चय ही निष्ठाप्रत्ययान्त रूपों में शीघ्र ही निपुणता प्राप्त कर सकेंगे—

धातु	क्तप्रत्ययान्त	क्तवतुँप्रत्ययान्त
अर्च् [पूजा करना]	अर्चितः=पूजा गया;	अर्चितवान्=पूजा कर चुका
अस् [होना]	भूतः[1]=हो चुका;	भूतवान्=हो चुका
आप् [पाना]	प्राप्तः=पाया गया;	प्राप्तवान्=पा चुका
आस् [बैठना]	आसितः=बैठा हुआ;	आसितवान्=बैठ चुका
इ(ङ्) [पढ़ना]	अधीतः[2]=पढ़ा गया;	अधीतवान्=पढ़ चुका
इ(ण्) [जाना]	इतः=गया हुआ;	इतवान्=जा चुका
इष् [चाहना]	इष्टः[3]=चाहा गया;	इष्टवान्=चाह चुका
ईक्ष् [देखना]	ईक्षितः=देखा गया;	ईक्षितवान्=देख चुका
एध् [बढ़ना]	एधितः=बढ़ा हुआ;	एधितवान्=बढ़ चुका
कथ् [कहना]	कथितः*=कहा गया;	कथितवान्=कह चुका
कम्प् [कांपना]	कम्पितः=कांपा हुआ;	कम्पितवान्=कांप चुका

१. **अस्तेर्भूः** (५७६)। **श्र्युकः क्किति** (६५०) इतीण्निषेधः।

२. प्रसिद्धत्वादनिर्दिष्टोऽप्युपसर्गयोगो रूपेषु यथायथं स्वयं बोध्यः।

३. **तीषसह०** (६५७) इति वेट्कत्वेन **यस्य विभाषा** (७.२.१५) इति निष्ठायाम् इड् निषिध्यते।

* एवंचिह्नितेषु सर्वत्र **निष्ठायां सेटि** (८२४) इति णेर्लोपो बोध्यः।

धातु	क्तप्रत्ययान्त	क्तवतुंप्रत्ययान्त
काङ्क्ष् [चाहना]	काङ्क्षितः=चाहा गया;	काङ्क्षितवान्=चाह चुका
काश् [चमकना]	प्रकाशितः=चमका हुआ;	प्रकाशितवान्=चमक चुका
कुप् [क्रुद्ध होना]	कुपितः=क्रुद्ध हुआ;	कुपितवान्=क्रुद्ध हो चुका
कृ [करना]	कृतः=किया गया;	कृतवान्=कर चुका
कृत् [काटना]	कृत्तः[1]=काटा गया;	कृत्तवान्=काट चुका
क्री [खरीदना]	क्रीतः=खरीदा गया;	क्रीतवान्=खरीद चुका
क्रीड् [खेलना]	क्रीडितः=खेल चुका;	क्रीडितवान्=खेल चुका
क्रुध् [क्रुद्ध होना]	क्रुद्धः[2]=क्रुद्ध हुआ;	क्रुद्धवान्=क्रुद्ध हो चुका
क्षल् [धोना]	क्षालितः*=धुला हुआ;	क्षालितवान्=धो चुका
क्षि [नष्ट होना]	क्षीणः[3]=क्षीण हुआ; क्षितः=नष्ट किया;	क्षीणवान्=क्षीण हो चुका क्षीणवान्=नाश कर चुका
क्षिप् [फेंकना]	क्षिप्तः=फेंका गया;	क्षिप्तवान्=फेंक चुका
खण्ड् [तोड़ना]	खण्डितः*=तोड़ा गया;	खण्डितवान्=तोड़ चुका
खाद् [खाना]	खादितः=खाया गया;	खादितवान्=खा चुका
खिद् [दुःखी होना]	खिन्नः[4]=दुःखी हुआ;	खिन्नवान्=दुःखी हो चुका
ख्या [कहना][5]	ख्यातः=कहा गया;	ख्यातवान्=कह चुका
गण् [गिनना]	गणितः*=गिना गया;	गणितवान्=गिन चुका
गद् [कहना]	गदितः=कहा गया;	गदितवान्=कह चुका
गम् [जाना]	गतः[6]=गया हुआ;	गतवान्=जा चुका
गर्ज् [गरजना]	गर्जितः=गरजा हुआ;	गर्जितवान्=गरज चुका
गर्ह् [निन्दा करना]	गर्हितः=निन्दा किया गया;	गर्हितवान्=निन्दा कर चुका
गवेष् [ढूंढना]	गवेषितः*=ढूंढा हुआ;	गवेषितवान्=ढूंढ चुका

१. 'कृतीँ कर्तने'। ईदित्त्वात् **श्वीदितो निष्ठायाम्** (७.२.१४) इतीण्निषेधः।

२. **झषस्तथोर्धोऽधः** (५४९) इति धत्वे **झलां जश् झशि** (१९) इति जश्त्वम्।

३. क्षीण इति। कर्त्तरि क्तः। **निष्ठायामण्यदर्थे** (६.४.६०)—भावकर्मणोऽन्यत्र निष्ठायां क्षियो दीर्घः। **क्षियो दीर्घात्** (८.२.४६) इति निष्ठानत्वम्। क्षित इति। अन्तर्भावितण्यर्थोऽत्र क्षयतिस्तेन कर्मणि प्रत्ययः। भावे तु—तेन क्षितम्।

४. **रदाभ्यां निष्ठातो नः०** (८१६) इति निष्ठातकारस्य धातोर्दकारस्य च नत्वम्।

५. यहां **चक्षिङः ख्याञ्**(२.४.५४) सूत्र से चक्षिङ् के स्थान पर ख्या आदेश हुआ समझना चाहिये। ख्या प्रकथने (अदा० प०) धातु का आर्धधातुक प्रत्ययों में प्रयोग नहीं होता—वैयाकरण निकाय में यह प्रसिद्धि है।

६. **अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति** (५५९) इत्यनुनासिकलोपः।

धातु	क्तप्रत्ययान्त	क्तवतुँप्रत्ययान्त
गुञ्ज् [गूंजना]	गुञ्जितः=गूंज चुका;	गुञ्जितवान्=गूंज चुका
गुप् [रक्षा करना]	गोपायितः[1]=बचाया गया; गुप्तः=बचाया गया;	गोपायितवान्=बचा चुका गुप्तवान्=बचा चुका
गुम्फ् [गूंथना]	गुफितः[2]=गूंथा गया;	गुफितवान्=गूंथ चुका
गुह् [छुपाना]	गूढः[3]=छुपाया गया;	गूढवान्=छुपा चुका
गृध् [लालची होना]	गृद्धः[4]=लालची हुआ;	गृद्धवान्=लालची हो चुका
गॄ [निगलना]	गीर्णः[5]=निगला हुआ;	गीर्णवान्=निगल चुका
गै [गाना]	गीतः[6]=गाया हुआ;	गीतवान्=गा चुका
ग्रन्थ् [गूंथना]	ग्रथितः[7]=गूंथा गया;	ग्रथितवान्=गूंथ चुका
ग्रस् [निगलना]	ग्रस्तः[8]=निगला गया;	ग्रस्तवान्—निगल चुका
ग्रह् [ग्रहण करना]	गृहीतः[9]=ग्रहणकिया गया;	गृहीतवान्=ग्रहण कर चुका
ग्लै [दुःखी होना]	ग्लानः[10]=दुःखी हुआ;	ग्लानवान्=दुःखी हो चुका
घुष् [घोषणा करना]	घोषितः*=घोषित किया;	घोषितवान्=घोषणा कर चुका
घ्रा [सूंघना]	घ्राणः[11]=सूंघा गया; घ्रातः=सूंघा गया;	घ्राणवान्=सूंघ चुका घ्रातवान्=सूंघ चुका
चर् [करना]	आचरितः=किया गया;	आचरितवान्=कर चुका
चर्व् [चबाना]	चर्वितः=चबाया गया;	चर्वितवान्=चबा चुका

१. आयपक्षे—गोपायितः। आयाऽभावपक्षे—ऊदित्वाद् विकल्पितेट्कत्वेन निष्ठायां **यस्य विभाषा** (७.२.१५) इतीण्निषेधः।

२. गुन्फ् धातुर्नोपधः, तेन **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** (३३४) इत्युपधानकारलोपः। गुम्फित इति प्रयोगस्तु ण्यन्ताद् बोध्यः।

३. गुहूँधातोरूदित्त्वाद् वेट्कत्वेन निष्ठायां **यस्य विभाषा** (७.२.१५) इतीण्निषेधः। ढत्व-धत्व-ष्टुत्व-ढलोपेषु **ढ्रलोपे०** (११२) इति दीर्घः।

४. गृधुँधातोरुदित्त्वेन **उदितो वा** (७.२.५६) इति क्त्वायामिड्विकल्पनाद् निष्ठायां **यस्य विभाषा** (७.२.१५) इतीण्निषेधः। गृधिरकर्मकः।

५. **श्र्युकः किति** (६५०) इतीण्न। इत्त्वरत्वयोः **हलि च** (६१२) इत्युपधादीर्घः। **रदाभ्यां निष्ठातो नः०** (८१६) इति निष्ठानत्वे णत्वम्।

६. **आदेच उपदेशेऽशिति** (४९३) इत्यात्वे **घुमास्थागा०** (५८८) इतीत्वम्।

७. उपधानकारलोपः (३३४)।

८. ग्रसुँधातुरुदित् तेन क्त्वायामिड्विकल्पनाद् निष्ठायां **यस्य विभाषा** (६.२.१५) इतीण्न।

९. इटि **ग्रहिज्या०** (६३४) इति सम्प्रसारणे **ग्रहोऽलिटि दीर्घः** (६९३) इति इटो दीर्घः।

१०. आत्वे **संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः** (८१७) इति नत्वम्।

११. **नुदविदोन्दत्राघ्राह्रीभ्योऽन्यतरस्याम्** (८.२.५६) इति नत्वविकल्पः। नत्वे णत्वम्।

धातु	क्तप्रत्ययान्त	क्तवतुप्रत्ययान्त
चल् [चलना]	चलितः = चला हुआ;	चलितवान् = चल चुका
चि [चुनना]	चितः = चुना गया;	चितवान् = चुन चुका
चिन्त् [सोचना]	चिन्तितः* = सोचा गया;	चिन्तितवान् = सोच चुका
चुम्ब् [चूमना]	चुम्बितः = चूमा गया;	चुम्बितवान् = चूम चुका
चुर् [चुराना]	चोरितः* = चुराया गया;	चोरितवान् = चुरा चुका
चूर्ण् [पीसना]	चूर्णितः* = पीसा हुआ;	चूर्णितवान् = पीस चुका
चेष्ट् [चेष्टा करना]	चेष्टितः = चेष्टा कर चुका;	चेष्टितवान् = चेष्टा कर चुका
च्यु [गिरना]	च्युतः = गिरा हुआ;	च्युतवान् = गिर चुका
छद् [ढांपना]	{ छन्नः[1] = ढांपा गया; छादितः = ढांपा गया;	{ छादितवान् = ढांप चुका छादितवान् = ढांप चुका
छिद् [काटना]	छिन्नः[2] = काटा गया;	छिन्नवान् = काट चुका
जन् [पैदा होना]	जातः[3] = पैदा हुआ;	जातवान् = पैदा हो चुका
जप् [जपना]	{ जपितः[4] = जपा गया; जप्तः = जपा गया;	{ जपितवान् = जप चुका जप्तवान् = जप चुका
जल्प् [कहना]	जल्पितः = कहा गया;	जल्पितवान् = कह चुका
जागृ [जागना]	जागरितः[5] = जागा हुआ;	जागरितवान् = जाग चुका
जि [जीतना]	जितः = जीता गया;	जितवान् = जीत चुका
जीव् [जीना]	जीवितः = जीवित हुआ;	जीवितवान् = जीवित हो चुका
जुष् [सेवन करना]	जुष्टः[6] = सेवन किया गया;	जुष्टवान् = सेवन कर चुका
जॄ [बूढ़ा होना]	जीर्णः[7] = बूढ़ा हो चुका;	जीर्णवान् = बूढ़ा हो चुका
ज्ञा [जानना]	ज्ञातः = जाना गया;	ज्ञातवान् = जान चुका
तड् [पीटना]	ताडितः* = पीटा गया;	ताडितवान् = पीट चुका
तन् [फैलाना]	ततः[8] = फैलाया गया;	ततवान् = फैला चुका

१. **वा दान्तशान्तपूर्णदस्तस्पष्टच्छन्नज्ञप्ताः** (७.२.२७) इत्यनेन 'छन्न' इति वा निपात्यते । निपातनाभावे छादयतेर् 'छादित' इति । क्तवतौ छादितवानित्येव ।

२. **रदाभ्याम्०** इति निष्ठानत्वम् ।

३. जनीँ प्रादुर्भावे । ईदित्त्वात् **श्वीदितो निष्ठायाम्** (७.२.१४) इतीण्णिषेधः । **जनसनखनां सञ्झलोः** (६७६) इति नकारस्यात्वे सवर्णदीर्घः ।

४. **आदितश्च** (७.२.१६) इतिसूत्रे चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थ इति काशिका । तेन सेड्धातोरपि क्वचिदिडभावः । आगमशास्त्रमनित्यमित्याश्रित्य वेडभावः ।

५. **जाग्रोऽविचिण्णल्ङित्सु** (७.३.८५) इति गुणः ।

६. जुषीँ प्रीतिसेवनयोः । **श्वीदितो निष्ठायाम्** (७.२.१४) इतीण्निषेधः ।

७. पूर्वोक्तगीर्णशब्दवत् प्रक्रिया बोध्या । एवं तीर्णः, दीर्णः ।

८. तनुँ विस्तारे । क्त्वायाम् **उदितो वा** (७.२.५६) इतीड्विकल्पनान्निष्ठायां **यस्य विभाषा** (७.२.१५) इतीण्न । **अनुदात्तोपदेश०** (५५९) इत्यनुनासिकलोपः ।

धातु	क्तप्रत्ययान्त	क्तवतुप्रत्ययान्त
तप् [तपाना]	तप्तः = तपाया हुआ;	तप्तवान् = तपा चुका
तर्ज् [झिड़कना]	तर्जितः = झिड़का हुआ;	तर्जितवान् = झिड़क चुका
तुद् [दुःखी करना]	तुन्नः[1] = दुःखी किया गया;	तुन्नवान् = दुःखी कर चुका
तुल् [तोलना]	तोलितः* = तोला गया;	तोलितवान् = तोल चुका
तुष् [प्रसन्न होना]	तुष्टः = प्रसन्न हुआ;	तुष्टवान् = प्रसन्न हो चुका
तृप् [तृप्त होना]	तृप्तः[2] = तृप्त हुआ;	तृप्तवान् = तृप्त हो चुका
तृष् [प्यासा होना]	तृषितः = प्यासा होना;	तृषितवान् = प्यासा हो चुका
तॄ [पार करना]	तीर्णः = पार कर चुका;	तीर्णवान् = पार कर चुका
त्यज् [छोड़ना]	त्यक्तः[3] = छोड़ा गया;	त्यक्तवान् = छोड़ चुका
त्रस् [डरना]	त्रस्तः[4] = डरा हुआ;	त्रस्तवान् = डर चुका
त्रुट् [टूटना]	त्रुटितः[5] = टूटा हुआ;	त्रुटितवान् = टूट चुका
त्रै [पालना]	त्रातः[6] = पाला गया;	त्रातवान् = पाल चुका
दण्ड् [दण्ड देना]	दण्डितः* = दण्ड दिया गया;	दण्डितवान् = दण्ड दे चुका
दंश् [डसना]	दष्टः[7] = डसा गया;	दष्टवान् = डस चुका
दल् [दलना]	दलितः = दला गया;	दलितवान् = दल चुका
दह् [जलाना]	दग्धः[8] = जलाया गया;	दग्धवान् = जला चुका
दा [देना]	दत्तः[9] = दिया गया;	दत्तवान् = दे चुका
दा(प्) [साफ़ करना]	अवदातः[10] = साफ़ किया;	अवदातवान् = साफ़ कर चुका
दिश् [छोड़ना-देना]	दिष्टः[11] = छोड़ा गया;	दिष्टवान् = छोड़ चुका

---

१. **रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः** (८१६) इति नत्वम् ।

२. रधादित्वेन वैकल्पिकेट्कत्वान्निष्ठायां **यस्य विभाषा** (७.२.१५) इति नेट् ।

३. **चोः कुः** (३०६) इति कुत्वम् ।

४. त्रसीँ उद्वेगे । ईदित्त्वादिण्निषेधः ।

५. धातुपाठ में 'त्रुट छेदने' इस प्रकार अर्थ निर्दिष्ट किया गया है पर यह 'टूटना' अर्थ में प्रसिद्ध है । यथा—**यावन्मे दन्ता न त्रुट्यन्ति** (हितोपदेश) । इस विषय में 'कविकल्पद्रुम' पर दुर्गादासकृतव्याख्या विशेष द्रष्टव्य है ।

६. **आदेच उपदेशेऽशिति** (४९३) इत्यात्वम् । **नुदविदोन्दत्रा०** (८.२.५६) इति नत्व-विकल्पे 'त्राण' इत्यपि ।

७. **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** (३३४) इत्युपधानकारलोपे षत्वे ष्टुत्वम् ।

८. **दादेर्धातोर्घः** (२५२) इति हस्य घत्वम्, **झषस्तथोर्धोऽधः** (५४९) इति धत्वम्, **झलां जश् झशि** (१९) इति जश्त्वम् । एवं दिग्ध-दुग्धादिषु प्रक्रिया बोध्या ।

९. **दो दद् घोः** (८२७) इति दास्थाने दद् इति सर्वादेशः ।

१०. **दाधा घ्वदाप्** (६२३) इति घुत्वाभावाद् ददादेशो न । दैप् शोधने ।

११. **व्रश्च०** (३०७) इति षत्वे **ष्टुना ष्टुः** (६४) इति ष्टुत्वम् ।

धातु	क्तप्रत्ययान्त	क्तवतुँप्रत्ययान्त
दिह् [लीपना]	दिग्धः = लीपा गया;	दिग्धवान् = लीप चुका
दीप् [चमकना]	दीप्तः[1] = चमकता हुआ;	दीप्तवान् = चमक चुका
दुष् [दूषित होना]	दुष्टः = दूषित हुआ;	दुष्टवान् = दूषित हो चुका
दुह् [दोहना]	दुग्धः = दोहा गया;	दुग्धवान् = दोह चुका
दृ(ङ्) [आदर करना]	आदृतः = आदृत हुआ;	आदृतवान् = आदर कर चुका
दृप् [अभिमान करना]	दृप्तः = गर्वित हुआ;	दृप्तवान् = गर्व कर चुका
दृश् [देखना]	दृष्टः[2] = देखा गया;	दृष्टवान् = देख चुका
दॄ [फाड़ना]	दीर्णः = फाड़ा गया;	दीर्णवान् = फाड़ चुका
द्विष् [द्वेष करना]	द्विष्टः = द्वेष किया गया;	द्विष्टवान् = द्वेष कर चुका
धा [धारण करना]	हितः[3] = धारण हुआ;	हितवान् = धारण कर चुका
धाव् [भागना]	धावितः[4] = भागा हुआ;	धावितवान् = भाग चुका
धु(ञ्) [कंपाना]	धुतः = कम्पाया गया;	धुतवान् = कम्पा चुका
धू(ञ्) [कंपाना]	धूतः = कम्पाया गया;	धूतवान् = कम्पा चुका
धृ [धारण करना]	धृतः = धारण हुआ;	धृतवान् = धारण कर चुका
ध्मा [धौंकना]	ध्मातः = धौंका गया;	ध्मातवान् = धौंक चुका
ध्यै [ध्यान करना]	ध्यातः[5] = ध्याया गया;	ध्यातवान् = ध्यान कर चुका
ध्वंस् [नष्ट होना]	ध्वस्तः[6] = नष्ट हुआ;	ध्वस्तवान् = नष्ट हो चुका
नन्द् [प्रसन्न होना]	नन्दितः = प्रसन्न हुआ;	नन्दितवान् = प्रसन्न हो चुका
नम् [झुकना]	नतः[7] = झुका हुआ;	नतवान् = झुक चुका
नश् [नष्ट होना]	नष्टः[8] = नष्ट हुआ;	नष्टवान् = नष्ट हो चुका

१. दीपीँ दीप्तौ। ईदित्वात् **श्वीदितो निष्ठायाम्** (७.२.१४) इतीण्निषेधः।

२. **व्रश्चभ्रस्ज०** (३०७) इति षत्वे ष्टुत्वम्।

३. **दधातेर्हिः** (८२६) इति हिरादेशः।

४. धावुँ गतिशुद्धयोः। उदित्वेन **उदितो वा** (७.२.५६) इति क्त्वायाम् इड्विकल्पनादिह निष्ठायाम् इण्निषेधः। निषेधस्यानित्यत्वमाश्रित्य क्वचिद् इडागमोऽपि भवति —धावितः, धावितवान् इति। इडभावे—वकारस्य ऊठि (८४३) वृद्धौ (३४) धौतम्, धौतवान् इत्यपि बोध्यम्।

५. **आदेच उपदेशेऽशिति** (४९३) इत्यात्त्वम्। **संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः** (८१७) इति नत्वे प्राप्ते **न ध्याख्यापॄमूर्च्छिमदाम्** (८.२.५७) इति निषेधः।

६. ध्वंसुँधातुः। उदित्वेन क्त्वायामिड्विकल्पनादिह निष्ठायाम् इण्निषेधः। **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** (३३४) इत्युपधानकारलोपः।

७. **अनुदात्तोपदेश०** (५५९) इत्यनुनासिकलोपः।

८. वलादेरार्धधातुकस्य **रधादिभ्यश्च** (६३५) इतीड्विकल्पनाद् **यस्य विभाषा** (७.२.१५) इतीण्निषेधः। ततः षत्वे ष्टुत्वम्।

धातु	क्तप्रत्ययान्त	क्तवतुप्रत्ययान्त
नह् [बांधना]	नद्धः[१] = बांधा गया;	नद्धवान् = बांध चुका
निन्द् [निन्दा करना]	निन्दितः = निन्दित;	निन्दितवान् = निन्दा कर चुका
नी [ले जाना]	नीतः = ले जाया गया;	नीतवान् = ले जा चुका
नु [स्तुति करना]	नुतः = स्तुति किया;	नुतवान् = स्तुति कर चुका
नुद् [प्रेरणा देना]	नुन्नः[२] = प्रेरित हुआ;	नुन्नवान् = प्रेरणा दे चुका
	नुत्तः = प्रेरित हुआ;	नुत्तवान् = प्रेरणा दे चुका
पच् [पकाना]	पक्वः[३] = पकाया गया;	पक्ववान् = पका चुका
पठ् [पढ़ना]	पठितः = पढ़ा गया;	पठितवान् = पढ़ चुका
पत् [गिरना]	पतितः = गिरा हुआ;	पतितवान् = गिर चुका
पद् [जाना]	पन्नः[४] = गया हुआ;	पन्नवान् = जा चुका
पा [पीना]	पीतः[५] = पिया गया;	पीतवान् = पी चुका
पा [रक्षा करना]	पातः = रक्षा किया गया;	पातवान् = रक्षा कर चुका
पाल् [पालना]	पालितः* = पाला गया;	पालितवान् = पाल चुका
पिष् [पीसना]	पिष्टः = पीसा गया;	पिष्टवान् = पीस चुका
पीड् [पीड़ा देना]	पीडितः* = सताया हुआ;	पीडितवान् = सता चुका
पुष् [पुष्ट करना]	पुषितः = पुष्ट किया गया	पुषितवान् = पुष्ट कर चुका
पुष् [पुष्ट होना]	पुष्टः[६] = पुष्ट हुआ;	पुष्टवान् = पुष्ट हो चुका
पू(ञ्) [शुद्ध करना]	पूतः[७] = शुद्ध किया गया;	पूतवान् = शुद्ध कर चुका
पूज् [पूजा करना]	पूजितः* = पूजा गया;	पूजितवान् = पूजा कर चुका
पॄ [पालना]	पूर्तः[८] = पाला गया;	पूर्तवान् = पाल चुका
प्रच्छ् [पूछना]	पृष्टः[९] = पूछा गया;	पृष्टवान् = पूछ चुका

१. **नहो धः** (३५९) इति धकारे तकारस्य धकारे पूर्वस्य जश्त्वम् ।

२. **नुदविदोन्दत्राघ्राह्रीभ्योऽन्यतरस्याम्** (८.२.५६) इति वा नत्वम् ।

३. **पचो वः** (८२२) इति वत्वम् । वत्वस्यासिद्धत्वात् **चोः कुः** (३०६) इति कुत्वम् ।

४. **रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः** (८१६) इति नत्वम् । पन्नः = पतितः (पन्नग इत्यत्र पन्नदन्त इत्यत्र च यथा) ।

५. **घुमास्थागापाजहातिसां हलि** (५८८) इतीत्वम् ।

६. पुष्यतिरनिट् । अयं सकर्मकोऽकर्मकश्चोभयथा प्रयोग उपलभ्यते । एतद्धातु-प्रकरणेऽनुसन्धेयास्माकीना तत्रत्या टिप्पणी ।

७. **श्र्युकः क्किति** (६५०) इतीण्निषेधः ।

८. **उदोष्ठ्यपूर्वस्य** (६११) इति उत्वे रपरत्वे च **हलि च** (६१२) इत्युपधादीर्घः । **रदाभ्यां०** (८१६) इति प्राप्तस्य नत्वस्य **न ध्याख्यापृ०** (८.२.५७) इति निषेधः ।

९. **ग्रहिज्या०** (६३४) इति सम्प्रसारणम् । **च्छ्वोः शूडनुनासिके च** (८४३) इति शकारे षत्व-ष्टुत्वे ।

धातु	क्तप्रत्ययान्त	क्तवतुंप्रत्ययान्त
बन्ध् [बांधना]	बद्धः[1] = बांधा गया;	बद्धवान् = बांध चुका
बाध् [रोकना]	बाधितः = रोका गया;	बाधितवान् = रोक चुका
बुध् [जानना]	बुद्धः[2] = जाना गया;	बुद्धवान् = जान चुका
	प्रबुद्धः = जागा हुआ;	प्रबुद्धवान् = जाग चुका
ब्रू [कहना]	उक्तः[3] = कहा हुआ;	उक्तवान् = कह चुका
भक्ष् [खाना]	भक्षितः* = खाया गया;	भक्षितवान् = खा चुका
भज् [बांटना]	विभक्तः = बांटा गया;	विभक्तवान् = बांट चुका
भण् [कहना]	भणितः = कहा हुआ;	भणितवान् = कह चुका
भञ्ज् [तोड़ना]	भग्नः[4] = तोड़ा गया;	भग्नवान् = तोड़ चुका
भर्त्स् [झिड़कना]	भर्त्सितः* = झिड़का हुआ;	भर्त्सितवान् = झिड़क चुका
भाष् [कहना]	भाषितः = कहा गया;	भाषितवान् = कह चुका
भिक्ष् [मांगना]	भिक्षितः = मांगा गया;	भिक्षितवान् = मांग चुका
भिद् [तोड़ना]	भिन्नः[5] = तोड़ा गया;	भिन्नवान् = तोड़ चुका
भी [डरना]	भीतः = डरा हुआ;	भीतवान् = डर चुका
भुज् [पालना]	भुक्तः = पाला गया;	भुक्तवान् = पाल चुका
[खाना]	भुक्तः = खाया गया;	भुक्तवान् = खा चुका
भू [होना]	भूतः[6] = हो चुका;	भूतवान् = हो चुका
भूष् [सजाना]	भूषितः* = सजाया गया;	भूषितवान् = सजा चुका
भृ [धारण करना]	भृतः = धारण किया गया;	भृतवान् = धारण कर चुका
भ्रंश् [नीचे गिरना]	भ्रष्टः[7] = गिरा हुआ;	भ्रष्टवान् = गिर चुका
भ्रम् [घूमना]	भ्रान्तः[8] = घूम चुका;	भ्रान्तवान् = घूम चुका

१. **अनिदिताम्०** (३३४) इत्युपधानकारलोपः । **झषस्तथोः०** (५४६) इति धत्वम् । **झलां जश् झशि** (१९) इति जश्त्वम् ।

२. दैवादिकोऽयं धातुरनिट् । भौवादिकधातुस्तु सेट्, तेन तस्य बुधितः, बुधितवान् इति बोध्यम् ।

३. **ब्रुवो वचिः** (५९६) । **वचिस्वपि०** (५४७) इति सम्प्रसारणम् । **चोः कुः** (३०६) इति कुत्वम् ।

४. ओदित्त्वाद् उपधानकारलोपे **ओदितश्च** (८२०) इति निष्ठानत्वम् । कुत्वम् ।

५. **रदाभ्यां निष्ठातो नः०** (८१६) इति निष्ठानत्वम् ।

६. **श्र्युकः किति** (६५०) इतीण्निषेधः ।

७. भ्रंशोरुदित्त्वेन क्त्वायामिड्विकल्पनाद् निष्ठायामिण्निषेधः । उपधानकारलोपे शकारस्य षत्वे ष्टुत्वम् ।

८. भ्रमुंधातोरुदित्त्वेन क्त्वायामिड्विकल्पनान्निष्ठायां **यस्य विभाषा** (७.२.१५) इतीण्निषेधः । **अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति** (७२७) इत्युपधादीर्घः ।

धातु	क्तप्रत्ययान्त	क्तवतुंप्रत्ययान्त
भ्रस्ज् [भूनना]	भृष्टः[1]=भूना हुआ;	भृष्टवान्=भून चुका
मण्ड् [सजाना]	मण्डितः*=सजाया गया;	मण्डितवान्=सजा चुका
मद् [प्रसन्न होना]	मत्तः[2]=प्रसन्न हुआ;	मत्तवान्=प्रसन्न हो चुका
मन्थ् [बिलोना]	मथितः[3]=बिलोया हुआ;	मथितवान्=बिलो चुका
मन् [मानना]	मतः[4]=माना हुआ;	मतवान्=मान चुका
मस्ज् [डूबना]	निमग्नः[5]=डूब चुका;	निमग्नवान्=डूब चुका
मा [मापना]	मितः[6]=मापा हुआ;	मितवान्=माप चुका
मा [अदा० समाना]	मितः=समाया हुआ;	मितवान्=समा चुका
मान् [पूजा करना]	मानितः*=पूजा गया;	मानितवान्=पूजा कर चुका
मिल् [मिलना]	मिलितः=मिला हुआ;	मिलितवान्=मिल चुका
मुच् [छोड़ना]	मुक्तः[7]=छोड़ा गया;	मुक्तवान्=छोड़ चुका
मुष् [लूटना]	मुषितः=लूटा गया;	मुषितवान्=लूट चुका
मुह् [मूढ होना]	मुग्धः[8]=मूढ हुआ;	मुग्धवान्=मूढ हो चुका
	मूढः=मूढ हुआ;	मूढवान्=मूढ हो चुका
मृ [मरना]	मृतः=मरा हुआ;	मृतवान्=मर चुका
मृज् [शुद्ध करना]	मृष्टः[9]=शोधा गया;	मृष्टवान्=शुद्ध कर चुका
म्ना [अभ्यास करना]	आम्नातः=अभ्यास किया;	आम्नातवान्=अभ्यास कर चुका
म्लै [मुरझाना]	म्लानः[10]=मुरझाया हुआ;	म्लानवान्=मुरझा चुका

१. **ग्रहिज्या०** (६३४) इति सम्प्रसारणे, पूर्वरूपे, संयोगादिलोपे, षत्वे च ष्टुत्वम् ।
२. **श्वीदितो निष्ठायाम्** (७.२.१४) इतीण्निषेधे **न ध्याख्यापॄमूर्च्छिमदाम्** (८.२.५७) इति नत्वनिषेधः । 'मदी' हर्षे' इतीदिदयं धातुः ।
३. **अनिदितां हल०** (३३४) इत्युपधानकारलोपः ।
४. **अनुदात्तोपदेश०** (५५९) इत्यनुनासिकलोपः ।
५. **मस्जिनशोर्झलि** (६३६) इति नुँमि सकारस्य संयोगादिलोपे, नुँमो नकारस्य **अनिदितां हल०** (३३४) इति लोपे **ओदितश्च** (८२०) इति नत्वे तस्यासिद्धत्वेन झल्परत्वात् **चोः कुः** (३०६) इति कुत्वम् ।
६. **द्यतिस्यतिमास्थामित् ति किति** (७.४.४०) इत्यनेन इत्त्वम् ।
७. **चोः कुः** (३०६) इति कुत्वम् । इत्थं युक्त-रिक्त-सिक्तादिषु बोध्यम् ।
८. वलादेरार्धधातुकस्य रधादित्वेनेड्विकल्पनान्निष्ठायाम् **यस्य विभाषा** (७.२.१५) इतीण्निषेधः । **वा द्रुहमुह०** (२५४) इति घत्वपक्षे—मुग्धः, मुग्धवान् इति । ढत्वपक्षे—मूढः, मूढवान् । **ढ्लोपे०** (११२) इति दीर्घः ।
९. मृजूँधातोरूदित्वाद्वेट्कत्वेन **यस्य विभाषा** (७.२.१५) इति निष्ठायामिण्न । **व्रश्चभ्रस्ज०** (३०७) इति षत्वे ष्टुत्वम् ।
१०. आत्वे **संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः** (८१७) इति नत्वम् ।

धातु	क्तप्रत्ययान्त	क्तवतुँप्रत्ययान्त
यज् [पूजा करना]	इष्टः[1] = पूजा गया	इष्टवान् = पूजा कर चुका
यत् [यत्न करना]	प्रयत्तः[2] = यत्न कर चुका;	प्रयत्तवान् = यत्न कर चुका
	आयत्तः = वश में हुआ;	आयत्तवान् = वश में हो चुका
या [जाना]	यातः = गया हुआ;	यातवान् = जा चुका
याच् [मांगना]	याचितः = मांगा गया;	याचितवान् = मांग चुका
यु [मिलाना]	युतः = मिलाया गया;	युतवान् = मिला चुका
युज् [मिलाना]	युक्तः = मिलाया गया;	युक्तवान् = मिला चुका
युध् [युद्ध करना]	युद्धः = युद्ध कर चुका;	युद्धवान् = युद्ध कर चुका
रक्ष् [बचाना]	रक्षितः = बचाया गया;	रक्षितवान् = बचा चुका
रच् [बनाना]	रचितः* = बनाया गया;	रचितवान् = बना चुका
रट् [रटना]	रटितः = रटा हुआ;	रटितवान् = रट चुका
रभ् [आरम्भ करना]	आरब्धः[3] = शुरु किया;	आरब्धवान् = शुरु कर चुका
रम् [क्रीडा करना]	रतः[4] = खेल चुका;	रतवान् = खेल कर चुका
राज् [चमकना]	राजितः = चमक चुका;	राजितवान् = चमक चुका
रिच् [खाली करना]	रिक्तः = खाली हुआ;	रिक्तवान् = खाली कर चुका
रुद् [रोना]	रुदितः = रो चुका;	रुदितवान् = रो चुका
रुध् [रोकना]	रुद्धः = रोका गया;	रुद्धवान् = रोक चुका
रुष् [क्रोध करना]	रुष्टः = क्रुद्ध हुआ;	रुष्टवान् = क्रुद्ध हो चुका
रुह् [चढ़ना]	आरूढः[5] = चढ़ चुका;	आरूढवान् = चढ़ चुका
लभ् [पाना]	लब्धः = पाया गया	लब्धवान् = पा चुका
लिख् [लिखना]	लिखितः = लिखा हुआ;	लिखितवान् = लिख चुका
लिप् [लीपना]	लिप्तः = लिपा हुआ;	लिप्तवान् = लीप चुका
लिह् [चाटना]	लीढः = चाटा हुआ;	लीढवान् = चाट चुका
लू [काटना]	लूनः[6] = काटा हुआ	लूनवान् = काट चुका
लोक् [देखना]	अवलोकितः = देखा गया;	अवलोकितवान् = देख चुका
लोच् [देखना]	लोचितः = देखा गया;	लोचितवान् = देख चुका

१. **वचिस्वपि०** (५४७) इति सम्प्रसारणे षत्वे ष्टुत्वम् ।

२. यतीँ धातोः **श्वीदितो निष्ठायाम्** (७.२.१४) इतीण्निषेधः । दकाराभावान्न निष्ठानत्वम् ।

३. **झषस्तथोः०** (५४९) इति धत्वे **झलां जश् झशि** (१९) इति जश्त्वम् । आङ् उपसर्गः । एवम्—लब्ध-युद्धादिषु बोध्यम् ।

४. **अनुदात्तोपदेश०** (५५९) इत्यनुनासिकलोपः ।

५. ढत्व-धत्व-ष्टुत्व-ढलोप-दीर्घाः । एवम्—लीढ इत्यत्रापि बोध्यम् ।

६. **ल्वादिभ्यः** (८१८) इति निष्ठातकारस्य नकारः ।

धातु	क्तप्रत्ययान्त	क्तवतुँप्रत्ययान्त
वच् [कहना]	उक्तः[1] = कहा गया;	उक्तवान् = कह चुका
वद् [बोलना]	उदितः[2] = कहा गया;	उदितवान् = कह चुका
वन्द् [वन्दना करना]	वन्दितः = वन्दना किया;	वन्दितवान् = वन्दना कर चुका
वप् [बोना, काटना]	उप्तः = काटा गया;	उप्तवान् = काट चुका
वस् [रहना]	उषितः[3] = रह चुका;	उषितवान् = रह चुका
वह् [ले जाना]	ऊढः[4] = ले जाया गया;	ऊढवान् = ले जा चुका
वाञ्छ् [चाहना]	वाञ्छितः = चाहा गया;	वाञ्छितवान् = चाह चुका
विद् [जानना]	विदितः = जाना हुआ;	विदितवान् = जान चुका
विद् [पाना]	विन्नः[5] = पाया गया;	विन्नवान् = पा चुका
विश् [प्रवेश करना]	प्रविष्टः = प्रवेश हुआ;	प्रविष्टवान् = प्रवेश कर चुका
वृ [वरना]	वृतः = वरा गया;	वृतवान् = वर चुका
वृध् [बढ़ना]	वृद्धः = बढ़ा हुआ;	वृद्धवान् = बढ़ चुका
वृष् [बरसना]	वृष्टः = बरसा हुआ;	वृष्टवान् = बरस चुका
वे(ञ्) [बुनना]	उतः = बुना हुआ;	उतवान् = बुन चुका
वेप् [कांपना]	वेपितः = कांप चुका;	वेपितवान् = कांप चुका
वेष्ट् [लपेटना]	वेष्टितः = लपेटा हुआ;	वेष्टितवान् = लपेट चुका
व्यथ् [दुःखी होना]	व्यथितः = दुःखी हुआ;	व्यथितवान् = दुःखी हो चुका
व्यध् [बींधना]	विद्धः[6] = बींधा गया;	विद्धवान् = बींध चुका
व्रज् [जाना]	व्रजितः = गया हुआ;	व्रजितवान् = जा चुका
शक् [समर्थ होना]	शक्तः = समर्थ हुआ;	शक्तवान् = समर्थ हो चुका
शङ्क् [शंका करना]	शङ्कितः = शंकित हुआ;	शङ्कितवान् = शंका कर चुका
शप् [शाप देना]	शप्तः = शाप दिया गया;	शप्तवान् = शाप दे चुका
शम् [शान्त होना]	शान्तः[7] = शान्त हुआ;	शान्तवान् = शान्त हो चुका
शंस् [प्रशंसा करना]	प्रशस्तः[8] = स्तुति किया;	प्रशस्तवान् = स्तुति कर चुका

१. **वचिस्वपि०** (५४७) इति सम्प्रसारणे **चोः कुः** (३०६) इति कुत्वम् ।
२. यजादित्वात् सम्प्रसारणम् । एवम् 'उप्तः, उतः' इत्यत्रापि बोध्यम् ।
३. यजादित्वात् सम्प्रसारणे **शासिवसिघसीनां च** (५५४) इति षत्वम् ।
४. सम्प्रसारणे ढत्व-धत्व-ष्टुत्व-ढलोप-दीर्घाः ।
५. 'विद्लृँ लाभे' इति तौदादिकोऽयं धातुरनिट् । **रदाभ्याम्०** (८१६) इति नत्वम् । धन और प्रसिद्ध अर्थ में 'वित्त'—**वित्तो भोगप्रत्यययोः** (८.२.५८) ।
६. **ग्रहिज्या०** (६३४) इति सम्प्रसारणे धत्व-जश्त्वे ।
७. शमुँ उपशमे उदित्त्वेन क्त्वायामिड्विकल्पनाद् **यस्य विभाषा** (७.२.१५) इतीण्निषेधः । **अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति** (७२७) इति दीर्घः ।
८. **अनिदितां हल०** इत्युपधानकारलोपः ।

धातु	क्तप्रत्ययान्त	क्तवतुँप्रत्ययान्त
शास् [उपदेश देना]	शिष्टः[1] = उपदिष्ट हुआ;	शिष्टवान् = उपदेश दे चुका
शिक्ष् [सीखना]	शिक्षितः[2] = सीखा गया;	शिक्षितवान् = सीख चुका
शी (ङ्) [सोना]	शयितः[3] = सोया हुआ;	शयितवान् = सो चुका
शुच् [शोक करना[4]]	शोचितः = शोक किया;	शोचितवान् = शोक कर चुका
शुध् [शुद्ध होना]	शुद्धः = शुद्ध हुआ;	शुद्धवान् = शुद्ध हो चुका
शुभ् [शोभा पाना]	शोभितः = शोभा पाया;	शोभितवान् = शोभा पा चुका
शुष् [सूखना]	शुष्कः[5] = सूखा हुआ;	शुष्कवान् = सूख चुका
श्रम् [थकना]	श्रान्तः[6] = थका हुआ;	श्रान्तवान् = थक चुका
श्रि (ञ्) [सेवन करना]	श्रितः = सेवन किया गया;	श्रितवान् = सेवन कर चुका
श्रु [सुनना]	श्रुतः = सुना हुआ;	श्रुतवान् = सुन चुका
श्लिष् [चिपटना]	श्लिष्टः = चिपटा हुआ;	श्लिष्टवान् = चिपट चुका
श्वि [बढ़ना]	शूनः[7] = बढ़ा हुआ;	शूनवान् = बढ़ चुका
सद् [प्रसन्न होना]	प्रसन्नः[8] = प्रसन्न हुआ;	प्रसन्नवान् = प्रसन्न हो चुका
सह् [सहना]	सोढः[9] = सहा गया;	सोढवान् = सह चुका
सान्त्व् [शान्त करना]	सान्त्वितः* = शान्त हुआ;	सान्त्वितवान् = शान्त हो चुका

---

१. 'शासुँ अनुशिष्टौ'। **यस्य विभाषा** (७.२.१५) इतीण्निषेधः। **शास इदङ्हलोः** (७७८) इत्युपधाया इकारः। **शासिवसिघसीनां च** (५५४) इति षत्वे ष्टुत्वम्।

२. सकर्मकोऽयं धातुः। तथा च रघुवंशे (३.३१)—**अशिक्षितास्त्रं पितुरेव मन्त्रवत्** इति। अतोऽत्र कर्मणि क्तः। **प्रवीण-निपुणाऽभिज्ञ-विज्ञ-निष्णात-शिक्षिताः** इत्यमरप्रोक्ते शिक्षा सञ्जाताऽस्येति शिक्षित इत्येवं तारकादित्वादितचि बोध्यम्। ण्यन्ताद्वा निष्ठा बोध्या।

३. **निष्ठा शीङ्स्विदिमिदिक्ष्विदिधृषः** (१.२.१९) इति वचनान्निष्ठाया अकित्त्वम्। तेन गुणः।

४. शोचतिरकर्मकः सकर्मकश्चापि, उभयथा प्रयोगा दृश्यन्ते।

५. **शुषः कः** (८२१) इति निष्ठातकारस्य ककारः।

६. 'श्रमुँ तपसि खेदे च' इत्युदित्त्वेन **उदितो वा** (७.२.५६) इति क्त्वायामिड्विकल्पनान्निष्ठायां **यस्य विभाषा** (७.२.१५) इतीण्निषेधः। **अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति** (७२७) इति दीर्घः।

७. **श्वीदितो निष्ठायाम्** (७.२.१४) इति श्विग्रहणादिण्न। यजादित्वात् सम्प्रसारणे पूर्वरूपे **हलः** (८१९) इति दीर्घे **ओदितश्च** (८२०) इति निष्ठानत्वम्।

८. **रदाभ्याम्०** (८१६) इति निष्ठानत्वम्।

९. तादेरार्धधातुकस्य **तीषसह०** (६५७) इति वेड्विधानाद् **यस्य विभाषा** (७.२.१५) इति निष्ठायामिण्निषेधः। ढत्व-धत्व-ष्टुत्व-ढलोपेषु कृतेषु **सहिवहोरोदवर्णस्य** (५५१) इत्यवर्णस्य ओकारः।

धातु	क्तप्रत्ययान्त	क्तवतुँप्रत्ययान्त
सिच् [सींचना]	सिक्तः=सींचा गया;	सिक्तवान्=सींच चुका
सिध् [सिद्ध होना]	सिद्धः=सिद्ध हुआ;	सिद्धवान्=सिद्ध हो चुका
सू [पैदा करना]	सूतः=पैदा किया गया;	सूतवान्=पैदा कर चुका
सूच् [सूचित करना]	सूचितः*=सूचित किया;	सूचितवान्=सूचित कर चुका
सृ [गमन करना]	सृतः=गमन कर चुका;	सृतवान्=गमन कर चुका
सृज् [पैदा करना]	सृष्टः[1]=पैदा किया गया;	सृष्टवान्=पैदा कर चुका
सेव् [सेवन करना]	सेवितः=सेवन किया गया;	सेवितवान्=सेवन कर चुका
स्खल् [फिसलना]	स्खलितः=फिसला हुआ;	स्खलितवान्=फिसल चुका
स्तु [स्तुति करना]	स्तुतः=स्तुति किया गया;	स्तुतवान्=स्तुति कर चुका
स्था [ठहरना]	स्थितः[2]=ठहरा हुआ;	स्थितवान्=ठहर चुका
स्ना [नहाना]	स्नातः=स्नान कर चुका;	स्नातवान्=स्नान कर चुका
स्पृश् [छूना]	स्पृष्टः=छुआ हुआ;	स्पृष्टवान्=छू चुका
स्मृ [याद करना]	स्मृतः=याद किया गया;	स्मृतवान्=याद कर चुका
स्रु [टपकना]	स्रुतः=टपका हुआ;	स्रुतवान्=टपक चुका
स्वप् [सोना]	सुप्तः[3]=सोया हुआ;	सुप्तवान्=सो चुका
हन् [मारना]	हतः[4]=मारा गया;	हतवान्=मार चुका
हस् [हंसना]	हसितः[5]=हंस चुका;	हसितवान्=हंस चुका
हा [छोड़ना]	हीनः[6]=छोड़ा गया;	हीनवान्=छोड़ चुका
हिंस् [मारना]	हिंसितः=मारा गया;	हिंसितवान्=मार चुका
हु [हवन करना]	हुतः=होमा गया;	हुतवान्=होम कर चुका
हृ [हरना]	हृतः=हरा गया;	हृतवान्=हर चुका
ह्री [शर्माना]	ह्रीणः[7]=शर्मा चुका;	ह्रीणवान्=शर्मा चुका
	ह्रीतः=शर्मा चुका;	ह्रीतवान्=शर्मा चुका
ह्वे [बुलाना]	आहूतः[8]=बुलाया गया;	आहूतवान्=बुला चुका

१. व्रश्चभ्रस्जसृज० (३०७) इति षत्वे ष्टुत्वम् । एवं स्पृष्ट इत्यत्रापि ।
२. द्यतिस्यतिमास्थामित् ति किति (७.४.४०) इति इत्वम् ।
३. वचिस्वपि० (५४७) इति सम्प्रसारणम् ।
४. अनुदात्तोपदेशवनति० (५५६) इत्यनुनासिकलोपः ।
५. हसतिः सकर्मकोऽपि । आपद्गतं हससि किं द्रविणान्ध मूढ इत्यत्र यथा ।
६. घुमास्थागापाजहातिसां हलि (५८८) इत्यनेन ईत्वे, ओदितश्च (८२०) इति निष्ठानत्वम् ।
७. नुदविदोन्दत्राघ्राह्रीभ्योऽन्यतरस्याम् (८.२.५६) इति निष्ठानत्वविकल्पः ।
८. यजादित्वात् सम्प्रसारणे हलः (८१९) इति दीर्घत्वम् ।

अभ्यास (४)

(१) निष्ठा किसे कहते हैं ? यह किस अर्थ में किया जाता है ? स्पष्ट करें।

(२) प्रश्नों का सप्रमाण उत्तर दीजिये—

[क] 'मत्तः' में 'रदाभ्यां निष्ठातो०' सूत्र क्यों प्रवृत्त नहीं होता ?

[ख] 'ध्यातः, ख्यातः' में 'संयोगादेरातो०' द्वारा नत्व क्यों नहीं होता ?

[ग] 'लूनः, शीर्णः' में धातु के सेट् होने पर भी इट् क्यों नहीं होता ?

[घ] धातुओं को ओदित् और ईदित् करने का क्या प्रयोजन है ?

[ङ] 'दो दद् घोः' में 'घोः' ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

[च] क्तवतुँ क्तप्रत्यय की तरह भाव और कर्म में क्यों नहीं होता ?

[छ] ल्वादि धातु इक्कीस हैं या तेईस ? टिप्पणी लिखिये।

[ज] संख्येय अर्थ में विंशति शब्द के तीन उदाहरण दीजिये।

(३) तान्ते दोषो दीर्घत्वं—कारिका की व्याख्या कीजिये।

(४) ससूत्र सिद्धि करें—

द्राणः, शुष्कः, पक्वः, क्षामः, भावितवान्, दृढः, हितम्, दत्तः, उच्छूनः, लूनः, भिन्नः, शीर्णः।

(५) अन्तर स्पष्ट करें—

'पीतः' और 'पातः' में; 'गुफितः' और 'गुम्फितः' में; 'विदितः' और 'विन्नः' में; 'मत्तः' और 'मतः' में; 'क्षीणः' और 'क्षितः' में।

(६) पांच हेतुमण्णिजन्त धातुओं के निष्ठा में रूप लिखिये।

(७) सूत्रों की व्याख्या करें—

निष्ठायां सेटि; रदाभ्यां निष्ठा०; ओदितश्च; संयोगादेरातो०; हलः; स्वादय ओदितः।

(८) कर्त्ता और कर्म में कौन-सी विभक्ति होगी ?

क्तवतुँ के प्रयोग में, कर्मणि क्त के प्रयोग में, कर्तरि क्त के प्रयोग में, भावे क्त के प्रयोग में।

(९) संयोगादेरातो० में 'संयोगादेः' तथा 'यण्वतः' ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

(१०) निम्नस्थ धातुओं के निष्ठा में रूप लिखते हुए अवान्तर प्रक्रिया का भी निर्देश करें—

ओहाक्, स्था, शीङ्, वह्, ब्रू, टुओँश्वि, खिद्, स्वप्, क्षि, कृत्, गै, घ्रा, जन्, ग्लै, प्र √ यत्, दुह्, तॄ, ज्या, धाव्, ध्वंस्, नह्, गम्, मस्ज्, भ्रम्, बन्ध्, पूञ्, लभ्, डुदाञ्, डुधाञ्, रुह्, वेञ्।

(११) किसी धातु के क्तान्त रूप के साथ 'वत्' लगा देने से उस धातु का क्तवत्वन्तरूप बन जाता है—इस का आप क्या कोई अपवाद बता सकते हैं ? (क्षितः—क्षीणवान्)

—:०:—

कानच् (वेदमात्र)

क्वसुँ (लिट्)

अब लिँट् के स्थान पर होने वाले कानच् और क्वसुँ प्रत्ययों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८२८) लिँटः कानज्वा ।३।२।१०६॥

विधि-सूत्रम्—(८२९) क्वसुँश्च ।३।२।१०७॥

लिँटः कानच् क्वसुँश्च वा स्तः । तङानावात्मनेपदम् (३७७) । चक्राणः ॥

अर्थः—लिँट् के स्थान पर कानच् और क्वसुँ आदेश विकल्प से होते हैं। **तङानौ**—इन में कानच् **तङानावात्मनेपदम्** (३७७) सूत्र से आत्मनेपदसंज्ञक है।

व्याख्या—लिँटः ।६।१। कानच् ।१।१। वा इत्यव्ययपदम् । क्वसुँः ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । **प्रथम सूत्र का अर्थ**—(लिँटः) लिँट् के स्थान पर (कानच्) कानच् आदेश (वा) विकल्प से हो । **द्वितीयसूत्र का अर्थ**—(लिँटः) लिँट् के स्थान पर (क्वसुँः) क्वसुँ आदेश (च) भी (वा) विकल्प से हो ।[1] इन दोनों सूत्रों से पूर्व अष्टाध्यायी में **छन्दसि लिँट्** (३.२.१०५) सूत्र पढ़ा गया है । जिस का अर्थ है—वेद में भूतसामान्य में लिँट् प्रत्यय होता है। इसी वैदिक लिँट् के स्थान पर यहां इन दो सूत्रों के द्वारा कानच् वा क्वसुँ आदेश विधान किये जा रहे हैं ।[2] अतः इन दोनों को भी वैदिक ही समझना चाहिये —**छान्दसौ कानच्क्वसू** (महाभाष्य ३.२.१०७), परन्तु इन में से द्वितीय वैदिक आदेश

---

१. यहां पर 'लिँटः कानच्क्वसू वा' इस प्रकार एक ही सूत्र न बना कर दो सूत्रों का निर्माण इसलिये किया गया है कि अष्टाध्यायी में अगले **भाषायां सद-वस-श्रुवः** (३.२.१०८) सूत्र में क्वसुँ का ही अनुवर्त्तन हो कानच् का नहीं, अन्यथा दोनों की अनुवृत्ति जा कर भ्रम उत्पन्न हो जाता ।

२. पिछले **छन्दसि लिँट्** (३.२.१०५) सूत्र से लिँट् का अनुवर्त्तन हो कर उसे विभक्तिविपरिणाम से 'लिँटः' बनाया जा सकता था तो पुनः यहां 'लिँटः' का उल्लेख क्यों किया गया है ? इस शङ्का का समाधान करते हुए काशिकाकार कहते हैं कि 'लिँटः' का पुनरुल्लेख इसलिये किया गया है कि **परोक्षे लिँट्** (३९१) द्वारा परोक्ष अनद्यतन भूत में विधान किये गये लिँट् के स्थान पर भी कानच्-क्वसुँ हो जायें। परन्तु हरदत्तमिश्र-भट्टोजिदीक्षित-नागेशभट्ट प्रभृति वैयाकरणों का कहना है कि यदि यहां 'लिँटः' का पुनरुल्लेख न करते तो ये कानच् और क्वसुँ आदेश लिँट् के स्थान पर न हो कर धातु से परे स्वतन्त्र प्रत्यय ही समझ लिये जाते । इस से लिण्निमित्तक द्वित्वादि उपपन्न न हो सकता अतः आचार्य ने शब्दलाघव का मोह छोड़ अर्थलाघव को ध्यान में रखते हुए 'लिँटः' का पुनरुल्लेख करना ही उचित समझा है । **अनन्तरस्य विधिर्भवति प्रतिषेधो वा** इस परिभाषा के अनुसार यहां इसी अनन्तरोक्त भूतसामान्य में विहित लिँट् के स्थान पर ही ये आदेश करने चाहियें दूरपठित **परोक्षे लिँट्** (३९१) वाले लिँट् के स्थान पर नहीं । इन वैयाकरणों की युक्तियों में पर्याप्त बल प्रतीत होता है ।

क्वसुँ का लोक में भी कवियों द्वारा बहुधा प्रयोग देखा जाता है।[1] स्वयं भाष्यकार ने भी **विभाषा पूर्वाह्लापराह्लाभ्याम्** (४.३.२४) सूत्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में **पपुष आगतं पपिवद्रूप्यम्** ऐसा प्रयोग किया है। इस में 'पपुषः' यह 'पपिवस्' इस वैदिक क्वस्वन्त का षष्ठ्येकवचनान्तरूप प्रयुक्त किया गया है। इस से स्पष्ट हो जाता है कि लोक में भी क्वचित् वैदिक क्वस्वन्तों का प्रयोग अनुमत है। अतः वैदिक होने पर भी यहां लघुकौमुदी में इन का उल्लेख किया गया है।

लिँट्प्रत्यय **कृदतिङ्** (३०२) के अनुसार कृत्संज्ञक है अतः इस के स्थान पर आदेश होने से स्थानिवद्भाव के कारण इन की भी कृत्संज्ञा तथा प्रत्ययसंज्ञा हो जाती है। कानच् में चकार **चितः** (६.१.१६०) द्वारा अन्तोदात्त स्वर के लिये तथा ककार कित्कार्यों के लिए जोड़ा गया है, 'आन' मात्र अवशिष्ट रहता है। इसी प्रकार क्वसुँ में उँकार उगित्कार्यों के लिये तथा ककार कित्कार्यार्थ जोड़ा गया है, 'वस्' मात्र अवशिष्ट रहता है।

कानच् **तङानावात्मनेपदम्** (३७७) के अनुसार आत्मनेपदसंज्ञक है। अतः जिन धातुओं से **अनुदात्तङित आत्मनेपदम्** (३७८) **स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले** (३७९) आदि सूत्रों द्वारा आत्मनेपद का विधान है उन धातुओं से परे ही लिँट् के स्थान पर कानच् का विधान समझना चाहिये। क्वसुँ आदेश **लः परस्मैपदम्** (३७६) के अनुसार लादेश होने से परस्मैपदसंज्ञक है अतः परस्मैपदी धातुओं से ही इस की प्रवृत्ति होती है आत्मनेपदियों से नहीं।

कानच् का उदाहरण यथा—

कृ (डुकृञ् करणे, तना० उभ०) धातु से कर्तृविवक्षा में भूतसामान्य में **छन्दसि लिँट्** (३.२.१०५) द्वारा लिँट् प्रत्यय, पुनः क्रियाफल के कर्तृगामी होने के कारण **लिँटः कानज्वा** (८२८) से लिँट् को आत्मनेपदसंज्ञक कानच् आदेश हो कर अनुबन्ध-लोप करने से—कृ + आन। अब लिँङादेश कानच् (आन) को स्थानिवद्भाव के कारण

---

१. वैदिक क्वस्वन्तों का कवियों द्वारा प्रयोग यथा—
तं तस्थिवांसं नगरोपकण्ठे (रघु० ५.६१); **श्रेयांसि सर्वाण्यधिजग्मुषस्ते** (रघु० ५.३४); **बाणभिन्नहृदया निपेतुषी** (रघु० ११.१९); **पदमातस्थुषा त्वया** (पुरुषोत्तमदेवकृत भाषावृत्ति में उद्धृत ३.२.१०७)।

न्यासकार, क्षीरस्वामी, रामचन्द्राचार्य तथा विट्ठल आदि अनेक वैयाकरण कानच् को भी लोक-वेदोभयवर्त्ती मानते हैं। क्षीरस्वामी ने **शिश्विदानोऽकृष्णकर्मा** अमरकोष के इस स्थल की व्याख्या के प्रसंग में कानच् को स्पष्ट लौकिक भी माना है। परन्तु अन्य अनेक वैयाकरण 'शिश्विदानः' को **श्वितेर्दश्च** (उणा० २.९३) इस उणादिसूत्र से सिद्ध करते हैं। हमें वर्त्तमान पाणिन्युत्तर लौकिक-साहित्य में अभी तक कानच्-प्रत्ययान्त कोई शब्द नहीं मिला। हां महाभारत में इस के प्रयोग उपलब्ध हैं—**ततो महद्भिः क्रतुभिरीजानो भरतस्तथा** (महा० आदि० ६४.२२) यहां प्रयुक्त 'ईजानः' प्रयोग यज् धातु का कानच्प्रत्ययान्त रूप है।

लिँट् मान कर **लिँटि धातोरनभ्यासस्य** (३६४) से द्वित्व, **उरत्** (४७३) से अत्व, रपरत्व, हलादिशेष (३६६) तथा **कुहोश्चुः** (४५४) से अभ्यास के ककार को चकार आदेश हो कर—चकृ+आन। 'आन' के आर्धधातुक होने से **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से प्राप्त गुण का कानच् के कित्त्व के कारण **क्ङिति च** (४३३) से निषेध हो जाता है। अब **इको यणचि** (१५) से ऋकार को यण् = रेफ तथा **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** (१३८) से नकार को णकार करने पर—चक्राण। स्थानिवद्भाव से कृदन्त होने के कारण इस की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर सुँ आदियों की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार सुँ विभक्ति में 'चक्राणः' प्रयोग सिद्ध होता है। वेद में प्रयोग यथा—**अग्निर्भुवद् रयिपती रयीणां सत्रा चक्राणो अमृतानि विश्वा** (ऋग्वेद सं. १.७२.१)।

कानच् प्रत्यय विकल्प से होता है अतः कहीं कहीं वेद में भूतसामान्य में लिँट् हो कर उस के स्थान पर तिङ् का श्रवण भी होता है। यथा—**अहं सूर्यमुभयतो ददर्श** (यजु० ८.६); **अहं द्यावापृथिवी आततान** (तै०ब्रा० १.२.१३३)। ध्यान रहे कि यहां परोक्ष न होने से लिँट् प्राप्त न था अतः भूतसामान्य में लिँट् का विधान किया गया है।

इसी प्रकार—यज्+कानच्, इज्+आन [**वचिस्वपियजादीनां किति** (५४७) से सम्प्रसारण], इज् इज्+आन [द्वित्व], ईजान, ईजानः (यज्ञ कर चुका)। **यैरीजानाः स्वर्गं यन्ति लोकम्** (अ० ११.४.२)। पच्+कानच्=पेचानः [द्वित्व, एत्वाभ्यासलोप, पका चुका]। स्तु+कानच्=तुष्टुवानः [स्तुति कर चुका]। श्रु+कानच्=शुश्रुवाणः [उवँङ्, सुन चुका]। कॄ+कानच्=चिकिराणः [धातु के ॠकार को पहले इर् हो कर पुनः द्वित्व होता है; बिखेर चुका]। तॄ+कानच्=तितिराणः [तैर चुका] इत्यादि अनेक वैदिक शब्द सिद्ध होते हैं।

क्वसुँ आदेश का उदाहरण यथा—

गम् (गम्लृँ गतौ, भ्वा० प०) धातु से कर्तृविवक्षा में भूतसामान्य में **छन्दसि लिँट्** (३.२.१०५) से लिँट् प्रत्यय हो कर **क्वसुँश्च** (८२९) से उसे क्वसुँ आदेश हो जाता है। तब क्वसुँ के अनुबन्धों का लोप करने पर—गम्+वस्। स्थानिवद्भाव के कारण क्वसुँ को लिड्वत् मान कर **लिँटि धातोरनभ्यासस्य** (३६४) से द्वित्व, अभ्यासकार्य हलादिशेष तथा चुत्व से गकार को जकार करने पर—जगम्+वस्। अब **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** (४०१) से प्राप्त इट् का यद्यपि **नेड्वशि कृति** (८००) से निषेध हो जाता है तथापि क्रादिनियम (४७६) से इट् की प्राप्ति अक्षुण्ण रहती है। इस पर **वस्वेकाजाद्घसाम्** (७.२.६७[1]) इस नियम से इट् का पुनः निषेध हो कर अन्त में **विभाषा गम-हन-विद-विशाम्** (७.२.६८[2]) से इट् का विकल्प हो जाता है। इट्पक्ष में

१. **वस्वेकाजाद्घसाम्** (७.२.६७) द्वित्व करने पर भी जो धातु एकाच् रहे उस धातु से परे तथा आकारान्त और घस् धातु से परे वसुँ को इट् का आगम होता है अन्यों से नहीं।

२. **विभाषा गम-हन-विद-विशाम्** (७.२.६८) गम्, हन्, विद् (विन्द्) और विश् धातुओं से परे वसुँ को विकल्प से इट् का आगम हो।

गमहनजन० (५०५) से उपधालोप हो जाता है—'जग्मिवस्' । परन्तु इट् के अभाव में 'जगम्+वस्' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है —

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८३०) **म्वोश्च** ।८।२।६५।।

मान्तस्य धातोर्नत्वं म्वोः परतः । जगन्वान् ।।

अर्थः—मकारान्त धातु के मकार को नकार आदेश होता है मकार या वकार परे होने पर ।

व्याख्या—म्वोः ।७।२। च इत्यव्ययपदम् । मः ।६।१। नः ।१।१। (नकारादकार उच्चारणार्थः) । धातोः ।६।१। (**मो नो धातोः** से) । म् च व् च म्वौ, तयोः=म्वोः, इतरेतरद्वन्द्वः । 'मः' यह 'धातोः' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'मकारान्तस्य धातोः' बन जाता है । अर्थः -- (म्वोः) मकार या वकार परे होने पर (च) भी (मः=मकारान्तस्य) मकारान्त (धातोः) धातु के स्थान पर (नः) 'न्' यह आदेश हो जाता है । अष्टाध्यायी में इस सूत्र से पूर्व **मो नो धातोः** (२७०) सूत्र द्वारा मकारान्त धातु को पदान्त में नत्व विधान कर चुके हैं अब यहां पुनः उसे मकार वकार परे होने पर भी नकार आदेश किया जा रहा है अतः सूत्र में 'च' लगाया गया है । मकारान्त धातु को कहा गया यह नकारादेश अलोऽन्त्यपरिभाषा के द्वारा मकारान्त धातु के अन्त्य अल्—मकार के स्थान पर ही होता है । अगन्व, अगन्म—ये इस सूत्र के उदाहरण हैं । वेद में गम् धातु से लँङ् में शप् का **बहुलं छन्दसि** (२.४.७३) से लुक् हो कर धातु के मकार को मकार वकार के परे होने पर नकार आदेश करने से ये रूप सिद्ध होते हैं ।

प्रकृत में 'जगम्+वस्' यहां 'वस्' का वकार परे है अतः प्रकृतसूत्र से 'जगम्' इस मकारान्त के अन्त्य मकार को नकार आदेश हो कर 'जगन्वस्' यह कृदन्त शब्द निष्पन्न होता है । 'जग्मिवस्' और 'जगन्वस्' ये दोनों शब्द वसुँप्रत्ययान्त हैं अतः इन से स्वादिप्रक्रिया 'विद्वस्' शब्द की तरह होती है । सुँ में **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** (२८९) में नुँम् आगम, **सान्तमहतः संयोगस्य** (३४२) से सकारान्त संयोग के नकार की उपधा को दीर्घ हो—जग्मिवान्स्+स्; जगन्वान्स्+स् । अब हल्ङ्याब्भ्यो० (१७९) तथा **संयोगान्तस्य लोपः** (२०) से संयोगान्तलोप करने से—'जग्मिवान्' और 'जगन्वान्' प्रयोग सिद्ध होते हैं । ध्यान रहे कि इन में संयोगान्तलोप के असिद्ध होने से **नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से नकार का लोप नहीं होता । शस् में—'जग्मिवस्+अस्', 'जगन्वस्+अस्' इस अवस्था में '**वसोः सम्प्रसारणम्**' (३५३) से वसुँ के वकार को सम्प्रसारण तथा '**सम्प्रसारणाच्च**' (२५८) से पूर्वरूप हो जाता है । इट्पक्ष में इट् की निवृत्ति तथा इडभावपक्ष में नत्व की निवृत्ति **अकृतव्यूहाः पाणिनीयाः** परिभाषा से हो कर उपधालोप हो जाता है (देखें ३५३ सूत्र पर टिप्पण) । इस प्रकार दोनों पक्षों में 'जग्मुषः' प्रयोग सिद्ध होता है । इन शब्दों की पृथक् पृथक् रूपमाला यथा—[जग्मिवस्]—जग्मिवान्, जग्मिवांसौ, जग्मिवांसः । जग्मिवांसम्, जग्मिवांसौ,

जग्मुषः । जग्मुषा, जग्मिवद्भ्याम्[1], जग्मिवद्भिः । जग्मुषे, जग्मिवद्भ्याम्, जग्मिवद्भ्यः । जग्मुषः, जग्मिवद्भ्याम्, जग्मिवद्भ्यः । जग्मुषः, जग्मुषोः, जग्मुषाम् । जग्मुषि, जग्मुषोः, जग्मिवत्सु । हे जग्मिवन् !, हे जग्मिवांसौ !, हे जग्मिवांसः !। [जगन्वस्]—जगन्वान्, जगन्वांसौ, जगन्वांसः । जगन्वांसम्, जगन्वांसौ, जग्मुषः । जग्मुषा, जगन्वद्भ्याम्, जगन्वद्भिः । जग्मुषे, जगन्वद्भ्याम्, जगन्वद्भ्यः । जग्मुषः, जगन्वद्भ्याम्, जगन्वद्भ्यः । जग्मुषः, जग्मुषोः, जग्मुषाम् । जग्मुषि, जग्मुषोः, जगन्वत्सु । हे जगन्वन् !, हे जगन्वांसौ !, हे जगन्वांसः !।

इसी प्रकार—अद्+क्वसुँ=आदिवान्; दा+क्वसुँ=ददिवान्; हन्+क्वसुँ=जघ्निवान्-जघन्वान्; दृश्+क्वसुँ=ददृशिवान्; स्था+क्वसुँ=तस्थिवान्; कृ+क्वसुँ=चकृवान्; पा+क्वसुँ=पपिवान्; रा+क्वसुँ=ररिवान्; भू+क्वसुँ=बभूवान् इत्यादि वैदिक प्रयोग जानने चाहियें ।

मुनित्रयानुसार कानच् और क्वसुँ यद्यपि वैदिक प्रत्यय (आदेश) माने गये हैं तथापि निम्नस्थ आठ क्वसुँ प्रत्ययान्तों तथा एक कानच्प्रत्ययान्त अर्थात् कुल नौ शब्दों का प्रयोग लोक में अष्टाध्यायीसम्मत है[2] । इन के विधायक-सूत्र हैं—**भाषायां सदवसश्रुवः** (३.२.१०८) **उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च** (३.२.१०९) **दाश्वान् साह्वान् मीढ्वांश्च** (६.१.१२) । इन सूत्रों की व्याख्या काशिका आदि व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखें—

(१) इण्—उपेयिवस्[3] [प्राप्त कर चुका] । उपेयिवान्, (शसि) उपेयुषः ।
(२) अश्—अनाश्वस् [भोजन न कर चुका] । अनाश्वान्, (शसि) अनाशुषः ।
(३) सद्—सेदिवस् [गमन कर चुका] । सेदिवान्, (शसि) सेदुषः ।
(४) वस्—ऊषिवस् [रह चुका] । ऊषिवान्, (शसि) ऊषुषः ।
(५) श्रु—शुश्रुवस् [सुन चुका] । शुश्रुवान् (शसि) शुश्रुवुषः (उवँङ्) ।
(६) दाश्—दाश्वस् [दे चुका] । दाश्वान्, (शसि) दाशुषः ।
(७) सह्—साह्वस् [अभिभव कर चुका] । साह्वान्, (शसि) साहुषः ।
(८) मिह्—मीढ्वस् [सींच चुका] । मीढ्वान्, (शसि) मीढुषः ।
(९) वच्—अनूचान [कानजन्त; सांग वेद का प्रवचन कर चुका] । अनूचानः, अनूचानौ, अनूचानाः (रामवत्) ।

लोक में इन के प्रयोग यथा—

(क) **रावणः शुश्रुवाञ्छत्रून् राक्षसानभ्युपेयुषः ।**
स्वयं युयुत्सयाञ्चक्रे प्राकाराग्रे निषेदिवान् ॥ (भट्टि० १४.२२)

---

१. भ्याम्, भिस्, भ्यस् आदि में **वसुँस्रंसुँध्वंस्वनडुहां दः** (२६२) से दत्व हो जाता है ।

२. यहां यह ध्यातव्य है कि लोक में इन शब्दों में धातु से भूतसामान्य में लिँट् होकर नित्य क्वसुँ आदेश हो जाता है, अतः विकल्प न होने से भूतसामान्य में लिँट् के तिङन्त प्रयोग नहीं पाये जाते ।

३. यहां 'उप' उपसर्ग अतन्त्र है । उपसर्ग के विना या अन्य उपसर्ग के साथ भी इस का प्रयोग हो सकता है । यथा— ईयिवान्, समीयिवान् आदि ।

शतृ, शानच्

(ख) निषेदुषीमासनबन्धधीरः[1] । (रघु० २.६)
(ग) अध्यूषुषस्तामभवज्जनस्य । (माघ ३.५६)
(घ) उपेयुषः स्वामपि मूर्त्तिमग्र्याम् । (रघु० ६.७३)
(ङ) तस्यै मुनिर्दोहदलिङ्गदर्शी दाश्वान् सुपुत्राशिषमित्युवाच । (रघु० १४.७१)
(च) प्रसेदिवांसं तमुपाससाद । (किरात० ३.२४)
(छ) अभिरश्मिमालि विमलस्य धृतजयधृतेरनाशुषः ।
तस्य भुवि बहुतिथास्तिथयः प्रतिजग्मुरेकचरणं निषीदतः ॥
(किरात० १२.२)

अभ्यास (५)

(१) क्वसुँ प्रत्यय पर इट्-विषयक एक टिप्पण लिखिये ।
(२) लिँटः कानज्वा में 'वा' ग्रहण का प्रयोजन स्पष्ट कीजिये ।
(३) क्वसुँप्रत्ययान्त कितने और कौन-कौन से शब्द व्याकरणानुसार लोक में प्रयुक्त हो सकते हैं ?
(४) कानच् प्रत्यय वैदिक है—अपवादनिर्देशपूर्वक इस पर टिप्पण लिखिये ।
(५) सूत्रों की व्याख्या करें—
म्वोश्च; वस्वेकाजाद्घसाम्; लिँटः कानज्वा ।
(६) निम्नस्थ रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—
जगन्वान्; चक्राणः; जग्मुषः; तस्थिवान्; तस्थुषी ।
(७) वैदिकक्वस्वन्तों के कवियों द्वारा प्रयुक्त चार उदाहरण दीजिये ।
(८) उपेयिवस् और जगन्वस् शब्दों की रूपमाला लिखें ।
(९) जग्मिवस्, शुश्रुवस्, सेदिवस् और अनूचान शब्दों के स्त्रीलिङ्ग में रूप लिखें ।

——:०:——

अब कृदन्तों में सुप्रसिद्ध शतृँ और शानच् प्रत्ययों का प्रकरण प्रारम्भ करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८३१) लँटः शतृँशानचावप्रथमासमानाधिकरणे ।३।२।१२४।।

अप्रथमान्तेन समानाधिकरणे लँट एतौ वा [?] स्तः । शबादिः । पचन्तं चैत्रं पश्य ।।

१. ध्यान रहे कि क्वस्वन्तों के स्त्रीत्व की विवक्षा में उगितश्च (१२४६) से ङीप् हो कर समग्र शस्प्रत्ययवत् सम्प्रसारणादि प्रक्रिया होती है । यथा—(पुं०) उपेयिवान्; (स्त्री०) उपेयुषी । (पुं०) अनाश्वान्; (स्त्री०) अनाशुषी । (पुं०) सेदिवान्; (स्त्री०) सेदुषी । (पुं०) ऊषिवान् (स्त्री०) ऊषुषी । (पुं०) शुश्रुवान्; (स्त्री०) शुश्रुवुषी । (पुं०) दाश्वान्; (स्त्री०) दाशुषी । (पुं०) जग्मिवान्; (स्त्री०) जग्मुषी । अनूचान आदि कानजन्तों से स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् हो जाता है—अनूचाना, चक्राणा आदि ।

अर्थः—अप्रथमान्त अर्थात् द्वितीयान्त आदि पदों के साथ यदि लँट् का अधिकरण [वाच्य] समान=अभिन्न हो तो लँट् के स्थान पर शतृँ और शानच् आदेश होते हैं। **शबादि**—शतृँ और शानच् के शित् होने से सार्वधातुकसंज्ञा के कारण शप् आदि विकरण हो जाते हैं।

व्याख्या—लँटः ।६।१। शतृँ-शानचौ ।१।२। अप्रथमासमानाधिकरणे ।७।१। समासः—शता च शानच् च शतृँ-शानचौ, इतरेतरद्वन्द्वः। न प्रथमा अप्रथमा, नञ्समासः, पर्युदासप्रतिषेधः[1]। 'प्रथमा' यह 'सुँ-औ-जस्' प्रत्ययों की प्रसिद्धि है अतः **प्रत्यय-ग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः** इस परिभाषा के अनुसार प्रथमा से प्रथमान्त का ग्रहण होता है। समानम्=अभिन्नम् अधिकरणम्=वाच्यं यस्य स समानाधिकरणः, बहुव्रीहिसमासः। अप्रथमया (अप्रथमान्तेन=द्वितीयान्तादिना) समानाधिकरणः=अप्रथमा-समानाधिकरणः, तस्मिन् अप्रथमासमानाधिकरणे (लँटि सति), तृतीयातत्पुरुषः, भावे सप्तमी। अर्थः—(अप्रथमासमानाधिकरणे) अप्रथमान्त अर्थात् द्वितीयान्त आदि के साथ समान अधिकरण=वाच्य हो तो (लँटः) लँट् के स्थान पर (शतृँ-शानचौ) शतृँ और शानच् आदेश हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि द्वितीयान्त आदि पद जिस अधिकरण या वाच्य अर्थात् कर्त्ता वा कर्म को कहता है यदि लँट् भी उसी को कहे तो उस लँट् के स्थान पर शतृँ और शानच् आदेश हो जाते हैं। यथा—पचन्तं चैत्रं पश्य, पचमानं चैत्रं पश्य (जो पका रहा है उस चैत्र को देखो अथवा पकाते हुए चैत्र को देखो)। यहां 'चैत्रम्' यह द्वितीयान्त होने से अप्रथमान्त पद है, यह जिस अधिकरण या वाच्य को कहता है पच्धातु से वर्त्तमानकाल में लाया गया लँट् भी उसी को कहता है अतः लँट् का अप्रथमान्त के साथ समान या अभिन्न अधिकरण है तो इस अवस्था में लँट् के स्थान पर शतृँ या शानच् प्रत्यय हो जाता है। इसी तरह—पचता चैत्रेण दृष्टम्, पचते चैत्राय देहि, पचतश्चैत्रादानीतम्, पचतश्चैत्रस्य समीपादागतः, पचति चैत्रे गतोऽसौ इत्यादियों में तृतीयान्त आदियों के सामानाधिकरण्य में भी समझ लेना चाहिये।

लँट् के स्थान पर आदिष्ट होने से स्थानिवद्भाव (४४) के कारण शतृँ और शानच् कृत् तथा प्रत्ययसंज्ञक हो जाते हैं। शतृँ प्रत्यय का अन्त्य ऋकार **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (२८) द्वारा तथा आदि शकार **लशक्वतद्धिते** (१३६) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है—'अत्' मात्र शेष रहता है। शानच् का आदि शकार भी **लशक्वतद्धिते** (१३६) द्वारा तथा अन्त्य चकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है 'आन' अंश शेष रहता है। शतृँ और शानच् दोनों शित् प्रत्यय हैं अतः **तिङ्शित् सार्वधातुकम्** (३८६) के अनुसार दोनों सार्वधातुकसंज्ञक हैं अतः इन के परे होने पर धातु से कर्तृवाच्य में **कर्त्तरि शप्** (३८७), **दिवा-**

---

१. अत एव **पर्युदासः सदृग्ग्राही** के अनुसार प्रथमा से भिन्न तत्सदृश अर्थात् द्वितीयादि का ग्रहण होता है।

दिभ्यः श्यन् (३२९) आदि से शप् श्यन् आदि तथा कर्मवाच्य में सार्वधातुके यक् (७५२) से यक् विकरण हो जाता है। शतृँ में ऋकार उगिदचां० (२८९) आदि उगित्कार्यों के लिये तथा शानच् का चकार चितः (६.१.१६०) द्वारा अन्तोदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है। शतृ प्रत्यय लः परस्मैपदम् (३७६) से परस्मैपदसंज्ञक तथा शानच् (आन) प्रत्यय तङानावात्मनेपदम् (३७७) से आत्मनेपदसंज्ञक है अतः परस्मैपदी धातुओं से परे लँट् के स्थान पर शतृँ तथा आत्मनेपदी धातुओं से परे शानच् आदेश होता है।

सूत्र का उदाहरण यथा—पचन्तं चैत्रं पश्य (पकाते हुए चैत्र को देखो)। यहां पच् (डुपचँष् पाके, भ्वा० उभय०) धातु से कर्तृवाच्य में वर्त्तमाने लँट् (३७४) द्वारा वर्त्तमानकाल में लँट् प्रत्यय हो कर अनुबन्धों का लोप करने से 'पच्+ल्' हुआ। यहां लँट् का वाच्य वही है जो 'चैत्रम्' इस द्वितीयान्त पद का है अतः अप्रथमान्त के साथ समान अर्थात् अभिन्न अधिकरण वाला होने के कारण लँट् के लकार के स्थान पर प्रकृतसूत्र से शतृँ आदेश हो कर अनुबन्धों का लोप करने से 'पच्+अत्' हुआ। अब तिङ्शित् सार्वधातुकम् (३८६) द्वारा शतृँ के सार्वधातुक होने के कारण कर्त्तरि शप् (३८७) से शप् प्रत्यय आ कर शकार पकार का लोप करने से—पच् अ+अत्। पुनः अतो गुणे (२७४) से पररूप एकादेश करने पर 'पचत्' यह कृदन्त शब्द उत्पन्न होता है। अब इस से कर्म की विवक्षा में द्वितीया के एकवचन 'अम्' प्रत्यय को लाने पर उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः (२८९) से नुँम् आगम, अनुबन्धलोप, अपदान्त नकार को अनुस्वार (७८) तथा अनुस्वार को परसवर्ण (७९) करने पर 'पचन्तम्' प्रयोग सिद्ध होता है—पचन्तं चैत्रं पश्य। इसी प्रकार द्वितीया के अन्य वचनों तथा तृतीयादि विभक्तियों में भी प्रक्रिया जाननी चाहिये। 'पचत्' की सुबन्तप्रक्रिया इस ग्रन्थ के प्रथमभागस्थ (३४३) सूत्र पर कहे शत्रन्त 'भवत्' (होता हुआ) शब्द की तरह समझनी चाहिये—यह सब वहां सविस्तर लिख चुके हैं।[1]

पच् (डुपचँष् पाके) धातु स्वरितेत् है अतः क्रियाफल के कर्तृगामी होने पर स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले (३७९) से आत्मनेपद करना होगा। तब 'शतृँ' न हो कर लँट् के स्थान पर आत्मनेपदसंज्ञक शानच् प्रत्यय किया जायेगा। शानच्

---

१. इस सूत्र (८३१) की वृत्ति (अर्थ) में 'वा' (विकल्प) का उल्लेख सर्वत्र लघुकौमुदी के मुद्रित संस्करणों में पाया जाता है जो स्पष्टतः अपपाठ और विद्यार्थियों के लिये भ्रमोत्पादक है। यदि यहां शतृँ-शानच् का विधान वैकल्पिक मानें तो 'पचन्तं चैत्रं पश्य' के दूसरे पक्ष में क्या रूप बनेगा ? यह कोई नहीं बता सकता। यदि नन्वोर्विभाषा (३.२.१२१) से 'विभाषा' पद की अनुवृत्ति ला कर उसे व्यवस्थितविभाषा मानते हुए अप्रथमासमानाधिकरण में नित्य तथा प्रथमासमानाधिकरण में विकल्प करें जैसा कि भाष्यकार ने किया है तो यह भी यहां ठीक नहीं बैठेगा, क्योंकि प्रथमासमानाधिकरण में लघुकौमुदीकार आगे लँडित्यनुवर्त्तमाने पुनर्लड्ग्रहणात् प्रथमासामानाधिकरण्येऽपि क्वचित् इस प्रकार स्वयं व्यवस्था करते हैं जो व्यर्थ हो जायेगी।

की भी शित्वात् सार्वधातुकसंज्ञा हो कर शप् विकरण लाने से—पच् अ+आन = पच+आन । अब इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८३२) **आने मुँक् ।७।२।८२।।**

अदन्ताङ्गस्य मुँगागमः स्याद् आने परे । पचमानं चैत्रं पश्य ।।

अर्थः—'आन' परे होने पर अदन्त अङ्ग का अवयव मुँक् हो ।

व्याख्या—आने ।७।१। मुँक् ।१।१। अतः ।६।१। (**अतो येयः** से पञ्चम्यन्त का षष्ठ्यन्ततया विपरिणाम हो जाता है) । अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है) । 'अतः' यह 'अङ्गस्य' का विशेषण है, विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'अदन्तस्य अङ्गस्य' बन जाता है[1] । अर्थः—(आने) 'आन' परे होने पर (अतः=अदन्तस्य) अदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग का अवयव (मुँक्) मुँक् हो जाता है। मुँक् में ककार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक तथा उकार उच्चारणार्थक है अतः 'म्' मात्र शेष रहता है । मुँक् आगम कित् होने से **आद्यन्तौ टकितौ** (८५) के अनुसार अदन्त अङ्ग का अन्तावयव बनता है । अदन्त अङ्ग शप्, दिवादि श्यन्, तुदादि श और कर्मणि यक् के आने से ही होता है ।

'पच+आन' यहां 'आन' परे है अतः प्रकृतसूत्र से अदन्त अङ्ग 'पच' को मुँक् का आगम हो कर अनुबन्धलोप करने से—पचम्+आन='पचमान' यह कृदन्त शब्द निष्पन्न होता है । द्वितीया के एकवचन की विवक्षा में 'अम्' प्रत्यय के लाने पर **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप एकादेश हो कर 'पचमानम्' प्रयोग सिद्ध होता है—पचमानं चैत्रं पश्य ।

अदन्त अङ्ग न होगा तो मुँक् का आगम न होगा । यथा—दधानम्, ददानम्, ब्रुवाणम्, तन्वानम् आदि[2] ।

ध्यान रहे कि शतृँ प्रत्यय केवल कर्तृवाच्य में ही होता है । कर्मवाच्य में **भावकर्मणोः** (७५१) से आत्मनेपद का विधान होने से शानच् ही होता है शतृँ नहीं । 'पीडयन्तम्' यहां कर्तृवाच्य के कारण शतृँ तथा 'पीड्यमानम्' यहां कर्मवाच्य के कारण शानच् हो कर यक्विकरण हो जाता है ।

द्वितीयान्त आदि के सामानाधिकरण्य में साहित्य में शतृँ-शानच् के कुछ प्रयोग यथा—

---

१. इस प्रकार अर्थ करने से 'पचमानः' आदि में स्वरदोष प्रसक्त होता है । इस का विवेचन सिद्धान्तकौमुदी की व्याख्याओं में देखा जा सकता है । यहां बालकों के लिये उपयोगी न होने से इस का विवेचन नहीं करते ।

२. साहित्य में कई स्थानों पर मुँक् आगम का अभाव भी देखा जाता है । यथा—**एकाकी चिन्तयानो हि परं श्रेयोऽधिगच्छति** (मनु० ४.२५८), **ततः प्रविशति कामयानावस्थो राजा** (शाकुन्तल ३); **अपि शाकं पचानस्य सुखा वै मघवन् गृहाः** (न्यास ८.४.१६ पर उद्धृत) इत्यादि । इन स्थानों पर वैयाकरण **आगमशास्त्रमनित्यम्** का आश्रयण किया करते हैं ।

द्वितीयान्त के साथ—

(१) यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम् ।
अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति ॥ (अनर्घराघव)

(२) स भूपतिरेकदा केनापि पठ्यमानं श्लोकद्वयं शुश्राव । (हितोप०)

(३) सूर्योदये चास्तमिते शयानं विमुञ्चति श्रीरपि चक्रपाणिम् ।
(वृद्धचाणक्य० १५.४)

(४) एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन । (गीता १.३५)

तृतीयान्त के साथ—

(५) गुणवदगुणवद्वा कुर्वता कार्यजातं परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन ।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्तेर्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥
(भर्तृ० नीति० ६५)

(६) धर्मार्थकाममोक्षाणां प्राणाः संस्थितिहेतवः ।
तान्निघ्नता किं न हतं रक्षता किं न रक्षितम् ॥ (हितोप०)

(७) दग्धेति ब्रुवता पूर्वं वञ्चितोऽस्मि रुमण्वता । (स्वप्न०)

(८) हितं च परिणामे यत् तदाद्यं भूतिमिच्छता । (पञ्चतन्त्र)

चतुर्थ्यन्त के साथ—

(९) जनाय शुद्धान्तचराय शंसते कुमारजन्मामृतसंमिताक्षरम् ।
अदेयमासीत् त्रयमेव भूपतेः शशिप्रभं छत्त्रमुभे च चामरे ॥
(रघु० ३.१६)

पञ्चम्यन्त के साथ—

(१०) अप्युन्मत्तात् प्रलपतो बालाच्च परिजल्पतः ।
सर्वतः सारमादद्याद् अश्मभ्य इव काञ्चनम् ॥ (महा० ५.३४.३२)

षष्ठ्यन्त के साथ—

(११) ध्यायतो विषयान् पुंसस्सङ्गस्तेषूपजायते । (गीता २.६२)

(१२) वनानि दहतो वह्नेः सखा भवति मारुतः । (सुभाषित)

(१३) पठतो नास्ति मूर्खत्वं जपतो नास्ति पातकम् ।
मौनिनः कलहो नास्ति न भयं चास्ति जाग्रतः ॥ (सुभाषित)

सप्तम्यन्त के साथ—

(१४) न हन्यते हन्यमाने शरीरे । (गीता २.२०)

(१५) धातुषु क्षीयमाणेषु शमः कस्य न जायते । (हितोप०)

(१६) यस्मिञ्जीवति जीवन्ति बहवः सोऽत्र जीवतु । (पञ्चतन्त्र)

(१७) संसारेऽपि सतीन्द्रजालमपरं यद्यस्ति तेनापि किम् । (सुभाषित)

वेद-लोक दोनों में प्रथमान्त के सामानाधिकरण्य में भी शतृ-शानच् के प्रयोग बहुधा देखे जाते हैं। परन्तु उपर्युक्त पाणिनीय सूत्र (८३१) के अनुसार ऐसे प्रयोगों का साधुत्व उपपन्न नहीं होता । इन को सहसा कोई असाधु भी नहीं कह सकता क्योंकि

प्रायः सब कविजनों ने इन का प्रचुर प्रयोग किया है और करते चले आ रहे हैं[1]। इस शङ्का का समाधान करते हुए लघुकौमुदीकार वरदराज लिखते हैं—

[लघु०] लँड् इत्यनुवर्त्तमाने पुनर्लड्ग्रहणात् प्रथमासामानाधिकरण्येऽपि क्वचित् । सन् द्विजः ॥

अर्थः—लँट् की अनुवृत्ति आने पर भी सूत्र में पुनः लँट् का ग्रहण इस बात का ज्ञापक है कि कहीं कहीं प्रथमान्त के साथ समानाधिकरण होने पर भी लँट् के स्थान पर शतृ-शानच् हो जाते हैं।

---

१. (१) कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। (यजुः० ४०.२)
(२) अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्। (रघु० २.४७)
(३) लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन्। (भर्तृ० नीति० ४)
(४) धुन्वन् धनुः कस्य रणे न कुर्यान्मनो भयैकप्रवणं स भीष्मः। (किरात० ३.१६)
(५) यो दुर्बलोऽणूनपि याच्यमानः। (पञ्चतन्त्र)
(६) विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति। (भर्तृ० नीति० ७२)
(७) यो वै युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः। (मनु० २.१५६)
(८) अगच्छन् वैनतेयोऽपि पदमेकं न गच्छति। (सुभाषित)
(९) स्पृशन्नपि गजो हन्ति जिघ्रन्नपि भुजङ्गमः।
हसन्नपि नृपो हन्ति मानयन्नपि दुर्जनः॥ (पञ्चतन्त्र ३.८१)
(१०) ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति। (सिद्धान्तकौमुदी)
(११) परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ। (गीता० ३.११)
(१२) अथान्धकारं गिरिगह्वराणां दंष्ट्रामयूखैः शकलानि कुर्वन्। (रघु० २.४६)
(१३) अकिञ्चिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुःखान्यपोहति।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः॥ (उत्तरराम० २.१६)
(१४) कुर्वन्नपि व्यलीकानि यः प्रियः प्रिय एव सः। (पञ्चतन्त्र)
(१५) परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं
निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः। (भर्तृ० नीति० ७०)
(१६) कटु क्वणन्तो मलदायकाः खलास्तुदन्त्यलं बन्धनशृङ्खला इव (कादम्बरी)।
(१७) कालक्रमेण जगतः परिवर्त्तमाना
चक्रारपङ्क्तिरिव गच्छति भाग्यपङ्क्तिः। (स्वप्न० १.४)
(१८) समुन्नयन् भूतिमनार्यसंगमाद्
वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः। (किरात० १.८)
(१९) कदा वाराणस्याममरतटिनीरोधसि वसन्
वसानः कौपीनं शिरसि निदधानोऽञ्जलिपुटम्।
अये गौरीनाथ ! त्रिपुरहर ! शम्भो ! त्रिनयन !
प्रसीदेत्याक्रोशन् निमिषमिव नेष्यामि दिवसान्॥ (भर्तृ० वैरा० ८७)

व्याख्या—**लँटः शतृँशानचावप्रथमासमानाधिकरणे** (३.२.१२४) सूत्र से पूर्व अष्टाध्यायी में **वर्त्तमाने लँट्** (३.२.१२३) सूत्र पढ़ा गया है। इस सूत्र से यदि लँट् की अनुवृत्ति ला कर उस का षष्ठयन्ततया विपरिणाम करते तो 'लँटः' पद सुतरां प्राप्त हो सकता था इस से **लँटः शतृँशानचा०** सूत्र में 'लँटः' पद को पढ़े विना काम चल सकता था परन्तु ऐसा न कर मुनिवर पाणिनि का इस में पुनः 'लँटः' पद का पढ़ना इस बात को द्योतित करता है कि आचार्य लँट् के स्थान पर कुछ और अधिक आदेश चाहते हैं। इस से क्वचित् प्रथमान्त के साथ समानाधिकरण होने पर भी लँट् के स्थान पर शतृँ-शानच् हो जाते हैं।[1] ध्यान रहे कि इस अवस्था में शतृँ-शानच् विकल्प से होंगे पक्ष में लँट् के स्थान पर तिङन्त का भी प्रयोग होगा। अत एव मूल में 'क्वचित्' कहा गया है। उदाहरण यथा—

सन् द्विजः (द्विज अर्थात् ब्राह्मण है)। यहां 'अस्' (अस भुवि, अदा० परस्मै०) धातु से कर्तृविवक्षागत वर्त्तमानकाल में लँट् हो कर 'अस्+ल्' इस स्थिति में प्रथमान्त के साथ समानाधिकरण होने पर भी **लँटः शतृँशानचावप्रथमा०** (८३१) सूत्र में 'लँटः' पद के पूर्वतः प्राप्त होते पुनर्ग्रहणसामर्थ्य से शतृँ प्रत्यय करने से 'अस्+अत्' हुआ। अब **कर्त्तरि शप्** (३८७) से शप् तथा **अदिप्रभृतिभ्यः शपः** (५५२) से उस का लुक् हो जाता है। **श्नसोरल्लोपः** (५७४) सूत्र द्वारा अस् के अकार का भी लोप हो कर 'सत्' यह कृदन्त शब्द निष्पन्न होता है। प्रथमा के एकवचन सुँ में **उगिदचां०** (२८६) से नुँम् का आगम हो कर हल्ङ्यादिलोप तथा संयोगान्तलोप करने पर 'सन्' प्रयोग सिद्ध होता है—सन् द्विजः। पक्ष में लँट् के स्थान पर तिङ्प्रत्यय आ कर 'अस्ति द्विजः' भी बनेगा। इसी प्रकार प्रथमासमानाधिकरण में शानच् के विषय में भी समझना चाहिये—वर्धमानः स्नेहः, वर्धते स्नेहः; विद्यमानो ब्राह्मणः, विद्यते ब्राह्मणः; एधमानोऽग्निः, एधतेऽग्निः आदि।

अब 'विद ज्ञाने' (जानना; अदा० परस्मै०) धातु से शतृँ में विशेष कार्य विधान करने के लिए अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८३३) विदेः शतुर्वसुँः ।७।१।३६॥

वेत्तेः परस्य शतुर्वसुरादेशो वा। विद्वान्। विदन्॥

अर्थः—विद् (जानना) धातु से परे शतृँ के स्थान पर विकल्प से वसुँ आदेश हो जाता है।

व्याख्या—विदेः ।५।१। शतुः ।६।१। वसुँः ।१।१। अन्यतरस्याम् ।७।१। (**तुह्योस्तातङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्** से)। 'विदेः' यहां 'विद्' धातु को इक्प्रत्यय से निर्दिष्ट

---

१. क्वचित् सामानाधिकरण्य के अभाव में भी इन की प्रवृत्ति हो जाती है। यथा—कुर्वतोऽपत्यं कौर्वतः [तस्यापत्यम् (१००१) इत्यण्], कुर्वतो भार्या कुर्वद्भार्या इत्यादि। यहां यदि 'देवदत्तस्य' आदि का अध्याहार कर सामानाधिकरण्य स्थापित करेंगे तो असमर्थ होने से तद्धित तथा समास न हो सकेगा।

किया गया है—**इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे** (देखें ३९८ सूत्र पर टिप्पण)। अर्थः—(विदेः) विद् धातु से परे (शतुः) शतृँ के स्थान पर (वसुँः) वसुँ आदेश (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में अर्थात् विकल्प से हो जाता है। वसुँ का उँकार अनुनासिक होने से इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है 'वस्' मात्र शेष रहता है।[1] अनेकाल् होने से यह आदेश 'शतृँ' के स्थान पर सर्वादेश समझना चाहिये। 'विद्' से यहां केवल 'विद ज्ञाने' (अदा० परस्मै०) धातु का ही ग्रहण हो सकता है अन्यों का नहीं। तथाहि—'विद सत्तायाम्' (दिवा०) तथा 'विद विचारणे' (रुधा०) दोनों धातुएं आत्मनेपदी हैं अतः इन से परे शतृँ का आगमन सम्भव ही नहीं; 'विदॢँ लाभे' (तुदा०) धातु के उभयपदी होने से उस से परे यद्यपि शतृँ का आना सम्भव है तथापि मध्य में 'श' विकरण (६५१) के आ जाने से उस से परे अव्यवहित शतृँ प्राप्त नहीं होता। 'विद ज्ञाने' धातु आदादिक है इस से परे शप् विकरण का लुक् हो जाने से अव्यवहित शतृँ प्राप्त होता है अतः इसी का ही यहां ग्रहण होता है। सूत्र का उदाहरण यथा—

'विद्' (जानना; अदा० परस्मै०) धातु से कर्तृविषयक वर्त्तमानकाल में लँट् आ कर **लँटः शतृँशानचा०** (८३१) में 'लँटः' के पुनर्ग्रहण के कारण प्रथमा के सामानाधिकरण्य में भी शतृँ आदेश हो कर—विद्+शतृँ = विद्+अत्। अब **कर्त्तरि शप्** (३८७) से शप् विकरण आ कर उस का **अदिप्रभृतिभ्यः शपः** (५५२) से लुक् हो जाता है—विद्+अत्। इस स्थिति में प्रकृतसूत्र से शतृँ के अत् को वैकल्पिक 'वसुँ' सर्वादेश हो कर अनुबन्धलोप करने से 'विद्वस्' शब्द निष्पन्न होता है। इस की सुँबन्त-प्रक्रिया पूर्वार्ध में सविस्तर लिख चुके है—विद्वान्, विद्वांसौ, विद्वांसः आदि। शस् में **वसोः सम्प्रसारणम्** (३५३) से सम्प्रसारण के कारण 'विदुषः'। जिस पक्ष में वसुँ आदेश नहीं होता वहां शप्-लुक् हो कर 'विदत्' शब्द बनता है। इस का उच्चारण—विदन्, विदन्तौ, विदन्तः आदि पूर्ववत् जानें। शतृँ के अभावपक्ष में 'वेत्ति' आदि तिङन्त प्रयोग भी होंगे। अनेक वैयाकरण यहां 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति न ला कर शतृँ को नित्य वसुँ आदेश मानते हैं उन के मतानुसार 'विदन्, विदन्तौ, विदन्तः' आदि प्रयोग नहीं होते।

---

१. यहां पर उकार अनुबन्ध **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** (२८९) आदि उगित्कार्यों के लिये जोड़ा गया नहीं माना जा सकता क्योंकि शतृँ के उगित् होने से स्थानिवद्भाव के कारण वस् को भी उगित् माना जा सकता था अतः यहाँ वसुँ का उगित्करण **वसोः सम्प्रसारणम्** (३५३) में क्वसुँ के ग्रहण के लिये माना जाता है। तात्पर्य यह है कि **वसोः सम्प्रसारणम्** (३५३) में यदि केवल वसुँ का ग्रहण ही अभीष्ट होता तो मुनिवर उसे उगित् न कर सूत्र को भी 'वसः सम्प्रसारणम्' बना देते। परन्तु उन का ऐसा न कर इसे उगित् करना **'वसोः सम्प्रसारणम्'** में वसुँ के साथ क्वसुँ के ग्रहण के लिये समझा जाता है। इस उगित्करणसामर्थ्य से **एकानुबन्धग्रहणे न द्व्यनुबन्धकस्य** (एक अनुबन्ध वाले का ग्रहण हो तो दो अनुबन्ध वाले का ग्रहण नहीं होता) इस परिभाषा से भी कोई बाधा उपस्थित नहीं होती, दोनों का ग्रहण हो जाता है।

शतृ-शानच् की प्रक्रिया में कुछ ध्यातव्य बातें—

(क) शतृ-शानच् प्रत्ययों के परे होने पर प्रत्येक धातु से अपने अपने गण के अनुसार विकरण होता है। यथा—

भ्वादिगणीय भू—भू+शप्+शतृ=भू+अ+अत्=भो+अ+अत् (गुण) =भव्+अ+अत् (अवादेश)=भव+अत्=भवत् (**अतो गुणे** २७४)। एध्+शप्+शानच्=एध्+अ+आन=एध+आन=एधमान (**आने मुँक्** ८३२)।

अदादिगणीय अद्—अद्+शप्+शतृ=अद्+अत्=अदत्। इस गण में शप् का लुक् हो जाता है (५५२)। शी+शप्+शानच्=शी+आन=शे+आन [**शीङः सार्वधातुके गुणः** (७.४.२१) से गुण]=शयान।

जुहोत्यादिगणीय धातुओं से शतृ-शानच् में शप् को श्लु (६०४) तथा **श्लौ** (६०५) से द्वित्व हो जाता है। यथा=हु+शप्+शतृ=हु+अत्=जुहु+अत्= जुह्वत् [**हुश्नुवोः सार्वधातुके** (५०१) से यण्]। डुदाञ्+शप्+शानच्=दा+आन =ददा+आन=दद्+आन [**श्नाऽभ्यस्तयोरातः** (६१९) से अभ्यस्त का आकार-लोप]=ददान।

दिवादिगणीय दिव्—दिव्+श्यन्+शतृ=दिव्+य+अत्=दीव्+य+अत् [**हलि च** (६१२) से उपधादीर्घ]=दीव्यत् [**अतो गुणे** (२७४)]। युध्+श्यन्+शानच्=युध्+य+आन=युध्यमान [**आने मुक्** (८३२)]।

स्वादिगणीय सु—सु+श्नु+शतृ=सु+नु+अत्=सुन्वत् [**हुश्नुवोः०** (५०१) से यण्]। सु+श्नु+शानच्=सु+नु+आन=सुन्वान। पूर्ववत् **यण्**।

तुदादिगणीय तुद्—तुद्+श+शतृ=तुद्+अ+अत्=तुदत् (पूर्वरूप)। तुद्+अ+शानच्=तुद्+अ+आन=तुदमान (मुँक्)।

रुधादिगणीय रुध्—श्नम् विकरण हो कर—रु श्नम् ध्+शतृ=रुनध्+अत् =रुन्ध्+अत् [**श्नसोरल्लोपः** (५७४) से श्नम् का अकारलोप]=रुन्धत्। रु श्नम् ध्+शानच्=रुनध्+आन=रुन्ध्+आन=रुन्धान।

तनादिगणीय तन्—तन्+उ+शतृ=तन्+उ+अत्=तन्वत् [**इको यणचि** (१५) से यण्]। तन्+उ+शानच्=तन्+उ+आन=तन्वान। यण्।

क्र्यादिगणीय क्री—क्री+श्ना+शतृ=क्री+ना+अत्=क्री+न्+अत् [**श्नाभ्यस्तयोरातः** (६१९) से श्ना का आकारलोप]=क्रीणत्। क्री+श्ना+शानच् =क्री+ना+आन=क्री+न्+आन=क्रीणान।

चुरादिगणीय चुर्—चुर् णिच्+शप्+शतृ=चोरि+अ+अत्=चोरे+अ+अत्=चोरय+अत्=चोरयत् (पररूप)। चुर् णिच्+शप्+शानच्=चोरि+अ+आन=चोरय+आन=चोरयमाण (मुँक्)।

(ख) शतृ-शानच् प्रत्ययों के परे होने पर यथासम्भव पिब आदि धात्वादेश हो जाते हैं। यथा—**पा-घ्रा-ध्मा-स्था-म्ना-दाण्-दृश्यर्ति-सर्ति-शद-सदां पिब-जिघ्र-धम-तिष्ठ-मन-यच्छ-पश्यर्च्छ-धौ-शीय-सीदाः** (४८७)— पा+शप्+शतृ=पिब+अ+अत्=

पिबत् (दो बार पररूप)। इसी प्रकार—घ्रा—जिघ्रत्। ध्मा—धमत्। स्था—तिष्ठत्। दाण्—यच्छत्। दृश्—पश्यत्। सृ—धावत्। शद्—शीयमान। सद्—सीदत्। **ज्ञाजनोर्जा** (६३६)—ज्ञा+श्ना+शतृँ=जा+ना+अत्=जानत् [**श्नाऽभ्यस्तयोरातः** (६१६) से श्ना के आकार का लोप]। शानच्—जानान। जन्+श्यन्+शानच्=जा+य+आन=जायमान (मुँक्)। **इषुगमियमां छः** (५०४)—इष्+श+शतृँ=इच्छ्+अ+अत्=इच्छत्। गम्+शप्+शतृँ=गच्छ्+अ+अत्=गच्छत्। **श्रुवः शृ च** (४६६)—श्रु+शतृँ=शृ+श्नु+अत्=शृ+नु+अत्=शृण्वत् (५०१)। शतृँ और शानच् सार्वधातुक प्रत्यय हैं अतः आर्धधातुक परे न होने से **अस्तेर्भूः** (५७६) और **ब्रुवो वचिः** (५६६) सूत्रों की प्रवृत्ति नहीं होती। अस्+शप्+शतृँ=अस्+अत् (अदादित्वात् शप् का लुक्)=स्+अत् [**श्नसोरल्लोपः** (५७४) से अस् के अकार का लोप]=सत्। ब्रू+शप्+शतृँ=ब्रू+अत्=ब्रुवत् [**अचि श्नुधातु०** (१६६) से उवँङ्]। शानच्—ब्रुवाण।

(ग) शतृँ-शानच् में यथासम्भव उपधाकार्य हो जाते हैं—हन्+शप्+शतृँ=हन्+अत् (शब्लुक्)=ह् न्+अत् [**गमहनजनखन०** (५०५) से उपधालोप]=घ्न्+अत्=घ्नत् [**हो हन्तेर्०** (२८७) से कुत्व-घकार]। शम्+श्यन्+शतृँ=शाम्+य+अत् [**शमामष्टानां दीर्घः श्यनि** (७.३.७४) से दीर्घ]=शाम्यत्। इसी प्रकार—श्रम्—श्राम्यत्। भ्रम्—भ्राम्यत्[1]। दम्—दाम्यत् आदि।

(घ) शतृँ-शानच् में **प्वादीनां ह्रस्वः** (६६०) से ह्रस्व प्रवृत्त हो जाता है। यथा—पूञ्+श्ना+शतृँ=पु+ना+अत्=पु+न्+अत् [**श्नाभ्यस्तयोरातः** (६१६) से आकारलोप]=पुनत्। शानच्—पुनान। इसी प्रकार—लुनत्-लुनान आदि।

(ङ) शतृ-शानच् में यथासम्भव **शे मुचादीनाम्** (६५४) से नुम् प्रवृत्त हो जाता है—मुच्+श+शतृँ=मुञ्च्+अ+अत्=मुञ्चत् (पररूप)। शानच् में—मुञ्चमान। इसी तरह—सिच्—सिञ्चत्-सिञ्चमान। कृत्—कृन्तत्-कृन्तमान। विद्लृँ—विन्दत्-विन्दमान। लुप्—लुम्पत्-लुम्पमान आदि।

(च) शतृँ-शानच् में कहीं गुण हो जाता है और कहीं उस का अभाव। इस की सामान्य व्यवस्था इस प्रकार समझनी चाहिये—

शतृँ-शानच् के परे रहते यदि धातु से शप् विकरण किया गया हो तो वह पित् होने से **सार्वधातुकमपित्** (५००) द्वारा ङिद्वत् नहीं होता अतः उस के परे रहते सार्वधातुकगुण (३८८) या लघूपधगुण (४५१) निर्बाध हो जाते हैं। यथा—जि+शप्+शतृँ=जे+अ+अत्=जयत् (सार्वधातुकगुण हो जाता है)। भू+शप्+

---

१. भ्रम् धातु से **वा भ्राश-भ्लाश-भ्रमुँ-क्रमुँ-क्लमुँ-त्रसि-त्रुटि-लषः** (३.१.७०) सूत्रद्वारा श्यन् का वैकल्पिक विधान होता है। श्यन्पक्ष में **शमामष्टानां दीर्घः श्यनि** (७.३.७४) से दीर्घ हो कर 'भ्राम्यत्' बनता है। श्यन् के अभाव में शप् हो कर दीर्घ न होगा—भ्रमत्।

शतृँ=भो+अ+अत्=भवत् (सार्वधातुकगुण हो जाता है) । रुह्+शप्+शतृँ=रोह्+अ+अत्=रोहत् (लघूपधगुण हो जाता है) । शुभ्+शप्+शानच्=शोभ्+अ+आन=शोभमान (लघूपधगुण हो जाता है) । वृध्+शप्+शानच्=वर्ध्+अ+आन=वर्धमान (लघूपधगुण हो जाता है) ।

परन्तु श्यन्, श्नु, श्ना, श विकरणों के अपित् होने से ङिद्वत् हो जाने के कारण **क्ङिति च** (४३३) से गुण का निषेध हो जाता है । यथा—कुप्+श्यन्+शतृँ=कुप्+य+अत्=कुप्यत् (लघूपधगुण नहीं हुआ) । चि+श्नु+शतृँ=चि+नु+अत्=चिन्वत् (सार्वधातुकगुण नहीं हुआ) । मिल्+श+शतृँ=मिल्+अ+अत्=मिलत् (लघूपधगुण नहीं हुआ) । क्री+श्ना+शानच्=क्री+ना+आन=क्री+न्+आन=क्रीणान (सार्वधातुक गुण नहीं हुआ) ।

अदादि और जुहोत्यादि गणों में शप् का क्रमशः लुक् और श्लु हो जाने से शतृँ-शानच् साक्षात् धातु के सामने रहते हैं अतः **सार्वधातुकमपित्** (५००) से इन के ङिद्वद्भाव के कारण गुण का निषेध हो जाता है । यथा—दुह्+शप्+शतृँ=दुह्+अत्=दुहत् (लघूपधगुण नहीं होता है) । दुह्+शप्+शानच्=दुह्+आन=दुहान (लघूपधगुण नहीं होता) । ब्रू+शप्+शानच्=ब्रू+आन=ब्रुवाण (सार्वधातुकगुण नहीं होता) । हु+शप्+शतृँ=जुहु+अत्=जुह्वत् (सार्वधातुकगुण नहीं होता) । भी+शप्+शतृँ=बिभी+अत्=बिभ्यत् (सार्वधातुकगुण नहीं होता) ।

तनादिगण में उ विकरण आर्धधातुक होता है । उस के परे रहते लघूपधगुण का विकल्प प्रतिपादन कर चुके हैं (देखें द्वितीय भाग पृ० ५५७) परन्तु कृ धातु में आर्धधातुकगुण हो कर **अत उत् सार्वधातुके** (६७७) से अकार को उकार हो जाता है । यथा—कृ+उ+शतृँ=कर्+उ+अत्=कुरु+अत्=कुर्वत् । कृ+उ+शानच्=कर्+उ+आन=कुरु+आन= कुर्वाण । क्षिण्+उ+शतृँ=क्षेण्+उ+अत्=क्षेण्वत्, क्षिण्वत् (लघूपधगुण का विकल्प) ।

रुधादिगण में श्नम् प्रत्यय धातु के मध्य में किया जाता है अतः उस के परे रहते रुध् आदि के रु आदि धातुभागों की अङ्गसंज्ञा न होने से गुण की प्राप्ति ही नहीं होती[1] । यथा—रु श्नम् ध्+शतृँ=रुनध्+अत्=रुन्ध्+अत्=रुन्धत् । रु श्नम् ध्+शानच्=रुनध्+आन=रुन्ध्+आन=रुन्धान । भु श्नम् ज्+शानच्=भुनज्+आन=भुञ्ज्+आन=भुञ्जान [**श्नसोरल्लोपः** (५७४)] ।

कुछ धातुओं में गुण का विशेष विधान होता है अतः वह शतृँ-शानच् में भी यथासम्भव हो जाता है । यथा—शीङ्+शप्+शानच्=शी+आन=शे+आन=शयान [**शीङः सार्वधातुके गुणः** (५८३) से गुण] । मिद्+श्यन्+शतृँ=मिद्+य+अत्=मेद्+य+अत्=मेद्यत् [**मिदेर्गुणः** (७.३.८२) से गुण] ।

(छ) शतृँ-शानच् के परे रहते यथाप्राप्त सम्प्रसारण हो जाता है । यथा—

1. देखें भैमीव्याख्या का द्वितीय भाग पृष्ठ (५२२) ।

प्रच्छ्+श+शतृँ=पृच्छ्+अ+अत् [ग्रहिज्यावयिव्यधि० (६३४)]=पृच्छत् । ग्रह्+श्ना+शानच्=गृह्+ना+आन=गृह्+न्+आन=गृह्णान। शतृँ में—गृह्णत्। पूर्ववत् सम्प्रसारण। व्यध्+श्यन्+शतृँ=विध्+य+अत्=विध्यत्। पूर्ववत् सम्प्रसारण।

(ज) ददत्, दधत्, बिभ्यत्, जुह्वत्, जाग्रत् आदि अभ्यस्तसंज्ञकों (३४४, ३४६) की रूपमाला अन्य शत्रन्तों से भिन्न 'ददत्, ददतौ, ददतः ; ददतम्, ददतौ' इत्यादिप्रकारेण चलती है। **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** (२८९) सूत्र से प्राप्त नुँम् आगम का **नाभ्यस्ताच्छतुः** (३४५) से निषेध हो जाता है। इस का सविस्तर विवेचन इस व्याख्या के प्रथमभागस्थ (३४६) सूत्र पर कर चुके हैं वहीं देखें।

(झ) शतृप्रत्ययान्तों से स्त्रीत्व की विवक्षा में **उगितश्च** (१२४६) से ङीप् (ई) प्रत्यय हो जाता है। यथा—जानत्—जानती (जानती हुई)। शृण्वत्—शृण्वती (सुनती हुई)। अदत्—अदती (खाती हुई)। अश्नत्—अश्नती (खाती हुई)। ददत्—ददती (देती हुई)। घ्नत्—घ्नती (मारती हुई)। प्राप्नुवत्—प्राप्नुवती (प्राप्त करती हुई)। कुर्वत्—कुर्वती (करती हुई)। रुन्धत्—रुन्धती (रोकती हुई) आदि। यदि धातु में शप् वा श्यन् विकरण हुआ हो तो ङीप् के परे होने पर नित्य नुँम् का आगम हो जाता है [देखें—**शप्श्यनोर्नित्यम्** (३६६)]। यथा—पचत्—पचन्ती (पकाती हुई)। भवत्—भवन्ती (होती हुई)। गच्छत्—गच्छन्ती (जाती हुई)। दीव्यत्—दीव्यन्ती (चमकती हुई)। कुप्यत्—कुप्यन्ती (क्रोध करती हुई)। चोरयत्—चोरयन्ती (चुराती हुई)। गणयत्—गणयन्ती (गिनती हुई) आदि। तुदादिगणीय तथा आकारान्त अदादिगणीय धातुओं से ङीप् में नुँम् का आगम विकल्प से होता है [देखें—**आच्छीनद्योर्नुम्** (३६५)]। यथा—तुदत्—तुदती-तुदन्ती (दुःख देती हुई)। मुञ्चत्—मुञ्चती-मुञ्चन्ती (छोड़ती हुई)। विन्दत्—विन्दती-विन्दन्ती (पाती हुई)। यात्—याती-यान्ती (जाती हुई)। स्नात्—स्नाती-स्नान्ती (स्नान करती हुई)। भात्—भाती-भान्ती (चमकती हुई) आदि। शानच्-प्रत्ययान्तों से स्त्रीत्व की विवक्षा में सर्वत्र **अजाद्यतष्टाप्** (१२४५) से टाप् (आ) प्रत्यय हो जाता है। यथा—एधमान—एधमाना। वर्धमान—वर्धमाना (बढ़ती हुई)। ददान—ददाना (देती हुई) आदि। यहां नुँम् का कोई प्रसङ्ग ही नहीं।

(ञ) कर्तृवाच्य की तरह कर्मवाच्य में भी शानच्प्रत्यय की प्रवृत्ति होती है (शतृँ की नहीं)। तब वहां **सार्वधातुके यक्** (७५२) से यक् विकरण होता है। यथा—पठ्यमानः श्लोकः, दृश्यमानं वस्तु, आस्वाद्यमानो रसः, भक्ष्यमाणा यवागूः, गम्यमानो मार्गः, स्तूयमानो नरपतिः, अवलोक्यमानं दृश्यम्, उपेक्ष्यमाणो व्याधिः। भाववाच्य में अनभिधान के कारण शानच् की प्रवृत्ति नहीं होती।

(ट) णिजन्त, सन्नन्त, यङन्त आदि धातुओं से परे भी लँट् के स्थान पर शतृँ शानच् प्रत्यय हो जाते हैं। यथा—(णिजन्त)—स्था+णिच्=स्थापि—स्थापयत्। पठ्+णिच्=पाठि—पाठयत्। दृश्+णिच्=दर्शि—दर्शयत्। पत्+णिच्=पाति

—पातयत् आदि। (सन्नन्त)— पठ्+सन्=पिपठिष—पिपठिषत्। गम्+सन्=जिगमिष—जिगमिषत्। (यङन्त)—ग्रह्+यङ्=जरीगृह्य—जरीगृह्यमाण। भू+यङ्=बोभूय—बोभूयमान। दह्+यङ्=दन्दह्य—दन्दह्यमान। स्मृ+यङ्=सास्मर्य—सास्मर्यमाण। हन्+यङ्=जङ्घन्य—जङ्घन्यमान। क्री+यङ्=चेक्रीय—चेक्रीयमाण। दीप्+यङ्=देदीप्य—देदीप्यमान। यज्+यङ्=यायज्य—यायज्यमान। यङन्त धातुओं के ङित्त्व के कारण आत्मनेपदसंज्ञक शानच् ही होता है, शतृ नहीं।

यहां यह भूलना नहीं चाहिये कि हेतुमण्णिजन्त, सन्नन्त, यङन्त आदि धातुओं से कर्तृवाच्य में लँट् के स्थान पर शतृ-शानच् करने पर शप् विकरण अवश्य किया जाता है। तब अतो गुणे (२७४) से पररूप एकादेश हो जाता है। इन के कर्मवाच्य में तो यक् विकरण ही होगा।

अब हम प्राथमिक जिज्ञासुओं के लिये अत्यन्त उपयोगी शतृ-शानच्-प्रत्ययान्त शब्दों के अर्थ सहित दो बृहत्संग्रह प्रस्तुत कर रहे हैं। प्रथम शतृप्रत्ययान्तों का संग्रह यथा—

१. (अट्) अटत्[1]=घूमता हुआ
२. (अद्) अदत्=खाता हुआ
३. (अर्च्) अर्चत्=पूजता हुआ
४. (अर्ज्) अर्जयत्=कमाता हुआ
५. (अश्) अश्नत्=खाता हुआ
६. (अस्) सत्=होता हुआ
७. (अस्) अस्यत्=फेंकता हुआ
८. (आप्) आप्नुवत्=पाता हुआ
९. (इण्) यत्=जाता हुआ
१०. (इष्) इच्छत्=चाहता हुआ
११. (कथ्) कथयत्=कहता हुआ
१२. (कर्ण्) आकर्णयत्=सुनता हुआ
१३. (काङ्क्ष्) काङ्क्षत्=चाहता हुआ
१४. (कुप्) कुप्यत्=क्रोध करता हुआ
१५. (कूज्) कूजत्=गूंजता हुआ
१६. (कृ) कुर्वत्=करता हुआ
१७. (कृत्) कृन्तत्=काटता हुआ
१८. (कृष्) कर्षत्=खींचता हुआ
१९. (कृष्) कृषत्=हल चलाता हुआ
२०. (कॄ) किरत्=बिखेरता हुआ
२१. (कॄत्) कीर्तयत्=यश गाता हुआ
२२. (क्रन्द्) क्रन्दत्=चिल्लाता हुआ
२३. (क्रम्) क्रामत्=आगे बढ़ता हुआ
क्राम्यत्=आगे बढ़ता हुआ
२४. (क्री) क्रीणत्=खरीदता हुआ
२५. (क्रीड्) क्रीडत्=खेलता हुआ

---

१. स्त्रीलिङ्ग में इन शत्रन्तों के रूप यथा—(१) अट्—अटन्ती। (२) अद्—अदती। (३) अर्च्—अर्चन्ती। (४) अर्ज्—अर्जयन्ती। (५) अश्—अश्नती। (६) अस् (अदा०)—सती। (७) अस् (दिवा०)—अस्यन्ती। (८) आप्—आप्नुवती। (९) इण्—यती। (१०) इष्—इच्छती-इच्छन्ती। (११) कथ्—कथयन्ती। (१२) कर्ण्—आकर्णयन्ती। (१३) काङ्क्ष्—काङ्क्षन्ती। (१४) कुप्—कुप्यन्ती। (१५) कूज्—कूजन्ती। (१६) कृ—कुर्वती। (१७) कृत्—कृन्तती-कृन्तन्ती। (१८) कृष् (भ्वा०)—कर्षन्ती। (१९) कृष् (तु०)—कृषती-कृषन्ती। (२०) कॄ—किरती-किरन्ती। (२१) कॄत्—कीर्तयन्ती। (२२) क्रन्द्—क्रन्दन्ती। (२३) क्रम्—क्रामन्ती-क्राम्यन्ती। (२४) क्री—क्रीणती। (२५) क्रीड्—क्रीडन्ती।

२६. (क्रुध्) क्रुध्यत् = क्रोध करता हुआ
२७. (क्वण्) क्वणत् = शब्द करता हुआ
२८. (क्षम्) क्षाम्यत् = क्षमा करता हुआ
२९. (क्षर्) क्षरत् = झरता हुआ
३०. (क्षल्) क्षालयत् = धोता हुआ
३१. (क्षि) क्षयत् = घटता हुआ
३२. (क्षिप्) क्षिपत् = फेंकता हुआ
३३. (क्षुध्) क्षुध्यत् = भूखा होता हुआ
३४. (खन्) खनत् = खोदता हुआ
३५. (खाद्) खादत् = खाता हुआ
३६. (खेल्) खेलत् = खेलता हुआ
३७. (गण्) गणयत् = गिनता हुआ
३८. (गद्) गदत् = कहता हुआ
३९. (गम्) गच्छत् = जाता हुआ
४०. (गर्ज्) गर्जत् = गरजता हुआ
४१. (गुञ्ज्) गुञ्जत् = गूंजता हुआ
४२. (गुप्) गोपायत् = रक्षा करता हुआ
४३. (गुम्फ्) गुम्फत् = गूंथता हुआ
४४. (गॄ) गिरत् = निगलता हुआ
४५. (गै) गायत् = गाता हुआ
४६. (ग्रह्) गृह्णत् = ग्रहण करता हुआ
४७. (ग्लै) ग्लायत् = दुःखी होता हुआ
४८. (घ्रा) जिघ्रत् = सूंघता हुआ
४९. (चर्) चरत् = चरता हुआ
५०. (चल्) चलत् = चलता हुआ
५१. (चि) चिन्वत् = चुनता हुआ
५२. (चिन्त्) चिन्तयत् = सोचता हुआ
५३. (चुर्) चोरयत् = चुराता हुआ
५४. (छिद्) छिन्दत् = काटता हुआ
५५. (जप्) जपत् = जप करता हुआ
५६. (जागृ) जाग्रत् = जागता हुआ
५७. (जि) जयत् = जीतता हुआ
५८. (जीव्) जीवत् = जीता हुआ
५९. (ज्ञा) जानत् = जानता हुआ
६०. (ज्वल्) ज्वलत् = जलता हुआ
६१. (तड्) ताडयत् = पीटता हुआ
६२. (तन्) तन्वत् = विस्तार करता हुआ
६३. (तप्) तपत् = तपता हुआ
६४. (तुद्) तुदत् = चुभोता हुआ
६५. (तुल्) तोलयत् = तोलता हुआ
६६. (तुष्) तुष्यत् = प्रसन्न होता हुआ
६७. (तृप्) तृप्यत् = तृप्त होता हुआ
६८. (तॄ) तरत् = तैरता हुआ
६९. (त्यज्) त्यजत् = छोड़ता हुआ

(२६) क्रुध्—क्रुध्यन्ती। (२७) क्वण्—क्वणन्ती। (२८) क्षम्—क्षाम्यन्ती। (२९) क्षर्—क्षरन्ती। (३०) क्षल्—क्षालयन्ती। (३१) क्षि—क्षयन्ती। (३२) क्षिप्—क्षिपती-क्षिपन्ती। (३३) क्षुध्–क्षुध्यन्ती। (३४) खन्–खनन्ती। (३५) खाद्–खादन्ती। (३६) खेल्—खेलन्ती। (३७) गण्—गणयन्ती। (३८) गद्—गदन्ती। (३९) गम्—गच्छन्ती। (४०) गर्ज्—गर्जन्ती। (४१) गुञ्ज्—गुञ्जन्ती। (४२) गुप्—गोपायन्ती। (४३) गुम्फ्—गुम्फती-गुम्फन्ती। (४४) गॄ—गिरती-गिरन्ती। (४५) गै—गायन्ती। (४६) ग्रह्—गृह्णती। (४७) ग्लै—ग्लायन्ती। (४८) घ्रा—जिघ्रन्ती। (४९) चर्—चरन्ती। (५०) चल्—चलन्ती। (५१) चि—चिन्वती। (५२) चिन्त् चिन्तयन्ती। (५३) चुर्—चोरयन्ती। (५४) छिद्—छिन्दती। (५५) जप्—जपन्ती। (५६) जागृ—जाग्रती। (५७) जि—जयन्ती। (५८) जीव्—जीवन्ती। (५९) ज्ञा—जानती। (६०) ज्वल्—ज्वलन्ती। (६१) तड्—ताडयन्ती। (६२) तन्—तन्वती। (६३) तप्—तपन्ती। (६४) तुद्—तुदती-तुदन्ती। (६५) तुल्—तोलयन्ती। (६६) तुष्—तुष्यन्ती। (६७) तृप्—तृप्यन्ती। (६८) तॄ—तरन्ती। (६९) त्यज्—त्यजन्ती।

७०. (दण्ड्) दण्डयत् = दण्ड देता हुआ
७१. (दह्) दहत् = जलाता हुआ
७२. (दा) ददत् = देता हुआ
७३. (दाण्) यच्छत् = देता हुआ
७४. (दिव्) दीव्यत् = चमकता हुआ
७५. (दुह्) दुहत् = दोहता हुआ
७६. (दृश्) पश्यत् = देखता हुआ
७७. (द्रुह्) द्रुह्यत् = द्रोह करता हुआ
७८. (द्विष्) द्विषत् = द्वेष करता हुआ
७९. (धा) दधत् = धारण करता हुआ
८०. (धाव्) धावत् = भागता हुआ
८१. (धु) धुन्वत् = हिलाता हुआ
८२. (धृ) धरत् = धारण करता हुआ
८३. (ध्यै) ध्यायत् = ध्यान करता हुआ
८४. (नम्) नमत् = नमस्कार करता हुआ
८५. (नश्) नश्यत् = नष्ट होता हुआ
८६. (निन्द्) निन्दत् = निन्दा करता हुआ
८७. (नी) नयत् = ले जाता हुआ
८८. (नृत्) नृत्यत् = नाचता हुआ
८९. (पच्) पचत् = पकाता हुआ
९०. (पठ्) पठत् = पढ़ता हुआ
९१. (पत्) पतत् = गिरता हुआ
९२. (पा) पिबत् = पीता हुआ
९३. (पाल्) पालयत् = पालता हुआ
९४. (पीड्) पीडयत् = दुःख देता हुआ
९५. (पुष्) पुष्णत् = पुष्ट करता हुआ
९६. (पूज्) पूजयत् = पूजता हुआ
९७. (प्रच्छ्) पृच्छत् = पूछता हुआ
९८. (भक्ष्) भक्षयत् = खाता हुआ
९९. (भज्) भजत् = भजता हुआ
१००. (भर्त्स्) भर्त्सयत् = झिड़कता हुआ
१०१. (भिद्) भिन्दत् = तोड़ता हुआ
१०२. (भी) बिभ्यत् = डरता हुआ.
१०३. (भू) भवत् = होता हुआ
१०४. (भ्रम्) भ्रमत् = घूमता हुआ
भ्राम्यत् = घूमता हुआ
१०५. (मिल्) मिलत् = मिलता हुआ
१०६. (मुच्) मुञ्चत् = छोड़ता हुआ
१०७. (मुष्) मुष्णत् = चुराता हुआ
१०८. (मुह्) मुह्यत् = मूढ होता हुआ
१०९. (यज्) यजत् = यज्ञ करता हुआ
११०. (या) यात् = जाता हुआ
१११. (याच्) याचत् = मांगता हुआ
११२. (रक्ष्) रक्षत् = रक्षा करता हुआ

(७०) दण्ड् – दण्डयन्ती। (७१) दह्—दहन्ती। (७२) दा—ददती। (७३) दाण्—यच्छन्ती। (७४) दिव्—दीव्यन्ती। (७५) दुह्—दुहती। (७६) दृश्—पश्यन्ती। (७७) द्रुह्—द्रुह्यन्ती। (७८) द्विष्—द्विषती। (७९) धा—दधती। (८०) धाव्—धावन्ती। (८१) धू—धुन्वती। (८२) धृ—धरन्ती। (८३) ध्यै—ध्यायन्ती। (८४) नम्—नमन्ती। (८५) नश्—नश्यन्ती। (८६) निन्द्—निन्दन्ती। (८७) नी—नयन्ती। (८८) नृत्—नृत्यन्ती। (८९) पच्—पचन्ती। (९०) पठ्—पठन्ती। (९१) पत्—पतन्ती। (९२) पा—पिबन्ती। (९३) पाल्—पालयन्ती। (९४) पीड्—पीडयन्ती। (९५) पुष्—पुष्णती। (९६) पूज्—पूजयन्ती। (९७) प्रच्छ्—पृच्छती-पृच्छन्ती। (९८) भक्ष्—भक्षयन्ती। (९९) भज्—भजन्ती। (१००) भर्त्स्—भर्त्सयन्ती। (१०१) भिद्—भिन्दती। (१०२) भी—बिभ्यती। (१०३) भू—भवन्ती। (१०४) भ्रम्—भ्रमन्ती-भ्राम्यन्ती। (१०५) मिल्—मिलती-मिलन्ती। (१०६) मुच्—मुञ्चती-मुञ्चन्ती। (१०७) मुष्—मुष्णती। (१०८) मुह्—मुह्यन्ती। (१०९) यज्—यजन्ती। (११०) या—याती-यान्ती। (१११) याच्—याचन्ती। (११२) रक्ष्—रक्षन्ती।

११३. (रच्) रचयत्=बनाता हुआ
११४. (रुद्) रुदत्=रोता हुआ
११५. (रुध्) रुन्धत्=रोकता हुआ
११६. (रुह्) रोहत्=उगता हुआ
आरोहत्=चढ़ता हुआ
११७. (लिख्) लिखत्=लिखता हुआ
११८. (लिह्) लिहत्=चाटता हुआ
११९. (लुभ्) लुभ्यत्=लोभ करता हुआ
१२०. (वद्) वदत्=बोलता हुआ
१२१. (वम्) वमत्=वमन करता हुआ
१२२. (वर्ण्)वर्णयत्=वर्णन करता हुआ
१२३. (वस्) वसत्=रहता हुआ
१२४. (वह्) वहत्=ढोता हुआ
१२५. (वाञ्छ्) वाञ्छत्=चाहता हुआ
१२६. (विद्) विद्वस्=जानता हुआ
विदत्=जानता हुआ
१२७. (विद्) विन्दत्=पाता हुआ
१२८. (विश्) विशत्=घुसता हुआ
१२९. (व्रज्) व्रजत्=जाता हुआ
१३०. (शक्)शक्नुवत्=समर्थ होता हुआ
१३१. (शम्) शाम्यत्=शान्त होता हुआ
१३२. (शंस्) शंसत्=कहता हुआ
१३३. (शुच्) शोचत्=शोक करता हुआ
१३४. (शुष्) शुष्यत्=सूखता हुआ
१३५. (श्रि) श्रयत्=आश्रय करता हुआ
१३६. (श्रु) शृण्वत्=सुनता हुआ
१३७. (श्लिष्) श्लिष्यत्=चिपटता हुआ
१३८. (श्वस्) श्वसत्=सांस लेता हुआ
१३९. (सद्) सीदत्=दुःखी होता हुआ
१४०. (सिच्) सिञ्चत्=सींचता हुआ
१४१. (सिध्)सिध्यत्=सिद्ध होता हुआ
१४२. (सृ) सरत्=सरकता हुआ
१४३. (सृज्) सृजत्=पैदा करता हुआ
उत्सृजत्=छोड़ता हुआ
१४४. (स्तु) स्तुवत्=स्तुति करता हुआ
१४५. (स्था) तिष्ठत्=ठहरता हुआ
१४६. (स्पृश्) स्पृशत्=छूता हुआ
१४७. (स्मृ) स्मरत्=याद करता हुआ
१४८. (स्वप्) स्वपत्=सोता हुआ
१४९. (हन्) घ्नत्=मारता हुआ
१५०. (हस्) हसत्=हंसता हुआ
१५१. (हा) जहत्=छोड़ता हुआ
१५२. (हृ) हरत्=हरता हुआ

(११३) रच्—रचयन्ती। (११४) रुद्—रुदती। (११५) रुध्—रुन्धती। (११६) रुह्—रोहन्ती। (११७) लिख्—लिखती-लिखन्ती। (११८) लिह्—लिहती। (११९) लुभ्—लुभ्यन्ती। (१२०) वद्—वदन्ती। (१२१) वम्—वमन्ती। (१२२) वर्ण्—वर्णयन्ती। (१२३) वस्—वसन्ती। (१२४) वह्—वहन्ती। (१२५) वाञ्छ्—वाञ्छन्ती। (१२६) विद्—विदुषी-विदती। (१२७) विद्—विन्दती-विन्दन्ती। (१२८) विश्—विशती-विशन्ती। (१२९) व्रज्—व्रजन्ती। (१३०) शक्—शक्नुवती। (१३१) शम्—शाम्यन्ती। (१३२) शंस्—शंसन्ती। (१३३) शुच्—शोचन्ती। (१३४) शुष्—शुष्यन्ती। (१३५) श्रि—श्रयन्ती। (१३६) श्रु—शृण्वती। (१३७) श्लिष्—श्लिष्यन्ती। (१३८) श्वस्—श्वसती। (१३९) सद्—सीदती-सीदन्ती। (१४०) सिच्—सिञ्चती-सिञ्चन्ती। (१४१) सिध्—सिध्यन्ती। (१४२) सृ—सरन्ती। (१४३) सृज्—सृजती-सृजन्ती। (१४४) स्तु—स्तुवती। (१४५) स्था—तिष्ठन्ती। (१४६) स्पृश्—स्पृशती-स्पृशन्ती। (१४७) स्मृ—स्मरन्ती। (१४८) स्वप्—स्वपती। (१४९) हन्—घ्नती। (१५०) हस्—हसन्ती। (१५१) ओँहाक्—जहती। (१५२) हृ—हरन्ती।

द्वितीय शानच्प्रत्ययान्त शब्दों का संग्रह यथा—

१. (अय्) पलायमान[1]=भागता हुआ
२. (अर्थ्) प्रार्थयमान=प्रार्थना करता हुआ
[कर्मणि] प्रार्थ्यमान=प्रार्थना किया जाता हुआ
३. (अश्) अश्नुवान=व्याप्त करता हुआ
४. (आप्) [कर्मणि] प्राप्यमाण=पाया जाता हुआ
५. (आस्) आसीन[2]=बैठा हुआ
६. (इङ्) अधीयान=पढ़ता हुआ
७. (ईक्ष्) ईक्षमाण=देखता हुआ
[कर्मणि] निरीक्ष्यमाण=देखा जाता हुआ
८. (ईड्) ईडान=स्तुति करता हुआ
[कर्मणि] ईड्यमान=स्तुति किया जाता हुआ
९. (ईह्) ईहमान=चेष्टा करता हुआ
१०. (ऊह्) ऊहमान=तर्क करता हुआ
११. (एध्) एधमान=बढ़ता हुआ
१२. (कथ्) कथयमान=कहता हुआ
१३. (कम्) कामयमान=चाहता हुआ
१४. (कम्प्) कम्पमान=कांपता हुआ
१५. (काश्) प्रकाशमान=चमकता हुआ
१६. (कृ) कुर्वाण=करता हुआ
(कर्मणि) क्रियमाण=किया जाता हुआ
१७. (क्री) क्रीणान=खरीदता हुआ
[कर्मणि] क्रीयमाण=खरीदा जाता हुआ
१८. (क्षम्) क्षममाण=सहता हुआ
१९. (खिद्) खिद्यमान=खिन्न होता हुआ
२०. (गण्) गणयमान=गिनता हुआ
[कर्मणि] गण्यमान=गिना जाता हुआ
२१. (गर्ह्) गर्हमाण=निन्दा करता हुआ
[कर्मणि] गर्ह्यमाण=निन्दा किया जाता हुआ
२२. (गाह्) गाहमान=विलोडता हुआ
[कर्मणि] गाह्यमान=विलोडा जाता हुआ
२३. (ग्रह्) गृह्णान=ग्रहण करता हुआ
[कर्मणि] गृह्यमाण=ग्रहण किया जाता हुआ
२४. (घट्) घटमान=घटित होता हुआ
२५. (चि) चिन्वान=चुनता हुआ
[कर्मणि] चीयमान=चुना जाता हुआ
२६. (चिन्त्) चिन्तयमान=चिन्ता करता हुआ
[कर्मणि] चिन्त्यमान=सोचा जाता हुआ
२७. (चुर्) चोरयमाण=चुराता हुआ
[कर्मणि] चोर्यमाण=चुराया जाता हुआ
२८. (चेष्ट्) चेष्टमान=चेष्टा करता हुआ।
२९. (छिद्) छिन्दान=छेदन करता हुआ

---

१. स्त्रीलिङ्ग में शानच्प्रत्ययान्तों से केवल **अजाद्यतष्टाप्** (१२४५) द्वारा टाप् प्रत्यय किया जाता है। यथा—पलायमाना आदि। अतः इन का पृथक् निर्देश नहीं किया।

२. **ईदासः** (७.२.८३) सूत्र से यहां 'आन' के आकार को ईकार आदेश हो जाता है।

३०. (जन्) जायमान=पैदा होता हुआ
३१. (डी) डीयमान=उड़ता हुआ (दिवा०)
डयमान=उड़ता हुआ (भ्वा०)
३२. (तड्) ताडयमान=पीटता हुआ
[कर्मणि] ताड्यमान=पीटा जाता हुआ
३३. (तन्) तन्वान=विस्तार करता हुआ
३४. (त्रप्) त्रपमाण=लज्जा करता हुआ
३५. (त्रै) त्रायमाण=पालता हुआ
३६. (त्वर्) त्वरमाण=जल्दी करता हुआ
३७. (दय्) दयमान=दया करता हुआ
३८. (दाञ्) ददान=देता हुआ
[कर्मणि] दीयमान=दिया जाता हुआ
३९. (दीप्) दीप्यमान=चमकता हुआ
(यङन्त) देदीप्यमान=बहुत चमकता हुआ
४०. (दुह्) दुहान=दोहता हुआ
[कर्मणि] दुह्यमाना=दोही जाती हुई
४१. (दृ) आद्रियमाण=आदर करता हुआ
[कर्मणि] आद्रियमाण=आदर पाता हुआ
४२. (द्युत्) द्योतमान=चमकता हुआ
४३. (द्विष्) द्विषाण=द्वेष करता हुआ
४४. (धा) दधान=धारण करता हुआ
[कर्मणि] निधीयमान=रखा जाता हुआ
४५. (नह्) सन्नह्यमान=तैयार होता हुआ
४६. (नी) नयमान=ले जाता हुआ
[कर्मणि] नीयमान=ले जाया जाता हुआ
४७. (पच्) पचमान=पकाता हुआ
[कर्मणि] पच्यमान=पकाया जाता हुआ
४८. (पीड्) पीडयमान=पीड़ा देता हुआ
[कर्मणि] पीड्यमान=पीड़ा दिया जाता हुआ
४९. (पू) पुनान=पवित्र करता हुआ
५०. (पूज्) पूजयमान=पूजा करता हुआ
[कर्मणि] पूज्यमान=पूजा जाता हुआ
५१. (बाध्) बाधमान=रोकता हुआ
[कर्मणि] बाध्यमान=रोका जाता हुआ
५२. (बुध्) बुध्यमान=जागा हुआ (दिवा०)
५३. (भज्) भजमान=भजता हुआ
५४. (भाष्) भाषमाण=बोलता हुआ
५५. (भिक्ष्) भिक्षमाण=मांगता हुआ
५६. (भिद्) भिन्दान=भेदन करता हुआ
५७. (भुज्) भुञ्जान[1]=खाता हुआ
५८. (भृ) बिभ्राण=धारण करता हुआ
५९. (भ्रस्ज्) भृज्जमान=भूनता हुआ
६०. (भ्राज्) भ्राजमान=चमकता हुआ
६१. (मण्ड्) मण्डयमान=सजाता हुआ
६२. (मन्) मन्यमान=मानता हुआ
६३. (मुच्) मुञ्चमान=छोड़ता हुआ
६४. (मुद्) मोदमान=प्रसन्न होता हुआ
६५. (यज्) यजमान=यज्ञ करता हुआ
६६. (यत्) यतमान=यत्न करता हुआ
६७. (याच्) याचमान=मांगता हुआ
[कर्मणि] याच्यमान=मांगा जाता हुआ

---

१. **भुजोऽनवने** (६७२) से आत्मनेपद, श्नम्। भुञ्जत्=रक्षा करता हुआ।

६८. (युध्) युध्यमान=युद्ध करता हुआ
६९. (रच्) रचयमान=रचता हुआ
[कर्मणि] रच्यमान=रचा जाता हुआ
७०. (रभ्) आरभमाण=शुरु करता हुआ
[कर्मणि] आरभ्यमाण=शुरु किया जाता हुआ
७१. (रम्) रममाण=रमण करता हुआ
७२. (राज्) राजमान=शोभा पाता हुआ
७३. (रुच्) रोचमान=पसंद आता हुआ
७४. (रुध्) रुन्धान=रोकता हुआ
७५. (लङ्घ्) लङ्घमान=लांघता हुआ
७६. (लभ्) लभमान=पाता हुआ
[कर्मणि] लभ्यमान=पाया जाता हुआ
७७. (लिह्) लिहान=चाटता हुआ
७८. (ली) लीयमान=लीन होता हुआ
७९. (लू) लुनान=काटता हुआ
८०. (लोक्) लोकमान=देखता हुआ
८१. (लोच्) लोचमान=देखता हुआ
८२. (वन्द्) वन्दमान=झुकता हुआ
८३. (वह्) वहमान=ढोता हुआ
[कर्मणि] उह्यमान=ढोया जाता हुआ
८४. (वस्) वसान=ढांपता हुआ
८५. (विद्) विद्यमान=होता हुआ
८६. (विद्) विन्दमान=पाता हुआ
८७. (वृत्) वर्त्तमान=होता हुआ
८८. (वृध्) वर्धमान=बढ़ता हुआ
८९. (वेप्) वेपमान=कांपता हुआ
९०. (वेष्ट्) वेष्टमान=लपेटता हुआ
९१. (शङ्क्) शङ्कमान=शंका करता हुआ
९२. (शिक्ष्) शिक्षमाण=सीखता हुआ
९३. (शी) शयान=सोता हुआ
९४. (शुभ्) शोभमान=शोभा पाता हुआ
९५. (श्री) श्रयमाण=आश्रय करता हुआ
[कर्मणि] श्रीयमाण=आश्रय किया जाता हुआ
९६. (श्लाघ्) श्लाघमान=श्लाघा करता हुआ
९७. (सह्) सहमान=सहता हुआ
९८. (सिच्) सिञ्चमान=सींचता हुआ
९९. (सेव्) सेवमान=सेवन करता हुआ
[कर्मणि] सेव्यमान=सेवन किया जाता हुआ
१००. (स्तु) स्तुवान=स्तुति करता हुआ
[कर्मणि] स्तूयमान=स्तुति किया जाता हुआ
१०१. (स्पर्ध्) स्पर्धमान=स्पर्धा करता हुआ
१०२. (हृ) हरमाण=हरता हुआ
[कर्मणि] ह्रियमाण=ह्रा जाता हुआ

अब शास्त्र में बार बार प्रयोग करने के लिये शतृँ-शानच् का नामकरण करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(८३४) तौ सत् ।३।२।१२७।।

तौ शतृँ-शानचौ सत्संज्ञौ स्तः ।।

अर्थः—वे शतृँ और शानच् 'सत्' संज्ञक होते हैं।

व्याख्या—तौ ।१।२। सत् ।१।१। 'तौ' यह लँटः शतृँशानचावप्रथमासमानाधिकरणे (८३१) इस पूर्वसूत्रोक्त 'शतृँशानचौ' के स्वरूपनिर्देश के लिये है। यहां

यद्यपि अनुवृत्ति से भी 'शतृँशानचौ' प्राप्त हो सकता था तथापि 'तौ' का ग्रहण उपाधि-रहित शुद्ध शतृँ-शानच् के निर्देश के लिये किया गया है अन्यथा वर्त्तमानकाल में लँडा-देश शतृँ-शानच् की ही 'सत्' संज्ञा हो पाती भविष्यत्कालिक लृँडादेश की न होती। अर्थः—(तौ) शतृँ और शानच् (सत्) 'सत्' संज्ञक होते हैं। 'सत्' संज्ञा का उपयोग **पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन** (२.२.११), **लृँटः सद्वा** (८३५) आदि सूत्रों में किया गया है।

अब लृँट् के स्थान पर भी 'सत्' (शतृँ-शानच्) का विधान करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८३५) लृँटः सद् वा ।३।३।१४।।

व्यवस्थितविभाषेयम् । तेनाऽप्रथमासामानाधिकरण्ये प्रत्ययोत्तरपदयोः सम्बोधने लक्षणहेत्वोश्च नित्यम् । करिष्यन्तं करिष्यमाणं पश्य ।।

अर्थः—लृँट् के स्थान पर सत्सञ्ज्ञक अर्थात् शतृँ-शानच् विकल्प से होते हैं।

व्यवस्थितेति—यह व्यवस्थितविभाषा है इस से अप्रथमासामानाधिकरण्य में तथा प्रत्यय और उत्तरपद के परे रहते किञ्च सम्बोधन, लक्षण और हेतु में नित्य ही सत् हो जाता है (अन्यत्र क्वचित्)।

व्याख्या—लृँटः ।६।१। सत् ।१।१। वा इत्यव्ययपदम् । **अर्थः**—(लृँटः) लृँट् के स्थान पर (सत्) सत् अर्थात् शतृँ और शानच् आदेश (वा) विकल्प से होते हैं। पीछे (८३१) सूत्र में वर्त्तमान काल में लँट् के स्थान पर शतृँ-शानच् आदेश विधान किये गये थे अब भविष्यत्कालिक लृँट् के स्थान पर भी उन का विधान किया जा रहा है। उदाहरण यथा—

करिष्यन्तं करिष्यमाणं वा देवदत्तं पश्य (भविष्य में करने वाले देवदत्त को देख)। यहां डुकृञ् करणे (तना० उभय०) धातु से कर्तृविवक्षा में भविष्यत्सामान्य में **लृँट् शेषे च** (४०८) से लृँट् प्रत्यय आ कर **स्यतासी लृँलुटोः** (४०३) से 'स्य' प्रत्यय, उस की आर्धधातुकसंज्ञा, **ऋद्धनोः स्ये** (४९७) से इट् का आगम, **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से गुण तथा **आदेशप्रत्यययोः** (१५०) से षत्व हो कर 'करिष्य+ल्' इस स्थिति में प्रकृतसूत्र से लृँट् को शतृँ प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप करने से —करिष्य+अत् । अब **अतो गुणे** (२७४) से पररूप एकादेश करने पर 'करिष्यत्' यह शब्द निष्पन्न होता है। अब कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर इस से द्वितीया के एकवचन में 'अम्' प्रत्यय के लाने पर **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** (२८९) से नुँम् का आगम तथा नकार को अनुस्वार और अनुस्वार को परसवर्ण करने पर 'करिष्यन्तम्' प्रयोग सिद्ध होता है। कृञ् धातु ञित् होने से उभयपदी है अतः क्रिया-फल के कर्तृगामी होने पर इस से परे लृँट् को शतृँ न हो कर आत्मनेपदसंज्ञक शानच् आदेश होगा। तब **आने मुँक्** (८३२) से मुँक् का आगम हो कर णत्व करने पर 'करिष्यमाणम्' बनेगा।

लृँट् के स्थान पर होने वाले इस शतृँ-शानच् में पूर्ववत् कोई भी शर्त नहीं है। अतः प्रथमासमानाधिकरण या अप्रथमासमानाधिकरण कहीं पर भी इस की प्रवृत्ति निर्बाध हो जाती है। यथा—करिष्यन् देवदत्तः, करिष्यमाणो देवदत्तः। करिष्यन्तं देवदत्तम्, करिष्यमाणं देवदत्तम्। करिष्यता देवदत्तेन, करिष्यमाणेन देवदत्तेन। करिष्यते देवदत्ताय, करिष्यमाणाय देवदत्ताय आदि।

यहां शतृँ-शानच् को वैकल्पिक कहा गया है। इस विकल्प को वैयाकरणों ने व्यवस्थितविभाषा माना है। जो विकल्प किसी स्थान पर नित्य, किसी स्थान पर बिल्कुल नहीं अथवा किसी स्थान पर उभयथा प्रवृत्त हो उसे व्यवस्थितविभाषा कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जैसे विकल्प की सामान्यतः प्रत्येक स्थान पर प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति हो कर दो दो रूप बनते चले जाते हैं वैसे व्यवस्थितविभाषा में नहीं हुआ करता। इस में तो व्यवस्था रहती है—कहीं नित्य प्रवृत्ति होती है और कहीं नित्य अप्रवृत्ति, क्वचित् उभयविध भी व्यवस्था रहती है। व्यवस्थितविभाषा का अक्षरार्थ इस प्रकार समझना चाहिये—व्यवस्था सञ्जाताऽस्या इति व्यवस्थिता, तारकादित्वाद् इतच् (११६३)। व्यवस्थिता चाऽसौ विभाषा व्यवस्थितविभाषा, कर्मधारयसमासः। इस का तात्पर्य वही है जो ऊपर समझा चुके हैं। यहां एक बात और भी ध्यातव्य है कि इस व्यवस्थितविभाषा का निर्णय प्रयोगों को देख कर ही किया जाता है। प्रत्येक विकल्प को व्यवस्थितविभाषा नहीं कहा जा सकता। यहां लृँडादेश ये शतृँ-शानच् भी व्यवस्थितविभाषा से होते हैं। निम्नस्थ स्थानों पर इन की प्रवृत्ति नित्य देखी जाती है—

(१) अप्रथमा अर्थात् द्वितीया आदि के साथ सामानाधिकरण्य में। यथा—करिष्यन्तं करिष्यमाणं वा देवदत्तं पश्य। करिष्यता करिष्यमाणेन वा देवदत्तेन सूचितम् इत्यादि।

(२) प्रत्यय या उत्तरपद के परे होने पर। यथा—करिष्यतोऽपत्यम्—कारिष्यतः। **तस्यापत्यम्** (१००१) इत्यण्। करिष्यमाणस्यापत्यम्—कारिष्यमाणिः। **अत इञ्** (१०११) इतीञ्। यहां अण् और इञ् प्रत्यय परे हैं। करिष्यतो भक्तिः—करिष्यद्भक्तिः। यहां षष्ठीतत्पुरुषसमास में उत्तरपद परे है।

(३) सम्बोधन में। यथा—हे करिष्यन्!, हे करिष्यमाण!

(४) लक्षण (क्रिया के परिचायक) में। यथा—शयिष्यमाणा भोक्ष्यन्ते यवनाः। यवन लेटे हुए खायेंगे। यहां 'खाना' क्रिया का परिचायक 'लेटना' है।

(५) हेतु (क्रिया के कारण या फल) में। यथा—अर्जयिष्यन् वसति नगरे। कमाने के लिये नगर में रहता है। यहां 'कमाना' नगर में रहने का हेतु है। अध्येष्यमाणो वसति काश्याम्। पढ़ने के हेतु काशी में रहता है।[1]

---

१. सम्बोधन तथा क्रिया के लक्षण और हेतु में लँट् के स्थान पर भी शतृँ-शानच् प्रत्ययों का प्रयोग सूत्रकार को अभिमत है। तथाहि—

सम्बोधने च (३.२.१२५)। सम्बोधन के विषय में भी धातु से परे लँट् के स्थान पर शतृँ-शानच् आदेश होते हैं। यथा—हे पचन्! हे पचमान!।

इन के अतिरिक्त अन्यत्र विकल्प देखा जाता है। यथा 'करिष्यन्' और 'करिष्यमाणः' आदि के पक्ष में 'करिष्यति' आदि भी होते हैं। अर्थात् प्रथमा के सामानाधिकरण्य में विकल्प के कारण तिङन्तों का भी प्रयोग होता है।

नोट—(क) लृँट् लकार में जिस धातु का जो रूप बनता है उसका स्यभागान्त रूप शतृँ-शानच् में भी अक्षुण्ण रहता है। उस भाग की प्रक्रिया भी उसी तरह समझनी चाहिये। यथा—कृ धातु का लृँट् में 'करिष्यति' रूप बनता है तो इस का स्यभागान्त 'करिष्य' यह रूप शतृँ-शानच् में भी उसी तरह सिद्ध हो कर 'करिष्यन्' और 'करिष्यमाणः' बनता है। इसी प्रकार अन्य धातुओं में भी समझना चाहिये।

(ख) लृँट् के स्थान पर शतृँ आदेश होने पर स्त्रीत्व की विवक्षा में **उगितश्च** (१२४६) से ङीप् हो कर स्यान्तत्वात् अकारान्त होने के कारण **आच्छीनद्योर्नुम्** (३६५) से सर्वत्र वैकल्पिक नुँम् का आगम हो जाता है। यथा—करिष्यती-करिष्यन्ती, भविष्यती-भविष्यन्ती, तोत्स्यती-तोत्स्यन्ती, वर्त्स्यती-वर्त्स्यन्ती, दास्यती-दास्यन्ती आदि। आत्मनेपद में शानच् आदेश होने पर **अजाद्यतष्टाप्** (१२४५) से केवल टाप् ही होता है। यथा—करिष्यमाणा, लप्स्यमाना, यतिष्यमाणा आदि।

(ग) भविष्यत्काल या उस काल में रहने वाले पदार्थ में 'भविष्य' शब्द का कई स्थानों पर प्रयोग देखा जाता है। यथा—

(१) **नैतदन्ये करिष्यन्ति भविष्या वसुधाधिपाः।** (महाभारत १४.८७.२१)
(२) **अयं भविष्यः कथितो भविष्यकुशलैर्द्विजैः।** (हरिवंश ८१.२८)
(३) **श्रुत्वा साङ्ग्रामिकीं वार्तां भविष्यां स्वामिनं प्रति।**
प्रसन्नास्यो भवेद्यस्तु स भृत्योऽर्हो महीभुजाम्॥ (पञ्च० १.१००)
(४) **यद्भविष्यो विनश्यति** (पञ्च० १.३४६)
(५) **भविष्यपुराण** आदि में भी भविष्य शब्द प्रसिद्ध है।

इन स्थानों पर भविष्यत् शब्द के तकार का पृषोदरादित्वात् लोप समझना चाहिये।

लृँट् के स्थान पर शतृँ-शानच् आदेश के कुछ साहित्यगत प्रयोग यथा—

लक्षणहेत्वोः क्रियायाः (३.२.१२६)। क्रिया के लक्षण=परिचायक तथा क्रिया के हेतु में वर्त्तमान धातु से परे लँट् के स्थान पर शतृँ-शानच् आदेश होते हैं। यथा—शयाना भुञ्जते यवनाः। यवन लेटे हुए खाते हैं। तिष्ठन्ती मूत्रयति गौः। गाय खड़ी होते हुए मूतती है। **पठन् द्विजो वागृषभत्वमीयात्** (रामायण १.१.१००)। रामायण पढ़ने से द्विज वाणी में प्रवीणता प्राप्त कर लेता है। अधीयानो वसति गुरुकुले। पढ़ने के लिये गुरुकुल में रहता है। **जीवन् नरो भद्रशतानि पश्येत्।** जीवन के कारण ही मनुष्य सैंकड़ों भद्र बातों को देख पाता है।

ध्यान रहे कि इन उपर्युक्त स्थानों पर शतृँ-शानच् आदेश नित्य ही होते हैं विकल्प से नहीं।

(१) मैत्रेयीति होवाच याज्ञवल्क्य उद्यास्यन् वा अरेऽहमस्मात् स्थानादस्मि —(बृ० उप० २.४.१)।
(२) यक्ष्यमाणो ह वै भगवन्तोऽहमस्मि—(छां० उप० ५.११.५)।
(३) लताप्रतानोद्ग्रथितैः स केशैरधिज्यधन्वा विचचार दावम्।
रक्षापदेशान्मुनिहोमधेनोर्वन्यान्विनेष्यन्निव दुष्टसत्त्वान्॥
(रघु० २.८)
(४) कृतप्रणामस्य महीं महीभुजे जितां सपत्नेन निवेदयिष्यतः।
न विव्यथे तस्य मनो नहि प्रियं प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः॥
(किरात० १.२)
(५) उत्तिष्ठमानस्तु परो नोपेक्ष्यः पथ्यमिच्छता।
समौ हि शिष्टैराम्नातौ वर्त्स्यन्तावामयः स च॥ (माघ० २.१०)
(६) विद्या प्रवसतो मित्रं भार्या मित्रं गृहे सतः।
आतुरस्य भिषङ् मित्रं दानं मित्रं मरिष्यतः॥ (सुभाषित)

अभ्यास (६)

(१) यदि शतृ-शानच् लँडादेश या लृँडादेश न हो कर साक्षात् प्रत्यय होते तो क्या दोष उत्पन्न हो जाता ? सप्रमाण विश्लेषण करें।
(२) क्या कर्मवाच्य में शतृ का प्रयोग होता है या नहीं ? सप्रमाण स्पष्ट करें।
(३) निषिद्ध होने पर भी प्रथमासामानाधिकरण्य में लँडादेश शतृ-शानच् की उत्पत्ति कैसे और क्यों मानी जाती है ?
(४) व्यवस्थितविभाषा किसे कहते हैं ? उदाहरणद्वारा स्पष्ट करें।
(५) 'विदेः शतुर्वसुः' सूत्र में 'विदेः' से किस विद् धातु का ग्रहण होता है ? सहेतुक लिखें।
(६) निम्नस्थ धातुओं में किस से परे लँट् के स्थान पर शतृ और किस से परे शानच् होगा ? सप्रमाण लिखें—
आस्, तुद्, ब्रू, सृज्, चुर्, डुधाञ्, डुकृञ्, दिव्, ग्रह्, एध्, अस् (अदा०)।
(७) प्रश्नों का उत्तर दें—
(क) 'पचमानः' और 'पच्यमानः' में तथा 'कर्षन्' और 'कृषन्' में क्या अन्तर है ?
(ख) 'क्रीणन्' में श्ना का आकार तथा 'सन्' में अस् का अकार कैसे लुप्त हो जाता है ?
(ग) दीव्यन्, क्राम्यन्, श्राम्यन् में दीर्घ किस से विधान किया जाता है ?

(घ) 'शयानाः' में गुण तथा 'पुनानाः' में आकार लोप का विधान कौन करता है ?

(ङ) जुह्वत्, बिभ्यत् और तन्वत् में यण्विधायक सूत्र समझा कर लिखें ।

(च) लिखत्, मिलत् आदि में लघूपधगुण क्यों नहीं होता ?

(८) 'भविष्य' शब्द का क्या अर्थ है और इस की सिद्धि कैसे की जाती है ?

(९) निम्नस्थ शत्रन्तों के स्त्रीलिङ्ग में रूप लिखें—
यात्, शृण्वत्, घ्नत्, बिभ्यत्, कुप्यत्, करिष्यत्, विद्वस्, पठत्, कुर्वत्, गणयत्, मुञ्चत् ।

(१०) व्याख्या करें—

(क) लँडित्यनुवर्त्तमाने पुनर्लँड्ग्रहणात् प्रथमासामानाधिकरण्येऽपि क्वचित् ।

(ख) तेनाऽप्रथमासामानाधिकरण्ये प्रत्ययोत्तरपदयोः सम्बोधने लक्षण-हेत्वोश्च नित्यम् ।

(११) सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—
विदेः शतुर्वसुः, लँटः शतृँशानचावप्रथमा०, लृँटः सद्वा ।

(१२) निम्नस्थ धातुओं से यथायोग्य शतृँ या शानच् कर ससूत्र सिद्धि करें—
हन्, लिह्, हु, गम्, श्रु, डुदाञ्, शीङ्, मुच्, रुध्, ग्रह्, स्था, ब्रू, पा (रक्षणे), पा (पाने), इष्, रुह्, शम्, अस्, आस् ।

(१३) विद्यते ब्राह्मणः, करिष्यति देवदत्तः, अस्ति द्विजः, वर्धते स्नेहः—इन प्रयोगों को शतृँ-शानच्प्रत्ययान्त रूपों में बदलें ।

(१४) 'बिभ्यत्' शब्द के प्रथमा और द्वितीया विभक्तियों में रूप लिखें ।

——:०:——

अब ताच्छीलिक आदि कृत्प्रत्ययों का प्रकरण प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम अधिकारसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] अधिकार-सूत्रम्—(८३६) आक्वेस्तच्छील-तद्धर्म-तत्साधु-कारिषु ।३।२।१३४।।

क्विँपमभिव्याप्य वक्ष्यमाणाः प्रत्ययास्तच्छीलादिषु कर्तृषु बोध्याः ।।

अर्थः—अष्टाध्यायी में यहां से आगे क्विँप् प्रत्यय तक (उस के सहित) जो प्रत्यय कहे जायेंगे वे तच्छील, तद्धर्मा और तत्साधुकारी कर्ताओं में समझने चाहियें ।

व्याख्या—आ इत्यव्ययपदम् । क्वेः ।५।१। तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु ।७।३। तच्छील आदियों में 'तद्' शब्द से धातोः (७६६) अधिकार के कारण 'धातु' का ही ग्रहण होता है परन्तु शास्त्रोक्त वर्णात्मक धातु किसी कर्ता का शील-स्वभाव आदि नहीं बन सकती अतः 'धातु' से यहां धात्वर्थ (क्रिया) समझा जाता है । समासः—स

तृन् [तच्छील, तद्धर्मा, तत्साधुकारी कर्ता]

(धात्वर्थः) शीलं=स्वभावो यस्य स तच्छीलः। बहुव्रीहिसमासः। स (धात्वर्थः) धर्मः=आचारः=कुलाचारो यस्य स तद्धर्मा। यहां बहुव्रीहिसमास में **धर्मादनिच् केवलात्** (५.४.१२४) सूत्र से समासान्त अनिच् प्रत्यय हो कर 'तद्धर्मन्' शब्द बन जाता है। साधु (सम्यक्प्रकारेण) करोतीति साधुकारी। **साधुकारिण्युपसंख्यानम्** इति वार्त्तिकेन ताच्छील्याभावेऽपि णिनिँप्रत्ययः। तस्य (धात्वर्थस्य) साधुकारी तत्साधुकारी। षष्ठीतत्पुरुषः। तच्छीलश्च तद्धर्मा च तत्साधुकारी च तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिणः, तेषु तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु। इतरेतरद्वन्द्वः। 'क्वेः' में आङ् के योग के कारण **पञ्चम्यपाङ्परिभिः** (२.३.१०) से पञ्चमी विभक्ति हुई है। 'क्विँ' से अष्टाध्यायी के इसी पादस्थ **भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपॄजुग्रावस्तुवः क्विँप्** (३.२.१७७) सूत्रोक्त 'क्विँप्' प्रत्यय का निर्देश किया गया है। अर्थः—(आ क्वेः) आगे **भ्राजभास०** सूत्र में आने वाले क्विँप् प्रत्यय तक जो प्रत्यय कहेंगे वे (तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु) तच्छील, तद्धर्मा और तत्साधुकारी कर्ता में ही हों। यहां सूत्र में 'आ' (आङ्) मर्यादा अर्थ में नहीं अपितु अभिविधि अर्थ में प्रयुक्त हुआ है अतः 'क्विँप् प्रत्यय तक' से वक्ष्यमाण क्विँप् प्रत्यय में भी यह सूत्र प्रवृत्त होगा[1]।

तात्पर्य यह है कि अष्टाध्यायी में यहां से आगे आने वाले प्रत्यय यद्यपि **कृदतिङ्** (३०२) से कर्ता अर्थ में ही होते हैं तथापि इस प्रस्तुत अधिकार के कारण वे प्रत्यय साधारण कर्ता अर्थ में न हो कर तच्छील, तद्धर्मा और तत्साधुकारी कर्ताओं में ही होंगे अन्य कर्ताओं में नहीं।

(१) तच्छील कर्ता—फल की अपेक्षा किये बिना शील या स्वभाव से ही क्रिया करने वाला कर्ता।

(२) तद्धर्मा कर्ता—शील न होने पर भी क्रिया को अपने कुल का आचार समझकर करने वाला कर्ता।

(३) तत्साधुकारी कर्ता—शील वा कुलाचार न होने पर भी ठीक या उत्तम ढंग से क्रिया करने वाला कर्ता।

इन सब के उदाहरण अगले सूत्र पर स्पष्ट होंगे। अब ताच्छीलिक प्रत्ययों में प्रमुख प्रत्यय तृन् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८३७) तृन् ।३।२।१३५॥

कर्त्ता कटान् ॥

अर्थः—तच्छील, तद्धर्मा और तत्साधुकारी कर्ता अर्थ में धातु से परे तृन् प्रत्यय हो।

---

१. आङ् के मर्यादा और अभिविधि दो अर्थ होते हैं। इन का सोदाहरण विस्तृत विवेचन इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में (५५) सूत्र की व्याख्या के प्रसङ्ग में कर चुके हैं वहीं देखें।

व्याख्या—तृन् ।१।१। **धातोः**, **प्रत्ययः**, **परश्च** तीनों अधिकृत हैं। तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु ।७।३। (**आ क्वेस्तच्छील०** इस अधिकार के कारण)। अर्थः—(तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु) तच्छील, तद्धर्मा और तत्साधुकारी कर्ताओं के वाच्य होने पर (धातोः) धातुमात्र से (परः) परे (तृन्) तृन् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है।

तृन् प्रत्यय का अन्त्य नकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है 'तृ' मात्र शेष रहता है। नकार अनुबन्ध आद्युदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है।

धातु से तृन् प्रत्यय करने पर भी प्रक्रिया उसी तरह समझनी चाहिये जिस प्रकार तृच् प्रत्यय करने पर होती है। अन्तर केवल स्वर में पड़ता है रूपसिद्धि में नहीं। उदाहरण यथा—

कर्ता कटान् [चटाइयों को बनाने के स्वभाव वाला]। यहां कृ (डुकृञ् करणे, तना० उभय०) धातु से तच्छील कर्त्ता के वाच्य होने पर **आक्वेस्तच्छील०** (८३६) के अधिकार में **तृन्** (८३७) सूत्र से तृन् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप करने पर—कृ+तृ। **आर्धधातुकं शेषः** (४०४) से तृ की आर्धधातुकसंज्ञा हो कर **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से गुण और रपर करने से 'कर्तृ' यह कृदन्त शब्द निष्पन्न होता है। यहां इट् आगम का **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (४७५) से निषेध समझना चाहिये। अब कृदन्तत्वात् 'कर्तृ' शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में 'सुँ' प्रत्यय लाने पर **ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च** (२०५) से अनँङ् आदेश, उपधादीर्घ (१७७), हल्ङ्याबादिलोप (१७९) तथा **नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से पदान्त नकार का भी लोप करने पर 'कर्त्ता' प्रयोग सिद्ध होता है। इस तृन्नन्त के योग में **कर्तृकर्मणोः कृति** (२.३.६५) द्वारा कर्म में प्राप्त षष्ठीविभक्ति का **न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्** (२.३.६९) से निषेध हो कर **कर्मणि द्वितीया** (८९१) से द्वितीया विभक्ति हो जाती है—कर्ता कटान्।

तृजन्त और तृन्नन्त का अन्तर—

'कर्ता कटानाम्' यहां 'कर्तृ' शब्द तृजन्त और 'कर्ता कटान्' यहां 'कर्तृ' शब्द तृन्नन्त है। तृजन्त सामान्यकर्तृवाचक तथा तृन्नन्त तच्छीलादि कर्ता का वाचक होता है। तृजन्त के योग में कर्म में षष्ठी तथा तृन्नन्त के योग में कर्म में द्वितीया विभक्ति होती हैं। स्वर के अतिरिक्त तृजन्त और तृन्नन्त का यही मुख्य अन्तर है।

तच्छील कर्त्ता के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) वदिता सत्यम्। जो स्वभावतः सत्य बोलता है।
(२) वदिता जनापवादम्। जो स्वभावतः लोकनिन्दक है।
(३) कर्ता कलहम्। जो स्वभावतः झगड़ा करता है।
(४) उपदेष्टा जनान्। जो स्वभावतः लोगों को उपदेश देता है।
(५) उद्भावयिता बन्धून् भव, न्यग्भावयिता शत्रून् (व्या०च०)। तू स्वभावतः बान्धवों को उठाने वाला और शत्रुओं को नीचा दिखाने वाला हो।

षाकन् [तद्धर्म, तच्छील, तत्साधुकारिषु]

तद्धर्मा कर्ता के उदाहरण यथा—

(१) राघवाः पञ्च चूडाः कर्तारो भवन्ति (व्या० च०)। रघुकुल के राजकुमार पांच चोटियां रखते हैं यह उन के कुल का आचार है।

(२) मुण्डयितारः श्राविष्ठायना भवन्ति वधूमूढाम् (काशिका)। श्रविष्ठा-गोत्र के लोग नवविवाहित वधू का सिर मूंडते हैं—यह उन का कुलाचार है।

(३) अन्नमपहर्तार आह्वरका भवन्ति श्राद्धे सिद्धे (काशिका)। अह्वरदेश के लोग श्राद्धार्थ अन्न के तैयार हो जाने पर उसे उठा ले जाते हैं—यह उन का कुलाचार है।

(४) उन्नेतारस्तौल्वलायना भवन्ति पुत्रे जाते (काशिका)। तौल्वलि के युवापत्यों के कुल का यह धर्म है कि वे उत्पन्न हुए पुत्र को माता से जुदा कर देते हैं (व्या० च०)।

तत्साधुकारी कर्ता के उदाहरण यथा—

(१) कर्ता कटान्। चटाइयों को अच्छी तरह बनाने वाला।

(२) गन्ता खेटम्। शिकार को अच्छी तरह करने वाला।

(३) पूरयिता वंशीम्[1]। बांसुरी को अच्छी तरह बजाने वाला।

(४) गोप्ता गृहम्। घर की भली भांति रक्षा करने वाला।

(५) पक्ता भोजनम्। भोजन को भली भांति पकाने वाला।

नोट—तृन्नन्तों के स्त्रीलिङ्ग में **ऋन्नेभ्यो ङीप्** (२३२) से ङीप् प्रत्यय हो कर यण् करने से—कर्त्री, गन्त्री, वादयित्री, गोप्त्री, पक्त्री आदि रूप बनते हैं। इन की रूपमाला गौरीवत् चलती है।

अब ताच्छीलिकादि प्रत्ययों में षाकन् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८३८) **जल्प-भिक्ष-कुट्ट-लुण्ट-वृङः षाकन्** ।३।२।१५५॥

अर्थः—जल्प्, भिक्ष्, कुट्ट्, लुण्ट् और वृङ् धातुओं से परे तच्छील, तद्धर्मा और तत्साधुकारी कर्ता अर्थ में षाकन् प्रत्यय हो।

व्याख्या—जल्प-भिक्ष-कुट्ट-लुण्ट-वृङः ।५।१। षाकन् ।१।१। तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु ।७।३। (**आ क्वेस्तच्छील०** से)। **धातोः प्रत्ययः, परश्च** ये सब अधिकृत हैं। जल्पश्च भिक्षश्च कुट्टश्च लुण्टश्च वृङ् च=जल्प-भिक्ष-कुट्ट-लुण्ट-वृङ्, तस्मात्=जल्प-भिक्ष-कुट्ट-लुण्ट-वृङः, समाहारद्वन्द्वसमासः। जल्पादिष्वकार उच्चारणार्थः। अर्थः—(तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु) तच्छील, तद्धर्मा और तत्साधुकारी कर्ता अर्थों

१. नहि वंशी वाद्यते किन्तर्हि पूर्यते यथा शंखः। तेन वंशीं पूरयितेत्येव व्यवहारानुगः प्रयोगः। वंशीं वादयितेति तु असाधुरेवेति श्रीचारुदेवशास्त्रिणः।

में (जल्प-भिक्ष-कुट्ट-लुण्ट-वृङः) जल्प्, भिक्ष्, कुट्ट, लुण्ट् और वृङ् (धातोः) धातु से (परः) परे (षाकन्) षाकन् (प्रत्ययः) प्रत्यय होता है।

जल्प् (बोलना) —[जल्प व्यक्तायां वाचि, भ्वा० प०]।
भिक्ष् (भीख मांगना) —[भिक्षँ भिक्षायामलाभे लाभे च, भ्वा० आ०]।
कुट्ट् (कूटना आदि) —[कुट्ट छेदनभर्त्सनयोः, चुरा० उभय०]।
लुण्ट् (चुराना-लूटना)—[लुण्ट स्तेये, चुरा० उभय०]।
वृङ् (चुनना, चाहना)—[वृङ् सम्भक्तौ, क्र्या० आ०]।

इन पांच धातुओं से तच्छीलादि कर्ताओं में षाकन् प्रत्यय विधान किया जाता है। 'षाकन्' में नकार और षकार दोनों अनुबन्ध हैं। नकार **हलन्त्यम्** (१) से इत्-संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है। यह अनुबन्ध आद्युदात्त स्वर के लिये जोड़ा गया है। षकार की इत्संज्ञा करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(८३९) षः प्रत्ययस्य ।१।३।६॥

प्रत्ययस्यादिः ष इत्सञ्ज्ञः स्यात्। जल्पाकः। भिक्षाकः। कुट्टाकः। लुण्टाकः। वराकः। वराकी॥

अर्थः—प्रत्यय का आदि ष् इत्सञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—षः।१।१। (षकारादकार उच्चारणार्थः)। प्रत्ययस्य।६।१। आदिः।१।१। (**आदिर्ञिटुडवः** से)। इत्।१।१। (**उपदेशेऽजनुनासिक इत्** से)। अर्थः—(प्रत्ययस्य) प्रत्यय का (आदिः) आदि (षः) ष् वर्ण (इत्) इत्सञ्ज्ञक होता है।

'षाकन्' प्रत्यय है अतः प्रकृतसूत्र से इस के आदि षकार की इत्संज्ञा हो कर **तस्य लोपः** (३) से उस का लोप हो जाता है। इस प्रकार 'षाकन्' का 'आक' मात्र अवशिष्ट रहता है। प्रत्यय को षित् करने का प्रयोजन स्त्रीत्व की विवक्षा में **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५१) द्वारा ङीष् करना है।

जल्पाकः (बोलने के स्वभाव वाला-व्यर्थप्रलापी, बोलने को कुलाचार समझने वाला या ठीक ढंग से बोलने वाला[1])। यहां 'जल्प व्यक्तायां वाचि' धातु से तच्छीलादि-कर्तृविवक्षा में **जल्प-भिक्ष०** (८३८) से षाकन् प्रत्यय हो कर नकार की **हलन्त्यम्** (१) तथा षकार की **षः प्रत्ययस्य** (८३९) से इत्संज्ञा हो कर दोनों का **तस्य लोपः** (३) से लोप हो जाता है—जल्प्+आक=जल्पाक। अब कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर प्रथमा के एकवचन सुँ के आने पर 'जल्पाकः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार 'भिक्ष्' से 'भिक्षाकः' (भीख मांगने के स्वभाव वाला आदि); 'कुट्ट्' से 'कुट्टाकः' (कूटने के स्वभाव वाला आदि); 'लुण्ट्' से 'लुण्टाकः' (लूटने के स्वभाव वाला आदि) तथा 'वृङ्' से 'वराकः' (आर्धधातुक गुण। सेवाशील-दीन-बेचारा) प्रयोग सिद्ध होते हैं। कुट्ट् और लुण्ट् से स्वार्थिक णिच् का लोप (५२९) विशेष है।

षाकन् के षित्त्व के कारण स्त्रीलिङ्ग में **षिद्-गौरादिभ्यश्च** (१२५१) से

---

१. **स्याज्जल्पाकस्तु वाचाल** इत्यमरे दर्शनाज्जल्पाको बहुवक्तरि रूढः।

'उ' (कर्ता अर्थ में] चिकीर्षु
तच्छील, तद्धर्म, तत्साधुकारि

ङीप् तथा **यस्येति च** (२३६) द्वारा भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति-कार्य करने से जल्पाकी, भिक्षाकी, कुट्टाकी, लुण्टाकी और वराकी प्रयोग सिद्ध होते हैं ।

नोट —कुछ वैयाकरण 'लुण्ट्' के स्थान पर 'लुण्ठ्' धातु स्वीकार करते हैं। वे पूर्वोक्त सूत्र का भी **जल्प-भिक्ष-कुट्ट-लुण्ठ-वृङः षाकन्** इस प्रकार पाठ मानते हैं। उन के अनुसार 'लुण्टाकः' प्रयोग न होकर 'लुण्ठाकः' प्रयोग बनता है ।

अब एक अन्य सुप्रसिद्ध ताच्छीलिक प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (८४०) सनाशंसभिक्ष उः ।३।२।१६८।।

चिकीर्षुः । आशंसुः । भिक्षुः ।।

अर्थः—सन्नन्त, आशंस् तथा भिक्ष् धातु से परे तच्छीलादि कर्ता अर्थ में 'उ' प्रत्यय होता है ।

व्याख्या — सनाशंसभिक्षः ।५।१। उः ।१।१। तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु ।७।३। (**आ क्वेस्तच्छील०** से) । **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं। सन् च आशंसश्च भिक्ष् च सनाशंसभिक्ष्, तस्मात्=सनाशंसभिक्षः । समाहारद्वन्द्वसमासः । 'आशंस' के अन्त में अकार उच्चारणार्थक है । 'सन्' से यहां सन् धातु का नहीं अपितु सन् प्रत्यय का ग्रहण हो कर **प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः** के अनुसार सन्प्रत्ययान्त चिकीर्ष आदि धातुओं का ही ग्रहण होता है। गणपाठ के गर्गादिगण (१००५) में 'विजिगीषु' शब्द का पाठ इस प्रकार के व्याख्यान में प्रमाण है। 'आशंस्' द्वारा 'आङः शसिँ इच्छायाम्' (भ्वा० आ०[1]) इस धातु का ग्रहण अभीष्ट है। अर्थः—(सनाशंसभिक्षः) सन्प्रत्ययान्त, आङ्पूर्वक शसिँ अर्थात् आशंस् तथा भिक्ष् (धातोः) धातु से (परः) परे (तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु) तच्छील, तद्धर्मा और तत्साधुकारी कर्ता अर्थों में (उः) 'उ' (प्रत्ययः) प्रत्यय होता है । उदाहरण यथा—

'चिकीर्ष' यह 'डुकृञ् करणे' (तना० उभय०) धातु का सन्नन्त रूप है । इस की सिद्धि सन्नन्तप्रक्रिया में (७०६) सूत्र पर कर चुके हैं वहीं देखें । इस से तच्छील आदि कर्तृविवक्षा में प्रकृतसूत्र से 'उ' प्रत्यय हो कर **अतो लोपः** (४७०) से सन् के सकारोत्तर अकार का लोप कर—चिकीर्षु । विभक्तिकार्य करने पर 'चिकीर्षुः' (करने की स्वभावतः इच्छा वाला आदि) प्रयोग सिद्ध होता है। इसी तरह—जिहीर्षुः, पिपठिषुः, जिज्ञासुः, मुमुक्षुः, जिघांसुः, जिगमिषुः, शुश्रूषुः, विजिगीषुः, पिपासुः, दिदृक्षुः, आरुरुक्षुः प्रभृति प्रयोग सिद्ध होते हैं ।

आङ्पूर्वक 'शसिँ इच्छायाम्' (भ्वा० आ०) को इदित्वाद् नुँम् आगम तथा अपदान्त नकार को अनुस्वार आदेश हो कर 'आशंस्' धातु से तच्छीलादिकर्तृविवक्षा में प्रकृतसूत्र द्वारा 'उ' प्रत्यय कर प्रथमैकवचन में 'आशंसुः' (इच्छाशील) प्रयोग सिद्ध होता

---

१. 'आङः शसिँ इच्छायाम्' यह धातुपाठ का वचन है । आङ् से परे शसिँ (शंस्) धातु 'इच्छा करना' अर्थ में प्रयुक्त होती है । यथा—आशंसते, आशंसेते, आशंसन्ते आदि ।

क्विंप

है। इसी प्रकार 'भिक्षँ भिक्षायामलाभे लाभे च' (भ्वा० आ०) से 'भिक्षुः' (याचनशील, भिखारी, साधु) प्रयोग सिद्ध होता है[1]।

अब ताच्छीलिक प्रत्ययों में अन्तिम क्विँप् प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८४१) भ्राज-भास-धुर्वि-द्युतोर्जि-पृ-जु-ग्रावस्तुवः क्विँप् ।३।२।१७७।। सर्व-अपाहार लोपी

विभ्राट् । भाः ।।

अर्थः—भ्राज्, भास्, धुर्व्, द्युत्, ऊर्ज्, पृ, जु और ग्रावन्पूर्वक ष्टुञ् धातु से परे तच्छीलादि कर्ता में क्विँप् प्रत्यय होता है।

व्याख्या—भ्राज-भास-धुर्वि-द्युतोर्जि-पृ-जु-ग्रावस्तुवः ।५।१। क्विँप् ।५।१। तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु ।७।३। (**आ क्वेस्तच्छील-तद्धर्म०** से)। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं। भ्राजश्च भासश्च धुर्विश्च द्युतश्च ऊर्जिश्च पृ च जुश्च ग्रावस्तुश्च तस्मात्=भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपृजुग्रावस्तुवः, समाहारद्वन्द्वः। भ्राज, भास और द्युत में अन्त्य अकार उच्चारणार्थ जोड़ा गया है। ऊर्जि और धुर्वि में **इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे** से इक् प्रत्यय किया गया है। 'ग्रावस्तु' का अभिप्राय ग्रावन् (पत्थर) पूर्वक 'ष्टुञ् स्तुतौ' धातु से है। ग्रावन् कर्म का स्तु धातु से समास सौत्र समझना चाहिये। अर्थः—(भ्राज-भास-धुर्वि-द्युतोर्जि-पृ-जु-ग्रावस्तुवः) भ्राज्, भास्, धुर्व्, द्युत्, ऊर्ज्, पृ, जु और ग्रावस्तु (धातोः) इन आठ धातुओं से (परे) परे (तच्छील-तद्धर्म-तत्साधुकारिषु) तच्छील, तद्धर्मा और तत्साधुकारी कर्ताओं में (क्विँप्) क्विँप् (प्रत्ययः) प्रत्यय होता है। क्विँप् प्रत्यय के ककार इकार और पकार अनुबन्धों का लोप हो कर 'व्' मात्र शेष रहता है। उस का भी **वेरपृक्तस्य** (३०३) से लोप हो जाता है। इस प्रकार क्विँप् प्रत्यय का सर्वापहार लोप होता है। इस के आने से यही लाभ होता है कि धातु कृदन्तत्वात् प्रातिपदिक बन जाती है किञ्च क्विँप् के कित्त्व के कारण सम्प्रसारण या गुणवृद्धिनिषेध तथा पित्त्व के कारण तुँक् आगम आदि कार्य हो जाते हैं।

भ्राज् आदि धातुओं का विवरण इस प्रकार समझना चाहिये—

(१) भ्राज् (चमकना)। भ्राजृँ दीप्तौ [भ्वा० आत्मने० सेट्]।
(२) भास् (चमकना)। भासृँ दीप्तौ [भ्वा० आत्मने० सेट्]।
(३) धुर्व् (हिंसा करना)। धुर्वीँ हिंसायाम् [भ्वा० परस्मै० सेट्]।
(४) द्युत् (चमकना)। द्युतँ दीप्तौ [भ्वा० आत्मने० सेट्]।
(५) ऊर्ज् (शक्तिमान् होना या जीना)। ऊर्ज बलप्राणनयोः [चुरा० उभय० सेट्]।

---

१. **यो निःसृतोऽपि न च निःसृतकामरागः**
काषायमुद्वहति यो न च निष्कषायः।
पात्रं बिभर्त्यथ गुणैर्न च पात्रभूतो
लिङ्गं वहन्नपि स नैव गृही न भिक्षुः ।। (सौन्दरनन्द ७.४९)

(६) पॄ (पालना वा भरना)। पॄ पालनपूरणयोः [जुहो० परस्मै० सेट्]।
(७) जु (तेज़ चलना)। जु वेगितायां गतौ [सौत्रोऽयं धातुः]।
(८) ग्रावन्+स्तु (पत्थर की स्तुति करना)। ष्टुञ् स्तुतौ [भ्वा० उभय० अनिट्]।

भ्राज् आदि धातुओं से निरुपसर्ग या सोपसर्ग किसी भी दशा में क्विँप् हो सकता है। परन्तु ष्टुञ् धातु से ग्रावन्शब्दपूर्वक ही।

'वि' उपसर्गपूर्वक भ्राज् (चमकना) धातु से तच्छीलादि कर्ता की विवक्षा में प्रकृतसूत्र से क्विँप् प्रत्यय हो कर उस का सर्वापहार लोप करने से 'विभ्राज्' प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। अब प्रथमैकवचन में सुँ प्रत्यय आ कर हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० से हल्ङ्यादिलोप, **व्रश्च-भ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः** (३०७) से भ्राज् के जकार को षकार तथा **झलां जशोऽन्ते** (६७) से षकार को डकार और **वाऽवसाने** (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व करने पर 'विभ्राट्, विभ्राड्' (चमकने के स्वभाव वाला) ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

भास् (चमकना) धातु से तच्छीलादि कर्तृविवक्षा में क्विँप्, उस का सर्वापहार-लोप, प्रातिपदिकसंज्ञा, प्रथमैकवचन में सुँ प्रत्यय आकर उस का हल्ङ्यादिलोप (१७९) कर पदान्त सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने से 'भाः' (चमकने के शील वाला) प्रयोग सिद्ध होता है।

'धुर्व्' (हिंसा करना) धातु से तच्छीलादिकर्तृविवक्षा में प्रकृतसूत्र से क्विँप् हो कर उस का सर्वापहार लोप करने से—धुर्व्। अब इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८४२) राल्लोपः ।६।४।२१॥

रेफाच्छ्वोर्लोपः क्वौ, झलादौ क्ङिति (च)। धूः। विद्युत्। ऊर्क्। पूः। दृशिग्रहणस्यापकर्षाज्जवतेर्दीर्घः। जूः। ग्रावस्तुत्॥

अर्थः—रेफ से परे छकार या वकार का लोप हो जाता है यदि क्विँ (क्विँप्) परे हो या झलादि कित् ङित् प्रत्यय परे हो। **दृशि**—अग्रिमसूत्र से 'दृश्यते' पद के अपकर्षण के कारण 'जु' को दीर्घ हो जाता है।

व्याख्या—रात्।५।१। लोपः।१।१। छ्वोः।६।२। (छ्वोः शूडनुनासिके च से) क्विँ-झलोः।७।२। क्ङिति।७।१। (अनुनासिकस्य क्विँझलोः क्ङिति से)। 'क्विँ-झलोः' में 'झलि' अंश 'क्ङिति' का विशेषण है अतः विशेषण से **यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे** परिभाषा से तदादिविधि हो कर 'झलादौ क्ङिति' उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(रात्) 'र्' से परे (छ्वोः) छ् और व् का (लोपः) लोप हो जाता है (क्विँ-झलोः क्ङिति) क्विँ परे होने पर अथवा झलादि कित् ङित् प्रत्यय परे होने पर। उदाहरण यथा—

प्रकृत में 'धुर्व्' से क्विँप् किया गया था जो प्रत्ययलक्षणद्वारा (१९०) अब भी परे माना जा सकता है अतः रेफ से परे व् का लोप हो कर 'धुर्' प्रातिपदिक

निष्पन्न होता है। प्रथमैकवचन में इस से परे सुँ का हल्ङ्यादिलोप हो कर **क्विबन्ता धातुत्वं न जहति** (प०) इस कथन के अनुसार धातुत्व के अक्षुण्ण रहने से पदान्त में **र्वोरुपधाया दीर्घ इकः** (३५१) से उपधादीर्घ करने से 'धूर्' बना। अब रेफ को विसर्ग आदेश करने पर 'धूः' प्रयोग सिद्ध होता है। 'धुर्' शब्द की रूपमाला तथा समस्त प्रक्रिया पूर्वार्ध में (३६०) सूत्र पर लिखे 'गिर्, पुर्' शब्दों की तरह होती है। यह शब्द नित्यस्त्रीलिङ्गी माना जाता है।[1]

झलादि कित् के उदाहरण 'मूर्तः, मूर्तवान्' आदि। मुर्च्छाँ मोहसमुच्छ्राययोः (भ्वा० प०)। मुर्छ्+क्त=मुर्छ्+त=मुर्+त=मूर्तः [**हलि च** (६१२) से दीर्घ हो जाता है][2]।

झलादि ङित् के उदाहरण 'मोमूर्तः' आदि। यह मुर्छ् धातु के यङ्लुगन्त में लँट् के प्रथमपुरुष का द्विवचन है। **सार्वधातुकमपित्** (५००) से यहां 'तस्' ङित् है।

पूर्वप्रकृत क्विँप् के अन्य उदाहरण यथा—

'वि' पूर्वक द्युत् (चमकना) धातु से तच्छीलादिकर्तृविवक्षा में **भ्राज-भास-धुर्वि-द्युतोर्जि०** (८४१) से क्विँप्, उस का सर्वापहारलोप तथा क्विँप् के कित्त्व के कारण लघूपधगुण का **क्ङिति च** (४३३) से निषेध हो कर 'विद्युत्' यह तकारान्त स्त्रीलिङ्गी शब्द निष्पन्न होता है। इस से परे प्रथमैकवचन सुँ का हल्ङ्यादिलोप हो कर 'विद्युत्' (चमकने के स्वभाव वाली—तडित् या बिजली) प्रयोग सिद्ध होता है। विद्युत्, विद्युतौ, विद्युतः इत्यादिप्रकारेण रूपमाला चलेगी।

ऊर्ज् (बलवान् होना या प्राणधारण करना) धातु से स्वार्थ में णिच् (६९४) हो कर **भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जिपॄजुग्रावस्तुवः क्विँप्** (८४१) द्वारा तच्छीलादिकर्तृविवक्षा में क्विँप्, उस का सर्वापहारलोप **णेरनिटि** (५२९) से णिच् का भी लोप करने पर 'ऊर्ज्' प्रातिपदिक बनता है। अब इस से परे प्रथमैकवचन सुँ का हल्ङ्यादिलोप, **रात्स-स्य** (२०९) नियम के कारण संयोगान्तलोप का निषेध, **चोः कुः** (३०६) से कुत्व=गकार तथा **वाऽवसाने** (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व=ककार करने पर 'ऊर्क्, ऊर्ग्' (बलशील वा जीवनशील) प्रयोग सिद्ध होते हैं। 'ऊर्ज्' शब्द विशेष्यानुसार लिङ्ग धारण करेगा। पुं० में ऊर्क्, ऊर्जौ, ऊर्जः इत्यादिप्रकारेण रूपमाला चलेगी[3]।

---

१. धूर्वति=हिनस्ति=दुःखाकरोति वोढॄन् इति धूः। बैल आदि वाहकों को दुःखी करने के स्वभाव वाला अर्थात् रथ आदि का अग्रभाग जो बैल आदि के कन्धे पर रखा जाता है। यह शब्द अब कई अर्थों में रूढ हो चुका है। यथा—
(क) रथादि के अग्रभाग में—**न गर्दभा वाजिधुरं वहन्ति** (मृच्छ० ४.१७)।
(ख) भार अर्थ में—**तेन धूर्जगतो गुर्वी सचिवेषु निचिक्षिपे** (रघु० १.३४)।
(ग) अग्र अर्थ में—**अपांसुलानां धुरि कीर्त्तनीया** (रघु० २.२)।

२. अत्र **आदितश्च** (७.२.१६) इतीण्निषेधः। **रदाभ्यां०** (८१६) इति निष्ठानत्व-स्यापि **न ध्याख्या-पॄ-मूर्च्छि-मदाम्** (८.२.५७) इति निषेधः।

३. प्रायः सभी प्रमुख कोषकारों ने ऊर्ज् शब्द को अन्न वा बल का वाचक तथा नित्य-स्त्रीलिङ्गी माना है। रामचन्द्र तथा भट्टोजिदीक्षित आदि वैयाकरणों ने इसे हलन्त-

पॄ पालन-पूरणयोः (जुहो० परस्मै०) धातु से तच्छीलादिकर्तृविवक्षा में **भ्राज-भासधुर्वि०** (८४१) सूत्र से क्विँप्, उस का सर्वापहारलोप, क्विँप् के कित्त्व के कारण आर्धधातुकगुण का निषेध, पुनः **ऋत इद् धातोः** (६६०) द्वारा इत्व के प्राप्त होने पर उस का बाध कर **उदोष्ठ्यपूर्वस्य** (६११) से उत्व तथा **उरण्रपरः** (२९) से रपर करने पर 'पुर्' यह नित्यस्त्रीलिङ्ग प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। इस की रूपमाला 'गिर्' शब्द की तरह चलती है। प्रथमैकवचन में सुँ का हल्ङ्यादिलोप हो कर **र्वोरुपधाया दीर्घ इकः** (३५१) से उपधादीर्घ तथा रेफ को विसर्ग करने से 'पूः' प्रयोग सिद्ध होता है। पूः, पुरौ, पुरः। पिपर्त्ति तच्छीलेति पूः। जो अपने अन्तर्गत प्राणियों का पालन करे या अपने अन्दर वस्तुओं को भरती रहे उसे 'पुर्' कहते हैं। यह शब्द नगरी अर्थ में रूढ हो चुका है[1]।

'जु' धातु धातुपाठ में नहीं पढ़ी गई, सूत्रों में ही देखी जाती है[2]। अतः इसे सौत्र धातु कहते हैं। इसी से ही 'जवः, जूतिः, जवनः' प्रभृति शब्द बनते हैं। काशिकाकार ने इस का अर्थ 'वेगितायां गतौ' अर्थात् 'तेज चलना' लिखा है। इस 'जु' धातु से तच्छीलादिकर्तृविवक्षा में **भ्राज-भास-धुर्वि०** (८४१) सूत्र से क्विँप् प्रत्यय कर उस का सर्वापहारलोप करने से—जु। परन्तु **भ्राज-भास-धुर्वि०** (८४१) सूत्र में **अन्येभ्योऽपि दृश्यते** (३.२.१७८) इस अग्रिमसूत्र से 'दृश्यते' (देखा जाता है) पद का अपकर्षण कर यह माना जाता है कि इस सूत्र में कुछ कार्य ऐसे भी हैं जो लोक में तो देखे जाते हैं पर शास्त्रद्वारा विहित नहीं किये गये, उन की भी स्वीकृति 'दृश्यते' के कारण समझ ली जाती है। अतः यहां 'जु' को दीर्घ कर 'जू' शब्द बन जाता है। कारण कि लोक में दीर्घान्त जू शब्द ही उपलब्ध होता है ह्रस्वान्त नहीं। अब 'जू' की कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर सुँ लाने पर 'जूः' प्रयोग सिद्ध होता है। जवति वेगेन गच्छतीति तच्छीलो जूः (वेग से चलने के स्वभाव वाला)। जूः, जुवौ, जुवः—इस प्रकार रूप माला चलेगी।

ग्रावाणं स्तौति तच्छील इति ग्रावस्तुत् [सोम-अभिषव के साधन पत्थर की स्तुति करने के स्वभाव वाला, होता के तीन सहायकों में से एक ऋत्विग्विशेष]। 'ग्रावन्' शब्द पत्थर का वाचक है और नकारान्त पुं० है[3]। 'ग्रावन्' कर्मपूर्वक स्तु (ष्टुञ् स्तुतौ, अदा० उभय०) धातु से **भ्राज-भास-धुर्वि०** (८४१) सूत्र से तच्छीलादिकर्तृविवक्षा में क्विँप् प्रत्यय हो उस का सर्वापहारलोप हो जाता है। पुनः कृद्योग में कर्म में षष्ठी

नपुंसकप्रकरण में पढ़ा है और हम ने यहां इसे त्रिलिङ्गी मान कर व्याख्या की है। इन सब का आधार अभी अन्वेषणीय है।

१. इस ताच्छीलिकप्रकरण में आचार्य ने प्रायः योगरूढ शब्दों का ही संग्रह किया है। शुद्ध यौगिक शब्द बहुत कम हैं।

२. यथा—**जु-चङ्क्रम्य०** (३.२.१५०); **प्रजोरिनिः** (३.२.१५६); **भ्राज-भास-धुर्वि-द्युतोर्जि-पॄ-जु०** (३.३.१७७)।

३. **अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्** (उत्तरराम० १.२८)।

क्विँप् (०)

आ कर सूत्रोक्तसामर्थ्य से 'ग्रावन्+ङस्' का 'स्तु' के साथ समास[1] हो कर अन्तर्वर्तिनी 'ङस्' विभक्ति का लुक् हो **नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से ग्रावन् के नकार का भी लोप करने से 'ग्रावस्तु'। अब क्विँप् के कित्त्व के कारण 'स्तु' को आर्धधातुक-गुण नहीं होता किञ्च क्विँप् के पित्त्व के कारण **ह्रस्वस्य पिति कृति तुँक्** (७७७) से स्तु के अन्त में तुँक् का आगम हो कर अनुबन्धलोप करने पर 'ग्रावस्तुत्' यह कृदन्त पुंलिङ्ग प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। सुँ में हल्ङ्यादिलोप कर 'ग्रावस्तुत्' प्रयोग सिद्ध होता है। ग्रावस्तुत्, ग्रावस्तुतौ, ग्रावस्तुतः---इत्यादिप्रकारेण रूपमाला चलती है।

यह ताच्छीलिक क्विँप् प्रत्यय भ्राज् आदि धातुओं के अतिरिक्त **अन्येभ्योऽपि दृश्यते** (३.२.१७८) अर्थात् अन्य धातुओं से भी देखा जाता है—ऐसा आचार्य पाणिनि ने कहा है इस की व्याख्या करते हुए आचार्य कात्यायन अपना एक वार्त्तिक प्रस्तुत करते हैं—

[लघु०] वा०—(४८) क्विब् वचि-प्रच्छयायतस्तु-कटप्रु-जु-श्रीणां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च ॥

वक्तीति – वाक् ॥

अर्थः—वच्, प्रच्छ्, आयतपूर्वक स्तु, कटपूर्वक प्रु, जु और श्रि---इन छः धातुओं से तच्छीलादि कर्ता के वाच्य होने पर क्विँप् प्रत्यय तथा इन धातुओं को दीर्घ हो और सम्प्रसारण का भी अभाव हो।

व्याख्या---क्विँप् ।१।१। वचि-प्रच्छयायतस्तु-कटप्रु-जु-श्रीणाम् ।६।३। दीर्घः ।१।१। असम्प्रसारणम् ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। न सम्प्रसारणम् असम्प्रसारणम्; नञ्समासः। यह वार्त्तिक ताच्छीलिक प्रकरणस्थ **अन्येभ्योऽपि दृश्यते** (३.२.१७८) सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है अतः तच्छीलविषयक ही समझा जायेगा। इस का अर्थ वही है जो ऊपर दिया गया है। वचि और प्रच्छि में धातुनिर्देशार्थ इक्प्रत्यय जोड़ा गया है। 'आयतस्तु' से आयतपूर्वक 'ष्टुञ् स्तुतौ' धातु का तथा 'कटप्रु' से कटपूर्वक 'प्रुङ् गतौ' धातु का ग्रहण होता है। वार्तिकोक्त धातुओं का पूर्ण विवरण यथा—

(१) वच् (बोलना); वच परिभाषणे (अदा० परस्मै०)।
(२) प्रच्छ् (पूछना); प्रच्छ ज्ञीप्सायाम् (तुदा० परस्मै०)।
(३) आयतपूर्वक स्तु (स्तुति करना); ष्टुञ् स्तुतौ (अदा० उभय०)।
(४) कटपूर्वक प्रु (जाना); प्रुङ् गतौ (भ्वा० आत्म०)।
(५) जु (तेज़ चलना); जु वेगितायां गतौ (सौत्र धातु)।
(६) श्रि (आश्रय करना, सेवा करना); श्रिञ् सेवायाम् (भ्वा० उभय०)।

इन धातुओं से क्विँप् हो कर दीर्घ तो सब में हो जाता है परन्तु सम्प्रसारण

---

१. आचार्य ने **भ्राज-भास-धुर्वि०** (८४१) सूत्र में 'ग्रावस्तु' से क्विँप् का विधान किया है। इस से प्रतीत होता है कि वे यहां समास भी चाहते हैं, यही यहां सूत्रोक्त सामर्थ्य है।

का अभाव केवल वहा पर ही हो सकता है जहां सम्प्रसारण प्राप्त है। सम्प्रसारण की प्राप्ति वच् और प्रच्छ् में ही सम्भव है अतः सम्प्रसारण का अभाव इन दो में ही समझना चाहिये। उदाहरण यथा—

(१) वक्ति तच्छीलेति—वाक् [बोलना जिस का स्वभाव है अर्थात् वाणी]। यहां वच् (बोलना) धातु से प्रकृतवार्त्तिक द्वारा क्विँप् प्रत्यय, उस का सर्वापहारलोप तथा वकारोत्तर अकार को दीर्घ करने पर—वाच्। क्विँप् के कित्त्व के कारण **वचिस्वपियजादीनां किति** (५४७) द्वारा सम्प्रसारण प्राप्त था उस का भी प्रकृतवार्त्तिक से निषेध हो जाता है। 'वाच्' से प्रथमैकवचन में सुँ का हल्ङ्यादिलोप हो कर **चोः कुः** (३०६) से कुत्व तदनन्तर जश्त्व-चर्त्व करने पर 'वाक्-वाग्' प्रयोग सिद्ध होते हैं। वाक्-वाग्, वाचौ, वाचः—इस की रूपमाला हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण में लिख चुके हैं वहीं देखें।

(२) पृच्छति तच्छील इति प्राट् [पूछने के स्वभाव वाला]। प्रच्छ् (पूछना) धातु से प्रकृतवार्त्तिकद्वारा क्विँप्, धातु के अकार को दीर्घ तथा क्विँप् का सर्वापहार लोप करने पर 'प्राच्छ्' इस स्थिति में **ग्रहिज्यावयि०** (६३४) द्वारा प्राप्त सम्प्रसारण का भी अभाव हो कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(८४३) च्छ्वोः शूडनुनासिके च ।६।४।१९।।**

सतुँक्कस्य छस्य वस्य च क्रमात् 'श्, ऊठ्' इत्यादेशौ स्तोऽनुनासिके क्वौ झलादौ च क्ङिति। पृच्छतीति प्राट्। आयतं स्तौति—आयतस्तूः। कटं प्रवते—कटप्रूः। जूरुक्तः। श्रयति हरिम्—श्रीः।।

अर्थः—अनुनासिकादि प्रत्यय परे हो या क्विँ परे हो अथवा झलादि कित् ङित् परे हो तो तुँक्सहित-छकार के स्थान पर श् आदेश तथा वकार के स्थान पर ऊठ् आदेश हो जाता है।

व्याख्या—च्छ्वोः ।६।२। शूड् ।१।१। अनुनासिके ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। क्विँ-झलोः ।७।२। क्ङिति ।७।१। (**अनुनासिकस्य क्विँझलोः क्ङिति** से)। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। च्छ् च व् च च्छ्वौ, तयोः—च्छ्वोः। इतरेतरद्वन्द्वः। 'च्छ्' यह 'तुँक्+छ्' का बोधक है। तुँक् के तकार को यहां श्चुत्व हुआ समझना चाहिये। श् च ऊठ् च तयोः समाहारः शूड्, समाहारद्वन्द्वः। 'अङ्गस्य' अधिकार के कारण 'प्रत्यये' पद आक्षिप्त किया जाता है। 'अनुनासिके' यह 'प्रत्यये' का विशेषण है। अतः **यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे** से तदादिविधि हो कर 'अनुनासिकादौ प्रत्यये' बन जाता है। क्विँश्च झल् च क्विँझलौ, तयोः—क्विँझलोः, इतरेतरद्वन्द्वः। इस में 'झलि' अंश 'क्ङिति' के साथ सम्बद्ध हो कर तदादिविधि करने से 'झलादौ क्ङिति' उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(अनुनासिके=अनुनासिकादौ प्रत्यये) अनुनासिक वर्ण जिस के आदि में है ऐसे प्रत्यय के परे होने पर या (क्विँझलोः क्ङिति—क्वौ झलादौ क्ङिति च) 'क्विँ' परे होने पर अथवा झलादि कित् ङित् प्रत्यय परे होने पर (च्छ्वोः) च्छ् और व् के स्थान पर क्रमशः (श्-ऊठ्) 'श्' और 'ऊठ्' आदेश हो जाते हैं।

यह सूत्र तुक्सहित छकार (च्छ्) को 'श्' आदेश तथा केवल व् को ऊठ्[1] आदेश विधान करता है यदि निम्नस्थ तीन शर्तों में से कोई एक शर्त पूरी हो तो—

(१) अनुनासिकादि प्रत्यय परे हो।

(२) क्विँ (क्विँप्, क्विँन्) प्रत्यय परे हो।

(३) झलादि कित् ङित् प्रत्यय परे हो।

इस सूत्र के कुछ उदाहरण यथा—

विश्नः। यहां विच्छ् और प्रच्छ् धातुओं से **यज-याच-यत-विच्छ-प्रच्छ-रक्षो नङ्** (८६०) सूत्र से नङ् (न) प्रत्यय किया गया है जो स्पष्टतः अनुनासिकादि प्रत्यय है अतः तुक्+छ् (च्छ्) को 'श्' आदेश हो कर 'विश्नः, प्रश्नः' रूप सिद्ध होते हैं।

सिव् धातु से बाहुलकात् औणादिक (३.६) 'न' प्रत्यय करने पर 'सिव्+न'। यहां अनुनासिकादि प्रत्यय परे है अतः धातु के व् को ऊठ् (ऊ) आदेश कर यण् करने से 'स्यू+न'। अब आर्धधातुकगुण हो कर 'स्योनः' रूप सिद्ध होता है। स्योन= कोमल, मृदु, सुखकर (आसनादि)। कोषकार इसे प्रसेव (थैला) अर्थ में भी पढ़ते हैं।

खव् (समय के बाद पैदा होना) धातु क्र्यादिगण के परस्मैपद में पढ़ा गया है अतः लँट्-तिप् और श्ना विकरण करने पर 'खव्+ना+ति' इस अवस्था में 'ना' यह अनुनासिकादि प्रत्यय परे है अतः धातु के वकार को ऊठ् हो कर **एत्येधत्यूठ्सु** (३४) से वृद्धि एकादेश करने से 'खौनाति' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्रच्छ् धातु से क्त प्रत्यय करने पर 'प्रच्छ्+त'। **ग्रहिज्या०** (६३४) से सम्प्रसारण तथा **सम्प्रसारणाच्च** (२५८) से पूर्वरूप हो कर—पृच्छ्+त। यहां झलादि कित् प्रत्यय परे है अतः तुक्+छ् (च्छ्) को श् आदेश हो कर—पृश्+त। अब **व्रश्च-भ्रस्ज०** (३०७) से श् को षकार तथा **ष्टुना ष्टुः** (६४) से तकार को टकार करने पर 'पृष्टः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार—पृष्टवान्, पृष्ट्वा आदि।

दिव् और सिव् धातुओं से क्त प्रत्यय करने पर—दिव्+त; सिव्+त। यहां 'त' यह झलादि कित् प्रत्यय परे है अतः धातु के व् को ऊठ् (ऊ) आदेश कर इकार को यण् करने से—'द्यूतः, स्यूतः' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

क्विँ परे होने का उदाहरण प्रकृत में यथा—

'प्राच्छ्' यहां क्विँ प्रत्यय का सर्वापहारलोप हो चुका है परन्तु प्रत्ययलक्षण से उसे अब भी माना जा सकता है। इस प्रकार क्विँ परे होने पर प्रकृतसूत्रद्वारा च्छ् (तुक्+छ्) को श् आदेश हो जाता है—प्राश्। अब प्रथमैकवचन में सुँ लाने पर हल्ङ्यादिलोप **व्रश्चभ्रस्ज०** (३०७) से शकार को षकार, **झलां जशोऽन्ते** (६७) से

---

१. ऊठ् में ठकार अनुबन्ध **एत्येधत्यूठ्सु** (३४) में पहचान के लिये जोड़ा गया है। इस से 'खव्' धातु के 'खौनाति' आदि रूपों में ऊठ् हो कर वृद्धि सिद्ध हो जाती है।

ष्ट्रन् (करण-अर्थ में)

षकार को जश्त्व=डकार तथा **वाऽवसाने** (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व=टकार करने पर —'प्राट्, प्राड्'[1] रूप सिद्ध होते हैं। प्राट्-ड्, प्राशौ, प्राशः इत्यादि।

पूर्ववार्त्तिक के अवशिष्ट उदाहरण यथा—

(३) आयतं सविस्तरं स्तौति तच्छील इति आयतस्तूः (विस्तार से स्तुति करने के स्वभाव वाला, चारण या भाट)। यहां 'आयत' कर्मपूर्वक स्तु (स्तुति करना) धातु से प्रकृतवार्त्तिक द्वारा क्विँप्, धातु को दीर्घ, प्रत्यय का सर्वापहारलोप तथा वार्त्तिकोक्तसामर्थ्य से समास कर—'आयतस्तू'[2]। प्रथमैकवचन में सुँ को रुँत्व-विसर्ग हो कर 'आयतस्तूः'। आयतस्तूः, आयतस्तुवौ, आयतस्तुवः इत्यादिप्रकारेण रूपमाला चलेगी।

(४) कटं श्मशानं प्रवते=गच्छति=रिङ्गति तच्छील इति कटप्रूः (श्मशान में रहने के स्वभाव वाला—शिव)। अथवा—कटं नलाख्यं तृणं प्रवते तच्छील इति कटप्रूः (कीटविशेष)। यहां 'कट' कर्मपूर्वक प्रु (गमन करना) धातु से प्रकृतवार्त्तिक द्वारा क्विँप्, उस का सर्वापहारलोप, धातु को दीर्घ तथा वार्त्तिकसामर्थ्य से समास कर 'कटप्रू'। क्विँप् के कित्त्व के कारण आर्धधातुकगुण का निषेध हो जाता है तथा दीर्घ हो जाने से तुँक् का आगम नहीं होता। कटप्रूः, कटप्रुवौ, कटप्रुवः आदि।

(५) 'जूः' की सिद्धि पीछे (८४२) सूत्र पर कर चुके हैं। यहां वार्त्तिककार ने इस का उल्लेख दीर्घ के प्रसङ्ग के कारण कर दिया है।

(६) श्रयति हरिं तच्छीलेति श्रीः (हरि का आश्रय करना जिस का स्वभाव है —लक्ष्मी)। यहां 'श्रिञ् सेवायाम्' धातु से प्रकृतवार्त्तिकद्वारा क्विँप्, दीर्घ तथा प्रत्यय का सर्वापहारलोप करने पर—श्रीः। सुँ में—श्रीः, श्रियौ, श्रियः। इस की रूपमाला और सिद्धि पीछे अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण में देखें।

यहां ताच्छीलिक प्रत्ययों का प्रकरण समाप्त होता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८४४) दाम्-नी-शस-यु-युज-स्तु-तुद-सि-सिच-मिह-पत-दश-नहः करणे।३।२।१८२॥

दाबादेः ष्ट्रन् स्यात् करणेऽर्थे। दात्यनेन—दात्रम्। नेत्रम्॥

अर्थः—दाप्, नी, शस्, यु, युज्, स्तु, तुद्, सि, सिच्, मिह्, पत्, दंश् और नह्—इन तेरह धातुओं से परे करण अर्थ में 'ष्ट्रन्' प्रत्यय हो।

व्याख्या—दाम्-नी—नहः।५।१। करणे।७।१। ष्ट्रन्।१।१। (**धः कर्मणि ष्ट्रन्** से)। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं। दाप् च नीश्च शसश्च युश्च युजश्च स्तुश्च तुदश्च सिश्च सिचश्च मिहश्च पतश्च दशश्च नह् च एषां समाहारः, तस्मात्=दाम्नीशसयुयुजस्तुतुदसिसिचमिहपतदशनहः। समाहारद्वन्द्वसमासः। शस,

---

१. प्राट् का प्रयोग 'प्राड्विवाक' शब्द में प्रसिद्ध है (देखें मनु० ८.७९)।

२. ध्यान रहे कि यहां '**ह्रस्वस्य पिति कृति तुँक्**' (७७७) से तुँक् नहीं होता कारण कि धातु को दीर्घ विधान कर दिया गया है। किञ्च क्विँप् के कित्त्व के कारण आर्धधातुकगुण का भी निषेध हो जाता है।

युज, तुद, सिच, मिह, पत, दश—इन में अकार उच्चारणार्थ है[1]। 'दाप्+नी' में पकार को जश्त्व-बकार हो कर **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** (६८) से अनुनासिक मकार हो गया है। अर्थः—(दाम्नी—नहः) दाप्, नी, शस्, यु, युज्, स्तु, तुद्, सि, सिच्, मिह्, पत्, दंश् और नह्—इन तेरह (धातोः) धातुओं से (परः) परे (ष्ट्रन्) ष्ट्रन् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है (करणे) करण कारक में। क्रियासिद्धि में जो कारक अतीव उपकारक होता है उसे करण कहते हैं—इस का विवेचन कारकप्रकरण में (८६४) सूत्र पर देखें। ष्ट्रन् प्रत्यय का अन्त्य नकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा तथा आदि षकार **षः प्रत्ययस्य** (८३९) द्वारा इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है। षकार के चले जाने पर उस के कारण उत्पन्न टकार को भी **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** के अनुसार तकार हो जाता है। इस प्रकार ष्ट्रन् का 'त्र' मात्र शेष रहता है। ष्ट्रन् में नकार आद्युदात्त स्वर के लिये तथा षकार **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५१) द्वारा स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् प्रत्यय करने के लिये जोड़ा गया है। इस सूत्र के उदाहरण यथा—

(१) दाप् लवने (काटना; अदा० परस्मै० अनिट्) धातु से करण कारक की विवक्षा में प्रकृतसूत्र से ष्ट्रन् प्रत्यय करने पर धातु के पकार और प्रत्यय के नकार अनुबन्ध का लोप हो—दा+ष्ट्र। **षः प्रत्ययस्य** (८३९) से ष्ट्रन् के आदि षकार की इत्सञ्ज्ञा हो लोप करने पर ष्ट्रन् के टकार को भी तकार करने से—दा+त्र=दात्र। धातु के अनिट् होने से इट् का आगम यहां निषिद्ध हो जाता है। अब 'दात्र' की कृदन्त होने से प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर स्वादियों की उत्पत्ति होती है। सुँ में **अतोऽम्** (२३४) से अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप हो कर 'दात्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है। दाति (लुनाति) अनेन इति दात्रम्। जिस से काटते हैं उसे 'दात्र' कहते हैं। यह खेत काटने वाली दरांती आदि का वाचक है।

(२) णीञ् प्रापणे (ले जाना, पहुँचाना आदि; भ्वा० उभय० अनिट्) धातु से करण कारक में प्रकृतसूत्र से ष्ट्रन् (त्र) प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप तथा धातु के

---

१. दंश् के अनुनासिक का यहां सूत्र में लोप किया गया है। परन्तु ष्ट्रन् के योग में इस की प्रवृत्ति नहीं होती क्योंकि यहां अजादिगण में पाठवशात् 'दंष्ट्रा' ही बनता है अनुनासिक का लोप नहीं होता। इस निर्देश से कुछ वैयाकरण यह ज्ञापक मानते हैं कि क्वचित् कित्-ङित् प्रत्यय परे न होने पर भी दंश् धातु के अनुनासिक (न्) का लोप हो जाता है। यथा—दश्यते एभिरिति दशनाः (दान्त)। **कृत्यल्युटो बहुलम्** (७७२) द्वारा करण में ल्युट् किया गया है। परन्तु अन्य वैयाकरण सूत्र में शपा निर्देश मानते हुए **दंश-सञ्ज-स्वञ्जां शपि** (६.४.२५) से अनुनासिक का लोप हुआ स्वीकार करते हैं। इन के मतानुसार 'दशनाः' में अनुनासिक का लोप पृषोदरादित्वात् या 'दंश दशने' इस धातुपाठ के निर्देश से किया गया समझना चाहिये।

णकार को नकार (४५८) करने से—नी+त्र। अब धातु के अनुदात्त होने से इण्निषेध तथा **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से गुण करने पर विभक्ति लाने से 'नेत्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है। नीयतेऽनेनेति नेत्रम्। जिस के द्वारा ले जाया जाता है अर्थात् 'आंख'। वैसे यह शब्द 'आंख, मथने की रस्सी[1], रथ, वस्तियन्त्र के अगले सिरे का भाग, द्वित्वसंख्या' आदि अर्थों में रूढ है।

(३) शसुँ हिंसायाम् (हिंसा करना; अंग अंग काटना, भ्वा० परस्मै० सेट्[2]) धातु से करण कारक में प्रकृतसूत्र से ष्ट्रन् प्रत्यय हो कर—शस्+त्र=शस्त्र। विभक्ति लाने से 'शस्त्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है। शसति (हिनस्ति) अनेनेति शस्त्रम्। जिस से हिंसा करते हैं अर्थात् हथियार।

अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'शस्+त्र' में शस् धातु के सेट् होने से 'त्र' आर्धधातुक को **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** (४०१) से इट् का आगम क्यों नहीं किया गया? इस के समाधानार्थ अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(८४५) तिं-तु-त्र-त-थ-सि-सु-सर-क-सेषु च ।७।२।६॥

एषां दशानां कृत्प्रत्ययानामिण् न। शस्त्रम्। योत्रम्। योक्त्रम्। स्तोत्रम्। तोत्त्रम्। सेत्रम्। सेक्त्रम्। मेढ्रम्। पत्त्रम्। दंष्ट्रा। नद्ध्री॥

अर्थः—ति, तु, त्र, त, थ, सि, सु, सर, क, स—इन दस कृत्प्रत्ययों का अवयव इट् आगम नहीं होता।

व्याख्या—ति-तु-त्र-त-थ-सि-सु-सर-क-सेषु।७।३। च इत्यव्ययपदम्। कृत्सु।७।३। (**नेड् वशि कृति** से वचनविपरिणाम कर के)। न इत्यव्ययपदम्। इट्।१।१। (**नेड् वशि कृति** से)। तिश्च तुश्च त्रश्च तश्च थश्च सिश्च सुश्च सरश्च कश्च सश्च ऐषामितरेतरद्वन्द्वः। ततः सप्तमी। अर्थः—(ति-तु-त्र-त-थ-सि-सु-सर-क-सेषु) ति, तु, त्र, त, थ, सि, सु, सर, क और स—इन दस (कृत्सु) कृत् प्रत्ययों के परे होने पर (च) भी (इट्) इट् आगम (न) नहीं होता। अष्टाध्यायी में इस सूत्र से पूर्व **नेड् वशि कृति** (८००) सूत्रद्वारा वशादि कृत् प्रत्ययों को इट् का निषेध कहा गया था अब इन ति आदि दस कृत् प्रत्ययों में भी (जो वशादि नहीं) इण्निषेध किया जा रहा है। इन प्रत्ययों को **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** (४०१) से इट् प्राप्त था जो अब इस सूत्र से निषिद्ध किया गया है। उदाहरण यथा—

'शस्+त्र' यहां 'त्र' को इट् प्राप्त था जो अब इस सूत्र के निषेध के कारण नहीं हुआ – शस्त्रम्।

इस सूत्र के क्रमशः उदाहरण यथा—

---

१. **मन्थानं मन्दरं कृत्वा तथा नेत्रं च वासुकिम्।**
देवा मथितुमारब्धाः समुद्रं निधिमम्भसाम्॥ (महाभारत १.१८.१३)

२. शसतिः प्रायो विपूर्वः प्रयुज्यते।

ति (क्तिच् और क्तिन् का सामान्यतः ग्रहण) तन्तिः । यहां तन् धातु से **क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्** (३.३.१७४) सूत्र द्वारा क्तिच् (ति) प्रत्यय हुआ है । **अनुदात्तोपदेश०** (५५९) द्वारा अनुनासिकलोप तथा **अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति** (७२७) से दीर्घ प्राप्त था। दोनों का **न क्तिचि दीर्घश्च** (६.४.३९) से निषेध हो जाता है।

दीप्तिः। यहां दीप् धातु से **स्त्रियां क्तिन्** (८६३) से क्तिन् (ति) प्रत्यय किया गया है।

तु—सक्तुः । यहां सच् धातु से **सि-तनि-गमि-मसि-सच्यवि-धाञ्-क्रुशिभ्यस्तुन्** (उणा० १.६९) सूत्रद्वारा तुन् (तु) प्रत्यय हो कर **चोः कुः** (३०६) से कुत्व हो जाता है।

त्र—शस्त्रम् आदि उदाहरण प्रकृत में आ चुके हैं ।

त—हस्तः, लोतः, पोतः । यहां हस्, लू और पू धातुओं से **हसि-मृ-ग्रिण्-वाऽमि-दमि-लू-पू-धुर्विभ्यस्तन्** (उणा० ३.८६) सूत्रद्वारा तन् (त) प्रत्यय किया गया है। लू और पू में आर्धधातुकगुण भी हो जाता है। ध्यान रहे कि अष्टाध्यायीस्थ क्त (त) प्रत्यय का यहां ग्रहण अभीष्ट नहीं । 'हसितम्' आदि में इट् होगा ही ।

थ—काष्ठम् । कुष्ठम् । यहां काश् और कुष् धातुओं से **हनि-कुषि-नी-रमि-काशिभ्यः क्थन्** (उणा० २.२)सूत्रद्वारा क्थन् (थ) प्रत्यय हो जाता है। 'काश्+थ' में **व्रश्चभ्रस्ज०** (३०७) से षत्व हो कर ष्टुत्व हो जाता है। 'कुष्+थ' में केवल ष्टुत्व ।

सि—कुक्षिः । यहां कुष् धातु से **प्लुषि-कुषि-शुषिभ्यः क्सिः** (उणा० ३.१५५) सूत्रद्वारा क्सि (सि) प्रत्यय किया गया है। प्रत्यय के कित्त्व के कारण लघूपधगुण नहीं होता । 'कुष्+सि' में **षढोः कः सि** (५४८) से कुत्व होकर षत्व हो जाता है।

सु—इक्षुः । यहां इष् धातु से **इषेः क्सुः** (उणा० ३.१५७) द्वारा क्सु (सु) प्रत्यय किया गया है । कत्व-षत्व पूर्ववत् जानें ।

सर—अक्षरम् । यहां अश् धातु से **अशेः सरन्** (उणा०३.७०) द्वारा सरन् (सर) प्रत्यय होकर पूर्ववत् षत्व-कत्व-षत्व हो जाते हैं ।

क—शल्कः (छिलका) । यहां शल् धातु से **इण्-भी-का-पा-शल्यति-मर्चिभ्यः कन्** (उणा० ३.४३) द्वारा कन् (क) प्रत्यय किया गया है ।

स—वत्सः । यहां 'वद्' धातु से **वृ-तॄ-वदि-हनि-कमि-कशिभ्यः सः** (उणा० ३.६२) सूत्रद्वारा 'स' प्रत्यय होकर चर्त्व हो जाता है ।

ति, तु, त्र आदि कृत्प्रत्यय ही होने चाहियें । अन्यथा इट् का निषेध न होगा। यथा—'रोदिति, स्वपिति' में 'ति' के कृत् न होने से इट् का निषेध नहीं होता। यहां **रुदादिभ्यः सार्वधातुके** (७.२.७६) से इट् होता है ।

अब पूर्वसूत्रोक्त प्रकृत ष्ट्रन् प्रत्यय के अन्य उदाहरण यथा—

(४) यु मिश्रणे (मिलाना; अदा० परस्मै० सेट्) धातु से करण कारक में **दाम्नीशस०** (८४४) सूत्रद्वारा ष्ट्रन् (त्र) प्रत्यय हो कर धातु के सेट् होने से प्राप्त

इट् आगम का **ति-तु-त्र०** (८४५) से निषेध हो जाता है। अब आर्धधातुकगुण कर विभक्ति लाने से 'योत्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है। युवन्त्यनेन इति योत्रम्। जिस के द्वारा बांधते हैं। जोत-रस्सी, जिससे बैल आदि को गाड़ी या हल में बांधा जाता है।

(५) युज् (युजिर् योगे; जोड़ना, रुधा० उभय० अनिट्) धातु से करण कारक में पूर्ववत् ष्ट्रन् (त्र) प्रत्यय हो कर धातु के अनिट् होने से इट् का **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** ((४७५) से निषेध हो जाता है। अब 'युज्+त्र' इस स्थिति में लघूपधगुण, **चोः कुः** (३०६) द्वारा कुत्वेन जकार को गकार और **खरि च** (७४) से चर्त्वेन गकार को ककार करने पर विभक्ति लाने से 'योक्त्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है। युञ्जन्त्यनेनेति योक्त्रम्। जिस के द्वारा बांधते हैं। जोत-रस्सी, जिस से बैल आदि को गाड़ी या हल में बांधा जाता है।

(६) स्तु (ष्टुञ् स्तुतौ; स्तुति करना, अदा० उभय० अनिट्) धातु से करण कारक में **दाम्नीशस०** (८४४) से ष्ट्रन् (त्र) प्रत्यय कर आर्धधातुकगुण करने से—स्तो+त्र='स्तोत्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है। यहां **एकाच उपदेशे०** (४७५) से इट् का निषेध समझना चाहिये। स्तुवन्त्यनेनेति स्तोत्रम्। जिस के द्वारा स्तुति करते हैं। स्तोत्र या मन्त्र आदि।

(७) तुद् (दुःख देना, चुभोना; तुदा० उभय० अनिट्) धातु से पूर्ववत् करणकारक में **ष्ट्रन् (त्र)** प्रत्यय करने पर लघूपधगुण और चर्त्वेन दकार को तकार करने से—तोत्+त्र='तोत्त्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है[1]। यहां पर भी इट् का निषेध **एकाच उपदेशे०** (४७५) से ही समझना चाहिये। तुदन्त्यनेनेति तोत्त्रम्। जिस से घोड़े आदि को पीटते हैं—चाबुक, डण्डा, छड़ी, अंकुश आदि। **तोत्त्रैर्नुन्न इव द्विपः** (रामायण २.४०.४१)।

(८) सि (षिञ् बन्धने; बांधना, स्वा० या क्र्या० उभय० अनिट्) धातु से करण कारक में ष्ट्रन् (त्र) प्रत्यय हो कर गुण करने से 'सेत्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है। इट्-निषेध **एकाच उपदेशे०** (४७५) से हो जाता है। सिन्वन्त्यनेनेति सेत्रम्। जिस से बान्धते हैं—बेड़ी, हथकड़ी, हड्डियों को बांधने का तागा आदि।

(९) सिच् (षिचँ क्षरणे, सींचना; तुदा० उभय० अनिट्) धातु से पूर्ववत् करण में ष्ट्रन् (त्र) हो कर लघूपधगुण तथा **चोः कुः** (३०६) से कुत्व करने पर 'सेक्त्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है। इट्-निषेध **एकाच उपदेशे०** (४७५) से होता है। सिञ्चन्त्यनेनेति सेक्त्रम्। जिस से सींचते हैं—सींचने का पात्र आदि।

(१०) मिह सेचने (सींचना, भ्वा० परस्मै० अनिट्) धातु से करण कारक में ष्ट्रन् (त्र) प्रत्यय करने पर—'मिह्+त्र' अब क्रमशः लघूपधगुण, **हो ढः** (२५१) से हकार को ढकार, **झषस्तथोर्धोऽधः** (५४९) से तकार को धकार, **ष्टुना ष्टुः** (६४) से

---

१. ध्यान रहे कि यहां **झरो झरि सवर्णे** (७३) की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, सवर्ण झर् परे नहीं है अतः 'तोत्रम्' लिखना अशुद्ध है।

धकार को ढकार तथा **ढो ढे लोपः** (५५०) से पूर्व ढकार का लोप करने पर 'मेढ्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है । यहां पर **एकाच उपदेशे०** (४७५) से इट्-निषेध हुआ है। मेहन्त्यनेनेति मेढ्रम् । जिस से मूत्र करते है—मूत्रेन्द्रिय ।

(११) पत् (पत्लृँ गतौ; जाना, उड़ना, गिरना आदि; भ्वा० परस्मै० सेट्) धातु से करण-कारक में पूर्ववत् ष्ट्रन् (त्र) हो कर—पत्+त्र। धातु के सेट् होने से इट् प्राप्त होता है उस का पुनः **ति-तु-त्र०** (८४५) से निषेध हो जाता है—पत्+त्र=पत्त्रम् । पतन्ति (गच्छन्ति) अनेनेति—पत्त्रम् । जिस के द्वारा गमन करते हैं अर्थात् रथ आदि वाहन । अथवा 'पत्' धातु यहां उड़ना अर्थ में प्रयुक्त है। पतन्ति (उत्पतन्ति) अनेनेति पत्त्रम् । जिस के द्वारा पक्षी आदि उड़ते हैं अर्थात् पर या पंख[1] । यहां पर भी 'पत्रम्' लिखने वाले सावधान रहें, हल्परता न होने से झरो-झरि-लोप नहीं हो सकता ।

(१२) दंश दशने (डसना-काटना; भ्वा० परस्मै० अनिट्) धातु से करण-कारक में ष्ट्रन् (त्र) प्रत्यय करने पर—दंश्+त्र । **व्रश्च-भ्रस्ज०** (३०७) से षत्व और **ष्टुना ष्टुः** (६४) से ष्टुत्व करने पर दंष्+ट्र=दंष्ट्र । ष्ट्रन् प्रत्यय के षित्त्व के कारण स्त्रीत्व में **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५१) से ङीप् प्राप्त होता है परन्तु अजादि-गण (४.१.४) में पाठ के कारण **अजाद्यतष्टाप्** (१२४५) से टाप् (आ) हो कर सवर्ण-दीर्घ तथा विभक्तिकार्य करने पर 'दंष्ट्रा' प्रयोग सिद्ध होता है । दशन्त्यनयेति दंष्ट्रा । जिस से काटते हैं—दाढ़, बड़ा दांत ।

(१३) नह् (णहँ बन्धने, बान्धना; दिवा० उभय० अनिट्) धातु से करण-कारक में पूर्ववत् ष्ट्रन् (त्र) प्रत्यय हो कर—नह्+त्र । अब ढत्व का बाध कर **नहो धः** (३५६) से हकार को धकार, **झषस्तथोर्धोऽधः** (५४६) से त्र के तकार को भी धकार आदेश तथा **झलां जश् झशि** (१९) से पूर्व धकार को दकार कर—नद्ध्र । यहां इट् का **एकाच उपदेशे०** (४७५) से निषेध हो जाता है । अब स्त्रीत्व की विवक्षा में **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५१) से ङीष् (ई) प्रत्यय हो कर **यचि भम्** (१६५) से पूर्व की भसंज्ञा तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'नद्ध्री' प्रयोग सिद्ध होता है । नह्यतेऽनयेति नद्ध्री । जिससे बान्धा जाता है—चमड़े की रस्सी या तस्मा ।

ति-तु-त्र० (८४५) द्वारा कृत्संज्ञक 'त्र' के परे होने पर आचार्य ने इट् का निषेध कहा है । परन्तु कुछ स्थानों पर इकार का होना आवश्यक है । यथा—अरित्रम्,

१. पर्ण (वृक्ष का पत्ता) अर्थ में भी 'पत्त्र' शब्द का बहुधा प्रयोग होता है । वहां पर प्रकृतसूत्र से करण में ष्ट्रन् नहीं होता अपितु **सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्** (उणा० ४. १६०) इस औणादिकसूत्र से कर्ता अर्थ में ष्ट्रन् समझना चाहिये । पतति वृक्षादिति पत्त्रम् । **पत्त्रं पलाशं छदनं दलं पर्णं छदः पुमान्** इत्यमरः । सामान्यतः पत्त्र शब्द के विषय में मेदिनीकोष का यह प्रमाण बहुत प्रसिद्ध है - **पत्त्रं तु वाहने पर्णे स्यात् पक्षे शरपक्षिणोः ।**

इत्र (करणार्थे)

लवित्रम्, धुवित्रम्, खनित्रम् आदि । अतः आचार्य परम नैपुण्य का आश्रय कर इन स्थानों के लिये 'त्र' की बजाय 'इत्र' प्रत्यय का विधान कर देते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८४६) अर्ति-लू-धू-सू-खन-सह-चर इत्रः ।३।२।१८४॥

अरित्रम् । लवित्रम् । धुवित्रम्[1] । सवित्रम् । खनित्रम् । सहित्रम् । चरित्रम् ॥

अर्थः—ऋ, लू, धू, सू, खन्, सह् और चर्—इन सात धातुओं से परे करण में इत्र प्रत्यय होता है।

व्याख्या—अर्ति-लू-धू-सू-खन-सह-चरः ।५।१। इत्रः ।१।१। करणे ।७।१। (**दाम्नी-शस०** से)। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं। अर्तिश्च लूश्च धूश्च सूश्च खनश्च सहश्च चर् च—एषां समाहारद्वन्द्वः । ततः पञ्चमी । 'अर्ति' में ऋ धातु का श्तिप्द्वारा निर्देश किया गया है। खन और सह में अन्त्य अकार उच्चारणार्थ जोड़ा गया है। अर्थः—(अर्ति-लू-धू-सू-खन-सह-चरः) ऋ, लू, धू, सू, खन्, सह् और चर् इन (धातोः) धातुओं से (परः) परे (इत्रः) इत्र (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है (करणे) करण अर्थ में। उदाहरण यथा—

ऋ (ऋ गतिप्रापणयोः—जाना, ले जाना, भ्वा० परस्मै० अनिट्; ऋ गतौ—जाना, जुहो० परस्मै० अनिट्) धातु से करण-कारक में प्रकृतसूत्र से 'इत्र' प्रत्यय हो कर—ऋ+इत्र । अब सार्वधातुकार्धधातुकयोः (३८८) द्वारा ऋ को गुण (अर्) करने से नपुंसकलिङ्ग में 'अरित्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है। ऋच्छति इयर्ति वाऽनेनेति अरित्रम्। जिस के द्वारा नौका आदि चलती या आगे बढ़ती है, नौका चलाने में सहायक दण्ड-विशेष—चप्पू ।

लू (लूञ् छेदने—काटना, क्र्या० उभय० सेट्) धातु से करण-कारक में प्रकृत सूत्र से इत्र प्रत्यय हो कर आर्धधातुकगुण तथा एचोऽयवायावः (२२) से ओकार को अवादेश करने से—'लवित्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है। लुनात्यनेनेति लवित्रम् । जिस के द्वारा काटते हैं—दात्र । वयं शत्रु-लवित्रेषोद्धूता रामस्य भूपतेः (भट्टि० ७.८७) । शत्रुलवित्रा इषवो बाणा यस्येति बहु० । रिपु-लवित्रो बाणः (भाषावृत्ति) ।

सूत्र में 'धू' निरनुबन्ध पढ़ा गया है अतः निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य परिभाषा से 'धूञ् कम्पने' का ग्रहण न हो कर 'धू विधूनने' (हिलाना-कंपाना, तुदा० परस्मै० सेट् कुटादि) का ही ग्रहण होता है। धू धातु से करण-कारक में इत्र प्रत्यय हो कर आर्धधातुकगुण प्राप्त होता है परन्तु धातु के कुटादि होने के कारण गाङ्कुटा-दिभ्योऽञ्णिन्ङित् (५८७) सूत्र से प्रत्यय के ङिद्वत् हो जाने से उस का निषेध हो अचि श्नुधातु० (१९९) से ऊकार को उवँङ् (उव्) आदेश हो जाता है—धू+इत्र =धुवित्र । विभक्ति लाने से 'धुवित्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है। धुवति अनेनाग्निमिति

1. धवित्रम् इति क्वचित् पाठः ।

धुवित्रम् । जिस से अग्नि को भड़काते या हवा कर प्रज्वलित करते हैं—मृगचर्म से निर्मित पंखाविशेष जो यज्ञों में अग्निप्रज्वलित करने के काम आता था । **धुवित्रं व्यजनं तद्यद् रचितं मृगचर्मणा** इत्यमरः । कुछ वैयाकरण कुटादित्वेन ङिद्वद्भाव को अनित्य मान कर यहां गुण-अवादेश कर 'धवित्रम्' प्रयोग सिद्ध करते हैं ।[1] लधुकौमुदी तथा सिद्धान्तकौमुदी में दोनों प्रकार के पाठ पाये जाते हैं ।

धू की तरह 'सू' भी यहां निरनुबन्ध पढ़ा गया है अतः षूङ् का ग्रहण न हो कर 'षू प्रेरणे' (प्रेरणा देना, तुदा० परस्मै० सेट्) धातु का ही ग्रहण होता है । षू धातु के षकार को सकार आदेश कर इत्र प्रत्यय के लाने से गुण-अवादेश हो कर 'सवित्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है । सुवति (प्रेरयति) अनेनेति सवित्रम् । जिस के द्वारा प्रेरणा प्राप्त होती है—प्रेरणा का साधन । इस शब्द के प्रयोग अन्वेष्टव्य हैं ।

खन् (खनुँ अवदारणे, खोदना, भ्वा० उभय० सेट्) धातु से करण-कारक में प्रकृत-सूत्र से इत्र प्रत्यय हो कर कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा कर प्रथमैकवचन में सुँ को अम्-आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'खनित्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है । खनत्यनेनेति खनित्रम् । जिस से खोदते हैं – कस्सी, फावड़ा, कुद्दाल आदि । इस का प्रयोग यथा—

यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति ।
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति ॥ (मनु० २.२१८)

सह् (षहँ मर्षणे, सहन करना; भ्वा० आत्म० सेट्) धातु से पूर्ववत् इत्र प्रत्यय करने पर 'सहित्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है । जिस से सहन करते हैं—सहतेऽनेनेति सहित्रम् । सहनशक्ति आदि । इस के प्रयोग हमें नहीं मिले ।

चर् (चर गतिभक्षणयोः, गमन करना या खाना; भ्वा० परस्मै० सेट्) धातु से पूर्ववत् करण-कारक में इत्र प्रत्यय हो कर विभक्ति लाने से 'चरित्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है । चरत्यनेनेति चरित्रम् । जिस के द्वारा मनुष्य गमन या विचरण करता है—स्वभाव, आचरण, रहन-सहन आदि[2] । इस का प्रयोग यथा—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ॥ (मनु० २.२०)

अब एक अन्य सूत्रद्वारा इत्र प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(८४७) पुवः संज्ञायाम् ।३।२।१८५॥**

पवित्रम् ॥

अर्थः—यदि प्रकृति-प्रत्ययसमुदाय से संज्ञा गम्य हो तो पू धातु से करण अर्थ में इत्र प्रत्यय होता है ।

---

१. **शङ्का-धवित्र-वचनं प्रत्यूचुर्वानराः खगम्** (भट्टि० ७.८७) ।

२. चरति (गच्छति) अनेनेति चरित्रः पादः । प्रयोगो यथा—
चरित्रांस्ते शुन्धामि (यजु० ६.१४) [देखें व्या० च० २ य खण्ड पृ० १३०] ।

व्याख्या—पुवः ।५।१। संज्ञायाम् ।७।१। इत्रः ।१।१। (**अर्ति-लू-धू-सू-खन-सह-चर इत्रः** से) । करणे ।७।१। (**दाम्नीशस०** से) । **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—तीनों अधिकृत हैं। अर्थः—(संज्ञायाम्) संज्ञा गम्य होने पर (पुवः) पू (धातोः) धातु से (परः) परे (इत्रः) इत्र (प्रत्ययः) प्रत्यय होता है (करणे) करण अर्थ में ।

सूत्र में 'पू' यह निरनुबन्ध पढ़ा गया है परन्तु धातुपाठ में कहीं निरनुबन्ध नहीं अतः सानुबन्ध का ही ग्रहण होगा । 'पूङ् पवने' (पवित्र करना, भ्वा० आत्मने० सेट्) और 'पूञ् पवने' (क्र्या० उभय० सेट्) दो प्रकार की सानुबन्ध धातुएं पाई जाती हैं, दोनों का ही यहां ग्रहण अभीष्ट है ।

'संज्ञायाम्' का अभिप्राय यह है कि पू धातु से इत्र करने पर जो शब्द बने उस से किसी की संज्ञा का बोध होना चाहिये ।

पूङ् या पूञ् धातु से करण-कारक में प्रकृतसूत्र से इत्र प्रत्यय हो आर्धधातुक-गुण और ओकार को अवादेश करने से 'पवित्रम्' प्रयोग सिद्ध होता है । पवते पुनाति वाऽनेनेति पवित्रम् । जिस से पवित्र या शुद्ध करता है । यह शब्द वैदिकसाहित्य में दर्भ, जल, वायु, अग्नि, प्राणापान आदि की संज्ञा है ।[1]

अभ्यास (७)

(१) तच्छील, तद्धर्मा और तत्साधुकारी कर्ता का क्या अभिप्राय है ? इन में 'तद्' शब्द किस का बोधक है ? प्रत्येक के दो दो उदाहरण दे कर अपनी बात को स्पष्ट करें ।

(२) चार ताच्छीलिक प्रत्ययों का उल्लेख कर प्रत्येक के तीन तीन उदाहरण दें ।

(३) सहेतुक शुद्ध रूप निर्दिष्ट करें—
वराका-वराकी । स्तोतत्रम्-स्तोत्रम् । तोत्त्रम्-तोत्रम् । धुवित्रम्-धवित्रम् । दंष्ट्रा-दंष्ट्री । पूरयिता वंशीम्—वादयिता वंशीम् ।

(४) क्विप् प्रत्यय का जब सर्वापहार लोप ही करना है तो पुनः उसे लाने का क्या प्रयोजन ? सप्रमाण स्पष्ट करें ।

(५) षाकन् प्रत्यय में षकार अनुबन्ध किस लिये जोड़ा गया है ? यदि इसे आदि में न जोड़ कर अन्त में जोड़ देते तो क्या अन्तर पड़ता ?

---

१. **पवित्रं वै दर्भाः** (शतपथ० ३.१.३.१८.); (तै० १.३.७.१) ।
पवित्रं वा आपः (शतपथ० ३.१.२.१०) ।
अग्निर्वाव पवित्रम् (तै० ३.३.७.१०) ।
पवित्रं वै वायुः (तै० ३.२.५.११) ।
प्राणापानौ पवित्रे (तै० ३.३.४.४) ।
प्राणोदानौ पवित्रे (शतपथ० १.८.१.४४) ।

(६) खनित्रम्-चरित्रम् आदि में इट् कैसे हो जाता है ? तितुत्र० से निषेध क्यों नहीं होता ? विचारपूर्ण स्पष्टीकरण कीजिये ।
(७) तृन्नन्त और तृजन्त प्रयोगों में मुख्य अन्तर क्या क्या होता है ?
(८) 'सनाशंसभिक्ष उः' में 'सन्' से धातु का ग्रहण क्यों नहीं ?
(९) प्राश्, जू, श्री और वाच् शब्दों की निष्पत्ति दिखा कर रूपमाला लिखें ।
(१०) ससूत्र सिद्धि करें—
धूः, प्राट्, मेढ्रम्, पवित्रम्, जल्पाकः, चिकीर्षुः, भाः, जूः, वाक्, अरित्रम् ।
(११) निम्नस्थ शब्दों का विग्रह दर्शाते हुए प्रकृति, प्रत्यय और विधायकसूत्र लिखें—
भिक्षाकः, दंष्ट्रा, नेत्रम्, विद्युत्, धुवित्रम्, श्रीः, कटप्रूः, आशंसुः, ऊर्क् ।
(१२) व्याख्या करें—
दशिग्रहणस्यापकर्षाज्जवतेर्दीर्घः । च्छ्वोः शूडनुनासिके च । राल्लोपः । **ति-तु-त्र० । क्विँब्वचि० । तृन् । अर्त्तिलूधू० । भ्राज-भास० ।**
(१३) लुण्टाक, नद्ध्र, कर्तृ और वराक शब्दों का स्त्रीलिङ्ग में क्या रूप होगा ?
(१४) क्विँब्वचि० वार्त्तिक क्या पाणिन्यनुमत है ? सप्रमाण लिखें ।
(१५) ताच्छीलिकप्रकरण में अधिकतर शब्द योगरूढ हैं—इस पर टिप्पणी कीजिये ।

इति पूर्वकृदन्तम्

(यहां पर पूर्वकृदन्तप्रकरण समाप्त होता है ।)

——:o:——

अथोणादयः

अब उण् आदि प्रत्यय कहे जाते हैं ।

व्याख्या—उण् आदि प्रत्ययों का विधान पञ्चपादी (पांच पादों वाले) उणादिसूत्रपाठ में किया गया है ।[1] इन पांच पादों में लगभग साढ़े सात सौ सूत्रों द्वारा

---

१. पञ्चपादी उणादिसूत्रपाठ की तरह दशपादी (दस पादों वाला) सूत्रपाठ भी पाणिनीयसम्प्रदाय में बहुत आदृत है । परन्तु समीक्षकों के अनुसार उस का आधार पञ्चपादीसूत्रपाठ ही है । अतः पाणिनीय वैयाकरणों के द्वारा प्रायः पञ्चपादी को ही उद्धृत तथा व्याख्यात किया जाता है । इस के अतिरिक्त एक बात और भी यहां ध्यान देने योग्य है । इन सूत्रों का 'उणादि' यह नाम वैयाकरणनिकाय में अतिप्राचीनकाल से प्रसिद्ध चला आ रहा है । दशपादी के आरम्भ में पहला प्रत्यय 'उण्' न होकर 'अनि' है । परन्तु पञ्चपादी में पहला प्रत्यय 'उण्' है । अतः उणादि से पञ्चपादी का ही ग्रहण युक्त प्रतीत होता है दशपादी का नहीं ।

सवा तीन सौ के करीब प्रत्ययों का प्रतिपादन है[1]। परम्परा के अनुसार इन सूत्रों को शाकटायनमुनिप्रणीत माना जाता है। कुछ लोग इन को पाणिनिप्रणीत भी मानते हैं।[2] ये सूत्र पाणिनीय अष्टाध्यायी से बहिर्भूत होते हुए भी अथवा अन्यप्रणीत माने जाते हुए भी पाणिनीयव्याकरण के अङ्ग माने जाते हैं। आचार्य पाणिनि **उणादयो बहुलम्** (३.३.१), **भूतेऽपि दृश्यन्ते** (३.३.२), **भविष्यति गम्यादयः** (३.३.३), **दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने** (३.४.७३), **भीमादयोऽपादाने** (३.४.७४), **ताभ्यामन्यत्रोणादयः** (३.४.७५) आदि सूत्रों द्वारा इन की ओर संकेत करते प्रतीत होते हैं। इस से इन का पाणिनिसम्मतत्व स्पष्ट विदित होता है।

यहां यह बात विशेष ध्यातव्य है कि इन औणादिक (उणादिप्रत्ययान्त) शब्दों को कुछ आचार्य व्युत्पन्न (धातुज) और कुछ आचार्य अव्युत्पन्न (रूढ) मानते हैं। प्रकृति-प्रत्यय से निष्पन्न शब्द व्युत्पन्न तथा विना उनके लोक-प्रचलित शब्द अव्युत्पन्न माने जाते हैं। कहते हैं कि पाणिनि आचार्य के मत में औणादिक शब्द अव्युत्पन्न हैं—**उणादयो ह्यव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि**। परन्तु पाणिनि दूसरे शाकटायन आदि आचार्यों के मत का आदर करते हुए **उणादयो बहुलम्** (८४८) आदि सूत्रों द्वारा इन के व्युत्पत्तिपक्ष की भी स्वीकृति देते हैं। इन औणादिक शब्दों में कुछ शब्द निस्सन्देह यौगिक प्रतीत होते हैं। यथा—करोतीति कारुः, वातीति वायुः, बिभेत्यस्मादिति भीमः, शतधा द्रवतीति शतद्रुः, दीर्यत इति दारु। पर अन्य अनेक शब्द ऐसे भी हैं जिन को यौगिक मानने पर अर्थ का अन्वय कुछ भी प्रतीत नहीं होता। यथा—हस् (हंसना) धातु से तन् प्रत्यय कर 'हस्त' शब्द की सिद्धि की गई है। 'हस्त' में हंसना क्रिया की संगति नहीं। इसी प्रकार त्यद्, तद्, यद् शब्दों को त्यज् तन् और यज् धातुओं से 'अदि' प्रत्यय लगा कर बनाया गया है। यह कोरी कल्पनामात्र है। इस का कारण सम्भवतः यह है कि निरुक्तसम्प्रदाय में तथा शाकटायन आदि कुछ वैयाकरणों के मत में सब शब्दों को धातुज माना जाता है—**नाम च धातुजमाह निरुक्ते। व्याकरणे शकटस्य च तोकम्** (महाभाष्य ३.३.१)। उसी के आधार पर कहीं कहीं अनर्गल

---

१. **उणादिप्रत्ययाः सन्ति पादोत्तरशतत्रयम्**—तत्त्वबोधिनी।

२. इन सूत्रों में पाणिनीयतन्त्रवत् अनुबन्धों, अनुबन्धकार्यों तथा सार्वधातुक-आर्धधातुक-सेट्-अनिट् आदि की व्यवस्था को देखते हुए—यही पक्ष उचित प्रतीत होता है। किञ्च **पञ्चाङ्गं व्याकरणम्** इस आभाणक के अनुसार प्रत्येक व्याकरण के पांच अङ्ग हुआ करते हैं—(१) **सूत्रपाठ**; (२) **धातुपाठ**; (३) **गणपाठ**; (४) **उणादि**; (५) **लिङ्गानुशासन**। इसे ध्यान में रखते हुए इस बात की पूर्ण सम्भावना प्रतीत होती है कि आचार्य पाणिनि ने अपने व्याकरण की पूर्णता के लिये उणादिसूत्रों का भी अवश्य निर्माण किया होगा। अथवा—पाणिनि ने शाकटायन आदि किसी पूर्वाचार्य के सूत्रों में ही स्वशास्त्रानुसार थोड़ा-बहुत परिवर्तन कर उसे स्वीकार कर लिया होगा।

इक्-श्तिपौ धातुनिर्देशे

कल्पना भी की गई है ।[1] इतने पर भी उणादिप्रकरण विशेष उपादेय है । इस में सैंकड़ों वैदिक एवं लौकिक शब्दों का अन्वाख्यान किया गया है जो अष्टाध्यायी में नहीं पाया जाता । उदाहरणार्थ 'गो' शब्द को ही ले लीजिये । यह लोक-वेद दोनों में बहुत प्रसिद्ध है पर पाणिनीय अष्टाध्यायी से इस की सिद्धि नहीं होती । इस के लिये **गमेर्डोः** (उणा० २.६८) इस औणादिक सूत्र की ही शरण लेनी पड़ती है । दूसरे शब्दों में उणादिप्रकरण अष्टाध्यायी का पूरक है ।

यहां लघुसिद्धान्तकौमुदी में इन सूत्रों की केवल एक झलक मात्र देने के लिये वरदराज इन में प्रथमसूत्र को उद्धृत करते हैं—

[लघु०] उणादिसूत्रम्—(१) कृ-वा-पा-जि-मि-स्वदि-साध्यशूभ्य उण् ।१।१॥

(इक्, श्तिप्)

करोतीति—कारुः । वातीति—वायुः । पायुर्गुदम् । जायुरौषधम् । मायुः पित्तम् । स्वादुः । साध्नोति परकार्यमिति साधुः । आशु शीघ्रम् ॥

अर्थः—कृ, वा, पा, जि, मि, स्वद्, साध् और अशूं—इन धातुओं से परे उण् प्रत्यय होता है ।

व्याख्या—उणादि प्रत्ययों की अनुमति स्वयं पाणिनि ने **उणादयो बहुलम्** (३.३.१) सूत्रद्वारा दी है । वह सूत्र अष्टाध्यायी के तृतीयाध्यायस्थ तृतीयपाद का प्रथमसूत्र है । अतः **प्रत्ययः** (३.१.१), **परश्च** (३.१.२), **धातोः** (३.१.९१), **कृदतिङ्** (३.१.९३) आदि अधिकारों के अन्तर्गत पठित होने से इन उणादियों की भी प्रत्यय-संज्ञा, प्रकृति से परत्व, कृत्संज्ञा तथा पाणिनीयशास्त्रानुसार इत्संज्ञा, लोप, अङ्गसंज्ञा, सार्वधातुक-आर्धधातुकसंज्ञा, गुण, वृद्धि, इट्, इण्निषेध आदि कार्य हो जाते हैं । **उणादयो बहुलम्** (८४८) सूत्र में आचार्य के 'बहुलम्' ग्रहण के कारण इन में कहीं कहीं शास्त्रोक्त कार्यों का व्यतिक्रमण भी देखा जाता है—यह सब अग्रिमसूत्र पर स्पष्ट किया जायेगा ।

कृ-वा-पा-जि-मि-स्वदि-साध्यशूंभ्यः ।५।३। उण् ।१।१। **प्रत्ययः** (१२०), **परश्च** (१२१) और **धातोः** (७६६) ये तीनों अधिकृत हैं। अर्थः—(कृ-वा-पा-जि-मि-स्वदि-साध्यशूंभ्यः) कृ, वा, पा, जि, मि, स्वद्, साध् और अशूं (धातुभ्यः) धातुओं से (परः) परे (उण्) उण् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है । **कृदतिङ्** (३०२) अधिकार

१. अत एव नारायणभट्ट ने प्रक्रियासर्वस्व में यहां अतीव उपयुक्त कहा है—

क्वचित्सुयोजा धात्वर्थाः, क्वाप्ययोज्या उणादिषु ।
क्वचित्कथंचिद् योज्याः स्युर्वक्ष्यन्ते तत्र तत्र हि ॥
अर्थं विनापि धातूक्तिर्व्युत्पत्त्यावश्यकात् कृता ।
अस्माद्धातोरियं सञ्ज्ञा साध्येति मुनिशासने ॥
किं कुर्मोऽर्थान्वयः कश्चिद् लब्धश्चेत् कृतिनो वयम् ।
सदसद्वापि यत्किञ्चिदुक्त्वा व्युत्पाद्यमित्यदः ॥

के कारण उण् प्रत्यय कृत्संज्ञक है अतः **कर्तरि कृत्** (७६६) से यह कर्त्ता अर्थ में विधान किया जाता है। उदाहरण यथा—

कृ—करोतीति कारुः। यहां 'डुकृञ् करणे' (करना; तना० उभय०) धातु से कर्त्ता अर्थ में प्रकृतसूत्रद्वारा उण् प्रत्यय हो कर धातु के 'डु' और 'ञ्' अनुबन्धों का लोप करने पर—कृ+उण्। **हलन्त्यम्** (१) सूत्रद्वारा प्रत्यय का अन्त्य णकार भी इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है—कृ+उ। पुनः प्रत्यय के णित्त्व के कारण **अचो ञ्णिति** (१८२) सूत्र से अजन्त अङ्ग को वृद्धि और रपर करने से—कार्+उ= 'कारु' यह कृदन्त शब्द निष्पन्न होता है। अब कृदन्तत्वात् इस की प्रातिपदिकसंज्ञा करने से स्वादियों की उत्पत्ति होती है। प्रथमैकवचन की विवक्षा में 'सुँ' विभक्ति लाने पर रुँत्व-विसर्ग हो कर 'कारुः' प्रयोग सिद्ध होता है। जो करता है वह 'कारु' कहाता है। शिल्पी और विश्वकर्मा को भी 'कारु' कहते हैं। **विश्वकर्मणि ना कारुस्त्रिषु कारकशिल्पिनोः** इति मेदिनीकोशः। 'कारु' जब असंज्ञा अर्थ में यौगिक होगा तो कृद्योग के कर्म में प्राप्त षष्ठी का **न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्** (२.३.६९) से निषेध हो जायेगा तब **कर्मणि द्वितीया** (८९१) से द्वितीयाविभक्ति ही होगी। यथा—**राघवस्य ततः कार्यं कारुर्वानरपुंगवः। सर्ववानरसेनानामाश्वागमनमादिशत्** (भट्टि० ७.२८)। शिल्पी अर्थ में प्रयोग यथा—**इति स्म सा कारुवरेण लेखितं नलस्य च स्वस्य च सख्यमीहते** (नैषध १.३८)।

वा—वातीति वायुः। यहां 'वा गतिगन्धनयोः' (गति और सूचन आदि; अदा० परस्मै०) धातु से प्रकृतसूत्रद्वारा उण् प्रत्यय हो कर णकार अनुबन्ध का लोप करने से—वा+उ। अब णित् कृत् के परे होने से **आतो युँक् चिण्कृतोः** (७५७) सूत्र द्वारा आदन्त अङ्ग को युँक् का आगम हो कर उँक् अनुबन्ध के चले जाने पर विभक्ति लाने से 'वायुः' प्रयोग निष्पन्न होता है।[1]

पा—पिबत्यनेनेति पायुः। यहां 'पा पाने' (पीना; भ्वा० परस्मै०) धातु से **उणादयो बहुलम्** (८४८) में बहुलग्रहण करने के कारण करणकारक में प्रकृतसूत्रद्वारा उण् प्रत्यय, णकार अनुबन्ध का लोप तथा **आतो युँक् चिण्कृतोः** (७५७) से युँक् आगम करने पर 'पायुः' प्रयोग सिद्ध होता है। बस्तियन्त्र (एँनीमा) द्वारा जिस इन्द्रिय से लोग जलादि को पीते अर्थात् ऊपर चढ़ाते हैं उसे 'पायु' कहते हैं। यह गुदा (मलनिष्क्रमणस्थान) का नाम है। अथवा—'पा रक्षणे' (रक्षा करना; अदा० परस्मै०) धातु से कर्त्ता अर्थ में उण् प्रत्यय करने पर भी यह सिद्ध हो जाता है—पाति मलादिनिष्कासनेन शरीरं रक्षतीति पायुः (पुं०)। मल आदि के निष्कासन से यह शरीर की रक्षा करता है अतः गुदस्थान को 'पायु' कहते हैं।

---

१. **तृणादपि लघुस्तूलस्तूलादपि च याचकः।**
वायुना किं न नीतोऽसौ मामयं प्रार्थयेदिति॥ (सुभाषित)

वायुरेव महाभूतं वदन्तु निखिला जनाः।
आयुरेवैष भूतानामिति मन्यामहे वयम्॥ (सुभाषित)

श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी।
पायूपस्थं हस्तपादं वाक् चैव दशमी स्मृता॥
बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैषां श्रोत्रादीन्यनुपूर्वशः।
कर्मेन्द्रियाणि पञ्चैषां पाय्वादीनि प्रचक्षते॥

(मनु० २.६०-६१)

जि—जयति (अभिभवति) रोगान् इति जायुः। 'जि अभिभवे' (जीतना, दबाना; भ्वा० परस्मै०) धातु से कर्त्ता अर्थ में प्रकृतसूत्रद्वारा उण् प्रत्यय हो कर—जि+उण्=जि+उ। प्रत्यय के णित्त्व के कारण **अचो ञ्णिति** (१८२) से इकार को ऐकार वृद्धि तथा **एचोऽयवायावः** (२२) से ऐकार को आय् आदेश करने पर विभक्ति लाने से 'जायुः' (पुं०) प्रयोग सिद्ध होता है। जो रोगों को जीतता अर्थात् अभिभूत करता है उसे 'जायु' कहते हैं। औषध का नाम 'जायु' है। **भेषजौषधभैषज्यान्यगदो जायुरित्यपि** इत्यमरः। वैद्य को भी उज्ज्वलदत्त तथा स्वामिदयानन्द ने जायु कहा है।

मि—मिनोति प्रक्षिपति देह ऊष्माणमिति मायुः। 'डुमिञ् प्रक्षेपणे' (फेंकना; स्वा० उभय०) धातु से कर्त्ता अर्थ में प्रकृतसूत्र से उण् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, **अचो ञ्णिति** (१८२) से प्राप्त वृद्धि का बाध कर **मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च** (३३८) द्वारा 'मि' के इकार को आकारादेश हो कर **आतो युक्०** (७५७) से युँक् का आगम करने से 'मायुः' (पुं०) प्रयोग सिद्ध होता है। जो शरीर में गरमी को फेंकता है उसे मायु कहते हैं। आयुर्वेद के त्रिदोषसिद्धान्त में प्रसिद्ध पित्त का नाम मायु है। **मायुः पित्तं कफः श्लेष्मा** इत्यमरः।

स्वद्[1]—स्वदते=रोचत इति स्वादुः। 'ष्वदँ आस्वादने' (पसन्द आना, अच्छा लगना, भाना आदि; भ्वा० आत्मने० सेट्) धातु से कर्त्ता अर्थ में प्रकृत औणादिक सूत्र द्वारा उण् प्रत्यय हो कर **धात्वादेः षः सः** (२५५) से धातु के आदि षकार को सकार आदेश हो जाता है—स्वद्+उ। अब प्रत्यय के णित्त्व के कारण **अत उपधायाः** (४५५) से उधावृद्धि हो कर विभक्ति लाने से 'स्वादुः' प्रयोग सिद्ध होता है। जो

१. औणादिक सूत्र में 'स्वदि' में इकार धातुनिर्देश में समझना चाहिये। स्वद् धातु के दो अर्थ हैं। (१) अनुभव करना, (२) भाना-पसंद आना। पहले अर्थ में यह सकर्मक है, यथा—स्वदस्व हव्यानि (हव्यों को चखो)। दूसरे अर्थ में अकर्मक है, यथा—देवदत्ताय स्वदतेऽपूपः। दूसरे अर्थ में **रुच्यर्थानां प्रीयमाणः** (१.४.३३) द्वारा तृप्त होने वाले की सम्प्रदान संज्ञा होकर **चतुर्थी सम्प्रदाने** (८६७) से चतुर्थी विभक्ति हो जाती है। स्वद् धातु की रूपमाला यथा—लँट्—स्वदते। लिँट्—सस्वदे। लुँट्—स्वदिता। लृँट्—स्वदिष्यते। लोँट्—स्वदताम्। लँङ्—अस्वदत। वि० लिँङ्—स्वदेत। आ० लिँङ्—स्वदिषीष्ट। लुँङ्—अस्वदिष्ट। लृँङ्—अस्वदिष्यत। प्रक्रिया 'एधँ वृद्धौ' (भ्वा० आत्मने०) धातु की तरह प्रायः समझनी चाहिये।

पसन्द आता या भाता है उसे 'स्वादु' कहते हैं। यह विशेष्यानुसार लिङ्ग को धारण करता है। यथा—स्वादुः पदार्थः। स्वादु फलम्। स्वादुः स्वाद्वी वा कथा [**वोतो गुणवचनात्** (१२५५) से स्त्रीत्व में वैकल्पिक ङीप् हो जाता है]। **अपां हि तृप्ताय न वारिधारा स्वादुः सुगन्धिः स्वदते तुषारा** (नैषध० ३.९३)।

साध्[1]—साध्नोति परकार्यमिति साधुः। 'साध संसिद्धौ' (सिद्ध करना; स्वा० परस्मै०अनिट्) धातु से कर्ता अर्थ में प्रकृतसूत्रद्वारा उण् प्रत्यय करने से 'साधुः' प्रयोग सिद्ध होता है। जो दूसरे के कार्य को सिद्ध करता है उसे 'साधु' कहते हैं। यह सज्जन का नाम है। **न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति** (सुभाषित)। **उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः। अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते** (पञ्च० १.२७०)।

अशूँ (अश्)[2]—अश्नुते = व्याप्नोतीति आशु। 'अशूँङ् व्याप्तौ संघाते च' (व्याप्त करना, इकट्ठा करना; स्वा० आत्मने० वेट्) धातु से प्रकृतसूत्रद्वारा उण् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा **अत उपधायाः** (४५५) से उपधावृद्धि हो कर नपुंसक के एकवचन में सुँ का लुक् करने से 'आशु' प्रयोग सिद्ध होता है। इस का अर्थ है—शीघ्र। **सत्वरं चपलं तूर्णमविलम्बितमाशु च** इत्यमरः। धान्यविशेष अर्थ में इस का पुं० में प्रयोग होता है—आशुर्व्रीहिः। क्रियाविशेषण के रूपमें इस का बहुत प्रयोग होता है—**प्रत्युद्यातः कथमपि भवान् गन्तुमाशु व्यवस्येत्** (मेघदूत २४); **योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्। स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः** (मनु० २.१६८)।

अब इन उणादि प्रत्ययों को पाणिन्यनुक्त तथा अष्टाध्यायी के तृतीय अध्याय के अन्तर्गत सिद्ध करने के लिये वरदराज पाणिनीयसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८४८) उणादयो बहुलम् ।३।३।१॥

एते वर्त्तमाने संज्ञायां च बहुलं स्युः। केचिदविहिता अप्यूह्याः।

संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे।
कार्याद् विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु॥

अर्थः—वर्त्तमानकाल में सञ्ज्ञा के वाच्य होने पर ये उण् आदि प्रत्यय बहुल से होते हैं।

केचिद्—इन में विधान न किये हुए भी कई एक प्रत्यय स्वयं कल्पित कर लेने चाहियें। कल्पना का प्रकार यथा—

संज्ञासु—संज्ञाओं में धातुओं तथा उन से परे प्रत्ययों की कल्पना करनी चाहिये।

---

१. सूत्रगत 'साधि' में इकार धातुनिर्देश में प्रयुक्त है। अथवा णिजन्त साध् धातु मानने से भी कोई दोष नहीं आता। साधयति परकार्यमिति साधुः। 'साधि' के इकार का **णेरनिटि** (५२९) से लोप हो जाता है।

२. 'अशूँ' इस प्रकार ऊँकारान्त निर्देश के कारण 'अश भोजने' (खाना; क्र्या० परस्मै०) धातु का यहां ग्रहण नहीं होता।

पुनः जिस प्रकार का कार्य दिखाई दे तदनुसार प्रत्ययों के साथ वैसे अनुबन्धों को भी जोड़ लेना चाहिये । संक्षेप में उणादियों में यही कुछ शासनीय होता है ।

व्याख्या—उणादयः ।१।३। बहुलम् ।१।१। वर्त्तमाने ।७।१। (**वर्त्तमाने लट्** से) । संज्ञायाम् ।७।१। (**ध्रुवः संज्ञायाम्** से) । **धातोः, प्रत्ययः, परश्च** ये तीनों अधिकृत हैं । उण् आदिर्येषां ते=उणादयः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(धातोः) धातु से (परे) परे (उणादयः) उण् आदि प्रत्यय (वर्त्तमाने) वर्त्तमान काल में (संज्ञायाम्) संज्ञा के वाच्य होने पर (बहुलम्) बहुल से होते हैं । 'बहुल' शब्द की चार प्रकार से व्याख्या की जाती है—

क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव ।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥

इस का विवेचन पीछे (१३-१४) पृष्ठ पर कर चुके हैं । ये उण् आदि प्रत्यय भी बहुल से होते हैं अतः जिन धातुओं से कहे गये हैं उन के अतिरिक्त अन्य धातुओं से भी हो जाते हैं[1] ! वर्त्तमान काल में कहे गये हैं परन्तु अन्य कालों में भी हो जाते हैं[2] । **कर्त्तरि कृत्** (७६६) द्वारा कर्तृकारक में विधान किये गये हैं लेकिन अन्य कारकों में भी देखे जाते हैं[3] । संज्ञा में कहे गये हैं पर क्वचित् संज्ञा न होने पर भी इन की प्रवृत्ति हो जाती है[4] । इन में क्वचित् प्राप्त शास्त्रीय कार्य भी नहीं होता[5] ।

---

१. यथा—**कृ-वा-पा-जि-मि-स्वदि-साध्यशूभ्य उण्** (उणा० १.१) सूत्रद्वारा कृ आदि आठ धातुओं से उण् प्रत्यय का विधान किया गया है परन्तु कई अन्य धातुओं से भी उण् देखा जाता है । यथा—रह् धातु से उण् हो कर 'राहुः', वस् धातु से उण् हो कर 'वासुः' (वासुश्चासौ देवश्चेति वासुदेवः), स्ना धातु से उण् हो कर 'स्नायुः', कक् धातु से उण् हो कर 'काकुः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

२. इस का निर्देश पाणिनि ने स्वयं किया है—
भूतेऽपि दृश्यन्ते ॥३.३.२॥ (भूतकाल में भी उणादि देखे जाते हैं) ।
भविष्यति गम्यादयः ॥३.३.३॥ (गमि आदि शब्द भविष्यत्काल में भी देखे जाते हैं) ।

३. यथा—दीर्यत इति दारु, यहां दॄ धातु से औणादिक ञुण् (१.३) प्रत्यय कर्म में; तरन्त्यनयेति तरणिः (नौका), यहां तॄ धातु से औणादिक अनि (२.१०४) प्रत्यय करण में; बिभेत्यस्मादिति भीमः, यहां 'भी' धातु से औणादिक मक् (१.१४८) प्रत्यय अपादान में; ध्रियन्ते प्राणिनोऽस्यामिति धरणिः (पृथ्वी), यहां धृ धातु से औणादिक अनि (२.१०२) प्रत्यय अधिकरण में होता है । **दाशगोघ्नौ सम्प्रदाने** (३.४.७३) द्वारा दाश और गोघ्न शब्दों का सम्प्रदानकारक में भी वर्णन आया है ।

४. यथा—करोतीति कारुः (करने वाला) । स्वदत इति स्वादुः । सामान्य अर्थ के भी ये वाचक हैं । इसी प्रकार—गुरु, पृथु, मृदु, लघु, बहु, सुष्ठु, पटु आदि औणादिक शब्दों के विषय में भी जानना चाहिये ।

५. यथा—षण्डः (नपुंसक व्यक्ति) में षण् धातु से 'ड' (१.११४) प्रत्यय करने पर

किञ्च अष्टाध्यायी द्वारा सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय के शब्द संगृहीत नहीं होते। अष्टाध्यायी से छूटे हुए बहुत से शब्दों का संग्रह उणादिसूत्रों द्वारा हो जाता है। पर इस से भी शब्दों का सम्पूर्ण संग्रह नहीं हो पाता। अन्य भी अनेक शब्द ऐसे रह जाते हैं जिन का अष्टाध्यायी और उणादि में कहीं भी उल्लेख नहीं आता। अतः आचार्य पाणिनि उन सब का संग्रह भी **उणादयो बहुलम्** (८४८) में 'बहुलम्' के ग्रहण से कर लेते हैं। उन का अभिप्राय यह है कि—**केचिद् अविहिता अप्यूह्याः**। अर्थात् यदि किसी शब्द (संज्ञा) में प्रत्यय का विधान करने वाला कोई सूत्र न मिले तो स्वयं प्रकृति-प्रत्ययों की कल्पना कर लेनी चाहिये। जैसा कि महाभाष्य में कहा गया है—

संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे।
कार्याद्[1] विद्यादनूबन्धं[2] शास्त्रमेतदुणादिषु॥

संज्ञा शब्दों में पूर्वभाग में प्रकृति (धातु) और पर भाग में प्रत्यय की स्वयं कल्पना कर लेनी चाहिये। पुनः उस प्रत्यय में भी शब्दानुरूप कार्य की आवश्यकेता को देखते हुए अनुबन्धों को जोड़ लेना चाहिये। जैसे यदि गुण या वृद्धि का अभाव करना हो तो प्रत्यय को कित् या ङित्, यदि वृद्धि करनी हो तो प्रत्यय को ञित् वा णित् करना चाहिये। इसी प्रकार सम्प्रसारण टिलोप आदि अन्य कार्यों के लिये भी प्रत्यय में अनुबन्धों की व्यवस्था कर लेनी चाहिये। उदाहरणार्थ 'ऋफिड' और 'ऋफिड्ड' संज्ञा शब्दों को लीजिये। इन में '**ऋ** गतौ' (भ्वा० परस्मै०) धातु से परे 'फिड' और 'फिड्ड' प्रत्ययों की कल्पना करनी चाहिये। **ऋ** को **गुण** से बचाने के लिये प्रत्ययों को कित् भी कहना चाहिये। इसी प्रकार अन्य संज्ञाशब्दों में भी समझना चाहिये।[3]

विद्यार्थियों के ज्ञानवर्धनार्थ यहां उणादिप्रत्ययान्त शब्दों का अर्थ सहित एक

न तो **धात्वादेः षः सः** (२५५) की प्रवृत्ति होती है और न ही **चुटू** (१२९) की। इसी प्रकार दस्यु, मन्यु आदि शब्दों में युच् (३.२०) प्रत्यय के यु को **युवोरनाकौ** (७८५) से अन आदेश नहीं होता।

१. कार्यादिति ल्यब्लोपे पञ्चमी। कार्यं विचार्येत्यर्थः।

२. अनूबन्धम्=अनुबन्धम्। छन्दोऽनुरोधाद् दीर्घः। स च **उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्** (६.४.१२२) इति सिध्यति। उणादिषु एतत् शास्त्रम्=शासनीयमिति भावः।

३. कई जगह धातु+प्रत्ययों की कल्पना कर लेने पर अनुबन्धों से भी काम नहीं चलता। वहां 'बहुलम्' का आश्रय कर काम निकालना चाहिये। जैसे 'लाङ्गूल' (पूंछ) शब्द में लगिँ (लङ्ग्) धातु से ऊलच् प्रत्यय की कल्पना कर लेने पर भी धातु के आदि अच् को वृद्धि करने के लिये किसी अनुबन्ध की व्यवस्था नहीं हो सकती। इस के लिये 'बहुलम्' का आश्रयण करना चाहिये। इसी प्रकार यथोचित आगम, आदेश, लोप, द्वित्व, वर्णविपर्यय आदि का भी यथास्थान आश्रय करना उचित है।

शतक नीचे दिया जा रहा है। इस में आगे दी गई संख्याएं उणादिसूत्रपाठ (उज्ज्वलदत्त-वृत्ति) के पाद और सूत्रों की समझनी चाहियें—

(१) अंस (पुं०); कन्धा [अम्+सन्]। (५.२१)
(२) अंहस् (न०); पाप [अम्+असुन्, 'हुँक्' आगम]। (४.२१२)
(३) अक्षर (न०); वर्ण, नष्ट न होने वाला [अश्+सरन्]। (३.७०)
(४) अक्षि (न०); आंख [अश्+क्सि]। (३.१५६)
(५) अग्नि (पुं०); आग [अङ्ग्+नि, उपधानकारलोप]। (४.५०)
(६) अङ्कुश (पुं०); अंकुश [अङ्क्+उशच्]। (४.१०७)
(७) अङ्गार (पुं० न०); अंगारा [अङ्ग्+आरन्]। (३.१३४)
(८) अङ्गुलि (स्त्री०); अंगुल [अङ्ग्+उलि]। (४.२)
(९) अजिन (न०); चमड़ी, त्वचा [अज्+इनच्]। (२.४८)
(१०) अञ्जलि (पुं०); जुड़े दोनों हाथ (करपुट) [अञ्ज्+अलिच्]। (४.२)
(११) अणु (पुं०); अणु, सूक्ष्म [अण्+उ]। (१.८)
(१२) अतिथि (पुं०); मेहमान [अत्+इथिन्]। (४.२)
(१३) अद्रि (पुं०); पर्वत [अद्+क्रिन्]। (४.६५)
(१४) अध्वन् (पुं०); मार्ग [अद्+क्वनिँप्, दकारस्य धकारः]। (४.११५)
(१५) अनिल (पुं०); वायु, पवन [अन्+इलच्)। (१.५५)
(१६) अरि (पुं०); शत्रु, दुश्मन [ऋ+इ]। (४.१३८)
(१७) अर्क (पुं०); सूर्य [अर्च्+क]। (३.४०)
(१८) अवनि (स्त्री०); पृथ्वी [अव्+अनि]। (२.१०३)
(१९) अश्मन् (पुं०); पत्थर [अश्+मनिन्]। (४.१४६)
(२०) अश्रु (न०); आंसू [अश्+क्रुन्, 'रुट्' आगम]। (५.२९)
(२१) असि (पुं०); तलवार [अस्+इ]। (४.१३९)
(२२) अस्थि (न०); हड्डी [अस्+क्थिन्]। (३.१५४)
(२३) आखु (पुं०); चूहा [आ+खन्+कु, प्रत्ययस्य डित्त्वम्]। (१.३४)
(२४) आतुर (पुं०); रोगी [अत्+उरच्,[1] धातोरादौ दीर्घः]। (१.४२)
(२५) इक्षु (पुं०); गन्ना [इष्+क्सु]। (३.१५७)
(२६) इन्दु (पुं०); चन्द्र [उन्द्+उ, धातोरादेरिच्च]। (१.१३)
(२७) इन (पुं०); स्वामी, सूर्य [इ+नक्]। (३.२)
(२८) इन्द्र (पुं०); इन्द्र, आत्मा, सूर्य [इन्द्+रन्]। (२.२९)
(२९) इभ (पुं०); हाथी [इ+भन्, प्रत्ययस्य कित्त्वम्]। (३.१५३)

१. अतति—निरन्तरं भ्रमति रोगविमुक्तये वैद्याद् वैद्यान्तरमिति आतुरः। यद्वा—आङ्पूर्वात् 'तुर त्वरणे' (जुहो० प०) इति छान्दसाद्व्युत्पाद्योऽयम्। लोके छान्दसा अपि क्वचिदुपयुज्यन्ते।

(३०) इषु (पुं०); तीर [ईष्+उ, धातोरादेरित्त्वं च] । (१.१४)
(३१) उक्षन् (पुं०); बैल [उक्ष्+कनिँन्] । (१.१५८)
(३२) उदर (न०); पेट [उद्+दृ+अल्, उदो दस्य लोपः] । (५.१९)
(३३) उरस् (न०); छाती [ऋ+असुँन्, धातोरुत्त्वं च] । (४.१९४)
(३४) उष्ट्र (पुं०); ऊंट [उष्+ष्ट्रन्, प्रत्ययस्य कित्त्वं च] । (४.१६१)
(३५) ऋतु (पुं०); मौसम [ऋ+तु, प्रत्ययस्य कित्त्वं च] । (१.७२)
(३६) ऋषि (पुं०); ऋषि [ऋष्+इन्, प्रत्ययस्य कित्त्वं च] । (४.११९)
(३७) एक (त्रि०); एक [इ+कन्, कस्य नेत्त्वम्] । (३.४३)
(३८) एनस् (न०); पाप [इ+असुँन्, नुँडागमः] । (४.१९७)
(३९) ओतु (पुं० स्त्री०); बिलाव [अव्+तुन्, अव्स्थाने ऊठ्] । (१.७०)
(४०) ओम् (अ०); प्रणव [अव्+मन्, प्रत्ययस्य टिलोपः, अव्स्थाने ऊठ्, गुणः] । (१.१४१)
(४१) ओष्ठ (पुं०); होंठ [उष्+थन्] । (२.४)
(४२) कठिन (त्रि०); कठोर [कठ्+इनच्] । (२.४९)
(४३) कठोर (त्रि०); कठिन [कठ्+ओरन्] । (१.६५)
(४४) कन्या (स्त्री०); लड़की [कम्+यक्, मकारस्य नकारः] । (४.१११)
(४५) कपि (पुं०); वानर [कम्प्+इ, कम्पेर्नलोपः] । (४.१४३)
(४६) कमठ (पुं०); कछुआ [कम्+अठ] । (१.१०२)
(४७) कर्पास (पुं०); कपास [कृ+पास] । (५.४५)
(४८) कर्मन् (न०); कर्म [कृ+मनिँन्] । (४.१४४)
(४९) कवि (पुं०); कवि [कु+इ] । (४.१३८)
(५०) काष्ठ (न०); लकड़ी [काश्+क्थन्] । (२.२)
(५१) क्षुद्र (त्रि०); नीच [क्षुद्+रक्] । (२.१३)
(५२) गगन (न०); आकाश [गम्+युच्, धातोर्मस्य गकारः] । (२.७७)
(५३) गन्तु (पुं०); पथिक [गम्+तुन्] । (१.७०)
(५४) गिरि (पुं०); पर्वत [गॄ+इ] । (४.१४२)
(५५) गृध्र (पुं०); गीध [गृध्+क्रन्] । (२.२४)
(५६) गो (पुं० स्त्री०); बैल, गाय [गम्+डो] । (२.६७)
(५७) ग्लौ (पुं०); चन्द्र [ग्लै+डौ] । (२.६४)
(५८) चक्षुस् (न०); आंख [चक्ष्+उसिँ, ख्याञादेशाभावः] । (२.१२०)
(५९) चतुर (त्रि०); चालाक [चत्+उरच्] । (१.३९)
(६०) चन्द्र (पुं०); चांद [चन्द्+रक्] । (२.१३)
(६१) छत्त्र (न०); छाता [छादि+ष्ट्रन्, णेर्लोपे 'इस्मन्०' इति ह्रस्वः] । (४.१५८)
(६२) छिद्र (न०); छेद [छिद्+रक्] । (२.१३)

(६३) जनुस् (न०); जन्म [जन्+उसिँ]। (२.११६)
(६४) जन्मन् (न०); उत्पत्ति [जन्+मनिँन्]। (४.१४४)
(६५) तन्तु (पुं०); तागा [तन्+तुन्]। (१.७०)
(६६) तमस् (न०); अन्धकार [तम्+असुँन्]। (४.१८८)
(६७) तरङ्ग (पुं०); लहर [तॄ+अङ्गच्]। (१.११९)
(६८) तरी (स्त्री०); नौका [तॄ+ई]। (३.१५८)
(६९) तरु (पुं०); वृक्ष [तॄ+उ]। (१.७)
(७०) तिमिर (न०); अन्धेरा [तिम्+किरच्]। (१.५२)
(७१) तुषार (पुं०); कोहरा, ओस [तुष्+आरन्]। (३.१३९)
(७२) त्रपु (न०); सीसा [त्रप्+उ]। (१.१०)
(७३) दंष्ट्रा (स्त्री०); दाढ़-दांत [दंश्+ष्ट्रन्]। (४.१५८)
(७४) दण्ड (पुं०); दण्ड, डण्डा [दम्+ड]। (१.११३)
(७५) दन्त (पुं०); दांत [दम्+तन्]। (३.८६)
(७६) दस्यु (पुं०); चोर-डाकू [दस्+युच्, योरनादेशो न]। (३.२०)
(७७) दारु (न०); लकड़ी [दॄ+ञुण्]। (१.३)
(७८) दुहितृ (स्त्री०); लड़की [दुह्+तृच्]। (२.९६)
(७९) देवृ (पुं०); देवर [दिव्+ऋ]। (२.१००)
(८०) धातु (पुं०); धातु [धा+तुन्]। (१.७०)
(८१) ध्वनि (पुं०); आवाज़ [ध्वन्+इ]। (४.१३९)
(८२) निद्रा (स्त्री०); नींद [निन्द्+रक्, निन्देर्नलोपः]। (२.१७)
(८३) निधन (न०); मृत्यु [नि+धा+क्यु, आतो लोपः]। (२.८२)
(८४) नीर (न०); जल [नी+रक्]। (२.१३)
(८५) पति (पुं०); मालिक [पा+डति]। (४.५७)
(८६) पितृ (पुं०), पिता [पा+तृच्, आकारस्येत्त्वम्]। (२.९६)
(८७) भवत् (त्रि०); आप [भा+डवतुँ, डित्त्वाट्टिलोपः]। (१.६४)
(८८) भानु (पुं०); सूर्य [भा+नु]। (३.३२)
(८९) भूमि (स्त्री०); पृथ्वी [भू+मि, प्रत्ययस्य कित्त्वम्]। (४.४५)
(९०) मीन (पुं०); मत्स्य [मी+नक्]। (३.३)
(९१) रै (पुं०); धन [रा+डै, डित्त्वाट्टिलोपः]। (२.६७)
(९२) लक्ष्मी (स्त्री०); धन [लक्ष्+मुँट्+ई]। (३.१६०)
(९३) वधू (स्त्री०); बहू [वह्+ऊ, हस्य धत्वम्]। (१.८५)
(९४) विधु (पुं०); चन्द्र [व्यध्+कु]। (१.२४)
(९५) वेधस् (पुं०); ब्रह्मा [वि+धा+असिँ, सोपसर्गधातोर्वेधादेशः]। (४.२२४)
(९६) श्रोत्र (न०); कान [श्रु+त्रन्]। (४.१६७)

(९७) स्त्री (स्त्री०); औरत [स्त्यै + ड्रट् + ई]। (४.१६५)
(९८) हंस (पुं०); हंसपक्षी [हन्¹ + स]। (३.६२)
(९९) हस्त (पुं०); हाथ [हस् + तन्, तितुत्र० इतीण्निषेधः]। (३.८६)
(१००) हृदय (न०); हृदय (हृ + कयन्, दुँगागमः]। (४.१००)

अभ्यास (८)

(१) 'उणादि' से पञ्चपादी या दशपादी किस का ग्रहण अभीष्ट है? सहेतुक लिखें।

(२) उणादिसूत्रों के निर्माता पर जानकारीपूर्ण एक टिप्पण लिखें।

(३) किस आधार पर उणादिसूत्रों को पाणिनिसम्मत सिद्ध किया जाता है।

(४) व्युत्पन्न और अव्युत्पन्न पक्ष का क्या अभिप्राय है? उणादियों में कौन सा पक्ष अभिमत है?

(५) उणादियों की उपयोगिता पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें।

(६) **उणादयो बहुलम्** (८४८) में 'बहुलम्' ग्रहण की सोदाहरण व्याख्या करें।

(७) **संज्ञासु धातुरूपाणि**—कारिका की सोदाहरण व्याख्या करते हुए इस कारिका की आवश्यकता पर भी प्रकाश डालें।

(८) रूप सिद्धि करें -
मायुः, कारुः, वायुः, पायुः, स्वाद्वी, आशु, साधुः।

(९) क्या 'कारु' शब्द कृदन्त है? यदि है तो कृद्योग में कर्मणिषष्ठी क्यों नहीं होती—कार्यं कारुः।

(१०) 'मायुः' की सिद्धि में क्या अजन्तलक्षणा वृद्धि होती है? सहेतुक लिखें।

(११) निम्नस्थ शब्दों में धातु प्रत्यय तथा अन्य कार्यों की स्वयं कल्पना करें— दन्त, नीर, पितृ, हृदय, हंस, भूमि, त्रतु, कपि, गो, तमस्, तरङ्ग, दण्ड, तन्तु, स्त्री, वेधस्।

इत्युणादयः

(यहां पर उणादिप्रकरण समाप्त होता है।)

———:०:———

अथोत्तरकृदन्तम्

अर्थः—अब उत्तरकृदन्तों का प्रकरण प्रारम्भ होता है।

व्याख्या—पूर्वकृदन्त और उत्तरकृदन्त के विषय में पीछे (३५-३६) पृष्ठ पर व्याख्या की जा चुकी है। **उणादयो बहुलम्** (८४८) आदि कुछ सूत्र यद्यपि उत्तर-

१. हन् यहां गत्यर्थक है।

कृदन्त विषयक ही हैं तथापि वैशिष्ट्य के कारण उणादियों का पृथक् परिगणन करने से उन सूत्रों को वरदराज ने उणादिप्रकरण में ही गिन लिया है।

अब उत्तरकृदन्तप्रकरण में सर्वप्रथम सुप्रसिद्ध प्रत्यय तुमुँन् का वर्णन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम् —(८४६) तुमुँण्ण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम् ।३।३।१०॥

क्रियार्थायां क्रियायामुपपदे भविष्यत्यर्थे धातोरेतौ स्तः। मान्तत्वादव्ययत्वम्। कृष्णं द्रष्टुं याति। कृष्णं दर्शको याति॥

अर्थः—क्रियार्था क्रिया के उपपद अर्थात् समीप उच्चरित होने पर भविष्यत्काल में धातु से परे तुमुँन् और ण्वुल् प्रत्यय हों। **मान्तत्वाद्**—तुमुँन् (तुम्) प्रत्यय मकारान्त है अतः तदन्त शब्द की **कृन्मेजन्तः** (३६९) सूत्र से अव्ययसंज्ञा हो जाती है।

व्याख्या—तुमुँण्-ण्वुलौ ।१।२। क्रियायाम् ।७।१। क्रियार्थायाम् ।७।१। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च** ये तीनों अधिकृत हैं। भविष्यति ।७।१। (**भविष्यति गम्यादयः** से)। तुमुँन् च ण्वुल् च तुमुँण्ण्वुलौ, ष्टुत्वम् (६४), इतरेतरद्वन्द्वः। क्रिया अर्थः (प्रयोजनम्) यस्याः सा क्रियार्था, तस्याम् = क्रियार्थायाम्, बहुव्रीहिसमासः। किसी क्रिया की सिद्धि के लिये जब दूसरी क्रिया की जाती है तो वह दूसरी क्रिया पहली क्रिया की क्रियार्था क्रिया कहलाती है। यथा—भोक्तुं व्रजति (खाने के लिये जाता है)। यहां 'खाना' क्रिया के लिये दूसरी गमन क्रिया की जा रही है तो यह दूसरी गमनक्रिया 'खाना' क्रिया की क्रियार्था क्रिया है। इसीप्रकार—'धनमर्जयितुं गच्छति' में गमनक्रिया, 'मित्रं द्रष्टुं याति' में यानक्रिया, अध्येतुं गुरुमुपसरति' में उपसरण क्रिया क्रियार्था क्रिया है। अर्थः—(क्रियार्थायां क्रियायाम्) क्रियार्था क्रिया के उपपद या निकट स्थित होने पर[1] (धातोः) धातु से (परौ) परे (तुमुँण्ण्वुलौ) तुमुँन् और ण्वुल् (प्रत्ययौ) प्रत्यय हो जाते हैं (भविष्यति) भविष्यत्काल में।

तुमुँन् प्रत्यय में नकार इत्संज्ञक[2] तथा उकार उच्चारणार्थक है—'तुम्' मात्र शेष रहता है[3]। ण्वुल् प्रत्यय में **चुटू** (१२९) द्वारा णकार तथा **हलन्त्यम्** (१) द्वारा लकार की इत्संज्ञा हो कर लोप हो जाता है—'वु' मात्र शेष रहता है[4]। इन में से तुमुँन् (तुम्) प्रत्यय मकारान्त कृत् है अतः **कृन्मेजन्तः** (३६९) से तुमुँन्नन्त शब्द की

---

१. **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** (९५३) के कारण यहां सप्तम्यन्त को उपपद समझ कर ऐसा अर्थ किया जाता है। उप (समीपे) उच्चारितं पदम् = 'उपपदम्' ऐसा यहां अभिप्राय समझना चाहिये।

२. तुमँन् को नित् करने का प्रयोजन **ञ्नित्यादिर्नित्यम्** (६.१.१९१) सूत्रद्वारा तुमुँन्नन्त शब्द को आद्युदात्त करना है।

३. उच्चारणार्थकों की भी इत्संज्ञा भूलनी नहीं चाहिये।

४. ण्वुल् में णकार अनुबन्ध वृद्धि के लिये तथा लकार **लिति** (६.१.१८७) द्वारा प्रत्यय से पूर्व उदात्त स्वर करने के लिये जोड़ा गया है।

अव्ययसंज्ञा हो जाती है। **अव्ययकृतो भावे** (अव्ययसंज्ञक कृत्प्रत्यय भाव में होते हैं) इस भाष्यवचन (३.४.६) के अनुसार तुमुँन् प्रत्यय भाव में होता है। यहां भाव अद्रव्यावस्था में माना जाता है अतः इस के साथ लिङ्ग, कारक और संख्या का योग नहीं होता, केवल औत्सर्गिक प्रथमा का एकवचन सुँ प्रत्यय ही किया जा सकता है[1]। ण्वुल् प्रत्यय **कर्तरि कृत्** (७६६) के अनुसार कर्त्ता अर्थ में ही होता है। सूत्र के उदाहरण यथा—

कृष्णं द्रष्टुं याति (कृष्ण को देखने के लिये जाता है)। यहां 'दर्शन' क्रिया के लिये यान अर्थात् गमनक्रिया की जा रही है। अतः गमनक्रिया दर्शनक्रिया की क्रियार्था क्रिया है। इस क्रियार्था क्रिया के निकट रहते प्रकृतसूत्रद्वारा 'दृशिर् प्रेक्षणे' (भ्वा० परस्मै० अनिट्) धातु से भविष्यत्काल में भाव में तुमुँन् प्रत्यय हो कर धातु के इर् तथा प्रत्यय के अनुबन्धों का लोप करने पर—दृश् + तुम्। धातु के अनुदात्त होने से **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** (४०१) से प्राप्त इट् आगम का **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (४७५) से निषेध हो जाता है। अब झलादि अकित् तुमुँन् प्रत्यय के परे रहते **सृजिदृशोर्झल्यमकिति** (६४४) से दृश् को अम् का आगम होना है। **मिदचोऽन्त्यात्परः** (२४०) परिभाषा के अनुसार यह अम् आगम धातु के अन्त्य अच् से परे होता है। अम् के मकार अनुबन्ध का लोप हो—दृ अ श् + तुम्। **इको यणचि** (१५) से ऋकार को रेफ आदेश हो कर—द्रश् + तुम्। अब **व्रश्चभ्रस्जसृज०** (३०७) सूत्र से शकार को षकार तथा **ष्टुना ष्टुः** (६४) सूत्र से तुम् के तकार को टकार हो कर 'द्रष्टुम्'। भाववाचक होने से औत्सर्गिक प्रथमैकवचन सुँ प्रत्यय लाने पर **कृन्मेजन्तः** (३६६) से अव्ययसंज्ञा हो कर **अव्ययादाप्सुंपः** (३७२) से उस का लुक् हो जाता है—द्रष्टुम्[2]। कृष्णकर्मक-भाविदर्शनक्रिया के लिये गमन करता है—ऐसा यहां अर्थ समझना चाहिये।

इसी प्रकार—भोक्तुं व्रजति, रक्षितुं धावति, अध्येतुं निवसति, हन्तुं नयति आदि समझने चाहियें। इस के कुछ साहित्यगत प्रयोग यथा—

(क) **पारसीकांस्ततो जेतुं प्रतस्थे रथवर्त्मना।** (रघु० ४.६०)।

(ख) **स्वेदसलिलस्नाताऽपि पुनः स्नातुमवातरम्।** (कादम्बरी पृ० १४७)।

(ग) **तं सीताघातिनं मत्वा हन्तुं रामोऽभ्यधावत।** (भट्टि० ६.४१)।

(घ) **नगरपरिभवान् विमोक्तुमेते वनमभिगम्य मनस्विनो वसन्ति।** (स्वप्न० १.५)।

नोट—भट्टोजिदीक्षित आदि अनेक वैयाकरणों का कथन है कि यहां तुमुँन् के

---

१. अत एव नारायणभट्ट प्रक्रियासर्वस्व में लिखते हैं—

तुमुन्क्त्वाप्रत्ययादीनां सत्त्वभूतार्थवर्जनात्।
सामान्योक्तः सुरेव स्यादिति न्यासादिषु स्थितम्॥

२. ध्यान रहे कि यहां 'द्रष्टुम्' कृदन्त का 'कृष्ण' कर्म है। कर्म में यहां **कर्तृकर्मणोः कृति** (२.३.६५) से षष्ठी प्राप्त थी। उस का **न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्** (२.३.६९) से निषेध हो कर पुनः **कर्मणि द्वितीया** (८९१) से अनुक्त कर्म में द्वितीया विभक्ति हो जाती है।

विधान में अनुक्त होने पर भी समानकर्तृकता की शर्त अनिवार्य है। अर्थात् तुमुँन्नन्त धातु का कर्त्ता तथा क्रियार्था क्रिया का कर्त्ता यदि एक होगा तभी तुमुँन् का विधान होगा। कर्तृभिन्नता में तुमुँन् न होगा। 'कृष्णं द्रष्टुं याति' में दर्शनक्रिया और यानक्रिया एक ही कर्ता द्वारा की जा रही हैं अतः तुमुँन् हुआ है। 'अनुजानीहि मां गन्तुम्' यहां गमन-क्रिया का कर्त्ता 'अस्मद्' तथा 'अनुजानीहि' क्रिया का कर्त्ता 'युष्मद्' है अतः भिन्न-कर्तृकता के कारण ऐसा प्रयोग नहीं होना चाहिये। इस के स्थान पर 'अनुजानीहि मां गमनाय' होना चाहिये।[1]

१. परन्तु कुछ अन्य वैयाकरणों का कथन है कि सूत्र (८४६) में समानकर्तृकत्व का कोई उल्लेख नहीं किया गया अतः भिन्नकर्तृकत्व में भी इस की प्रवृत्ति हो सकती है। तुमुँन्नन्त के प्रयोगों में कई स्थानों पर भिन्नकर्तृकता देखी भी जाती है। कुछ उदाहरण यथा—

(१) **न दास्यामि समादातुं सोमं कस्मैचिदप्यहम्।** (महाभारत १.३४.६)
गरुड़ कह रहे हैं कि मैं किसी को भी सोम पीने नहीं दूंगा। यहां 'समादातुम्' का कर्ता कोई अन्य है तथा 'दास्यामि' का कर्त्ता अस्मद् है अतः भिन्न-कर्तृकता स्पष्ट है।

(२) **मत्वा कष्टश्रितं रामं सौमित्रिं गन्तुमैजिहत्।** (भट्टि० ५.५३)
राम को कष्ट में फंसा जान कर सीता ने लक्ष्मण को जाने की प्रेरणा की। यहां तुमुँन्नन्त का कर्ता लक्ष्मण है तथा प्रेरणा की कर्त्री सीता है अतः भिन्न-कर्तृकता स्पष्ट है।

(३) **बाष्पश्च न ददात्येनां द्रष्टुं चित्रगतामपि।** (शाकुन्तल० ६.२२)
अश्रु चित्रगत प्रिया को भी मुझे देखने नहीं देती—यह दुष्यन्त की उक्ति है। यहां तुमुँन्नन्त का कर्ता दुष्यन्त है तथा 'ददाति' क्रिया का कर्ता वाष्प है अतः भिन्नकर्तृकता स्पष्ट है।

(४) **न मृष्यति मां जीवितुं वसन्तबन्धुः।** (दशकुमार० उ० २, पृष्ठ १५१)
वसन्तबन्धु (कामदेव) मुझे जीने नहीं देता। यहां 'जीवितुम्' का कर्त्ता अस्मद् तथा 'मृष्यति' का कर्ता वसन्तबन्धु है अतः भिन्नकर्तृकता स्पष्ट है।

(५) **रेवां यदि प्रेक्षितुमस्ति कामः।** (रघु० ६.४३)
रेवा नदी को यदि तुम देखना चाहती हो। यहां तुमुँन्नन्त क्रिया का कर्ता युष्मद् तथा 'अस्ति' क्रिया का कर्त्ता 'कामः' है अतः भिन्नकर्तृकता सुतरां सिद्ध है।

(६) **लब्धपालनविधौ न तत्सुतः खेदमाप गुरुणा हि मेदिनी।**
भोक्तुमेव भुजनिर्जितद्विषा न प्रसाधयितुमस्य कल्पिता॥ (रघु० १६.३)
सुदर्शन के पुत्र अग्निमित्र को पिता से प्राप्त भूमि के पालन में कुछ भी कठिनाई न हुई, क्योंकि उस के पिता ने शत्रुओं को पहले ही हरा दिया था अतः उसे पृथ्वी भोगने के लिये ही दी थी परिशोधनार्थ नहीं। यहां

ण्वुल् प्रत्यय का उदाहरण यथा—

कृष्णं दर्शको याति । यहां पर भी भविष्यत्कालिक दर्शनक्रिया के लिये यान (गमन) क्रिया की जा रही है अतः यानक्रिया दर्शनक्रिया की क्रियार्था क्रिया है। इस क्रियार्था क्रिया के निकट रहते प्रकृतसूत्र से 'दृशिर् प्रेक्षणे' (भ्वा० परस्मै०) धातु से भविष्यत्काल में कर्ता की वाच्यता में ण्वुल् प्रत्यय हो कर धातु के इर् तथा प्रत्यय के णकार-लकार अनुबन्धों का लोप करने पर —दृश् + वु । अब **ण्वुल्तृचौ** (७८४) से वु को अक आदेश हो कर **पुगन्तलघूपधस्य च** (४५१) से लघूपधगुण करने से—दर्श् + अक =दर्शक । पुनः कृदन्त होने से प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर कर्ता के अनुसार प्रथमा के एकवचन सुँ प्रत्यय के लाने पर 'दर्शकः' प्रयोग सिद्ध होता है । 'कृष्णं दर्शको याति'— कृष्ण को देखने के लिये जाता है। अथवा—कृष्णकर्मकभविष्यत्कालिकदर्शनक्रिया का कर्त्ता जाता है । ध्यान रहे कि यहां कृद्योग में **कर्तृकर्मणोः कृति** (२.३.६५) द्वारा अनुक्त कर्म 'कृष्ण' में षष्ठी प्राप्त थी परन्तु **अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः** (२.३.७०) सूत्र से उस का निषेध हो कर **कर्मणि द्वितीया** (८९१) से द्वितीया ही हो जाती है। पूर्वोक्त **ण्वुल्तृचौ** (७८४) वाले ण्वुल् और इस ण्वुल् में यह अन्तर रहता है कि जहां

'भोक्तुम्' और 'प्रसाधयितुम्' क्रियाओं का कर्ता अग्निमित्र है परन्तु उधर 'कल्पिता' का कर्ता सुदर्शन है अतः भिन्नकर्तृकता में कुछ भी सन्देह नहीं रहता।

(७) **न कोऽपि निर्गन्तुं प्रवेष्टुं वाऽनुमोद्यते ।** (मुद्राराक्षस अङ्क ५)
किसी को भी निकलने या घुसने की अनुमति नहीं दी जा रही । यहां निकलने या घुसने का कर्त्ता 'कोऽपि' है। अनुमति देने का कर्त्ता अधिकारि-वर्ग है। अतः भिन्नकर्तृकता स्पष्ट है।

(८) **स्मर्तुं दिशन्ति न दिवः सुरसुन्दरीभ्यः ।** (किरात० ५.२८)
पूर्वोक्त प्रदीप, शय्या तथा वात आदि अप्सराओं को स्वर्ग की याद भी भुला देती हैं ! यहां 'स्मर्तुम्' का कर्त्ता 'सुरसुन्दर्यः' तथा 'दिशन्ति' का कर्त्ता प्रदीप आदि हैं । अतः भिन्नकर्तृकता स्पष्ट है।

(९) **यद्यर्थिता निर्हृतवाच्यशल्यान् प्राणान् मया धारयितुं चिरं वः**(रघु० १४.४२)
श्रीरामचन्द्र अपने भाइयों से कह रहे हैं— यदि आप लोगों की इच्छा मुझे चिर तक निष्कलङ्क प्राण धारण कराने की है तो आप मेरी बात (सीता-निर्वासन)का विरोध न करें। यहां तुमुँन्नन्त का कर्त्ता राम तथा अध्याहार-लब्ध 'अस्ति' क्रिया का कर्ता 'अर्थिता' (इच्छा) है, अतः कर्तृभेद स्पष्ट है। इसी प्रकार—

(१०) **गृहो सुतेन भोक्तुं मांसं क्रीणाति ।**(भाषावृत्ति के व्याख्याकार सृष्टिधर)।

(११) **भस्कारिणो वस्तुं कुटीं रचयति ।** (भाषावृत्ति के व्याख्याकार सृष्टिधर)।

(१२) **ब्रह्मकर्म कर्तुम्भवन्तमहं वृणे ।** (अनिरुद्धभट्ट)।

(१३) **कर्तुं वा कञ्चिदन्तर्ह्वयति वसुमती दक्षिणं सप्ततन्तुम्** । (कातन्त्रव्याख्या)।

उस के योग में कर्म में षष्ठी होती है वहां इस के योग में कर्मणि द्वितीया होती है। कृष्णस्य दर्शकः—यहां पूर्वोक्त ण्वुल् है। कृष्णं दर्शकः (याति)—यह इस ण्वुल् का उदाहरण है। किञ्च इस ण्वुल् में क्रियार्था क्रिया का निकट रहना और भविष्यत्काल का होना भी जरूरी है। इस के साहित्यगत कुछ प्रयोग यथा—

(क) **आगमिष्यति वैदेहीं मां चापि प्रेक्षको जनः।**
अनेन कारणेनाहम् इह वासं न रोचये॥

(रामायण २.५४.२५)

(ख) **सुधन्वा वीर्यवान् राजा मिथिलामवरोधकः।**

(रामायण १.७१.१६)

(ग) **वयमद्यैव गच्छामो रामं द्रष्टुं त्वरान्विताः।**
कारका मित्रकार्याणि सीतालाभाय सोऽब्रवीत्॥ (भट्टि० ७.२६)

(घ) **व्याकरणमध्यायका गुरुचरणानुपसीदामः।**

(व्या० च० प्रथम० पृ० ३०)

अब तुमुँन् प्रत्यय के विधायक एक अन्य सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८५०) काल-समय-वेलासु तुमुँन् ।३।३।१६७॥

कालार्थेषूपपदेषु तुमुँन्। कालः समयो वेला वा भोक्तुम्॥

अर्थः—काल, समय, वेला आदि कालपर्यायवाचक शब्दों के उपपद रहते धातु से परे तुमुँन् प्रत्यय हो।

व्याख्या—काल-समय-वेलासु ।७।३। तुमुँन् ।१।१। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं। कालश्च समयश्च वेला च कालसमयवेलाः, तासु—काल-समय-वेलासु। इतरेतरद्वन्द्वसमासः। काल, समय, वेला—इन तीन पर्यायों का उल्लेख कालवाचक शब्दों के उपलक्षणार्थ किया गया है अतः अवसर, अनेहस् आदि अन्य कालवाची शब्दों का भी ग्रहण समझ लेना चाहिये। अर्थः—(काल-समय-वेलासु) काल, समय, वेला आदि समयवाचक शब्दों के उपपद रहते (धातोः) धातु से (परः) परे (तुमुँन्) तुमुँन् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है। तुमुँन् प्रत्यय पूर्ववत् **अव्ययकृतो भावे** के अनुसार भाव में ही होता है। यह भाव अद्रव्य माना जाता है अतः तुमुँन्नन्त से परे केवल औत्सर्गिक प्रथमैकवचन सुँ का ही प्रयोग हो कर **कृन्मेजन्तः** (३६६) द्वारा अव्ययसंज्ञा किये जाने के कारण **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से उस का लोप हो जाता है। उदाहरण यथा—

कालो भोक्तुम्, समयो भोक्तुम्, वेला भोक्तुम्। यहां पर कालवाचक शब्दों के उपपद रहते 'भुज पालनाऽभ्यवहारयोः' (रुधा० परस्मै० अनिट्) धातु से प्रकृत-सूत्रद्वारा भाव में तुमुँन् प्रत्यय आकर **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (४७५) से इट् का निषेध, लघूपधगुण तथा **चोः कुः** (३०६) से जकार को गकार और **खरि च** (७४)

से गकार को ककार करने पर—भोक्तुम् । अब यहां अव्ययसंज्ञा हो कर औत्सर्गिक सुँ का लुक् हो जाता है । ध्यान रहे कि यहां न तो भविष्यत्काल है और न ही क्रियार्था क्रिया अतः पूर्वसूत्र से तुमुँन् प्राप्त न था ।

इसी प्रकार—अनेहाऽयं भोक्तुम्, दिष्टोऽयमुत्थातुम्, अवसरोऽयमात्मानं प्रकटयितुम्, **नायं क्लीबयितुं कालः संयोद्धुं काल एव नः** (महाभारत ६.५.२७), **समयः खलु स्नानभोजने सेवितुम्** (विक्रमो० २), **कालो ह्ययं संक्रमितुं द्वितीयं सर्वोपकारक्षममाश्रमं ते** (रघु० ५.१०), **समय इदानीमभ्यन्तरं प्रवेष्टुम्** (स्वप्न० १) इत्यादि प्रयोग उपपन्न होते हैं । वाऽसरूपविधि से ऐसे स्थानों पर ल्युट् का भी प्रयोग हुआ करता है । यथा—कालोऽयम्भोजनस्य ।

नोट—यहां यह बात ध्यातव्य है कि इस सूत्र में **प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च** (३.३.१६३) सूत्र से 'प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु' की अनुवृत्ति आती है अतः प्रैष आदियों में ही इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है । **भूतानि कालः पचतीति वार्ता** (महाभारत वन० ३१३.१८) इत्यादि स्थानों पर प्रैष आदि अर्थों के न होने से इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती । प्रैष आदि का विवेचन पीछे (७७०) सूत्र पर कर चुके हैं वहीं देखें ।

तुमुँन् प्रत्यय लौकिक संस्कृत में अत्यन्त प्रसिद्ध है । उपर्युक्त दो सूत्रों के अतिरिक्त कुछ अन्य सूत्रों से भी इस प्रत्यय का विधान किया जाता है । विद्यार्थियों के लिये अत्युपयोगी होने से हम उन सूत्रों का यहां संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत करते हैं—

(१) **समानकर्तृकेषु तुमुँन्** (३.३.१५८)।

इच्छार्थक धातु के उपपद होने पर धातुमात्र से तुमुँन् प्रत्यय हो जाता है यदि दोनों धातुओं का कर्त्ता समान हो तो । यथा—इच्छति भोक्तुम् । कामयते भोक्तुम् । वष्टि भोक्तुम् । वाञ्छति भोक्तुम् । अभिलषति भोक्तुम् । यहां इच्छार्थक धातु का जो कर्त्ता है वही भुज् धातु का भी है, अतः तुमुँन् हुआ है । भिन्नकर्तृकता में नहीं होता । देवदत्तं भुञ्जानम् इच्छति यज्ञदत्तः । यहां भोजनक्रिया का कर्त्ता देवदत्त है और इच्छाक्रिया का यज्ञदत्त, अतः तुमुँन् नहीं हुआ । इसी प्रकार 'त्वां गन्तुमहमिच्छामि' यह अशुद्ध है, इस के स्थान पर 'तव गमनमहम् इच्छामि' होना चाहिये ।

इस तुमुँन् के साहित्यगत कुछ प्रयोग यथा—

(क) **पिनाकपाणिं पतिमाप्तुमिच्छति ।** (कुमार० ५.५३) ।

(ख) **अत्तुं वाञ्छति शाम्भवो गणपतेराखुं क्षुधार्त्तः फणी ।** (पञ्च० १.१७०)।

(ग) **सकृद्दुष्टं च यो मित्रं पुनः सन्धातुमिच्छति ।**
स मृत्युमुपगृह्णाति गर्भमश्वतरी यथा ॥ (पञ्च० ४.१५)।

(घ) **पानीयं पातुमिच्छामि त्वत्तः कमललोचने ।**
यदि दास्यसि[1] नेच्छामि नो दास्यसि पिबाम्यहम् ॥ (सुभाषित)।

---

१. 'दासी+असि' इत्येवमत्र सन्धिच्छेदो बोध्यः ।

(ङ) को हर्तुमिच्छति हरेः परिभूय दंष्ट्राम् । (मुद्रा० १) ।

(च) एतान् न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन । (गीता १.३५)।

(छ) यथा समुद्रेऽपि च पोतभङ्गे सांयात्रिको वाञ्छति तर्तुमेव[1] ।

(पञ्च० १.३४५)

(२) शक-धृष-ज्ञा-ग्ला-घट-रभ-लभ-क्रम-सहार्हास्त्यर्थेषु तुमुँन् (३.४.६५) ।

शक् (सकना), धृष् (साहस करना), ज्ञा (जानना), ग्लै (ऊबना), घट् (चेष्टा करना), रभ् (आरम्भ करना), लभ् (पाना), क्रम् (यत्न करना), सह् (सहना), अर्ह् (योग्य होना) तथा अस्त्यर्थक [भू, अस्, विद् आदि] धातुओं के उपपद होने पर धातुमात्र से तुमुँन् प्रत्यय होता है । उदाहरण यथा—

शक्—न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः (गीता १.३०) ।

धृष्—धृष्णोति सत्यं वक्तुम् (सत्य बोलने का साहस करता है) ।

ज्ञा—जानासि वत्स दुर्मनायमानां देवीं विनोदयितुम् (उत्तर० १) ।

ग्लै—ग्लायत्यध्येतुम् (पढ़ने से ऊबता है) ।

घट्—घटतेऽनुपकरणोऽपि देवान् यष्टुम् (व्या. च. २ य० पृ० १३२)
(साधनहीन होता हुआ भी यज्ञ करने की चेष्टा करता है) ।

रभ्—पुनर्गन्तुमारेभिरे (फिर चलने लगे) ।

लभ्—अनारतमुद्युञ्जानोऽपि पर्याप्तं भोक्तुं न लभते (व्या० च०)
(निरन्तर उद्यम करता हुआ भी पर्याप्त भोजन नहीं पाता) ।

क्रम्—भोक्तुं प्रक्रमते (खाना प्रारम्भ करता है) ।

सह्—न विषहे विपत्तिमवलोकयितुम् (वेणी० ३) । मैं विपत्ति देख नहीं सकता । गन्तुं नोत्सहन्ते (चल नहीं सकते) ।

अर्ह्—तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः (रघु० १.१०)।
द्वित्राण्यहान्यर्हसि सोढुमर्हन् (रघु० ५.२५) ।
न मे वचनमन्यथा भवितुमर्हति (शाकुन्तल ४) ।

अस्त्यर्थक—अस्ति भोक्तुमन्नम् । विद्यते भोक्तुमन्नम् । भवति भोक्तुमन्नम् ।
(खाने के लिये अन्न है)[2] ।

---

१. तर्तुमित्यनुपपन्नम् । तरितुं तरीतुमिति वा युज्यते । मन्ये छन्दोभङ्गभयादित्थम्प्रयुक्तं भवेदिति ।

२. वामन शिवराम आप्टे अपने Students Guide नामक ग्रन्थ में इस सूत्रगत 'अर्थ' शब्द का शक् आदि समस्त धातुओं के साथ सम्बन्ध मानते हैं केवल अस् धातु के साथ नहीं । अतः शक् आदि समस्त धातुओं के समानार्थकों के योग में भी उन के मतानुसार तुमुँन् प्रत्यय हो जाता है । साहित्य में यत्र-तत्र इस के उदाहरण भी बहुत मिलते हैं । यथा—'ज्ञा' के समानार्थक 'विद्' के योग में—पातयितुमेव नीचः परकार्यं वेत्ति न प्रसाधयितुम् । पातयितुमेव शक्तिर्नाखोरुद्धर्तुमन्नपिटम् । (पञ्च०

(३) **पर्याप्तिवचनेष्वलमर्थेषु** (३.४.६८) :

'पूर्णतया समर्थ' अर्थ के वाचक 'अलम्' आदि शब्दों के उपपद होने पर धातु-मात्र से तुमुँन् प्रत्यय होता है। यथा—अलं भोक्तुम्, पर्याप्तो भोक्तुम्, समर्थो भोक्तुम्, (खाने में पूर्णतया समर्थ है) : इसी प्रकार—

(क) **लिखितमपि ललाटे प्रोञ्छितुं कः समर्थः**—(हितोप० १)।

(ख)—**लोकानलं दग्धुं हि तत्तपः**—(कुमार० २.५६)

(ग) **अस्ति मे विभवः सर्वं परिज्ञातुम्** (विक्रमो० २)।
(मैं सब कुछ जानने की शक्ति रखता हूं)

(घ) **कोऽन्यो हुतवहाद् दग्धुं प्रभविष्यति**—(शाकुन्तल ४)।
(अग्नि को छोड़ कर दूसरा कौन जलाने में समर्थ होगा)।

(ङ) अलमयं वीरः शत्रून् काण्डानीव लवितुम्—(व्या० च०)

(च) कुशलोऽयं देवदत्तः शास्त्रार्थं सुग्रहीतुम्—(व्या० च०)।

प्रतिषेधार्थक 'अलम्' के योग में तुमुँन् का विधान नहीं है पर कवि लोग क्वचित् प्रयोग करते ही हैं—**अलं सुप्तजनं प्रबोधयितुम्** (मृच्छकटिक ३), **अलमात्मानं खेदयितुम्** (वेणी २.३)।[1]

१.४१३)। **नासौ न काम्यो न च वेद सम्यग्द्रष्टुं न सा भिन्नरुचिर्हि लोकः**। (रघु० ६.३०)। अर्ह् के समानार्थकों के योग में—**युक्तं नाम अत्रभवतः प्रियवयस्योऽयमशोको वामपादेन ताडयितुम्** (मालविका० ३)। **विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्** (कुमार० २.५५)। असाम्प्रतम्=नार्हम्=अयुक्तमित्यर्थः। **गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके** (गीता २.५)। श्रेयः—उचितमित्यर्थः। शक् के समानार्थक पारय् के योग में—**न पारयामः निवेदयितुम्** (शाकुन्तल ४)। न पारयामः—न शक्नुमः। **अगृहीतहेतिष्वशिक्षितो मे भुजः प्रहर्त्तुम्**—(श्रीहर्षचरिते)। अशिक्षितः—असमर्थ इति भावः। हैमव्याकरण (५.४.६०) में यही पक्ष स्वीकृत किया गया है। पुरुषोत्तमदेव ने भी भाषावृत्ति में इस सूत्र पर ऐसा ही अर्थ लिखा है।

१ वामन शिवराम आप्टे का कथन है कि तुमुँन् प्रत्यय यद्यपि भाव में होता है तथापि घञन्त या ल्युडन्त की तरह तुमुँन्नन्त का कर्तृतया प्रयोग नहीं करना चाहिये। जैसे 'सवेरे उठना स्वास्थ्यकर है' इस का संस्कृतानुवाद 'प्रातरुत्थानम् आरोग्यावहम्' होना चाहिये न कि 'प्रातरुत्थातुम् आरोग्यावहम्'। परन्तु (श्रीचारुदेव शास्त्री) आदि अन्य कई लोग इस विचार से सहमत नहीं हैं। क्योंकि संस्कृतवाङ्मय में तुमुँन्नन्तों के कर्तृतया प्रयोग भी कई स्थानों पर उपलब्ध होते हैं। तद्यथा—

(क) **न नप्तारं स्वकं न्याय्यं शप्तुमेवं प्रजापते**—(रामा० युद्ध० ६१.२६)

(ख) **न न्याय्यं निहतं शत्रुं भूयो हन्तुं नराधिप**—(महाभारत ९.६१.१९)

अब हम यहां अनुवाद आदि में अत्युपयोगी होने से तीन-सौ तुमुँन्नन्तों का अर्थसहित सटिप्पण संग्रह दे रहे हैं। आशा है प्राथमकल्पिक विद्यार्थियों के लिये यह बहुत लाभप्रद सिद्ध होगा—

धातु तुमुँन्नन्त अर्थ

१. (अट्) अटितुम्=घूमने के लिये
२. (अद्) अत्तुम्=खाने के लिये
३. (अय्) पलायितुम्[1]=भागने के लिये
४. (अर्च्) अर्चितुम्=पूजने के लिये
५. (अर्ज्) अर्जितुम्=कमाने के लिये
६. (अर्थ्) प्रार्थयितुम्=मांगने के लिये
७. (अव्) अवितुम्=बचाने के लिये
८. (अश्) अशितुम्=खाने के लिये
९. (अस्) भवितुम्[2]=होने के लिये
१०. (अस्) निरसितुम्=फेंकने के लिये
११. (आप्) प्राप्तुम्=पाने के लिये
१२. (आस्) आसितुम्=बैठने के लिये
१३. (इङ्) अध्येतुम्—पढ़ने के लिये
१४. (इण्) एतुम्=जाने के लिये
१५. (इष्) एषितुम्, एष्टुम्[3] } = चाहने के लिये
१६. (ईक्ष्) निरीक्षितुम्=निरीक्षण करने के लिये
परीक्षितुम्=परीक्षा के०
१७. (ईह्) ईहितुम्=चेष्टा करने के०

धातु तुमुँन्नन्त अर्थ

१८. (उज्झ्) प्रोज्झितुम्=छोड़ने के लिये
१९. (ऊह्) ऊहितुम्=अनुमान करने०
२०. (एध्) एधितुम्=बढ़ने के लिये
२१. (कथ्) कथयितुम्=कहने के लिये
२२. (कम्) कामयितुम्, कमितुम्[4] } = चाहने के लिये
२३. (कम्प्) कम्पितुम्=कांपने के लिये
२४. (कर्ण्) आकर्णयितुम्=सुनने के०
२५. (काङ्क्ष्) काङ्क्षितुम्=चाहने के०
२६. (काश्) प्रकाशितुम्=प्रकट होने०
२७. (कुप्) कोपितुम्=क्रुद्ध होने के लिये
२८. (कूज्) कूजितुम्=कूकने के लिये
२९. (कृ) कर्तुम्=करने के लिये
३०. (कृत्) कर्तितुम्=कतरने के लिये
३१. (कृप्) कल्पितुम्, कल्प्तुम्[5] } = कल्पना करने के लिये
३२. (कृष्) आक्रष्टुम्, आकर्ष्टुम्[6] } = खींचने के लिये
३३. (कृत्) कीर्तयितुम्[7]=कीर्तन करने०
३४. (क्रन्द्) क्रन्दितुम्=चिल्लाने के लिये

(ग) न युक्तमात्मना वक्तुमेवं गर्वोद्धतं वचः—(महाभारत ९.३२.७०)।
(घ) न शक्यमग्रतः स्थातुं शक्रेणापि धनञ्जय—(महाभारत ९.५८.१६)।

१. अनिर्दिष्टोऽप्युपसर्गयोगोऽत्र स्थाने स्थाने स्वयमूह्यः। **उपसर्गस्यायतौ** (५३५) इत्युपसर्गरेफस्य लत्वम्।
२. **अस्तेर्भूः** (५७६) इत्यस्तेर्भू इत्यादेशः।
३. **तीषसहलुभरुषरिषः** (६५७) इति वेट्।
४. **कमेर्णिङ्** (५२५)। **आयादय आर्धधातुके वा** (४६९)।
५. गुणे **कृपो रो लः** (८.२.१८) इति लत्वम्।
६. **अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्** (६५३) इत्यङ्गस्य अमागमः, यण्। अमोऽभावे लघूपधगुणः। ष्टुत्वं तूभयत्र बोध्यम्।
७. **उपधायाश्च** (७.१.१०१) इति इत्वम्, रपरत्वम्, **उपधायाञ्च** (८.२.७८) इति दीर्घः।

धातु	तुमुँन्नन्त	अर्थ
३५. (क्रम्)	आक्रमितुम्	= आक्रमण करने के लिये
३६. (क्री)	क्रेतुम्	= खरीदने के लिये
	विक्रेतुम्	= बेचने के लिये
३७. (क्रीड्)	क्रीडितुम्	= खेलने के लिये
३८. (क्रुध्)	क्रोद्धुम्[1]	= क्रोध करने के०
३९. (क्रुश्)	आक्रोष्टुम्[2]	= आक्रोश करने के लिये
४०. (क्वण्)	क्वणितुम्	= शब्द करने के०
४१. (क्षम्)	क्षमितुम्, क्षन्तुम्[3]	= सहने के लिये
४२. (क्षर्)	क्षरितुम्	= झरने के लिये
४३. (क्षल्)	क्षालयितुम्	= धोने के लिये
४४. (क्षि)	क्षेतुम्	= क्षीण होने के लिये
४५. (क्षिप्)	क्षेप्तुम्	= फेंकने के लिये
४६. (खण्ड्)	खण्डयितुम्	= खण्डित करने०
४७. (खन्)	खनितुम्	= खोदने के लिये
४८. (खाद्)	खादितुम्	= खाने के लिये
४९. (खेल्)	खेलितुम्	= खेलने के लिये
५०. (ख्या)	ख्यातुम्[4]	= कहने के लिये
	आख्यातुम्	= कहने के लिये
५१. (गण्)	गणयितुम्	= गिनने के लिये
५२. (गद्)	गदितुम्	= कहने के लिये
	निगदितुम्	= कहने के लिये
५३. (गम्)	गन्तुम्	= जाने के लिये
	आगन्तुम्	= आने के लिये
	अधिगन्तुम्	= पाने के लिये
५४. (गर्ज्)	गर्जितुम्	= गरजने के लिये
५५. (गर्ह्)	गर्हितुम्	= निन्दा करने के०
५६. (गवेष्)	गवेषयितुम्	= ढूंढने के लिये
५७. (गाह्)	गाहितुम्, गाढुम्[5]	= आलोडन करने के लिये
५८. (गुञ्ज्)	गुञ्जितुम्	= गूंजने के लिये
५९. (गुप्)	गोपायितुम्[6], गोपितुम्, गोप्तुम्	= रक्षा करने के लिये
६०. (गुम्फ्)	गुम्फितुम्	= गूंथने के लिये
६१. (गुह्)	गूहितुम्[7], गोढुम्	= छुपाने के लिये
६२. (गृध्)	गर्धितुम्	= ललचाने के लिये
६३. (गॄ)	निगरितुम्[8], निगरीतुम्, निगलितुम्, निगलीतुम्	= निगलने के लिये

---

१. लघूपधगुणे **झषस्तथोर्धोऽधः** (५४९) इति प्रत्ययतकारस्य धकारे **झलां जश् झशि** (१९) इति धातोर्धकारस्य जश्त्वेन दकारः ।

२. **व्रश्चभ्रस्ज०** (३०७) इति शकारस्य षकारे **ष्टुना ष्टुः** (६४) इति ष्टुत्वम् ।

३. धातोरूदित्त्वेन **स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा** (४७६) इति वेट् ।

४. अत्र **चक्षिङः ख्याञ्** (२.४.५४) इति ख्याञादेशे रूपं बोध्यम् । सार्वधातुकमात्र-विषयत्वात् 'ख्या प्रकथने' (अदा० पर०) इत्यस्य नायं प्रयोगः ।

५. ऊदित्त्वाद्वेट् । इटोऽभावे ढत्व-धत्व-ष्टुत्व-ढलोप-दीर्घाः ।

६. **गुपू-धूप-विच्छि-पणि-पनिभ्य आयः** (४६७), **आयादय आर्धधातुके वा** (४६९) । आयाभावे—**स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा** (४७६) इतीड्विकल्पः । लघूपधगुण-स्तूभयत्र बोध्यः ।

७. धातोरूदित्त्वेन इड्विकल्पः । इट्पक्षे—**ऊदुपधाया गोहः** (६.४.८९) इत्युपधाया उकारस्य ऊकारः । इटोऽभावे लघूपधगुणे ढत्व-धत्व-ष्टुत्व-ढलोपाः ।

८. इटि, गुणे रपरत्वे **अचि विभाषा** (६६३) इति रेफस्य वा लत्वम् । **वॄतो वा** (६१५) इति इटो वा दीर्घः ।

धातु	तुमुँन्नन्त	अर्थ
६४. (गै)	गातुम्[1]	=गाने के लिये
६५. (ग्रस्)	ग्रसितुम्	=खाने के लिये
६६. (ग्रह्)	ग्रहीतुम्[2]	=ग्रहण करने के०
६७. (ग्लै)	ग्लातुम्	=क्षीण होने के लिये
६८. (घट्)	घटितुम्	=चेष्टा करने के०
६९. (घृष्)	घर्षितुम्	=रगड़ने के लिये
७०. (घ्रा)	घ्रातुम्	=सूंघने के लिये
७१. (चकास्)	चकासितुम्	=चमकने०
७२. (चम्)	आचमितुम्	=आचमन करने के लिये
७३. (चर्)	चरितुम्	=घूमने के लिये
	आचरितुम्	=करने के लिये
७४. (चर्व्)	चर्वितुम्	=चबाने के लिये
७५. (चल्)	चलितुम्	=चलने के लिये
७६. (चि)	चेतुम्	=चुनने के लिये
७७. (चित्)	चेतितुम्	=चेतने के लिये
७८. (चिन्त्)	चिन्तयितुम्	=सोचने के०
७९. (चुम्ब्)	चुम्बितुम्	=चूमने के लिये
८०. (चुर्)	चोरयितुम्	=चुराने के लिये
८१. (चूर्ण्)	चूर्णयितुम्	=पीसने के लिये
८२. (चेष्ट्)	चेष्टितुम्	=चेष्टा करने०
८३. (च्युत्)	च्योतितुम्	=गीला करने०
८४. (छद्)	आच्छादयितुम्	=ढांपने के०
८५. (छिद्)	छेत्तुम्	=काटने के लिये
८६. (जन्)	जनितुम्	=पैदा होने के०
८७. (जप्)	जपितुम्	=जपने के लिये
८८. (जल्प्)	जल्पितुम्	=कहने के लिये
८९. (जागृ)	जागरितुम्	=जागने के लिये
९०. (जि)	जेतुम्	=जीतने के लिये
९१. (जीव्)	जीवितुम्	=जीने के लिये
९२. (जृम्भ्)	जृम्भितुम्	=जम्भाई लेने०
९३. (ज्ञा)	ज्ञातुम्	=जानने के लिये
९४. (ज्वल्)	ज्वलितुम्	=जलने के लिये
९५. (डीं)	उड्डयितुम्	=उड़ने के लिये
९६. (तड्)	ताडयितुम्	=पीटने के लिये
९७. (तन्)	तनितुम्	=विस्तार करने के०
९८. (तप्)	तप्तुम्	=तपाने के लिये
९९. (तर्क्)	तर्कयितुम्	=विचारने के०
१००. (तुद्)	तोत्तुम्	=दुःख देने के लिये
१०१. (तुल्)	तोलयितुम्	=तोलने के०
१०२. (तुष्)	तोष्टुम्	=प्रसन्न होने के०
१०३. (तृप्)	तर्पितुम्[3], त्रप्तुम्, तर्प्तुम्	=तृप्त होने या करने के लिये
१०४. (तॄ)	तरितुम्[4], तरीतुम्	=पार करने के लिये
१०५. (त्यज्)	त्यक्तुम्[5]	=छोड़ने के लिये
१०६. (त्रस्)	त्रसितुम्	=डरने के लिये
१०७. (त्रै)	त्रातुम्	=बचाने के लिये
१०८. (त्वर्)	त्वरितुम्	=जल्दी करने०
१०९. (दण्ड्)	दण्डयितुम्	=दण्ड देने के०
११०. (दद्)	ददितुम्	=देने के लिये
१११. (दध्)	दधितुम्	=धारण करने०
११२. (दंश्)	दंष्टुम्[6]	=डसने के लिये

१. आदेच उपदेशेऽशिति (४९३) इत्यात्त्वम् ।

२. ग्रहोऽलिटि दीर्घः (६९३) इति इटो दीर्घः ।

३. रधादिभ्यश्च (६३५) इति इड्विकल्पः । इटोऽभावे अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम् (६५३) इति अमागमविकल्पः । अमागमे यण्, तदभावे लघूपधगुणः ।

४. वॄतो वा (११५) इति इटो वा दीर्घः ।

५. चोः कुः (३०६) इति कुत्वम् ।

६. व्रश्चभ्रस्ज० (३०७) इति षत्वे ष्टुत्वम् (६४) ।

धातु	तुमुँन्नन्त	अर्थ
११३. (दल्)	दलितुम्	=दलने के लिये
११४. (दह्)	दग्धुम्[1]	=जलाने के लिये
११५. (दा)	दातुम्	=देने के लिये
	आदातुम्	=लेने के लिये
११६. (दिव्)	देवितुम्	=खेलने के लिये
११७. (दिश्)	आदेष्टुम्	=आदेश देने०
	उपदेष्टुम्	=उपदेश देने०
११८. (दिह्)	देग्धुम्	=लेप करने के०
११९. (दीक्ष्)	दीक्षितुम्	=दीक्षित करने०
१२०. (दीप्)	दीपितुम्	=चमकने के लिये
१२१. (दुल्)	दोलयितुम्	=झुलाने के०
१२२. (दुह्)	दोग्धुम्	=दोहने के लिये
१२३. (दृ)	आदर्तुम्	=आदर देने के०
१२४. (दृश्)	द्रष्टुम्[2]	=देखने के लिये
१२५. (दो)	अवदातुम्[3]	=काटने के०
१२६. (द्युत्)	द्योतितुम्	=चमकने के०
१२७. (द्रुह्)	द्रोहितुम्[4] / द्रोग्धुम् / द्रोढुम्	=द्रोह करने के लिये
१२८. (द्विष्)	द्वेष्टुम्	=द्वेष करने के०
१२९. (धा)	धातुम्	=धारण करने के०
	विधातुम्	=करने के लिये

धातु	तुमुँन्नन्त	अर्थ
१३०. (धाव्)	धावितुम्	=दौडने के०
१३१. (धू)	धवितुम्[5] / धोतुम्	=कम्पाने के लिये
१३२. (धृ)	धर्तुम्	=धारण करने के लिये
१३३. (ध्मा)	ध्मातुम्	=फूंकने के लिये
१३४. (ध्यै)	ध्यातुम्	=ध्यान करने के०
१३५. (ध्वंस्)	ध्वंसितुम्	=नष्ट करने०
१३६. (नद्)	नदितुम्	=गरजने के लिये
१३७. (नन्द्)	नन्दितुम्	=खुश होने के०
१३८. (नम्)	नन्तुम्	=झुकने के लिये
१३९. (नर्द्)	नर्दितुम्	=गरजने के लिये
१४०. (नश्)	नशितुम्[6] / नंष्टुम्	=नष्ट होने के लिये
१४१. (नह्)	नद्धुम्[7]	=बांधने के लिये
१४२. (नाथ्)	नाथितुम्	=मांगने के लिये
१४३. (निन्द्)	निन्दितुम्	=निन्दा करने०
१४४. (नी)	नेतुम्	=ले जाने के लिये
	आनेतुम्	=लानेके लिये
१४५. (नुद्)	नोत्तुम्	=प्रेरित करने के०
१४६. (नृत्)	नर्तितुम्	=नाचने के लिये
१४७. (पच्)	पक्तुम्	=पकाने के लिये
१४८. (पञ्च्)	प्रपञ्चयितुम्	=विस्तार करने के लिए

१. **दादेर्धातोर्घः** (२५२) इति हकारस्य घत्वे **झषस्तथोर्धोऽधः** (५४९) इति तुमुँनस्त-कारस्य धत्वे **झलां जश् झशि** (१९) इति जश्त्वेन घकारस्य गकारः। एवम् देग्धुम्, दोग्धुम् इत्यादिष्वपि बोध्यम्।

२. **सृजिदृशोर्झल्यमकिति** (६४४) इत्यमागमे यणि षत्वे ष्टुत्वे च रूपम्।

३. **आदेच उपदेशेऽशिति** (४९३) इत्यात्वम्।

४. **रधादिभ्यश्च** (६३५) इतीड्विकल्पः। इट्पक्षे लघूपधगुणे—द्रोहितुम् इति। इटोऽभावे **वा द्रुह-मुह-ष्णुह-ष्णिहाम्** (२५४) इति हकारस्य वा घत्वे धत्वजश्त्वयोः च कृतयोः द्रोग्धुमिति। घत्वाभावे **हो ढः** (२५१) इति हस्य ढत्वे धत्वे ष्टुत्वे ढो ढे लोपः।

५. **स्वरति-सूति-सूयति-धूञूदितो वा** (४७६) इति वेट्।

६. **रधादिभ्यश्च** (६३५) इति वेट्। इटोऽभावे **मस्जिनशोर्झलि** (६३६) इति नुँमि अनुस्वारे षत्वष्टुत्वे।

७. **नहो धः** (३५९) इति धातोर्हकारस्य धत्वे, धत्व-जश्त्वयोश्च रूपम्।

धातु तुमुन्नन्त अर्थ

१४९. (पठ्) पठितुम् = पढ़ने के लिये
१५०. (पत्) पतितुम् = गिरने के लिये
१५१. (पद्) प्रतिपत्तुम् = स्वीकार करने०
१५२. (पा) पातुम् = पीने के लिये
१५३. (पा) पातुम् = रक्षा करने के लिये
१५४. (पार्) पारयितुम् = समाप्त करने०
१५५. (पाल्) पालयितुम् = पालने के०
१५६. (पिष्) पेष्टुम् = पीसने के लिये
१५७. (पीड्) पीडयितुम् = पीडित करने०
१५८. (पुष्) पोष्टुम् = पुष्ट करने के०
१५९. (पू) पवितुम् = पवित्र करने के०
१६०. (पूज्) पूजयितुम् = पूजने के लिये
१६१. (पूर्) पूरयितुम् = पूर्ण करने के०
१६२. (प्रच्छ्) प्रष्टुम् = पूछने के लिये
१६३. (प्रथ्) प्रथितुम् = प्रसिद्ध होने के०
१६४. (फल्) फलितुम् = फलने के लिये
१६५. (फुल्ल्) प्रफुल्लितुम् = विकसित होने के लिए
१६६. (बन्ध्) बन्द्धुम्[1] = बांधने के लिये
१६७. (बाध्) बाधितुम् = रोकने के लिये
१६८. (बुध्) बोधितुम्[2] = जानने के०
१६९. (बुध्) बोद्धुम् = जानने के लिये
१७०. (ब्रू) वक्तुम्[3] = कहने के लिये
१७१. (भक्ष्) भक्षयितुम् = खाने के लिये
१७२. (भज्) विभक्तुम् = बांटने के०

धातु तुमुन्नन्त अर्थ

१७३. (भञ्ज्) भङ्क्तुम् = तोड़ने के०
१७४. (भण्) भणितुम् = कहने के लिये
१७५. (भर्त्स्) भर्त्सयितुम् = झिड़कने०
१७६. (भा) भातुम् = चमकने के लिये
१७७. (भाष्) भाषितुम् = बोलने के०
१७८. (भास्) भासितुम् = चमकने के०
१७९. (भिक्ष्) भिक्षितुम् = मांगने के०
१८०. (भिद्) भेत्तुम् = तोड़ने के लिये
१८१. (भी) भेतुम् = डरने के लिये
१८२. (भुज्) भोक्तुम् = खाने के लिये
१८३. (भू) भवितुम् = होने के लिये
१८४. (भूष्) भूषयितुम् = सजाने के०
१८५. (भृ) भर्तुम् = धारण करने के०
१८६. (भृज्) भर्जितुम् = भूनने के लिये
१८७. (भ्रंश्) भ्रंशितुम् = गिरने के०
१८८. (भ्रम्) भ्रमितुम् = घूमने के लिये
१८९. (भ्रस्ज्) भर्ष्टुम्[4], भ्रष्टुम् = भूनने के लिये
१९०. (भ्राज्) भ्राजितुम् = चमकने के०
१९१. (मण्ड्) मण्डयितुम् = सजाने के०
१९२. (मद्) प्रमदितुम् = प्रमाद करने०
१९३. (मन्) मन्तुम् = मानने के लिये
१९४. (मन्त्र्) मन्त्रयितुम् = सलाह करने के लिये
१९५. (मन्थ्) मन्थितुम् = मथने के लिये

---

१. धत्व-जश्त्वयो रूपम् । एवम्—बोद्धुम्, रोद्धुम्, लब्धुम्, आरब्धुम् इत्यादिषु बोध्यम् ।

२. भौवादिकोऽयं सेड् धातुः । अपरस्तु दैवादिकोऽनिड् बोध्यः ।

३. ब्रुवो वचिः (५९६) इति वच्यादेशः ।

४. भ्रस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम् (६५२) इति रेफोपधानिवृत्तौ रमागमे च व्रश्च-भ्रस्ज० (३०७) इति जकारस्य षकारे ष्टुत्वे भर्ष्टुम् इति रूपम् । रमोऽभावपक्षे स्कोः० (३०९) इति सकारलोपे षत्वष्टुत्वयोश्च भ्रष्टुम् इति ।

धातु	तुमुँन्नन्त	अर्थ
१९६. (मस्ज्)	मङ्क्तुम्[1]	=गोता लगाने०
१९७. (मा)	मातुम्	=मापने के लिये
१९८. (मान्)	मानयितुम्	=पूजने के०
१९९. (मार्ग)	मार्गयितुम्	=ढूंढने के०
२००. (मिल्)	मेलितुम्	=मिलने के लिये
२०१. (मील्)	मीलितुम्	=नेत्र बन्द करने के लिये
	उन्मीलितुम्	=नेत्र खोलने के०
२०२. (मुच्)	मोक्तुम्	=छोड़ने के लिये
२०३. (मुद्)	मोदितुम्	=प्रसन्न होने के०
२०४. (मुर्च्छ्)	मूर्च्छितुम्[2]	=बेहोश होने०
२०५. (मुष्)	मोषितुम्	=चुराने के लिये
२०६. (मुह्)	मोहितुम्[3], मोग्धुम्, मोढुम्	=मोहित होने के लिये
२०७. (मृ)	मर्तुम्	=मरने के लिये
२०८. (मृग्)	मृगयितुम्	=ढूंढने के लिये
२०९. (मृज्)	मार्जितुम्[4], मार्ष्टुम्	=शुद्ध करने के लिये
२१०. (मृद्)	मर्दितुम्	=पीसने के लिये
२११. (मृश्)	म्रष्टुम्[5], मर्ष्टुम्	=छूने के लिये
२१२. (मृष्)	मर्षितुम्	=सहने के लिये
२१३. (म्ना)	म्नातुम्	=अभ्यास करने०
२१४. (म्लै)	म्लातुम्	=मुरझाने के लिये
२१५. (यज्)	यष्टुम्[6]	=यज्ञ करने के०
२१६. (यन्त्र्)	नियन्त्रयितुम्	=काबू में करने के लिये
२१७. (यत्)	यतितुम्	=यत्न करने के०
२१८. (या)	यातुम्	=जाने के लिये
२१९. (याच्)	याचितुम्	=मांगने के०
२२०. (युज्)	योक्तुम्	=जोड़ने के लिये
२२१. (युध्)	योद्धुम्	=युद्ध करने के०
२२२. (रक्ष्)	रक्षितुम्	=रक्षा करने के०
२२३. (रच्)	रचयितुम्	=बनाने के लिये
२२४. (रभ्)	आरब्धुम्	=शुरू करने के०
२२५. (रम्)	रन्तुम्[7]	=रमण करने के०
२२६. (राज्)	विराजितुम्	=शोभा पाने०
२२७. (रुच्)	रोचितुम्	=भाने के लिये
२२८. (रुद्)	रोदितुम्	=रोने के लिये
२२९. (रुध्)	रोद्धुम्	=रोकने के लिये
२३०. (रुह्)	आरोढुम्[8]	=चढ़ने के लिये
२३१. (लक्ष्)	लक्षयितुम्	=दिखाने के०
२३२. (लङ्घ्)	लङ्घितुम्	=लांघने के०

१. मस्ज्+तुम् इति स्थिते **मस्जिनशोर्झलि** (६३६) इति नुँमागमः। स च **मिदचोऽन्त्यात्परः** (२४०) इति नियमं बाधित्वा **मस्जेरन्त्यात्पूर्वो नुँम् वाच्यः** (वा० ४४) इति धातुजकारात् पूर्वं बोध्यः। तेन सकारस्य संयोगादिलोपे कुत्वे चेष्टरूपम्।

२. **उपधायां च** (८.२.७८) इति दीर्घः।

३. अत्र द्रोहितुम्-द्रोग्धुम्-द्रोढुम् इतिवत् पूर्वनिर्दिष्टा प्रक्रिया बोध्या।

४. ऊदित्त्वाद् वेट्। **मृजेर्वृद्धिः** (७८२)।

५. **अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्** (६५३) इति वाऽमागमः। यणि षत्वष्टुत्वयोश्च म्रष्टुमिति। अमोऽभावे लघूपधगुणे षत्वष्टुत्वे।

६. **व्रश्च-भ्रस्ज-सृज-मृज-यज०** (३०७) इति षत्वे ष्टुत्वम्।

७. **नश्चापदान्तस्य झलि** (७८) इत्यनुस्वारे **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** (७९) इति परसवर्णत्वम्।

८. ढत्व-धत्व-ष्टुत्वढलोपेषु कृतेषु **सहिवहोरोदवर्णस्य** (५५१) इत्युकारस्य ओकारः। एवम्—वोढुम् इत्यत्रापि बोध्यम्।

धातु तुमुँन्नन्त अर्थ

२३३. (लप्) लपितुम् = बात करने के०
प्रलपितुम् = प्रलाप करने०
विलपितुम् = विलाप करने०

२३४. (लम्ब्) आलम्बितुम् = आश्रय के०

२३५. (लभ्) लब्धुम् = पाने के लिये
आलब्धुम्[1] = छूने के लिये

२३६. (लष्) अभिलषितुम् = चाहने के०

२३७. (लस्ज्) लज्जितुम्[2] = शर्माने के०

२३८. (लिख्) लेखितुम् = लिखने के लिये

२३९. (लिह्) लेढुम्[3] = चाटने के लिये

२४०. (लू) लवितुम् = काटने के लिये

२४१. (लोक्) विलोकितुम् = देखने के०

२४२. (लोच्) आलोचितुम् = आलोचना करने के लिए

२४३. (वच्) वक्तुम् = कहने के लिये

२४४. (वञ्च्) प्रवञ्चितुम् = जाने के०
वञ्चयितुम् = ठगने के०

२४५. (वद्) वदितुम् = कहने के लिये

२४६. (वन्द्) वन्दितुम् = नमस्कार करने के लिये

२४७. (वप्) वप्तुम् = काटने के लिये या बोने के लिये

२४८. (वम्) वमितुम् = वमन करने के०

२४९. (वर्ण्) वर्णयितुम् = वर्णन करने०

२५०. (वस्) वस्तुम् = रहने के लिये

२५१. (वस्) वसितुम् = ढांपने के लिये

२५२. (वह्) वोढुम् = ले जाने के लिये

२५३. (वाञ्छ्) वाञ्छितुम् = चाहने के०

२५४. (विद्) वेदितुम् = जानने के लिये

धातु तुमुँन्नन्त अर्थ

२५५. (विद्) वेत्तुम् = होने के लिये

२५६. (विद्) वेत्तुम्[4], वेदितुम् = पाने के लिये

२५७. (विश्) प्रवेष्टुम् = प्रवेश करने०

२५८. (वृत्) वर्तितुम् = होने के लिये

२५९. (वृध्) वर्धितुम् = बढ़ने के लिये

२६०. (वेष्ट्) वेष्टितुम् = लपेटने के०

२६१. (व्रज्) व्रजितुम् = जाने के लिये

२६२. (शक्) शक्तुम् = सकने के लिये

२६३. (शङ्क्) शङ्कितुम् = शंका करने०

२६४. (शंस्) प्रशंसितुम् = प्रशंसा करने०

२६५. (शप्) शप्तुम् = शाप देने के०

२६६. (शम्) शमितुम् = शान्त होने के०

२६७. (शास्) शासितुम् = शिक्षा देने०

२६८. (शिक्ष्) शिक्षितुम् = सीखने के०

२६९. (शी) शयितुम् = सोने के लिये

२७०. (शुच्) शोचितुम् = शोक करने०

२७१. (शुध्) शोद्धुम् = शुद्ध होने के लिये

२७२. (शुभ्) शोभितुम् = शोभा पाने के०

२७३. (श्रि) आश्रयितुम् = आश्रय करने०

२७४. (श्रु) श्रोतुम् = सुनने के लिये

२७५. (श्लिष्) श्लेष्टुम् = चिपटने के०

२७६. (श्वस्) श्वसितुम् = सांस लेने के०

२७७. (सह्) सहितुम्[5], सोढुम् = सहने के लिये

२७८. (सान्त्व्) सान्त्वयितुम् = सांत्वना देने के लिए

२७९. (सिच्) सेक्तुम् = सींचने के लिये

२८०. (सिव्) सेवितुम् = सीने के लिये

२८१. (सूच्) सूचयितुम् = सूचना देने०

---

१. आङ्पूर्वो लभिर्हिंसायां स्पर्शने च वर्तते ।

२. श्चुत्वेन सकारस्य शकारे झलां जश्झशि (१९) इति जश्त्वेन शकारस्य जकारः ।

३. लघूपधगुणे ढत्व-धत्व-ष्टुत्व-ढलोपाः ।

४. विद्लृँ लाभे (तुदा० उ० अनिट्) । व्याघ्रभूतिमते सेडयं धातुस्तेन 'वेदितुम्' इत्यपि ।

५. तीषसहलुभरुषरिषः (६५७) इति वेट् । अनिट्पक्षे 'आरोढुम्' इतिवत्प्रक्रिया बोध्या ।

धातु	तुमुँन्नन्त	अर्थ
२८२. (सृ)	सर्तुम्	=सरकने के लिये
	अपसर्तुम्	=हटने के लिये
२८३. (सृज्)	स्रष्टुम्	=पैदा करने के०
	उत्स्रष्टुम्[1]	=छोड़ने के०
२८४. (सेव्)	सेवितुम्	=सेवा करने के०
२८५. (स्खल्)	स्खलितुम्	=फिसलने के०
२८६. (स्तु)	स्तोतुम्	=स्तुति करने के०
२८७. (स्था)	स्थातुम्	=ठहरने के लिये
२८८. (स्ना)	स्नातुम्	=नहाने के लिये
२८९. (स्पन्द्)	स्पन्दितुम्	=फड़कने के०
२९०. (स्पर्ध्)	स्पर्धितुम्	=स्पर्धा करने०
२९१. (स्पृश्)	स्प्रष्टुम्[2] } स्पर्ष्टुम् }	=छूने के लिये

धातु	तुमुँन्नन्त	अर्थ
२९२. (स्पृह्)	स्पृहयितुम्	=चाहने के०
२९३. (स्मृ)	स्मर्तुम्	=याद करने के०
२९४. (स्वप्)	स्वप्तुम्	=सोने के लिये
२९५. (हन्)	हन्तुम्	=मारने के लिये
२९६. (हस्)	हसितुम्	=हंसने के लिये
२९७. (हा)	हातुम्	=छोड़ने के लिये
२९८. (हिंस्)	हिंसितुम्	=मारने के लिये
२९९. (हु)	होतुम्	=होम करने के लिये
३००. (हृ)	हर्तुम्	=हरने के लिये
	प्रहर्तुम्	=चोट करने के०
	विहर्तुम्	=घूमने के लिये
३०१. (ह्वे)	आह्वातुम्	=बुलाने के लिये

ध्यान रहे कि तुमुँन् प्रत्यय हेतुमण्णिजन्त आदि धातुओं से भी हो जाता है। निदर्शनार्थ उदाहरण यथा—

१. अध्यापयितुम् =पढ़ाने के लिये
२. दर्शयितुम् =दिखाने के लिये
३. श्रावयितुम् =सुनाने के लिये
४. घातयितुम् =मरवाने के लिये
५. द्योतयितुम् =जतलाने के लिये
६. जनयितुम् =पैदा करने के लिये
७. तोषयितुम् =खुश करने के लिये
८. ग्राहयितुम् =ग्रहण कराने के लिये
९. प्रसादयितुम् =प्रसन्न करने के लिये
१०. कारयितुम् =करवाने के लिये

अभ्यास (९)

(१) 'कृष्णं दर्शको याति' यहां पर किस सूत्र से किस अर्थ में ण्वुल् हुआ है? पूरी तरह घटा कर समझाएं। यह भी लिखें कि यहां कृद्योग में षष्ठी क्यों नहीं हुई? क्या 'कृष्णस्य दर्शको याति' प्रयोग अशुद्ध है?

(२) क्रियार्था क्रिया को स्पष्ट करते हुए तुमुँन्विधायक-सूत्र की व्याख्या करें।

(३) तुमुँन्विधायक चारों सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें।

(४) तुमुँण्वुलौ० में समानकर्तृकता की शर्त अनेक वैयाकरण मानते हैं उन के अभिप्राय को सोदाहरण स्पष्ट करते हुए तीन-चार विपरीत उदाहरण भी प्रदर्शित कीजिये।

---

१. सृजिदृशोर्झल्यमकिति (६४४) इत्यमागमे यणि व्रश्चभ्रस्ज० (३०७) इति षत्वे ष्टुत्वम्।

२. अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम् (६५३) इति वाऽमागमः। यणि षत्वष्टुत्वयोः स्प्रष्टुमिति। अमोऽभावे लघूपधगुणे षत्वष्टुत्वे।

(५) प्रतिषेधार्थक 'अलम्' के योग में क्या कहीं तुमुँन् का प्रयोग देखा जाता है ? पाणिनीयशास्त्र की दृष्टि से विचार व्यक्त करें।

(६) कालवाचक शब्दों के उपपद रहते तुमुँन् का विधान किया गया है तो पुनः 'भूतानि कालः पचतीति वार्त्ता' में तुमुँन् क्यों नहीं हुआ ? सप्रमाण समझा कर लिखें।

(७) तुमुँन् और ण्वुल् एक ही सूत्र से विहित हो रहे हैं पुनः इन के अर्थों में भेद कैसा ? सप्रमाण विवेचन करें।

(८) क्या तुमुँन्नन्त का कर्तृतया प्रयोग हो सकता है ? इस विषय में आप्टे की मान्यता का उल्लेख करते हुए सोदाहरण विवेचन करें।

(९) निम्नस्थ धातुओं के तुमुँन्नन्त रूप ससूत्र सिद्ध करें—
लिह्, सृज्, परा √अय्, क्रुध्, कृत्, क्षम्, ग्रह्, कृ, तॄ, त्यज्, नश्, दह्, ब्रू, अस्, यज्, आ √रभ्, आ √रुह्, लू, वह्, स्पृश्, दण्ड्, छिद्, ग्लै, नह्, प्रच्छ्।

(१०) किस से तुमुँन् हुआ है ? विधायक-सूत्र लिखें—
समय इदानीमभ्यन्तरं प्रवेष्टुम्; पिनाकपाणिं पतिमाप्तुमिच्छति; तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति; अलं सुप्तजनं प्रबोधयितुम्; लिखितमपि ललाटे प्रोञ्छितुं कः समर्थः; द्वित्राण्यहान्यर्हसि सोढुमर्हन्; न च शक्नोम्य-वस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः; न कोऽपि निर्गन्तुं प्रवेष्टुं वाऽनुमोद्यते; वयमद्यैव यास्यामो रामं द्रष्टुं त्वरान्विताः; नेतुं वाञ्छति यः खलान् पथि सतां सूक्तैः सुधास्यन्दिभिः।

——:o:——

अब कृदन्तप्रकरण के सुप्रसिद्ध प्रत्यय घञ् का विधान करने के लिये अग्रिम-सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८५१) भावे ।३।३।१८॥

सिद्धावस्थापन्ने धात्वर्थे वाच्ये धातोर्घञ्। पाकः॥

अर्थः—जब धात्वर्थ सिद्धावस्था को प्राप्त हुआ हो तो उसके वाच्य होने पर धातु से परे घञ् प्रत्यय होता है।

व्याख्या—भावे ।७।१। घञ् ।१।१। (**पद-रुज-विश-स्पृशो घञ्** से)। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च** ये तीनों अधिकृत हैं। अर्थः—(भावे) भाव के वाच्य होने पर (धातोः) धातु से (परः) परे (घञ्) घञ् (प्रत्ययः) प्रत्यय होता है। धातु के अर्थ (क्रिया) को ही भाव कहते हैं। वह धात्वर्थ दो प्रकार का होता है—(१) साध्यावस्था-पन्न, (२) सिद्धावस्थापन्न। भवति, पठति, पचति आदि तिङन्तों में धात्वर्थ साध्या-वस्थापन्न होता है। पाकः, त्यागः, पठनम्, गमनम्, हसितम् आदि कृदन्तों में सिद्धा-वस्थापन्न। जब धात्वर्थ सिद्धावस्था में होता है तब वह द्रव्य की तरह भासता है

(**कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते**---महाभाष्य) अतः उस के साथ लिङ्ग और संख्या का योग हो सकता है। प्रकृतसूत्र से इसी सिद्धावस्थापन्न भाव के वाच्य होने पर धातु से घञ् प्रत्यय का विधान किया जा रहा है।

घञ् प्रत्यय के घकार की **लशक्वतद्धिते** (१३६) से तथा ञकार की **हलन्त्यम्** (१) सूत्र से इत्संज्ञा हो जाती है। इत्संज्ञकों का लोप हो कर 'अ' मात्र शेष रहता है। घकार अनुबन्ध **चजोः कु घिण्ण्यतोः** (७८१) आदि घित्कार्यों के लिये तथा ञकार अनुबन्ध वृद्धि (१८२, ४५५) तथा स्वरप्रक्रिया के लिये जोड़ा गया है।

उदाहरण यथा—डुपचँष् पाके (भ्वा० उभय० अनिट्) धातु से सिद्धावस्थापन्न भाव के वाच्य होने पर प्रकृतसूत्र से घञ् प्रत्यय हो गया तो—डुपचँष्+घञ्। प्रकृति और प्रत्यय दोनों के अनुबन्धों का लोप हुआ तो--पच्+अ। घञ् के ञित् होने के कारण **अत उपधायाः** (४५५) से उपधावृद्धि करने पर—पाच्+अ। घित् प्रत्यय के परे होने पर **चजोः कु घिण्ण्यतोः** (७८१) से धातु के चकार को कुत्व-ककार किया तो—पाक्+अ='पाक' प्रातिपदिक बना। अब इस से परे प्रथमैकवचन सुँ प्रत्यय लाने पर सकार को रुँत्व-विसर्ग करने से 'पाकः' प्रयोग सिद्ध होता है। 'पाकः' का अर्थ है—पचनं पाकः, अर्थात् 'पकाना'।

घञन्त शब्द लिङ्गानुशासन के अनुसार पुंलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं[1]। पाकः, पाकौ, पाकाः।

कुछ अन्य उदाहरण यथा—

त्यज्—त्यागः[2] [छोड़ना]। पत्—पातः, विनिपातः[3] [गिरना]। नश्—नाशः, प्रणाशः,[4] विनाशः [नष्ट होना]। दह्—दाहः [जलाना]। रम्—रामः, विरामः [ठहरना, रुकना]। नम्—नामः, प्रणामः [झुकना]। भज्—भागः, विभागः [बांटना]। पठ्—पाठः [पढ़ना] इत्यादि।

अब घञ्प्रत्यय के विधायक एक अन्य सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८५२) अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम् ।३।३।१९।।

कर्त्तृभिन्ने कारके घञ् स्यात् ।।

---

१. **घञबन्तः** (लिङ्गानु० २.२)। घञ्प्रत्ययान्त तथा अप्प्रत्ययान्त शब्द पुंलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं। घञ्प्रत्ययान्त यथा—पाकः, त्यागः, पातः, नाशः। अप्प्रत्ययान्त यथा—करः, गरः, स्तवः, पवः (८५६)।

२. **त्यागाय सम्भृतार्थानाम्** (रघु० १.७)।

३. **विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः** (भर्तृ० नीतिशतक ९)।

४. **भूम्येकदेशस्य गुणान्वितस्य भृत्यस्य वा बुद्धिमतः प्रणाशः।**
भृत्यप्रणाशो मरणं नृपाणां नष्टाऽपि भूमिः सुलभा न भृत्यः।।
(हितोप० २.१७७)

अर्थः—कर्तृभिन्न कारक में धातु से परे घञ् प्रत्यय हो संज्ञा के विषय में।

व्याख्या—अकर्तरि ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। कारके ।७।१। संज्ञायाम् ।७।१। घञ् ।१।१। (**पदरुजविशस्पृशो घञ्** से)। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं। न कर्तरि—अकर्तरि। नञ्तत्पुरुषः। अर्थः—(अकर्तरि) कर्त्ता से भिन्न अर्थात् कर्म करण आदि कारक के वाच्य होने पर (धातोः) धातु से (परः) परे (घञ्) घञ् (प्रत्ययः) प्रत्यय होता है (संज्ञायाम्) संज्ञा के विषय में।

संज्ञा का अभिप्राय रूढि से है, ऐसे शब्द यौगिकार्थ रखते हुए भी किसी विशेष अर्थ में रूढ होने चाहियें। उदाहरण यथा—

रज्यतेऽनेनेति रागः। जिस से रंगा जाए अर्थात् रंग आदि रञ्जनद्रव्य। यहां करण कारक की विवक्षा में 'रञ्जँ रागे' (रंगना, अनुरक्त होना, प्रेम करना; भ्वा० उभय० अनिट्, दिवा० उभय० अनिट्) धातु से घञ् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप करने से 'रञ्ज्+अ' हुआ। अब यहां धातु के नकार का लोप करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधिसूत्रम्—**(८५३) घञि च भावकरणयोः ।६।४।२७॥**

रञ्जेर्नलोपः स्यात्। रागः। अनयोः किम्? रज्यत्यस्मिन्निति रङ्गः॥

अर्थः—भाव या करण अर्थ में विहित घञ् प्रत्यय के परे होने पर भी रञ्ज् (रन्ज्) धातु के नकार का लोप हो।

व्याख्या—घञि ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। भावकरणयोः ।७।२। रञ्जेः ।६।१। (**रञ्जेश्च** सूत्र से)। नलोपः ।१।१। (**श्नान्नलोपः** से)। भावश्च करणञ्च भावकरणे, तयोः=भावकरणयोः, इतरेतरद्वन्द्वसमासः। नस्य लोपः—नलोपः। षष्ठीतत्पुरुषसमासः। अर्थः—(भावकरणयोः) भाव और करण अर्थों में (घञि) घञ् प्रत्यय परे होने पर (च) भी (रञ्जेः) रञ्ज् के (नलोपः) नकार का लोप हो जाता है।[1]

रञ्ज् धातु में ञकार का मूल नकार ही है। इसे **नश्चाऽपदान्तस्य झलि** (७८) द्वारा अनुस्वार हो कर परसवर्ण ञकार हुआ है[2]। उस नकार का यहां लोप विधान किया जा रहा है।

'रञ्ज्+अ' यहां घञ् प्रत्यय करणकारक में किया गया है अतः इस के परे रहते रन्ज् के नकार का लोप हो कर **अत उपधायाः** (४५५) से उपधावृद्धि तथा **चजोः कु घिण्ण्यतोः** (७८१) से जकार को कुत्व गकार करने पर 'राग' प्रातिपदिक बनता है। इस से प्रथमैकवचन में सुँ प्रत्यय लाने पर 'रागः' प्रयोग सिद्ध होता है। रागो रञ्जनद्रव्यम्। अत्रार्थे आचार्यप्रयोगः—**तेन रक्तं रागात्** (१०३०) इति।

---

१. इस सूत्र से पूर्व अष्टाध्यायी में **रञ्जेश्च** (३.३.१८) सूत्रद्वारा शप् के परे होने पर रञ्ज् के नकार का लोप विधान किया जा चुका है—रजति, रजतः, रजन्ति। यहां पुनः अन्यत्र नकारलोप का विधान कर रहे हैं अतः सूत्र में 'च' का ग्रहण किया है।

२. **नकारजावनुस्वारपञ्चमौ झलि धातुषु** (देखें भैमीव्याख्या, भ्वा० पृ० २५०)।

इसी प्रकार भाव में भी इसी धातु से **भावे** (८५१) सूत्रद्वारा घञ् हो कर 'रागः' प्रयोग सिद्ध होगा। रञ्जनं रागः (रंगना या प्रेम रखना)।

रञ्ज् के नकार का लोप भाव या करणवाचक घञ् के परे होने पर ही होगा अन्य अर्थों में नहीं। यथा—रज्यति[1] अस्मिन् इति रङ्गः (जिस में मनुष्य अनुरक्त होता है अर्थात् नाट्यशाला)। यहां पर **अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्** (८५२) द्वारा अधिकरण कारक में घञ् प्रत्यय किया गया है अतः नकार का लोप नहीं होता। रन्ज् +अ (घञ्) इस अवस्था में जकार को कुत्व—गकार हो कर अपदान्त नकार को **नश्चाऽपदान्तस्य झलि** (७८) से अनुस्वार तथा अनुस्वार को **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** (७९) से परसवर्ण ङकार हो जाता है—रङ्गः।

अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् (८५२) सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

प्रास्यन्ति तम्—प्रासः। जिस को फेंकते हैं उसे 'प्रास' (भाला) कहते हैं। यहां प्रपूर्वक 'असुँ क्षेपणे' (दिवा० प०) धातु से कर्म में घञ् प्रत्यय हो कर उपधावृद्धि करने से—प्र+आस='प्रासः' प्रयोग सिद्ध होता है।

आहरन्ति रसं यस्माद् इत्याहारः। जिस से प्राणी रस को प्राप्त करते हैं उसे 'आहार' (भोजन) कहते हैं। यहां आङ्पूर्वक 'हृञ् हरणे' (भ्वा० उ०) धातु से अपादान कारक में घञ् प्रत्यय हो कर **अचो ञ्णिति** (१८२) से अजन्तलक्षणा वृद्धि करने पर —आ+हार='आहारः' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्रसीव्यन्ति तम् इति प्रसेवः। जिसे सीते हैं अर्थात् थैला। यहां प्रपूर्वक 'षिवुँ तन्तुसन्ताने' (दिवा० प०) धातु से कर्म में घञ् प्रत्यय हो कर लघूपधगुण करने से 'प्रसेवः' प्रयोग सिद्ध होता है।

प्रपतन्ति अस्माद् इति प्रपातः। जिस से गिरते हैं अर्थात् सीधी खड़ी चट्टान। यहां प्रपूर्वक 'पत्लृँ गतौ' (भ्वा० प०) धातु से अपादान कारक में घञ् प्रत्यय होकर उपधावृद्धि हो जाती है। **प्रपातस्त्वतटो भृगुरित्यमरः**।

सूत्र में 'अकर्तरि' कहा गया है अतः कर्तृकारक में यह नहीं होता। यथा—बिभर्ति असाविति भर्ता। यहां कर्तृकारक में 'डुभृञ् धारणपोषणयोः' (जुहो० उ०) धातु से घञ् न हो कर **ण्वुल्तृचौ** (७८४) से तृच् करने पर आर्धधातुकगुण हो गया है।

अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् (८५२) में यद्यपि 'संज्ञायाम्' कहा गया है तथापि सूत्र में 'च' ग्रहण के कारण कहीं कहीं सञ्ज्ञा के विना भी घञ् की प्रवृत्ति देखी जाती है। यथा—को भवता लाभो लब्धः (आप से क्या प्राप्ति की गई है ?); को भवता दायो दत्तः (आप से क्या दातव्य दिया गया है ?)। यहां 'लाभः' और 'दायः' में केवल कर्म में घञ् प्रत्यय किया गया है संज्ञा कोई नहीं है।

---

१. रज्यतीति दैवादिकरञ्ज्धातोर्लटि श्यनि **अनिदितां हल**० (३३४) इति नलोपे रूपम्। अथवा—कर्मकर्तरि प्रयोगः, **कुषिरजोः प्राचां श्यन् परस्मैपदं च** (३.१.९०) इति श्यन् परस्मैपदं च।

यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि घञ् प्रत्यय दो प्रकार का विधान किया गया है । एक भावघञ् जो **भावे** (८५१) सूत्र से विधान किया जाता है और दूसरा कारकघञ् जो **अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्** (८५२) से । आगे के सूत्रों में इन दोनों **भावे** और **अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्** की अनुवृत्ति होगी । जहां जो सम्भव होगा वही लगेगा । अब 'चिञ् चयने' (स्वा० उ० अनिट्) धातु से चार विशेष अर्थों में घञ् का विधान बतलाते हैं–

[लघु०] विधि-सूत्रम्–(८५४) **निवास-चिति-शरीरोपसमाधाने-ष्वादेश्च कः ।३।३।४१॥**

एषु चिनोतेर्घञ् आदेश्च ककारः । उपसमाधानम्=राशीकरणम् । निकायः । कायः । गोमयनिकायः ॥

अर्थः–निवास, चिति, शरीर और उपसमाधान–इन चार अर्थों में चिञ् धातु से परे घञ् प्रत्यय हो जाता है तथा धातु के आदि वर्ण के स्थान पर 'क्' आदेश भी हो जाता है, कर्तृभिन्न कारक में संज्ञा का विषय हो तो ।

व्याख्या–निवास-चिति-शरीरोपसमाधानेषु ।७।३। आदेः ।६।१। च इत्यव्ययपदम् । कः ।१।१। (ककारादकार उच्चारणार्थः) । चेः ।६।१। (**हस्तादाने चेरस्तेये** से) । घञ् ।१।१। (**पद-रुज-विश-स्पृशो घञ्** से) । **अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्** की अनुवृत्ति आ रही है । **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं । निवासश्च चितिश्च शरीरं च उपसमाधानञ्च निवासचितिशरीरोपसमाधानानि, तेषु=निवास-चिति-शरीरोप-समाधानेषु । इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(निवास-चिति-शरीरोपसमाधानेषु) निवास, चिति, शरीर और उपसमाधान—इन चार अर्थों में (चेः, धातोः) चिञ् धातु से (परः) परे (घञ्) घञ् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है (च) तथा (आदेः) धातु के आदि वर्ण के स्थान पर (कः) क् आदेश भी हो जाता है (अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्) कर्तृभिन्न कारक में संज्ञा का विषय हो तो ।

(१) निवास (निवसन्त्यत्रेति निवासः, अधिकरणे घञ्) । जहां रहते हैं उसे निवास कहते हैं । निवास अर्थ में उदाहरण यथा— निकायः (रहने का स्थान अर्थात् घर, ग्राम, नगर आदि) । यहां निपूर्वक 'चिञ् चयने' (स्वा० उ०) धातु से अनुबन्ध-लोप कर अधिकरण कारक में निवासस्थान वाच्य होने पर प्रकृतसूत्र से घञ् प्रत्यय तथा धातु के आदि चकार को ककार आदेश हो कर—नि+कि+घञ्=नि+कि +अ । पुनः घञ् प्रत्यय के ञित्त्व के कारण **अचो ञ्णिति** (१८२) सूत्र से धातु के इकार को वृद्धि-ऐकार तथा **एचोऽयवायावः** (२२) से ऐकार को आय् आदेश करने से निकाय=निकायः' प्रयोग सिद्ध होता है । निचीयन्ते संगृह्यन्ते धनधान्यादि अस्मि-न्निति निकायः । जिस में धन धान्य आदि वस्तुएं संगृहीत की जाती हैं उसे 'निकाय' कहते हैं । यह घर अर्थ में रूढ है—**गृहाः पुंसि च भून्म्येव निकाय-निलयाऽऽलयाः** इत्यमरः ।[1]

---

१. **देवान् देवनिकायांश्च महर्षींश्चाऽमितौजसः**—(मनु० १.३६) ।

(२) चिति । चीयत इति चितिः, कर्मणि क्तिन् । जिस का चयन किया जाता है अर्थात् यज्ञाग्निविशेष या उस का स्थानविशेष । चिति अर्थ में उदाहरण यथा—**आकायम् अग्निं चिन्वीत** (आकाय नामक अग्नि का चयन करे, अथवा—यज्ञाग्नि-विशेष के लिये आकाय नामक कुण्ड का चयन करे)। यहां आङ्पूर्वक चिञ् धातु से कर्म कारक या अधिकरण कारक की विवक्षा में चिति अर्थ में प्रकृतसूत्र से घञ् प्रत्यय तथा धातु के आदि चकार को ककार हो कर पूर्ववत् वृद्धि और आयादेश करने से द्वितीया के एकवचन में 'आकायम्' प्रयोग निष्पन्न होता है।[1]

(३) शरीर अर्थ में उदाहरण यथा—कायः । चीयतेऽस्मिन् अस्थ्यादिकम् इति कायः, अथवा —चीयतेऽन्नादिभक्षितेनेति कायः । यहां पर चिञ् धातु से अधिकरण या कर्म कारक में शरीर वाच्य होने पर प्रकृतसूत्र से घञ् तथा धातु के आदि वर्ण चकार को ककार आदेश हो कर पूर्ववत् वृद्धि और आय् आदेश करने से 'कायः' प्रयोग सिद्ध होता है । **अनेकदोषदुष्टोऽपि कायः कस्य न वल्लभः**—(हितोप० २.१३२) ।

(४) उपसमाधान (ढेर लगाना, एकत्र करना, इकट्ठा करना) अर्थ में उदाहरण यथा —गोमयनिकायः (गोबर का ढेर) । यहां पर निपूर्वक चिञ् धातु से कर्म कारक में प्रकृतसूत्र से घञ् प्रत्यय तथा धातु के आदि वर्ण चकार को ककार आदेश हो कर पूर्ववत् वृद्धि और आय् आदेश करने से 'निकायः' (ढेर) प्रयोग सिद्ध होता है । निचीयते=राशीक्रियत इति निकायः । गोमयानां निकायः—गोमयनिकायः, षष्ठी-तत्पुरुषः (इसी प्रकार काष्ठनिकायः आदि[2]) ।

---

१. **आकायमग्निं चिन्वीत** इस वचन का मूल उपलब्ध नहीं है। यह किसी श्रौतसूत्र का वचन प्रतीत होता है । भट्टोजिदीक्षित, ज्ञानेन्द्रसरस्वती तथा नागेशभट्ट आदियों ने इसे श्रुतिवचन कहा है । प्राचीन-नवीन सब वृत्तिकारों ने सूत्रगत 'चिति' का यही उदाहरण दर्शाया है, किसी को कोई दूसरा उदाहरण नहीं मिला । पाणिनीतरव्याकरणों के व्याख्याकार भी इसी मूर्धाभिषिक्त उदाहरण का निर्देश करते हैं। मूलग्रन्थ के उपलब्ध न होने से इस वचन का ठीक-ठीक तात्पर्य समझा नहीं जा सकता । भट्टोजिदीक्षित के प्रौढमनोरमागत वचनों का अनुसरण करते हुए तत्त्वबोधिनीकार इस का आशय इस प्रकार व्यक्त करते हैं—आचीयन्तेऽस्मिन्निष्टका इत्याकायम्, अधिकरणे घञ् । अग्निम्=अग्निस्थानविशेषं चिन्वीत चयेन निष्पादयेदिति श्रुत्यर्थः । परन्तु बालमनोरमाकार 'आकायम्' में 'कर्मणि घञ्' मानते हैं। इस पक्ष में यज्ञीय अग्निविशेष का नाम 'आकाय' माना जाता है और तब वाक्य का अर्थ होता है—यज्ञियाग्निविशेषं चयेन सम्पादयेदिति । अर्थात् आकायनामक अग्निविशेष का चयन करे । आचार्य हेमचन्द्र ने अपने अनुशासन की बृहद्वृत्ति में दोनों अर्थ दर्शाए हैं ।

२. नागेशभट्ट 'गोमयनिकायः' आदियों में भाव में घञ् मानते हैं—निचयनं निकायः । यह भी सम्भव है क्योंकि इन सूत्रों में भावे का भी यथासम्भव योग हो सकता है यह पूर्व प्रतिपादित किया जा चुका है ।

अब घञ् के अपवाद अच् प्रत्यय का विधान करते हैं--

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८५५) एरच् ।३।३।५६।।

इवर्णान्तादच् । चयः । जयः ।।

अर्थः—इवर्णान्त धातु से परे अच् प्रत्यय हो भाव में अथवा कर्तृभिन्न कारक में संज्ञा का विषय हो तो ।

व्याख्या--एः ।५।१। अच् ।१।१। धातोः ।५।१। प्रत्ययः ।१।१। परः ।१।१। (तीनों अधिकृत हैं) । भावे तथा अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् का पीछे से अनुवर्त्तन हो रहा है । 'एः' यह 'धातोः' का विशेषण है । विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'इवर्णान्ताद् धातोः' बन जाता है । अर्थः--(एः=इवर्णान्तात्) इवर्ण जिस के अन्त में है ऐसी (धातोः) धातु से (परः) परे (अच्) अच् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है (भावे) भाव अर्थ में अथवा (अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्) संज्ञा में कर्तृभिन्न कारक वाच्य हो तो ।

यह प्रत्यय भावे (८५१) तथा अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् (८५२) सूत्रों द्वारा प्राप्त घञ् प्रत्यय का अपवाद है। अच् में अन्त्य चकार हलन्त्यम् (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'अ' मात्र शेष रहता है । चकार अनुबन्ध इसी प्रत्यय को विशिष्ट करने के लिये जोड़ा गया है अन्यथा थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम् (६.२.१४४) आदि सूत्रों में अ प्रत्ययात् (८६७) द्वारा विहित 'अ' प्रत्यय का भी ग्रहण हो जाता । उदाहरण यथा—

चयः (चयनं चयः, चुनना, संग्रह करना, बटोरना) । 'चिञ् चयने' (स्वादि० उ०) धातु इवर्णान्त है । यहां भाव में भावे (८५१) सूत्र द्वारा घञ् प्रत्यय प्राप्त था उस का बाध कर प्रकृतसूत्र से अच् प्रत्यय हो जाता है—चि+अच्=चि+अ । अब अच् की आर्धधातुकसंज्ञा (४०४) हो कर सार्वधातुकार्धधातुकयोः (३८८) से इकार को एकार गुण तथा एचोऽयवायावः (२२) से उसे अय् आदेश करने से--चय= 'चयः' प्रयोग सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि अच्प्रत्ययान्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं[1] ।

जयः (जयनं जयः, जीतना, जीत, विजय) । यहां 'जि जये' (भ्वा० प०)

ध्यान रहे कि ढेर प्रायः जड़ वस्तुओं का ही होता है अतः प्राणियों का ढेर (सङ्घ) यहां उदाहर्तव्य नहीं । प्राणियों के समूह अर्थ में सङ्घे चाऽनौत्तराधर्ये (३.३.४२) सूत्र से पृथक् घञ् तथा कुत्व विधान किया गया है—ब्राह्मणनिकायः, भिक्षुनिकायः, वैयाकरणनिकायः । औत्तराधर्य (ऊपर नीचे होना) में घञ् निषिद्ध है । यथा—शूकरनिचयः । माता का दूध पीते समय सूअर शिशु ऊपर नीचे अवस्थित हो कर प्रायः संघ बनाते हैं अतः यहां घञ् न हो कर (एरच् ८५५) से अच् प्रत्यय होता है ।

१. घाजन्तश्च (लिङ्गानु० २.३) । घप्रत्ययान्त तथा अच्प्रत्ययान्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं । घ—दन्तच्छदः, आकरः (८७२) । अच्—चयः, जयः, क्रयः, क्षयः ।

धातु से भाव में अच् प्रत्यय हो कर पूर्ववत् आर्धधातुकगुण तथा अयादेश कर विभक्ति लाने से 'जयः' प्रयोग सिद्ध होता है। 'वि' उपसर्ग लगाने से 'विजयः'।

इसी प्रकार—'क्षि क्षये' (भ्वा० प०) धातु से भाव में अच् हो कर—क्षयः (नाश)। 'इण् गतौ' (अदा० प०) धातु से भाव में अच् हो कर—अयः (गमन), उदयः, अभ्युदयः (उन्नति)। आङ्पूर्वक 'श्रिञ् सेवायाम्' (भ्वा० उ०) से भाव में अच् हो कर—आश्रयणम् आश्रयः। 'डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये' (क्र्या० उ०) से भाव में अच् हो कर—क्रयणं क्रयः (खरीदना), विक्रयः (बेचना)। 'ली' से भाव में—लयः (लीन होना)।

कर्तृभिन्न कारकों में उदाहरण यथा—'क्षि निवासगत्योः' (तुदा० प०) धातु से अधिकरण कारक में अच् हो कर—क्षियति निवसत्यस्मिन्निति क्षयः (गृह, घर)। 'जि जये' (भ्वा० प०) धातु से करण कारक में अच् हो कर—जयत्यनेन संसारम् इति जयः (महाभारत[1])। जय इत्यश्वस्यापि नामधेयम्। अत्रापि करणेऽच्। **जयः करणम्** (६.१.१९६) इति सूत्रमत्र मानम्। आङ्पूर्वक श्रि से कर्म में अच् हो कर—आश्रीयत इत्याश्रयः (आधार)। आश्रयम् (आधारं काष्ठम्) अश्नातीति आश्रयाशः (अग्नि), **कर्मण्यण्** (७६०) इत्यण्। उद्पूर्वक चि से कर्म में अच् हो कर—उच्चीयत इत्युच्चयः। शिलानामुच्चयोऽत्रेति शिलोच्चयः (पर्वत, पहाड़; **शैलोऽद्रिः शिखरी शिलोच्चयगिरी गोत्रोऽचलः सानुमान्** इति हेमचन्द्रः)।

अब घञ् के दूसरे अपवाद अप् प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(८५६) ऋदोरप्** ।३।३।५७॥

ऋदन्तादुवर्णान्तादप्। करः। गरः। यवः। लवः। स्तवः। पवः॥

अर्थः—ऋदन्त तथा उवर्णान्त धातु से परे अप् प्रत्यय हो जाता है भाव में अथवा संज्ञा के विषय में कर्तृभिन्न कारक वाच्य हो तो।

व्याख्या—ऋदोः ।५।१। अप् ।१।१। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च, भावे, अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्**—ये सब सूत्र पीछे से अधिकृत हैं। ऋच्च उश्च ऋदु, तस्माद् ऋदोः[2]। समाहारद्वन्द्वेऽपि सौत्रं पुंस्त्वम्। 'ऋदु' में तपर नहीं है उच्चारणार्थ दकार लगा हुआ है। अतः 'तात् परः=तपरः' के अनुसार 'उ' से केवल उदन्तों का ग्रहण न हो कर उवर्णान्त मात्रों का ग्रहण होगा[3]। अर्थः—(ऋदोः) ऋदन्त तथा उवर्णान्त (धातोः) धातु से (परः) परे (अप्) अप् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है (भावे) भाव में अथवा (अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्) संज्ञा के विषय में कर्तृभिन्न कारक वाच्य हो तो।

घञबन्तः (लिङ्गानु० २.३ के अनुसार अप्प्रत्ययान्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं।

---

१. **नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।**
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥ (महाभारतादौ)

२. ऋदोरिति पञ्चम्यर्थे षष्ठीति व्याचक्षाणा बालमनोरमाकारा अत्र भ्रान्ताः।

३. इस से पू, लू आदि ऊदन्त धातुओं से भी अप् प्रत्यय हो कर पवः, लवः आदि सिद्ध हो जाते हैं।

अप् प्रत्यय का पकार इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है 'अ' मात्र शेष रहता है। पकार अनुबन्ध **अनुदात्तौ सुप्पितौ** (३.१.४) के अनुसार अनुदात्त स्वर के लिये जोड़ा गया है। उदाहरण यथा—

करणं करः (बखेरना, फैलाना)। कॄ विक्षेपे (तुदा० प०) धातु ऋदन्त है। इस से भाव में **भावे** (८५१) सूत्रद्वारा घञ् प्रत्यय प्राप्त था उस का बाध कर प्रकृत-सूत्र से अप् प्रत्यय हो कर—कॄ+अप्=कॄ+अ। **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से ऋकार को गुण-रपर अर् हो कर विभक्ति लाने से 'करः' प्रयोग सिद्ध होता है। कीर्यतेऽनेनेति करः—इस अर्थ में करण में अप् प्रत्यय हो जायेगा। जिस के द्वारा बीज आदि को बखेरते या फैलाते हैं अर्थात् हाथ; अथवा—हाथी जिस के द्वारा जल अपने ऊपर बखेरता या डालता है अर्थात् सूंड। कीर्यत इति करः (किरण, ओला, टैक्स)। कर्म में प्रत्यय मानने से ये सब सिद्ध होते हैं।

गरणं गरः (निगलना)। गॄ निगरणे (तुदा० प०) धातु ऋदन्त है। इस से भाव में प्रकृतसूत्रद्वारा अप् प्रत्यय हो कर गुण करने से 'गरः' प्रयोग सिद्ध होता है। गीर्यत इति गरः (विष)—इस अर्थ में कर्म में अप् जानना चाहिये[1]।

यवनं यवः (मिलाना या जुदा करना)। 'यु मिश्रणामिश्रणयोः' (अदा० प०) धातु उवर्णान्त है। अतः इस से भाव में प्रकृतसूत्रद्वारा अप् प्रत्यय, आर्धधातुकगुण[2] तथा **एचोऽयवायावः** (२२) से ओकार को अवादेश कर विभक्ति लाने से 'यवः' प्रयोग सिद्ध होता है। यूयते पृथक्क्रियते तुषेभ्य इति यवः (जौ)। इस अर्थ में कर्म में अप् प्रत्यय हो जाता है।

लवनं लवः (काटना, छेदन करना)। लूञ् छेदने (क्र्या० उ०) धातु उवर्णान्त है अतः इस से पूर्ववत् भाव में अप् प्रत्यय ला कर गुण और अवादेश करने पर 'लवः' प्रयोग सिद्ध होता है। लूयते छिद्यते समुदायाद् इति लवः (स्वल्पांश)—इस अर्थ में कर्म में अप् प्रत्यय जानना चाहिये।

स्तवनं स्तवः (स्तुति, तारीफ़)। 'ष्टुञ् स्तुतौ' (अदा० उ०) धातु के आदि षकार को **धात्वादेः षः सः** (२५५) से सकार हो जाता है। **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** के अनुसार ष्टुत्व से टकार बने हुए तकार को भी पुनः तकार हो जाता है। इस प्रकार 'स्तु' यह धातु उवर्णान्त है। इस से प्रकृतसूत्रद्वारा भाव में अप् प्रत्यय कर

---

१. गरं (विषम्) ददातीति—गरदः। **आतोऽनुपसर्गे कः** (३.२.३) इति कः प्रत्ययः। **किं कुर्मः कं प्रति ब्रूमो गरदायां स्वमातरि** [उद्भट (आप्टेकोषे)]

२. यु+अ(अप्) इत्यादि स्थानों पर **ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्** (७७७) से तुँक् का आगम तथा **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से गुण दोनों युगपत् प्राप्त होते हैं। परन्तु **वार्णादाङ्गं बलीयः** (वर्णसम्बन्धी कार्य से अङ्गसम्बन्धी कार्य बलवान् होता है) परिभाषा के अनुसार अङ्गकार्य गुण हो जाता है वर्णसम्बन्धी कार्य तुँक् नहीं होता।

पूर्ववत् गुण और अवादेश करने से 'स्तवः' प्रयोग सिद्ध होता है। स्तूयतेऽनेनेति स्तवः (स्तोत्र)। इस अर्थ में करण में अप् प्रत्यय जानना चाहिये।

पवनं पवः (पवित्र करना)। पूञ् पवने (क्र्या० उ०) धातु उवर्णान्त है। अतः प्रकृतसूत्र से भाव में अप् हो कर पूर्ववत् गुण और ओकार को अवादेश करने से 'पवः' प्रयोग सिद्ध होता है।

इसी प्रकार—शॄ हिंसायाम् (क्र्या० प०) से करण में—शृणाति शीर्यते वाऽनेनेति शरः (बाण); णु स्तुतौ (अदा० प०) से कर्म में—नूयते (स्तूयते) इति नवः (नवीन, नया); प्रपूर्वक इसी णु (नु) से करण में—प्रणूयते प्रकर्षेण स्तूयतेऽनेनेति प्रणवः (ओंकार); विपूर्वक स्तॄञ् आच्छादने (क्र्या० उ०) से कर्म में—विस्तीर्यते इति विष्टरः (आसन) [**वृक्षासनयोर्विष्टरः** (८.३.९३) इति षत्वम्]; तॄ प्लवनसन्तरणयोः (भ्वा० प०) से भाव में—तरणं तरः (पार करना); भू सत्तायाम् (भ्वा० प०) से भाव में—भवनं भवः (होना) आदि अप्प्रत्ययान्त शब्द सिद्ध होते हैं।

अब अग्रिम वार्त्तिकद्वारा घञर्थक 'क' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(४९) घञर्थे कविधानम् ॥

प्रस्थः। विघ्नः॥

अर्थः—जिस अर्थ में घञ् का विधान है उस अर्थ में 'क' प्रत्यय का विधान कहना चाहिये।

व्याख्या— घञर्थे ।७।१। कविधानम् ।१।१। कस्य विधानम्—कविधानम्। घञोऽर्थः—घञर्थस्तस्मिन् घञर्थे। षष्ठीतत्पुरुषः। यह वार्त्तिक **ग्रह-वृ-दृ-निश्चि-गमश्च** (३.३.५८) सूत्र पर भाष्य में इस प्रकार पढ़ा गया है—**घञर्थे कविधानं स्था-स्ना-पा-व्यधि-हनि-युध्यर्थम्** अर्थात् घञ् के अर्थ में स्था, स्ना, पा, व्यध्, हन् और युध् धातुओं से परे 'क' प्रत्यय का विधान करना चाहिये। घञ् प्रत्यय के पीछे दो अर्थ बताए गये हैं—भाव और संज्ञाविषयक कर्तृभिन्न कारक। इन अर्थों में स्था आदि धातुओं से परे प्रकृतवार्त्तिकद्वारा 'क' प्रत्यय विधान किया जाता है। 'क' प्रत्यय का आदि ककार इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है। 'अ' मात्र शेष रहता है। ककार अनुबन्ध **आतो लोप इटि च** (४८९) द्वारा आकारलोप तथा **गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि** (५०५) द्वारा उपधालोप करने के लिये जोड़ा गया है। व्यध् में सम्प्रसारणकार्य भी हो जाता है। उदाहरण यथा—

प्रतिष्ठन्तेऽस्मिन् धान्यानि इति प्रस्थः। जिस में सब धान्य आदि प्रतिष्ठित होते हैं अर्थात् एक मान विशेष।[1] यहां प्रपूर्वक 'ष्ठा गतिनिवृत्तौ' (भ्वा० प०) धातु

1. आयुर्वेद में प्रचलित मागधमान के अनुसार आधुनिक ६४ तोले परिमाण जितना एक प्रस्थ माना जाता है—**माष-टङ्काऽक्ष-बिल्वानि कुडवं प्रस्थम् आढकम्। राशिर्गोणी खारिकेति यथोत्तरचतुर्गुणम्** (भावप्रकाश परिभाषा० १९)। ध्यान रहे कि मागध मान में छः रत्ती का एक माषा मान कर गणना की जाती है—**षड्भिस्तु रक्तिकाभिः स्यान्माषको हेमधानकौ** (वहीं, परिभाषा० ६)।

से संज्ञाविषयक अधिकरण कारक में प्रकृतवार्त्तिक से 'क' प्रत्यय हो कर धातु के आदि षकार को सकार तथा ष्टुत्व से बने हुए ठकार को भी पुन: थकार करने से—प्र+स्था+अ । अब **आतो लोप इटि च** (४८९) से धातु के आकार का लोप कर विभक्ति लाने पर 'प्रस्थ:' प्रयोग सिद्ध होता है। पर्वत के ऊपर समतलभूमि को भी प्रस्थ कहते हैं—प्रतिष्ठन्ते चलन्ति गतागतं कुर्वन्त्यत्रेति प्रस्थ: ।

प्रस्नान्ति अस्मिन्निति प्रस्न: । जिस में स्नान करते हैं । पानी से भरा स्नानार्थ टब आदि । यहां पर प्रपूर्वक 'ष्णा शौचे' (अदा० प०) धातु से संज्ञाविषयक अधिकरण कारक में प्रकृतवार्त्तिक से 'क' प्रत्यय हो कर धातु के षकार को सकार तथा ष्टुत्व हुए णकार को भी पुन: नकार करने पर पूर्ववत् आकार का लोप हो जाता है—प्रस्न्+अ = प्रस्न: ।

प्रपिबन्ति जलमस्याम् इति प्रपा । **प्रपा पानीयशालिका इत्यमर:** । जहां लोग जल पीते हैं अर्थात् प्याऊ । यहां प्रपूर्वक 'पा पाने' (भ्वा० प०) धातु से संज्ञाविषयक अधिकरण कारक में क प्रत्यय हो कर पूर्ववत् आकार का लोप हो जाता है—प्रप्+अ = प्रप । इस शब्द के स्त्रीलिङ्गी होने से **अजाद्यतष्टाप्** (१२४५) द्वारा टाप् (आ) प्रत्यय ला कर सवर्णदीर्घ तथा विभक्तिकार्य करने पर 'प्रपा' प्रयोग सिद्ध होता है ।

आविध्यन्त्यनेनेत्याविध: । जिस से बढ़ई आदि छेद करते हैं—बर्मा आदि । यहां आङ्पूर्वक 'व्यध ताडने' (दिवा० प०) धातु से संज्ञाविषयक करण में प्रकृत-वार्त्तिक से 'क' प्रत्यय हो कर कित् के परे रहते **ग्रहिज्यावयिव्यधि०** (६३४) से यकार को सम्प्रसारण इकार तथा **सम्प्रसारणाच्च** (२५८) से पूर्वरूप कर विभक्ति लाने से 'आविध:' प्रयोग सिद्ध होता है ।

विहन्यन्तेऽस्मिन्निति विघ्न: । जिस में कर्ता रुक जाते हैं अर्थात् रुकावट, अन्त-राय या विघ्न । यहां विपूर्वक 'हन हिंसागत्यो:' (अदा० प०) धातु से संज्ञा के विषय में अधिकरण कारक में प्रकृतवार्त्तिक से क प्रत्यय कर—विहन्+अ । अब कित् के परे रहते **गमहनजनखनघसां लोप: क्ङित्यनङि** (५०५) द्वारा उपधालोप तथा **हो हन्ते-र्ञ्णिन्नेषु** (२८७) से हकार को कुत्वेन घकार कर विभक्ति लाने से 'विघ्न:' प्रयोग सिद्ध होता है ।

आयुध्यन्तेऽनेनेत्यायुधम् । जिस के द्वारा युद्ध करते हैं अर्थात् युद्ध का साधन, हथियार । यहां आङ्पूर्वक 'युधँ सम्प्रहारे' (दिवा० आ०) धातु से करण कारक में क प्रत्यय कर विभक्ति लाने से 'आयुधम्' प्रयोग सिद्ध होता है । आयुध शब्द नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होता है ।

इन के अतिरिक्त भी कई स्थानों पर 'क' प्रत्यय देखा जाता है ।[1] अत: वार्त्तिक-

---

१. यथा—उपाख्यायते प्रत्यक्षत उपलभ्यत इत्युपाख्य: (देखें काशिकापदमञ्जरी ६.३.८०), आध्यायन्ति तम् इत्याढ्य:, पृषोदरादित्वाद् धस्य ढ: (देखें हैम० ५.३.८२) इत्यादि ।

त्रि

कार का स्था आदि धातुओं का निर्देश उपलक्षणार्थ माना जाता है। सम्भवतः कौमुदीकार ने यही समझते हुए वार्त्तिक में धातुओं का निर्देश नहीं किया।

अब भाव में क्त्रि प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८५७) ड्वितः क्त्रिः ।३।३।८८॥

अर्थः—जिस धातु का 'डु' इत् हो उस धातु से परे भाव में क्त्रि प्रत्यय होता है।

व्याख्या—ड्वितः ।५।१। क्त्रिः ।१।१। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च** ये तीनों अधिकृत हैं। पीछे से **भावे** और **अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्** आ रहे हैं परन्तु क्त्रिप्रत्ययान्त लोक में केवल भाव में ही देखे जाते हैं अतः यहां **भावे** ही सम्बद्ध होता है, **अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्** नहीं। डु इद् यस्य स ड्वित्, तस्मात्=ड्वितः, बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(ड्वितः) जिस का 'डु' इत् हो ऐसी (धातोः) धातु से (परः) परे (क्त्रिः) क्त्रि (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है (भावे) भाव में।

डुपचँष् पाके (भ्वा० उ०), डुवपँ बीजसन्ताने (भ्वा० उ०), डुकृञ् करणे (तना० उ०) आदि धातुओं के आदि डु की **आदिर्ञिटुडवः** (४६२) से इत्संज्ञा हो कर लोप हो जाता है अतः ये धातुएं ड्वित् कही जाती हैं।

क्त्रि प्रत्यय का आदि ककार **लशक्वतद्धिते** (१३६) से इत्संज्ञक है अतः उस का लोप होकर 'त्रि' मात्र शेष रहता है। अन्त्य इकार अनुनासिक न होने से इत्संज्ञक नहीं होता। ककार अनुबन्ध गुणनिषेध तथा सम्प्रसारण आदि विविध कार्यों के लिये जोड़ा गया है। उदाहरण यथा—

डुपचँष् पाके (भ्वा० उ०)। पच् धातु का डु इत् होता है अतः इस धातु से भाव में प्रकृतसूत्र से क्त्रि प्रत्यय हो कर ककार के चले जाने पर—पच्+त्रि। झल् परे होने के कारण **चोः कुः** (३०६) सूत्रद्वारा चकार को ककार आदेश हो कर—पक्+त्रि=पक्त्रि (पकाना, पाक) बनता है। इस शब्द का प्रयोग स्वतन्त्रतया कहीं नहीं होता अपितु दूसरे शब्दों (मप्प्रत्ययान्तों) के बनाने में इस का उपयोग किया जाता है। इसी बात को व्यक्त करने के लिये अग्रिमसूत्रद्वारा तद्धित मप् प्रत्यय का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८५८) क्त्रेर्मम् नित्यम्[1] ।४।४।२०॥

क्त्रिप्रत्ययान्ताद् मम् निर्वृत्तेऽर्थे। पाकेन निर्वृत्तम्—पक्त्रिमम्। डुवपँ—उप्त्रिमम्॥

---

१. इस सूत्र का प्राचीन बहुप्रचलित पाठ **त्रेर्मम् नित्यम्** ही है। काशिकाकार, न्यास-कार, पदमञ्जरीकार, भट्टोजिदीक्षित, ज्ञानेन्द्रस्वामी, नागेशभट्ट आदि सब इसी पाठ के ही समर्थक हैं। लघुकौमुदीस्थ उपरिनिर्दिष्ट ककारयुक्त पाठ निर्भ्रामक और सरल होने से वरदराज द्वारा गृहीत प्रतीत होता है।

सूत्र में मप्+नित्यम्=मब्+नित्यम्=मम्+नित्यम्—यहां पकार को जश्त्वेन बकार हो कर **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** (६८) के नियमानुसार अनुनासिक मकार हुआ है।

अर्थः—क्त्रिप्रत्यय जिस के अन्त में है ऐसे शब्द से परे मप् प्रत्यय हो जाता है निर्वृत्त=सिद्ध=उत्पन्न हुए अर्थ में।

व्याख्या—क्त्रेः।५।१। मप्।१।१। नित्यम् इति द्वितीयैकवचनान्तं क्रियाविशेषणम्। निर्वृत्ते।७।१। (**निर्वृत्तेऽक्षद्यूतादिभ्यः** से)। तेन।३।१। (**तेन दीव्यति खनति जयति जितम्** से)। **प्रत्ययः, परश्च, तद्धिताः**—आदि अधिकृत हैं। 'क्त्रेः' में क्त्रि प्रत्यय का ग्रहण है अतः **प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः** परिभाषा के अनुसार क्त्रिप्रत्ययान्तों का ग्रहण होता है। अर्थः—(क्त्रेः) क्त्रिप्रत्यय जिस के अन्त में है तत्प्रकृतिक (**तेन निर्वृत्तम्** इति विषये) तृतीयान्त समर्थ से परे 'सिद्ध हुआ=बना हुआ' अर्थ में (नित्यम्) नित्य (मप्) मप् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है और वह (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक होता है। मप् में पकार इत्संज्ञक है अतः 'म' ही शेष रहता है। पकार अनुबन्ध स्वरार्थ जोड़ा गया है। 'नित्यम्' कहने से क्त्रिप्रत्ययान्त शब्दों का प्रयोग सदा मप्प्रत्यय लगा कर ही उपर्युक्त अर्थ में किया जायेगा स्वतन्त्रतया नहीं[1]। अतः लौकिक विग्रहवाक्य में भी हम क्त्रिप्रत्ययान्त का प्रयोग नहीं कर सकते, वहां पर भी किसी अन्य भावप्रत्ययान्त पर्याय से काम चलाना होगा।

'निर्वृत्त' का अर्थ है—सिद्ध हुआ—उत्पन्न हुआ—रचा गया—बनाया गया आदि। सूत्र के उदाहरण यथा—

पाकेन निर्वृत्तम्—पक्त्रिमम्। यहां पर अलौकिक विग्रह में तृतीयान्त 'पक्त्रि' शब्द से निर्वृत्त (निष्पन्न) अर्थ में प्रकृतसूत्र से मप् प्रत्यय हो कर—पक्त्रि टा+मप्='पक्त्रि टा+म' हुआ। मप् प्रत्यय **तद्धिताः** (९१६) के अधिकार में पढ़ा गया है अतः **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) सूत्र से 'पक्त्रि टा+म' इस सम्पूर्ण तद्धितान्त समुदाय की प्रातिपदिक संज्ञा हो जाती है। पुनः **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (टा) का लुक् हो जाता है—पक्त्रिम। अब प्रातिपदिकत्वात् समुदाय से सुँ आदियों की उत्पत्ति होती है। सुँ विभक्ति लाने पर नपुंसक की विवक्षा में सुँ को अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप एकादेश करने से 'पक्त्रिमम्' प्रयोग सिद्ध होता है। इस का अर्थ है—पाक से बना हुआ। 'पक्त्रिमम्' में 'पक्त्रि' इस पूर्वसाधित भावप्रत्ययान्त शब्द से मप् प्रत्यय किया गया है परन्तु लौकिकविग्रह में 'पक्त्रि' शब्द को न रख कर उस का पर्याय 'पाक' शब्द रखा गया है। यहां यह ध्यातव्य है कि इस प्रकार बने मप्प्रत्ययान्त शब्द विशेषण होते हैं और वे विशेष्य के अनुसार लिङ्ग को धारण करते हैं। यथा—पक्त्रिमं तैलम्, पक्त्रिमा यवागूः, पक्त्रिमो रसः।

इसी प्रकार 'डुवपँ बीजसन्ताने' (भ्वा० उ०; बोना, गर्भाधान करना, काटना)। यहां वप् धातु से भाव में **ड्वितः क्त्रिः** (८५७) सूत्र से क्त्रि प्रत्यय आ कर ककार अनुबन्ध के चले जाने पर **वचि-स्वपि-यजादीनां किति** (५४७) सूत्रद्वारा धातु के

---

१. त्र्यन्तं मब्विषयमेव यथा स्यात् केवलस्य प्रयोगो मा भूत्—महाभाष्य।

वकार को सम्प्रसारण उकार तथा **सम्प्रसारणाच्च** (२५८) से पूर्वरूप एकादेश करने से 'उप्त्रि' शब्द बनता है। अब अलौकिकविग्रह में तृतीयान्त इस 'उप्त्रि' शब्द से **तेन निर्वृत्तम्** के अर्थ में प्रकृतसूत्र से मप् प्रत्यय हो कर—'उप्त्रि टा+म' हुआ। पुनः पूर्ववत् तद्धितान्त समुदाय की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (टा) का लुक् करने से 'उप्त्रिम'। विशेष्यानुसार विभक्ति ला कर—उप्त्रिमः, उप्त्रिमा, उप्त्रिमम् आदि सिद्ध होते हैं। वपनेन निर्वृत्तम् उप्त्रिमम् (बोने या काटने से सिद्ध=उत्पन्न)[1]।

इन सूत्रों के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) डुकृञ् करणे (तना० उ०)—कृत्रिमम् (कृत्या निर्वृत्तम्; बनावटी, क्त्वाद् गुणाभावः)।

(२) डुलभँष् प्राप्तौ (भ्वा० आ०)—लब्ध्रिमम्[2] (लाभेन निर्वृत्तम्; प्राप्ति से उत्पन्न)।

(३) डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये (क्र्या० उ०)—क्रीत्रिमम् (क्रयेण निर्वृत्तम्; खरीदने से उत्पन्न)।
वि√क्री—विक्रीत्रिमम् (विक्रयेण निर्वृत्तम्; बेचने से उत्पन्न)।

(४) डुभृञ् धारणपोषणयोः (जुहो० उ०)—भृत्रिमम् (भरणेन निर्वृत्तम्; धारण करने से उत्पन्न)।

(५) डुमिञ् प्रक्षेपणे (स्वा० उ०)—मित्रिमम् (प्रक्षेपेण निर्वृत्तम्; फेंकने से सिद्ध)।

(६) डुदाञ् दाने (जुहो० उ०)—दत्त्रिमम्[3] (दानेन निर्वृत्तम्; देने से उत्पन्न)।

(७) डुधाञ् धारणपोषणयोः (जुहो० उ०)—हित्रिमम्[4] (धारणेन निर्वृत्तम्; धारण करने से सिद्ध)।
वि√धा—विहित्रिमम् (विधानेन निर्वृत्तम्; विधान से उत्पन्न)।

नोट—पाणिनीयधातुपाठ में केवल नौ धातु ही ड्वित् हैं—

ददातिश्च दधातिश्च मिनोतिर्लभिरित्यपि।
क्रीणातिश्च करोतिश्च बिभर्त्यथ पचिर्वपिः ॥१॥

---

१. **असंस्कृत्रिमसंव्यानावनुप्त्रिमफलाशिनौ।**
अभृत्रिमपरीवारौ पर्यभूतां तथापि माम् ॥ (भट्टि० ४.३७)

शूर्पणखा अपने भाई खर और दूषण से कह रही है—बुनने के विना सिद्ध संव्यान=उत्तरीय को धारण करने वाले, विना जुताई से उत्पन्न फलों को खाने वाले, भरणसिद्ध परिवारों से हीन इन दो तपस्वियों (राम लक्ष्मण) ने मेरी यह दशा कर दी है।

२. **झषस्तथोर्धोऽधः** (५४९) इति धत्वे **झलां जश्‌झशि** (१९) इति जश्त्वम्।

३. **दो दद् घोः** (८२७) इति दद् आदेशः।

४. **दधातेर्हिः** (८२६) इति दधातेर्हिरादेशः।

अथुच्

पाणिनीये महातन्त्रे नवैते धातवो ट्वितः ।
प्रत्ययः त्रिभिर्वेद्भावे निर्वृत्ते मप् ततः स्मृतः ॥२॥

अब भाव में अथुच् प्रत्यय का विधान दर्शाते हैं —

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८५९) ट्वितोऽथुच् ।३।३।८९॥

टुवेपृँ कम्पने—वेपथुः ॥

अर्थः—जिस धातु का 'टु' इत् हो उस धातु से भाव में अथुच् प्रत्यय होता है।

व्याख्या—ट्वितः ।५।१। अथुच् ।१।१। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं। पीछे से **भावे** तथा **अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्** दोनों आ रहे हैं परन्तु लोक में अथुच्प्रत्ययान्तों का प्रयोग केवल भाव में ही देखा जाता है अतः यहां **भावे** ही सम्बद्ध होता है। टु इद् यस्य स ट्वित्, तस्मात् =ट्वितः, बहुव्रीहिसमासः। **अर्थः**—(ट्वितः) जिस का टु इत् है ऐसी (धातोः) धातु से (परः) परे (अथुच्) अथुच् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है (भावे) भाव में। अथुच् का अन्त्य चकार इत् है अतः 'अथु' ही अवशिष्ट रहता है। चकार अनुबन्ध **चितः** (६.१.१५७) स्वर के लिये जोड़ा गया है।

टुवेपृँ कम्पने (भ्वा० आ०), टुयाचृँ याच्ञायाम् (भ्वा० उ०), टुओँश्वि गतिवृद्ध्योः (भ्वा० प०) आदि धातुओं के आदि में स्थित 'टु' की **आदिर्ञिटुडवः** (४६२) से इत्संज्ञा होती है अतः ये धातु टु+इत्=ट्वित् कहलाते हैं।

उदाहरण यथा—टुवेपृँ कम्पने (भ्वा० प०) धातु से भाव में प्रकृतसूत्र से अथुच् प्रत्यय कर अनुबन्धलोप करने से—वेप्+अथु='वेपथुः' प्रयोग सिद्ध होता है। वेपनं वेपथुः (कांपना)[1]। ध्यातव्य है कि अथुच्प्रत्ययान्त शब्द पुंलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं। कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) टुनदिँ समृद्धौ (भ्वा० प०)—नन्द्+अथुच्=नन्दथुः (प्रसन्नता, आनन्द)।
(२) टुदु उपतापे (स्वा० प०; सताना)—दु+अथुच्=दो+अथु= दवथुः (परिताप)।
(३) टुवमुँ उद्गिरणे (वमन करना; भ्वा० प०)—वम्+अथुच्=वमथुः (वमन)।
(४) टुभ्राजृँ दीप्तौ (चमकना; भ्वा० आ०)—भ्राज्+अथुच्=भ्राजथुः (शोभा)।
(५) टुमस्जोँ शुद्धौ (तुदा० प०)—मस्ज्+अथुच्=मज्जथुः (स्नान)[2]।
(६) टुओँश्वि गतिवृद्ध्योः (भ्वा० प०)—श्वि+अथुच्=श्वे+अथु= श्वयथुः (सूजन)।

---

१. **वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते** (गीता १.२९)।
२. यहां **स्तोः श्चुना श्चुः** (६२) से श्चुत्व के कारण मकार को शकार तथा **झलां जश्झशि** (१९) से शकार को जकार हो जाता है।

(७) टुयाचृँ याच्ञायाम् (भ्वा० उ०)—याच्+अथुच्=याचथुः (मांगना)।
(८) टुओँस्फूर्जाँ वज्रनिर्घोषे (भ्वा० प०)—स्फूर्ज्+अथुच्=स्फूर्जथुः (वज्रनिर्घोष)।

प्रयोग यथा— **केचिद् वेपथुमासेदुरन्ये दवथुमुत्तमम् ।**
सरक्तं वमथुं केचिद् भ्राजथुं न च केचन ॥ (भट्टि० ४.४३)

[राम-लक्ष्मण को युद्ध में देखते हुए खर-दूषण की सेना में कई राक्षस तो कांपने लगे, कई महापरिताप को प्राप्त हो गये। कुछ सरक्त वमन करने लगे। शोभा तो किसी की भी न थी]।

अब नङ्प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८६०) यज-याच-यत-विच्छ-प्रच्छ-रक्षो नङ् ।३।३।९०॥

यज्ञः। याच्ञा। यत्नः। विश्नः। प्रश्नः। रक्ष्णः॥

अर्थः—यज्, याच्, यत्, विच्छ्, प्रच्छ् और रक्ष् धातु से परे नङ् प्रत्यय होता है भाव में या संज्ञाविषयक कर्तृभिन्न कारक में।

व्याख्या—यज-याच-यत-विच्छ-प्रच्छ-रक्षः ।५।१। नङ् ।१।१। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं। **भावे** और **अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्** की अनुवृत्ति आ रही है। यजश्च याचश्च यतश्च विच्छश्च प्रच्छश्च रक्ष् चेति समाहारद्वन्द्वः। तस्मात् =यज-याच-यत-विच्छ-प्रच्छ-रक्षः। यजादिष्वकार उच्चारणार्थः। अर्थः—(यज—रक्षः) यज्, याच्, यत्, विच्छ्, प्रच्छ् और रक्ष् (धातोः) धातु से (परः) परे (नङ्) नङ् प्रत्यय हो जाता है (भावे) भाव में (अकर्त्तरि च कारके संज्ञायाम्) या संज्ञा का विषय होने पर कर्तृभिन्न कारक में।

नङ् का अन्त्य ङकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है—'न' मात्र शेष रहता है। ङकार अनुबन्ध **च्छ्वोः शूडनुनासिके च** (८४३) आदि कार्यों तथा 'विश्नः' में लघूपधगुण के निषेध के लिये जोड़ा गया है। 'याच्ञा' को छोड़ नङ्प्रत्ययान्त शब्द पुंलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं जैसाकि लिङ्गानुशासन में कहा गया है—**नङन्तः** (लिङ्गानु० ३९) नङन्त शब्द पुंलिङ्ग होता है। **याच्ञा स्त्रियाम्** (लिङ्गानु० ४०) याच्ञा शब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होता है। सूत्र के उदाहरण यथा—

यज्ञः (यजनं यज्ञः, देवपूजा, याग)। यजँ देवपूजासंगतिकरणदानेषु (भ्वा० उ०)। यज् धातु से प्रकृतसूत्रद्वारा भाव में नङ् प्रत्यय हो कर—यज्+न। धातु के अनिट् होने से इडागम नहीं होता। अब **स्तोः श्चुना श्चुः** (६२) से श्चुत्व के कारण नकार को ञकार हो कर 'ज्+ञ' के स्थान पर लिपिज संकेत 'ज्ञ' लिखने से—यज्ञ। पुनः कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर प्रथमैकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय आ कर रामशब्दवत् प्रक्रिया करने से 'यज्ञः' प्रयोग सिद्ध होता है। इज्यते इति यज्ञः, इस प्रकार कर्म में भी क्वचित् नङ् प्रत्यय माना जाता है अत एव सूत्रार्थ में **अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्** का सम्बन्ध भी स्वीकार किया गया है।

याच्ञा (याचनं याच्ञा, मांगना) । टुयाचृँ याच्ञायाम् (भ्वा० उ०) । **याच्** धातु से पूर्ववत् भाव में नङ् प्रत्यय और श्चुत्व हो कर—याच्+ञ । स्त्रीत्व की विवक्षा में **अजाद्यतष्टाप्** (१२४५) से टाप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप और सवर्णदीर्घ करने से—याच्ञा । अब प्रातिपदिक संज्ञा के कारण सुँ विभक्ति आ कर रमाशब्दवत् सुँलोप कर 'याच्ञा' प्रयोग सिद्ध होता है[1] । ध्यान रहे कि याच् धातु सेट् है इस से परे नङ् को इट् का आगम प्राप्त था पर **नेड् वशि कृति** (८००) से उस का निषेध हो जाता है । इसी तरह आगे 'यत्नः' आदियों में भी यथासम्भव समझना चाहिये ।

यत्नः (यतनं यत्नः, कोशिश) । यतीँ प्रयत्ने (भ्वा० आ०) । यत् धातु से भाव में प्रकृतसूत्र से नङ् प्रत्यय हो कर विभक्ति कार्य करने से 'यत्नः' प्रयोग सिद्ध होता है । **यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः** —(पञ्च० १.३६२) ।

विश्नः (विच्छनं विश्नः, गति या चमक) । विच्छ गतौ (तुदा० प०) । **विच्छ्** धातु से प्रकृतसूत्रद्वारा भाव में नङ् प्रत्यय हो कर[2]—विच्छ्+न । विच्छ् धातु सेट् है, इस से परे इट् आगम प्राप्त होता है परन्तु **नेड् वशि कृति** (८००) से उस का निषेध हो जाता है । अब झलादि ङित् के परे रहते **च्छ्वोः शूडनुनासिके च** (८४३) से सतुँक् छकार (च्छ्) को शकार आदेश हो कर—विश्+न=विश्न । यहां पर प्राप्त लघूपधगुण का **क्ङिति च** (४३३) से तथा **स्तोः श्चुना श्चुः** (६२) से प्राप्त श्चुत्व का **शात्** (६३) सूत्र से निषेध हो जाता है । अब प्रातिपदिकत्वात् स्वादियों की उत्पत्ति हो कर प्रथमैकवचन में 'विश्नः' प्रयोग सिद्ध होता है । इस शब्द के प्रयोग अन्वेषणीय हैं ।

प्रश्नः (प्रच्छनं प्रश्नः, पूछना) । प्रच्छ ज्ञीप्सायाम् (तुदा० प०) । **प्रच्छ्** धातु से भाव में प्रकृतसूत्र से नङ् प्रत्यय हो कर धातु के अनिट् होने से इट् आगम प्राप्त ही नहीं होता । अब **च्छ्वोः शूडनुनासिके च** (८४३) से सतुँक् छकार (च्छ्) को शकार आदेश हो कर विभक्ति लाने से 'प्रश्नः' प्रयोग सिद्ध होता है । ध्यान रहे कि नङ् के ङित्त्व के कारण यहां **ग्रहिज्यावयि०** (६३४) से सम्प्रसारण प्राप्त होता था परन्तु **प्रश्ने चासन्नकाले** (३.२.११७) आदि आचार्य के निर्देशों से वह नहीं होता । श्चुत्व का निषेध **शात्** (६३) सूत्रद्वारा पूर्ववत् समझना चाहिये ।

रक्ष्णः (रक्षणं रक्ष्णः; रक्षा, बचाव) । **रक्ष** पालने (भ्वा० प०) । **रक्ष्** धातु से प्रकृतसूत्रद्वारा भाव में नङ् प्रत्यय हो कर पूर्ववत् इडागम का निषेध तथा नकार

---

१. **याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाऽधमे लब्धकामा**—(मेघदूत ६)
[उच्च पुरुष के आगे की गई निष्फल हुई भी प्रार्थना अच्छी है परन्तु नीच व्यक्ति से की गई सफल प्रार्थना भी अच्छी नहीं] ।

२. यद्यपि **आयादय आर्धधातुके वा** (४६९) के अनुसार आर्धधातुक की विवक्षा में **गुपूँ-धूप-विच्छि-पणि-पनिभ्य आयः** (४६७) सूत्र द्वारा विच्छ् से परे 'आय' का वैकल्पिक विधान है तथापि यहां प्रकृत में आयप्रत्ययान्त विच्छ् से नङ् का विधान नहीं किया गया अपितु 'विच्छ्' से ही नङ् कहा गया है । अत. आयाभाव में ही विच्छ् से नङ् होगा 'विच्छाय' से नहीं ।

के स्थान पर **रषाभ्यां नो णः समानपदे** (२६७) से णत्व करने पर विभक्ति लाने से 'रक्षणः' प्रयोग सिद्ध होता है। **रक्षणस्त्राणे**—इत्यमरः। **रक्षणं करोषि कस्मात्त्वम्** (भट्टि० ७.६६)।

अब 'स्वप्नः' की सिद्धि के लिये 'नन्' प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(८६१) स्वपो नन्।३।३।९१॥**

स्वप्नः॥

अर्थः—स्वप् (सोना या शयन करना) धातु से परे भाव में तथा संज्ञाविषयक कर्तृभिन्न कारक में नन् प्रत्यय होता है।

व्याख्या—स्वपः।५।१। नन्।१।१। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च, भावे, अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्**—ये सब पूर्वतः अनुवृत्तिलब्ध हैं। अर्थः—(स्वपः) स्वप् (धातोः) धातु से (परः) परे (भावे) भाव में अथवा (अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्) संज्ञा के विषय में कर्तृभिन्न कारक के वाच्य होने पर (नन्) नन् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है।

'नन्' का अन्त्य नकार इत्संज्ञक है जो **ञ्नित्यादिर्नित्यम्** (६.१.१९१) द्वारा आद्युदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है। उदाहरण यथा—

स्वपनं स्वप्नः (सोना, शयन करना)। ञिष्वप शये (अदा० प०)। ष्वप् से प्रकृतसूत्रद्वारा भाव में नन् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप तथा धातु के आदि षकार को सकार कर—स्वप्+न='स्वप्नः' प्रयोग सिद्ध होता है[1]। 'स्वप्न' शब्द पुंलिङ्ग है।

सम्प्रसारण से बचने के लिये तथा आद्युदात्तस्वर की सिद्धि के लिये यह पृथक् सूत्र बनाया गया है अन्यथा स्वप् धातु का भी **यज-याच०** (८६०) सूत्र में परिगणन कर सकते थे।

अब विधि, निधि आदि अनेक सुप्रसिद्ध शब्दों की सिद्धि के लिये 'कि' प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

---

१. यहां यह ध्यातव्य है कि 'स्वप्न' शब्द का मौलिक अर्थ 'शयन' ही है। बाद में भाषाविज्ञान के अर्थविस्तार के सिद्धान्तानुसार नींद में दिखाई देने वाली घटना आदि (Dream) भी 'स्वप्न' मानी जाने लगीं। संस्कृतसाहित्य में इन दोनों अर्थों में इस का प्रयोग बहुप्रचलित है। शयन अर्थ में यथा—

(१) **रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः**। (मनु० १.६५)

(२) **युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा॥** (गीता ६.१७)

(३) **अकाले बोधितो भ्राता प्रियस्वप्नो वृथा भवान्**। (रघु० १२.८१)

सपना (Dream) अर्थ में यथा—

(१) **स्वप्नो नु माया नु मतिभ्रमो नु**—(शाकुन्तल० ६.१०)

(२) **यदि तावदयं स्वप्नो धन्यमप्रतिबोधनम्** (स्वप्नवासव० ५.९)

[लघु०] विधि सूत्रम्—**(८६२) उपसर्गे घोः किः ।३।३।९२।।**

प्रधिः । उपधिः ।।

अर्थः—उपसर्ग के उपपद रहते घुसंज्ञक धातु से परे 'कि' प्रत्यय हो जाता है भाव अर्थ में या संज्ञाविषयक कर्तृभिन्न कारक में ।

व्याख्या—उपसर्गे ।७।१। घोः ।५।१। किः ।१।१। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं । **भावे** और **अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्** की अनुवृत्ति आ रही है । 'उपसर्गे' सप्तम्यन्त है अतः **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** (९५३) के अनुसार यह उपपद रहेगा । अर्थः—(उपसर्गे) उपसर्ग के उपपद रहते (घोः, धातोः) घुसंज्ञक धातु से (परः) परे (किः प्रत्ययः) 'कि' प्रत्यय हो जाता है (भावे) भाव अर्थ में अथवा (अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्) संज्ञा के विषय में कर्तृभिन्न कारक वाच्य हो तो ।

दा-धा घ्वदाप् (६२३) सूत्रद्वारा पीछे दारूप वाली और धारूप वाली धातुओं की घुसंज्ञा की जा चुकी है, उसी घु से यहां 'कि' प्रत्यय विधान किया जा रहा है । 'कि' प्रत्यय का आदि ककार **लशक्वतद्धिते** (१३६) से इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'इ' मात्र शेष रहता है । ककार अनुबन्ध **आतो लोप इटि च** (४८९) द्वारा धातु के आकार का लोप करने के लिये जोड़ा गया है । उदाहरण यथा—

प्रधिः । प्रधीयन्ते काष्ठानि अस्मिन्निति प्रधिः[1] । जिस में रथचक्र के अरे जोड़े जाते हैं अर्थात् रथ के पहिए का भूमिस्पर्शी भाग—नेमि—परिधि । प्रपूर्वक 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' (जुहो० उ०) धातु से अधिकरण कारक की विवक्षा में प्रकृतसूत्र से 'कि' प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप तथा **आतो लोप इटि च** (४८९) से आकार का भी लोप हो जाता है—प्र+ध्+इ=प्र+धि । अब **उपपदमतिङ्** (९५४) से उपसर्ग + धि का उपपदसमास कर प्रातिपदिक संज्ञा करने से सुँ आदियों की उत्पत्ति होती है—प्रधिः । ध्यान रहे कि **क्यन्तो घुः** (लिङ्गानु० ४१) के अनुसार किप्रत्ययान्त शब्द पुंलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं[2] । प्रधिरयम् ।

उपधिः । उपधीयते (आरोप्यते) अनेनेत्युपधिः । जिस के द्वारा किसी वस्तु को अन्यथा प्रस्तुत किया जाता है—छल, कपट । 'उप' उपसर्ग के उपपद रहते 'डुधाञ् धारणपोषयोः' (जुहो० उ०) धातु से करण में पूर्ववत् 'कि' प्रत्यय हो कर आकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'उपधिः' प्रयोग सिद्ध होता है । **अरिषु हि विजयार्थिनः क्षितीशा विदधति सोपधि सन्धिदूषणानि** (किरात० १.४५) । इसी प्रकार—

---

१. यह विग्रह वाचस्पत्यकोषकार का है । क्षीरस्वामी और हेमचन्द्र इस का विग्रह 'प्रान्ते धीयत इति प्रधिः' इस प्रकार कर्मणि करते हैं । भानुजिदीक्षित आदि 'प्रधीयतेऽनेनेति प्रधिः' इस प्रकार करणपरक करते हैं । अतः विग्रह के अनुसार यथायोग्य कारक में 'कि' प्रत्यय का विधान समझना चाहिये ।

२. हिन्दी भाषा में ये शब्द स्त्रीलिङ्गी हैं । बहुधा छात्र इन को संस्कृतभाषा में भी वैसा समझने की अशुद्धि कर बैठते हैं अतः इन के लिङ्ग के विषय में सावधानी आवश्यक है ।

(१) आदिः । आदीयते गृह्यते प्रथमतयेत्यादिः । जो पहले ग्रहण किया जाता है—पहला, प्रथम । कर्म में आङ्पूर्वक 'डुदाञ् दाने' (जुहो० उ०) से 'कि' प्रत्यय । आकारलोप पूर्ववत् ।

(२) प्रदिः । प्रदीयत इति प्रदिः । जो दिया जाता है—प्रदेय-भेंट-पुरस्कार । प्रपूर्वक डुदाञ् से कर्म में प्रत्यय ।

(३) अन्तर्धिः । अन्तर्धानम् अन्तर्धिः । छिपना । अन्तर्पूर्वक डुधाञ् से भाव में प्रत्यय । ध्यान रहे कि **अन्तःशब्दस्याङ्-किविधि-णत्वेषूपसर्गत्वं वाच्यम्** (वा० ३२) वार्त्तिकद्वारा 'अन्तर्' शब्द की उपसर्गसंज्ञा है अतः प्रकृतसूत्र से 'कि' हुआ है।

(४) प्रणिधिः । प्रणिधीयते=नियुज्यते कार्येष्विति प्रणिधिः । जो कार्यों में नियुक्त किया जाता है—नौकर, दूत । कर्म में प्रत्यय । अथवा—प्रणिधानं प्रणिधिः । ध्यान, सादर विलोकन, याचन आदि । भाव में प्रत्यय । **नेर्गदनदपतपदघु०** (४५३) से नि के नकार को णकारादेश होता है। **प्रणिधिः प्रार्थने चर** इत्यमरः ।

(५) आधिः । आधीयते दुःखमनेनेत्याधिः । जिस से मन में दुःख रखा जाता है—मानसिक पीडा । करण में प्रत्यय । आधीयतेऽस्मिन्नित्याधिः । जिस में वस्तु रखी जाती है—ठिकाना, आवासस्थान । अधिकरण में प्रत्यय । आधीयत इत्याधिः । धरोहर, बन्धक । कर्म में प्रत्यय । **बन्धकं व्यसनं चेतःपीडाऽधिष्ठानमाधय** इत्यमरः ।

(६) व्याधिः । विशेषेण दुःखम् आधीयतेऽनेनेति व्याधिः । जिस से दुःख प्राप्त होता है—रोग, बीमारी । करण में प्रत्यय । **स्त्री रुग् रुजा चोपताप-रोग-व्याधि-गदाऽऽमया** इत्यमरः ।

(७) विधिः । विधानं विधिः । विधान । भाव में प्रत्यय । विधीयत इति विधिः । जो विधान किया जाता है—आदेश, कार्य आदि । कर्म में प्रत्यय । विधीयतेऽनेनेति विधिः । जिस के द्वारा विधान किया जाता है—विधायकवचन, शास्त्रवचन । करण में प्रत्यय । विधत्त इति विधिः—जो रचना करता है—ब्रह्मा, प्रजापति । यहां कर्तृकारक में निषिद्ध होने पर भी बहुलग्रहण (७७२) के कारण 'कि' प्रत्यय माना जाता है[१] ।

(८) निधिः । नितरां धीयते नीचैर्धीयत इति वा निधिः । जो निरन्तर धारण =ग्रहण किया जाता है—धन, दौलत, ख़ज़ाना । कर्म में प्रत्यय ।

(९) सन्धिः । सन्धानं सन्धिः । मिलना-मिलाना । सम्+धा+कि । भाव में प्रत्यय[२] ।

---

१. अथवा—विध विधाने (तुदा० प०) धातु से कर्त्ता में औणादिक इन् (उणा० ४.१२१) प्रत्यय करने और उसे किद्वत् मान लेने से ब्रह्मावाची विधिशब्द सुतरां सिद्ध हो जाता है ।

२. **सन्धिः कार्योऽप्यनार्येण विज्ञाय प्राणसंशयम्** (पञ्च० ३.६) ।
सन्धये सरला सूची वक्रा छेदाय कर्तरी (सुभाषित) ।

(१०) प्रतिनिधिः। प्रतिनिधीयते=तुल्यरूप्यतया स्थाप्यत इति प्रतिनिधिः। तुल्यरूप। किसी की जगह काम करने वाला, एवज़ी। कर्म में प्रत्यय। प्रयोग यथा—

सुतां तदीयां सुरभेः कृत्वा प्रतिनिधिं शुचिः।
आराधय सपत्नीकः प्रीता कामदुघा हि सा॥ (रघु० १.८१)

इसी तरह—सन्निधि, समाधि, उपाधि आदि अन्य शब्द भी जान लेने चाहियें।

इस 'कि' प्रत्यय का विधायक एक अन्य सुप्रसिद्ध सूत्र भी यहां पर ध्यातव्य है। **कर्मण्यधिकरणे च** (३.३.९३)। अर्थः—कर्म के उपपद रहते घुसंज्ञक धातु से 'कि' प्रत्यय हो जाता है अधिकरण कारक में। यथा—शरा धीयन्तेऽस्मिन्निति शरधिः (तरकस)। इषवो धीयन्तेऽस्मिन्निति इषुधिः (तरकस)। जलं धीयतेऽस्मिन्निति जलधिः (समुद्र), इसी प्रकार—पयोधिः, वारिधिः, तोयधिः, वार्धिः, अम्बुधिः, क्षीरधिः। उदकं धीयतेऽस्मिन्निति उदधिः (समुद्र)। यहां उदक शब्द के स्थान पर **उदकस्योदः संज्ञायाम्** (६.३.५६) से उद आदेश हो जाता है। शिरो धीयतेऽस्यामिति शिरोधिः (ग्रीवा)। सब शब्द पुंलिङ्ग हैं, शिरोधि स्त्रीलिङ्ग है, इषुधि का स्त्रीलिङ्ग में भी प्रयोग होता है।

अभ्यास (१०)

(१) भावघञ् और कारकघञ् किसे कहते हैं? विधायकसूत्र दर्शाते हुए दोनों का सोदाहरण अन्तर स्पष्ट करें।

(२) धातुओं के साथ 'टु' और 'डु' अनुबन्ध लगाने में आचार्य पाणिनि का क्या प्रयोजन है?

(३) विशुद्ध क्त्रिप्रत्ययान्त शब्द क्या मिल सकते हैं? यदि हां तो कैसे? नहीं तो विवेचन करें।

(४) अच्, कि, अप्, नङ्, घञ् और अथुच् प्रत्ययान्तों के पांच पांच उदाहरण देते हुए उन के लिङ्ग का भी सप्रमाण विवेचन करें।

(५) प्रयोजन लिखें—
   (क) कि प्रत्यय में ककार जोड़ने का;
   (ख) घञ् प्रत्यय में घकार और ञकार लगाने का;
   (ग) अप् प्रत्यय में पकार लगाने का;
   (घ) नङ् प्रत्यय में ङकार लगाने का;
   (ङ) अथुच् में चकार लगाने का;
   (च) ऋदोरप् में तपर न मानने का।

(६) 'प्रश्नः' में सम्प्रसारण कैसे प्राप्त था और क्यों रुक गया?

(७) 'घञर्थे कविधानम्' वार्तिक की प्रवृत्ति किन किस धातु से होती है? वरदराज ने इस का उल्लेख क्यों नहीं किया?

क्तिन्

(८) निवास, चिति, शरीर और उपसमाधान अर्थों में किस धातु से कौन सा प्रत्यय आचार्य ने कहा है ? सोदाहरण लिखें ।

(९) 'जलधिः' में क्या **उपसर्गे घोः किः** सूत्र की प्रवृत्ति होती है ? हां तो कैसे ? नहीं तो कारण बता कर किविधायक सूत्र लिखें ।

(१०) निम्नस्थ सूत्रों की व्याख्या करें—
उपसर्गे घोः किः; ऋदोरप्; अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्; क्त्रेर्मम् नित्यम्; घञि च भावकरणयोः ।

(११) ससूत्र सिद्धि करें—
यज्ञः, प्रधिः, रागः, रङ्गः, वेपथुः, अन्तर्धिः, याच्ञा, करः, पाकः, लवः, जयः, निकायः, उपधिः, स्वप्नः, विश्नः, विघ्नः, स्तवः, प्रपा, चयः, गोमय-निकायः ।

—:o:—

अब उत्तरकृदन्तों में स्त्र्यधिकार का वर्णन प्रारम्भ करते हुए इस प्रकरण के प्रमुख प्रत्यय **क्तिन्** का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(८६३) स्त्रियां क्तिन् ।३।३।९४।।**

स्त्रीलिङ्गे भावे क्तिन् स्यात् । घञोऽपवादः । कृतिः । स्तुतिः ।।

अर्थः—स्त्रीत्वविशिष्ट भाव की विवक्षा में अथवा संज्ञाविषयक कर्तृभिन्न कारक में धातु से परे क्तिन् प्रत्यय होता है। **घञोऽपवादः**—यह सूत्र घञ् प्रत्यय का अपवाद है ।

व्याख्या—स्त्रियाम् ।७।१। क्तिन् ।१।१। भावे ।७।१। (**भावे** से) । **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—तीनों अधिकृत हैं । **अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्** की भी पीछे से अनुवृत्ति आ रही है । अर्थः— (स्त्रियां भावे) स्त्रीत्वविशिष्ट भाव में तथा (अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्) संज्ञाविषयक कर्तृभिन्न कारक में (धातोः) धातु से (परः) परे (क्तिन्) क्तिन् (प्रत्ययः) प्रत्यय होता है ।

क्तिन् प्रत्यय के ककार और नकार इत् हो कर लुप्त हो जाते हैं—'ति' मात्र शेष रहता है । नकार स्वर के लिये तथा ककार गुणनिषेध, अनुनासिकलोप तथा सम्प्रसारण आदि कार्यों के लिये जोड़ा गया है ।

पीछे **भावे** (८५१) सूत्र पर बताया जा चुका है कि सिद्धावस्थापन्न भाव द्रव्य की तरह प्रकाशित होता है अतः उस के साथ लिङ्ग और संख्या का योग भी हुआ करता है। उसी भाव को जब स्त्रीत्वविशिष्ट कहने की इच्छा होती है तब इस सूत्र की प्रवृत्ति हो कर क्तिन् प्रत्यय हो जाता है । **भावे** (८५१) सूत्र द्वारा सामान्यतः भाव में घञ् कहा गया था परन्तु यहां स्त्रीत्वविशिष्ट भाव में प्रत्यय का विधान कर रहे हैं, इस प्रकार यह सूत्र उस सूत्र द्वारा विहित घञ् का अपवाद ठहरता है । **एरच्** (८५५) और **ऋदोरप्** (८५६) सूत्रों द्वारा विहित अच् और अप् प्रत्यय विशेष

धातुओं से विहित होने से घञ् के अपवाद थे परन्तु यह सूत्र विप्रतिषेध में परत्व के कारण उन का भी बाध कर लेता है[१] ।

सूत्र के उदाहरण यथा—

करणं कृतिः (करना) । यहां 'डुकृञ् करणे' (तना० उ०) धातु से स्त्रीत्व-विशिष्ट भाव की विवक्षा में प्रकृतसूत्र से क्तिन् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप करने से —कृ + ति । धातु के अनिट् होने से इडागम का निषेध हो जाता है । **सार्वधातुकार्ध-धातुकयोः** (३८८) से प्राप्त गुण भी क्तिन् के कित्त्व के कारण **क्क्ङिति च** (४३३) से निषिद्ध हो जाता है । अब कृदन्तत्वात् 'कृति' शब्द की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर सुँ आदियों की उत्पत्ति होती है । प्रथमैकवचन में मतिशब्दवत् प्रक्रिया हो कर 'कृतिः' प्रयोग सिद्ध होता है । क्तिन्नन्त सब शब्द **क्तिन्नन्तः** (लिङ्गानु० ९) इस वचन के अनुसार स्त्रीलिङ्गी होते हैं ।

स्तवनं स्तुतिः (स्तुति करना) । 'ष्टुञ् स्तुतौ' (अदा० उ०) धातु से क्तिन् हो कर 'स्तुतिः' प्रयोग सिद्ध होता है । यहां धातु के आदि षकार को **धात्वादेः षः सः** (२५५) से सकार होकर ष्टुत्व से बने टकार को भी **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** से पुनः तकार हो जाता है । धातु के अनिट् होने से इट् का निषेध हो जाता है ।

ध्यान रहे कि सेट् धातुओं से भी परे क्तिन् को इट् आगम नहीं होता । **ति-तु-त्र-त-थ-सि-सु-सर-क-सेषु च** (८४५) से निषेध हो जाता है । यथा—दीप्— दीप्तिः (चमक) ।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—(१) अधि √इङ्—अधीतिः (अध्ययन) । गुण का निषेध हो कर सवर्णदीर्घ हो जाता है । (२) चिञ्—चितिः (चुनना, चयन) । (३) नु—नुतिः (नमन) । (४) शक्—शक्तिः (सामर्थ्य) । (५) भज् —भक्तिः (भजन, आराधना, सेवा) । **चोः कुः** (३०६) से कुत्व हो कर **खरि च** (७४) से चर्त्व हो जाता है । (६) वृष्—वृष्टिः (बारिश) । ष्टुत्व (६४) से तकार को टकार हो जाता है । (७) शुध्—शुद्धिः (सफाई, शुद्धता) । **झषस्तथो-र्धोऽधः** (५४९) से क्तिन् के तकार को धकार हो कर **झलां जश्झशि** (१९) से धातु के धकार को जश्त्वेन दकार हो जाता है । (८) वृध्—वृद्धिः (बढ़ना) । (९)सिध्— सिद्धिः (सिद्ध होना) । (१०) दृश्—दृष्टिः (दर्शन) । **व्रश्चभ्रस्ज०** (३०७) से शकार को षकार हो कर ष्टुत्व से तकार को टकार आदेश हो जाता है । (११) वि √नश् —विनष्टिः (विनाश) । (१२) स्था—स्थितिः (ठहरना) । **द्यति-स्यति-मा-स्थाम्**

---

१. अच् और अप् प्रत्यय चयः, जयः तथा लवः, पवः आदियों (जहां भाव स्त्रीत्व-विशिष्ट नहीं) में सावकाश हैं और इधर क्तिन् प्रत्यय स्त्रीत्वविशिष्ट भाव के कृतिः, हृति आदि स्थलों में (जहां अच् और अप् प्राप्त नहीं) चरितार्थ है । चि, स्तु आदियों में स्त्रीत्वविशिष्ट भाव की विवक्षा में दोनों प्राप्त होते हैं इस प्रकार विप्रतिषेध में परत्व के कारण क्तिन् हो जाता है अच् और अप् नहीं ।

इत् ति किति (७.४.४०) से धातु के आकार को इकार आदेश हो जाता है। (१३) अनु √मा—अनुमितिः (अनुमान द्वारा जानना)। (१४) उप √मा—उपमितिः (सादृश्य द्वारा जानना)[1]। (१५) गम्—गतिः (गमन)। (१६) हन्—हतिः (हनन)। (१७) नम्—नतिः (नमन), प्रणतिः। (१८) रम्—रतिः (रमण)। (१९) मन्—मतिः (मानना)। (२०) यम्—यतिः (नियमन)। (२१) तन्—ततिः (विस्तार)। गम् आदियों के अनुनासिक का **अनुदात्तोपदेश-वनति-तनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति** (५५९) से लोप हो जाता है। (२२) वच्—उक्तिः (कथन)। यहां **वचिस्वपियजादीनां किति** (५४७) से सम्प्रसारण तथा **सम्प्रसारणाच्च** (२५८) से पूर्वरूप हो कर '**चोः कुः**' (३०६) से कुत्व हो जाता है। (२३) स्वप्—सुप्तिः (शयन)। (२४) वप्—उप्तिः (बोना या काटना)। (२५) यज्—इष्टिः (याग)[2]। सम्प्रसारणकार्य हो कर **व्रश्चभ्रस्ज०** (३०७) से षत्व हो जाता है। (२६) प्र √आप्—प्राप्तिः (पाना)। (२७) दीप्—दीप्तिः (चमक)। (२८) ध्वंस्—ध्वस्तिः (नाश)। उपधानकार का **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** (३३४) से लोप हो जाता है। (२९) लभ्—लब्धिः, उपलब्धिः (प्राप्ति)। धत्व (५४९) हो कर जश्त्व (१९) हो जाता है[3]। (३०) भी—भीतिः (डर, भय)। (३१) मुच्—मुक्तिः (छुटकारा)। (३२) प्रति √इण्—प्रतीतिः (विश्वास, जानना)। (३३) प्लु—प्लुतिः (उछलना, कूदना)। (३४) प्र √सृ—प्रसृतिः (फैलना, प्रसार)। (३५) गुप्—गुप्तिः (रक्षा)। (३६) पा पाने—पीतिः (पीना)। **घुमास्थागापाजहातिसां हलि** (५८८) से ईत्व हो जाता है। **आपो भवन्तु पीतये** (यजुः० ३६.१२)।

क्तिन् प्रत्यय भाव के अतिरिक्त कर्तृभिन्न अन्य कारकों में भी संज्ञा के विषय में यथासम्भव हो जाता है। यथा—श्रूयते धर्मोऽनयेति श्रुतिर्वेदः [**श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयः**—मनु० २.१०], अथवा—श्रवण का साधन कर्णेन्द्रिय। यहां करण में क्तिन्

---

१. उपसर्गपूर्वक माङ् धातु से **आतश्चोपसर्गे** (३.३.१०६) से अङ् प्रत्यय करने पर **आतो लोप इटि च** (४८९) से आकारलोप तथा **अजाद्यतष्टाप्** (१२४५) से टाप् हो कर—अनुमा, उपमा, प्रमा आदि शब्द सिद्ध होते हैं। यह अङ् प्रत्यय यद्यपि क्तिन् का अपवाद है और स्त्र्यधिकार में वाऽसरूपविधि भी नहीं है तथापि बाहुलकात् क्तिन् की भी प्रवृत्ति मानी जाती है (देखें कृदन्तरूपमाला पृष्ठ १०१५)।

२. यहां करण में क्तिन् समझना चाहिये। भाव क्तिन् का अपवाद क्यप् प्रत्यय हो जाता है—इज्या (**व्रजयजोर्भावे क्यप्** ३.३.९८)।

३. प्राप्ति, दीप्ति और ध्वस्ति में **गुरोश्च हलः** (८६८) से क्तिन् का अपवाद 'अ' प्रत्यय प्राप्त था, **क्तिन्नाबादिभ्यः** (वा० ३.३.९४) वार्तिक से उस का निषेध हो कर पुनः क्तिन् प्रत्यय हो जाता है। लभ् (डुलभँष् प्राप्तौ) धातु षित् है अतः **षिद्भिदादिभ्योऽङ्** (३.३.१०४) द्वारा इस से क्तिन् का अपवाद अङ् प्रत्यय प्राप्त था यहां वार्तिक के बल से पुनः क्तिन् हो जाता है।

हुआ है। स्तूयतेऽनयेति स्तुतिः। जिस से स्तुति की जाती है—स्तोत्र। इज्यतेऽनयेति—इष्टिः (याग)। यहां यज् को सम्प्रसारण होकर षत्व और ष्टुत्व हो जाते हैं। इष्यतेऽनयेति—इष्टिः। जिस के द्वारा अभीष्ट बात कही जाती है—व्याकरणादि में प्रसिद्ध इष्टि। गीयत इति गीतिः (गाना)। यहां कर्म में क्तिन् हुआ है। **घुमास्थागापाजहातिसां हलि** (५८८) से ईत्व हो जाता है। तन्यत इति ततिः (पंक्ति)। यहां कर्म में क्तिन् हुआ है। क्रियत इति कृतिः (रचना)। दृश्यतेऽनयेति दृष्टिर्नेत्रम्। सृज्यत इति सृष्टिः। कर्म में क्तिन्। क्तिन्नन्त सर्वत्र स्त्रीलिङ्गी होता है—**क्तिन्नन्तः** (लिङ्गानु० ६)।

अब क्तिन् प्रत्यय के तकार को निष्ठाप्रत्ययवत् नकार आदेश करने के लिये अग्रिम वार्त्तिक का अवतरण करते हैं— अतिदेश-वार्तिक

[लघु०] वा०—(५०) ॠ-ल्वादिभ्यः क्तिन्निष्ठावद् वाच्यः॥

तेन नत्वम्। कीर्णिः। लूनिः। धूनिः। (पूनिः)॥

अर्थः—ॠदन्त या लू आदि धातुओं से परे क्तिन् प्रत्यय को निष्ठावत् कार्य होते हैं।

व्याख्या—यह वार्त्तिक महाभाष्य में **ल्वादिभ्यः** (८.२.४४) सूत्र (८१८) पर पढ़ा गया है अतः तद्विषयक ही समझा जायेगा। अर्थः—(ॠ-ल्वादिभ्यः।५।३।) ॠदन्त धातुओं तथा लू आदि धातुओं से परे (क्तिन्) क्तिन् प्रत्यय (निष्ठावत्) निष्ठा की तरह (वाच्यः) कहना चाहिये। तात्पर्य यह है कि इन धातुओं से परे निष्ठा [क्त, क्तवतुँ (८१४)] के तकार को जैसे नकार आदेश होता है वैसे क्तिन् के तकार को भी नकार आदेश हो। यह अतिदेश वार्त्तिक है, प्रकरणतः इसे नत्वविषयक ही समझना चाहिये। ल्वादि धातुओं का उल्लेख पीछे (८१८) सूत्र पर कर चुके हैं।

ॠदन्त के उदाहरणों में यहां उस ॠदन्त धातु का ग्रहण करना चाहिये जो ल्वादियों के अन्तर्गत न होता हो। यथा—कॄ विक्षेपे (बखेरना; तुदा० पर०); गॄ निगरणे (निगलना; तुदा० पर०); तॄ प्लवनसन्तरणयोः (तैरना; भ्वा० पर०)। इन धातुओं से भाव में **स्त्रियां क्तिन्** (८६३) से क्तिन् प्रत्यय कर प्रत्यय के कित्त्व के कारण गुण का निषेध, **ॠत इद् धातोः** (६६०) से ॠकार को इकार, **उरण्रपरः** (२९) से रपर और **हलि च** (६१२) से उपधादीर्घ करने से—कीर्+ति, गीर्+ति, तीर्+ति। अब यहां प्रकृत वार्त्तिक से क्तिन् को निष्ठावत् मान कर **रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः** (८१६) से उस के तकार को नकार आदेश तथा **रषाभ्यां नो णः समानपदे** (२६७) से नकार को भी णकार करने से—कीर्णिः (बखेरना), गीर्णिः (निगलना), तीर्णिः (तैरना) प्रयोग सिद्ध होते हैं। **अचो रहाभ्यां द्वे** (६०) से णकार को पाक्षिक द्वित्व होता है। द्वित्वपक्ष में—कीर्ण्णिः, गीर्ण्णिः, तीर्ण्णिः आदि रूप भी बनते हैं।

ल्वादियों का उदाहरण यथा—'लूञ् छेदने' (काटना; क्र्या० उभय०) धातु

क्विँप् (०)

ल्वादियों के अन्तर्गत पढ़ी गई है। अतः यहां पर भी पूर्ववत् भाव में क्तिन् प्रत्यय कर प्रकृतवार्त्तिक से क्तिन् को निष्ठावत् मान कर **ल्वादिभ्यः** (८१८) सूत्र से उस के तकार को नकार आदेश हो जाता है—लूनिः (लवनं लूनिः अर्थात् काटना)। इसी प्रकार—धूञ् कम्पने (क्र्या० उभय०) से 'धूनिः' (कम्पाना) आदि प्रयोग बनते हैं।

नोट—लघुकौमुदी के मुद्रित संस्करणों में अद्यत्वे यहां पर 'पूनिः' उदाहरण का भी उल्लेख मिलता है जो स्पष्टतः प्रमाद है क्योंकि 'पूञ् पवने' (पवित्र करना; क्र्या० उभय०) धातु ल्वादियों के अन्तर्गत नहीं आती। वह पाणिनीय धातुपाठ में ल्वादियों से बिल्कुल पूर्व पठित है। कुछ लोग उस के संग्रह के लिये—'लुव आदिर्ल्वादिः (पञ्चमीतत्पुरुषसमासः), लूर् आदौ येषां ते ल्वादयः (बहुव्रीहिसमासः)। ल्वादिश्च ल्वादयश्च—ल्वादयः [एकशेषः]। तेभ्यः =ल्वादिभ्यः—इस प्रकार व्याख्या कर पूञ् का भी ग्रहण मानने का प्रयत्न करते हैं। परन्तु यह सब निरर्गल प्रमाणशून्य कल्पनामात्र है, शिष्टसम्मत मार्ग नहीं। हमें साहित्य में 'पूनि' का प्रयोग कहीं नहीं मिला।

अब इसी अर्थ में क्विँप् प्रत्यय का वार्त्तिककार अवतरण करते हैं—

[लघु०] वा०— (५१) सम्पदादिभ्यः क्विँप् ॥

सम्पत्। विपत्। आपत्। क्तिन्नपीष्यते—सम्पत्तिः। विपत्तिः। आपत्तिः।

अर्थः—सम्पूर्वक पद् आदि धातुओं से भाव में या संज्ञाविषयक कर्तृभिन्न कारक में क्विँप् प्रत्यय हो जाता है। **क्तिन्नपीष्यते**—क्तिन् प्रत्यय भी अभीष्ट है।

व्याख्या—सम्पदादिभ्यः।५।३। क्विँप्।१।१। सम्पद् आदिर्येषां ते सम्पदादयः। तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः। यह वार्त्तिक महाभाष्य में इसी स्त्रीप्रत्ययप्रकरण के (३.३.१०८) सूत्र पर पढ़ा गया है अतः यहां पर भी **स्त्रियाम्, भावे, अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्** आदि की अनुवृत्ति पूर्ववत् आती है। अर्थः—(सम्पदादिभ्यः) सम्पद् आदि धातुओं से (स्त्रियां भावे) स्त्रीत्वविशिष्ट भाव में अथवा (अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्) कर्तृभिन्न कारक में संज्ञा के विषय में (क्विँप्) क्विँप् प्रत्यय हो जाता है। सम्पद् का अभिप्राय सम्पूर्वक 'पद गतौ' (दिवा० आ०) धातु से है। क्विँप् प्रत्यय का सर्वापहारलोप पीछे बता चुके हैं। उदाहरण यथा—

सम्पूर्वक 'पद गतौ' (दिवा० आ०) धातु से स्त्रीत्वविशिष्ट भाव में क्तिन् की बजाय प्रकृतवार्त्तिक से क्विँप् प्रत्यय हो जाता है—सम्पद् + क्विँप्। क्विँप् में पकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा तथा ककार **लशक्वतद्धिते** (१३६) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं। इकार उच्चारणार्थक है। अवशिष्ट बचे 'व्' का भी **वेरपृक्तस्य** (३०३) से लोप हो जाता है। इस प्रकार 'सम्पद्' यह कृदन्त शब्द निष्पन्न होता है। अब इस की **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से प्रातिपदिक संज्ञा हो कर सुँ आदियों की उत्पत्ति होती है। सुँ के सकार का **हल्ङ्याब्भ्यः०** (१७९) से लोप हो कर **वाऽवसाने** (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व करने पर—सम्पत्, सम्पद् (सम्पन्नता) ये दो प्रयोग

सिद्ध होते हैं। यहां करण में भी क्विँप् माना जा सकता है—सम्पद्यतेऽनयेति सम्पत्। जिस से मनुष्य शोभा पाता है अर्थात् धन-दौलत-सम्पत्ति[1]।

इसी प्रकार विपूर्वक या आङ्पूर्वक 'पदँ गतौ' धातु से विपत्-विपद् (विपन्नता) तथा आपत्, आपद् (आपन्नता) ये दो दो रूप सिद्ध होते हैं। करण में प्रत्यय मानने से 'विपद्यते आपद्यते वाऽनयेति विपद् आपत्'। जिस से मनुष्य दुःखी होता है—संकट, दुःख, विपत्ति, आपत्ति आदि।

क्तिन्नपीष्यते—इस प्रकरण में वाऽसरूपविधि (७६७) नहीं है अतः यह क्विँप् प्रत्यय उत्सर्ग क्तिन् का अपवाद ही ठहरता है परन्तु लोक में इन शब्दों के क्तिन्नन्त प्रयोग भी शिष्टसम्मत हैं। इसलिये वरदराज कहते हैं कि—**क्तिन् अपि इष्यते**। अर्थात् इन शब्दों में क्तिन् प्रत्यय भी अभीष्ट है। इस का समर्थन बाहुलकात् (७७२) करना होगा। क्तिन् हो कर **खरि च** (७४) से चर्त्व करने पर—सम्पत्तिः विपत्तिः, आपत्तिः आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं अर्थ वही है[2]।

इस वार्त्तिक के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) युध् (युद्ध)। युध्यन्ते सम्प्रहरन्तेऽस्यामिति युत्। अधिकरणे क्विँप्।

(२) संयत् (युद्ध)। संयतन्ते स्पर्धन्ते जना अस्यामिति संयत्। अधिकरणे क्विँप्।

(३) प्रतिश्रुत् (प्रतिध्वनि)। प्रतिरूपं श्रूयत इति प्रतिश्रुत्। कर्मणि क्विँप्। **ह्रस्वस्य पिति कृति तुँक्** (७७७) इति तुँगागमः।

(४) प्रतिपद् (प्रतिपदा तिथि)। प्रतिपद्यते=उपक्रम्यते पक्षो मासो वाऽनयेति प्रतिपत्। करणे क्विँप्। भागुरिमते—प्रतिपदा[3]।

(५) संसद् (सभा)। सम्+षद्लृँ+क्विँप्। सम्भूय सीदन्त्यस्यामिति संसत्। अधिकरणे क्विँप्।

(६) परिषद् (सभा)। परि+षद्लृँ+क्विँप्। परितः सीदन्त्यस्यामिति परिषत्। अधिकरणे क्विँप्। **सदिरप्रतेः** (८.३.६६) इति षत्वम्।

(७) संविद् (बुद्धि)। सम्+विद्+क्विँप्। सम्यक् वेत्ति अनयेति संवित्। करणे क्विँप्। संवित्तिरित्यपि।

---

१. यहां यह ध्यातव्य है कि सम्पदादिगण के अन्तर्गत आने वाले सब शब्द स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयुक्त होते हैं। **महार्णवाभे युधि नाशयामि** (स्वप्न० ५.१३) भास के स्वप्नवासवदत्तनाटक का पुंलिङ्ग में 'युध्' का यह प्रयोग अपप्रयोग ही है।

२. **क्तिन्नपीष्यते** का यह तात्पर्य नहीं कि जहां जहां सम्पदादित्वात् क्विँप् किया जाये वहां वहां पक्ष में क्तिन् भी अवश्य हो। यहां तो शिष्टप्रयोगों के अनुसार व्यवस्था समझनी चाहिये। अतः कहीं कहीं दोनों और कहीं कहीं केवल एक रूप भी बनता है।

३. **वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः।**
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा॥ (देखें सूत्र ३७२)

(८) रुष् (क्रोध)। रोषणं रुट्। रुष् + क्विँप्। भावे प्रत्ययः। भागुरिमते —रुषा।

(९) रुज् (रोग)। रुज्यतेऽनयेति रुक्। रुज् + क्विँप्। करणे प्रत्ययः। भागुरिमते—रुजा।

(१०) शुच् (शोक करना)। शोचनं शुक्। भावे क्विँप्। भागुरिमते—शुचा।

(११) क्रुध् (क्रोध करना)। क्रोधनं क्रुत्। भावे क्विँप्। भागुरिमते—क्रुधा।

(१२) रुच् (चमकना, दीप्ति)। रोचनं रुक्। भावे क्विँप्। भागुरिमते—रुचा।

आधुनिक पाणिनीय गणपाठ में सम्पदादिगण को यद्यपि आकृतिगण नहीं लिखा गया तथापि व्यवहार में इसे आकृतिगण ही समझा जाता है। वर्धमानकृत गणरत्न-महोदधि यहां अनुसन्धेय है।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा क्तिन्नन्त कुछ शब्दों का निपातन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८६४) ऊति-यूति-जूति-साति-हेति-कीर्त्तयश्च ।३।३।९७॥

एते निपात्यन्ते ॥

अर्थः—ऊति, यूति, जूति, साति, हेति, और कीर्ति—ये छः क्तिन्नन्त शब्द निपातित किये जाते हैं।

व्याख्या—ऊति-यूति-जूति-साति-हेति-कीर्त्तयः ।१।३। च इत्यव्ययपदम्। उदात्तः ।१।१। (**मन्त्रे वृषेषपचमनविदभूवीरा उदात्तः** से)। ऊतिश्च यूतिश्च जूतिश्च सातिश्च हेतिश्च कीर्तिश्च—ऊति-यूति-जूति-साति-हेति-कीर्त्तयः, इतरेतरद्वन्द्वः। **स्त्रियां क्तिन्, भावे, अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्**—ये सब प्रकरणतः उपलब्ध हैं। अर्थः—(स्त्रियां भावे) स्त्रीत्वविशिष्ट भाव में (अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्) अथवा संज्ञाविषयक कर्तृभिन्न कारक में (ऊति-यूति-जूति-साति-हेति-कीर्तयः) ऊति, यूति, जूति, साति, हेति और कीर्ति—ये छः क्तिन्नन्त शब्द निपातित किये जाते हैं (क्तिन् च उदात्तः) किञ्च इन में क्तिन् उदात्त होता है। क्तिन् के उदात्त होने से ये शब्द अन्तोदात्त होंगे।

जब कोई कार्य सामान्य प्रक्रिया या सूत्रों द्वारा सिद्ध नहीं होता तब निपातन का आश्रय लिया जाता है[1]—यह हम पीछे (७८३) सूत्र पर खोल कर बता चुके हैं। यहां इन शब्दों में क्या क्या कार्य सामान्य प्रक्रिया से प्राप्त था और किस कार्य के लिये निपातन किया गया है इस का विवरण इस प्रकार समझना चाहिये—

ऊतिः (रक्षा, क्रीडा-लीला आदि)। अव रक्षणादौ (भ्वा० प०)। अव् धातु से स्त्रीत्वविशिष्ट भाव की अथवा संज्ञा के विषय में कर्तृभिन्न कारक की विवक्षा में **स्त्रियां क्तिन्** (८६३) से क्तिन् हो कर—अव् + ति। अब **ज्वर-त्वर-स्रिव्यवि-मवा-**

---

१. **अकृतस्य क्रिया चैव प्राप्तेर्बाधनमेव च।**
अधिकार्थविवक्षा च त्रयमेतन्निपातनात् ॥ (हैमबृहद्वृत्ति ५.३.१०८)

मुपधायाश्च (८६५) इस अग्रिमसूत्र से उपधा और वकार अर्थात् सम्पूर्ण अव् के स्थान पर ऊठ् आदेश हो कर ठकार अनुबन्ध का लोप हो जाने से विभक्ति ला कर—'ऊतिः' प्रयोग सिद्ध होता है[1]। यह प्रयोग निपातन के विना भी सामान्य प्रक्रिया से सिद्ध हो रहा है। पुनः निपातन का प्रयोजन इसे अन्तोदात्त करना ही है। अन्यथा क्तिन् के नित् होने से **ञ्नित्यादिर्नित्यम्** (६.१.१९१) सूत्र द्वारा यह शब्द आद्युदात्त होता जो स्वर की दृष्टि से अशुद्ध था।

यूतिः (मिलाना आदि)। यु मिश्रणामिश्रणयोः (अदा० प०)। यु धातु से स्त्रीत्वविशिष्ट भाव आदि की विवक्षा में पूर्ववत् क्तिन् हो कर प्रत्यय के कित्त्व के कारण गुण का निषेध हो 'युति' बनता था[2]। यहां निपातन में उसे 'यूतिः' कहा गया है। अतः स्पष्ट है कि धातु को दीर्घविधान करने के लिये यहां निपातन का आश्रय लिया गया है। अन्तोदात्तत्व का विधान भी दूसरा प्रयोजन है।

जूतिः (तेज़ चलना, वेग आदि)। जु धातु 'तेज़ चलना' अर्थ में प्रसिद्ध है। पाणिनीय धातुपाठ में इस का उल्लेख नहीं पर सूत्रपाठ में इस का कई स्थानों पर उल्लेख है अतः यह सौत्र धातु मानी जाती है। सौत्र धातुएं भी आचार्यपाणिनिद्वारा अनुमत होती हैं। इस सौत्र जु धातु से स्त्रीत्वविशिष्ट भाव आदि की विवक्षा में क्तिन् प्रत्यय हो कर पूर्ववत् कित्त्व के कारण गुण का निषेध हो कर 'जुति' प्रयोग बनता था। परन्तु यहां निपातन में 'जूतिः' इस प्रकार दीर्घविधान किया गया है। यह दीर्घविधान निपातन का प्रयोजन है। अन्तोदात्तत्व का विधान भी दूसरा प्रयोजन है।

सातिः (नाश, भेंट, दान आदि)। यह शब्द दो प्रकार से व्युत्पन्न माना जाता है। प्रथम यथा—'षो अन्तकर्मणि' (नाश करना या नाश होना; दिवा० प०) धातु के आदि षकार को सकार आदेश तथा **आदेच उपदेशेऽशिति** (४९३) से ओकार को आत्व हो जाता है। इस से स्त्रीत्वविशिष्ट भाव आदि की विवक्षा में **स्त्रियां क्तिन्** (८६३) से क्तिन् करने से—सा+ति। अब यहां **द्यति-स्यति-मा-स्थाम् इत् ति किति** (७.४.४०) सूत्र से इत्त्व करने पर 'सिति' रूप बनता था परन्तु यहां 'सातिः' निपातन किया गया है। इस प्रकार यहां इत्त्व का अभाव निपातन का प्रयोजन है। अन्तोदात्तत्व का विधान तो सब शब्दों में प्रयोजन है ही। द्वितीय यथा—षणुँ दाने (तना० उभ०) धातु से यदि क्तिन् करें तो **जन-सन-खनां सञ्झलोः** (६७६) सूत्र से धातु के नकार को आत्व हो कर सवर्णदीर्घ करने से 'सातिः' प्रयोग सुतरां सिद्ध हो जाता है। इस पक्ष में निपातन का प्रयोजन केवल अन्तोदात्तस्वर का विधान करना ही होगा।

---

१. **न चास्य कश्चिद् निपुणेन धातु-**
   रवैति जन्तुः कुमनीष ऊतीः। (भागवत० १.३.३७)
   अर्थात् इस विधाता की लीलाओं को कोई कुबुद्धि जीव बड़ी चतुराई से भी नहीं जान सकता।

२. सेट्कस्यापि यौतेरिण्निषेधस्तु **ति-तु-त्र०** (८४५) इति सिद्धः क्तिनि। एवमन्यत्रापि सेट्केषु बोध्यम्।

हेतिः (अस्त्र, अग्निज्वाला, सूर्यकिरण आदि)[१]। यह शब्द भी दो धातुओं से व्युत्पन्न माना जाता है। प्रथम यथा—'हन हिंसागत्योः' (अदा० पर०) धातु से करण की विवक्षा में **स्त्रियां क्तिन्** (८६३) से क्तिन् प्रत्यय हो कर **अनुदात्तोपदेश-वनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति** (५५९) से अनुनासिक का लोप कर 'हति' बनता था परन्तु यहां 'हेतिः' निपातन किया गया है अतः स्पष्ट है कि यहां निपातनद्वारा हन् के नकार को इकार कर गुण किया गया है। नकार को इकारादेश ही यहां निपातनकार्य समझना चाहिये। द्वितीय—'हि गतौ' (स्वा प०) धातु से यदि 'हेतिः' सिद्ध करें तो केवल गुण करना ही निपातन का प्रयोजन होगा क्योंकि क्तिन् के कित्त्व के कारण गुण का निषेध होता था। स्वर का प्रयोजन दोनों पक्षों में पूर्ववत् है।

कीर्तिः (यश)। 'कॄत संशब्दने' (नाम लेना, यश गाना; चुरा० उभ०) धातु चौरादिक होने से ण्यन्त है अतः इस से **ण्यासश्रन्थो युच्** (८६९) से युच् प्राप्त था परन्तु यहां निपातन से क्तिन् प्रत्यय किया गया है—कॄत् इ+क्तिन्। **णेरनिटि** (५२९) से णि का लोप, **उपधायाश्च** (७.१.१०१) से धातु की उपधा ॠकार को इत्व, रपर हो कर—किर्+ति। अब **हलि च** (६१२) से उपधा को दीर्घ करने से —'कीर्तिः' प्रयोग सिद्ध होता है।[२] इस प्रकार यहां अप्राप्त क्तिन् का विधान निपातन का प्रयोजन सिद्ध होता है। शेष कार्य तो सामान्यप्रक्रिया से सिद्ध हैं ही। स्वर का प्रयोजन भी पूर्ववत् जानें।

संक्षेप में निपातन की प्रयोजनतालिका निम्नस्थ है—

शब्द	निपातन का प्रयोजन
(१) ऊतिः	अन्तोदात्तस्वर का विधान
(२) यूतिः	धातु को दीर्घ करना तथा अन्तोदात्तस्वर का विधान
(३) जूतिः	धातु को दीर्घ करना तथा अन्तोदात्तस्वर का विधान
(४) सातिः	षो धातु मानें तो इत्व का वारण तथा अन्तोदात्तस्वर का विधान
	सन् धातु मानें तो केवल अन्तोदात्तस्वर का विधान
(५) हेतिः	हन् धातु मानें तो नकार को इत्त्व तथा अन्तोदात्तस्वर का विधान
	हि धातु मानें तो गुण तथा अन्तोदात्तस्वर का विधान
(६) कीर्तिः	अप्राप्त क्तिन् का विधान तथा अन्तोदात्तस्वर

अब क्विँप् में ज्वर् आदि धातुओं को विशेष कार्य विधान करने के लिये अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं—

---

१. **समरविजयी हेतिदलितः** (भर्तृ० नीति० ३५)।

२. **जूतिमिच्छथ चेत्तूर्णं कीर्तिं वा पातुमात्मनः।**
करोमि वो बहिर्यूतीन् पिधध्वं पाणिभिर्दृशः॥ (भट्टि० ७.७९)

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८६५) **ज्वर-त्वर-स्रिव्यवि-मवामुपधा-याश्च ।६।४।२०।।**

एषामुपधावकारयोरूठ् अनुनासिके, क्वौ, झलादौ क्ङिति च । अतः क्विप्[1]—जूः । तूः । स्रूः । ऊः । मूः ।।

अर्थः—ज्वर्, त्वर्, स्रिव्, अव् तथा मव् धातुओं की उपधा और वकार दोनों के स्थान पर ऊठ् आदेश हो जाता है यदि अनुनासिक, क्विँ अथवा झलादि कित् ङित् इन में से कोई परे हो तो ।

व्याख्या—ज्वर-त्वर-स्रिव्यवि-मवाम् ।६।३। उपधायाः ।६।१। च इत्यव्ययपदम् । वः ।६।१। ऊठ् ।१।१। अनुनासिके ।७।१। (**च्छ्वोः शूड् अनुनासिके च** से) । क्विँझलोः ।७।२। क्ङिति ।७।१। (**अनुनासिकस्य क्विँ-झलोः क्ङिति** से) । ज्वरश्च त्वरश्च स्रिविश्च अविश्च मव् च— ज्वर-त्वर-स्रिव्यवि-मवः, तेषाम् = ज्वर-त्वर-स्रिव्यविमवाम्, इतरेतरद्वन्द्वः । ज्वरादियों में अन्त्य अकार और इकार उच्चारणार्थक हैं । क्विँश्च झल् च क्विँझलौ, तयोः = क्विँझलोः, इतरेतरद्वन्द्वः । क् च ङ् च क्ङौ, क्ङौ इतौ यस्य स क्ङित्, तस्मिन् = क्ङिति । द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः । 'क्विँझलोः' का 'झलि' अंश ही 'क्ङिति' के साथ सम्बद्ध होता है । तदादिविधि हो कर 'झलादौ क्ङिति' बन जाता है । अर्थः—(ज्वर-त्वर-स्रिव्यवि-मवाम्) ज्वर्, त्वर्, स्रिव्, अव् और मव् धातुओं की (उपधायाः) उपधा (च) और (वः) व् के स्थान पर (ऊठ्) ऊठ् आदेश हो जाता है (अनुनासिके) अनुनासिक परे होने पर (क्वौ) क्वि परे होने पर अथवा (झलि=झलादौ क्ङिति) झलादि कित् ङित् परे होने पर ।

ऊठ् का ठकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है 'ऊ'

---

१. **अतः क्विँप्**—इस वचन की दो प्रकार से व्याख्या की जाती है । **प्रथम** व्याख्या—क्विँप् परे होने पर ज्वर् आदि धातुओं की उपधा और वकार के स्थान पर क्योंकि ऊठ् का विधान किया गया है अतः इस से सिद्ध होता है कि इन धातुओं से क्विँप् प्रत्यय किया जाना है । इस के विना सूत्र में अनुवर्त्तित 'क्वौ' अंश निरर्थक हो जायेगा । दूसरी व्याख्या—क्योंकि सम्पदादि आकृतिगण है अतः इन ज्वर् आदि धातुओं से क्विँप् प्रत्यय हो जाता है । परन्तु हमें ये दोनों व्याख्याएं ठीक प्रतीत नहीं होतीं । इन में प्रथम व्याख्या इसलिये युक्त नहीं क्योंकि **क्विँप् च** (८०२) सूत्र से कर्तरि क्विँप् करने पर प्रकृतसूत्र की सार्थकता सुतरां सिद्ध है । अतः प्रकृतसूत्र में वह सामर्थ्य नहीं रहता जिस के कारण इन धातुओं से क्विँप् का विधान माना जा सके । दूसरी व्याख्या भी अक्षरस्वारस्य से दूर क्लिष्ट कल्पनामात्र ही है । अतः ग्रन्थकार के उपर्युक्त वचन का सीधा-सादा अर्थ ही यहां लेना चाहिये कि इन धातुओं से क्विँप् हो कर (यह सूत्र प्रवृत्त होता है) । ग्रन्थकार को यह वचन इस अभिप्राय से लिखना पड़ा कि यहां क्विँप् में इस सूत्र के उदाहरण दिये जा रहे हैं अनुनासिकादि में नहीं ।

मात्र शेष रहता है। ऊठ् में ठकार का आयोजन उस के ग्रहण में भ्रान्तिहीनसौकर्य के लिये किया गया है; यथा—**एत्येधत्यूठ्सु** (३४), **ऊडिदम्पदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः** (६.१.१७१)। ज्वर आदियों का विवरण इस प्रकार है—

१. ज्वर रोगे (रुग्ण होना; भ्वा० प०)। ज्वरति, ज्वरतः, ज्वरन्ति।

२. ञित्वराँ सम्भ्रमे (शीघ्रता करना; भ्वा० आ०)। त्वरते, त्वरेते, त्वरन्ते।

३. स्रिवुँ गतिशोषणयोः (जाना, सूखना; दिवा० प०)। स्रीव्यति, स्रीव्यतः, स्रीव्यन्ति (६१२)।

४. अव रक्षणादौ (रक्षा करना आदि; भ्वा० प०)। अवति, अवतः, अवन्ति।

५. मव बन्धने (बांधना; भ्वा० प०)। मवति, मवतः, मवन्ति।

अन्त्य अल् से पूर्व वर्ण उपधासंज्ञक होता है (१७६)। इन पांच धातुओं की उपधा[1] और वकार दोनों के स्थान पर एक ऊठ् (ऊ) आदेश हो जाता है[2] यदि निम्नस्थों में से कोई परे हो तो—

(१) अनुनासिक अर्थात् अनुनासिकादि प्रत्यय।

(२) क्विँ अर्थात् क्विँप् आदि प्रत्यय।

(३) झलादि कित् या झलादि ङित् प्रत्यय।

उदाहरण यथा—

जूः (ज्वरणं जूः, रुग्ण होना)। सम्पदादिगण के आकृतिगण होने के कारण ज्वर् धातु से भाव में **सम्पदादिभ्यः क्विँप्** (वा० ५१) वार्तिक से क्विँप् प्रत्यय हो कर उस का सर्वापहार लोप करने से—ज्वर्। यहां प्रत्ययलक्षण (१९०) से क्विँ के परे रहते धातु की उपधा (अ) और धातु के वकार दोनों के स्थान पर प्रकृतसूत्र से एक ऊठ् आदेश करने पर ठकार अनुबन्ध के लुप्त हो जाने पर—ज् ऊ र्=जूर् प्रातिपदिक बनता है। अब इस से सुँ आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति होती है। सुँ लाने पर **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्** (१७९) से सकार का लोप हो कर **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (९३) से रेफ को विसर्ग आदेश करने से 'जूः' प्रयोग सिद्ध होता है। जूर् शब्द की समग्र रूपमाला यथा—

प्रथमा	जूः	जूरौ	जूरः	**पञ्चमी**	जूरः	जूर्भ्याम्	जूर्भ्यः
द्वितीया	जूरम्	जूरौ	जूरः	**षष्ठी**	जूरः	जूरोः	जूराम्
तृतीया	जूरा	जूर्भ्याम्	जूर्भिः	**सप्तमी**	जूरि	जूरोः	जूर्षु
चतुर्थी	जूरे	जूर्भ्याम्	जूर्भ्यः	**सम्बोधन**	हे जूः!	हे जूरौ!	हे जूरः!

प्रायः कई स्थानों पर 'जूः, जुरौ, जुरः' इस प्रकार लिखा रहता है—वह प्रमाद है।

इसी तरह—त्वरणं तूः (शीघ्रता, वेग)। त्वर् धातु से क्विँप् प्रत्यय हो कर

---

१. इन पांच धातुओं में ज्वर् और त्वर् धातुओं की उपधा वकार के बाद तथा स्रिव्, अव् और मव् में वकार से पूर्व है।

२. कुछ वैयाकरणों का कहना है कि उपधा और वकार दोनों को अलग-अलग ऊठ् हो कर पुनः सवर्णदीर्घ एकादेश हो जाता है। यह पक्ष भी महाभाष्यानुगत है।

प्रकृतसूत्र से उपधा (अ) और वकार दोनों के स्थान पर एक ऊठ् आदेश करने से—तूः, तुरौ, तुरः ।[1]

स्रूः (स्रेवणं स्रूः, गमन) । स्रिव् धातु से भाव में क्विँप् हो कर उपधा (इ) और वकार अर्थात् इव् को ऊठ् आदेश करने पर—स्रूः, स्रुवौ, स्रुवः । यहां अजादि सुँप् विभक्तियों में **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियँङुवँङौ** (१९९) से ऊकार को उवँङ् आदेश हो जाता है । इस की रूपमाला 'भ्रू' शब्द की तरह चलती है ।

ऊः (अवनम् ऊः, रक्षा करना) । अव् धातु से सम्पदादित्वात् क्विँप् हो कर उपधा (अ) और वकार अर्थात् सम्पूर्ण अव् को ही ऊठ् आदेश करने पर—'ऊः, उवौ, उवः' प्रयोग सिद्ध होते हैं । पूर्ववत् अजादि विभक्तियों में **अचि श्नु०** (१९९) से ऊकार को उवँङ् आदेश हो जाता है । अङ्ग के अनेकाच् न होने से **ओः सुँपि** (२१०) द्वारा यण् नहीं होता ।

मूः (मवनम् मूः, बांधना) । मव् धातु से क्विँप् प्रत्यय हो कर पूर्ववत् ऊठ् आदेश करने से—मूः, मुवौ, मुवः ।[2]

अनुनासिक परे का उदाहरण है—ओम् । यहां अव् धातु से **अवतेष्टिलोपश्च** (उणा० १.१३९) इस औणादिक सूत्र से मन् (म) प्रत्यय तथा प्रत्यय की टि (अ) का लोप हो कर—अव्+म् । अब मकार अनुनासिक के परे होने पर अव् की उपधा और वकार अर्थात् सम्पूर्ण अव् के स्थान पर ऊठ् आदेश कर आर्धधातुकगुण करने से 'ओम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । अवतीति ओम् (संसार का रक्षक अर्थात् परमेश्वर) । स्वरादियों में पाठ के कारण यह अव्यय है (३६७) ।

झलादि कित् के उदाहरण—जूर्तिः, स्रूतिः, तूर्तिः, तूर्णः, तूर्णवान् । ये क्तिन्, क्त और क्तवतुँ के उदाहरण हैं । सब जगह झलादि कित् के परे होने से ऊठ् आदेश हो जाता है । तूर्णः, तूर्णवान् में **रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः** (८१६) से निष्ठा के तकार को नत्व हो कर णत्व हो जाता है ।

झलादि ङित् का उदाहरण नहीं मिलता । भट्टोजिदीक्षित का कथन है कि यहां पर केवल 'झलि' की ही अनुवृत्ति लानी चाहिये 'क्ङिति' की नहीं । क्योंकि झलादि अक्ङित् स्थल में भी इस सूत्र की प्रवृत्ति देखी जाती है । यथा—अव् धातु से **सि-तनि-गमि-मसि-सच्यवि-धाञ्-क्रुशिभ्यस्तुन्** (उणा० १.६९) द्वारा तुन् प्रत्यय हो कर ऊठ् और गुण करने से 'ओतुः' (बिलाव) प्रयोग सिद्ध होता है । सम्भवतः वरदराज ने

१. **पूर्भिर्मयेन विहिताभिरदृश्यतूर्भिः** (भागवत० २.७.३७) ।
अदृश्यतूर्भिः = अलक्ष्यवेगाभिः— (श्रीधरः) ।
२. यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि त्वर् आदि से सम्पदादित्वात् होने वाला क्विँप् भाव तथा संज्ञा के विषय में कर्तृभिन्न कारक में ही हुआ करता है । यदि कर्तरि क्विँप् अभीष्ट हो तो **क्विँप् च** (८०२) सूत्र से क्विँप् होगा । ऊठ् आदि की प्रक्रिया तब भी इसी प्रकार होगी ।

इसे बालोपयोगी न समझते हुए इस का यहां अनुसरण नहीं किया। अथवा उन का विचार होगा कि **उणादयो बहुलम्** (८४८) में बहुल ग्रहण के कारण 'ओतुः' में ऊठ् की उपपत्ति हो जायेगी अतः इस प्राचीन प्रचलित सूत्रार्थ में फेर-फार करना उचित नहीं है।

अब एक अन्य निपातन का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(८६६) इच्छा ।३।३।१०१।।**

इषेर्निपातोऽयम् ।।

अर्थः—स्त्रीत्वविशिष्ट भाव में 'इच्छा' प्रयोग साधु होता है।

व्याख्या—इच्छा ।१।१। स्त्रियाम् ।७।१। (**स्त्रियां क्तिन्** से)। भावे ।७।१। (**भावे** से)। यहां पर प्रयोगवशात् **अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्** का सम्बन्ध नहीं होता केवल **भावे** ही सम्बद्ध रहता है। अर्थः—(स्त्रियां भावे) स्त्रीत्वविशिष्ट भाव में (इच्छा) 'इच्छा' शब्द निपातित किया जाता है।

इच्छा (एषणम् इच्छा, अभिलाषा) शब्द में आचार्य ने इष् (इषुँ इच्छायाम्, तुदा० प०) धातु से श प्रत्यय कर उसके शित्त्व के कारण **सार्वधातुके यक्** (७५२) द्वारा प्राप्त यक् का अभाव निपातन किया है। शेष कार्य स्वतः प्राप्त हैं ही। तथाहि—इष्+श=इष्+अ—यहां शित् के परे होने से **इषुँ-गमि-यमां छः** (५०४) से षकार को छकार, **छे च** (१०१) सूत्र से तुँक् आगम और **स्तोः श्चुना श्चुः** (६२) से श्चुत्व हो कर—इच्छ्+अ='इच्छ' इस स्थिति में **अजाद्यतष्टाप्** (१२४५) से टाप्, अनुबन्धलोप, सवर्णदीर्घ तथा विभक्तिकार्य करने से 'इच्छा' प्रयोग सिद्ध होता है। करण कारक में इसी धातु के 'इष्टिः' प्रयोग का पहले उल्लेख किया जा चुका है। परन्तु यह निपातन केवल भाव में ही इष्ट है अन्य किसी कारक में नहीं।

अब स्त्र्यधिकार के एक अन्य सुप्रसिद्ध प्रत्यय 'अ' का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(८६७) अ प्रत्ययात् ।३।३।१०२।।**

प्रत्ययान्तेभ्यो धातुभ्यः स्त्रियाम् अकारः प्रत्ययः स्यात्। चिकीर्षा। पुत्रकाम्या ।।

अर्थः—स्त्रीत्वविशिष्ट भाव तथा संज्ञाविषयक कर्तृभिन्न कारक की विवक्षा में प्रत्ययान्त धातु से परे 'अ' प्रत्यय हो।

व्याख्या—अ ।१।१। (लुप्तविभक्तिको निर्देशः)। प्रत्ययात् ।५।१। स्त्रियाम् ।७।१। (**स्त्रियां क्तिन्** से)। भावे ।७।१। (**भावे** से)। **अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्, धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। 'प्रत्ययात्' पद 'धातोः' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर—'प्रत्ययान्ताद् धातोः' बन जाता है। अर्थः—(प्रत्ययात्=प्रत्ययान्तात्) प्रत्यय जिस के अन्त में है ऐसी (धातोः) धातु से (परः) परे (अ) 'अ' (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है (स्त्रियाम्) स्त्रीत्वविशिष्ट (भावे) भाव में (अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्) अथवा संज्ञाविषयक कर्तृभिन्न कारक

में। जब किसी धातु से परे सन्, यङ्, यक् आदि अथवा किसी प्रातिपदिक से काम्यच् आदि प्रत्यय किये जाते हैं तो वह **सनाद्यन्ता धातवः** (४६८) से धातुसंज्ञक हो जाता है। तब उस धातु से स्त्रीत्वविशिष्ट भाव आदि की विवक्षा में प्रकृतसूत्र से 'अ' प्रत्यय विधान किया जाता है। यह क्तिन् का अपवाद है। उदाहरण यथा—

चिकीर्षा (कर्तुमिच्छा—चिकीर्षा, करने की इच्छा)। 'डुकृञ् करणे' (तना० उ०) धातु से सन् प्रत्यय करने पर द्वित्व आदि कार्य हो कर 'चिकीर्ष' रूप बनता है (देखें सन्नन्तप्रक्रिया पृ० ६२४)। इस की **सनाद्यन्ता धातवः** (४६८) से धातुसंज्ञा है। अब सन्प्रत्ययान्त इस चिकीर्ष धातु से स्त्रीत्वविशिष्ट भाव की विवक्षा में प्रकृत-सूत्र से 'अ' प्रत्यय हो कर— चिकीर्ष+अ। **आर्धधातुकं शेषः** (४०४) से 'अ' प्रत्यय की आर्धधातुक संज्ञा है अतः इस के परे रहते **अतो लोपः** (४७०) से सन् के अकार का लोप हो कर—चिकीर्ष्+अ=चिकीर्ष। पुनः स्त्रीत्व की विवक्षा में **अजाद्यतष्टाप्** (१२४५) से टाप् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप तथा सवर्णदीर्घ करने से 'चिकीर्षा' यह आबन्त शब्द निष्पन्न होता है। अब इस आबन्त शब्द से **ङ्याप्प्रातिपदिकात्** (११६) के अधिकार में सुँ आदियों की निष्पत्ति होती है। प्रथमा के एकवचन में सुँ के अपृक्त सकार का **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्** (१७६) से लोप हो कर 'चिकीर्षा' प्रयोग सिद्ध होता है। इस का उच्चारण रमाशब्द की तरह जानना चाहिये।

इसी प्रकार—(१) पठितुमिच्छा—पिपठिषा (पढ़ने की इच्छा)। (२) द्रष्टु-मिच्छा—दिदृक्षा (देखने की इच्छा)। (३) जीवितुमिच्छा—जिजीविषा (जीने की इच्छा)। (४) गन्तुमिच्छा—जिगमिषा (जाने की इच्छा)। (५) हर्तुमिच्छा—जिहीर्षा (हरने की इच्छा)। (६) पातुमिच्छा—पिपासा (पीने की इच्छा)। (७) लब्धुमिच्छा—लिप्सा (पाने की इच्छा)। (८) श्रोतुमिच्छा—शुश्रूषा (सुनने की इच्छा)। (९) भोक्तुमिच्छा—बुभुक्षा (खाने की इच्छा)। (१०) आरब्धुमिच्छा—आरिप्सा (आरम्भ करने की इच्छा)। (११) वस्तुमिच्छा—विवत्सा (रहने की इच्छा)। (१२) वक्तुमिच्छा—विवक्षा (कहने की इच्छा)। (१३) हन्तुमिच्छा—जिघांसा (मारने की इच्छा)। (१४) हातुमिच्छा—जिहासा (छोड़ने की इच्छा)। (१५) स्थातुमिच्छा—तिष्ठासा (ठहरने की इच्छा) आदि प्रयोग बनते हैं।

पुत्रकाम्या (आत्मनः पुत्रस्यैषणम्—पुत्रकाम्या, अपने लिये पुत्र की कामना करना)। पीछे नामधातुप्रक्रिया में पुत्रशब्द से **काम्यच्च** (७२५) सूत्रद्वारा काम्यच् प्रत्यय कर 'पुत्रकाम्य' शब्द सिद्ध किया गया था। **सनाद्यन्ता धातवः** (४६८) से उस की धातुसंज्ञा है अतः उस से प्रकृतसूत्रद्वारा भाव में 'अ' प्रत्यय हो कर **अतो लोपः** (४७०) से अकार का लोप, **अजाद्यतष्टाप्** (१२४५) से टाप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ करने पर 'पुत्रकाम्या' शब्द निष्पन्न होता है। अब आबन्त होने के कारण इस से स्वादियों की उत्पत्ति होती है। सुँ में सकार का हल्ङ्यादिलोप हो कर—'पुत्रकाम्या' प्रयोग सिद्ध होता है। इस की रूपमाला रमाशब्दवत् समझनी चाहिये। **अथाभ्यर्च्य विधातारं प्रयतौ पुत्रकाम्यया**—(रघु० १.३५)।

इसी प्रकार—लू+यङ्=लोलूय धातु से—लोलूया (बार बार काटना); पू+यङ्=पोपूय धातु से—पोपूया (बार बार पवित्र करना); व्रज्+यङ्=वाव्रज्य धातु से—वाव्रज्या (टेढ़ामेढ़ा जाना); रुद्+यङ्=रोरुद्य धातु से—रोरुद्या (बार बार रोना); क्रम्+ यङ्=चङ्क्रम्य धातु से—चङ्क्रम्या (कुटिल रीति से आगे बढ़ना); **कण्ड्वादिभ्यो यक्** (७३०) से यक्प्रत्ययान्त कण्डूय धातु से—कण्डूया (खुजली करना); सपर्य से—सपर्या (पूजा, सेवा) आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं।

ध्यान रहे कि णिजन्त भी यद्यपि **सनाद्यन्ता धातवः** (४६८) से प्रत्ययान्त धातु होते हैं तथापि उन से प्रकृतसूत्रद्वारा 'अ' प्रत्यय न हो कर उस का अपवाद **ण्यास-श्रन्थो युच्** (८६९) इस वक्ष्यमाणसूत्रद्वारा युच् प्रत्यय हो जाता है—कारणा (कराना), हारणा (हराना), चोरणा (चुराना)[1], गणना (गिनना) आदि। इन की सिद्धि उसी सूत्र पर देखें।

अब एक अन्य सूत्रद्वारा इसी 'अ' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८६८) गुरोश्च हलः ।३।३।१०३।।

गुरुमतो हलन्तात् स्त्रियाम् अ-प्रत्ययः स्यात् । ईहा ।।

अर्थः—स्त्रीत्वविशिष्ट भाव तथा संज्ञाविषयक कर्तृभिन्न कारक में हलन्त गुरुमान् धातु से परे 'अ' प्रत्यय होता है।

व्याख्या—गुरोः ।५।१। च इत्यव्ययपदम् । हलः ।५।१। अ ।१।१। (**अ प्रत्ययात्** से)। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च, स्त्रियाम्, भावे, अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्**—ये सब पूर्वतः उपलब्ध हैं। 'हलः' यह 'धातोः' का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि हो कर —'हलन्ताद् धातोः' बन जाता है। 'गुरोः' भी 'धातोः' का विशेषण है परन्तु असम्भव होने से इस से तदन्तविधि नहीं होती क्योंकि हलन्त धातु कभी गुर्वन्त नहीं हो सकती। अतः इसे मत्वर्थीय मान कर 'गुरुमतः' बना लिया जाता है[2]। अर्थः—(हलः=हलन्तात्) हल् जिस के अन्त में है ऐसी (गुरोः=गुरुमतः) गुरुवर्ण से युक्त (धातोः) धातु से (परः) परे (अ) 'अ' (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व-विशिष्ट (भावे) भाव में (अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्) अथवा संज्ञाविषयक कर्तृभिन्न कारक में। यह सूत्र क्तिन् का अपवाद है।

---

१. **छत्रादिभ्यो णः** (४.४.६२) इत्यत्र छत्रादिगणे चुराशब्दस्य दर्शनात् 'चुरा' इति प्रयोगोऽपि साधुः। तत्र निपातनाद् अङ् प्रत्ययो बोध्यः। अथवा—अप्रत्ययो गुणाभावश्च निपात्यः।

२. यदि कोई कहे कि 'गुरोः' से तदन्तविधि तथा 'हलः' को मतुबन्त मान कर—'गुर्वन्त हल् वाली धातु से' ऐसा अर्थ क्यों न किया जाये? तो यह उचित न होगा। क्योंकि इस प्रकार मानने से आचार्य के 'चेष्टा, आशंसा' आदि प्रयोग [**गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि** (२.३.१२); **आशंसायां भूतवच्च** (३.३.१३२)] उपपन्न नहीं हो सकते अतः उपर्युक्त प्रकारेण मानना ही ठीक है अन्यथा नहीं।

दीर्घ वर्ण अथवा संयोग परे होने पर लघु वर्ण भी गुरुसंज्ञक होता है—यह (४४६,४५०) सूत्रों पर बताया जा चुका है। ईह् (चेष्टा करना, चाहना), ईक्ष् (देखना), चेष्ट् (चेष्टा करना) आदि धातुएं हलन्त भी हैं और गुरुमान् भी। अतः प्रकृतसूत्रद्वारा इन धातुओं से स्त्रीत्वविशिष्ट भाव में 'अ' प्रत्यय हो कर **अजाद्यतष्टाप्** (१२४५) से टाप्, अनुबन्धलोप, सवर्णदीर्घ तथा विभक्तिकार्य करने से—ईहा,[1] चेष्टा, ईक्षा (देखना), प्रतीक्षा आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार—ऊह् से—ऊहा (तर्क); खेल् से—खेला (खेलना); भिक्ष् से—भिक्षा (भीख); शिक्ष् से—शिक्षा (उपदेश); हिंस् से—हिंसा (मारना); लस्ज् से—लज्जा (शरम); आ √काङ्क्ष् से—आकाङ्क्षा; कुण्ड् से—कुण्डा (दाह); शिञ्ज् से—शिञ्जा (धनुष की डोरी); भाष् से—भाषा, परिभाषा; वाञ्छ् से—वाञ्छा (इच्छा); क्रीड् से—क्रीडा (खेल); शङ्क् से—शङ्का (संशय, शक); अर्च् से—अर्चा (पूजा, कर्मणि—प्रतिमा); श्लाघ् से—श्लाघा (आत्मप्रशंसा); रक्ष् से—**रक्षा** (बचाना) आदि अनेक प्रयोग सिद्ध होते हैं।

इस सूत्र में 'हलन्त' धातु कहने से **नी** आदि अजन्त धातुओं से 'अ' प्रत्यय नहीं होता, क्तिन् ही होता है—नीतिः, रीतिः, भूतिः, पीतिः, संशीतिः (संशय) आदि। 'गुरुमान्' कहने से भज् आदि गुरुहीन हलन्त धातुओं से 'अ' प्रत्यय न हो कर क्तिन् ही होता है—भक्तिः, शक्तिः, बुद्धिः आदि।

निष्ठायां सेट इति वक्तव्यम् (वा० ३.३.६४) इस वार्तिक के अनुसार जो धातु निष्ठा में सेट् हो उस हलन्त गुरुमान् धातु से ही 'अ' प्रत्यय का विधान माना गया है अन्यों से नहीं। यथा—आप् (आप्लृँ व्याप्तौ स्वा० उभय० अनिट्) धातु हलन्त गुरुमान् तो है पर निष्ठाप्रत्ययों में सेट् न हो कर अनिट् है अतः इस से 'अ' प्रत्यय नहीं होगा क्तिन् ही होगा—आप्तिः, प्राप्तिः, सम्प्राप्तिः, व्याप्तिः। दीप् (दीपीँ दीप्तौ दिवा० आत्मने० सेट्) धातु ईदित् होने से निष्ठा में **श्वीदितो निष्ठायाम्** (७.२.१४) से अनिट् है अतः इस से 'अ' न हो कर क्तिन् होगा—दीप्तिः।

अब इस स्त्रीप्रकरण के अन्य सुप्रसिद्ध प्रत्यय युच् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८६६) ण्यास-श्रन्थो युच् ।३।३।१०७।।

अकारस्यापवादः। कारणा। हारणा।।

अर्थः—स्त्रीत्वविशिष्ट भाव अथवा संज्ञाविषयक कर्तृभिन्न कारक की विवक्षा में ण्यन्त (णि जिन के अन्त में है) धातुओं तथा आस् और श्रन्थ् धातुओं से परे युच् प्रत्यय हो जाता है। **अकारस्य०**—यह सूत्र पूर्वोक्तसूत्रद्वयद्वारा प्राप्त 'अ' प्रत्यय का अपवाद है।

व्याख्या—णि-आस-श्रन्थः ।५।१। युच् ।१।१। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च, स्त्रियाम्, भावे, अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्**—ये सब पीछे से अधिकृत एवम् उपलब्ध हैं। 'ण्यासश्रन्थः' यह 'धातोः' का विशेषण है। 'णि' (णिच्, णिङ्) यह प्रत्यय है अतः

---

१. इच्छा काङ्क्षा स्पृहेहा तृड् वाञ्छा लिप्सा मनोरथः इत्यमरः।

इस से तदन्तविधि हो कर 'ण्यन्ताद् धातोः' बन जाता है। आस् और श्रन्थ् तो धातुएं हैं ही। अर्थः—(ण्यासश्रन्थः) ण्यन्त तथा आस् और श्रन्थ् धातुओं से (परः) परे (युच्) युच् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है (स्त्रियाम्) स्त्रीत्वविशिष्ट (भावे) भाव तथा (अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्) संज्ञाविषयक कर्तृभिन्न कारक की विवक्षा में। युच् में चकार इत्संज्ञक है, 'यु' मात्र शेष रहता है। चित्करण **चितः** (६.१.१५७) द्वारा अन्तोदात्त स्वर के लिये किया गया है। ण्यन्त दो प्रकार के होते हैं—स्वार्थिक णिजन्त तथा हेतुमण्णिजन्त। यहां दोनों प्रकार के अभीष्ट हैं। आस् से 'आसँ उपवेशने' (बैठना) इस आदादिक आत्मनेपदी धातु का तथा श्रन्थ् से 'श्रन्थ विमोचनप्रतिहर्षयोः' (ढीला करना, प्रसन्न होना) इस क्र्यादिगणीय परस्मैपदी धातु का ग्रहण होता है। ण्यन्तों से **अ प्रत्ययात्** (८६७) द्वारा तथा आस् और श्रन्थ् से **गुरोश्च हलः** (८६८) द्वारा 'अ' प्रत्यय प्राप्त था उस का यह युच् अपवाद है अतः लघुकौमुदीकार लिखते हैं—**अकारस्यापवादः।**

ण्यन्तों के उदाहरण यथा—कारणा (कराना, प्रेरणा), हारणा (हराना)। 'डुकृञ् करणे' (तना० उभय०) तथा 'हृञ् हरणे' (भ्वा० उभय०) धातुओं से **हेतुमति च** (७००) द्वारा हेतुमण्णिच् हो कर वृद्धि-रपर करने से—कारि, हारि। **सनाद्यन्ता धातवः** (४६८) से ये दोनों धातुसंज्ञक हैं। प्रत्ययान्त होने के कारण स्त्रीत्वविशिष्ट भाव आदि में इन से **अ प्रत्ययात्** (८६७) द्वारा 'अ' प्रत्यय प्राप्त होता है परन्तु प्रकृतसूत्र से उस का बाध कर युच् प्रत्यय प्रवृत्त हो जाता है—कारि+यु, हारि+यु। **युवोरनाकौ** (७८५) से यु को अन आदेश तथा **णेरनिटि** (५२९) से णि का लोप करने से—कार्+अन=कारन, हार्+अन=हारन। **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** (१३८) से नकार को णकार आदेश, **अजाद्यतष्टाप्** (१२४५) से टाप्, अनुबन्धलोप तथा सवर्णदीर्घ करने पर—कारणा, हारणा। अब आबन्तत्वात् सुँ विभक्ति ला कर उस का **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०** (१७९) से लोप हो कर 'कारणा, हारणा' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

इसी प्रकार—चोरि (चुर्+णिच्) से—चोरणा (चुराना); गणि (गण्+णिच्) से—गणना (गिनना); सान्त्वि (सान्त्व्+णिच्) से—सान्त्वना (दिलासा); लक्षि (लक्ष्+णिच्) से—लक्षणा (शब्दशक्तिविशेष); कामि (कम्+णिङ्) से—कामना (इच्छा); वञ्चि (वञ्च्+णिच्) से—वञ्चना (ठगना); मन्त्रि (मन्त्र्+णिच्) से—मन्त्रणा (सलाह); यन्त्रि (यन्त्र्+णिच्) से—यन्त्रणा (पीडा); चोदि (चुद्+णिच्) से—चोदना (प्रेरणा); रसि (रस्+णिच्) से—रसना (जिह्वा, रसयत्यनयेति); अर्हि (अर्ह्+णिच्) से—अर्हणा (पूजा, **पूजा नमस्यापचितिः सपर्याऽर्चाऽर्हणाः समा** इत्यमरः); अर्चि (अर्च्+णिच्) से—अर्चना (पूजा); भौवादिक से—अर्चा (**गुरोश्च हलः** ८६८); कल्पि (कृप्+णिच्) से—कल्पना (रचना आदि); गर्हि (गर्ह्+णिच्) से—गर्हणा (निन्दा) आदि अनेक प्रयोग निष्पन्न होते हैं।

आसना (बैठना, अथवा आस्यतेऽत्रेति—जहां बैठा जाता है, आसन आदि)।

'आसँ उपवेशने' धातु हलन्त गुरुमान् है अतः इस से भाव या अधिकरण में **गुरोश्च हलः** (८६८) से 'अ' प्रत्यय प्राप्त है। परन्तु प्रकृतसूत्र से उस का बाध हो कर युच् प्रत्यय हो जाता है। यु को अन आदेश, टाप्, सवर्णदीर्घ तथा विभक्तिकार्य करने पर 'आसना' प्रयोग सिद्ध होता है। उपपूर्वक—उपासना। **उपासनामेत्य पितुः स्म रज्यते इति नैषधे** (१.३४)।

श्रन्थना (ढीला करना)। यहां पर 'श्रन्थ विमोचनप्रतिहर्षयोः' धातु से भाव में पूर्ववत् **गुरोश्च हलः** (८६८) से प्राप्त 'अ' प्रत्यय का बाध कर प्रकृतसूत्र से युच् हो कर अन आदेश, टाप्, सवर्णदीर्घ और विभक्तिकार्य करने पर 'श्रन्थना' प्रयोग सिद्ध होता है।

चिन्ता, कथा, कुम्बा (आच्छादन), पूजा, चर्चा आदि शब्द चिन्ति आदि ण्यन्त धातुओं से परे अङ् प्रत्यय करने से सिद्ध होते हैं—(देखें—**चिन्ति-पूजि-कथि-कुम्बि-चर्चश्च** ३.३.१०५)।

क्षमा, त्रपा, भिदा, छिदा, तुला, जरा, पीडा, रुजा आदि अनेक शब्दों में भी अङ् प्रत्यय किया जाता है (देखें—**षिद्भिदादिभ्योऽङ्** ३.३.१०४)।

लघुकौमुदी में यह स्त्र्यधिकार प्रकरण यहां पर समाप्त समझना चाहिये। इस से आगे 'स्त्रियाम्' का सम्बन्ध नहीं होता। **अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्** तथा **भावे** की भी पीछे से आ रही अनुवृत्ति समाप्त समझनी चाहिये। अत एव अग्रिम **नपुंसके भावे क्तः** (८७०) सूत्र में नये सिरे से 'भावे' का ग्रहण किया गया है।

अभ्यास (११)

(१) ऊति आदि छः शब्द कौन कौन से हैं? निपातन से इन में क्या क्या कार्य सिद्ध किया जाता है?

(२) **सम्पदादि छः** शब्दों का सार्थ उल्लेख करें।

(३) **क्तिन्नपीष्यते** यह वचन कहां पर किस प्रसङ्ग में कहा गया है? सोदाहरण व्याख्या करें।

(४) 'पूनिः' पाठ पर एक विस्तृत टिप्पण लिखें।

(५) क्तिन् प्रत्यय में अनुबन्धों का प्रयोजन बतलाएं।

(६) क्तिन् को निष्ठावत् अतिदेश करने का क्या प्रयोजन है सोदाहरण लिखें?

(७) सेट् धातुओं से परे भी क्तिन् को इट् आगम क्यों नहीं होता?

(८) क्तिन् कैसे घञ् का अपवाद है? यह अच् और अप् का अपवाद क्यों नहीं? अपवाद न होते हुए भी यह अच् और अप् का बाध कैसे कर लेता है? सोदाहरण समझाइये।

(९) ज्वरत्वर० में 'क्ङिति' का अनुवर्त्तन करना चाहिये या नहीं?

(१०) णिजन्तों से **क्या अ प्रत्ययात्** द्वारा 'अ' प्रत्यय हो जायेगा?

(११) 'गुरोश्च हलः' में 'हलः' ग्रहण का क्या प्रयोजन है?

क्त (there are two क्त's) this one demonstrates the past participle

(१२) 'निष्ठायां सेट् इति वक्तव्यम्' वार्त्तिक का क्या प्रयोजन है ?
(१३) 'इच्छा' में क्या कार्य निपातन द्वारा सिद्ध किया गया है ?
(१४) 'जूर्' और 'ऊ' शब्दों की सब विभक्तियों में रूपमाला लिखें।
(१५) निम्नस्थ सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या लिखें—
गुरोश्च हलः; अ प्रत्ययात्; ज्वरत्वर०; सम्पदादिभ्यः क्विँप्।
(१६) निम्नस्थ रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—
[क] ऊतिः, सम्पत्, कारणा, ईहा, चिकीर्षा, कृतिः, लूनिः, जूः, इच्छा, वाञ्छा।
[ख] कीर्त्तिः, सातिः, पुत्रकाम्या, स्थितिः, गतिः, रक्षा, उपलब्धिः, इष्टिः, आसना, चिन्ता, शुद्धिः, पीतिः।
(१७) कर्तृभिन्न कारक में क्तिन् के पांच उदाहरण विग्रहनिर्देशपूर्वक दीजिये।

——:०:——

अब भाव में सुप्रसिद्ध प्रत्यय क्त का निरूपण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(८७०) नपुंसके भावे क्तः ।३।३।११४।।**

अर्थः—नपुंसकत्वविशिष्ट भाव में धातु से परे क्त प्रत्यय हो।

व्याख्या—नपुंसके ।७।१। भावे ।७।१। क्तः ।१।१। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं। अर्थः—(नपुंसके) नपुंसकत्वविशिष्ट (भावे) भाव में (धातोः) धातु से (परः) परे (क्तः) क्त (प्रत्ययः) प्रत्यय होता है। पीछे भावसामान्य में घञ् प्रत्यय (८५१) कह चुके हैं। स्त्रीत्वविशिष्ट भाव में क्तिन् (८६३) तथा नपुंसकत्व-विशिष्ट भाव में प्रकृतसूत्र से क्त—ये दोनों उस के अपवाद हैं। इस प्रकार पारि-शेष्यात् पुंस्त्वविशिष्ट भाव में ही घञ् को अवकाश मिलता है। पीछे निष्ठाप्रकरण में भी भाववाच्य में क्त का विधान किया जा चुका है। वह विधान भूतकालविशिष्ट भाव में था परन्तु यहां कालसामान्य में क्त का विधान किया गया है—यह अन्तर यहां हृदयङ्गम कर लेना चाहिये।

उदाहरण यथा—हसितम् (हंसना)। यहां हस् (हसँ हसने; भ्वा० प० सेट्) धातु से नपुंसकभाव में प्रकृतसूत्र से क्त प्रत्यय, ककार अनुबन्ध का लोप तथा **आर्ध-धातुकं शेषः** (४०४) से आर्धधातुकसंज्ञा हो कर **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** (४०१) से इट् का आगम करने से—हस्+इट् त=हस्+इत=हसित। अब कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर प्रथमैकवचन में सुँ को अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'हसितम्' प्रयोग सिद्ध होता है।

इसी प्रकार—शी से गुण[1] और अयादेश हो कर—शयितम् (सोना); वि-पूर्वक लस् से—विलसितम् (चमकना); रुद् से—रुदितम् (रोना); ज्वल् से—ज्वलि-

---

१. **निष्ठा शीङ्-स्विदि-मिदि-क्ष्विदि-धृषः** (१.२.१९) इति वचनाद् निष्ठाया अकि-त्त्वम्। तेन गुणः।

तम् (जलना); गम् से—गतम्[1] (जाना); स्था से—स्थितम्[2] (ठहरना); नृत् से नृत्तम्[3] (नाचना); प्रपूर्वक लप् से—प्रलपितम् (प्रलाप) आदि सिद्ध होते हैं।

विद्युतो विलसितम् (बिजली का चमकना), छात्रस्य हसितम् (छात्र का हंसना), नटस्य भुक्तम् (नट का खाना), शिशोः शयितम् (बच्चे का सोना), मयूरस्य नृत्तम् (मोर का नाचना), कोकिलस्य व्याहृतम् (कोयल का कूकना), मतङ्गजस्य गतम् (हाथी का गमन)—इत्यादि स्थानों पर कर्त्ता में भी शेष की विवक्षा के कारण **षष्ठी शेषे** (६०१) से षष्ठी समझनी चाहिये। इन स्थानों पर कृद्योग के कर्त्ता में **न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्** (२.३.६९) से षष्ठी का निषेध हो कर अनभिहित कर्त्ता में तृतीयाविभक्ति प्राप्त होती थी परन्तु **क्तस्य च वर्तमाने** (२.३.६७) सूत्रस्थ भाष्य के प्रामाण्य से ऐसे स्थानों पर केवल शेष की ही विवक्षा मानी जाती है कर्तृत्व की नहीं। (देखें—The Students' Guide to Sanskrit, by V. S. Apte. Page 105)

नपुंसकत्वविशिष्ट भाववाची इस क्त के साहित्यगत कुछ प्रयोग यथा—

(१) **मुहूर्त्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम्** (महा० उद्योग० १३३.१५)। [देर तक धूँआ देने की अपेक्षा थोड़े काल तक भी जलना श्रेष्ठ होता है]।

(२) **उभावलञ्चक्रतुरञ्चिताभ्यां तपोवनावृत्तिपथं गताभ्याम्** (रघु० २.१८)। [वे दोनों (नन्दिनी और दिलीप) अपने सुन्दर गमनों से तपोवन के मार्ग को अलङ्कृत करते थे। गतम् = गमनम्]।

(३) **नृत्तादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्धम्** (मालविकाग्नि० २.६)। [इसकी निश्चलमुद्रा इस के नृत्य से भी अधिक आकर्षक है]।

(४) **अधि रामे पराक्रान्तमधिकर्ता स ते क्षयम्।**
इत्युक्त्वा मैथिली तूष्णीमासांचक्रे दशाननम्॥ (भट्टि० ८.९३)
[जिस राम में पराक्रम स्वस्वामिभावसम्बन्ध से रहता है वह राम तेरा नाश करेगा—इस प्रकार रावण को कह कर मैथिली चुप हो गई। परा √ क्रम् + क्त = पराक्रान्तम्। उदित्त्वेन क्त्वायामिड्विकल्पनाद् **यस्य विभाषा** (७.२.१५) इति निष्ठाया इण्निषेधः। **अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति** (७२७) इत्युपधादीर्घः। अनुस्वार-परसवर्णौ]।

(५) **आशितम्भवमुत्कृष्टं वल्गितं शयितं स्थितम्।**
बह्वमन्यत काकुत्स्थः कपीनां स्वेच्छया कृतम्॥ (भट्टि० ६.१०६)
[अपनी इच्छा से किये गये वानरों के खाने, किलकारी मारने, दौड़ने, लेटने और ठहरने को देख कर रामचन्द्र जी बहुत प्रसन्न हुए]।

---

१. **अनुदात्तोपदेशवनति०** (५५९) इत्यनुनासिकलोपः।
२. **द्यति-स्यति-मा-स्थामित् ति किति** (७.४.४०) इति इत्त्वम्।
३. नृती गात्रविक्षेपे (दिवा० प०)। **श्वीदितो निष्ठायाम्** (७.२.१४) इतीण्निषेधः।

(६) **मन्दगतः पक्षी** । (भट्टि० ७.७६) ।
[मन्दं गतं गमनं यस्य स मन्दगतः] ।
(७) **तस्या गतं सविलासम्** (आप्टे०) । [उस की चाल आकर्षक है] ।
(८) अलं रुदितेन; अलं प्रलपितेन; अलं जल्पितेन; अलं बहुभाषितेन इत्यादि[1] ।

नोट—अनेक वैयाकरण इस क्त प्रत्यय का अकर्मक धातुओं से ही विधान मानते हैं। उन के मतानुसार जहां कहीं सकर्मक धातुओं से इस का प्रयोग देखा जाता है वहां कर्म अविवक्षित होता है।

अब दूसरे सुप्रसिद्ध भाववाचक ल्युट् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(८७१) ल्युट् च ।३।३।११५।।**

हसितम्[2] । हसनम् ।।

अर्थः—नपुंसकत्वविशिष्ट भाव में धातु से परे ल्युट् प्रत्यय हो।

व्याख्या—ल्युट् ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । नपुंसके ।७।१। भावे ।७।१। (**नपुंसके भावे क्तः** से) । **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं। अर्थः—(नपुंसके) नपुंसकत्वविशिष्ट (भावे) भाव में (धातोः) धातु से (परः) परे (ल्युट्) ल्युट् (प्रत्ययः) प्रत्यय (च) भी हो जाता है।

ल्युट् प्रत्यय के लकार और टकार इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाते है, 'यु' मात्र शेष रहता है जिसे **युवोरनाकौ** (७८५) से अन आदेश हो जाता है। ल्युट् में लकार **लिति** (६.१.१८७) स्वर के लिये तथा टकार **टिड्ढाणञ्०** (१२४७) द्वारा ङीप् विधान के लिये जोड़ा गया है—राजधानी, गोदोहनी । यहां अधिकरण में ल्युट् है।

उदाहरण यथा—हसनम् (हंसना) । हस् (हसेँ हसने; हंसना; भ्वा० प०) धातु से नपुंसकत्वविशिष्ट भाव में प्रकृतसूत्र से ल्युट् प्रत्यय हो कर अनुबन्धों का लोप करने से—हस्+यु । **युवोरनाकौ** (७८५) से यु को अन आदेश हो कर—हस्+अन =हसन । **भावे ल्युडन्तः** (लिङ्गानु० ११६) लिङ्गानुशासनीय इस वचन के अनुसार भाव में ल्युडन्त शब्द नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं अतः यहां नपुंसक में सुँ को

---

१. **गम्यमानाऽपि क्रिया कारकविभक्तेः प्रयोजिका**—इस वचन के अनुसार वाक्यार्थ से प्रतीत होने वाली क्रिया भी कारकविभक्ति में निमित्त हो जाती है। यहां गम्यमाना साधन (सिद्ध होना) क्रिया के रुदित (रोना) आदि करण हैं अतः इन में तृतीया विभक्ति हुई है। 'अलम्' निषेध का वाचक है। 'अलं रुदितेन' का अभिप्राय है—रोने से कुछ सिद्ध न होगा अर्थात् मत रोओ । इसी अर्थ में वक्ष्यमाण (८७१) सूत्र से ल्युट् का भी प्रयोग होता है—अलं रोदनेन ।

२. यह पिछले **नपुंसके भावे क्तः** (८७०) सूत्र का उदाहरण है। वरदराज ने समानार्थक होने से दोनों प्रत्ययों के उदाहरण इकट्ठे दे दिये हैं।

अतोऽम् (२३४) द्वारा अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'हसनम्' प्रयोग सिद्ध होता है। इस का उच्चारण ज्ञानशब्द की तरह होता है—हसनम्, हसने, हसनानि आदि। इसी प्रकार—गमनम्, पठनम्, चलनम्, धावनम् आदि समझने चाहियें।

ल्युट् आर्धधातुक प्रत्यय है अतः इस के परे होने पर यथायोग्य इग्लक्षण गुण या लघूपधगुण हो जाता है। यथा—श्रु+ल्युट्=श्रु+यु=श्रु+अन=श्रो+अन=श्रवणम् (सुनना); पिष्+ल्युट्=पिष्+यु=पिष्+अन=पेषणम् (पीसना); भू+ल्युट्=भवनम् (होना); नी+ल्युट्=नयनम् (ले जाना); शुध्+ल्युट्=शोधनम् (शुद्ध होना)। ल्युट् की विवक्षामात्र में **अस्तेर्भूः** (५७६) से अस् को भू तथा **ब्रुवो वचिः** (५९६) से ब्रू को वच् आदेश हो जाता है। अस्—भू+ल्युट्=भवनम् (होना); ब्रू—वच्+ल्युट्=वचनम् (कहना)।

ल्युट् प्रत्यय के परे रहते णिजन्त धातुओं के णिच् का **णेरनिटि** (५२९) से लोप हो जाता है; यथा—चोरि+ल्युट्=चोर्+अन=चोरणम्[1] (चुराना); पाठि+ल्युट्=पाठनम् (पढ़ाना); श्रावि+ल्युट्=श्रावणम् (सुनाना); पाचि+ल्युट्=पाचनम् (पकवाना); अध्यापि+ल्युट्=अध्यापनम् (पढ़ाना); गणि+ल्युट्=गणनम् (गिनना); कथि+ल्युट्=कथनम् (कहना); स्थापि+ल्युट्=स्थापनम् (रखना)[2]।

---

१. यहां यह शङ्का उत्पन्न होती है कि जब णिच् का **णेरनिटि** (५२९) से लोप हो जाता है तो **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** इस न्याय के अनुसार णिच् के कारण उत्पन्न 'चोर्' में हुए लघूपधगुण का भी अपाय (नाश) हो कर 'चुरणम्' बनना चाहिये। यदि ल्युट् को मान कर पुनः लघूपधगुण करेंगे तो **अचः परस्मिन् पूर्वविधौ** (६९६) से परनिमित्तक णिच्लोप स्थानिवत् हो बीच में आ कर व्यवधान उत्पन्न कर उसे रोक देगा। इस तरह भी 'चुरणम्' ही बनेगा 'चोरणम्' नहीं। इस का समाधान यह है कि प्रथम तो **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** न्याय ही सार्वत्रिक नहीं है। लक्ष्यसिद्धि के लिये ही इस न्याय का आश्रय किया जाता है लक्ष्य बिगाड़ने के लिये नहीं। अत एव मुनीनाम्, साधूनाम्, पितॄणाम् आदि में **नामि** (१४९) द्वारा ह्रस्व को दीर्घ कर देने पर भी ह्रस्वनिमित्तक नुँट् की निवृत्ति नहीं होती। लोक में भी घट के निमित्त कुम्भकार आदि के अपाय (नाश) हो जाने पर भी तन्निमित्तक घट का नाश नहीं देखा जाता। दूसरी बात यह है कि लुप्त हुए णिच् को प्रत्ययलक्षणद्वारा या स्थानिवद्भाव के द्वारा मान कर पुनः गुण आदि हो जायेंगे। अतः कोई दोष प्रसक्त न होगा। इस प्रकार 'चोरणम्' ही बनेगा 'चुरणम्' नहीं।

२. अनेक स्थानों पर साधारण धातुओं तथा हेतुमण्णिजन्त धातुओं के रूप एक समान बनते हैं। यथा—कृत्-कर्तनम् (काटना), कर्ति—कर्तनम् (कटवाना)। ध्वंस्—ध्वंसनम् (नष्ट होना), ध्वंसि—ध्वंसनम् (नष्ट करना)। दृश्—दर्शनम् (देखना),

ल्युट् प्रत्यय कित् नहीं है अतः इस के परे रहते धातु को सम्प्रसारण आदि नहीं होता। यथा—ग्रह्+ल्युट्=ग्रहणम्; यज्+ल्युट्=यजनम्; स्वप्+ल्युट्=स्वपनम्; वप्+ल्युट्=वपनम्।

यहां यह बात विशेष ध्यातव्य है कि इस कृत्संज्ञक-ल्युडन्त के योग में **कर्तृकर्मणोः कृति** (२.३.६५) द्वारा कर्त्ता या कर्म में षष्ठी विभक्ति हो जाती है। यथा—भिक्षोर्हसनम्, शिशोः क्रन्दनम्, अहेः सर्पणम् आदि में कर्ता में तथा शिवस्य वन्दनम्, गिरेर्लङ्घनम्, अन्नस्य भक्षणम् आदि में कर्म में षष्ठी हुई है। यदि किसी वाक्य में कर्ता और कर्म दोनों का प्रयोग हो तो **उभयप्राप्तौ कर्मणि** (२.३.६६) से केवल कर्म में ही षष्ठी विभक्ति आती है कर्त्ता में नहीं। अनभिहित कर्त्ता में तब **कर्तृकरणयोस्तृतीया** (८९५) द्वारा तृतीया विभक्ति हो जाती है। यथा—यज्ञदत्तेन पयसः पानं मे न रोचते (मुझे यज्ञदत्त का दूध पीना अच्छा नहीं लगता)।

ल्युट् प्रत्यय धातुमात्र से किया जाता है। अनुवाद आदि में प्राथमिक विद्यार्थियों के लिये ल्युडन्त प्रयोग बड़े उपयोगी रहते हैं। अतः यहां हम अत्युपयोगी ल्युडन्तों की एक बृहत्-तालिका अर्थसहित दे रहे हैं[1]—

धातु ल्युडन्त अर्थ

१. (अट्) अटन, पर्यटन (घूमना)
२. (अद्) अदन (खाना)
३. (अय्) पलायन[2] (भागना)
४. (अर्च्) अर्चन (पूजा करना)
५. (अर्जि) अर्जन, उपार्जन (कमाना)
६. (अर्थि) प्रार्थन (मांगना)
७. (अव्) अवन (पालना)
८. (अश्) अशन (खाना)
९. (अस्) असन, निरसन (फेंकना)

धातु ल्युडन्त अर्थ

१०. (अस्) भवन (होना)। [अस्तेर्भूः]
११. (आप्) प्रापण (पाना)
१२. (आस्) उपासन (निकट बैठना)
१३. (इ) अयन (जाना) [इण् गतौ]
१४. (इ) अध्ययन (पढ़ना) [इङ्]
१५. (इष्) एषण (चाहना)
१६. (ईक्ष्) ईक्षण, निरीक्षण (देखना)
१७. (कथि) कथन (कहना)
१८. (कम्प्) कम्पन (कांपना)

दर्शि—दर्शनम् (दिखाना)। तृप्—तर्पणम् (तृप्त होना), तर्पि—तर्पणम् (तृप्त करना)। द्युत्—द्योतनम् (चमकना), द्योति—द्योतनम् (चमकाना)। बुध्—बोधनम् (जानना), बोधि—बोधनम् (जनाना)। अतः प्रयोगों में प्रकरण या प्रसङ्ग को विचार कर के ही इसे समझना चाहिये।

१. इस तालिका में धातुनिर्देश करते हुए णिजन्तों का परिनिष्ठित रूप ही लिखा गया है मूल धातु नहीं। यथा—'चुर्' न लिख कर 'चोरि', 'कथ्' न लिख कर 'कथि', 'अर्थ्' न लिख कर 'अर्थि', 'अर्ज्' न लिख कर 'अर्जि'। किञ्च इस तालिका में उपसर्गयोग भी अपने-आप समझने चाहियें क्योंकि अनेक धातुओं के प्रसिद्धत्वात् उपसर्गयुक्त रूप ही यहां दिये गये हैं शुद्ध रूप नहीं।

२. **उपसर्गस्यायतौ** (५३५) इति उपसर्गरेफस्य लत्वम्।

धातु ल्युडन्त अर्थ

१९. (काश्) प्रकाशन (चमकना)
२०. (कुप्) कोपन, प्रकोपन (क्रोध करना)
२१. (कूज्) कूजन (कूजना)
२२. (कृ) करण (करना); अनुकरण
२३. (कृत्) कर्तन (काटना)
२४. (कृप्) कल्पन (बनाना)
२५. (कृष्) कर्षण (खींचना)
२६. (क्रन्द्) क्रन्दन (चिल्लाना)
२७. (क्रम्) क्रमण (कदम बढ़ाना)
आक्रमण (हमला करना)
२८. (क्री) क्रयण (खरीदना)
विक्रयण (बेचना)
२९. (क्रीड्) क्रीडन (खेलना)
३०. (क्रुध्) क्रोधन (क्रोध करना)
३१. (क्वण्) क्वणन (शब्द करना)
३२. (क्वथ्) क्वथन (काढ़ना)
३३. (क्षर्) क्षरण (टपकना)
३४. (क्षालि) क्षालन, प्रक्षालन (धोना)
३५. (क्षिप्) क्षेपण, प्रक्षेपण (फेंकना)
३६. (क्षुभ्) क्षोभण (क्षुब्ध होना)
३७. (खण्डि) खण्डन (तोड़ना)
३८. (खन्) खनन (खोदना)
३९. (खाद्) खादन (खाना)
४०. (खेल्) खेलन (खेलना)
४१. (गणि) गणन (गिनना)

धातु ल्युडन्त अर्थ

४२. (गद्) गदन (कहना)
४३. (गम्) गमन (जाना)
४४. (गर्ज्) गर्जन (गरजना)
४५. (गर्ह्) गर्हण (निन्दा करना)
४६. (गवेषि) गवेषण (ढूंढ़ना)
४७. (गाह्) गाहन (बिलोना)
वगाहन[1] (स्नान करना)
४८. (गुञ्ज्) गुञ्जन (गूंजना)
४९. (गुप्) गोपायन, गोपन[2] (बचाना)
५०. (गुम्फ्) गुम्फन (गूंथना)
५१. (गुह्) गूहन[3] (छुपाना)
५२. (गृध्) गर्धन (लोभ करना)
५३. (गॄ) गरण, निगरण[4] (निगलना)
५४. (गै) गान (गाना)
५५. (ग्रन्थ्) ग्रन्थन (गूंथना)
५६. (ग्रस्) ग्रसन (निगलना)
५७. (ग्लै) ग्लान (मुरझाना)
५८. (घट्) घटन (चेष्टा करना)
५९. (घुष्) घोषण (घोषणा करना)
६०. (घृष्) घर्षण (घिसना)
६१. (घ्रा) घ्राण (सूंघना)
६२. (चक्ष्) ख्यान, आख्यान[5] (कहना)
६३. (चम्) आचमन (आचमन करना)
६४. (चर्) चरण, आचरण (करना)
६५. (चर्व्) चर्वण (चबाना)
६६. (चल्) चलन (चलना)

१. भागुरिमते 'अव' इत्यस्याकारलोपः। अन्येषां मते—अवगाहनमिति।
२. **गुपू-धूप-विच्छि-पणि-पनिभ्य आयः** (४६७)। **आयादय आर्धधातुके वा** (४६८)।
३. **ऊदुपधाया गोहः** (६.४.८९)। गुणहेतावजादौ प्रत्यये गुहेरुपधाया ऊकारादेशः।
४. 'टुवम उद्गिरणे' इति धातुपाठे निर्देशात् विङति प्रत्यये परतो विहितम् इत्वं ल्युटचपीष्टमिति केचित्। तेन गिरणम् इत्यपि साधु—इति प्रक्रियासर्वस्वे। धातुपाठेऽर्थनिर्देश आचार्यकृतो नेतीत्त्वमप्रमाणमित्यपरे।
५. **चक्षिङः ख्याञ्** (२.४.५४)। आर्धधातुकविवक्षायां चक्षिङः ख्याञादेशः स्यात्।

धातु	ल्युडन्त	अर्थ
६७. (चि)	चयन	(चुनना)
६८. (चिन्ति)	चिन्तन	(सोचना)
६९. (चुम्ब्)	चुम्बन	(चूमना)
७०. (चूर्णि)	चूर्णन	(पीसना)
७१. (चेष्ट्)	चेष्टन	(चेष्टा करना)
७२. (चोरि)	चोरण	(चुराना)
७३. (च्युत्)	च्योतन	(झरना, टपकना)
७४. (छर्द्)	छर्दन	(वमन करना)
७५. (छादि)	छादन	(ढांपना)
७६. (छिद्)	छेदन	(काटना)
७७. (जन्)	जनन	(पैदा होना)
७८. (जप्)	जपन	(जपना)
७९. (जल्प्)	जल्पन	(बकवाद करना)
८०. (जागृ)	जागरण	(जागना)
८१. (जि)	जयन, विजयन	(जीतना)
८२. (जीव्)	जीवन	(जीना)
८३. (जृम्भ्)	जृम्भण	(जम्भाई लेना)
८४. (ज्ञा)	ज्ञान	(जानना)
८५. (ज्वल्)	ज्वलन	(जलना)
८६. (डी)	उड्डयन	(उड़ना)
८७. (तक्ष्)	तक्षण	(छीलना)
८८. (तन्)	वितनन	(विस्तार करना)
८९. (तप्)	तपन	(तपाना, तपना)
९०. (तर्जि)	तर्जन	(घुड़की देना)
९१. (ताडि)	ताडन	(पीटना)
९२. (तुद्)	तोदन	(चुभोना)
९३. (तुष्)	तोषण	(प्रसन्न होना)
९४. (तृप्)	तर्पण	(तृप्त होना)
९५. (तॄ)	तरण	(तैरना)
	वितरण	(बांटना)
९६. (तोलि)	तोलन	(तोलना)
९७. (त्यज्)	त्यजन	(छोड़ना)
९८. (त्रै)	त्राण	(बचाना)
९९. (त्वर्)	त्वरण	(जल्दी करना)

धातु	ल्युडन्त	अर्थ
१००. (दण्डि)	दण्डन	(दण्ड देना)
१०१. (दंश्)	दंशन	(डसना)
१०२. (दम्)	दमन	(वश में करना)
१०३. (दल्)	दलन	(दलना)
१०४. (दह्)	दहन	(जलाना)
१०५. (दा)	दान (देना), आदान	(लेना)
१०६. (दिव्)	देवन	(जूआ खेलना)
१०७. (दीप्)	दीपन	(चमकना)
१०८. (दुह्)	दोहन	(दोहना)
१०९. (दृ)	आदरण	(आदर करना)
११०. (दृश्)	दर्शन	(देखना)
१११. (द्युत्)	विद्योतन	(चमकना)
११२. (द्रुह्)	द्रोहण	(द्रोह करना)
११३. (द्विष्)	द्वेषण	(द्वेष करना)
११४. (धा)	विधान	(करना)
११५. (धाव्)	धावन	(दौड़ना)
११६. (ध्मा)	ध्मान	(फूंकना)
११७. (ध्यै)	ध्यान	(ध्यान करना)
११८. (ध्वन्)	ध्वनन	(शब्द करना)
११९. (ध्वंस्)	ध्वंसन	(नष्ट होना)
१२०. (नम्)	नमन	(झुकना)
१२१ (नर्द्)	नर्दन	(गरजना)
१२२. (नश्)	नशन, विनशन	(नाश होना)
१२३. (निन्द्)	निन्दन	(निन्दा करना)
१२४. (नी)	नयन	(ले जाना)
	आनयन	(लाना)
१२५. (नुद्)	नोदन	(प्रेरणा करना)
१२६ (नृत्)	नर्तन	(नाचना)
१२७. (पच्)	पचन	(पकाना)
१२८. (पठ्)	पठन	(पढ़ना)
१२९. (पत्)	पतन	(गिरना)
१३०. (पा)	पान	(पीना) [भ्वा०]
१३१. (पा)	पान	(रक्षा करना) [अदा०]
१३२. (पालि)	पालन	(पालना)

धातु ल्युडन्त अर्थ	धातु ल्युडन्त अर्थ
१३३. (पिष्) पेषण (पीसना)	१६३. (मन्थ्) मन्थन (बिलोना)
१३४. (पीडि) पीडन (दुःख देना)	१६४. (मन्) मनन (मानना)
१३५. (पुष्) पोषण (पालन करना)	१६५. (मन्त्रि) मन्त्रण (सलाह करना)
१३६. (पू) पवन (पवित्र करना)	१६६. (मस्ज्) निमज्जन (गोता लगाना)
१३७. (पूजि) पूजन (पूजा करना)	१६७. (मा) मान (मापना)
१३८. (प्रच्छ्) प्रच्छन (पूछना)	१६८. (मानि) मानन (पूजा करना)
१३९. (प्रथ्) प्रथन (प्रसिद्ध होना)	१६९. (मार्गि) मार्गण (ढूंढना)
१४०. (फल्) फलन (फल देना)	१७०. (मार्जि) मार्जन (साफ करना)
१४१. (बन्ध्) बन्धन (बांधना)	१७१. (मिल्) मेलन (मिलना)
१४२. (बाध्) बाधन (रोकना)	१७२. (मिश्रि) संमिश्रण (मिलाना)
१४३. (बुध्) बोधन (जानना)	१७३. (मिह्) मेहन (सींचना, मूतना)
१४४. (ब्रू) वचन (कहना)। [**ब्रुवो वचिः**]	१७४. (मील्) निमीलन (नेत्र बन्द करना) उन्मीलन (नेत्र खोलना)
१४५. (भक्ष्) भक्षण (खाना)	१७५. (मुच्) मोचन (छोड़ना)
१४६. (भज्) भजन (सेवा करना)	१७६. (मुण्डि) मुण्डन (मूंडना)
१४७. (भण्) भणन (कहना)	१७७. (मुद्) मोदन (प्रसन्न होना)
१४८. (भञ्ज्) भञ्जन (तोड़ना)	१७८. (मुर्छ्) मूर्च्छन[१] (मूर्च्छित होना)
१४९. (भर्त्सि) भर्त्सन (झिड़कना)	१७९. (मुष्) मोषण (चुराना, लूटना)
१५०. (भाष्) भाषण (बोलना)	१८०. (मुह्) मोहन (बेसुध होना)
१५१. (भास्) भासन (चमकना)	१८१. (मृ) मरण (मरना)
१५२. (भिक्ष्) भिक्षण (मांगना)	१८२. (मृज्) मार्जन[२] (शुद्ध करना)
१५३. (भिद्) भेदन (तोड़ना)	१८३. (मृद्) मर्दन (रगड़ना)
१५४. (भुज्) भोजन (पालना, खाना)	१८४. (म्लै) म्लान (मुरझाना)
१५५. (भू) भवन (होना)	१८५. (यज्) यजन (देवपूजा)
१५६. (भूषि) भूषण (सजाना)	१८६. (यत्) यतन (यत्न करना)
१५७. (भृ) भरण (धारण करना)	१८७. (यन्त्रि) नियन्त्रण (काबू करना)
१५८. (भृज्) भर्जन (भूनना)	१८८. (यम्) नियमन (रोकना)
१५९. (भ्रंश्) भ्रंशन (गिरना)	१८९. (या) यान (जाना) प्रयाण
१६०. (भ्रम्) भ्रमण (घूमना)	१९०. (याच्) याचन (मांगना)
१६१. (मण्डि) मण्डन (सजाना)	१९१. (युध्) योधन (युद्ध करना)
१६२. (मथ्) मथन (बिलोना)	

१. **उपधायां च** (८.२.७८) इत्युपधादीर्घे, **अचो रहाभ्यां द्वे** (६०) इति द्वित्वे **खरि च** (७४) इति चर्त्वम्। नात्र तुँगागम इत्यवधेयम्।

२. **मृजेर्वृद्धिः** (७८२) से वृद्धि हो जाती है।

धातु ल्युडन्त अर्थ	धातु ल्युडन्त अर्थ
१९२. (रक्ष्) रक्षण (बचाना)	२१९. (वन्द्) वन्दन (वन्दना करना)
१९३. (रचि) रचन (बनाना)	२२०. (वप्) वपन (बोना, काटना)
१९४. (रञ्ज्) रञ्जन (रंगना)	२२१. (वम्) वमन (वमन करना)
१९५. (रभ्) आरम्भण[1] (शुरु करना)	२२२. (वर्णि) वर्णन (वर्णन करना)
१९६. (रम्) रमण (क्रीड़ा करना)	२२३. (वस्) वसन, निवसन (रहना) [भ्वा०]
१९७. (राज्) राजन (चमकना)	२२४. (वस्) आवसन (ढांपना) [अदा०]
१९८. (रुच्) रोचन (पसंद आना)	२२५. (वह्) वहन (ढोना, ले जाना)
१९९. (रुद्) रोदन (रोना)	२२६. (वाञ्छ्) वाञ्छन (चाहना)
२००. (रुध्) रोधन (रोकना)	२२७. (विद्) वेदन (जानना) [अदा०]
२०१. (रुह्) आरोहण (चढ़ना) प्ररोहण (उगना)	२२८. (विद्) वेदन (पाना) [तुदा०]
२०२. (रूपि) निरूपण (दर्शाना)	२२९. (विश्) प्रवेशन (प्रवेश करना)
२०३. (लङ्घ्) लङ्घन (भूखा रहना)	२३०. (वृ) वरण (वरना, चुनना)
२०४. (लप्) प्रलपन (प्रलाप करना)	२३१. (वृज्) वर्जन (छोड़ना)
२०५. (लभ्) लम्भन[2] (पाना)	२३२. (वृध्) वर्धन (बढ़ना)
२०६. (लम्ब्) आलम्बन (आश्रय करना)	२३३. (वृष्) वर्षण (बरसना)
२०७. (लष्) अभिलषण (चाहना)	२३४. (वे) वान (बुनना)
२०८. (लस्) विलसन (चमकना)	२३५. (वेष्ट्) वेष्टन (लपेटना)
२०९. (लिख्) लेखन (लिखना)	२३६. (व्रज्) व्रजन (जाना)
२१०. (लिप्) लेपन (लीपना)	२३७. (शंस्) प्रशंसन (प्रशंसा करना)
२११. (लिह्) लेहन (चाटना)	२३८. (शप्) शपन (शाप वा गाली देना)
२१२. (लुण्ठ्) लुण्ठन (लूटना)	२३९. (शम्) शमन (शान्त होना)
२१३. (लुभ्) लोभन (लोभ करना)	२४०. (शास्) शासन (शासन करना)
२१४. (लू) लवन (काटना)	२४१. (शिक्ष्) शिक्षण (सिखाना)
२१५. (लोक्) अवलोकन (देखना)	२४२. (शी) शयन (सोना, लेटना)
२१६. (लोच्) आलोचन (देखना)	२४३. (शुच्) शोचन (शोक करना)
२१७. (वञ्चि) प्रवञ्चन (ठगना)	२४४. (शुध्) शोधन (शुद्ध होना)
२१८. (वद्) वदन (बोलना)	२४५. (शुभ्) शोभन (शोभा पाना)

---

१. **रभेरशब्लिटोः** (७.१.६३)। शप् और लिँट् को छोड़ कर अन्य अजादि प्रत्ययों के परे होने पर रभ् को नुँम् आगम हो जाता है। नकार को अनुस्वार (७८) और अनुस्वार को परसवर्ण (७९) हो कर मकार हो जाता है।

२. **लभेश्च** (७.१.६४)। शप् और लिँट् को छोड़ कर अन्य अजादि प्रत्ययों के परे होने पर लभ् को भी नुँम् आगम हो जाता है।

धातु ल्युडन्त अर्थ	धातु ल्युडन्त अर्थ
२४६. (श्रि) आश्रयण (आश्रय करना)	२६१. (स्खल्) स्खलन (फिसलना)
२४७. (श्रु) श्रवण (सुनना)	२६२. (स्तम्भ्) स्तम्भन (थामना)
२४८. (श्लाघ्) श्लाघन (श्लाघा करना)	२६३. (स्तु) स्तवन (स्तुति करना)
२४९. (श्लिष्) श्लेषण (चिपटना)	२६४. (स्था) स्थान (ठहरना)
२५०. (श्वस्) श्वसन (सांस लेना)	२६५. (स्ना) स्नान (नहाना)
२५१. (ष्ठिव्) ष्ठेवन[1], ष्ठीवन (थूकना)	२६६. (स्निह्) स्नेहन (स्नेह करना)
२५२. (सह्) सहन (सहन करना)	२६७. (स्पन्द्) स्पन्दन (फरफराना)
२५३. (सान्त्वि) सान्त्वन (सान्त्वना देना)	२६८. (स्पृश्) स्पर्शन (छूना)
२५४. (सिच्) सेचन (सींचना)	२६९. (स्मृ) स्मरण (याद करना)
२५५. (सिव्) सेवन, सीवन (सीना)	२७०. (स्यन्द्) स्यन्दन (बहना)
२५६. (सूचि) सूचन (सूचना देना)	२७१. (स्वप्) स्वपन (सोना)
२५७. (सृ) सरण (सरकना)	२७२. (हन्) हनन (मारना)
२५८. (सृज्) सर्जन (पैदा करना)	२७३. (हस्) हसन (हंसना)
२५९. (सृप्) सर्पण (सरकना)	२७४. (हिंस्) हिंसन (हिंसा करना)
२६०. (सेव्) सेवन (सेवा करना)	२७५. (हृ) हरण, अपहरण (हर लेना)

नपुंसकत्वविशिष्ट भाव के अतिरिक्त ल्युट् का प्रयोग करण और अधिकरण कारकों में भी बहुधा प्रसिद्ध है। जैसा कि पाणिनीय सूत्र है—**करणाऽधिकरणयोश्च** (३.३.११७)। अर्थात् करण और अधिकरण कारक में धातु से परे ल्युट् प्रत्यय होता है। उदाहरण यथा --प्रवृश्च्यन्तेऽनेनेति प्रव्रश्चनः (जिस से काटते हैं)। इध्मानां प्रव्रश्चनः—इध्मप्रव्रश्चनः (जिस से लकड़ियां काटते हैं—कुल्हाड़ी)। यहां व्रश्च् (ओँव्रश्चूँ छेदने; तुदा० प० सेट्) धातु से करण में ल्युट् हो कर उसे अन आदेश हो गया है। शात्यन्तेऽनेनेति शातनः (जिस से काट गिराते हैं)। पलाशानां शातनः—पलाश-शातनः (जिस से पत्ते काट कर नीचे गिराये जाते हैं)। यहां शद्+णिच् [शाति, **शदेरगतौ तः** (७.३.४२)] धातु से करण में ल्युट् किया गया है। उपमीयते-ऽनेनेत्युपमानम् (जिस के द्वारा तुलना की जाती है)। यहां उपपूर्वक मा धातु से करण में ल्युट् हुआ है। दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम् (जिस से देखा जाता है--चक्षुः)। यहां दृश् (दृशिर् प्रेक्षणे, भ्वा० प० अनिट्) धातु से ल्युट् किया गया है। उह्यतेऽनेनेति वाहनम् (जिस के द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाया जाता है, रथ आदि)। यहां 'वहँ प्रापणे' (भ्वा० उ० अनिट्) धातु से करण में ल्युट् हो कर **वाहनमाहितात्** (८.४.८) से दीर्घनिपातन किया जाता है। आवर्त्यते (सन्तप्य द्रवीक्रियते) अस्याम् इति आवर्त्तनी (जिस में तपा कर पिघलाते हैं)। तैजसां सुवर्णादीनाम् आवर्त्तनी—

१. ल्युटि लघूपधगुणे ष्ठेवनमिति रूपम्। चान्द्रा भोजीयाश्च ल्युटि बाहुलकादुपधादीर्घमिच्छन्ति ष्ठिवुँसिवुँधात्वोरिति माधवः। तेन ष्ठीवनम्, सीवनम् इत्यपि साधु।

तैजसावर्त्तनी (सुवर्ण आदि जिस में पिघलाया जाता है—सुनार की मूषा-कुठाली)। यहां आङ्पूर्वक ण्यन्त 'वृतुँ वर्त्तने' (भ्वा० आ० सेट्) धातु से अधिकरण में ल्युट् किया गया है। स्त्रीत्व में टित्त्वात् ङीप्। दुह्यन्तेऽस्यामिति दोहनी, गवां दोहनी—गोदोहनी (जिस में गौओं का दूध दोहा जाता है, पात्रविशेष)। यहां पर 'दुहँ प्रपूरणे' (अदा० उ० अनिट्) धातु से अधिकरण में ल्युट् किया गया है। धीयतेऽस्यामिति धानी, राज्ञो धानी—राजधानी,[1] यमस्य धानी—यमधानी[2]। यहां 'डुधाञ् धारणपोषणयोः' (जुहो० उभय० अनिट्) धातु से अधिकरण में ल्युट् किया गया है।

भाव, करण और अधिकरण के अतिरिक्त अन्य कारकों में भी ल्युट् हो जाता है—**कृत्यल्युटो बहुलम्** (७७२)। इस का विवेचन पीछे इसी सूत्र पर कर चुके हैं वहीं देखें।

अब ल्युट् की तरह करण और अधिकरण में होने वाले घ प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८७२) पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण ।३।३।११८॥

अर्थः—पुंस्त्वविशिष्ट संज्ञा के वाच्य होने पर करण और अधिकरण में धातु से परे प्रायः 'घ' प्रत्यय हो जाता है।

व्याख्या—पुंसि ।७।१। संज्ञायाम् ।७।१। घः ।१।१। प्रायेण ।३।१। (प्रकृत्यादित्वात् सर्वविभक्त्यपवादस्तृतीया)। करणाधिकरणयोः ।७।२। (**करणाधिकरणयोश्च** से)। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं। करणं चाऽधिकरणं च करणाधिकरणे, तयोः=करणाधिकरणयोः। इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(पुंसि) पुंलिङ्ग में (संज्ञायाम्) संज्ञा गम्य होने पर (करणाधिकरणयोः) करण और अधिकरण कारकों में (धातोः) धातु से (परः) परे (प्रायेण) प्रायः (घः) घ (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है। अभिप्राय यह है कि प्रकृतिप्रत्ययसमुदाय से यदि संज्ञा अर्थ की प्रतीति होती हो तो करण और अधिकरण कारक में धातु से परे 'घ' प्रत्यय होता है। ऐसा शब्द पुंलिङ्ग में ही प्रयुक्त होता है। उदाहरण यथा—दन्तच्छदः (ओष्ठ)। दन्ताश्छाद्यन्तेऽनेनेति दन्तच्छदः। जिस से दान्त आच्छादित किये जाते हैं अर्थात् होंठ। 'छद अपवारणे' (ढांपना; चु० उ० सेट्) धातु से स्वार्थ में णिच् करने पर 'छादि' रूप निष्पन्न होता है। इस की **सनाद्यन्ता धातवः** (४६८) से धातुसंज्ञा होती है। अब दन्तकर्मक इस 'छादि' धातु से करण कारक में प्रकृतसूत्र से 'घ' प्रत्यय हो जाता है। प्रत्यय का आदि घकार **लशक्वतद्धिते** (१३६) से इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है[3]। अब 'छादि+अ' इस कृदन्त के योग

---

१. तौ दम्पती स्वां प्रति राजधानीं प्रस्थापयामास वशी वसिष्ठः (रघु० २.७०)।

२. नरः संसारान्ते प्रविशति यमधानी-यवनिकाम् (भर्तृ० वैराग्य० ५०)।

३. **छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य** (८७३) सूत्र में असन्दिग्ध प्रयोग के लिये प्रत्यय में घकार जोड़ा गया है। इस का अन्य कुछ प्रयोजन नहीं।

6 ut ?

में 'दन्त' कर्म में **कर्तृकर्मणोः कृति** (२.३.६५) द्वारा षष्ठी विभक्ति आ कर 'दन्त+आम्+छादि+अ' इस अवस्था में **णेरनिटि** (५२९) सूत्र से णि का लोप हो कर—दन्त+आम्+छाद्+अ । अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(८७३) छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य ।६।४।९६।।**

द्विप्रभृत्युपसर्गहीनस्य छादेर्ह्रस्वो घे परे। दन्ताश्छाद्यन्तेऽनेनेति दन्तच्छदः[1] । आकुर्वन्त्यस्मिन्नित्याकरः ।। (खदान)

(होंठ) **अर्थः**—यदि 'छाद्' अङ्ग दो या दो से अधिक उपसर्गों से युक्त न हो तो उस की उपधा के स्थान पर ह्रस्व आदेश हो जाता है घ प्रत्यय परे हो तो ।

व्याख्या—छादेः ।६।१। घे ।७।१। अद्व्युपसर्गस्य ।६।१। ह्रस्वः ।१।१। (**खचि ह्रस्वः** से) । णौ ।७।१। (**दोषो णौ** से) । उपधायाः ।६।१। (**ऊदुपधाया गोहः** से) । अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है) । छादेरिति इका निर्देशो न तु णिचा । छाद् इत्यस्येत्यर्थः । द्वौ उपसर्गौ यस्य स द्व्युपसर्गः (बहुव्रीहि०), न द्व्युपसर्गः अद्व्युपसर्गः (नञ्समासः) । जिस के दो उपसर्ग हों उसे 'द्व्युपसर्ग' कहते हैं । 'द्वि' का यहां दो या दो से अधिक अर्थात् अनेक उपसर्गों से तात्पर्य है—ऐसा वार्त्तिककार कात्यायन का मन्तव्य है[2] । अर्थः—(अद्व्युपसर्गस्य) दो या दो से अधिक उपसर्गों से जो युक्त नहीं ऐसे (छादेः) छाद् (अङ्गस्य) अङ्ग की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर (ह्रस्वः) ह्रस्व आदेश हो जाता है (घे) घपरक (णौ) णि प्रत्यय परे हो तो ।

'दन्त+आम्+छाद्+अ' यहां लुप्त हुए णिच् को प्रत्ययलक्षण द्वारा मान कर घपरक णि सुतरां परे मौजूद है । छाद् के साथ दो या दो से अधिक तो क्या एक भी उपसर्ग का योग नहीं है अतः प्रकृतसूत्र से छाद् अङ्ग की उपधा आकार के स्थान पर ह्रस्व आदेश हो कर 'दन्त+आम्+छद्+अ' हुआ । अब षष्ठीतत्पुरुषसमास में विभक्ति का लुक् करने पर—दन्तछद । **छे च** (१०१) से तुँक् का आगम तथा श्चुत्व से तकार को चकार हो कर विभक्ति लाने से 'दन्तच्छदः' प्रयोग सिद्ध होता है । घ प्रत्यय संज्ञा के विषय में हुआ है अतः 'दन्तच्छदः' ओष्ठ की संज्ञा है । **अधरो दन्तच्छद ओष्ठ उच्यते दन्तवासश्च**—इति हलायुधः (२.३६९) । दन्तच्छद का प्रयोग यथा—

> **नाऽऽस्यं पश्यति यस्तस्या निस्ते दन्तच्छदं न वा ।**
> **संशृणोति न चोक्तानि मिथ्याऽसौ विहितेन्द्रियः ।।** (भट्टि० ५.१९)

---

१. दन्तच्छद उरश्छद इत्यनुदाहरणे इति मे मतिः । न ह्यत्र प्रकृतिप्रत्ययसमुदायेन संज्ञा गम्यते । छद इत्येव प्रकृतिप्रत्ययसमुदायरूपः शब्दः । न च तावता संज्ञा गम्यते । दन्तशब्दसमभिव्याहारेणैव तदवगमाद् इति श्रीचारुदेवशास्त्रिणः प्राहुः । परं सूत्रे 'प्रायेण' इत्युक्तेः सर्वक्लेशनिवृत्तिरिति परे व्याचक्षते । अग्रे सुधियो विभावयन्तु ।

२. **अद्विप्रभृत्युपसर्गस्येति वक्तव्यम्** (वा०) । दो आदि उपसर्गों से रहित छाद् को ह्रस्व कहना चाहिये ।

शूर्पणखा अपने भाई रावण को सीता का सौन्दर्य वर्णन करते हुए कह रही है—जिस पुरुष ने राम की प्रिया सीता का मुख नहीं देखा, उस का ओष्ठ नहीं चूमा अथवा भाषण नहीं सुना उस पुरुष की इन्द्रियों का निर्माण व्यर्थ है।

प्रकृतसूत्र में छादि के साथ दो या दो से अधिक उपसर्गों का योग होने पर उपधाह्रस्व निषिद्ध किया गया है अतः एक उपसर्ग के योग में उपधाह्रस्व हो सकता है। यथा—प्रच्छाद्यतेऽनेनेति प्रच्छदः (जिस से शय्या को ढांपते हैं, चादर)। यहां प्रपूर्वक णिजन्त छादि धातु से **पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण** (८७२) से घ प्रत्यय हुआ है। यहां 'प्र' इस एक उपसर्ग का योग है अतः छाद् की उपधा को ह्रस्व हो जाता है—प्रच्छदः[1]। इसी प्रकार—उरश्छाद्यतेऽनेनेति—उरश्छदः (दुपट्टा)। स्मर्यतेऽनेनेति स्मरः (कामदेव)। काम्यतेऽनेनेति कामः। इत्यादि शब्दों में घ प्रत्यय समझना चाहिये।

घ प्रत्यय का अधिकरण में उदाहरण यथा—

आकुर्वन्त्यत्रेति आकरः (जहां मनुष्य अनेक प्रकार के खनिज प्राप्त करते हैं)। अथवा—आकीर्यन्ते धातवोऽत्रेत्याकरः (जहां अनेक प्रकार के खनिज बिखरे रहते हैं—खान)। आङ्पूर्वक 'डुकृञ् करणे' (तना० उ० अनिट्) या 'कॄ विक्षेपे' (तुदा० प० सेट्) धातु से अधिकरण कारक में **पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण** (८७२) सूत्रद्वारा घप्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप तथा **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से गुण करने पर 'आकर' शब्द निष्पन्न होता है। प्रथमैकवचन में—आकरः। यह 'खान' की संज्ञा है—**खनिः स्त्रियामाकरः स्यात्** इत्यमरः। **आकरे पद्मरागाणां जन्म काचमणेः कुतः**—(हितोप० प्रस्तावना)।

इसी प्रकार—निलीयतेऽस्मिन्निति निलयः, आलीयतेऽस्मिन्नित्यालयः। लीङ् श्लेषणे (दिवा० आ० अनिट्) धातु से अधिकरण में घ। निलय और आलय गृह-वाचक हैं। **गृहाः पुंसि च भूम्न्येव निकायनिलयाऽऽलयाः** इत्यमरः।

अब इसी प्रकृत अर्थ में घञ् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८७४) अवे तॄ-स्त्रोर्घञ् ।३।३।१२०॥

अवतारः कूपादेः। अवस्तारो जवनिका॥

अर्थः—'अव' उपसर्ग के उपपद रहते तॄ (तैरना) और स्तॄ (ढांपना) धातुओं से करण और अधिकरण कारकों में प्रायः घञ् प्रत्यय हो जाता है पुंस्त्वविशिष्ट संज्ञा वाच्य हो तो।

व्याख्या—अवे ।७।१। तॄ-स्त्रोः ।६।२। (पञ्चम्यर्थे षष्ठी)। घञ् ।१।१। करणा-

---

१. अनेक उपसर्गों का योग होने पर छाद् की उपधा को ह्रस्व नहीं होता। यथा—समुपच्छादः, समुपातिच्छादः। यहां क्रमशः दो और तीन उपसर्गों का योग है। इन दोनों में पूर्ववत् घ प्रत्यय किया गया है परन्तु अनेक उपसर्गों का योग होने के कारण ह्रस्व नहीं होता।

धिकरणयोः ।७।२। (**करणाधिकरणयोश्च** से) । पुंसि ।७।१। संज्ञायाम् ।७।१। प्रायेण । ३।१। (**पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण** से) । **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं। तॄ च स्तॄ च=तॄस्त्रौ, तयोः=तॄस्त्रोः । इतरेतरद्वन्द्वसमासः । पञ्चम्यर्थे षष्ठी । 'अवे' यह सप्तम्यन्त होने से **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** (९५३) के अनुसार उपपदसंज्ञक है। अर्थः—(अवे) 'अव' के उपपद रहते (तॄस्त्रोः=तॄस्तॄभ्याम्) तॄ और स्तॄ (धातुभ्याम्) धातुओं से (परः) परे (करणाधिकरणयोः) करण और अधिकरण कारकों में (प्रायेण) प्रायः (घञ्) घञ् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है (पुंसि संज्ञायाम्) पुंस्त्वविशिष्ट संज्ञा वाच्य हो तो। घञ् प्रत्यय में आदि घकार **लशक्वतद्धिते** (१३६) द्वारा तथा अन्त्य ञकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक हैं अतः उन का लोप हो कर 'अ' मात्र शेष रहता है। घकार घित्कार्य (कुत्व) के लिये तथा ञकार वृद्धि तथा आद्युदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है। इस का स्पष्टीकरण अग्रिमसूत्र के उदाहरणों में होगा। इस सूत्र में करण और अधिकरण कारकों में इन दो धातुओं का यथासंख्य समझने की भूल नहीं करनी चाहिये। भाष्यानुसार दोनों कारकों में दोनों धातुओं से घञ् हो सकता है। सूत्र के उदाहरण यथा—

अवतरन्त्यनेनेति—अवतारः । जिस के द्वारा स्नानार्थ नीचे उतरते हैं अर्थात् नदी या कूप आदि का घाट। यहां 'अव' उपसर्ग के उपपद रहते 'तॄ प्लवन-सन्तरणयोः' (भ्वा० प० सेट्) धातु से करण कारक में घञ् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, **अचो ञ्णिति** (१८२) से ॠकार को वृद्धि, रपर तथा उपपदसमास करने पर विभक्ति लाने से 'अवतारः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसे अधिकरण का उदाहरण भी मान सकते हैं—अवतरन्त्यस्मिन् स्नानार्थमिति अवतारः (जहां स्नानार्थी लोग स्नान के लिये नीचे उतरते हैं—घाट)। यद्यपि अवतार (घाट) किसी की संज्ञा नहीं अपितु जातिवाचक सामान्यशब्द है तथापि सूत्र में 'प्रायेण' की अनुवृत्ति के कारण असंज्ञा में भी इस की प्रवृत्ति हो जाती है—ऐसा काशिकाकार का मन्तव्य है।

अवस्तीर्यन्तेऽनेनेत्यवस्तारः (जिस से ढांपते हैं—पर्दा, कनात)। यहां पर 'अव' उपसर्ग के उपपद रहते 'स्तॄञ् आच्छादने' (क्र्या० उ० सेट्) धातु से करण कारक में प्रकृतसूत्र से घञ् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप, वृद्धि तथा उपपदसमास कर विभक्ति लाने से 'अवस्तारः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसे भी अधिकरण का उदाहरण मान सकते हैं—अवस्तीर्यन्तेऽस्मिन्नित्यवस्तारः।

मत्स्यादयोऽवताराः। यहां पर अधिकरण में घञ् समझना चाहिये। अवतरत्यस्मिन् रूपे शरीरे वेत्यवतारो रूपं शरीरं वा। **विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासङ्कटे**—(भर्तृ० नीतिशतक ९२)।

यह सूत्र करण और अधिकरण में घञ् का विधान करता है अतः इस से भाव में घञ् नहीं किया जा सकता है। भाव में **अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्** (८५२) द्वारा प्राप्त घञ् का **ॠदोरप्** (८५६) द्वारा विधीयमान अप् प्रत्यय बाधक है—अवतरणम् अवतरः। गुणानामवतरः—गुणावतरः, यौवनावतरः, वसन्तावतरः, परीवादनवावतरः

आदि। कालिदास के **मा भूत् परीवादनवावतारः** (रघु० ५.२४), **नवावतारं कमलादिवोत्पलम्** (रघु० ३.३६) आदि प्रयोग वैयाकरणों की दृष्टि में चिन्त्य हैं। अत एव वामन अपने 'काव्यालङ्कारसूत्राणि' ग्रन्थ में लिखते है—**अवतरावचायशब्दयोर्दीर्घह्रस्वत्वव्यत्यासो बालानाम्** (५.२.४०)।

यह सूत्र **पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण** (८७२) द्वारा विधान किये गये घप्रत्यय का अपवाद समझना चाहिये।

अब 'घ' के अपवाद दूसरे सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(८७५) हलश्च ।३।३।१२१॥**

हलन्ताद् घञ्। घाऽपवादः। रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति रामः। अपमृज्यतेऽनेन व्याध्यादिरित्यपामार्गः॥

अर्थः—हलन्त धातु से परे करण या अधिकरण कारकों में प्रायः घञ् प्रत्यय हो जाता है पुंस्त्वविशिष्ट संज्ञा वाच्य हो तो। **घापवादः**—यह घप्रत्यय (८७२) का अपवाद है।

व्याख्या—हलः ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। करणाधिकरणयोः ।७।२। (**करणाधिकरणयोश्च** से)। घञ् ।१।१। (**अवे तॄस्त्रोर्घञ्** से)। पुंसि ।७।१। संज्ञायाम् ।७।१। प्रायेण ।३।१। (**पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण** से)। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं। 'हलः' यह 'धातोः' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'हलन्ताद् धातोः' बन जाता है। अर्थः—(हलः=हलन्तात्) हल् जिस के अन्त में है ऐसी (धातोः) धातु से (परः) परे (करणाधिकरणयोः) करण और अधिकरण कारकों में (प्रायेण) प्रायः (घञ्) घञ् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है (पुंसि संज्ञायाम्) पुंस्त्वविशिष्ट संज्ञा वाच्य हो तो। **पुंसि संज्ञायां घः०** (८७२) से 'घ' प्रत्यय प्राप्त था उसका अपवाद यह घञ् कहा गया है। उदाहरण यथा—

रामः। रमन्ते योगिनोऽस्मिन्निति रामः। जिस में योगिजन या भक्तजन रमण अर्थात् आनन्द मनाते हैं—भगवन्नामधेयम्। अथवा—रमते लोकोऽस्मिन्निति रामः, दशरथनन्दनः। यहां रम् [रमुँ क्रीडायाम् (भ्वा० आ० अनिट्)] इस हलन्त धातु से प्रकृतसूत्रद्वारा अधिकरण कारक में घञ् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा **अत उपधायाः** (४५५) से धातु के उपधा अकार को वृद्धि (आ) कर—राम्+अ=राम। अब कृदन्त होने से इस की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर स्वादियों की उत्पत्ति होती है। प्रथमा के एकवचन में 'रामः' प्रयोग सिद्ध होता है। यह महाराज दशरथ के ज्येष्ठ पुत्र की संज्ञा है अथवा सर्वान्तर्यामी भगवान् का सुप्रचलित नाम है।

अपामार्गः। अपमृज्यते (दूरीक्रियते) व्याध्यादिरनेनेत्यपामार्गः। जिस से रोग आदि दूर किये जाते हैं—अपामार्ग नामक ओषधि। यहां अपपूर्वक मृज् [मृजूँ शुद्धौ (अदा० प० वेट्)] इस हलन्त धातु से प्रकृतसूत्रद्वारा करण कारक में घञ् प्रत्यय हो कर—अप+मृज्+घञ्=अप+मृज्+अ। अब **मृजेर्वृद्धिः** (७८२) से ऋकार को

वृद्धि-रपर (आर्) तथा प्रत्यय के घित् होने के कारण **चजोः कु घिण्ण्यतोः** (७८१) से जकार को कुत्वेन गकार करने पर—अप+मार्ग्+अ=अप+मार्ग। इस स्थिति में **उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्** (६.३.१२१)[1] सूत्र से उपसर्ग के पकारोत्तर अकार को दीर्घ कर विभक्ति लाने से—'अपामार्गः' प्रयोग सिद्ध होता है। अपामार्ग एक सुप्रसिद्ध सुलभ भारतीय क्षुप है जिसे हिन्दी में चिरचिरा या चिरचिटा तथा पंजाबी में पुठकण्डा कहते हैं। यह हृद्रोग, अर्श, उदररोग, कफदोष आदि अनेक रोगों में काम आने वाली आयुर्वेदिक ओषधि है। इसे अनिष्टनिवारणार्थ गण्डा-तावीज़ आदि में भी प्रयोग किया जाता है। सम्भवतः मूल में 'व्याध्यादिः' में 'आदि' पद से इसी का ग्रहण अभिप्रेत है।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) लिख्यतेऽनेनेति लेखः (जिस से लिखा जाता है—लेखनी)। यहां 'लिख अक्षरविन्यासे' (तुदा० प० सेट्) धातु से करण में घञ् हो कर लघूपधगुण (४५१) हो जाता है।

(२) आरमन्त्यत्रेत्यारामः (जहां आ कर मनुष्य आराम करते हैं—बाग-बगीचा)। आ+रम्+घञ्=आरामः। अधिकरणे घञ्। उपधावृद्धिः। **आरामः स्यादुपवनम्** इत्यमरः।

(३) प्रसीदन्त्यत्रेति प्रासादः (जिस में मन प्रसन्न होते हैं—महल)। प्र+सद्+घञ्। अधिकरणे घञ्। उपधावृद्धिः (४५५)।

(४) विदन्ति (जानन्ति) धर्माऽधर्मौ अनेनेति वेदः (जिस से धर्म-अधर्म का ज्ञान होता है—ऋगादि ग्रन्थसमूह)। विद ज्ञाने (अदा० प०), करणे घञ्, लघूपधगुणः (४५१)।

(५) विशन्ति अस्मिन्निति वेशः (जिस में लोग घुसते हैं—वेश्यालय)। विश प्रवेशने (तुदा० प० अनिट्)। अधिकरणे घञ्। **वेशो वेश्याजनसमाश्रय** इत्यमरः।

(६) वेवेष्टि आत्मानम् अनेनेति वेषः (जिस से मनुष्य देह को व्याप्त करता है—वेषभूषा, पहरावा, Dress, Apparel)। विष्लृँ व्याप्तौ (जुहो० उ० अनिट्)। करणे घञ्। लघूपधगुणः।

(७) बध्यतेऽनेनेति बन्धः (जिस से बान्धा जाता है—रस्सी, डोरी)। बन्ध बन्धने (क्र्या० प० अनिट्)। करणे घञ्। **आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां, सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि** (मेघ० ६)। अधिकरणेऽपि—बध्यतेऽत्रेति बन्धः (गांठ)।

---

१. उपसर्ग को बहुल से दीर्घ हो जाता है घञन्त उत्तरपद परे हो तो, परन्तु मनुष्य के वाच्य होने पर नहीं होता। उदाहरण यथा—परि+पाकः=परीपाकः, परिपाकः। मनुष्य में नहीं होता—निषादः।

(८) विनह्यते = बध्यते = आच्छाद्यतेऽनेनेति वीनाहः (जिस से बन्द किया जाता है—कूप के मुख का ढक्कन)। वि √णह् बन्धने (दिवा० उ० अनिट्)। करणे घञ्। **उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्** (६.३.१२१) इति दीर्घः। **वीनाहो मुखबन्धनमस्य** (कूपस्य) इत्यमरः। **कूपवीनाहवेलायामपश्यत महागजम्** (महाभारत ११.५.१४)।

अब उत्तरकृदन्त के सुप्रसिद्ध खल् प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८७६) **ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राऽकृच्छ्रार्थेषु खल्।** ।३।३।१२६।।

करणाधिकरणयोरिति निवृत्तम्। एषु दुःखसुखार्थेषूपपदेषु खल्। तयोरेव० (७७०) इति भावे कर्मणि च। कृच्छ्रे—दुष्करः कटो भवता। अकृच्छ्रे—ईषत्करः। सुकरः॥

अर्थः—'करणाधिकरणयोः' की अनुवृत्ति यहां नहीं आती। दुःख अर्थ वाले 'दुस्' के तथा सुख अर्थ वाले 'ईषत्' या 'सु' के उपपद होने पर धातु से परे खल् प्रत्यय होता है। **तयोरेव०** (७७०) सूत्र के अनुसार यह प्रत्यय भाव और कर्म में ही होता है।

व्याख्या—ईषद्-दुः-सुषु ।७।३। कृच्छ्राऽकृच्छ्रार्थेषु ।७।३। खल् ।१।१। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—तीनों का अधिकार आ रहा है। ईषत् च दुश्च सु च ईषद्-दुः-सवः, तेषु = ईषद्दुःसुषु। इतरेतरद्वन्द्वः। न कृच्छ्रम् अकृच्छ्रम्, नञ्तत्पुरुषः। कृच्छ्रम् = दुःखम्, अकृच्छ्रम् = सुखम्। कृच्छ्रञ्च अकृच्छ्रं च कृच्छ्राकृच्छ्रे, कृच्छ्राकृच्छ्रे अर्थौ येषां ते कृच्छ्राकृच्छ्रार्थाः, तेषु = कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु। द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिसमासः। ईषद्दुःसुषु—यह सप्तम्यन्त होने से **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** (९५३) के अनुसार उपपद है। 'कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु' यह उस का विशेषण है। ईषत्, दुस्, सु—में केवल दुस् ही दुःखवाचक है 'सु' और 'ईषत्' सुखवाचक हैं। सूत्र में यद्यपि आचार्य ने इकट्ठा निर्देश किया है तथापि अर्थ करते समय इन की योग्यता और अयोग्यता का विचार रखना पड़ता है। अर्थः—(कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु ईषद्-दुः-सुषु) दुःखवाचक 'दुस्' के उपपद रहते अथवा सुखवाचक 'ईषत्' या 'सु' के उपपद रहते (धातोः) धातु से (परः) परे (खल्) खल् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है।

खल् प्रत्यय यद्यपि **कृदतिङ्** (३०२) से कृत्संज्ञक है तथापि **कर्तरि कृत्** (७६९) के अनुसार कर्ता अर्थ में नहीं होता अपितु **तयोरेव कृत्य-क्त-खलर्थाः** (७७०) सूत्र से भाव और कर्म अर्थों में ही होता है। सकर्मक धातुओं से केवल कर्म में तथा अकर्मक धातुओं से भाव में होता है। खल् प्रत्यय में आदि खकार **लशक्वतद्धिते** (१३६) द्वारा तथा अन्त्य लकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है केवल 'अ' मात्र शेष रहता है। खकार अनुबन्ध कई स्थानों (जैसे—ईषदाढ्यम्भवम्) पर मुँम् आगम के लिये तथा लकार अनुबन्ध **लिति** (६.१.१८७) द्वारा लित् से पूर्व उदात्त-स्वर के लिये जोड़ा गया है। उदाहरण यथा—

दुष्करः । दुःखेन क्रियत इति दुष्करः (जो दुःख अर्थात् कठिनाई से बनाया जाता है) । यहां दुस् (या दुर्) पूर्वक सकर्मक 'कृ' (डुकृञ् करणे; तना० उभय० अनिट्) धातु से कर्म कारक में प्रकृतसूत्र से खल् (अ) प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप करने से—दुस्+कृ+अ । अब **आर्धधातुकं शेषः** (४०४) से खल् प्रत्यय की आर्धधातुकसंज्ञा कर उस के परे रहते **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) से धातु के ऋकार को गुण-रपर किया तो बना—दुस्+कर । इस स्थिति में **उपपदमतिङ्** (६५४) से उपपद समास, दुस् के सकार को रुँत्व-विसर्ग तथा **इदुदुपधस्य चाऽप्रत्ययस्य** (८.३.४१[१]) सूत्र से विसर्ग को षत्व कर विभक्ति लाने से—'दुष्करः' प्रयोग सिद्ध होता है । दुष्करः **कटो भवता** (आप से चटाई कठिनाई से बनाई जा सकती है अथवा चटाई का बनाना आप के लिये कठिन है) ।

सुकरः । सुखेन क्रियत इति सुकरः (जो सुख अर्थात् आसानी से बनाया जाता है) । यहां सुखार्थक 'सु' के उपपद रहते पूर्ववत् कृ धातु से कर्म में खल् (अ), गुण और उपपदसमास करने से—'सुकरः' प्रयोग सिद्ध होता है । सुकरः कटो भवता (आप से चटाई आसानी से बनाई जा सकती है अथवा चटाई बनाना आप के लिये आसान है) ।

इसी तरह—ईषत्करः । सुखेन क्रियत इति—ईषत्करः । यहां सुखार्थक 'ईषत्' अव्यय[२] के उपपद रहते पूर्ववत् खल् किया गया है । ईषत्करः कटो भवता (आप से चटाई अल्पप्रयास से बनाई जा सकती है या आप के लिये चटाई बनाना आसान है) ।

'दुष्करः कटो भवता' आदि में कर्म में खल् प्रत्यय किया गया है अतः कर्म के उक्त होने से उस में प्रथमा का प्रयोग होता है । कर्त्ता अनुक्त रहता है इसलिये उस में **कर्तृकरणयोस्तृतीया** (८९५) से तृतीया विभक्ति होती है । कृद्योग में **कर्तृकर्मणोः कृति** (२.३.६५) द्वारा कर्त्ता में प्राप्त षष्ठी का **न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्** (२.३.६९) से निषेध हो जाता है । प्रत्यय के कर्म में होने के कारण 'दुष्करः' आदि भी कर्म (कट) के अनुसार विभक्ति लिङ्ग और वचन को ग्रहण करते हैं । कर्ता का उस पर कोई प्रभाव नहीं होता । यथा—दुष्करः कटो भवता, दुष्करौ कटौ भवता, दुष्कराः कटाः भवता; दुष्करमध्ययनं त्वया युवाभ्यां युष्माभिर्वा; सुकरं पलायनं भीरुणा भीरुभ्यां भीरुभिर्वा; सुकरा रचना मयाऽऽवाभ्यामस्माभिर्वा; सुकरा मैत्री प्रियंवदैः (मीठा बोलने वालों के लिये मित्रता करना आसान है) ।

---

१. इकार या उकार जिस के उपधा हैं ऐसे प्रत्ययभिन्न की विसर्ग को षकार आदेश हो जाता है कवर्ग या पवर्ग परे हो तो । यथा—निः+पीतम् = निष्पीतम्, दुः+कृतम् = दुष्कृतम्, आविः+कृतम् = आविष्कृतम् ।

२. यहां यह ध्यातव्य है कि ईषत् का मुख्यार्थ सुख नहीं है अपितु यह अल्पवाचक है । यहां खल्प्रकरण में 'ईषत्' का अभिप्राय स्वल्पप्रयत्न से है । स्वल्पप्रयत्न अधिकप्रयत्न की अपेक्षा सुखदायक रहता है अतः यहां ईषत् को सुखार्थक माना जा रहा है ।

कर्म की तरह भाव में भी खल् प्रत्यय किया जाता है परन्तु तब यह केवल अकर्मक धातुओं से ही होता है। इस स्थिति में खलन्त के साथ नपुंसकलिङ्ग के एक-वचनान्त का ही प्रयोग होता है। कर्त्ता के अनुक्त रहने से वहां भी तृतीया विभक्ति रहेगी। यथा—दुर्जीवमपथ्यभुजा रोगिणा (अपथ्यभोजी रोगी का ज़िन्दा रहना कठिन है); दुरासमिह मया (मेरा यहां ठहरना कठिन है); दुःस्वपं कामातुरैः (कामातुरों का सोना मुश्किल है); सुवर्धमज्ञतया (मूर्खता का बढ़ना आसान है)।

खल् के कुछ अन्य उदाहरण यथा—दुःखेन लभ्यत इति दुर्लभः; सुखेन लभ्यत इति सुलभः; दुःखेन आप्यते (प्राप्यते) इति दुरापः; दुःखेन गम्यत इति दुर्गमः; सुखेन गम्यत इति सुगमः; दुःखेन आरुह्यत इति दुरारोहः[1]; सुखेन गृह्यत इति सुग्रहः; दुःखेन गृह्यत इति दुर्ग्रहः; दुःखेन तीर्यत इति दुस्तरः। 'सुदुर्लभः, सुदुस्तरः' आदि में प्रादिसमास समझना चाहिये।

साहित्य में इन के कुछ उदाहरण यथा—

(१) **सुलभा पुरुषा राजन् सततं प्रियवादिनः।**
अप्रियस्य च पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः॥ (रामायण ३.३७.२)
(२) **इक्ष्वाकूणां दुरापेऽर्थे त्वदधीना हि सिद्धयः।** (रघु० १.७२)
(३) **सा दुष्प्रधर्षा मनसापि हिंस्रैः**—(रघु० २.२७)।
(४) **अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।** (मनु० ७.५५)
(५) **असंशयं महाबाहो! मनो दुर्निग्रहं चलम्।** (गीता० ६.३५)
(६) **दुर्जया हि विषया विदुषाऽपि।** (नैषध० ५.१०६)
(७) **सुपूरा स्यात्कुनदिका सुपूरो मूषकाञ्जलिः।** (पञ्चतन्त्र० १.२६)
(८) **ईषज्जयः स्फुटमनेन दशाननोऽपि**—(अनर्घराघव० ३.३३)
(९) **दुरधिगमः परभागो यावत्पुरुषेण पौरुषं न कृतम्।** (पञ्चतन्त्र० १.३६०)
(१०) **असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।** (गीता ६.३६)
(११) **स्वभावो दुरतिक्रमः।** (सुभाषित)
(१२) **समवायो हि दुस्तरः।** (सुभाषित)
(१३) **दुरारोहं पदं राज्ञां सर्वलोकनमस्कृतम्।** (पञ्चतन्त्र १.७२)
(१४) **दुर्लभं भारते जन्म मानुष्यं तत्र दुर्लभम्।** ( )
(१५) **संशयः सुगमस्तत्र निर्णयस्तत्र दुर्गमः।** (महाभारत १३.)
(१६) **दुर्मरत्वमहं मन्ये नृणां कृच्छ्रेऽपि वर्त्तताम्**[2]। (महाभारत ८.)

---

१. ईषत् आदियों के उपपद रहते शुद्ध धातुओं की तरह उपसर्गयुक्त धातुओं से भी खल् प्रत्यय हो जाता है। यथा—दुरारोहः, दुरधिगमः, दुष्प्रापः, दुर्निवारः, दुष्प्र-धर्षः आदि। इस में आचार्य के **उपसर्गात् खलघञोः** (७.१.६७), **न सुदुर्भ्यां केवलाभ्याम्** (७.१.६८) आदि सूत्र ज्ञापक हैं।

२. आत्मनेपदस्य स्थाने परस्मैपदप्रयोग आर्षः। वर्त्तमानानामित्यर्थः।

(१७) **तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्** । (रघु० १.२)
(१८) **नष्टापि भूमिः सुलभा न भृत्यः** । (हितोप० २.१७७) ।
(१९) **व्याघ्रो मानुषं खादतीति लोकप्रवादो दुर्निवारः** । (हितोप० १)
(२०) **दुष्प्रेक्षः सोऽभवत् क्रुद्धो युगान्ताग्निरिव ज्वलन्** ।(रामायण ३.२४.३४)
(२१) **दुष्प्रापं खलु विप्रत्वं प्राप्तं दुरनुपालनम्** । (महाभारत १३.२९.१६)
(२२) **वक्तुं सुकरमिदं दुष्करमध्यवसितुम्'** । (वेणीसंहार ३)
(२३) **सूक्तमिदमभियुक्तैः प्रकृतिर्दुस्त्यजेति** (वेणीसंहार ३) ।
(२४) **जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्** । (गीता ३.४३)
(२५) **दुरालोकः स समरे निदाघाम्बररत्नवत्** । (काव्यप्रकाश १०)
(२६) **अहो दुरासदो राजमहिमा** । (मालविका० अङ्क १)
(२७) **दुस्तरो जीवता देवि ! मयाऽयं शोकसागरः** (रामायण २.५९.३२) ।

अब खल् के अपवाद अन्य खलर्थक प्रत्यय युच् का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(८७७) आतो युच् ।३।३।१२८॥**

खलोऽपवादः । ईषत्पानः सोमो भवता । दुष्पानः । सुपानः ॥

अर्थः—दुःखार्थक दुस् (या दुर्) तथा सुखार्थक ईषत् और सु के उपपद रहते आकारान्त धातु से परे युच् प्रत्यय हो जाता है । **खलोऽपवादः**—यह खल् (८७६) का अपवाद है ।

व्याख्या—आतः ।५।१। युच् ।१।१। ईषद्-दुः-सुषु ।७।३। कृच्छ्राऽकृच्छ्रार्थेषु।७।३। (**ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राऽकृच्छ्रार्थेषु खल्** से) । **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं। 'आतः' यह 'धातोः' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'आदन्ताद् धातोः' बन जाता है । **अर्थः**—(कृच्छ्राऽकृच्छ्रार्थेषु ईषद्-दुः-सुषु) दुःखवाचक दुस् या दुर् तथा सुखवाचक ईषत् या सु के उपपद रहते (आतः=आदन्तात्) आकारान्त (धातोः) धातु से (परः) परे (युच्) युच् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है । पूर्वसूत्र द्वारा धातुमात्र से खल् प्रत्यय प्राप्त था उस का अपवाद यह युच् विधान किया गया है । अतः आकारान्तों से युच् तथा अन्य धातुओं से खल् होगा । युच् में चकार इत्-संज्ञक है अतः लुप्त हो कर 'यु' मात्र शेष रहता है इसे भी **युवोरनाकौ**(७८५) से अन आदेश हो जाता है । चकार अनुबन्ध **चितः** (६.१.१६३) द्वारा अन्तोदात्त स्वर के लिये जोड़ा गया है । युच् भी खलर्थ प्रत्यय है अतः **तयोरेव कृत्य-क्त-खलर्थाः** (७७०) से भाव और कर्म में ही होगा ।

उदाहरण यथा—

ईषत्पानः सोमो भवता (आप सोम को आसानी से पी सकते हैं) ।

---

१. अध्यवसितुमित्यपाणिनीयप्रयोगः । 'षो अन्तकर्मणि' (दिवा० प० अनिट्) इति धातोस्तुमुनि अध्यवसातुमित्युचितम् । **द्यति-स्यति-मा-स्थाम् इत् ति किति** (७.४.४०) इति सूत्रेण तादौ किति इकारादेशो विधीयते । तुमुंस्त्वकित् ।

दुष्पानः सोमो भवता (आप सोम को आसानी से नहीं पी सकते)।

सुपानः सोमो भवता (आप सोम को आसानी से पी सकते हैं)।

यहां पर ईषत् आदियों के उपपद रहते 'पा पाने' (भ्वा० प० अनिट्) धातु से कर्म में खल् प्रत्यय प्राप्त था उस का बाध कर प्रकृतसूत्र से युच् प्रत्यय हो जाता है। पुनः चकार अनुबन्ध का लोप, **युवोरनाकौ** (७८५) से यु को अन आदेश, **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ तथा **उपपदमतिङ्** (६५४) से उपपदसमास कर विभक्ति लाने पर उपर्युक्त प्रयोग सिद्ध होते हैं। 'दुष्पानः' में सकार को रुँत्वविसर्ग हो कर **इदुदुपधस्य चाऽप्रत्ययस्य** (८.३.४१) से विसर्ग को षत्व विशेष कार्य है। यहां की सम्पूर्ण कारकव्यवस्था पूर्ववत् समझनी चाहिये।

इस के कुछ अन्य उदाहरण —

डुदाञ्—दुःखेन दीयते इति दुर्दानः, सुखेन दीयत इति ईषद्दानः सुदानो वा।

ज्ञा—दुःखेन ज्ञायत इति दुर्ज्ञानः, सुखेन ज्ञायत इति ईषज्ज्ञानः सुज्ञानो वा।

स्था—दुःखेन उपस्थीयते=उपगम्यत इति दुरुपस्थानः। सुखेन उपस्थीयत इति ईषदुपस्थानः, सूपस्थानः।

डुधाञ्—दुःखेन सन्धीयते इति दुःसन्धानः। ईषत्सन्धानः, सुसन्धानः।

कुछ साहित्यगत उदाहरण यथा—

(१) **मृद्घट इव सुखभेद्यो दुःसन्धानश्च दुर्जनो भवति।** (पञ्च० २.३७)

(२) **दुर्दाना भवन्त्यर्थाः कृपणेन।** (व्या० च०)
[कञ्जूस धन को बड़ी कठिनता से देता है]।

(३) **अन्तर्घत्स्व रघुव्याघ्रात् तस्मात्त्वं राक्षसेश्वर!**
यो रणे दुरुपस्थानो हस्तरोषं दधद् धनुः॥ (भट्टि० ५.३२)
[हे राक्षसराज (रावण)! तू श्रीरामचन्द्र से छिप कर रहो क्योंकि जब वे हाथ में धनुष धारण कर लेते हैं तब उन के निकट उपस्थित होना बहुत ही कठिन होता है]।

नोट—यह प्रत्यय भाव में भी होता है। यथा—दुरुत्थानं मया (मुझ से उठना कठिन है)। सूत्थानम् ईषदुत्थानं वा भवता।

अभ्यास (१२)

(१) सयुक्तिक विवेचन करें—

[क] 'छात्रस्य हसितम्' में अनभिहित कर्त्ता में तृतीया क्यों नहीं होती?

[ख] नपुंसक-क्त घञ् का कैसे अपवाद हो जाता है?

[ग] कर्त्ता और कर्म में से किस के साथ खलन्त का सामानाधिकरण्य होगा?

[घ] क्या खलर्थ प्रत्यय सोपसर्ग धातुएं से भी हो जाते हैं?

[ङ] नपुंसक-क्त क्या अकर्मक धातुओं से ही होता है ?

(२) 'यज्ञदत्तेन पयसः पानं मे न रोचते' यहां कृद्योग में कर्त्तरि षष्ठी क्यों नहीं होती ?

(३) यदि खलर्थ प्रत्यय भाव में किया जाये तो कर्ता में कौन सी विभक्ति होगी ?

(४) ईषद्दुःसुषु० में ईषत् को कैसे सुखार्थक माना जाता है ?

(५) 'अवतारः' और 'अवतरः' में अन्तर स्पष्ट करें।

(६) 'अलं रुदितेन' में तृतीया की उत्पत्ति कैसे हो जाती है ? विवेचन करें।

(७) नपुंसक-क्त के तीन साहित्यगत उदाहरण दीजिये।

(८) खलर्थ प्रत्ययों के योग में कर्त्ता और कर्म में कौन सी विभक्ति आयेगी ?

(९) 'छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य' में 'अद्व्युपसर्गस्य' का अभिप्राय वार्त्तिककार के अनुसार स्पष्ट करें।

(१०) निम्नस्थ सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—
पुंसि संज्ञायां घः०, हलश्च, ईषद्दुःसुषु०, छादेर्घे०, अवे तॄस्त्रोर्घञ्।

(११) विग्रहनिर्देशपूर्वक ससूत्र सिद्धि करें —
अवतारः, अवस्तारः, गोदोहनी, इध्मप्रव्रश्चनः, दन्तच्छदः, दुष्करः, राजधानी, आकरः, वेदः, वेषः, उरश्छदः, दुष्पानः, ईषत्करः।

(१२) निम्नस्थ धातुओं के ल्युडन्त रूप लिखें —
इष्, क्री, डी, दृश्, मुर्च्छ्, भू, ब्रू, अद्, अव+गाह्, रभ्, इङ्, लिख्, लभ्, सिव्, रुह्, श्रु, वे, द्युत्, परा+अय्, गुप्, गुह्, मस्ज्।

(१३) करण और अधिकरण में विहित ल्युट् के दो दो उदाहरण दीजिये।

(१४) खल्, ल्युट्, घञ्, युच् और क्त प्रत्ययों में अनुबन्धों का प्रयोजन बतलाएं।

(१५) आकारान्त धातुओं से खलर्थ प्रत्यय के चार उदाहरण दीजिये।

(१६) 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' इस न्याय की उपयोगिता पर पाणिनीयशास्त्र की दृष्टि से सयुक्तिक टिप्पण करें।

—:o:—

अब उत्तरकृदन्त के प्रमुख प्रत्यय 'क्त्वा' का प्रकरण प्रारम्भ करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (८७८) अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा ।३।४।१८ ॥

प्रतिषेधार्थयोरलंखल्वोरुपपदयोः क्त्वा स्यात्। प्राचां ग्रहणं पूजार्थम्। अमैवाऽव्ययेन (२.२.२०) इति नियमान्नोपपदसमासः। दो दद् घोः (८२७) —अलं दत्त्वा। घुमास्था० (२८८) इतीत्त्वम्—पीत्वा खलु। अलंखल्वोः किम् ? मा कार्षीत्। प्रतिषेधयोः किम् ? अलंकारः॥ नहीं पीना चाहिए

अर्थः—प्रतिषेध (निषेध) अर्थ वाले 'अलम्' या 'खलु' शब्दों के उपपद रहते

धातुमात्र से परे क्त्वा प्रत्यय हो। **प्राचां ग्रहणम्**—सूत्र में 'प्राचाम्' पद का ग्रहण पूर्वजों के प्रति सत्कार प्रकट करने के लिये किया गया है विकल्प के लिये नहीं। **अमैवाऽव्ययेन** (२.२.२०) इस नियम के कारण यहां उपपदसमास नहीं होता।

व्याख्या—अलंखल्वोः ।७।२। प्रतिषेधयोः ।७।२। प्राचाम् ।६।३। क्त्वा ।१।१। **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं। अलं च खलु च अलंखलू, तयोः=अलंखल्वोः, इतरेतरद्वन्द्वः। 'अलंखल्वोः' सप्तम्यन्त है। **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** (६५३) की व्यवस्थानुसार यह उपपद है। अर्थः—(प्रतिषेधयोः) प्रतिषेध अर्थात् निषेध अर्थ में वर्त्तमान (अलंखल्वोः) 'अलम्' या 'खलु' शब्द[1] के उपपद रहते (धातोः) धातु से (परः) परे (क्त्वा प्रत्ययः) क्त्वा प्रत्यय हो जाता है (प्राचाम्) प्राच्य आचार्यों के मत में।

क्त्वा प्रत्यय की **क्त्वा-तोसुन्-कसुनः** (३७०) सूत्र से अव्ययसंज्ञा होती है और यह **कृदतिङ्** (३०२) से कृत्संज्ञक भी है। अतः **अव्ययकृतो भावे** (अव्ययसंज्ञक कृत्प्रत्यय भाव में होते हैं) इस भाष्यवचन (३.४.६) के अनुसार यह भाव अर्थ में ही होता है[2]। क्त्वा प्रत्यय का आदि ककार **लशक्वतद्धिते** (१३६) से इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'त्वा' मात्र शेष रहता है। ककार अनुबन्ध गुण-वृद्धि के निषेध तथा सम्प्रसारण आदि कार्यों के लिये जोड़ा गया है। सूत्र के उदाहरण यथा—

अलं दत्त्वा (मत दो)। यहां निषेधार्थक 'अलम्' अव्यय के उपपद रहते 'दा' (डुदाञ् दाने; जुहो० उभय० अनिट्) धातु से प्रकृतसूत्रद्वारा भाव में क्त्वा प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप, धातु के अनुदात्त होने से इट् का निषेध (४७५), **दो दद् घोः** (८२७) से दा के स्थान पर दद् सर्वादेश तथा **खरि च** (७४) से चर्त्व करने पर—अलम्+दत्त्वा। अब कृदन्तत्वात् 'दत्त्वा' की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर औत्सर्गिक प्रथमैकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय लाने पर **क्त्वा-तोसुन्-कसुनः** (३७०) से क्त्वान्त की अव्ययसंज्ञा के कारण **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से उस (सुँ) का लुक् हो जाता है और इधर अव्ययत्वात् अलम् के पदान्त मकार को भी **मोऽनुस्वारः** (७७) से अनुस्वार हो जाता है। इस प्रकार—'अलं दत्त्वा' प्रयोग सिद्ध होता है।

पीत्वा खलु (मत पिओ)। यहां निषेधार्थक 'खलु' अव्यय के उपपद रहते 'पा' (पा पाने; भ्वा० प० अनिट्) धातु से भाव में प्रकृतसूत्र से क्त्वा प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप करने से—'पा+त्वा खलु'। धातु के अनुदात्त होने से इट् आगम का निषेध

---

१. अलम् और खलु दोनों अव्यय हैं। अलम् का स्वरादिगण में तथा खलु का चादिगण में पाठ किया गया है (देखें इस व्याख्या का अव्ययप्रकरण)।

२. क्त्वा आदि कृत्संज्ञक अव्ययों से कहा गया भाव असत्त्व (अद्रव्य) अवस्था में रहता है तथा ल्युट् आदियों का सत्त्व अवस्था में। अत एव क्त्वान्त आदियों से केवल औत्सर्गिक प्रथमैकवचन का ही प्रयोग होता है और ल्युडन्त आदियों का सब विभक्तियों में—यह यहां नहीं भूलना चाहिये।

हो जाता है। अब हलादि कित् आर्धधातुक क्त्वा के परे रहते **घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-सां हलि** (५८८) सूत्र से पा के आकार को ईकार आदेश हो कर पूर्ववत् विभक्तिकार्य करने पर—'पीत्वा खलु' प्रयोग सिद्ध होता है।

यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि 'अलम्' और 'खलु' के उपपदसंज्ञक होने पर भी यहां **उपपदमतिङ्** (६५४) से उपपदसमास नहीं होता। कारण यह है कि **अमैवाऽव्ययेन** (२.२.२०[1]) इस नियमसूत्र से उस का निषेध हो जाता है। अत एव हम उपपद का आगे पीछे कहीं भी प्रयोग कर सकते हैं—अलं दत्त्वा, दत्त्वाऽलम्; खलु पीत्वा, पीत्वा खलु इत्यादि प्रकारेण दोनों रूप शुद्ध हैं[2]। किञ्च समास के न होने से **समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्** (८८४) इस वक्ष्यमाण सूत्र से क्त्वा को ल्यप् आदेश भी नहीं होता[3]।

प्राचां ग्रहणं पूजार्थम्—प्रकृतसूत्र में 'प्राचाम्' कहा गया है अर्थात् यह प्रत्यय प्राच्य आचार्यों के मत में होता है। इस से अन्य आचार्यों के मत में न हो कर परिणामतः विकल्प से होगा ऐसा अभिप्राय यहां नहीं समझना चाहिये। यहां 'प्राचाम्' पद प्राच्य आचार्यों के सत्कार के लिये प्रयुक्त किया गया है। तात्पर्य यह है कि यह नियम प्राच्य आचार्यों का आविष्कृत है अतः पाणिनि ने कृतज्ञतावश उन आचार्यों का सूत्र में स्मरण किया है विकल्पार्थ नहीं। जो कहीं कहीं इस क्त्वा के विषय में ल्युट् या क्त प्रत्यय की प्रवृत्ति देखी जाती है वह वाऽसरूपविधि के कारण अथवा **कृत्यल्युटो बहुलम्** (७७२) में बहुलग्रहण के कारण समझनी चाहिये। यथा—'अलं रुदित्वा' (रो मत) के स्थान पर 'अलं रोदनेन' या 'अलं रुदितेन' का भी प्रयोग देखा जाता है। इस का विवेचन पूर्व कर चुके हैं वहीं देखें।

---

१. **अमैवाऽव्ययेन** (अमा+एव+अव्ययेन)। अर्थः—अम् (णमुँल् आदि) के साथ ही जिस उपपद का तुल्यविधान हो वह उपपद ही अव्यय के साथ समास को प्राप्त होता है अन्य नहीं। यथा—स्वादुंकारं भुङ्क्ते (स्वादु बना कर खाता है)। यहां **स्वादुमि णमुँल्** (३.४.२६) से अम् (णमुँल्) के साथ स्वादु उपपद का तुल्यविधान किया गया है सो यहां इस उपपद का 'कारम्' इस णमुँलन्त अव्यय के साथ समास हो जाता है। परन्तु प्रकृत में अलम् और खलु उपपदों का अम् के साथ तुल्यविधान नहीं अपितु क्त्वा के साथ तुल्यविधान है अतः इन उपपदों का क्त्वान्त अव्ययों के साथ उपपदसमास नहीं होता।

२. इसी बात को द्योतित करने के लिये ग्रन्थकार ने मूल में 'अलं दत्त्वा' की तरह 'खलु पीत्वा' उदाहरण न दे कर 'पीत्वा खलु' उदाहरण दिया है।

३. यह केवल उपपदसमास के लिये ही समझना चाहिये। धातु के साथ यदि कोई उपसर्ग लगाया गया होगा तो निश्चय ही प्रादिसमास के कारण क्त्वा को ल्यप् हो जायेगा। यथा अलमन्यथा सम्भाव्य (आप अन्यथा सम्भावना न करें); अलं व्युद्य (आप विवाद न करें); अलं बहु विकत्थ्य (बहुत डींग न मारिये)।

अलंखल्वोः किम् ? मा कार्षीत् (आप मत करें) । सूत्र में 'अलंखल्वोः' ही कहा गया है अतः प्रतिषेधार्थक माङ् आदि के उपपद रहते क्त्वा प्रत्यय की प्रवृत्ति न हो कर **माङि लुँङ्** (४३५) से लुँङ् का प्रयोग किया गया है । **न माङ्योगे** (४४१) से अट् का आगम नहीं हुआ[1] ।

प्रतिषेधयोः किम् ? अलङ्कारः । सूत्र में 'अलंखल्वोः' का विशेषण 'प्रतिषेधयोः' कहा गया है अतः यदि अलम् और खलु प्रतिषेधवाची नहीं होंगे तो भी इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी ; यथा—अलंकारः । यहां 'अलम्' भूषण (सजाना) अर्थ का वाचक है प्रतिषेध का नहीं अतः क्त्वा नहीं हुआ । अलङ्करणम् अलङ्कारः । भाव में घञ् प्रत्यय हुआ है ।

इस के कुछ साहित्यगत उदाहरण यथा—

(१) **अलं वत्से रुदित्वा ते न भेतव्यं च सर्वशः ।** (रामा० ७.२४.३२)

(२) **अलं वैक्लव्यमालम्ब्य स्वस्था भव निरुत्सुका ।** (रामा० ३.५६.१४)

(३) **अवश्यं क्रियमाणस्य दृश्यते कर्मणः फलम् ।**
अलं निर्वेदमागम्य न हि नो मीलनं क्षमम् ॥ (रामा० ४.४९.८)

(४) **अलं वीर व्यथां गत्वा न त्वं शोचितुमर्हसि ।** (रामा० ४.२७.३४)

(५) **अलमन्यथा गृहीत्वा न खलु मनस्विनि मया प्रयुक्तमिदम् ।**
प्रायः समानविद्याः परस्परयशः पुरोभागाः ॥
(मालविका० १.२०)[2]

(६) **अलमिदानीं महाराजोऽतिमात्रं सन्तप्य** (प्रतिमा० २)

(७) **अलमिष्ट्वा मखान् मूर्खाः खड्गधारेयमस्ति नः ।**
अदवीयानयं पन्थाः स्वर्लोकमुपतिष्ठते ॥ (अनर्घराघव २.६१)[3]

(८) **आलप्यालमिदं बभ्रोर्यत्स दारानपाहरत् ।**
कथापि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः ॥ (माघ० २.४०)[4]

---

१. भास के नाटकों में निषेधार्थक माङ् के योग में क्त्वा और तुमँन् के प्रयोग बहुधा देखे जाते हैं । यथा—आर्ये ! मेदानीमन्यच्चिन्तयित्वा (स्वप्न० २); मा स्वयं मन्युमुत्पाद्य (प्रतिमा १.१०); मा खलु मा खलु भर्तः ! एतं जलाशयं प्रवेष्टुम् (बालचरित ४) इत्यादि । परन्तु ये सब अपाणिनीय प्रयोग हैं ।

२. देवी ! तुम कुछ और न समझ बैठना । इस में मेरा कोई हाथ नहीं है । देखो, जो लोग एक सी विद्या वाले होते हैं वे प्रायः एक दूसरे के यश को नहीं सह सकते ।

३. रे मूर्खो ! यज्ञ करना छोड़ दो, यह मेरी खड्गधारा ही स्वर्ग ले जाने का सीधा सरल मार्ग है ।

४. यह बात तो कहने योग्य भी नहीं है कि शिशुपाल बभ्रु की स्त्री को हर ले गया था क्योंकि पापों का वर्णन करना भी अमङ्गल करने वाला होता है ।

(९) **सम्प्रत्यसाम्प्रतं वक्तुमुक्ते मुसलपाणिना ।
निर्धारितेऽर्थे लेखेन खलूक्त्वा खलु वाचिकम् ॥** (माघ० २.७०)[1]

(१०) **अलं संरभ्य**—क्रोध न करो । (व्या० च०)

(११) **अलं बहु विकथ्य** (बहुत डींग न मारिये)—(मालविका० अंक १) ।

अब क्त्वा के विधायक सुप्रसिद्ध सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८७९) समानकर्तृकयोः पूर्वकाले ।३।४।२१॥

समानकर्तृकयोर्धात्वर्थयोः पूर्वकाले विद्यमानाद्धातोः क्त्वा स्यात् । भुक्त्वा व्रजति । द्वित्वमतन्त्रम् । भुक्त्वा पीत्वा व्रजति ॥

अर्थः—जिन दो धातुओं के अर्थों का कर्त्ता एक हो उन में से जिस धातु का अर्थ पूर्वकाल में स्थित हो उस धातु से परे क्त्वा प्रत्यय हो । **द्वित्वमतन्त्रम्**—यहां द्विवचन का ग्रहण प्रधान नहीं अतः दो से अधिक धातुओं में भी इस सूत्र की प्रवृत्ति हो जाती है ।

व्याख्या—समानकर्तृकयोः ।६।२। (निर्धारणे षष्ठी सप्तमी वा) । पूर्वकाले ।७।१। क्त्वा ।१।१। (**अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा** से) । **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं । समानः कर्ता ययोस्तौ समानकर्तृकौ, तयोः=समानकर्तृकयोः, बहुव्रीहिसमासः । 'धातोः' का अधिकार होने से समानकर्तृकत्व धातुओं का ही समझा जायेगा । परन्तु वर्णात्मक धातुओं का समानर्तृकत्व उपपन्न नहीं हो सकता वह धात्वर्थों का ही हो सकता है अतः यहां धातु से धात्वर्थ ही गृहीत होंगे । इसीप्रकार 'पूर्वकाले' का सम्बन्ध भी धातु से न हो कर धात्वर्थ से करना चाहिये । अर्थः—(समानकर्तृकयोः) समान कर्ता वाले दो धात्वर्थों में से जो धात्वर्थ (पूर्वकाले) पूर्वकाल में वर्त्तमान हो तद्वाचक (धातोः) धातु से (परः) परे (क्त्वा प्रत्ययः) क्त्वा प्रत्यय हो जाता है ।

क्त्वान्त शब्द **क्त्वा-तोसुँन्-कसुँनः** (३७०) से अव्ययसंज्ञक होते हैं इस प्रकार क्त्वाप्रत्यय अव्ययसंज्ञक कृत् (३०२) है । ऐसे कृत् **अव्ययकृतो भावे** इस भाष्यवचन के अनुसार भाव में होते हैं अतः यह क्त्वा भी भाव में ही होगा । क्त्वान्तों या तुमुँन्नन्तों का भाव द्रव्यावस्थापन्न नहीं होता इसलिये इन से केवल औत्सर्गिक प्रथमैकवचन ही होता है अन्य विभक्तियों वा वचनों का योग नहीं । प्रथमैकवचन सुँ का भी **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हो जाता है । क्त्वा प्रत्यय में ककार अनुबन्ध गुणवृद्धि-निषेध तथा सम्प्रसारण आदि कार्यों के लिये जोड़ा गया है 'त्वा' मात्र ही शेष रहता है यह सब पूर्व बतलाया जा चुका है । सूत्र का उदाहरण यथा—

भुक्त्वा व्रजति (खा कर जाता है) । यहां 'खाना' और 'जाना' दो धात्वर्थ अर्थात् क्रियाएं हैं जो एक ही कर्ताद्वारा की जा रही हैं । इन दो में से 'खाना' क्रिया

---

१. बलराम ने जो कुछ कहा है इस समय उस पर कुछ और कहना अनुचित ही है । क्योंकि लिखे हुए पत्र द्वारा अर्थ के जान लेने पर फिर मौखिक (ज़बानी) अभिप्राय समझाना व्यर्थ है ।

पूर्वकालवर्त्ती है। क्योंकि कर्त्ता पहले खाता है और बाद में जाता है। अतः पूर्वकाल-वर्ती 'खाना' क्रिया के वाचक भुज् (भुज पालनाभ्यवहारयोः, रुधा० प० अनिट्) धातु से प्रकृतसूत्रद्वारा क्त्वा प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप, **चोः कुः** (३०६) से जकार को गकार तथा **खरि च** (७४) से गकार को ककार हो कर—भुक्त्वा। अब इस से सुँ आकर उस का लुक् हो जाता है। इस प्रकार 'भुक्त्वा व्रजति' प्रयोग निष्पन्न होता है। ध्यान रहे कि क्त्वा वलादि आर्धधातुक प्रत्यय है अतः इस के परे रहते इट् तथा लघूपधगुण दोनों प्राप्त होते थे। इट् का **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (४७५) से तथा गुण का क्त्वा के कित्त्व के कारण **क्क्ङिति च** (४३३) से निषेध हो जाता है।

इस क्त्वा प्रत्यय के करते समय यह बात सब से पहले अन्वेष्टव्य है कि दो धात्वर्थों में से कौन सा धात्वर्थ पूर्वकालवर्त्ती है। जो धात्वर्थ पूर्वकालवर्त्ती होगा तद्वाचक धातु से ही भाव में क्त्वा होगा। दूसरी परकालवर्त्ती धातु का विवक्षानुसार प्रयोग होगा। यदि दोनों धातुएं समान-कालवर्त्ती होंगी तो किसी से भी क्त्वा न होगा। यथा—माणवोऽसौ व्रजति जल्पति च (वह लड़का जा रहा है और बोल भी रहा है)। यहां 'जाना' और 'बोलना' दोनों क्रियाएं समानकालवर्त्ती हैं इन में कोई भी पूर्वकाल-वर्त्ती नहीं अतः किसी भी क्रिया से क्त्वा नहीं हुआ। विवक्षानुसार दोनों से लँट् लकार हुआ है।

'समानकर्तृकयोः' की शर्त भी बहुत जरूरी है। यदि दोनों क्रियाओं का कर्त्ता समान अर्थात् एक या अभिन्न नहीं होगा तो इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी। यथा—ब्राह्मणेषु भुक्तवत्सु गच्छति देवदत्तः (जब ब्राह्मण खा चुके तब देवदत्त जाने लगा)। यहां ब्राह्मणों द्वारा 'खाना' तथा देवदत्तद्वारा 'गमन' दो क्रियाएं हैं। इन में ब्राह्मणों द्वारा 'खाना' पूर्वकालवर्त्ती है और देवदत्तद्वारा 'गमन' परकालवर्त्ती। परन्तु दोनों क्रियाओं के कर्त्ता भिन्न-भिन्न हैं अतः पूर्वकालवर्त्ती क्रिया से भी क्त्वा नहीं हुआ।

प्रकृतसूत्र में 'समानकर्तृकयोः' द्वारा समानकर्तृक दो क्रियाओं का उल्लेख किया गया है तो यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या दो क्रियाओं में ही पूर्वकालवर्त्ती एक क्रिया से क्त्वा होगा और यदि दो से अधिक तीन चार आदि समानकर्तृक क्रियाएं होंगी तो पूर्वकालवर्त्ती क्रियाओं से क्त्वा न होगा? इस प्रश्न का समाधान करते हुए वरदराज कहते हैं—**द्वित्वमतन्त्रम्**। अर्थात् सूत्र में द्विवचन का उल्लेख प्रधान नहीं है। अतः दो या दो से अधिक क्रियाओं में भी पूर्वकालवर्त्ती क्रिया या क्रियाओं से क्त्वा हो जायेगा। यथा—भुक्त्वा पीत्वा व्रजति (वह खा पीकर जाता है)। यहां 'खाना' 'पीना' और 'जाना' तीन समानकर्तृक क्रियाएं हैं। सब से पहले कर्त्ता ने 'खाना' क्रिया की, अतः शेष दोनों की अपेक्षा पूर्वकालवर्त्ती 'खाना' क्रिया से क्त्वा हो कर 'भुक्त्वा' बन गया। शेष 'पीना' और 'जाना' क्रियाओं में भी 'पीना' क्रिया 'जाना' क्रिया की अपेक्षा पूर्वकालवर्त्ती है अतः उस से भी क्त्वा हो कर 'पीत्वा' बना। 'जाना' क्रिया किसी से पूर्वकालवर्त्ती नहीं अतः उस से विवक्षानुसार लँट् हुआ है—भुक्त्वा पीत्वा व्रजति।

क्त्वाप्रकरण के अन्त में हम क्त्वान्तों तथा ल्यबन्तों के साहित्यगतप्रयोग तथा उन का अर्थसहित एक बड़ा संग्रह प्रस्तुत करेंगे। अब क्त्वा के परे रहते ग्रन्थकार कुछ अवान्तर कार्यों का अवतरण करते हैं—

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—**(८८०) न क्त्वा सेट् ।१।२।१८।।**

सेट् क्त्वा किन्न स्यात्। शयित्वा। सेट् किम्? कृत्वा।।

अर्थः—इट्युक्त क्त्वा कित् न समझा जाये।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम्। क्त्वा ।१।१। सेट् ।१।१। कित् ।१।१। (**असंयोगाल्लिंट् कित्** से)। इटा सह वर्त्तत इति सेट्, बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(सेट्) इट् से युक्त (क्त्वा) क्त्वा प्रत्यय (कित्) कित् (न) नहीं होता। क्त्वा प्रत्यय का ककार इत्संज्ञक है (१३६) अतः वह कित् कहाता है। जब इसे इट् का आगम हो जाता है तब भी वह **यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते** इस परिभाषा के अनुसार सेट् होता हुआ भी कित् ही रहता है। परन्तु प्रकृतसूत्र में सेट् क्त्वा के कित्त्व का निषेध किया जा रहा है। इस से कित्त्व के कारण जो धातु में गुणवृद्धिनिषेध तथा सम्प्रसारण आदि कार्य होते हैं वे न हो सकेंगे[1]। उदाहरण यथा—

शयित्वा (सो कर)। यहां 'शीङ् स्वप्ने' (अदा० आत्मने० सेट्) धातुद्वारा प्रतिपाद्य क्रिया के पूर्वकालवर्त्ती होने के कारण शी धातु से **समानकर्तृकयोः पूर्वकाले** (८७९) द्वारा क्त्वाप्रत्यय हो कर उसे इट् (४०१) का आगम हो जाता है—शी+इत्वा। अब क्त्वा के कित् होने से **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (३८८) द्वारा प्राप्त गुण का **क्क्ङिति च** (४३३) से निषेध होना था परन्तु प्रकृतसूत्र से उसे अकित् अतिदेश के कारण वह निषेध नहीं हो पाता, गुण हो जाता है—शे+इत्वा। अब **एचोऽयवायावः** (२२) से एकार को अय् आदेश हो कर विभक्तिकार्य करने पर 'शयित्वा' प्रयोग सिद्ध होता है। यहां यह विशेष स्मर्तव्य है कि अकेले 'शयित्वा' का प्रयोग उपपन्न नहीं होता। शयन की पूर्वकालिकता सिद्ध करने के लिये कोई अन्य अपरकालिक क्रिया आवश्यक है। अतः—शयित्वा भुङ्क्ते, शयित्वा प्रलपति आदि का अध्याहार कर लेना चाहिये। ग्रन्थकार वैयाकरण स्वतः गम्य होने से प्रायः इसे छोड़ देते हैं। इसी प्रकार आगे आने वाले अन्य प्रयोगों के विषय में भी समझ लेना चाहिये।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—वृत्—वर्तित्वा, वृध्—वर्धित्वा, दिव्—देवित्वा, सिव्—सेवित्वा, नृत्—नर्तित्वा, उष्—ओषित्वा (जला कर), कथि—

---

१. 'कित् न हो' का यह अभिप्राय नहीं कि क्त्वा के ककार की इत्संज्ञा न हो कर उस का लोप ही न हो। इस प्रकार करने से तो प्रत्यय में ककार का श्रवण होगा जो लोक और वेद दोनों के विरुद्ध होगा। अतः यहां केवल अतिदेश ही अभिप्रेत है। अर्थात् सेट् क्त्वा कित् होता हुआ भी अकित् समझा जाये। इस से उस के परे होने पर कित्कार्य न होंगे।

कथयित्वा, गणि—गणयित्वा, चोरि—चोरयित्वा, कृत् (काटना)—कर्तित्वा, डी—डयित्वा (उड़कर)।

सूत्र में 'सेट्' इसलिये कहा है कि अनिट् क्त्वा कित् ही रहे अकित् न हो जाये। यथा—कृ धातु (डुकृञ् करणे, तना० उभय० अनिट्) से क्त्वा होकर **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (४७५) से वलादिलक्षण इट् का निषेध हो जाता है—कृ+त्वा=कृत्वा। यहां क्त्वा के कित् रहने से धातु को गुण नहीं होता। स्वप्—सुप्त्वा, वप्—उप्त्वा इत्यादियों में कित्त्व के कारण **वचिस्वपियजादीनां किति** (५४७) से सम्प्रसारण हो जाता है।

सूत्र में 'क्त्वा' इसलिये कहा है कि सेट् निष्ठा आदि प्रत्यय अकित् न हो जाएं—कुपितः, कुपितवान्, गृहीतः, गृहीतवान्।

अब इस सूत्र के वैकल्पिक अपवाद का अवतरण करते हैं—

[लघु०] अतिदेशसूत्रम्—(८८१) रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च ।१।२।२६॥

इवर्णोवर्णोपधाद् हलादे'[1] रलन्तात् परौ क्त्वा-सनौ सेटौ वा कितौ स्तः। द्युतित्वा, द्योतित्वा। लिखित्वा, लेखित्वा। व्युपधात् किम्? वर्तित्वा। रलः किम्? सेवित्वा। हलादेः किम्? एषित्वा। सेट् किम्? भुक्त्वा॥

अर्थः—इवर्ण या उवर्ण जिस की उपधा हो ऐसी हलादि रलन्त धातु से परे सेट् क्त्वा और सेट् सन् विकल्प से कित् हों।

व्याख्या—रलः।५।१। व्युपधात् ।५।१। हलादेः।५।१। सन् ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। क्त्वा।१।१। (**पूङः क्त्वा च** से)। सेट् ।१।१। (**न क्त्वा सेट्** से)। वा इत्यव्ययपदम् (**नोपधात्थफान्ताद्वा** से)। कित्।१।१। (**असंयोगाल्लिट् कित्** से)। यहां पर 'धातोः' का अध्याहार किया जाता है क्योंकि क्त्वा और सन् प्रत्यय धातु से ही परे होते हैं। 'रलः' यह 'धातोः' का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि हो कर—'रलन्तात्' बन जाता है। रल् एक प्रत्याहार है जो **हयवरट्** (प्रत्या०५) के रेफ से लेकर **हल्** (प्रत्या० १४) के लकार तक जाता है। इस में यकार और वकार को छोड़ कर सब व्यञ्जन आ जाते हैं। उश्च इश्च=वी (**इको यणचि** से यणादेश), वी उपधे यस्य स व्युपधः, तस्मात्=व्युपधात्[2], द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः। हल् आदिर्यस्य स हलादिः,

---

१. रो रि (१११) इति रेफस्य लोपो बोध्यः।

२. यहां यह शङ्का उत्पन्न होती है कि आचार्य पाणिनि ने प्रचलित वर्णमाला के क्रम तथा अपने प्रत्याहारसूत्रों के भी क्रम को तोड़ कर किस लिये पहले उकार और बाद में इकार का ग्रहण कर 'व्युपधात्' ऐसा लिखा है जबकि **अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ** (१९९) में उन्होंने पहले इकार और बाद में उकार का यथाक्रम सही निर्देश किया है? इस शङ्का का उत्तर यद्यपि किसी पूर्वसूरि का दिया गया

तस्मात्=हलादेः, बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(व्युपधात्) उकार या इकार जिस की उपधा है ऐसी (रलः=रलन्तात्) रल्प्रत्याहारान्त (हलादेः) हलादि धातु से परे (सेट् क्त्वा सन् च) सेट् क्त्वा और सेट् सन् (वा) विकल्प से (कित्) कित् हों।

तात्पर्य यह है कि उस धातु से परे सेट् क्त्वा या सेट् सन् विकल्प से कित् होगा जो तीन शर्तें पूरी करती हो—

(१) धातु के आदि में हल् वर्ण होना चाहिये।
(२) धातु के अन्त में रल् वर्ण होना चाहिये।
(३) धातु की उपधा में इकार या उकार में से कोई एक वर्ण हो।[1]

यदि इन में से कोई भी शर्त पूरी न होगी तो उस धातु से परे इस सूत्र से सेट् क्त्वा को वैकल्पिक कित्त्व न होगा। सूत्र के उदाहरण यथा—

द्युतित्वा, द्योतित्वा (चमक कर)। यहां पर पूर्वकालवर्त्ती क्रिया वाली 'द्युतँ दीप्तौ' (भ्वा० आ० सेट्) धातु से **समानकर्तृकयोः पूर्वकाले** (८७९) सूत्र से क्त्वा प्रत्यय हो कर **आर्धधातुकस्येड् वलादेः** (४०१) द्वारा उसे इट् का आगम हो जाता है—द्युत्+इत्वा। अब **न क्त्वा सेट्** (८८०) से सेट् क्त्वा के अकिद्वत् हो जाने से **पुगन्तलघूपधस्य च** (४५१) से गुण प्राप्त होता है। परन्तु द्युत् धातु हलादि भी है और रलन्त भी, इस की उपधा में उकार भी मौजूद है अतः प्रकृतसूत्र की प्रवृत्ति हो कर इस से परे सेट् क्त्वा विकल्प से किद्वत् हो जाता है। जिस पक्ष में किद्वद्भाव होता है वहां **क्ङिति च** (४३३) से गुण का निषेध हो कर—द्युतित्वा। और जिस पक्ष में किद्वद्भाव नहीं होता वहां लघूपधगुण हो कर—द्योतित्वा। इस प्रकार 'द्युतित्वा, द्योतित्वा' ये दो रूप सिद्ध होते हैं।

लिखित्वा, लेखित्वा (लिख कर)। यहां पर 'लिख अक्षरविन्यासे' (तुदा० प० सेट्) धातु से पूर्ववत् क्त्वा प्रत्यय हो कर इट् का आगम करने से—लिख्+इत्वा। यहां पर भी लिख् धातु हलादि एवं रलन्त है, इस की उपधा में इकार भी है अतः प्रकृतसूत्रद्वारा सेट् क्त्वा को विकल्प से किद्वद्भाव हो जाता है। किद्वत्पक्ष में पूर्व-

---

हमारे दृष्टिपथ में अभी तक नहीं आया तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य ने मुखसुखार्थ ही ऐसा किया है। क्योंकि यदि वे पहले इकार और बाद में उकार का निर्देश करते तो उन का सूत्र 'रलो य्व्युपधाद्धलादेः संश्च' इस प्रकार बन जाता जो निश्चय ही वर्त्तमानसूत्र की अपेक्षा उच्चारण में कठिन और असुविधा-जनक होता। जैनेन्द्रव्याकरण (१.१.९७) तथा हैमव्याकरण (४.३.१५) आदियों में भी अत एव इसी पाणिनिनिर्दिष्ट क्रम का ही अनुसरण किया गया है।

१. इकार उकार से यहां ह्रस्व इकार और ह्रस्व उकार का ही ग्रहण होता है दीर्घ का नहीं। कारण कि उपधा में दीर्घ होने से **पुगन्तलघूपधस्य च** (४५१) द्वारा गुण की प्राप्ति ही नहीं होती अतः उस के लिये क्त्वा को कित्त्व-अकित्त्व करना व्यर्थ है।

वत् लघूपधगुण का निषेध तथा अकिद्वद्भावपक्ष में लघूपधगुण हो जाता है—लिखित्वा, लेखित्वा।[१]

इसी प्रकार—मुद्—मुदित्वा, मोदित्वा; कुप्—कुपित्वा, कोपित्वा; बुध् (भ्वा०)—बुधित्वा, बोधित्वा; मिल्—मिलित्वा, मेलित्वा; जुष्—जुषित्वा, जोषित्वा (सेवन कर); च्युत्—च्युतित्वा, च्योतित्वा; चित्—चितित्वा, चेतित्वा (होश में आकर); शुच्—शुचित्वा, शोचित्वा (शोक कर); घुष्—घुषित्वा, घोषित्वा (घोषणा कर के); रुच्—रुचित्वा, रोचित्वा; शुभ्—शुभित्वा, शोभित्वा; क्षुध्—क्षुधित्वा, क्षोधित्वा (भूखा हो कर) आदि।

व्युपधात् किम् ? वर्तित्वा। प्रकृतसूत्र में 'व्युपधात्' इस लिये कहा गया है कि जिस धातु की उपधा में इकार उकार न हो उस से परे सेट् क्त्वा को वैकल्पिक कित्त्व न हो। यथा—वृत्, वृध्, नृत् आदि धातुओं की उपधा में इकार उकार नहीं अपितु ऋवर्ण है अतः पूर्वोक्त **न क्त्वा सेट्** (८८०) सूत्र से सेट् क्त्वा के अकित् होने से नित्य लघूपधगुण हो जाता है—वर्तित्वा, वर्धित्वा, नर्तित्वा[२]।

रलः किम् ? सेवित्वा। प्रकृतसूत्र में 'रलः = रलन्तात्' इस लिये कहा गया है कि जो धातु रलन्त न हो उस से परे यह सूत्र प्रवृत्त न हो। यथा—सिव् (षिवुँ तन्तु-सन्ताने, सीना, दिवा० प० सेट्) धातु अन्त में वकार रहने से रलन्त नहीं है (रल् प्रत्याहार में वकार नहीं आता) अतः इस से परे क्त्वा को इट् का आगम हो कर पूर्वोक्त **न क्त्वा सेट्** (८८०) से अकिद्वद्भाव के कारण नित्य लघूपधगुण हो जाता है—सेवित्वा (सीकर)[३]।

हलादेः किम् ? एषित्वा (इच्छा कर के)। प्रकृतसूत्र में 'हलादेः' इस लिये कहा गया है कि अजादि धातु से परे इस सूत्र की प्रवृत्ति न हो जाये। यथा—इष् (इषु इच्छायाम्, चाहना, तुदा० प० सेट्) धातु हलादि नहीं अजादि है अतः इस से परे सेट् क्त्वा पूर्वोक्त **न क्त्वा सेट्** (८८०) से अकित् हो जाता है इस से लघूपधगुण निर्बाध हो जाता है—एषित्वा[४]।

---

१. इस सूत्र पर सेट् सन् के उदाहरण—दिद्युतिषते, दिद्योतिषते [**द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम्** (५३७) से अभ्यास को सम्प्रसारण हो जाता है]; लिलिखिषति, लिलेखिषति आदि आकरग्रन्थों से समझने चाहियें।

२. वृत् (वृतुँ) और वृध् (वृधुँ) धातु उदित् हैं अतः **उदितो वा** (८८२) द्वारा इन से परे क्त्वा को वैकल्पिक इट् होता है। यहां इट्पक्ष में इन का प्रत्युदाहरण समझना चाहिये। इट् के अभाव में 'वृत्त्वा' तथा 'वृद्ध्वा' रूप बनेंगे। नृत् ('नृतीँ गात्रविक्षेपे' दिवा० पर०) धातु सेट् है।

३. षिवुँ भी उदित् धातु है अतः यहां भी **उदितो वा** (८८२) से वैकल्पिक इट् होता है। इट्पक्ष में यह प्रत्युदाहरण दिया गया है। इट् के अभाव में **च्छ्वोः शूड्०** (८४३) से वकार को ऊठ् हो कर यण् हो जाता है—स्यूत्वा।

४. यहां **तीष-सह-लुभ-रुष-रिषः** (६५७) से विकल्प से इट् का आगम होता है। इट्पक्ष में यह प्रत्युदाहरण है। इट् के अभाव में ष्टुत्व हो कर—इष्ट्वा।

सेट् किम् ? भुक्त्वा । प्रकृतसूत्र में 'सेट्' का अनुवर्त्तन होता है अतः अनिट् क्त्वा में सारी शर्तें पूरी होते हुए भी इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। यथा—भुज् (भुज पालनाभ्यवहारयोः, पालना या खाना, रुधा० प० अनिट्) धातु हलादि भी है और रलन्त भी। इस की उपधा में उकार भी मौजूद है परन्तु इस से परे **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (४७५) द्वारा क्त्वा को इट् आगम नहीं होता। अतः अनिट् क्त्वा में इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। पूर्वसूत्र भी सेट् क्त्वा में प्रवृत्त होता है अतः वह भी यहां अकित्त्व-सम्पादन नहीं कर सकता। इस प्रकार क्त्वा के कित् ही रहने के कारण **क्क्ङिति च** (४३३) से गुण का निषेध हो जाता है—भुज्+त्वा। अब **चोः कुः** (३०६) से धातु के जकार को कुत्व-गकार तथा **खरि च** (७४) से गकार को ककार करने पर 'भुक्त्वा' प्रयोग सिद्ध होता है।

इन प्रत्युदाहरणों से आचार्य पाणिनि की महती सूक्ष्मेक्षिका व्यक्त होती है कि वे किस प्रकार अत्यन्त सावधान हो कर सूत्रों का प्रणयन करते थे।

अब उदित् धातुओं से परे क्त्वा में इट् का वैकल्पिक विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८८२) उदितो वा ।७।२।५६॥

उदितः परस्य क्त्व इड् वा। शमित्वा—शान्त्वा। देवित्वा—द्यूत्वा। दधातेर्हिः (८२६)—हित्वा॥

अर्थः—जिस धातु का ह्रस्व उकार इत् हो उस धातु से परे क्त्वा को विकल्प से इट् आगम होता है।

व्याख्या—उदितः ।५।१। वा इत्यव्ययपदम्। क्त्वः ।६।१।[1] (**जृव्रश्च्योः क्त्वि** से विभक्तिविपरिणामद्वारा)। इट् ।१।१। (**वसतिक्षुधोरिट्** से)। उत् (ह्रस्व उकारः) इत् यस्य स उदित्, बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(उदितः) जिस का ह्रस्व उकार इत् हो ऐसी धातु से परे (क्त्वः) क्त्वा प्रत्यय का अवयव (इट्) इट् (वा) विकल्प से हो जाता है। उदाहरण यथा—

शमित्वा, शान्त्वा (शान्त हो कर)। शमुँ उपशमे (शान्त होना, दिवा० परस्मै० सेट्) धातु का अन्त्य उँकार इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है 'शम्' मात्र शेष रहता है।

---

१. 'क्त्वा' के धातु न होने पर भी इस से परे षष्ठ्येकवचन में क्त्वा+अस् (ङस्) इस स्थिति में **आतो धातोः** (१६७) सूत्र के योगविभाग के कारण आकार का लोप हो जाता है—क्त्व्+अस्=क्त्वः। इसी प्रकार ङि में—क्त्वि। यथा आचार्य का प्रयोग है—**जहातेश्च क्त्वि** (८८३)। इसी तरह 'श्ना' के विषय में भी समझ लेना चाहिये। **हलः श्नः शानज्झौ** (६८७)। परन्तु कहीं कहीं आकार का लोप नहीं भी होता और इन को आबन्तों की तरह प्रयोग में लाया जाता है। यथा—क्त्वायां कित्-प्रतिषेधश्च (महाभाष्य १.२.३ पर)। इसी प्रकार—टायाम् (देखें महाभाष्य २.४.३२ पर)। इस का विवेचन सिद्धान्तकौमुदी में **आतो धातोः** (६.४.१४०) सूत्र पर देखना चाहिये।

अतः यह उदित् धातु है। इस से परे **समानकर्तृकयोः पूर्वकाले** (८७९) से क्त्वा प्रत्यय आ कर उसे प्रकृतसूत्रद्वारा वैकल्पिक इट् का आगम हो जाता है। जिस पक्ष में इट् हुआ वहां 'शमित्वा' और जिस पक्ष में इट् न हुआ वहां पर झलादि कित् के परे रहते **अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति** (७२७) से उपधा को दीर्घ हो कर अपदान्त मकार को अनुस्वार (७८) तथा अनुस्वार को परसवर्ण (७९) करने से 'शान्त्वा' प्रयोग सिद्ध होता है।

इसी प्रकार—भ्रम् (भ्रमुँ)—भ्रमित्वा, भ्रान्त्वा (घूम कर)। श्रम् (श्रमुँ)—श्रमित्वा, श्रान्त्वा (थक कर)। तम् (तमुँ)—तमित्वा, तान्त्वा (क्षीण हो कर)। चम् (चमुँ)—चमित्वा, चान्त्वा (खा कर)। दम् (दमुँ)—दमित्वा, दान्त्वा (वश में कर के)। वम् (वमुँ)—वमित्वा, वान्त्वा (वमन कर के)। क्रम् (क्रमुँ)—क्रमित्वा, क्रान्त्वा[1] (पग धर कर)। क्लम् (क्लमुँ)—क्लमित्वा, क्लान्त्वा (थक कर)। **अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति** (५५९) से इडभावपक्ष में अनुनासिक का लोप हो जाता है—तन् (तनुँ)—तनित्वा, तत्वा (विस्तार कर के)। रम् (रमुँ)—रमित्वा, रत्वा (खेल कर)। कुछ वैयाकरण (माधव आदि) रमुँ के उदित्त्व को अनार्ष मानते हैं उन के मत में केवल 'रत्वा' ही बनता है।

देवित्वा, द्यूत्वा (जूआ खेल कर)। दिवुँ यह दिवादिगण की प्रथम धातु है। इस के अनुनासिक उकार अनुबन्ध का लोप हो 'दिव्' शेष रहता है। इस उदित् धातु से पूर्ववत् क्त्वा प्रत्यय करने पर प्रकृतसूत्र से विकल्प से इट् का आगम हो जाता है। इट्पक्ष में **न क्त्वा सेट्** (८८०) द्वारा सेट् क्त्वा अकित् हो जाता है अतः उपधा को गुण करने पर—देवित्वा। इट् के अभाव में—'दिव्+त्वा' इस स्थिति में **च्छ्वोः शूडनुनासिके च** (८४३) से वकार को ऊठ् (ऊ) हो कर **इको यणचि** (१५) से इकार को यण्-यकार करने पर—द्यूत्वा। इस प्रकार 'देवित्वा-द्यूत्वा' दो रूप सिद्ध होते हैं। इसी तरह—सिव् (षिवुँ)—सेवित्वा, स्यूत्वा (सीकर)।

हित्वा (धारण कर)। धा (डुधाञ् धारणपोषणयोः, जुहो० उभय० अनिट्) धातु से पूर्वकाल में पूर्ववत् क्त्वा प्रत्यय कर **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (४७५) से इट् का निषेध हो जाता है—धा+त्वा। अब तकारादि कित् के परे रहते **दधातेर्हिः** (८२६) सूत्र से धा के स्थान पर 'हि' सर्वादेश हो कर 'हित्वा' प्रयोग सिद्ध होता है।

ओँहाक् त्यागे (छोड़ना, जुहो० परस्मै० अनिट्) धातु का भी क्त्वा में 'हित्वा' रूप बनता है। तथाहि वहां 'हा+त्वा' इस अवस्था में **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (४७५) से इट् का निषेध हो कर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(८८३) जहातेश्च क्त्वि** ।७।४।४३।।

हित्वा। हाङस्तु—हात्वा।।

---

१. इट् के अभावपक्ष में **क्रमश्च क्त्वि** (६.४.१८) से दीर्घ का विकल्प हो जाता है। दीर्घाभाव में—'क्रन्त्वा'।

अर्थः—क्त्वा के परे होने पर हा (ओँहाक् त्यागे) धातु के स्थान पर भी 'हि' आदेश हो।

व्याख्या—जहातेः ।६।१। च इत्यव्ययपदम् । क्त्वि ।७।१। हिः ।१।१। (**दधातेर्हिः** से) । ओँहाक् धातु से धातुनिर्देश में **इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे** द्वारा श्तिप् प्रत्यय करने पर द्वित्वादि कार्य हो कर 'जहाति' प्रातिपदिक बनता है। 'जहाति' का अर्थ है —ओँहाक् धातु । इसी का यहां ग्रहण किया गया है । '**ओँहाङ् गतौ**' (जाना; जुहो० आत्मने० अनिट्) धातु से धातुनिर्देश में श्तिप् प्रत्यय करने पर 'जिहाति' रूप बनता है [**भृञामित्** (६२२) सूत्र से अभ्यास को इत्व हो जाता है] । अतः उस का यहां ग्रहण नहीं । अर्थः—(क्त्वि) क्त्वा प्रत्यय परे होने पर (जहातेः) ओँहाक् धातु के स्थान पर (च) भी (हिः) हि आदेश हो जाता है । अनेकाल् होने से यह 'हि' सर्वादेश समझना चाहिये । हलादि कित् ङित् आर्धधातुक प्रत्ययों में **घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-सां हलि** (५८८) सूत्र से ओँहाक् के आकार को ईत्व प्राप्त था उस का क्त्वा में अपवाद यह 'हि' आदेश विधान किया गया है। उदाहरण यथा—

हा+त्वा । यहां त्वा परे है अतः हा (ओँहाक्) को प्रकृतसूत्र से 'हि' सर्वादेश हो कर 'हित्वा' (छोड़ कर) प्रयोग सिद्ध होता है।

ओँहाङ् गतौ (जुहो० आत्मने० अनिट्) धातु से क्त्वा करने पर 'हात्वा' बनेगा । प्रकृतसूत्र में ओँहाक् का ग्रहण है अतः 'हि' आदेश न होगा । ध्यान रहे कि **घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-सां हलि** (५८८) में भी 'जहाति' (ओँहाक्) का ग्रहण है अतः उस से भी यहां ईत्व न होगा—हात्वा (जा कर) ।

अब समास में क्त्वा के स्थान पर ल्यप् आदेश का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८८४) **समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्** ।७।१।३७।।

अव्ययपूर्वपदेऽनञ्समासे क्त्वो ल्यबादेशः स्यात् । तुँक् । प्रकृत्य । अनञ् किम् ? अकृत्वा ।।

अर्थः—जिस समास के पूर्वपद में नञ् से भिन्न कोई अन्य अव्यय स्थित हो तो उस समास में क्त्वा के स्थान पर ल्यप् आदेश होता है।

व्याख्या—समासे ।७।१। अनञ्पूर्वे ।७।१। क्त्वः ।६।१। ल्यप् ।१।१। न नञ् —अनञ्, नञ्तत्पुरुषसमासः । अनञ् पूर्वम् (पूर्वपदम्) यस्मिन् सोऽनञ्पूर्वः, तस्मिन् =अनञ्पूर्वे, बहुव्रीहिसमासः । यह 'समासे' का विशेषण है । 'अनञ्' में पर्युदासप्रतिषेध हैं । 'पर्युदासः सदृग्ग्राही' के अनुसार नञ् से भिन्न तत्सदृश का ग्रहण होता है । नञ् अव्यय है अतः नञ् से भिन्न तत्सदृश किसी अन्य अव्यय का ही ग्रहण होता है । अर्थः—(अनञ्पूर्वे समासे) जिस समास में नञ् से भिन्न कोई अन्य अव्यय पूर्वपद हो तो उस समास में (क्त्वः) क्त्वा के स्थान पर (ल्यप्) ल्यप् आदेश हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि समास में प्रायः दो पद होते हैं। एक पूर्वपद तथा दूसरा

उत्तरपद ; जब समास के पूर्वपद में नञ् से भिन्न अन्य कोई अव्यय हो तो उत्तरपदस्थ क्त्वा प्रत्यय के स्थान पर ल्यप् आदेश हो जाता है । क्त्वा कृत्संज्ञक आर्धधातुक कित् प्रत्यय है अतः उस के स्थान पर होने वाला यह ल्यप् भी **स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ** (१४४) के अनुसार प्रत्यय, कृत्, आर्धधातुक तथा कित् समझा जायेगा । क्त्वान्त **क्त्वा-तोसुँन्-कसुँनः** (३७०) से अव्यय होता है तो यह ल्यबन्त भी अव्ययसंज्ञक होगा । इस से परे सुँ का **अव्ययादाप्सुंपः** (३७२) से लुक् हो जायेगा । अल्विधि होने से क्त्वा का तादित्व या वलादित्व धर्म ल्यप् में नहीं आयेगा । यही कारण है कि ल्यप् को कभी इट् का आगम नहीं होता । प्रत्ययसंज्ञक होने से ल्यप् के आदि लकार की **लशक्वतद्धिते** (१३६) द्वारा तथा अन्त्य पकार की **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञा हो जाती है । अनुबन्धों का लोप हो कर ल्यप् का 'य' मात्र शेष रहता है । ल्यप् अनुबन्धों से रहित हो कर भी अनेकाल् है अतः **अनेकाल्शित्सर्वस्य** (४५) से यह क्त्वा के स्थान पर सर्वादेश होता है । ल्यप् में लकार अनुबन्ध **लिति** (६.१.१८७) द्वारा आद्युदात्त स्वर के लिये तथा पकार अनुबन्ध पित्कार्य तुंक् आदि के लिये जोड़ा गया है । सूत्र का उदाहरण यथा—

प्रकृत्य (भली भांति या अच्छी तरह कर के) । यहां पर कृ (डुकृञ् करणे, तना० उभय० अनिट्) धातु से परे पूर्वकाल में **समानकर्तृकयोः पूर्वकाले** (८७६) से क्त्वा प्रत्यय हो कर **एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्** (४७५) से इट् का निषेध तथा कित्त्व के कारण आर्धधातुकगुण का भी निषेध करने पर—कृ + क्त्वा = कृ + त्वा = कृत्वा । अब 'प्र' अव्यय के साथ 'कृत्वा' का **कुगतिप्रादयः** (९४९) से प्रादिसमास होता है । यह समास नित्य है अतः स्वपदविग्रह नहीं होता । 'प्र+कृत्वा' इस समास में 'प्र' यह अव्यय पूर्वपद में स्थित है, यह नञ् से भी भिन्न है अतः प्रकृतसूत्र से उत्तरपदस्थ कृत्वा के त्वा के स्थान पर ल्यप् आदेश हो कर अनुबन्धों का लोप करने पर—प्र+कृ+य । ल्यप् के पित् होने से **ह्रस्वस्य पिति कृति तुंक्** (७७७) से ह्रस्व ऋकार को तुंक् का आगम हो कर—प्र+कृत्+य=प्रकृत्य । अब समासत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा होने के कारण इस से परे प्रथमैकवचन सुँ लाया जाता है । परन्तु ल्यबन्त के अव्ययसंज्ञक होने के कारण **अव्ययादाप्सुंपः** (३७२) से उस का लुक् हो जाता है । इस प्रकार 'प्रकृत्य' यह प्रयोग उपपन्न होता है । प्रकर्षेण कृत्वा—प्रकृत्य ।

समास के पूर्वपद में यदि नञ् होगा तो उत्तरपदस्थ क्त्वा के स्थान पर ल्यप् आदेश न होगा । यथा—न कृत्वा—अकृत्वा (न कर के) । यहां 'कृत्वा' का 'नञ्' के साथ **नञ्** (९४६) सूत्रद्वारा तत्पुरुषसमास किया गया है । 'न+कृत्वा' यहां पूर्वपद में नञ् है अतः प्रकृतसूत्र से क्त्वा को ल्यप् नहीं होता । अब **नलोपो नञः** (९४७) से नञ् के आदि नकार का लोप हो कर—अ+कृत्वा=अकृत्वा । समासत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर औत्सर्गिक सुँ प्रत्यय का अव्ययत्वात् पूर्ववत् लुक् हो कर 'अकृत्वा' प्रयोग सिद्ध होता है । **अकृत्वा पौरुषं या श्रीः किं तयाऽपि सुभोग्यया** (पञ्चतन्त्र ४.८०) ।

अनाहूय, अनादृत्य, अनुद्वीक्ष्य, असमीक्ष्य, अनागत्य, अनधिकृत्य—इत्यादि स्थानों पर नञ्समास में जो ल्यप् देखा जाता है वह नञ्समास से पूर्व प्रादिसमास के

कारण आदिष्ट हुआ समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि ऐसे स्थानों पर नञ्भिन्न से पहले प्रादिसमास हो चुकता है तब उस के साथ नञ्समास होता है। इस तरह नञ् ल्यबन्त के साथ समस्त होता है क्त्वान्त के साथ नहीं अतः कोई दोष प्रसक्त नहीं होता। यथा—'अनु+भूत्वा' में प्रादिसमास हो कर 'अनुभूय' बना। अब इस का नञ् के साथ नञ्तत्पुरुषसमास होता है—न अनुभूय=अननुभूय।

क्त्वा और ल्यप् की प्रक्रिया में ध्यातव्य कुछ बातें—

[१] उदित् धातुओं से परे क्त्वा को **उदितो वा** (८८२) से वैकल्पिक इट् हो जाता है। इट्पक्ष में **न क्त्वा सेट्** (८८०) से सेट् क्त्वा अकित् हो जाता है अतः धातु में गुण हो जाता है। दूसरे अनिट्पक्ष में कित्त्व के अक्षुण्ण रहने के कारण गुण का **क्ङिति च** (४३३) से निषेध हो जाता है। यथा—वृतुँ—वर्तित्वा, वृत्वा। वृधुँ—वर्धित्वा, वृद्ध्वा। दिवुँ—देवित्वा, द्यूत्वा। सिवुँ—सेवित्वा, स्यूत्वा।

[२] **रधादिभ्यश्च** (६३५), **स्वरति-सूति-सूयति-धूञूदितो वा** (४७६) तथा **तीष-सह-लुभ-रुष-रिषः** (६५७) सूत्रों द्वारा क्त्वा में इट् का विकल्प किया जाता है। यथा—रध् (हिंसा करना, सिद्ध होना)—रधित्वा, रद्ध्वा। नश्—नशित्वा, नष्ट्वा, नंष्ट्वा। तृप्—तर्पित्वा, तृप्त्वा। क्षमूँ—क्षमित्वा, क्षान्त्वा। त्रपूँष्—त्रपित्वा, त्रप्त्वा। इष् (चाहना)—एषित्वा, इष्ट्वा। सह् (सहना)—सहित्वा, सोढ्वा। लुभ् (लोभ करना)—लुभित्वा-लोभित्वा, लुब्ध्वा।

[३] **श्र्युकः किति** (६५०) सूत्र से श्रिञ् तथा एकाच् उगन्त सेट् धातुओं से परे भी क्त्वा में इट् का निषेध हो जाता है। यथा—श्रि—श्रित्वा। भू—भूत्वा। पू—पूत्वा। लू—लूत्वा। तॄ—तीर्त्वा। सू—सूत्वा[1]।

[४] अपवादों को छोड़ कर सेट् क्त्वा **न क्त्वा सेट्** (८८०) सूत्रद्वारा कित् नहीं होता। अतः उस के परे रहते गुण आदि कार्य हो जाते हैं। यथा—दिवुँ—देवित्वा, द्यूत्वा। सिवुँ—सेवित्वा, स्यूत्वा। उदित्त्व के कारण **उदितो वा** (८८२) से वैकल्पिक इट् हो जाता है। इट् के अभाव में ऊठ् (८४३) हो जाता है। इस कित्त्वाभाव के कुछ प्रसिद्ध अपवाद यथा—

(क) मृड्, मृद्, गुध्, कुष्, क्लिश्, वद्, वस्, रुद्, विद्, मुष्, ग्रह्—इन धातुओं से परे सेट् क्त्वा भी कित् होता है[2]। यथा—मृड्—मृडित्वा। मृद्—मृदित्वा।

---

१. यह निषेध **स्वरति-सूति-सूयति-धूञूदितो वा** (४७६) इस विकल्प का भी बाध कर लेता है। यथा—स्वृ—स्वृत्वा। सू—सूत्वा। धूञ्—धूत्वा।

२. **मृड-मृद-गुध-कुष-क्लिश-वद-वसः क्त्वा** (१.२.७)—इन मृड् आदि धातुओं से परे क्त्वा प्रत्यय कित् होता है। **रुद-विद-मुष-ग्रहि-स्वपि-प्रच्छः संश्च** (१.२.८)—इन धातुओं से परे सन् और क्त्वा कित् होते हैं। स्वप् और प्रच्छ् का ग्रहण सन् के लिये ही है क्योंकि ये धातुएं अनिट् हैं अतः इन से परे क्त्वा के कित्त्व का कोई बाधक नहीं।

गुध्—गुधित्वा । कुष्—कुषित्वा । क्लिश्—क्लिशित्वा । वद्—उदित्वा । वस्—उषित्वा । रुद्—रुदित्वा । विद्—विदित्वा । मुष्—मुषित्वा । ग्रह्—गृहीत्वा[1] ।

(ख) जिस की उपधा में नकार हो ऐसी थकारान्त या फकारान्त धातु से परे सेट् क्त्वा विकल्प से कित् होता है[2] । कित्त्वपक्ष में उपधा के नकार का **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** (३३४) से लोप हो जायेगा और कित्त्वाभाव में न होगा । यथा—गुम्फ्—गुफित्वा, गुम्फित्वा । श्रन्थ्—श्रथित्वा, श्रन्थित्वा । ग्रन्थ्—ग्रथित्वा, ग्रन्थित्वा ।

(ग) तृष्, मृष् और कृश् धातुओं से परे सेट् क्त्वा विकल्प से कित् होता है[3] । यथा—तृषित्वा, तर्षित्वा । मृषित्वा, मर्षित्वा । कृशित्वा, कर्शित्वा ।

(घ) हलादि रलन्त जिस धातु की उपधा में इकार या उकार हो उस से परे सेट् क्त्वा विकल्प से कित् हो[4] । इस प्रकार कित्त्वपक्ष में गुणाभाव तथा कित्त्वाभाव में गुण हो जाता है । यथा—लिख्—लिखित्वा, लेखित्वा । रुच्—रुचित्वा, रोचित्वा । द्युत्—द्युतित्वा, द्योतित्वा ।

[५] णिजन्तों (स्वार्थ या हेतुमत्) में **न क्त्वा सेट्** (८८०) से सेट् क्त्वा अकित् हो जाता है अतः णि को गुणद्वारा एकार हो कर अय् आदेश हो जाता है । यथा—चोरि+इट् त्वा=चोरे+इत्वा=चोरयित्वा । स्थापि+इट् त्वा=स्थापे+इत्वा=स्थापयित्वा । भक्षयित्वा । पाठयित्वा । कथयित्वा । गणयित्वा । क्षालयित्वा आदि ।

[६] णिजन्तों से परे यदि क्त्वा के स्थान पर ल्यप् किया जाये तो **णेरनिटि** (५२९) सूत्र से णि का लोप हो जाता है । यथा—सम्+चोरि+य (ल्यप्)=सञ्चोर्य । वि+चिन्ति+य=विचिन्त्य । प्र+क्षालि+य=प्रक्षाल्य । परन्तु णि के परे रहते जो वर्ण, उस की उपधा में यदि लघु वर्ण हो तो **ल्यपि लघुपूर्वात्** (६.४.३८) सूत्र से णि को अय् आदेश हो जाता है । यथा—वि+गणि+य (ल्यप्)=विगणय्य । प्र+कथि+य(ल्यप्)=प्रकथय्य[5] ।

[७] ल्यप् (य) वलादि नहीं । क्त्वा (त्वा) का वलादित्व अल्धर्म है अतः स्थानिवद्भाव के कारण वह ल्यप् में सङ्क्रान्त नहीं होता । यही कारण है कि ल्यप् के परे रहते किसी धातु से परे इट् का आगम नहीं होता ।

---

१. वद्, वस् और ग्रह् में कित्त्व के कारण सम्प्रसारण हो जाता है ।

२. **नोपधात् थफान्ताद्वा** (१.२.२३)—नकारोपध थकारान्त या फकारान्त धातु से परे सेट् क्त्वा विकल्प से कित् हो ।

३. **तृषि-मृषि-कृशेः काश्यपस्य** (१.२.२५) ।

४. **रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च** (८८१) ।

५. शिष्टप्रयोगों में यदि कहीं इस नियम का उल्लङ्घन दिखाई दे तो वहां **अनित्यण्यन्ताश्चुरादयः** (चुरादिगणीय धातुओं से परे णिच् का विधान अनित्य है) का आश्रय कर समाधान करना चाहिये ।

[८] अनुनासिकान्त अनुदात्तोपदेश (मन्, हन्, गम्, नम्, रम्, यम्) धातुओं तथा वन् और तनोत्यादि धातुओं से परे झलादि=अनिट् क्त्वा हो तो इन धातुओं के अन्त्य अनुनासिक का लोप हो जाता है[1]। यथा—मन्—मत्वा। हन्—हत्वा। गम्—गत्वा। नम्—नत्वा। रम्—रत्वा। यम्—यत्वा। वन्—वत्वा। तन्—तत्वा।

[९] परन्तु ल्यप् परे होने पर पूर्वोक्त धातुओं में से नकारान्त धातुओं के अन्त्य नकार का नित्य तथा मकारान्त धातुओं के अन्त्य मकार का विकल्प से लोप हो जाता है[2]। नकारान्तों से यथा—मन्—अवमत्य (नकार का लोप हो कर तुँक् आगम)। हन्—निहत्य। वन्—प्रवत्य। तन्—अवतत्य। मकारान्तों से यथा—गम्—आगत्य (तुँक्), आगम्य। नम्—प्रणत्य (तुँक्), प्रणम्य। रम्—विरत्य (तुँक्), विरम्य। यम्—नियत्य (तुँक्), नियम्य।

[१०] अनिट् क्त्वा के परे रहते जिन मकारान्त धातुओं में अन्त्य मकार का लोप नहीं होता वहां **अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति** (७२७) से उपधादीर्घ होकर अपदान्त मकार को अनुस्वार (७८) तथा अनुस्वार को नित्य परसवर्ण (७९) हो जाता है। यथा—कम्—कमित्वा, कान्त्वा। क्लम्—क्लमित्वा, क्लान्त्वा। चम्—चमित्वा, चान्त्वा। भ्रम्—भ्रमित्वा, भ्रान्त्वा। वम्—वमित्वा, वान्त्वा। शम्—शमित्वा, शान्त्वा। श्रम्—श्रमित्वा, श्रान्त्वा। ये धातुएं उदित् हैं अतः **उदितो वा** (८८२) से इट् का विकल्प होता है। अनिट्पक्ष में उपधादीर्घ हो जाता है।

[११] क्त्वा के परे रहते दो, सो, मा और स्था धातुओं को इत्त्व हो जाता है[3]। यथा—दो (तोड़ना)—दित्वा। सो (नष्ट करना)—सित्वा। मा—मित्वा। स्था—स्थित्वा। इसी प्रकार हा (छोड़ना) और धा (धारण या पोषण करना) धातुओं को क्त्वा के परे रहते 'हि' आदेश[4] तथा दा को दद्[5] आदेश हो जाता है—हा—हित्वा (छोड़ कर), धा—हित्वा (धारण कर के)। दा—दत्त्वा। गै, पा (पीना) तथा अन्य घुसंज्ञकों को ईत्व हो जाता है[6]। यथा—गै—गीत्वा (आत्व हो कर ईत्व), पा—पीत्वा। धेट्—धीत्वा (पी कर)। ध्यान रहे कि ल्यप् में **न ल्यपि** (६.४.६९) से निषेध हो जाता है।

---

१. **अनुदात्तोपदेश-वनति-तनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति** (५५९)।

२. **वा ल्यपि** (६.४.३८)। व्यवस्थितविभाषेयम्। तेन नान्तानां नित्यम्, मान्तानाञ्च विभाषया लोपोऽवसेयः।

३. **द्यति-स्यति-मा-स्थाम् इत् ति किति** (७.४.४०)—तकारादि कित् प्रत्यय परे हो तो दो, सो, मा, स्था धातुओं को इकार अन्तादेश हो जाता है।

४. **दधातेर्हिः** (८२६), **जहातेश्च क्त्वि** (८८३)।

५. **दो दद् घोः** (८२७)।

६. **घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-सां हलि** (५८८)।

[१२] कई जगह धातु में उपसर्ग का भ्रम पड़ता है पर वहां क्त्वा को ल्यप् नहीं होता। यथा—संग्रामयित्वा, संकेतयित्वा, निवासयित्वा, अवधीरयित्वा, आन्दोलयित्वा आदि। इन स्थानों पर सङ्ग्राम, संकेत, निवास आदि सम्पूर्ण शुद्ध धातु ही समझनी चाहियें। इन में सम्, नि आदि अंश उपसर्ग नहीं अपितु धातु का ही अवयव है।

[१३] स्वार्थणिजन्त धातुओं की तरह हेतुमण्णिजन्त, सन्नन्त, यङन्त तथा अन्य नामधातुओं से भी क्त्वा-ल्यप् हुआ करते हैं। यथा—(हेतुमण्णिजन्त)—पाठि—पाठयित्वा-सम्पाठ्य; स्थापि—स्थापयित्वा-संस्थाप्य; दापि—दापयित्वा-सन्दाप्य; चालि—चालयित्वा-संचाल्य; दर्शि—दर्शयित्वा-संदर्श्य; ज्ञापि—ज्ञापयित्वा-विज्ञाप्य; श्राविं—श्रावयित्वा-सुश्राव्य। (सन्नन्त)—चिकीर्ष—चिकीर्षित्वा-प्रचिकीर्ष्य; शुश्रूष—शुश्रूषित्वा-अनुशुश्रूष्य; तितीर्ष—तितीर्षित्वा-सन्तितीर्ष्य। (यङन्त)—लोलूय—लोलूयित्वा-विलोलूय्य; पोपूय—पोपूयित्वा-विपोपूय्य। आदि।

क्त्वा-ल्यप्सम्बन्धी ये सब साधारण कार्य कहे हैं, विशेष स्थलों पर विशेष कार्य भी होते हैं।

अब हम अर्थसहित साढ़े तीन सौ सुप्रसिद्ध धातुओं के क्त्वान्त और ल्यबन्त रूपों की तालिका दे रहे हैं। इस में स्थान स्थान पर विशेष कार्यों के लिये टिप्पणी दी गई है। विद्यार्थी यदि इस का अनुशीलन करेंगे तो निश्चय ही इस प्रक्रिया में निष्णात हो जाएंगे—

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त	धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
अट् (घूमना)	अटित्वा	पर्यट्य	अव् (बचाना)	अवित्वा	समव्य
अद् (खाना)	जग्ध्वा[1]	प्रजग्ध्य	अश् (खाना)	अशित्वा	प्राश्य
अन् (सांस लेना)	अनित्वा	प्राण्य[2]	अस् (होना)	भूत्वा[4]	अनुभूय
अय् (जाना)	अयित्वा	पलाय्य[3]	अस् (फेंकना)	{ असित्वा[5] अस्त्वा	निरस्य
अर्च् (पूजना)	अर्चित्वा	समर्च्य			
अर्जि (कमाना)	अर्जयित्वा*	उपार्ज्य	आप् (पाना)	आप्त्वा	प्राप्य
अर्थि (मांगना)	अर्थयित्वा*	प्रार्थ्य	आस् (बैठना)	आसित्वा	उपास्य
अर्द् (मांगना)	अर्दित्वा	अभ्यर्द्य	इ[ङ्] (पढ़ना)		अधीत्य[6]

१. अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति (२.४.३६) इति जग्ध्यादेशः।
२. अनितेः (८.४.१९) इत्युपसर्गनिमित्तकं णत्वं बोध्यम्।
३. उपसर्गस्यायतौ (५३५) इत्युपसर्गरेफस्य लत्वम्।
* क्त्वायां न क्त्वा सेट् (८८०) इति कित्त्वनिषेधाण्णेर्गुणेऽयादेशः। ल्यपि तु णेरनिटि (५२९) इति णेर्लोपः। एवंचिह्नितेषु सर्वत्रैवं बोध्यम्।
४. अस्तेर्भूः (५७६) इत्यार्धधातुकविषये 'भू' इत्यादेशः। श्र्युकः किति (६५०) इतीण्निषिध्यते।
५. असुँ क्षेपणे (दिवा० प० अनिट्)। उदित्वाद् उदितो वा (८८२) इति वेट्।
६. इङ् अध्ययने (अदा० आ० अनिट्)। नित्यमधिपूर्वः। तेन विशुद्धक्त्वायां रूपा-

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
इ[ण्] (जाना)	इत्वा	उपेत्य
इष् (चाहना)	एषित्वा[1] / इष्ट्वा	प्रेष्य
ईक्ष् (देखना)	ईक्षित्वा	निरीक्ष्य
ईह् (चेष्टा करना)	ईहित्वा	समीह्य
उष् (जलाना)	ओषित्वा	उपोष्य
ऊह् (तर्क करना)	ऊहित्वा	समुह्य[2]
एज् (कांपना)	एजित्वा	प्रेज्य
एध् (बढ़ना)	एधित्वा	समेध्य
कथि (कहना)	कथयित्वा[3]	प्रकथय्य
कम् (चाहना)	कामयित्वा / कमित्वा / कान्त्वा[4]	अभिकाम्य / अभिकम्य
कम्प् (कांपना)	कम्पित्वा	प्रकम्प्य

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
कर्णि (सुनना)	कर्णयित्वा*	आकर्ण्य
काङ्क्ष् (चाहना)	काङ्क्षित्वा	अभिकाङ्क्ष्य
काश् (चमकना)	काशित्वा	प्रकाश्य
कीर्ति (वर्णन करना)	कीर्तयित्वा*	संकीर्त्य
कुप् (क्रोध करना)	कुपित्वा[5] / कोपित्वा	प्रकुप्य
कुर्द् (कूदना)	कूर्दित्वा[6]	संकूर्द्य
कूज् (कूकना)	कूजित्वा	संकूज्य
कृ (करना)	कृत्वा	अधिकृत्य
कृत् (काटना)	कर्तित्वा[7]	विकृत्य
कृष् (खींचना)	कृष्ट्वा	आकृष्य
कॄ (बिखेरना)	कीर्त्वा[8]	प्रकीर्य
क्रन्द् (चिल्लाना)	क्रन्दित्वा	आक्रन्द्य

भावः । अधीत्येत्यत्र सवर्णदीर्घैकादेशस्य **षत्वतुकोरसिद्धः** (६.१.८६) इत्यसिद्धत्वाद् **ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्** (७७७) इति तुक् । एवम् 'उपेत्य' इत्यत्रापि बोध्यम् ।

१. **तीषसहलुभरुषरिषः** (६५७) इति वेट् । इट्पक्षे **न क्त्वा सेट्** (८८०) इति कित्वनिषेधाद् गुणः । अन्यत्र गुणाभावे ष्टुत्वम् ।

२. **उपसर्गाद्ध्रस्व ऊहतेः** (७.४.२३) इति ह्रस्वः ।

३. क्त्वायामिटि **न क्त्वा सेट्** (८८०) इति कित्वनिषेधाद् गुणेऽयादेशः । ल्यपि तु **ल्यपि लघुपूर्वात्** (६.४.३८) इति णेरयादेशः ।

४. कमुँ कान्तौ (भ्वा० आ० सेट्) । **कमेर्णिङ्** (५२५), **आयादय आर्धधातुके वा** (४६६) इति वा णिङ् । णिङ्पक्षे—कामयित्वा । णिङोऽभावे **उदितो वा** (८८२) इति वेट् । इडभावे **अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति** (७२७) इत्युपधादीर्घेऽनुस्वारपरसवर्णौ ।

५. कुप क्रोधे (दि० प०) । धातुरयं सेट् । **रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च** (८८१) इति कित्त्वं विकल्प्यते ।

६. **उपधायाञ्च** (८.२.७८) इति दीर्घः ।

७. कृतीँ छेदने (तुदा० प० सेट्) । **न क्त्वा सेट्** (८८०) इति कित्वनिषेधस्तेन गुणः ।

८. कॄ विक्षेपे (तुदा० प० सेट्) । **श्र्युकः किति** (६५०) इतीण्निषेधः । **ॠत इद्धातोः** (६६८) इत्यनेन इत्वे, रपरत्वे, **हलि च** (६१२) इति दीर्घः ।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
क्रम् (कदम बढ़ाना)	क्रमित्वा[1] / क्रान्त्वा / क्रन्त्वा	संक्रम्य
क्री (खरीदना)	क्रीत्वा	विक्रीय
क्रीड् (खेलना)	क्रीडित्वा	संक्रीड्य
क्रुध् (क्रोध करना)	क्रुद्ध्वा[2]	अभिक्रुध्य
क्रुश् (पुकारना)	क्रुष्ट्वा	आक्रुश्य
क्लम् (थकना)	क्लमित्वा[3] / क्लान्त्वा	विक्लम्य
क्लिद् (गीला होना)	क्लेदित्वा[4] / क्लिदित्वा / क्लित्त्वा	विक्लिद्य
क्लिश् (तंग करना)	क्लिशित्वा[5] / क्लिष्ट्वा	परिक्लिश्य
क्वण् (गूंजना)	क्वणित्वा	प्रक्वण्य
क्वथ् (उबालना)	क्वथित्वा	प्रक्वथ्य
क्षम् (सहना)	क्षमित्वा[6] / क्षान्त्वा	प्रक्षम्य
क्षर् (टपकना)	क्षरित्वा	विक्षर्य
क्षालि (धोना)	क्षालयित्वा*	प्रक्षाल्य
क्षि (घटना)	क्षित्वा	प्रक्षीय[7]
क्षिप् (फेंकना)	क्षिप्त्वा	प्रक्षिप्य
क्षुध् (भूखा होना)	क्षुधित्वा[8] / क्षोधित्वा	संक्षुध्य
क्षुभ् (क्षुब्ध होना)	क्षुभित्वा[9] / क्षोभित्वा	संक्षुभ्य
खन् (खोदना)	खनित्वा[10] / खात्वा	उत्खन्य / उत्खाय

---

१. क्रमुँ पादविक्षेपे (भ्वा० प० सेट्)। उदित्वाद् उदितो वा (८८२) इति वेट्। इटोऽभावे अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति (७२७) इति नित्य उपधादीर्घे प्राप्ते क्रमश्च क्त्वि (६.४.१८) इति विकल्प्यते।

२. झषस्तथोर्धोऽधः (५४९) इति धत्वे झलां जश्झशि (१९) इति जश्त्वम्।

३. क्लमुँ ग्लानौ (दिवा० प० सेट्)। उदितो वा (८८२) इति वेट्। इडभावे उपधादीर्घेऽनुस्वारपरसवर्णौ।

४. क्लिदूँ आर्द्रीभावे (दिवा० पर० सेट्)। ऊदित्वादिड्विकल्पः। इट्पक्षे रलो व्युपधाद्० (८८१) इति कित्त्वविकल्पेन रूपद्वयम्। इटोऽभावे कित्त्वाद् गुणाभावः।

५. क्लिशः क्त्वानिष्ठयोः (७.२.५०) इति वेट्। इट्पक्षे मृड-मृद-गुध-कुष-क्लिश-वद-वसः क्त्वा (१.२.७) इति नित्यकित्त्वेन गुणाभावः।

६. क्षमूँ सहने (दिवा० प०)। ऊदित्त्वाद्वेट्। इटोऽभावे—उपधादीर्घेऽनुस्वारपरसवर्णौ।

७. क्षियः (६.४.५९) इति ल्यपि दीर्घः।

८. वसति-क्षुधोरिट् (७.२.५२) इति क्त्वायामिट्। रलो व्युपधाद्० (८८१) इति कित्त्वविकल्पः। तेन रूपद्वयम्।

९. क्षुभँ सञ्चलने (भ्वा० आ० सेट्)। रलो व्युपधाद्० (८८१) इति कित्त्वविकल्पेन रूपद्वयम्।

१०. खनुँ अवदारणे (भ्वा० उ० सेट्)। उदितो वा (८८२) इति क्त्वायामिड्विकल्पः। इटोऽभावे जन-सन-खनां सञ्झलोः (६७६) इत्यात्त्वे सवर्णदीर्घः। ल्यपि ये विभाषा (६७५) इत्यात्त्वविकल्पः।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त	धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
खाद् (खाना)	खादित्वा	संखाद्य	गुञ्ज् (गूंजना)	गुञ्जित्वा[4]	संगुञ्ज्य
खिद् (खिन्न होना)	खित्त्वा	संखिद्य	गुप् (रक्षाकरना)	गोपायित्वा / गुपित्वा / गोपित्वा / गुप्त्वा[5]	संगोपाय्य / संगुप्य
खेल् (खेलना)	खेलित्वा	संखेल्य			
गणि (गिनना)	गणयित्वा	विगणय्य[1]			
गद् (कहना)	गदित्वा	निगद्य	गुम्फ् (गूंथना)	गुफित्वा[6] / गुम्फित्वा	संगुफ्य
गम् (जाना)	गत्वा[2]	अवगत्य / अवगम्य			
गर्ज् (गरजना)	गर्जित्वा	संगर्ज्य	गुह् (छिपाना)	गूहित्वा[7] / गोहित्वा / गूढ्वा	विगुह्य
गर्ह् (निन्दा करना)	गर्हित्वा	विगर्ह्य			
गवेषि (ढूंढना)	गवेषयित्वा*	संगवेष्य	गृध् (लालची होना)	गर्धित्वा[8] / गृद्ध्वा	प्रगृध्य
गाह् (नहाना)	गाहित्वा[3] / गाढ्वा	अवगाह्य	गॄ (निगलना)	गीर्त्वा[9]	संगीर्य

---

१. **ल्यपि लघुपूर्वात्** (६.४.३८) इति णेरयादेशः ।

२. क्त्वायाम् **अनुदात्तोपदेशवनति०** (५५६) इत्यनुनासिकलोपः । ल्यपि तु **वा ल्यपि** (६.४.३८) इति लोपविकल्पः । लोपपक्षे **ह्रस्वस्य पिति०** (७७७) इति तुँक् ।

३. गाहूँ विलोडने (भ्वा० आ०) । ऊदित्त्वाद्वेट् । इडभावे ढत्व-धत्व-ष्टुत्व-ढलोपाः ।

४. गुजिँ अव्यक्ते शब्दे (भ्वा० प० सेट्) । धातोरिदित्त्वान्नलोपो न ।

५. गुपूँ रक्षणे (भ्वा० प० वेट्) । **गुपूँ-धूप-विच्छि-पणि-पनिभ्य आयः** (४६७), **आयादय आर्धधातुके वा** (४६८) इति आयविकल्पः । आयपक्षे इटि **अतो लोपः** (४७०) । आयाभावे ऊदित्त्वाद्वेट् । इट्पक्षे **रलो व्युपधाद्०** (८८१) इति कित्वविकल्पेन रूपद्वयम् । इटोऽभावे गुप्त्वेति ।

६. गुम्फ ग्रन्थे (तु० प० सेट्) । **नोपधात् थफान्ताद्वा** (१.२.२३) इति सेट् क्त्वा वा कित् । कित्त्वपक्ष उपधानकारलोपस्तेन रूपद्वयम् । ल्यपि तु इटोऽभावान्नित्य-लोपः ।

७. गुहूँ संवरणे (भ्वा० आ० वेट्) । ऊदित्त्वाद्वेट् । इट्पक्षे **रलो व्युपधाद्०** (८८१) इति कित्त्वं विकल्प्यते । कित्त्वपक्षे **ऊदुपधाया गोहः** (६.४.८९) इत्युपधादीर्घः । कित्त्वाभावे लघूपधगुणः । इटोऽभावे ढत्व-धत्व-ष्टुत्व-ढलोप-दीर्घाः । इत्थं समाहृत्य त्रीणि रूपाणि जायन्ते ।

८. गृधुँ अभिकाङ्क्षायाम् (दिवा० प० सेट्) । **उदितो वा** (८८२) इतीड्विकल्पः । इट्पक्षे **न क्त्वा सेट्** (८८०) इति कित्त्वनिषेधेन लघूपधगुणः । इटोऽभावे धत्व-जश्त्वे ।

९. **श्र्युकः किति** (६५०) इतीण्निषेधः । **ॠत इद् धातोः** (६६०) इति इत्वे रपरत्वे **हलि च** (६१२) इत्युपधादीर्घः ।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
गै (गाना)	गीत्वा[1]	प्रगाय
ग्रन्थ् (बांधना)	ग्रथित्वा[2] / ग्रन्थित्वा	संग्रथ्य
ग्रस् (खाना)	ग्रसित्वा[3] / ग्रस्त्वा	संग्रस्य
ग्रह् (ग्रहण करना)	गृहीत्वा[4]	विगृह्य
ग्लै (खिन्न होना)	ग्लात्वा	प्रग्लाय
घोषि (घोषणा करना)	घोषयित्वा*	संघोष्य
घ्रा (सूंघना)	घ्रात्वा	विघ्राय
चक्ष् (कहना)	ख्यात्वा[5]	आख्याय
चम् (खाना)	चमित्वा[6] / चान्त्वा	आचम्य
चर् (चलना)	चरित्वा	आचर्य
चर्व् (चबाना)	चर्वित्वा	संचर्व्य
चल् (चलना)	चलित्वा	संचल्य
चि (चुनना)	चित्वा	संचित्य
चित् (समझना)	चितित्वा[7] / चेतित्वा	विचित्य

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
चिन्ति (चिन्ता करना)	चिन्तयित्वा*	विचिन्त्य
चुम्ब् (चूमना)	चुम्बित्वा[8]	संचुम्ब्य
चूर्णि (पीसना)	चूर्णयित्वा*	संचूर्ण्य
चेष्ट् (चेष्टा करना)	चेष्टित्वा	विचेष्ट्य
चोदि (प्रेरणा देना)	चोदयित्वा*	प्रचोद्य
चोरि (चुराना)	चोरयित्वा*	संचोर्य
च्युत् (गिरना)	च्युतित्वा / च्योतित्वा	संच्युत्य
छर्द् (वमन करना)	छर्दित्वा	प्रच्छर्द्य
छादि (ढांपना)	छादयित्वा*	प्रच्छाद्य
छिद् (काटना)	छित्त्वा	विच्छिद्य
जन् (पैदा होना)	जनित्वा	संजाय[9] / संजन्य
जप् (जपना)	जपित्वा	प्रजप्य
जल्प् (बकवाद करना)	जल्पित्वा	प्रजल्प्य
जागृ (जागना)	जागरित्वा[10]	प्रजागर्य
जि (जीतना)	जित्वा	विजित्य

१. **आदेच उपदेशेऽशिति** (४९३) इत्यात्वे **घुमास्था०** (५८८) इतीत्वम् ।

२. गुम्फितिवदत्र प्रक्रिया बोध्या ।

३. ग्रसुँ अदने (भ्वा० आ०) । उदित्त्वाद् वेट् ।

४. **रुद-विद-मुष-ग्रहि-स्वपि-प्रच्छः संश्च** (१.२.८) इति कित्त्वम् । **न क्त्वा सेट्** (८८०) इत्यस्यापवादः । कित्त्वे सम्प्रसारणम् । **ग्रहोऽलिटि दीर्घः** (६९३) इतीटो दीर्घः ।

५. **चक्षिङः ख्याञ्** (२.४.५४) इति ख्याञादेशः ।

६. चमुँ अदने (भ्वा० प०) । **उदितो वा** (८८२) इतीड्विकल्पः । इटोऽभावे **अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति** (७२७) इत्युपधादीर्घेऽनुस्वारपरसवर्णौ ।

७. चितीँ संज्ञाने (भ्वा० प० सेट्) । **रलो व्युपधाद्०** (८८१) इति कित्त्वविकल्पनाद् रूपद्वयं बोध्यम् । एवं 'च्युतित्वा-च्योतित्वा' इत्यत्रापि ।

८. चुबिँ वक्त्रसंयोगे (भ्वा० प० सेट्) । धातोरिदित्त्वान्नकारलोपो न ।

९. **ल्यपि च विभाषा** (६७५) इति विकल्पेनात्वम् ।

१०. **श्र्युकः किति** (६५०) इत्यत्र 'एकाचः' इत्यनुवर्त्तनादिह इण्निषेधो न । **न क्त्वा सेट्** (८८०) इत्यकित्त्वे गुणः सुतरां लभ्यते । ल्यपि कित्त्वेऽपि **जाग्रोऽविचिण्णल्ङित्सु** (७.३.८५) इति गुणः ।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
जीव् (जीना)	जीवित्वा	अनुजीव्य
जुष् (सेवन करना)	जुषित्वा[1] / जोषित्वा	उपजुष्य
जृम्भ् (जंबाई लेना)	जृम्भित्वा[2]	विजृम्भ्य
जॄ (बूढ़ा होना)	जरित्वा[3] / जरीत्वा	प्रजीर्य
ज्ञा (जानना)	ज्ञात्वा	विज्ञाय
ज्वल् (जलना)	ज्वलित्वा	प्रज्वल्य
डी (उड़ना)	डयित्वा[4]	उड्डीय
तक्ष् (छीलना)	तक्षित्वा[5] / तष्ट्वा	सन्तक्ष्य
तन् (विस्तार करना)	तनित्वा[6] / तत्वा	अवतत्य
तप् (तपना, तपाना)	तप्त्वा	सन्तप्य

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
तम् (थका होना)	तमित्वा[7] / तान्त्वा	सन्तम्य
तर्ज् (धमकाना)	तर्जित्वा	प्रतर्ज्य
तस् (क्षीण होना)	तसित्वा[8] / तस्त्वा	प्रतस्य
ताडि (पीटना)	ताडयित्वा*	सन्ताड्य
तुद् (दुःख देना)	तुत्त्वा	सन्तुद्य
तुष् (प्रसन्न होना)	तुष्ट्वा	सन्तुष्य
तृप् (तृप्त होना)	तर्पित्वा[9] / तृप्त्वा	सन्तृप्य
तॄ (पार करना)	तीर्त्वा[10]	सन्तीर्य
तोलि (तोलना)	तोलयित्वा	सन्तोल्य
त्यज् (छोड़ना)	त्यक्त्वा	परित्यज्य

---

१. **रलो व्युपधाद्०** (८८१) इति कित्त्वविकल्पनाद् रूपद्वयम् ।

२. जृभिँ गात्रविनामे (भ्वा० आ० सेट्) । इदित्त्वाल्ल्यपि नकारलोपो न ।

३. **श्र्युकः किति** (६५०) इतीण्निषेधे प्राप्ते **जॄव्रश्च्योः क्त्वि** (७.२.५५) इति नित्यमिट् । **वॄतो वा** (६१५) इतीटो वा दीर्घः । ल्यपि इत्व-रपरत्वयोः **हलि च** (६१२) इति दीर्घः ।

४. डीङ् विहायसा गतौ (भ्वा० आ० सेट्) । **न क्त्वा सेट्** (८८०) इति कित्वनिषेधे गुणेऽयादेशः ।

५. तक्षूँ तनूकरणे (भ्वा० प० वेट्) । ऊदित्त्वाद्वेट् । इडभावे **स्कोः संयोगाद्योरन्ते च** (३०६) इति संयोगादिककारलोपे ष्टुत्वे रूपसिद्धिः ।

६. तनुँ विस्तारे (तना० उ० सेट्) । **उदितो वा** (८८२) इतीड्विकल्पः । इटोऽभावे **अनुदात्तोपदेश०** (५५६) इत्यनुनासिकलोपः । ल्यपि तु **वा ल्यपि** (६.४.३८) इति व्यवस्थितविभाषाश्रयणान्मान्तानां नित्यमिति नित्योऽनुनासिकलोपः । लोपे तुँगागमः ।

७. तमुँ काङ्क्षायाम् (दि० प० सेट्) । उदित्त्वाद् **उदितो वा** (८८२) इतीड्विकल्पः । इटोऽभावे **उपधादीर्घे** (७२७) अनुस्वारपरसवर्णौ ।

८. तसुँ उपक्षये (दिवा० प० सेट्) । **उदितो वा** (८८२) इति वेट्, तेन रूपद्वयम् ॥

९. तृप प्रीणने (दिवा० प०) । रधादित्वाद् **रधादिभ्यश्च** (६३५) इति वेट् । इट्पक्षे **न क्त्वा सेट्** (८८०) इत्यकित्त्वेन लघूपधगुणः ।

१०. **श्र्युकः किति** (६५०) इतीण्निषेधे इत्वरपरत्वयोः **हलि च** (६१२) इति दीर्घः ।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
त्रप् (शर्माना)	त्रपित्वा[1] / त्रप्त्वा	अपत्रप्य
त्रस् (डरना)	त्रसित्वा	संत्रस्य
त्रुट् (टूटना)	त्रुटित्वा[2]	प्रत्रुट्य
त्रै (पालन करना)	त्रात्वा[3]	परित्राय
त्वर् (जल्दी करना)	त्वरित्वा	प्रत्वर्य
दंश् (डंक मारना)	दष्ट्वा[4]	संदश्य
दण्ड (सजा देना)	दण्डयित्वा*	संदण्ड्य
दम् (दमन करना)	दमित्वा[5] / दान्त्वा	सन्दम्य
दम्भ् (दम्भ करना)	दम्भित्वा[6] / दब्ध्वा	प्रदभ्य
दय् (दया करना)	दयित्वा	संदय्य
दल् (दलना)	दलित्वा	विदल्य
दस् (क्षीण होना)	दसित्वा[7] / दस्त्वा	उपदस्य

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
दह् (जलाना)	दग्ध्वा[8]	सन्दह्य
दा (देना)	दत्त्वा[9]	प्रदाय
दिव् (चमकना)	देवित्वा[10] / द्यूत्वा	प्रतिदीव्य
दिश् (देना)	दिष्ट्वा	उपदिश्य
दिह् (लेप करना)	दिग्ध्वा	उपदिह्य
दीप् (चमकना)	दीपित्वा	संदीप्य
दुष् (दूषित होना)	दुष्ट्वा	प्रदुष्य
दुह् (दोहना)	दुग्ध्वा	संदुह्य
दू (दुःखी होना)	दूत्वा	प्रदूय
दृ (आदर करना)	दृत्वा	आदृत्य
दृश् (देखना)	दृष्ट्वा[11]	सन्दृश्य
दॄ (फाड़ना)	दीर्त्वा	विदीर्य
दो (तोड़ना)	दित्वा[12]	अवदाय
द्युत् (चमकना)	द्युतित्वा / द्योतित्वा[13]	प्रद्युत्य

---

१. त्रपूँष् लज्जायाम् (भ्वा० आ० वेट्) । ऊदित्त्वाद्वेट् ।
२. कुटादित्वेन **गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन् ङित्** (५८७) इति ङित्त्वाद् गुणो न ।
३. **आदेच उपदेशेऽशिति** (४९३) इत्यात्वम् । एवं 'ग्लै, ध्यै, म्लै' आदिषु बोध्यम् ।
४. दन्श दशने (भ्वा० प० अनिट्), नोपधो धातुः । **अनिदितां हल०** (३३४) इत्युपधानकारलोपे षत्वष्टुत्वे ।
५. दमुँ उपशमे (दि० प० सेट्) । उदित्त्वाद् वेट् । इटोऽभावे उपधादीर्घेऽनुस्वारपरसवर्णौ ।
६. दन्भुँ दम्भने (स्वा० प० सेट्), नोपधो धातुः । उदित्त्वादिड्विकल्पः । इट्पक्षे **न क्त्वा सेट्** (८८०) इति कित्त्वनिषेधादुपधानकारलोपो न । इटोऽभावे उपधानकारलोपे धत्वजश्त्वे । ल्यपि नकारलोपः ।
७ दसुँ उपक्षये (दि० प० सेट्) । उदित्त्वाद् **उदितो वा** (८८२) इति वेट् ।
८. **दादेर्धातोर्घः** (२५२) इति हकारस्य घत्वे धत्वजश्त्वे । एवं दिग्ध्वा-दुग्ध्वादिषु बोध्यम् ।
९. **दो दद् घोः** (८२७) इति ददादेशः । चर्त्वम् ।
१०. **रूपसिद्धिः** पूर्वं (८८२) सूत्रे द्रष्टव्या ।
११. षत्वे (३०७) ष्टुत्वम् (६४) ।
१२. आत्वे **द्यति-स्यति-मा-स्थामित्ति किति** (७.४.४०) इति इत्त्वम् । ल्यपि तु **न ल्यपि** (६.४.४०) इति ईत्वं निषिध्यते ।
१३. **रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च** (८८१) इति कित्त्वविकल्पनाद् रूपद्वयम् ।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
द्रु (पिघलना)	द्रुत्वा	प्रद्रुत्य
द्रुह् (द्रोह करना)	द्रुहित्वा[1] द्रोहित्वा द्रुग्ध्वा द्रूढ्वा	प्रद्रुह्य
द्विष् (द्वेष करना)	द्विष्ट्वा	प्रद्विष्य
धा (धारण करना)	हित्वा[2]	सन्धाय
धाव् (दौड़ना)	धावित्वा	प्रधाव्य
धू (हिलाना)	धवित्वा[3] धूत्वा	आधूय
धृ (धारण करना)	धृत्वा	विधृत्य
धे (पीना, चूसना)	धीत्वा[4]	प्रधाय
ध्मा (फूकना)	ध्मात्वा	सन्ध्माय
ध्यै (ध्यान करना)	ध्यात्वा	सन्ध्याय

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
ध्वंस् (नष्ट होना)	ध्वंसित्वा[5] ध्वस्त्वा	अपध्वस्य
नद् (गरजना)	नदित्वा	निनद्य
नन्द् (खुश होना)	नन्दित्वा[6]	प्रतिनन्द्य अभिनन्द्य
नम् (झुकना)	नत्वा[7]	प्रणत्य प्रणम्य
नर्द् (गरजना)	नर्दित्वा	उन्नर्द्य
नश् (नष्ट होना)	नशित्वा[8] नष्ट्वा नंष्ट्वा	प्रणश्य
नह् (बांधना)	नद्ध्वा[9]	सन्नह्य
निन्द् (निन्दा करना)	निन्दित्वा	सन्निन्द्य
नी (ले जाना)	नीत्वा	आनीय

१. रधादित्वाद् वेट् । इट्पक्षे **रलो व्युपधाद्०** (८८१) इति कित्त्वविकल्पेन रूप-द्वयम् । इटोऽभावे **वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम्** (२५४) इति वा घत्वम् । घत्वे धत्व-जश्त्वयोः द्रुग्ध्वेति रूपम् । घत्वाभावे **हो ढः** (२५१) इति ढत्वे धत्व-ष्टुत्व-ढलोप-दीर्घेषु द्रूढ्वेति । तदेवं चत्वारि रूपाणि ।

२. **दधातेर्हिः** (८२६) इति 'हि' आदेशः ।

३. **स्वरति-सूति-सूयति-धूञूदितो वा** (४७६) इति वेट् । इट्पक्षे **न क्त्वा सेट्** (८८०) इत्यकित्त्वेन गुणः ।

४. **घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-सां हलि** (५८८) इति ईत्वम् । ल्यपि **न ल्यपि** (६.४.६९) इति निषिध्यते ।

५. ध्वन्सुँ अवस्रंसने गतौ च (भ्वा० आ० सेट्) । उदित्त्वाद् **उदितो वा** (८८२) इति क्त्वायां वेट् । इट्पक्षे कित्त्वनिषेधान्न नकारलोपः । इटोऽभावे कित्त्वाल्लोपः ।

६. टुनदिँ समृद्धौ (भ्वा० प० सेट्) । इदित्त्वाल्ल्यपि नकारलोपो न ।

७. **अनुदात्तोपदेशवनति०** (५५९) इत्यनुनासिकलोपः । ल्यपि तु **वा ल्यपि** (६.४.३८) इति विकल्प्यते । लोपे तुँगागमः (७७७) ।

८. **रधादिभ्यश्च** (६३५) इतीड्विकल्पः । इटोऽभावे **मस्जिनशोर्झलि** (६३६) इति नुँमि 'नंष्ट्वा' इति । **जान्तनशां विभाषा** (६.४.३२) इति क्त्वायां नकारस्य विकल्पेन लोपे 'नष्ट्वा' इत्यपि रूपम् । प्रणश्येत्यत्र **उपसर्गादसमासेऽपि णोप-देशस्य** (४५९) इति णत्वम् ।

९. **नहो धः** (३५९) इति धातोर्हकारस्य धत्वे, प्रत्ययस्यापि **झषस्तथोर्धोऽधः** (५४९) इति धत्वे **झलां जश्झशि** (१९) इति जश्त्वम् ।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त	धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
नु (स्तुति करना)	नुत्वा	सन्नुत्य	पू (पवित्र करना)	पूत्वा[४]	विपूय
नुद् (प्रेरणा देना)	नुत्त्वा	अपनुद्य	पूजि (पूजना)	पूजयित्वा*	सम्पूज्य
नृत् (नाचना)	नर्तित्वा[१]	प्रनृत्य	पूरि (पूर्ण करना)	पूरयित्वा*	प्रपूर्य
पच् (पकाना)	पक्त्वा	प्रपच्य	पॄ (पूर्ण करना)	पूर्त्वा[५]	प्रपूर्य
पठ् (पढ़ना)	पठित्वा	प्रपठ्य	प्रच्छ् (पूछना)	पृष्ट्वा[६]	आपृच्छ्य
पत् (गिरना)	पतित्वा	निपत्य	प्रथ् (प्रसिद्ध होना)	प्रथित्वा	सम्प्रथ्य
पद् (जाना, पाना)	पत्त्वा	प्रतिपद्य	प्रीणि (प्रसन्न करना)	प्रीणयित्वा*	सम्प्रीण्य
पा (पीना)	पीत्वा[२]	प्रपाय	प्लु (तैरना)	प्लुत्वा	उत्प्लुत्य
पा (बचाना)	पात्वा	परिपाय	फल् (फलना)	फलित्वा	संफल्य
पालि (पालना)	पालयित्वा*	प्रपाल्य	बन्ध् (बांधना)	बद्ध्वा[७]	अनुबध्य
पिष् (पीसना)	पिष्ट्वा	सम्पिष्य	बाध् (दुःख देना)	बाधित्वा	प्रबाध्य
पीडि (पीड़ा देना)	पीडयित्वा*	प्रपीड्य	बुध् (जानना)	बुधित्वा[८] / बोधित्वा	संबुध्य
पुष् (पुष्ट करना)	पुष्ट्वा	सम्पुष्य	बुध् (जानना)	बुद्ध्वा[९]	सम्बुध्य
पुष् (पुष्ट करना)	पुषित्वा[३] / पोषित्वा	सम्पुष्य	ब्रू (कहना)	उक्त्वा[१०]	प्रोच्य

---

१. नृतीँ गात्रविक्षेपे (दि० प० सेट्)। इटि **न क्त्वा सेट्** (८८०) इत्यकित्त्वेन लघूपधगुणः।

२. **घुमास्था०** (५८८) इतीत्वम्। ल्यपि **न ल्यपि** (६.४.६९) इति तन्निषिध्यते। **निपीय यस्य क्षितिरक्षिणः कथाम्** (नैषधे १.१) इत्यादौ निपीयेति पीङ् पाने' (दिवा० आ० अनिट्) इत्यस्य रूपम्बोध्यम्।

३. क्र्यादिकोऽयं सेट्। **रलो व्युपधाद्०** (८८१) इति कित्त्वविकल्पेन रूपद्वयम्। पूर्वो दैवादिकस्त्वनिट्।

४. **श्र्युकः किति** (६५०) इतीण्निषिध्यते।

५. **श्र्युकः किति** (६५०) इतीण्निषेधे **उदोष्ठ्यपूर्वस्य** (६११) इत्युत्त्वे रपरत्वे **हलि च** (६१२) इति दीर्घः।

६. क्त्वायां **ग्रहि-ज्या-वयि०** (६३४) इति सम्प्रसारणे **व्रश्चभ्रस्ज०** (३०७) इति छकारस्य षकारे ष्टुत्वे च रूपनिष्पत्तिः। ल्यपि झल्परत्वाभावान्न षत्वम्।

७. **अनिदितां हलः०** (३३४) इत्युपधानकारलोपः।

८. 'बुध बोधने' (भ्वा० प० सेट्) भौवादिकोऽयं सेट्, तेन **रलो व्युपधाद्०** (८८१) इति कित्त्वविकल्पेन रूपद्वयम्।

९. बुध अवगमे (दिवा० आ० अनिट्)। दैवादिकोऽयमनिट्। धत्वजश्त्वे।

१०. **ब्रुवो वचिः** (५९६)। क्त्वायां कित्त्वेन **वचिस्वपि०** (५४७) इति सम्प्रसारणम्। एवं ल्यप्यपि ज्ञेयम्।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
भक्षि (खाना)	भक्षयित्वा*	आभक्ष्य
भज् (सेवा करना)	भक्त्वा	विभज्य
भञ्ज् (तोड़ना)	भङ्क्त्वा[1] / भक्त्वा	प्रभज्य
भण् (कहना)	भणित्वा	आभण्य
भर्त्सि (झिड़कना)	भर्त्सयित्वा*	संभर्त्स्य
भा (चमकना)	भात्वा	विभाय
भाजि (बांटना)	भाजयित्वा*	विभाज्य
भाष् (कहना)	भाषित्वा	संभाष्य
भिक्ष् (मांगना)	भिक्षित्वा	संभिक्ष्य
भिद् (तोड़ना)	भित्त्वा	विभिद्य
भी (डरना)	भीत्वा	विभीय
भुज् (पालना, खाना)	भुक्त्वा	उपभुज्य
भू (होना)	भूत्वा[2]	अनुभूय
भूषि (सजाना)	भूषयित्वा*	विभूष्य
भृ (पालना)	भृत्वा	सम्भृत्य
भ्रंश् (गिरना)	भ्रंशित्वा[3] / भ्रष्ट्वा	विभ्रश्य
भ्रम् (घूमना)	भ्रमित्वा[4] / भ्रान्त्वा	विभ्रम्य
भ्रस्ज् (भूनना)	भृष्ट्वा[5]	विभृज्ज्य
भ्राज् (चमकना)	भ्राजित्वा	विभ्राज्य
मण्डि (सजाना)	मण्डयित्वा*	सम्मण्ड्य
मन् (मानना)	मत्वा[6]	अवमत्य
मन्त्रि (सलाह करना)	मन्त्रयित्वा*	संमन्त्र्य
मन्थ् (बिलोना)	मथित्वा[7] / मन्थित्वा	प्रमथ्य

१. जान्त-नशां विभाषा (६.४.३२) इति नकारलोपस्य विकल्पनात् क्त्वायां रूपद्वयम् । ल्यपि तु लोप एव ।

२. श्रयुकः किति (६५०) इतीण्निषेधः ।

३. भ्रंशुँ अवस्रंसने (दि० प० सेट्) । नोपध उदिदयं धातुः । उदितो वा (८८२) इति वेट् । इट्पक्षे न क्त्वा सेट् (८८०) इत्यकित्त्वेन न नकारलोपः । इटोऽभावे नकारलोपे षत्वे ष्टुत्वे च रूपसिद्धिः । ल्यपि कित्त्वेन नकारलोपः ।

४. भ्रमुँ अनवस्थाने (दि० प० सेट्) । उदित्त्वाद् उदितो वा (८८२) इति वेट् । इटोऽभावे अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति (७२७) इत्युपधादीर्घोऽनुस्वारपरसवर्णौ ।

५. क्त्वायां कित्त्वेन ग्रहिज्या० (६३४) इति सम्प्रसारणम् । स्कोः० (३०९) इति संयोगादिसकारलोपे व्रश्च-भ्रस्ज० (३०७) इति षत्वे ष्टुत्वम् । ल्यपः स्थानिवत्त्वेन कित्त्वात् सम्प्रसारणे सकारस्य श्चुत्वे झलां जश्झशि (१९) इति जश्त्वम् ।

६. मन ज्ञाने (दि० आ० अनिट्) । क्त्वायाम् अनुदात्तोपदेश० (५५९) इत्यनुनासिकलोपः । ल्यपि वा ल्यपि (६.४.३८) इत्यत्र व्यवस्थितविभाषाऽऽश्रयणाद् नान्तानिटां नित्यमनुनासिकलोपः । मनुँ अवबोधने (तना० आ० सेट्) इति धातोरुदित्त्वाद् वेटि, इट्पक्षे 'मनित्वा' इटोऽभावे मत्वेति रूपद्वयम् । ल्यपि तु तत्रापि नित्यं नलोपः ।

७. मन्थ विलोडने (भ्वा० प० सेट्) । क्त्वायां नोपधात्थफान्ताद्वा (१.२.२३) इति कित्त्वविकल्पनात् पक्षे नलोपः । तेन रूपद्वयम् । यदा तु 'मथिँ' धातुरिदित् तदा कित्त्वविकल्पेऽपि मन्थित्वेत्येकमेव रूपम् । कित्त्वे सत्यपि धातोरिदित्त्वान्नकारलोपस्याप्राप्तेः ।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
मस्ज् (नहाना)	मङ्क्त्वा[1]	निमज्ज्य
मा (मापना)	मित्वा[2]	सम्माय
मानि (आदरकरना)	मानयित्वा*	सम्मान्य
मार्गि (ढूंढना)	मार्गयित्वा*	संमार्ग्य
मिद् (स्नेह करना)	मिदित्वा[3] / मेदित्वा	प्रमिद्य
मिल् (मिलना)	मिलित्वा[4] / मेलित्वा	सम्मिल्य
मिह् (मूतना)	मीढ्वा[5]	प्रमिह्य
मील् (नेत्र बन्द करना)	मीलित्वा	निमील्य
मुच् (छोड़ना)	मुक्त्वा	विमुच्य
मुद् (प्रसन्न होना)	मुदित्वा[6] / मोदित्वा	प्रमुद्य
मुर्च्छ् (मूर्च्छित होना)	मूर्च्छित्वा[7]	संमूर्च्छ्य

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
मुष् (चुराना)	मुषित्वा[8]	सम्मुष्य
मुह् (व्याकुल होना)	मुहित्वा[9] / मोहित्वा / मुग्ध्वा / मूढ्वा	परिमुह्य
मृ (मरना)	मृत्वा	अपमृत्य
मृगि (ढूंढना)	मृगयित्वा*	सम्मृग्य
मृज् (साफकरना)	मार्जित्वा / मृष्ट्वा[10]	परिमृज्य
मृष् (सहना)	मृषित्वा[11] / मर्षित्वा	परिमृष्य
म्लै (मुरझाना)	म्लात्वा	प्रम्लाय
यज् (यज्ञ करना)	इष्ट्वा[12]	प्रेज्य
यत् (यत्न करना)	यतित्वा	प्रयत्य
यस् (यत्न करना)	यसित्वा[13] / यस्त्वा	प्रयस्य

१. टुमस्जोँ शुद्धौ (तु० प० अनिट्)। धातोरनिट्त्वेन झलादिप्रत्ययपरकत्वात् **मस्जि-नशोर्झलि** (६३६) इति नुँमागमः। स च **मस्जेरन्त्यात्पूर्वो नुँम् वाच्यः** (वा०४४) इति धातुजकारात्पूर्वं भवति। तेन सकारस्य संयोगादिलोपे कुत्वे च रूपं निष्पद्यते। ल्यपि झल्परत्वाभावान्नुँम् न भवति। श्चुत्वे जश्त्वे च निमज्ज्येति।

२. मा माने (अदा० प० अनिट्)। **द्यति-स्यति-मा-स्थामित्ति किति** (७.४.४०) इति प्रकृतेरिकारादेशः। ल्यपि तु **न ल्यपि** (६.४.६९) इति तन्निषिध्यते।

३-४-६. **रलो व्युपधाद्०** (८८१) इति कित्त्वविकल्पेन रूपद्वयम्।

५. **हो ढः** (२५१) इति ढत्वे धत्व-ष्टुत्व-ढलोप-दीर्घाः।

७. मुर्च्छाँ मोहसमुच्छ्राययोः (भ्वा प० सेट्)। इटि **उपधायां च** (८.२.७८) इत्युकारस्य दीर्घः। **अचो रहाभ्यां द्वे** (६०) इति छकारस्य वा द्वित्वम्। द्वित्वपक्षे चर्त्वेन छकारस्य चकारः। अत्र चकारो द्वित्वजन्यो न तु तुँग्जन्य इत्यवधेयम्।

८. **रुद-विद-मुष०** (१.२.८) इति नित्यं कित्त्वम्। तेन लघूपधगुणो न।

९. द्रुहित्वेत्यादिवत् प्रक्रिया बोध्या।

१०. मृजूँ शुद्धौ (अदा० प० वेट्)। ऊदित्त्वाद्वेट्। इट्पक्षे **न क्त्वा सेट्** (८८०) इति कित्त्वनिषेधाद् **मृजेर्वृद्धिः** (७७९) इति वृद्धिः। इटोऽभावे **व्रश्चभ्रस्ज०** (३०७) इति षत्वे ष्टुत्वे च मृष्ट्वेति रूपम्।

११. क्त्वायां **तृषि-मृषि-कृशेः काश्यपस्य** (१.२.२५) इति कित्त्वविकल्पेन रूपद्वयम्।

१२. कित्त्वाद् **वचिस्वपि०** (५४७) इति सम्प्रसारणे षत्वे ष्टुत्वे च रूपम्। स्थानिवद्भावेन ल्यपोऽपि कित्त्वम्। तेन तत्रापि सम्प्रसारणम्।

१३. यसुँ प्रयत्ने (दि० प० सेट्)। उदित्त्वाद्वेट्।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
या (जाना)	यात्वा	प्रयाय
याच् (मांगना)	याचित्वा	उपयाच्य
युज् (मिलाना)	युक्त्वा	संयुज्य
युध् (लड़ना)	युद्ध्वा	नियुध्य
रक्ष् (बचाना)	रक्षित्वा	संरक्ष्य
रचि (बनाना)	रचयित्वा[1]	विरचय्य
रञ्ज् (रंगना)	रक्त्वा[2]	उपरज्य
रट् (रटना)	रटित्वा	संरटच
रभ् (शुरू करना)	रब्ध्वा[3]	आरभ्य
रम् (खेलना)	रमित्वा[4] रत्वा	विरत्य विरम्य
राज् (चमकना)	राजित्वा	विराज्य
रु (शब्द करना)	रुत्वा	आरुत्य
रुच् (अच्छा लगना)	रुचित्वा[5] रोचित्वा	विरुच्य
रुद् (रोना)	रुदित्वा[6]	प्ररुद्य
रुध् (रोकना)	रुद्ध्वा	अवरुध्य
रुह् (चढ़ना)	रूढ्वा[7]	आरुह्य
लङ्घ् (लांघना)	लङ्घित्वा	विलङ्घ्य
लप् (बोलना)	लपित्वा	विलप्य
लभ् (पाना)	लब्ध्वा	उपलभ्य
लम्ब् (लटकना)	लम्बित्वा	अवलम्ब्य
लष् (चाहना)	लषित्वा	अभिलष्य
लस् (चमकना)	लसित्वा	विलस्य
लस्ज् (लज्जा करना)	लज्जित्वा[8]	विलज्ज्य
लिख् (लिखना)	लिखित्वा[9] लेखित्वा	आलिख्य
लिप् (लीपना)	लिप्त्वा	विलिप्य
लिह् (चाटना)	लीढ्वा[10]	संलिह्य
लुप् (काटना)	लुप्त्वा	विलुप्य
लुभ् (लोभ करना)	लुभित्वा[11] लोभित्वा लुब्ध्वा	विलुभ्य

१. क्त्वायामिटि **न क्त्वा सेट्** (८८०) इति कित्त्वनिषेधाद् गुणेऽयादेशः। ल्यपि तु **ल्यपि लघुपूर्वात्** (६.४.३८) इति णेरयादेशः। 'विरचय्य' इति प्रयोगस्तु 'अनित्य-ण्यन्ताश्चुरादयः' इत्याश्रित्य समाधेयः।

२. रञ्ज रागे (भ्वा० उ० अनिट्)। कित्त्वान्नकारस्य लोपः। एवं ल्यप्यपि।

३. धत्वजश्त्वयो रूपसिद्धिः। एवं रुद्ध्वा, लब्ध्वा इत्यादि।

४. रमँ क्रीडायाम् इत्येके, रमुँ क्रीडायाम् इत्यपरे। उदित्पक्षे **उदितो वा** (८८२) इतीड्विकल्पनाद् रूपद्वयम्। उदिदभावेऽनुनासिकलोपे रत्वेत्येकं रूपम्। ल्यपि **वा ल्यपि** (६.४.३८) इत्यनुनासिकलोपो वा। लोपपक्षे तुँक्।

५. **रलो व्युपधाद्०** (८८१) इति कित्त्वविकल्पेन रूपद्वयम्।

६. **रुद-विद-मुष०** (१.२.८) इति नित्यकित्त्वेन लघूपधगुणो न।

७. **हो ढः** (२५१) इति ढत्वे धत्व-ष्टुत्व-ढलोप-दीर्घाः।

८. ओँलस्जीँ व्रीडने (तुदा० आ० सेट्)। इटि श्चुत्वे (६२) जश्त्वे (१९) च रूपसिद्धिः।

९. **रलो व्युपधाद्०** (८८१) इति कित्त्वविकल्पनाद् रूपद्वयम्। ये त्वस्य कुटादित्वं मन्यन्ते तेषाम्मते ङित्त्वेन गुणनिषेधे लिखित्वेत्येकं रूपम्। परमिदमपाणिनीयम्।

१०. हस्य ढत्वे धत्व-ष्टुत्व-ढलोप-दीर्घाः।

११. **तीष-सह-लुभ-रुष-रिषः** (६५७) इतीड्विकल्पः। इट्पक्षे **रलो व्युपधाद्०** (८८१) इति कित्त्वविकल्पः। तेन रूपत्रयम्।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
लू (काटना)	लूत्वा[1]	विलूय
लोक् (देखना)	लोकित्वा	विलोक्य
लोच् (देखना)	लोचित्वा	आलोच्य
वच् (कहना)	उक्त्वा[2]	निरुच्य
वद् (बोलना)	उदित्वा[3]	अनूद्य
वन्द् (वन्दन करना)	वन्दित्वा	अभिवन्द्य
वप् (बोना, काटना)	उप्त्वा[4]	निरुप्य
वम् (वमन करना)	वमित्वा[5] / वान्त्वा	अभिवम्य
वर्णि (वर्णन करना)	वर्णयित्वा*	उपवर्ण्य
वस् (रहना)	उषित्वा[6]	प्रोष्य
वह् (ढोना)	ऊढ्वा[7]	प्रोह्य
वाञ्छ् (चाहना)	वाञ्छित्वा	अभिवाञ्छ्य
विद् (जानना)	विदित्वा[8]	संविद्य
विद् (होना)	वित्त्वा	संविद्य
विद् (पाना)	वित्त्वा	परिविद्य
विद् (सोचना)	वित्त्वा	संविद्य
विश् (घुसना)	विष्ट्वा[9]	प्रविश्य
वृ (चुनना)	वृत्वा[10]	विवृत्य
वृत् (होना)	वर्तित्वा[11] / वृत्त्वा	प्रवृत्य
वृध् (बढ़ना)	वर्धित्वा[12] / वृद्ध्वा	विवृध्य
वृष् (बरसाना)	वर्षित्वा[13] / वृष्ट्वा	अभिवृष्य

१. अयुकः किति (६५०) इतीण्निषेधः।

२. वचिस्वपि० (५४७) इति सम्प्रसारणे चोः कुः (३०६) इति कुत्वम्।

३. न क्त्वा सेट् (८८०) इति प्रबाध्य मृड-मृद-गुध-कुष-क्लिश-वद-वसः क्त्वा (१.२.७) इति नित्ये कित्त्वे सम्प्रसारणं बोध्यम्।

४. वचिस्वपि० (५४७) इति सम्प्रसारणम्।

५. टुवमुँ उद्गिरणे (भ्वा० प० सेट्)। उदित्त्वादिड्विकल्पः। इटोऽभावे उपधा-दीर्घोऽनुस्वारपरसवर्णौ। केचिद् धातुमिममुदितं नोरीकुर्वन्ति तेषां मते वमित्वेत्येकं रूपम्।

६. वसतिक्षुधोरिट् (७.२.५२) इति क्त्वायामिडागमः। मृड-मृद-गुध-कुष-क्लिश-वद-वसः क्त्वा (१.२.७) इति कित्त्वे सम्प्रसारणम्। शासिवसिघसीनां च (५५४) इति षत्वम्।

७. सम्प्रसारणे ढत्व-धत्व-ष्टुत्व-ढलोप-दीर्घाः।

८. विद ज्ञाने (अदा० प०)। सेडयं धातुस्तेन क्त्वायामिटि रलो व्युपधाद्० (८८१) इति कित्त्वविकल्पं बाधित्वा रुद-विद-मुष० (१.२.८) इति नित्ये कित्त्वे एकमेव रूपं विदित्वेति। अन्ये सर्वेऽनिटस्तेषां वित्त्वेति।

९. व्रश्चभ्रस्ज० (३०७) इति षत्वे ष्टुना ष्टुः (६४) इति ष्टुत्वम्।

१०. अयुकः किति (६५०) इतीण्निषिध्यते।

११. वृतुँ वर्तने (भ्वा० आ०)। उदित्त्वाद्वेट्। इटि न क्त्वा सेट् (८८०) इत्यकित्त्वेन लघूपधगुणः।

१२. वृतुँवत् प्रक्रिया। इटोऽभावे धत्वजश्त्वे।

१३. वृषुँ सेचने (भ्वा० प० सेट्)। उदित्त्वाद्वेट्। वृतुँवत् प्रक्रिया।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
वे (बुनना)	उत्वा[1]	प्रवाय
वेप् (कांपना)	वेपित्वा	प्रवेप्य
वेष्ट् (लपेटना)	वेष्टित्वा	संवेष्टय
व्यध् (बींधना)	विद्ध्वा[2]	आविध्य
व्रज् (जाना)	व्रजित्वा	परिव्रज्य
व्रश्च् (काटना)	व्रश्चित्वा[3]	संवृश्च्य
शंस् (स्तुति करना)	शंसित्वा[4] / शस्त्वा	प्रशस्य
शक् (समर्थ होना)	शक्त्वा	अतिशक्य
शङ्क् (शङ्का करना)	शङ्कित्वा	आशङ्क्य
शद् (नष्ट होना)	शत्त्वा	संशद्य
शप् (शाप देना)	शप्त्वा	अतिशप्य
शम् (शान्त होना)	शमित्वा[5] / शान्त्वा	प्रशम्य

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
शास् (पढ़ाना)	शासित्वा[6] / शिष्ट्वा	अनुशिष्य
शास्[7] (आशा करना)	—	आशास्य
शिक्ष् (सीखना)	शिक्षित्वा	प्रशिक्ष्य
शिष् (विशिष्ट करना)	शिष्ट्वा	विशिष्य
शी (सोना)	शयित्वा[8]	उपशय्य
शुच् (शोक करना)	शुचित्वा[9] / शोचित्वा	अनुशुच्य
शुभ् (शोभा पाना)	शुभित्वा[10] / शोभित्वा	विशुभ्य
शुष् (सूखना)	शुष्ट्वा	परिशुष्य
श्च्युत् (टपकना)	श्च्युतित्वा / श्च्योतित्वा[11]	प्रश्च्युत्य

१. वेञ् तन्तुसन्ताने (भ्वा० उ० अनिट्)। **आदेच उपदेशे०** (४९३) इत्यात्वे **वचिस्वपि०** (५४७) इति सम्प्रसारणम्।

२. व्यध ताडने (दिवा० प० अनिट्)। **ग्रहिज्यावयिव्यधि०** (६३४) इति सम्प्रसारणे धत्वजश्त्वे।

३. ओँव्रश्चूँ छेदने (तुदा० प० वेट्)। ऊदित्वात् प्राप्तमिड्विकल्पं बाधित्वा **जॄव्रश्च्योः क्त्वि** (७.२.५५) इति नित्यमिट्। **न क्त्वा सेट्** (८८०) इति कित्त्वनिषेधाद् **ग्रहिज्या०** (६३४) इति सम्प्रसारणं न।

४. शंसुँ स्तुतौ (भ्वा० प० सेट्)। नोपधोऽयं धातुः। उदित्त्वेन **उदितो वा** (८८२) इति क्त्वायामिड्विकल्पः। इटोऽभावे उपधानकारलोपः (३३४)। इट्पक्षे **न क्त्वा सेट्** (८८०) इत्यकित्त्वेन नकारलोपो न।

५. शमुँ उपशमे (दिवा० प०)। उदित्त्वात् क्त्वायामिड्विकल्पः। इटोऽभावे उपधादीर्घे (७२७) अनुस्वारपरसवर्णौ।

६. शासुँ अनुशिष्टौ (अदा० प०)। उदित्त्वाद् वेट्। इटोऽभावे **शास इदङ्हलोः** (६.४.३४) इत्युपधाया इत्त्वे **शासिवसिघसीनां च** (५५४) इति सस्य षत्वे, ष्टुत्वे च कृते शिष्ट्वेति।

७. आङः शासुँ इच्छायाम् (अदा० आ० सेट्)। धातोर्नित्यमाङ्पूर्वकत्वात् क्त्वायां रूपं नास्ति। उदित्फलमाकरादौ द्रष्टव्यम्।

८. शीङ् स्वप्ने (अदा० आ० सेट्)। **न क्त्वा सेट्** (८८०) इत्यकित्त्वेन गुणः। ल्यपि **अयङ् यि क्ङिति** (७.४.२२) इत्ययङ् आदेशः।

९-१०-११. **रलो व्युपधाद्** (८८१) इति कित्त्वविकल्पेन रूपद्वयम्।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
श्रम् (थकना)	श्रमित्वा[1] श्रान्त्वा	विश्रम्य
श्रि (आश्रय करना)	श्रित्वा[2]	आश्रित्य
श्रु (सुनना)	श्रुत्वा	संश्रुत्य
श्लाघ् (प्रशंसा करना)	श्लाघित्वा	प्रश्लाघ्य
श्लिष् (चिपटना)	श्लिष्ट्वा	प्रश्लिष्य
श्वस् (सांस लेना)	श्वसित्वा	प्रश्वस्य
श्वि (बढ़ना-सूजना)	श्वयित्वा[3]	उच्छूय
ष्ठिव् (थूकना)	ष्ठेवित्वा[4] ष्ठ्यूत्वा	निष्ठीव्य
सद् (नष्ट होना)	सत्त्वा	आसद्य
सह् (सहना)	सहित्वा[5] सोढ्वा	प्रसह्य
सान्त्व (दिलासा देना)	सान्त्वयित्वा*	उपसान्त्व्य
सिच् (सींचना)	सिक्त्वा	प्रसिच्य
सिध् (जाना)	सेधित्वा[6] सिधित्वा सिद्ध्वा	निषिध्य
सिव् (सीना)	सेवित्वा[7] स्यूत्वा	प्रसीव्य
सू (पैदा करना)	सूत्वा[8]	प्रसूय
सूचि (सूचना देना)	सूचयित्वा*	संसूच्य

१. श्रमुँ तपसि खेदे च (दिवा० प० सेट्)। उदित्त्वाद् वेट्। इटोऽभावे **अनुनासिकस्य क्वि०** (७२७) इत्युपधादीर्घेऽनुस्वारपरसवर्णौ।

२. **श्र्युकः किति** (६५०) इतीण्निषेधः।

३. टुओँश्वि गतिवृद्ध्योः (भ्वा० प० सेट्)। इटि **न क्त्वा सेट्** (८८०) इत्यकित्त्वेन गुणेऽयादेशः। ल्यपि कित्त्वेन **वचिस्वपि०** (५४७) इति सम्प्रसारणे **हलः** (८१९) इति दीर्घः।

४. ष्ठिवुँ निरसने (भ्वा० प० सेट्)। षादिरुदिदयं धातुः। उदित्त्वाद् **उदितो वा** (८८२) इति वेट्। इटोऽभावे **च्छ्वोः शूडनुनासिके च** (८४३) इति वकारस्य ऊठि, यणि च कृते ष्ठ्यूत्वेति। इट्पक्षे **न क्त्वा सेट्** (८८०) इत्यकित्त्वेन गुणः।

५. **तीषसहलुभरुषरिषः** (६५७) इति वेट्। अनिट्पक्षे **'हो ढः'** (२५१) इति हकारस्य ढकारे **झषस्तथोर्धोऽधः** (५४९) इति प्रत्ययतकारस्य धत्वे, ष्टुत्वे, ढो ढे लोपे **सहिवहोरोदवर्णस्य** (५५१) इत्यकारस्य उकारे गुणे च कृते सोढ्वेति सिध्यति।

६. षिधुँ गत्याम् (भ्वा० प० सेट्)। **उदितो वा** (८८२) इति वेट्। इट्पक्षे **रलो व्युपधाद्०** (८८१) इति कित्त्वविकल्पनेन रूपद्वयम्। इटोऽभावे धत्वजश्त्वे।

७. षिवुँ तन्तुसन्ताने (दिवा० प० सेट्)। उदित्त्वाद् **उदितो वा** (८८२) इति वेट्। इट्पक्षे **न क्त्वा सेट्** (८८०) इत्यकित्त्वेन गुणः। इटोऽभावे **च्छ्वोः शूडनुनासिके च** (८४३) इति वकारस्य ऊठि, यणि च कृते रूपसिद्धिः। ल्यपि **हलि च** (६१२) इति दीर्घः।

८. षूङ् प्राणिगर्भविमोचने (अदा० आ० वेट्)। **स्वरतिसूति०** (४७६) इति बाधित्वा **श्र्युकः किति** (६५०) इतीण्निषेधः।

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
सृ (सरकना)	सृत्वा	अनुसृत्य
सृज् (पैदा करना)	सृष्ट्वा[1]	उत्सृज्य
सेव् (सेवा करना)	सेवित्वा	आसेव्य
सो (नष्ट करना)	सित्वा[2]	अवसाय
स्खल् (लड़खड़ाना)	स्खलित्वा	विस्खल्य
स्पर्ध् (स्पर्धाकरना)	स्पर्धित्वा	प्रतिस्पर्ध्य
स्तु (स्तुति करना)	स्तुत्वा	प्रस्तुत्य
स्था (ठहरना)	स्थित्वा[3]	प्रस्थाय
स्ना (नहाना)	स्नात्वा	प्रस्नाय
स्निह् (स्नेह करना)	स्निहित्वा स्नेहित्वा स्निग्ध्वा स्नीढ्वा[4]	प्रस्निह्य
स्पृश् (छूना)	स्पृष्ट्वा	संस्पृश्य

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
स्पृहि (चाहना)	स्पृहयित्वा*	उपस्पृह्य
स्फुट् (खिलना)	स्फुटित्वा[5]	प्रस्फुट्य
स्फुर् (फरकना)	स्फुरित्वा	संस्फुर्य
स्मृ (स्मरणकरना)	स्मृत्वा	विस्मृत्य
स्यन्द् (बहना)	स्यन्दित्वा[6] स्यन्त्वा	प्रस्यद्य
स्रु (बहना)	स्रुत्वा	विस्रुत्य
स्वप् (सोना)	सुप्त्वा[7]	प्रसुप्य
हन् (मारना)	हत्वा[8]	निहत्य
हस् (हंसना)	हसित्वा	विहस्य
हा (छोड़ना)	हित्वा[9]	विहाय
हिंस् (मारना)	हिंसित्वा[10]	विहिंस्य
हु (यज्ञ करना)	हुत्वा	आहुत्य

१. **व्रश्चभ्रस्जसृज०** (३०७) इति षत्वे ष्टुत्वम् ।

२. षो अन्तकर्मणि (दिवा० प० अनिट्) । आत्वे **द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति** (७.४.४०) इति इत्वम् । ल्यपि तु **न ल्यपि** (६.४.६९) इति निषिध्यते ।

३. पूर्ववद् इत्वम् ।

४. रधादित्वादिड् विकल्प्यते । इट्पक्षे **रलो व्युपधाद्०** (८८१) इति कित्वविकल्पेन रूपद्वयम् । इटोऽभावे **वा द्रुह-मुह-ष्णुह-ष्णिहाम्** (२५४) इति वा घत्वम् । घत्वपक्षे धत्वजश्त्वे । घत्वाभावे **हो ढः** (२५१) इति ढत्वे धत्व-ष्टुत्व-ढलोप-दीर्घाः ।

५. कुटादित्वाद् ङित्वेन लघूपधगुणो न । एवं स्फुरित्वेत्यत्रापि बोध्यम् ।

६. स्यन्दू प्रस्रवणे (भ्वा० आ० वेट्) । ऊदित्वाद्वेट् । **न क्त्वा सेट्** (८८०) इति सेटः क्त्वायाः कित्वनिषेधादुपधानकारलोपो न । इटोऽभावे **क्त्वि स्कन्दिस्यन्दोः** (६.४.३१) इति नलोपो निषिध्यते । ल्यपि तु कित्वाल्लोप एव ।

७. ञिष्वप शये (अदा० प० अनिट्) । क्त्वायाः कित्वेन **वचिस्वपि०** (५४७) इति सम्प्रसारणम् ।

८. हन हिंसागत्योः (अदा० प० अनिट्) । **अनुदात्तोपदेश०** (५५९) इत्यनुनासिकलोपः । ल्यपि तु **वा ल्यपि** (६.४.३८) इति व्यवस्थितविभाषाऽऽश्रयणाद् नित्यलोपे तुगागमः ।

९. **जहातेश्च क्त्वि** (८८३) इति हिभावः । ल्यपि **घुमास्था०** (५८८) इति ईत्वे प्राप्ते **न ल्यपि** (६.४.६९) इति निषिध्यते ।

१०. हिसिँ हिंसायाम् (रुधा० प० सेट्) । ल्यपः कित्वेऽपि धातोरिदित्वादुपधानकारलोपो न । क्त्वायां **न क्त्वा सेट्** (८८०) इत्यकित्वेन न लोपप्राप्तिः

धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त	धातु	क्त्वान्त	ल्यबन्त
हृ (हरना)	हृत्वा	आहृत्य	ह्री (शरमाना)	ह्रीत्वा	विह्रीय
हृष् (प्रसन्न होना)	हर्षित्वा[1]	प्रहृष्य	ह्वे (बुलाना)	हूत्वा[2]	आहूय

क्त्वा-ल्यप्प्रत्ययान्तों के साहित्यगत कुछ प्रयोग यथा—

(१) अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते (यजु० ४०.१४)।
(२) भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति (केनोप० २.५)।
(३) ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः (श्वेता० उप० २.१५)।
(४) उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत (कठोप० २.३.१४)।
(५) निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन (गीता १.३६)।
(६) हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् (गीता २.३७)।
(७) आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् (गीता १.२)।
(८) न संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति (हितोप० १.७)।
(९) अङ्कमारुह्य सुप्तं हि हत्वा किं नाम पौरुषम् (हितोप० ४.५२)।
(१०) उत्थायोत्थाय बोद्धव्यं महद् भयमुपस्थितम् (हितोप० १.४)।
(११) अतीत्य हि गुणान् सर्वान् स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते (हितोप० १.२०)।
(१२) सुचिन्त्य चोक्तं सुविचार्य यत्कृतं
सुदीर्घकालेऽपि न याति विक्रियाम् ॥ (हितोप० १.२२)
(१३) आस्वाद्यतोया प्रवहन्ति नद्यः
समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः ॥ (हितोप० प्रस्तावना ४७)
(१४) माऽसमीक्ष्य परं स्थानं पूर्वमायतनं त्यजेत्। (हितोप० १.१०२)
(१५) नीचः श्लाघ्यपदं प्राप्य स्वामिनं हन्तुमिच्छति। (हितोप० ४.१३)
(१६) स त्वं निवर्तस्व विहाय लज्जां गुरोर्भवान् दर्शितशिष्यभक्तिः। (रघु० २.४०)।
(१७) सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते (मृच्छकटिक १.१०)।
(१८) प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः (भर्तृ० नीति० ७२)।
(१९) पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत्। (भर्तृ० वैराग्य० ४३)।
(२०) अथाभ्यर्च्य विधातारं प्रयतौ पुत्रकाम्यया। (रघु० १.३५)।
(२१) आयुषः खण्डमादाय रविरस्तं गमिष्यति (सुभाषित)।
(२२) अनीत्वा पङ्कतां धूलिमुदकं नावतिष्ठते (माघ २.३४)।

---

१. हृष तुष्टौ (दिवा० प० सेट्)। इटि न क्त्वा सेट् (८८०) इत्यकित्त्वेन गुणः। हृष्ट्वेति रूपं तु 'हृषुँ अलीके' (भ्वा० प० सेट्) इति भौवादिकस्य बोध्यम्। उदित्त्वाद्वेट्।

२. यजादित्वात्सम्प्रसारणे हलः (८१६) इति दीर्घत्वम्।

(२३) **कौर्मं संकोचमास्थाय प्रहारमपि मर्षयेत्** । (हितोप० ३.४८) ।

(२४) **मायां मयोद्भाव्य परीक्षितोऽसि** । (रघु० २.६२) ।

(२५) **यात्रा त्वेषा यद्विमुच्येह बाष्पं प्राप्तानृण्या याति बुद्धिः प्रसादम्** ।
(स्वप्न० ४.६) ।

(२६) **मुनित्रयं नमस्कृत्य तदुक्तीः परिभाव्य च** ।
वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदीयं विरच्यते ॥ (सि० कौ० आदौ)

अब णमुँल् प्रत्यय का विधान करने के लिये अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८८५) आभीक्ष्ण्ये णमुल् च ।३।४।२२॥

आभीक्ष्ण्ये द्योत्ये पूर्वविषये णमुँल् स्यात् क्त्वा च ॥

अर्थः—समान कर्ता वाले दो धात्वर्थों में जो धात्वर्थ पूर्वकाल में स्थित हो तथा उस का बार बार होना भी द्योतित हो रहा हो तो उस के वाचक धातु से परे णमुँल् और क्त्वा प्रत्यय पर्याय से हो जाते हैं।

व्याख्या—आभीक्ष्ण्ये ।७।१। णमुँल् ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । समानकर्तृकयोः ।६।२। पूर्वकाले ।७।१। (**समानकर्तृकयोः पूर्वकाले** से) । क्त्वा ।१।१। (**अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा** से) । **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं । अभीक्ष्णम्=पुनः पुनः (**मुहुः पुनः पुनः शश्वदभीक्ष्णमसकृत् समाः**—इत्यमरः) । अभीक्ष्णमित्यस्य भावः—आभीक्ष्ण्यम्=पौनःपुन्यम्, भावे ष्यञ्, **अव्ययानां भमात्रे टिलोपः** इति टिलोपः । बार बार होने को 'आभीक्ष्ण्य' कहते हैं । अर्थः—(आभीक्ष्ण्ये) बार बार होना द्योत्य हो तो (समानकर्तृकयोः) समान कर्त्ता वाले दो धात्वर्थों में से जो धात्वर्थ दूसरे की अपेक्षा (पूर्वकाले) पूर्वकाल में स्थित हो उस धात्वर्थ के वाचक (धातोः) धातु से (परः) परे (णमुँल्) णमुँल् (च) और (क्त्वा) क्त्वा (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है।

णमुँल् प्रत्यय में आदि णकार **चुटू** (१२९) द्वारा तथा अन्त्य लकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक है उकार भी उच्चारणार्थक अत एव इत् है। इस प्रकार अनुबन्धों का लोप कर 'णमुँल्' का 'अम्' मात्र ही शेष रहता है। णकार अनुबन्ध वृद्धि एवं युँक् आगम आदि कार्यों के लिये तथा लकार लिति (६.१.१८७) द्वारा उदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है। **कृदतिङ्** (३०२) के अधिकार में पठित होने से णमुँल् भी कृत्संज्ञक होता है। णमुल्प्रत्ययान्त शब्द **कृन्मेजन्तः** (३६९) से अव्ययसंज्ञक होते हैं अतः **अव्ययकृतो भावे** इस भाष्यवचन (३.४.६९ पर) से यह प्रत्यय भी पूर्वोक्त क्त्वाप्रत्यय की तरह भाव अर्थ में ही होता है। उदाहरण यथा—

स्मारं स्मारं नमति शिवम् (शिव को बार बार स्मरण कर नमस्कार करता है) । यहां स्मृ (स्मृ चिन्तायाम्; भ्वा० प० अनिट्) तथा नम् (णम प्रह्वत्वे शब्दे च; भ्वा० प०) दो समानकर्तृक धातुएं हैं। इन में स्मृ धातु का अर्थ पूर्वकाल में स्थित

है, किञ्च स्मृ के अर्थ का बार बार होना भी द्योत्य है अतः प्रकृतसूत्र से स्मृ धातु से परे णमुँल् और क्त्वा दोनों प्रत्यय पर्याय से हो जाते हैं। णमुँल्पक्ष में अनुबन्धों का लोप हो कर 'स्मृ+अम्' इस स्थिति में णमुँल् के णित्त्व के कारण **अचो ञ्णिति** (१८२) से अजन्त अङ्ग को वृद्धि (आर्) करने पर—स्मार्+अम्='स्मारम्' यह कृदन्त शब्द निष्पन्न होता है। यह **कृन्मेजन्तः** (३६९) से अव्ययसंज्ञक है अतः इस से परे औत्सर्गिक सुँ प्रत्यय का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हो जाता है। इस प्रकार 'स्मारम्' यह पदसंज्ञक हो जाता है। अब अग्रिमसूत्र से इस के स्थान पर आदेश का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८८६) नित्य-वीप्सयोः ।८।१।४॥

आभीक्ष्ण्ये वीप्सायां च द्योत्ये[1] पदस्य द्वित्वं स्यात्। आभीक्ष्ण्यं तिङन्तेष्वव्ययसञ्ज्ञककृदन्तेषु। स्मारं स्मारं नमति शिवम्। स्मृत्वा स्मृत्वा। पायं पायम्। भोजं भोजम्। श्रावं श्रावम्॥

अर्थः—बार बार होना अथवा वीप्सा द्योत्य हो तो पद के स्थान पर दो शब्द रूप आदेश हो। **आभीक्ष्ण्यं तिङन्तेषु**—'बार बार होना' तिङन्तों या अव्ययसञ्ज्ञक कृदन्तों में ही सम्भव है।

व्याख्या—नित्य-वीप्सयोः ।७।२। पदस्य ।६।१। (**पदस्य** इस आगे आने वाले अधिकार का पीछे अपकर्षण किया जाता है)। सर्वस्य ।६।१। द्वे ।१।२। (**सर्वस्य द्वे** यह अधिकृत है)। नित्यं च वीप्सा च नित्य-वीप्से, तयोः=नित्यवीप्सयोः, इतरेतरद्वन्द्वः। किसी क्रिया का बार बार होना यहां 'नित्य' शब्द से अभिप्रेत है। व्याप्तुमिच्छा वीप्सा। किसी गुण या क्रिया के द्वारा अनेक पदार्थों को व्याप्त कर एक साथ कहने की इच्छा को यहां 'वीप्सा' कहा गया है। अर्थः—(नित्य-वीप्सयोः) बार बार होना द्योत्य हो या वीप्सा द्योत्य हो तो (सर्वस्य पदस्य) सम्पूर्ण पद के स्थान पर (द्वे) दो शब्दरूप आदेश हो जाते हैं। **स्थानेऽन्तरतमः** (१७) से स्थान तथा अर्थकृत आन्तर्य (सादृश्य) के कारण दो शब्दरूप उसी शब्द के आदिष्ट होते हैं जिस पर आदेश किया जाता है। दूसरे शब्दों में उस पदसंज्ञक शब्द की द्विरावृत्ति अर्थात् दो बार प्रयोग किया जाता है।

'बार बार होना' क्रिया का ही धर्म हो सकता है अतः क्रिया जिन में प्रधान होती है उन पदों को ही द्विर्वचन होगा। क्रिया की प्रधानता आख्यातों (तिङन्तों) तथा अव्ययसंज्ञक कृदन्तों में ही सम्भव है (**क्रियाप्रधानम् आख्यातम्; अव्ययकृतो भावे**)। अतः यहां नित्य=बार बार होना अर्थ में द्वित्व केवल तिङन्तों को या अव्ययसंज्ञक कृदन्तों को ही होगा। यथा (तिङन्तों में)—पचति पचति (बार बार पकाता है);

---

१. आभीक्ष्ण्यं द्योत्यं भवति वीप्सा तु द्योत्या। द्योत्यं च द्योत्या च द्योत्यम् [**नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्** (१.२.६९) इति नपुंसकत्वमेकवद्भावश्च]। तस्मिन्=द्योत्ये।

पठति पठति (बार बार पढ़ता है); खादति खादति (बार बार खाता है); जल्पति जल्पति (बार बार बकवाद करता है)। अव्ययसंज्ञक कृदन्तों का उदाहरण प्रकृत में यथा—

स्मारं स्मारं नमति शिवम्। यहां 'स्मारम्' इस अव्ययसंज्ञक कृदन्त को द्वित्व हो गया है। यह द्वित्व पद के स्थान पर हुआ है अतः स्थानिवद्भाव के कारण वह भी पदसंज्ञक होता है[1]। इस प्रकार 'स्मारं स्मारं नमति शिवम्' में **मोऽनुस्वारः** (७७) से मकार को अनुस्वार सिद्ध हो जाता है।

आभीक्ष्ण्ये णमुँल् च (८८५) इस पूर्वसूत्र में णमुँल् के साथ क्त्वा प्रत्यय का भी विधान कहा गया है। अतः 'बार बार होना' अर्थ में यदि क्त्वा करेंगे तो 'स्मृत्वा' इस पद को प्रकृतसूत्र से द्वित्व हो कर—'स्मृत्वा स्मृत्वा नमति शिवम्' बनेगा[2]।

इसीप्रकार—'पा पाने' (भ्वा० प० अनिट्) धातु से आभीक्ष्ण्य अर्थ में णमुँल् (अम्) करने पर **आतो युँक् चिण्कृतोः** (७५७) से युँक् का आगम हो कर—पा युँक् + अम् = 'पायम्' बनेगा। पुनः प्रकृतसूत्र से द्वित्व हो कर 'पायं पायम्' बनेगा। पायं पायं काव्यरसं नन्दन्ति सचेतसः (काव्यरस को बार बार पी कर सहृदय लोग प्रसन्न होते हैं)। क्त्वापक्ष में—पीत्वा पीत्वा काव्यरसं नन्दन्ति सचेतसः। यहां **घुमास्था०** (५८८) से पा के आकार को ईकार हो जाता है। भोजं भोजम्—यहां भुज् (भुज पालनाऽभ्यवहारयोः, रुधा० प०) धातु से णमुँल् हो कर **पुगन्तलघूपधस्य च** (४५१) से लघूपध-गुण हो जाता है पुनः 'भोजम्' इस अव्ययसंज्ञक पद को प्रकृतसूत्र से द्वित्व हो जाता है—भोजं भोजम्। पूरा वाक्य होगा—भोजं भोजं परान्नं प्रसीदति कृपणः। क्त्वापक्ष में—भुक्त्वा भुक्त्वा परान्नं प्रसीदति कृपणः। श्रावं श्रावम्—यहां 'श्रु श्रवणे' (भ्वा० प० अनिट्) धातु से णमुँल् प्रत्यय ला कर **अचो ञ्णिति** (१८२) से वृद्धि कर

१. यहां पर दो पक्ष सुप्रसिद्ध हैं। एक तो यह है कि पद के स्थान पर दो शब्दरूप आदेश होते हैं। दूसरा यह है कि उस पद का पुनः दूसरी बार प्रयोग होता है। प्रथमपक्ष में यह दोष प्रसक्त होता है कि यदि दो शब्दरूपों वाला एक आदेश मानते हैं तो स्थानिवद्भाव से वह समुदितरूपेण पदसंज्ञक होगा पृथग्रूपेण नहीं। इस प्रकार प्रथमांश के पदसंज्ञक न होने से उस में '**मोऽनुस्वारः**' (७७) की प्रवृत्ति न हो सकेगी। इस का समाधान इस प्रकार किया जाता है कि अधिकारसूत्र में 'द्वे' इस द्विवचनान्तनिर्देश के कारण दो आदेश मान कर स्थानिवद्भाव के कारण दोनों को पदसंज्ञक मान लेने से कोई दोष प्रसक्त नहीं होता। दूसरे पक्ष में तो उस पद का दूसरी बार प्रयोग किया जाता है अतः दोनों के पदत्व के अक्षुण्ण रहने से कोई दोष प्राप्त ही नहीं होता। इस प्रकार प्रथमांश के भी पदसंज्ञक होने से 'अभवन्नभवन्' में **ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्** (८६) द्वारा ङमुँट् का आगम, 'अग्रेऽग्रे' में **एङः पदान्तादति** (४३) से पूर्वरूप, 'वृक्षान् वृक्षान्' में प्रथमांश के अन्त्य नकार को **पदान्तस्य** (१३६) द्वारा णत्वनिषेध आदि कार्य सिद्ध हो जाते हैं।

२. दुःखं त्यक्तुं बद्धमूलोऽनुरागः स्मृत्वा स्मृत्वा याति दुःखं नवत्वम्। (स्वप्न० ४.६)

आवादेश करने से 'श्रावम्' यह अव्ययसंज्ञक पद सिद्ध होता है। पुनः इसे प्रकृतसूत्र से द्वित्व हो कर - श्रावं श्रावम्। पूरा वाक्य होगा —श्रावं श्रावं हरिकथां तुष्यन्ति सन्तः। क्त्वापक्ष में—श्रुत्वा श्रुत्वा हरिकथां तुष्यन्ति सन्तः। इसी तरह—

स्थायं स्थायं क्वचिद् यान्तं क्रान्त्वा क्रान्त्वा स्थितं क्वचित्।
वीक्षमाणो मृगं रामश्चित्रवृत्तिं विसिष्मिये॥

(भट्टि० ५.५१)

(कहीं पर ठहर ठहर कर चलते हुए तथा कहीं पर चल चल कर ठहरते हुए उस सुन्दर चेष्टा करने वाले मृग को देख कर राम विस्मित हुए)। यहां पर स्था धातु से णमुँल् प्रत्यय हो कर युँक् का आगम कर 'स्थायम्' बना कर पुनः द्वित्व किया गया है। इसी प्रकार 'क्रान्त्वा क्रान्त्वा' में क्रम् धातु के क्त्वान्त रूप को द्वित्व हुआ है।

ध्यायं ध्यायं परं ब्रह्म स्मारं स्मारं गुरोर्गिरः।
सिद्धान्तकौमुदीव्याख्यां कुर्मः प्रौढमनोरमाम्॥ (प्रौढमनोरमाऽऽदौ)

यहां 'ध्यायं ध्यायम्' में 'ध्यै चिन्तायाम्' (भ्वा० प० अनिट्) धातु का प्रयोग किया गया है। णमुँल् में धातु को आत्व कर युँक् का आगम कर द्वित्व किया गया है। स्मारं स्मारम्—में स्मृ धातु से णमुँल् में वृद्धि कर द्वित्व किया गया है।

यहां यह बात हृदयंगम कर लेनी चाहिये कि आभीक्ष्ण्य (बार बार होना) में णमुँल् करने पर द्विर्वचन करना आवश्यक कार्य है इसे वैकल्पिक समझने की भूल नहीं करनी चाहिये। णमुँल् और द्विर्वचन दोनों से ही आभीक्ष्ण्य का द्योतन होता है केवल एक से नहीं।

वीप्सा अर्थ में द्वित्व के उदाहरण यथा—

ग्रामो ग्रामो रमणीयः (प्रत्येक गांव सुन्दर है)। वृक्षं वृक्षं सिञ्चति (प्रत्येक वृक्ष को सींचता है)। पुरुषः पुरुषो निधनमुपैति (प्रत्येक पुरुष मृत्यु को प्राप्त होता है)। इन में गुण या क्रिया द्वारा अनेक पदार्थों को एक साथ कहने की वीप्सा प्रकट हो रही है[1]। इस के साहित्यगत कुछ उदाहरण यथा—

(१) **निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु** (हमारी प्रत्येक अभिलाषा पर बादल बरसे)— (यजु० २२.२२)।

(२) **आदित्यस्य गताऽऽगतैरहरहः संक्षीयते जीवितम्** (भर्तृ०वैराग्य० ४३)।

(३) **पदे पदे सन्ति भटा रणोद्भटा न तेषु हिंसारस एष पूर्यते।**
धिगीदृशं ते नृपते कुविक्रमं कृपाश्रये यः कृपणे पतत्रिणि॥

(नैषध० १.१३२)

(४) **दिने दिने त्वं तनुरेधि रेऽधिकम्** (नैषध० १.९०)।

(५) **काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य**
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम्। (मेघदूत १२)

---

१. ध्यान रहे कि वीप्सा के उदाहरण केवल सुँबन्त ही होते हैं तिङन्त नहीं।

(६) **मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना कुण्डे कुण्डे नवं पयः।**
जातौ जातौ नवाचारा नवा वाणी मुखे मुखे ॥ (सुभाषित)

अब हम विद्यार्थियों के अभ्यासार्थ कुछ धातुओं के आभीक्ष्ण्य (पौनःपुन्य) में रूप दे रहे हैं—

(१) दृश्—दर्शं दर्शम्। दृष्ट्वा दृष्ट्वा। (बार बार देख कर)।
(२) पठ्—पाठं पाठम्। पठित्वा पठित्वा। (बार बार पढ़ कर)।
(३) ग्रह्—ग्राहं ग्राहम्। गृहीत्वा गृहीत्वा। (बार बार ग्रहण कर)।
(४) गम्—गामं गामम्। गत्वा गत्वा। (बार बार जा कर)।
(५) घ्रा—घ्रायं घ्रायम्। घ्रात्वा घ्रात्वा। (बार बार सूंघ कर)।
(६) खन्—खानं खानम्। खनित्वा खनित्वा। (बार बार खोद कर)।
(७) स्ना—स्नायं स्नायम्। स्नात्वा स्नात्वा। (बार बार नहा कर)।
(८) खाद्—खादं खादम्। खादित्वा खादित्वा। (बार बार खा कर)।
(९) हन्—घातं घातम्[1]। हत्वा हत्वा। (बार बार मार कर)।
(१०) कथ्—कथं कथम्[2]। कथयित्वा कथयित्वा। (बार बार कह कर)।
(११) दा—दायं दायम्। दत्त्वा दत्त्वा। (बार बार दे कर)।
(१२) पुष्—पोषं पोषम्। पुष्ट्वा पुष्ट्वा। (बार बार पाल कर)।
(१३) रुद्—रोदं रोदम्। रुदित्वा रुदित्वा। (बार बार रो कर)।
(१४) दह्—दाहं दाहम्। दग्ध्वा दग्ध्वा। (बार बार जला कर)।
(१५) लू—लावं लावम्। लूत्वा लूत्वा। (बार बार काट कर)।
(१६) पू—पावं पावम्। पूत्वा पूत्वा। (बार बार शुद्ध कर)।
(१७) गै—गायं गायम्। गीत्वा गीत्वा। (बार बार गा कर)।
(१८) वि√लोक्—विलोकं विलोकम्। विलोक्य विलोक्य। (बार बार देखकर)
(१९) चिन्त्—चिन्तं चिन्तम्। चिन्तयित्वा चिन्तयित्वा। (बार बार सोच कर)।
(२०) जि—जायं जायम्। जित्वा जित्वा। (बार बार जीत कर)।
(२१) लिख्—लेखं लेखम्। लिखित्वा लिखित्वा। (बार बार लिख कर)।
(२२) कृ—कारं कारम्। कृत्वा कृत्वा। (पुनः पुनः कर के)।
(२३) स्था—स्थायं स्थायम्। स्थित्वा स्थित्वा। (बार बार ठहर कर)।
(२४) प्रच्छ्—प्रच्छं प्रच्छम्। पृष्ट्वा पृष्ट्वा। (बार बार पूछ कर)।

---

१. **अत उपधायाः** (४५५) इत्युपधावृद्धौ, **हो हन्तेः०** (२८७) इति घत्वे, **हनस्तोऽचिण्णलोः** (७.३.३२) इति नकारस्य तत्वम्।

२. अदन्तश्चौरादिकोऽयं धातुः। णौ **अतो लोपः** (४७०) इत्यकारलोपः। तस्य च **अचः परस्मिन् पूर्वविधौ** (६६६) इति स्थानिवत्त्वेन नोपधावृद्धिः। **णेरनिटि** (५२९) इति णमुँलि णेर्लोपः।

(२५) पच्—पाचं पाचम् । पक्त्वा पक्त्वा । (बार बार पका कर) ।

अब एक अन्य सूत्र द्वारा णमुँल् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८८७) अन्यथैवं-कथमित्थंसु सिद्धाऽप्रयोगश्चेत् ।३।४।२७।।

एषु कृञो णमुँल् स्यात्, सिद्धोऽप्रयोगोऽस्य एवम्भूतश्चेत् कृञ् । व्यर्थत्वात् प्रयोगानर्ह इत्यर्थः । अन्यथाकारम् । एवंकारम् । कथंकारम् । इत्थंकारं भुङ्क्ते । सिद्धेति किम् ? शिरोऽन्यथा कृत्वा भुङ्क्ते ।।

अर्थः—अन्यथा, एवम्, कथम्, इत्थम्—इन चार अव्ययों में से किसी अव्यय के उपपद रहते कृञ् धातु से परे णमुँल् प्रत्यय हो यदि कृञ् धातु अर्थहीन होने से प्रयोग के अयोग्य प्रतीत होती हो ।

व्याख्या—अन्यथैवं-कथम्-इत्थंसु ।७।३। सिद्धाऽप्रयोगः ।१।१। चेत् इत्यव्ययपदम् । कृञः ।५।१। (**कर्मण्याक्रोशे कृञः खमुँञ्** से) । णमुँल् ।१।१। (**स्वादुमि णमुँल्** से) । **धातोः, प्रत्ययः, परश्च**—ये तीनों अधिकृत हैं । अन्यथा च एवं च कथं च इत्थं च =अन्यथैवंकथमित्थमः, तेषु=अन्यथैवंकथमित्थंसु, इतरेतरद्वन्द्वः । सप्तम्यन्त होने से **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** (९५३) के अनुसार ये चारों उपपद हैं। न प्रयोगः=अप्रयोगः। नञ्तत्पुरुषसमासः । सिद्धोऽप्रयोगो यस्य सः=सिद्धाऽप्रयोगः, बहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(अन्यथैवंकथमित्थंसु) अन्यथा, एवम्, कथम् या इत्थम् ये उपपद हों तो (कृञः) कृञ् (धातोः) धातु से (परः) परे (णमुँल्) णमुँल् (प्रत्ययः) प्रत्यय होता है (चेत्) यदि कृञ् (सिद्धाऽप्रयोगः) का अप्रयोग सिद्ध हो तो । सूत्र का अभिप्राय यह है कि यदि निष्पद्यमान शब्द में कृञ् धातु का अर्थ अन्वित न हो रहा हो अर्थात् उस का प्रयोग व्यर्थ निष्प्रयोजन सा लग रहा हो तो अन्यथा आदियों के उपपद रहते कृञ् धातु से णमुँल् प्रत्यय होता है । पूर्ववत् णमुँल् का अम् ही शेष रहता है । उदाहरण यथा—

अन्यथाकारं भुङ्क्ते (वह अन्यथा=अन्य प्रकार से खा रहा है) । यहां अन्यथा के उपपद रहते कृ (डुकृञ् करणे; तना० उ० अनिट्) धातु से परे प्रकृतसूत्रद्वारा णमुँल् प्रत्यय हो कर—अन्यथा+कृ+णमुँल्=अन्यथा+कृ+अम्=अन्यथा+कारम् [**अचो ञ्णिति** (१८२) से वृद्धि] । अब **उपपदमतिङ्** (९५४) से 'अन्यथा' और 'कारम्' का उपपदसमास हो कर समासत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञा हो औत्सर्गिक सुँ विभक्ति लाने पर **कृन्मेजन्तः** (३६९) द्वारा अव्ययसंज्ञा के कारण **अव्ययादाप्सुपः** (३७२) सूत्र से सुँ का लुक् हो जाता है । इस प्रकार 'अन्यथाकारम्' प्रयोग सिद्ध होता है । 'अन्यथाकारं भुङ्क्ते' का वही अभिप्राय है जो 'अन्यथा भुङ्क्ते' का है । इस में कृ धातु का अर्थ अन्वित नहीं हो रहा वह व्यर्थ सा लग रहा है अतः वह सिद्धाऽप्रयोग है । इसलिये यहां णमुँल् हुआ है । भाषा के प्रवाह में अनेक ऐसे शब्द प्रयुक्त होते हैं जिन का कोई प्रयोजन नहीं होता, आडम्बरप्रेमी उन का प्रयोग किया ही करते हैं। परन्तु व्याकरण-

शास्त्र तो प्रयोगों का अनुसरण करता है उसे तो ऐसे शब्द भी सिद्ध करने पड़ते हैं। अतः यहां इन की सिद्धि की गई है[1]।

इसी प्रकार—एवंकारं भुङ्क्ते (वह इस प्रकार खाता है), कथंकारं भुङ्क्ते (वह कैसे खाता है)। इत्थंकारं भुङ्क्ते (वह इस तरह खाता है)। इन सब स्थानों पर कृञ् का प्रयोग व्यर्थ सा प्रतीत होता है। वह केवल शब्दसाधुत्व के लिये ही प्रयुक्त हुआ है अर्थ के साथ सम्बद्ध नहीं। इस का साहित्यगत उदाहरण यथा—

अकृत्वा हेलया पादमुच्चैर्मूर्धसु विद्विषाम्।
कथङ्कारमनालम्बा कीर्तिर्द्यामधिरोहति॥ (माघ २.५२)

(शत्रुओं के उन्नत मस्तक पर पैर रखे विना आश्रय से हीन हुई कीर्ति कैसे स्वर्ग पर चढ़ सकती है ?)।

यदि कृञ् का अर्थ अन्वित हो रहा हो तो प्रकृतसूत्र से णमुँल् प्रत्यय न होगा। यथा—शिरोऽन्यथा कृत्वा भुङ्क्ते (सिर को दूसरी तरफ कर भोजन आदि खाता है)। यहां 'अन्यथा' के उपपद रहते हुए भी कृञ् से णमुँल् नहीं होता क्योंकि वक्ता के अभिप्राय के अनुसार कृञ् सिद्धाप्रयोग (निष्प्रयोजन) नहीं अपितु सिद्धप्रयोग (सप्रयोजन) है। यहां कृञ् को यदि निष्प्रयोजन या निरर्थक मानते हैं तो वक्ता का सारा अभिप्राय ही बदल जायेगा। तब 'अन्यथा' यह 'भुङ्क्ते' के साथ सम्बद्ध हो जायेगा। और 'भुङ्क्ते' का 'शिरः' कर्म बन कर 'सिर को अन्यथा खाता है' यह अनर्थ प्रतीत होने लगेगा और वक्ता का अभिप्रेत अर्थ लुप्त हो जायेगा। अतः वक्ता के अभिप्रेत अर्थ को दृष्टि में रखते हुए यहां कृञ् का प्रयोग प्रयोजनहीन नहीं अपितु सप्रयोजन है। इस लिये वक्ता के अभिप्रायानुसार भुज् धात्वर्थ की अपेक्षा पूर्वकालवर्त्ती धात्वर्थ होने के कारण कृञ् से **समानकर्तृकयोः पूर्वकाले** (८७९) द्वारा क्त्वा प्रत्यय हो जाता है।

इस णमुँल् प्रत्यय का विधान करने वाले अष्टाध्यायी में अन्य भी अनेक सूत्र हैं जो काशिका या सिद्धान्तकौमुदी में देखने चाहियें।

इत्युत्तरकृदन्तप्रकरणम्

(यहां उत्तरकृदन्तप्रकरण समाप्त होता है)

अभ्यास (१३)

[१] निम्नस्थ प्रश्नों का समझा कर उत्तर दीजिये—

(क) वस् धातु अनिट् है पुनः 'उषित्वा' में इट् कैसे ?

(ख) व्रश्च् धातु ऊदित् है पुनः 'व्रश्चित्वा' में नित्य इट् कैसे ?

(ग) भूत्वा, पूत्वा आदि सेट् धातुओं से क्त्वा में इट् क्यों नहीं ?

(घ) जागरित्वा में 'श्र्युकः किति' से इण्निषेध क्यों नहीं होता ?

---

१. वस्तुतोऽत्र कृञः सिद्धाऽप्रयोगताऽऽपातत एव बोध्या। शाब्दबोधे तु भेदो भवत्येवेति प्रौढमनोरमायां दीक्षितेन सविस्तरं प्रत्यपादि। विशेषं बुभुत्सुभिस्तत्रैवावलोकनीयम्।

(ङ) 'हित्वा' प्रयोग किस किस धातु से बनाया जा सकता है ?
(च) 'अनधीत्य' में नञ्समास होने पर भी क्त्वा को ल्यप् कैसे ?

[२] प्रतिषेधार्थक माङ् के उपपद रहते धातु से क्त्वा क्या पाणिनिसम्मत है ?

[३] अन्तर स्पष्ट करें—
पीत्वा-पात्वा; निपाय-निपीय; उत्वा-उक्त्वा; उषित्वा-ओषित्वा; दित्वा-दत्त्वा; हुत्वा-हूत्वा; भात्वा-भीत्वा; विदित्वा-वित्त्वा ।

[४] ल्यप् में निम्नस्थ धातुओं के अनुनासिक का कहां नित्य और कहां वैकल्पिक लोप होता है—
गम्, नम्, तन्, हन्, रम्, मन्, वन्, यम् ।

[५] सेट् क्त्वा के परे रहते कुटादियों में गुण होगा या नहीं ? स्पष्ट करें ।

[६] क्त्वा में इट् की स्थिति पर सोदाहरण टिप्पण करें—
(क) उदित् धातुओं से । (ख) रधादि धातुओं से । (ग) ऊदित् धातुओं से (घ) सह्, लुभ्, इष् धातु से ।

[७] क्त्वा के कित्त्व-अकित्त्व पर नोट लिखें—
(क) सेट् क्त्वा । (ख) इकार-उकार उपधा वाली हलादि रलन्त धातु से क्त्वा । (ग) थकारान्त फकारान्त नोपध धातु से क्त्वा । (घ) वद्, वस्, रुद्, विद्, मुष् और ग्रह् धातु से क्त्वा ।

[८] रलो व्युपधाद्० सूत्र की व्याख्या करते हुए प्रत्युदाहरण प्रदर्शित करें ।

[९] 'अमैवाऽव्ययेन' नियम की सोदाहरण व्याख्या करें ।

[१०] 'अलं दत्त्वा' में उपपदसमास क्यों नहीं होता ? यदि कर भी दें तो क्या दोष प्रसक्त होगा ?

[११] 'अलं दत्त्वा' की तरह 'खलु पीत्वा' उदाहरण न देकर वरदराज ने 'पीत्वा खलु' उदाहरण क्यों दिया है; विवेचन करें ।

[१२] निषेधार्थक अलम् और खलु के उपपद रहते क्त्वान्त प्रयोगों के साहित्यगत दो उदाहरण दीजिये ।

[१३] कृञ् के सिद्धाप्रयोग और सिद्धप्रयोग का अभिप्राय स्पष्ट करें ।

[१४] 'शिरोऽन्यथा कृत्वा भुङ्क्ते' में णमुँल् क्यों नहीं होता ? विवेचन करें ।

[१५] निम्नस्थ धातुओं के णमुँलन्त प्रयोगों का अपने वाक्यों में प्रयोग कीजिये—
श्रु, प्रच्छ्, पठ्, स्था, गै, दा, ग्रह्, स्मृ, ध्यै, पा ।

[१६] 'नित्य-वीप्सयोः' में नित्य और वीप्सा का अभिप्राय उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करें और यह भी लिखें कि ये कहां कहां पाये जाते हैं ?

[१७] 'नित्य-वीप्सयोः' पर द्वित्वसम्बन्धी दोनों पक्षों को स्पष्ट करते हुए प्रथमपक्ष में आने वाले दोष का परिहार कीजिये ।

[१८] ससूत्र सिद्धि करें—
अन्यथाकारं भुङ्क्ते, स्मारं स्मारम्, ध्यायं ध्यायम् ।

[१९] निम्नस्थ रूपों की ससूत्र सिद्धि करते हुए यथासम्भव वैकल्पिक रूप भी प्रदर्शित करें--

१. जग्ध्वा। २. इष्ट्वा। ३. क्षान्त्वा। ४. कामयित्वा। ५. क्रान्त्वा। ६. खात्वा। ७. गत्वा। ८. गाढ्वा। ९. गृहीत्वा। १०. गीत्वा। ११. स्थित्वा। १२. घोषयित्वा। १३. दुग्ध्वा। १४. तष्ट्वा। १५. तीर्त्वा। १६. पीत्वा। १७. नंष्ट्वा। १८. नद्ध्वा। १९. रूढ्वा। २०. मुग्ध्वा। २१. रब्ध्वा। २२. सोढ्वा। २३. सृष्ट्वा। २४. शिष्ट्वा। २५. दत्त्वा। २६. द्यूत्वा। २७. मङ्क्त्वा। २८. स्नीढ्वा। २९. बद्ध्वा। ३० सुप्त्वा।

[२०] निम्नस्थ ल्यबन्त रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—

१. अधीत्य। २. आकर्ण्य। ३. पलाय्य। ४. प्रजग्ध्य। ५. उत्खाय। ६. विगृह्य। ७. अनूद्य। ८. प्रसीव्य। ९. निहत्य। १०. अवगम्य। ११. आहूय। १२. संजाय। १३. विगणय्य। १४. समुह्य। १५. उपशय्य।

[२१] सूत्रों की विस्तृत व्याख्या करें—

समासेऽनञ्पूर्वे०, अन्यथैवंकथमित्थंसु०, अलंखल्वोः०, समानकर्तृकयोः०, उदितो वा, आभीक्ष्ण्ये णमुँल् च।

इति कृदन्तप्रकरणम्।

(यहां कृदन्तप्रकरण समाप्त होता है)

——:०:——

अथ विभक्त्यर्थ-प्रकरणम्

अब विभक्त्यर्थप्रकरण प्रारम्भ किया जाता है।

व्याख्या—पीछे सुँबन्तप्रकरण (षड्लिङ्ग) में सुँ-औ-जस् आदि सात विभक्तियों का विधान दिखा चुके हैं अब उन विभक्तियों का विशेष अर्थ बतलाने के लिये यह प्रकरण प्रारम्भ किया जा रहा है। **विभक्तिश्च** (१३०) सूत्रद्वारा यद्यपि सुँप् और तिङ् उभयविध प्रत्ययों की विभक्तिसंज्ञा कही गई है तथापि यहां विभक्त्यर्थप्रकरण में विभक्ति से सुँपों का ही ग्रहण अभीष्ट है क्योंकि तिङ्विभक्तियों का अर्थ तिङन्तप्रकरण में पहले ही बताया जा चुका है। इस प्रकरण को 'सुँबर्थप्रकरण' या 'कारकप्रकरण' भी कहा जाता है। क्रियां करोति निर्वर्तयतीति कारकम्। जो क्रिया को सिद्ध करे—निष्पादन करे उसे कारक कहते हैं। अत एव **क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्** ऐसा लक्षण वैयाकरणों में प्रसिद्ध है। कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण —ये

छः कारक कहलाते हैं। इन से किसी न किसी रूप में क्रिया की निष्पत्ति होती है[1]। सम्बन्ध-विभक्ति को कारक नहीं मानते क्योंकि वह क्रिया की निष्पत्ति में अन्यथासिद्ध होती है। देवदत्तस्य पुत्रोऽधीते—में देवदत्त का क्रिया की सिद्धि में कोई साक्षात् योगदान नहीं अतः वह कारक नहीं है। अत एव कहा है—

कर्त्ता कर्म च करणं च सम्प्रदानं तथैव च।
अपादानाधिकरणे चेत्याहुः कारकाणि षट् ॥

इस प्रकरण में यद्यपि कारकों से भिन्न अन्य भी अनेक उपपदविभक्तियों का वर्णन है तथापि **प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति** (प्रधानता के कारण ही नामकरण किया जाता है) इस न्याय से कारकबहुल होने के कारण इस प्रकरण को कारकप्रकरण ही कहा जाता है।

---

१. यथा—पुरुषः खादति। यहां पुरुषद्वारा खादनक्रिया की निष्पत्ति हो रही है अतः पुरुष कर्तृकारक है। बालश्चन्द्रं पश्यति—यहां दर्शन क्रिया की सिद्धि में चन्द्र का भी निमित्त होना स्पष्ट है अतः चन्द्र कर्मकारक है। असिना छिनत्ति, कुठारेण भिनत्ति—यहां छेदन-भेदनक्रिया की सिद्धि में असि और कुठार निमित्त हैं अतः ये करणकारक हैं। राजा विप्राय गां ददाति—यहां दानक्रिया की निष्पत्ति में विप्र भी निमित्त है अतः वह सम्प्रदानकारक है। वृक्षात् पर्णं पतति—यहां पतन-क्रिया की सिद्धि में वृक्ष भी सहायक है अतः वृक्ष अपादानकारक है। कटे शेते (चटाई पर सोता है) यहां शयनक्रिया की निष्पत्ति में कट भी निमित्त है अतः वह अधिकरणकारक है। परन्तु यहां यह विशेष स्मर्तव्य है कि मुख्य कारक कर्त्ता ही होता है क्योंकि उसी के अधीन क्रिया हुआ करती है। अन्य क्रियानिष्पादक निमित्त कर्त्ता के अधीन रह कर ही क्रिया का निष्पादन करते हैं। दूसरे शब्दों में अन्य निमित्त कर्त्ता को क्रियानिष्पत्ति में सहायता प्रदान करते हैं—इतने से ही वे कारक समझे जाते हैं। पाणिनीयतन्त्र में मुख्य-अमुख्य कारकों में कोई भेद नहीं दिखाया गया। कारकत्वेन सब कारक एक ही हैं।

यहां यह भी ध्यातव्य है कि वक्ता जिस प्रकार किसी को प्रयुक्त करना चाहता है प्रस्तुत करता है यह उस की इच्छा पर निर्भर है—**विवक्षातः कारकाणि भवन्ति** (वक्ता की इच्छा पर ही कारक निर्भर हुआ करते हैं)। इससे कई बार वक्ता की इच्छानुसार वस्तुस्थिति में परिवर्त्तन आ जाने से कारकों की दशा भी बदल जाती है। जैसे—स्थाली पचति; स्थाल्या पचति; स्थाल्यां पचति। यहां प्रथम वाक्य में स्थाली कर्त्ता, द्वितीय वाक्य में स्थाली करण तथा तृतीयवाक्य में स्थाली अधिकरण के रूप में प्रस्तुत की गई है। इसी प्रकार—असिश्छिनत्ति, असिना छिनत्ति; अग्निः पचति, अग्निना पचति आदियों में समझना चाहिये। [परमियं विवक्षापि शिष्टप्रयोगानुसारिण्येव न तु स्वेच्छयेत्यपि नाऽत्र विस्मरणीयम्]।

यह प्रकरण वाक्यज्ञान के लिये महोपकारक है। हम इसे समझाने का पूरा पूरा प्रयत्न करेंगे। यह प्रकरण वरदराज ने अतीव संक्षिप्त लिखा है अतः लघुकौमुदी के प्रणयन में इसे एक त्रुटि माना जाता है। इस प्रकरण के अन्त में हम इस प्रकरण के अन्य भी अनेक उपयोगी सूत्रों की व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं आशा है इस से इस ग्रन्थ की यह कथित त्रुटि बहुत हद तक दूर हो जायेगी।

अब सब से पहले प्रथमाविभक्ति का अर्थ निर्दिष्ट करने के लिये सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८८८) प्रातिपदिकार्थ-लिङ्ग-परिमाण-वचनमात्रे प्रथमा ।२।३।४६।।

नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः। मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगः। प्रातिपदिकार्थमात्रे लिङ्गमात्राद्याधिक्ये[1] संख्यामात्रे च प्रथमा स्यात्। प्रातिपदिकार्थमात्रे—उच्चैः। नीचैः। कृष्णः। श्रीः। ज्ञानम्। लिङ्गमात्रे—तटः। तटी। तटम्। परिमाणमात्रे—द्रोणो व्रीहिः। वचनं सङ्ख्या। एकः। द्वौ। बहवः।।

अर्थः—किसी शब्द के उच्चारण करने पर नियम से जिस अर्थ की उपस्थिति (प्रतीति) होती है उसे प्रातिपदिकार्थ कहते हैं। सूत्रगत 'मात्र' शब्द प्रातिपदिकार्थ, लिङ्ग, परिमाण और वचन (संख्या)—इन चारों के साथ सम्बद्ध होता है। प्रातिपदिकार्थमात्र में, प्रातिपदिकार्थ से लिङ्ग या परिमाण अर्थमात्र के अधिक होने में तथा संख्यामात्र अर्थ में प्रथमा विभक्ति होती है।

व्याख्या—प्रातिपदिकार्थ-लिङ्ग-परिमाण-वचनमात्रे ।७।१। प्रथमा ।१।१। प्रातिपदिकस्य अर्थः—प्रातिपदिकार्थः, षष्ठीतत्पुरुषसमासः। प्रातिपदिकार्थश्च लिङ्गं च परिमाणं च वचनं च—प्रातिपदिकार्थ-लिङ्ग-परिमाण-वचनानि। इतरेतरद्वन्द्वः। प्रातिपदिकार्थ-लिङ्ग-परिमाण-वचनान्येव—प्रातिपदिकार्थ-लिङ्ग-परिमाण-वचनमात्रम्, तस्मिन्—प्रातिपदिकार्थ-लिङ्ग-परिमाण-वचनमात्रे। यहां अवधारणार्थक (निश्चयार्थक) 'मात्र' शब्द के साथ मयूरव्यंसकादिसमास होता है। यह समास नित्य है अतः स्वपदविग्रह न दिखा कर अस्वपदविग्रह दिखाया गया है। **द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते** (द्वन्द्वसमास के अन्त में पठित शब्द द्वन्द्वान्तर्गत प्रत्येक पद के साथ सम्बद्ध होता है) इस न्याय से मात्रशब्द का प्रातिपदिकार्थ आदि प्रत्येक के साथ सम्बन्ध होता है। किसी शब्द से केवल लिङ्ग या केवल परिमाण का बोध नहीं होता अपितु प्रातिपदिकार्थ+लिङ्ग या प्रातिपदिकार्थ+परिमाण की प्रतीति होती है अतः यहां लिङ्गमात्र या परिमाणमात्र का अभिप्राय प्रातिपदिकार्थ से अधिक लिङ्गमात्र या परिमाणमात्र से समझना चाहिये। अर्थः—(प्रातिपदिकार्थ-लिङ्ग-परिमाण-वचनमात्रे)

---

१. कई संस्करणों में यहां 'परिमाणमात्रे' पाठ पाया जाता है जो अशुद्ध है। क्योंकि 'लिङ्गमात्राद्याधिक्ये' में जब 'आदि' शब्द लगा लिया तो फिर यहां इस की आवश्यकता नहीं रहती।

प्रातिपदिकार्थमात्र में, प्रातिपदिकार्थ से लिङ्गमात्र अर्थ या परिमाणमात्र अर्थ की अधिकता में तथा वचनमात्र में (प्रथमा) विभक्ति होती है।

प्रातिपदिकार्थमात्रे (प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा होती है)—प्रातिपदिकस्यार्थः—प्रातिपदिकार्थः। प्रातिपदिक के अर्थ को प्रातिपदिकार्थ कहते हैं। प्रातिपदिकार्थ किसी शब्द का वाच्यार्थ होता है। इसे शक्यार्थ भी कहते हैं। दीक्षितजी इस को इस तरह निर्दिष्ट करते हैं—नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः। नियता निश्चिता नियमबद्धा वा उपस्थितिः प्रतीतिर्यस्यार्थस्य असौ—नियतोपस्थितिकः। तात्पर्य यह है कि—यस्मिन् प्रातिपदिके उच्चारिते सति यस्यार्थस्य नियमेनोपस्थितिः स प्रातिपदिकार्थः। अर्थात् जिस प्रातिपदिक के उच्चारण करने पर जिस अर्थ की नियम से उपस्थिति (प्रतीति) होती है उसे प्रातिपदिकार्थ कहते हैं[1]। यह शब्द का सीधा-साधा वाच्यार्थ (शक्यार्थ) ही होता है[2]। प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा का उदाहरण यथा—उच्चैः (ऊँचे), नीचैः (नीचे), कृष्णः (वासुदेव), श्रीः (लक्ष्मी), ज्ञानम् (भावे ल्युट्, जानना)। इन उदाहरणों में प्रथम दो उच्चैस् और नीचैस् स्वरादिगणपठित होने से अव्यय हैं। इन से प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा का एकवचन सुँ प्रत्यय ला कर उस का **अव्ययादाप्सुपः** (३७२) से लुक् कर दिया जाता है। पुनः प्रत्ययलक्षणद्वारा पदसंज्ञा हो जाने से **ससजुषो रुँः** (१०५) से पदान्त सकार को रुँत्व तथा **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (९३) से रेफ को विसर्ग आदेश हो जाता है—उच्चैः, नीचैः। इन अव्ययों के आगे प्रथमैकवचन सुँ प्रत्यय के लाने का प्रयोजन पदसंज्ञा कर इन को प्रयोग के योग्य बनाना है—**अपदं न प्रयुञ्जीत** (किसी अपद अर्थात् जिस की पदसंज्ञा नहीं—का प्रयोग नहीं करना चाहिये)। किञ्च इन के पदसंज्ञक हो जाने से—उच्चैस्ते गृहम्, नीचैर्मे गृहम् इत्यादियों में पद से परे ते, मे आदि आदेश भी सिद्ध हो जाते हैं। कृष्णः, श्रीः, ज्ञानम्—

---

१. भट्टोजिदीक्षित के गुरु सुप्रसिद्ध वैयाकरण शेषश्रीकृष्ण प्रक्रियाकौमुदी की प्रकाश-व्याख्या में प्रातिपदिकार्थ की इस प्रकार व्याख्या करते हैं—

यस्माच्छब्दाद् योऽर्थो नियमेन भासते, यमर्थं प्रातिपदिकं न व्यभिचरति, येन विना प्रातिपदिकस्याऽप्रयोगः, स इह प्रातिपदिकार्थो विवक्षितः।

सम्भवतः दीक्षित जी का **नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः** यह वचन अपने गुरुवचनों का सार ही है।

२. यदि प्रातिपदिकार्थ से शक्यार्थ (वाच्यार्थ) ही लिया जाये तो 'सिंहो माणवकः' इत्यादि लक्ष्यार्थ के बोधस्थलों में प्रथमा कैसे उपपन्न हो सकेगी?—यह यहां शङ्का करनी उचित नहीं क्योंकि शक्यार्थ को ले कर प्रथमा के आ जाने पर जब दूसरे पदों के साथ समभिव्याहार में वह अर्थ अन्वित नहीं होता तो वाच्यार्थ के बाध हो जाने पर ही लक्ष्यार्थ का बोध हुआ करता है पूर्व नहीं। जैसा कि कहा गया है—

मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थः प्रतीयते।
रूढेः प्रयोजनाद्वाऽसौ लक्षणा शक्तिरर्पिता॥ (साहित्यदर्पण २.५)

ये भी प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा के उदाहरण हैं। इन में प्रथमा विभक्ति के एकवचन सुँ को पूर्ववत् रुँत्व आदि कार्य हो जाते हैं। ज्ञानशब्द से परे सुँप्रत्यय को **अतोऽम्** (२३४) से अम् आदेश हो कर **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप हो जाता है। एकवचन में उदाहरण निदर्शनार्थ दिये गये हैं। इसी प्रकार द्विवचन और बहुवचन में भी समझ लेने चाहियें—पुरुषः, पुरुषौ, पुरुषाः। कन्या, कन्ये, कन्याः। फलम्, फले, फलानि आदि। अव्यय और निश्चित-एकलिङ्गी शब्द ही प्रातिपदिकार्थ के उदाहरण समझे जाते हैं।

लिङ्गमात्रे—(लिङ्गमात्र में प्रथमा होती है)। कोई शब्द केवल अपने लिङ्ग को नहीं कह सकता अपितु लिङ्गविशिष्ट प्रातिपदिकार्थ को ही कहता है। यथा—पुरुषशब्द पुंस्त्वविशिष्ट मनुष्यरूप प्रातिपदिकार्थ को, कन्याशब्द स्त्रीत्वविशिष्ट लड़की-रूप प्रातिपदिकार्थ को, तथा फलशब्द नपुंसकत्वविशिष्ट फलरूप प्रातिपदिकार्थ को कहता है। इस प्रकार लिङ्ग भी प्रातिपदिकार्थ में ही गृहीत हो जाता है। जब प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा कह दी तो लिङ्ग में अपने आप हो गई क्योंकि वह प्रातिपदिकार्थ के अन्तर्गत ही है। अतः यहां शङ्का उत्पन्न होती है कि सूत्र में पुनः लिङ्ग-मात्र में प्रथमा के विधान का यत्न कैसा ? इस का समाधान यह है कि कुछ शब्द ऐसे भी होते हैं जिन के प्रातिपदिकार्थ में लिङ्ग का ग्रहण नहीं हो सकता। यथा 'तट' शब्द त्रिलिङ्गी है। 'तट' का उच्चारण करने पर तीररूप प्रातिपदिकार्थ की तो प्रतीति निश्चितरूपेण होती है पर उस के साथ किसी निश्चित लिङ्ग की प्रतीति नहीं होती। अतः उस लिङ्ग की प्रतीत्याधिक्य के लिये सूत्र में पुनः प्रथमा का विधान किया गया है ताकि प्रातिपदिकार्थ के साथ तत्तल्लिङ्ग की भी प्रतीति प्रथमा विभक्ति से हो सके। इस प्रकार यहां 'लिङ्गमात्र' का ग्रहण प्रातिपदिकार्थ + लिङ्ग अथवा प्रातिपदिकार्थ से अतिरिक्त लिङ्गमात्र के आधिक्य के लिये है। इस के उदाहरणों में द्विलिङ्गी या त्रिलिङ्गी अर्थात् अनिश्चितलिङ्गी शब्द ही आते हैं। यथा— तटः, तटी, तटम्। शुक्लः, शुक्ला, शुक्लम्। कृष्णः, कृष्णा, कृष्णम्[1]। गौरयम्। गौरियम्। अशनिरयम्। अश-निरियम्। इन में प्रातिपदिकार्थ के अतिरिक्त लिङ्गमात्र अर्थ के अधिक होने पर भी प्रकृतसूत्र से प्रथमा विभक्ति हो जाती है।

परिमाणमात्रे—(परिमाणमात्र[2] में प्रथमा होती है)। कहीं पर भी किसी शब्द से केवल परिमाण की अभिव्यक्ति नहीं हुआ करती अपितु प्रातिपदिकार्थ + परि-माण की ही अभिव्यक्ति हुआ करती है अतः यहां पर भी पूर्ववत् 'परिमाणमात्रे प्रथमा' का तात्पर्य 'परिमाणाधिक्ये प्रथमा' से समझना चाहिये। जब किसी शब्द से प्राति-

---

१. यहां पर शुक्ल, कृष्ण आदि शब्द तत्तद्वर्णविशिष्ट वस्तु को निर्दिष्ट करते हैं अतः त्रिलिङ्गी हैं। प्रातिपदिकार्थ के उदाहरणों में पूर्वोक्त कृष्णशब्द वासुदेव का वाचक नियतपुंलिङ्ग था—इन दोनों का पारस्परिक यह भेद ध्यान में रखना चाहिये।

२. यहां परिमाणग्रहण मानमात्र के उपलक्षणार्थ है अतः लम्बाई-चौड़ाई-ऊँचाई आदि सब प्रकार के मानों का यहां ग्रहण अभीष्ट है।

पदिकार्थ के अतिरिक्त परिमाण अर्थ की प्रतीति हो रही हो तो उस में प्रथमा विभक्ति होती है—यह यहां 'परिमाणाधिक्ये' का आशय है। उदाहरण यथा—द्रोणो व्रीहिः[१] (द्रोणपरिमाण भर चावल)। द्रोण पुराने काल का लकड़ी या लोहे से बना एक माप था जिस में भर कर धान्य आदि को मापा जाता था। इस में मागध मान के अनुसार १०२४ तोले वस्तु आ जाती थी। यहां द्रोणशब्द से परिमाणसामान्य अर्थ में प्रथमा हुई है। द्रोण स्वयं परिमाणविशेष है इस से परिमाण-सामान्य में प्रथमा हो कर विशेष और सामान्य का परस्पर अभेद अन्वय हो जाता है। अतः इसका अर्थ हुआ—द्रोणरूप जो परिमाणसामान्य। अब इस का 'व्रीहिः' के साथ अन्वय होने पर परिच्छेद्य-परिच्छेदकभाव की प्रतीति होने लगती है। यहां परिच्छेदक 'द्रोणः' विशेषण तथा परिच्छेद्य 'व्रीहिः' विशेष्य है। अर्थ हुआ—द्रोणरूप जो सामान्य-परिमाण उस से परिच्छिन्न अर्थात् मापे हुए व्रीहि। यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि द्रोणशब्द से केवल प्रातिपदिकार्थ में ही प्रथमा लाते तो क्या 'द्रोणो व्रीहिः' बन कर यह अर्थ द्योतित न होता? इस का उत्तर यह दिया जाता है कि यदि द्रोणशब्द से केवल प्रातिपदिकार्थ में ही प्रथमा लाते तो उस का व्रीहि के साथ सम्बन्ध होने पर परिच्छेद्य-परिच्छेदक-भाव सम्बन्ध व्यक्त न हो सकता था अतः उस सम्बन्ध को व्यक्त करने के लिये ही यहां परिमाणसामान्य में प्रथमा विधान की गई है[२]।

वचनमात्रे—(वचन अर्थात् संख्यामात्र में प्रथमा होती है)। पाणिनि से पूर्व-वर्त्ती आचार्य 'वचन' शब्द से एक-दो आदि संख्याओं का ग्रहण करते थे, यहां पाणिनि

---

१. 'व्रीहिः' में प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा तथा जाति में **जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचन-मन्यतरस्याम्** (१.२.५८) से एकवचन समझना चाहिये। इस तरह 'व्रीहिः' का अर्थ यहां 'व्रीहिराशि' है। वैसे व्यक्तिविवक्षा में बहुवचन का भी प्रयोग हो सकता है—द्रोणो व्रीहयः।

२. 'द्रोणो व्रीहिः' में अन्वय का द्वैविध्य समझना बहुत आवश्यक है। प्रथम—द्रोण-रूप विशेष परिमाण का प्रथमा के अर्थ परिमाणसामान्य के साथ अन्वय। इस में प्रकृत्यर्थ विशेषण तथा प्रत्ययार्थ विशेष्य रहता है। विशेषण-विशेष्य का अभेद हो कर 'द्रोणरूप जो सामान्यपरिमाण' यह अर्थ यहां बोधित होता है। दूसरा अन्वय है 'द्रोणः' और 'व्रीहिः' के मध्य। यहां 'द्रोणः' विशेषण तथा 'व्रीहिः' विशेष्य होता है। इन का अभेद हो कर परिच्छेद्य-परिच्छेदक-भावरूप सम्बन्ध की प्रतीति होती है। अर्थात् व्रीहि परिच्छेद्य = नापे जाने वाली वस्तु तथा द्रोण परिच्छेदक = नापने वाला परिमाण प्रतीत होता है। दीक्षित आदि वैयाकरणों का कहना है कि इसी सम्बन्ध को द्योतित करने के लिये ही परिमाण में प्रथमा का विधान किया गया है। अन्यथा 'द्रोणः' और 'व्रीहिः' के मध्य अर्थ की संगति न हो सकेगी। **द्रोणरूपं यत् परि-माणं तत्परिच्छिन्नो व्रीहिरित्यर्थः। प्रत्ययार्थे परिमाणे प्रकृत्यर्थोऽभेदेन संसर्गेण विशेषणम्। प्रत्ययार्थस्तु परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावेन व्रीहौ विशेषणमिति विवेकः** —(सि० कौमुदी)।

ने भी उसी अर्थ में वचनशब्द का प्रयोग किया है। संख्यामात्र को द्योतित करने के लिये प्रथमा का प्रयोग होता है। यथा—एकः, द्वौ, बहवः। प्रश्न उत्पन्न होता है कि एकत्व आदि संख्या तो प्रातिपदिकार्थ के अन्तर्गत ही आ जाती है जैसे 'कृष्णः' कहने से एकत्वविशिष्ट प्रातिपदिकार्थ का ग्रहण होता है पुनः इस में प्रथमा लाने का यत्न कैसा ? इस का उत्तर यह है कि जब 'एक' शब्द से प्रथमा आयेगी तो वह कैसे एकत्व संख्या को द्योतित कर सकेगी ? क्योंकि वह एकत्वरूप अर्थ तो एकशब्द से पहले ही कहा जा चुका है। **उक्तार्थानामप्रयोगः** अर्थात् जो अर्थ एक बार किसी शब्द से कह दिया गया हो तो पुनः उस के कहने के लिये शब्दान्तर प्रयोगरूप यत्न नहीं करना चाहिये। इस तरह 'एकः, द्वौ, बहवः' में प्रथमाविभक्ति आ ही नहीं सकती थी और उसके विना पद-संज्ञा न हो सकती अतः उस के लिये सूत्र में 'वचन' का ग्रहण किया गया है।

सूत्र में 'मात्र' शब्द के ग्रहण का प्रयोजन यह है कि यदि प्रातिपदिकार्थ आदि से कर्म आदि अर्थों की अधिकता प्रतीत होगी तो प्रथमा विभक्ति न होगी। यथा—कटं करोति।

नोट—यह सूत्र बहुत प्राचीन काल से ही विवादास्पद रहा है। कात्यायन ने तथा आगे चल कर भाष्यकार ने भी इस में कई संशोधन प्रस्तुत किये हैं। इस सूत्र की व्याख्या भी भिन्न भिन्न ग्रन्थकारों ने भिन्न भिन्न प्रकारेण की है। भट्टोजि ने प्रौढमनोरमा तथा शब्दकौस्तुभ में इस सूत्र की कड़ी आलोचना की है। कात्यायन का कहना है कि यहां **तिङ्समानाधिकरणे प्रथमा** इस प्रकार सूत्र बनाना चाहिये। कृष्णः, ज्ञानम्, श्रीः, तटः, तटी, तटम्, द्रोणः, एकः—आदि इन सब स्थानों पर अप्रयुक्त भी अस्ति, भवति आदि क्रियाओं का सम्बन्ध मान कर तिङ् के समानाधिकरण में प्रथमा हो जायेगी कहीं कोई दोष प्रसक्त न होगा।

अब सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति का प्रतिपादन करने के लिये अग्रिम-सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८८९) सम्बोधने च।२।३।४७॥

प्रथमा स्यात्। हे राम! ॥

अर्थः—सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति होती है।

व्याख्या—सम्बोधने।७।१। च इत्यव्ययपदम्। प्रथमा।१।१। (**प्रातिपदिकार्थ-लिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा** से)। सम् = सम्मुखीकृत्य बोधनम्—ज्ञापनं सम्बोधनम्। किसी व्यक्ति को (कुछ बताने के लिये) अपनी ओर अभिमुख करना सम्बोधन कहाता है। अर्थः—(सम्बोधने) प्रातिपदिकार्थ में सम्बोधन अर्थ के अधिक होने पर (च) भी (प्रथमा) प्रथमा विभक्ति होती है। पीछे **प्रातिपदिकार्थलिङ्ग०** (८८८) सूत्र में 'मात्र' शब्द का प्रयोग किया गया था अतः प्रातिपदिकार्थ में ही प्रथमा प्राप्त थी यहां प्रातिपदिकार्थ से सम्बोधन अर्थ के आधिक्य में वह प्राप्त न होती थी अतः

यह सूत्र बनाना पड़ा है। उदाहरण यथा—हे राम ! यहां राम को अपनी ओर अभिमुख कर कुछ निवेदन करना है और अभिमुखीकरण ही सम्बोधन है अतः सम्बोधन में 'राम' शब्द से प्रथमाविभक्ति (सुँ) ला कर **एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः** (१३४) से उस का लोप हो जाता है। हे, भोः, रे आदि अव्यय सम्बोधन को व्यक्त करने के लिये लगाये जाते हैं और नहीं भी—**रे रे चातक सावधानमनसा मित्र क्षणं श्रूयताम्** (भर्तृ० नीति० ५१); **अम्ब ! देहि मेऽम्बु** (वा० मु०); **क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ ! नैतत्त्वय्युपपद्यते** (गीता २.३); **अहो विधे ! त्वां करुणा रुणद्धि नो** (नैषध० १.१३५); **पित्तेन दूने रसने सिताऽपि तिक्तायते हंसकुलावतंस !** (नैषध० ३.९४)। हे राम ! यहां राम को अभिमुख कर 'मां पालय' आदि कुछ विज्ञाप्य का अध्याहार करना चाहिये। यहां सम्बोधन प्रकृत्यर्थ के प्रति विशेष्य तथा क्रिया के प्रति विशेषण समझा जाता है[१]। 'हे राम ! मां पाहि' इस वाक्य का 'रामसम्बन्धिसम्बोधनविषयक मत्कर्मकरक्षण' अर्थ अभिप्रेत है। इसी प्रकार 'व्रजानि देवदत्त !' (देवदत्त ! मैं चलता हूं) का 'देवदत्तसम्बन्धिसम्बोधनविषयक मत्कर्तृकगमन' अर्थ होता है। इस का विस्तार सिद्धान्तकौमुदी की टीकाओं में देखें।

नोट—यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि सम्बोधन के एकवचन अर्थात् सुँप्रत्यय की सम्बुद्धिसंज्ञा होती है—**एकवचनं सम्बुद्धिः** (१३२) तथा सम्बोधन प्रथमान्त पद को 'आमन्त्रित' पद कहते हैं—**साऽऽमन्त्रितम्** (२.३.४८)। सम्बोधन के आगे आजकल स्पष्टप्रतिपत्ति के लिये '!' इस प्रकार का चिह्न लगाया जाता है। परन्तु संस्कृतकाव्यों में इस प्रकार का कोई चिह्न नहीं होता अत एव सम्बोधनान्त के साथ सन्धि कर दी जाती है—**न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन** (गीता ३.२२)।

अब द्वितीया विभक्ति का अवतरण करने के लिये कर्मसंज्ञा का विधान करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(८९०) कर्तुरीप्सिततमं कर्म ।१।४।४९॥

कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसञ्ज्ञं स्यात् ॥

अर्थः—कर्ता क्रिया के द्वारा जिसे विशेषरूप से प्राप्त करना चाहता है उस कारक की कर्मसंज्ञा हो।

व्याख्या—कर्तुः ।६।१। ईप्सिततमम् ।१।१। कर्म ।१।१। कारकम् ।१।१। (कारके इस अधिकार का विभक्तिविपरिणाम हो जाता है)। आप्तुमिष्यत इति—ईप्सितम्।

---

१. क्रिया के प्रति विशेषण होने से ही **आख्यातं सविशेषणं वाक्यम्** के अनुसार 'व्रजानि देवदत्त !' यह एक वाक्य समझा जाता है तब समानवाक्य में विधीयमान **आमन्त्रितस्य च** (८.१.१९) द्वारा निघातस्वर सिद्ध हो जाता है। अत एव वाक्यपदीय में कहा है—

सम्बोधनपदं यच्च तत्क्रियाया विशेषणम्।
व्रजानि देवदत्तेति निघातोऽत्र तथा सति ॥ (२.५)

सन्नन्ताद् आप्नोतेः **मति-बुद्धिपूजार्थेभ्यश्च** (३.२.१८८) इति वर्त्तमाने क्तः[1]। मतिरिह इच्छा। अतिशयेन ईप्सितम्—ईप्सिततमम्। **अतिशायने तमबिष्ठनौ** (१२१४) इति तमप् प्रत्ययः। **क्तस्य च वर्त्तमाने** (२.३.६७) इत्यनेन 'कर्तुः' इत्यत्र षष्ठी। 'ईप्सिततम' का अर्थ है – जो प्राप्त करने के लिये विशेषरूप से इष्ट है। दूसरे शब्दों में कर्त्ता जिसे प्राप्त करने के लिये विशेष चाहता है उसे ईप्सिततम कहते हैं। किस से ? इस का उत्तर **कारके** अधिकार के कारण सुतरां यही प्राप्त होता है कि 'क्रिया के द्वारा'। **अर्थः**—(कर्तुः) कर्ता का उस की क्रिया के द्वारा (ईप्सिततमम्) पाने के लिये जो अत्यन्त अभीष्ट (कारकम्) कारक होता है वह (कर्म) कर्मसञ्ज्ञक होता है। तात्पर्य यह है कि किसी क्रिया का कर्त्ता उस अपनी क्रिया के द्वारा जिसे पाने के लिये अत्यन्त उत्सुक या लालायित रहता है उस की कर्मसंज्ञा होती है। जैसे कटं करोति (चटाई बनाता है)। यहां कर्त्ता करणक्रिया के द्वारा 'कट' के लिये विशेष उत्सुक रहता है अतः 'कट' की प्रकृतसूत्र से कर्मसञ्ज्ञा हो कर **कर्मणि द्वितीया** (८९१) इस अग्रिमसूत्र से उस में द्वितीया विभक्ति हो जाती है। मातरं पश्यति (माता को देखता है)। इस वाक्य में दर्शनक्रिया के द्वारा कर्त्ता विशेषरूप से माता को प्राप्त करना चाहता है या उसे अपनी दर्शनक्रिया से सम्बद्ध करना चाहता है अतः 'मातृ' शब्द की दर्शनक्रिया के प्रति कर्मसंज्ञा होकर **कर्मणि द्वितीया** (८९१) से उस में द्वितीया विभक्ति हो जाती है। तण्डुलान् पचति (चावलों को पकाता है)। इस वाक्य में पाकक्रिया के द्वारा कर्त्ता तण्डुलों को विशेषरूप से सम्बद्ध करना चाहता या पचन का विषय बनाना चाहता है अतः 'तण्डुल' की पचनक्रिया के प्रति कर्मसंज्ञा हो कर पूर्ववत् द्वितीया विभक्ति हो जाती है।

इस सूत्र में 'कर्तुः' इसलिये कहा है कि कर्त्ता के इष्टतम की ही कर्मसंज्ञा हो किसी अन्य के इष्टतम की नहीं। यथा— माषेष्वश्वं बध्नाति (माष=उड़द के खेत में विचरण करते हुए अश्व को देखकर उसका स्वामी इस भय से कि कहीं मेरा घोड़ा उड़द भक्षण से रोगी न हो जाये उसे अन्यत्र बांधता है)— यहां 'बध्नाति' क्रिया के कर्त्ता को घोड़ा अभीष्टतम है उड़द नहीं अतः अश्व की ही कर्म संज्ञा हो जाती है उड़दों की नहीं। उड़द तो घोड़े को प्रिय हैं जो 'बध्नाति' क्रिया का कर्म है।

सूत्र में 'ईप्सित' न कह कर 'ईप्सिततम' कहा गया है इससे ईप्सितों में भी जो विशेष ईप्सित होगा उस की ही कर्मसंज्ञा होगी ईप्सितमात्र की नहीं। यथा—पयसा ओदनं भुङ्क्ते (दूध से चावल खाता है)। यहां भुज्क्रिया के द्वारा कर्ता पयः और ओदन दोनों को प्राप्त करता है दोनों उसे ईप्सित हैं, परन्तु वह केवल दूध पीने से सन्तुष्ट नहीं होता अपितु दूध मिला कर भात खा कर ही प्रसन्न होता है अतः इन में

---

१ यहां पर वर्त्तमानत्व अविवक्षित है अत एव 'कटं कृतवान्, कटं करिष्यति' इत्यादि स्थलों पर भूत और भविष्यत् काल मे भी ईप्सिततम की कर्मसंज्ञा सिद्ध हो जाती है।

प्रधानता ओदन की है पयः तो ओदन का केवल संस्कारक द्रव्य (उपसेचक) है विशेष ईप्सित तो ओदन ही है उसकी ही कर्मसंज्ञा होती है संस्कारक या सहायक पयः की नहीं। अतः हेतु या करण होने से उसमें तृतीया हो जाती है[1]।

पीछे इस व्याख्या के द्वितीय भाग में भूधातु की व्याख्या करते हुए यह बताया जा चुका है कि प्रत्येक धातु के अर्थ के दो विभाग होते हैं—फल और व्यापार। फल का आश्रय 'कर्म' और व्यापार का आश्रय 'कर्त्ता' हुआ करता है। जिस उद्देश्य की सिद्धि के लिये कोई क्रिया की जाती है वह उद्देश्य उस क्रिया का फल कहाता है। यथा पचनक्रिया (पकाना) तण्डुल आदियों की विक्लित्ति (गलना) के उद्देश्य से की जाती है अतः 'विक्लित्ति' पचनक्रिया का फल है। इसी प्रकार गमनक्रिया ग्राम आदि के संयोग के लिये की जाती है अतः ग्राम आदि का संयोग गमनक्रिया का फल है। फल की सिद्धि के लिये जो जो क्रिया-चेष्टा-हरकत की जाती है उसे व्यापार कहते हैं। यथा पचन में आग जलाने से ले कर बरतन को चूल्हे से नीचे उतारने तक जो जो क्रियाएं की जाती हैं वे सब पच्धातुवाच्य व्यापार है। इसी प्रकार गमन में ग्रामादिसंयोगरूप फल की सिद्धि के लिये जो कदम बढ़ाने आदि की क्रिया की जाती है वह गम्धातुवाच्य व्यापार है।

फल कर्म में और व्यापार कर्ता में रहता है। पचन में विक्लित्ति रूप फल का आश्रय तण्डुल है अतः वह कर्म है; और उस विक्लित्ति के साधक आग जलाना, पात्र ऊपर धरना आदि क्रियारूप व्यापार का आश्रय देवदत्त आदि है अतः वह कर्त्ता है।

जिन धातुओं में फल और व्यापार के आश्रय भिन्न भिन्न हों उन धातुओं को 'सकर्मक' कहते हैं—**फलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वं सकर्मकत्वम्**। यथा पच्धातु का विक्लित्तिरूप फल तण्डुलों में तथा तदनुकूल (उस विक्लित्ति को पैदा करने वाला) व्यापार देवदत्त आदि कर्त्ता में रहता है।

जिन धातुओं में फल और व्यापार का आश्रय एक ही हो उन धातुओं को अकर्मक कहते हैं—**फलसमानाधिकरणव्यापारवाचकत्वम् अकर्मकत्वम्**। यथा शीङ् धातु, इस का फल विश्राम तथा तदनुकूल व्यापार लेटना आदि दोनों एक ही आश्रय देवदत्त आदि में रहते हैं। पुरुषः शेते, बालो हसति, स क्रीडति, अनाथो म्रियते, वर्धते शत्रुगणः—इत्यादि धातुएं अकर्मक हैं इन का कर्म नहीं होता।

अब कर्म में द्वितीया विभक्ति के विधान के लिये अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं—

---

१. यहां यह ध्यातव्य है कि यदि 'ओदन' की तरह 'पयः' भी ईप्सिततम होगा तो—'पय ओदनञ्च भुङ्क्ते' प्रयोग होगा। और यदि 'ओदन से दूध पीता है' इस प्रकार कहना विवक्षित होगा तो 'ओदनेन पयः पिबति' प्रयोग किया जायेगा। तात्पर्य यह है कि **विवक्षातः कारकाणि भवन्ति** के अनुसार वक्ता की जैसी विवक्षा होगी तदनुसार प्रयोग होगा परन्तु इतना निश्चित है कि सर्वत्र ईप्सिततम की ही कर्म-संज्ञा होगी।

[लघु०] विधि-सूत्रम् --(८९१) **कर्मणि द्वितीया ।२।३।२।।**

अनुक्ते कर्मणि द्वितीया स्यात् । हरिं भजति । अभिहिते तु कर्मादौ प्रथमा । हरिः सेव्यते । लक्ष्म्या सेवितः ।।

अर्थः – अनुक्त (किसी से न कहे हुए) कर्म में द्वितीया विभक्ति हो । **अभिहिते तु** – उक्त कर्म आदि में तो प्रथमा होती है ।

व्याख्या --कर्मणि ।७।१। द्वितीया ।१।१। अनभिहिते ।७।१। (यह अधिकृत है)। न अभिहितम् (उक्तम्) --अनभिहितम्, तस्मिन्=अनभिहिते, नञ्तत्पुरुषः । जो किसी से कहा हुआ नहीं उसे 'अनभिहित' कहते हैं । अर्थः — (अनभिहिते) न कहे हुए (कर्मणि) कर्म में (द्वितीया) द्वितीया विभक्ति होती है । तात्पर्य यह है कि ऐसे कर्म में द्वितीया विभक्ति प्रयुक्त होती है जो किसी से अभिहित—उक्त—कहा गया न हो । जब कर्म तिङ्, कृत् आदि से कह दिया जाता है तब उस में द्वितीया न हो कर प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा विभक्ति ही होती है । उदाहरण यथा—हरिं भजति (भक्त हरि को भजता है) । यहां भजनक्रिया के द्वारा भक्त हरि को प्राप्त करना या संतुष्ट करना चाहता है अतः 'हरि' कर्त्ता का ईप्सिततम होने से **कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म** (८९०) द्वारा कर्मसंज्ञक है । हरि का कर्मत्व किसी तिङ्-कृत् आदि से कहा भी नहीं गया । 'भजति' में प्रयुक्त लँट् (तिप्) कर्त्ता अर्थ में हुआ है अतः वह कर्म को नहीं कहता । इस प्रकार अनभिहित या अनुक्त कर्म 'हरि' में प्रकृतसूत्र से द्वितीया विभक्ति हो जाती है—हरिं भजति[1] । इसी प्रकार—**कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम्; नमामि रामं रघुवंशनाथम्; जगतः पितरौ वन्दे पार्वती-परमेश्वरौ** (रघु० १.१); **आपदर्थे धनं रक्षेत्** (हितोप० १.४२); **विद्या ददाति विनयम्** (हितोप० प्र० ६); **अजरामरवत्प्राज्ञो विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत्** (हितोप० प्र० ३); **न हि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति** (सुभाषित)—इत्यादियों में ईप्सिततम अनुक्त कर्म में द्वितीया विभक्ति हो जाती है[2] ।

---

१. भजनक्रिया का फल आराध्य को अपने अनुकूल करना या प्रसन्न करना है तथा व्यापार हस्तपादादिद्वारा वन्दन या स्तुति करना आदि है । यहां फल का आश्रय होने से 'हरि' कर्म एवं व्यापार का आश्रय होने से भक्त कर्त्ता समझना चाहिये ।

२. ध्यान रहे कि विशेष्य-विशेषण का अभेद मान कर विशेष्य में जिस सूत्र से जो विभक्ति की जाती है विशेषण से भी उसी सूत्र द्वारा वही विभक्ति हो जाती है। यथा —कृष्णं वन्दे जगद्गुरुम् (मैं जगद्-गुरु कृष्ण को नमस्कार करता हूं) —यहां वन्दनक्रिया का 'कृष्ण' अनुक्त कर्म है, इस में **कर्मणि द्वितीया** (८९१) से द्वितीया विभक्ति की गई हैं । अतः तदनुसार इस के विशेषण 'जगद्-गुरु' से भी इसी सूत्र से द्वितीया विभक्ति हो जाती है । जैसा कि कहा गया है - -

यल्लिङ्गं यद्वचनं या च विभक्तिर्विशेष्यस्य ।
तल्लिङ्गं तद्वचनं सैव विभक्तिर्विशेषणस्यापि ।।

इस विषय का विशेष विवेचन व्युत्पत्तिवाद (प्रथमाप्रकरण) तथा लघुमञ्जूषा आदि में देखें । शब्दाऽपशब्द-विवेक की भूमिका में भी इसका अच्छा विवेचन देखा जा सकता है ।

(ल० तृ० २०)

यदि कर्म तिङ्, कृत् आदि किसी के द्वारा उक्त (कहा गया) होगा तो उस में प्रकृतसूत्र से द्वितीया नहीं होगी। यथा—लक्ष्म्या हरिः सेव्यते (लक्ष्मी द्वारा हरि सेवन किया जाता है)। यहां सेवनक्रिया की कर्त्ता 'लक्ष्मी' है। कर्त्ता को क्रियाद्वारा ईप्सिततम 'हरि' है अतः **कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म** (८९०) के अनुसार वह कर्म है। परन्तु कर्म होते हुए भी वह तिङ् के द्वारा उक्त है। 'सेव्यते' में लँट् का आदेश तिङ् (ते) कर्म को कह रहा है। इसीलिये कर्मवाची आर्धधातुक 'ते' के परे रहते यक् प्रत्यय हुआ है। उक्त हो जाने से उस में प्रकृतसूत्र से द्वितीया नहीं होती। अब कर्मणि लँट् द्वारा 'हरि' का कर्मत्व तो उक्त है ही शेष उस का प्रातिपदिकार्थमात्र बच रहता है इस में **प्रातिपदिकार्थलिङ्ग०** (८८८) सूत्र से प्रथमा विभक्ति हो जाती है-—(लक्ष्म्या) हरिः सेव्यते।

लक्ष्म्या सेवितो हरिः (लक्ष्मी द्वारा सेवन किया गया हरि)। यहां कर्ता लक्ष्मी का सेवनक्रियाद्वारा ईप्सिततम 'हरि' है अतः वह कर्मसंज्ञक है। परन्तु वह कर्म 'सेवितः' में क्तप्रत्यय के द्वारा उक्त है क्योंकि यहां क्तप्रत्यय **तयोरेव कृत्य-क्त-खलर्थाः** (७७०) के अनुसार कर्म में हुआ है। इस प्रकार उक्त होने के कारण कर्मसंज्ञक होते हुए भी 'हरि' में प्रकृतसूत्र से द्वितीया विभक्ति नहीं होती। पूर्ववत् प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा विभक्ति होकर—'लक्ष्म्या सेवितो हरिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

तिङ् और कृत् की तरह तद्धित या समास के द्वारा भी कर्म उक्त हो जाता है। तब भी उस में द्वितीया न हो कर प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा ही होती है। तद्धितद्वारा कर्म के उक्त हो जाने का उदाहरण—शतेन क्रीतः शत्योऽश्वः (सौ से खरीदा हुआ घोड़ा आदि)। यहां **तेन क्रीतम्** (११४१) के अर्थ में **शताच्च ठन्यतावशते** (५.१.२१) सूत्र से तृतीयान्त शतशब्द से 'क्रीत=खरीदा हुआ' अर्थ में यत् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् (७२१) तथा भसञ्ज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप करने पर—'शत्यः' प्रयोग सिद्ध होता है। यहां 'शत्य' (सौ से खरीदा हुआ) यद्यपि खरीदना-क्रिया का कर्म है तथापि तद्धितप्रत्यय यत् के द्वारा उस का कर्मत्व कह दिया गया है (तद्धित-प्रत्यय 'क्रीत=खरीदा हुआ' अर्थ में हुआ है, यहां 'क्रीत' में क्त कर्म में प्रयुक्त हुआ है) अतः कर्म के उक्त होने के कारण यहां द्वितीया विभक्ति न हो कर प्रातिपदिकार्थ-मात्र में प्रथमा ही हो जाती है। समासद्वारा कर्म के उक्त होने का उदाहरण है—प्राप्त आनन्दो यम् स प्राप्तानन्दो जनः (जिस को आनन्द प्राप्त हो गया है ऐसा मनुष्य)। यहां **अनेकमन्यपदार्थे** (९६५) सूत्र से प्राप्त और आनन्द इन दो सुँबन्तों का अन्यपदार्थ अर्थात् द्वितीया विभक्ति के अर्थ कर्म में बहुव्रीहिसमास किया गया है। इस प्रकार समास द्वारा कर्म के उक्त हो जाने से द्वितीया न हो कर प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा ही होती है—प्राप्तानन्दो जनः। इसी प्रकार 'प्राप्तोदको ग्रामः' में जानें।

तिङ्, कृत्, तद्धित और समास के अतिरिक्त कहीं कहीं पर किसी निपात के द्वारा भी कर्म उक्त हो जाता है। यथा—**विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्** (कुमार० २.५५)। विषवृक्ष को भी स्वयं बढ़ा कर फिर उसे काटना उचित

नहीं होता । न साम्प्रतम् असाम्प्रतम्, न युज्यत इत्यर्थः । यहां 'असाम्प्रतम्' निपात के योग के कारण 'विषवृक्ष' जो वर्धन और छेदन क्रिया का कर्म है, उक्त हो जाता है अतः उस में द्वितीया नहीं होती । इसी प्रकार– **अवैमि चैनामनघेति किन्तु लोकापवादो बलवान् मतो मे** (रघु० १४.४०) । रामचन्द्र जी कह रहे हैं कि मैं यद्यपि सीता को निष्पाप समझता हूं तथापि लोकापवाद मुझे प्रबल प्रतीत होता है । यहां 'इति' निपात के कारण जानना-क्रिया के कर्म 'अनघा' के उक्त हो जाने से उस **में** द्वितीया विभक्ति नहीं होती । **क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः** (माघ १.३) । —इस प्रकार क्रम से जान लिया कि यह नारदजी है । यहां भी 'इति' निपात के कारण बोधनक्रिया के कर्म 'नारद' में द्वितीया विभक्ति नहीं होती[1] ।

अब कर्मसंज्ञा के प्रसंग में सुप्रचलित एक सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—**(८९२) अकथितं च ।१।४।५१॥**

अपादानादिविशेषैरविवक्षितं कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् ।

दुह्याच्-पच्-दण्ड्-रुधि-प्रच्छि-चि-ब्रू-शासु-जि-मथ्-मुषाम् ।
कर्मयुक्[2] स्यादकथितं तथा स्यान्नी-हृ-कृष्-वहाम् ॥१॥

गां दोग्धि पयः । बलिं याचते वसुधाम् । तण्डुलान् ओदनं पचति । गर्गान् शतं दण्डयति । व्रजमवरुणद्धि गाम् । माणवकं पन्थानं पृच्छति । वृक्षमवचिनोति फलानि । माणवकं धर्मं ब्रूते शास्ति वा । शतं जयति देवदत्तम् । सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति । देवदत्तं शतं मुष्णाति । ग्राममजां नयति, हरति, कर्षति, वहति वा । अर्थनिबन्धनेयं सञ्ज्ञा । बलिं भिक्षते वसुधाम् । माणवकं धर्मं भाषते, अभिधत्ते, वक्तीत्यादि ॥

अर्थः—जब किसी कारक की अपादान आदि विशेष संज्ञा न कहनी हो तो उस की भी कर्मसंज्ञा हो जाती है ।

दुह्याच्—(१) दुह् (दोहना), (२) याच् (मांगना), (३) पच् (पकाना), (४) दण्ड् (जुर्माना वसूल करना), (५) रुध् (रोकना), (६) प्रच्छ् (पूछना), (७) चि (चुनना), (८) ब्रू (कहना), (९) शास् (उपदेश देना), (१०) जि (जीतना), (११) मथ् (बिलोकर निकालना), (१२) मुष् (लूटना) —इन बारह धातुओं तथा

---

१. अत एव वामन काव्यालङ्कारसूत्र की स्वोपज्ञवृत्ति में लिखते हैं—**निपातेनाऽप्यभिहिते कर्मणि न कर्मविभक्तिः । परिगणनस्य प्रायिकत्वात्** ।५।२।२२॥ 'अनभिहिते' इत्यत्र सूत्रे 'तिङ्-कृत्-तद्धित-समासैः' इति परिगणनं कृतम् । तस्य प्रायिकत्वाद् निपातेनाप्यभिहिते कर्मणि न कर्मविभक्तिर्भवति । यथा—'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्' इति ।

२. कर्मणा = प्रधानकर्मणा = मुख्यकर्मणा युज्यत इति कर्मयुक्, सत्सूद्विष० (३.२.६१) इति क्विप् । अन्ये तु कर्मशब्देन क्रियामाहुः । कर्मणा = क्रियया यद् युक्तं तत् । क्रियान्वयि इति तेषामाशयः ।

(१) नी (ले जाना), (२) हृ (ले जाना), (३) कृष् (खींचना-ले जाना), (४) वह् (पहुँचाना-ले जाना) इन चार धातुओं अर्थात् कुल सोलह[1] धातुओं के प्रधानकर्म से युक्त = सम्बद्ध कारक की अपादान आदि विशेष संज्ञाओं की विवक्षा न होने पर कर्मसंज्ञा हो जाती है।

अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा—यह कर्मसंज्ञा अर्थ के आश्रित है। (केवल इन धातुओं के स्वरूप के आश्रित नहीं। अतः इन धातुओं के समान अर्थ वाली अन्य धातुओं के योग में भी हो जाती है)।

व्याख्या—अकथितम् ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । कारकम् ।१।१। (**कारके** इस अधिकृत का विभक्तिविपरिणाम हो जाता है)। कर्म ।१।१। (**कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म** से)। कथितम् = अभिहितम् = उक्तम् । न कथितम् = अकथितम् । नञ्तत्पुरुषसमासः। न कहे गये को 'अकथित' कहते हैं। प्रश्न उत्पन्न होता है कि—केन अकथितम्? (किस से न कहा गया?)। इस का उत्तर सुतरां यही प्राप्त होता है कि इस सूत्र से पूर्व **कारके** (१.४.२३) के अधिकार में जो कारक की अपादान, सम्प्रदान, करण और अधिकरण संज्ञाएं की गई हैं उन से अकथित। अर्थः— (कारकम्) जब कोई कारक (अकथितम्) अपादान, सम्प्रदान, करण और अधिकरण के रूप में कहना अभीष्ट न हो तो वह (च) भी (कर्म) कर्मसंज्ञक हो जाता है। तात्पर्य यह है कि जब वक्ता अपादान आदि कारकों को तत्तद्रूप में निर्दिष्ट न कर कारकत्व मात्र की विवक्षा से प्रवृत्त होता है तब कारक सामान्य की भी कर्मसंज्ञा हो जाती है। परन्तु ऐसा सर्वत्र नहीं होता, उपर्युक्त दुह् आदि सोलह धातुओं के योग में या तत्समानार्थक धातुओं के योग में ही होता है। उदाहरण यथा—

दुह्—गोर्दोग्धि पयः (गाय से दूध दोहता है)। यहां 'गो' अपादान तथा पयः ईप्सिततम कर्म है। परन्तु यदि वक्ता 'गो' में अपादानत्व की अविवक्षा से प्रवृत्त हो तो प्रकृतसूत्र से गो की कर्मसंज्ञा हो कर **कर्मणि द्वितीया** (८९१) से द्वितीया हो जायेगी—गां दोग्धि पयः। यहां वक्ता 'गो' को अपादानरूप में कहना नहीं चाहता अपितु उपयुज्यमान 'पयः' के प्रति निमित्त मानता है। इस प्रकार अपादानरूप की अविवक्षा होने पर 'गो' की कर्मसंज्ञा हो जाती है। यहां 'पयः' यह प्रधान कर्म पहले से मौजूद है दूसरा कर्म इस सूत्र से आ गया इस प्रकार दुह् के दो कर्म हो जाने से वह द्विकर्मक हो जाती है। इन दो कर्मों में 'पयः' तो ईप्सिततम होने से **कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म** (८९०) से प्रधानकर्म है ही और यह दूसरा 'गो' अप्रधान या गौण कर्म माना जाता है। दोनों कर्म अनुक्त हैं अतः **कर्मणि द्वितीया** (८९१) से दोनों में द्वितीया-विभक्ति हो जाती है। हिन्दी में 'गां दोग्धि पयः' आदि के अनुवाद के लिये उपयुक्त

---

१. दुह् आदि बारह तथा नी आदि चार इस प्रकार यहां धातुओं के दो विभाग किये गये हैं। इन का यह विभाग **गौणे कर्मणि दुह्यादेः प्रधाने नी-हृ-कृष्वहाम्** इस में सुविधा के लिये किया गया है। यह सब आगे इसी सूत्र की व्याख्या के अन्त में स्पष्ट किया जायेगा।

शब्द नहीं मिलते अतः 'गोर्दोग्धि पयः' तथा 'गां दोग्धि पयः' दोनों का 'गाय से दूध दोहता है' ऐसा अर्थ किया जाता है परन्तु इन दोनों के कहने में वक्ता का अभिप्राय भिन्न भिन्न है।

याच्—बलेर्याचते वसुधाम् (बलि से पृथ्वी को मांगता है)। यहां **ध्रुवमपायेऽपादानम्** (८९९) से अवधिभूत 'बलि' अपादान है अतः **अपादाने पञ्चमी** (९००) से उस में पञ्चमी हो जाती है। परन्तु जब वक्ता 'बलि' को अपादानरूप में न मान कर याच्यमान वसुधा का निमित्त मात्र मानता है तब प्रकृतसूत्र से 'बलि' की कर्मसंज्ञा हो कर पूर्ववत् **कर्मणि द्वितीया** (८९१) से उस में द्वितीया विभक्ति हो जाती है—बलिं याचते वसुधाम्। यहां याच् धातु द्विकर्मक हो गई है। 'वसुधाम्' यह इस का प्रधान कर्म तथा 'बलिम्' अप्रधान या गौण कर्म है। इस वाक्य का हिन्दी में ठीक-ठीक अनुवाद तो नहीं पर 'बलि को पृथ्वी मांगता है' कुछ इस प्रकार का हो सकेगा।

पच्—तण्डुलैरोदनं पचति (चावलों से भात पकाता है)। यहां **साधकतमं करणम्** (८९४) के अनुसार 'तण्डुल' पचनक्रिया के करण हैं अतः **कर्तृकरणयोस्तृतीया** (८९५) से इन में तृतीया विभक्ति आती है। परन्तु जब वक्ता को तण्डुलों का करणत्व कहना अभीष्ट नहीं होता किन्तु कारकत्वमात्र अभीष्ट है तब प्रकृतसूत्र से उन की कर्मसंज्ञा हो कर द्वितीया विभक्ति हो जाती है—तण्डुलान् ओदनं पचति। यहां पच् धातु द्विकर्मक हो जाती है। 'ओदनम्' इस का प्रधानकर्म तथा 'तण्डुल' इस का अप्रधान कर्म होता है। 'चावलों को भात पकाता है' कुछ इस प्रकार से संस्कृतवाक्य का हिन्दी में अभिप्राय व्यक्त किया जा सकेगा।

दण्ड् (जुर्माना वसूल करना)—गर्गेभ्यः शतं दण्डयति (गर्गों से सौ रु० दण्ड प्राप्त करता है)। यहां अवधिभूत होने से 'गर्ग' अपादान हैं अतः इन में **अपादाने पञ्चमी** (९००) से पञ्चमी विभक्ति हो जाती है। परन्तु जब वक्ता को गर्गों का अपादानत्व कहना अभीष्ट नहीं होता किन्तु कारकत्व मात्र अभीष्ट है तब प्रकृतसूत्र से उन की कर्मसंज्ञा हो कर द्वितीया विभक्ति हो जाती है—गर्गान् शतं दण्डयति। यहां दण्ड् धातु द्विकर्मक हो जाती है। 'शतम्' इस का प्रधानकर्म तथा 'गर्गान्' इस का अप्रधान कर्म होता है। 'गर्गों को सौ रु० दण्डित कर वसूल करता है' कुछ इस प्रकार से संस्कृतवाक्य का अभिप्राय हिन्दी में व्यक्त किया जा सकेगा।

रुध्—व्रजे[1] अवरुणद्धि गाम् (गाय को बाड़े=गोष्ठ में रोकता है)। यहां **आधारोऽधिकरणम्** (९०२) से 'व्रज' अधिकरण है अतः **सप्तम्यधिकरणे च** (९०३) सूत्र से उस में सप्तमी विभक्ति हो जाती है। परन्तु वक्ता को जब 'व्रज' का अधिकरणत्व कहना अभीष्ट न हो कर कारकत्व मात्र कहना अभीष्ट होता है तब 'व्रज' की प्रकृतसूत्र से कर्मसंज्ञा हो कर द्वितीया विभक्ति हो जाती है—व्रजमवरुणद्धि गाम्। यहां रुध् धातु द्विकर्मक हो जाती है। 'गो' इस का मुख्य कर्म तथा 'व्रज' इस का अप्रधान या गौणकर्म होता है। हिन्दी वाग्धारा के अनुसार संस्कृतवाक्य का अभिप्राय व्यक्त

१. **व्रजः स्याद् गोकुलं गोष्ठम्** इति वैजयन्ती।

नहीं किया जा सकता ।

प्रच्छ् —माणवकात् पन्थानं पृच्छति (बच्चे से मार्ग पूछता है)। यहां 'माणवक' अपादान है अतः उस में पञ्चमी विभक्ति हुई है[1] । परन्तु जब वक्ता इसे अपादानरूप में प्रस्तुत न कर कारकत्व मात्र कहना चाहता है तब प्रकृतसूत्र से इस की कर्मसंज्ञा हो कर द्वितीया विभक्ति हो जाती है—माणवकं पन्थानं पृच्छति । यहा 'प्रच्छ्' धातु द्विकर्मक हो जाती है । कर्त्ता का ईप्सिततम होने से 'पथिन्' इस का मुख्य कर्म है तथा 'माणवक' इस का अप्रधान या गौणकर्म । हिन्दी में इस संस्कृतवाक्य का 'बच्चे को मार्ग पूछता है' इस प्रकार भाव व्यक्त किया जा सकता है ।

चि—वृक्षाद् अवचिनोति फलानि (वृक्ष से फलों को चुनता या तोड़ता है) । यहां 'वृक्ष' अपादान है अतः इस से पञ्चमी हुई है । परन्तु जब वक्ता वृक्ष को अपादानरूप में प्रस्तुत न कर कारकत्व मात्र कहना चाहता है तब प्रकृतसूत्र से उस की कर्मसंज्ञा हो कर द्वितीया विभक्ति हो जाती है—वृक्षमवचिनोति फलानि । यहां 'चिञ्' धातु द्विकर्मक हो जाती है । 'फल' इस का प्रधानकर्म तथा 'वृक्ष' अप्रधानकर्म है । हिन्दी में संस्कृतवाक्य का भाव प्रकट नहीं किया जा सकता ।

ब्रू, शास्—माणवकाय धर्मं ब्रूते शास्ति वा (बच्चे के लिये धर्म को कहता या सिखाता है) यहां 'माणवक' सम्प्रदान है अतः उस में **चतुर्थी सम्प्रदाने** (८९७) से चतुर्थी विभक्ति हो जाती है। परन्तु जब वक्ता 'माणवक' को सम्प्रदान के रूप में प्रस्तुत न कर कारकत्व मात्र रूप में कहना चाहता है तो प्रकृतसूत्र से उस की कर्मसंज्ञा हो कर द्वितीया विभक्ति हो जाती है—माणवकं धर्मं ब्रूते शास्ति वा । यहां 'ब्रू' और 'शास्' दोनों धातुएं द्विकर्मक हो जाती हैं । इन का प्रधान कर्म 'धर्म' तथा गौण कर्म 'माणवक' है । हिन्दी में संस्कृतवाक्य का अनुवाद होगा—बच्चे को धर्म कहता या सिखाता है ।

जि—शतं जयति देवदत्तात् (देवदत्त से सौ जीतता है) । यहां 'देवदत्त' अपादान है अतः उस में पञ्चमी विभक्ति हुई है। परन्तु जब वक्ता 'देवदत्त' को अपादानरूप में न कह कर कारकत्व मात्र रूप में कहना चाहता है तब इस की प्रकृतसूत्र से कर्मसंज्ञा हो कर द्वितीया विभक्ति हो जाती है—शतं जयति देवदत्तम् । यहां 'जि' धातु द्विकर्मक हो जाती है। इस का प्रधानकर्म 'शत' तथा गौणकर्म 'देवदत्त' है । हिन्दी में संस्कृतवाक्य का टूटा-फूटा अनुवाद 'देवदत्त को सौ जीतता है' इस प्रकार होगा ।

मथ्—सुधां क्षीरनिधेर्मथ्नाति (क्षीरसागर से अमृत मथकर निकालता है) । यहां 'क्षीरनिधि अवधिभूत होने से अपादान है अतः इस में पञ्चमी विभक्ति हुई है ।

---

१. 'माणवकात् मार्गोपदेशं जिघृक्षति' इस प्रकार अर्थ मानकर यहां 'माणवक' को अपादान माना जाता है । परन्तु कुछ लोग इसे अपादान न मानकर करण और सम्प्रदान भी मानते हैं । इस विषय का विवेचन आकरग्रन्थों में देखना चाहिये। बालोपयोगी यहां इतना ही पर्याप्त है।

परन्तु जब वक्ता इसे अपादानरूप में न कह कर कारकत्वमात्र रूप में कहना चाहता है तब इस की प्रकृतसूत्र से कर्मसंज्ञा हो कर द्वितीया विभक्ति हो जाती है—सुधां क्षीर-निधिं मथ्नाति । यहां 'मथ्' धातु द्विकर्मक हो जाती है । इस का प्रधान कर्म 'सुधा' तथा गौणकर्म 'क्षीरनिधि' है । हिन्दी में इस संस्कृतवाक्य का ठीक-ठीक भाव व्यक्त नहीं किया जा सकता ।

मुष्—देवदत्तात् शतं मुष्णाति (देवदत्त से सौ रु० छीनता है) । यहां 'देवदत्त' अपादान है अतः इस में पञ्चमी विभक्ति हुई है । परन्तु जब वक्ता इसे अपादान रूप में प्रस्तुत न कर कारकत्वमात्र रूप में कहना चाहता है तब इस की प्रकृतसूत्र से कर्मसंज्ञा हो कर **कर्मणि द्वितीया** (८९१) से द्वितीया विभक्ति हो जाती है—देवदत्तं शतं मुष्णाति । यहां 'मुष्' धातु द्विकर्मक है इस का प्रधानकर्म 'शत' तथा अप्रधानकर्म 'देवदत्त' है । हिन्दी में इस का टूटा-फूटा अनुवाद इस प्रकार किया जा सकेगा —देवदत्त को सौ लूटता है[1] ।

नी, हृ, कृष्, वह्—ग्रामेऽजां नयति, हरति, कर्षति, वहति वा (गांव में बकरी को ले जाता या पहुंचाता है) । यहां 'ग्राम' अधिकरण है अतः इस में सप्तमी विभक्ति होती है। परन्तु जब वक्ता इसे अधिकरणरूप में प्रस्तुत न कर कारकत्व रूप में कहना चाहता है तो इसकी प्रकृतसूत्र से कर्मसंज्ञा हो कर द्वितीया विभक्ति हो जाती है—ग्राम-मजां हरति नयति कर्षति वहति वा । यहां नी, हृ, कृष् और वह् चारों धातुएं द्वि-कर्मक हो जाती हैं । इन का प्रधानकर्म 'अजा' तथा गौणकर्म 'ग्राम' है । हिन्दी में संस्कृतवाक्य का अनुवाद होगा—बकरी को गांव ले जाता या पहुंचाता है ।

अर्थनिबन्धना इयं सञ्ज्ञा । यह संज्ञा अर्थ को निमित्त मान कर होती है । तात्पर्य यह है कि इस सूत्रद्वारा प्रतिपादित कर्मसंज्ञा केवल दुह् आदि सोलह धातुओं के योग में ही नहीं होती बल्कि दुह् आदि के समानार्थक अन्य धातुओं के योग में भी हो जाती है । यथा दुह् आदियों में 'याच्' धातु का उल्लेख आया है । परन्तु यह संज्ञा याच् धातु के समान अर्थ वाली 'भिक्ष्' धातु के योग में भी हो जाती है—बलिं भिक्षते वसुधाम् (बलि को पृथ्वी मांगता है) । यहां अपादान की अविवक्षा में 'बलि' की प्रकृतसूत्र से कर्मसंज्ञा हो कर द्वितीया हो जाती है । यहां भिक्ष् धातु द्विकर्मक हो गई है । इस का प्रधानकर्म 'वसुधा' तथा अप्रधानकर्म 'बलि' है । इसी प्रकार—दुह् आदियों में 'ब्रू' का उल्लेख आया है परन्तु 'भाष्, वच्, अभि+धा' आदि तत्समानार्थक धातुओं के योग में भी प्रकृतसूत्र से कर्मसंज्ञा हो जाती है । यथा—माणवकं धर्मं भाषते अभि-धत्ते वक्ति वा (बच्चे के लिये धर्म कहता है) । यहां भाष्, वच् और अभि+धा धातुएं द्विकर्मक हो गई हैं । इन का प्रधानकर्म 'धर्म' तथा गौणकर्म 'माणवक' है । इसी तरह—

१. 'मुष्' धातु का छीनना या लूटना अर्थ भी होता है । यथा—**मा न आयुः प्रमोषीः** (ऋ० १.२४.११; हमारी आयु न छीनिये); **हा प्रमुषिताः स्मः** (हाय हम लुट गये) । (व्या० च०)

(१) **स्वस्त्यस्तु ते निर्गलिताम्बुगर्भं शरद्घनं नार्दति चातकोऽपि ।** (रघु० ५.१७)
[तेरा कल्याण हो, जलरहित शरत्कालीन बादल से चातक भी (जल) नहीं मांगा करता] । यहां याच् की समानार्थक 'अर्द्' धातु के योग में अपादानत्वेन अविवक्षित 'शरद्घन' की कर्मसंज्ञा हो कर द्वितीया हो जाती है । ध्यान रहे कि यहां प्रधान कर्म 'अम्बु' है जो अध्याहार-लभ्य है ।

(२) **तोयदादितरं नैव चातको वनुते जलम् ।** (सुभाषित)
[चातक बादल से अतिरिक्त किसी अन्य से जल नहीं मांगता] । यहां याच् की समानार्थक 'वन्' (वनुँ याचने, तना० आ०) धातु के योग में अपादान रूप से अविवक्षित तोयदादितर' की कर्मसंज्ञा हो कर द्वितीया हो जाती है । यहां मुख्य कर्म 'जल' है ।

(३) **सन्तुष्टमिष्टानि तमिष्टदेवं नाथन्ति के नाम न लोकनाथम् ।** (नैषध० ३.२५)
अर्थात् ऐसे कौन लोग हैं जो सदा सन्तुष्ट रहने वाले पृथ्वीपति नल से अपनी इष्ट वस्तु की याचना न करते हों ? । यहां भी याच् की समानार्थक 'नाथ्' (नाथृँ याच्ञादिषु, भ्वा० प०) धातु के योग में अपादानरूप से अविवक्षित 'लोकनाथ' की कर्मसंज्ञा हो कर द्वितीया हो जाती है । यहां मुख्य कर्म 'इष्टानि' है ।

(४) **अथ जिज्ञाससे मां त्वं भरतस्य प्रियाप्रिये ।** (रामा० २.१२.१६)
[यदि तू भरत का प्रिय और अप्रिय मुझ से जानना चाहती हो] । यहां प्रच्छ् की समानार्थक 'जिज्ञास' धातु के योग में अपादान रूप से अविवक्षित 'अस्मद्' की कर्मसंज्ञा हो कर द्वितीया हो जाती है । यहां मुख्य कर्म 'प्रियाप्रिये' है ।

(५) **शिलोच्चयोऽपि क्षितिपालमुच्चैः प्रीत्या तमेवार्थमभाषतेव ।** (रघु० २.५१)
[ऐसा मालूम पड़ता था कि मानो पर्वत भी राजा से वही बात प्रेम से कह रहा हो] । यहां 'ब्रू' की समानार्थक 'भाष्' धातु के योग में सम्प्र-दानरूप से अविवक्षित 'क्षितिपाल' की कर्मसंज्ञा हो कर द्वितीया हो जाती है । यहा मुख्य कर्म 'अर्थ' है[1] ।

दुह् आदि धातुएं द्विकर्मक हैं, तिङ् के कर्मवाचक होने पर अर्थात् कर्म के वाच्य होने पर इन के किस कर्म में लकार किया जाये ? यह प्रश्न उत्पन्न होता है । इस का निर्णय महाभाष्य में इस प्रकार किया गया है -

---

१. **अर्थनिबन्धनेयं सञ्ज्ञा** तथा दुह् आदि के परिगणन पर विस्तृत ऐतिहासिक विवे-चन **न्यास-पर्यालोचन** नामक हमारे शोध-प्रबन्ध (२.५) में देखें । यह ग्रन्थ अभी हाल में **भैमीप्रकाशन, ५३७ लाजपतरायमार्केट, दिल्ली** से प्रकाशित हुआ है ।

गौणे कर्मणि दुह्यादेः, प्रधाने नी-हृ-कृष्-वहाम् ।

अर्थात् दुह् आदि धातुओं के गौण कर्म में तथा नी, हृ, कृष् और वह् धातुओं के प्रधान कर्म में लकार हुआ करते हैं । जिस कर्म में लकार होगा वह कर्म उक्त हो जायेगा तब उस में प्रथमा विभक्ति आयेगी । दूसरा कर्म अनुक्त होने से यथापूर्व रहेगा । उदाहरण यथा —

कर्तृवाच्य	कर्मवाच्य
	अप्रधाने कर्मणि —
(१) [सः] **गां** दोग्धि पयः ।	(१) [तेन] **गौर्**दुह्यते पयः ।
(२) [सः] **बलिं** याचते वसुधाम् ।	(२) [तेन] **बलिर्**याच्यते वसुधाम् ।
(३) [सः] **तण्डुलान्**ओदनं पचति ।	(३) [तेन] **तण्डुला** ओदनं पच्यन्ते ।
(४) [राजा] **गर्गान्** शतं दण्डयति ।	(४) [राज्ञा] **गर्गाः** शतं दण्डचन्ते ।
(५) [गोपः] **व्रजम्**अवरुणद्धि गाम् ।	(५) [गोपेन] **व्रजो**ऽवरुध्यते गाम् ।
(६) [सः] **माणवकं** पन्थानं पृच्छति ।	(६) [तेन] **माणवकः** पन्थानं पृच्छ्यते ।
(७) [बटुः] **वृक्षम्**अवचिनोति फलानि ।	(७) [बटुना] **वृक्षो**ऽवचीयते फलानि ।
(८) [गुरुः] **माणवकं** धर्मं ब्रूते ।	(८) [गुरुणा] माणवको धर्ममुच्यते ।
(९) [गुरुः] **माणवकं** धर्मं शास्ति ।	(९) [गुरुणा] **माणवको** धर्मं शिष्यते ।
(१०) [सः] शतं जयति **देवदत्तम्** ।	(१०) [तेन] शतं जीयते **देवदत्तः** ।
(११) [सः] सुधां **क्षीरनिधिं** मथ्नाति ।	(११) [तेन] सुधां **क्षीरनिधिर्**मथ्यते[1] ।
(१२) [चौरः] **देवदत्तं** शतं मुष्णाति ।	(१२) [चौरेण] **देवदत्तः** शतं मुष्यते ।
	प्रधाने कर्मणि —
(१३) [सः] ग्रामम**जां** नयति ।	(१३) [तेन] ग्रामम् **अजा** नीयते ।
(१४) [सः] ग्रामम**जां** हरति ।	(१४) [तेन] ग्रामम् **अजा** ह्रियते ।
(१५) [सः] ग्रामम**जां** कर्षति ।	(१५) [तेन] ग्रामम् **अजा** कृष्यते ।
(१६) [सः] ग्रामम् **अजां** वहति ।	(१६) [तेन] ग्रामम् **अजा** उह्यते ।

१. 'सुधां क्षीरनिधिं मथ्नाति' — यहां पर महामहोपाध्याय गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी, महामहोपाध्याय परमेश्वरानन्दशास्त्री, श्रीबालकृष्णशर्मपञ्चोली, श्रीधरानन्द शास्त्री आदि अनेक विद्वान् भ्रान्त हैं । वे 'सुधा' को अप्रधानकर्म तथा 'क्षीरनिधि' को प्रधानकर्म लिखते हैं । उन का कथन है कि 'सुधायै' इस प्रकार सम्प्रदान की अविवक्षा में यहां प्रकृतसूत्र से कर्मसंज्ञा हुई है । परन्तु यदि ऐसा मानने लगें तो कर्मवाच्य में **गौणे कर्मणि दुह्यादेः, प्रधाने नीहृकृष्वहाम्** के अनुसार गौणकर्म 'सुधा' में लकार प्रसक्त होगा जो सकल संस्कृतसाहित्य के विपरीत है । कविलोग यहां 'सुधा' को गौणकर्म न मानकर 'क्षीरनिधि' को ही गौणकर्म मानते हुए उस में ही लकार का प्रयोग करते हैं । जैसाकि भारवि का प्रयोग है— **देवासुरैरमृतमम्बुनिधिर्मथे** (किरात० ५.३०) । अत एव दीक्षित ने यहां प्रौढमनोरमा में स्पष्ट लिखा है— **अत्रामृतं मुख्यम् उद्देश्यत्वात् । अम्बुनिधिस्तु गौणः** ।

अब तृतीया विभक्ति का प्रकरण प्रारम्भ होता है। तृतीया विभक्ति मुख्यतया कर्त्ता और करण कारकों में ही होती है। अतः सर्वप्रथम कर्त्ता और करण संज्ञा बतलाने के लिये अग्रिम दो सूत्रों का अवतरण करते है—

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—(८९३) स्वतन्त्रः कर्त्ता।१।४।५४।।[1]

क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्त्ता स्यात् ॥

अर्थः—क्रिया की सिद्धि में स्वतन्त्रतया = मुख्यतया विवक्षित (कहा जाने वाला) कारक कर्तृसंज्ञक हो।

व्याख्या—स्वतन्त्रः।१।१। कर्त्ता।१।१। पीछे अष्टाध्यायी में कारके का अधिकार चलाया जा चुका है। **क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्**—क्रिया के जनक को कारक कहते हैं। इस प्रकार 'क्रियायाम्' पद उपलब्ध हो जाता है। **विवक्षातः कारकाणि भवन्ति**—कारक वक्ता की इच्छा के अधीन हुआ करते हैं, इस से 'विवक्षितोऽर्थः' उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(क्रियायाम्) क्रिया की सिद्धि में (स्वतन्त्रः) स्वतन्त्ररूपेण (विवक्षितोऽर्थः) कहा जाने वाला कारक (कर्त्ता) कर्तृसंज्ञक होता है।

क्रिया की सिद्धि (निष्पत्ति) में जो जो साधक = जनक = निमित्त होते हैं उन को कारक कहते हैं। कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण आदि क्रिया के साधक होने से कारक कहाते हैं; परन्तु इन सब कारकों (क्रियानिष्पादकों) में जो कारक स्वतन्त्रतया-मुख्यतया-प्रधानतया-अगौणतया विवक्षित (वक्ता को अभीष्ट) होता है उस की प्रकृतसूत्र से कर्तृसंज्ञा की जाती है। तात्पर्य यह है कि जैसे अन्य कारक कर्त्ता से प्रेरित हो कर क्रिया का निष्पादन करते हैं वैसे कर्त्ता अन्य कारकों से प्रेरित हो कर क्रिया का निष्पादन नहीं करता अपितु स्वतन्त्रतया क्रिया का जनक होता है। कर्त्ता के स्वातन्त्र्य पर भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में अत्यन्त सुन्दर कहा है—

प्रागन्यतः शक्तिलाभान्न्यग्भावापादनादपि।
तदधीनप्रवृत्तित्वात् प्रवृत्तानां निवर्त्तनात् ॥ (३.७.१०१)
अदृष्टत्वात् प्रतिनिधेः प्रविवेकेऽपि दर्शनात्।
आरादप्युपकारित्वात् स्वातन्त्र्यं कर्त्तुरिष्यते ॥ (३.७.१०२)

अर्थात् अन्य कारक तो कर्त्ता से युक्त हो कर क्रिया की सिद्धि में करण आदि शक्ति को प्राप्त करते हैं परन्तु कर्त्ता पहले ही उन की अपेक्षा किये बिना स्वतन्त्ररूपेण क्रिया का जनक होता है। अन्य कारकों की प्रवृत्ति वा निवृत्ति कर्त्ता के अधीन होती है परन्तु कर्त्ता स्वतन्त्र होता है। अन्य कारकों का प्रतिनिधि हो सकता है किन्तु कर्त्ता का नहीं। अन्य कारकों के न होने पर कर्त्ता की प्रवृत्ति देखी जाती है (यथा—देवदत्त आस्ते, देवदत्तः शेते आदि) परन्तु कर्त्ता के अभाव में करण आदि की नहीं। इन सब कारणों से कर्त्ता को 'स्वतन्त्र' कहा जाता है।

---

१. यह सूत्र ण्यन्त प्रक्रिया (६९८) में पहले भी आ चुका है परन्तु आवश्यक होने से इसे यहां पुनः निर्दिष्ट किया जा रहा है। हम ने भी अत एव इस की पुनः यहां व्याख्या प्रकाशित की है।

विवक्षातः कारकाणि भवन्ति अर्थात् कारक वक्ता की इच्छा के अधीन होते हैं। अतः पचनक्रिया में जब देवदत्त की स्वतन्त्रता या प्रधानता विवक्षित होगी तो 'देवदत्तः पचति' में देवदत्त की, स्थाली की स्वतन्त्रता विवक्षित होगी तो 'स्थाली पचति' में स्थाली की कर्तृसंज्ञा हो जायेगी। इसी प्रकार काष्ठ आदियों की प्रधानता विवक्षित होने पर 'काष्ठानि पचन्ति, अग्निः पचति' आदि में काष्ठ आदियों की कर्तृसंज्ञा हो जाती है।

अन्य वैयाकरण क्रिया में स्वतन्त्रता का अभिप्राय धातु के अर्थ फलानुकूल व्यापार का आश्रय होना मानते हैं। धात्वर्थ व्यापार अनेक व्यापारों का समूह होता है। वक्ता को जिस व्यापार की प्रधानता कहनी अभीष्ट होती है उस व्यापार के आश्रय की कर्तृसंज्ञा हो जाती है। जैसाकि भर्तृहरि ने कहा है—**धातूपात्तक्रिये नित्यं कारके कर्तृतेष्यते**। देवदत्तः पचति, स्थाली पचति, काष्ठानि पचन्ति, अग्निः पचति—आदि में तत्तद्व्यापार के भेद से ही कर्तृसंज्ञा का भेद हुआ है।

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—(८९४) साधकतमं करणम् ।१।४।४२।।

क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं करणसंज्ञं स्यात् ।।

अर्थः—क्रिया की सिद्धि में अत्यन्त उपकारक कारक करणसंज्ञक हो।

व्याख्या—साधकतमम् ।१।१। करणम् ।१।१। कारकम् ।१।१। (कारके इस अधिकृत का विभक्तिविपरिणाम हो जाता है)। साध्नोतीति साधकम्, कर्त्तरि ण्वुल्[1]। कारके अधिकार के कारण 'क्रियासिद्धि' का अध्याहार किया जाता है। अतिशयेन साधकम्—साधकतमम्, **अतिशायने तमबिष्ठनौ** (१२१४) इति तमप्। इस प्रकार 'साधकतमम्' का अर्थ हुआ—क्रिया की सिद्धि में अत्यन्त उपकारक। अर्थः—(साधकतमम्) क्रिया की सिद्धि में जो अत्यन्त उपकारक हो ऐसा (कारकम्) कारक (करणम्) करणसंज्ञक होता है। तात्पर्य यह है कि वैसे तो सभी कारक क्रिया की सिद्धि में अपनी अपनी जगह उपकारक होते हैं परन्तु जो कारक सब से अधिक उपकारक हो उस को करणसंज्ञा होती है। परन्तु कैसे पता चले कि यह कारक क्रिया की सिद्धि में सब से अधिक उपकारक है? इस की पहचान क्या है? इस का उत्तर यह है कि जिस कारक के व्यापार के तुरन्त बाद क्रिया की सिद्धि हो जाती है उसे प्रकृष्ट या सब से अधिक उपकारक मानना चाहिये। यथा—रामेण बाणेन हतो बाली (राम से बाण द्वारा बाली मारा गया)। यहां बाण के व्यापार—बाली के शरीर में प्रवेश के तत्काल बाद हननक्रिया का फल सिद्ध हो जाता है अतः यहां हननक्रिया की सिद्धि (निष्पत्ति) में अत्यन्त उपकारक होने से 'बाण' करण है। असिना छिनत्ति (तलवार से काटता है)। यहां तलवार के व्यापार के तुरन्त बाद छेदनक्रिया का फल (कट जाना, टुकड़े

---

१. अनेकैर्व्याख्यातृभिरत्र 'साध्नोत्यनेनेति साधकम्, बाहुलकात्करणे ण्वुल्' इत्येवं व्याख्यातम्। परं नास्ति कापि आवश्यकतेदृशे कल्पने। करणे प्रत्ययकल्पना तु प्रकृष्टोपकारकमिति व्याख्यानेनापि विरुध्यते।

टुकड़े हो जाना) सिद्ध हो जाता है अतः छेदनक्रिया की सिद्धि में प्रकृष्ट उपकारक होने से 'असि' करण है। जैसाकि कहा गया है—

क्रियायाः फलनिष्पत्तिर्यद्व्यापारादनन्तरम् ।
विवक्ष्यते यदा तत्र करणं तत्तदा स्मृतम् ॥ (वाक्यपदीय ३.७.९०)

अर्थात् जिस के व्यापार के अनन्तर क्रिया की फलसिद्धि जब जहां विवक्षित होती है तब वहां उसे करण माना जाता है।

यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि करणसंज्ञा भी विवक्षाधीन होती है। जब वक्ता किसी को करणरूप में प्रस्तुत करना चाहता है तो वह करण बन जाता है। यथा लोक में पचनक्रिया की सिद्धि में स्थाली आधार होने से अधिकरण मानी जाती है परन्तु जब वक्ता उसे प्रकृष्टोपकारक के रूप में कहना चाहता है तो वह करण बन जाती है—स्थाल्या पचति। अत एव भर्तृहरि कहते हैं—

वस्तुतस्तदनिर्देश्यं न हि वस्तु व्यवस्थितम् ।
स्थाल्या पच्यत इत्येषा विवक्षा दृश्यते यतः ॥ (वाक्यपदीय ३.७.९१)

अर्थात् जैसे घटत्व आदि प्रतिघट में निश्चितरूप से रहते हैं वैसे करणत्व किसी एक वस्तु में व्यवस्थितरूप से नहीं रहता। यह वक्ता की विवक्षा के अधीन होता है वह जिसे चाहता है करणरूप में कह देता है। यथा—स्थाल्या पच्यते। यहां आधार को भी करण माना गया है। इसी प्रकार—चक्षुः पश्यति, चक्षुषा पश्यति; दात्रं लुनाति, दात्रेण लुनाति; अग्निः पचति, अग्निना पचति; काष्ठानि पचन्ति, काष्ठैः पचति आदि के विषय में जानना चाहिये।

अब अनुक्त कर्ता और करण में तृतीयाविभक्ति के विधान के लिए अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८९५) कर्तृकरणयोस्तृतीया ।२।३।१८॥

अनभिहिते कर्तरि करणे च तृतीया स्यात्। रामेण बाणेन हतो बाली।

अर्थः—अनभिहित (अनुक्त) कर्त्ता और करण में तृतीया विभक्ति हो।

व्याख्या—कर्तृ-करणयोः ।७।२। तृतीया ।१।१। अनभिहितयोः ।७।२। (**अनभिहिते** इस अधिकार का वचनविपरिणाम हो जाता है)। कर्त्ता च करणं च कर्तृकरणे, तयोः=कर्तृकरणयोः, इतरेतरद्वन्द्वसमासः। अर्थः—(अनभिहितयोः) अनुक्त (कर्तृ-करणयोः) कर्त्ता और करण में (तृतीया) तृतीया विभक्ति हो जाती है। उदाहरण यथा—

रामेण बाणेन हतो बाली (राम से बाणद्वारा बाली मारा गया)। यहां हनन क्रिया में स्वतन्त्रतया विवक्षित होने से **स्वतन्त्रः कर्ता** (८९३) द्वारा 'राम' कर्त्ता है। इसी प्रकार हननक्रिया में प्रकृष्टोपकारक होने से **साधकतमं करणम्** (८९४) से 'बाण' करण है। कर्त्ता और करण यहां दोनों अनभिहित या अनुक्त हैं अर्थात् किसी

से कहे नहीं गये। तथाहि—'हतः' में क्तप्रत्यय **तयोरेव कृत्य-क्त-खलर्थाः** (७७०) के अनुसार कर्म में आया है अतः कर्म (बाली) उक्त है कर्त्ता और करण दोनों अनुक्त। इन अनुक्तों में प्रकृत **कर्तृकरणयोस्तृतीया** (८९५) सूत्र से तृतीया विभक्ति हो जाती है—**रामेण बाणेन हतो बाली**।

जब कर्त्ता और करण उक्त होंगे तो उन में तृतीया न हो कर प्रातिपदिकार्थ-मात्र में प्रथमा विभक्ति ही आयेगी। यथा—रामो रावणं हन्ति; **जघान कंसं किल वासुदेवः; वितरति नृपो नोचितमहो; सिंहो व्याकरणस्य कर्तुरहरत् प्राणान् प्रियान् पाणिनेः, वत्सः क्षीरक्षयं दृष्ट्वा परित्यजति मातरम्; न गङ्गदत्तः पुनरेति कूपम्** इत्यादियों में उक्त कर्त्ता में प्रथमा हुई है। स्नात्यनेनेति स्नानीयं चूर्णम्, खनत्यनेनेति खनित्रम्, दृश्यतेऽनेनेति दर्शनं चक्षुः—इत्यादियों में करण कृत्प्रत्यय द्वारा उक्त है अतः उस में प्रथमा हुई है। इसी प्रकार ऊढो रथो येन सः=ऊढरथोऽनड्वान्—यहां बहुव्रीहिसमासद्वारा करण के उक्त होने से प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा हो जाती है।

अनभिहित कर्त्ता में तृतीया के साहित्यगत कुछ उदाहरण यथा—

(१) **यथाऽऽमिषं जले मत्स्यैर्भक्ष्यते श्वापदैर्भुवि।**
आकाशे पक्षिभिश्चैव तथा सर्वत्र वित्तवान्॥ (पञ्च० २.१२२)

(२) **सुसञ्चितैर्जीवनवत्सुरक्षितैर्निजेऽपि देहे न नियोजितैः क्वचित्।**
पुंसो यमान्तं व्रजतोऽपि निष्ठुरैरेतैर्धनैः पञ्चपदी न दीयते॥
(पञ्च० २.१२१)

(३) **बध्यन्ते निपुणैरगाधसलिलान्मत्स्याः समुद्रादपि।** (हितोप० १.५२)

(४) **उदीरितोऽर्थः पशुनाऽपि गृह्यते।** (हितोप० २.४६)

(५) **विधुरपि विधियोगाद् ग्रस्यते राहुणाऽसौ।** (हितोप० १.२१)

(६) **नियतिः केन लङ्घ्यते।** (व्या० च०)

(७) **मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।** (गीता ११.३३)

(८) **अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।** (मनु० ७.५५)

अनभिहित करण में तृतीया के साहित्यगत कुछ उदाहरण यथा—

(१) **न वारिणा शुध्यति चान्तरात्मा।** (हितोप० ४.८७)

(२) **न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम्।** (कठोप० ६.९)

(३) **यथा खनन् खनित्रेण नरो वार्यधिगच्छति।**
तथा गुरुगतां विद्यां शुश्रूषुरधिगच्छति॥ (मनु० २.२१८)

(४) **येन धौता गिरः पुंसां विमलैः शब्दवारिभिः।**
तमश्चाऽज्ञानजं भिन्नं तस्मै पाणिनये नमः॥ (पाणिनीयशिक्षा ५८)

(५) **शस्त्रैर्हता न हि हता रिपवो भवन्ति प्रज्ञाहतास्तु रिपवः सुहता भवन्ति।**
शस्त्रं निहन्ति पुरुषस्य शरीरमेकं प्रज्ञा कुलं च विभवं च यशश्च हन्ति॥
(पञ्च० ३.२४१)

(६) **वयांसि किं न कुर्वन्ति चञ्च्वा स्वोदरपूरणम्।** (पञ्च० १.२३)

(७) **शस्त्रेण रक्ष्यं यदशक्यरक्षं न तद्यशः शस्त्रभृतां क्षिणोति ।**
(रघु० २.४०)

(८) **अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।**
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ॥ (मनु० ५.१०९)

(९) **नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुधा श्रुतेन ।** (कठो० २.२३)

अब चतुर्थी विभक्ति के अवतरणार्थ सम्प्रदानसंज्ञा का विधान करते हैं —

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम् — (८९६) कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् ।१।४।३२॥

दानस्य कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानसंज्ञः स्यात् ॥

अर्थः—दानक्रिया के कर्म के साथ कर्त्ता जिसे सम्बद्ध या युक्त करना चाहता है उसकी सम्प्रदान संज्ञा हो ।

व्याख्या—कर्मणा ।३।१। (करणे तृतीयाऽत्र बोध्या) । यम् ।२।१। अभिप्रैति —इतिक्रियापदम् (अभि+प्र+इण् गतौ, लँट् प्रथमपुरुषैकवचनान्तम्) । सः ।१।१। सम्प्रदानम् ।१।१। कारकम् ।१।१। (**कारके** इस अधिकृत का विभक्तिविपरिणाम हो जाता है) । कर्मणा=कर्म के द्वारा, किस क्रिया के कर्म के द्वारा ? यह यहां प्रश्न उत्पन्न होता है । इस का समाधान यह है कि यहां आचार्य ने घु, टि आदि के समान कोई छोटी संज्ञा न कर 'सम्प्रदान' यह जो बड़ी संज्ञा की है इस से वे इस संज्ञा को अन्वर्थ=सार्थक सिद्ध करना चाहते हैं—सम् सम्यक् दीयते प्रकर्षेण अस्मै इति सम्प्रदानम्, अर्थात् जिसे कुछ दिया जाये और वापस न लिया जाये वह सम्प्रदान होता है । उपसर्गद्वय के योग से इस विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है । इस प्रकार यहां 'दानक्रिया के कर्म के द्वारा' ऐसा उपलब्ध हो जाता है । 'अभिप्रैति' में लँट् लकार कर्त्ता में हुआ है अतः 'कर्त्ता' पद भी यहां उपस्थित हो जाता है । अर्थः— (कर्त्ता) कर्त्ता (कर्मणा) दानक्रिया के कर्म के साथ (यम्) जिस की (अभिप्रैति) ओर विशेष रूप से जाता है अर्थात् जिसे दान का उद्देश्य बनाना चाहता है (सः) वह कारक (सम्प्रदानम्) सम्प्रदानसंज्ञक होता है। तात्पर्य यह है कि देने वाला वापस न लेने की दृष्टि से जिसे कुछ देना चाहता है वह यहां 'सम्प्रदान' कहाता है । यथा— विप्राय गां ददाति (वह ब्राह्मण को गौ देता हैं) । यहां कर्त्ता दानक्रिया के कर्म (गो) से विप्र को सम्बद्ध करना चाहता है अतः 'विप्र' यहां सम्प्रदान है । सम्प्रदानसंज्ञा हो जाने से अग्रिमसूत्र **चतुर्थी सम्प्रदाने** (८९७) से इस में चतुर्थी विभक्ति हो जाती है । दान (देना) अर्थ वाली अन्य धातुओं के विषय में भी यही समझना चाहिये । यथा—वितरति पारितोषिकं छात्राय (छात्र को इनाम देता है); **अहं दाशुषे विभजामि भोजनम्** (ऋ० १०.४८.१; मैं हविर्दाता को भोजन देता हूं); गुरुर्योग्याय शिष्याय विद्यां प्रतिपादयति (गुरु योग्य शिष्य को विद्या देता है) आदि ।

धोबी या कपड़ा रंगने वाले को कपड़े धोने या रंगने के लिये दिये जाते हैं

और उन्हें देने वाला वापस लेता है अतः धोबी या रजक सम्प्रदान नहीं होता क्योंकि सम्प्रदान तो तब होता है जब दी हुई वस्तु वापस न ली जाये या प्रदत्त वस्तु पर अपना स्वत्व हटा कर दूसरे (लेने वाला) का स्वत्व स्वीकार किया जाये। सम्प्रदानाभाव में रजक में चतुर्थी न होकर सम्बन्धविवक्षा में **षष्ठी शेषे** (६०१) से षष्ठी हो जाती है —रजकस्य वस्त्राणि ददाति[1]।

अब सम्प्रदान में चतुर्थी का विधान करते हैं-—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(८९७) चतुर्थी सम्प्रदाने ।२।३।१३।।**

विप्राय गां ददाति ।।

अर्थः—अनभिहित (अनुक्त) सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति हो।

व्याख्या—चतुर्थी ।१।१। सम्प्रदाने ।७।१। अनभिहिते ।७।१। (यह अधिकृत हैं)। अर्थः—(अनभिहिते) अनुक्त (सम्प्रदाने) सम्प्रदाने में (चतुर्थी) चतुर्थी विभक्ति होती है। उदाहरण यथा—विप्राय गां ददाति (ब्राह्मण को गौ देता है)। यहां दानक्रिया का कर्म 'गो' है। इस कर्म के द्वारा कर्त्ता 'विप्र' को उद्देश्यत्वेन सम्बद्ध करना चाहता है अतः 'विप्र' की **कर्मणा यमभिप्रैति०** (८९६) से सम्प्रदानसंज्ञा होकर प्रकृतसूत्र से उस में चतुर्थी विभक्ति हो जाती है[2]। ध्यान रहे कि यहां 'ददाति' में लँट् कर्त्ता अर्थ में लाया गया है अतः कर्त्ता उक्त है और सम्प्रदान (विप्र) अनुक्त।

---

१. यह मत वृत्तिकारों का है जो 'सम्प्रदान' को अन्वर्थ मानकर इस प्रकार का व्याख्यान करते हैं। भाष्यकार इस से सहमत प्रतीत नहीं होते। अत एव भाष्यकार का प्रयोग है-—खण्डिकोपाध्यायः शिष्याय चपेटां ददाति (महाभाष्य १.१.१; बालाध्यापक शिष्य को थप्पड़ मारता है)। यहां देने की कोई बात ही नहीं है। अतः भाष्यानुसार 'रजकाय वस्त्रं ददाति' प्रयोग भी बन सकता है। 'रजकस्य वस्त्र ददाति' में शेष की विवक्षा में **षष्ठी शेषे** (६०१) से षष्ठी विभक्ति हुई है। किसी भी धातु के कर्ममात्र से अभिप्रेयमाण की सम्प्रदानसंज्ञा होने से—गुरवे पत्रं लिखति, देवदत्ताय कूपाज्जलमानयति आदि प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। 'ग्रामम् अजां नयति' इत्यादियों में 'ग्राम' की सम्प्रदानसंज्ञा इसलिये नहीं होती कि सूत्र में 'यम् अभिप्रैति' कहा है। यहां वक्ता का अभिप्राय यह नहीं कि वह ग्राम को अजा के साथ सम्बद्ध कहना चाहता है। दूसरे शब्दों में यहां 'ग्राम' का शेषित्व = उद्देश्यत्व प्रतीत कराना अभीष्ट न होने से सम्प्रदानसंज्ञा नहीं होती। इस विषय का विस्तार प्रौढमनोरमा आदि में देखना चाहिये।

२. दानार्थक धातुओं के प्रयोग में कहीं कहीं सम्प्रदान के बजाय अधिकरण की विवक्षा में सप्तमी का भी प्रयोग देखा जाता है। यथा—**वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्यां यथैव तथा जडे** (उत्तर० २.४); **दरिद्रान् भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम्** (हितोप० १.१५); **अर्थिजने च किमिव नाऽतिसृजन्ति महान्तः** (महापुरुष याचकों को क्या नहीं दे देते)। (देखें व्या० च० कारक प्रकरण)

सम्प्रदान यदि उक्त होगा तो उसमें चतुर्थी न हो कर **प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरि-माणवचनमात्रे प्रथमा** (८८८) से प्रथमा विभक्ति ही होगी। यथा—दीयतेऽस्मै इति दानीयो विप्रः। यहां **कृत्यल्युटो बहुलम्** (७७२) में 'बहुलम्' ग्रहण के कारण 'दा' धातु से सम्प्रदान कारक में अनीयर् प्रत्यय किया गया है। इस प्रकार कृत् (अनीयर्) द्वारा उक्त होने से सम्प्रदान में चतुर्थी नहीं होती। इसी तरह—उपहृतः पशुर्यस्मै स उपहृतपशू रुद्रः। दत्तं भोजनं यस्मै स दत्तभोजनः सेवकः। इन में समासद्वारा सम्प्रदान के उक्त होने से चतुर्थी नहीं होती।

क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम्। यह वार्त्तिक है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि कर्त्ता कर्म के साथ नहीं अपितु क्रिया के साथ किसी को उद्देश्यत्वेन सम्बद्ध करना चाहता है तो उस की भी सम्प्रदानसंज्ञा होकर चतुर्थी विभक्ति आ जाती है। यथा—युद्धाय सन्नह्यते (युद्ध के लिये तैयार हो रहा है)—यहां सन्नहनक्रिया के साथ उद्देश्यत्वेन युद्ध को सम्बद्ध किया गया है अतः यहां 'युद्ध' सम्प्रदान है। श्राद्धाय निगर्हते (श्राद्ध की निन्दा करता है)—यहां निगर्हणक्रिया के साथ उद्देश्यत्वेन श्राद्ध को सम्बद्ध किया गया है अतः 'श्राद्ध' यहां सम्प्रदान है। पत्ये शेते (पति के लिये शयन करती है)—यहां शयनक्रिया के साथ उद्देश्य 'पति' को सम्बद्ध किया गया है अतः वह सम्प्रदान है। इसी प्रकार—**यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे** (गीता २.७)। व्या० च० में सुझाया गया महाभारत का यह उदाहरण निश्चय ही इस विषय में अतीव सुन्दर है—

धृतराष्ट्रात्मजं तस्मै भीमसेनाय धीमते।
शयानं सलिले सर्वे कथयामो धनुर्भृते॥ (महा० ९.३१.३३)

गां धयन्तीं परस्मै नाचक्षीत (गौतम धर्म० १.९.२४)। **यजमानाय पुराणमाचष्टे पौराणिकः** इत्यादि भी व्या० च० में इस विषय के अच्छे उदाहरण हैं।

अब 'नमः' आदि के योग में उपपदविभक्ति[1] चतुर्थी का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(८९८) नमः-स्वस्ति-स्वाहा-स्वधाऽलं-वषड्-योगाच्च ॥ ।२।३।१६॥**

एभिर्योगे चतुर्थी। हरये नमः। प्रजाभ्यः स्वस्ति। अग्नये स्वाहा। पितृभ्यः स्वधा ॥

---

१. किसी पद के समीप रहने से जो विभक्ति विधान की जाती है उसे उपपदविभक्ति कहते हैं। यथा—'सह' के योग में तृतीया, 'नमः' के योग में चतुर्थी, 'ऋते' के योग में पञ्चमी—इत्यादि उपपद विभक्ति है। यह कारकविभक्ति से नितान्त भिन्न होती है। उपपदविभक्ति और कारकविभक्ति दोनों के प्राप्त होने पर कारक विभक्ति को ही अन्तरङ्ग होने से बलवान् माना जाता है। जैसा कि कहा गया है **उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी**। इस का उदाहरण अगले सूत्र की टिप्पणी में देखें।

अर्थः—नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलम् और वषट्—इनके साथ योग में चतुर्थी विभक्ति हो ।

व्याख्या—नमः-स्वस्ति-स्वाहा-स्वधाऽलं-वषड्योगात् ।५।१। च इत्यव्यय-पदम् । चतुर्थी ।१।१। (**चतुर्थी सम्प्रदाने** से) । नमश्च स्वस्ति च स्वाहा च स्वधा च अलं च वषट् च = नमःस्वस्तिस्वाहास्वधालंवषट्, तेषां योगः = नमःस्वस्तिस्वाहास्व-धालंवषड्योगः, तस्मात् = नमःस्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगात् । सप्तम्यर्थे पञ्चमी । युज्यत इति योगः, कर्मणि घञ् । अर्थः— (नमः—वषड्योगात्) नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलम् और वषट्—इन से युक्त शब्द में (चतुर्थी) चतुर्थी विभक्ति होती है । नमः आदि सब अव्यय हैं । 'स्वस्ति' को अव्यय और अनव्यय[1] दोनों प्रकार का माना जाता है । इनके क्रमशः उदाहरण यथा—

नमः—हरये नमः (हरि के लिये नमस्कार) । यहां 'हरि' शब्द 'नमः' से युक्त या सम्बद्ध है क्योंकि हरि को ही नमस्कार किया गया है । अतः प्रकृतसूत्र से 'हरि' शब्द में चतुर्थी विभक्ति हो जाती है ।[2]

स्वस्ति—प्रजाभ्यः स्वस्ति (प्रजाओं का कल्याण हो) । यहां 'प्रजा' शब्द 'स्वस्ति' से युक्त या सम्बद्ध है क्योंकि प्रजाओं का ही कल्याण कहा जा रहा है अतः प्रकृतसूत्र से 'प्रजा' शब्द में चतुर्थी विभक्ति हो जाती है ।[3]

स्वाहा—अग्नये स्वाहा (अग्नि के लिये हविर्दान) । यहां 'अग्नि' शब्द 'स्वाहा' से युक्त या सम्बद्ध है अतः उसमें प्रकृतसूत्र से चतुर्थी विभक्ति हो जाती है ।

स्वधा—पितृभ्यः स्वधा (पितरों के लिये भोजन) । यहां 'पितृ' शब्द 'स्वधा' से युक्त या सम्बद्ध है अतः उस में चतुर्थी हो जाती है ।

अलम्—इस के स्पष्टीकरण के लिये अग्रिम वार्त्तिक देखें ।

वषट्—इन्द्राय वषट् (इन्द्रदेव के लिये हविर्दान) । यहां 'इन्द्र' शब्द 'वषट्' युक्त है अतः उस में चतुर्थी हो जाती है ।

अब 'अलम्' को स्पष्ट करने के लिये वार्तिक का अवतरण करते हैं—

---

१. अनव्यय यथा—**स्वस्तिर्भवतु ते नित्यं सुखं चानुत्तमं तथा** (भविष्योत्तरे) ।

२. 'नमः' के योग में तो चतुर्थी होती है पर नमस्कृ (नमस्कार करना), नमस्य् (क्यजन्त) आदि के प्रयोग में नहीं । यथा—नमस्करोति देवान्; **मुनित्रयं नमस्कृत्य; नमस्यामो देवान् ननु हतविधेस्तेऽपि वशगाः** (भर्तृ० नीति० ९१) । यहां पर **उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी** इस परिभाषा के अनुसार कर्म में होने वाली कारकविभक्ति (द्वितीया) उपपदविभक्ति का बाध कर लेती है ।

३. सूत्र में 'च' का ग्रहण बाधकबाधनार्थ माना जाता है । अतः 'स्वस्ति प्रजाभ्यो भूयात्' 'स्वस्ति गोभ्यो भूयात्' 'स्वस्ति ब्राह्मणेभ्यो भूयात्' इत्यादि आशीर्वाद के स्थलों में **चतुर्थी चाशिष्यायुष्यमद्रभद्रकुशलसुखार्थहितैः** (२.३.७३) से प्राप्त षष्ठी का बाध हो कर प्रकृतसूत्र से चतुर्थी हो जाती है । विस्तार के लिये काशिका या सि० कौ० देखें ।

[लघु०] वा०—(५२) अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम् ॥

तेन दैत्येभ्यो हरिरलम्, प्रभुः, समर्थः, शक्त इत्यादि ॥

अर्थः—पूर्वसूत्र (८९८) में 'अलम् शब्द से 'समर्थ' अर्थ वाले शब्दों का ग्रहण अभीष्ट है।

व्याख्या—अलम् ।१।१। इति इत्यव्ययपदम् । पर्याप्त्यर्थग्रहणम् ।१।१। पर्याप्तिः (सामर्थ्यम्) अर्थो येषां ते पर्याप्त्यर्थास्तेषां ग्रहणम्=पर्याप्त्यर्थग्रहणम् । बहुव्रीहिगर्भः षष्ठीतत्पुरुषः । 'अलम्' शब्द के निषेध, सजाना आदि अनेक अर्थ होते हैं। परन्तु वार्त्तिककार का कहना है कि **नमःस्वस्ति०** (८९८) सूत्र में आये 'अलम्' शब्द से पर्याप्त्यर्थक=समर्थ अर्थ वाले अलम् शब्द का तथा उसके अन्य पर्यायों का भी ग्रहण करना चाहिये। इस तरह इस वार्त्तिक से दो कार्य सिद्ध हो जाते हैं—

(१) समर्थ अर्थ वाले 'अलम्' शब्द का ही यहां ग्रहण होता है और उस के योग में ही चतुर्थी विभक्ति होती है।

(२) समर्थ अर्थ वाले—प्रभुः, शक्तः, समर्थः आदि अन्य शब्दों या धातुओं के योग में भी चतुर्थी सिद्ध होती है[1]।

उदाहरण यथा—दैत्येभ्यो हरिरलम् (दैत्यों के प्रति हरि समर्थ या प्रबल है)। यहां 'दैत्य' शब्द पर्याप्त्यर्थक 'अलम्' शब्द से युक्त या सम्बद्ध है अतः प्रकृत-वार्त्तिक के आलोक में **नमःस्वस्ति०** (८९८) सूत्र से दैत्य शब्द में चतुर्थी हो जाती है। इसी प्रकार—'दैत्येभ्यो हरिः प्रभुः', 'दैत्येभ्यो हरिः समर्थः', 'दैत्येभ्यो हरिः शक्तः' आदियों में जान लेना चाहिये। इसके कुछ विशेष उदाहरण यथा—

(क) **नमस्तत्कर्मभ्यो विधिरपि न येभ्यः प्रभवति।** (भर्तृ० नीति० ९१)

(ख) **तस्यालमेषा क्षुधितस्य तृप्त्यै प्रदिष्टकाला परमेश्वरेण।**
उपस्थिता शोणितपारणा मे सुरद्विषश्चान्द्रमसी सुधेव॥ (रघु० २.३९)

(ग) **अलम्मल्लो मल्लाय** (काशिका)। यह पहलवान उस पहलवान के लिये समर्थ है।

(घ) **विक्रियायै न कल्पन्ते सम्बन्धाः सदनुष्ठिताः।** (कुमार० ६.९२) (सज्जनों के द्वारा जोड़े गये सम्बन्ध विकार को प्राप्त नहीं होते)

(ङ) **पर्याप्तो ह्येकः पुलाकः स्थाल्या निदर्शनाय।** (महाभाष्य १.४.२३) (एक कण भी समग्र स्थालीगत तण्डुलादियों की अवस्था बतलाने में समर्थ होता है)।

अब अपादान कारक में पञ्चमी विभक्ति का विधान करने के लिये अपादान संज्ञा का निरूपण करते हैं—

---

१. भट्टोजिदीक्षित का कहना है कि **तस्मै प्रभवति०** (५.१.१०१), **स एषां ग्रामणीः** (५.२.७८) इन निर्देशों से प्रभु आदि शब्दों के योग में ('अलम्' के नहीं) कहीं कहीं षष्ठी विभक्ति भी प्रयुक्त होती है; यथा—**प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्य** (माघ० १.४९)। व्या० च० में इस का विशेष विवेचन देखा जा सकता है।

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम् — (८९९) ध्रुवमपायेऽपादानम् ।१।४।२४।।

अपायो विश्लेषस्तस्मिन् साध्ये यद् ध्रुवम् = अवधिभूतं कारकं तदपादानं स्यात् ॥

अर्थः—विश्लेष = वियोग = जुदाई या अलग होने को अपाय कहते हैं। अपाय में जो अवधि बना हो वह कारक अपादानसंज्ञक होता है।

व्याख्या—ध्रुवम् ।१।१। अपाये ।७।१। अपादानम् ।१।१। कारकम् ।१।१। (**कारके** इस अधिकार का विभक्तिविपरिणाम हो जाता है)। अर्थः—(अपाये) जुदा होने में (ध्रुवम्) अवधि बना हुआ (कारकम्) कारक (अपादानम्) अपादान-संज्ञक होता है।

जब किसी का किसी से विश्लेष होता है तो हम उस विश्लेष को किसी अवधि के द्वारा ही प्रकट करते हैं। यथा - अश्वात् पतति (घोड़े से गिरता है)—यहां घुड़सवार और घोड़े का विश्लेष कहा जा रहा है। इस विश्लेष में घोड़ा अवधि बना हुआ है क्योंकि वक्ता घोड़े से अलग होना कहना चाहता है। किञ्च पतनक्रिया का जनक होने से यह कारक भी है अतः 'अश्व' अपादान है। अपादान होने से इस में पञ्चमी विभक्ति हो जाती है। इसी प्रकार वृक्षात् पर्णं पतति (वृक्ष से पत्ता गिरता है)—यहां वृक्ष और पर्ण के वियोग में 'वृक्ष' अपादान है। धावतोऽश्वात् पतति (दौड़ते हुए घोड़े से गिरता है)—यहां वियोग में दौड़ता हुआ घोड़ा अवधि है अतः वह अपादान है।

'ध्रुव' शब्द लोक में यद्यपि 'स्थिर' अर्थ में प्रचलित है तथापि यहां उस का अवधिभूत अर्थ किया गया है। इस का कारण यह है कि स्थिर अर्थ करने से 'धावतोऽश्वात् पतति' में अश्व की अपादानसंज्ञा न हो सकती थी क्योंकि वह स्थिर नहीं है दौड़ रहा है। अब अवधिभूत अर्थ करने से कोई दोष नहीं आता क्योंकि चाहे वह दौड़ रहा है पर गिरने में अवधि तो है ही[1]।

---

१. इस विषय में भर्तृहरि की निम्नस्थ कारिकाएं बहुत प्रसिद्ध हैं—

अपाये यद् उदासीनं चलं वा यदि वाऽचलम्।
ध्रुवमेवाऽतदावेशात् तदपादानमुच्यते ॥१॥
पततो ध्रुव एवासौ यस्माद् अश्वात् पतत्यसौ।
तस्याप्यश्वस्य पतने कुड्यादि ध्रुवमिष्यते ॥२॥
मेषान्तरक्रियापेक्षम् अवधित्वं पृथक् पृथक्।
मेषयोः स्वक्रियापेक्षं कर्तृत्वं च पृथक् पृथक् ॥३॥

अपाय-जुदा होने में जो उदासीन अर्थात् अपायजनक व्यापार का आश्रय नहीं वह चल हो या अचल 'ध्रुव' ही होता है। क्योंकि वियोगजनक व्यापार का वह आश्रय नहीं अतः 'अपादान' कहाता है। कुड्यात् पततोऽश्वात् पतति देवदत्तः (भित्ति से गिरते हुए घोड़े से देवदत्त गिरता है)—यहां गिरते हुए घोड़े से गिरने में 'गिरता हुआ घोड़ा' भी 'ध्रुव' ही माना जाता है। क्योंकि देवदत्त के गिरने में

अब अपादान में पञ्चमी विभक्ति के विधायक सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम् (९००) **अपादाने पञ्चमी** ।२।३।२८।।

ग्रामाद् आयाति । धावतोऽश्वात् पततीत्यादि ।।

अर्थः—अनभिहित (अनुक्त) अपादान में पञ्चमी विभक्ति हो ।

व्याख्या—अपादाने ।७।१। पञ्चमी ।१।१। अनभिहिते ।७।१। (यह अधिकृत है) । अर्थः—(अनभिहिते) जो कृत् या समास आदि के द्वारा उक्त नहीं ऐसे (अपादाने) अपादान में (पञ्चमी) पञ्चमी विभक्ति होती है । उदाहरण यथा—

ग्रामाद् आयाति (गांव से आता हैं) । यहां ग्राम और मनुष्य के विश्लेष में 'ग्राम' अवधिभूत होने से **ध्रुवमपायेऽपादानम्** (८९९) से अपादानसंज्ञक है । यह कृत् या समास आदि से उक्त भी नहीं अतः प्रकृतसूत्र से इस में पञ्चमी विभक्ति आ जाती है ।

धावतोऽश्वात् पतति (दौड़ते हुए घोड़े से गिरता है) । यहां गिरने के व्यापार में दौड़ता हुआ घोड़ा अवधि है अतः इस की पूर्ववत् अपादानसंज्ञा हो कर प्रकृतसूत्र से पञ्चमी हो जाती है ।

अनभिहित अपादान में ही पञ्चमी विभक्ति होती है अभिहित में नहीं । यथा—बिभेत्यस्मादिति भीमः । यहां **भीमादयोऽपादाने** (३.४.७४) से 'भी' धातु से अपादान में मक् यह उणादि कृत्प्रत्यय किया गया है । अतः अपादान के उक्त हो जाने से प्रकृत सूत्र से पञ्चमी नहीं होती प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा ही हो जाती है । इसी प्रकार—उद्धृतौदना स्थाली (उद्धृत ओदनो यस्या असौ-उद्धृतौदना स्थाली, बहुव्रीहि-समासः)—यहां समासद्वारा अपादान के उक्त हो जाने से पञ्चमी नहीं होती पूर्ववत् प्रथमा हो जाती है ।

अपादानपञ्चमी के साहित्यगत कुछ उदाहरण यथा—

(१) **न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ।** (भर्तृ० नीति० ७४)

(२) **गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् ।** (गीता० १.३०)

(३) **स्वैरं वनादुपनयन्तु तपोधनानि ।** (स्वप्न० १.६)

(४) **अथ यन्तारमादिश्य धुर्यान्विश्रामयेति सः ।**
तामवारोहयत् पत्नीं रथात् अवततार च ।। (रघु० १.५४)

वियोगजनक व्यापार का वह आश्रय नहीं अतः वह अपादान है । जब घोड़ा भी गिर रहा है तो उस के गिरने में वियोगजनकव्यापार का अनाश्रय कुड्य आदि अपादान हो जाते हैं । तात्पर्य यह है कि जिस अपाय का वर्णन हो रहा है उस अपाय का व्यापार जिस में न रहे वही ध्रुव या अवधिभूत समझना चाहिये उसी की शास्त्र में अपादानसंज्ञा की जाती है ।

परस्परस्माद् मेषौ अपसरतः (मेढ़े एक दूसरे से हट रहे हैं)—यहां अन्य मेष की क्रिया को ले कर दोनों का पृथक् पृथक् अवधित्व होता है और अपनी अपनी क्रिया को ले कर दोनों का कर्त्तृत्व भी पृथक् पृथक् सिद्ध हो जाता है ।

(५) शिरः शार्वं स्वर्गात् पशुपतिशिरस्तः क्षितिधरम्
महीध्रादुत्तुङ्गादवनिमवनेश्चापि जलधिम् ।
अधोऽधो गङ्गेयं पदमुपगता स्तोकमथवा
विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः ॥ (भर्तृ० नीति० ६)

(६) पतति कदाचिन्नभसः खाते पातालतोऽपि जलमेति ।
दैवमचिन्त्यं बलवद् बलवान्ननु पुरुषकारोऽपि ॥ (पञ्च० ५.२६)

प्रश्नः—ग्रामाद् याति, अश्वात् पतति —इत्यादियों में तो अपाय-विश्लेष के पाये जाने से अवधिभूत ग्राम आदियों की अपादानसंज्ञा युक्त प्रतीत होती है परन्तु 'ग्रामान्नायाति' (गांव से नहीं आता) 'अश्वान्न पतति' (घोड़े से नहीं गिरता) इत्यादियों में विश्लेष तो कोई हुआ नहीं पुनः अपादानसंज्ञा कैसे हो जाती है ?

उत्तर—क्रिया का प्रथम कारकों के साथ सम्बन्ध हो कर बाद में नञ् के साथ सम्बन्ध होता है । अतः नञ् द्वारा प्रतिपाद्य निषेध से पूर्व ही अपादान आदि संज्ञा हो जाने से कोई दोष प्रसक्त नहीं होता । इसी प्रकार 'बाणेन न हन्ति, विप्राय गां न ददाति, फलानि नो भुङ्क्ते'—आदि अन्य कारकों के विषय में भी जानना चाहिये ।

अब षष्ठीविभक्ति का प्रतिपादन करने के लिये सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— **(९०१) षष्ठी शेषे ।२।३।५०।।**

कारक-प्रातिपदिकार्थ-व्यतिरिक्तः स्वस्वामिभावादिः सम्बन्धः शेषस्तत्र षष्ठी । राज्ञः पुरुषः ।।

अर्थः—कारक और प्रातिपदिकार्थ से अतिरिक्त स्व-स्वामिभाव आदि सम्बन्ध शेष है । उस शेष की विवक्षा में षष्ठी विभक्ति होती है ।

व्याख्या—षष्ठी ।१।१। शेषे ।७।१। अर्थः—(शेषे) शेष में (षष्ठी) षष्ठी विभक्ति होती है । उक्तादन्यः शेषः । कहने से बचे हुए को शेष कहते हैं । अष्टाध्यायी में इस सूत्र से पूर्व कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण कारकों में तथा प्रातिपदिकार्थ में विभक्तियों का विधान कर चुके हैं । अब इन से अतिरिक्त जो बच गया उसे यहां शेष कहा जा रहा है । वह क्या बच गया जिस में पहले विभक्ति विधान नहीं की गई ? इस जिज्ञासा में यही उत्तर प्राप्त होता है कि 'सम्बन्ध' बच गया है जिस का वर्णन पहले नहीं हुआ । अतः प्रकृतसूत्र से सम्बन्ध को कहने में षष्ठी का विधान किया जा रहा है ।

यह सम्बन्ध कई प्रकार का होता है । यथा—स्वस्वामिभावसम्बन्ध—इस सम्बन्ध में एक स्वामी तथा दूसरा स्व (धन, सम्पत्ति आदि तदधिकृत वस्तु) होता है । जैसे—राज्ञः पुरुषः (राजा का पुरुष) । यहां राजा स्वामी तथा पुरुष स्व=उस की सम्पत्ति है । अवयवावयविभावसम्बन्ध—इस सम्बन्ध में एक अङ्गी तथा दूसरा उस का अङ्ग होता है । जैसे—तरोः शाखा (वृक्ष की शाखा) । यहां वृक्ष अङ्गी तथा शाखा उस का अङ्ग है । जन्यजनकभावसम्बन्ध—इस सम्बन्ध में एक जनक अर्थात् पैदा करने वाला तथा दूसरा जन्य अर्थात् पैदा होने वाला होता है । जैसे—पितुः पुत्रः

(बाप का बेटा)। यहां पिता पैदा करने वाला तथा पुत्र पैदा होने वाला है। प्रकृति-विकृतिभावसम्बन्ध—इस सम्बन्ध में एक वस्तु प्रकृति (मूल वस्तु) तथा दूसरी विकृति (मूल से उत्पन्न विकार) होता है। जैसे—हिरण्यस्य कङ्कणम् (सोने का कंगन)। यहां सुवर्ण प्रकृति तथा कङ्कण उस की विकृति है। इसी प्रकार अन्य भी अनेक सम्बन्ध हो सकते हैं।

सम्बन्ध स्वयं में एक होता हुआ भी सदा द्विष्ठ अर्थात् दो में स्थित रहता है। यथा—स्व-स्वामिभाव-सम्बन्ध 'स्वामी' और 'स्व' दो में रहता है। अवयवावयविभाव-सम्बन्ध 'अवयव' और 'अवयवी' दो में रहता है। जन्य-जनकभाव-सम्बन्ध 'पैदा करने वाले' और 'पैदा होने वाले' के बीच रहता है। प्रकृति-विकृतिभाव-सम्बन्ध 'प्रकृति' और 'विकृति' दो के बीच रहता है।

सम्बन्ध बतलाने के लिये प्रकृतसूत्र से षष्ठी की जाती है। यथा—राज्ञः पुरुषः (राजा का पुरुष)। यहां राजन् शब्द से षष्ठी विभक्ति की गई है। यह षष्ठी स्व-स्वामिभाव-सम्बन्ध में आई है अतः अर्थ हुआ कि राजा स्वामी है और पुरुष उस का स्व = संम्पत्ति-नौकर-चाकर आदि। इसी प्रकार—जनकस्य पुत्रः, हिरण्यस्य कुण्डलम् आदि में जानना चाहिये।

अब यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि सम्बन्ध तो दोनों में रहा करता है पुनः षष्ठी विभक्ति केवल राजन् से ही क्यों की जाती है? पुरुष से क्यों नहीं होती? अथवा दोनों से ही क्यों नहीं की जाती? इस का उत्तर यह है कि सम्बन्ध प्रकट करने के लिये सदा प्रतियोगी से ही काम लिया जाता हैं अनुयोगी से नहीं अतः प्रतियोगी में ही षष्ठी होती है अनुयोगी में नहीं। जिस का सम्बन्ध बताया जाता है वह सम्बन्ध का प्रतियोगी और जिस में सम्बन्ध बताया जाता है वह सम्बन्ध का अनुयोगी होता है। यथा—राज्ञः पुरुषः (राजा का पुरुष)—यहां राजा का सम्बन्ध बतलाया गया है अतः वह सम्बन्ध का प्रतियोगी तथा पुरुष में सम्बन्ध बतलाया जा रहा है वह सम्बन्ध का अनुयोगी है। प्रतियोगी होने से 'राजन्' शब्द से ही षष्ठी होती है, 'पुरुष' शब्द से नहीं। हां यदि पुरुष को सम्बन्ध का प्रतियोगी और राजा को अनुयोगी अर्थात् पूर्वाशय से सर्वथा उलट कहना अभीष्ट हो तो 'पुरुषस्य राजा' (पुरुष का राजा) प्रयोग भी बन सकता है। अब शेष रही बात दोनों से विभक्ति करने की। इस का उत्तर यह है कि सम्बन्ध द्विष्ठ होता हुआ भी अपने आप में एक होता है। जब एक में विभक्ति लाने से उस का बोध हो जाता है तो पुनः दूसरी बार विभक्ति लाने का क्या प्रयोजन? सार यह है कि सम्बन्ध को कहने वाली विभक्ति केवल एक में ही आती है और वह भी सम्बन्ध के प्रतियोगी में। अत एव कहा गया है—

भेद्यभेदकयोश्चैक-सम्बन्धोऽन्योऽन्यमिष्यते।
द्विष्ठो यद्यपि सम्बन्धः षष्ठ्युत्पत्तिस्तु भेदकात्॥

[भेद्य (विशेष्य = अनुयोगी) और भेदक (विशेषण = प्रतियोगी) इन दोनों में

परस्पर एक ही सम्बन्ध अभीष्ट है । यद्यपि सम्बन्ध दोनों में रहता है तथापि षष्ठी-विभक्ति की उत्पत्ति भेदक (विशेषण=प्रतियोगी) से ही होती है ।]

अब कर्म आदियों की भी सम्बन्धमात्र विवक्षा में षष्ठी का प्रतिपादन करते हैं—

[लघु०] कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव । सतां गतम् । सर्पिषो जानीते । मातुः स्मरति । एधो दकस्योपस्कुरुते । भजे शम्भोश्चरणयोः ॥

अर्थः—जब कर्म आदियों को भी सम्बन्धमात्र के रूप में कहने की इच्छा हो तो उन में षष्ठी ही होती है (द्वितीयादि नहीं)।

व्याख्या—जब कर्म, करण आदियों को कर्मत्व करणत्व आदि रूपों में कहना अभीष्ट न हो कर केवल सम्बन्धसामान्य के रूप में प्रस्तुत करना अभीष्ट होता है तब शेषत्व की विवक्षा में **षष्ठी शेषे** (६०१) से षष्ठी विभक्ति हो जाती है द्वितीयादि विभक्तियां नहीं । उदाहरण यथा—

सतां गतम् (सज्जनसम्बन्धी गमन) । यहां 'गतम्' में **नपुंसके भावे क्तः** (८७०) द्वारा भाव में क्त प्रत्यय किया गया है । इस क्रिया का कर्ता सत्-सज्जन है । परन्तु वक्ता कर्त्ता को कर्तृरूप से प्रस्तुत नहीं कर रहा उसे केवल सम्बन्धी-रूप से कहना चाहता है । तब सम्बन्धसामान्य अर्थात् शेष में **षष्ठी शेषे** (६०१) से षष्ठी विभक्ति हो जाती है—सतां गतम् । ध्यान रहे कि यदि वक्ता को सम्बन्धसामान्य की विवक्षा न हो कर उसे कर्तृत्वरूप में कहने की इच्छा होगी तो **स्वतन्त्रः कर्त्ता** (६६३) से कर्तृसंज्ञा हो कर उस अनभिहित कर्त्ता में **कर्तृकरणयोस्तृतीया** (८६५) से तृतीया विभक्ति हो जायेगी—सद्भिर्गतम् (सज्जनकर्तृक गमन)[1]।

सर्पिषो जानीते (घृतसम्बन्धी प्रवृत्ति करता है) । यहां 'जानीते' का अर्थ है —प्रवर्त्तते । इस प्रवृत्ति में सर्पिष्-घृत करण है परन्तु वक्ता इसे करणरूप से प्रस्तुत न कर सम्बन्धी के रूप में कहना चाहता है । इस प्रकार सम्बन्धसामान्यरूप शेष में **षष्ठी शेषे** (६०१) से षष्ठी आ जाती है—सर्पिषो जानीते । यहां 'सर्पिष्' का षष्ठ्यन्त रूप 'सर्पिषः' प्रयुक्त किया गया है । यदि वक्ता की विवक्षा उसे करणरूप में प्रस्तुत करने की होगी तो **साधकतमं करणम्** (८६४) से उस की करणसंज्ञा हो कर **कर्तृकरणयोस्तृतीया** (८६५) से तृतीया विभक्ति आकर 'सर्पिषा जानीते' प्रयोग बनेगा[2]।

---

१. कई वैयाकरणों का कहना है कि नपुंसकक्तान्त के साथ कर्ता में कर्तृत्वरूपेण विवक्षा ही नहीं होती इस में सदा अविवक्षा ही रहती है, अतः यहां सम्बन्धसामान्य में षष्ठी का ही प्रयोग होता है । इसलिये 'सद्भिर्गतम्' प्रयोग बनता ही नहीं । यदि कर्तृत्व विवक्षा हो तो सन्तोऽगमन् आदि ही कहना चाहिये । इस विषय में कृदन्त-प्रकरण सूत्र (८७०) पर इस व्याख्या का अवलोकन करें ।

२. यह उदाहरण शताब्दियों से मूर्धाभिषिक्त उदाहरण के रूप में व्याकरण में प्रयुक्त होता चला आ रहा है । इस के स्रोत का कुछ पता नहीं चलता । अतः इस का ठीक-ठीक

मातुः स्मरति (मातृसम्बन्धी या माता का स्मरण करता है)। यहां 'मातृ'शब्द 'स्मरति' क्रिया का कर्म है परन्तु वक्ता उसे कर्मरूप में प्रस्तुत न कर सम्बन्धी के रूप में प्रस्तुत कर रहा है अतः उस सम्बन्धसामान्यरूप शेष अर्थ में षष्ठी विभक्ति हो जाती है। यदि वक्ता को उसे कर्मरूप में प्रस्तुत करने की इच्छा होगी तो **कर्त्तुरीप्सिततमं कर्म** (८६०) से कर्मसञ्ज्ञा हो कर **कर्मणि द्वितीया** (८६१) से अनभिहित कर्म में द्वितीया आ कर 'मातरं स्मरति' ही बनेगा।

एधो दकस्योपस्कुरुते (लकड़ी जलसम्बन्धी उपस्कार या उस में गुणाधान करती है)। एधस् (नपुं०) या एध (पुं०) शब्द ईन्धन-लकड़ी के वाचक हैं। प्रथमाविभक्ति के एकवचन में दोनों का 'एधः' रूप बनता है। 'दक' (नपुं०) शब्द जलवाचक है— **जीवनं भुवनं दकम्** (अमरकोष)। लकड़ी जल को उपस्कृत करती है अर्थात् उस में उष्णता आदि विशेष गुण उत्पन्न कर देती है[1]। यहां 'दक' (जल) कर्म है परन्तु वक्ता उसे कर्म के रूप में प्रस्तुत न कर सम्बन्धी के रूप में प्रस्तुत करना चाहता है। अतः उस सम्बन्धसामान्य अर्थात् शेष अर्थ में षष्ठी विभक्ति आ जाती है। कर्म की विवक्षा में **कर्मणि द्वितीया** (८६१) से द्वितीया विभक्ति हो कर 'एधो दकमुपस्कुरुते' प्रयोग बनेगा।[2]

भजे शम्भोश्चरणयोः (मैं शम्भु के चरणों का ध्यान करता हूं)। यहां 'भजे' में भज्धातु के लँट्-उत्तमपुरुष-एकवचन का प्रयोग किया गया है—भजे = अहम्भजे। इस भजनक्रिया में 'चरण' कर्म हैं परन्तु वक्ता उसे कर्मरूप में न कह कर सम्बन्धी के रूप में कहना चाहता है अतः उस सम्बन्धसामान्य रूप शेष अर्थ में षष्ठी विभक्ति

तात्पर्य भी निश्चितरूपेण नहीं कहा जा सकता। कुछ वैयाकरण इसे करणशेष का उदाहरण न मान कर कर्मशेष का उदाहरण मानते हुए 'घृतसम्बन्धी ज्ञान रखता या घी का विशेषज्ञ है' ऐसा अभिप्राय प्रकट करते हैं (देखें यहां पर तत्त्व-बोधिनी)।

१. निम्ब करञ्ज आदि ईन्धनविशेष के परिताप से जल में अनेक प्रकार के गुणों का आधान होना चिकित्साशास्त्र में प्रसिद्ध है। अथवा—क्वाथ के जल में निम्बादि काष्ठौषधियों के योग से नाना प्रकार के गुणों का समावेश सर्वविदित है।

२. 'उपस्कुरुते' में आत्मनेपद का विधान **गन्धनावक्षेपण०** (१.३.३२) सूत्र से किया गया है अतः परस्मैपद का प्रयोग वर्जित है। 'उप+कुरुते' में कृ के ककार से पूर्व सुँट् का आगम **उपात् प्रतियत्न-वैकृत-वाक्याध्याहारेषु च** (६८३) सूत्रद्वारा समझना चाहिये। उदाहृत वाक्य बहुत प्राचीन है। इस का मूल अन्वेष्टव्य है। प्राचीन वैयाकरण 'एधोदकस्य' को समस्त पद मानते हैं। 'एध+उदक' अथवा 'एधस्+दक' दोनों प्रकार से समाहारद्वन्द्व करने पर 'एधोदक' बनता है। उन के मत में अर्थ है—लकड़ी और जल को उपस्कृत अर्थात् शुद्ध करता है (यज्ञ में समिधाओं और जल की शुद्धि का शास्त्र में विधान है)।

हो जाती है। यदि चरणों का कर्मत्व अभीष्ट होगा तो उस में द्वितीया हो कर — भजे शम्भोश्चरणौ' प्रयोग बनेगा [ध्यान रहे कि शम्भोः' में षष्ठी अवयवावयविभावसम्बन्ध में हुई है उसे यहां उदाहरण नहीं समझना चाहिये]।

यदि यह कहा जाये कि कर्म आदियों की अविवक्षा में **अकथितं च** (८९२) से इन में कर्मसंज्ञा हो जायेगी तो यह ठीक नहीं, क्योंकि वहां **दुह्याच्**—परिगणन किया गया है। केवल दुह्, याच् आदि धातुओं के योग में ही वह संज्ञा की जाती है अन्य धातुओं के योग में नहीं। यहां उपर्युक्त उदाहरणों में दुह् आदि धातुओं का कहीं प्रयोग नहीं किया गया अतः यहां कोई दोष नहीं आता।

यहां कर्म की अविवक्षा में तीन तथा कर्त्ता और करण की अविवक्षा में एक एक उदाहरण दिया गया है। बहुधा कर्म की अविवक्षा हुआ करती है अतः उस के लिये तीन उदाहरण दिये गये हैं।

कर्मादियों की अविवक्षा में शेषषष्ठी के साहित्यगत कुछ उदाहरण यथा—

(१) **कच्चिद् भर्तुः स्मरसि सुभगे ! त्वं हि तस्य प्रियेति।** (मेघदूत २.२२)

(२) **सा लक्ष्मीरुपकुरुते यया परेषाम्।** (किरात० ७.२८)

(३) **पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।**
ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य॥
(कुमार० १.४४)

(४) **न केवलं यो महतां विभाषते शृणोति तस्मादपि यः स पापभाक्**[1] **।**
(कुमार० ५.८३)

(५) **तामायुष्मन् मम च वचनाद् आत्मनश्चोपकर्तुं**
ब्रूया एवं तव सहचरो रामगिर्याश्रमस्थः।
अव्यापन्नः कुशलमबले पृच्छति त्वां वियुक्तः
पूर्वाभाष्यं सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव॥ (मेघ० २.३८)

(६) **उद्वीक्ष्य श्रियमिव काञ्चिदुत्तरन्तीम्**
अस्मार्षीज्जलनिधिमन्थनस्य शौरिः। (माघ० ८.६४)

(७) **सुतोऽपि गङ्गासलिलैः पवित्वा सहाश्वमात्मानमनल्पमन्युः।**
ससीतयो राघवयोरधीयन् श्वसन्कदुष्णं पुरमाविवेश॥
(भट्टि० ३.१८)

(८) **अनैषधायैव जुहोति तातः किं मां कृशानौ न शरीरशेषाम्।**
ईष्टे तनूजन्मतनोः स नूनं मत्प्राणनाथस्तु नलस्तथापि॥
(नैषध० ३.७९)

(९) हे **प्रभो! दयस्व मे विषमस्थितस्य।** (व्या० च०)

(१०) **इन्द्रो दिव इन्द्र ईशे पृथिव्याः** (ऋ० १०.८९.१०)।
(इन्द्र द्युलोक का स्वामी है, इन्द्र पृथ्वी का स्वामी है)

---

१. कुमारसम्भव का यह पाठभेद है। विट्ठल तथा शेषश्रीकृष्ण ने प्रक्रियाकौमुदी की अपनी अपनी व्याख्या में इसे उद्धृत किया है।

(११) **शृण्वन्तु मे श्रद्दधानस्य देवाः** (अथर्व० ४.३५.७)
(१२) **इन्द्रस्य हि स प्रणमति यो बलीयसो नमति** (कौटिल्य अर्थ० १२.१.२)
(१३) **अयं मैथिल्यभिज्ञानं काकुत्स्थस्याङ्गुलीयकः ।**
भवत्याः स्मरताऽत्यर्थमर्पितः सादरं मम ॥ (भट्टि० ८.११८)
(१४) **यथा वै भरतो मान्यस्तथा भूयोऽपि राघवः ।**
कौसल्यातोऽतिरिक्तं च मम शुश्रूषते बहु ॥ (रामायण २.८.१८)

अब सप्तमी का विधान करने के लिये सर्वप्रथम अधिकरणसंज्ञा का अवतरण करते हैं—

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—**(९०२) आधारोऽधिकरणम् ।१।४।४५।।**

कर्तृकर्मद्वारा तन्निष्ठक्रियाया आधारः कारकम् अधिकरणं स्यात् ॥

अर्थः—कर्त्ता और कर्म के द्वारा उन में रहने वाली क्रिया का आधार जो कारक वह अधिकरणसंज्ञक होता है ।

व्याख्या - आधारः ।१।१। अधिकरणम् ।१।१। कारकम् ।१।१। (**कारके** इस अधिकृत का विभक्तिविपरिणाम हो जाता है) । अर्थः—(आधारः) आधार (कारकम्) कारक (अधिकरणम्) अधिकरणसंज्ञक होता है । यहां आधार की अधिकरणसंज्ञा की जा रही है परन्तु आधेय नहीं बताया गया[1] अतः किस के आधार की अधिकरणसंज्ञा हो ? यह यहां अन्वेष्टव्य है । यहां **कारके** का अधिकार आ रहा है । **क्रियाजनकत्वं कारकत्वम्** के अनुसार क्रिया के जनक को कारक कहते हैं । इस से यहां 'क्रियायाः' पद का अध्याहार हो कर क्रिया के आधार की अधिकरण संज्ञा हो—यह यहां अर्थ हो जायेगा । परन्तु यहां पुनः शङ्का होती है कि क्रिया के तो दो अंश होते हैं—व्यापार और फल । व्यापार कर्त्ता में तथा फल कर्म में रहा करता है तो क्या कर्त्ता और कर्म की ही अधिकरणसंज्ञा की जा रही है ? इस का उत्तर है कि नहीं । कर्त्ता और कर्म संज्ञाएं तो अष्टाध्यायी में इस सूत्र से परे पढ़ी गई हैं अतः वे परत्व के कारण इस का बाध कर लेंगी । इस से यहां क्रिया का आधार साक्षात् न ले कर परम्परा से मानना पड़ेगा अर्थात् कर्त्ता या कर्म के द्वारा उन में रहने वाली क्रिया का जो आधार कारक है वह अधिकरणसंज्ञक हो—यह अर्थ फलित होगा । तात्पर्य यह है कि यहां क्रिया का साक्षात् आधार नहीं लिया जायेगा अपितु क्रिया के आधार जो कर्त्ता या कर्म उन के आधार की अधिकरणसंज्ञा होगी, इस तरह वह आधार परम्परया कर्त्ता और कर्म में स्थित क्रिया का भी आधार समझा जायेगा । दूसरे शब्दों में आधार कर्त्ता या कर्म को गोदी में लेगा । क्रिया उन दोनों की गोदी में पहले से ही सवार है इस

---

१. आध्रियन्तेऽस्मिन्नित्याधारः, अधिकरणे घञ् । जिस पर या जिस में कोई वस्तु रखी जाती है उसे आधार कहते हैं । आधार पर रखी जाने वाली वस्तु को 'आधेय' कहते हैं । यथा—वृक्षे खगास्तिष्ठति (वृक्ष पर पक्षी बैठा है) । यहां 'वृक्ष' आधार तथा 'खग' आधेय है ।

प्रकार आधार तद्गतक्रिया का भी आधार बन जायेगा[1]। इसी बात को भर्तृहरि ने इस प्रकार कहा है—

कर्तृ-कर्मव्यवहिताम् असाक्षाद् धारयत् क्रियाम् ।
उपकुर्वत् क्रियासिद्धौ शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम् ॥

(वाक्यपदीय ३.४.१४८)

अर्थात् कर्त्ता और कर्म के द्वारा क्रिया को परम्परया धारण करने वाले एवं क्रियासिद्धि में उपकारक को इस शास्त्र में अधिकरण कहा गया है। उदाहरण यथा—

कटे आस्ते (चटाई पर बैठता है)। यहां आसन-बैठना क्रिया का आधार उस का कर्त्ता है और कर्त्ता का आधार चटाई है तो इस प्रकार परम्परा से बैठना क्रिया का आधार 'कट' हो गया। अतः कर्ता के द्वारा क्रिया का आधार होने से 'कट' की अधिकरणसंज्ञा हो जाती है और तब उस में अग्रिमसूत्रद्वारा सप्तमी विभक्ति होती है।

स्थाल्यां तण्डुलान् पचति (बटलोई में चावल पकाता है)। यहां पचनक्रिया (विक्लित्तिरूप फल) का आधार उस का कर्म है और कर्म का आधार स्थाली है तो इस प्रकार परम्परा से पचनक्रिया का आधार स्थाली हुई। अतः कर्म के द्वारा क्रिया का आधार होने से 'स्थाली' की अधिकरणसंज्ञा हो जाती है और तब उस में सप्तमी होती है।

इस अधिकरण कारक के तीन भेद आगे कहे जायेंगे। उन की व्याख्या वहीं देखें। अब अग्रिमसूत्रद्वारा अधिकरण में सप्तमी का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(९०३) सप्तम्यधिकरणे च ।२।३।३६॥**

अधिकरणे सप्तमी स्यात् । चकाराद् दूरान्तिकार्थेभ्यः । औपश्लेषिको वैषयिकोऽभिव्यापकश्चेत्याधारस्त्रिधा । कटे आस्ते । स्थाल्यां पचति । मोक्षे इच्छास्ति । सर्वस्मिन्नात्माऽस्ति । वनस्य दूरे अन्तिके वा ॥

अर्थः— (अनभिहित=अनुक्त) अधिकरण में सप्तमी विभक्ति होती है। 'च' के कारण दूर और समीप अर्थ वाले शब्दों से भी सप्तमी होती है। **औपश्लेषिकः**— आधार तीन प्रकार का होता है—(१) औपश्लेषिक, (२) वैषयिक, (३) अभिव्यापक।

व्याख्या—सप्तमी ।१।१। अधिकरणे ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । अनभिहिते ।७।१। (यह अधिकृत है)। अर्थः—(अनभिहिते) अनुक्त (अधिकरणे) अधिकरण में (सप्तमी) सप्तमी विभक्ति होती है। सूत्र में 'च' का ग्रहण पीछे से 'दूरान्तिकार्थेभ्यः

---

१. यदि कहें कि 'भूतले घटः' आदि में जहां क्रिया पढ़ी नहीं गई वहां क्रिया के अभाव के कारण आधार की कैसे अधिकरण संज्ञा होगी तो इस का उत्तर यह है कि ऐसे स्थलों पर भी अस्ति, भवति आदि क्रिया का अध्याहार कर कर्ताद्वारा तन्निष्ठक्रिया का आधार होने से भूतल आदि की अधिकरणसंज्ञा सिद्ध हो जायेगी।

।५।३।' पद के अनुकर्षणार्थ है । अतः दूर या समीप अर्थ वाले शब्दों से भी सप्तमी हो जायेगी ।

अधिकरण में सप्तमी विभक्ति होती है—

पिछले सूत्र में अधिकरणसंज्ञा का वर्णन कर चुके हैं । अधिकरण यदि कृत् तद्धित समास आदि से उक्त न हो तो उस में सप्तमी विभक्ति हो जाती है[1] ; यथा—कटे आस्ते, स्थाल्यां पचति आदि में कट और स्थाली अधिकरण हैं अतः इन में सप्तमी विभक्ति की गई है ।

ग्रन्थकार यहां आधार या अधिकरण का वर्गीकरण करते हुए कहते हैं—**औपश्लेषिको वैषयिकोऽभिव्यापकश्चेति आधारस्त्रिधा** । अर्थात् आधार तीन प्रकार का होता है—(१) औपश्लेषिक; (२) वैषयिक; (३) अभिव्यापक ।

औपश्लेषिक आधार—

उप=समीपे श्लेष. संयोगादिसम्बन्ध उपश्लेषः । उपश्लेषकृत औपश्लेषिकः । अर्थात् जहां आधार का आधेय के साथ संयोग आदि सम्बन्ध हो वहां औपश्लेषिक आधार होता है । यथा—कटे आस्ते । यहां कट का बैठने वाले के साथ संयोगसम्बन्ध है अतः कट औपश्लेषिक आधार है । इसी प्रकार 'स्थाल्यां पचति' में समझना चाहिये । सामीप्यसम्बन्ध के कारण भी औपश्लेषिक आधार माना जाता है । यथा—गुरौ वसति (गुरु के पास रहता है), वटे गावः शेरते (वट के समीप गौएं सो रही हैं), गङ्गायां घोषः (गङ्गा के समीप ग्राम है) । **इको यणचि** (१५) में 'अचि' यह औपश्लेषिक आधार है । 'अच् के समीपस्थित जो अव्यवहित इक् उस के स्थान पर यण् आदेश हो' ऐसा अर्थ हो जाता है ।

वैषयिक आधार—

विषयकृतो वैषयिकः । अर्थात् विषयतासम्बन्ध से जब किसी को आधार माना जाता है तब वह वैषयिक आधार होता है । यह आधार बौद्धिक होता है । यथा—मोक्षे इच्छाऽस्ति (मोक्ष के विषय में इच्छा है) । यहां इच्छा का मोक्ष विषय है । या दूसरे शब्दों में सत्तारूप क्रिया का आधार 'इच्छा' यह कर्त्ता है और इस कर्त्ता का भी विषयत्वेन आधार 'मोक्ष' है । इस तरह कर्त्ता के द्वारा तन्निष्ठ सत्तारूप क्रिया का आधार होने से 'मोक्ष' की अधिकरणसंज्ञा हो कर उस में प्रकृतसूत्र से सप्तमी आ जाती है । इसी प्रकार—'व्याकरणे रुचिः' 'शिवे भक्तिः' 'अरिषु दारुणः' आदि में समझना चाहिये ।

अभिव्यापक आधार—

जहां आधार के प्रत्येक अवयव में आधेय की सत्ता विद्यमान हो वहां अभि-

---

१. अधिकरण के अभिहित या उक्त होने की दशा में प्रातिपदिकार्थमात्र में प्रथमा ही होती है । यथा—वीराः पुरुषाः सन्त्यस्मिन् इति वीरपुरुषको ग्रामः । यहां समासद्वारा अधिकरण के उक्त हो जाने से सप्तमी न हो कर प्रथमा ही होती है ।

व्यापक आधार समझना चाहिये । यथा—तिलेषु तैलम् (तिलों में तेल है) । तिलों के प्रत्येक अवयव में तेल की सत्ता विद्यमान होने से यहां 'तिल' अभिव्यापक आधार हैं । इसी प्रकार—सर्वस्मिन् आत्माऽस्ति (सब में आत्मा अर्थात् ईश्वर है) । यहां सत्तारूप क्रिया का आधार 'आत्मा' यह कर्त्ता है । इस कर्त्ता का भी अभिव्यापक आधार 'सर्व' है । इस प्रकार कर्त्ता के द्वारा तन्निष्ठ सत्तारूप क्रिया का आधार होने से 'सर्व' की **आधारोऽधिकरणम्** (९०२) से अधिकरणसंज्ञा हो कर उस में प्रकृतसूत्र से सप्तमी आ जाती है । इसी प्रकार—'दध्नि सर्पिः', 'पयसि घृतम्' आदि में समझ लेना चाहिये ।

प्रकृतसूत्र में 'च' के ग्रहण के कारण **दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च** (२.३.३५) सूत्र से 'दूरान्तिकार्थेभ्यः' की अनुवृत्ति आ कर दूर तथा समीप अर्थ वाले शब्दों से प्रातिपदिकार्थमात्र में सप्तमी का विधान किया जाता है—वनस्य दूरे (वन के दूर)। वनस्य अन्तिके (वन के समीप) । यहां 'दूर' और 'अन्तिक' शब्दों से प्रकृतसूत्र से सप्तमी विभक्ति हुई है ।

नोट—**दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च** (२.३.३५) सूत्र के अनुसार दूर और समीप अर्थ वाले शब्दों से द्वितीया, तृतीया और पञ्चमी का विधान पहले अष्टाध्यायी में आचार्य कर चुके हैं । अतः अब सप्तमी को मिला कर कुल चार विभक्तियों का इन शब्दों से विधान समझना चाहिये । यथा—

वनस्य दूरम्, वनस्य दूरेण, वनस्य दूरात्, वनस्य दूरे (वन के दूर) । वनस्यान्तिकम्, वनस्यान्तिकेन, वनस्यान्तिकात्, वनस्यान्तिके (वन के निकट) ।

यहां यह और भी ध्यातव्य है कि **दूरान्तिकार्थैः षष्ठ्यन्यतरस्याम्** (२.३.३४) सूत्र से दूर और समीप अर्थ वाले शब्दों के योग में षष्ठी और पञ्चमी कोई भी विभक्ति हो सकती है । ऊपर 'वन' शब्द से षष्ठी का प्रयोग दर्शाया गया है । पञ्चमी का प्रयोग भी हो सकता है । यथा—

वनाद् दूरम्, वनाद् दूरेण, वनाद् दूरात्, वनाद् दूरे (वन से दूर) ।
वनादन्तिकम्, वनादन्तिकेन, वनादन्तिकात्, वनादन्तिके (वन के निकट) ।

उपर्युक्त तीन प्रकार के आधारों के साहित्यगत कुछ उदाहरण यथा—

औपश्लेषिक आधार—

(१) **गृहीत इव केशेषु मृत्युना धर्ममाचरेत्** । (हितोप० प्र० ३)
(२) **हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा** । (रघु० १.१०)
(३) **स पाटलायां गवि तस्थिवांसं धनुर्धरः केसरिणं ददर्श** । (रघु० २.२९)
(४) **लिखितमपि ललाटे प्रोञ्छितुं कः समर्थः** । (हितोप० १.२१)
(५) **एतान्यपि चाणक्यप्रयुक्तेन वणिग्जनेनास्मासु विक्रीतानि** । (मुद्रा०)
अस्मासु = अस्माकं समीप इत्यर्थः ।
(६) **द्रष्टुकामौ धनुः श्रेष्ठं यदेतत्त्वयि तिष्ठति** । (रामायण १.६६.५)
[यह जो उत्तम धनुष तेरे पास है इसे ये दोनों देखना चाहते हैं ।]

(७) **ऋषयो वै सरस्वत्यां सत्रमासत ।** (व्या० च०; ऐतरेय ब्रा० ८.१)
[ऋषियों ने सरस्वती के तट पर यज्ञ किया ।]

(८) **ऋषिप्रभावान्मयि नान्तकोऽपि प्रभुः प्रहर्तुं किमुतान्यहिंस्राः ।**
(रघु० २.६२)

(९) **आर्त्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि ।** (शाकुन्तल० १.१०)

(१०) **याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ।** (मेघदूत० १.६)

वैषयिक आधार—

(१) **मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत् ।**
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ॥ (हितोप० १.१४)

(२) **विश्वासो नैव कर्त्तव्यः स्त्रीषु राजकुलेषु च ।** (हितोप० १.१९)

(३) **भर्तृदाराभिलाषित्वादस्यां मे महती स्वता ।** (स्वप्न० १.७)

(४) **दाने तपसि शौर्ये च यस्य न प्रथितं मनः ।**
विद्यायामर्थलाभे च मातुरुच्चार एव सः ॥ (हितोप० प्र० १६)

(५) **मातरि वर्तितव्यं पितरि शुश्रूषितव्यम् ।** (महाभाष्य १.१.९)

(६) **कस्मिंश्चित् पूजार्हेऽपराद्धा शकुन्तला ।** (शाकुन्तल०)

(७) **गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ ।**
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम् ॥
(रघु० ८.६७)

(८) **दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदपघातके हेतौ ।** (सां० का० १)

अभिव्यापक आधार—

(१) **तोये शैत्यं दाहकत्वं च भानौ तापो भानौ शीतभानौ प्रसादः ।**
पुष्पे गन्धो दुग्धमध्ये च सर्पिर्यत्तच्छम्भो ! त्वं ततस्त्वां प्रपद्ये ॥
(स्कन्दपुराण

(२) **तिलेषु तैलं दधनीव सर्पिरापः स्रोतःस्वरणीषु चाग्निः ।**
एवमात्माऽऽत्मनि गृह्यतेऽसौ सत्येनैनं तपसा योऽनुपश्यति ॥
(श्वेता० १.१५)

इति विभक्त्यर्थप्रकरणम् ॥

(लघुकौमुदी में यहां विभक्त्यर्थप्रकरण समाप्त होता है ।)

अभ्यास (१४)

[१] कारक का क्या लक्षण है ? कारक कितने और कौन कौन से हैं ? सम्बन्ध को कारक क्यों नहीं माना जाता ? सोदाहरण व्याख्या करें ।

[२] प्रातिपदिकार्थ में ही जब लिङ्ग और परिमाण का अन्तर्भाव हो जाता है तो पुनः सूत्र में उन के पृथक् ग्रहण का क्या प्रयोजन ? सोदाहरण स्पष्ट करें ।

[३] व्याख्या करें—
(क) नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः। (ख) अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा। (ग) कर्मयुक् स्यादकथितम्। (घ) कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव। (ङ) अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम्। (च) क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम्।

[४] 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' सूत्र में 'ध्रुवम्' का क्या अभिप्राय लिया जाता है? सहेतुक समझाते हुए सूत्र की व्याख्या करें।

[५] कारकप्रकरण में उक्त अनुक्त का क्या अभिप्राय होता है? कर्त्ता या कर्म के उक्त वा अनुक्त होने से वाक्य में क्या अन्तर पड़ता है? सोदाहरण स्पष्ट कीजिये।

[६] दुह्याच्—कारिका की सोदाहरण खोल कर व्याख्या करते हुए यह भी लिखें कि इन धातुओं को दो विभागों में क्यों बांटा गया है?

[७] आधार कितने प्रकार का होता है? खोल कर समझाइये।

[८] दूर-समीपार्थकों के साथ तथा इन के योग में कौन कौन सी विभक्तियां होती हैं? सोदाहरण सप्रमाण लिखें।

[९] 'ग्रामान्नायाति' यहां विश्लेष न होते हुए भी कैसे अपादानसंज्ञा हो जाती है?

[१०] 'रजकाय वस्त्रं ददाति' वाक्य के शुद्ध या अशुद्ध होने की विवेचना करें।

[११] प्रत्येक कारक के उक्त और अनुक्त के दो दो उदाहरण दीजिये।

[१२] सम्बन्ध द्विष्ठ होता है पुनः सम्बन्धविभक्ति (षष्ठी) केवल एक से ही क्यों की जाती है?

[१३] निम्नस्थ उदाहरणों में विभक्तिविधायकसूत्र को समझा कर घटाइये—
एधो दकस्योपस्कुरुते। रामेण बाणेन हतो बाली। गां दोग्धि पयः। द्रोणो व्रीहिः। मोक्ष इच्छास्ति। धावतोऽश्वात्पतति। मातुः स्मरति।

[१४] सूत्रों की व्याख्या करें—
षष्ठी शेषे। अकथितं च। कर्तुरीप्सिततमं कर्म। आधारोऽधिकरणम्। साधकतमं करणम्। कर्मणा यमभिप्रैति०। नमःस्वस्ति०।

[१५] निम्नस्थ वाक्यों को कर्मवाच्य में बदलिये—
गां दोग्धि पयः। सुधां क्षीरनिधिं मध्नाति। ग्राममजां नयति। बलिं याचते वसुधाम्।

———:o:———

अथ विभक्त्यर्थ-परिशिष्ट

विभक्त्यर्थप्रकरण या कारकप्रकरण पर सिद्धान्तकौमुदी में कुल ११५ सूत्र व्याख्यात हैं। परन्तु यहां लघुकौमुदी में बालकों के लिये केवल ११ सूत्रों का ही संक-

लन किया गया है जो स्पष्टतः इस प्रकरण के ज्ञान के लिये बहुत अपर्याप्त है। इसे देखते हुए हम इस प्रकरण के कुछ अन्य उपयोगी सूत्रों का यहां अर्थ और उदाहरण सहित संक्षिप्त व्याख्यान प्रस्तुत कर रहे हैं आशा है आरम्भिक विद्यार्थियों को अनुवाद आदि में इस से पर्याप्त सहायता मिलेगी।

प्रथमा तथा सम्बोधन

प्रथमा तथा सम्बोधन के विषय में पीछे मूल की व्याख्या करते हुए पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। वह काफी है।

द्वितीया

पूर्वोक्त मूलसूत्रों के अतिरिक्त कुछ अन्य उपयोगी सूत्र नीचे दे रहे हैं—

(१) **गति-बुद्धि-प्रत्यवसानार्थ-शब्दकर्माऽकर्मकाणाम् अणि कर्त्ता स णौ** ।१।४।५२॥

गमनार्थक, ज्ञानार्थक, भक्षणार्थक तथा शब्दकर्मक और अकर्मक धातुओं के अण्यन्त अवस्था के कर्त्ता की ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञा हो जाती है। कर्मसंज्ञा होने पर **कर्मणि द्वितीया** (८९१) से अनभिहित कर्म में द्वितीया हो जाती है। यथा—सेवको ग्रामं गच्छति (सेवक गांव को जाता है)। यहां अण्यन्तावस्था में गमनार्थक गम् धातु के प्रयोग में 'सेवकः' कर्त्ता है। यही कर्त्ता धातु की ण्यन्तावस्था में कर्म हो जाता है और तब इस में द्वितीया हो जाती है—स्वामी सेवकं ग्रामं गमयति (स्वामी सेवक को गांव भेजता है)। इन धातुओं के उदाहरणों का कोष्ठक यथा—

धातु	अण्यन्त-अवस्था	ण्यन्त अवस्था
(गमनार्थक)	सेवको ग्रामं गच्छति।	स्वामी सेवकं ग्रामं गमयति।
(ज्ञानार्थक)	शिष्या व्याकरणं विदन्ति।	गुरुश्शिष्यान् व्याकरणं वेदयति।
(भक्षणार्थक)	बालो भोजनं भुङ्क्ते।	माता बालं भोजनं भोजयति।
(शब्दकर्मक)	छात्रा वेदम् अधीयते।	छात्रान् वेदम् अध्यापयत्युपाध्यायः।
(अकर्मक)	शिशुः शेते।	शिशुं शाययति माता।

अब निम्नस्थ वार्त्तिकों द्वारा इस नियम के अपवाद कहते हैं—

(२) **वा०—नी-वह्योर्न** ॥

नी और वह् धातुओं के अण्यन्त कर्त्ता की ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञा नहीं होती। (अण्यन्त) भृत्यो भारं नयति। (ण्यन्त) स्वामी भृत्येन भारं नाययति। (अण्यन्त) भृत्यो भारं वहति। (ण्यन्त) स्वामी भृत्येन भारं वाहयति। 'भृत्य' की कर्मसंज्ञा न होने से ण्यन्तावस्था में **कर्तृकरणयोस्तृतीया** (८९५) से तृतीया विभक्ति हो जाती है।

(३) **वा०—आदि-खाद्योर्न** ॥

अद् और खाद् धातुओं के अण्यन्तकर्त्ता की ण्यन्तावस्था में कर्मसंज्ञा नहीं होती। (अण्यन्त) देवदत्तोऽन्नम् अत्ति। (ण्यन्त) देवदत्तेन अन्नम् आदयति यज्ञदत्तः। (अण्यन्त) बालक ओदनं खादति। (ण्यन्त) बालकेन ओदनं खादयति माता।

(४) **हृक्रोरन्यतरस्याम्** ।१।४।५३॥

हृ (हरना-ले जाना) और कृ (करना) धातुओं का अण्यन्तकर्त्ता ण्यन्त में विकल्प से कर्मसंज्ञक होता है। उदाहरण यथा—

हृ—(अण्यन्त) **भृत्यः** सन्देशं हरति। (ण्यन्त) { **भृत्यं** संदेशं हारयति स्वामी। **भृत्येन** संदेशं हारयति स्वामी।

कृ—(अण्यन्त) **देवदत्तः** कटं करोति। (ण्यन्त) { **देवदत्तं** कटं कारयति यज्ञदत्तः। **देवदत्तेन** कटं कारयति यज्ञदत्तः।

(५) **अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म** ।१।४।४६।।

शीङ् (सोना), स्था (ठहरना) और आस् (बैठना) धातुएं यदि अधिपूर्वक हों तो इन के आधार की कर्मसंज्ञा हो जाती है। यथा—

अधिशीङ्—ब्रह्मचारी **काष्ठपीठम्** अधिशेते (ब्रह्मचारी तख्त पर सोता है)।

अधिस्था—**गृहं** नाधितिष्ठन्ति यतयः (यति लोग घर में नहीं रहते)।

अधि-आस्—**आसनम्** अध्यास्त आचार्यः। (आचार्य आसन पर बैठे हैं)।

(६) **अभिनि-विशश्च** ।१।४।४७।।

अभि और नि इसी क्रम से ये इकट्ठे दोनों उपसर्ग यदि पूर्व में हों तो विश् धातु के आधार की कर्मसंज्ञा हो जाती है। यथा—

सन्मार्गम् अभिनिविशन्ते सन्तः (सज्जन सन्मार्ग में दृढ़ता से लग जाते हैं)।

एक उपसर्ग के पूर्व होने पर कर्मसंज्ञा न होगी—**निविशते यदि शूकशिखा पदे** (नैषध० ४.११)। आधार में सप्तमी हो जाती है।

(७) **उपान्वध्याङ्-वसः** ।१।४।४८।।

उप, अनु, अधि या आङ् इन में से कोई उपसर्ग यदि पूर्व में हो तो वस् (रहना) धातु के आधार की कर्मसंज्ञा हो जाती है। यथा—

राजा **नगरम्** उपवसति (राजा नगर में रहता है)। राजा **नगरम्** अनुवसति। राजा **नगरम्** अधिवसति। राजा **नगरम्** आवसति।

(८) **अन्तराऽन्तरेणयुक्ते** ।२।३।४।।

अन्तरा (मध्य में) और अन्तरेण (विना) इन अव्ययों के योग में द्वितीया विभक्ति होती है। यथा—

अन्तरा—अन्तरा **ग्रामद्वयं** नदी प्रवहति (दो गांवों के बीच नदी बहती है)।

अन्तरेण—**प्रमाणम**न्तरेण न विश्वसन्ति प्रामाणिकाः (प्रमाण के विना प्रामाणिक विश्वास नहीं करते)। न चान्तरेण **नावं** तरीतुं शक्येयं सरित् (नौका के विना यह नदी पार नहीं की जा सकती)।

(९) **कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे** ।२।३।५।।

अत्यन्त संयोग गम्य हो तो कालवाचक तथा मार्गवाचक शब्दों से द्वितीया विभक्ति होती है। यथा—(कालवाचक) **मासम**धीते-महीना भर लगातार पढ़ता है। **त्रीणि वासराणि** धारासारेण वृष्टो देवः—तीन दिन लगातार मूसलाधार वर्षा हुई। (ल० तृ० २२)

(मार्गवाचक) **क्रोशम्** अधीते—कोस भर लगातार पढ़ता है। **क्रोशं** गिरिः – कोस भर पर्वत है। **क्रोशं** कुटिला नदी—(कोस तक नदी टेढ़ी है)।

(१०) वा०—उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु।
द्वितीयाऽऽम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते॥

तस्प्रत्ययान्त उभ और सर्व शब्दों के योग में, धिक् अव्यय के योग में तथा आम्रेडितान्त उपरि, अधस् और अधि के योग में द्वितीया विभक्ति होती है। इन से अतिरिक्त कहीं कहीं अन्यत्र भी द्वितीया देखी जाती है।

उभयतः के योग में --उभयतो **मार्गं** वृक्षाः (मार्ग के दोनों ओर पेड़ हैं)।

'सर्वतः' के योग में—सर्वतो **नगरं** प्राकारः (नगर के चारों ओर परकोटा है)।

'धिक्' के योग में—धिङ् **दास्रधन्यम्**। धिक् **त्वां** जाल्म!। 'धिङ् मूर्ख' आदि में 'त्वाम्' का अध्याहार करना चाहिये। धिग् **नास्तिकम्। धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च** (भर्तृ० नीति० २)।

उपरि उपरि के योग में—उपरि उपरि **दुर्गं** राष्ट्रपताका चलति।

अधोऽधः के योग में---अधोऽधः **समुद्रं** याति भग्नपोतः[१]।

अध्यधि के योग में---अध्यधि **हिमगिरिं** सिद्धानामाश्रयः।

कहीं कहीं अन्यत्र भी—**ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः** (गीता० ११.३२)। यहां 'ऋते' के योग में 'त्वाम्' में द्वितीया आई है। 'ऋते' के योग में **अन्यारादितरर्ते०** (२.३.२९) सूत्र द्वारा पञ्चमी का विधान आगे आयेगा। इसी प्रकार 'प्रतिभाति' 'यावत्' आदि के योग में भी द्वितीया देखी जाती है—**बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्** (महाभाष्य० २.३.२)। **न साम्परायः**[२] **प्रतिभाति बालम्** (अज्ञानी को परलोक नहीं सूझता-- कठो० २.६)। **कियन्तमवधिं यावद् अस्मच्चरितं चित्रकारेणालिखितम्** (उत्तर० १)। **स्तन्यत्यागं यावत् पुत्रयोरवेक्षस्व** (उत्तर० ७)।

(११) वा०--अभितः-परितः-समया-निकषा-हा-प्रतियोगेऽपि॥

अभितः (दोनों ओर), परितः (चारों ओर), समया (समीप), निकषा (समीप), हा (शोक) और प्रति के योग में भी द्वितीया विभक्ति होती है।

अभितः—अभितोऽ**ध्वानं** जम्बूपादपा विलसन्ति।

परितः —**दुर्गं** परितः परिखा (किले के चारों ओर खाई है)।

समया —**ग्रामं** समया रम्या पुष्पवाटिका।

---

१. **अधोऽधः पश्यतः कस्य महिमा नोपचीयते। उपर्युपरि पश्यन्तः सर्व एव दरिद्रति॥** इत्यादियों में 'जनान्' का अध्याहार करना चाहिये। अधोऽधो जनान् पश्यतः कस्य महिमा नोपचीयते---इस प्रकार अर्थ करना चाहिये।

२. 'साम्परायः' के स्थान पर लोक में 'सम्परायः' का ही प्रयोग होता है।

निकषा—निकषा **नगरं** देवालयः (गांव के निकट देवमन्दिर है[१])।
हा—हा **नास्तिकं वेदनिन्दकम्।**
प्रति—**मन्दौत्सुक्योऽस्मि नगरगमनं प्रति।** (शाकुन्तल० १)
चन्द्रोपरागं प्रति तु केनापि विप्रलब्धासि। (मुद्रा० १)

(१२) वा०—**क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं नपुंसकत्वमेकवचनान्तत्वं चेष्यते॥**

क्रियाविशेषण भी कर्म होते हैं और इन का नपुंसकलिङ्ग की द्वितीया विभक्ति के एकवचन में प्रयोग होता है। यथा—**मन्दं** गच्छति। **मधुरं** भाषते। **सत्वरं** धावति। **शोभनं** पठति। **सक्रोधमाह। साधु** भवानास्ताम् (आप अच्छी तरह बैठिये)। क्रियाविशेषणों का विवरण इस प्रकार किया जाता है—मन्दं यथा भवति तथा गच्छतीति मन्दं गच्छति।

तृतीया

अनभिहित कर्त्ता और करण में तृतीया का विधान कर चुके हैं। अब अन्यत्र तृतीया का विधान दर्शाते हैं—

(१३) **सहयुक्तेऽप्रधाने** ।२।३।१९॥

सह तथा सह के पर्यायवाची साकम्, सार्धम्, समम्, सत्रा आदि के योग में अप्रधान में तृतीया विभक्ति होती है। उदाहरण यथा—**पुत्रेण सह** आगतः पिता (पुत्र के साथ पिता आया)। यहां 'आगतः' में क्त कर्त्ता में हुआ है अतः कर्त्ता 'पिता' यहां प्रधान है 'पुत्र' अप्रधान[२]। अप्रधान में तृतीया हो जाती है। इसी प्रकार साकम् आदि के योग में समझना चाहिये।

'सह' आदियों का योग न होने पर भी यदि 'सह' का अर्थ गम्यमान हो तो भी तृतीया हो जाती हैं। यथा—**सतां सद्भिः सङ्गः कथमपि हि पुण्येन भवति** (उत्तर० २.१)। **मा भूदेवं क्षणमपि च ते विद्युता विप्रयोगः** (मेघ० २.५८)।

(१४) **येनाऽङ्गविकारः** ।२।३।२०॥

जिस विकृत अङ्ग से अङ्गी (देह) का विकार प्रतीत होता हैं उस अङ्गवाचक शब्द से तृतीया विभक्ति हो जाती है। यथा—**अक्ष्णा काणः। पादेन खञ्जः। पृष्ठेन** कुब्जः। **पाणिना** कुणिः (हाथ से लुञ्जा)।

(१५) **इत्थम्भूतलक्षणे** ।२।३।२१॥

वह इस प्रकार का है—इस तरह बतलाने में लक्षण अर्थात् चिह्नवाचक शब्द से तृतीया विभक्ति हो जाती है। यथा—**जटाभिस्तापसः** (वह जटाओं से तपस्वी प्रतीत होता है)। **आकृत्या** शूरः (वह आकृति से शूर लगता है)। **वेषेण** यतिः (वह

---

१. प्रक्रियासर्वस्व में अभितः आदि चारों का श्लोकबद्ध सुन्दर उदाहरण यथा—
अभितः केशवं गोपा गावस्तं परितः स्थिताः।
समया तं स्थिता राधा निकषा तां सखीजनः॥ (प्र० स० सुबर्थ० पृष्ठ ११६)

२. जिस का सीधा क्रिया से अन्वय हो वह प्रधान होता है।

वेष से यति (संन्यासी) लगता है] । **इन** में जटा आदि चिह्न हैं जिन से व्यक्ति का तापसत्व आदि कहा जाता है ।

(१६) **हेतौ** ।२।३।२३।।

हेतु अर्थात् कारण में तृतीया विभक्ति होती है । यथा—**पुण्येन** दृष्टो हरिः । **पुत्रेण** हर्षः । **कन्यया** शोकः । **धनेन** कुलम् ।

हेतु और करण में यह भेद होता है कि करण केवल क्रिया का साधक होता है परन्तु हेतु द्रव्य, गुण और क्रिया किसी का भी साधक हो सकता है । इस के अतिरिक्त करण सदा व्यापारयुक्त होता है परन्तु हेतु व्यापाररहित या व्यापारसहित दोनों प्रकार का हो सकता है । विशेष विवेचन आकरग्रन्थों में देखें ।

(१७) **अपवर्गे तृतीया** ।२।३।६।।

फलप्राप्ति गम्यमान हो तो अत्यन्तसंयोग में काल और मार्ग वाचक शब्दों से तृतीया हो जाती है । पीछे **कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे** (२.३.५) से द्वितीया का विधान कर चुके हैं यह उस का अपवाद है । उदाहरण यथा—**मासेना**धीतोऽनुवाकः (महीने भर में अनुवाक पढ़ लिया) । **क्रोशेना**धीतोऽनुवाकः (कोस भर चलते चलते अनुवाक पढ़ लिया) । इसी प्रकार—**द्वादशभिर्वर्षै**र्व्याकरणं श्रूयते (बारह वर्षों के निरन्तर अध्ययन से व्याकरण समाप्त हो जाता है) । **त्रिभिर्वर्षैः सदोत्थाय कृष्णद्वैपायनो मुनिः । महाभारतमाख्यानं कृतवान् इदमद्भुतम्** । (महाभारत १.६२.५२) ।

(१८) **वा०—प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्** ।

प्रकृत्यादिगणपठित शब्दों से तृतीया विभक्ति हो जाती है—**प्रकृत्या** चारुः (स्वभाव से सुन्दर) । **गोत्रेण** गार्ग्यः । **समेन** धावति (सीधा दौड़ता है) । **विषमेण** धावति (टेढ़ा दौड़ता है) । **नाम्ना** सुतीक्ष्णः । **आत्मना** चतुर्थः । **सुखेन** याति । **दुःखेन** याति । प्रकृत्यादि आकृतिगण है ।

(१९) **पृथग्विना-नानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम्** ।२।३।३२।।

पृथक्, विना और नाना इन के योग में द्वितीया, तृतीया तथा पञ्चमी विभक्ति होती है । ये तीनों विनार्थक अव्यय हैं । उदाहरण यथा—(पृथक्)—**धर्मं** पृथग् न हि सुखम् । **धर्मेण** पृथग् न हि सुखम् । **धर्मात्** पृथग् न हि सुखम् । (विना) **विना वातं विना वर्षं विद्युत्प्रपतनं विना । विना हस्तिकृतान् दोषान् केनेमौ पातितौ द्रुमौ** (काशिका) । **शशाम वृष्ट्यापि विना दवाग्निः** (रघु० २.१४) । **गुणानुरोधेन विना न सत्क्रिया** (किरात० १.१२) । **अलिकायाद् विना पाशं को वा छेत्स्यति वारुणम्** (भट्टि० १६.३) । (नाना) नाना **नारीं (नार्या, नार्याः)** निष्फला लोकयात्रा ।

(२०) **प० —गम्यमानाऽपि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका ।।**

अर्थात् यदि कोई क्रिया वाक्य में शब्दद्वारा न कही गई हो परन्तु प्रतीत हो रही हो तो वह क्रिया भी कारकविभक्ति का निमित्त बन जाती है । यथा—अलं **श्रमेण** । यहां निषेधार्थक 'अलम्' के प्रयोग में साधन (सिद्ध होना) क्रिया गम्यमान है । अतः उस का करण होने से 'श्रम' शब्द से तृतीया हो जाती है । वाक्य का तात्पर्य यह है कि—

'श्रमेण न किमपि सेत्स्यति' अर्थात् श्रम से कुछ भी सिद्ध न होगा, श्रम न करो । इसी प्रकार—अलं **रुदितेन**; अलं **प्रलपितेन**; अलम् **अतिविस्तरेण**; **अलं महीपाल ! तव श्रमेण प्रयुक्तमप्यस्त्रमितो वृथा स्यात्** (रघु० २.३४) । **कस्मात्** त्वम् ? **नद्याः** [तू कहां से (आ रहा है—यह गम्यमान है) ? मैं नदी से] यहां गम्यमान आगमनक्रिया के कारण प्रश्न में 'कस्मात्' से तथा उत्तर में 'नद्याः' से पञ्चमी विभक्ति हो जाती है । अन्य कारकविभक्तियों में भी इसी तरह समझ लेना चाहिये ।

चतुर्थी

सम्प्रदान में चतुर्थी का विधान कर चुके है । अब कुछ अन्य सूत्रों से सम्प्रदान-संज्ञा करते हैं—

(२१) **रुच्यर्थानां प्रीयमाणः** ।१।४।३३।।

'पसन्द आना' अर्थ वाली धातुओं के प्रयोग में 'जो प्रसन्न होता है उस कारक की सम्प्रदानसंज्ञा होती है । यथा —**मह्यं** मोदकं रोचते (मुझे लड्डू पसंद है) । यहां प्रसन्न होने वाला कारक 'अस्मद्' है अतः उस की सम्प्रदानसंज्ञा हो कर चतुर्थी हो जाती है । इसी प्रकार —न **मे** स्वदतेऽपूपः (मुझे पुआ पसंद नहीं) ।

(२२) **धारेरुत्तमर्णः** ।१।४।३५।।

धारि (धृङ्+णिच्; धारण करना) धातु के प्रयोग में उत्तमर्ण (साहूकार, ऋण देने वाला) की सम्प्रदानसंज्ञा होती है । यथा—**देवदत्ताय** शतं धारयति (देवदत्त के सौ धारण करता है अर्थात् देवदत्त से सौ ऋण लेता है) । यहां धारि के प्रयोग में 'देवदत्त' उत्तमर्ण है अतः उस की सम्प्रदान संज्ञा हो कर चतुर्थी हो जाती है ।

(२३) **स्पृहेरीप्सितः** ।१।४।३६।।

स्पृह-चाहना (अदन्त चुरा०) धातु के प्रयोग में इष्ट पदार्थ की सम्प्रदानसंज्ञा होती है । यथा—**पुष्पेभ्यः** स्पृहयति (फूलों को चाहता है) । **परिक्षीणः कश्चित् स्पृहयति यवानां प्रसृतये** (भर्तृ० नीति० ३६) --कोई क्षीण पुरुष तो मुट्ठी भर जौ के लिये तरसा करता है ।

(२४) **क्रुध-द्रुहेर्ष्याऽसूयार्थानां यं प्रति कोपः** ।१।४।३७।।

क्रुध्, द्रुह्, ईर्ष्य् और असूय (कण्ड्वादि) धातुओं या इन के समानार्थक धातुओं के प्रयोग में जिस के प्रति कोप हो उस की सम्प्रदानसंज्ञा हो जाती है । यथा **देवदत्ताय** क्रुध्यति द्रुह्यति ईर्ष्यति असूयतीति वा । रुष्यति माता **पुत्राय** । **अयं ह तुभ्यं वरुणो हृणीते** (ऋ० ७.८६.३) -- यह वरुण भगवान् तुझ से क्रुद्ध है । गुरुः **शिष्याय** क्रुध्यति ।

(२५) **गत्यर्थकर्मणि द्वितीयाचतुर्थ्यौ चेष्टायामनध्वनि** ।२।३।१२।।

गत्यर्थक धातुओं के कर्म में द्वितीया और चतुर्थी विभक्तियां हो जाती हैं यदि गति चेष्टात्मिका (शारीरिक हरकत) हो और मार्ग कर्म न हो । यथा **ग्रामं** गच्छति । **ग्रामाय** गच्छति । **ग्रामं** याति । **ग्रामाय** याति । मनसा हरिं गच्छति—यहां शारीरिक

हरकत न होने से इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। पन्थानं गच्छति—यहां मार्ग कर्म है अतः सूत्र प्रवृत्त नहीं होता।

(२६) **वा०—तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या ॥**

तादर्थ्य अर्थात् 'यह उसके लिये है' इस अर्थ में जिस के लिये कोई वस्तु है उस के वाचक शब्द से चतुर्थी विभक्ति हो जाती है। यथा—काव्यं **यशसे** (काव्य यश के लिये होता है)। **यूपाय** दारु (खूंटे बनाने के लिये लकड़ी); **कुण्डलाय** हिरण्यम् (कुण्डल बनाने के लिये सुवर्ण); **रन्धनाय** स्थाली (रांधने-पकाने के लिये देगची); **मुक्तये** हरिं भजति (मुक्ति के लिये हरि को भजता है)। इसी प्रकार—**विद्या विवादाय धनं मदाय शक्तिः परेषां परिपीडनाय। खलस्य साधोर्विपरीतमेतद् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय** (सुभाषित)। **रात्रिः स्वप्नाय भूतानां चेष्टायै कर्मणामहः** (मनु० १.६५)।

पञ्चमी

अपादान में पञ्चमी का विधान बता चुके हैं। अब इस विषय के कुछ अन्य सूत्र वा वार्त्तिक यहां दिये जा रहे हैं—

(२७) **वा०—जुगुप्सा-विराम-प्रमादार्थानामुपसंख्यानम् ॥**

जुगुप्सा (घृणा, निन्दा), विराम (रुकना-हटना-थमना) और प्रमाद (लापरवाही-ध्यान न देना) अर्थ वाली धातुओं के प्रयोग में जिस से घृणा की जाये, जिस से रुका जाये और जहां प्रमाद किया जाये उस की अपादानसंज्ञा होती है। यथा—**पापाज्जु**-गुप्सते (पाप से घृणा करता है)। **पापाद्** विरमति (पाप से हटता है)। **धर्मात्** प्रमाद्यति (धर्म में प्रमाद करता है)। इसी प्रकार—**स्वाध्यायान्मा प्रमदः** (वेदपाठ में प्रमाद मत कर)। **सत्यान्न प्रमदितव्यम्** (तै० उ० १.११.१)। **स्वाधिकारात् प्रमत्तः** (मेघ० १.१)। **प्राणाघातान्निवृत्तिः परधनहरणे संयमः सत्यवाक्यम्** (भर्तृ० नीति० २६)। **सम्भूतघोरसमराद् विरराम रामः** (चम्पूरामायण १.११२)।

संयोगपूर्वक विश्लेष अपाय कहाता है। उपर्युक्त उदाहरणों में वास्तविक संयोग-वियोग नहीं होता अपितु बौद्धिक होता है अतः यह वार्त्तिक आरम्भ करना पड़ा।

(२८) **भी-त्राऽर्थानां भयहेतुः** ।१।४।२५॥

डरना और रक्षा करना अर्थ वाली धातुओं के प्रयोग में जिस से डरा जाये या जिस से रक्षा करनी हो उस की अपादानसंज्ञा हो जाती है। यथा—**चौराद्** बिभेति (चोर से डरता है)। **चौरात्** त्रायते (चोर से बचाता है)। इसी प्रकार—**बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति** (महाभारत १.१.२६८)। **स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्** (गीता २.४०)। **सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव** (मनु० २.१६२; सम्मान से ब्राह्मण नित्य ऐसे डरे जैसे विष से)। **तैलाद्रक्ष जलाद्रक्ष रक्ष मां श्लथबन्धनात्। आखुभ्यः परहस्तेभ्य इति वदति पुस्तिका** ॥

(२९) **वारणार्थानामीप्सितः** ।१।४।२७॥

रोकना अर्थ वाली धातुओं के प्रयोग में जिस से रोकना अभीष्ट है उस की

अपादानसंज्ञा हो जाती है। यथा—**यवेभ्यो** गां वारयति (जौ से गाय को रोकता है)। **परापवादसस्येभ्यो गां चरन्तीं निवारय** (शार्ङ्गधरपद्धति १४२३; परनिन्दारूप घास से चरती हुई गो=वाणी को हटाओ)।

(३०) **अन्तर्धौ येनाऽदर्शनमिच्छति** ।१।४।२८।।

व्यवधान अर्थात् ओट के होने पर छिपने वाला जिस से अपना अदर्शन चाहता है उस की अपादानसंज्ञा होती है। यथा—**मातुर्**निलीयते कृष्णः (कृष्ण माता से छिपता है)। इसी प्रकार—**अन्तर्धत्स्व रघुव्याघ्रात् तस्मात्त्वं राक्षसेश्वर** (भट्टि० ५.३२)।

(३१) **आख्यातोपयोगे** ।१।४।२९।।

नियमपूर्वक विद्याग्रहण के विषय में आख्याता (=व्याख्याता=प्रवक्ता=पढ़ाने वाला) अपादानसंज्ञक होता है। यथा—**गुरोर**धीते। इसी प्रकार—**अशिक्षतास्त्रं पितुरेव मन्त्रवत्** (रघु० ३.३१)।

(३२) **जनिकर्तुः प्रकृतिः** ।१।४।३०।।

पैदा होने वाले का कारण अपादानसंज्ञक होता है। यथा—**ब्रह्मणः** प्रजाः प्रजायन्ते (ब्रह्मा से प्रजा पैदा होती हैं)। **गोमयाद्** वृश्चिको जायते (गोबर से बिच्छू पैदा होता है)। **पङ्कात्**तामरसं जायते (कीचड़ से कमल पैदा होता है)। शशाङ्क **उदधे**-र्जायते। **कामात् क्रोधोऽभिजायते** (गीता २.६२)।

(३३) **भुवः प्रभवः** ।१।४।३१।।

प्र+भू धातु के कर्त्ता का प्रभव (प्रथम प्रकट होने का स्थान) अपादान-संज्ञक होता है। यथा—**हिमवतो गङ्गा** प्रभवति (हिमालय से गङ्गा निकलती है)। **काश्मीरेभ्यो** वितस्ता प्रभवति (काश्मीर से जेहलम निकलती है)।

(३४) **अन्याऽऽरादितरर्त्तेदिक्छब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते** ।२।३।२९।।

अन्य, आरात् (दूर या निकट), इतर, ऋते (विना), दिक्शब्द (दिशावाचक शब्द, चाहे अब वे दिशावाचक न भी हों), अञ्चूत्तरपद, आच्प्रत्ययान्त तथा आहि-प्रत्ययान्त शब्दों के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है। अन्य—अन्यः **कृष्णात्**। अन्य के पर्यायों का भी ग्रहण होता है—भिन्नः **कृष्णात्**। इतरः **कृष्णात्**। आरात्—**ग्रामाद्** आराद् आरामः (व्या० च०) (गांव के निकट बगीचा है)। आरा**च्छत्रोर्**वसेत् सदा (शत्रु से सदा दूर रहे)। दुबारा 'इतर' का ग्रहण विस्तार से समझाने के लिये है। ऋते—ऋते **ज्ञानान्न** मुक्तिः (ज्ञान के विना मुक्ति नहीं)। दिक्शब्द—पूर्वो **ग्रामात्**। दक्षिणो **ग्रामात्**। उत्तरो **ग्रामात्**। **चैत्रात्** पूर्वः फाल्गुनः। अञ्चूत्तरपद—प्राग् **ग्रामात्**। प्रत्यग् **ग्रामात्**। आच्प्रत्ययान्त—दक्षिणा **ग्रामात्**। आहिप्रत्ययान्त—दक्षिणाहि **ग्रामात्**(गांव के दक्षिण में)। प्रभृति, आरभ्य, बहिः, ऊर्ध्वम्, अनन्तरम् आदि के योग में भी पञ्चमी होती है—**ततः** प्रभृति। **तस्माद्** आरभ्य। **ग्रामाद्** बहिः। **स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः** (मनु० २.१०३)। **अत** ऊर्ध्वम्।

(३५) **अपपरी वर्जने** ।१।४।८७।।

वर्जन (छोड़ना) अर्थ में अप और परि की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है।

(३६) **आङ् मर्यादावचने** ।१।४।८८।।

मर्यादा और अभिविधि अर्थ में आङ् की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा होती है। इन दोनों अर्थों का विवेचन पीछे पूर्वार्ध में (५५) सूत्र पर सोदाहरण कर चुके है वहीं देखें।

(३७) **पञ्चम्यपाङ्परिभिः** ।२।३।१०।।

अप, आङ् और परि—इन कर्मप्रवचनीयों के योग में पञ्चमी विभक्ति होती है। अप—अप **त्रिगर्तेभ्यो** वृष्टो देवः (त्रिगर्तदेश को छोड़ कर मेघ बरसा)। परि—परि **त्रिगर्तेभ्यो** वृष्टो देवः (वही अर्थ)। आङ् –आ **विन्ध्याद्** उत्तरापथः (विन्ध्य तक अर्थात् विन्ध्य को छोड़ कर उत्तरापथ है)। आ **कुमारेभ्यो** यशः पाणिनेः (पाणिनि का यश कुमारों तक फैला हुआ है। यहां अभिविधि अर्थ में आङ् है)।

(३८) **प्रतिः प्रतिनिधि-प्रतिदानयोः** ।१।४।६१।

प्रतिनिधि (स्थानापन्न, एञ्जी) या प्रतिदान (बदले में देना) अर्थों में 'प्रति' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो जाती है।

(३९) **प्रतिनिधि-प्रतिदाने च यस्मात्** ।२।३।११।।

जिस का प्रतिनिधि हो या जिस के बदले में दिया जाये उस से कर्मप्रवचनीय के योग में पञ्चमी विभक्ति हो जाती है। यथा—

[प्रतिनिधि] प्रद्युम्नः **कृष्णात्** प्रति (प्रद्युम्न कृष्ण का प्रतिनिधि है)। [प्रतिदान]—**तिलेभ्यः** प्रति यच्छति माषान् (तिलों के बदले माष देता है)।

षष्ठी

सम्बन्धसामान्य में षष्ठी कह चुके हैं। अब षष्ठीविधायक कुछ अन्य आवश्यक सूत्रों का यहां संकलन प्रस्तुत कर रहे हैं—

(४०) **कर्तृकर्मणोः कृति** ।२।३।६५।।

कृत्प्रत्ययान्त के साथ अर्थद्वारा योग होने पर कर्त्ता या कर्म में षष्ठी विभक्ति हो जाती है। इसे कृद्योगलक्षणा षष्ठी कहते हैं। उदाहरण यथा (कर्त्ता में)—**कृष्णस्य** कृतिः। **सूत्रकारस्य** कृतिः। यहां क्तिन्प्रत्ययान्त कृदन्त 'कृति' के योग में कर्त्ता (कृष्ण, सूत्रकार) में षष्ठी विभक्ति आई है। (कर्म में)—**जगतः** कर्त्ता परमेश्वरः। **ग्रन्थस्य** प्रणेता। **वज्रस्य** भर्त्ता। **पुरां** भेत्ता। यहां तृजन्त कृदन्त के योग में जगत् आदि कर्म में षष्ठी हुई है। **तद्रक्ष कल्याणपरम्पराणां भोक्तारमूर्जस्वलमात्मदेहम्** (रघु० २.५०)। **अनभिहिते** (२.३.१) की अनुवृत्ति आ रही है अतः कृद्योग में अनुक्त कर्त्ता और अनुक्त कर्म में ही षष्ठी होती है उक्त में नहीं—वास्तव्योऽहम्, कर्त्तव्यः कटः। यहां 'अस्मद्' और 'कट' क्रमशः उक्त कर्त्ता और उक्त कर्म हैं अतः इन में कृद्योगलक्षणा षष्ठी नहीं हुई।

(४१) **कृत्यानां कर्त्तरि वा** ।२।३।७१।।

कृत्यप्रत्ययान्तों के योग में कर्त्ता में विकल्प से षष्ठी हो जाती है। षष्ठी के अभाव में अनुक्त कर्त्ता में तृतीया होती है। यथा—**ममेदं** कर्त्तव्यम्। **मयेदं** कर्त्तव्यम्।

तव पुष्पाण्यवचेयानि । **त्वया** पुष्पाण्यवचेयानि । **गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणाम्** (मेघ० ७) ।

(४२) **क्तस्य च वर्त्तमाने** ।२।३।६७।।

वर्त्तमानकाल में विहित क्तप्रत्यय के योग में षष्ठी विभक्ति हो जाती है । यथा—**राज्ञां** मतः । **राज्ञां** बुद्धः । **राज्ञां** पूजितः । यहां **मति-बुद्धि-पूजार्थेभ्यश्च** (३.२.१८८) सूत्र से वर्त्तमानकाल में क्तप्रत्यय हुआ है । ध्यान रहे कि यहां **न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्** (२.३.६९) इस वक्ष्यमाणसूत्र से कृद्योग में षष्ठी का निषेध प्राप्त था । उसे रोकने के लिये यह सूत्र रचा गया है ।

(४३) **न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्** ।२।३।६९।।

ल, उ, उक, अव्यय, निष्ठा, खलर्थ और तृन्—इन कृत् प्रत्ययों के योग में षष्ठी विभक्ति नहीं होवी ।

ल—से लादेश शतृ शानच् आदि प्रत्ययों का ग्रहण होता है । यथा—**ओदनं** पचन्; **ओदनं** पचमानः; **कुर्वन्नपि व्यलीकानि यः प्रियः प्रिय एव सः** (हितोप० १. १३२) ।

उ (उ तथा इष्णुच्)—**कटं** चिकीर्षुः । **ओदनं** बुभुक्षुः । **तत्त्वं** बुभुत्सुः (तत्त्व को जानने की इच्छा वाला) । **कन्याम्** अलङ्करिष्णुः ।

उक (उकञ्)—**दैत्यान्** घातुको हरिः ।

अव्यय (क्त्वा, ल्यप्, तुमुँन्, णमुँल्)—**जगत्** सृष्ट्वा । **सुखं** कर्तुम् । **ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्** । **अतीत्य हि गुणान् सर्वान् स्वभावो मूर्ध्नि वर्त्तते** (हितोप० १.२०) । **शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खाः** (हितोप० १.१७१) । **ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति** (शाकुन्तल १.१८) । **स्मारं स्मारं गुरोर्गिरः** (प्रौढमनोरमा) ।

निष्ठा (क्त, क्तवतुँ)—**त्वया** कृतम् । **मया** कृतम् । **ओदनं** भुक्तवान् । **स शापो न त्वया राजन् न च सारथिना श्रुतः** (रघु० १.७८) ।

खलर्थ—ईषत्करः कटो **भवता** । **दुस्तरो जीवता देवि मयाऽयं शोकसागरः** (रामायण २.५९.३२) । **दुर्जया हि विषया विदुषाऽपि** (नैषध ५.१०९) । **सा दुष्प्रधर्षा मनसापि हिंस्रैः** (रघु० २.२७) ।

तृन्[1]—कर्ता **लोकान्** । वदिता **जनापवादान्** ।

नोट—ध्यान रहे कि यह सब निषेध कारकषष्ठी अर्थात् कृद्योगलक्षणा षष्ठी का ही है । शेष की विवक्षा में तो षष्ठी निर्बाध होगी ही । यथा—**इक्ष्वाकूणां दुरापेऽर्थे**

---

१. 'तृन्' से यहां प्रत्याहार लिया जाता है । अष्टाध्यायीस्थ **लटः शतृ०** (३.२.१२४) सूत्रस्थ 'तृ' से ले कर **तृन्** (३.२.१३५) सूत्र के नकार तक 'तृन्' प्रत्याहार बनता है । इस प्रत्याहार में शानच्, शानन्, चानश्, शतृँ और तृन् इन प्रत्ययों का ग्रहण होता है । **सोमं** पवमानः (शानन्) । अधीयन् **पारायणम्** (शतृँ) ।

त्वदधीना हि सिद्धयः (रघु० १.७२)। **ब्राह्मणस्य** कुर्वन्। **नरकस्य** जिष्णुः (नरक का जीतने वाला)।

(४४) **षष्ठी हेतु-प्रयोगे** ।२।३।२६॥

हेतुशब्द के प्रयोग में हेतुद्योत्य होने पर हेतु के द्योतक शब्द से तथा हेतुशब्द से भी षष्ठी विभक्ति हो जाती है। यथा—**अन्नस्य हेतोर्**वसति (अन्न के कारण रहता है)। **अल्पस्य हेतोर्बहु हातुमिच्छन् विचारमूढः प्रतिभासि मे त्वम्** (रघु० २.४७)। **निवासहेतोरुटजं वितेरुः** (रहने के लिये कुटिया दी—रघु० १४.८१)। **हेतौ** (२.३.२३) द्वारा हेतु में प्राप्त तृतीया का यह अपवाद है।

(४५) **सर्वनाम्नस्तृतीया च** ।२।३।२७॥

हेतु द्योतक सर्वनाम और हेतु दोनों के प्रयोग में दोनों से षष्ठी या तृतीया विभक्ति हो जाती है। यथा—**कस्य हेतोर्**वसति, **केन हेतुना** वसति (किस कारण रहता है)। वार्त्तिककार इस में संशोधन प्रस्तुत करते हैं—

(४६) **वा०—निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम्** ॥

निमित्त शब्द या उस के पर्याय—कारण, हेतु, प्रयोजन आदि शब्दों का प्रयोग होने पर हेतु द्योतक तथा तत्समानाधिकरण शब्द दोनों से प्रायः सब विभक्तियों का प्रयोग होता है। यथा—(प्रथमा) किं निमित्तम्। (द्वितीया) किं निमित्तम्। (तृतीया) केन निमित्तेन। (चतुर्थी) कस्मै निमित्ताय। (पञ्चमी) कस्मान्निमित्तात्। (षष्ठी) कस्य निमित्तस्य। (सप्तमी) कस्मिन्निमित्ते। इसी प्रकार—किं कारणम्, किं कारणम्, केन कारणेन, कस्मै कारणाय, कस्मात् कारणात्, कस्य कारणस्य, कस्मिन् कारणे। को हेतुः, कं हेतुम्, केन हेतुना, कस्मै हेतवे, कस्माद् हेतोः, कस्य हेतोः, कस्मिन् हेतौ। इसी तरह प्रयोजन आदि शब्दों के साथ भी। सर्वनाम के अतिरिक्त यदि कोई अन्य समानाधिकरण में हो तो प्रथमा और द्वितीया को छोड़ अन्य सब विभक्तियों का प्रयोग होता है[1]। यथा—ज्ञानेन निमित्तेन, ज्ञानाय निमित्ताय, ज्ञानात् निमित्तात्, ज्ञानस्य निमित्तस्य, ज्ञाने निमित्ते।

सप्तमी

अधिकरण में सप्तमी का विधान प्रतिपादित कर चुके हैं। अब कुछ अन्य स्थानों पर सप्तमी का विधान करते हैं—

(४७) **यस्य च भावेन भावलक्षणम्** ।२।३।३७॥

जिस की प्रसिद्ध क्रिया से किसी अन्य की दूसरी क्रिया लक्षित होती है उस क्रियावान् से सप्तमी विभक्ति हो जाती है। यथा—**गोषु दुह्यमानासु** गतः (जब गौएं दुही जा रही थीं वह तब गया या गौओं के दुहे जाने पर गया)। यहां गौओं की दोहन क्रिया से किसी दूसरे की गमनक्रिया लक्षित होती है अतः 'गो' से सप्तमी हो जाती है। उस के विशेषण 'दुह्यमाना' में भी सामानाधिकरण्यवश सप्तमी हो जाती है।

---

१. वार्त्तिक में 'प्रायदर्शनात्' में 'प्राय' के ग्रहण के कारण ऐसी व्याख्या की जाती है।

यहां यह विशेष स्मर्तव्य है कि यह सब एक ही वाक्य में होता है और लक्षणक्रिया प्रायः कृत्प्रत्ययद्वारा कही जाती है। जहां क्रिया न भी कही गई हो वहां 'सति, सत्याम्' आदि लगा लिया जाता है। अत एव इस सप्तमी को भावसप्तमी या सतिसप्तमी भी कहते हैं। इस के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

[१] **सति विभवे न जीर्णमलवद्वासाः स्यात्।** (व्या० च० गो० ध० १.९.४)
(धन होते हुए मनुष्य जीर्ण या मलिन कपड़े न पहने)

[२] **नरेशे जीवलोकोऽयं निमीलति** (शत्रन्त) **निमीलति।**
(हितोप० ३.१४५)

[३] **विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।** (कुमार० १.५९)

[४] **वसन्तसमये प्राप्ते काकः काकः पिकः पिकः।** (सुभाषित)

[५] **अग्निषु हूयमानेषु स गतो हुतेषु चागतः।** (व्या० च०)

[६] **ऊनं न सत्त्वेष्वधिको बबाधे तस्मिन्वनं गोप्तरि गाहमाने।**
(रघु० २.१४)

[७] **क एष मयि स्थिते चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति।** (मुद्रा० १)।

[८] **यस्मिञ्जीवति जीवन्ति बहवः सोऽत्र जीवतु।** (हितोप० २.३७)

(४८) **यतश्च निर्धारणम्** ।२।३।४१।।

जाति, गुण, क्रिया या संज्ञा के द्वारा किसी समुदाय से उस के एकदेश का (उत्कर्ष या अपकर्ष बतलाने के लिये) अलग निर्देश करना निर्धारण कहाता है। निर्धारण में समुदाय वाचक शब्द से षष्ठी या सप्तमी विभक्ति होती है। यथा—(जातिद्वारा)—**नृणां** ब्राह्मणः श्रेष्ठः, **नृषु** ब्राह्मणः श्रेष्ठः (मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है)। यहां नृसमुदाय में से उस के एकदेश ब्राह्मणजाति का श्रेष्ठत्व प्रतिपादन किया गया है अतः समुदायवाचक 'नृ' शब्द से षष्ठी या सप्तमी का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार—**मनुष्याणां मनुष्येषु वा** क्षत्रियः शूरतमः। (गुण द्वारा) – **गवां गोषु** वा कृष्णा बहुक्षीरा (गौओं में काली गाय बहुत दूध देती है)। (क्रिया द्वारा)—**गच्छतां गच्छत्सु** वा धावन् शीघ्रः (गमन करने वालों में दौड़ने वाला शीघ्र होता है)। (संज्ञा-द्वारा)—**छात्त्राणां छात्त्रेषु** वा मैत्रः पटुः (छात्रों में मैत्र चतुर है)। यहां यह ध्यातव्य है कि निर्धारण में उद्भूतावयव समुदाय की विवक्षा होने से प्रायः समुदायवाचक शब्द से बहुवचन का ही प्रयोग होता है।

इस के साहित्यगत कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(क) **सर्वेषामेव दानानां ब्रह्मदानं विशिष्यते।** (मनु० ४.२३३)

(ख) **ख्यातः सर्वरसानां हि लवणो रस उत्तमः।**
गृहीतं च विना तेन व्यञ्जनं गोमयायते॥ (हितोप० ३.५६)

(ग) **धान्यानां संग्रहो राजन्नुत्तमः सर्वसंग्रहात्।**
निक्षिप्तं हि मुखे रत्नं न कुर्यात् प्राणधारणम्॥ (हितोप० ३.५५)

(घ) **भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः ।**
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥ (मनु० १.९६)
ब्राह्मणेषु च विद्वांसो विद्वत्सु कृतबुद्धयः ।
कृतबुद्धिषु कर्त्तारः कर्तृषु ब्रह्मवेदिनः ॥ (मनु० १.९७)

(ङ) **सर्वेषां तैलजातानां तिलतैलं विशिष्यते ।** (चरक सूत्र० १२.११)

(च) **द्रष्टव्येषु किमुत्तमं मृगदृशः प्रेमप्रसन्नं मुखम् ।** (भर्तृ० शृङ्गार० ७)

(छ) **अर्घ्यामर्थपतिर्वाचमाददे वदतां वरः ।** (रघु० १.५९)

(४९) **पञ्चमी विभक्ते** ।२।३।४२॥

जहां विभिन्न दो वस्तुओं या समुदायों में से किसी एक का निर्धारण हो वहां अवधिभूत से पञ्चमी विभक्ति होती है । यथा—माथुराः **पाटलिपुत्रकेभ्य** आढचतराः (मथुरानिवासी पटनानिवासियों से अधिक सम्पन्न हैं) । यहां मथुरानिवासी और पटनानिवासी दोनों परस्पर भिन्न विवक्षित हैं इन का कोई एक समुदाय नहीं । अतः इन में से एक के निर्धारण में अवधिभूत 'पाटलिपुत्रक' से पञ्चमी विभक्ति हुई है ।

पूर्वसूत्र और इस सूत्र में यह अन्तर है कि जहां पूर्वसूत्र का विषय एक समुदाय होता है जिस में से उस के एक अंश का निर्धारण किया जाता है वहां इस सूत्र का विषय दो विभिन्न वस्तुएं व्यक्तियां वा समुदाय होती हैं जिन में एक की अपेक्षा दूसरे का निर्धारण किया जाता है ।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(क) **इमामनूनां सुरभेरवेहि ।** (रघु० २.५४)

(ख) **नास्ति सत्यात् परो धर्मः ।** (मनु० ८.७)

(ग) **मौनात् सत्यं विशिष्यते ।** (सुभाषित)

(घ) **कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।** (गीता० ३.८)

(ङ) **धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ।** (गीता० २.३१)

(च) **सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ।** (गीता० २.३४)

(छ) **वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि ।**
लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति ॥ (उत्तर० २.७)

(ज) **पुत्रगात्रस्य संस्पर्शश्चन्दनादतिरिच्यते ।** (पञ्च० ५.२०)

(झ) **तृणादपि लघुस्तूलस्तूलादपि च याचकः ।**
वायुना किं न नीतोऽसौ मामयं प्रार्थयेदिति ॥ (सुभाषित)

अभ्यास (१५)

[१] सूत्रों और वार्त्तिकों की सोदाहरण व्याख्या करें—

सहयुक्तेऽप्रधाने । कृत्यानां कर्त्तरि वा । न लोकाव्ययनिष्ठा० । अधि-शीङ्स्थासां कर्म । उभसर्वतसोः कार्या० । क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं० । आख्यातोपयोगे । इत्थम्भूतलक्षणे । गतिबुद्धिप्रत्यवसानार्थ० । यस्य च

भावेन भावलक्षणम् । उपान्वध्याङ्वसः । गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका ।

[२] निम्नस्थ उदाहरणों में विभक्तिविधायक सूत्र का समन्वय करें—
१. नृषु ब्राह्मणः श्रेष्ठः। २. गोषु दुह्यमानासु गतः । ३. कस्मिन् निमित्ते । ४. कर्त्ता लोकान् । ५. ओदनं बुभुक्षुः । ६. राज्ञां मतः । ७. जगतः कर्त्ता परमेश्वरः । ८. तिलेभ्यः प्रति यच्छति माषान् । ९. आ कुमारेभ्यो यशः पाणिनेः । १० ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः । ११. हिमवतो गङ्गा प्रभवति । १२. चौरात् त्रायते । १३. धर्मान्न प्रमदितव्यम् । १४. काव्यं यशसे । १५ पुष्पेभ्यः स्पृहयति । १६. सतां सद्भिः सङ्गः । १७. जटाभिस्तापसः । १८. कन्यया शोकः । १९. नगरमधिवसति । २०. स्वामी सेवकं ग्रामं गमयति । २१. क्रोशं कुटिला नदी । २२. ग्रामं समया । २३. स्वामी भृत्येन भारं हारयति । २४. देवदत्ताय शतं धारयति ।

[३] 'यतश्च निर्धारणम्' और 'पञ्चमी विभक्ते' सूत्रों के विषय का विवेचन करें ।

[४] तादर्थ्य किसे कहते हैं ? इस में कौन सी विभक्ति आती है ? इस के तीन उदाहरण दीजिये।

[५] निम्नस्थों के योग में कौन कौन सी विभक्ति आती है सप्रमाण उदाहरण दर्शा कर स्पष्ट करें—
नाना, अभितः, आरात्, नमः, समया, अन्तरा, सह, उभयतः, हा, अलम्, पृथक्, स्वाहा, कृत्प्रत्यय, कृत्यप्रत्यय, खलर्थप्रत्यय ।

[६] सप्रमाण समझाते हुए अशुद्धिशोधन कीजिये—

भुजङ्गः प्रकृतेः क्रूरो वेषात् संलक्ष्यते यतिः ।
उपर्युपरि नीरस्य तरन्ति स्नेह-बिन्दवः ॥१॥

अधिशेते मृगो मार्गे नगरे नाऽऽवसेद् मुनिः ।
न चान्तरेण पुत्रेण गृहस्थः शोभते क्वचित् ॥२॥

कुप्यन्ति गुरवः शिष्ये ग्राममाराद् वसेद् बुधः ।
कर्णयोर्बधिरो नैव परोक्तं बुध्यते क्वचित् ॥३॥

न रोचे पठनं ग्रन्थं शस्त्रात्तेन रिपुर्हतः ।
पर्वतेभ्यः समस्तेभ्य एष उच्चतमो गिरिः ॥४॥

प्रासादे परितो वृक्षा नमामि परमात्मने ।
गुरोः सत्रा गमिष्यामि धिङ् नीचाय दुरात्मने ॥५॥

अधीत्य त्रीणि वर्षाणि सफलोऽसावजायत ।
अधिवस्तुमरण्येऽस्मिन् यतन्ते सर्वदेवताः ॥६॥

नकुलोऽयं प्रभुः सर्वेऽध्ययनं **कं न रोचते** ।
पापिनं **न धनं दद्याद्** मृत्युना **न परं भयम्** ।।७।।
श्रमादलं महीपाल ! तव **नाथेऽशुभं कुतः** ।
वाहयन्ति रथान् सूतः हयान् श्वेतानलङ्कृतान् ।।८।।
अध्यास्ते पर्णशालायां **भीतः** सिंहेन **बालकः** ।
अद्रुह्यदर्जुनं कर्ण ऋते धर्मे कुतः सुखम् ।।९।।
जननी खादयत्यन्नं निजान् पुत्रान् **विशेषतः** ।
धर्मे **बोऽभिनिवेशः स्याच्छिष्योऽधीते** गुरौ **सदा** ।।१०।।
केन **हेतोरिमे बालाः क्रुध्यन्ति** निजमातरि ।
शूराय **दुर्जयः कामो** दैत्यानां **घातुको हरिः** ।।११।।
युवयोरन्तरा **कोऽस्ति** ग्रामस्य **निकषा सरः** ।
क्षुत्पिपासापरीतस्य **संगीतं प्रतिभाति किम्** ? ।।१२।।
स्पृहयन्ति मृगा घासं क्रोशेन **कुटिला सरित्** ।
स्वाध्यायेन **प्रमादश्चेद्** विप्राय **मरणं मतम्** ।।१३।।
निवारयतु कीर्त्यर्थी स्वां जिह्वां परनिन्दया ।
वज्रेणापि **कठोरत्वं यात्युक्तं दुर्वचः क्वचित्** ।।१४।।

इति विभक्त्यर्थ-परिशिष्टम् ।

(यहां पर विभक्त्यर्थप्रकरण का परिशिष्ट समाप्त होता है।)

मुनि-राम-नभो-नेत्रे वैक्रमे शुभवत्सरे ।
आश्विनस्य सिते पक्षे दुर्गाष्टम्यां तिथौ तथा ।।१।।
लघु-सिद्धान्त-कौमुद्या भैमीव्याख्याविभूषितः ।
कृदन्तकारकाख्योऽयं तृतीयः पूर्तिमागतः ।।२।।
(आश्विन २०३७ वैक्रमाब्द; अक्तूबर सन् १९८०)

इति भूतपूर्वाखण्डभारतान्तर्गत-सिन्धुतटवर्ति-डेराइस्माईलखाना-
ख्यनगरवास्तव्य-भाटियावंशावतंस-स्वर्गत-श्रीमद्रामचन्द्र-
वर्मसूनुना एम्० ए० साहित्यरत्नेत्याद्यनेकोपाधि-
भृता वंशेन भीमसेनशास्त्रिणा विरचितायां
लघुसिद्धान्तकौमुद्या भैमीव्याख्यायां
कृदन्त-विभक्त्यर्थात्मक-
स्तृतीयो भागः
पूर्तिमगात्

——:o:——

(१) परिशिष्टे—अष्टाध्यायी-सूत्र-तालिका

[यहां इस ग्रन्थ में आये अष्टाध्यायीस्थ सूत्रों की सूची दी जा रही है। स्थूलाक्षरों में मुद्रित सूत्र मूल लघुकौमुदी के हैं। सूक्ष्माक्षरों वाले सूत्र व्याख्याकार द्वारा उपबृंहित कर व्याख्यात किये गये हैं। सूत्रों के आगे पृष्ठसंख्या दी गई है।]

(२) परिशिष्ट—वार्त्तिक-तालिका

[इस परिशिष्ट में इस भाग के अन्तर्गत मूल तथा भैमी-व्याख्या में आये वार्त्तिकों की सूची दे रहे हैं। मोटे टाइप में मूलगत वार्त्तिक हैं। आगे पृष्ठसंख्या दी गई है।]

(३) परिशिष्टे—कारिकादितालिका

[इस परिशिष्ट में भैमीव्याख्या के इस भाग में व्याख्यात व्याकरणसम्बन्धी कारिकाओं तथा श्लोकों की तालिका प्रस्तुत की जा रही है। आगे पृष्ठसंख्या दी गई है।]

(४) परिशिष्टे--परिभाषादि-तालिका

[इस परिशिष्ट में इस ग्रन्थ में व्याख्यात परिभाषाओं, न्यायों तथा अन्य विशेषवचनों की सूची दी जा रही है। आगे पृष्ठसंख्या निर्दिष्ट है।]

(५) परिशिष्टे—विशेषद्रष्टव्यस्थलतालिका

[इस तालिका में इस व्याख्या के कुछ द्रष्टव्यस्थलों का निर्देश किया गया है]

६. परिशिष्टे–

भैमीव्याख्या तृतीय भाग के

विशेष स्मरणीय पद्य व वचन

(१) नितान्तं कृतकृत्यस्य गुणवृद्धिविधायिनः ।
श्रीजयापीडदेवस्य पाणिनेश्च किमन्तरम् ॥
(पृष्ठ ७)

(२) भिदेलिमानि काष्ठानि शालयोऽमी पचेलिमाः ।
छिदेलिमा जीर्णरज्जुस्तृणजालं दहेलिमम् ॥
(पृष्ठ १३)

(३) क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः
क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव ।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य
चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥
(पृष्ठ १३)

(४) शिष्टज्ञानार्थाऽष्टाध्यायी । (पृष्ठ १५)

(५) गेयं गीतानामसहस्रं ध्येयं श्रीपतिरूपमजस्रम् ।
नेयं सज्जनसङ्गे चित्तं देयं दीनजनाय च वित्तम् ॥
(पृष्ठ १८)

(६) हेयं हर्म्यमिदं निकुञ्जभवनं श्रेयं प्रदेयं धनं
पेयं तीर्थपयो हरेर्भगवतो गेयं पदाम्भोरुहम् ।
नेयं जन्म चिराय दर्भशयने धर्मे निधेयं मनः
स्थेयं तत्र सिताऽसितस्य सविधे ध्येयं पुराणं महः ॥
(पृष्ठ १८)

(७) हेयं दुःखमनागतम् । (पृष्ठ १८)

(८) ईङ् गताविति धातोर्यत् तस्मादेयमिति स्थिते ।
एङीति पररूपे स्याद् उपेयमिति न त्विणः ॥
(पृष्ठ २०)

(९) धातोः कार्यमुच्यमानं तत्प्रत्यये भवति ।
(पृष्ठ २५)

(१०) यस्मिन् दश सहस्राणि पुत्रे जाते गवां ददौ ।
ब्राह्मणेभ्यः प्रियाख्येभ्यः सोऽयमुञ्छेन जीवति ॥
(पृष्ठ ५१)

(११) जन्मतः स्वजनशोककारिका सम्प्रदानसमयेऽर्थहारिका ।
यौवनेऽपि बहुदोषकारिका दारिका हृदयदारिका पितुः ॥
(पृष्ठ ५५)

(१२) स्वमाने परमाने चोभयत्रापि स्मृतो णिनिः ।
परं खशो विधानं तु स्वमान एव केवलम् ॥
(पृष्ठ ७३)

(१३) अवावरीं धीतिमिरस्य पीवरीं
संसारसिन्धोः परमार्थ-दृश्वरीम् ।
सुधीवरीं सत्पुरुषार्थसम्पदां
नमामि भक्त्या परया सरस्वतीम् ॥
(पृष्ठ ८०)

(१४) विंशत्याद्याः सदैकत्वे सर्वाः संख्येयसंख्ययोः ।
संख्यार्थे द्विबहुत्वे स्तस्तासु चानवतेः स्त्रियः ॥
(पृष्ठ ९१)

(१५) तान्ते दोषो दीर्घत्वं स्याद् दान्ते दोषो निष्ठानत्वम् ।
धान्ते दोषो धत्वप्राप्तिस्थान्तेऽदोषस्तस्मात्थान्तः ॥
(पृष्ठ १००, विद्युन्मालावृत्तम्)

(१६) उणादयो ह्यव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि ।
(पृष्ठ १६६)

(१७) नाम च धातुजमाह निरुक्ते
व्याकरणे शकटस्य च तोकम् ।
(पृष्ठ १६६)

(१८) उणादिप्रत्ययाः सन्ति पादोत्तरशतत्रयम् ।
(पृष्ठ १६६)

(१९) सञ्ज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे ।
कार्याद् विद्यादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिषु ॥
(पृष्ठ १७०)

(२०) तुमुन्क्त्वाप्रत्ययादीनां सत्त्वभूतार्थवर्जनात् ।
सामान्योक्तः सुरेव स्यादिति न्यासादिषु स्थितम् ॥
(पृष्ठ १७८)

(२१) पानीयं पातुमिच्छामि त्वत्तः कमललोचने ।
यदि दास्यसि नेच्छामि नो दास्यसि पिबाम्यहम् ॥
(पृष्ठ १८२)

(२२) कृदभिहितो भावो द्रव्यवत् प्रकाशते ।
(पृष्ठ १९४)

(२३) घञबन्तः (पुंसि) (पृष्ठ १९४)

(२४) घाजन्तश्च (पुंसि) (पृष्ठ १९९)

(२५) ददातिश्च दधातिश्च मिनोतिर्लभिरित्यपि ।
क्रीणातिश्च करोतिश्च बिभर्त्यथ पचिर्वपिः ।
पाणिनीये महातन्त्रे नवैते धातवो ड्वितः ।
प्रत्ययः क्त्रिर्भवेद् भावे निर्वृत्ते मप् ततः स्मृतः ॥
(पृष्ठ २०७)

(२६) अकृतस्य क्रिया चैव प्राप्तेर्बाधनमेव च ।
अधिकार्थविवक्षा च त्रयमेतन्निपातनात् ॥
(पृष्ठ २२०)

(२७) क्रियाजनकत्वं कारकत्वम् । (पृष्ठ २९५)

(२८) कर्त्ता कर्म च करणं च सम्प्रदानं तथैव च ।
अपादानाधिकरणे चेत्याहुः कारकाणि षट् ॥
(पृष्ठ २९६)

(२९) विवक्षातः कारकाणि भवन्ति । (पृष्ठ २९६)

(३०) नियतोपस्थिकः प्रातिपदिकार्थः । (पृष्ठ २९७)

(३१) द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते ।
(पृष्ठ २९७)

(३२) मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययान्योऽर्थः प्रतीयते ।
रूढेः प्रयोजनाद्वासौ लक्षणा शक्तिरर्पिता ॥
(पृष्ठ २९८)

(३३) सम्बोधनपदं यच्च तत्क्रियाया विशेषणम् ।
व्रजानि देवदत्तेति निघातोऽत्र तथा सति ॥
(पृष्ठ ३०२)

(३४) यल्लिङ्गं यद्वचनं या च विभक्तिर्विशेष्यस्य ।
तल्लिङ्गं तद्वचनं सैव विभक्तिर्विशेषणस्यापि ॥
(पृष्ठ ३०५)

(३५) विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम् ।
(पृष्ठ ३०६)

(३६) दुह्याच्पच्दण्ड्रुधिप्रच्छि-चिब्रूशासुजिमथ्-मुषाम् ।
कर्मयुक् स्यादकथितं तथा स्यान्नीहृकृष्वहाम् ॥
(पृष्ठ ३०७)

(३७) अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा । (पृष्ठ ३०८)

(३८) गौणे कर्मणि दुह्यादेः प्रधाने नीहृकृष्वहाम् ।
(पृष्ठ ३०८)

(३९) प्रागन्यतः शक्तिलाभान्यग्भावापादनादपि ।
तदधीनप्रवृत्तित्वात् प्रवृत्तानां निवर्तनात् ॥
अदृष्टत्वात् प्रतिनिधेः प्रविवेकेऽपि दर्शनात् ।
आरादप्युपकारित्वात् स्वातन्त्र्यं कर्त्तुरिष्यते ॥
(पृष्ठ ३१४)

(४०) वस्तुतस्तदनिर्देश्यं नहि वस्तु व्यवस्थितम् ।
स्थाल्या पच्यत इत्येषा विवक्षा दृश्यते यतः ॥
(पृष्ठ ३१६)

(४१) भेद्यभेदकयोश्चैक-सम्बन्धोऽन्योऽन्यमिष्यते ।
द्विष्ठो यद्यपि सम्बन्धः षष्ठ्युत्पत्तिस्तु भेदकात् ॥
(पृष्ठ ३२६)

(४२) कर्तृकर्मव्यवहिताम् असाक्षाद् धारयत् क्रियाम् ।
उपकुर्वत् क्रियासिद्धौ शास्त्रेऽधिकरणं स्मृतम् ॥
(पृष्ठ ३३१)

(४३) उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु ।
द्वितीयाऽऽम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ॥
(पृष्ठ ३३८)

(४४) क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं नपुंसकत्वमेकवचनान्तत्वं चेष्यते । (पृष्ठ ३३९)

* * *

भैमी प्रकाशन

के ग्रन्थों की नवीन सूची 2007

१. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (प्रथम भाग)

लेखक के दीर्घकालिक व्याकरणाध्यापन का यह निचोड़ है । कौमुदी पर इस प्रकार की विस्तृत वैज्ञानिक विश्लेषणात्मक हिन्दी व्याख्या आज तक नहीं निकली । इस व्याख्या के **सन्धि षड्लिङ्ग तथा अव्ययप्रकरणात्मक** प्रथम भाग में प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद, विभक्तिवचन, समास-विग्रह, अनुवृत्ति, अधिकार, सूत्रगत तथा अनुवर्तित प्रत्येक पद का अर्थ, परिभाषाजन्य विशेषता, अर्थ की निष्पत्ति, उदाहरण प्रत्युदाहरण तथा विस्तृत सिद्धि देते हुए छात्रों और अध्यापकों के मध्य आने वाली प्रत्येक शङ्का का पूर्ण विस्तृत समाधान प्रस्तुत किया गया है। इस हिन्दी व्याख्या की देश-विदेश के डेढ़ सौ से अधिक विद्वानों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है । स्थान-स्थान पर परिपठित विषय के आलोडन के लिए बड़े यत्न से पर्याप्त विस्तृत अभ्यास सङ्गृहीत किये गये हैं । इस व्याख्या की रूपमालाओं में अनुवादोपयोगी लगभग दो हज़ार शब्दों का अर्थसहित बृहत्संग्रह प्रस्तुत करते हुए णत्वप्रक्रियोपयुक्त प्रत्येक शब्द को चिह्नित किया गया है । आज तक लघुकौमुदी की किसी भी व्याख्या में ऐसी विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती । व्याख्या की सबसे बड़ी विशेषता अव्ययप्रकरण है । प्रत्येक अव्यय के अर्थ का विस्तृत विवेचन करके उसके लिए विशाल संस्कृत वाङ्मय से किसी न किसी सूक्ति वा प्रसिद्ध वचन को सङ्गृहीत करने का प्रयास किया गया है । अकेला **अव्ययप्रकरण** ही लगभग सौ पृष्ठों में समाप्त हुआ है । एक विद्वान् समालोचक ने ग्रन्थ की समालोचना करते हुए यहां तक कहा था कि—**यदि लेखक ने अपने जीवन में अन्य कोई प्रणयन न कर केवल अव्यय-प्रकरण ही लिखा होता तो केवल यह प्रकरण ही उसे अमर करने में सर्वथा समर्थ था** । सन्धिप्रकरण में लगभग एक हजार अभूतपूर्व नये उदाहरण विद्यार्थियों के अभ्यास के लिए संकलित किये गये हैं—उदाहरणार्थ अकेले **इको यणचि** सूत्र पर ५० नये उदाहरण दिये गये हैं। इस व्याख्या में ग्रन्थगत किसी भी शब्द की रूपमाला को तद्वत् नहीं लिखा गया प्रत्युत प्रत्येक शब्द एवं धातु की पूरी-पूरी सार्थ रूपमाला दी गई है । स्थान-स्थान पर समझाने के लिए नाना प्रकार के कोष्ठकों और चक्रों से यह ग्रन्थ ओत-प्रोत है । इस प्रकार का यत्न व्याकरण के किसी भी ग्रन्थ पर अद्ययावत् नहीं किया गया । यह व्याख्या छात्रों के लिए ही नहीं अपितु अध्यापकों तथा अनुसन्धान-प्रेमियों के लिए भी अतीव उपयोगी है । अन्त में अनुसन्धानोपयोगी कई परिशिष्ट दिये गये हैं ।

२. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (द्वितीय भाग)

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी के इस भाग में **दस गण** और **एकादश प्रक्रियाओं** की विशद व्याख्या प्रस्तुत की गई है । तिङन्तप्रकरण व्याकरण की पृष्ठास्थि (Back bone) समझा जाता है । क्योंकि धातुओं से ही विविध शब्दों की सृष्टि हुआ करती है । अत: इस भाग की व्याख्या में विशेष श्रम किया गया है । लगभग दो सौ ग्रन्थों के आलोडन से इस भाग की निष्पत्ति हुई है । प्रत्येक सूत्र के पदच्छेद, विभक्तिवचन, समासविग्रह, अनुवृत्ति, अधिकार, प्रत्येक पद का अर्थ, परिभाषाजन्यवैशिष्ट्य, अर्थनिष्पत्ति, उदाहरण-प्रत्युदाहरण और सारसंक्षेप के अतिरिक्त प्रत्येक धातु के दसों लकारों की रूपमाला सिद्धिसहित दिखाई गई है। वैयाकरणनिकाय में सैंकड़ों वर्षों से चली आ रही अनेक भ्रान्तियों का सयुक्तिक निराकरण किया गया है। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में विद्यार्थियों के प्रवेश के लिए यत्र-तत्र अनेक भाषावैज्ञानिक नोट्स भी दिये हैं । चार सौ से अधिक सार्थ उपसर्गयोग तथा उनके लिए विशाल संस्कृतसाहित्य से चुने हुए एक सहस्र से अधिक उदाहरणों का अपूर्व संग्रह प्रस्तुत किया गया है। लगभग डेढ़ हजार रूपों की ससूत्र सिद्धि और एक सौ के करीब शास्त्रार्थ और शङ्का-समाधान इस में दिये गये हैं । अनुवादादि के सौकर्य के लिए छात्रोपयोगी **णिजन्त, सन्नन्त, यङन्त, भावकर्म आदि प्रक्रियाओं** के अनेक शतक और संग्रह भी अर्थसहित दिये गये हैं । जैसे नानाविध लौकिक उदाहरणों द्वारा प्रक्रियाओं को इस में समझाया गया है वैसे अन्यत्र मिलना दुर्लभ है । इस से प्रक्रियाओं का रहस्य विद्यार्थियों को हस्तामलकवत् स्पष्ट प्रतीत होने लगता है । अन्त में अनुसन्धानोपयोगी छ: प्रकार के परिशिष्ट दिये गये हैं । ग्रन्थ का मुद्रण आधुनिक बढ़िया मैप्लीथो कागज पर अत्यन्त शुद्ध वा सुन्दर ढंग से पांच प्रकार के टाइपों में किया गया है। सुन्दर, बढ़िया, सम्पूर्ण कपड़े की जिल्द तथा पक्की अंग्रेजी सिलाई ने ग्रन्थ को और अधिक चमत्कृत कर दिया है ।

३. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (तृतीय भाग)

भैमीव्याख्या के इस तृतीय भाग में **कृदन्त** और **कारक** प्रकरणों का विस्तृत वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है । सुप्रसिद्ध कृत्प्रत्ययों के लिए कई विशाल शब्दसूचियां अर्थ तथा ससूत्रटिप्पणों के साथ बड़े यत्न से गुम्फित की गई हैं, जिनमें अढ़ाई हजार से अधिक शब्दों का अपूर्व संग्रह है । प्राय: प्रत्येक प्रत्यय पर संस्कृतसाहित्य में से अनेक सुन्दर सुभाषितों या सूक्तियों का संकलन किया गया है । **कारकप्रकरण** लघुकौमुदी में केवल सोलह सूत्रों तक ही सीमित है जो स्पष्टत: बहुत अपर्याप्त है । भैमीव्याख्या में इन सोलह सूत्रों की विस्तृत व्याख्या करते हुए अन्त में अत्यन्त उपयोगी लगभग पचास अन्य सूत्र-वार्तिकों

की भी सोदाहरण सरल व्याख्या प्रस्तुत की गई है । इस प्रकार कुल मिलाकर कारकप्रकरण ५६ पृष्ठों में समाप्त हुआ है । अनेक प्रकार के उपयोगी परिशिष्टों सहित यह भाग लगभग चार सौ पृष्ठों में समाश्रित हुआ है ।

४. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (चतुर्थ भाग)

भैमीव्याख्या के इस चतुर्थ भाग में **समासप्रकरण** का अत्यन्त विस्तार के साथ लगभग तीन सौ पृष्ठों में विवेचन प्रस्तुत किया गया है । ग्रन्थगत प्रत्येक प्रयोग के लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार के विग्रह निर्दिष्ट कर उस की सूत्रों द्वारा अविकल साधनप्रक्रिया दर्शाई गई है । मूलोक्त उदाहरणों के अतिरिक्त सैंकड़ों अन्य नवीन उदाहरणों को विशाल संस्कृतसाहित्य से चुन-चुन कर इस व्याख्या में गुम्फित किया गया है । इस प्रकार इस व्याख्या में बारह सौ से अधिक समासोदाहरण संगृहीत किये गये हैं । साहित्यिक उदाहरणों के स्थलनिर्देश भी यथासम्भव दे दिये गये हैं । प्रबुद्ध विद्यार्थियों के मन में स्थान स्थान पर उठने वाली दो सौ से अधिक शङ्काओं का भी इस में यथास्थान समाधान किया गया है । जगह जगह उपयोगी पादटिप्पण (फुटनोट्स) दिये गये हैं । मूलगत सूत्रवार्त्तिक आदियों के अतिरिक्त छात्रोपयोगी कई अन्य सूत्रवार्त्तिक आदियों का भी इसमें सोदाहरण व्याख्यान किया गया है। लघुकौमदी के अशुद्ध या भ्रष्ट पाठों पर भी अनेक टिप्पण दिये गये हैं । व्याख्याकार की सूक्ष्मेक्षिका, स्वाध्याय-निपुणता तथा कठिन से कठिन विषय को भी नपे-तुले शब्दों में समझा देने की अपूर्व क्षमता इस व्याख्या में पदे पदे परिलक्षित होती है । समासप्रकरण पर इतनी विस्तृत व्याख्या आज तक लिखी ही नहीं गई । इस से विद्यार्थीवर्ग और अध्यापकवृन्द दोनों जहां लाभान्वित होंगे वहां अनुसन्धानप्रेमियों को भी प्रचुर अनुसन्धानसामग्री प्राप्त होगी। विद्वान् लेखक ने सततोत्थायी होकर दो वर्षों के कठोर परिश्रम से सैंकड़ों ग्रन्थों का मन्थन कर इस भाग को तैयार किया है । अन्त में विविध परिशिष्टों से इस ग्रन्थ को विभूषित किया गया है । व्याख्यागत बारह सौ उदाहरणों की समासनाम-निर्देशसहित बनी वर्णानुक्रमणी इस ग्रन्थ की प्रमुख विशेषताओं में एक समझी जायेगी । इसके सहारे सम्पूर्ण समासप्रकरण की आवृत्ति करने में विद्यार्थियों को महती सुविधा रहेगी । ग्रन्थ में यथास्थान अनेक अभ्यास दिये गये हैं । समीक्षकों का यह कहना है कि यदि इन अभ्यासों को सुचारु रूप में हल कर लिया जाये तो विद्यार्थियों को सिद्धान्तकौमुदी या काशिका में समासप्रकरण को समझने का स्वत: सामर्थ्य प्राप्त हो सकता है । (२३×३६)/१६ साइज के लगभग तीन सौ पृष्ठों में यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है । साफ सुथरी शुद्ध छपाई, पक्की सिलाई तथा सुन्दर स्क्रीन प्रिंटिड सुनहरी जिल्द से यह ग्रन्थ और भी अधिक आकर्षक बन गया है ।

५. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (पञ्चम भाग)

इस भाग में लघुसिद्धान्तकौमुदी के **तद्धितप्रकरण** की अतीव सरल ढंग से सविस्तार व्याख्या प्रस्तुत की गई है । प्रत्येक सूत्र की व्याख्या के बाद हर एक उदाहरण का विग्रह, अर्थ तथा विशद सिद्धि इस में दर्शाई गई है । मूलगत उदाहरणों के अतिरिक्त साहित्यगत विविध उदाहरणों से भी यह ग्रन्थ विभूषित है । पठन पाठन में उठने वाली प्रत्येक शङ्का का इस में समाधान किया गया है । मूलोक्त सूत्रों के अतिरिक्त भी छात्रोपयोगी अनेक सूत्रों की इस में व्याख्या दर्शाई गई है। यत्र-तत्र यत्न से अभ्यास निबद्ध किये गये हैं जिन की सहायता से सारा प्रकरण दोहराया जा सकता है । अन्त में अनेक परिशिष्टों के अतिरिक्त उदाहरणसूची वाला परिशिष्ट इस ग्रन्थ का विशेष आकर्षण है ।

६. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (षष्ठ भाग)

इस भाग में लघुकौमुदी के **स्त्रीप्रत्ययप्रकरण** की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गई है । प्रत्येक सूत्र की विशद व्याख्या के अनन्तर तद्गत प्रत्येक प्रयोग की विस्तृत सिद्धि तथा अनेकविध उदाहरण-प्रत्युदाहरणों एवं शङ्का-समाधानों से यह भाग विभूषित है । मूलोक्त सूत्रों के अतिरिक्त छात्रोपयोगी अन्य भी अनेक सूत्र और वार्त्तिक इस में सोदाहरण व्याख्यात किये गये हैं । जगह जगह साहित्यिक उदाहरण ढूंढ ढूंढ कर संकलित किये गये हैं । 'स्वाङ्गम्' और 'जाति' सरीखे पारिभाषिक शब्दों तथा अन्य कठिन स्थलों की सरलभाषा में विस्तार के साथ विवेचना की गई है । दूसरे शब्दों में ग्रन्थ का कोई भी व्याख्येयांश बिना व्याख्या के अछूता नहीं छोड़ा गया । पठितविषय की आवृत्ति के लिए यत्र-तत्र अनेक अभ्यास दिये गये हैं । नानाविध सूचीपरिशिष्टों विशेषत: प्रत्ययनिर्देशसहित दी गई उदाहरणसूची से इस ग्रन्थ का महत्त्व बहुत बढ़ गया है । अन्त में स्त्रीप्रत्ययसम्बन्धी एक सौ से अधिक पद्यबद्ध अशुद्धियों का सहेतुक शोधन दर्शा कर लक्ष्यों के प्रति विद्यार्थियों की जागरूकता को प्रबुद्ध करने का विशेष प्रयत्न किया गया है। अनुसन्धानप्रेमी जनों के लिए भी दर्जनों महत्त्वपूर्ण टिप्पण जहां तहां दिये गये हैं। कई स्थानों पर पाणिनीयेतरव्याकरणों का आश्रय लेकर भी विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है । वस्तुत: इतनी विशद सर्वाङ्गीण व्याख्या स्त्रीप्रत्ययप्रकरण पर पहली बार प्रकाशित हुई है । (२३×३६)/१६ साइज के डेढ़ सौ से अधिक पृष्ठों में यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है । सुन्दर शुद्ध छपाई, बढ़िया स्क्रीन प्रिंटिड जिल्द तथा पक्की सिलाई से यह ग्रन्थ और भी चमत्कृत हो उठा है ।

७. अव्ययप्रकरणम्

लघुकौमुदी का **अव्ययप्रकरण भैमीव्याख्यासहित** पृथक् भी छपवाया गया है । इस में लगभग सवा पाच सौ अव्ययों का सोदाहरण साङ्गोपाङ्ग विवेचन

प्रस्तुत किया गया है । प्रत्येक अव्यय पर वैदिक वा लौकिक संस्कृतसाहित्य से अनेक सुन्दर सुभाषितों वा सूक्तियों का संकलन किया गया है । कठिन सूक्तियों का अर्थ भी साथ में दे दिया गया है । आज तक इतना शोधपूर्ण परिश्रम इस प्रकरण पर पहली बार देखने में आया है । साहित्यप्रेमी विद्यार्थियों तथा शोध में लगे जिज्ञासुओं के लिए यह ग्रन्थ विशेष उपादेय है । ग्रन्थ के अन्त में सब अव्ययों की **अकारादिक्रम से अनुक्रमणी** भी दे दी गई है, ताकि अव्ययों को ढूंढने में असुविधा न हो। इस ग्रन्थ में अव्ययों के अर्थज्ञान के साथ साथ सुभाषितों वा सूक्तियों का व्यवहारोपयोगी एक बृहत्संग्रह भी अनायास उपलब्ध हो जाता है।

८. वैयाकरण-भूषणसार भैमीभाष्योपेत (धात्वर्थनिर्णयान्त)

वैयाकरण-भूषणसार वैयाकरणनिकाय में लब्धप्रतिष्ठ ग्रन्थ है । व्याकरण के दार्शनिक सिद्धान्तों के ज्ञान के लिए इस का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है । अत एव एम्०ए०, आचार्य, शास्त्री आदि व्याकरण की उच्च परीक्षाओं में यह पाठ्यग्रन्थ के रूप में स्वीकृत किया गया है । परन्तु इस ग्रन्थ पर हिन्दी भाषा में कोई भी सरल व्याख्या आज तक नहीं निकली—हिन्दी तो क्या अन्य भी किसी प्रान्तीय वा विदेशी भाषा में इस का अनुवाद तक उपलब्ध नहीं । विश्वविद्यालयों के छात्र तथा उच्च कक्षाओं में व्याकरण विषय को लेने वाले विद्यार्थी प्राय: सब इस ग्रन्थ से त्रस्त थे । परन्तु अब इस के विस्तृत आलोचनात्मक सरल हिन्दी भाष्य के प्रकाशित हो जाने से उन का भय जाता रहा । छात्रों वा अध्यापकों के लिए यह ग्रन्थ समानरूपेण उपयोगी है । इस ग्रन्थ के गूढ़ आशयों को जगह-जगह वक्तव्यों वा फुटनोटों में भाष्यकार ने भली भांति व्यक्त किया है । भैमीभाष्यकार व्याकरणक्षेत्र में लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् हैं, तथा वर्षों से व्याकरण के पठनपाठन का अनुभव रखते हैं । अत: छात्रों वा अध्यापकों के मध्य आने वाली प्रत्येक छोटी-से-छोटी समस्या को भी उन्होंने खोलकर रखने में कोई कसर नहीं छोड़ी। जगह जगह वैयाकरणों और मीमांसकों के सिद्धान्त को खोलकर तुलनात्मकरीत्या प्रतिपादित किया गया है । इस भाष्य की महत्ता इसी से व्यक्त है कि अकेली दूसरी कारिका पर ही विद्वान् भाष्यकार ने लगभग साठ पृष्ठों में अपना भाष्य समाप्त किया है । विषय को समझाने के लिए अनेक चार्ट दिये गये हैं । जैसे—वैयाकरणों और नैयायिकों का बोधविषयक चार्ट, धातु की साध्यावस्था और सिद्धावस्था का चार्ट, प्रसज्य और पर्युदास प्रतिषेध का चार्ट आदि। पूर्वपीठिका में भाष्यकार ने व्याकरण के दर्शनशास्त्र का विस्तृत क्रमबद्ध इतिहास देकर मानो सुवर्ण में सुगन्ध का काम किया है । ग्रन्थ के अन्त में अनुसन्धानप्रेमी छात्रों के लिए सात परिशिष्ट तथा आदि में विस्तृत विषयानुक्रमणिका दी गई है जो अनुसन्धान-क्षेत्र में अत्यन्त काम की वस्तु है । वस्तुत: व्याकरण में एक अभाव की पूर्ति भाष्यकार ने की है । इस भाष्य की प्रशंसा देश-विदेश के विद्वानों ने की है । ग्रन्थ का मुद्रण बढ़िया मैप्लीथो कागज पर अत्यन्त शुद्ध वा सुन्दर ढंग से छ: प्रकार के टाइपों में किया गया है । सुन्दर बढ़िया सम्पूर्ण कपड़े की जिल्द तथा पक्की अंग्रेजी सिलाई ने ग्रन्थ को और अधिक चमत्कृत कर दिया है ।

९. न्यास-पर्यालोचन

यह ग्रन्थ काशिका की प्राचीन सर्वप्रथम व्याख्या काशिका-विवरणपञ्चिका अपरनाम न्यास पर लिखा गया बृहत् शोधप्रबन्ध है जिसे दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच्०डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत किया गया है । यह शोधप्रबन्ध शास्त्री जी द्वारा कई वर्षों के निरन्तर अध्ययन स्वरूप बड़े परिश्रम से लिखा गया है । इस में कई प्रचलित धारणाओं का खुल कर विरोध किया गया है । जैसे न्यासकार को अब तक बौद्ध समझा जाता है परन्तु इस में उसे पूर्णतया वैदिक धर्मी सिद्ध किया गया है । यह शोधप्रबन्ध छः अध्यायों में विभक्त है । प्रथम अध्याय में न्यास और न्यासकार का सामान्य परिचय देते हुए न्यासकार का काल, निवासस्थान, न्यास का वैशिष्ट्य, न्यास की प्रसन्नपदा प्रवाहपूर्णा शैली तथा न्यास और पदमञ्जरी का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । द्वितीय अध्याय में **'न्यास के ऋणी उत्तरवर्ती वैयाकरण'** नामक अत्यन्त शोधपूर्ण नवीन विषय प्रस्तुत किया गया है । इस में केवल पाणिनीय व्याकरणों को ही नहीं लिया गया अपितु पाणिनीयेतर **चान्द्र, जैनेन्द्र, कातन्त्र, शाकटायन, भोजकृत सरस्वतीकण्ठाभरण, हैमशब्दानुशासन, मलयगिरिशब्दानुशासन, संक्षिप्तसार, मुग्धबोध तथा सारस्वत** इन दस प्रमुख व्याकरणों को भी सम्मिलित किया गया है। तृतीयाध्याय में **'उत्तरवर्ती वैयाकरणों द्वारा न्यास का खण्डन'** नामक अपूर्व विषय प्रतिपादित है । इस में उत्तरवर्ती वैयाकरणों द्वारा की गई न्यासकार की आलोचनाओं पर कारणनिर्देशपूर्वक युक्तायुक्तरीत्या खुल कर विचार उपस्थित किये गये हैं । चतुर्थ अध्याय में **'न्यास की सहायता से काशिका का पाठसंशोधन'** नामक महत्त्वपूर्ण विषय का वर्णन है । इस में काशिका ग्रन्थ की अद्यत्वे मान्य सम्पादकों (?) द्वारा हो रही दुर्दशा का विशद प्रतिपादन करते हुए उसके अनेक अशुद्ध पाठों का न्यास के आलोक में सहेतुक शुद्धीकरण प्रस्तुत किया गया है । पञ्चम अध्याय में **न्यासकार की भ्रान्तियों** तथा न्यास के **एक सौ भ्रष्टपाठों** का विस्तृत लेखा-जोखा उपस्थित किया गया है । छठा अध्याय अनेक नवीन बातों से उपबृंहित उपसंहारात्मक है । व्याकरण का यह ग्रन्थ पाणिनीय एवं पाणिनीयेतर व्याकरण के क्षेत्र में अपने ढंग का सर्वप्रथम किया गया अनूठा ज्ञानवर्धक प्रयास है । सुन्दर मैप्लीथो कागज, पक्की अंग्रेज़ी सिलाई और स्क्रीन प्रिंटिड आकर्षक जिल्द से ग्रन्थ सुशोभित है ।

१०. बालमनोरमा-भ्रान्ति-दिग्दर्शन

भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्तकौमुदी पर श्रीवासुदेवदीक्षित की बनाई हुई बालमनोरमा टीका सुप्रसिद्ध छात्रोपयोगी ग्रन्थ है । पिछली अर्धशताब्दी में इस के कई संस्करण मद्रास, लाहौर, बनारस और दिल्ली आदि महानगरों में अनेक दिग्गज विद्वानों के तत्त्वावधान में प्रकाशित हो चुके हैं । परन्तु शोक से कहना पड़ता है

कि इन स्वनामधन्य विद्वान् सम्पादकों ने इस ग्रन्थ के साथ जरा भी न्याय नहीं किया, इसे पढ़ने तक का भी कष्ट नहीं किया । यही कारण है कि इस में अनेक हास्यास्पद और घिनौनी अशुद्धियां दृष्टिगोचर होती हैं । इस से पठन-पाठन में बहुत विघ्न उपस्थित होता है । इस शोधपूर्ण लघु निबन्ध में बालमनोरमाकार की कुछ सुप्रसिद्ध भ्रान्तियों की सयुक्तिक समीक्षा प्रस्तुत की गई है । आप इस शोध पत्र को पढ़ कर मनोरञ्जन के साथ-साथ प्रक्रियामार्ग में अन्धानुकरण न करने तथा सदैव सजग रहने की भी प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं । इस में स्थान-स्थान पर विद्वानों की प्रमादपूर्ण सम्पादन कला पर भी अनेक चुभती चुटकियाँ ली गई हैं । यह निबन्ध प्रकाशकों, सम्पादकों, अध्यापकों एवं विद्यार्थियों सब की आंखों को खोलने वाला एक समान उपयोगी है । हिन्दी में इस प्रकार का प्रयत्न पहली बार किया गया है ।

११. प्रत्याहारसूत्रों का निर्माता कौन ?

शोधपूर्ण इस निबन्ध में 'अइउण्' आदि प्रत्याहारसूत्रों के निर्माता के विषय में खूब ऊहापोहपूर्वक विस्तृत विचार व्यक्त किये गये हैं । ये सूत्र पाणिनि की स्वोपज्ञ रचना हैं या किसी अन्य मनीषी की ? इस विषय पर **महाभाष्य, काशिकावृत्ति, भर्तृहरिकृत महाभाष्यदीपिका, कैयटकृत प्रदीप** आदि प्रामाणिक ग्रन्थों के दर्जनों प्रमाणों के आलोक में पहली बार नवीनतम विचार प्रस्तुत किये गये हैं । इन के **शिवसूत्र या माहेश्वरसूत्र** कहलाने का भी क्रमिक इतिहास पूर्णतया दे दिया गया है । ग्रन्थ के परिशिष्ट भाग में **कातन्त्र, चान्द्र, जैनेन्द्र, शाकटायन, सरस्वतीकण्ठाभरण, हेमचन्द्रशब्दानुशासन, मलयगिरिशब्दानुशासन, सारस्वत, मुग्धबोध, संक्षिप्तसार तथा हरिनामामृत**—इन ग्यारह पाणिनीयेतर व्याकरणों के प्रत्याहारसूत्रों को उद्धृत कर उन का पाणिनीयप्रत्याहारसूत्रों के परिप्रेक्ष्य में संक्षिप्त तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है । इस से प्रत्याहारसूत्रों के विषय में गत अढ़ाई हजार वर्षों के मध्य भारतीय व्याकरणविदों के विचार में आये क्रमिक परिवर्तनों पर प्रकाश पड़ता है । **इस के अन्त में बहुचर्चित नन्दिकेश्वरकाशिका ग्रन्थ भी अविकल दे दिया गया है**, जिस से पाठकों को इस विषय का पूरा-पूरा विवरण मिल सके ।

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी

भैमीव्याख्या

[चतुर्थ भाग]

(समास-प्रकरण)

भीमसेन शास्त्री

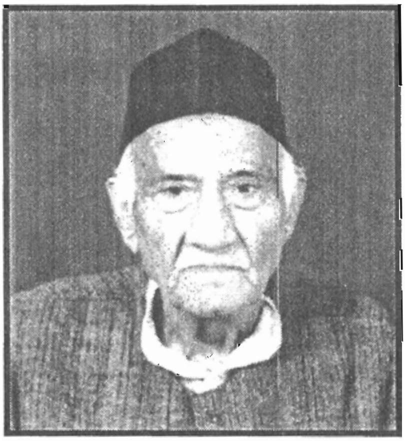
भैमी प्रकाशन

लघुसिद्धान्तकौमुदी

भैमीव्याख्या

[चतुर्थ भाग]

(समास-प्रकरण)



भीमसेन शास्त्री

एम्०ए०, पी-एच्०डी०, साहित्यरत्न

भैमी प्रकाशन

537, लाजपतराय मार्केट, दिल्ली-110006

प्रकाशक :
नचिकेता भाटिया
18/99, गीता कालोनी
दिल्ली-110031

LAGHU-SIDDHĀNTA KAUMUDĪ-BHAIMĪ VYĀKHYĀ
Part IV, Fourth Edition 2007.

लघुसिद्धान्तकौमुदी भैमीव्याख्या
चतुर्थ भाग, चतुर्थ संस्करण 2007

मूल लेखक : भीमसेन शास्त्री (1920-2002)

मुख्य वितरक :
भैमी प्रकाशन
537, लाजपतराय मार्केट
दिल्ली-110006

मूल्य : तीन सौ पच्चीस रुपये केवल
Price : Rs. Three Hundred Twenty-five only.

मुद्रक : राधा प्रेस, गान्धीनगर
दिल्ली-110031

व्याकरण-प्रशस्तिः

आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः ।
प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः ॥१॥

तद्द्वारमपवर्गस्य वाङ्मलानां चिकित्सितम् ।
पवित्रं सर्वविद्यानाम् अधिविद्यं प्रकाशते ॥२॥

इदमाद्यम्पदस्थानं सिद्धि-सोपान-पर्वणाम् ।
इयं सा मोक्षमाणानाम् अजिह्मा राजपद्धतिः ॥३॥

यदेकं प्रक्रियाभेदै – र्बहुधा प्रविभज्यते ।
तद् व्याकरणमागम्य परम्ब्रह्माधिगम्यते ॥४॥

(वाक्यपदीयतः)

भैमीव्याख्योपेताया

लघु-सिद्धान्त-कौमुद्याः

समासप्रकरणस्य विषय-सूची

——:o:——

प्राक्कथन

आज के संस्कृतव्याकरण के विद्वानों में वैद्य भीमसेन शास्त्री जी का मूर्धन्य स्थान है। पाणिनीयव्याकरण वाङ्मय को इन्होंने अपनी अनेक श्रेष्ठ कृतियों से समृद्ध किया है। इन कृतियों के माध्यम से इन का पाणिनीय व्याकरण का तलस्पर्शी ज्ञान मुखरित हो उठा है। इन कृतियों में विशेष उल्लेखनीय है लघुसिद्धान्तकौमुदी पर इन की अत्यन्त विस्तृत तथा विशद भैमी नाम की व्याख्या, जिस के तीन खण्ड अब तक प्रकाशित हो चुके हैं तथा चौथा प्रकाशित होने जा रहा है। इस चौथे खण्ड में लघु-सिद्धान्तकौमुदीस्थ समासप्रकरण की व्याख्या की गई है।

समास का लक्षण संस्कृतवैयाकरणों ने सामान्यतः इस प्रकार किया है—

विभक्तिर्लुप्यते यत्र तदर्थस्तु प्रतीयते ।
पदानां चैकपद्यं च समासः सोऽभिधीयते ॥

जहां विभक्ति का लोप हो जाता है पर उस का अर्थ प्रतीत होता रहता है, और जहां अनेक पद मिल कर एक पद के रूप में परिणत हो जाते हैं उसे समास कहा जाता है। समास शब्द का अक्षरार्थ है समसनम्—एक साथ या पास पास रखना। मुख्य तत्त्व समास में यही होता है। इस के आगे जो होता है वह इसी से ही प्रभावित एवं प्रेरित होता है। इस तत्त्व का महत्त्व न केवल संस्कृत में ही, अङ्ग्रेज़ी में भी दिया गया है। अङ्ग्रेज़ी के कम्पाउण्ड (Compound) शब्द का भी यही अर्थ है। यह शब्द लातिन-भाषा के कॉम् पोनेरे शब्द से बना है। कॉम् शब्द संस्कृत के सम् शब्द का समानान्तर शब्द है। तालव्यीकरण सिद्धान्त के अनुसार जहां पाश्चात्यभाषाओं में कण्ठ्य ध्वनि होती है वहां भारतीय भाषाओं में तालव्य ध्वनि का प्रयोग होता है। कॉम् का अर्थ वही है जो सम् का अर्थात् एक साथ, पास पास। पोनेरे का अर्थ होता है असनम्, रखना। दोनों ही शब्द, समास तथा कम्पाउण्ड, एक ही प्रकार के चिन्तन का प्रतिनिधित्व करते हैं।

जब दो या दो से अधिक शब्द पास पास रख दिये जाते हैं तो संस्कृत-भाषा के सन्दर्भ में पहला परिवर्त्तन उस में यह आता है कि वे अपनी अपनी स्वतन्त्र सत्ता खो बैठते हैं। जिस विभक्ति के कारण वे पद बने थे उसी का लोप हो जाता है। भिन्न भिन्न पदों के एक साथ मिल जाने पर उन के अपने अपने पदत्व के स्थान पर उन सभी का एक अलग ही पद के रूप में उदय होता है। समस्यमान पदों की अपनी अपनी विभक्तियों, जिन्हें अन्तर्वर्तिनी विभक्तियां कहा जाता है क्योंकि वे समस्त पद के बीच बीच में पड़ती हैं, के लोप हो जाने से समास में कुछ संक्षिप्तता भी आ जाती है। समास शब्द का एक अर्थ संक्षेप भी है। 'शिवः केशवः' इस के स्थान पर जब 'शिवकेशवौ' कहा जाता है तो इतना तो स्पष्ट ही है कि यहां दो विभक्तियों का

प्रयोग न हो कर एक विभक्ति का प्रयोग हुआ है। कदाचित् यह संक्षेप की भावना ही समस्त पदों के प्रयोग में प्रयोजिका है। लोकोक्ति प्रसिद्ध ही है—**संक्षेपरुचिर्हि लोकः।** बहुव्रीहि आदि किन्हीं समासों में अन्य पद, समस्यमान पदों से अतिरिक्त पद, का अर्थ भी समाया रहता है। संक्षेप को देखा जाये तो इस से बढ़ कर संक्षेप और क्या हो सकता है? समास में जहां 'पीताम्बरः' एक से काम चल जाता है वहां समास न रहने पर 'पीतानि अम्बराणि यस्य' इतना कहने की आवश्यकता पड़ती है। इस तरह कह सकते हुए भी कौन भला इतने अधिक शब्दों का प्रयोग करना चाहेगा? इसी-प्रकार 'घनश्यामः' के स्थान पर कौन 'घन इव श्यामः' कहना चाहेगा या 'यथाशक्ति' के स्थान पर 'शक्तिमनतिक्रम्य' कहना चाहेगा?

द्वन्द्वादि समासों में कतिपय वैयाकरणों का कथन है कि समस्यमान पदों में जहां मूल में एकवचन था, यथा 'शिवः (च) केशवः (च)', 'रामश्च लक्ष्मणश्च भरतश्च शत्रुघ्नश्च'—वहां द्विवचन अथवा बहुवचन का प्रयोग होता है—शिवकेशवौ, राम-लक्ष्मणभरत-शत्रुघ्नाः। तो संक्षेप किस तरह हुआ? उन के समक्ष निवेदन है कि वे विभक्ति और वचन में अन्तर कर के देखें। विभक्तिप्रत्यय तो वहां एक ही रहता है—औ अथवा जस्। बार बार औ का या बार बार जस् का प्रयोग तो नहीं होता। प्रत्यय 'सु' है अथवा 'औ', इस से केवल संख्या का ही अन्तर होगा। प्रत्ययत्व की दृष्टि से तो अनेकत्व और एकत्व में अन्तर रहेगा। 'शिवः केशवः' में दो विभक्ति प्रत्यय हैं, 'शिवकेशवौ' में एक है। यही संक्षेप है।[1]

यहां यह शङ्का की जा सकती है कि अलुक् समास में जहां अन्तर्वर्तिनी विभक्ति का लुक् (लोप) होता ही नहीं वहां कैसा संक्षेप और फिर वहां समासत्व का प्रयोजन ही क्या? समास होने पर 'वागर्थाविव' एक पद होगा, समास न होने पर वागर्थौ और इव ये दो पद होंगे। इसीप्रकार समास होने पर 'युधिष्ठिरः' एक पद होगा, समास न होने पर 'युधि स्थिरः' दो पद होंगे। किञ्च समास होने पर, इस का विशेष उपयोग वैदिक भाषा में ही है, पूरे समास में एक स्वर होगा अर्थात् पूरे समस्त पद का केवल एक ही अच् उदात्त, शेष भाग उस का सामान्यतया सब का सब **अनुदात्तं पदमेकवर्जम्** (६.१.१५२) इस नियम के अनुसार निघात (अनुदात्त) होगा। समास न होने पर प्रत्येक पद पर अपना-अपना अलग अलग स्वर (उदात्त) होगा। इसी कारण समास के प्रयोजनों में कहा गया है—**ऐकपद्यमैकस्वर्यञ्च।**[2]

---

१. द्वन्द्वावस्था में 'च' का प्रयोग करना नहीं पड़ता, यह भी एक तरह का संक्षेप ही है। यथा—'शिवश्च केशवश्च' का द्वन्द्व करने पर 'शिवकेशवौ' बनता है, 'च' का प्रयोग नहीं करना पड़ता। (सम्पादक)

२. अलुक् को भी समास मानने से उस के एकपदत्व के कारण तद्धितोत्पत्ति में आदि अच् को वृद्धि सुलभ हो जाती है। यथा—स्तोकान्मुक्तस्यापत्यं स्तौकान्मुक्तिः, युधिष्ठिरस्येदं यौधिष्ठिरं राज्यम्—इत्यादियों में आदिवृद्धि एकपदत्व के कारण होती है। विशेष जिज्ञासु इस ग्रन्थ के पृष्ठ (८०) का अवलोकन करें। (सम्पादक)

यद्यपि किन्हीं विशेष परिस्थितियों के अतिरिक्त समास करने या न करने का विकल्प है, **विभाषा** (२.१.११) के द्वारा विकल्प का अधिकार प्रायः समस्त समास-**प्रकरण** पर है, तो भी, जैसाकि पहले कहा गया है, लोक में संक्षेपहेतु समास की ओर प्रवृत्ति सहज होने से भाषा में समास का प्रचुर प्रयोग मिलता है। एक युग तो ऐसा आया था जिस में समासबहुल रचना पाण्डित्य का निकष मानी जाने लगी थी। अनेक पङ्क्तियों तक के सुदीर्घ समासों से विभूषित रचनायें विद्वत्समाज के मनोविनोद का साधन बन गईं थीं। संस्कृतवाङ्मय समस्त पदों से भरा होने के कारण यह आवश्यक नहीं था कि पाणिनीयव्याकरण के समासों के नियमों के उदाहरण प्राचीन टीकाग्रन्थों तक ही सीमित रखे जायें। अन्यान्य ग्रन्थों, जिन का पठन-पाठन विशेषरूप से प्रचलित है, से भी उन्हें दिया जा सकता है ताकि वे वे नियम अधिक सुचारुरूप से सुग्राह्य हो सकें। यही वैद्य भीमसेन शास्त्री जी ने अपनी व्याख्या में किया है। सूत्रार्थ के स्पष्टीकरण की ओर भी उन का यही प्रयास रहा है। एतदर्थ महाभाष्य, काशिका, शेखर आदियों से उन्होंने यथास्थान पर्याप्त सहायता ली है। सूत्रार्थ को सम्पूर्ण परिप्रेक्ष्य में दिखाने का उन का प्रयत्न रहा है। जिस में उन्हें आशातीत सफलता मिली है। उन की भैमीव्याख्या लघुसिद्धान्तकौमुदी पर अद्यावधि उपलब्ध सभी व्याख्याओं से अधिक विस्तृत, स्पष्ट एवं परिपूर्ण है जिस के लिये वे अनेकानेक साधुवादों के पात्र हैं। सारा जीवन इन्होंने संस्कृतव्याकरण के अध्ययन-अध्यापन तथा अनुसन्धान में बिताया है। संस्कृतविद्या को कभी भी इन्होंने जीविका के रूप में नहीं अपनाया। उस की अथक सेवा अवश्य की है एक कर्मयोगी की तरह। फलतः संस्कृतवाक् ने अपना समस्त स्वरूप उन के आगे प्रकट कर दिया है—**उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे**। स्वयं उस स्वरूप को साक्षात् कर वे अन्य लोगों को भी उसे साक्षात् कराने में तत्पर हैं। यही तत्परता उन्हें भैमीव्याख्यासदृश आदर्शव्याख्या एवं **न्यासपर्यालोचन** सदृश मार्मिक समीक्षाग्रन्थों के प्रणयन में प्रवृत्त करती रही है। इसी तत्परता से ही संस्कृतजगत् को आशा है कि अनेक एतादृश ग्रन्थरत्न उसे उपलब्ध होंगे जो उस के ज्ञानवर्धन में सहायक होंगे और वाग्देवता के सूक्ष्म स्वरूप के आकलन में भी।

दिल्ली
१६.६.१९८८

(डा०) सत्यव्रत शास्त्री
आचार्य, संस्कृतविभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
[भूतपूर्व कुलपति श्रीजगन्नाथ-
संस्कृतविश्वविद्यालय, पुरी (उड़ीसा)]

आत्मनिवेदनम्

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी की भैमीव्याख्या का चिरप्रतीक्षित यह चतुर्थभाग (समास-प्रकरण) इस समय प्रकाशित हो रहा है। इसे तैयार करने में पर्याप्त काल लगा तथा सतत स्वाध्याय करना पड़ा। व्याकरण के दर्जनों ग्रन्थों का मन्थन कर यह निचोड़ जनता के हाथों में समर्पित करते हुए मुझे अपार हर्ष हो रहा है। इस भाग में भी भैमीव्याख्या के पूर्व भागों की तरह व्याख्याशैली अपनाई गई है। प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद, पदों का विभक्तिवचन, अनुवृत्ति-निर्देश, परिभाषादिजन्यवैशिष्ट्य तथा पदों से अर्थनिष्पत्ति करने के पश्चात् सूत्रगत प्रत्येक उदाहरण की ससूत्र विशद सिद्धि दर्शाई गई है। मूलोक्त उदाहरणों के अतिरिक्त अन्य नये उदाहरण भी विशालसंस्कृत-साहित्य से चुन चुन कर इस में गुम्फित किये गये हैं, जिस से सूत्रार्थ का विषय छात्रों के हृदयपटल पर सुचारुरूप से अङ्कित हो जाये। इन उदाहरणों के प्रयोगस्थल तथा उद्धरणों के पते-ठिकाने देने का भी यथासम्भव प्रयास किया गया है। इस तरह कुल उदाहरणों की संख्या १२०० से भी अधिक तथा उद्धृतवचनों की संख्या दो-अढ़ाई सौ तक पहुँच गई है। भैमीव्याख्या के पूर्वमुद्रित तीन भागों के बाद यह विचार किया गया था कि समास, तद्धित और स्त्रीप्रत्यय इन तीन अवशिष्ट प्रकरणों की व्याख्या एक साथ प्रस्तुत कर इस चतुर्थ भाग में ही लघुसिद्धान्तकौमुदी की भैमीव्याख्या समाप्त कर दी जाये। परन्तु इन तीनों की व्याख्या को एकत्र रखने में ग्रन्थ का कलेवर अत्यधिक बढ़ जाने के भय से यह विचार छोड़ कर इन का पृथक् पृथक् भागों में विभक्त करने का ही निर्णय लेना पड़ा। क्योंकि इस तरह परीक्षार्थी छात्रों को महती सुविधा रहेगी, जिस के पाठ्यक्रम में जो प्रकरण होगा वह उसे लेकर अध्ययन कर सकेगा उस पर अन्य भागों के खरीदने का अनावश्यक बोझ नही पड़ेगा। हां ! लघु-सिद्धान्त-कौमुदी का पूर्ण अध्ययन करने वालों को तो सब भाग लेने ही होंगे, उन को कोई अन्तर नहीं पड़ेगा।

समासप्रकरण सर्वाधिक अनेक परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में नियत है अतः इस की मांग बहुत अधिक होने से सर्वप्रथम इस की व्याख्या प्रकाशित की गई है। इस के बाद स्त्रीप्रत्ययप्रकरण (जो प्रायः मुद्रित हो चुका है) तथा तदनन्तर तद्धितप्रकरण निकलेगा। बहुत चिर से भारत के कोने कोने से छात्रों के शतशः पत्र आ रहे थे कि समास-प्रकरण की आप इस प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत करें जिस में सारा विषय खूब खोल कर बारीकी से समझाया गया हो, किसी बात को छोड़ा न गया हो। इस मांग के कारण पहले से विस्तृत लिखे गये भी समासप्रकरण को और अधिक विस्तार से समझाने का प्रयास किया है। जगह-जगह विद्यार्थियों के मन में उठने वाली शङ्काओं का समाधान प्रस्तुत किया है। जहां-जहां सूत्रों के उदाहरण सूत्रकार ने नहीं दिये व्याख्या में वे सब देकर सूत्रों द्वारा उन की सिद्धि भी दर्शाई गई है। इस व्याख्या की व्यापकता

का अनुमान इसी से ही लगाया जा सकता है कि अकेले **अव्ययं विभक्ति-समीप०** (६०८) सूत्र की व्याख्या २४ पृष्ठों में समाप्त हुई है। **कुगतिप्रादयः** (६४६) सूत्र का विवरण लगभग बारह पृष्ठों में दिया गया है। इस व्याख्या में प्रत्येक उदाहरण के लौकिक एवम् अलौकिक दोनों प्रकार के विग्रह दर्शाते हुए हिन्दी में अर्थ देने का भी पूरा पूरा प्रयत्न किया गया है। कई जगह अर्थ की पुष्टि में अनेक टिप्पण भी दिये गये हैं। यथा—राजदन्तः, निस्त्रिंशः, कच्छपी आदि शब्दों पर टिप्पणियां देखी जा सकती हैं।

समासप्रकरण में अनेक स्थल विस्तृत व्याख्या की अपेक्षा रखते हैं। विद्यार्थी इन स्थलों का रहस्य समझने को उत्सुक रहते हैं। परन्तु प्रायः व्याख्याकार (और अनेक अध्यापकगण भी) इन स्थलों को छूते तक नहीं, अथवा छूते भी हैं तो केवल अक्षरार्थमात्र कर के आगे चल देते हैं। विद्यार्थी बेचारे देखते ही रह जाते हैं, उन के पल्ले कुछ नहीं पड़ता। निदर्शनार्थ इन स्थलों को देखिये—

(१) **समर्थः पदविधिः** (६०४) का आशय और प्रयोजन।
(२) **परार्थाभिधानं वृत्तिः। कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्च वृत्तयः। वृत्त्यर्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः** (पृष्ठ ६)।
(३) **इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च** (वा० ५३)।
(४) **गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः** (पृष्ठ-१५०)।
(५) **अतिङ् किम् ? मा भवान् भूत्** (पृष्ठ १४६)।
(६) **स्तोकान्तिकदूरार्थ०** (६२६) सूत्र की उपयोगिता।
(७) **द्विगुप्राप्ताऽऽपन्नाऽलंपूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः** (वा० ६३)।
(८) **प्राप्ताऽऽपन्ने च द्वितीयया** (६६३) में अत्व अन्तादेश।
(९) **सामान्ये नपुंसकम्** (वा० ६४)।
(१०) **अत एव ज्ञापकात् समासः** (पृष्ठ १७४)।
(११) **अहर्ग्रहणं द्वन्द्वार्थम्** (पृष्ठ १५६)।
(१२) **परस्परनिरपेक्षस्याऽनेकस्यैकस्मिन्नन्वयः समुच्चयः** (पृष्ठ २६०)।
(१३) **स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्०** (६६६)।
(१४) **द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनम्** (वा० ५६)।

आप इन स्थलों की व्याख्या इस ग्रन्थ में देख कर पूर्णतया सन्तुष्ट एवं संशयरहित हो जायेंगे। आप का ऐसा सन्तोष लघुकौमुदी की किसी दूसरी व्याख्या में नहीं मिलेगा। कई स्थानों पर तो आप को बालमनोरमा आदि संस्कृतटीकाओं से भी अधिक सामग्री और सन्तोष इस में प्राप्त होगा। इस व्याख्या में व्याख्येयस्थलों के विवरण में कहीं पर भी संकोच वा संक्षेप से काम नहीं लिया गया, सब जगह खूब खोल कर अनेक उदाहरणों को दर्शाते हुए व्याख्या लिखी गई है ताकि विद्यार्थियों को

प्रतिपाद्य विषय हृदयङ्गम हो जाये। निदर्शनार्थ अकेले केवलसमास (मूलग्रन्थ में एक पृष्ठ) की व्याख्या ही १६ पृष्ठों में समाप्त की गई है। **कुगतिप्रादयः** (६४६) सूत्र को अच्छी तरह समझाने के लिये १६ पृष्ठों का उपयोग किया गया है। **सामान्ये नपुंसकम्** (वा० ६४) की व्याख्या दो पृष्ठों में विविध उदाहरण दे कर प्रस्तुत की गई है। यही अवस्था **स्त्रियाः पुंवद०** (६६६) आदि अन्य स्थलों की है। अन्य व्याख्याओं में जहां आप को एक-आध उदाहरण मिलेगा, वहां इस व्याख्या में उदाहरणों की झड़ी मिलेगी। शाकपार्थिवादि के १६ उदाहरण, कुगतिप्रादिसमास के ६० उदाहरण, पञ्चमीतत्पुरुष के १२ उदाहरण, षष्ठीतत्पुरुष के २५ उदाहरण, नञ्तत्पुरुष के २५ उदाहरण, उपपदसमास के १५ उदाहरण, सुँप्सुँपासमास के २० उदाहरण, योग-विभागजसमासों के २६ उदाहरण, उरःप्रभृत्यन्त बहुव्रीहि के १० उदाहरण, शरत्प्र-भृत्यन्त अव्ययीभाव के १० उदाहरण इत्यादिप्रकारेण उदाहरणों को देखकर आप को आश्चर्य होगा। उदाहरणबहुलता के साथ साथ कई साहित्यिक प्रयोगस्थलों का भी निर्देश कर व्याकरण के माध्यम से काव्यरसास्वादन की भी अनुभूति कराई गई है।

व्याकरण पढ़ कर भी विद्यार्थी प्रायः अशुद्धियों को पकड़ नहीं पाते। इस ओर इस व्याख्या में शुरू से ही ध्यान दिया गया है। स्थान स्थान पर अभ्यासों में शुद्धाशुद्ध प्रयोग दिये गये हैं। इस तरह विद्यार्थियों की सूक्ष्मेक्षिका को जागृत करने का प्रयास किया गया है। अन्तिम अभ्यास में स्वनिर्मित पद्यों में समासान्त-प्रकरण की ३० अशुद्धियों की ओर छात्रों को विशेष आकृष्ट किया गया है। संक्षेप में—कोई-सा प्रकरण, सूत्र अथवा उदाहरण ले कर इस व्याख्या का अवलोकन करें, आप को अतीव आत्मसन्तोष प्राप्त होगा और आप स्वयम् अनुभव करेंगे कि इस व्याख्या ने पाठकों के ज्ञान में कई प्रकार से वृद्धि की है। मेरे विचार में समासप्रकरण पर ऐसा यत्न पहली बार ही प्रकाशित हो रहा है।

इस भाग में भी पूर्वभागों की तरह बीच बीच में बड़े यत्न से अभ्यास संकलित किये गये हैं। इन में लगभग एक सौ प्रश्न पूछे गये हैं। यदि विद्यार्थी इन प्रश्नों को ठीक ढंग से हल कर लें तो उन के मार्ग में कोई भी बाधा नहीं आ सकती, सारा विषय हस्तामलकवत् सुगृहीत रहेगा। कई आलोचकों का तो यहां तक कहना है कि इन अभ्यासों को हल करने के बाद **सिद्धान्तकौमुदी या काशिका** का समासप्रकरण भी विद्यार्थियों को अनायास हस्तगत हो सकेगा। अतः व्याख्या केवल लघुकौमुदी के पाठकों के लिये ही नहीं अपितु **सिद्धान्तकौमुदी** आदि में समासप्रकरण का अध्ययन करने वाले छात्रों के लिये भी एक समान उपयोगी है।

संक्षेपरुचि लघुकौमुदीकार ने उपयोगी भी कई सूत्र और वार्त्तिक छोड़ दिये हैं। समग्र लघुकौमुदी पढ़ लेने पर भी विद्यार्थियों को 'सभार्यः, सपुत्रः, उष्ट्रमुखः, आजन्म, द्वित्राः, दक्षिणपूर्वा, आतपशुष्कः, महात्मा, पारेगङ्गम्' आदि में समासविधायक सूत्र का पता नहीं चलता। इन सब के लिये मैंने अत्युपयोगी ऐसे पचास-साठ सूत्र

और वार्त्तिक छांट कर उन की भी सोदाहरण व्याख्या यहां उपस्थित कर दी है। परन्तु इस में इतना ध्यान ज़रूर रखा है कि विद्यार्थियों की बुद्धि पर अनावश्यक बोझ न पड़े, वे सहजभाव में ही सब कुछ ग्रहण कर लें। कई जगह मूलोक्त सूत्रों में अपनी ओर से अनेक उदाहरण-प्रत्युदाहरण तथा अन्यान्य उपयोगी सूचनाएं दे कर भी विषय को स्पष्ट से स्पष्टतर बनाने का पूरा प्रयास किया गया है। यथा—लघुकौमुदी के अध्येता को **द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः** (९६०) सूत्र का तो ज्ञान रहता है, वह ज्ञान के इस आधार पर द्वादश, द्वाविंशतिः, द्वात्रिंशत्, द्वाचत्वारिंशत्, द्वाषष्टिः आदि को तो शुद्ध मानता है पर 'द्विचत्वारिंशत्, द्विपञ्चाशत्, द्विषष्टिः' आदि को अशुद्ध। इस कमी को दूर करने के लिये इस व्याख्या में **विभाषा चत्वारिंशत्प्रभृतौ सर्वेषाम्** (६.३.४८) इस सूत्र और **प्राक्शतादिति वक्तव्यम्** (वा०) इस वार्त्तिक का भी यथास्थान उल्लेख कर दिया है जिस से उन का ज्ञान अधूरा न रहे। इसी प्रकार **त्रेस्त्रयः** (९६१) आदि में भी किया गया है।

लघुसिद्धान्तकौमुदी के वर्षों से चले आ रहे अशुद्ध पाठों की ओर भी इस व्याख्या में सतत जागरूकता बरती गई है। निदर्शनार्थ आप मुद्रित लघुसिद्धान्तकौमुदी के इस पाठ को देख सकते हैं—'**द्वितीया' 'तृतीया' इत्यादियोगविभागाद् अन्यत्रापि तृतीयादिविभक्तीनां प्रयोजनवशात् समासो ज्ञेयः**। यहां एक तरफ तो 'द्वितीया' 'तृतीया' आदि योगविभागों का वर्णन है पर दूसरी तरफ द्वितीयादिसमासों की जगह तृतीयादिसमासों का निर्देश किया जा रहा है। भला 'द्वितीया' इस योगविभाग से तृतीयादि विभक्तियों का समास कैसे सम्भव हो सकेगा। अतः यहां **द्वितीयादिविभक्तीनाम्** यह पाठ उचित है। इसी तरह अन्य भी अनेक भ्रष्ट पाठ हैं जिन की ओर इस व्याख्या में पूरा पूरा ध्यान दिया गया है।

ग्रन्थ के अन्त में अनेक उपयोगी परिशिष्ट जोड़े गये हैं। इन में चतुर्थ परिशिष्ट ग्रन्थगत सम्पूर्ण समास-उदाहरणों की वर्णानुक्रमणी का है। इस में बारह सौ से भी अधिक उदाहरणों की सूची दी गई है। प्रत्येक उदाहरण के साथ समास का नाम तथा उस की पृष्ठसंख्या भी दी गई है। व्युत्पन्न विद्यार्थी यदि इन समासों के विग्रह आदि का इस सूची के द्वारा अभ्यास करें तो समासप्रकरण में निश्चय ही निष्णात हो जायेंगे। अकारादिक्रम से सकलग्रन्थगत उदाहरणों की सूची यहां प्रथम बार ही मुद्रित हो रही है।

इस ग्रन्थ के प्रणयन में सब से अधिक योगदान तो मेरे विशाल निजी पुस्तकालय का है, जिस में व्याकरण के शतशः दुर्लभ और सुलभ ग्रन्थ संगृहीत हैं। सच तो यह है कि यदि यह पुस्तकालय मेरे पास न होता तो निश्चय ही इस ग्रन्थ का प्रणयन न हो सका होता।

इस के बाद सब से अधिक सहायता मुझे गुरुजनों में विद्यावयोवृद्ध, ऋषिकल्प एवं पितृकल्प **श्री पं० चारुदेव जी शास्त्री पाणिनीय** महोदयों से प्राप्त हुई है। पूज्य

शास्त्रीजी पाणिनीयव्याकरण में कृतभूरिपरिश्रम चोटी के विद्वानों में एक थे। परन्तु मेरे दुर्भाग्य से उन का देहावसान (६.४.१९८७) इस पुस्तक के प्रकाशन से पूर्व ही हो गया, वे इस का प्रकाशन न देख सके। काश! यदि वे जीवित होते तो निश्चय ही उन का हर्ष सीमातीत होता।

श्रीमान् डा० सत्यव्रत जी शास्त्री प्रोफेसर दिल्ली विश्वविद्यालय (जो पूज्य चारुदेवजी शास्त्री के योग्य सुपुत्र हैं)—इन का भी मैं बहुत कृतज्ञ हूं। इन्होंने पुस्तक का आद्योपान्त समीक्षण कर अपने सुझावों तथा सम्मति से मेरे उत्साह को सदा संवर्धित किया है।

इस ग्रन्थ के प्रूफ़संशोधन में मैंने अथाह परिश्रम किया है। मेरे सुपुत्र अश्विनी शास्त्री का भी इस में पर्याप्त योगदान रहा है। परन्तु फिर भी मेरे वार्धक्यजनित दृष्टिदोष के कारण कहीं कहीं अशुद्धियां रह ही गई हैं (यथा—पृष्ठ १७४ पर 'अलम् + कुमारी ङे' के स्थान पर 'अलम् + कुमारि ङे' छप गया है)। आशा है पाठक अपने उदारभाव से इन्हें क्षमा करने की कृपा करेंगे। इन के संशोधन करने का पूरा पूरा प्रयास इसी संस्करण में ही कर रहे हैं।

अब जो कुछ बन सका है—पाठकों के सामने है। पाठक ही मेरे ग्रन्थों की सदा कसौटी रहे हैं और रहेंगे भी। इतना कह कर मैं विरत होता हूं—

सुरभारती का तुच्छ समुपासक
भीमसेन शास्त्री

शास्त्रि-सदनम्,
६/६४४२, मुकर्जी गली
गांधीनगर, दिल्ली-११००३१
ज्येष्ठ (द्वितीय) कृष्ण अमावस्या, (सं० २०४५ वि०)
१४.६.१९८८ (ई०)

द्वितीय संस्करण के विषय में

कुछ वक्तव्य

इस संस्करण में पूर्वत: ज्ञात तथा विद्वान् पाठकों द्वारा सुझाई समस्त अशुद्धियों को पूर्णत: शुद्ध कर दिया गया है। मैंने स्वयं भी इस ग्रन्थ का आदि से अन्त तक सूक्ष्म अवलोकन कर अनेक उपयोगी संशोधन प्रस्तुत किये हैं। इस संस्करण के कागज़,मुद्रण तथा जिल्द की साज-सज्जा में भी पर्याप्त सुधार किया गया है। इससे यह ग्रन्थ पूर्वापेक्षया बहुत ही सुन्दर एवं आकर्षक बन पड़ा है।

विनीत
भीमसेन शास्त्री

1,नवम्बर 1996

ॐ

श्रीमद्वरदराजाचार्यप्रणीता

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी

श्रीभीमसेनशास्त्रिनिर्मितया भैमीव्याख्ययोद्भासिता

[चतुर्थो भागः]

——:०:——

हृदि सञ्चिन्त्य विश्वेशं प्रेरकं शुभकर्मणाम् ।
भैमीव्याख्याचतुर्थोऽशः साम्प्रतं तन्यते मया ॥१॥
आदावत्र समासानां तद्धितानां ततः परम् ।
अन्ते स्त्रीप्रत्ययानां च व्याख्या सम्यक् प्रकाश्यते ॥२॥
मामकीनं श्रमं नूनं वेत्स्यन्ति सुधियोऽमलाः ।
सर्वे मुदमवाप्स्यन्ति लेशलेशं न संशयः ॥३॥
पठने पाठने सक्ता अनुसन्धित्सवोऽपि च ।
व्याख्यामेतां समासाद्य प्राप्स्यन्त्यान्तरिकं सुखम् ॥४॥

——:०:——

अथ समास-प्रकरणम्

सन्धि और समास ये दो संस्कृतभाषारूपी दुर्ग की बाह्य परिखाएं हैं। विना इन को लाङ्घे किसी को भी संस्कृतभाषा की गरिमा ठीक तरह से विदित नहीं हो सकती। संस्कृतभाषा में ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं जो सन्धि और समास से रहित हो। सन्धि और समास भाषा की स्वाभाविक प्रवृत्तियों में गिने जाते हैं। सन्धि का विस्तृत विवेचन इस व्याख्या के प्रथमभाग के आरम्भ में किया जा चुका है। समासों के ज्ञान के लिये

पदों और उन की तत्तद्विभक्तियों का ज्ञान आवश्यक होता है अतः सुँबन्त-तिङन्तात्मक पदप्रकरण और विभक्त्यर्थप्रकरण के अनन्तर अब समासप्रकरण प्रारम्भ किया जाता है—

[लघु०] समासः पञ्चधा । तत्र समसनं समासः । स च विशेषसञ्ज्ञा-विनिर्मुक्तः केवलसमासः प्रथमः । प्रायेण पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावो द्वितीयः । प्रायेणोत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषस्तृतीयः । तत्पुरुषभेदः कर्मधारयः । कर्मधारयभेदो द्विगुः । प्रायेणान्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिश्चतुर्थः । प्रायेणोभय-पदार्थप्रधानो द्वन्द्वः पञ्चमः ॥

अर्थः—संक्षेप या संक्षिप्तीकरण को समास कहते हैं। समास पाञ्च प्रकार का होता है। प्रथम—जिस समास की कोई विशेषसंज्ञा नहीं की जाती वह केवलसमास होता है। द्वितीय—जिस समास में पूर्वपद का अर्थ प्रायः प्रधान होता है उसे अव्ययी-भावसमास कहते हैं। तृतीय—जिस समास में उत्तरपद का अर्थ प्रायः प्रधान होता है उसे तत्पुरुषसमास कहते हैं। तत्पुरुषसमास का ही एक भेद कर्मधारयसमास और उस कर्मधारय का भी एक भेद द्विगुसमास होता है। चतुर्थ—जिस समास में समस्यमान पदों के अतिरिक्त किसी अन्यपद का अर्थ प्रायः प्रधान रहता है उसे बहुव्रीहिसमास कहते हैं। पञ्चम—जिस समास में दोनों पदों का अर्थ प्रायः प्रधान होता है उसे द्वन्द्व-समास कहते हैं।

व्याख्या—समसनं समासः। सम्पूर्वक **असुँ क्षेपणे** (दिवा० परस्मै०) धातु से भाव में घञ् (अ) प्रत्यय कर घञ् के ञित्त्व के कारण **अत उपधायाः** (४५५) से उपधा-वृद्धि करने पर 'समास' शब्द निष्पन्न होता है। संक्षेप, संक्षिप्तीकरण या मिलाने को समास कहते हैं। यह शब्द व्याकरण में योगरूढ या पारिभाषिक माना गया है। अतः प्रत्येक संक्षेप को समास नहीं कहते, अपितु जब दो या दो से अधिक पद मिल कर एक पद हो जाते हैं तो उसे समास कहते हैं। समास हो जाने पर उन समस्यमान पदों की प्रायः अपनी-अपनी विभक्तियां लुप्त हो जाती हैं (परन्तु उन का अर्थ तो रहता ही है)। पुनः नये सिरे से समास को एक शब्द या प्रातिपदिक मान कर नई विभक्ति आती है। तब वह समूचा नया पद बन जाता है[1]। स्वरप्रक्रिया में तब उसे एकपद समझ कर ही स्वर लगाया जाता है[2]। समास का उदाहरण यथा—गङ्गायाः जलम्—गङ्गाजलम्। यहां 'गङ्गायाः' तथा 'जलम्' ये दो पद मिल कर 'गङ्गाजलम्' यह एकपद बन गया है। इसी प्रकार—कृष्णं श्रितः—कृष्णश्रितः, हरिणा त्रातः—हरित्रातः, चोराद् भयम्—चोरभयम् इत्यादियों में समास जानना चाहिये।[3]

---

१. **पदानां लुप्यते यत्र प्रायः स्वाः स्वाः विभक्तयः ।**
पुनरेकपदीभावः समास उच्यते तदा ॥

२. **समासस्य प्रयोजनमैकपद्यमैकस्वर्यञ्च** (काशिका)।

३. इन समासों का प्रयोग अङ्ग्रेज़ीभाषा में भी बहुधा देखा जाता है। यथा—inside,

यह समास पाञ्च प्रकार का होता है—

(१) केवलसमास

जब समास तो किया जाता है परन्तु उस की शास्त्र में कोई विशेष संज्ञा नहीं की गई होती तो उसे केवलसमास ही कहा जाता है। यह समास **सह सुँपा** (९०६) या इसके योगविभाग द्वारा ही सम्पन्न होता है। यथा—पूर्वं भूतो भूतपूर्वः। यहां **सह सुँपा** (९०६) से समास तो हुआ है परन्तु उस का कोई विशेष नाम नहीं रखा गया अतः यह केवलसमास ही कहा जायेगा। इसी समास का प्राचीन नाम सुँप्सुँपासमास है। यह नाम इस लिये रखा गया है कि इस में एक सुँबन्त दूसरे सुँबन्त के साथ विशेषनाम के विना समास को प्राप्त होता है। इस समास के अन्य उदाहरण 'वागर्थाविव, नैकः' आदि आगे स्पष्ट किये जायेंगे।

(२) अव्ययीभावसमास

अव्ययीभाव एक अन्वर्थ अर्थात् अर्थानुसारी संज्ञा है। इस समास में प्रायः पूर्व-पद अव्यय होता है और उत्तरपद अनव्यय, परन्तु समास होने पर समस्त पद अव्यय बन जाता है। अनव्ययम् अव्ययं भवति—अव्ययीभावः। अव्ययीभावसमास में प्रायः पूर्वपद के अर्थ की प्रधानता होती है[1]। यथा—हरौ इति अधिहरि (हरि में)। यहां 'अधि' यह पूर्वपद है जो अधिकरण का द्योतक है, अतः 'अधिहरि' इस समस्त में भी अधिकरण की प्रधानता है। इसीप्रकार कृष्णस्य समीपम्—उपकृष्णम्, शक्तिमनति-क्रम्य—यथाशक्ति इत्यादियों में समझना चाहिये। यह समास **अव्ययीभावः** (९०७) सूत्र के अधिकार में विधान किया जाता है अतः इस का नाम अव्ययीभाव होता है।

(३) तत्पुरुषसमास

तत्पुरुषः (९२२) सूत्र के अधिकार में विहित समास 'तत्पुरुष' कहाता है। द्वितीयान्त से ले कर सप्तम्यन्त तक जिस जिस विभक्त्यन्त का उत्तरपद के साथ समास का विधान किया जाता है वह तत्पुरुषसमास उसी विभक्ति के नाम से व्यवहृत होता

---

underwood, lifelong, world-wide, after-life, rail-way, ear-ring, cooking-stove, looking-glass, bed-ridden, heart-rending, wood-cutter, man-eater, shoe-maker, grand-father, black-board, snow-white, mid-night, non-vegetarian, well-known, one-eyed, noble-minded, father-in-law, touch-me-not, narrow-minded, good-natured इत्यादि समासों के उदाहरण हैं।

१. 'प्रायः' इसलिये कहा है कि कहीं कहीं इस से विपरीत भी पाया जाता है। यथा —उन्मत्तगङ्गम्, लोहितगङ्गम् इत्यादि अव्ययीभावसमासों में अन्यपदार्थ का प्राधान्य, एवम् 'शाकप्रति' (शाक का लेश) आदि में उत्तरपद का प्राधान्य देखा जाता है। इन सब का विवेचन काशिका या सिद्धान्तकौमुदी में देखें।

है[1]। यथा—'कष्टं श्रितः कष्टश्रितः' यहां द्वितीयातत्पुरुषसमास, 'हरिणा त्रातो हरित्रातः' यहां तृतीयातत्पुरुषसमास, 'भूताय बलिः भूतबलिः' यहां चतुर्थीतत्पुरुषसमास, 'चोराद् भयम् चोरभयम्' यहां पञ्चमीतत्पुरुषसमास, 'राज्ञः पुरुषो राजपुरुषः' यहां षष्ठीतत्पुरुषसमास तथा 'अक्षेषु शौण्डः—अक्षशौण्डः' यहां सप्तमीतत्पुरुषसमास है।

इस समास में उत्तरपद के अर्थ की प्रायः प्रधानता होती है[2]। यथा—'राज्ञः पुरुषः—राजपुरुषः', यहां षष्ठीतत्पुरुषसमास में उत्तरपद 'पुरुषः' के अर्थ की ही प्रधानता है। यदि कहें कि 'राजपुरुषमानय' (राजपुरुष को लाओ) तो राजसम्बन्धी पुरुष का ही आनयनक्रिया में अन्वय होगा राजा का नहीं, वह तो पुरुष को ही केवल विशिष्ट करेगा। इसीप्रकार कष्टश्रितः, हरित्रातः, भूतबलिः आदियों में समझना चाहिये।

तत्पुरुषसमास का ही एक भेद होता है—कर्मधारयसमास। **तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः** (९४०)। जब तत्पुरुषसमास में दोनों पद एक ही अधिकरण (वाच्य) को कहते हैं तो वहां कर्मधारयसमास होता है। यथा—नीलमुत्पलम्—नीलोत्पलम् (नीला कमल), शूरः पुरुषः—शूरपुरुषः (शूर पुरुष)।

इस कर्मधारयसमास में जब पूर्वपद संख्यावाचक होता है तो उसे द्विगुसमास कहते हैं—**संख्यापूर्वो द्विगुः** (९४१)। तत्पुरुष तथा कर्मधारय संज्ञाएं भी अक्षुण्ण रहती हैं। यथा—पञ्चानां गवां समाहारः—पञ्चगवम्। इस के अन्य उदाहरण हैं—त्रिफला, त्रिलोकी आदि।

(४) बहुव्रीहि-समास

शेषो बहुव्रीहिः (९६५) के अधिकार में जिस समास का विधान किया जाता है उसे बहुव्रीहिसमास कहते हैं। इस समास में समस्यमान पदों से भिन्न तत्सम्बद्ध किसी अन्य पद के अर्थ की ही प्रायः प्रधानता होती है[3]। यथा—पीतानि अम्बराणि

---

१. **विभक्तयो द्वितीयाद्या नाम्ना परपदेन तु।**
समस्यन्ते समासो हि ज्ञेयस्तत्पुरुषः स च॥
(कातन्त्र २९६)

२. 'प्रायः' इसलिये कहा है कि कहीं कहीं इस से विपरीत भी पाया जाता है। यथा—मालामतिक्रान्तः—अतिमालः, यहां 'माला' यद्यपि उत्तरपद है तथापि इस के अर्थ का प्राधान्य नहीं है, पूर्वपद के अर्थ की ही प्रधानता है। इसीप्रकार 'अर्धपिप्पली, पूर्वकायः, निष्कौशाम्बिः' आदियों में समझना चाहिये।

३. 'प्रायः' इसलिये कहा है कि कहीं कहीं इस का उल्लङ्घन भी देखा जाता है। यथा—द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः (दो या तीन)। यहां पर दोनों पदों की प्रधानता देखी जाती है। इस प्रकार के बहुव्रीहिसमास के अन्य उदाहरण काशिका या सिद्धान्तकौमुदी में देखने चाहियें।

(वस्त्राणि) यस्य स पीताम्बरः (पीले कपड़े हैं जिस के वह, अर्थात् श्रीकृष्ण आदि)। यहां 'पीत' और 'अम्बर' पदों से भिन्न अन्य पद के अर्थ की प्रधानता है। समस्यमान पद उस अन्य पद के केवल विशेषण बन कर रह गये हैं। अत एव कहा भी गया है—**सर्वोपसर्जनो बहुव्रीहिः** (बहुव्रीहिसमास में सब पद उपसर्जन अर्थात् गौण होते हैं)।

(५) द्वन्द्व-समास

'च' के अर्थ में **चार्थे द्वन्द्वः** (९८५) द्वारा द्वन्द्वसमास का विधान किया जाता है। द्वन्द्वसमास में दोनों (या दो से अधिक सब) पदों के अर्थों की प्रायः प्रधानता होती है[1]। यथा—हरिश्च हरश्च—हरिहरौ। यहां दोनों पदों के अर्थों का प्राधान्य होने से क्रिया में दोनों का ही अन्वय होता है। जैसे—**वन्दे हरिहरौ नित्यं भवपाशनिवृत्तये**—यहां 'वन्दे' क्रिया में हरि और हर दोनों पदों के अर्थों का कर्मत्वेन अन्वय होता है।

समासों के इन नामों पर एक रोचक उक्ति बहुत प्रसिद्ध है—

द्वन्द्वोऽस्मि द्विगुरपि च, गृहे च मे सततमव्ययीभावः।
तत्पुरुष कर्म धारय, येनाहं स्यां बहुव्रीहिः॥

कोई निर्धन ब्राह्मण, राजा के दरबार में जा कर अपनी करुण गाथा का इस प्रकार वर्णन करता है—

हे राजन्! मैं द्वन्द्व हूँ—मैं अकेला नहीं बल्कि भार्या का भी मुझे भरण-पोषण करना पड़ता है। मैं द्विगु भी हूं—मेरे घर पर दो बैल भी हैं जिन को प्रतिदिन खिलाना पड़ता है। परन्तु मेरी दशा यह है कि मेरे पास निरन्तर अव्ययीभाव अर्थात् खर्च करने को फूटी कौड़ी भी नहीं है। इसलिये हे पुरुष-श्रेष्ठ! तत् कर्म धारय—ऐसा काम करो जिस से मैं बहुव्रीहि– बहुत धनवाला हो जाऊँ ताकि मेरे पास खाने-पीने की कमी न रहे। इस श्लोक की यह विशेषता है कि इस में छहों समासों का नाम आ जाता है। यह श्लोक पर्याप्त प्राचीन प्रतीत होता है। राजशेखर (दसवीं शती) की काव्यमीमांसा में भी इसे उद्धृत किया गया है।

अब सर्वप्रथम केवलसमास का निरूपण करने के लिये समास आदि पदसम्बन्धी कार्यों में उपयोगी समर्थपरिभाषा का अवतरण करते हैं—

[लघु०] परिभाषा-सूत्रम्— (९०४) **समर्थः पद-विधिः** ।२।१।१॥

पदसम्बन्धी यो विधिः स समर्थाश्रितो बोध्यः॥

अर्थः—पदविधि अर्थात् पदों से सम्बन्ध रखने वाला कार्य समर्थ पदों के आश्रित जानना चाहिये।

---

१. 'प्रायः' इसलिये कहा है कि समाहारद्वन्द्व में समाहार की ही प्रधानता होती है, दोनों पद गौण रहते हैं। यथा—दन्ताश्च ओष्ठौ च दन्तोष्ठम् (दान्तों और होठों का समाहार)। **ओत्वोष्ठयोः समासे वा** इति वार्त्तिकेन वा पररूपत्वमत्र बोध्यम्।

व्याख्या—समर्थः ।१।१। पदविधिः ।१।१। विधीयत इति **विधिः** (कार्यम्) । विपूर्वक **डुधाञ् धारण-पोषणयोः** (जुहो० उभय०) धातु से कर्म में **उपसर्गे घोः किः** (८६२) सूत्रद्वारा 'कि' (इ) प्रत्यय कर आकार का लोप (४८९) करने से 'विधि' शब्द निष्पन्न होता है । विधान किये गये कार्य को विधि कहते हैं । पदानां विधिः—पदविधिः, सम्बन्धषष्ठीतत्पुरुषसमासः । 'समर्थः' पद यहां 'समर्थाश्रितः' के अर्थ में लाक्षणिक है । अर्थः—(पदविधिः) पदों से संबन्ध रखने वाला कार्य (समर्थः) समर्थ पदों के आश्रित होता है । यह परिभाषासूत्र है । जैसे कमरे में एक स्थान पर रखा हुआ दीपक सारे कमरे को प्रकाशित करता है वैसे परिभाषाओं की स्थिति हुआ करती है[1] । इस प्रस्तुत परिभाषा के कारण सम्पूर्ण अष्टाध्यायी में जहां-कहीं पदसम्बन्धी कार्य कहा जायेगा वह कार्य समर्थ पदों के आश्रय पर ही होगा असमर्थ पदों के नहीं । आकाङ्क्षा आदि के वश परस्पर सम्बद्धार्थ होना ही पदों का सामर्थ्य है[2] । समास पदसम्बन्धी विधि (कार्य) है क्योंकि इस में एक सुँबन्त दूसरे सुँबन्त के साथ जुड़ता है अतः प्रकृत परिभाषाद्वारा यह समास समर्थ पदों के आश्रित होगा । यथा—राज्ञः पुरुषः—राजपुरुषः (राजा का सेवक) । यहां दोनों पद समर्थ हैं, स्वस्वामिभावसम्बन्ध से परस्पर सम्बद्ध हैं अतः यहां समास हो कर 'राजपुरुषः' ऐसा समस्त रूप बन जाता है । परन्तु 'भार्या **राज्ञः पुरुषो** देवदत्तस्य' (स्त्री राजा की है, पुरुष देवदत्त का है) यहां 'राज्ञः' और 'पुरुषः' का समास नहीं होता, कारण कि ये दोनों पद परस्पर निरपेक्ष होने से असमर्थ

---

१. **परिभाषा पुनरेकदेशस्था सती कृत्स्नं शास्त्रमभिज्वलयति प्रदीपवत् । तद्यथा प्रदीपः सुप्रज्वलितः एकदेशस्थः सर्वं वेश्माभिज्वलयति—** (महाभाष्ये २.१.१) ।

२. जब तक आकाङ्क्षा, योग्यता और आसत्ति न हो पदों का परस्पर सम्बन्ध नहीं बनता और न ही वे समर्थ कहला सकते हैं । यथा—'राज्ञः पुरुषः' ये पद परस्पर आकाङ्क्षा रखते हैं । केवल 'राज्ञः' कहने से आकाङ्क्षा रहती है कि राजा का क्या ? जब 'पुरुषः' कह देते हैं तो वह आकाङ्क्षा शान्त हो जाती है । इसी तरह केवल 'पुरुषः' कहने पर भी आकाङ्क्षा बनी रहती है कि किस का पुरुष ? जब 'राज्ञः' कह दिया जाता है तो वह आकाङ्क्षा मिट जाती है । एवं 'राज्ञः' को 'पुरुषः' की और 'पुरुषः' को 'राज्ञः' की आकाङ्क्षा रहने से इन पदों में सामर्थ्य रहता है अतः इन का समास हो जाता है । जब तक पदों में परस्पर मिलने की योग्यता न हो वे असमर्थ रहते हैं । यथा—अग्निना सिञ्चति । ये असम्बद्ध पद हैं क्योंकि अग्नि में सिञ्चन की योग्यता नहीं पाई जाती । इसी प्रकार उचित आसत्ति (निकटता) न होने पर भी पदों में सामर्थ्य नहीं होता । यदि 'राज्ञः' पद अब कह दिया जाये और 'पुरुषः' पद तुरन्त बाद न कह कर अनुचित व्यवधान के बाद कहा जाये तो आसत्ति न रहने से इन में सामर्थ्य न रहेगा । इन का विस्तृत विवेचन साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थों में देखना चाहिये ।

है। 'राज्ञः' का सम्बन्ध 'भार्या' के साथ है न कि 'पुरुषः' के साथ, एवं 'पुरुषः' का सम्बन्ध 'देवदत्तस्य' के साथ है न कि 'राज्ञः' के साथ। इसी प्रकार—'पश्यति **कृष्णं श्रितो** देवदत्तो गुरुकुलम्' यहां पर 'कृष्णं श्रितः' में समास नहीं होता। 'वस्त्रमु**पगोर् अपत्यं** देवदत्तस्य' यहां 'उपगोरपत्यम्' में **तस्याऽपत्यम्** (१००४) द्वारा तद्धित अण् प्रत्यय न होने से 'औपगवः' नहीं बनता। ध्यान रहे कि तद्धितों की उत्पत्ति भी प्रायः सुँबन्तों से ही होती है अतः वे भी पदविधि होते हैं।

सामर्थ्य दो प्रकार का होता है—व्यपेक्षाभावसामर्थ्य और एकार्थीभावसामर्थ्य। वाक्य में व्यपेक्षाभाव सामर्थ्य होता है क्योंकि इस में पद परस्पर अपेक्षा रखा करते हैं। परन्तु समास में एकार्थीभाव (मिल कर एक अर्थ को कहना) रूप सामर्थ्य हुआ करता है। सम्बद्धार्थकों का जब एकार्थीभाव हो जाता है तो पुनः उस एकार्थीभूत अर्थ में पृथक्-पृथक् विशेषणों का योग नहीं हो पाता। यही कारण है कि एकार्थीभूत हुए 'राजपुरुषः' के 'राज्ञः' अंश के साथ 'ऋद्धस्य' आदि विशेषणों का योग हो कर 'ऋद्धस्य राजपुरुषः' इत्यादि प्रयोग नहीं होते। कहा भी गया है—**सविशेषणानां वृत्तिर्न, वृत्तस्य वा विशेषणयोगो न** (महाभाष्य २.१.१)।[1]

ध्यान रहे कि यह समर्थपरिभाषा केवल पदविधि के लिये ही है वर्णविधि आदि में इसकी प्रवृत्ति नहीं होती। यथा—तिष्ठतु दध्यशान त्वं तक्रम् (दही को रहने दो, तुम छाछ का भक्षण करो) यहां 'दधि + अशान' इन परस्पर निरपेक्ष पदों में **इको यणचि** (१५) द्वारा यण्सन्धि निर्बाध हो जाती है।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा समाससंज्ञा का अधिकार प्रारम्भ करते हैं—

[लघु०] अधिकारसूत्रम्—(९०५) **प्राक्कडारात् समासः** ।२।१।३।।

कडाराः कर्मधारये (२.२.३८) इत्यतः प्राक् समास इत्यधिक्रियते ।।

अर्थः—कडाराः कर्मधारये (२.२.३८) सूत्र से पहले पहले समास का अधिकार किया जाता है।

---

१. परन्तु नित्यसापेक्ष (हमेशा दूसरे सम्बन्धी की अपेक्षा करने वाले) शब्दों में ऐसे प्रयोग देखे भी जाते हैं। यथा—गुरोः कुलम्—गुरुकुलम्, षष्ठीतत्पुरुषसमासः। देवदत्तस्य गुरुकुलम्—यहां 'देवदत्तस्य' पद समास के एकांश 'गुरोः' के साथ सम्बद्ध होता है। इसीप्रकार—देवदत्तस्य गुरुपुत्रः, देवदत्तस्य दासभार्या, यज्ञदत्तस्य पितृकुलम्—इत्यादियों में समझना चाहिये। इस विषय में भर्तृहरि की वाक्यपदीय का यह श्लोक बहुत प्रसिद्ध है—

सम्बन्धिशब्दः सापेक्षो नित्यं सर्वः समस्यते ।
वाक्यवत् सा व्यपेक्षा हि वृत्तावपि न हीयते ।।
(वृत्तिसमुद्देश—४७)

वृत्तौ=समासे न हीयते—न नश्यति। इस विषय पर विस्तार के लिये व्याकरण के उच्च दार्शनिक ग्रन्थों का अवलोकन करें।

व्याख्या—प्राक् इत्यव्ययपदम् । कडारात् ।५।१। समासः ।१।१। यह अधिकारसूत्र है । इस का अधिकार **कडाराः कर्मधारये** (२.२.३८) सूत्र से पूर्व तक जाता है । 'कडार' शब्द से उस सूत्र के आद्य अंश का अनुकरण किया गया है जैसे **आ कडारादेका संज्ञा** (१६६) सूत्र में किया गया था । अर्थः—(कडारात्) **कडाराः कर्मधारये** सूत्र से (प्राक्) पूर्व पूर्व (समासः) समास अधिकृत किया जा रहा है । तात्पर्य यह है कि अष्टाध्यायी में इस प्रस्तुत सूत्र से ले कर **कडाराः कर्मधारये** (२.२.३८) सूत्र के पूर्व तक समास का विधान किया जायेगा ।

ध्यान रहे कि समास का यह अधिकार **आ कडारादेका संज्ञा** (१६६) अर्थात् एकसंज्ञाधिकार के अन्तर्गत आता है अतः इस अधिकार में एक की एक ही संज्ञा की जा सकती है । परन्तु यहां हमें इस समाससंज्ञा के साथ-साथ **अव्ययीभावः** (९०७), **तत्पुरुषः** (९२२), **चार्थे द्वन्द्वः** (९८५) आदि सूत्रों के द्वारा उस समास की अव्ययीभाव, तत्पुरुष, द्वन्द्व आदि अन्य संज्ञाएं भी यथास्थान करनी अभीष्ट हैं, तो यह संज्ञाद्वय-समावेश कैसे हो सकेगा ? यह यहां प्रश्न उत्पन्न होता है । इस का समाधान प्रकृतसूत्र में दो बार 'प्राक्' शब्द का ग्रहण कर के किया जाता है । तथाहि—एक 'प्राक्' शब्द तो सूत्र में पठित है ही, दूसरा 'प्राक्' शब्द 'कडारात्' में दिग्योगपञ्चमी के कारण अध्याहृत कर लिया जाता है । इन दो 'प्राक्' शब्दों में से एक 'प्राक्' तो अवधि का द्योतक है अर्थात् इस सूत्र का अधिकार **कडाराः कर्मधारये** (२.२.३८) से पूर्व तक जाता है—यह द्योतित करता है । दूसरा 'प्राक्' शब्द यह कहता है कि इस अवधि तक जो कोई अन्य संज्ञा विधान करें पहले उस की समाससंज्ञा हो । इस से समाससंज्ञा हो कर ही यथास्थान अन्य अव्ययीभाव आदि संज्ञाएं होंगी । इस तरह सञ्ज्ञाद्वय का समावेश सिद्ध हो जायेगा ।

प्रकृत 'समास' संज्ञा अन्वर्थ है । समस्यते=एकीक्रियते प्रयोक्तृभिरिति समासः, **अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्** (८५२) सूत्रद्वारा कर्म में घञ् प्रत्यय किया गया है । अतः आगे ग्रन्थकार स्थान-स्थान पर 'समस्यते' शब्द का प्रयोग करेंगे[1] । यहां पूर्वोक्त 'समसनं समासः' वाला भावप्रत्ययान्त विग्रह अभीष्ट नहीं है ।

अब सकलसमासप्रकरण में अधिकृत तथा अनिर्दिष्ट-समासस्थलों पर समास के विधायक सुप्रसिद्ध सुँप्सुँपा सूत्र का निर्देश करते हैं—

---

१. कुछ लोग 'समास' शब्द में बहुल के कारण कर्त्तरि घञ् प्रत्यय स्वीकार कर—एक सुँबन्त (कर्तृ) दूसरे सुँबन्त के साथ समस्यते=एकत्रीभवति=एकपदीभवति =एकपद हो जाता है, ऐसा आगे के सूत्रों में व्याख्यान करते हैं । उन के मतानुसार वृत्ति में 'समस्यते' में कर्त्तरि लँट् होकर **उपसर्गादस्यत्यूह्योर्वेति वाच्यम्** (वा०) से आत्मनेपद हो गया है ।

[लघु०] अधिकारसूत्रं विधि-सूत्रं च—(९०६) **सह सुँपा** ।२।१।४।।

सुँप् सुँपा सह वा समस्यते । समासत्वात् प्रातिपदिकत्वेन सुँपो लुक् । परार्थाऽभिधानं वृत्तिः । कृत्-तद्धित-समासैकशेष-सनाद्यन्त-धातुरूपाः पञ्च वृत्तयः । वृत्त्यर्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः । स च लौकिकोऽलौकिकश्चेति द्विधा । तत्र 'पूर्वं भूतः' इति लौकिकः । 'पूर्व अम्+भूत सुँ' इत्यलौकिकः । भूतपूर्वः । भूतपूर्वे चरड् (५.३.५३) इति निर्देशात् (भूतशब्दस्य) पूर्वनिपातः ।।

अर्थः—एक सुँबन्त दूसरे सुँबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है । समास की **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) सूत्रद्वारा प्रातिपदिकसंज्ञा हो जाने के कारण समास के अवयव सुँपों का **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् हो जाता है ।

पर=अन्य अर्थात् एकार्थीभावरूप विशिष्ट अर्थ का जिस के द्वारा कथन किया जाता है उसे 'वृत्ति' कहते हैं । वृत्तियां पांच प्रकार की होती हैं—(१) कृदन्तवृत्ति; (२) तद्धितघटितवृत्ति;[1] (३) समासवृत्ति; (४) एकशेषवृत्ति; (५) सनाद्यन्तधातुवृत्ति । वृत्ति के अर्थ का बोध कराने के लिये जो वाक्य प्रयुक्त किया जाता है उसे विग्रह कहते हैं । वह विग्रह लौकिक और अलौकिक भेद से दो प्रकार का होता है । 'भूतपूर्वः' इस समास का 'पूर्वं भूतः' यह लौकिक विग्रह है । 'पूर्व अम्+भूत सुँ' यह अलौकिक-विग्रह है । इस समास में **भूतपूर्वे चरट्** (५.३.५३) इस पाणिनीयसूत्र के निर्देशानुसार 'भूत' शब्द का पूर्वनिपात अर्थात् पूर्वप्रयोग होता है ।

व्याख्या—सह इत्यव्ययपदम् । सुँपा ।३।१। सुँप् ।१।१। (**सुँबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे** से) । समासः ।१।१। (**प्राक्कडारात्समासः** से) । **प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्** परिभाषा के अनुसार सुँप् और सुँपा दोनों से तदन्तविधि हो जाती है । अर्थः—(सुँप् =**सुँबन्तम्**) एक सुँबन्त (सुँपा=सुँबन्तेन) दूसरे सुँबन्त के (सह) साथ (समासः) समस्त होता है । यह अधिकारसूत्र है । यहां से आगे जो समास विधान किया जायेगा वहां यह सूत्र उपस्थित होकर कहेगा कि सुँबन्त सुँबन्त के साथ समास को प्राप्त होता है तिङन्त के साथ नहीं । यथा—**द्वितीया श्रिताऽतीत-पतित-गताऽत्यस्त-प्राप्ताऽऽपन्नैः** (९२४) इस सूत्र में इस अधिकार के आ जाने से सूत्र का अर्थ होगा—द्वितीयान्त समर्थ सुँबन्त श्रितादि-प्रकृतिक सुँबन्तों के साथ समास को प्राप्त होता है । कष्टं श्रितः—कष्टश्रितः इत्यादि । **पञ्चमी भयेन** (९२८) सूत्र का अर्थ होगा—पञ्चम्यन्त सुँबन्त भयप्रकृतिक सुँबन्त के साथ समास को प्राप्त होता है । चोराद् भयम्—चोरभयम् इत्यादि ।

इस सूत्र को अधिकारसूत्र के साथ साथ विधिसूत्र भी माना जाता है । जब समास लोक में प्रचलित होता है—शिष्ट-सम्मत होता है पर उसका विधायक कोई सूत्र

---

१. यहां 'कृदन्तवृत्ति' की तरह 'तद्धितान्तवृत्ति' नहीं कहा । कारण कि सब तद्धित प्रत्यय अन्त में नहीं होते । बहुच्प्रत्यय (५.३.६८) प्रकृति के आदि में तथा अकच्प्रत्यय (५.३.७१) प्रकृति की टि से पूर्व जुड़ता है । अतः 'तद्धित' से यहां तद्धितघटितवृत्ति समझनी चाहिये (नागेशभट्ट) ।

नहीं होता तो वहां इस सूत्र से समास कर लिया जाता है। इस समास का कोई विशेष नाम नहीं होता अतः इसे केवलसमास या सुँप्सुँपासमास कह दिया जाता है। यह समास महाभाष्य, प्रदीप तथा काशिका आदियों में वैकल्पिक माना गया है।[1] श्रीवरदराज ने इस सूत्र को लघुसिद्धान्तकौमुदी में विधिसूत्र के रूप में प्रस्तुत किया है और इस समास को वैकल्पिक माना है। इस सूत्र का उदाहरण 'भूतपूर्वः' है। परन्तु इसे प्रदर्शित करने से पूर्व ग्रन्थकार समासोपयोगी वृत्ति, विग्रह आदि कुछ पारिभाषिक शब्दों को स्पष्ट करते हैं।

परार्थाभिधानं वृत्तिः। अभिधीयतेऽनेन इत्यभिधानम्, करणे ल्युट्, सामान्ये नपुंसकम्। परश्चासौ अर्थः—परार्थः, परार्थस्य अभिधानम्—परार्थाभिधानम्। विग्रहवाक्यावयवपदार्थेभ्यः परः=अन्यो योऽयं विशिष्टैकार्थरूपः, तत्प्रतिपादिका वृत्तिरिति भावः[2]। समास आदि में जब पद (या शब्द) अपने अपने स्वार्थ को पूर्णतः या अंशतः छोड़ कर एक विशिष्ट अर्थ को कहने लग जाते हैं तो उसे पूर्वाचार्य 'वृत्ति' कहते हैं। वृत्ति में शब्दों का अर्थ मिश्रित हो कर एकाकार अर्थ का रूप धारण कर लेता है। यथा 'राजपुरुषः' इस समासवृत्ति के अर्थ में न तो राजा रहा और न पुरुष, बल्कि 'राजसम्बन्धी पुरुष' यह एकाकार एकार्थीभावरूप अर्थ हो गया है। यही कारण है कि तब राजा के साथ 'ऋद्धस्य' आदि विशेषणों का योग नहीं होता। ऋद्धस्य राजपुरुषः—नहीं कह सकते। इसी का नाम परार्थाभिधान है। यह वृत्ति पाञ्च प्रकार की मानी जाती है—

(१) **कृदन्तवृत्ति**। इस वृत्ति के अन्त में कृत्प्रत्यय होने के कारण इसे कृदन्तवृत्ति कहते हैं। यथा—कारकः, हारकः, कुम्भकारः, कुरुचरः आदि। यहां प्रकृति + प्रत्यय अथवा उपपद + प्रकृति + प्रत्यय मिल कर परस्परसम्बद्ध एकार्थीभावरूप विशिष्ट अर्थ को प्रकट करते हैं।

---

१. इस का विस्तृत विवेचन **विभाषा** (२.१.११) सूत्रस्थ प्रौढमनोरमा में देखा जा सकता है।

२. वचनमिदं नागेशभट्टेनेत्थं व्याख्यातम्—
परार्थाऽभिधानमिति करणे ल्युट्, सामान्ये नपुंसकम्। परशब्दस्तदर्थपरः तेन युक्तोऽर्थः परार्थः। एवञ्च परस्यार्थेन सम्बद्धो यः स्वार्थस्तस्याभिधाभिर्योपस्थितिस्तत्करणमित्यर्थः। इतरार्थाऽन्वितस्वार्थस्योपस्थितिर्येनेति फलितम्। सा चाऽवयवशक्तिसहकृतसमुदायशक्तिसाध्या। परार्थाभिधानमेव चैकार्थीभावः। एतदुक्तं भवति—न केवलया क्लृप्तावयवशक्त्या सर्वत्र निर्वाहः, किन्तु विशिष्टार्थविषयं शक्त्यन्तरं स्वीकर्त्तव्यम्। अत एव वृत्तौ विशेषणस्य पदार्थैकदेशत्वान्न विशेषणसम्बन्धः। द्वन्द्वे चशब्दस्याऽप्रयोगः। बहुव्रीहौ यच्छब्दादेरिति। वृत्तिरिति समुदायस्य वृत्त्याश्रयत्वेन औपचारिकोऽयं प्राचां व्यवहारो निरूढः पञ्चसु इति बोध्यम्।
(सर्वसमासशेषप्रकरणे शेखरद्वये)

(२) **तद्धितघटितवृत्ति**। इस वृत्ति में पीछे, आगे या बीच में कहीं तद्धित प्रत्यय हुआ करता है। यथा—औपगवः, दाशरथिः, बहुपटुः, सर्वकः आदि। इस में प्रकृति+तद्धितप्रत्यय मिल कर एकार्थीभावरूप एक विशिष्ट अर्थ को प्रकट करते हैं।

(३) **समासवृत्ति**। यथा—राज्ञः पुरुषः—राजपुरुषः। इस में दो या दो से अधिक पद मिल कर परस्परसम्बद्ध एकार्थीभावरूप विशिष्ट अर्थ को प्रकट करते हैं।

(४) **एकशेषवृत्ति**। जब दो या दो से अधिक पदों (या शब्दों) में एक शेष रह जाता है तो वह अवशिष्ट सब का बोधक होता है। यथा—माता च पिता च पितरौ। यहां **पिता मात्रा** (६६०) सूत्रद्वारा पितृशब्द ही अवशिष्ट रहता है, इस प्रकार यह 'मातृ+पितृ' दोनों का एकार्थीभाव से बोधक होता है। कुछ वैयाकरण इस एकशेष को वृत्ति स्वीकार नहीं करते।

(५) **सनाद्यन्तधातुवृत्ति**। पीछे (४६८) सूत्र पर सन्, क्यच्, काम्यच् आदि बारह सनादि प्रत्यय गिनाये गये हैं। ये प्रत्यय जिस के अन्त में आते हैं, उस समुदाय की **सनाद्यन्ता धातवः** (४६८) से धातुसंज्ञा हो जाती है। इस प्रकार की धातुओं में भी प्रत्यय जुड़ने के कारण अनेक अर्थों का मिलकर एकार्थीभाव हुआ करता है अतः इन को भी वृत्ति कहते हैं। यथा—'पिपठिषति' यहां 'पिपठिष' इस सन्नन्त धातु में पठन तथा इच्छा आदि अनेक अर्थों का एक विशिष्ट एकार्थीभावरूप अर्थ प्रकट होता है। इसी प्रकार—पुत्रीयति, पुत्रकाम्यति आदियों में भी समझना चाहिये।

यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि तिङन्त को वृत्ति नहीं माना गया। अत एव 'मृदु पचति' यहां पच्धातु के फलांश (न कि व्यापारांश) में 'मृदु' का अन्वय हो जाता है। अन्यथा तिङन्त को वृत्ति मान लेने पर फल और व्यापार दोनों धात्वर्थों के एकार्थीभाव के अन्तर्गत हो जाने से पृथक्-पृथक् विशेषण का योग न हो सकता।

इन वृत्तियों के अर्थ का बोध कराने के लिये जो वाक्य या पदावली प्रयुक्त की जाती है उसे 'विग्रह' कहते हैं। यह विग्रह दो प्रकार का होता है। एक लौकिक और दूसरा अलौकिक। लोक (लौकिक संस्कृतभाषा) में जो प्रयोगार्ह होता है उसे लौकिक विग्रह कहते हैं। यथा—'राजपुरुषः' इस समासवृत्ति का 'राज्ञः पुरुषः' यह लौकिक विग्रह है। अलौकिक विग्रह प्रयोग में नहीं आता, वह व्याकरण की प्रक्रिया दर्शाने के लिये ही होता है। यथा—'राजपुरुषः' का अलौकिक विग्रह है—राजन् ङस्+पुरुष सुँ। इस की कल्पना व्याकरणप्रक्रिया की सुविधा के लिये की जाती है। यहां यह विशेष स्मर्तव्य है कि अलौकिकविग्रह तो प्रत्येक समास का हुआ करता है परन्तु लौकिकविग्रह तभी होता है जब समास वैकल्पिक हो। यदि समास नित्य है तो लौकिकविग्रह या तो किया ही नहीं जाता अथवा अस्वपदविग्रह किया जाता है। अस्वपदविग्रह में या तो समस्यमान पदों से भिन्न पदों के द्वारा विग्रह दर्शाया जाता है अथवा एक समस्यमान पद के साथ दूसरे किसी असमस्यमान पद को जोड़ कर वह प्रदर्शित किया जाता है। यथा—'उपकृष्णम्' और 'यथाशक्ति' इन में नित्य अव्ययीभावसमास हुआ

है। इन के 'कृष्णस्य समीपम्' और 'शक्तिमनतिक्रम्य' ये क्रमशः अस्वपद-लौकिकविग्रह हैं।

अब **सह सुँपा** (९०६) समास का उदाहरण दर्शाते हैं—

पूर्वं भूतः—भूतपूर्वः (पहले हो चुका हुआ)। यह लौकिक विग्रह है। इस में 'पूर्वम्' यह क्रियाविशेषण होने से नपुंसक में द्वितीयैकवचनान्त प्रयुक्त हुआ है। 'पूर्व अम्+भूत सुँ' इस अलौकिकविग्रह में **सह सुँपा** (९०६) इस प्रकृतसूत्र से समूचा समुदाय समाससंज्ञक हो जाता है। पुनः **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से समास की प्रातिपदिकसंज्ञा होकर **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव अम् और सुँ सुँप्प्रत्ययों का लुक् हो जाता है—पूर्व भूत। अब यहां प्रश्न उत्पन्न होता है कि दो पदों के इस समास में कौन सा पद पूर्व में तथा कौन सा पद उत्तर में प्रयुक्त करना चाहिये? **प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्** (९०९) इस वक्ष्यमाण सूत्र के अनुसार समासविधायकसूत्र में जो पद प्रथमाविभक्ति से निर्दिष्ट होता है उस की उपसर्जनसंज्ञा कर उसे पूर्व में प्रयुक्त करते हैं। सूत्र में प्रथमानिर्दिष्ट सुँप् है। परन्तु अलौकिकविग्रह में दोनों पद सुँप् (सुँबन्त) हैं, किस का पूर्वनिपात किया जाये? नियम न होने से इन का पर्याय (बारी-बारी) से पूर्वनिपात प्राप्त होता है। अथवा—'उपसर्जन' इस महासंज्ञा करने के कारण इसे अन्वर्थ मान कर उपसर्जन अर्थात् गौणपद 'पूर्व' का ही पूर्वनिपात प्राप्त होता है। इस पर ग्रन्थकार कहते हैं कि **भूतपूर्वे चरट्** (५.३.५३) इस पाणिनीयसूत्र में इन दोनों के समास में भूतशब्द का आचार्य ने पूर्वनिपात किया है, अतः सूत्रकार के इस निर्देश के अनुसार यहां भी समास में भूतशब्द का पूर्वनिपात करने पर 'भूतपूर्व' हुआ। अब **एकदेशविकृतमनन्यवत्** इस परिभाषा के अनुसार 'भूतपूर्व' की प्रातिपदिकसंज्ञा अक्षुण्ण रहने से नये सिरे से सुँ आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति होती है। जो जो विभक्त्यर्थ विवक्षित होगा उस उस के अनुसार विभक्ति लाई जायेगी। उदाहरणार्थ प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँप्रत्यय ला कर उसके उकार का लोप, **ससजुषो रुँः** (१०५) से पदान्त सकार को रुँ आदेश, उसके उकार का भी लोप तथा अवसान में **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (९३) द्वारा रेफ को विसर्ग आदेश करने पर '**भूतपूर्वः**' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1] जहां समास न होगा वहां 'पूर्वं भूतः' यह वाक्य रहेगा। भूतपूर्वः, भूतपूर्वौ, भूतपूर्वाः[2] इत्यादिप्रकारेण रामशब्दवत् रूपमाला चलेगी।[3]

---

१. यहां यह ध्यातव्य है कि समास से परे नये सिरे से लाये गये इस सुँ=सुँप् का **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् नहीं होता। कारण कि यह सुँप् प्रातिपदिक का अवयव नहीं बल्कि उस से परे लाया गया सुँप् है।

२. अत्रेदं विशेषतोऽवधेयं यत् **संज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः** इत्याश्रित्य भूतपूर्वशब्दस्य सर्वनामत्वाभावाज्जसादौ सर्वनामकार्याणि न भवन्तीति।

३. आकरग्रन्थों में **सह सुँपा** (९०६) सूत्र का योगविभाग कर व्याख्या उपलब्ध होती है। इस का कारण यह बताया जाता है कि जब 'सह' शब्द के बिना भी 'सह' के

सुँप्सुँपासमास के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

पूर्वम् अदृष्टः—अदृष्टपूर्वः । **अदृष्टपूर्वा वनितामपश्यत्** (रघु० १६.४) । पूर्वम् अभूतः—अभूतपूर्वः ।

न एकः— नैकः (जो एक नहीं अर्थात् अनेक) । **सा ददर्श नगान् नैकान् नैकाश्च सरितस्तथा** (नैषध० १२.८१) । यहाँ नञ् का प्रयोग नहीं अपितु नञर्थक 'न' अव्यय का प्रयोग हुआ है । अत एव **नञ्** (९४६) सूत्रद्वारा समास न होने से **न लोपो नञः** (९४७) द्वारा नकार का लोप नहीं होता । इसी प्रकार **नसंहतास्तस्य नभिन्नवृत्तयः** (किरात० १.१९) तथा '**नैकधा**' आदियों में समझना चाहिये ।

सोऽहमाजन्मशुद्धानाम्० (रघु० १.५) यहां 'आजन्मशुद्धानाम्' में सुँप्सुँपासमास है । पहले अभिविधि अर्थ में 'आङ्+जन्मन् ङसिँ' में **आङ्मर्यादाऽभिविध्योः** (२.१.१२) सूत्रद्वारा अव्ययीभावसमास होकर 'आजन्म' बन जाता है । तब 'आजन्म' का 'शुद्धानाम्' के साथ सुँप्सुँपा-समास होता है । इसी प्रकार—**आसमुद्र-क्षितीशानाम्** (रघु० १.५) आदियों में समझना चाहिये ।

उत्तम ऋणे—उत्तमर्णः (ऋण देने वाला) ।

अधम ऋणे—अधमर्णः (ऋण लेने वाला) ।

निसर्गेण निपुणः—निसर्गनिपुणः (स्वभाव से चतुर) ।

अर्थ की प्रतीति हो सकती है तो पुनः सूत्र में उस का ग्रहण क्यों किया जाये ? अतः इस 'सह' ग्रहण के सामर्थ्य से आचार्यद्वारा इस के योगविभाग की स्वीकृति प्रतीत होती है । इस तरह इस सूत्र का विभाग कर 'सह' और 'सुँपा' दो सूत्र बना लिये जाते हैं । दोनों सूत्रों में पीछे से 'सुँप्' का अनुवर्त्तन होता है । प्रथम 'सह' सूत्र का अर्थ होता है—सुँबन्तं समर्थेन सह समस्यते, अर्थात् सुँबन्त किसी भी समर्थ के साथ समास को प्राप्त होता है । **योगविभागदिष्टसिद्धिः**—इस परिभाषा के अनुसार मनमानी नहीं हो सकती, बल्कि कुछ वैदिक-प्रयोगों में जहां सुँबन्तों का तिङन्तों के साथ समास प्राप्त होता है उन की सिद्धि इस सूत्र से की जाती है । यथा—अनुव्यचलत् । यहां 'वि' इस सुँबन्त का 'अचलत्' इस तिङन्त के साथ समास होकर 'व्यचलत्' बन जाता है । पुनः 'अनु' का 'व्यचलत्' के साथ समास हो कर 'अनुव्यचलत्' यह समस्त पद बन जाता है । समास हो जाने से इसे एक पद मानकर अन्तोदात्तस्वर सिद्ध हो जाता है । योगविभाग का दूसरा खण्ड 'सुँपा' सूत्र अधिकार और विधि दोनों का काम करता है । इस का अर्थ होता है —सुँबन्तं समर्थेन सुँबन्तेन समस्यते । अर्थात् सुँबन्त अन्य समर्थ सुँबन्त के साथ समास को प्राप्त होता है । इस अधिकार के कारण सुँबन्त का लोक में तिङन्त के साथ समास नहीं होता । यथा—'न करोति' में नञ्समास नहीं होता । इस के विधिपक्ष में 'भूतपूर्वः' आदि कतिपय ऐसे शिष्टप्रयोगों में समास हो जाता है जिन में समास का विधायक कोई सूत्र नहीं होता ।

प्रकृत्या वक्रः—प्रकृतिवक्रः (स्वभाव से टेढ़ा)।

विस्पष्टं कटुकम्—विस्पष्टकटुकम् (स्पष्ट रूप से कटु)।

अवश्यं स्तुत्यः—अवश्यस्तुत्यः।[1]

सुँप्सुँपासमास में यदि पूर्वनिपात का कोई नियामक नहीं होता तो लोक प्रसिद्ध्यनुसार ही पूर्वनिपात किया जाता है, क्योंकि योगविभाग से इष्ट रूपों की ही सिद्धि हुआ करती है अनिष्ट रूप नहीं बना करते। कुछ लोगों का कहना है कि 'उपसर्जन' इस महासंज्ञाकरण के कारण इसे अन्वर्थ मानने से शास्त्र में जहां पूर्वनिपात का कोई नियामक नहीं होता वहां उपसर्जन अर्थात् गौणपद का ही पूर्वनिपात हुआ करता है।

अब एक वार्त्तिक का अवतरण करते हैं—

[लघु०] वा०— (५३) इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च ॥

वागर्थौ इव—वागर्थाविव ॥

अर्थः—सुँबन्त शब्द का 'इव' शब्द के साथ समास होता है परन्तु समासावयव-विभक्ति का लोप नहीं होता।

व्याख्या—इवेन ।३।१। समासः ।१।१। विभक्त्यलोपः ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। सुँप् ।१।१। (**सुँबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे** से)। यह वार्त्तिक महाभाष्य में **सह सुँपा** (९०६) सूत्र पर पढ़ा गया है। न लोपः—अलोपः, नञ्तत्पुरुषः। विभक्तेरलोपः—विभक्त्यलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः। अर्थः—(सुँप् = सुँबन्तम्) सुँबन्त शब्द (इवेन) 'इव' शब्द के साथ (समासः = समस्यते) समास को प्राप्त होता है (च) तथा इस समास की अवयव (विभक्त्यलोपः) विभक्ति का लोप भी नहीं होता। इस समास में पूर्वपदप्रकृतिस्वर का भी विधान किया गया है जो यहां लघुसिद्धान्तकौमुदी में स्वरप्रकरण के न होने के कारण छोड़ दिया गया है।[2] अत एव ग्रन्थकार ने वैदिक उदाहरण न देकर रघुवंश का लौकिक उदाहरण ही दिया है। तथाहि—

लौकिकविग्रह—वागर्थौ इव—वागर्थाविव[3] (वाणी और अर्थ के समान)। वाक् च अर्थश्च वागर्थौ। यहां प्रथम 'वाच् सुँ + अर्थ सुँ' इस अलौकिकविग्रह में **चार्थे द्वन्द्वः** (९८५) से द्वन्द्वसमास हो सुँब्लुक् कर **चोः कुः** (३०६) द्वारा चकार को ककार पुनः जश्त्वेन ककार को गकार कर विभक्ति लाने से 'वागर्थौ' बन जाता है।

---

१. **लुम्पेदवश्यमः कृत्ये** (कृत्यप्रत्ययान्त के परे रहते 'अवश्यम्' के मकार का लोप हो जाता है) इस प्राचीनकारिका के वचन से यहां समास में 'अवश्यम्' के मकार का लोप हो जाता है।

२. पूरे वार्त्तिक का पाठ इस प्रकार है—
इवेन समासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च।

३. **वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।**
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥ (रघु० १.१)

अब इस का 'इव' के साथ समास करते हैं। 'वागर्थ औ+इव' इस अलौकिकविग्रह में **इवेन समासो०** इस प्रकृत वार्त्तिक से समास हो **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) द्वारा सुँप्=औ प्रत्यय का लुक् प्राप्त होता है परन्तु प्रकृतवार्त्तिक में 'विभक्त्यलोपः' कथन के कारण उस का निषेध हो जाता है[1]। अब **नादिचि** (१२७) से पूर्वसवर्णदीर्घ (१२६) का निषेध होकर **वृद्धिरेचि** (३३) सूत्रद्वारा वृद्धि एकादेश तथा **एचोऽयवायावः** (२२) से औकार को आव् आदेश करने पर 'वागर्थाविव' बना। पुनः **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से समास की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर स्वादिप्रत्ययों की उत्पत्ति होती है। प्रथमा के एकवचन में सुँप्रत्यय ला कर 'वागर्थाविव' इस समुदाय को भी तदन्तविधि से अव्यय मान कर[2] इस से परे सुँप् का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हो 'वागर्थाविव' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[3]

यह समास अनित्य तथा क्वाचित्क है अतः व्यस्तप्रयोग भी पाये जाते हैं। यथा—**उद्बाहुरिव वामनः** (रघु० १.३)। यदि यहां समास होता तो 'वामन इव' प्रयोग होता। इसीप्रकार—**सुप्तमीन इव ह्रदः** (रघु० १.७३), **प्रणवश्छन्दसामिव** (रघु० १.११) इत्यादियों में व्यस्तप्रयोग समास की अनित्यता के द्योतक हैं। अत एव ग्रन्थकार ने 'वागर्थौ इव' ऐसा लौकिकविग्रह दर्शाया है।

समासप्रकरण में ध्यातव्य कुछ बातें—

(१) समर्थ अर्थात् परस्परसंश्लिष्टार्थ पदों में ही समास हुआ करता है असम्बद्धार्थों में नहीं।

(२) सब से प्रथम समासविधायकसूत्र की प्रवृत्ति होती है।

---

१. पूर्वपद से आगे आने वाली विभक्ति का जब **सुँपो धातु०** (७२१) से लुक् प्राप्त होता है तभी 'विभक्त्यलोपः' इस अंश की प्रवृत्ति हो कर उसे रोक दिया जाता है। उत्तरपद तो 'इव' है जो स्पष्टतः अव्यय है, उस से आगे आने वाली विभक्ति के लोप का तो प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि अव्यय होने से **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) द्वारा उस का लोप तो पहले से ही हुआ होता है। किञ्च यहां यह भी ध्यातव्य है कि 'इवेन' तृतीयान्त है, प्रथमान्त 'सुँप्' है जो पीछे से अनुवृत्तिद्वारा लब्ध है। अतः **प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्** (९०९) सूत्र से सुँबन्त की उपसर्जनसंज्ञा हो कर **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उसी का पूर्वनिपात होता है।

२. अनुपसर्जने तदन्तस्याप्यव्ययत्वमभ्यनुज्ञातम्। दृश्यताम् **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) इति सूत्रस्था सिद्धान्तकौमुदी।

३. वस्तुतः इस समास का लोक में कुछ उपयोग नहीं, क्योंकि लोक से आजकल स्वर नितान्त लुप्त हो चुके हैं। हां वेद में 'जीमूतस्येव' आदि इस के उदाहरण बहुत हैं वहां स्वर लगता है।

(३) समाससंज्ञा हो जाने पर समूचे समुदाय की **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से प्रातिपदिकसंज्ञा कर समुदाय के अन्तर्गत तदवयव सुँपों का **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् हो जाता है ।

(४) अब समास में पूर्वनिपात का निर्णय किया जाता है ।

(५) अन्त में समास के प्रातिपदिकसञ्ज्ञक होने के कारण नये सिरे से स्वादि प्रत्ययों की उत्पत्ति होती है । यहां यह विशेषतः ध्यातव्य है कि यह सुँब्विभक्ति समास से परे की जाती है समास का अवयव नहीं होती अतः **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से इस का लुक् नहीं होता ।

अभ्यास [१]

(१) समास किसे कहते हैं ? उस के कितने और कौन-कौन से भेद होते हैं ? प्रत्येक का सोदाहरण संक्षिप्त वैशिष्ट्य समझाइये ।

(२) निम्नलिखित विषयों पर सारगर्भित टिप्पणी करें—

[क] केवल या सुँप्सुँपा समास ।

[ख] वृत्ति और उस के भेद ।

[ग] विग्रह और उस के भेद ।

[घ] एकार्थीभावसामर्थ्य ।

[ङ] सविशेषणस्य वृत्तिर्न वृत्तस्य वा विशेषणयोगो न ।

[च] सम्बन्धिशब्दः सापेक्षो नित्यं सर्वः समस्यते ।

[छ] 'सह सुँपा' का योगविभाग ।

(३) दोनों में अन्तर समझाइये—

[क] समास और सन्धि ।

[ख] एकार्थीभाव और व्यपेक्षा ।

[ग] लौकिक और अलौकिक विग्रह ।

[घ] नित्य और अनित्य समास ।

(४) निम्नलिखित प्रश्नों का समुचित उत्तर दीजिये—

[क] **इवेन समासो०** द्वारा विहितसमास नित्य है या अनित्य ? इस समास के विधान का प्रयोजन क्या है ?

[ख] समाससंज्ञा का अव्ययीभावादिसंज्ञाओं से बाध क्यों नहीं होता ?

[ग] समास से विहित विभक्ति का **सुँपो धातु०** से लुक् क्यों न हो ?

[घ] 'भार्या **राज्ञः पुरुषो** देवदत्तस्य' यहां समास क्यों नहीं होता ?

[ङ] सुँप्सुँपासमास में किस का पूर्वनिपात होता है ?

(५) अधोलिखित सूत्र-वार्त्तिकों की व्याख्या करें—
समर्थः पदविधिः, सह सुँपा, प्राक्कडारात् समासः, इवेन समासो० ।

(६) भूतपूर्वः, वागर्थाविव, अवश्यस्तुत्यः, नैकः, उत्तमर्णः—इन समासों की ससूत्र सिद्धि प्रदर्शित करें ।

[लघु०] **इति केवलसमासः**

यहां पर केवलसमास का विवेचन समाप्त होता है ।

——:o:——

अथाऽव्ययीभावसमासः

अब अव्ययीभावसमास का प्रकरण प्रारम्भ होता है ।

[लघु०] अधिकारसूत्रम्— **(९०७) अव्ययीभावः ।२।१।५।।**

अधिकारोऽयं प्राक् तत्पुरुषात् ।।

अर्थः—यहां से ले कर **तत्पुरुषः** (९२२) सूत्र से पूर्व पूर्व जो समास विधान किया जायेगा उस की अव्ययीभावसंज्ञा होगी ।

व्याख्या—अव्ययीभावः ।१।१। यह अधिकारसूत्र है । इस का अधिकार अष्टाध्यायी में **तत्पुरुषः** (२.१.२१) सूत्र तक जाता है । अर्थः—यहां से ले कर **तत्पुरुषः** (२.१.२१) सूत्र से पूर्व तक जो समास विधान किया जायेगा वह (अव्ययीभावः) अव्ययीभावसंज्ञक होगा । समास सामान्य-सञ्ज्ञा होगी और अव्ययीभाव उस की विशेष-संज्ञा । एकसञ्ज्ञाधिकारप्रकरण में इन दो सञ्ज्ञाओं का किस तरह समावेश होगा—इस पर इस व्याख्या में **प्राक्कडारात्समासः** (९०५) सूत्र पर विस्तृत प्रकाश डाला जा चुका है ।

इस अव्ययीभावसमास में प्रायः पूर्वपद अव्यय तथा उत्तरपद अनव्यय होता है । परन्तु समस्त हो कर सम्पूर्ण पद अव्यय (३७१) बन जाता है, अतः इस समास को अव्ययीभावसमास कहते हैं । अनव्ययम् अव्ययं भवतीति अव्ययीभावः[1] । इस समास में प्रायः पूर्वपद की प्रधानता रहती है—यह पीछे स्पष्ट किया जा चुका है ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा इस समास का विधान करते हैं—

---

१. **विभाषा ग्रहः** (३.१.१४३) इतिसूत्रस्थेन **भवतेश्चेति वक्तव्यम्** इति वार्त्तिकेन कर्त्तरि णः । तथा चोक्तं नारायणभट्टेन—
अव्ययीभाव इत्यत्र भवतेः कर्त्तरीह णः । (प्रक्रियासर्वस्व, तद्धित० पृष्ठ ९०)

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९०८) **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्ध्यर्थाभावाऽत्ययाऽसम्प्रति-शब्दप्रादुर्भाव-पश्चाद्-यथाऽऽनुपूर्व्य-यौगपद्य-सादृश्य-सम्पत्ति-साकल्याऽन्तवचनेषु** ।२।१।६॥

विभक्त्यर्थादिषु वर्त्तमानमव्ययं सुँबन्तेन सह नित्यं समस्यते। प्रायेणाऽविग्रहो नित्यसमासः, प्रायेणाऽस्वपदविग्रहो वा। विभक्तौ—'हरि ङि+अधि' इति स्थिते—

अर्थः—१. विभक्ति, २. समीप, ३. समृद्धि (ऋद्धि का आधिक्य), ४. व्यृद्धि (ऋद्धि का अभाव), ५. अर्थाभाव (वस्तु का अभाव), ६. अत्यय (नष्ट होना, अतीत होना, गुजर जाना), ७. असम्प्रति (अब युक्त न होना), ८. शब्दप्रादुर्भाव (शब्द की प्रकाशता वा प्रसिद्धि), ९. पश्चात् (पीछे), १०. यथा (योग्यता, वीप्सा, पदार्थानतिवृत्ति और सादृश्य), ११. आनुपूर्व्य (क्रमानुसार, क्रमशः), १२. यौगपद्य (एक साथ होना), १३. सादृश्य (सदृश), १४. सम्पत्ति (अनुरूप आत्मभाव), १५. साकल्य (सम्पूर्णता), और १६. अन्त (समाप्ति)— इन सोलह अर्थों में से किसी भी अर्थ में वर्त्तमान जो अव्यय सुँबन्त, वह समर्थ सुँबन्त के साथ नित्य समास को प्राप्त होता है और वह समास अव्ययीभावसञ्ज्ञक होता है। नित्य-समास का या तो लौकिकविग्रह होता नहीं अथवा अस्वपद-विग्रह हुआ करता है। विभक्त्यर्थ में—'हरि ङि+अधि' इस अलौकिकविग्रह में (अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है)—

व्याख्या—अव्ययम् ।१।१। विभक्ति—वचनेषु ।७।३। सुँप् ।१।१। (**सुँबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे** से)। समर्थेन ।३।१। (**समर्थः पदविधिः** से विभक्तिविपरिणामद्वारा)। सुँपा ।३।१। सह इत्यव्ययपदम् (**सह सुँपा** से)। समासः, अव्ययीभावः—ये दोनों अधिकृत हैं। उच्यन्त इति वचनाः, वाच्या इत्यर्थः। कर्मणि ल्युट्। विभक्तिश्च समीपञ्च समृद्धिश्च व्यृद्धिश्च अर्थाभावश्च अत्ययश्च असम्प्रति च शब्दप्रादुर्भावश्च पश्चाच्च यथा च आनुपूर्व्यञ्च यौगपद्यं च सादृश्यञ्च सम्पत्तिश्च साकल्यञ्च अन्तश्च—विभक्ति—साकल्यान्ताः, ते च ते वचनाः, तेषु तथोक्तेषु। द्वन्द्वगर्भकर्मधारयसमासः। **द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते** इस न्याय से 'वचन' शब्द का विभक्ति आदि प्रत्येक के साथ सम्बन्ध होता है। **अर्थः**—(विभक्ति—वचनेषु) विभक्ति, समीप, समृद्धि, व्यृद्धि, अर्थाभाव, अत्यय, असम्प्रति, शब्दप्रादुर्भाव, पश्चात्, यथा, आनुपूर्व्य, यौगपद्य, सादृश्य, सम्पत्ति, साकल्य और अन्त—इन सोलह अर्थों में वर्त्तमान (अव्ययं सुँबन्तम्) अव्यय सुँबन्त (समर्थेन सुँपा सह) समर्थ सुँबन्त के साथ (समासः=समस्यते) समास को प्राप्त होता है और वह समास (अव्ययीभावः) अव्ययीभावसंज्ञक होता है। इस समास में विकल्प नहीं कहा गया अतः यह नित्यसमास है।

प्रायेणाविग्रहो नित्यसमासः, प्रायेणास्वपदविग्रहो वा ।[1]

नित्यसमास का लौकिकविग्रह या तो किया नहीं जा सकता अथवा जब किया भी जाता है तो दोनों समस्यमान पदों के द्वारा नहीं, अपितु एक पद समस्यमान ले लेते हैं और दूसरा पद दूसरे समस्यमान का समानार्थक। इस तरह विग्रह दर्शाया जाता है। यथा—'उपकृष्णम्' में समीपार्थ में नित्य अव्ययीभावसमास हुआ है। लौकिकविग्रह दर्शाते समय 'उप' का समानार्थक 'समीपम्' पद 'कृष्णस्य' के साथ लगा कर 'कृष्णस्य समीपम्' इस प्रकार लौकिकविग्रह प्रदर्शित किया जाता है, 'कृष्णस्य उप' ऐसा नहीं दर्शाया जाता कारण कि आचार्य पाणिनि ने इन में नित्यसमास का विधान किया है अतः इन को पृथक्-पृथक् लिखना संस्कृत न हो कर असंस्कृत होगा। विग्रह तो संस्कृत में दर्शाना है असंस्कृत में नहीं।[2]

अब इस सूत्र के क्रमशः उदाहरण दिये जाते हैं—

(१) विभक्त्यर्थ से तात्पर्य यहां कारक से है। कारकों में भी केवल अधिकरण कारक ही यहां अभिप्रेत है। हरौ इति अधिहरि (हरि में या हरि के विषय में)।[3] 'अधिहरि' समास का 'हरौ' यह लौकिकविग्रह है। जो अर्थ 'अधिहरि' से प्रतीत होता है वही अर्थ 'हरौ' का है।

'अधि' यह अव्यय अधिकरण अर्थ में प्रयुक्त होता है। अतः 'हरि ङि+अधि'[4]

---

१. यहां विग्रह से तात्पर्य लौकिकविग्रह से है। अविद्यमानो विग्रहो (लौकिकविग्रह-वाक्यं) यस्य सोऽविग्रहः। अविद्यमानः स्वैः पदैर्विग्रहो यस्य सोऽस्वपदविग्रहः। समस्यमानयावत्पदाऽघटित इत्यर्थः।

२. क्वचित् नित्यसमास में एकपदद्वारा भी विग्रह दर्शाया जाता है वह भी अस्वपद-विग्रह होता है। यथा—हरौ=अधिहरि।

३. प्राचीन वैयाकरण 'अधिकृत्य' शब्द का प्रयोग कर यहां लौकिकविग्रह प्रदर्शित किया करते थे। तदनुसार—हरावधिकृत्य—अधिहरि, स्त्रीष्वधिकृत्य—अधिस्त्रि इस प्रकार विग्रह होता था। परन्तु भट्टोजिदीक्षित ने इस प्रकार के विग्रहप्रदर्शन का खण्डन किया है। उन का कथन है कि विग्रहवाक्य तथा समास दोनों के अर्थों में तुल्यता होनी आवश्यक है। यहां विग्रहवाक्यगत ल्यबन्त 'अधिकृत्य' का समास में कहीं कुछ पता नहीं चलता। अतः विग्रहवाक्य केवल 'हरौ' ही रखना चाहिये। हरौ इत्यधिहरि—इस प्रकार के विग्रहप्रदर्शन में 'इति' शब्द 'हरौ' और 'अधिहरि' दोनों की समानता (equal to) का द्योतक है। विग्रह तो 'हरौ' ही है। विग्रह में 'हरौ अधि' भी नहीं रख सकते क्योंकि समास के नित्य होने से अस्वपदविग्रह ही उचित होता है स्वपदविग्रह नहीं।

४. यहां यह ध्यातव्य है कि 'अधि' अव्यय के आगे भी प्रथमा का एकवचन 'सुँ' प्रत्यय विद्यमान था जिस का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से पहले ही लुक् हो चुका

इस अलौकिक विग्रह में **'अधि'** यह अव्यय सुँबन्त 'हरि ङि' इस समर्थ सुँबन्त के साथ **अव्ययं विभक्ति-समीप०** (६०८) इस प्रकृतसूत्रद्वारा नित्य अव्ययीभावसमास को प्राप्त हो जाता है। अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस समास में किस का पूर्वनिपात किया जाये ? 'हरि ङि' पद को समास में पहले रखें या 'अधि' पद को ? इस का निर्णय अग्रिम दो सूत्रों द्वारा करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—**(६०६) प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् ।१।२।४३।।**

समासशास्त्रे प्रथमानिर्दिष्टमुपसर्जनसंज्ञं स्यात् ।।

अर्थः—समासविधायक सूत्र में प्रथमाविभक्तिद्वारा निर्दिष्ट जो पद तद्बोध्य उपसर्जनसंज्ञक हो ।

व्याख्या—प्रथमा-निर्दिष्टम् ।१।१। समासे ।७।१। उपसर्जनम् ।१।१। प्रथमया (विभक्त्या) निर्दिष्टम् प्रथमानिर्दिष्टम्, तृतीयातत्पुरुषसमासः । 'समासे' में 'समास' शब्द से समासविधायकशास्त्र अर्थात् समास का विधान करने वाले सूत्र का ग्रहण अभीष्ट है।[1] अर्थः—(समासे) समासविधायक सूत्र में (प्रथमानिर्दिष्टम्) जो पद प्रथमाविभक्ति से निर्दिष्ट होता है वह (उपसर्जनम्) उपसर्जनसंज्ञक होता है। सूत्रगत प्रथमानिर्दिष्ट पद की उपसर्जनसंज्ञा करने से कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। अतः उस प्रथमानिर्दिष्ट पद से बोध्य पद की ही अलौकिकविग्रह में उपसर्जनसंज्ञा की जाती है। यथा—**अव्ययं विभक्ति—वचनेषु** (६०८) यह समासविधायक सूत्र है, इस में 'अव्ययम्' पद प्रथमाविभक्ति से निर्दिष्ट है, तो इस पद से बोध्य 'अधि' आदि अव्ययों की अलौकिकविग्रह में उपसर्जनसञ्ज्ञा हो जायेगी। इसी प्रकार **द्वितीया श्रितातीत-पतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः** (६२४) सूत्र में 'द्वितीया' पद प्रथमानिर्दिष्ट है अतः तद्बोध्य द्वितीयान्त पदों की अलौकिकविग्रह में उपसर्जनसंज्ञा हो जायेगी। यदि किसी सूत्र में प्रथमानिर्दिष्ट पद साक्षात् न पढ़ा गया हो तो उस सूत्र में अनुवृत्तिलब्ध पदों में जो पद प्रथमानिर्दिष्ट हो तद्बोध्य की अलौकिकविग्रह में उपसर्जनसंज्ञा हो जायेगी।[2] उपसर्जनसंज्ञा करने का फल समास में उपसर्जन का पूर्वनिपात करना होता है—यह अग्रिमसूत्रद्वारा प्रतिपादित करते हैं—

है। अत एव सुँबन्त होने से यह अन्य सुँबन्त के साथ समास को प्राप्त होता है। **सह सुँपा** (६०६) अधिकार के कारण सुँबन्त का ही अन्य सुँबन्त के साथ समास होता है।

१. यदि यहां समास का अर्थ अलौकिकविग्रह करेंगे तो कृष्णं श्रितः—कृष्णश्रितः इत्यादियों में प्रथमान्त 'श्रितः' आदियों की उपसर्जनसंज्ञा हो कर उन का ही पूर्वनिपात होने लगेगा जो स्पष्टतः अनिष्ट है।

२. यथा—**कर्तृकरणे कृता बहुलम्** (६२६) सूत्र में अनुवृत्तिलब्ध 'तृतीया' पद प्रथमा-निर्दिष्ट है अतः तद्बोध्य की उपसर्जनसञ्ज्ञा हो जाती है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्— **(९१०) उपसर्जनं पूर्वम् ।२।२।३०॥**

समासे उपसर्जनं प्राक् प्रयोज्यम् । इत्यधेः प्राक् प्रयोगः । सुँपो लुक् । एकदेशविकृतस्याऽनन्यत्वात् प्रातिपदिकसंज्ञायां स्वाद्युत्पत्तिः । अव्ययीभावश्च (३७१) इत्यव्ययत्वात् सुँपो लुक् । अधिहरि ॥

अर्थः—समास में उपसर्जन पहले प्रयुक्त करना चाहिये । **इत्यधेः प्राक्०**—इस सूत्र से 'अधि' का पहले प्रयोग होगा । अब समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) सूत्र से सुँप् (ङि) का लुक् हो जायेगा । सुँब्लुक् हो जाने पर भी **एकदेशविकृतमनन्यवत्** इस परिभाषा के कारण 'अधिहरि' की प्रातिपदिकसंज्ञा अक्षुण्ण रहने से स्वादिप्रत्ययों की उत्पत्ति होगी । पुनः **अव्ययीभावश्च** (३७१) सूत्र-द्वारा अव्ययीभावसमास की अव्ययसंज्ञा हो कर **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से सुँप् का लुक् हो 'अधिहरि' प्रयोग बन जायेगा ।

व्याख्या—उपसर्जनम् ।१।१। पूर्वम् इति द्वितीयैकवचनान्तं क्रियाविशेषणम् । समासे ।७।१। (**प्राक्कडारात्समासः** से अधिकृत 'समासः' पद को सप्तम्यन्ततया विपरिणत कर लिया जाता है) । 'प्रयोज्यम्' का अध्याहार करते हैं । अर्थः—(समासे) समास में (उपसर्जनम्) उपसर्जनसंज्ञक (पूर्वम्) पहले (प्रयोज्यम्) प्रयुक्त करना चाहिये । समास में किसी को पहले प्रयुक्त करना पूर्वनिपात तथा बाद में प्रयुक्त करना परनिपात कहा जाता है । प्रस्तुत सूत्र उपसर्जनसञ्ज्ञक के पूर्वनिपात का प्रतिपादन करता है ।

यहां प्रकृत में 'हरि ङि + अधि' इन पदों में **अव्ययं विभक्ति०** (९०८) सूत्र-द्वारा अव्ययीभावसमास किया गया है । समासविधायक इस सूत्र में 'अव्ययम्' पद प्रथमानिर्दिष्ट है अतः तद्बोध्य 'अधि' अव्यय की **प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्** (९०९) से उपसर्जनसंज्ञा तथा **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उपसर्जन का समास में पूर्व-निपात हो जाता है—अधि + हरि ङि । अब **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से सम्पूर्ण समास-समुदाय की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) द्वारा प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (ङि) का लुक् करने से 'अधिहरि' बन जाता है । यद्यपि यहां प्रातिपदिक का एक अवयव सुँप् (ङि) लुप्त हो चुका है तथापि **एकदेशविकृतमनन्यवत्**[1] न्यायानुसार इस की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा अक्षुण्ण रहती है । प्रातिपदिकत्व के कारण **ङ्याप्प्रातिपदिकात्** (११९) के अधिकार में इस से परे

---

१. लोकन्यायमूलक इस परिभाषा की व्याख्या पीछे (१६१) सूत्र पर कर चुके हैं । जैसे लोक में किसी कुत्ते की पूंछ कट जाने पर वह अन्य नहीं हो जाता, कुत्ता ही रहता है, इसी प्रकार यहां प्रातिपदिक के अवयव सुँप् का लुक् हो जाने पर भी उस के प्रातिपदिकत्व को कोई हानि नहीं पहुँचती वह पूर्ववत् प्रातिपदिक ही रहता है ।

सुँ आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति नये सिरे से होती है । प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय लाने पर 'अधिहरि+सुँ' इस स्थिति में **अव्ययीभावश्च** (३७१) सूत्रद्वारा अव्ययीभावसमास की अव्ययसंज्ञा होने के कारण इस से परे सुँ प्रत्यय का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) द्वारा लुक् हो कर 'अधिहरि' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1] । अधिहरि प्रवृत्ताः कथाः (प्रक्रियासर्वस्वे) ।

वृक्षस्य उपरि (वृक्ष के ऊपर) इत्यादियों में 'उपरि' अव्यय के अधिकरण-वाचक होने पर भी यह समास प्रवृत्त नहीं होता । कारण कि सूत्र में 'वचन' शब्द का ग्रहण किया गया है । इस से जो अव्यय केवल अधिकरण के वाचक होंगे वे ही सुँबन्त के साथ अव्ययीभावसमास को प्राप्त होंगे अन्य नहीं । यहां 'उपरि' अव्यय अधिकरण अर्थ के साथ-साथ दिग्देश का भी बोध कराता है अतः यह प्रकृत समास को प्राप्त नहीं होता ।

विभक्त्यर्थ में अधि के अतिरिक्त अनु, परि, अन्तर् आदि अन्य अव्ययों का भी प्रयोग देखा जाता है । माघ और भट्टिकाव्य में ऐसे प्रयोग बहुधा उपलब्ध होते हैं । यथा—नाभ्यामिति परिनाभि (माघ० १३.११), वनान्ते इत्यनुवनान्तम् (माघ० ६.७६), गिरावित्यन्तर्गिरम् (भट्टि० ५.८७), गिरावित्यनुगिरम् (माघ० ७.१) । **गिरेश्च सेनकस्य** (५.४.११२) इति गिरिशब्दान्तादव्ययीभावाद् टच् समासान्तः ।

---

१. जब अधिकरण कारक 'अधि' अव्यय के द्वारा एक बार उक्त हो गया तो 'अधि+हरि ङि' इस अलौकिकविग्रह में हरिशब्द से अधिकरण में पुनः सप्तमी कैसे आ सकेगी ? क्योंकि **उक्तार्थानामप्रयोगः** (एक बार उक्त हुए अर्थों का दुबारा प्रयोग नहीं हुआ करता) यह सर्वसम्मत न्याय है । इस शङ्का का समाधान यह है कि यदि यहां ऐसा मान कर चलेंगे तो विभक्त्यर्थ में कहीं भी समास न हो सकेगा, कारण कि **सह सुँपा** (९०६) सूत्र पीछे से अधिकृत है । वह कह रहा है कि सुँबन्त का सुँबन्त के साथ ही समास होता है । यहां 'हरि' के साथ कोई विभक्ति तो आयेगी नहीं अतः वह सुँबन्त न बन सकेगा, इस से विभक्त्यर्थक अव्यय के साथ उस का समास न हो सकेगा और आचार्य का विभक्त्यर्थ में समासविधान व्यर्थ हो जायेगा । अतः मुनि के इस विधानसामर्थ्य से उक्तार्थ में भी हरि आदि शब्दों से सप्तमी आ कर उन को सुँबन्त बना कर समास कर लिया जाता है । यहां यह भी ध्यातव्य है कि अधिकरणवाचक 'अधि' अव्यय के कारण ही प्रत्यासत्तिन्याय से हरि आदि शब्दों से भी वही विभक्ति लाते हैं अन्य नहीं । विस्तार के लिये शब्दकौस्तुभ आदि का अवलोकन करें ।

[वस्तुतस्तु अनभिहितसूत्रभाष्ये तिङ्-कृत्-तद्धित-समासैरित्येव परिगणनं दृष्टम् । अतो निपातेनाधिनाऽभिहितेऽप्यधिकरणे सप्तमी निर्बाधा । **विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्** इत्यत्र तु 'एष्टव्यः' इत्यध्याहार्यम् । कृता अभिधानाद् द्वितीया न भवतीति बालमनोरमाकारा आहुः ।]

अब अव्ययीभावसमासविषयक कुछ विशिष्ट बातों का निर्देश करते हुए सब से प्रथम इस के नपुंसकत्व का प्रतिपादन करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(९११) **अव्ययीभावश्च** ।२।४।१८॥

अयं नपुंसकं स्यात् ॥

अर्थः—अव्ययीभावसमास नपुंसक हो ।

व्याख्या—अव्ययीभावः ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । **नपुंसकम्** ।१।१। (**स नपुंसकम्** से) । अर्थः—(अव्ययीभावः) अव्ययीभाव समास (च) भी (नपुंसकम्) नपुंसक होता है । अव्ययीभावसमास प्रायः पूर्वपदप्रधान होता है अतः **पूर्वपद** के अव्यय होने से इसे अलिङ्गता प्राप्त है । कहीं-कहीं यह अन्यपदप्रधान भी हुआ करता है वहां इस की विशेष्य-लिङ्गता होनी चाहिये । इन दोनों का यह सूत्र अपवाद है । अव्ययीभावसमास चाहे पूर्वपदप्रधान हो या अन्यपदप्रधान, सब अवस्थाओं में यह नपुंसक ही हो—यह इस सूत्र का तात्पर्य है ।

अव्ययीभावश्च सूत्र अष्टाध्यायी तथा लघुसिद्धान्तकौमुदी में दो भिन्न-भिन्न स्थानों पर पढ़ा गया है । दोनों अलग-अलग प्रकरणस्थ सूत्र हैं, एक नहीं । प्रकृतसूत्र जहां अव्ययीभाव का नपुंसकत्व विधान करता है वहां इस से पूर्वपठित सूत्र (३७१) अव्ययीभाव की अव्ययसञ्ज्ञा करता है । इस प्रकार **अव्ययीभावसमास** अव्यय होने के साथ-साथ नपुंसक भी होता है । इसे नपुंसक मानने का फल **ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य** (२४३) द्वारा इसे ह्रस्व अन्तादेश करना होता है । उदाहरण यथा—

गाः पाति रक्षतीति **गोपाः** (गौओं का रखवाला) । 'गो' कर्म के उपपद रहते **पा रक्षणे** (अदा० परस्मै०) धातु से कर्ता अर्थ में **अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते** (७९९) सूत्रद्वारा विँच् प्रत्यय, उस का सर्वापहारलोप तथा उपपदसमास करने पर 'गोपा' यह आकारान्त शब्द निष्पन्न होता है[1] । इस की रूपमाला '**विश्वपा**' शब्द के समान चलती है । सप्तमी के एकवचन में इस का रूप बनेगा—**गोपि** (**आतो धातोः**—१६७) । अब गोपाशब्द का **अधि** अव्यय के साथ **अव्ययीभाव**समास करते हैं । लौकिकविग्रह—गोपि इत्यधिगोपम् (ग्वाले में या ग्वाले के विषय में) । अलौकिक-विग्रह—अधि+गोपा ङि । यहां अधिकरणवाचक '**अधि**' अव्यय का 'गोपा ङि' सुँबन्त के साथ **अव्ययं विभक्ति०** (९०८) सूत्रद्वारा नित्य अव्ययीभावसमास हो कर 'अधि' की पूर्ववत् उपसर्जनसञ्ज्ञा तथा **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्वनिपात करने से 'अधि+गोपा ङि' हुआ । अब **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से समग्र समाससमुदाय

---

१. अथवा—**गुपूँ रक्षणे** (भ्वा० परस्मै०) धातु से विँच्, **आयादय आर्धधातुके वा** (४६९) से आयप्रत्यय, लघूपधगुण, **अतो लोपः** (४७०) से अत् का लोप, **लोपो व्योर्वलि** (४२९) से यकारलोप तथा **वेरपृक्तस्य** (३०३) द्वारा वकार का भी लोप कर 'गोपा' शब्द निष्पन्न होता है । **गोपायति रक्षतीति गोपाः** (रक्षकः) ।

की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तथा **सुपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) द्वारा सुँप् (ङि) का लुक् कर 'अधिगोपा' हुआ। तब प्रकृतसूत्र **अव्ययीभावश्च** (६११) से 'अधिगोपा' को नपुंसक मान **ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य** (२४३) द्वारा ह्रस्व अन्तादेश कर 'अधिगोप' बना। पुनः प्रातिपदिकत्वात् इस से स्वादियों की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँप्रत्यय लाने पर—अधिगोप+सुँ। पूर्वपठित **अव्ययीभावश्च** (३७१) सूत्र-द्वारा अव्ययीभावसमास अव्ययसंज्ञक भी होता है अतः **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से सुँप्रत्यय का लुक् प्राप्त होने पर अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९१२) नाऽव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः ।२।४।८३॥

अदन्तादव्ययीभावात् सुँपो न लुक्, तस्य पञ्चमीं विना अमादेशः स्यात्। गाः पातीति गोपास्तस्मिन्=अधिगोपम्॥

अर्थः—अदन्त अव्ययीभावसमास से परे सुँप् का लुक् न हो किञ्च पञ्चमी को छोड़ अन्य सुँपों के स्थान पर अम् आदेश हो।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम्। अव्ययीभावात् ।५।१। अतः ।५।१। अम् ।१।१। तु इत्यव्ययपदम्। अपञ्चम्याः ।६।१। सुँपः ।६।१। (**अव्ययादाप्सुँपः** से)। लुक् ।१।१। (**ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः** से)। समासः—न पञ्चमी अपञ्चमी, तस्याः= अपञ्चम्याः, नञ्तत्पुरुषः। 'अतः' यह 'अव्ययीभावात्' का विशेषण है, विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'अदन्ताद् अव्ययीभावात्' बन जाता है। अर्थः—(अतः=अदन्तात्) अदन्त (अव्ययीभावात्) अव्ययीभावसमास से परे (सुँपः) सुँप् का (लुक्) लुक् (न) नहीं होता (तु) किन्तु (अपञ्चम्याः सुँपः) पञ्चमी विभक्ति से भिन्न अन्य सुँपों के स्थान पर (अम्) अम् आदेश हो जाता है।

यह अम् आदेश सुँप्-विभक्ति के स्थान पर होता है अतः स्थानिवद्भाव से विभक्तिसंज्ञक होगा। विभक्तिसंज्ञा होने के कारण **हलन्त्यम्** (१) द्वारा प्राप्त मकार की इत्संज्ञा का **न विभक्तौ तुस्माः** (१३१) से निषेध हो जायेगा।

इस सूत्र में 'तु' का कथन बड़ा महत्त्वपूर्ण है। इस के कारण पञ्चमी में न तो अम् आदेश होता है और न ही सुँप् का लुक्, पञ्चमी यथावत् बनी रहती है। सूत्र में यदि 'तु' का ग्रहण न होता, 'नाऽव्ययीभावादतोऽम् अपञ्चम्याः' इस प्रकार का सूत्र होता तो 'अदन्त अव्ययीभावसमास से परे पञ्चमी को छोड़ अन्य सुँपों का लुक् न हो तथा उन को अम् हो जाये' इस प्रकार का अर्थ हो जाता। इस से पञ्चमी में अम् आदेश तो न होता परन्तु सुँप् का पूर्वप्राप्त **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हो जाता, जो अनिष्ट था।

'अधिगोप+सुँ' यहां 'अधिगोप' यह अदन्त अव्ययीभाव है। अतः प्रकृत **नाव्ययीभावादतोऽम्०** (९१२) सूत्रद्वारा सुँ का लुक् न हो कर उसे अम् आदेश हो

जाता है—अधिगोप+अम् । अब **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप एकादेश करने पर 'अधिगोपम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसी प्रकार—मालायाम् इत्यधिमालम् । कन्यायाम् इत्यधिकन्यम् । खट्वायाम् इत्यधिखट्वम् । इत्यादि ।

यह सूत्र केवल अदन्त अव्ययीभाव में ही प्रवृत्त होता है । अव्ययीभाव यदि अदन्त न होगा तो इस की प्रवृत्ति न होगी, तब **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से सुँप् का लुक् ही होगा । यथा—हरौ इत्यधिहरि । स्त्रियाम् इत्यधिस्त्रि । नद्याम् इत्यधिनदि । कुमार्याम् इत्यधिकुमारि । स्त्री, नदी, कुमारी—शब्दान्त अव्ययीभाव को नपुंसकह्रस्व (६११, २४३) हो कर उस से परे सुँप् का लुक् हो जाता है ।

पञ्चमीविभक्ति के उदाहरण आगे दिये जायेंगे । अब अदन्त अव्ययीभाव से परे तृतीया और सप्तमी में विशेष विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(६१३) तृतीया-सप्तम्योर्बहुलम्** ।२।४।८४।।

अदन्तादव्ययीभावात् तृतीया-सप्तम्योर्बहुलम् अम्भावः स्यात् । कृष्णस्य समीपम् उपकृष्णम् । उपकृष्णेन । उपकृष्णे[1] ।।

अर्थः—अदन्त अव्ययीभाव से परे तृतीया और सप्तमी के स्थान पर बहुलता से अम् आदेश हो ।

व्याख्या—तृतीया-सप्तम्योः ।६।२। बहुलम् ।१।१। अव्ययीभावात्, अतः, अम्—ये तीनों पद पूर्वसूत्र से आते हैं । तृतीया च सप्तमी च तृतीयासप्तम्यौ, तयोः= तृतीयासप्तम्योः, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(अतः=अदन्तात्) अदन्त (अव्ययीभावात्) अव्ययीभाव से परे (तृतीया-सप्तम्योः) तृतीया और सप्तमी विभक्तियों के स्थान पर (बहुलम्) बहुलता से (अम्) अम् आदेश हो जाता है । पूर्वसूत्रद्वारा अदन्त अव्ययीभाव से परे तृतीया और सप्तमी को नित्य अम् आदेश प्राप्त था परन्तु यह सूत्र उस

---

१. लघुसिद्धान्तकौमुदी के कुछ संस्करणों में इस सूत्र पर 'अधिगोपम्, अधिगोपेन, अधिगोपे वा' इस प्रकार का पाठ उपलब्ध होता है । यह पाठ 'अधिगोप' शब्द के तृतीयान्त और सप्तम्यन्त रूपों को प्रकृतसूत्र के उदाहरणों के रूप में प्रस्तुत करता है । हमारे विचार में 'अधिगोप' आदि अधिकरणशक्तिप्रधान समास अद्रव्य होते हैं, इन के साथ क्रिया का सम्बन्ध सुचारुरूपेण सम्भव नहीं, और विना क्रिया के कारक बनता नहीं अतः इन से तृतीयादि विभक्तियों का लाना कुछ अटपटा सा प्रतीत होता है । यही सोच कर हम ने दूसरे उपलब्ध पाठ को यहां देना उचित समझा है । इस पाठ में 'उपकृष्ण' के तृतीयान्त और सप्तम्यन्त रूपों को उदाहरणरूप से प्रस्तुत किया गया है । जो छात्रों के लिये सुकर तथा त्वरित बुद्धिगम्य है । उपकृष्णे स्थितोऽर्जुनः, उपकृष्णादागतो दूतः इत्यादि वाक्यों में इस का कारकत्व विद्यार्थियों को स्पष्ट प्रतीत हो जाता है ।

का अपवाद है और बहुलता से उन को अम् आदेश का विधान करता है। अतः इन दोनों विभक्तियों में कहीं अम् आदेश होगा और कहीं नहीं भी होगा।[1] जहां अम् आदेश न होगा वहां रामशब्दवत् सुँबन्तप्रक्रिया होगी। उदाहरण आगे दिये जायेंगे।

(२) समीप अर्थ में अव्ययीभाव का उदाहरण देते हैं—

लौकिकविग्रह—कृष्णस्य समीपम् उपकृष्णम् (कृष्ण के पास)। 'कृष्ण ङस्+उप' इस अलौकिकविग्रह में **अव्ययं विभक्ति-समीप०** (९०८) सूत्रद्वारा समीप अर्थ में वर्त्तमान 'उप' इस सुँबन्त अव्यय का 'कृष्ण ङस्' इस समर्थ सुँबन्त के साथ नित्य अव्ययीभावसमास हो जाता है। **प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्** (९०९) के अनुसार प्रथमानिर्दिष्ट 'अव्ययम्' के बोध्य 'उप' की उपसर्जनसंज्ञा तथा **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्वनिपात हो कर—उप+कृष्ण ङस्। पुनः समास की **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) द्वारा प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् हो जाता है—उपकृष्ण। लोप हो जाने पर भी **एकदेशविकृतमनन्यवत्** इस न्यायानुसार प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के अक्षुण्ण रहने से सुँबुत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय लाने पर—उपकृष्ण सुँ। अब **अव्ययीभावश्च** (३७१) द्वारा अव्ययीभाव की अव्ययसंज्ञा हो जाने के कारण **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से सुँप् (सुँ) का लुक् प्राप्त होता है। परन्तु इस का बाध कर **नाऽव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः** (९१२) द्वारा सुँ को अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप एकादेश करने पर 'उपकृष्णम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसी समस्त 'उपकृष्ण' से तृतीया के एकवचन की विवक्षा में 'उपकृष्ण+टा' इस स्थिति में **नाऽव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः** (९१२) से प्राप्त नित्य अम्-आदेश का बाध कर प्रकृत **तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्** (९१३) द्वारा टा को अम्-आदेश बहुलता से हो जायेगा। अम्पक्ष में पूर्वरूप एकादेश हो कर 'उपकृष्णम्' प्रयोग बनेगा। अम् के अभाव में **टा-ङसिँ-ङसामिनात्स्याः** (१४०) से 'टा' को 'इन' आदेश तथा **आद् गुणः** (२७) द्वारा गुण एकादेश करने पर 'उपकृष्णेन' प्रयोग सिद्ध हो जायेगा। इसी तरह सप्तमी के एकवचन में अम्पक्ष में 'उपकृष्णम्' तथा अम् के अभाव में उपकृष्ण+ङि=उपकृष्ण+इ, गुण करने पर 'उपकृष्णे' प्रयोग सिद्ध हो जायेगा। परन्तु पञ्चमी के एकवचन में **नाऽव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः** (९१२) द्वारा सुँब्लुक् तो निषिद्ध हो जायेगा किन्तु 'अपञ्चम्याः' कथन के कारण अम्-आदेश न होगा। अतः 'उपकृष्ण+ङसिँ' इस अवस्था में **टा-ङसिँ-ङसामिनात्स्याः** (१४०) द्वारा 'ङसिँ' को 'आत्' आदेश हो कर सवर्णदीर्घ करने से 'उपकृष्णात्' प्रयोग बनेगा। 'उपकृष्ण' का कुछ विभक्तियों में प्रयोग यथा—उपकृष्णादागतो दूतः। उपकृष्णमुपकृष्णे वा तिष्ठत्यर्जुनः। उपकृष्णं ययौ तूर्णं सङ्क्रुद्धा राक्षसी तदा। उपकृष्णं विना नहि सुखम्। उपकृष्णेन विना नहि सुखम्। उपकृष्णं नमः। उपकृष्णं रम्यम्।

---

१. बहुलग्रहण के कारण 'सुमद्रम्, उन्मत्तगङ्गम्' आदि में सप्तमी को नित्य अम् आदेश होता है। इसीकारण यहां 'वा' न कह कर 'बहुलम्' कहा गया है।

अव्ययीभाव में 'उपकृष्ण' की रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	उपकृष्णम्	उपकृष्णम्	उपकृष्णम्
द्वितीया	,,	,,	,,
तृतीया	उपकृष्णम्-उपकृष्णेन	उपकृष्णम्-उपकृष्णाभ्याम्	उपकृष्णम्-उपकृष्णैः
चतुर्थी	उपकृष्णम्	उपकृष्णम्	उपकृष्णम्
पञ्चमी	उपकृष्णात्	उपकृष्णाभ्याम्	उपकृष्णेभ्यः
षष्ठी	उपकृष्णम्	उपकृष्णम्	उपकृष्णम्
सप्तमी	उपकृष्णम्-उपकृष्णे	उपकृष्णम्-उपकृष्णयोः	उपकृष्णम्-उपकृष्णेषु
संबोधन	हे उपकृष्ण !	हे उपकृष्णम् !	हे उपकृष्णम् !

समीप अर्थ में अव्ययीभाव के कुछ अन्य उदाहरण **यथा**—कूपस्य समीपम् उपकूपम् । नद्याः समीपम् अनुनदि, **अनुनदि शुश्रुविरे रुतानि ताभिः** (माघ० ७.२४) । भैम्याः समीपे उपभैमि, **पपात भूमावुपभैमि हंसः** (नैषध० ३.१) । अग्नेः समीपम् उपाग्नि, **उपाग्न्यकुरुतां सख्यमन्योन्यस्य प्रियंकरौ** (भट्टि० ५.१०६) । अक्ष्णः समीपे समक्षम् । **अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः** (९१७) इति टच् समासान्तः, **तात शुद्धा समक्षं नः स्नुषा ते जातवेदसि** (रघु० १५.७२) ।[1]

अव्ययीभावसमास में स्मरणीय तीन बातें—

[१] अव्ययीभावसमास यदि अदन्त है तो उस से परे लाये गये सुँप्प्रत्ययों का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् नहीं होता, किन्तु पञ्चमी विभक्ति को छोड़ अन्य सुँपों को अम् आदेश हो जाता है । परन्तु यह अम्-आदेश तृतीया या सप्तमी विभक्ति के स्थान पर बहुलता से होता है । पञ्चमीविभक्ति में **रामशब्दवत्** सुँबन्तप्रक्रिया होती है ।

[२] अव्ययीभावसमास यदि अदन्त न हो तो उस से परे लाये गये सुँप् का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से अवश्य लुक् हो जायेगा ।

[३] अव्ययीभावसमास के अन्त में यदि दीर्घ वर्ण हो तो उसे ह्रस्व आदेश कर के उपर्युक्त दोनों नियम लागू करने चाहियें ।

---

१. **ग्रामं समया** (गांव के पास), **निकषा लङ्काम्** (लङ्का के पास), **आराद् वनात्** (वन के पास) इत्यादि प्रयोगों में समया आदि समीपार्थक अव्ययों का सुँबन्तों के साथ अव्ययीभावसमास नहीं होता । कारण कि **समया** और **निकषा** के योग में **अभितः-परितः-समया-निकषा-हा-प्रतियोगेऽपि** (वा०) इस वार्तिकद्वारा द्वितीया विभक्ति तथा 'आरात्' के योग में **अन्यारादितरर्ते०** (२.३.२९) से पञ्चमी-विभक्ति का विधान किया गया है । इन के योग में विभक्तियों का विधान समासाभाव का ही ज्ञापक है । विस्तार के लिये इसी स्थल पर सिद्धान्तकौमुदी तथा उस की टीकाओं का अवलोकन करें ।

अदन्तादव्ययीभावात् सुपो लुक् प्रतिषिध्यते ।
पञ्चमीवर्जितानान्तु सुपामम्भाव इष्यते ॥१॥

बहुलं स्यादमो भावस्तृतीयासप्तमीगतः ।
पञ्चमी श्रूयते नित्यम् उपकृष्णान्निदर्शनम् ॥२॥

अनदन्ते समासेऽस्मिन्नित्यं सुब्लुप्यते ततः ।
कार्यो ह्रस्वोऽन्त्यदीर्घस्य क्लीबत्वात् सुविचक्षणैः ॥३॥

अब समृद्धि आदि अर्थों में समास दर्शाते हैं—

[**लघु०**] मद्राणां समृद्धिः सुमद्रम् । यवनानां व्यृद्धिर्दुर्यवनम् । मक्षिकाणामभावो निर्मक्षिकम् । हिमस्यात्ययोऽतिहिमम् । निद्रा सम्प्रति न युज्यते इति अतिनिद्रम् । हरिशब्दस्य प्रकाश इतिहरि । विष्णोः पश्चादनुविष्णु ॥

व्याख्या—(३) समृद्धि (ऋद्धेराधिक्यम्) अर्थ में उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—मद्राणां समृद्धिः सुमद्रम् (मद्रदेशवासियों की समृद्धि)। 'मद्र आम्+सु' इस अलौकिकविग्रह में **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि०** (९०८) सूत्रद्वारा समृद्धि अर्थ में वर्त्तमान 'सु' अव्यय का 'मद्र आम्' इस समर्थ सुँबन्त के साथ नित्य अव्ययीभावसमास हो जाता है। **प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्** (९०९) के अनुसार प्रथमानिर्दिष्ट 'अव्ययम्' के बोध्य 'सु' अव्यय की उपसर्जनसञ्ज्ञा हो कर **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्वनिपात हो जाता है—सु+मद्र आम्। पुनः **कृत्तद्धित-समासाश्च** (११७) सूत्रद्वारा समास की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से उस के अवयव सुँप् (आम्) का लुक् करने से 'सुमद्र' यह समस्त शब्द निष्पन्न होता है। यहां प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (आम्) का लुक् हो जाने पर भी **एकदेशविकृतमनन्यवत्** इस न्यायानुसार 'सुमद्र' की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा पूर्ववत् बनी रहती है। अतः इस से प्रातिपदिकत्वात् स्वादियों की उत्पत्ति निर्बाध होती है। प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँप्रत्यय लाने पर **अव्ययीभावश्च** (३७१) द्वारा अव्ययीभाव की अव्ययसंज्ञा हो जाने के कारण **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से सुँप् (सुँ) का लुक् प्राप्त होता है। परन्तु **नाऽव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः** (९१२) सूत्र से इस का बाध हो कर सुँ को अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप एकादेश करने से 'सुमद्रम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]। 'सुमद्रम्' में पूर्वपद के अर्थ की प्रधानता है। यदि उत्तरपद के अर्थ की प्रधानता विवक्षित हो तो—'समृद्धा मद्राः सुमद्राः' इस प्रकार **कुगतिप्रादयः** (९४९) से प्रादितत्पुरुषसमास होगा। समृद्ध्यर्थ में अव्ययीभाव के साहित्यगत प्रयोग यथा—

(क) संग्रामभूमीषु भवत्यरीणामस्रैर्नदीमातृकतां गतासु ।
तद्बाणधारापवनाशनानां राजव्रजीयैरसुभिः सुभिक्षम् ॥
(नैषध० ३.३८)

---

१. बालमनोरमाकार यहां 'सम्मद्रम्' पाठ मानते हैं। उन के मतानुसार समृद्धिवाचक 'सम्' अव्यय का समर्थ सुँबन्त के साथ समास हुआ है।

भिक्षाणां समृद्धिः सुभिक्षम् । नपुंसकह्रस्वत्वम् ।

(ख) **नलेन भायाः शशिना निशेव त्वया सा भायान्निशया शशीव ।**
पुनः पुनस्तद्युगयुग्विधाता स्वभ्यासमास्ते न युवां युयुक्षुः ॥
(नैषध० ३.११७)

अभ्यासस्य समृद्धिः स्वभ्यासम् ।

(४) व्यृद्धि [विगता ऋद्धिर्व्यृद्धिः, ऋद्धेरभाव इत्यर्थः] अर्थ में उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—यवनानां व्यृद्धिः—दुर्यवनम् (यवनों की समृद्धि का अभाव)। 'यवन आम्+दुर्' इस अलौकिकविग्रह में **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्धि०** (९०८) सूत्रद्वारा व्यृद्धि (समृद्ध्यभाव) अर्थ में वर्त्तमान 'दुर्' अव्यय का 'यवन आम्' इस समर्थ सुँबन्त के साथ नित्य अव्ययीभावसमास हो कर 'दुर्' की उपसर्जनसंज्ञा तथा उस का पूर्वनिपात करने पर—दुर्+यवन आम्। अब समास की प्रातिपदिक-संज्ञा हो कर **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) द्वारा उस के अवयव सुँप् (आम्) का लुक् करने से 'दुर्यवन' यह समस्त शब्द निष्पन्न होता है। **एकदेशविकृतमनन्यवत्** के अनुसार आम् का लुक् हो जाने पर भी 'दुर्यवन' की प्रातिपदिकसंज्ञा अक्षुण्ण है अतः प्रातिपदिक से परे नये सिरे से स्वादियों की उत्पत्ति होती है। प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय लाने पर 'दुर्यवन+सुँ' बना। अव्ययीभावसमास अव्ययसंज्ञक (३७१) होता है अतः **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से सुँ का लुक् प्राप्त होता है। परन्तु **नाऽव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः** (९१२) द्वारा उस का बाध कर सुँ को अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'दुर्यवनम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

इसी प्रकार—शकानां व्यृद्धिः—दुःशकम्।

(५) अर्थाभाव (अर्थस्य=वस्तुनोऽभावः, वस्तु का अभाव) अर्थ में उदाहरण यथा—

---

1. कुछ लोग शङ्का किया करते हैं कि प्रकृत समासविधायक सूत्र में 'व्यृद्धि' अर्थ के उल्लेख की कोई आवश्यकता ही नहीं, आगे कहे 'अर्थाभाव' से ही यहां के उदाहरण सिद्ध हो सकते हैं। परन्तु ऐसा समझना भूल है। क्योंकि अर्थाभाव अर्थ में जिस के साथ अव्यय का समास होता है उस समस्यमान का ही अभाव इष्ट होता है। यथा 'निर्मक्षिकम्' में निर् और मक्षिका के समास में मक्षिकाओं का ही अभाव इष्ट है। लेकिन यहां व्यृद्धि में उस समस्यमान का अभाव विवक्षित नहीं होता बल्कि उस की समृद्धि का अभाव ही विवक्षित होता है। 'दुर्यवनम्' में यवनों का अभाव नहीं कहा जा रहा किन्तु उन की समृद्धि का अभाव ही कहना इष्ट है। बस यही दोनों में अन्तर है। इसीलिये सूत्र में दोनों का पृथक्-पृथक् उल्लेख किया गया है।

लौकिकविग्रह—**मक्षिकाणामभावो निर्मक्षिकम्** (मक्खियों का अभाव)। 'मक्षिका आम्+निर्' इस अलौकिकविग्रह में **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्धचर्थाभाव०** (९०८) सूत्रद्वारा **अर्थाभाव** अर्थ में वर्त्तमान 'निर्' अव्यय का 'मक्षिका आम्' इस समर्थ सुँबन्त के साथ नित्य **अव्ययीभावसमास** हो कर 'निर्' की उपसर्जनसंज्ञा और उस का पूर्वनिपात करने पर—निर्+मक्षिका आम्। अब **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) सूत्रद्वारा उस के अवयव सुँप् (आम्) का लुक् कर देने पर—निर्मक्षिका। **अव्ययीभावश्च** (९११) से अव्ययीभावसमास को नपुंसक मान कर **ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य** (२४३) से नपुंसक के अन्त्य आकार को ह्रस्व हो जाता है—निर्मक्षिक। अब प्रातिपदिक होने से प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर **नाऽव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः** (९१२) सूत्र से उसे अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'निर्मक्षिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। स्थानेऽस्मिन् निर्मक्षिकमस्ति[1]।

इसी प्रकार—**मशकानामभावो निर्मशकम्**। प्रत्यूहानामभावो निष्प्रत्यूहम्[2]। विघ्नानामभावो **निर्विघ्नम्**। **अर्थाभाव** अर्थ में नञ् अव्यय का भी अव्ययीभावसमास देखा जाता है। यथा—व्याधेरभावोऽव्याधि[3]। विघ्नानामभावोऽविघ्नम्। **अविघ्नमस्तु ते स्थेयाः पितेव धुरि पुत्रिणाम्**—(रघु० १.९१)। संशयस्याभावोऽसंशयम्। **असंशयं क्षत्त्रपरिग्रहक्षमा** (शाकुन्तल० १.२०)।

(६) अत्यय (**ध्वंस**=नष्ट हो जाना, अतीत हो जाना, गुज़र जाना) अर्थ में उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—हिमस्य अत्ययोऽतिहिमम्[4] (शीतकाल का व्यतीत हो जाना)।

---

१. यदि 'निर्मक्षिकम्' को **'स्थानम्'** आदि का **विशेषण** बनाना अभीष्ट होगा तो बहुव्रीहिसमास **माना** जायेगा। यथा—निर्गता मक्षिका अस्मादिति निर्मक्षिकं स्थानम्।

२. **इदुदुपधस्य चाऽप्रत्ययस्य** (८.३.४१) इति विसर्गस्य षत्वम्बोध्यम्।

३. **न लोपो नञः** (९४७) इति नञो नकारलोपः।

४. कुछ वैयाकरण यहां 'अतीतं हिमम् अतिहिमम्' इस प्रकार का लौकिकविग्रह प्रदर्शित करते हैं परन्तु यह विग्रह ठीक प्रतीत नहीं होता, कारण कि 'अतीतं हिमम्' में पूर्वपद 'अतीतम्' की प्रधानता प्रतीत नहीं होती वह तो 'हिमम्' का विशेषण है। अतः **विशेष्य** की ही प्रधानता प्रतीत होती है। अव्ययीभावसमास में पूर्वपदार्थ की ही प्रधानता रहनी चाहिये। इसलिये 'हिमस्य अत्ययः' यह मूलोक्त विग्रह ही उचित प्रतीत होता है। इस में पूर्वपद 'अत्ययः' के अर्थ की ही प्रधानता स्पष्ट रहती है। यदि 'अतीत' शब्द के द्वारा ही विग्रह प्रदर्शित करना अभीष्ट हो तो 'हिमस्य **अतीतत्वम्** अतिहिमम्' इस तरह का लौकिकविग्रह प्रदर्शित करना चाहिये। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने शब्दानुशासन की बृहद्वृत्ति (३.१.३९) में ऐसा ही विग्रह प्रदर्शित किया है।

अलौकिकविग्रह—हिम ङस् + अति । यहां अलौकिकविग्रह में अत्यय (अतीत हो जाना) अर्थ में वर्त्तमान 'अति' अव्यय का **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्धयर्थाऽभावाऽत्यय०** (९०८) सूत्रद्वारा 'हिम ङस्' के साथ नित्य अव्ययीभावसमास हो कर प्रथमानिर्दिष्ट 'अति' की उपसर्जनसंज्ञा तथा **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्वनिपात करने पर 'अति + हिम ङस्' हुआ । अब **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः**, (७२१) द्वारा उस के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् करने पर 'अतिहिम' बना । पुनः प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के अक्षुण्ण रहने से स्वादि प्रत्ययों की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँप्रत्यय ला कर **नाऽव्ययीभावादतोम् त्वपञ्चम्याः** (९१२) से उसे अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) द्वारा पूर्वरूप करने पर 'अतिहिमम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसी प्रकार—अतिशीतम्[1], निर्हिमम्, निःशीतम् (शीतकाल का व्यतीत हो जाना) आदि प्रयोगों की सिद्धि होती है । निस् या निर् अव्यय भी अत्यय अर्थ में प्रयुक्त होते हैं ।

ध्यान रहे कि अर्थाभाव और अत्यय में भेद होता है । अर्थाभाव तो किसी वस्तु का अभाव है परन्तु अत्यय किसी विद्यमान वस्तु का नष्ट हो जाना है । **प्राग्विद्यमानस्य पुनर्नाशोऽत्ययः** (प्रक्रियासर्वस्वे) ।

(७) असम्प्रति (सम्प्रति न युज्यत इत्यसम्प्रति । इस समय युक्त या उपयुक्त न होना) अर्थ में उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—निद्रा सम्प्रति न युज्यते इति अतिनिद्रम् (निद्रा इस समय उचित नहीं) । अलौकिकविग्रह—निद्रा ङस् + अति । यहां अलौकिकविग्रह में 'अति' शब्द असम्प्रति (अब उपयुक्त न होना) अर्थ में वर्त्तमान है अतः **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्धयर्थाऽभावाऽत्ययाऽसम्प्रति०** (९०८) सूत्रद्वारा इस का 'निद्रा ङस्' इस सुँबन्त के साथ नित्य अव्ययीभावसमास हो जाता है । 'अति' की उपसर्जनसञ्ज्ञा कर पूर्वनिपात किया तो—अति + निद्रा ङस् । अब समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा और **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से उस के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् करने पर 'अतिनिद्रा' हुआ । पुनः **अव्ययीभावश्च** (९११) द्वारा अव्ययीभाव के नपुंसक होने के कारण **ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य** (२४३) से अन्त्य आकार को ह्रस्व कर विभक्त्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर उसे अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'अतिनिद्रम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

---

१. शेखरकार नागेशभट्ट 'अति' अव्ययद्वारा घटित 'अतिहिमम्, अतिशीतम्' आदि उदाहरणों को यहां उचित नहीं मानते । वे यहां 'निर्हिमम् निःशीतम्' आदि उदाहरणों को ही युक्त मानते हैं । उन के मत का विवेचन आगे **'यौगपद्य'** के उदाहरण पर किया जायेगा वहीं देखें ।

इसी प्रकार—**कम्बलं सम्प्रति न युज्यत** इत्यतिकम्बलम् आदि प्रयोगों की सिद्धि जाननी चाहिये।

(८) शब्दप्रादुर्भाव (नाम की प्रसिद्धि) अर्थ में उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—हरिशब्दस्य प्रकाश इति इतिहरि। अलौकिकविग्रह—हरि ङस् + इति[1]। यहां अलौकिकविग्रह में 'इति' अव्यय शब्दप्रादुर्भाव (शब्द के प्रादुर्भाव = प्रसिद्धि) अर्थ में वर्त्तमान है अतः **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्धचर्थाऽभावाऽत्यया-ऽसम्प्रति-शब्दप्रादुर्भाव०** (९०८) सूत्रद्वारा इस का 'हरि ङस्' इस सुँबन्त के साथ नित्य अव्ययीभावसमास हो जाता है। प्रथमानिर्दिष्ट 'अव्ययम्' से बोध्य 'इति' की उपसर्जन-संज्ञा तथा **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उपसर्जन का पूर्वनिपात करने पर—इति + हरि ङस्। अब **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) द्वारा उस के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् होकर—इति-हरि। पुनः प्रातिपदिकत्वात् स्वादियों की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर **अव्ययीभावश्च** (३७१) द्वारा अव्ययीभाव के अव्यय होने के कारण **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से सुँप् (सुँ) का लुक् हो 'इतिहरि' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—**पाणिनिशब्दस्य प्रकाश इति** इतिपाणिनि, तत्पाणिनि[2] (पाणिनि-शब्द की प्रसिद्धि)। उद्विक्रमादित्यम् (भाषावृत्तौ) आदि प्रयोग समझने चाहियें।

(९) पश्चात् (पीछे) अर्थ में उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—विष्णोः पश्चादनुविष्णु (विष्णु के पीछे)। अलौकिकविग्रह—विष्णु ङस् + अनु। यहां 'अनु' अव्यय पश्चात् (पीछे) अर्थ में वर्त्तमान है अतः **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्धचर्थाभावाऽत्ययाऽसम्प्रति-शब्दप्रादुर्भाव-पश्चाद्०** (९०८) सूत्रद्वारा इस का 'विष्णु ङस्' के साथ नित्य अव्ययीभावसमास हो कर प्रथमानिर्दिष्ट 'अव्ययम्' से बोध्य 'अनु' की उपसर्जनसंज्ञा तथा **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्वनिपात करने पर—अनु + विष्णु ङस्। अब समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से उस के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् हो जाता है—अनु-विष्णु। पुनः प्रातिपदिकसंज्ञा के अक्षुण्ण रहने से स्वादियों की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर 'अनुविष्णु सुँ' इस स्थिति में **अव्ययीभावश्च** (३७१) द्वारा 'अनुविष्णु' की अव्ययसंज्ञा तथा **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से सुँ का लुक् कर देने से 'अनुविष्णु' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—रथानां पश्चाद् अनुरथम्। अनुरथं पादातम्[3]। (पैदल सेना रथों

---

१. अत्रालौकिकविग्रहे हरिशब्दः स्वरूपपरः। तेन षष्ठ्यन्तेन शब्दप्रकाशार्थकेतिः समस्यते। हरिस्वरूपशब्दप्रकाश इति बोधः [इति बृहच्छब्देन्दुशेखरे नागेशः]।

२. ध्यान रहे कि यहां 'तद्' अव्यय का प्रयोग हुआ है।

३. **पादातं पत्तिसंहतिः**—इत्यमरः। पदातीनां समूहः पादातम्। **भिक्षादिभ्योऽण्** (१०४८) इत्यण्।

के पीछे होती है)। पदानां पश्चाद् अनुपदम् (कदमों के पीछे, फौरन)। **गच्छतां पुरो भवन्तौ, अहमप्यनुपदमागत एव** (शाकुन्तल ३)।

नोट—'पश्चात्' स्वयं भी इसी अर्थ में अव्यय है परन्तु इस का सुँबन्त के साथ अव्ययीभावसमास नहीं होता। भाष्यकार के **ततः पश्चात् स्रंस्यते ध्वंस्यते** (महाभाष्य १.१.५६) ये प्रयोग इस में प्रमाण हैं। अव्ययीभाव के नित्य होने पर भी भाष्यकार ने यहां समास नहीं किया। नागेशभट्ट का समाधान यौगपद्य के उदाहरण पर देखें।

(१०) 'यथा' के अर्थ में उदाहरण यथा—

'यथा' के अर्थ में अव्ययीभाव के उदाहरणों से पूर्व ग्रन्थकार 'यथा' के अर्थों का निर्देश करते हैं—

[**लघु०**] योग्यता-वीप्सा-पदार्थानतिवृत्ति-सादृश्यानि यथार्थाः। रूपस्य योग्यम् अनुरूपम्। अर्थमर्थं प्रति प्रत्यर्थम्। शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति॥

अर्थः—योग्यता, वीप्सा, पदार्थ का उल्लङ्घन न करना और सादृश्य—ये चार 'यथा' के अर्थ होते हैं।

व्याख्या—'यथा' के अर्थ में **अव्ययं विभक्ति-समीप०** (९०८) सूत्रद्वारा अव्ययीभावसमास का विधान किया गया है। 'यथा' के चार अर्थ होते हैं। (१) योग्यता। योग्य होना, उचित होना, के अनुसार होना। अथवा—सामर्थ्य वा औचित्य को योग्यता कहते हैं। (२) वीप्सा। व्याप्तुमिच्छा वीप्सा। गुण या क्रिया के कारण अनेक पदार्थों को व्याप्त कर एक साथ कहने की इच्छा को 'वीप्सा' कहते हैं। (३) पदार्थाऽनतिवृत्ति। अर्थात् उत्तरपद के अर्थ का उल्लङ्घन न करना। (४) सादृश्य, सदृशता, तुल्यता, एकजैसापन। इस तरह इन चार अर्थों में से किसी भी अर्थ में वर्त्तमान अव्यय 'यथा' के अर्थ में स्थित समझा जाता है। ऐसा अव्यय समर्थ सुँबन्त के साथ अव्ययीभावसमास को प्राप्त होता है। इन के क्रमशः उदाहरण यथा—

(क) योग्यता अर्थ में—

लौकिकविग्रह—रूपस्य योग्यम् अनुरूपम् (रूप के योग्य)। अलौकिकविग्रह—रूप ङस्+अनु। यहां अलौकिकविग्रह में 'अनु' अव्यय योग्य अर्थ में वर्त्तमान है अतः यह **'यथा'** के अर्थ में स्थित समझा जायेगा। इस अव्यय का 'रूप ङस्' इस समर्थ सुँबन्त के साथ **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धिव्यृद्ध्यर्थाऽभावाऽत्ययाऽसम्प्रति-शब्दप्रादुर्भाव-पश्चाद्-यथा०** (९०८) सूत्र से नित्य अव्ययीभावसमास हो कर प्रथमानिर्दिष्ट 'अव्ययम्' के बोध्य 'अनु' की उपसर्जनसञ्ज्ञा तथा उस का पूर्वनिपात करने पर 'अनु+रूप ङस्' हुआ। पुनः **कृत्तद्धित-समासाश्च** (११७) से समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) द्वारा उस के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् हो जाता है—अनुरूप। अब प्रातिपदिकसंज्ञा के कारण सुँपों की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँप्रत्यय ला कर उसे पूर्ववत् अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः**

(१३५) से पूर्वरूप करने से 'अनुरूपम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । अस्य वरस्यानुरूप-मियं कन्या । अनुरूपमस्य दानम् ।

इसीप्रकार—गुणानां योग्यम् अनुगुणम्, अनुकूलम् आदि प्रयोग जानने चाहियें। यक्षानुरूपो बलिः—इत्यादौ तु नायं समासः किन्तु 'अनुगतं रूपं यस्य' इत्यादिप्रकारेण बहुव्रीहिरेव ।

(ख) वीप्सा अर्थ में—

लौकिकविग्रह—अर्थम् अर्थम् प्रति प्रत्यर्थम् (प्रत्येक अर्थ के प्रति) । अलौकिक-विग्रह—अर्थ अम् + प्रति । यहां अलौकिकविग्रह में 'प्रति' अव्यय वीप्सा अर्थ में विद्यमान होने से 'यथा' के अर्थ में स्थित है अतः इस का 'अर्थ अम्' के साथ **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्ध्यर्थाभावाऽत्ययाऽसम्प्रति-शब्दप्रादुर्भाव-पश्चाद्-यथा०** (९०८) सूत्र-द्वारा अव्ययीभावसमास हो कर पूर्ववत् 'प्रति' की उपसर्जनसंज्ञा, उपसर्जन का पूर्व-निपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, उस के अवयव सुँप् (अम्) का लुक्, **इको यणचि** (१५) से यण् तथा अन्त में विभक्तिकार्य के प्रसङ्ग में सुँ को अम् आदेश और **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'प्रत्यर्थम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । प्रत्यर्थं शब्दा निविशन्ते ।

इसीप्रकार—दिने दिने प्रतिदिनम् । पादे पादे प्रतिपादम् । गृहे गृहे प्रतिगृहम् । मासे मासे प्रतिमासम् । एकम् एकम् प्रत्येकम् । **पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्** (६.३.१०८), यानि यानि उपदिष्टानि यथोपदिष्टम् । वीप्सायामव्ययीभाव इति न्यास-कारहरदत्तादयः । ये ये चौरा यथाचौरम्, यथाचौरं बध्नाति । यथापण्डितं सत्करोति । ये ये वृद्धा यथावृद्धम् । यथावृद्धं ब्राह्मणान् आमन्त्रयति । वीप्सा अर्थ में 'यावत्' अव्यय का भी प्रयोग माधव ने धातुवृत्ति में किया है—यावद्भुक्तमुपतिष्ठते, भोजने भोजने सन्निधत्ते (भोजन भोजन पर उपस्थित हो जाता है)—देखें 'ष्ठा' धातु पर धातुवृत्ति । प्रक्रियासर्वस्व में भी—यावद्गोपि कृष्णो दृश्यते ।

नोट—लौकिकविग्रह में वीप्सा को द्योतित करने के लिये **नित्य-वीप्सयोः** (८८६) सूत्रद्वारा द्वित्व हो जाता है । **लक्षणेत्थंभूताख्यान-भाग-वीप्सासु प्रतिपर्यनवः** (१.४.८९) सूत्र से 'प्रति' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो कर उस के योग में द्वितीया विभक्ति की जाती है । परन्तु अलौकिकविग्रह में समास से ही प्रतिशब्द के द्वारा वीप्सा व्यक्त होती है अतः द्वित्व का प्रश्न ही नहीं उठता । यहां यह भी ध्यातव्य है कि वीप्सा अर्थ में यह समास वैकल्पिक है, तभी तो भाष्यकार ने **सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ** (१२५) सूत्र के भाष्य में '**अर्थमर्थं** प्रति प्रत्यर्थम्' ऐसा प्रयोग किया है ।

(ग) पदार्थाऽनतिवृत्ति अर्थ में—

पदस्यार्थः पदार्थः, न अतिवृत्तिः—अनतिवृत्तिः । पदार्थस्य अनतिवृत्तिः पदार्था-नतिवृत्तिः, पदार्थस्यानुल्लङ्घनमित्यर्थः । उत्तरपद के अर्थ का उल्लङ्घन न करना 'पदार्थानतिवृत्ति' होता है । उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—शक्तिम् अनतिक्रम्य[1] यथाशक्ति (शक्ति को न लाङ्घना, मानो शक्ति सामने स्थित है उस से पूर्व पूर्व रहना, शक्ति के अनुसार)। अलौकिकविग्रह—शक्ति अम् + यथा। यहां अलौकिकविग्रह में 'यथा' अव्यय पदार्थानतिवृत्ति अर्थ में विद्यमान है अतः इस का 'शक्ति अम्' इस सुँबन्त के साथ **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्ध्यर्थाऽभावाऽत्ययाऽसम्प्रति-शब्दप्रादुर्भाव-पश्चाद्यथा०** (९०८) सूत्रद्वारा नित्य अव्ययीभावसमास हो कर 'यथा' की उपसर्जनसञ्ज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, सुँप् (अम्) का लुक् तथा अन्त में **अव्ययीभावश्च** (३७१) से अव्ययीभाव की अव्ययसञ्ज्ञा और **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) द्वारा 'सुँ' का लुक् करने पर 'यथाशक्ति' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। कार्यं कुर्याद् यथाशक्ति (अपनी शक्ति के अनुसार कार्य करना चाहिये)।

इसीप्रकार—मतिमनतिक्रम्य यथामति। बुद्धिमनतिक्रम्य यथाबुद्धि। कुलमनतिक्रम्य यथाकुलम्। मर्यादामनतिक्रम्य यथामर्यादम्। रुचिमनतिक्रम्य यथारुचि। पूर्वमनतिक्रम्य यथापूर्वम्। **सर्वाणि ज्ञातिकार्याणि यथापूर्वं समाचरेत्**—(मनु० ११.१८७)। उचितमनतिक्रम्य यथोचितम्। **आगतं तु भयं वीक्ष्य नरः कुर्याद् यथोचितम्**—(हितोप० १.५७)। इस समास के सुन्दर उदाहरण कालिदास के निम्नस्थ श्लोक में पाये जाते हैं—

यथाविधिहुताग्नीनां यथाकामार्चितार्थिनाम्।
यथाऽपराधदण्डानां यथाकालप्रबोधिनाम्॥ (रघुवंश १.६)

विधिमनतिक्रम्य यथाविधि, यथाविधि हुता अग्नयो यैस्तेषाम्। काममनतिक्रम्य यथाकामम्, यथाकामम् अर्चिता अर्थिनो यैस्तेषाम्। अपराधमनतिक्रम्य यथापराधम्, यथापराधं दण्डो येषां तेषाम्। कालमनतिक्रम्य यथाकालम्, यथाकालं प्रबोधिनाम्। रघूणाम् अन्वयं (वंशम्) वक्ष्ये—इत्यग्रिमेणान्वयः।

(घ) सादृश्य = समानता = तुल्यता अर्थ में—

लौकिकविग्रह—हरेः सादृश्यं सहरि (हरि की समानता)। अलौकिकविग्रह—हरि टा + सह[2]। यहां 'सह' अव्यय 'यथा' के अर्थ 'सादृश्य' में वर्त्तमान है अतः इस का 'हरि टा' इस सुँबन्त के साथ **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्ध्यर्थाऽभावाऽत्ययाऽसम्प्रति-शब्दप्रादुर्भाव-पश्चाद्यथा०** (९०८) सूत्रद्वारा नित्य अव्ययीभावसमास हो कर 'सह' की उपसर्जनसंज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा

---

१. यहां पूर्वकालिक क्त्वाप्रत्यय नहीं है किन्तु **पराऽवरयोगे च** (३.४.२०) द्वारा भाव में क्त्वा हुआ है, जिसे बाद में ल्यप् हो गया है। अतः 'अनतिक्रम्य' का अर्थ है—अनुल्लङ्घनम्।

२. केचित्तु—षष्ठ्यन्तेनापि समासः। **सहयुक्तेऽप्रधाने** (२.३.१९) इत्यत्र प्रसिद्धतया साहित्यविद्यमानत्ववाचिनः सहशब्दस्यैव ग्रहणात् परत्वेन **तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम्** (२.३.७२) इत्यस्य न्यायत्वाच्चेत्याहुः।

सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः (७२१) से समास के अवयव सुँप् (टा) का लुक् करने पर 'सहहरि'। अब इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९१४) अव्ययीभावे चाऽकाले ।६।३।८०।।

सहस्य सः स्यादव्ययीभावे न तु काले । हरेः सादृश्यं सहरि । ज्येष्ठस्याऽऽनुपूर्व्येणेत्यनुज्येष्ठम् । चक्रेण युगपत् सचक्रम् । सदृशः सख्या ससखि । क्षत्त्राणां सम्पत्तिः सक्षत्त्रम् । तृणमप्यपरित्यज्य सतृणमत्ति । अग्निग्रन्थ-पर्यन्तमधीते साग्नि (अधीते) ।।

अर्थः—अव्ययीभावसमास में 'सह' के स्थान पर 'स' आदेश हो परन्तु काल-विशेषवाचक शब्द यदि उत्तरपद में हो तो यह आदेश न हो ।

व्याख्या—अव्ययीभावे ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । अकाले ।७।१। सहस्य ।६।१। सः ।१।१। (**सहस्य सः सञ्ज्ञायाम्** से) । उत्तरपदे ।७।१। (यह अधिकृत है) । न काले—अकाले, नञ्तत्पुरुषः । 'काल' से यहां कालशब्द का ग्रहण नहीं होता अपितु कालविशेष-वाची 'पूर्वाह्ण' आदि शब्दों का ग्रहण अभिप्रेत है । अर्थः—(अव्ययीभावे) अव्ययी-भाव समास में (च) भी (सहस्य) 'सह' शब्द के स्थान पर (सः) 'स' यह आदेश हो जाता है परन्तु (अकाले उत्तरपदे) कालविशेषवाची उत्तरपद परे हो तो नहीं होता । 'स' आदेश अनेकाल् है अतः **अनेकाल्शित्सर्वस्य** (४५) द्वारा 'सह' के स्थान पर सर्वादेश होता है । उदाहरण यथा—

'सहहरि' यहां सादृश्य अर्थ में अव्ययीभावसमास हुआ है, कालविशेष का वाचक कोई शब्द उत्तरपद में नहीं है, अतः **अव्ययीभावे चाऽकाले** (९१४) इस प्रकृतसूत्र से 'सह' के स्थान पर 'स' यह सर्वादेश हो कर 'सहरि' बना[1] । **एकदेशविकृतमनन्यवत्** इस न्याय के अनुसार प्रातिपदिकत्व के अक्षुण्ण रहने से इस से परे स्वादियों की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय आ कर **अव्ययीभावश्च** (३७१) सूत्रद्वारा अव्ययसंज्ञा के कारण **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) सूत्र से 'सुँ' का लुक् करने पर 'सहरि' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

'यथा हरिस्तथा हरः' इत्यादियों में यद्यपि 'यथा' अव्यय सादृश्य अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है तथापि **यथाऽसादृश्ये** (२.१.७)[2] इस नियम के कारण वह समास को प्राप्त नहीं होता । अतः मूल में सादृश्यवाचक 'सह' अव्यय का ही उदाहरण प्रस्तुत किया गया है ।

---

१. सूत्र में 'अकाले' कथन के कारण 'सहपूर्वाह्णम्' आदियों में कालविशेषवाची के उत्तरपद में रहने से अव्ययीभावसमास के होते हुए भी 'सह' को 'स' आदेश नहीं होता । यहां साकल्य अर्थ में अव्ययीभावसमास हुआ है—पूर्वाह्णमप्यपरित्यज्येति सहपूर्वाह्णम् ।

२. **यथाऽसादृश्ये** (२.१.७)—सादृश्यभिन्न अर्थ में ही 'यथा' अव्यय, समर्थ सुंबन्त के साथ अव्ययीभाव-समास को प्राप्त होता है ।

(११) आनुपूर्व्य अर्थ में—

अनुपूर्वम् अनुक्रमः, तस्य भावः—आनुपूर्व्यम्[1] (पूर्वता का क्रम)। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—ज्येष्ठस्य आनुपूर्व्येण[2] अनुज्येष्ठम् (ज्येष्ठ की पूर्वता के क्रमानुसार अर्थात् पहले सब से बड़ा, फिर उस से छोटा, फिर उस से छोटा इत्यादि क्रम के अनुसार)। अलौकिकविग्रह—ज्येष्ठ ङस्+अनु। यहां अलौकिकविग्रह में 'अनु' अव्यय आनुपूर्व्य (पूर्वता के क्रम) अर्थ में स्थित है अतः इस का 'ज्येष्ठ ङस्' के साथ **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्ध्यर्थाभावाऽत्ययाऽसम्प्रतिशब्द-प्रादुर्भाव-पश्चाद्यथाऽऽनुपूर्व्य०** (९०८) सूत्रद्वारा नित्य अव्ययीभावसमास हो जाता है। समास-विधायक इस सूत्र में 'अव्ययम्' पद प्रथमानिर्दिष्ट है अतः तद्बोध्य 'अनु' की उपसर्जनसञ्ज्ञा हो कर उस का पूर्वनिपात हो जाता है—अनु+ज्येष्ठ ङस्। अब समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, उस के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् कर पूर्ववत् विभक्तिकार्य ('टा' प्रत्यय ला कर उसे अम् आदेश और पूर्वरूप) करने से 'अनुज्येष्ठम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। प्रयोग यथा—अनुज्येष्ठं प्रविशन्तु भवन्तः। अनुज्येष्ठं प्रणमति माणवकः। इसी प्रकार—वृद्धस्याऽऽनुपूर्व्येण अनुवृद्धम् इत्यादि प्रयोग समझने चाहियें।

(१२) यौगपद्य (एककालता) अर्थ में—

युगपद्=एक साथ=एक ही समय में। तस्य भावो यौगपद्यम्। एककालता=एक ही समय होना, एक साथ होना। इस अर्थ में वर्त्तमान अव्यय का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—चक्रेण युगपत् सचक्रम् (चक्र के साथ एक ही काल में)। अलौकिकविग्रह—चक्र टा+सह। यहां अलौकिकविग्रह मे 'सह' अव्यय यौगपद्य-विशिष्ट साहित्य (सहभाव) अर्थ में प्रयुक्त हुआ है अतः इस का 'चक्र टा' इस सुँबन्त के साथ **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्ध्यर्थाऽभावाऽत्ययाऽसम्प्रति-शब्दप्रादुर्भाव-पश्चाद्यथाऽऽनुपूर्व्य-यौगपद्य०** (९०८) सूत्र से नित्य अव्ययीभाव-समास हो कर पूर्ववत् 'सह' अव्यय की उपसर्जनसंज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात तथा **अव्ययीभावे चाऽकाले**

---

१. ब्राह्मणादित्वाद् भावे ष्यञ्। स्वार्थे ष्यञ् इति नागेशादयः।

२. लौकिकविग्रह में 'आनुपूर्व्येण' ऐसा तृतीयान्त-प्रयोग क्यों किया जाता है, 'ज्येष्ठ-स्यानुपूर्व्यम्' इस तरह प्रथमान्त प्रयोग क्यों नहीं होता? इस पर नागेशभट्ट यह उत्तर देते हैं कि 'अनुज्येष्ठं नमति' आदि वाक्यों में इस समस्तशब्द का सर्वत्र करणपूर्वक ही अन्वय देखा जाता है अतः यहां विग्रह में तृतीयान्त का प्रयोग किया जाता है। काशिकाकार ने भी यहां 'अनुज्येष्ठं प्रविशन्तु भवन्तः' वाक्य की व्याख्या करते हुए 'ज्येष्ठस्यानुपूर्व्या भवन्तः प्रविशन्तु' इस प्रकार तृतीयान्त का ही प्रयोग किया है।

(९१४) से 'सह' के स्थान पर 'स' आदेश होकर विभक्तिकार्य करने पर 'सचक्रम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। सचक्रं शङ्खं धेहि—प्रक्रियाकौमुदी (चक्र के साथ शङ्ख को एक ही समय धारण करो[1])।

नोट—स्वयं 'युगपत्' अव्यय का सुँबन्त के साथ यह समास नहीं होता, अत एव 'चक्रेण युगपत्' ऐसा स्वपदविग्रह मूल में दर्शाया गया है। शेखरकार नागेशभट्ट का कथन है कि **अव्ययं विभक्ति॰** (९०८) सूत्र में जिस जिस पद के द्वारा जिस जिस अर्थ में समास का विधान किया गया है तत्तत्पदगत अव्यय का सुँबन्त के साथ वह समास नहीं होता। यथा यहां सूत्रगत 'यौगपद्य' में युगपद् अव्यय का प्रयोग हुआ है, तो इस अर्थ में स्वयं 'युगपत्' अव्यय का सुँबन्त के साथ अव्ययीभावसमास न होगा। तभी तो मूल में 'चक्रेण युगपत्' ऐसा विग्रह दर्शाया गया है। अन्यथा यौगपद्य अर्थ में वर्त्तमान 'युगपत्' का सुँबन्त के साथ नित्यसमास होने से स्वपदविग्रह दुर्लभ होता। इसीप्रकार 'पश्चात्' पदद्वारा 'पश्चात्' के अर्थ में वर्त्तमान अव्यय का समासविधान किया गया है, तो 'पश्चात्' अव्यय स्वयं सुँबन्त के साथ समास को प्राप्त न होगा। इसी तरह 'अत्यय' शब्द में 'अति' का प्रयोग हुआ है, तो 'अति' अव्यय अत्यय अर्थ में समास को प्राप्त न होगा। अतः 'अतिहिमम्' आदि उदाहरण अयुक्त हैं, यहां 'निर्हिमम्' आदि उदाहरण ही देने चाहियें जैसा कि काशिकावृत्ति में पाया जाता है। 'यथा' का सूत्र में उल्लेख है अतः 'यथा' के अर्थ में स्वयं 'यथा' अव्यय भी इस सूत्र के द्वारा समास को प्राप्त न होगा। यथाशक्ति, यथोपदिष्टम् आदि उदाहरण यहां नहीं दिये जा सकते। इन की सिद्धि **यथाऽसादृश्ये** (२.१.७) सूत्रद्वारा करनी चाहिये। एवं 'समृद्धि' अर्थ में 'सम्' अव्यय भी समास को प्राप्त न होगा, अतः 'सुमद्रम्' उदाहरण ही युक्त है, 'सम्मद्रम्' नहीं। विस्तार के लिये शेखरद्वय का अवलोकन करें।

(१३) 'सादृश्य' अर्थ में—

पीछे 'यथा' के अर्थों में अव्ययीभावसमास के विधान की व्याख्या करते हुए 'सादृश्य' को भी 'यथा' के अर्थों में गिनाया जा चुका है, तो इस अर्थ में वर्त्तमान अव्यय

---

१. इस उदाहरण की व्याख्या करते हुए भट्टोजिदीक्षित के गुरु शेषश्रीकृष्ण प्रक्रिया-कौमुदी की प्रकाशव्याख्या में इस प्रकार लिखते हैं—

शङ्खं चक्रेण युगपद् धारयेत्यर्थः। अत्र यौगपद्यमर्थः प्रकरणादिगम्यः, तद्विशिष्टसाहित्यं यदा सहशब्दः प्रतिपादयति तदा यौगपद्यवृत्तित्वात् समासो भवति। यदा तु साहित्यमात्रे वर्त्तते तदा न भवति—पुत्रेण सहागत इति। साहित्यप्रधाने चायमव्ययीभावः। साहित्यवद्द्रव्यप्राधान्ये तु **तेन सहेति तुल्ययोगे** (२.२.२८) इति बहुव्रीहिर्वक्ष्यति सपुत्र इति।

आचार्य हेमचन्द्र अपने व्याकरण की स्वोपज्ञबृहद्वृत्ति में 'सचक्रं धेहि' उदाहरण का 'अनेक चक्रों को एक साथ धारण करो' ऐसा अर्थ भी करते हैं। उन के मतानुसार इस अर्थ के लिये 'चक्रैः युगपत्' ऐसा विग्रह करना चाहिये

का सुँबन्त के साथ अव्ययीभावसमास पूर्वतः सिद्ध है ही, पुनः यहां 'सादृश्य' अर्थ में किस लिये समासविधान किया जा रहा है ? इस का उत्तर यह है कि जहां सादृश्य गौण हो वहां पर भी यह समास प्रवृत्त हो जाये इसलिये 'सादृश्य' अर्थ का दुबारा ग्रहण किया गया है। जब हम कहते हैं कि 'वह अपने मित्र के सदृश है' तो यहां सादृश्य गौण होता है और सादृश्यवान् द्रव्य ही प्रधान होता है। इस में भी समास का विधान करने के लिये यहां दुबारा सादृश्य का उल्लेख किया गया है[1]। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—सख्या सदृशः ससखि (मित्र के समान)। अलौकिकविग्रह—सखि टा+सह। यहां अलौकिकविग्रह में 'सह' अव्यय सदृश अर्थ में वर्त्तमान है अतः इस का 'सखि टा' इस सुँबन्त के साथ **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्ध्यर्था-भावाऽत्ययाऽसम्प्रति-शब्दप्रादुर्भाव-पश्चाद्-यथाऽऽनुपूर्व्य-यौगपद्य-सादृश्य०** (९०८) सूत्र द्वारा नित्य अव्ययीभावसमास हो जाता है। समासविधायकसूत्र में 'अव्ययम्' पद प्रथमानिर्दिष्ट है अतः इस से बोध्य 'सह' की उपसर्जनसञ्ज्ञा हो उस का पूर्वनिपात हो जाता है—सह+सखि टा। अब समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, उस के अवयव सुँप् (टा) का लुक् तथा **अव्ययीभावे चाऽकाले** (९१४) से 'सह' को 'स' सर्वादेश करने पर—ससखि। प्रातिपदिकत्व के कारण स्वादियों की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एक-वचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर अव्ययसञ्ज्ञा के कारण **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से उस का लुक् करने पर 'ससखि' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। प्रकृत्या ससखि देवदत्तः (देवदत्त स्वभाव से मित्र के सदृश है)। सकृष्णं प्रद्युम्नः (प्रद्युम्न अपने पिता कृष्ण के सदृश है)।

(१४) 'सम्पत्ति' अर्थ में—

पीछे इसी सूत्र में समृद्धि अर्थ में वर्त्तमान अव्यय का समर्थ सुँबन्त के साथ अव्ययीभावसमास विधान किया जा चुका है। सम्पत्ति भी समृद्धि ही हुआ करती है तो पुनः इस का पृथक् उल्लेख क्यों किया गया है ? इस का उत्तर यह है कि 'ऋद्धेराधिक्यं समृद्धिः, अनुरूप आत्मभावः सम्पत्तिः'। अर्थात् समृद्धि और सम्पत्ति में अन्तर होता है। ऋद्धि (धन-धान्य) के आधिक्य को 'समृद्धि' कहते हैं परन्तु योग्य स्वोचित भाव (प्रवृत्तिनिमित्त) को 'सम्पत्ति' कहना यहां अभीष्ट है[2]। उदाहरण यथा—

---

१. इस तरह सूत्रगत 'सादृश्य' में 'स्वार्थे ष्यञ्' समझना चाहिये। [अन्ये तु 'गोबलीवर्दन्यायेन यथार्थशब्देन त्रयाणामेव ग्रहणं न सादृश्यस्य। 'ससखि' इत्यादेस्तु सादृश्यशक्तस्य तद्वति लक्षणा। अत एव **यथाऽसादृश्ये** (२.१.७) इति सूत्रे भाष्ये **सादृश्यसम्पत्ति०** इति प्राप्तस्य निषेध इत्युक्तम्' इत्याहुः।]

२. अनुरूपः=योग्यः, आत्मभावः—आत्मनः=समस्यमानोत्तरपदस्य भावः=प्रवृत्ति-निमित्तम्। क्षत्त्रत्वादिः सम्पत्तिरित्यर्थः। सक्षत्त्रमित्यत्र क्षत्त्रियाणां योग्यं क्षत्त्रत्वमिति बृहच्छब्देन्दुशेखरे नागेशः।

लौकिकविग्रह—क्षत्त्राणां सम्पत्तिः सक्षत्त्रम् (क्षत्त्रियों का स्वानुरूप क्षत्त्रियत्व)। अलौकिकविग्रह—क्षत्त्र आम् + सह[1]। यहां अलौकिकविग्रह में 'सह' अव्यय सम्पत्ति (अनुरूप आत्मभाव) अर्थ में विद्यमान है अतः इस का 'क्षत्त्र आम्' के साथ **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्धचर्थाऽभावाऽत्ययाऽसम्प्रति-शब्दप्रादुर्भाव-पश्चाद्-यथाऽऽनुपूर्व्य-यौगपद्य-सादृश्य-सम्पत्ति०** (६०८) सूत्रद्वारा नित्य अव्ययीभावसमास हो जाता है। समासविधायकसूत्र में प्रथमानिर्दिष्ट पद 'अव्ययम्' है अतः तद्बोध्य 'सह' की उपसर्जनसंज्ञा तथा उस का पूर्वनिपात करने पर—सह + क्षत्त्र आम्। अब **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) सूत्र से समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (आम्) का लुक् हो **अव्ययीभावे चाऽकाले** (६१४) द्वारा 'सह' को 'स' सर्वादेश कर विभक्ति-कार्य करने से 'सक्षत्त्रम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। सक्षत्त्रमिक्ष्वाकूणाम् (इक्ष्वाकुवंशीयों का स्वोचित क्षत्त्रियत्व)। इसीप्रकार—सब्रह्म बाभ्रवाणाम् (बभ्रुवंशीयों का स्वोचित ब्रह्मभाव)। सवृत्तं मुनीनाम् (मुनियों का स्वानुरूप सदाचारत्व)।

(**१५**) साकल्य अर्थ में—

कलाः = अवयवाः, कलाभिः सह वर्त्तत इति सकलम्। सकलस्य भावः साकल्यम् (सम्पूर्णता, अशेषता, बाकी न रहना)। साकल्य अर्थ में तात्पर्यतः वर्त्तमान अव्यय का समर्थ सुँबन्त के साथ नित्य समास हो जाता है। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—तृणमपि अपरित्यज्य सतृणम् अत्ति (तिनके को भी छोड़े विना अर्थात् सम्पूर्ण भोज्य खाता है)। अलौकिकविग्रह—तृण टा + सह। यहां अलौकिकविग्रह में 'सह' अव्यय यद्यपि 'न छोड़ना' अर्थ में विद्यमान है तथापि तात्पर्यतः साकल्य अर्थ को व्यक्त करता है। अतः इस अव्यय का 'तृण टा' इस सुँबन्त के साथ **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्धचर्थाऽभावाऽत्ययाऽसम्प्रति-शब्दप्रादुर्भाव--पश्चाद्यथाऽऽनुपूर्व्य-यौगपद्य-सादृश्य-सम्पत्ति-साकल्य०** (६०८) सूत्रद्वारा नित्य अव्ययीभावसमास हो कर अव्यय की उपसर्जनसंज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (टा) का लुक्, **अव्ययीभावे चाऽकाले** (६१४) से 'सह' के स्थान पर 'स' सर्वादेश तथा अन्त में प्रथमैकवचन सुँ को **नाव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः** (६१२) से अम् आदेश कर **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने से 'सतृणम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। सतृणम् अत्ति (तिनके को भी छोड़े विना खाता है)। जो तिनके को भी नहीं छोड़ता भला वह भक्ष्य को छोड़ सकेगा? कभी नहीं। सम्पूर्ण भक्ष्य को खाता है—यह यहां तात्पर्य पर्यवसित होता है। इसीप्रकार—सबुसमत्ति, सलेशम्भोजनमभ्यवहरति आदि जानने चाहियें।

---

१. कुछ वैयाकरण अलौकिकविग्रह में यहां 'क्षत्त्र भिस् + सह', इस प्रकार भी रखा करते हैं। लोक में इस समास को छोड़ 'सह' का सम्पत्ति अर्थ अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं होता। 'क्षत्त्र' शब्द क्षत्त्रिय का पर्याय है—**क्षत्त्रं तु क्षत्त्रियो राजा राजन्यो बाहुसम्भवः**—इति हैमः।

विशेष—साकल्य अर्थ का 'सतृणम्' यह मूर्धाभिषिक्त उदाहरण है। काशिका आदि प्राचीन ग्रन्थों में सर्वत्र 'सतृणम् अभ्यवहरति' उदाहृत है। इस उदाहरण की हम ने परम्परानुसार व्याख्या दर्शाई है। परन्तु यह व्याख्या कुछ अधिक सन्तोषप्रद प्रतीत नहीं होती। हमारे विचार में यहां तृणशब्द तिनके का वाचक नहीं, अपितु लक्षणाद्वारा लेश या स्वल्पांश को लक्षित करता है। 'सह' अव्यय यहां परित्यागविहीन साहित्य (सहभाव) अर्थ में प्रयुक्त है। इस प्रकार 'सतृणम् अत्ति' का अर्थ हुआ—लेशमात्र अर्थात् जरा सा भी न छोड़ते हुए भक्षण करता है, दूसरे शब्दों में पूरे का पूरा भोज्य ग्रहण करता है। यह स्थल अभी और अधिक अनुसन्धातव्य है। हम ने केवल एक दिशा सुझाई है।

(१६) अन्त (समाप्ति) अर्थ में—

'हमें इतने तक पढ़ना है' ऐसा निश्चय कर जब किसी ग्रन्थ या प्रकरण आदि का ग्रहण होता है तो इस की अपेक्षा से यहां अन्त (समाप्ति) अभिप्रेत है। इस अन्त अर्थ में वर्त्तमान अव्यय का समर्थ सुँबन्त के साथ समास होता है। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—अग्निग्रन्थपर्यन्तम् अधीते इति साग्नि अधीते (अग्निग्रन्थ की समाप्ति तक पढ़ता है)[1]। अलौकिकविग्रह—अग्नि टा+सह। यहां अलौकिकविग्रह में 'सह' अव्यय अन्त अर्थात् समाप्ति अर्थ में प्रयुक्त है[2]। अतः इस का 'अग्नि टा' इस सुँबन्त के साथ **अव्ययं विभक्ति-समीप-समृद्धि-व्यृद्ध्यर्थाऽभावाऽत्ययाऽसम्प्रति-शब्द-प्रादुर्भाव-पश्चाद्-यथाऽऽनुपूर्व्य-यौगपद्य-सादृश्य-सम्पत्ति-साकल्याऽन्तवचनेषु** (९०८) सूत्र-द्वारा नित्य अव्ययीभावसमास हो जाता है। प्रथमानिर्दिष्ट होने से 'सह' की उपसर्जनसञ्ज्ञा तथा उस का पूर्वनिपात हो—सह+अग्नि टा। अब समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, उस के अवयव सुँप् (टा) का लुक्, **अव्ययीभावे चाऽकाले** (९१४) से 'सह' को 'स' सर्वादेश तथा **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ करने पर

---

१. लौकिकविग्रह 'अग्निपर्यन्तम्' इतना मात्र है। शेष सब समझाने के लिये जोड़ा गया है।

२. वस्तुतस्तु अत्रेत्थं बोध्यम्—
अग्निशब्दस्तत्प्रतिपादकग्रन्थे वर्त्तते। तृतीयान्तेन समासः। यद्यपि 'अग्निना सह' इति प्रयोगार्हमेव, तथापि साहित्यमात्रे तथा। अन्तत्वस्यापि विवक्षायान्तु समासो नित्यः। अत एव 'अग्निग्रन्थपर्यन्तम्' इत्यस्वपदविग्रहो दर्शितः। अग्निग्रन्थपर्यन्तमिति बहुव्रीहौ द्वितीयान्तम्। ग्रन्थोऽन्यपदार्थः। 'अधीते' इति क्रियायास्तु न समास-मध्येऽन्तर्भावः, मानाऽभावात्। अन्ते समासविधानेनैव अन्त्यत्वम्। साहित्यञ्च सहशब्दार्थ इत्यवसीयते। इदमेव ध्वनयितुं सहितशब्दघटितं विग्रहमपहाय पर्यन्तशब्द-घटितविग्रहो दर्शितो मूले। अन्त्याग्निग्रन्थसहितमिति बोधः। क्रियाशून्यवाक्यस्यायोग्यत्वाद् 'अधीते' इति क्रियोपादानमिति बृहच्छब्देन्दुशेखरे नागेशः।

'साग्नि' बना। **एकदेशविकृतमनन्यवत्** इस न्याय के अनुसार प्रातिपदिकसंज्ञा के अक्षुण्ण रहने से स्वादि प्रत्ययों की उत्पत्ति के प्रसङ्ग मे अध्ययनक्रिया के कर्मत्व के कारण द्वितीया के एकवचन की विवक्षा में अम् प्रत्यय ला कर अव्ययीभाव की अव्यय-सञ्ज्ञा तथा **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से सुँप् (अम्) का लुक् करने से 'साग्नि' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। साग्नि अधीते, अग्निग्रन्थ के अन्त=समाप्ति तक पढ़ता है। 'अग्नि' नाम का कोई ग्रन्थ था जो सम्भवतः याज्ञिकप्रक्रियाविषयक अग्निचयन से सम्बन्ध रखता था, अद्यत्वे वह लुप्त हो चुका है। इसीप्रकार—समहाभाष्यमधीते (महाभाष्यग्रन्थ की समाप्ति तक पढ़ता है)। सतद्धितमधीते (तद्धितप्रकरण की समाप्ति तक पढ़ता है)।

नोट—कुछ लोग शङ्का किया करते हैं कि **अव्ययं विभक्ति०** (९०८) सूत्र में 'अन्त' अर्थ के उल्लेख की आवश्यकता ही नहीं, साकल्य अर्थ से ही उस की गतार्थता सिद्ध हो सकती है। परन्तु तनिक ध्यान देने से उन का यह कथन युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। क्योंकि 'अन्त' अर्थ में तो परिगृहीत ग्रन्थ या प्रकरण तक की समाप्ति ही विवक्षित होती है और वह समाप्ति अध्ययन के असाकल्य में भी सम्भव हो सकती है परन्तु साकल्य में ऐसा नहीं होता वहां तो केवल सम्पूर्णता ही विवक्षित होती है।

इस प्रकार **अव्ययं विभक्ति०** (९०८) सूत्रद्वारा विभक्ति आदि सोलह अर्थों में वर्त्तमान अव्यय का समर्थ सुँबन्त के साथ समास दर्शाया गया है। उपर्युक्त सब उदाहरणों में **अव्ययं विभक्ति०** (९०८) से अव्ययीभावसमास, प्रथमानिर्दिष्ट की उपसर्जन-संज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुँप् का लुक्, पुनः नये सिरे से विभक्त्युत्पत्ति तथा अव्ययसंज्ञा हो जाने से सुँब्लुक् (अथवा यथासम्भव अम् आदेश और पूर्वरूप) आदि कार्य हो जाते हैं। किञ्च इस समास के नित्य होने से लौकिकविग्रह भी अस्वपद ही हुआ करता है।

अब समाहार अर्थ में अव्ययीभावसमास का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९१५) नदीभिश्च ।२।१।१९॥

नदीभिः सह सङ्ख्या समस्यते। समाहारे चायमिष्यते। पञ्चगङ्गम्। द्वियमुनम्॥

अर्थः—सङ्ख्यावाची सुँबन्त नदीवाचक सुबन्तों के साथ अव्ययीभावसमास को प्राप्त होता है। **समाहारे चायमिष्यते**—यह समास समाहार अर्थ में ही इष्ट है।

व्याख्या—नदीभिः ।३।३। च इत्यव्ययपदम्। चकारात् पूर्वतः 'संख्या' इत्यनुकृष्यते। सङ्ख्या ।१।१। (**संख्या वंश्येन** सूत्र से)। **सुँप्, सह सुँपा** (९०६), **प्राक्कडारात्समासः** (९०५), **अव्ययीभावः** (९०७)—ये सब पीछे से अधिकृत हैं। 'नदीभिः' में बहुवचनग्रहण के कारण नदीसञ्ज्ञकों (गौरी आदि) तथा केवल नदीशब्द का यहां ग्रहण नहीं किया जाता, अपितु नद्यर्थकों का ही ग्रहण होता है। नद्यर्थकों में गङ्गा, यमुना आदि नदीविशेषों का या स्वयं नद्यर्थक नदीशब्द का भी ग्रहण हो जाता है। अर्थः—

(संख्या) संख्यावाची (सुँप्=सुँबन्तम्) सुँबन्त (नदीभिः) नद्यर्थक (सुँब्भिः=सुँबन्तैः) सुँबन्तों के साथ (समासः) समास को प्राप्त होता है और वह समास (अव्ययीभावः) अव्ययीभावसंज्ञक होता है। भाष्यकार की इस सूत्र पर इष्टि है—**समाहारे चायमिष्यते**[1]। अर्थात् यह समास समाहार (समूह, मिलित समुदाय, इकट्ठ) अर्थ में ही इष्ट है। ध्यान रहे कि समाहार अर्थ में **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (६३६) तथा **संख्यापूर्वो द्विगुः** (६४१) इन वक्ष्यमाण सूत्रों से यहां द्विगुसमास प्राप्त था उस का अपवाद यह अव्ययीभावसमास कहा गया है। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—पञ्चानां गङ्गानां समाहारः पञ्चगङ्गम् (पाञ्च गङ्गाओं=गङ्गधाराओं का समूह)। अलौकिकविग्रह—पञ्चन् आम्+गङ्गा आम्। यहां अलौकिकविग्रह में 'पञ्चन् आम्' इस संख्यावाची सुँबन्त का 'गङ्गा आम्' इस समर्थ सुँबन्त के साथ प्रकृत **नदीभिश्च** (६१५) सूत्र से अव्ययीभावसमास हो जाता है। समासविधायक इस सूत्र में पीछे से अनुवर्तित 'संख्या' पद प्रथमानिर्दिष्ट है अतः तद्बोध्य 'पञ्चन् आम्' की **प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्** (६०६) सूत्रद्वारा उपसर्जनसंज्ञा हो कर **उपसर्जनं पूर्वम्** (६१०) से उस का पूर्वनिपात हो जाता है—पञ्चन् आम्+गङ्गा आम्। **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से उस के अवयव सुँपों (दोनों 'आम्' प्रत्ययों) का लुक् हो—पञ्चन् गङ्गा। सुँप् के लुप्त हो जाने पर भी प्रत्ययलक्षणद्वारा पञ्चन् की पदसंज्ञा रहने के कारण **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से पञ्चन् के पदान्त नकार का लोप हो—पञ्चगङ्गा। पुनः **अव्ययीभावश्च** (६११) सूत्रद्वारा अव्ययीभावसमास को नपुंसक मान लेने से **ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य** (२४३) द्वारा नपुंसक के अन्त को ह्रस्व आदेश हो—पञ्चगङ्ग। अब प्रातिपदिकत्वात् 'पञ्चगङ्ग' से नये सिरे से विभक्तियों की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में 'सुँ' प्रत्यय आ कर **अव्ययाद् आप्सुँपः** (३७२) से प्राप्त सुँब्लुक् का बाध कर **नाऽव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः** (६१२) द्वारा सुँ को अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'पञ्चगङ्गम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[2]। दूसरा उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—द्वयोर्यमुनयोः समाहारः द्वियमुनम् (दो यमुनाओं=यमुनाधाराओं का समूह)। अलौकिकविग्रह—द्वि ओस्+यमुना ओस्। यहां अलौकिकविग्रह में प्रकृतसूत्र से समास, संख्यावाची की उपसर्जनसंज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक् तथा नपुंसकह्रस्व करने पर 'द्वियमुन' बना। अब स्वाद्य

---

१. चशब्द एवार्थकोऽत्र ज्ञेयः। अयं समासः समाहारे एव इष्यते इत्यभिप्रायः।

२. अव्ययीभावसमास को प्रायः पूर्वपदार्थप्रधान कहा जाता है। 'प्रायः' इसलिये कहा गया है कि कहीं कहीं इस का उल्लङ्घन भी देखा जाता है। यथा प्रकृत 'पञ्चगङ्गम्' आदि अव्ययीभावसमास के उदाहरणों में समाहार की ही प्रधानता देखी जाती है पूर्वपदार्थ की नहीं।

त्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर उसे अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'द्वियमुनम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीतरह— सप्तानां गङ्गानां समाहारः सप्तगङ्गम् । पञ्चानां नदीनां समाहारः पञ्चनदम् । सप्तानां गोदावरीणां समाहारः सप्तगोदावरम्[1] । इत्यादि प्रयोग बनते हैं।

शङ्का—पञ्चगङ्गम्, द्वियमुनम् आदि प्रयोग **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३६) सूत्र से समाहार अर्थ में द्विगुसमासद्वारा भी सिद्ध किये जा सकते हैं। **स नपुंसकम्** (९४३) सूत्र से द्विगु को नपुंसक मान कर नपुंसकह्रस्व करने में भी कोई कठिनाई नहीं आती । यदि कहें कि **अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः** (वा०) इस वचनानुसार स्त्रीलिङ्ग मान कर **द्विगोः** (१२५७) सूत्र से ङीप् की प्राप्ति होगी तो उस का वारण भी **पात्राद्यन्तस्य न** (वा०) वार्त्तिकद्वारा किया जा सकता है । तो पुनः अव्ययीभावसमासद्वारा इन्हें सिद्ध करने का यत्न क्यों किया गया है ?

समाधान—यदि इन प्रयोगों को द्विगुसमासद्वारा सिद्ध किया जायेगा तो कई विभक्तिरूपों में बड़ी गड़बड़ी हो जायेगी । तब 'पञ्चगङ्ग' शब्द से चतुर्थी में 'पञ्चगङ्गाय', षष्ठी में 'पञ्चगङ्गस्य' आदि अनिष्ट रूप बनने लग जायेंगे जब कि हमें इन विभक्तियों में 'पञ्चगङ्गम्' रूप ही अभीष्ट है । अतः मुनि ने इन प्रयोगों को अव्ययीभावद्वारा ही सिद्ध करने का यत्न किया है।

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी में अव्ययीभावसमास का विधान करने वाले केवल दो ही सूत्र अष्टाध्यायी से उद्धृत किये गये हैं, जिन की व्याख्या ऊपर पूर्णरीत्या की जा चुकी है। यदि विद्यार्थी इन सूत्रों के उदाहरणों और उन की प्रक्रिया को भली-भान्ति समझ कर बुद्धिस्थ कर लें तो अव्ययीभावसमासविधायक निम्नस्थ अन्य सात सूत्रों को समझने में भी उन को कोई कठिनता नहीं होगी ।

(१) पारेमध्ये षष्ठ्या वा ।२।१।१७।।

अर्थः—'पार' और 'मध्य' सुँबन्त समर्थ षष्ठ्यन्त के साथ विकल्प से अव्ययीभावसमास को प्राप्त होते हैं । किञ्च इस समास में इन दोनों (पार और मध्य) शब्दों के अन्त्य वर्ण को एकार आदेश भी हो जाता है । उदाहरण यथा—

गङ्गायाः पारम् पारेगङ्गम् । पारेगङ्गाद् दुग्धमानयति ।

गङ्गाया मध्यम् मध्येगङ्गम् । मध्येगङ्गाज्जलमानयति ।

---

१. 'पञ्चनदम्' तथा 'सप्तगोदावरम्' दोनों स्थानों पर—

कृष्णोदक्पाण्डुपूर्वाया भूमेरच् प्रत्ययः स्मृतः ।
गोदावर्याश्च नद्याश्च संख्याया उत्तरे यदि ।।

इस काशिकोक्त (५.४.७५) कारिका से समासान्त अच् प्रत्यय हो कर उस के परे रहते **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक ईकार का लोप हो जाता है ।

अव्ययीभाव के अभावपक्ष में **षष्ठी** (६३१) सूत्रद्वारा **वैकल्पिक** तत्पुरुषसमास भी हो जाता है—गङ्गायाः पारं गङ्गापारम्। गङ्गाया मध्यं गङ्गामध्यम्। अव्ययीभावसमास, षष्ठीतत्पुरुषसमास तथा समासों के अभाव में वाक्य—इस प्रकार तीन रूप यहां स्मर्तव्य हैं। साहित्यगत प्रयोग यथा—

हतबन्धुर्जगामासौ ततः शूर्पणखा वनात्।
पारेसमुद्रं लङ्कायां वसन्तं रावणं पतिम्॥ (भट्टि० ५.४)
समुद्रस्य पारे पारेसमुद्रम् (समुद्र के पार में)।

(२) **सुप् प्रतिना मात्रार्थे**।२।१।९॥

अर्थः—मात्रा अर्थात् स्वल्प अर्थ में वर्त्तमान 'प्रति' अव्यय का समर्थ सुँबन्त के साथ नित्य अव्ययीभावसमास हो जाता है। उदाहरण यथा—

शाकस्य लेशः शाकप्रति (शाक का स्वल्पांश)।
सूपस्य लेशः सूपप्रति (सूप=दाल की स्वल्पमात्रा)।
न सुखप्रति संसारे (संसार में सुख का लेश भी नहीं है)।
नास्ति सत्यप्रत्यस्य भाषणे (इस के भाषण में लेशमात्र भी सत्य नहीं है)।
यहां अव्ययीभावसमास में उत्तरपद का प्राधान्य पाया जाता है।

(३) **आङ् मर्यादाऽभिविध्योः** २।१।१२॥

अर्थः—मर्यादा या अभिविधि अर्थ में **वर्त्तमान** 'आङ्' अव्यय का पञ्चम्यन्त समर्थ सुँबन्त के साथ विकल्प से अव्ययीभावसमास हो जाता है। उदाहरण यथा—

आपाटलिपुत्रं वृष्टो देवः। समासाभावे—आ पाटलिपुत्राद् वृष्टो देवः। यदि मर्यादा अर्थ विवक्षित होगा तो वाक्य का अर्थ होगा—पाटलिपुत्र तक अर्थात् पाटलिपुत्र को छोड़ कर उस से पूर्व पूर्व वर्षा हुई। यदि अभिविधि अर्थ विवक्षित होगा तो वाक्यार्थ होगा—पाटलिपुत्र तक अर्थात् पाटलिपुत्र को भी व्याप कर वृष्टि हुई—पाटलिपुत्र में भी वर्षा हुई। तेन विनेति मर्यादा, तेन सहेति अभिविधिः।

मर्यादा अर्थ में दूसरा उदाहरण—आमुक्ति संसारः। समासाभावे—आ मुक्तेः संसारः। मोक्ष तक संसार=संसरण=आवागमन होता रहता है। अर्थात् मोक्ष से पूर्व पूर्व आवागमन होता है मोक्ष होने पर नहीं।

अभिविधि अर्थ में दूसरा उदाहरण—आकुमारं यशः पाणिनेः। समासाभावे—आ कुमारेभ्यो यशः पाणिनेः। पाणिनि का यश बच्चों तक फैला हुआ है अर्थात् बच्चों में भी फैला हुआ है।

इस सूत्र के साहित्यगत उदाहरण यथा—

इत्या प्रसादादस्यास्त्वं परिचर्यापरो भव।
अविघ्नमस्तु ते स्थेयाः पितेव धुरि पुत्रिणाम्॥ (रघु० १.९१)
सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम्।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम्॥ (रघु० १.५)

(४) **अप-परि-बहिरञ्चवः पञ्चम्या** ।२।१।११।।

अर्थः—अप, परि, बहिस् और अञ्चुँ (क्विँन्प्रत्ययान्त)—इन सुँबन्तों का पञ्चम्यन्त समर्थ सुँबन्त के साथ विकल्प से अव्ययीभावसमास हो जाता है। उदाहरण यथा—

अपत्रिगर्त्तं वृष्टो देवः। समासाऽभावे—अप त्रिगर्त्तेभ्यो वृष्टो देवः। परित्रिगर्त्तं वृष्टो देवः। समासाऽभावे—परि त्रिगर्त्तेभ्यो वृष्टो देवः। त्रिगर्त्त (गढ़वाल) देश को छोड़ कर वृष्टि हुई। 'अप' और 'परि' वर्जन अर्थ में यहां प्रयुक्त हुए हैं—**अपपरी वर्जने** (१.४.८७)।

बहिर्ग्रामम्। समासाऽभावे—बहिर्ग्रामात्। गांव से बाहर।

प्राग्ग्रामम्। समासाऽभावे—प्राग्ग्रामात्। गांव से पहले या पूर्व में।

(५) **यावदवधारणे** ।२।१।८।।

अर्थः—अवधारण अर्थात् परिमाण की इयत्ता का निश्चय गम्य हो तो 'यावत्' अव्यय का समर्थ सुँबन्त के साथ नित्य अव्ययीभावसमास हो जाता है। उदाहरण यथा—

यावदमत्रं ब्राह्मणान् आमन्त्रयस्व। यावन्ति अमत्राणि (पात्राणि) तावतो ब्राह्मणान् आमन्त्रयस्वेत्यर्थः। जितने पात्र हैं उतने ब्राह्मणों को आमन्त्रित करो। यह समास नित्य है अतः समास में तो 'यावत्' अव्यय का प्रयोग होता है परन्तु लौकिक-विग्रह में तद्धितवतुँप् (**यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुँप्** ५.२.३९) प्रत्ययान्त यावत् और तावत् शब्दों का प्रयोग किया जाता है, इस से समास का अस्वपदविग्रहत्व बना रहता है। समास अवधारण में किया जाता है अतः उस में 'तावत्' का अन्तर्भाव रहता है, वह केवल लौकिकविग्रह में ही प्रयुक्त होता है। कुछ अन्य उदाहरण यथा—

यावच्छ्लोकम् अच्युतप्रणामाः। यावन्तः श्लोकास्तावन्तोऽच्युतप्रणामा इत्यर्थः। **यावज्जीवं जडो दहेत्** (जीवनं जीवः, भावे घञ्)। जब तक जीवन रहता है तब तक मूर्ख जलाता रहता है। **यावदर्थपदां[1] वाचमेवमादाय माधवः। विरराम महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः** (माघ० २.१३)।

अवधारणे किम्? यावद् दत्तं तावद् भुक्तम्। कियद् दत्तं कियद् भुक्तं वा नावधारयतीत्यर्थः।

(६) **अन्यपदार्थे च सञ्ज्ञायाम्** ।२।१।२०।।

अर्थः—सञ्ज्ञा गम्यमान होने पर अन्यपद के अर्थ में वर्त्तमान सुँबन्त का नदीवाचक सुँबन्तों के साथ अव्ययीभावसमास हो जाता है। वाक्य से सञ्ज्ञाओं का बोध नहीं हुआ करता अतः यह अविग्रह नित्यसमास है। उदाहरण यथा—

उन्मत्तगङ्गम्, लोहितगङ्गम्, कृष्णगङ्गम्, शनैर्गङ्गम्, तूष्णींगङ्गम् इत्यादि। ये

---

१. यावान् अर्थः—यावदर्थम्। अव्ययीभावसमासः। यावदर्थं पदानि यस्यास्ताम्। अभिधेयसम्मिताक्षरामित्यर्थः।

सब गङ्गातटवर्त्ती प्रदेशविशेषों की संज्ञाएं हैं। 'उन्मत्ता सुँ+गङ्गा सुँ' इत्यादि अलौकिकविग्रहों में **स्त्रियाः पुंवद्भाषित०** (९६९) सूत्रद्वारा पूर्वपद को पुंवद्भाव हो जाता है। उत्तरपद में नपुंसकह्रस्व की प्रवृत्ति होती है।

(७) **लक्षणेनाऽभिप्रती आभिमुख्ये** ।२।१।१३॥

अर्थः—आभिमुख्य (सम्मुखता) अर्थ में 'अभि' और 'प्रति' अव्ययों का चिह्नवाची सुँबन्त के साथ विकल्प से अव्ययीभावसमास हो जाता है। उदाहरण **यथा**—

अभ्यग्नि शलभाः पतन्ति । प्रत्यग्नि शलभाः पतन्ति । समासाऽभावे—अग्निमभि शलभाः पतन्ति । अग्निं प्रति शलभाः पतन्ति । पतङ्गे अग्नि को लक्ष्य कर तदभिमुख गिरते हैं। इसी प्रकार—अभ्ययोध्यं तद्बलमगात् (भट्टि० २.४९)। अयोध्यामभि अभ्ययोध्यम् ।

अब अव्ययीभावसमासोपयोगी समासान्त प्रत्ययों का वर्णन करने से पूर्व 'तद्धित' सञ्ज्ञा का अधिकार चलाते हैं—

[लघु०] अधिकार-सूत्रम्—(९१६) तद्धिताः ।४।१।७६॥

आपञ्चमसमाप्तेरधिकारोऽयम् ॥

अर्थः—अष्टाध्यायी में यहां से ले कर पाञ्चवें अध्याय की समाप्ति तक जो जो प्रत्यय कहे जायें वे तद्धितसंज्ञक हों।

व्याख्या—तद्धिताः ।१।३। प्रत्ययाः ।१।३। (पीछे से अधिकृत **प्रत्ययः** का वचनविपरिणाम हो जाता है)। यह अधिकारसूत्र है। इस का अधिकार अष्टाध्यायी में पञ्चम अध्याय की समाप्ति तक जाता है। यहां से ले कर सम्पूर्ण चतुर्थ अध्याय तथा पूरे का पूरा पञ्चम अध्याय इस तद्धितसञ्ज्ञा का अधिकारक्षेत्र है। अर्थः—यहां से ले कर पञ्चम अध्याय के अन्त तक (प्रत्ययाः) जो प्रत्यय विधान किये जायें वे (तद्धिताः) तद्धितसञ्ज्ञक हों।

तद्धितसञ्ज्ञा करने के अनेक प्रयोजन हैं। तद्धितप्रत्ययान्त की **कृत्तद्धित०** (११७) से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर स्वादिप्रत्ययों की उत्पत्ति होती है। **लशक्वतद्धिते** (१३६) में 'अतद्धिते' कथन के कारण तद्धितप्रत्ययों के आदि लकार, शकार और कवर्ग वर्णों की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती। तद्धित परे होने पर **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक इवर्ण अवर्ण का लोप हो जाता है। तद्धित प्रत्यय परे रहते **नस्तद्धिते** (९१९) द्वारा भसञ्ज्ञक अन् का लोप हो जाता है। ञित् या णित् तद्धित के परे रहते **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) द्वारा अङ्ग के आदि अच् को वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार तद्धितसंज्ञा करने के अनेक प्रयोजन हैं।

तद्धिताः में बहुवचन का प्रयोग किया गया है, **प्रत्ययः** (१२०) की तरह एकवचन का प्रयोग नहीं किया गया। वैयाकरणों का कहना है कि अनुक्त तद्धितों के ग्रहण के लिये आचार्य ने बहुवचन का आश्रय लिया है। 'तद्धित' यह प्राचीन आचार्यों

की संज्ञा है जिसे पाणिनि ने अपने शास्त्र में स्वीकृत कर लिया है[1]।

इस **तद्धिताः** (९१६) के अधिकार में एक अन्य अवान्तर अधिकार-सूत्र पढ़ा गया है—**समासान्ताः** (५.४.६८)। अर्थः—यहां से ले कर पाद की समाप्ति तक अष्टाध्यायी में जिस जिस समास से जो जो प्रत्यय विधान किया जायेगा वह वह प्रत्यय उस उस समास का अन्तावयव (चरमावयव) माना जायेगा। तात्पर्य यह है कि समास के साथ उस की भी अन्त्यावयवरूप से गणना होगी, समास से वह पृथक् नहीं माना जायेगा, समास के ग्रहण से उस का भी ग्रहण होगा। इस से स्वादियों की उत्पत्ति के समय या स्त्रीप्रत्यय करते समय तत्तत्समासान्तप्रत्ययविशिष्ट को ही प्रातिपदिक मान कर उस से परे प्रत्ययों की उत्पत्ति होगी। यह सब आगे के उदाहरणों में स्पष्ट हो जायेगा।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा अव्ययीभावसमास में समासान्त टच् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९१७) अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः ।५।४।१०७।।

शरदादिभ्यष्टच् स्यात् समासान्तोऽव्ययीभावे। शरदः समीपम् उपशरदम्। प्रतिविपाशम्। जराया जरस् (गणसूत्रम्)। उपजरसम् इत्यादि ।।

अर्थः—अव्ययीभावसमास में शरद् आदि प्रातिपदिकों से परे तद्धितसञ्ज्ञक टच् प्रत्यय हो और वह इस समास का अन्तावयव (अन्तिम हिस्सा) भी समझा जाये। **जराया जरस्** (गणसूत्र)—जराशब्द के स्थान पर जरस् आदेश भी हो जाता है।

व्याख्या—अव्ययीभावे ।७।१। शरत्प्रभृतिभ्यः ।५।३। टच् ।१।१। (**राजाहःसखिभ्यष्टच्** से)। **तद्धिताः**, **समासान्ताः**, **प्रत्ययः**, **परश्च**, ङ्याप्प्रातिपदिकात्—ये सब पूर्वतः ही अधिकृत हैं। यथोचित वचनविपरिणाम से ये यहां अन्वित होते हैं। शरत् (शरच्छब्दः) प्रभृतिर् (आदिः) येषान्ते शरत्प्रभृतयः, तेभ्यः=शरत्प्रभृतिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः। 'प्रभृति' शब्द के विषय में पीछे (५५२) सूत्र पर एक फुटनोट लिख चुके हैं वह यहां पर भी पुनः ध्यातव्य है। अर्थः—(अव्ययीभावे) अव्ययीभावसमास में (शरत्प्रभृतिभ्यः) शरद् आदि (प्रातिपदिकेभ्यः) प्रातिपदिकों से (परः) परे (टच्) टच् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है और वह (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक होता हुआ

---

१. न्यासकार 'तद्धित' को अन्वर्थसंज्ञा मानते हुए इस प्रकार लिखते हैं—"महत्याः सञ्ज्ञायाः करणे एतत्प्रयोजनम्, अन्वर्थसञ्ज्ञा यथा विज्ञायेत। तेभ्यो हिताः—तद्धिताः। तदित्यनेन लौकिका वैदिकाश्च शब्दाः प्रत्यवमृष्यन्ते, तेषां व्युत्पाद्यत्वेन प्रकृतत्वात्। तेन तत्रैव भवन्त्यणादयो यत्र च भवन्तस्तेषाम् उपकारिणो भवन्ति, नाऽन्यत्रेति। तेन अभिधानलक्षणत्वं तद्धितानामुपपन्नं भवति" (न्यास ४.१.७६)।

(समासान्तः) इस समास का अन्तावयव भी होता है । शरत्प्रभृति एक गण है जो गणपाठ में पढ़ा गया है । टच् प्रत्यय के टकार और चकार क्रमशः **चुटू** (१२६) तथा **हलन्त्यम्** (१) सूत्र से इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं, 'अ' मात्र ही शेष रहता है[1] । इस टच् के आ जाने से शरद् आदि हलन्त शब्द भी अदन्त बन जाते हैं। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—शरदः समीपम् उपशरदम् (शरदृतु के समीप) । अलौकिकविग्रह—शरद् ङस् + उप । यहां अलौकिकविग्रह में 'उप' अव्यय समीप अर्थ में वर्त्तमान है अतः **अव्ययं विभक्ति-समीप०** (६०८) सूत्रद्वारा इस का 'शरद् ङस्' के साथ नित्य अव्ययीभावसमास हो जाता है । समासविधायक सूत्र में 'अव्ययम्' पद प्रथमानिर्दिष्ट है अतः तद्बोध्य 'उप' अव्यय की उपसर्जनसंज्ञा और **उपसर्जनं पूर्वम्** (६१०) से उस का पूर्वनिपात करने पर 'उप + शरद् ङस्' हुआ । **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से समास की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) सूत्र से प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् हो जाता है—उपशरद् । पुनः प्रकृत **अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः** (६१७) सूत्रद्वारा समासान्त टच् प्रत्यय हो कर टकार-चकार अनुबन्धों का लोप करने से उपशरद् अ = 'उपशरद' बन जाता है। टच् प्रत्यय **समासान्ताः** (५.४.६८) के अधिकार में पठित होने से समासान्त अर्थात् समास का अन्तिम अवयव है अतः तद्विशिष्ट समग्र 'उपशरद' ही अव्ययीभाव हो गया है । अब प्रातिपदिकत्वात् 'उपशरद' इस अदन्त से परे विभक्त्युत्पत्ति होती है[2] । प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय आ कर अव्ययत्वात् प्राप्त सुँब्लुक् (३७२) का बाध कर **नाऽव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः** (६१२) से सुँ को अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप

---

१. प्रत्यय में टकार अनुबन्ध टित्कार्य ङीप् आदि के लिये तथा चकार अनुबन्ध **चितः** (६.१.१५७), **तद्धितस्य** (६.१.१५८) द्वारा अन्तोदात्त स्वर के लिये जोड़ा गया है ।

२. टच् आदि को समासान्त मानने की आवश्यकता ही क्या है ? वह **तद्धिताः** (६१६) के अधिकार में पठित होने से तद्धितसंज्ञक तो है ही, **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) द्वारा तद्धितान्त के प्रातिपदिकसंज्ञक हो जाने से उस से परे स्वादियों की उत्पत्ति सुतरां सिद्ध हो ही जायेगी । इस का उत्तर यह है कि यदि टच् आदि को समासान्त नहीं मानेंगे तो दो प्रातिपदिक उपस्थित हो जायेंगे, एक टच् से पूर्व समाससंज्ञक समुदाय तथा दूसरा टज्विशिष्ट तद्धितान्त समुदाय । दोनों से स्वाद्युत्पत्ति प्रसक्त होने लगेगी । परन्तु अब टच् आदि को समास का अन्तावयव मान लेने से टज्विशिष्ट समग्र समुदाय ही समासत्वात् प्रातिपदिक हो जाता है और इस से परे ही स्वादिप्रत्ययों की उत्पत्ति होती है, टजादिरहित पूर्वसमुदाय से परे नहीं । इस के अतिरिक्त टच् आदि को समासान्त मानने के अन्य भी अनेक प्रयोजन आकरग्रन्थों में व्याख्यात हैं वहीं देखने चाहियें ।

करने पर 'उपशरदम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। ध्यान रहे कि यदि यहां समासान्त टच् प्रत्यय न किया जाता तो अव्ययीभावसंज्ञक 'उपशरद्' के अदन्त न होने से **नाऽव्ययीभावादतोऽम्०** (९१२) की प्रवृत्ति न होती. **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से सुँप् का लुक् ही होता जो अनिष्ट था। अतः समासान्त टच् का विधान कर इसे अदन्त बना कर 'उपशरदम्' यह अभीष्ट रूप सिद्ध किया गया है।

शरत्प्रभृति का दूसरा उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—विपाशं प्रति प्रतिविपाशम् (व्यासनदी के सम्मुख)। अलौकिकविग्रह—विपाश् अम्+प्रति। यहां अलौकिकविग्रह में 'प्रति' अव्यय आभिमुख्य अर्थ में वर्त्तमान है अतः **लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये** (२.१.१३) द्वारा 'प्रति' का लक्षणवाची 'विपाश् अम्' सुँबन्त के साथ विकल्प से अव्ययीभावसमास हो जाता है। समास में प्रथमानिर्दिष्ट से बोध्य 'प्रति' की उपसर्जनसञ्ज्ञा, उस का पूर्वनिपात तथा समास की प्रातिपदिकसंज्ञा होकर उस के अवयव सुँप् (अम्) का लुक् कर देने से 'प्रतिविपाश्' निष्पन्न होता है। विपाश् शब्द शरत्प्रभृति में पढ़ा गया है अतः **अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः** (९१७) सूत्रद्वारा इस से समासान्त टच् (अ) प्रत्यय करने पर—प्रतिविपाश्+अ=प्रतिविपाश। अब प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय लाने पर **नाऽव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः** (९१२) से उसे अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने से 'प्रतिविपाशम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]। इसी तरह समीप अर्थ में—विपाशः समीपम् उपविपाशम्। यहां पर भी समासान्त टच् हो जाता है।

जराया जरस् च—यह गणसूत्र शरत्प्रभृतियों में पढ़ा गया है। इस का अभिप्राय यह है कि अव्ययीभावसमास में जराशब्द से समासान्त टच् करने पर 'जरा' को 'जरस्' आदेश भी हो जाता है। **जराया जरसन्यतरस्याम्** (१६१) सूत्रद्वारा अजादि विभक्तियों में जरा को जरस् आदेश विधान किया जाता है (वह भी विकल्प से)। यहां टच् प्रत्यय अजादि तो है पर विभक्तिसंज्ञक नहीं अतः इस के परे रहते जरा को विकल्प से भी जरस् प्राप्त न था। इस गणसूत्र से इस का पुनः नित्य विधान किया जा रहा है। यहां यह भी ध्यातव्य है कि जरा के स्थान पर होने वाला यह जरस् आदेश अनेकाल् होने से **अनेकाल्शित्सर्वस्य** (४५) सूत्रद्वारा सर्वादेश होगा। उदाहरण यथा—

---

१. कुछ लोग लघु-सिद्धान्त-कौमुदी में **लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये** (२.१.१३) इस समासविधायकसूत्र के पठित न होने के कारण 'यथा' के अर्थ वीप्सा में 'विपाशं विपाशं प्रति प्रतिविपाशम्' ऐसा विग्रह दर्शाते हुए **अव्ययं विभक्ति-समीप०** (९०८) सूत्र से समास का विधान करते हैं। परन्तु हम ने उपर्युक्त सूत्र पीछे सप्तसूत्री की व्याख्या के प्रसङ्ग में व्याख्यात कर दिया है, इस से विद्यार्थियों को किसी भी प्रकार की असुविधा नहीं हो सकती। वस्तुतः लघुकौमुदीकार यदि यहां 'उपविपाशम्' उदाहरण प्रदर्शित करते तो अधिक अच्छा होता।

लौकिकविग्रह—जरायाः समीपम् उपजरसम् (बुढ़ापे के निकट)। अलौकिक-विग्रह—जरा ङस्+उप। यहां समीप अर्थ में 'उप' अव्यय का 'जरा ङस्' के साथ **अव्ययं विभक्ति-समीप०** (९०८) द्वारा नित्य अव्ययीभावसमास हो कर उपसर्जन-सञ्ज्ञक 'उप' का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, तथा उसके अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् करने पर 'उपजरा' हुआ। अब **अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः** (९१७) से समासान्त टच् प्रत्यय हो कर उस के परे रहते **जराया जरस् च** इस गणसूत्रद्वारा जरा को जरस् सर्वादेश हो जाता है—उपजरस्+अ=उपजरस। प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ को अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'उपजरसम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। उपजरसं प्रभवन्ति दोषाः (बुढ़ापा निकट आने पर शरीर में दोष उत्पन्न हो जाते हैं)। जरायाम् इत्यधिजरसम्। अधिजरसम्प्रायोऽवज्ञायते पुरुषः (बुढ़ापे में पुरुष प्रायः अवमानना प्राप्त करता है)।

इसीप्रकार—उपानहोरित्यध्युपानहम्। अध्युपानहं पादौ सुरक्षितौ तिष्ठतः (जूतों में पाँव सुरक्षित रहते हैं)। हिमवतीत्यधिहिमवतम्। अधिहिमवतं दिव्या ओषधयः समुपलभ्यन्ते। उपहिमवतं मुनीनामासन् सुरम्या आश्रमाः। दृशोः समीपे उप-दृशम्। दिशं दिशं प्रति प्रतिदिशम्। प्रत्यनडुहम्। आ हिमवत आहिमवतम्।

शरत्प्रभृतिगण यथा—

शरद्। विपाश्। अनस्। मनस्। उपानह्। दिव्। हिमवत्। अनडुह्। दिश्। दृश्। विश्। चेतस्। चतुर्। त्यद्। तद्। यद्। कियत्। **जराया जरस् च** (गणसूत्रम्)। **प्रति-पर-समनुभ्योऽक्ष्णः**[1] (गणसूत्रम्)॥[2]

अब अन्नन्त अव्ययीभाव से समासान्त टच् का विधान करते हैं

---

१. प्रति, पर, सम्, अनु—इन से परे अक्षिशब्द हो तो तदन्त अव्ययीभाव से परे समासान्त टच् प्रत्यय हो जाता है। यथा—अक्षि अक्षि प्रति प्रत्यक्षम् ['प्रत्यक्षि +अ' इस दशा में **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक इकार का लोप हो जाता है]। अक्ष्णः परम् परोक्षम्। यहां अव्ययीभावसमास का विधान यद्यपि कोई सूत्र नहीं करता तथापि समासान्तविधानसामर्थ्य से अव्ययीभावसमास हो जाता है। **परोक्षे लिट्** (३९१) निर्देश के कारण 'पर' शब्द के अन्त्य अकार को ओकार हो कर 'परो+अक्ष' में **एङः पदान्तादति** (४३) से पूर्वरूप एकादेश हो जाता है। अक्ष्णोर्योग्यम् समक्षम्। अक्ष्णः समीपमिति वा विग्रहः। अक्ष्णोः पश्चाद् अन्वक्षम्।

२. इन शब्दों में जो झय्प्रत्याहारान्त शब्द पढ़े गये हैं, तदन्त अव्ययीभाव से **झयः** (९२१) सूत्रद्वारा वैकल्पिक टच् प्राप्त होता था, उन से नित्य टच् के विधानार्थ इस गण में उन का पाठ किया गया है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९१८) **अनश्च** ।५।४।१०८॥

अन्नन्तादव्ययीभावात् समासान्तष्टच् स्यात् ॥

अर्थः—'अन्' जिस के अन्त में हो ऐसे अव्ययीभावसमास से परे तद्धितसञ्ज्ञक टच् समासान्त प्रत्यय हो ।

व्याख्या—अनः ।५।१। च इत्यव्ययपदम् । अव्ययीभावात् ।५।१। (**अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः** से विभक्तिविपरिणामद्वारा) । टच् ।१।१। (**राजाहःसखिभ्यष्टच्** से) । **प्रत्ययः**, **परश्च**, **तद्धिताः**, **समासान्ताः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं । 'अनः' यह 'अव्ययीभावात्' का विशेषण है । विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'अन्नन्तादव्ययीभावात्' बन जाता है । अर्थः—(अनः=अन्नन्तात्) अन् जिस के अन्त में हो ऐसे (अव्ययीभावात्) अव्ययीभाव से परे (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (टच्) टच् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है और वह (समासान्तः) समास का अन्तिम अवयव होता है । उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—राज्ञः समीपम् उपराजम् (राजा के पास) । अलौकिकविग्रह—राजन् ङस्+उप । यहां अलौकिकविग्रह में समीपवाचक 'उप' अव्यय का 'राजन् ङस्' इस सुँबन्त के साथ **अव्ययं विभक्ति-समीप०** (९०८) सूत्रद्वारा नित्य अव्ययीभाव-समास हो कर 'उप' की उपसर्जनसंज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) सूत्र से उस के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् करने पर—उपराजन् । यहां अव्ययीभाव के अन्त में 'अन्' शब्द है अतः प्रकृत **अनश्च** (९१८) सूत्रद्वारा इस से परे तद्धितसञ्ज्ञक समासान्त टच् (अ) प्रत्यय करने पर अनुबन्धों का लोप हो कर 'उपराजन्+अ' हुआ । अब अजादि तद्धितप्रत्यय टच् (अ) के परे रहते **यचि भम्** (१६५) सूत्र से पूर्व की भसञ्ज्ञा हो कर **अल्लोपोऽनः** (२४७) से भसंज्ञक अन् के अकार का लोप प्राप्त होता है । इस पर उस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९१९) **नस्तद्धिते** ।६।४।१४४॥

नान्तस्य भस्य टेर्लोपस्तद्धिते । उपराजम् । अध्यात्मम् ॥

अर्थः— तद्धित परे होने पर नकारान्त भसंज्ञक की टि का लोप हो जाता है ।

व्याख्या—नः ।६।१। तद्धिते ।७।१। भस्य ।६।१। (यह अधिकृत है) । टेः ।६।१। (**टेः** सूत्र से) । लोपः ।१।१। (**अल्लोपोऽनः** से) । 'नः' यह 'भस्य' का विशेषण है, अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'नकारान्तस्य भस्य' बन जाता है । अर्थः—(तद्धिते) तद्धित परे होने पर (नः=नकारान्तस्य) नकारान्त (भस्य) भसंज्ञक की (टेः) टि का (लोपः) लोप हो जाता है ।

'उपराजन्+अ' यहां तद्धित टच् (अ) प्रत्यय परे है, 'उपराजन्' यह नकारान्त भसंज्ञक है । अतः इस की टि (अन्) का प्रकृत **नस्तद्धिते** (९१९) सूत्र से लोप हो कर —**उपराज्+अ**='उपराज' बना । अब प्रातिपदिकसंज्ञा के कारण इस से स्वादियों

की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर उसे **नाव्ययीभावादतोऽम्०** (६१२) से अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) सूत्रद्वारा पूर्वरूप करने पर 'उपराजम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]।

दूसरा उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—आत्मनि इति अध्यात्मम् (आत्मा में, आत्मा के विषय में)। अलौकिकविग्रह—आत्मन् ङि+अधि। यहां अलौकिकविग्रह में विभक्त्यर्थ (अधिकरण) में वर्त्तमान 'अधि' अव्यय का 'आत्मन् ङि' इस सुँबन्त के साथ **अव्ययं विभक्ति०** (६०८) सूत्रद्वारा नित्य अव्ययीभावसमास हो कर 'अधि' की उपसर्जनसंज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, उस के अवयव सुँप् (ङि) का लुक् तथा **इको यणचि** (१५) से यण् करने पर—अध्यात्मन्। यहां अव्ययीभाव के अन्त में 'अन्' विद्यमान है अतः **अनश्च** (६१८) सूत्रद्वारा इस से परे समासान्त टच् (अ) प्रत्यय तथा **यचि भम्** (१६५) से पूर्व की भसंज्ञा कर **नस्तद्धिते** (६१९) से टि (अन्) का लोप किया तो—अध्यात्म्+अ='अध्यातम' बना। अब समग्र समुदाय के प्रातिपदिकत्व के कारण विभक्त्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर **नाव्ययीभावादतोऽम्०** (६१२) से उसे अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) सूत्रद्वारा पूर्वरूप करने पर 'अध्यात्मम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—राज्ञि इत्यधिराजम्। आत्मनः समीपम् उपात्मम्। अध्वनि इत्यध्यध्वम् (माघ० १२.३०)। युवानं प्रति प्रतियुवम् (माघ० १२.३०)। राज्ञा युगपत् सराजम्, **अगात् सराजं बलमध्वनीनम्** (भट्टि० २.४९)। मूर्ध्नि इत्यधिमूर्धम्। तक्ष्णः समीपम् उपतक्षम् इत्यादि।

अव्ययीभावसमास में उत्तरपद यदि अन्नन्त नपुंसक हो तो उस से परे समासान्त टच् का वैकल्पिक विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९२०) नपुंसकादन्यतरस्याम्।५।४।१०९॥

अन्नन्तं यत् क्लीबं तदन्तादव्ययीभावाट् टज्वा स्यात्। उपचर्मम्। उपचर्म॥

अर्थः—अव्ययीभाव के अन्त में यदि अन्नन्त नपुंसक शब्द हो तो उस अव्ययीभाव से परे तद्धितसंज्ञक समासान्त टच् प्रत्यय विकल्प से हो।

---

१. ननु 'उपराजम्' इत्यत्र **नस्तद्धिते** (९१९) इति व्यर्थम्, **अव्ययानां भमात्रे टिलोपः** (वा०) इति टिलोपेनैव सिद्धेः। न चाऽव्ययत्वं टज्विशिष्टे स्थितमिति वाच्यम्, अव्ययीभावसंज्ञाया उपजीव्यत्वेन टचः पूर्वभागस्याव्ययत्वाऽनपायादिति। अत्राहुः—टचः समासान्तत्वात् तद्विधानसमकालमेव पूर्वस्याऽव्ययीभावत्वं निवर्त्तते, तन्निवर्त्तनाच्च अव्ययत्वमप्यपैति। तेन टिलोपस्याऽप्रवृत्तेरनेन सूत्रेण तद्विधानमिति बोध्यम्।

व्याख्या—नपुंसकात् ।५।१। अन्यतरस्याम् ।७।१। अनः ।५।१। (**अनश्च** से)। अव्ययीभावात् ।५।१। (**अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः** से विभक्तिविपरिणामद्वारा)। टच् ।१।१। (**राजाहःसखिभ्यष्टच्** से)। **प्रत्ययः**, **परश्च**, **तद्धिताः**, **समासान्ताः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। 'अनः' यह 'नपुंसकात्' का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि हो कर 'अन्नन्ताद् नपुंसकात्' बन जाता है। 'नपुंसकात्' यह भी 'अव्ययीभावात्' का विशेषण है अतः इस से भी तदन्तविधि हो कर—'अन्नन्तं यद् नपुंसकं तदन्ताद् अव्ययीभावात्' ऐसा उपलब्ध हो जाता है[1]। **अर्थः**—(अनः) अन्नन्त (नपुंसकात्) जो नपुंसक प्रातिपदिक तदन्त (अव्ययीभावात्) अव्ययीभाव से परे (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (समासान्तः) समासान्त (टच्, प्रत्ययः) टच् प्रत्यय (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में हो जाता है। दूसरी अवस्था में न होने से विकल्प सिद्ध हो जाता है। यह सूत्र **अनश्च** (९१८) सूत्र का अपवाद है। उस सूत्र से नपुंसक-अनपुंसक सब अन्नन्तों में टच् नित्य प्राप्त था परन्तु यह सूत्र नपुंसक के विषय में विकल्प से टच् का विधान करता है। इस प्रकार नपुंसकभिन्न अन्नन्तों में उस सूत्र की प्रवृत्ति और नपुंसकों में इस सूत्र की प्रवृत्ति होगी। उदाहरण **यथा**—

लौकिकविग्रह—चर्मणः समीपम् **उपचर्मम्** उपचर्म **वा** (चमड़े के समीप)। अलौकिकविग्रह—चर्मन् ङस्+उप। यहां अलौकिकविग्रह में समीप अर्थ में वर्त्तमान 'उप' अव्यय का '**चर्मन्** ङस्' इस सुँबन्त के साथ **अव्ययं विभक्ति-समीप०** (९०८) सूत्र द्वारा नित्य अव्ययीभावसमास हो जाता है। समास में 'उप' की उपसर्जनसञ्ज्ञा, उस का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा उस के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् करने पर—उपचर्मन्। इस अव्ययीभाव के अन्त में '**चर्मन्**' यह अन्नन्त नपुंसक शब्द विद्यमान है अतः **अनश्च** (९१८) सूत्र से प्राप्त नित्य टच् का बाध कर प्रकृत **नपुंसकादन्यतरस्याम्** (९२०) सूत्रद्वारा टच् की वैकल्पिक प्रवृत्ति हो जाती है। टच्-पक्ष में 'उपचर्मन्+अ' इस स्थिति में उपचर्मन् की **यचि भम्** (१६५) से भसंज्ञा कर **नस्तद्धिते** (९१९) द्वारा उस की टि (अन्) का लोप करने से 'उपचर्म' ऐसा अदन्त अव्ययीभाव बन जाता है। इस से प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में 'सुँ' प्रत्यय ला कर **नाऽव्ययीभावादतोऽम् त्वपञ्चम्याः** (९१२) से उसे अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) द्वारा पूर्वरूप करने पर 'उपचर्मम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। जिस पक्ष में समासान्त टच् नहीं होता वहां 'उपचर्मन्' से सुँ विभक्ति ला कर उस का **अव्ययादाप्सुपः** (३७२) से लुक् हो पदान्त नकार का भी **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) द्वारा लोप हो जाता है— उपचर्म। इस प्रकार 'उपचर्मम्' तथा' उपचर्म' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

---

१. यदि 'नपुंसकात्' से तदन्तविधि नहीं करेंगे तो इस का ग्रहण करना ही व्यर्थ हो जायेगा क्योंकि अव्ययीभावसमास तो **अव्ययीभावश्च** (९११) सूत्र से स्वतः नपुंसक है ही पुनः नपुंसक विशेषण लगाने का क्या प्रयोजन ?

इसीप्रकार—धाम्नः समीपम् उपधामम् उपधाम वा (घर के पास)। अधिसामम् अधिसाम वा। अनुलोमम् अनुलोम वा। प्रतिकर्मम् प्रतिकर्म वा। भस्मनः समीपम् उपभस्मम् उपभस्म वा। अहनि अहनि प्रत्यहम् प्रत्यहर्वा। यहां **रोऽसुँपि** (११०) से अहन् के नकार को रेफ आदेश हो जाता है।

अब झयन्त अव्ययीभाव से परे भी टच् का विकल्प से विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९२१) **झयः** ।५।४।१११॥

झयन्तादव्ययीभावाट् टज्वा स्यात्। उपसमिधम्। उपसमित्॥

अर्थः—झय् प्रत्याहार अर्थात् वर्गों के प्रथम द्वितीय तृतीय और चतुर्थ वर्ण जिस के अन्त में हों ऐसे अव्ययीभावसमास से परे तद्धितसञ्ज्ञक समासान्त टच् प्रत्यय विकल्प से हो।

व्याख्या—झयः ।५।१। अव्ययीभावात् ।५।१। (**अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः** से विभक्तिविपरिणामद्वारा)। टच् ।१।१। (**राजाहःसखिभ्यष्टच्** से)। अन्यतरस्याम् ।७।१। (**नपुंसकादन्यतरस्याम्** से)। **प्रत्ययः, परश्च, तद्धिताः, समासान्ताः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। 'झयः' यह 'अव्ययीभावात्' का विशेषण है, विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'झयन्ताद् अव्ययीभावात्' बन जाता है। झय् एक प्रत्याहार है, वर्गों के चतुर्थ, तृतीय, द्वितीय और प्रथम वर्ण इस के अन्तर्गत हुआ करते हैं। अर्थः—(झयः=झयन्तात्) झय्प्रत्याहारान्तर्गत वर्ण जिस के अन्त में हों ऐसे (अव्ययीभावात्) अव्ययीभावसमास से परे (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (समासान्तः) समासान्त (टच् प्रत्ययः) टच् प्रत्यय (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में हो जाता है। दूसरी अवस्था में नहीं होता, इस तरह विकल्प सिद्ध हो जाता है। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—समिधः समीपम् उपसमिधम् उपसमिद् वा (समिधा=यज्ञकाष्ठ के पास)। अलौकिकविग्रह—समिध् ङस्+उप। यहां अलौकिकविग्रह में समीप अर्थ में विद्यमान 'उप' अव्यय का 'समिध् ङस्' इस सुँबन्त के साथ **अव्ययं विभक्तिसमीप०** (९०८) सूत्रद्वारा नित्य अव्ययीभावसमास हो कर 'उप' की उपसर्जनसंज्ञा, उस का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा उस के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् करने पर 'उपसमिध्' बना। इस अव्ययीभाव के अन्त में झय् वर्ण धकार विद्यमान है अतः प्रकृत **झयः** (९२१) सूत्र से समासान्त टच् प्रत्यय विकल्प से हो जायेगा। टच्पक्ष में अनुबन्धों का लोप हो कर—उपसमिध्+अ=उपसमिध। प्रातिपदिकत्वात् प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँप्रत्यय ला कर उसे अम् आदेश तथा पूर्वरूप करने से 'उपसमिधम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। टच् के अभाव में 'उपसमिध्' से सुँ प्रत्यय लाने पर **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से उस का लुक् कर जश्त्व-चर्त्व करने से 'उपसमित्-उपसमिद्' ये दो रूप सिद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार टच्पक्ष में 'उपसमिधम्' तथा टच् के अभाव से 'उपसमित्-उपसमिद्' रूप सिद्ध होते हैं।

इसीप्रकार—दृषदः समीपम् उपदृषदम् उपदृषद् वा (शिला के पास)।

स्रुचः समीपम् उपस्रुचम् उपस्रुग्वा (स्रुवा के पास)। स्रजि इत्यधिस्रजम् अधिस्रग्वा (माला में)। ककुभि इत्यधिककुभम् अधिककुब्वा (दिशा में)। मरुतं प्रति प्रतिमरुतं प्रतिमरुद्वा (वायु के अभिमुख)।

अव्ययीभाव से समासान्त का विधान करने वाले दो अन्य सूत्र भी यहां छात्रों के लिये उपयोगी रहेंगे—

[१] **गिरेश्च सेनकस्य** ।५।४।११२॥

अर्थः—गिरिशब्दान्त अव्ययीभाव से परे विकल्प से समासान्त टच् प्रत्यय हो जाता है। उदाहरण यथा—गिरेः समीपम् उपगिरम् उपगिरि वा (पर्वत के समीप)। उपगिरि+अ (टच्) में **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक इकार का लोप हो जाता है। उपगिरं मुनेराश्रमः। गिरिषु इत्यन्तर्गिरम् अन्तर्गिरि वा। अन्तर्गिरं धातवो भवन्ति।

[२] **नदी-पौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः** ।५।४।११०॥

अर्थः—नदी, पौर्णमासी या आग्रहायणी—ये शब्द जिस अव्ययीभाव के अन्त में हों उस से परे विकल्प से टच् समासान्त हो जाता है। उदाहरण यथा—नद्याः समीपम् उपनदम् उपनदि वा (नदी के निकट)। टच्पक्ष में **यस्येति च** (२३६) द्वारा भसञ्ज्ञक ईकार का लोप हो जाता है। टच् के अभाव में नपुंसकह्रस्व हो कर **अव्ययादाप्सुपः** (३७२) से सुँब्लुक्। इसीप्रकार—पौर्णमास्याः समीपम् उपपौर्णमासम् उपपौर्णमासि वा (पूर्णिमा के निकट)। आग्रहायण्याः समीपम् उपाग्रहायणम् उपाग्रहायणि वा (अगहनमास की पौर्णमासी के निकट)।

अव्ययीभाव के समासान्तों का संक्षिप्त सार

(क) अव्ययीभाव का मुख्य समासान्त प्रत्यय टच् (अ) है।

(ख) शरदादिशब्दान्त अव्ययीभाव से नित्य समासान्त टच् होता है।

(ग) जराशब्दान्त अव्ययीभाव से नित्य समासान्त टच् के साथ-साथ जरा को जरस् सर्वादेश भी हो जाता है।

(घ) अन्नन्त अव्ययीभाव से परे नित्य समासान्त टच् होता है।

(ङ) यदि उत्तरपद अन्नन्त नपुंसक हो तो उस अव्ययीभाव से परे समासान्त टच् विकल्प से होता है।

(च) झय्वर्णान्त अव्ययीभाव से समासान्त टच् विकल्प से होता है।

(छ) गिरि, नदी, पौर्णमासी, आग्रहायणी—ये शब्द उत्तरपद में हों तो उस अव्ययीभाव से समासान्त टच् विकल्प से होता है।

(ज) टच् परे रहते पूर्व की भसंज्ञा हो कर भसंज्ञक इकार, ईकार या अन् का लोप हो जाता है।

अभ्यास [२]

(१) निम्नस्थ प्रश्नों का समुचित उत्तर दीजिये—

[क] अव्ययीभाव को नपुंसक और अव्यय दोनों मानने का क्या कारण है ?

[ख] टच् आदि प्रत्ययों को समासान्त क्यों माना जाता है ?

[ग] 'विष्णोः पश्चात्' में 'पश्चात्' का अव्ययीभावसमास क्यों नहीं होता ?

[घ] 'शक्तिमनतिक्रम्य' में 'अनतिक्रम्य' का भाव क्या है ?

[ङ] 'पञ्चगङ्गम्' आदि में द्विगुसमास से काम क्यों नहीं चल सकता ?

(२) निम्नस्थों में सोदाहरण अन्तर समझाइये—

[क] समृद्धि और सम्पत्ति ।

[ख] अर्थाभाव और अत्यय ।

[ग] व्यृद्धि और अर्थाभाव ।

[घ] साकल्य और अन्त ।

(३) अव्ययीभाव के मुख्य समासान्त टच् प्रत्यय पर सारगर्भित एक टिप्पण लिखें ।

(४) समासान्तों को 'तद्धिताः' के अधिकार में पढ़ने का क्या प्रयोजन है ?

(५) 'अव्ययं विभक्ति०' सूत्र की व्याख्या करते हुए 'वचन' के ग्रहण का प्रयोजन स्पष्ट करें ।

(६) 'उपकृष्ण' इस अव्ययीभाव की सब विभक्तियों में रूपमाला लिखें ।

(७) प्रथमानिर्दिष्टम्० सूत्र में प्रथमानिर्दिष्ट से क्या अभिप्राय है ?

(८) निम्नस्थ संज्ञाओं के विधायक सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—
उपसर्जन, तद्धित, अव्ययीभाव, समासान्त ।

(९) दोनों 'अव्ययीभावश्च' सूत्रों का सोदाहरण अर्थ लिखें ।

(१०) निम्नस्थ सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—
नाऽव्ययीभावादतोऽम्०, तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्, अव्ययीभावे चाऽकाले, नदीभिश्च, नस्तद्धिते, झयः, अनश्च, अव्ययीभावे शरत्०, सुँप्रतिना मात्रार्थे, आङ् मर्यादाभिविध्योः, नपुंसकादन्यतरस्याम्, जराया जरस् च, प्रतिपरसमनुभ्योऽक्ष्णः, अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या ।

(११) निम्नलिखित लौकिकविग्रहों से बनने वाले अव्ययीभावसमासों की ससूत्र सिद्धि करें—
जरायाः समीपम्, दिशि दिशि, शक्तिमनतिक्रम्य, गोपि, ज्येष्ठस्यानुपूर्व्येण, चक्रेण युगपत्, अक्ष्णः परम्, शरदः समीपम्, तृणमप्यपरित्यज्य, आत्मनि, गङ्गायाः पारम्, शाकस्य लेशः, गिरेः समीपम्, द्वयोर्मुन्योः समाहारः, विपाशं प्रति, यावन्तः श्लोकास्तावन्तः, ग्रामाद् बहिः, अप त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः ।

(१२) लौकिक-अलौकिक दोनों विग्रह दर्शाते हुए अधोलिखित अव्ययीभाव-समासों की ससूत्र सिद्धि करें—

१. अतिहिमम् । २. साग्न्यधीते । ३. समखि । ४. सक्षत्त्रम् । ५. उपराजम् । ६. दुर्यवनम् । ७. प्रत्यहम् । ८. अधिहरि । ९. उपकृष्णेन । १०. अनुविष्णु । ११. अतिनिद्रम् । १२. निर्मक्षिकम् । १३. सुमद्रम् । १४. उपचर्म । १५. आकुमारं यशः पाणिनेः । १६. उन्मत्तगङ्गम् । १७. अनुरूपम् । १८. उपपौर्णमासम् । १९. प्रत्यक्षम् । २०. अन्तर्गिरम् । २१. इतिहरि ।

(१३) 'यथा' अव्यय के उन चार अर्थों की सोदाहरण व्याख्या करें जिन में अव्ययीभावसमास का विधान हुआ करता है ।

(१४) 'ग्रामं समया' यहां समीपार्थ में अव्ययीभावसमास होगा या नहीं ? सहेतुक स्पष्ट करें ।

(१५) हेतुनिर्देशपूर्वक अशुद्धियों का शोधन कीजिये—

[क] सहसखि कृष्ण आयाति ।[1]

[ख] प्रत्येकस्य प्रश्नस्योत्तरं ब्रूहि ।[2]

[ग] जलमधिशरदि निर्मलम्भवति ।[3]

[घ] कुचैलानां धारणेन अधिचर्मणि रोगा उद्भवन्ति ।[4]

[ङ] ग्रामं प्रागाश्रमः ।[5]

[च] उपराज्ञो वर्त्तन्ते चाटुकाराः ।[6]

[छ] नगरं बहिः कूपोऽस्माकम् ।[7]

---

१. सदृश सख्या ससखि । **अव्ययीभावे चाऽकाले** (९१४) इति सहस्य सादेश उचितः ।

२. एकमेकम्प्रति प्रत्येकम् । वीप्सायामव्ययीभावः । प्रत्येकं प्रश्नानामुत्तरं ब्रूहीति साधु ।

३. अधिशरदमिति साधु । समासे शरदादित्वात्समासान्तष्टच् । ततः सोरमि अधिशरदमिति ।

४. चर्मणीत्यधिचर्मम् अधिचर्म वा । विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावे **नपुंसकादन्यतरस्याम्** (९२०) इति वा टच् । टचि टेर्लोपे सोरमि पूर्वरूपे च अधिचर्ममिति । टचोऽभावे सोर्लुकि नकारलोपे च 'अधिचर्म' इति ।

५. समासे प्राग्ग्राममिति । **अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या** (२.१.११) इति अव्ययीभाव-विकल्पः । व्यस्ते ग्रामात् प्रागिति भवितव्यम् ।

६. राज्ञः समीपम् उपराजम् । तस्मिन् उपराजे, उपराजं वा । **अनश्च** (९१८) इति टचि **नस्तद्धिते** (९१९) इति टेर्लोपः ।

७. व्यस्ते नगराद् बहिरिति । समासे 'बहिर्नगरम्' इत्युचितम् ।

[ज] उपगिरेर्मुनेराश्रमः ।[1]

[झ] अधिजरं व्याधय उत्पद्यन्ते ।[2]

[ञ] प्रतिदिनस्यायङ् कार्यक्रमः ।[3]

[ट] आकुमारेभ्यो यशः पाणिनेः ।[4]

[ठ] अधिमूर्ध्नि वहेच्छत्त्रं यावत्कार्यं न सिध्यति ।[5]

[लघु०] **इत्यव्ययीभावः**

यहां पर अव्ययीभावसमास का विवेचन समाप्त होता है ।

——:०:——

अथ तत्पुरुषसमासः

यहां से आगे तत्पुरुषसमास का प्रकरण प्रारम्भ किया जा रहा है । तत्पुरुषसमास में उत्तरपद के अर्थ की प्रायः प्रधानता हुआ करती है । यथा—'राजपुरुषः' में षष्ठीतत्पुरुषसमास है, यहां उत्तरपद 'पुरुष' के अर्थ की ही प्रधानता है । 'राजपुरुषमानय' ऐसा कहने पर पुरुष को ही लाया जाता है राजा को नहीं । यह सब पीछे स्पष्ट किया जा चुका है । अब सर्वप्रथम तत्पुरुषसमास का अधिकार चलाते हैं—

[लघु०] अधिकारसूत्रम्—(९२२) **तत्पुरुषः ।२।१।२१।।**

अधिकारोऽयम्प्राग्बहुव्रीहेः ।।

---

१. गिरेः समीपम् उपगिरम् उपगिरि वा । तस्मिन् उपगिरम् उपगिरे उपगिरि वेति युक्तम् । **गिरेश्च सेनकस्य** (५.४.११२) इति वा टच् समासान्तः । टचि **यस्येति च** (२३६) इति भस्येकारस्य लोपः ।

२. जरायाम् इत्यधिजरसम् । शरदादित्वाट् टचि **जरायाः जरस् च** इति गणसूत्रेण जराशब्दस्य जरसादेशः ।

३. दिने दिने प्रतिदिनम् । वीप्सायामव्ययीभावः । ततो विभक्तेरमादेशः ।

४. समासे आकुमारमिति । व्यस्ते 'आ कुमारेभ्यः' इत्युचितम् । **आङ् मर्यादाऽभिविध्योः** (२.१.१२) इत्यव्ययीभावविकल्पः ।

५. **अनश्च** (९१८) इति समासान्ते टचि **नस्तद्धिते** (९१९) इति टेर्लोपे अधिमूर्धमिति ।

अर्थः—अष्टाध्यायी में यहां से आगे **शेषो बहुव्रीहिः** (२.२.२३) सूत्र तक जो समास कहा जायेगा उस की तत्पुरुषसञ्ज्ञा होगी[1]।

व्याख्या—तत्पुरुषः ।१।१। समासः ।१।१। (**प्राक्कडारात्समासः** से)। यह अधिकारसूत्र है। इस का अधिकार **शेषो बहुव्रीहिः** (२.२.२३) सूत्र तक जाता है। अर्थः—यहां से आगे जो (समासः) समास कहा जायेगा वह (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसंज्ञक होगा। तात्पर्य यह है कि **शेषो बहुव्रीहिः** (२.२.२३) सूत्र से पूर्व पूर्व विधान किये गये समास की तत्पुरुषसञ्ज्ञा रहेगी।

अग्रिमसूत्रद्वारा द्विगुसमास की भी तत्पुरुषसंज्ञा विधान करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(९२३) **द्विगुश्च** ।२।१।२२।।

द्विगुरपि तत्पुरुषसञ्ज्ञकः स्यात् ।।

अर्थः—द्विगुसमास भी तत्पुरुषसञ्ज्ञक हो।

व्याख्या—द्विगुः ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। तत्पुरुषः ।१।१। (पीछे से अधिकृत है)। अर्थः—(द्विगुः) द्विगुसमास (च) भी (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसञ्ज्ञक होता है।

आगे चल कर तत्पुरुष के अधिकार में **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३६) सूत्रद्वारा त्रिविध समास का विधान किया गया है। इस त्रिविध समास में पूर्वपद यदि संख्यावाचक हो तो **संख्यापूर्वो द्विगुः** (९४१) द्वारा उस समास की द्विगुसञ्ज्ञा हो जाती है। **आ कडारादेका संज्ञा** (१६६) सूत्रद्वारा 'एक की एक ही संज्ञा हो' इस अधिकार के कारण द्विगुसञ्ज्ञा से तत्पुरुषसञ्ज्ञा का बाध प्राप्त होता था। परन्तु हमें द्विगु की तत्पुरुषसंज्ञा रखनी भी अभीष्ट है, अतः इस विशेष सूत्र से द्विगु की तत्पुरुषसंज्ञा का विधान किया गया है। इस प्रकार इस एकसञ्ज्ञा के अधिकार में भी द्विगु और तत्पुरुष दोनों सञ्ज्ञाएं उपर्युक्त समास की बनी रहेंगी। द्विगुसमास की तत्पुरुषसञ्ज्ञा करने का प्रयोजन **राजाहःसखिभ्यष्टच्** (९५८) आदि के द्वारा तत्पुरुषसमास से विधीयमान टच् आदि समासान्त प्रत्ययों का द्विगु से भी विधान किया जाना है। यथा—पञ्चानां राज्ञां समाहारः पञ्चराजम् (पाञ्च राजाओं का समूह)। यहां द्विगुसमास में तत्पुरुष से विधान होने वाला समासान्त टच् प्रत्यय प्रवृत्त हो कर **नस्तद्धिते** (९१९) से टि का लोप करने से **स नपुंसकम्** (९४३) के अनुसार नपुंसक में उपर्युक्त रूप सिद्ध हो जाता

---

१. तस्य पुरुषः तत्पुरुषः। 'तत्पुरुष' शब्द अपने आप में तत्पुरुषसमास का एक सुन्दर उदाहरण है। इस प्रकार के अन्य सब समासों को भी इसी के नाम पर 'तत्पुरुष' कह दिया गया है। जैसाकि प्रक्रियासर्वस्व में नारायणभट्ट लिखते हैं—

स्यात् तस्य पुरुषस्तत्पुरुषः षष्ठीसमासतः।
तेन तज्जातिजाः सर्वे कृद्वत् तत्पुरुषा मताः ॥

(प्रक्रियासर्वस्व, तद्धितखण्ड, पृष्ठ ६०)

है[1]। इसीप्रकार—द्वयोरङ्गुल्योः समाहारो द्व्यङ्गुलम्। यहां **तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्या-ऽव्ययादेः** (६५५) सूत्रद्वारा तत्पुरुषसमास से विधान होने वाला समासान्त **अच्** प्रत्यय द्विगुसमास से भी प्रवृत्त हो जाता है।

अब तत्पुरुषसमास का प्रकरण प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम द्वितीयातत्पुरुष का विधान करते हैं।[2]

[लघु०] विधि-सूत्रम्— **(६२४) द्वितीया श्रिताऽतीत-पतित-गता-ऽत्यस्त-प्राप्ताऽऽपन्नैः ।२।१।२३।।**

द्वितीयान्तं श्रितादिप्रकृतिकैः[3] सुँबन्तैः सह समस्यते वा, स च तत्पुरुषः। कृष्णं श्रितः कृष्णश्रित इत्यादि ।।

अर्थः—द्वितीयान्त सुँबन्त, श्रित आदि प्रकृति वाले सुँबन्तों के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

व्याख्या—द्वितीया ।१।१। श्रिताऽतीत-पतित-गताऽत्यस्त-प्राप्ताऽऽपन्नैः ।३।३। सुँबन्तैः ।३।३। (**सह सुँपा** से 'सुँपा' की अनुवृत्ति आ कर तदन्तविधि तथा वचनविपरिणामद्वारा)। विभाषा ।१।१ (पीछे से अधिकृत है)। सुँप्, **समासः**, **तत्पुरुषः**—ये सब पीछे से आ रहे हैं। श्रितश्च अतीतश्च पतितश्च गतश्च अत्यस्तश्च प्राप्तश्च आपन्नश्च श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नाः, तैस्तथोक्तैः। इतरेतरद्वन्द्वसमासः। 'श्रितातीत—प्राप्तापन्नैः' का 'सुँबन्तैः' के साथ सामानाधिकरण्य कैसे सम्भव हो सकता है? क्योंकि जो श्रित आदि हैं वे सुँबन्त नहीं और जो सुँबन्त हैं वे श्रित आदि नहीं। अतः श्रितादि शब्दों को तत्प्रकृतिक अर्थों में यहां लाक्षणिक समझना चाहिये, इस से 'श्रितादिप्रकृतिकैः सुँबन्तैः' यह अर्थ प्राप्त हो जाता है। 'द्वितीया' पद भी पीछे से आ रहे 'सुँप्=सुँबन्तम्' पद का विशेषण है अतः तदन्तविधिद्वारा 'द्वितीयान्तं सुँबन्तम्' ऐसा उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(द्वितीया=द्वितीयान्तम्) द्वितीयान्त (सुँप्=सुँबन्तम्) सुँबन्त, (श्रितातीत-पतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः) श्रित, अतीत, पतित, गत, अत्यस्त, प्राप्त और आपन्न[4]

---

१. न चाऽत्र **अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः** इति स्त्रीत्वे **द्विगोः (१२५३)** इति ङीपा भवितव्यमिति वाच्यम्। समासान्तस्य टचः समुदायावयवत्वेन उत्तरपदा-वयवत्वाभावेनाऽदोषात्।

२. प्रथमातत्पुरुष का आगे कर्मधारय के प्रकरण में वर्णन आयेगा, अतः यहां द्वितीया तृतीया आदि के क्रम से तत्पुरुषसमास का विधान कर रहे हैं।

३. श्रितादयः प्रकृतयो येषान्तथोक्तैरिति बहुव्रीहिः।

४. श्रित (√श्रिञ्+क्त); अतीत (अति√इण् गतौ+क्त); पतित (√पत्+क्त); गत (√गम्+क्त); अत्यस्त (अति√असुँ क्षेपणे+क्त); प्राप्त (प्र√आप्+क्त); आपन्न (आ√पद्+क्त)—इन सब शब्दों में श्रिञ् आदि गत्यर्थक

इन प्रकृति वाले (सुँपा=सुँबन्तैः) सुँबन्तों के साथ (विभाषा) विकल्प से (समासः=समस्यते) समास को प्राप्त होता है और वह समास (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसंज्ञक होता है। यह समास वैकल्पिक है अतः पक्ष में वाक्य रहने से इस का स्वपदविग्रह हो सकता है। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—कृष्णं श्रितः कृष्णश्रितः (कृष्ण का आश्रय किया हुआ)। **अलौकिकविग्रह—कृष्ण अम्+श्रित सुँ।** यहां अलौकिकविग्रह में 'कृष्ण अम्' यह द्वितीयान्त सुँबन्त है, इस का 'श्रित सुँ' इस सुँबन्त के साथ प्रकृतसूत्र **द्वितीया श्रिता-तीत०** (९२४) से वैकल्पिक तत्पुरुषसमास हो जाता है। समासविधायक इस प्रस्तुत सूत्र में 'द्वितीया' पद प्रथमानिर्दिष्ट है अतः तद्बोध्य 'कृष्ण अम्' पद की **प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्** (९०९) द्वारा उपसर्जनसंज्ञा तथा **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उस का समास में पूर्वनिपात हो जाता है—कृष्ण अम्+श्रित सुँ। अब **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) सूत्रद्वारा समास की प्रातिपदिकसंज्ञा और **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से समास के अवयव सुँपों (अम् और सुँ) का लुक् हो कर 'कृष्णश्रित' बना। पुनः प्रातिपदिकावयव सुँपों का लुक् होने पर भी **एकदेशविकृतमनन्यवत्** के अनुसार समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा यथावत् रहने के कारण उस से परे स्वादियों की उत्पत्ति में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय लाने पर उस के अनुनासिक उकार अनुबन्ध का लोप हो **सुँप्तिङन्तं पदम्** (१४) सूत्रद्वारा पदसंज्ञा, **स-सजुषो रुँः** (१०५) से सकार को रुँत्व तथा **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (९३) से पदान्त रेफ को विसर्ग आदेश करने पर 'कृष्णश्रितः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]। 'कृष्णश्रित'

धातुओं से **गत्यर्थाऽकर्मक-श्लिष-शीङ्-स्थाऽऽस-वस-जन-रुह-जीर्यतिभ्यश्च** (३.४.७२) सूत्रद्वारा कर्त्तरि क्त अथवा आदिकर्म में कर्त्तरि क्तप्रत्यय समझना चाहिये। क्त के योग में **कर्त्तृ-कर्मणोः कृति** (२.३.६५) द्वारा कर्म में प्राप्त षष्ठी का **न लोकाऽव्ययनिष्ठा-खलर्थ-तृनाम्** (२.३.६९) सूत्र से निषेध हो कर अनभिहित कर्म में द्वितीया हो जाती है।

१. यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि 'कृष्णं श्रितो येन' इत्यादिप्रकारेण बहुव्रीहिसमास मानने से 'कृष्णश्रितः' आदि की सिद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि तब **निष्ठा** (९८३) सूत्रद्वारा निष्ठाप्रत्ययान्त का पूर्वनिपात हो कर 'श्रितकृष्णः' आदि बनेगा 'कृष्ण-श्रितः' आदि नहीं। अतः 'कृष्णश्रितः' आदि की सिद्धि के लिये तत्पुरुषसमास का मानना आवश्यक है। इस का साहित्यगत प्रयोग यथा—

मत्वा कष्टश्रितं रामं सौमित्रिं गन्तुमैजिहत् (भट्टि० ५.५८)।

अर्थात् राम को कष्ट में पड़ा जान कर सीता ने लक्ष्मण को राम के समीप जाने की प्रेरणा की।

शब्द की रूपमाला-- 'कृष्णश्रितः, कृष्णश्रितौ, कृष्णश्रिताः' इत्यादिप्रकारेण रामशब्दवत् चलेगी। यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि तत्पुरुषसमास का लिङ्ग **परवल्लिङ्गं द्वन्द्व-तत्पुरुषयोः** (९६२) के अनुसार वही होता है जो उस के उत्तरपद का हुआ करता है। यथा यहां 'श्रितः' उत्तरपद पुंलिङ्ग था तो समास का भी पुंलिङ्ग में प्रयोग हुआ है। यह समास वैकल्पिक है अतः यह नहीं भूलना चाहिये कि पक्ष में 'कृष्णं श्रितः' इस वाक्य का भी प्रयोग हो सकता है।

इसीप्रकार--

अरण्यम् अतीतः—अरण्यातीतः (वन को पार किया हुआ)।
कूपम् पतितः—कूपपतितः (कुएं में गिरा हुआ)।
ग्रामं गतः—ग्रामगतः (गांव गया हुआ)।
कृच्छ्रं गतः— कृच्छ्रगतः (कष्ट को प्राप्त हुआ)।[1]
आपदं गतः—आपद्गतः (आपत्ति को प्राप्त हुआ)।[2]
सुखं प्राप्तः--सुखप्राप्तः (सुख को पाया हुआ)।[3]
दुःखम् आपन्नः—दुःखापन्नः (दुःख को प्राप्त हुआ)।

नोट--द्वितीयान्त का श्रित आदियों के अतिरिक्त अन्य 'गमिन् गामिन्' आदि सुँबन्तों के साथ भी यह समास देखा जाता है। इस का विधान **गम्यादीनामुपसङ्ख्यानम्** इस वार्त्तिकद्वारा होता है। यथा—ग्रामं गमी ग्रामगमी; ग्रामं गामी ग्रामग्रामी; द्वितीयं गामी द्वितीयगामी[4]; अन्नं बुभुक्षुः अन्नबुभुक्षुः; मधु पिपासुः मधुपिपासुः; हितम् आशंसुः हिताशंसुः; गुरुं शुश्रूषुः गुरुशुश्रूषुः; तत्त्वं बुभुत्सुः तत्त्वबुभुत्सुः; सुखम् इच्छुः सुखेच्छुः; सुखम् ईप्सुः सुखेप्सुः। गम्यादियों को आकृतिगण माना जाता है।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा तृतीयातत्पुरुष का विधान करते हैं—

---

१. **सर्वः कृच्छ्रगतोऽपि वाञ्छति जनः सत्त्वानुरूपं फलम्** (नीतिशतक २२)।

२. **आपद्गतं हसति किं द्रविणान्धमूढ**
लक्ष्मीः स्थिरा न भवतीति किमत्र चित्रम्।
एतान्न पश्यसि घटाञ्जलयन्त्रचक्रे
रिक्ता भवन्ति भरिता भरिताश्च रिक्ताः॥ (सुभाषित)

३. प्राप्त और आपन्न सुँबन्तों का द्वितीयान्त के साथ **प्राप्ताऽऽपन्ने च द्वितीयया** (९६३) द्वारा अन्यविध तत्पुरुषसमास भी आगे कहा गया है। उस समास में प्रथमानिर्दिष्ट प्राप्त और आपन्न सुँबन्तों का पूर्वनिपात तथा द्वितीयान्त का परनिपात होता है। इस से 'प्राप्तसुखः, आपन्नदुःखः' आदि प्रयोग भी बनते है।

४. **द्वितीयगामी नहि शब्द एष नः** (रघुवंश ३.४९)।

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (६२५) **तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन** ।२।१।२६।।

तृतीयान्तं तृतीयान्तार्थकृतगुणवचनेन अर्थेन च सह वा प्राग्वत् शङ्कुलया खण्डः शङ्कुलाखण्डः । धान्येनार्थो धान्यार्थः । तत्कृतेति किम् ? अक्ष्णा काणः ।।

अर्थः—तृतीयान्त सुँबन्त, तृतीयान्त के अर्थद्वारा कृत जो गुण तद्विशिष्ट द्रव्यवाचक सुँबन्त के साथ एवम् 'अर्थ' शब्द के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है और वह समास तत्पुरुषसञ्ज्ञक होता है ।

व्याख्या—तृतीया ।१।१। तत्कृत ।३।१। (यहाँ **छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति** के अनुसार **सुपां सुलुक्०** सूत्र से तृतीया के एकवचन का लुक् हुआ है, इसे 'तत्कृतेन' समझना चाहिये) । अर्थेन ।३।१। गुणवचनेन ।३।१। **समासः, सुप्, सह सुपा, विभाषा, तत्पुरुषः**— ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं । तत्कृत='तत्कृतेन' यह 'गुणवचनेन' का विशेषण है—तत्कृतेन गुणवचनेन । तेन कृतम्—तत्कृतम्, तेन=तत्कृतेन । 'तद्' शब्द से यहां पूर्वनिर्दिष्ट तृतीयान्त पद का ग्रहण होता है परन्तु तृतीयान्त पद से कोई गुण कृत अर्थात् किया नहीं जा सकता, वह तो तृतीयान्त पद के अर्थ के द्वारा ही किया जाना सम्भव है । अतः 'तद्' शब्द से लक्षणाद्वारा यहां तृतीयान्त पद के अर्थ का ही ग्रहण किया जाता है । गुणमुक्तवान् इति गुणवचनः (शब्दः) । **कृत्यल्युटो बहुलम्** (७७२) में 'बहुलम्' ग्रहण के कारण यहां भूतकाल में कर्त्ता अर्थ में ल्युट् प्रत्यय समझा जाता है । जो शब्द गुण को पहले कह कर अब द्रव्यवाचक हो चुका हो उसे यहां 'गुणवचन' कहा गया है । तात्पर्य यह है कि कुछ शब्द ऐसे भी होते हैं जो पहले गुण अर्थ में प्रवृत्त हो कर बाद में गुण-गुणी के अभेदोपचार या मतुँब्लुक् आदि के कारण उस गुण से युक्त द्रव्य के वाचक हो जाते हैं, ऐसे शब्द ही यहां 'गुणवचन' अभिप्रेत हैं । यथा 'श्वेत' शब्द श्वेतगुण का वाचक हो कर अभेदोपचार के कारण या **गुणवचनेभ्यो मतुँबो लुगिष्टः** (वा०) के द्वारा मतुँप् के लुक् के कारण जब श्वेतगुणविशिष्ट पदार्थ को कहने लगता है तब वह 'गुणवचन' कहाता है । सूत्रगत 'तृतीया' पद से प्रत्ययग्रहणपरिभाषा-द्वारा तदन्तविधि हो कर 'तृतीयान्तम्' बन जाता है । अर्थः— (तृतीया=तृतीयान्तं सुँबन्तम्) तृतीयान्त सुँबन्त शब्द, (तत्कृतेन गुणवचनेन सुँबन्तेन) उस तृतीयान्त के अर्थ के द्वारा किया गया जो गुण तद्विशिष्ट द्रव्यवाचक सुँबन्त के साथ एवम् (अर्थेन सुँबन्तेन) सुँबन्त अर्थ शब्द के साथ (विभाषा) विकल्प से (समासः) समास को प्राप्त होता है और वह समास (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसंज्ञक होता है । समास के वैकल्पिक होने से पक्ष में स्वपदविग्रह वाक्य भी रहेगा ।

इस सूत्र में समासविधायक दो खण्ड हैं—

(१) तृतीया तत्कृतेन गुणवचनेन सुँबन्तेन वा समस्यते । अर्थात् तृतीयान्त पद

का तृतीयान्त के अर्थ के द्वारा किया गया जो गुण तद्विशिष्ट पदार्थ के वाचक सुँबन्त के साथ विकल्प से तत्पुरुषसमास हो जाता है ।

(२) तृतीया अर्थप्रकृतिकेन सुँबन्तेन सह वा समस्यते । अर्थात् तृतीयान्त पद का अर्थप्रकृतिक सुँबन्त के साथ विकल्प से तत्पुरुषसमास हो जाता है ।

प्रथमखण्ड का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—शङ्कुलया[1] खण्डः शङ्कुलाखण्डः (सरोते या छुरी से किया गया जो भेदनक्रियारूप गुण, तद्विशिष्ट टुकड़ा अर्थात् सरोते से किया गया टुकड़ा), शङ्कुलाकृतखण्डगुणविशिष्टः शकल इत्यर्थः[2] । अलौकिकविग्रह—शङ्कुला टा + खण्ड सुँ । यहां अलौकिकविग्रह में 'शङ्कुला टा' यह तृतीयान्त सुँबन्त है । इस तृतीयान्त के अर्थ = वाच्य सरोते से खण्डनरूप गुण किया गया है और इस गुणविशिष्ट टुकड़े का बोधक यहां 'खण्ड सुँ' सुँबन्त है । तो इस प्रकार प्रकृतसूत्र के प्रथम खण्ड के द्वारा इन दोनों सुबन्तों का विकल्प से तत्पुरुषसमास हो जाता है । समासविधान में 'तृतीया' पद प्रथमानिर्दिष्ट है अतः तद्बोध्य 'शङ्कुला टा' की उपसर्जनसंज्ञा हो कर उस का पूर्वनिपात हो जाता है । अब समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, उस के अवयव सुँपों (टा और सुँ) का लुक् करने पर—शङ्कुलाखण्ड । प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर सकार को रुँत्व (१०५) तथा अवसान में रेफ को विसर्ग आदेश (९३) करने पर 'शङ्कुलाखण्डः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—किरिणा काणः किरिकाणः (किरिनामक नेत्ररोग से काना हुआ व्यक्ति) । शलाकया काणः शलाकाकाणः (सलाई से किया हुआ काना व्यक्ति) । क्षारेण शुक्लः क्षारशुक्लः (क्षार से किया गया श्वेत पदार्थ) । भस्मना सितो भस्मसितः (राख से किया गया श्वेत पदार्थ) । कुसुमैः सुरभिः कुसुमसुरभिः (फूलों से की गई सुगन्ध वाला वात आदि पदार्थ) । कुङ्कुमेन शोणः कुङ्कुमशोणः (केसर से किये गये लाल वर्ण वाला पदार्थ) । सुधया धवलं सुधाधवलम् (चूने से की गई सुफेदी वाला भवन आदि)[3] ।

---

१. यहां **कर्तृकरणयोस्तृतीया** (८९५) सूत्रद्वारा करण में तृतीया विभक्ति हुई है ।

२. महाभाष्य में 'शङ्कुलाखण्डो देवदत्तः' इस तरह समास को 'देवदत्तः' का **विशेषण** बना कर भी प्रयुक्त किया गया है । वहां **खडिँ भेदने** (चुरा० उ०) धातु से भाव में घञ् प्रत्यय करने पर 'खण्डनं खण्डः' बना कर 'खण्डोऽस्त्यस्येति खण्डः' इस प्रकार मत्वर्थ में **अर्शआदिभ्योऽच्** (११९५) से अच् प्रत्यय करने से रूप सिद्ध किया गया है । वहां 'शङ्कुलाकृतखण्डनक्रियावान् देवदत्तः' इस प्रकार का बोध समझना चाहिये ।

३. अनेक वैयाकरण 'तत्कृतेन' अंश को लौकिकविग्रह में प्रकट करने के लिये 'शङ्कुलया कृतः खण्डः शङ्कुलाखण्डः, किरिणा कृतः काणः किरिकाणः, शलाकया

प्रकृतसूत्र में 'गुणवचनेन' क्यों कहा ? इसलिये कि 'गोभिर्वपावान्' (गोदुग्धादि से की गई चरबीवाला) इत्यादियों में समास न हो जाये। यहां 'वपावान्' में वपाशब्द गुणवाची नहीं अपितु द्रव्यवाची है अतः तद्विशिष्ट के साथ तृतीयान्त का समास नहीं होता।

प्रकृतसूत्र में 'तत्कृतेन' क्यों कहा ? इसलिये कि 'अक्ष्णा काणः' (आंख से काणत्वगुणविशिष्ट व्यक्ति) आदि में तृतीयान्त के साथ गुणवचन का समास न हो जाये। यहां काणत्व का करण आंख नहीं अपितु कोई रोगविशेष है जिस ने आंख को काना किया हुआ है। 'अक्ष्णा' में तृतीया विभक्ति **येनाऽङ्गविकारः** (२.३.२०) सूत्रद्वारा हुई है। इसीप्रकार 'पादेन खञ्जः' आदि में भी यह समास नहीं होता।

प्रकृतसूत्र में 'गुणेन' न कह कर 'गुणवचनेन' क्यों कहा ? इसलिये कि 'घृतेन पाटवम्' (घृत से की गई पटुता) इत्यादियों में समास न हो जाये। यहां 'पाटवम्' गुणवाची तो है पर गुणवचन नहीं। जो द्रव्यवाची होता हुआ भूतपूर्वगुणवाचक हो उसे ही यहां गुणवचन कहा गया है। **गुणोपसर्जनद्रव्यवचनेनैव समासः** इति नागेशः।

सूत्रगत द्वितीयखण्ड का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—धान्येनार्थो धान्यार्थः (धान्यहेतुकं धनमित्यर्थः। धान्य के हेतु से धन, अथवा—धान्य से प्रयोजन)। अलौकिकविग्रह—धान्य टा+अर्थ सुँ। यहां अलौकिकविग्रह में 'धान्य टा' इस तृतीयान्त सुँबन्त का 'अर्थ सुँ' इस सुँबन्त के साथ **तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन** (९२५) इस प्रकृतसूत्रगत द्वितीयखण्डद्वारा विकल्प से तत्पुरुषसमास हो जाता है। पूर्ववत् तृतीयान्त की उपसर्जनसंज्ञा, उस का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, समास के अवयव सुँपों (टा और सुँ) का लुक् तथा अन्त में **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ कर विभक्ति लाने से प्रथमा के एकवचन में 'धान्यार्थः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। विग्रहवाक्यगत 'धान्येन' में **हेतौ** (२.३.२३) सूत्रद्वारा तृतीया विभक्ति समझनी चाहिये। समास के अभाव में स्वपदविग्रह भी रहेगा।

इसीप्रकार—'पुण्येनार्थः पुण्यार्थः, हिरण्येनार्थो हिरण्यार्थः, वसनेनार्थो वसनार्थः' इत्यादियों में समास की सिद्धि होती है।

अब एक अन्यसूत्र के द्वारा इसी तृतीयातत्पुरुषसमास का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९२६) कर्तृकरणे कृता बहुलम्।२।१।३१॥

कर्त्तरि करणे च तृतीया कृदन्तेन बहुलं प्राग्वत्। हरिणा त्रातो हरित्रातः। नखैर्भिन्नो नखभिन्नः॥

अर्थः—कर्त्ता अथवा करण में जो तृतीया तदन्त सुँबन्त, कृदन्तप्रकृतिक सुँबन्त के साथ बहुल कर के समास को प्राप्त होता है और वह समास तत्पुरुषसञ्ज्ञक होता है।

कृतः काणः शलाकाकाणः' इत्यादिप्रकारेण विग्रह दर्शाया करते हैं। ध्यान रहे कि **वृत्ति (अलौकिकविग्रह)** में यह अंश स्वतः ही अन्तर्भूत रहता है।

व्याख्या—कर्तृकरणे ।७।१। कृता ।३।१। बहुलम् ।१।१। तृतीया ।१।१। (**तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन** से) । **समासः, सुँप्, सह सुँपा, तत्पुरुषः**—ये सब पूर्ववत् अधिकृत हैं । कर्त्ता च करणं च कर्तृकरणम्, तस्मिन् = कर्तृकरणे, समाहारद्वन्द्वः । 'तृतीया' से तदन्तविधि हो कर 'तृतीयान्तं सुँबन्तम्' बन जाता है । इसीप्रकार प्रत्यय होने के कारण 'कृता' से भी तदन्तविधि हो कर 'कृदन्तेन सुँबन्तेन' या 'कृदन्तप्रकृतिकेन सुँबन्तेन' बन जाता है । अर्थः—(कर्तृ-करणे) कर्त्ता या करण कारक में (तृतीया) जो तृतीया तदन्त (सुँबन्तम्) सुँबन्त, (कृता = कृदन्तेन) कृदन्तप्रकृतिक (सुँबन्तेन) सुँबन्त के साथ (बहुलम्) बहुल कर के (समासः) समास को प्राप्त होता है और वह समास (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसंज्ञक होता है[1] ।

कर्तृकारक में तृतीयान्त का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—हरिणा त्रातो[2] हरित्रातः (हरि से रक्षा किया हुआ) । अलौकिकविग्रह—हरि टा + त्रात सुँ । यहां अलौकिकविग्रह में 'हरि टा' यह कर्तृतृतीयान्त सुँबन्त है, **कर्तृ-करणयोस्तृतीया** (८९५) सूत्र द्वारा यहां कर्त्ता में तृतीया विभक्ति हुई है । इस का 'त्रात सुँ' इस कृदन्तप्रकृतिक सुँबन्त के साथ प्रकृत **कर्तृकरणे कृता बहुलम्** (९२६) सूत्रद्वारा बहुल से समास हो जाता है । समासविधायक इस सूत्र में अनुवर्तित 'तृतीया' पद प्रथमानिर्दिष्ट है अतः **प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्** (९०९) से तद्बोध्य 'हरि टा' की उपसर्जनसंज्ञा और **उपसर्जनम्पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्वनिपात हो जाता है—हरि टा + त्रात सुँ । अब **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) द्वारा उस के अवयव सुँपों (टा और सुँ) का लुक् करने पर—हरित्रात । पुनः **एकदेशविकृतमनन्यवत्** परिभाषा से अवयव सुँपों का लुक् होने पर भी प्रातिपदिकत्व के अक्षुण्ण रहने से स्वादियों की निर्बाध उत्पत्ति होती है । प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में 'सुँ' प्रत्यय

---

१. कुछ वैयाकरण 'कर्तृ-करणे' पद को सप्तम्यन्त न मान कर प्रथमाद्विवचनान्त मानते हैं और अनुवर्त्तित 'तृतीया' पद को इस का विशेषण बना कर 'तृतीयान्त कर्त्ता और करण, कृदन्तप्रकृतिक सुँबन्त के साथ समास को प्राप्त होते हैं' ऐसा अर्थ करते हैं । इस से भी वही सिद्ध होता है जो ऊपर मूलोक्त अर्थ से सिद्ध किया जाता है ।

२. 'त्रातः' पद '**त्रैङ् पालने**' (भ्वा० आ०) धातु से **आदेच उपदेशेऽशिति** (४९३) सूत्रद्वारा आत्व कर कर्मणि क्तप्रत्यय करने तथा **नुदविदोन्द-त्रा-घ्रा-ह्रीभ्योऽन्य-तरस्याम्** (८.२.५६) से वैकल्पिक नकार आदेश करने से सिद्ध होता है । नत्वपक्ष में **अट्कुप्वाङ्०** (१३८) से नकार को णकार हो कर 'त्राणः' बनता है । त्राण-क्रिया का अनुक्त कर्त्ता होने के कारण 'हरि' शब्द से **कर्तृकरणयोस्तृतीया** (८९५) सूत्र से तृतीया विभक्ति हो जाती है ।

ला कर सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने पर—'हरित्रातः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । समासाभाव में स्वपदविग्रहवाक्य भी रहेगा ।

करणकारक में तृतीयान्त का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—नखैर्भिन्नो नखभिन्नः (नाखूनों से चीरा गया) । अलौकिक-विग्रह—नख भिस्+भिन्न सुँ । यहां भेदनक्रिया में नख करण है और अनभिहित भी, अतः इस में **कर्तृकरणयोस्तृतीया** (८९५) सूत्रद्वारा तृतीयाविभक्ति हुई है । इधर **भिदिँर् विदारणे** (रुधा० उ०) धातु से कर्म में कृत्संज्ञक क्तप्रत्यय कर **रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः** (८१६) सूत्रद्वारा निष्ठा के तकार तथा धातु के दकार दोनों के स्थान पर नकार आदेश करने से 'भिन्न' यह कृदन्त रूप निष्पन्न होता है। अब यहां अलौकिकविग्रह में 'नख भिस्' इस करणतृतीयान्त का 'भिन्न सुँ' इस कृदन्त सुँबन्त के साथ प्रकृत **कर्तृकरणे कृता बहुलम्** (९२६) सूत्र से बहुल कर तत्पुरुषसमास हो जाता है। पूर्ववत् तृतीयान्त की उपसर्जनसञ्ज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (भिस् और सुँ) का लुक् कर विभक्ति लाने से प्रथमा के एकवचन में 'नखभिन्नः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—अहिना हतोऽहिहतः । देवेन त्रातो देवत्रातः । दैवेन रक्षितो दैवरक्षितः[1] । परैर्भृतः परभृतः । अन्यैः पुष्टा अन्यपुष्टा (अन्यों द्वारा पाली गई—कोकिला) । वृकेण हतो वृकहतः । प्रज्ञया हीनः प्रज्ञाहीनः । विद्यया रहितो विद्यारहितः इत्यादियों में कर्तृतृतीयान्त का कृदन्त के साथ समास होता है । परशुना छिन्नः परशुछिन्नः । बलिभिः पुष्टो बलिपुष्टः । दात्त्रेण लूनो दात्त्रलूनः इत्यादियों में करण-तृतीयान्त का कृदन्त के साथ समास होता है ।

इस सूत्र में 'विभाषा' की अनुवृत्ति सुलभ होने पर भी 'बहुलम्' का प्रयोग प्रयोजनवशात् किया गया है । 'बहुलम्' की चार विधाएं पीछे **कृत्यल्युटो बहुलम्** (७७२) सूत्र पर इस व्याख्या में स्पष्ट कर चुके हैं । (१) क्वचित्प्रवृत्तिः (कहीं प्रवृत्त हो जाना); (२) क्वचिदप्रवृत्तिः (कहीं प्रवृत्त न होना); (३) क्वचिद् विभाषा (कहीं विकल्प से प्रवृत्त होना); (४) क्वचिदन्यदेव (कहीं विधान से विपरीत कुछ और ही हो जाना) । यहां 'बहुलम्' के तृतीय अर्थ का आश्रय ले कर मूलोक्त उपर्युक्त दोनों उदाहरण दिये गये हैं। 'बहुलम्' के द्वितीय अर्थ 'क्वचिदप्रवृत्तिः' के कारण करणतृतीया का क्तवतुँ, शतृँ, शानच् आदि कुछ कृत्प्रत्ययान्तों के साथ समास नहीं होता । यथा—दात्त्रेण लूनवान्; परशुना छिन्नवान्; हस्तेन कुर्वन्; हस्तेन भुञ्जानः आदि में यह समास प्रवृत्त नहीं होता । 'बहुलम्' के चतुर्थ अर्थ 'क्वचिदन्यदेव' का भी यहां आश्रय लिया जाता है । इस से शिष्टप्रयोगानुसार पादहारकः, गलेचोपकः आदियों में तृतीया-

---

१. अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति (पञ्चतन्त्र १.२०) ।

भिन्न विभक्तियों का भी कृदन्तों के साथ समास सिद्ध हो जाता है[1]।

'कर्तृ-करणे' कहने से कर्त्ता और करण में होने वाली तृतीया का ही कृदन्त के साथ समास होता है अन्य तृतीया का नहीं। यथा—'भिक्षाभिरुषितः' (भिक्षा के हेतु निवास किया) यहां 'भिक्षाभिः' में **हेतौ** (२.३.२३) सूत्रद्वारा हेतु में की गई तृतीया का 'उषितः' इस कृदन्त के साथ समास नहीं होता।

'कृता' इसलिये कहा है कि करणतृतीया का तद्धितान्त के साथ समास न हो जाये। यथा—काष्ठैः पचतितराम् (लकड़ियों से वह अतिशय या अच्छा पकाता है)। यहां 'काष्ठैः' में करणतृतीया का तद्धितान्त 'पचतितराम्' से समास नहीं होता[2]। इसीप्रकार—'काष्ठैः पचतिरूपम्, काष्ठैः पचतिदेश्यम्, हस्तेन कृतपूर्वी, दध्ना भुक्तपूर्वी, 'घृतेन इष्टी' इत्यादियों में तद्धितान्तों के साथ तृतीया का समास नही होता।

इस शास्त्र में **येन विधिस्तदन्तस्य** (१.१.७१) सूत्रद्वारा विशेषण से तदन्तविधि का विधान किया गया है। यथा—**अचो यत्** (७७३) यहां 'अचः' यह अनुवर्त्यमान 'धातोः' का विशेषण है, अतः इस से तदन्तविधि हो कर 'अजन्ताद् धातोर्यत्' ऐसा अर्थ हो जाता है। परन्तु समासविधान में तदन्तविधि का वार्त्तिककार ने निषेध कहा है—**समास-प्रत्ययविधौ प्रतिषेधः** (वा०)। अतः **द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः** (६२४) यहां 'समर्थैः' इस अनुवर्त्यमान का विशेषण होने पर भी श्रित आदियों से तदन्तविधि नहीं होती। इस से द्वितीयान्त सुँबन्त का श्रित आदि सुँबन्तों के साथ तो समास हो जाता है (यथा—कष्टं श्रितः कष्टश्रितः) परन्तु श्रित आदि जिस के अन्त में हों ऐसे समर्थ सुँबन्तों के साथ समास नहीं होता। यथा—'कष्टं परमश्रितः' यहां

---

१. पादाभ्यां ह्रियत इति पादहारकः (पैरों से जो अलग किया जाता है)। यहां 'पादाभ्याम्' पञ्चम्यन्त है, अपादान में पञ्चमी हुई है। न यहां कर्त्ता अर्थ में तृतीया है और न करण अर्थ में, हां 'हारकः' यह कृदन्त अवश्य है, इस में **कृत्यल्युटो बहुलम्** (७७२) द्वारा 'बहुलम्' ग्रहण के कारण कर्म में ण्वुल् प्रत्यय हुआ है जो कृत्संज्ञक है। इसीप्रकार—गले चोप्यते इति गलेचोपकः। यहां **चुप मन्दायां गतौ** (भ्वा० प०) धातु से हेतुमण्णिच् कर कर्म में ण्वुल् करने से 'चोपकः' बना है। 'गले' इस सप्तम्यन्त के साथ बाहुलकात् 'चोपकः' का समास हुआ है। समास में सप्तमी का **अमूर्धमस्तकात् स्वाङ्गादकामे** (६.३.११) से अलुक् हुआ है। जो गले में चुपके से धारण किया जाता है उसे 'गलेचोपकः' कहते हैं। साहित्य में इन दोनों के प्रयोग अन्वेष्टव्य हैं।

२. 'अतिशायने' और 'तिङश्च' की अनुवृत्ति आ कर **द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुँनौ** (१२२२) सूत्रद्वारा 'पचति' इस तिङन्त से तरप् प्रत्यय हो कर **किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे** (१२२१) सूत्र से आमुँ (आम्) तद्धित प्रत्यय करने से 'पचतितराम्' यह तद्धितान्त प्रयोग सिद्ध होता है। द्वाविमौ पचतः, अयमनयोरतिशयेन पचतीति पचतितराम्। **तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः** (३६८) से आम्प्रत्ययान्त की अव्ययसंज्ञा हो जाती है।

समास नहीं होता। तो इस प्रकार प्रकृत में तृतीयान्त का कृदन्त के साथ तो समास होता है पर कृदन्त जिस के अन्त में हो उस के साथ समास प्राप्त नहीं हो सकता। यथा—नखैर्निर्भिन्नः। परन्तु हमें यहां भी समास करना अभीष्ट है। अतः अग्रिम-परिभाषाद्वारा इस का विधान करते हैं—

[लघु०] कृद्-ग्रहणे गति-कारकपूर्वस्यापि ग्रहणम् (प०)॥

नखनिर्भिन्नः॥

अर्थः—कृदन्त के ग्रहणस्थल में गतिपूर्वक या कारकपूर्वक कृदन्त का भी ग्रहण हो जाता है।

व्याख्या—प्रत्ययग्रहणपरिभाषा से 'कृत्' से कृदन्त का ग्रहण होता है। जहां कृदन्त का ग्रहण हो वहां कृदन्त को तो वह कार्य होता ही है पर यदि कृदन्त के पूर्व कोई गतिसञ्ज्ञक या कारक हो तो तद्विशिष्ट कृदन्त को भी वह कार्य हो जाता है—यह यहां परिभाषागत 'अपि' शब्द का अभिप्राय है। उदाहरण यथा—

'नखैर्निर्भिन्नः' में 'भिन्नः' कृदन्त है पर इस से पूर्व निस् या निर् गतिसञ्ज्ञक (२०१) भी विद्यमान है अतः प्रकृत परिभाषा के बल से **कर्तृ-करणे कृता बहुलम् (६२६)** द्वारा गतिविशिष्ट कृदन्त के साथ भी पूर्ववत् समास होकर तृतीयान्त की उपसर्जनसंज्ञा, पूर्वनिपात तथा सुँब्लुक् आदि कार्य करने से 'नखनिर्भिन्नः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। कारकपूर्व कृदन्त का उदाहरण **क्षेपे** (२.१.४६) सूत्र पर 'अवतप्तेनकुलस्थितम्' आदि सिद्धान्तकौमुदी में देखें।

तृतीयातत्पुरुषसमास का विधान करने वाला एक अन्य सूत्र भी विद्यार्थियों के लिये बहुत उपयोगी है, उसका भी यहां उल्लेख किये देते हैं—

पूर्व-सदृश-समोनार्थ-कलह-निपुण-मिश्र-श्लक्ष्णैः ।२।१।३०॥

अर्थः—तृतीयान्त सुँबन्त का पूर्व, सदृश, सम, ऊनार्थक (ऊन, विकल आदि), कलह, निपुण, मिश्र और श्लक्ष्ण इन सुँबन्तों के साथ विकल्प से तत्पुरुषसमास होता है। उदाहरण यथा—

(१) मासेन पूर्वः—मासपूर्वः। मासपूर्वो यज्ञदत्तो देवदत्तात् (यज्ञदत्त देवदत्त से एक महीना बड़ा है)।

(२) मात्रा सदृशः—मातृसदृशः। पितृसदृशः।

(३) पित्रा समः—पितृसमः। मातृसमः। गुरुसमः।

(४) माषेण ऊनम्—माषोनं तोलकम् (मासा भर कम तोला)।

(५) माषेण विकलम्—माषविकलं तोलकम् (मासा भर कम तोला)।

(६) पादेन ऊनम्—पादोनं रूप्यकम् (पौना रुपया)।

(७) वाचा कलहः—वाक्कलहः।

(८) वाचा निपुणः—वाङ्निपुणः।

(९) गुडेन मिश्राः—गुडमिश्राः (तण्डुलाः)।

(१०) आचारेण श्लक्ष्णः—आचारश्लक्ष्णः। व्यवहारश्लक्ष्णः (व्यवहार में साफ)।

वा०—**अवरस्योपसंख्यानम्**। अर्थः— पूर्व आदि शब्दों में अवर (कम, हीन) शब्द का भी उपसंख्यान करना चाहिये। उदाहरण यथा—

(११) मासेन अवरः— मासावरः (एक महीना छोटा)।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा चतुर्थीतत्पुरुष का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(९२७) चतुर्थी तदर्थाऽर्थ-बलि-हित-सुख-रक्षितैः।२।१।३५॥**

चतुर्थ्यन्तार्थाय यत् तद्वाचिना, अर्थादिभिश्च चतुर्थ्यन्तं वा प्राग्वत्। यूपाय दारु—यूपदारु। तदर्थेन प्रकृतिविकृतिभाव एवेष्टः। तेनेह न—रन्धनाय स्थाली॥

अर्थः—चतुर्थ्यन्त सुँबन्त, उस चतुर्थ्यन्त के अर्थ (वाच्य) के लिये जो वस्तु तद्वाचक सुँबन्त के साथ एवम् अर्थ, बलि, हित, सुख और रक्षित इन सुँबन्तों के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है। **तदर्थेन०**—तदर्थ के साथ चतुर्थी का जो समास होता है वह प्रकृतिविकृतिभाव में ही इष्ट है अन्यत्र नहीं। अत एव 'रन्धनाय स्थाली' (पकाने के लिये बटलोई) यहां प्रकृतिविकृतिभाव न होने से समास नहीं होता।

व्याख्या—चतुर्थी।१।१। तदर्थ-अर्थ-बलि-हित-सुख-रक्षितैः।३।३। **समासः**, **सुँप्**, **सह सुँपा**, **विभाषा**, **तत्पुरुषः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। **प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्** के अनुसार 'चतुर्थी' से 'चतुर्थ्यन्तं सुँबन्तम्' का ग्रहण होता है। तदर्थञ्च अर्थश्च बलिश्च हितं च सुखं च रक्षितं च तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितानि, तैः=तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(चतुर्थी=चतुर्थ्यन्तम्) चतुर्थ्यन्त (सुँबन्तम्) सुँबन्त, (तदर्थार्थ-बलि-हित-सुख-रक्षितैः) तदर्थ, अर्थ, बलि, हित, सुख और रक्षित इन (सुँबन्तैः) सुँबन्तों के साथ (विभाषा) विकल्प से (समासः) समास को प्राप्त होता है और वह समास (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

[१] चतुर्थ्यन्त का तदर्थ के साथ समास होता है। यह 'तदर्थ' क्या है? 'तद्' शब्द से यहां पूर्वनिर्दिष्ट 'चतुर्थी' का बोध होता है, तस्मै इदं तदर्थम्, **अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्** (वा० ५४) इति नित्यसमासः। उस चतुर्थ्यन्त के लिये जो वस्तु वह तदर्थ कहायेगी। परन्तु चतुर्थ्यन्त के लिये कोई वस्तु नहीं हो सकती क्योंकि चतुर्थ्यन्त तो शब्द होता है, भला शब्द के लिए कोई वस्तु कैसे सम्भव हो सकती है? चतुर्थ्यन्त के अर्थ के लिये ही कोई वस्तु हो सकती है, अतः लक्षणाद्वारा 'तद्' से चतुर्थ्यन्त का अर्थ (वाच्य) गृहीत किया जायेगा। इस प्रकार 'चतुर्थ्यन्त के वाच्य के लिये जो वस्तु, उस वस्तु के वाचक सुँबन्त के साथ चतुर्थ्यन्त सुँबन्त का समास होता है' यह यहां फलित होता है। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—यूपाय[1] दारु यूपदारु (खम्भे के लिये लकड़ी)। अलौकिकविग्रह —यूप ङे+दारु सुँ। यहां 'यूप ङे' यह चतुर्थ्यन्त सुँबन्त है। इस के अर्थ (वाच्य) खम्भे के लिये लकड़ी है अतः लकड़ी का वाचक 'दारु सुँ' यह तदर्थ हुआ। इस तदर्थ के साथ चतुर्थ्यन्त सुँबन्त का प्रकृत **चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः** (९२७) सूत्र से वैकल्पिक तत्पुरुषसमास हो जाता है। समासविधायक इस सूत्र में 'चतुर्थी' पद प्रथमा-निर्दिष्ट है, अतः इस के बोध्य 'यूप ङे' की **प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्** (९०९) से उपसर्जनसञ्ज्ञा तथा **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्वनिपात हो जाता है— यूप ङे+दारु सुँ। अब **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा और **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) द्वारा उस के अवयव सुँपों (ङे और सुँ) का लुक् करने से—यूपदारु। सुँपो का लुक् हो जाने पर भी **एकदेशविकृतमनन्यवत्** इस न्याया-नुसार प्रातिपदिकसंज्ञा के अक्षुण्ण रहने से इस से परे पुनः विभक्त्युत्पत्ति होती है। प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय लाने पर 'यूपदारु सुँ' इस स्थिति में **परवल्लिङ्गं द्वन्द्व-तत्पुरुषयोः** (९६२) सूत्रद्वारा उत्तरपद के लिङ्गानुसार तत्पुरुष के भी नपुंसक माने जाने से **स्वमोर्नपुंसकात्** (२४४) सूत्र से 'सुँ' का लुक् हो कर 'यूपदारु' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—'कुण्डलाय हिरण्यं कुण्डलहिरण्यम् (कुण्डल के लिये सोना), द्वाराय काष्ठं द्वारकाष्ठम्; घटेभ्यो मृत्तिका घटमृत्तिका' आदि प्रयोग जानने चाहियें।

तदर्थेन प्रकृति-विकृतिभाव एवेष्टः। तेनेह न—रन्धनाय स्थाली।

'तदर्थ' से यहां प्रत्येक तदर्थ का ग्रहण अभीष्ट नहीं अपितु प्रकृतिविकृतिभाव वाले तदर्थ का ही ग्रहण अभिप्रेत है। तात्पर्य यह है कि जहां चतुर्थ्यन्त सुँबन्त विकृति तथा तदर्थवाचक प्रकृति होगा, वहां पर ही यह समास प्रवृत्त होगा[2]। यथा—'यूपाय दारु यूपदारु' इस मूलोक्त उदाहरण में 'यूप' विकृति तथा 'दारु' (लकड़ी) उस की

---

१. 'यूपाय' में चतुर्थी विभक्ति का विधान **तादर्थ्ये चतुर्थी वाच्या** इस वार्त्तिकद्वारा होता है। इस वार्त्तिक का विवेचन इस व्याख्या के कारकपरिशिष्ट (२६) में किया जा चुका है।

२. मूल वस्तु को प्रकृति तथा उस से बनी वस्तु को विकृति कहना ही यहां अभिप्रेत है। यथा—लकड़ी से यूप, मेज, कुर्सी, स्टूल आदि अनेक पदार्थ बनते हैं। इस तरह लकड़ी प्रकृति तथा यूप, मेज, कुर्सी, स्टूल आदि उस की विकृतियां हैं। सुवर्ण से कुण्डल, कङ्कण, केयूर, मुद्रिका आदि अनेक भूषण बनते हैं। इस प्रकार सुवर्ण प्रकृति तथा कुण्डल, कङ्कण आदि भूषण उस की विकृतियां हैं। मिट्टी से घट, सुराही, प्याले आदि अनेक पदार्थ बनते हैं। तो यहां मिट्टी प्रकृति तथा घट आदि उस की विकृतियां हैं। 'प्रकृति' से यहां समवायिकारण या उपादानकारण ही अभिप्रेत है। विकृतियां प्रकृति का ही रूपान्तर होती हैं उस से भिन्न नहीं—यह यहां विशेष ध्यातव्य है।

प्रकृति है क्योंकि लकड़ीरूप प्रकृति से ही यूप आदि विकृतियां उत्पन्न होती हैं । अतः प्रकृतिविकृतिभाव होने से यहां प्रकृतसूत्रद्वारा समास हो गया है । इसीप्रकार 'कुण्डलाय हिरण्यं कुण्डलहिरण्यम्' आदि में प्रकृतिविकृतिभाव होने के कारण समास समझना चाहिये । परन्तु जहां प्रकृतिविकृतिभाव नहीं होता वहां यह समास नहीं होता । यथा— रन्धनाय स्थाली (रान्धने=पकाने के लिये बटलोई) । यहां रान्धने के लिये बटलोई तदर्थ तो है पर इस में प्रकृतिविकृतिभाव नहीं, अतः समास नहीं हुआ । इसी प्रकार— 'अवहननाय उलूखलम् (धान कूटने के लिये उलूखल), पूजायै पुष्पम्, यशसे काव्यम्' आदि में प्रकृतिविकृतिभाव न होने से समास नहीं होता ।

शङ्का—यदि यह समास प्रकृतिविकृतिभाव में ही इष्ट है तो 'अश्वाय घासः—अश्वघासः, वासाय भवनम्—वासभवनम्, वासाय गृहम्—वासगृहम्, क्रीडायै सरः—क्रीडासरः, गवे ग्रासः—गोग्रासः, नाट्याय शाला—नाट्यशाला, लीलायै अम्बुजम्—लीलाम्बुजम्, तपसे वनम्—तपोवनम्, शयनाय पर्यङ्कः—शयनपर्यङ्कः, विश्रामाय स्थली—विश्रामस्थली' इत्यादियों में यह समास क्यों देखा जाता है ?

समाधान—'अश्वघासः' आदियों में चतुर्थी-तत्पुरुषसमास नहीं किन्तु षष्ठी-तत्पुरुषसमास है । अतः 'अश्वस्य घासः—अश्वघासः, वासस्य भवनम्—वासभवनम्' इत्यादिप्रकारेण विग्रह जानना चाहिये । तदर्थ की विवक्षा होने पर इन में समास नहीं होता वाक्य ही रहता है ऐसा भाष्यकार को अभिप्रेत है । विशेष विस्तार व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखें ।

[२] चतुर्थ्यन्त सुँबन्त का 'अर्थ'[1] सुँबन्त के साथ प्रकृतसूत्र में जो समास विधान किया गया है उसकी नित्यता तथा विशेष्यलिङ्गता का अग्रिमवार्त्तिकद्वारा प्रतिपादन करते हैं—

[लघु०] वा०—(५४) अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम् ॥

द्विजार्थः सूपः । द्विजार्था यवागूः । द्विजार्थं पयः । भूतबलिः । गोहितम् । गोसुखम् । गोरक्षितम् ॥

अर्थः—'अर्थ' सुँबन्त के साथ चतुर्थ्यन्त का जो ऊपर समास कहा है उसे नित्यसमास कहना चाहिये किञ्च इस समास का लिङ्ग भी विशेष्य के अनुसार समझना चाहिये ।

व्याख्या—यह वार्त्तिक **चतुर्थी तदर्था०** (९२७) सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है अतः यह तद्विषयक ही माना जायेगा । इस सूत्र में पीछे से 'विभाषा' की अनुवृत्ति आ रही है अतः यह वैकल्पिक समास का विधान करता है । परन्तु इस में 'अर्थ' शब्द के साथ चतुर्थी का जो समास विधान किया गया है वह प्रकृतवार्त्तिक से

१. अर्थशब्दोऽत्र वस्तुपरः । अर्थोऽभिधेय-रै-वस्तु-प्रयोजन-निवृत्तिषु इत्यमरः । इह उपकारकं वस्तु विवक्षितमिति बोध्यम् ।

नित्य होता है वैकल्पिक नहीं । अतः इस समास का स्वपदलौकिकविग्रह न होकर अस्वपदलौकिकविग्रह ही होगा । इस के अतिरिक्त यह एक और बात का भी विधान करता है । तथाहि—तत्पुरुषसमास का **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) से वही लिङ्ग होता है जो उस के उत्तरपद का हुआ करता है । यहां उत्तरपद 'अर्थ' (वस्तु) शब्द है जो पुंलिङ्ग है अतः समास को भी पुंलिङ्ग में प्रयुक्त होना चाहिये था । परन्तु इस वार्त्तिक से समास की विशेष्यलिङ्गता का विधान किया गया है । तात्पर्य यह है कि इस समास का वही लिङ्ग होगा जो इस के विशेष्य का होगा । तत्पुरुष की परवल्लिङ्गता वाला नियम यहां लागू नहीं होगा । उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—द्विजाय अयं[1] द्विजार्थः (सूपः), ब्राह्मण के लिये दाल । अलौकिकविग्रह—द्विज ङे + अर्थ सुँ । यहां अलौकिकविग्रह में **अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्** (वा० ५४) इस वार्त्तिक की सहायता से **चतुर्थी तदर्थार्थ-बलिहितसुखरक्षितैः** (९२७) सूत्रद्वारा 'द्विज ङे' इस चतुर्थ्यन्त का 'अर्थ सुँ' इस सुँबन्त के साथ नित्यसमास हो कर चतुर्थ्यन्त की उपसर्जनसञ्ज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात तथा समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा कर उस के अवयव सुँपों (ङे और सुँ) का **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् करने से—द्विज + अर्थ, सवर्णदीर्घ होकर 'द्विजार्थ' बना । अब इस से विशेष्य (सूपः) के अनुसार पुंलिङ्ग के प्रसङ्ग मे प्रथमा का एकवचन 'सुँ' प्रत्यय ला कर सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने से 'द्विजार्थः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । यदि विशेष्य 'यवागूः' (लप्सी) आदि स्त्रीलिङ्ग होगा तो स्त्रीत्व की विवक्षा में 'द्विजार्थ' शब्द से **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) सूत्रद्वारा टाप् (आ), सवर्णदीर्घ तथा प्रथमैकवचन में सुँ प्रत्यय ला कर **हल्ङ्याब्भ्यः०** (१७९) से अपृक्त सकार का लोप हो कर 'द्विजार्था' (यवागूः) प्रयोग बनेगा । इसी प्रकार विशेष्य यदि 'पयः' (दूध या जल) आदि नपुंसक होगा तो नपुंसकप्रक्रिया के अनुसार **अतोऽम्** (२३४) सूत्रद्वारा सुँ को अम् आदेश हो कर **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'द्विजार्थम्' (पयः) प्रयोग सिद्ध होगा । इसीप्रकार—इन्द्रायेदम् इन्द्रार्थं (हविः), अग्नये इयम् अग्न्यर्था (आहुतिः), मह्यमिदम् मदर्थं (धनम्), तुभ्यमिदं त्वदर्थं (धनम्)[2], उदकाय

---

१. समास का जो विशेष्य होता है उसी के लिङ्गानुसार यहां लौकिकविग्रह में 'अयम्, इयम्, इदम्' पद लगा कर प्रयोग किया जाता है । समास के नित्य होने के कारण स्वपदविग्रह नहीं होता । समासगत 'अर्थ' शब्द के बदले 'अयम्, इयम्, इदम्' लगाते हैं ।

२. 'युष्मद् ङे' और 'अस्मद् ङे' का जब 'अर्थ सुँ' के साथ समास होता है तो सुँब्लुक् होने पर **प्रत्ययोत्तरपदयोश्च** (१०८२) द्वारा युष्मद् और अस्मद् शब्दों को मपर्यन्त क्रमशः 'त्व' और 'म' आदेश हो कर **अतो गुणे** (२७४) से पररूप करने से 'त्वदर्थ' और 'मदर्थ' रूप बन जाते हैं । अन्य समासों में भी युष्मद् और अस्मद् शब्दों की प्रायः यही प्रक्रिया होती है । यथा—तव पुत्रः त्वत्पुत्रः, मम

अयम् उदकार्थो (घटः), आतुराय इयम् आतुरार्था (यवागूः), पित्रे इदम् पित्रर्थं (पयः) इस समास का साहित्यगत (नैषध० १.१३७) उदाहरण यथा—

मदर्थ-सन्देशमृणाल-मन्थरः प्रियः कियद्दूर इति त्वयोदिते ।
विलोकयन्त्या रुदतोऽथ पक्षिणः प्रिये स कीदृग्भविता तव क्षणः ॥[1]

[३] चतुर्थ्यन्त सुँबन्त का 'बलि' सुबन्त के साथ समास यथा—

लौकिकविग्रह—भूतेभ्यो बलिः—भूतबलिः (भूतों के लिये बलि)। अलौकिक-विग्रह—भूत भ्यस् + बलि सुँ। यहां अलौकिकविग्रह में 'भूत भ्यस्' इस चतुर्थ्यन्त का 'बलि सुँ' के साथ **चतुर्थी तदर्थार्थ-बलि-हित-सुख-रक्षितैः** (९२७) सूत्रद्वारा वैकल्पिक तत्पुरुषसमास हो चतुर्थ्यन्त की उपसर्जनसंज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) सूत्रद्वारा सुँपों (भ्यस् और सुँ) का लुक् करने पर—भूतबलि। स्वाद्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमैकवचन की विवक्षा में 'सुँ' प्रत्यय ला कर रुँत्व-विसर्ग करने से 'भूतबलिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसी-प्रकार—काकेभ्यो बलिः काकबलिः, यक्षाय बलिर्यक्षबलिः इत्यादि जानने चाहियें।

[४] चतुर्थ्यन्त सुँबन्त का 'हित' सुँबन्त के साथ समास यथा—

लौकिकविग्रह—गोभ्यो हितम्—गोहितम् (गौओं का हित)। अलौकिकविग्रह—गो भ्यस् + हित सुँ। यहां अलौकिकविग्रह में 'गो भ्यस्' इस चतुर्थ्यन्त का 'हित सुँ' इस सुँबन्त के साथ **चतुर्थी तदर्थार्थ-बलि-हित-सुख-रक्षितैः** (९२७) सूत्रद्वारा विकल्प से तत्पुरुषसमास हो जाता है। समासविधान में प्रथमानिर्दिष्ट से बोध्य चतुर्थ्यन्त की उपसर्जनसंज्ञा, उस का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तथा उस के अवयव सुँपों (भ्यस् और सुँ) का लुक् हो कर—गोहित। प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर **परवल्लिङ्गं द्वन्द्व-तत्पुरुषयोः** (९६२) से परवल्लिङ्गता के कारण नपुंसक में **अतोऽम्** (२३४) द्वारा सुँ को अम् आदेश हो कर पूर्वरूप (१३५) करने से 'गोहितम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। ध्यान रहे कि 'हित' शब्द के योग में चतुर्थी विभक्ति इसी समासविधान से ज्ञापित होती है। इसीप्रकार—राष्ट्राय हितं राष्ट्रहितम्, परलोकाय हितं परलोकहितम्, भुवनाय हितम् भुवनहितम्[2], ब्राह्मणाय हितम् ब्राह्मण-हितम् इत्यादि प्रयोग सिद्ध होते हैं।

पुत्रः मत्पुत्रः, त्वं नाथोऽस्य त्वन्नाथः, अहं नाथोऽस्य मन्नाथः। यह प्रक्रिया एकवचनान्त युष्मद्-अस्मद् में ही हुआ करती है, द्विवचनान्त और बहुवचनान्तों में नहीं। युवयोः पुत्रो युष्मत्पुत्रः, आवयोः पुत्रोऽस्मत्पुत्रः, इसीप्रकार बहुवचनान्त में भी समझना चाहिये।

१. मह्यम् इमे—मदर्थे (नपुंसके प्रथमाद्विवचनान्तम्)। मदर्थे ये सन्देशमृणाले तयो-र्विषये मन्थर इति विग्रहोऽत्र ज्ञेयः।

२. **अभून्नृपो विबुधसखः परन्तपः श्रुतान्वितो दशरथ इत्युदाहृतः ।**
गुणैर्वरं भुवनहितच्छलेन यं सनातनः पितरमुपागमत् स्वयम् ॥ (भट्टि० १.१)

(५) चतुर्थ्यन्त सुँबन्त का 'सुख' सुँबन्त के साथ समास यथा—

लौकिकविग्रह—गोभ्यः[1] सुखं गोसुखम् (गौओं का सुख)। अलौकिकविग्रह—**गो भ्यस्+सुख सुँ**। यहां अलौकिकविग्रह में 'गो भ्यस्' इस चतुर्थ्यन्त का 'सुख सुँ' इस सुँबन्त के साथ **चतुर्थी तदर्थार्थ-बलि-हित-सुख-रक्षितैः** (९२७) सूत्रद्वारा विकल्प से तत्पुरुषसमास हो जाता है। समासविधायकसूत्र में प्रथमानिर्दिष्ट के बोध्य चतुर्थ्यन्त की उपसर्जनसंज्ञा, उस का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा उस के अवयव सुँपों (भ्यस् और सुँ) का लुक् हो कर 'गोसुख' बना। अब प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर परवल्लिङ्गता के कारण नपुंसक में **अतोऽम्** (२३४) द्वारा सुँ को अम् आदेश एवम् **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने से 'गोसुखम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार—अश्वाय सुखम् अश्वसुखम् आदि जानने चाहियें।

(६) चतुर्थ्यन्त सुँबन्त का 'रक्षित' सुँबन्त के साथ समास यथा—

लौकिकविग्रह—गोभ्यो[2] रक्षितं गोरक्षितम्। (गौओं के लिये रक्षित तृण आदि)। अलौकिकविग्रह—गो भ्यस्+रक्षित सुँ। यहां अलौकिकविग्रह में 'गो भ्यस्' इस चतुर्थ्यन्त का 'रक्षित सुँ' के साथ **चतुर्थी तदर्थार्थ-बलि-हित-सुख-रक्षितैः** (९२७) सूत्र द्वारा विकल्प से तत्पुरुषसमास, चतुर्थ्यन्त का पूर्वनिपात, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँपों का लुक् तथा विभक्ति लाने से 'गोरक्षितम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार अश्वेभ्यो रक्षितम् अश्वरक्षितम् आदि की सिद्धि जाननी चाहिये।

अब पञ्चमीतत्पुरुषसमास का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९२८) पञ्चमी भयेन ।२।१।३६॥

[पञ्चम्यन्तं सुँबन्तं भयप्रकृतिकेन सुँबन्तेन वा समस्यते, तत्पुरुषश्च समासो भवति]। चोराद् भयं चोरभयम्॥

अर्थः—पञ्चम्यन्त सुँबन्त, भयप्रकृतिक सुँबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

व्याख्या—पञ्चमी ।१।१। भयेन ।३।१। **समासः, सुँप्, सह सुँपा, विभाषा, तत्पुरुषः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। **प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः** (प०) इस परिभाषा के अनुसार 'पञ्चमी' से तदन्तविधि हो कर 'पञ्चम्यन्तं सुँबन्तम्' बन जाता है। अर्थः—(पञ्चमी=पञ्चम्यन्तम्) पञ्चम्यन्त (सुँप्=सुँबन्तम्) सुँबन्त (भयेन[3]) भयप्रकृतिक (सुँपा=सुँबन्तेन) सुँबन्त के साथ (विभाषा) विकल्प से (समासः) समास को प्राप्त होता है और वह समास (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसञ्ज्ञक होता है। उदाहरण यथा—

---

१. तादर्थ्ये चतुर्थी। अथवा—**चतुर्थी चाऽऽशिष्यायुष्य-मद्र-भद्र-कुशल-सुखार्थ-हितैः** (२.३.७३) इति चतुर्थी।

२. अत्रापि तादर्थ्ये चतुर्थी बोध्या।

३. 'भयेन' से यहां भयवाचक शब्द अभिप्रेत नहीं केवल 'भय' शब्द ही अभीष्ट है। अत एव 'वृकेभ्यस्त्रासः, चौरात् त्रासः' इत्यादियों में यह समास नहीं होता।

लौकिकविग्रह—चोराद्[1] भयं चोरभयम् (चोर से डर)। अलौकिकविग्रह—**चोर** ङसिँ + भय सुँ। यहां अलौकिकविग्रह में '**चोर** ङसिँ' इस पञ्चम्यन्त सुँबन्त का '**भय सुँ**' इस सुँबन्त के साथ प्रकृतसूत्र **पञ्चमी भयेन** (९२८) द्वारा विकल्प से तत्पुरुषसमास हो जाता है। समासविधायक इस सूत्र में 'पञ्चमी' पद प्रथमानिर्दिष्ट है अतः तद्बोध्य की उपसर्जनसंज्ञा हो उस का पूर्वनिपात हो जाता है—चोर ङसिँ + भय सुँ। अब **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) सूत्र से समास की प्रातिपदिकसंज्ञा और **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से उसके अवयव सुँपों (ङसिँ और सुँ) का लुक् हो कर—चोरभय। प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय लाने से परवल्लिङ्गता (९६२) के कारण नपुंसक में सुँ को **अतोऽम्** (२३४) द्वारा अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'चोरभयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। समास के अभाव में 'चोराद् भयम्' ऐसा वाक्य भी रहेगा।

इसीप्रकार—दस्योर्दस्युभ्यो वा भयं दस्युभयम्। विघ्नेभ्यो भयं विघ्नभयम्[2]। रोगेभ्यो भयं रोगभयम्[3]। वृकेभ्यो भयं वृकभयम् आदि प्रयोग जानने चाहियें।

वार्त्तिककार ने **भय-भीत-भीति-भीभिरिति वक्तव्यम्** इस वार्त्तिक में 'भय' शब्द के अतिरिक्त भीत, भीति और भी(डर) शब्दों के साथ भी पञ्चम्यन्त का समास कहा है। यथा—भयाद् भीतो भयभीतः[4]। वृकाद्भीतो वृकभीतः (भेड़िये से डरा हुआ)। वृकाद् भीतिः—वृकभीतिः (भेड़िये से भय)। वृकाद् भीः—वृकभीः (भेड़िये से डर)।

इन के अतिरिक्त क्वचिद् अन्यत्र भी पञ्चमीतत्पुरुषसमास देखा जाता है। यथा—भोगेभ्य उपरतो भोगोपरतः। ग्रामाद् निर्गतो ग्रामनिर्गतः। अधर्माद् जुगुप्सुः—अधर्मजुगुप्सुः। अध्यवसायाद् भीरुः—अध्यवसायभीरुः[5]। वन्याद् इतरः—वन्येतरः।

---

१. स्वार्थ-णिजन्त 'चुर्' (चोरि) धातु से पचादित्वात् **नन्दि-ग्रहि-पचादिभ्यो ल्यु-णिन्यचः** (७८६) से अच् प्रत्यय करने तथा **णेरनिटि** (५२९) से णि का लोप करने से 'चोर' (चोरयतीति चोरः) शब्द निष्पन्न होता है। 'चोर' से **प्रज्ञादिभ्यश्च** (१२४०) द्वारा स्वार्थ में अण् (अ) प्रत्यय कर आदिवृद्धि से 'चौर' यह शब्द भी बनता है—चोर एव चौरः। प्रकृतसमासगतविग्रहवाक्य में 'चोर' शब्द की **भीत्रार्थानां भयहेतुः** (१.४.२५) सूत्र से अपादानसंज्ञा हो कर **अपादाने पञ्चमी** (९००) द्वारा अपादान में पञ्चमी विभक्ति हुई है।

२. **प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः** (नीतिशतक ७२)।

३. **भोगे रोगभयं कुले च्युतिभयम्** (वैराग्यशतक ३१)।

४. **भयभीता इवाङ्गनाः** (बुद्धचरित ४.२५)।

५. **न स्वल्पमप्यध्यवसायभीरोः**
करोति विज्ञानविधिर्गुणं हि।
अन्धस्य किं हस्ततलस्थितोऽपि
प्रकाशयत्यर्थमिह प्रदीपः॥ (हितोप० १.१७२)

इन सब की सिद्धि **कर्तृकरणे कृता बहुलम्** (६२६) सूत्र में 'बहुलम्' ग्रहण के कारण अन्य विभक्तियों का कृदन्त के साथ समास हो जाने अथवा सुँप्सुँपासमास मान लेने से की जाती है। कुछ लोग प्रकृतसूत्र का—(१) **पञ्चमी**, (२) **भयेन** इस प्रकार योगविभाग कर इस के **प्रथमांश** के द्वारा इन की सिद्धि किया करते हैं। योगविभागों का वर्णन आगे (६३४) सूत्र की व्याख्या में देखें।

अब एक अन्यसूत्र के द्वारा पञ्चमीतत्पुरुषसमास का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६२६) स्तोकान्तिक-दूरार्थ-कृच्छ्राणि क्तेन ।२।१।३८॥

(स्तोकान्तिकदूरार्थवाचकाः कृच्छ्रशब्दश्चेति पञ्चम्यन्ताः क्तान्तप्रकृतिकेन सुँबन्तेन वा समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति) ॥

अर्थः—स्तोकार्थक (स्वल्पार्थक), अन्तिकार्थक (समीपार्थक), दूरार्थक तथा कृच्छ्रशब्द—ये पञ्चम्यन्त सुँबन्त, क्तान्तप्रकृतिक सुँबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

व्याख्या—स्तोक-अन्तिक-दूरार्थ-कृच्छ्राणि ।१।३। क्तेन ।३।१। (**पञ्चमी भयेन** से)। **समासः, सुँप्, सह सुँपा, विभाषा, तत्पुरुषः**—ये सब अधिकृत हैं। स्तोकश्च अन्तिकञ्च दूरञ्चेति स्तोकान्तिकदूराणि, इतरेतरद्वन्द्वः। स्तोकान्तिकदूराणि अर्था येषान्ते स्तोकान्तिकदूरार्थाः, बहुव्रीहिसमासः। स्तोकान्तिकदूरार्थाः कृच्छ्रञ्चेति स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि, इतरेतरद्वन्द्वः। प्रत्ययग्रहणपरिभाषाद्वारा 'पञ्चमी' से तदन्तविधि हो कर वचनविपरिणाम से 'पञ्चम्यन्तानि' बन जाता है। 'क्त' से भी तदन्तविधि हो कर 'क्तान्तेन' उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि) स्वल्पार्थक, समीपार्थक, दूरार्थक तथा कृच्छ्रशब्द—ये सब (पञ्चम्यन्तानि) पञ्चम्यन्त सुँबन्त, (क्तान्तेन) क्तान्तप्रकृतिक (सुँबन्तेन) सुँबन्त के साथ (विभाषा) विकल्प से (समासाः) समास को प्राप्त होते हैं और वह समास (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

इस समास में पञ्चमी के लुक् का निषेध करते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(६३०) पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः ।६।३।२॥

अलुगुत्तरपदे। स्तोकान्मुक्तः। (अल्पान्मुक्तः)। अन्तिकादागतः। अभ्याशादागतः। दूरादागतः। (विप्रकृष्टादागतः)। कृच्छ्रादागतः॥

अर्थः—स्तोक आदियों से परे पञ्चमी का लुक् नहीं होता उत्तरपद परे हो तो।

व्याख्या—पञ्चम्याः ।६।१। स्तोकादिभ्यः ।५।३। अलुक् ।१।१। उत्तरपदे ।७।१। (**अलुगुत्तरपदे** से)। स्तोक आदिर्येषान्ते स्तोकादयः, तेभ्यः = स्तोकादिभ्यः। बहुव्रीहिसमासः। स्तोकादियों से यहां पूर्वसूत्र (६२६) में प्रतिपादित स्तोकादियों का ग्रहण ही अभीष्ट है। न लुक् अलुक्, नञ्तत्पुरुषः। व्याकरण में समास के अन्तिमपद को 'उत्तरपद' कहते हैं। अर्थः—(स्तोकादिभ्यः) स्तोक आदि शब्दों से परे (पञ्चम्याः) पञ्चमी

विभक्ति का (अलुक्) लुक् नहीं होता (उत्तरपदे) उत्तरपद परे हो तो। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—स्तोकाद्[1] मुक्तः—स्तोकान्मुक्तः स्तोकाद्मुक्तो वा (थोड़े से छूटा हुआ)। अलौकिकविग्रह—स्तोक ङसिँ + मुक्त सुँ। यहां अलौकिकविग्रह में 'स्तोक ङसिँ' इस पञ्चम्यन्त का 'मुक्त सुँ' इस क्तान्तप्रकृतिक सुँबन्त के साथ **स्तोकान्तिक-दूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन** (६२६) सूत्र से वैकल्पिक तत्पुरुषसमास हो जाता है। समास-विधायकसूत्र में प्रथमानिर्दिष्ट के बोध्य 'स्तोक ङसिँ' की उपसर्जनसंज्ञा तथा **उपसर्जनं पूर्वम्** (६१०) से उस का पूर्वनिपात हो कर—स्तोक ङसिँ + मुक्त सुँ। **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (ङसिँ और सुँ) का लुक् प्राप्त होता है। परन्तु **पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः** (६३०) सूत्र से पञ्चमी के लुक् का तो निषेध हो जाता है किन्तु 'सुँ' का लुक् यथावत् हो जाता है—स्तोक ङसिँ + मुक्त। अब **टा-ङसिँ-ङसामिनात्स्याः** (१४०) से ङसिँ के स्थान पर 'आत्' सर्वादेश, सवर्णदीर्घ (४२), **झलां जशोऽन्ते** (६७) से तकार को जश्त्व-दकार तथा **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** (६८) से दकार को वैकल्पिक अनुनासिक-नकार हो कर—'स्तोकान्मुक्त, 'स्तोकाद्मुक्त' ये दो रूप बनते हैं। **एकदेशविकृतमनन्यवत्** इस न्यायानुसार सुँब्लुक् हो जाने पर भी प्रातिपदिकसंज्ञा के अक्षुण्ण रहने से सुँबुत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में 'सुँ' प्रत्यय ला कर अनुबन्ध उकार का लोप, सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने पर 'स्तोकान्मुक्तः, स्तोकाद्मुक्तः' ये दो प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। समासाभाव में भी 'स्तोकान्मुक्तः' या 'स्तोकाद् मुक्तः' वही प्रयोग रहते हैं।

स्तोकान्तिकदूरार्थ० (६२६) सूत्र में केवल 'स्तोक' शब्द का ही ग्रहण नहीं अपितु स्तोकार्थकों का ग्रहण किया गया है, अतः 'स्तोक' के पर्यायवाचकों का भी क्तान्त के साथ समास हो जाता है। यथा—अल्पाद् मुक्तः—अल्पान्मुक्तः।[2]

अन्तिक (समीप) अर्थ के वाचकों का क्तान्तप्रकृतिक सुँबन्त के साथ समास यथा—अन्तिकाद्[3] आगतः—अन्तिकादागतः (समीप से आया हुआ)। अभ्याशाद् आगतः—अभ्याशादागतः। समीपाद् आगतः—समीपादागतः। सविधाद् आगतः—

---

१. यहां **करणे च स्तोकाऽल्प-कृच्छ्र-कतिपयस्याऽसत्त्ववचनस्य** (२.३.३३) सूत्रद्वारा करण में पञ्चमीविभक्ति हुई है। स्तोकशब्द यहां असत्त्ववाची है।

२. अर्थग्रहणेऽपि स्तोकार्थोऽल्पशब्द एवात्र गृह्यते न लेशादयः। **करणे च स्तोकाल्प-कृच्छ्रकतिपयस्याऽसत्त्ववचनस्य** (२.३.३३) इति पञ्चमीविधौ तस्यैव ग्रहेण अन्येभ्यस्तेन पञ्चम्यभावाद् अस्याऽप्राप्तेः। प्रतिपदोक्तपरिभाषया च तद्विहितपञ्चम्यन्तेनैवायं समास इत्याहुः।

३. दूरार्थक तथा अन्तिकार्थक शब्दों से **दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च** (२.३.३५) सूत्र-द्वारा पञ्चमीविभक्ति होती है।

सविधादागतः । इन समासों में अनुनासिक परे न होने से **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** (६८) की प्रवृत्ति नहीं होती । शेष प्रक्रिया पूर्ववत् होती है ।

दूर अर्थ के वाचकों का क्तान्तप्रकृतिक सुँबन्त के साथ समास यथा—दूराद् आगतः—दूरादागतः । विप्रकृष्टाद् आगतः—विप्रकृष्टादागतः । विदूराद् आगतः—विदूरादागतः ।

कृच्छ्रशब्द का क्तान्तप्रकृतिक सुँबन्त के साथ समास यथा—कृच्छ्राद्[1] आगतः—कृच्छ्रादागतः । कृच्छ्राद् लब्धः—कृच्छ्राल्लब्धः[2] (कठिनता से पाया हुआ) । 'कृच्छ्र' का केवल ग्रहण है कृच्छ्रार्थकों का नहीं, अतः 'कष्टाद् आगतः' आदि में यह समास प्रवृत्त नहीं होता ।

विशेष वक्तव्य—'स्तोकान्मुक्तः' आदि में समास के विधान करने का फल ही क्या है? विभक्तिलोप न होने से समास-असमास दोनों अवस्थाओं में एक सा ही रूप रहता है? इस का उत्तर यह है कि समास करने का प्रयोजन स्तोकान्मुक्तः' आदि को एकपद बनाना है । एकपद बन जाने से इन में एक ही स्वर लगेगा पृथक् पृथक् नहीं । इस के अतिरिक्त एकपद के कारण समस्तशब्द से ही तद्धित प्रत्ययों की उत्पत्ति होगी । यथा—स्तोकान्मुक्तस्य अपत्यम्—स्तौकान्मुक्तिः यहां **तस्याऽपत्यम्** (१००४) के अर्थ में **अत इञ्** (१०१४) द्वारा 'स्तोकान्मुक्त' से इञ् तद्धितप्रत्यय हो कर **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदि अच् ओकार को औकार वृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का लोप करने पर स्तौकान्मुक्तिः (थोड़े से मुक्त हुए की सन्तान) प्रयोग सिद्ध हो जायेगा । यह रूप समास किये बिना नहीं बन सकता । इसीप्रकार—दूरादागतस्य अपत्यम्—दौरादागतिः (दूर से आये हुए की सन्तान) आदियों में समझना चाहिये ।

स्तोकादि पञ्चम्यन्तों का क्तान्तप्रकृतिक सुँबन्त के साथ ही समास कहा है अन्यों के साथ नहीं । अत एव 'स्तोकाद् मोक्षः' यहां क्तान्त न होने से समास नहीं होता ।

पञ्चमीतत्पुरुषसमास के इस प्रकरण में छात्त्रों के लिये उपयोगी एक अन्य सूत्र तथा एक वार्त्तिक का भी यहां संक्षेप से उल्लेख किये देते हैं—

अपेताऽपोढ-मुक्त-पतिताऽपत्रस्तैरल्पशः ।२।१।३७।।

अर्थः—कुछेक पञ्चम्यन्त सुँबन्त, अपेत, अपोढ, मुक्त, पतित और अपत्रस्त—इन सुँबन्तों के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं और वह समास तत्पुरुषसञ्ज्ञक होता है । उदाहरण यथा—

सुखाद् अपेतः—सुखापेतः (सुख से रहित)

---

१. यहां भी करण में कृच्छ्रशब्द से **करणे च स्तोकाल्पकृच्छ्र-कतिपयस्याऽसत्त्ववचनस्य** (२.३.३३) सूत्रद्वारा पञ्चमीविभक्ति हुई है ।

२. जश्त्वेन तकार को दकार हो कर **तोर्लि** (६९) सूत्रद्वारा दकार को परसवर्ण लकार हो जाता है ।

कल्पनाया अपोढः—कल्पनापोढः (कल्पना से दूर गया हुआ)।
चक्राद् मुक्तः—चक्रमुक्तः (चक्र से छूटा हुआ)।
स्वर्गात् पतितः—स्वर्गपतितः (स्वर्ग से गिरा हुआ)।
तरङ्गेभ्योऽपत्रस्तः—तरङ्गापत्रस्तः (तरङ्गों से डर कर दूर गया हुआ)।

कुछेक पञ्चम्यन्तों का ही समास होता है सब का नहीं, अतः 'प्रासादात् पतितः, भोजनाद् अपत्रस्तः' इत्यादियों मे समास नहीं होता।

वा० —शत-सहस्रौ परेणेति वक्तव्यम्। (काशिका)

अर्थः—पञ्चम्यन्त 'शत' और 'सहस्र' सुँबन्त—'पर' इस सुँबन्त के साथ विकल्प से तत्पुरुषसंज्ञक समास को प्राप्त होते हैं।

समासविधान में प्रथमानिर्दिष्ट होने के कारण पञ्चम्यन्त 'शत' और 'सहस्र' सुँबन्तों की उपसर्जनसंज्ञा होने से उन का ही पूर्वनिपात प्राप्त होता है, परन्तु **राजदन्तादिषु परम्** (९८६) के अनुसार इन का परनिपात हो जाता है। किञ्च **पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्** (६.१.१५१) द्वारा पारस्करप्रभृतिगण को आकृतिगण मान कर इन को सुँट् का आगम भी हो जाता है। **आद्यन्तौ टकितौ** (८५) के अनुसार टित्त्व के कारण सुँट् का आगम 'शत' और 'सहस्र' शब्दों का आद्यवयव बनता है। उदाहरण यथा—शतात् परे परश्शताः पुरुषाः। शतात् पराः परश्शता नार्यः[1]। शतात् पराणि परश्शतानि नगराणि। इसीप्रकार—सहस्रात् परे परस्सहस्राः पुरुषाः। परस्सहस्रा नार्यः। परस्सहस्राणि नगराणि। यहां यह ध्यातव्य है कि सुँट् का सकार पदान्त नहीं अतः इसे रुँत्व-विसर्ग नहीं होते। 'शत' परे रहते सुँट् के सकार को श्चुत्वेन शकार हो जाता है परन्तु 'सहस्र' में वह यथावत् सकार ही स्थित रहता है। परःशताः, परःसहस्राः आदि लिखना अशुद्ध है। इन समासघटित शब्दों का लिङ्ग लोकानुसार विशेष्य के अनुसार होता है। इन में परवल्लिङ्गता नहीं होती।

अब क्रमप्राप्त षष्ठीतत्पुरुषसमास का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९३१) **षष्ठी** ।२।२।८॥

सुँबन्तेन प्राग्वत्। राज्ञः पुरुषः—राजपुरुषः॥

अर्थः—षष्ठ्यन्त सुँबन्त, समर्थ सुँबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

व्याख्या—षष्ठी।१।१। **समर्थः पदविधिः, समासः, सुँप्, सह सुँपा, विभाषा, तत्पुरुषः**—ये सब पूर्वतः उपलब्ध हैं। **प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः** इस परिभाषा के

---

१. **सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः** (वा० ५५) से यहां 'परा' को पुंवद्भाव से 'पर' हो जाता है।

अनुसार 'षष्ठी, सुँप्, सुँपा' इन सब से तदन्तविधि हो जाती है। **अर्थः**—(षष्ठी = षष्ठ्यन्तम्) षष्ठ्यन्त (सुँप् = सुँबन्तम्) सुँबन्त (समर्थेन) समर्थ (सुँपा = सुँबन्तेन) सुँबन्त के साथ (विभाषा) विकल्प से (समासः) समास को प्राप्त होता है और वह समास (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसञ्ज्ञक होता है। समास वैकल्पिक है अतः इस का स्वपद-लौकिकविग्रह होता है। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—राज्ञः पुरुषः—राजपुरुषः (राजा का सेवक)। अलौकिकविग्रह —राजन् ङस् + पुरुष सुँ। यहां अलौकिकविग्रह में 'राजन् ङस्' इस षष्ठ्यन्त सुँबन्त का 'पुरुष सुँ' इस समर्थ सुँबन्त के साथ प्रकृत **षष्ठी** (९३१) सूत्रद्वारा विकल्प से तत्पुरुषसमास हो जाता है। समासविधान में 'षष्ठी' प्रथमानिर्दिष्ट है अतः तद्बोध्य 'राजन् ङस्' की उपसर्जनसंज्ञा हो कर **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्वनिपात हो जाता है—राजन् ङस् + पुरुष सुँ। अब **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) सूत्र से समास की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर उस के अवयव सुँप् (ङस् और सुँ) का **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् हो जाता है—राजन्पुरुष। **प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्** (१९०) द्वारा लुप्त हुई अन्तर्वर्तिनी विभक्ति (ङस्) को मान कर 'राजन्' के पदत्व के कारण **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से नकार का लोप करने पर—राजपुरुष। पुनः एकदेश के लुप्त होने से विकृत हो जाने पर भी प्रातिपदिकसंज्ञा के अक्षुण्ण रहने से स्वादियों की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर उकार अनुबन्ध का लोप, सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने पर 'राजपुरुषः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार—

(१) आत्मनो ज्ञानम्—आत्मज्ञानम्।
(२) ब्रह्मणो विचारः—ब्रह्मविचारः।
(३) राज्ञो धानी—राजधानी।
(४) परमात्मनो भक्तिः—परमात्मभक्तिः।
(५) स्वामिनः सेवा—स्वामिसेवा।
(६) रोगिणश्चर्या—रोगिचर्या।
[इन सब में पदान्त नकार का लोप हो जाता है।]
(७) चेतसो वृत्तिः—चेतोवृत्तिः।
(८) तपसो वनम्—तपोवनम्।
(९) मनसो विकारः—मनोविकारः।
(१०) वेधसो रचना—वेधोरचना।
[इन में सकार को रुँत्व, उत्व (१०७) और गुण (२७) हो जाता है।]
(११) उरसः कम्पः—उरःकम्पः।
(१२) चेतसः प्रसादः—चेतःप्रसादः।
(१३) मनसः स्थितिः—मनःस्थितिः।

(१४) वचसः प्रयोगः—वचःप्रयोगः ।

[इन में पदान्त सकार को रुँत्व-विसर्ग हो जाते हैं ।]

(१५) यशसोऽभिलाषः—यशोऽभिलाषः ।

(१६) तपसोऽन्तः—तपोऽन्तः ।

(१७) मनसोऽवस्था—मनोऽवस्था ।

[इन में पदान्त सकार को रुँत्व-उत्व-गुण हो पूर्वरूप हो जाता है ।]

(१८) तस्य पुरुषः—तत्पुरुषः ।

(१९) नृणां पतिः—नृपतिः ।

(२०) भुवः पतिः—भूपतिः ।

(२१) गङ्गाया जलम्—गङ्गाजलम् ।

(२२) अश्वस्य घासः—अश्वघासः ।

(२३) वासस्य भवनम्—वासभवनम् ।

(२४) गृहस्य स्वामी—गृहस्वामी ।

(२५) सतां सङ्गतिः—सत्सङ्गतिः । इत्यादि ।

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी में **षष्ठीतत्पुरुषसमास** बहुत ही संक्षिप्त दिया गया है । अतः प्रबुद्ध छात्रों के लिये कुछ अन्य उपयोगी सूत्र हम यहां समझा कर सोदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं—

[१] **न निर्धारणे** ।२।२।१०॥

अर्थः—निर्धारण अर्थ में जो षष्ठी वह समर्थ सुँबन्त के साथ समास को प्राप्त नहीं होती । उदाहरण यथा—

नृणां ब्राह्मणः श्रेष्ठः । मनुष्याणां क्षत्रियः शूरतमः । यहां **यतश्च निर्धारणम्** (२.३.४१) सूत्रद्वारा निर्धारण में षष्ठी हुई है अतः इस का सुँबन्त के साथ समास नहीं होता ।[1]

[२] **तृजकाभ्यां कर्त्तरि** ।२।२।१५॥

अर्थः—कर्त्ता अर्थ में जो तृच् और अक (ण्वुल्) प्रत्यय, तदन्त सुँबन्तों के साथ कृद्योग में हुई षष्ठी का समास नहीं होता । उदाहरण यथा—

तृच्—घटानां निर्माता, वज्रस्य भर्ता, अपां स्रष्टा । इत्यादि । अक—ओदनस्य

१. पुरुषाणाम् उत्तमः—पुरुषोत्तमः । यहां निर्धारण में षष्ठी नहीं हुई अपितु सम्बन्ध-सामान्य में षष्ठी है अतः समास का निषेध नहीं होता । कैयटोपाध्याय का कथन है कि तीन बातों के होने पर ही निर्धारणषष्ठी हुआ करती है—(१) जिस से निर्धारित करना है वह समुदाय । (२) निर्धार्यमाण—जिसे निर्धारित करना है वह । (३) निर्धारण का हेतु । यहां तीन बातें पूरी न होने से निर्धारणषष्ठी नहीं अपितु सम्बन्धषष्ठी है, अतः समास हो गया है ।

पाचकः, कूपस्य खनकः, यवानां लावकः । इत्यादि । यहां **ण्वुल्तृचौ** (७८४) सूत्रद्वारा कर्त्ता में तृच् और ण्वुल् प्रत्यय हुआ है । अतः षष्ठी का इन के साथ समास नहीं हुआ[1] ।

[३] **याजकादिभिश्च** ।२।२।९।।

अर्थः—कृद्योगा षष्ठी, याजक आदियों के साथ समास को प्राप्त हो जाती है। यह **तृजकाभ्यां कर्तरि** (२.२.१५) सूत्र का अपवाद है । उदाहरण यथा—

(१) ब्राह्मणस्य याजकः—ब्राह्मणयाजकः ।

(२) देवानां पूजकः—देवपूजकः ।

(३) भुवो भर्त्ता[2]—भूभर्त्ता । वैदेहीभर्त्ता ।

(४) संस्कृतस्याध्यापकः—संस्कृताध्यापकः ।

(५) राज्ञः परिचारकः—राजपरिचारकः ।

(६) घटस्य उत्पादकः—घटोत्पादकः ।

(७) भोजनस्य परिवेषकः—भोजनपरिवेषकः ।

[४] **पूरण-गुण-सुहितार्थ-सदव्यय-तव्य-समानाधिकरणेन** ।२।२।११।।

अर्थः—पूरणप्रत्ययान्त, गुणवाची शब्द, सुहित-तृप्ति अर्थ वाले, सत्सञ्ज्ञक-प्रत्ययान्त (शतृँ-शानच्-प्रत्ययान्त), अव्यय, तव्यप्रत्ययान्त तथा समानाधिकरणवाची शब्दों के साथ षष्ठ्यन्त सुँबन्त समास को प्राप्त नहीं होता । उदाहरण यथा—

पूरणप्रत्ययान्त—छात्राणां पञ्चमः । सतां षष्ठः ।

गुणवाची—काकस्य कार्ष्ण्यम् । बलाकायाः **शौक्ल्यम्**[3] ।

सुहितार्थ—फलानां सुहितः । फलानां तृप्तः ।

सत्—ब्राह्मणस्य कुर्वन् । ब्राह्मणस्य कुर्वाणः । (ब्राह्मण का नौकर) ।

अव्यय—ब्राह्मणस्य कृत्वा ।

---

१. कृद्योगा षष्ठी का ही यह निषेध है । अतः **घटानां निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः** इत्यादियों में शेषषष्ठी का निषेध नहीं होता समास हो जाता है । त्रिभुवनस्य विधाता—त्रिभुवनविधाता, तस्य = त्रिभुवनविधातुः ।

२. याजकादियों में पठित 'भर्तृ' शब्द का स्वामी या पति अर्थ ही विवक्षित है। 'धारण करने वाला' इत्यादि अर्थों में **तृजकाभ्यां कर्त्तरि** (२.२.१५) सूत्र से समास का निषेध हो जाता है।

३. षष्ठ्यन्त का गुणवाचियों के साथ समास का यह निषेध अनित्य है । आचार्य ने **तदशिष्यं सञ्ज्ञाप्रमाणत्वात्** (१.२.५३) सूत्र में 'सञ्ज्ञायाः प्रमाणत्वात् संज्ञाप्रमाणत्वात्' ऐसा गुणवाची के साथ स्वयं षष्ठी का समास किया है । अतः इस निषेध के अनित्य होने से 'अर्थस्य गौरवम् अर्थगौरवम्, बुद्धेर्मान्द्यम् बुद्धिमान्द्यम्' इत्यादियों में समास हो जाता है । नागेशभट्ट का मत इस से भिन्न है उसे लघुशब्देन्दुशेखर में देखें ।

तव्य—ब्राह्मणस्य कर्त्तव्यम् ।[1]

समानाधिकरण—पाणिनेः सूत्रकारस्य । दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः ।

[५] **कर्मणि च** ।२।२।१४॥

अर्थः—कर्म में विहित षष्ठी समर्थ सुँबन्त के साथ समास को प्राप्त नहीं होती । उदाहरण यथा—

आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन (गोपालक न होते हुए भी इस का गौओं को दोहना आश्चर्यजनक है) । यहां 'दोह' इस कृत्प्रत्ययान्त के साथ योग होने पर कर्म (गो) और कर्त्ता (अगोप) दोनों में षष्ठी प्राप्त थी पर ऐसी स्थिति में **उभयप्राप्तौ कर्मणि** (२.३.६६) सूत्रद्वारा कर्म (गो) में ही षष्ठी हुई । 'गवाम्' यह कर्म में षष्ठी है, अतः इस का 'दोहः' सुँबन्त के साथ समास नहीं हुआ । इसीप्रकार—विचित्रा हि सूत्राणां कृतिः पाणिनिना । साधु खलु सूत्रस्य व्याख्यानं भाष्यकारेण ।

[६] **अधिकरणवाचिना च** ।२।२।१३॥

अर्थः—अधिकरण अर्थ में विहित जो क्तप्रत्यय, तदन्त के साथ षष्ठ्यन्त का समास नहीं होता । उदाहरण यथा—

(१) इदमेषां शयितम् (यह इन के सोने का स्थान है) ।

(२) इदमेषाम् आसितम् (यह इन के बैठने का स्थान है) ।

(३) इदमेषाम् भुक्तम् (यह इन के खाने का स्थान है) ।

(४) इदमेषां यातम् (यह इन के जाने का मार्ग है) ।

यहां शयितम्, आसितम्, भुक्तम्, यातम्—में **क्तोऽधिकरणे च ध्रौव्य-गति-प्रत्यवसानार्थेभ्यः** (३.४.७६) सूत्र से अधिकरण में क्तप्रत्यय हुआ है अतः इन के साथ षष्ठ्यन्त का समास नहीं होता ।

[७] **क्तेन च पूजायाम्** ।२।२।१२॥

अर्थः—मति (इच्छा), बुद्धि, पूजा—इन अर्थों वाली धातुओं से **मति-बुद्धि-पूजार्थेभ्यश्च** (३.२.१८८) सूत्रद्वारा वर्त्तमानकाल में जो क्तप्रत्यय किया जाता है उस क्तान्त के साथ षष्ठ्यन्त का समास नहीं होता । उदाहरण यथा—

(१) राज्ञां मतः (राजाओं से चाहा जाने वाला) ।

(२) राज्ञां बुद्धः (राजाओं से जाना जाता हुआ) ।

(३) राज्ञां पूजितः (राजाओं से पूजा जाने वाला) ।

यहां 'मतः, बुद्धः, पूजितः' में वर्त्तमानकाल में कर्मणि क्तप्रत्यय हुआ है । इन के योग में **क्तस्य च वर्त्तमाने** (२.३.६७) सूत्रद्वारा कर्त्ता (राजन्) में षष्ठी हुई है । इस षष्ठी का इन क्तान्तों के साथ समास नहीं होता ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा अवयव-अवयविसमास का विधान करते हैं—

---

१. समास का यह निषेध तव्यप्रत्ययान्त के साथ है तव्यत्प्रत्ययान्त के साथ नहीं ।

made of
एकदेशिन् [composite-parts]

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९३२) **पूर्वाऽपराऽधरोत्तरमेकदेशिनैकाऽधिकरणे** ।२।२।१॥

अवयविना सह पूर्वादयः समस्यन्ते, एकत्वविशिष्टश्चेदवयवी। षष्ठीसमासाऽपवादः। पूर्वं कायस्य—पूर्वकायः। अपरकायः। एकाऽधिकरणे किम्? पूर्वश्छात्त्राणाम्॥

अर्थः—यदि अवयवी एकत्वसंख्याविशिष्ट हो तो तद्वाचक सुँबन्त के साथ पूर्व, अपर, अधर, उत्तर—ये चार सुँबन्त विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं और वह समास तत्पुरुषसञ्ज्ञक होता है। यह सूत्र **षष्ठी** (९३१) सूत्रद्वारा प्राप्त समास का अपवाद है।

व्याख्या—पूर्वाऽपराऽधरोत्तरम् ।१।१। एकदेशिना ।३।१। एकाधिकरणे ।७।१। **समासः**, **सुँप्**, **सह सुँपा**, **विभाषा**, **तत्पुरुषः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। पूर्वञ्च परञ्च अधरञ्च उत्तरञ्च एषां समाहारः—पूर्वापराधरोत्तरम्, समाहारद्वन्द्वः। एकदेशः=अवयवः, सोऽस्यास्तीति एकदेशी, तेन=एकदेशिना, अवयविनेत्यर्थः। एकम् (एकत्वसंख्याविशिष्टम्) च तद् अधिकरणम् (द्रव्यम्)—एकाधिकरणम्, तस्मिन्=एकाधिकरणे, कर्मधारयसमासः। 'एकाधिकरणे' का सम्बन्ध 'एकदेशिना' के साथ है। अर्थः—(एकाधिकरणे) एकत्वसंख्याविशिष्ट द्रव्य अर्थ में वर्त्तमान (एकदेशिना) जो अवयवी तद्वाचक (सुँपा=सुँबन्तेन) सुँबन्त के साथ (पूर्वापराधरोत्तरम्) पूर्व, अपर, अधर और उत्तर—ये (सुँप्=सुँबन्तम्) सुँबन्त (विभाषा) विकल्प से (समासः) समास को प्राप्त होते हैं और वह समास (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसंज्ञक होता है। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—पूर्वं[1] कायस्य[2]—पूर्वकायः (शरीर का अगला अर्धं)।

---

१. 'पूर्वम्' यहां नपुंसक का प्रयोग 'अर्धम्' विशेष्य को ध्यान में रखते हुए किया गया है। यदि 'भागः' आदि विशेष्य विवक्षित हो तो 'पूर्वः' इस प्रकार पुंलिङ्ग में भी प्रयोग हो सकता है जैसा कि आचार्य हेमचन्द्र ने हैमव्याकरण की स्वोपज्ञ-बृहद्वृत्ति में किया है।

२. दिशि दृष्टः शब्दो दिक्शब्दः। जो शब्द एक बार दिशा अर्थ में देखा जा चुका हो चाहे अब वह दिशावाची न भी हो तो भी उस के योग में **अन्यारादितरर्त्तेदिक्शब्दाञ्चूत्तरपदाजाहियुक्ते** (२.३.२९) सूत्रद्वारा पञ्चमीविभक्ति का विधान किया जाता है, तो पुनः यहां 'पूर्व' शब्द के योग में 'पूर्वं कायस्य' इस प्रकार 'काय' शब्द से षष्ठी न होकर पञ्चमी होनी चाहिये थी? इस का उत्तर यह है कि **तस्य परमाम्रेडितम्** (८.१.२) इस पाणिनीयसूत्र में 'पर' इस दिक्शब्द के योग में 'तस्य' में षष्ठी के प्रयोग से यह बात ध्वनित होती है कि आचार्य अवयव अर्थ में वर्त्तमान दिक्शब्द के योग में पञ्चमी का विधान नहीं चाहते अपितु सम्बन्ध में षष्ठी ही चाहते हैं।

अलौकिकविग्रह--पूर्व सुँ+काय ङस् । यहां अलौकिकविग्रह में 'काय ङस्' यह एकत्व-संख्याविशिष्ट अवयवी का वाचक है । इस के साथ अवयववाचक 'पूर्व सुँ' का प्रकृत **पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे** (९३२) सूत्र से वैकल्पिक तत्पुरुषसमास हो जाता है । समासविधायक इस सूत्र में 'पूर्वापराधरोत्तरम्' यह प्रथमानिर्दिष्ट है अत: तद्बोध्य 'पूर्व सुँ' की उपसर्जनसंज्ञा हो कर **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्वनिपात हो जाता है—पूर्व सुँ+काय ङस् । अब समाससंज्ञक इस समग्र समुदाय की **कृत्तद्धित-समासाश्च** (११७) द्वारा प्रातिपदिक संज्ञा कर **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयो:** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (सुँ और ङस्) का लुक् हो जाता है—पूर्वकाय । एकदेश-विकृतन्याय से प्रातिपदिकसंज्ञा के अक्षुण्ण रहने से विभक्त्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर तत्पुरुषसमास में परवल्लिङ्गता के नियमानुसार पुंलिङ्ग में[1] सुँ के सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने से 'पूर्वकाय:' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

यह सूत्र **षष्ठी** (९३१) सूत्र का अपवाद है । यदि **षष्ठी** (९३१) सूत्रद्वारा समास किया जाता तो षष्ठ्यन्त के प्रथमानिर्दिष्ट होने के कारण 'काय ङस्' की उपसर्जनसंज्ञा हो कर उस का पूर्वनिपात करने से 'कायपूर्वम्' ऐसा अनिष्ट रूप बनता । उसे रोकने के लिये ही उस का अपवाद यह सूत्र बनाया गया है[2] । यह सूत्र वैकल्पिक समास का विधान करता है । जिस पक्ष में समास प्रवृत्त न होगा वहां 'पूर्वं कायस्य' ऐसा वाक्य ही रहेगा । वहां **षष्ठी** (९३१) सूत्रद्वारा पुन: समास न होगा । क्योंकि महाविभाषा से जब विकल्प किया जाता है तो अपवाद से मुक्त होने पर पुन: उत्सर्ग की प्रवृत्ति नहीं हुआ करती—ऐसा नियम है[3] ।

इसीप्रकार—अपरं कायस्य--अपरकाय: (शरीर का पिछला आधा भाग) । अधरं कायस्य—अधरकाय: (शरीर का निचला आधा भाग) । उत्तरं कायस्य—उत्तर-काय: (शरीर के ऊपर का आधा भाग) । पूर्वोऽह्न:—पूर्वाह्ण:[4] (दिन का पहला भाग) ।

---

१. यहां उत्तरपद 'काय' है जो पुंलिङ्ग है । यथा—**अनेकदोषदुष्टोऽपि काय: कस्य न वल्लभ:** (पञ्चतन्त्र १.२६५) ।

२. अन्यथा 'ऊर्ध्वश्चासौ काय:—ऊर्ध्वकाय:' की तरह 'पूर्वश्चासौ काय:—पूर्वकाय:' इस प्रकार कर्मधारयसमास से भी 'पूर्वकाय:' की सिद्धि की जा सकती थी ।

३. यह नियम **पारे मध्ये षष्ठ्या वा** (२.१.१७) सूत्र में महाविभाषा की अनुवृत्ति होने पर भी पुन: 'वा' पद के ग्रहण से ज्ञापित होता है । इस का विस्तार व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखें ।

४. 'पूर्व सुँ+अहन् ङस्' यहां प्रकृतसूत्र से समास, सुँब्लुक् तथा **राजाह:सखिभ्यष्टच्** (९५८) से समासान्त टच् हो कर—पूर्व अहन् अ । अब **अह्नोऽह्न एतेभ्य:** (५.४.८८) द्वारा एकदेश (अवयव) से परे अहन् को 'अह्न' सर्वादेश, **अह्नोऽदन्तात्** (८.४.७) से 'अह्न' के नकार को णकार एवं भसंज्ञक अकार का लोप कर

अपरोऽह्नः—अपराह्णः (दिन का पिछला भाग)। उत्तरोऽह्नः—उत्तराह्णः (दिन का पिछला भाग) इत्यादि उदाहरण जानने चाहियें।

एकाधिकरणे किम् ? पूर्वश्छात्त्राणाम्।

इस समास में अवयवी का एकत्वसंख्याविशिष्ट होना आवश्यक है अन्यथा यह समास प्रवृत्त न होगा। यथा—पूर्वश्छात्त्राणाम्[1] (छात्रों का पहला भाग आदि)। यहां अवयवी 'छात्त्राणाम्' है जो बहुवचनान्त होने से बहुत्वसंख्याविशिष्ट है। अतः यहां यह समास प्रवृत्त नहीं होता।

एकदेशिना किम् ? पूर्वं नाभेः कायस्य।

पूर्व आदि का अवयवी के साथ ही यह समास विधान किया गया है। यदि उत्तरपद अवयवी न होगा तो उस के साथ पूर्वादियों का यह समास न होगा। यथा—पूर्वं नाभेः कायस्य (नाभि से पूर्व शरीर का आधा भाग)। यहां 'पूर्वं नाभेः' में 'नाभेः' यह दिग्योगपञ्चम्यन्त पद है अवयवी नहीं अतः इस के साथ 'पूर्वम्' का समास नहीं होता। हां ! 'कायस्य' के साथ 'पूर्वम्' का समास हो सकता है—पूर्वकायो नाभेः।[2]

पूर्वाऽपराऽधरोत्तरम् इति किम् ? दक्षिणं कायस्य।

पूर्व, अपर, अधर और उत्तर—ये चार सुँबन्त ही प्रकृतसूत्रद्वारा अवयवी के साथ समास को प्राप्त होते हैं अन्य यहीं। इस से 'दक्षिणं कायस्य' (शरीर का दाहिना आधा भाग) यहां 'दक्षिण' सुँबन्त का अवयवी के साथ समास नहीं होता।

अब एक अन्यसूत्रद्वारा अवयवावयविसमास का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९३३) अर्धं नपुंसकम् ।२।२।२।।

समांशवाची अर्धशब्दो नित्यं क्लीबे, स प्राग्वत्। अर्धं पिप्पल्याः—अर्धपिप्पली ।।

अर्थः—सम अंश (ठीक आधे भाग) का वाचक 'अर्ध' शब्द नित्यनपुंसक होता है। नित्यनपुंसक यह अर्ध सुँबन्त एकत्वविशिष्ट अवयवी के वाचक सुँबन्त के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है और वह समास तत्पुरुषसञ्ज्ञक होता है।

सवर्णदीर्घ करने से 'पूर्वाह्णः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। ध्यान रहे कि **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) सूत्र के अनुसार यहां परवल्लिङ्ग अर्थात् उत्तरपद 'अहन्' के लिङ्गानुसार नपुंसक प्राप्त होता था परन्तु **रात्राह्नाहाः पुंसि** (९५७) सूत्र से उस का बाध होकर पुंस्त्व हो जाता है।

१. यहां निर्धारण में षष्ठी नहीं किन्तु अवयवावयविभावसम्बन्ध में षष्ठी हुई है। 'अंशः' विशेष्य का अध्याहार करना चाहिये। कहीं कहीं 'पूर्वं छात्त्राणाम्' ऐसा भी पाठ मिलता है। वहां 'अर्धम्' विशेष्य के कारण नपुंसक का प्रयोग समझना चाहिये।

२. अत्र नाभ्यपेक्षोऽपि पूर्वशब्दः 'देवदत्तस्य गुरुकुलम्' इतिवन्नित्यसापेक्षत्वात् समस्यते। उक्तञ्च—**सम्बन्धिशब्दः सापेक्षो नित्यं सर्वः समस्यते** इति ।।

व्याख्या—अर्धम् ।१।१। नपुंसकम् ।१।१। एकाधिकरणे ।७।१। एकदेशिना ।३।१। (**पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे** सूत्र से) । **समासः**, **सुँप्**, **सह सुँपा**, **विभाषा**, **तत्पुरुषः**—ये सब पूर्ववत् अधिकृत हैं । 'एकाधिकरणे' तथा 'एकदेशिना' की व्याख्या पूर्वसूत्र में कर चुके हैं । अर्थः—(एकाधिकरणे) एकत्वसंख्याविशिष्ट द्रव्य अर्थ में वर्त्तमान (एकदेशिना) जो अवयवी, तद्वाचक (सुँपा=सुँबन्तेन) सुँबन्त के साथ (नपुंसकम्) नित्यनपुंसक (अर्धम्) 'अर्ध' (सुँप्=सुँबन्तम्) सुँबन्त (विभाषा) विकल्प से (समासः) समास को प्राप्त होता है और वह समास (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसञ्ज्ञक होता है । 'अर्ध' शब्द जब अंश (भाग) का वाचक हो तो पुंलिङ्ग या नपुंसक में प्रयुक्त होता है परन्तु जब समप्रविभाग (ठीक आधे भाग) का वाचक हो तब वह नित्यनपुंसक हुआ करता है[1] । इस नित्यनपुंसक 'अर्ध' सुँबन्त का एकत्वसंख्याविशिष्ट अवयवी सुँबन्त के साथ विकल्प से तत्पुरुषसमास हो जाता है । उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—अर्धं पिप्पल्याः—अर्धपिप्पली (पिप्पली अर्थात् पीपर का ठीक आधा भाग) । अलौकिकविग्रह—अर्ध सुँ + पिप्पली ङस् । यहां अर्धशब्द ठीक आधे भाग का वाचक है अतः 'अर्ध सुँ' का 'पिप्पली ङस्' इस एकत्वसंख्याविशिष्ट अवयवी सुँबन्त के साथ प्रकृत **अर्धं नपुंसकम्** (९३३) सूत्रद्वारा विकल्प से तत्पुरुषसमास हो जाता है । समासविधायक इस सूत्र में 'अर्धम्' पद प्रथमानिर्दिष्ट है अतः तद्बोध्य 'अर्ध सुँ' की उपसर्जनसञ्ज्ञा एवम् **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्वनिपात हो जाता है—अर्ध सुँ + पिप्पली ङस् । अब समास की **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से उस के अवयव सुँपों (सुँ और ङस्) का लुक् हो कर प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुँतिस्यपृक्तं हल्** (१७९) द्वारा उस का लोप करने से 'अर्धपिप्पली' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[2] । यहां महाविभाषा की अनुवृत्ति के कारण समास

---

१. **भित्तं शकलखण्डे वा पुंस्यर्धोऽर्धं समेंऽशके**—इत्यमरः ।

२. अर्धं पिप्पल्याः—अर्धपिप्पली । अर्धं पिप्पल्याः—अर्धपिप्पलीम् । अर्धेन पिप्पल्याः—अर्धपिप्पल्या । अर्धाय पिप्पल्याः—अर्धपिप्पल्यै । अर्धात् पिप्पल्याः—अर्धपिप्पल्याः । अर्धस्य पिप्पल्याः—अर्धपिप्पल्याः । अर्धे पिप्पल्याः—अर्धपिप्पल्याम् । इत्यादिप्रकारेण सब विग्रहों में पिप्पलीशब्द से एक ही निश्चित विभक्ति (षष्ठी=पिप्पल्याः) देखी जाती है अतः **एकविभक्ति चाऽपूर्वनिपाते** (९५१) सूत्रद्वारा 'पिप्पली' शब्द की उपसर्जनसंज्ञा होकर **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** (९५२) से तदन्तसमास के अन्त्य वर्ण ईकार को ह्रस्व करने से 'अर्धपिप्पलिः' बनना चाहिये —यह यहां शङ्का उत्पन्न होती है । इस का उत्तर यह है कि **एकविभक्तावषष्ठ्यन्तवचनम्** (**एकविभक्ति चाऽपूर्वनिपाते** सूत्र में 'अषष्ठ्यन्तम्' ऐसा कहना चाहिये) इस वार्त्तिक के बल से 'पिप्पली' शब्द की उपसर्जनसंज्ञा का निषेध हो जाता है, इस से तन्मूलक ह्रस्वत्व नहीं होता । वार्त्तिकद्वारा यह उपसर्जननिषेध एकदेशिसमासविषयक ही समझना चाहिये ।

का विकल्प है अतः समास के अभाव में वाक्य रहेगा षष्ठीतत्पुरुषसमास न होगा[1] ।

इसीप्रकार—

(१) पणस्य अर्धम्—अर्धपणः ।
(२) वेद्या अर्धम्—अर्धवेदिः ।
(३) कोशातक्या अर्धम्—अर्धकोशातकी ।
(४) रूप्यकस्य अर्धम्—अर्धरूप्यकम् ।
(५) आसनस्यार्धम्—अर्धासनम् ।[2]
(६) शरीरस्यार्धम्—अर्धशरीरम् ।[3]

नित्यनपुंसक न होने पर 'अर्ध' का अवयवी के साथ यह समास नहीं होता। यथा—ग्रामस्य अर्धः—ग्रामार्धः । नगरस्य अर्धः- नगरार्धः । यहां 'अर्ध' शब्द समप्रविभाग अर्थ में वर्त्तमान नहीं किन्तु अंश अर्थ में वर्त्तमान है अतः एकदेशिसमास न हो कर **षष्ठी** (९३१) सूत्रद्वारा षष्ठीतत्पुरुषसमास हुआ है ।

अर्धशब्द का यह समास एकदेशी (अवयवी) के साथ ही होता है अन्य के साथ नहीं । यथा—अर्धं पशोर्देवदत्तस्य (पशु का ठीक आधा भाग देवदत्त का है)। यहां 'अर्धम्' यद्यपि समप्रविभाग अर्थ में वर्तमान है तथापि उस का 'देवदत्तस्य' के साथ समास नहीं होता, क्योंकि 'देवदत्तस्य' अवयवी नहीं अपितु स्वामी है । अवयवी तो पशु है । 'पशोः' के साथ समास हो जाता है—अर्धपशुर्देवदत्तस्य ।

प्रकृतसूत्र में 'एकाधिकरणे' की भी अनुवृत्ति आ रही है । अतः अवयवी यदि एकत्वसंख्याविशिष्ट न होगा तो यह समास न होगा । यथा—अर्धं पिप्पलीनाम् । यहां अवयवी बहुत्वसंख्याविशिष्ट है अतः समास नहीं होता ।

अब सप्तमीतत्पुरुषसमास का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९३४) **सप्तमी शौण्डैः** ।२।१।३९।।

सप्तम्यन्तं शौण्डादिभिः प्राग्वत् । अक्षेषु शौण्डः—अक्षशौण्डः । इत्यादि ।।

---

१. इदमत्र विशेषतोऽवधेयम् । **समुदाये दृष्टाः शब्दा अवयवेष्वपि वर्त्तन्ते** इति न्यायमाश्रित्य 'अर्धञ्चासौ पिप्पली—अर्धपिप्पली'—इत्येवं कर्मधारयेणैव सिद्धौ सूत्रमिदं प्रत्याख्यातं भाष्ये (२.४.२६) । समप्रविभागादन्यत्र 'अर्धाऽऽहार', अर्धोक्तम्, अर्धविलोकितम्' इत्यादिप्रयोगा यथा कर्मधारयेण सिध्यन्ति तद्वदत्रापि भवतु । न च समप्रविभागे षष्ठीसमासं बाधितुमिदं सूत्रमावश्यकमिति वाच्यम्, षष्ठीसमासस्यापीष्टत्वात् । अत एव कालिदासः प्रायुङ्क्त—**प्रेम्णा शरीरार्धहरां हरस्य** (कुमार० १.५०) । भगवान् पिङ्गलनागोऽपि—**स्वरा अर्धं चार्यार्धम्** (४.१४)

२. **अर्धासनं गोत्रभिदोऽधितष्ठौ**—(रघु० ६.७३) ।

३. **तया तु तस्यार्धशरीरभाजा पश्चात्कृता स्निग्धजनाशिषोऽपि**—(कुमार० ७.२८)

अर्थः—सप्तम्यन्त सुँबन्त, शौण्ड आदि सुँबन्तों के साथ विकल्प से समास को प्राप्त होता है और वह समास तत्पुरुषसञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—सप्तमी ।१।१। शौण्डैः ।३।३। **समासः, सुँप्, सह सुँपा, विभाषा, तत्पुरुषः** - ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। 'शौण्डैः' में बहुवचननिर्देश के कारण शौण्डादिगणपठित शब्दों का ग्रहण होता है। **प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः** परिभाषा से तदन्तविधि हो कर 'सप्तम्यन्तं सुँबन्तम्' यह उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(सप्तमी = सप्तम्यन्तम्) सप्तम्यन्त (सुँप् = सुँबन्तम्) सुँबन्त (शौण्डैः) शौण्ड आदि (सुँबन्तैः) सुँबन्तों के साथ (विभाषा) विकल्प से (समासः) समास को प्राप्त होता है और वह समास (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसंज्ञक होता है। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—अक्षेषु शौण्डः—अक्षशौण्डः (पासों के खेलने में चतुर)। अलौकिकविग्रह—अक्ष सुप् + शौण्ड सुँ। यहां 'अक्ष सुप्' इस सप्तम्यन्त सुँबन्त का **सप्तमी शौण्डैः** (६३४) इस प्रकृतसूत्रद्वारा 'शौण्ड सुँ' सुँबन्त के साथ विकल्प से तत्पुरुषसमास हो जाता है। समासविधायक इस सूत्र में प्रथमानिर्दिष्ट पद 'सप्तमी' है, अतः तद्बोध्य 'अक्ष सुप्' की उपसर्जनसंज्ञा तथा **उपसर्जनं पूर्वम्** (६१०) से उस का पूर्वनिपात हो जाता है। अब समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तथा उस के अवयव सुँपो (सुँप् और सुँ) का **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् कर 'अक्षशौण्ड' यह समस्त शब्द निष्पन्न होता है। **एकदेशविकृतमनन्यवत्** इस न्यायानुसार अवयव सुँपों का लुक् हो जाने पर भी प्रातिपदिकसंज्ञा के अक्षुण्ण रहने से स्वाद्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर परवल्लिङ्गता (६६२) के कारण पुंलिङ्ग में सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने से 'अक्षशौण्डः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

(१) पाने शौण्डः—पानशौण्डः (शराब पीने में चतुर)।
(२) अक्षेषु कितवः—अक्षकितवः।
(३) वाचि चपलः—वाक्चपलः।
(४) स्त्रीषु धूर्त्तः—स्त्रीधूर्त्तः।
(५) संगीते प्रवीणः—संगीतप्रवीणः
(६) शास्त्रे पण्डितः—शास्त्रपण्डितः।
(७) तर्के कुशलः—तर्ककुशलः।
(८) काव्येषु निपुणः—काव्यनिपुणः।
(९) व्यापारे पटुः—व्यापारपटुः।
(१०) गुहायां संवीतः—गुहासंवीतः (गुफा में छुपा हुआ)।
(११) गृहे अन्तः—गृहान्तः (घर के मध्य में)[1]।

---

१. 'अन्तर्' यह अव्यय अधिकरणप्रधान है। इस का अर्थ है—मध्य में। इस अव्यय के योग में गृह आदि अवयवी से आधारविवक्षा में सप्तमी हो जाती है, यथा—

(१२) ईश्वरे अधि—ईश्वराधीनः (ईश्वर के अधीन)[1] ।

(१३) राजनि अधि—राजाधीनः (राजा के अधीन) ।

शौण्डादिगण यथा—

शौण्ड, धूर्त्त, कितव, व्याड, प्रवीण, संवीत, अन्तर्, अधि, पटु, पण्डित, कुशल, चपल, निपुण—इति शौण्डादयः ।

सप्तमीतत्पुरुषसमासविषयक कुछ अन्य उपयोगी सरल सूत्रों का हम यहां सार्थ सोदाहरण संग्रह दे रहे हैं । आशा है प्रबुद्ध विद्यार्थियों की ज्ञानवृद्धि में यह सहायक सिद्ध होगा—

[१] **सिद्ध-शुष्क-पक्व-बन्धैश्च** ।२।१।४०।।

अर्थः—सप्तम्यन्त सुँबन्त का सिद्ध, शुष्क, पक्व और बन्ध इन सुँबन्तों के साथ विकल्प से तत्पुरुषसमास होता है । उदाहरण यथा—

रसे सिद्धाः—रससिद्धाः (रस में सिद्ध) ।[2]

आतपे शुष्कः—आतपशुष्कः (धूप में सूखा हुआ) ।

स्थाल्यां पक्वः—स्थालीपक्वः (बटलोई में पकाया हुआ) ।

चक्रे बन्धः—चक्रबन्धः (चक्र में बन्धन), काराबन्धः ।

[२] **ध्वाङ्क्षेण क्षेपे** ।२।१।४१।।

अर्थः—निन्दा गम्यमान होने पर ध्वाङ्क्ष (कौवा) वाचक सुँबन्तों के साथ सप्तम्यन्त सुँबन्त तत्पुरुषसमास को प्राप्त होता है । उदाहरण यथा—

'वृक्षे शाखा' । गृहे अन्तर्—गृहान्तर्वसति (घर के अन्दर रहता है) । जब 'अन्तर्' केवल अधिकरण अर्थ में वर्त्तमान रहता है तब विभक्त्यर्थ में **अव्ययं विभक्ति-समीप०** (९०८) सूत्र से नित्य अव्ययीभावसमास ही होता है । यथा—वने इत्यन्तर्वणम् (वन में) । यहां **प्रनिरन्तःशरेक्षुप्लक्षाम्रकार्ष्यखदिरपीयूक्षाभ्योऽसञ्ज्ञायामपि** (८.४.५) सूत्र से वन के नकार को णकार आदेश हो जाता है ।

१ **अधिरीश्वरे** (१.४.९६) सूत्र से 'अधि' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो कर उस के योग में **यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी** (२.३.९) सूत्रद्वारा 'ईश्वर' शब्द में सप्तमीविभक्ति हो जाती है । अब इस सप्तम्यन्त के साथ 'अधि' का समास होता है । समास में सुँब्लुक् हो कर **अषडक्षाशितंग्वलंकर्मालम्पुरुषाऽध्युत्तरपदात् खः** (५.४.७) सूत्र से स्वार्थ में नित्य 'ख' प्रत्यय तथा 'ख' के आदि खकार को **आय-नेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) सूत्र से ईन् आदेश करने पर 'ईश्वराधीनः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । **इक्ष्वाकूणां दुरापेऽर्थे त्वदधीना हि सिद्धयः**—(रघु० १.७२) । अधिशब्दोऽत्र गणे आधेयप्रधानो बोध्यः । अधिकरणमात्रवृत्तौ तु अव्ययीभाव एव, यथा—स्त्रियामित्यधिस्त्रि ।

२. **जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः**—(नीतिशतक २०)

तीर्थे ध्वाङ्क्ष इव—तीर्थध्वाङ्क्षः । तीर्थे काक इव—तीर्थकाकः । तीर्थे वायस इव—तीर्थवायसः[1] । जैसे तीर्थ में पहुँच कर कौवा बहुत देर तक नहीं ठहरता वैसे जो विद्यार्थी गुरुकुल आदि में देर तक न ठहरे उसे 'तीर्थध्वाङ्क्षः' आदि कहा जाता है । इस से विद्यार्थी की अस्थिरताजन्य निन्दा व्यक्त होती है ।

[३] **कृत्यैर्ऋणे** ।२।१।४२।।

अर्थः—सप्तम्यन्त सुँबन्त, कृत्यप्रत्ययान्त सुँबन्तों के साथ तत्पुरुषसमास को प्राप्त होता है अवश्यम्भाविता गम्य हो तो । उदाहरण यथा—

मासे देयम्[2] (ऋणम्)—मासदेयम् (एक महीने के बाद अवश्य चुका दिये जाने वाला ऋण) । संवत्सरे देयम्—संवत्सरदेयम् (एक वर्ष के बाद अवश्य चुका दिये जाने वाला ऋण) । पूर्वाह्णे गेयम्—पूर्वाह्णेगेयम् (साम) । यहां **तत्पुरुषे कृति बहुलम्** (६.३.१३) सूत्र से सप्तमी का अलुक् हुआ है । यह समास कृत्यसंज्ञक यत् प्रत्यय तक ही सीमित है । तव्यत् आदि में इस की प्रवृत्ति नहीं होती—मासे दातव्यम् ऋणम् ।

[४] **क्तेनाऽहोरात्रावयवाः** ।२।१।४४।।

अर्थः—दिन या रात्रि के अवयववाची सप्तम्यन्तों का क्तान्तप्रकृतिक सुँबन्त के साथ विकल्प से तत्पुरुषसमास हो जाता है । उदाहरण यथा—

पूर्वाह्णे कृतम्—पूर्वाह्णकृतम् ।
अपराह्णे कृतम्—अपराह्णकृतम् ।
पूर्वरात्रे कृतम्—पूर्वरात्रकृतम् ।
अपररात्रे कृतम्—अपररात्रकृतम् ।

[५] **क्षेपे** ।२।१।४६।।

अर्थः—क्षेप अर्थात् निन्दा गम्य हो तो सप्तम्यन्त सुँबन्त का क्तान्त सुँबन्त के साथ तत्पुरुषसमास हो जाता है । उदाहरण यथा—

अवतप्तेनकुलस्थितं तवैतत् (यह तेरा कार्य तपे हुए स्थल पर नकुल के ठहरने जैसा है । जैसे तपे हुए स्थल पर नकुल देर तक नहीं ठहरता उछल कर दूर भाग जाता है वैसे तेरा कार्य भी अस्थायी या अव्यवस्थित है) । यहां 'अवतप्ते' इस सप्तम्यन्त का 'नकुलस्थितम्' इस क्तान्त के साथ समास हुआ है[3] । सप्तमी का **तत्पुरुषे कृति बहुलम्**

---

१. समासे ध्वाङ्क्षादयः स्वसदृशे वर्त्तन्ते ।

२. औपश्लेषिकेऽधिकरणेऽत्र सप्तमी बोध्या । मासे ह्यतीते योऽन्तरो दिवसः स मासं प्रत्युपश्लिष्टो भवति । मासाव्यवहितोत्तरकाले प्रत्यर्पणीयमृणमित्यर्थः ।

३. 'स्थितम्' इति भावे क्तः । नकुलेन स्थितम्—नकुलस्थितम्, **कर्त्तृकरणे कृता बहुलम्** (९२६) इति समासः । **कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्** इति परिभाषया नकुलस्थितशब्दोऽपि क्तान्तः ।

(६.३.१३) से अलुक् हुआ है । इसीप्रकार—भस्मनिहुतम् (राख में हवन करने जैसा अर्थात् व्यर्थ या निष्फल) आदि समझने चाहियें ।

[६] **पात्रे-समितादयश्च** ।२।१।४७ ॥[1]

अर्थः—क्षेप अर्थात् निन्दा गम्य हो तो पात्रेसमित आदि शब्द तत्पुरुषसमास में निपातित किये जाते हैं । उदाहरण यथा—

पात्रेसमिताः (भोजनपात्र पर इकट्ठे होने वाले परन्तु कार्य के समय दिखाई न देने वाले, भोजनभट्ट) । गेहेशूरः (घर में शूर न कि युद्ध में) । गेहेनर्दी, गेहेक्ष्वेडी (घर में ही गर्जन-तर्जन करने वाला न कि बाहर) । गेहेमेही (घर में ही मूतने वाला, डर के मारे मूतने के लिये भी घर से बाहर न निकलने वाला, डरपोक) । गोष्ठेपण्डितः (ग्वालों में पण्डित, विद्याविहीन या मूर्ख) । कर्णेटिट्टिभः (कान में टरटर करने वाला) । इन में सप्तमी का अलुक् है । कूपमण्डूकः (कूएं का मेंढक, स्वल्पज्ञानी, मूर्ख) । नगरकाकः (नगर में कौवे की तरह कांय कांय करने वाला, बातूनी) इत्यादियों में सप्तमी का लुक् हुआ है ।

शिष्टप्रयोगों में कई स्थानों पर द्वितीयातत्पुरुष, तृतीयातत्पुरुष, चतुर्थीतत्पुरुष, पञ्चमीतत्पुरुष और सप्तमीतत्पुरुष समासों के ऐसे प्रयोग मिलते हैं जिन का पाणिनीयसूत्रों से समर्थन नहीं किया जा सकता, तो क्या वे सब अशुद्ध या अपशब्द हैं ? या उन के समाधान का कोई अन्य मार्ग है ? इस शङ्का का समाधान करते हुए लघुसिद्धान्तकौमुदीकार श्रीवरदराज इस प्रकार लिखते हैं—

[**लघु०**] द्वितीया-तृतीयेत्यादियोगविभागादन्यत्रापि द्वितीयादिविभक्तीनां[2] प्रयोगवशात् समासो ज्ञेयः ॥

अर्थः—**द्वितीया श्रितातीत०** (९२४), **तृतीया तत्कृतार्थेन०** (९२५), **चतुर्थी तदर्थार्थ०** (९२७), **पञ्चमी भयेन** (९२८), **सप्तमी शौण्डैः** (९३४)—इन योगों (सूत्रों) के विभाग अर्थात् दो भाग कर देने से अन्यत्र अर्थात् जहां सूत्रोंद्वारा समास की प्राप्ति नहीं ऐसे शिष्टप्रयोगों में भी द्वितीयातत्पुरुष आदि समास समझ लेने चाहियें ।

व्याख्या—शिष्टप्रयोगों में जहां ऐसे तत्पुरुषसमास देखे जायें जिन की सिद्धि **द्वितीया श्रितातीत०** (९२४) आदि पूर्वोक्त सूत्रों से न हो सकती हो तो वहां उन उन योगों (सूत्रों) का विभाग (दो फाड़) कर उन प्रयोगों की सिद्धि कर लेनी चाहिये । यथा—**द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्ताऽऽपन्नैः** (९२४) इस योग का विभाग कर दो योग (सूत्र) बन जायेंगे । (१) **द्वितीया** । इस सूत्र का अर्थ होगा—द्वितीयान्त

१. सूत्र में 'समित' पाठ है 'सम्मित' नहीं । सम्पूर्वक **इण् गतौ** (अदा० परस्मै०) धातु से **गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजीर्यतिभ्यश्च** (३.४.७२) सूत्रद्वारा कर्त्ता में क्तप्रत्यय करने पर 'समित' शब्द बना है । अतएव शेखरकार ने कहा है—समितेति निरनुस्वारम् ।

२. अत्र प्रायेण मुद्रितपुस्तकेषु **तृतीयादिविभक्तीनाम्** इत्युपलभ्यमानः पाठः प्रमादजो बोध्यः ।

सुँबन्त, समर्थ सुँबन्त के साथ विकल्प से तत्पुरुषसमास को प्राप्त होता है। इस सूत्र से उन सब शिष्टप्रयोगों में समास सिद्ध हो जायेगा।[1] तब आयेगा सूत्र का दूसरा अंश—(२) **श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः**। इस में 'द्वितीया' पद की पूर्वसूत्र से अनुवृत्ति आ कर—'द्वितीयान्त सुँबन्त श्रितादिप्रकृतिक सुँबन्तों के साथ विकल्प से तत्पुरुषसमास को प्राप्त हो' ऐसा अर्थ हो जाने से 'कृष्णश्रितः' आदि पूर्वोक्त सब उदाहरण सिद्ध हो जायेंगे। इसी प्रकार—**तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन** (९२५) का योगविभाग होगा—(१) **तृतीया**, (२) **तत्कृतार्थेन गुणवचनेन**। **चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः** (९२७) का योगविभाग होगा—(१) **चतुर्थी**, (२) **तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः**। **पञ्चमी भयेन** (९२८) का योगविभाग होगा—(१) **पञ्चमी**, (२) **भयेन**। **सप्तमी शौण्डैः** (९३४) का योगविभाग होगा—(१) **सप्तमी**, (२) **शौण्डैः**। सब जगह योगविभाग के प्रथमांश से ही अनुक्त समासों की सिद्धि की जाती है। द्वितीयांश से पूर्वप्रदर्शित प्रयोगों की यथावत् सिद्धि बनी रहती है।

अब नीचे कुछ अनुक्त समासों के उदाहरण प्रस्तुत कर रहे हैं, इन की सिद्धि योगविभाग के द्वारा की जाती है।

द्वितीयातत्पुरुष—

(१) विशेषं विद्वान्—विशेषविद्वान्।[2]

(२) वेदं विद्वान्—वेदविद्वान्।[3]

(३) गुरुं शुश्रूषुः—गुरुशुश्रूषुः (हैमबृहद्वृत्तिन्यास ३.१.६२)।

(४) पापम् अनु—पापानु।[4]

तृतीयातत्पुरुष—

(५) छायया द्वितीयः—छायाद्वितीयः (अपनी छाया से दूसरा, अकेला)

(६) जनुषा अन्धः—जनुषान्धः (जन्म से अन्धा)।[5]

---

१. योगविभाग के इस अंश से मनमाने प्रयोग सिद्ध नहीं किये जाते। केवल शिष्टप्रयोगों तक ही इस की प्रवृत्ति होती है। अत एव कहा भी गया है—**योगविभागादिष्टसिद्धिः** (परिभाषेन्दु० १२३) अर्थात् योगविभाग से इष्ट रूपों की ही सिद्धि की जाती है अनिष्टों की नहीं। शिष्टों के प्रयोग ही इष्ट होते हैं। **शिष्टपरिज्ञानार्थाऽष्टाध्यायी**।

२. **विशेषविदुषः शास्त्रं यत्तवोद्ग्राह्यते पुरः**—(माघ० २.७५)।

३. विप्राय वेदविदुषे—(भाषावृत्ति २.१.२४)।

४. **पापान्ववसितं सीता रावणं प्राब्रवीद्वचः**—(भट्टि० ८.८५)। **तृतीयार्थे** (१.४.८४) इत्यनेन अनुशब्दस्य कर्मप्रवचनीयसंज्ञायां तद्योगे **कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया** (२.३.८) इति पापशब्दाद् द्वितीया। ततः द्वितीयेतियोगविभागात्समासः।

५. जनुषा (जन्मना) हेतुना अन्धः—जनुषान्धः। तृतीयेतियोगविभागात्समासः। **पुंसानुजो जनुषान्ध इति च वक्तव्यम्** इत्यलुक्। (काशिका ६.३.३)

(७) पुंसा अनुजः— पुंसानुजः (जिस का बड़ा भाई हो वह व्यक्ति) ।[१]
(८) मदेन अन्धः—मदान्धः ।[२]
(९) कामेन अन्धः—कामान्धः । जात्यन्धः ।[३]
(१०) अर्धेन चतस्रः—अर्धचतस्रो मात्राः (साढ़े तीन मात्राएं) ।[४]

चतुर्थीतत्पुरुष—

(११) धर्माय नियमः—धर्मनियमः ।[५]
(१२) वृत्तये समवायः—वृत्तिसमवायः ।[६]
(१३) आत्मने पदम्—आत्मनेपदम् ।
(१४) परस्मै पदम्—परस्मैपदम् ।[७]

पञ्चमीतत्पुरुष—

(१५) अध्यवसायाद् भीरुः—अध्यवसायभीरुः ।[८]
(१६) अधर्माद् जगुप्सुः—अधर्मजुगुप्सुः ।
(१७) वामाद् इतरः—वामेतरः ।[९]
(१८) ग्रामाद् निर्गतः—ग्रामनिर्गतः ।
(१९) भोगेभ्य उपरतः—भोगोपरतः ।

सप्तमीतत्पुरुष[१०]—

(२०) नगेन्द्रे सक्ता—नगेन्द्रसक्ता[११] ।
(२१) भुवने विदितः—भुवनविदितः[१२] ।

---

१. पुंसा हेतुना अनुजः—पुंसानुजः, पूर्ववदलुक् । (काशिका ६.३.३)
२. **यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवम्**—(नीतिशतक ७) ।
३. **नैव पश्यति जात्यन्धो कामान्धो नैव पश्यति**—(चाणक्यनीतिदर्पण ६.७)
४. लण्सूत्रे महाभाष्ये प्रयोगोऽयमुपलभ्यते ।
५. महाभाष्ये पस्पशाह्निके ।
६. महाभाष्ये पस्पशाह्निके ।
७. आत्मनेपदम् और परस्मैपदम् इन दोनों स्थानों पर तादर्थ्य में चतुर्थी हुई है । **वैयाकरणाख्यायां चातुर्थ्याः, परस्य च** (६.३. ७-८) इति चतुर्थ्या अलुक् ।
८. **न स्वल्पमप्यध्वसायभीरोः करोति विज्ञानविधिर्गुणं हि**—(हितोप० १.१७२) ।
९. **वामेतरस्तस्य करः प्रहर्तुर्नखप्रभाभूषितकङ्कपत्रे ।**
सक्ताङ्गुलिः सायकपुङ्ख एव चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे ।। (रघु० २.३१)
१०. योगविभागजन्य षष्ठीतत्पुरुषसमास नहीं हुआ करता, क्योंकि **षष्ठी** (९३१) सूत्र में एक ही पद है ।
११. **रश्मिष्विवादाय नगेन्द्रसक्तां निवर्त्तयामास नृपस्य दृष्टिम्** । (रघु० २.२८)
१२. **जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्त्तकानाम्** । (मेघदूत ६)

(२२) आपाते रमणीयः—आपातरमणीयः[१] ।

(२३) परिणामे रमणीयः—परिणामरमणीयः[२] ।

(२४) आस्ये प्रयत्नः—आस्यप्रयत्नः[३] ।

(२५) शब्दे सञ्ज्ञा—शब्दसञ्ज्ञा[४] ।

(२६) भुवि देवः (देव इव)—भूदेवः[५] ।

विशेष वक्तव्य—अनेक वैयाकरण **कर्तृकरणे कृता बहुलम्** (९२६) में बहुलग्रहण के सामर्थ्य से इन समासों को उपपन्न किया करते हैं। कुछ वैयाकरण इन की सिद्धि सुंप्सुंपासमास (९०६) से ही मानते हैं। इन का संग्रह यथा—

इहानुक्तं समासार्थं द्वितीयेत्यादि खण्डचताम् ।
कृता बहुलमित्येतद् बाहुल्यं वा विजृम्भताम् ॥ (प्रक्रिया-सर्वस्वे)
सुप्सुपेति समासो वा बोध्यः शिष्टप्रयुक्तिषु ।
शब्दाः शिष्टैः प्रयुक्तास्तु साधवः सर्वथा मताः ॥

अभ्यास [३]

(१) निम्नस्थ प्रश्नों का सहेतुक समुचित उत्तर दीजिये—

[क] **कर्तृकरणे कृता बहुलम्** सूत्र में 'बहुलम्' क्यों कहा गया है ?

[ख] 'ग्रामस्यार्धो ग्रामार्धः' यहां **अर्धं नपुंसकम्** सूत्र क्यों प्रवृत्त नहीं होता ?

[ग] 'तत्पुरुष' इस नामकरण का क्या आधार है ?

[घ] श्रितादिप्रकृतिक सुँबन्तों से क्या अभिप्राय है ?

[ङ] द्विगु की तत्पुरुषसंज्ञा क्यों की जाती है ?

[च] 'अश्वघासः' आदि में चतुर्थीतत्पुरुष क्यों नहीं होता ?

[छ] प्रकृतिविकृतिभाव से क्या अभिप्रेत है ?

[ज] अर्धशब्द कब नित्यनपुंसक हुआ करता है ?

[झ] 'पूर्वं कायस्य' में कायशब्द से दिग्योगपञ्चमी क्यों नहीं हुई ?

[ञ] 'स्तोकान्मुक्तः' में समास मानने का क्या प्रयोजन है ?

(२) सहेतुक अशुद्धि-शोधन कीजिये—

[क] मनसो विकारः—मनस्विकारः ।

[ख] कृच्छ्राल्लब्धः—कृच्छ्रलब्धः ।

---

१. **आपातरमणीयानां संयोगानां प्रियैः सह ।**
अपथ्यानामिवान्नानां परिणामोऽतिदारुणः ॥ (हितोप० ४.७५)

२. **प्रच्छायसुलभनिद्रा दिवसाः परिणामरमणीयाः** । (शाकुन्तल)

३. महाभाष्य (१.१.९) ।

४. काशिकाव्याख्या पदमञ्जरी (१.१.६८) ।

५. **भूदेवो वाडवो विप्रो द्व्यग्राभ्यां जातिजन्मजाः**—इति हैमकोषः ।

[ग] पात्रे समितः—पात्रसमितः ।

[घ] स्वामिनः सेवा—स्वामिन्सेवा ।

[ङ] राज्ञः पुरुषः—राजन्पुरुषः ।

(३) निम्नस्थ समासों में विभक्ति का लुक् क्यों नहीं हुआ—आत्मनेपदम्, दूरादागतः, पुंसानुजः, गेहेशूरः, अवतप्तेनकुलस्थितम्, पूर्वाह्णेगेयम् ।

(४) एकदेशिसमास क्या होता है ? उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करें ।

(५) तत्पुरुषसमास में परवल्लिङ्गता का विधान किस सूत्र से होता है ?

(६) निम्नस्थों में समास क्यों नहीं होता ?

परशुना छिन्नवान् । वृकेभ्यस्त्रासः । रन्धनाय स्थाली । काकस्य कार्ष्ण्यम् । राज्ञां मतः । अक्ष्णा काणः । अर्धं पिप्पलीनाम् । कष्टं परमश्रितः । भिक्षाभिरुषितः । छात्त्राणां द्वितीयः । गोभिर्वपावान् । पूर्वश्छात्त्राणाम् । एषाम् आशितम् । काष्ठैः पचतितराम् । ओदनस्य पाचकः । पाणिनेः सूत्रकारस्य ।

(७) निम्नस्थ सूत्र आदियों की सोदाहरण व्याख्या करें—

१. तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन । २. कर्तृकरणे कृता बहुलम् । ३. चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः । ४. पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे । ५. स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन । ६. अर्धं नपुंसकम् । ७. कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम् । ८. तदर्थेन प्रकृतिविकृतिभाव एवेष्टः । ९. अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम् । १०. सप्तमी शौण्डैः । ११. षष्ठी । १२. याजकादिभिश्च ।

(८) द्विविध विग्रह दर्शाते हुए निम्नस्थ समासों की ससूत्र सिद्धि करें—

१. कृष्णश्रितः । २. शङ्कुलाखण्डः । ३. धान्यार्थः । ४. हरित्रातः । ५. नखनिर्भिन्नः । ६. यूपदारु । ७. द्विजार्था (यवागूः) । ८. भूतबलिः । ९. गोहितम् । १०. चोरभयम् । ११. अन्तिकादागतः । १२. राजपुरुषः । १३. पूर्वकायः । १४. अक्षशौण्डः । १५. अर्धपिप्पली । १६. मातृसदृशः । १७. पादोनम् । १८. तीर्थध्वाङ्क्षः । १९. आतपशुष्कः । २०. गेहेनर्दी । २१. देवपूजकः । २२. पात्रेसमितः । २३. चोरभीतिः । २४. त्वदर्थम् । २५. मासावरः । २६. राजाधीनः । २७. पूर्वाह्णः । २८. मदान्धः ।

(९) 'शरीरार्धम्' प्रयोग शुद्ध है या अशुद्ध ? विवेचन कीजिये ।

(१०) एकदेशिसमास के अभावपक्ष में षष्ठीतत्पुरुष क्यों नहीं होता ?

(११) **स्तोकान्तिकदूरार्थ०** सूत्र में 'अर्थ' शब्द के ग्रहण का प्रयोजन स्पष्ट करें ।

(१२) 'अर्धपिप्पली' में उपसर्जनह्रस्व की प्राप्ति दर्शा कर उस का परिहार करें ।

(१३) योगविभाग किसे कहते हैं ? इस की क्या उपयोगिता है ? सोदाहरण समझा कर स्पष्ट करें ।

——:o:——

यहां तक व्यधिकरणतत्पुरुषसमास का वर्णन किया गया। अब समानाधिकरण-तत्पुरुषसमास[1] का विधान करते हैं—

[लघु०] नियमसूत्रम्—(९३५) **दिक्संख्ये संज्ञायाम्** ।२।१।४९।।

सञ्ज्ञायामेवेति नियमार्थं सूत्रम् । पूर्वेषुकामशमी। सप्तर्षयः । तेनेह न—उत्तरा वृक्षाः । पञ्च ब्राह्मणाः ।।

अर्थः—दिशावाची और संख्यावाची सुँबन्त, समानाधिकरण सुँबन्त के साथ सञ्ज्ञा गम्य होने पर ही तत्पुरुष समास को प्राप्त होते हैं ।

व्याख्या—दिक्सङ्ख्ये ।१।२। संज्ञायाम् ।७।१। समानाधिकरणेन ।३।१। (**पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन** सूत्र से) । **समासः, सुँप्, सह सुँपा, तत्पुरुषः**—ये सब पूर्ववतः अधिकृत हैं। 'विभाषा' भी पीछे से अधिकृत है परन्तु संज्ञा को वाक्य (लौकिकविग्रह) द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता अतः इस समास को नित्य-समास मान कर 'विभाषा' पद को यहां सम्बद्ध नहीं किया जाता। दिक् च संख्या च दिक्संख्ये, इतरेतरद्वन्द्वः । दिशा और संख्या से यहां दिशावाची और संख्यावाची सुँबन्तों का ही ग्रहण अभीष्ट है। अर्थः—(दिक्संख्ये) दिशावाची और संख्यावाची (सुँबन्ते) सुँबन्त (समानाधिकरणेन) समानाधिकरण (सुँबन्तेन) सुँबन्त के साथ (सञ्ज्ञायाम्) सञ्ज्ञा गम्य होने पर (समासौ=समस्येते) समास को प्राप्त होते है और वह समास (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसञ्ज्ञक होता है ।

चाहे सञ्ज्ञा गम्य हो या न हो, दिशा और संख्यावाची सुँबन्तों का समानाधि-करण के साथ समास तो **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** (९४४) सूत्र से सिद्ध है ही, पुनः यहां समास का विधान क्यों किया जा रहा है? इस का उत्तर यह है कि **सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः** (सिद्ध होने पर भी यदि कोई कार्य करने को पुनः कहा जाये तो वह कार्य नियमार्थ होता है) इस न्याय से यह सूत्र नियम के लिये बनाया गया है। नियम का स्वरूप यह है—दिशा और संख्यावाची सुँबन्त यदि समानाधिकरण के साथ तत्पुरुष-समास को प्राप्त हों तो वे संज्ञा में ही हों अन्यत्र नहीं[2] ।

दिशावाची का उदाहरण यथा—

---

१. व्यधिकरण समास वह होता है जहां समस्यमान दोनों पद भिन्न भिन्न अधिकरणों (वाच्यार्थों) को कहते हैं। यथा—कृष्णं श्रितः—कृष्णश्रितः इत्यादि । पर समानाधिकरण समास में दोनों एक ही अर्थ (वाच्य) को कहते हैं। यथा—नीलम् उत्पलम्—नीलोत्पलम् आदि । किञ्च व्यधिकरण में दोनों पदों की विभक्तियां भिन्न भिन्न किन्तु समानाधिकरण में एक सी होती हैं ।

२. यह नियम **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** (९४४) सूत्रद्वारा प्राप्त तत्पुरुषसमास तक ही सीमित है। अतः 'पञ्च गावो यस्य स पञ्चगुः' इत्यादि बहुव्रीहिसमास में यह नियम लागू नहीं होता । वहां संज्ञा के विना भी समास की प्रवृत्ति हो जाती है ।

पूर्वा चासौ इषुकामशमी—पूर्वेषुकामशमी[1] (इस नाम का प्राचीन कोई ग्राम)। अलौकिकविग्रह—पूर्वा सुँ+इषुकामशमी सुँ। यहां अलौकिकविग्रह में 'पूर्वा सुँ' इस दिशावाची सुँबन्त का 'इषुकामशमी सुँ' इस सुँबन्त के साथ प्रकृत **दिक्संख्ये संज्ञायाम्** (९३५) सूत्रद्वारा तत्पुरुषसमास हो कर प्रथमानिर्दिष्ट दिशावाची की उपसर्जनसञ्ज्ञा, उस का पूर्वनिपात, प्रातिपदिकसंज्ञा हो जाने के कारण **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँपों (सुँ और सुँ) का लुक् तथा **सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः** (वा० ५५) से 'पूर्वा' को पुंवद्भाव के द्वारा 'पूर्व' करने पर 'पूर्व+इषुकामशमी' हुआ। अब **आद् गुणः** (२७) से गुण एकादेश कर प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में 'सुँ' प्रत्यय ला कर **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुँतिस्यपृक्तं हल्** (१७९) द्वारा उस का लोप कर देने से 'पूर्वेषुकामशमी' प्रयोग सिद्ध होता है। इसीप्रकार—अपरेषुकामशमी[2], उत्तरपाञ्चालाः, दक्षिणपाञ्चालाः, उत्तरकोसलाः, दक्षिणकोसलाः आदि समझने चाहियें।

संख्यावाची का उदाहरण यथा—

सप्त च ते ऋषयः—सप्तऋषयः सप्तर्षयो वा (विश्वामित्र आदि सात ऋषियों का नाम)[3]। अलौकिकविग्रह—सप्तन् जस्+ऋषि जस्। यहां अलौकिकविग्रह में 'सप्तन् जस्' इस संख्यावाचक सुँबन्त का 'ऋषि जस्' इस समानाधिकरण सुँबन्त के साथ प्रकृत **दिक्संख्ये सञ्ज्ञायाम्** (९३५) सूत्रद्वारा तत्पुरुषसमास हो कर संख्यावाचक की उपसर्जनसञ्ज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात, **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (जस् और जस्) का लुक् करने पर—सप्तन्+ऋषि। अब लुप्त हुई अन्तर्वर्तिनी विभक्ति को प्रत्ययलक्षणद्वारा मान कर पदत्व के कारण **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से सप्तन् के नकार का लोप हो **ऋत्यकः** (६१) से वैकल्पिक ह्रस्वमूलक प्रकृतिभाव एवं प्रकृतिभाव के अभाव में **आद् गुणः** (२७) द्वारा गुण करने से—'सप्तऋषि, सप्तर्षि' ये दो रूप बने। अब इन से स्वाद्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के बहुवचन की विवक्षा में जस् प्रत्यय ला कर **जसि च** (१६८) से इकार को एकार गुण, अयादेश तथा सकार को

---

१. इसे लौकिकविग्रह नहीं समझना चाहिये। संज्ञा को वाक्य (लौकिकविग्रह) के द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता। यह तो अज्ञों के लिये समास के अन्तर्गत पूर्वपद और उत्तरपद को समझाने के लिये लिखा गया साधारण वाक्य है। न्यासकार ने भी यही कहा है—"मन्दधियां पूर्वोत्तरपदविभागमात्रप्रदर्शनार्थं वाक्यं कृतम्। न ह्यत्र वाक्येन भवितव्यम्। नहि वाक्येन संज्ञाऽवगम्यते।" (न्यास २.१.५०)

२. यहां समास में 'अपरा' शब्द पश्चिमदिशा का वाचक है। जैसाकि कालिदास ने प्रयोग किया है—**पूर्वाऽपरौ तोयनिधी वगाह्य** (कुमार० १.१)।

३. **विश्वामित्रो जमदग्निर्भरद्वाजोऽथ गौतमः।**
अत्रिर्वसिष्ठः कश्यप इत्येते च सप्तर्षयः॥ (आप्टे-कोष)

हृत्व और रेफ को विसर्ग आदेश करने से 'सप्तऋषयः' तथा 'सप्तर्षयः' ये दो प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं ।

इसीप्रकार—नवग्रहाः[1], पञ्चकोशाः[2], पञ्चसूनाः[3], पञ्चमहायज्ञाः[4], त्रिपुष्कराणि[5] आदि प्रयोग जानने चाहियें ।

सञ्ज्ञायामिति किम् ? उत्तरा वृक्षाः । पञ्च ब्राह्मणाः ।

दिशा और संख्या के वाचकों का समानाधिकरण के साथ यह समास संज्ञा में ही प्रवृत्त होता है । संज्ञा के अभाव में इस की प्रवृत्ति नहीं होती । यथा—उत्तरा वृक्षाः (उत्तरदिशा वाले पेड़) । पञ्च ब्राह्मणाः (पाञ्च ब्राह्मण) । ये संज्ञाएं नहीं हैं अतः प्रथम में दिशावाची का और दूसरे में संख्यावाची का समानाधिकरण के साथ समास नहीं हुआ । अत एव—'उत्तरवृक्षान् सिञ्चतु भवान्, पञ्चब्राह्मणेभ्यो देहि भोजनम्' इत्यादि प्रयोग अशुद्ध हैं । इन के स्थान पर 'उत्तरान् वृक्षान् सिञ्चतु भवान्, पञ्चभ्यो ब्राह्मणेभ्यो देहि भोजनम्' इत्यादि प्रकारेण व्यस्तप्रयोग होने चाहियें ।

पूर्वसूत्रम्, उत्तरसूत्रम्, पूर्वमासः, उत्तरमासः—इत्यादियों में पूर्व आदि शब्द दिशावाची नहीं अपितु कालवाची हैं, अतः प्रकृतनियम से समास का निषेध नहीं होता । **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** (६४४) से समास हो जाता है ।

शङ्का—'त्रिलोकनाथः' शब्द लोक में बहुत प्रचलित है[6] । इस का 'त्रयश्च ते लोकाः—त्रिलोकाः, तेषां नाथः—त्रिलोकनाथः' इस प्रकार का विग्रह है । तो भला 'त्रिलोकाः' में सञ्ज्ञा न होने पर भी कैसे समास हो जाता है ? प्रकृतनियम से समास का निषेध क्यों नहीं होता ?

समाधान—यहां पर आप का कहा हुआ विग्रह और समास नहीं है । अपितु 'लोक' शब्द यहां लोकसमूह अर्थ में लाक्षणिक है । अतः 'त्र्यवयवो लोकः—त्रिलोकस्तस्य

---

१. **सूर्यश्चन्द्रो मङ्गलश्च बुधश्चापि बृहस्पतिः ।**
   शुक्रः शनैश्चरो राहुः केतुश्चेति ग्रहा नव ॥

२. अन्नमयकोश, प्राणमयकोश, मनोमयकोश, विज्ञानमयकोश, आनन्दमयकोश—ये पांच 'पञ्चकोश' कहाते हैं ।

३. **पञ्च-सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ।**
   कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ॥ (मनु० ३.६८)

४. **देवयज्ञो भूतयज्ञः पितृयज्ञस्तथैव च ।**
   ब्रह्मयज्ञो नृयज्ञश्च पञ्चयज्ञाः प्रकीर्तिताः ॥

५. **त्रिपुष्करेषु त्रिदशत्वमाप**—(रघु० १८.३१)।

६. **त्रिलोकनाथेन सदा मखद्विषः**—(रघु० ३.४५) ।
   त्रिलोकनाथः पितृसद्मगोचरः—(कुमार० ५.७७) ।

नाथः—त्रिलोकनाथः' इस प्रकार का विग्रह समझना चाहिए[1]। यहां 'त्रिलोकः' में 'शाकप्रियः पार्थिवः—शाकपार्थिवः' की तरह **शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्** (वा० ५७) द्वारा मध्यमपदलोपिसमास हुआ है। इस समास का विवेचन इसी प्रकरण में आगे किया जायेगा।

अब दिशा और संख्या के वाचक सुँबन्तों का असञ्ज्ञा में समानाधिकरण सुँबन्त के साथ त्रिविध समास का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९३६) तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च। २।१।५०॥

तद्धितार्थे विषये, उत्तरपदे च परतः, समाहारे च वाच्ये दिक्संख्ये प्राग्वत्। पूर्वस्यां शालायां भवः—'पूर्वाशाला'[2] इति समासे जाते—

अर्थः—(१) तद्धितप्रत्यय के अर्थ का विषय होने पर, (२) या उत्तरपद परे होने पर, (३) अथवा समाहार=समूह वाच्य होने पर—इन तीनों में से किसी एक दशा में दिशा और संख्या के वाचक सुँबन्त, समानाधिकरण सुँबन्त के साथ मिल कर समास को प्राप्त होते हैं और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

पूर्वस्याम्०—'पूर्वस्यां शालायां भवः' इस विग्रह में तद्धित के विषय में 'पूर्वाशाला' इस प्रकार समास हो जाने पर अग्रिम वार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

व्याख्या—तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे।७।१। च इत्यव्ययपदम्। दिक्-संख्ये।१।२। (**दिक्संख्ये संज्ञायाम्** से)। समानाधिकरणेन।३।१। (**पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन** से)। समासः, सुँप्, सह सुँपा, तत्पुरुषः—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। तद्धितस्य अर्थः—तद्धितार्थः, षष्ठीतत्पुरुषसमासः। तद्धितार्थश्च उत्तरपदं च समाहारश्चेति तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारम्, तस्मिन्=तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे, समाहारद्वन्द्वसमासः। तद्धितार्थे, उत्तरपदे समाहारे चेत्यर्थः। एकाऽपि सप्तमी विषयभेदादत्र भिद्यते। यहां तीनों में एक ही सप्तमी विषय के भेद से भिन्न-भिन्न है। 'तद्धितार्थे' में सप्तमी वैषयिक अधिकरण में हुई है अतः 'तद्धितार्थ के विषय में' यह अर्थ होता है। 'उत्तरपदे' में परसप्तमी है अतः 'उत्तरपद परे होने पर' यह अर्थ होता है। 'समाहारे' में यह सप्तमी वाच्याधिकरण मे हुई है अतः 'समाहार की वाच्यता में' यह अर्थ होता है। अर्थः—(तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे) तद्धितप्रत्यय के अर्थ का विषय हो अथवा उत्तरपद परे हो या समूह अर्थ

---

१. यहां 'त्रयाणां लोकानां समाहारः' इस प्रकार का विग्रह कर समाहार अर्थ में द्विगुसमास नहीं माना जा सकता। अन्यथा **अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः** (वा०) वार्त्तिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में **द्विगोः** (१२५७) द्वारा **ङीप्** का प्रसङ्ग होने लगेगा, जैसाकि नैषधकार ने किया है—**यदि त्रिलोकी गणनापरा स्यात्** (नैषध० ३.४०)।

२. अत्र 'पूर्वशाल' इति बहुत्र मुद्रितः पाठोऽपपाठ एवावसेयः।

वाच्य हो तो (दिक्संख्ये) दिशावाची और संख्यावाची (सुँबन्ते) सुँबन्त (समानाधिकरणेन सुँबन्तेन) समानाधिकरण सुँबन्त के साथ (समासौ=समस्येते) समास को प्राप्त होते हैं और वह समास (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

(१) तद्धितप्रत्यय के अर्थ के विषय में—

जब किसी तद्धित प्रत्यय का अर्थ विवक्षित हो तो उस के विषय में तद्धितप्रत्यय लाने से पूर्व ही यह समास हो जाता है। इस समास के हो चुकने के बाद ही तद्धितप्रत्यय लाया जाता है। तात्पर्य यह है कि जब समासार्थ के साथ ही किसी तद्धितप्रत्यय के अर्थ को भी कहना हो तो प्रथम यह समास प्रवृत्त हो कर बाद में तद्धित प्रत्यय किया जाना चाहिये। उदाहरण यथा—

पूर्वस्यां शालायां भवः—पौर्वशालः (पूर्व दिशा वाली शाला में होने वाला)। यहां **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में वक्ष्यमाण **दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः** (९३७) सूत्र से तद्धितप्रत्यय 'ञ' करना है अतः उस की विवक्षामात्र में ही प्रकृत **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३६) सूत्र से दिशावाची 'पूर्वा ङि' का समानाधिकरण 'शाला ङि' के साथ तत्पुरुषसमास हो जाता है। अब समास की प्रातिपदिकसंज्ञा होकर **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से उस के अवयव सुँपों (ङि और ङि) का लुक् करने पर 'पूर्वाशाला' इस स्थिति में अग्रिम वार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—(५५) सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः ॥

अर्थः—समास आदि वृत्तिमात्र में सर्वनाम के स्थान पर पुंलिङ्ग की तरह रूप हो जाता है।

व्याख्या—वृत्तियों का पीछे **सह सुँपा** (९०६) सूत्र पर विस्तार से वर्णन किया जा चुका है। समास, तद्धित आदि वृत्तियां हैं। इन वृत्तियों के अलौकिकविग्रह में स्त्रीलिङ्ग सर्वनाम शब्दों के पुंलिङ्गवत् रूप हो जाते हैं—यह इस वार्त्तिक का तात्पर्य है।

प्रकृत में 'पूर्वाशाला' यहां **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३६) सूत्रद्वारा तत्पुरुषसमास किया गया है। अतः प्रकृतवार्त्तिक से 'पूर्वा' को पुंवद्भाव से 'पूर्व' हो कर 'पूर्वशाला' बना। अब इस से तद्धितार्थ के अनुरूप सप्तमी का एकवचन 'ङि' प्रत्यय ला कर 'पूर्वशाला+ङि' इस स्थिति में अग्रिमसूत्रद्वारा **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में तद्धितप्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९३७) दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः । ४।२।१०६॥

अस्माद् भवाद्यर्थे ञः स्यादसञ्ज्ञायाम् ॥

अर्थः—दिशावाचक शब्द जिस का पूर्वपद हो ऐसे प्रातिपदिक से परे भव आदि अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक 'ञ' प्रत्यय हो जाता है असञ्ज्ञा में।

व्याख्या—दिक्पूर्वपदात् ।५।१। असंज्ञायाम् ।७।१। ञः ।१।१। शेषे ।७।१। (**शेषे** से) । **प्रत्ययः**, **परश्च**, **प्रातिपदिकात्**, **तद्धिताः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं । दिक् =दिग्वाचकं पूर्वपदं यस्य तद्—दिक्पूर्वपदम्, तस्मात्=दिक्पूर्वपदात् । बहुव्रीहिसमासः । न सञ्ज्ञा असञ्ज्ञा, तस्याम्=असञ्ज्ञायाम् । नञ्तत्पुरुषः । अर्थः—(दिक्पूर्वपदात्) दिशावाचक शब्द जिस का पूर्वपद हो ऐसे (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से परे (शेषे) भव आदि शैषिक अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ञः प्रत्ययः) 'ञ' प्रत्यय हो जाता है (असञ्ज्ञायाम्) असंज्ञा में[1] । शैषिक अर्थों का विवेचन आगे **शेषे** (१०६८) सूत्र पर किया जायेगा । **तत्र भवः** (उस में होने वाला—१०९२) यह एक शैषिक अर्थ है । सुँबन्तों से ही तद्धित की उत्पत्ति होती है—यह नियम है ।

'पूर्वशाला ङि' यहां 'पूर्वशाला' प्रातिपदिक है इस का पूर्वपद (पूर्व) दिशावाचक है अतः प्रकृत **दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः** (९३७) सूत्रद्वारा 'पूर्वशाला ङि' इस सुँबन्त से **तत्र भवः** (१०९२) इस शैषिक अर्थ में 'ञ' यह तद्धितप्रत्यय हो कर—पूर्वशाला ङि ञ । **चुटू** ((१२९) द्वारा ञप्रत्यय का आदि ञकार इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है—पूर्वशाला ङि अ । तद्धितान्त होने से समग्र समुदाय की **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर उस के अवयव सुँप् (ङि) का **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् हो जाता है—पूर्वशाला अ । अब अग्रिमसूत्र से आदिवृद्धि का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९३८) तद्धितेष्वचामादेः ।७।२।११७।।

ञिति णिति च तद्धितेऽचामादेरचो वृद्धिः स्यात् । यस्येति च (२३६)। पौर्वशालः ।।

अर्थः—जिस तद्धित प्रत्यय के ञकार या णकार की इत्संज्ञा हुई हो उस तद्धित-प्रत्यय के परे रहते अङ्ग के अचों में जो आदि (प्रथम) अच्, उस के स्थान पर वृद्धि आदेश हो ।

व्याख्या—तद्धितेषु ।७।३। अचाम् ।६।३। आदेः ।६।१। अचः ।६।१। ञ्णिति ।७।१। (**अचो ञ्णिति** से) । वृद्धिः ।१।१। (**मृजेर्वृद्धिः** से) । अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है) । ञ् च ण् च ञ्णौ, ञ्णौ इतौ यस्य सः=ञ्णित्, तस्मिन्=ञ्णिति, द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिसमासः । 'ञ्णिति' के कारण 'तद्धितेषु' को भी एकवचनान्त कर लिया जाता है । 'अचाम्' में निर्धारणषष्ठी है । इस का अर्थ है—अचों के मध्य में । अर्थः—

---

१. असंज्ञायामिति किम् ? सञ्ज्ञाभूतायाः प्रकृतेर्मा भूत् । 'असंज्ञायाम्' इसलिये कहा है कि संज्ञा होने पर प्रातिपदिक से 'ञ' प्रत्यय नहीं होता बल्कि **प्राग्दीव्यतोऽण्** (४.१.८३) से औत्सर्गिक अण् प्रत्यय होता है । यथा—पूर्वेषुकामशम्यां भवः—पूर्वैषुकामशमः । यहां अण् हो कर **प्राचां ग्रामनगराणाम्** (७.३.१४) से उत्तरपद (इषुकामशमी) के आदि अच् इकार को ऐकार वृद्धि हुई है ।

(ञ्णिति तद्धिते) ञित् या णित् तद्धित के परे रहते (अङ्गस्य) जो अङ्ग, उस के (अचाम्) अचों के मध्य (आदेः) जो आदि (अचः) अच् उस के स्थान पर (वृद्धिः) वृद्धि आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—

'पूर्वशाला अ' यहां 'अ' यह ञित् तद्धित परे है अतः इस के परे रहते 'पूर्वशाला' इस अङ्ग के चार अचों के मध्य पहले अच् पकारोत्तर ऊकार के स्थान पर **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) द्वारा औकार वृद्धि हो कर 'पौर्वशाला अ' हुआ। अब **यचि भम्** (१६५) से असर्वनामस्थान अजादि स्वादि प्रत्यय 'अ' (ञ) के परे रहते पूर्व की भसञ्ज्ञा हो कर **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक आकार का लोप हो जाता है—पौर्वशाल् अ =पौर्वशाल। तद्धितान्त होने से 'पौर्वशाल' की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर इस से परे स्वादियों की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने से 'पौर्वशालः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—अपरस्यां शालायां भवः—आपरशालः। दक्षिणस्यां शालायां भवः—दाक्षिणशालः। इत्यादि प्रयोग सिद्ध होते हैं।

संख्यावाचकों का तद्धितार्थ के विषय में समास यथा—पञ्चानां नापितानाम् अपत्यम्—पाञ्चनापितिः (पाञ्च नाइयों की सन्तति)[1]। षण्णां मातॄणाम् अपत्यम्—षाण्मातुरः (छः माताओं की सन्तान, कार्त्तिकेय)[2]। पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः—

---

१. **तस्यापत्यम्** (१००४ उस की सन्तान) इस तद्धितार्थ के विवक्षित होने पर 'पञ्चन् आम्+नापित आम्' इस अलौकिकविग्रह में प्रकृतसूत्र (९३६) से समास, सुँब्लुक्, प्रथमानिर्दिष्ट होने से संख्यावाचक की उपसर्जनसंज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात तथा अन्तर्वर्तिनी विभक्ति का आश्रय लेकर पदत्व के कारण 'पञ्चन्' के नकार का लोप करने पर—पञ्चनापित। अब षष्ठ्यन्त बना कर इस से अपत्यार्थ में **अत इञ्** (१०१४) सूत्रद्वारा तद्धित इञ् प्रत्यय, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि (९३८) एवं **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'पाञ्चनापितिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

२. यहां पर भी **तस्यापत्यम्** (१००४) इस तद्धितार्थ के विवक्षित होने पर 'षष् आम्+मातृ आम्' इस अलौकिकविग्रह में प्रकृतसूत्र (९३६) से समास, सुँब्लुक्, संख्यावाचक का पूर्वनिपात एवं सन्धिकार्य [जश्त्व से षकार को डकार तथा **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** (६८) से डकार को अनुनासिक णकार] करने पर बना—षण्मातृ। अब षष्ठ्यन्त 'षण्मातृ' शब्द से **मातुरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः** (१०१९) सूत्रद्वारा अपत्यार्थ में अण्प्रत्यय तथा मातृशब्द के ऋकार को उकार, रपर, **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदिवृद्धि कर विभक्ति लाने से 'षाण्मातुरः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

—पञ्चकपालः पुरोडाशः (पाञ्च सकोरों में पकाया गया पुरोडाश=हवि)[1] इत्यादि।

(२) उत्तरपद परे होने पर उदाहरण यथा—

[लघु०] पञ्च गावो धनं यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहौ—

व्याख्या—पञ्च गावो धनं यस्य स पञ्चगवधनः (पाञ्च गौएं या बैल जिस का धन हैं ऐसा व्यक्ति)। यहां त्रिपदबहुव्रीहिसमास के 'पञ्चन् जस्+गो जस्+धन सुँ' इस अलौकिकविग्रह में **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) सूत्रद्वारा बहुव्रीहिसमास हो कर **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से उस की प्रातिपदिकसंज्ञा करने पर **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँपों (जस्, जस् और सुँ) का लुक् हो जाता है—पञ्चन्+गो+धन। अब यहां उत्तरपद 'धन' परे है अतः **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३६) इस प्रकृतसूत्र से बहुव्रीहि के अन्दर 'पञ्चन्' इस संख्यावाची पद का समानाधिकरण 'गो' पद के साथ अवान्तर तत्पुरुषसमास हो कर प्रथमानिर्दिष्ट 'पञ्चन्' का पूर्वनिपात हो जाता है। परन्तु यह अवान्तर तत्पुरुष वैकल्पिक है क्योंकि यह महाविभाषा के अधिकार में पढ़ा गया है। इस के वैकल्पिक होने से समासाभावपक्ष में टच् न हो सकेगा, इस से 'पञ्चगोधनः' ऐसा अनिष्ट रूप भी पक्ष में प्रसक्त होगा। अतः इस दोष की निवृत्ति के लिये इस अवान्तरसमास की नित्यता का अग्रिमवार्त्तिक से प्रतिपादन करते हैं—

[लघु०] वा०—(५६) **द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनम्** ॥

अर्थः—उत्तरपद परे रहते अवान्तर द्वन्द्व या तत्पुरुषसमास की नित्यता कहनी चाहिये[2]।

---

१. यहां 'संस्कृतं भक्षाः' (पका हुआ भक्ष्य) इस तद्धितार्थ की विवक्षा में 'पञ्चन् सुप्+कपाल सुप्' इस अलौकिकविग्रह में प्रकृतसूत्र (९३६) से समास, संख्यावाचक का पूर्वनिपात, सुँब्लुक् तथा पदत्व के कारण पञ्चन् के नकार का लोप करने पर —पञ्चकपाल। अब **संस्कृतं भक्षाः** (१०४०) सूत्रद्वारा सप्तम्यन्त पञ्चकपाल से तद्धित अण्प्रत्यय करने पर द्विगुसंज्ञा हो कर **द्विगोर्लुगनपत्ये** (४.१.८८) से अण्-प्रत्यय का लुक्, पुनः सुँब्लुक् तथा विभक्तिकार्य करने से 'पञ्चकपालः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि अण् का लुक् हो जाने के कारण **न लुमताऽङ्गस्य** (१९१) से प्रत्ययलक्षण के निषेध हो जाने से अणिमित्तक आदिवृद्धि (९३८) नहीं होती।

२. उत्तरपद परे रहते द्वन्द्वसमास की नित्यता के उदाहरण यथा—(१) वाक् च त्वक् च प्रिये यस्य स वाक्त्वचप्रियः। (२) वाक् च दृषत् च प्रिये यस्य स वाक्दृषदप्रियः। (३) छत्रं च उपानत् च प्रिये यस्य स छत्रोपानहप्रियः। इन सब त्रिपद-बहुव्रीहिसमासों में उत्तरपद के परे रहते प्रथम दो पदों में होने वाला द्वन्द्वसमास नित्य होता है वैकल्पिक नहीं, अतः इन द्वन्द्वसमासों से **द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात् समाहारे** (९९२) से नित्य समासान्त टच् हो जाता है।

व्याख्या—'पञ्चन्+गो+धन' यहां उत्तरपद 'धन' परे विद्यमान है अतः 'पञ्चन्+गो' का अवान्तर तत्पुरुषसमास नित्य होगा वैकल्पिक नहीं। अब लुप्त हुई अन्तर्वर्तिनी विभक्ति के आश्रय से पदत्व के कारण 'पञ्चन्' के नकार का **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से लोप हो 'पञ्च+गो+धन' इस स्थिति में अवान्तर-तत्पुरुष 'पञ्चगो' से समासान्त टच् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९३९) गोरतद्धितलुकि ।५।४।९२।।

गोऽन्तात् तत्पुरुषाट्टच् स्यात् समासान्तो न तु तद्धितलुकि । पञ्चगवधनः ।।

अर्थः—तद्धित का लुक् न हुआ हो तो गोशब्द जिस के अन्त में हो ऐसे तत्पुरुष-समास से परे समासान्त टच् प्रत्यय हो तथा वह तद्धितसंज्ञक भी हो।

व्याख्या—गोः ।५।१। अतद्धितलुकि ।७।१। टच् ।१।१। (**राजाहःसखिभ्यष्टच्** से)। तत्पुरुषात् ।५।१। (**तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याऽव्ययादेः** से विभक्तिविपरिणामद्वारा)। **प्रत्ययः, परश्च, तद्धिताः, समासान्ताः**—ये सब पूर्ववत् अधिकृत हैं। तद्धितस्य लुक्—तद्धितलुक्, षष्ठीतत्पुरुषः। न तद्धितलुक्—अतद्धितलुक्, तस्मिन्=अतद्धितलुकि, नञ्तत्पुरुषः। 'गोः' यह 'तत्पुरुषात्' का विशेषण है। विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'गोऽन्तात्तत्पुरुषात्' बन जाता है। अर्थः—(अतद्धितलुकि) तद्धितप्रत्यय का लुक् न हुआ हो तो (गोः=गोशब्दान्तात्) गोशब्दान्त (तत्पुरुषात्) तत्पुरुषसमास से परे (टच्) टच् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है और वह (समासान्तः) समास का अन्तावयव तथा (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक भी होता है।

'पञ्चगो+धन' इस त्रिपद बहुव्रीहि के अन्तर्गत 'पञ्चगो' में अवान्तर तत्पुरुषसमास किया गया है। यहां किसी तद्धित का लुक् नहीं हुआ, इस के अन्त में गोशब्द भी है अतः प्रकृत **गोरतद्धितलुकि** (९३९) सूत्र से समासान्त टच् (अ) प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप तथा **एचोऽयवायावः** (२२) से गकारोत्तर ओकार को अव् आदेश करने से 'पञ्चगवधन' बना। अब इस त्रिपद बहुव्रीहि के प्रातिपदिकत्व के कारण स्वादियों की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने से 'पञ्चगवधनः'[1] प्रयोग सिद्ध हो

---

१. 'पञ्चगवधनः' में 'पञ्चगव' यह अवान्तरतत्पुरुषसमास है। **संख्यापूर्वो द्विगुः** (९४१) से इस की द्विगुसंज्ञा भी है। इस से परे भी अन्य समासों की तरह यद्यपि सुँप् की उत्पत्ति होती है तथापि बहुव्रीहि के अन्तर्गत आने से अन्य सुँपों की तरह उस का भी **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् हो जाता है। अतः अवान्तर समास से विभक्ति का श्रवण नहीं होता।

जाता है । इसीप्रकार—दशगवधनः, पञ्चगवप्रियः आदि जानने चाहियें[1] ।

उत्तरपद के परे रहते दिशावाचकों का समानाधिकरण के साथ समास यथा—पूर्वा शाला प्रिया यस्य स पूर्वशालाप्रियः । अपरशालाप्रियः । यहां 'प्रिया' उत्तरपद के परे रहते पूर्व के दोनों पदों में नित्यतत्पुरुषसमास हो जाता है । इस समास के कारण **समासस्य** (६.१.२१७) सूत्रद्वारा तत्पुरुष का अन्त्य स्वर उदात्त हो जाता है ।

(३) समाहार वाच्य होने पर संख्यावाचकों का समानाधिकरण के साथ समास दर्शाने से पूर्व एतत्प्रकरणोपयोगी चार सूत्रों का अवतरण करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम् (९४०) तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः । १।२।४२॥

अर्थः—समानाधिकरण तत्पुरुष समास कर्मधारयसंज्ञक होता है ।

व्याख्या—तत्पुरुषः ।१।१। समानाधिकरणः ।१।१। कर्मधारयः ।१।१। समानम् =एकम् अधिकरणम्=वाच्यं ययोस्ते समानाधिकरणे (पदे), बहुव्रीहिसमासः, समानाधिकरणे (पदे) स्तोऽस्येति समानाधिकरणः (समानाधिकरणपदकः), मत्वर्थीयोऽर्श-आद्यच् । अर्थः—(समानाधिकरणः=समानाधिकरणपदकः) समान अधिकरण=वाच्य वाले पद जिस में हों ऐसा (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसमास (कर्मधारयः) कर्मधारयसंज्ञक होता है । तात्पर्य यह है कि जब तत्पुरुषसमास में पूर्वपद और उत्तरपद एकसमान विभक्त्यन्त होते हुए एक ही वाच्य को कहते हैं तो वह समास कर्मधारयसंज्ञक होता है । यथा—कृष्णा चतुर्दशी कृष्णचतुर्दशी । यहां तत्पुरुषसमास में पूर्वपद और उत्तरपद दोनों समानाधिकरण हैं अतः यह कर्मधारयसंज्ञक हुआ । कर्मधारयसंज्ञा के कारण **पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु** (६.३.४१) सूत्रद्वारा[2] 'कृष्णा' को पुंवद्भाव के कारण 'कृष्ण' हो जाता है । ध्यान रहे कि कर्मधारयसंज्ञा के साथ-साथ इस की तत्पुरुषसंज्ञा भी बनी रहती है । इसीलिये तो यह सूत्र **आ कडारादेका संज्ञा** (१६६) के अधिकार में पढ़ा नहीं गया, अन्यथा एकसंज्ञाधिकार के कारण कर्मधारयसंज्ञा से तत्पुरुषसंज्ञा का बाध हो जाता । हमें यहां तत्पुरुषसञ्ज्ञा रखनी भी अभीष्ट है, अतएव तत्पुरुषमूलक समासान्त प्रत्यय तथा स्वर आदि कर्मधारय से भी हो जाते हैं । यथा—उत्तमो गौः—उत्तमगवः

---

१. **गोरतद्धितलुकि** (९३९) के अन्य उदाहरण यथा—
परमश्चासौ गौः—परमगवः । उत्तमश्चासौ गौः—उत्तमगवः । इत्यादि जानने चाहियें । तद्धितप्रत्यय का लुक् होने पर यह समासान्त नहीं होता । यथा—पञ्चभिर्गोभिः क्रीतः—पञ्चगुः । दशभिर्गोभिः क्रीतः—दशगुः । यहां **तेन क्रीतम्** (११४४) से लाये गये ठक् का **अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम्** (५.१.२८) से लुक् हो गया है अतः समासान्त टच् नहीं हुआ ।

२. इस सूत्र का अर्थ है—कर्मधारयसमास में अथवा जातीय और देशीय प्रत्ययों के परे रहते ऊङ्वर्जित भाषितपुंस्क स्त्रीलिङ्ग शब्द को पुंवत् हो जाता है ।

समानाधिकरण i. समान विभक्ति
ii. वाच्यार्थ भिन्न
iii. तात्पर्यार्थ एक

(श्रेष्ठ बैल)। यहां कर्मधारय से भी **गोरतद्धितलुकि** (९३९) सूत्रद्वारा तत्पुरुषमूलक समासान्त टच् हो जाता है।

अब द्विगुसंज्ञा का विधान करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—**(९४१) सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः ।२।१।५१।।**

तद्धितार्थ० (९३६) इत्यत्रोक्तस्त्रिविधः संख्यापूर्वो द्विगुसंज्ञः स्यात् ।।

अर्थः—तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च (९३६) इस सूत्र में जो त्रिविध समास कहा गया है यदि उस का पूर्व (पूर्वपद) संख्यावाचक हो तो वह समास द्विगुसञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—सङ्ख्यापूर्वः ।१।१। द्विगुः ।१।१। सङ्ख्या पूर्वः (पूर्वावयवः) यस्य स संख्यापूर्वः, बहुव्रीहिसमासः। **तद्धितार्थ०** (९३६) इस पूर्वसूत्र में उक्त त्रिविध समास ही यहां बहुव्रीहि का अन्यपदार्थ है। अर्थः—**तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३६) इस पूर्वसूत्र में जो त्रिविध समास कहा गया है उस में (संख्यापूर्वः) पूर्वपद यदि संख्यावाची हो तो वह समास (द्विगुः) द्विगुसंज्ञक होता है। तात्पर्य यह है कि **तद्धितार्थोत्तर०** (९३६) सूत्रद्वारा तद्धितार्थ के विषय में, उत्तरपद परे होने पर, या समाहार अर्थ में जो त्रिविध समास कहा गया है उस समास में संख्यावाची पूर्वपद हो तो उस की द्विगु-संज्ञा हो जाती है। यथा—

तद्धितार्थ के विषय में—पाञ्चनापितिः, पञ्चकपालः आदि द्विगु हैं।

उत्तरपद परे रहते—पञ्चगवधनः आदि द्विगु हैं।

समाहार में—पञ्चगवम् आदि द्विगु हैं।

यहां यह ध्यातव्य है कि इस द्विगुसंज्ञा से तत्पुरुषसंज्ञा का बाध नहीं होता। **द्विगुश्च** (९२३) सूत्र में चकारग्रहण के कारण दोनों का समावेश हो जाता है—यह पीछे उसी सूत्र की व्याख्या में स्पष्ट किया जा चुका है।

द्विगुसञ्ज्ञा हो जाने से समास में एकवचन तथा नपुंसक लिङ्ग की प्राप्ति होती है—यह अग्रिम दो सूत्रों में स्पष्ट करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(९४२) द्विगुरेकवचनम् ।२।४।१।।**

द्विग्वर्थः समाहार एकवत् स्यात् ।।

अर्थः—द्विगु समास का अर्थ समाहार एकत्व का प्रतिपादक हो।

व्याख्या—द्विगुः ।१।१। एकवचनम् ।१।१। समाहारे ।७।१। (**समाहारग्रहणं कर्त्तव्यम्** इस वार्त्तिक के कारण)। वक्तीति वचनम्, **कृत्यल्युटो बहुलम्** (७७२) इति बाहुलकात्कर्त्तरि ल्युट्, सामान्ये नपुंसकम्। एकस्य वचनम् एकवचनम्, षष्ठीतत्पुरुषः। एकस्य (अर्थस्य) प्रतिपादक इत्यर्थः। अर्थः—(समाहारे) समाहार अर्थ में जो (द्विगुः) द्विगुसमास वह (एकस्य वचनः) एक अर्थ का प्रतिपादक होता है। समाहार (समूह) यद्यपि एक होता है, उस में एकवचन स्वतः सिद्ध है ही तथापि समूह में उद्भूतावयव-

विवक्षा से कहीं द्वित्व और बहुत्व न हो जायें इसलिये यहां पुनः एकत्व का प्रतिपादन किया गया है ।

यह सूत्र समाहारार्थक द्विगु के ही एकत्व का प्रतिपादन करता है तद्धितार्थ-विषयक द्विगु का नहीं । अतः उस में यथेष्ट वचन हो सकते हैं । यथा—पञ्चसु कपालेषु संस्कृताः पञ्चकपालाः (पुरोडाशाः) । पञ्चभिर्गोभिः क्रीताः पञ्चगवः पटाः । उत्तर-पद के परे रहते द्विगु का चाहे जो वचन हो उस का **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् हो जाता है, इस तरह कोई अन्तर नहीं पड़ता ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा समाहारद्विगु तथा समाहारद्वन्द्व का नपुंसकत्व विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९४३) **स नपुंसकम्** ।२।४।१७।।

समाहारे द्विगुर्द्वन्द्वश्च नपुंसकं स्यात् । पञ्चानां गवां समाहारः—पञ्चगवम् ।।

अर्थः—समाहार अर्थ में द्विगु और द्वन्द्व नपुंसक हों ।

व्याख्या—सः ।१।१। नपुंसकम् ।१।१। 'सः' से यहां समाहार अर्थ में हुए द्विगु तथा समाहारद्वन्द्व दोनों का ग्रहण अभीष्ट है । अर्थः—(सः) समाहार अर्थ में द्विगु और द्वन्द्व (नपुंसकम्) नपुंसक होता है । द्विगुसमास तत्पुरुषसमास का ही एक अवान्तर भेद है अतः **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) द्वारा द्विगु और द्वन्द्व दोनों में प्राप्त परव-ल्लिङ्गता का यह अपवाद है । समाहारद्वन्द्व के उदाहरण 'सञ्ज्ञा च परिभाषा च सञ्ज्ञापरिभाषम्' इत्यादि आगे द्वन्द्वसमास के प्रकरण में स्पष्ट होंगे । समाहारद्विगु का अब यहां उदाहरण दिया जा रहा है—

लौकिकविग्रह—पञ्चानां गवां समाहारः पञ्चगवम् (पाञ्च गौओं या बैलों का समूह) । अलौकिकविग्रह—पञ्चन् आम् + गो आम् । यहां अलौकिकविग्रह में समाहार अर्थ में **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३६) सूत्रद्वारा 'पञ्चन् आम्' इस संख्यावाचक सुँबन्त का 'गो आम्' इस समानाधिकरण सुँबन्त के साथ तत्पुरुषसमास हो जाता है । **संख्यापूर्वो द्विगुः** (९४१) सूत्र से इस समास की द्विगुसञ्ज्ञा भी रहती है । समासविधायक सूत्र में **दिक्संख्ये** यह पद अनुवर्तित होता है जो प्रथमानिर्दिष्ट है अतः तद्बोध्य 'पञ्चन् आम्' की उपसर्जनसंज्ञा हो **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्व-निपात हो जाता है—पञ्चन् आम् + गो आम् । अब **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से समग्र समाससमुदाय की प्रातिपदिकसंज्ञा, **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (दोनों 'आम्' प्रत्ययों) का लुक् तथा पञ्चन् के आगे लुप्त हुई आम् विभक्ति को प्रत्ययलक्षणद्वारा मान पदत्व के कारण **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से पञ्चन् के नकार का लोप हो कर 'पञ्चगो' इस स्थिति में **गोरतद्धितलुकि** (९३९) से समासान्त टच् (अ) प्रत्यय करने पर अनुबन्धलोप तथा **एचोऽयवायावः** (२२) से 'गो' के ओकार को अव् आदेश करने से—पञ्चगव । **एकदेशविकृतमनन्यवत्** न्याय के अनु-

सार प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के निर्बाध रहने से 'पञ्चगव' के आगे स्वादियों की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमाविभक्ति की विवक्षा में **द्विगुरेकवचनम्** (९४२) से एकवचन तथा **स नपुंसकम्** (९४३) से नपुंसकलिङ्ग होने के कारण सुँ प्रत्यय ला कर **अतोऽम्** (२३४) से उसे अम् आदेश एवम् **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप एकादेश करने पर 'पञ्चगवम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—पञ्चानां पात्राणा समाहारः—पञ्चपात्रम् । त्रयाणां भुवनानां समाहारः—त्रिभुवनम् । चतुर्णां युगानां समाहारः—चतुर्युगम् । पञ्चानां कुमारीणां समाहारः—पञ्चकुमारि[1] । पञ्चानां धेनूनां समाहारः—पञ्चधेनु । त्रयाणां कटूनां समाहारः—त्रिकटु[2] ।

विशेष वक्तव्य—स नपुंसकम् (९४३) इस प्रकृतसूत्र का प्रसिद्ध अपवाद यह वार्त्तिक है—**अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः** (वा०) अर्थात् जिस द्विगु का उत्तर-पद अकारान्त हो वह द्विगु स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होता है । स्त्रीलिङ्ग में द्विगु से **द्विगोः** (१२५७) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय हो जाता है । यथा—त्रयाणां लोकानां समाहारः—त्रिलोकी । पञ्चानां पूलानां समाहारः—पञ्चपूली । अष्टानामध्यायानां समाहारः—अष्टाध्यायी । इस वार्त्तिक का अपवाद है—**पात्राद्यन्तस्य न** (वा०) अर्थात् पात्र आदि अकारान्त शब्द जिस द्विगु के अन्त में हों वह द्विगु स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त नहीं होता । यथा—पञ्चपात्रम्, त्रिभुवनम्, चतुर्युगम्, त्र्यूषणम् आदि । पात्रादि आकृतिगण माना जाता है ।

समाहार अर्थ में दिशावाचकों के समास का अनभिधान (अप्रयोग) आकरग्रन्थों में कहा गया है ।

तद्धितार्थोत्तरपद० (९३६) सूत्र के उदाहरणों का कोष्ठक यथा—

समासविषयाः	दिग्वाचकानां समासाः	संख्यावाचकानां समासाः
तद्धितार्थे→	पौर्वशालः, आपरशालः, दाक्षिण-शालः ।	पञ्चकपालः, पाञ्चनापितिः, षाण्मातुरः ।
उत्तरपदे→	पूर्वशालाप्रियः ।	पञ्चगवधनः, दशगवधनः ।
समाहारे→	समासो नास्ति ।	पञ्चगवम्, त्रिभुवनम्, चतुर्युगम्, पञ्चकुमारि, त्रिकटु, त्रिलोकी, पञ्चपात्रम्, अष्टाध्यायी ।

---

१. समाहारे द्विगौ **स नपुंसकम्** (९४३) इति नपुंसकत्वेन **ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य** (२४३) इति ह्रस्वत्वे **स्वमोर्नपुंसकात्** (२४४) इति सोर्लुक् ।

२. **पिप्पली मरिचं शुण्ठी त्रयमेतद्विमिश्रितम्** ।
त्रिकटु त्र्यूषणं व्योषं कटुत्रिकमथोच्यते ॥ (भैषज्यरत्नावली)

अब तत्पुरुषसमासान्तर्गत कर्मधारयसमास में विशेषण-विशेष्य-समास के विधायक प्रमुखसूत्र का निरूपण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९४४) **विशेषणं विशेष्येण बहुलम् ।** २।१।५६।।

भेदकं भेद्येन समानाधिकरणेन बहुलं प्राग्वत् । नीलम् उत्पलम्—नीलोत्पलम् । बहुलग्रहणात् क्वचिन्नित्यम्—कृष्णसर्पः । क्वचिन्न—रामो जामदग्न्यः ।।

अर्थः—भेदक (विशेषण) सुँबन्त, समानाधिकरण भेद्य (विशेष्य) सुँबन्त के साथ बहुल कर समास को प्राप्त होता है और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है। **बहुलग्रहणात्**—सूत्र में 'बहुलम्' कथन के कारण यह समास कहीं तो नित्य होता है (यथा—कृष्णसर्पः) और कहीं होता ही नहीं (यथा—रामो जामदग्न्यः) ।

व्याख्या—विशेषणम् ।१।१। विशेष्येण ।३।१। बहुलम् ।१।१। समानाधिकरणेन ।३।१ (**पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन** से) । समासः, सुँप्, सह सुँपा, तत्पुरुषः—ये सब पीछे से अधिकृत हैं । अर्थः—(विशेषणम्) विशेषण (सुँबन्तम्) सुँबन्त (समानाधिकरणेन) समानाधिकरण (विशेष्येण) विशेष्य (सुँबन्तेन) सुँबन्त के साथ (बहुलम्) बहुल से (समासः) समास को प्राप्त होता है और वह समास (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसंज्ञक होता है। **तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः** (९४०) सूत्र से इस समास की कर्मधारयसंज्ञा भी होती है ।

विशिष्यतेऽनेनेति विशेषणम् । जिस के द्वारा कोई वस्तु विशिष्ट की जाती है या दूसरों से अलग कर पहचान में लाई जाती है उसे विशेषण कहते हैं। दूसरे शब्दों में भेदक या व्यावर्त्तक को विशेषण कहा जाता है। विशेषण जिसे दूसरे से अलग कर विशिष्ट करता है उसे विशेष्य भेद्य या व्यावर्त्य कहते हैं[1] । जैसे 'नीलम् उत्पलम्' यहां 'नीलम्' पद 'उत्पलम्' को दूसरे उत्पलों से अलग कर नीले कमल के रूप में विशिष्ट करता है तो यह 'नीलम्' पद विशेषण तथा 'उत्पलम्' (कमल) विशेष्य हुआ। इसीप्रकार 'रक्तम् उत्पलम्' में 'रक्तम्' पद विशेषण तथा 'उत्पलम्' पद विशेष्य है। 'सितम् अम्भोजम्' में 'सितम्' पद विशेषण तथा 'अम्भोजम्' (कमल) पद विशेष्य है। सुँबन्त विशेषण का समानाधिकरण सुँबन्त विशेष्य के साथ बहुल से समास होता है। 'बहुलम्' कथन के कारण कहीं तो यह समास नित्य होगा, कहीं विकल्प से, और कहीं समास होगा ही नहीं[2] । इसीलिये तो पीछे से आ रहे 'विभाषा' पद का आश्रय छोड़ यहां 'बहुलम्' पद का ग्रहण किया गया है ।

---

१. **भेद्यं विशेष्यमित्याहुर्भेदकं तु विशेषणम् । प्रधानं तु विशेष्यं स्यादप्रधानं विशेषणम् ।।**

२. 'बहुलम्' की व्याख्या (७७२) सूत्रस्थ इस कारिका पर देखें—

क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः क्वचिद्विभाषा क्वचिदन्यदेव ।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ।।

उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—नीलम् उत्पलम्—नीलोत्पलम्[1] (नीला कमल)। अलौकिक-विग्रह—नील सुँ+उत्पल सुँ। यहां 'नील सुँ' इस विशेषण का 'उत्पल सुँ' इस विशेष्य के साथ प्रकृत **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** (९४४) सूत्रद्वारा समास हो जाता है। समासविधायक इस सूत्र में 'विशेषणम्' पद प्रथमानिर्दिष्ट है अतः तद्बोध्य 'नील सुँ' की उपसर्जनसंज्ञा हो कर **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्वनिपात हो जाता है—नील सुँ+उत्पल सुँ। अब समास की **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से प्रातिपदिक-संज्ञा, **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव दोनों सुँप् प्रत्ययों (सुँ और सुँ) का लुक् एवम् **आद् गुणः** (२७) से गुण एकादेश करने पर 'नीलोत्पल' बना। **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) के अनुसार यहां परपद अर्थात् 'उत्पल' के अनुसार समास का लिङ्ग होना चाहिये। 'उत्पल' नपुंसक है अतः समास का लिङ्ग भी नपुंसक होगा। प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय लाने पर **अतोऽम्** (२३४) से उसे अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'नीलोत्पलम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

---

१. कर्मधारयसमास में सामानाधिकरण्य को प्रकट करने के लिये लौकिकविग्रह प्रायः दो प्रकार से किया जाता है—

[१] समस्यमान पदों के द्वारा। यथा—वृद्धो व्याघ्रः—वृद्धव्याघ्रः। सर्वाः कलाः—सर्वकलाः। नीलम् उत्पलम्—नीलोत्पलम् इत्यादि।

[२] चकार से युक्त अदस्, तद्, यद् आदि शब्द लगा कर। यथा—

वृद्धश्चासौ व्याघ्रः—वृद्धव्याघ्रः।
वृद्धश्च स व्याघ्रः—वृद्धव्याघ्रः।
वृद्धश्च यो व्याघ्रः—वृद्धव्याघ्रः।
सर्वाश्चामूः कलाः—सर्वकलाः।
सर्वाश्च ताः कलाः—सर्वकलाः।
सर्वाश्च याः कलाः—सर्वकलाः।
नीलञ्चाद उत्पलम्—नीलोत्पलम्।
नीलञ्च तद् उत्पलम्—नीलोत्पलम्।
नीलञ्च यद् उत्पलम्—नीलोत्पलम्।

कई लोग उत्तरपद के अन्त में भी 'च' का प्रयोग करते हैं। यथा—वृद्धश्चासौ व्याघ्रश्चेति वृद्धव्याघ्रः। अदस्, तद्, यद् आदि शब्दों का लिङ्ग प्रायः विशेष्यानुसार लगाया जाता है।

इसीप्रकार—

(१) पुण्यं च तत् तीर्थम्—पुण्यतीर्थम् ।[1]

(२) सन्तप्तं च तद् अयः—सन्तप्तायः (गरम लोहा) ।[2]

(३) वृद्धश्चासौ व्याघ्रः—वृद्धव्याघ्रः ।[3]

(४) विद्वांश्चासौ जनः—विद्वज्जनः ।[4] (२६२, ६२)

(५) निर्मलाश्च ते गुणाः—निर्मलगुणाः ।[5]

(६) सकलाश्च ताः कलाः—सकलकलाः ।[6]

(७) पूर्वञ्च तद् अर्धम्—पूर्वार्धम् ।[7]

(८) परञ्च तद् अर्धम्—परार्धम् ।[8]

(९) नवश्चासौ अवतारः—नवावतारः ।[9]

(१०) सन्तश्च ते पुरुषाः—सत्पुरुषाः ।[10]

(११) महांश्चासौ वृक्षः—महावृक्षः ।[11]

(१२) रक्तञ्च तदुत्पलम्—रक्तोत्पलम् ।

(१३) सितञ्च तद् अम्भोजम्—सिताम्भोजम् ।

(१४) अखिलानि भूषणानि—अखिलभूषणानि ।[12]

(१५) कृष्णा चासौ चतुर्दशी—कृष्णचतुर्दशी ।

(१६) पूर्वे च ते वैयाकरणाः—पूर्ववैयाकरणाः ।

(१७) सर्वे शैलाः—सर्वशैलाः ।[13]

---

१. **पुण्यतीर्थे कृतं येन तपः क्वाप्यतिदुष्करम् ।**
तस्य पुत्रो भवेद्वश्यः समृद्धो धार्मिकः सुधीः ॥ (हितोप० प्रस्ताविका)

२. **सन्तप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न ज्ञायते**—(पञ्चतन्त्र १.२७३)

३. **वृद्धव्याघ्रेण सम्प्राप्तः पथिकः स मृतो यथा**—(हितोप० १.५) ।

४. **यत्र विद्वज्जनो नास्ति श्लाघ्यस्तत्राल्पधीरपि**—(हितोप० १.६९) ।

५. **एते येषु वसन्ति निर्मलगुणास्तेभ्यो महद्भ्यो नमः**—(नीतिशतक ५१) ।

६. **सकलकलापारंगतोऽमरशक्तिर्नाम राजा बभूव**— (पञ्चतन्त्रारम्भे) । **पुंवत् कर्मधारयजातीयदेशीयेषु** (६.३.४१) इति पूर्वपदस्य पुंवद्भावः ।

७-८. **दिनस्य पूर्वार्धपरार्धभिन्ना छायेव मैत्री खलसज्जनानाम्** (नीतिशतक ४९) ।

९. **मा भूत् परीवादनवावतारः**—(रघु० ५.२४) ।

१०. **एते सत्पुरुषाः परार्थघटकाः स्वार्थान् परित्यज्य ये**—(नीतिशतक ६४) ।

११. **आन्महतः समानाधिकरण०** (९५९) इति तकारस्यात्वे सवर्णदीर्घः ।
सेवितव्यो महावृक्षः फलच्छायासमन्वितः—(हितोप० ३.१०) ।

१२. **क्षीयन्तेऽखिलभूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम्**—(नीतिशतक १५) ।

१३. **यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे ।**
भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम् ॥ (कुमार० १.२)

(१८) जठराश्च ते नैयायिकाः—जठरनैयायिकाः (प्राचीन नैयायिक)।

(१९) क्षुद्राश्च ते जन्तवः—क्षुद्रजन्तवः।[1]

(२०) मत्तश्चासौ इभः—मत्तेभः (मदोन्मत्त हाथी)।[2]

सूत्र में 'बहुलम्' कहा गया है अतः क्वचित् इस की केवल प्रवृत्तिमात्र होने से समास नित्य ही रहेगा। क्वचित् अप्रवृत्ति रहने से समास का नितान्त अभाव भी रहेगा। इन दोनों के अतिरिक्त प्रायः अन्य स्थलों में इस की वैकल्पिक प्रवृत्ति ही होगी। नीलोत्पलम् आदि उपरिनिर्दिष्ट उदाहरण विकल्प के हैं अतः समास के अभाव में 'नीलम् उत्पलम्' आदि वाक्य भी प्रयुक्त होते हैं। कृष्णसर्पः, लोहितशालिः—ये नित्य समास के उदाहरण हैं, इन में नित्यसमास होने से स्वपद-विग्रह नहीं पाया जाता। 'कृष्णसर्पः' यह विषधर सर्पजातिविशेष की संज्ञा है। हर एक कृष्णरंग वाले सर्प को 'कृष्णसर्पः' नहीं कहा जाता। इसी तरह 'लोहितशालिः' भी शालि की विशेष जाति का नाम है। केवल लोहितरंग वाले शालि को लोहितशालि नहीं कहा जाता अतः ये अविग्रह समास समझने चाहियें[3]।

रामो जामदग्न्यः (जमदग्नि का पुत्र राम अर्थात् परशुराम), व्यासः पाराशर्यः (पराशर का पुत्र व्यास अर्थात् वेदव्यास), अर्जुनः कार्त्तवीर्यः (कृतवीर्य का पुत्र अर्जुन अर्थात् सहस्रार्जुन)। ये सब समास की अप्रवृत्ति के उदाहरण हैं। इन में समास न हो कर केवल वाक्य ही रहता है।[4]

विशेष वक्तव्य—विशेष्य और विशेषण का निर्णय दुष्कर कार्य है, जिसे आप विशेषण मानते हैं वह विशेष्य भी माना जा सकता है; इसीप्रकार जिसे आप विशेष्य

---

१. **जीवन्ति च म्रियन्ते च मद्विधाः क्षुद्रजन्तवः।**
अनेन सदृशो लोके न भूतो न भविष्यति॥ (हितोप० ३.१०१)

२. **मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति धीराः**—(शृङ्गारशतक ७३)।

३. कर्मधारय-समास में अस्वपदविग्रह नित्यसमास के कुछ अन्य उदाहरण यथा—गुरुचरणाः (पूज्या गुरवः)। आर्यमिश्राः (पूज्यास्त्रैवर्णिकाः)। इत्यादि।

४. ऐसा क्यों होता है ? सर्वत्र सूत्र की प्रवृत्ति एक जैसी क्यों नहीं होती ? इस का उत्तर यह है कि भाषा पहले हुआ करती है और उस का व्याकरण बाद में बना करता है। व्याकरण का प्रयोजन भाषा में प्रचलित उन उन प्रयोगों का अन्वाख्यान करना ही होता है न कि नये नये अप्रचलित प्रयोगों का घड़ना। अतः शिष्टसम्मत संस्कृतभाषा में जिस प्रकार के प्रयोग प्रचलित थे, आचार्य पाणिनि ने अपने व्याकरण के द्वारा उन का प्रतिपादनमात्र ही प्रस्तुत किया है कोई नवीन बात अपनी ओर से नहीं जोड़ी। यहां 'बहुलम्' के ग्रहण से भाषागत तीन कार्यों का एक साथ साधना उन के परम नैपुण्य का परिचायक है। अतएव अष्टाध्यायी के विषय में यह प्रचलित है—**शिष्टपरिज्ञानार्थाऽष्टाध्यायी।**

कहते हैं वह विशेषण भी बन सकता है। यथा प्रकृत में 'नील' को विशेषण तथा 'उत्पल' को विशेष्य माना गया है, परन्तु इस से विपरीत भी माना जा सकता है। कैसा नीला ? उत्पल जातिवाला, इस तरह मानने से 'नील' विशेष्य (भेद्य) और 'उत्पल' विशेषण (भेदक) प्रतीत होने लगता है। विशेषण का यहां पूर्वनिपात होना है क्योंकि वह प्रथमानिर्दिष्ट होने से उपसर्जन है। जब विशेषण का ही निश्चय न होगा तो पूर्वनिपात में अनियम रहेगा, कभी 'नीलोत्पलम्' बनेगा और कभी 'उत्पल-नीलम्' भी प्रसक्त होने लगेगा। इस पर व्याख्याकारों का कथन है कि जब जाति-वाचक या संज्ञावाचक के साथ गुणवाचक या क्रियावाचक शब्द का समभिव्याहार हो तो जातिवाचक और सञ्ज्ञावाचक को विशेष्य तथा गुण और क्रिया के वाचकों को विशेषण ही माना जाता है। यथा—'नीलम् उत्पलम्' में जातिवाचक 'उत्पलम्' के साथ गुणवाचक 'नीलम्' का समभिव्याहार है, तो गुणवाचक 'नीलम्' विशेषण तथा जातिवाचक 'उत्पलम्' विशेष्य होगा। इसीप्रकार 'पाचको ब्राह्मणः—पाचकब्राह्मणः' में क्रियावाचक 'पाचकः' विशेषण तथा जातिवाचक 'ब्राह्मणः' विशेष्य होगा। जब दो गुणवाचकों का समभिव्याहार हो तो विशेष्य-विशेषण का कोई नियम नहीं होता, किसी को भी विशेष्य और दूसरे को विशेषण माना जा सकता है। यथा—खञ्जः कुब्जः—खञ्जकुब्जः कुब्जखञ्जो वा। दो क्रियाशब्दों या गुण और क्रियाशब्दों के समभिव्याहार में भी इसी तरह अनियम रहता है। यथा—पाचकः पाठकः—पाचक-पाठकः पाठकपाचको वा। खञ्जः पाचकः—खञ्जपाचकः पाचकखञ्जो वा। कैलासाद्रिः, विन्ध्याद्रिः, मन्दराद्रिः, अयोध्यानगरी, काशीनगरी इत्यादियों में सञ्ज्ञाविशेषवाचक विशेषण होते हैं। सामान्यजाति और विशेषजाति के समभिव्याहार में विशेषजाति-वाचक शब्द को विशेषण माना जाता है। यथा—शिंशपावृक्षः, आम्रवृक्षः, जम्बूपादपः आदि। सूत्रकार ने कई जगह सूत्र बना कर कर्मधारयसमास में कुछ शब्दों के पूर्व-निपात को नियमित करने का भी प्रयत्न किया है। इन के अनुसार सर्व, जरत्, पुराण, नव, केवल, पूर्व, अपर, प्रथम, चरम, जघन्य, समान, मध्य, मध्यम, वीर, सत्, महत्, परम, उत्तम, उत्कृष्ट आदि शब्दों का पूर्वनिपात ही होता है परनिपात नहीं।[1] विस्तार के लिये काशिका या सिद्धान्तकौमुदी का अवलोकन करें।

नोट—वृत्तिविषय में संख्यावाचक शब्द पूरणप्रत्ययों के विना भी पूरणप्रत्य-यान्तों के अर्थ की प्रतीति कराया करते हैं। यथा—षष्ठो भागः—षड्भागः। **तपः-षड्भागमक्षय्यं ददत्यारण्यका हि नः**—(शाकुन्तल० २.१४)। तृतीयो भागः—त्रिभागः। **त्रिभागशेषासु क्षपासु च क्षणं निमील्य नेत्रे सहसा व्यबुध्यत** (कुमार० ५.५७)। शततमोऽशः—शतांशः। **अर्थार्थी जीवलोकोऽयं यानि कष्टानि सेवते। शतांशेनापि मोक्षार्थी तानि चेद् मोक्षमाप्नुयात्** (पञ्चतन्त्र २.१२५)।

---

१. **पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः**०, **पूर्वाऽपर-प्रथम-चरम-जघन्य-समान-मध्य-मध्यम-वीराश्च** (२.१.४८-५७)। **सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः** (२.१.६०)।

अब उपमानपूर्वपदक कर्मधारयसमास का निरूपण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९४५) **उपमानानि सामान्यवचनैः ।** २।१।५४।

(उपमानवाचकानि सुँबन्तानि समानाधिकरणैः सामान्यवचनैः सुँबन्तैः सह समस्यन्ते, तत्पुरुषश्च समासो भवति)। घन इव श्यामः—घनश्यामः ॥

अर्थः—उपमानवाचक सुँबन्त, समानधर्म को कह चुके हुए समानाधिकरण सुँबन्तों के साथ समास को प्राप्त होते हैं और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है ।

व्याख्या—उपमानानि ।१।३। सामान्यवचनैः ।३।३। समानाधिकरणैः ।३।३। (**पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन** सूत्र से वचनविपरिणामद्वारा)। **समासः, सुँप्, सह सुँपा, तत्पुरुषः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं । उपमीयते सदृशतया परिच्छिद्यते यैस्तानि उपमानानि, करणे ल्युट् । जिन के द्वारा किसी वस्त्वन्तर की तुल्यता या समानता दर्शाई जाती है उन को उपमान कहते हैं । घन (बादल), चन्द्र, कमल आदि लोकप्रसिद्ध उपमान हैं क्योंकि इन से उपमेयों की समता दर्शाई जाती है । समानस्य भावः सामान्यम्, साधारणो धर्म इत्यर्थः । सामान्यम् उक्तवन्त इति सामान्यवचनाः, तैः=सामान्यवचनैः । भूते कर्त्तरि बाहुलकाल्ल्युट् । ये शब्दाः पूर्वं साधारणधर्ममुक्त्वाऽधुना तद्वति द्रव्ये वर्त्तन्ते ते सामान्यवचना इत्युच्यन्ते । उपमान और उपमेय में रहने वाली समानता (समानधर्म) को 'सामान्य' कहते हैं । जो शब्द पहले सामान्य (समानधर्म) को कह कर पुनः मत्वर्थीय अच् प्रत्यय[1] के बल से या उपचार के कारण उस सामान्य धर्म से युक्त द्रव्य को कहने लगे तो उसे 'सामान्यवचन' कहते हैं । यथा—घन इव श्यामः (श्रीकृष्णः) । श्रीकृष्ण बादल की तरह श्यामवर्ण वाला है । यहां 'घन' (बादल) उपमान है । श्रीकृष्ण उपमेय है । उपमान और उपमेय में सामान्य श्यामत्व है । श्यामशब्द पहले तो श्यामगुण का वाचक होता है परन्तु बाद में श्यामगुणोऽस्त्यस्येति श्यामः (मत्वर्थीयोऽच्प्रत्ययः) इस प्रकार श्यामगुण वाले पदार्थ (श्रीकृष्ण) को कहने लग जाता है, तो अब यह श्यामशब्द सामान्यवचन हुआ । इसी तरह गौर, धवल आदि शब्दों को सामान्यवचन समझना चाहिये । अर्थः—(उपमानानि) उपमानवाचक (सुँबन्तानि) सुँबन्त (समानाधिकरणैः) समान अधिकरण=वाच्य वाले (सामान्यवचनैः) सामान्यवचन (सुँबन्तैः) सुँबन्तों के साथ (समासाः) समास को प्राप्त होते हैं और वह समास (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसञ्ज्ञक होता है । **तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः** (९४०) से इस की कर्मधारयसञ्ज्ञा भी होती है । उदाहरण यथा—

---

१. **अर्शआदिभ्योऽच्** (११९५) ।

लौकिकविग्रह—घन इव श्यामः—घनश्यामः[1] (बादल की तरह श्यामवर्ण वाला श्रीकृष्ण)। अलौकिकविग्रह—घन सुँ + श्याम सुँ। यहां 'घन सुँ' उपमानवाची सुँबन्त है। इस का अपने समानाधिकरण[2] 'श्याम सुँ' इस सामान्यवचन सुँबन्त के साथ प्रकृत **उपमानानि सामान्यवचनैः** (९४५) सूत्रद्वारा तत्पुरुषसमास हो जाता है। समास-सूत्र में 'उपमानानि' पद प्रथमानिर्दिष्ट है अतः तद्बोध्य '**घन** सुँ' की उपसर्जनसंज्ञा हो कर **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्वनिपात हो जाता है—घन सुँ + श्याम सुँ। अब **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँपो **धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से समास के अवयव दोनों सुँपों (सुँ और सुँ) का लुक् हो जाता है—घनश्याम। पुनः प्रातिपदिकत्वात् सुँबुत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में 'सुँ' प्रत्यय ला कर उकार अनुबन्ध का लोप तथा सकार को रुँत्व और रेफ को विसर्ग आदेश करने से 'घनश्यामः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार—

नीरद इव श्यामः—नीरदश्यामः (बादल की तरह श्यामवर्ण)।
कर्पूर इव गौरः—कर्पूरगौरः (कपूर की तरह गौरवर्ण)।
दुग्धमिव धवलम्—दुग्धधवलं वस्त्रम् (दूध की तरह श्वेत वस्त्र)।
सुधाकर इव मनोहरम्—सुधाकरमनोहरम् मुखम्[3] (चन्द्रवत् सुन्दर मुख)।
शङ्ख इव पाण्डरः—शङ्खपाण्डरः (शङ्ख की तरह श्वेतवर्ण)।

---

१. यहां वृत्ति या अलौकिकविग्रह में पूर्वपद का लाक्षणिक अर्थ 'तत्सदृश' हुआ करता है अतः लौकिकविग्रह में इसे प्रकट करने के लिये 'इव' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

२. भला 'घन' और 'श्याम' का यहां सामानाधिकरण्य कैसे सम्भव हो सकता है? 'घन' का वाच्य है बादल, और 'श्याम' शब्द श्यामगुणविशिष्ट श्रीकृष्ण आदि को कह रहा है? इस का उत्तर यह है कि यहां समास में पूर्वपद 'घन' की घनसदृश अर्थ में लक्षणा है। इस तरह वह श्रीकृष्ण आदि में रहता है और इधर श्याम-शब्द भी इसी की ओर निर्देश कर रहा है। इत्थं दोनों का अधिकरण समान = एक हो जाने से समास सिद्ध हो जाता है कोई दोष नहीं आता। अत एव 'मृगीव चपला—मृगचपला' इत्यादियों में समानाधिकरण के परे रहते **पुंवत् कर्मधारय-जातीयदेशीयेषु** (६.३.४१) सूत्र से पूर्वपद को पुंवद्भाव सिद्ध हो जाता है। **शङ्का**—यदि ऐसा मानेंगे तो पूर्वपद उपमान नहीं रहेगा। **समाधान**—पूर्वपद की उपमानता भूतपूर्वगति से समझ ली जाती है। पूर्वपद समास में यद्यपि 'घनसदृश' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है तथापि पहले तो वह उपमान था अतः उसी नाते अब भी वह उपमान समझा जायेगा।

३. **वदनं मृगशावाक्ष्याः सुधाकरमनोहरम्।**
कदलीसुन्दरावूरू मृणालमृदुलौ भुजौ॥ (साहित्यदर्पणे)

शिरीषमिव मृद्वी—शिरीषमृद्वी (शिरीष पुष्प की तरह कोमला)[1] ।

नवनीतमिव कोमला—नवनीतकोमला (मक्खन की तरह कोमला) ।

तडिदिव पिशङ्गी—तडित्पिशङ्गी (बिजली की तरह पीली) ।

मृगीव चपला—मृगचपला (हरिणी की तरह चञ्चला)[2] ।

हंसीव गद्गदा—हंसगद्गदा (हंसनी की तरह गद्गदस्वरा) ।

गज इव स्थूल:—गजस्थूल: (हाथी की तरह स्थूल) ।

इसी रीति से—हेमरुचिरा, कुमुदश्येनी, शस्त्रीश्यामा, कुन्देन्दुतुषारहारधवला आदियों में समास समझना चाहिये ।

अब कर्मधारयसमास के अन्तर्गत मध्यमपदलोपिसमास (अपरनाम शाकपार्थिवादिसमास) का निरूपण करते हैं—

[लघु०] वा०—(५७) शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसङ्ख्यानम् ॥

शाकप्रियः पार्थिवः—शाकपार्थिवः । देवपूजको ब्राह्मणः—देवब्राह्मणः ॥

अर्थः—शाकपार्थिव आदि शब्दों की सिद्धि के लिये (पूर्वपद में स्थित) उत्तरपद के लोप का उपसंख्यान करना चाहिये ।

व्याख्या—**वर्णो वर्णेन** (२.१.६८) सूत्रस्थ महाभाष्य में यह वार्तिक **समानाधिकरणाधिकारे शाकपार्थिवादीनामुपसंख्यानमुत्तरपदलोपश्च** इस रूप में पढ़ा गया है । शाकपार्थिव आदि शब्दों की सिद्धि दो बार समास करने से होती है । पहले दो पदों में समास कर एक पद बना लिया जाता है । पुनः इस एक पद का अन्य समानाधिकरण पद के साथ कर्मधारयसमास किया जाता है । इस कर्मधारयसमास में पूर्व समस्त हुए पद के अन्तर्गत उत्तरपद का प्रकृतवार्त्तिक से लोप किया जाता है । यथा—'शाक' और 'प्रिय' पदों का **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से बहुव्रीहिसमास हो कर 'शाकः प्रियो यस्य सः =शाकप्रियः' यह एकपद बन जाता है । अब इस का 'पार्थिवः' के साथ कर्मधारयसमास करने में पूर्वसमस्तपद (शाकप्रिय) के उत्तरपद 'प्रिय' का लोप हो कर 'शाकपार्थिवः' प्रयोग बन जाता है । कर्मधारयसमास की प्रक्रिया यथा—

लौकिकविग्रह—शाकप्रियः पार्थिवः शाकपार्थिवः[3] (शाकभक्षण का प्रेमी राजा) ।

---

१. **शिरीषमृद्वी गिरिषु प्रपेदे यदा यदा दुःखशतानि सीता ।**
तदा तदाऽस्याः सदनेषु सौख्यलक्षाणि दध्यौ गलदश्रु रामः ॥ (साहित्यदर्पणे)

२. **पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु** (६.३.४१) इति पूर्वपदस्य पुंवद्भावः ।

३. महाभाष्य में 'शाकभोजी पार्थिवः—शाकपार्थिवः' इस प्रकार का विग्रह दर्शाया गया है । काशिका में 'शाकप्रधानः पार्थिवः—शाकपार्थिवः' इस तरह का विग्रह पाया जाता है । भाष्योक्तविग्रह में 'भोजिन्' उत्तरपद का एवं काशिकोक्तविग्रह में 'प्रधान' उत्तरपद का लोप हो जाता है ।

अलौकिकविग्रह—शाकप्रिय सुँ + पार्थिव सुँ । यहां 'शाकप्रिय सुँ' इस विशेषण का 'पार्थिव सुँ' इस विशेष्य के साथ **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** (९४४) सूत्रद्वारा समास हो, विशेषण का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँपों (दोनों सुँप्रत्ययों) का लुक् करने पर 'शाकप्रियपार्थिव' इस स्थिति में **शाकपार्थिवादीनां सिद्धय उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्** (वा० ५७) इस प्रकृत-वार्त्तिक से 'शाकप्रिय' शब्द के उत्तरपद 'प्रिय' का लोप कर विभक्ति लाने से 'शाकपार्थिवः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

द्वितीय उदाहरण में 'देवानां पूजकः—देवपूजकः'[1] इस प्रकार षष्ठीतत्पुरुष-समास कर पुनः इस का 'ब्राह्मणः' के साथ कर्मधारयसमास किया जाता है । तथाहि—

लौकिकविग्रह—देवपूजको ब्राह्मणः—देवब्राह्मणः (देवताओं की पूजा करने वाला ब्राह्मण) । अलौकिकविग्रह—देवपूजक सुँ + ब्राह्मण सुँ । यहां 'देवपूजक सुँ' इस विशेषण का 'ब्राह्मण सुँ' इस विशेष्य के साथ **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** (९४४) सूत्र-द्वारा समास हो विशेषण का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँपों (दोनों सुँप्रत्ययों) का लुक् करने पर, 'देवपूजकब्राह्मण' इस स्थिति में **शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्** (वा० ५७) इस प्रकृतवार्त्तिक से 'देवपूजक' शब्द के उत्तरपद 'पूजक' का लोप कर विभक्ति लाने से 'देवब्राह्मणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

प्रकृतवार्त्तिक में 'शाकपार्थिवादीनाम्' इस प्रकार बहुवचन का निर्देश होने से 'शाकपार्थिव' आदियों को आकृतिगण माना जाता है । इस से इस तरह के अन्य शब्दों को भी यहां संगृहीत समझना चाहिये । इस के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) छायाप्रधानः तरुः—छायातरुः[2] ।
(२) अश्वयुक्तो रथः—अश्वरथः ।
(३) पर्णनिर्मिता शाला—पर्णशाला ।
(४) तिलमिश्रम् उदकम्—तिलोदकम् ।
(५) गुडमिश्राः धानाः—गुडधानाः ।
(६) परशुप्रहरणो रामः—परशुरामः ।
(७) सहस्रबाहुरर्जुनः—सहस्रार्जुनः ।
(८) घृतपूर्णो घटः—घृतघटः ।
(९) दध्युपसिक्त ओदनः—दध्योदनः ।

---

१. यहां **षष्ठी** (९३१) सूत्रद्वारा प्राप्त समास का **तृजकाभ्यां कर्त्तरि** (२.२.१५) से निषेध हो जाता है । परन्तु याजकादिगण में 'पूजक' शब्द के पाठ के कारण **याजकादिभिश्च** (२.२.९) द्वारा पुनः षष्ठीसमास हो जाता है ।

२. **पूर्वाह्णे च पराह्णे च तलं यस्य न मुञ्चति ।**
अत्यन्तशीतलच्छाया स छायातरुरुच्यते ॥

(१०) शाखाप्रसक्तो मृगः— शाखामृगः (वानर) ।
(११) द्व्यधिकाः दश—द्वादश[1] ।
(१२) अलाश्रयो विधिः—अल्विधिः ।
(१३) सिंहोपलक्षितमासनम्—सिंहासनम् ।
(१४) त्र्यवयवः सर्गः—त्रिसर्गः[2] ।
(१५) त्र्यवयवो लोकः—त्रिलोकः[3] ।
(१६) दण्डप्रधानो माणवः—दण्डमाणवः[4] ।
(१७) दण्डाकारो माथः—दण्डमाथः (सीधा रास्ता)[5] ।
(१८) एकाधिकाः दश—एकादश[6] ।

नोट—इस समास में यद्यपि पूर्वपद के अन्तर्गत उत्तरपद का ही लोप होता है तथापि समुदितरूप से देखने पर मध्यमपद का लोप होने से इस समास को मध्यमपद-लोपितत्पुरुष कहा जाता है ।

अब नञ्तत्पुरुषसमास का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(९४६) नञ् ।२।२।६।।**

नञ् सुँपा सह समस्यते ।।

अर्थः—'नञ्' यह अव्यय, सुँबन्त के साथ समास को प्राप्त होता है और वह समास तत्पुरुषसञ्ज्ञक होता है ।

व्याख्या—नञ् ।१।१। सुँपा ।३।१। (**सह सुँपा** से) । समासः ।१।१। (**प्राक्कडारात्समासः** से) । तत्पुरुषः ।१।१। (यह अधिकृत है) । **प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्** (प०) परिभाषा के अनुसार 'सुँपा' से तदन्तविधि हो कर 'सुँबन्तेन' बन जाता है । अर्थः— (नञ्) 'नञ्' यह (सुँपा = सुँबन्तेन) सुँबन्त के साथ (समासः) समास को प्राप्त होता है और वह समास (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसंज्ञक होता है । 'नञ्' से यहां सुप्रसिद्ध अव्यय का ही ग्रहण किया जाता है, **स्त्री-पुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** (१००३) सूत्रद्वारा विहित

---

१. **द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः** (९६०) सूत्र से द्विशब्द के इकार को आकार आदेश हो जाता है । इस की विस्तृत-सिद्धि (९६०) सूत्रस्थ इसी व्याख्या में देखें ।
२. **यत्र त्रिसर्गोऽमृषा**—(श्रीमद्भागवत १.१.१) ।
३. त्रिलोकस्य नाथः—त्रिलोकनाथः । तथा च कालिदासः—
त्रिलोकनाथेन सदा मखद्विषस्त्वया नियम्या ननु दिव्यचक्षुषा (रघु० ३.४५) ।
अकिञ्चनः सन् प्रभवः स सम्पदां त्रिलोकनाथः पितृसद्मगोचरः (कुमार० ५.७७) ।
४. **न दण्डमाणवान्तेवासिषु** (४.३.१३०) ।
५. **माथोत्तरपदपदव्यनुपदं धावति** (४.४.३७) । दाण्डमाथिकः ।
६. अत्र **आन्महतः०** (९५९) इत्यत्र 'आत्' इति योगविभागादात्त्वम् ।

नञ् — प्रसज्य प्रतिषेध (समास निषेध, क्रिया-संबद्ध) — पर्युदास

नञ् प्रत्यय का नहीं। 'नञ्' अव्यय के ञकार की **हलन्त्यम्** (१) सूत्र से इत्संज्ञा हो जाती है, प्रयोग में 'न' ही आता है नञ् नहीं। इसे ञित् करने का प्रयोजन आगे दर्शाया गया है।

इस सूत्र के उदाहरण दर्शाने से पूर्व नञ्समास की प्रक्रिया में सर्वत्र व्याप्त अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम् —(९४७) **न लोपो नञः** ।६।३।७२।।

नञो नस्य लोप उत्तरपदे । न ब्राह्मणः— अब्राह्मणः ॥

अर्थः—उत्तरपद के परे होने पर नञ् के नकार का लोप हो जाता है।

व्याख्या—न इति लुप्तषष्ठ्येकवचनान्तम्पदम्[1] । लोपः ।१।१। नञः ।६।१। उत्तरपदे ।७।१। (**अलुगुत्तरपदे** से)। अर्थः—(नञः) नञ् के (न=नस्य) न् वर्ण का (लोपः) लोप हो जाता है (उत्तरपदे) उत्तरपद परे हो तो। समास के चरमावयव को ही उत्तरपद कहते हैं। अतः इस सूत्र की प्रवृत्ति समास में ही होती है।

दोनों सूत्रों का संयुक्त उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—न ब्राह्मणः—अब्राह्मणः (ब्राह्मण से भिन्न पर तत्सदृश क्षत्रिय आदि)। अलौकिकविग्रह—न + ब्राह्मण सुँ। यहां 'न' यह नञ् अव्यय विद्यमान है, इस का 'ब्राह्मण सुँ' इस सुँबन्त के साथ प्रकृत **नञ्** (९४६) सूत्र से तत्पुरुषसमास, नञ् की उपसर्जनसञ्ज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (सुँ) का लुक् करने पर 'न ब्राह्मण' बना। अब 'ब्राह्मण' इस उत्तरपद के परे रहते **न लोपो नञः** (९४७) सूत्रद्वारा 'न' के आदि न् वर्ण का लोप करने से—अब्राह्मण। प्रातिपदिकसंज्ञा के अक्षुण्ण रहने से स्वाद्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने पर 'अब्राह्मणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

न ज्ञः—अज्ञः (मूर्ख)[2] । न सर्वः—असर्वः । न साधुः—असाधुः[3] । न रोगी—

---

१. 'न लोपः' को एकपद मान कर 'नस्य लोपः—नलोपः' ऐसा षष्ठीतत्पुरुषसमास नहीं माना जा सकता, कारण कि 'नस्य' का सम्बन्ध 'नञः' के साथ है अतः असामर्थ्य के कारण यह समास उपपन्न नहीं होगा जैसा कि **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) सूत्र में नहीं होता। अतः 'न' को लुप्तषष्ठ्येकवचनान्त पृथक् पद माना गया है।

२. अज्ञः सुखमाराध्यः—(नीतिशतक २)।
अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः—(मनु० २.१५३)।

३. **असाधुः साधुर्वा भवति खलु जात्यैव पुरुषः**—(सुभाषित०)।

अरोगी । न पण्डितः - अपण्डितः[1] । न पापः—अपापः । न धर्मः—अधर्मः[2] । न सारः—असारः । न कृपा—अकृपा । न विवेकः—अविवेकः[3] । इत्यादियों में समास समझना चाहिये ।

अब अजादि उत्तरपद के परे रहते नञ्समास में विशेष कार्य का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम् - **(९४८) तस्मान्नुँडचि ।६।३।७३।।**

लुप्तनकाराद्[4] नञ उत्तरपदस्याजादेर्नुँडागमः स्यात् । अनश्वः ।।

अर्थः—जिस के नकार का लोप हो चुका है ऐसे नञ् से परे अजादि उत्तरपद को नुँट् का आगम हो ।

व्याख्या—तस्मात् ।५।१। नुँट् ।१।१। अचि ।७।१। नञः ।५।१। (**न लोपो नञः** से) । उत्तरपदे ।७।१। (**अलुगुत्तरपदे** से) । 'अचि' यह 'उत्तरपदे' का विशेषण है अतः **यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे** (प०) परिभाषा के अनुसार तदादिविधि होकर 'अजादौ उत्तरपदे' बन जाता है । 'तस्मात्' के तद्शब्द से **न लोपो नञः** (९४७) इस पूर्व-सूत्रोक्त लुप्तनकार नञ् की ओर संकेत किया गया है । 'तस्मात्' यह पञ्चम्यन्त है । **तस्मादित्युत्तरस्य** (७१) के अनुसार लुप्तनकार नञ् से अव्यवहित पर का अवयव नुँट् होना चाहिए । परन्तु 'अचि' यह सप्तम्यन्त है अतः **तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य (१६)** के अनुसार अजादि उत्तरपद से अव्यवहित पूर्व का अवयव नुँट् होना चाहिये । तो नुँट् किस का अवयव हो ? यह शङ्का उत्पन्न होती है । इस का समाधान यह है—**उभय-निर्देशे पञ्चमीनिर्देशो बलीयान्** (प०) अर्थात् जहां पञ्चमी और सप्तमी दोनों से निर्देश किये गये हों वहां पञ्चमीनिर्देश ही बलवान् होता है । इसके अनुसार 'तस्मात् नञः' यह निर्देश ही बलवान् हुआ । अतः लुप्तनकार नञ् से परे अजादि उत्तरपद को ही नुँट् का आगम होगा । इस तरह 'अजादौ उत्तरपदे' का षष्ठ्यन्ततया विपरिणाम हो कर 'अजादेरुत्तरपदस्य' बन जायेगा । अर्थः—(तस्मात् = लुप्तनकारात्) उस लुप्त हुए नकार वाले (नञः) नञ् से परे (अजादेरुत्तरपदस्य) अजादि उत्तरपद का अवयव (नुँट्) नुँट् हो जाता है । नुँट् में उकार और टकार इत्सञ्ज्ञक हैं, 'न्' मात्र शेष रहता है । टित् करने का प्रयोजन **आद्यन्तौ टकितौ** (८५) सूत्रद्वारा इसे अजादि उत्तरपद का आद्यवयव बनाना है । यदि इसे नुँक् करते तो यह उत्तरपद का अन्तावयव बनता ।

उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—न अश्वः—अनश्वः (अश्व से भिन्न पर अश्वसदृश गधा खच्चर

---

१. **पुत्रः शत्रुरपण्डितः**—(हितोपदेशप्रस्तावना) ।

२. **नाऽधर्मश्चरितो लोके सद्यः फलति गौरिव**—(मनु० ४.१७२) ।

३. **अविवेकः परमापदां पदम्**—(किरात० २.३०) ।

४. लुप्तो नकारो यस्य स लुप्तनकारः, तस्मात् । बहुव्रीहिसमासः ।

आदि)। अलौकिकविग्रह—न+अश्व सुँ। यहां **नञ्** (६४६) सूत्रद्वारा नञ् अव्यय का 'अश्व सुँ' इस सुँबन्त के साथ तत्पुरुषसमास, नञ् की उपसर्जनसञ्ज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात तथा समास की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप्=सुँ का लुक् हो जाता है—न अश्व। अब 'अश्व' उत्तरपद के परे रहते **न लोपो नञः** (६४७) से नञ् के न् वर्ण का लोप हो 'अ अश्व' इस स्थिति में **तस्मा-न्नुँडचि** (६४८) सूत्रद्वारा अजादि उत्तरपद 'अश्व' को नुँट् का आगम करने से—अ नुँट्अश्व=अ न् अश्व=अनश्व। एकदेशविकृतन्याय से समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा अक्षुण्ण रहने से स्वादियों की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँप्रत्यय ला कर सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने से 'अनश्वः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

यह नुँट् का आगम अजादि उत्तरपद को ही होता है हलादि उत्तरपद को नहीं। यथा—न ब्राह्मणः—अब्राह्मणः, न ज्ञः—अज्ञः इत्यादियों में ब्राह्मण आदि हलादि उत्तरपदों को नुँट् का आगम नहीं होता।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—न अद्यतनम्—अनद्यतनम्। न आत्मा—अनात्मा। न आर्यः—अनार्यः। न आशा—अनाशा। न ईश्वरः—अनीश्वरः। न ईहा—अनीहा। न उत्साहः—अनुत्साहः। न एकः—अनेकः। न ऐक्यम्—अनैक्यम्। न औत्सुक्यम्—अनौत्सुक्यम्। न ऋणी—अनृणी। न उक्त्वा—अनुक्त्वा[1]। न आगत्य—अनागत्य[2]। न आहूय—अनाहूय। इत्यादि।

मोटे रूप में यदि कहें तो यह कह सकते हैं कि नञ् का अजादि शब्द के साथ जब समास होता है तो नञ् का 'न' उलट कर 'अन्' कर लिया जाता है।[3]

पीछे अर्थाभाव अर्थ में वर्त्तमान अव्यय का **अव्ययं विभक्ति०** (६०८) सूत्र-द्वारा अव्ययीभावसमास विधान किया गया है। यथा—मक्षिकाणामभावो निर्मक्षि-कम्। परन्तु जब अर्थाभाव अर्थ में नञ् अव्यय वर्त्तमान हो तो उस का सुँबन्त के साथ तत्पुरुषसमास हो या अव्ययीभाव? यह यहां प्रश्न उत्पन्न होता है। जहां तक साव-काशता का प्रश्न है दोनों समास लब्धावकाश हैं; अव्ययीभावसमास 'निर्मक्षिकम्' आदि में

---

१. **समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्** (८८४) में 'अनञ्पूर्वे' कथन के कारण समास में क्त्वा को ल्यप् आदेश नहीं होता।

२. यहां पहले आङ् उपसर्ग के साथ समास में क्त्वा को ल्यप् हो कर 'आगत्य' बन जाता है। बाद में 'न आगत्य—अनागत्य' इस प्रकार नञ्तत्पुरुषसमास किया जाता है। इसी प्रकार 'अनाहूय' में समझना चाहिये।

३. परन्तु यदि आचार्य अजादि उत्तरपद के परे रहते 'नञ्' को 'अन्' आदेश कर देते तो **ङमो ह्रस्वादचि ङमुँण्नित्यम्** (८६) सूत्रद्वारा ङमुँट् (नुँट्) प्राप्त होता जो स्पष्टतः अनिष्ट था। अतः आचार्यप्रदर्शित पूर्वोक्त प्रक्रिया ही युक्त है।

तथा नञ्तत्पुरुष 'अब्राह्मणः' आदि में सावकाश है । इस प्रकार विप्रतिषेध के प्रसङ्ग में **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** (११३) सूत्रद्वारा परत्व के कारण नञ्तत्पुरुषसमास ही प्राप्त होता है । परन्तु महाभाष्य के मर्मज्ञ विद्वानों का कहना है कि भाष्य तथा वार्त्तिकपाठ में दोनों प्रकार के समासों के प्रयोग उपलब्ध होते हैं[1] अतः यहां तत्पुरुषसमास के साथ अव्ययीभावसमास को भी इष्ट समझना चाहिये। तत्पुरुष के उदाहरण यथा—न सन्देहः—असन्देहः (सन्देह का अभाव), न उपलब्धिः—अनुपलब्धिः[2] (उपलब्धि का अभाव), न विवादः—अविवादः (विवाद का अभाव) । अव्ययीभाव के उदाहरण यथा—विघ्नानामभावोऽविघ्नम्[3], सन्देहस्याभावः असन्देहम् । अव्ययीभावसमास नित्य होता है अतः उस का लौकिकविग्रह अस्वपद हुआ करता है ।

'न एकधा—नैकधा'[4] इत्यादि कई स्थानों पर समास में **न लोपो नञः** (९४७) द्वारा न् वर्ण का लोप नहीं देखा जाता, इस का क्या कारण है ? इस का समाधान ग्रन्थकार इस प्रकार करते हैं—

[लघु०] नैकधा इत्यादौ तु नशब्देन सह सुँप्सुँपेति (९०६) समासः ॥

अर्थः—'न एकधा—नैकधा' इत्यादि प्रयोगों में 'न' अव्यय के साथ 'एकधा' आदि का **सह सुँपा** (९०६) सूत्र से समास हुआ है (यह नञ्तत्पुरुष नहीं अतः न् वर्ण का लोप नहीं हुआ) ।

व्याख्या—'न एकधा—नैकधा' इत्यादि स्थलों पर उत्तरपद का निषेध होने से समास तो है ही, परन्तु वह **नञ्** (९४६) सूत्रद्वारा विहित नञ्तत्पुरुष नहीं अपितु नञ् के समान निषेधार्थक एक अन्य अव्यय 'न' के साथ **सह सुँपा** (९०६) से किया गया समास है । अतः नञ् के न होने से **न लोपो नञः** (९४७) सूत्रद्वारा न् वर्ण का लोप नहीं होता । नञ् और न दो पृथक्-पृथक् अव्यय हैं, इन का विवेचन इस व्याख्या के अव्ययप्रकरण में पीछे विस्तार से किया जा चुका है । 'न' अव्यय के साथ समास के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

न चिरम्—नचिरम् । न चिरेण—नचिरेण । न चिरात्—नचिरात् । न एकः—नैकः[5] । न अन्तरीयम्—नान्तरीयम् (अविनाभावि) । न एकभेदम्—नैकभेदम् (**उच्चा-**

---

१. **रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्** (महाभाष्य पस्पशा०) । **अद्रुतायामसंहितम्**—(महाभाष्य वा० १.४.१०८) ।

२. **नास्ति घटोऽनुपलब्धेः** (तर्कशास्त्र का सुप्रसिद्ध वचन) ।

३. **अविघ्नमस्तु ते स्थेयाः पितेव धुरि पुत्रिणाम्**—(रघु० १.९१) ।

४. **अधुनीत खगः स नैकधा तनुमुत्फुल्लतनूरुहीकृताम्**—(नैषध० २.२) ।

५. **सा ददर्श नगान् नैकान् नैकाश्च सरितस्तथा**—(नैषध० १२.८१) ।

वचं नैकभेदम्—इत्यमरः) । न सुकरम्—नसुकरम् ।[1] न संहताः—नसंहताः । न भिन्न-वृत्तयः—नभिन्नवृत्तयः[2] इत्यादि । नञ् के साथ समास होने पर अनेकधा, अचिरम् आदि भी बनते हैं ।

विशेष वक्तव्य—ध्यान रहे कि नञ्तत्पुरुष को महाभाष्य में उत्तरपदप्रधान माना गया है । इस में प्रयुक्त नञ् उत्तरपद को विशिष्ट करता है । इस का विवेचन व्याकरण के दार्शनिकग्रन्थों में विस्तार से किया गया है । उन के अनुसार 'अब्राह्मणः' में नञ् अव्ययद्वारा उत्तरपद का आरोपितत्व (काल्पनिकत्व) द्योतित किया जाता है वह आरोपितत्व ब्राह्मणत्व के द्वारा ब्राह्मण में अन्वित होता है, 'आरोपितब्राह्मणत्ववान्' ऐसा बोध होता है । तात्पर्य तो वही रहता है जो ऊपर निर्दिष्ट कर चुके हैं, परन्तु इस तरह मानने से उत्तरपद की प्रधानता स्पष्ट रहती है । अतः 'न सः—असः, तस्मै = अतस्मै' इत्यादियों में तद् की प्रधानता के कारण सर्वनामकार्य निर्बाध हो जाते हैं । यदि पूर्वपद की प्रधानता होती तो उत्तरपद के गौण हो जाने से **सञ्ज्ञोपसर्जनीभूतास्तु न सर्वादयः**[3] द्वारा उन में सर्वनामकार्य न हो सकते ।

यहां यह भी ज्ञातव्य है कि नञ्द्वारा प्रतिपाद्य निषेध दो प्रकार का होता है । पर्युदासप्रतिषेध तथा प्रसज्यप्रतिषेध । पर्युदासप्रतिषेध कुछ अपवादों को छोड़ कर प्रायः समासयुक्त मिलता है । इन में उत्तरपद के प्रतिषेध के साथ-साथ तत्सदृश आदि अन्य अर्थों की भी प्रतीति होती है अत एव **पर्युदासः सदृग्ग्राही** कहा जाता है । परन्तु प्रसज्यप्रतिषेध सीधा क्रिया के साथ सम्बद्ध होने से उस का ही निषेध करता है, अत एव (कुछ अपवादों को छोड़) यह समास को प्राप्त नहीं होता, क्योंकि सुँबन्त के साथ ही समास का विधान है तिङन्त के साथ नहीं । कहा भी गया है—**प्रसज्यस्तु स विज्ञेयः क्रियया सह यत्र नञ्** । इन दोनों प्रतिषेधों का विवेचन इस व्याख्या के प्रथम भाग में **अनचि च** (१८) सूत्र पर सोदाहरण किया जा चुका है वहीं देखें । नञ् के अर्थों के विषय में निम्नस्थ एक प्राचीन श्लोक बहुत प्रसिद्ध है—

तत्सादृश्यम् अभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता ।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥

इस कारिका में प्रयुक्त 'तद्' शब्द से नञ् अव्यय के साथ आने वाले शब्द का ग्रहण होता है । नञ् के छः अर्थ होते हैं—

(१) **तत्सादृश्यम्**—नञ् के साथ प्रयुक्त पदार्थ से भिन्न पर तत्सदृश । यथा—अब्राह्मणम् आनय । यहां ब्राह्मण से भिन्न पर तत्सदृश क्षत्रियादि मनुष्य को लाया जाता है, लोष्ठ आदि को नहीं ।

---

१. **कृत्वा नसुकरं कर्म गता वैवस्वतक्षयम्** (महाभारत कर्ण०) । वैवस्वतक्षयम् = यमसदनम् ।

२. **नसंहतास्तस्य नभिन्नवृत्तयः**—(किरात० १.१९) ।

३. अर्थात् यदि सर्वादि किसी की संज्ञा हों या गौण हों तो उन को सर्वादि समझ कर सर्वनामकार्य नहीं होते ।

(२) **अभावः**- नञ् के साथ प्रयुक्त पद के अर्थ का अभाव । यथा— अविघ्न-मस्तु (विघ्नों का अभाव हो) । अपापमस्तु (पापों का अभाव हो) ।

(३) **तदन्यत्वम्**—नञ् के साथ प्रयुक्त पद के अर्थ से इतर का ग्रहण । यथा —अनश्वं प्राणिनम् आनय (घोड़े से भिन्न प्राणी को लाओ) । यहां अश्व से भिन्न प्राणी गर्दभ आदि लाया जाता है ।

(४) **तदल्पता**—नञ् के साथ प्रयुक्त पद के अर्थ की अल्पता । यथा—अनुदरा कन्या (उदररहित कन्या) । उदर तो हर एक का हुआ ही करता है अतः यहां उदर के निषेध से उस की अल्पता व्यक्त होती है ।

(५) **अप्राशस्त्यम्**—नञ् के साथ प्रयुक्त पद के अर्थ का प्रशस्त न होना । यथा—**अब्राह्मणोऽयं यस्तिष्ठन् मूत्रयति** (महाभाष्ये २.१.६)—जो ब्राह्मण खड़ा-खड़ा मूतता है वह अब्राह्मण अर्थात् निन्दित ब्राह्मण होता है । इसीप्रकार—**अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः** (तैत्तिरीयब्राह्मण)—गौओं और घोड़ों से भिन्न अन्य पशु तो अपशु अर्थात् अप्रशस्त पशु होते हैं ।

(६) **विरोध**—नञ् के साथ प्रयुक्त पद के अर्थ का विरोधी होना । यथा—अधर्मः (धर्मविरुद्ध), असुरः (देवों से विरुद्ध—राक्षस) ।

नवीन वैयाकरण इन को नञ् का अर्थ न मान कर प्रयोगोपाधि मानते हैं ।

अब सुप्रसिद्ध गतिसमास तथा प्रादिसमास का विवेचन करते हैं —

[लघु०] विधि-सूत्रम् (९४९) कु-गति-प्रादयः ।२।२।१८।।

एते समर्थेन नित्यं समस्यन्ते । कुत्सितः पुरुषः—कुपुरुषः ।।

अर्थः—'कु' शब्द, गतिसंज्ञक शब्द तथा 'प्र' आदि शब्द—ये समर्थ सुँबन्त के साथ नित्य समास को प्राप्त होते हैं और वह समास तत्पुरुषसञ्ज्ञक होता है ।

व्याख्या—कु-गति-प्रादयः ।१।३। नित्यम् इति द्वितीयैकवचनान्तं क्रिया-विशेषणम् (नित्यं क्रीडाजीविकयोः से) । समर्थः पदविधिः, समासः, सुँप्, सह सुँपा, **तत्पुरुषः**—ये सब पीछे से आ रहे हैं । प्र आदिर्येषान्ते प्रादयः । कुश्च गतिश्च प्रादयश्च कु-गति-प्रादयः । बहुव्रीहिगर्भद्वन्द्वसमासः । गति और प्रादि निपातों के साहचर्य के कारण 'कु' यह भी कुत्सितवाचक निपात (अव्यय) ही लिया जाता है पृथ्वीवाचक स्त्रीलिङ्ग 'कु' शब्द नहीं । अर्थः— (कु-गति-प्रादयः) 'कु' यह अव्यय, गतिसञ्ज्ञक शब्द और प्र आदि शब्द—ये (समर्थेन) समर्थ (सुँपा=सुँबन्तेन) सुँबन्त के साथ मिलकर (नित्यम्) नित्य (समासाः) समास को प्राप्त होते हैं और वह समास (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसंज्ञक होता है । यह समास नित्य होता है अतः इस का लौकिकविग्रह स्वपदों से नहीं दर्शाया जा सकता । पूर्वपद की जगह कोई पर्याय रख कर लौकिकविग्रह दर्शाते हैं ।

'कु' का समर्थ सुँबन्त के साथ समास यथा—

लौकिकविग्रह—कुत्सितः पुरुषः—कुपुरुषः (निन्दित, दुष्ट, पापी या ओछा

पुरुष) । अलौकिकविग्रह—कु + पुरुष सुँ । यहां 'कु' इस अव्यय का 'पुरुष सुँ' इस सुँबन्त के साथ **कुगतिप्रादयः** (९४९) इस प्रकृतसूत्रद्वारा नित्य तत्पुरुषसमास हो जाता है । प्रथमानिर्दिष्ट होने से 'कु' की उपसर्जनसंज्ञा, उस का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (सुँ) का लुक् करने पर—कुपुरुष । अब प्रातिपदिकत्वात् विभक्त्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने पर 'कुपुरुषः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1] । इसी प्रकार—

कुत्सितः पुत्रः—कुपुत्रः[2] ।

कुत्सिता माता—कुमाता ।

कुत्सिताः परीक्षकाः—कुपरीक्षकाः[3] ।

कुत्सिता दृष्टिः—कुदृष्टिः ।

इस समास का सुन्दर उदाहरण पञ्चतन्त्र (५.१) का श्लोक है—

कुदृष्टं कुपरिज्ञातं कुश्रुतं कुपरीक्षितम् ।
तन्नरेण न कर्त्तव्यं नापितेनात्र यत्कृतम् ॥

अजादि उत्तरपद परे होने पर तत्पुरुषसमास में 'कु' के स्थान पर 'कद्' आदेश हो जाता है[4] । यथा—कुत्सितम् अन्नम्—कदन्नम् । कुत्सितोऽश्वः—कदश्वः । रथ, वद और त्रि के परे रहते भी कद् आदेश हो जाता है ।[5] यथा—कुत्सितो रथः—कद्रथः । कुत्सितो वदः—कद्वदः । कुत्सितास्त्रयः—कत्त्रयः ।

'कु' का ईषद् (थोड़ा) अर्थ भी हुआ करता है । इस अर्थ में वर्त्तमान 'कु' को 'का' आदेश हो जाता है उत्तरपद परे रहते[6] । यथा—ईषद् मधुरम्—कामधुरम् । ईषद् अम्लम्—काम्लम् । ईषद् लवणम्—कालवणम् । उष्णशब्द के परे होने पर तत्पुरुषसमास में ईषद्वाचक 'कु' को कव, का और कद् आदेश हो जाते हैं[7] । यथा—ईषदुष्णम्—कवोष्णं कोष्णं कदुष्णं वा (थोड़ा गरम) ।

---

१. पुरुषशब्द के परे रहते तत्पुरुषसमास में **विभाषा पुरुषे** (६.३.१०५) सूत्रद्वारा 'कु' के स्थान पर 'का' आदेश विकल्प से हो जाता है । कापुरुषः, कुपुरुषः । साहित्यगत प्रयोग यथा—

तातस्य कूपोऽयमिति ब्रुवाणाः क्षारं जलं कापुरुषाः पिबन्ति—(पञ्चतन्त्रे)

२. **कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति**—(देव्यपराधक्षमापनस्तोत्रे)

३. **कुत्स्याः स्युः कुपरीक्षका न मणयो यैरर्घतः पातिताः**—(नीतिशतक ११)

४. **कोः कत् तत्पुरुषेऽचि** (६.३.१००) ।

५. **रथवदयोश्च** (६.३.१०१) । **त्रौ च** (वा०) ।

६. **ईषदर्थे** (६.३.१०४) ।

७. **कवञ्चोष्णे** (६.३.१०६) ।

'कु' के समास के बाद गति के समास का नम्बर आता है। गतिसमास के उदाहरणों से पूर्व गतिसंज्ञा को कुछ समझ लेना चाहिये।

क्रिया के योग में प्र आदियों की **उपसर्गाः क्रियायोगे** (३५) सूत्रद्वारा उपसर्ग-सञ्ज्ञा तथा **गतिश्च** (२०१) सूत्र से गतिसंज्ञा कही जा चुकी है। इस के अतिरिक्त अन्य अनेक सूत्रों से क्रिया के योग में कई शब्दों की गतिसंज्ञा विहित की गई है। उन में प्रसिद्ध एक सूत्र का यहां अवतरण करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम् —(९५०) **ऊर्यादि-च्विँ-डाचश्च** ।१।४।६०॥

ऊर्यादयश्च्व्यन्ता डाजन्ताश्च क्रियायोगे गतिसञ्ज्ञाः स्युः। ऊरीकृत्य। शुक्लीकृत्य। पटपटाकृत्य। सुपुरुषः॥

अर्थः—ऊरी-आदिगण में पढ़े गये शब्द, च्विँप्रत्ययान्त शब्द तथा डाच्प्रत्ययान्त शब्द क्रिया के योग में गतिसञ्ज्ञक हों।

व्याख्या—ऊर्यादि-च्विँ-डाचः।१।३। च इत्यव्ययपदम्। क्रियायोगे।७।१। (**उपसर्गाः क्रिया-योगे** से)। गतयः।१।३। (**गतिश्च** सूत्र से वचनविपरिणामद्वारा)। ऊरीशब्द आदिर्येषां ते ऊर्यादयः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः। ऊर्यादयश्च च्विँश्च डाच् च ऊर्यादि-च्विँ-डाचः, इतरेतरद्वन्द्वसमासः। ऊर्यादि एक गण है जो गणपाठ में पढ़ा गया है। इस में ऊरी, उररी आदि कई शब्द पढ़े गये हैं। च्विँ और डाच् तद्धित-प्रकरण (१२४२,१२४७) में पढ़े गये प्रत्यय हैं। **प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्** (प०) के अनुसार च्विँ से च्विँप्रत्ययान्तों तथा डाच् से डाच्प्रत्ययान्तों का ग्रहण होता है[1]। अर्थः—(ऊर्यादि-च्विँ-डाचः) ऊर्यादिगणपठितशब्द, च्विँप्रत्ययान्तशब्द तथा डाच्प्रत्ययान्त शब्द (क्रिया-योगे) क्रिया के साथ योग होने पर (गतयः) गतिसञ्ज्ञक (च)[2] भी होते हैं। **प्राग्रीश्वरान्निपाताः** (१.४.५६) से इन की निपातसञ्ज्ञा हो कर **स्वरादिनिपात-मव्ययम्** (३६७) से अव्ययसञ्ज्ञा भी होगी। च्विँ और डाच् प्रत्ययों का कृ, भू और अस् धातुओं के योग में ही विधान है अतः तत्साहचर्य से ऊरी आदियों की भी इन धातुओं के योग में ही गतिसंज्ञा समझनी चाहिये।

ऊर्यादियों का उदाहरण यथा—

---

१. **सुँप्तिङन्तं पदम्** (१४) में अन्तग्रहण से ज्ञापित होने वाली **सञ्ज्ञाविधौ प्रत्यय-ग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति** इस परिभाषा की यहां प्रवृत्ति नहीं होती, कारण कि यहां पीछे से 'क्रियायोगे' का अनुवर्त्तन हो रहा है। केवल प्रत्ययों का क्रिया के साथ योग सम्भव नहीं वह तो प्रत्ययान्तों का ही हो सकता है अतः यहां तदन्तविधि निर्बाध हो जाती है।

२. एकसञ्ज्ञाधिकारे निपातसंज्ञासमावेशार्थं सूत्रे चकारः।

ऊरीशब्द अङ्गीकार या स्वीकार अर्थ में प्रसिद्ध है। इस का ऊर्यादिगण में पाठ हैं। इस का क्त्वाप्रत्ययान्त कृ धातु अर्थात् 'कृत्वा' के साथ जब योग करते हैं तो **ऊर्यादि-च्विँ-डाचश्च** (९५०) सूत्र से इस की गतिसञ्ज्ञा (निपातसंज्ञा, तथा अव्ययसंज्ञा भी) हो जाती है। गतिसञ्ज्ञक होने से इस का 'कृत्वा' सुँबन्त के साथ **कु-गति-प्रादयः** (९४९) सूत्रद्वारा नित्य तत्पुरुषसमास हो जाता है। समासविधान में प्रथमानिर्दिष्ट होने से गति की उपसर्जनसञ्ज्ञा तथा उस का पूर्वनिपात हो जाता है। इस समास में सुँब्लुक् का प्रसङ्ग ही नहीं उठता क्योंकि पूर्वपद और उत्तरपद दोनों अव्यय हैं इन से परे औत्सर्गिक सुँ का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से पहले ही लुक् हो चुका है। 'ऊरीकृत्वा' इस प्रकार समास हो जाने पर **समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्** (८८४) सूत्र से 'कृत्वा' के अन्त में क्त्वा को ल्यप् (य) आदेश तथा **ह्रस्वस्य पिति कृति तुँक्** (७७७) सूत्रद्वारा 'कृ' को तुँक् (त्) का आगम करने पर—ऊरीकृत्य। अब क्त्वा के स्थान पर हुए ल्यप् को स्थानिवद्भाव के कारण क्त्वा मान कर समस्त शब्द की **क्त्वा-तोसुँन्-कसुँनः** (३७०) से अव्ययसंज्ञा हो जाती है। अतः इस से परे समासत्वात् लाये गये सुँ प्रत्यय का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हो कर 'ऊरीकृत्य' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। 'ऊरीकृत्य' का अर्थ है—स्वीकृत्य वा अङ्गीकृत्य (स्वीकार या अङ्गीकार कर के)। यहां गतिसंज्ञा करने का फल **कु-गति-प्रादयः** (९४९) से समास करना तथा समास का फल क्त्वा को ल्यप् आदेश करना जानना चाहिये। ऊरीकृत्य का साहित्यगत प्रयोग यथा—

आत्मोदयः परज्यानिर्द्वयं नीतिरितीयती।
तदूरीकृत्य कृतिभिर्वाचस्पत्यं प्रतायते॥ (माघ० २.३०)

इसीप्रकार—उररीकृत्य (स्वीकार कर के), सजूःकृत्य (साथ कर के)[1], आविर्भूय (प्रकट हो कर) आदि प्रयोगों की सिद्धि समझनी चाहिये।

यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि गति का सुँबन्त के साथ ही समास होता है, तिङन्त क्रियावाचक के साथ नहीं। क्तान्त, क्तवत्वन्त, तुमुँन्नन्त, क्त्वान्त, शत्रन्त आदि क्रियाएं सुँबन्त होती हैं अतः इन के साथ ही समास होता है। अन्यथा केवल गतिसञ्ज्ञा ही होती है समास नहीं होता। यथा—ऊरी करोति, उररी करोति आदि। असमास दशा में भी गतिवाचकों का **ते प्राग्धातोः** (४१९) के अनुसार क्रिया से पूर्व ही प्रयोग होता है।

---

१. **नोदकण्ठिष्यतात्यर्थं त्वामैक्षिष्यत चेत् स्मरः।**
खेलायन्ननिशं नापि सजूःकृत्य रतिं वसेत्॥ (भट्टि० ५.७२)

रावण सीता को कह रहा है—यदि कामदेव ने तुझे देखा होता तो वह अपनी पत्नी (रति) के लिये कभी भी उत्कण्ठित न हुआ होता और न ही उस को सहचरी बना कर सदा उस के साथ खेलता हुआ रहता। सजुस्+कृ+क्त्वा=सजूःकृत्य। 'सजुस्' शब्द की पदान्त-प्रक्रिया हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण में लिख चुके हैं वही यहां पर समझनी चाहिये।

च्विँप्रत्ययान्तों की गतिसंज्ञा तथा गतिसमास का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—अशुक्ल: शुक्ल: सम्पद्यते तं कृत्वेति शुक्लीकृत्य (अशुक्ल को शुक्ल कर के)। क्त्वान्त कृ धातु (कृ + क्त्वा) के योग में अभूततद्भाव[1] अर्थ में 'शुक्ल अम्' इस सुँबन्त से **कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विँः** (१२४२) सूत्रद्वारा तद्धितसञ्ज्ञक च्विँ प्रत्यय लाने पर चकार की **चुटू** (१२९) तथा इकार की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (२८) से इत्संज्ञा हो कर लोप एवम् अवशिष्ट वकार का भी **वेरपृक्तस्य** (३०३) से लोप करने पर—शुक्ल अम् (कृ + क्त्वा)। पुन: च्विँप्रत्ययान्त की **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा कर **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) सूत्रद्वारा उस के अवयव सुँप् (अम्) का लुक् हो जाता है—शुक्ल (कृ + क्त्वा)। अब प्रत्ययलक्षण से च्विँ को मान कर **अस्य च्वौ** (१२४३) से च्विँ के परे रहते अकार को ईकार करने पर —शुक्ली + कृत्वा। यहां 'शुक्ली' शब्द च्विँप्रत्ययान्त है अत: **ऊर्यादि-च्विँ-डाचश्च** (९५०) से इस की गतिसञ्ज्ञा (साथ ही निपातसञ्ज्ञा तथा तन्निमित्तक अव्ययसंज्ञा) हो कर सुँ का लुक् हो जाता है। इस स्थिति में गतिसंज्ञक 'शुक्ली' का 'कृत्वा' इस कृदन्त सुँबन्त के साथ **कुगतिप्रादयः** (९४९) से नित्य तत्पुरुषसमास हो जाता है। इस समास में प्रथमा-निर्दिष्ट गतिसञ्ज्ञक च्विँप्रत्ययान्त की उपसर्जनसंज्ञा, **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्वनिपात तथा **समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्** (८८४) से क्त्वा को ल्यप्, अनुबन्धलोप एवं **ह्रस्वस्य पिति कृति तुँक्** (७७७) द्वारा तुँक् का आगम करने पर 'शुक्लीकृत्य' प्रयोग सिद्ध होता है।[2]

यह समास सुँबन्त के साथ ही विहित है तिङन्त के साथ नहीं। 'शुक्ली करोति' में 'शुक्ली' की गतिसञ्ज्ञा तो है पर समास नहीं होता अत: व्यस्त प्रयोग लिखा जाता है।

इसीप्रकार—शुक्लीभूय, कृष्णीकृत्य, कृष्णीभूय आदि च्विँप्रत्ययान्त गतिसमास के उदाहरण समझने चाहियें। इन का साहित्यगत उदाहरण यथा—

येन शुक्लीकृता हंसाः शुकाश्च हरितीकृताः।
मयूराश्चित्रिता येन स ते वृत्तिं विधास्यति॥ (हितोप० १.१८३)

डाच्प्रत्ययान्तों की गतिसञ्ज्ञा तथा गतिसमास का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—'पटत्' एवं शब्दं कृत्वेति पटपटाकृत्य (पटत् इस प्रकार का

---

१. पहले वैसा न हो कर बाद में वैसा हो जाना इसे मोटे शब्दों में अभूततद्भाव कहते हैं। विस्तार के लिये **कृभ्वस्तियोगे सम्पद्य०** (१२४२) सूत्र पर इस व्याख्या का अवलोकन करें।

२. इस 'शुक्लीकृत्य' समास से परे लाई गई विभक्ति (सुँ) का भी **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हो जाता है। क्योंकि ल्यप् को स्थानिवद्भाव के कारण क्त्वा मान कर **क्त्वा-तोसुँन्-कसुँनः** (३७) से 'शुक्लीकृत्य' भी अव्ययसंज्ञक है।

शब्द कर के)। यहां क्त्वान्त कृधातु (कृ+क्त्वा) के योग में अव्यक्तशब्द के अनुकरण 'पटत्' शब्द से स्वार्थ में **अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच्** (१२४७) सूत्र-द्वारा डाच् इस तद्धितप्रत्यय की विवक्षामात्र में प्रत्यय के लाने से पूर्व ही **डाचि बहुलं द्वे भवतः** (वा०) इस वार्त्तिक से 'पटत्' को द्वित्व कर बाद में डाच् प्रत्यय हो जाता है—पटत् पटत् डाच् (कृ+क्त्वा)। डाच् के डकार की **चुटू** (१२९) से तथा चकार की **हलन्त्यम्** (१) सूत्र से इत्सञ्ज्ञा हो कर दोनों का लोप करने से 'आ' मात्र शेष रह जाता है—पटत् पटत् आ (कृ+क्त्वा)। इस डाच् (आ) के परे रहते **यचि भम्** (१६५) से पूर्व की भसञ्ज्ञा कर **टेः** (२४२) सूत्रद्वारा डाच् से पूर्व पटत् की टि (अत्) का लोप हो जाता है—पटत् पट् आ (कृ+क्त्वा)=पटत् पटा (कृ+क्त्वा)। पुनः **तस्य परमाम्रेडितम्** (९९) से द्वितीय पटत् (अब 'पटा') की आम्रेडितसंज्ञा हो कर **नित्यमाम्रेडिते डाचीति वक्तव्यम्** (वा०) इस वार्त्तिक से प्रथम 'पटत्' के तकार और उस से अगले 'पटा' के पकार इन दोनों वर्णों के स्थान पर पररूप अर्थात् 'प्' एकादेश हो जाता है—पट प् अटा (कृ+क्त्वा)=पटपटा (कृ+क्त्वा)। अब **ऊर्यादि-च्वि-डाचश्च** (९५०) से डाच्-प्रत्ययान्त 'पटपटा' की गतिसञ्ज्ञा (तथा साथ ही निपातसञ्ज्ञा और तन्मूलक अव्ययसञ्ज्ञा भी) हो कर **कु-गति-प्रादयः** (९४९) से इस का 'कृ+क्त्वा' के साथ नित्य तत्पुरुषसमास हो जाता है। समास में गतिसञ्ज्ञक का पूर्वनिपात हो कर **समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्** (८८४) से क्त्वा को ल्यप् आदेश, अनुबन्धलोप तथा **ह्रस्वस्य पिति कृति तुँक्** (७७७) सूत्रद्वारा ह्रस्व को तुँक् का आगम करने से—पटपटाकृत्य। अन्त में प्रातिपदिकत्व के कारण समस्त समाससमुदाय से सुँ विभक्ति ला कर **क्त्वा-तोसुँन्-कसुँनः** (३७०) से समुदाय के अव्ययसञ्ज्ञक हो जाने से **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) द्वारा सुँप्=सुँ का लुक् कर देने से 'पटपटाकृत्य' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—दमदमाकृत्य, खटखटाकृत्य आदि प्रयोगों की सिद्धि समझनी चाहिये। पटपटा करोति, पटपटा भवति, पटपटा स्यात् इत्यादियों में डाजन्त की पूर्ववत् गतिसञ्ज्ञा तो है परन्तु 'करोति' आदियों के तिङन्त होने के कारण समास नहीं होता, अतः व्यस्त प्रयोग रहते हैं।

अब **कु-गति-प्रादयः** (९४९) के अन्तर्गत प्रादिसमास के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

प्र, परा आदि की **प्रादयः** (५४) से निपातसञ्ज्ञा कर चुके हैं। क्रिया के योग में इन की उपसर्गसंज्ञा एवं गतिसञ्ज्ञा भी हुआ करती है (३५, २०१)। परन्तु जब इन का क्रिया के साथ योग न हो तो ये न तो उपसर्गसञ्ज्ञक होते हैं और न गति-सञ्ज्ञक। तब इन का प्रकृतसूत्रद्वारा समर्थ सुँबन्त के साथ नित्य तत्पुरुषसमास हो जाता है। यथा—

लौकिकविग्रह—शोभनः पुरुषः—सुपुरुषः (सुन्दर वा भला पुरुष)। अलौकिक-विग्रह—सु+पुरुष सुँ। यहां प्रादियों में पठित 'सु' निपात का 'पुरुष सुँ' इस समर्थ सुँबन्त के साथ **कु-गति-प्रादयः** (९४९) सूत्रद्वारा नित्यतत्पुरुषसमास हो जाता है।

समासविधान में **प्रादयः** प्रथमानिर्दिष्ट है अतः तद्बोध्य 'सु' निपात की उपसर्जनसञ्ज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात तथा समास की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (सुँ) का लुक् करने पर—सुपुरुष। अब प्रातिपदिकसंज्ञा के कारण विभक्त्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर उकार-लोप, सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने पर 'सुपुरुषः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

शोभनो राजा—सुराजा (सुन्दर या अच्छा राजा)[1]।

दुष्टो जनः—दुर्जनः (बुरा मनुष्य)[2]।

दुराचारः पुरुषः—दुष्पुरुषः (दुराचारी पुरुष)[3]।

ईषद् उष्णम्—ओष्णम् (कुछ गरम)[4]।

समन्ताद् बद्धम्—आबद्धम् (चहुँ ओर से बान्धा हुआ)।

निन्दितं कृतम्—दुष्कृतम् (निन्दित कार्य)।

निन्दितं दिनम्—दुर्दिनम् (मेघाच्छन्न दिन)[5]।

सुष्ठु उक्तिः—सूक्तिः।

सुष्ठु भाषितम्—सुभाषितम्।

नित्यसमास होने से सर्वत्र अस्वपदविग्रह दर्शाया जाता है।

अब प्रादिसमास के विस्तृत विषय को समझाने तथा व्यवस्थित करने के लिये पाञ्च वार्त्तिकों का अवतरण करते हैं। प्रथमवार्त्तिक यथा—

[लघु०] वा०—(५८) प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया ॥

प्रगत आचार्यः—प्राचार्यः ॥

---

१. राजाहःसखिभ्यष्टच् (९५८) से प्राप्त समासान्त टच् का न पूजनात् (९९६) से निषेध हो जाता है। इसीप्रकार—अतिराजा में समासान्त का निषेध समझना चाहिये—

अतिशयितो राजा—अतिराजा (श्रेष्ठ राजा)।

२. दुर्जनः परिहर्त्तव्यो विद्ययाऽलङ्कृतोऽपि सन्।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयङ्करः ॥ (हितोप० १.८९)

३. इदुदुपधस्य चाऽप्रत्ययस्य (८.३.४१) इति विसर्जनीयस्य षत्वम्। एवं दुष्कृत-मित्यत्रापि बोध्यम्।

४. ईषदर्थे क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः।
एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित् ॥

इत्यभियुक्तोक्तेरत्राङ् निपातः प्रयुक्तः, तेन निपात एकाजनाङ् (५५) इत्यत्र अनाङ् इत्युक्तेः प्रगृह्यत्वं न।

५. मेघच्छन्नेऽह्नि दुर्दिनम्—इत्यमरः।

अर्थः—गत आदि अर्थों में वर्तमान प्र आदि निपात, प्रथमान्त सुँबन्त के साथ नित्यसमास को प्राप्त होते हैं और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

व्याख्या—यह वार्त्तिक **कु-गति-प्रादयः** (६४६) सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है अतः तद्विषयक होने से नित्यसमास का विधान करता है। 'गत' (गया हुआ) आदि कई अर्थ है जो शिष्टसम्मत लौकिक प्रयोगों से जाने जा सकते हैं। इन अर्थों में वर्त्तमान 'प्र' आदियों का प्रथमान्त समर्थ सुँबन्त के साथ नित्य तत्पुरुषसमास होता है। समास नित्य है अतः लौकिकविग्रह स्वपदों से नहीं दर्शाया जा सकता। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—प्रगत आचार्यः—प्राचार्यः (आगे—दूर गया हुआ आचार्य अर्थात् आचार्य का गुरु, अथवा स्वविषय का पारगामी आचार्य)। अलौकिकविग्रह—प्र + आचार्य सुँ। यहां गत = विप्रकृष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'प्र' निपात का 'आचार्य सुँ' इस प्रथमान्त समर्थ सुँबन्त के साथ प्रकृत **प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया** (वा० ५८) वार्त्तिक से नित्यतत्पुरुषसमास हो जाता है। 'प्रादयः' इस प्रकार प्रथमानिर्दिष्ट होने से 'प्र' की उपसर्जनसञ्ज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से उस के अवयव सुँप् (सुँ) का लुक् तथा **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ एकादेश करने पर—प्राचार्य। अब प्रातिपदिकत्व के कारण विभक्त्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने पर 'प्राचार्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

इसीप्रकार—

(१) प्रगतः पितामहः—प्रपितामहः (परदादा)।

(२) प्रगतो मातामहः—प्रमातामहः (परनाना)।

(३) विप्रकृष्टो देशः—विदेशः (परदेश)।

(४) विरुद्धः पक्षः—विपक्षः (विपरीत पक्ष)।

(५) उपश्लिष्टः पतिः—उपपतिः (जार)।

---

१. बालमनोरमाकार श्रीवासुदेवदीक्षित का कथन है कि 'प्रगत आचार्यः—प्राचार्यः' आदि प्रदर्शित लौकिकविग्रहों में 'प्रगतः' में 'प्र = गतः' ऐसा समझना चाहिये अर्थात् 'गतः' के साथ 'प्र' का ग्रहण 'प्र' का अर्थ दर्शाने के लिये किया गया है, लौकिकविग्रह तो 'गत आचार्यः' इतना मात्र है। परन्तु हमारे विचार में ऐसा मानना न तो उचित है और न ही परम्परा के अनुकूल। तब 'विरुद्धः पक्षः—विपक्षः, विरुद्धा माता—विमाता, प्रतिगतो जनः—प्रतिजनः' इत्यादियों में 'रुद्धः पक्षः, रुद्धा माता, गतो जनः' इस प्रकार से लौकिकविग्रह मानना पड़ेगा जो अर्थ की दृष्टि से उचित प्रतीत नहीं होता। अतः 'प्रगत आचार्यः' इत्यादि को पूरा लौकिकविग्रह मानना ही युक्त है। इस से नित्यसमास के अस्वपदविग्रहत्व को भी कोई क्षति नहीं होती।

(६) प्रकृष्टो वीरः—प्रवीरः (श्रेष्ठ वीर)।
(७) विरुद्धा माता—विमाता (सौतेली मां)।
(८) उपोच्चारितं पदम्—उपपदम् (समीप पढ़ा पद)।
(९) अध्यारूढो दन्तः—अधिदन्तः (दान्त पर दान्त)।
(१०) प्रकृष्टो यत्नः—प्रयत्नः (विशेष यत्न)।
(११) प्रततो हस्तः—प्रहस्तः (फैला हुआ हाथ)।
(१२) अपसारितो हस्तः—अपहस्तः (फैला हुआ हाथ)।
(१३) प्रतिकृतं प्रियम्—प्रतिप्रियम् (बदले में किया उपकार)।
(१४) प्रतिगतो जनः—प्रतिजनः (विरोधी पुरुष)।

द्वितीय वार्त्तिक यथा—

[लघु०] वा०—(५९)—अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया ॥

'अतिक्रान्तो मालाम्' इति विग्रहे—

अर्थः—क्रान्त (पार गया हुआ, लाङ्घ चुका हुआ, पारगामी) आदि अर्थों में वर्त्तमान 'अति' आदि निपात, द्वितीयान्त समर्थ सुँबन्त के साथ नित्य समास को प्राप्त होते हैं और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

व्याख्या—यह वार्त्तिक **कु-गति-प्रादयः** (९४९) सूत्र पर भाष्य में पढ़ा गया है अतः तद्विषयक होने से नित्यसमास का विधान करता है। क्रान्त आदि कई अर्थ हैं जो शिष्टप्रयोगों से जाने जा सकते हैं। इन अर्थों में वर्त्तमान 'अति' आदि[1] निपातों का द्वितीयान्त समर्थ सुँबन्त के साथ नित्यसमास हो जाता है और वह समास तत्पुरुषसञ्ज्ञक होता है। समास नित्य है अतः इस का लौकिकविग्रह अस्वपदों से ही दर्शाया जाता है। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—अतिक्रान्तो मालाम् अथवा मालाम् अतिक्रान्तः (सौन्दर्य या सुगन्ध आदि में माला को मात दे चुका)। अलौकिकविग्रह—माला अम्+अति। यहां क्रान्त (पार कर चुका) अर्थ में वर्तमान 'अति' निपात का 'माला अम्' इस द्वितीयान्त समर्थ सुँबन्त के साथ प्रकृत **अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया** (वा० ५९) वार्त्तिकद्वारा नित्यतत्पुरुषसमास हो जाता है। समास-विधायक इस वार्त्तिक में 'अत्यादयः' प्रथमा-निर्दिष्ट है अतः उस के बोध्य 'अति' की उपसर्जनसञ्ज्ञा हो कर **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०)

---

१. इन वार्त्तिकों में प्रयुक्त प्रादि, अत्यादि, अवादि, पर्यादि तथा निरादि में 'आदि' शब्द प्रकारवाची है अतः अत्यादियों में केवल 'अति, सु, उद्, अभि, प्रति, परि, उप' इन निपातों का ही ग्रहण नहीं होता बल्कि अन्य प्रादियों का भी ग्रहण हो जाता है। अत एव इस वार्त्तिक के उदाहरणों में 'प्रगतोऽध्वानम्—प्राध्वः, अनुगतः स्वारम्—अनुस्वारः' इत्यादियों को भी दर्शाया जाता है। इसीप्रकार आगे भी समझ लेना चाहिये।

से उस का पूर्वनिपात हो जाता है—अति + माला अम्। **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से समास की प्रातिपदिकसंज्ञा कर उस के अवयव सुँप् (अम्) का **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् करने से 'अतिमाला' बना। अब इस स्थिति में अग्रिम सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—(९५१) एकविभक्ति चाऽपूर्वनिपाते। १।२।४४॥

विग्रहे यन्नियतविभक्तिकं[1] तदुपसर्जनसंज्ञं स्यान्न तु तस्य पूर्वनिपातः॥

अर्थः—विग्रह में जो नियतविभक्तिक हो अर्थात् जिस से निश्चित एक ही विभक्ति आती हो उस पद की उपसर्जनसंज्ञा हो, परन्तु उस का पूर्वनिपात न होगा।

व्याख्या—एकविभक्ति।१।१। च इत्यव्ययपदम्। अपूर्वनिपाते।७।१। समासे।७।१। उपसर्जनम्।१।१। (**प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम्** से)। एका विभक्तिर्यस्य तद् एकविभक्ति (पदम्), बहुव्रीहिसमासः। पूर्वश्चासौ निपातः पूर्वनिपातः (पूर्वप्रयोग इत्यर्थः), कर्मधारयसमासः। न पूर्वनिपातः—अपूर्वनिपातः, तस्मिन्=अपूर्वनिपाते, नञ्तत्पुरुषसमासः। पर्युदासप्रतिषेधः। पूर्वनिपातभिन्ने कार्ये कर्त्तव्य इत्यर्थः। 'समासे' से यहां समासोन्मुख विग्रहवाक्य ही अभिप्रेत है क्योंकि उस में ही विभक्तियां विद्यमान रहती हैं। अर्थः—(अपूर्वनिपाते कर्त्तव्ये) यदि पूर्वनिपात से भिन्न कोई अन्य कार्य करना हो तो (समासे) समास अर्थात् विग्रहवाक्य में (एकविभक्ति) निश्चित विभक्ति वाला पद (उपसर्जनम्) उपसर्जनसंज्ञक होता है।

समास के विग्रह में दो पद हुआ करते हैं। इस में निश्चित विभक्ति वाला अर्थात् दूसरे पद के अन्यान्य विभक्तियों में परिणत होने पर भी जो पद अपनी विभक्ति को न छोड़ता हो वह उपसर्जनसंज्ञक होता है। परन्तु इस उपसर्जन का उपयोग **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) द्वारा विहित पूर्वनिपात के लिये नहीं होता, इस से भिन्न कार्यों की कर्त्तव्यता में ही हुआ करता है। यथा—'अतिमाला' समास के विग्रह को लीजिये—मालाम् अतिक्रान्तः—अतिमालः, मालाम् अतिक्रान्तम्—अतिमालम्, मालाम् अतिक्रान्तेन—अतिमालेन, मालाम् अतिक्रान्ताय—अतिमालाय, मालाम् अतिक्रान्तात्—अतिमालात्, मालाम् अतिक्रान्तस्य—अतिमालस्य, मालाम् अतिक्रान्ते—अतिमाले इत्यादि प्रकार से विग्रह[2] में 'माला' शब्द के आगे एक ही निश्चित विभक्ति (द्वितीया) रहती

---

१. नियता=निश्चिता=एकैव विभक्तिर्यस्य तद् नियतविभक्तिकम् (पदम्)।

२. 'विग्रह' से यहां अलौकिकविग्रह ही अभिप्रेत है, वह ही समासोन्मुख या समास हुआ करता है। परन्तु प्रादिसमास के अलौकिकविग्रह में 'प्र' आदि निपात अव्यय होते हैं अतः उन से आगे लाई गई विभक्तियों का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) द्वारा लुक् हो जाने से नियतविभक्तिक और अनियतविभक्तिक पदों को ठीक तरह से पहचा-

है परन्तु अतिक्रान्त (अति) की विभक्तियां बदलती रहती हैं, अतः विग्रह में नियत-विभक्ति 'माला' शब्द की उपसर्जनसंज्ञा हो जाती है परन्तु इस उपसर्जन का **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से पूर्वनिपात नहीं होता (पूर्वनिपात तो समासविधायक वार्त्तिक में प्रथमानिर्दिष्ट से बोध्य उपसर्जन का ही होता है जैसाकि यहां 'अति' पद का हुआ है)। पूर्वनिपात से भिन्न कार्यों में इस का उपयोग होगा। इसी कार्य को दर्शाने के लिये अब अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९५२) **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य**।१।२।४८॥

उपसर्जनं यो गोशब्दः स्त्रीप्रत्ययान्तं च तदन्तस्य प्रातिपदिकस्य ह्रस्वः स्यात्। अतिमालः॥

अर्थः—उपसर्जनसंज्ञक गोशब्द या उपसर्जनसंज्ञक स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द जिस के अन्त में हो ऐसे प्रातिपदिक के अन्त्य अच् को ह्रस्व आदेश हो।

व्याख्या—गोस्त्रियोः।६।२। उपसर्जनस्य।६।१। प्रातिपदिकस्य।६।१। ह्रस्वः।१।१। (**ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य** से)। गौश्च स्त्री च गोस्त्रियौ, तयोः=गोस्त्रियोः, इतरेतरद्वन्द्वः। यहां 'गो' से गोशब्द तथा 'स्त्री' से **स्त्रियाम्** (१२४८) के अधिकार में विधान किये गये टाप्, डाप्, चाप्, ङीप्, ङीष्, ङीन् इन स्त्रीप्रत्ययों का ही ग्रहण किया जाता है न कि स्त्रीशब्द का[1]। 'उपसर्जनस्य' यह 'गोस्त्रियोः' को विशिष्ट करता है। प्रत्येक के साथ सम्बद्ध होने के कारण एकवचनान्त प्रयोग किया गया है—उपसर्जन-सञ्ज्ञक गोशब्द तथा उपसर्जनसञ्ज्ञक स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द—यह यहां अभिप्रेत है। 'गोस्त्रियोः' यह भी 'प्रातिपदिकस्य' का विशेषण है। विशेषण से तदन्तविधि हो जाती है। अर्थः—(उपसर्जनस्य) उपसर्जनसञ्ज्ञक (गोस्त्रियोः) जो गोशब्द तथा उपसर्जन-सञ्ज्ञक जो स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द तदन्त (प्रातिपदिकस्य) प्रातिपदिक के स्थान पर (ह्रस्वः) ह्रस्व आदेश हो जाता है। **अलोऽन्त्यस्य** (२१) तथा **अचश्च** (१.२.२८) परिभाषाओं के बल से प्रातिपदिक के अन्त्य अच् को ही ह्रस्व होता है। उपसर्जनगोशब्दान्त प्रातिपदिक को ह्रस्व करने का उदाहरण 'चित्रगुः' है जिस की सिद्धि आगे बहुव्रीहिसमास में की जायेगी। यहां प्रकृत में उपसर्जनस्त्रीप्रत्ययान्त का उदाहरण प्रस्तुत है—

'अतिमाला' इस समास में 'माला' शब्द की **एकविभक्ति चाऽपूर्वनिपाते** (९५१)

नने में कठिनाई होती है इसलिये ठीक प्रकार से अन्तर समझाने के लिये लौकिक-विग्रह का आश्रय लिया जाता है। परन्तु इसे सदा ध्यान में रखना चाहिये कि यह अन्तर वस्तुतः अलौकिकविग्रह में ही होता है जिस की प्रतीति लौकिकविग्रह में स्पष्टतर भासित होती है।

१. इस सूत्र में स्त्रीशब्द स्वरित के चिह्न से चिह्नित है अतः **स्वरितेनाधिकारः** (१.३.११) के अनुसार यहां स्त्र्यधिकार का ही ग्रहण किया जाता है। इसलिये **स्त्रियाम्** (१२४८) के अधिकार में पठित उपर्युक्त प्रत्यय ही यहां लिये जाते हैं।

सूत्र से उपसर्जनसंज्ञा की जा चुकी है । यह टाप्प्रत्ययान्त होने से स्त्रीप्रत्ययान्त भी है अतः तदन्त 'अतिमाला' प्रातिपदिक के अन्त्य अच् आकार को प्रकृत **गोस्त्रियोरुप-सर्जनस्य** (९५२) से ह्रस्व आदेश हो कर—अतिमाल । अब प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण विभक्त्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने से 'अतिमालः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1] ।

इसीप्रकार—

(१) अतिक्रान्तः कोकिलाम्—अतिकोकिलः स्वरः ।

(२) उद्गतो वेलाम्—उद्वेलो नदः (तट से ऊपर आया नद) ।

(३) अतिक्रान्तं मानुषम्—अतिमानुषं चरितम् ।

(४) अतिक्रान्तोऽङ्कुशम्— अत्यङ्कुशो नागः (अङ्कुश को न मानने वाला हाथी) ।

(५) अतिक्रान्तः कशाम्—अतिकशोऽश्वः (चाबुक को न मानने वाला घोड़ा) ।

(६) प्रगतोऽध्वानम्—प्राध्वो रथः (मार्ग पर निकला रथ)[2] ।

(७) अतिक्रान्तो मायाम्—अतिमायः (माया को पार कर चुका) ।

(८) उपगत इन्द्रम्—उपेन्द्रः[3] (इन्द्र का छोटा भाई विष्णु) ।

(९) अधिष्ठितो मूर्धानम्—अधिमूर्धाऽञ्जलिः (सिर पर जुड़े दोनों हाथ)[4] ।

(१०) परिगतो हस्तम्—परिहस्तः कङ्कणः ।

(११) अभिगतो मुखम्—अभिमुखः (सामने गया हुआ)[5] ।

(१२) प्रतिगतोऽक्षम्[6]—प्रत्यक्षः (इन्द्रियों की ओर गया हुआ) ।

---

१. तत्पुरुषसमास में **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) के अनुसार परवल्लिङ्गता अर्थात् उत्तरपद के लिङ्ग के अनुसार लिङ्ग होना चाहिये, परन्तु वह यहां नहीं हुआ । इस का कारण **द्विगु-प्राप्ताऽऽपन्नाऽलम्पूर्व-गतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः** (वा० ६३) द्वारा गतिसमास में परवल्लिङ्गता का निषेध करना है । इस निषेध के कारण गतिसमास में विशेष्य के अनुसार लिङ्ग की व्यवस्था होती है । ध्यान रहे कि वार्त्तिक में गतिसमास से प्रादिसमास ही अभिप्रेत है (यह आगे उस वार्त्तिक की व्याख्या में स्पष्ट किया जायेगा) ।

२. यहां **उपसर्गादध्वनः** (९९५) सूत्र से समासान्त अच् प्रत्यय करने पर **नस्तद्धिते** (९१९) से भसञ्ज्ञक टि (अन्) का लोप हो जाता है । इस की विस्तृत सिद्धि (९९५) सूत्र पर देखें ।

३. अदिति माता ने पहले इन्द्र को जन्म दिया और बाद में वामन (विष्णु) को, अतः विष्णु को इन्द्र का अनुज कहते हैं ।

४. **कः शक्रेण कृतं नेच्छेदधिमूर्धानमञ्जलिम्**—(भट्टि० ८.८४) ।

५. **गच्छन्नभिमुखो नाशं याति वह्नौ पतङ्गवत्**—(पञ्च० १.२६०) ।

६. अक्षम् = इन्द्रियम् ।

(१३) अनुगतः स्वारम्—अनुस्वारः (स्वर के पीछे जाने वाला)[1]।
(१४) अतिक्रान्तः सर्वम्—अतिसर्वः।
(१५) उपगता कनिष्ठिकाम्—उपकनिष्ठिका अनामिका[2]।
(१६) अतिक्रान्तम् अर्थम्—अत्यर्थम्।

लक्ष्मीम् अतिक्रान्तः—अतिलक्ष्मीः। यहां विग्रह में लक्ष्मी-शब्द के नियत-विभक्तिक होने से उपसर्जनसंज्ञक होने पर भी **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** (६५२) द्वारा उपसर्जनह्रस्व नहीं होता, कारण कि लक्ष्मीशब्द स्त्रीप्रत्ययान्त नहीं अपि तु **लक्षेर्मुट् च** (उणादि ४४०) सूत्र से ई प्रत्यय और उसे मुँट् का आगम करने से बना है। यह 'ई' प्रत्यय **स्त्रियाम्** (१२४८) के अधिकार में नहीं पढ़ा गया। इसीप्रकार—श्रियम् अति-क्रान्तः—अतिश्रीः आदि में जानना चाहिये।

तृतीय वार्त्तिक यथा—

[लघु०] वा०—(६०) अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया ॥

अवक्रुष्टः कोकिलया—अवकोकिलः ॥

अर्थः—क्रुष्ट (कूजित, अवधीरित, निन्दित, आहूत) आदि अर्थों में वर्त्तमान 'अव' आदि निपात, तृतीयान्त समर्थ सुँबन्त के साथ नित्य समास को प्राप्त होते हैं और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है।

व्याख्या—**कुगतिप्रादयः** (६४६) सूत्र पर महाभाष्य में पठित यह वार्त्तिक तद्विषयक ही समझना चाहिये। 'अवादयः' में 'आदि' शब्द प्रकारवाची है। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—अवक्रुष्टः कोकिलया (अथवा—कोकिलयाऽवक्रुष्टः) अव-कोकिलः (कोयल से कूजित, अवधीरित या निन्दित प्रदेश आदि)। अलौकिकविग्रह—कोकिला टा। अव। यहां 'अव' निपात क्रुष्ट अर्थ में वर्त्तमान है अतः प्रकृत **अवादयः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया** (वा० ६०) वार्त्तिक से इस का 'कोकिला टा' इस तृतीयान्त समर्थ सुँबन्त के साथ नित्यतत्पुरुषसमास हो जाता है। प्रथमानिर्दिष्ट होने से 'अव' की उप-सर्जनसंज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, तथा **सुँपो धातु-प्राति-पदिकयोः** (७२१) से समास के अवयव सुँप् का लुक् करने पर—अवकोकिला। अब विग्रहदशा में 'कोकिला' के नियतविभक्ति होने के कारण **एकविभक्ति चाऽपूर्वनिपाते**

---

१. स्वर एव स्वारः, प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण्। अनुगतः स्वारम् अनुस्वारः। अनुस्वार सदा स्वर के बाद ही प्रयुक्त होता है। कहा भी है—**अचः परावनुस्वारविसर्गौ** (सञ्ज्ञाप्रकरणे)।

२. यहां 'उप+कनिष्ठिका अम्' इस अलौकिकविग्रह में सुँब्लुक् हो कर नियत-विभक्तिक 'कनिष्ठिका' की उपसर्जनसञ्ज्ञा तथा तन्मूलक उपसर्जनह्रस्व करने पर विशेष्यानुसार पुनः टाप् हो जाता है।

(९५१) द्वारा उस की उपसर्जनसंज्ञा हो कर **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** (९५२) से तदन्त प्रातिपदिक के अन्त्य अच्-आकार को ह्रस्व करने पर 'अवकोकिल' इस स्थिति में **द्विगु-प्राप्ताऽऽपन्नाऽलम्पूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः** (वा० ६३) से परवल्लिङ्गता का निषेध हो कर विशेष्यानुसार सुँप्प्रक्रिया करने से प्रथमा के एकवचन में 'अवकोकिलः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—

(१) परिणद्धो वीरुद्भिः—परिवीरुत् पादपः (लताओं से घिरा पेड़) ।

(२) सन्नद्धो वर्मणा—संवर्मा शूरः (कवच से सन्नद्ध शूर) ।

(३) उपमितः पत्या—उपपतिः (जार) ।

(४) उपमितः प्रधानेन—उपप्रधानः ।

(५) नियुक्तः कंसेन—निकंसो रक्षिवर्गः ।

(६) नियुक्तो मुनिना—निमुनिः ।

(७) अनुगतम् अर्थेन—अन्वर्थं नाम (अर्थानुसारी नाम) ।

(८) सङ्गतम् अर्थेन—समर्थं पदम् ।

(९) वियुक्तम् अर्थेन—व्यर्थं वचः ।

(१०) सङ्गतम् अक्षेण—समक्षं वस्तु ।

चतुर्थ वार्त्तिक यथा—

[लघु०] वा०—(६१) पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या ॥

परिग्लानोऽध्ययनाय—पर्यध्ययनः ॥

अर्थः—ग्लान (खिन्न, दुःखी, थका हुआ, उकताया हुआ) आदि अर्थों में वर्त्तमान 'परि' आदि निपात, चतुर्थ्यन्त समर्थ सुँबन्त के साथ नित्य समास को प्राप्त होते हैं और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है ।

व्याख्या—यह वार्त्तिक भी पूर्ववत् **कुगतिप्रादयः** (९४९) सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है अतः तद्विषयक ही समझना चाहिये । उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—परिग्लानोऽध्ययनाय[1] (अथवा—अध्ययनाय परिग्लानः)—पर्यध्ययनः (अध्ययन के लिये घबराया या उकताया हुआ) । अलौकिकविग्रह—अध्ययन ङे + परि । यहां 'परि' निपात परिग्लान अर्थ में वर्त्तमान है अतः इस का 'अध्ययन ङे' इस चतुर्थ्यन्त के साथ प्रकृत **पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या** (वा० ६१) वार्त्तिक से नित्यसमास हो जाता है । प्रथमानिर्दिष्ट 'परि' की उपसर्जनसंज्ञा कर उस का पूर्वनिपात किया तो बना—परि + अध्ययन ङे । अब समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से उस के अवयव सुँप् (ङे) का लुक् तथा **इको यणचि** (१५) से यण् और अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'पर्यध्ययनः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

---

१. तादर्थ्येऽत्र चतुर्थी बोध्या ।

ध्यान रहे कि यहां पर भी **द्विगु-प्राप्ताऽऽपन्नाऽलम्पूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वक्तव्यः** (वा० ६३) वार्त्तिक से परवल्लिङ्गता का निषेध हो कर विशेष्यानुसार लिङ्ग किया जाता है।

इसीप्रकार—'उद्युक्तः संग्रामाय—उत्सङ्ग्रामः' इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि होती है।

पञ्चम वार्त्तिक यथा—

[लघु०] वा०—(६२) निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या ॥

निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः—निष्कौशाम्बिः ॥

अर्थः—क्रान्त (निकला हुआ, बाहर गया हुआ, पार किया हुआ) आदि अर्थों में वर्त्तमान निर् आदि निपात, पञ्चम्यन्त समर्थ सुँबन्त के साथ नित्य समास को प्राप्त होते हैं और वह समास तत्पुरुषसञ्ज्ञक होता है।

व्याख्या—यह पाञ्चवां वार्त्तिक भी **कुगतिप्रादयः** (९४९) सूत्र पर महाभाष्य में पठित होने से नित्यसमासविषयक ही समझना चाहिये। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—निष्क्रान्तः कौशाम्ब्याः—निष्कौशाम्बिः (कौशाम्बी नगरी से निकला हुआ)। अलौकिकविग्रह—कौशाम्बी ङसिँ + निर्[1]। यहां 'निर्' यह निपात क्रान्त = निष्क्रान्त अर्थ में वर्त्तमान है अतः इस का 'कौशाम्बी ङसिँ' इस पञ्चम्यन्त के साथ प्रकृत **निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या** (वा० ६२) वार्त्तिकद्वारा नित्यतत्पुरुष समास हो जाता है। प्रथमानिर्दिष्ट होने से 'निर्' की उपसर्जनसञ्ज्ञा तथा **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्वनिपात करने पर—निर् + कौशाम्बी ङसिँ। अब समास की **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से प्रातिपदिकसज्ञा और **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से उस के अवयव सुँप् (ङसिँ) का लुक् कर—निर् + कौशाम्बी। इस समास के विग्रह में कौशाम्बी शब्द नियतविभक्तिक रहता है अतः **एकविभक्ति चाऽपूर्वनिपाते** (९५१) से इस की उपसर्जनसंज्ञा हो कर स्त्रीप्रत्ययान्त होने से **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** (९५२) सूत्रद्वारा प्रातिपदिक के अन्त्य ईकार को ह्रस्व आदेश हो जाता है—निर् + कौशाम्बि। **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (९३) से निर् के रेफ को विसर्ग आदेश एवम् **इदुदुपधस्य चाऽप्रत्ययस्य** (८.३.४१) से विसर्ग को षत्व कर विभक्ति लाने से 'निष्कौशाम्बिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यहां पर भी पूर्ववत् **द्विगु-प्राप्ताऽऽपन्नाऽलम्पूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः** (वा० ६३) वार्त्तिक से परवल्लिङ्गता का निषेध हो कर विशेष्यानुसार लिङ्ग हो जाता है।

इसीप्रकार—

(१) निष्क्रान्तो वाराणस्याः—निर्वाराणसिः।

---

१. यहां 'निस्' निपात भी रखा जा सकता है। तब **ससजुषो रुँः** (१०५) से उस के सकार को रुँत्व (र्) करना पड़ेगा।

(२) निष्क्रान्तो लङ्कायाः—निर्लङ्कः ।
(३) निष्क्रान्ता विन्ध्यात्—निर्विन्ध्या नदी ।[1]
(४) निर्गतस्त्रिंशतोऽङ्गुलिभ्यः—निस्त्रिंशः खड्गः ।[2]
(५) उत्क्रान्तं सूत्रात्—उत्सूत्रं वचः ।[3]
(६) उत्क्रान्तः शृङ्खलायाः—उच्छृङ्खलः कलभः ।
(७) उत्क्रान्ता कुलात्—उत्कुला कुलटा ।
(८) उत्क्रान्तो वेलायाः—उद्वेलः समुद्रः ।
(९) अपगतः शाखाभ्यः—अपशाखो वानरः ।
(१०) अपगतं क्रमात्—अपक्रमं कार्यम् ।
(११) अपगतम् अर्थात्—अपार्थं वचः (अर्थहीन वचन) ।

अभ्यास [४]

(१) निम्नस्थ सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—

१. उपमानानि सामान्यवचनैः । २. एकविभक्ति चाऽपूर्वनिपाते । ३. ऊर्यादिच्विडाचश्च । ४. विशेषणं विशेष्येण बहुलम् । ५. गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य । ६. नञ् । ७. दिक्संख्ये संज्ञायाम् । ८. तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च । ९. कुगतिप्रादयः । १०. गोरतद्धितलुकि । ११. दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः । १२. तद्धितेष्वचामादेः । १३. तस्मान्नुडचि । १४. न लोपो नञः ।

(२) निम्नस्थ समासों की द्विविधविग्रहनिर्देश करते हुए ससूत्र सिद्धि प्रदर्शित करें—

१. पौर्वशालः । २. शाकपार्थिवः । ३. घनश्यामः । ४. पञ्चगवधनः ।

---

१. **वीचिक्षोभस्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः**
संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्त्तनाभेः ।
निर्विन्ध्यायाः पथि भव रसाभ्यन्तरः सन्निपत्य
स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु ॥ (मेघ० १.२८)

२. **संख्यायास्तत्पुरुषस्य वाच्यः** इति वार्त्तिकेन समासान्ते डचि टेर्लोपः । जो तीस अङ्गुलियों से निकल चुका है अर्थात् खड्ग । खड्ग (तलवार) का माप तीस अङ्गुल से अधिक ही हुआ करता है, छोटे को छुरिका कहा जाता है । तलवार की तरह क्रूर कर्म करने वाले निर्दय पुरुष को भी उपचार से 'निस्त्रिंश' कह दिया जाता है—**निस्त्रिंशो निर्घृणे खड्गे** इति हैमः । निस्त्रिंश का प्रयोग इस प्रकार भी हुआ करता है—निर्गतानि त्रिंशतोऽब्देभ्यः—निस्त्रिंशानि वर्षाणि देवदत्तस्य (देवदत्त का वय तीस वर्षों से ऊपर है) ।

३. **यो ह्युत्सूत्रं कथयेन्नादो गृह्येत** (महाभाष्ये पस्पशा०) । जो सूत्रविरुद्ध कहेगा उस का वचन नहीं माना जायेगा ।

५. कुपुरुषः । ६. सप्तर्षयः । ७. पटपटाकृत्य । ८. नीलोत्पलम् । ९. देवब्राह्मणः । १०. पूर्वेषुकामशमी । ११. अतिमालः । १२. शुक्लीकृत्य । १३. सुपुरुषः । १४. कृष्णसर्पः । १५. अनश्वः । १६. षाण्मातुरः । १७. निष्कौशाम्बिः । १८. नैकधा । १९. अवकोकिलः । २०. ऊरीकृत्य । २१. पञ्चगवम् । २२. पर्यध्ययनः । २३. प्राचार्यः । २४ नवग्रहाः ।

(३) **कुगतिप्रादयः** सूत्र पर दिये गये पाञ्च वार्त्तिकों का सार्थ उल्लेख करते हुए प्रत्येक का एक-एक उदाहरण प्रदर्शित करें।

(४) निम्नस्थ वार्त्तिकों की सोदाहरण व्याख्या करें—

(क) सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः ।

(ख) द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनम् ।

(ग) शाकपार्थिवादीनां सिद्धय उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम् ।

(५) मध्यमपदलोपिसमास किसे कहते हैं ? सोदाहरण विवेचन करें ।

(६) द्विगुसमास में **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** से लिङ्गव्यवस्था होगी या नहीं ? सप्रमाण विवेचन करें ।

(७) कर्मधारय, द्विगु, उपसर्जन और गति—इन संज्ञाओं के विधायकसूत्रों का सार्थ सोदाहरण विवेचन करें ।

(८) एकसञ्ज्ञाधिकार के प्रकरण में गति और निपात दोनों सञ्ज्ञाओं का समावेश कैसे हो जाता है ? स्पष्ट करें ।

(९) निम्नस्थ प्रश्नों का संक्षिप्त यथोचित उत्तर दीजिये—

[क] 'रामो जामदग्न्यः' में समास क्यों नहीं होता ?

[ख] 'नैकधा-अनेकधा' के समासों में कैसे प्रक्रियाभेद माना जाता है ?

[ग] 'पञ्च ब्राह्मणाः' में समास क्यों नहीं होता ?

[घ] **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** में 'बहुलम्' क्यों कहा गया है ?

[ङ] 'अतिमालः' आदि में परवल्लिङ्गता क्यों नहीं होती ?

[च] 'अनागत्य' में नञ्समास होने पर भी क्त्वा को ल्यप् कैसे हो जाता है ?

[छ] **न लोपो नञः** में 'नलोपः' को एकपद क्यों नहीं मानते ?

[ज] 'कापुरुषः—कुपुरुषः' इन दोनों में कौन सा रूप व्याकरणसम्मत है ?

[झ] उपसर्जनसंज्ञा होने पर भी कहां पूर्वनिपात नहीं होता ?

(१०) अर्थाभाव अर्थ में वर्त्तमान नञ् का सुँबन्त के साथ तत्पुरुषसमास होगा या अव्ययीभाव ? सहेतुक स्पष्ट करें ।

(११) विशेषणविशेष्यसमास में पूर्वनिपात पर प्रकाश डालें ।

(१२) अत्यादि, अवादि, निरादि—इन में आदि शब्द का क्या अभिप्राय है ? सोदाहरण स्पष्ट करें ।

(१३) संज्ञा न होने पर भी 'त्रिलोक:' आदि में समास कैसे हो जाता है ?

(१४) संज्ञाविधि होते हुए भी **ऊर्यादिच्विडाचश्च** सूत्र में प्रत्ययों से तदन्तों का ग्रहण कैसे हो जाता है ? स्पष्ट करें ।

(१५) निम्नस्थ विग्रहों में समास का निर्देश करें—कुत्सितम् अन्नम् । पाचकश्चासौ खञ्जश्च । शाकभोजी ब्राह्मणः । उत्क्रान्तं सूत्रात् । त्रयाणां लोकानां समाहारः । निर्गतो वाराणस्याः । प्रगतः पितामहः । पञ्चानां नापितानाम् अपत्यम् । द्व्यधिका दश । कुत्सितो रथः । पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः । षण्णाम्मातृणामपत्यम् । प्रगतोऽध्वानम् । व्यासः पाराशर्यः [?] । महान् वृक्षः । अनुगतः स्वारम् । नीरद इव श्यामः ।

(१६) अष्टानामध्यायानां समाहारः—अष्टाध्यायी । यहां द्विगुसमास में नपुंसक का प्रयोग क्यों नहीं हुआ ?

(१७) त्रिविध द्विगुसमास का एक एक उदाहरण दीजिये ।

(१८) व्यधिकरण और समानाधिकरण तत्पुरुषों में क्या अन्तर होता है ?

(१९) कर्मधारयसमास में लौकिकविग्रहों को प्रदर्शित करने के दोनों प्रकार सोदाहरण लिखें ।

(२०) **उपमानानि सामान्यवचनैः** में सामान्यवचन का तात्पर्य अपने शब्दों में स्पष्ट करें । अथवा—उपमानवाचकों का सामान्यवचनों के साथ सामानाधिकरण्य कैसे स्थापित किया जाता है ?

(२१) **दिक्संख्ये संज्ञायाम्** इस नियम के कारण प्रक्रिया में क्या अन्तर पड़ता है ? सोदाहरण स्पष्ट करें ।

(२२) उत्तरपद के परे रहते **तद्धितार्थोत्तरपद०** सूत्रद्वारा किया जाने वाला समास नित्य होगा या वैकल्पिक ? सप्रमाण सोदाहरण स्पष्ट करें ।

(२३) **नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः**—इस की सोदाहरण व्याख्या करें ।

———:०:———

अब तत्पुरुषसमास के अन्तर्गत उपपदसमास का वर्णन करने के लिये सर्वप्रथम उपपदसंज्ञा का निरूपण करते हैं—

[लघु०] अधिकारसूत्रम्—(९५३) तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् । ३।१।९२॥

सप्तम्यन्ते पदे 'कर्मणि' इत्यादौ वाच्यत्वेन स्थितं यत् कुम्भादि, तद्वाचकं पदम् उपपदसञ्ज्ञं स्यात् (तस्मिन् सत्येव वक्ष्यमाणाः प्रत्ययाः स्युः) ॥

अर्थः—**धातोः** (७६६) अधिकार के अन्तर्गत **कर्मण्यण्** (७९०) आदि सूत्रों में 'कर्मणि' आदि सप्तम्यन्त पदों का वाच्य जो कुम्भ आदि वस्तु, तद्वाचक पद उपपद-

सञ्ज्ञक हो (किञ्च इस उपपद के होने पर ही तत्तत्सूत्रों से वक्ष्यमाण प्रत्यय हों अन्यथा नहीं)।

व्याख्या—तत्र इत्यव्ययपदम् । उपपदम् ।१।१। सप्तमीस्थम् ।१।१। अष्टाध्यायी में इस सूत्र से अव्यवहित पूर्व **धातोः** (३.१.९१) का अधिकार चलाया जा चुका है—यहां से लेकर तृतीयाध्याय की समाप्ति तक जिन प्रत्ययों का वर्णन किया जाये वे धातु से परे हों । इसी अधिकार के अन्तर्गत यह दूसरा अधिकार चला रहे हैं—यहां से आगे इस धात्वधिकार के अन्तर्गत सूत्रों में जहां जहां सप्तम्यन्त पद प्रयुक्त मिले [यथा—**कर्मण्यण्** (७९०) में 'कर्मणि', **प्रियवशे वदः खश्** (७९८) में 'प्रियवशे', **सुँप्यजातौ णिनिँस्ताच्छील्ये** (८०३) में 'सुँपि', **करणे यजः** (८०७) में 'करणे', **सप्तम्यां जनेर्डः** (८११) में 'सप्तम्याम्' आदि] तो उस पद से बोध्य जो अर्थ तद्वाचक पदों की उपपदसञ्ज्ञा हो । सप्तमीस्थम्—यहां 'सप्तमी' से प्रत्ययग्रहणपरिभाषाद्वारा सप्तम्यन्त का ग्रहण अभीष्ट है । सप्तम्यां (सप्तम्यन्ते) तिष्ठतीति सप्तमीस्थम् । 'कर्मणि' आदि उपर्युक्त सप्तम्यन्त पद हैं। उन में रहने वाला कुम्भ आदि वाच्य वस्तु ही सप्तमीस्थ कहलायेगी । परन्तु यहां शब्दशास्त्र में वाच्य पदार्थों से कोई काम लिया नहीं जा सकता, अतः उन उन वाच्य वस्तुओं के वाचक शब्दों से ही यहां काम लेना पड़ता है । तो इस प्रकार लक्षणा से 'सप्तमीस्थम्' का अर्थ होगा—'कर्मणि' आदि पदों का वाच्य जो कर्मीभूत कुम्भ (घट) आदि वस्तु, तद्वाचक शब्द । अष्टाध्यायी के प्रकृत पाद में तीन धात्वधिकार हैं—(१) **धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायां वा** (७०५), (२) **धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्** (७११), (३) **धातोः** (७६६)। इन तीन अधिकारों में से प्रत्यासत्ति (सामीप्य) न्याय के कारण तीसरा **धातोः** वाला अधिकार ही यहां गृहीत होता है । इसी अधिकार को ही उपपदसंज्ञा का क्षेत्र माना जायेगा, इस से पूर्व के दोनों अधिकारों को नहीं । उक्त **धातोः** अधिकार की अनुवृत्ति आ कर सूत्र का यह अर्थ होगा । अर्थः—**धातोः** अधिकार के अन्तर्गत (सप्तमीस्थम्) सप्तम्यन्त 'कर्मणि' आदि जो पद उस का वाच्य कुम्भ आदि जो वस्तु, तद्वाचक पद (उपपदम्) उपपदसञ्ज्ञक होता है और (तत्र—तस्मिन् सत्येव) उस उपपद के रहते हुए ही तत्तत्सूत्रों से अण् आदि प्रत्यय होते हैं[1] । उदाहरणार्थ **धातोः** (७६६) अधिकार क

१. 'तत्र' शब्द में भावसप्तमी या सतिसप्तमी के स्थान पर ही **सप्तम्यास्त्रल्** (१२०४) से त्रल् प्रत्यय हुआ है । 'तत्र' पद सूत्र में भिन्नक्रम में प्रयुक्त हुआ है। इस का अर्थ है—'उस के होने पर' अर्थात् जिस की उपपदसञ्ज्ञा की जा रही है उस उपपद के होने पर ही सूत्रद्वारा प्रत्यय का विधान होगा अन्यथा नहीं—यह यहां 'तत्र' का अभिप्राय है । 'तत्र' शब्द पूर्वोक्त अधिकार को निर्दिष्ट करने के लिये प्रयुक्त नहीं हुआ वह तो अनुवृत्त्या लब्ध है ही ।

अन्तर्गत **कर्मण्यण्** (७९०) सूत्र को लेते हैं। इस सूत्र में 'कर्मणि' यह सप्तम्यन्त पद है, इस 'कर्मणि' से बोध्य कर्मीभूत पदार्थों के वाचक कुम्भ आदि शब्दों की यहां उपपद सञ्ज्ञा की जाती है। इस उपपद के होने पर ही **कर्मण्यण्** (७९०) सूत्र से अण् प्रत्यय किया जायेगा, विना इस के अण् प्रत्यय न होगा। उदाहरण यथा—कुम्भं करोतीति कुम्भकारः, सूत्रं करोतीति सूत्रकारः आदि। उपपदसंज्ञा करने का मुख्य प्रयोजन 'कार' आदि प्रत्ययान्त भागों के साथ 'कुम्भ' आदि उपपदों का समास करना ही प्रायः हुआ करता है जो अग्रिमसूत्रद्वारा स्पष्ट किया जायेगा।

शेखरकार आदियों ने महाभाष्यानुसार इसे अधिकारसूत्र माना है। इस अधिकार की **कर्मण्यण्** (७९०) आदि सूत्रों में अनुवृत्ति जायेगी तो वहां का सप्तम्यन्त पद प्रथमान्त में परिणत हो जायेगा, क्योंकि सप्तमी लगाने का प्रयोजन तो उपपदसंज्ञा करना ही हुआ करता है। तब वहां का सूत्रार्थ इस प्रकार का हो जायेगा—कर्म की उपपदसंज्ञा है, इस उपपद के होने पर ही धातु से परे कर्त्ता अर्थ में अण् प्रत्यय होता है।[1]

मोटे रूप में इस सूत्र से दो कार्य सिद्ध किये जाते हैं—

[क] **धातोः** (७६६) अधिकार के अन्तर्गत **कर्मण्यण्** (७९०) आदि सूत्रों में सप्तम्यन्त 'कर्मणि' आदि की उपपदसंज्ञा की जाती है (वस्तुतः प्रक्रियादशा में 'कर्मणि' आदि से बोध्य कुम्भ आदि पदों की ही उपपदसञ्ज्ञा हुआ करती है)।

[ख] 'तत्र' के कारण सूत्रों में कथित उपपदों के होने पर ही तत्तत्सूत्रों द्वारा अण् आदि प्रत्यय किये जाते हैं केवल निर्दिष्ट धातुओं से नहीं। यथा—**कर्मण्यण्** (७९०) द्वारा कर्म के उपपद रहते कुम्भकारः आदि में तो अण् प्रत्यय हो जाता है परन्तु

१. परन्तु यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि इस धात्वधिकार के अन्तर्गत सूत्रों में आने वाले प्रत्येक सप्तम्यन्त पद को उपपद नहीं माना जा सकता। कई जगह मुनि ने अर्थनिर्देश के लिये भी सप्तम्यन्त पदों का प्रयोग किया है। यथा—**दाम्-नी-शस-यु-युज-स्तु-तुद-सि-सिच-मिह-पत-दश-नहः करणे** (८४४) सूत्र में 'करणे' पद करण अर्थ में प्रत्ययविधान के लिये है, करणोपपद के लिये नहीं। इसीप्रकार—**नपुंसके भावे क्तः** (८७०) में 'भावे' पद, **गेहे कः** (७८६) में 'गेहे' पद, **धः कर्मणि ष्ट्रन्** (३.२.१८१) में 'कर्मणि' पद, **स्त्रियां क्तिन्** (८६३) में 'स्त्रियाम्' पद अर्थपरक ही हैं उपपद नहीं। इसीलिये तो मुनि ने घु, टि, भ आदि की भांति एकमात्रिक छोटी सञ्ज्ञा न बना कर 'उपपद' इतनी बड़ी सञ्ज्ञा का प्रयोग किया है जिस से इस की अन्वर्थताद्वारा सप्तम्यन्त पदों के उपपदत्व का ठीक ठीक निर्णय किया जा सके। उप (समीपे) उच्चारितं पदम्—उपपदम्। जो धात्वादि के समीप लोक में उच्चारित किया जाता है उसे 'उपपद' कहते हैं। इस से शिष्टप्रयोगों को देख कर ही उपपदत्व को समझने का प्रयत्न करना चाहिये केवल सप्तम्यन्तता देख कर नहीं।

उपपद के विना 'करोतीति कारः' यह नहीं बनता।[1]

अब उपपद का अगले प्रत्ययान्त भाग के साथ समास का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९५४) **उपपदमतिङ्** ।२।२।१९।।

उपपदं सुँबन्तं समर्थेन नित्यं समस्यते। अतिङन्तश्चायं समासः। कुम्भं करोतीति कुम्भकारः ।।

अर्थः—उपपदसञ्ज्ञक सुँबन्त, समर्थ शब्द के साथ नित्य तत्पुरुषसमास को प्राप्त होता है और यह समास अतिङन्त होता है।

व्याख्या—उपपदम् ।१।१। अतिङ् ।१।१। सुँप् ।१।१। (**सुँबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे** से)। समर्थेन ।३।१। (**समर्थः पदविधिः** से विभक्तिविपरिणामद्वारा)। नित्यम् इति क्रियाविशेषणं द्वितीयैकवचनान्तम् (**नित्यं क्रीडाजीविकयोः** से)। समासः ।१।१। (**प्राक्कडारात्समासः** से)। तत्पुरुषः ।१।१। (यह अधिकृत है)। 'सुँप्' यह 'उपपदम्' का विशेषण है, प्रत्ययग्रहणपरिभाषाद्वारा तदन्तविधि हो कर 'सुँबन्तम् उपपदम्' प्राप्त हो जाता है। 'अतिङ्' यह 'समास' का विशेषण है। अविद्यमानं तिङ् (तिङन्तम्) यस्मिन् सः=अतिङ्, बहुव्रीहिसमासः। तिङन्ताऽघटित इत्यर्थः। **अर्थः**— (उपपदम्) उपपदसंज्ञक (सुँप्=सुँबन्तम्) सुँबन्त (समर्थेन) समर्थ शब्द के साथ (नित्यम्) नित्य (समासः) समास को प्राप्त होता है और वह समास (अतिङ्=अतिङन्तः) अतिङन्त होता है अर्थात् इस में कोई तिङन्त नहीं होता। यहां 'अतिङ्' ग्रहण के कारण **सह सुँपा** (९०६) से 'सुँपा' पद का अनुवर्त्तन नहीं होता, क्योंकि यदि उस का अनुवर्त्तन होता तो सुँबन्त का सुँबन्त के साथ समास होने से यह समास अतिङन्त तो अपने आप ही होता पुनः इसे 'अतिङ्' क्यों कहते? 'अतिङ्' कथन से यहां 'सुँपा' का अनुवर्त्तन नहीं होता यह स्वतः सिद्ध हो जाता है। परन्तु उपपद तो सुँबन्त ही अभीष्ट है, इस के लिये **सुँबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे** (२.१.२) से 'सुँप्' का अनुवर्त्तन होता ही है। यदि यहां भी 'सुँप्' का अनु-

---

१. कुछ लोग यहां शङ्का किया करते हैं कि प्रकृतसूत्र में 'तत्र' ग्रहण की आवश्यकता ही क्या है, **धातोः** (७६६) यह अधिकार तो अनुवृत्तिलब्ध है ही? इस का समाधान यह है कि 'तत्र' का ग्रहण धात्वधिकार को निर्दिष्ट करने के लिये नहीं किया गया वह तो अनुवृत्तिलब्ध है ही। इस के ग्रहण का प्रयोजन यह है कि जिस प्रत्यय के विधान के साथ जो उपपद लगा है उस उपपद के होने पर ही उस प्रत्यय की प्रवृत्ति हो, उपपद के विना प्रत्यय की प्रवृत्ति न हो। यदि प्रकृतसूत्र के अन्तर्गत 'तत्र' का अधिकार न चलाते तो **कर्मण्यण्** (७९०) में 'कर्मणि' पद के सप्तम्यन्त होने के कारण उपपदसंज्ञा तो होती पर प्रत्ययविधान में कर्मीभूत इस उपपद की अनिवार्यता न होती। अतः उपपद होने या न होने दोनों अवस्थाओं में अण् हो जाता जो दूसरी अवस्था में नितान्त अनिष्ट था। इसे रोकने के लिये ही 'तत्र' का अधिकार चलाया गया है।

वर्त्तन नहीं करेंगे तो उपपद में पदत्व न होने से 'चर्मकारः, राजयुध्वा' आदि में **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) सूत्रद्वारा नकार का लोप न हो सकेगा। तात्पर्य यह है कि इस उपपदसमास में पूर्वपद तो सुँबन्त होगा परन्तु उत्तरपद केवल समर्थ शब्द ही होगा न कि सुँबन्त, इस तरह यह समास अतिङ् (अतिङन्त) होना चाहिये। दूसरे शब्दों में इस उपपदसमास का उत्तरपद कहीं तिङन्त न हो जाये इस के लिये सूत्र में 'अतिङ्' कहा गया है। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—कुम्भं करोतीति कुम्भकारः (कुम्भ अर्थात् घट को बनाने वाला—कुम्हार)। यहां **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** (९५३) अधिकार के अन्तर्गत 'कुम्भ' कर्म के उपपद होने पर 'कृ' (**डुकृञ् करणे** तना० उभय०) धातु से **कर्मण्यण्** (७९०) सूत्रद्वारा कर्त्ता अर्थ में कृत्सञ्ज्ञक अण् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा **अचो ञ्णिति** (१८२) से ऋवर्ण को वृद्धि-रपर (आर्) करने पर 'कार' बन जाता है। 'कार' यह कृदन्त है, कृदन्त के योग में **कर्तृकर्मणोः कृति** (२.३.६५) सूत्रद्वारा कर्मीभूत कुम्भशब्द से षष्ठी-विभक्ति ला कर 'कुम्भ ङस्+कार' यह अलौकिकविग्रह स्थापित होता है। अब **उपपदमतिङ्** (९५४) इस प्रकृतसूत्र से 'कुम्भ ङस्' इस उपपदसंज्ञक सुँबन्त का 'कार' इस समर्थ शब्द (न कि सुँबन्त) के साथ नित्य तत्पुरुषसमास हो कर प्रथमानिर्दिष्ट उपपद की उपसर्जनसंज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात, **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से समुदाय की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तथा **सुपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् करने पर 'कुम्भकार' शब्द निष्पन्न होता है। पुनः प्रातिपदिकत्वात् विभक्त्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर सकार को रुँत्व तथा रेफ को अवसान में विसर्ग आदेश करने पर 'कुम्भकारः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

(१) सूत्रं करोतीति सूत्रकारः।[1]

(२) गां ददातीति गोदः।[2]

(३) कुरुषु चरतीति कुरुचरः।[3]

(४) यशः करोतीति यशस्करी विद्या।[4]

(५) सोमेन इष्टवान् इति सोमयाजी।[5]

(६) पारं दृष्टवान् इति पारदृश्वा।[6]

---

१. **कर्मण्यण्** (७९०) इति अण्प्रत्ययः।

२. **आतोऽनुपसर्गे कः** (७९१) इति कप्रत्ययः।

३. **चरेष्टः** (७९२) इति टप्रत्ययः।

४. **कृञो हेतु-ताच्छील्याऽऽनुलोम्येषु** (७९४) इति टप्रत्ययः।

५. **करणे यजः** (८०७) इति णिनिँप्रत्ययः।

६. **दृशेः क्वनिँप्** (८०८) इति क्वनिँप् प्रत्ययः।

(७) राजानं योधितवान् इति राजयुध्वा ।[1]
(८) सरसि जातम् इति सरसिजम् ।[2]
(९) प्रियं वदतीति प्रियंवदः ।[3]
(१०) वशं वदतीति वशंवदः ।[4]
(११) भिक्षां चरतीति भिक्षाचरः ।[5]
(१२) कटं प्रवते इति कटप्रूः ।[6]
(१३) मूलानि विभुजतीति मूलविभुजो रथः ।[7]
(१४) उष्णं भुङ्क्ते तच्छील इति उष्णभोजी ।[8]
(१५) पण्डितमात्मानं मन्यते इति पण्डितम्मन्यः ।[9]

ये सब उपपदसमास के उदाहरण हैं। इन की सिद्धि इस व्याख्या के कृदन्त-प्रकरण में तत्तत्सूत्रों की व्याख्या के प्रसङ्ग में की जा चुकी है, विशेषजिज्ञासु वहीं देखें।

इस उपपदसमास को अतिङ् अर्थात् तिङ्रहित कहा गया है। इसे प्रत्युदाहरण-द्वारा समझाते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं—

[लघु०] अतिङ् किम् ? मा भवान् भूत्। माङि लुङ् (४३५) इति सप्तमीनिर्देशान्माङुपपदम् ॥

व्याख्या—यदि **उपपदमतिङ्** (९५४) सूत्र में उपपदसमास को अतिङ् (अविद्यमानं तिङ्=तिङन्तं यस्मिन् सोऽतिङ्) न कहते तो 'मा भवान् भूत्' (आप मत हों) यह प्रयोग उपपन्न न हो सकता। यहां **माङि लुङ्** (४३५) सूत्रद्वारा माङ् के उपपद रहते भूधातु से लुँङ् का प्रयोग किया गया है। **न माङ्योगे** (४४१) से अट् का आगम नहीं हुआ। **माङि लुङ्** (४३५) सूत्र में 'माङि' पद सप्तमीनिर्दिष्ट होने से **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** (९५३) द्वारा उपपदसंज्ञक है, अतः इस उपपद के होने पर ही धातु से परे लुँङ् प्रयुक्त हुआ है। परन्तु उपपद माङ् का 'भूत्' इस तिङन्त के साथ उपपदसमास

१. **राजनि युधि-कृञः** (८०९) इति क्वनिँप्प्रत्ययः।
२. **सप्तम्यां जनेर्डः** (८११) इति डप्रत्ययः।
३. **प्रियवशे वदः खच्** (७९८) इति खच्प्रत्ययः।
४. **प्रियवशे वदः खच्** (७९८) इति खच्प्रत्ययः।
५. **भिक्षा-सेनाऽऽदायेषु च** (७९३) इति टप्रत्ययः।
६. **क्विँब्वचि-प्रच्छ्यायतस्तु-कटप्रु-जु-श्रीणां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च** (वा० ४८) इति क्विँप्प्रत्ययः।
७. **मूलविभुजादिभ्यः कः** (वा० ४७) इति कप्रत्ययः।
८. **सुँप्यजातौ णिनिँस्ताच्छील्ये** (८०३) इति णिनिँप्रत्ययः।
९. **आत्ममाने खश्च** (८०५) इति खश्प्रत्ययः।

नहीं हुआ, कारण कि समासविधायक **उपपदमतिङ्** (९५४) सूत्र में 'अतिङ्' कहा गया है अर्थात् इस समास में कोई पद तिङन्त नहीं हो सकता। तभी तो दोनों के मध्य में 'भवान्' पद आ सका है वरन् समासदशा में वह मध्य में कैसे आता? इसीप्रकार—'मा त्वं कार्षीः, मा त्वं रोदीः, मा भवान् गमत्' आदियों में समझना चाहिये।

कारको व्रजति (करने के लिये जाता है)। यहां 'व्रजति' इस क्रियार्था क्रिया के उपपद रहते भविष्यत्कालिक 'कृ' धातु से कर्त्ता अर्थ में **तुमुँण्वुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्** (८४९) सूत्र से ण्वुल्प्रत्यय हो कर वु को अक तथा धातु को वृद्धि करने पर 'कारक' सिद्ध हुआ है। यहां भी 'व्रजति' उपपद का 'कारक' के साथ समास नहीं होता। क्यों नहीं होता? इसलिये नहीं कि सूत्र में 'अतिङ्' कहा गया है, बल्कि इस कारण कि उपपद सुँबन्त का ही समर्थ शब्द के साथ समास कहा गया है। यहां 'व्रजति' उपपद तो है पर सुँबन्त नहीं। अतः असुँबन्तत्व के कारण समास प्राप्त ही नहीं होता। ध्यान रहे कि यदि समास हो जाता तो 'व्रजति' उपपद ही पूर्व में प्रयुक्त होता तब 'कारको व्रजति' न हो सकता।

उपपदमतिङ् (९५४) में 'सुँपा' की अनुवृत्ति न लाने के कारण उपपद का तिङन्त के साथ भी समास प्रसक्त होता था जो अनिष्ट था इस अनिष्ट की निवृत्ति सूत्रकार ने सूत्र में 'अतिङ्' ग्रहण कर के कर ली है। परन्तु इस से अच्छा तो यही होता कि 'सुँपा' की अनुवृत्ति ला कर उपपद का सुँबन्त के साथ समास विधान करते, इस से तिङन्त के साथ समास की प्रसक्ति ही न होती और न ही सूत्र में 'अतिङ्' ग्रहण करना पड़ता। परिणामतः इस सारे झञ्झट को करने में सूत्रकार का उद्देश्य ही क्या है? वे उपपद का सुँबन्त के साथ समास करना क्यों नहीं चाहते? इस तरह की शङ्काओं की निवृत्ति के लिये ग्रन्थकार एक प्राचीन परिभाषा को सोदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

[लघु०] गति-कारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुँबुत्पत्तेः (प०)॥

व्याघ्री। अश्वक्रीती। कच्छपी। इत्यादि॥

अर्थः गति, कारक और उपपद—इन का कृदन्तों के साथ यदि समास करना हो तो कृदन्तों से सुँप् लाने से पूर्व ही अर्थात् असुँबन्त कृदन्तों के साथ ही समास करना चाहिये।

व्याख्या—प्राचीन आचार्यों द्वारा परिपठित यह एक परिभाषा है। **उपपदमतिङ्** (९५४) में 'अतिङ्' का ग्रहण कर आचार्य पाणिनि भी एकदेशानुमति के द्वारा इस परिभाषा का अनुमोदन करते प्रतीत होते हैं। गति, कारक और उपपद ये पूर्वपद तो सुँबन्त होंगे ही, पर इन के साथ जुड़ने वाला उत्तरपद यदि कृदन्त होगा तो उस के आगे सुँप् (विभक्ति) लाने से पूर्व ही अर्थात् कृदन्त की असुँप्-अवस्था में ही समास हो जायेगा। समास में **सह सुँपा** (९०६) द्वारा प्रवर्तित साधारण नियम तो यह है कि पूर्वपद और उत्तरपद दोनों के सुँबन्त होने पर ही समास हुआ करता है। परन्तु यहां

गति, कारक और उपपदों का असुँबन्त कृदन्तों के साथ समस्त होना कहा गया है। इस तरह समस्त शब्दों से स्त्रीप्रत्यय करने में प्रमुख अन्तर पड़ता है जो आगे के तीन उदाहरणों में स्पष्ट है।

प्रथम उदाहरण (उपपद और गति का कृदन्त के साथ)—

लौकिकविग्रह—वि = विशेषेण आ = समन्ताद् जिघ्रतीति—व्याघ्री (जो विशेष कर चहुँ ओर सूंघती है—बाघ की मादा)। यहां आङ् उपसर्ग के उपपद रहते **आतश्चोपसर्गे** (७८८) सूत्रद्वारा **घ्रा गन्धोपादाने** (भ्वा० परस्मैं०) धातु से कृत्सञ्ज्ञक 'क' प्रत्यय कर ककार अनुबन्ध का लोप तथा **आतो लोप इटि च** (४८९) से धातु के आकार का भी लोप करने से—आ + घ्र् + अ = 'आ + घ्र' इस अलौकिकविग्रह में उपपदसञ्ज्ञक (९५३) आङ् उपसर्ग का 'घ्र' इस कृदन्त के साथ कृदन्त से विभक्ति लाने से पूर्व ही **उपपदमतिङ्** (९५४) सूत्र से नित्य समास हो 'आघ्र' बन जाता है[1]। पुनः **गतिश्च** (२०१) द्वारा गतिसंज्ञक 'वि' का 'आघ्र' इस कृदन्त के साथ विभक्ति लाने से पूर्व ही **कु-गति-प्रादयः** (९४९) से नित्यसमास तथा **इको यणचि** (१५) से 'वि' के इकार को यण् = यकार करने पर—व्याघ्र। इस तरह व्याघ्रशब्द दो तरह के समास करने से निष्पन्न होता है। अब समासत्वात् प्रातिपदिकत्व के कारण इस से विभक्त्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में विभक्ति लाने से पूर्व ही लिङ्गव्यवस्था करनी उचित है। हमें व्याघ्र से स्त्रीत्व विवक्षित है अतः **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६९) सूत्र से जातिलक्षण ङीष् प्रत्यय लाने पर ङीष् के अनुबन्धों (ङकार और षकार) का लोप तथा **यचि भम्** (१६५) से भसञ्ज्ञा कर **यस्येति च** (२३६) से ईकार के परे रहते भसंज्ञक अकार का लोप करने से—व्याघ्र् + ई = व्याघ्री। पुनः ङयन्त होने से विभक्ति की विवक्षा में प्रथमा के एकवचन में सुँ ला कर **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुँतिस्यपृक्तं हल्** (१७९) से सकार का लोप करने पर 'व्याघ्री' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

'व्याघ्री' में 'घ्र' के साथ पहले आङ् का उपपदसमास (या गतिसमास) तथा बाद में 'आघ्र' के साथ 'वि' का गतिसमास किया गया है। दोनों समास प्रकृत परिभाषा के कारण कृदन्तों से सुँप् की उत्पत्ति से पूर्व ही किये गये हैं। यदि कृदन्तों से सुँबुत्पत्ति के बाद समास होता तो सुँबुत्पत्ति से पूर्व 'घ्र' कृदन्त से स्त्रीप्रत्यय करना पड़ता[2], तब 'घ्र' के जातिवाचक न होने से **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६९) द्वारा उस से जातिलक्षण ङीष् न हो कर **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से टाप् ही होता। इस तरह 'व्याघ्री' न बन कर 'व्याघ्रा' ही बनता जो अनिष्ट था। इस से बचने के लिये सुँबुत्पत्ति से पूर्व ही कृदन्तों के साथ गति और उपपद का समास विधान किया गया है।

---

१. अथवा—यहां **कु-गति-प्रादयः** (९४९) से ही गतिसमास हो जाता है।

२. क्योंकि विभक्ति लाने से पूर्व लिङ्ग और संख्या का निश्चित हो जाना आवश्यक हुआ करता है।

द्वितीय उदाहरण (कारक का कृदन्त के साथ) यथा—

डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये (क्र्या० उभय०) धातु से भूतकाल में कर्म में **निष्ठा** (८१५) सूत्रद्वारा कृत्संज्ञक क्तप्रत्यय करने पर अनुबन्धों का लोप, इट्निषेध तथा क्त के कित्त्व के कारण आर्धधातुकगुण (३८८) का भी **क्क्ङिति च** (४३३) से निषेध हो कर 'क्रीत' यह कृदन्त शब्द निष्पन्न होता है। अब तृतीयान्त के साथ 'क्रीत' का समास करते हैं। लौकिकविग्रह—अश्वेन क्रीता अश्वक्रीती (घोड़े के द्वारा खरीदी गई भूमि, स्त्री आदि)। अलौकिकविग्रह—अश्व टा + क्रीत। 'अश्व टा' में करणकारक में तृतीया की गई है। इस करणतृतीयान्त पद का **कर्तृकरणे कृता बहुलम्** (९२६) सूत्रद्वारा 'क्रीत' इस कृदन्त के साथ **गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक्सुँबुत्पत्तेः** इस प्रकृत परिभाषा के अनुसार क्रीत से सुँबुत्पन्न होने से पहले ही विकल्प से तत्पुरुष-समास हो जाता है। समासपक्ष में समास की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर उस के अवयव सुँप् (टा) का **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् करने पर 'अश्वक्रीत' यह समस्त शब्द निष्पन्न होता है। पुनः **एकदेशविकृतमनन्यवत्** न्याय के अनुसार समास की प्रातिपदिकसंज्ञा के अक्षुण्ण रहने से विभक्त्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में विभक्ति लाने से पूर्व लिङ्ग की व्यवस्था करनी आवश्यक होती है। यहां हमें स्त्रीत्व विवक्षित है अतः **क्रीतात् करणपूर्वात्** (१२६४) सूत्रद्वारा ङीष् प्रत्यय हो कर अनुबन्धों (ङकार और षकार) का लोप तथा **यचि भम्** (१६५) से भसंज्ञा कर **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का भी लोप करने से—अश्वक्रीत् + ई = अश्वक्रीती। अब प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में 'सुँ' प्रत्यय ला कर **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुँतिस्यपृक्तं हल्** (१७९) से अपृक्त सकार का लोप करने से 'अश्वक्रीती' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यहां समास से पूर्व कृदन्त 'क्रीत' शब्द से यदि सुँप् आते तो उस से पूर्व स्त्रीप्रत्यय अवश्य कर्त्तव्य होता, तब स्त्रीत्व की विवक्षा में 'क्रीत' शब्द से **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से टाप् प्रत्यय ही होता, **क्रीतात्करणपूर्वात्** (१२६४) से ङीष् नहीं, क्योंकि तब वह अकेला 'क्रीत' था उस से पूर्व करणकारक जुड़ा नहीं था। इस प्रकार 'अश्व टा + क्रीता सुँ' इस अलौकिकविग्रह से 'अश्वक्रीता' बनता 'अश्वक्रीती' नहीं। अतः कारकों का भी कृदन्तों के साथ तभी समास हो जाता है जब कृदन्तों से अभी सुँप् की उत्पत्ति न हुई हो[1]। वरन् सुँब्विधान से पूर्व स्त्रीप्रत्ययों के अवश्यम्भावी होने से कई जगह उन के विधान में अन्तर पड़ सकता है।

तृतीय उदाहरण (उपपद का कृदन्त के साथ) यथा—

लौकिकविग्रह—कच्छेन पिबतीति कच्छपी (कच्छ के द्वारा पीने वाली)[2]।

---

१. परिभाषागत कारकांश में **कर्तृ-करणे कृता बहुलम्** (९२६) सूत्र में 'बहुलम्' ग्रहण के कारण इस परिभाषा को पाणिनिसम्मत कहा जाता है।

२. कच्छेन = मुखसम्पुटेन पिबतीति कच्छपी। यद्वा—कच्छम् आत्मनो मुखसम्पुटं

'कच्छ टा' इस सुँबन्त के उपपद रहते **पा पाने** (भ्वा० परस्मै०) धातु से **सुँपि स्थः** (३.२.४) के योगविभाग 'सुँपि' अंश के द्वारा 'क' प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप तथा **आतो लोप इटि च** (४८९) सूत्र से धातु के आकार का लोप करने से—कच्छ टा + प् अ = 'कच्छ टा + प' यह अलौकिकविग्रह स्थापित हुआ। यहां 'प' यह कृदन्त है। 'कच्छ टा' इस सुँबन्त उपपद का **गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुँबुत्पत्तेः** इस प्रकृत परिभाषा की सहायता से कृदन्त से सुँबुत्पत्ति होने से पूर्व ही 'प' कृदन्त के साथ **उपपदमतिङ्** (९५४) द्वारा नित्यतत्पुरुषसमास हो जाता है। समास में उपपद की उपसर्जनसंज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (टा) का लुक् करने पर 'कच्छप' यह समस्त शब्द निष्पन्न होता है। अब इस से विभक्ति लाने से पूर्व लिङ्ग की अवश्यकर्त्तव्यता में स्त्रीत्व की विवक्षा में **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६९) सूत्रद्वारा जातिलक्षण ङीष्, अनुबन्धों (ङकार और षकार) का लोप तथा पूर्व की भसंज्ञा कर **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का भी लोप करने से 'कच्छपी' बना। प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुँतिस्यपृक्तं हल्** (१७९) से अपृक्त सकार का लोप करने से 'कच्छपी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

यहां 'प' कृदन्त के साथ सुँबुत्पत्ति से पूर्व यदि समास न करते तो 'प' से विभक्ति लाने से पूर्व स्त्रीप्रत्यय लाना पड़ता। तब 'प' के जातिवाचक न होने से **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६९) द्वारा ङीष् न होकर **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से टाप् ही होता। इस तरह 'कच्छपी' न बन कर 'कच्छपा' ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता। अतः इसे रोकने के लिये उपपद का कृदन्त के साथ सुँबुत्पत्ति से पूर्व ही समास का विधान किया है। आचार्य पाणिनि ने इसी बात को द्योतित करने के लिये **उपपदमतिङ्** (९५४) में 'अतिङ्' का ग्रहण किया है।

अब तत्पुरुषसमास के कुछ समासान्त प्रत्ययों का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(९५५) तत्पुरुषस्याऽङ्गुलेः संख्याऽव्ययादेः।** ५।४।८६॥

संख्याऽव्ययादेरङ्गुल्यन्तस्य (तत्पुरुषस्य) समासान्तोऽच् स्यात्। द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य द्व्यङ्गुलम्। निर्गतमङ्गुलिभ्यः—निरङ्गुलम्॥

पाति = रक्षतीति कच्छपी। सा हि किञ्चिद् दृष्ट्वा स्वशरीरे एव मुखसम्पुटं प्रवेशयतीति भावः। अथवा—कच्छेन कटाहेन (पृष्ठरूपेण) इतराणि अङ्गानि पाति = रक्षतीति। शब्दस्यास्य निर्वचनं विशेषबुभुत्सुभिर्यास्कप्रणीतनिरुक्ते (४.३) द्रष्टव्यम्।

अर्थः— संख्यावाचक शब्द या अव्ययशब्द जिस के आदि में तथा अङ्गुलिशब्द जिस के अन्त में हो, ऐसे तत्पुरुषसमास का अन्तावयव अच् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तत्पुरुषस्य ।६।१। अङ्गुलेः ।६।१। संख्याऽव्ययादेः ।६।१। अच् ।१।१। (अच् प्रत्यन्ववपूर्वात् सामलोम्नः से) । समासान्ताः, प्रत्ययः, परश्च—ये सब पूर्व से अधिकृत हैं । 'अङ्गुलेः' यह 'तत्पुरुषस्य' का विशेषण है । येन विधिस्तदन्तस्य (१.१.७१) सूत्रद्वारा विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'अङ्गुल्यन्तस्य तत्पुरुषस्य' बन जाता है । 'संख्याऽव्ययादेः' यह भी 'तत्पुरुषस्य' के साथ अन्वित होता है । संख्या च अव्ययं च संख्याव्ययम्, संख्याव्ययम् आदि यस्य सः=संख्याव्ययादिः, तस्य=संख्याव्ययादेः, द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(संख्याऽव्ययादेः) संख्या या अव्यय जिस का आद्यवयव हो तथा (अङ्गुलेः=अङ्गुल्यन्तस्य) अङ्गुलि शब्द जिस के अन्त में स्थित हो ऐसे (तत्पुरुषस्य) तत्पुरुष (समासस्य) समास का (अन्तः) अन्तावयव (अच्) अच् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है । अच् प्रत्यय का चकार हलन्त्यम् (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'अ' मात्र शेष रहता है । इस का चित्करण स्वरार्थ है । प्रत्ययः (१२०) परश्च (१२१) अधिकारों के कारण अच् प्रत्यय तत्पुरुष से परे होता है पर समासान्ताः (५.४.६८) अधिकार के कारण उस से परे होता हुआ भी यह तत्पुरुष-समास का अन्त अर्थात् अन्तावयव समझा जाता है, उस से भिन्न नहीं । किञ्च तद्धिताः (९१६) अधिकार के कारण यह तद्धितसञ्ज्ञक भी होता है । उदाहरण यथा—

(१) संख्यापूर्व अङ्गुल्यन्त तत्पुरुष से अच् यथा—

लौकिकविग्रह—द्वे[1] अङ्गुली प्रमाणमस्य—द्व्यङ्गुलं दार्वादिकम् (दो अङ्गुल प्रमाण वाली दारु=लकड़ी आदि कोई वस्तु)। यहां प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः (११६८) सूत्रद्वारा 'इस परिमाण वाला' अर्थ में तद्धितसंज्ञक मात्रच् प्रत्यय की विवक्षा में प्रत्यय करने से पूर्व ही तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च (९३६) सूत्र से 'द्वि औ+अङ्गुलि औ' इस अलौकिकविग्रह में समास हो जाता है । प्रथमानिर्दिष्ट होने से संख्या-वाचक की उपसर्जनसंज्ञा हो कर उस का पूर्वनिपात हो जाता है । यह समास तत्पुरुषः (९२२) द्वारा तत्पुरुषसंज्ञक तथा संख्यापूर्वो द्विगुः (९४१) से द्विगुसंज्ञक भी है । अब समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (दोनों 'औ' प्रत्ययों) का सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः (७२१) से लुक् एवम् इको यणचि (१५) से इकार को यण्-यकार करने पर—द्व्यङ्गुलि । इस तत्पुरुष के आदि में संख्यावाचक 'द्वि' शब्द स्थित है तथा अन्त में 'अङ्गुलि' शब्द विद्यमान है अतः प्रकृत तत्पुरुषस्याऽङ्गुलेः सङ्ख्याऽव्ययादेः (९५५) सूत्रद्वारा समासान्त अच् प्रत्यय करने पर 'द्व्यङ्गुलि अ' इस स्थिति में यचि भम् (१६५) से पूर्व की भसंज्ञा तथा यस्येति च (२३६) से तद्धित अच् प्रत्यय के परे

---

१. ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम् (५१) इति प्रगृह्यत्वात् प्रकृतिभावेन सन्ध्यभावोऽत्र बोध्यः ।

रहते भसंज्ञक इकार का लोप हो कर द्व्यङ्गुल्+अ='द्व्यङ्गुल' यह समस्त शब्द निष्पन्न होता है। पुनः 'सुँ' प्रत्यय ला कर इसे प्रथमान्त समर्थ बना कर इस से पूर्वोक्त तद्धित प्रत्यय 'मात्रच्' करने पर तद्धितान्त की प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक् तथा **प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम्** (वा०) वार्त्तिक से मात्रच् का भी लुक् हो जाता है—द्व्यङ्गुल। विशेष्य (दारु) के अनुसार नपुंसक में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर **अतोऽम्** (२३४) द्वारा उसे अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'द्व्यङ्गुलम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]।

इसीप्रकार—तिस्रोऽङ्गुलयः प्रमाणमस्य—त्र्यङ्गुलम्। चतस्रोऽङ्गुलयः प्रमाणमस्य—चतुरङ्गुलम्। इत्यादि प्रयोग जानने चाहियें।

(२) अव्ययपूर्व अङ्गुल्यन्त तत्पुरुष से अच् यथा—

लौकिकविग्रह—निर्गतम् अङ्गुलिभ्यः—निरङ्गुलम् (अङ्गुलियों से निकला या गिरा हुआ अङ्गुलीयक=अङ्गूठी आदि भूषण या कोई अन्य द्रव्य)। अलौकिकविग्रह—निर्+अङ्गुलि भ्यस्। यहां **निरादयः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या** (वा० ६२) इस वार्त्तिकद्वारा निष्क्रान्त अर्थ में वर्त्तमान 'निर्' निपात (अव्यय) का 'अङ्गुलि भ्यस्' इस पञ्चम्यन्त सुँबन्त के साथ नित्यतत्पुरुषसमास हो जाता है। समासविधान में प्रथमानिर्दिष्ट होने से 'निर्' की उपसर्जनसञ्ज्ञा, उस का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (भ्यस्) का लुक् करने पर—'निरङ्गुलि' बना। इस तत्पुरुष के आदि मे अव्ययसञ्ज्ञक 'निर्' तथा अन्त में 'अङ्गुलि' शब्द स्थित है अतः प्रकृत **तत्पुरुषस्याऽङ्गुलेः संख्याऽव्ययादेः** (९५५) सूत्रद्वारा समासान्त अच् प्रत्यय हो कर—निरङ्गुलि+अ। भसञ्ज्ञा हो कर **यस्येति च** (२३६) से तद्धित अच् प्रत्यय के परे रहते भसञ्ज्ञक इकार का लोप करने पर—निरङ्गुल्+अ=निरङ्गुल। अब **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) से परवल्लिङ्गता (अङ्गुलिशब्द स्त्रीलिङ्ग है अतः स्त्रीलिङ्गता) प्राप्त होने पर **द्विगु-प्राप्ताऽऽपन्नाऽलम्पूर्व-गति-समासेषु प्रतिषेधो वाच्यः** (वा० ६३) वार्त्तिक से उस का निषेध हो कर विशेष्य (अङ्गुलीयकम् आदि) के अनुसार नपुंसक के प्रथमैकवचन में सुँ को अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'निरङ्गुलम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—अतिक्रान्तम् अङ्गुलिम्—अत्यङ्गुलम् आदि प्रयोग जानने चाहियें।

---

१. द्वयोरङ्गुल्योः समाहारः—द्व्यङ्गुलम्। इस प्रकार समाहार अर्थ में भी **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३६) सूत्रद्वारा समास एवं प्रकृतसूत्र से समासान्त अच् प्रत्यय करने पर यही प्रयोग सिद्ध हो सकता है। समाहारद्विगु नपुंसक तथा एकवचनान्त हुआ करता है—यह पीछे (९४२, ९४३) सूत्रों पर स्पष्ट किया जा चुका है।

यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि तत्पुरुषसमास से ही प्रकृतसूत्रद्वारा समासान्त अच् का विधान किया गया है अन्य समासों से नहीं। अतएव 'पञ्च अङ्गुलयो यस्य स पञ्चाङ्गुलिः' यहां बहुव्रीहिसमास में यह समासान्त प्रत्यय नहीं होता।

अब एक अन्य सूत्र के द्वारा समासान्त अच् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९५६) **अहःसर्वैकदेश-सङ्ख्यात-पुण्याच्च रात्रेः ।५।४।८७।।**

एभ्यो रात्रेरच् स्यात्, चात् संख्याऽव्ययादेः। अहर्ग्रहणं द्वन्द्वार्थम् ।।

अर्थः—अहन्, सर्व, एकदेशवाचक, संख्यात और पुण्य—इन शब्दों से परे एवं 'च' ग्रहण के कारण पूर्वसूत्रोक्त संख्यावाचक और अव्यय शब्दों से परे भी जो रात्रि-शब्द, तदन्त तत्पुरुषसमास से परे समासान्त अच् प्रत्यय हो। **अहर्ग्रहणं द्वन्द्वार्थम्**—यहां 'अहन्' का ग्रहण द्वन्द्वसमास के लिये है (तत्पुरुष के लिये नहीं)।

व्याख्या—अहःसर्वैकदेश-सङ्ख्यात-पुण्यात् ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। रात्रेः ।६।१। तत्पुरुषस्य ।६।१। (**तत्पुरुषस्याऽङ्गुलेः संख्याऽव्ययादेः** से) अच् ।१।१। (**अच् प्रत्यन्ववपूर्वात् सामलोम्नः** से)। **प्रत्ययः, परश्च, समासान्ताः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। अहश्च सर्वश्च एकदेशश्च संख्यातश्च पुण्यश्च एषां समाहारः—अहःसर्वैकदेशसंख्यात-पुण्यम्, तस्मात् = अहःसर्वैकदेशसङ्ख्यातपुण्यात्, समाहारद्वन्द्वः। 'च' ग्रहण के कारण पिछले सूत्र से 'सङ्ख्याऽव्ययादेः' पद का भी अनुवर्त्तन होता है। 'एकदेश' से एक-देश (अवयव) के वाचक पूर्व, पर आदि (९३२) सूत्रोक्त शब्दों का ग्रहण विवक्षित है। 'रात्रेः' यह षष्ठ्यन्त पद 'तत्पुरुषस्य' का विशेषण है, अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'रात्र्यन्तस्य तत्पुरुषस्य' उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(अहःसर्वैकदेशसंख्यात-पुण्यात्) अहन्, सर्व, एकदेशवाचक, संख्यात और पुण्य—इन शब्दों से परे (रात्रेः = रात्र्यन्तस्य) जो रात्रिशब्द, तदन्त (तत्पुरुषस्य) तत्पुरुष (समासस्य) समास का (अन्तः) अन्तावयव (अच्) अच् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है (च) किञ्च संख्यापूर्व और अव्ययपूर्व रात्र्यन्त तत्पुरुष से भी समासान्त अच् प्रत्यय हो जाता है। इस प्रकार—'अहन्, सर्व, एकदेशवाचक, संख्यात, पुण्य, संख्यावाचक और अव्यय—इन से परे जो रात्रिशब्द तदन्त तत्पुरुष से समासान्त अच् प्रत्यय हो जाता है' यह अर्थ यहां फलित होता है। परन्तु 'अहन्' से परे 'रात्रि' का तत्पुरुषसमास मुख्यरीत्या सम्भव नहीं अतः इस से परे 'रात्रि' के द्वन्द्वसमास में ही प्रकृतसूत्र से समासान्त हो जाता है[1], अन्यत्र तत्पुरुष में ही। अब इन के क्रमशः उदाहरण प्रदर्शित करते हैं—

---

१. परन्तु प्रक्रियासर्वस्वकार नारायणभट्ट यहां पर भी तत्पुरुषसमास का उदाहरण प्रदर्शित करते हैं। अहःसहिता रात्रिः—अहोरात्रः, शाकपार्थिवादित्वात् तत्पुरुषः। नागेशभट्ट आदि भाष्यमर्मविद् वैयाकरणों का कथन है कि **हेमन्तशिशिरावहोरात्रे च च्छन्दसि** (२.४.२८) आदि निर्देशों के कारण यहां द्वन्द्व से ही समासान्त अच् का विधान मानना चाहिये, तत्पुरुष से नहीं।

(१) अहन्पूर्व रात्र्यन्त द्वन्द्व से समासान्त अच् यथा—

लौकिकविग्रह—अहश्च रात्रिश्चानयोः समाहारः—अहोरात्रः (दिन और रात का समूह)। अलौकिकविग्रह—अहन् सुँ+रात्रि सुँ। यहां **चार्थे द्वन्द्वः** (९८५) से समाहार अर्थ में द्वन्द्वसमास[1], **अल्पाच्तरम्** (९८९) से अल्पतर अचों वाले 'अहन्' का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (दोनों सुँ प्रत्ययों) का लुक् करने से 'अहन्+रात्रि' बना। अब यहां अहन्पूर्व रात्र्यन्त द्वन्द्व होने के कारण प्रकृत **अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः** (९५६) सूत्रद्वारा समासान्त अच् प्रत्यय कर 'अहन् रात्रि अ' इस स्थिति में भसञ्ज्ञा हो अच् तद्धित के परे रहते रात्रिशब्द के भसंज्ञक इकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप करने पर—अहन् रात्र् अ='अहन्+रात्र'। पुनः **रूप-रात्रि-रथन्तरेषु रुँत्वं वाच्यम्** (वा०)[2] इस वार्त्तिक से अहन् के नकार को रुँ (र्) आदेश, **हशि च** (१०७) से रुँ के रेफ को उकार आदेश एवम् **आद् गुणः** (२७) से गुण एकादेश करने से 'अहोरात्र' यह समस्त शब्द निष्पन्न होता है। अब विभक्ति लाने से पूर्व समास के लिङ्ग का निर्णय करना आवश्यक है। **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) के अनुसार इस की परवल्लिङ्गता अर्थात् रात्रिशब्द के समान स्त्रीलिङ्गता होनी चाहिये। परन्तु इस का बाध कर **स नपुंसकम्** (९४३) सूत्र से नपुंसकत्व प्राप्त होता है। इस पर इस का भी अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९५७) **रात्राऽह्नाऽहाः पुंसि** ।२।४।२९॥

एतदन्तौ द्वन्द्वतत्पुरुषौ पुंस्येव। अहश्च रात्रिश्च—अहोरात्रः। सर्वरात्रः। (पूर्वरात्रः)। संख्यातरात्रः। (पुण्यरात्रः)॥

अर्थः—रात्र, अह्न और अह—ये शब्द जिस के अन्त में हों ऐसा द्वन्द्व और तत्पुरुष समास पुंलिङ्ग में ही प्रयुक्त होता है (अन्य लिङ्गों में नहीं)।

व्याख्या—रात्राऽह्नाऽहाः।१।३। पुंसि।७।१। द्वन्द्वतत्पुरुषौ।१।२। (**परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** से विभक्तिविपरिणामद्वारा)। रात्रश्च अह्नश्च अहश्च—रात्राह्नाहाः, इतरेतरद्वन्द्वः। यह 'द्वन्द्वतत्पुरुषौ' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर

---

१. ध्यान रहे कि यहां दिशावाची या संख्यावाची के न होने से **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३६) सूत्रद्वारा समाहार अर्थ में तत्पुरुषसमास नहीं हो सकता।

२. रूप, रात्रि और रथन्तर शब्दों के परे रहते अहन् के पदान्त नकार को रुँ आदेश हो—यह इस वार्त्तिक का तात्पर्य है। यदि यह वार्त्तिक न होता तो **रोऽसुँपि** (११०) द्वारा अहन् के नकार को रेफ आदेश हो जाता। तब रुँ का रेफ न होने से **हशि च** (१०७) द्वारा उत्व न हो सकता। अतः यह वार्त्तिक बनाया गया है। यह वार्त्तिक लघु-सिद्धान्त-कौमुदी में निर्दिष्ट नहीं, पर हम इस का उल्लेख इस व्याख्या के प्रथमभागस्थ **रोऽसुँपि** (११०) सूत्र पर कर चुके हैं।

'रात्राऽह्नाऽहान्तौ द्वन्द्वतत्पुरुषौ' बन जाता है। अर्थः—(रात्राऽह्नाऽहान्तौ) रात्रशब्दान्त, अह्नशब्दान्त तथा अहशब्दान्त (द्वन्द्वतत्पुरुषौ) द्वन्द्व और तत्पुरुषसमास (पुंसि) पुंलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं। पुंलिङ्ग में प्रयुक्त होने का तात्पर्य पुंलिङ्ग में ही प्रयुक्त होने से है।[1]

प्रकृत में 'अहोरात्र' यहां द्वन्द्वसमास के अन्त में 'रात्र' शब्द विद्यमान है अतः **रात्राह्नाहाः पुंसि** (९५७) सूत्रद्वारा इस का पुंलिङ्ग में ही प्रयोग होगा। इस तरह पुंलिङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर सकार को रुँत्व तथा रेफ को अवसान में विसर्ग आदेश करने पर 'अहोरात्रः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। ध्यान रहे कि यहां **जातिरप्राणिनाम्** (२.४.६) से एकवद्भाव हुआ है। यदि इतरेतर-द्वन्द्व अभिप्रेत हो तो द्विवचन और बहुवचन भी आ सकते हैं। यथा—**षष्टिश्च ह वै**

१. इस सूत्र में प्रतिपादित रात्रशब्दान्त के उदाहरण तो आगे मूल में दिये ही गये हैं। परन्तु 'अह्न' और 'अह' शब्दान्तों के उदाहरण नहीं दिये गये। वे इस प्रकार जानने चाहियें—

अह्नशब्दान्त का उदाहरण यथा—

अह्नः पूर्वम्—पूर्वाह्णः (दिन का पूर्व भाग)। यहां **पूर्वाऽपराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे**(९३२) सूत्रद्वारा एकदेशिसमास, सुँब्लुक्, पूर्वशब्द का पूर्वनिपात तथा **राजाहःसखिभ्यष्टच्** (९५८) से समासान्त टच् (अ) होकर 'पूर्व अहन्+अ' इस स्थिति में **अह्नोऽह्न एतेभ्यः** (५.४.८८) से 'अहन्' के स्थान पर 'अह्न' आदेश, एवं **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर सवर्णदीर्घ करने से **रात्राह्नाहाः पुंसि** (९५७) से पुंलिङ्ग में 'पूर्वाह्णः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यहां **अह्नोऽदन्तात्** (८.४.७) सूत्रद्वारा णत्व होता है। इसीप्रकार—अपराह्णः, उत्तराह्णः आदि की प्रक्रिया समझनी चाहिये।

अहशब्दान्त का उदाहरण यथा

द्वयोरह्नोः समाहारः—द्व्यहः (दो दिनों का समूह)। यहां **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३९) सूत्र से समाहार अर्थ में द्विगुसमास, संख्यावाचक का पूर्वनिपात, सुँब्लुक् तथा **राजाहःसखिभ्यष्टच्** (९५८) से समासान्त टच् (अ) हो कर—द्वि अहन् अ। **अह्नोऽह्न एतेभ्यः** (५.४.८८) से अहन् के स्थान पर 'अह्न' आदेश प्राप्त होता है परन्तु **न संख्यादेः समाहारे** (५.४.८९) से उस का निषेध हो जाता है। अब **अह्नष्टखोरेव** (६.४.१४५) इस नियम के अनुसार टच् के परे रहते अहन् की टि (अन्) का लोप हो—द्वि अह् अ। पुनः **इको यणचि** (१५) से यण् कर प्रकृत **रात्राह्नाहाः पुंसि** (९५७) से पुंलिङ्ग में 'द्व्यहः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसी-प्रकार—त्रयाणाम् अह्नां समाहारः—त्र्यहः, इत्यादि प्रयोगों की प्रक्रिया समझनी चाहिये।

त्रीणि च शतानि संवत्सरस्याहोरात्राः (ऐतरेयब्राह्मण ३.१२)। रात्रान्त के पुंलिङ्ग होने का नियम है, समाहार का नहीं। अतः इतरेतरद्वन्द्व में भी पुंलिङ्ग हुआ है।[1]

अब पिछले सूत्र के अन्य उदाहरण दर्शाते हैं।

(२) सर्वपूर्व रात्र्यन्त तत्पुरुष से समासान्त अच् यथा—

लौकिकविग्रह—सर्वा चासौ रात्रिः—सर्वरात्रः (सारी रात)। अलौकिकविग्रह —सर्वा सुँ+रात्रि सुँ। यहां **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** (९४४) अथवा **पूर्वकालैक-सर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन** (२.१.४८) सूत्रद्वारा 'सर्वा सुँ' का 'रात्रि सुँ' इस समानाधिकरण के साथ वैकल्पिक तत्पुरुषसमास, विशेषण (सर्वा) का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक् तथा **सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः** (वा० ५५) वार्त्तिकद्वारा 'सर्वा' को पुंवद्भाव से 'सर्व' करने पर 'सर्वरात्रि' बना। यहां सर्वशब्द से परे रात्र्यन्त तत्पुरुष समास है अतः **अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः** (९५६) सूत्र से समासान्त अच् (अ) प्रत्यय करने से 'सर्वरात्रि+अ' इस स्थिति में भसञ्ज्ञा कर **यस्येति च** (२३६) द्वारा 'रात्रि' के भसञ्ज्ञक इकार का लोप कर देने से 'सर्वरात्र' यह समस्त शब्द निष्पन्न होता है। अब **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) से प्राप्त परवल्लिङ्गता का बाध कर **रात्राह्नाहाः पुंसि** (९५७) सूत्र से पुंलिङ्ग की कर्त्तव्यता में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर 'सर्वरात्रः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

(३) एकदेशपूर्व रात्र्यन्त तत्पुरुष से समासान्त अच् यथा—

लौकिकविग्रह—पूर्वं रात्रेः—पूर्वरात्रः (रात्रि का पहला भाग)। अलौकिक-विग्रह—पूर्व सुँ+रात्रि ङस्। यहां **पूर्वाऽपराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे** (९३२) सूत्र से 'पूर्व सुँ' इस अवयववचन का 'रात्रि ङस्' इस अवयवी के साथ विकल्प से तत्पुरुष-समास हो जाता है। समास में प्रथमानिर्दिष्ट पूर्वशब्द की उपसर्जनसञ्ज्ञा, उपसर्जन का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से उस के अवयव सुँपों (सुँ और ङस्) का लुक् करने पर 'पूर्वरात्रि' बना। इस तत्पुरुष-समास में एकदेशवाचक पूर्वशब्द से परे 'रात्रि' शब्द विद्यमान है, अतः **अहःसर्वैकदेश-संख्यातपुण्याच्च रात्रेः** (९५६) सूत्र से समासान्त अच् (अ) प्रत्यय कर **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक इकार का लोप करने से 'पूर्वरात्र' यह समस्त शब्द निष्पन्न होता है। परवल्लिङ्गता का बाध कर **रात्राह्नाहाः पुंसि** (९५७) से इस का पुंलिङ्ग में ही प्रयोग होता है। अतः प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर सकार को रुँत्व तथा रेफ को अवसान में विसर्ग आदेश करने से 'पूर्वरात्रः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार—'अपररात्रः, उत्तररात्रः' आदि प्रयोग जानने चाहियें।

---

१. **हेमन्तशिशिरावहोरात्रे च च्छन्दसि** (२.४.२८) सूत्रद्वारा वेद में 'अहोरात्र' शब्द में पूर्वलिङ्गता प्रतिपादित की गई है। यथा—**अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी** (ऋग्वेद १०.१९०.२)।

(४) संख्यातपूर्व रात्र्यन्त तत्पुरुष से समासान्त अच् यथा—

लौकिकविग्रह—संख्याता चासौ रात्रिश्च—संख्यातरात्रः (गिनी हुई रात)। अलौकिकविग्रह—संख्याता सुँ+रात्रि सुँ। यहां **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** (९४४) सूत्र से अथवा **पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन** (२.१.४८) सूत्र से तत्पुरुषसमास (कर्मधारय भी), प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, सुँब्लुक्, विशेषण का पूर्वनिपात तथा **पुंवत् कर्मधारय-जातीय-देशीयेषु** (६.३.४१)[1] सूत्रद्वारा 'संख्याता' को पुंवद्भाव से 'संख्यात' करने पर 'संख्यातरात्रि' बना। यहां 'संख्यात' से परे 'रात्रि' शब्द विद्यमान है अतः **अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः** (९५६) से समासान्त अच् (अ) प्रत्यय, **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक इकार का लोप तथा **रात्राह्नाहाः पुंसि** (९५७) से पुंलिङ्ग के प्रथमैकवचन में 'संख्यातरात्रः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

(५) पुण्यपूर्व रात्र्यन्त तत्पुरुष से समासान्त अच् यथा—

लौकिकविग्रह—पुण्या चासौ रात्रिश्च पुण्यरात्रः (शुभ या पवित्र रात्रि)। अलौकिकविग्रह—पुण्या सुँ+रात्रि सुँ। यहां भी पूर्ववत् **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** (९४४) से तत्पुरुषसमास, विशेषण का पूर्वनिपात, सुँब्लुक् तथा **पुंवत्कर्मधारयजातीय-देशीयेषु** (६.३.४१) से 'पुण्या' को पुंवद्भाव से 'पुण्य' हो कर 'पुण्यरात्रि' बना। यहां पुण्य से परे रात्रिशब्द विद्यमान है, अतः **अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः** (९५६) से समासान्त अच् (अ) प्रत्यय कर **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक इकार का लोप करने से—पुण्यरात्र। **रात्राह्नाहाः पुंसि** (९५७) से पुंलिङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में **सुँ प्रत्यय** ला कर 'पुण्यरात्रः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

(६) संख्यापूर्व रात्र्यन्त तत्पुरुष से समासान्त अच् यथा—

लौकिकविग्रह—द्वयो[2] रात्र्योः समाहारः—द्विरात्रम् (दो रात्रियों का समुदाय)। अलौकिकविग्रह—द्वि ओस्+रात्रि ओस्। यहां समाहार अर्थ में **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३६) से तत्पुरुषसमास, संख्यावाचक 'द्वि' का पूर्वनिपात, **संख्यापूर्वो द्विगुः** (९४१) से द्विगुसंज्ञा, प्रातिपदिकसंज्ञा तथा समासान्तर्गत सुँपों (दोनों ओस् प्रत्ययों) का लुक् करने पर—द्विरात्रि। यहां संख्या से परे 'रात्रि' शब्द विद्यमान है अतः **अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः** (९५६) द्वारा समासान्त अच् (अ) प्रत्यय, भसञ्ज्ञा तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक इकार का लोप करने पर—द्विरात्र् अ='द्विरात्र' यह समस्त शब्द निष्पन्न होता है। **रात्राह्नाहाः पुंसि** (९५७) से यहां पुंस्त्व के प्राप्त होने पर नपुंसकत्व का विधान करते हैं—

---

१. अर्थः—जिस से परे ऊङ्प्रत्यय न किया गया हो ऐसे भाषितपुंस्क स्त्रीलिङ्ग पूर्वपद को पुंवत् हो जाता है कर्मधारयसमास में अथवा जातीय या देशीय प्रत्ययों के परे रहते।

२. रेफे परे सति **रो रि** (१११) इति रेफलोपोऽत्र बोध्यः।

[लघु०] संख्यापूर्वं रात्रं क्लीबम् ॥

द्विरात्रम् । त्रिरात्रम् ॥

अर्थः—जिस के पूर्व में संख्यावाचक तथा अन्त में 'रात्र' शब्द हो तो वह समास नपुंसक में प्रयुक्त होता है ।

व्याख्या—यह वार्त्तिक नहीं अपितु कौमुदीकार का स्ववचन है। महाभाष्य आदि में यह वार्त्तिकरूप से कहीं नहीं पढ़ा गया। कौमुदीकार ने पाणिनीयलिङ्गानुशासन के नपुंसकाधिकार के अन्तर्गत **संख्यापूर्वा रात्रिः** (लिङ्गानु० सूत्र १३१) इस सूत्र के आधार पर इसे लिखा है। सूत्र का अर्थ है—संख्यापूर्व रात्र्यन्त तत्पुरुषसमास नपुंसक में प्रयुक्त होता है।

प्रकृत में 'द्विरात्र' शब्द के पूर्व में संख्या तथा अन्त में 'रात्र' शब्द विद्यमान है। इस तरह लिङ्गानुशासनीयसूत्र के अनुसार **रात्राह्नाहाः पुंसि** (९५७) से प्राप्त पुंस्त्व का बाध कर नपुंसक हो जायेगा। नपुंसक में प्रथमा के एकवचन में सुं को **अतोऽम्** (२३४) से अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'द्विरात्रम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसी प्रकार—तिसृणां रात्रीणां समाहारः—त्रिरात्रम् । चतसृणां रात्रीणां समाहारः—चतूरात्रम्[1] । नवानां रात्रीणां समाहारः—नवरात्रम् । इत्यादि प्रयोग समझने चाहियें ।

(७) अव्ययपूर्व रात्र्यन्त तत्पुरुष से समासान्त अच् यथा—

लौकिकविग्रह—रात्रिम् अतिक्रान्तः—अतिरात्रः (जो रात्रि को गुजार चुका है)। अलौकिकविग्रह—रात्रि अम्+अति । यहां **अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया** (वा० ५९) वार्त्तिक से नित्य प्रादितत्पुरुषसमास हो कर प्रथमानिर्दिष्ट 'अति' का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तथा प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (अम्) का लुक् करने से 'अतिरात्रि' बना। इस तत्पुरुषसमास में अव्यय से परे 'रात्रि' शब्द विद्यमान है, अतः **अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः** (९५६) द्वारा समासान्त अच् (अ) प्रत्यय, भसञ्ज्ञा तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक इकार का लोप कर **रात्राह्नाहाः पुंसि** (९५७) के अनुसार पुंस्त्व में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में 'अतिरात्रः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

---

१. 'त्रिरात्रम्, चतूरात्रम्' में तिसृ और चतसृ शब्दों को पुंवद्भाव से 'त्रि' और 'चतुर्' हो जाते हैं। 'चतूरात्रम्' में **रो रि** (१११) से रेफलोप हो कर **ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** (११२) सूत्रद्वारा पूर्व अण् (उकार) को दीर्घ हो जाता है।

समासान्त टच्

यहां पर **अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः** (६५६) सूत्र की व्याख्या समाप्त होती है।

अब तत्पुरुषसमास के एक अन्य सुप्रसिद्ध समासान्त टच् प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६५८) **राजाहःसखिभ्यष्टच्** ।५।४।६१॥

एतदन्तात् तत्पुरुषाट्टच् स्यात् (समासान्तः)। परमराजः॥

अर्थः—राजन्, अहन् (दिन) और सखि (मित्र)—ये शब्द जिस के अन्त में हों, ऐसे तत्पुरुषसमास से परे समासान्त टच् प्रत्यय हो।

व्याख्या—राजाहःसखिभ्यः ।५।३। टच् ।१।१। तत्पुरुषात् ।५।१। (**तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याऽव्ययादेः** से विभक्तिविपरिणामद्वारा)। **प्रत्ययः**, **परश्च**, **समासान्ताः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। राजा च अहश्च सखा च राजाहःसखायः, तेभ्यः=राजाहःसखिभ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः। यह 'तत्पुरुषात्' का विशेषण है, अतः इससे तदन्तविधि हो कर 'राजन्, अहन्, सखि—इत्येतदन्तात् तत्पुरुषात्' बन जाता है। **अर्थः**—(राजाहःसखिशब्दान्तात्) राजन्, अहन् और सखि—ये शब्द जिस के अन्त में हों ऐसे (तत्पुरुषात्) तत्पुरुषसमास से (परः) परे (टच् प्रत्ययः) टच् प्रत्यय हो जाता है और वह (समासान्तः) समास का अन्तावयव होता है। टच् प्रत्यय में टकार की **चुटू** (१२६) सूत्रद्वारा तथा चकार की **हलन्त्यम्** (१) सूत्रद्वारा इत्संज्ञा हो कर लोप हो जाता है, 'अ' मात्र शेष रहता है। टकार अनुबन्ध स्त्रीत्व की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र से ङीप् प्रत्यय करने के लिये एवं चकार अनुबन्ध अन्तोदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है।

राजन्शब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त टच् यथा—

लौकिकविग्रह—परमश्चासौ राजा—परमराजः (उत्तम या श्रेष्ठ राजा)। अलौकिकविग्रह—परम सुँ+राजन् सुँ। यहां **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** (६४४) सूत्रद्वारा अथवा **सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः** (२.१.६०) सूत्रद्वारा तत्पुरुषसमास हो कर 'परम' शब्द का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा प्रातिपदिक के अवयव सुँपों दोनों (सुँप्रत्ययों) का लुक् करने पर 'परमराजन्' हुआ। इस तत्पुरुष के अन्त में राजन्शब्द विद्यमान है, अतः प्रकृत **राजाहःसखिभ्यष्टच्** (६५८) सूत्र से समासान्त टच् हो कर अनुबन्धों का लोप करने से—परमराजन्+अ। अब **यचि भम्** (१६५) से भसंज्ञा एवं **नस्तद्धिते** (६१६) से भसञ्ज्ञक टि (अन्) का लोप हो कर—परमराज्+अ=परमराज। तत्पुरुषसमास में **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (६६२) के अनुसार परवल्लिङ्गता के कारण यहां राजन्शब्दवत् पुंलिङ्ग का प्रयोग होगा। प्रथमा के एकवचन में सुँप्रत्यय ला कर सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने पर 'परमराजः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। ध्यान रहे कि 'परमराज' शब्द अब अकारान्त हो गया है नकारान्त नहीं रहा, अतः इस की सुँबन्तप्रक्रिया रामशब्दवत् होती है।

राजन्शब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त टच् का दूसरा उदाहरण यथा—

समासान्त टच्

लौकिकविग्रह—महांश्चासौ राजा—महाराजः (महान् राजा)। अलौकिकविग्रह—महत् सुँ + राजन् सुँ। यहां **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** (९४४) सूत्रद्वारा अथवा **सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः** (२.१.६०) सूत्रद्वारा तत्पुरुषसमास होकर प्रथमा-निर्दिष्ट 'परम' शब्द का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँपों (दोनों सुँ प्रत्ययों) का लुक् करने पर—महत् + राजन्। अब यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(९५९) आन्महतः समानाधिकरण-जातीययोः ।६।३।४५॥**

महत आकारोऽन्तादेशः स्यात् समानाधिकरणे उत्तरपदे जातीये च परे। महाराजः। प्रकारवचने जातीयर् (५.३.६९)—महाप्रकारो महाजातीयः॥

अर्थः—समानाधिकरण उत्तरपद परे हो या जातीयर् प्रत्यय परे हो तो महत् शब्द को आकार अन्तादेश हो।

व्याख्या—आत् ।१।१। महतः ।६।१। समानाधिकरणजातीययोः ।७।२। उत्तरपदे ।७।१। (**अलुगुत्तरपदे** से)। समानाधिकरणं च जातीयश्च समानाधिकरणजातीयौ, तयोः=समानाधिकरणजातीययोः, इतरेतरद्वन्द्वः। 'उत्तरपदे' का अन्वय 'समानाधिकरणे' अंश के साथ ही सम्भव है, जातीय के साथ नहीं। क्योंकि जातीय (जातीयर्) तो एक प्रत्यय है उत्तरपद नहीं। **अर्थः**—(महतः) महत् शब्द के स्थान पर (आत्) आकार आदेश हो जाता है (समानाधिकरणे उत्तरपदे जातीये च) समानाधिकरण उत्तरपद परे हो या जातीयर् प्रत्यय परे हो। 'महत्' को विधान किया गया यह आकार आदेश **अलोऽन्त्यस्य** (२१) द्वारा अन्त्य अल् अर्थात् महत् के तकार के स्थान पर ही होता है अन्य किसी को नहीं। उदाहरण यथा—

पूर्वोक्त 'महत् + राजन्' इस तत्पुरुषसमास में दोनों पदों का अधिकरण (वाच्य) समान है अर्थात् दोनों एक ही द्रव्य को कह रहे हैं। अतः **आन्महतः समानाधिकरण-जातीययोः** (९५९) इस प्रकृतसूत्र के द्वारा समानाधिकरण उत्तरपद (राजन्) शब्द के परे रहते महत् के तकार को आकार आदेश होकर—मह आ + राजन्। **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ करने पर—महाराजन्। अब **राजाहःसखिभ्यष्टच्** (९५८) सूत्र से समासान्त टच् (अ) प्रत्यय करने पर पूर्ववत् भसंज्ञा तथा **नस्तद्धिते** (९१९) से भसञ्ज्ञक टि (अन्) का लोप होकर—महाराज् अ = महाराज। **परवल्लिङ्गं द्वन्द्व-तत्पुरुषयोः** (९६२) से परवल्लिङ्गता के कारण पुंस्त्व में विभक्तिकार्य करने पर 'महाराजः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]।

---

१. उत्तरपद परे रहते कुछ अन्य उदाहरण यथा—
महांश्चासौ देवः—महादेवः। महांश्चासौ कृपणः—महाकृपणः। महान्तौ बाहू यस्य

जातीयर् प्रत्यय के परे रहते भी महत् के तकार को आकार आदेश करने का प्रकृतसूत्र में विधान है । इसे उदाहरणद्वारा समझाने के लिये सर्वप्रथम जातीयर् प्रत्यय का विधायकसूत्र निर्दिष्ट करते हैं—**प्रकारवचने जातीयर्** (५.३.६९)। प्रकारविशिष्ट प्रातिपदिक से स्वार्थ में तद्धितसंज्ञक जातीयर् प्रत्यय हो—यह इस सूत्र का अर्थ है। जातीयर् में रेफ इत्सञ्ज्ञक है 'जातीय' ही शेष रहता है । उदाहरण यथा—मृदुप्रकारः =मृदुजातीयः (मृदुत्वविशिष्ट), पटुजातीयः (पटुत्वविशिष्ट), बालिशजातीयः (मूर्खत्व-विशिष्ट)। इसी प्रकार प्रकारविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'महत्' शब्द से स्वार्थ में जातीयर् प्रत्यय करने पर उस के परे रहते **आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः** (९५९) इस प्रकृतसूत्रद्वारा महत् के तकार को आकार आदेश एवम् **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ कर विभक्ति लाने से 'महाजातीयः' (महत्त्वविशिष्ट) प्रयोग सिद्ध हो जाता है । ध्यान रहे कि यह समास नहीं तद्धितप्रत्यय का उदाहरण है, प्रसङ्गवश इसे यहां ग्रन्थकार ने निर्दिष्ट किया है ।

राजाहःसखिभ्यष्टच् (९५८) सूत्रस्थ राजन्शब्दान्त तत्पुरुष के उदाहरण तो मूल में दे दिये गये हैं, अन्य दो के उदाहरण यहां दर्शा रहे हैं—

अहन्शब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त टच् यथा—

लौकिकविग्रह—उत्तमं च तद् अहः—उत्तमाहः (उत्तम दिन)। अलौकिकविग्रह—उत्तम सुँ+अहन् सुँ । यहां **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** (९४४) सूत्रद्वारा अथवा **सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः** (२.१.६०) सूत्र से तत्पुरुषसमास, प्रथमानिर्दिष्ट उत्तमशब्द का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (दोनों सुँ प्रत्ययों) का लुक्, सवर्णदीर्घ—उत्तमाहन् । पुनः अहन्शब्दान्त तत्पुरुष होने के कारण **राजाहःसखिभ्यष्टच्** (९५८) से समासान्त टच् हो जाता है—उत्तमाहन्+अ । अब **अह्नष्टखोरेव** (६.४.१४५)[1] इस नियम का अनुसरण करते हुए **नस्तद्धिते** (९१९) द्वारा भसंज्ञक टि (अन्) का लोप करने पर—उत्तमाह्+अ=उत्तमाह । परवल्लिङ्गता का बाध कर **रात्राह्नाहाः पुंसि** (९५७) के अनुसार पुँलिङ्ग में विभक्तिकार्य करने पर 'उत्तमाहः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार—परमञ्च तदहः—परमाहः। पुण्यञ्च तदहः—पुण्याहः आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं।

सखिशब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त टच् यथा—

लौकिकविग्रह—राज्ञः सखा—राजसखः (राजा का मित्र)। अलौकिकविग्रह—

स महाबाहुः । महद् धनं यस्य स महाधनः । समानाधिकरण उत्तरपद के परे होने पर ही यह आत्व होता है, समास चाहे तत्पुरुष (कर्मधारय) हो या बहुव्रीहि । समानाधिकरण न होने से यह प्रवृत्त नहीं होता । यथा—महतां सेवा महत्सेवा, यहां आत्व नहीं हुआ ।

१. 'ट' अथवा 'ख' प्रत्यय के परे होने पर ही 'अह्न्' की टि का लोप होता है ।

राजन् ङस् + सखि सुँ । यहां **षष्ठी** (९३१) सूत्रद्वारा तत्पुरुषसमास, प्रथमानिर्दिष्ट षष्ठ्यन्त का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुँपों का लुक्, **राजाहःसखिभ्यष्टच्** (९५८) से समासान्त टच्, भसञ्ज्ञा कर **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक इकार का लोप एवं **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से नकार का भी लोप करने से—राजसख । **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) से परवल्लिङ्गता के कारण पुंस्त्व में विभक्तिकार्य करने पर—राजसखः, राजसखौ, राजसखाः आदि राम-शब्दवत् प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। इसीप्रकार—कृष्णस्य सखा कृष्णसखः, विबुधानां (देवानाम्) सखा विबुधसखः[1] ।

आकार अन्तादेश के प्रसङ्ग में एक अन्य उपयोगी सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९६०) **द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्य-शीत्योः । ६।३।४६॥**

आत् स्यात् । द्वौ च दश च द्वादश । (अष्टौ च दश च अष्टादश) । अष्टाविंशतिः ॥

अर्थः—'द्वि' और 'अष्टन्' शब्दों को आकार अन्तादेश हो संख्यावाचक उत्तर-पद परे हो तो । परन्तु बहुव्रीहिसमास में तथा 'अशीति' उत्तरपद परे होने पर यह कार्य न हो ।

व्याख्या—द्व्यष्टनः ।६।१। संख्यायाम् ।७।१। अबहुव्रीहि-अशीत्योः ।७।२। आत् ।१।१। (**आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः** से) । उत्तरपदे ।७।१। (**अलुगुत्तरपदे** से) । द्विश्च अष्ट च द्व्यष्ट, तस्मात् = द्व्यष्टनः, समाहारद्वन्द्वः । बहुव्रीहिश्च अशीतिश्च बहु-व्रीह्यशीती, तयोः = बहुव्रीह्यशीत्योः, इतरेतरद्वन्द्वः । न बहुव्रीह्यशीत्योः—अबहुव्रीह्य-शीत्योः, नञ्तत्पुरुषः । 'उत्तरपदे' का सम्बन्ध 'संख्यायाम्' तथा 'अशीत्याम्' के साथ ही सम्भव है, 'बहुव्रीहौ' के साथ नहीं । अर्थः—(द्व्यष्टनः) 'द्वि' और 'अष्टन्' शब्दों के स्थान पर (आत्) आकार आदेश हो जाता है (संख्यायाम् उत्तरपदे) संख्यावाचक उत्तर-पद परे हो तो । परन्तु यह कार्य (अबहुव्रीह्यशीत्योः) न तो बहुव्रीहिसमास में होता है और न ही 'अशीति' उत्तरपद परे रहते । **अलोऽन्त्यस्य** (२१) परिभाषा के कारण यह आत्व अन्त्य अल् के स्थान पर अर्थात् 'द्वि' के इकार तथा 'अष्टन्' के नकार के स्थान पर होता है ।

'द्वि' का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—द्वौ च दश च द्वादश (दो और दस अर्थात् बारह) । अलौकिक-विग्रह—द्वि औ + दशन् जस् । यहां **चार्थे द्वन्द्वः** (९८५) सूत्र से इतरेतरद्वन्द्वसमास

---

१. अभून्नृपो विबुधसखः परन्तपः श्रुतान्वितो दशरथ इत्युदाहृतः ।
गुणैर्वरं भुवनहितच्छलेन यं सनातनः पितरमुपागमत् स्वयम् ॥
(भट्टि० १.१)

प्रातिपदिकसंज्ञा, सुंपों ('औ' और 'जस्') का लुक् तथा **संख्याया: अल्पीयस्याः पूर्वनिपातो वक्तव्यः** (वा०) इस वार्त्तिक से छोटी संख्या 'द्वि' का पूर्वनिपात कर— द्विदशन् । यहां संख्याचक 'दशन्' शब्द उत्तरपद में है अत: प्रकृत **द्वचष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्यो:** (६६०) सूत्रद्वारा 'द्वि' के इकार को आकार अन्तादेश हो—द्वादशन् । अब समासत्वात् प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण स्वाद्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के बहुवचन की विवक्षा में जस् प्रत्यय ला कर **ष्णान्ता षट्** (२६७) से द्वादशन् की षट्संज्ञा तथा **षड्भ्यो लुक्** (१८८) से उस से परे जस् का लुक् कर **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) सूत्रद्वारा नकार का भी लोप कर देने से 'द्वादश' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[1]

इसी तरह—द्वाविंशतिः (बाईस), द्वात्रिंशत् (बत्तीस) । चत्वारिंशत् से नवति तक की संख्या परे हो तो यह आत्व विकल्प से होता है[2] । यथा—द्वाचत्वारिंशत्-द्विचत्वारिंशत्, द्वापञ्चाशत्-द्विपञ्चाशत्; द्वाषष्टिः-द्विषष्टिः; द्वासप्ततिः-द्विसप्ततिः । 'अशीति' में आत्व का निषेध कहा है— द्वयशीतिः । द्वानवतिः-द्विनवतिः । यहां यह भी स्मर्त्तव्य है कि यह आत्व **प्राक् शतादिति वक्तव्यम्** (वा०) वार्त्तिक से 'शत' से पहले पहले अर्थात् 'नवति' तक ही होता है इस से आगे नहीं । अतः द्वौ च शतं च द्विशतम् (एक सौ दो), द्वौ च सहस्रम् च द्विसहस्रम् (एक हजार दो) इत्यादियों में यह आत्व प्रवृत्त नहीं होता ।

'अष्टन्' का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—अष्टौ च दश च अष्टादश (आठ और दस अर्थात् अठारह) । अलौकिकविग्रह—अष्टन् जस् + दशन् जस् । **चार्थे द्वन्द्वः** (६८५) से इतरेतरद्वन्द्वसमास, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, सुंब्लुक् तथा **संख्याया अल्पीयस्याः पूर्वनिपातो वक्तव्यः** इस वार्त्तिक से अष्टन् का पूर्वनिपात हो कर—अष्टन्दशन् । यहां संख्यावाचक 'दशन्' शब्द उत्तरपद में विद्यमान है अत: प्रकृत **द्वचष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः** (६६०) सूत्र से अष्टन् के नकार को आकार आदेश तथा **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ कर पूर्ववत् विभक्तिकार्य करने से 'अष्टादश' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—अष्टौ च विंशतिश्च अष्टाविंशतिः (आठ और बीस अर्थात्

---

१. द्वयधिका दश द्वादश । इस प्रकार के विग्रह का अनुसरण कर **शाकपार्थिवादीनां सिद्धये उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्** (वा० ५७) इस वार्त्तिक के द्वारा तत्पुरुषसमास में 'अधिक' पद का लोप करने से भी यह रूप सिद्ध किया जा सकता है । इसी प्रकार—द्वाविंशतिः, अष्टादश, अष्टाविंशतिः, त्रयोदश आदि उदाहरणों में भी समझ लेना चाहिये ।

२. **विभाषा चत्वारिंशत्प्रभृतौ सर्वेषाम्** (६.३.४८) । अर्थः—द्वि और अष्टन् के आकार अन्तादेश तथा त्रि को त्रयस् आदेश—ये पूर्वोक्त कार्य चत्वारिंशत् आदि के परे रहते विकल्प से हुआ करते हैं ।

अठाईस)। अष्टौ च त्रिंशत् च अष्टात्रिंशत् (अठतीस)। **विभाषा चत्वारिंशत्प्रभृतौ सर्वेषाम्** (६.३.४८) सूत्रद्वारा चत्वारिंशत् से लेकर नवति तक की संख्याओं के परे रहते विकल्प से आत्व होता है। यथा—अष्टाचत्वारिंशत्—अष्टचत्वारिंशत्; अष्टापञ्चाशत्—अष्टपञ्चाशत् ; अष्टाषष्टिः—अष्टषष्टिः ; अष्टासप्ततिः—अष्टसप्ततिः ; अशीति में आत्व का निषेध है, नकार का लोप हो कर सवर्णदीर्घ हो जाता है—अष्टाशीतिः। अष्टानवतिः—अष्टनवतिः। यहां पर भी **प्राक् शतादिति वक्तव्यम्** (वा०) यह वार्तिक प्रवृत्त हो जाता है—अष्टौ च शतं च अष्टशतम् (एक सौ आठ), आत्व नहीं होता।

बहुव्रीहिसमास में यह सूत्र प्रवृत्त नहीं होता। यथा—द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः (दो या तीन)। यहां **संख्ययाऽव्ययाऽऽसन्नाऽदूराऽधिक-संख्याः संख्येये** (२.२.२५) सूत्र से बहुव्रीहिसमास हुआ है, अतः 'अबहुव्रीह्यशीत्योः' कथन के कारण प्रकृतसूत्र से 'द्वि' को आत्व अन्तादेश नहीं होता। इसीप्रकार 'अशीति' परे होने पर भी यह प्रवृत्त नहीं होता—द्व्यशीतिः (बियासी)।

संख्यावाचक उत्तरपद के परे रहते आदेश के इसी प्रसङ्ग में 'त्रि' के स्थान पर 'त्रयस्' आदेश का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९६१) त्रेस्त्रयः।६।३।४७॥[1]

[त्रिशब्दस्य त्रयस् इत्यादेशः स्यात् संख्यायामुत्तरपदे न तु बहुव्रीह्यशीत्योः]। त्रयोदश। त्रयोविंशतिः। त्रयस्त्रिंशत्॥

अर्थः—संख्यावाचक उत्तरपद के परे रहते 'त्रि' के स्थान पर 'त्रयस्' आदेश हो। परन्तु बहुव्रीहिसमास में अथवा 'अशीति' उत्तरपद के परे रहते यह आदेश न हो।

व्याख्या—त्रेः।६।१। त्रयः।१।१।[2] संख्यायाम्।७।१। अबहुव्रीह्यशीत्योः।७।२। (**द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः** से)। उत्तरपदे।७।१। (**अलुगुत्तरपदे** से)। यहां भी पदों की सङ्गति पूर्वसूत्रवत् समझनी चाहिये। **अर्थः**—(त्रेः) त्रिशब्द के स्थान पर

---

१. पहले भी **त्रेस्त्रयः** (१९२) सूत्र अजन्तपुंलिङ्ग प्रकरण में आ चुका है। दोनों सूत्र अष्टाध्यायी में भिन्न भिन्न स्थानों पर पढ़े गये हैं। अनुवृत्ति तथा प्रकरण की महिमा से दोनों सूत्रों का विषय तथा अर्थ भिन्न भिन्न है जो सदा ध्यान में रखना चाहिये।

२. यहां 'त्रय' शब्द नहीं अपितु 'त्रयस्' शब्द का 'तपः, मनः, यशः' आदि की तरह प्रथमैकवचनान्त प्रयोग है। 'त्रय' आदेश मानने से त्रयोविंशतिः, त्रयोदश आदि प्रयोग उपपन्न नहीं हो सकते। आचार्य पाणिनि ने सन्धिवेलादिगण (४.३.१६) में स्वयं 'त्रयोदशी' शब्द का प्रयोग किया है, तदनुसार त्रयस् आदेश ही माना जायेगा।

(त्रयः) 'त्रयस्' यह आदेश हो जाता है (संख्यायाम् उत्तरपदे) संख्यावाची उत्तरपद परे हो तो। परन्तु यह कार्य (अबहुव्रीह्यशीत्योः) न तो बहुव्रीहिसमास में और न ही 'अशीति' उत्तरपद के परे होने पर होता है। अनेकाल् होने से यह त्रयस् आदेश **अनेकाल्शित्सर्वस्य** (४५) सूत्र द्वारा 'त्रि' के स्थान पर सर्वादेश होता है। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—त्रयश्च दश च **त्रयोदश** (तीन और दस अर्थात् तेरह)। अलौकिकविग्रह—त्रि जस्+दशन् जस्। **चार्थे द्वन्द्वः** (९८५) से इतरेतरद्वन्द्वसमास, समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, सुँपों (दोनों जस् प्रत्ययों) का लुक् **संख्याया अल्पीयस्याः पूर्वनिपातो वक्तव्यः** (वा०) इस वार्त्तिक के अनुसार 'त्रि' का पूर्वनिपात करने पर—त्रिदशन्। अब यहां संख्यावाची 'दशन्' शब्द उत्तरपद में वर्त्तमान है अतः प्रकृत **त्रेस्त्रयः** (९९१) सूत्र से 'त्रि' को 'त्रयस्' सर्वादेश करने पर—त्रयस्दशन्। 'त्रि' के स्थान पर आदेश होने से स्थानिवद्भाव के कारण 'त्रयस्' पद है, इस का सकार पदान्त है, अतः **ससजुषो रुँः** (१०५) सूत्र से इसे रुँ आदेश, उकार अनुबन्ध का लोप, **हशि च** (१०७) से इस रेफ को उकार आदेश तथा **आद् गुणः** (२७) से अकार+उकार को ओकार गुण करने पर—त्रयोदशन्। प्रथमा के बहुवचन की विवक्षा में इस से परे जस् विभक्ति लाने पर **ष्णान्ता षट्** (२९७) से षट्संज्ञा, **षड्भ्यो लुक्** (१८८) से जस् का लुक् तथा **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) द्वारा अन्त्य नकार का भी लोप करने से 'त्रयोदश' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—त्रयश्च विंशतिश्च त्रयोविंशतिः (तीन और बीस अर्थात् तेईस)। त्रयश्च त्रिंशत् च त्रयस्त्रिंशत् (तीन और तीस अर्थात् तेंतीस)। यहां हश् परे नहीं अतः **हशि च** (१०७) से उत्व नहीं होता। **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (९३) सूत्र से रेफ को विसर्जनीय हो कर **विसर्जनीयस्य सः** (९६) द्वारा विसर्ग को सकार आदेश करने से 'त्रयस्त्रिंशत्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

प्राक् शतादिति वक्तव्यम् (वा०) इस वार्त्तिक के अनुसार यह आदेश 'नवति' से आगे के संख्यावाची उत्तरपद के परे होने पर नहीं होता। यथा—त्रयश्च शतं च त्रिशतम् (एक सौ तीन)। यहां त्रि को त्रयस् आदेश नहीं होता।

चत्वारिंशत् से नवति तक की संख्याओं के परे रहते **विभाषा चत्वारिंशत्प्रभृतौ सर्वेषाम्** (६.३.४८) द्वारा त्रि को विकल्प से त्रयस् आदेश होता है, पक्ष में 'त्रि' ही रहता है। यथा—त्रयश्च चत्वारिंशत् च त्रयश्चत्वारिंशत् त्रिचत्वारिंशद् वा। त्रयःपञ्चाशत्, त्रिपञ्चाशत्। त्रयःषष्टिः, त्रिषष्टिः। त्रयःसप्ततिः, त्रिसप्ततिः। त्रयोनवतिः, त्रिनवतिः। 'अशीति' में निषेध है—त्र्यशीतिः (तीन और अस्सी अर्थात् तिरासी)।

बहुव्रीहिसमास में इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। यथा—त्रयो वा चत्वारो वा त्रिचतुराः (तीन या चार)। यहां **संख्ययाऽव्ययाऽऽसन्नाऽदूराधिकसंख्याः संख्येये**

(२.२.२५) से बहुव्रीहिसमास हुआ है। अतः त्रेस्त्रयः (६६१) से त्रि को त्रयस् आदेश नहीं होता[1]।

अब तत्पुरुषसमास के लिङ्ग की व्यवस्थार्थ अग्रिम-सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६६२) परवल्लिङ्गं द्वन्द्व-तत्पुरुषयोः ।२।४।२६।।

एतयोः परपदस्येव लिङ्गं स्यात् । कुक्कुटमयूर्याविमे । मयूरीकुक्कुटाविमौ । अर्धपिप्पली ।।

अर्थः—द्वन्द्व तथा तत्पुरुषसमास का लिङ्ग उस समास के उत्तरपद के लिङ्ग के समान हो।

व्याख्या—परवत्—इत्यव्ययपदम् । लिङ्गम् ।१।१। द्वन्द्वतत्पुरुषयोः ।६।२। परस्येव—परवत्, **तत्र तस्येव** (११५२) इति षष्ठ्यन्ताद्वतिँप्रत्ययः । 'पर' से तात्पर्य तत्समासगत उत्तरपद से है। परवत्=उस समास के उत्तरपद के लिङ्ग की तरह। द्वन्द्वश्च तत्पुरुषश्च—द्वन्द्वतत्पुरुषौ, तयोः=द्वन्द्वतत्पुरुषयोः, इतरेतरद्वन्द्वः । यह षष्ठ्यन्त है सप्तम्यन्त नहीं। अर्थः—(द्वन्द्वतत्पुरुषयोः) द्वन्द्व और तत्पुरुष समास का (लिङ्गम्) लिङ्ग (परवत्) उत्तरपद के लिङ्ग के समान होता है। अर्थात् इन समासों में उत्तरपद का जो लिङ्ग होता है वही समास का लिङ्ग माना जाता है।

द्वन्द्व का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—कुक्कुटश्च मयूरी च—कुक्कुटमयूर्यौ (इमे), अथवा—मयूरीकुक्कुटौ (इमौ) [मुर्गा और मोरनी]। अलौकिकविग्रह—कुक्कुट सुँ + मयूरी सुँ । यहां **चार्थे द्वन्द्वः** (६८५) सूत्रद्वारा इतरेतरद्वन्द्वसमास हो कर सुँपों (दोनों सुँप्रत्ययों) का लुक् हो जाता है। इस में पूर्वनिपात के नियम का अभाव है अतः कुक्कुट या मयूरी किसी का भी पूर्वनिपात हो सकता है। प्रथम कुक्कुट का पूर्वनिपात किया तो 'कुक्कुटमयूरी' इस में उत्तरपद 'मयूरी' स्त्रीलिङ्ग है अतः **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (६६२) से समग्र द्वन्द्वसमास का भी लिङ्ग स्त्रीलिङ्ग माना जायेगा। प्रथमा के द्विवचन में 'औ' विभक्ति ला कर **दीर्घाज्जसि च** (१६२) से पूर्वसवर्णदीर्घ का निषेध हो कर **इको यणचि** (१५) से यण् किया तो 'कुक्कुटमयूर्यौ' प्रयोग सिद्ध हुआ। इस समास के स्त्रीत्व को प्रकट करने के लिये 'इमे' यह स्त्रीलिङ्गी प्रथमाद्विवचनान्त पद साथ में जोड़ा गया है। इसी द्वन्द्व में जब 'मयूरी' का पूर्वनिपात करेंगे तो उत्तरपद में 'कुक्कुट' शब्द पुंलिङ्ग होगा, तब परवल्लिङ्गता के कारण समास भी पुंलिङ्ग हो जायेगा। इसे विशेषणद्वारा

---

१. **बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात्** (५.४.७३) इति समासान्तं डचं बाधित्वा **त्र्युपाभ्यां चतुरोऽजिष्यते** (वा०) इति वार्त्तिकेन समासान्ते अच्प्रत्यये डित्त्वाभावात् **टेः** (२४२) इति टिलोपाभावे प्रथमाबहुवचने 'त्रिचतुराः' इति साधु।

प्रकट करने के लिये 'मयूरीकुक्कुटौ इमौ' इस प्रकार 'इमौ' पुंलिङ्ग का प्रयोग किया जायेगा ।[1]

तत्पुरुषसमास का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—अर्धं पिप्पल्याः—अर्धपिप्पली (पिप्पली अर्थात् पीपर का ठीक आधा भाग) । अलौकिकविग्रह—पिप्पली ङस्+अर्ध सुँ । यहां **अर्धं नपुंसकम्** (९३३) सूत्र से तत्पुरुषसमास किया जाता है । समास में प्रथमानिर्दिष्ट अर्धशब्द का पूर्वनिपात हो कर सुँब्लुक् करने से—अर्धपिप्पली । अर्धपिप्पली में उत्तरपद पिप्पली है जो स्त्रीलिङ्ग है अतः पूर्वपदप्रधान होने पर भी इस समास को **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) के अनुसार स्त्रीलिङ्ग माना जायेगा । इस से प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय लाने पर **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुँतिस्यपृक्तं हल्** (१७९) द्वारा अपृक्त सकार का लोप करने से 'अर्धपिप्पली' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[2] । इस के स्त्रीत्व के कारण ही—'इयमर्धपिप्पली गृहीता' इत्यादिप्रकारेण विशेषणों का योग हुआ करता है । इसी तरह 'कायस्य पूर्वम्—पूर्वकायः' आदि समासों में समझना चाहिये ।

वक्तव्य—राज्ञः पुरुषः—राजपुरुषः, राज्ञः सेना—राजसेना, चौराद् भयम् चौरभयम् इत्यादि तत्पुरुषसमासों में प्रायः उत्तरपद की प्रधानता हुआ करती है । उत्तरपद के प्रधान होने से उस का लिङ्ग तो समास में स्वयं सिद्ध है ही, पुनः तत्पुरुषसमास की परवल्लिङ्गता के विधान का क्या प्रयोजन ? इस शङ्का की निवृत्ति के लिये ग्रन्थकार तत्पुरुषसमास का ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जो उत्तरपदप्रधान नहीं । 'अर्धपिप्पली' में 'अर्धम्' इस पूर्वपद की प्रधानता है, जो नपुंसक है । अतः समास में इस के अनुसार लिङ्ग न हो जाये इस के लिये तत्पुरुष में परवल्लिङ्गता का विधान समझना चाहिये ।

अब तत्पुरुषसमास में परवल्लिङ्गता का कुछ स्थानों पर निषेध करते हैं—

[लघु०] वा०—(६३) द्विगु-प्राप्ताऽऽपन्नाऽलम्पूर्व-गतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः ॥

पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः—पञ्चकपालः पुरोडाशः ॥

अर्थः—द्विगुसमास में, एवं प्राप्त, आपन्न और अलम् पूर्ववाले तत्पुरुषसमासों में तथा गतिसमास में परवल्लिङ्गता का निषेध कहना चाहिये । अर्थात् इन में विशेष्यानुसार लिङ्ग होता है ।

---

१. ध्यान रहे कि यहां द्वन्द्व का उल्लेख केवल इतरेतरद्वन्द्व के लिये ही है । समाहारद्वन्द्व में तो **स नपुंसकम्** (९४३) सूत्रद्वारा इस का बाध हो कर नपुंसकत्व ही रहेगा ।

२. इस की सविस्तर सिद्धि पीछे **अर्धं नपुंसकम्** (९३३) सूत्र पर दर्शाई जा चुकी है वहीं देखें ।

व्याख्या—यह वार्त्तिक **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है, अतः यह निषेध तद्विषयक ही समझना चाहिये। इस वार्त्तिकद्वारा परवल्लिङ्गता का तीन स्थानों पर निषेध किया जाता है—

(१) द्विगुसमास यद्यपि तत्पुरुषसञ्ज्ञक है तथापि इस में परवल्लिङ्गता का निषेध हो कर विशेष्य के अनुसार लिङ्ग होता है।[1]

(२) प्राप्त, आपन्न और अलम्—इन तीनों में से कोई शब्द जब तत्पुरुषसमास का पूर्वपद हो तो परवल्लिङ्गता का निषेध हो कर विशेष्य के अनुसार लिङ्ग होता है।

(३) गतिसमास अर्थात् प्रादितत्पुरुषसमास में परवल्लिङ्गता का निषेध हो कर विशेष्य के अनुसार लिङ्ग होता है।[2]

सर्वप्रथम द्विगुसमास की विशेष्यलिङ्गता का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः—पञ्चकपालः पुरोडाशः (पाञ्च सकोरों में तैयार किया गया पुरोडाश=हविर्विशेष)। यहां **संस्कृतं भक्षाः** (१०४०) ='उस में तैयार किया भक्ष्य' इस तद्धितार्थ की विवक्षा में 'पञ्चन् सुप्+कपाल सुप्' इस अलौकिकविग्रह में **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३६) सूत्र से द्विगुसमास होकर संख्यावाचक का पूर्वनिपात, सुँब्लुक् तथा पञ्चन्शब्द के पदान्त नकार का **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से लोप करने पर—पञ्चकपाल। अब सप्तमी का बहुवचन ला कर 'पञ्चकपाल सुप्' इस सप्तम्यन्त से **संस्कृतं भक्षाः** (१०४०) सूत्रद्वारा तद्धित अण् प्रत्यय करने पर द्विगुसञ्ज्ञा के कारण **द्विगोर्लुगनपत्ये** (४.१.८८)[3] द्वारा अण् प्रत्यय का लुक् एवं **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से पुनः सुँब्लुक् करने पर 'पञ्चकपाल' यह तद्धितान्त शब्द निष्पन्न होता है। तद्धितान्तत्वेन या समासत्वेन प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के अक्षुण्ण रहने से विभक्त्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में सर्वप्रथम लिङ्गनिर्णय कर्त्तव्य होता है। **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) से परवल्लिङ्गता अर्थात् कपाल (नपुं०) शब्द के अनुसार समास से भी नपुंसकत्व प्राप्त होता है। इस पर प्रकृत **द्विगु-प्राप्ताऽऽपन्नाऽलम्पूर्व-गतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः** (वा० ६३) वार्त्तिक से इस का निषेध

---

१. 'द्विगु' से यहां तद्धितार्थ के विषय में होने वाला **द्विगु** ही अभिप्रेत है। समाहारार्थक द्विगु **स नपुंसकम्** (९४३) सूत्रद्वारा नपुंसक होता है, वह परवल्लिङ्गता का अपवाद है। उत्तरपद के परे रहते द्विगु में भी लिङ्ग का विवेचन निष्प्रयोजन है क्योंकि 'पञ्चगवधनः' आदि बहुव्रीहिसमास में अन्यपदार्थ का लिङ्ग ही हुआ करता है अवान्तरद्विगु का नहीं।

२. गतिसमासपदं गतेः समासो येनेति बहुव्रीहिणा **कुगतिप्रादयः** (९४६) इति सूत्रपरम्। तच्चाऽन्यत्र फलाभावात् प्रादिपरमेव। (ल० शब्देन्दु०)

३. अर्थः—द्विगुसमास का निमित्त जो अजादि अनपत्यार्थक प्राग्दीव्यतीय तद्धितप्रत्यय उस का लुक् हो जाता है।

हो कर विशेष्य (पुरोडाशः) के अनुसार पुंलिङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने से 'पञ्चकपालः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अब प्राप्त और आपन्न पूर्व वाले तत्पुरुषसमास में परवल्लिङ्गता का निषेध दर्शाने से पूर्व इस समास के विधायकसूत्र का अवतरण करते हैं--

[लघु०] विधि-सूत्रम्--(९६३) **प्राप्ताऽऽपन्ने च द्वितीयया ।२।२।४।।**

समस्येते । अकारश्चाऽनयोरन्तादेशः । प्राप्तो जीविकाम्–प्राप्तजीविकः । आपन्नजीविकः ।।

अर्थः—प्राप्त और आपन्न सुँबन्त, द्वितीयान्त समर्थ सुँबन्त के साथ विकल्प से तत्पुरुषसमास को प्राप्त होते हैं किञ्च इस समास में इन (प्राप्त और आपन्न) शब्दों को 'अ' यह अन्तादेश भी हो जाता है।

व्याख्या—प्राप्ताऽऽपन्ने ।१।२। च इत्यव्ययपदम् । द्वितीयया ।३।१। अ इति-लुप्तप्रथमैकवचनान्तं पदं प्रश्लिष्यते । **समासः, सुँप्, सह सुँपा, तत्पुरुषः**—ये सब पूर्वतः आ रहे हैं। 'प्राप्ताऽऽपन्ने' को 'सुँप्' के साथ तथा 'द्वितीयया' को 'सुँपा' के साथ अन्वित किया जाता है। प्राप्तं च आपन्नं च प्राप्तापन्ने, इतरेतरद्वन्द्वः । शब्दस्वरूपा-पेक्षया नपुंसकप्रयोगः । सूत्र में 'च' का ग्रहण दो विधियों के समुच्चयार्थ है।[1] चकार-ग्रहण के बल से 'द्वितीयया+अ=द्वितीयया' इस प्रकार 'अ' का प्रश्लेष किया जाता है। यह सूत्र **द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः** (९२४) इस द्वितीयातत्पुरुष-समास का अपवाद है। वचनसामर्थ्य से उस की भी प्रवृत्ति हो जायेगी। अर्थः—(प्राप्तापन्ने सुँबन्ते) प्राप्त और आपन्न ये सुँबन्त (द्वितीयया=द्वितीयान्तेन सुँबन्तेन) द्वितीयान्त सुँबन्त के साथ (समासौ) समास को प्राप्त होते हैं और वह समास (तत्पुरुषः) तत्पुरुषसञ्ज्ञक होता है। (च) किञ्च प्राप्त और आपन्न शब्दों के स्थान पर (अ) 'अ' यह आदेश भी हो जाता है। यह 'अ' आदेश **अलोऽन्त्यस्य** (२१) परि-भाषाद्वारा प्राप्त और आपन्न शब्दों के अन्त्य अल् के स्थान पर ही होता है।

उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—प्राप्तो जीविकाम्—प्राप्तजीविकः (जीविका को प्राप्त कर चुका पुरुष)। अलौकिकविग्रह—प्राप्त सुँ+जीविका अम्। यहां प्रकृत **प्राप्तापन्ने च द्वितीयया** (९६३) सूत्रद्वारा 'प्राप्त सुँ' इस सुँबन्त का 'जीविका अम्' इस द्वितीयान्त सुँबन्त के साथ तत्पुरुषसमास हो जाता है। समासविधायकसूत्र में प्रथमानिर्दिष्ट होने से 'प्राप्त सुँ' की उपसर्जनसंज्ञा, **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्वनिपात, समास की **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) सूत्रद्वारा प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से उस के अवयव सुँपों (सुँ और अम्) का लुक् करने से—प्राप्तजीविका।

---

१. प्राप्तापन्ने द्वितीयान्तेन समस्येते, अत्वं च भवति प्राप्तापन्नयोरिति भाष्ये।

पुनः इसीसूत्र से 'प्राप्त' के अन्त्य अल्=अकार को अकार आदेश भी हो जाता है परन्तु इस से रूप में कोई अन्तर नहीं पड़ता—प्राप्तजीविका। इस समास में चाहे जैसे विग्रह किया जाये 'जीविकाम्' पद विग्रह में नियतविभक्तिक रहता है।[1] अतः **एक-विभक्ति चाऽपूर्वनिपाते** (९५१) से 'जीविका' की उपसर्जनसंज्ञा हो कर **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** (९५२) से उसे ह्रस्व अन्तादेश हो जाता है—प्राप्तजीविक। अब प्रातिपदिकत्व के कारण स्वाद्युत्पत्ति होने से पूर्व इस समास का लिङ्ग निश्चित करना आवश्यक है। इस प्रसङ्ग में सर्वप्रथम **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) से समासगत उत्तर-पद 'जीविका' के अनुसार इसे स्त्रीलिङ्ग की प्रसक्ति होती है। परन्तु **द्विगु-प्राप्ताऽऽपन्नाऽलम्पूर्व-गतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः** (वा० ६३) इस वार्त्तिक से परवल्लिङ्गता का निषेध हो कर विशेष्यानुसार पुंस्त्व में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर विभक्तिकार्य करने से 'प्राप्तजीविकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इस के अतिरिक्त विधानसामर्थ्य से **द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः** (९२४) सूत्र से द्वितीयातत्पुरुषसमास भी हो जाता है। परन्तु इस समास में द्वितीयान्त पद प्रथमानिर्दिष्ट होने से उपसर्जनसंज्ञक होता है अतः उसी का पूर्वनिपात हो कर सुँपों (अम् और सुँ) का लुक् करने से—जीविकाप्राप्त। विभक्ति लाने से 'जीविकाप्राप्तः' सिद्ध होता है। ध्यान रहे कि यहाँ प्राप्तपूर्व तत्पुरुषसमास नहीं अतः प्रकृत वार्त्तिक से परवल्लिङ्गता का निषेध नहीं होता। किञ्च दोनों समास महाविभाषा के अधिकार में पढ़े गये हैं अतः पक्ष में वाक्य भी रहता है। इस प्रकार तीन रूप बनते हैं—(१) प्राप्तजीविकः। (२) जीविकाप्राप्तः। (३) 'प्राप्तो जीविकाम्' अथवा 'जीविकां प्राप्तः' यह वाक्य भी।

इसीप्रकार—आपन्नो जीविकाम्—(१) आपन्नजीविकः। (२) जीविकापन्नः। (३) 'जीविकामापन्नः' या 'आपन्नो जीविकाम्' यह वाक्य भी।[2]

---

१. यथा—प्राप्तो जीविकाम्—प्राप्तजीविकः, प्राप्तं जीविकाम्—प्राप्तजीविकम्, प्राप्तेन जीविकाम्—प्राप्तजीविकेन, प्राप्ताय जीविकाम्—प्राप्तजीविकाय, प्राप्तात् जीविकाम्—प्राप्तजीविकात्, प्राप्तस्य जीविकाम्—प्राप्तजीविकस्य, प्राप्ते जीविकाम्—प्राप्तजीविके। विग्रह की इन सब अवस्थाओं में 'जीविकाम्' पद नियतविभक्तिक रहता है, प्राप्तपद ही बदलता रहता है।

२. प्राप्तजीविकः, आपन्नजीविकः—इत्यादि प्रयोग तो 'प्राप्ता जीविका येन सः=प्राप्तजीविकः, आपन्ना जीविका येन सः=आपन्नजीविकः' इत्यादिप्रकारेण बहुव्रीहिसमास के द्वारा भी सिद्ध हो सकते हैं किञ्च बहुव्रीहि के अन्यपदप्रधान होने से विशेष्यानुसारी होने के कारण लिङ्ग का भी यहाँ कोई झञ्झट खड़ा नहीं होता, पुनः इन प्रयोगों के लिये इस नवीन सूत्र की रचना क्यों की गई है? यह यहां प्रश्न उत्पन्न होता है। इस का उत्तर यह है कि इस सूत्र का निर्माण तत्पुरुष-समास में अन्तोदात्तस्वर की प्राप्ति के लिये किया गया है जो बहुव्रीहिसमास में सम्भव नहीं। विस्तार के लिये आकरग्रन्थों का अवलोकन करें।

विशेष वक्तव्य—अकार अन्तादेश का फल उपर्युक्त उदाहरणों में कुछ नहीं प्रतीत होता। परन्तु जब प्राप्त और आपन्न शब्द स्त्रीलिङ्ग में आ कर टाबन्त हो कर 'प्राप्ता' और 'आपन्ना' बन जाते हैं तब इन का लिङ्गविशिष्टपरिभाषा के अनुसार जब द्वितीयान्त के साथ समास किया जाता है उस अवस्था में अकार अन्तादेश के कारण इन के अन्त्य आकार को ह्रस्व हो जाता है—यही इन को अकार अन्तादेश करने का फल है। यथा—प्राप्ता जीविकाम्—प्राप्तजीविका (स्त्री)। यहां समास में 'प्राप्ता' पद के अन्त्य आकार को ह्रस्व हो जाता है जो अन्य किसी तरह सम्भव नहीं[1]। 'जीविका' शब्द को तो पूर्ववत् उपसर्जनह्रस्व ही होता है। इस प्रकार समास में 'प्राप्त-जीविक' बन कर पुनः स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् हो कर विभक्तिकार्य करने से 'प्राप्त-जीविका' (स्त्री) प्रयोग सिद्ध हो जाता है। भाष्य आदि आकरग्रन्थों में यहां 'अ' का प्रश्लेष **प्राप्तापन्ने च द्वितीयया** (९६३) सूत्र में 'प्राप्तापन्ने+अ=प्राप्तापन्ने' इस तरह **एङः पदान्तादति** (४३) सूत्र से पूर्वरूप के द्वारा आर्षत्वेन दर्शाया गया है।[2] परन्तु भट्टोजिदीक्षित की यह नई सूझ है कि प्रश्लेष में आर्षसन्धि मानने की अपेक्षा सूत्रगत 'द्वितीयया' पद में ही 'द्वितीयया+अ=द्वितीयया' इस प्रकार सवर्णदीर्घ मान कर प्रश्लेष करना अधिक सुविधाजनक है। परन्तु नागेशभट्ट भाष्योक्त प्रश्लेष के ही पक्ष-पाती हैं।

अब अलम्पूर्व तत्पुरुषसमास में तथा गतिसमास (प्रादिसमास) में परवल्लिङ्गता का प्रतिषेध दर्शाते हैं—

[**लघु०**] अलं कुमार्यै—अलंकुमारिः। अत एव ज्ञापकात् समासः। निष्कौशाम्बिः॥

व्याख्या—अलम्पूर्व तत्पुरुष का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—अलं कुमार्यै—अलंकुमारिः (कुमारी के लिये योग्य युवा आदि)। अलौकिकविग्रह—अलम्+कुमारी ङे[3]। यहां 'अलम्' अव्यय का 'कुमारी ङे' के साथ तत्पुरुषसमास होता है। समासविधायकसूत्र तो कोई है नहीं, फिर कैसे समास होगा? इस पर ग्रन्थकार कहते हैं—**अत एव ज्ञापकात् समासः**—अर्थात् जब वार्त्तिककार अलम्पूर्व तत्पुरुषसमास में परवल्लिङ्गता का निषेध करने को कह रहे हैं तो इस से

---

१. समानाधिकरण परे न होने के कारण पुंवद्भाव की प्राप्ति नहीं हो सकती।

२. **ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्** (५१) द्वारा प्रगृह्यसंज्ञा के कारण प्रकृतिभाव हो जाने से 'प्राप्तापन्ने+अ' में पूर्वरूप दुर्लभ था अतः यहां 'आर्षत्वेन' का आश्रय लिया गया है।

३. यहां 'अलम्' के योग में **नमः-स्वस्ति-स्वाहा-स्वधाऽलं-वषड्योगाच्च** (८९८) सूत्र-द्वारा कुमारी शब्द से चतुर्थी विभक्ति हुई है। 'अलम्' अव्यय है अतः इस के आगे 'सुँ' प्रत्यय का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हुआ समझना चाहिये।

समासविधान में उन की अनुमति अपने आप ज्ञापित हो जाती है। क्योंकि यदि यहां समास का विधान न होता तो परवल्लिङ्गता भी प्राप्त न होती और न ही उस का निषेध किया जाता। इस निषेध से यह सुतरां सिद्ध हो जाता है कि अलम्पूर्व तत्पुरुष-समास वार्त्तिककारद्वारा अनुमत है। इस तरह 'अलम्+कुमारी ङे' में उपर्युक्त ज्ञापक से तत्पुरुषसमास तथा 'अलम्' का पूर्वनिपात ये दोनों सिद्ध हो जाते हैं। अब समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुंपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँब्लुक् कर—अलम्-कुमारी। 'कुमारी' पद विग्रह में नियतविभक्तिक है अतः **एकविभक्ति चाऽपूर्वनिपाते** (६५१) से उस की उपसर्जनसंज्ञा कर **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** (६५२) सूत्रद्वारा उसे ह्रस्व अन्तादेश हो जाता है—अलम्कुमारि। मकार को **मोऽनुस्वारः** (७७) से अनुस्वार तथा **वा पदान्तस्य** (८०) से अनुस्वार को वैकल्पिक परसवर्ण=ङकार करने पर—अलङ्-कुमारि। अब विभक्ति लाने से पूर्व इस के लिङ्ग का निर्धारण करना आवश्यक है। 'अलङ्कुमारि' तत्पुरुषसमास है, **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (६६२) सूत्रद्वारा इसे परव-ल्लिङ्ग अर्थात् 'कुमारी' शब्द के समान स्त्रीलिङ्ग होना चाहिये। परन्तु **द्विगु-प्राप्ता-ऽपन्नाऽलम्पूर्व-गतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः** (वा० ६३) वार्त्तिकद्वारा उस का निषेध हो विशेष्यानुसार लिङ्ग हो जाता है। यहां विशेष्य 'युवा' (पुं०) विवक्षित है, अतः पुंलिङ्ग में विभक्ति-कार्य करने पर 'अलङ्कुमारिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। परसवर्ण के अभाव में 'अलंकुमारिः' भी बनेगा। अलंकुमारिरयं युवा (यह युवक कुमारी के योग्य है)।

इसीप्रकार—अलं जीविकायै—अलंजीविकः (जीविका के लिये शक्त) आदि प्रयोग समझने चाहियें।[1]

गतिसमास अर्थात् प्रादिसमास में परवल्लिङ्गता के निषेध का उदाहरण यथा—निष्कौशाम्बिः। यहां निस् या निर् का 'कौशाम्बी ङसिँ' के साथ **निरादयः क्रान्ता-द्यर्थे पञ्चम्या** (वा० ६२) वार्त्तिकद्वारा प्रादितत्पुरुषसमास हो उपसर्जनह्रस्व करने से 'निष्कौशाम्बिः' प्रयोग सिद्ध हुआ है[2]। 'निष्कौशाम्बि' में परवल्लिङ्गता के कारण

१. प्राचीन वैयाकरण **पर्यादयो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या** (वा० ६१) वार्त्तिक में आदि शब्द को प्रकारार्थक मान कर 'अलम्' का चतुर्थ्यन्त के साथ समास का विधान किया करते हैं। परन्तु कौमुदीकार उन से सहमत नहीं। उन का कथन है कि यदि ऐसा माना जाये तो 'अलं कुमार्यै, अलं जीविकायै' इत्यादि प्रकारेण स्वपदविग्रह न हो सकेगा क्योंकि उस वार्त्तिक से किया जाने वाला समास नित्य होता है। नित्य-समास का स्वपद विग्रह नहीं हो सकता। महाभाष्य में इस का स्वपदविग्रह ही देखा जाता है। अतः यहां उपर्युक्त वार्त्तिक से समास न मान कर ज्ञापकसिद्ध समास मानना ही उचित है।

२. 'निष्कौशाम्बिः' की सिद्धि पीछे (वा० ६२) पर विस्तार से कर चुके हैं वहीं देखें।

स्त्रीत्व प्राप्त था जो अब **द्विगु-प्राप्ताऽऽपन्नाऽलम्पूर्व-गतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः** (वा० ६३) वार्त्तिक से निषिद्ध हो गया है। इस तरह इस से विशेष्यानुसार लिङ्ग होगा। अतः—निष्कौशाम्बिरयम्पुरुषः, निष्कौशाम्बिरियं युवतिः[1], निष्कौशाम्बि मन्त्रिमण्डलम् इत्यादिप्रकारेण विशेष्यानुसार लिङ्ग का प्रयोग होता है।

अब अर्धर्च आदि शब्दों से लिङ्ग का विशेष विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९६४) **अर्धर्चाः पुंसि च** ।२।४।३१॥

अर्धर्चादयः शब्दाः पुंसि क्लीबे च स्युः। अर्धर्चः, अर्धर्चम्। एवं ध्वज-तीर्थ-शरीर-मण्डप-यूप-देहाऽङ्कुश-पात्र-सूत्रादयः॥

अर्थः—'अर्धर्च' आदि शब्द पुंलिङ्ग और नपुंसक दोनों लिङ्गों में प्रयुक्त हों।

व्याख्या—अर्धर्चाः ।१।३। पुंसि ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। नपुंसके ।७।१। (**अपथं नपुंसकम्** से विभक्तिविपरिणाम द्वारा)। 'अर्धर्चाः' इस बहुवचननिर्देश से अर्धर्च आदि गणपठित शब्दों का ग्रहण होता है। अर्थः—(अर्धर्चाः) अर्धर्च आदि शब्द (पुंसि) पुंलिङ्ग में (च) तथा (नपुंसके) नपुंसक में प्रयुक्त होते हैं। यथा—

लौकिकविग्रह— ऋचोऽर्धम्—अर्धर्चम् अर्धर्चो वा (ऋग्वेद के मन्त्र का ठीक आधा भाग)। अलौकिकविग्रह—ऋच् ङस् + अर्ध सुँ। यहां **अर्धं नपुंसकम्** (९३३) सूत्रद्वारा विकल्प से तत्पुरुषसमास, प्रथमानिर्दिष्ट होने से 'अर्ध सुँ' का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (सुँ और ङस्) का लुक् करने पर—अर्धऋच्। **आद् गुणः** (२७) से गुण तथा **उरण्रपरः** (२९) से रपर करने से—अर्धर्च्। **ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे** (९९३) सूत्र से समासान्त अ (अ) प्रत्यय करने पर—अर्धर्च् + अ = अर्धर्च। 'अर्धर्च' यह तत्पुरुषसमास है अतः **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) के अनुसार इस का लिङ्ग परपद (उत्तरपद) = ऋच् के अनुसार होना चाहिये। ऋच्शब्द स्त्रीलिङ्ग है अतः 'अर्धर्च' को भी स्त्रीलिङ्ग प्राप्त होता है। परन्तु प्रकृत **अर्धर्चाः पुंसि च** (९६४) सूत्र से उस का बाध कर पुंस्त्व तथा नपुंसकत्व दोनों पर्याय से हो जाते हैं। प्रथमा के एक-वचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर विभक्तिकार्य करने पर पुंलिङ्ग में '**अर्धर्चः**' तथा नपुंसक में सुँ को अम् आदेश कर पूर्वरूप करने से 'अर्धर्चम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[2]। समासाभावपक्ष में ऋचोऽर्धम्' यह वाक्य भी रहता है।

---

१. **सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके** (वा०) से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् प्रत्यय विकल्प से होता है। ङीष्पक्ष में 'निष्कौशाम्बी' भी बनेगा।

२. ध्यान रहे कि यहां **ऋत्यकः** (६१) सूत्र से वैकल्पिक ह्रस्व तथा तन्मूलक सन्ध्य-भाव भी हो सकता है। इस तरह ह्रस्वपक्ष (सन्ध्यभाव) में—'**अर्धऋचम्**, **अर्ध-ऋचः**' ये प्रयोग भी बनेंगे।

अर्धर्चादिगण में अनेक असमस्त शब्दों का भी सन्निवेश है। वे शब्द भी पुलिङ्ग और नपुंसक दोनों लिङ्गों में प्रयुक्त होते हैं। ग्रन्थकार एतद्गणान्तर्गत कुछ शब्दो को निदर्शनार्थ प्रस्तुत करते हैं—

(१) **ध्वजः, ध्वजम्** (झण्डा, पताका)।

केतनं ध्वजमस्त्रियाम्—इत्यमरः। गणरत्नमहोदधिकार आचार्य वर्धमान ने भी इस का अर्धर्चादियों में पाठ माना है। वर्त्तमान उपलब्ध संस्कृतसाहित्य में इस का पुंस्त्व में बहुधा प्रयोग पाया जाता है। यथा—

किं तेन जातु जातेन मातुर्यौवनहारिणा।
आरोहति न यः स्वस्य वंशस्याग्रे ध्वजो यथा॥ (पञ्च० १.२६)

(२) **तीर्थः, तीर्थम्** (निपान[1], शास्त्र, ऋषिसेवित जल, गुरु आदि)।

इस की द्विलिङ्गता का उल्लेख लिङ्गानुशासन में भी किया गया है—**तीर्थ-प्रोथ-यूथ-गाथानि नपुंसके च** (लिङ्गानु० ७२)। गणरत्नमहोदधिकार ने भी इस का अर्धर्चादियों में पाठ माना है। आचार्य हेमचन्द्र ने अभिधानचिन्तामणि में **घट्टस्तीर्थोऽवतारे** इस प्रकार लिख कर स्वोपज्ञव्याख्या में **तीर्थः पुंक्लीबलिङ्गः** ऐसा लिखा है। परन्तु अमरकोष में इसे नपुंसक माना गया है—**निपानागमयोस्तीर्थम् ऋषिजुष्टजले गुरौ**। चतुर्थाश्रमसेवी महात्माओं का वर्गविशेष अपने नाम के आगे भी इस शब्द का प्रयोग करता है। यथा—शुद्धबोधतीर्थः, वेदानन्दतीर्थः आदि।

(३) **शरीरः, शरीरम्** (शरीर, देह, काया)।

गणरत्नमहोदधिकार ने भी इस का अर्धर्चादियों में पाठ माना है। परन्तु यह नपुंसक में ही प्रायः प्रसिद्ध है—**तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही** (गीता २.२२)। अमरकोष में भी यह नपुंसक माना गया है—**गात्रं वपुः संहननं शरीरं वर्ष्म विग्रहः**।

(४) **मण्डपः, मण्डपम्** (जनविश्रामस्थल आदि)।

अमरकोष में भी यह पुन्नपुंसक माना गया है—**अथ मण्डपोऽस्त्री जनाश्रयः**। गणरत्नमहोदधिकार तथा हेमचन्द्र आदियों ने भी इसे पुन्नपुंसक कहा है।

(५) **यूपः, यूपम्** (यज्ञीय पशु को बान्धने का खम्भा)।

वैजयन्तीकोष में **यूपोऽस्त्री संस्कृतस्तम्भः** इस प्रकार इसे पुन्नपुंसक कहा गया है। गणरत्नमहोदधि में इस के स्थान पर 'यूथ' पाठ पाया जाता है। अमरकोष में भी ऐसा ही पाठ पाया जाता है—**यूथं तिरश्चां पुन्नपुंसकम्**।

६. **देहः, देहम्** (शरीर)।

---

१. कूप आदि के समीप पशुओं के जल पीने के लिये बनाया गया जलाधार=**चबच्चा** 'निपान' कहाता है।

कायो देहः क्लीबपुंसोः—इत्यमरः। लोक में इस का दोनों लिङ्गों में प्रचुर प्रयोग पाया जाता है। पुंलिङ्ग में यथा—**अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः**—**गीता** (२.१८)। नपुंसक में यथा—**सा च त्रिधा भवेद् देहमिन्द्रियं विषयस्तथा**—[मुक्तावली-कारिका (३७)]।

७. **अङ्कुशः, अङ्कुशम्** (हस्तिचालन में प्रयुक्त होने वाला अंकुश)।

अङ्कुशोऽस्त्री सृणिः स्त्रियाम्—इत्यमरः। लोक में बहुधा इस के प्रयोग पुं० में पाये जाते हैं। यथा—**त्यजति तु यदा मोहान्मार्गं तदा गुरुरङ्कुशः**—[मुद्राराक्षस (३.६)]। गणरत्नमहोदधि में भी इस का उल्लेख है।

८. **पात्रः, पात्रम्** (बरतन, परिमाण-विशेष)।

लोक में भाजन अर्थ में यह नपुंसक तथा आढक (परिमाणविशेष) अर्थ में पुंलिङ्ग देखा जाता है। **पत्त्र-पात्त्र-पवित्र-सूत्रच्छत्राः पुंसि च** (लिङ्गानु० १५६) इस सूत्रद्वारा भी इसे पुन्नपुंसक माना गया है।

९. **सूत्रः, सूत्रम्** (सूत्र, तन्तु)।

पत्त्र-पात्त्र-पवित्र-सूत्रच्छत्रा पुंसि च—इस लिङ्गानुशासनीयसूत्र (१५६) द्वारा इसे पुन्नपुंसक माना गया है। पुंलिङ्ग में इस के प्रयोग अन्वेषणीय हैं।

इन के अतिरिक्त—शाकः, शाकम्। ओदनः, ओदनम्। दिवसः, दिवसम्। वलयः, वलयम्। अष्टापदः, अष्टापदम् (सुवर्ण)। वासरः, वासरम्। किरीटः, किरीटम्। मोदकः, मोदकम्। जानुः, जानु। सारः, सारम्। इत्यादि दर्जनों शब्द अर्धर्चादियों में परिगणित हैं।

इन शब्दों का द्विविध लिङ्गों में प्रयोग अद्यत्वे संस्कृत-वाङ्मय में एक अन्वेष्टव्य विषय है। बहुत से शब्द अब एकतर लिङ्ग में प्रयुक्त हो रहे हैं, दूसरे लिङ्ग में इन का प्रयोग लुप्त या विरलप्राय हो चला है। कुछ शब्द अर्थविशेष में एक लिङ्ग में तथा अर्थान्तर में दूसरे लिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं। प्राचीन संस्कृतवाङ्मय का अधिकांश भाग इस समय लुप्तप्राय है जिस से इन शब्दों का चयन किया गया था। यह गण अकेला ही अनुसन्धानप्रेमियों के अनुसन्धान का विषय हो सकता है। इस गण में समय-समय पर अनेक प्रक्षेप और परिवर्त्तन होते रहे हैं। सम्भवतः आचार्य पाणिनि ने इस गण का स्वयं संकलन नहीं किया, तभी तो भाष्यकार 'अर्धर्चाः' इस बहुवचननिर्देश से इस प्रकार के अन्य शब्दों का संग्रह मानते हैं। यह गण बाद में संगृहीत किया गया प्रतीत होता है।

अब इस लिङ्गप्रकरण के प्रसङ्ग में अतीव प्रचलित एक समुचित न्याय का वार्त्तिकरूप से उल्लेख करते हैं—

[लघु०] वा०—(६४) **सामान्ये नपुंसकम्** ॥

मृदु पचति। प्रातः कमनीयम् ॥

अर्थः—सामान्य की विवक्षा में नपुंसकलिङ्ग प्रयुक्त होता है।

व्याख्या—विशेष की विवक्षा न होने पर जब किसी अर्थ को सामान्यरूप से कहा जाये तब उस अर्थ के वाचक शब्द का नपुंसकलिङ्ग से निर्देश करना चाहिये—यह प्रकृत वार्त्तिक का तात्पर्य है। यह बात न्यायसंगत भी है। पुंस्त्व तथा स्त्रीत्व की अविवक्षा में पारिशेष्यात् नपुंसकलिङ्ग के द्वारा ही अर्थ को प्रकट किया जा सकता है। यथा—तस्याः किं जातम्? (उस का क्या जन्मा?) यहां 'किम्' यह सामान्य में नपुंसक है। विशेष विवक्षित होने पर—तस्याः पुत्रो जातः, तस्याः पुत्री जाता—इत्यादिप्रकारेण पुंलिङ्ग या स्त्रीलिङ्ग से निर्देश किया जाता है।

इस विषय में कुछ साहित्यिक उदाहरण यथा—

(१) **त्रीणि श्राद्धे पवित्राणि दौहित्रः कुतुपस्तिलाः।** (मनु० ३.२३५)

श्राद्ध में तीन चीज़ें पवित्र होती हैं—दौहित्र (दोहता), कुतुप (नेपाली कम्बल) और तिल। यहां 'त्रीणि' यह सामान्योक्ति में नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग किया गया है। वे तीन क्या हैं? बाद में यथालिङ्ग निर्दिष्ट किये गये हैं।

(२) **सम्प्रीत्या भुज्यमानानि न नश्यन्ति कदाचन।**
धेनुरुष्ट्रो वहन्नश्वो यश्च दम्यः प्रयुज्यते॥ (मनु० ८.१४६)

यहां 'भुज्यमानानि' यह सामान्य में नपुंसक है। बाद में उन का यथालिङ्ग निर्देश किया गया है।

(३) **त्रीणि चात्र प्रशंसन्ति शौचमक्रोधमत्वराम्।** (मनु० ३.२३५)

यहां भी 'त्रीणि' यह सामान्य में नपुंसक है।

(४) **अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।**
चत्वारि तस्य वर्धन्त आयुर्विद्या यशो बलम्॥ (मनु० २.१२१)

यहां 'चत्वारि' यह सामान्य में नपुंसक है।

(५) **द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया पिनाकिनः।**
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी॥
(कुमार० ५.७१)

यहां 'द्वयम्' यह सामान्य में नपुंसक का प्रयोग है।

कहीं-कहीं विभिन्नलिङ्गी कुछ पदार्थों का पहले उल्लेख कर पीछे सामान्य-निर्देश में नपुंसक का प्रयोग किया जाता है। यथा—

(६) **सा देवी मम च प्राणा रावणेनोभयं हृतम्।** (रामायण ३.६७.१५)

(७) **अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम्।** (महाभारत १२.६१.५२)

(८) **तृणानि भूमिरुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता।**
एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन॥ (हितोप० १.६०)

(९) **आयुः कर्म च वित्तं च विद्या निधनमेव च।**
पञ्चैतान्यपि सृज्यन्ते गर्भस्थस्यैव देहिनः॥ (हितोप० २८)

(१०) **आत्मोदयः परज्यानिर्द्वयं नीतिरितीयती।**
तदूरीकृत्य कृतिभिर्वाचस्पत्यं प्रतायते॥ (माघ २.३०)

इन में पदार्थों का पहले अपने अपने लिङ्गों से निर्देश कर बाद में बुद्धिस्थ सामान्य की अपेक्षा से नपुंसक का प्रयोग किया गया है।

अव्ययों को अलिङ्ग माना जाता है अतः उन के समानाधिकरण विशेषणों को **सामान्ये नपुंसकम्** (वा० ६४) द्वारा नपुंसकलिङ्ग से ही प्रकट किया जाता है। जैसे—प्रातः कमनीयम् (सुन्दर प्रातःकाल), सायं रम्यम् (सुन्दर सायंकाल) आदि में 'प्रातः' और 'सायम्' अव्यय हैं, अतः इन के विशेषण 'कमनीयम्' और 'रम्यम्' नपुंसक में प्रयुक्त किये गये हैं। अव्ययों के साथ संख्या का योग नहीं होता अतः उन के विशेषणों में औत्सर्गिक एकवचन का ही प्रयोग किया जाता है।

पीछे (३७३) सूत्र पर स्पष्ट कर चुके हैं कि प्रत्येक क्रिया के दो भाग हुआ करते हैं (१) फल और (२) व्यापार। जिस उद्देश्य से क्रिया की जाती है वह क्रिया का फल तथा उस फल की प्राप्ति के लिये किया जाने वाला यत्न उस क्रिया का व्यापार कहलाता है। यथा पच् (पकाना) क्रिया में विक्लिति (तण्डुल आदि का गलना नरम हो जाना) फल तथा उस के लिये चूल्हे में आग जलाना, बटलोई आदि में कड़छी आदि के द्वारा गले-अनगले को देखते रहना और अन्त में गल जाने पर बटलोई आदि को चूल्हे से उतारना इत्यादि क्रियाएं व्यापार कहाती हैं। व्यापार फल को उत्पन्न करता है अतः फल व्यापार का कर्म होता है। यथा—'स पचति' का अर्थ है—वह तण्डुल आदियों की विक्लिति को उत्पन्न करता है। जब हम क्रिया के साथ 'मृदु पचति' इत्यादिप्रकारेण कोई विशेषण लगाते हैं तो वह विशेषण क्रिया के फलांश के साथ ही जुड़ता है और वह भी फलांश की तरह व्यापार का कर्म ही होता है अतः उस कर्म में **कर्मणि द्वितीया** (८९१) से द्वितीया विभक्ति आती है। परन्तु लिङ्ग की विवक्षा में **सामान्ये नपुंसकम्** (वा० ६४) से उस में नपुंसक का ही प्रयोग किया जाता है। क्रिया अद्रव्यरूप होती है अतः इन विशेषणों के साथ द्विवचन और बहुवचन का योग नहीं होता औत्सर्गिक एकवचन का ही प्रयोग किया जाता है। अत एव लोक में प्रसिद्धि है—**क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं क्लीबता चेष्यते**[1]। इस तरह 'मृदु पचति' का अर्थ हुआ—मृदु=कोमल=नरम=हल्की विक्लिति को उत्पन्न करता है[2]। यहां 'मृदु' शब्द नपुंसकलिङ्ग में द्वितीयैकवचनान्त प्रयुक्त हुआ है। इस के आगे 'अम्' विभक्ति का **स्वमोर्नपुंसकात्** (२४४) से लुक् हुआ है। इसी तरह—शोभनं पठति, तीव्रं धावति त्वरितमधीते आदियों में क्रियाविशेषणों की व्यवस्था समझ लेनी चाहिये।

---

१. देखें काशिका (२.४.१८)।

२. व्याख्याकार क्रियाविशेषणों का विवरण इस प्रकार किया करते हैं—

मृदु पचति—मृदु यथा भवति तथा पचति।

शोभनं पठति—शोभनं यथा भवति तथा पठति।

तीव्रं धावति—तीव्रं यथा भवति तथा धावति।

अभ्यास [५]

(१) निम्नस्थ वचनों की सप्रसङ्ग विशद व्याख्या करें—

[क] अहर्ग्रहणं द्वन्द्वार्थम् ।

[ख] अतिङ् किम् ? मा भवान् भूत् ।

[ग] अलङ्कुमारिः । अत एव ज्ञापकात्समासः ।

[घ] सामान्ये नपुंसकम् ।

[ङ] संख्यापूर्वं रात्रं क्लीबम् ।

(२) निम्नस्थ प्रश्नों का समुचित उत्तर दीजिये—

[क] अव्यय के विशेषणों का कौन सा लिङ्ग हो और क्यों ?

[ख] 'महतां सेवा' इस विग्रह में आकार अन्तादेश होगा या नहीं ?

[ग] 'द्वादश' की सिद्धि तत्पुरुष में कैसे की जायेगी ?

[घ] 'द्विरात्रम्, त्रिरात्रम्' में पुंस्त्व क्यों नहीं होता ?

[ङ] **प्राप्तापन्ने०** सूत्र में अकारप्रश्लेष कैसे और क्यों किया जाता है ?

[च] 'एकादश' में आकार अन्तादेश कैसे होता है ?

[छ] 'द्विशतम्' का 'दो सौ' अर्थ है या कुछ अन्य ?

[ज] 'अलंकुमारिः' में किस सूत्र से समास होता है ?

(३) तत्पुरुषसमास में परवल्लिङ्गता के अभाव वाले कोई से चार स्थल सप्रमाण दर्शाएं ।

(४) **तत्रोपपदं सप्तमीस्थम्** की व्याख्या करते हुए सूत्र में 'तत्र' ग्रहण का प्रयोजन स्पष्ट करें ।

(५) तद्धितार्थद्विगु और समाहारद्विगु के लिङ्गों और वचनों में क्या अन्तर होता है ? सप्रमाण टिप्पण करें ।

(६) निम्नस्थ युगलों में कौन सा रूप व्याकरणसम्मत है ? सिद्ध करें—

[क] त्रिरात्रम्, त्रिरात्रः ।

[ख] अर्धर्चः, अर्धर्चम् ।

[ग] कुक्कुटमयूर्यौ, मयूरीकुक्कुटौ ।

[घ] त्रिविंशतिः, त्रयोविंशतिः ।

[ङ] द्वाशीतिः, द्व्यशीतिः ।

[च] पुण्यरात्रः, पुण्यरात्रिः ।

[छ] निरङ्गुलिः, निरङ्गुलम् ।

[ज] धर्मराजा, धर्मराजः ।

[झ] नृपसखः, नृपसखा ।

[ञ] अष्टाचत्वारिंशत्, अष्टचत्वारिंशत् ।

[ट] महज्जातीयः, महाजातीयः ।

[ठ] धनक्रीता, धनक्रीती ।

(७) तत्पुरुषसमास दो पदों में ही होता है—इस पर टिप्पणी करें।[1]

(८) **द्विगुप्राप्तापन्नालंपूर्वगतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः** इस वार्त्तिक में 'गति-समास' से क्या अभिप्रेत है ? स्पष्ट करें।

(९) **उपपदमतिङ्** में 'अतिङ्' के ग्रहण से मुनि को क्या अभिप्रेत है ? स्पष्ट करें।

(१०) द्विविध विग्रह दर्शाते हुए निम्नस्थ रूपों की ससूत्र सिद्धि प्रदर्शित करें—
१. सर्वरात्रः। २. द्वयङ्गुलम्। ३. अहोरात्रः। ४. त्रयोदश। ५. द्वादश। ६. पूर्वाह्णः। ७. कुम्भकारः। ८. द्व्यहः। ९. परमराजः। १०. महाजातीयः। ११. प्राप्तजीविकः। १२. अश्वक्रीती। १३. व्याघ्री। १४. कच्छपी। १५. द्वित्राः।

(११) **गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह०** इस परिभाषा की उपयोगिता उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करें।

---

१. तत्पुरुषसमास में यह बात विशेष ध्यातव्य है कि यह समास एक बार में दो ही पदों में हुआ करता है इस से अधिक पदों में नहीं। कारण यह है कि इस प्रकरण में **सुप् सुपा** अधिकृत है अतः एक सुँबन्त का दूसरे सुँबन्त के साथ अर्थात् दो पदों में ही समास का विधान किया गया है। अव्ययीभावसमास भी इसी तरह दो ही पदों में हुआ करता है। यदि दो से अधिक पदों में तत्पुरुषसमास करना हो तो पहले दो पदों में तत्पुरुष कर बाद में उस के साथ एक एक पद जोड़ते हुए नया नया तत्पुरुष करते जाना चाहिये। यथा— राजपुरुषगृहद्वारमध्ये (राजा के सेवक के घर के द्वार के मध्य में)। यहां पाञ्च पदों में तत्पुरुषसमास करना है। इस को इस प्रकार किया जायेगा—राज्ञः पुरुषः—राजपुरुषः, तस्य = राजपुरुषस्य। यहां तक एक तत्पुरुष हुआ। अब इस के साथ 'गृहम्' पद जोड़ कर दूसरा तत्पुरुष होगा—राजपुरुषस्य गृहम्—राजपुरुषगृहम्, तस्य = राजपुरुषगृहस्य। अब इस के साथ 'द्वारम्' पद जोड़ कर तीसरा तत्पुरुष होगा —राजपुरुषगृहस्य द्वारम्—राजपुरुषगृहद्वारम्, तस्य = राजपुत्रगृहद्वारस्य। अब इस के साथ 'मध्यम्' पद जोड़ कर चौथा तत्पुरुष होगा—राजपुरुषगृहद्वारस्य मध्यम्—राजपुरुषगृहद्वारमध्यम्, तस्मिन् = राजपुत्रगृहद्वारमध्ये। इस प्रकार के कुछ अन्य उदाहरण यथा—(१) गुणि-गण-गणनाऽऽरम्भे; (२) सागर-शुक्ति-मध्य-पतितम्; (३) पर-धनाऽऽस्वादनसुखम्; (४) मकर-वक्त्र-दंष्ट्राऽन्तरात्; (५) प्रतिनिविष्ट-मूर्ख-जन-चित्तम्; (६) ज्ञान-लव-दुर्विदग्धः; (७) मनुष्येश्वर-धर्मपत्नी; (८) नीलोत्पल-पत्रधारया; (९) लङ्केश्वर-कोप-भीतः, (१०) सलिल-मज्जनाऽऽकुल-जन-हस्ताऽऽलम्बनम्। इत्यादि। वक्ष्यमाण बहुव्रीहि तथा द्वन्द्व समास दो या दो से अधिक पदों में एक बार ही हो जाते हैं क्योंकि उन के विधान में 'अनेकं सुँबन्तम्' कहा गया है।

(१२) निम्नस्थ सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—
१. अहःसर्वैकदेश० । २. परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः । ३. प्राप्तापन्ने च द्वितीयया । ४. तत्पुरुषस्याङ्गुलेः० । ५. राजाहःसखिभ्यष्टच् । ६. द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः । ७. आन्महतः समानाधिकरण० । ८. रात्राह्नाहाः पुंसि । ९. त्रेस्त्रयः । १०. उपपदमतिङ् । ११. द्विगुप्राप्ता० । १२. अर्धर्चाः पुंसि च । १३. रूपरात्रिरथन्तरेषु रुँत्वं वाच्यम् । १४. पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु ।

(१३) क्रियाविशेषण किसे कहते हैं ? इस में कौन सा लिङ्ग और कौन सी विभक्ति प्रयुक्त होती है ? सोदाहरण सप्रमाण स्पष्ट करें ।

(१४) त्रयश्च शतं च त्रिशतम्—यहां त्रेस्त्रयः (९६१) सूत्रद्वारा 'त्रि' को त्रयस् आदेश क्यों नहीं होता ?

[लघु०] **इति तत्पुरुषः**

यहां पर तत्पुरुषसमास का विवेचन समाप्त होता है ।

——:०:——

अथ बहुव्रीहिसमासः

तत्पुरुषसमास के विवेचन के अनन्तर अब अष्टाध्यायी-क्रमानुसार बहुव्रीहिसमास का निरूपण आरम्भ करते हैं । इस समास में समस्यमान पदों से भिन्न तत्सम्बद्ध किसी अन्यपद के अर्थ का बोध होता है अतः इस समास को अन्यपदप्रधान (अन्यत् पदं प्रधानं यत्र) कहा जाता है । अन्यपदप्रधान होने के कारण ही इस समास का लिङ्ग और वचन भी वही होता है जो अन्य पद का हुआ करता है । यथा—क्षीणं वित्तं यस्य सः=क्षीणवित्तः (पुरुषः), क्षीणं वित्तं यस्याः सा=क्षीणवित्ता (नारी), क्षीणं वित्तं यस्य तत्=क्षीणवित्तं (कुलम्) । इत्यादि ।

सब से प्रथम बहुव्रीहि का अधिकार चलाते हैं—

[लघु०] अधिकारसूत्रम्—**(९६५) शेषो बहुव्रीहिः ।२।२।२३।।**

अधिकारोऽयं प्राग्द्वन्द्वात् ।।

अर्थः—**चार्थे द्वन्द्वः** (९८५) इस द्वन्द्वविधान से पूर्व पूर्व प्रथमान्त पदों का समास बहुव्रीहिसंज्ञक हो—यह अष्टाध्यायी में अधिकृत किया जाता है ।

व्याख्या—शेषः ।१।१। बहुव्रीहिः ।१।१। समासः ।१।१। (**प्राक्कडारात्समासः** से) । यह अधिकार-सूत्र है । इस का अधिकार यहां से ले कर **चार्थे द्वन्द्वः** (९८५) सूत्र से पूर्व तक अष्टाध्यायी में जाता है । इस अधिकार में पाञ्च सूत्र आते हैं—

(१) **अनेकमन्यपदार्थे** (२.२.२४) ।

(२) **संख्ययाऽव्ययासन्नाऽदूराधिकसंख्याः संख्येये** (२.२.२५)।
(३) **दिङ्नामान्यन्तराले** (२.२.२६)।
(४) **तत्र तेनेदमिति सरूपे** (२.२.२७)।
(५) **तेन सहेति तुल्ययोगे** (२.२.२८)।

इन में केवल एक **अनेकमन्यपदार्थे** (६६६) सूत्र ही लघु-सिद्धान्त-कौमुदी में पढ़ा गया है, शेष सूत्रों का काशिका या सिद्धान्तकौमुदी में अवलोकन करें। अर्थः—(शेषः समासः) शेष समास (बहुव्रीहिः) बहुव्रीहिसंज्ञक हो—यह द्वन्द्व से पूर्व अर्थात् अगले पाञ्च सूत्रों में अधिकृत किया जाता है। 'शेष' किसे कहते हैं? **उक्तादन्यः शेषः**—जो कहने से बच गया है अर्थात् जो कहा नहीं गया वह 'शेष' है। क्या कहा नहीं गया? **यस्य त्रिकस्य (सुँब्विभक्तेः) अनुक्तः समासः स शेषः, कस्य चानुक्तः? प्रथमायाः**—(महाभाष्ये)। इस समासप्रकरण में **द्वितीया श्रितातीत०** (६२४), **तृतीया तत्कृतार्थेन०** (६२५), **चतुर्थी तदर्थार्थ०** (६२७), **पञ्चमी भयेन** (६२८), **षष्ठी** (६३१), **सप्तमी शौण्डैः** (६३४)—इस प्रकार सब विभक्तियों का नाम ले ले कर समास-विधान किया जा चुका है, केवल 'प्रथमा' का नाम ले कर कोई समास विधान नहीं किया गया अतः प्रथमा=प्रथमान्त ही शेष है[1]। शेष अर्थात् प्रथमान्तों का समास ही बहुव्रीहिसंज्ञक हो—यह यहां फलित होता है, इस की अगले पाञ्च सूत्रों में अनुवृत्ति होगी, यही इस के अधिकृत करने का प्रयोजन है। यहां यह भी ध्यातव्य है कि प्रथमान्तों के इस बहुव्रीहिसमास में सब प्रथमान्त समानाधिकरण अर्थात् एक ही वाच्य के वाचक होते हैं।

अब इस बहुव्रीहिसमास के अन्तर्गत प्रधान सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६६६) अनेकमन्यपदार्थे ।२।२।२४।।

अनेकं प्रथमान्तम् अन्यस्य पदस्यार्थे वर्त्तमानं वा समस्यते, स बहुव्रीहिः ।।

अर्थः—अन्यपद के अर्थ में वर्त्तमान एक से अधिक प्रथमान्त पद परस्पर विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं और वह समास बहुव्रीहिसंज्ञक होता है।

व्याख्या—अनेकम् ।१।१। अन्यपदार्थे ।७।१। **प्राक्कडारात्समासः**, **विभाषा**, **शेषो बहुव्रीहिः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। न एकम्—अनेकम्, नञ्तत्पुरुषः। अन्यच्च तत् पदम्—अन्यपदम्, तस्य=अन्यपदस्य, कर्मधारयसमासः। अन्यपदस्य अर्थः—अन्यपदार्थः, तस्मिन्=अन्यपदार्थे, षष्ठीतत्पुरुषसमासः। 'वर्त्तमानम्' इत्यध्याहार्यम्। **अर्थः**—(अन्यपदार्थे) अन्यपद के अर्थ में वर्त्तमान (अनेकम्) एक से अधिक (शेषः=

---

१. कर्मधारयसमास, यद्यपि प्रथमान्तों का ही समास होता है तथापि वह 'प्रथमा' कह कर विधान नहीं किया गया अतः वह शेष नहीं। **प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया** (वा० ५८) वार्त्तिक में प्रथमा का नाम तो आया है पर वह वार्त्तिकगत होने से पाणिनि के आश्रययोग्य नहीं अतः वह भी शेष नहीं।

प्रथमान्तं पदम्) प्रथमान्त पद (विभाषा) विकल्प से (समासः) समास को प्राप्त होते हैं और वह समास (बहुव्रीहिः) बहुव्रीहिसञ्ज्ञक होता है।

इस समास में समस्यमान पदों से भिन्न अन्य पद का अर्थ प्रधान होता है। समासगत सब पद मिल कर उस अन्यपद के अर्थ को ही विशिष्ट करते हैं, स्वयं उन का अपना अर्थ अन्यपद के अर्थ के प्रति गौण हो जाता है। अत एव **सर्वोपसर्जनो बहुव्रीहिः** (बहुव्रीहिसमास के सब पद गौण होते हैं) ऐसा कहा जाता है। 'बहुव्रीहि' शब्द का अर्थ है—बहवो व्रीहयो यस्य स बहुव्रीहिः (बहुत चावलों वाला)। जैसे 'तत्पुरुष' शब्द स्वयं में 'तस्य पुरुषः—तत्पुरुषः' इस प्रकार तत्पुरुषसमास का सुन्दर उदाहरण है और इसी कारण समास का नाम 'तत्पुरुष' पड़ चला है वैसे 'बहुव्रीहि' शब्द भी स्वयं में बहुव्रीहिसमास का सुन्दर उदाहरण है अतः इसी के नाम पर इस समास की प्रसिद्धि हो चली है। यह प्रसिद्धि सम्भवतः पाणिनि आचार्य से पूर्व की ही है अतः आचार्य ने अपने शब्दानुशासन (अष्टाध्यायी) में इसी प्राचीन संज्ञा का उपयोग किया है[1]। प्रक्रियासर्वस्वकार नारायणभट्ट ने भी यही कहा है—

बहवो व्रीहयोऽस्येति यत्र स्यात्स तथोच्यते।

यह समास तत्पुरुषसमास की तरह केवल दो पदों में ही नहीं होता बल्कि दो या दो से अधिक पदों में भी होता है। अत एव इस के विधायकसूत्र में 'अनेकम्' पद का प्रयोग किया गया है। सूत्र के उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—चत्वारि मुखानि यस्य सः = चतुर्मुखः[2] (चार मुखों वाला—अर्थात् ब्रह्मा)। अलौकिकविग्रह—चतुर् जस् + मुख जस्। यहां दोनों पद अपने से भिन्न अन्यपद (ब्रह्मा) के अर्थ में वर्त्तमान हैं अर्थात् उसे विशिष्ट करते हैं अतः प्रकृत

---

१. पाणिनि से पूर्ववर्त्ती आचार्य शौनक ने अपने बृहद्-देवता नामक ग्रन्थ में सब समासों का नामनिर्देश करते हुए लिखा है—

द्विगुर्द्वन्द्वोऽव्ययीभावः कर्मधारय एव च।

पञ्चमस्तु बहुव्रीहिः षष्ठस्तत्पुरुषः स्मृतः॥ (२.१०५)

२. अन्य पद के अर्थ को प्रकट करने के लिये प्रायः बहुव्रीहिसमास के विग्रह में 'यद्' सर्वनाम का प्रयोग किया जाता है। जैसे यहां 'यस्य' का प्रयोग किया गया है। इसीप्रकार अर्थानुसार यम्, येन, यस्मै, यस्मात्, यस्मिन्, यत्र आदि का प्रयोग होता है। अन्यपद के लिङ्ग और वचन के अनुसार यद् शब्द का भी उसी लिङ्ग और उसी वचन में प्रयोग होता है। कहीं कहीं इदम्, एतद्, अदस् सर्वनामों का भी प्रयोग किया जाता है। यद् आदि के इन प्रयोगों के बाद सम्पूर्ण विग्रहार्थ को अपने गर्भ में समेटे हुए विशेष्यानुसार 'सः' आदि सर्वनामों का अन्त में प्रयोग किया जाता है। जैसे 'चत्वारि मुखानि यस्य सः' में 'सः' कहा गया है। कहीं कहीं अन्त में 'इति' का भी प्रयोग होता है। यथा—चत्वारि मुखान्यस्येति चतुर्मुखः।

अनेकमन्यपदार्थे (९६६) सूत्र से इन पदों का परस्पर बहुव्रीहि समास हो जाता है। **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से समास की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँपों (दोनों जस् प्रत्ययों) का लुक् तथा अग्रिमसूत्र (९६७) से विशेषण का पूर्वनिपात कर विशेष्यानुसार लिङ्ग और विभक्ति लाने से 'चतुर्मुखः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]। यहां चतुर् और मुख दोनों पद अपने अपने अर्थों को अन्यपद के अर्थ में समर्पित करते हुए चारमुखों वाले देवविशेष को कह रहे हैं अतः वे अन्यपदार्थ में वर्त्तमान हैं। इसीप्रकार—क्षीणं वित्तं यस्य सः=क्षीणवित्तः पुरुषः, क्षीणं बलं यस्य सः=क्षीणबलो राजा, छिन्नं मूलं यस्य सः=छिन्नमूलो वृक्षः, स्वल्पं तोयं यस्य सः=स्वल्पतोयस्तडागः, आरूढो वानरो यं सः=आरूढवानरः पादपः—इत्यादि जानने चाहियें। बहुव्रीहिसमास का लिङ्ग-विभक्ति-वचन वही होता है जो अन्यपद का हुआ करता है, क्योंकि इस के अपने पद तो गौण हुआ करते हैं वे अन्यपद के अर्थ में स्थित होते हैं।

दो से अधिक पदों का बहुव्रीहि यथा—आरूढा बहवो वानरा यं सः=आरूढबहुवानरो वृक्षः। यहां 'आरूढ जस्+बहु जस्+वानर जस्' इन तीन पदों के अलौकिकविग्रह में प्रकृत **अनेकमन्यदार्थे** (९६६) से समास, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (तीनों जस् प्रत्ययों) का लुक् हो कर विशेष्य (वृक्ष) के अनुसार लिङ्ग-विभक्ति-वचन लाने पर 'आरूढबहुवानरः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[2]। इसीप्रकार—मत्ता बहवो मातङ्गा यस्मिन् तत्=मत्तबहुमातङ्गं वनम्। नीलमुज्ज्वलं वपुर्यस्य सः=नीलोज्ज्वलवपुर्मनुष्यः। पञ्च गावो धनं यस्य सः=पञ्चगवधनो[3] ब्राह्मणः आदि।

अब बहुव्रीहिसमास में पूर्वनिपात का नियम दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९६७) सप्तमी-विशेषणे बहुव्रीहौ। २।२।३५॥

सप्तम्यन्तं विशेषणं च बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात्। अत एव ज्ञापकाद् व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः॥

---

१. समास वैकल्पिक है अतः पक्ष में वाक्य (चत्वारि मुखानि यस्य सः) भी रहता है।

२. यहां पर यद्यपि 'बहवश्च ते वानराः—बहुवानराः' इस प्रकार कर्मधारयसमास कर पुनः 'आरूढा बहुवानरा यं स आरूढबहुवानरः' इस तरह बहुव्रीहि करने पर द्विपदबहुव्रीहि से ही कार्य हो सकता है तथापि तीनों पदों का एक साथ विग्रह करने पर भी यही रूप बने इस के लिये सूत्र में 'अनेकम्' पद का ग्रहण किया गया है।

३. इस की सांवस्तर सिद्धि पीछे (९३८-९३९) सूत्र पर दर्शा चुके हैं वहीं देखें।

अर्थः--बहुव्रीहिसमास में सप्तम्यन्त पद तथा विशेषण पद पूर्व में प्रयुक्त हो। **अत एव ज्ञापकाद्०**—यहां सप्तम्यन्त के पूर्वनिपात से यह ज्ञापित होता है कि क्वचित् व्यधिकरणपदबहुव्रीहिसमास भी हुआ करता है।

व्याख्या—सप्तमीविशेषणे ।१।२। बहुव्रीहौ ।७।१। पूर्वम् इति क्रियाविशेषणं द्वितीयैकवचनान्तम् (**उपसर्जनं पूर्वम्** सूत्र से)। 'प्रयुज्यते' इति क्रियापदमध्याहार्यम्। सप्तमी च विशेषणं च सप्तमीविशेषणे, द्वन्द्वसमासः परवल्लिङ्गता च। **प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः** (प०) के अनुसार तदन्तविधि हो कर 'सप्तम्यन्तम्' बन जाता है। अर्थः—(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहिसमास में (सप्तमीविशेषणे) सप्तम्यन्त पद और विशेषण पद (पूर्वम्) पूर्व में प्रयुक्त होते हैं। बहुव्रीहिविधायक सूत्र में 'अनेकम्' इस प्रथमान्त पद के कारण तद्बोध्य सब पद प्रथमानिर्दिष्ट होने से उपसर्जनसंज्ञक होते थे अतः **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से सब का पूर्वनिपात पर्यायतः प्राप्त होता था। इस पर यह सूत्र नियम करता है कि बहुव्रीहिसमास में सप्तम्यन्त पद का तथा विशेषणपद का पूर्वनिपात होता है। विशेषण के पूर्वनिपात के उदाहरण 'चतुर्मुखः, क्षीणवित्तः, क्षीणबलः' आदि अनेक पीछे दर्शाये जा चुके हैं। सप्तम्यन्त के पूर्वनिपात का उदाहरण 'कण्ठे कालो यस्य सः=कण्ठेकालः' आदि है। अब इस की सिद्धि की जायेगी।

परन्तु यहां एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि बहुव्रीहिसमास तो प्रथमान्त पदों का ही विधान किया गया है अतः इस में कोई पद सप्तम्यन्त नहीं हो सकता तो पुनः यहां सप्तम्यन्त के पूर्वनिपात का विधान कैसे किया जा रहा है? इस का उत्तर कौमुदीकार इस प्रकार देते हैं—

अत एव ज्ञापकाद् व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः

अर्थात् जब बहुव्रीहिसमास में सब पद प्रथमान्त होने से समानाधिकरण ही होते हैं कोई पद व्यधिकरण नहीं होता तो पुनः आचार्य का इस में सप्तम्यन्त पद का पूर्वनिपात करना यह ज्ञापित करता है कि क्वचित् व्यधिकरणपदों में भी बहुव्रीहिसमास हो जाता है। यदि ऐसा न होता तो सूत्रकार सप्तम्यन्त पद का बहुव्रीहि में पूर्वनिपात क्यों कहते? उन का ऐसा कहना व्यधिकरणपदबहुव्रीहिसमास के होने का ज्ञापक है।

---

१. चतुर्मुखः, क्षीणवित्तः, क्षीणबलः, छिन्नमूलः, आरूढवानरः—इत्यादियों में समस्यमान पद एक ही अधिकरण (वाच्य) को कहते हैं, अतः इन का समास समानाधिकरणबहुव्रीहि कहलाता है। परन्तु जब समस्यमान पद भिन्न-भिन्न अधिकरणों या वाच्यार्थों को कहते हैं तो उसे व्यधिकरणबहुव्रीहिसमास कहा जाता है। यथा—उरसि लोमानि यस्य स उरसिलोमा। कण्ठे कालो यस्य स कण्ठेकालः। शरेभ्यो जन्म यस्य स शरजन्मा (कार्त्तिकेय)। अग्रे जन्म यस्य सोऽग्रजन्मा (ब्राह्मण या बड़ा भाई)। इन्दुर्मौलौ यस्य स इन्दुमौलिः (शिव)। चन्द्रो मौलौ यस्य स चन्द्रमौलिः (शिव)। दण्डः पाणौ यस्य स दण्डपाणिः। चक्रं पाणौ यस्य स चक्रपाणिः (विष्णु)। पद्मं नाभौ यस्य स पद्मनाभः (विष्णु)। इत्यादि व्यधिकरणबहुव्रीहि

अब इस व्यधिकरण बहुव्रीहि में सप्तम्यन्त पद के पूर्वनिपात को दर्शाते हैं—

लौकिकविग्रह—कण्ठे कालो यस्य सः = कण्ठेकालः (कण्ठ में काल = नील वर्ण है जिस के अर्थात् नीलकण्ठ महादेव या पक्षिविशेष)। अलौकिकविग्रह—कण्ठ ङि + काल सुँ। यहां **सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ** (९६७) में सप्तम्यन्त के पूर्वनिपात करने के सामर्थ्य से क्वचित् व्यधिकरण पदों में भी बहुव्रीहिसमास के ज्ञापित होने से **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) द्वारा अन्यपदार्थ में वर्त्तमान दोनों पदों का बहुव्रीहिसमास हो जाता है। इस समास में **सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ** (९६७) सूत्र से सप्तम्यन्त का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँपों (ङि और सुँ) का लुक् प्राप्त होता है। इन में सुँ का लुक् तो हो जाता है परन्तु 'ङि' के लुक् का अग्रिम-सूत्र से निषेध होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९६८) हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम्। ६।३।८॥

हलन्ताद् अदन्ताच्च सप्तम्या अलुग् (उत्तरपदे परे संज्ञायां गम्यमानायाम्)। कण्ठेकालः। प्राप्तमुदकं यं प्राप्तोदको ग्रामः। ऊढरथोऽनड्वान्। उपहृतपशू रुद्रः। उद्धृतौदना स्थाली। पीताम्बरो हरिः। वीरपुरुषको ग्रामः॥

अर्थः—सञ्ज्ञा गम्यमान होने पर उत्तरपद के परे रहते हलन्त और अदन्त शब्दों से परे सप्तमी विभक्ति का लुक् नहीं होता।

व्याख्या—हलदन्तात् ।५।१। सप्तम्याः ।६।१। संज्ञायाम् ।७।१। अलुक् ।१।१। उत्तरपदे ।७।१। (**अलुगुत्तरपदे** सूत्र पीछे से अधिकृत है)। हल् च अत् च हलत्, हलत् अन्ते यस्य स हलदन्तः, तस्मात् = हलदन्तात् (शब्दात्), द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिसमासः। न लुक्—अलुक्, नञ्तत्पुरुषः। अर्थः—(संज्ञायाम्) संज्ञा गम्यमान हो तो (हलदन्तात्) हलन्त या अदन्त शब्द से परे (सप्तम्याः) सप्तमी विभक्ति का (अलुक्) लुक् नहीं होता (उत्तरपदे) उत्तरपद परे होने पर।

हलन्त से परे सप्तमी का अलुक् यथा—

के उदाहरण हैं। व्यधिकरणबहुव्रीहि में पदों की विभक्तियां भिन्न भिन्न होती हैं और समानाधिकरणबहुव्रीहि में एक समान। परन्तु इस बात का ध्यान रहे कि ज्ञापकसिद्ध यह व्यधिकरणबहुव्रीहि सर्वत्र नहीं होता, लोकप्रसिद्ध कुछ प्रयोगों तक ही सीमित है। कहा भी गया है—**ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र**। अत एव 'पञ्चभिर्भुक्तमस्य', 'रत्नैः शोभाऽस्य' इत्यादियों में व्यधिकरणबहुव्रीहि नहीं होता।

त्वचिसार: (त्वक् में ही जिस का सार है अर्थात् बांस का पेड़) । युधिष्ठिर: (युद्ध में स्थिर अर्थात् धर्मराज युधिष्ठिर) इत्यादि[1] ।

अदन्त से परे सप्तमी का अलुक् यथा—

अरण्येतिलका: (जंगली तिल), अरण्येमाषका: (जंगली माष), वनेकिंशुका:, वनेहरिद्रका: आदि । इन में **संज्ञायाम्** (२.१.४३)[2] सूत्र से तत्पुरुषसमास हुआ है । अत: उत्तरपद के परे रहते प्रकृतसूत्र से सप्तमी का अलुक् हो गया है ।

प्रकृत में 'कण्ठ ङि+काल' यह शिव या पक्षिविशेष की सञ्ज्ञा है । यहां 'कण्ठ' इस अदन्त से परे सप्तमीविभक्ति (ङि) विद्यमान है अत: **हलदन्तात् सप्तम्या: संज्ञायाम्** (९६८) सूत्र से सप्तमी के लुक् का निषेध हो जाता है । पुन: 'ङि' के ङकार का लोप हो कर गुण करने से 'कण्ठेकाल' यह समस्त शब्द उपपन्न होता है । अब प्रातिपदिकसंज्ञा के कारण इस से स्वाद्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर विशेष्यानुसार लिङ्ग मानने से 'कण्ठेकाल:' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[3]

नोट—इस व्यधिकरणबहुव्रीहि में सप्तम्यन्त का सर्वत्र पूर्वनिपात नहीं होता । इस के भी कई अपवादस्थल हैं । यथा—दण्ड: पाणौ यस्य स: = दण्डपाणि:, चक्रं पाणौ यस्य स: = चक्रपाणि:, असि: पाणौ यस्य स: = असिपाणि: । इन में **प्रहरणार्थेभ्य: परे निष्ठासप्तम्यौ** (वा०) वार्तिकद्वारा सप्तम्यन्त का परनिपात हो जाता है ।

अनेकमन्यपदार्थे (९६६) द्वारा अन्यपदार्थ को विशिष्ट करने वाले प्रथमान्त पदों का बहुव्रीहिसमास कहा गया है । प्रथमान्त पदों के अन्यपदार्थ द्वितीयान्त आदि ही हो सकते हैं । अत: द्वितीयान्त आदि अन्यपदार्थों में ही यह समास होता है । अब इन के क्रमश: उदाहरण दिये जाते हैं ।

द्वितीयान्त अन्यपद के अर्थ में उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—प्राप्तम् उदकं यं स: = प्राप्तोदको ग्राम: (जिसे पानी प्राप्त हो

---

१. यहां 'त्वचिसार:' में बहुव्रीहिसमास तथा 'युधिष्ठिर:' में **सञ्ज्ञायाम्** (२.१.४३) सूत्रद्वारा तत्पुरुषसमास हुआ है । 'युधि+स्थिर' में **गवि-युधिभ्यां स्थिर:** (८.३.९५) सूत्र से सकार को षत्व होकर **ष्टुना ष्टु:** (६४) सूत्रद्वारा थकार को ष्टुत्वेन ठकार हो जाता है ।

२. **सञ्ज्ञायाम्** (२.१.४३) । अर्थ:—संज्ञा गम्य हो तो सप्तम्यन्त सुँबन्त समर्थ सुँबन्त के साथ समास को प्राप्त होता है और वह समास तत्पुरुषसंज्ञक होता है ।

३. वस्तुत: यहां **अमूर्धमस्तकात् स्वाङ्गादकामे** (६.३.११) सूत्र से ही सप्तमी का अलुक् होता है । परन्तु संक्षेपवश यह सूत्र लघु-सिद्धान्त-कौमुदी में पढ़ा नहीं गया अत: प्रकृत सूत्र से काम चला लिया गया है । विस्तार के लिये काशिका या सिद्धान्तकौमुदी का अवलोकन करें ।

चुका है ऐसा ग्राम आदि[1])। अलौकिकविग्रह—प्राप्त सुँ+उदक सुँ। यहां दोनों प्रथमान्त पद अन्यपद (ग्राम) को विशिष्ट कर रहे हैं अतः अन्यपदार्थ में वर्त्तमान इन पदों का **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) सूत्र से वैकल्पिक बहुव्रीहिसमास होकर समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, विशेषण का **सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ** (९६७) से पूर्वनिपात, **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) सूत्रद्वारा प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (सुँ और सुँ) का लुक् कर **आद् गुणः** (२७) से गुण एकादेश किया तो 'प्राप्तोदक' यह समस्त शब्द उपपन्न हुआ। अब विशेष्यानुसार इस से लिङ्ग, विभक्ति और वचन लाने पर प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर विभक्तिकार्य करने से 'प्राप्तोदकः'[2] (ग्रामः) प्रयोग सिद्ध हो जाता है। समास के वैकल्पिक होने से पक्ष में वाक्य (लौकिकविग्रह) भी रहता है।

इसीप्रकार—आरुढो वानरो यं सः = आरूढवानरः (वृक्षः), आरूढसैनिकोऽश्वः—इत्यादि द्वितीयान्त के अन्य उदाहरण समझने चाहियें।

तृतीयान्त अन्यपद के अर्थ में उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—ऊढो रथो येन स ऊढरथोऽनड्वान् (जो रथ को पहुँचा चुका है ऐसा बैल)। अलौकिकविग्रह—ऊढ सुँ+रथ सुँ। यहां दोनों प्रथमान्त पद अन्यपद (अनडुह् = बैल) को विशिष्ट करते हैं अतः अन्यपद के अर्थ में वर्त्तमान इन का **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से बहुव्रीहिसमास हो प्रातिपदिकसंज्ञा, विशेषण का पूर्वनिपात तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) सूत्रद्वारा प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (सुँ और सुँ) का लुक् कर विशेष्यानुसार लिङ्ग, विभक्ति और वचन लाने से 'ऊढरथः' (अनड्वान्) प्रयोग सिद्ध हो जाता है। समास वैकल्पिक है अतः पक्ष में वाक्य (लौकिकविग्रह) भी रहेगा।

इसीप्रकार—पीतम् उदकं येन स पीतोदकोऽश्वः, निर्जितः कामो येन स निर्जितकामः शिवः, दृष्टा मथुरा येन स दृष्टमथुरो[3] देवदत्तः इत्यादि तृतीयान्त के अन्य उदाहरण समझने चाहियें।

चतुर्थ्यन्त अन्यपद के अर्थ में उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—उपहृतः पशुर्यस्मै स उपहृतपशू रुद्रः[4] (जिसे पशु भेंट चढ़ाया

---

१. विशेष्य दर्शाने के लिये ही निदर्शनार्थ 'ग्रामः' पद का प्रयोग किया गया है, समास तो 'प्राप्तोदकः' मात्र है। इसी तरह आगे के उदाहरणों में समझना चाहिये।

२. अत्र समासेनोक्तत्वान्न कर्मणि द्वितीया, प्रत्युत प्रथमैव।

३. यहां 'दृष्टा' को **स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्०** (९६९) से पुंवद्भाव तथा नियतविभक्तिक 'मथुरा' की उपसर्जनसंज्ञा होकर **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** (९५२) से ह्रस्व हो जाता है।

४. 'सवितॄ रश्मयः' की तरह 'उपहृतपशू रुद्रः' में सन्धि जाननी चाहिये। तथाहि—'उपहृतपशुस् + रुद्रः' यहां सकार को **ससजुषो रुः** (१०५) से रुँ आदेश, उकार अनुबन्ध का लोप, **रो रि** (१११) से रेफ का लोप तथा **ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** (११२) सूत्रद्वारा पूर्व अण् = उकार को दीर्घ करने से 'उपहृतपशू रुद्रः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

गया है वह शिव)। अलौकिकविग्रह—उपहृत सुँ + पशु सुँ। यहां दोनों प्रथमान्त पद अन्यपद (रुद्र) को विशिष्ट करते हैं अतः अन्यपद के अर्थ में वर्त्तमान इन दोनों का **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से बहुव्रीहिसमास, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, विशेषण का पूर्वनिपात, सुँब्लुक् तथा विशेष्य के अनुसार लिङ्ग, विभक्ति और वचन लाने से 'उपहृतपशुः' (रुद्रः) प्रयोग सिद्ध हो जाता है। समाम वैकल्पिक है अतः पक्ष में वाक्य (लौकिकविग्रह) भी रहता है।

इसीप्रकार—दत्तो बलिर्यस्मै स दत्तबलिर्दैत्यः, उपनीतं भोजनं यस्मै स उपनीतभोजनो ब्राह्मणः इत्यादि चतुर्थ्यन्त के अन्य उदाहरण समझने चाहियें।

पञ्चम्यन्त अन्यपद के अर्थ में उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—उद्धृत ओदनो यस्याः सा उद्धृतौदना स्थाली (जिस से ओदन = भात निकाल लिया गया है ऐसी बटलोई)। अलौकिकविग्रह—उद्धृत सुँ + ओदन सुँ। यहां दोनों प्रथमान्त पद अन्यपद (स्थाली) को विशिष्ट करते हैं अतः अन्यपद के अर्थ में वर्त्तमान इन दोनों का **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से बहुव्रीहिसमास, विशेषण का पूर्वनिपात, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक् तथा **वृद्धिरेचि** (३३) द्वारा वृद्धि एकादेश करने पर—उद्धृतौदन। यहां स्त्रीलिङ्ग स्थालीशब्द विशेष्य है अतः तदनुसार समास से भी स्त्रीत्व की विवक्षा में **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से टाप् प्रत्यय हो कर टकार और पकार अनुबन्धों का लोप, सवर्णदीर्घ तथा प्रथमा के एकवचन में सकार का हल्ङ्यादिलोप (१७९) करने पर 'उद्धृतौदना' (स्थाली) प्रयोग सिद्ध हो जाता है। समास के वैकल्पिक होने से पक्ष में वाक्य भी रहेगा।

इसीप्रकार—च्युतानि फलानि यस्मात् स च्युतफलस्तरुः, भीताः शत्रवो यस्मात् स भीतशत्रुर्नरपतिः इत्यादि पञ्चम्यन्त के अन्य उदाहरण समझने चाहियें।

षष्ठ्यन्त अन्यपद के अर्थ में उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—पीतानि अम्बराणि यस्य स पीताम्बरो[1] हरिः (पीले वस्त्रों वाला अर्थात् श्रीकृष्ण)। अलौकिकविग्रह—पीत जस् + अम्बर जस्। यहां दोनों प्रथमान्त पद अन्यपद (हरि) को विशिष्ट करते हैं अतः अन्यपदार्थ में वर्त्तमान इन दोनों का **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से बहुव्रीहिसमास, विशेषण का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक् तथा **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ करने पर—पीताम्बर। अब विशेष्य (हरि) के अनुसार लिङ्ग, विभक्ति और वचन लाने पर प्रथमा के एकवचन में 'पीताम्बरः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। समास वैकल्पिक है अतः पक्ष में वाक्य (लौकिकविग्रह) भी रहता है।

---

१. श्री पं० चारुदेव जी शास्त्री का कथन है कि यहां 'पीते अम्बरे यस्य स पीताम्बरः' ऐसा द्विवचनघटित विग्रह ही उचित है। कारण कि इस देश में दो वस्त्र (धोती और चादर) ही पहिरने की प्रथा थी।

इसीप्रकार—महान्तौ बाहू यस्य स महाबाहुः[1] (बड़ी-बड़ी भुजाओं वाला)। अस्ति (विद्यमानम्)[2] क्षीरं यस्याः सा अस्तिक्षीरा गौः (दूध देने वाली गाय)। कृशं धनं यस्य स कृशधनः[3] (स्वल्प धन वाला अर्थात् निर्धन)। लम्बौ कर्णौ यस्य स लम्बकर्णः (लम्बे कानों वाला अर्थात् गधा)। चत्वारि आननानि यस्य स चतुराननः[4] (चार मुखों वाला अर्थात् ब्रह्मा)। उद्विग्नं मनो यस्य स उद्विग्नमनाः (दुःखी मन वाला)। छिन्नं मूलं यस्य स छिन्नमूलो वृक्षः (काटे गये मूल वाला पेड़)। विशाले नेत्रे यस्य स विशालनेत्रः (विशाल नेत्रों वाला)। आस्वाद्यं तोयं यस्याः सा= आस्वाद्यतोया[5] नदी (मीठे पानी वाली नदी) इत्यादि षष्ठ्यन्त के अन्य उदाहरण समझने चाहियें।

सप्तम्यन्त अन्यपद के अर्थ में उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—वीराः पुरुषा यस्मिन् स वीरपुरुषको ग्रामः (वीर पुरुषों वाला गांव)। अलौकिकविग्रह—वीर जस्+पुरुष जस्। यहां दोनों प्रथमान्त पद अन्यपद (ग्राम) को विशिष्ट करते हैं अतः अन्यपदार्थ में वर्त्तमान इन पदों का **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से बहुव्रीहिसमास, विशेषण का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तथा सुँब्लुक् करने पर—वीरपुरुष। अब वक्ष्यमाण **शेषाद्विभाषा** (९८४) सूत्र-द्वारा विकल्प से समासान्त कप् (क) प्रत्यय करने पर—वीरपुरुषक। विशेष्य (ग्राम) के अनुसार लिङ्ग, विभक्ति और वचन लाने से प्रथमा के एकवचन में 'वीरपुरुषकः' (ग्रामः) प्रयोग सिद्ध हो जाता है। जहां कप् न होगा वहां 'वीरपुरुषः' (ग्रामः) बनेगा। समास के वैकल्पिक होने से पक्ष में स्वपदविग्रह वाक्य भी रहेगा।

इसीप्रकार—बहु सस्यं यस्मिन्[6] तत्=बहुसस्यं क्षेत्रम्, नव रन्ध्राणि यस्मिन् स नवरन्ध्रो देहः इत्यादि सप्तम्यन्त के अन्य उदाहरण समझने चाहियें।

---

१. यहां **आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः** (९५९) सूत्र से महत् के तकार को आकार आदेश हो कर सवर्णदीर्घ हो जाता है।

२. यहां 'अस्ति' यह विद्यमानार्थक अव्यय है। इसे क्रिया समझने की भूल नहीं करनी चाहिये वरन् समास न हो सकेगा। **सह सुँपा** (९०६) के अनुसार सुँबन्त का ही सुँबन्त के साथ समास होता है। 'अस्ति' अव्यय का विशेष विवेचन इस व्याख्या के अव्यय-प्रकरण में किया जा चुका है वहीं देखें।

३. **सुहृदपि न वाच्यः कृशधनः**—(नीतिशतक ५६)।

४. **इतरपापफलानि यदृच्छया वितर तानि सहे चतुरानन।**
अरसिकेषु कवित्वनिवेदनं शिरसि मा लिख मा लिख मा लिख॥

५. **आस्वाद्यतोयाः प्रवहन्ति नद्यः समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः**—(हितोप०)

६. इस तरह के विग्रहों में 'यस्मिन्, यस्याम्' आदि के स्थान पर 'यत्र' का भी प्रयोग हो सकता है।

वक्तव्य—अन्यपदप्रधान बहुव्रीहिसमास के दो भेद सुप्रसिद्ध हैं—१. तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिसमास, २. अतद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिसमास । जिस बहुव्रीहिसमास में अन्यपदार्थ की प्रधानता के साथ-साथ समस्यमान पदों के अर्थों का भी प्रवेश हो वह 'तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहिसमास' होता है । यथा—'पीतान्यम्बराणि यस्य स पीताम्बरः पुरुषः' यहां अन्यपदार्थ=पुरुष की प्रधानता के साथ-साथ समस्यमान पदों के अर्थ का भी त्याग नहीं हुआ । यदि कहा जाये कि 'पीताम्बरमानय' (पीले वस्त्र वाले को लाओ) तो उस पुरुष के साथ पीले कपड़े भी आएंगे । अतः यहां तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिसमास है । इसीप्रकार—सर्वादयः, प्रादयः, धृतवीणः, लम्बकर्णः, रक्तमुखः, छिन्नकर्णः, वीणामण्डितकरा, श्वेतकूर्चकः, विशालनेत्रः आदियों में तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहिसमास समझना चाहिये । जहां अन्यपदार्थ के साथ समस्यमान पदों के अर्थ का प्रवेश नहीं होता वहां 'अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहिसमास' होता है । यथा—दृष्टा मथुरा येन स दृष्टमथुरः पुरुषः । यहां अन्यपदार्थ (पुरुष) की प्रधानता के साथ समस्यमान पदों के अर्थों का प्रवेश नहीं होता । यदि कहा जाये कि 'दृष्टमथुरमानय' (जिस ने मथुरा देखी है उसे लाओ) तो उस पुरुष के साथ देखी गई मथुरा नहीं आयेगी । अतः यह 'अतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमास' है । इसीप्रकार—चित्रगुः, बहुधनः, विदितसकलवेदितव्यः, उपजातकुतूहलः, अभ्यस्तविविधशास्त्रः, बह्वपत्यः, दृष्टसकलकुलविनाशः इत्यादियों में अतद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहिसमास समझना चाहिये ।

अब अग्रिम दो वार्त्तिकों के द्वारा बहुव्रीहिसमास में पूर्वपदस्थ उत्तरपद के लोप का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(६५) प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः ॥

प्रपतितपर्णः प्रपर्णः ॥

अर्थः—प्र आदियों से परे जो धातुज (कृदन्त) शब्द, तदन्त प्रथमान्त का अन्य प्रथमान्त के साथ विकल्प से बहुव्रीहिसमास हो जाता है और इस बहुव्रीहिसमास में पूर्वपद में स्थित धातुज उत्तरपद का विकल्प से लोप हो जाता है ।[1]

व्याख्या—प्र आदियों से परे धातुज कृदन्त शब्दों का पहले प्रादिसमास होता है । जैसे—प्रकृष्टं पतितम् प्रपतितम् । यहां 'प्र' का 'पतित सुँ' के साथ **प्रादयो गताद्यर्थे प्रथमया** (वा० ५८) द्वारा नित्य तत्पुरुषसमास हो जाता है । अब समस्त हुए इस 'प्रपतित' **प्रथमान्त** का जब अन्य प्रथमान्त के साथ सामान्यनियमानुसार बहुव्रीहिसमास किया जाता है तो इस बहुव्रीहि में पूर्वपद (प्रपतित) के धातुज उत्तरपद (पतित) का विकल्प से लोप हो जाता है । उदाहरण यथा—

१. यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि बहुव्रीहिसमास तो **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से ही सिद्ध है, यह वार्त्तिक पूर्वपदस्थ उत्तरपद के वैकल्पिक लोप के विधानार्थ ही रचा गया है ।

लौकिकविग्रह—प्रपतितानि पर्णानि यस्य सः[1] = प्रपर्णः प्रपतितपर्णो वा वृक्षः (जिस के पत्ते अच्छी तरह झड़ चुके हैं ऐसा पेड़)। अलौकिकविग्रह—प्रपतित जस् + पर्ण जस्। यहां दोनों प्रथमान्त पद अन्यपद (वृक्ष) को विशिष्ट करते हैं अतः **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) सूत्रद्वारा दोनों में बहुव्रीहिसमास हो कर विशेषण का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (दोनों जस् प्रत्ययों) का लुक् करने पर 'प्रपतितपर्ण' बना। अब **प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः** (वा० ६५) इस प्रकृतवार्त्तिक से 'प्रपतित' शब्द के उत्तरपद 'पतित' का विकल्प से लोप हो जाता है—प्रपर्ण। विशेष्य (वृक्ष) के अनुसार लिङ्ग, विभक्ति और वचन लाने पर 'प्रपर्णः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। जिस पक्ष में उत्तरपद का लोप नहीं होता वहां 'प्रपतितपर्णः' बनता है। समास वैकल्पिक है अतः समास के अभाव में 'प्रपतितानि पर्णानि यस्य सः' इस प्रकार स्वपदविग्रह वाक्य भी रहेगा।

इसीप्रकार—

(१) प्रपतितानि पलाशानि (पत्त्राणि) यस्य स प्रपलाशः प्रपतित-पलाशो वा पादपः (झड़ चुके पत्तों वाला पेड़)।

(२) अपगतो मन्युर्यस्य सोऽपमन्युरपगतमन्युर्वा (जिस का क्रोध शान्त हो चुका है ऐसा पुरुष)[2]।

(३) प्रवृद्धम् उदरं यस्य स प्रोदरः प्रवृद्धोदरो वा (बढ़े हुए पेट वाला, तुन्दिल)।

(४) विगतो धवः (पतिः) यस्याः सा विधवा (जिसका पति मर चुका है ऐसी नारी)।

(५) अध्यारोपिता ज्या यत् (द्वितीयान्तम्) तद् अधिज्यं धनुः (चिल्ला चढ़ाया धनुष)।[3]

(६) निर्गता जना यस्मात् स निर्जनः प्रदेशः (जनहीन प्रदेश)।

(७) निर्गता घृणा (दया) यस्मात् स निर्घृणः (दयाहीन, क्रूर)[4]।

---

१. 'पर्ण' (न०) पत्ते को कहते हैं—**पत्त्रं पलाशं छदनं दलं पर्णं छदः पुमान्** इत्यमरः। यहां 'प्रपतितानि पर्णानि यस्मात् सः' इस प्रकार का विग्रह भी हो सकता है।

२. **अपमन्युस्ततो वाक्यं पौलस्त्यो राममुक्तवान्** (भट्टि० १६.१)।

३. अधिज्यं धनुर्यस्य सोऽधिज्यधन्वा। यहां 'अधिज्यधनुष्' शब्द के अन्त्य षकार को **धनुषश्च** (५.४.१३२) सूत्र से समासान्त अनँङ् (अन्) आदेश हो कर यण् करने से 'अधिज्यधन्वन्' शब्द बन जाता है। इस की रूपमाला 'यज्वन्' शब्द की तरह होती है। साहित्यगत प्रयोग यथा—

अधिज्यधन्वा विचचार दावम्—(रघु० २.८)।

४. **मिथ्याकारुणिकोऽसि निर्घृणतरस्त्वत्तोऽस्ति कोऽन्यः पुमान्** (पञ्च० ५.१४)।

(८) निर्गता स्पृहा यस्य स निःस्पृहः (इच्छारहित)।
(९) निर्गता त्रपा (लज्जा) यस्मात् स निस्त्रपः (निर्लज्ज)।
(१०) निर्गतं फलं यस्मात् तद् निष्फलं कर्म (फलहीन कर्म)।
(११) निर्गतोऽर्थो यस्मात् तद् निरर्थकम् (समासान्तः कप्, अर्थहीन)[1]।
(१२) उद्गता रश्मयो यस्य स उद्रश्मिश्चन्द्रः (निकली हुई किरणों वाला चन्द्र आदि)।
(१३) विक्षिप्तो हस्तो यस्य स विहस्तः (व्याकुल)[2]।
(१४) परिस्रुतानि अश्रूणि याभ्यां ते पर्यश्रुणी नयने (अश्रुओं से पूर्ण नेत्र)[3]।

नोट—इस तरह के समास में कुछ शब्दों के तो दोनों रूप प्रसिद्ध हैं परन्तु कुछेक शब्दों का एकपक्षीय रूप ही प्रसिद्ध है। यथा—विधवा, अधिज्यम्, निर्जनः, निर्घृणः, विहस्तः आदि। इन का दूसरा (लोपाभाव वाला) रूप यद्यपि व्याकरणविरुद्ध नहीं तथापि लोक में अधिक व्यवहृत नहीं होता।

अब दूसरे वार्तिकद्वारा बहुव्रीहिसमास के पूर्वपदस्थ उत्तरपद का लोप विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(६६) नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपद-लोपः॥

अविद्यमानपुत्रोऽपुत्रः॥

अर्थः—नञ् से परे अस्त्यर्थक (विद्यमानार्थक) जो शब्द तदन्त प्रथमान्त का अन्य प्रथमान्त के साथ विकल्प से बहुव्रीहिसमास हो जाता है और इस बहुव्रीहि के पूर्वपद में स्थित विद्यमानार्थक उत्तरपद का विकल्प से लोप हो जाता है।[4]

व्याख्या—मौजूद=विद्यमान अर्थ वाले शब्दों को अस्त्यर्थक शब्द कहते हैं। नञ् से परे अस्त्यर्थक शब्द आ कर पहले नञ्तत्पुरुषसमास होता है। यथा—न विद्यमानः—अविद्यमानः। यहां 'न+विद्यमान सुँ' में **नञ्** (९४६) सूत्रद्वारा तत्पुरुषसमास, नञ् का पूर्वनिपात, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक् तथा **न लोपो नञः** (९४७) से नञ् के आदि नकार का भी लोप कर विभक्ति लाने से 'अविद्यमानः' बन जाता है। अब इस 'अविद्यमान सुँ' का जब 'पुत्र सुँ' के साथ अन्यपदार्थ में बहुव्रीहिसमास किया जाता है तो इस समास में पूर्वपद (अविद्यमान) में स्थित उत्तरपद (विद्यमान) का विकल्प से लोप हो जाता है।

---

१. **निरर्थकं जन्म गतं नलिन्या यया न दृष्टं तुहिनांशुबिम्बम्। उत्पत्तिरिन्दोरपि निष्फलैव दृष्टा विभाता नलिनी न येन॥** (साहित्यदर्पणे)
२. **विहस्तव्याकुलौ समौ**—इत्यमरः।
३. **पर्यश्रुणी मङ्गलभङ्गभीरुर्न लोचने मीलयितुं विषेहे**—(किरात० ३.३६)।
४. यहां भी बहुव्रीहिसमास तो **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) सूत्र से ही सिद्ध है, यह वार्तिक विद्यमानार्थक उत्तरपद के वैकल्पिक लोप के लिये ही बनाया गया है।

उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—अविद्यमानः पुत्रो यस्य सोऽपुत्रोऽविद्यमानपुत्रो वा (जिस का पुत्र नहीं अर्थात् पुत्रहीन व्यक्ति)। अलौकिकविग्रह—अविद्यमान सुँ+पुत्र सुँ। यहां दोनों प्रथमान्त पद अन्यपदार्थ को विशिष्ट करते हैं अतः **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से इन में बहुव्रीहिसमास, विशेषण का पूर्वनिपात, प्रातिपदिकसंज्ञा तथा उस के अवयव सुँपों का लुक् करने से—अविद्यमानपुत्र। यहां पूर्वपद 'अविद्यमान' में उत्तरपद 'विद्यमान' शब्द है अतः **नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः** (वा० ६६) इस प्रकृत वार्त्तिक से उस का विकल्प से लोप कर विशेष्यानुसार लिङ्ग विभक्ति और वचन लाने से 'अपुत्रः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]। जहां लोप न हुआ वहां 'अविद्यमान-पुत्रः' बनेगा। समास के अभाव में वाक्य भी रहेगा।

इसीप्रकार—

(१) अविद्यमानो नाथो यस्य सः=अनाथोऽविद्यमाननाथो वा।
(२) अविद्यमानो रोगो यस्य सः=अरोगोऽविद्यमानरोगो वा।
(३) अविद्यमानः क्रोधो यस्य सः=अक्रोधोऽविद्यमानक्रोधो वा।
(४) अविद्यमाना करुणा यस्य सः=अकरुणोऽविद्यमानकरुणो वा[2]।
(५) अविद्यमाना भार्या यस्य सः=अभार्योऽविद्यमानभार्यो वा।
(६) अविद्यमानं कर्म यस्य सः=अकर्मकोऽविद्यमानकर्मको वा[3]।
(७) अविद्यमानः कायो यस्य तत्=अकायमविद्यमानकायं वा ब्रह्म।

इस नञ्बहुव्रीहि का 'नास्ति नाथो यस्य सोऽनाथः, नास्ति रोगो यस्य सोऽरोगः' इत्यादिप्रकार से प्रायः लोक में विग्रह दर्शाया जाता है। 'अविद्यमानः' और 'नास्ति' दोनों पर्यायवाची हैं।

जब इस नञ्बहुव्रीहि में उत्तरपद अजादि होता है तो **तस्मान्नुँडचि** (९४८) से उसे नुँट् का आगम भी हो जाता है। यथा—नास्ति अश्वो यस्य सोऽनश्वः, नास्ति अन्तो यस्य सोऽनन्तः, नास्ति आमयो यस्य सोऽनामयः (रोगरहित), नास्ति आतपो यत्र सोऽनातपः प्रदेशः। इत्यादि।

अब समास में पूर्वपद को पुंवद्भाव विधान करने के लिये अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं—

---

१. **अपुत्रस्य गृहं शून्यं सन्मित्ररहितस्य च**—(हितोप० १.१२७)।
२. लोपाभावपक्षे **स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्०** (९६९) इति पूर्वपदस्य पुंवद्भावः। उत्तरपदस्य तु **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** (९५२) इत्युपसर्जनह्रस्वः।
३. समासान्तः कप्।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९६९) **स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु ।६।३।३३ ॥**

उक्तपुंस्काद् अनूङ्=ऊङोऽभावोऽस्याम् इति बहुव्रीहिः । निपातनात् पञ्चम्या अलुक् षष्ठ्याश्च लुक् । तुल्ये प्रवृत्तिनिमित्ते यदुक्तपुंस्कं तस्मात् पर ऊङोऽभावो यत्र तथाभूतस्य स्त्रीवाचकशब्दस्य पुंवाचकस्येव रूपं स्यात् समानाधिकरणे स्त्रीलिङ्गे उत्तरपदे, न तु पूरण्यां प्रियादौ च परतः । गोस्त्रियोरुप० (९५२) इति ह्रस्वः—चित्रगुः । रूपवद्भार्यः । अनूङः किम् ? वामोरूभार्यः ॥

अर्थः—जिस से परे ऊङ् प्रत्यय न किया गया हो ऐसे भाषितपुंस्क स्त्रीलिङ्ग शब्द को पुंवत्[1] हो जाता है समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग उत्तरपद परे हो तो। परन्तु पूरणी या प्रिया आदि के परे रहते यह पुंवद्भाव नहीं होता ।

व्याख्या—स्त्रियाः ।६।१। पुंवद् इत्यव्ययपदम् । भाषितपुंस्कादनूङ् इति लुप्तषष्ठ्येकवचनान्तम् । समानाधिकरणे ।७।१। स्त्रियाम् ।७।१। अपूरणीप्रियादिषु ।७।३। उत्तरपदे ।७।१। (**अलुगुत्तरपदे** से) । अन्वयः—भाषितपुँस्कादनूङ् स्त्रियाः पुंवद् अपूरणीप्रियादिषु समानाधिकरणे स्त्रियाम् उत्तरपदे । भाषितपुंस्कादनूङ्—यह एक ही समस्त पद है जो लुप्तषष्ठ्येकवचनान्त है और 'स्त्रियाः' का विशेषण है । इस का विग्रह इस प्रकार है—ऊङोऽभावः—अनूङ्, अर्थाभावेऽव्ययीभावः, भाषितपुंस्काद् अनूङ् यस्यां सा भाषितपुंस्कादनूङ् (स्त्री), तस्याः=भाषित-पुंस्कादनूङ् (स्त्रियाः) । यह व्यधिकरणबहुव्रीहिसमास है, इस में 'भाषितपुंस्कात्' पद की पञ्चमी का सौत्रत्वात्[2] लुक् नहीं हुआ और समास से षष्ठी का लुक् हो गया है । यदि लोकानुसार लिखते तो 'भाषितपुंस्कानूङः' ऐसा होता । 'जिस से परे ऊङ्प्रत्यय[3] नहीं किया गया ऐसे भाषित-पुंस्क का' यह इस पद का अर्थ है । प्रियाशब्द आदिर्येषान्ते प्रियादयः, तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिसमासः । पूरणी च प्रियादयश्च पूरणीप्रियादयः, तेषु=पूरणीप्रियादिषु, द्वन्द्वसमासः । न पूरणीप्रियादिषु—अपूरणीप्रियादिषु, नञ्तत्पुरुषः । 'पूरणी' से यहां पूरणार्थप्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्गशब्दों का ग्रहण होता है । द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी,

---

१. यहां 'पुंवत्= पुंलिङ्ग की तरह' का यह अभिप्राय है कि स्त्रीलिङ्गवाचक शब्दों के आगे जुड़े स्त्रीप्रत्यय हट जाते हैं । पुंलिङ्ग की तरह उन का रूप हो जाता है ।

२. छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति—इत्यभियुक्तोक्तेः सूत्रेष्वपि क्वचिच्छन्दोवत्कार्याणि भवन्ति । छन्दसि च सर्वे विधयो विकल्प्यन्ते इति प्रामाणिका आहुः ।

३. ऊङ् एक स्त्रीप्रत्यय है जो ऊङुतः (१२७१), पङ्गोश्च (१२७२), ऊरूत्तरपदा-दौपम्ये (१२७३), संहित-शफ-लक्षण-वामादेश्च (१२७४) आदि सूत्रोंद्वारा स्त्रीत्व की विवक्षा में विधान किया जाता है । वामोरू, करभोरू आदि ऊङ्प्रत्ययान्तों के उदाहरण हैं । इन का विस्तृत विवेचन स्त्रीप्रत्ययप्रकरण में देखना चाहिये ।

षष्ठी, सप्तमी, अष्टमी, नवमी, दशमी आदि पूरणी हैं[1]। प्रिया आदि शब्द गणपाठ में पढ़े गये हैं। अर्थः—(भाषितपुंस्कादनूङ्=भाषितपुंस्कानूङः) जिस से परे ऊङ् प्रत्यय का अभाव है अर्थात् जिस से परे ऊङ् प्रत्यय नहीं किया गया ऐसे भाषितपुंस्क (स्त्रियाः) स्त्रीलिङ्ग शब्द का (पुंवत्) पुंलिङ्ग की तरह रूप बन जाता है (अपूरणी-प्रियादौ समानाधिकरणे स्त्रियाम् उत्तरपदे) पूरणी और प्रिया आदि शब्दों के अतिरिक्त समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग उत्तरपद परे हो तो। सार—ऊङ्प्रत्ययान्तों से भिन्न भाषितपुंस्क स्त्रीलिङ्ग शब्द पुनः पुंलिङ्गवत् रूप धारण कर लेते हैं यदि उन से परे पूरणी-प्रियादियों से भिन्न अन्य कोई समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग शब्द उत्तरपद में हो तो।

जो शब्द जिस प्रवृत्तिनिमित्त को ले कर पुंलिङ्ग में प्रवृत्त होता है यदि वह उसी प्रवृत्तिनिमित्त को ले कर अन्य लिङ्ग या लिङ्गों में प्रवृत्त हो तो उसे भाषितपुंस्क कहते हैं[2]। इस का विवेचन पीछे (२४६) सूत्र पर विस्तार से इस व्याख्या में कर चुके हैं वहीं देखें।

सूत्र का प्रथम उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—चित्रा गावो यस्य स चित्रगुर्ब्राह्मणः (चित्रित गौओं वाला ब्राह्मण आदि)। अलौकिकविग्रह—चित्रा जस् + गो जस्। यहां दोनों प्रथमान्त पद अन्यपद (ब्राह्मण आदि) के अर्थ को विशिष्ट करते हैं अतः **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से इन का बहुव्रीहिसमास हो जाता है। समास में विशेषण का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (दोनों जस् प्रत्ययों) का लुक् करने पर 'चित्रा + गो' बना। अब यहां समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग 'गो' शब्द उत्तरपद में परे मौजूद है और इधर 'चित्रा' शब्द भाषितपुंस्क है (क्योंकि पुंलिङ्ग में भी चित्रशब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है), इस से परे ऊङ् प्रत्यय भी नहीं किया गया अतः **स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणी-प्रियादिषु** (९६९) इस प्रकृतसूत्र से 'चित्रा' को पुंवत् (चित्र) करने से—चित्रगो। बहुव्रीहिसमास में प्रथमानिर्दिष्ट होने से सब पद उपसर्जन होते हैं अतः **गोस्त्रियोरुप-सर्जनस्य** (९५२) सूत्रद्वारा उपसर्जनसंज्ञक 'गो' के अन्त्य अच्-ओकार को ह्रस्व = उकार आदेश (२५०) करने पर—चित्रगु। अब विशेष्यानुसार लिङ्ग, विभक्ति और वचन लाने से 'चित्रगुः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। समास वैकल्पिक है अतः पक्ष में वाक्य भी रहेगा।

सूत्र का दूसरा उदाहरण यथा—

---

१. इन पूरणार्थक प्रत्ययों का विधान आगे तद्धितप्रकरणान्तर्गत भवनार्थकप्रकरण में **तस्य पूरणे डट्** (११७५) आदि सूत्रोंद्वारा किया जायेगा। विस्तृत विवेचन वहीं देखें।

२. **यन्निमित्तमुपादाय पुंसि शब्दः प्रवर्त्तते।**
क्लीबवृत्तौ तदेव स्यादुक्तपुंस्कं तदुच्यते॥

लौकिकविग्रह—रूपवती भार्या यस्य स रूपवद्भार्यः पुरुषः (रूपवती स्त्री वाला पुरुष)। अलौकिकविग्रह—रूपवती सुँ + भार्या सुँ। यहां दोनों प्रथमान्त पद अन्यपद (पुरुष) के अर्थ को विशिष्ट करते हैं अतः **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से इन का बहुव्रीहिसमास, विशेषण का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (दोनों सुँ प्रत्ययों) का लुक् करने पर 'रूपवती + भार्या' बना। अब यहां समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग 'भार्या' शब्द उत्तरपद में परे विद्यमान है और इधर 'रूपवती' शब्द भाषितपुंस्क है (क्योंकि पुंलिङ्ग में भी 'रूपवत्' शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है), इस से परे ऊङ् प्रत्यय भी नहीं किया गया अतः **स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्०** (९६९) इस प्रकृतसूत्र से 'रूपवती' को पुंवत् (रूपवत्) हो **झलां जशोऽन्ते** (६७) सूत्रद्वारा पदान्त तकार को जश्त्व = दकार करने से—रूपवद्भार्या। बहुव्रीहिसमास में सब पद उपसर्जन होते हैं अतः **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** (९५२) से उपसर्जनसंज्ञक 'भार्या' शब्द के अन्त्य आकार को ह्रस्व आदेश करने पर विशेष्यानुसार लिङ्ग, विभक्ति और वचन लाने से 'रूपवद्भार्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। समास वैकल्पिक है अतः पक्ष में वाक्य भी रहेगा।

इसीप्रकार—

(१) दीर्घे जङ्घे यस्य सः = दीर्घजङ्घः।
(२) श्लक्ष्णा चूडा यस्य सः = श्लक्ष्णचूडः।
(३) दर्शनीया भार्या यस्य सः = दर्शनीयभार्यः।
(४) पट्वी भार्या यस्य सः = पटुभार्यः।
(५) निर्गता स्पृहा यस्य सः = निर्गतस्पृहः।
(६) निर्गता त्रपा यस्य सः = निर्गतत्रपः।
(७) सुन्दरी भार्या यस्य सः = सुन्दरभार्यः।
(८) एनी भार्या यस्य सः = एतभार्यः[1] (श्वेत पत्नी वाला)।
(९) युवतिर्जाया यस्य सः = युवजानिः (जवान औरत वाला)।[2]

---

१. **चित्रं किर्मीर-कल्माष-शबलैताश्च कर्बुरे**—इत्यमरः। एतशब्दः श्वेतपर्याय इति कल्पसूत्रव्याख्यातारो धूर्त्तस्वामिभवस्वामि-हरदत्तप्रभृतयो याज्ञिका इति **बालमनो-रमा**। 'एत' शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में **वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः (१२५८)** सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय तथा तकार को नकार आदेश हो भसंज्ञक अकार का लोप करने ते 'एनी' शब्द बनता है अतः पुंवत् करने पर उस का वही अपना रूप (एत) आ जाता है।

२. जायाशब्दान्त बहुव्रीहिसमास में **जायाया निङ्** (५.४.१३४) सूत्र से जायाशब्द के अन्त्य आकार को निङ् (नि) समासान्त आदेश हो कर उस 'नि' के परे रहते **लोपो व्योर्वलि** (४२९) से यकार का लोप करने से युवजानिः, **वृद्धजानिः**, **भूजानिः**, रमाजानिः आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं।

(१०) वृद्धा जाया यस्य सः=वृद्धजानिः (बूढ़ी औरत वाला)।

अब कौमुदीकार प्रत्युदाहरणोंद्वारा इस सूत्र को हृदयङ्गम कराते हैं—

अनूङ् **किम्** ? **वामोरूभार्यः**।

शङ्का—सूत्र में यह क्यों कहा गया है कि भाषितपुंस्क से परे ऊङ् प्रत्यय न किया गया हो ?

समाधान—यदि ऐसा न कहते तो 'वामोरूर्भार्या यस्य सः= **वामोरूभार्यः**' यहां पर भी पुंवत् हो कर 'वामोरुभार्यः' ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता। यहां 'वामोरु' शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में **संहित-शफ-लक्षण-वामादेश्च** (१२७४) सूत्रद्वारा ऊङ् प्रत्यय किया गया है। अतः समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग उत्तरपद 'भार्या' शब्द के परे होने पर भी भाषितपुंस्क को पुंवत् नहीं हुआ। **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** (९५२) से उपसर्जनह्रस्व हो कर 'वामोरूभार्यः' रहा। इसीप्रकार 'पङ्गूर्भार्या यस्य सः=पङ्गूभार्यः' (लङ्गड़ी औरत वाला) आदि में ऊङ् के कारण पुंवद्भाव का अभाव समझना चाहिये।

अब पूरणी (पूरणप्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग) समानाधिकरण उत्तरपद के परे रहते पुंवद्भाव नहीं होता इसे प्रत्युदाहरणद्वारा समझाने के लिये उपयोगी समासान्त प्रत्यय का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९७०) **अप् पूरणी-प्रमाण्योः** ।५।४।११६॥

पूरणार्थप्रत्ययान्तं यत् स्त्रीलिङ्गं तदन्तात् प्रमाण्यन्ताच्च बहुव्रीहेरप् (समासान्तः) स्यात्। कल्याणी पञ्चमी यासां रात्रीणां ताः कल्याणीपञ्चमा रात्रयः। स्त्री प्रमाणी यस्य स स्त्रीप्रमाणः। अप्रियादिषु किम् ? कल्याणी-प्रियः। इत्यादि॥

अर्थः—पूरणार्थप्रत्ययान्त जो स्त्रीलिङ्ग तदन्त बहुव्रीहि से तथा प्रमाणीशब्दान्त बहुव्रीहि से समासान्त अप् प्रत्यय हो।

व्याख्या—अप् ।१।१। पूरणीप्रमाण्योः ।६।२। बहुव्रीहौ ।७।१। (**बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्** सूत्र से)। **प्रत्ययः**, **परश्च**, **तद्धिताः**, **समासान्ताः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। पूरणी च प्रमाणी च पूरणीप्रमाण्यौ, तयोः=**पूरणीप्रमाण्योः**, इतरेतरद्वन्द्वः। 'पूरणीप्रमाण्योः' तथा 'बहुव्रीहौ' पदों को पञ्चम्यन्ततया विपरिणत कर लिया जाता है—पूरणीप्रमाणीभ्याम्, बहुव्रीहेः। पुनः विशेषण से तदन्तविधि करने पर—'पूरण्यन्तात् प्रमाण्यन्ताच्च बहुव्रीहेः' उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(पूरणीप्रमाण्योः= पूरण्यन्तात् प्रमाण्यन्ताच्च) पूरणी जिस के अन्त में हो या प्रमाणीशब्द जिस के अन्त में हो ऐसे (बहुव्रीहेः) बहुव्रीहिसमास से (परः) परे (अप् प्रत्ययः) अप् प्रत्यय हो जाता है और वह (समासान्तः) समास का अन्तावयव तथा (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक होता है। 'पूरणी' से यहां **तस्य पूरणे डट्** (११७५) आदि सूत्रों के द्वारा पूरण अर्थ में विधीय-

मान डट् आदि प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दों का ग्रहण होता है। प्रमाणीशब्द करणल्युडन्त (प्रमीयतेऽनेनेति प्रमाणम्) प्रमाणशब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र से टित्त्व के कारण ङीप् प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है। अप् प्रत्यय का पकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'अ' मात्र शेष रहता है। पित्करण स्वरार्थ है।

पूरण्यन्त बहुव्रीहि से समासान्त यथा—

लौकिकविग्रह—कल्याणी पञ्चमी यासां (रात्रीणां) ताः = कल्याणीपञ्चमा रात्रयः (जिन रातों में पाञ्चवीं रात कल्याणप्रदा है ऐसी रातें)। अलौकिकविग्रह—कल्याणी सुँ + पञ्चमी सुँ। यहां दोनों प्रथमान्त पद अन्यपद (रात्रि) के अर्थ को विशिष्ट कर रहे हैं अतः **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से इन का बहुव्रीहिसमास हो जाता है। विशेषण का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (दोनों सुँप्रत्ययों) का लुक् करने पर 'कल्याणी + पञ्चमी' हुआ। अब यहां पूरणी अर्थात् पूरणप्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग 'पञ्चमी'[1] शब्द परे विद्यमान है अतः 'अपूरणीप्रियादिषु' कथन के कारण समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग उत्तरपद के परे होने पर भी **स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्०** (९६९) सूत्रद्वारा 'कल्याणी' इस भाषितपुंस्क को पुंवद्भाव नहीं होता। पुनः पूरण्यन्त बहुव्रीहि से प्रकृत **अप् पूरणी-प्रमाण्योः** (९७०) सूत्रद्वारा समासान्त अप् प्रत्यय हो कर 'कल्याणीपञ्चमी अ' इस स्थिति में तद्धितसंज्ञक अप् प्रत्यय के परे रहते **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक ईकार का लोप हो जाता है—कल्याणीपञ्चम् अ = कल्याणीपञ्चम। अन्यपद 'रात्रयः' के कारण स्त्रीत्व की विवक्षा में **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से टाप्प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सवर्णदीर्घ तथा विभक्तिकार्य के प्रसङ्ग में प्रथमा के बहुवचन में 'कल्याणीपञ्चमाः' (रात्रयः) प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—कल्याणी दशमी यासां ताः = कल्याणीदशमाः रात्रयः, सुन्दरी पञ्चमी यासां ताः = सुन्दरीपञ्चमाः स्त्रियः—आदि की सिद्धि जाननी चाहिये।

प्रमाणीशब्दान्त बहुव्रीहि से समासान्त यथा—

लौकिकविग्रह—स्त्री प्रमाणी यस्य सः = स्त्रीप्रमाणः पुरुषः (स्त्री जिस की

---

१. पञ्चानां पूरणी—इस अर्थ में 'पञ्चन् आम्' से **तस्य पूरणे डट्** (११७५) सूत्रद्वारा डट् (अ) प्रत्यय, **नान्तादसंख्यादेर्मट्** (११७६) से डट् को मँट् (म्) का आगम, तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकत्वात् सुँब्लुक् तथा **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से नकार का भी लोप करने पर—पञ्चम। स्त्रीत्व की विवक्षा में डट्-प्रत्यय के टित्त्व के कारण **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) से ङीप् (ई) प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्तिकार्य करने पर 'पञ्चमी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

प्रमाण है अर्थात् स्त्री को प्रमाण मानने वाला पुरुष)। अलौकिकविग्रह—स्त्री सुँ + प्रमाणी सुँ। यहां दोनों प्रथमान्त पद अन्यपद (पुरुष) के अर्थ को विशिष्ट करते हैं अतः **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से इन का बहुव्रीहिसमास हो जाता है। समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (दोनों सुँप्रत्ययों) का लुक् करने से 'स्त्रीप्रमाणी' बना। यहां स्त्रीशब्द भाषितपुंस्क नहीं है अतः समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग 'प्रमाणी' शब्द के उत्तरपद में होने पर भी **स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्०** (९६९) सूत्र से पुंवद्भाव नहीं होता। अब प्रमाणी-शब्दान्त इस बहुव्रीहि से प्रकृत **अप् पूरणीप्रमाण्योः** (९७०) सूत्रद्वारा समासान्त अप् तद्धितप्रत्यय कर इस तद्धित के परे रहते **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक ईकार का लोप किया तो—स्त्रीप्रमाण् अ=स्त्रीप्रमाण। अब विशेष्य (पुरुषः) के अनुसार लिङ्ग, विभक्ति और वचन लाने से 'स्त्रीप्रमाणः' (पुरुषः) प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—'भार्या प्रमाणी यस्य स भार्याप्रमाणः' इत्यादियों की सिद्धि जाननी चाहिये।

पूर्वसूत्र में 'अपूरणीप्रियादिषु' कहा गया है। इस से पूरणी तथा प्रिया आदि समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग उत्तरपदों के परे रहते भाषितपुंस्क को पुंवद्भाव नहीं होता। पूरणी का प्रत्युदाहरण 'कल्याणीपञ्चमा रात्रयः' दिया जा चुका है अब प्रिया आदियों का प्रत्युदाहरण देते हैं—

प्रियादिषु किम्? कल्याणीप्रिय इत्यादि।

लौकिकविग्रह—कल्याणी प्रिया यस्य सः=कल्याणीप्रियः (कल्याणकरा स्त्री जिसे प्रिय हो ऐसा पुरुष)। अलौकिकविग्रह—कल्याणी सुँ+प्रिया सुँ। यहां दोनों प्रथमान्त पद अन्यपद (पुरुष) के अर्थ को विशिष्ट करते हैं अतः **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) सूत्रद्वारा बहुव्रीहिसमास हो कर सुँब्लुक् करने से 'कल्याणी+प्रिया' बना। अब यहां समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग 'प्रिया' शब्द उत्तरपद में परे विद्यमान है जो प्रियादिगण का प्रथम शब्द है अतः **स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्०** (९६९) सूत्र से भाषितपुंस्क भी कल्याणीशब्द को पुंवद्भाव नहीं होता। पुनः स्त्रीप्रत्ययान्त उपसर्जन-सञ्ज्ञक (९५१) प्रियाशब्द अन्त में होने के कारण **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** (९५२) द्वारा उपसर्जनह्रस्व हो कर विशेष्यानुसार लिङ्ग, विभक्ति और वचन लाने से 'कल्याणी-प्रियः' (पुरुषः) प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसी प्रकार—

(१) कल्याणी तनया यस्य स कल्याणीतनयः।
(२) दर्शनीया कान्ता यस्य स दर्शनीयाकान्तः।
(३) युवतिर्दुहिता यस्य स युवतिदुहितृकः[1]।
(४) प्रिया वामा यस्य स प्रियावामः।

---

१. **नद्यृतश्च** (५.४.१५३) इति समासान्तः कप्।

(५) दर्शनीया सचिवा यस्य स दर्शनीयासचिवः ।

प्रियादिगण को वर्धमानाचार्य ने निम्नप्रकारेण छन्दोबद्ध किया है—

प्रिया-कान्ता-मनोज्ञा-स्वा-कल्याणी-भक्ति-दुर्भगाः ।
सचिवा-वामना-क्षान्ता-चपला-निचिता-समाः ।
सुभगा दुहिता बाल्या वामाऽथ तनया तथा ।। (गणरत्न०)

विशेष वक्तव्य—कालिदास ने रघुवंश (१२.१९) में 'दृढभक्तिः' तथा मेघदूत (१.३६) में 'दृष्टभक्तिः' शब्दों का प्रयोग किया है। इन के अतिरिक्त लोक में 'विदित-भक्तिः, स्थिरभक्तिः, परिपूर्णभक्तिः' आदि शब्दों का भी बहुव्रीहिसमास में प्रयोग देखा जाता है। परन्तु व्याकरणानुसार इन में 'दृढा भक्तिर्यस्य स दृढाभक्तिः' 'इत्यादि-प्रकारेण दीर्घघटित प्रयोग बनने चाहियें कारण कि प्रियादियों में 'भक्ति' शब्द का पाठ होने से उस के परे रहते **स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्०** (९६९) सूत्रद्वारा पुंवद्भाव प्रसक्त नहीं होता। इस का समाधान यह है कि पदसंस्कारपक्ष में जब 'दृढ' शब्द केवल दार्ढ्यमात्र अर्थ में स्थित होता हुआ किसी अन्यपद के साथ सम्बद्ध नहीं होता तब **सामान्ये नपुंसकम्** (वा० ६४) के अनुसार उस में नपुंसक का प्रयोग हो जाता है। इस के बाद जब 'भक्तिः' के साथ इस का अन्वय होता है तो भी इस का पूर्वसंसक्त नपुंसकत्व वैसे का वैसा अक्षुण्ण रहता है। इस तरह बहुव्रीहिसमास में 'दृढं भक्तिर्यस्य' इस प्रकार का विग्रह होने से पुंवद्भाव के विना ही 'दृढभक्तिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। परन्तु वाक्यसंस्कारपक्ष में जब विशेष्य के अनुसार 'दृढ' से स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् (आ) हो जाता है तब 'दृढा भक्तिर्यस्य' इस प्रकार के विग्रह में पुंवद्भाव के प्रसक्त न होने से 'दृढाभक्तिः' ही बनता है 'दृढभक्तिः' नहीं। इसीप्रकार—'दृष्टभक्तिः' आदियों का समाधान समझना चाहिये। इस तरह की मान्यता में महाभाष्य का **शक्यं चाऽनेन श्वमांसादिभिरपि क्षुत् प्रतिहन्तुम्**[1] यह वाक्य प्रमाण है। यहां स्त्रीलिङ्ग 'क्षुत्' (भूख) पद के अनुसार 'शक्यम्' में स्त्रीत्व का प्रयोग नहीं हुआ, सामान्य में नपुंसक ही प्रयुक्त हुआ है।

बहुव्रीहिसमास के विधायक कुछ अन्य उपयोगी सूत्रों का भी यहां व्युत्पन्न विद्यार्थियों के ज्ञानार्थ संक्षेप से उल्लेख कर रहे हैं—

[१] **तेन सहेति तुल्ययोगे ।२।२।२८।।**

अर्थः—'सह' अव्यय का तृतीयान्त के साथ बहुव्रीहिसमास हो जाता है यदि किसी एक कार्य में दोनों समानरूप से भाग ले रहे हों। उदाहरण यथा—

पुत्रेण सह आगतः पिता—सपुत्रः सहपुत्रो वाऽऽगतः पिता। **वोपसर्जनस्य** (६.३.८१)[2] सूत्रद्वारा बहुव्रीहिसमास में 'सह' को विकल्प से 'स' आदेश हो जाता है।

---

१. महाभाष्ये पस्पशाह्निके ।

२. अर्थः—उपसर्जन अर्थात् बहुव्रीहिसमास के अवयव 'सह' शब्द के स्थान पर विकल्प से 'स' आदेश हो जाता है।

तुल्ययोग के विना भी यह समास देखा जाता है । यथा—सकर्मकः, सलोमकः, सपक्षकः आदि ।

[२] **संख्ययाऽव्ययाऽऽसन्नाऽदूराऽधिक-संख्याः संख्येये** ।२।२।२५।।

अर्थः—संख्येय अर्थ में वर्त्तमान संख्यावाची सुँबन्त के साथ अव्यय, आसन्न, अदूर, अधिक और संख्यावाचक—ये सुँबन्त समास को प्राप्त होते हैं और वह समास बहुव्रीहिसंज्ञक होता है ।

संख्येय[1] अर्थ में वर्त्तमान संख्या के साथ अव्यय का समास यथा—दशानां समीपे ये वर्त्तन्ते ते उपदशाः (दस के समीपवर्त्ती अर्थात् नौ या ग्यारह) । 'दशन् आम् + उप' इस अलौकिकविग्रह में प्रकृतसूत्र से समास, अव्यय का पूर्वनिपात, प्रातिपदिकसंज्ञा तथा उस के अवयव सुँप् का लुक् कर—उपदशन् । अब यहां **बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात्** (५.४.७३)[2] सूत्र से समासान्त डच् (अ) प्रत्यय हो कर टि का लोप (२४२) करने से प्रथमा के बहुवचन में 'उपदशाः' रूप सिद्ध हो जाता है । विंशतेः समीपे ये वर्त्तन्ते ते उपविंशाः (बीस के समीपवर्त्ती अर्थात् उन्नीस या इक्कीस) । यहां पर भी समासान्त डच् (अ) प्रत्यय हो कर **ति विंशतेर्डिति** (११७७)[3] सूत्र से 'विंशति' के 'ति' का लोप तथा **अतो गुणे** (२७४) से पररूप करने पर उपर्युक्त प्रयोग सिद्ध हो जाता है । बहूनां समीपे ये वर्त्तन्ते ते उपबहवः । बहुशब्द की **बहु-गण-वतु-डति संख्या** (१८६) सूत्र से संख्यासञ्ज्ञा है अतः इस के साथ 'उप' अव्यय का समास हो जाता है परन्तु डच् नहीं होता ।

संख्येयार्थ में वर्त्तमान संख्या के साथ आसन्नादियों का समास यथा—

विंशतेरासन्नाः—आसन्नविंशाः । दशानाम् आसन्नाः—आसन्नदशाः । दशानाम् अदूराः—अदूरदशाः । अदूरविंशाः । दशभ्योऽधिकाः—अधिकदशाः । अधिकविंशाः ।

संख्या के साथ संख्या का समास यथा—

---

१. अत्रेदमवधेयम्—विंशतेः प्रागेकादिशब्दाः संख्येयेषु वर्त्तन्ते, विशेष्यलिङ्गाश्च । त्र्यादयो नित्यबहुवचनान्ताः । विंशत्यादिशब्दास्तु नित्यमेकवचनान्ताः संख्यायां संख्येये च वर्त्तन्ते, नवतिपर्यन्ता नित्यस्त्रीलिङ्गाश्च । यथा विंशतिर्ब्राह्मणाः, ब्राह्मणानां विंशतिरिति । यदा विंशत्यादिः संख्या, ततो द्वित्वबहुत्वे स्तः । यथा गवां द्वे विंशती इति । चत्वारिंशदिति गम्यते । गवां तिस्रो विंशतय इति । षष्टिरिति गम्यते । उक्तञ्चामरेण—

विंशत्याद्याः सदैकत्वे संख्याः संख्येयसंख्ययोः ।
संख्यार्थे द्विबहुत्वे स्तस्तासु चानवतेः स्त्रियः ।। (अमरकोषे)

२. अर्थः—संख्येय अर्थ में जो बहुव्रीहि, उस से परे समासान्त डच् प्रत्यय हो जाता है परन्तु बहुशब्दान्त तथा गणशब्दान्त बहुव्रीहि से नहीं होता ।

३. अर्थः—डित् परे हो तो विंशति के भसंज्ञक 'ति' का लोप हो जाता है ।

द्वौ वा त्रयो वा—द्वित्राः (दो या तीन)। पूर्ववत् समासान्त डच् (अ) हो कर टि का लोप हो जाता है। पञ्च वा षड् वा—पञ्चषाः (पांच या छः)। एको वा द्वौ वा—एकद्वाः (एक या दो)। त्रयो वा चत्वारो वा—त्रिचतुराः (तीन या चार)। यहां समासान्त डच् न हो कर **त्र्युपाभ्यां चतुरोऽजिष्यते** (वा०) इस इष्टि के द्वारा अच् समासान्त हो जाता है, इस से टि का लोप नहीं होता।

[३] **दिङ्नामान्यन्तराले** ।२।२।२६॥

अर्थः—दिशावाचक सुँबन्तों का बहुव्रीहिसमास होता है और वह समास दोनों की मध्यवर्त्ती दिशा का बोध कराता है। उदाहरण यथा—

दक्षिणस्याः पूर्वस्याश्च दिशोरन्तराला दिक्—दक्षिणपूर्वा। यहां पूर्वपद को **सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः** (वा० ५५) से पुंवद्भाव हो जाता है। इसीतरह—उत्तरपूर्वा आदि।

[४] **सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्च** (वा०[1])।

अर्थः—सप्तम्यन्तयुक्त या उपमानयुक्त पूर्वपद का अन्यपदार्थ में दूसरे पद के साथ बहुव्रीहिसमास हो जाता है परन्तु इस समास के कथित पूर्वपद में स्थित उत्तरपद का लोप हो जाता है।

सप्तम्यन्तयुक्त पूर्वपद का उदाहरण यथा—

कण्ठेस्थः[2] कालो यस्य सः=कण्ठेकालः। यहां 'कण्ठेस्थः' यह पूर्वपद है जो सप्तम्यन्त से युक्त है। इस का जब 'कालः' के साथ बहुव्रीहिसमास होता है तब प्रकृतवार्त्तिक से 'कण्ठेस्थ' इस पूर्वपद के उत्तरपद 'स्थ' पद का लोप हो कर 'कण्ठेकालः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार—उरसिस्थानि लोमानि यस्य सः=उरसिलोमा इत्यादि प्रयोग सिद्ध होते हैं। वरदराज ने इन की सिद्धि संक्षेपवश व्यधिकरणबहुव्रीहि मान कर की है पर वस्तुतः ये समास इसी वार्त्तिकद्वारा पूर्वपद में स्थित उत्तरपद के लोप करने से ही निष्पन्न होते हैं। व्यधिकरणबहुव्रीहि के चक्रपाणिः, दण्डपाणिः, शरजन्मा, इन्दुमौलिः आदि अन्य अनेक उदाहरण पीछे दर्शाए जा चुके हैं।

उपमानयुक्त पूर्वपद का उदाहरण यथा—

उष्ट्रस्य मुखम् उष्ट्रमुखम् (षष्ठीतत्पुरुषः)। अब इस षष्ठीतत्पुरुष का दूसरे पद के साथ बहुव्रीहिसमास करते हैं—उष्ट्रमुखमिव मुखं यस्य स उष्ट्रमुखः (ऊंट के

---

१. सप्तमी (सप्तम्यन्तम्) च उपमानं च सप्तम्युपमानम्। सप्तम्युपमानसहिते पूर्वपदे यस्य तत् सप्तम्युपमानपूर्वपदम्। तस्य समस्तपदस्य पदान्तरेण बहुव्रीहिर्वाच्यः, समस्तपदात्मके पूर्वपदे यदुत्तरपदं तस्य लोपश्च वक्तव्य इत्यर्थः।

२. **सुँपि स्थः** (३.२.४) इति कप्रत्ययः। कण्ठे तिष्ठतीति कण्ठेस्थः। उपपदसमासः। **अमूर्धमस्तकात् स्वाङ्गादकामे** (६.३.११) इति सप्तम्या अलुक्।

मुख के समान मुख वाला)। 'उष्ट्रमुख सुँ[1] + मुख सुँ' इस अलौकिकविग्रह में प्रकृत वार्त्तिक से बहुव्रीहिसमास होता है। समास में सुँब्लुक् हो कर—उष्ट्रमुख + मुख। अब यहां 'उष्ट्रमुख' यह पूर्वपद उपमानयुक्त है क्योंकि इस में 'मुख' उपमान है, अतः प्रकृत वार्त्तिक से इस समास के पूर्वपद (उष्ट्रमुख) के उत्तरपद (मुख) का लोप हो कर 'उष्ट्रमुखः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यह समास इस उदाहरण के कारण बहुत प्रसिद्ध है। यह इस का मूर्धाभिषिक्त उदाहरण है। अतः कई जगह 'उष्ट्रमुखादिवत्समासः' ऐसा कह देते हैं।

इस के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

वृषस्य स्कन्धो वृषस्कन्धः, वृषस्कन्ध इव स्कन्धो यस्य स वृषस्कन्धः (बैल के कन्धे की तरह कन्धे वाला)[2]। हंसस्य गमनं हंसगमनम्, हंसगमनमिव गमनं यस्याः सा हंसगमना (हंस की चाल की तरह चाल वाली स्त्री)। चन्द्रस्य कान्तिश्चन्द्रकान्तिः, चन्द्रकान्तिरिव कान्तिर्यस्य स चन्द्रकान्तिः (चान्द की कान्ति की तरह कान्ति वाला)। पितुः स्थानं पितृस्थानम्, पितृस्थानमिव स्थानं यस्य स पितृस्थानः (पिता के स्थान की तरह स्थान वाला अर्थात् पितृतुल्य)। हरिणस्य अक्षिणी हरिणाक्षिणी, हरिणाक्षिणी इव अक्षिणी यस्याः सा हरिणाक्षी [अत्र **बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः०** (९७१) इति षचि स्त्रियां षित्त्वान्ङीषि रूपं साधु]। सर्वत्र तत्पुरुषसमास हो कर पुनः बहुव्रीहि करने में पूर्वपद के उत्तरपद का लोप हो जाता है।

अब बहुव्रीहिसमास के कुछ प्रसिद्ध समासान्तों का वर्णन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९७१) बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच् ।५।४।११३॥

स्वाङ्गवाचिसक्थ्यक्ष्यन्ताद् बहुव्रीहेः षच् स्यात्। दीर्घसक्थः। जलजाक्षी। स्वाङ्गात् किम्? दीर्घसक्थि शकटम्। स्थूलाक्षा वेणुयष्टिः। अक्ष्णोऽदर्शनाद् (९९४) इति वक्ष्यमाणोऽच्॥

अर्थः—जिस के अन्त में स्वाङ्गवाची सक्थि (ऊरु) या अक्षि (नेत्र) शब्द हो, उस बहुव्रीहि से समासान्त षच् प्रत्यय हो।

व्याख्या—बहुव्रीहौ ।७।१। सक्थ्यक्ष्णोः ।६।२। स्वाङ्गात् ।५।१। षच् ।१।१। **प्रत्ययः, परश्च, तद्धिताः, समासान्ताः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। 'बहुव्रीहौ' में पञ्चमी के अर्थ में सप्तमी का तथा 'सक्थ्यक्ष्णोः' में पञ्चमी के अर्थ में षष्ठी या सप्तमी का व्यत्यय से प्रयोग समझना चाहिये[3]—बहुव्रीहेः सक्थ्यक्षिभ्याम्। इन में 'सक्थ्य-

---

१. यहां 'उष्ट्रमुख' शब्द उष्ट्रमुखसदृश अर्थ में लाक्षणिक है अतः समास में 'इव' का प्रयोग नहीं होता।

२. **व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः**—(रघु० १.१३)।

३. अत एव काशिकाकार ने यहां कहा है—**सूत्रे तु दुःश्लिष्टविभक्तीनि पदानि** (काशिका ५.४.११३)।

क्षिभ्याम्' पद 'बहुव्रीहेः' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'सक्थ्यक्ष्यन्ताद् बहुव्रीहेः' ऐसा उपलब्ध हो जाता है। 'स्वाङ्गात्' पद 'सक्थ्यक्षिभ्याम्' के साथ अन्वित होता है। इस तरह सूत्रार्थ हो जाता है—(स्वाङ्गात्) स्वाङ्गवाची (सक्थ्यक्षिभ्याम्) जो सक्थि और अक्षिशब्द, तदन्त (बहुव्रीहेः) बहुव्रीहिसमास से परे (षच्) षच् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है और वह (समासान्तः) समास का अन्तावयव माना जाता है। **तद्धिताः** (९१६) अधिकार के कारण वह तद्धितसंज्ञक भी होता है। 'स्वाङ्ग' शब्द व्याकरण में एक पारिभाषिकशब्द[1] है। इस का सविस्तर विवेचन स्त्रीप्रत्ययप्रकरण में **स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्** (१२६५) सूत्र पर किया जायेगा। यहां इतना समझना पर्याप्त है कि शरीर के अङ्ग को 'स्वाङ्ग' कहते हैं। **षच्** प्रत्यय का षकार **षः प्रत्ययस्य** (८३९) सूत्र से तथा चकार **हलन्त्यम्** (१) सूत्र से इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है—'अ' मात्र शेष रहता है। इसे षित् करने का प्रयोजन **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५५) द्वारा स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् (ई) प्रत्यय का विधान करना है। चित्करण अन्तोदात्तस्वर के लिये है।

स्वाङ्गवाचिसक्थ्यन्त बहुव्रीहि से षच् यथा—

लौकिकविग्रह—दीर्घे सक्थिनी[2] यस्य सः=दीर्घसक्थः पुरुषः (दीर्घ ऊरुओं वाला पुरुष)। अलौकिकविग्रह—दीर्घ औ+सक्थि औ। यहां दोनों पद अन्यपद (पुरुष) के अर्थ को विशिष्ट करते हैं अतः **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) सूत्र से इन में बहुव्रीहिसमास हो जाता है। समास में विशेषण का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (दोनों 'औ' प्रत्ययों) का लुक् करने पर 'दीर्घसक्थि' बना। अब यहां स्वाङ्गवाची सक्थिशब्द अन्त में होने के कारण इस बहुव्रीहि से **बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्** (९७१) इस प्रकृतसूत्रद्वारा समासान्त षच् प्रत्यय हो कर अनुबन्धों का लोप करने पर—'दीर्घसक्थि +अ' इस स्थिति में 'अ' इस तद्धितप्रत्यय के परे रहते **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक इकार का लोप कर विशेष्यानुसार पुंलिङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर विभक्तिकार्य करने से 'दीर्घसक्थः' (पुरुषः) प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यदि स्त्रीलिङ्ग विवक्षित हो तो 'दीर्घसक्थ' से षित्त्व के कारण **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५५) सूत्रद्वारा ङीष् प्रत्यय हो कर भसंज्ञक अकार का लोप करने पर 'दीर्घसक्थी' (स्त्री) बनेगा।

इसीप्रकार—गौरसक्थः पुरुषः, गौरसक्थी स्त्री आदि प्रयोगों की सिद्धि समझनी चाहिये।

स्वाङ्गवाचि-अक्षिशब्दान्त बहुव्रीहि से षच् यथा—

---

१. **अद्रवं मूर्त्तिमत्स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्।**
अतत्स्थं तत्र दृष्टं च तेन चेत्तत्तथायुतम्॥ (महाभाष्य ४.१.५४)

२. **सक्थि क्लीबे पुमानूरुः**—इत्यमरः।

लौकिकविग्रह—जलजे इव अक्षिणी यस्याः सा = जलजाक्षी स्त्री (कमल की तरह नेत्रों वाली स्त्री)। अलौकिकविग्रह—जलज औ + अक्षि औ। यहां दोनों पद अन्यपद (स्त्री) के अर्थ को विशिष्ट करते हैं अतः **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) सूत्र से इन में बहुव्रीहिसमास, विशेषण का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा उस के अवयव सुँपों (दोनों 'औ' प्रत्ययों) का लुक् कर सवर्णदीर्घ करने से 'जलजाक्षि' बना। अब इस बहुव्रीहि के अन्त में स्वाङ्गवाची 'अक्षि' शब्द विद्यमान है अतः **बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्** (९७१) इस प्रकृतसूत्र से षच् समासान्त हो अनुबन्धों का लोप करने पर 'जलजाक्षि + अ' इस स्थिति में 'अ' इस तद्धित प्रत्यय के परे रहते **यस्येति च** (२३६) द्वारा भसंज्ञक इकार का लोप कर—जलजाक्ष। विशेष्यानुसार स्त्रीत्व की विवक्षा में **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५५) सूत्र से ङीष्, ङकार और षकार अनुबन्धों का लोप एवं भसंज्ञक अकार का भी लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'जलजाक्षी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]।

इसीप्रकार—कमलाक्षी, आयताक्षी, विमलाक्षी, लोहिताक्षी आदि प्रयोगों की सिद्धि होती है। यदि स्त्रीत्व विवक्षित न हो तो ङीष् न होगा, शेष प्रक्रिया समान है। यथा—विरूपाणि (विषमत्वाद्) अक्षीणि यस्य सः = विरूपाक्षः (शिवः)। विरूपाक्षं वपुः[2]।

प्रकृतसूत्र में 'स्वाङ्गात्' कहा गया है अतः सक्थि और अक्षि यदि स्वाङ्गवाची न होंगे तो एतदन्त बहुव्रीहि से समासान्त षच् न होगा। यथा—दीर्घं सक्थि यस्य तत् = दीर्घसक्थि शकटम् (लम्बे फड़ वाला छकड़ा)। यहां पूर्ववत् बहुव्रीहिसमास तो है और इस के अन्त में सक्थिशब्द भी है, पर वह स्वाङ्गवाची नहीं (क्योंकि इस सक्थि का अर्थ है छकड़े की फड़), अतः यहां समासान्त षच् नहीं हुआ। नपुंसक विशेष्य के कारण समास से नपुंसक में **स्वमोर्नपुंसकात्** (२४४) द्वारा सुँ का लुक् हो कर 'दीर्घसक्थि' (शकटम्) प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

'अक्षि' का प्रत्युदाहरण यथा—

स्थूलानि अक्षीणि (पर्वग्रन्थयः) यस्याः सा = स्थूलाक्षा वेणुयष्टिः (मोटी पर्वग्रन्थियों वाली बांस की छड़ी)। यहां 'स्थूल जस् + अक्षि जस्' में पूर्ववत् बहुव्रीहिसमास, सुंब्लुक् तथा **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ करने से 'स्थूलाक्षि' बना। अब अक्षिशब्दान्त बहुव्रीहि होने पर भी प्रकृतसूत्र से समासान्त षच् नहीं होता कारण कि

---

१. यहां यह ध्यातव्य है कि समासगत 'जलज' शब्द 'जलजे इव' के अर्थ में लाक्षणिक है अतः समास में 'इव' का प्रयोग नहीं होता। लौकिकविग्रह में इसे दर्शाने के लिये 'इव' लगाया जाता है।

२. **वपुर्विरूपाक्षमलक्ष्यजन्मता दिगम्बरत्वेन निवेदितं वसु।**
वरेषु यद् बालमृगाक्षि मृग्यते तदस्ति किं व्यस्तमपि त्रिलोचने॥
(कुमार० ५.७२)

अक्षिशब्द यहां स्वाङ्गवाची नहीं अपितु पर्वग्रन्थि (पोर) अर्थ में आया है । तब इस से वक्ष्यमाण **अक्ष्णोऽदर्शनात्** (६६४) सूत्र से समासान्त अच् (अ) प्रत्यय हो कर उस अच् तद्धित के परे रहते भसञ्ज्ञक इकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर—स्थूलाक्ष्+अ=स्थूलाक्ष । विशेष्य (यष्टि) के कारण स्त्रीत्व की विवक्षा में **अजाद्यतष्टाप्** (१२४६) से टाप्, अनुबन्धों का लोप, सवर्णदीर्घ तथा विभक्ति लाने पर 'स्थूलाक्षा' (वेणुयष्टिः) प्रयोग सिद्ध हो जाता है । यदि यहां समासान्त षच् किया जाता तो स्त्रीत्व की विवक्षा में षित्त्व के कारण **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५५) सूत्र द्वारा ङीष् प्रत्यय हो कर 'स्थूलाक्षी' प्रयोग बनता जो अनिष्ट था ।

प्रकृतसूत्रद्वारा बहुव्रीहिसमास से ही षच् कहा गया है अन्यसमास से नहीं । अतः 'परमं च तत् सक्थि परमसक्थि, परमं च तद् अक्षि परमाक्षि' इत्यादि कर्मधारय-समास में **षच्** नहीं होता ।

जिस बहुव्रीहि के अन्त मे अस्थि और अक्षि शब्द न हो कर अन्य कोई स्वाङ्ग-वाची शब्द होगा तो उस से परे भी षच् न होगा । यथा—दीर्घे जानुनी यस्य सः=दीर्घजानुः । यहां स्वाङ्गवाची 'जानु' शब्द के होने पर भी षच् नहीं होता ।

अब बहुव्रीहिसमास में समासान्त 'ष' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(६७२) द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः ।५।४।११५।।

आभ्यां मूर्ध्नः षः स्याद् बहुव्रीहौ । द्विमूर्धः । त्रिमूर्धः ।।

अर्थः—बहुव्रीहिसमास में 'द्वि' और 'त्रि' शब्दों से परे यदि 'मूर्धन्' शब्द हो तो उस से समासान्त 'ष' प्रत्यय हो ।

व्याख्या—द्वित्रिभ्याम् ।५।२। ष इति लुप्तप्रथमैकवचनान्तं पदम् । मूर्ध्नः । ५।१। बहुव्रीहौ ।७।१। (**बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, तद्धिताः, समासान्ताः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं । द्विश्च त्रिश्च द्वित्री, ताभ्याम्=द्वित्रिभ्याम्, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहिसमास में (द्वित्रिभ्याम्) द्वि अथवा त्रि शब्दों से परे (मूर्ध्नः) जो मूर्धन् शब्द उस से परे (षः) 'ष' प्रत्यय हो जाता है और वह (समासान्तः) समास का अन्तावयव तथा (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक भी होता है । 'ष' प्रत्यय का आद्य षकार **षः प्रत्ययस्य** (८३६) सूत्रद्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है—'अ' मात्र शेष रहता है । प्रत्यय का षित्करण स्त्रीत्व की विवक्षा में **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५५) सूत्रद्वारा ङीष्विधान के लिये किया गया है । उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—**द्वौ मूर्धानौ** यस्य सः=द्विमूर्धः (दो सिरों वाला) । **अलौकिक-विग्रह—द्वि औ+मूर्धन् औ** । यहां दोनों पद अन्यपद के अर्थ को विशिष्ट करते हैं अतः **अनेकमन्यपदार्थे** (६६६) से इन का बहुव्रीहिसमास, विशेषण का पूर्वनिपात, तथा समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर सुँपों (दोनों 'औ' प्रत्ययों) का लुक् करने से—

द्विमूर्धन् । यहां बहुव्रीहिसमास में 'द्वि' से परे 'मूर्धन्' शब्द विद्यमान है अतः **द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः** (९७२) इस प्रकृत सूत्र से समासान्त 'ष' प्रत्यय हो कर षकार अनुबन्ध का लोप करने पर—'द्विमूर्धन्+अ' हुआ । अब 'अ' इस तद्धित के परे रहते **नस्तद्धिते** (९१९) सूत्रद्वारा भसंज्ञक टि (अन्) का लोप कर—द्विमूर्ध्+अ='द्विमूर्ध' इस स्थिति में विशेष्यानुसार लिङ्ग, विभक्ति और वचन लाने पर 'द्विमूर्धः' (राक्षसः) प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसीप्रकार—'त्रयो मूर्धानो यस्य स त्रिमूर्धः' की सिद्धि जाननी चाहिये ।

ध्यान रहे कि स्त्रीत्व की विवक्षा में समासान्त के षित्त्व के कारण **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५५) द्वारा ङीष् प्रत्यय ला कर भसंज्ञक अकार का लोप तथा विभक्तिकार्य करने से 'द्विमूर्धी, त्रिमूर्धी' (राक्षसी) प्रयोग बनेंगे ।

'द्वि' या 'त्रि' से भिन्न अन्य शब्दों से परे यदि 'मूर्धन्' शब्द होगा तो बहुव्रीहि में यह समासान्त 'ष' न होगा । यथा—बहवो मूर्धानो यस्य स बहुमूर्धा, दश मूर्धानो यस्य स दशमूर्धा[1] ।

इस समासान्त के उदाहरण-प्रत्युदाहरण का साहित्यगत प्रयोग यथा—

अथ सम्पततो भीमान् विशिखै रामलक्ष्मणौ ।
बहुमूर्ध्नो द्विमूर्धांश्च त्रिमूर्धांश्चाहतां मृधे ॥ (भट्टि० ४.४१)

[अथ=अनन्तरम्, रामलक्ष्मणौ, सम्पततः=सम्मुखमागच्छतः, भीमान्=भयङ्करान्, बहुमूर्ध्नः=बहुशिरस्कान्, द्विमूर्धान्=द्विशिरस्कान्, त्रिमूर्धान्=त्रिशिरस्कान् च राक्षसान्, मृधे=युद्धे, विशिखैः=बाणैः, अहताम्=हतवन्तौ] ।

अब बहुव्रीहिसमास में समासान्त अप् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९७३) अन्तर्बहिर्भ्याञ्च लोम्नः । ५।४।११७॥

आभ्यां लोम्नोऽप् स्याद् बहुव्रीहौ । अन्तर्लोमः । बहिर्लोमः ॥

अर्थः—बहुव्रीहिसमास में अन्तर् और बहिस् अव्ययों से परे यदि लोमन् शब्द हो तो उस समास से समासान्त अप् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—अन्तर्बहिर्भ्याम् ।५।२। च इत्यव्ययपदम् । लोम्नः ।५।१। अप् ।१।१। (**अप् पूरणीप्रमाण्योः** सूत्र से) । बहुव्रीहौ ।७।१। (**बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, तद्धिताः, समासान्ताः**—ये सब पूर्ववतः अधिकृत हैं । अर्थः—(**बहुव्रीहौ**) बहुव्रीहिसमास में (**अन्तर्बहिर्भ्याम्**) अन्तर् और बहिस् अव्ययों से परे (**लोम्नः**) जो लोमन् शब्द उस से परे (च) भी (**अप्**) अप् प्रत्यय हो जाता है और वह (**तद्धितः**) तद्धितसंज्ञक होता हुआ (**समासान्तः**) समास का अन्तावयव भी माना जाता है । '**अप्**' में पकार इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'अ' मात्र शेष रहता है । अन्तर्

---

१. बहुमूर्धन्, दशमूर्धन् आदि शब्दों की सुँबन्तप्रक्रिया राजन्शब्द की तरह होती है ।

और बहिस् अव्ययों की व्याख्या अव्ययप्रकरण में सविस्तर कर चुके हैं वहीं देखें।

उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—अन्तर्लोमानि यस्य सः=अन्तर्लोमः (अन्दर की ओर रोमों वाला प्रावार=चादर आदि)। अलौकिकविग्रह—अन्तर्+लोमन् जस्। यहां दोनों पद अन्यपद के अर्थ को विशिष्ट करते हैं अतः **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से बहुव्रीहिसमास हो कर प्रातिपदिकसंज्ञा कर सुँब्लुक् करने से—अन्तर्लोमन्। अब यहां बहुव्रीहिसमास में 'अन्तर्' से परे 'लोमन्' शब्द विद्यमान है अतः **अन्तर्बहिर्भ्यां च लोम्नः** (९७३) इस प्रकृतसूत्र से समासान्त अप् प्रत्यय हो कर—'अन्तर्लोमन्+अ' इस स्थिति में तद्धित प्रत्यय के परे रहते भसंज्ञक टि (अन्) का **नस्तद्धिते** (९१९) सूत्र से लोप कर—अन्तर्लोम्+अ=अन्तर्लोम। विशेष्यानुसार लिङ्ग, विभक्ति और वचन लाने पर 'अन्तर्लोमः' (प्रावारः) प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार—बहिर्लोमानि यस्य स बहिर्लोमः (पटः), बाहर की ओर रोओं वाला पट आदि। यहां 'बहिस्' अव्यय के पदान्त सकार को **ससजुषो रुः** (१०५) से रुँ आदेश विशेष है।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा लोपरूप समासान्त का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९७४) पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः। ५।४।१३८॥

हस्त्यादिवर्जितादुपमानात् परस्य पादशब्दस्य लोपः स्याद् बहुव्रीहौ। व्याघ्रस्येव पादावस्य व्याघ्रपात्[1]। अहस्त्यादिभ्यः किम्? हस्तिपादः। कुसूलपादः॥

अर्थः—हस्त्यादियों से भिन्न उपमानवाचक शब्द से परे 'पाद' शब्द का समासान्त लोप हो बहुव्रीहिसमास में।

व्याख्या—पादस्य।६।१। लोपः।१।१। अहस्त्यादिभ्यः।५।३। उपमानात्।५।१। (**उपमानाच्च** सूत्र से)। बहुव्रीहौ।७।१। (**बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्** सूत्र से)। समासान्तः।१।१। (यह अधिकृत है)। हस्तिशब्द आदिर्येषां ते हस्त्यादयः, तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिसमासः। न हस्त्यादयः—अहस्त्यादयः, तेभ्यः=अहस्त्यादिभ्यः, नञ्तत्पुरुषः। हस्त्यादि एक गण है[2]। अर्थः—(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहिसमास में (अहस्त्यादिभ्यः) हस्त्यादियों से भिन्न (उपमानात्) उपमानवाचक शब्द से परे (पादस्य) जो 'पाद' शब्द

---

१. 'व्याघ्रस्येव पादौ अस्य' यह लौकिकविग्रह नहीं अपितु इस समास का तात्पर्य-कथन है। इस का विग्रह तो 'व्याघ्रपादाविव पादौ अस्य' इस प्रकार समझना चाहिये।

२. हस्तिन्, कुद्दाल, अश्व, कशिक, कुरुत, कटोल, कटोलक, गण्डोल, गण्डोलक, कण्डोल, कण्डोलक, अज, कपोत, जाल, गण्ड, महेला (पाठान्तर—महिला), दासी, गणिका, कुसूल—इति हस्त्यादिः।

उस का (लोपः) लोप हो जाता है और वह लोप (समासान्तः) समास का अन्तावयव होता है। यह लोप **आदेः परस्य** (७२) परिभाषाद्वारा 'पाद' शब्द के आदि पकार के स्थान पर प्राप्त होता था परन्तु इसे समासान्त अर्थात् समास का अन्तावयव माना गया है अतः यह लोप **अलोऽन्त्यस्य** (२१) परिभाषाद्वारा पादशब्द के अन्त्य अल् अर्थात् दकारोत्तर अकार का ही होता है। लोप को समासान्त मानने का एक और भी प्रयोजन है, इस से परे **शेषाद्विभाषा** (६८४) द्वारा वैकल्पिक समासान्त कप् प्रत्यय नहीं होता। कारण कि उस सूत्र की प्रवृत्ति तभी होती है जब कोई दूसरा समासान्त न किया गया हो। यहां तो लोपरूप समासान्त हो चुका है। सूत्र का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—व्याघ्रस्य पादौ व्याघ्रपादौ (षष्ठीतत्पुरुषसमासः), व्याघ्रपादाविव पादौ यस्य स व्याघ्रपात् (शेर के पैरों के सदृश पैरों वाला व्यक्ति)। अलौकिकविग्रह—व्याघ्रपाद[1] औ+पाद औ। यहां **सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्च** (वा०) इस वार्त्तिकद्वारा अन्यपदार्थ में दोनों पदों का बहुव्रीहिसमास, सुँब्लुक् तथा समास में पूर्वपद (व्याघ्रपाद) के उत्तरपद (पाद) का लोप करने पर 'व्याघ्रपाद' बना। अब इस बहुव्रीहिसमास में हस्त्यादियों से भिन्न उपमानवाची 'व्याघ्र' शब्द विद्यमान है[2]। इस से परे 'पाद' शब्द भी मौजूद है अतः **पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः** (६७४) इस प्रकृतसूत्रद्वारा पादशब्द के अन्त्य अल् दकारोत्तर अकार का समासान्त लोप हो कर—व्याघ्रपाद्। विशेष्यानुसार पुंलिङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर उस का **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०** (१७९) सूत्रद्वारा लोप तथा **वाऽवसाने** (१४६) से अवसान में वैकल्पिक चर्त्व करने से 'व्याघ्रपात्, व्याघ्रपाद्' ये दो रूप सिद्ध हो जाते हैं। इस की रूपमाला 'सुपाद्' शब्द की तरह चलेगी। शस् में **पादः पत्** (३३३) सूत्र से पाद् को पद् आदेश हो जायेगा—व्याघ्रपदः।

इसीप्रकार—सिंहस्य पादौ सिंहपादौ, सिंहपादाविव पादौ यस्य स सिंहपात् इत्यादि प्रयोगों की प्रक्रिया जाननी चाहिये।

सूत्र में 'अहस्त्यादिभ्यः' कहा गया है अतः हस्तिन् आदि उपमानों से परे प्रकृतसूत्रद्वारा 'पाद' को लोपरूप समासान्त नहीं होता। यथा—हस्तिनः पादौ हस्तिपादौ, हस्तिपादाविव पादौ यस्य स हस्तिपादः[3]। यहां 'हस्तिन्' उपमान से परे पाद का समासान्त लोप नहीं हुआ। इसीप्रकार—कुसूलपादाविव पादौ यस्य स कुसूलपादः (अन्न-

---

१. यहां 'व्याघ्रपाद' शब्द 'व्याघ्रपादसदृश' के अर्थ में लाक्षणिक है अतः समास में 'इव' का प्रयोग नहीं होता।

२. उपमान यद्यपि व्याघ्र नहीं उस के पाद हैं तथापि अवयव के सम्बन्ध से अवयवी को भी यहां उपमान समझा गया है।

३. समास में **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) सूत्र से 'हस्तिन्' के नकार का लोप हो जाता है।

कोष्टक के पैरों की तरह पैरों वाला)[1]। अजपादः। अश्वपादः। कपोतपादः। जालपादः। दासीपादः। गणिकापादः। गण्डपादः। इत्यादि।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा पुनः 'पाद' शब्द के अन्त्यलोप रूप समासान्त का निरूपण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९७५) **संख्या-सु-पूर्वस्य ।५।४।१४०।।**

(संख्या-सु-पूर्वस्य) पादस्य लोपः स्यात् समासान्तो बहुव्रीहौ। द्विपात्। सुपात्॥

अर्थः—संख्यावाचक शब्द अथवा 'सु' अव्यय जिस के पूर्व में हो ऐसे **पादशब्द** का समासान्त लोप हो बहुव्रीहिसमास में।

व्याख्या—संख्या-सु-पूर्वस्य ।६।१। पादस्य ।६।१। लोपः ।१।१। (**पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः** सूत्र से)। बहुव्रीहौ ।७।१। (**बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः०** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, तद्धिताः, समासान्ताः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। संख्या च सुश्च—संख्यासू, इतरेतरद्वन्द्वः। संख्यासू पूर्वौ यस्य स संख्यासुपूर्वः, तस्य=संख्यासुपूर्वस्य, बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहिसमास में (संख्यासुपूर्वस्य) संख्यावाचक या 'सु' अव्यय जिस के पूर्व में हो ऐसे (पादस्य) पादशब्द का (लोपः) लोप हो जाता है, और वह लोप (समासान्तः) समास का अन्तावयव होता है। **अलोऽन्त्यस्य** (२१) परिभाषा के अनुसार यह लोप पादशब्द के अन्त्य अल् दकारोत्तर अकार का ही होता है।

संख्यापूर्व का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—द्वौ पादौ यस्य स द्विपात् (दो पैरों वाला)। अलौकिकविग्रह—द्वि औ + पाद औ। यहां दोनों पद अन्यपद के अर्थ को विशिष्ट करते हैं अतः **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) सूत्र से दोनों का बहुव्रीहिसमास हो कर विशेषण का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (दोनों 'औ' प्रत्ययों) का लुक् करने से—द्विपाद। अब इस बहुव्रीहि में संख्यावाचक 'द्वि' शब्द से परे 'पाद' शब्द विद्यमान है अतः प्रकृत **संख्यासुपूर्वस्य** (९७५) सूत्रद्वारा 'पाद' के अन्त्य अल् दकारोत्तर अकार का समासान्त लोप हो कर—द्विपाद्। विशेष्यानुसार लिङ्ग, विभक्ति और वचन लाने पर प्रथमा के एकवचन में सुँप्रत्यय के अपृक्त सकार का हल्ङ्यादिलोप कर **वाऽवसाने** (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व करने से—'द्विपात्, द्विपाद्' प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।

---

१. अथान्तःकोष्टकः कुसूलः—इति हेमचन्द्रः। 'कुसूलपादः' का अभिप्राय अन्वेष्टव्य है। वृत्ति में 'कुसूल' पद कुसूलसदृश के अर्थ में लाक्षणिक है अतः समास में '**इव**' का प्रयोग नहीं होता।

इसीप्रकार—त्रयः पादा यस्य स त्रिपात्, चत्वारः पादा यस्य स चतुष्पात्[1] आदि प्रयोग सिद्ध होते हैं ।

सुपूर्व का उदाहरण यथा—

सु (शोभनौ) पादौ यस्य स सुपात् । 'सु+पाद औ' इस अलौकिकविग्रह में पूर्ववत् बहुव्रीहिसमास हो कर—सुपाद । अब प्रकृत **संख्यासुपूर्वस्य** (९७५) सूत्रद्वारा 'सु' से परे 'पाद' के अन्त्य अकार का समासान्त लोप हो विभक्तिकार्य करने से—'सुपात्, सुपाद्' प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं ।

सुपाद्, द्विपाद्, त्रिपाद् आदि शब्दों की रूपमाला **पादः पत्** (३३३) सूत्र पर हलन्तपुंलिङ्गप्रकरण में दर्शा चुके हैं वहीं देखें ।

स्त्रीलिङ्ग विशेष्य के विवक्षित होने पर सुपाद् आदि शब्दों से **पादोऽन्यतरस्याम्** (४.१.८)[2] सूत्रद्वारा वैकल्पिक ङीप् हो जाता है । ङीप्पक्ष में भसंज्ञा के कारण **पादः पत्** (३३३) से पाद् को पद् आदेश हो कर—सुपदी, द्विपदी, त्रिपदी आदि बनते हैं । ङीप् के अभाव में—सुपाद्, द्विपाद् आदि यथापूर्व रूप रहते हैं ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा 'काकुद' के अन्त्यलोपरूप समासान्त का निरूपण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९७६) उद्विभ्यां काकुदस्य ।५।४।१४८।।

लोपः स्यात् । उत्काकुत् । विकाकुत् ।।

अर्थः—'उद्' अथवा 'वि' निपातों से परे काकुदशब्द का समासान्त लोप हो जाता है बहुव्रीहिसमास में ।

व्याख्या—उद्विभ्याम् ।५।२। काकुदस्य ।६।१। लोपः ।१।१। (**ककुदस्यावस्थायां लोपः** सूत्र से) । बहुव्रीहौ ७।१। (**बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः**० सूत्र से) । समासान्तः ।१।१। (यह अधिकृत है) । उच्च विश्च उद्वी, ताभ्याम्=उद्विभ्याम्, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहिसमास में (उद्विभ्याम्) उद् और वि निपातों से परे (काकुदस्य) काकुद शब्द का (लोपः) लोप हो जाता है और यह लोप (समासान्तः) समास का अन्तावयव होता है । **पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः** (९७४) सूत्रोक्तप्रकारेण यहां पर भी **आदेः परस्य** (७२) का बाध कर अलोऽन्त्यपरिभाषाद्वारा काकुदशब्द के अन्त्य अल् दकारोत्तर अकार का ही लोप होता है ।

'उद्' से परे उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—उद्गतं काकुदं (तालु)[3] यस्य स उत्काकुत् (उठे हुए तालु

---

१. 'चतुः+पाद्' इस अवस्था में **इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य** (८.३.४१) सूत्रद्वारा विसर्ग को षत्व हो जाता है ।

२. अर्थः—पाद्शब्दान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में विकल्प से ङीप् प्रत्यय हो जाता है ।

३. तालु तु काकुदम्—इत्यमरः ।

वाला)। अलौकिकविग्रह— उद्गत सुँ + काकुद सुँ। यहां दोनों पद अन्यपद के अर्थ को विशिष्ट करते हैं अतः **प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः** (वा० ६५) इस वार्त्तिकद्वारा बहुव्रीहिसमास हो कर विशेषण का पूर्वनिपात, सुँब्लुक् तथा इसी वार्त्तिक से पूर्वपद (उद्गत) के उत्तरपद (गत) का लोप कर **खरि च** (७४) सूत्र से चर्त्वद्वारा दकार को तकार करने से 'उत्काकुद' बना। अब यहां बहुव्रीहिसमास में उद् से परे काकुदशब्द विद्यमान है अतः प्रकृत **उद्विभ्यां काकुदस्य** (९७६) सूत्रद्वारा काकुद के अन्त्य अल् दकारोत्तर अकार का समासान्त लोप कर प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँप्रत्यय के अपृक्त सकार का हल्ङ्याब्भ्यो लोप हो जाने से— उत्काकुद्। अन्त में **वाऽवसाने** (१४६) से वैकल्पिक चर्त्व हो कर —'उत्काकुत्, उत्काकुद्' ये दो प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।

'वि' से परे उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—विगतं (विकृतं विशिष्टं वा) काकुदं यस्य स विकाकुत् (विपरीत विकृत या विशिष्ट तालु वाला)। अलौकिकविग्रह—विगत सुँ + काकुद सुँ। यहां पर भी पूर्ववत् बहुव्रीहिसमास, सुँब्लुक्, पूर्वपद के उत्तरपद का लोप तथा काकुद के अन्त्य अकार का समासान्त लोप कर विभक्तिकार्य करने से—'विकाकुत्, विकाकुद्' प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।

उद्गतकाकुदः, विगतकाकुदः[1]—इन में यह समासान्त लोप प्रवृत्त नहीं होता, कारण कि इन में उद् और वि से परे साक्षात् काकुदशब्द नहीं आया मध्य में 'गत' शब्द का व्यवधान पड़ता है।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा पूर्णशब्द से परे काकुद का वैकल्पिक लोपविधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९७७) **पूर्णाद् विभाषा** ।५।४।१४९॥

(पूर्णात्काकुदस्य वा लोपः स्यात्समासान्तो बहुव्रीहौ)। पूर्णकाकुत्। पूर्णकाकुदः॥

अर्थः—बहुव्रीहिसमास में पूर्णशब्द से परे काकुद का विकल्प से समासान्त लोप हो।

व्याख्या—पूर्णात् ।५।१। विभाषा ।१।१। काकुदस्य ।६।१। (**उद्विभ्यां काकुदस्य** सूत्र से)। लोपः ।१।१। (**ककुदस्यावस्थायां लोपः** सूत्र से)। बहुव्रीहौ ।७।१। (**बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः०** सूत्र से)। समासान्तः ।१।१। (यह अधिकृत है)। अर्थः—(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहिसमास में (पूर्णात्) पूर्णशब्द से परे (काकुदस्य) काकुदशब्द का (विभाषा) विकल्प से (लोपः) लोप हो जाता है और यह लोप (समासान्तः) समास का अन्तावयव होता

---

१. ये रूप उस पक्ष के हैं जहां **प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः** (वा० ६५) वार्त्तिकद्वारा पूर्वपद के उत्तरपद का लोप नहीं होता।

है। यहां पर भी पूर्ववत् अलोऽन्त्यपरिभाषा से काकुद के अन्त्य अल्-अकार का ही लोप हो जाता है। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—पूर्णं काकुदं यस्य सः=पूर्णकाकुत् पूर्णकाकुदो वा (पूर्ण या परि-पक्व तालु वाला)। अलौकिकविग्रह—पूर्ण सुँ+काकुद सुँ। यहां दोनों पद अन्यपद के अर्थ को विशिष्ट कर रहे हैं अतः **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) सूत्र से इन का बहुव्रीहिसमास हो कर विशेषण का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (दोनों सुँ प्रत्ययों) का लुक् करने से 'पूर्णकाकुद' बना। अब यहां बहुव्रीहिसमास में पूर्णशब्द से परे 'काकुद' विद्यमान है अतः **पूर्णाद्विभाषा** (९७७) इस प्रकृतसूत्रद्वारा 'काकुद' के अन्त्य अकार का विकल्प से समासान्त लोप हो जाता है। लोपपक्ष में प्रथमा विभक्ति के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर उस का हल्ङ्यादिलोप तथा अवसान में **वाऽवसाने** (१४६) सूत्रद्वारा वैकल्पिक चर्त्व करने से 'पूर्णकाकुत्, पूर्णकाकुद्' ये दो प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। लोप के अभाव में सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने पर 'पूर्णकाकुदः' बनेगा।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा सुहृद् और दुर्हृद् शब्दों की सिद्धि दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९७८) सुहृद्-दुर्हृदौ मित्राऽमित्रयोः।
५।४।१५०॥

सुदुर्भ्यां हृदयस्य हृद्भावो निपात्यते। सुहृन्मित्रम्। दुर्हृद् अमित्रः॥[1]

अर्थः—बहुव्रीहिसमास में सु और दुर् निपातों से परे हृदयशब्द के स्थान पर हृद् आदेश निपातित किया जाता है क्रमशः मित्र और शत्रु अर्थों में।

व्याख्या—सुहृद्-दुर्हृदौ ।१।२। मित्राऽमित्रयोः ।७।२। बहुव्रीहौ ।७।१। (**बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः०** सूत्र से)। समासान्ताः ।१।३। (यह अधिकृत है)। सुहृत् च दुर्हृत् च सुहृद्-दुर्हृदौ, इतरेतरद्वन्द्वः। मित्रञ्च अमित्रश्च मित्रामित्रौ, तयोः=मित्रामित्रयोः, इतरेतर-द्वन्द्वः। अर्थः—(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहिसमास में (मित्राऽमित्रयोः) मित्र और शत्रु वाच्य होने पर (सुहृद्-दुर्हृदौ) सुहृद् और दुर्हृद् निपातित किये जाते हैं। **यथासंख्यमनुदेशः समानाम्**

---

१. न मित्रम्—अमित्रः। यहां नञ्तत्पुरुषसमास में **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) से प्राप्त परवल्लिङ्गता का **भृत्राऽमित्र-च्छात्त्र-पुत्र-मन्त्र-वृत्र-मेढ्रोष्ट्राः पुंसि** (लिङ्गानु० १५५) सूत्र से निषेध हो कर पुंस्त्व हो जाता है। **अमेर्द्विषति चित्** (उणादि० ६१३) इस औणादिकसूत्रद्वारा अम् धातु से इत्रच् प्रत्यय करने पर भी 'अमित्र' शब्द सिद्ध होता है। अमित्रशब्द लोक में सदा पुंलिङ्ग में ही प्रयुक्त होता है—**तस्य मित्राण्यमित्रास्ते** (माघ० २.१०१)। काशिकाकार का यहां 'दुर्हृद् अमित्रम्' ऐसा लिखना चिन्त्य है।

(२३) परिभाषा के अनुसार मित्र अर्थ में 'सुहृद्' तथा शत्रु अर्थ में 'दुर्हृद्' का निपातन समझना चाहिये। **समासान्ताः** (५.४.६८) अधिकार में पठित होने से ये दोनों शब्द कृतसमासान्त निपातित किये गये हैं। दूसरे शब्दों में मित्र और अमित्र (शत्रु) वाच्य होने पर सु और दुस् (या दुर्) से परे हृदय शब्द को 'हृद्' समासान्त आदेश हो जाता है बहुव्रीहिसमास में। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—सु (शोभनं) हृदयं यस्य सः = सुहृत् (शोभन हृदय वाला अर्थात् मित्र)। अलौकिकविग्रह—सु + हृदय सुँ। यहां **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से बहुव्रीहिसमास, प्रातिपदिकसंज्ञा तथा सुँब्लुक् हो कर प्रकृतसूत्र से हृदय को हृद् आदेश कर विभक्ति लाने से 'सुहृत्, सुहृद्'[1] प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।

इसीप्रकार—दुः (दुष्टम् अशोभनं वा) हृदयं यस्य सः = दुर्हृत् (दुष्ट हृदय वाला अर्थात् शत्रु)। यहां 'दुर् + हृदय सुँ' के बहुव्रीहिसमास में सुँब्लुक् कर प्रकृतसूत्रद्वारा हृदय को हृद् समासान्त आदेश हो कर विभक्तिकार्य करने से 'दुर्हृत्, दुर्हृद्' प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। **रिपौ वैरि-सपत्नाऽरि-द्विषद्-द्वेषण-दुर्हृदः**—इत्यमरः।

मित्र और शत्रु अर्थ न होने पर यह आदेश नहीं होता। यथा—सुहृदयो मुनिः। दुर्हृदयश्चौरः। हृदयवाचक हृद् (नपुं०)[2] शब्द से भी सुहृद् और दुर्हृद् निष्पन्न किये जा सकते थे पुनः इस निपातन का क्या प्रयोजन ? इस का उत्तर यह है कि मित्र और शत्रु अर्थों में 'सुहृदयः' और 'दुर्हृदयः' न बन जायें इसे रोकने के लिये ही यह सूत्र बनाया गया है।

अब बहुव्रीहिसमास के सुप्रसिद्ध समासान्त कप् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(९७९) उरःप्रभृतिभ्यः कप् ।५।४।१५१॥**

(उरःप्रभृत्यन्ताद् बहुव्रीहेः कप् स्यात् समासान्तः) ॥

अर्थः—उरस् आदि शब्द जिस के अन्त में हों ऐसे बहुव्रीहिसमास से समासान्त कप् प्रत्यय हो।

व्याख्या—उरःप्रभृतिभ्यः ।५।३। कप् ।१।१। बहुव्रीहेः ।५।१। (**बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः०** सूत्र से विभक्तिविपरिणामद्वारा)। **प्रत्ययः, परश्च, तद्धिताः, समासान्ताः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। उरः (उरस् इतिशब्दः) प्रभृतिर् (आदिर्) येषान्ते उरःप्रभृतयः, तेभ्यः = उरःप्रभृतिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः। 'उरःप्रभृतिभ्यः' यह पद 'बहुव्रीहेः' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'उरःप्रभृत्यन्ताद् बहुव्रीहेः' बन जाता है। अर्थः—(उरःप्रभृतिभ्यः = उरःप्रभृत्यन्तात्) उरस् आदि शब्द जिस के अन्त में हों ऐसे (बहुव्रीहेः) बहुव्रीहिसमास से परे (कप्) कप् प्रत्यय हो जाता

---

१. **एक एव सुहृद् धर्मो निधनेऽप्यनुयाति यः।**
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति॥ (मनु० ८.१७)

२. **चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः**—इत्यमरः।

है और वह (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक तथा (समासान्तः) समास का अन्तावयव होता है। उरःप्रभृति एक गण है जो गणपाठ में दिया गया है[१]। इस का प्रथम शब्द 'उरस्' होने के कारण इसे उरःप्रभृति कहा जाता है। कप् प्रत्यय का पकार **हलन्त्यम्** (१) सूत्रद्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है। इसे पित् करने का प्रयोजन **अनुदात्तौ सुँप्पितौ** (३.१.३) सूत्रद्वारा अनुदात्तस्वर करना है। **लशक्वतद्धिते** (१३६) सूत्र में 'अतद्धिते' कहा गया है अतः कप् के ककार की इत्संज्ञा नहीं होती क्योंकि यह तद्धितसंज्ञक है।

सूत्र के उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—व्यूढं (विशालम्) उरो (वक्षो) यस्य सः=व्यूढोरस्कः (चौड़ी छाती वाला पुरुष)। अलौकिकविग्रह—व्यूढ सुँ+उरस् सुँ। यहां पर दोनों पद अन्यपद के अर्थ को विशिष्ट कर रहे हैं अतः **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) सूत्र से इन का बहुव्रीहिसमास हो कर विशेषण का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा एवं प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (दोनों सुँ प्रत्ययों) का लुक् करने पर—व्यूढ+उरस्। **आद् गुणः** (२७) से गुण करने से—व्यूढोरस्। अब यहां बहुव्रीहिसमास के अन्त में 'उरस्' शब्द आया है जो उरःप्रभृतिगण का पहला शब्द है अतः प्रकृत **उरःप्रभृतिभ्यः कप्** (९७९) सूत्रद्वारा समासान्त कप् प्रत्यय हो कर पकार अनुबन्ध का लोप करने से 'व्यूढोरस्+क' हुआ। **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) के अनुसार कप् प्रत्यय के परे रहते 'व्यूढोरस्' की पदसंज्ञा हो जाती है। अतः **ससजुषो रुः** (१०५) से पदान्त सकार को रुँ आदेश, उकारलोप तथा **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (९३) से रेफ को विसर्ग आदेश करने पर—व्यूढोरः+क। पुनः वक्ष्यमाण **सोऽपदादौ**(९८०) सूत्र से विसर्ग को सकार आदेश कर विभक्ति लाने से 'व्यूढोरस्कः'[२] प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

दूसरा उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—प्रियं सर्पिर् (घृतं) यस्य सः=प्रियसर्पिष्कः (जिसे घी प्रिय है अर्थात् घृतप्रेमी)। अलौकिकविग्रह—प्रिय सुँ+सर्पिस् सुँ। यहां पर पूर्ववत् **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से बहुव्रीहिसमास, विशेषण का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा तथा उस के अवयव सुँपों (दोनों सुँप्रत्ययों) का लुक् करने पर—प्रियसर्पिस्।

---

१. उरःप्रभृतिगण यथा—

उरस्। सर्पिस्। उपानह्। पुमान्। अनड्वान्। पयः। नौः। लक्ष्मीः। दधि। मधु। शालि। अर्थान्नञः (गणसूत्रम्)॥

आचार्य वर्धमान ने इस गण को इस प्रकार छन्दोबद्ध किया है—

उरः सर्पिर्मधूपानद् दधि शालिः पयः पुमान्।
अनड्वान्नौस्तथा लक्ष्मीर्नञ्पूर्वान्नित्यमर्थतः॥

(गणरत्नमहोदधि, श्लोक १३६)

२. व्यूढोरस्को वृषस्कन्धः शालप्रांशुर्महाभुजः।
आत्मकर्मक्षमं देहं क्षात्रो धर्म इवाश्रितः॥ (रघु० १.१३)

यहां बहुव्रीहिसमास के अन्त में 'सर्पिस्' शब्द आया है जो उरःप्रभृतियों में परिगणित है। अतः **उरःप्रभृतिभ्यः कप्** (६७६) इस प्रकृतसूत्रद्वारा समासान्त कप् (क) प्रत्यय हो कर पदान्त सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने पर—प्रियसर्पिः + क। अब वक्ष्यमाण इणः षः (६८१) सूत्र से विसर्ग को षकार आदेश कर विभक्ति लाने से 'प्रियसर्पिष्कः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

(१) विशालम् उरो यस्य स विशालोरस्कः।

(२) बहु सर्पिर्यस्य स बहुसर्पिष्कः (बहुत घृत वाला)।

(३) प्रियं पयो यस्य स प्रियपयस्कः (दुग्धप्रेमी)।

(४) प्रियं दधि यस्य स प्रियदधिकः।

(५) प्रियं मधु यस्य स प्रियमधुकः।

(६) सम्पन्नाः शालयो यस्य स सम्पन्नशालिकः।

(७) प्रिया लक्ष्मीर्यस्य स प्रियलक्ष्मीकः[1]।

(८) प्रिया नौर्यस्य स प्रियनौकः।

(९) प्रियोऽनड्वान् यस्य स प्रियानडुत्कः (बैल का प्रेमी)[2]।

(१०) अवमुक्ते उपानहौ येन सोऽवमुक्तोपानत्कः[3]।

उरःप्रभृतिगण में एक गणसूत्र पढ़ा गया है—**अर्थान्नञः**। इस का अर्थ है—जिस बहुव्रीहिसमास में पूर्वपद नञ् तथा उत्तरपद अर्थ शब्द हो तो उस से परे समासान्त कप् प्रत्यय हो जाता है। यथा—अविद्यमानोऽर्थो यस्य तद् अनर्थकं (वचः)। यहां **नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः** (वा० ६६) वार्त्तिक से बहुव्रीहिसमास में अस्त्यर्थक विद्यमानशब्द का लोप हो कर **तस्मान्नुँडचि** (६४८) सूत्रद्वारा नुँट् का आगम करने से 'अनर्थ' इस स्थिति में प्रकृत गणसूत्र से समासान्त कप् हो कर विभक्ति लाने से 'अनर्थकम्' (वचः) प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

विशेष वक्तव्य—उरःप्रभृतिगण पीछे लिख चुके हैं। इस गण में कुछ शब्द प्रातिपदिक के रूप में और कुछ अन्य प्रथमैकवचनान्त के रूप में पढ़े गये हैं। पयः, लक्ष्मीः, नौः, पुमान्, अनड्वान्—ये पाञ्च शब्द प्रथमैकवचनान्त पढ़े गये हैं। व्याख्याकारों का कथन है कि इन पाञ्च शब्दों से तभी कप् प्रत्यय किया जाता है जब ये

---

१. स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्० (६६६) इति पूर्वपदस्य पुंवद्भावः।

२. अनडुह् शब्द के हकार को पदान्त में वसुँ-स्रंसुँ-ध्वंस्वनडुहां दः (२६२) से दकार हो कर खरि च (७४) द्वारा चर्त्वेन तकार हो जाता है।

३. उपानह् शब्द के हकार को पदान्त में नहो धः (३५६) सूत्रद्वारा धकार हो कर खरि च (७४) से चर्त्व-तकार हो जाता है। अवमुक्तोपानत्कः (जो जूते उतार चुका है)।

शब्द बहुव्रीहि में प्रथमैकवचनान्त हों अन्यथा वक्ष्यमाण **शेषाद् विभाषा** (९८४) सूत्र से कप् विकल्प से किया जाता है । यथा—प्रिया लक्ष्मीर्यस्य स प्रियलक्ष्मीक:। यहां समास में लक्ष्मीशब्द प्रथमैकवचनान्त है अतः प्रकृतसूत्र से कप् हो गया है । प्रिया लक्ष्म्यो यस्य स प्रियलक्ष्मीक: प्रियलक्ष्मीर्वा । यहां लक्ष्मी शब्द प्रथमाबहुवचनान्त है अतः प्रकृतसूत्र से कप् न हो कर **शेषाद् विभाषा** (९८४) से कप् का विकल्प हुआ है[1] ।

कप् प्रत्यय के परे रहते विसर्ग को कहीं सकार आदेश और कहीं षकार आदेश हो जाता है—इस की व्यवस्था के लिये अग्रिम दो सूत्रों का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(९८०) सोऽपदादौ ।८।३।३८।।**

पाश-कल्प-क-काम्येषु विसर्गस्य सः । इति सः— व्यूढोरस्कः ।।

अर्थः—पाश, कल्प, क और काम्य—इन चार प्रत्ययों के परे रहते विसर्ग को सकार आदेश हो ।

व्याख्या—सः ।१।१। (सकारादकार उच्चारणार्थः) । अपदादौ ।७।१। विसर्जनीयस्य ।६।१। (**विसर्जनीयस्य सः** सूत्र से) । कुप्वोः ।७।२। (**कुप्वोः ≍क≍पौ च** सूत्र से) । संहितायाम् ।७।१। (**तयोर्य्वावचि संहितायाम्** सूत्र से) । पदस्यादिः पदादिः, षष्ठीतत्पुरुषः । न पदादिः—अपदादिः, तस्मिन्=अपदादौ, नञ्तत्पुरुषः । 'अपदादौ' यह 'कुप्वोः' के साथ अन्वित होता है अतः इसे द्विवचनान्त बना कर 'अपदाद्योः कुप्वोः' समझना चाहिये । अर्थः—(अपदाद्योः कुप्वोः) जो पद के आदि में स्थित नहीं ऐसे कवर्ग या पवर्ग के परे रहते (विसर्जनीयस्य) विसर्ग के स्थान पर (सः) स् आदेश हो जाता है (संहितायाम्) संहिता की विवक्षा में । अपदादि कवर्ग पवर्ग का परे होना[2] केवल पाश, कल्प, क और काम्य—इन चार प्रत्ययों में ही सम्भव हो सकता है । अतः इन चार प्रत्ययों के परे होने पर ही प्रकृतसूत्रद्वारा विसर्ग को सकारादेश करना वृत्ति (मूलोक्त सूत्रार्थ) में कहा गया है । यह सूत्र **कुप्वोः≍क≍पौ च** (९८) सूत्रद्वारा प्राप्त जिह्वामूलीय+विसर्ग या उपध्मानीय+विसर्ग का अपवाद है ।

उदाहरण यथा—

'पाश' में[3]—

---

१. **अकृशमकृशलक्ष्मीश्चेतसा शंसितं सः** (किरात० ५.५२) । यहां भारवि ने 'अकृशलक्ष्मीः' पद में कप् प्रत्यय नहीं किया । अत एव मल्लिनाथ ने अपनी व्याख्या में इस का विग्रह 'अकृशा लक्ष्म्यो यस्य' इस प्रकार बहुवचनान्तघटित प्रदर्शित किया है।

२. 'अपदादौ' कथन के कारण 'पयः कामयते, पयः पिबति' इत्यादियों में इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती ।

३. **याप्ये पाशप्** (५.३.४७) । अर्थः—निन्दा अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से स्वार्थ में पाशप् (पाश) प्रत्यय होता है । यथा—कुत्सितो भिषक्—भिषक्पाशः (कुत्सित वैद्य) । पयस्पाशम् (विकृत दुग्ध) । यशस्पाशम् (विकृत यश अर्थात् अपकीर्ति) ।

पयः + पाश = पयस्पाश, विभक्ति लाने पर— पयस्पाशम् ।

यशः + पाश = यशस्पाश, विभक्ति लाने पर— यशस्पाशम् ।

'कल्प' में[1]—

पयः + कल्प = पयस्कल्प, विभक्ति लाने पर— पयस्कल्पम् ।

यशः + कल्प = यशस्कल्प, विभक्ति लाने पर— यशस्कल्पम् ।

'क' में[2]—

पयः + क = पयस्क, विभक्ति लाने पर— पयस्कम् ।

यशः + क = यशस्क, विभक्ति लाने पर— यशस्कम् ।

'काम्य' में[3]—

पयः + काम्य = पयस्काम्य, लँट् लाने पर— पयस्काम्यति ।

यशः + काम्य = यशस्काम्य, लँट् लाने पर— यशस्काम्यति ।

प्रकृत में 'व्यूढोरः + क' यहां कप् (क) प्रत्यय परे मौजूद है, **संहितैकपदे नित्या**—के अनुसार एकपद में संहिता की भी नित्य विवक्षा है अतः अपदादि ककार के परे रहते प्रकृत **सोऽपदादौ** (९८०) सूत्र से विसर्ग को सकार आदेश हो कर— व्यूढोरस्क। विभक्ति लाने से 'व्यूढोरस्कः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसी तरह—विशालोरस्कः, प्रियपयस्कः आदि में विसर्ग को सकार आदेश समझ लेना चाहिये ।

अब इस सूत्र के अपवाद का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— **(९८१) इणः षः ।८।३।३९।।**

इण उत्तरस्य विसर्गस्य षः पाश-कल्प-क-काम्येषु परेषु । प्रिय-सर्पिष्कः ।।

अर्थः—पाश, कल्प, क और काम्य—इन चार प्रत्ययों के परे रहते यदि इण्प्रत्याहार से परे विसर्ग हो तो उसे षकार आदेश हो जाता है ।

व्याख्या—इणः ।५।१। षः ।१।१। (षकारादकार उच्चारणार्थः) । विसर्जनीयस्य

---

१. **ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः** (१२३०) । अर्थः—ईषदसमाप्ति अर्थ में प्राति-पदिक से परे कल्पप् (कल्प), देश्य और देशीयर् (देशीय) प्रत्यय होते हैं। यथा— ईषदूनो विद्वान्—विद्वत्कल्पः, विद्वद्देश्यः, विद्वद्देशीयः (लगभग विद्वान्, विद्वान् के समान) । पयःकल्पम् (दूध के समान) । यशस्कल्पम् (यश के तुल्य) ।

२. **अज्ञाते** (१२३४), **कुत्सिते** (१२३५) । अर्थः—अज्ञात या कुत्सित अर्थों में प्राति-पदिक से परे क प्रत्यय हो जाता है । पयस्कम् (अज्ञात या कुत्सित दुग्ध)। यश-स्कम् (अपकीर्ति) ।

३. **काम्यच्च** (७२५) । इस सूत्र की व्याख्या पीछे कर चुके हैं । काम्यच्-प्रत्ययान्त की **सनाद्यन्ता धातवः** (४६८) से धातुसंज्ञा हो कर लँट् आदियों की उत्पत्ति होती है । पयस्काम्यति (अपने लिये दूध चाहता है) ।

।६।१। (**विसर्जनीयस्य सः** सूत्र से)। अपदादौ ।७।१। (**सोऽपदादौ** सूत्र से)। कुप्वोः ।७।२। (**कुप्वोः ≍क≍पौ च** सूत्र से)। संहितायाम् ।७।१। (**तयोर्य्वावचि संहितायाम्** सूत्र से)। इण् प्रत्याहार इस शास्त्र में सदा परले णकार अर्थात् **लँण्** (प्रत्याहारसूत्र ६) के णकार से ही लिया जाता है—यह पीछे **अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः** (११) सूत्र पर स्पष्ट किया जा चुका है[1]। **अर्थः**—(अपदाद्योः कुप्वोः) जो पद के आदि में स्थित नहीं ऐसे कवर्ग पवर्ग के परे रहते (इणः) इण् प्रत्याहार से परे (विसर्जनीयस्य) विसर्ग के स्थान पर (षः) ष् आदेश हो जाता है (संहितायाम्) संहिता की विवक्षा में। अपदादि **कवर्ग पवर्ग का परे** होना केवल पाश, कल्प, क और काम्य—इन चार प्रत्ययों के परे होने पर ही सम्भव है अतः इन में ही इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है। यह सूत्र पूर्वसूत्र का अपवाद है। अतः इण् से परे विसर्ग को षकार तथा अन्यत्र सकार आदेश होता है।

इस सूत्र के उदाहरण यथा—

'**पाश**' में—

सर्पिः + पाश = **सर्पिष्पाश**, विभक्ति लाने पर—**सर्पिष्पाशम्**।[2]

यजुः + पाश = **यजुष्पाश**, विभक्ति लाने पर—यजुष्पाशम्।[3]

'कल्प' में—

सर्पिः + कल्प = सर्पिष्कल्प, विभक्ति लाने पर—सर्पिष्कल्पम्।[4]

यजुः + कल्प = यजुष्कल्प, विभक्ति लाने पर—यजुष्कल्पम्।[5]

'क' में—

सर्पिः + क = सर्पिष्क, विभक्ति लाने पर—सर्पिष्कम्।[6]

यजुः + क = यजुष्क, विभक्ति लाने पर—यजुष्कम्।[7]

'काम्य' में—

सर्पिः + काम्य = सर्पिष्काम्य, लँट् लाने पर—सर्पिष्काम्यति।[8]

यजुः + काम्य = यजुष्काम्य, लँट् लाने पर—यजुष्काम्यति।[9]

---

१. **परेणैवेण्ग्रहाः सर्वे पूर्वेणैवाण्ग्रहा मताः।**
ऋतेऽणुदित्सवर्णस्येत्येतदेकं परेण तु॥

२. सर्पिष्पाशम् = निकम्मा या निकृष्ट घृत।

३. यजुष्पाशम् = कुत्सित यजुः।

४. सर्पिष्कल्पम् = घृततुल्य।

५. यजुष्कल्पम् = यजुः के तुल्य।

६. सर्पिष्कम् = निकृष्ट घृत।

७. यजुष्कम्—अज्ञात यजुः।

८. सर्पिष्काम्यति = अपने लिये घृत चाहता है।

९. यजुष्काम्यति = अपने लिये यजुः चाहता है।

प्रकृत में 'प्रियसर्पिः+क' यहां कप् (क) प्रत्यय परे विद्यमान है। **संहितैकपदे नित्या**— के अनुसार संहिता की भी विवक्षा है, अतः अपदादि ककार के परे रहते इण्-इकार से परे विसर्ग को प्रकृतसूत्र से षकार आदेश हो कर विभक्ति लाने से 'प्रियसर्पिष्कः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसी उपचार (विसर्ग के स्थान पर होने वाले सत्व-षत्व) प्रकरण में उपयोगी एक अन्य सूत्र का अवतरण करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**९८२**) **कस्कादिषु च** ।८।३।४८।।

एषु इण उत्तरस्य विसर्गस्य षः, अन्यत्र तु सः । (कस्कः) ।।

अर्थः—कस्क आदि गणपठित शब्दों में इण् प्रत्याहार से परे विसर्ग को षकार आदेश तथा अन्यत्र (जहां इण् नहीं वहां) सकार आदेश हो जाता है ।

व्याख्या—कस्कादिषु ।७।३। च इत्यव्ययपदम् । इणः ।५।१। षः ।१।१।। (**इणः षः** सूत्र का पूरा अनुवर्त्तन) । विसर्जनीयस्य ।६।१। (**विसर्जनीयस्य सः** सूत्र से) । सः । १।१। (**सोऽपदादौ** सूत्र से) । कुप्वोः ।७।२। (**कुप्वोः ≍क≍ पौ च** सूत्र से) । संहितायाम् ।७।१। (अधिकृत है) । कस्कशब्द आदिर्येषान्ते कस्कादयः, तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिसमासः । कस्कादि एक गण है जो पाणिनीय गणपाठ में दिया गया है[1] । **अर्थः**—(कस्कादिषु) कस्कादियों में (च) भी (इणः) इण् प्रत्याहार से परे (**विसर्जनीयस्य**) विसर्ग के स्थान पर (षः) ष् आदेश तथा अन्यत्र—जहां कस्कादियों में इण् प्रत्याहार से परे विसर्ग स्थित नहीं होता वहां विसर्ग के स्थान पर (सः) स् आदेश हो जाता है (कुप्वोः) कवर्ग पवर्ग के परे रहते (संहितायाम्) संहिता के विषय में ।

उदाहरण यथा—

कः+कः=कस्कः (कौन कौन) । यहां **नित्यवीप्सयोः** (८८६) सूत्रद्वारा वीप्सा अर्थ में 'कः' पद को द्वित्व हो गया है । 'कः+कः' इस स्थिति में पूर्वार्ध में इण् से परे विसर्ग वर्त्तमान नहीं अपितु अकार से परे वर्त्तमान है अतः प्रकृत **कस्कादिषु च** (९८२) सूत्रद्वारा कवर्ग के परे रहते विसर्ग को सकार आदेश हो कर 'कस्कः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । ध्यान रहे कि यहां **सोऽपदादौ** (९८०) सूत्रद्वारा सकार आदेश नहीं हो सकता था क्योंकि विसर्ग से परे कवर्ग पदादि था ।[2]

---

१. कस्कादिगण यथा—
कस्कः । कौतस्कुतः । भ्रातुष्पुत्रः । शुनस्कर्णः । सद्यस्कालः । सद्यस्क्रीः । साद्यस्कः । कांस्कान् । सर्पिष्कुण्डिका । धनुष्कपालम् । बर्हिष्पलम् (बर्हिष्पूलम् इति काशिका) । यजुष्पात्रम् । अयस्कान्तः । मेदस्पिण्डः । भास्करः । अहस्करः । आकृतिगणोऽयम् ।

२. जब संहिता की विवक्षा नहीं होती तब इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती । अत एव नाटकों में 'कः कोऽत्र भो दौवारिकाणाम्' इत्यादि प्रयोग पाये जाते हैं ।

इसीप्रकार 'कुतः' पद को वीप्सा में **नित्यवीप्सयोः** (८८६) से द्वित्व हो कर—कुतः + कुतः । यहां भी पूर्वार्ध में इण् से परे विसर्ग नहीं अपितु अकार से परे है अतः प्रकृत **कस्कादिषु च** (९८२) सूत्रद्वारा कवर्ग के परे रहते विसर्ग को सकार आदेश हो जाता है—कुतस्कुतः । अब इस 'कुतस्कुतस्' शब्द से **तत आगतः** (१०९८) 'उस से आया हुआ' अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय कर आदिवृद्धि (९३८) तथा **अव्ययानां भमात्रे टिलोपः** (वा०) से टिभाग (अस्) का लोप कर—कौतस्कुत् + अ = कौतस्कुत, विभक्ति ला कर 'कौतस्कुतः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । कौतस्कुतास्तत्र लोकाः समवायन् (कहां कहां से आये लोग वहां इकट्ठे हुए ?) ।

इसी तरह—सद्यः + कालः = सद्यस्कालः । शुनः + कर्णः = शुनस्कर्णः । अयः + काण्ड = अयस्काण्डः । मेदः + पिण्ड = मेदस्पिण्डः । इत्यादियों में विसर्ग को सकार आदेश होता है ।

इण् से परे विसर्ग को षकार आदेश के उदाहरण यथा—भ्रातुः + पुत्र = भ्रातुष्पुत्रः (भतीजा) । सर्पिः + कुण्डिका = सर्पिष्कुण्डिका (घी की कुण्डी) । इत्यादि ।

कस्कादि आकृतिगण है । इस में कृतसत्व तथा कृतषत्व शब्द एकत्रित हैं । जहां विसर्ग के स्थान पर होने वाले सकार षकार का किसी सूत्र से विधान न हो उस को कस्कादिगण में परिगणित कर लेना चाहिये । जैसा कि काशिकाकार ने कहा है—**अविहितलक्षण उपचारः कस्कादिषु द्रष्टव्यः** ।

नोट—लघु-सिद्धान्त-कौमुदी के मुद्रित संस्करणों में उपर्युक्त तीन सूत्रों पर विविध पाठभेद देखे जाते हैं । किसी किसी संस्करण में तो केवल एक ही सूत्र का उल्लेख मिलता है। यथा—"**कस्कादिषु च** ।८।३।४८।। एष्विण उत्तरस्य विसर्गस्य षोऽन्यत्र तु सः । इति सः । व्यूढोरस्कः । प्रियसर्पिष्कः ।।" शेष दो सूत्रों का उल्लेख ही नहीं मिलता । भला कस्कादिगण में पाठ मान कर 'व्यूढोरस्कः, प्रियसर्पिष्कः' में सत्व और षत्व कैसे किये जा सकते हैं? क्योंकि इन में तो वे ही शब्द गिनाये जाते हैं जहां विसर्ग से परे पदादि कवर्ग पवर्ग हुआ करता है । यहां ऐसा कोई प्रसङ्ग ही नहीं । अतः हम ने व्याकरण-प्रक्रियानुसार इस स्थल के पाठ का संशोधन कर व्याख्या प्रस्तुत की है[1] ।

अब बहुव्रीहिसमास में निष्ठाप्रत्ययान्त शब्दों का पूर्वनिपात निरूपण करते हैं—

---

१. कुछ लोगों का विचार है कि लघुकौमुदीकार ने विद्यार्थियों के सौकर्य को दृष्टि में रखते हुए **सोऽपदादौ** (९८०) तथा **इणः षः** (९८१) के झमेले से मुक्त रखने के लिये **कस्कादिषु च** (९८२) सूत्रद्वारा यहां सत्व का विधान दर्शाया है । परन्तु यदि ऐसा किया भी गया हो तो वह उचित नहीं । क्योंकि वे दोनों सूत्र पाश, कल्प, क और काम्य इन चार प्रत्ययों में ही प्रवृत्त होते हैं । इन में से तीन (कल्प, क और काम्य) प्रत्ययों का विधान तो लघुकौमुदी में किया ही गया है । शेष रहे 'पाश' का उदाहरण छोड़ा भी जा सकता था । अतः इन सूत्रों को जान लेने से छात्रों पर कोई अनावश्यक बोझ नहीं पड़ता, उल्टा प्रक्रियाशुद्धि बनी रहती है ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(९८३) निष्ठा ।२।२।३६।।**

निष्ठान्तं बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात् । युक्तयोगः ।।

अर्थः—बहुव्रीहिसमास में निष्ठाप्रत्ययान्त शब्द पूर्व में प्रयुक्त हो ।

व्याख्या—निष्ठा ।१।१। बहुव्रीहौ ।७।१। (**सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ** सूत्र से) । पूर्वम् ।२।१। (**उपसर्जनं पूर्वम्** सूत्र से) । 'प्रयुज्यते' इत्यध्याहार्यम् । **क्त-क्तवतू निष्ठा** (८१४) सूत्र से क्त और क्तवतुँ प्रत्ययों की निष्ठा सञ्ज्ञा कही गई है । अतः **प्रत्यय-ग्रहणे तदन्तग्रहणम्** के अनुसार यहां 'निष्ठा' से निष्ठाप्रत्ययान्तों का ग्रहण होता है । अर्थः—(बहुव्रीहौ) बहुव्रीहिसमास में (निष्ठा) निष्ठाप्रत्ययान्त (पूर्वम्) पूर्व में (प्रयुज्यते) प्रयुक्त होता है । उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—युक्तो योगोऽनेन स युक्तयोगः (जिस का योग सफल हो चुका है ऐसा सिद्ध योगी) । अलौकिकविग्रह—युक्त सुँ + योग सुँ । यहां दोनों पद अन्य-पदार्थ को विशिष्ट करते हैं अतः **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से इन पदों का बहुव्रीहि-समास हो जाता है । समास की प्रातिपदिकसंज्ञा कर सुँपों का लुक् किया तो—युक्त + योग । अब प्रकृत **निष्ठा** (९८३) सूत्र से निष्ठान्त 'युक्त'[1] शब्द का बहुव्रीहिसमास में पूर्वनिपात कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने पर 'युक्तयोगः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि निष्ठान्त का यह पूर्वनिपात केवल बहुव्रीहि में ही होता है अन्यत्र नहीं । अतः 'योगेन युक्तः—योगयुक्तः' यहां तृतीयातत्पुरुषसमास में निष्ठान्त का पूर्वनिपात नहीं होता ।

सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—कृतं कृत्यं येन सः = कृतकृत्यः । कृतं कार्यं येन सः = कृतकार्यः । इत्यादि जानने चाहियें ।

यहां एक प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'युक्तयोगः' में 'युक्त' शब्द का पूर्वनिपात तो विशेषण होने के कारण **सप्तमी-विशेषणे बहुव्रीहौ** (९६७) सूत्रद्वारा ही सिद्ध था पुनः इस **निष्ठा** (९८३) सूत्रद्वारा पूर्वनिपात के विधान की क्या आवश्यकता ? इस का उत्तर यह है कि दो समानाधिकरण क्रियाशब्दों का विशेष्यविशेषणभाव विवक्षा के अधीन होने से अनियत होता है । कभी एक विशेष्य और दूसरा विशेषण हो जाता है तो कभी दूसरा विशेष्य और प्रथम विशेषण भी हो सकता है । इस तरह विशेषणा-श्रित पूर्वनिपात अनिश्चित है अतः प्रकृतसूत्र से निष्ठान्तों का पूर्वनिपात विधान किया गया है । इस से निष्ठान्त चाहे विशेषण हों या विशेष्य, उन का बहुव्रीहि में सदा पूर्व-निपात ही होगा । इस सूत्र के भी कई अपवादस्थल हैं जो आकरग्रन्थों में देखे जा सकते हैं ।

नोट—यह सूत्र वरदराजजी को लघुसिद्धान्तकौमुदी में **सप्तमीविशेषणे बहु-**

---

१. युक्तशब्द युज् धातु से निष्ठासंज्ञक क्त (त) प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है ।

व्रीहौ (६६७) सूत्र के बाद ही देना चाहिये था । यहां समासान्तप्रकरण के मध्य में इसे रखना कुछ उचित प्रतीत नहीं होता ।

अब पुनः समासान्त कप् प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९८४) **शेषाद् विभाषा** ।५।४।१५४।।

अनुक्तसमासान्ताद् बहुव्रीहेः कब्वा । महायशस्कः । महायशाः ।।

अर्थः—जिस बहुव्रीहि से कोई समासान्त न कहा गया हो तो उस से समासान्त कप् प्रत्यय विकल्प से हो ।

व्याख्या—शेषात् ।५।१। विभाषा ।१।१। बहुव्रीहेः ।५।१। (**बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः०** सूत्र से विभक्तिविपरिणामद्वारा) । कप् ।१।१। (**उरःप्रभृतिभ्यः कप्** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, तद्धिताः, समासान्ताः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं । जिस से कोई समासान्त कहा नहीं गया वह यहां 'शेष' विवक्षित है । अर्थः—(शेषाद् बहुव्रीहेः) जिस बहुव्रीहि से कोई समासान्त विधान नहीं किया गया उस से परे (विभाषा) विकल्प से (कप्) कप् प्रत्यय हो जाता है और वह प्रत्यय (तद्धितः) तद्धित-सञ्ज्ञक तथा (समासान्तः) समास का अन्तावयव होता है । उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—महद् यशो यस्य सः = महायशस्को महायशा वा (बड़े यश वाला, महायशस्वी) । अलौकिकविग्रह—महत् सुँ + यशस् सुँ । यहां दोनों पद अन्यपदार्थ को विशिष्ट कर रहे हैं अतः **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) सूत्र से इन का बहुव्रीहिसमास हो जाता है । समास में विशेषण का पूर्वनिपात, समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (दोनों सुँ प्रत्ययों) का लुक् करने पर—महत् + यशस् । पुनः **आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः** (९५९) सूत्रद्वारा महत् के तकार को आकार आदेश हो कर सवर्णदीर्घ हो जाता है—महायशस् । इस बहुव्रीहिसमास से किसी सूत्रद्वारा किसी समासान्त का विधान नहीं किया गया अतः यह शेष बहुव्रीहि है । इस शेष बहुव्रीहि से प्रकृत **शेषाद्विभाषा** (९८४) सूत्र द्वारा विकल्प से समासान्त कप् प्रत्यय हो जाता है । कप्पक्ष में 'महायशस् + क' इस स्थिति में **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) सूत्रद्वारा पदसञ्ज्ञा के कारण **ससजुषो रुँः** (१०५) से पदान्त सकार को रुँ आदेश तथा **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (९३) से रेफ को विसर्ग आदेश हो जाता है—महायशः + क । **सोऽपदादौ** (९८०) से विसर्ग को सकार आदेश करने पर—महायशस्क । अब विशेष्यानुसार विभक्ति ला कर 'महायशस्कः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । जिस पक्ष में समासान्त कप् प्रत्यय नहीं होता वहां विभक्ति ला कर पुंलिङ्ग में 'वेधस्' शब्द की तरह प्रक्रिया होती है । महायशस् + सुँ—यहां **अत्वसन्तस्य चाऽधातोः** (३४३) से उपधादीर्घ, **हल्ङ्याब्भ्यो०** (१७९) से अपृक्त सकार का लोप तथा प्रकृति के सकार को रुँत्व-विसर्ग करने पर 'महायशाः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1] । इस प्रकार 'महायशस्कः' तथा 'महायशाः' ये दो प्रयोग निष्पन्न होते हैं ।

---

१. महायशाः, महायशसौ, महायशसः—इस प्रकार 'वेधस्' शब्द की तरह रूपमाला जाननी चाहिये ।

इसीप्रकार—अल्पं वयो यस्य सः=अल्पवयस्कः, अल्पवयाः। तुल्यं वयो यस्य सः=तुल्यवयस्कः, तुल्यवयाः। बह्वी विद्या यस्य सः=बहुविद्यकः, बहुविद्याकः, बहुविद्यः[1]। बह्व्यो माला यस्य सः=बहुमालकः, बहुमालाकः, बहुमालः। इत्यादि प्रयोग समझने चाहियें।

शेषात् (अनुक्तसमासान्तात्) कथन के कारण 'व्याघ्रपाद्' आदि से प्रकृतसूत्र-द्वारा समासान्त कप् नहीं होता। कारण कि यहां **पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः** (९७४) से जो लोप विधान किया गया है वह भी समासान्त है। भावरूप या अभावरूप किसी प्रकार के समासान्त के विहित हो जाने से शेषत्व नहीं रहता।

अभ्यास [६]

(१) निम्नस्थों में अन्तर स्पष्ट करें—

[क] समानाधिकरणबहुव्रीहि; व्यधिकरणबहुव्रीहि।

[ख[तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि; अतद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि।

[ग] प्रिया लक्ष्मीर्यस्य; प्रिया लक्ष्म्यो यस्य।

[घ] दीर्घसक्थः; दीर्घसक्थि।

[ङ] स्थूलाक्षी; स्थूलाक्षा।

[च] सुहृद्; सुहृदयः।

[छ] दृढभक्तिः; दृढाभक्तिः।

(२) निम्नस्थ प्रश्नों का यथोचित उत्तर दीजिये—

]क] कप्प्रत्यय के ककार की इत्संज्ञा क्यों नहीं होती?

[ख] लोप को भी समासान्त क्यों माना गया है?

[ग] **सोऽपदादौ** में 'अपदादौ' क्यों कहा गया है?

[घ] 'कुसूलपादः' में समासान्त क्यों नहीं हुआ?

[ङ] 'कः कोऽत्र भोः' यहां कस्कादित्वात् सकार क्यों नहीं हुआ?

[च] 'दशमूर्धा' में समासान्त क्यों नहीं हुआ?

[छ] **शेषाद्विभाषा** में शेषपद से क्या अभिप्रेत है?

[ज] **अनेकमन्यपदार्थे** में 'अनेकम्' क्यों कहा गया है?

[झ] **शेषो बहुव्रीहिः** में 'शेषः' से क्या अभिप्रेत है?

(३) कप्, अप्, षच्, ष और अन्त्यलोप—इन समासान्तों के दो दो उदाहरण प्रदर्शित करें।

(४) व्यधिकरणबहुव्रीहि के कोई पाञ्च उदाहरण दीजिये।

---

१. यहां स्त्रीलिङ्ग पूर्वपद को **स्त्रियाः पुंवद् भाषितपुंस्कादनूङ्०** (९६९) सूत्र से पुंवद्भाव हो जाता है। टाबन्त उत्तरपद को कप् के परे रहते **आपोऽन्यतरस्याम्** (७.४.१५) सूत्र से वैकल्पिक ह्रस्व हो जाता है। कप् के अभाव में **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** (९५२) से उपसर्जनह्रस्व हो जाता है।

(५) **षच्, ष और अप्** समासान्तों में अनुबन्धभेद के कारण रूपसिद्धि में पड़ने वाले अन्तर को स्पष्ट करें।

(६) बहुव्रीहिसमास के पूर्वनिपात पर सोदाहरण प्रकाश डालें।

(७) सहेतुक अशुद्धि-शोधन कीजिये—

१. द्विमूर्धा सर्पः। २. स्वक्षा युवतिः। ३. कृष्णगौर्ब्राह्मणः। ४. हस्तिपाद् आतुरः। ५. दुर्हृदयोऽमित्रः। ६. उत्काकुदः। ७. सुपादा कन्या। ८. चतुष्पादः श्लोकः। ९. विशालोराः शूरः। १०. दर्शनीयाभार्यः। ११. संहितोरुभार्यः। १२. कल्याणप्रियो राजा। १३. प्रियपयाः शिशुः। १४ कल्याणीपञ्चम्यो रात्रयः।[1]

---

१. अत्रेत्थमशुद्धिशोधनमवसेयम्—

[१] 'द्विमूर्धा' इत्यसाधु। द्वौ मूर्धानौ यस्येति विग्रहे बहुव्रीहौ **द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः** (९७२) इति षप्रत्यये समासान्ते, भस्य टेर्लोपे च कृते 'द्विमूर्धः' इत्युचितम्। [२] स्वक्षेत्यशुद्धम्। सु (शोभने) अक्षिणी यस्या इति बहुव्रीहौ **बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्** (९७१) इति समासान्ते षचि भस्येकारस्य लोपे 'स्वक्ष' इतिशब्दात् स्त्रीत्वे षित्त्वात् **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५५) इति ङीषि भस्याकारस्य लोपे च कृते 'स्वक्षी' इति भवितव्यम्। [३] कृष्णा गौर्यस्येति बहुव्रीहौ कृष्णाशब्दस्य पुंवद्भावे **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** (९५२) इत्युपसर्जनह्रस्वे च कृते 'कृष्णगुः' इति भवितव्यम्। [४] हस्तिपाद् इत्यत्र 'हस्तिपादः' इति भाव्यम्। **पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः** (९७४) इत्यत्र अहस्त्यादिभ्य इत्युक्तेः समासान्तलोपो न। [५] अमित्रे **सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः** (९७८) इति निपातनाद् दुर्हृद् इति भवितव्यम्। [६] अत्र **उद्विभ्यां काकुदस्य** (९७६) इति समासान्तेऽन्त्यलोपे उत्काकुदिति साधु। [७] अत्र **संख्यासुपूर्वस्य** (९७५) इति समासान्तेऽन्त्यलोपे स्त्रीत्वविवक्षायां **पादोऽन्यतरस्याम्** (४.१.८) इति वा ङीपि **पादः पत्** (३३३) इति पादः पदादेशे च कृते 'सुपदी' इति साधु। [८] बहुव्रीहौ **संख्यासुपूर्वस्य** (९७५) इति समासान्तेऽन्त्यलोपे चतुष्पादिति भवितव्यम्। [९] अत्र बहुव्रीहौ **उरःप्रभृतिभ्यः कप्** (९७९) इति कपि समासान्ते 'विशालोरस्कः' इत्युचितम्। [१०] दर्शनीयाभार्य इत्यसाधु। बहुव्रीहौ **स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्०** (९६९) इति पुंवद्भावे उपसर्जनह्रस्वे च कृते 'दर्शनीयभार्यः' इति साधु। [११] **स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्०** (९६९) इत्यत्र 'अनूङ्' इत्युक्तेः पुंवद्भावस्याभावेन 'संहितोरूभार्यः 'इति भवितव्यम्। [१२] **स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्०** (९६९) इत्यत्र 'अपूरणीप्रियादिषु' इत्युक्तेर्नात्र पुंवद्भावस्तेन 'कल्याणीप्रियः' इति भवितव्यम्। [१३] पयस्शब्द उरःप्रभृत्यन्तर्गतः। तेन **उरःप्रभृतिभ्यः कप्** (९७९) इति समासान्ते कपि 'प्रियपयस्कः' इति भवितव्यम्। [१४] पञ्चमीशब्दः पूरणार्थप्रत्ययान्तः, तेन **अप् पूरणीप्रमाण्योः** (९७०) इति समासान्ते अप्प्रत्यये भस्येकारस्य लोपे च कृते 'कल्याणीपञ्चमाः' इत्येवं भवितव्यम्।

(८) रत्नैः शोभाऽस्य, पञ्चभिर्भुक्तमस्य—इत्यादियों में बहुव्रीहिसमास क्यों नहीं होता ?

(९) **स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्०** सूत्र को खोल कर अपने शब्दों में समझाइये ।

(१०) उरःप्रभृतियों में कुछ शब्द प्रातिपदिकरूप से और कुछ प्रथमैकवचनान्तरूप से पढ़े गये हैं—ऐसा करने का प्रयोजन स्पष्ट करें ।

(११) निम्नस्थ सूत्रों एवं वार्त्तिक आदियों की व्याख्या करें—

१. अप्पूरणीप्रमाण्योः । २. पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः । ३. अन्तर्बहिर्भ्याञ्च लोम्नः । ४. शेषाद्विभाषा । ५. इणः षः । ६. सोऽपदादौ । ७. नञोऽस्त्यर्थानां० । ८. प्रादिभ्यो धातुजस्य० । ९. हलदन्तात्सप्तम्याः० । १०. सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य० । ११. संख्यासुपूर्वस्य । १२. सप्तमीविशेषणे० । १३. अनेकमन्यपदार्थे । १४. अर्थान्नञः । १५. उरःप्रभृतिभ्यः कप् । १६. कस्कादिषु च । १७. बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः० । १८. पूर्णाद्विभाषा ।

(१२) द्विविध विग्रह प्रदर्शित करते हुए निम्नस्थ रूपों की ससूत्र सिद्धि प्रदर्शित करें—

१. स्त्रीप्रमाणः । २. पीताम्बरः । ३. त्रिमूर्धः । ४. उष्ट्रमुखः । ५. युवजानिः । ६. जलजाक्षी । ७. चित्रगुः । ८. रूपवद्भार्यः । ९. प्रपर्णः । १०. अपुत्रः । ११. उपहृतपशुः । १२. अन्तर्लोमः । १३. उत्काकुत् । १४. व्याघ्रपात् । १५. प्रियसर्पिष्कः । १६. महायशस्कः । १७. कौतस्कुतः । १८. प्राप्तोदकः । १९. सुपदी । २०. त्रिचतुराः । २१. उपदशाः । २२. कण्ठेकालः ।

(१३) निम्नस्थ विग्रहों को समास का रूप दीजिये—

१. प्रियोऽनड्वान् यस्य । २. अवमुक्ते उपानहौ येन । ३. उरसि लोमानि यस्य । ४. सुन्दरी भार्या यस्य । ५. अधिरोपिता ज्या यत् । ६. बहिर्लोमानि यस्य । ७. ऊढो रथो येन । ८. बह्वी विद्या यस्य । ९. द्वौ वा त्रयो वा । १०. दक्षिणस्याः पूर्वस्याश्चान्तराला दिक् । ११. विगतो धवो यस्याः । १२. पट्वी जाया यस्य । १३. वामोरूर्भार्या यस्य । १४. पुत्रेण सह आगतः पिता । १५. विंशतेरासन्नाः । १६. कृत्यं कृतं येन । १७. सु (शोभनं) हृदयं यस्य । १८. स्थूलानि अक्षीणि यस्या दृष्टयाः । १९. प्रिया वामा यस्य । २०. पर्यश्रूणी नयने यस्याः ।

[लघु०] **इति बहुव्रीहिः**

यहां पर बहुव्रीहिसमास का विवेचन समाप्त होता है ।

—:०:—

अथ द्वन्द्वसमासः

अब द्वन्द्वसमास का प्रकरण प्रारम्भ करते हैं। द्वन्द्वशब्द को आचार्य पाणिनि ने **द्वन्द्वं रहस्य-मर्यादावचन-व्युत्क्रमण-यज्ञपात्र-प्रयोगाऽभिव्यक्तिषु** (८.१.१५) सूत्रद्वारा रहस्य आदि कई अर्थों में निपातित किया है। सूत्र का योगविभाग कर इसे अन्य कई अर्थों मे भी निपातित किया जाता है। द्विशब्द को द्वित्व हो कर 'द्वि औ + द्वि औ' में सुँब्लुक्, प्रथम द्विशब्द के इकार को अम् आदेश तथा दूसरे द्विशब्द के इकार को अकार आदेश कर 'द्वन्द्व' शब्द सिद्ध किया जाता है। दो दो अर्थात् जोड़ों का नाम द्वन्द्व है—यह इस का मूलार्थ समझना चाहिये। यह समासविशेष का नाम भी प्रसिद्ध हो चला है क्योंकि इस समास के उदाहरणों में भी प्रायः जोड़ों की ही बहुलता देखी जाती है। यथा—हरिहरौ, ईशकृष्णौ, सुखदुःखे, लाभालाभौ, जयाजयौ, क्षुत्पिपासे, माता-पितरौ आदि। समासवाचक द्वन्द्वशब्द पाणिनि से बहुत पहले सम्भवतः वैदिककाल से ही प्रसिद्ध हो चुका था। **द्वन्द्वः सामासिकस्य च** यह भगवद्गीता (१०.३३) का सुप्रसिद्ध वचन है। अनेक प्रातिशाख्यों में भी समासवाचक द्वन्द्वशब्द बहुत जगह पाया जाता है।

अब सर्वप्रथम द्वन्द्वसमास के विधायकसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(९८५) चार्थे द्वन्द्वः ।२।२।२९।।**

अनेकं सुँबन्तं चार्थे वर्त्तमानं वा समस्यते, स द्वन्द्वः ।।

अर्थः—'च' के अर्थ में वर्त्तमान अनेक (एक से अधिक) सुँबन्त परस्पर विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं और वह समास द्वन्द्वसंज्ञक होता है।

व्याख्या—चार्थे ।७।१। द्वन्द्वः ।१।१। अनेकम् ।१।१। (**अनेकमन्यपदार्थे** सूत्र से मण्डूकप्लुतिन्यायद्वारा)। सुँप् ।१।१। (**सुँबामन्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे** सूत्र से। प्रत्यय होने के कारण तदन्तविधि से 'सुँबन्तम्' बन जाता है)। **समासः, विभाषा**—ये दोनों पूर्वतः अधिकृत हैं। चस्य अर्थः—चार्थः, तस्मिन् = चार्थे, षष्ठीतत्पुरुषसमासः। अर्थः—(चार्थे) 'च' अव्यय के अर्थ में वर्त्तमान (अनेकं सुँबन्तम्) अनेक सुँबन्त (समासः) समास को (विभाषा) विकल्प से प्राप्त होते हैं और वह समास (द्वन्द्वः) द्वन्द्वसंज्ञक होता है।

'च' के कौन कौन से अर्थ हैं और इन में किस किस अर्थ में समास होता है? इस की व्याख्या ग्रन्थकार इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

[लघु०] **समुच्चयाऽन्वाचयेतरेतरयोग-समाहाराश्चार्थाः। तत्र 'ईश्वरं गुरुं च भजस्व' इति परस्परनिरपेक्षस्याऽनेकस्य एकस्मिन्नन्वयः समुच्चयः। 'भिक्षामट गां चानय' इत्यन्यतरस्याऽऽनुषङ्गिकत्वेनाऽन्वयोऽन्वाचयः। अनयोरसामर्थ्यात् समासो न। 'धवखदिरौ छिन्धि' इति मिलितानामन्वय इतरेतरयोगः। सञ्ज्ञापरिभाषम् इति समूहः समाहारः ।।**

अर्थः—समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतरयोग और समाहार—ये चार 'च' के अर्थ

होते हैं। जब परस्पर निरपेक्ष अनेक पद किसी एक में अन्वित होते हैं तो वहां 'च' का अर्थ समुच्चय होता है। यथा—ईश्वरं गुरुं च भजस्व (ईश्वर को भजो और गुरु को भी)। जहां कोई एक आनुषङ्गिक (अप्रधान) रूप से क्रिया में अन्वित हो रहा हो वहां 'च' का अर्थ अन्वाचय होता है। यथा—भिक्षामट गां चानय (भिक्षार्थ भ्रमण कर, गाय को भी लेते आना)। समुच्चय और अन्वाचय इन दोनों अर्थों में सामर्थ्य के अभाव के कारण समास प्रयुक्त नहीं होता। जब अनेक पदार्थ मिल कर समूह बना कर किसी एक क्रियादि में अन्वित होते हैं तो वहां 'च' का अर्थ इतरेतरयोग होता है। यथा—धवखदिरौ छिन्धि (धव और खदिर पेड़ों को काटो)। जब समूह एकीभूत हो कर क्रिया आदि में अन्वित होता है तो वहां 'च' का अर्थ समाहार होता है। जैसे—संज्ञा-परिभाषम् (सञ्ज्ञा और परिभाषा का समूह)। [इतरेतरयोग और समाहार इन दोनों अर्थों में सामर्थ्य के अक्षुण्ण रहने से समास हो जाता है]।

व्याख्या—'च' के चार अर्थ माने जाते हैं—(१) समुच्चय। (२) अन्वाचय। (३) इतरेतरयोग। (४) समाहार। इन में प्रथम दो अर्थों में सामर्थ्य (एकार्थीभाव) न होने से समास नहीं होता। पिछले दो अर्थों में एकार्थीभावरूपसामर्थ्य रहने से **समर्थः पदविधिः** (६०४) के अनुसार समास हो जाता है। 'च' के इन चारों अर्थों का सोदाहरण विवेचन यथा—

(१) जब परस्पर निरपेक्ष = निराकाङ्क्ष (पारस्परिक सहितभाव से रहित) पदों का किसी एक द्रव्य, गुण या क्रिया में अन्वय हो तो वहां 'च' का समुच्चय अर्थ होता है। यहां जब एक का क्रिया में अन्वय हो चुकता है तब आवृत्तिद्वारा उसी क्रिया में दूसरे का अन्वय होता है। इस में 'च' शब्द के साथ उच्चारित पद को तो दूसरे की आकाङ्क्षा (अपेक्षा) रहती है परन्तु जो पद 'च' शब्द के विना उच्चारित होता है उसे दूसरे की नहीं। उदाहरण यथा—ईश्वरं गुरुं च भजस्व (ईश्वर को भजो और गुरु को भी)। यहां ईश्वर और गुरु परस्पर निरपेक्ष पद हैं। इन में कोई साहित्य (सहितभाव) नहीं। पहले ईश्वर पद का 'भजस्व' क्रिया में अन्वय होता है—ईश्वरं भजस्व। तब गुरु का दुबारा उच्चारित उसी क्रिया में अन्वय होता है। 'गुरुं च' कहने से 'गुरु' तो पदान्तर 'ईश्वर' की अपेक्षा करता है परन्तु पूर्वोक्त 'ईश्वर' पद को गुरु की अपेक्षा नहीं रहती। तो इस प्रकार समुच्चय अर्थ में सुँबन्त पद असंसृष्ट होने से असमर्थ होते हैं अतः इस अर्थ में समास नहीं होता। जैसाकि सूत्रकार ने कहा है—**समर्थः पदविधिः** (६०४) अर्थात् समासादि पदविधि समर्थ पदों के आश्रित होती है।

(२) जहां एक पदार्थ प्रधान बन कर और दूसरा अप्रधान रह कर भिन्न भिन्न क्रियाओं में अन्वित हो रहे हों वहां 'च' का अन्वाचय अर्थ होता है। यथा—भिक्षामट गाञ्चानय (भिक्षार्थ भ्रमण कर, यदि मार्ग मे गाय मिले तो उसे भी लेते आना)। यहां भिक्षार्थ अटन अवश्यकर्त्तव्य है और गाय का लाना आनुषङ्गिक (अप्रधान—गौण) है। इसलिये भिक्षा और गौ का अन्वाचय होने से एकार्थीभावरूपसामर्थ्य के न होने के कारण इन में समास नहीं होता।

(३) जब परस्पर सापेक्ष पदार्थों का समूह (जिस के अवयव उद्भूत अर्थात् स्पष्ट भिन्न भिन्न प्रतीत हो रहे हों) एकधर्मावच्छिन्नरूप से क्रिया में अन्वित किया जाता है तो वहां 'च' का इतरेतरयोग अर्थ होता है। इस अर्थ में पदों में एकार्थीभाव-रूप सम्बन्ध रहने के कारण द्वन्द्वसमास निर्बाध हो जाता है। यथा—धवखदिरौ छिन्धि (धव और खदिर के पेड़ों को काटो)। यहां धव और खदिर सहितभाव से एक समूह के रूप में छेदनक्रिया में कर्मत्वेन अन्वित हो रहे हैं। यद्यपि इन में सहितभाव विद्यमान है और एकधर्मावच्छिन्नरूप से ये क्रिया में अन्वित भी हो रहे हैं तथापि यह समूह उद्-भूतावयव है अत एव इस में द्विवचन का प्रयोग हुआ है। 'धव अम् + खदिर अम्' इस अलौकिकविग्रह में[1] प्रकृत **चार्थे द्वन्द्वः** (९८५) सूत्र से द्वन्द्वसमास हो कर समास की प्राति-पदिकसंज्ञा तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) सूत्र द्वारा उस के अवयव सुँपों का लुक् कर द्वितीया विभक्ति की विवक्षा में 'औट्' प्रत्यय लाने से विभक्तिकार्यद्वारा 'धवखदिरौ' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार—प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च प्लक्षन्यग्रोधौ। ब्रह्म च क्षत्त्रं च ब्रह्मक्षत्त्रे। इस समास में **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) सूत्र से परव-ल्लिङ्गता होती है अर्थात् समास के परपद = उत्तरपद = अन्त्यपद का जो लिङ्ग होता है वही समग्र समास का लिङ्ग हो जाता है। यथा—कुक्कुटश्च मयूरी च कुक्कुटमयूर्यौ इमे। मयूरी च कुक्कुटश्च मयूरीकुक्कुटौ इमौ। इन का विवेचन पीछे (९६२) सूत्र पर किया जा चुका है।

(४) समूह का नाम समाहार है। यह भी 'च' का एक अर्थ है। समाहार अर्थ वाले समूह के अवयव अनुद्भूत अर्थात् पृथक् पृथक् नहीं भासते बल्कि उन का एक समुच्चयात्मकरूप होता है। समुच्चय के एक होने से इस समास से सदा एकवचन तथा **स नपुंसकम्** (९४३) के अनुसार नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग होता है[2]। उदाहरण यथा—

---

१. 'धवखदिरौ छिन्धि' यहां छेदनक्रिया में कर्मत्वेन अन्विति के कारण 'धव अम् + खदिर अम्' ऐसा द्वितीयान्तघटित अलौकिकविग्रह दर्शाया गया है। यदि कहीं क्रिया में कर्तृत्वेन अन्विति होगी (यथा—धवखदिरौ वर्धेते) तो 'धव सुँ + खदिर सुँ' इस प्रकार प्रथमान्तघटित विग्रह भी रखा जा सकता है।

२. इतरेतरयोग और समाहार दोनों में ही समुदाय वाच्य होता है परन्तु प्रथम में वह उद्भूतावयव होता है अतः उस में द्विवचन और बहुवचन का प्रयोग हो सकता है, परन्तु दूसरे में समुदाय अनुद्भूतावयव होता है इस से वहां केवल एकवचन का ही प्रयोग होता है। जैसाकि प्रक्रियासर्वस्वकार नारायणभट्ट ने कहा है—

इतरेतरयोगेऽपि समुदायः प्रकल्प्यते।
समाहारेऽप्यसावेवं तद्भेदस्तु हरोदितः॥
आद्ये तु संहता वाच्यास्तेन द्विवचनादयः।
समाहारे तु संघातो वाच्यस्तेनैकतैव हि॥

(प्रक्रियासर्वस्व, समासखण्ड, पृष्ठ ५५)

संज्ञा च परिभाषा च तयोः समाहारः संज्ञापरिभाषम्[1] । संज्ञा सुँ+परिभाषा सुँ' इस अलौकिकविग्रह में समाहार अर्थ में प्रकृत **चार्थे द्वन्द्वः** (६८५) सूत्र से द्वन्द्वसमास हो कर समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक्, **स नपुंसकम्** (६४३) से नपुंसकत्व के कारण **ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य** (२४३) द्वारा ह्रस्व आदेश तथा नपुंसक में सुँ को अम् आदेश (२३४) और **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने से 'संज्ञापरिभाषम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

सार यह है कि 'च' के यद्यपि चार अर्थ हैं तथापि समुच्चय और अन्वाचय अर्थों में पदों में एकार्थीभावरूपसामर्थ्य न होने से **चार्थे द्वन्द्वः** (६८५) सूत्रद्वारा समास नहीं होता । समास केवल इतरेतरयोग और समाहार इन दो अर्थों में ही होता है क्योंकि इन में ही एकार्थीभावरूपसामर्थ्य पाया जाता है । ये अर्थ समास के द्वारा प्रतीत होते हैं अतः समासावस्था में लौकिकविग्रहवाक्य की तरह 'च' शब्द का प्रयोग नहीं होता ।

द्वन्द्वसमास में भी बहुव्रीहिसमास की तरह दो या दो से अधिक पद हुआ करते हैं । इस में सभी पद प्रधान होते हैं अतः समास में कौन सा पद पूर्व में प्रयुक्त हो और कौन सा बाद में ? यह यहां प्रश्न उत्पन्न होता है । सूत्र में 'अनेकम्' पद का अनुवर्त्तन होने से इस समास के सब पद प्रथमानिर्दिष्ट से बोध्य होने के कारण उपसर्जनसंज्ञक होते हैं अतः किसी भी पद का पूर्वनिपात यथेच्छ प्राप्त होता है । परन्तु ऐसा नहीं किया जा सकता क्योंकि आचार्य पाणिनि ने इस समास में पूर्वनिपातार्थ कई नियम निर्दिष्ट किये हैं । यहां छात्त्रोपयोगी कुछ नियमों का लघुकौमुदीकार उल्लेख करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९८६) राजदन्तादिषु परम् ।२।२।३१।।

एषु पूर्वप्रयोगार्हं परं स्यात् । दन्तानां राजा राजदन्तः[2] । धर्मादिष्वनियमः (गणसूत्रम्)— अर्थधर्मौ, धर्मार्थौ । इत्यादि ।।

अर्थः—'राजदन्तः' आदि में पूर्वनिपात के योग्य पद का परनिपात हो । **धर्मादिष्वनियमः** (गणसूत्र)—धर्म आदि शब्दों के द्वन्द्वसमास में पूर्वनिपात का कोई नियम नहीं होता, यथेच्छ पूर्वनिपात किया जा सकता है ।

---

१. समाहारद्वन्द्व का लौकिकविग्रह कई प्रकार से दर्शाया जाता है । यथा—

संज्ञा च परिभाषा च संज्ञापरिभाषम् ।

संज्ञा च परिभाषा च तयोः समाहारः संज्ञापरिभाषम् ।

संज्ञा च परिभाषा चानयोः समाहारः संज्ञापरिभाषम् ।

संज्ञा च परिभाषा च समाहृते संज्ञापरिभाषम् ।

तात्पर्य सब का एक ही है । परन्तु अलौकिकविग्रह 'संज्ञा सुँ+परिभाषा सुँ' ही रखा जाता है । कुछ लोग 'संज्ञा ङस्+परिभाषा ङस्' ऐसा भी अलौकिकविग्रह दर्शाते हैं ।

२. क्वचिद् 'दन्तानां राजानो राजदन्ताः' इत्येवं पाठ उपलभ्यते ।

व्याख्या—राजदन्तादिषु ।७।३। परम् इति क्रियाविशेषणं द्वितीयैकवचनान्तम् । पूर्वम् ।१।१। (**उपसर्जनं पूर्वम्** सूत्र से) । 'प्रयुज्यते' इति क्रियापदमध्याहार्यम् । राजदन्त इतिशब्द आदिर्येषान्ते राजदन्तादयः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । राजदन्तादि एक गण है जो पाणिनीयगणपाठ में दिया गया है । इस गण का पहला शब्द 'राजदन्त' है अतः इसे राजदन्तादिगण कहा जाता है । अर्थः—(राजदन्तादिषु) राजदन्त आदि गणपठित शब्दों में (पूर्वम्—समासे पूर्वप्रयोगार्हं पदम्) समास में पूर्वप्रयोग के योग्य पद (परम् प्रयुज्यते) परे प्रयुक्त होता है । राजदन्तादिगण में कुछ शब्द तत्पुरुषसमास के और कुछ अन्य द्वन्द्वसमास के संगृहीत किये गये हैं । इन दोनों प्रकार के शब्दों में पूर्वनिपात के योग्य पद का परनिपात हो—यही इस सूत्र में कहा गया है ।

उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—दन्तानां राजा राजदन्तः (दान्तों का राजा अर्थात् ऊपरवाली पङ्क्ति में सामने का दान्त)[1] । अलौकिकविग्रह—दन्त आम्+राजन् सुँ । यहां **षष्ठी** (६३१) सूत्रद्वारा षष्ठीतत्पुरुषसमास करना है । इस समास में 'षष्ठी' पद प्रथमा-निर्दिष्ट है अतः तद्बोध्य 'दन्त आम्' की उपसर्जनसंज्ञा होकर **उपसर्जनम् पूर्वम्** (६१०) सूत्र से उस का पूर्वनिपात प्राप्त होता है परन्तु राजदन्तादियों में पाठ के कारण प्रकृतसूत्र **राजदन्तादिषु परम्** (६८६) द्वारा इस का पूर्वनिपात न हो कर परनिपात किया जाता है । तब सुँब्लुक् हो 'राजन्+दन्त' इस अवस्था में **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से राजन् के नकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'राजदन्तः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[2] । यदि प्रकृतसूत्र न होता तो 'दन्तराजः' ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता ।

धर्मादिष्वनियमः (धर्म आदि शब्दों में पूर्वनिपात या परनिपात का कोई नियम नहीं होता) । इस गण में कुछ शब्द द्विविध भी पढ़े गये हैं । जैसे—धर्मार्थौ, अर्थ-धर्मौ । कामार्थौ, अर्थकामौ । **शब्दार्थौ**, **अर्थशब्दौ** । आद्यन्तौ, अन्तादी । गुणवृद्धी, वृद्धिगुणौ । इन से यही प्रतीत होता है कि द्वन्द्वसमास में धर्म आदि कुछ शब्दों के पूर्वनिपात का कोई नियम नहीं, जिस का चाहो पूर्वनिपात या परनिपात कर लो । इसीलिये यहां कौमुदीकार ने गणसूत्र ऊहित (कल्पित) कर लिया है—**धर्मादिष्व-नियमः** । तथाहि—

---

१. ऊपर की दन्तपङ्क्ति में मध्यवर्ती दो दान्त 'राजदन्त' कहलाते हैं । यथा—**राजदन्तौ तु मध्यस्थावुपरिश्रेणिकौ क्वचित्**—(अभिधानचिन्तामणि, श्लोक ५८४) । कुछ अन्य कोषकार ऊपर नीचे दोनों पङ्क्तियों में स्थित मध्यवर्ती दो दो दान्तों को 'राजदन्त' कहते हैं । यथा—**राजदन्तौ श्रेणिकौ द्वावधश्चोपरितः स्थितौ**—(कल्पद्रुकोष ३.१६०) । वैजयन्तीकोषकार भी ऐसा ही मानते हैं—**मध्यदन्ता राजदन्ता दंष्ट्रा तत्पार्श्वयोर्द्वयोः** ।

२. **राजौ द्विजानामिह राजदन्ताः**—(नैषध० ७.४६) ।
राजन्ते सुतनोर्मनोरमतमास्ते राजदन्ताः पुरः—(**शृङ्गारधनशतक ६७**) ।

लौकिकविग्रह—धर्मश्च अर्थश्च धर्मार्थौ अर्थधर्मौ वा (धर्म और अर्थ)। अलौकिकविग्रह—धर्म सुँ + अर्थ सुँ। यहां इतरेतरयोग में **चार्थे द्वन्द्वः** (९८५) सूत्रद्वारा द्वन्द्वसमास होकर समास की प्रातिपदिकसंज्ञा करने से **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) द्वारा सुँपों (दोनों सुँप्रत्ययों) का लुक् हो जाता है—धर्म + अर्थ। अब यहां **अजाद्यदन्तम्** (९८८) इस वक्ष्यमाण नियम के अनुसार 'अर्थ' शब्द का पूर्वनिपात होना चाहिये परन्तु राजदन्तादियों में पाठ के कारण **धर्मादिष्वनियमः** इस ऊहित गणसूत्र से किसी का भी पूर्वनिपात या परनिपात हो सकता है। अतः विभक्ति ला कर 'धर्मार्थौ' या 'अर्थधर्मौ' दोनों प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।

इसी प्रकार—कामश्च अर्थश्च कामार्थौ अर्थकामौ वा, **शब्दश्च अर्थश्च शब्दार्थौ अर्थशब्दौ** वा, आदिश्च अन्तश्च आद्यन्तौ अन्तादी वा—इत्यादियों में समझना चाहिये।

राजदन्तादियों में—'जायापती, जम्पती, दम्पती' ये तीन प्रयोग भी पाये जाते हैं। 'जाया च पतिश्च' इस इतरेतरद्वन्द्वसमास में जायाशब्द का पूर्वनिपात हो कर उसे जम् या दम् सर्वादेश विकल्प से हो जाते हैं। अतः विभक्ति (प्रथमाद्विवचन 'औ' प्रत्यय) ला कर हरिशब्दवत् विभक्तिकार्य करने से जम्-आदेश के पक्ष में—'जम्पती,' तथा दम् आदेश के पक्ष में—'दम्पती'। किसी आदेश के न होने पर—'जायापती'। इस प्रकार उपर्युक्त तीन रूप सिद्ध हो जाते हैं। विग्रह सब का एक सा ही है—जाया च पतिश्च (पत्नी और पति)।[1]

अब द्वन्द्वसमास में पूर्वनिपात का प्रतिपादन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(९८७) द्वन्द्वे घि ।२।२।३२॥**

द्वन्द्वे घिसंज्ञं पूर्वं स्यात् । हरिश्च हरश्च हरिहरौ ॥

अर्थः—द्वन्द्वसमास में घिसंज्ञक पूर्व में प्रयुक्त हो।

---

१. राजदन्तादिगण यथा—

राजदन्तः। अग्रेवणम्। लिप्तवासितम्। नग्नमुषितम्। सिक्तसंमृष्टम्। मृष्टलुञ्चितम्। अवक्लिन्नपक्वम्। अर्पितोप्तम् (अर्पितोतम्)। उप्तगाढम्। उलूखलमुसलम्। तण्डुलकिण्वम्। दृषदुपलम्। आरग्वायनबन्धकी। चित्ररथवाह्लीकम्। अवन्त्यश्मकम्। शूद्रार्यम्। स्नातकराजानौ। विष्वक्सेनार्जुनौ। अक्षिभ्रुवम्। दारगवम्। शब्दार्थौ। कामार्थौ। धर्मार्थौ। अर्थशब्दौ। अर्थकामौ। अर्थधर्मौ। वैकारिमतम्। गोजवाजम् (गाजवाजम्)। गोपालधानीपूलासम्। पूलासकारण्डम्। स्थूलासम्। उशीरबीजम्। जिज्ञास्थि। सिञ्जाश्वत्थम्। चित्रास्वाती। भार्यापती। दम्पती। जम्पती। जायापती। पुत्रपती। पुत्रपशू। केशश्मश्रु। शिरोबीजम्। शिरोजानु। सर्पिर्मधुनी। मधुसर्पिषी। आद्यन्तौ। अन्तादी। गुणवृद्धी। वृद्धिगुणौ। इति राजदन्तादिः॥

व्याख्या—द्वन्द्वे ।७।१। घि ।१।१। पूर्वम् इति द्वितीयैकवचनान्तं क्रियाविशेषणम् (**उपसर्जनं पूर्वम्** सूत्र से)। 'प्रयुज्यते' इति क्रियाऽध्याहार्या। अर्थः—(द्वन्द्वे) द्वन्द्व-समास में (घि) घिसंज्ञक (पूर्वं प्रयुज्यते) पहले प्रयुक्त होता है। **शेषो घ्यसखि** (१७०) सूत्रद्वारा सखिवर्ज ह्रस्व-इकारान्त और ह्रस्व-उकारान्त शब्दों की घिसंज्ञा का विधान दर्शा चुके हैं।

उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—हरिश्च हरश्च हरिहरौ (विष्णु और शिव)। अलौकिकविग्रह—हरि सुँ+हर सुँ। यहां **चार्थे द्वन्द्वः** (९८५) सूत्र से इतरेतरयोग में द्वन्द्वसमास हो कर प्रकृत **द्वन्द्वे घि** (९८७) सूत्रद्वारा घिसञ्ज्ञक हरिशब्द का पूर्वनिपात कर सुँब्लुक् तथा विभक्तिकार्य करने से 'हरिहरौ' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

सखि (मित्र) शब्द की घिसंज्ञा नहीं होती अतः सखा च सुतश्च सखिसुतौ सुतसखायौ वा। यहां प्रकृतसूत्र की प्रवृत्ति न हो कर पूर्वनिपात में कामचारिता होती है।

जब द्वन्द्वसमास में अनेक घिसञ्ज्ञक पद हों तो किसी एक घिसंज्ञक पद का पूर्वनिपात कर शेषों को कहीं पर भी रखा जा सकता है[1]। यथा—हरिश्च हरश्च गुरुश्च हरिहरगुरवः, हरिगुरुहरा वा।

द्वन्द्वसमास में पूर्वनिपातविषयक दूसरे सूत्र का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९८८) **अजाद्यदन्तम्** ।२।२।३३।।

(अजाद्यदन्तं पदं) द्वन्द्वे पूर्वं स्यात्। ईशकृष्णौ ।।

अर्थः—जो शब्द अजादि भी हो और अदन्त भी उस का द्वन्द्वसमास में पूर्व-निपात हो।

व्याख्या—अजाद्यदन्तम् ।१।१। द्वन्द्वे ।७।१। (**द्वन्द्वे घि** सूत्र से)। पूर्वम् ।२।१। (**उपसर्जनं पूर्वम्** सूत्र से)। 'प्रयुज्यते' इति क्रियाऽध्याहार्या। अच् आदिर्यस्य तद् अजादि, बहुव्रीहिसमासः। अत् अन्तो यस्य तद् अदन्तम्, बहुव्रीहिसमासः। अजादि च तद् अदन्तम् अजाद्यदन्तम्, कर्मधारयसमासः। अर्थः—(अजाद्यदन्तम्) जो अजादि भी हो और अदन्त भी ऐसा पद (द्वन्द्वे) द्वन्द्वसमास में (पूर्वं प्रयुज्यते) पूर्व में प्रयुक्त होता है। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—ईशश्च कृष्णश्च ईशकृष्णौ (शिव और कृष्ण)। अलौकिक-विग्रह—ईश सुँ+कृष्ण सुँ। यहां इतरेतरयोग अर्थ में **चार्थे द्वन्द्वः** (९८५) सूत्र से द्वन्द्वसमास हो जाता है। इस समास में 'ईश' शब्द अजादि भी है और अदन्त भी। अतः **अजाद्यदन्तम्** (९८८) इस प्रकृतसूत्र से इस का पूर्वनिपात हो जाता है। अब

---

1. अनेकत्र प्राप्तावेकत्र नियमोऽनियमः शेषे (वा०)।

समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, सुँब्लुक् तथा विभक्तिकार्य करने पर 'ईशकृष्णौ' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—उष्ट्राश्च खराश्च तेषां समाहारः—उष्ट्रखरम्। उष्ट्रशशकम्। अश्वरथम्। अस्त्रशस्त्रम्। इत्यादि।

टिप्पण (१)—द्वन्द्वसमास में यदि अजाद्यदन्त पद एक से अधिक हों तो उन में से किसी एक का ही इच्छानुसार पूर्वनिपात करना चाहिये। यथा—अश्वश्च रथश्च इन्द्रश्च अश्वरथेन्द्राः, इन्द्राश्वरथा वा। यहां 'इन्द्र' और 'अश्व' दोनों अजाद्यदन्त शब्द हैं अतः यथेच्छ किसी एक का पूर्वनिपात हो जाता है दूसरा किसी भी स्थान पर रह सकता है। अत एव वार्त्तिककार ने कहा है—**बहुष्वनियमः** (वा०)।

टिप्पण (२)—यदि द्वन्द्वसमास में घिसंज्ञक और अजाद्यदन्त का एक साथ पूर्वनिपात प्राप्त हो तो **विप्रतिषेधे परं कार्यम्** (११३) की व्यवस्थानुसार अजाद्यदन्त का ही पूर्वनिपात होगा घिसंज्ञक का नहीं। यथा—अग्निश्च इन्द्रश्च इन्द्राग्नी। वायुश्च इन्द्रश्च इन्द्रवायू। इन्दुश्च अर्कश्च अर्केन्दू। इत्यादि।

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—**(९८९) अल्पाच्तरम्** ।२।२।३४।।

(अल्पाच्तरं पदं द्वन्द्वे पूर्वं स्यात्)। शिवकेशवौ ।।

अर्थः—द्वन्द्वसमास में सब से थोड़े अचों वाला पद पूर्व में प्रयुक्त होता है।

व्याख्या—अल्पाच्तरम् ।१।१। द्वन्द्वे ।७।१। (**द्वन्द्वे घि** सूत्र से)। पूर्वम् इति द्वितीयैकवचनान्तं क्रियाविशेषणम् (**उपसर्जनं पूर्वम्** सूत्र से)। 'प्रयुज्यते' इति क्रियापदमध्याहार्यम्। अल्पः (अल्पसंख्यः) अच् यस्य तद् अल्पाच् (पदम्), बहुव्रीहिसमासः। अल्पाच् एव अल्पाच्तरम्, स्वार्थे तरप्[1] अत एव निपातनात्, कुत्वाभावश्च। अर्थः—(द्वन्द्वे) द्वन्द्वसमास में (अल्पाच्तरम्) अपेक्षाकृत कम अचों वाला पद (पूर्वं प्रयुज्यते) पूर्व में प्रयुक्त होता है। उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—शिवश्च केशवश्च शिवकेशवौ (शिव और कृष्ण)। अलौकिकविग्रह—शिव सुँ+केशव सुँ। यहां इतरेतरयोग में **चार्थे द्वन्द्वः** (९८५) सूत्र से द्वन्द्वसमास हो जाता है। प्रकृत में 'शिव' में दो अच् तथा 'केशव' में तीन अच् हैं अतः **अल्पाच्तरम्** (९८९) सूत्र से अल्पाच् 'शिव' का पूर्वनिपात हो सुँब्लुक् कर विभक्ति लाने से 'शिवकेशवौ' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—प्लक्षश्च न्यग्रोधश्च प्लक्षन्यग्रोधौ। धवश्च खदिरश्च धवखदिरौ। इत्यादि।

---

१. यदि प्रकर्ष में तरप् मानेंगे तो **द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुँनौ** (१२२२) सूत्रद्वारा दो के प्रकर्ष में ही तरप् प्रत्यय के विधान के कारण यहां द्वन्द्व में दो के प्रकर्ष में ही इस की प्रवृत्ति हो सकेगी अनेकों के प्रकर्ष में नहीं। अतः यहां स्वार्थ में ही तरप् माना जाता है। विशेष आकरग्रन्थों में देखें।

एक से अधिक अल्पाच्तर शब्द हों तो एक का तो अवश्य पूर्वनिपात होता है परन्तु दूसरे के विषय में नियम नहीं रहता। यथा—शङ्ख-दुन्दुभि-वीणाः, शङ्ख-वीणा-दुन्दुभयः, वीणा-शङ्ख-दुन्दुभयः, वीणा-दुन्दुभि-शङ्खाः। शङ्ख और वीणा दोनों दुन्दुभि की अपेक्षा अल्पाच्तर हैं।[1]

इस सूत्र पर कुछ वार्त्तिक बहुत प्रसिद्ध हैं। तथाहि—

(१) **ऋतुनक्षत्राणां समाक्षराणाम् आनुपूर्व्येण** (वा०)॥

अर्थः—जिन में अचों की संख्या समान हो ऐसे ऋतुवाचक शब्दों के या नक्षत्रवाचक शब्दों के द्वन्द्वसमास में उन के क्रमानुसार पूर्वनिपात किया जाता है। यथा—हेमन्त-शिशिर-वसन्ताः। कृत्तिका-रोहिण्यौ।[2]

(२) **लघ्वक्षरञ्च पूर्वम्** (वा०)॥

अर्थः—द्वन्द्वसमास में लघु-अच् वाले शब्दों का पूर्वनिपात करना चाहिये। यथा—कुशकाशम्। शरचापम्।

(३) **अभ्यर्हितञ्च** (वा०)॥

अर्थः—द्वन्द्वसमास में अधिकपूज्य का पूर्वनिपात करना चाहिये। यथा—मातापितरौ[3]। वासुदेवार्जुनौ। दूसरे पूर्वनिपातनियमों का यह बाधक है।

(४) **भ्रातुर्ज्यायसः** (वा०)॥

अर्थः—द्वन्द्वसमास में बड़े भाई के नाम का पूर्वनिपात करना चाहिये। यथा—युधिष्ठिरार्जुनौ।

(५) **वर्णानामानुपूर्व्येण** (वा०)॥

अर्थः—द्वन्द्वसमास में ब्राह्मण आदि वर्णवाचक शब्दों का अपने क्रमानुसार पूर्वनिपात होना चाहिये। यथा—ब्राह्मण-क्षत्रिय-विट्-शूद्राः।

(६) **संख्याया अल्पीयस्याः पूर्वनिपातो वक्तव्यः** (वा०)॥

अर्थः—समासमात्र में छोटी संख्या का पूर्वनिपात कहना चाहिये। यथा—द्वौ च दश च द्वादश[4]। द्वौ वा त्रयो वा द्वित्राः। पञ्च वा षड् वा पञ्चषाः।[5]

---

१. सूत्रकार ने **लक्षणहेत्वोः क्रियायाः** (३.२.१२६) सूत्र में अल्पाच्तर हेतुशब्द का पूर्वनिपात न कर यह ज्ञापित किया है कि सम्पूर्ण पूर्वनिपातशास्त्र अनित्य है। अत एव शिष्टप्रयोगों में कई जगह इस का उल्लङ्घन भी देखा जाता है। यथा—**स सौष्ठवौदार्यविशेषशालिनीं विनिश्चितार्थामिति वाचमाददे** (किरात० १.३)। यहां द्वन्द्वसमास में अजाद्यदन्त 'औदार्य' शब्द का पूर्वनिपात नहीं किया गया।

२. ऋतूनामानुपूर्व्यं प्रादुर्भावकृतं नक्षत्राणां तूदयकृतं बोध्यम्।

३. **पितुर्दशगुणा माता गौरवेणातिरिच्यते** (?)।

४. 'द्वादश' की सिद्धि **द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः** (९६०) सूत्र पर विस्तार से दर्शाई जा चुकी है वहीं देखें।

५. 'द्वित्राः' और 'पञ्चषाः' प्रयोगों की सिद्धि पीछे पृष्ठ (२०५) पर दिखा चुके हैं, वहीं देखें।

अब द्वन्द्वसमास के अपवाद एकशेषवृत्ति को प्रदर्शित करने के लिये अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९९०) **पिता मात्रा** ।१।२।७०।।

मात्रा सहोक्तौ पिता वा शिष्यते । माता च पिता च पितरौ । मातापितरौ वा ।।

अर्थः—'मातृ' शब्द के साथ कहे जाने पर 'पितृ' शब्द विकल्प से शेष रहता है (मातृशब्द लुप्त हो जाता है)।

व्याख्या—पिता ।१।१। मात्रा ।३।१। शेषः ।१।१। (**सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ** सूत्र से)। अन्यतरस्याम् ।७।१। (**नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्** सूत्र से)। शिष्यते इति शेषः, कर्मणि घञ्। अर्थः—(मात्रा) मातृशब्द के साथ कहे जाने पर (पिता) पितृशब्द (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में (शेषः) शेष रहता है अर्थात् मातृशब्द लुप्त हो जाता है। 'अन्यतरस्याम्' कहने से दूसरी अवस्था में दोनों का प्रयोग भी रहता है। इस तरह विकल्प सिद्ध हो जाता है। उदाहरण यथा—

माता च पिता च पितरौ (माता और पिता)। जब हमें मातृशब्द के साथ पितृशब्द का कथन अभीष्ट होता है तो विभक्ति लाने से पूर्व ही अन्तरङ्ग होने से प्रकृत **पिता मात्रा** (९९०) सूत्रद्वारा पितृशब्द शेष रह जाता है और मातृशब्द निवृत्त हो जाता है। **यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी** (अर्थात् जो शेष रहता है वह लुप्त हुए शब्द के अर्थ को भी कहता है) इस न्याय से शेष रहा पितृशब्द माता-पिता दोनों के अर्थों को प्रकट करता है। अत एव अवशिष्ट पितृशब्द से प्रथमाविभक्ति की विवक्षा में प्रथमाद्विवचन 'औ' प्रत्यय ला कर 'पितृ+औ' इस अवस्था में **ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः** (२०४) से ऋकार को गुण, रपर अर्थात् 'अर्' करने से 'पितरौ' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]। एकशेष यहां वैकल्पिक है अतः एकशेष के अभाव में 'मातृ सुँ+पितृ सुँ' के इतरेतरयोग में **चार्थे द्वन्द्वः** (९८५) सूत्र से द्वन्द्वसमास, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक् तथा **अभ्यर्हितञ्च** वार्त्तिकद्वारा पिता की अपेक्षा अभ्यर्हित (पूज्य) होने से मातृशब्द का पूर्वनिपात हो—मातृ+पितृ। अब **आनङ् ऋतो द्वन्द्वे** (६.३.२४)[2] सूत्र से पूर्वपद 'मातृ' के ऋकार को आनँङ् (आन्) आदेश हो कर—मातान्+पितृ। पुनः **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) सूत्रद्वारा नकार का लोप हो प्रातिपदिकत्वात् समुदाय से प्रथमा के द्विवचन 'औ' प्रत्यय को ला कर **ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः** (२०४) से

---

१. **जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ**—(रघु० १.१)।

२. अर्थः—विद्या तथा योनि सम्बन्धवाची ऋदन्त शब्दों के द्वन्द्वसमास में उत्तरपद के परे रहते पूर्वपद को आनँङ् (आन्) आदेश हो जाता है। यथा—होता च पोता च होतापोतारौ। याता च ननान्दा च याताननान्दरौ (देवरपत्नी तथा ननन्द)।

ऋकार को गुण करने से 'मातापितरौ'[1] प्रयोग सिद्ध हो जाता है[2]।

अजन्तपुंलिङ्गप्रकरण के आरम्भ में **सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ** (१२५) सूत्र का वर्णन कर चुके हैं वह भी इसी एकशेषप्रकरण का सूत्र है। इस प्रकरण के कुछ अन्य उपयोगी स्थल भी यहां छात्रों के ज्ञानार्थ दे रहे हैं—

[क] 'स्वसृ' (बहन) शब्द के साथ उच्चारित होने पर 'भ्रातृ' शब्द शेष रहता है। यथा—भ्राता च स्वसा च भ्रातरौ (भाई और बहन)।

[ख] 'दुहितृ' (लड़की) शब्द के साथ उच्चारित होने पर 'पुत्र' शब्द शेष रहता है। यथा—दुहिता च पुत्रश्च पुत्रौ (पुत्री और पुत्र)।[3]

[ग] स्त्रीलिङ्ग जातिवाचक शब्द के साथ उच्चारित होने पर उसी जाति का पुंलिङ्ग शब्द शेष रहता है। यथा—हंसी च हंसश्च हंसौ (हंसी और हंस)।[4]

[घ] 'श्वश्रू' (सास) शब्द के साथ उच्चारित होने पर 'श्वशुर' शब्द विकल्प से शेष रहता है। यथा—श्वश्रूश्च श्वशुरश्च श्वशुरौ श्वश्रूश्वशुरौ वा (सास और ससुर)।[5]

अब द्वन्द्वसमास में एकवद्भाव के प्रतिपादक प्रधानसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९९१) द्वन्द्वश्च प्राणि-तूर्य-सेनाङ्गानाम्। २।४।२॥

एषां द्वन्द्व एकवत्। पाणिपादम्। मार्दङ्गिकवैणविकम्। रथिकाश्वारोहम्॥

अर्थः—प्राण्यङ्गों, वाद्याङ्गों तथा सेनाङ्गों का द्वन्द्व एकवत् अर्थात् केवल समाहार अर्थ का ही प्रतिपादक हो।

व्याख्या—द्वन्द्वः ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। प्राणि-तूर्य-सेनाङ्गानाम् ।६।३। एकवचनम् ।१।१। (**द्विगुरेकवचनम्** सूत्र से)। प्राणी च तूर्यञ्च सेना च प्राणि-तूर्य-सेनाः, तासामङ्गानि प्राणि-तूर्य-सेनाङ्गानि, तेषाम्=प्राणि-तूर्य-सेनाङ्गानाम्, द्वन्द्वगर्भषष्ठीतत्पुरुषसमासः। **द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते** इति न्यायात्

---

१. **यं मातापितरौ क्लेशं सहेते सम्भवे नृणाम्।**
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥　(मनु० २.२२७)

२. उत्तरभारत के आचार्यों के मत में इस द्वन्द्व का रूप 'मातरपितरौ' हुआ करता है जैसाकि आचार्य ने कहा है—**मातरपितरावुदीचाम्** (६.३.३१)। **पितरामातरा च च्छन्दसि** (६.३.३२) के अनुसार वेद में 'पितरामातरा' का प्रयोग पाया जाता है—**आ मा गन्तां पितरामातरा च** (यजुः० ९.१९)।

३. **भ्रातृपुत्रौ स्वसृ-दुहितृभ्याम्** (१.२.६८)।

४. **पुमान् स्त्रिया** (१.२.६७)।

५. **श्वशुरः श्वश्र्वा** (१.२.७१)।

प्राण्यङ्गानां तूर्याङ्गानां सेनाङ्गानाम् चेति लभ्यते । एकं वक्तीति एकवचनम्, कर्त्तरि ल्युट्, सामान्ये नपुंसकम् । अत्र **समाहारग्रहणं कर्त्तव्यम्** इति वार्तिकबलात् समाहार-रूपस्य एकस्यार्थस्य प्रतिपादक एषां द्वन्द्वसमास इति फलति । अर्थः—(प्राणितूर्य-सेनाङ्गानाम्) प्राण्यङ्गों, तूर्याङ्गों तथा सेनाङ्गों का (द्वन्द्वः) द्वन्द्वसमास (च) भी (एकवचनम्) एक समाहाररूप अर्थ का प्रतिपादक होता है ।

द्वन्द्वसमास इतरेतरयोग तथा समाहार दोनों अर्थों में प्राप्त है । यहां पुनः समाहार अर्थ में समास का विधान इस बात को द्योतित करता है कि इन का समास केवल समाहार अर्थ में ही हो सकता है इतरेतरयोग में नहीं । समाहार अनुद्भूतावयव एक समूह होता है अत एव एकवचनान्त होता है । **स नपुंसकम्** (९४३) सूत्रद्वारा इसे नपुंसक माना जाता है ।

प्राण्यङ्ग—हस्त, पाद आदि; तूर्याङ्ग—मृदङ्ग, वेणु, वीणा आदि को बजाने वाले शिल्पी लोग[1], तथा सेनाङ्ग—हाथी, रथ, घोड़े या उन पर सवार सैनिक आदि समझने चाहियें ।

प्राण्यङ्गों का द्वन्द्व यथा—

लौकिकविग्रह—पाणी च पादौ च एषां समाहारः पाणिपादम् (हाथों और पांवों का समूह) । अलौकिकविग्रह—पाणि औ+पाद औ । यहां **चार्थे द्वन्द्वः** (९८५) सूत्र से द्वन्द्वसमास, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक् तथा प्राण्यङ्गों का द्वन्द्व होने के कारण **द्वन्द्वश्च प्राणि-तूर्य-सेनाङ्गानाम्** (९९१) इस प्रकृतसूत्र से एकवद्भाव हो जाता है। अब इस से परे प्रथमा के एकवचन सुँ प्रत्यय को लाने पर **स नपुंसकम्** (९४३) सूत्रद्वारा नपुंसकत्व हो जाने से सुँ को अम् आदेश एवम् **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'पाणिपादम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—शिरश्च ग्रीवा चानयोः समाहारः शिरोग्रीवम्[2] आदि प्रयोगों की प्रक्रिया समझनी चाहिये ।

तूर्याङ्गों का द्वन्द्व यथा—

लौकिकविग्रह—मार्दङ्गिकाश्च वैणविकाश्च एषां समाहारो मार्दङ्गिकवैणविकम् (तबलावादकों तथा वेणुवादकों का समूह)[3] । अलौकिकविग्रह—मार्दङ्गिक जस्+

---

१. अत्र तूर्याङ्गशब्देन वादका एवेति **अल्पाच्तरम्** (२.२.३४) इत्यत्र भाष्ये ध्वनित-मिति लघुशब्देन्दुशेखरे नागेशः ।

२. शिरस् सुँ+ग्रीवा सुँ इत्यत्र समाहारद्वन्द्वे, सुँब्लुकि, नपुंसकह्रस्वे, सकारस्य रुँत्वे, **हशि च** (१०७)इत्युत्वे, गुणे च कृते क्लीबे 'शिरोग्रीवम्' इति सिध्यति ।

३. यद्यपि मृदङ्गवैणवशब्दौ वाद्यविशेषपरौ तथापीह तद्वादने वर्तेते । मृदङ्गवादनं शिल्पम् (कौशलम्) अस्येत्यर्थे **शिल्पम्** (११२६) इति ठकि, ठस्य इकादेशे आदिवृद्धौ भस्याकारस्य लोपे च कृते मार्दङ्गिकशब्दः सिध्यति । वेणोर्विकारो वैण-वम्, **ओरञ्** (४.२.७०) इत्यञ् । वैणववादनं शिल्पमस्येति वैणविकः, पूर्ववत् ठक् ।

वैणविक जस् । यहां पर भी पूर्ववत् द्वन्द्वसमास, सुँब्लुक् तथा प्रकृतसूत्र से एकवद्भाव कर नपुंसकलिङ्ग में उपर्युक्त रूप सिद्ध हो जाता है ।

सेनाङ्गों का द्वन्द्व यथा—

लौकिकविग्रह—रथिकाश्च अश्वारोहाश्च एषां समाहारो रथिकाश्वारोहम् (रथिकों और घुड़सवारों का समूह) । अलौकिकविग्रह—रथिक जस्+अश्वारोह जस्[1] । यहां भी पूर्ववत् द्वन्द्वसमास, सुँब्लुक् तथा प्रकृतसूत्र से एकवद्भाव कर नपुंसक में 'रथिकाश्वारोहम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[2]

नोट—ध्यान रहे कि प्राण्यङ्गों का प्राण्यङ्गों के साथ, तूर्याङ्गों का तूर्याङ्गों के साथ और सेनाङ्गों का सेनाङ्गों के साथ ही यहां समाहारद्वन्द्व इष्ट है । अतः 'मार्दङ्गिकश्च अश्वारोहश्च मार्दङ्गिकाश्वारोहौ' यहां इतरेतरद्वन्द्व हो जाता है प्रकृत-सूत्र से एकवद्भाव नहीं होता ।

अब द्वन्द्वसमास के सुप्रसिद्ध समासान्त टच् प्रत्यय का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९९२) **द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात् समाहारे ।** ५।४।१०६॥

चवर्गान्ताद् दषहान्ताच्च द्वन्द्वाट् टच् स्यात् समाहारे । वाक् च त्वक् च वाक्त्वचम् । त्वक्स्रजम् । शमीदृषदम् । वाक्त्विषम् । छत्रोपानहम् । समाहारे किम् ? प्रावृट्शरदौ ॥

अर्थः—चवर्गान्त, दकारान्त, षकारान्त और हकारान्त समाहारद्वन्द्व से समासान्त टच् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—द्वन्द्वात् ।५।१। चु-द-ष-हान्तात् ।५।१। समाहारे ।७।१। टच् ।१।१। (**राजाहःसखिभ्यष्टच्** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, तद्धिताः, समासान्ताः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं । चुश्च दश्च षश्च हश्चैषां समाहारः चुदषहम्, चुदषहम् अन्ते यस्य स चुदषहान्तः, तस्मात्=चुदषहान्तात्[3] । समाहारद्वन्द्वगर्भ-बहुव्रीहिसमासः । दकारादिष्व-कार उच्चारणार्थः । अर्थः—(समाहारे) समाहार अर्थ में (चु-द-ष-हान्तात्) चवर्गान्त, दकारान्त, षकारान्त और हकारान्त (द्वन्द्वात्) द्वन्द्वसमास से परे (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (टच् प्रत्ययः) टच् प्रत्यय हो जाता है और वह (समासान्तः) इस समास का अन्तावयव

१. रथेन चरन्तीति रथिकाः । **पर्पादिभ्यः ष्ठन्** (४.४.१०) इति ष्ठन् प्रत्ययः । अश्वमारोहन्तीति अश्वारोहाः । **कर्मण्यण्** (७९०) इत्यण् प्रत्ययः ।

२. यदि सेना के पशुओं मात्र का ही द्वन्द्व होगा तो वहां प्रकृतसूत्र का **विभाषा वृक्ष-मृग-तृण-धान्य-व्यञ्जन-पशु-शकुन्यश्व-वडव-पूर्वाऽपराऽधरोत्तराणाम्** (२.४.१२) इस सूत्र से बाध हो कर वैकल्पिक एकवद्भाव हो जायेगा । यथा—हस्तिनोऽश्वाश्च हस्त्यश्वम्, हस्त्यश्वाः ।

३. **अन्तग्रहणं स्पष्टार्थम्** । विनाप्येतेन तदन्तविधिना सिद्धेः ।

होता है। टच् के टकार और चकार इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं 'अ' मात्र शेष रहता है।

चवर्गान्त के उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह— वाक् च त्वक् चानयोः समाहारो वाक्त्वचम् (वाणी और त्वचा का समुदाय)। अलौकिकविग्रह— वाच् सुँ + त्वच् सुँ। यहां समाहार अर्थ में **चार्थे द्वन्द्वः** (९८५) सूत्र से द्वन्द्वसमास, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक् तथा अन्तर्वर्त्तिनी विभक्ति का आश्रय ले कर पदत्व के कारण **चोः कुः** (३०६) सूत्रद्वारा वाच् के चकार को कुत्वेन ककार आदेश कर 'वाक्त्वच्' बना। अब इस समाहारद्वन्द्व के अन्त में चवर्ग विद्यमान है अतः **द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात् समाहारे** (९९२) इस प्रकृतसूत्रद्वारा समासान्त टच् प्रत्यय कर उस के अनुबन्धों का लोप करने मे— वाक्त्वच् + अ = 'वाक्त्वच' यह अकारान्त शब्द निष्पन्न हुआ। **स नपुंसकम्** (९४३) के अनुसार नपुंसक के प्रथमैकवचन में सुँ को **अतोऽम्** (२३४) से अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'वाक्त्वचम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—त्वक् च स्रक् चानयोः समाहारः त्वक्स्रजम् (त्वचा और माला का समाहार)। 'त्वच् सुँ + स्रज् सुँ' इस अलौकिकविग्रह में भी पूर्ववत् समास और समासान्त टच् करने से उपर्युक्त रूप सिद्ध हो जाता है। सूत्र में 'च' न कह कर 'चु' (चवर्ग) कथन का प्रयोजन यही है कि इन जकारान्त स्थलों में भी टच् हो जाये।

दकारान्त का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—शमी च दृषच्चानयोः समाहारः शमीदृषदम् (शमी वृक्ष तथा पत्थर का समुदाय)। अलौकिकविग्रह—शमी सुँ + दृषद् सुँ। यहां भी पूर्ववत् द्वन्द्वसमास में सुँब्लुक् कर दकारान्त समाहार से प्रकृतसूत्रद्वारा समासान्त टच् प्रत्यय करने पर विभक्ति लाने से 'शमीदृषदम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

षकारान्त का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—वाक् च त्विट् चानयोः समाहारो वाक्त्विषम् (वाणी और कान्ति का समूह)। अलौकिकविग्रह—वाच् सुँ + त्विष् सुँ। यहां समाहार अर्थ में द्वन्द्वसमास, सुँब्लुक् तथा **चोः कुः** (३०६) सूत्रद्वारा वाच् के चकार को कुत्वेन ककार हो 'वाक्त्विष्' बना। अब षकारान्त समाहारद्वन्द्व होने के कारण प्रकृतसूत्र से समासान्त टच् प्रत्यय कर विभक्ति लाने से 'वाक्त्विषम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

हकारान्त का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—छत्रं चोपानच्चानयोः समाहारः—छत्रोपानहम् (छाते और जूते का समुदाय)। अलौकिकविग्रह—छत्र सुँ + उपानह् सुँ। यहां भी पूर्ववत् समाहारद्वन्द्व, सुँब्लुक्, गुण तथा हकारान्त समाहारद्वन्द्व होने के कारण प्रकृतसूत्रद्वारा समासान्त टच् हो कर नपुंसक में विभक्तिकार्य करने से 'छत्रोपानहम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) स्रुक् च त्वक् चानयोः समाहारः स्रुक्त्वचम् ।

(२) समिधश्च दृषदश्च समाहृताः समिद्दृषदम् ।

(३) सम्पदश्च विपदश्चासां समाहारः सम्पद्विपदम् ।

(४) धेनूनां गोदुहाञ्च समाहारः धेनुगोदुहम् ।

(५) वाक् च विप्रुषश्च समाहृताः वाक्विप्रुषम्[1] ।

यह समासान्त टच् प्रत्यय समाहारद्वन्द्व से ही विधान किया गया है इतरेतरद्वन्द्व से नहीं । तथाहि—प्रावृट् च शरच्च प्रावृट्शरदौ (वर्षा और शरदृतु) । यहां 'प्रावृष् सुँ + शरद् सुँ' इस अलौकिकविग्रह में **चार्थे द्वन्द्वः** (९८५) से इतरेतरद्वन्द्व हो कर सुँब्लुक्, पदान्त षकार को **झलां जशोऽन्ते** (६७) द्वारा जश्त्वेन डकार तथा **खरि च** (७४) से चर्त्वेन टकार हो कर विभक्ति लाने से 'प्रावृट्शरदौ' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इतरेतरद्वन्द्व होने के कारण यहां टच् नहीं होता ।

समाहारद्वन्द्व भी यदि चु-द-ष-हान्त नहीं होगा तो उस से भी टच् न होगा । यथा—दृषच्च समिच्च अनयोः समाहारो दृषत्समित् । यहां समिध्शब्द धकारान्त है अतः टच् नहीं होता । इसीप्रकार—यकृच्च मेदश्चानयोः समाहारो यकृन्मेदः । यहां मेदस् शब्द सकारान्त है अतः टच् नहीं होता ।

अभ्यास [७]

(१) समासविशेषवाची द्वन्द्वशब्द पर टिप्पण कीजिये ।

(२) 'च' के चार अर्थों का सोदाहरण विवेचन कर यह बतायें कि किस किस अर्थ में द्वन्द्वसमास होता है और क्यों ?

(३) द्वन्द्वसमास के पूर्वनिपात पर सोदाहरण एक टिप्पणी लिखें ।

(४) निम्नस्थ वचनों को स्पष्ट कीजिये—

[क] धर्मादिष्वनियमः ।

[ख] समाहारे किम् ? प्रावृट्शरदौ ।

[ग] अनयोरसामर्थ्यात् समासो न ।

[घ] अन्यतरस्याऽऽनुषङ्गिकत्वेनाऽन्वयोऽन्वाचयः ।

[ङ] परस्परनिरपेक्षस्याऽनेकस्यैकस्मिन्नन्वयः समुच्चयः ।

(५) समाहारद्वन्द्व और इतरेतरद्वन्द्व में किस किस लिङ्ग और किस किस वचन का प्रयोग किया जाता है ?

(६) निम्नस्थ प्रयोगों में एकशेषविधि का आश्रय कर सप्रमाण रूप सिद्ध करें—

[क] स्वसा च भ्राता च ।

---

१. वाणी तथा मुख से निकले जलकण ।

[ख] दुहिता च पुत्रश्च ।
[ग] हंसी च हंसश्च ।
[घ] माता च पिता च ।
[ङ] श्वश्रूश्च श्वशुरश्च ।

(७) निम्नस्थ सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—

१. द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात् समाहारे । २. अजाद्यदन्तम् । ३. चार्थे द्वन्द्वः । ४. राजदन्तादिषु परम् । ५. पिता मात्रा । ६. द्वन्द्वश्च प्राणि-तूर्य-सेनाङ्गानाम् । ७. द्वन्द्वे घि । ८. पुमान् स्त्रिया । ९. अल्पाच्तरम् । १०. अभ्यर्हितञ्च (वा०) ।

(८) अधोलिखित रूपों कीससूत्र सिद्धि करें—

१. पाणिपादम् । २. दम्पती । ३. संज्ञापरिभाषम् ४. धवखदिरौ । ५. छत्रोपानहम् । ६. द्वादश । ७. मातापितरौ । ८. रथिकाश्वारोहम् । ९. वाक्त्विषम् । १०. राजदन्तः । ११. अर्थधर्मौ । १२. मार्दङ्गिक-वैणविकम् । १३. शिरोग्रीवम् । १४. वाक्त्वचम् ।

(९) निम्नस्थ विग्रहों के द्वन्द्व में किस का पूर्वनिपात होना चाहिये ? सप्रमाण लिखें—

१. इन्द्रश्च वायुश्च । २. सखा च सुतश्च । ३. अर्जुनश्च भीमश्च । ४. त्रयश्च दश च । ५. ईशश्च कृष्णश्च । ६. अर्जुनश्च वासुदेवश्च । ७. उष्ट्राणां खराणाञ्च समाहारः । ८. रोहिणी च कृत्तिका च । ९. वीणा च दुन्दुभिश्च शङ्खश्च । १०. हरश्च हरिश्च । ११. हरिश्च हरश्च गुरुश्च । १२. धर्मश्च अर्थश्च । १३. अर्कश्च इन्दुश्च । १४. क्षत्रियश्च ब्राह्मणश्च । १५. शूद्रश्च विट् च । १६. वसन्तश्च शिशिरश्च । १७. पतिश्च भार्या च । १८. पतिश्च पुत्रश्च ।

[लघु०]   **इति द्वन्द्वः**

यहां पर द्वन्द्वसमास का विवेचन समाप्त होता है।

——:०:——

अथ समासान्तप्रकरणम्

अब सर्वसमासोपयोगी कुछ समासान्त प्रत्ययों का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(९९३) **ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे ।५।४।७४।।**

'अ+अनक्षे' इतिच्छेदः । ऋगाद्यन्तस्य समासस्य अः प्रत्ययोऽन्तावयवः स्यात्, अक्षे या धूस्तदन्तस्य तु न । अर्धर्चः । विष्णुपुरम् । विमलापं सरः । राजधुरा । अक्षे तु— अक्षधूः । दृढधूरक्षः । सखिपथः । रम्यपथो देशः ।।

अर्थः—सूत्रगत 'आनक्षे' का 'अ+अनक्षे' इस प्रकार पदच्छेद करना चाहिये। ऋच्, पुर्, अप्, धुर् और पथिन्—ये शब्द जिस के अन्त में हों ऐसे समास से परे समासान्त 'अ' प्रत्यय हो जाता है, परन्तु यदि धुर्शब्द अक्ष (रथचक्र) के साथ सम्बद्ध हो तो उस धुर्शब्दान्त समास से यह प्रत्यय नहीं होता।

व्याख्या—ऋक्-पूरब्धूः-पथाम् ।६।३। अ इति लुप्तप्रथमैकवचनान्तं पदम्। अनक्षे ।७।१। **प्रत्ययः, परश्च, तद्धिताः, समासान्ताः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। ऋक् च पूश्च आपश्च धूश्च पन्थाश्च ऋक्पूरब्धूःपन्थानः, तेषाम् ऋक्पूरब्धूःपथाम्। इतरेतरद्वन्द्वसमासः। न अक्षः अनक्षः, तस्मिन्=अनक्षे, नञ्तत्पुरुषः। सम्बन्धस्याधिकरणविवक्षायां सप्तमी। समासस्य अन्तः (अन्तावयवः) समासान्तः, षष्ठीतत्पुरुषः। 'समासस्य' का वचनविपरिणाम कर 'समासानाम्' कर लिया जाता है। 'ऋक्पूरब्धूःपथाम्' यह 'समासानाम्' का विशेषण है अतः तदन्तविधि हो कर 'ऋगाद्यन्तानां समासानाम्' बन जाता है। 'अनक्षे' यह निषेध यद्यपि साधारणतया कहा गया है तथापि अन्यों के साथ असम्भव होने से सम्बद्ध नहीं होता केवल धुर् के साथ ही सम्बद्ध होता है। अर्थः—(ऋक्पूरब्धूःपथाम्=ऋगाद्यन्तानाम्) ऋच्, पुर्, अप्, धुर् और पथिन्—ये शब्द जिन के अन्त में हों ऐसे (समासानाम्) समासों का (अन्तः=अन्तावयवः) अन्तावयव (अः प्रत्ययः) 'अ' प्रत्यय हो जाता है परन्तु (अनक्षे) अक्ष=रथचक्र के विषय में जो धुर् शब्द तदन्त समास को यह समासान्त नहीं होता।

ऋक्शब्दान्त समास का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—ऋचोऽर्धम् अर्धर्चः, अर्धर्चं वा (ऋचा अर्थात् ऋक्मन्त्र का ठीक आधा भाग)। अलौकिकविग्रह—ऋच् ङस्+अर्ध सुँ। यहां **अर्धं नपुंसकम्** (९३३) से तत्पुरुषसमास, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक्, प्रथमानिर्दिष्ट 'अर्ध' शब्द का पूर्वनिपात तथा **आद् गुणः** (२७) से गुण-रपर करने पर 'अर्धर्च्' बना। यहां समास के अन्त में ऋच् शब्द विद्यमान है अतः **ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे** (९९३) इस प्रकृतसूत्र से समासान्त 'अ' प्रत्यय हो जाता है—अर्धर्च्+अ=अर्धर्च। अब **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९९२) से प्राप्त परवल्लिङ्गता का बाध कर **अर्धर्चाः पुंसि च** (९९४) से पुंलिङ्ग में प्रथमैकवचन की विवक्षा में 'अर्धर्चः' तथा नपुंसक में सुँ को अम् आदेश कर पूर्वरूप करने से 'अर्धर्चम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

इसीप्रकार—अविद्यमाना ऋचो यस्य सोऽनृचो माणवः (वह बालक जिस ने ऋचाओं का अध्ययन नहीं किया)। यहां **नञोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः** (वा० ९६) वार्तिक से बहुव्रीहिसमास, उत्तरपद का लोप, नुँट् का आगम तथा प्रकृत **ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे** (९९३) सूत्रद्वारा समासान्त 'अ' प्रत्यय करने पर 'अनृचः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसी तरह—बहव ऋचो यस्यासौ बह्वृचः (ऋग्वेद का

---

१. पीछे (९९४) सूत्र पर इस की सविस्तर सिद्धि लिख चुके हैं उस का भी यहां ध्यान कर लेना चाहिये।

अध्ययन करने वाला)। यहां **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से बहुव्रीहिसमास हो प्रकृतसूत्र से समासान्त 'अ' प्रत्यय हो जाता है।[1]

पुर्शब्दान्त समास का उदाहरण यथा —

लौकिकविग्रह = विष्णोः पूः—विष्णुपुरम् (विष्णु की नगरी)। अलौकिकविग्रह —विष्णु ङस् + पुर् सुँ। यहां **षष्ठी** (९३१) सूत्र से तत्पुरुषसमास, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, एवं प्रातिपदिक के अवयव सुँपों (ङस् और सुँ) का लुक् कर **ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे** (९९३) सूत्रद्वारा समासान्त 'अ' प्रत्यय करने से—विष्णुपुर् + अ = विष्णुपुर। अब **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) से परवल्लिङ्गता अर्थात् पुर्शब्द के समान स्त्रीलिङ्गता प्राप्त होती है परन्तु लोक में इस प्रकार के शब्द नपुंसक में ही प्रयुक्त होते देखे जाते हैं अतः लिङ्ग के लोकाश्रित होने के कारण[2] यहां नपुंसक में विभक्तिकार्य करने पर 'विष्णुपुरम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—नन्दीपुरम्, श्रीपुरम्, ललाटपुरम् आदि प्रयोगों में समासान्त समझना चाहिये।

अप्शब्दान्त समास का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—विमला आपो[3] यस्य तद् विमलापं सरः (स्वच्छ है जल जिस का ऐसा तालाब)। अलौकिकविग्रह—विमला जस् + अप् जस्। यहां **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से बहुव्रीहिसमास, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक् तथा **स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्०** (९६९) सूत्रद्वारा 'विमला' को पुंवद्भाव से 'विमल' हो सवर्णदीर्घ करने से 'विमलाप्' हुआ। 'विमलाप्' के अन्त में 'अप्' शब्द होने के कारण **ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे (९९३)** सूत्र से समासान्त 'अ' प्रत्यय करने पर विशेष्य (सरः) के अनुसार नपुंसक प्रथमैकवचन में 'विमलापम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—शुद्धापम्, स्वच्छापम्, शीतापम् आदि प्रयोगों में समासान्त 'अ' प्रत्यय समझना चाहिये।

धुर्शब्दान्त समास का उदाहरण यथा—

---

१. 'अनृचः' और 'बह्वृचः' ये दोनों अध्येता वाच्य होने पर ही इष्ट हैं—**अनृचबह्वृचावध्येतर्येव** (वा०)। अध्येता वाच्य न हो तो इन से समासान्त नहीं होता। यथा—बहव ऋचो यस्मिन् तद् बह्वृक् सूक्तम्। अविद्यमाना ऋक् यस्मिन् तद् अनृक् साम। अन्यत्र ऋक्शब्दान्त शब्दों में यह नियम लागू नहीं होता। यथा—सप्त ऋचो यस्य तत् सप्तर्चं सूक्तम्। यहां समासान्त हो जाता है निषेध नहीं होता।

२. **लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य** (महाभाष्ये ४.१.३)।

३. 'अप्' (जल) शब्द सदा स्त्रीलिङ्ग एवं बहुवचनान्त हुआ करता है। इस की सुँबन्तप्रक्रिया (३६१) सूत्र पर देखें।

लौकिकविग्रह—राज्ञो धूः—राजधुरा (राजा का कार्यभार)। अलौकिक-विग्रह—राजन् ङस्+धुर् सुँ। यहां **षष्ठी (९३१)** सूत्र से तत्पुरुषसमास, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक् तथा **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य (१८०)** सूत्रद्वारा 'राजन्' के पदान्त नकार का लोप करने पर 'राजधुर्' बना। 'राजधुर्' के अन्त में धुर् शब्द है अतः **ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे** (९९३) सूत्र से समासान्त 'अ' प्रत्यय हो जाता है—राजधुर्+अ=राजधुर। अब **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) से परवल्लिङ्गता के कारण स्त्रीत्व की विवक्षा में **अजाद्यतष्टाप् (१२४९)** से टाप्, अनुबन्धों का लोप, सवर्णदीर्घ तथा प्रथमा के एकवचन में सुँ प्रत्यय ला कर उस का **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०** (१७९) सूत्रद्वारा लोप करने पर 'राजधुरा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—रणस्य धूः—रणधुरा। महती धूः—महाधुरा। महती धूर्यस्य तद् महाधुरं शकटम्[1]। इत्यादि प्रयोगों की सिद्धि समझनी चाहिये।

सूत्र में 'अनक्षे' कहा गया है अतः धुर्शब्द का सम्बन्ध यदि अक्ष (चक्र) के साथ होगा तो प्रकृतसूत्र से समासान्त न होगा। यथा—अक्षस्य धूः—अक्षधूः (चक्र की धुरी अर्थात् मध्यभाग)। यहां समासान्त नहीं होता। इसीप्रकार—दृढा धूर्यस्य स दृढधूरक्षः (मज़बूत धुरी वाला चक्र)। यहां **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से बहुव्रीहि-समास में **स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्०** (९६९) सूत्रद्वारा पुंवद्भाव करने से 'दृढधूः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। 'अक्ष' के साथ सम्बन्ध होने के कारण समासान्त 'अ' प्रत्यय नहीं होता।

पथिन्शब्दान्त समास का उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—सख्युः पन्थाः सखिपथः (मित्र का मार्ग)। अलौकिकविग्रह—सखि ङस्+पथिन् सुँ। यहां **षष्ठी** (९३१) सूत्रद्वारा षष्ठीतत्पुरुषसमास कर सुँपों का लुक् करने से 'सखिपथिन्' बना। अब समास में पथिन्शब्द अन्त में होने के कारण **ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे** (९९३) सूत्रद्वारा समासान्त 'अ' प्रत्यय हो कर पूर्व की भसञ्ज्ञा तथा **भस्य टेर्लोपः** (२९६) सूत्र से पथिन् की टि (इन्) का लोप करने पर 'सखिपथ्+अ=सखिपथ' यह अकारान्त शब्द निष्पन्न होता है। तत्पुरुषसमास में **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) के अनुसार पुंस्त्व में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर रुँत्व-विसर्ग करने से 'सखिपथः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

पथिन्शब्दान्त का दूसरा उदाहरण बहुव्रीहिसमास से यथा—

लौकिकविग्रह—रम्याः पन्थानो यस्य यस्मिन् वा स रम्यपथो देशः (रमणीय मार्गों वाला देश)। अलौकिकविग्रह—रम्य जस्+पथिन् जस्। यहां **अनेकमन्य-पदार्थे** (९६६) से बहुव्रीहिसमास, सुँब्लुक् तथा प्रकृत **ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे** (९९३) सूत्रद्वारा समासान्त 'अ' प्रत्यय करने पर—रम्यपथिन्+अ। अब **भस्य टेर्लोपः** (२९६)

---

1. इन में **आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः** (९५९) सूत्रद्वारा महत् शब्द के तकार को आकार आदेश हो कर सवर्णदीर्घ (४२) हो जाता है।

से भसंज्ञक टि (अन्) का लोप कर विभक्ति लाने से 'रम्यपथः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—विशालाः पन्थानो यत्र तद् विशालपथं नगरम् । दृशोः पन्थाः दृक्पथः[1] । राजपथः, जलपथः, स्थलपथः, महापथः आदियों में समासान्त प्रत्यय जानना चाहिये ।

अब समासान्त अच् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**९९४**) **अक्ष्णोऽदर्शनात्** ।५।४।७६।।

अचक्षुःपर्यायादक्ष्णोऽच् स्यात् समासान्तः । गवामक्षीव गवाक्षः ।।

अर्थः—जब अक्षिशब्द चक्षुर्वाचक न हो तो अक्षिशब्दान्त समास से समासान्त अच् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—अक्ष्णः ।५।१। अदर्शनात् ।५।१। अच् । १।१। (**अच् प्रत्यन्ववपूर्वात् सामलोम्नः** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, तद्धिताः, समासान्ताः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं । दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्=नेत्रम्, करणे ल्युट्[2] । न दर्शनम् अदर्शनम्, तस्माद्= अदर्शनात्, नञ्तत्पुरुषः । 'अदर्शनात्' पद 'अक्ष्णः' के साथ अन्वित होता है । 'अक्ष्णः' पद 'समासात्' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो जाती है । अर्थः— (अदर्शनात्) जो चक्षुर्वाचक नहीं ऐसा जो (अक्ष्णः) अक्षिशब्द तदन्त समास से (परः) परे (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अच् प्रत्ययः) अच् प्रत्यय हो जाता है और वह (समासान्तः) इस समास का अन्तावयव होता है । अच्प्रत्यय का चकार **हलन्त्यम्** (१) सूत्रद्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'अ' मात्र शेष रहता है । प्रत्यय का चित्करण स्वरार्थ है । उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—गवाम् अक्षीव गवाक्षः (गौओं की आंखसदृश आकार वाला अर्थात् झरोखा, रोशनदान)[3] । अलौकिकविग्रह—गो आम्+अक्षि सुँ । यहां अक्षिशब्द चक्षुर्वाचक नहीं अपितु आंख के सदृश अर्थ में लाक्षणिक है[4] । **षष्ठी** (९३१) सूत्रद्वारा तत्पुरुषसमास में सुँब्लुक् करने पर 'गो+अक्षि' हुआ । **अवङ् स्फोटायनस्य** (४७) सूत्र से 'गो' के ओकार को नित्य अवङ् (अव) आदेश कर[5] सवर्णदीर्घ करने से 'गवाक्षि'

---

१. षत्वे (३०७) कुत्वम् (३०४) । **पतगस्य जगाम दृक्पथम्**—(नैषध० २.७३) ।

२. करणल्युडन्तदर्शनशब्दो योगरूढिभ्यां चक्षुःपर्याय इति लघुशब्देन्दुशेखरे नागेशः ।

३. **वातायनं गवाक्षः**—इत्यमरः ।

४. अक्षिशब्दोऽत्र तत्सदृशे लाक्षणिक इति सूचयितुं लौकिकविग्रहे इवशब्द उपात्तः ।

५. अवङ् में वकारोत्तर अकार अनुनासिक नहीं अतः उस की इत्संज्ञा नहीं होती, केवल ङकार की ही **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञा होती है । अतः 'अवङ्' का 'अव' शेष रहता है । ध्यान रहे कि **अवङ् स्फोटायनस्य** (४७) सूत्र में व्यवस्थित-विभाषा का आश्रय ले कर यहां अवङ् आदेश नित्य हो जाता है विकल्प से नहीं । एतद्विषयक एक टिप्पण उसी सूत्र पर लिख चुके हैं वह भी यहां अनुसन्धेय है ।

बना । अब प्रकृत **अक्ष्णोऽदर्शनात्** (९९४) सूत्रद्वारा समासान्त अच् प्रत्यय हो कर 'गवाक्षि+अ' इस स्थिति में तद्धित के परे रहते **यस्येति च** (२३६) सूत्र से भसंज्ञक इकार का लोप कर—गवाक्ष्+अ=गवाक्ष । **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९९२) के अनुसार परवल्लिङ्गता (नपुंसकत्व) के प्राप्त होने पर उस का बाध कर लोकप्रसिद्धिवश पुंलिङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में 'गवाक्षः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

सूत्र में 'अदर्शनात्' कथन के कारण 'ब्राह्मणस्य अक्षि ब्राह्मणाक्षि' इत्यादियों में अक्षिशब्द के चक्षुर्वाचक होने के कारण प्रकृतसूत्र से समासान्त अच् नहीं होता ।

अग्रिमसूत्रद्वारा पुनः इसी समासान्त का विधान करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—**(९९५) उपसर्गादध्वनः ।५।४।८५।।**

[प्रादिभ्योऽध्वनोऽच् स्यात् समासान्तः] । प्रगतोऽध्वानं प्राध्वो रथः ।।

अर्थः—प्रादियों से परे जो अध्वन् शब्द, तदन्त समास से अच् प्रत्यय हो और वह इस समास का अन्तावयव हो ।

व्याख्या—उपसर्गात् ।५।१। अध्वनः ।५।१। अच् ।१।१। (**अच् प्रत्यन्ववपूर्वात् सामलोम्नः** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, तद्धिताः, समासान्ताः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं । 'उपसर्ग' से तात्पर्य यहां प्रादियों से है[1] । 'अध्वनः' यह 'समासात्' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो जाती है । अर्थः—(उपसर्गात्) प्र आदि से परे जो (अध्वनः) अध्वन् शब्द तदन्त समास से (परः) परे (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अच् प्रत्ययः) अच् प्रत्यय हो जाता है और वह (समासान्तः) उस समास का अन्तावयव होता है ।

उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—प्रगतोऽध्वानं प्राध्वो रथः (वह रथ जो मार्ग पर चल पड़ा है) । अलौकिकविग्रह— प्र+अध्वन् अम् । यहां पर **अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया** (वा० ५९) वार्त्तिक से प्रादितत्पुरुषसमास, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुंब्लुक् तथा प्रकृत **उपसर्गादध्वनः** (९९५) सूत्रद्वारा समासान्त अच् प्रत्यय हो कर—प्र+अध्वन् अ । अब अच् तद्धित के परे रहते **नस्तद्धिते** (९१९) से भसञ्ज्ञक टि (अन्) का लोप हो सवर्णदीर्घ कर विभक्ति लाने से 'प्राध्वः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—अतिक्रान्तोऽध्वानम् अत्यध्वो रथः । अत्यध्वं शकटम् । निर्गतोऽध्वनो निरध्वो रथः । निरध्वं शकटम् । दुष्टोऽध्वा दुरध्वः । सम्प्राप्ता अध्वानं समध्वाः[2] । इत्यादि प्रयोगों में प्रकृत समासान्त जान लेना चाहिये ।

---

१. अध्वशब्दस्य अक्रियावचनत्वात् तं प्रत्युपसर्गसंज्ञाऽभावाद् उपसर्गग्रहणं प्राद्युपलक्षणम् इति हरदत्तः ।

२. **द्रुतं समध्वा रथवाजिनागैर्मन्दाकिनीं रम्यवनां समीयुः** (भट्टि० ३.४५) ।

परमश्चासौ अध्वा परमाध्वा । उत्तमश्चासौ अध्वा उत्तमाध्वा । इन प्रयोगों में अध्वन् शब्द प्रादियों से परे नहीं अतः प्रकृतसूत्रद्वारा समासान्त अच् नहीं होता ।

अब समासान्त प्रत्ययों का निषेधस्थल दर्शाते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(९९६) न पूजनात् ।५।४।६९।।

पूजनार्थात् परेभ्यः समासान्ता न स्युः । स्वतिभ्यामेव[1] । सुराजा । अतिराजा ।।

अर्थः—पूजनार्थक शब्द से परे जो प्रातिपदिक तदन्त समास से परे समासान्त प्रत्यय न हों ।

स्वतिभ्यामेव—यह निषेध 'सु' और 'अति' पूजनार्थक निपातों से परे ही प्रवृत्त होता है अन्य पूजनार्थकों से परे नहीं ।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम् । पूजनात् ।५।१। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, समासान्ताः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(पूजनात्) पूजनार्थक से परे (यत् प्रातिपदिकम्, तदन्तात्) जो प्रातिपदिक, तदन्त समास से परे (समासान्ताः) समासान्त (प्रत्ययाः) प्रत्यय (न) नहीं होते । यहां पर एक इष्टि है—**स्वतिभ्यामेव** । इस का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक पूजनार्थक से यह निषेध प्रवृत्त नहीं होता अपितु 'सु' और 'अति' इन दो पूजनार्थक निपातों से परे ही यह निषेध प्रवृत्त होता है ।

उदाहरण यथा—

लौकिकविग्रह—सुशोभनो राजा सुराजा (सुन्दर या अच्छा राजा) । अलौकिकविग्रह—सु + राजन् सुँ । यहां **कु-गति-प्रादयः** (९४९) सूत्र से प्रादितत्पुरुषसमास हो कर सुँब्लुक् करने से 'सुराजन्' बना । अब यहां **राजाहःसखिभ्यष्टच्** (९५८) सूत्रद्वारा समासान्त टच् प्रत्यय प्राप्त होता है । परन्तु प्रकृत **न पूजनात्** (९९६) सूत्र से पूजनार्थक 'सु' निपात से परे राजन् को समासान्त टच् का निषेध हो जाता है । पुनः समास की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा होने से स्वादियों की उत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर **सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ** (१७७) से उपधादीर्घ, सुँ के अपृक्त सकार का **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०** (१७९) से लोप तथा **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) सूत्रद्वारा नकार का भी लोप करने से 'सुराजा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—अतिशयितो राजा अतिराजा (अच्छा राजा) । यहां पूर्ववत् समास करने पर 'अति' इस पूजनार्थक निपात से परे राजन्-शब्दान्त समास को प्राप्त समासान्त टच् का प्रकृतसूत्र से निषेध हो जाता है ।

इस के अन्य उदाहरण—

---

१. पाठोऽयं बहुषु संस्करणेषु नोपलभ्यते । इष्टिरियं सूत्रेऽस्मिन् **पूजायां स्वतिग्रहणम्** इतिभाष्यपठितवार्त्तिकादेवोद्धृतेति ।

सुशोभना गौः सुगौः । अतिशयिता गौः—अतिगौः । इन में **गोरतद्धितलुकि** (९३९) से प्राप्त समासान्त टच् का प्रकृतसूत्र से निषेध हो जाता है ।

स्वतिभ्यामेव—इस इष्टि के अनुसार 'सु' और 'अति' के अतिरिक्त अन्य पूजनार्थकों से परे यह निषेध प्रवृत्त नहीं होता । यथा—परमश्चासौ **राजा** परमराजः (उत्तम राजा) । यहां **सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः** (२.१.६०) सूत्रद्वारा विहित कर्मधारय समास में पूजनार्थक 'परम' शब्द से परे राजन् को समासान्त टच् प्रत्यय हो कर **नस्तद्धिते** (९१९) सूत्र से टि (अन्) का लोप करने से 'परमराजः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

वार्त्तिककार के अनुसार यह निषेध अष्टाध्यायी में **बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्** (५.४.११३) सूत्र से पूर्व के समासान्तों में ही प्रवृत्त होता है षच् आदि आगे के समासान्तों में नहीं[1] । अत एव 'सुशोभने अक्षिणी यस्य स स्वक्षः' (सुन्दर आंखों वाला) । यहाँ बहुव्रीहिसमास में **बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्** (९७१) सूत्र से षच् (अ) प्रत्यय हो जाता है उस का निषेध नहीं होता ।

'पूजनात्' कथन के कारण पूजनवाचकों से अन्यत्र समासान्त का निषेध नहीं होता । यथा—गामतिक्रान्तोऽतिगवः, यहां **अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया** (वा० ५६) वार्त्तिकद्वारा किये समास में पूजनार्थक से भिन्न 'अति' पद से परे **गोरतद्धितलुकि** (९३९) सूत्र से होने वाले समासान्त टच् का निषेध नहीं होता ।

अभ्यास [८]

(१) निम्नस्थ प्रश्नों का यथोचित उत्तर दीजिये—

[क] **उपसर्गादध्वनः** में उपसर्गपद का क्या अभिप्राय है ?

[ख] 'परमराजः' में समासान्त का निषेध क्यों नहीं होता ?

[ग] 'स्वक्षः' में **न पूजनात्** सूत्र की प्रवृत्ति क्यों नहीं होती ?

[घ] 'विप्रस्याक्षि विप्राक्षि' यहां समासान्त अच् क्यों नहीं होता ?

[ङ] 'विष्णुपुरम्' और 'अर्धर्चम्' में परवल्लिङ्गता क्यों नहीं होती ?

[च] वैकल्पिक भी अवङादेश 'गवाक्षः' में क्यों नित्य हो जाता है ?

[छ] 'बह्वृक् सूक्तम्' में **ऋक्पूरब्धूः०** द्वारा समासान्त क्यों नहीं होता ?

[ज] 'परमोऽध्वा परमाध्वा' में समासान्त अच् क्यों नहीं होता ?

(२) निम्नस्थ सूत्र-वार्त्तिक-वचनों की सोदाहरण व्याख्या करें—

[क] स्वतिभ्यामेव ।

[ख] अक्षे तु दृढधूरक्षः ।

[ग] अनृचबह्वृचावध्येतर्येव ।

[घ] प्राग्बहुव्रीहिग्रहणं कर्त्तव्यम् ।

[ङ] ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे ।

---

१. **प्राग्बहुव्रीहिग्रहणं कर्त्तव्यम्** (वा०) इति वार्त्तिकं महाभाष्ये पठितम् ।

[च] अक्ष्णोऽदर्शनात् ।

[छ] उपसर्गादध्वनः ।

[ज] न पूजनात् ।

(३) द्विविध विग्रह दर्शाते हुए निम्नस्थ रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—

१. विमलापम् । २. सखिपथः । ३. प्राध्वः । ४. राजधुरा । ५. रम्य-पथम् । ६. गवाक्षः । ७. अनृक् साम । ८. बह्वृचो माणवकः । ९. सुराजा । १०. अक्षधूः ।

(४) निम्नस्थों में समासान्त की अशुद्धि ससूत्र निर्दिष्ट करें—

[१] जयन्ति ते सत्यगवाः पूतवाचा मुनीश्वराः ॥[1]

[२] प्रायेणोपशरन्नद्यो जायन्ते स्वच्छवारयः ।[2]

[३] कृष्णसख्युः समाख्यानं सुदाम्नः परमद्भुतम् ॥[3]

[४] अन्तर्लोमा बहिर्लोम्नः कम्बलाद् मृदुरुच्यते ॥[4]

[५] अनर्थं हि वचो मित्र ! सदाऽकीर्त्तिकरम्मतम् ॥[5]

[६] सभायां शूद्रराज्ञोऽस्य न कोऽपि चतुरो जनः ॥[6]

[७] व्यूढोरा यात्ययं वीरो रणे दर्शित-विक्रमः ॥[7]

[८] कुराजा भण्यते लोके प्रजाः सम्यगपालयन् ॥[8]

---

१. सत्या गौः (वाक्) यस्य स सत्यगुः, ते=सत्यगवः । यहां बहुव्रीहिसमास में **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** (९५२) से उपसर्जनह्रस्व तो हो जायेगा किन्तु **गोरतद्धितलुकि** (९३९) से समासान्त टच् न होगा क्योंकि वह तत्पुरुष से ही विधान किया गया है । इसीप्रकार—पूता वाग्येषां ते पूतवाचः । टच् यहां दुर्लभ है । अतः 'जयन्ति ते सत्यगवः पूतवाचो मुनीश्वराः' ऐसा होना चाहिये ।

२. शरदः समीपम् उपशरदम् । यहां **अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः** (९१७) सूत्र से समासान्त टच् होना चाहिये ।

३. **राजाहःसखिभ्यष्टच्** (९५८) से समासान्त टच् हो कर 'कृष्णस्य सखा कृष्णसखः, तस्य=कृष्णसखस्य' होना चाहिये ।

४. यहां **अन्तर्बहिर्भ्यांञ्च लोम्नः** (९७३) सूत्रद्वारा समासान्त अप् प्रत्यय हो कर टिलोप करने से 'अन्तर्लोमो बहिर्लोमात्' ऐसा बनेगा ।

५. 'अविद्यमानोऽर्थो यस्य' इस बहुव्रीहिसमास में उरःप्रभृतियों में पढ़े गये **अर्थान्नञः** इस गणसूत्र से समासान्त कप् प्रत्यय हो कर 'अनर्थकम्' बनना चाहिये ।

६. यहां तत्पुरुषसमास में **राजाहःसखिभ्यष्टच्** (९५८) से टच् समासान्त प्रत्यय हो कर 'शूद्राणां राजा शूद्रराजः, तस्य शूद्रराजस्य' ऐसा होना चाहिये ।

७. 'व्यूढोराः' के स्थान पर 'व्यूढोरस्कः' होना चाहिये । **उरःप्रभृतिभ्यः कप्** (९७९) से समासान्त कप् अनिवार्य है ।

८. यहां 'कु' कुत्सावाचक है अतः **न पूजनात्** (९९६) से समासान्त का निषेध न होगा । **राजाहःसखिभ्यष्टच्** (९५८) सूत्र से समासान्त टच् हो कर टि का लोप करने से 'कुराजः' बनना चाहिये ।

[९] सुराजस्त्वं महाभाग पालयन् पुत्रवत्प्रजाः ॥[1]
[१०] न गर्दभा वाजिधुरं वहन्ति ॥[2]
[११] गृहीतमधवो बालाः पिबन्ति विरसौषधम् ॥[3]
[१२] विरम विरम कोपादर्धरात्रिर्गतेयम् ॥[4]
[१३] एकपादो भवेद् धर्मः कलौ घोरे समागते ॥[5]
[१४] विपथेन तु यात्येकः सुपथेन तथाऽपरः ॥[6]
[१५] द्विमूर्धानस्त्रिमूर्धानः श्रूयन्ते राक्षसाः पुरा ॥[7]
[१६] सुपादा ललना भाति नृत्यकाले विशेषतः ॥[8]
[१७] अहोरात्रिगता चर्या कीदृश्यासीन्महात्मनः ॥[9]

---

१. यहां 'सु' पूजार्थक है अतः **राजाहःसखिभ्यष्टच्** (९५८) से प्राप्त समासान्त टच् का **न पूजनात्** (९९६) से निषेध हो कर 'सुराजा' बनेगा।

२. वाजिनां धूः—वाजिधुरा, ताम्=वाजिधुराम्। यहां **ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे** (९९३) सूत्रद्वारा समासान्त 'अ' प्रत्यय हो कर परवल्लिङ्गता के कारण स्त्रीत्व में टाप् प्रत्यय ला कर द्वितीयैकवचन में 'वाजिधुराम्' होना चाहिये।

३. गृहीतं मधु यैस्ते गृहीतमधुकाः। मधुशब्द उरःप्रभृतिगण में साक्षात् पढ़ा गया है अतः बहुव्रीहिसमास में **उरःप्रभृतिभ्यः कप्** (९७९) सूत्र से समासान्त कप् अनिवार्य है।

४. रात्रेरर्धम् अर्धरात्रः। **अर्धं नपुंसकम्** (९३३) से तत्पुरुषसमास और **अहःसर्वैकदेश-संख्यातपुण्याच्च रात्रेः** (९५६) से समासान्त अच् प्रत्यय हो कर **रात्राह्नाहाः पुंसि** (९५७) से पुंस्त्व में 'अर्धरात्रः' बनेगा अतः तदनुसार यहां 'अर्धरात्रो गतोऽयम्' पाठ होना चाहिये।

५. एकः पादो यस्य स एकपाद्। बहुव्रीहिसमास में **संख्या-सु-पूर्वस्य** (९७५) सूत्र द्वारा पादशब्द के अन्त्य अकार का समासान्त लोप हो जाता है अतः उपर्युक्त प्रयोग अशुद्ध है।

६. 'विपथेन' यह युक्त है। विरुद्धः पन्थाः—विपथः, तेन=विपथेन। यहां प्रादितत्पुरुष-समास में **ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे** (९९३) से समासान्त 'अ' प्रत्यय हो कर टि का लोप हो गया है। परन्तु 'सुपथेन' अशुद्ध है, यहां **न पूजनात्** (९९६) से समासान्त का निषेध होगा अतः तृतीया के एकवचन में 'सुपथिन्' शब्द का 'सुपथा' होना चाहिये।

७. **द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः** (९७२) से समासान्त 'ष' प्रत्यय हो कर 'द्विमूर्ध' और 'त्रिमूर्ध' शब्द बनते हैं अतः 'द्विमूर्धास्त्रिमूर्धाश्च' कहना चाहिये।

८. 'सुपादा' के स्थान पर 'सुपाद्' होना उचित है। 'सुशोभनौ पादौ यस्याः' इस बहुव्रीहिसमास में **संख्या-सुपूर्वस्य** (९७५) द्वारा सुपूर्वक पादशब्द के अन्त्य अकार का समासान्त लोप हो जायेगा। **न पूजनात्** (९९६) से समासान्त का निषेध न होगा क्योंकि वह बहुव्रीहि में प्रवृत्त नहीं होता।

९. अहश्च रात्रिश्चानयोः समाहारः—अहोरात्रः। द्वन्द्वसमास में **अहःसर्वैकदेश-संख्या-तपुण्याच्च रात्रेः** (९५६) से समासान्त अच् प्रत्यय हो कर **रात्राह्नाहाः पुंसि** (९५७) द्वारा पुंस्त्व में 'अहोरात्रः'। अहोरात्रं गता—'अहोरात्रगता' ऐसा कहना चाहिये।

[१८] हस्तिपाद् मानवो लोके शक्तो गन्तुं न कर्हिचित् ।।[1]
[१९] अवमूर्धोऽसि किं विप्र ! कच्चित्ते कुशलं गृहे ?[2]
[२०] नैवाधीता ऋचो येन सोऽनृचो वटुरुच्यते ।
तथा बह्व्य ऋचो यस्य बह्वृचं सूक्तमेव तत् ।।[3]
[२१] सप्त सन्ति ऋचो यस्य सप्तर्क् सूक्तं तदुच्यते ।।[4]
[२२] नवप्रसूतगावस्तु भण्यन्ते धेनवो बुधैः ।।[5]
[२३] अत्यन्तं खेदमाधत्ते सर्वरात्रिप्रजागरः ।।[6]
[२४] द्विमूर्धा बहुमूर्धाश्च जायन्ते केऽपि जन्तवः ।।[7]
[२५] न नारी शोभते लोके दीर्घसक्था भवेद् यदि ।।[8]

---

१. **पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः** (९७४) सूत्र में 'अहस्त्यादिभ्यः' कहा गया है अतः यहां पादशब्द के अन्त्य अल् का लोप न हो कर 'हस्तिपादः' होना चाहिये ।

२. **द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः** (९७२) सूत्र से द्वि और त्रि शब्दों से परे ही मूर्धन् को 'ष' समासान्त होता है । अतः यहां 'अवनतो मूर्धा यस्य' इस विग्रह में समासान्त न होगा अतः 'अवमूर्धा' प्रयोग होना चाहिये ।

३. **अनृच-बह्वृचौ अध्येतर्येव** इस नियम के कारण 'अनृचो वटुः' यहां बहुव्रीहि में तो **ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे** (९९३) से समासान्त 'अ' प्रत्यय हो जायेगा परन्तु सूक्त वाच्य होने पर 'बह्व्य ऋचो यस्य' में समासान्त न होगा । अतः 'बह्वृक् सूक्तम्' कहा जायेगा ।

४. 'सप्त ऋचो यस्य' इस बहुव्रीहि में **ऋक्पूरब्धूः०** (९९३) से समासान्त 'अ' प्रत्यय हो कर 'सप्तर्च सूक्तम्' बनेगा । 'अध्येतर्येव' वाला नियम यहां लागू नहीं होता क्योंकि वह अनृच और बह्वृच शब्दों तक ही सीमित है ।

५. **गोरतद्धितलुकि** (९३९) द्वारा समासान्त टच् प्रत्यय हो कर स्त्रीत्व की विवक्षा में टित्त्व के कारण **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) द्वारा ङीप् प्रत्यय लाने से 'नवप्रसूत-गव्यः' प्रयोग होना चाहिये ।

६. 'सर्वरात्रिप्रजागरः' के स्थान पर 'सर्वरात्रप्रजागरः' पाठ होना चाहिये । **अहः-सर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः** (९५६) से समासान्त अच् प्रत्यय हो कर **रात्राह्नाहाः पुंसि** (९५७) से पुंस्त्व में 'सर्वा रात्रिः सर्वरात्रः' बनता है । सर्वरात्रस्य प्रजागरः सर्वरात्रप्रजागरः ।

७. **द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः** (९७२) द्वारा द्विपूर्वक या त्रिपूर्वक मूर्धन् से ही बहुव्रीहि में 'ष' समासान्त का विधान किया गया है; बहुपूर्वक से नहीं । अतः 'बहवो मूर्धानो येषां ते बहुमूर्धानः' होना चाहिये ।

८. 'दीर्घे सक्थिनी यस्याः' इस बहुव्रीहि में **बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्** (९७१) सूत्र से समासान्त षच् प्रत्यय हो कर स्त्रीत्व की विवक्षा में षित्त्व के कारण **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५५) से ङीष् प्रत्यय करने पर 'दीर्घसक्थी' प्रयोग होना चाहिये ।

[२६] भूजायो नृपतिश्चेति पर्यायावेव तत्त्वतः ॥[1]

[२७] वीरोऽधिज्यधनुः कस्य कुलस्यासीद् धुरंधरः ॥[2]

[२८] समवेलाः समध्वानो राजानः समरस्थले ॥[3]

[२९] ता नार्यो युवपञ्चम्यो वह्नौ दग्धाः पतङ्गवत् ॥[4]

[३०] द्वित्रीन् शब्दान् स संश्रुत्य पुनर्मोहमुपागतः ॥[5]

[लघु०] **इति समासान्ताः**

यहां पर समासान्तों का विवेचन समाप्त होता है ।

समाप्तञ्चेद समासप्रकरणम् ॥

(यहां समासप्रकरण भी समाप्त होता है ।)

इति भूतपूर्वाऽखण्डभारताऽन्तर्गत-सिन्धुतटवर्त्ति-डेराइस्माईल-खानाख्यनगरवास्तव्य-भाटियावंशावतंस-श्रीमद्रामचन्द्र-वर्मसूनुना एम्. ए. साहित्यरत्नेत्याद्यनेकोपाधि-भृता वैद्येन भीमसेनशास्त्रिणा विरचितायां लघुसिद्धान्तकौमुद्या भैमीव्याख्यायां समासप्रकरणात्मकश्चतुर्थो भागः पूर्त्तिमगात् ॥

---

१. 'भूर्जाया यस्य' इस बहुव्रीहि में **जायाया निङ्** (५.४.१३४) से जाया के अन्त्य आकार को निङ् (नि) समासान्त हो कर **लोपो व्योर्वलि** (४२९) से यकार का लोप करने पर 'भूजानिः' प्रयोग बनना चाहिये ।

२. 'अधिज्यं धनुर्यस्य' यहां बहुव्रीहिसमास में 'अधिज्यधनुष्' शब्द के अन्त्य षकार को **धनुषश्च** (५.४.१३२) सूत्र से समासान्त अनँङ् (अन्) आदेश कर यण् करने से 'अधिज्यधन्वन्' शब्द बन जाता है । इस की रूपमाला यज्वन्शब्दवत् होने से 'अधिज्यधन्वा' प्रयोग बनेगा ।

३. सङ्क्रान्ता अध्वानम्—समध्वाः । **अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया** (वा० ५९) इस वार्त्तिकद्वारा प्रादितत्पुरुष में **उपसर्गादध्वनः** (९९५) से समासान्त अच् प्रत्यय हो कर टि का लोप करने से प्रथमाबहुवचन में 'समध्वाः' बनना चाहिये ।

४. युवतिः पञ्चमी यासां ताः =युवतिपञ्चमाः । यहां बहुव्रीहिसमास में **स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्०** (९६९) सूत्र में 'अपूरणीप्रियादिषु' कथन के कारण पूरणी (पञ्चमी) के परे रहते 'युवति' को पुंवद्भाव न होगा । किञ्च **अप् पूरणीप्रमाण्योः** (९७०) सूत्र से पूरण्यन्त बहुव्रीहि से समासान्त अप् प्रत्यय हो कर भसंज्ञक ईकार का लोप करने पर 'युवतिपञ्चमाः' होना चाहिये ।

५. **द्वौ** वा त्रयो वा द्वित्राः, तान्=द्वित्रान् । **संख्ययाऽव्ययासन्ना०** (२.२.२५) सूत्र-द्वारा किये बहुव्रीहिसमास में **बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात्** (५.४.७३) सूत्र से समासान्त डच् (अ) प्रत्यय हो कर टिलोप करने से 'द्वित्र' बनता है अतः यहाँ 'द्वित्रान्' होना चाहिये ।

[१] परिशिष्टे—विशेष-स्मरणीय-पद्यमाला

[भैमीव्याख्या-चतुर्थभागस्थ दर्जनों पद्यों में से व्याकरणसम्बन्धी कुछ विशेष स्मरणीय पद्य यहां संकलित किये गये हैं।]

(१) पदानां लुप्यते यत्र प्रायः स्वाः स्वा विभक्तयः ।
पुनरेकपदीभावः समास उच्यते तदा ॥ (पृष्ठ २)

(२) द्वन्द्वोऽस्मि द्विगुरपि च गृहे च मे सततमव्ययीभावः ।
तत्पुरुष कर्म धारय येनाहं स्यां बहुव्रीहिः ॥ (पृष्ठ ५)

(३) द्विगुर्द्वन्द्वोऽव्ययीभावः कर्मधारय एव च ।
पञ्चमस्तु बहुव्रीहिः षष्ठस्तत्पुरुषः स्मृतः ॥ (पृष्ठ १८५)

(४) विभक्तयो द्वितीयाद्या नाम्ना परपदेन तु ।
समस्यन्ते समासो हि ज्ञेयस्तत्पुरुषः स च ॥ (पृष्ठ ४)

(५) अव्ययीभाव इत्यत्र भवतेः कर्तरीह णः ॥ (पृष्ठ १७)

(६) सम्बन्धिशब्दः सापेक्षो नित्यं सर्वः समस्यते ।
वाक्यवत्सा व्यपेक्षा हि वृत्तावपि न हीयते ॥ (पृष्ठ ७)

(७) लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तुंकाममनसोरपि ।
समो वा हिततयोर्मांसस्य पचि युड्घञोः ॥ (पृष्ठ १४)

(८) अदन्तादव्ययीभावात् सुपो लुक् प्रतिषिध्यते ।
पञ्चमीवर्जितानां तु सुपामम्भाव इष्यते ॥

(९) बहुलं स्यादमो भावस्तृतीयासप्तमीगतः ।
पञ्चमी श्रूयते नित्यम् उपकृष्णान्निदर्शनम् ॥ (पृष्ठ २८)

---

१. पूर्वाचार्यों का यह श्लोक काशिका (६.१.१४४) से उद्धृत किया गया है। इस में समास या संहिता की विवक्षा में चार नियमों का प्रतिपादन किया गया है। (१) कृत्यप्रत्ययान्त के परे रहते 'अवश्यम्' के मकार का लोप हो जाता है। यथा—अवश्यकर्त्तव्यम्, अवश्यकरणीयम्। (२) 'काम' और 'मनस्' शब्दों के परे रहते 'तुम्' प्रत्यय के मकार का लोप हो जाता है। यथा—कर्तुं कामोऽस्येति कर्तुकामः, कर्तुं मनोऽस्येति कर्तुमनाः। (३) हितशब्द या ततशब्द के परे होने पर 'सम्' के मकार का विकल्प से लोप हो जाता है। यथा—सम्+हितम्=सहितं संहितं वा। सम्+ततम्=सततं सन्ततं वा। (४) ल्युडन्त या घञन्त पच्धातु के परे रहते 'मांस' शब्द के अन्त्य अकार का विकल्प से लोप हो जाता है। यथा—मांसस्य पचनम्—मांस्पचनम् मांसपचनं वा। मांसस्य पाकः—मांस्पाको मांसपाको वा।

(१०) अनदन्ते समासेऽस्मिन् नित्यं सुब्लुप्यते ततः ।
कार्यो ह्रस्वोऽन्त्यदीर्घस्य क्लीबत्वात्सुविचक्षणैः ॥ (पृष्ठ २८)

(११) स्यात्तस्य पुरुषस्तत्पुरुषः षष्ठीसमासतः ।
तेन तज्जातिजाः सर्वे क्रुद्वत् तत्पुरुषाः स्मृताः ॥ (पृष्ठ ६०)

(१२) कृष्णोदक्पाण्डुपूर्वाया भूमेरच् प्रत्ययः स्मृतः ।
गोदावर्याश्च नद्याश्च संख्याया उत्तरे यदि ॥ (पृष्ठ ४४)

(१३) इहानुक्तं समासार्थं द्वितीयेत्यादि खण्ड्यताम् ।
कृता बहुलमित्येतद् बाहुल्यं वा विजृम्भताम् ॥

(१४) सुप्सुपेति समासो वा बोध्यः शिष्टप्रयुक्तिषु ।
शब्दाः शिष्टैः प्रयुक्तास्तु सर्वथा साधवो मताः ॥ (पृष्ठ ६७)

(१५) भेद्यं विशेष्यमित्याहुर्भेदकं तु विशेषणम् ।
प्रधानं तु विशेष्यं स्यादप्रधानं विशेषणम् ॥ (पृष्ठ ११२)

(१६) क्वचित्प्रवृत्तिः क्वचिदप्रवृत्तिः
क्वचिद् विभाषा क्वचिदन्यदेव ।
विधेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य
चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥ (पृष्ठ ११२)

(१७) तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता ।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥ (पृष्ठ १२६)

(१८) बहवो व्रीहयोऽस्येति यत्र स्यात् स तथोच्यते ॥ (पृष्ठ १८५)

(१९) यन्निमित्तमुपादाय पुंसि शब्दः प्रवर्त्तते ।
क्लीबवृत्तौ तदेव स्याद् भाषितपुंस्कं तदुच्यते ॥ (पृष्ठ १९८)

उरःप्रभृतिगण यथा --

(२०) उरः सर्पिर्मधूपानद् दधि शालिः पयः पुमान् ।
अनड्वान्नौस्तथा लक्ष्मीर्नञ्पूर्वान्नित्यमर्थतः ॥ (पृष्ठ २१८)

प्रियादिगण यथा—

(२१) प्रिया-कान्ता-मनोज्ञा-स्वा-कल्याणी-भक्ति-दुर्भगाः ।
सचिवा-वामना-क्षान्ता-चपला-निचिता-समाः ॥
सुभगा दुहिता बाल्या वामाऽथ तनया तथा ॥ (पृष्ठ २०३)

(२२) विंशत्याद्याः सदैकत्वे संख्या संख्येय-संख्ययोः ।
संख्यार्थे द्विबहुत्वे स्तस्तासु चानवतेः स्त्रियाः ॥ (पृष्ठ २०४)

(२३) परेणैवेण्ग्रहाः सर्वे पूर्वेणैवाण्ग्रहा मताः ।
ऋतेऽणुदित्सवर्णस्येत्येतदेकं परेण तु ॥ (पृष्ठ २२२)

——: × :——

[२] परिशिष्टे—समासप्रकरणान्तर्गताऽष्टाध्यायीसूत्रतालिका

[इस परिशिष्ट में इस ग्रन्थ में प्रयुक्त अष्टाध्यायीसूत्रों की अकारादिवर्णानुक्रम से तालिका दी गई है। मूलोक्त सूत्र स्थूलाक्षरों में तथा व्याख्योक्त पतले अक्षरों में मुद्रित किये गये है। सूत्रों के आगे पृष्ठसंख्या जाननी चाहिये।]

——:०:——

[३] परिशिष्टे—समासप्रकरणान्तर्गतवार्त्तिकादितालिका

[इस परिशिष्ट में वार्त्तिकों, इष्टियों, परिभाषाओं, गणसूत्रों, लिङ्गानुशासनीय-वचनों एवं महत्त्वपूर्ण भाष्यादिवचनों की अकारादिक्रम से सूची दी जा रही है। **इन के आगे पृष्ठसंख्या दी गई है।]**

——:×:——

[४] परिशिष्टे—समासोदाहरणतालिका

[भैमीव्याख्या के इस चतुर्थ भाग के अन्तर्गत उदाहरणरूप से उद्धृत प्रायः समस्त समासरूपों की अकारादिवर्णानुक्रमणी यहां प्रस्तुत की जा रही है। इन रूपों के आगे कोष्ठकों में समास का संक्षिप्त नाम तथा उस के आगे उन की पृष्ठसंख्या दी गई है। समासनामों के संकेत इस प्रकार समझने चाहियें—

द्वि. त.=द्वितीयातत्पुरुषसमास। तृ. त.=तृतीयातत्पुरुषसमास। च. त.= चतुर्थीतत्पुरुषसमास। प. त.=पञ्चमीतत्पुरुषसमास। ष. त.=षष्ठीतत्पुरुषसमास। स. त.=सप्तमीतत्पुरुषसमास। नञ्त.=नञ्तत्पुरुषसमास। त०=तत्पुरुषसमास। प्रादि०=प्रादितत्पुरुषसमास। द्विगु=द्विगुसमास। उपपद०=उपपदतत्पुरुषसमास। उप. त.=उपमानपूर्वतत्पुरुषसमास। शाक. त.=शाकपार्थिवादितत्पुरुषसमास। एकदेशि०=एकदेशिसमास। कर्म०=कर्मधारयसमास। एकशेष०=एकशेषवृत्ति। गति. स.=गतिसमास। अव्ययी०=अव्ययीभावसमास। बहु०=बहुव्रीहिसमास। द्वन्द्व= द्वन्द्वसमास। सुप्सुपा=सुप्सुपासमास (केवलसमास)।

[अ]

---

१. संकेताः—वा०=वार्त्तिक; महा०=महाभाष्य; का०=काशिका; गण०=गणसूत्र; लिङ्गा०=लिङ्गानुशासनसूत्र; प०=परिभाषा; न्याय०=न्यायमूलकपरिभाषा; इष्टि०=इष्टिवार्त्तिक; कारि०=कारिका।

——:०:——

[५] परिशिष्टे——विशेष-द्रष्टव्य-स्थलतालिका

[इस तालिका में इस व्याख्या के कुछ द्रष्टव्यस्थलों का निर्देश किया गया है। आगे पृष्ठसंख्या दी गई है।]

——:०:——

[६] परिशिष्टे—अष्टाध्यायीसूत्रपाठे समासप्रकरणम्

[व्युत्पन्नविद्यार्थियों की सुविधा के लिये यहां अष्टाध्यायीसूत्रपाठस्थ समास-विधायक सकल सूत्रों का पाठ दे रहे हैं। इन में जो सूत्र लघु-सिद्धान्त-कौमुदी के मूल में पढ़े गये हैं उन्हें मोटे टाइप में तथा अन्यों को बारीक टाइप में दिया गया है। विद्यार्थी यदि इन समस्त सूत्रों को अष्टाध्यायी के क्रम से कण्ठस्थ कर लें तो समास-प्रकरण को समझने में उन्हें सदा के लिये सुविधा रहेगी।]

अष्टाध्यायीसूत्रपाठः। द्वितीयेऽध्याये प्रथमः पादः।

१. **समर्थः पदविधिः**। २. सुँबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे। ३. **प्राक् कडारात् समासः**। ४. **सह सुँपा**। ५. **अव्ययीभावः**। ६. **अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यृद्ध्यर्थाभावात्ययासंप्रतिशब्दप्रादुर्भावपश्चाद्यथानुपूर्व्ययौगपद्यसादृश्यसंपत्तिसाकल्यान्तवचनेषु**। ७. यथाऽसादृश्ये। ८. यावदवधारणे। ६. सुँप् प्रतिना मात्रार्थे। १०. अक्षशलाका-संख्याः परिणा। ११. विभाषाऽपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या। १२. आङ् मर्यादाभि-विध्योः। १३. लक्षणेनाभिप्रती आभिमुख्ये। १४. अनुर्यत्समया। १५. यस्य चायामः। १६. तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च। १७. पारे मध्ये षष्ठ्या वा। १८. संख्या वंश्येन। १६.

नदीभिश्च । २०. अन्यपदार्थे च संज्ञायाम् । २१. **तत्पुरुषः** । २२. **द्विगुश्च** । २३. **द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः** । २४. स्वयं क्तेन । २५. खट्वा क्षेपे । २६. सामि । २७. कालाः । २८. अत्यन्तसंयोगे च । २९. **तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन** । ३०. पूर्वसदृशसमोनार्थकलहनिपुणमिश्रश्लक्ष्णैः । ३१. **कर्तृकरणे कृता बहुलम्** । ३२. कृत्यैरधिकार्थवचने । ३३. अन्नेन व्यञ्जनम् । ३४ भक्ष्येण मिश्रीकरणम् । ३५. **चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः** । ३६. **पञ्चमी भयेन** । ३७. अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तैरल्पशः । ३८. **स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन** । ३९. **सप्तमी शौण्डैः** । ४०. सिद्धशुष्कपक्वबन्धैश्च । ४१. ध्वाङ्क्षेण क्षेपे । ४२. कृत्यैर्ऋणे । ४३. संज्ञायाम् । ४४. क्तेनाहोरात्रावयवाः । ४५. तत्र । ४६. क्षेपे । ४७. पात्रेसमितादयश्च । ४८. पूर्वकालैकसर्वजरत्पुराणनवकेवलाः समानाधिकरणेन । ४९. **दिक्संख्ये संज्ञायाम्** । ५०. **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** । ५१. **संख्यापूर्वो द्विगुः** । ५२. कुत्सितानि कुत्सनैः । ५३. पापाणके कुत्सितैः । ५४. **उपमानानि सामान्यवचनैः** । ५५. उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे । ५६. **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** । ५७. पूर्वापरप्रथमचरमजघन्यसमानमध्यमध्यमवीराश्च । ५८. श्रेण्यादयः कृतादिभिः । ५९. क्तेन नञ्विशिष्टेनानञ् । ६०. सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः । ६१. वृन्दारकनागकुञ्जरैः पूज्यमानम् । ६२. कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने । ६३. किं क्षेपे । ६४. पोटायुवतिस्तोककतिपयगृष्टिधेनुवशावेहद्बष्कयणीप्रवक्तृश्रोत्रियाध्यापकधूर्तैर्जातिः । ६५. प्रशंसावचनैश्च । ६६. युवा खलतिपलितवलिनजरतीभिः । ६७. कृत्यतुल्याख्या अजात्या । ६८. वर्णो वर्णेन । ६९. कुमारः श्रमणादिभिः । ७०. चतुष्पादो गर्भिण्या । ७१. मयूरव्यंसकादयश्च ।

अष्टाध्यायीसूत्रपाठः । द्वितीयाध्याये द्वितीयः पादः ॥

१. **पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे** । २. **अर्धं नपुंसकम्** । ३. द्वितीयतृतीयचतुर्थतुर्याण्यन्यतरस्याम् । ४. **प्राप्तापन्ने च द्वितीयया** । ५. कालाः परिमाणिना । ६. **नञ्** । ७. ईषदकृता । ८. **षष्ठी** । ९. याजकादिभिश्च । १०. न निर्धारणे । ११. पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन । १२. क्तेन च पूजायाम् । १३. अधिकरणवाचिना च । १४. कर्मणि च । १५. तृजकाभ्यां कर्तरि । १६. कर्तरि च । १७. नित्यं क्रीडाजीविकयोः । १८. **कुगतिप्रादयः** । १९. **उपपदमतिङ्** । २०. अमैवाव्ययेन । २१. तृतीयाप्रभृतीन्यन्यतरस्याम् । २२. क्त्वा च । २३. **शेषो बहुव्रीहिः** । २४. **अनेकमन्यपदार्थे** । २५. संख्ययाव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये । २६. दिङ्नामान्यन्तराले । २७. तत्र तेनेदमिति सरूपे । २८. तेन सहेति तुल्ययोगे । २९. **चार्थे द्वन्द्वः** । ३०. **उपसर्जनं पूर्वम्** । ३१. **राजदन्तादिषु परम्** । ३२. **द्वन्द्वे घि** । ३३. **अजाद्यदन्तम्** । ३४. **अल्पाच्तरम्** । ३५. **सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ** । ३६. **निष्ठा** । ३७. वाहिताग्न्यादिषु । ३८. कडाराः कर्मधारये ।

[७] परिशिष्टे—समासप्रकरणगतसमासान्ततालिका

[इस ग्रन्थ के मूल तथा व्याख्या में वर्णित समासान्तप्रत्यय तथा उन के विधायकसूत्र उदाहरणों सहित यहां संकलित किये गये हैं।]

प्रत्यय	समास	समासान्तविधायकसूत्र तथा उस के उदाहरण
अ	सब समास	**ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे** (९६३)। अर्धर्चः। विष्णुपुरम्। विमलापम्।
अच्	अव्ययी०	**गोदावर्याश्च नद्याश्च संख्याया उत्तरे यदि**(काशिका)। सप्तगोदावरम्।
	तत्पुरुष	**तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याऽव्ययादेः** (९५५)। द्व्यङ्गुलम्। निरङ्गुलम्।
		अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः (९५६)। अहोरात्रः। सर्वरात्रः।
	बहुव्रीहि	**त्र्युपाभ्यां चतुरोऽजिष्यते** (वा०)। त्रिचतुराः। उपचतुराः॥
	सब समास	**अक्ष्णोऽदर्शनात्** (९९४)। गवाक्षः।
		उपसर्गादध्वनः (९९५)। प्राध्वः। निरध्वः।
अनँङ्	बहुव्रीहि	**धनुषश्च** (५.४.१३२)। अधिज्यधन्वा। पुष्पधन्वा।
अप्	बहुव्रीहि	**अप्पूरणीप्रमाण्योः** (९७०)। कल्याणीपञ्चमाः। स्त्रीप्रमाणः।
		अन्तर्बहिर्भ्याञ्च लोम्नः (९७३)। अन्तर्लोमः। बहिर्लोमः।
कप्	बहुव्रीहि	**उरःप्रभृतिभ्यः कप्** (९७९)। व्यूढोरस्कः।
		शेषाद्विभाषा (९८४)। महायशस्कः। महायशाः।
		नद्यृतश्च (५.४.१५३)। बहुकर्तृकः। युवतिदुहितृकः।
टच्	अव्ययी०	**अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः** (९१७)। उपशरदम्। उपजरसम्।
		अनश्च (९१८)। उपराजम्। अध्यात्मम्।
		नपुंसकादन्यतरस्याम् (९२०)। उपचर्मम्। उपचर्म।
		झयः (९२१)। उपसमिधम्। उपसमित्।
		नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः (५.४.११०)। उपनदम्। उपनदि।
		गिरेश्च सेनकस्य (५.४.११२)। अन्तर्गिरम्, अन्तर्गिरि।
	तत्पुरुष	**गोरतद्धितलुकि** (९३९)। पञ्चगवधनः। परमगवः। उत्तमगवः।
		राजाहःसखिभ्यष्टच् (९५८)। परमराजः। महाराजः।
	द्वन्द्व	**द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात्समाहारे** (९९२)। वाक्त्वचम्। शमीदृषदम्।
डच्	बहुव्रीहि	**बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात्** (५.४.७३)। द्वित्राः। पञ्चषाः।
ष	बहुव्रीहि	**द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः** (९७२)। द्विमूर्धः। त्रिमूर्धः।
षच्	बहुव्रीहि	**बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच्** (९७१)। दीर्घसक्थः। जलजाक्षी।
(लोप)	बहुव्रीहि	**पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः** (९७४)। व्याघ्रपात्।
		संख्यासुपूर्वस्य (९७५)। द्विपात्। सुपात्।
		उद्विभ्यां काकुदस्य (९७६)। उत्काकुत्। विकाकुत्।
		पूर्णाद्विभाषा (९७७)। पूर्णकाकुत्। पूर्णकाकुदः।

इति परिशिष्टानि

भैमी प्रकाशन

के ग्रन्थों की नवीन सूची 2007

१. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (प्रथम भाग) 300/-

लेखक के दीर्घकालिक व्याकरणाध्यापन का यह निचोड़ है। कौमुदी पर इस प्रकार की विस्तृत वैज्ञानिक विश्लेषणात्मक हिन्दी व्याख्या आज तक नहीं निकली। इस व्याख्या के **सन्धि षड्लिङ्ग तथा अव्ययप्रकरणात्मक** प्रथम भाग में प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद, विभक्तिवचन, समास-विग्रह, अनुवृत्ति, अधिकार, सूत्रगत तथा अनुवर्तित प्रत्येक पद का अर्थ, परिभाषाजन्य विशेषता, अर्थ की निष्पत्ति, उदाहरण प्रत्युदाहरण तथा विस्तृत सिद्धि देते हुए छात्रों और अध्यापकों के मध्य आने वाली प्रत्येक शङ्का का पूर्ण विस्तृत समाधान प्रस्तुत किया गया है। इस हिन्दी व्याख्या की देश-विदेश के डेढ़ सौ से अधिक विद्वानों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है। स्थान-स्थान पर परिपठित विषय के आलोडन के लिए बड़े यत्न से पर्याप्त विस्तृत अभ्यास सङ्गृहीत किये गये हैं। इस व्याख्या की रूपमालाओं में अनुवादोपयोगी लगभग दो हज़ार शब्दों का अर्थसहित बृहत्संग्रह प्रस्तुत करते हुए णत्वप्रक्रियोपयुक्त प्रत्येक शब्द को चिह्नित किया गया है। आज तक लघुकौमुदी की किसी भी व्याख्या में ऐसी विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती। व्याख्या की सबसे बड़ी विशेषता अव्ययप्रकरण है। प्रत्येक अव्यय के अर्थ का विस्तृत विवेचन करके उसके लिए विशाल संस्कृत वाङ्मय से किसी न किसी सूक्ति वा प्रसिद्ध वचन को सङ्गृहीत करने का प्रयास किया गया है। अकेला **अव्ययप्रकरण** ही लगभग सौ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। एक विद्वान् समालोचक ने ग्रन्थ की समालोचना करते हुए यहां तक कहा था कि—**यदि लेखक ने अपने जीवन में अन्य कोई प्रणयन न कर केवल अव्यय-प्रकरण ही लिखा होता तो केवल यह प्रकरण ही उसे अमर करने में सर्वथा समर्थ था।** सन्धिप्रकरण में लगभग एक हजार अभूतपूर्व नये उदाहरण विद्यार्थियों के अभ्यास के लिए संकलित किये गये हैं—उदाहरणार्थ अकेले **इको यणचि** सूत्र पर ५० नये उदाहरण दिये गये हैं। इस व्याख्या में ग्रन्थगत किसी भी शब्द की रूपमाला को तद्वत् नहीं लिखा गया प्रत्युत प्रत्येक शब्द एवं धातु की पूरी-पूरी सार्थ रूपमाला दी गई है। स्थान-स्थान पर समझाने के लिए नाना प्रकार के कोष्ठकों और चक्रों से यह ग्रन्थ ओत-प्रोत है। इस प्रकार का यत्न व्याकरण के किसी भी ग्रन्थ पर अद्ययावत् नहीं किया गया। यह व्याख्या छात्रों के लिए ही नहीं अपितु अध्यापकों तथा अनुसन्धान-प्रेमियों के लिए भी अतीव उपयोगी है। अन्त में अनुसन्धानोपयोगी कई परिशिष्ट दिये गये हैं।

२. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (द्वितीय भाग) 400/-

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी के इस भाग में **दस गण** और **एकादश प्रक्रियाओं** की विशद व्याख्या प्रस्तुत की गई है । तिङन्तप्रकरण व्याकरण की पृष्ठास्थि (Back bone) समझा जाता है । क्योंकि धातुओं से ही विविध शब्दों की सृष्टि हुआ करती है । अत: इस भाग की व्याख्या में विशेष श्रम किया गया है । लगभग दो सौ ग्रन्थों के आलोडन से इस भाग की निष्पत्ति हुई है । प्रत्येक सूत्र के पदच्छेद, विभक्तिवचन, समासविग्रह, अनुवृत्ति, अधिकार, प्रत्येक पद का अर्थ, परिभाषाजन्यवैशिष्ट्य, अर्थनिष्पत्ति, उदाहरण-प्रत्युदाहरण और सारसंक्षेप के अतिरिक्त प्रत्येक धातु के दसों लकारों की रूपमाला सिद्धिसहित दिखाई गई है। वैयाकरणनिकाय में सैंकड़ों वर्षों से चली आ रही अनेक भ्रान्तियों का सयुक्तिक निराकरण किया गया है। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में विद्यार्थियों के प्रवेश के लिए यत्र-तत्र अनेक भाषावैज्ञानिक नोट्स भी दिये हैं । चार सौ से अधिक सार्थ उपसर्गयोग तथा उनके लिए विशाल संस्कृतसाहित्य से चुने हुए एक सहस्र से अधिक उदाहरणों का अपूर्व संग्रह प्रस्तुत किया गया है। लगभग डेढ़ हजार रूपों की ससूत्र सिद्धि और एक सौ के करीब शास्त्रार्थ और शङ्का-समाधान इस में दिये गये हैं । अनुवादादि के सौकर्य के लिए छात्रोपयोगी **णिजन्त, सन्नन्त, यङन्त, भावकर्म आदि प्रक्रियाओं** के अनेक शतक और संग्रह भी अर्थसहित दिये गये हैं । जैसे नानाविध लौकिक उदाहरणों द्वारा प्रक्रियाओं को इस में समझाया गया है वैसे अन्यत्र मिलना दुर्लभ है । इस से प्रक्रियाओं का रहस्य विद्यार्थियों को हस्तामलकवत् स्पष्ट प्रतीत होने लगता है । अन्त में अनुसन्धानोपयोगी छ: प्रकार के परिशिष्ट दिये गये हैं । ग्रन्थ का मुद्रण आधुनिक बढ़िया मैप्लीथो कागज पर अत्यन्त शुद्ध वा सुन्दर ढंग से पांच प्रकार के टाइपों में किया गया है। सुन्दर, बढ़िया, सम्पूर्ण कपड़े की जिल्द तथा पक्की अंग्रेजी सिलाई ने ग्रन्थ को और अधिक चमत्कृत कर दिया है ।

३. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (तृतीय भाग) 300/-

भैमीव्याख्या के इस तृतीय भाग में **कृदन्त** और **कारक** प्रकरणों का विस्तृत वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है । सुप्रसिद्ध कृत्प्रत्ययों के लिए कई विशाल शब्दसूचियां अर्थ तथा ससूत्रटिप्पणों के साथ बड़े यत्न से गुम्फित की गई हैं, जिनमें अढ़ाई हजार से अधिक शब्दों का अपूर्व संग्रह है । प्राय: प्रत्येक प्रत्यय पर संस्कृतसाहित्य में से अनेक सुन्दर सुभाषितों या सूक्तियों का संकलन किया गया है । **कारकप्रकरण** लघुकौमुदी में केवल सोलह सूत्रों तक ही सीमित है जो स्पष्टत: बहुत अपर्याप्त है । भैमीव्याख्या में इन सोलह सूत्रों की विस्तृत व्याख्या करते हुए अन्त में अत्यन्त उपयोगी लगभग पचास अन्य सूत्र-वार्तिकों

की भी सोदाहरण सरल व्याख्या प्रस्तुत की गई है । इस प्रकार कुल मिलाकर कारकप्रकरण ५६ पृष्ठों में समाप्त हुआ है । अनेक प्रकार के उपयोगी परिशिष्टों सहित यह भाग लगभग चार सौ पृष्ठों में समाश्रित हुआ है ।

४. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (चतुर्थ भाग) 300/-

भैमीव्याख्या के इस चतुर्थ भाग में **समासप्रकरण** का अत्यन्त विस्तार के साथ लगभग तीन सौ पृष्ठों में विवेचन प्रस्तुत किया गया है । ग्रन्थगत प्रत्येक प्रयोग के लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार के विग्रह निर्दिष्ट कर उस की सूत्रों द्वारा अविकल साधनप्रक्रिया दर्शाई गई है । मूलोक्त उदाहरणों के अतिरिक्त सैंकड़ों अन्य नवीन उदाहरणों को विशाल संस्कृतसाहित्य से चुन-चुन कर इस व्याख्या में गुम्फित किया गया है । इस प्रकार इस व्याख्या में बारह सौ से अधिक समासोदाहरण संगृहीत किये गये हैं । साहित्यिक उदाहरणों के स्थलनिर्देश भी यथासम्भव दे दिये गये हैं । प्रबुद्ध विद्यार्थियों के मन में स्थान स्थान पर उठने वाली दो सौ से अधिक शङ्काओं का भी इस में यथास्थान समाधान किया गया है । जगह जगह उपयोगी पादटिप्पण (फुटनोट्स) दिये गये हैं । मूलगत सूत्रवार्त्तिक आदियों के अतिरिक्त छात्रोपयोगी कई अन्य सूत्रवार्त्तिक आदियों का भी इसमें सोदाहरण व्याख्यान किया गया है। लघुकौमदी के अशुद्ध या भ्रष्ट पाठों पर भी अनेक टिप्पण दिये गये हैं । व्याख्याकार की सूक्ष्मेक्षिका, स्वाध्याय-निपुणता तथा कठिन से कठिन विषय को भी नपे-तुले शब्दों में समझा देने की अपूर्व क्षमता इस व्याख्या में पदे पदे परिलक्षित होती है । समासप्रकरण पर इतनी विस्तृत व्याख्या आज तक लिखी ही नहीं गई । इस से विद्यार्थीवर्ग और अध्यापकवृन्द दोनों जहां लाभान्वित होंगे वहां अनुसन्धानप्रेमियों को भी प्रचुर अनुसन्धानसामग्री प्राप्त होगी। विद्वान् लेखक ने सततोत्थायी होकर दो वर्षों के कठोर परिश्रम से सैंकड़ों ग्रन्थों का मन्थन कर इस भाग को तैयार किया है । अन्त में विविध परिशिष्टों से इस ग्रन्थ को विभूषित किया गया है । व्याख्यागत बारह सौ उदाहरणों की समासनाम-निर्देशसहित बनी वर्णानुक्रमणी इस ग्रन्थ की प्रमुख विशेषताओं में एक समझी जायेगी । इसके सहारे सम्पूर्ण समासप्रकरण की आवृत्ति करने में विद्यार्थियों को महती सुविधा रहेगी । ग्रन्थ में यथास्थान अनेक अभ्यास दिये गये हैं । समीक्षकों का यह कहना है कि यदि इन अभ्यासों को सुचारु रूप में हल कर लिया जाये तो विद्यार्थियों को सिद्धान्तकौमुदी या काशिका में समासप्रकरण को समझने का स्वतः सामर्थ्य प्राप्त हो सकता है । (२३×३६)/१६ साइज के लगभग तीन सौ पृष्ठों में यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है । साफ सुथरी शुद्ध छपाई, पक्की सिलाई तथा सुन्दर स्क्रीन प्रिंटिड सुनहरी जिल्द से यह ग्रन्थ और भी अधिक आकर्षक बन गया है ।

५. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (पञ्चम भाग) 300/-

इस भाग में लघुसिद्धान्तकौमुदी के **तद्धितप्रकरण** की अतीव सरल ढंग से सविस्तार व्याख्या प्रस्तुत की गई है । प्रत्येक सूत्र की व्याख्या के बाद हर एक उदाहरण का विग्रह, अर्थ तथा विशद सिद्धि इस में दर्शाई गई है । मूलगत उदाहरणों के अतिरिक्त साहित्यगत विविध उदाहरणों से भी यह ग्रन्थ विभूषित है । पठन पाठन में उठने वाली प्रत्येक शङ्का का इस में समाधान किया गया है । मूलोक्त सूत्रों के अतिरिक्त भी छात्रोपयोगी अनेक सूत्रों की इस में व्याख्या दर्शाई गई है। यत्र-तत्र यत्न से अभ्यास निबद्ध किये गये हैं जिन की सहायता से सारा प्रकरण दोहराया जा सकता है । अन्त में अनेक परिशिष्टों के अतिरिक्त उदाहरणसूची वाला परिशिष्ट इस ग्रन्थ का विशेष आकर्षण है ।

६. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (षष्ठ भाग) 150/-

इस भाग में लघुकौमुदी के **स्त्रीप्रत्ययप्रकरण** की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गई है । प्रत्येक सूत्र की विशद व्याख्या के अनन्तर तद्गत प्रत्येक प्रयोग की विस्तृत सिद्धि तथा अनेकविध उदाहरण-प्रत्युदाहरणों एवं शङ्का-समाधानों से यह भाग विभूषित है । मूलोक्त सूत्रों के अतिरिक्त छात्रोपयोगी अन्य भी अनेक सूत्र और वार्त्तिक इस में सोदाहरण व्याख्यात किये गये हैं । जगह जगह साहित्यिक उदाहरण ढूंढ ढूंढ कर संकलित किये गये हैं । 'स्वाङ्गम्' और 'जाति' सरीखे पारिभाषिक शब्दों तथा अन्य कठिन स्थलों की सरलभाषा में विस्तार के साथ विवेचना की गई है । दूसरे शब्दों में ग्रन्थ का कोई भी व्याख्येयांश बिना व्याख्या के अछूता नहीं छोड़ा गया । पठितविषय की आवृत्ति के लिए यत्र-तत्र अनेक अभ्यास दिये गये हैं । नानाविध सूचीपरिशिष्टों विशेषतः प्रत्ययनिर्देशसहित दी गई उदाहरणसूची से इस ग्रन्थ का महत्त्व बहुत बढ़ गया है । अन्त में स्त्रीप्रत्ययसम्बन्धी एक सौ से अधिक पद्यबद्ध अशुद्धियों का सहेतुक शोधन दर्शा कर लक्ष्यों के प्रति विद्यार्थियों की जागरूकता को प्रबुद्ध करने का विशेष प्रयत्न किया गया है। अनुसन्धानप्रेमी जनों के लिए भी दर्जनों महत्त्वपूर्ण टिप्पण जहां तहां दिये गये हैं। कई स्थानों पर पाणिनीयेतरव्याकरणों का आश्रय लेकर भी विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है । वस्तुतः इतनी विशद सर्वाङ्गीण व्याख्या स्त्रीप्रत्ययप्रकरण पर पहली बार प्रकाशित हुई है । (२३×३६)/१६ साइज के डेढ़ सौ से अधिक पृष्ठों में यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है । सुन्दर शुद्ध छपाई, बढ़िया स्क्रीन प्रिंटिड जिल्द तथा पक्की सिलाई से यह ग्रन्थ और भी चमत्कृत हो उठा है ।

७. अव्ययप्रकरणम्

लघुकौमुदी का **अव्ययप्रकरण भैमीव्याख्यासहित** पृथक् भी छपवाया गया है । इस में लगभग सवा पाच सौ अव्ययों का सोदाहरण साङ्गोपाङ्ग विवेचन

प्रस्तुत किया गया है । प्रत्येक अव्यय पर वैदिक वा लौकिक संस्कृतसाहित्य से अनेक सुन्दर सुभाषितों वा सूक्तियों का संकलन किया गया है । कठिन सूक्तियों का अर्थ भी साथ में दे दिया गया है । आज तक इतना शोधपूर्ण परिश्रम इस प्रकरण पर पहली बार देखने में आया है । साहित्यप्रेमी विद्यार्थियों तथा शोध में लगे जिज्ञासुओं के लिए यह ग्रन्थ विशेष उपादेय है । ग्रन्थ के अन्त में सब अव्ययों की **अकारादिक्रम से अनुक्रमणी** भी दे दी गई है, ताकि अव्ययों को ढूंढने में असुविधा न हो। इस ग्रन्थ में अव्ययों के अर्थज्ञान के साथ साथ सुभाषितों वा सूक्तियों का व्यवहारोपयोगी एक बृहत्संग्रह भी अनायास उपलब्ध हो जाता है।

८. वैयाकरण-भूषणसार भैमीभाष्योपेत (धात्वर्थनिर्णयान्त) 200/-

वैयाकरण-भूषणसार वैयाकरणनिकाय में लब्धप्रतिष्ठ ग्रन्थ है । व्याकरण के दार्शनिक सिद्धान्तों के ज्ञान के लिए इस का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है । अत एव एम्०ए०, आचार्य, शास्त्री आदि व्याकरण की उच्च परीक्षाओं में यह पाठ्यग्रन्थ के रूप में स्वीकृत किया गया है । परन्तु इस ग्रन्थ पर हिन्दी भाषा में कोई भी सरल व्याख्या आज तक नहीं निकली—हिन्दी तो क्या अन्य भी किसी प्रान्तीय वा विदेशी भाषा में इस का अनुवाद तक उपलब्ध नहीं । विश्वविद्यालयों के छात्र तथा उच्च कक्षाओं में व्याकरण विषय को लेने वाले विद्यार्थी प्राय: सब इस ग्रन्थ से त्रस्त थे । परन्तु अब इस के विस्तृत आलोचनात्मक सरल हिन्दी भाष्य के प्रकाशित हो जाने से उन का भय जाता रहा । छात्रों वा अध्यापकों के लिए यह ग्रन्थ समानरूपेण उपयोगी है । इस ग्रन्थ के गूढ़ आशयों को जगह-जगह वक्तव्यों वा फुटनोटों में भाष्यकार ने भली भांति व्यक्त किया है । भैमीभाष्यकार व्याकरणक्षेत्र में लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् हैं, तथा वर्षों से व्याकरण के पठनपाठन का अनुभव रखते हैं । अत: छात्रों वा अध्यापकों के मध्य आने वाली प्रत्येक छोटी-से-छोटी समस्या को भी उन्होंने खोलकर रखने में कोई कसर नहीं छोड़ी। जगह जगह वैयाकरणों और मीमांसकों के सिद्धान्त को खोलकर तुलनात्मकरीत्या प्रतिपादित किया गया है । इस भाष्य की महत्ता इसी से व्यक्त है कि अकेली दूसरी कारिका पर ही विद्वान् भाष्यकार ने लगभग साठ पृष्ठों में अपना भाष्य समाप्त किया है । विषय को समझाने के लिए अनेक चार्ट दिये गये हैं । जैसे--वैयाकरणों और नैयायिकों का बोधविषयक चार्ट, धातु की साध्यावस्था और सिद्धावस्था का चार्ट, प्रसज्य और पर्युदास प्रतिषेध का चार्ट आदि। पूर्वपीठिका में भाष्यकार ने व्याकरण के दर्शनशास्त्र का विस्तृत क्रमबद्ध इतिहास देकर मानो सुवर्ण में सुगन्ध का काम किया है । ग्रन्थ के अन्त में अनुसन्धानप्रेमी छात्रों के लिए सात परिशिष्ट तथा आदि में विस्तृत विषयानुक्रमणिका दी गई है जो अनुसन्धान-क्षेत्र में अत्यन्त काम की वस्तु है । वस्तुत: व्याकरण में एक अभाव की पूर्ति भाष्यकार ने की है । इस भाष्य की प्रशंसा देश-विदेश के विद्वानों ने की है । ग्रन्थ का मुद्रण बढ़िया मैप्लीथो कागज पर अत्यन्त शुद्ध वा सुन्दर ढंग से छ: प्रकार के टाइपों में किया गया है । सुन्दर बढ़िया सम्पूर्ण कपड़े की जिल्द तथा पक्की अंग्रेजी सिलाई ने ग्रन्थ को और अधिक चमत्कृत कर दिया है ।

९. न्यास-पर्यालोचन 300/-

यह ग्रन्थ काशिका की प्राचीन सर्वप्रथम व्याख्या काशिका-विवरणपञ्चिका अपरनाम न्यास पर लिखा गया बृहत् शोधप्रबन्ध है जिसे दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच्०डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत किया गया है । यह शोधप्रबन्ध शास्त्री जी द्वारा कई वर्षों के निरन्तर अध्ययन स्वरूप बड़े परिश्रम से लिखा गया है । इस में कई प्रचलित धारणाओं का खुल कर विरोध किया गया है । जैसे न्यासकार को अब तक बौद्ध समझा जाता है परन्तु इस में उसे पूर्णतया वैदिक धर्मी सिद्ध किया गया है । यह शोधप्रबन्ध छः अध्यायों में विभक्त है । प्रथम अध्याय में न्यास और न्यासकार का सामान्य परिचय देते हुए न्यासकार का काल, निवासस्थान, न्यास का वैशिष्ट्य, न्यास की प्रसन्नपदा प्रवाहपूर्णा शैली तथा न्यास और पदमञ्जरी का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । द्वितीय अध्याय में **'न्यास के ऋणी उत्तरवर्ती वैयाकरण'** नामक अत्यन्त शोधपूर्ण नवीन विषय प्रस्तुत किया गया है । इस में केवल पाणिनीय व्याकरणों को ही नहीं लिया गया अपितु पाणिनीयेतर **चान्द्र, जैनेन्द्र, कातन्त्र, शाकटायन, भोजकृत सरस्वतीकण्ठाभरण, हैमशब्दानुशासन, मलयगिरिशब्दानुशासन, संक्षिप्तसार, मुग्धबोध तथा सारस्वत** इन दस प्रमुख व्याकरणों को भी सम्मिलित किया गया है। तृतीयाध्याय में **'उत्तरवर्ती वैयाकरणों द्वारा न्यास का खण्डन'** नामक अपूर्व विषय प्रतिपादित है । इस में उत्तरवर्ती वैयाकरणों द्वारा की गई न्यासकार की आलोचनाओं पर कारणनिर्देशपूर्वक युक्तायुक्तरीत्या खुल कर विचार उपस्थित किये गये हैं । चतुर्थ अध्याय में **'न्यास की सहायता से काशिका का पाठसंशोधन'** नामक महत्त्वपूर्ण विषय का वर्णन है । इस में काशिका ग्रन्थ की अद्यत्वे मान्य सम्पादकों (?) द्वारा हो रही दुर्दशा का विशद प्रतिपादन करते हुए उसके अनेक अशुद्ध पाठों का न्यास के आलोक में सहेतुक शुद्धीकरण प्रस्तुत किया गया है । पञ्चम अध्याय में **न्यासकार की भ्रान्तियों** तथा न्यास के **एक सौ भ्रष्टपाठों** का विस्तृत लेखा-जोखा उपस्थित किया गया है । छठा अध्याय अनेक नवीन बातों से उपबृंहित उपसंहारात्मक है । व्याकरण का यह ग्रन्थ पाणिनीय एवं पाणिनीयेतर व्याकरण के क्षेत्र में अपने ढंग का सर्वप्रथम किया गया अनूठा ज्ञानवर्धक प्रयास है । सुन्दर मैप्लीथो कागज, पक्की अंग्रेजी सिलाई और स्क्रीन प्रिंटिड आकर्षक जिल्द से ग्रन्थ सुशोभित है ।

१०. बालमनोरमा-भ्रान्ति-दिग्दर्शन 25/- रु०

भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्तकौमुदी पर श्रीवासुदेवदीक्षित की बनाई हुई बालमनोरमा टीका सुप्रसिद्ध छात्रोपयोगी ग्रन्थ है । पिछली अर्धशताब्दी में इस के कई संस्करण मद्रास, लाहौर, बनारस और दिल्ली आदि महानगरों में अनेक दिग्गज विद्वानों के तत्त्वावधान में प्रकाशित हो चुके हैं । परन्तु शोक से कहना पड़ता है

कि इन स्वनामधन्य विद्वान् सम्पादकों ने इस ग्रन्थ के साथ जरा भी न्याय नहीं किया, इसे पढ़ने तक का भी कष्ट नहीं किया। यही कारण है कि इस में अनेक हास्यास्पद और घिनौनी अशुद्धियां दृष्टिगोचर होती हैं। इस से पठन-पाठन में बहुत विघ्न उपस्थित होता है। इस शोधपूर्ण लघु निबन्ध में बालमनोरमाकार की कुछ सुप्रसिद्ध भ्रान्तियों की सयुक्तिक समीक्षा प्रस्तुत की गई है। आप इस शोध पत्र को पढ़ कर मनोरञ्जन के साथ-साथ प्रक्रियामार्ग में अन्धानुकरण न करने तथा सदैव सजग रहने की भी प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं। इस में स्थान-स्थान पर विद्वानों की प्रमादपूर्ण सम्पादन कला पर भी अनेक चुभती चुटकियाँ ली गई हैं। यह निबन्ध प्रकाशकों, सम्पादकों, अध्यापकों एवं विद्यार्थियों सब की आंखों को खोलने वाला एक समान उपयोगी है। हिन्दी में इस प्रकार का प्रयत्न पहली बार किया गया है।

११. प्रत्याहारसूत्रों का निर्माता कौन ? 25/-

शोधपूर्ण इस निबन्ध में 'अइउण्' आदि प्रत्याहारसूत्रों के निर्माता के विषय में खूब ऊहापोहपूर्वक विस्तृत विचार व्यक्त किये गये हैं। ये सूत्र पाणिनि की स्वोपज्ञ रचना हैं या किसी अन्य मनीषी की ? इस विषय पर **महाभाष्य, काशिकावृत्ति, भर्तृहरिकृत महाभाष्यदीपिका, कैयटकृत प्रदीप** आदि प्रामाणिक ग्रन्थों के दर्जनों प्रमाणों के आलोक में पहली बार नवीनतम विचार प्रस्तुत किये गये हैं। इन के **शिवसूत्र या माहेश्वरसूत्र** कहलाने का भी क्रमिक इतिहास पूर्णतया दे दिया गया है। ग्रन्थ के परिशिष्ट भाग में **कातन्त्र, चान्द्र, जैनेन्द्र, शाकटायन, सरस्वतीकण्ठाभरण, हेमचन्द्रशब्दानुशासन, मलयगिरिशब्दानुशासन, सारस्वत, मुग्धबोध, संक्षिप्तसार तथा हरिनामामृत**—इन ग्यारह पाणिनीयेतर व्याकरणों के प्रत्याहारसूत्रों को उद्धृत कर उन का पाणिनीयप्रत्याहारसूत्रों के परिप्रेक्ष्य में संक्षिप्त तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस से प्रत्याहारसूत्रों के विषय में गत अढ़ाई हजार वर्षों के मध्य भारतीय व्याकरणविदों के विचार में आये क्रमिक परिवर्तनों पर प्रकाश पड़ता है। **इस के अन्त में बहुचर्चित नन्दिकेश्वरकाशिका ग्रन्थ भी अविकल दे दिया गया है,** जिस से पाठकों को इस विषय का पूरा-पूरा विवरण मिल सके।

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी

भैमीव्याख्या

(पञ्चम भाग)

भीमसेन शास्त्री

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी

भैमीव्याख्या

[पञ्चम भाग]

(तद्धित-प्रकरणम्)

भीमसेन शास्त्री

एम्० ए०, पी-एच्० डी०, साहित्यरत्न

भैमी प्रकाशन

५३७, लाजपतराय मार्केट, दिल्ली–११०००६

प्रकाशक—
भैमी प्रकाशन
५३७, लाजपतराय मार्केट,
दिल्ली-११०००६

※

LAGHU-SIDDHANTA-KAUMUDI—BHAIMI-VYAKHYA

Part V, First Edition 1991
पञ्चम भाग, प्रथम संस्करण १९९१

BHAIMI PRAKASHAN
537, Lajpat Rai Market, Delhi-110006

Price : Rs. Three Hundred Only
मूल्य : तीन सौ रुपये केवल

अजय प्रिंटिंग एजेंसी, 3860, गली नं० 13, शान्ति मोहल्ला, गांधीनगर, दिल्ली द्वारा कम्पोज करवा कर आजाद प्रिंटर्स, दिल्ली-31 में मुद्रित

व्याकरण-प्रशस्तिः

अङ्गीकृतं कोटिमितं च शास्त्रं
नाङ्गीकृतं व्याकरणं च येन ।
न शोभते तस्य मुखारविन्दं
सिन्दूरबिन्दुर्विधवा-ललाटे ॥१॥

यो वेद वेदवदनं सदनं हि सम्यग्
ब्राह्म्याः स वेदमपि वेद किमन्यशास्त्रम् ।
यस्मादतः प्रथममेतदधीत्य धीमान्
शास्त्रान्तरस्य भवति श्रवणेऽधिकारी ॥२॥

व्याकरणात् पदसिद्धिः पदसिद्धेरर्थनिश्चयो भवति ।
अर्थात् तत्त्वज्ञानं तत्त्वज्ञानात् परं श्रेयः ॥३॥

अव्याकरणमधीतं भिन्नद्रोण्या तरङ्गिणीतरणम् ।
भेषजमपथ्यसहितं त्रयमिदमकृतं वरं, न कृतम् ॥४॥

लघु-सिद्धान्त-कौमुद्याः

(तद्धितप्रकरणस्य विषयानुक्रमणिका)

※ शुभं भूयात् ※

आत्म-निवेदनम्

लघुसिद्धान्तकौमुदी की भैमीव्याख्या का यह तद्धितप्रकरणात्मक पाञ्चवां खण्ड संस्कृतव्याकरणानुरागी जनता एवं प्रतीक्षारत छात्रों के हाथों समर्पित करते मुझे आज अपार हर्ष हो रहा है। इसलिये भी, कि इस खण्ड के साथ इस व्याख्या की समाप्ति भी हो रही है। इस व्याख्या के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तथा षष्ठ खण्ड पहले ही प्रकाशित हो चुके थे, केवल तद्धितप्रकरणात्मक पाञ्चवां खण्ड ही शेष रहता था जो अब प्रकाशित हो रहा है। इस तरह गत पचास वर्षों से आरभ्यमाण यह लघुकौमुदीसम्बन्धी व्याख्यायज्ञ आज समापनोन्मुख हो रहा है। अपने यौवनकाल से आरब्ध यह यज्ञ अब ढलती उमर में आकर समाप्त हुआ है। लघुसिद्धान्तकौमुदी पर लगभग २७०० पृष्ठों की यह अतीव विस्तृत विपुल व्याख्या पहली बार केवल हिन्दी भाषा के माध्यम से ही प्रकाश में आई है। भारत भर के संस्कृतप्रेमी अध्यापकों, अनुसन्धान-प्रेमियों, विद्यार्थियों तथा व्याकरणजिज्ञासु साधुसन्तों ने जैसे इस व्याख्या का सम्मान वा आदर प्रकट कर मुझे उत्तरोत्तर उत्साहित किया है, मैं उन सब का हृदय से आभारी हूं। मैं उन के इस स्नेहातिरेक को कभी भुला नहीं सकता। अस्तु।

भैमीव्याख्या का यह पाञ्चवां खण्ड लघुकौमुदीस्थ तद्धितप्रकरण पर हिन्दी में लिखा विस्तृत भाष्य है। पाणिनीय तद्धितप्रकरण भारतीय स्वर्णिम इतिहास का एक सुनहरा वर्क है। कारणकि इस में सैंकड़ों प्राचीन व्यक्तियों, राजाओं, कुलों, जनपदों नगरों, ग्रामों, नदियों, पर्वतों आदि का स्थान स्थान पर उल्लेख मिलता है। इस के अतिरिक्त इस में नानाविध भारतीय व्यवसायों, सामाजिक रीतिरिवाजों, ललित-कलाओं, शिल्पों तथा विविध प्रकार के भक्ष्य पदार्थों का भी पर्याप्त वर्णन पाया जाता है। भारत के प्राक्कालिक या वैदिकोत्तर इतिहास को जानने के लिये यह प्रकरण जितना उपयोगी सिद्ध होता है वैसे दूसरा कोई नहीं। इसी का आश्रय ले कर श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल ने **पाणिनिकालीन भारतवर्ष** नामक अपना अपूर्व शोधप्रबन्ध प्रस्तुत किया है। एवं पाश्चात्त्य लेखकों का भी यह प्रकरण सदा से उपजीव्य रहा है। इसी प्रकरण से सम्बद्ध गणों में आज भी ऐसे सैंकड़ों व्यक्तियों वा स्थानों का उल्लेख पाया जाता है जिन का वर्णन अन्यत्र इतिहास के किसी ग्रन्थ में नहीं पाया जाता।

इस प्रकरण के अध्ययन और मनन से दूसरा सब से बड़ा लाभ यह होता है कि पाणिनि की शास्त्रनिर्माणविधि (Technique) को इस से भलीभान्ति समझा जा सकता है। उदाहरणतः एक ही प्रत्यय को विविध अनुबन्धों से सजा कर पाणिनि ने शास्त्रनिर्माणविधि में अपना अभूतपूर्व कौशल प्रदर्शित किया है। निदर्शनार्थ एक ही

तद्धितप्रत्यय 'य' को लीजिये। पाणिनि ने अपने शास्त्र की प्रवृत्ति के लिये इसे अठारह प्रकार से प्रयुक्त किया है। तथाहि—

(१) य। **सख्युर्यः** (११६१)। सख्यम्।
(२) यक्। **पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्** (११६३)। सैनापत्यम्।
(३) यत्। **दण्डादिभ्यो यत्** (११४९)। दण्ड्यः।
(४) यञ्। **गर्गादिभ्यो यञ्** (१००८)। गार्ग्यः।
(५) यन्। **ब्राह्मणमाणववाडवाद् यन्** (४.२.४१)। ब्राह्मण्यम्।
(६) यस्। **कंशंभ्यां ब-भ-युस्-ति-तु-त-यसः** (५.२.१३८)। कंयः। शंयः।
(७) यप्। **द्विगोर्यप्** (५.१.८१)। द्विमास्यः।
(८) यल्। **वेशोयशआदेर्भगाद् यल्** (४.४.१३१)। वेशोभग्यः।
(९) ञ्य। **अतिथेर्ञ्यः** (५.४.२६)। अतिथये इदम् आतिथ्यम्।
(१०) ञ्यङ्। **वृद्धेत्कोसलाजादाद् ञ्यङ्** (४.१.१६९)। आवन्त्यः।
(११) ञ्यट्। **आयुधजीविसङ्घाञ्ञ्यट्** ० (५.३.११४)। क्षौद्रक्यः।
(१२) टयण्। **सोमाट् टयण्** (१०४३)। सौम्यं हविः।
(१३) ड्य। **वामदेवाड् ड्यड्ड्यौ** (१०३७)। वामदेव्यं साम।
(१४) ड्यत्। **वामदेवाड् ड्यड्ड्यौ** (१०३७)। वामदेव्यं साम।
(१५) ड्यण्। **पाथोनदीभ्यां ड्यण्** (४.४.१११)। पाथ्यः। नाद्यः।
(१६) ण्य। **कुर्वादिभ्यो ण्यः** (१०२९)। कौरव्यः। नैषध्यः।
(१७) ण्यत्। **षण्मासाण्ण्यच्च** (५.१.८२)। षाण्मास्यः।
(१८) ष्यञ्। **वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् च** (११५९)। शौक्ल्यम्।

जहां जहां आचार्य को केवल 'य' का विधान अभीष्ट होता है वहां वे अनुबन्धरहित शुद्ध 'य' का प्रयोग करते हैं। यथा—**सख्युर्यः** (११६१)—सख्यम्। **सभाया यः** (११३६)—सभ्यः। जहां उन्हें 'य' के परे रहते आदिवृद्धि करनी अभीष्ट होती है वहां यकार के साथ ककार, णकार या ञकार अनुबन्धों को भी जोड़ लेते हैं जिस से **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) या **किति च** (१००१) द्वारा आदिवृद्धि हो जाये। यथा—**पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्** (११६३)—सैनापत्यम्। **गर्गादिभ्यो यञ्** (१००८)—गार्ग्यः। **कुर्वादिभ्यो ण्यः** (१०२९)—कौरव्यः, नैषध्यः। जहां 'य' के परे रहते टि का लोप अभीष्ट होता है वहां 'य' के साथ डकार अनुबन्ध को जोड़ देते हैं जिस से **टेः** (२४२) सूत्रद्वारा टि का लोप हो सके। यथा—**पाथोनदीभ्यां ड्यण्** (४.४.१११)—पाथसि भवः—पाथ्यः। जहां स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् प्रत्यय लाना अभीष्ट होता है, वहां 'य' प्रत्यय के साथ षकार अनुबन्ध एवं जहां ङीप् अभीष्ट होता है वहां टकार अनुबन्ध जोड़ देते हैं। यथा—**गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च** (ष्यञ्) (११६०)—मधुरस्य भावो माधुरी, चतुरस्य भावश्चातुरी, उचितस्य भाव औचिती। **सोमाट् टयण्** (१०४३)—सोमो देवताऽस्याः—सौमी ऋक्।

इसी प्रकार पाणिनि ने तद्धित 'अ' प्रत्यय को सात प्रकार से (अ, अच्, अण्, अञ्, अत्, ञ, डट्) स्वप्रयोजन की सिद्धि के लिये प्रयुक्त किया है।

पाणिनि ने प्रत्ययों के साथ अनुबन्ध जोड़ते समय लोकप्रचलित उदात्तादिस्वरों का भी विशेष ध्यान रखा है। जहां जो जो स्वरविशेष अभीष्ट होता है वहां तदनुसार प्रत्यय के साथ लकार, तकार, ञकार, नकार, चकार आदि अनुबन्ध जोड़ देते हैं। यथा—**सप्तम्यास्त्रल्** (१२०४) द्वारा विहित त्रल् के लित् होने से **लिति** (६.१.१८७) द्वारा लित् से पूर्व उदात्त हो जाता है। इसी प्रकार **तित्स्वरितम्** (६.१.१७६) से तित् प्रत्यय को स्वरित हो जाता है। **ञ्नित्यादिर्नित्यम्** (६.१.१९१) द्वारा ञित् या नित् प्रत्यय के परे रहते आदि को उदात्त हो जाता है। चित् या कित् तद्धितान्त को **चितः** (६.१.१५७) और **कितः** (६.१.१५६) सूत्रों के द्वारा अन्तोदात्तस्वर हो जाता है। **अनुदात्तौ सुँप्पितौ** (३.१.४) से पित् प्रत्यय को अनुदात्त माना गया है। इन के अतिरिक्त अन्य प्रत्यय **आद्युदात्तश्च** (३.१.३) के द्वारा आद्युदात्त होते हैं। ध्यान रहे कि पाणिनि के समय लोक में संस्कृतभाषा बोलचाल की भाषा थी और इस में उदात्तादि स्वरों (Accent) का विशेष ध्यान रखा जाता था। अत एव पाणिनि ने अपने व्याकरण में इस का पूरा पूरा ध्यान रखा है। यह सब उन्होंने प्रत्ययों के साथ प्रायः विशिष्ट अनुबन्ध लगा कर ही सिद्ध किया है। पाणिनि की इसी दृष्टि को लक्ष्य में रख कर इस व्याख्या में प्रत्येक प्रत्यय के साथ जुड़े अनुबन्धों का प्रयोजन सर्वत्र स्पष्ट दर्शाया गया है जिस से विद्यार्थियों को पाणिनि की सूक्ष्म शास्त्रप्रणयनशैली का पदे पदे स्पष्टीकरण होता रहे। इस विषय में संस्कृत-व्याकरण-जगत् में हिन्दी भाषा के माध्यम से किया गया यह पहला यत्न समझना चाहिये।

इस खण्ड में भी पूर्व खण्डों की भान्ति व्याख्या-शैली अपनाई गई है। सर्वप्रथम सूत्रों का पदच्छेद, विभक्ति, वचन, अनुवृत्ति तथा परिभाषादिजन्य विशेषताओं के द्वारा बना समग्र सूत्रार्थ दर्शा कर बाद में उदाहरणरूपेण प्रस्तुत प्रत्येक रूप की विस्तृत सिद्धि दी गई है। प्रकृतसूत्र का उस रूप की सिद्धि में क्या कार्यविशेष रहता है इसे विशेषरीत्या समझा समझा कर सर्वत्र स्पष्ट किया गया है। सिद्धि के साथ साथ प्रत्येक तद्धितान्त का विग्रह दे कर उस का हिन्दीभाषा में अर्थ भी सर्वत्र दे दिया गया है। शङ्कासमाधान का भी वही ढंग रखा गया है। जहां तक लघुकौमुदीकार के आन्तरिक रहस्यों का प्रश्न है उसे समझाने के लिये कुरेद कुरेद कर शङ्काओं का समाधान किया गया है। यह व्याख्या केवल लघुकौमुदी के मूलोक्त उदाहरणों तक ही सीमित नहीं है बल्कि अन्यान्य अनेकों उदाहरण भी विशाल संस्कृतसाहित्य से चुन चुन कर यहां प्रदर्शित किये गये हैं। मूलोक्त लगभग पाञ्च सौ उदाहरणों के अतिरिक्त दो हज़ार अन्य उदाहरण भी विद्यार्थियों को विषय के आत्मसात् कराने के लिये विग्रहप्रदर्शन-पूर्वक यहां संकलित किये गये हैं ताकि वे कूपमण्डूक न रह कर विषय के विशेष ज्ञाता बन सकें। इसी तरह मूलोक्त सूत्रों के अतिरिक्त तद्धितप्रकरण के लगभग पचास अन्य सरल सूत्र भी यहां छात्रों की ज्ञान-वृद्धि के लिये सोदाहरण व्याख्यात किये गये हैं।

तद्धितान्त उदाहरणों के साहित्यगत प्रयोगों को भी यत्र तत्र निर्दिष्ट किया गया है। जगह जगह लोकप्रसिद्ध सुभाषितों और सूक्तियों से भी इसे मण्डित करने का पूरा पूरा प्रयास किया गया है। ग्रन्थ के अन्त में छः परिशिष्ट बड़े यत्न से संगृहीत किये गये हैं। इन में चौथा परिशिष्ट मूलोक्त उदाहरणों की अनुक्रमणिका है जो शोध-छात्रों के बड़े काम की वस्तु है। इसी तरह तद्धितप्रकरणस्थ प्रत्ययों की सूची भी अनेक दृष्टियों से बहुत उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

मुझ से जो बन पड़ा सतत तीन वर्ष लगा कर इस भाग को पूरा किया। इस में सब से बड़ा सहयोग मेरे विशाल पुस्तकालय का है जो आज भी राजधानी में संस्कृतपुस्तकों का व्यक्तिगत एक बड़ा संग्रह है।

इस बार प्रूफ़ पढ़ने का कार्य प्रायः स्वयं मैं ने ही किया है। लाख यत्न करने पर भी मानवसुलभस्वभाव के कारण दोषराहित्य तो दुर्लभ है ही परन्तु फिर भी यह ग्रन्थ पर्याप्त शुद्ध छपा है। इस में अशुद्धियां क्वचित् ही रही होंगी जो अनिवार्य हैं। किसी ने युक्त ही कहा है—

अत्यूर्जितं वस्तु चलं च चित्तमतः प्रमादः सुलभः प्रणेतुः।
प्रमादिनौ लेखकमुद्रकौ च क्वात्यन्तिकी पुस्तकते विशुद्धिः॥

शास्त्रिसदनम्
९/६४४२, मुखर्जी गली
गांधीनगर, दिल्ली-११००३१
[२५.७.१९९१ (ई०)]

सुरभारती का तुच्छ समुपासक
भीमसेन शास्त्री



भैमीव्याख्याकार डा० भीमसेन शास्त्री

ॐ

श्रीवरदराजाचार्यप्रणीता

※ लघु-सिद्धान्त-कौमुदी ※

श्रीभीमसेनशास्त्रिनिर्मितया भैमीव्याख्ययोद्भासिता

[पञ्चमो भागः]

—:०:—

वरेण्यं सच्चिदानन्दं साक्षिणं सर्वकर्मणाम् ।
आकाराद्यनवच्छिन्नं वन्दे वन्द्यं जगद्गुरुम् ॥१॥
प्रेरको जगतोऽध्यक्षो धियो यो नः प्रचोदयेत् ।
येन शास्त्ररहस्यं नश्चकास्तु हृदये सदा ॥२॥
लघु-सिद्धान्त-कौमुद्या भैमीव्याख्याविभूषितः ।
प्रकृतः पञ्चमो भागो दीपवत्तिमिरं हरेत् ॥३॥
सुबन्तानि तिङन्तानि कृदन्त-कारकाणि च ।
सुव्याख्याय समासांश्च तद्धितान् विवृणेऽधुना ॥४॥
मामकीनं श्रमं वीक्ष्य पठकाः पाठका अपि ।
सर्वे मुदमवाप्स्यन्ति संछिन्नोत्थितसंशयाः ॥५॥

—:०:—

अथ तद्धित-प्रकरणम्

सुँबन्त, तिङन्त, कृदन्त, कारक और समास इन सब उपजीव्य प्रकरणों के अनन्तर अब यहां से तद्धितप्रकरण प्रारम्भ किया जा रहा है। जैसे धातुओं से विविध प्रत्यय लाने से अनेक प्रातिपदिकों की निष्पत्ति होती है वैसे प्रातिपदिकों से भी विविध तद्धित प्रत्यय करने पर तद्धितान्त शब्दों की निष्पत्ति होती है। संस्कृतसाहित्य का

अधिकांश भाग तद्धितान्त प्रयोगों से भरा पड़ा है। लोक से लौकिक, वेद से वैदिक, धर्म से धार्मिक, पाणिनि से पाणिनीय, व्याकरण से वैयाकरण, मीमांसा से मीमांसक, ग्राम से ग्रामीण, दशरथ से दाशरथि, मेधा से मेधाविन्, गर्ग से गार्ग्य, जन से जनता, अध्यात्म से आध्यात्मिक, भूत से भौतिक, दक्षिणा से दाक्षिणात्य, तुला से तुल्य, उपगु से औपगव, दिति से दैत्य, अदिति से आदित्य, मृदु से मृदुता मृदुत्व और म्रदिमन्, चक्षुष् से चाक्षुष, राष्ट्र से राष्ट्रिय, युष्मद् से युष्मदीय, अस्मद् से अस्मदीय, समाज से सामाजिक, धनुष् से धानुष्क, शरण से शरण्य, सभा से सभ्य, कण्ठ से कण्ठ्य, दन्त से दन्त्य, मूर्धन् से मूर्धन्य, अहन् से आह्निक, स्त्री से स्त्रैण, पुरोहित से पौरोहित्य इत्यादि तद्धितान्तों के कुछ उदाहरण हैं।[1] इस प्रकरण में पढ़े गये प्रत्ययों की **तद्धिताः** (९१६) सूत्र से तद्धित-सञ्ज्ञा होती है।[2] ऐतिहासिक दृष्टि से यह प्रकरण अत्यन्त महत्त्व का है। इस में अनेक प्राचीन स्थानों, जनपदों, नगरों आदि के उल्लेख के साथ-साथ अनेक ऐतिहासिक व्यक्तियों के कुल, कृति, व्यवसाय, सामाजिक रीति-रिवाज एवं भक्ष्याभक्ष्य आदि पर—बहुमुखी प्रकाश पड़ता है जो प्राचीन भारतीय इतिहास का सुनहरा पन्ना सिद्ध होता है।[3] मुनिवर पाणिनि की अष्टाध्यायी का लगभग एक चौथाई भाग इन तद्धितप्रत्ययों से भरा पड़ा है। यह प्रकरण अन्य प्रकरणों की अपेक्षा अतीव सरल है। प्रायः तीन-चार सूत्रों से ही रूपसिद्धि हो जाती है। इस प्रकरण में अर्थ का विशेष ध्यान रखना होता है।

अब सब से प्रथम तद्धितप्रकरणोपयोगी अधिकारसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] अधिकारसूत्रम्—**(९९७) समर्थानां प्रथमाद्वा ।४।१।८२।।**

इदं पदत्रयमधिक्रियते 'प्राग्दिशो विभक्तिः' (११९७) इति यावत् ।।

---

१. आङ्ग्ल आदि भाषाओं में भी इसी प्रकार के प्रयोग बहुधा देखे जाते हैं। यथा—Prison से Prisoner, King से Kingdom, Crime से Criminal, City से Citizen, Civil से Civillian, Red से Reddish, Sun से Sunny, Child से Childish, Fool से Foolish, Christ से Christion, India से Indian आदि।

२. तेभ्यः (प्रयोगेभ्यः) हिताः—तद्धिताः। तद्धितप्रत्ययों को इसलिये तद्धित कहते हैं क्योंकि ये उन उन प्रयोगों की निष्पत्ति में हितकर अर्थात् सहायक होते हैं। तात्पर्य यह है कि इन प्रत्ययों का उपयोग शिष्टसम्मत इष्ट प्रयोगों की सिद्धि के लिये ही किया जाता है मनमाने नये-नये प्रयोग घड़ने के लिये नहीं। इस विषय पर एक टिप्पण **तद्धिताः** (९१६) सूत्र पर समासप्रकरण में लिख चुके हैं, उसका भी यहां पुनरवलोकन कर लेना चाहिये।

३. इस विषय के लिये श्रीवासुदेवशरण-अग्रवालविरचित **पाणिनिकालीन भारतवर्ष** नामक ग्रन्थ का अवलोकन करें।

अर्थः—समर्थानाम्, प्रथमात् और वा—इन तीनों पदों का अधिकार किया जाता है। यह अधिकार अष्टाध्यायी में **प्राग्दिशो विभक्तिः** (५.३.१) सूत्र तक जाता है।

व्याख्या—समर्थानाम् ।६।३। (निर्धारणे षष्ठी, समर्थानां मध्य इत्यर्थः)। प्रथमात् ।५।१। वा इत्यव्ययपदम्। यहां तीनों पदों में प्रत्येक पद पर स्वरित का चिह्न होने से **स्वरितेनाधिकारः** (१.३.११) द्वारा तीनों पदों का पृथक्-पृथक् रूप से अधिकार किया जा रहा है। इस से किसी एक अधिकार के निवृत्त हो जाने पर भी दूसरे की प्रवृत्ति बनी रहती है। **प्राग्दिशो विभक्तिः** (११९७) सूत्र तक तो तीनों का उपयोग होने से तीनों पदों का अधिकार चलेगा ही, परन्तु आगे स्वार्थिक प्रत्ययों में अनुपयुक्त होने से 'समर्थानाम्' और 'प्रथमात्' की निवृत्ति हो जायेगी केवल 'वा' पद का ही यथासम्भव अधिकार रहेगा। अर्थः—(समर्थानाम्) समर्थों के मध्य जो समर्थ (प्रथमात्) प्रथम उच्चरित हो उस से परे (वा) विकल्प कर के वक्ष्यमाण तद्धित प्रत्यय हों। ध्यान रहे कि इस प्रकरण में **प्रत्ययः** (१२०), **परश्च** (१२१), **ङ्याप्प्रातिपदिकात्** (११९) और **तद्धिताः** (९१६) के अधिकार पूर्वतः आ रहे हैं।

यह अधिकारसूत्र है। अधिकारसूत्रों का उपयोग अपने स्थानों पर नहीं हुआ करता। विधिसूत्रों में उपस्थित होकर उन के साथ एकवाक्य बन कर इन की चरितार्थता हुआ करती है। यथा—**तस्याऽपत्यम्** (१००४) यह विधिसूत्र है। यहां प्रथम उच्चरित 'तस्य' पद है जो षष्ठ्यन्त का उपलक्षण है, अतः तद्बोध्य पद को ही प्रक्रियादशा में प्रथम समझा जायेगा। इस से उपगोरपत्यम् इत्यादि में 'उपगोः' आदि षष्ठ्यन्त पदों से ही तद्धितप्रत्ययों की उत्पत्ति होगी प्रथमान्त अपत्यशब्द से नहीं। तद्धितप्रत्यय विकल्प से होते हैं। इस से पक्ष में 'उपगोरपत्यम्' आदि वाक्य तथा 'उपग्वपत्यम्' आदि समास भी हो सकते हैं।[1]

यहां 'समर्थ' का अभिप्राय 'अर्थबोध कराने में समर्थ' से है। जिस में तत्तत्सन्धि-कार्य हो चुके हों वही पद अर्थबोध कराने में समर्थ हो सकता है अकृत-सन्धिकार्य नहीं। अतः 'समर्थ' से यहां कृतसन्धिकार्य (कृतं सन्धिकार्यं यस्मिन्) पद का ही ग्रहण समझा जायेगा। इस से 'सु उत्थितस्य अपत्यम्' यहां **अत इञ्** (१०१४) सूत्र से इञ् प्रत्यय हो कर आदिवृद्धि और आव् आदेश करने से 'सावुत्थितिः' न बनेगा, अपितु सूत्थित शब्द

---

१. ननु 'उपग्वपत्यम्' इति कथं षष्ठीसमासः, तद्धितानां समासापवादत्वात्। न च तद्धितानां पाक्षिकत्वात् तदभावपक्षे षष्ठीसमासो निर्बाध इति वाच्यम्। अपवादेन मुक्ते पुनरुत्सर्गो न प्रवर्त्तत इति **पारे मध्ये षष्ठ्या वा** (२.१.१७) इति वाग्रहणेन ज्ञापितत्वाद् इति चेच्छृणु। **दैवयज्ञि-शौचिवृक्षि-सात्यमुग्रि-काण्ठेविद्धिभ्योऽन्यतर-स्याम्** (४.१.८१) इति पूर्वसूत्राद् 'अन्यतरस्याम्'-ग्रहणानुवृत्तेः समासोऽपि सिध्यति।

से ही इञ् प्रत्यय होकर 'सौत्थितिः' बनेगा। इसी प्रकार 'वि ईक्षमाणस्य अपत्यम्' यहां 'वायिक्षमाणिः' न बनकर 'वैक्षमाणिः' ही बनेगा।[1]

यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि अत्यन्त स्वार्थिक प्रत्ययों को छोड़ कर अन्य तद्धितप्रत्ययों की उत्पत्ति सुँबन्तों से ही हुआ करती है केवल 'उपगु' आदि शुद्ध प्रातिपदिकों से नहीं।[2] तद्धितप्रत्यय अलौकिकविग्रह में 'उपगु ङस्' आदि सुँबन्तों से ही होते हैं।[3]

तो इस प्रकार तद्धितविधान पदविधि है। अतः **समर्थः पदविधिः** (९०४) परिभाषाद्वारा समर्थपदों से ही तद्धितप्रत्ययों का विधान होगा असमर्थ पदों से नहीं। यथा—कम्बलमुपगोरपत्यं देवदत्तस्य (कम्बल तो उपगु का है, सन्तान देवदत्त की है)। यहां उपगुशब्द का कम्बल के साथ सम्बन्ध है अपत्य के साथ नहीं, अतः एकार्थीभाव-सामर्थ्य के न रहने से 'उपगोरपत्यम्' में तद्धित की उत्पत्ति नहीं होती।[4]

कई लोग **समर्थानां प्रथमाद्वा** के स्थान पर **समर्थात्प्रथमाद्वा** ऐसा सूत्र पसन्द करते हैं। 'समर्थानाम्' में बहुवचन का निर्देश उन्हें उपयुक्त प्रतीत नहीं होता।

स्मरणीय सार—

(१) तद्धितप्रत्यय उस शब्द से होते हैं जिस में सन्धिकार्य किया जा चुका हो।

(२) **तस्यापत्यम्** (१००४), **तेन रक्तं रागात्** (१०३३), **तेन प्रोक्तम्** (११०८), **तस्य समूहः** (१०४७), **तत आगतः** (१०९८) इत्यादि प्रत्ययविधायकसूत्रों में तस्य, तेन, ततः आदि जो प्रथम पढ़े गये पद, तद्बोध्य शब्दों से ही तद्धितप्रत्यय हुआ करते हैं।

---

१. जैसाकि महाभाष्य में यहां स्पष्ट लिखा है—
किम्पुनः समर्थम्? अर्थाभिधाने यत्समर्थम्। किं पुनस्तत्? कृतवर्णानुपूर्वीकं पदम्। सौत्थितिः। वैक्षमाणिः। (महाभाष्य ४.१.८२)

२. अत एव **घकालतनेषु कालनाम्नः** (६.३.१६) यहां तरप् तमप् इन तद्धित प्रत्ययों के परे रहते सप्तमी के अलुक् का विधान किया गया है। यदि तद्धितप्रत्ययों की उत्पत्ति सुँबन्त से न होकर केवल प्रातिपदिक से ही होती तो तरप्-तमप् आदि तद्धितप्रत्ययों के परे होने पर सुँप् के न होने से उस के लुक् या अलुक् का प्रश्न ही पैदा न होता। अतः इस से सुतरां सिद्ध होता है कि सुँबन्तों से ही तद्धितों की उत्पत्ति होती है।

३. तद्धितों में भी समासों की तरह लौकिक और अलौकिक दो प्रकार का विग्रह हुआ करता है। 'उपगोरपत्यम्' यह लौकिकविग्रह तथा 'उपगु ङस्+अण्' यह अलौकिक विग्रह है।

४. जब पद मिल कर परस्परसम्बद्ध एक अर्थ की प्रतीति कराते हैं तो वहां एकार्थीभावरूप सामर्थ्य होता है। समास, तद्धित आदि पदविधियों में यही सामर्थ्य पाया जाता है।

(३) तद्धितप्रत्यय विकल्प से होते हैं अतः पक्ष में वाक्य तथा यथासम्भव समास भी हो सकता है।

(४) तद्धितप्रत्यय (अत्यन्त स्वार्थिकों को छोड़ कर) सुँबन्तों से ही होते हैं केवल प्रातिपदिकों से नहीं। जहां प्रातिपदिकों से विधान कहा है वहां पर भी तत्तत्प्रकृतिक सुँबन्तों से ही विधान समझना चाहिये।

(५) तद्धितप्रत्ययों के विधान में भी समर्थपरिभाषा (**समर्थः पदविधिः** ६०४) प्रवृत्त हो जाती है। अतः समर्थ पदों से ही तद्धितप्रत्ययों की उत्पत्ति होती है असमर्थ पदों से नहीं। यथा—'ऋद्धस्य उपगोरपत्यम्, कम्बलमुपगोरपत्यं देवदत्तस्य' इत्यादियों में उपगुशब्द से अपत्यार्थ में अण् प्रत्यय नहीं होता।[1]

अब प्राग्दीव्यतीय तद्धितों का वर्णन करने से पूर्व कुछ साधारण (सामान्य) प्रत्ययों को दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्[2]—**(९९८) अश्वपत्यादिभ्यश्च ।४।१।८४।।**

एभ्योऽण् स्यात् प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु। अश्वपतेरपत्यादि आश्वपतम्। गाणपतम्॥

अर्थः—अश्वपति आदि शब्दों से (भी) प्राग्दीव्यतीय अर्थों में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो।

व्याख्या—अश्वपत्यादिभ्यः ।५।३। च इत्यव्ययपदम्। अण् ।१।१। प्राग् इत्यव्यय-पदम्। दीव्यतः ।५।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** सूत्र से)। **तद्धिताः** यह अधिकृत है। अश्वपति-शब्द आदिर्येषां तेऽश्वपत्यादयस्तेभ्यः=अश्वपत्यादिभ्यः। तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि-समासः। अर्थः—(अश्वपत्यादिभ्यः) अश्वपति आदि शब्दों से (च) भी (तद्धिताः) तद्धित संज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है (दीव्यतः) **तेन दीव्यति खनति जयति जितम्** सूत्र से (प्राक्) पूर्व के अर्थों में।

आगे **तेन दीव्यति खनति जयति जितम्** (१११७) सूत्र आयेगा। इस सूत्र से पहले-पहले **तस्यापत्यम्** (उस की सन्तान), **तेन रक्तं रागात्** (उस से रङ्गा गया) इत्यादि जो अर्थ निर्दिष्ट किये गये हैं उन्हें प्राग्दीव्यतीय अर्थ कहते हैं।[3] इन अर्थों में अश्वपति

---

१. **समर्थः पदविधिः** (६०४) का सामर्थ्य तथा **समर्थानां प्रथमाद्वा** (९९७) का सामर्थ्य परस्पर बिल्कुल भिन्न प्रकार का होता है। इस के उपर्युक्त सूक्ष्मभेद को बुद्धि में ठीक तरह से बिठा लेना चाहिये।

२. प्राग्दीव्यतोऽर्थबोधकेषु इदमधिक्रियते इत्यादिप्रकारेण एषामप्यधिकारत्वं बोध्यम्। तेष्वयम्भवतीति विधायकत्वमेवेत्यन्ये—इति दित्यदित्यादित्यसूत्रभाष्योद्योते नागेशः।

३. दीव्यतः प्राक् प्राग्दीव्यत्, **अपपरिबहिरञ्चवः पञ्चम्या** (२.१.११) इत्यव्ययीभावः। तत्र भवाः प्राग्दीव्यतीयाः। **वृद्धाच्छः** (१०७७) इति छः। लघुसिद्धान्तकौमुदी में मुख्यतः प्राग्दीव्यतीय अर्थ इस प्रकार से दिये गये हैं—१. **तस्यापत्यम्** (१००४)।

आदि शब्दों से अण् प्रत्यय होता है । अश्वपत्यादि एक गण है ।[1]

यह सूत्र आगे आने वाले **दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः** (६६६) सूत्रद्वारा प्राप्त 'ण्य' प्रत्यय का अपवाद है । सूत्र के उदाहरण यथा—

अश्वपतेरपत्यादि[2] आश्वपतम् (अश्वपति की सन्तान आदि) । तद्धितप्रत्ययों की उत्पत्ति सुँबन्तों से ही होती है—इस नियम के अनुसार यहां 'अश्वपति ङस्' आदि से **तस्याऽपत्यम्** (१००४, उस की सन्तान) आदि प्राग्दीव्यतीय अर्थों में **अश्वपत्यादिभ्यश्च** (६६८) इस प्रकृतसूत्र से तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो कर 'अश्वपति ङस् + अण्' हुआ । अब **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से समग्र समुदाय की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) सूत्रद्वारा प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् करने से 'अश्वपति + अण्' रहा । पुनः अण् प्रत्यय के णकार की **हलन्त्यम्** (१) से इत्संज्ञा और **तस्य लोपः** (३) से उस इत् का लोप हो जाता है—अश्वपति + अ । अण् प्रत्यय के णित्त्व के कारण **तद्धितेष्वचामादेः** (६३८) सूत्र से 'अश्वपति' अङ्ग के आदि अकार

---

२. **तेन रक्तं रागात्** (१०३३) । ३. **नक्षत्रेण युक्तः कालः** (१०३४) । ४. **दृष्टं साम** (१०३६) । ५. **परिवृतो रथः** (१०३८) । ६. **तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः** (१०३९) । ७. **संस्कृतं भक्षाः** (१०४०) । ८. **साऽस्य देवता** (१०४१) । ९. **तस्य समूहः** (१०४७) । १०. **तदधीते तद्वेद** (१०५३) । ११. **तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि** (१०५६) । १२. **तेन निर्वृत्तम्** (१०५७) । १३. **तस्य निवासः** (१०५८) । १४. **अदूरभवश्च** (१०५९) । १५. **शेषे** (१०६८) । १६. **तत्र जातः** (१०८७) । १७. **प्रायभवः** (१०८९) । १८. **सम्भूते** (१०९०) । १९. **तत्र भवः** (१०९२) । २०. **तत आगतः** (१०९८) । २१. **प्रभवति** (११०३) । २२. **तद् गच्छति पथिदूतयोः** (११०४) । २३. **अभिनिष्क्रामति द्वारम्** (११०५) । २४. **अधिकृत्य कृते ग्रन्थे** (११०६) । २५. **सोऽस्य निवासः** (११०७) । २६. **तेन प्रोक्तम्** (११०८) । २७. **तस्येदम्** (११०९) । २८. **तस्य विकारः** (१११०) । इन के अतिरिक्त कुछ अन्य अर्थों का भी अष्टाध्यायी में उल्लेख किया गया है ।

१. अश्वपत्यादिगण यथा—
अश्वपति । ज्ञानपति । शतपति । धनपति । गणपति । स्थानपति । यज्ञपति । राष्ट्रपति । कुलपति । गृहपति । पशुपति । धान्यपति । धन्वपति । बन्धुपति । धर्मपति । सभापति । प्राणपति । क्षेत्रपति ।

२. आदि शब्द से अन्य भी प्राग्दीव्यतीय अर्थों का यथासम्भव संग्रह कर लेना चाहिये । यथा—अश्वपतीनां समूहः । अश्वपतेर्जातः । अश्वपतेरागतः । अश्वपतौ भवः । अश्वपतेर्निवासः । अश्वपतेरिदम् इत्यादि । इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिये ।

की आकार वृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक[1] इकार का लोप करने पर आश्वपत्+अ='आश्वपत' यह तद्धितान्त शब्द निष्पन्न हुआ। तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसंज्ञा के कारण इस से स्वादिप्रत्ययों की उत्पत्ति होती है। विशेष्यानुसार यहां लिङ्ग की व्यवस्था होती है। सामान्य की अपेक्षा से नपुंसक में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर **अतोऽम्** (२३४) से उसे अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप एकादेश करने पर 'आश्वपतम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। विशेष्य के पुंलिङ्ग होने पर 'आश्वपतः' एवं स्त्रीलिङ्ग होने पर **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) से ङीप् हो भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'आश्वपती' बनेगा।

दूसरा उदाहरण—गणपतेरपत्यादि गाणपतम् (गणपति की सन्तान आदि)। गणपतिशब्द भी अश्वपत्यादिगण में पढ़ा गया है अतः इस से भी प्राग्दीव्यतीय अर्थों में पूर्वोक्तप्रकारेण अण् प्रत्यय, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'गाणपतम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

नोट—कई लोग 'गणपतिर्देवताऽस्य' इस विग्रह में **साऽस्य देवता** (१०४१) इस प्राग्दीव्यतीय अर्थ में अग्रिम **दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः** (९९९) सूत्र से ण्य (य) प्रत्यय कर 'गाणपत्यो मन्त्रः' (गणपतिदेवतावाला मन्त्र) इस प्रकार लिखते हैं। वह सर्वथा अपशब्द समझना चाहिये। गणपतिशब्द से समस्त प्राग्दीव्यतीय अर्थों में प्रकृतसूत्रद्वारा अण् प्रत्यय ही होगा। अतः 'गाणपतो मन्त्रः' कहना ही शुद्ध है।

यहां यह भी विशेष ध्यातव्य है कि इस प्राग्दीव्यतीयप्रकरण में **प्राग्दीव्यतोऽण्** [(४.१.८३) अर्थः—**तेन दीव्यति खनति जयति जितम्** (१११७)—सूत्र से पूर्व अण् प्रत्यय का अधिकार जानना चाहिये] सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय का अधिकार किया गया है। शेष सब प्रत्यय इस के अपवाद हैं। जहां अन्य कोई विशेष प्रत्यय विधान न किया जायेगा वहां सामान्यतः अण् प्रत्यय ही होगा। अश्वपत्यादिगण में सामान्यप्राप्त अण् प्रत्यय को बाध कर **दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः** (९९९) इस अग्रिमसूत्रद्वारा 'ण्य' प्रत्यय प्राप्त होता था परन्तु हमें यहां अण् प्रत्यय करना ही अभीष्ट है अतः उस का पुरस्तादपवाद यह प्रकृतसूत्र समझना चाहिये।

अब सामान्यप्राप्त अण् के अपवाद 'ण्य' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**९९९**)

दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः। ४।१।८५॥

दित्यादिभ्यः पत्युत्तरपदाच्च प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु ण्यः स्यात्। अणोऽपवादः। दितेरपत्यं दैत्यः। अदितेरादित्यस्य वा अपत्यम्—

---

१. तद्धितप्रत्यय स्वादिप्रत्ययों के अन्तर्गत हैं अतः यकारादि और अजादि तद्धितों के परे होने पर **यचि भम्** (१६५) से पूर्व की भसञ्ज्ञा तथा हलादियों के परे होने पर **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) द्वारा पूर्व की पदसंज्ञा जाननी चाहिये।

अर्थः—दिति (दैत्यों की माता), अदिति (देवताओं की माता) और आदित्य (सूर्य) शब्दों से तथा पतिशब्द जिन का उत्तरपद हो ऐसे शब्दों से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में 'ण्य' प्रत्यय हो। यह सूत्र अण् प्रत्यय का अपवाद है।

व्याख्या—दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदात् ।५।१। ण्यः ।१।१। प्राक् इत्यव्ययपदम्। दीव्यतः ।५।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** इस अधिकारसूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि सब पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—पतिशब्द उत्तरपदं यस्य स पत्युत्तरपदः (शब्दः), बहुव्रीहिसमासः। दितिश्च अदितिश्च आदित्यश्च पत्युत्तरपदश्च दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदम्, तस्मात्=दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदात्, समाहारद्वन्द्वः। अर्थः—(दीव्यतः) दीव्यत् से (प्राक्) पहले के अर्थों में (दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदात्) दिति, अदिति और आदित्य शब्दों से एवं पतिशब्द जिन का उत्तरपद हो ऐसे समस्त शब्दों से भी परे (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ण्यः) ण्य प्रत्यय हो जाता है। **प्राग्दीव्यतोऽण्** (४.१.८३) द्वारा अधिकृत अण् प्रत्यय का यह अपवाद है। उदाहरण यथा—

दितेरपत्यं दैत्यः (दिति की सन्तान)। यहां 'दिति ङस्' इस सुँबन्त प्रातिपदिक से **तस्यापत्यम्** (१००४) के अर्थ में **प्राग्दीव्यतोऽण्** (४.१.८३) इस सामान्यप्राप्त अण्प्रत्यय का बाध कर प्रकृत **दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः** (६६६) सूत्र से ण्यप्रत्यय हो कर तद्धितान्तत्वेन समग्र समुदाय की प्रातिपदिकसंज्ञा (११७), सुँब्लुक् (७२१), **चुटू** (१२६) से ण्यप्रत्यय के आदि णकार की इत्संज्ञा एवं **तस्य लोपः** (३) से उस का लोप करने पर 'दिति + य' हुआ। अब तद्धित प्रत्यय के णित्त्व के कारण **तद्धितेष्वचामादेः** (६३८) सूत्रद्वारा अङ्ग के आदि अच् इकार को ऐकार वृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अन्त्य इकार का लोप करने से 'दैत्य' शब्द बना। अब विशेष्यानुसार पुंलिङ्ग में सुँविभक्ति लाने पर सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने से 'दैत्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अदितेरपत्यम् आदित्यः (अदिति की सन्तान)। यहां भी पूर्ववत् 'अदिति ङस्' से अपत्यार्थ में प्रकृतसूत्र से ण्यप्रत्यय, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक इकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'आदित्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

आदित्यस्य अपत्यम् आदित्यः (आदित्य की सन्तान)। यहां 'आदित्य ङस्' इस सुँबन्त से अपत्यार्थ में ण्यप्रत्यय, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि[1] तथा भसंज्ञक अकार का लोप हो कर 'आदित्य् + य' हुआ। अब इस अवस्था में पूर्व यकार का वैकल्पिक लोप करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

---

१. **पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः** (जैसे बादल, जल और स्थल सब जगह एक समान वृष्टि करते हैं वे यह नहीं देखते कि जल में बरसना व्यर्थ और स्थल में उपयोगी है वैसे सूत्रों की भी प्रवृत्ति होती है) इस परिभाषा के कारण दीर्घ आकार को भी पुनः वृद्धि आदेश के द्वारा आकार आदेश हो जाता है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०००) **हलो यमां यमि लोपः ।८।४।६३।।**

वा स्यात् । इति यलोपः । आदित्यः । प्राजापत्यः ।।

अर्थः—हल् से परे यम् वर्णों का लोप हो विकल्प से, यदि यम् वर्ण परे हो तो ।

व्याख्या—हलः ।५।१। यमाम् ।६।३। यमि ।७।१। लोपः ।१।१। अन्यतरस्याम् ।७।१। (**झयो होऽन्यतरस्याम्** से) । अर्थः—(हलः) हल् से परे (यमाम्) यम्प्रत्याहारान्तर्गत वर्णों का (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में (लोपः) लोप हो जाता है (यमि) यम् परे हो तो । एक अवस्था में लोप कहने से दूसरी अवस्था में लोप न होगा, अतः विकल्प सिद्ध हो जायेगा । यम् प्रत्याहार में अन्तःस्थ तथा वर्गों के पञ्चम वर्ण आते हैं । **यथासंख्यमनुदेशः समानाम्** (२३) परिभाषा के अनुसार यकार परे होने पर यकार का, वकार परे होने पर वकार का इत्यादि प्रकारेण लुप्यमान यम् से तादृग यम् परे होने पर ही लोप होगा ।[1]

'आदित्य् + य' यहां तकार हल् से परे 'य्' इस यम् का प्रकृत **हलो यमां यमि लोपः** (१०००) सूत्र से वैकल्पिक लोप हो जायेगा क्योंकि 'ण्य' वाला 'य' दूसरा यम् वर्ण परे है ही । अतः लोपपक्ष में 'आदित्यः' तथा लोपाभाव में 'आदित्य्यः' इस प्रकार दो रूप बनेंगे ।[2]

---

१. अत एव 'माहात्म्यम्, तादात्म्यम्' इत्यादियों में मकार यम् के परे होने पर तकार यम् का लोप नहीं होता ।

२. द्विविधो हि आदित्यशब्दोऽवगन्तव्यः । एकस्तावद् अदितेरपत्यम् इत्यर्थे व्युत्पादितः । द्वितीयोऽपत्यार्थभिन्नजाताद्यर्थे 'अदितौ जातः' इत्यादिप्रकारेण निष्पादितः । उभयत्र अदितिशब्दाद् **दित्यदित्यादित्य०** (९९९) सूत्रेण ण्यप्रत्ययो भवति । परं यदा आदित्यशब्दात् प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु ण्यप्रत्ययः क्रियते तदा द्विविधाभ्यामपि आदित्यशब्दाभ्यां समानेऽपि ण्यप्रत्यये प्रक्रियावैषम्यं भवति । तत्रादौ जाताद्यर्थे व्युत्पादितस्य आदित्यशब्दस्य प्रक्रियेत्थम्—

जाताद्यर्थे निष्पन्नाद् आदित्यशब्दाण्ण्ये आदिवृद्धौ, **यस्येति च** (२३६) इति भस्याकारस्य लोपे 'आदित्य् + य' इति स्थिते **यणो मयो द्वे वाच्ये** (वा०) इति पूर्वयकारस्य विकल्पेन द्वित्वे **हलो यमां यमि लोपः** (१०००) इति वा यलोपः । तदेवम्—

द्वित्वे सति कृते लोपे—आदित्य्यः ।
द्वित्वे सति लोपाभावे—आदित्य्य्यः ।
द्वित्वाभावे कृते लोपे—आदित्यः ।
द्वित्वाभावे, लोपाभावे—आदित्य्यः ।

इत्थम् एकयं द्वियं त्रियं चेति त्रीणि रूपाणि सिध्यन्ति । अपत्यप्रत्ययान्ताद् आदित्यशब्दाण्ण्ये, आदिवृद्धौ, भस्याकारस्य लोपे च कृते 'आदित्य् + य' इति स्थितौ **आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति** (६.४.१५१) इति पूर्वयकारस्य नित्यं लोपे 'आदित्यः' इत्येकयमेव रूपम् ।

यञ, अञ

यहां यह बात विशेषतः ध्यातव्य है कि हल् से परे ही यह यमोयमिलोप प्रवृत्त होता है। अन्नम्, प्रसन्नम् आदि में अच् से परे यह लोप नहीं होता।

अब पत्युत्तरपदों से ण्य का उदाहरण यथा—

प्रजापतेरपत्यं प्राजापत्यः (प्रजापति की सन्तान)। 'प्रजापति' में षष्ठीतत्पुरुष-समास है—प्रजायाः पतिः प्रजापतिः। प्रजापतिशब्द में 'पति' शब्द उत्तरपद में है। अतः सुँबन्त प्रजापतिशब्द से अपत्यार्थ में प्रकृत **दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः** (९९९) सूत्र से ण्यप्रत्यय, सुँब्लुक् (७२१), आदिवृद्धि (९३८) तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक इकार का लोप करने पर—प्राजापत्+य='प्राजापत्यः' प्रयोग निष्पन्न हो जाता है।

इसी प्रकार—सेनापतेरपत्यादि सैनापत्यम्। बृहस्पतेरपत्यादि बार्हस्पत्यम्। इत्यादि।

अब प्राग्दीव्यतीयप्रकरण में औत्सर्गिक अण् के अपवाद कुछ वार्त्तिकों का उल्लेख करते हैं—

[लघु०] वा०—(६७) देवाद् यञञौ ॥

दैव्यम्। दैवम् ॥

अर्थः—देवशब्द से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक यञ् और अञ् प्रत्यय हों।

व्याख्या—देवात् ।५।१। यञञौ ।१।२। यञ् च अञ् च यञञौ, इतरेतरद्वन्द्वः। यह वार्त्तिक **तद्धिताः** (९१६) के अधिकार में **दित्यदित्यादित्य०** (९९९) सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है। अतः प्राग्दीव्यतीय अर्थों में ही अण् का अपवाद जानना चाहिये। अर्थः—(प्राग् दीव्यतः) दीव्यत् से पहले के अर्थों में (देवात्) देवशब्द से (तद्धितौ) तद्धितसञ्ज्ञक (यञञौ) यञ् और अञ् प्रत्यय हो जाते हैं। यञ् और अञ् में ञकार इत् है। उदाहरण यथा—

देवस्य अपत्यादि दैव्यं दैवं वा (देव की सन्तान आदि)। सुँबन्त देवशब्द से अपत्य आदि प्राग्दीव्यतीय अर्थों में औत्सर्गिक अण् के अपवाद प्रकृत **देवाद् यञञौ** (वा० ६७) वार्त्तिक से यञ् या अञ् प्रत्यय होकर प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि से एकार को ऐकार तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप करने पर यञ्पक्ष में 'दैव्यम्' और अञ्पक्ष में 'दैवम्' प्रयोग निष्पन्न होता है।[1] अण् और अञ्

---

१. ध्यान रहे कि अञ्पक्ष में 'दैव' शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र से ङीप् प्रत्यय हो कर भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप करने पर 'दैवी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। परन्तु यञ्पक्ष में दैव्यशब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में **यञश्च** (१२५२) सूत्रद्वारा ङीप् न हो कर **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से टाप् ही होता है—दैव्या। इस का कारण यह है कि **यञश्च** (१२५२) सूत्र में अपत्याधिकारपठित यञ् प्रत्यय का ग्रहण ही अभीष्ट है। यहां 'दैव्य' में हुआ यञ्प्रत्यय अपत्याधिकार में पढ़ा नहीं गया अपितु अपत्याधिकार से पूर्व प्राग्दीव्यतीय साधारणप्रत्ययों के प्रकरण में पढ़ा गया है। इस का विशेष विवेचन स्त्रीप्रत्यय-प्रकरण में **यञश्च** (१२५२) सूत्र पर इसी व्याख्या में देखें।

प्रत्ययों में स्वर का ही अन्तर पड़ता है। यदि अण् होता तो शब्द अन्तोदात्त होता जो अनिष्ट था। अब अञ् करने से आद्युदात्तस्वर होता है जो अभीष्ट है।

अब दूसरे वार्त्तिक का अवतरण करते हैं—

[लघु०] वा०—(६८) बहिषष्टिलोपो यञ् च ॥

बाह्यः ॥

अर्थः—'बहिस्' शब्द से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में तद्धितसंज्ञक यञ् प्रत्यय तथा बहिस् की टि (इस्) का लोप हो जाता है।

व्याख्या—बहिषः ।५।१। टिलोपः ।१।१। यञ् ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। प्राक् इत्यव्ययपदम्। दीव्यतः ।५।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** से)। टेर्लोपः टिलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः। अर्थः—(दीव्यतः) दीव्यत्शब्द से (प्राक्) पहले के अर्थों में (बहिषः) बहिस् अव्यय से (यञ्) यञ् प्रत्यय (च) तथा (टिलोपः) बहिस् की टि का लोप हो जाता है। **अचोऽन्त्यादि टि** (३९) के अनुसार बहिस् की टि 'इस्' है। यञ् में ञकार इत् है जो **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) द्वारा आदिवृद्धि के लिये जोड़ा गया है। उदाहरण यथा—

बहिर्भवः—बाह्यः (बाहर में होने वाला अर्थात् बाहरी)। 'बहिस्' यह स्वरादि-गणपठित अव्यय है। 'बहिस् ङि' इस सुँबन्त से **तत्र भवः** (१०९२) इस प्राग्दीव्यतीय अर्थ में औत्सर्गिक अण् प्रत्यय का बाध कर प्रकृत **बहिषष्टिलोपो यञ् च** (वा० ६८) वार्त्तिक से यञ् प्रत्यय, प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक्[1], आदिवृद्धि तथा इसी वार्त्तिक से 'इस्' टि का लोप हो कर[2]—बाह् + य = 'बाह्य' बना। अब विशेष्यानुसार विभक्तिकार्य के प्रसङ्ग में पुंलिङ्ग में 'बाह्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[3] स्त्रीलिङ्ग में टाप् (१२४९) प्रत्यय ला कर 'बाह्या'[4] तथा नपुंसकलिङ्ग में 'बाह्यम्' बनेगा।

---

१. वस्तुतः अव्ययों से सुँप् का लुक् अन्तरङ्ग होने से **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) द्वारा सब से पहले ही हो जाता है। वह इतने काल तक प्रतीक्षा नहीं करता। अतः यहां 'बहिस् ङि' से प्रत्ययविधान प्राथमिक विद्यार्थियों को समझाने के लिये ही किया गया है।

२. यद्यपि **अव्ययानां भमात्रे टिलोपः** (वा० ८५) इस वार्त्तिक से ही बहिस् अव्यय की टि का लोप हो सकता था पुनः यहां उस का विधान उस वार्त्तिक की अनित्यता का द्योतक है। इस से अव्ययों की भसंज्ञक टि का क्वचित् लोप नहीं भी होता। यथा—आराद् भवः—आरातीयः, यहां टि का लोप नहीं हुआ।

३. **तानीन्द्रियाण्यविकलानि तदेव नाम**
सा बुद्धिरप्रतिहता वचनं तदेव।
अर्थोष्मणा विरहितः पुरुषः स एव
बाह्यः क्षणेन भवतीति विचित्रमेतत् ॥ (पञ्चतन्त्र)

४. **या वेदबाह्याः स्मृतयो याश्च काश्च कुदृष्टयः।**
सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः ॥ (मनु० १२.९५)

अब बहिस्‌विषयक एक अन्य वार्त्तिक का अवतरण करते हैं—

[**लघु०**] वा०—(**६९**) **ईकक् च ॥**

अर्थः—बहिस्‌शब्द से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में तद्धितसंज्ञक ईकक् प्रत्यय तथा बहिस् की टि का लोप भी हो जाता है।

व्याख्या—बहिषः ।५।१। टिलोपः ।१।१। (पूर्वोक्त वार्त्तिक से)। ईकक् ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। दीव्यतः ।५।१। प्राक् इत्यव्ययपदम् (**प्राग्दीव्यतोऽण्** सूत्र से) अर्थः—(दीव्यतः प्राक्) दीव्यत् से पहले के अर्थों में (बहिषः) बहिस् अव्यय से (ईकक्) ईकक् प्रत्यय (च) तथा बहिस् की (टिलोपः) टि का लोप भी हो जाता है

ईकक् प्रत्यय का अन्त्य ककार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है। 'ईक' मात्र अवशिष्ट रहता है। प्रत्यय का कित्करण आदिवृद्धि के लिये किया गया है। इसे दर्शाने के लिये अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**१००१**) **किति च ।७।२।११८॥**

किति तद्धिते च अचामादेरचो वृद्धिः स्यात्। बाहीकः ॥

अर्थः—कित् तद्धित प्रत्यय के परे होने पर भी (अङ्ग के) अचों में जो आदि अच् उस के स्थान पर वृद्धि आदेश हो।

व्याख्या—किति ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। तद्धिते ।७।१। अचाम् इति निर्धारण-षष्ठीबहुवचनान्तम्। आदेः ।६।१। (**तद्धितेष्वचामादेः** सूत्र से)। अचः ।६।१। (**अचो ञ्णिति** सूत्र से)। वृद्धिः ।१।१। (**मृजेर्वृद्धिः** सूत्र से)। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। क् इद् यस्य स कित्, तस्मिन्=किति, बहुव्रीहि-समासः। अर्थः—(किति तद्धिते) कित् तद्धित के परे होने पर (च) भी (अङ्गस्य) अङ्ग के (अचाम्) अचों के मध्य जो (आदेः, अचः) आदि अच्, उस के स्थान पर (वृद्धिः) वृद्धि आदेश हो जाता है। ञित् या णित् तद्धित के परे रहते **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) सूत्रद्वारा आदिवृद्धि का विधान पहले कर चुके हैं अब कित् तद्धित के परे होने पर भी उस का विधान किया जा रहा है। अतः सूत्र में 'च' लगाया गया है। उदाहरण यथा—

बहिर्भवः—बाहीकः (बाहर में होने वाला अर्थात् बाहरी)। यहां भी बहिस् अव्यय से **तत्र भवः** (१०९२) इस प्राग्दीव्यतीय अर्थ में **ईकक् च** (वा० ६९) वार्त्तिक से तद्धितसंज्ञक ईकक् प्रत्यय, अन्त्य ककार अनुबन्ध का लोप, **किति च** (१००१) से अङ्ग के आदि अच् बकारोत्तर अकार को वृद्धि तथा इसी वार्त्तिक से बहिस् की टि (इस्) का लोप कर विभक्ति लाने से 'बाहीकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। विशेष्य के स्त्रीलिङ्ग होने पर **नञ्-स्नञीकक्-ख्युंस्तरुण-तलुनानाम्०** (वा० १०१) वार्त्तिक से ङीप् प्रत्यय हो कर भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'बाहीकी' बनेगा। बाहीकी सेना (बाहर की सेना)।

अब प्राग्दीव्यतीय अर्थों में एक अन्य वार्त्तिक का अवतरण करते हैं—

[**लघु०**] वा०—(**७०**) **गोरजादिप्रसङ्गे यत् ॥**

गोरपत्यादि गव्यम् ॥

अर्थः—अजादि प्रत्ययों के प्रसङ्ग में गोशब्द से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में तद्धित-संज्ञक यत् प्रत्यय हो ।

व्याख्या— गोः ।५।१। अजादिप्रसङ्गे ।७।१। यत् ।१।१। दीव्यतः ।५।१। प्राग् इत्यव्ययपदम् । (**प्राग्दीव्यतोऽण्** सूत्र से) । अच् आदिर्येषां ते=अजादयः प्रत्ययाः, बहुव्रीहिसमासः । अजादीनां (प्रत्ययानाम्) प्रसङ्गः=अजादिप्रसङ्गः, तस्मिन्=अजादि-प्रसङ्गे, षष्ठीतत्पुरुषः । अण् आदि प्रत्यय अजादि प्रत्यय हैं । अर्थः—(दीव्यतः प्राक्) दीव्यत् शब्द से पहले के अर्थों में (गोः) गोशब्द से (अजादिप्रसङ्गे) अजादिप्रत्ययों के प्राप्त होने पर (यत्) यत् प्रत्यय हो जाता है । तात्पर्य यह है कि यदि प्राग्दीव्यतीय अर्थों में गोशब्द से कोई अजादि प्रत्यय प्राप्त होता हो तो वह न हो कर यत् प्रत्यय हो जाये । यत् प्रत्यय का अन्त्य तकार इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'य' मात्र शेष रहता है । तकार अनुबन्ध स्वरितस्वर के लिये जोड़ा गया है । उदाहरण यथा—

गोरपत्यम्, गवि भवम्, गोभ्य आगतम्, गौर्देवताऽस्य, गोरिदम्—गव्यम् (गौ की सन्तान, गौ में होने वाला, गौओं से आया हुआ, गौ देवता वाला, गौ का यह इत्यादि) । यथायोग्य सुँबन्त गोशब्द से अपत्य आदि प्राग्दीव्यतीय अर्थों में सामान्यतः **प्राग्दीव्यतोऽण्** (४.१.८३) से अण् प्रत्यय प्राप्त होता है । अण् अजादि प्रत्यय है अतः प्राग्दीव्यतीय तत्तद् अर्थों में प्रकृत **गोरजादिप्रसङ्गे** यत् (वा० ७०) वार्त्तिक से उसे बाध कर यत् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् तथा **वान्तो यि प्रत्यये** (२४) से ओकार के स्थान पर अव् आदेश करने से ग् अव्+य='गव्य' बना । अब **सामान्ये नपुंसकम्** (वा० ६४) के अनुसार नपुंसक मान कर विभक्तिकार्य करने से 'गव्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

'अजादिप्रसङ्गे' कथन के कारण 'गोभ्यो हेतुभ्य आगतं गोरूप्यं गोमयं वा' इत्यादि हलादि प्रत्ययों के प्रसङ्ग में यत् न होगा । इन में **तत आगतः** (१०९८) के अर्थ में **हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः** (११०१) सूत्र से रूप्यप्रत्यय तथा **मयट् च** (११०२) सूत्र से मयट् प्रत्यय किया गया है ।

अब औत्सर्गिक अण् के अपवाद एक अन्य सूत्र का भी यहां अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१००२) उत्सादिभ्योऽञ् ।४।१।८६॥

(प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु) । औत्सः ॥

अर्थः—उत्स आदि गणपठित शब्दों से प्राग्दीव्यतीय अर्थों में तद्धितसंज्ञक अञ् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—उत्सादिभ्यः ।५।३। अञ् ।१।१। प्राग् इत्यव्ययपदम् । दीव्यतः ।५।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । उत्सः (उत्सशब्दः) आदिर्येषान्ते उत्सादयः, तेभ्यः=उत्सादिभ्यः । तद्गुण-संविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(प्राग्दीव्यतः) दीव्यत् से पहले के अर्थों में (उत्सादिभ्यः) उत्स आदि प्रातिपदिकों से (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अञ्) अञ् प्रत्यय होता है । उत्सादि

एक गण है जो पाणिनीयगणपाठ में पढ़ा गया है ।[1] यह सूत्र औत्सर्गिक अण् तथा अण् के अपवाद इञ् आदि प्रत्ययों का भी अपवाद है । अञ् का 'अ' ही शेष रहता है । अण् और अञ् प्रत्ययों से रूपसिद्धि में केवल स्वर का ही अन्तर पड़ता है । अण्प्रत्ययान्त शब्द अन्तोदात्त तथा अञ्प्रत्ययान्त आद्युदात्त होते हैं । सूत्र का उदाहरण यथा—

उत्से भव औत्सः (उत्स अर्थात् झरने में होने वाला मण्डूक आदि) । यहां 'उत्स ङि' इस सुँबन्त प्रातिपदिक से प्राग्दीव्यतीय **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में औत्सर्गिक अण् प्रत्यय प्राप्त होता है परन्तु उत्सशब्द उत्सादियों में परिगणित है । अतः औत्सर्गिक अण् का बाध कर प्रकृत **उत्सादिभ्योऽञ्** (१००२) सूत्र से अञ् प्रत्यय, तद्धितान्त की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, सुँब्लुक्, अञ् के ञित्त्व के कारण **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से अङ्ग के आदि अच् उकार को औकार वृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विशेष्यानुसार विभक्तिकार्य कर पुंलिङ्ग प्रथमा के एकवचन में 'औत्सः' प्रयोग सिद्ध होता है ।[2]

इसीप्रकार—

महानसे भवः—माहानसोऽग्निः (रसोईघर में होने वाली अग्नि) ।
ग्रीष्मे भवम्—ग्रैष्ममहः (ग्रीष्मर्तु में होने वाला दिन) ।
उदपाने[3] भवः—औदपानः (कूप में होने वाला मण्डूक आदि) ।
भरतस्यापत्यम्—भारतः (भरत की सन्तान) ।
उशीनरस्यापत्यम्—औशीनरः (उशीनर की सन्तान) ।
जनपदे भवः—जानपदः (जनपद में होने वाला) ।
जनपदादागतः—जानपदः (जनपद से आया हुआ) ।

---

१. उत्सादिगण यथा—

उत्स । उदपान । विकर । विनद । महानद । महानस । महाप्राण । तरुण । तुलन । **बष्कय असे** (ग० सूत्र० असे=असमासे) । धेनु । पृथिवी । पङ्क्ति । जगती । त्रिष्टुभ् । अनुष्टुभ् । जनपद । भरत । उशीनर । ग्रीष्म । पीलु । कुल । **उदस्थान देशे** (ग० सूत्र०) । **वृष दंशे** (ग० सूत्र०) । भल्लकीय । रथन्तर । मध्यन्दिन । बृहत् । महत् । सत्त्वत् । कुरु । पञ्चाल । इन्द्रावसान । उष्णिह् । ककुभ् । सुवर्ण । सुपर्ण । देव । **ग्रीष्मादच्छन्दसि** (ग० सूत्र०) ।

[इस गण के अनेक शब्द विचारणीय वा शोधनीय हैं ।]

२. स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र से ङीप् प्रत्यय हो कर भसंज्ञक अकार का लोप करने से 'औत्सी' बनेगा । एतद्विषयक एक टिप्पण आगे **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र पर इस व्याख्या में देखें ।

३. **पुंस्येवान्धुः प्रहिः कूप उदपानं च पुंसि वा** इत्यमरः ।

अभ्यास [१]

(१) तद्धित-नामकरण का क्या कारण है ? इसे बहुवचन से क्यों निर्दिष्ट किया गया है । क्या संस्कृतेतर अन्य भाषाओं में भी ये उपलब्ध होते हैं ? सोदाहरण विवेचन करें ।

(२) किन तद्धितप्रत्ययों के परे रहते आदि अच् को वृद्धि हो जाती है ?

(३) सूत्रनिर्देशपूर्वक निम्नस्थ रूपों की सिद्धि करें—

१. औत्सः । २. आदित्यः । ३. गाणपतम् । ४. गव्यम् । ५. बाहीकः । ६. बाह्यः । ७. प्राजापत्यः । ८. ग्रैष्मम् ।

(४) निम्नस्थ विग्रहों में तद्धितान्तरूप सिद्ध करें—

१. जनपदादागतः । २. दितेरपत्यम् । ३. महानसे भवः । ४. अश्वपतेरपत्यादि । ५. देवस्यापत्यादि । ६. आदित्यस्यापत्यम् ।

(५) निम्नस्थ सूत्रों वा वार्त्तिकों की सोदाहरण व्याख्या करें—

१. हलो यमां यमि लोपः । २. समर्थानां प्रथमाद्वा । ३. दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः । ४. प्राग्दीव्यतोऽण् । ५. गोरजादिप्रसङ्गे यत् । ६. बहिषष्टिलोपो यञ् च । ७. अश्वपत्यादिभ्यश्च । ८. किति च ।

(६) समुचित टिप्पण करें—

[क] अण् और अञ् प्रत्ययों से उत्पन्न होने वाला अन्तर ।

[ख] प्राग्दीव्यतीय अर्थ ।

[ग] सुँबन्त से ही तद्धितोत्पत्ति ।

[घ] समर्थानां प्रथमाद्वा तथा समर्थः पदविधिः के सामर्थ्यों में भेद ।

[ङ] तद्धितप्रत्ययों की विकल्पता ।

[च] 'गाणपत्यो मन्त्रः' का असाधुत्व ।

[छ] तद्धितों के परे रहते भसंज्ञा तथा पदसंज्ञा ।

(७) निम्नस्थ तद्धितान्तों के स्त्रीलिङ्ग रूप लिखें—

१. बाहीक । २. बाह्य । ३. दैव । ४. औत्स । ५. दैव्य । ६. आश्वपत ।

(८) 'अव्ययानां भमात्रे टिलोपः' से सिद्ध होने पर भी **बहिषष्टिलोपो यञ् च** वार्त्तिकद्वारा टिलोप का पुनर्विधान क्यों किया गया है ?

(९) अधोलिखित प्रश्नों के समुचित उत्तर दीजिये—

[क] गोरूप्यम् में गोरजादि० द्वारा यत् क्यों नहीं होता ?

[ख] तद्धितों के अलौकिकविग्रह में सुँप् का लुक् कैसे हो जाता है ?

[ग] तादात्म्यम् और अन्नम् में यमोयमिलोप क्यों नहीं होता ?

[लघु०] इत्यपत्यादिविकारान्तार्थाः साधारणप्रत्ययाः ॥

[अपत्यार्थ से लेकर विकारार्थ तक अर्थात् प्राग्दीव्यतीय अर्थों के साधारण प्रत्ययों का विवेचन यहां समाप्त होता है ।]

——:०:——

अथाऽपत्याधिकारः

अब तद्धितप्रकरण के अन्तर्गत अष्टाध्यायीक्रमानुसार सर्वप्रथम अपत्यप्रत्ययों का प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है—

[**लघु०**] अधिकारसूत्रम्—(१००३)

स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्।४।१।८७॥

धान्यानां भवने० (११६४) इत्यतः प्रागर्थेषु स्त्रीपुंसाभ्यां क्रमाद् नञ्-स्नञौ स्तः। स्त्रैणः। पौंस्नः॥

अर्थः—**धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्** (११६४) इस सूत्र से पूर्व के अर्थों में स्त्री और पुंस् प्रातिपदिकों से तद्धितसंज्ञक क्रमशः नञ् और स्नञ् प्रत्यय हों।

व्याख्या—स्त्रीपुंसाभ्याम् ।५।२। नञ्-स्नञौ ।१।२। भवनात् ।५।१। प्राग् इत्यव्ययपदम् (**प्राग्दीव्यतोऽण्** से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। स्त्री च पुमान् च स्त्रीपुंसौ, ताभ्याम्=स्त्रीपुंसाभ्याम्। इतरेतरद्वन्द्वः। **अचतुर-विचतुर-स्त्रीपुंस०** (५.४.७७) इति अच् समासान्तः। यह अधिकारसूत्र है। इस की अवधि के लिये 'भवनात्' कहा गया है। **धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्** (११६४) यह सूत्र आगे प्राग्दीव्यतीयों के भी बाद आता है। उस के भवनशब्द को यहां 'भवनात्' कह कर अवधित्वेन ग्रहण किया गया है।[1] अर्थः—(भवनात् प्राक्) यहां से ले कर **धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्** सूत्र से पहले के अर्थों में (स्त्रीपुंसाभ्याम्) स्त्री और पुंस् प्रातिपदिकों से परे (तद्धितौ) तद्धितसंज्ञक (नञ्स्नञौ) नञ् और स्नञ् प्रत्यय हो जाते हैं। **यथासंख्यमनुदेशः समानाम्** (२३) परिभाषा के अनुसार क्रमशः अर्थात् स्त्रीप्रातिपदिक से नञ् एवं पुंस्प्रातिपदिक से स्नञ् प्रत्यय होगा। नञ् और स्नञ् प्रत्ययों का अन्त्य ञकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'न' और 'स्न' मात्र अवशिष्ट रहते हैं। ञकार अनुबन्ध आदि-वृद्धि आदि के लिये जोड़ा गया है। उदाहरण यथा—

स्त्रिया अपत्यम्, स्त्रीषु भवः, स्त्रीणां समूहः, स्त्रीभ्य आगतः, स्त्रीभ्यो हितः, स्त्रीणाम् अयम् वा—स्त्रैणः (स्त्री की सन्तान, स्त्रियों में होने वाला, स्त्रियों का समूह, स्त्रियों से आया हुआ, स्त्रियों के लिये हितकारी, स्त्रीसम्बन्धी इत्यादि)। यहां पर तत्तदर्थों में तत्तत्सुँबन्त स्त्रीशब्द से **स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** (१००३) इस प्रकृत अधिकारसूत्र के कारण **तस्यापत्यम्** (१००४) आदि तत्तत्सूत्रों द्वारा नञ्

---

१. इस प्रकार इस अधिकार की व्याप्ति सब प्राग्दीव्यतीय अर्थों तथा उस से आगे के दो पादों (चतुर्थाध्याय के चतुर्थपाद तथा पञ्चमाध्याय के प्रथमपाद) के अर्थों में भी समझनी चाहिये।

प्रत्यय, ञकार अनुबन्ध का लोप, तद्धितान्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा के कारण सुँब्लुक्, प्रत्यय के ञित्त्व के कारण **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से अङ्ग के आदि अच् ईकार को ऐकार वृद्धि तथा **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** (१३८) से नकार को णकार कर विभक्ति लाने से 'स्त्रैणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

पुंसोऽपत्यम्, पुंसु भवः, पुंसां समूहः, पुंभ्य आगतः, पुम्भ्यो हितः, पुंसामयं वा पौंस्नः (पुरुष की सन्तान, पुरुषों में होने वाला, पुरुषों का समूह, पुरुषों से आया हुआ, पुरुषों के लिये हितकारी, पुरुषों का यह इत्यादि)। यहां भी पूर्ववत् तत्तदर्थों में तत्तत्सुँबन्त पुंस्प्रातिपदिक[2] से **स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** (१००३) इस अधिकार-सूत्र के कारण **तस्यापत्यम्** (१००४) आदि तत्तत्सूत्रों से स्नञ्प्रत्यय, ञकार अनुबन्ध का लोप, तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसंज्ञा के कारण सुँब्लुक् तथा **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदि अच् उकार को औकार वृद्धि करने से 'पौंस् + स्न' इस स्थिति में **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) सूत्रद्वारा पदसंज्ञा के कारण **संयोगान्तस्य लोपः** (२०) से पौंस् के संयोगान्त सकार का लोप, **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** परिभाषा के अनुसार अनुस्वार को मकार तथा **नश्चापदान्तस्य झलि** (७८) से मकार को पुनः अनुस्वार हो कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से पुंलिङ्ग में 'पौंस्नः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

स्त्रैण और पौंस्न शब्दों से स्त्रीत्व की विवक्षा में **नञ्स्नञीकक्ख्युंस्तरुण-तलुनानामुपसंख्यानम्** (वा० १०१) वार्त्तिक से ङीप् प्रत्यय हो कर भसञ्ज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्ति लाने से 'स्त्रैणी, पौंस्नी' प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।[3]

---

१. स्त्रैणशब्द का साहित्यगत प्रयोग यथा—

पूषा वसिष्ठः कुशिकात्मजोऽयं त्रयस्त एते गुरवो रघूणाम्।
महामुनेरस्य गिरा कृतोऽपि स्त्रैणो वधो मां न सुखाकरोति॥

(अनर्घराघव २.६७)

स्त्रैणः स्त्रीसम्बन्धी वध इत्यर्थः।

२. **पूञ् पवने** (क्र्या० उभय०) धातु से **पूञो डुम्सुँन्** (उणादि० ६१८) सूत्रद्वारा डुम्सुँन् प्रत्यय करने पर डित्त्व के कारण टि का लोप कर 'प्+उम्स्=पुम्स्' इस अवस्था में **नश्चाऽपदान्तस्य झलि** (७८) से अपदान्त मकार को अनुस्वार हो कर 'पुंस्' शब्द निष्पन्न होता है। इस की विस्तृत निष्पत्ति **पुंसोऽसुँङ्** (३५४) सूत्र पर इस व्याख्या में दर्शा चुके हैं उसे यहां पुनः बुद्धिस्थ कर लेना चाहिये।

३. साहित्यगत प्रयोग यथा—

संगच्छ पौंस्नि ! स्त्रैणं मां युवानं तरुणी शुभे।
राघवः प्रोष्य पापीयान् जहीहि तमकिञ्चनम्॥ (भट्टि० ५.९१)

पुंसे हिता पौंस्नी, तस्याः सम्बुद्धौ 'पौंस्नि' इति।

यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि **स्त्री पुंवच्च** (१.२.६६), **स्त्रियाः पुंवद् भाषितपुंस्कादनूङ्०** (६६६) इत्यादि सूत्रों के निर्देश से नञ और स्नञ् प्रत्ययों की प्रवृत्ति वतिँप्रत्यय के विषय में नहीं होती । अतः 'स्त्रिया तुल्यमिति स्त्रीवत् प्रवर्त्तते, पुंसा तुल्यमिति पुंवत् प्रवर्त्तते' इन स्थानों पर **तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः** (११५१) द्वारा वतिँप्रत्यय ही होता है नञ् और स्नञ् नहीं ।

'स्त्रैणम्' के साथ 'स्त्रीत्वम्, स्त्रीता' प्रयोगों के तथा 'पौंस्नम्' के साथ 'पुंस्त्वम् पुंस्ता' प्रयोगों के समावेश के लिये सूत्रकार ने **आ च त्वात्** (११५४) सूत्र में 'च' का ग्रहण किया है । यह सब आगे उसी सूत्र पर मूल में ही स्पष्ट किया गया है ।

अब तद्धितों के अर्थनिर्देश के प्रसङ्ग में सर्वप्रथम अपत्यार्थ का प्रतिपादन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१००४) **तस्याऽपत्यम्** ।४।१।९२।।

षष्ठयन्तात् कृतसन्धेः समर्थादपत्येऽर्थे उक्ता वक्ष्यमाणाश्च प्रत्यया वा स्युः ।।

अर्थः—जिस में सन्धिकार्य किया जा चुका हो ऐसे षष्ठयन्त समर्थ पद से अपत्य (सन्तान) अर्थ में पूर्वोक्त और आगे कहे जाने वाले प्रत्यय हों ।

व्याख्या—तस्य ।५।१। (यहां षष्ठयन्त तद्शब्द से पञ्चमी विभक्ति का लुक् समझना चाहिये[1]। 'तस्य' शब्द 'उपगोरपत्यम्' आदि में षष्ठयन्त पदों का उपलक्षण या अनुकरण है) । समर्थात् ।५।१। (**समर्थानां प्रथमाद्वा** सूत्र से) । समर्थात् ।५।१। (तद्धितोत्पत्ति सुँबन्त से ही होती है अतः तद्धितविधान के पदविधि होने के कारण **समर्थः पदविधिः** परिभाषा से 'समर्थात्' पद उपलब्ध हो जाता है) । अपत्यम् ।७।१। (यह भी उपगोरपत्यम् आदि विग्रहवाक्यों के 'अपत्यम्' आदि का उपलक्षण या अनुकरण है । इस से परे सप्तमीविभक्ति का लुक् समझना चाहिये) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, वा** इत्यादि पूर्वतः अविकृत हैं । अर्थः—(समर्थात्) जिस में सन्धिकार्य किया जा चुका हो ऐसे (समर्थात्) एकार्थीभाव-सामर्थ्ययुक्त (तस्य= षष्ठयन्तात्) षष्ठयन्त प्रातिपदिक से (अपत्यम् इत्यर्थे) सन्तान अर्थ में (तद्धिताः) तद्धितसंज्ञक प्रत्यय (वा) विकल्प से होते हैं ।

इस सूत्र में केवल अर्थ का ही निर्देश है। प्रत्यय तो पीछे या आगे कहे जाने वाले तत्तत्सूत्रों से ही होगा । प्रत्ययविधायकसूत्रों की अर्थविधायकसूत्रों के साथ एक-वाक्यता हो जाती है । उदाहरण यथा—

---

१. **समर्थानां प्रथमाद्वा** (९९७) सूत्रद्वारा 'प्रथमात्' का अधिकार किया गया है । **तस्याऽपत्यम्** (१००४) आदि लक्षणसूत्रों में प्रथम निर्दिष्ट (पहले कहे हुए) 'तस्य' आदि के बोध्य से ही प्रत्ययविधान अभीष्ट है, 'अपत्यम्' आदि से नहीं । जब 'तस्य' से प्रत्ययविधान होगा तो उस से लुप्तपञ्चमी की कल्पना सुतरां करनी ही पड़ेगी । इस प्रकार 'प्रथमात्' का अधिकार भी संगृहीत हो जाता है ।

उपगोरपत्यम् औपगवः (उपगु नामक व्यक्ति की सन्तान)। यहां अलौकिक-विग्रह में 'उपगु ङस्' यह कृतसन्धिकार्य[1] षष्ठ्यन्त समर्थ अर्थात् एकार्थीभावसामर्थ्य से युक्त पद है। इस से **तस्याऽपत्यम्** (१००४) इस प्रकृतसूत्र के अपत्यार्थ में विकल्प से तद्धितसंज्ञक प्रत्यय करना है। यहां **प्राग्दीव्यतोऽण्** (४.१.८३) इस अधिकारसूत्र के कारण तद्धित अण् प्रत्यय प्राप्त होता है। अण् प्रत्यय करने पर णकार की इत्सञ्ज्ञा हो कर लोप हो जाता है—उपगु ङस्+अ। पुनः तद्धितान्त होने से समग्र समुदाय की **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) द्वारा प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् कर देने से—उपगु+अ। अण् के णित्त्व के कारण **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) सूत्र से अङ्ग (उपगु) के आदि अच् उकार को औकार वृद्धि हो कर 'औपगु+अ' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१००५) ओर्गुणः ।६।४।१४६।।**

उवर्णान्तस्य भस्य गुणस्तद्धिते। उपगोरपत्यम् औपगवः। आश्वपतः। दैत्यः। औत्सः। स्त्रैणः। पौंस्नः।।

अर्थः—तद्धित प्रत्यय परे होने पर उवर्णान्त भसंज्ञक (अङ्ग) के स्थान पर गुण आदेश हो।

व्याख्या—ओः।६।१। गुणः।१।१। भस्य।६।१। अङ्गस्य।६।१। (दोनों अधिकृत हैं)। तद्धिते।७।१। (**नस्तद्धिते** सूत्र से)। 'ओः' यह 'उ' शब्द की षष्ठी का एकवचन है और 'भस्य अङ्गस्य' का विशेषण है। अतः **येन विधिस्तदन्तस्य** (१.१.७१) द्वारा विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'उवर्णान्तस्य भस्याङ्गस्य' बन जायेगा। अर्थः—(ओः= उवर्णान्तस्य) उवर्णान्त (भस्य) भसंज्ञक (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (गुणः) गुण हो जाता है (तद्धिते) तद्धित प्रत्यय परे हो तो। यह गुण **अलोऽन्त्यस्य** (२१) परिभाषाद्वारा भसंज्ञक अङ्ग के अन्त्य अल्=उवर्ण के स्थान पर ही होता है।

'औपगु+अ' यहां **यचि भम्** (१६५) द्वारा उवर्णान्त भसंज्ञक अङ्ग है—औपगु। इस से परे 'अ' यह तद्धितप्रत्यय विद्यमान है ही, अतः प्रकृत **ओर्गुणः** (१००५) सूत्र से इस अङ्ग के अन्त्य अल् उकार को गुण ओकार हो कर **एचोऽयवायावः** (२२) से उसे अव् आदेश करने पर 'औपगव' बना।[2] तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसंज्ञा के कारण

---

१. ध्यान रहे कि कृतसन्धिकार्य केवल प्रातिपदिक ही होना चाहिये न कि सुब्विशिष्ट शब्द। अत एव शब्दकौस्तुभ में स्पष्ट लिखा है—

परिनिष्ठितत्वं च ङ्याप्प्रातिपदिकांश एव न तु सुब्विशिष्ट इत्यवधेयम्।

२. यहां तद्धितप्रकरण में प्रक्रियासम्बन्धी एक बात विशेष ध्यातव्य है कि **अचो ञ्णिति** (१८२) से होने वाली अजन्तवृद्धि तथा **अत उपधायाः** (४५५) से की जाने वाली उपधावृद्धि इन दोनों की अपेक्षा **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) द्वारा की जाने वाली आदिवृद्धि अधिक बलवान् है। अतः जब आदिवृद्धि का विषय हो अथवा उस की प्रवृत्ति हो चुकी हो तो वहां **अचो ञ्णिति** (१८२) या **अत उपधायाः**

अपत्य : पुगान: सर्व
गोत्र : पौगान: सर्व

अब इस से विभक्त्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में पुंलिङ्ग के प्रथमैकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने से 'औपगवः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। औपगवः, औपगवौ, औपगवाः इत्यादिप्रकारेण रामशब्दवत् रूपमाला चलेगी। स्त्रीत्व की विवक्षा में **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६९) सूत्र से ङीष् प्रत्यय करने पर औपगवी।[1] नदीवत् रूपमाला चलेगी।

अश्वपतेरपत्यम् आश्वपतः। दितेरपत्यं दैत्यः। उत्सस्यापत्यम् औत्सः। स्त्रिया अपत्यं स्त्रैणः। पुंसोऽपत्यम् पौंस्नः। इन सब की सिद्धि पीछे दर्शाई जा चुकी है।

अब अपत्याधिकार में अत्युपयोगिनी गोत्रसंज्ञा का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] संज्ञा-सूत्रम्—(१००६)

अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् ।४।१।१६२।।

अपत्यत्वेन विवक्षितं पौत्रादि गोत्रसंज्ञं स्यात् ।।

अर्थः—जब पौत्र आदि को अपत्य अर्थात् सन्तान कहना अभीष्ट हो तो उस की गोत्रसंज्ञा हो।

व्याख्या—अपत्यम् ।१।१। पौत्रप्रभृति ।१।१। गोत्रम् ।१।१। अपत्यम् इत्यनुवर्त्तमाने पुनरपत्यग्रहणं पौत्रादीनामपत्यविवक्षायामेव गोत्रत्वबोधनार्थम्। यदि पौत्रादीनां

---

(४५५) सूत्रों की प्रवृत्ति बिल्कुल नहीं होती। यथा—'उपगु+अण्' में अण् के णित्त्व के कारण अजन्तवृद्धि नहीं होती। इसीप्रकार **ओर्गुणः** (१००५) द्वारा गुण कर अव् आदेश करने के बाद 'औपगव्+अ' इस स्थिति में **अत उपधायाः** (४५५) से प्राप्त उपधावृद्धि भी नहीं होती। ऐसा मानने में ज्ञापक है अनुशतिकादिगण में उभयपदवृद्धि के लिये किया गया पुष्करसद् शब्द का पाठ। पुष्करसद् शब्द से **बाह्वादिभ्यश्च** (१०१५) सूत्रद्वारा इञ् प्रत्यय करने पर 'पौष्करसादिः' बनता है। यहां आदिवृद्धि एवम् उपधावृद्धि से जब काम चल सकता है तो पुनः उभयपदवृद्धिद्वारा इसे सिद्ध करने के लिये अनुशतिकादियों में पढ़ने की क्या आवश्यकता? इस से यही ज्ञापित होता है कि आदिवृद्धि के विषय में उपधावृद्धि तथा अजन्तवृद्धि प्रवृत्त नहीं होती। इस से त्वष्टुरिदम्—त्वष्टृ+अण्=त्वाष्टृ+अ=त्वाष्ट्रम्; जगत इदम्—जगत्+अण्=जागत्+अ=जागतम् आदियों में आदिवृद्धि के विषय में क्रमशः अजन्तवृद्धि तथा उपधावृद्धि की प्रवृति नहीं होती। विस्तार के लिये काशिका में **तद्धितेष्वचामादेः** सूत्र पर न्यास-पदमञ्जरी का अथवा सिद्धान्तकौमुदी के **तस्याऽपत्यम्** सूत्र पर तत्त्वबोधिनी तथा बालमनोरमा आदि टीकाग्रन्थों का अवलोकन करें।

१. औपगवशब्द, गोत्रप्रत्ययान्त होने से जातिवाचक है अतः **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) द्वारा प्राप्त ङीप् का बाध कर जातिलक्षण ङीष् हो जाता है। विस्तार के लिये (१२६९) सूत्र की व्याख्या का अवलोकन करें।

पौत्रत्वादिना एव विवक्षा तदा न भवति गोत्रसंज्ञेति बोध्यम् । समासः—पौत्रः प्रभृतिर् (आदिर्) यस्य तत् पौत्रप्रभृति, बहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(अपत्यम्) अपत्यरूप से विवक्षित (पौत्रप्रभृति) पौत्र, प्रपौत्र आदि (गोत्रम्) गोत्रसंज्ञक होते हैं ।

तात्पर्य यह है कि यदि पौत्र, प्रपौत्र आदि पीढ़ियों को भी अपत्यरूपेण (सन्तान-रूपेण) कहना अभीष्ट हो तो उन की गोत्रसंज्ञा हो जाती है ।

अब गोत्रसंज्ञा का फल दर्शाते हैं—

[लघु०] नियमसूत्रम्—(१००७) **एको गोत्रे ।४।१।९३।।**

गोत्रे एक एवापत्यप्रत्ययः स्यात् । उपगोर्गोत्रापत्यम् औपगवः ।।

अर्थः—गोत्र में एक ही अपत्यप्रत्यय हो ।

व्याख्या—एकः ।१।१। गोत्रे ।७।१। अपत्यप्रत्ययः ।१।१। (अपत्याधिकार एवं प्रत्ययाधिकार के कारण उपलब्ध हो जाता है)। 'एकः' शब्द के कथन से अन्य संख्याओं का व्यवच्छेद हो कर 'एक एव' यह नियम उपलब्ध हो जाता है । अर्थः—(गोत्रे) गोत्र की वाच्यता में (एक एव) एक ही (अपत्यप्रत्ययः) अपत्यप्रत्यय होता है ।

तात्पर्य यह है कि उपगोरपत्यम् औपगवः, तस्य औपगवस्यापि अपत्यम् औपगवः, तस्याप्यपत्यम् औपगवः, एवमग्रेऽपि । इस प्रकार एक ही अपत्यप्रत्यय (अण्) से, जो मूलपुरुष से किया जाता है सब पीढ़ियों का बोध होता है, चाहे तीसरी चौथी पाञ्चवीं या सौंवी पीढ़ी भी क्यों न हो । प्रतिपीढ़ी नया अपत्यप्रत्यय नहीं होता । उपगु की सन्तान 'औपगव' कहायेगी तो उस औपगव की सन्तान भी 'औपगव' ही होगी । इस प्रकार पोता, परपोता आदि सब पीढ़ियों का बोध एक ही अपत्यप्रत्यय से हो कर 'औपगव' ही कहायेगा ।

उपगोर्गोत्रापत्यम् यह विग्रह पौत्रप्रभृति गोत्रापत्य में हुआ करता है । गोत्रसंज्ञा पौत्र से शुरु हो कर आगे की सब पीढ़ियों में चली जाती है । पुत्र अर्थात् दूसरी पीढ़ी की गोत्रसंज्ञा नहीं होती ।

अब गोत्रापत्य में प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१००८) **गर्गादिभ्यो यञ् ।४।१।१०५।।**

गोत्रापत्ये । गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः । वात्स्यः ।।

अर्थः—गर्गआदिगणपठित शब्दों से गोत्रापत्य में तद्धितसंज्ञक यञ् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—गर्गादिभ्यः ।५।३। यञ् ।१।१। गोत्रे ।७।१। (**गोत्रे कुञ्जादिभ्य-श्च्फञ्** सूत्र से)। अपत्ये ।७।१। (**तस्याऽपत्यम्** सूत्र से विभक्तिविपरिणामद्वारा) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, समर्थानां प्रथमाद्वा** इत्यादि सब पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—गर्गशब्द आदिर्येषान्ते गर्गादयः, तेभ्यः=गर्गादिभ्यः । तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(गर्गादिभ्यः) गर्ग आदिगण में पठित प्रातिपदिकों से (गोत्रेऽपत्ये) गोत्रापत्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (यञ्) यञ् प्रत्यय होता है । यञ् का अकार इत् है, 'य' मात्र शेष रहता है ।

गर्गादि एक गण है।[1] गोत्रापत्य पौत्र से आरम्भ हो कर अगली असंख्य पीढ़ियों तक चला जाता है। उदाहरण यथा—

गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः (गर्ग का गोत्रापत्य अर्थात् पौत्र आदि सन्तान)। यहां 'गर्ग ङस्' इस सुँबन्त से गोत्रापत्य अर्थ में प्रकृत **गर्गादिभ्यो यञ्** (१००८) सूत्र से तद्धितसंज्ञक यञ् प्रत्यय, जकार का लोप, तद्धितान्त समग्र समुदाय की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा (११७), प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् (७२१), प्रत्यय के ञित्त्व के कारण **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदि अच् को वृद्धि एवं **यस्येति च** (२३६) सूत्र से तद्धित के परे रहते भसञ्ज्ञक अकार का लोप करने पर—गार्ग्+अ='गार्ग्य' प्रातिपदिक निष्पन्न हुआ। अब विशेष्यानुसार पुंलिङ्ग के प्रथमैकवचन में 'सुँ' विभक्ति ला कर सकार को रुँ आदेश (१०५) तथा अवसान में रेफ को विसर्ग आदेश (९३) करने से 'गार्ग्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—वत्सस्य गोत्रापत्यं वात्स्यः (वत्सनामक व्यक्ति का गोत्रापत्य अर्थात् पौत्र आदि सन्तान)। यहां 'वत्स ङस्' से गोत्रापत्य अर्थ में यञ्, सुँब्लुक्, आदि-वृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'वात्स्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। वत्सशब्द भी गर्गादियों में पढ़ा गया है।

गर्गादियों से गोत्रापत्य में यञ् के कुछ अन्य उदाहरण—

(१) पुलस्तेर्गोत्रापत्यं पौलस्त्यः।
(२) धूमस्य गोत्रापत्यं धौम्यः।
(३) शकलस्य गोत्रापत्यं शाकल्यः।

---

१. गर्गादिगण यथा—

गर्ग। वत्स। **वाजाऽसे** (गणसूत्रम्। असे=असमासे)। सङ्कृति। अज। व्याघ्रपाद्। विदभृत्। प्राचीनयोग। अगस्ति। पुलस्ति। रेभ। अग्निवेश। शङ्ख। शठ (शट)। एक। धूम। अवट। चमस। धनञ्जय। मनस। वृक्ष। विश्वावसु। जनमान (जरमाण)। लोहित। संशित। बभ्रु। वल्गु। मण्डु। गण्डु। मक्षु (मङ्क्षु)। अलिगु। शङ्कु। लिगु। गुलु (गुहलु)। मन्तु। जिगीषु। मनु। तन्तु। मनायी। भृत्। कथक। कष। तण्ड। वतण्ड। कपि। कत। कुरुकत। अनडुह्। कण्व। शकल। गोकक्ष। अगस्त्य। कुण्डिन। यज्ञवल्क। उभय। जात (उभयजात)। विरोहित। वृषगण। रहूगण। शण्डिल। वण (पणक)। कुचुलुक। मुद्गल। मुसल। पराशर। जतूकर्ण। महित। मन्त्रित। संहित। अश्मरथ। शर्कराक्ष। पूतिमाष। स्थूण (स्थूरा)। अररक। पिङ्गल। कृष्ण। गोलुन्द। उलूक। तितिक्ष। भिषज्। मडित। मण्डित। दल्भ। चिकित। देवहू। चिकित्सित। इन्द्रहू। एकलू। पिप्पलू। बृहदग्नि। जमदग्नि। सुलाभिन्। उकत्थ (उक्थ)। कुटीगु। रुक्ष। तरुक्ष। तलुक्ष। प्रचुल। विलम्ब। विष्णुज। पथ। कन्थु। श्रुव। सूनु (सून)। कर्कटक (पर्णवल्क)॥

यञ्, अञ्

(४) अगस्तेर्गोत्रापत्यम् आगस्त्यः ।

(५) शाण्डिलस्य गोत्रापत्यं शाण्डिल्यः ।

(६) मुद्गलस्य गोत्रापत्यं मौद्गल्यः ।

(७) यज्ञवल्कस्य गोत्रापत्यं याज्ञवल्क्यः ।

(८) जिगीषोर्गोत्रापत्यं जैगीषव्यः [**ओर्गुणः, वान्तो यि प्रत्यये**] ।

(९) मण्डोर्गोत्रापत्यं माण्डव्यः [**ओर्गुणः, वान्तो यि प्रत्यये**] ।

प्रकृतसूत्र गोत्रापत्य में ही प्रत्यय का विधान करता है, अनन्तरापत्य अर्थात् पुत्र अर्थ में नहीं । गर्गस्य अपत्यं गार्गिः (गर्ग का पुत्र), यहां **अत इञ्** (१०१४) इस वक्ष्यमाणसूत्र से इञ् प्रत्यय ही होगा, यञ् नहीं ।[1]

अब बहुवचन में गोत्रापत्य अर्थ में हुए यञ्प्रत्यय का वैशिष्ट्य प्रतिपादन करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**१००९**) **यञञोश्च** ।२।४।६४।।

गोत्रे यद् यञन्तम् अञन्तं च तदवयवयोरेतयोर्लुक् स्यात्, तत्कृते बहुत्वे, न तु स्त्रियाम् । गर्गाः । वत्साः ।।

अर्थः—गोत्र अर्थ में जो यञन्त और अञन्त शब्द, उन के अवयव यञ् और अञ् प्रत्ययों का लुक् हो जाता है यदि उन प्रत्ययों के अर्थ का बहुत्व बताना अभीष्ट हो । परन्तु स्त्रीलिङ्ग में यह लुक् प्रवृत्त नहीं होता ।

व्याख्या—यञञोः ।६।२। च इत्यव्ययपदम् । लुक् ।१।१। (**ण्यक्षत्त्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः** सूत्र से) । गोत्रे ।७।१। (**यस्कादिभ्यो गोत्रे** सूत्र से) । बहुषु ।७।३। तेन ।३।१। एव इत्यव्ययपदम् । अस्त्रियाम् ।७।१। (**तद्राजस्य बहुषु तेनैवाऽस्त्रियाम्** सूत्र से) समासः—यञ् च अञ् च यञञौ, तयोः=यञञोः । इतरेतरद्वन्द्वसमासः । अर्थः—(गोत्रे) गोत्र अर्थ में (यञञोः) जो यञ् और अञ् प्रत्यय उन का (लुक्) लुक् हो जाता है (तेन एव बहुषु) उस गोत्रप्रत्ययद्वारा ही बहुत्व कहने में । परन्तु यह लुक् (अस्त्रियाम्) स्त्रीलिङ्ग में नहीं होता ।[2]

तात्पर्य यह है कि बहुवचन में गोत्रापत्य अर्थ में हुए यञ् और अञ् प्रत्ययों का

१. रामो जामदग्न्यः (जमदग्नि का पुत्र राम=परशुराम), व्यासः पाराशर्यः (पराशर का पुत्र व्यास)—इन दोनों स्थानों पर अनन्तरापत्य में भी यञ् का प्रयोग देखा जाता है । शायद जमदग्नि तथा पराशर की वृद्धावस्था में सन्तति होने से उसे पौत्रतुल्य मान कर गोत्रप्रत्यय यञ् किया जाने लगा हो ।

२. लघुकौमुदी की वृत्ति में प्रत्ययग्रहणपरिभाषाद्वारा प्रत्ययों से तदन्तविधि कर उन के अवयव यञ् और अञ् का लुक् कहा गया है । **प्रत्ययस्य लुक्-श्लु-लुपः** (१८९) से समस्त प्रत्यय के अदर्शन की ही लुक्सञ्ज्ञा की गई है अतः यहां अलोऽन्त्य-परिभाषा प्रवृत्त नहीं होती ।

लुक् हो जाता है। परन्तु यह लुक् तभी होता है जब वह बहुवचन गोत्रापत्य के बहुत्व को ही बताता हो। किञ्च स्त्रीलिङ्ग में यह लुक् प्रवृत्त नहीं होता। उदाहरण यथा—

गर्गस्य गोत्रापत्यानि गर्गाः (गर्ग के बहुत गोत्रापत्य)। 'गार्ग्य' में गोत्रापत्य अर्थ में **गर्गादिभ्यो यञ्** (१००८) से यञ् किया गया है। इस यञन्त शब्द से प्रथमा के बहुवचन की विवक्षा में जस् प्रत्यय लाने पर प्रकृत **यञञोश्च** (१००९) सूत्र से यञ् प्रत्यय का लुक् होकर **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** इस न्याय के अनुसार उस के आदिवृद्धि आदि कार्यों के भी निवृत्त हो जाने से शुद्ध गर्गशब्द रह जाता है—गर्ग+जस्। अब रामशब्दवत् **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** (१२६) से पूर्वसवर्णदीर्घ कर सकार को रुँत्व-विसर्ग करने से 'गर्गाः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार अन्य बहुवचन-विभक्तियों में भी जानना चाहिये।

गार्ग्य (गर्ग का गोत्रापत्य) शब्द की रूपमाला यथा—

विभक्ति	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथमा	गार्ग्यः	गार्ग्यौ	गर्गाः†
द्वितीया	गार्ग्यम्	,,	गर्गान्†
तृतीया	गार्ग्येण	गार्ग्याभ्याम्	गर्गैः†
चतुर्थी	गार्ग्याय	,,	गर्गेभ्यः†
पञ्चमी	गार्ग्यात्	,,	गर्गेभ्यः†
षष्ठी	गार्ग्यस्य	गार्ग्ययोः	गर्गाणाम्†
सप्तमी	गार्ग्ये	,,	गर्गेषु†
सम्बोधन	हे गार्ग्य!	हे गार्ग्यौ!	हे गर्गाः!†

†इन सब स्थानों पर **यञञोश्च** (१००९) सूत्रद्वारा यञ् का लुक् हुआ है।

इसीप्रकार—वत्सस्य गोत्रापत्यानि वत्साः। वत्सशब्द से भी गोत्रापत्य अर्थ में **गर्गादिभ्यो यञ्** (१००८) द्वारा यञ् प्रत्यय करने से 'वात्स्य' शब्द निष्पन्न होता है। इस से भी बहुवचन में यञ् का **यञञोश्च** (१००९) से लुक् हो कर 'वत्साः' प्रयोग सिद्ध होता है। वात्स्यः, वात्स्यौ, वत्साः इत्यादि।

यहां यञ् के उदाहरण दिये गये हैं। गोत्रापत्य में अञ् के उदाहरण आगे **अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ्** (१०१६) सूत्र पर 'बिदाः' आदि आयेंगे।

तेनैव बहुत्वे कथन का यह अभिप्राय है कि बहुवचन द्वारा गोत्रापत्य के बहुत्व को बताना आवश्यक है। यदि किसी अन्य का बहुत्व बताया जायेगा तो गोत्रापत्यप्रत्यय का लुक् न होगा। यथा—प्रियगार्ग्याः। यहां 'प्रियो गार्ग्यो येषां ते प्रियगार्ग्याः' इस प्रकार बहुव्रीहिसमास है। इस में बहुवचन तो अन्यपदार्थ के बहुत्व को बतलाने के लिये प्रयुक्त हुआ है, गार्ग्य तो एक ही है, अतः यञ् का लुक् न होगा।

स्त्रीलिङ्ग में यञ् का लुक् नहीं होता। यथा—गार्गी, गार्ग्यौ, गार्ग्यः। स्त्रीत्व की विवक्षा में गार्ग्यशब्द से **यञश्च** (१२५२) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय हो कर भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप हो जाता है—गार्ग्य्+ई। अब **हलस्तद्धितस्य**

(१२५३)[1] से यकार का भी लोप कर देने से 'गार्गी' शब्द निष्पन्न होता है। इस की रूपमाला नदीशब्द की तरह होती है।

अब गोत्रसंज्ञा की अपवाद युवसंज्ञा का विधान दर्शाते हैं—

[**लघु०**] संज्ञा-सूत्रम्—(१०१०)

जीवति तु वंश्ये युवा ।४।१।१६३॥

वंश्ये पित्रादौ जीवति (सति) पौत्रादेर्यदपत्यं चतुर्थादि तद् युवसंज्ञमेव स्यात्॥

अर्थः—वंश में होने वाले पिता, पितामह आदि के जीवित रहते जो पौत्र आदि का अपत्य चतुर्थ आदि पीढ़ी से स्थित हो वह 'युवन्' संज्ञक ही हो (गोत्रसंज्ञक नहीं)।

व्याख्या—जीवति—इति सप्तम्येकवचनान्तं शत्रन्तम्। तु इत्यव्ययपदम्। वंश्ये ।७।१। युवा ।१।१। पौत्रप्रभृतेः ।६।१। (**अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्** सूत्र से विभक्तिविपरिणामद्वारा)। अपत्यम् ।१।१। (**तस्यापत्यम्** सूत्र से)। वंशे भवो वंश्यः, पितृपितामहादिः। अर्थः—(वंश्ये) वंश में होने वाले पिता, पितामह या प्रपितामह के (जीवति) जीवित रहते (पौत्रप्रभृतेः) पौत्र आदि की (अपत्यम्) सन्तान (युवा) 'युवन्' संज्ञक (तु) ही[2] होती है।

मूलपुरुष (पीढ़ीप्रवर्त्तक या प्रथम पीढ़ी) का पुत्र दूसरी पीढ़ी, पौत्र तीसरी पीढ़ी और प्रपौत्र चौथी पीढ़ी होता है। यदि पिता (तीसरी पीढ़ी), पितामह (दूसरी पीढ़ी) या प्रपितामह (पहली पीढ़ी) जीवित हों तो चौथी पीढ़ी से ले कर आगे की सब पीढ़ियों की 'युवन्' संज्ञा ही होती है, गोत्रसंज्ञा नहीं। यह गोत्रसंज्ञा का अपवाद है। **अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्** (१००६) के अनुसार गोत्रसंज्ञा तीसरी पीढ़ी से आरम्भ होती है और उत्तरोत्तर सब पीढ़ियों में चली जाती है। युवसंज्ञा चतुर्थ पीढ़ी से आरम्भ हो कर अगली सब पीढ़ियों तक चली जाती है परन्तु इस के लिये आवश्यक है कि युवसंज्ञक के वंश में पिता, पितामह आदि पूर्वजों में कोई एक या अनेक जीवित हों। यदि पिता, पितामह आदि में कोई जीवित नहीं होगा तो गोत्रसंज्ञा ही रहेगी युवसंज्ञा नहीं।

अपत्यशब्द लोक में पुत्र अर्थ में प्रसिद्ध है परन्तु यहां शास्त्र में पुत्र, पौत्र आदि पीढ़ी के अर्थ में आता है।[3] इस शास्त्र में अपत्य तीन प्रकार से प्रयुक्त होता है—

---

१. **हलस्तद्धितस्य** (१२५३)। अर्थः—हलः परस्य तद्धितयकारस्य उपधाभूतस्य लोप ईकारे परे।

२. तुरवधारणे। तेन एकसंज्ञाधिकारं विनापि युवसंज्ञैव न गोत्रसञ्ज्ञेति लभ्यते।

३. न पतन्ति पितरो येन तद् अपत्यम्—अर्थात् जो पितृ-पितामह आदि को पतन से बचाता है वह 'अपत्य' होता है। **अपतनाद् अपत्यम्** इति भाष्ये (५.१.५९)।

(१) अनन्तरापत्य

अनन्तरापत्य केवल पुत्र[1] अर्थात् दूसरी पीढ़ी को ही कहते हैं। इस का विग्रह केवल 'अपत्यम्' लगा कर ही किया जाता है। यथा—गर्गस्यापत्यं गार्गिः [**अत इञ्** (१०१४) इति इञ्], दक्षस्यापत्यं दाक्षिः [इञ्], उपगोरपत्यम् औपगवः [अण्] इत्यादि।

(२) गोत्रापत्य

गोत्रापत्य पुत्र के पुत्र अर्थात् तीसरी पीढ़ी से आरम्भ होता है और आगे की सब पीढ़ियों में चला जाता है। इस का विग्रह 'गोत्रापत्यम्' शब्द लगा कर ही किया जाता है। यथा—गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः [**गर्गादिभ्यो यञ्** (१००८)], उपगोर्गोत्रापत्यम् औपगवः (अण्), दक्षस्य गोत्रापत्यं दाक्षिः (इञ्)। इत्यादि।

(३) युवापत्य

यदि बाप-दादा आदि जीवित हों तो प्रपौत्र अर्थात् चतुर्थ पीढ़ी से लेकर आगे 'युवन्' संज्ञा हो जाती है, तब गोत्रसंज्ञा नहीं रहती। इस का विग्रह 'गर्गस्य गोत्रापत्यं युवा' या 'गर्गस्य युवापत्यम्' इस प्रकार किया जाता है। गार्ग्यायणः, दाक्षायणः इत्यादि इस के उदाहरण हैं। इन की सिद्धि आगे देखें।

विद्यार्थियों को निम्नस्थ वंशवृक्ष का सदा ध्यान रखना चाहिये—

मूलपुरुष (प्रथम पीढ़ी)
|
पुत्र (द्वितीय पीढ़ी)
|
पौत्र (तृतीय पीढ़ी) — (यहां से लेकर अगली सब पीढ़ियों की गोत्र-संज्ञा होती है।)
|
प्रपौत्र (चतुर्थ पीढ़ी) — (यदि पूर्वपीढ़ी का कोई भी व्यक्ति जीवित हो तो यहां से लेकर आगे की पीढ़ियां युवसंज्ञक होती हैं।)
|
इसी प्रकार आगे भी

अब युवसंज्ञा का फल दर्शाते हैं—

[लघु०] नियमसूत्रम्—(१०११) **गोत्राद् यून्यस्त्रियाम्** ।४।१।९४॥

यून्यपत्ये गोत्रप्रत्ययान्तादेव प्रत्ययः स्यात्, स्त्रियां तु न युवसञ्ज्ञा ॥

अर्थः—युवापत्य विवक्षित होने पर गोत्रप्रत्ययान्त से ही प्रत्यय हो परन्तु स्त्रीलिङ्ग में युवसंज्ञा नहीं होती।

---

१. ध्यान रहे कि इस अपत्याधिकार में लिङ्ग और वचन अविवक्षित होते हैं अतः पुत्र से पुत्री एवम् एकवचन से द्विवचन और बहुवचन का भी ग्रहण होता है।

फक् (युवा)

व्याख्या—गोत्रात् ।५।१। यूनि ।७।१। अस्त्रियाम् ।७।१। प्रत्ययः ।१।१। (यह अधिकृत है) । अर्थः—(गोत्रात्=गोत्रप्रत्ययान्तात्) गोत्रप्रत्ययान्त से ही (यूनि) युवापत्य अर्थ में (प्रत्ययः) प्रत्यय होता है । (अस्त्रियाम्) स्त्रीलिङ्ग में युवसंज्ञा नहीं होती ।[1]

यह नियमसूत्र है ।[2] यदि युवापत्य अर्थ में प्रत्यय करना हो तो वह गोत्रप्रत्ययान्त से ही हो, मूलप्रकृति से अनन्तरापत्य से या युवप्रत्ययान्त से न हो । उदाहरण यथा—

उपगोरपत्यं युवा औपगविः । यहां प्रथम 'उपगु ङस्' से गोत्रापत्य अर्थ में **तस्याऽपत्यम्** (१००४) द्वारा औत्सर्गिक अण् प्रत्यय कर 'औपगव' शब्द बना लेना चाहिये । अब इस से युवापत्य अर्थ में **अत इञ्** (१०१४) सूत्र से इञ्प्रत्यय तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'औपगविः' प्रयोग सिद्ध करना चाहिये ।

नोट—**तस्यापत्यम्** (१००४) आदि सूत्रोंद्वारा तीनों प्रकार के अपत्यार्थों में सामान्यतः अण् आदि प्रत्यय होते हैं । विशेष विशेष सूत्रोंद्वारा अपत्यविशेष में भी प्रत्यय विधान किये गये हैं । यथा—**गर्गादिभ्यो यञ्** (१००८) से केवल गोत्रापत्य अर्थ में ही यञ् प्रत्यय होता है । इसी प्रकार कुछ सूत्रों से केवल युवापत्य में ही प्रत्यय होता है ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा केवल युवापत्य में ही प्रत्यय का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१०१२) यञिञोश्च** ।४।१।१०१ ।।[3]

गोत्रे यौ यञिञौ, तदन्तात् फक् स्यात् ।।

अर्थः—गोत्र में जो यञ् या इञ् प्रत्यय, तदन्त से युवापत्य में तद्धितसञ्ज्ञक फक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—गोत्रे ।७।१। (**गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ्** सूत्र से) । यञिञोः ।६।२। च इत्यव्ययपदम् । फक् ।१।१। (**नडादिभ्यः फक्** सूत्र से) । यञ् और इञ् प्रत्यय हैं अतः **प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्** परिभाषा के अनुसार तदन्तविधि हो जाती है । यहां षष्ठी

---

१. अत्र 'अस्त्रियाम्' इति योगं विभज्य 'यूनि' इत्यनुवर्त्य उभयत्र प्रथमया विपरिणामः क्रियते, तेन 'स्त्री युवा न' इति लभ्यते । स्त्रियां तु गोत्रत्वादेक एव प्रत्ययः—गार्गी ।

२. इस का नियमसूत्र होना व्याकरण के उच्चग्रन्थों में प्रतिपादित किया गया है । यहां प्राथमिक जिज्ञासुओं के आगे वह सब प्रस्तुत करना अनावश्यक प्रतीत होता है । विशेषजिज्ञासु आकरग्रन्थों का अवलोकन करें ।

३. पूर्वपठित **यञञोश्च** (१००९) सूत्र और इस **यञिञोश्च** (१०१२) सूत्र के अन्तर को भलीभांति हृदयङ्गम कर लेना चाहिये । पूर्वपठित जहां यञ् और अञ् का लुक् करता है वहां यह यञन्त और इञन्त से फक् का विधान करता है ।

को पञ्चमी में परिणत कर लेना चाहिये। गोत्रप्रत्ययान्त से गोत्रप्रत्यय तो हो नहीं सकता, क्योंकि **एको गोत्रे** (१००७) के नियमानुसार गोत्र में दूसरा प्रत्यय वर्जित है। अतः सामर्थ्य से युवापत्य में ही यह प्रत्यय समझा जायेगा। अर्थः—(गोत्रे) गोत्र में हुए जो (यञिञोः=यञिञ्भ्याम्=यञिञन्ताभ्याम्) यञ् और इञ् प्रत्यय, तदन्तों से (यूनि) युवापत्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (फक्) फक् प्रत्यय हो जाता है। फक् का ककार इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'फ' मात्र शेष रहता है।

'गर्गस्य गोत्रापत्यम्' इस विग्रह में 'गर्ग ङस्' इस सुँबन्त से प्रथम **गर्गादिभ्यो यञ्** (१००८) द्वारा गोत्रापत्य में यञ् प्रत्यय करने से 'गार्ग्य' बना लेना चाहिये। तब **गोत्राद् यून्यस्त्रियाम्** (१०११) के नियमानुसार युवापत्य में प्रकृत **यञिञोश्च** (१०१२) सूत्र से फक् प्रत्यय कर 'गार्ग्य+फ' हुआ अब अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०१३)

आयनेयीनीयियः फ-ढ-ख-छ-घां प्रत्ययादीनाम् ।७।१।२।।

प्रत्ययादेः—फस्य आयन्, ढस्य एय्, खस्य ईन्, छस्य ईय्, घस्य इय् स्युः। गर्गस्य युवापत्यं गार्ग्यायणः। दाक्षायणः।।

अर्थः—प्रत्यय के आदि में स्थित—फ् को आयन्, ढ् को एय्, ख् को ईन्, छ् को ईय् तथा घ् को इय् आदेश हो जाये।

व्याख्या—आयनेयीनीयियः।१।३। फ-ढ-ख-छ-घाम्।६।३। प्रत्ययादीनाम्।६।३। समासः—आयन् च एय् च ईन् च ईय् च इय् च आयनेयीनीयियः, इतरेतरद्वन्द्वः। फश्च ढश्च खश्च छश्च घ् च फढखछघः, तेषाम्=फ-ढ-ख-छ-घाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। फादिष्वकार उच्चारणार्थः, घकारस्तु शुद्ध एव पठितः। प्रत्ययस्य आदिः प्रत्ययादिः, तेषाम्=प्रत्ययादीनाम्, षष्ठीतत्पुरुषः। अर्थः—(प्रत्ययादीनाम्) प्रत्यय के आदि (फ-ढ-ख-छ-घाम्) फ्, ढ्, ख्, छ् और घ् वर्णों के स्थान पर (आयनेयीनीयियः) आयन्, एय्, ईन्, ईय् और इय् आदेश हो जाते हैं।[1]

---

१. इन के संक्षिप्त उदाहरण यथा—

फ् को आयन्—गार्ग्यायणः [**यञिञोश्च** (१०१२) इति फक्]।

ढ् को एय्—वैनतेयः, सौपर्णेयः [**स्त्रीभ्यो ढक्** (१०२०)]।

ख् को ईन्—ग्रामीणः [**ग्रामाद् यखञौ** (१०७०) इति खञ्]।

छ् को ईय्—शालीयः, मालीयः [**वृद्धाच्छः** (१०७७) इति छः]।

घ् को इय्—क्षत्रियः [**क्षत्राद् घः** (१०२५) इति घः]।

[इन सब उदाहरणों की सिद्धि तत्तत्सूत्रों पर देखें]।

प्रकृतसूत्र में 'प्रत्यय' इसलिये कहा है कि धातुओं के आदि में फ् आदि वर्णों को आयन् आदि आदेश न हो जायें। यथा—फक्कति, ढौकते, खनति, छादयति, घूर्णते इत्यादि। 'आदि' ग्रहण का यह प्रयोजन है कि प्रत्यय के मध्य में ये आदेश नहीं होते। यथा—'ऊरुदघ्नम्' में दघ्नच् प्रत्यय के मध्यवर्त्ती घ् को इय् आदेश नहीं होता।

यथासंख्यपरिभाषा के अनुसार ये आदेश क्रमशः होते हैं। यथा—फ् को आयन्, ढ् को एय्, ख् को ईन्, छ् को ईय् तथा घ् को इय् हो जाता है। आयन् आदि आदेशों के अन्त्य हल् की उच्चारणसामर्थ्य से **हलन्त्यम्** (१) सूत्र द्वारा इत्संज्ञा नहीं होती।[1]

'गार्ग्य+फ' यहां **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) इस प्रकृतसूत्र से प्रत्यय के आदि फ् को आयन् आदेश हो जाता है—गार्ग्य+आयन् अ=गार्ग्य+आयन। अब स्थानिवद्भाव से या **एकदेशविकृतमनन्यवत्** न्याय से 'आयन' इस समुदाय को तद्धित मान कर उस के परे रहते **यस्येति च** (२३६) द्वारा भसंज्ञक अकार का लोप तथा **अट्कुप्वाङ्०** (१३८) सूत्र से नकार को णकार आदेश कर विभक्ति लाने से 'गार्ग्यायणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

दक्षस्यापत्यं युवा दाक्षायणः (दक्ष का युवापत्य)। 'दक्ष ङस्' से प्रथम गोत्रापत्य में **अत इञ्** (१०१४) द्वारा इञ् प्रत्यय, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसञ्ज्ञक अकार का लोप करने पर 'दाक्षि' बन जाता है। अब **गोत्राद् यून्यस्त्रियाम्** (१०११) के नियमानुसार युवापत्य में **यञिञोश्च** (१०१२) सूत्रद्वारा फक् प्रत्यय, प्रत्यय के आदि फ् को आयन् आदेश, भसंज्ञक इकार का लोप तथा नकार को णकार करने पर 'दाक्षायणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

'गार्ग्यायणः' और 'दाक्षायणः' का अर्थ है—गर्ग या दक्ष की चतुर्थ आदि पीढ़ी वाली सन्तान। इसी को युवापत्य कहा जायेगा। ध्यान रहे कि यदि पिता, पितामह आदि पूर्वजों में से कोई एक या अनेक जीवित होंगे तो तभी 'गार्ग्यायणः' या 'दाक्षायणः' कहा जायेगा। यदि वे मर चुके होंगे तो केवल गोत्रसंज्ञा ही हो कर 'गार्ग्यः' एवं 'दाक्षिः' ही बनेगा।

अब यहां विद्यार्थियों के अभ्यास के लिये कुछेक शब्दों के तीनों प्रकार के अपत्यरूप दर्शा रहे हैं—

शब्द	अनन्तरापत्य	गोत्रापत्य	युवापत्य
(१) उपगु	औपगवः (अण्)	औपगवः (अण्)	औपगविः (अण्+इञ्)
(२) गर्ग	गार्गिः (इञ्)	गार्ग्यः (यञ्)	गार्ग्यायणः (यञ्+फक्)
(३) दक्ष	दाक्षिः (इञ्)	दाक्षिः (इञ्)	दाक्षायणः (इञ्+फक्)
(४) अश्वपति	आश्वपतः (अण्)	आश्वपतः (अण्)	आश्वपतिः (अण्+इञ्)
(५) वत्स	वात्सिः (इञ्)	वात्स्यः (यञ्)	वात्स्यायनः (यञ्+फक्)
(६) बाहु	बाहविः (इञ्)	बाहविः (इञ्)	बाहवायनः (इञ्+फक्)
(७) उडुलोमन्	औडुलोमिः (इञ्)	औडुलोमिः (इञ्)	औडुलोमायनः (इञ्+फक्)
(८) दशरथ	दाशरथिः (इञ्)	दाशरथिः (इञ्)	दाशरथायनः (इञ्+फक्)
(९) शिव	शैवः (अण्)	शैवः (अण्)	शैविः (अण्+इञ्)
(१०) विनता	वैनतेयः (ढक्)	वैनतेयः (ढक्)	वैनतेयिः (ढक्+इञ्)

१. **प्राचामवृद्धात् फिन् बहुलम्** (४.१.१६०) सूत्र से अपत्यार्थ में फिन् प्रत्यय विधान

अब अपत्य अर्थ में इञ्प्रत्ययविधायक प्रसिद्ध सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०१४) **अत इञ्** ।४।१।९५।।

अपत्येऽर्थे । दाक्षिः ।।

अर्थः—कृतसन्धिकार्य अदन्तप्रातिपदिकप्रकृतिक षष्ठ्यन्त समर्थ पद से अपत्य अर्थ में विकल्प कर के तद्धितसंज्ञक इञ् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—अतः ।५।१। इञ् ।१।१। 'तस्यापत्यम्' पदों की **तस्यापत्यम्** सूत्र से अनुवृत्ति आती है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, समर्थानां प्रथमाद्वा** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । **समर्थः पदविधिः** (९०४) परिभाषा का भी यह विषय है । 'अतः' यह 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है । विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'अदन्तात् प्रातिपदिकात्' बन जाता है । 'तस्य' अर्थात् 'षष्ठ्यन्तात्' के साथ 'अदन्तात् प्रातिपदिकात्' का सम्बन्ध कैसे जोड़ें ? क्योंकि जो षष्ठ्यन्त है वह प्रातिपदिक नहीं और जो प्रातिपदिक है वह षष्ठ्यन्त नहीं । इस के लिये यहां 'अदन्तप्रातिपदिकप्रकृतिक-षष्ठ्यन्तात्' ऐसा अभिप्राय निकाला जाता है । इस से पदों का समन्वय ठीक हो जाता है । इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिये, इसे बार बार नहीं लिखेंगे । अर्थः—(समर्थात्) जिस में सन्धिकार्य हो चुका हो ऐसे (अतः=अदन्तात् प्रातिपदिकात्) अदन्तप्रातिपदिकप्रकृतिक (समर्थात्) एकार्थीभावसामर्थ्ययुक्त (तस्य=षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त से परे (अपत्यम् इत्यर्थे) सन्तान अर्थ में (वा) विकल्प कर के (तद्धितः) तद्धित-संज्ञक (इञ्) इञ् प्रत्यय हो । यह औत्सर्गिक अण् प्रत्यय का अपवाद है ।

कृतसन्धिकार्य आदि का अभिप्राय पीछे स्पष्ट कर चुके हैं । इस सूत्र का सरल अभिप्राय यह है कि अपत्य अर्थ में अदन्त प्रातिपदिक से विकल्प कर के इञ् प्रत्यय हो । यदि किसी अन्यसूत्र से विशेष प्रत्यय प्राप्त होगा तो वही होगा तब इञ् न होगा । यथा—**उत्सादिभ्योऽञ्** (१००२) सूत्रद्वारा उत्स आदियों से अञ् प्रत्यय कहा गया है तो यह इञ् का बाधक होगा । परन्तु बाधक के अभाव में अदन्त प्रातिपदिकों से सर्वत्र इञ् ही होगा । इञ् में ञकार इत् है अतः इस के परे रहते **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) द्वारा आदिवृद्धि हो जाती है । उदाहरण यथा—

दक्षस्यापत्यं दाक्षिः (दक्ष की सन्तान) । 'दक्ष' यह अदन्त प्रातिपदिक है । अतः 'दक्ष ङस्' इस षष्ठ्यन्त सुँबन्त से अपत्य अर्थ में प्रकृत **अत इञ्** (१०१४) सूत्र से इञ् प्रत्यय

किया गया है । फिन् के आदि फ् वर्ण को आयन् आदेश हो जाता है । फिन् का नकार इत् है और वह नित्कार्य स्वरविशेष के लिये जोड़ा गया है—ग्लुचुकस्या-पत्यं ग्लौचुकायनिः । अब यहां विचार उपस्थित होता है कि यदि फ् के स्थान पर होने वाला आयन् नित् होता तो फिन् को नित् करने की आवश्यकता न होती क्योंकि नित्कार्य तो तब भी हो जाते । अतः इस से ज्ञापित होता है कि आयन् आदेश का नकार इत् नहीं होता । ज्ञापक को सामान्यापेक्ष मानने से एय् आदियों में यकार आदि की भी इत्संज्ञा नहीं होती ।

हो कर अनुबन्धलोप, तद्धितान्त समुदाय की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'दाक्षिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। प्रत्यय विकल्प से होता है अतः पक्ष में वाक्य या समास का प्रयोग हो सकता है।[1]

इसी प्रकार—

(१) गर्गस्यापत्यं गार्गिः (गर्ग की सन्तान)।

(२) उत्तानपादस्यापत्यम् औत्तानपादिः (उत्तानपाद का पुत्र ध्रुव)।

(३) दुष्यन्तस्यापत्यम् दौष्यन्तिः (दुष्यन्त का पुत्र भरत)।

(४) वसुकस्यापत्यं वासुकिः (वसुक की सन्तान)।

(५) दशरथस्यापत्यं दाशरथिः (दशरथ की सन्तान, राम)।[2]

सूत्र में 'अतः' कहा गया है अतः 'विश्वपा' आदि आकारान्तों से इञ् न होगा। यथा—विश्वपोऽपत्यं वैश्वपः (विश्वपा की सन्तान)। यहां विश्वपाशब्द से औत्सर्गिक अण् प्रत्यय हो कर आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक आकार का लोप करने से रूप निष्पन्न होता है।

अब एक अन्य सूत्र के द्वारा इञ् प्रत्यय का विधान करते हैं—

---

१. इञ् प्रत्यय विकल्प से हुआ है अतः इञ् के अभाव में औत्सर्गिक अण् भी हो जाये—ऐसा समझना भूल है। क्योंकि यहां **समर्थानां प्रथमाद्वा** (९९७) अधिकार के कारण 'वा' की प्राप्ति हुई है। यह विकल्पाधिकार प्रत्यय के अभाव में वाक्य आदि के लिये है न कि प्रत्ययों के विकल्पार्थ। जहां प्रत्यय का विकल्प अभीष्ट होता है वहां सूत्रकार नये सिरे से 'वा' या 'अन्यतरस्याम्' आदि का प्रयोग करते हैं। यथा—**युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्च** (१०७९), **हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः** (११०१) इत्यादि। यहां यह भी ध्यातव्य है कि आगे आने वाले सूत्रों के अर्थ करते समय इस अधिकृत 'वा' का बार बार उल्लेख नहीं किया जायेगा, अनुक्त होने पर भी विद्यार्थियों को यह स्वयं समझ लेना होगा।

२. **सैष दाशरथी रामः सैष राजा युधिष्ठिरः।**
सैष कर्णो महात्यागी सैष भीमो महाबलः॥

साहित्य में क्वचित् 'दाशरथि' के स्थान पर अण्प्रत्ययान्त 'दाशरथ' शब्द का भी प्रयोग देखा जाता है। यथा—

त्यजस्व कोपं कुलकीर्तिनाशनं भजस्व धर्मं कुलकीर्तिवर्धनम्।
प्रसीद जीवेम सबान्धवा वयं प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली॥

(बृहद्-हैमवृत्ति ६.१.३१ में उद्धृत)

परन्तु ऐसे स्थानों पर 'दाशरथ' का विग्रह 'दशरथस्यापत्यं दाशरथः' ऐसा नहीं करना चाहिये क्योंकि तब इञ् ही निर्बाध प्राप्त होता है अण् नहीं। अतः इन स्थलों पर 'दशरथस्यायं दाशरथः' इस प्रकार का विग्रह कर **तस्येदम्** (११०९) से शैषिक अण् समझना चाहिये।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०१५) **बाह्वादिभ्यश्च** ।४।१।९६।।

बाहविः । औडुलोमिः ।।

अर्थः—कृतसन्धिकार्य बाहु आदि षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिकों से अपत्यार्थ में तद्धितसंज्ञक इञ् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—बाह्वादिभ्यः ।५।३। च इत्यव्ययपदम् । इञ् ।१।१। (**अत इञ्** सूत्र से) । **तस्यापत्यम्** सूत्र का अनुवर्त्तन होता है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं । बाहुशब्द आदिर्येषान्ते बाह्वादयः, तेभ्यः=बाह्वादिभ्यः । तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । बाहु आदि एक गण है ।[1] अर्थः—(बाह्वादिभ्यः) बाहु-आदिगणपठित (तस्य=षष्ठ्यन्तेभ्यः) षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिकों से (अपत्यम् इत्यर्थे) अपत्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (इञ्) इञ् प्रत्यय होता है ।

इस सूत्र से इञ् का विधान अनदन्त शब्दों के लिये तथा कहीं कहीं बाधकों का बाध करने के लिये किया गया है । उदाहरण यथा—

बाहोरपत्यं बाहविः (बाहुनामक व्यक्ति की सन्तान) । यहां 'बाहु ङस्' इस षष्ठ्यन्त सुँबन्त से अपत्य अर्थ में प्रकृत **बाह्वादिभ्यश्च** (१०१५) सूत्र से इञ् प्रत्यय, **पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः** न्याय से आदिवृद्धि, तद्धितान्त होने से प्रातिपदिक के अवयव सुँप् का लुक् एवम् **ओर्गुणः** (१००५) से भसंज्ञक उकार को ओकार गुण कर **एचोऽयवायावः** (२२) द्वारा ओकार को अव् आदेश करने से—बाहव् + इ=बाहवि । अब विभक्ति ला कर 'बाहविः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । ध्यान रहे कि बाहुशब्द अदन्त न होकर उदन्त था इसलिये **अत इञ्** (१०१४) से इञ् प्राप्त न था अतः प्रकृतसूत्र से इञ् का विधान करना पड़ा है ।

इसीप्रकार—उडुलोम्नोऽपत्यम् औडुलोमिः (उडुलोमन्[2] नामक व्यक्ति की

---

१. बाह्वादिगण यथा—
बाहु । उपबाहु । उपवाकु । विवाकु (निवाकु) । शिवाकु । वटाकु । उपविन्दु । वृक (वृकला) । वृषली । चूडा । मूषिका । कुशला । बलाका । भगला । छगला । ध्रुवका । धुवका । सुमित्रा । दुर्मित्रा । पुष्करसद् (अनुहरत) । देवशर्मन् । अग्निशर्मन् । कुनामन् । सुनामन् । पञ्चन् । सप्तन् । अष्टन् । **अमितौजसः सलोपश्च** (गणसूत्रम्) । उदञ्चु । शिरस् । शराविन् (माषशराविन्) । मरीचिन् । क्षेमवृद्धिन् । शृङ्खलातोदिन् । खरनादिन् । नगरमर्दिन् । प्राकारमर्दिन् । लोमन् । अजीगर्त्त । कृष्ण । सलक (सत्यक) । युधिष्ठिर । अर्जुन । साम्ब । गद । प्रद्युम्न । राम । **उदङ्कः संज्ञायाम्** (गणसूत्रम्) । **सम्भूयोऽम्भसोः सलोपश्च** (गणसूत्रम्) । भद्रशर्मन् । सुधावत् । आकृतिगणोऽयम् ।।

२. उडूनीव=नक्षत्राणीव लोमानि यस्य स उडुलोमा । व्युत्पत्तिमात्रप्रदर्शनमेतत् । कस्यचित्सञ्ज्ञेयम् ।

अ

सन्तति)। उडुलोमन् शब्द बाह्वादिगण में पढ़ा गया है।[1] अतः अपत्यार्थ में 'उडुलोमन् ङस्' इस षष्ठयन्त सुँबन्त से प्रकृत **बाह्वादिभ्यश्च** (१०१५) सूत्रद्वारा इञ् प्रत्यय, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा **नस्तद्धिते** (६१६) से भसंज्ञक टि (अन्) का लोप कर विभक्ति लाने से 'औडुलोमिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। ध्यान रहे कि उडुलोमन् के अदन्त न होने से इञ् प्राप्त न था अतः गण में इस का पाठ किया गया है।

बाह्वादिगण के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) ऊर्ध्वलोम्नोऽपत्यम् और्ध्वलोमिः।

(२) सुमित्राया अपत्यम् सौमित्रिः (लक्ष्मणः)।[2]

(३) पुष्करसदोऽपत्यं पौष्करसादिः।[3]

(४) युधिष्ठिरस्यापत्यं यौधिष्ठिरिः।[4]

(५) अर्जुनस्यापत्यम् आर्जुनिः।

(६) कृष्णस्यापत्यं कार्ष्णिः।

(७) सत्यकस्यापत्यं सात्यकिः।

(८) प्रद्युम्नस्यापत्यम् प्राद्युम्निः।

(९) देवशर्मणोऽपत्यं दैवशर्मिः।

(१०) पञ्चानामपत्यं पाञ्चिः।

(११) सप्तानामपत्यं साप्तिः।

(१२) अष्टानामपत्यम् आष्टिः।

अब 'उडुलोम्नोऽपत्यानि' इस विग्रह में बहुवचन में इञ् के अपवाद 'अ' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(७१) लोम्नोऽपत्येषु बहुष्वकारो वक्तव्यः॥

उडुलोमाः॥

---

१. वस्तुतः बाह्वादिगण में लोमन् शब्द ही पढ़ा गया है। परन्तु केवल लोमन्शब्द का अपत्ययोग सम्भव नहीं अतः तदन्तविधि से उडुलोमन्, शरलोमन्, ऊर्ध्वलोमन् आदि शब्दों का ग्रहण किया जाता है।

२. **तमाह्वयत सौमित्रिरगर्जच्च भयङ्करम्।** (भट्टि० १७.३१)

३. **अनुशतिकादीनाञ्च** (१०६५) इत्युभयपदवृद्धिः। व्याकरणस्य कस्यचिदाचार्योऽयम्। स्मृतश्चायमस्मिन् वार्त्तिके—

चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्। (वा० १४)

४. युधिष्ठिर और अर्जुन कुरुवंशीय एवं कृष्ण, प्रद्युम्न और सत्यक वृष्णि(यदु)-वंशीय हैं अतः इन से अपत्यार्थ में **ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च** (१०१८) सूत्रद्वारा अण् प्राप्त था, उस के बाध के लिये इन का यहां बाह्वादिगण में पाठ किया गया है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०१५) **बाह्वादिभ्यश्च** ।४।१।९६।।

बाहविः । औडुलोमिः ।।

अर्थः—कृतसन्धिकार्य बाहु आदि षष्ठचन्त समर्थ प्रातिपदिकों से अपत्यार्थ में तद्धितसंज्ञक इञ् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—बाह्वादिभ्यः ।५।३। च इत्यव्ययपदम् । इञ् ।१।१। (**अत इञ्** सूत्र से) । **तस्यापत्यम्** सूत्र का अनुवर्त्तन होता है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । बाहुशब्द आदिर्येषान्ते बाह्वादयः, तेभ्यः=बाह्वादिभ्यः । तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । बाहु आदि एक गण है ।[1] अर्थः—(बाह्वादिभ्यः) बाहु-आदिगणपठित (तस्य=षष्ठयन्तेभ्यः) षष्ठचन्त समर्थ प्रातिपदिकों से (अपत्यम् इत्यर्थे) अपत्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (इञ्) इञ् प्रत्यय होता है ।

इस सूत्र से इञ् का विधान अनदन्त शब्दों के लिये तथा कहीं कहीं बाधकों का बाध करने के लिये किया गया है । उदाहरण यथा—

बाहोरपत्यं बाहविः (बाहुनामक व्यक्ति की सन्तान) । यहां 'बाहु ङस्' इस षष्ठचन्त सुँबन्त से अपत्य अर्थ में प्रकृत **बाह्वादिभ्यश्च** (१०१५) सूत्र से इञ् प्रत्यय, **पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः** न्याय से आदिवृद्धि, तद्धितान्त होने से प्रातिपदिक के अवयव सुँप् का लुक् एवम् **ओर्गुणः** (१००५) से भसंज्ञक उकार को ओकार गुण कर **एचोऽयवायावः** (२२) द्वारा ओकार को अव् आदेश करने से—बाहव् इ=बाहवि । अब विभक्ति ला कर 'बाहविः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । ध्यान रहे कि बाहुशब्द अदन्त न होकर उदन्त था इसलिये **अत इञ्** (१०१४) से इञ् प्राप्त न था अतः प्रकृतसूत्र से इञ् का विधान करना पड़ा है ।

इसीप्रकार—उडुलोम्नोऽपत्यम् औडुलोमिः (उडुलोमन्[2] नामक व्यक्ति की

---

१. बाह्वादिगण यथा—

बाहु । उपबाहु । उपवाकु । विवाकु (निवाकु) । शिवाकु । वटाकु । उपविन्दु । वृक (वृकला) । वृषली । चूडा । मूषिका । कुशला । बलाका । भगला । छगला । ध्रुवका । धुवका । सुमित्रा । दुर्मित्रा । पुष्करसद् (अनुहरत) । देवशर्मन् । अग्निशर्मन् । कुनामन् । सुनामन् । पञ्चन् । सप्तन् । अष्टन् । **अमितौजसः सलोपश्च** (गणसूत्रम्) । उदञ्चु । शिरस् । शराविन् (माषशराविन्) । मरीचिन् । क्षेमवृद्धिन् । शृङ्खलातोदिन् । खरनादिन् । नगरमर्दिन् । प्राकारमर्दिन् । लोमन् । अजीगर्त्त । कृष्ण । सलक (सत्यक) । युधिष्ठिर । अर्जुन । साम्ब । गद । प्रद्युम्न । राम । **उदङ्कः संज्ञायाम्** (गणसूत्रम्) । **सम्भूयोऽम्भसोः सलोपश्च** (गणसूत्रम्) । भद्रशर्मन् । सुधावत् । आकृतिगणोऽयम् ।।

२. उडूनीव=नक्षत्राणीव लोमानि यस्य स उडुलोमा । व्युत्पत्तिमात्रप्रदर्शनमेतत् । कस्यचित्सञ्ज्ञेयम् ।

सन्तति) । उडुलोमन् शब्द बाह्वादिगण में पढ़ा गया है ।[1] अतः अपत्यार्थ में 'उडुलोमन् ङस्' इस षष्ठ्यन्त सुँबन्त से प्रकृत **बाह्वादिभ्यश्च** (१०१५) सूत्रद्वारा इञ् प्रत्यय, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा **नस्तद्धिते** (९१९) से भसंज्ञक टि (अन्) का लोप कर विभक्ति लाने से 'औडुलोमिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। ध्यान रहे कि उडुलोमन् के अदन्त न होने से इञ् प्राप्त न था अतः गण में इस का पाठ किया गया है।

बाह्वादिगण के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) ऊर्ध्वलोम्नोऽपत्यम् और्ध्वलोमिः ।
(२) सुमित्राया अपत्यम् सौमित्रिः (लक्ष्मणः) ।[2]
(३) पुष्करसदोऽपत्यं पौष्करसादिः ।[3]
(४) युधिष्ठिरस्यापत्यं यौधिष्ठिरिः ।[4]
(५) अर्जुनस्यापत्यम् आर्जुनिः ।
(६) कृष्णस्यापत्यं कार्ष्णिः ।
(७) सत्यकस्यापत्यं सात्यकिः ।
(८) प्रद्युम्नस्यापत्यम् प्राद्युम्निः ।
(९) देवशर्मणोऽपत्यं दैवशर्मिः ।
(१०) पञ्चानामपत्यं पाञ्चिः ।
(११) सप्तानामपत्यं साप्तिः ।
(१२) अष्टानामपत्यम् आष्टिः ।

अब 'उडुलोम्नोऽपत्यानि' इस विग्रह में बहुवचन में इञ् के अपवाद 'अ' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(७१) लोम्नोऽपत्येषु बहुष्वकारो वक्तव्यः ॥

उडुलोमाः ॥

---

१. वस्तुतः बाह्वादिगण में लोमन् शब्द ही पढ़ा गया है। परन्तु केवल लोमन्शब्द का अपत्ययोग सम्भव नहीं अतः तदन्तविधि से उडुलोमन्, शरलोमन्, ऊर्ध्वलोमन् आदि शब्दों का ग्रहण किया जाता है।

२. **तमाह्वयत सौमित्रिरगर्जच्च भयङ्करम् ।** (भट्टि० १७.३१)

३. **अनुशतिकादीनाञ्च** (१०९५) इत्युभयपदवृद्धिः । व्याकरणस्य कस्यचिदाचार्योऽयम् । स्मृतश्चायमस्मिन् वार्त्तिके—
चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम् । (वा० १४)

४. युधिष्ठिर और अर्जुन कुरुवंशीय एवं कृष्ण, प्रद्युम्न और सत्यक वृष्णि(यदु)-वंशीय हैं अतः इन से अपत्यार्थ में **ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च** (१०१८) सूत्रद्वारा अण् प्राप्त था, उस के बाध के लिये इन का यहां बाह्वादिगण में पाठ किया गया है।

अपत्य

अर्थः—लोमन् से अपत्यार्थ के बहुत्व में तद्धितसंज्ञक 'अ' प्रत्यय कहना चाहिये ।

व्याख्या—लोम्नः ।५।१। अपत्येषु ।७।३। बहुषु ।७।३। अकारः ।१।१। वक्तव्यः ।१।१। अर्थः—(लोम्नः) लोमन् शब्द से (अपत्येषु) अपत्यार्थ के (बहुषु) बहुत्व में (अकारः) 'अ' प्रत्यय (वक्तव्यः) कहना चाहिये । केवल लोमन्शब्द का अपत्यार्थ में प्रयोग सम्भव नहीं अतः तदन्त अर्थात् लोमन्शब्दान्तों से ही प्रत्यय किया जायेगा । यह **बाह्वादिभ्यश्च** (१०१५) द्वारा प्राप्त इञ् का अपवाद है । उदाहरण यथा—

उडुलोम्नोऽपत्यानि उडुलोमाः (उडुलोमन् की सन्तानें) । यहां 'उडुलोमन् ङस्' से अपत्यों के बहुत्व की विवक्षा में **बाह्वादिभ्यश्च** (१०१५) द्वारा प्राप्त इञ् प्रत्यय का बाध कर प्रकृत **लोम्नोऽपत्येषु बहुष्वकारो वक्तव्यः** (वा० ७१) वार्त्तिक से 'अ' प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् एवं **नस्तद्धिते** (९१९) से भसंज्ञक टि (अन्) का लोप करने से—उडुलोम्+अ='उडुलोम' यह अदन्त शब्द बना । अब **एकदेशविकृतमनन्यवत्** न्याय के अनुसार प्रातिपदिकसंज्ञा के अक्षुण्ण रहने से स्वाद्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के बहुवचन की विवक्षा में जस् (अस्) विभक्ति ला कर पूर्वसवर्णदीर्घ (१२६) तथा सकार को रुँत्व-विसर्ग करने से 'उडुलोमाः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । ध्यान रहे कि 'अ' प्रत्यय न तो कित् है और न ही ञित् वा णित्, अतः उस के परे रहते आदिवृद्धि नहीं होती ।

उडुलोमन् से अपत्यार्थ में प्रत्यय हो कर रूपमाला यथा—

विभक्ति	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्रथमा	औडुलोमिः	औडुलोमी	उडुलोमाः
द्वितीया	औडुलोमिम्	,,	उडुलोमान्
तृतीया	औडुलोमिना	औडुलोमिभ्याम्	उडुलोमैः
चतुर्थी	औडुलोमये	,,	उडुलोमेभ्यः
पञ्चमी	औडुलोमेः	,,	,,
षष्ठी	,,	औडुलोम्योः	उडुलोमानाम्
सप्तमी	औडुलोमौ	,,	उडुलोमेषु
सम्बोधन	हे औडुलोमे!	हे औडुलोमी!	हे उडुलोमाः!

एकवचन और द्विवचन में इञ्प्रत्ययान्त होने से औडुलोमिशब्द की रूपमाला एवं प्रक्रिया हरिशब्दवत् होती है, परन्तु बहुवचन में 'अ' प्रत्ययान्त होने से उडुलोमशब्द की रूपमाला एवं प्रक्रिया रामशब्दवत् होती है । इसीप्रकार शरलोमन्, ऊर्ध्वलोमन् प्रभृति शब्दों से अपत्यार्थ में प्रत्यय करने पर प्रक्रिया जाननी चाहिये ।

[**लघु०**] आकृतिगणोऽयम् ॥

अर्थः—यह बाह्वादि आकृतिगण है ।

व्याख्या—आकृत्या गण्यत इत्याकृतिगणः । अर्थात् जिन शब्दों से इञ्प्रत्यय तो किया गया देखा जाये परन्तु उन से इञ् का किसी सूत्र या वार्त्तिक से विधान न

देखा जाता हो तो उन शब्दों को भी बाह्वादिगण के अन्तर्गत समझ लेना चाहिये ।[1] यथा—इन्द्रशर्मणोऽपत्यम् ऐन्द्रशर्मिः । शूरस्यापत्यं शौरिः (शूरसेन की सन्तान, वसुदेव या श्रीकृष्ण[2]) ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा गोत्रापत्य तथा अनन्तरापत्य दोनों में अञ् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(१०१६)

अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ् ।४।१।१०४।।

ये त्वत्रानृषयस्तेभ्योऽपत्येऽन्यत्र तु गोत्रे । विदस्य गोत्रं बैदः । बैदौ । बिदाः । पुत्रस्यापत्यं पौत्रः । पौत्रौ । पौत्राः । एवं दौहित्रादयः ।।

अर्थः—बिदादिगणपठित शब्दों से गोत्रापत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक अञ् प्रत्यय होता है परन्तु इन में जो शब्द ऋषिवाचक नहीं उन से अनन्तरापत्य अर्थ में ही प्रत्यय समझना चाहिये ।

व्याख्या—अनृषि इति लुप्तपञ्चमीबहुवचनान्तं पदम् । आनन्तर्ये ।७।१। (चातुर्वर्ण्यादेराकृतिगणत्वात् स्वार्थे ष्यञ्) । बिदादिभ्यः ।५।३। अञ् ।१।१। गोत्रे ।७।१। (**गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ्** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, तस्यापत्यम्** इत्यादि पूर्वतः आ रहे हैं । समासः—न ऋषिः=अनृषिः, तेभ्यः=अनृषिभ्यः, नञ्तत्पुरुषः । बिदशब्द आदिर्येषान्ते बिदादयः, तेभ्यः=बिदादिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः । अनन्तरमेव आनन्तर्यम् (अपत्यम्); तस्मिन्=आनन्तर्ये । अर्थः—(बिदादिभ्यः) बिद आदि षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिकों से (गोत्रे अपत्ये) गोत्रापत्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अञ्) अञ् प्रत्यय होता है परन्तु (अनृषि=अनृषिभ्यः) इन में जो ऋषिवाचक नहीं उन से (आनन्तर्ये=अनन्तरापत्ये) अनन्तरापत्य अर्थ में ही प्रत्यय होता है । दूसरी पीढ़ी अर्थात् पुत्र ही अनन्तरापत्य होता है यह पीछे स्पष्ट कर चुके हैं ।

बिदादि एक गण है ।[3] इस में कुछ ऋषियों के नाम और साथ ही पुत्र, दुहितृ

---

१. **बाह्वादिभ्यश्च** (१०१५) इतिसूत्रे चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । तेनास्य गणस्याकृतिगणत्वं व्यज्यते । अत आकृतिगणोऽयमिति वचनं सूत्रोक्तचकारस्यैव व्याख्यानम् । उक्तं च—

सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्तिके ।
सूत्रं योनिरिहार्थानां सर्वं सूत्रे प्रतिष्ठितम् ।।

२. **तत्राविरभूच्छौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः** (भागवत० १०.३२.२) ।
अस्मार्षीज्जलनिधिमन्थनस्य शौरिः (माघ० ८.६४) ।

३. बिदादिगण यथा—
बिद । उर्व । कश्यप । कुशिक । भरद्वाज । उपमन्यु । किलात (किलालप) ।

3ालाम

आदि कुछ ऐसे प्रातिपदिक भी पढ़े गये हैं जो ऋषिवाचक नहीं। प्रकृतसूत्र से बिदादि-गणपठित ऋषिवाचकों से गोत्रापत्य अर्थ में तथा अन्यों (अनृषिवाचकों) से अनन्तरापत्य अर्थ में अञ् प्रत्यय का विधान किया जाता है। अण् और अञ् प्रत्ययों से रूप तो एक जैसे बनते हैं पर स्वर का अन्तर पड़ता है यह पीछे बताया जा चुका है। सूत्र के उदाहरण यथा—

बिदस्य गोत्रापत्यं बैदः (बिदनामक ऋषि की पौत्र आदि सन्तति)। 'बिद' एक ऋषि का नाम है अतः 'बिद ङस्' से गोत्रापत्य अर्थ में प्रकृत **अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ्** (१०१६) सूत्रद्वारा अञ् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से प्रथमा के एकवचन में 'बैदः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। द्विवचन में—बैदौ। बहुवचन में **यञञोश्च** (१००९) द्वारा अञ् प्रत्यय का लुक् हो कर पुनः पूर्वावस्था को प्राप्त 'बिद' से बहुवचन में जस् ला कर विभक्तिकार्य करने से 'बिदाः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसी तरह द्वितीया आदि विभक्तियों के बहुवचनों में समझ लेना चाहिये। गोत्रप्रत्ययान्त 'बिद' की रूपमाला यथा—

विभक्ति	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथमा	बैदः	बैदौ	बिदाः
द्वितीया	बैदम्	"	बिदान्
तृतीया	बैदेन	बैदाभ्याम्	बिदैः
चतुर्थी	बैदाय	"	बिदेभ्यः
पञ्चमी	बैदात्	"	"
षष्ठी	बैदस्य	बैदयोः	बिदानाम्
सप्तमी	बैदे	"	बिदेषु
सम्बोधन	हे बैद!	हे बैदौ!	हे बिदाः!

इसी तरह—

(१) कश्यपस्य गोत्रापत्यं काश्यपः। काश्यपौ। कश्यपाः।

(२) कुशिकस्य गोत्रापत्यं कौशिकः। कौशिकौ। कुशिकाः।

(३) भरद्वाजस्य गोत्रापत्यं भारद्वाजः। भारद्वाजौ। भरद्वाजाः।

किन्दर्भ। विश्वानर। ऋष्टिषेण। ऋतभाग। हर्यश्व। प्रियक। आपस्तम्ब। कूचवार। शरद्वत्। शुनक। धेनु। गोपवन। शिग्रु। बिन्दु। भाजन। अश्वावतान। श्यामाक। श्यमाक (श्यामक)। श्यापर्ण। हरित। किन्दास। बह्यस्क। अर्कलूष। बध्योष (बध्योग)। विष्णुवृद्ध। प्रतिबोध। रथन्तर। रथीतर। गविष्ठिर। निषाद। मठर। मृद (मृदु)। पुनर्भू। पुत्र। दुहितृ। ननान्दृ। **परस्त्री परशुं च** (गणसूत्रम्)। सृदाकु। पृदाकु। शबर। सम्बक। शाबली। श्यायक। अलस॥

अण्

(४) शुनकस्य गोत्रापत्यं शौनकः । शौनकौ । शुनकाः ।

(५) उपमन्योर्गोत्रापत्यम् औपमन्यवः । औपमन्यवौ । उपमन्यवः ।

(६) उर्वस्य गोत्रापत्यम् और्वः । और्वौ । उर्वाः । इत्यादि ।

बाह्वादियों के आकृतिगण होने के कारण उन में 'बिद' का पाठ मान लेने से अनन्तरापत्य अर्थ में बिद से ऋष्यण् (१०१८) को बाध कर **बाह्वादिभ्यश्च** (१०१५) द्वारा इञ् प्रत्यय हो जाता है । बिदस्यानन्तरापत्यं बैदिः । बैदी । बैदयः । बहुवचन में इञ् के लोप का विधान नहीं है ।

ऋषिभिन्न बिदादियों का अनन्तरापत्य में उदाहरण यथा—

पुत्रस्यानन्तरापत्यं पौत्रः (पुत्र की सन्तान अर्थात् पोता) । पुत्रशब्द बिदादियों में पढ़ा गया है और यह ऋषिवाचक भी नहीं । अतः 'पुत्र ङस्' से अनन्तरापत्य अर्थ में प्रकृत **अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ्** (१०१६) सूत्रद्वारा अञ् प्रत्यय, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से प्रथमा के एकवचन में 'पौत्रः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसी प्रकार—दुहितुरनन्तरापत्यं दौहित्रः (लड़की की सन्तान अर्थात् धेवता) । 'दुहितृ ङस्' से अनन्तरापत्य अर्थ में प्रकृतसूत्र से अञ्, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा **इको यणचि** (१५) से ऋकार को रेफ आदेश कर विभक्ति लाने से 'दौहित्रः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

ननान्दुरनन्तरापत्यं नानान्द्रः (ननन्द का पुत्र) । 'ननान्दृ ङस्' से पूर्ववत् अनन्तरापत्य में अञ्, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा ऋवर्ण को रेफ आदेश कर 'नानान्द्रः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

पौत्रः, पौत्रौ, पौत्राः । दौहित्रः, दौहित्रौ, दौहित्राः । नानान्द्रः, नानान्द्रौ, नानान्द्राः । यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि इन के बहुवचन में अञ् का लुक् नहीं होता, कारण कि **यञञोश्च** (१००९) सूत्र गोत्र में विहित अञ् का ही लुक् विधान करता है अनन्तरापत्य में होने वाले का नहीं ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा इञ् आदि के अपवाद अण् प्रत्यय का विधान करते हैं —

[लघु०] विधि-सूत्रम् **(१०१७) शिवादिभ्योऽण्** ।४।१।११२।।

अपत्ये । शैवः । गाङ्गः ।।

अर्थः—अपत्य अर्थ में शिव आदि प्रातिपदिकों से तद्धितसञ्ज्ञ अण् प्रत्यय हो ।

व्याख्या— शिवादिभ्यः ।५।३। अण् ।१।१। अपत्ये ।७।१। (**तस्यापत्यम्** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, समर्थानां प्रथमाद्वा** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । शिवशब्द आदिर्येषान्ते शिवादयः, तेभ्यः = शिवादिभ्यः । तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । **तस्यापत्यम्** (१००४) से 'तस्य' के अनुवर्त्तन के कारण षष्ठ्यन्त से ही प्रत्यय का विधान होता है । अर्थः—(अपत्ये) अपत्य अर्थ में (शिवादिभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्यः) शिव आदि षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय

3प्रपत्र

होता है । यहां 'गोत्रे' का अनुवर्त्तन नहीं होता अतः अपत्यसामान्य में ही प्रत्यय का विधान समझना चाहिये ।

शिवादि एक गण है ।[1] शिवादियों से इञ् आदि के अपवाद अण् प्रत्यय का विधान किया जा रहा है । उदाहरण यथा—

शिवस्यापत्यं शैवः (शिव की सन्तान) । 'शिव ङस्' से अपत्यार्थ में **अत इञ्** (१०१४) द्वारा प्राप्त इञ् प्रत्यय का बाध कर प्रकृत **शिवादिभ्योऽण्** (१०१७) सूत्र से अण् प्रत्यय, अनुबन्ध णकार का लोप, तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'शैवः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में शैवशब्द से **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र से ङीप् (ई) हो कर भसंज्ञक अकार का लोप एवं विभक्तिकार्य करने से 'शैवी' प्रयोग बनेगा ।

गङ्गाया अपत्यं गाङ्गः (गङ्गा की सन्तान, भीष्म) । यहां 'गङ्गा ङस्' से **शिवादिभ्योऽण्** (१०१७) इस प्रकृतसूत्रद्वारा अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय, सुँब्लुक्, आदि-वृद्धि तथा भसंज्ञक आकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्ति लाने से 'गाङ्गः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[2]

इसीप्रकार—

१. ककुत्स्थस्यापत्यं काकुत्स्थः (ककुत्स्थ की पुत्र पौत्रादि सन्तान) ।

२. यस्कस्यापत्यं यास्कः ।

३. हेहयस्यापत्यं हैहयः ।

४. ऋष्टिषेणस्यापत्यम् आर्ष्टिषेणः ।

---

१. शिवादिगण यथा—

शिव । प्रोष्ठ । प्रौष्ठिक । चण्ड । जम्भ । मुनि । सन्धि । भूरि । दण्ड । कुठार । ककुभ् (ककुभा) । अनभिम्लान । ककुत्स्थ । कोहित । कहोड । रोध । खञ्जन । कोहड । पिष्ट । हेहय । कहूय । कपिञ्जल । परिल । वतण्ड । तृणकर्ण । क्षीरह्रद । जलह्रद । परिषिक । जटिलिक । गोफिलिक । बधिरिका । मञ्जीरक । वृष्णिक । रेख । आलेखन । विश्रवण । रवण । वर्त्तनाक्ष । पिटक । पिटाक । तृक्षाक । नभाक । ऊर्णनाभ । जरत्कारु । उत्क्षिपा । रोहितिक । आर्यश्वेत । सुपिष्ठ । खर्जूरकर्ण । मसूरकर्ण । तूणकर्ण । मयूरकर्ण । खडरक । तक्षन् । ऋष्टिषेण । गङ्गा । विपाशा । यस्क । लह्य । द्रुघ । अयःस्थूण । भलन्दन । विरूपाक्ष । भूमि । इला । सपत्नी । **द्व्यचो नद्याः** (गणसूत्रम्) । **त्रिवेणी त्रिवणं च** (गणसूत्रम्) । कह्वय । वडाक । [इस गण का पाठ बहुत भ्रष्ट हो चुका है] ।

२. इस अर्थ में 'गाङ्गेयः' (**शुभ्रादिभ्यश्च** ४.१.१२३ इति ढक्) और 'गाङ्गायनिः' (**तिकादिभ्यः फिञ्** ४.१.१५४ इति फिञ्) प्रयोग भी बनते हैं । जैसाकि कहा है—

शुभ्रादित्वेन गाङ्गेयो गाङ्गश्चापि शिवाद्यणि ।
गाङ्गायनिस्तिकादित्वादिति गङ्गा त्रिरूपिणी ॥

अण

५. मयूरकर्णस्यापत्यं मायूरकर्णः ।
६. विरूपाक्षस्यापत्यं वैरूपाक्षः ।
७. इलाया अपत्यम् ऐलः (इला का पुत्र, पुरूरवाः) ।
८. सपत्न्या अपत्यं सापत्नः (सौत का पुत्र) ।[1]
९. भूमेरपत्यं भौमः (भूमि का पुत्र, मङ्गलग्रह) ।
१०. त्रिवेण्या अपत्यं त्रैवणः ।[2]
११. जरत्कारोरपत्यं जारत्कारवः (जरत्कारु का पुत्र, आस्तीक) ।[3]
१२. विश्रवसोऽपत्यं वैश्रवणो रावणो वा (विश्रवस् का पुत्र, रावण) ।[4]

अब पुनः अपत्यसामान्य में अण् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम् (**१०१८**)

ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च ।४।१।११४॥

(ऋषिभ्योऽन्धकेभ्यो वृष्णिभ्यः कुरुभ्यश्चापत्येऽण् तद्धितः प्रत्ययः स्यात्) । ऋषिभ्यः—वासिष्ठः । वैश्वामित्रः । अन्धकेभ्यः—श्वाफल्कः । वृष्णिभ्यः—वासुदेवः । कुरुभ्यः —नाकुलः । साहदेवः ॥

अर्थः—ऋषिवाचकों से तथा अन्धक वृष्णि और कुरु इन तीन वंशों में उत्पन्न व्यक्तिवाचकों से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—ऋषि-अन्धक-वृष्णि-कुरुभ्यः ।५।३। च इत्यव्ययपदम् । अण् ।१।१। (**शिवादिभ्योऽण्** सूत्र से) । **तस्यापत्यम्** का अनुवर्त्तन होता है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । ऋषयश्च अन्धकाश्च वृष्णयश्च कुरवश्च ऋष्यन्धकवृष्णिकुरवः, तेभ्यः=ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यः । इतरेतरद्वन्द्वसमासः । 'ऋषि' से यहां मन्त्रद्रष्टा ऋषियों तथा अन्धक, वृष्णि (यदुकुलोत्पन्न) और कुरु शब्दों से इन तीन वंशों में उत्पन्न व्यक्तियों का ग्रहण अभीष्ट है । अर्थः—(ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यः) ऋषिवाचकों से तथा अन्धक, वृष्णि और कुरु इन तीन वंशों में उत्पन्न व्यक्तिवाचकों से (च) भी (अपत्ये) अपत्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है । यह सूत्र **अत इञ्** (१०१४) द्वारा प्राप्त इञ् प्रत्यय का अपवाद है । क्रमशः उदाहरण यथा—

---

१. आदिवृद्धि होकर **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक ईकार का लोप हो जाता है ।
२. शिवाद्यन्तर्गत **त्रिवेणी त्रिवणं च** इस गणसूत्र से त्रिवेणी को त्रिवण सर्वादेश हो जाता है ।
३. **ओर्गुणः** (१००५) से उकार को ओकार गुण होकर अवादेश हो जाता है ।
४. न्यासकार का कथन है कि अपत्यार्थक अण् प्रत्यय के परे रहते 'विश्रवस्' इस प्रकृति के स्थान पर 'विश्रवण' अथवा 'रवण' सर्वादेश हो जाते हैं । इस का विशेष विवेचन व्याख्याकार के सुप्रसिद्ध शोधग्रन्थ **न्यासपर्यालोचन** में (२.३२) पर देखें । यह ग्रन्थ **भैमी-प्रकाशन** से प्रकाशित हो चुका है ।

अपत्य

(१) ऋषिवाचकों से—

वसिष्ठस्यापत्यं वासिष्ठः, विश्वामित्रस्यापत्यं वैश्वामित्रः। यहां वसिष्ठ और विश्वामित्र दोनों मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के नाम हैं अतः इन दोनों षष्ठ्यन्त सुँबन्तों से प्रकृत **ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च** (१०१८) सूत्रद्वारा अपत्यसामान्य में अण् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से उपर्युक्त रूप सिद्ध हो जाते हैं।

(२) अन्धकवंशीयों से—

श्वफल्कस्यापत्यं श्वाफल्कः (श्वफल्क की सन्तान)। श्वफल्क अन्धकवंशीय है अतः 'श्वफल्क ङस्' से अपत्य अर्थ में **ऋष्यन्धक०** (१०१८) सूत्र से अण् प्रत्यय, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'श्वाफल्कः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार—रन्धसस्यापत्यं रान्धसः।

(३) वृष्णिवंशीयों[1] से—

वसुदेवस्यापत्यं वासुदेवः (वसुदेव की सन्तान, श्रीकृष्ण)। वसुदेव का वंश वृष्णि-वंश है अतः प्रकृतसूत्रद्वारा 'वसुदेव ङस्' से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय, सुँब्लुक्, आदि-वृद्धि, एवं भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'वासुदेवः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार—अनिरुद्धस्यापत्यम् आनिरुद्धः। अनिरुद्ध भगवान् कृष्ण के पौत्र तथा प्रद्युम्न के पुत्र थे अतः यह भी वृष्णिवंशीय है।

शूरस्यापत्यं शौरिः। शूर (शूरसेन) यद्यपि वृष्णिवंशीय है तथापि बाह्वादिगण के आकृतिगण होने से उस गण में इस का पाठ मान लेने से **बाह्वादिभ्यश्च** (१०१५) सूत्रद्वारा इञ् ही होता है, अण् नहीं।

(४) कुरुवंशीयों से—

नकुलस्यापत्यं नाकुलः (नकुल की सन्तान)। सहदेवस्यापत्यं साहदेवः। नकुल और सहदेव पाण्डवों के अन्तर्गत होने से सुप्रसिद्ध कुरुवंशीय हैं अतः प्रकृतसूत्र से अण् प्रत्यय हो कर पूर्ववत् रूप सिद्ध हो जाते हैं। इसीप्रकार—धृतराष्ट्रस्यापत्यानि धार्त-राष्ट्राः। **निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन** (गीता १.३६)।

अर्जुन और युधिष्ठिर शब्दों का पाठ बाह्वादिगण में आया है अतः **बाह्वा-दिभ्यश्च** (१०१५) द्वारा इञ् प्रत्यय ही होता है अण् नहीं। अर्जुनस्यापत्यम् आर्जुनिः। युधिष्ठिरस्यापत्यं यौधिष्ठिरिः।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा अपत्य अर्थ में अण्विधान के साथ-साथ एक विशेष कार्य का भी विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०१९)

मातुरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः ।४।१।११५।।

---

१. वृष्णिनामक सुप्रसिद्ध क्षत्रिय यदुकुल में उत्पन्न हुए। इन के वंश में ही श्रीकृष्ण का जन्म हुआ।

संख्यादिपूर्वस्य मातृशब्दस्य उदादेशः स्यादण्प्रत्ययश्च (अपत्ये)। द्वैमातुरः। षाण्मातुरः। साम्मातुरः। भाद्रमातुरः॥

अर्थः—सङ्ख्यापूर्व, सम्पूर्व तथा भद्रपूर्व मातृशब्द को अपत्य अर्थ में ह्रस्व उकार अन्तादेश हो और इस से परे तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय भी हो।

व्याख्या—मातुः।६।१। उत्।१।१। संख्या-सम्-भद्रपूर्वायाः।६।१। अण्।१।१। (**शिवादिभ्योऽण्** सूत्र से)। **तस्यापत्यम्** का अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। संख्या च सम् च भद्रश्च संख्यासम्भद्राः, संख्यासम्भद्राः पूर्वे यस्याः सा संख्यासम्भद्रपूर्वा, तस्याः=संख्यासम्भद्रपूर्वायाः। द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिसमासः। अर्थः - (संख्या-सम्-भद्रपूर्वायाः) संख्यावाचक शब्द, 'सम्' शब्द या 'भद्र' शब्द जिस के पूर्व में हो ऐसे (मातुः) मातृशब्द के स्थान पर (उत्) ह्रस्व उकार आदेश हो जाता है तथा इस से परे (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय भी हो जाता है (अपत्ये) अपत्य अर्थ में।

अलोऽन्त्यपरिभाषा से मातृशब्द के अन्त्य ऋवर्ण के स्थान पर 'उ' आदेश होगा। **उरण्रपरः** (२९) से रपर हो कर 'उर्' बन जायेगा। इस प्रकार 'मातृ' का 'मातुर्' हो जायेगा। उदाहरण यथा—

द्वैमातुरः (दो माताओं की सन्तान)[1]। 'द्वयोर्मात्रोरपत्यम्' इस विग्रह में अपत्यार्थक तद्धित (अण्) प्रत्यय की विवक्षा में सर्वप्रथम **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३६) सूत्रद्वारा 'द्वि ओस्+मातृ ओस्' इस अलौकिकविग्रह में तत्पुरुष (द्विगु) समास हो कर सुँब्लुक्, प्रथमानिर्दिष्ट होने से संख्यावाचक की उपसर्जनसञ्ज्ञा तथा **उपसर्जनं पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्वनिपात करने से 'द्विमातृ' हुआ। अब इसे षष्ठ्यन्त बना कर अर्थात् 'द्विमातृ ओस्' से अपत्य अर्थ में **मातुरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः** (१०१९) सूत्रद्वारा तद्धित अण् प्रत्यय तथा मातृशब्द के अन्त्य अल् ऋवर्ण को उकार आदेश, रपर, सुँब्लुक् तथा **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदि अच्-इकार को ऐकार वृद्धि कर—द्वैमातुर्+अ=द्वैमातुर। विभक्ति लाने से 'द्वैमातुरः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

संख्यापूर्व मातृशब्द का दूसरा सुप्रसिद्ध उदाहरण यथा—

षाण्मातुरः (छः माताओं की सन्तान, कार्त्तिकेय)। 'षण्णाम् मातॄणामपत्यम्' इस विग्रह में अपत्यार्थक तद्धित (अण्) प्रत्यय की विवक्षा में सर्वप्रथम 'षष् आम्+मातृ आम्' इस अलौकिकविग्रह में **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३६) सूत्रद्वारा

---

१ जिस की दो माताएं (एक अपनी तथा दूसरी विमाता) हों उसे 'द्वैमातुर' कहते हैं। गणेशजी और जरासन्ध को भी द्वैमातुर कहा जाता है—द्वैमातुरो जरासन्धवारणाननयोः पुमान् इति व्याख्यासुधायां भानुजिदीक्षितः। गणेशजी को दुर्गा और चामुण्डा दो माताओं ने पाला था (देखिये स्कन्दपुराण)। जरासन्ध के विषय में प्रसिद्ध है कि वह आधा एक माता के गर्भ से और आधा दूसरी माता के गर्भ से पैदा होकर जरानामक एक पिशाची से सन्धित किया गया था।

अपत्य

द्विगुतत्पुरुष समास हो कर सुँब्लुक्, संख्यावाचक की उपसर्जनसञ्ज्ञा और उस का पूर्व-निपात करने से—'षष् + मातृ'। अब अन्तर्वर्त्तिनी विभक्ति को मान कर पदत्व के कारण पदान्त षकार को **झलां जशोऽन्ते** (६७) से डकार एवं **यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा** (६८) से डकार को अनुनासिक णकार करने से 'षण्मातृ' बना। इसे षष्ठीबहुवचनान्त बना कर इस से अपत्य अर्थ में **मातुरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः** (१०१९) सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय तथा मातृशब्द के ऋवर्ण को उकार आदेश, रपर, सुँब्लुक् और अण् के णित्त्व के कारण **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदिवृद्धि कर विभक्ति लाने से 'षाण्मातुरः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

सम्पूर्वक मातृशब्द का उदाहरण यथा—

सम्मातुरपत्यं साम्मातुरः (भली माता का पुत्र)। समीचीना माता सम्माता। यहां 'सम्' और 'मातृ सुँ' का **कु-गति-प्रादयः** (९४९) से नित्य प्रादिसमास हो जाता है। पुनः षष्ठ्यन्त 'सम्मातृ ङस्' से अपत्य अर्थ में प्रकृत **मातुरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः** (१०१९) सूत्र से अण् प्रत्यय, मातृ के ऋकार को उकार आदेश, रपर, सुँब्लुक् और आदिवृद्धि करने से 'साम्मातुरः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

भद्रपूर्व मातृशब्द का उदाहरण यथा—

भद्रमातुरपत्यं भाद्रमातुरः (भली माता का पुत्र)। भद्रा चासौ माता भद्रमाता। यहां 'भद्रा सुँ+मातृ सुँ' इस अलौकिकविग्रह में **विशेषणं विशेष्येण बहुलम्** (९४४) सूत्र से तत्पुरुषसमास हो कर सुँब्लुक् तथा **पुंवत्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु** (६.३.४१) सूत्र से पुंवद्भाव करने से 'भद्रमातृ' शब्द बन जाता है। अब 'भद्रमातृ ङस्' से अपत्य अर्थ में प्रकृत **मातुरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः** (१०१९) से अण् प्रत्यय, ऋवर्ण को उर् आदेश, सुँब्लुक् तथा अन्त में **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदिवृद्धि कर विभक्ति लाने से 'भाद्रमातुरः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

यह सूत्र उर् आदेश के लिये ही बनाया गया है, अण् प्रत्यय तो **प्राग्दीव्यतोऽण्** (४.१.८३) अधिकार के कारण **तस्यापत्यम्** (१००४) से ही सिद्ध था।

अब अपत्य अर्थ में ढक् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०२०) स्त्रीभ्यो ढक् ।४।१।१२०॥

स्त्रीप्रत्ययान्तेभ्यो ढक् (अपत्ये)। वैनतेयः॥

अर्थः—स्त्रीप्रत्ययान्त प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक ढक् प्रत्यय हो।

व्याख्या—स्त्रीभ्यः ।५।३। ढक् ।१।१। अपत्ये ।७।१। (**तस्यापत्यम्** से)। **प्रत्ययः परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। 'स्त्रीभ्यः' यहां 'स्त्री' शब्द से टाप्, ङीप् आदि स्त्रीप्रत्ययों का ग्रहण अभीष्ट है। **प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्** परिभाषा से तदन्तविधि हो कर 'स्त्रीप्रत्ययान्तेभ्यः' ऐसा उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(स्त्रीभ्यः=स्त्रीप्रत्ययान्तेभ्यः) स्त्रीप्रत्ययान्त षष्ठ्यन्तों से (अपत्ये) अपत्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ढक्) ढक् प्रत्यय हो जाता है।

अण्

ढक् में अन्त्य ककार इत् है । प्रत्यय के कित्त्व के कारण **किति च** (१००१) सूत्रद्वारा अङ्ग के आदि अच् को वृद्धि हो जाती है । उदाहरण यथा—

विनताया अपत्यं वैनतेयः (विनता का पुत्र, गरुड़) । विनताशब्द टाप्प्रत्ययान्त है अतः 'विनता ङस्' से अपत्य अर्थ में प्रकृत **स्त्रीभ्यो ढक्** (१०२०) सूत्र से ढक् प्रत्यय, ककार अनुबन्ध का लोप, तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसंज्ञा के कारण **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (ङस्) का लुक् हो जाता है—विनता+ढ । अब **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) सूत्र से 'ढ' प्रत्यय के आदि ढकार को एय् आदेश हो कर—विनता+एय् अ='विनता+एय' इस स्थिति में **किति च** (१००१) द्वारा आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक आकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'वैनतेयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—

सुपर्ण्या अपत्यं सौपर्णेयः[1] (सुपर्णी की सन्तान, गरुड़) ।

युवतेरपत्यं यौवतेयः (जवान स्त्री की सन्तति) ।

द्रौपद्या अपत्यं द्रौपदेयः (द्रौपदी की सन्तान) ।

सरमाया अपत्यं सारमेयः (सरमा=देवशुनी की सन्तति) ।

कुन्त्या अपत्यं कौन्तेयः (कुन्ती की सन्तान) ।

वासवदत्ताया अपत्यं वासवदत्तेयः (वासवदत्ता की सन्तति) ।

सुमित्राया अपत्यं सौमित्रिः । यहां **बाह्वादिभ्यश्च** (१०१५) सूत्र से इञ् प्रत्यय होता है । सुमित्राशब्द बाह्वादियों में साक्षात् पढ़ा गया है । सपत्न्या अपत्यं सापत्नः । यहां **शिवादिभ्योऽण्** (१०१७) सूत्र से अण् प्रत्यय होता है । पृथाया अपत्यं पार्थः । यहां भी अपत्य अर्थ में शिवादित्वाद् अण् प्रत्यय समझना चाहिये ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा ढक् प्रत्यय का अपवाद दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०२१) कन्यायाः कनीन च ।४।१।११६।।

चादण् । कानीनो व्यासः कर्णश्च ।।

अर्थः—अपत्य अर्थ में कन्याशब्द के स्थान पर कनीन आदेश तथा प्रकृति से परे तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय भी हो ।

व्याख्या—कन्यायाः ।६।१। कनीन इति लुप्तप्रथमैकवचनान्तं पदम् । च इत्यव्ययपदम् । अण् ।१।१। (**शिवादिभ्योऽण्** सूत्र से) । **तस्यापत्यम्** सूत्र का अनुवर्त्तन हो रहा है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं ।

---

१. कुछ वैयाकरण 'सुपर्णी' के स्थान पर 'सुपर्णा' शब्द का यहां प्रयोग मानते हैं । उन के मतानुसार 'सुपर्णाया अपत्यं सौपर्णेयः' ऐसा विग्रह होगा (देखें हैमबृहद्वृत्ति ६.१.६७) । [शोभनानि पर्णानि अस्या यद्वा सुपर्णो गरुडः सोऽस्त्यस्या इत्यर्थे अर्शआदित्वादचि गौरादित्वान्ङीषि सुपर्णीति । केचित्तु सुपर्णशब्दस्य गौरादौ पाठाभावाट्टापि 'सुपर्णा' इत्याहुः ।]

अपत्य यत्

अर्थः—(अपत्ये) अपत्य अर्थ में (कन्यायाः) कन्याशब्द के स्थान पर (कनीन) 'कनीन' आदेश (च) तथा प्रकृति से (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय भी होता है। अनेकाल् होने से कनीन आदेश समग्र कन्याशब्द के स्थान पर होता है (४५)। उदाहरण यथा—

कन्याया अपत्यं कानीनः (अविवाहिता का पुत्र, कर्ण या व्यास)[1]। 'कन्या ङस्' से अपत्य अर्थ में प्रकृत **कन्यायाः कनीन च** (१०२१) सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय तथा कन्याशब्द के स्थान पर 'कनीन' यह सर्वादेश हो जाता है—कनीन ङस्+अ। अब तद्धितान्त की प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर सुँब्लुक् (७२१), आदिवृद्धि (९३८) तथा भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्ति लाने से 'कानीनः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

यह सूत्र **स्त्रीभ्यो ढक्** (१०२०) द्वारा प्राप्त ढक् प्रत्यय का अपवाद है, कन्या को कनीन आदेश इस में विशेष कहा गया है।

अब अपत्यार्थ में यत् प्रत्यय का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०२२)

राज-श्वशुराद् यत् ।४।१।१३७॥

अर्थः—राजन् और श्वशुर प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक यत् प्रत्यय हो।

व्याख्या—राजश्वशुरात् ।५।१। यत् ।१।१। **तस्यापत्यम्** की अनुवृत्ति आ रही है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। राजा च श्वशुरश्च राजश्वशुरम्, तस्मात्=राजश्वशुरात्। समाहारद्वन्द्वः। अर्थः—(अपत्ये) अपत्य अर्थ में (राजश्वशुरात्) राजन् और श्वशुर इन षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से परे (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (यत्) यत् प्रत्यय होता है।

राजन्शब्द से अपत्यार्थ में औत्सर्गिक अण् प्रत्यय तथा श्वशुरशब्द से **अत इञ्** (१०१४) सूत्रद्वारा इञ् प्रत्यय प्राप्त था उन का यह अपवाद है। यत् प्रत्यय में तकार इत् हो कर लुप्त हो जाता है, 'य' मात्र अवशिष्ट रहता है। तकार अनुबन्ध **तित् स्वरितम्** (६.१.१७९) द्वारा स्वरितस्वर के लिये जोड़ा गया है। ध्यान रहे कि यत् के परे रहते आदिवृद्धि का प्रसङ्ग ही नहीं होता।

राजन्शब्द से अपत्यार्थ में यत् प्रत्यय के किये जाने पर भी इस में जाति अर्थ की विशेषता का अग्रिमवार्त्तिक से प्रतिपादन करते हैं—

[लघु०] वा०—(७२) **राज्ञो जातावेवेति वाच्यम्** ॥

अर्थः—राजन्शब्द से जाति के वाच्य होने पर ही यत् प्रत्यय कहना चाहिये।

---

१. व्यास की उत्पत्ति महाभारत आदिपर्व अध्याय (६३) में तथा कर्ण की उत्पत्ति उसी पर्व के अध्याय (१११) में देखें।

व्याख्या—राज्ञः ।५।१। जातौ ।७।१। एव इत्यव्ययपदम् । इति इत्यव्ययपदम् । वाच्यम् ।१।१। यह वार्त्तिक **राजश्वशुराद्यत्** (१०२२) सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है अतः तद्विषयक समझना चाहिये । अर्थ सरल है । तात्पर्य यह है कि राजन्शब्द से यत् प्रत्यय अपत्यार्थ में तभी होगा जब प्रकृतिप्रत्ययसमुदाय से जाति (क्षत्त्रियजाति) की प्रतीति होती हो ।

अब प्रकृत सूत्र के उदाहरण में उपयोगी एक प्रक्रियासम्बन्धी सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१०२३) ये चाऽभावकर्मणोः**।६।४।१६८।।

यादौ तद्धिते परेऽन् प्रकृत्या स्यात्, न तु भावकर्मणोः। राजन्यः। श्वशुर्यः। जातावेवेति किम् ?—

अर्थः—यकारादि तद्धित के परे रहते 'अन्' प्रकृतिभाव को प्राप्त हो परन्तु यदि तद्धित प्रत्यय भाव या कर्म अर्थ में हुआ हो तो यह प्रकृतिभाव **न** हो ।

व्याख्या—ये ।७।१। (यकारादकार उच्चारणार्थः) । च इत्यव्ययपदम् । अभाव-कर्मणोः ।७।२। अन् ।१।१। (**अन्** सूत्र से) । तद्धिते ।७।१। (**आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति** सूत्र से) । प्रकृत्या ।३।१। (**प्रकृत्यैकाच्** सूत्र से) । भावश्च कर्म च भावकर्मणी, तयोः = भावकर्मणोः । न भावकर्मणोः = अभावकर्मणोः, द्वन्द्वगर्भनञ्तत्पुरुषः । यह सूत्र **अङ्गस्य** (६.४.१) अधिकार के अन्तर्गत अष्टाध्यायी में पढ़ा गया है । अतः अङ्ग के कारण 'प्रत्यये' उपलब्ध हो जाता है क्योंकि प्रत्यय के परे न रहते अङ्ग का होना सम्भव नहीं । 'ये' को 'प्रत्यये' का विशेषण मान तदादिविधि करने से 'यकारादौ प्रत्यये' बन जाता है । अर्थः—(ये = यकारादौ तद्धिते प्रत्यये) यकारादि तद्धित प्रत्यय के परे रहते (अन्) 'अन्' यह अक्षरसमुदाय (प्रकृत्या) प्रकृतिभाव से रहता है अर्थात् इस में परिवर्त्तन नहीं होता, वह वैसे का वैसा रहता है परन्तु यह प्रकृतिभाव (अभाव-कर्मणोः) भाव या कर्म अर्थ में हुए तद्धित के परे रहते नहीं होता । उदाहरण यथा—

राज्ञोऽपत्यं जातिः—राजन्यः (क्षत्त्रिय राजा की क्षत्त्रिया स्वभार्या में उत्पन्न सन्तान, क्षत्त्रिय जाति का पुरुष) । 'राजन् ङस्' इस षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में क्षत्त्रियजाति की वाच्यता में **राज्ञो जातावेवेति वाच्यम्** (वा० ७२) इस वार्त्तिक की सहायता से **राजश्वशुराद्यत्** (१०२२) सूत्रद्वारा यत् तद्धितप्रत्यय हो कर तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसंज्ञा के कारण **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् हो जाता है—राजन्+य । अब **यचि भम्** (१६५) से भसंज्ञा हो जाने पर **नस्तद्धिते** (९१९) सूत्रद्वारा भसंज्ञक अन् का लोप प्राप्त होता है परन्तु प्रकृत **ये चाऽभावकर्मणोः** (१०२३) सूत्र से 'अन्' के प्रकृतिभाव को प्राप्त होने से लोप नहीं होता । तब स्वाद्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में 'राजन्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[1]

---

१. क्षत्त्रियात् क्षत्त्रियायां स्वभार्यायामुत्पन्नो राजन्य इति धर्मशास्त्रेषु प्रसिद्धम् । **मूर्धा-**

श्वशुरशब्द से अपत्यार्थ में यत् का उदाहरण यथा—

श्वशुरस्यापत्यं श्वशुर्यः (ससुर का पुत्र, साला या देवर)। यहां 'श्वशुर ङस्' से अपत्यार्थ में **राजश्वशुराद्यत्** (१०२२) सूत्र से यत् प्रत्यय, सुँब्लुक् तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'श्वशुर्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। **श्वशुर्यौ देवरश्यालौ** इत्यमरः।

भाव और कर्म अर्थों में यदि यकारादि तद्धित प्रत्यय हुआ हो तो अन् को प्रकृतिभाव न होगा। यथा—राज्ञः कर्म भावो वा राज्यम्। यहां भाव और कर्म अर्थों में पुरोहितादिगणान्तर्गत होने से **पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्** (११६३) सूत्रद्वारा 'राजन् ङस्' से यक् प्रत्यय, अनुबन्धककार का लोप एवं सुँब्लुक् करने से—'राजन्+य' इस स्थिति में **नस्तद्धिते** (६१६) सूत्र से भसंज्ञक टि (अन्) का लोप हो जाता है, प्रकृतसूत्र से प्रकृतिभाव नहीं होता—राज्+य=राज्यम्।

जातावेवेति किम् ?

पूर्ववार्त्तिक (वा० ७२) से जाति अर्थ में ही राजन्शब्द से यत् प्रत्यय का विधान कहा गया है। यदि ऐसा न हो कर केवल अपत्य अर्थ ही विवक्षित होगा तो यत् की बजाय औत्सर्गिक अण् प्रत्यय हो कर भिन्न रूप बनेगा। इस के लिये अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०२४) अन् ।६।४।१६७।।

अन् प्रकृत्या स्यादणि परे। राजनः ।।

अर्थः—अण् प्रत्यय परे होने पर 'अन्' प्रकृतिभाव से अवस्थित रहे।

व्याख्या—अन् ।१।१। अणि ।७।१। (**इनण्यनपत्ये** सूत्र से)। प्रकृत्या ।३।१। (**प्रकृत्यैकाच्** सूत्र से)। अर्थः—(अणि) अण् प्रत्यय परे हो तो (अन्) अन्। (प्रकृत्या) प्रकृतिभाव से रहता है। यह **नस्तद्धिते** (६१६) सूत्र का अपवाद है। उदाहरण यथा—

राज्ञोऽपत्यं राजनः (राजा की सन्तान जो क्षत्रियजाति की नहीं)[1]। यहां 'राजन् ङस्' से केवल अपत्य अर्थ में (जाति में नहीं) **तस्यापत्यम्** (१००४) द्वारा औत्सर्गिक अण् प्रत्यय ला कर सुँब्लुक् करने से 'राजन्+अ' इस अवस्था में **नस्तद्धिते** (६१६) द्वारा प्राप्त टिलोप का बाध कर प्रकृत **अन्** (१०२४) सूत्र से प्रकृतिभाव हो जाता है—राजन। अब विभक्त्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर रुँत्व-विसर्ग करने से 'राजनः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अब अपत्यार्थ में 'घ' प्रत्यय का विधान करते हैं—

भिषिक्तो राजन्यो बाहुजः क्षत्रियो विराट्—इत्यमरः। राजन्यशब्दस्य प्रयोगो यथा—**राजन्यान् स्वपुरनिवृत्तयेऽनुमेने** (रघु० ४.८७)।

राजन्यरुधिराम्भोधिकृतत्रिषवणो मुनिः।
प्राप्तः परशुरामोऽयं न विद्मः किं करिष्यति ।। (अनर्घराघव ४.१७)

१. क्षत्रियाच्छूद्रायां वा तदन्यस्यां वा अनूढायामुत्पन्न इत्यर्थः।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०२५) क्षत्राद् घः ।४।१।१३८।।

क्षत्रियः । जातावित्येव । क्षात्रिरन्यत्र ।।

अर्थः—क्षत्र प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक 'घ' प्रत्यय हो । यह प्रत्यय भी जाति अर्थ में ही समझना चाहिये ।

व्याख्या—क्षत्रात् ।५।१। घः ।१।१। अपत्ये ।७।१। (**तस्यापत्यम्** की अनुवृत्ति आ रही है) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(क्षत्रात्) षष्ठ्यन्त 'क्षत्र' प्रातिपदिक से (अपत्ये) अपत्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (घः) 'घ' प्रत्यय होता है । यह प्रत्यय भी पूर्ववत् जाति की वाच्यता में ही प्रवृत्त होता है । उदाहरण यथा—

क्षत्रस्यापत्यं क्षत्रियः (क्षत्र[1] की सन्तति, क्षत्रियजाति का व्यक्ति) । यहां षष्ठ्यन्त क्षत्र प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में जाति की वाच्यता में **क्षत्राद् घः** (१०२५) सूत्र से तद्धितसंज्ञक 'घ' प्रत्यय, सुँब्लुक्, **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) से 'घ' के आदिवर्ण घ् को इय् आदेश हो कर भसंज्ञक अकार का लोप करने से 'क्षत्रियः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

यदि केवल अपत्यमात्र अर्थ ही विवक्षित होगा जाति की विवक्षा न होगी तो **अत इञ्** (१०१४) से इञ् प्रत्यय, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्ति लाने से 'क्षात्रिः' प्रयोग बनेगा । क्षत्रिय से शूद्रा आदि में उत्पन्न सन्तति 'क्षात्रि' कहाती है ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा अपत्यार्थ में ठक् प्रत्यय का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०२६) रेवत्यादिभ्यष्ठक् ।४।१।१४६।।

अर्थः—रेवती आदि प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक ठक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—रेवत्यादिभ्यः ।५।३। ठक् ।१।१। अपत्ये ।७।१। (**तस्यापत्यम्** सूत्र की अनुवृत्ति आ रही है) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । रेवतीशब्द आदिर्येषान्ते रेवत्यादयः, तेभ्यः=रेवत्यादिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(रेवत्यादिभ्यः) रेवती आदि षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से (अपत्ये) अपत्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय हो जाता है ।

रेवत्यादि एक गण है ।[2] ठक् में ककार इत् है । अतः ठक् के परे रहते **किति च**

---

१. क्षत्रिय जाति के व्यक्ति को क्षत्र कहते हैं—
क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः । (रघु० २.५३)
असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा । (शाकुन्तल १.२१)

२. रेवत्यादिगण यथा—
रेवती । अश्वपाली । मणिपाली । द्वारपाली । वृकवञ्चिन् । वृकग्राह । कर्णग्राह । दण्डग्राह । कुक्कुटाक्ष । वृकबन्धु । चामरग्राह । ककुदाक्ष ।।

अपत्य ठक् [ठ् + इक]

(१००१) द्वारा अङ्ग के आदि अच् को वृद्धि हो जायेगी। ठक् में ठकारोत्तर अकार भी उच्चारणार्थ है।[1] सूत्र का उदाहरण यथा –

रेवत्या अपत्यं रैवतिकः (रेवती का पुत्र)। 'रेवती ङस्' से अपत्य अर्थ में **स्त्रीभ्यो ढक्** (१०२०) से प्राप्त ढक् प्रत्यय का बाध कर **रेवत्यादिभ्यष्ठक्** (१०२६) सूत्र से तद्धितसंज्ञक ठक् प्रत्यय तद्धितान्त की प्रातिपदिकसंज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् तथा ठक् के अनुबन्धों का लोप करने पर—रेवती + ठ्। अब इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**१०२७**) **ठस्येकः** ।७।३।५०॥

अङ्गात् परस्य ठस्येकादेशः स्यात्। रैवतिकः॥

अर्थः—अङ्ग से परे ठ् को 'इक' आदेश हो।

व्याख्या—ठस्य ।६।१। इकः ।१।१। अङ्गात् ।५।१। (**अङ्गस्य** इस अधिकृत का पञ्चम्यन्ततया विपरिणाम हो जाता है)। अर्थः—(अङ्गात्) अङ्ग से परे (ठस्य) ठ् के स्थान पर (इकः) 'इक' आदेश हो जाता है। 'इक' आदेश अदन्त है।[2]

'रेवती + ठ्' यहां 'रेवती' अङ्ग है। इस अङ्ग से परे ठ् को प्रकृत **ठस्येकः** (१०२७) सूत्र से अदन्त 'इक' आदेश हो कर 'रेवती + इक' हुआ। ठक् कित् था अतः स्थानिवद्भाव से 'इक' आदेश भी कित् हुआ। इस कित् को निमित्त मान कर **किति च** (१००१) सूत्र से अङ्ग के आदि अच् एकार को ऐकार वृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से रेवती के भसंज्ञक ईकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'रैवतिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

---

१. इस का विशेष विवेचन अग्रिमसूत्र की टिप्पण में देखें।

२. यहां महाभाष्य में दो पक्ष माने गये हैं। (१) वर्णपक्ष और (२) संघातपक्ष। वर्णपक्ष के अनुसार ठक् आदि प्रत्ययों में ठकारोत्तर अकार उच्चारणार्थ है, प्रत्यय केवल 'ठ्' वर्ण ही है। संघातपक्ष के अनुसार ठक् आदि प्रत्ययों में 'ठ' इस प्रकार सस्वर प्रत्यय माना जाता है। इन दोनों पक्षों में **ठस्येकः** (१०२७) द्वारा 'इक' आदेश हो जाता है। वर्णपक्ष में केवल ठ् को तथा संघातपक्ष में 'ठ' इस सस्वर समुदाय को इक आदेश किया जाता है। **ठस्येकः** (१०२७) के 'ठस्य' पद की भी वैसी ही व्याख्या की जाती है जैसे प्रत्यय का स्वरूप अभिमत होता है। वर्णपक्ष में ठस्य के ठकारोत्तर अकार को उच्चारणार्थ तथा संघातपक्ष में इसे प्रत्यय का अंश समझा जाता है। वर्णपक्ष में 'अङ्गात्' ग्रहण के कारण पठिता, पठितुम् आदि में ठ् को इक आदेश नहीं होता क्योंकि वह धात्ववयव होने से अङ्ग से परे नहीं है। संघातपक्ष में—**कणेष्ठः** (उणादि० १०३) कण्ठः, इत्यादियों में **उणादयो बहुलम्** (८४८) में 'बहुलम्' ग्रहण के कारण 'ठ' को इक आदेश नहीं होता।

गौरव और लाघव की दृष्टि से देखा जाये तो वर्णपक्ष ही लघु रहता है अतः कौमुदीकार ने इसी पक्ष का आश्रयण किया है।

इसीप्रकार—
अश्वपाल्या अपत्यम् आश्वपालिकः (अश्वपाली की सन्तान)।
द्वारपाल्या अपत्यं दौवारपालिकः[1] (द्वारपाली की सन्तान)।
कुक्कुटाक्षस्यापत्यं कौक्कुटाक्षिकः (कुक्कुटाक्ष की सन्तान)।
दण्डग्राहस्यापत्यं दाण्डग्राहिकः (दण्डग्राह की सन्तान)।

रेवती, अश्वपाली, द्वारपाली आदि से प्राप्त ढक् (१०२०) का तथा दण्डग्राह, कुक्कुटाक्ष आदि से प्राप्त इञ् (१०१४) प्रत्यय का यह अपवाद है।

अब यहां से आगे तद्राज-प्रत्ययों का प्रकरण प्रारम्भ होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१०२८)**

जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ् ।४।१।१६६।।

जनपदक्षत्रियवाचकाच्छब्दादञ् स्यादपत्ये। पाञ्चालः ।।

अर्थः—जनपदविशेष का वाचक शब्द यदि उस नाम वाले क्षत्रियविशेष का भी वाचक हो तो उस से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक अञ् प्रत्यय हो।

व्याख्या—जनपदशब्दात् ।५।१। क्षत्रियात् ।५।१। अञ् ।१।१। अपत्ये ।७।१। (**तस्यापत्यम्** की अनुवृत्ति आ रही है)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। जनपदवाचकः शब्दो जनपदशब्दः, तस्मात् = जनपदशब्दात्, शाकपार्थिवादित्वाद् मध्यमपदलोपितत्पुरुषः। अर्थः—(जनपदशब्दात् क्षत्रियात्) देश-वाचक शब्द जब उसी नामवाले क्षत्रिय का भी वाचक हो तो उस से (अपत्ये) अपत्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अञ्) अञ् प्रत्यय होता है।[2] अञ् में ञकार इत् है, 'अ' मात्र अवशिष्ट रहता है। ञकार अनुबन्ध आदिवृद्धि तथा आद्युदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है। उदाहरण यथा—

'पञ्चाल' शब्द के दो अर्थ हैं—(१) पञ्चालदेश (देश अर्थ में पञ्चाल आदि शब्द बहुवचनान्त होते हैं), (२) एक क्षत्रियविशेष नृप। इस प्रकार 'पञ्चालस्यापत्यम्' इस विग्रह में अपत्यार्थ में 'पञ्चाल ङस्' से प्रकृत **जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्** (१०२८) सूत्रद्वारा अञ् प्रत्यय, ञकार अनुबन्ध का लोप, तद्धितान्त की प्रातिपदिकसंज्ञा, प्राति-पदिक के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक्, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'पाञ्चालः' (पञ्चाल का पुत्र) प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[3] इसी प्रकार—

---

१. यहां **द्वारादीनां च** (७.३.४) सूत्र से वकार से पूर्व औकार का आगम हो जाता है।

२. जनपदवाची सन् यः क्षत्रियवाची ततोऽपत्ये अञ्। यद्यपि पञ्चालादयो जनपदे बहुवचनान्ताः, क्षत्रिये तु एकवचनान्ताः, तथापि प्रातिपदिकस्योभयवाचित्वमक्षत-मेवेति बोध्यम्।

३. स्त्री-अपत्य की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) से ङीप् तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर 'पाञ्चाली' (पञ्चाल की पुत्री) बनेगा।

विदेहा जनपदः, विदेहो नाम क्षत्रियः। विदेहस्यापत्यं वैदेहः। स्त्रीत्व-विवक्षा में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) से ङीप् होकर—'वैदेही' (विदेह की पुत्री)।

इक्ष्वाकवो जनपदः, इक्ष्वाकुर्नाम क्षत्रियः। इक्ष्वाकोरपत्यम् ऐक्ष्वाकः[1] (इक्ष्वाकु का पुत्र)।

केकया जनपदः, केकयो नाम क्षत्रियः, केकयस्यापत्यं कैकेयः।[2] स्त्रीत्वविवक्षायां ङीपि—कैकेयी।

अब 'देश का राजा' इस अर्थ में भी अपत्यार्थ की तरह प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(७३)

क्षत्रियसमानशब्दाज्जनपदात् तस्य राजन्यपत्यवत् ॥

पञ्चालानां राजा पाञ्चालः ॥

अर्थः—क्षत्रियवाचक शब्द के समान जो जनपदवाचक शब्द, उस जनपदवाचक षष्ठ्यन्त से राजा अर्थ में अपत्यार्थ के समान तद्धित प्रत्यय हो।

व्याख्या—क्षत्रियसमानशब्दात् ।५।१। जनपदात् ।५।१। तस्य ।५।१। (षष्ठ्यन्त के अनुकरण 'तस्य' शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। राजनि ।७।१। अपत्यवत् इत्यव्ययपदम्। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। क्षत्रियवचन एव शब्द उपचारेण क्षत्रिय इत्युक्तः, एवं जनपदवाचकशब्दो जनपद इति। क्षत्रियेण (क्षत्रियवाचकशब्देन) समानः शब्दो यस्य स तथोक्तः, तस्मात्=क्षत्रियसमानशब्दात्, बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(क्षत्रियसमानशब्दात्) क्षत्रियवाचकशब्द के समान (जनपदात्) जो जनपदवाची शब्द उस (तस्य=षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त से (राजनि) राजा अर्थ में (अपत्यवत्) अपत्यार्थ की तरह तद्धित प्रत्यय होता है।[3]

---

१. यहां इक्ष्वाकु+अञ्, इक्ष्वाकु+अ, आदिवृद्धि हो कर 'ऐक्ष्वाकु+अ' इस स्थिति में **दाण्डिनायन०** (६.४.१७४) सूत्र से टि (उ) के लोप के निपातन से 'ऐक्ष्वाकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

२. केकय+अञ्, केकय+अ, आदिवृद्धि होकर—कैकय+अ। अब **केकय-मित्रयु-प्रलयानां यादेरियः** (७.३.२) सूत्र से 'य' के स्थान पर 'इय आदेश हो जाता है—कैक इय+अ=कैकेय+अ। अन्त में **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने पर 'कैकेयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

३. **जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्** (१०२८) सूत्र से आरम्भ होने वाले अञ् आदि प्रत्ययों की आगे **ते तद्राजाः** (१०३०) सूत्रद्वारा तद्राजसंज्ञा की जायेगी। टि, घि, घु की तरह एकमात्रिक छोटी संज्ञा न कर इन की 'तद्राज' इतनी बड़ी संज्ञा करना विशेष प्रयोजन के लिये है। 'तेषां राजानस्तद्राजाः' इस अन्वर्थ व्युत्पत्ति से यह सिद्ध होता है कि ये प्रत्यय जनपदवाची शब्दों से 'उन का राजा' अर्थ में भी होते हैं। प्रकृत वार्त्तिक का यही आधार समझना चाहिये। कहा भी है—**सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्त्तिके।**

तात्पर्य यह है कि जो जनपदवाची शब्द उसी नाम वाले क्षत्रिय का भी वाचक हो तो उस से राजा अर्थ में अपत्यार्थ की तरह प्रत्यय होता है अर्थात् ऐसे शब्द से वही प्रत्यय हुआ करता है जो उस से अपत्यार्थ में होता है। दूसरे शब्दों में 'पञ्चालस्यापत्यम्' इस विग्रह में जो प्रत्यय होता है वही प्रत्यय 'पञ्चालानां राजा' इस विग्रह में भी होता है।

पञ्चालानां राजा पाञ्चालः (पञ्चालदेश का राजा)। यहां पञ्चालशब्द जनपदवाची है और यह उसी नाम के क्षत्रिय का भी वाचक है अतः 'पञ्चाल आम्' इस षष्ठ्यन्त से राजा अर्थ में प्रकृत **क्षत्रियसमानशब्दाज्जनपदात्तस्य राजन्यपत्यवत्** (वा० ७३) वार्त्तिक से अपत्यार्थवत् **जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्** (१०२८) सूत्रद्वारा प्रतिपादित तद्धितसंज्ञक अञ् प्रत्यय करने पर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'पाञ्चालः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—विदेहानां (जनपदानां) राजा वैदेहः। केकयानां (जनपदानां) राजा कैकेयः। इन की सिद्धि पूर्वोक्त अपत्यार्थप्रक्रिया की तरह समझनी चाहिये।

अब 'पूरु' शब्द से अपत्य अर्थ में तद्राज अण् प्रत्यय का विधान करते है—

[लघु०] वा०—(७४) **पूरोरण् वक्तव्यः** ॥

पौरवः ॥

अर्थः—पूरुशब्द से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय कहना चाहिये।

व्याख्या—पूरोः ।५।१। अण् ।१।१। वक्तव्यः ।१।१। **तस्यापत्यम्** का अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तस्य=षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त (पूरोः) पूरु प्रातिपदिक से (अपत्ये) अपत्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय (वक्तव्यः) कहना चाहिये। उदाहरण यथा—

पूरोरपत्यं पौरवः (पूरु की सन्तान)। 'पूरु ङस्' से अपत्य अर्थ में **पूरोरण् वक्तव्यः** (वा० ७४) वार्त्तिक से अण् तद्धितप्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि, **ओर्गुणः** (१००५) से भसंज्ञक उकार को ओकार गुण तथा अन्त में **एचोऽयवायावः** (२२) से ओकार को अव् आदेश कर विभक्ति लाने से 'पौरवः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

पूरुशब्द केवल क्षत्रियवाची है जनपदवाची नहीं, अतः पूर्वोक्त वार्त्तिक (वा० ७३) से राजा अर्थ में यह प्रत्यय नहीं होता। अपत्यार्थ में प्राग्दीव्यतीय अण् तो सामान्यतः प्राप्त था ही, इस के लिये यहां विशेष विधान क्यों किया गया है? इस का उत्तर यह है कि **ते तद्राजाः** (१०३०) सूत्रद्वारा इस की तद्राजसंज्ञा हो सके इसलिये

---

१. **कः पौरवे वसुमतीं शासति शासितरि दुर्विनीतानाम्।**
अयमाचरत्यविनयं मुग्धासु तपस्विकन्यासु ॥ (शाकुन्तल १.२७)

अपत्य डचण्

इस का यहां पुनर्विधान किया गया है । तद्राजसंज्ञा के कारण बहुवचन में 'पूरवः' बनेगा 'पौरवाः' नहीं ।[1] इस का स्पष्टीकरण आगे **तद्राजस्य बहुषु तेनैवाऽस्त्रियाम्** (१०३१) सूत्र पर देखें ।

अब पाण्डुशब्द से तद्राज डचण् (य) प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(७५) पाण्डोर्डचण् ॥

पाण्डचः ॥

अर्थः—पाण्डुशब्द से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक डचण् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—पाण्डोः ।५।१। डचण् ।१।१। अपत्ये ।७।१। (**तस्यापत्यम्** सूत्र की अनुवृत्ति आ रही है) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(पाण्डोः) षष्ठयन्त पाण्डुशब्द से (अपत्ये) अपत्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (डचण्) डचण् प्रत्यय होता है । यह वार्त्तिक **जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्** (१०२८) के प्रसङ्ग में महाभाष्य में पढ़ा गया है अतः जनपदक्षत्रियवाची पाण्डु शब्द का ग्रहण होगा । युधिष्ठिर के पिता पाण्डु का अथवा श्वेतवर्णवाची पाण्डुशब्द का ग्रहण न होगा । युधिष्ठिर का पिता पाण्डुदेश का राजा न था किन्तु कुरुदेश का राजा था ।

डचण्प्रत्यय में **चुटू** (१२९) सूत्रद्वारा डकार तथा **हलन्त्यम्** (१) सूत्रद्वारा णकार इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं, 'य' मात्र शेष रहता है । इस का डित्करण **टेः** (२४२) सूत्रद्वारा टिलोपार्थ है । णित्करण 'पाण्डचा भार्या यस्य स पाण्डचाभार्यः' आदि में **स्त्रियाः पुंवद् भाषितपुंस्कादनूङ्०** (९६९) सूत्रद्वारा प्राप्त पुंवद्भाव को **वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्याऽरक्तविकारे** (६.३.३८[2]) से रोकने के लिये है । उदाहरण यथा—

पाण्डोरपत्यं पाण्डचः (पाण्डु की सन्तान) । यहां 'पाण्डु ङस्' से अपत्यार्थ में **पाण्डोर्डचण्** (वा० ७५) वार्त्तिक से डचण् प्रत्यय, डकार और णकार अनुबन्धों का लोप तथा अन्तर्वर्त्ती सुँप् (ङस्) का लुक् करने पर 'पाण्डु+य' हुआ । अब **पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः** न्याय के अनुसार **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) सूत्रद्वारा आदिवृद्धि तथा डचण् के डित् होने से **टेः** (२४२) सूत्रद्वारा पाण्डुशब्द की टि (उकार) का लोप कर विभक्ति लाने से 'पाण्डचः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

'पाण्डूनां (जनपदानां) राजा' इस अर्थ में भी **क्षत्रियसमानशब्दात् जनपदात्तस्य**

---

१. जैसाकि महाभाष्य के व्याख्याता आचार्य कैयट प्रदीप में लिखते हैं—
सिद्धे प्राग्दीव्यतेऽणि तद्राजसंज्ञार्थमिदम् । पूरुशब्दो न जनपदवाची । अन्यथा द्वयञ्मगध० (४.१.१६८) इत्यणः सिद्धत्वाद् वचनमनर्थकं स्यात् ।

२. अर्थः—जब किसी शब्द के अन्त में रक्तार्थक या विकारार्थक से भिन्न अन्य कोई वृद्धिनिमित्तक तद्धित प्रत्यय किया गया हो तो उस स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द को पुंवद्भाव नहीं होता । यथा—स्रौघ्नीभार्यः ।

राजन्यपत्यवत् (वा० ७३) द्वारा **पाण्डोर्डचण्** (वा० ७५) वार्त्तिक से अपत्यवत् ड्यण् प्रत्यय हो कर 'पाण्ड्यः' (पाण्डुदेश का राजा) प्रयोग बनेगा।[1]

युधिष्ठिर के पितृवाचक 'पाण्डु' शब्द से अपत्यार्थ में प्राग्दीव्यतीय औत्सर्गिक अण् प्रत्यय होकर सुँब्लुक्, **ओर्गुणः** (१००५) से गुण तथा **एचोऽयवायावः** (२२) से अवादेश करने से 'पाण्डवः' प्रयोग सिद्ध होता है।[2]

अब अग्रिमसूत्रद्वारा 'ण्य' प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०२९) **कुरु-नादिभ्यो ण्यः** ।४।१।१७०॥

कौरव्यः। नैषध्यः॥

अर्थः—कुरुशब्द या नकारादिशब्द जब जनपद और क्षत्त्रिय दोनों के वाचक हों तो उन से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक 'ण्य' प्रत्यय हो।

व्याख्या—कुरु-नादिभ्यः ।५।३। ण्यः ।१।१। जनपदशब्देभ्यः ।५।३। क्षत्त्रियेभ्यः ।५।३। (**जनपदशब्दात् क्षत्त्रियादञ्** सूत्र से वचनविपरिणामद्वारा)। **तस्यापत्यम्** सूत्र का अनुवर्त्तन हो रहा है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। न् (नकारः) आदिर्येषान्ते नादयः, बहुव्रीहिसमासः। कुरुश्च नादयश्च कुरुनादयः, तेभ्यः=कुरुनादिभ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(कुरुनादिभ्यः) कुरुशब्द या नकारादिशब्द यदि (जनपदशब्देभ्यः) जनपदवाची और साथ ही (क्षत्त्रियेभ्यः) क्षत्त्रिय-वाची भी हों तो उन षष्ठ्यन्तों से (अपत्ये) अपत्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ण्यः) 'ण्य' प्रत्यय हो जाता है।

'ण्य' का णकार **चुटू** (१२९) सूत्रद्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'य' मात्र शेष रहता है। आदिवृद्धि करने के लिये प्रत्यय को णित् किया गया है। कुरुशब्द से **द्व्यञ्मगधकलिङ्गसूरमसादण्** (४.१.१६८) सूत्रद्वारा प्राप्त अण् प्रत्यय का तथा नकारादियों से **जनपदशब्दात् क्षत्त्रियादञ्** (१०२८) से प्राप्त अञ्प्रत्यय का यह अपवाद है।

कुरुशब्द से यथा—

कुरोरपत्यं कौरव्यः (कुरु की सन्तान)। कुरुशब्द जनपदविशेष का तथा क्षत्त्रिय-विशेष का भी वाचक है अतः अपत्य अर्थ में 'कुरु ङस्' से प्रकृतसूत्र **कुरुनादिभ्यो ण्यः** (१०२९) से तद्धितसञ्ज्ञक ण्यप्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि, **ओर्गुणः** (१००५) से उकार को ओकार गुण और अन्त में **वान्तो यि प्रत्यये** (२४) से यकारादि प्रत्यय के परे रहते ओकार को अव् आदेश कर विभक्ति लाने से 'कौरव्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[3]

---

१. **दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि।**
तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे॥ (रघु० ४.४९)

२. **माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः।** (गीता १.१५)

३. **कौरव्यवंशदाहेऽस्मिन् क एष शलभायते।** (वेणीसंहार १.१९)

कुरूणां (जनपदानां) राजा कौरव्यः (कुरुदेश का राजा)। इस अर्थ में भी **क्षत्रियसमानशब्दाज्जनपदात्तस्य राजन्यपत्यवत्** (वा० ७३) इस वार्त्तिक से अपत्यार्थ की तरह 'ण्य' प्रत्यय हो कर उपर्युक्तप्रकार से रूप सिद्ध होगा।

नकारादिशब्दों से यथा—

निषधस्यापत्यं नैषध्यः (निषध की सन्तान)। निषधशब्द भी जनपदविशेष और क्षत्रियविशेष दोनों का वाचक है। अतः 'निषध ङस्' से अपत्य अर्थ में प्रकृतसूत्र **कुरुनादिभ्यो ण्यः** (१०२९) से तद्धित ण्यप्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि और अन्त में **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'नैषध्यः' प्रयोग सिद्ध होता है।

निषधानां (जनपदानां) राजा नैषध्यः (निषधदेश का राजा)। इस अर्थ में भी **क्षत्रियसमानशब्दाज्जनपदात्तस्य राजन्यपत्यवत्** (वा० ७३) वार्त्तिक से अपत्यार्थ की तरह ण्यप्रत्यय होकर उपर्युक्तप्रकारेण रूप सिद्ध होगा।

'नैषध' शब्द का भी प्रयोग देखा जाता है।[1] वहां 'दाशरथः' की तरह 'निषधानां जनपदानाम् अयम्' इस प्रकार शैषिक अण् प्रत्यय के द्वारा उपपत्ति समझनी चाहिये।

अब यहां एक अत्यन्त उपयोगी सूत्र जो लघुसिद्धान्तकौमुदी में व्याख्यात होने से छूट गया है निर्दिष्ट किया जा रहा है—

द्व्यञ्मगध-कलिङ्ग-सूरमसादण् ।४।१।१६८॥

अर्थः—दो अच् वाले प्रातिपदिकों एवं मगध, कलिङ्ग और सूरमस प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय होता है परन्तु ये प्रातिपदिक जनपद-क्षत्रियवाची होने चाहियें।

दो अचों वाले प्रातिपदिकों से यथा—

अङ्गस्यापत्यम् आङ्गः। अङ्गशब्द दो अचों वाला जनपदक्षत्रियवाची है अतः 'अङ्ग ङस्' से प्रकृतसूत्रद्वारा अण्प्रत्यय, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि और अन्त्य अकार का लोप हो जाता है। 'अङ्गानां जनपदानां राजा' इस अर्थ में भी **क्षत्रियसमानशब्दात्०** (वा० ७३) इस पूर्वोक्त वार्त्तिकद्वारा अपत्यवत् अण् प्रत्यय हो कर यही 'आङ्गः' रूप बनेगा। इसीप्रकार—वङ्गस्यापत्यम्, वङ्गानां जनपदानां राजा वेति वाङ्गः। सुह्मस्यापत्यम्, सुह्मानां जनपदानां राजा वेति सौह्मः। इत्यादि।

मगध आदि शब्दों से यथा—

मगधस्यापत्यं मगधानां जनपदानां राजा वेति मागधः।

---

१. **धन्याऽसि वैदर्भि ! गुणैरुदारै-**
र्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि ।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया
यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥ (नैषध० ३.११६)

तद्राज [अञ्, अण्, इयण्, ण्य]

कलिङ्गस्यापत्यं कलिङ्गानां जनपदानां राजा वेति कालिङ्गः ।

सूरमसस्यापत्यं सूरमसानां जनपदानां राजा वेति सौरमसः ।

यह सूत्र **जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्** (१०२८) सूत्रद्वारा प्राप्त अञ्प्रत्यय का अपवाद है ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा इन अञ् आदि प्रत्ययों की तद्राजसञ्ज्ञा करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—**(१०३०) ते तद्राजाः ।४।१।१७२।।**

अञादयस्तद्राजसञ्ज्ञाः स्युः ।।

अर्थः—**जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ्** (१०२८) आदि पूर्वोक्त सूत्रों से विहित अञ् आदि प्रत्यय तद्राजसञ्ज्ञक हों ।

व्याख्या—ते ।१।३। तद्राजाः ।१।३। अर्थः—(ते) वे प्रत्यय (तद्राजाः) तद्राज-सञ्ज्ञक होते हैं । 'ते' शब्द 'तद्' सर्वनाम के प्रथमा का बहुवचन है । तद्सर्वनाम सदा पूर्व का परामर्श कराया करता है अतः 'ते' से पूर्वनिर्दिष्ट **जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्** (१०२८) सूत्र से लेकर विहित अञ् आदि प्रत्ययों का ग्रहण होगा । इस ग्रन्थ में अञ्, अण्, इयण् और ण्य ये चार प्रत्यय तद्राजसञ्ज्ञक कहे गये हैं । अष्टाध्यायी तथा काशिका आदि में इन से अतिरिक्त कुछ अन्य तद्राजप्रत्ययों का भी उल्लेख पाया जाता है ।[1]

अब तद्राजसञ्ज्ञा का फल दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१०३१)**

तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम् ।२।४।६२।।

बहुष्वर्थेषु तद्राजस्य लुक् तदर्थकृते बहुत्वे, न तु स्त्रियाम् । इक्ष्वाकवः । पञ्चालाः । इत्यादि ।।

अर्थः—बहुवचन में तद्राजसंज्ञक प्रत्यय का लुक् हो जाता है, परन्तु वह बहुत्व तद्राज के अर्थद्वारा ही किया गया होना चाहिये । किञ्च स्त्रीलिङ्ग में यह लुक् प्रवृत्त नहीं होता ।

व्याख्या—तद्राजस्य ।६।१। बहुषु ।७।३। तेन ।३।१। एव इत्यव्ययपदम् । अस्त्रियाम् ।७।१। लुक् ।१।१। (**ण्यक्षत्रियार्षञितो यूनि लुगणिञोः** सूत्र से) । समासः—न स्त्री अस्त्री, तस्याम् = अस्त्रियाम्, नञ्तत्पुरुषः । अर्थः—(बहुषु) बहुवचन में वर्त्तमान (तद्राजस्य) तद्राजसंज्ञक प्रत्यय का (लुक्) लुक् हो जाता है (तेन एव) परन्तु वह बहुत्व तद्राज के द्वारा ही उत्पन्न हुआ हो । किञ्च (अस्त्रियाम्) स्त्रीलिङ्ग में तद्राज प्रत्यय का लुक् नहीं होता । उदाहरण यथा—

पञ्चालस्य अपत्यानि, पञ्चालानां जनपदानां राजानो वेति पञ्चालाः (पञ्चाल की सन्तानें, अथवा पञ्चाल देश के राजा लोग) । यहां 'पञ्चाल ङस्' से अपत्य अर्थ में या 'पञ्चाल आम्' से राजा अर्थ में पूर्वोक्तप्रकारेण **जनपदशब्दात्**

---

१. इन प्रत्ययों की तद्राजसंज्ञा इसलिये की गई है क्योंकि ये प्रत्यय उन उन जनपदों के राजा के भी बोधक हैं ।

क्षत्रियादञ् (१०२८) सूत्र से अञ् प्रत्यय कर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि और भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप करने से 'पाञ्चाल' यह तद्धितान्त शब्द निष्पन्न होता है। इस शब्द के अन्त में अञ् प्रत्यय की **ते तद्राजाः** (१०३०) से तद्राजसंज्ञा है। अब प्रथमा के बहुवचन की विवक्षा में इस पाञ्चालशब्द से जस् प्रत्यय ला कर 'पाञ्चाल+जस्' इस स्थिति में प्रकृतसूत्र **तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्** (१०३१) से तद्राजप्रत्यय का लुक् हो कर **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** इस न्याय के अनुसार अञ्प्रत्ययनिमित्तक आदिवृद्धि आदि कार्यों के भी हट जाने से शुद्ध 'पञ्चाल' शब्द रह जाता है—पञ्चाल+जस्। पुनः **प्रथमयोः पूर्वसवर्णः** (१२६) से पूर्वसवर्ण-दीर्घ होकर पदान्त सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश करने से 'पञ्चालाः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार शस् आदि बहुवचनप्रत्ययों में भी तद्राजप्रत्यय का लुक् समझना चाहिये।

यह सूत्र केवल बहुवचन में ही प्रवृत्त होता है एकवचन और द्विवचन में नहीं। पाञ्चालशब्द की रूपमाला यथा—

विभक्ति	**एकवचन**	**द्विवचन**	**बहुवचन**
प्रथमा	पाञ्चालः	पाञ्चालौ	पञ्चालाः
द्वितीया	पाञ्चालम्	”	पञ्चालान्
तृतीया	पाञ्चालेन	पाञ्चालाभ्याम्	पञ्चालैः
चतुर्थी	पाञ्चालाय	”	पञ्चालेभ्यः
पञ्चमी	पाञ्चालात्	”	”
षष्ठी	पाञ्चालस्य	पाञ्चालयोः	पञ्चालानाम्
सप्तमी	पाञ्चाले	”	पञ्चालेषु
सम्बोधन	हे पाञ्चाल !	हे पाञ्चालौ !	हे पञ्चालाः !

इसीप्रकार—

(१) पौरवः, पौरवौ, पुरवः आदि।
(२) वैदेहः, वैदेहौ, विदेहाः आदि।
(३) कैकेयः, कैकेयौ, केकयाः आदि।
(४) कौरव्यः, कौरव्यौ, कुरवः आदि।
(५) नैषध्यः, नैषध्यौ, निषधाः आदि।
(६) आङ्गः, आङ्गौ, अङ्गाः आदि।
(७) वाङ्गः, वाङ्गौ, वङ्गाः आदि।
(८) पाण्ड्यः, पाण्ड्यौ, पाण्डवः आदि।
(९) सौह्मः, सौह्मौ, सुह्माः आदि।
(१०) मागधाः, मागधौ, मगधाः आदि।
(११) कालिङ्गः, कालिङ्गौ, कलिङ्गाः आदि।

(१२) सौरमसः, सौरमसौ, सूरमसाः आदि ।[1]

इक्ष्वाकोरपत्यानि, इक्ष्वाकूणां जनपदानां राजानो वेति इक्ष्वाकवः (इक्ष्वाकु की सन्तानें अथवा इक्ष्वाकु देश के राजा लोग)। इक्ष्वाकुशब्द क्षत्त्रियविशेष तथा जनपदविशेष दोनों का वाचक है। अतः षष्ठ्यन्त इक्ष्वाकुशब्द से **जनपदशब्दात् क्षत्त्रियादञ्** (१०२८) सूत्र से अपत्य या राजा अर्थ में अञ् तद्धितप्रत्यय ला कर सुँब्लुक् तथा आदिवृद्धि करने से 'ऐक्ष्वाकु+अ' हुआ। अब **दाण्डिनायन-हास्तिनायनाथर्वणिक०** (६.४.१७४) सूत्र में निपातन के कारण टि का लोप कर देने से 'ऐक्ष्वाक्+अ=ऐक्ष्वाक' बन जाता है। ऐक्ष्वाकः, ऐक्ष्वाकौ, इक्ष्वाकवः [बहुवचन में प्रकृत **तद्राजस्य बहुषु तेनैवाऽस्त्रियाम्** (१०३१) सूत्रद्वारा तद्राजसंज्ञक अञ्प्रत्यय का लुक् हो कर शुद्ध 'इक्ष्वाकु' शब्द रह जाता है। तब बहुवचन में शम्भुशब्दवत् सुँबन्त-प्रक्रिया (**जसि च** १६८ से गुण, अवादेश तथा रुँत्वविसर्ग) करने से 'इक्ष्वाकवः' बनता है]।[2]

तेनैवेति किम् ? प्रियपाञ्चालाः ।

तद्राजप्रत्यय का लुक् तभी होता है जब तद्राजप्रत्यय के अर्थ का ही बहुत्व विवक्षित हो। यदि बहुत्व किसी अन्य का विवक्षित होगा तो यह लुक् न होगा। यथा—प्रियः पाञ्चालो येषां ते प्रियपाञ्चालाः। यहां अन्यपदप्रधानबहुव्रीहिसमास में अन्यपद के बहुत्व को बतलाने के लिये ही बहुवचन का प्रयोग हुआ है, तद्राजसंज्ञक अञ्प्रत्यय के द्वारा तो एकत्व का ही बोध हो रहा है, अतः तद्राजप्रत्यय का लुक् नहीं होता। यदि तद्राज का लुक् हो जाता तो 'प्रियपञ्चालाः' ऐसा अनिष्ट रूप बनता।

अस्त्रियाम्— स्त्रीलिङ्ग में तद्राजप्रत्यय का लुक् नहीं होता। पाञ्चाली, पाञ्चाल्यौ, पाञ्चाल्यः। स्त्रीलिङ्ग में अञ्प्रत्ययान्त 'पाञ्चाल' शब्द से **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र से ङीप् प्रत्यय हो कर भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'पाञ्चाल्यः' प्रयोग सिद्ध होता है।

अब कम्बोजशब्द से सब वचनों में तद्राजप्रत्यय का लुक् विधान करते हैं—

---

१. प्रश्न—**कौरव्याः पशवः प्रियापरिभवक्लेशोपशान्तिः फलम्** (वेणीसंहार १.२५), **तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे** (रघु० ४.४९) इत्यादि स्थलों पर बहुवचन में 'कौरव्याः' और 'पाण्ड्याः' में तद्राजप्रत्यय का लुक् हो कर 'कुरवः' और 'पाण्डवः' बनना चाहिये था, ऐसा क्यों नहीं हुआ ?

उत्तर—कौरव्ये पाण्ड्ये वा साधवः इस प्रकार के विग्रह में यहां **तत्र साधुः** (११३५) से यत् प्रत्यय हो कर **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप तथा **आपत्यस्य च तद्धितेनाति** (६.४.१५१) से यकार का लोप करने से उपर्युक्त प्रयोग सिद्ध करने चाहियें। अन्यथा ये प्रयोग अशुद्ध ही होंगे।

२. **इक्ष्वाकूणां दुरापेऽर्थे त्वदधीना हि सिद्धयः।** (रघु० १.७२)
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम्। (रघु० ३.७०)

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०३२) **कम्बोजाल्लुक्** ।४।१।१७३।।

अस्मात् तद्राजस्य लुक् स्यात् । कम्बोजः । कम्बोजौ ।।

अर्थः—कम्बोजशब्द से परे तद्राजप्रत्यय का लुक् हो ।

व्याख्या—कम्बोजात् ।५।१। लुक् ।१।१। तद्राजस्य ।६।१। (**ते तद्राजाः** सूत्र से विभक्ति और वचन का विपरिणाम कर के) । अर्थः—(कम्बोजात्) कम्बोजशब्द से परे (तद्राजस्य) तद्राजप्रत्यय का (लुक्) लुक् हो जाता है ।

पूर्वसूत्र से तद्राज का बहुवचन में लुक् प्राप्त था परन्तु इस सूत्र से एकवचन और द्विवचन में भी लुक् हो जायेगा ।

कम्बोजशब्द भी जनपदक्षत्त्रियवाची है, अतः **जनपदशब्दात् क्षत्त्रियादञ्** (१०२८) सूत्र से अपत्यार्थ में अञ्प्रत्यय और राजा अर्थ में भी **क्षत्त्रियसमान-शब्दाज्जनपदात्तस्य राजन्यपत्यवत्** (वा० ७३) वार्त्तिक से अपत्यवत् वही प्रत्यय हो जाता है । उस अञ्प्रत्यय की **ते तद्राजाः** (१०३०) से तद्राजसंज्ञा हो कर प्रकृत **कम्बोजाल्लुक्** (१०३२) सूत्र से उस का सब वचनों में लुक् हो जाता है । कम्बोजस्यापत्यं कम्बोजानां जनपदानां राजा वा कम्बोजः । कम्बोजस्यापत्ये कम्बोजानां जनपदानां राजानौ वा कम्बोजौ । कम्बोजस्यापत्यानि कम्बोजानां जनपदानां राजानो वा कम्बोजाः ।

अब इसी सूत्र के कार्यक्षेत्र को बढ़ाते हुए अग्रिमवार्त्तिक का अवतरण करते हैं—

[लघु०] वा०—(७६) **कम्बोजादिभ्य इति वक्तव्यम्** ।।

चोलः । शकः । केरलः । यवनः ।।

अर्थः—कम्बोज आदि शब्दों से तद्राजप्रत्यय का लुक् कहना चाहिये ।

व्याख्या—पूर्वसूत्र में केवल कम्बोजशब्द से ही तद्राजप्रत्यय का लुक् कहा गया था । परन्तु इस वार्त्तिक से कम्बोज की तरह कुछ अन्य प्रसिद्ध शब्दों से भी तद्राज के लुक् का विधान किया जाता है । यथा -

(१) चोलस्यापत्यं चोलानां जनपदानां राजा वा चोलः । चोलौ । चोलाः ।

(२) शकस्यापत्यं शकानां जनपदानां राजा वा शकः । शकौ । शकाः ।

(३) केरलस्यापत्यं केरलानां जनपदानां राजा वा केरलः । केरलौ । केरलाः ।

(४) यवनस्यापत्यं यवनानां जनपदानां राजा वा यवनः । यवनौ । यवनाः ।

चोल, शक, केरल और यवन शब्द जनपदक्षत्त्रियवाची हैं । अतः चोल और शक शब्दों से **द्व्यञ्मगधकलिङ्गसूरमसादण्** (४.१.१६८) से अण् प्रत्यय तथा केरल और यवन शब्दों से **जनपदशब्दात् क्षत्त्रियादञ्** (१०२८) से अञ् प्रत्यय होता है । राजा अर्थ में भी **क्षत्त्रियसमानशब्दाज्जनपदात्तस्य राजन्यपत्यवत्** (वा० ७३) वार्त्तिक से अपत्यार्थवत् वही प्रत्यय हो जाता है । प्रकृत **कम्बोजादिभ्य इति वक्तव्यम्** (वा० ७६) वार्त्तिक से उन तद्राजप्रत्ययों का सब वचनों में लुक् हो कर उपर्युक्त रूप सिद्ध होते हैं ।

रघु और यदु शब्दों का लक्षणा से क्रमशः राघवों और यादवों में प्रयोग होता है। अतएव **रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन्** (रघु० १.९), **निरुध्यमाना यदुभिः कथञ्चित्** (माघ० ३.३९) आदि प्रयोग उपपन्न हो जाते हैं। इन में तद्राज-प्रत्यय तथा उस के लुक् की कल्पना करना अनुचित है क्योंकि रघु और यदु शब्द जनपदवाची नहीं केवल क्षत्रियवाची हैं।

अभ्यास [२]

(१) निम्नस्थ तद्धितान्त रूपों की विग्रह दर्शाते हुए ससूत्र सिद्धि करें—
१. पौष्करसादिः। २. श्वाफल्कः। ३. सौपर्णेयः। ४. गार्ग्यः। ५. औडुलोमिः। ६. कानीनः। ७. नैषध्यः। ८. वासुदेवः। ९. औपगवः। १०. षाण्मातुरः। ११. बैदः। १२. वैनतेयः। १३. स्त्रैणः। १४. शैवः। १५. वासिष्ठः। १६. ऐक्ष्वाकः। १७. पाञ्चालः। १८. बाहविः। १९. राजन्यः। २०. दाक्षिः। २१. भाद्रमातुरः। २२. पौत्रः। २३. कम्बोजः। २४. वैश्वामित्रः। २५. वत्साः। २६. दैत्यः।

(२) निम्नस्थ विग्रहों में उत्पन्न होने वाले तद्धितान्त प्रयोगों की ससूत्र सिद्धि करें—
१. केकयानां राजा। २. अश्वपतेरपत्यम्। ३. पाण्डोरपत्यम्। ४. रेवत्या अपत्यम्। ५. दुहितुरपत्यम्। ६. श्वशुरस्यापत्यम्। ७. दशरथस्यापत्यम्। ८. राज्ञोऽपत्यम्। ९. युवतेरपत्यम्। १० इक्ष्वाकोरपत्यानि। ११. द्वयोर्मात्रोरपत्यम्। १२. पुंसोऽपत्यम्। १३. कुरूणां राजा। १४. उडुलोम्नोऽपत्यानि। १५. उत्सस्यापत्यम्।

(३) पारस्परिक अन्तर स्पष्ट करें—
१. राजन्यः—राजनः। २. क्षत्रियः—क्षात्रिः। ३. नैषध्यः—नैषधः। ४. दाशरथिः—दाशरथः। ५. पाञ्चालः—पञ्चालाः। ६. गार्गिः—गार्ग्यः। ७. गार्ग्यः—गार्ग्यायणः। ८. **यञञोश्च**—**यञिञोश्च**।

(४) अनन्तरापत्य, गोत्रापत्य और युवापत्य इन तीनों का अन्तर स्पष्ट करते हुए निम्नस्थ शब्दों का तीनों प्रकार के अपत्यप्रत्ययों में रूप निरूपण करें—
उपगु, विनता, अश्वपति, दशरथ, वत्स, गर्ग, शिव, बाहु, उडुलोमन्, दक्ष।

(५) जनपदक्षत्रियवाची शब्दों का क्या अभिप्राय है? सोदाहरण स्पष्ट करें।

(६) 'तद्राज' किसे कहते हैं? इतनी बड़ी संज्ञा करने का क्या प्रयोजन? इस के कोई से पाञ्च उदाहरण दीजिये।

(७) **ठस्येकः** सूत्र पर भाष्योक्त वर्णपक्ष तथा संघातपक्ष का विवेचन करें।

(८) प्रत्यय के आदि में स्थित फ्, ढ्, ख्, छ्, घ् वर्णों के स्थान पर क्या-क्या आदेश होते हैं ? सोदाहरण स्पष्ट करें ।

(९) निम्नस्थ तद्धितान्तों की सब विभक्तियों में रूपमाला लिखें—
गार्ग्य, औडुलोमि, पाञ्चाल, कौरव्य, मागध, बैद ।

(१०) अधोनिर्दिष्ट सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—
१. तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम् । २. जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ् । ३. मातुरुत्संख्यासम्भद्रपूर्वायाः । ४. स्त्रीपुंसाभ्यां० । ५. एको गोत्रे । ६. ऋष्यन्धकवृष्णि० । ७. अनृष्यानन्तर्ये० । ८. गोत्राद्यून्यस्त्रियाम् । ९. ये चाऽभावकर्मणोः । १०. अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् । ११. द्व्यञ्मगध० । १२. तस्यापत्यम् । १३. बाह्वादिभ्यश्च । १४. स्त्रीभ्यो ढक् । १५. ओर्गुणः । १६. कन्यायाः कनीन च । १७. अन् । १८. अत इञ् । १९. क्षत्राद् घः । २०. कुरुनादिभ्यो ण्यः ।

(११) निम्नस्थ वार्त्तिकों की सोदाहरण व्याख्या करें—
१. क्षत्रियसमानशब्दाज्जनपदात्तस्य० । २. लोम्नोऽपत्येषु० । ३. राज्ञो जातावेवेति वाच्यम् । ४. कम्बोजादिभ्य इति वक्तव्यम् । ५. पूरोरण् वक्तव्यः ।

(१२) अधोलिखित प्रश्नों का समुचित उत्तर दीजिये—
[क] सुमित्राया अपत्यम्—यहां ढक् क्यों नहीं होता ?
[ख] 'प्रियगार्ग्याः' में **यञञोश्च** की प्रवृत्ति क्यों नहीं होती ?
[ग] 'गार्ग्यायणः' में दो प्रत्यय कैसे हो जाते हैं ?
[घ] कार्ष्णिः, प्राद्युम्निः, शौरिः—इन में वृष्ण्यण् क्यों नहीं होता ?
[ङ] **अत इञ्** में तपरकरण का क्या प्रयोजन है ?
[च] स्त्रीलिङ्ग के बहुवचन में तद्राज का लुक् होता है या नहीं ?
[छ] **पाण्डोर्ड्यण्** में 'पाण्डु' शब्द से किस का ग्रहण होता है ?
[ज[**ये चाभावकर्मणोः** में 'अभावकर्मणोः' क्यों कहा गया है ?
[झ] 'यौधिष्ठिरिः' में कुरु-अण् क्यों नहीं होता ?
[ञ] ड्यण् में अनुबन्धद्वय का क्या प्रयोजन है ?
[ट] गाङ्गः, गाङ्गेयः, गाङ्गायनिः —इन में कौन सा रूप ठीक है ?
[ठ] 'स्त्रिया अपत्यम्' इस विग्रह में **स्त्रीभ्यो ढक्** क्यों नहीं होता ?
[ड] पुत्र की गोत्रसंज्ञा क्यों नहीं होती ?

[लघु०] इत्यपत्याधिकारः ॥

(यहां पर अपत्यप्रकरण का विवेचन समाप्त होता है ।)

——:०:——

अथ रक्ताद्यर्थकाः

अब रक्ताद्यर्थकप्रकरण प्रारम्भ किया जाता है। इस प्रकरण में 'रक्त' अर्थात् 'रङ्गा हुआ' आदि अर्थों में तद्धितप्रत्ययों का विधान किया गया है अतः इस प्रकरण का नाम रक्ताद्यर्थक रख दिया गया है।

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(१०३३) **तेन रक्तं रागात्** ।४।२।१।।

अण् स्यात्। रज्यतेऽनेनेति रागः। कषायेण रक्तं वस्त्रं काषायम् ॥

अर्थः—तृतीयान्त रङ्गवाचकशब्द से 'रङ्गा हुआ' इस अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तेन ।५।१। ('कषायेण रक्तम्' इत्यादि में 'कषायेण' आदि का अनुकरण 'तेन' शब्द से किया गया है। यहां इस अनुकरण से परे पञ्चमी का छान्दस लुक् समझना चाहिये)। रक्तम् ।१।१। रागात् ।५।१। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** इस अधिकार से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। रज्यतेऽनेनेति रागः—यह रागशब्द की व्युत्पत्ति मूल में दर्शाई गई है। जिस द्रव्य से रङ्गा जाये उसे 'राग' कहते हैं। यथा—नील, पीत, कषाय आदि रञ्जकद्रव्य 'राग' हैं। **रञ्जँ रागे** (रङ्गना, भ्वा० उभय०) धातु से करण में घञ् प्रत्यय, **घञि च भावकरणयोः** (८५३) से नकार का लोप, **चजोः कु घिण्ण्यतोः** (७८१) से जकार को कुत्वेन गकार तथा प्रत्यय के ञित्त्व के कारण **अत उपधायाः** (४५५) से उपधावृद्धि करने से 'रागः' पद निष्पन्न होता है। अन्वयः—तेन रागात् रक्तम् (इत्यर्थे[1]) अण् तद्धितः प्रत्ययः। अर्थः—(तेन=तृतीयान्तात्) तृतीयान्त (रागात्) रञ्जन का साधन जो द्रव्य तद्वाचक प्रातिपदिक से (रक्तमित्यर्थे) 'रङ्गा हुआ' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है। उदाहरण यथा—

कषायेण रक्तं वस्त्रं[2] काषायम् (गेरुए रंग से रङ्गा हुआ वस्त्र आदि)। यहां 'कषाय टा' इस राग (रङ्ग) वाचक तृतीयान्त सुँबन्त से 'रङ्गा हुआ' इस अर्थ में **तेन रक्तं रागात्** (१०३३) इस प्रकृतसूत्र से अण् प्रत्यय, तद्धितान्त समुदाय की प्रातिपदिक-

---

१. अर्थविधायक तद्धितसूत्रों में 'इत्यर्थे' का प्रायः अध्याहार कर लिया जाता है। यथा—**तस्यापत्यम्** (१००४), अपत्यमित्यर्थे। **नक्षत्रेण युक्तः कालः** (१०३४), युक्त इत्यर्थे। कई लोग अर्थप्रतिपादक शब्द को अनुकरण मान कर उस से परे सप्तमी का सौत्र लुक् मानते हैं। उन की पद्धति **तस्यापत्यम्** (१००४) सूत्र पर दर्शा चुके हैं।

२. 'वस्त्रम्' लगाना आवश्यक नहीं। यह विशेष्य को जतलाने के लिये ही लगाया गया है। इस के स्थान पर अन्य यथेच्छ कोई सा विशेष्य लगाया जा सकता है। यथा—माञ्जिष्ठः पटः। माञ्जिष्ठी पताका।

सञ्ज्ञा (११७) तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (टा) का लुक् करने से 'कषाय+अ' हुआ। अब **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदि-वृद्धि एवं **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप करने पर—काषाय्+अ= 'काषाय' शब्द निष्पन्न होता है। विशेष्य (वस्त्रम्) के अनुसार नपुंसकलिङ्ग में विभक्ति और वचन लाने से 'काषायम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

इसीप्रकार—

कुङ्कुमेन रक्तं कौङ्कुमं वस्त्रम् (केसरी रङ्ग से रङ्गा हुआ वस्त्र)।

कुसुम्भेन रक्तं कौसुम्भं वस्त्रम् (कुसुम्भपुष्प से रङ्गा गया वस्त्र)।

मञ्जिष्ठया रक्तं माञ्जिष्ठं वस्त्रम् (मजीठ से रङ्गा वस्त्र)।[2]

स्त्रीलिङ्ग में काषाय आदि अण्प्रत्ययान्त शब्दों से **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र से ङीप् प्रत्यय हो कर भसंज्ञक अकार का लोप हो जाता है—माञ्जिष्ठी पताका।

सूत्र में यदि 'रागात्' न कहते तो 'देवदत्तेन रक्तं दैवदत्तं वस्त्रम्' इस प्रकार कर्तृतृतीयान्त देवदत्त शब्द से भी 'रङ्गा हुआ' अर्थ में अण् प्रत्यय हो कर अनिष्ट रूप बन जाता।

नोट—क्वचित् उपचार (सादृश्य) के कारण भी ऐसे प्रयोग देखे जाते हैं। यथा—काषायौ गर्दभस्य कर्णौ। हारिद्रौ कुक्कुटस्य पादौ। यहां पर 'काषायाविव काषायौ, हारिद्राविव हारिद्रौ' इस प्रकार सादृश्यमूलक प्रयोग समझने चाहियें।[3]

'नक्षत्र से युक्त काल' इस अर्थ में अब तद्धित प्रत्यय का विधान करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—**(१०३४) नक्षत्रेण युक्तः कालः ।४।२।३।।**

अण् स्यात् ।।

अर्थः—नक्षत्रवाचक तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'युक्त' अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक अण् प्रत्यय हो यदि वह 'युक्त' काल हो तो।

व्याख्या—तेन ।५।१। (**तेन रक्तं रागात्** सूत्र से। यहां तृतीयान्त के अनुकरण

---

१. इस का साहित्यगत प्रयोग यथा—

यो निस्सृतोऽपि न च निःसृतकामरागः
काषायमुद्वहति यो न च निष्कषायः।
पात्रं बिभर्त्यथ गुणैर्न च पात्रभूतो
लिङ्गं वहन्नपि स नैव गृही न भिक्षुः ।। (सौन्दरनन्द ७.४८)

२. **माञ्जिष्ठं वसनमिवाम्बु निर्बभासे।** (किरात० ८.८६)

३. **मौर्व्या मेखलया नियन्त्रितमधोवासश्च माञ्जिष्ठिकम्** (उत्तररामचरित ४.२०) के इस पाठ में 'माञ्जिष्ठिकम्' में ठक् प्रत्यय किया गया है जो व्याकरणसम्मत नहीं। यहां 'माञ्जिष्ठकम्' पाठ होना चाहिये। 'माञ्जिष्ठ' बना कर स्वार्थे कन् समझना चाहिये।

से पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है) । नक्षत्रेण ।५।१। (यहां 'पुष्येण युक्तः' इत्यादियों में 'पुष्येण' आदि का अनुकरण 'नक्षत्रेण से किया गया है । इस से परे भी पूर्ववत् पञ्चमी का सौत्र लुक् जानना चाहिये) । युक्तः ।१।१। कालः ।१।१। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** के अधिकार से) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः---(तेन = तृतीयान्तात्) तृतीयान्त (नक्षत्रेण = नक्षत्रवाचिनः) नक्षत्रवाची प्रातिपदिक से ('युक्तः कालः' इत्यर्थे) युक्त = सम्बद्ध काल अर्थ में (तद्धितः) तद्धित-सञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है ।

भारतीय ज्योतिश्शास्त्र में अश्विनी आदि २७ नक्षत्र (तारामण्डल) प्रसिद्ध हैं ।[1] यहां नक्षत्रशब्द से नक्षत्रयुक्त चन्द्र का ग्रहण होता है, केवल नक्षत्रों का नहीं । क्योंकि काल को केवल नक्षत्रों के साथ युक्त या सम्बद्ध नहीं कहा जा सकता ।[2] उदाहरण यथा--

---

१. चन्द्रमा आकाश में जिस मार्ग से होता हुआ पृथ्वी की २७ या २८ दिनों में परिक्रमा पूरी करता है उस पथ में ताराओं के अनेक समूह पड़ते हैं उन्हें नक्षत्र कहते हैं । इन ताराओं के जिस जिस समूह से जैसी जैसी आकृति का भान होता है उस उस समूह का भी प्रायः वैसा वैसा नाम रख लिया गया है । यथा घोड़ों की आकृति के समान प्रतीत होने वाले ताराओं का पुञ्ज 'अश्विनी' कहाता है । हरिण (मृग) के सिर के समान आकृतिवाला 'मृगशिरा' आदि । ये नक्षत्र न तो हमारे सौरजगत् के अन्तर्गत हैं और न ही हमारे सूर्य की परिक्रमा करते हैं । ये नक्षत्र हमारी पृथ्वी, चन्द्र वा सूर्य से अरबों मील दूर हैं । खगोल में चन्द्रमा का भ्रमणपथ यद्यपि इन ताराओं के बीच में नहीं है तथापि इन ताराओं के पुञ्ज के समीप से हो कर गया हुआ सा प्रतीत होता है, बस इसी प्रतीति से चन्द्रमा के सम्पूर्ण भ्रमणपथ को इन २७ नक्षत्रों में विभक्त कर देते हैं ।

२. यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन नक्षत्रों के साथ काल कैसे युक्त हो सकता है ? काल सर्वव्यापक है । वह इन नक्षत्रों के साथ सदा से युक्त है ही । युक्तता या सम्बद्धता तो उस में पाई जा सकती है जिस का कभी पृथग्भाव भी हो । यहां तो ऐसी कोई बात ही नहीं । इस का समाधान यह है कि सामीप्यसम्बन्ध से चन्द्रमा नक्षत्रों के साथ युक्त या वियुक्त होता रहता है । प्रतिदिन चन्द्रमा पूर्व-दिन के नक्षत्र से कुछ दूर हट कर दूसरे नये नक्षत्र के निकट आ जाता है । यही क्रम मास भर चलता रहता है । इसप्रकार यहां सूत्र में 'नक्षत्र' शब्द से नक्षत्रयुक्त चन्द्र का ग्रहण होने से उस के साथ काल युक्त या वियुक्त होता रहता है, कोई दोष नहीं आता । अतः 'पौषमहः' का अर्थ होता है--पुष्यनक्षत्र से युक्त जो चन्द्र, उस चन्द्रवाला दिन है अर्थात् इस दिन के समय चन्द्रमा पुष्यनक्षत्र से युक्त है । इसीप्रकार---पौषी रात्रिः अर्थात् इस रात्रि के समय चन्द्रमा पुष्यनक्षत्र से युक्त है । इस तरह काल की नक्षत्रों के साथ युक्तता या वियुक्तता समझी जाती है ।

मघया युक्तं माघमहः (मघानक्षत्र से युक्त चन्द्र वाला दिन अर्थात् इस दिन के समय चन्द्रमा मघानक्षत्र से युक्त है)। यहां अहः (दिन) यह काल मघानक्षत्र से युक्त है। अतः 'मघा टा' इस तृतीयान्त नक्षत्रवाची प्रातिपदिक से **नक्षत्रेण युक्तः कालः** (१०३४) इस प्रकृतसूत्रद्वारा अण् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् (७२१), आदिवृद्धि (९३८) तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक आकार का लोप करने से 'माघ' शब्द निष्पन्न होता है। अब कालवाची विशेष्य 'अहः' के अनुसार नपुंसकलिङ्ग में प्रथमा का एकवचन लाने से 'माघम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इस सूत्र के सुप्रसिद्ध उदाहरण 'पौषमहः' में यकारलोप करने के लिये अग्रिम-वार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा० –(७७)

तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राऽणि यलोप इति वाच्यम् ।

पुष्येण युक्तं पौषमहः ॥

अर्थः—नक्षत्रसम्बन्धी अण् प्रत्यय परे हो तो तिष्य और पुष्य शब्दों के यकार का लोप हो जाता है।

व्याख्या—तिष्यपुष्ययोः ।६।२। नक्षत्राऽणि ।७।१। यलोपः ।१।१। इति इत्यव्ययपदम्। वाच्यम् ।१।१। नक्षत्रस्य अण् नक्षत्राण्, तस्मिन् = नक्षत्राऽणि, षष्ठीतत्पुरुषसमासः। यस्य (यकारस्य) लोपः यलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः। अर्थः—(नक्षत्राऽणि) नक्षत्रसम्बन्धी अण् प्रत्यय परे हो तो (तिष्यपुष्ययोः) तिष्य और पुष्य शब्दों के (यलोपः) यकार का लोप हो जाता है (इति) ऐसा (वाच्यम्) कहना चाहिये।

तिष्यशब्द के यकार का **सूर्य-तिष्याऽगस्त्य-मत्स्यानां य उपधायाः** (६.४.१४९)[1] सूत्र से प्रत्येक तद्धित प्रत्यय में लोप प्राप्त था, अब इस से नियम किया जाता है कि नक्षत्रसम्बन्धी अण् प्रत्यय में ही लोप हो अन्यत्र न हो। पुष्यशब्द के यकार का लोप

१. इस सूत्र का सरलार्थ है—ईकार या तद्धित परे हो तो भसंज्ञक अङ्ग की उपधा के यकार का लोप हो जाता है, यदि यह यकार सूर्य, तिष्य, अगस्त्य या मत्स्य शब्दों का अवयव हो तो।

परन्तु कात्यायन ने इस सूत्र का तीन वार्त्तिकों में विषयविभाजन कर दिया है। १. **सूर्यागस्त्ययोश्छे च ङ्यां च** (वा० १०४)। २. **मत्स्यस्य ङ्याम्** (वा० ११२)। ३. **तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राणि यलोप इति वाच्यम्** (वा० ७७)। अत एव नारायणभट्ट ने प्रक्रियासर्वस्व में लिखा है—

नक्षत्रगामिन्यणि तिष्यपुष्ययो-
श्छे ङ्यां च लोपोऽयमगस्त्यसूर्ययोः ।
ङ्यामेव मत्स्यस्य भवेदितीरणाद्
व्यनाशि सूत्रं प्रविभज्य वार्त्तिके ॥ (उपजातिवृत्तम्)

किसी सूत्र से प्राप्त न था अतः उस का इस से अपूर्व विधान समझना चाहिये ।

उदाहरण यथा—

पुष्येण युक्तं पौषम् अहः (ऐसा दिन जिस में चन्द्रमा पुष्यनक्षत्र से युक्त है) । यहां पुष्यनक्षत्र से 'अहः' (दिन) इस काल को युक्त कहा गया है अतः 'पुष्य टा' इस तृतीयान्त नक्षत्रवाचक प्रातिपदिक से **नक्षत्रेण युक्तः कालः** (१०३४) सूत्रद्वारा तद्धित-संज्ञक अण् प्रत्यय हो कर तद्धितान्त समुदाय की प्रातिपदिकसंज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (टा) का लुक्, अण् प्रत्यय के णित्त्व के कारण आदिवृद्धि तथा अन्त में **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप करने पर 'पौष्य्+अ' हुआ । अब नक्षत्राण् के परे रहते प्रकृत **तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राऽणि यलोप इति वाच्यम्** (वा० ७७) वार्त्तिक से यकार का लोप करने से 'पौष' शब्द निष्पन्न हुआ । विशेष्य 'अहः' के अनुसार नपुंसक के एकवचन में विभक्तिकार्य करने पर 'पौषम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार —पुष्येण युक्ता पौषी रात्रिः । यहां 'पौष' रूप बनाने के बाद स्त्रीत्व की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र से ङीप् प्रत्यय होकर भसंज्ञक अकार का लोप करने से 'पौषी' रूप बनता है ।

तिष्येण युक्तं तैषम् अहः । तैषी रात्रिः । तिष्य और पुष्य दोनों समानार्थक हैं ।

कृत्तिकाभिर्युक्तं कार्त्तिकम् अहः । माघेन युक्तं माघम् अहः । माघी रात्रिः ।

नक्षत्रेण युक्तः कालः (१०३४) सूत्र में 'कालः' इसलिये कहा गया है कि 'पुष्येण युक्तः शशी' इत्यादि में अण् न हो जाये ।

नक्षत्रेणेति किम् ? चन्द्रेण युक्ता रात्रिः । यहां काल का चन्द्र के साथ योग है, नक्षत्र के साथ नहीं । अतः अण् नहीं होता ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा नक्षत्रसम्बन्धी अण् के लुप् का विधान करते हैं —

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१०३५) लुबविशेषे** ।४।२।४।।

पूर्वेण विहितस्य लुप् स्यात् षष्टिदण्डात्मकस्य कालस्यावान्तरविशेषश्चेन्न गम्यते । अद्य पुष्यः ।।

अर्थः—पूर्वसूत्र (१०३४) से विहित अण् प्रत्यय का लुप् हो यदि साठ-घड़ी वाले[1] काल अर्थात् अहोरात्र का अवान्तरभेद व्यक्त न हो रहा हो ।

---

१. आधुनिक २४ मिनट के समय को ज्योतिश्शास्त्र में 'घटी' 'घटिका' या 'दण्ड' कहा जाता है । ६० घटियों या दण्डों का एक अहोरात्र (दिन+रात) होता है । जैसा कि कहा है—

गुर्वक्षरैः खेन्दुमितैरसुस्तैः
षड्भिः पलं तैर्घटिका खषड्भिः ।
स्याद्वा घटीषष्टिरहः·········।। (सि० शि०)

अर्थात् १० गुरु-अक्षरों के उच्चारणकाल को प्राण, छः प्राणों को पल, ६० पलों को दण्ड या घटिका और ६० घटिकाओं का एक अहोरात्र होता है ।

व्याख्या—लुप् ।१।१। अविशेषे ।७।१। अणः ।६।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** अधिकार से आकर षष्ठ्यन्ततया विपरिणत हो जाता है) । अर्थः (अविशेषे) काल का विशेष-भेद गम्य न हो तो (अणः) पूर्वसूत्रद्वारा विहित नक्षत्रसम्बन्धी अण् प्रत्यय का (लुप्) लुप हो जाता है । ध्यान रहे कि **प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः** (१८९) द्वारा प्रत्यय के अदर्शन की ही लुक्, श्लु और लुप् संज्ञाएं की गई हैं ।

यहां 'काल' से चौबीस घण्टों अथवा साठ घटिकाओं (घड़ी) वाले अहोरात्ररूप काल का ग्रहण अभिप्रेत है । क्योंकि चन्द्रमा प्रायः इतने समय तक एक नक्षत्र से युक्त रहता है । इस अहोरात्ररूप काल के अवान्तर भेद हैं— रात्रिः, दिनम्, प्रातः, सायम् आदि । 'अद्य' आदि शब्दों से काल के विशेष या अवान्तर भेद का कुछ पता नहीं चलता, केवल अहोरात्ररूप सामान्य काल का ही पता चलता है । ऐसी अवस्था में जब काल का अवान्तरभेद गम्य न हो केवल उसका सामान्यतः निर्देश ही हो तो पूर्वसूत्र (१०३४) से विहित नक्षत्र-अण् प्रत्यय का लुप् (अदर्शन) हो जाता है, केवल प्रकृति ही शेष रह जाती है । तब उस में लिङ्ग और वचन, भी प्रकृतिवत् होते हैं (१०६१) ।

उदाहरण यथा—

अद्य पुष्यः (आज पुष्यनक्षत्र से युक्त जो चन्द्र, तत्सम्बद्ध काल है) । पुष्येण युक्तः पुष्यः कालोऽद्य वर्त्तते इति भावः । यहां काल का निर्देश सामान्यतः 'अद्य' से किया गया है, उस का विशेष अर्थात् अवान्तरभेद दिन, रात, प्रातः, सायम् आदि कुछ नहीं बताया गया ।[1] अतः 'पुष्य टा' से परे **नक्षत्रेण युक्तः कालः** (१०३४) सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय लाने पर सुँब्लुक् (७२१) कर अण् प्रत्यय का भी प्रकृत **लुबविशेषे** (१०३५) सूत्र से लुप् हो जाता है—पुष्य । पुनः **प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्** (१९०) द्वारा अण् को निमित्त मान कर **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदिवृद्धि की प्राप्ति होती है परन्तु उस का **न लुमताङ्गस्य** (१९१) से निषेध हो जाता है । अब **लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने** (१०६१) सूत्रद्वारा पुष्यशब्द से प्रकृतिवत् लिङ्ग और वचन करने से 'पुष्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—अद्य कृत्तिकाः । अद्य मघा । **मूलेनावहेद् देवीं श्रवणेन विसर्जयेत् ।** इत्यादि ।

विशेष अर्थात् काल के अवान्तरभेद का कथन होने पर नक्षत्र-अण् का लुप् नहीं होता । यथा— पौषमहः, पौषी रात्रिः । यहां 'अहः' और 'रात्रिः' के कथन से काल का विशेष बताया गया है अतः प्रत्यय का लुप् नहीं हुआ ।

---

१. अद्य पुष्य इत्युक्ते न ह्यो न श्व इति कालविशेषे गम्येऽपि लुब्भवत्येव । यतो नक्षत्रेण युक्तस्य कालस्यैवात्र अविशेषिता गृह्यते । नक्षत्रेण युक्तः कालः पुनः षष्टिदण्डात्मकरूप एव । अद्य पुष्य इत्युक्ते तथाविधस्य कालस्य न हि विशेषिता प्रतिपादिता भवति अतो नास्ति कश्चिद् दोष इति । काशिकायामिदं स्पष्टतर-मुक्तम्—**यावान् कालो नक्षत्रेण युज्यतेऽहोरात्ररूपस्तस्याविशेषे लुब्भवतीति ।**

अब 'देखा गया साम' इस अर्थ में प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— **(१०३६) दृष्टं साम ।४।२।७।।**

'तेन' इत्येव । वसिष्ठेन दृष्टं वासिष्ठं साम ।।

अर्थः—'देखा गया साम' इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से तद्धित-संज्ञक अण् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तेन ।५।१। (**तेन रक्तं रागात्** सूत्र से । तृतीयान्त के अनुकरण 'तेन' से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् जानना चाहिये) । दृष्टम् ।१।१। साम ।१।१। इत्यर्थे इत्यध्याहार्यम् । अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** से अधिकृत है) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तेन = तृतीयान्तात्) तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (दृष्टं साम) 'देखा गया साम' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है ।

वैदिक मन्त्रविशेष को 'सामन्' कहते हैं—**गीतिषु सामाख्या** (मीमांसा० २.१.३६) । यहां प्रत्यय तो 'दृष्ट' अर्थ में होता है परन्तु वह दृष्ट 'सामन्' होना चाहिये । ऋषियों द्वारा मन्त्रों का विशेष मनन ही मन्त्रों का दृष्टत्व समझना चाहिये । वसिष्ठ ने जिन मन्त्रों का विशेष मनन कर ज्ञान प्राप्त किया वे मन्त्र 'वासिष्ठ' नाम से प्रसिद्ध हुए । उदाहरण यथा---

वसिष्ठेन दृष्टं वासिष्ठं साम (वसिष्ठऋषिद्वारा देखा गया साम) । यहां 'वसिष्ठ टा' इस तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'देखा गया साम' इस अर्थ में **दृष्टं साम** (१०३६) इस प्रकृतसूत्र से अण् प्रत्यय, तद्धितान्तसमुदाय की प्रातिपदिकसंज्ञा, प्राति-पदिक के अवयव सुँप् (टा) का लुक्, आदिवृद्धि एवं **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विशेष्यानुसार लिङ्ग, विभक्ति और वचन लाने पर 'वासिष्ठम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—विश्वामित्रेण दृष्टं वैश्वामित्रं साम । क्रुञ्चेन दृष्टं क्रौञ्चं साम ।

इसी अर्थ में अग्रिमसूत्रद्वारा डयत् और डय प्रत्ययों का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१०३७) वामदेवाड् ड्यड्-ड्यौ ।४।२।८।।**

वामदेवेन दृष्टं साम वामदेव्यम् ।।

अर्थः—'देखा गया साम' इस अर्थ में तृतीयान्त समर्थ 'वामदेव' प्रातिपदिक से तद्धितसंज्ञक डयत् और डय प्रत्यय हों ।

व्याख्या—तेन ।५।१। (**तेन रक्तं रागात्** सूत्र से । तृतीयान्त के अनुकरण 'तेन' से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये) । वामदेवात् ।५।१। डयड्-डयौ ।१।२। **दृष्टं साम** का पिछले सूत्र से अनुवर्त्तन होता है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्राति-पदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । डयत् च डयश्च डयड्डयौ, इतरेतर-

द्वन्द्वः । अर्थः—(तेन=तृतीयान्तात्) तृतीयान्त समर्थ (वामदेवात्) 'वामदेव' प्रातिपदिक से (दृष्टं साम इत्यर्थे) 'देखा गया साम' इस अर्थ में (तद्धितौ) तद्धितसंज्ञक ड्यड्-ड्यौ) ड्यत् और ड्य प्रत्यय होते हैं।

यह सूत्र सामान्यतः प्राप्त अण् प्रत्यय का अपवाद है। ड्यत् और ड्य दोनों के आदि डकार की **चुटू** (१२९) सूत्रद्वारा तथा ड्यत् के तकार की **हलन्त्यम्** (१) सूत्रद्वारा इत्संज्ञा हो जाती है। इत्सञ्ज्ञकों का लोप कर दोनों का 'य' ही शेष रहता है। रूपसिद्धि दोनों की एक समान होती है परन्तु स्वर में अन्तर पड़ता है। ड्यत् के तित् होने से **तित्स्वरितम्** (६.१.१७९) द्वारा वह स्वरित परन्तु ड्यप्रत्यय प्रत्ययस्वर से उदात्त रहेगा।

ड्यत् और ड्य दोनों डित् हैं अतः इन के परे रहते **टेः** (२४२) सूत्रद्वारा टि का लोप हो जायेगा। उदाहरण यथा—

वामदेवेन दृष्टं वामदेव्यं साम (वामदेव से देखा गया साम)। यहां 'वामदेव टा' इस तृतीयान्त प्रातिपदिक से **वामदेवाड् ड्यड्-ड्यौ** (१०३७) सूत्रद्वारा 'दृष्टं साम' इस अर्थ में ड्यत् अथवा ड्य प्रत्यय हुआ। प्रत्यय के अनुबन्धों का लोप, सुँब्लुक् एवं **टेः** (२४२) सूत्रद्वारा भसंज्ञक टि (अ) का भी लोप कर विशेष्य (सामन्) के अनुसार विभक्ति लाने से नपुंसक के प्रथमैकवचन में 'वामदेव्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

अब 'वस्त्र आदि से परिवृत (लिपटा हुआ) रथ' इस अर्थ में तद्धित का विधान करते हैं—

---

१. यदि ड्यत् और ड्य प्रत्ययों को डित् न कर केवल 'यत्' और 'य' प्रत्यय ही रहने देते तो भी उन प्रत्ययों के यकारादि होने के कारण **यचि भम्** (१६५) द्वारा उन से पूर्व की भसंज्ञा हो जाती और इस तरह **यस्येति च** (२३६) से अन्त्य अकार का लोप हो कर 'वामदेव्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता तो पुनः टिलोप के लिये इन को डित् क्यों किया गया है? यह यहां प्रश्न उत्पन्न होता है। इस का उत्तर यह है कि इन प्रत्ययों को टिलोप के लिये ही डित् नहीं किया गया अपितु **ययतोश्चातदर्थे** (६.२.१५६) इस अन्तोदात्तविधायक स्वरसूत्र में 'य' और 'यत्' प्रत्ययों के ग्रहण में इन प्रत्ययों का ग्रहण न हो जाये इसलिये इन को डित् किया गया है। अतः 'न वामदेव्यम् अवामदेव्यम्' इस नञ्तत्पुरुषसमास में नञ् का स्वर ही लगेगा **ययतोश्चातदर्थे** (६.२.१५६) से उत्तरपद को अन्तोदात्त न होगा। यही बात महाभाष्य में एक कारिकाद्वारा कही गई है—

सिद्धे यस्येतिलोपेन किमर्थं य-यतौ डितौ।
ग्रहणं माऽतदर्थे भूद् वामदेव्यस्य नञ्स्वरे॥ (महाभाष्य ४.२.९)

इस कारिका के पूर्वार्ध में शङ्का तथा उत्तरार्ध में उस का उपर्युक्त समाधान दिया गया है।

ढका हुआ / लिपटा हुआ

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०३८) **परिवृतो रथः** ।४।२।९।।

अस्मिन्नर्थेऽण् प्रत्ययो भवति । वस्त्रेण परिवृतो वास्त्रो रथः ।।

अर्थः – तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'परिवृत=लिपटा हुआ=ढका हुआ' अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय होता है परन्तु वह परिवृत वस्तु 'रथ' होनी चाहिये ।

व्याख्या—तेन ।५।१। (**तेन रक्तं रागात्** सूत्र से । यहां तृतीयान्त के अनुकरण 'तेन' से पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये) । परिवृतः ।१।१। रथः ।१।१। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** इस अधिकार से लब्ध हो जाता है) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तेन=तृतीयान्तात्) तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (परिवृतो रथः इत्यर्थे) 'लिपटा हुआ=ढका हुआ रथ' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है । तात्पर्य यह है कि अण् प्रत्यय तो 'परिवृत' अर्थ में होता है परन्तु वह परिवृत वस्तु रथ होनी चाहिये दूसरी नहीं ।[1] उदाहरण यथा—

वस्त्रेण परिवृतो वास्त्रो रथः (वस्त्र से ढका या आच्छादित रथ) । यहां 'वस्त्र टा' इस तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'परिवृत' अर्थ में **परिवृतो रथः** (१०३८) इस प्रकृत-सूत्र से तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो कर णकार अनुबन्ध का लोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अन्त्य अकार का लोप कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'वास्त्रः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—

कम्बलेन परिवृतः काम्बलो रथः ।[2]
दुकूलेन परिवृतो दौकूलो रथः ।
चर्मणा परिवृतश्चार्मणो रथः ।[3]

यहां वस्त्र, कम्बल, चर्मन् आदि आच्छादन वस्तुओं से ही प्रत्यय अभीष्ट है । 'छात्रैः परिवृतो रथः, पुत्रैः परिवृतो रथः' इत्यादियों में छात्र आदि शब्दों से प्रत्यय नहीं होता ।

यदि सूत्र में 'रथः' न कहते तो 'वस्त्रेण परिवृतः कायः' इत्यादियों में भी प्रत्यय हो जाता जो अनिष्ट था ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा 'निकाल कर रखा हुआ' इस अर्थ में तद्धितप्रत्यय का विधान करते हैं ।

---

१. इस तरह तद्धितार्थ में रथ का समावेश नहीं होता उस का पृथक् उल्लेख करना पड़ता है । जैसे—वास्त्रो रथः । चार्मणो रथः । काम्बलो रथः । इत्यादि ।

२. **रथे काम्बलवास्त्राद्याः कम्बलादिभिरावृते**—इत्यमरः ।

३. 'चार्मन्+अ' इत्यत्र **नस्तद्धिते** (९१९) इति नान्तस्य भस्य टेर्लोपे प्राप्ते **अन्** (१०२४) इति प्रकृतिभावः ।

पाठ्य पंक्तियाँ, उद्धृत: अण्

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१०३६) तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः ।४।२।१३।।**

(पात्रविशेषवाचिभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः उद्धृतमित्यर्थे तद्धितोऽण् प्रत्ययः स्यात्) । शरावे उद्धृतः शाराव ओदनः ।। कुल्हड़

अर्थः—'निकाल कर रखा हुआ' इस अर्थ में पात्रविशेषवाचक सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तत्र ।५।३। ('तत्र' यह सप्तम्यन्तों का अनुकरण है । इस से परे पञ्चमी के बहुवचन का सौत्र लुक् समझना चाहिये) । उद्धृतम् ।१।१। अमत्रेभ्यः ।५।३। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** इस अधिकार से लब्ध) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अमत्रशब्द पात्रवाचक है (**पात्राऽमत्रे तु भाजनम्** इति हैमे) । बहुवचननिर्देश के कारण शराव आदि पात्रविशेषवाचकों का ग्रहण किया जाता है । अर्थः=(तत्र=सप्तम्यन्तेभ्यः) सप्तम्यन्त (अमत्रेभ्यः) पात्रविशेषवाची प्रातिपदिकों से (उद्धृतम् इत्यर्थे) 'निकाल कर रखा गया' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है । उदाहरण यथा—

शरावे उद्धृतः शाराव ओदनः (शराव में निकाल कर रखा गया भात) । मिट्टी के प्याले को 'शराव' कहते हैं । 'शराव ङि' इस सप्तम्यन्त पात्रविशेषवाची प्रातिपदिक से 'निकाल कर रखा हुआ' इस अर्थ में प्रकृत **तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः** (१०३६) सूत्रद्वारा तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय ला कर पूर्ववत् सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का लोप करने से—शाराव्+अ='शाराव' । पुनः विशेष्य (ओदनः) के अनुसार पुंलिङ्ग के प्रथमैकवचन में 'शारावः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[1]

---

१. जिस से कोई वस्तु निकाली या पृथक् की जाती है उस की **ध्रुवमपायेऽपादानम्** (८६६) से अपादानसंज्ञा होती है और **अपादाने पञ्चमी** (६००) से उस में पञ्चमी का विधान हुआ करता है । यथा—कूपादुद्धृत्य वारि पिबति । तो इस तरह यहां शराव से निकाले जाने के कारण उस में पञ्चमी विभक्ति आनी चाहिये थी—शरावात् । भला इस में सप्तमी ला कर 'शरावे' कैसे कहा जा रहा है ? इस का उत्तर यह है कि यहां उद्धृतशब्द में उद्पूर्वक धृञ् धातु का अर्थ केवल निकालना ही नहीं अपितु 'निकाल कर रखना' अर्थ अभिप्रेत है । 'रखना' क्रिया का आधार 'शराव' है अतः उस की अधिकरणसंज्ञा होकर उस में सप्तमी विभक्ति लाई जाती है । 'शरावे उद्धृत ओदनः' का तात्पर्य यह है कि भात किसी अन्य स्थाली आदि पात्र से निकाल कर शराव में रखा गया है । अत एव हरदत्तमिश्र पदमञ्जरी में लिखते हैं—

अत्रोद्धरतिरुद्धरणपूर्वके निधाने वर्त्तते, तेन सप्तमी समर्था विभक्तिर्न नोपपद्यते (पदमञ्जरी ४.२.१३) ।

शेखरकार ने भी यही कहा है—

इसीप्रकार—

कर्परे उद्धृतं कार्परं दधि ।

स्थाल्यां स्थाले वा उद्धृतं स्थालं व्यञ्जनम् ।

मल्लिकायामुद्धृतो माल्लिकः संयावः ।

खर्परे उद्धृतः खार्परं ओदनः ।

शराव, कर्पर, स्थाली, मल्लिका, खर्पर आदि शब्द पात्रविशेषों के वाचक हैं ।

अमत्रेभ्य इति किम् ? पाणौ उद्धृत ओदनः । यहां पाणिशब्द हाथ का वाचक है पात्र का नहीं अतः प्रकृतसूत्र से अण् प्रत्यय नहीं होता ।

अब 'उस में संस्कृत' इस अर्थ में तद्धित प्रत्यय का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०४०) **संस्कृतं भक्षाः ।४।२।१५।।**

सप्तम्यन्तादण् स्यात् संस्कृतेऽर्थे, भक्षाश्चेत्ते स्युः । भ्राष्ट्रेषु संस्कृता भ्राष्ट्रा यवाः ।

अर्थः—सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'संस्कृत' (संस्कार किया गया) अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो परन्तु वह संस्कृत पदार्थ भक्ष अर्थात् खाने की वस्तु होना चाहिये ।

व्याख्या—संस्कृतम् ।१।१। भक्षाः ।१।३। तत्र ।५।१। (**तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः** सूत्र से । सप्तम्यन्त के अनुकरण 'तत्र' शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये) । अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । भक्ष्यन्ते इति भक्षाः, कर्मणि घञ् । 'संस्कृतम्' में एकवचन, सामान्याभिप्राय से तथा 'भक्षाः' में बहुवचन 'यवाः' 'अपूपाः' आदि को दृष्टि में रख कर किया गया है । अर्थः—(तत्र=सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से (संस्कृतमित्यर्थे) 'संस्कार किया हुआ' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है परन्तु वह संस्कृत पदार्थ (भक्षाः) खाने योग्य वस्तु हो ।[1]

भाव यह है कि जो द्रव्य संस्कृत किया गया हो यदि वह भक्षणीय वस्तु हो तो जिस पात्र में उस का संस्कार किया गया हो उस पात्रवाचक सप्तम्यन्त शब्द से 'संस्कृत' अर्थ में तद्धित अण् प्रत्यय हो ।

किसी वस्तु को पाक आदि या अन्य किसी प्रक्रिया से खाने-चबाने के योग्य

निधाननिरूपिताधिकरणत्वेन सप्तमी ।

काशिकाकार ने 'उद्धृतम्' का अर्थ **भुक्तोच्छिष्टम्** किया है । तब 'शाराव ओदनः' का अर्थ होगा 'खाने से बचा ओदन शराव में धरा है' । पुरुषोत्तमदेव ने भी भाषावृत्ति में इस का अर्थ **भुक्तोत्सृष्टम्** किया है ।

१. खरविशदम् अभ्यवहार्यं भक्षम् इति काशिकाकारः । दन्तैर्भक्ष्यं भक्षमाहुरिति नारायणभट्टः ।

बनाना उसे संस्कृत करना यहां अभीष्ट है।[1] जैसे यव (जौ) आदि को भ्राष्ट्र (भट्ठी) में भूनना आदि उसे 'संस्कृत' करना है। सूत्र का उदाहरण यथा—

भ्राष्ट्रेषु संस्कृता भक्षा भ्राष्ट्रा यवाः (भट्ठी में भून कर संस्कृत किये खाने योग्य जौ)। यहां 'भ्राष्ट्र सुँप्' इस सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से **संस्कृतं भक्षाः** (१०४०) इस अर्थ में प्रकृतसूत्र से अण् तद्धित प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, पर्जन्यवल्लक्षण-प्रवृत्तिन्याय से आदिवृद्धि एवं **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विशेष्य (यवाः) के अनुसार प्रथमा के बहुवचन में विभक्तिकार्य करने से 'भ्राष्ट्राः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—कलशे संस्कृता भक्षाः कालशा अपूपाः। कुम्भे संस्कृता भक्षाः कौम्भा यवाः। इत्यादि।

भक्षा इति किम्? पुष्पपुटे संस्कृतो मालागुणः। पुष्पपुट में गूंथा हुआ माला का तागा खाने का पदार्थ नहीं अतः पुष्पपुट से अण् हो कर 'पौष्पपुटः' न बनेगा।

अब **'साऽस्य देवता'** के अर्थ में तद्धितप्रत्ययों का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०४१) **साऽस्य देवता** ।४।२।२३॥

(देवताविशेषवाचिनः प्रथमान्तात्समर्थात् प्रातिपदिकाद् अस्येत्यर्थे तद्धितोऽण् प्रत्ययः स्यात्)। इन्द्रो देवताऽस्येति ऐन्द्रं हविः। पाशुपतम्। बार्हस्पत्यम्॥

अर्थः—देवताविशेषवाची प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'अस्य' (इस का) इस अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो।

व्याख्या—सा ।५।१। (प्रथमान्त के अनुकरण 'सा' शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये)। अस्य ।६।१। देवता ।५।१। (यहां भी पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** से अधिकृत है)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(सा = प्रथमान्तात्) प्रथमान्त (देवता = देवताविशेषवाचिनः) देवताविशेषवाची समर्थ प्रातिपदिक से (अस्य इत्यर्थे) 'इस का' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है।

यज्ञ आदि में जिस के उद्देश्य से हविः आदि प्रदान की जाती है या मन्त्र में जिस की स्तुति या जिस का प्रतिपादन किया जाता है वह यहां 'देवता' अभिप्रेत है। सूत्र का उदाहरण यथा—

इन्द्रो देवताऽस्येति ऐन्द्रं हविः (इन्द्र जिसका देवता है ऐसी हविः आदि)। यहां 'इन्द्र सुँ' इस देवताविशेषवाची प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'अस्य' (इस का) इस अर्थ में प्रकृत **साऽस्य देवता** (१०४१) सूत्रद्वारा तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि और भसञ्ज्ञक अन्त्य अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप करने पर 'ऐन्द्र'

---

१. सतो गुणाधानं संस्कार इति काशिकाकारादयः। भोजनादिरूपोपयोगफला क्रिया संस्कारो न तु गुणाधानमेवेति नागेशः।

निष्पन्न होता है । अब इस से विशेष्यानुसार लिङ्ग लगेगा । हविषशब्द नपुंसकलिङ्ग और मन्त्रशब्द पुंलिङ्ग है अतः विभक्ति ला कर प्रथमैकवचन में 'ऐन्द्रं हविः' तथा 'ऐन्द्रो मन्त्रः' बनेगा । स्त्रीलिङ्ग में ऐन्द्रशब्द से **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) द्वारा ङीप् हो कर **यस्येति च** (२३६) द्वारा लोप करने पर 'ऐन्द्री' प्रयोग बनेगा । ऐन्द्री दिक् (इन्द्र जिसका देवता है ऐसी दिशा अर्थात् पूर्वदिशा) ।

पशुपतिर्देवताऽस्येति पाशुपतम् (पशुपति अर्थात् शिव जिस का देवता है ऐसी हविः आदि) । यहां 'पशुपति सुँ' इस देवताविशेषवाचक प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'अस्य' (इस का) इस अर्थ में प्रकृत **साऽस्य देवता** (१०४१) सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय प्राप्त था । परन्तु पत्युत्तरपद होने के कारण **दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः** (९९९) सूत्र से उस का बाध हो कर 'ण्य' प्रत्यय प्राप्त हुआ । पुनः इस का भी बाध कर **अश्वपत्यादिभ्यश्च** (९९८) सूत्र से दुबारा अण् प्रत्यय हो जाता है—पशुपति सुँ + अण् । अब प्रत्यय के णकार अनुबन्ध का लोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'पाशुपतम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

बृहस्पतिर्देवताऽस्येति बार्हस्पत्यम् (बृहस्पति जिस का देवता है ऐसी हविः आदि)। यहां प्रथमान्त 'बृहस्पति' प्रातिपदिक से 'अस्य' अर्थ में प्रकृत **साऽस्य देवता** (१०४१) सूत्रद्वारा प्राप्त अण् प्रत्यय का बाध कर **दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः** (९९९) सूत्र से 'ण्य' प्रत्यय हो जाता है । तब अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक इकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'बार्हस्पत्यम' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसीप्रकार—प्रजापतिर्देवताऽस्येति प्राजापत्यम् (प्रजापति अर्थात् ब्रह्मा जिस का देवता है ऐसी हविः आदि) । ध्यान रहे कि बृहस्पति और प्रजापति शब्द अश्वपत्यादिगण में पढ़े नहीं गये अतः इन में **अश्वपत्यादिभ्यश्च** (९९८) सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय नहीं होता ।

सूत्र में देवताविशेषवाची से इसलिये कहा है कि 'कन्या देवताऽस्य' इत्यादियों में कन्याशब्द से प्रत्यय न हो जाये ।

अब देवताविशेषवाची 'शुक्र' प्रातिपदिक से अण् प्रत्यय के अपवाद घन् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०४२) **शुक्राद् घन्** ।४।२।२५।।

शुक्रियम् ।।

अर्थः—देवताविशेषवाचक प्रथमान्त समर्थ 'शुक्र' प्रातिपदिक से 'अस्य' (इस का) अर्थ में तद्धितसंज्ञक घन् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—शुक्रात् ।५।१। घन् ।१।१। **साऽस्य देवता** (१०४१) इस पूरे सूत्र का पीछे से अनुवर्त्तन होता है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं ही । अर्थः—(सा = प्रथमान्तात्) प्रथमान्त (देवता = देवताविशेषवाचिनः) देवताविशेषवाची (शुक्रात्) 'शुक्र' प्रातिपदिक से (अस्य इत्यर्थे) 'इस का' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (घन्) घन् प्रत्यय होता है । घन् में नकार अनुबन्ध

आरम्भ देव

ञ्नित्यादिर्नित्यम् (६.१.१९१) द्वारा आद्युदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है। तद्धित होने के कारण लशक्वतद्धिते (१३६) से प्रत्यय के आदि घकार की इत्संज्ञा नहीं होती। यह सूत्र साऽस्य देवता (१०४१) द्वारा प्राप्त अण् प्रत्यय का अपवाद है। उदाहरण यथा—

शुक्रो देवताऽस्येति शुक्रियम् (शुक्र जिस का देवता है ऐसी हविः आदि)। यहां 'शुक्र सुँ' से 'अस्य' अर्थ में सास्य देवता (१०४१) से अण् प्रत्यय प्राप्त था परन्तु प्रकृत शुक्राद् घन् (१०४२) सूत्र से उस का बाध हो कर घन् प्रत्यय हो जाता है—शुक्र सुँ + घन् = शुक्र सुँ + घ। अब तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से सुँप् (सुँ) का लुक् होकर आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम् (१०१३) सूत्र से प्रत्यय के आदि घ् को इय् आदेश करने से 'शुक्र इय् अ = शुक्र इय' बना। पुनः यस्येति च (२३६) सूत्र से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'शुक्रियम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। विशेष्य के पुंलिङ्ग होने पर—शुक्रियोऽध्यायः।

अब देवतावाचक सोमशब्द से टच्यण् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०४३) **सोमाट्ट्यण्** ।४।२।२९।।

सौम्यम् ।।

अर्थः—देवताविशेष के वाचक प्रथमान्त समर्थ 'सोम' प्रातिपदिक से 'अस्य' (इस का) इस अर्थ में तद्धितसंज्ञक टच्यण् प्रत्यय हो।

व्याख्या—सोमात् ।५।१। टच्यण् ।१।१। साऽस्य देवता (१०४१) इस पूरे सूत्र का अनुवर्त्तन होता है। प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं ही। अर्थः—(सा = प्रथमान्तात्) प्रथमान्त समर्थ (देवता = देवताविशेषवाचिनः) देवताविशेषवाचक (सोमात्) 'सोम' प्रातिपदिक से (अस्य इत्यर्थे) 'इस का' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (टच्यण्) टच्यण् प्रत्यय हो।

टच्यण् के टकार की चुटू (१२९) सूत्र से तथा णकार की हलन्त्यम् (१) से इत्सञ्ज्ञा हो जाती है। इतों का लोप हो कर 'य' मात्र शेष रहता है। टकार अनुबन्ध टिड्ढाणञ्० (१२५१) सूत्रद्वारा स्त्रीत्व में ङीप् प्रत्यय के लिये तथा णकार अनुबन्ध तद्धितेष्वचामादेः (९३८) से आदिवृद्धि करने के लिये जोड़ा गया है। यह सूत्र भी साऽस्य देवता (१०४१) सूत्रद्वारा प्राप्त अण् प्रत्यय का अपवाद है। उदाहरण यथा—

सोमो देवताऽस्येति सौम्यम् (सोम जिस का देवता है ऐसी हविः या सूक्त)। 'सोम सुँ' इस प्रथमान्त से साऽस्य देवता (१०४१) द्वारा 'अस्य' अर्थ में प्राप्त अण् प्रत्यय का बाध कर प्रकृत सोमाट्टच्यण् (१०४३) सूत्र से टच्यण् (य) प्रत्यय हो जाता है। अब सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसञ्ज्ञक, अन्त्य अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'सौम्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

सौम्यं हविः, सौम्यं सूक्तम्, सौम्यो मन्त्रः। स्त्रीलिङ्ग में—सौमी ऋक्। टिड्ढाणञ्० (१२५१) इति ङीपि भस्याकारस्य लोपे हलस्तद्धितस्य (१२५३) इति यकारलोपे च कृते रूपं सिध्यति।

अब देवताऽण् के अपवाद यत् प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०४४) **वाय्वृतुपित्रुषसो यत्** ।४।२।३०।।

वायव्यम् । ऋतव्यम् ।।

अर्थः—देवताविशेषवाचक प्रथमान्त समर्थ—वायु, ऋतु, पितृ और उषस् प्रातिपदिकों से 'अस्य' (इस का) इस अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—वायु-ऋतु-पितृ-उषसः ।५।१। यत् ।१।१। **साऽस्य देवता** (१०४१) इस पूरे सूत्र का अनुवर्त्तन होता है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(सा=प्रथमान्तात्) प्रथमान्त समर्थ (देवता=देवतावाचिनः) देवताविशेषवाची (वायु-ऋतु-पितृ-उषसः) वायु, ऋतु, पितृ और उषस् प्रातिपदिकों से (अस्य इत्यर्थे) 'इस का' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (यत्) यत् प्रत्यय होता है ।

यत् का तकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'य' मात्र शेष रहता है । तकार अनुबन्ध **यतोऽनावः** (६.१.२०७)[1] द्वारा आद्युदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है । सूत्रोदाहरण यथा—

वायुर्देवताऽस्येति वायव्यं हविः (वायु जिस का देवता है ऐसी हविः आदि) । यहां प्रथमान्त समर्थ 'वायु सुँ' से 'इस का' अर्थ में **साऽस्य देवता** (१०४१) द्वारा प्राप्त अण् प्रत्यय का बाध कर प्रकृत **वाय्वृतुपित्रुषसो यत्** (१०४४) सूत्र से तद्धित-संज्ञक यत् प्रत्यय हो कर सुँप् का लुक् करने से—वायु+य । अब **यचि भम्** (१६५) से भसंज्ञा, **ओर्गुणः** (१००५) से भसंज्ञक उकार को ओकार गुण तथा **वान्तो यि प्रत्यये** (२४) सूत्रद्वारा ओकार को अव् आदेश कर विभक्तिकार्य करने से 'वायव्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

ऋतुर्देवताऽस्येति ऋतव्यं हविः (ऋतु जिस का देवता है ऐसी हविः आदि) । यहां 'ऋतु सुँ' से 'अस्य' के अर्थ में पूर्ववत् यत् प्रत्यय, सुँब्लुक्, गुण और अव् आदेश कर विभक्ति लाने से 'ऋतव्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

पितृशब्द से यत् करने पर अग्रिमसूत्र की प्रवृत्ति होती है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०४५) **रीङ् ऋतः** ।७।४।२७।।

अकृद्यकारे, असार्वधातुके यकारे, च्वौ च परे ऋदन्ताङ्गस्य रीङा-देशः । यस्येति च (२३६)—पित्र्यम् । उषस्यम् ।।

अर्थः—अकृत् का यकार, असार्वधातुक का यकार, अथवा च्विँ प्रत्यय—इन में से कोई एक परे हो तो ऋदन्त अङ्ग के स्थान पर रीङ् आदेश हो जाता है ।

---

१. अर्थः—यत्प्रत्ययान्तस्य द्व्यच आदिरुदात्तो भवति न चेन्नौशब्दात् परो भवति । **तित् स्वरितम्** (६.१.१७९) इत्यस्यापवादः । चेयम् । जेयम् । कण्ठ्यम् । ओष्ठ्यम् । अनाव इति किम् ? नाव्यम् । द्व्यच इत्येव—ललाटचम् ।

का भाई, का पिता

व्याख्या—रीङ् ।१।१। ऋतः ।६।१। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। अकृत्सार्वधातुकयोः ।६।२। (**अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः** सूत्र से)। यि ।७।१। (**अयङ् यि क्ङिति** सूत्र से)। च्वौ ।७।१। (**च्वौ च** सूत्र से)। 'ऋतः' यह 'अङ्गस्य' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'ऋदन्तस्य अङ्गस्य' बन जायेगा। समासः—कृत् च सार्वधातुकं च कृत्सार्वधातुके, न कृत्सार्वधातुके अकृत्सार्वधातुके, तयोः=अकृत्सार्वधातुकयोः, द्वन्द्वगर्भनञ्तत्पुरुषः। अर्थः—(अकृत्सार्वधातुकयोः) जो न तो कृत् प्रत्यय का अवयव है और न सार्वधातुक का ऐसे (यि) यकार के परे रहते अथवा (च्वौ) च्विँ-प्रत्यय के परे रहते (ऋतः=ऋदन्तस्य) ऋदन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (रीङ्) रीङ् आदेश हो जाता है।

रीङ् आदेश का ङकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'री' मात्र शेष रहता है। ङित् होने से यह आदेश **ङिच्च** (४६) सूत्रद्वारा ऋदन्त अङ्ग के अन्त्य अल् अर्थात् ऋकार के स्थान पर होता है। उदाहरण यथा—

पितरो देवता अस्येति पित्र्यम् (पितर जिस के देवता हैं ऐसी हविः आदि)। 'पितृ जस्' इस प्रथमान्त देवताविशेषवाची से 'अस्य' (इस का) अर्थ में **साऽस्य देवता** (१०४१) द्वारा प्राप्त अण् प्रत्यय के अपवाद **वाय्वृतुपित्रुषसो यत्** (१०४४) सूत्र से यत् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् करने से 'पितृ+य' बना। अब यहां यकार न तो कृत्प्रत्यय का अवयव है और न ही सार्वधातुक का, अतः इस के परे रहते **रीङ् ऋतः** (१०४५) द्वारा तकारोत्तर ऋकार को रीङ् आदेश करने पर—पित्री+य=पित्री+य। पुनः यहां **यचि भम्** (१६५) से भसंज्ञा हो कर **यस्येति च** (२३६) द्वारा भसंज्ञक ईकार का लोप हो जाता है—पित्र्य। विशेष्यानुसार विभक्तिकार्य करने पर 'पित्र्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

उषो देवताऽस्येति उषस्यम् (उषस् जिस का देवता है ऐसी हविः आदि)। 'उषस् सुँ' इस प्रथमान्त से पूर्ववत् यत् प्रत्यय ला कर सुँब्लुक् करने से 'उषस्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यहां यह विशेषतः ध्यातव्य है कि भसञ्ज्ञा के द्वारा पदसंज्ञा के बाधित हो जाने से उषस् के सकार को रुँ आदेश नहीं होता।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा कुछ शब्दों का निपातन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०४६)

पितृव्य-मातुल-मातामह-पितामहाः ।४।२।३५।।

एते निपात्यन्ते। पितुर्भ्राता पितृव्यः। मातुर्भ्राता मातुलः। मातुः पिता मातामहः। पितुः पिता पितामहः।।

अर्थः—पितृव्य (चाचा), मातुल (मामा), मातामह (नाना) और पितामह (दादा)—ये चार शब्द निपातित किये जाते हैं।

व्याख्या—पितृव्य-मातुल-मातामह-पितामहाः ।१।३। बने बनाये शब्दों को प्रक्रिया दर्शाए विना सूत्रों में पढ़ देना निपातन कहाता है। इन में प्रकृति, समर्थ-

व्यत्, डुलच्, डामहच्,

बिभक्ति, प्रत्यय, प्रत्ययार्थ तथा अनुबन्ध आदि की स्वयं कल्पना करनी पड़ती है। तथाहि—

पितुर्भ्राता पितृव्यः (पिता का भाई अर्थात् चाचा)। यहां 'पितृ ङस्' से 'भ्राता' अर्थ में व्यत् प्रत्यय का निपातन समझना चाहिये। सुँब्लुक् होकर विभक्ति लाने से 'पितृव्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

मातुर्भ्राता मातुलः (माता का भाई अर्थात् मामा)। यहां 'मातृ ङस्' से 'भ्राता' अर्थ में डुलच् प्रत्यय का निपातन समझना चाहिये। डुलच् का 'उल' मात्र शेष रहता है। सुँब्लुक् हो कर प्रत्यय के डित्त्व के कारण उस के परे रहते **टेः** (२४२) सूत्रद्वारा भसञ्ज्ञक टि (ऋ) का लोप कर विभक्ति लाने से 'मातुलः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

मातुः पिता मातामहः (माता का पिता अर्थात् नाना)। यहां 'मातृ ङस्' से 'पिता' अर्थ में डामहच् प्रत्यय का निपातन हुआ है। अनुबन्धों का लोप होकर 'आमह' मात्र शेष रहता है। सुँब्लुक् हो कर प्रत्यय के डित्त्व के कारण उस के परे रहने **टेः** (२४२) सूत्रद्वारा भसञ्ज्ञक टि (ऋ) का लोप कर विभक्ति लाने से 'मातामहः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

पितुः पिता पितामहः (पिता का पिता अर्थात् दादा)। यहां भी पूर्ववत् 'पितृ ङस्' से 'पिता' अर्थ में डामहच् (आमह) प्रत्यय का निपातन समझना चाहिये। सुँब्लुक् हो कर **टेः** (२४२) से टि का लोप हो जायेगा।[2]

नोट—मातुर्माता अथवा पितुर्माता—इस अर्थ में भी यही डामहच् प्रत्यय होता है। परन्तु **मातरि षिच्च** (वा०) वार्त्तिकद्वारा उसे षित् अतिदेश किया जाता है। इस से स्त्रीत्व की विवक्षा में षित्त्वात् **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५५) सूत्रद्वारा ङीष् हो कर 'मातामही, पितामही' प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। कुछ लोग मातामह और पितामह शब्दों का गौरादिगण में पाठ मान कर भी ङीष् का विधान किया करते हैं।

अब 'तस्य समूहः' इस अर्थ में तद्धितप्रत्ययों का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०४७) तस्य समूहः ।४।२।३६।।

काकानां समूहः काकम् ।।

अर्थः—षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'समूह' अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तस्य ।५।१। (षष्ठ्यन्त के अनुकरण 'तस्य' शब्द से परे पञ्चमी का

---

१. महाभाष्य में वार्त्तिकद्वारा कहा भी है—
पितृमातृभ्यां भ्रातरि व्यड्-डुलचौ (वा०)।

२. महाभाष्य में वार्तिकद्वारा कहा भी गया है—
मातृ-पितृभ्यां पितरि डामहच् (वा०)।

समू ह

सौत्र लुक् हुआ है) । समूहः ।१।१। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** यह अधिकृत है) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तस्य = षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से (समूह इत्यर्थे) समूह अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है ।

तात्पर्य यह है कि जिस का समूह कहना अभीष्ट हो उस से परे अण् प्रत्यय होता है । उदाहरण यथा –

काकानां समूहः काकम् (कौओं का समूह या टोला) । यहां 'काक आम्' इस षष्ठ्यन्त से समूह अर्थ में प्रकृत **तस्य समूहः** (१०४७) सूत्र से तद्धितसञ्ज्ञक अण् प्रत्यय, णकार अनुबन्ध का लोप, तद्धितान्त समुदाय की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (आम्) का लुक्, **पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः** न्याय से आकार को भी वृद्धि आकार (६३८) और अन्त में **यस्येति च** (२३६) सूत्र से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'काकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । ध्यान रहे कि समूह प्रत्ययान्त तद्धितान्तों का लोक में नपुंसकलिङ्ग में प्रयोग होता है ।

इसीप्रकार—

वकानां समूहो वाकम् (बगुलों का समूह) ।

वृकाणां समूहो वार्कम् (भेड़ियों का समूह) ।

नोट—स्त्रीणां समूहः स्त्रैणम् (स्त्रियों का समूह), पुंसां समूहः पौंस्नम् (पुरुषों का समूह)—इन में **स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** (१००३) सूत्र से औत्सर्गिक अण् के अपवाद क्रमशः नञ् और स्नञ् प्रत्यय ही होते हैं । इन की सिद्धि पीछे दर्शाई जा चुकी है ।

अब समूह अर्थ में कुछ अन्य सूत्रों का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०४८) भिक्षादिभ्योऽण् ।४।२।३७।।

भिक्षाणां समूहो भैक्षम् । गर्भिणीनां समूहो गार्भिणम् । इह—

अर्थः—भिक्षा आदि षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिकों से समूह अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक अण् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—भिक्षादिभ्यः ।५।३। अण् ।१।१। **तस्य समूहः** (१०४७) इस पूरे सूत्र का यहां अनुवर्त्तन होता है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । भिक्षा (भिक्षाशब्दः) आदिर्येषान्ते भिक्षादयः, तेभ्यः = भिक्षादिभ्यः । तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(तस्य = षष्ठ्यन्तेभ्यः) षष्ठ्यन्त (भिक्षादिभ्यः) भिक्षा आदि समर्थ प्रातिपदिकों से (समूह इत्यर्थे) समूह अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है ।

भिक्षादि एक गण है ।[1] भिक्षादि प्रातिपदिकों से समूह अर्थ में पूर्वसूत्रद्वारा

---

१. भिक्षादिगण यथा—
भिक्षा । गर्भिणी । क्षेत्र । करीष । अङ्गार । चर्मिन् । धर्मिन् । चर्मन् । धर्मन् । सहस्र । युवति । पदाति । पद्धति । अथर्वन् (अर्वन्) । दक्षिण (दक्षिणा) । भूत । विषय । श्रोत्र ।।

प्राप्त होने वाले अण् प्रत्यय को बाध कर ठक् आदि वक्ष्यमाण प्रत्यय प्राप्त होते थे अतः इस सूत्र से उन के बाधनार्थ पुनः अण् का बिधान किया गया है । उदाहरण यथा—

भिक्षाणां समूहो भैक्षम् (भिक्षाओं का समूह या ढेर) । यहां 'भिक्षा आम्' इस षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से समूह अर्थ में प्रकृत **भिक्षादिभ्योऽण्** (१०४८) सूत्र से अण् प्रत्यय, अनुबन्ध णकार का लोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि एवं **यस्येति च** (२३६) से अन्त्य आकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'भैक्षम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[1] भिक्षा अचित्त (चित्त-हीन) वस्तु है अतः **अचित्त-हस्ति-धेनोष्ठक्** (१०५१) सूत्रद्वारा समूह अर्थ में इस से ठक् प्रत्यय प्राप्त होता था । यहां उस का बाध कर पुनः अण् प्रत्यय का विधान किया गया है ।

गर्भिणीनां समूहो गार्भिणम् (गर्भवती स्त्रियों का समूह) । गर्भिणीशब्द अनुदात्तादि है[2] अतः समूह अर्थ में सामान्यप्राप्त अण् का बाध कर **अनुदात्तादेरञ्** (४.२.४३) सूत्र से अञ् प्रत्यय प्राप्त था । परन्तु भिक्षादिगण में पाठ के कारण अञ् के अपवाद **भिक्षादिभ्योऽण्** (१०४८) से पुनः अण् प्रत्यय हो जाता है—गर्भिणी आम्+अण् । प्रत्यय के अनुबन्ध णकार का लोप एवं **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (आम्) का भी लुक् कर देने पर—गर्भिणी+अ । अब यहां अग्रिम वार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—(७८) भस्याढे तद्धिते ॥

इति पुंवद्भावे कृते—

अर्थः—'ढ' से भिन्न अन्य किसी तद्धित प्रत्यय के परे रहते भसञ्ज्ञक अङ्ग के स्थान पर पुंवद्भाव हो जाता है । **इति पुंवद्भावे कृते**—इस वार्त्तिक से पुंवद्भाव किये जाने पर (अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है) ।

व्याख्या—भस्य ।६।१। अढे ।७।१। तद्धिते ।७।१। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है) । यह वार्त्तिक महाभाष्य में पुंवद्भावप्रकरणस्थ **तसिलादिष्वाकृत्वसुँचः** (६.३.३४) सूत्र पर पढ़ा गया है अतः इस का विषय भी पुंवद्भाव करना समझा जायेगा । न ढः—अढः, तस्मिन्=अढे, नञ्तत्पुरुषसमासः । ढभिन्ने इत्यर्थः । अर्थः—(अढे=ढभिन्ने) 'ढ' से भिन्न (तद्धिते) अन्य कोई तद्धित प्रत्यय परे हो तो (भस्य अङ्गस्य) भसंज्ञक अङ्ग के स्थान पर (पुंवत्) पुंवद्भाव हो जाता है ।

'गर्भिणी+अ' यहां ढभिन्न तद्धित प्रत्यय अण् परे है और इस के परे रहते **यचि भम्** (१६५) द्वारा पूर्व अङ्ग की भसंज्ञा भी है । अतः **भस्याढे तद्धिते** (वा० ७८)

---

१. **भैक्षं भिक्षाकदम्बकम्** इत्यमरः ।

२. गर्भशब्दान्मत्वर्थीये इन्प्रत्यये कृते **प्रत्ययः, परश्च, आद्युदात्तश्चेति** इकारस्य उदात्तत्वे **अनुदात्तं पदमेकवर्जम्** (६.१.१५२) इति शिष्टस्यानुदात्तत्वे गर्भिन्शब्दोऽनुदात्तादिः । ततो नान्तलक्षणे ङीपि तस्य **अनुदात्तौ सुँप्पितौ** (३.१.४) इत्यनुदात्तत्वे गर्भिणीशब्दोऽप्यनुदात्तादिरेव । (बालमनोरमा)

इस प्रकृतवार्त्तिक से 'गर्भिणी' इस भसंज्ञक अङ्ग के स्थान पर 'गर्भिन्' यह पुंवद्भाव हो कर 'गर्भिन् + अ' हुआ। अब यहां **नस्तद्धिते** (९१९) सूत्र से टि (इन्) का लोप प्राप्त होता है। इस पर अग्रिमसूत्र से इस का निषेध करते हैं —

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१०४९) इनण्यनपत्ये ।६।४।१६४।।**

अनपत्यार्थेऽणि परे इन् प्रकृत्या स्यात्। तेन नस्तद्धिते (९१९) इति टिलोपो न। युवतीनां समूहः—यौवनम् ॥

अर्थः—अपत्यार्थ से भिन्न अन्य अर्थों में विहित अण् प्रत्यय परे हो तो 'इन्' प्रकृतिभाव से रहता है अर्थात् उस में परिवर्त्तन नहीं होता। **तेन**—इस सूत्र के कारण **नस्तद्धिते** (९१९) द्वारा टि (इन्) का लोप नहीं होता।

व्याख्या—इन् ।१।१। अणि ।७।१। अनपत्ये ।७।१। प्रकृत्या ।३।१। (**प्रकृत्यैकाच्** सूत्र से)। न अपत्यम् अनपत्यम्, तस्मिन् = अनपत्ये, नञ्तत्पुरुषः। अर्थः—(अनपत्ये) अपत्यभिन्न अर्थ में विहित (अणि) अण् प्रत्यय के परे रहते (इन्) 'इन्' यह (प्रकृत्या) प्रकृतिभाव से अवस्थित रहता है।

यदि अपत्यार्थ में विहित अण् प्रत्यय परे होगा तो 'इन्' को प्रकृतिभाव न होगा, तब **नस्तद्धिते** (९१९) से उस का लोप हो जायेगा। यथा—मेधाविनोऽपत्यं मैधावः। यहां **तस्यापत्यम्** (१००४) से अपत्यार्थ में अण् प्रत्यय किया गया है अतः इस के परे रहते टि (इन्) का लोप हो जाता है, प्रकृतिभाव नहीं होता।

गर्भिन् + अ। यहां अण् प्रत्यय समूह अर्थ में हुआ है अपत्य अर्थ में नहीं, अतः **इनण्यनपत्ये** (१०४९) सूत्रद्वारा 'इन्' को प्रकृतिभाव हो जाता है, टि का लोप नहीं होता। **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदिवृद्धि तथा **अट्कुप्वाङ्०** (१३८) से नकार को णकार कर विभक्ति लाने से 'गार्भिणम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

'युवति' शब्द भी भिक्षादिगण में पढ़ा गया है। युवन् शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में **यूनस्तिः** (१२७६) सूत्रद्वारा 'ति' प्रत्यय करने पर पदान्त नकार का लोप हो कर 'युवति' शब्द निष्पन्न होता है। यह अनुदात्तादि[2] है। अतः समूह अर्थ में **अनुदात्तादेरञ्** (४.२.४३) सूत्रद्वारा इस से अञ् प्रत्यय प्राप्त होता है। इस पर उसे बाध कर **भिक्षादिभ्योऽण्** (१०४८) सूत्र से अण् प्रत्यय, सुँब्लुक् तथा **भस्याढे तद्धिते** (वा० ७८) से

१. यहां यह बात विशेषतः ध्यातव्य है कि भिक्षादिगण में यदि गर्भिणीशब्द का पाठ न करते तो अनुदात्तादि होने के कारण **अनुदात्तादेरञ्** (४.२.४३) सूत्र से अञ् प्रत्यय हो कर पुंवद्भाव करने पर टि का लोप हो जाता। इस तरह 'गार्भम्' ऐसा अनिष्ट रूप बनता। किञ्च तब **ञ्नित्यादिर्नित्यम्** (६.१.१९१) सूत्र से अनिष्ट आद्युदात्तस्वर भी प्रसक्त होता जब कि हमें अन्तोदात्तस्वर अभीष्ट है।

२. **कनिन् यु-वृषि-तक्षि०** (उणा० १५४) इत्यौणादिकसूत्रेण कनिन्प्रत्ययान्तो युवन्शब्दो नित्स्वरेण आद्युदात्तः। ततः स्त्रियां **यूनस्तिः** (१२७६) इति तिप्रत्ययस्य प्रत्यय-स्वरेणोदात्तत्वे सतिशिष्टस्वरेण युवतिशब्दस्य अनुदात्तादित्वमवसेयम्।

सामूह तल्

पुंवद्भाव हो जाता है—युवन् + अ । अब **नस्तद्धिते** (६१६) से प्राप्त टिलोप का बाध कर **अन्** (१०२४) सूत्र से अन् को प्रकृतिभाव, आदिवृद्धि तथा अन्त में विभक्तिकार्य करने पर 'यौवनम्' (युवतीनां समूहः, युवतियों का समूह) प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[1]

शतृँप्रत्ययान्त 'युवत्' शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में **उगितश्च** (१२५०) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय करने से 'युवती' शब्द बनता है। यह अनुदात्तादि है ।[2] 'युवती आम्' से समूह अर्थ में **अनुदात्तादेरञ्** (४.२.४३) सूत्रद्वारा अञ्प्रत्यय, सुँब्लुक्, **भस्याढे तद्धिते** (वा० ७८) से पुंवद्भाव, तथा अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'यौवतम्' (युवतीजनों का समूह) प्रयोग सिद्ध हो जाता है । युवतीनां समूहो यौवतम् ।

भिक्षादियों से समूहार्थक अण् के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

पदातीनां समूहः पादातम् (पैदलों का समूह) ।

करीषाणां समूहः कारीषम् (सूखे गोबरों का ढेर) ।

दक्षिणानां समूहो दाक्षिणम् (दक्षिणाओं का समूह) ।

सहस्राणां समूहः साहस्रम् (हजारों का समूह) ।

अब समूह अर्थ में तल् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०५०) **ग्राम-जन-बन्धुभ्यस्तल् ।४।२।४२।।**

तलन्तं स्त्रियाम् । ग्रामता । जनता । बन्धुता ।।

अर्थः—ग्राम, जन और बन्धु इन षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिकों से समूह अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक तल् प्रत्यय हो । **तलन्तं स्त्रियाम्**—तल्प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं ।

व्याख्या—ग्राम-जन-बन्धुभ्यः ।५।३। तल् ।१।१। **तस्य समूहः** (१०४७) का अनुवर्त्तन होता है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । ग्रामश्च जनश्च बन्धुश्च ग्रामजनबन्धवः, तेभ्यः = ग्रामजनबन्धुभ्यः । इतरेतरद्वन्द्वः ।

---

१. गणरत्नमहोदधिकार वर्धमान, धातुवृत्तिकार सायण, सिद्धान्तकौमुदीकार भट्टोजिदीक्षित आदि को यही रूप अभीष्ट है । परन्तु काशिकाकार आदि यहां 'यौवतम्' रूप बनाते हैं । वे यहां भिक्षादित्वात् अण्प्रत्यय करने के बाद गण में पाठ के सामर्थ्य से पुंवद्भाव का अभाव मानते हैं । अमरकोषकार ने भी इसी रूप का अनुमोदन किया है—**गणिकादेस्तु गाणिक्यं गार्भिणं यौवतं गणे** । अनेक कवियों ने भी यहां 'यौवत' शब्द का प्रयोग किया है । तथाहि—

अवधृत्य दिवोऽपि यौवतैर्न सहाधीतवतीमिमामहम् ।
कतमस्तु विधातुराशये पतिरस्या वसतीत्यचिन्तयम् ।। (नैषध २.४१)
मनुष्यनारीजनतोऽपि यौवतं दिवौकसां श्रेष्ठतमं वदन्ति ।। (रामचरित २.३)
अहो विबुधयौवतं वहसि तन्वि पृथ्वीगता ।। (गीतगोविन्द १०)

२. प्रत्ययस्वरेण मध्योदात्तोऽयं युवच्छब्दः । ततः उगिल्लक्षणङीपः पुंवत्त्वेन निवृत्तौ अनुदात्तादिरेवायम् ।

अर्थः—(तस्य = षष्ठ्यन्तेभ्यः) षष्ठ्यन्त समर्थ (ग्राम-जन-बन्धुभ्यः) ग्राम, जन और बन्धु प्रातिपदिकों से (समूह इत्यर्थे) समूह अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (तल्) तल् प्रत्यय होता है। तल् प्रत्यय में लकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'त' मात्र शेष रहता है। उदाहरण यथा—

ग्रामाणां समूहो ग्रामता (गांवों का समूह)। यहां 'ग्राम आम्' इस षष्ठ्यन्त से समूह अर्थ में प्रकृत **ग्राम-जन-बन्धुभ्यस्तल्** (१०५०) सूत्रद्वारा तल्प्रत्यय, लकार अनुबन्ध का लोप, तद्धितान्त की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (आम्) का लुक् करने पर 'ग्रामत' हुआ। 'ग्रामत' शब्द तलन्त है, तल्प्रत्ययान्त शब्द **तलन्तः** (लिङ्गानुशासन १७) इस लिङ्गानुशासनीयसूत्र के अनुसार स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं। अतः यहां भी स्त्रीत्व की विवक्षा में **अजाद्यतष्टाप्** (१२४६) सूत्र से टाप् प्रत्यय हो अनुबन्ध टकार पकार का लोप कर सवर्णदीर्घ करने से—ग्रामता। अब प्रथमा के एकवचन में सुँ प्रत्यय ला कर उस के अपृक्त सकार का **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुँतिँस्यपृक्तं हल्** (१७९) से लोप करने पर 'ग्रामता' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

जनानां समूहः—जनता (लोगों का समूह)। यहां पर भी पूर्ववत् षष्ठीबहुवचनान्त जनशब्द से समूह अर्थ में तल् प्रत्यय, सुँब्लुक्, स्त्रीत्व के कारण टाप् तथा अन्त में सवर्णदीर्घ कर विभक्तिकार्य करने से 'जनता' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। आजकल हिन्दीभाषा में भी इसी अर्थ में 'जनता' शब्द का प्रयोग देखा जाता है।

बन्धूनां समूहो बन्धुता (बन्धुओं का समूह)। यहां भी पूर्ववत् तल् प्रत्यय हो कर टाप् प्रत्यय हो जाता है।

अब अग्रिमवार्त्तिकद्वारा दो अन्य शब्दों से भी समूह अर्थ में तल् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(७९) गज-सहायाभ्यां चेति वक्तव्यम् ॥

गजता। सहायता ॥

अर्थः—गज और सहाय इन षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिकों से भी समूह अर्थ में तद्धित तल् प्रत्यय कहना चाहिये।

व्याख्या—गजसहायाभ्याम् ।५।२। च इत्यव्ययपदम्। इति इत्यव्ययपदम्। वक्तव्यम् ।१।१। यह वार्त्तिक पूर्वोक्तसूत्र (१०५०) पर पढ़ा गया है अतः तद्विषयक ही समझा जायेगा। अर्थः—(तस्य = षष्ठ्यन्ताभ्याम्) षष्ठ्यन्त (गजसहायाभ्याम्) गज और सहाय प्रातिपदिकों से (च) भी (समूह इत्यर्थे) समूह अर्थ में तद्धितसंज्ञक (तल्) तल् प्रत्यय हो (इति वक्तव्यम्) ऐसा कहना चाहिये। उदाहरण यथा—

गजानां समूहो गजता (हाथियों का समूह या झुण्ड)। यहां 'गज आम्' से समूह अर्थ में **गजसहायाभ्यां चेति वक्तव्यम्** (वा० ७९) इस प्रकृत वार्त्तिक से तल् प्रत्यय,

सुँब्लुक् तथा **तलन्तः** (लिङ्गानुशासन १७) के अनुसार स्त्रीत्व में टाप्-सवर्णदीर्घ कर विभक्ति लाने से 'गजता' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

सहायानां समूहः सहायता (सहायकों का समूह) । यहां भी 'सहाय आम्' से पूर्ववत् तल् प्रत्यय हो कर टाप्, सवर्णदीर्घ तथा विभक्तिकार्य हो जाता है ।

अब अग्रिम वार्त्तिकद्वारा अहन् शब्द से समूह अर्थ में 'ख' प्रत्यय का विधान करते हैं -

[लघु०] वा० –(८०) अह्नः खः क्रतौ ।।

अहीनः ।।

अर्थः—यज्ञ के विषय में वर्तमान षष्ठ्यन्त अहन् प्रातिपदिक से समूह अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक 'ख' प्रत्यय हो ।

व्याख्या —अह्नः ।५।१। खः ।१।१। क्रतौ ।७।१। प्रकरणतः **तस्य समूहः** (१०४७) का अनुवर्त्तन होता है । अर्थः—(क्रतौ) यज्ञ के विषय में वर्त्तमान (तस्य=षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त (अह्नः) अहन् प्रातिपदिक से (समूह इत्यर्थे) समूह अर्थ में (तद्धितः) तद्धित-संज्ञक (खः) 'ख' प्रत्यय हो जाता है । उदाहरण यथा—

अह्नां समूहः—अहीनः (सुत्याओं का समूहरूप एक यज्ञविशेष[1]) । यहां यज्ञविषय में वर्त्तमान 'अहन् आम्' इस षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से समूह अर्थ में प्रकृत **अह्नः खः क्रतौ** (वा० ८०) वार्त्तिक से 'ख' प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् तथा **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) सूत्र से प्रत्यय के आदि ख् को ईन् आदेश करने पर—अहन् ईन् अ=अहन्+ईन । अब **अह्नष्टखोरेव** (६.४.१४५)[2] इस नियम का अनुसरण करते

---

१. 'अहीन' एक यज्ञविशेष का नाम है जो कुछ दिनों में समापनीय होता है । इस के द्विरात्र आदि भेद होते हैं । इस यज्ञ में प्रतिदिन सुत्या अर्थात् सोमलता का कर्त्तन करना पड़ता है । 'अह्नां समूहः' इस विग्रह में अहन्शब्द दिन का वाचक नहीं अपितु दिन में होने वाले कर्म सुत्या का वाचक है, जैसाकि माधवीयधातुवृत्ति में **ओहाक् त्यागे** (जुहो० परस्मै०) धातु पर कहा है—**अत्र अहः शब्दोऽहर्मितकर्म-वचनः** । लघुशब्देन्दुशेखर में नागेशभट्ट ने भी यही अभिप्राय व्यक्त किया है — **क्रतौ वर्त्तमानाद् अहन्शब्दात् समूहे ख इत्यर्थः । एवं च सुत्यासमूहे रूढोऽहीनशब्दः ।** इस यज्ञ को कराने वाले ऋत्विजों के लिये मनुस्मृति में प्रायश्चित का विधान किया गया है—

व्रात्यानां याजनं कृत्वा परेषामन्त्यकर्म च ।
अभिचारमहीनं च त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यपोहति ।। (मनु० ११.१९८)

नायमभिचाराहीनयोर्यजमानस्य विधिः । कस्य तर्हि ? ऋत्विजाम् ।

(मेधातिथिव्याख्या)

२. **अह्नष्टखोरेव** (६.४.१४५) । अर्थः—ट अथवा ख प्रत्यय के परे होने पर ही 'अहन्' की टि का लोप हो ।

समूह

हुए **नस्तद्धिते** (९१९) द्वारा भसंज्ञक टि (अन्) का लोप कर विभक्तिकार्य करने से—अह् + ईन = 'अहीनः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

अब समूह अर्थ में ठक् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०५१)

अचित्त-हस्ति-धेनोष्ठक् ।४।२।४६।।

अर्थः—अचित्त = चित्तविहीन अर्थात् अप्राणिवाचक प्रातिपदिकों से एवं हस्तिन् और धेनु इन दो प्रातिपदिकों से समूह अर्थ में तद्धितसंज्ञक ठक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—अचित्त-हस्ति-धेनोः ।५।१। ठक् ।१।१। **तस्य समूहः** (१०४७) सूत्र का अनुवर्त्तन होता है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अविद्यमानं चित्तं येषां ते = अचित्ताः, नञ्बहुव्रीहिसमासः । अचेतनाः = अप्राणिवाचका इत्यर्थः । अचित्ताश्च हस्ती च धेनुश्च एषां समाहारः—अचित्तहस्तिधेनु, तस्मात् = अचित्तहस्तिधेनोः, समाहारद्वन्द्वेऽपि पुंस्त्वं सौत्रम् । 'अचित्त' से अचेतन वस्तुओं के वाचक प्रातिपदिकों का ग्रहण अभीष्ट है । हस्तिन् और धेनु दोनों का स्वरूपग्रहण ही इष्ट है । अचेतन न होने के कारण इन का पृथक् उल्लेख किया गया है । अर्थः—(तस्य = षष्ठ्यन्तेभ्यः) षष्ठ्यन्त (अचित्त-हस्ति-धेनोः) अचेतनवाचक प्रातिपदिकों एवं हस्तिन् और धेनु इन प्रातिपदिकों से (समूह इत्यर्थे) समूह अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय होता है ।

ठक् का ककार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, अकार उच्चारणार्थ है 'ठ्' मात्र अवशिष्ट रहता है । कित् करने का फल **किति च** (१००१) द्वारा अङ्ग के आदि अच् को वृद्धि करना है ।

इस सूत्र के कई उदाहरणों में अग्रिमसूत्र की प्रवृत्ति होती है अतः उसी सूत्र पर इस के उदाहरण दर्शाए जायेंगे ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०५२) **इसुसुक्तान्तात् कः ।७।३।५१।।**

इस्-उस्-उक्-तान्तात् परस्य ठस्य कः । साक्तुकम् । हास्तिकम् । धैनुकम् ।।

अर्थः—इस्, उस्, उक्प्रत्याहार और त्—ये जिस के अन्त में हों ऐसे अङ्ग से परे 'ठ्' को 'क' आदेश हो ।

व्याख्या—इस्-उस्-उक्-तान्तात् ।५।१। कः ।१।१। ठस्य ।६।१। (**ठस्येकः** सूत्र से) । अङ्गात् ।५।१। (**अङ्गस्य** इस अधिकार का विभक्तिविपरिणाम हो जाता है) । समासः—इस् च उस् च उक् च तश्च इसुसुक्ताः, इसुसुक्ता अन्ताः (अन्तावयवाः) यस्य स इसुसुक्तान्तः, तस्मात् = इसुसुक्तान्तात् । द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिसमासः । तकारादकार उच्चारणार्थः, उक् प्रत्याहारः । शेषाणां स्वरूपग्रहणम् । अर्थः—(इसुसुक्तान्तात्) इस्, उस्, उक्प्रत्याहार तथा त् ये जिस के अन्त में हों ऐसे (अङ्गात्) अङ्ग से परे (ठस्य) 'ठ्' के स्थान पर (कः) 'क' आदेश हो जाता है ।

यह सूत्र ठस्येकः (१०२७) द्वारा प्राप्त इकादेश का अपवाद है ।

सर्पिष्, धनुष् आदि शब्दों में षत्व के असिद्ध होने से इस्, उस् जानने चाहियें।[1] उक् प्रत्याहार में उ, ऋ, लृ ये तीन वर्ण आते हैं । त्-अन्त वाले शब्द उदश्वित्, शकृत्, यकृत् आदि समझने चाहियें ।

पूर्वसूत्र के प्रसङ्ग में उगन्त से परे ठकार को क आदेश यथा—सक्तूनां समूहः साक्तुकम् (सत्तुओं का समूह) । सक्तुशब्द अचित्त अर्थात् अचेतन वस्तु का वाचक है । अतः 'सक्तु आम्' इस षष्ठचन्त से समूह अर्थ में **अचित्त-हस्ति-धेनोष्ठक्** (१०५१) सूत्र-द्वारा तद्धित ठक् प्रत्यय हो कर सुँप् (आम्) का लुक् हो जाने मे 'सक्तु+ठ्' हुआ । सक्तुशब्द उगन्त है अतः **ठस्येकः** (१०२७) द्वारा प्राप्त इकादेश का बाध कर **इसुसुक्तान्तात्कः** (१०५२) सूत्र से 'ठ्' को 'क' आदेश तथा **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि कर विभक्ति लाने से 'साक्तुकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

हस्तिनां समूहो हास्तिकम् (हाथियों का समूह या झुण्ड) । 'हस्तिन आम्' इस षष्ठचन्त से समूह अर्थ में **अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्** (१०५१) सूत्रद्वारा ठक् प्रत्यय हो कर ककार अनुबन्ध का लोप, तथा तद्धितान्तत्वेन प्रातिपदिकसंज्ञा कर सुँप् (आम्) का लुक् करने से 'हस्तिन्+ठ्' हुआ । हस्तिन्शब्द इस्-उस्-उक्-तान्त नहीं अतः ठकार को प्रकृतसूत्र से कादेश नहीं होता । **ठस्येकः** (१०२७) सूत्र से ठकार को इकादेश कर **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि और **नस्तद्धिते** (९१९) से टि (इन्) का लोप करने से— हास्त्+इक=हास्तिक । विभक्ति ला कर प्रथमैकवचन में 'हास्तिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

धेनूनां समूहो धैनुकम् (गौओं का समूह) । 'धेनु आम्' इस षष्ठचन्त से समूह अर्थ में **अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्** (१०५१) सूत्रद्वारा ठक् प्रत्यय हो कर सुँप् (आम्) का

---

१. ध्यान रहे कि इस्, उस् यहां प्रतिपदोक्त ही लेने हैं लाक्षणिक नहीं । सर्पिष्, धनुष् आदि में इस् उस् औणादिक प्रत्ययों द्वारा प्रसूत होने से प्रतिपदोक्त हैं । आशिष्, उष् आदि में ये लाक्षणिक हैं इसलिये उन का ग्रहण नहीं होता (आशिषा चरतीति आशिषिकः, उषा चरतीति औषिकः) ।

इस्, उस् के उदाहरण यथा—

सर्पिः पण्यमस्य सार्पिष्कः । यहां 'सर्पिष् सुँ' से **तदस्य पण्यम्** (४.४.५१) सूत्रद्वारा ठक् प्रत्यय किया जाता है । सुँब्लुक् हो कर 'ठ्' को 'क' आदेश होता है, इक आदेश नहीं । 'क' के परे रहते **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि, षकार के असिद्ध होने से सकार को रुँत्व-विसर्ग तथा **इणः षः** (९८१) से विसर्ग को षकार आदेश हो कर रूप निष्पन्न होता है ।

धनुः प्रहरणमस्य । धानुष्कः । यहां 'धनुष् सुँ' से **प्रहरणम्** (११२७) सूत्रद्वारा ठक प्रत्यय किया जाता है । सुँब्लुक् हो कर 'ठ्' को 'क' आदेश, आदिवृद्धि तथा पूर्ववत् विसर्ग को **इणः षः** (९८१) से षत्व हो जाता है ।

Ślomwa/ ज्ञान

लुक् कर देने से 'धेनु+ठ्' हुआ । धेनुशब्द उगन्त है अतः **ठस्येकः** (१०२७) द्वारा प्राप्त इकादेश का बाध कर **इसुसुक्तान्तात्कः** (१०५२) सूत्र से 'ठ्' को 'क' आदेश तथा **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि कर विभक्ति लाने से 'धैनुकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

पूर्वसूत्र के अचित्तवाचकों के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

अपूपानां समूह आपूपिकम् (पूओं का समूह या ढेर) ।

शष्कुलीनां समूहः शाष्कुलिकम् (कचौड़ियों का समूह) ।

अपूप और शष्कुलि दोनों अचित्त अर्थात् अचेतनवाचक हैं अतः **अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्** (१०५१) सूत्रद्वारा समूह अर्थ में ठक् हो कर ठकार को इक आदेश हो जाता है ।

समूह अर्थ में तद्धितविधायक एक अन्य सूत्र भी यहां उल्लेखनीय है —

अनुदात्तादेरञ् ।४।२।४३।।

अर्थः—जिस प्रातिपदिक का पहला अच् अनुदात्त हो उस षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से समूह अर्थ में अञ् तद्धित प्रत्यय हो । उदाहरण यथा—

कपोतानां समूहः कापोतम् (कबूतरों का समूह) ।

मयूराणां समूहो मायूरम् (मोरों का समूह) ।

तित्तिरीणां समूहस्तैत्तिरम् (तीतरों का समूह) ।

कपोत आदि शब्द अनुदात्तादि हैं अतः समूह अर्थ में इन से अञ् प्रत्यय हो कर आदिवृद्धि हो जाती है ।

अब 'तदधीते' और 'तद्वेद' अर्थों में तद्धितप्रत्ययों का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०५३) तदधीते तद्वेद ।४।२।५८।।

अर्थः—'उसे पढ़ता है' या 'उसे जानता है' इन अर्थों में द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तद् ।५।१। (द्वितीयान्त के अनुकरण 'तद्' से पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये) । अधीते इति लँटि क्रियापदम् । तद् ।५।१। (पूर्ववत् पञ्चमी का लुक्) ।[1] वेद इति लँटि क्रियापदम् । अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** अधिकार से लब्ध) ।

---

१. जब 'अधीते' या 'वेद' के अर्थ में द्वितीयान्त से ही प्रत्यय करना अभीष्ट है तो वह एक बार के 'तद्' ग्रहण से भी सिद्ध हो सकता है—तदधीते वेद । तो पुनः सूत्र में दो बार के 'तद्' ग्रहण का क्या प्रयोजन ? यह यहां प्रश्न उत्पन्न होता है । इस का उत्तर यह है कि यदि 'तद्' शब्द एक बार ग्रहण करते तो द्वितीयान्त से दोनों अर्थों के समुच्चय में ही प्रत्यय हो सकता पृथक् पृथक् अर्थ में नहीं । अर्थात् तब यदि कोई पढ़ता और उसे जानता भी तभी प्रत्यय होता । जो केवल पढ़ता पर जानता नहीं अथवा जो केवल जानता पर पढ़ता नहीं उस में प्रत्यय न हो सकता । अब दो बार 'तद्' के ग्रहण से दो वाक्य बन जाते हैं—तदधीते, तद्वेद । इस से दोनों अर्थों में पृथक् पृथक् रूप से प्रत्यय सिद्ध हो जाता है । जैसाकि न्यासकार ने

प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः —(तद् =द्वितीयान्तात्) द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (अधीते इत्यर्थे) 'पढ़ता है' इस अर्थ में अथवा (तद् =द्वितीयान्तात्) द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (वेद इत्यर्थे) 'जानता है' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है। तात्पर्य यह है कि जिसे पढ़ता है या जिसे जानता है उस कर्मीभूत से प्रत्यय हो कर पढ़ने वाले या जानने वाले का बोध होता है । उदाहरण यथा—

छन्दोऽधीते वेद वा छान्दसः (जो छन्दःशास्त्र को पढ़ता या जानता है) । यहां 'छन्दस् अम्' इस द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'पढ़ने वाला' या 'जानने वाला' इन अर्थों में **तदधीते तद्वेद** (१०५३) इस प्रकृतसूत्र से अण् प्रत्यय हो जाता है—छन्दस् अम् + अ । अब समुदाय के तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से उस के अवयव सुँप् (अम्) का लुक् एवं **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदि अच् अकार को वृद्धि (आ) कर विभक्ति लाने से 'छान्दसः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार – निरुक्तमधीते वेत्ति[1] वा नैरुक्तः (निरुक्तग्रन्थ को पढ़ने वाला या जानने वाला) । निमित्तान्यधीते वेद वा नैमित्तः (शकुनशास्त्रों को पढ़ने वाला या जानने वाला) । निगमान् अधीते वेद वा नैगमः (वेदमन्त्रों को पढ़ने वाला या जानने वाला) । उत्पातान्[2] अधीते वेद वा औत्पातः (उत्पातों का अध्येता या वेत्ता) ।

अब ग्रन्थकार प्रकृतसूत्र पर 'वैयाकरणः' उदाहरण प्रदर्शित करने के लिये उस में लगने वाले प्रधान प्रक्रियासूत्र का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम् — (१०५४)

न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच् ।७।३।३।।

पदान्ताभ्यां यकारवकाराभ्यां परस्य न वृद्धिः, किन्तु ताभ्यां पूर्वौ क्रमाद् ऐचावागमौ स्तः । व्याकरणमधीते वेद वा वैयाकरणः ।।

अर्थः—पदान्त यकार एवं पदान्त वकार से पर वर्ण के स्थान पर वृद्धि नहीं होती किन्तु उन यकार वकार से पूर्व क्रमशः ऐच् (ऐ, औ) वर्णों का आगम हो जाता है (यकार से पूर्व ऐकार का तथा वकार से पूर्व औकार का आगम होता है) ।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम् । य्वाभ्याम् ।५।२। पदान्ताभ्याम् ।५।२। पूर्वौ ।१।२।

कहा है—**यदि 'तदधीते वेद' इत्येव उच्येत, प्रत्ययार्थद्वयस्य द्वितीयासमर्थे समुच्चयो विज्ञायेत । ततश्च यस्त्वधीते वेत्ति च तत्रैव स्यात् । यस्त्वधीते केवलं न वेत्ति, वेत्ति वा केवलं नाधीते तत्र न स्यात् । द्विस्तद्ग्रहणे तु वाक्यभेदाद् अधीयाने विदुषि च प्रत्येकं प्रत्ययः सिध्यति तदर्थं द्विस्तद्ग्रहणम् ।**

१. विग्रह में 'वेद' या 'वेत्ति' कोई सा रूप रखा जा सकता है । दोनों विद् धातु के लँट् के समानार्थक रूप हैं ।

२. प्राणिनां शुभाशुभसूचको भूतविकार उत्पात इत्युच्यते ।

तु इत्यव्ययपदम् । ताभ्याम् ।५।२। ऐच् ।१।१। वृद्धिः ।१।१। (**मृजेर्वृद्धिः** सूत्र से) । समासः—य् च वश्च य्वौ, ताभ्याम् = य्वाभ्याम्, इतरेतरद्वन्द्वः । वकारादकार उच्चारणार्थः । अन्वयः—पदान्ताभ्यां य्वाभ्यां (परस्य) न वृद्धिः, तु (किन्तु) ताभ्यां (य्वाभ्याम्) पूर्वौ ऐच्।[1] अर्थः—(पदान्ताभ्याम्) पदान्त (य्वाभ्याम्) य् व् से परे (वृद्धिर्न) वृद्धि नहीं होती (तु) किन्तु (ताभ्याम्) उन य् व् वर्णों से (पूर्वौ) पूर्व (ऐच्) ऐ, औ वर्ण आ जाते हैं । यथासंख्यपरिभाषा से पदान्त यकार से पूर्व ऐकार का तथा पदान्त वकार से पूर्व औकार का आगम हो जायेगा ।

जब पूर्व में वि, सु, नि में से कोई उपसर्ग या निपात जुड़ा हुआ हो और उस में यण्सन्धि भी की गई हो तो वहां यकार और वकार पदान्त होते हैं । कारणकि अव्यय होने के कारण इन के आगे आये सुँप् का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हुआ करता है । प्रत्ययलक्षण का आश्रय कर सुँबन्तत्वेन इन की पदसंज्ञा (१४) हुआ करती है । व्याकरण (वि+आकरण), व्यसन (वि+असन), न्याय (नि+आय), न्यास (नि+आस), स्वश्व (सु+अश्व) इत्यादियों में यण्सन्धिजन्य यकार वकार पदान्त हैं अतः इन में ही प्रकृतसूत्र की प्रवृत्ति सम्भव हो सकती है ।

सूत्र का उदाहरण यथा—

व्याकरणमधीते वेत्ति वा वैयाकरणः (व्याकरण का अध्येता या ज्ञाता) । यहां 'व्याकरण अम्' इस द्वितीयान्त प्रातिपदिक से **तदधीते तद्वेद** (१०५३) सूत्रद्वारा 'पढ़ता है' या 'जानता है' इन अर्थों में तद्धित अण् प्रत्यय हो कर तद्धितान्त की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा (११७) तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से उस के अवयव सुँप् (अम्) का लुक् हो जाता है—व्याकरण+अ । अब **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) द्वारा अङ्ग के आदि अच् आकार के स्थान पर **पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः** न्याय से वृद्धि प्राप्त होती है । इस पर प्रकृत **न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्** (१०५४) सूत्रद्वारा पदान्त यकार से परे उस वृद्धि का निषेध हो जाता है और इस के साथ ही उस यकार से पूर्व ऐच् (ऐ) वर्ण का आगम भी हो जाता है—व् ऐ याकरण+अ = वैयाकरण+अ । पुनः अण् तद्धित के परे रहते **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'वैयाकरणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

प्रकृतसूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

व्यसने भवं वैयसनम् (व्यसन में होने वाला) । यहां 'व्यसन ङि' से **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में अण् प्रत्यय हो कर सुँप् (ङि) का लुक् हो जाता है—व्यसन+अ । अब यहां **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) द्वारा पदान्त यकार से परे अकार को वृद्धि (आ) प्राप्त होती है । इस पर प्रकृत **न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्** (१०५४) सूत्र से उस का निषेध हो कर यकार से पूर्व ऐच् (ऐ) का आगम हो जाता है—व् ऐ यसन+अ = वैयसन+अ । पुनः अण् तद्धित के परे रहते **यस्येति च** (२३६) से अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'वैयसनम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

---

१. 'पूर्वौ' इत्यनेन सम्बन्धाद् 'ऐचौ' इति प्राप्ते एकवचनं सौत्रमिति हरदत्तः ।

न्यायमधीते वेद वा नैयायिकः (न्यायशास्त्र का अध्येता या ज्ञाता)। यहां 'न्याय अम्' इस द्वितीयान्त प्रातिपदिक से **तदधीते तद्वेद** (१०५३) के अर्थों में उक्थादियों में पाठ के कारण **क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट् ठक्** (४.२.५६) सूत्रद्वारा ठक् प्रत्यय ला कर सुँप् (अम्) का लुक् करने से —न्याय + ठ्। अब **किति च** (१००१) से प्राप्त ठग्निमित्तक वृद्धि का **न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्** (१०५४) से निषेध हो कर पदान्त यकार से पूर्व ऐच् (ऐ) का आगम भी हो जाता है—न् ऐ याय + ठ् = नैयाय + ठ्। पुनः **ठस्येकः** (१०२७) से 'ठ्' को 'इक' आदेश एवं **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'नैयायिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसी-तरह—न्यासमधीते वेत्ति वा नैयासिकः (न्यासग्रन्थ का अध्येता वा ज्ञाता)।

स्वश्वस्यापत्यं सौवश्वः (सुन्दर घोड़े की सन्तति)। शोभनोऽश्वः स्वश्वः, प्रादिसमासः। 'स्वश्व ङस्' से **तस्यापत्यम्** (१००४) के अर्थ में शिवादित्वात् **शिवादिभ्योऽण्** (१०१७) से अण् प्रत्यय हो कर सुँप् (ङस्) का लुक् करने से—स्वश्व + अ। अब पदान्त वकार से परे प्राप्त अण्निमित्तक वृद्धि का **न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्** (१०५४) से निषेध हो कर पदान्त वकार से पूर्व ऐच् (औ) का आगम भी हो जाता है—स् औ वश्व + अ = सौवश्व + अ। पुनः **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'सौवश्वः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

व्याघ्रस्यापत्यं वैयाघ्रिः (व्याघ्र की सन्तति)। यहां 'व्याघ्र ङस्' से अपत्यार्थ में **अत इञ्** (१०१४) से इञ् प्रत्यय हो कर सुँप् (ङस्) का लुक् करने से 'व्याघ्र + इ' हुआ। अब यहां पदान्त यकार से परे **पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः** न्याय के अनुसार आकार को भी **तद्धितेष्वचामादेः** (६३८) द्वारा वृद्धि प्राप्त होती है। इस पर **न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्** (१०५४) सूत्र से उस का निषेध हो जाता है और साथ ही पदान्त यकार से पूर्व ऐच् (ऐ) का आगम भी हो जाता है—व् ऐ याघ्र + इ = वैयाघ्र + इ। पुनः **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'वैयाघ्रिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

सूत्र में 'पदान्ताभ्याम्' कहने से—एति (गच्छति) इति यन् (शतृँप्रत्ययान्तः),[2]

---

१. काशिकाकारेण न य्वाभ्यामिति सूत्रव्याख्याने स्वश्वस्यापत्यं सौवश्व इत्युक्तम्। न्यासकारेण जिनेन्द्रबुद्धिना पदमञ्जरीकारेण हरदत्तेन च शिवादित्वादण् इति तत्र स्पष्टं व्याख्यायि। परमन्ये नैवं मन्यन्ते। हेमचन्द्रेण स्वोपज्ञबृहद्वृत्तौ (७.४.५) स्वश्वस्यापत्यं सौवश्विः, स्वश्वस्यायं सौवश्व इति व्याख्यातम्। बालमनोरमाकारेणाप्यत्र स्वश्वस्यापत्यं सौवश्विरित्युक्तम्। एतैर् अपत्येऽर्थे **अत इञ्** (१०१४) इति इञ्प्रत्ययः स्वीकृतः।

२. इण् गतौ (अदा० परस्मै०) इत्यस्माल्लँटः शतरि, शपि, अदादित्वात् तल्लुकि **इणो यण्** (५७८) इति यणि 'यत्' इति शत्रन्तः शब्दो निष्पद्यते। यन्, यन्तौ, यन्त इत्येवं तस्य रूपमाला बोध्या।

यत इमे छात्राः—याताः । शैषिक अण् के परे रहते यहां अपदान्त यकार से पूर्व ऐच् का आगम नहीं होता ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा **तदधीते तद्वेद** के अर्थों में वुन् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०५५) **क्रमादिभ्यो वुन्** ।४।२।६०॥

क्रमकः । पदकः । शिक्षकः । मीमांसकः ॥

अर्थः—द्वितीयान्त समर्थ क्रम आदि प्रातिपदिकों से 'पढ़ता है' या 'जानता है' इन पूर्वोक्त अर्थों में तद्धितसंज्ञक 'वुन्' प्रत्यय हो ।

व्याख्या—क्रमादिभ्यः ।५।३। वुन् ।१।१। **तदधीते तद्वेद** (१०५३) का अनुवर्त्तन होता है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—क्रम-शब्द आदिर्येषान्ते क्रमादयः, तेभ्यः=क्रमादिभ्यः, बहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(तद्=द्वितीयान्तेभ्यः) द्वितीयान्त (क्रमादिभ्यः) क्रम आदि प्रातिपदिकों से ('अधीते' इत्यर्थे, 'वेद' इत्यर्थे वा) 'पढ़ता है' या 'जानता है' इन अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (वुन्) वुन् प्रत्यय होता है ।

वुन् के नकार की **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत् संज्ञा हो जाती है । 'वु' मात्र शेष रहता है । 'वु' को **युवोरनाकौ** (७८५) से 'अक' आदेश हो जाता है । प्रत्यय को नित् करने का प्रयोजन **ञ्नित्यादिर्नित्यम्** (६.१.१९१) सूत्रद्वारा पद को आद्युदात्त करना है । इस प्रत्यय के परे रहते आदिवृद्धि की प्रसक्ति नहीं होती । उदाहरण यथा—

क्रमम् अधीते वेत्ति वा क्रमकः (वैदिक क्रमपाठ को पढ़ने या जानने वाला) । यहां 'क्रम अम्' इस द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'पढ़ता है' या 'जानता है' इन अर्थों में प्रकृत **क्रमादिभ्यो वुन्** (१०५५) सूत्रद्वारा वुन् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक् तथा **युवोरनाकौ** (७८५) से 'वु' को 'अक' आदेश करने पर - क्रम+अक । अब **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अन्त्य अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'क्रमकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

क्रमादिगण में कुल पाञ्च शब्द गिनाये गये है—

क्रम । पद । शिक्षा । मीमांसा । सामन् ।

पदमधीते वेत्ति वा पदकः (वैदिक पदपाठ को पढ़ने या जानने वाला) । यहां भी पूर्ववत् वुन् प्रत्यय, अक आदेश, सुँब्लुक् तथा अन्त्य अकार का लोप हो जाता है ।

शिक्षामधीते वेद वा शिक्षकः (शिक्षाग्रन्थ को पढ़ने या जानने वाला) । यहां भी पूर्ववत् वुन् प्रत्यय, अक आदेश, सुँब्लुक् तथा अन्त में आकार का लोप हो जाता है ।

मीमांसामधीते वेद वा मीमांसकः (मीमांसाशास्त्र को पढ़ने या जानने वाला) । इस की प्रक्रिया पूर्वोक्त 'शिक्षकः' की तरह जानें ।

सामानि अधीते वेद वा सामकः (साममन्त्रों को पढ़ने या जानने वाला) । यहां 'सामन्+अक' में **नस्तद्धिते** (९१९) द्वारा टि (अन्) का लोप विशेष है ।

इन के अतिरिक्त कुछ अन्य सूत्रों वा वार्त्तिकोंद्वारा भी **तदधीते तद्वेद** (१०५३) के अर्थ में कई अन्य प्रत्यय विधान किये गये हैं । कुछ प्रसिद्ध प्रयोग यथा—

१. इतिहासमधीते वेत्ति वा ऐतिहासिकः (ठक्) ।
२ पुराणान्यधीते वेत्ति वा पौराणिकः (ठक्) ।
३. यज्ञमधीते वेत्ति वा याज्ञिकः (ठक्) ।
४. संहितामधीते वेत्ति वा सांहितिकः (ठक्) ।
५. आयुर्वेदमधीते वेत्ति वा आयुर्वैदिकः (ठक्) ।[1]
६. पाणिनीयमधीते वेत्ति वा पाणिनीयः ।[2]
इन के लिये काशिकावृत्ति का अवलोकन करें ।

अभ्यास [३]

(१) निम्नस्थ विग्रहों में तद्धितान्त रूप ससूत्र सिद्ध करें—
१. वायुर्देवताऽस्य । २. न्यायमधीते वेद वा । ३. स्त्रीणां समूहः । ४. चर्मणा परिवृतः । ५. पदातीनां समूहः । ६. शिक्षामधीते वेत्ति वा । ७. धेनूनां समूहः । ८. पितरो देवता अस्य । ९. जनानां समूहः । १०. हस्तिनां समूहः । ११. मातुर्भ्राता । १२. कषायेण रक्तम् । १३. वामदेवेन दृष्टं साम । १४. भ्राष्ट्रेषु संस्कृता यवाः । १५. इन्द्रो देवताऽस्य । १६. पशुपतिर्देवताऽस्य । १७. शुक्रो देवताऽस्य । १८. युवतीनां समूहः । १९. शरावे उद्धृतः । २०. अपूपानां समूहः ।

(२) विग्रह दर्शाते हुए अधोलिखित रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—
१. नैयासिकः । २. मीमांसकः । ३. गार्भिणम् । ४. वैयाकरणः । ५. बार्हस्पत्यम् । ६. शुक्रियम् । ७. मातामही । ८. साक्तुकम् । ९. सहायता । १०. ग्रामता । ११. अद्य पुष्यः । १२. अहीनः । १३. काकम् । १४. उषस्यम् । १५. सौम्यम् । १६. क्रमकः । १७. यौवतम् । १८. वास्त्रः । १९. पौषमहः । २०. नैरुक्तः ।

(३) अधोनिर्दिष्ट सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—
१. अचित्तहस्तिधेनोष्ठक् । २. लुबविशेषे । ३. इसुसुक्तान्तात्कः । ४. न य्वाभ्यां पदान्ताभ्याम्० । ५. तदधीते तद्वेद । ६. इनण्यनपत्ये । ७. तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः । ८. नक्षत्रेण युक्तः कालः । ९. संस्कृतं भक्षाः । १०. तेन रक्तं रागात् । ११. साऽस्य देवता । १२. वाय्वृतुपित्रुषसो यत् । १३. रीङ् ऋतः ।

(४) निम्नस्थ वार्त्तिकों की सोदाहरण व्याख्या करें—

---

१. यहां उभयपदवृद्धि की गई है । परन्तु गणरत्नमहोदधिकार वर्धमान तथा आचार्य हेमचन्द्र यहां उत्तरपद में वृद्धि नहीं मानते । उन के अनुसार 'आयुर्वेदिकः' रूप ही बनता है ।

२. पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयं शास्त्रम् । **वृद्धाच्छः** (१०७७) इति छः । ततोऽध्येतृ-वेदितृप्रत्ययस्य अणः **प्रोक्ताल्लुक्** (४.२.६३) इति लुक् ।

१. भस्याढे तद्धिते । २. अह्नः खः क्रतौ । ३. तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राऽणि यलोप इति वाच्यम् । ४. गजसहायाभ्यां चेति वक्तव्यम् ।

(५) निम्नस्थ प्रश्नों के समुचित उत्तर दीजिये—

[क] **तदधीते तद्वेद** में तद्शब्द का दो बार ग्रहण क्यों किया गया है ?

[ख] **तेन रक्तं रागात्** में 'रागात्' का ग्रहण क्यों किया गया है ?

[ग] डचत् और डच प्रत्ययों को डित् करने का क्या प्रयोजन है ?

[घ] 'शरावे उद्धृतः' यहां अपादान में पञ्चमी क्यों न हो ?

[ङ] भक्ष्य और भक्ष में क्या अन्तर है ?

[च] उषस्यम् में सकार को रुँत्व क्यों नहीं होता ?

(६) **पितृव्य-मातुल-मातामह-पितामहाः** सूत्र में किस किस कार्य का निपातन किया गया है ?

(७) अधोनिर्दिष्टों पर व्याकरणसम्बन्धी टिप्पण लिखें—

[क] नक्षत्र से युक्त काल ।

[ख] युवतीनां समूहः—(यौवनम्, यौवतम्) ।

[ग] षष्टिदण्डात्मकस्य कालस्यावान्तरविशेषः ।

[घ] अद्य पुष्यम्, पौषमहः ।

[ङ] काषायौ गर्दभस्य कर्णौ ।

[च] तल्प्रत्ययान्तों का लिङ्ग ।

[छ] समूहार्थकतद्धितान्तों का लिङ्ग ।

[ज] अधोवासश्च माञ्जिष्ठिकम् ।

[झ] हिन्दी 'सहायता' Versus संस्कृत 'सहायता' ।

[लघु०] इति रक्ताद्यर्थकाः ॥

(यहां रक्तादि अर्थों वाले तद्धितप्रत्ययों का विवेचन समाप्त हुआ ।)

——:०:——

अथ चातुरर्थिकाः

अब यहां से आगे चातुरर्थिकप्रकरण प्रारम्भ होता है । चतुर्णाम् अर्थानां समाहारः—चतुरर्थी, तत्र भवाश्चातुरर्थिकाः ।[१] इस प्रकरण में चार अर्थों में प्रत्ययों का विधान किया गया है अतः यह चातुरर्थिकप्रकरण है । वे चार अर्थ ये हैं—(१) इस में है—ऐसा देश । (२) उस ने बनाया या बसाया—ऐसा नगर । (३) उस का निवास

१. अध्यात्मादित्वात् (वा० ८६) ठञ् । चतुर्षु अर्थेषु भवा इति तद्धितार्थे द्विगौ तु **द्विगोर्लुगनपत्ये (४.१.८८)** इति ठञो लुक् स्यात् । नागेशभट्टास्तु चतुर्णां सूत्रणामर्थाः —चतुरर्थाः, तत्र भवाश्चातुरर्थिका इत्येवमाहुः ।

अस्मिन् अस्ति

—ऐसा देश । (४) उस से जो दूर नहीं—ऐसा देश । अब आगे क्रमशः इन अर्थों में प्रत्ययों का विधान किया जायेगा । प्रथम अर्थ में यथा—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०५६)

तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि ।४।२।६६।।

उदुम्बराः सन्त्यस्मिन् देशे—औदुम्बरो देशः ।।

अर्थः—'वह इस में है' इस अर्थ में प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से तद्धितसञ्ज्ञक अण् प्रत्यय होता है यदि वह प्रकृतिप्रत्यय-समुदायात्मक शब्द देश का नाम हो तो ।

व्याख्या—तद् ।५।१। (प्रथमान्त के अनुकरण तद्शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् जानना चाहिये) । अस्मिन् ।७।१। अस्ति इति तिङन्तम्पदम् । इति इत्यव्यय-पदम् । देशे ।७।१। तन्नाम्नि ।७।१। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** इस अधिकार से लब्ध) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—तत् (प्रत्ययान्तं रूपम्) नाम यस्य तत् तन्नाम, तस्मिन् = तन्नाम्नि, बहुव्रीहि-समासः । अर्थः—(तत् = प्रथमान्तात्) प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से (अस्मिन् अस्ति इत्यर्थे) 'वह इस में है' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है यदि (तन्नाम्नि) वह प्रत्ययान्त शब्द (इति) किसी प्रसिद्ध (देशे) देश का नाम हो तो ।[1]

यह सूत्र आगे आने वाले मतुँप् प्रत्यय (११८५) का अपवाद है । उदाहरण यथा—

उदुम्बराः सन्त्यस्मिन् देशे—औदुम्बरो देशः (उदुम्बर अर्थात् गूलर के पेड़ जिस देश में हैं तन्नामक वह देश) ।[2] 'उदुम्बर+जस्' इस प्रथमान्त समर्थ से 'वे इस में हैं' इस अर्थ में प्रकृत **तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि** (१०५६) सूत्र से तद्धित अण् प्रत्यय, अनुबन्ध णकार का लोप तथा तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर उस के अवयव सुँप् (जस्) का **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् हो जाता है—उदुम्बर+अ । अब **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदिवृद्धि एवं **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'औदुम्बरः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । यह स्थानविशेष की सञ्ज्ञा है । इसीप्रकार—

---

१. यहां 'देश' से साधारणतया स्थानमात्र अर्थ अभिप्रेत है । अतः यथासम्भव प्रदेश, नगर, ग्राम, जनपद आदि सब का यथोचित ग्रहण हो जाता है । किञ्च सूत्र में 'अस्ति' पदगत एकवचन को भी यहां अविवक्षित समझना चाहिये । इस से द्विव-चनान्तों एवं बहुवचनान्तों के ग्रहण में भी कोई बाधा उपस्थित नहीं होती । इसी-प्रकार—**तेन निर्वृत्तम्** (१०५७), **तस्य निवासः** (१०५८) आदि में भी समझ लेना चाहिये ।

२. यह किसी प्राचीन प्रसिद्ध प्रदेश का नाम है । प्रत्येक स्थान जहां उदुम्बर होंगे, औदुम्बर नहीं कहायेगा । इसीप्रकार अन्य उदाहरणों में भी समझना चाहिये ।

बमाया विनाया

अण्

बल्वजाः[1] सन्त्यस्मिन् देशे—बाल्वजो देशः ।

पर्वताः सन्त्यस्मिन् देशे—पार्वतो देशः ।

यह सूत्र कुछ योगरूढ शब्दों की सिद्धि के लिये ही बनाया गया है । आधुनिक संकेतों में इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती । सूत्र में 'इति' शब्द के ग्रहण का यही रहस्य है ।

अब दूसरे चातुर्थिक प्रत्यय का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०५७) **तेन निर्वृत्तम्** ।४।२।६७।।

कुशाम्बेन निर्वृत्ता नगरी कौशाम्बी ।।

अर्थः—तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'बनाया गया या बसाया गया' अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय होता है यदि वह प्रत्ययान्त शब्द देश का नाम हो तो ।

व्याख्या—तेन ।५।१। (तृतीयान्त के अनुकरण 'तेन' शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये) । निर्वृत्तम् ।१।१। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** इस अधिकार से लब्ध) । 'इति देशे तन्नाम्नि' इन पदों की पूर्वसूत्र (१०५३) से अनुवृत्ति आ रही है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । 'निर्वृत्तम्' शब्द निर्पूर्वक **वृतुँ वर्त्तने** (भ्वा० आत्मने०) धातु से क्तप्रत्यय करने पर सिद्ध हुआ है । यहां वृतुँ धातु अन्तर्भावितण्यर्थ प्रयुक्त की गई है अतः सकर्मक हो जाने से इस से कर्म में क्त का प्रयोग समझना चाहिये । इस प्रकार 'निर्वृत्त' का अर्थ 'बना हुआ' न हो कर 'बनाया गया' हो जाता है । निर्वृत्तम्=निर्वर्त्तितम् इत्यर्थः । अर्थः—(तेन=तृतीयान्तात्) तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (निर्वृत्तम्=निर्वर्त्तितम् इत्यर्थे) 'बनाया गया—बसाया गया' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है यदि (तन्नाम्नि) वह तद्धितान्त शब्द (इति देशे) किसी प्रसिद्ध देश=स्थान का नाम हो तो । उदाहरण यथा—

कुशाम्बेन निर्वृत्ता कौशाम्बी नगरी (कुशाम्ब राजा से बनाई या बसाई गई नगरी) ।[2] यहां 'कुशाम्ब टा' इस तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'बनाई या बसाई गई'

---

१. बल्वजाः=तृणविशेषाः । यैः रज्जुमेखलादयो निर्मीयन्ते । उक्तञ्च मनुना—**मुञ्जाऽलाभे तु कर्त्तव्याः कुशाश्मन्तक-बल्वजैः** (मनु० २.४३) । । महाभाष्येऽपि—**एकश्च बल्वजो बन्धनेऽसमर्थः, तत्समुदायश्च रज्जुः समर्था भवति** (महाभाष्य (१.२.४५) ।

२. कौशाम्बी भारतीय इतिहास की एक अत्यन्त प्राचीन नगरी है । इस का उल्लेख वाल्मीकिरामायण बालकाण्ड अध्याय (३२) में किया गया है । महर्षि विश्वामित्र के साथ जब राम और लक्ष्मण मिथिला को जा रहे थे तब विश्वामित्र ने उन से पार्श्वस्थ नगरों का वर्णन किया था । विश्वामित्र कहते हैं—"कुशनामक एक ब्रह्मपुत्र थे । उन के कुशाम्ब, कुशनाभ आदि चार पुत्र थे । इन चारों ने एक-एक नगर बसाया था । कुशाम्ब ने कौशाम्बी नगरी बसाई ।" बाद के इतिहास में

अर्थ में प्रकृत **तेन निर्वृत्तम्** (१०५७) सूत्र से तद्धित अण् प्रत्यय ला कर सुँब्लुक्, आदि-वृद्धि और भसञ्ज्ञक अकार का लोप करने से 'कौशाम्ब' बना। अब नगरी विशेष्य के अनुसार स्त्रीत्व की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र से ङीप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा भसञ्ज्ञक अकार का भी लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'कौशाम्बी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार – सहस्रेण निर्वृत्ता साहस्री परिखा (एक हजार सुवर्ण-मुद्राओं या व्यक्तियों से बनाई गई खाई)।

अब तीसरे चातुरर्थिक प्रत्यय का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०५८) तस्य निवासः ।४।२।६८।।

शिबीनां निवासो देशः शैबः ।।

अर्थः – षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'उस का निवास' इस अर्थ में तद्धित-सञ्ज्ञक अण् प्रत्यय होता है यदि वह प्रत्ययान्त शब्द किसी देश का नाम हो तो।

व्याख्या—तस्य ।५।१। (षष्ठ्यन्त के अनुकरण 'तस्य' शब्द से पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। निवासः ।१।१। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** अधिकार से)। 'इति देशे तन्नाम्नि' पदों की पीछे से अनुवृत्ति आ रही है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं। रहने के स्थान को निवास कहते हैं, निवसत्यस्मिन्निति निवासः। अर्थः—(तस्य=षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से (निवास इत्यर्थे) निवास अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है यदि (तन्नाम्नि) वह प्रत्ययान्त शब्द (इति देशे) किसी प्रसिद्ध देश का नाम हो तो।

उदाहरण यथा—

शिबीनां निवासः शैबो देशः (शिबिनामक क्षत्रियों का निवास स्थान देश)। यहां 'शिबि आम्' इस षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से निवास अर्थ में प्रकृत **तस्य निवासः** (१०५८) सूत्र से तद्धित अण् प्रत्यय हो कर सुँप् (आम्) का लुक् एवम् आदिवृद्धि करने पर 'शैबि+अ' हुआ। अब **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक इकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'शैबः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

उदिष्टानां निवासो देश औदिष्टः (काशिकायाम्)।

ऋजुनावां[1] निवासो देश आर्जुनावः (काशिकायाम्)।

अब चौथे चातुरर्थिक प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०५९) अदूरभवश्च ।४।२।६९।।

विदिशाया अदूरभवं नगरं वैदिशम् ।।

भी उदयन आदि राजाओं का इस नगरी से सम्बन्ध रहा है। आजकल प्रयाग (इलाहाबाद) से तीस मील उत्तरपश्चिम की ओर कोसम नाम का एक ग्राम अवस्थित है। शायद इस के आस पास कहीं कौशाम्बी नगरी स्थित रही होगी।

१. ऋज्वी नौर्यस्य स ऋजुनौः, तेषाम्=ऋजुनावाम्।

अर्थः—षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'निकट होने वाला' अर्थ में तद्धित-सञ्ज्ञक अण् प्रत्यय हो जाता है यदि प्रत्ययान्त शब्द किसी देश का नाम हो तो ।

व्याख्या—तस्य ।५।१। (**तस्य निवासः** सूत्र से । षष्ठ्यन्त के अनुकरण 'तस्य' से परे पञ्चमीविभक्ति का सौत्र लुक् हुआ है) । अदूरभवः ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** अधिकार से) । 'इति देशे तन्नाम्नि' पदों की पीछे से अनु-वृत्ति आ रही है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । भवतीति भवः, अदूरे (निकटे) भवः—अदूरभवः, निपातनात्सप्तमी-तत्पुरुषः । अर्थः—(तस्य=षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से (अदूरभव इत्यर्थे) 'उसके निकट होने वाला' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है यदि (तन्नाम्नि) वह प्रत्ययान्त शब्द (इति देशे) किसी प्रसिद्ध देश=स्थान का नाम हो तो । उदाहरण यथा—

विदिशाया अदूरभवं वैदिशं नगरम् (विदिशा[1] के निकट कोई प्राचीन नगर) । यहां 'विदिशा ङस्' इस षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से 'निकट स्थित' अर्थ में प्रकृत **अदूर-भवश्च** (१०५९) सूत्रद्वारा तद्धित अण् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसञ्ज्ञक आकार का लोप कर विशेष्य (नगरम्) के अनुसार नपुंसक के प्रथमैकवचन में **अतोऽम्** (२३४) द्वारा सुँ को अम् और **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप एकादेश करने से 'वैदिशम्' (नगरम्) प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—

हिमवतोऽदूरभवं हैमवतम् (काशिका) ।

पम्पायाः (सरसः) अदूरभवानि पाम्पानि वनानि (भाषावृत्तौ) ।[2]

टिप्पणी—सूत्रे चकारः पूर्वेषां त्रयाणामर्थानामिह सन्निधानार्थः । तेनोत्तरत्र **ओरञ्** (४.२.७०) इत्यादिषु सूत्रेषु चत्वारोऽप्यर्थाः सम्बध्यन्ते ।

अब जनपद के वाच्य होने पर चातुरर्थिक प्रत्यय के लुप् (अदर्शन) का विधान करते हैं—

---

१. विदिशा नगरी प्राचीन काल में दशार्णदेश की राजधानी थी, जैसा कि कालिदास ने मेघदूत (श्लोक २४) में लिखा है—
तेषां दिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीम् ।
मालवदेश की एक नदी का नाम भी विदिशा है ।

२. इस का प्रयोग यथा—
नन्दनानि मुनीन्द्राणां रमणानि वनौकसाम् ।
वनानि भेजतुर्वीरौ ततः पाम्पानि राघवौ ॥ (भट्टि० ६.७३)
कुछ लोग 'पम्पा' का वरणादिगण में पाठ मानते हैं । उनके मतानुसार चातुरर्थिक प्रत्यय का **वरणादिभ्यश्च** (१०६२) सूत्रद्वारा लुप् हो कर **लुपि युक्तवद् व्यक्ति-वचने** (१०६१) से प्रकृतिवत् लिङ्ग और वचन लाने से 'पम्पा वनानि' बनेगा ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१०६०) जनपदे लुप्** ।४।२।८०।।

जनपदे वाच्ये चातुरर्थिकस्य लुप् ।।

अर्थः—जनपद वाच्य होने पर चातुरर्थिक प्रत्यय का लुप् हो जाता है ।

व्याख्या—जनपदे ।७।१। लुप् ।१।१। चातुरर्थिकस्य प्रत्ययस्य—यह प्रकरण तः प्राप्त हो जाता है । अर्थः—(जनपदे) जनपद के वाच्य होने पर (चातुरर्थिकस्य) पूर्वोक्त चार अर्थों में विहित प्रत्यय का (लुप्) लुप् हो जाता है ।

ग्रामाणां समूहो जनपदः (काशिका) । ग्रामों के समूह को जनपद कहते हैं । पिछले चार सूत्रों (१०५६—१०५९) के द्वारा चार अर्थों में देश के वाच्य होने पर चातुरर्थिक प्रत्ययों का विधान किया गया है । देश के कई भेद हैं—ग्राम, नगर, नगरी, जनपद, परिखा, वन आदि । देश का भेदविशेष जनपद (ग्रामसमूह) वाच्य हो तो पूर्व-विहित चातुरर्थिक प्रत्यय का लुप् (लोप) हो जायेगा । लुप् भी प्रत्यय के अदर्शन की ही संज्ञा है [देखें—**प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः** (१८९)] । प्रत्यय के लुप्त हो जाने पर भी प्रत्यय का अर्थ तो रहेगा ही । कहा भी है—**यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी ।**

उदाहरण यथा—

पञ्चालानां निवासो जनपदः पञ्चालाः (पञ्चाल क्षत्रियों का निवास जन-पद) । 'पञ्चाल आम्' इस षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'निवास' अर्थ में **तस्य निवासः** (१०५८) सूत्रद्वारा जनपद की वाच्यता में अण् प्रत्यय हो कर सुँप् (आम्) का लुक् हो जाता है—पञ्चाल+अ । अब जनपद की वाच्यता होने के कारण प्रकृत **जनपदे लुप्** (१०६०) सूत्र से चातुरर्थिक प्रत्यय अण् का भी लुप् हो जाता है । इस तरह 'पञ्चाल' मूलप्रकृति रह जाता है ।[1] जनपद विशेष्य के अनुसार इस से भी तद्वत् लिङ्ग और वचन प्राप्त होते हैं । परन्तु अग्रिमसूत्र **लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने** (१०६१) से प्रकृति के अनुसार लिङ्ग और वचन हो जाते हैं । प्रकृति (पञ्चाल) का लिङ्ग पुंलिङ्ग और वचन बहुवचन था अतः यहां पर भी उस के अनुसार पुंलिङ्ग में बहुवचन लाने से 'पञ्चालाः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसीप्रकार—

कुरूणां निवासो जनपदः—कुरवः ।[2]	मगधानां निवासो जनपदः—मगधाः ।
अङ्गानां निवासो जनपदः—अङ्गाः ।	सुह्मानां निवासो जनपदः—सुह्माः ।
वङ्गानां निवासो जनपदः—वङ्गाः ।	पुण्ड्राणां निवासो जनपदः—पुण्ड्राः ।
कलिङ्गानां निवासो जनपदः—कलिङ्गाः ।	मत्स्यानां निवासो जनपदः—मत्स्याः ।

अब लुप्प्रत्ययान्तों से प्रकृति के समान लिङ्ग और वचन का विधान करते हैं—

१. ध्यान रहे कि यदि लुप् हुए प्रत्यय को मान कर अङ्ग के आदि अच् को **तद्धितेष्व-चामादेः** (९३८) द्वारा वृद्धि करने की ठानेंगे तो न **लुमताङ्गस्य** (१९१) सूत्र से उस का निषेध हो जायेगा ।

२. **श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीं प्रजासु वृत्तिं यमयुङ्क्त वेदितुम् ।**
स वर्णिलिङ्गी विदितः समाययौ युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः ।। (किरात० १.१)

[लघु०] अतिदेश-सूत्रम्—(१०६१)

लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने ।१।२।५१॥

लुपि सति प्रकृतिवल्लिङ्गवचने स्तः । पञ्चालानां निवासो जनपदः पञ्चालाः । कुरवः । वङ्गाः । कलिङ्गाः ॥

अर्थः—प्रत्यय का लुप् होने पर (अवशिष्ट शब्द से) प्रकृति के समान ही लिङ्ग और वचन होते हैं ।

व्याख्या—लुपि ।७।१। युक्तवद् इत्यव्ययपदम् । व्यक्तिवचने ।१।२। समासः—व्यक्तिश्च वचनं च व्यक्तिवचने, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(लुपि) प्रत्यय का लुप् होने पर (युक्तवद्) प्रकृति की तरह (व्यक्तिवचने) लिङ्ग और वचन होते हैं । सूत्र में 'युक्त' का अर्थ प्रकृति तथा 'व्यक्ति' का अर्थ लिङ्ग है । ये पूर्वाचार्यों की संज्ञाएं हैं ।

तात्पर्य यह है कि जिस शब्द से विधान किये प्रत्यय का लुप् किया जाता है लुप् करने के बाद अवशिष्ट उस शब्द से लिङ्ग और वचन विशेष्य के अनुसार नहीं लगाने चाहियें अपितु उस प्रकृति (जिस से लुप्यमान प्रत्यय विधान किया गया था) के अनुसार लिङ्ग और वचन लगाने चाहियें । यथा—पञ्चालाः जनपदः । यहां पञ्चाल-शब्द से निवास अर्थ में अण् प्रत्यय किया गया था, उस का **जनपदे लुप्** (१०६०) से लुप् हो गया तो 'पञ्चाल' शब्द अवशिष्ट रहा । अब यह पञ्चालशब्द यद्यपि 'जनपदः' का विशेषण है तथापि इस से विशेष्यानुसार लिङ्ग-वचन नहीं होते किन्तु प्रकृति के अनुसार ही लिङ्ग-वचन होते हैं । जिस से प्रत्यय विधान किया जाता है उसे प्रकृति कहते हैं—**प्रत्ययात् पूर्वं क्रियते इति प्रकृतिः** । यहां चातुरर्थिक अण् प्रत्यय पञ्चालशब्द से विधान किया गया था अतः 'पञ्चाल' प्रकृति है । उस प्रकृति का लिङ्ग पुंलिङ्ग और वचन बहुवचन है अतः यहां अवशिष्ट पञ्चालशब्द से भी पुंलिङ्ग का बहुवचन हो कर 'पञ्चालाः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसी प्रकार—अङ्गाः, वङ्गाः, कुरवः, कलिङ्गाः आदि में जानना चाहिये । इन सब का विग्रह और सिद्धि पूर्वसूत्र पर दिखा चुके हैं ।

यद्यपि पञ्चालाः, अङ्गाः, वङ्गाः, कुरवः आदियों में केवल वचन को प्रकृतिवत् करने से भी कार्य सिद्ध हो जाता है क्योंकि लिङ्ग तो विशेष्य (जनपदः) का भी पुंलिङ्ग ही है अतः विशेष्यानुसार लिङ्ग मान लेने पर भी कोई दोष नहीं आ सकता, तथापि जहां प्रकृति का लिङ्ग विशेष्य के लिङ्ग से भिन्न होता है वहां लिङ्ग का अतिदेश करना परम आवश्यक होता है । यथा—कटुबदर्या अदूरभवो ग्रामः कटुबदरी ग्रामः । यहां कटुबदरीशब्द से **अदूरभवश्च** (१०५९) सूत्रद्वारा विहित चातुरर्थिक अण् प्रत्यय का वक्ष्यमाण **वरणादिभ्यश्च** (१०६२) सूत्र से लुप् हो जाता है । इस प्रकार 'कटुबदरी' शब्द ही अवशिष्ट रहता है । अब इस का लिङ्ग और वचन प्रकृतिवत् होता है, विशेष्य (ग्रामः) के अनुसार नहीं । प्रकृति का लिङ्ग स्त्रीलिङ्ग और वचन एकवचन था अतः अवशिष्ट 'कटुबदरी' शब्द का भी लिङ्ग स्त्रीलिङ्ग और वचन एकवचन होगा ।

'लुपि' इति किम् ? लिङ्ग और वचन प्रकृतिवत् तभी होते हैं जब प्रत्यय का लुप् हुआ हो । लुक् आदि होने पर लिङ्ग और वचन प्रकृतिवत नहीं होते वरन् विशेष्य-वत् ही होते हैं । यथा—

लवणेन संसृष्टः—लवणः सूपः, लवणौ सूपौ, लवणाः सूपाः ।

लवणेन संसृष्टा—लवणा यवागूः, लवणे यवाग्वौ, लवणाः यवाग्वः ।

लवणेन संसृष्टम्—लवणं शाकम्, लवणे शाके, लवणानि शाकानि ।

यहां तृतीयान्त लवणप्रातिपदिक से **संसृष्टे** (११२१) सूत्रद्वारा ठक् प्रत्यय हो कर **लवणाल्लुक्** (४.४.२४) सूत्र से उस का लुक् हो जाता है । यहां प्रत्यय का लुक् हुआ है लुप् नहीं, अतः लिङ्ग और वचन प्रकृतिवत् न हो कर विशेष्य के अनुसार होते हैं जैसाकि उदाहरणोंद्वारा स्पष्ट है ।

अब जनपद के वाच्य न होने पर भी कुछ शब्दों से चातुरर्थिक प्रत्यय के लुप् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०६२) वरणादिभ्यश्च ।४।२।८१।।

(वरणादिभ्यश्च चातुरर्थिकस्य लुप् स्यात्) । अजनपदार्थ आरम्भः । वरणानामदूरभवं नगरं वरणाः ।।

अर्थः—वरणा आदि शब्दों से परे चातुरर्थिक प्रत्यय का लुप् हो । **अजनपदार्थ आरम्भः**—जनपदभिन्न वाच्य के लिये यह सूत्र बनाया गया है ।

व्याख्या—वरणादिभ्यः ।५।३। च इत्यव्ययपदम् । चातुरर्थिकस्य ।६।१। (प्रकरणतः लब्ध) । लुप् ।१।१। (**जनपदे लुप्** सूत्र से) । समासः—वरणाशब्द आदिर्ये-षान्ते वरणादयः, तेभ्यः=वरणादिभ्यः ।[1] तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(वरणादिभ्यः) वरणा आदि शब्दों से परे (चातुरर्थिकस्य) चातुरर्थिक प्रत्यय का (लुप्) लुप् हो जाता है ।

जनपदे लुप् (१०६०) सूत्र से जनपद की वाच्यता में चातुरर्थिक प्रत्यय का लुप् कहा गया है । यहां पुनः अजनपद (नगर, ग्राम आदि) की वाच्यता में भी वरणादि शब्दों से परे उस के लुप् का विधान कर रहे हैं । उदाहरण यथा—

---

१. केषाञ्चिन्मते गणस्यास्यादौ वरणशब्दो वर्त्तते । वरणो वृक्षविशेषः । वरणादिगणो यथा—

वरणाः (वरण इति काशिका) । गोदौ । शृङ्गी । शाल्मली । शुण्डी । शयाण्डी । पर्णी । ताम्रपर्णी । आलिङ्ग्यायन । जानपदी (जालपदी) । जम्बू । पुष्कर । चम्पा । पम्पा । वल्गु । उज्जयिनी । गया । मथुरा । तक्षशिला । उरसा (उरशा) । गोमती । वलभी । कटुबदरी । शिरीषाः । काञ्ची । सदाण्वी । वणिकि । वणिक । आकृतिगणोऽयम् । (सूत्रे चकारोऽनुक्त-समुच्चयार्थः । तेनास्य गणस्याकृतिगणत्वं व्यज्यत इति काशिकाकारः) ।

ड्मतुँप्

वरणानाम् अदूरभवं नगरं वरणाः (वरणानदी के निकटवर्त्ती कोई प्राचीन नगर)। वरणा काशी के निकट उत्तरदिशा में स्थित एक नदी है।[1] इस का आदरार्थ या अवयवबाहुल्य के कारण बहुवचनान्त प्रयोग प्रसिद्ध है। यहां 'वरणा आम्' से अदूरभव अर्थ में **अदूरभवश्च** (१०५९) सूत्रद्वारा चातुरर्थिक अण् प्रत्यय करने पर तद्धितान्त हो जाने के कारण प्रातिपदिकसंज्ञा कर **सुँपो धातु०** (७२१) से सुँप् (आम्) का लुक् हो जाता है—वरणा+अ। पुनः प्रकृत-सूत्र **वरणादिभ्यश्च** (१०६२) द्वारा चातुरर्थिक अण् का लुप् हो कर **लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने** (१०६१) से प्रकृतिवत् लिङ्ग और वचन (स्त्रीलिङ्ग का बहुवचन) करने से 'वरणाः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार—

गोदौ नाम ह्रदौ। गोदयोरदूरभवो ग्रामो गोदौ।

कटुबदर्या अदूरभवो ग्रामः कटुबदरी।

शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः शिरीषाः।

तक्षशिलाया अदूरभवा भूमिः तक्षशिला (प्रक्रियासर्वस्वे)।

अब चातुरर्थिक प्रकरण में ड्मतुँप् प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम् (१०६३)

कुमुद-नड-वेतसेभ्यो ड्मतुँप् ।४।२।८६।

अर्थः—कुमुद, नड और वेतस इन तीन सुँबन्त प्रातिपदिकों से पूर्वोक्त अर्थों में तद्धितसंज्ञक ड्मतुँप् प्रत्यय हो।

व्याख्या—कुमुद-नड-वेतसेभ्यः ।५।३। ड्मतुँप् ।१।१। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। कुमुदाश्च नडाश्च वेतसाश्च कुमुद-नड-वेतसाः, तेभ्यः=कुमुद-नड-वेतसेभ्यः। इतरेतरद्वन्द्वः। यह प्रत्यय यद्यपि चातुरर्थिक है तथापि मत्वर्थ अर्थात् 'वह इस में है ऐसा देश' इस एक अर्थविशेष में ही इष्ट है। **न पदान्तद्विर्वचन०** (१.१.५७) सूत्र के भाष्य तथा प्रदीप में इस का स्पष्टीकरण किया गया है। अर्थः—(कुमुद-नड-वेतसेभ्यः) कुमुद, नड और वेतस इन प्रथमान्त प्रातिपदिकों से (तदस्मिन्नस्तीति देशे) 'वह इस में है ऐसा देश' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ड्मतुँप्) ड्मतुँप् प्रत्यय होता है।

ड्मतुँप् प्रत्यय के डकार की चुटू (१२९) द्वारा, पकार की **हलन्त्यम्** (१) द्वारा तथा उकार की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (२८) सूत्रद्वारा इत्संज्ञा हो कर लोप हो जाता है, 'मत्' मात्र शेष रहता है। डित्त्वसामर्थ्यात् **टेः** (२४२) सूत्र से टि का लोप करने के लिये इसे डित् किया गया है। पकार अनुबन्ध अनुदात्तस्वर के लिये तथा उकार अनुबन्ध उगित्कार्यों के लिये जोड़ा गया है।

इस सूत्र के उदाहरणों में वक्ष्यमाण दो सूत्रों का उपयोग होता है अतः इस के उदाहरण उन सूत्रों पर दिये जायेंगे।

---

१. वरणा नाम नदी काश्या उत्तरतः प्रसिद्धा। अवयवाभिप्रायं पूजार्थं वा बहुवचनम्—इति बालमनोरमा।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०६४) **झयः** ।८।२।१०।।

झयन्ताद् मतोर्मस्य वः । कुमुद्वान् । नड्वान् ।।

अर्थः—झय्प्रत्याहारान्तर्गत वर्ण से परे मतुँ के मकार के स्थान पर 'व्' आदेश हो ।

व्याख्या—झयः ।५।१। मतोः ।६।१। वः ।१।१। (**मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः** सूत्र से । वकारादकार उच्चारणार्थः) । यहां मतुँप्रत्ययाक्षिप्त 'प्रातिपदिकात्' का अध्याहार कर 'झयः' को उस का विशेषण बना कर विशेषण से तदन्तविधि कर ली जाती है—झयन्तात् प्रातिपदिकात् । झय् एक प्रत्याहार है जिस में वर्गपञ्चम वर्णों को छोड़ कर अन्य सब वर्गीय वर्ण आ जाते हैं । अर्थः—(झयः=झयन्तात् प्रातिपदिकात्) झय् प्रत्याहार जिस के अन्त में हो ऐसे प्रातिपदिक से परे (मतोः) मतुँ के स्थान पर (वः) 'व्' आदेश हो जाता है ।

झयन्त से परे मतुँ के स्थान पर होने वाला यह आदेश **आदेः परस्य** (७२) परिभाषाद्वारा मतुँ के आदि वर्ण अर्थात् मकार के स्थान पर ही होता है। किञ्च आदिश्यमान यह वकार, विधीयमान होने से सवर्णों का ग्राहक (११) नहीं होता अतः अनुनासिक मकार के स्थान पर भी निरनुनासिक वकार ही आदिष्ट होता है ।

कुछ उदाहरण यथा—

अग्निचित् + मत् = अग्निचित् + वत् = अग्निचित्वान् (ग्रामः) ।
उदश्वित् + मत् = उदश्वित् + वत् = उदश्वित्वान् (घोषः) ।
विद्युत् + मत् = विद्युत् + वत् = विद्युत्वान् (बलाहकः) ।
मरुत् + मत् = मरुत् + वत् = मरुत्वान् (इन्द्रः) ।[1]
दृषद् + मत् = दृषद् + वत् = दृषद्वान् (देशः) ।

पूर्वसूत्रस्थ प्रकृत उदाहरण यथा—

कुमुदाः सन्त्यस्मिन् देशे इति कुमुद्वान् देशः (कुमुद अर्थात् श्वेतकमल जिस में हैं ऐसा तन्नामक देश) । यहां 'कुमुद जस्' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'वे इस में हैं' इस अर्थ में सामान्यतः प्राप्त अण् प्रत्यय (१०५६) का बाध कर **कुमुद-नड-वेतसेभ्यो ड्मतुँप्** (१०६३) सूत्रद्वारा ड्मतुँप् तद्धित ला उस के अनुबन्धों का लोप कर सुँप् (जस्) का भी लुक् कर देने से 'कुमुद + मत्' हुआ । अब ड्मतुँप् के डित्त्वसामर्थ्य से, भसंज्ञा न होते हुए भी **टेः** (२४२) सूत्रद्वारा टि (दकारोत्तर अकार) का लोप हो कर 'कुमुद् + मत्' इस स्थिति में प्रकृत **झयः** (१०६४) सूत्र से दकार झय् से परे मतुँ के मकार को वकार आदेश हो जाता है—कुमुद् + वत् = कुमुद्वत् । पुनः विभक्तिकार्य के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर **अत्वसन्तस्य चाऽधातोः** (३४३) से उपधादीर्घ, **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** (२८९) से नुँम् का आगम, अनुबन्धलोप,

१. इन उदाहरणों में **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र से मतुँप् प्रत्यय किया गया है। **तसौ मत्वर्थे** (११८६) सूत्रद्वारा तकारान्तों की भसंज्ञा हो जाने से पदत्व के अभाव के कारण **झलां जशोऽन्ते** (६७) से तकार को जश्त्वेन दकार नहीं होता।

हल्ङ्यादिद्वारा सुँलोप तथा अन्त में तकार का भी संयोगान्तलोप करने से 'कुमुद्वान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। **कुमुद्वान् कुमुदप्राये** इत्यमरः।[1]

इसीप्रकार—नडाः सन्त्यस्मिन्निति नड्वान् देशः (नडतृण जिस में हैं ऐसा तन्नामक देश)। यहां भी पूर्वोक्तप्रकारेण नडशब्द से ड्मतुँप् प्रत्यय हो कर टि का लोप और मतुँ के मकार को वकार हो जाता है।[2]

अब तीसरे उदाहरण 'वेतस्वान्' प्रयोग की सिद्धि के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०६५)

मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः ।८।२।६।।

मवर्णावर्णान्ताद् मवर्णावर्णोपधाच्च यवादिवर्जितात् परस्य मतोर्मस्य वः। वेतस्वान् ।।

अर्थः—मकारान्त, अवर्णान्त, मकारोपध तथा अवर्णोपध—इन चार प्रकार के प्रातिपदिकों से परे मतुँ के मकार को वकार आदेश हो जाता है परन्तु यवादिगणपठित प्रातिपदिकों से परे नहीं होता।

व्याख्या—मात् ।५।१। उपधायाः ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। मतोः ।६।१। वः ।१।१। (वकारादकार उच्चारणार्थः)। अयवादिभ्यः ।५।३। समासः—म् च अश्च[3] मम्, तस्मात्=मात्, समाहारद्वन्द्वः। मतुँप्रत्ययाक्षिप्तप्रातिपदिकविशेषणत्वात्तदन्तविधिः। एतेन मकारान्ताद् अवर्णान्ताच्च प्रातिपदिकादिति लभ्यते। माद् इत्यावर्त्तते। एतच्चोपधाविशेषणम्, तेन मकारोपधाद् अवर्णोपधाच्च प्रातिपदिकादित्यपि लभ्यते। न यवादिभ्यः—अयवादिभ्यः, नञ्तत्पुरुषः। सूत्र में 'च' ग्रहण के कारण यहां वाक्यभेद हो जाता है। मात् परस्य मतोर्वो भवतीत्येकं वाक्यम्। उपधायाश्च मात् परस्य मतोर्वो भवतीत्यपरं वाक्यम्। अर्थः—(मात्=मकारान्ताद् अवर्णान्ताच्च प्रातिपदिकात्) मकारान्त और अवर्णान्त प्रातिपदिक से परे (च) तथा (उपधाया मात्—मकारोपधादवर्णोपधाच्च प्रातिपदिकात्) मकारोपध और अवर्णोपध प्रातिपदिक से परे (मतोः) मतुँ के स्थान पर (वः) 'व्' आदेश हो जाता है परन्तु यह कार्य (अयवादिभ्यः) यवादियों से परे नहीं होता।

---

१. **अथोल्लसद्भिर्नयनैर्मुनीनामयं कुमुद्वानजनि प्रदेशः।** (अनर्घराघव २.८४)

२. यहां मकार को किस सूत्र से वकार किया जाये इस में मतभेद है। कुछ वैयाकरण झय् (ड्) से परे मतुँ के मकार को **झयः** (१०६४) सूत्रद्वारा वकार आदेश का विधान मानते हैं। परन्तु अन्य लोग **झयः** (८.२.१०) सूत्र को त्रिपाद्यां परत्वेन असिद्ध मान कर अकारोपध होने के कारण वक्ष्यमाण **मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः** (८.२.६) सूत्र से ही वत्व का विधान करते हैं। विशेषजिज्ञासु तत्त्वबोधिनी तथा शेखरद्वय का अवलोकन करें।

३. 'अ' से अवर्णमात्र का ग्रहण अभीष्ट है। इस से दीर्घअवर्णान्तों से भी इस सूत्र की प्रवृत्ति हो जाती है। इसीप्रकार दीर्घ-अवर्णोपधों के विषय में भी समझ लेना चाहिये।

आदेः परस्य (७२) परिभाषा के अनुसार यह वकारादेश मतुँ के मकार के स्थान पर ही किया जाता है। उदाहरण यथा—

(१) **मकारान्त प्रातिपदिकों से—**

किम् + मतुँप् = किम् + मत् = किम् + वत् = किंवान्।

शम् + मतुँप् = शम् + मत् = शम् + वत् = शंवान्।

(२) **अवर्णान्त प्रातिपदिकों से—**

गुण + मतुँप् = गुण + मत् = गुण + वत् = गुणवान्।

वृक्ष + मतुँप् = वृक्ष + मत् = वृक्ष + वत् = वृक्षवान्।

माला + मतुँप् = माला + मत् = माला + वत् = मालावान्।

विद्या + मतुँप् = विद्या + मत् = विद्या + वत् = विद्यावान्।[1]

(३) **उपधा में मकार वाले प्रातिपदिकों से—**

शमी + मतुँप् = शमी + मत् = शमी + वत् = शमीवान्।

लक्ष्मी + मतुँप् = लक्ष्मी + मत् = लक्ष्मी + वत् = लक्ष्मीवान्।

(४) **उपधा में अकार वाले प्रातिपदिकों से—**

पयस् + मतुँप् = पयस् + मत् = पयस् + वत् = पयस्वान्।

यशस् + मतुँप् = यशस् + मत् = यशस् + वत् = यशस्वान्।

भास् + मतुँप् = भास् + मत् = भास् + वत् = भास्वान्।[2]

(५) **यवादिगणपठित शब्दों[3] से परे वत्व नहीं होता।** यथा—

यव + मतुँप् = यव + मत् = यवमान्।[4]

भूमि + मतुँप् = भूमि + मत् = भूमिमान्।[5]

---

१. 'विद्वान्' शब्द इस श्रेणी में नहीं आता क्योंकि वहां मतुँप् प्रत्यय नहीं किया गया। वहां शतृँ के स्थान पर वसुँ आदेश हुआ है [देखें **विदेः शतुर्वसुँः** (८३३) सूत्र की व्याख्या]।

२. **तसौ मत्वर्थे** (११८६) सूत्रद्वारा मत्वर्थ प्रत्यय के परे रहते तकारान्त और सकारान्त भसञ्ज्ञक होते हैं। अतः यहां भसंज्ञा हो जाने से पदत्वाभाव के कारण सकार को रुँत्व नहीं होता।

३. यवादिगण यथा—
यव। दल्मि। ऊर्मि। भूमि। कृमि। क्रुञ्चा। वशा। द्राक्षा। ध्राक्षा। वृक्षा। वेशा। ध्रजि। ध्वजि। सञ्जि। वजि। व्रजि। शञ्जि। निजि। सिजि। सिञ्जि। हरित्। ककुद्। गरुत्। इक्षु। मधु। द्रुम। मण्ड। धूम। आकृतिगणोऽयम्॥
[इस गण में 'धूम' शब्द विशेष विचारणीय है, क्योंकि न्यायवैशेषिकग्रन्थों में 'धूमवान्, धूमवत्त्वात्' इत्यादि शब्दों का प्रयोग बाहुल्येन प्राप्त होता है। गणरत्नमहोदधि में इस का उल्लेख नहीं पाया जाता। आचार्य हेमचन्द्र ने भी इस का उल्लेख नहीं किया। परन्तु काशिका में इस का पाठ स्पष्ट आया है। अतः काशिका के मतानुसार 'धूमवान्' आदियों में वत्व अशुद्ध है।]

४. अवर्णान्त होने से वत्व प्राप्त था। यवादिपाठ के कारण रुक गया।

५. मकारोपध होने से वत्व प्राप्त था। यवादिपाठ के कारण नहीं हुआ।

गरुत् + मतुँप् = गरुत् + मत् = गरुत्मान् ।[1]
कृमि + मतुँप् = कृमि + मत् = कृमिमान् ।[2]
ऊर्मि + मतुँप् = ऊर्मि + मत् = ऊर्मिमान् ।
ककुद् + मतुँप् = ककुद् + मत् = ककुद्मान् ।[3]

अब प्रकृतप्रकरणोपयोगी उदाहरण यथा—

वेतसाः सन्त्यस्मिन् इति वेतस्वान् देशः (वेतस अर्थात् बेंत जिस में हों ऐसा तन्नामक देश)। यहां 'वेतस जस्' से 'वे इस में हैं' इस अर्थ में **कुमुद-नड-वेतसेभ्यो ड्मतुँप्** (१०६३) सूत्र से ड्मतुँप् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप, सुँब्लुक् एवं प्रत्यय के डित्त्वसामर्थ्य से भसंज्ञा के बिना भी टि का लोप करने पर—वेतस् + मतुँ। पुनः अकारोपध होने से **मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः** (१०६५) सूत्रद्वारा मतुँ के मकार को वकार आदेश करने से 'वेतस्वत्'[4] बना। अब इस से पूर्ववत् विभक्तिकार्य करने से प्रथमा के एकवचन में 'वेतस्वान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[5] स्त्रीत्व की विवक्षा में **उगितश्च** (१२५०) से ङीप् प्रत्यय हो जायेगा—वेतस्वती।

अब इसी अर्थ में ड्वलच् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०६६) नड-शादाड् ड्वलच् ।४।२।८७॥

नड्वलः। शाद्वलः॥

अर्थः—नड और शाद इन सुँबन्त प्रातिपदिकों से पूर्वोक्त चारों अर्थों में तद्धित-सञ्ज्ञक ड्वलच् प्रत्यय हो।

व्याख्या—नड-शादात् ।५।१। ड्वलच् ।१।१। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। पूर्वोक्त चारों अर्थों का भी अनुवर्त्तन हो रहा है। नडश्च शादश्च नडशादम्, तस्मात् = नडशादात्। समाहारद्वन्द्वः। अर्थः—(नडशादात्) नड और शाद इन सुँबन्त प्रातिपदिकों से (चातुर्थिकः) चातुरर्थिक (ड्वलच्) ड्वलच् (तद्धितः) तद्धित प्रत्यय होता है। यह प्रत्यय यद्यपि चातुरर्थिक है, इस का पूर्वोक्त चारों अर्थों के साथ सम्बन्ध करना चाहिये तथापि प्रसिद्धिवशात् केवल 'अस्मिन्नस्तीति देशे' इस अर्थ में ही प्रयुक्त होता है।

ड्वलच् के डकार और चकार अनुबन्ध हैं। इन का लोप हो कर 'वल' मात्र शेष रहता है। प्रत्यय का डित्करण टिलोपार्थ तथा चित्करण अन्तोदात्तस्वरार्थ किया गया है। उदाहरण यथा—

---

१. **झयः** (१०६४) से वत्व प्राप्त था। यवादिपाठ के कारण नहीं हुआ।
२. मकारोपध होने से वत्व प्राप्त था। यवादिपाठ के कारण नहीं हुआ। इसीप्रकार 'ऊर्मिमान्' में भी जानना चाहिये।
३. **झयः** (१०६४) से वत्व प्राप्त था। यवादिपाठ के कारण नहीं हुआ।
४. अत्र अल्लोपस्य स्थानिवत्त्वात् सकारस्य रुँत्वं नेति शब्देन्दुशेखरे नागेशः।
५. **कुमुद्वान् कुमुदप्राये वेतस्वान् बहुवेतसे** इत्यमरः।

तलाच्

नडाः सन्त्यस्मिन्निति नड्वलो देशः (नडतृण जिस में हैं ऐसा तन्नामक प्रदेश)। 'नड जस्' से 'वे इस में हैं' इस अर्थ में **नडशादाड् ड्वलच्** (१०६६) सूत्र से तद्धितसंज्ञक ड्वलच् प्रत्यय; अनुबन्धलोप तथा प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (जस्) का लुक् करने पर 'नड+वल' हुआ। अब प्रत्यय के डित्करण के सामर्थ्य से भसंज्ञा के विना भी **टेः** (२४२) सूत्रद्वारा टि (डकारोत्तर अकार) का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'नड्वलः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1] पीछे इसी अर्थ में **कुमुद-नड-वेतसेभ्यो ड्मतुँप्** (१०६३) सूत्रद्वारा ड्मतुँप् प्रत्यय करने पर 'नड्वान्' प्रयोग भी सिद्ध किया जा चुका है। अमरकोष में कहा भी है—**नडप्राये नड्वान् नड्वल इत्यपि।**

शादाः सन्त्यस्मिन्निति शाद्वलो देशः (हरी घास वाला प्रदेश)। यहां भी पूर्वोक्तप्रकारेण 'शाद जस्' से ड्वलच् प्रत्यय, सुँब्लुक्, टिलोप तथा विभक्तिकार्य करने से 'शाद्वलः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[2] **शाद्वलश्शादहरिते** इत्यमरः।

अब चातुरर्थिक वलच् प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—**(१०६७) शिखाया वलच्** ।४।२।८८॥

शिखावलम् ॥

अर्थः—'शिखा' इस सुँबन्त प्रातिपदिक से पूर्वोक्त चार अर्थों में तद्धितसंज्ञक वलच् प्रत्यय हो।

व्याख्या—शिखायाः ।५।१। वलच् ।१।१। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। पूर्वोक्त चतुरर्थों का भी यहां अनुवर्त्तन होता है। अर्थः—(शिखायाः) 'शिखा' इस सुँबन्त प्रातिपदिक से पूर्वोक्त चार अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (वलच्) वलच् प्रत्यय होता है।

वलच् का 'वल' मात्र शेष रहता है। चित्करण अन्तोदात्तस्वर के लिये किया गया है। प्रत्यय के डित् न होने से टि का लोप नहीं होता। उदाहरण यथा—

शिखाः सन्त्यस्मिन्निति शिखावलं नाम नगरम् (शिखाओं वाला तन्नामक नगर)। यहां 'शिखा जस्' से 'वे इस में हैं' इस अर्थ में **शिखाया वलच्** (१०६७) इस प्रकृतसूत्र से वलच् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा विभक्तिकार्य करने पर नपुंसक के प्रथमैकवचन में 'शिखावलम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। काशिकाकार के अनुसार यह किसी प्राचीन नगर का नाम है।[3]

नोट—पाणिनि ने मत्वर्थीयप्रकरण में **दन्तशिखात् संज्ञायाम्** (५.२.११३) सूत्र-द्वारा वलच् प्रत्यय कर इसे आगे भी दुबारा सिद्ध किया है, उसे अदेशार्थ अर्थात् देश-भिन्न अर्थ में विधानार्थ मानना चाहिये।

---

१. कुछ लोग मारवाड़ के वर्त्तमान नाडौल नगर को प्राचीन नड्वल समझते हैं।

२. **ययौ मृगाध्यासितशाद्वलानि श्यामायमानानि वनानि पश्यन्।** (रघु० २.१७)

३. श्रीवासुदेवशरण अग्रवाल सोननदी पर स्थित सिहावलनगर (रीवा रियासत) के ही प्राचीन शिखावलनगर होने की सम्भावना व्यक्त करते हैं।

अभ्यास (४)

(१) निम्नस्थ प्रश्नों का सहेतुक उत्तर दीजिये---

[क] 'वरणा नगरम्' यहां वहुवचन का प्रयोग क्यों किया जाता है ?

[ख] ड्मतुँप् प्रत्यय को डित् करने का क्या प्रयोजन है ?

[ग] **अदूरभवश्च** में 'च' के ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

[घ] मरुत्वान् में जश्त्वेन दकार क्यों नहीं होता ?

[ङ] जनपद में चातुरर्थिक का लुक् न कर लुप् क्यों किया है ?

[च] निर्वृत्तम् में वृत् धातु को अन्तर्भावितण्यर्थ क्यों मानते हैं ?

(२) 'चातुरर्थिक' इस नामकरण पर टिप्पण करें ।

(३) 'युक्तवद् व्यक्तिवचने' का अभिप्राय अपने शब्दों में स्पष्ट करें ।

(४) चातुरर्थिकप्रकरण के मुख्य चार अर्थों का सोदाहरण परिचय दें ।

(५) शिखाशब्द से वलच् प्रत्यय का दो बार विधान अष्टाध्यायी में क्यों किया गया है ?

(६) जनपद किसे कहते हैं ? इस की वाच्यता में चातुरर्थिक प्रत्यय की क्या स्थिति होती है ? सोदाहरण स्पष्ट करें ।

(७) **मादुपधायाश्च०** द्वारा मकार के स्थान पर होने वाला वकार अनुनासिक क्यों नहीं होता ?

(८) नड्वान् में **झयः** द्वारा वत्व करने में कौन सा दोष प्रसक्त होता है ?

(९) मतुँ को विधान किया जाने वाला वकार आदेश उस के अन्त्य अल् को क्यों नहीं होता ?

(१०) कुरवः, अङ्गाः, वङ्गाः आदि में चातुरर्थिक प्रत्यय के लुप् हो जाने पर प्रत्ययलक्षणद्वारा आदिवृद्धि क्यों नहीं होती ।

(११) वकारादेश की दृष्टि से शुद्धाशुद्ध प्रयोगों का विवेचन करें—
ककुद्मन्तः । धूमवान् । गरुद्वान् । गीर्मान् । पितृवान् । आचार्यवान् । द्रुमवान् । मधुवान् । लक्ष्मीमान् । ऊर्मिवान् ।

(१२) निम्नस्थ प्रयोगों की ससूत्र सिद्धि करें ।
१. औदुम्बरः । २. कौशाम्बी । ३. शैबः । ४. वैदिशम् । ५. पञ्चालाः । ६. वरणाः । ७. नड्वान् । ८. वेतस्वान् । ९. नड्वलः । १०. शाद्वलः । ११. शिखावलम् ।

(१३) निम्नस्थ सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—
१. तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि । २. मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः । ३. लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने । ४. तेन निर्वृत्तम् । ५. अदूरभवश्च । ६. जनपदे लुप् । ७. कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुँप् ।

[लघु०] इति चातुरर्थिकाः ॥

(यहां चातुरर्थिक प्रत्ययों का विवेचन समाप्त होता है ।)

——:०:——

अथ शैषिकाः

अब यहां से आगे शैषिक प्रत्ययों का विवेचन प्रारम्भ होता है। **शेषे** (१०६८) के अधिकार में विहित प्रत्यय 'शैषिक' कहाते हैं—

[**लघु०**] अधिकारसूत्रं विधिसूत्रं च[1] **(१०६८) शेषे ।४।२।९१।।**

अपत्यादिचतुरर्थ्यन्तादन्योऽर्थः शेषस्तत्राणादयः स्युः । चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषं रूपम् । श्रावणः शब्दः । औपनिषदः पुरुषः । दृषदि पिष्टा दार्षदाः सक्तवः । चतुर्भिरुह्यते चातुरं शकटम् । चतुर्दश्यां दृश्यते चातुर्दशं रक्षः । तस्य विकारः (१११०) इत्यतः प्राक् शेषाधिकारः ।।

अर्थः—अपत्य अर्थ से लेकर **चतुरर्थी** (चातुरर्थिकप्रकरण) तक के पूर्वोक्त अर्थों से भिन्न जो अर्थ वह 'शेष' हुआ। उस शेष अर्थ में सुँबन्त प्रातिपदिक से अण् आदि तद्धित प्रत्यय हों। किञ्च **तस्य विकारः** (१११०) सूत्र से पूर्व तक 'शेषे' का अधिकार समझना चाहिये।

व्याख्या—शेषे ।७।१। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** अधिकार से लब्ध)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(शेषे) शेष अर्थ में सुँबन्त प्रातिपदिक से (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो।

जो बाकी बच जाता है उसे 'शेष' कहते हैं। यहां तद्धितप्रकरण में जो अर्थ इस सूत्र से पहले कह चुके हैं उनसे भिन्न बाकी बचे अर्थ 'शेष' होंगे। दूसरे शब्दों में अपत्य अर्थ से लेकर चातुरर्थिकों की समाप्ति तक जो जो अर्थ कहे जा चुके हैं उन से भिन्न अन्य जो कोई अर्थ होगा उसे शेष कहा जायेगा। उस शेष अर्थ में अण् प्रत्यय अथवा उस का अपवाद यथाप्राप्त प्रत्यय प्रवृत्त होगा[2]। उदाहरण यथा—

चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषं रूपम् (चक्षुरिन्द्रिय से जो ग्रहण किया जाता है अर्थात् रूप आदि)। यहां 'चक्षुष् टा' से 'तेन गृह्यते' (उस से ग्रहण किया जाता है) इस अर्थ में प्रकृत **शेषे** (१०६८) सूत्र से तद्धित अण् प्रत्यय हो कर तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसंज्ञा, उस के अवयव सुँप् (टा) का लुक् एवम् आदिवृद्धि करने से—चाक्षुष् + अ = 'चाक्षुष' बना। अब विशेष्य के अनुसार नपुंसक के प्रथमैकवचन में सुँ को अम् (२३४) तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने से 'चाक्षुषम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। 'तेन गृह्यते' यह अर्थ पीछे कहा नहीं गया अतः यह शेष है इसलिये यहां **शेषे** (१०६८) सूत्र की प्रवृत्ति हुई है।

---

१. इस के विधिसूत्र होने से 'चाक्षुषम्' आदि प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं और अधिकारसूत्र होने से आगे नियत अवधि तक अनुवर्त्तन होता है।

२. इस का यह अभिप्राय नहीं कि हम पूर्वोक्त अर्थों से भिन्न जिस किसी अर्थ में चाहें इस सूत्र से अण् प्रत्यय विधान कर दें। यह सूत्र तो केवल शिष्टप्रयोगों के साधुत्वप्रतिपादन के लिये ही बनाया गया है। अपने नये मनघड़न्त प्रयोगों की सिद्धि इस सूत्र से नहीं होती।

श्रवणेन गृह्यते श्रावणः शब्दः (श्रवण इन्द्रिय से जो ग्रहण किया जाता है अर्थात् शब्द)। यहां 'श्रवण टा' से 'तेन गृह्यते' इस शैषिक अर्थ में **शेषे** (१०६८) सूत्रद्वारा तद्धित अण् प्रत्यय, सुँब्लुक् आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'श्रावणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

उपनिषद्भिः प्रतिपाद्यते औपनिषदः पुरुषः (उपनिषदों से प्रतिपादित किया जाने वाला अर्थात् पुरुष=आत्मा)। यहां 'उपनिषद् भिस्' से 'तैः प्रतिपाद्यते' इस शैषिक अर्थ में **शेषे** (१०६८) सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय, सुँब्लुक् एवम् आदिवृद्धि कर विभक्ति लाने से 'औपनिषदः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

दृषदि पिष्टा दार्षदाः सक्तवः (पत्थर पर पीसे गये सत्तू)। यहां 'दृषद् ङि' इस सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से 'तत्र पिष्टम्' (उस पर पीसा गया) इस शैषिक अर्थ में **शेषे** (१०६८) सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि एवं विभक्तिकार्य करने से 'दार्षदाः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

चतुर्भिः (अश्वैः पुरुषैर्वा) उह्यते चातुरं शकटम् (चार घोड़ों या चार व्यक्तियों से खींचा जाने वाला छकड़ा)। यहां 'चतुर् भिस्' से 'तैरुह्यते' (उन से खींचा जाता है) इस शैषिक अर्थ में **शेषे** (१०६८) सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि एवं विभक्तिकार्य करने से 'चातुरम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

चतुर्दश्यां दृश्यते चातुर्दशं रक्षः (चतुर्दशी में दिखाई देने वाला राक्षस)। यहां 'चतुर्दशी ङि' से 'तत्र दृश्यते' (उसमें दिखाई देता है) इस शैषिक अर्थ में **शेषे** (१०६८) सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक ईकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'चातुर्दशम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

उपर्युक्त सब अर्थ शैषिक हैं क्योंकि वे पूर्वोक्त अपत्यादि अर्थों से भिन्न हैं।

शैषिक अर्थों के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) अश्वैरुह्यते—आश्वो रथः। (काशिका)

(२) उलूखले क्षुण्णः—औलूखलो यावकः। (काशिका)

(३) कुणपम् (शवम्) अत्ति—कौणपः। (प्रक्रियासर्वस्व)

(४) स्मृतिभिरुपदिष्टः—स्मार्त्तो धर्मः।

(५) ब्रह्म जानाति—ब्राह्मणः [**अन्** (१०२४) इति प्रकृतिभावः]।

(६) वितरणेन (दानेन) लङ्घ्यते—वैतरणी नदी।

(७) चक्षुषोर्गोचरः—चाक्षुषो विषयः।

(८) श्रुतौ विहितम्—श्रौतं कर्म।

लक्षण अर्थात् विधिसूत्र के साथ साथ यह अधिकारसूत्र भी है। अधिकारसूत्रों की नियत अवधि तक अग्रिमसूत्रों में अनुवृत्ति हुआ करती है। इस अधिकार की अवधि **तस्य विकारः** (१११०) सूत्र से पूर्व तक है। यहां से आगे **तस्य विकारः** (१११०) से पूर्व तक जो प्रत्यय विधान किये जायें वे शेष अर्थात् पूर्वोक्त अपत्य आदि अर्थों से भिन्न अर्थों में ही हों उन पूर्वोक्त अर्थों में नहीं। यद्यपि इस प्रकरण में **तत्र**

जातः (१०८७), **तत्र भवः** (१०९२), **तत आगतः** (१०९८), **तेन प्रोक्तम्** (११०८), **तस्येदम्** (११०९) इत्यादि अर्थनिर्देश पूर्वोक्त अर्थों से भिन्न ही हैं अतः पूर्वोक्तों से उन की व्यावृत्ति के लिये **शेषे** (१०६८) का अधिकार कुछ अनुपयुक्त सा प्रतीत होता है तथापि इस प्रकरण में कहे गये **तस्येदम्** (११०९) सूत्र में 'उस का यह' इस प्रकार जो अर्थनिर्देश किया गया है वह अत्यन्त सामान्य है, उस में अनेक पूर्वोक्त अर्थों का भी समावेश हो सकता है। यथा—'उस का यह' इस में 'उस का यह अपत्य' 'उस का यह समूह' 'उस का यह निवास' इस प्रकार अनेक पूर्वोक्त विशिष्ट अर्थ भी संगृहीत हो सकते हैं। अतः उन सब की निवृत्ति के लिये यहां **शेषे** (१०६८) का अधिकार चलाया गया है। इस तरह यहां विद्यार्थियों को इतना ध्यान रखना चाहिये कि इस प्रकरण के निर्दिष्ट अर्थों में पूर्वोक्त अपत्य, समूह आदि अर्थों का समावेश नहीं होता। यहां का **तस्येदम्** (११०९) केवल सामान्यतः 'उस का यह' इस अर्थ का ही निर्देश करता है उस के विशेष भेद अपत्य, समूह, निवास आदि का नहीं। किञ्च इस अधिकार को चलाने के अन्य भी अनेक प्रयोजन व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखे जा सकते हैं।

विशेष वक्तव्य—शैषिक प्रत्ययों की प्रवृत्ति में एक बात का विशेष ध्यान रखना पड़ता है। वह यह है कि जब एक बार कोई शैषिक प्रत्यय हो चुकता है तो वहां उस शैषिकप्रत्ययान्त शब्द से दुबारा उसी रूप वाला (सरूप) शैषिक प्रत्यय नहीं होता, प्रथम किये प्रत्यय से विरूप शैषिक ही प्रवृत्त हो सकता है। यथा—शालायां भवः शालीयः (घटः), यहां शालाशब्द से **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में **वृद्धाच्छः** (१०७७) से शैषिक 'छ' प्रत्यय करने से 'शालीय' शब्द सिद्ध किया गया है। अब यदि शालीये (घटे) भवम् (उदकम्) को तद्धितवृत्ति के द्वारा कहना होगा तो **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में वह शैषिक प्रत्यय (छ) दुबारा न होगा चाहे उस की प्राप्ति भी क्यों न हो। बल्कि उस का विरूप सामान्यतः प्राप्त अण् शैषिक प्रत्यय ही किया जायेगा—शालीये भवं शालीयम् उदकम्। शालीयशब्द से अण् प्रत्यय हुआ है। इसी-प्रकार अहिच्छत्रे भव आहिच्छत्रः। यहां **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में **प्राग्दीव्यतोऽण्** (४.१.८३) से शैषिक अण् प्रत्यय हुआ है। अब पुनः 'आहिच्छत्रे भव आहिच्छत्रीयः' दुबारा अण् न होगा, **वृद्धाच्छः** (१०७७) से 'छ' प्रत्यय ही होगा। अभियुक्तों (शिष्ट-जनों) ने कहा भी है—

शैषिकान्मतुबर्थीयाच्छैषिको मतुबर्थिकः।
सरूपः प्रत्ययो नेष्टः सन्नन्तान्न सनिष्यते॥

अर्थात् शैषिक प्रत्ययान्त से पुनः उसी रूप वाला शैषिक प्रत्यय नहीं हुआ करता। इसी तरह मतुँबर्थीय प्रत्ययान्त से पुनः उसी रूप वाला मतुँबर्थीय प्रत्यय भी नहीं होता[1]। किञ्च इच्छा अर्थ में हुए सन्प्रत्ययान्त से दुबारा इच्छा अर्थ में सन्

१. यथा—धनमस्यास्तीति धनवान्। यहां धनप्रातिपदिक से मतुँप् प्रत्यय कर उस के मकार को वकार आदेश करने से 'धनवत्' शब्द बना है। अब इस से धन-वानस्यास्तीति इस विग्रह में पुनः मतुँप् प्रत्यय नहीं होगा। कारण कि दोनों

छ (इय), ख (ईन)

प्रत्यय करना अभीष्ट नहीं है ।[१]

अब अग्रिमसूत्रद्वारा दो शैषिक प्रत्ययों का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०६९)

राष्ट्राऽवारपाराद् घ-खौ ।४।२।९२॥

आभ्यां क्रमाद् घ-खौ स्तः शेषे। राष्ट्रे जातादिः—राष्ट्रियः। अवारपारीणः ॥

अर्थः—शेष अर्थ में राष्ट्र और अवारपार इन सुँबन्त प्रातिपदिकों से क्रमशः तद्धितसञ्ज्ञक 'घ' और 'ख' प्रत्यय हों ।

व्याख्या—राष्ट्राऽवारपारात् ।५।१। घ-खौ ।१।२। शेषे ।७।१। (अधिकृत किया गया है) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—राष्ट्रञ्च अवारपारञ्च राष्ट्रावारपारम्, तस्मात्=राष्ट्रावारपारात् । समाहारद्वन्द्वः । घश्च खश्च घखौ । इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(राष्ट्रावारपारात्) राष्ट्र और अवारपार इन सुँबन्त प्रातिपदिकों से (शेषे) शेषे अर्थ में (तद्धितौ) तद्धितसंज्ञक (घखौ) घ और ख प्रत्यय होते हैं। यथासंख्यपरिभाषा से राष्ट्र प्रातिपदिक से 'घ' एवम् अवारपार प्रातिपदिक से 'ख' तद्धितप्रत्यय हो जायेगा ।

यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि इस शैषिकप्रकरण में कहीं तो केवल प्रकृति और प्रत्यय कहे गये हैं, अर्थ नहीं । यथा यहां **राष्ट्रावारपाराद् घखौ** (१०६९) सूत्र में प्रकृति और प्रत्यय तो बताये गये हैं परन्तु अर्थ नहीं । और कहीं केवल अर्थ बताया गया है प्रकृतिविशेष और प्रत्यय नहीं । यथा—**तत्र भवः** (१०९२), **तत्र जातः** (१०८७), **तत आगतः** (१०९८) आदि सूत्रों में अर्थ तो बताया गया है परन्तु प्रकृति-विशेष और प्रत्यय नहीं । अतः यहां दोनों प्रकार के सूत्रों को मिलाकर एकवाक्यता करने से ही प्रकृति, प्रत्यय और अर्थ का सम्यक् बोध होता है । यथा—**तत्र जातः** (१०८७) इस अर्थविधायक सूत्र को **राष्ट्राऽवारपाराद् घखौ** (१०६९) सूत्र के साथ मिला कर इस प्रकार एकवाक्यता हो जाती है—सप्तम्यन्त राष्ट्र एवम् अवारपार प्रातिपदिकों से 'जातः' (पैदा हुआ) इस अर्थ में क्रमशः तद्धितसंज्ञक घ और ख प्रत्यय

मतुँबर्थीय प्रत्यय समानरूप हैं । यदि मतुँबर्थीय विरूप प्रत्यय होता तो प्रवृत्त हो जाता । यथा—दण्डोऽस्यास्तीति दण्डी । यहां दण्डप्रातिपदिक से **अत इनिँ-ठनौ** (११९१) सूत्रद्वारा मत्वर्थीय इनिँ प्रत्यय करने से 'दण्डिन्' शब्द बना है । अब इस से दण्डिनोऽस्याः सन्तीति दण्डिमती शाला इस प्रकार पुनः मतुँप् प्रत्यय हो जाता है । कारण स्पष्ट है कि पहले हुए मत्वर्थीय इनिँ प्रत्यय से यह मतुँप् प्रत्यय स्पष्टतः विरूप है ।

१. यथा—कर्तुमिच्छतीति चिकीर्षति । यहां कृ धातु से इच्छार्थक सन् प्रत्यय कर 'चिकीर्ष' बनाया गया है । अब इस से दुबारा सन् प्रत्यय न होगा । चिकीर्षितु-मिच्छति, यह वाक्य ही रहेगा ।

हो जाते हैं। इसी प्रकार अन्यसूत्रों में भी समझ लेना चाहिये[1]। आगे चल कर मूल में ग्रन्थकार स्वयं यही भाव व्यक्त करेंगे।

प्रकृतसूत्र के उदाहरण यथा—

राष्ट्रे भवो जातो वा राष्ट्रियः (राष्ट्र में होने वाला या पैदा हुआ)।[2] यहां 'राष्ट्र ङि' इस सप्तम्यन्त से **तत्र भवः** (१०९२) या **तत्र जातः** (१०८७) आदि के अर्थों में प्रकृतसूत्र **राष्ट्राऽवारपाराद् घखौ** (१०६९) द्वारा 'घ' तद्धितप्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) से 'घ' प्रत्यय के आदि घ् वर्ण को इय् आदेश और **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'राष्ट्रियः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

आधुनिक हिन्दी की देखादेखी 'राष्ट्रीय' इस प्रकार दीर्घ-ईकारघटित प्रयोग संस्कृतभाषा में अशुद्ध मानना चाहिये।

अवारं च पारं च अवारपारम्, समाहारद्वन्द्वः। अवारपारे भवो जातो वा अवारपारीणः (इस पार और उस पार अर्थात् दोनों पारों में होने वाला या पैदा हुआ)। यहां 'अवारपार ङि' इस सप्तम्यन्त से **तत्र भवः** (१०९२) या **तत्र जातः** (१०८७) आदि अर्थों में प्रकृत **राष्ट्राऽवारपाराद् घखौ** (१०६९) सूत्रद्वारा 'ख' प्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) से प्रत्यय के आदि ख् वर्ण को ईन् आदेश, भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप एवं नकार को णकार कर विभक्ति लाने से 'अवारपारीणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अवारपारविषयक एक वार्त्तिक का निर्देश करते हैं—

[लघु०] वा०—(८१)

अवारपाराद् विगृहीतादपि विपरीताच्चेति वक्तव्यम् ॥

अवारीणः। पारीणः। पारावारीणः॥

---

१. इसका यह तात्पर्य नहीं कि **तत्र जातः** (१०८७) आदि सूत्र स्वयं कुछ नहीं कर सकते। वे अपने आप में स्वतन्त्र और पूर्ण हैं, क्योंकि वहां 'तत्र' आदि के द्वारा सामान्यतः प्रकृति का एवं **प्राग्दीव्यतोऽण्** (४.१.८३) से सामान्यतः प्रत्यय का विधान है ही। **राष्ट्रावारपाराद् घखौ** (१०६९) आदि सूत्र ही उन की अपेक्षा करते हैं पर वे इन की नहीं। अन्यथा अर्थविधायक सूत्रों पर दिये गये अपवाद-मुक्त उदाहरण उपपन्न न हो सकेंगे।

२. यह अर्थनिर्देश निदर्शनार्थ है। इन अर्थों के अतिरिक्त अन्य शैषिक अर्थों की भी यथासम्भव स्वयं कल्पना कर लेनी चाहिये। यथा—राष्ट्राद् आगतं राष्ट्रियम्, राष्ट्रस्येदं राष्ट्रियम्, राष्ट्रे सम्भवतीति राष्ट्रियम्, राष्ट्रे प्रायेण भवतीति राष्ट्रियम्; राष्ट्रं निवासोऽस्य राष्ट्रियः; राष्ट्रं भक्तिरस्य राष्ट्रियः (देशभक्त) इत्यादि। संस्कृतनाटकों की उक्तियों में राजा के श्याल (पत्नी के भाई) के लिये 'राष्ट्रिय' शब्द रूढ है। **राजश्यालस्तु राष्ट्रियः**—इत्यमरः।

अर्थः —विगृहीत और विपरीत अवारपारशब्द से भी 'ख' प्रत्यय हो—ऐसा कहना चाहिये ।

व्याख्या—अवारपारात् ।५।१। विगृहीतात् ।५।१। विपरीतात् ।५।१। च इत्यव्ययपदम् । इति इत्यव्ययपदम् । वक्तव्यम् ।१।१। खः ।१।१। (पूर्वसूत्र से लब्ध) । अर्थः—(विगृहीतात्) विगृहीत और (विपरीतात्) विपरीत (अवारपारात् च अपि) अवारपार शब्द से भी (खः) 'ख' प्रत्यय हो (इति वक्तव्यम्) ऐसा कहना चाहिये ।

'अवारपार' शब्द समस्त है । अवार और पार शब्दों के द्वन्द्वसमास से इस की उत्पत्ति होती है । पीछे समस्त अवारपार शब्द से 'ख' प्रत्यय का विधान किया गया था । यहां विगृहीत=असमस्त=पृथक् पृथक् अवार और पार दोनों शब्दों से भी उस का विधान किया गया है । किञ्च अवारपार शब्द का क्रम विपरीत अर्थात् उलट देने से जो पारावार शब्द बनता है उस से भी 'ख' प्रत्यय हो जाता है ।

विगृहीत का उदाहरण यथा—

अवारे भवो जातो वा अवारीणः (इस आर वाले तट में होने वाला या पैदा हुआ आदि) । यहां 'अवार ङि' इस सप्तम्यन्त से प्रकृत **अवारपाराद् विगृहीतादपि विपरीताच्चेति वक्तव्यम्** (वा० ८१) इस वार्त्तिक की सहायता से **राष्ट्राऽवारपाराद् घखौ** (१०६९) सूत्रद्वारा 'ख' प्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, **आयनेयीनीयियः**० (१०१३) से प्रत्यय के आदि वर्ण ख् को ईन् आदेश, भसञ्ज्ञक अकार का लोप एवं नकार को णकार कर विभक्ति लाने से 'अवारीणः' प्रयोग सिद्ध होता है ।

पारे भवो जातो वा पारीणः (पार अर्थात् परले तट पर होने वाला या पैदा हुआ) । यहां 'पार ङि' से पूर्ववत् 'ख' प्रत्यय, सुँब्लुक्, प्रत्यय के आदि वर्ण खकार को ईन् आदेश, भसंज्ञक अकार का लोप तथा नकार को णकार आदेश कर विभक्ति लाने से 'पारीणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

विपरीत अवारपार अर्थात् पारावारशब्द से यथा—

पारावारे भवो जातो वा पारावारीणः (पार और अवार दोनों स्थानों में होने वाला या पैदा हुआ) । यहां 'पारावार ङि' से प्रकृत वार्त्तिक की सहायता से **राष्ट्राऽवारपाराद् घखौ** (१०६९) सूत्रद्वारा ख प्रत्यय, सुँब्लुक्, प्रत्यय के आदि वर्ण ख् को ईन् आदेश, भसंज्ञक अकार का लोप तथा नकार को णकार कर विभक्ति लाने से 'पारावारीणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

तो इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि अवारपार, अवार, पार और पारावार इन चारों शब्दों से शैषिक अर्थों में 'ख' प्रत्यय हो जाता है ।[1]

---

१. इन चार शब्दों से गामी (भविष्य में जाने वाला) अर्थ में भी 'ख' प्रत्यय का विधान भगवान् पाणिनि ने **अवारपारात्यन्तानुकामं गामी** (५.२.११) सूत्र में किया है । यथा—पारं गामी पारीणः, अवारं गामी अवारीणः, पारावारं गामी पारावारीणः, अवारपारं गामी अवारपारीणः । रूप शैषिक-प्रत्ययान्तों की तरह होते हुए भी अर्थ में भेद रहता है ।

य, खञ् (ख़न्)

[लघु०] इह प्रकृतिविशेषाद् घादयष्टचुटचुलन्ताः प्रत्यया उच्यन्ते । तेषां जातादयोऽर्थविशेषाः समर्थविभक्तयश्च वक्ष्यन्ते ॥

अर्थः—इस शैषिकप्रकरण में 'घ' से ले कर टचु-टचुल् (१०८६) प्रत्ययों तक जितने प्रत्यय विधान किये गये हैं वे विशेष विशेष प्रकृतियां (प्रातिपदिकों) से ही कहे गये हैं। इन के 'जातः' आदि अर्थविशेष तथा समर्थविभक्तियां (जिन से इन प्रत्ययों का विधान है) आगे **तत्र जातः** (१०८७) आदि सूत्रों में कही जायेंगी।

व्याख्या—इस गद्यांश का विस्तृत विवेचन पीछे **राष्ट्राऽवारपाराद् घखौ** (१०६६) सूत्र पर किया जा चुका है वहीं यहां ध्यातव्य है।

अब 'ग्राम' प्रातिपदिक से शैषिक अर्थों में सामान्य प्रत्ययों का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०७०) **ग्रामाद् य-खञौ** ।४।२।९३॥

ग्राम्यः । ग्रामीणः ॥

अर्थः—'ग्राम' इस सुँबन्त प्रातिपदिक से **तत्र जातः** (१०८७) आदि शैषिक अर्थों में 'य' और 'खञ्' तद्धित प्रत्यय हों।

व्याख्या—ग्रामात् ।५।१। य-खञौ ।१।२। शेषे ।७।१। (अधिकृत है)। **प्रत्ययः परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—यश्च खञ् च य-खञौ इतरेतरद्वन्द्वः। खञ् में ञकार अनुबन्ध है। अर्थः—(ग्रामात्) सुँबन्त 'ग्राम' प्रातिपदिक से (शेषे) शैषिक अर्थों में (तद्धितौ) तद्धितसञ्ज्ञक (य-खञौ) 'य' और 'खञ्' प्रत्यय हो जाते हैं। 'य' का उदाहरण यथा—

ग्रामे जातो भवो वा ग्राम्यः (ग्राम में पैदा हुआ या ग्राम में होने वाला)। यहां 'ग्राम ङि' से 'जातः' या 'भवः' आदि शैषिक अर्थों में प्रकृत **ग्रामाद् यखञौ** (१०७०) सूत्र से तद्धितसञ्ज्ञक 'य' प्रत्यय हो कर सुँप् (ङि) का लुक् एवं **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'ग्राम्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1] इसीतरह—ग्रामाद् आगतो ग्राम्यः, ग्रामस्येदं ग्राम्यम् इत्यादि अन्य शैषिक अर्थों में भी इस की प्रवृत्ति जाननी चाहिये।

ग्रामे जातो भवो वा ग्रामीणः (ग्राम में पैदा हुआ या ग्राम में होने वाला)। यहां पर भी पूर्ववत् 'ग्राम ङि' से शैषिक अर्थों में प्रकृत **ग्रामाद् य-खञौ** (१०७०) सूत्र से खञ् प्रत्यय, ञकार का लोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि, **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) से प्रत्यय के आदि वर्ण खकार को ईन् आदेश एवं **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अन्त्य अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'ग्रामीणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसी तरह अन्य शैषिक अर्थों में भी समझना चाहिये। यथा—ग्रामाद् आगतो ग्रामीणः, ग्रामस्येदं ग्रामीणं वस्त्रम् इत्यादि।[2]

---

१. **तरुणं सर्षपशाकं नवौदनं पिच्छिलानि च दधीनि ।**
अल्पव्ययेन सुन्दरि ! ग्राम्यजनो मिष्टमश्नाति ॥ (वृत्तरत्नाकर १.११)

२. 'ग्राम्या भार्या यस्य' यहां बहुव्रीहिसमास में **स्त्रियाः पुंवद् भाषितपुंस्कादनूङ्**

ग्रामशब्द का कत्र्यादिगण में भी पाठ आता है अतः शैषिक अर्थों में इस से **कत्र्यादिभ्यो ढकञ्** (४.२.९४) द्वारा ढकञ् प्रत्यय भी हो जाता है—ग्रामे जातो भवो वा ग्रामेयकः ।

अब नद्यादिगणपठित शब्दों से शैषिक अर्थों में ढक् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१०७१) नद्यादिभ्यो ढक् ।४।२।९६॥**

नादेयम् । माहेयम् । वाराणसेयम् ॥

अर्थः—नदी-आदिगणपठित सुँबन्त प्रातिपदिकों से 'जातः' आदि शैषिक अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक ढक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—नद्यादिभ्यः ।५।३। ढक् ।१।१। शेषे ।७।१। (यह अधिकृत है) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—नदी (नदी-शब्दः)[1] आदिर्येषां ते नद्यादयः, तेभ्यः = नद्यादिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः । अर्थः—(नद्यादिभ्यः) नदीआदिगणपठित सुँबन्त प्रातिपदिकों से (शेषे) शैषिक अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ढक्) ढक् प्रत्यय हो जाता है ।

नद्यादि एक गण है ।[2] ढक् में ककार इत् है । यह अनुबन्ध **किति च** (१००१) सूत्रद्वारा आदिवृद्धि करने के लिये जोड़ा गया है । उदाहरण यथा—

नद्यां जातं भवं वा नादेयम् (नदी में पैदा हुआ या नदी में होने वाला) । यहां 'नदी ङि' से 'जातः' आदि शैषिक अर्थों में प्रकृत **नद्यादिभ्यो ढक्** (१०७१) सूत्र से

समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु (९६९) सूत्र से ग्राम्याशब्द को पुंवद्भाव से 'ग्राम्य' हो कर 'ग्राम्यभार्यः' बनेगा । परन्तु 'ग्रामीणा भार्या यस्य स ग्रामीणा-भार्यः' यहां पुंवद्भाव का **वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे** (६.३.३८) से निषेध हो जायेगा । इसी पुंवद्भाव के निषेध के लिये ही खञ् में वृद्धिनिमित्तक ञकार अनुबन्ध जोड़ा गया है जिस से वह वृद्धिनिमित्त प्रत्यय बन सके, अन्यथा ग्रामशब्द में जहां पहले से ही आदिवृद्धि विद्यमान है, आदिवृद्धि करने के लिये ञकार अनुबन्ध जोड़ने का कुछ प्रयोजन नहीं । एतद्विषयक एक टिप्पण **पाण्डोर्ड्यण्** (वा० ७४) वार्त्तिक पर लिख चुके हैं वह यहां पर पुनरपि ध्यातव्य है ।

१. यहां 'नदी' से नदीसञ्ज्ञकों का ग्रहण अभीष्ट नहीं अन्यथा गणपठित मही आदि शब्दों का पाठ व्यर्थ हो जायेगा ।

२. नद्यादिगण यथा—
नदी । मही । वाराणसी । श्रावस्ती । कौशाम्बी । वनकौशाम्बी (नवकौशाम्बी इति काशिकायाम्) । काशपरी (काशफरी इति का.) । खादिरी । पूर्वनगरी । पूर् । वन । गिरि । पाठा (पावा इति का.) । माया (मावा इति का.) । शाल्वा (साल्वा इति का.) । दार्वा । दाल्वा । सेतकी (वासेनकी इति का.) । **वडवाया वृषे** (गण-सूत्रम्) । शरावती (शब्दकौस्तुभे एव नान्यत्र) ॥

तद्धित ढक् प्रत्यय, ककार अनुबन्ध का लोप, सुँब्लुक्, **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) से प्रत्यय के आदि वर्ण ढकार को एय् आदेश, **किति च** (१००१) से अङ्ग के आदि अच् नकारोत्तर अकार को आकार वृद्धि एवं **यस्येति च** (२३६) सूत्रद्वारा भसंज्ञक ईकार का लोप कर विशेष्यानुसार नपुंसक के प्रथमैकवचन में विभक्ति-कार्य करने से 'नादेयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार 'नद्या इदम् नादेयं जलम्' इत्यादि अन्य शैषिक अर्थों में भी समझ लेना चाहिये।

मह्यां जातं भवं वा माहेयम् (पृथ्वी में पैदा हुआ या पृथ्वी पर होने वाला)। यहां 'मही ङि' से पूर्ववत् ढक् प्रत्यय, सुँब्लुक्, ढ् को एय् आदेश, आदिवृद्धि तथा भसञ्ज्ञक अन्त्य ईकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'माहेयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

वाराणस्यां जातं भवं वा वाराणसेयम् (वाराणसी अर्थात् काशी में पैदा हुआ या काशी में होने वाला)। यहां 'वाराणसी ङि' से पूर्ववत् ढक् प्रत्यय हो कर 'वाराण-सेयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

वने जाता भवा वा वानेयाः पादपाः।

कौशाम्ब्यां जातो भवो वा कौशाम्बेयो जनः।

पुरि जातो भवो वा पौरेयः। अथवा—पूर्निवासोऽस्य पौरेयः।

गिरौ जातं भवं वा गैरेयम् (गेरू)।

अब दक्षिणा आदि प्रातिपदिकों से शैषिक अर्थों में त्यक् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०७२)

दक्षिणा-पश्चात्-पुरसस्त्यक् ।४।२।९७।।

दाक्षिणात्यः। पाश्चात्त्यः। पौरस्त्यः।।

अर्थः—दक्षिणा, पश्चात् और पुरस् इन अव्ययों से शैषिक अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक त्यक् प्रत्यय हो।

व्याख्या—दक्षिणा-पश्चात्-पुरसः ।५।१। त्यक् ।१।१। शेषे ।७।१। (यह अधिकृत है)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—दक्षिणा च पश्चात् च पुरश्च दक्षिणापश्चात्पुरः, तस्मात् = दक्षिणापश्चात्पुरसः, समाहारद्वन्द्वः। यहां पश्चात् और पुरस् अव्ययों के साहचर्य के कारण 'दक्षिणा' भी आच्-प्रत्ययान्त अव्यय ही लिया जाता है टावन्त नहीं। 'दक्षिणा' अव्यय का विवेचन पीछे अव्ययप्रकरण के अन्तर्गत **तसिँलादयः प्राक् पाशपः** शीर्षक की व्याख्या के प्रसङ्ग में किया जा चुका हैं। दक्षिणस्यां दिशि दक्षिणा, यद्वा दक्षिणा दिग् दक्षिणा। अर्थः—(दक्षिणा-पश्चात्-पुरसः) दक्षिणा, पश्चात् और पुरस् अव्ययों से (शेषे) 'जातः' आदि शैषिक अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (त्यक्) त्यक् प्रत्यय हो जाता है।

त्यक् में ककार अनुबन्ध **किति च** (१००१) द्वारा आदिवृद्धि करने के लिये जोड़ा गया है। उदाहरण यथा—

दक्षिणा जातो भवो वा दाक्षिणात्यः (दक्षिणदिशा में उत्पन्न हुआ या दक्षिणदिशा में होने वाला)। यहां 'दक्षिणा' अव्यय से **तत्र जातः** (१०८७) या **तत्र भवः** (१०९२) आदि शैषिक अर्थों में प्रकृत **दक्षिणा-पश्चात्-पुरसस्त्यक्** (१०७२) सूत्रद्वारा त्यक् तद्धित-प्रत्यय, ककार अनुबन्ध का लोप तथा **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि कर विभक्ति लाने से 'दाक्षिणात्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। **तद्धितप्रिया दाक्षिणात्याः**—(महाभाष्य पस्पशा.)।

पश्चाज्जातो भवो वा पाश्चात्त्यः (पीछे या पश्चिमदिशा में पैदा हुआ या होने वाला)। यहां भी पूर्ववत् 'पश्चात्' अव्यय से शैषिक अर्थों में त्यक् तद्धितप्रत्यय हो कर आदिवृद्धि करने से 'पाश्चात्त्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

पुरो जातो भवो वा पौरस्त्यः (पहले या पूर्व में पैदा हुआ या होने वाला)। यहां भी पूर्ववत् पुरस् अव्यय से त्यक् प्रत्यय हो कर आदिवृद्धि करने से 'पौरस्त्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[2]

अब दिव् आदि प्रातिपदिकों से शैषिक यत् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१०७३)**

द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत् ।४।२।१००।।

दिव्यम्। प्राच्यम्। अपाच्यम्। उदीच्यम्। प्रतीच्यम्।।

अर्थः—दिव्, प्राञ्च्, अपाञ्च्, उदञ्च् और प्रत्यञ्च्—इन पाञ्च सुँबन्त प्रातिपदिकों से शैषिक अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो।

व्याख्या—द्यु-प्राग्-अपाग्-उदक्-प्रतीचः ।५।१। यत् ।१।१। शेषे ।७।१। (यह अधिकृत है)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—द्यौश्च प्राङ् च अपाङ् च उदङ् च प्रत्यङ् च द्युप्रागपागुदक्प्रत्यक्, तस्मात्=द्युप्रागपागुदक्प्रतीचः, समाहारद्वन्द्वः। समास में दिव् शब्द के वकार को **दिव उत्** (२६५) सूत्र से उकार आदेश हो गया है। अर्थः—(द्युप्रागपागुदक्प्रतीचः) दिव्, प्राञ्च्, अपाञ्च्, उदञ्च् और प्रत्यञ्च्—इन पाञ्च सुँबन्त प्रातिपदिकों से (शेष) शैषिक अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (यत्) यत् प्रत्यय होता है। यत् में तकार इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है। अनुबन्ध स्वरार्थ जोड़ा गया है। उदाहरण यथा—

---

१. यहां 'पश्चात्' के पदान्त तकार को जश्त्वेन दकार हो कर **खरि च** (७४) से पुनः चर्त्वेन तकार हो जाता है। किसी सूत्र से तकार के लोप की प्राप्ति नहीं होती अतः द्वितकारघटित 'पाश्चात्त्यः' ही लिखना उचित है, 'पाश्चात्यः' नहीं।

२. यहां पर पुरस् के पदान्त सकार को रुँत्व-विसर्ग हो कर **विसर्जनीयस्य सः** (९६) से पुनः सकार आदेश हो जाता है।

दिवि (स्वर्गे) जातं भवं वा दिव्यम् (स्वर्ग में पैदा हुआ या होने वाला)। यहां 'दिव् ङि' से **तत्र जातः** (१०८७) या **तत्र भवः** (१०९२) आदि शैषिक अर्थों में प्रकृत **द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत्** (१०७३) सूत्र से यत् तद्धितप्रत्यय हो कर सुँप् (ङि) का लुक् एवं विभक्तिकार्य करने से 'दिव्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

प्राचि जातं भवं वा प्राच्यम् (पूर्वदिशा या पूर्वदेश में पैदा हुआ या होने वाला)। 'प्र' पूर्वक अञ्च् धातु से **ऋत्विग्दधृक्०** (३०१) सूत्रद्वारा क्विँन् प्रत्यय हो कर उस का सर्वापहार लोप करने से 'प्र अञ्च्' हुआ। अब 'प्र अञ्च् ङि' इस सप्तम्यन्त से **तत्र जातः** (१०८७) या **तत्र भवः** (१०९२) आदि शैषिक अर्थों में **द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत्** (१०७३) इस प्रकृतसूत्र से यत् तद्धितप्रत्यय हो जाता है। तब प्रातिपदिकत्वात् सुँब्लुक् हो कर प्रत्ययलक्षणद्वारा क्विँन् प्रत्यय को मान उस के कित्त्व के कारण **अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति** (३३४) से नकार का लोप करने से 'प्र अच् + य' हुआ। पुनः **अचः** (३३५) सूत्र से 'अच् के आदि अकार का लोप तथा **चौ** (३३६) से पूर्व अण् को दीर्घ करने पर—'प्राच्य'। विभक्ति लाने से 'प्राच्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—अपाचि जातं भवं वा अपाच्यम् (दक्षिणदिशा[1] या दक्षिणदेश में पैदा हुआ या वहां होने वाला)। यहां 'अप' पूर्वक अञ्च् धातु से पूर्ववत् क्विँन् हो कर यत् तद्धितप्रत्यय हो जाता है।

उदीचि जातं भवं वा उदीच्यम् (उत्तरदिशा या उत्तरदेश में पैदा हुआ या वहां होने वाला)। यहां 'उद्'पूर्वक अञ्च् धातु से क्विँन्, उस का सर्वापहारलोप, तब 'जातः' आदि शैषिक अर्थों में यत् तद्धितप्रत्यय, सुँब्लुक्, अञ्च् की उपधा नकार का लोप तथा **उद ईत्** (३३७) से 'अच्' के अकार को ईकार आदेश कर विभक्ति लाने से 'उदीच्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

प्रतीचि जातं भवं वा प्रतीच्यम् (पश्चिमदिशा या पश्चिमदेश में पैदा हुआ या वहां होने वाला)। यहां 'प्रति' पूर्वक अञ्च् धातु से पूर्ववत् क्विँन् हो जाता है। पुनः शैषिक अर्थों में यत् प्रत्यय, सुँब्लुक्, अञ्च् की उपधा नकार का लोप, **अचः** (३३५) से अकारलोप तथा **चौ** (३३६) से दीर्घ हो कर 'प्रतीच्य' इस स्थिति में विभक्तिकार्य करने से 'प्रतीच्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

विशेष वक्तव्य—प्राक् आदि शब्द अव्यय और अनव्यय के भेद से दो प्रकार के हुआ करते हैं। जब इन से अस्तातिँ (५.३.२७) प्रत्यय कर उस का लुक् (५.३.३०) किया जाता है तब ये **तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः** (३६८) से अव्ययसंज्ञक होते हैं। अन्यथा उपर्युक्तप्रकारेण अनव्यय रहते हैं। प्रकृतसूत्र (१०७३) में किसी विशेष का उल्लेख न होने से दोनों का ही ग्रहण हो जाता है। परन्तु जब अस्तातिँप्रत्ययान्त ये अव्यय काल के वाचक होते हैं तब परत्व के कारण इन से **सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुँट् च** (१०८६) सूत्रद्वारा ट्यु और ट्युल् प्रत्यय ही होते हैं, यत्

---

१. **प्राच्यवाचीप्रतीच्यस्ताः पूर्वदक्षिणपश्चिमाः। उत्तरा दिगुदीची स्यात्** —इत्यमरः।

नहीं। यथा—प्राक् (पूर्वजन्मनि) भवाः प्राक्तनाः। जैसाकि कालिदास का प्रयोग है—**संस्काराः प्राक्तना इव** (रघु० १.२०)।

अब अव्ययों से शैषिक अर्थों में त्यप् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१०७४) अव्ययात् त्यप्** ।४।२।१०३॥

अर्थः—अव्यय से शैषिक अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक त्यप् प्रत्यय हो।

व्याख्या—अव्ययात् ।५।१। त्यप् ।१।१। शेषे ।७।१। (यह अधिकृत है)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं। अर्थः—(अव्ययात्) अव्यय प्रातिपदिक से (शेषे) शैषिक अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (त्यप्) त्यप् प्रत्यय हो जाता है। त्यप् में पकार अनुबन्ध है।

हमें प्रत्येक अव्यय से त्यप् करना अभीष्ट नहीं, अन्यथा 'उपरिष्टाद् भव औपरिष्टः' इत्यादि में दोष आयेगा। अतः वार्त्तिककार उन अव्ययों का परिगणन करते हैं—

[लघु०] वा०—**(८२) अमेह-क्व-तसिँ-त्रेभ्य एव** ॥

अमात्यः। इहत्यः। क्वत्यः। ततस्त्यः। तत्रत्यः॥

अर्थः—अमा, इह, क्व, तसिँप्रत्ययान्त तथा त्रप्रत्ययान्त अव्ययों से ही शैषिक अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक त्यप् प्रत्यय हो, अन्य अव्ययों से नहीं।

व्याख्या—अमा-इह-क्व-तसिँ-त्रेभ्यः ।५।३। एव इत्यव्ययपदम्। त्यप् ।१।१। (**अव्ययात्त्यप्** सूत्र से)। अर्थः—(अमा-इह-क्व-तसिँ-त्रेभ्यः) अमा, इह, क्व, तसिँ और **त्र—इन** अव्ययों से (एव) ही शैषिक अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (त्यप्) त्यप् प्रत्यय होता है, अन्य अव्ययों से नहीं।

'अमा' यह अव्यय 'सह' (साथ) के अर्थ में या समीप अर्थ में प्रयुक्त होता है[1]। अमा भवः—अमात्यः (साथ या समीप में होने वाला अर्थात् मन्त्री। मन्त्री मन्त्रणा के लिये प्रायः राजा के साथ या समीप रहा करता है)। यहां 'अमा' अव्यय से प्रकृत **अमेहक्वतसिँत्रेभ्य एव** (वा० ८२) वार्त्तिक की सहायता से **अव्ययात्त्यप्** (१०७४) सूत्रद्वारा त्यप् तद्धितप्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप और विभक्तिकार्य करने से 'अमात्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इह (यहां) शब्द की **तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः** (३६८) सूत्र से अव्ययसंज्ञा है। इह भव इह जातो वा इहत्यः (यहां होने वाला या यहां पैदा हुआ)। यहां 'इह' अव्यय से **तत्र भवः** (१०९२) या **तत्र जातः** (१०८७) आदि शैषिक अर्थों में पूर्ववत् त्यप् प्रत्यय हो जाता है।

क्व (कहां) शब्द की **तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः** (३६८) से अव्ययसंज्ञा है अतः

---

१. **अमा सह समीपे च** इत्यमरः। न्यासपदमञ्जर्योः स्वरादिरयमित्युक्तम्।

पूर्ववत् शैषिक अर्थों में त्यप् प्रत्यय हो जाता है। क्व भवो जातो वा क्वत्यः (कहां होने वाला या कहां पैदा हुआ)। **क्वत्येयं तव दुर्मतिः** (भट्टि० ६.१२७)।

तसिँ प्रत्यय है। **प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः** परिभाषा के अनुसार तसिँप्रत्ययान्त अव्ययों से शैषिक अर्थों में प्रकृतवार्त्तिक से त्यप् होगा। यथा—तत आगतः—ततस्त्यः (उस से आया हुआ)।[1] इसी प्रकार—यत आगतो यतस्त्यः (जिस से आया हुआ)। कुत आगतः कुतस्त्यः (कहां से आया हुआ)। अत आगतः—अतस्त्यः (इस से आया हुआ) इत्यादि।

'त्र' भी प्रत्यय है। त्रप्रत्ययान्त अव्ययों से शैषिक अर्थों में त्यप् होगा। यथा—तत्र भवः तत्रत्यः (वहां पर होने वाला)। अत्र भवः—अत्रत्यः (यहां पर होने वाला)। यत्र भवो यत्रत्यः (जहां पर होने वाला)। कुत्र भवः कुत्रत्यः (कहां होने वाला)। सर्वत्र भवः सर्वत्रत्यः (सब जगह होने वाला)।

'अमा' को छोड़ अन्य सब का विवेचन और सिद्धि आगे प्राग्दिशीयप्रकरण में देखें। इन की **तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः** (३६८) सूत्र से अव्ययसंज्ञा हो कर पुनः त्यप् हो जाता है।

वार्त्तिक में परिगणन कर देने से इन अव्ययों के अतिरिक्त अन्य अव्ययों से शैषिक अर्थों में त्यप् न होगा। यथा—उपरिष्टाद् भव औपरिष्टः। यहां 'उपरिष्टात्' अव्यय से **तत्र भवः** (१०९२) सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय हो कर आदिवृद्धि एवम् **अव्ययानां भमात्रे टिलोपः** (वा० ८५) से टि (आत्) का लोप करने से 'औपरिष्टः' प्रयोग सिद्ध होता है। इसीप्रकार—उत्तराहि[2] भव औत्तराहः (उत्तरदिशा में होने वाला), पुरस्ताद्भवः पौरस्तः (सामने होने वाला), परस्ताद्भवः पारस्तः (परे होने वाला) इत्यादि।

काशिका में यह परिगणन इस प्रकार श्लोकबद्ध किया गया है—

अमेह-क्व-तसि-त्रेभ्यस्त्यब्विधिर्योऽव्ययात् स्मृतः।
निनिर्भ्यां ध्रुवगत्योश्च प्रवेशो नियमे तथा॥[3]

अब इस विषय में एक अन्य वार्त्तिक का अवतरण करते हैं—

---

१. **निशम्य सिद्धिं द्विषतामपाकृतीस्ततस्ततस्त्या विनियन्तुमक्षमा।**
नृपस्य मन्युव्यवसायदीपिनीरुदाजहार द्रुपदात्मजा गिरः॥ (किरात० १.२७)

२. उत्तरशब्द से अस्तातिँ वाले अर्थ में **उत्तराच्च** (५.३.३८) सूत्रद्वारा 'आहि' प्रत्यय करने पर 'उत्तराहि' अव्यय निष्पन्न होता है। उत्तराहि=उत्तरा दिक्, उत्तरस्यां दिशि वेत्यर्थः।

३. योऽव्ययात् त्यब्विधिरुक्तः सोऽमादिभ्य एव स्मृत इत्यर्थः। उत्तरार्धं **त्यब्नेर्ध्रुवे, निसो गते** इति वार्त्तिकद्वयं संगृह्णाति। प्रथमं वार्त्तिकमनुपदं व्याख्यास्यते। द्वितीयं सिद्धान्तकौमुद्यां द्रष्टव्यम्।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(८३) **त्यब्नेर्ध्रुव इति वक्तव्यम्** ॥

नित्यः ॥

अर्थः—नियत अर्थात् सर्वकालवर्त्ती वस्तु वाच्य हो तो 'नि' अव्यय से परे शैषिक अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक त्यप् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—त्यप् ।१।१। नेः ।५।१। ध्रुवे ।७।१। इति इत्यव्ययपदम् । वक्तव्यम् ।१।१। अव्ययात् ।५।१। (**अव्ययात्त्यप्** से) । **शेषे, तद्धिताः**—ये अधिकृत हैं । सर्वकालवर्त्ती पदार्थ को यहां ध्रुव कहा गया है । अर्थः—(ध्रुवे) ध्रुव अर्थात् सर्वकालवर्त्ती पदार्थ वाच्य हो तो (नेः, अव्ययात्) 'नि' अव्यय से परे (शेषे) शैषिक अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (त्यप्) त्यप् प्रत्यय हो (इति वक्तव्यम्) ऐसा कहना चाहिये ।

नि' का पाठ प्रादियों में किया गया है अतः **प्रादयः** (५४) सूत्र से इस की निपातसञ्ज्ञा हो कर **स्वरादिनिपातमव्ययम्** (३६७) से अव्ययसञ्ज्ञा हो जाती है । पूर्वपरिगणन (वा० ८२) से यहां त्यप् प्राप्त न था अतः प्रकृतवार्त्तिक से उस का विधान किया गया है । उदाहरण यथा —

नि = नियतम् = सर्वकालेषु भवो नित्यः (सब कालों में अर्थात् हमेशा रहने वाला) । यहां 'नि' अव्यय से **त्यब्नेर्ध्रुव इति वक्तव्यम्** (वा० ८३) इस प्रकृतवार्त्तिक से **तत्र भवः** (१०९२) इस शैषिक अर्थ में त्यप् प्रत्यय ला कर विभक्तिकार्य करने से 'नित्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[1]

अब वृद्धसंज्ञकों से 'छ' प्रत्यय का विधान करने के लिये पहले वृद्धसञ्ज्ञा का विधान करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञासूत्रम्—(१०७५)

वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् ।१।१।७२॥

यस्य समुदायस्याचां मध्ये आदिर्वृद्धिस्तद् वृद्धसञ्ज्ञं स्यात् ॥

अर्थः—जिस समुदाय के अचों में पहला अच् वृद्धिसंज्ञक हो तो वह शब्दस्वरूप वृद्धसञ्ज्ञक हो ।

व्याख्या—वृद्धिः ।१।१। यस्य ।६।१। अचाम् ।६।३। आदिः ।१।१। तद् ।१।१। वृद्धम् ।१।१। 'अचाम्' में जाति में सौत्रत्वाद् एकवचन के स्थान पर बहुवचन तथा निर्धारण में षष्ठी समझनी चाहिये । अर्थः—(यस्य) जिस समुदाय के (अचां मध्ये) कुल अचों में (आदिः) पहला अच् (वृद्धिः) वृद्धिसञ्ज्ञक हो तो (तत्) वह समुदायस्वरूप (वृद्धम्) वृद्धसञ्ज्ञक होता है ।

इस शास्त्र में **वृद्धिरादैच्** (३२) सूत्रद्वारा आ, ऐ, औ—इन तीन वर्णों की वृद्धिसञ्ज्ञा की गई है । जिस किसी शब्द में एक दो या इस से अधिक जितने अच्

---

१. **अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।**　　(गीता २.२०)

(स्वर) हों यदि उन अचों में पहला अच् वृद्धिसञ्ज्ञक (आ, ऐ, औ) हो तो उस सम्पूर्ण शब्द की 'वृद्ध' सञ्ज्ञा हो जाती है। यथा—'शाला' शब्द में दो अच् हैं, एक शकारोत्तर आकार और दूसरा लकारोत्तर आकार। इन में पहला अच् आकार वृद्धिसञ्ज्ञक है अतः सम्पूर्ण 'शाला' शब्द की वृद्धसञ्ज्ञा हुई। 'औपगव' शब्द में चार अच् हैं—औ, पकारोत्तर अकार, गकारोत्तर अकार तथा वकारोत्तर अकार। इन चारों में पहला अच् औकार वृद्धिसञ्ज्ञक है अतः सम्पूर्ण 'औपगव' शब्द वृद्धसञ्ज्ञक हुआ। इसीतरह 'ज्ञा' आदि एकाच् शब्दों में भी व्यपदेशिवद्भाव के आश्रयण से वृद्धसञ्ज्ञा की व्यवस्था समझ लेनी चाहिये।

सूत्र में 'वृद्धिः' के कथन से 'पर्वत' आदि शब्दों की वृद्धसंज्ञा नहीं होती, कारण कि यहां के अचों में आदि अकार है जो वृद्धिसञ्ज्ञक नहीं।

सूत्र में यदि 'अचाम्' न कहते तो 'जिस समुदाय का आदि वर्ण वृद्धिसंज्ञक हो उस की वृद्धसञ्ज्ञा हो' इस प्रकार अर्थ हो जाता। तब 'औपगव' आदि की तो वृद्धसञ्ज्ञा हो जाती परन्तु शाला, माला आदि की न हो सकती क्योंकि इन का आदि वर्ण वृद्धिसंज्ञक नहीं है।

सूत्र में 'आदिः' ग्रहण के कारण 'सभासन्नयन' आदि शब्दों की वृद्धसंज्ञा नहीं होती क्योंकि यहां अचों में पहला अच् वृद्धिसंज्ञक नहीं, दूसरा अच् ही वृद्धिसंज्ञक है।

वृद्धसञ्ज्ञा करने का फल **वृद्धाच्छः** (१०७७) से 'छ' प्रत्यय का विधान करना है।

अब एक अन्य सूत्र में भी वृद्धसंज्ञा का विधान करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञा-सूत्रम्—**(१०७६) त्यदादीनि च ।१।१।७३।।**

वृद्धसञ्ज्ञानि स्युः ।।

अर्थः—त्यद् आदि भी वृद्धसञ्ज्ञक हों।

व्याख्या—त्यदादीनि ।१।३। च इत्यव्ययपदम् । वृद्धानि ।१।३। (**वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्** सूत्र से वचनविपरिणामद्वारा)। समासः—त्यद् (त्यद्शब्दः) आदिर्येषां ते त्यदादयः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः। सर्वादिगण के अन्तर्गत त्यदादिगण पढ़ा गया है। त्यद्, तद्, यद्, एतद् इदम्, अदस्, एक, द्वि, युष्मद्, अस्मद्, भवतु, किम्—ये बारह शब्द त्यदादिगण में आते हैं। अर्थः—(त्यदादीनि) त्यद् आदि शब्द (च) भी (वृद्धानि) वृद्धसञ्ज्ञक होते हैं।

त्यद् आदि शब्दों में पहला अच् वृद्धिसञ्ज्ञक नहीं है अतः पूर्वसूत्रद्वारा इन की वृद्धसञ्ज्ञा न हो सकती थी इसलिये यह नया सूत्र बनाया गया है।[1]

अब अग्रिमसूत्रद्वारा वृद्धसञ्ज्ञा का फल दर्शाते हैं—

---

१. एतद् और एक शब्दों की तो पूर्वसूत्र (१०७५) से वृद्धसञ्ज्ञा हो सकती थी परन्तु अन्य त्यदादियों की न होती थी। अब इस विधान से सब त्यदादियों की वृद्धसञ्ज्ञा हो जाती है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०७७) **वृद्धाच्छः** ।४।२।११३।।

शालीयः । मालीयः । तदीयः ।।

अर्थ—वृद्धसञ्ज्ञक सुँबन्त प्रातिपदिक से शैषिक अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक 'छ' प्रत्यय हो।

व्याख्या—वृद्धात् ।५।१। छः ।१।१। शेषे ।७।१। (यह अधिकृत है)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि भी पूर्ववत् अधिकृत हैं। अर्थः—(वृद्धात्) वृद्धसञ्ज्ञक सुँबन्त प्रातिपदिक से (शेषे) शैषिक अर्थों में (तद्धितः) तद्धित-सञ्ज्ञक (छः) 'छ' प्रत्यय हो जाता है। उदाहरण यथा—

शालायां जातो भवो वा शालीयः (घर में पैदा हुआ या घर में होने वाला)। शालाप्रातिपदिक में दो अच् हैं, पहला अच् वृद्धिसञ्ज्ञक है अतः **वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्** (१०७५) सूत्र से शालाशब्द की वृद्धसञ्ज्ञा हो जाती है। अब 'शाला ङि' से **तत्र जातः** (१०८७) या **तत्र भवः** (१०९२) इत्यादि शैषिक अर्थों में प्रकृत **वृद्धाच्छः** (१०७७) सूत्र से छप्रत्यय हो कर सुँप् (ङि) का लुक् हो जाता है—शाला+छ। पुनः **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) सूत्र से छप्रत्यय के आदि वर्ण 'छ्' को 'ईय्' आदेश तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक लकारोत्तर आकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'शालीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

मालायां भवो मालीयः (माला में होने वाला, सूत तागा आदि)। मालाप्राति-पदिक का भी पहला अच् वृद्धिसंज्ञक है अतः **वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्** (१०७५) सूत्रद्वारा मालाशब्द की वृद्धिसञ्ज्ञा हो जाती है। अब 'माला ङि' से **तत्र भवः** (१०९२) इस शैषिक अर्थ में **वृद्धाच्छः** (१०७७) से तद्धित 'छ' प्रत्यय, सुँब्लुक्, छ् को ईय् आदेश तथा भसञ्ज्ञक अन्त्य आकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'मालीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। **तस्येदम्** (११०९) के अर्थ में—मालीयानीमानि कुसुमानि।

तस्यायं तदीयः (उस का यह)। **त्यदादीनि च** (१०७६) सूत्र से 'तद्' शब्द की वृद्धसञ्ज्ञा हो कर 'तद् ङस्' से **तस्येदम्** (११०९) इस शैषिक अर्थ में **वृद्धाच्छः** (१०७७) से छप्रत्यय, सुँब्लुक्, छ् को ईय् आदेश और अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'तदीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

नाटकस्येदं नाटकीयं कथावस्तु (नाटक की कहानी)।

बौद्धानामिदम् बौद्धीयं मतम्।

औपगवस्यायम् औपगवीयः।

कापटवस्यायं कापटवीयः।

आचार्यस्यायम् आचार्यीयो माणवकः।

त्यदादियों से यथा—

यदीयः । एतदीयः । इदमीयः । अदसीयः । एकीयः । द्वीयः । युष्मदीयः । अस्मदीयः । त्वदीयः ।[1] मदीयः । भवदीयः ।[2] किमीयः ।

अब अग्रिमवार्त्तिकद्वारा वृद्धसञ्ज्ञा का विकल्प विधान करते हैं —

[लघु०] वा०—(८४) **वा नामधेयस्य वृद्धसञ्ज्ञा वक्तव्या ॥**

देवदत्तीयः । दैवदत्तः ॥

अर्थः— नामवाचक शब्द की वृद्धसञ्ज्ञा विकल्प से कहनी चाहिये ।

व्याख्या— वा इत्यव्ययपदम् । नामधेयस्य ।६।१। वृद्धसञ्ज्ञा ।१।१। वक्तव्या ।१।१। नाम एव नामधेयम् । **भाग-रूप-नामभ्यो धेयः** (वा० ५.४.२५) इति स्वार्थे धेय-प्रत्ययः । अर्थः—(नामधेयस्य) नामवाचक शब्द की (वा) विकल्प से (वृद्धसञ्ज्ञा) वृद्धसञ्ज्ञा (वक्तव्या) कहनी चाहिये । उदाहरण यथा—

देवदत्तस्यायं देवदत्तीयो दैवदत्तो वा छात्रः (देवदत्त का यह, छात्र आदि) । यहां 'देवदत्त' किसी का नाम है अतः **वा नामधेयस्य वृद्धसञ्ज्ञा वक्तव्या** (वा० ८४) इस प्रकृत वार्त्तिक से इस की विकल्प से वृद्धसञ्ज्ञा हो जाती है । अब **तस्येदम्** (११०९) इस शैषिक अर्थ की विवक्षा में वृद्धसञ्ज्ञा वाले पक्ष में **वृद्धाच्छः** (१०७७) से छप्रत्यय, सुँब्लुक्, छ् को ईय् आदेश एवं भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'देवदत्तीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । वृद्धसञ्ज्ञा के अभावपक्ष में **तस्येदम्** (११०९) द्वारा प्राग्दीव्यतीय अण् प्रत्यय, आदिवृद्धि और **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप करने से 'दैवदत्तः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसी प्रकार—यज्ञदत्तस्यायं यज्ञदत्तीयो याज्ञदत्तो वा छात्रः । इत्यादि ।

अब गहादिगणपठित शब्दों से शैषिक अर्थों में छप्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०७८) **गहादिभ्यश्च ।४।२।१३७॥**

गहीयः ॥

अर्थः —गहआदिगणपठित सुँबन्त प्रातिपदिकों से शैषिक अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक 'छ' प्रत्यय हो ।

---

१. त्वदीयः, मदीयः—प्रयोगों की सिद्धि आगे **प्रत्ययोत्तरपदयोश्च** (१०८२) सूत्र की व्याख्या में देखें ।

२. वस्तुतः **भवतष्ठक्छसौ** (४.२.११४) सूत्रद्वारा शैषिक अर्थों में 'भवत्' सर्वनाम से ठक् वा छस् तद्धितप्रत्यय किये जाते हैं । छस् प्रत्यय के सित् होने से **सिति च** (१.४.१६) द्वारा पदसञ्ज्ञा के कारण भवत् के तकार को **झलां जशोऽन्ते** (६७) सूत्र से जश्त्वेन दकार हो कर 'भवदीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । परन्तु ठक् प्रत्यय करने पर आदिवृद्धि हो कर **इसुसुक्तान्तात् कः** (१०५२) से ठ् को 'क' आदेश करने से 'भावत्कः' प्रयोग बनता है । [जश्त्वेन पदान्तस्य तकारस्य दकारे कृतेऽपि **खरि च** (७४) इति चर्त्वम्] ।

व्याख्या—गहादिभ्यः ।५।३। च इत्यव्ययपदम् । छः ।१।१। (**वृद्धाच्छः** सूत्र से)। शेषे ।७।१। (यह अधिकृत है) । **प्रत्ययः**, **परश्च**, **ङ्याप्प्रातिपदिकात्**, **तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं । समासः—गहः (गहशब्दः) आदिर्येषान्ते गहादयः, तेभ्यः= गहादिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(गहादिभ्यः) गह आदि सुँबन्त प्रातिपदिकों से परे (च) भी (शेषे) शैषिक अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (छः) 'छ' प्रत्यय हो जाता है । गहादि एक गण है ।[1] उदाहरण यथा—

गहे भवो गहीयः (गुफा आदि गहन स्थान में होने वाला) ।[2] यहां 'गह ङि' से प्रकृत **गहादिभ्यश्च** (१०७८) सूत्रद्वारा **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में 'छ' प्रत्यय, सुँब्लुक्, छ् को ईय् आदेश तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'गहीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । ध्यान रहे कि गहशब्द का पहला अच् वृद्धिसञ्ज्ञक न था अतः **वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्** वृद्धम् (१०७५) से इस की वृद्धसञ्ज्ञा न होने से 'छ' प्रत्यय प्राप्त न था ।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

अन्तःस्थेषु भवः—अन्तःस्थीयः । समे भवः समादागतो वा समीयः । विषमे भवो

---

१. गहादिगण यथा—

गह । अन्तःस्थ । सम । विषम । **मध्य मध्यमं चाण् चरणे** (गणसूत्रम्) । उत्तम । अङ्ग । वङ्ग । मगध । पूर्वपक्ष । अपरपक्ष । अधमशाख । उत्तमशाख । एकशाख । समानशाख । समानग्राम । एकग्राम । एकवृक्ष । एकपलाश । इष्वग्र । इष्वनीक (इष्वनी का.) । अवस्यन्दन (अवस्कन्द का.) । कामप्रस्थ । खाडायन । काठेरणि । लावेरणि । सौमित्रि । शैशिरि । आसुत् । देवशर्मन् (दैवशर्मि) । श्रौति । आहिंसि । आमित्रि । व्याडि । बैजि (बैदजि का.) । आध्यश्वि । आनृशंसि । शौङ्गि । अग्निशर्मन् (आग्निशर्मि) । भौजि । वाराटकि (आराटकि का.) । वाल्मीकि (वालिमकि) । क्षेमवृद्धिन् (क्षैमवृद्धि) । आश्वत्थि । औद्ग्राहमानि (औद्-गाहमानि) । ऐक । विन्दवि । दन्ताग्र । हंस । तन्त्वग्र (तत्त्वग्र) । उत्तर । अन्तर (अनन्तर) । **मुखपार्श्वतसोर्लोपः** (गणसूत्रम्) । **जनपरयोः कुँक् च** (गणसूत्रम्) । **देवस्य च** (ग. सूत्रम्) । **स्वस्य च** (ग. सूत्रम्) । **वेणुकादिभ्यश्छण्** (ग. सूत्रम्) । आकृतिगणः ।। (इस गण में अनेक पाठभेद पाये जाते हैं) ।

२. 'गह' का अर्थ सम्यक्प्रकारेण ज्ञात नहीं हो सका । किसी प्राचीन कोष में इस का उल्लेख नहीं मिला । गणरत्नमहोदधिकार ने 'गहे ग्रामे भवो गहीयः' इस प्रकार लिखा है । आचार्य हेमचन्द्र 'गह' को एक देश मानते हैं । हरिनामामृतव्याकरण की बालतोषिणीटीका में 'गहः' का अर्थ 'घटः' किया गया है । आप्टे ने अपने बृहत्कोष में इस का अर्थ (Cave) (गुफा) किया है । श्रीशचन्द्रवसु ने भी अष्टा-ध्यायी की अंग्रेजीव्याख्या में इसी का अनुसरण किया है । साहित्य में इस के प्रयोग अन्वेषणीय हैं ।

खञ् (ईन), अण्, छ (ईय)

विषमादागतो वा विषमीयः । अङ्गेषु भवम् अङ्गीयम् । वङ्गेषु भवं वङ्गीयम् । मगधेषु भवम् मगधीयम् । एकग्रामीयम् । पूर्वपक्षस्येदं पूर्वपक्षीयम् । अपरपक्षीयम् । उत्तमीयम् । उत्तरीयम् । एकशाखीयम् । समानशाखीयम् । एकवृक्षीयम् । वाल्मीकेरिदं वाल्मीकीयं तपोवनम् ।[1] जनकीयः । परकीयः । स्वकीयः ।[2] अन्तरे भवम् अन्तरीयम्, न अन्तरीयं नान्तरीयम्, स्वार्थे कनि नान्तरीयकम् (अविनाभूतमित्यर्थः) ।[3]

गहादियों को आकृतिगण मानने से ---

मतुबर्थे भवम् मतुबर्थीयम् । मत्वर्थे भवम् मत्वर्थीयम् । घटस्येदं घटीयं जलम् । इत्यादि ।

अब युष्मद् और अस्मद् शब्दों से शैषिक अर्थों में खञ् आदि प्रत्ययों का विधान करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(१०७६)

युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च ।४।३।१।।

चाच्छः । पक्षेऽण् । युवयोर्युष्माकं वाऽयम्—युष्मदीयः । अस्मदीयः ।।

अर्थः – युष्मद् और अस्मद् इन सुँबन्त शब्दों से शैषिक अर्थों में खञ्, छ और अण् ये तीन तद्धित प्रत्यय हों ।

व्याख्या --युष्मदस्मदोः ।६।२। (पञ्चम्यर्थे षष्ठी) । अन्यतरस्याम् ।७।१। खञ् ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । शेषे ।७।१। (यह अधिकृत है) । चकारेण **गर्त्तोत्तरपदाच्छः** (४.२.१३६) इति छः प्रत्ययः समुच्चीयते । महाविभाषयैव[4] वाक्ये सिद्धे अन्यतरस्यांग्रहणेन प्राग्दीव्यतीयः सामान्यप्राप्तोऽण् प्रत्ययोऽपि संगृह्यते । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्,**

---

१. **तस्य मार्गवशादेका बभूव वसतिर्यतः ।**
रथस्वनोत्कण्ठमृगे वाल्मीकीये तपोवने ।। (रघु० १५.११)

२. गहादिगणान्तर्गत **जनपरयोः कुँक् च** इस गणसूत्र से छप्रत्यय के परे रहते 'जन' और 'पर' शब्दों को कुँक् का आगम हो जाता है । जनानामयम्, जनेभ्य आगतः, जनेषु भवो वा जनकीयः । परस्यायं परेषु भवो वा परकीयः । **स्वस्य च** इस गणसूत्र से 'छ' परे रहते स्वशब्द को भी कुँक् का आगम हो जाता है—स्वस्मिन् भवः, स्वस्मादागतः, स्वस्यायं वा स्वकीयः । आगमशास्त्र को अनित्य मान कर यह कुँक् क्वचित् नहीं भी होता—स्वीयः । **धर्मे स्वीयमनुष्ठानं कस्यचित्तु महात्मनः** (हितोप० १.१०३) । [केचित् **स्वस्य च** इति गणसूत्रं प्रक्षिप्तं मन्यन्ते । ते स्वशब्दात् स्वार्थे कनि गहादेराकृतिगणत्वाच्छे 'स्वकीयम्' इति समर्थयन्ति । केवलात् स्वशब्दात्तु तेऽणं कृत्वा **द्वारादीनाञ्च** (७.३.४) इत्यैजागमं विधाय 'सौवम्' इति साधयन्ति । प्रयुक्तोऽयम्प्रयोगो **द्वारादीनाञ्चे**त्यत्र भाष्येऽपि] ।

३. अन्तरशब्दाद् गहादित्वाच्छे तदन्तेन नशब्दस्य समासे स्वार्थे कनि च कृते 'नान्तरीयकम्' इति ।

४. **समर्थानां प्रथमाद्वा** (९९७) इति तद्धितप्रकरणे महाविभाषा बोध्या ।

तद्धिताः ये भी पूर्ववतः अधिकृत हैं । अर्थः—(युष्मदस्मदोः=युष्मदस्मद्भ्याम्) युष्मद् और अस्मद् सुँबन्त शब्दों से (शेषे) शैषिक अर्थों में तद्धितसंज्ञक (खञ्) खञ् (च) तथा (छः) छ प्रत्यय (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में अर्थात् विकल्प से हो जाते हैं । पक्ष में सामान्यप्राप्त अण् तद्धितप्रत्यय भी हो जायेगा।

युष्मद् और अस्मद् दो प्रकृतियां हैं, खञ् छ और अण् तीन प्रत्यय हैं अतः यथासंख्य नहीं होता । दोनों प्रकृतियों से तीनों प्रत्यय किये जायेंगे । उदाहरण यथा—

युवयोर्युष्माकं वाऽयं युष्मदीयः (तुम दोनों का अथवा तुम सब का यह) । यहां 'युष्मद् ओस्' या 'युष्मद् आम्' से **तस्येदम्** (११०९) इस शैषिक अर्थ में प्रकृत **युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च** (१०७९) सूत्रद्वारा छप्रत्यय, सुँब्लुक् तथा **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) से प्रत्यय के आदि वर्ण छ् को ईय् आदेश कर विभक्ति लाने से 'युष्मदीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसीप्रकार—आवयोरस्माकं वाऽयम् अस्मदीयः (हम दोनों का अथवा हम सब का यह) । यहां 'अस्मद् ओस्' या 'अस्मद् आम्' से छप्रत्यय हुआ है।

ध्यान रहे कि द्वित्व और बहुत्व में वर्त्तमान युष्मद् अस्मद् शब्दों के ही यहां छप्रत्यय में उदाहरण दिये गये हैं । एकत्व में वर्त्तमान युष्मद् अस्मद् के उदाहरण आगे **प्रत्ययोत्तरपदयोश्च** (१०८२) सूत्र पर दिये जायेंगे ।

खञ् और अण् प्रत्ययों के उदाहरणों में अग्रिम दो सूत्र प्रवृत्त होते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०८०)

तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ ।४।३।२।।

युष्मदस्मदोरेतावादेशौ स्तः खञि अणि च परे । यौष्माकीणः । आस्माकीनः । यौष्माकः । आस्माकः ।।

अर्थः—उस खञ् प्रत्यय और अण् प्रत्यय के परे रहते युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर क्रमशः युष्माक और अस्माक आदेश हों ।

व्याख्या—तस्मिन् ।७।१। अणि ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । युष्माकास्माकौ ।१।२। युष्मदस्मदोः ।६।२। (**युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च** सूत्र से) । 'तस्मिन्' कथन से पूर्वोक्त खञ्प्रत्यय को निर्दिष्ट किया गया है । युष्माकश्च अस्माकश्च युष्माकास्माकौ, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(तस्मिन्) उस पूर्वोक्त खञ् प्रत्यय के परे होने पर (च) अथवा (अणि) अण् प्रत्यय के परे होने पर (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर (युष्माकास्माकौ) युष्माक और अस्माक आदेश हो जाते हैं ।

यथासंख्यपरिभाषा से युष्मद् के स्थान पर युष्माक, एवम् अस्मद् के स्थान पर अस्माक आदेश होता है ।[1] किञ्च अनेकाल्परिभाषा (४५) से युष्मद् और अस्मद् के स्थान पर ये सर्वादेश होते हैं ।

---

१. दो प्रत्ययों में दो आदेश होने पर भी यथासंख्य अभीष्ट नहीं । इस के लिये आकरग्रन्थों का अनुशीलन करें ।

इस सूत्र का **तवक-ममकावेकवचने** (१०८१) यह अग्रिमसूत्र अपवाद है अतः एकत्व की विवक्षा में उस सूत्र से युष्मद् अस्मद् शब्दों को क्रमशः तवक ममक आदेश हो जाते हैं अवशिष्ट द्वित्व और बहुत्व में ही प्रकृतसूत्र की प्रवृत्ति होती है ।

प्रकृतसूत्र के खञ् में उदाहरण यथा —

युवयोर्युष्माकं वाऽयं यौष्माकीणः (तुम दो का या तुम सब का यह) । यहां 'युष्मद् ओस्' या 'युष्मद् आम्' से **तस्येदम्** (११०९) इस शैषिक अर्थ में **युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च** (१०७९) सूत्र से तद्धित खञ् प्रत्यय, सुँब्लुक् तथा खञ् के परे रहते प्रकृत **तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ** (१०८०) सूत्र से युष्मद् के स्थान पर 'युष्माक' सर्वादेश करने पर 'युष्माक + ख' हुआ । अब **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) सूत्रद्वारा प्रत्यय के आदि वर्ण 'ख्' को 'ईन्' आदेश, आदिवृद्धि (९३८), भसञ्ज्ञक अकार का लोप एवम् **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** (१३८) सूत्र से नकार को णकार कर विभक्ति लाने से 'यौष्माकीणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार आवयोरस्माकं वाऽयम् आस्माकीनः (हम दो का या हम सब का यह) । यहां अस्मद् के स्थान पर 'अस्माक' सर्वादेश हुआ है ।

अण् प्रत्यय में उदाहरण यथा —

युवयोर्युष्माकं वाऽयं यौष्माकः (तुम दो का या तुम सब का यह) । यहां 'युष्मद् ओस्' या 'युष्मद् आम्' से **तस्येदम्** (११०९) इस शैषिक अर्थ में **युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्च** (१०७९) सूत्र से अण् प्रत्यय, सुँब्लुक् तथा **तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ** (१०८०) सूत्रद्वारा युष्मद् को 'युष्माक' सर्वादेश करने पर 'युष्माक + अ' हुआ । अब **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदिवृद्धि और **यस्येति च** (२३६) से अन्त्य भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'यौष्माकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—आवयोरस्माकं वाऽयम् आस्माकः (हम दो का या हम सब का यह) । यहां अण् प्रत्यय के परे रहते अस्मद् के स्थान पर 'अस्माक' सर्वादेश हुआ है ।

अब एकत्वविशिष्ट युष्मद्-अस्मद् शब्दों के स्थान पर खञ् और अण् प्रत्ययों के परे रहते आदेशों का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१०८१) तवक-ममकावेकवचने ४।३।३॥**

एकार्थवाचिनोर्युष्मदस्मदोस्तवकममकौ स्तः खञि अणि च । तावकीनः । तावकः । मामकीनः । मामकः । छे तु—

अर्थः—खञ् या अण् प्रत्यय के परे होने पर एकार्थवाची युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर क्रमशः तवक और ममक आदेश हों ।

व्याख्या—तवक-ममकौ ।१।२। एकवचने ।७।१। तस्मिन् ।७।१। अणि ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । (**तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ** सूत्र से) । युष्मदस्मदोः ।६।२। (**युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च** सूत्र से) । समासः—एकस्य वचनम् (उक्तिः) एकवचनम्, तस्मिन् = एकवचने । षष्ठीतत्पुरुषः । तवकश्च ममकश्च तवक-ममकौ । इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(तस्मिन्) उस खञ् प्रत्यय (च) तथा (अणि) अण् प्रत्यय के परे होने पर (एक-

वचने = एकस्योक्तौ प्रयुक्तयोः[1]) एकसंख्या के कथन में प्रयुक्त (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के स्थान पर (तवकममकौ) तवक और ममक आदेश हो जाते हैं। यहां पर भी यथासंख्यपरिभाषा से युष्मद् के स्थान पर 'तवक', और अस्मद् के स्थान पर 'ममक' आदेश होगा। किञ्च अनेकाल् होने से ये आदेश सर्वादेश होंगे। खञ् में उदाहरण यथा—

तवायं तावकीनः (तेरा यह)। यहां 'युष्मद् ङस्' से **युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च** (१०७६) सूत्रद्वारा **तस्येदम्** (११०६) इस शैषिक अर्थ में खञ् प्रत्यय, सुँब्लुक् एवं प्रकृत **तवकममकावेकवचने** (१०८१) सूत्र से युष्मद् शब्द के स्थान पर 'तवक' सर्वादेश हो कर 'तवक + ख' हुआ। अब **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) से प्रत्यय के आदि वर्ण ख् को ईन् आदेश, आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'तावकीनः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—ममायं मामकीनः (मेरा यह)। यहां 'अस्मद् ङस्' से पूर्वोक्तरीत्या खञ् प्रत्यय, सुँब्लुक् और प्रकृतसूत्रद्वारा अस्मद् के स्थान पर 'ममक' सर्वादेश हो कर 'ममक + ख' हुआ। अब प्रत्यय के आदि खकार को ईन् आदेश, आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'मामकीनः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अण् में उदाहरण यथा—

तवायं तावकः (तेरा यह)। यहां 'युष्मद् ङस्' से **युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्च** (१०७६) सूत्र से **तस्येदम्** (११०६) इस शैषिक अर्थ में अण् प्रत्यय, सुँब्लुक् तथा प्रकृत **तवकममकावेकवचने** (१०८१) से युष्मद् के स्थान पर 'तवक' सर्वादेश हो कर 'तवक + अ' हुआ। अब अण् के णित्त्व के कारण आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'तावकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—ममायं मामकः (मेरा यह)। यहां 'अस्मद् ङस्' से अण् प्रत्यय, सुँब्लुक्, अस्मद् को ममक आदेश, आदिवृद्धि तथा यस्येतिचलोप हो जाता है।

---

१. एकवचन परे होने पर युष्मद्-अस्मद् को तवक-ममक आदेश हों—ऐसा अर्थ करने पर 'तावकीनः, मामकीनः' सिद्ध नहीं हो सकते क्योंकि 'युष्मद् ङस् + खञ्, अस्मद् ङस् + खञ्' इस अवस्था में सर्वप्रथम **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् का लुक् हो जाता है, तब **प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्** (१९०) द्वारा प्रत्ययलक्षण भी नहीं हो सकता क्योंकि **न लुमताऽङ्गस्य** (१९१) सूत्र निषेध करेगा। अतः एकवचन परे न रहने से तवक-ममक आदेश नहीं हो सकेंगे। इसलिये सूत्रगत 'एकवचने' का अर्थ 'एकत्व को कहने में प्रयुक्त' ऐसा करने से कोई दोष नहीं आता, क्योंकि प्रत्यय एकवचन का लुक् हो जाने पर भी युष्मद्-अस्मद् शब्द एकत्व को कहने में प्रयुक्त हैं ही। अतः तवक-ममक आदेश निर्बाध हो जाते हैं। काशिकायान्तु वचनात् प्रत्ययलक्षणप्रतिषेधो न भवतीति अन्यदपि समाधानमुक्तम्।

छे तु—अब छ प्रत्यय के परे रहते एकत्ववाची युष्मद्-अस्मद् शब्दों के स्थान पर आदेश विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०८२) **प्रत्ययोत्तरपदयोश्च** ।७।२।९८।।

मपर्यन्तयोरेकार्थवाचिनोर्युष्मदस्मदोस्त्वमौ स्तः प्रत्यये, उत्तरपदे च परतः। त्वदीयः। मदीयः। त्वत्पुत्रः। मत्पुत्रः।।

अर्थः—प्रत्यय या उत्तरपद परे हो तो एकार्थ के वाचक युष्मद् और अस्मद् शब्दों के मकारपर्यन्त भागों के स्थान पर क्रमशः 'त्व' और 'म' आदेश हों।

व्याख्या—प्रत्ययोत्तरपदयोः ।७।२। च इत्यव्ययपदम्। एकवचने ।७।१। त्वमौ ।१।२। (**त्वमावेकवचने** सूत्र से)। युष्मदस्मदोः ।६।२। (**युष्मदस्मदोरनादेशे** सूत्र से)। मपर्यन्तस्य ।६।१। (**मपर्यन्तस्य** यह अधिकृत है)। समासः—प्रत्ययश्च उत्तरपदं च प्रत्ययोत्तरपदे, तयोः=प्रत्ययोत्तरपदयोः, इतरेतरद्वन्द्वः। एकस्य वचनम् एकवचनम्, तस्मिन्=एकवचने, षष्ठीतत्पुरुषः। त्वश्च मश्च त्वमौ, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(प्रत्ययोत्तरपदयोः) प्रत्यय के परे होने पर या उत्तरपद के परे होने पर (एकवचने) एकार्थ की उक्ति में प्रयुक्त (युष्मदस्मदोः) युष्मद् और अस्मद् शब्दों के (मपर्यन्तस्य=मपर्यन्तयोः) मकारपर्यन्त भागों के स्थान पर (त्वमौ) 'त्व' और 'म' आदेश हो जाते हैं।

समास के चरम अर्थात् अन्तिम पद को 'उत्तरपद' कहते हैं। यथासंख्यपरिभाषा से युष्मद् शब्द को मपर्यन्त 'त्व' तथा अस्मद् शब्द को मपर्यन्त 'म' आदेश हो जायेगा। उदाहरण यथा—

तवायं त्वदीयः (तेरा यह)। यहां 'युष्मद् ङस्' से **तस्येदम्** (११०९) इस शैषिक अर्थ में **युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च** (१०७९) सूत्र से छ प्रत्यय हो कर सुँप् (ङस्) का लुक् (७२१) करने से 'युष्मद्+छ' हुआ। अब यहां युष्मद् शब्द एकार्थ में प्रयुक्त हुआ है तथा इस से परे छप्रत्यय भी विद्यमान है अतः प्रकृत **प्रत्ययोत्तरपदयोश्च** (१०८२) सूत्र से युष्मद् शब्द को मकारपर्यन्त 'त्व' आदेश हो कर 'त्व अद्+छ'[1] इस स्थिति में **अतो गुणे** (२७४) से पररूप एवम् **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) से प्रत्यय के आदि वर्ण छकार को ईय् आदेश कर विभक्ति लाने से 'त्वदीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—ममायं मदीयः (मेरा यह, मुझ से सम्बन्ध रखने वाला)। यहां 'अस्मद् ङस्' से पूर्वोक्तरीत्या छप्रत्यय, सुँब्लुक्, प्रकृतसूत्र से अस्मद् शब्द को मकारपर्यन्त 'म' आदेश, पररूप तथा छ् को ईय् आदेश कर विभक्ति लाने से 'मदीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

उत्तरपद परे होने के उदाहरण मूल में ही 'त्वत्पुत्रः' और 'मत्पुत्रः' दिये हुए हैं। तव पुत्रः—त्वत्पुत्रः, मम पुत्रः—मत्पुत्रः। यहां **षष्ठी** (९३१) सूत्रद्वारा षष्ठीतत्पुरुषसमास किया गया है। 'युष्मद् ङस्+पुत्र सुँ' तथा 'अस्मद् ङस्+पुत्र सुँ' इस दशा में समास हो कर सुँब्लुक् (७२१) करने से 'युष्मद्+पुत्र' तथा 'अस्मद्+पुत्र' बना। अब

---

१. यहां विभक्ति परे न होने के कारण **शेषे लोपः** (३१३) से 'अद्' का लोप नहीं हो सकता।

उत्तरपद (पुत्र) के परे रहते प्रकृत **प्रत्ययोत्तरपदयोश्च** (१०८२) सूत्र से युष्मद् को मकारपर्यन्त 'त्व' आदेश एवम् अस्मद् को मकारपर्यन्त 'म' आदेश हो कर **अतो गुणे** (२७४) से पररूप तथा **खरि च** (७४) से दकार को चर्त्वेन तकार करने पर 'त्वत्पुत्रः' तथा 'मत्पुत्रः' प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

प्रत्यय परे होने पर—

अतिशयेन त्वं त्वत्तरः (**द्विवचनविभज्योपपदे०** १२२२)।

अतिशयेन अहं मत्तरः (१२२२)।

त्वामात्मन इच्छति त्वद्यति (**सुँप आत्मनः क्यच्** ७२०)।

मामात्मन इच्छति मद्यति (७२०)।

त्वमिव आचरति त्वद्यते (**कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च** ३.१.११)।

अहमिव आचरति मद्यते (३.१.११)।

उत्तरपद परे होने पर—

तव धनं त्वद्धनम् (षष्ठीतत्पुरुषसमासः)।

मम धनं मद्धनम् (षष्ठीतत्पुरुषसमासः)।

त्वं नाथो यस्य स त्वन्नाथः (बहुव्रीहिसमासः)।

अहं नाथो यस्य स मन्नाथः (बहुव्रीहिसमासः)।

सूत्रार्थ में एकवचन अर्थात् एकार्थवाची युष्मद् अस्मद् को ही आदेश कहे गये हैं। इस से 'युवयोर्युष्माकं वाऽयम्—युष्मदीयः, आवयोरस्माकं वाऽयम्—अस्मदीयः' इत्यादियों में प्रत्यय परे होने पर भी त्व-म आदेश नहीं होते। इसीतरह—'युवयोर्युष्माकं वा पुत्रः—युष्मत्पुत्रः, आवयोरस्माकं वा पुत्रः—अस्मत्पुत्रः' इत्यादियों में उत्तरपद के परे रहते भी त्व-म आदेश नहीं होते।

युष्मद्-अस्मद् शब्दों से शैषिक अर्थों में खञ्, अण् और छ तीनों प्रत्ययों का **युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्च** (१०७९) सूत्र से विधान किया गया था। अब सब में रूप सिद्ध किये जा चुके हैं। इन की तालिका यथा—

खञ्प्रत्यये	अण्प्रत्यये	छप्रत्यये
एकवचने—	**एकवचने**—	**एकवचने**—
तवायं तावकीनः	तवायं तावकः	तवायं त्वदीयः
ममायं मामकीनः	ममायं मामकः	ममायं मदीयः
द्विवचने—	**द्विवचने**—	**द्विवचने**—
युवयोरयं यौष्माकीणः	युवयोरयं यौष्माकः	युवयोरयं युष्मदीयः
आवयोरयम् आस्माकीनः	आवयोरयम् आस्माकः	आवयोरयम् अस्मदीयः
बहुवचने—	**बहुवचने**—	**बहुवचने**—
युष्माकमयं यौष्माकीणः	युष्माकमयं यौष्माकः	युष्माकमयं युष्मदीयः
अस्माकमयम् आस्माकीनः	अस्माकमयम् आस्माकः	अस्माकमयम् अस्मदीयः

म, ठञ् (इक)

अब मध्यशब्द से शैषिक अर्थों में 'म' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०८३) **मध्यान्मः** ।४।३।८॥

मध्यमः ॥

अर्थः—मध्यशब्द से शैषिक अर्थों में 'म' यह तद्धितसञ्ज्ञक प्रत्यय हो ।

व्याख्या—मध्यात् ।५।१। मः ।१।१। शेषे ।७।१। (यह अधिकृत है) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(मध्यात्) 'मध्य' इस सुँबन्त प्रातिपदिक से (शेषे) शैषिक अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (मः) 'म' प्रत्यय होता है । उदाहरण यथा—

मध्ये भवो मध्यमः (मध्य में होने वाला) । यहां 'मध्य ङि' से **तत्र भवः** (१०९२) इस शैषिक अर्थ में प्रकृत **मध्यान्मः** (१०८३) सूत्र से 'म' प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् एवं विभक्तिकार्य करने से 'मध्यमः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

अब कालवाचकों से शैषिक अर्थों में ठञ् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०८४) **कालाट्ठञ्** ।४।३।११॥

कालवाचिभ्यष्ठञ् स्यात् । कालिकम् । मासिकम् । सांवत्सरिकम् ॥

अर्थः—कालवाचक सुँबन्त प्रातिपदिकों से शैषिक अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक ठञ् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—कालात् ।५।१। ठञ् ।१।१। शेषे ।७।१। (यह अधिकृत है) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । यहां 'काल' से केवल कालशब्द का ही ग्रहण नहीं होता अपितु उस के पर्यायों तथा मास, दिन, संवत्सर आदि उस के विशेष भेदों का भी ग्रहण हो जाता है ।[1] अर्थः—(कालात्) कालवाचक सुँबन्त प्रातिपदिकों से (शेषे) शैषिक अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ठञ्) ठञ् प्रत्यय हो जाता है ।

ठञ् में ञकार अनुबन्ध है, अकार उच्चारणार्थ है । ञित्करण आदिवृद्धि के लिये है । 'ठ्' को **ठस्येकः** (१०२७) से 'इक' आदेश हो जाता है । उदाहरण यथा—

---

१. इस का कारण **सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्** (४.३.१६) सूत्र से सन्धिवेलादिगण में पठित त्रयोदशी, चतुर्दशी आदि शब्दों से अण् प्रत्यय का विधान करना है । क्योंकि वहां अण्प्रत्यय ठञ् के बाधनार्थ ही कहा गया है, अन्यथा वह तो **प्राग्दीव्यतोऽण्** (४.१.८३) इस सामान्याधिकार से ही प्राप्त था । यदि **कालाट् ठञ्** (१०८४) सूत्र में केवल कालशब्द से ही ठञ् प्रत्यय करना अभीष्ट होता तो त्रयोदशी, चतुर्दशी आदि शब्दों से उस की प्राप्ति ही न होती, पुनः उस के बाध के लिये अण् का विधान क्यों करते ? अतः इस से प्रतीत होता है कि इस सूत्र में 'काल' के ग्रहण से केवल कालशब्द का ही नहीं अपितु उस के पर्यायों तथा विशेष-भेदों का भी ग्रहण होता है । विस्तार के लिये प्रौढमनोरमा आदि व्याकरण के उच्च ग्रन्थों का अवलोकन करें ।

काले भवं जातं वा कालिकम् (समय पर होने वाला या समय पर उत्पन्न आदि)। यहां 'काल ङि' से **तत्र भवः** (१०९२) या **तत्र जातः** (१०८७) आदि शैषिक अर्थों में प्रकृत **कालाट्ठञ्** (१०८४) सूत्र से ठञ् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, **ठस्येकः** (१०२७) से 'ठ्' को 'इक' आदेश, **पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः** न्याय से आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'कालिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

मासे भवं जातं वा मासिकम् (महीने में होने वाला या पैदा होने वाला)। यहां कालवाचक 'मास ङि' से **तत्र भवः** (१०९२) या **तत्र जातः** (१०८७) आदि शैषिक अर्थों में पूर्ववत् ठञ्, सुँब्लुक्, ठ् को 'इक' आदेश, **पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः** न्याय से आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'मासिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

संवत्सरे भवं जातं वा सांवत्सरिकम् (वर्ष में होने वाला या वर्ष भर में पैदा होने वाला)। यहां कालवाचक संवत्सरशब्द से पूर्ववत् ठञ् प्रत्यय हो जाता है।

इसीप्रकार—

(१) समये भवो जातो वा सामयिको विचारः। सामयिकी चर्चा।[2]

(२) दिवसे भवं जातं वा दैवसिकं कर्म।

(३) दिने भवं जातं वा दैनिकं कृत्यम्।

(४) अर्धमासे भवं जातं वा अर्धमासिकं वेतनम्।

(५) शर्वर्यां भवं जातं वा शार्वरिकं तमः।[3]

(६) उषसि भवं जातं वा औषसिकं विहरणम्।[4]

(७) अह्नि भवं जातं वा आह्निकं कृत्यम्।[5]

---

१. अत एव तत्कालीनः, समकालीनः, समानकालीनः, उत्तरकालीनः, प्राक्कालीनः आदि प्रयोग अशुद्ध हैं। इन के स्थान पर तात्कालिकः, सामकालिकः, सामानकालिकः, औत्तरकालिकः, प्राक्कालिकः आदि का प्रयोग करना चाहिये।

२. **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) इति स्त्रियां ङीप्।

३. **नूनमुन्नमति यज्वनां पतिः शार्वरस्य तमसो निषिद्धये** (कुमार० ८.५८)। यहां कालिदास के 'शार्वर' प्रयोग को वैयाकरण अशुद्ध मानते हैं।

४. **आकुलश्चपलपतत्रिकुलानामारवैरनुदितौषसरागः** (किरात० ९.८)। यहां भारवि का 'औषस' प्रयोग वैयाकरणों को अनभिमत है।

५. 'अहन् ङि' से ठञ्, सुँब्लुक्, ठ् को इक आदेश एवम् आदिवृद्धि होकर 'आहन्+इक' इस अवस्था में **अह्नष्टखोरेव** (६.४.१४५) इस नियम के कारण **नस्तद्धिते** (९१९) से टि का लोप नहीं होता। अब **अल्लोपोऽनः** (२४७) से भसञ्ज्ञक अन् के अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'आह्निकम्' प्रयोग उपपन्न हो जाता है।

(८) प्रस्थाने (प्रस्थानकाले) भवं प्रास्थानिकं स्वस्त्ययनम् ।
(९) पूर्वस्मिन् (पूर्वजन्मनि) भवा पौर्विकी जातिः ।[1]
(१०) पर्वणि भवः पार्विकः शर्वरीश्वरः ।[2]
(११) वर्षे भवा वार्षिकी परीक्षा ।

अब तद्धित प्रक्रिया में महोपयोगी एक वार्त्तिक का अवतरण करते हैं—

[लघु०] वा०—(८५) **अव्ययानां भमात्रे टिलोपः ॥**

सायम्प्रातिकः । पौनःपुनिकः ॥

अर्थः— भसञ्ज्ञामात्र होते ही अव्ययों की टि का लोप हो ।

व्याख्या—अव्ययानाम् ।६।३। भमात्रे ।७।१। टिलोपः ।१।१। अर्थः—(भमात्रे) केवल भसञ्ज्ञा होते ही (अव्ययानाम्) अव्ययों की (टेर्लोपः) टि का लोप हो जाता है। यह वार्त्तिक **नस्तद्धिते** (६.४.१४४) सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है। जिसप्रकार **नस्तद्धिते** (९१९) सूत्र नकारान्त भसञ्ज्ञक टि का लोप करता है वैसा अव्ययों में नहीं होता। अव्ययों में तो टि चाहे नकारान्त हो या कोई अन्यवर्णान्त, केवल भसञ्ज्ञा होने मात्र से ही उस का लोप हो जाता है। यही यहां 'मात्र' शब्द के ग्रहण का प्रयोजन है।[3] उदाहरण यथा—

---

१. **अद्रोहेण भूतानां जातिं स्मरति पौर्विकीम् ।** (मनु० ४.१४८)
टिड्ढाणञ्० (१२५१) इति ङीप् ।

२. **नस्तद्धिते** (९१९) इति टेर्लोपः । प्रयोगो यथा—
अधारि पद्मेषु तदङ्घ्रिणा घृणा क्व तच्छयच्छायलवोऽपि पल्लवे ।
तदास्यदास्येऽपि गतोऽधिकारितां न शारदः पार्विकशर्वरीश्वरः ॥
(नैषध० १.२१)

३. यह वार्त्तिक अनित्य है, क्योंकि जब इस से अव्ययों की भसञ्ज्ञक टि का लोप सिद्ध हो सकता था तो पुनः **बहिषष्टिलोपो यञ् च** (वा० ६८) वार्त्तिक में बहिस् अव्यय की टि के लोप का विधान क्यों किया ? इस से प्रतीत होता है कि क्वचित् इस की प्रवृत्ति नहीं भी होती। यथा—आराद् भव आरातीयः (समीप में होने वाला, पड़ौसी आदि)। यहां वृद्धसञ्ज्ञक आरात् अव्यय से **वृद्धाच्छः** (१०७७) सूत्रद्वारा छप्रत्यय हो कर छ् को ईय् हो जाता है। प्रकृतवार्त्तिक के अनित्य होने से टि का लोप नहीं होता। इसीप्रकार—शश्वद् भवः शाश्वतिकः शाश्वतो वा (६.४.१४४ सूत्रस्थभाष्यप्रामाण्यात् ठञ् अण् चेत्युभौ प्रत्ययौ भवतः)। वस्तुतः महाभाष्य में यह वार्तिक **अव्ययानां च सायंप्रातिकाद्यर्थम्** इसप्रकार कुछेक प्रयोगों के साधुत्व के लिये ही पढ़ा गया है। अत एव काशिकाकार ने यहां स्पष्ट शब्दों में कहा भी है—**के पुनः सायम्प्रातिकादयः ? येषामव्ययानामविहितष्टिलोपः प्रयोगे च दृश्यते ते सायंप्रातिकप्रकारा ग्रहीतव्याः ।**

सायं च प्रातः च सायंप्रातः, द्वन्द्वसमासः। सायंप्रातर्भवः सायंप्रातिकः (साञ्झ सवेरे होने वाला)। यहां 'सायंप्रातर्' इस कालवाचक अव्यय से **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में **कालाट् ठञ्** (१०८४) सूत्र से तद्धितसञ्ज्ञक ठञ् प्रत्यय, ञकार अनुबन्ध का लोप, ठ् को **ठस्येकः** (१०२७) से 'इक' आदेश, **पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः** न्याय से आदिवृद्धि एवं **यचि भम्** (१६५) से भसञ्ज्ञा हो प्रकृत **अव्ययानां भमात्रे टिलोपः** (वा० ८५) वार्त्तिक से टि (अर्) का लोप कर विभक्ति लाने से 'सायम्प्रातिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

'पुनर्' अव्यय को **सर्वस्य द्वे** (८.१.१) के अधिकार में **नित्यवीप्सयोः** (८८६) सूत्र से वीप्सा अर्थ में द्वित्व हो कर 'पुनःपुनर्' निष्पन्न होता है। यह स्थानिवद्भाव से अव्यय है। पुनःपुनर्भवः पौनःपुनिकः (बार बार होने वाला)। यहां कालवाचक 'पुनः-पुनर्' अव्यय से भव अर्थ में **कालाट् ठञ्** (१०८४) से ठञ् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, ठ् को इक आदेश, आदिवृद्धि तथा **'अव्ययानां भमात्रे टिलोपः'** (वा० ८५) वार्त्तिक से भसञ्ज्ञक टि (अर्) का लोप कर विभक्ति लाने से 'पौनःपुनिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

इस वार्त्तिक के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) उपरिष्टाद् भव औपरिष्टः। **तत्र भवः** (१०९२) इत्यण्।

(२) पुरस्ताद् भवः पौरस्तः। **तत्र भवः** (१०९२) इत्यण्।

(३) परस्ताद् भवः पारस्तः। **तत्र भवः** (१०९२) इत्यण्।

(४) उत्तराहि भव औत्तराहः। **तत्र भवः** (१०९२) इत्यण्।

इन सब की सिद्धि पीछे **अमेह्-क्व-तसि-त्रेभ्य एव** (वा० ८२) इस वार्त्तिक पर की जा चुकी है।

अब प्रावृष् (वर्षाऋतु) शब्द से 'एण्य' तद्धित का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०८५) प्रावृष एण्यः ।४।३।१७।।

प्रावृषेण्यः ।।

अर्थः—कालवाचक प्रावृष् (वर्षाऋतु) सुँबन्त प्रातिपदिक से शैषिक अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक 'एण्य' प्रत्यय हो।

---

१. **शङ्का**—'सायम्प्रातिकः' तथा 'पौनःपुनिकः' में सायम्प्रातर् तथा पुनःपुनर् दोनों कालवाचक अव्यय हैं। इन से तो ठञ् के अपवाद **सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्यु-ट्युलौ तुँट् च** (१०८६) सूत्रद्वारा ट्यु और ट्युल् प्रत्यय होने चाहियें थे, **कालाट् ठञ्** (१०८४) से ठञ् कैसे किया गया है?

समाधान—भाष्यकार ने **नस्तद्धिते** (६.४.१४४) सूत्र के भाष्य में इन दोनों प्रयोगों का स्वयं साक्षात् प्रयोग किया है। इस से ज्ञापित होता है कि इन में ट्यु-ट्युल् प्रत्ययों की प्रवृत्ति नहीं होती। अतः **कालाद् ठञ्** (१०८४) से ठञ् किया गया है।

टयु, टयुल् [तुट्-आगम]

व्याख्या—प्रावृषः ।५।१। एण्यः ।१।१। कालात् ।५।१। (**कालाट्ठञ्** सूत्र से)। शेषे ।७।१। (यह अधिकृत है)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि भी पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(कालात्=कालवाचिनः) कालवाचक (प्रावृषः) 'प्रावृष्' इस सुबन्त प्रातिपदिक से (शेषे) शैषिक अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (एण्यः) 'एण्य' प्रत्यय हो जाता है।

वर्षर्तुवाचक 'प्रावृष्' शब्द षकारान्त स्त्रीलिङ्ग है। इस की रूपमाला हलन्त-स्त्रीलिङ्गप्रकरणान्तर्गत 'त्विष्' शब्द के समान चलती है। वर्षर्तु का वाचक होने से प्रावृष्शब्द कालवाचक है। अतः सर्वप्रथम **कालाट् ठञ्** (१०८४) से शैषिक अर्थों में ठञ् प्रत्यय प्राप्त होता था पुनः उस का बाध कर **सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्** (४.३.१६)[1] सूत्र से अण् प्राप्त हुआ। प्रकृत एण्य प्रत्यय उस अण् का भी अपवाद है। इस का भी **तत्र जातः** (१०८७) के अर्थ में **प्रावृषष्ठप्** (१०८८) द्वारा वक्ष्यमाण ठप् प्रत्यय अपवाद कहेंगे।

प्रकृतसूत्र का उदाहरण यथा—

प्रावृषि भवः प्रावृषेण्यः (वर्षर्तु में होने वाला मेघ आदि)। यहां 'प्रावृष् ङि' से **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में प्रकृत **प्रावृष एण्यः** (१०८५) सूत्रद्वारा एण्य[2] तद्धित-प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् तथा विभक्ति कार्य करने से 'प्रावृषेण्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। **प्रावृषेण्यो बलाहकः** इति काशिका।

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(१०८६)

सायं-चिरं-प्राह्णे-प्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुँट् च ।४।३।२३।।

सायमित्यादिभ्यश्चतुर्भ्यः, अव्ययेभ्यश्च कालवाचिभ्यष्ट्यु-ट्युलौ स्तस्तयोस्तुँट् च। सायन्तनम्। चिरन्तनम्। प्राह्ण-प्रगयोरेदन्तत्वं निपात्यते —प्राह्णेतनम्। प्रगेतनम्। (अव्ययेभ्यः—) दोषातनम्।।

अर्थः—कालवाचक सायम्, चिरम्, प्राह्णे, प्रगे इन चार शब्दों से तथा काल-

---

१. **सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्** (४.३.१६)। अर्थः—काल में वर्त्तमान सन्धिवेलादि-शब्दों, ऋतुवाचकों तथा नक्षत्रवाचकों से शैषिक अर्थों में अण् तद्धित प्रत्यय हो। उदाहरण यथा—सन्धिवेलायां भवं सान्धिवेलम्। ग्रीष्मे भवं ग्रैष्मम्। तिष्ये (तिष्यनक्षत्रयुक्ते काले) भवं तैषम्। **तिष्यपुष्ययोर्नक्षत्राऽणि** (वा० ७७) इति यलोपः।

२. **रषाभ्यां नो णः समानपदे** (२६७) **अट्कुप्वाङ्०** (१३८) इत्येव सिद्धे प्रत्यये णकारोच्चारणं 'प्रावृषेण्' इत्यत्र णकारश्रवणार्थम्। अन्यथा **पदान्तस्य** (१३९) इति प्रतिषेधे नकारः श्रूयेत। तथाहि—प्रावृषेण्यम् आचष्टे प्रावृषेण्यति। ततो ण्यन्तात् क्विँपि, **णेरनिटि** (५२९) इति णेर्लोपे **लोपो व्योर्वलि** (४२९) इति यलोपे च कृते 'प्रावृषेण्' इति निष्पद्यते।

वाचक अव्ययों से तद्धितसञ्ज्ञक ट्यु और ट्युल् प्रत्यय हों तथा उन प्रत्ययों को तुँट् का आगम भी हो शैषिक अर्थों में ।

व्याख्या—सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यः ।५।३। ट्युट्युलौ ।१।२। तुँट् ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । कालेभ्यः ।५।३। (**कालाट् ठञ्** सूत्र से वचनविपरिणामद्वारा) । शेषे ।७।१। (यह अधिकृत है) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि भी पूर्ववत् अधिकृत हैं । समासः—सायं च चिरं च प्राह्णे च प्रगे च अव्ययानि च सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययानि, तेभ्यः=सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः । ट्युश्च ट्युल् च ट्युट्युलौ, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(कालेभ्यः) कालवाचक (सायंचिरंप्राह्णे-प्रगेऽव्ययेभ्यः) सायम्, चिरम्, प्राह्णे, प्रगे और अव्ययों से (तद्धितौ) तद्धितसञ्ज्ञक (ट्यु-ट्युलौ) ट्यु और ट्युल् प्रत्यय हों (च) तथा इन प्रत्ययों का अवयव (तुँट्) तुँट् भी हो (शेषे) शैषिक अर्थों में ।

यहां सायम् आदि चार शब्दों को अव्यय नहीं समझना चाहिये अपितु साय, चिर, प्राह्ण और प्रग इस प्रकार चार अकारान्त शब्द मानने चाहियें । यदि सायम् आदि अव्ययों का ग्रहण अभीष्ट होता तो इन का पृथक् उल्लेख न होता, 'अव्ययेभ्यः' कथनमात्र से ही इन का ग्रहण हो जाता । प्रकृतसूत्र में इन चार शब्दों में प्रत्ययों के विधान के साथ साथ कुछ निपातनकार्य भी किये गये हैं । यथा—साय का सायम्, चिर का चिरम्, प्राह्ण का प्राह्णे तथा प्रग का प्रगे रूप बन जायेगा । दूसरे शब्दों में प्रत्ययविधान के साथ साथ साय और चिर शब्दों को मान्तत्व एवं प्राह्ण और प्रग शब्दों को एदन्तत्व का निपातन भी किया गया है ।

ट्यु और ट्युल् प्रत्ययों के आदि टकार की **चुटू** (१२९) सूत्र से एवं ट्युल् के अन्त्य लकार की **हलन्त्यम्** (१) से इत्सञ्ज्ञा हो जाती है । अनुबन्धों का लोप करने पर 'यु' मात्र शेष रहता है । **युवोरनाकौ** (७८५) से यु को अन आदेश हो जाता है । दोनों प्रत्ययों में रूप एक समान बनते हैं परन्तु स्वर में अन्तर पड़ता है इसीलिये दो प्रत्यय कहे गये हैं । इन प्रत्ययों के टित्त्व के कारण स्त्रीलिङ्ग में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र से ङीप् हो जाता है । यथा—सायन्तनं कृत्यम्, सायन्तनी वेला ।

इन प्रत्ययों को तुँट् (त्) का आगम भी होता है । टित् होने से यह आगम **आद्यन्तौ टकितौ** (८५) सूत्रद्वारा प्रत्यय का आद्य अवयव बनता है । परन्तु यह आगम यु को अन आदेश करने के बाद ही होता है ।[1] इस तरह आगम और प्रत्यय दोनों मिल कर 'त्+अन=तन' रूप बन जाता है ।

---

१. यदि यह आगम अन आदेश से पहले किया जाये तो 'दोषा+त्यु' इस अवस्था में यु को **युवोरनाकौ** (७८५) से अन आदेश न हो सकेगा, क्योंकि **युवोरनाकौ** (७८५) सूत्र के अङ्गाधिकारस्थ होने के कारण अङ्ग से परे ही 'यु, वु' को 'अन-अक' आदेश हो सकेंगे । यहां अङ्ग से परे तकार का व्यवधान पड़ने से अन आदेश सम्भव नहीं । अतः तुँट् का आगम यु को अन आदेश करने के बाद ही

'साय' का उदाहरण यथा—

साये भवः सायन्तनः (सायंकाल में होने वाला)। सप्तम्यन्त घञन्त सायशब्द[1] से **तत्र भवः** (१०९२) इस शैषिक अर्थ में **सायंचिरंप्राह्णेप्रगे०** (१०८६) इस प्रकृतसूत्र से टचु या टचुल् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, यु को अन आदेश (७८५), तुँट् का आगम तथा सायशब्द को मान्तत्व का निपातन हो **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) सूत्रद्वारा पदसंज्ञा के कारण मकार को अनुस्वार तथा अनुस्वार को वैकल्पिक परसवर्ण कर विभक्ति लाने से 'सायन्तनः, सायंतनः' ये दो रूप सिद्ध हो जाते हैं।

'चिर' का उदाहरण यथा—

चिरे भवः—चिरन्तनः (चिर अर्थात् प्राचीनकाल में होने वाला)। यहां भी पूर्ववत् 'चिर ङि' से टचु और टचुल् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, यु को अन आदेश, उसे तुँट् का आगम तथा चिर को निपातन से मकारान्तत्व हो कर पदकार्य हो जाते हैं। इसी अर्थ में एक वार्त्तिकद्वारा त्न प्रत्यय हो कर 'चिरत्नम्' प्रयोग भी बनता है।[2]

'प्राह्ण' शब्द[3] का उदाहरण यथा—

प्राह्णे भवो जातो वा प्राह्णेतनः (पूर्वाह्ण में होने वाला या पैदा हुआ)। काल-वाचक 'प्राह्ण ङि' से भव आदि शैषिक अर्थों में प्रकृत **सायंचिरंप्राह्णेप्रगे०** (१०८६) सूत्र से टचु या टचुल् प्रत्यय, सुँब्लुक्, यु को अन आदेश, उसे तुँट् का आगम तथा 'प्राह्ण' को एदन्तत्वनिपातन कर विभक्तिकार्य करने से 'प्राह्णेतनः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[4]

करना चाहिये। **अनद्यतने लँङ्** (४२२) आदि सूत्रों में 'अनद्यतन' आदि पाणिनीय प्रयोग भी इस में ज्ञापक हैं।

१. **षो अन्तकर्मणि** (दिवा० परस्मै०) धातु से घञ् प्रत्यय ला कर **आतो युँक् चिण्कृतोः** (७५७) से युँक् का आगम करने से 'साय' शब्द निष्पन्न होता है। यह सायंकाल के अर्थ में रूढ है। **दिनान्ते सायः**—इत्यमरः।

२. **चिर-परुत्-परारिभ्यस्त्नो वक्तव्यः** (वा०)। अर्थः—चिर, परुत् और परारि शब्दों से शैषिक अर्थों में 'त्न' तद्धितप्रत्यय कहना चाहिये। यथा—चिरत्नम् (चिर में होने वाला), परुत्नम् (पिछले वर्ष होने वाला), परारित्नम् (पिछले से पिछले वर्ष होने वाला)। **परुत्परार्यैषमोऽब्दे पूर्वे पूर्वतरे यति** इत्यमरः।

३. प्राह्णशब्दे अहःशब्दस्तदवयवपरः। प्रथमं च तदहः प्राह्णः। **राजाहःसखिभ्यष्टच्** (९५८) इति टच्, **अह्नोऽह्न एतेभ्यः** (५.४.८८) इत्यह्नादेशः, **अह्नोऽदन्तात्** (८.४.७) इति णत्वम्।

४. यहां यह शङ्का उत्पन्न होती है कि **घ-काल-तनेषु कालनाम्नः** (६.३.१६) सूत्र से ही सप्तमी का अलुक् हो कर जब 'प्राह्णेतनः, प्रगेतनः' दोनों सिद्ध हो सकते हैं

'प्रग' शब्द का उदाहरण यथा—

प्रगे भवो जातो वा प्रगेतनः (प्रातःकाल में होने वाला या पैदा हुआ)। यहां 'प्रग ङि' से भव आदि शैषिक अर्थों में प्रकृत **सायंचिरंप्राह्णेप्रगे०** (१०८६) सूत्र से ट्यु या ट्युल् प्रत्यय, सुँब्लुक्, यु को अन आदेश, तुँट् का आगम तथा प्रग को एदन्तत्व निपातन करने से 'प्रगेतनः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। प्रगेतनो विहारः (प्रातःकाल की सैर, Morning Walk)।

कालवाचक अव्यय का उदाहरण यथा—

दोषा भवं दोषातनम् (रात्रि में होने वाला)। यहां रात्रिवाचक 'दोषा' अव्यय से **तत्र भवः** (१०९२) इस शैषिक अर्थ में प्रकृत **सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यः०** (१०८६) सूत्र से ट्यु या ट्युल् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, यु को अन आदेश तथा उसे तुँट् का आगम कर विभक्ति लाने से 'दोषातनम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

(१) दिवा भवं दिवातनम् (दिन में होने वाला)।
(२) श्वो भवं श्वस्तनम् (आगामी कल में होने वाला)।[१]
(३) ह्यो भवं ह्यस्तनम् (गतकल में होने वाला)।
(४) अद्य भवम् अद्यतनम् (आज होने वाला)।
(५) पुरा भवम् पुरातनम् (पूर्वकाल में होने वाला)।
(६) सदा भवः सदातनः (हमेशा होने वाला)।
(७) सना भवः सनातनः (सदा होने वाला)।
(८) अधुना भवः—अधुनातनः (अब होने वाला)।

तो पुनः एदन्तत्वनिपातन का क्या प्रयोजन ? इस का उत्तर यह है कि यदि यहां एदन्तत्व का निपातन नहीं करेंगे तो निम्नस्थ दो दोष प्रसक्त होंगे—

(क) **घकालतनेषु कालनाम्नः** (६.३.१६) सूत्र से वैकल्पिक अलुक् का विधान है अतः अलुक् के अभाव में 'प्राह्णतनः, प्रगतनः' इस प्रकार अनिष्ट रूप भी प्राप्त होंगे।

(ख) प्राह्णः सोढोऽस्य प्राह्णेतनः इत्यादि स्थलों में जहां सप्तमी नहीं होगी वहां एदन्तत्व कैसे आयेगा ?

अतः एदन्तत्व का निपातन करना ही युक्त है।

१. ऐषमस् (इस वर्ष), ह्यस् (बीता कल) और श्वस् (आने वाला कल) इन तीन अव्ययों से **ऐषमोह्यःश्वसोऽन्यतरस्याम्** (४.२.१०४) सूत्रद्वारा शैषिक अर्थों में विकल्प से त्यप् प्रत्यय होता है—ऐषमस्त्यम्, ह्यस्त्यम्, श्वस्त्यम्। त्यप् के अभावपक्ष में ट्यु-ट्युल् प्रत्ययों की प्रवृत्ति होती है—ऐषमस्तनम्, ह्यस्तनम्, श्वस्तनम्।

(९) इदानीं भवः—इदानीन्तनः (अब होने वाला)।[1]

(१०) प्राग्भवः प्राक्तनः (पहले होने वाला)।

(११) प्रातर्भवः प्रातस्तनः (प्रातः होने वाला)।

(१२) ऐषमो भवम् ऐषमस्तनम् (इस वर्ष होने वाला)।

अब शैषिक प्रकरण के अर्थों का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१०८७) तत्र जातः ।४।३।२५।।**

सप्तमीसमर्थाज्जात इत्यर्थेऽणादयो घादयश्च स्युः। स्रुघ्ने जातः स्रौघ्नः। उत्से जात औत्सः। राष्ट्रे जातो राष्ट्रियः। अवारपारे जातः—अवारपारीणः। इत्यादि ।।

अर्थः—सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'उत्पन्न हुआ' इस अर्थ में पूर्वोक्त अण् आदि तथा शैषिकप्रकरणोक्त घ आदि तद्धितप्रत्यय यथासम्भव हों।

व्याख्या—तत्र ।५।१। ('तत्र' यह सप्तम्यन्त का अनुकरण है। इस से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। जातः ।१।१। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** अधिकार से लब्ध)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, समर्थानां प्रथमाद्वा** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तत्र=सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से (जात इत्यर्थे) 'उत्पन्न हुआ, पैदा हुआ' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है।

अण् सामान्य प्रत्यय है। इस के **दित्यदित्यादित्य०** (९९९) और **उत्सादिभ्योऽञ्** (१००२) आदि पूर्वोक्त तथा **राष्ट्रावारपाराद् घखौ** (१०६९) आदि शैषिकप्रकरणोक्त अनेक अपवाद हैं। जहां जिस की प्राप्ति न्याय्य होगी वहां वह प्रत्यय हो जायेगा।

उदाहरण यथा—

स्रुघ्ने जातः स्रौघ्नः (स्रुघ्न[2] में उत्पन्न हुआ)। यहां 'स्रुघ्न ङि' इस सप्तम्यन्त से 'जातः' (पैदा हुआ) इस अर्थ में प्रकृत **तत्र जातः** (१०८७) सूत्र से अण्

---

१. **गता वेदविद्या गतं धर्मशास्त्रं गतं रे गतं रे गतं न्यायसूत्रम्।**
इदानीन्तनानां जनानां प्रवृत्तिः सुबन्ते तिङन्ते कदाचित् कृदन्ते ।।
(सुभाषित)

२. प्राचीन भारत में स्रुघ्न नाम का प्रसिद्ध नगर था। यह स्थान हस्तिनापुर से ४० मील की दूरी पर उत्तरदिशा में स्थित था। यहां से पाटलिपुत्र की दूरी कम से कम एक दिन की बताई जाती थी। यथा—**न हि देवदत्तः स्रुघ्ने सन्निधीयमानस्तदहरेव पाटलिपुत्रे सन्निधीयते। युगपदनेकत्र वृत्तावनेकत्वप्रसङ्गः स्यात्** (वेदान्तदर्शन २.१.१८ पर शाङ्करभाष्य)। विशेषजिज्ञासु इस के लिये डा० प्रभुदयाल अग्निहोत्री के **पतञ्जलिकालीन भारत** नामक ग्रन्थ के पृष्ठ (११८) का अवलोकन करें।

प्रत्यय, तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसंज्ञा, उस के अवयव सुँप् (ङि) का लुक्, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्ति लाने से 'स्रौघ्नः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

उत्से जात औत्सः (उत्स अर्थात् झरने में पैदा हुआ मण्डूक आदि) । यहां 'उत्स ङि' इस सप्तम्यन्त से **तत्र जातः** (१०८७) सूत्र के अर्थ में अण् का बाध कर **उत्सादिभ्योऽञ्** (१००२) द्वारा अञ् प्रत्यय, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि एवं भसंज्ञक अकार का लोप कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'औत्सः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

राष्ट्रे जातो राष्ट्रियः (राष्ट्र में पैदा हुआ) । यहां सप्तम्यन्त राष्ट्रप्रातिपदिक से **तत्र जातः** (१०८७) के अर्थ में अण् का बाध कर **राष्ट्रावारपाराद् घखौ** (१०६९) सूत्र से घप्रत्यय, सुँब्लुक्, **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) से घ प्रत्यय के आदिवर्ण घकार को इय् आदेश एवं भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'राष्ट्रियः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

अवारपारे जातः—अवारपारीणः (वार-पार में उत्पन्न हुआ) । यहां सप्तम्यन्त अवारपारप्रातिपदिक से **तत्र जातः** (१०८७) के अर्थ में अण् का बाध कर **राष्ट्रावारपाराद् घखौ** (१०६९) सूत्र से खप्रत्यय, सुँब्लुक्, **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) से खप्रत्यय के आदिवर्ण खकार को ईन् आदेश एवं **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'अवारपारीणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

'औत्सः' आदि सब प्रयोगों की सिद्धि पीछे यथास्थान दिखा चुके हैं ।

ध्यान रहे कि शैषिकप्रकरण के अर्थ का निर्देश करने वाले **तत्र जातः** (१०८७) आदि सूत्र विधिसूत्र भी हैं। जब **तत्र जातः** (१०८७) आदि के अर्थ में किसी अन्य-सूत्र से कोई प्रत्यय प्राप्त नहीं होता तब इन सूत्रों से अण् प्रत्यय हो जाता है। यथा यहां 'स्रौघ्नः' में अन्य किसी सूत्र से कोई प्रत्यय प्राप्त न था तो अण् प्रत्यय हो गया है ।

अब **तत्र जातः** (१०८७) के अर्थ में प्रावृष्प्रातिपदिक से ठप् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०८८) प्रावृषष्ठप् ।४।३।२६।।

एण्यापवादः । प्रावृषिकः ।।

अर्थः—सप्तम्यन्त प्रावृष् (वर्षाऋतु) प्रातिपदिक से 'जातः' (उत्पन्न हुआ) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ठप् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—प्रावृषः ।५।१। ठप् ।१।१। **तत्र जातः** (१०८७) सूत्र का अनुवर्त्तन होता है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तत्र = सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त (प्रावृषः) प्रावृष् प्रातिपदिक से (जात इत्यर्थे) 'उत्पन्न हुआ' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ठप्) ठप् प्रत्यय होता है ।

ठप् में पकार अनुबन्ध **अनुदात्तौ सुँप्पितौ** (३.१.४) सूत्रद्वारा अनुदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है । ठकारोत्तर अकार उच्चारणार्थ है। ठ् को **ठस्येकः** (१०२७) से इक आदेश हो जायेगा ।

प्रावृष्शब्द से सब प्रकार के शैषिक अर्थों में **प्रावृष एण्यः** (१०८५) सूत्र से एण्यप्रत्यय प्राप्त होता था। यहां पुनः उस का अपवाद ठप् प्रत्यय विधान किया गया है। इस प्रकार 'जातः' अर्थ में प्रावृष्शब्द से ठप् तथा अन्य शैषिक अर्थों में एण्य प्रत्यय हो जायेगा । उदाहरण यथा —

प्रावृषि जातः प्रावृषिकः (वर्षाऋतु में पैदा हुआ) । 'प्रावृष् ङि' से **तत्र जातः** (१०८७) के अर्थ में प्रकृत **प्रावृषष्ठप्** (१०८८) सूत्र से ठप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक् तथा **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को इक आदेश कर विभक्ति लाने से 'प्रावृषिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

अब अन्य शैषिक अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम—(१०८९) प्रायभवः ।४।३।३९।।

तत्रेत्येव । स्रुघ्ने प्रायेण=बाहुल्येन भवति—स्रौघ्नः ।।

अर्थः—सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'प्रायभवः' (प्रायः होने वाला) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक अण् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—प्रायभवः ।१।१। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** अधिकार से लब्ध)। **तत्र जातः** (१०८७) से 'तत्र' पद का अनुवर्त्तन होता है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । प्रायेण (बाहुल्येन) भवतीति प्रायभवः, **कर्तृकरणे कृता बहुलम्** (९२६) इति तृतीयातत्पुरुष इति हरदत्तः । अर्थः—(तत्र= सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से (प्रायभव इत्यर्थे) 'बहुधा होने वाला' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो ।

अण् सामान्य प्रत्यय है, इस के पूर्वोक्त घ आदि अपवाद तो यथास्थान प्रवृत्त होंगे ही । उदाहरण यथा—

स्रुघ्ने प्रायेण भवतीति स्रौघ्नः (स्रुघ्न में बहुधा होने वाला) । यहां 'स्रुघ्न ङि' से 'प्रायभवः' (बहुधा होने वाला) के अर्थ में प्रकृत **प्रायभवः** (१०८९) सूत्र से तद्धितसञ्ज्ञक अण् प्रत्यय हो सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'स्रौघ्नः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[1] इसीप्रकार—

मथुरायां प्रायभवो माथुरः ।

राष्ट्रे प्रायभवो राष्ट्रियः (**राष्ट्रावारपाराद् घखौ** १०६९) ।

---

१. 'प्राय'शब्द का अर्थ है— सम्पूर्ण से कुछ कम । हिन्दी में इसे 'बहुधा' शब्द से प्रकट किया जा सकता है । 'स्रौघ्नो देवदत्तः' का अभिप्राय यह है कि देवदत्त स्रुघ्न में सदा तो नहीं परन्तु उस से कुछ कम अर्थात् बहुधा हुआ करता है। अत एव काशिकावृत्ति में कहा है—**प्रायशब्दः साकल्यस्य किञ्चिन्न्यूनतामाह ।**

महाभाष्य में इस सूत्र का खण्डन किया गया है क्योंकि इस का अर्थ **तत्र भवः** (१०९२) के ही अन्तर्गत हो सकता है। भट्टोजिदीक्षित ने इस के विरुद्ध प्रौढमनोरमा और शब्दकौस्तुभ में इस की आवश्यकता पर बल दिया है।

अब अन्य शैषिक अर्थ का निर्देश करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**१०९०**) **सम्भूते** ।४।३।४१।।

स्रुघ्ने सम्भवति—स्रौघ्नः ।।

अर्थः—सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'सम्भूत' अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो।

व्याख्या—सम्भूते ।७।१। तत्र ।५।१। (**तत्र जातः** सूत्र से)। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** के अधिकार से लब्ध)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं। अर्थः—(तत्र = सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से (सम्भूते) सम्भूत अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है।

अण् सामान्य प्रत्यय है। विशिष्ट स्थानों पर पूर्वोक्त अपवाद प्रत्यय ही प्रवृत्त होंगे। उदाहरण यथा—

स्रुघ्ने सम्भवतीति स्रौघ्नः (स्रुघ्न में जिस के होने की सम्भावना है वह)। यहां 'स्रुघ्न ङि' इस सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से 'सम्भूत' (सम्भव होना) अर्थ में प्रकृत **सम्भूते** (१०९०) सूत्रद्वारा अण् तद्धितप्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'स्रौघ्नः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

सम्पूर्वक भूधातु से **नपुंसके भावे क्तः** (८७०) सूत्रद्वारा भाव में क्तप्रत्यय करने पर 'सम्भूत' शब्द निष्पन्न होता है। यहां 'सम्भूत' के दो अर्थ लिये जाते हैं—(१) सम्भावना, (२) प्रमाणानतिरेक अर्थात् आधेय का आधार के प्रमाण से अधिक न होना। सम्भावना में 'स्रौघ्नः' का अर्थ होगा—स्रुघ्न में जिस के होने की सम्भावना[1] है ऐसा व्यक्ति या पदार्थ। प्रमाणानतिरेक में 'स्रौघ्नः' का अर्थ होगा—स्रुघ्न में जो पूरा समा गया है अर्थात् जिस का प्रमाण स्रुघ्न से अधिक नहीं ऐसा सैन्यवर्ग आदि। प्रक्रियासर्वस्वकार नारायणभट्ट ने प्रमाणानतिरेक अर्थ का एक सुन्दर उदाहरण दिया है—**पञ्जरेऽनतिरिक्तप्रमाणं पाञ्जरं पात्रम्** अर्थात् पिञ्जरे में पूरा समा जाने वाला पात्र।

---

१. जब सन्दिग्धज्ञान में एक ओर को अधिक झुकाव हो तो उसे सम्भावना कहते हैं। सन्दिग्धज्ञान या संशय में दो पक्ष हुआ करते हैं और दोनों पर बराबर का बल रहता है। यथा—अन्धेरे में लकड़ी के किसी खम्भे को देख कर हम यह निश्चय न कर सकें कि यह क्या है खम्भा है कि पुरुष? तो यहां दोनों ज्ञान बराबर हैं। अब यदि कहें कि उस के खम्भा होने की सम्भावना है तो एक प्रकार से सन्दिग्धज्ञान के दो पक्षों में से एक की ओर अधिक झुकाव हुआ है इसी को सम्भावना कहते हैं। सम्भावना सन्देह से कुछ ऊपर और निश्चय से कुछ नीचे होती है। इस में न तो पूरा सन्देह और न ही पूरा निश्चय होता है।

अब सम्भूत अर्थ में 'कोश'प्रातिपदिक से ढञ् तद्धित का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०९१) **कोशाड् ढञ्** ।४।३।४२।।

कौशेयं वस्त्रम् ।।

अर्थः—सप्तम्यन्त 'कोश' प्रातिपदिक से सम्भूत अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ढञ् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—कोशात् ।५।१। ढञ् ।१।१। तत्र ।५।१। (**तत्र जातः** सूत्र से)। सम्भूते ।७।१। (**सम्भूते** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तत्र=सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त (कोशात्) 'कोश'प्रातिपदिक से (सम्भूते) सम्भूत अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ढञ्) ढञ् प्रत्यय हो जाता है ।

ढञ् में ञकार अनुबन्ध आदिवृद्धि के लिये जोड़ा गया है । 'ढ' प्रत्यय के आदि वर्ण ढकार को **आयनेयीनीयियः**० (१०१३) सूत्र से एय् आदेश हो जाता है ।

उदाहरण यथा—

कोशे सम्भवति कौशेयं वस्त्रम् (कोश में सम्भव होने वाला अर्थात् रेशमी वस्त्र)।[1] यहां 'कोश ङि' से सम्भूत अर्थ में प्रकृत **कोशाड् ढञ्** (१०९१) सूत्र से ढञ्

---

१. यहां का भाव ठीक प्रकार से समझने के लिये रेशम की उत्पत्ति का इतिहास समझना अत्यावश्यक है । रेशम एक विशेष प्रकार के कृमि (कीड़े) से उत्पन्न होता है । ये कीड़े अनेक प्रकार के होते हैं जैसे विलायती, मद्रासी, चीनी, अराकानी, आसामी आदि । चीनी कृमि का रेशम सब से अच्छा माना जाता है । ये कीड़े तितली की जाति के माने जाते हैं । अण्डा फूटने पर ये रेंगने लगते हैं । इस अवस्था में ये पत्तियां बहुत खाते हैं । शहतूत की पत्ती इन का सब से प्रिय भोजन है । ये बढ़ कर अपने चहुँ ओर एक कोश तैयार कर लेते हैं और उस कोश के भीतर ये कीड़े एक विशेष प्रकार के तन्तु निकाला करते हैं जिन को रेशम कहते हैं । कोश के भीतर रहने की अवधि जब पूरी हो जाती है तब कीड़ा रेशमयुक्त कोश को काट कर उड़ जाता है । यदि ऐसा हो जाये तो रेशम कट जाने से किसी काम का नहीं रहता । इसलिये कृमि को पालने वाले नियत अवधि से कुछ पूर्व ही कृमि-सहित कोशों को गरम पानी में डाल देते हैं इस से कृमि मर जाते हैं । एक कोश से प्रायः दो तीन सौ गज़ लम्बा रेशम का तन्तु प्राप्त होता है । यह है रेशम की उत्पत्ति का संक्षिप्त इतिहास ।

अब यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि 'कोशे सम्भूतम् कौशेयं वस्त्रम्' यह कैसे कहा जा सकता है ? कोश में तो रेशम होता है वस्त्र नहीं । भगवान् भाष्यकार ने यह सब विचार कर कोशशब्द से विकार अर्थ में ही ढञ् प्रत्यय करने को कहा है, क्योंकि रेशमीवस्त्र कोश का विकार ही हो सकता है । अतः 'कोशस्य विकारः कौशेयम्' ऐसा समुचित विग्रह भाष्य में दिखाया गया है । तब **तस्य विकारः** (१११०) के अधिकार में **एण्या ढञ्** (४.३.१५७) सूत्र के अनन्तर **कोशाच्च** इस

प्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, ढ् को एय्, आदिवृद्धि एवं **यस्येति च** (२३६) द्वारा भसञ्ज्ञक अकार का लोप हो जाता है—कौश् एय् अ = कौशेय। अब विशेष्य (वस्त्रम्) के अनुसार विभक्ति लाने से 'कौशेयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। कौशेयशब्द रेशमीवस्त्र के अर्थ में रूढ है। रूढशब्दों की यथाकथञ्चित् व्युत्पत्ति वा सिद्धि करनी ही अभीष्ट होती है। इस में अव्याप्ति-अतिव्याप्ति आदि दोषों की कल्पना करना उचित नहीं होता।

अब शैषिकप्रकरणस्थ एक अन्य सुप्रसिद्ध अर्थ का निर्देश करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**१०९२**) **तत्र भवः** ।४।३।५३॥

स्रुघ्ने भवः स्रौघ्नः । औत्सः । राष्ट्रियः ॥

अर्थः—सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'भवः' (होने वाला) अर्थ में तद्धित-सञ्ज्ञक अण् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तत्र ।५।१। (यहां सप्तम्यन्त के अनुकरण 'तत्र' शब्द से पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। भवः ।१।१। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** अधिकार से लब्ध)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। भवतीति भवः, पचादेराकृतिगणत्वादच्प्रत्ययः। अर्थः—(तत्र = सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से (भव इत्यर्थे) 'होनेवाला' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है।

यहां 'भवः' से 'होने वाला, पाया जाने वाला' अर्थ ही अभिप्रेत है, 'पैदा होने वाला' नहीं, अन्यथा **तत्र जातः** (१०८७) सूत्र व्यर्थ हो जायेगा।

अण् सामान्य प्रत्यय है, यथासम्भव अपवादप्रत्ययों से इस का बाध होगा।

उदाहरण यथा—

स्रुघ्ने भवः स्रौघ्नः (स्रुघ्न में होने वाला)। यहां 'स्रुघ्न ङि' से **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में अण् तद्धित हो कर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'स्रौघ्नः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

उत्से भव औत्सः (उत्स अर्थात् झरने में होने वाला)। यहां 'उत्स ङि' से **तत्र**

प्रकार का सूत्र बनाया जायेगा। यहां **सम्भूते** (१०९०) के अधिकार में इसे नहीं पढ़ा जायेगा।

परन्तु इस के विपरीत प्राचीन वृत्तिकारों का मन्तव्य है कि सूत्रकार भगवान् पाणिनि ने साङ्ख्यशास्त्र के सत्कार्यवाद (प्रत्येक कार्य अपने कारण में अव्यक्तरूप से अवस्थित रहता है—यह सांख्यशास्त्र का प्रसिद्ध सिद्धान्त है) का आश्रय ले कर ही ऐसा कहा है। रेशमीवस्त्र भी अव्यक्तरूप से अपने कारण तन्तु या कोश में रहता ही है। अतः 'कोशे सम्भूतं कौशेयं वस्त्रम्' ऐसा कहा जा सकता है। प्रक्रियासर्वस्वकार ने यहां अतीवोपयुक्त एक श्लोक लिखा है—

कारणे कार्यसद्भावपक्षात् सम्भूततोच्यते।
विकारे वाच्यमेण्या ढञ् कोशाच्चेत्याह भाष्यकृत् ॥

भवः (१०९२) के अर्थ में प्राप्त अण् का बाध कर **उत्सादिभ्योऽञ्** (१००२) सूत्र से अञ् प्रत्यय करने पर पूर्ववत् 'औत्सः' रूप सिद्ध हो जाता है।

राष्ट्रे भवो राष्ट्रियः (राष्ट्र में होने वाला)। यहां पर 'राष्ट्र ङि' से **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में प्राप्त अण् प्रत्यय का बाध कर **राष्ट्रावारपाराद् घखौ** (१०६९) सूत्र से 'घ' प्रत्यय, 'घ्' को इय् आदेश (१०१३) तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप करने से 'राष्ट्रियः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार—

(१) ग्रामे भवो ग्राम्यो ग्रामीणो वा [**ग्रामाद् यखञौ** (१०७०)]।
(२) नद्यां भवं नादेयं जलम् [**नद्यादिभ्यो ढक्** (१०७१)]।
(३) पश्चाद्भवः पाश्चात्त्यः [**दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक्** (१०७२)]।
(४) स्त्रीषु भवः स्त्रैणः [**स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** (१००३)]।
(५) पुंसु भवः पौंस्नः [**स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** (१००३)]।
(६) बहिर्भवो बाह्यः [**बहिषष्टिलोपो यञ् च** (वा० ६८)]।
(७) मध्ये भवो मध्यमः [**मध्यान्मः** (१०८३)]।
(८) प्रावृषि भवः प्रावृषेण्यः [**प्रावृष एण्यः** (१०८५)]।
(९) चिरे भवश्चिरन्तनः [**सायंचिरं०** (१०८६)]।
(१०) काले भवः कालिकः [**कालाट्ठञ्** (१०८४)]।

अब **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में यत् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०९३) दिगादिभ्यो यत् ।४।३।५४॥

दिश्यम्। वर्ग्यम् ॥

अर्थः—दिश् आदि सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से 'भवः' (होने वाला) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो।

व्याख्या—दिगादिभ्यः ।५।३। यत् ।१।१। **तत्र भवः** (१०९२) सूत्र की अनुवृत्ति आती है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। दिक् (दिश्शब्दः) आदिर्येषान्ते दिगादयः, तेभ्यः = दिगादिभ्यः। तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहि-समासः। अर्थः—(तत्र = सप्तम्यन्तेभ्यः) सप्तम्यन्त (दिगादिभ्यः) दिश् आदि प्रातिपदिकों से (भव इत्यर्थे) 'होने वाला' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (यत्) यत् प्रत्यय होता है।

दिश् आदि एक गण है।[1] यत् प्रत्यय में तकार अनुबन्ध स्वरार्थ जोड़ा गया है। यह सूत्र सामान्यप्राप्त अण् प्रत्यय का अपवाद है। उदाहरण यथा—

---

१. दिगादिगण यथा—
दिश्। वर्ग। पूग। गण। पक्ष। धाय्य (धाय्या का.)। मित्र। मेधा। अन्तर। पथिन्। रहस्। अलीक। उखा। साक्षिन्। देश। आदि। अन्त। मुख। जघन। मेघ। यूथ। उदकात्संज्ञायाम् (ग. सूत्रम्)। न्याय। वंश। वेश (विश का.)। काल। आकाश। अनुवंश। अप्॥

दिशि भवं दिश्यम् (दिशा में होने वाला)। यहां 'दिश् ङि' से **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में **दिगादिभ्यो यत्** (१०९३) सूत्र से यत् प्रत्यय हो कर विभक्तिकार्य करने से 'दिश्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

वर्गे भवं वर्ग्यम् (समूह में होने वाला)। यहां सप्तम्यन्त 'वर्ग' प्रातिपदिक से 'भवः' (होने वाला) अर्थ में **दिगादिभ्यो यत्** (१०९३) इस प्रकृतसूत्र से यत् तद्धित प्रत्यय हो कर **यस्येति च** (२३६) सूत्रद्वारा भसञ्ज्ञक अकार का लोप तथा अन्त में विभक्तिकार्य करने पर 'वर्ग्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। **वर्ग्यो वर्ग्येण सवर्णः** (शिक्षासूत्र ६.१०)।

इस के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) आदौ भवः—आद्यः।
(२) अन्ते भवः—अन्त्यः।
(३) वंशे भवः—वंश्यः।[1]
(४) यूथे भवः—यूथ्यः।
(५) पक्षे भवः—पक्ष्यः।
(६) गणे भवः—गण्यः।
(७) अन्तरे भवः—अन्तर्यः।
(८) रहसि भवम्—रहस्यम्।
(९) वने भवः—वन्यः।[2]
(१०) आकाशे भवः—आकाश्यः शब्दः।

अब शरीरावयववाची शब्दों से भी भव अर्थ में इसी यत् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१०९४) शरीरावयवाच्च ।४।३।५५।।**

दन्त्यम्। कण्ठ्यम्॥

अर्थः—शरीर के अवयववाचक सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से भी 'भवः' (होने वाला) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो।

व्याख्या—शरीरावयवात् ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। **तत्र भवः** (१०९२) का

१. राज्ञो वंश्यः—राजवंश्यः। षष्ठीतत्पुरुषः। राजवंशशब्दात्तु **वृद्धाच्छः** (१०७७) इति छप्रत्यये राजवंशीय इति।

२. यद्यपि अद्यत्वे दिगादियों में वनशब्द का पाठ नहीं देखा जाता तथापि इस से भव अर्थ में यत् प्रत्यय बहुत प्रसिद्ध है। **वन्यान् विनेष्यन्निव दुष्टसत्त्वान्** (रघु० २.८) इत्यादि अनेक प्रयोग संस्कृतसाहित्य में देखे जाते हैं। नारायणभट्ट ने अपने प्रक्रियासर्वस्वग्रन्थ में **दिगादिषदन्येभ्योऽपि दृश्यत इति स्वामी** इस प्रकार किसी स्वामी का उल्लेख कर के 'वने भवं वन्यम्, बीज्यम्' ये दो उदाहरण दिये हैं। पुरुषोत्तमदेव ने भी अपनी भाषावृत्ति में इसी सूत्र पर 'वन्यम्' उदाहरण लिखा है। वर्धमान ने गणरत्नमहोदधिग्रन्थ में दिगादिगण में वनशब्द का भी उल्लेख किया है।

अनुवर्त्तन होता है । यत् ।१।१। **दिगादिभ्यो यत्** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववतः अधिकृत हैं। शरीरस्य अवयवः शरीरावयवः, तस्मात् = शरीरावयवात् । षष्ठीतत्पुरुषसमासः । अर्थः—(शरीरावयवात्) शरीर के अवयववाची (तत्र = सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से (च) भी (भव इत्यर्थे) 'होने वाला' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (यत्) यत् प्रत्यय हो जाता है ।

यह सूत्र भी **तत्र भवः** (१०९२) द्वारा सामान्यतः प्राप्त अण् प्रत्यय का अपवाद है । उदाहरण यथा—

दन्तेषु भवं दन्त्यम् (दान्तों में होने वाला मल आदि कुछ भी) । दन्त शरीर का अवयव हैं अतः 'दन्त सुप्' इस सप्तम्यन्त से **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में प्रकृत **शरीरावयवाच्च** (१०९४) सूत्र से यत् प्रत्यय, सुँब्लुक् तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'दन्त्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

कण्ठे भवं कण्ठ्यम् (कण्ठ में होने वाला) । यहां 'कण्ठ ङि' से यत् प्रत्यय किया गया है । सम्पूर्ण प्रक्रिया पूर्ववत् होती है ।

इसीप्रकार—

(१) कर्णे भवम्—कर्ण्यम् (कान में होने वाला) ।
(२) ओष्ठे भवम्—ओष्ठ्यम् (ओष्ठ में होने वाला) ।
(३) उरसि भवम्—उरस्यम् (छाती में होने वाला) ।
(४) मुखे भवम्—मुख्यम् (मुख में होने वाला) ।
(५) जघने भवम्—जघन्यम्[1] (जघन में होने वाला) ।
(६) तालुनि भवम्—तालव्यम्[2] (तालु में होने वाला) ।
(७) मूर्धनि भवम्—मूर्धन्यम्[3] (मूर्धा में होने वाला) ।
(८) चक्षुषि भवम्—चक्षुष्यम्[4] (आंख में होने वाला) ।

अब ठञ्विधायक एक वार्त्तिक का निर्देश करते हैं—

[लघु०] वा०—(८६) अध्यात्मादेष्ठञ् इष्यते ॥

अध्यात्मं भवम् आध्यात्मिकम् ॥

---

१. दिगादिगण में भी मुख और जघन शब्द पढ़े गये हैं । मुख और जघन यदि शरीरावयववाची हों तो प्रकृत **शरीरावयवाच्च** (१०९४) सूत्र से यत् होगा, अन्यत्र दिगादित्वात् यत् माना जायेगा । शरीरावयववाची न होने के उदाहरण —सेनाया मुखे जघने च भवं मुख्यं जघन्यम् ।

२. **ओर्गुणः** (१००५) इति गुणे **वान्तो यि प्रत्यये** (२४) इत्योकारस्य अवादेशः ।

३. 'मूर्धन् + य' इत्यत्र **नस्तद्धिते** (९१९) इति टेर्लोपे प्राप्ते **ये चाऽभावकर्मणोः** (१०२३) इति प्रकृतिभावः ।

४. 'चक्षुष् + य' इत्यत्र **यचि भम्** (१६५) इति भत्वात्सस्य रुँत्वं न ।

अर्थः—अध्यातम आदि सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से 'भवः' (होने वाला) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ठञ् प्रत्यय करना अभीष्ट है ।

व्याख्या—अध्यात्मादेः ।५।१। ठञ् ।१।१। इष्यते इति इष्धातोः कर्मणि लँटि प्रथमपुरुषैकवचनान्तं रूपम् । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अध्यात्मशब्द आदिर्यस्य सोऽध्यात्मादिः, तस्मात् = अध्यात्मादेः । तद्गुण-संविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । अध्यात्मादिगण में भाष्यकार ने तीन शब्द गिनाये हैं—अध्यात्म, अधिदेव, अधिभूत । परन्तु इन को निदर्शनार्थ मानते हुए विद्वानों ने अध्यात्मादियों को आकृतिगण माना है । जहां 'भवः' अर्थ में ठञ् प्रत्यय का प्रयोग तो हो परन्तु उस का विधायक कोई सूत्र या वचन न हो तो उसे अध्यात्मादियों के अन्तर्गत समझना चाहिये ।

ठञ् का ञकार इत् हो कर लुप्त हो जाता है । **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को इक आदेश हो जाता है । ञकार अनुबन्ध आदिवृद्धि के लिये जोड़ा गया है ।

अध्यात्मशब्द विभक्त्यर्थ में 'अधि' और 'आत्मन्' शब्दों के अव्ययीभावसमास से निष्पन्न हुआ है । आत्मनि इति अध्यात्मम् । **अनश्च** (९१८) इति समासान्ते टचि, **नस्तद्धिते** (९१९) इति टेर्लोपः । ततः सोरमादेशः । अध्यात्मशब्द की विस्तृत सिद्धि पीछे समासप्रकरणस्थ (९१९) सूत्र पर दर्शाई जा चुकी है ।

अध्यात्मम् (अध्यात्मे वा)[1] भवम् आध्यात्मिकम् (आत्मा में होने वाला) । यहां सप्तम्यन्त 'अध्यात्म ङि'[2] से 'भवः' (होने वाला) अर्थ में प्रकृत **अध्यात्मादेष्ठञिष्यते** (वा० ८६) वार्त्तिक से तद्धित ठञ् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को इक आदेश, **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'आध्यात्मिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

अध्यात्मादियों के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) अमुत्र भवम् आमुत्रिकम् (वहां अर्थात् परलोक में होने वाला) ।

(२) इह भवम् ऐहिकम् (यहां अर्थात् इस लोक में होने वाला) ।

(३) शेषे भवाः शैषिकाः प्रत्ययाः ।

---

१. अव्यय होते हुए भी अदन्त अव्ययीभावसमास से परे सप्तमी का लुक् नहीं होता बल्कि उस के स्थान पर बहुल (विकल्प) से अम् आदेश हो जाता है, अध्यात्मम् अध्यात्मे वा । (देखें **तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्** ९१३ सूत्र की व्याख्या) ।

२. विभक्त्यर्थ में समास होने के कारण 'अध्यात्म' शब्द अधिकरणशक्तिप्रधान है अतः इस से पुनः अधिकरण में सप्तमी का लाना कुछ उचित प्रतीत नहीं होता । परन्तु यहां सप्तम्यन्त से ही तद्धित की उत्पत्ति कही गई है अतः इस विधानसामर्थ्य से ही सप्तमी लाई जाती है । अथवा सप्तमी लाने के बिना ही यथाकथञ्चित् तद्धितोत्पत्ति कर लेनी चाहिये ।

double वृद्धि (८७)

(४) त्रिषु वर्णेषु भवः त्रैवर्णिको धर्मः ।[1]

(५) चतुर्षु अर्थेषु भवाः चातुरर्थिकाः प्रत्ययाः ।

(६) स्वभावे भवः स्वाभाविको गुणः ।[2]

(७) स्वार्थे भवाः स्वार्थिकाः प्रत्ययाः ।

(८) क्वचिद् भवं क्वाचित्कम् (**इसुसुक्तान्तात्कः** १०५२) ।

(९) कदाचिद् भवं कादाचित्कम् (**इसुसुक्तान्तात्कः** १०५२) ।

(१०) ऊर्ध्वदेहे भवम् और्ध्वदेहिकं कर्म (देह के बाद का कर्म) ।[3]

(११) समाने भवः सामानिकः (समान में होने वाला) ।

(१२) समानग्रामे भवः सामानग्रामिकः ।

(१३) समानदेशे भवः सामानदेशिकः ।

अध्यात्मादियों के कुछ उदाहरणों में उभयपदवृद्धि हुआ करती है । उसे दर्शाने के लिये उभयपदवृद्धिविधायक सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०९५) अनुशतिकादीनां च ।७।३।२०।।

एषामुभयपदवृद्धिर्ञिति णिति किति च । आधिदैविकम् । आधिभौतिकम् । ऐहलौकिकम् । पारलौकिकम् । आकृतिगणोऽयम् ।।

अर्थः—ञित् णित् या कित् तद्धित के परे रहते अनुशतिक आदि गणपठित शब्दों के दोनों पदों के आदि अच् के स्थान पर वृद्धि हो ।

व्याख्या—अनुशतिकादीनाम् ।६।३। च इत्यव्ययपदम् । पूर्वपदस्य ।६।१। (**हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च** सूत्र से) । उत्तरपदस्य ।६।१। (यह अधिकृत है) । अचाम् ।६।३। आदेः ।६।१। (**तद्धितेष्वचामादेः** से) । वृद्धिः ।१।१। (**मृजेर्वृद्धिः** सूत्र से) । ञ्णिति ।७।१। (**अचो ञ्णिति** सूत्र से) । किति ।७।१। (**किति च** सूत्र से) । तद्धिते ।७।१। (**तद्धितेष्वचामादेः** से वचनविपरिणामद्वारा) । अनुशतिकः (अनुशतिकशब्दः) आदिर्येषान्ते=अनुशतिकादयः, तेषाम्=अनुशतिकादीनाम्, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(अनुशतिकादीनाम्) अनुशतिक आदि शब्दों के (पूर्वपदस्य उत्तरपदस्य च) पूर्वपद तथा उत्तरपद दोनों के (अचाम् आदेः) अचों में जो आदि अच् उस के स्थान पर (वृद्धिः) वृद्धि आदेश हो (ञ्णिति किति तद्धिते) ञित् णित् या कित् तद्धित प्रत्यय के परे होने पर ।

---

१. 'त्रैवर्णिक' तथा 'चातुरर्थिक' में तद्धितार्थ की विवक्षा में **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३६) सूत्रद्वारा समास हो कर तद्धित की उत्पत्ति होती है ।

२. स्वशब्द यद्यपि द्वारादियों में पढ़ा गया है तथापि भाष्यकार के प्रयोग (१.१.२७ सूत्रस्थ) के कारण यहां **द्वारादीनां च** (७.३.४) सूत्र से 'स्व' के वकार से पूर्व ऐच् का आगम नहीं होता ।

३. देहादूर्ध्वम् ऊर्ध्वदेहः, तस्मिन्=ऊर्ध्वदेहे । यहां सुँप्सुँपासमास में राजदन्तादियों को आकृतिगण मान कर **राजदन्तादिषु परम्** (९८६) सूत्रद्वारा 'देह' शब्द का परनिपात हो जाता है ।

अनुशतिकादि एक गण है ।[1] इस गण में समस्त (समास किये गये) शब्द पढ़े गये हैं । **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) एवं **किति च** (१००१) सूत्रों द्वारा इन शब्दों में केवल आदि अच् के स्थान पर वृद्धि प्राप्त होती थी जो केवल प्रथमपद में ही सम्भव थी, परन्तु हमें यहां दोनों पदों में ही वृद्धि करनी अभीष्ट है अतः प्रकृतसूत्र से उस का विधान किया गया है । उदाहरण यथा—

अनुशतिकस्येदम् आनुशातिकम् (अनुशतिक नामक व्यक्ति की यह वस्तु) । यहां 'अनुशतिक ङस्' से **तस्येदम्** (११०९) इस शैषिक अर्थ में अण् प्रत्यय हो कर सुँप् (ङस्) का लुक् कर देने से 'अनुशतिक+अ' हुआ । अनुशतिकशब्द में 'अनु' पूर्वपद तथा 'शतिक' उत्तरपद है अतः **अनुशतिकादीनां च** (१०९५) सूत्र से दोनों पदों के आदि अच् अकार को आकार वृद्धि कर विभक्ति लाने से 'आनुशातिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

प्रकृत में उदाहरण यथा—

देवेषु इत्यधिदेवम्, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावसमासः । अधिदेवम् (अधिदेवे वा) भवम् आधिदैविकम् (देवों में होने वाला) । यहां 'अधिदेव ङि' से **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में **अध्यात्मादेष्ठञिष्यते** (वा० ८६) इस वार्त्तिक से ठञ् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, प्रातिपदिकसंज्ञा तथा प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (ङि) का लुक् कर **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को इक आदेश हो जाता है—अधिदेव+इक । अनुशतिकादि आकृतिगण है अतः अधिदेवशब्द को भी अनुशतिकादियों में मान ञित् तद्धित के परे रहते **अनुशतिकादीनां च** (१०९५) से दोनों (अधि और देव) पदों के आदि अच् को वृद्धि कर **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप और अन्त में विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'आधिदैविकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

भूतेषु इत्यधिभूतम्, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावसमासः । अधिभूतम् (अधिभूते वा) भवम् आधिभौतिकम् (पृथ्व्यादि भूतों में होने वाला) । यहां भी पूर्ववत् अधिभूतशब्द से अध्यात्मादित्वात् ठञ्, ठ् को इक आदेश तथा **अनुशतिकादीनां च** (१०९५) से दोनों पदों में आदि अच् के स्थान पर वृद्धि कर विभक्ति लाने से 'आधिभौतिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

---

१. अनुशतिकादिगण यथा—
अनुशतिक । अनुहोड । अनुसंवरण (अनुसंचरण) । अनुसंवत्सर । अङ्गारवेणु । असिहत्य (अस्यहत्य, अस्यहेति) । वध्योग । पुष्करसद् । अनुहरत् । कुरुकत । कुरुपञ्चाल । उदकशुद्ध । इहलोक । परलोक । सर्वलोक । सर्वपुरुष । सर्वभूमि । प्रयोग । परस्त्री । **राजपुरुषात् ष्यञि** (गणसूत्रम्) । सूत्रनड । आकृतिगणः [तेन— अभिगम, अधिभूत, अधिदेव, चतुर्विद्या, सुखशयन, शतकुम्भ, परदर इत्यादयो गृह्यन्ते] ।

तत्र भव (ह्) (इय)

इहलोके[1] भवम् ऐहलौकिकम् (इस लोक में होने वाला)। यहां 'इहलोक ङि' से **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में **अध्यात्मादेष्ठञिष्यते** (वा० ८६) द्वारा ठञ् प्रत्यय, सुँब्लुक्, ठ् को इक आदेश, **अनुशतिकादीनाञ्च** (१०९५) से उभयपदवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) द्वारा भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'ऐहलौकिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

आकृतिगणोऽयम्। यह अनुशतिकादिगण आकृतिगण है। अर्थात् जिन शब्दों में उभयपदवृद्धि देखी जाये और उस के लिये कोई विधायकवचन न हो तो उन शब्दों को अनुशतिकादिगणान्तर्गत समझना चाहिये।

अनुशतिकादि में उभयपदवृद्धि के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) प्रयोगे भवः प्रायौगिकः (अध्यात्मादित्वात् ठञ्)।

(२) उदकशुद्धस्यापत्यम् औदकशौद्धिः (**अत इञ् १०१४**)।

(३) पुष्करसदोऽपत्यम् पौष्करसादिः [**बाह्वादिभ्यश्च** (१०१५) इतीञ्]।

(४) अनुहरतोऽपत्यम् आनुहारतिः [**बाह्वादिभ्यश्चेतीञ्**]।

(५) सर्वपुरुषस्येदं सार्वपौरुषम् [**तस्येदम्** (११०९) इत्यण्]।

(६) शतकुम्भे (तन्नामके पर्वते) भवं शातकौम्भम् (**तत्र भव** इत्यण्)।

(७) सर्वभूमेरीश्वरः सार्वभौमः [**तस्येश्वरः** (११४५) इत्यण्]।

अब **शरीरावयवाच्च** (१०९४) का अपवाद कहते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१०९६) जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः ।४।३।६२।।**

जिह्वामूलीयम्। अङ्गुलीयम्॥

अर्थः—जिह्वामूल और अङ्गुलि इन दो सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में तद्धितसंज्ञक छ प्रत्यय हो।

व्याख्या—जिह्वामूलाङ्गुलेः ।५।१। छः ।१।१। **तत्र भवः** (१०९२) का अनुवर्त्तन हो रहा है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। जिह्वामूलं च अङ्गुलिश्च जिह्वामूलाङ्गुलि, तस्मात् = जिह्वामूलाङ्गुलेः, समाहारद्वन्द्वेऽपि सौत्रं पुंस्त्वम्। अर्थः—(तत्र = सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त (जिह्वामूलाङ्गुलेः) जिह्वामूल तथा अङ्गुलि इन दो प्रातिपदिकों से (भव इत्यर्थे) 'होने वाला' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (छः) 'छ' प्रत्यय हो जाता है।

जिह्वामूल तथा अङ्गुलि दोनों शरीरावयव हैं अतः **शरीरावयवाच्च** (१०९४)

---

१. 'इहलोके' में कर्मधारयसमास है—इह लोके—इहलोके। 'इह लोकः—इहलोकः' इस प्रकार के विग्रह में 'इह' और 'लोकः' का सामानाधिकरण्य सुसंगत नहीं होता क्योंकि 'इह' अधिकरणशक्तिप्रधान अव्यय है। गणरत्नमहोदधिकार ने यहां 'गणपाठसामर्थ्यात् प्रथमार्थे हप्रत्ययः' ऐसा लिखा है। परन्तु व्याकरण में ऐसा कोई वचन नहीं जो प्रथमार्थ में 'ह' प्रत्यय का विधान करता हो। **इदमो हः** (१२०५) सूत्र सप्तम्यन्त से ही स्वार्थ में 'ह' प्रत्यय का विधान करता है।

सूत्रद्वारा 'भव' अर्थ में इन से यत् प्रत्यय प्राप्त होता था, यह सूत्र उस का अपवाद है।

उदाहरण यथा—

जिह्वामूले भवं जिह्वामूलीयम् (जिह्वा के मूल में होने वाला)। यहां 'जिह्वामूल ङि' से **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में **शरीरावयवाच्च** (१०९४) सूत्रद्वारा प्राप्त यत् प्रत्यय का बाध कर प्रकृत **जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः** (१०९६) सूत्र से 'छ' प्रत्यय, सुँब्लुक्, प्रत्यय के आदि वर्ण छकार को **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) से ईय् आदेश तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'जिह्वामूलीयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

अङ्गुल्यां भवम् अङ्गुलीयम् (अङ्गुलि में होने वाला भूषण, अङ्गूठी)। यहां 'अङ्गुलि ङि' से भव अर्थ में यत् का बाध कर प्रकृतसूत्र **जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः** (१०९४) से छ प्रत्यय, सुँब्लुक्, छ को ईय् तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक इकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'अङ्गुलीयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[2]

अग्रिमसूत्र से इसी अर्थ में पुनः छप्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१०९७) वर्गान्ताच्च ।४।३।६३।।

कवर्गीयम् ।।

अर्थः—'वर्ग' शब्द जिस के अन्त में हो ऐसे सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से परे **भी** 'भवः' (होने वाला) अर्थ में तद्धितसंज्ञक 'छ' प्रत्यय हो।

व्याख्या—वर्गान्तात् ।५।१। च इत्यव्ययपदम् । छः ।१।१। (**जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः** सूत्र से)। **तत्र भवः** (१०९२) सूत्र का अनुवर्त्तन हो रहा है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—वर्गशब्दोऽन्तः (अन्तावयवः) यस्य स वर्गान्तः, तस्मात्=वर्गान्तात्। बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(तत्र=सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त (वर्गान्तात्) वर्गशब्दान्त प्रातिपदिक से परे (च) भी (भव इत्यर्थे) 'होने वाला' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (छः) 'छ' प्रत्यय हो जाता है। यह सूत्र सामान्यतः प्राप्त अण् का अपवाद है। उदाहरण यथा—

कवर्गे[3] भवं कवर्गीयम् (कवर्ग में होने वाला)। यहां 'कवर्ग ङि' से **तत्र भवः**

---

१. ⁀क⁀ ख इति कखाभ्यां प्रागर्धविसर्गसदृशो जिह्वामूलीयः। जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम् इति सञ्ज्ञाप्रकरणे वरदराजः।

२. रत्नाङ्गुलीयप्रभवानुविद्धान् उदीरयामास सलीलमक्षान्। (रघु० ६.१८)
अङ्गुलीयमेव अङ्गुलीयकम्, स्वार्थे कन्। प्रयोगो यथा—
इदं मैथिल्यभिज्ञानं काकुत्स्थस्याङ्गुलीयकम्।
भवत्याः स्मरताऽत्यर्थमर्पितं सादरं मम ।। (भट्टि० ८.११८)
अङ्गुलीयकमूर्मिका इत्यमरः।

३. कघटितो वर्गः कवर्गः। अथवा—कादिर्वर्गः कवर्गः। उभयत्र शाकपार्थिवादित्वात्समासः।

तत आगतः अण्

(१०९२) के अर्थ में सामान्यतः प्राप्त अण् प्रत्यय का बाध कर प्रकृत **वर्गान्ताच्च** (१०९७) सूत्र से छप्रत्यय, सुँब्लुक्, छप्रत्यय के आदि वर्ण छकार को **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) से ईय् आदेश एवं **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'कवर्गीयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार---चवर्गे भवं चवर्गीयम्। टवर्गे भवं टवर्गीयम्। तवर्गे भवं तवर्गीयम्। पवर्गे भवं पवर्गीयम्।[1]

अब एक अन्य सुप्रसिद्ध शैषिक अर्थ का निर्देश करते हैं---

[लघु०] विधि-सूत्रम्---(१०९८) तत आगतः ।४।३।७४॥

स्रुघ्नाद् आगतः स्रौघ्नः ॥

अर्थः---पञ्चम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'आगतः' (आया हुआ) इस अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो।

व्याख्या---ततः ।५।१। (यहां पञ्चम्यन्त के अनुकरण 'ततः' शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। आगतः ।१।१। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः---(ततः=पञ्चम्यन्तात्) पञ्चम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से (आगत इत्यर्थे) 'आया हुआ' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है।

अण् सामान्य प्रत्यय है। इस के पूर्वोक्त अपवाद भी यथास्थान प्रवृत्त होंगे।

उदाहरण यथा---

स्रुघ्नाद् आगतः स्रौघ्नः (स्रुघ्न से आया हुआ)। यहां 'स्रुघ्न ङसिँ' इस पञ्चम्यन्त प्रातिपदिक से **तत आगतः** (१०९८) सूत्रद्वारा 'आगतः' (आया हुआ) के अर्थ में तद्धित-सञ्ज्ञक अण् प्रत्यय हो कर प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (ङसिँ) का लुक् (७२१) तथा **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदिवृद्धि करने पर 'स्रौघ्न+अ' हुआ। अब **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'स्रौघ्नः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार---

(१) मथुराया आगतो माथुरः [तत आगतः (१०९८) इत्यण्]।

(२) राष्ट्राद् आगतो राष्ट्रियः [राष्ट्रावारपाराद् घखौ (१०५९) इति घः]।

(३) अवारपारादागतोऽवारपारीणः [(१०६९) इति खः]।

---

१. यदि शब्दभिन्न कोई अन्य वाच्य हो तो **अशब्दे यत्खावन्यतरस्याम्** (४.३.६४) सूत्र-द्वारा वर्गान्त प्रातिपदिक से **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में यत्, ख और छ कोई भी प्रत्यय हो सकता है। यथा---
तृतीयवर्ग्यः (यत्), तृतीयवर्गीणः (ख), तृतीयवर्गीयः (छ) वाऽयं छात्रः। इसीप्रकार---मद्वर्ग्यः, मद्वर्गीणः, मद्वर्गीयः। इत्यादि।

ठक् (ठक्)

(४) ग्रामादागतो ग्राम्यो ग्रामीणो वा [**ग्रामाद् यखञौ** (१०७०)]।

(५) नद्या आगतो नादेयः [**नद्यादिभ्यो ढक्** (१०७१)]।

(६) स्त्रीभ्य आगतः स्त्रैणः [**स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** (१००३)]।

(७) पुम्भ्य आगतः पौंस्नः [१००३]।

(८) उत्साद् आगत औत्सः [**उत्सादिभ्योऽञ्** (१००२)]।

(९) देवाद् आगतं दैव्यं दैवं वा [**देवाद् यञञौ** (वा० ६७)]।

(१०) बहिरागतो बाह्यः [**बहिषष्टिलोपो यञ् च** (वा० ६८)]।

(११) गोरागतं गव्यम् [**गोरजादिप्रसङ्गे यत्** (वा० ७०)]।

अब **तत आगतः** (१०९८) के अर्थ में अपवाद प्रत्ययों का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(**१०९९**) **ठगायस्थानेभ्यः ।४।३।७५।।**

शुल्कशालाया आगतः शौल्कशालिकः ।।

अर्थः—आयस्थान (आमदनी के स्थान) के वाचक पञ्चम्यन्त प्रातिपदिकों से 'आगतः' के अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ठक् प्रत्यय हो।

व्याख्या—ठक् ।१।१। आयस्थानेभ्यः ।५।३। **तत आगतः** (१०९८) सूत्र का अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। आयस्य स्थानानि आयस्थानानि, तेभ्यः=आयस्थानेभ्यः, षष्ठीतत्पुरुषः। आयस्थानवाचिभ्य इत्यर्थः। अर्थः—(ततः=पञ्चम्यन्तेभ्यः) पञ्चम्यन्त (आयस्थानेभ्यः) आयस्थान के वाचक प्रातिपदिकों से (आगत इत्यर्थे) 'आगतः' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय हो जाता है।

आमदनी के स्थानों को आयस्थान कहते हैं। यथा शुल्कशाला (चुंगीघर) से राजा को आय (आमदनी) होती है, आपण (दुकान) से वणिक् आदि को आय होती है तो ये शुल्कशाला और आपण आदि आयस्थान माने जाते हैं।

ठक् में ककार अनुबन्ध है जो **किति च** (१००१) द्वारा आदिवृद्धि करने के लिये जोड़ा गया है। ठकारोत्तर अकार उच्चारणार्थ है। अवशिष्ट 'ठ्' के स्थान पर **ठस्येकः** (१०२७) सूत्र से 'इक' आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—

शुल्कशालाया आगतः शौल्कशालिकः (चुंगीघर से आया हुआ)। यहां 'शुल्कशाला ङसिँ' से 'आगतः' के अर्थ में प्रकृत **ठगायस्थानेभ्यः** (१०९९) सूत्र से ठक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को इक आदेश, **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि एवं **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'शौल्कशालिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—आपणाद् आगत आपणिकः (दुकान से आया हुआ)। आकराद् आगत आकरिकः (खान से आया हुआ)।[1]

नोट—'ठगायस्थानेभ्यः' सूत्र के स्थान पर 'ठगायस्थानात्' सूत्र बनाया जा

---

१. वृद्धाच्छं परत्वाद् बाधते।

वुञ् (अक)

सकता था परन्तु मन्दबुद्धि छात्र कहीं 'आयस्थान' शब्द से ही ठक् प्रत्यय का विधान न समझ लें इसलिये सूत्र में बहुवचन का प्रयोग किया गया है। **बहुवचनं स्वरूपविधिनिरासार्थम्** इति काशिका।

अब **तत आगतः** (१०९८) के विषय में अपवादप्रत्यय वुन् का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११००)

विद्या-योनि-सम्बन्धेभ्यो वुञ् ।४।३।७७।।

औपाध्यायकः । पैतामहकः ।।

अर्थः—विद्याकृतसम्बन्ध वाले या योनिकृतसम्बन्ध वाले पञ्चम्यन्त प्रातिपदिकों से **तत आगतः** (१०९८) के अर्थ में तद्धितसंज्ञक वुञ् प्रत्यय हो।

व्याख्या—विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः ।५।३। वुञ् ।१।१। **तत आगतः** (१०९८) सूत्र का अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—विद्या शिक्षाग्रहणम्, योनिर्जन्म। विद्या च योनिश्च विद्यायोनी, तत्कृतः सम्बन्धो येषां ते विद्यायोनिसम्बन्धाः, तेभ्यः = विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः। द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः) विद्याकृतसम्बन्धोंवाले अथवा जन्मकृतसम्बन्धोंवाले (ततः = पञ्चम्यन्तेभ्यः) पञ्चम्यन्त प्रातिपदिकों से (आगत इत्यर्थे) 'आया हुआ' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (वुञ्) वुञ् प्रत्यय हो जाता है।

उपाध्याय, आचार्य, शिष्य आदि विद्याकृतसम्बन्धवाले प्रातिपदिक हैं। माता, पिता, पितामह, मातामह, मातुल, भ्रातृ, स्वसृ आदि जन्मकृतसम्बन्धवाले प्रातिपदिक हैं।

वुञ् में ञकार अनुबन्ध आदिवृद्धि एवं स्वर के लिये जोड़ा गया है। 'वु' को **युवोरनाकौ** (७८५) सूत्र से 'अक' आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—

उपाध्यायादागत औपाध्यायकः (उपाध्याय से आया हुआ ग्रन्थ, विचार आदि कुछ भी)। यहां 'उपाध्याय ङसिँ' इस विद्याकृतसम्बन्धवाले पञ्चम्यन्त प्रातिपदिक से 'आगतः' (आया हुआ) अर्थ में **विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यो वुञ्** (११००) सूत्र से वुञ् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, वु को अक आदेश, आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने पर 'औपाध्यायकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

पितामहादागतः पैतामहकः (दादा से आया हुआ)। यहां 'पितामह ङसिँ' इस जन्मकृतसम्बन्धवाले पञ्चम्यन्त प्रातिपदिक से 'आगतः' अर्थ में **विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यो वुञ्** (११००) सूत्र से वुञ्, सुँब्लुक्, वु को अक, आदिवृद्धि तथा भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'पैतामहकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

आचार्यादागत आचार्यकः। (वृद्धाच्छं परत्वाद् बाधते)।

शिष्यादागतः शैष्यकः ।

मातुलादागतो मातुलकः । (वृद्धाच्छं परत्वाद् बाधते) ।

नोट—मातृ, पितृ, भ्रातृ, स्वसृ, दुहितृ आदि जन्मकृतसम्बन्धवाले ऋदन्त प्रातिपदिकों से **ऋतष्ठञ्** (४.३.७८) सूत्रद्वारा 'आगतः' अर्थ में ठञ् प्रत्यय हो कर **इसुसुक्तान्तात्कः** (१०५२) से ठ् को 'क' आदेश हो जाता है । यथा—मातुरागतं मातृकम् । पितुरागतं पैतृकम् ।[1] भ्रातुरागतं भ्रातृकम् । स्वसुरागतं स्वासृकम् आदि ।

अब **तत आगतः** (१०९८) के अर्थ में रूप्यप्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११०१)

हेतु-मनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः ।४।३।८१।

समादागतं समरूप्यम् । विषमरूप्यम् । पक्षे गहादित्वाच्छः—समीयम् । विषमीयम् । देवदत्तरूप्यम्, दैवदत्तम् ॥

अर्थः—हेतुवाचक एवं मनुष्यवाचक पञ्चम्यन्त प्रातिपदिकों से 'आगतः' अर्थ में विकल्प से तद्धितसंज्ञक रूप्य प्रत्यय हो ।

व्याख्या—हेतुमनुष्येभ्यः ।५।३। अन्यतरस्याम् ।७।१। रूप्यः ।१।१। **तत आगतः** (१०९८) सूत्र का अनुवर्त्तन हो रहा है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** आदि पूर्ववत् अधिकृत हैं । समासः—हेतवश्च मनुष्याश्च हेतुमनुष्याः, तेभ्यः=हेतुमनुष्येभ्यः । इतरेतरद्वन्द्वसमासः । अर्थः—(हेतुमनुष्येभ्यः) हेतुवाचक एवं मनुष्यवाचक (ततः=पञ्चम्यन्तेभ्यः) पञ्चम्यन्त प्रातिपदिकों से (आगत इत्यर्थे) 'आया हुआ' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (रूप्यः) रूप्य प्रत्यय (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में हो जाता है । दूसरी अवस्था में अण् आदि यथाप्राप्त प्रत्यय होंगे ।

प्रथम हेतुवाचकों के उदाहरण यथा—

समाद्[2] आगतं समरूप्यम् (सम अर्थात् उचित हेतु से आया हुआ धन आदि

---

१. **पितुर्यच्च** (४.३.७९) सूत्र से यत् प्रत्यय हो कर 'पित्र्यम्' प्रयोग भी यहां बनता है । 'पितृ+य' इत्यत्र **रीङ् ऋतः** (१०४५) इति ऋतो रीङादेशे **यस्येति च** (२३६) इत्यनेन ईकारस्य लोपे च कृते रूपं सिध्यति ।

२. **हेतौ** (२.३.२३) सूत्रद्वारा हेतु में तृतीयाविभक्ति का विधान होता है । यथा—धनेन कुलम् । हेतु में पञ्चमीविभक्ति का विधान केवल **विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्** (२.३.२५) सूत्र से ही किया जाता है । यदि गुणवाचक हेतु स्त्रीलिङ्गी न हो तो उस से पञ्चमी विभक्ति भी प्रयुक्त की जा सकती है । यथा—जाड्याद् जाड्येन वा बद्धः । प्रकृत में हेतुवाचक सम और विषमशब्द गुणवाचक नहीं अतः उन से पञ्चमी न लाकर तृतीया ही लानी चाहिये थी—यह यहां शङ्का उत्पन्न होती है । इस का समाधान यह है कि **विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्** (२.३.२५) सूत्र में 'विभाषा' इस प्रकार योगविभाग कर स्त्रीलिङ्ग वा अगुणवाचक हेतु में भी क्वचित् पञ्चमी

कुछ भी)। यहां 'सम ङसिँ' इस हेतुवाचक पञ्चम्यन्त प्रातिपदिक से 'आगतः' के अर्थ में प्रकृत **हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः** (११०१) सूत्रद्वारा विकल्प से रूप्य प्रत्यय हो सुँब्लुक् कर विभक्ति लाने से 'समरूप्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। पक्ष में—समशब्द के गहादिगणान्तर्गत होने के कारण **गहादिभ्यश्च** (१०७८) सूत्रद्वारा छप्रत्यय, **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) से छ् को ईय् आदेश एवं **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'समीयम्' प्रयोग उपपन्न होता है। इस तरह 'समरूप्यम्' तथा 'समीयम्' दो रूप सिद्ध हो जाते हैं।

इसीप्रकार—विषमाद् आगतं विषमरूप्यं विषमीयं वा (विषम अर्थात् विपरीत या अनुचित हेतु से आया हुआ धन आदि कुछ भी)। यहां 'विषम ङसिँ' से पूर्ववत् रूप्यप्रत्यय तथा पक्ष में **गहादिभ्यश्च** (१०७८) से छप्रत्यय हो जाता है।

मनुष्यवाचकों के उदाहरण यथा—

देवदत्ताद् आगतं देवदत्तरूप्यं दैवदत्तं वा (देवदत्त से आया हुआ)। 'देवदत्त' यह मनुष्यवाचक प्रातिपदिक है। अतः 'देवदत्त ङसिँ' से 'आगतः' अर्थ में प्रकृत **हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः** (११०१) सूत्रद्वारा विकल्प से रूप्यप्रत्यय हो कर सुँब्लुक् तथा विभक्तिकार्य करने से 'देवदत्तरूप्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। पक्ष में **तत आगतः** (१०९८) से सामान्य प्रत्यय अण् हो कर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि एवं भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'दैवदत्तम्' प्रयोग उपपन्न होता है। इस तरह 'देवदत्तरूप्यम्' तथा 'दैवदत्तम्' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं।

इसीप्रकार—यज्ञदत्तादागतं यज्ञदत्तरूप्यं याज्ञदत्तं वा।

सूत्र में 'हेतुमनुष्येभ्यः' यह बहुवचनान्तनिर्देश इसलिये किया गया है कि 'हेतु' और 'मनुष्य' शब्दों से प्रत्यय न हो कर तद्वाचकों से ही प्रत्यय हो।

अब इसी अर्थ में मयट् प्रत्यय का निरूपण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११०२) मयट् च ।४।३।८२।।

सममयम्। देवदत्तमयम्।।

अर्थः—हेतुवाचक एवं मनुष्यवाचक पञ्चम्यन्त प्रातिपदिकों से 'आगतः' अर्थ में तद्धितसंज्ञक मयट् प्रत्यय भी विकल्प से हो।

व्याख्या—मयट् ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। पूर्वसूत्र से 'हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्याम्' का अनुवर्त्तन होता है। **तत आगतः** (१०९८) भी आ रहा है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(हेतुमनुष्येभ्यः) हेतु-

---

का विधान हो जाता है। यथा—पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्, नास्ति घटोऽनुपलब्धेः, इत्यादि। यद्यपि महाभाष्य में यह योगविभाग कहीं नहीं बताया गया तथापि **बाहुलकं प्रकृतेस्तनुदृष्टेः** (महाभाष्य ३.३.१) इस कारिका में 'तनुदृष्टेः' यहां हेतु में पञ्चमीप्रयोग करने से उपर्युक्त योगविभाग का प्रामाण्य असन्दिग्ध हो जाता है।

वाचक एवं मनुष्यवाचक (ततः = पञ्चम्यन्तेभ्यः) पञ्चम्यन्त प्रातिपदिकों से (आगत इत्यर्थे) 'आगतः' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (मयट्) मयट् प्रत्यय (च) भी (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में हो जाता है। दूसरी अवस्था में यथाप्राप्त प्रत्यय होगा। रूप्यप्रत्यय का संग्रह 'च' के कथन से ही हो जायेगा। उदाहरण यथा—

समाद् आगतं सममयम् (सम अर्थात् उचित हेतु से आया हुआ धन आदि कुछ भी वस्तु)। यहां हेतुवाचक पञ्चम्यन्त 'सम ङसिँ' से प्रकृत **मयट् च** (११०२) सूत्र से मयट् प्रत्यय, टकार अनुबन्ध का लोप तथा प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (ङसिँ) का लुक् कर विभक्ति लाने से 'सममयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। पक्ष में गहादित्वात् छप्रत्यय हो कर पूर्ववत् 'समीयम्' बनेगा। 'च' ग्रहण के कारण 'समरूप्यम्'। इस तरह तीन रूप बनेंगे।

विषमाद् आगतं विषममयम् (विषम अर्थात् विपरीत या अनुचित हेतु से आया हुआ धन आदि कुछ भी वस्तु)। यहां भी पूर्वोक्तप्रकारेण विषमप्रातिपदिक से मयट् प्रत्यय हो कर—विषममयम्। पक्ष में—विषमीयम् (१०७८)। 'च' ग्रहण के कारण —विषमरूप्यम्। तीन रूप बनते हैं।

देवदत्ताद् आगतं देवदत्तमयम् (देवदत्त से आया हुआ)। मयट् के अभाव में पूर्ववत् अण् प्रत्यय करने से दैवदत्तम्। 'च' ग्रहण के कारण—देवदत्तरूप्यम्। इसी तरह—यज्ञदत्तमयम्, याज्ञदत्तम्, यज्ञदत्तरूप्यम्।

मयट् प्रत्यय में टकार अनुबन्ध स्त्रीत्व में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय करने के लिये जोड़ा गया है। यथा—सममयी, विषममयी, देवदत्तमयी आदि।

नोट—ध्यान रहे कि सूत्रकार ने 'हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यमयटौ' इस प्रकार इकट्ठा सूत्र न बना कर जानबूझ कर पृथक् पृथक् सूत्र बनाये हैं। एक सूत्र बनाने पर यथासंख्यपरिभाषा (२३) प्रवृत्त हो जाती। इस से हेतुवाचकों से रूप्यप्रत्यय एवं मनुष्यवाचकों से मयट् प्रत्यय हो जाता, दोनों से दोनों प्रत्यय न हो सकते। अतः मुनि का पृथक् पृथक् सूत्र बनाना ही उचित है।

अब एक अन्य शैषिक अर्थ का निरूपण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११०३) **प्रभवति** ।४।३।८३॥

हिमवतः प्रभवति—हैमवती गङ्गा॥

अर्थः—पञ्चम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'प्रभवति' (सर्वप्रथम प्रकाशित होना या दिखाई देना) अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो।

व्याख्या—प्रभवति इति क्रियापदम्। ततः ।५।१। (**तत आगतः** सूत्र से)। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(ततः = पञ्चम्यन्तात्) पञ्चम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से (प्रभवति इत्यर्थे) 'सर्वप्रथम उपलब्ध होना या दिखाई देना' अर्थ में (तद्धितः) तद्धित-सञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है। उदाहरण यथा—

तद् गच्छति

हिमवतः प्रभवति[1]—हैमवती गङ्गा (सर्वप्रथम हिमालय में प्रकट होने वाली गङ्गा नदी)। यहां 'हिमवत् ङसिँ' से 'प्रभवति सर्वप्रथम प्रकट होना' अर्थ में प्रकृत **प्रभवति** (११०३) सूत्र से अण् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् तथा आदिवृद्धि करने से 'हैमवत' बना। अब गङ्गा विशेष्य के कारण स्त्रीत्व में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्रद्वारा ङीप्, अनुबन्धलोप तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'हैमवती' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—दरदेभ्यः प्रभवति दारदी सिन्धुः[2] (सर्वप्रथम दरददेश में प्रकाशित होने वाली सिन्धुनदी)।

अब एक अन्य शैषिक अर्थ का निरूपण करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**११०४**)

[देश-विशेष]

तद् गच्छति पथि-दूतयोः ।४।३।८५।।

स्रुघ्नं गच्छति स्रौघ्नः, पन्था दूतो वा ।।

अर्थः—जाने वाला यदि मार्ग वा दूत हो तो द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'गच्छति' (जाने वाला) अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तत् ।५।१। (द्वितीयान्त के अनुकरण 'तद्' से यहां पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। गच्छति इतिक्रियापदम्। पथिदूतयोः ।७।२। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** द्वारा अधिकृत)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—पन्थाश्च दूतश्च पथिदूतौ, तयोः=पथिदूतयोः। इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(तत्=द्वितीयान्तात्) द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (गच्छति इत्यर्थे) 'जाता है' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है (पथि-दूतयोः) यदि जाने वाला या तो रास्ता हो या दूत। उदाहरण यथा—

स्रुघ्नं गच्छति स्रौघ्नः पन्था दूतो वा (स्रुघ्न को जाने वाला मार्ग[3] या स्रुघ्न को जाने वाला दूत)। यहां 'स्रुघ्न अम्' इस द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'गच्छति'

---

१. **भुवः प्रभवः** (१.४.३१) इत्यपादानसंज्ञायां पञ्चमी। प्रभवति=तत्र प्रथमं प्रकाशते इत्यर्थः। अत्रोत्पत्तिवचनस्तु प्रभवतिर्न गृह्यते, **तत्र जातः** (१०८७) इत्यतो भेदेन निर्देशात्।

२. सिन्धुशब्द नदीवाचक होने पर स्त्रीलिङ्ग होता है। **सिन्धुर्वमथु-देशाब्धि-नदे ना सरिति स्त्रियाम्** इति मेदिनी। काश्मीर के उत्तर में स्थित देश का प्राचीन नाम 'दरद' है।

३. मार्ग यद्यपि लक्ष्य तक पहुंचने में करण होता है कर्त्ता नहीं तथापि सौकर्य आदि के अतिशय को प्रकट करने के लिये 'असिश्छिनत्ति, काष्ठानि पचन्ति' आदि की तरह लोक में उसे कर्तृत्वेन व्यपदिष्ट करने का व्यवहार देखा जाता है। उसी की ओर यहां आचार्य का निर्देश है।

अभिनिष्क्रामति

(जाने वाला) अर्थ में **तद् गच्छति पथिदूतयोः** (११०४) सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय, सुँप् (अम्) का लुक्, आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'स्रौघ्नः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—मथुरां गच्छति माथुरः पन्था दूतो वा ।

'पथिदूतयोः' कथन से 'मथुरां गच्छति रथः' इत्यादियों में शैषिक अण् नहीं होता ।

अब एक अन्य शैषिक अर्थ का निरूपण करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**११०५**)

अभिनिष्क्रामति द्वारम् ।४।३।८६।।

स्रुघ्नम् अभिनिष्क्रामति स्रौघ्नं कान्यकुब्जद्वारम् ।।

अर्थः—द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'अभिनिष्क्रामति—उस की ओर निकलता है' इस अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो यदि द्वार वाच्य हो तो ।

व्याख्या—तत् ।५।१। (**तद् गच्छति पथिदूतयोः** सूत्र से) । अभिनिष्क्रामति इति क्रियापदम् । द्वारम् ।१।१। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तत्—द्वितीयान्तात्) द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (अभिनिष्क्रामतीत्यर्थे) 'उस की ओर निकलता है, उस की ओर जाता है' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो (द्वारम्) यदि द्वार वाच्य हो तो । उदाहरण यथा—

स्रुघ्नम् अभिनिष्क्रामति स्रौघ्नं कान्यकुब्जद्वारम् (स्रुघ्न की ओर निकलने वाला कन्नौजनगर का द्वार) ।[1] यहां 'स्रुघ्न अम्' इस द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'की ओर निकलने वाला' अर्थ में द्वार की विवक्षा में **अभिनिष्क्रामति द्वारम्** (११०५) इस प्रकृतसूत्र से अण् प्रत्यय, सुँप् (अम्) का लुक्, आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्ति लाने से 'स्रौघ्नम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—मथुरामभिनिष्क्रामति माथुरं द्वारम् । राष्ट्रम् अभिनिष्क्रामति राष्ट्रियं द्वारम् (**राष्ट्रावारपाराद् घखौ** १०६९) ।

---

१. प्राचीन तथा मध्यकाल में नगर के द्वारों का मुख जिस ओर होता था उस के नाम पर उस द्वार (दरवाज़े) का प्रायः नामकरण किया जाता था । उदाहरणार्थ जैसे दिल्लीनगर में अजमेर की ओर जिस द्वार से निकल कर जाते थे वह अजमेरी दरवाज़ा, लाहौर की ओर जिस द्वार से जाते थे वह लाहौरी दरवाज़ा, काश्मीर की ओर जिस दरवाजे से निकल कर जाते थे वह काश्मीरी-दरवाजा इत्यादिप्रकारेण नाम रखे गये थे जो अब तक प्रचलित हैं । इसीप्रकार प्राचीनकाल में कान्यकुब्ज (कन्नौज) नगर में एक ऐसा द्वार था जो स्रुघ्न की ओर जाता था अर्थात् स्रुघ्न जाने वाले लोग उसी द्वार से हो कर स्रुघ्न जाते थे अतः कान्यकुब्ज नगर का वह द्वार 'स्रौघ्न' कहलाता था ।

अधिकृत्य कृते ग्रन्थे

यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि द्वार तो जड़ होता है वह कहीं आ जा नहीं सकता अतः निष्क्रमण अर्थ में प्रत्यय कैसे सम्भव हो सकेगा ? इस का उत्तर यह है कि जैसे 'असिश्छिनत्ति' (तलवार अच्छी तरह काट रही है) इस में यद्यपि काटने वाला कोई और पुरुष होता है वह तलवार से काटने का काम लेता है तलवार स्वयं जड़ होने से काट नहीं सकती तथापि 'तलवार काटती है' इस तरह का लौकिक व्यवहार प्रयुक्त होता है वैसे यहां भी समझना चाहिये। द्वार यद्यपि स्वयं जड़ होने से स्रुघ्न की ओर नहीं जाता किन्तु पथिक उस द्वार से निकल कर स्रुघ्न की ओर जाते हैं तथापि 'यह द्वार स्रुघ्न की ओर जाता है' ऐसा लोक में व्यवहार होता है। बस इसी व्यवहार को दृष्टि में रखते हुए आचार्य ने यह सूत्र बनाया है।

अब एक अन्य सुप्रसिद्ध शैषिक अर्थ का निरूपण करते हैं

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११०६) **अधिकृत्य कृते ग्रन्थे** ।४।३।८७।।

शारीरकम् अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः शारीरकीयः ।।

अर्थः—द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'अधिकार कर बनाया हुआ ग्रन्थ' इस अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो।

व्याख्या—अधिकृत्य इति ल्यबन्तं पदम्। कृते ।७।१। ग्रन्थे ।७।१। तत् ।५।१। (**तद् गच्छति पथिदूतयोः** सूत्र से)। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** अधिकार से लब्ध)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं। अर्थः— (तद् = द्वितीयान्तात्) द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (अधिकृत्य कृते ग्रन्थे) 'अधिकार कर—प्रस्तुत कर—विषय बना कर बनाये गये ग्रन्थ' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है। अण् सामान्य प्रत्यय है, इस के पूर्वोक्त अपवाद यथा-स्थान प्रवृत्त होंगे ही।

जिस को विषय बना कर ग्रन्थ बनाया जाता है उस विषयवाचक शब्द से अण् आदि यथाप्राप्त तद्धित प्रत्यय होते हैं और तब प्रकृतिप्रत्ययसमुदाय से तन्नामक ग्रन्थ का बोध होता है। उदाहरण यथा—

शारीरकम्[1] अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः शारीरकीयः (शारीर[2] अर्थात् जीवात्मा को

---

१. ननु कृत इति कर्मणि निष्ठा। निष्ठया उक्तत्वात् शारीरकम् इत्यत्र कर्मणि द्वितीया न प्राप्नोति इति चेद् ? न। न ह्यत्र निष्ठापेक्षया कर्मत्वं यतोऽभिहितत्वाशङ्का जायेत। अत्र तु 'अधिकृत्य' इति ल्यबन्तापेक्षया कर्मत्वम्, अतः कर्मणोऽनभिहितत्वाद् द्वितीया भवत्येव। निष्ठायाः कर्म तु ग्रन्थ एवेति बोध्यम्।

२. शरीरस्यायं शारीरो जीवात्मा, तस्येदम् (११०९) इत्यण्। शारीर एव शारीरकः, स्वार्थे कन्। यद्वा—कुत्सितं शरीरं शरीरकम्, कुत्सिते (१२३५) इति कप्रत्ययः। शरीरकस्यायं शारीरकः, तस्येदम् (१२०९) इत्यण्।

शारीरक निवास:

विषय बना कर रचा गया ग्रन्थ—वेदान्तशास्त्र)। शारीरकशब्द का आदि अच् वृद्धि-संज्ञक है अतः **वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्** (१०७५) सूत्र से इस की वृद्धसंज्ञा है। यहां 'शारीरक अम्' इस विषयवाचक द्वितीयान्त प्रातिपदिक से **अधिकृत्य कृते ग्रन्थे** (११०६) इस अर्थ में सामान्यतः प्राप्त अण् प्रत्यय का बाध कर **वृद्धाच्छः** (१०७७) सूत्र से छ प्रत्यय हो जाता है। अब तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण **सुँपो धातुप्राति-पदिकयोः** (७२१) से सुँप् (अम्) का लुक्, **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) सूत्र से छ् को ईय् तथा **यस्येतिच**लोप कर विभक्ति लाने से 'शारीरकीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1] शारीरं भाष्यमिति त्वभेदोपचारादिति दीक्षितः।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) शकुन्तलामधिकृत्य कृतं नाटकं शाकुन्तलम् (अण्)।

(२) सुभद्रामधिकृत्य कृतो ग्रन्थः सौभद्रः (अण्)।

(३) ययातिमधिकृत्य कृतो ग्रन्थो यायातः (अण्)।

(४) गिरिमित्रमधिकृत्य कृतो ग्रन्थो गैरिमित्रः (अण्)।

(५) भरतानधिकृत्य कृतमाख्यानम् भारतम् (अण्)।

(६) भीमरथमधिकृत्य कृताऽऽख्यायिका भैमरथी (अण्, ङीप्)।

नोट—आख्यायिका वाच्य हो तो कहीं कहीं तद्धितप्रत्यय का लुप् हो जाता है।[2] यथा—वासवदत्तामधिकृत्य कृताऽऽख्यायिका वासवदत्ता। उर्वशीमधिकृत्य कृता-ख्यायिका उर्वशी। कादम्बरीमधिकृत्य कृताऽऽख्यायिका कादम्बरी। प्रत्यय का लुप् हो जाने पर **लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने** (१०६१) सूत्र से प्रकृतिवत् लिङ्ग और वचन हो जाते हैं।

अब एक अन्य शैषिक अर्थ का निरूपण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(**११०७**) **सोऽस्य निवासः** ।४।३।८९॥

स्रुघ्नो निवासोऽस्य स्रौघ्नः॥

अर्थः—प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'इस का' अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो यदि वह प्रथमान्त निवासस्थान हो तो।

व्याख्या—सः ।५।१। ('सः' यह प्रथमान्तों का अनुकरण है। इस से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। अस्य ।६।१। निवासः ।१।१। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** से अधिकृत है)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं।

---

१. ध्यान रहे कि एक बार शैषिक प्रत्यय किये जाने पर दुबारा उस से शैषिक प्रत्यय नहीं होता—यह नियम सरूप शैषिकप्रत्ययों में ही लागू होता है विरूप शैषिकों में नहीं। अत एव यहां शारीरशब्द यद्यपि **तस्येदम्** (११०९) द्वारा शैषिक-**अण्**-प्रत्ययान्त है तथापि उस से पुनः दूसरा शैषिक छप्रत्यय हो जाता है कोई **बाधा** उपस्थित नहीं होती।

२. **लुबाख्यायिकाभ्यो बहुलम्** (वा०)। तादर्थ्ये चतुर्थी।

तेन प्रोक्तं द्, (ईय)

अर्थः —(सः = प्रथमान्तात्) प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से (अस्य इत्यर्थे) 'इस का' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है यदि वह प्रथमान्त (निवासः) निवासस्थान हो तो। उदाहरण यथा —

स्रुघ्नो निवासोऽस्य स्रौघ्नः (स्रुघ्न जिस के रहने का स्थान है अर्थात् स्रुघ्न का निवासी)। यहां 'स्रुघ्न सुँ' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'अस्य निवासः' अर्थ में **सोऽस्य निवासः** (११०७) इस प्रकृतसूत्र से तद्धित अण् प्रत्यय, तद्धितान्तत्वेन प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (सुँ) का लुक्, आदिवृद्धि, तथा **यस्येतिच**लोप कर विभक्ति-कार्य करने से 'स्रौघ्नः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार —

मथुरा निवासोऽस्य माथुरः (मथुरा का निवासी)।

नदी निवासोऽस्य नादेयः (नदी का निवासी)।[1]

राष्ट्रं निवासोऽस्य राष्ट्रियः (राष्ट्र का निवासी)।[2]

ग्रामो निवासोऽस्य ग्राम्यो ग्रामीणो वा (गांव का निवासी)।[3]

अब एक अन्य शैषिक अर्थ का निरूपण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११०८) तेन प्रोक्तम् ।४।३।१०१।।**

पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम् ।।

अर्थः—तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से प्रोक्त अर्थात् प्रथमतः व्याख्यात या प्रथमतः प्रकाशित अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तेन ।५।१। (तृतीयान्त के अनुकरण 'तेन' शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। प्रोक्तम् ।१।१। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** अधिकार से लब्ध)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तेन = तृतीयान्तात्) तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (प्रोक्तमित्यर्थे) प्रोक्त अर्थात् प्रथम प्रवचन किये गये—प्रथम प्रकाशित या व्याख्यात किये गये अर्थ में (तद्धितः) तद्धित-संज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है।

अण् सामान्य प्रत्यय है। यथावसर इस के अपवाद प्रत्यय इस का बाध कर लेंगे। उदाहरण यथा—

पाणिनिना प्रोक्तम् पाणिनीयं व्याकरणम् (पाणिनिद्वारा प्रथम प्रकाशित अर्थात् शिष्यों के आगे सर्वप्रथम व्याख्यात व्याकरण)।[4] यहां 'पाणिनि टा' से 'प्रोक्त' (प्रथम-

---

१. **नद्यादिभ्यो ढक्** (१०७१) इति ढक्। ढस्य एयादेशः (१०१३)।

२. **राष्ट्रावारपाराद् घखौ** (१०६९) इति घः। घस्य इयादेशः (१०१३)।

३. **ग्रामाद् य-खञौ** (१०७०) इति यखञौ प्रत्ययौ। खस्य ईनादेशः (१०१३)।

४. पाणिनीयव्याकरण यद्यपि पाणिनि ने ही बनाया है तथापि यहां यह अभिप्राय प्रकट करना अभीष्ट नहीं, उस के लिये **कृते ग्रन्थे** (४.३.११६) इस प्रकार का पृथक् सूत्र बनाया गया है। यहां तो अध्यापनरूप से या व्याख्यानरूप से प्रथम प्रकाशित

तस्य इदम्

व्याख्यात) अर्थ में **तेन प्रोक्तम्** (११०८) सूत्रद्वारा सामान्यतः प्राप्त अण् प्रत्यय का बाध कर **वृद्धाच्छः** (१०७७) से 'छ' प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् तथा **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) से छ् को ईय् आदेश करने से 'पाणिनि+ईय' हुआ। अब **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक इकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'पाणिनीयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—
आपिशलिना प्रोक्तम् आपिशलं व्याकरणम्।[1]
काशकृत्स्निना प्रोक्तं काशकृत्स्नं व्याकरणम्।
शौनकेन प्रोक्ता शौनकीया शिक्षा (**वृद्धाच्छः** १०७७)।
चन्द्रेण प्रोक्तं चान्द्रं व्याकरणम् (अण्)।

अब अन्तिम सुप्रसिद्ध शैषिक अर्थ का निरूपण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११०९) तस्येदम्** ।४।३।१२०।।

उपगोरिदम् औपगवम् ।।

अर्थः—षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'इदम्' (यह) इस अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तस्य ।५।१। (षष्ठ्यन्त के अनुकरण 'तस्य' से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। इदम् ।१।१। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** अधिकार से लब्ध)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तस्य = षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से (इदम् इत्यर्थे) 'यह' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है।

अण् सामान्य प्रत्यय है। इसे बाध कर अपवादप्रत्यय यथास्थान प्रवृत्त हो जायेंगे। उदाहरण यथा—

अर्थ में प्रत्यय किया जा रहा है। प्रवचनकर्ता चाहे स्वरचित ग्रन्थ का प्रवचन करे या अन्यरचित का, दोनों अवस्थाओं में इस सूत्र से प्रत्यय हो जायेगा। अन्यरचित-ग्रन्थ का उदाहरण यथा—**अन्येन कृता माथुरेण प्रोक्ता माथुरी वृत्तिः** (महाभाष्य ४.३.१०१)। 'प्रोक्तम्' में 'प्र' जोड़ने का अभिप्राय प्रकर्ष को प्रकट करना है—प्रकर्षेण उक्तम् प्रोक्तम्। कहे हुए की प्रकृष्टता इसी में है कि वह सर्वप्रथम कहा जाये। पाणिनि ने स्वरचित व्याकरण का शिष्यों के आगे स्वयं सर्वप्रथम व्याख्यान किया था अतः इस सूत्र से तत्प्रोक्त व्याकरण का नाम 'पाणिनीय' हुआ। माथुर ने अन्यरचित वृत्ति का सर्वप्रथम शिष्यों के मध्य प्रवचन किया था अतः वह वृत्ति 'माथुरी' नाम से प्रसिद्ध हुई। आजकल यदि हम इस पाणिनीयव्याकरण का शिष्यों को अध्यापन करायेंगे तो यह व्याकरण हमारे नाम से नहीं पुकारा जायेगा किन्तु पाणिनिद्वारा सर्वप्रथम प्रोक्त होने से 'पाणिनीय' ही रहेगा।

१. आपिशलम्। अत्र सामान्यप्राप्तमणं प्रबाध्य **वृद्धाच्छः** (१०७७) इति छः प्राप्तः। तमपि प्रबाध्य **इञश्च** (४.२.१११) इति पुनरण्। एवं काशकृत्स्नमित्यत्रापि बोध्यम्।

उपगोरिदम् औपगवम् (उपगु का यह अर्थात् उपगुसम्बन्धी यह वस्तु)। यहां 'उपगु ङस्' इस षष्ठयन्त प्रातिपदिक से 'इदम्' (यह) इस अर्थ में **तस्येदम्** (११०९) इस प्रकृतसूत्र से अण् प्रत्यय, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि, **ओर्गुणः** (१००५) से भसंज्ञक उकार के स्थान पर ओकार गुण तथा **एचोऽयवायावः** (२२) से ओकार को अव् आदेश कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'औपगवम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार—

(१) भीमस्य इयम् भैमी बुद्धिः।[1]
(२) बृहस्पतेरिदं बार्हस्पत्यं नीतिशास्त्रम्।[2]
(३) अश्वपतेरिदम् आश्वपतं कुलम्।[3]
(४) देवस्येदं दैव्यं दैवं वा बलम्।[4]
(५) उत्सस्यायम् औत्सः कलकलः।[5]
(६) स्त्रिया इदं स्त्रैणं चरितम्।[6]
(७) पुंस इदं पौंस्नं बलम्।[7]
(८) गोरिदं गव्यं पयः।[8]
(९) राष्ट्रस्येदं राष्ट्रियं कार्यम्।[9]
(१०) अवारपारस्येदम् अवारपारीणं वस्तु।[10]
(११) नद्या इदं नादेयं जलम्।[11]
(१२) शास्त्रस्यायं शास्त्रीयः सिद्धान्तः।[12]
(१३) मासस्येदं मासिकं वेतनम्।[13]

---

१. अण्प्रत्ययान्तात् भैमशब्दात् स्त्रियां **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) इति ङीप्। **भैम्याः** (बुद्ध्याः) व्याख्या भैमीव्याख्या। षष्ठीतत्पुरुषे सामान्याधिकरण्याभावात् पुंवद्भावो न।
२. **दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः** (९९९) इति ण्यः प्रत्ययः।
३. ण्यं प्रबाध्य **अश्वपत्यादिभ्यश्च** (९९८) इति पुनरण्।
४. **देवाद् यञञौ** (वा० ६७) इति यञञौ प्रत्ययौ।
५. **उत्सादिभ्योऽञ्** (१००२) इति अञ्।
६. **स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** (१००३) इति नञ्।
७. **स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** (१००३) इति स्नञ्।
८. **गोरजादिप्रसङ्गे यत्** (वा० ७०) इति यत् प्रत्ययः।
९. **राष्ट्रावारपाराद् घखौ** (१०६९) इति घः। घस्य इय् आदेशः।
१०. **राष्ट्रावारपाराद् घखौ** (१०६९) इति खः। खस्य ईन् आदेशः।
११. **नद्यादिभ्यो ढक्** (१०७१) इति ढक्। ढस्य एय् आदेशः।
१२. **वृद्धाच्छः** (१०७७) इति छप्रत्ययः। छस्य ईय् आदेशः।
१३. **कालाट् ठञ्** (१०८४) इति ठञ्। **ठस्येकः** (१०२७)।

अभ्यास [५]

(१) निम्नस्थ प्रश्नों के सहेतुक उत्तर दीजिये—

[क] **शेषे** को अधिकार और विधि उभयविध क्यों मानते हैं ?

[ख] टयु-टयुल् को तुँट् का आगम कब करना उचित है ?

[ग] **ग्रामाद् यखञौ** सूत्रोक्त खञ् में अकार क्यों जोड़ा गया है ?

[घ] सायंप्रातिकः, पौनःपुनिकः इन में टयु-टयुल् क्यों नहीं हुए ?

[ङ] आरातीयः, शाश्वतिकः में टिलोप क्यों नहीं हुआ ?

[च] 'शारीरकीयः' में दो शैषिक प्रत्यय कैसे हो सकते हैं ?

[छ] कोशेषु भवं कौशेयम् (वस्त्रम्), यहां अर्थोपपत्ति स्पष्ट करें ?

[ज] शारीरकं भाष्यम् यह उक्ति कैसे उपपन्न होगी ?

(२) निम्नस्थों पर समुचित टिप्पणी लिखें—

[क] **सम्भूते** सूत्र में द्विविध सम्भूतता ।

[ख] भैमीव्याख्या में पुंवद्भाव का अभाव ।

[ग] **अव्ययानां भमात्रे०** में मात्रग्रहण का प्रयोजन ।

[घ] **अव्ययानां भमात्रे०** वार्त्तिक की अनित्यता ।

[ङ] उभयपदवृद्धि ।

[च] प्रोक्त और कृत ग्रन्थों का अन्तर ।

[छ] एण्य में णत्वकरण ।

[ज] पथिदूतयोः किम् ? मथुरां गच्छति रथः ।

(३) निम्नस्थ वचनों की व्याख्या करें—

[क] अवारपाराद् विगृहीतादपि विपरीताच्चेति वक्तव्यम् ।

[ख] अपत्यादिचतुरर्थ्यन्तादन्योऽर्थः शेषः ।

[ग] प्राह्णप्रगयोरेदन्तत्वं निपात्यते ।

[घ] वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा वक्तव्या ।

[ङ] अमेहक्वतसिँत्रेभ्य एव ।

[च] इह प्रकृतिविशेषाद् घादयष्टयुटयुलन्ताः प्रत्ययाः उच्यन्ते । तेषां जातादयोऽर्थविशेषाः समर्थविभक्तयश्च वक्ष्यन्ते ।

[छ] शैषिकान्मतुबर्थीयाच्छैषिको मतुबर्थकः ।
सरूपः प्रत्ययो नेष्टः सन्नन्तान्न सनिष्यते ॥

(४) स्रौघ्न के तद्धितविषयक विभिन्न सात विग्रह दर्शाते हुए सूत्रों का भी निर्देश करें ।

(५) वृद्धसञ्ज्ञाविधायक सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें ।

(६) निम्नस्थ विग्रहों में खञ्-अण्-छप्रत्ययान्त रूप सिद्ध करें—

[क] तवायम्, ममायम् ।

[ख] युवयोरयम्, आवयोरयम् ।

[ग] युष्माकमयम्, अस्माकमयम् ।

(७) अन्तर स्पष्ट करें—

प्रावृषेण्यः—प्रावृषिकः । मदीयः—अस्मदीयः । त्वत्पुत्रः—युष्मत्पुत्रः ।

(८) शैषिकप्रकरणस्थ छप्रत्ययविधायक कोई से तीन सूत्र सार्थ सोदाहरण व्याख्यात करें ।

(९) विग्रह दर्शाते हुए निम्नस्थ रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—

१. तावकः । २. आध्यात्मिकम् । ३. माहेयम् । ४. अमात्यः । ५. पौनः-पुनिकः । ६. शौल्कशालिकः । ७. जिह्वामूलीयम् । ८. मध्यमः । ९. ग्रामीणः । १०. पारावारीणः । ११. दार्षदाः । १२. नित्यः । १३. दाक्षिणात्यः । १४. औपाध्यायकः । १५. चाक्षुषम् । १६. श्रावणः । १७. शारीरकीयः । १८. शालीयः । १९. कौशेयम् । २०. दिव्यम् । २१. पारलौकिकम् । २२. समरूप्यम् । २३. सांवत्सरिकम् । २४. मामकीनः । २५. पैतृकम् । २६. और्ध्वदेहिकम् । २७. श्वस्त्यम् । २८. शाकुन्तलम् । २९. वासवदत्ता । ३०. औपनिषदः ।

(१०) निम्नस्थ विग्रहों के तद्धितान्तरूप ससूत्र सिद्ध करें—

१. पितामहादागतः । २. पाणिनिना प्रोक्तम् । ३. चतुर्भिरुह्यते । ४. क्वचिद् भवः । ५. अङ्गुल्यां भवम् । ६. चतुर्दश्यां दृश्यते । ७. वाराणस्यां जातम् । ८. मूर्ध्नि भवम् । ९. उपगोरिदम् । १०. कवर्गे भवम् । ११. प्राचि भवम् । १२. इहलोके भवम् । १३. मासस्येदम् । १४. तस्येदम् । १५. कादम्बरीमधिकृत्य कृताऽऽख्यायिका । १६. प्रयोगे भवः । १७. हिमवतः प्रभवति । १८. गोरागतम् । १९. आपणादागतः । २०. उपरिष्टादागतः ।

(११) निम्नस्थ सूत्रों एवं वार्त्तिकों की सोदाहरण व्याख्या करें—

१. राष्ट्रावारपाराद् घखौ । २. प्रत्ययोत्तरपदयोश्च । ३. सायंचिरंप्राह्णेप्रगे० । ४. शरीरावयवाच्च । ५. ठगायस्थानेभ्यः । ६. दिगादिभ्यो यत् । ७. अधिकृत्य कृते ग्रन्थे । ८. हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां० । ९. अनुशतिकादीनां च । १०. द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत् । ११. ग्रामाद् यखञौ । १२. युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च । १३. सम्भूते । १४. विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यो वुञ् । १५. अभिनिष्क्रामति द्वारम् । १६. प्रभवति । १७. सोऽस्य निवासः । १८. त्यब्नेर्ध्रुव इति वक्तव्यम् ।

(१२) सहेतुक अशुद्धि-शोधन कीजिये—

[१] अद्यतनीयं कार्यम् ।[१]
[२] वाराणसीया परीक्षा ।[२]
[३] शारदीय उत्सवः ।[३]
[४] दन्तीयः सकारः ।[४]
[५] राष्ट्रीया समस्या ।[५]
[६] बाल्यकालीना क्रीडा ।[६]
[७] औषसो रागः ।[७]
[८] औदरी पीडा ।[८]
[९] शार्वरं तमः ।[९]
[१०] वर्गीया वर्णाः कादयो मावसानाः ।[१०]
[११] प्राच्याः संस्काराः ।[११]
[१२] स्वकीयः पक्षः ।[१२]
[१३] परीयः सिद्धान्तः ।[१३]

---

१. अद्य भवम् अद्यतनम् । **सायंचिरं०** (१०८६) इति ट्युलि तुँडागमः । छप्रत्ययस्य तु प्रसङ्ग एव न ।

२. **नद्यादिभ्यो ढक्** (१०७१) इति ढकि 'वाराणसेयाः' इत्युचितम् ।

३. शरदि भवः शारदः । **सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्** (४.३.१६) इत्यणि शारद इति साधु ।

४. दन्तेषु भवो दन्त्यः । **शरीरावयवाच्च** (१०९४) इति यत् ।

५. राष्ट्रस्येयं राष्ट्रिया । **राष्ट्रावारपाराद् घखौ** (१०६९) इति घप्रत्यये घस्य इयादेशः ।

६. बाल्यकालिकी इत्येवोचितम् । **कालाट् ठञ्** (१०८४) । **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) इति ङीप् ।

७. उषसि भव औषसिकः । **कालाट् ठञ्** (१०८४) इति ठञा भवितव्यम् ।

८. **शरीरावयवाच्च** (१०९४) इति यति स्त्रियां टापि च 'उदर्या' इति साधु ।

९. शर्वर्यां भवं शार्वरिकम् । **कालाट् ठञ्** (१०८४) इति ठञा भवितव्यम् ।

१०. **दिगादिभ्यो यत्** (१०९३) इति यति 'वर्ग्याः' इत्युचितम् ।

११. कालवाचिनः प्रागित्यव्ययाद् **द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत्** (१०७३) इति यतं प्रबाध्य परत्वाट् ट्युट्युलौ भवतः, तेन प्राक्तनाः संस्कारा इत्येवोचितम् ।

१२. स्वस्यायम् इत्यर्थे **तस्येदम्** (११०९) इत्यणि **द्वारादीनां च** (७.३.४) इत्यैजागमे 'सौवः' इत्युचितम् । अथवा—स्वशब्दात्स्वार्थे कनि गहादेराकृतिगणत्वाच्छे 'स्वकीयः' इत्यपि साधु ।

१३. परस्यायमिति विग्रहे गहाद्यन्तर्गतेन **कुँग्जनस्य परस्य च** इति गणसूत्रेण छे कुँगागमे च कृते 'परकीयः' इति ।

[१४] स्वर्गीयाः पितृपादाः ।[१]

[१५] श्रीमदीयोऽनुचरः ।[२]

[१६] पारस्परिकः स्नेहः ।[३]

[१७] इदानीन्तनी जागतिकी स्थितिरुद्वेगं जनयतीव नः ।[४]

[१८] पाश्चात्या विद्वांसः ।[५]

[१९] पैत्रं राज्यं प्रपेदेऽसौ ।[६]

[२०] राजवंश्या अमी जनाः ।[७]

[लघु०] इति शैषिकाः ।।

(यहां शैषिक प्रत्ययों का विवेचन समाप्त होता है।)

—:०:—

१. स्थानविशेषवाचिनः स्वर्गशब्दस्य **वा नामधेयस्य वृद्धसंज्ञा वक्तव्या** (वा० ८४) इति वृद्धत्वे **वृद्धाच्छः** (१०७७) इति छे यद्यपि स्वर्गीयशब्दः सिध्यति तथापि तथाविध-शब्दस्य क्वापि प्रयुक्तत्वाभावादसाधुरिति मन्तव्यम् । ये स्वर्गतास्ते स्वर्गिण इत्युच्यन्ते ।

२. श्रीमतोऽयमिति विग्रहे श्रीमच्छब्दस्य वृद्धत्वाभावाद् **वृद्धाच्छः** (१०७७) इति छो न प्रवर्त्तते । यत्तु केचिद् अध्यात्मादेराकृतिगणत्वात् श्रीमच्छब्दाट् ठञि तस्य **इसुसुक्तान्तात्कः** (१०५२) इति कादेशे आदिवृद्धौ श्रैमत्करूपं प्रयुञ्जते तदप्यनभिधानान्न । अतः श्रीमतोऽनुचर इत्येव प्रयोज्यम् ।

३. परस्परं भवः पारस्परिकः । अध्यात्मादेराकृतिगणत्वात् सिद्धेऽपि ठञि नैष शब्दः क्वचित् प्रयुक्तचरः । तेन परस्परमित्येव प्रयोज्यम् ।

४. जगत इयं जागती, शैषिकोऽण् । स्त्रियां **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) इति ङीप् ।

५. पश्चात् (पश्चिमायां दिशि) भवाः पाश्चात्त्याः । **दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक्** (१०७२) इति त्यक् । तकारलोपस्याप्रसक्तेर्द्वितकारघटितं रूपमिष्यते ।

६. पितुरागतं पित्र्यं पैतृकं वा । **ऋतष्ठञ्** (४.३.७८), **पितुर्यच्च** (४.३.७९) इति ठञि यति च रूपद्वयम् ।

७. दिगादिगणे वंशशब्दः पठितो न तु राजवंशः । तेन यतोऽप्रसङ्ग । **वृद्धाच्छः** (१०७७) इति छप्रत्यये राजवंशीया इत्येवोचितम् । अथवा—राज्ञो वंश्या राजवंश्या इत्येवं विग्रहीतव्यम् ।

नस्य विकार

अथ विकाराद्यर्थकाः

अब विकार आदि अर्थों में होने वाले प्राग्दीव्यतीय तद्धित प्रत्ययों का वर्णन करते हैं ।

विशेष वक्तव्य—लघुसिद्धान्तकौमुदी के कई संस्करणों में यहां 'अथ प्राग्दीव्यतीयाः' ऐसा पाठ मुद्रित मिलता है । वह ठीक प्रतीत नहीं होता कारण कि पीछे सब प्राग्दीव्यतीय ही तो कहते चले आ रहे हैं । अब यहां नये सिरे से 'अथ प्राग्दीव्यतीयाः' कहने में कुछ तुक नहीं । सम्भवतः इस प्रकरण के अन्त में 'इति प्राग्दीव्यतीयाः' को देख कर यहां भ्रान्ति उत्पन्न हुई है । वस्तुतः पिछले सब प्रकरणों को दृष्टि में रखते हुए वहां 'इति प्राग्दीव्यतीयाः' लिखा गया है केवल इस प्रकरण को लक्ष्य में रख कर नहीं ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१११०) तस्य विकारः** ।४।३।१३२।।

अर्थः—षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से विकार अर्थ में तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तस्य ।५।१। ('अश्मनो विकारः' इत्यादियों में 'अश्मनः' आदि षष्ठ्यन्तों का अनुकरण 'तस्य' शब्द से किया गया है । इस से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये) ।[1] विकारः ।१।१। इत्यर्थे इत्यध्याहार्यम् । अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** अधिकार से) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं । अर्थः—(तस्य=षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से (विकार इत्यर्थे) विकार अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो ।

उपादानकारण (समवायिकारण) जब कार्यरूप में परिणत होता है तो उसे विकार कहते हैं । जैसे मेज़, कुर्सी आदि लकड़ी के विकार हैं । ईंटों से बना भवन ईंटों का विकार है । पत्थर से बने पात्र पत्थर का विकार हैं । इस विकार अर्थ को प्रकट करने के लिये उपादानकारणवाची षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से अण् तद्धितप्रत्यय होता है । अण् यह सामान्य प्रत्यय है, इस के प्राग्दीव्यतीय अपवाद इस का यथास्थान बाध करेंगे ।

उदाहरण यथा—

---

१. अष्टाध्यायी में यद्यपि **तस्येदम्** (४.३.१२०) सूत्र से यहां 'तस्य' का अनुवर्त्तन हो सकता था तथापि यहां पुनः 'तस्य' का ग्रहण शेषाधिकार की निवृत्ति को द्योतित करने के लिये किया गया है । इस से शेषाधिकारोक्त घ आदि विशिष्ट प्रत्यय विकार अर्थ में प्रवृत्त न होंगे । यथा—शेषाधिकार में एक सूत्र आता है—**हलसीराट्ठक्** (४.३.१२४) । हलस्येदं हालिकम् । सीरस्येदं सैरिकम् । यहां **तस्येदम्** के अर्थ में ठक् प्रत्यय हुआ है । परन्तु अब इस प्रकरण में 'हलस्य विकारो हालः, सीरस्य विकारः सैरः' इस तरह अण् ही होगा पूर्वोक्त ठक् नहीं ।

तस्य विकार. अश्मन् (टिलोप)

अश्मनो[1] विकार आश्मः (अश्मन्=पत्थर का विकार अर्थात् पत्थर से बना कोई पदार्थ)। यहां 'अश्मन् ङस्' इस षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से विकार अर्थ में **तस्य विकारः** (१११०) इस प्रकृतसूत्र से तद्धितसंज्ञक अण् प्रत्यय हो कर तद्धितान्त की प्रातिपदिक संज्ञा, **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् एवं **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदिवृद्धि करने से 'आश्मन्+अ' हुआ। अब **नस्तद्धिते** (९१९) से नकारान्त भसञ्ज्ञक की टि (अन्) का लोप प्राप्त होता है परन्तु **अन्** (१०२४) सूत्र से प्रकृतिभाव के कारण वह रुक जाता है। यह अनिष्ट है। इस पर अग्रिमवार्त्तिकद्वारा पुनः टिलोप का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(८७) अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः ॥

अश्मनो विकार आश्मः। भास्मनः। मार्त्तिकः ॥

अर्थः—विकारार्थक प्रत्यय के परे रहते भसंज्ञक अश्मन् की टि का लोप कहना चाहिये।

व्याख्या—यह वार्त्तिक **नस्तद्धिते** (९१९) सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है। यह **अन्** (१०२४) सूत्र का अपवाद है।

'आश्मन्+अ' यहां **अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः** (वा० ८७) इस प्रकृत-वार्त्तिक से टि का लोप हो कर—आश्म्+अ=आश्म। अब विशेष्यानुसार पुंलिङ्ग में विभक्तिकार्य करने से 'आश्मः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। विशेष्य के स्त्रीलिङ्ग होने पर **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) से ङीप् हो जायेगा—आश्मी प्रतिमा (पत्थर से बनी मूर्त्ति)।

तस्य विकारः (१११०) के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

भस्मनो विकारो भास्मनः (भस्म का विकार अर्थात् राख से बना कोई पदार्थ)। यहां 'भस्मन् ङस्' से विकार अर्थ में **तस्य विकारः** (१११०) सूत्र से अण् प्रत्यय हो कर प्रातिपदिकसंज्ञा, सुँब्लुक् और **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदिवृद्धि करने से 'भास्मनः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[2] यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि **नस्तद्धिते** (९१९) द्वारा प्राप्त टिलोप का **अन्** (१०२४) द्वारा प्रकृतिभाव के कारण निषेध हो जाता है। प्रकृत-वार्त्तिक की प्रवृत्ति यहां नहीं होती क्योंकि उस में केवल अश्मन् का ही उल्लेख है।

---

१. **पाषाण-प्रस्तर-ग्रावोपलाऽश्मानः शिला दृषद्** इत्यमरः।
पत्थरवाची अश्मन्शब्द नकारान्त पुंलिङ्ग होता है। यथा—
अश्मापि याति देवत्वं महद्भिः सुप्रतिष्ठितः। (हितोप० प्रस्तावना)

२. **नव-नग-वनरेखा-श्याम-मध्याभिराभिः**
स्फटिक-कटक-भूमिर्नाटयत्येष शैलः।
अहिपरिकरभाजो भास्मनैरङ्गरागै-
रधिगतधवलिम्नः शूलपाणेरभिख्याम् ॥ (माघ० ४.६५)

तस्य अवयवः / तस्य विकारः

मृत्तिकाया विकारो मार्त्तिकः (मृत्तिका[1] का विकार अर्थात् मिट्टी से बना कोई पदार्थ)। 'मृत्तिका ङस्' से विकार अर्थ में **तस्य विकारः** (१११०) से अण् प्रत्यय, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि एवं **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक आकार का लोप कर विभक्ति-कार्य करने से 'मार्त्तिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अब अवयव अर्थ में प्रत्यय का विधान करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**११११**)

अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः ।४।३।१३३॥

चाद् विकारे। मयूरस्य अवयवो विकारो वा मायूरः। मौर्वं काण्डं भस्म वा। पैप्पलम् ॥

अर्थः—प्राणिवाचक, ओषधिवाचक एवं वृक्षवाचक षष्ठचन्त प्रातिपदिकों से अवयव अर्थ में भी अण् तद्धितप्रत्यय हो। 'च' कथन के कारण पूर्वोक्त विकार अर्थ में भी प्रत्यय हो जायेगा।

व्याख्या—अवयवे ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः ।५।३। अण् ।१।१। (**प्राग्दीव्यतोऽण्** अधिकार से)। **तस्य विकारः** (१११०) सूत्र का अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—प्राणिनश्च ओषधयश्च वृक्षाश्च प्राण्योषधिवृक्षाः, तेभ्यः = प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः। इतरेतर-द्वन्द्वः। अर्थः—(तस्य = षष्ठचन्तेभ्यः) षष्ठचन्त (प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः) प्राणिवाचक, ओषधिवाचक एवं वृक्षवाचक प्रातिपदिकों से (अवयवे विकारे च) अवयव और विकार दोनों अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है।

यह विधिसूत्र भी है और अधिकारसूत्र भी।[2] इस का अधिकार चतुर्थाध्याय के तृतीयपाद के अन्त तक अर्थात् सम्पूर्ण विकारप्रकरण में रहता है। इस विकारप्रकरण में यदि प्राणिवाचक ओषधिवाचक या वृक्षवाचक प्रातिपदिक से किसी भी सूत्रद्वारा प्रत्यय होगा तो वह विकार और अवयव दोनों अर्थों में होगा परन्तु अन्य प्रातिपदिकों

---

१. मृद्शब्द से स्वार्थ में **मृदस्तिकन्** (५.४.३९) सूत्र द्वारा तिकन् प्रत्यय कर स्त्रीत्व में **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से टाप् करने पर 'मृत्तिका' शब्द निष्पन्न होता है।

२. अयमधिकारः, तेन वक्ष्यमाणाः प्रत्ययाः प्राण्यादिभ्यस्त्रिभ्योऽर्थद्वयेऽन्येभ्यस्तु विकार एवेति नागेशः। परन्तु इसे केवल अधिकारसूत्र भी नहीं माना जा सकता क्योंकि केवल अधिकारसूत्र रहते इस का कार्य अपनी निश्चित अवधि तक अनुवृत्तिप्रदान करना ही होता, स्वयं में कुछ कार्य करने की शक्ति न होती। इस से मौर्वम्, पैप्पलम् आदि प्रयोग जहां अण् की प्रवृत्ति होती है न बन सकते। इन की सिद्धि **तस्य विकारः** (१११०) सूत्र से विकार अर्थ में तो हो जाती किन्तु अवयव अर्थ में न हो सकती क्योंकि वहां कोई अग्रिमसूत्र नहीं लगता। अतः इस सूत्र को अधिकारसूत्र और विधिसूत्र दोनों ही मानना उचित है।

से केवल विकार अर्थ में ही होगा—यह इस अधिकार का अभिप्राय है। जैसाकि नारायणभट्ट ने प्रक्रियासर्वस्व में कहा है—

प्राण्योषधितरुभ्यस्तु विकारावयवार्थयोः ।
अन्येभ्यस्तु विकारेऽर्थे प्रत्ययाः स्युरतः परम् ॥

सूत्र के उदाहरण यथा—

मयूरस्य अवयवो विकारो वा मायूरः (मोर के टांग, सिर, गरदन आदि अवयव अथवा मोर के विकार मांस सूप आदि)। मयूरशब्द प्राणिवाचक है अतः 'मयूर ङस्' इस षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से **अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः** (१११२) इस प्रकृत अधिकार की सहायता से अवयव या विकार अर्थ में **प्राणिरजतादिभ्योऽञ्** (४.३.१५२)[1] सूत्रद्वारा अञ् तद्धितप्रत्यय हो कर तद्धितान्त की प्रातिपदिकसंज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुँप् का लुक्, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'मायूरः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[2]

इसीप्रकार—कपोतस्यावयवो विकारो वा कापोतः। तित्तिरस्यावयवो विकारो वा तैत्तिरः। इत्यादि।

मूर्वाया अवयवो विकारो वा मौर्वम् (मूर्वानामक ओषधि का अवयव काण्ड, मूल आदि अथवा मूर्वा का विकार भस्म = राख आदि)। मूर्वा एक ओषधि है अतः 'मूर्वा ङस्' इस षष्ठ्यन्त से प्रकृत **अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः** (१११२) सूत्रद्वारा अवयव या विकार अर्थ में अण् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि एवं **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक आकार का लोप करने से—मौर्व। विशेष्यानुसार लिङ्ग-विभक्ति लाने पर 'मौर्वम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। मौर्वं मूलम्, मौर्वं काण्डम्, मौर्वं भस्म इत्यादि।

पिप्पलस्यावयवो विकारो वा पैप्पलम् (पीपल के पेड़ का अवयव मूल काण्ड आदि अथवा पीपल का विकार भस्म-राख आदि)। पीपल एक सुप्रसिद्ध पेड़ है अतः 'पिप्पल ङस्' इस षष्ठ्यन्त से पूर्वोक्तप्रकारेण अवयव या विकार अर्थ में प्रकृतसूत्रद्वारा औत्सर्गिक अण् प्रत्यय करने पर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'पैप्पलम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

---

१. **प्राणिरजतादिभ्योऽञ्** (४.३.१५२)। अर्थः—प्राणिवाचकों तथा रजतादिगणपठित शब्दों से विकार और अवयव अर्थों में तद्धित अञ् प्रत्यय होता है। लघुसिद्धान्त-कौमुदी में इस सूत्र का उल्लेख नहीं किया गया। वरदराजजी ने शायद यह सोचा होगा कि प्रकृत (१११२) सूत्र से अण् प्रत्यय करने पर भी 'मायूरः' सिद्ध हो जाता है क्योंकि अण् और अञ् का भेद तो स्वर लगाने में ही होता है (अञ् करने पर आद्युदात्त तथा अण् करने पर अन्तोदात्तस्वर होता है) और वह स्वरप्रकरण इस ग्रन्थ में रखा ही नहीं गया।

२. मायूरं व्यजनम् (मोरपंखों का चंवर आदि)। यहां **तस्येदम्** (११०९) से अण् प्रत्यय समझना चाहिये। क्योंकि मोर के पंखों से बना चंवर या पंखा मोर का न तो विकार है और न ही अवयव।

मयट्

अन्य उदाहरण यथा—कारीरं[1] काण्डं भस्मादि वा। खादिरं काण्डं भस्मादि वा। बैल्वं[2] काण्डं भस्मादि वा।

अब उपर्युक्त दोनों अर्थों में मयट् प्रत्यय का वैकल्पिक विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१११२)

मयड् वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः ।४।३।१४१॥

प्रकृतिमात्राद् मयड् वा स्याद्विकारावयवयोः। अश्ममयम्। आश्मनम्। अभक्ष्येत्यादि किम्? मौद्गः सूपः। कार्पासम् आच्छादनम्॥

अर्थः—प्रकृतिमात्र अर्थात् षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से विकार और अवयव अर्थों में विकल्प कर के मयट् प्रत्यय हो भाषा में, परन्तु वह विकार वा अवयव भक्ष्य (खाने योग्य वस्तु) और आच्छादन (ओढ़ने योग्य वस्तु) न होने चाहियें।

व्याख्या—मयट् ।१।१। वा इत्यव्ययपदम्। एतयोः ।७।२। भाषायाम् ।७।१। अभक्ष्याच्छादनयोः ।७।२। **तस्य विकारः** (१११०) से 'तस्य' पद का अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं। समासः—भक्ष्यञ्च आच्छादनं च भक्ष्याच्छादने, तयोः = भक्ष्याच्छादनयोः, न भक्ष्याच्छादनयोः = अभक्ष्याच्छादनयोः, इतरेतरद्वन्द्वपूर्वनञ्तत्पुरुषः। अर्थः—(तस्य = षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से (एतयोः = प्रकरणप्राप्तयोर्विकारावयवयोः) विकार और अवयव अर्थों में (वा) विकल्प कर के (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (मयट्) मयट् प्रत्यय हो जाता है (भाषायाम्) भाषा में, परन्तु वह विकार वा अवयव (अभक्ष्याच्छादनयोः) भक्ष्य और आच्छादन न होना चाहिये।

मयट् में अन्त्य टकार इत् है, 'मय' मात्र शेष रहता है। स्त्रीत्व में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) द्वारा ङीप् प्रत्यय करने के लिये इसे टित् किया गया है।

मुनिवर पाणिनि के काल में संस्कृतभाषा बोलचाल की भाषा थी अतः आचार्य ने उसे 'भाषा' शब्द से व्यवहृत किया है। उस समय वैदिकभाषा बोलचाल में न आती थी।

सावधान—इस सूत्र की वृत्ति (संस्कृतार्थ) में 'प्रकृतिमात्रात्' के कथन से भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये। यहां भी **अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः** (११११) वाला अधिकार लागू है। प्रकृत मयट् प्रत्यय प्राणी ओषधि और वृक्षों के वाचक प्रातिपदिकों से विकार और अवयव दोनों अर्थों में तथा अन्यों से केवल विकार अर्थ में ही होगा।[3]

---

१. **पलाशादिभ्यो वा** (४.३.१३९) सूत्र से अञ् तथा पक्ष में अण् हो कर एकसमान रूप बनते हैं। इसीप्रकार 'खादिरम्' में जानना चाहिये।

२. यहां **अनुदात्तादेश्च** (४.३.१३८) से प्राप्त अञ् प्रत्यय का बाध कर **बिल्वादिभ्योऽण्** (४.३.१३४) से अण् हो जाता है।

३. अतः इस सूत्र पर दिये उदाहरण 'अश्ममयम्' का अर्थ 'पत्थर का अवयव या विकार' करने वाले व्याख्याकारों से सावधान रहना चाहिये।

उदाहरण यथा—

अश्मन्शब्द के दो अर्थ हैं। एक—पत्थर, तथा दूसरा—व्यक्तिविशेष। पत्थर-वाचक 'अश्मन् ङस्' से पूर्वोक्त **अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः** (१११११) अधिकार के अनुसार केवल विकार अर्थ में ही प्रकृत **मयड् वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः** (१११२) सूत्रद्वारा विकल्प से मयट् प्रत्यय होगा, अवयव अर्थ में नहीं। मयट्पक्ष में—सुँब्लुक् कर **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) से पदत्व के कारण अश्मन् के नकार का **न लोपः-प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) सूत्र से लोप हो जाने से 'अश्ममयम्' (अश्मनो विकारोऽश्म-मयम्) रूप सिद्ध हो जायेगा। मयट् के अभावपक्ष में **तस्य विकारः** (१११०) से औत्सर्गिक अण् हो कर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा **अन्** (१०२४) सूत्रद्वारा प्राप्त प्रकृतिभाव का बाध कर **अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः** (वा० ८७) से टि (अन्) का लोप कर देने से 'आश्मम्' (अश्मनो विकार आश्मम्) रूप सिद्ध होगा। इस प्रकार विकार अर्थ में 'अश्ममयम्' तथा 'आश्मम्' दो रूप सिद्ध होंगे।

अश्मन् नामक किसी व्यक्ति का उल्लेख भी महाभारत में आया है।[1] तब प्राणिवाचक होने से पूर्वोक्त अधिकार के अनुसार प्रकृतसूत्र से अवयव और विकार दोनों अर्थों में मयट् प्रत्यय हो जायेगा—अश्ममयम्। मयट् के अभाव में **अवयवे च प्राण्यो-षधिवृक्षेभ्यः** (११११) सूत्र से अण् हो जायेगा। तब सुँब्लुक् और आदिवृद्धि किये जाने पर 'आश्मन् + अ' इस स्थिति में **अन्** (१०२४) सूत्रद्वारा प्रकृतिभाव हो कर 'आश्मनम्' बनेगा।[2]

शङ्का—इस प्रकृतसूत्र में 'विकारे' और 'अवयवे' की अनुवृत्ति तो पूर्व से आ ही रही थी पुनः इसके लिये सूत्र में 'एतयोः' का कथन क्यों किया गया है?

समाधान—'एतयोः' के कथन का प्रयोजन यह है कि अष्टाध्यायी में इस सूत्र से आगे के अपवादसूत्रों के विषय में भी इस सूत्र की प्रवृत्ति हो जाये,[3] अन्यथा परत्व के कारण अपने विषय में वे ही प्रवृत्त हो जाते मयट् न हो पाता। यथा—कापोतम् कपोतमयम्; लौहम्-लोहमयम् यहां **प्राणिरजतादिभ्योऽञ्** (४.३.१५२) से अञ् प्रत्यय होता है, इस के विषय में मयट् प्रत्यय भी प्रवृत्त हो जायेगा। इस का विशेष विवेचन पदमञ्जरी आदि में किया गया है।

अब 'अभक्ष्याच्छादनयोः' के लिये प्रत्युदाहरण दर्शाते हैं—

मुद्गानां विकारो मौद्गः सूपः (मूंगों का विकार अर्थात् मूंग की दाल आदि)।

---

१. देखें महाभारत शान्तिपर्व अ० (२७)।

२. यहां विकार अर्थ में **अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः** (वा० ८७) से टि का लोप न होगा। कारण कि वार्त्तिक में 'अश्मन्' से प्रसिद्धत्वात् पत्थरवाचक अश्मन् का ही ग्रहण व्याख्याकारों को अभीष्ट है।

३. पूर्वसूत्रों के विषय में तो परत्व के कारण प्रथम वैकल्पिक मयट् हो कर मयट् के अभावपक्ष में वे भी प्रवृत्त हो चरितार्थ हो जाते हैं।

मयट्

यहां 'मुद्ग आम्' से विकार अर्थ में **बिल्वादिभ्योऽण्** (४.३.१३४) सूत्र से तद्धित अण् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि एवं भसंज्ञक अकार का लोप कर सिभक्ति लाने से 'मौद्गः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यहां विकार अर्थ होने पर भी मूंग के सूप के भक्ष्य पदार्थ होने के कारण मयट् नहीं होता।

कर्पासस्य विकारः कार्पासम् आच्छादनम् (कपास का विकार अर्थात् सूती ओढ़ने का वस्त्र)। यहां 'कर्पास ङस्'[1] से विकार अर्थ में **बिल्वादिभ्योऽण्** (४.३.१३४) सूत्र से अण्प्रत्यय होकर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि एवं भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'कार्पासम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यहां आच्छादन होने के कारण मयट् नहीं होता।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा विकाराद्यर्थ में मयट् का नित्य विधान करते हैं —

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११९३) **नित्यं वृद्धशरादिभ्यः** ।४।३।१४२॥

आम्रमयम् । शरमयम् ॥

अर्थः—षष्ठ्यन्त वृद्धसंज्ञकों तथा शरादिगणपठित षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से यथोचित विकार और अवयव अर्थों में तद्धितसंज्ञक मयट् प्रत्यय नित्य हो भाषा में, परन्तु वह विकार या अवयव भक्ष्य और आच्छादन में वर्त्तमान न होने चाहियें।

व्याख्या—नित्यम् इति द्वितीयैकवचनान्तं क्रियाविशेषणम्। वृद्धशरादिभ्यः ।५।३। तस्य ।५।३। (**तस्य विकारः** सूत्र से। षष्ठ्यन्त के अनुकरण तस्य' से परे पञ्चमीबहुवचन का सौत्र लुक् हुआ है)। मयट् ।१।१। एतयोः ।७।२। भाषायाम् ।७।१। अभक्ष्याच्छादनयोः ।७।२। (**मयड् वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः** सूत्र से)। समासः— शरः (शरशब्दः) आदिर्येषान्ते शरादयः, वृद्धाश्च शरादयश्च वृद्धशरादयस्तेभ्यः= वृद्धशरादिभ्यः, बहुव्रीहिगर्भद्वन्द्वः। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तस्य=षष्ठ्यन्तेभ्यः) षष्ठ्यन्त जो (वृद्धशरादिभ्यः) वृद्ध-संज्ञक एवं शरादिगणपठित प्रातिपदिक, उन से (एतयोः) विकार और अवयव अर्थों में (तद्धितः मयट्) तद्धितसंज्ञक मयट् प्रत्यय (नित्यम्) नित्य हो जाता है (भाषायाम्) भाषा में, परन्तु वह विकार या अवयव (अभक्ष्याच्छादनयोः) भक्ष्य या आच्छादन में वर्त्तमान न होने चाहियें।

पूर्वसूत्रद्वारा विकल्प से प्राप्त यह मयट् वृद्धसंज्ञकों एवं शरादियों से नित्य किया जा रहा है। जिस शब्द में पहला स्वर वृद्धिसंज्ञक हो उस को वृद्ध कहते हैं (१०७५)। शरादिगण में सात शब्द पढ़े गये हैं—शर, दर्भ, मृद्, कुटी, तृण, सोम और बल्वज। प्रथम वृद्धसंज्ञकों से उदाहरण यथा—

आम्रस्य विकारोऽवयवो वा आम्रमयम् (आम्रवृक्ष का विकार या उसका अवयव)। आम्रशब्द का आदि अच् (आ) वृद्धिसंज्ञक है अतः **वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्**

---

१. 'कर्पासी ङस्' इत्येवं केचिदाहुः।

वृद्धम् (१०७५) सूत्रद्वारा 'आम्र' शब्द वृद्धसंज्ञक है। 'आम्र ङस्' इस षष्ठ्यन्त वृद्ध-प्रातिपदिक से विकार या अवयव अर्थ में **मयड् वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः** (१११२) इस पूर्वसूत्र से प्राप्त विकल्प का बाध कर **नित्यं वृद्धशरादिभ्यः** (१११३) सूत्रद्वारा नित्य मयट् प्रत्यय हो जाता है—आम्र ङस् + मयट्। अब मयट् के टकार अनुबन्ध का लोप एवं **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (ङस्) का भी लुक् कर विभक्ति-कार्य करने से 'आम्रमयम्' यह एक ही प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

शरादियों से उदाहरण यथा –

शरस्य विकारोऽवयवो वा शरमयम् (शर अर्थात् सरकण्डे का विकार या अवयव)। शरशब्द शरादियों में पढ़ा गया है अतः 'शर ङस्' से विकार या अवयव अर्थ में प्राप्त विकल्प (१११२) का बाध कर प्रकृत **नित्यं वृद्धशरादिभ्यः** (१११३) सूत्रद्वारा नित्य मयट् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् और विभक्तिकार्य करने से 'शरमयम्' यह एक ही प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

यहां यह विशेषतः ध्यातव्य है कि 'आम्र' वृक्षवाची तथा 'शर' ओषधिवाची प्रातिपदिक हैं अतः **अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः** (११११) अधिकार के अनुसार इन से विकार और अवयव दोनों अर्थों में मयट् हो जाता है।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) शाकस्य विकारोऽवयवो वा शाकमयम् (वृद्धत्वान्मयट्)।
(२) शालस्य विकारोऽवयवो वा शालमयम् (,,)।
(३) दर्भस्य विकारोऽवयवो वा दर्भमयम् (शरादित्वान्मयट्)।
(४) तृणस्य विकारोऽवयवो वा तृणमयम् (,,)।
(५) सोमस्य विकारोऽवयवो वा सोममयम् (,,)।
(६) कुट्या विकारः कुटीमयम् (,,)।
(७) मृदो विकारो मृन्मयम्[1] (,,)।

पूर्वसूत्र से वैकल्पिक मयट् प्राप्त था ही, यहां इस का पुनर्विधान 'नित्यम्' कथन के विना भी नित्यार्थ समझा जा सकता था तो पुनः प्रकृतसूत्र (१११३) में 'नित्यम्' पद का ग्रहण क्यों किया गया है? इस का उत्तर यह दिया जाता है कि इस तरह सिद्ध हो जाने पर भी जब आचार्य पुनः 'नित्यम्' पद का ग्रहण कर रहे हैं तो इस से यह ज्ञापित होता है कि वे क्वचिद् अन्यत्र भी मयट् का नित्यविधान चाहते हैं। इस से वृत्तिकार आदियों ने विकाराद्यर्थ में प्रत्येक एकाच् प्रातिपदिक से नित्य मयट् का विधान

१. 'मृद् + मय' इस स्थिति में **प्रत्यये भाषायां नित्यम्** (वा० ११) वार्त्तिक से दकार को नित्य अनुनासिक नकार हो जाता है। इस अनुनासिक नकार के त्रिपाद्यसिद्ध होने से न तो **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) सूत्रद्वारा उस का लोप होता है और न ही उसे णत्व। अतः 'मृण्मयम्' लिखना अशुद्ध है, 'मृन्मयम्' का ही साधुत्व है।

मयट्

कहा है।[1] यथा—त्वचो विकारः—त्वङ्मयम्। वाचो विकारः—वाङ्मयम्। स्रजो विकारः—स्रङ्मयम्। त्वच्, वाच् और स्रज् तीनों शब्द एकाच् हैं अतः इन से नित्य मयट् हो कर सुँब्लुक् **चोः कुः** (३०६) से कुत्व तथा **प्रत्यये भाषायां नित्यम्** (वा० ११) से नित्य अनुनासिक ङकार हो जाता है। इसीतरह अपां विकारः—अम्मयम् (पदान्त पकार को जश्त्वेन बकार हो कर उसे नित्य अनुनासिक मकार हो जाता है)।[2]

प्रकृतसूत्र में भी 'अभक्ष्याच्छादनयोः' का अनुवर्त्तन होता है। इस से—शाकस्य विकारः शाक उपदंशः (सुरा के साथ भक्ष्य शाकनिर्मित चटनी आदि), दर्भाणां विकारो दार्भं वासः (दर्भनिर्मित आच्छादन) इत्यादियों में भक्ष्य वा आच्छादन की वाच्यता में मयट् नहीं होता औत्सर्गिक अण् ही होता है।

अब गोशब्द से पुरीष अर्थ में मयट् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१११४) **गोश्च पुरीषे** ।४।३।१४३॥

गोः पुरीषं गोमयम् ॥

अर्थः—षष्ठ्यन्त 'गो' प्रातिपदिक से पुरीष (गोबर) अर्थ में तद्धितसंज्ञक मयट् प्रत्यय नित्य हो।

व्याख्या—गोः ।५।१। ('गोः पुरीषम्' में षष्ठ्यन्त गोशब्द का यहां अनुकरण किया गया है। इस से आगे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये)। च इत्यव्यय-पदम्। पुरीषे ।७।१। नित्यम् इति द्वितीयैकवचनान्तं क्रियाविशेषणम् (**नित्यं वृद्धशरादिभ्यः** सूत्र से)। मयट् ।१।१। (**मयड् वैतयोर्भाषायाम्०** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(गोः=षष्ठ्यन्ताद् गो-प्रातिपदिकात्) षष्ठ्यन्त 'गो' प्रातिपदिक से परे (पुरीषे) मल अर्थात् गोबर अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (मयट्) मयट् प्रत्यय (नित्यम्) नित्य हो जाता है।

गोबर न तो गौ का अवयव है और न ही विकार, अतः यहां **तस्येदम्** (११०९) के विषय में मयट् का विधान समझना चाहिये। विकार और अवयव अर्थ में अग्रिम-सूत्रद्वारा यत् प्रत्यय का विधान करेंगे।

गोः पुरीषं गोमयम् (गौ का मल अर्थात् गोबर)। 'गो ङस्' से पुरीष (मल) अर्थ में प्रकृत **गोश्च पुरीषे** (१११४) सूत्रद्वारा मयट् प्रत्यय हो कर **सुँपो धातुप्राति-**

---

१. नित्यग्रहणं किम्? यावताऽऽरम्भसामर्थ्यादेव नित्यं भविष्यति। एकाचो नित्यं मयटमिच्छन्ति। तदनेन क्रियते—त्वङ्मयम्, स्रङ्मयम्, वाङ्मयमिति।

(काशिका ४.३.१४२)

२. इसी अर्थ में 'आप्यम्' प्रयोग भी लोक में प्रसिद्ध है। उस की उपपत्ति इस प्रकार समझनी चाहिये—

अपाम् इदम् आपम् [**तस्येदम्** (११०९) इत्यण्]। अब इस से स्वार्थ में **चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे उपसंख्यानम्** (वा० ५.१.१२३) द्वारा ष्यञ् प्रत्यय करने से—आपमेव आप्यम्। अमरकोषकार ने कहा भी है—**त्रिषु द्वे आप्यमम्मयम्**।

यस्य विकारः / यस्य अवयवाः यत्

पदिकयोः (७२१) से सुँप् (ङस्) का लुक् तथा अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'गोमयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

विशेष वक्तव्य—विकार और अवयव के इस प्रकरण में **गोश्च पुरीषे** (१११४) सूत्र आचार्य ने कैसे पढ़ दिया ? इस का उत्तर नागेशभट्ट इस प्रकार देते हैं—गोभुक्ता-हारविकारे गोविकारत्वमारोप्य प्रकरणाऽबाधोऽत्रेति बोध्यम् । (लघुशब्देन्दुशेखरे)

अब गो और पयस् प्रातिपदिकों से विकाराद्यर्थ में यत् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(**१११५**) **गोपसोर्यत्** ।४।३।१५८।।

गव्यम् । पयस्यम् ।।

अर्थः—षष्ठचन्त गो और पयस् प्रातिपदिकों से यथाप्राप्त विकार और अवयव अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—गोपयसोः ।५।२। (अनुकृत षष्ठीद्विवचनान्त 'गोपयसोः' से परे पञ्चमी के द्विवचन का सौत्र लुक् हुआ है)। यत् ।१।१। एतयोः ।७।२। (**मयड्वैतयोर्भाषायाम्०** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(गोपयसोः=षष्ठचन्ताभ्यां गोपयस्शब्दाभ्याम्) षष्ठचन्त गो और पयस् प्रातिपदिकों से (एतयोः) विकार और अवयव अर्थों में (तद्धितः) तद्धित-संज्ञक (यत्) यत् प्रत्यय हो जाता है। यत् में तकार इत् है, 'य' मात्र शेष रहता है। तकार अनुबन्ध स्वरार्थ जोड़ा गया है।

अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः (११११) इस अधिकार के अनुसार गोशब्द से विकार और अवयव दोनों अर्थों में तथा पयस्शब्द से केवल विकार अर्थ में ही **यत्** प्रत्यय होगा। उदाहरण यथा—

गोर्विकारोऽवयवो वा गव्यम् (गौ का विकार या गौ का अवयव)। 'गो ङस्' इस षष्ठचन्त से **गोपयसोर्यत्** (१११५) इस प्रकृतसूत्रद्वारा विकार या अवयव अर्थ में तद्धित यत् प्रत्यय होकर तकार अनुबन्ध का लोप, सुँब्लुक्, **वान्तो यि प्रत्यये** (२४) से ओकार को अव् आदेश तथा अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'गव्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। गव्यं पयः, गव्यं दधि, गव्यं घृतम्,[1] गव्यं सक्थि इत्यादि।

यद्यपि गोशब्द से विकारादि अर्थ में अण् या अञ् प्रत्यय के प्रसङ्ग में **गोरजादि-प्रसङ्गे यत्** (वा० ७०) वार्त्तिकद्वारा यत् प्रत्यय करने से भी 'गव्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है तथापि **मयड् वैतयोर्भाषायाम्०** (१११२) से प्राप्त पाक्षिक मयट् अथवा

---

१. गौ के दूध आदि को गौ का विकार कैसे माना जा सकता है ? दूध के प्रति गौ को उपादानकारण (समवायिकारण) तो माना नहीं जा सकता। **इस** का **उत्तर** भी **गोश्च पुरीषे** (१११४) सूत्र पर दिये नागेशोक्त उत्तर की तरह **जानना** चाहिये। अर्थात् गौ के भुक्त आहार में गोत्व का आरोप कर दूध को गौ का विकार समझना चाहिये।

एकाचो नित्यं मयटमिच्छन्ति (वा० ४.३.१४२) द्वारा नित्य मयट् प्रत्यय हो कर कहीं 'गोमयम्' यह अनिष्ट रूप न बन जाये इस के लिये इस सूत्र में पुनः गोशब्द से यत् का विधान किया गया है ।[1]

पयस् से यत् का उदाहरण यथा—

पयसो विकारः पयस्यम् (दूध का विकार दही, पनीर आदि) । 'पयस् ङस्' से विकार अर्थ में **गोपयसोर्यत्** (१११५) इस प्रकृतसूत्र से यत् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् तथा विभक्तिकार्य करने से 'पयस्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । ध्यान रहे कि यहां **यचि भम्** (१६५) से भसञ्ज्ञा के कारण सकार को रुँत्व नहीं होता ।

विशेष वक्तव्य—जैसे गोशब्द से **गोरजादिप्रसङ्गे यत्** (वा० ७०) वार्तिकद्वारा यत् प्रत्यय के प्राप्त होने पर प्रकृतसूत्र से यत् का पुनर्विधान मयट् प्रत्यय को रोक देता है वैसे पयस् के विषय में सम्भव नहीं । क्योंकि यहां किसी भी तरह पहले यत् प्राप्त न था । अतः **मयड् वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः** (१११२) से पक्ष में मयट् में मयट् भी हो जायेगा । मयट् के परे होने पर **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) द्वारा पदत्व के कारण सकार को रुँत्व, **हशि च** (१०७) से उत्व तथा **आद् गुणः** (२७) से गुण हो कर 'पयोमयम्' रूप भी बनेगा ।

अभ्यास [६]

(१) विग्रहनिर्देशपूर्वक निम्नस्थ तद्धितान्तों की ससूत्र सिद्धि करें—
१. पयस्यम् । २. गव्यम् । ३. भास्मनः । ४. मार्त्तिकः । ५. मायूरः । ६. मौर्वम् । ७. पैप्पलम् । ८. आश्मः । ९. मृन्मयः । १०. आम्रमयम् ।

(२) निम्नस्थ सूत्रों और वार्त्तिकों की व्याख्या करें—
१. मयड् वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः । २. नित्यं वृद्धशरादिभ्यः । ३. गोश्च पुरीषे । ४. गोपयसोर्यत् । ५. अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः । ६. तस्य विकारः । ७. अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः ।

(३) अन्तर स्पष्ट करें—
गोमयम् —गव्यम् । आश्मः—आश्मनः । दार्भम्—दर्भमयम् । शाकः—शाकमयः ।

(४) **मयड् वैतयोर्०** सूत्र में 'एतयोः' ग्रहण का प्रयोजन स्पष्ट करें ।

(५) **अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः** सूत्र को विधि मानें या अधिकार । सहेतुक स्पष्ट करें ।

(६) **गोपयसोर्यत्** में गोशब्द से यत् का विधान क्यों किया गया है जबकि **गोरजादिप्रसङ्गे यत्** द्वारा वह सिद्ध था ही ?

(७) 'तस्य' पद पूर्वतः लब्ध होते हुए भी **तस्य विकारः** में पुनः क्यों गृहीत किया गया है ?

---

१. **सर्वत्र गोरजादिप्रसङ्गे यदस्त्येव, मयड्विषये तु विधीयते** —(काशिका) ।

(८) **गोश्च पुरीषे** सूत्र विकारप्रकरण में कैसे पढ़ा गया है ?
(९) **अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः** वार्त्तिक किस का अपवाद है ?
(१०) **नित्यं वृद्धशरादिभ्यः** सूत्र में 'नित्यम्' ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?
(११) 'अश्ममयम्' का अर्थ 'पत्थर का अवयव' करना कहां तक उचित है ?
(१२) विकाराद्यर्थकप्रकरण को प्राग्दीव्यतीयप्रकरण कहना कहां तक उचित है ?
(१३) निम्नस्थ अशुद्धियों का सहेतुक शोधन कीजिये —
[क] दार्भं मुञ्चत्युटजपटलं वीतनिद्रो मयूरः ।[1]
[ख] काञ्चनी वासयष्टिः (मेघदूते ७९) ।[2]
[ग] दारवं पात्रम् ।[3]
[घ] रजतमयी शृङ्खला ।[4]
[ङ] कार्पासमयानि वस्त्राण्यारोग्याय कल्पन्ते ।[5]
[च] मौक्तिको हारः ।[6]
[छ] आप्याः कणाः ।[7]

---

१. शाकुन्तलचतुर्थाङ्कगतस्य प्रक्षिप्तपद्यस्य द्वितीयोऽयं चरणः । अत्र दार्भमिति चिन्त्यम् । शरादौ पाठाद् **नित्यं वृद्धशरादिभ्यः** (१११३) इति नित्यं मयटि 'दर्भमयम्' इत्युचितम् ।

२. काञ्चनशब्दो हि **वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम्** (१०७५) इति वृद्धसञ्ज्ञः । **नित्यं वृद्धशरादिभ्यः** (१११३) इति विकारे मयटि **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) इति ङीपि च कृते 'काञ्चनमयी' इत्युचितम् । स्थितस्य गतिश्चिन्तनीयेति चेद् —**अपवादविषयेऽपि क्वचिदुत्सर्गोऽभिनिविशते** इत्याश्रित्य औत्सर्गिकेऽणि ततो ङीपि 'काञ्चनी' इति सिध्यति ।

३. वृद्धसञ्ज्ञो हि दारुशब्दस्तेन **नित्यं वृद्धशरादिभ्यः** (१११३) इति मयटा भाव्यम् । अतो 'दारुमयम्' इत्येव वक्तव्यम् ।

४. रजतशब्दाद्विकारेऽर्थे **प्राणिरजतादिभ्योऽञ्** (४.३.१५२) इति अञि **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) इति ङीपि 'राजती शृङ्खला' इति भवितव्यम् । **अनुदात्तादेश्च** (४.३.१३८) इति सिद्धेऽप्यञि पुनरञ्विधानं मयटो बाधनार्थम् ।

५. आच्छादने वर्त्तमानत्वादत्र मयटोऽप्राप्तिः । **बिल्वादिभ्योऽण्** (४.३.१३४) इत्यणि 'कार्पासानि वस्त्राणि' इति साधु ।

६. वृद्धसञ्ज्ञो हि मौक्तिकशब्दः । तेन **नित्यं वृद्धशरादिभ्यः** (१११३) इति मयटि मौक्तिकमयो हार इत्येवोचितम् । मौक्तिकानामयम् इति विग्रहे तु **वृद्धाच्छः** (१०७७) इति शैषिके छे मौक्तिकीयो हार इति वक्तव्यं स्यात् ।

७. एकाच् अप्शब्दः । 'अपां विकाराः' इति विग्रहे **एकाचो नित्यं मयटमिच्छन्ति** (वा०) इति नित्यं मयटि 'अम्मयाः कणाः' इति भवितव्यम् । अवयवार्थे तु दुर्लभो मयट् प्राण्योषधिवृक्षेषु अन्यतमाभावात् । आप्या इतीष्टञ्चेद् —अपामिमे आपाः, **तस्येदम्** (११०९) इति शैषिकोऽण् । आपा एव आप्याः, स्वार्थे ष्यञ् ।

[ज] मुद्गमयः सूपः ।[1]
[झ] मृण्मयं पात्रम् ।[2]
[ञ] शाक उपदंशः ।[3]

[लघु०] इति विकाराद्यर्थकाः ।।

इति प्राग्दीव्यतीयाः ।।

(यहां विकाराद्यर्थक प्रत्ययों का विवेचन समाप्त होता है ।)
(यहां प्राग्दीव्यतीय प्रत्यय भी समाप्त हो जाते हैं ।)

——:०:——

अथ ठगधिकारः

अब तद्धितप्रकरणान्तर्गत ठक् प्रत्यय के अधिकार का वर्णन किया जाता है । ठक् प्रत्यय का विधान तो पीछे **रेवत्यादिभ्यष्ठक्** (१०२६), **अचित्तहस्तिधेनोष्ठक्** (१०५२) आदि कई सूत्रों के द्वारा किया जा चुका है परन्तु यहां ठक् प्रत्यय के अधिकार का वर्णन प्रारम्भ कर रहे हैं जो अष्टाध्यायी के चतुर्थाध्याय के चतुर्थपादस्थ प्रथम-सूत्र से प्रारम्भ हो कर इसी पाद के ७६वें सूत्र तक जाता है । ठक् प्रत्ययान्त शब्द संस्कृतभाषा में प्रचुरमात्रा में पाये जाते हैं । हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में भी संस्कृत से आये ये शब्द बहुप्रचलित हैं ।

[लघु०] अधिकारसूत्रम्—**(१११६) प्राग्वहतेष्ठक् ।४।४।१।।**

तद्वहति० (४.४.७६) इत्यतः प्राक् ठग् अधिक्रियते ।।

अर्थः—यहां से लेकर **तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्** (४.४.७६) इस सूत्र से पूर्व तक ठक् प्रत्यय का अधिकार है ।

---

१. भक्ष्या हि मुद्गाः, अतो **मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः** (१११२) इति न भवति मयट् । **बिल्वादिभ्योऽण्** (४.३.१३४) इति विकारेऽणि मौद्गः सूप इत्येवं वक्तव्यम् ।

२. मृण्मयमित्यत्र णत्वमसाधु । 'मृद्+मय' इति स्थिते **प्रत्यये भाषायां नित्यम्** (वा० ११) इति पदान्तदकारस्यानुनासिके नकारे 'मृन्मयम्' इति भवितव्यम् । ध्यातव्यं यदत्र अनुनासिकस्य त्रिपाद्यसिद्धत्वेन **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) इति लोपो न प्रवर्त्तते । एतस्मादेव कारणाद् **ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्** (वा० २१) इत्यस्याप्यप्रवृत्तिः । किञ्च **पदान्तस्य** (१३९) इत्यनेनापि णत्वं वारयितुं शक्यम् ।

३. यद्यपि शाकशब्दो वृद्धसञ्ज्ञस्तथापि **नित्यं वृद्धशरादिभ्यः** (१११३) इति मयड् न । तत्र 'अभक्ष्याच्छादनयोः' इत्यनुवृत्तेः । उपदंशत्वाद् भक्ष्योऽत्र शाकः । उपदंशः = 'चटनी' इति भाषायाम् ।

तेन दीव्यति

व्याख्या—प्राक् इत्यव्ययपदम् । वहतेः ।५।१। ठक् ।१।१। अर्थः—(वहतेः प्राक्) 'वहति' से पहले (ठक्) ठक् प्रत्यय हो । अष्टाध्यायी के इसी पाद में **तद् वहति रथ-युग-प्रासङ्गम्** (४.४.७६) सूत्र पढ़ा गया है । उस के 'वहति' शब्द का यहां निर्देश किया गया है । तात्पर्य यह है कि **तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्** (४.४.७६) सूत्र से पूर्व पूर्व जितने अर्थ दिये गये हैं उन में ठक् प्रत्यय को अधिकृत किया गया है । प्रत्यय न कहे जाने पर उन अर्थों में ठक् तद्धितप्रत्यय हो जायेगा ।

ठक् प्रत्यय में ककार इत् तथा अकार उच्चारणार्थ है, प्रत्यय का 'ठ्' मात्र ही शेष रहता है । परन्तु इस ठ् का भी किसी शब्द में श्रवण नहीं होता । कारण कि इस ठ् की दो गतियां होती हैं । प्रथम—ठ् को **ठस्येकः** (१०२७) से 'इक' आदेश हो जाता है । दूसरी—यदि प्रातिपदिक के अन्त में इस्, उस्, उक्प्रत्याहार या तकार हो तो **इसुसुक्तान्तात्कः** (१०५२) से ठ् को 'क' आदेश हो जाता है ।

अब ठक्-अधिकार में प्रथम सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१११७)

(१ठक्‌ना) **तेन दीव्यति खनति जयति जितम्** ।४।४।२।।

अक्षैर्दीव्यति खनति जयति जितं वा—आक्षिकः ।।

अर्थः—खेलने वाला, खोदने वाला, जीतने वाला तथा जीता गया—इन अर्थों में करणतृतीयान्त प्रातिपदिक से तद्धितसंज्ञक ठक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तेन ।५।१। ('अक्षैर्दीव्यति' आदियों में करणतृतीयान्त[1] का अनु-करण 'तेन' से किया गया है । इस अनुकरण से परे पञ्चमी विभक्ति का सौत्र लुक् समझना चाहिये) । दीव्यति इति **दिवुँ क्रीडाविजिगीषा०** (दिवा० परस्मै०) इति धातोर्लटि प्रथमपुरुषैकवचनान्तं रूपम् । खनति-इति **खनुँ अवदारणे** (भ्वा० उभय०) इति धातोर्लटि प्रथमपुरुषैकवचनान्तं रूपम् । जयति इति **जि जये** (भ्वा० परस्मै०) इत्यस्य लँटि प्रथमपुरुषैकवचनान्तं रूपम् । जितम् ।१।१। ठक् ।१।१। (**प्राग्वहतेष्ठक्** इस अधिकार से लब्ध) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः**, इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तेन=करणतृतीयान्तात्) करणतृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (दीव्यति खनति जयति जितम् इत्येतेष्वर्थेषु) जूआ खेलने वाला, खोदने वाला, जीतने वाला तथा पासों आदि से जीता गया—इन चार अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय हो जाता है । उदाहरण यथा—

---

१. तेनेति करणे तृतीया । दीव्यत्यादौ कर्तुरुक्तत्वात् । तत्साहचर्याज्जितयोगेऽपि सैव । तेन 'देवदत्तेन जितम्' इत्यत्र न । 'अङ्गुल्या खनति' इत्यादौ तु अनभिधानान्न—इति बृ० शब्देन्दुशेखरे नागेशः ।

अक्षैर्दीव्यति[1] इति आक्षिकः, अक्षैः खनति इति आक्षिकः, अक्षैर्जयति इति आक्षिकः, अक्षैर्जित इति आक्षिकः । पासों से खेलने वाला, पासों से खोदने वाला, पासों से जीतने वाला, अथवा पासों से जीता गया—ये सब 'आक्षिक' कहलायेंगे । 'अक्ष भिस्' इस करणतृतीयान्त प्रातिपदिक से **प्राग्वहतेष्ठक्** (१११६) के अधिकार में प्रकृत **तेन दीव्यति खनति जयति जितम्** (१११७) सूत्रद्वारा खेलने वाला—खोदने वाला—जीतने वाला—जीता गया इन अर्थों में तद्धित ठक् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, ठक् के कित् होने से **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि, **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को 'इक' आदेश तथा भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप करने पर 'आक्षिक' बना । अब विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से पुंलिङ्ग में 'आक्षिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । स्त्रीलिङ्ग में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र से ङीप् हो कर 'आक्षिकी' बनेगा ।

इसीप्रकार—

(१) शलाकाभिर्दीव्यति—शालाकिकः (शलाकाओं से खेलने वाला) ।
(२) हलेन खनति—हालिकः (हल से खोदने वाला) ।
(३) मुद्गरेण जयति—मौद्गरिकः (मुद्गर से जीतने वाला) ।
(४) अस्त्रैर्जितम्—आस्त्रिकम् (अस्त्रों से जीता गया) ।
(५) प्रमाणैर्दीव्यति (व्यवहरति)—प्रामाणिकः (प्रमाणों से व्यवहार करने वाला) ।
(६) तर्केण दीव्यति (व्यवहरति)—तार्किकः (तर्क से चलने वाला) ।
(७) अभ्र्या[2] खनति—आभ्रिकः (काष्ठकुद्दाल से खोदने वाला) ।
(८) कुद्दालेन खनति—कौद्दालिकः (फावड़े से खोदने वाला) ।
(९) अस्त्रेण जयति—आस्त्रिकः (अस्त्रों से जीतने वाला) ।

देवदत्तेन जितम्, शत्रुणा जितम्—इत्यादियों में करणतृतीया न होने से ठक् नहीं होता । इन स्थानों पर **कर्तृकरणयोस्तृतीया** (८९५) द्वारा अनभिहित कर्त्ता में

१. दीव्यति, खनति और जयति अर्थों में संख्या, काल और पुरुष विवक्षित नहीं है केवल कर्तृकारक ही विवक्षित है । इसीप्रकार 'जितम्' में केवल कर्मकारक की ही विवक्षा है भूतकाल आदि की नहीं । इस से अक्षैरदीव्यत्, अक्षैर्देविष्यति आदि अन्य कालों में तथा अक्षैर्दीव्यसि, अक्षैर्दीव्यामि आदि अन्यपुरुषों और अक्षैर्दीव्यतः, अक्षैर्दीव्यन्ति आदि अन्यवचनों में भी ठक् प्रत्यय हो कर 'आक्षिकः' बन जाता है । इसीप्रकार आगे तरति, चरति, रक्षति, उञ्छति आदि में भी समझ लेना चाहिये । यहां एक बात और भी ध्यातव्य है कि दीव्यति आदि तिङन्तों में यद्यपि क्रिया की प्रधानता परिलक्षित होती है तथापि तद्धितवृत्ति में कर्त्ता की ही प्रधानता हुआ करती है । जैसाकि निरुक्त में कहा गया है—**सत्त्वप्रधानानि नामानि** ।

२. **अभ्रिः स्त्री काष्ठकुद्दालः**—इत्यमरः

तृतीया हुई है। 'अङ्गुल्या खनति' इत्यादियों में करणतृतीया होने पर भी अनभिधान (लोकप्रचलाभाव) के कारण तद्धित की उत्पत्ति नहीं होती।

नोट—ग्रन्थकार ने संक्षेपवश सब अर्थों का एक ही उदाहरण 'आक्षिकः' दिया है।

अब इस अधिकार में अन्य अर्थों का निर्देश करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**१११८**) **संस्कृतम्** ।४।४।३॥

दध्ना संस्कृतं दाधिकम्। मारीचिकम् ॥

अर्थः—तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'संस्कृतम्=संस्कार किया गया' अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ठक् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तेन ।५।१। (**तेन दीव्यति खनति जयति जितम्** सूत्र से लुप्त-पञ्चम्यन्त पद)। संस्कृतम् ।१।१। ठक् ।१।१। (**प्राग्वहतेष्ठक्** इस अधिकार से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तेन=तृतीयान्तात्) तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (संस्कृतम् इत्यर्थे) 'संस्कार किया हुआ' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय होता है।

सतो गुणाधानं संस्कारः। किसी पदार्थ के गुणाधान करने—उसे उत्कृष्ट बनाने को 'संस्कृत करना' कहते हैं। उदाहरण यथा—

दध्ना संस्कृतं दाधिकम् ओदनम् (दही से संस्कार किया हुआ—दही के सम्पर्क से गुणयुक्त या स्वादिष्ट बनाया गया भात आदि)। यहां 'दधि टा' इस तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'संस्कृतम्' अर्थ में प्रकृत **संस्कृतम्** (१११८) सूत्र से तद्धित ठक् (ठ्) प्रत्यय, सुँब्लुक्, **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि, **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को 'इक' आदेश और **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक इकार का लोप करने से—दाध्+इक=दाधिक। पुनः विशेष्यानुसार विभक्ति ला कर नपुंसक में 'दाधिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

मरीचैः संस्कृतं मारीचिकम् (कालीमिर्चों द्वारा संस्कृत हुआ भात आदि)। यहां 'मरीच भिस्' इस तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'संस्कृतम्' अर्थ में प्रकृत **संस्कृतम्** (१११८) सूत्र से ठक् (ठ्) प्रत्यय, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि, ठ् को इक आदेश तथा भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) द्वारा लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'मारीचिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

---

१. कालीमिर्च के लिये संस्कृतभाषा में 'मरीच' या 'मरिच' शब्द प्रयुक्त होते हैं। ये दोनों नपुंसकलिङ्ग हैं (देखें अमरकोष में भानुजिदीक्षितव्याख्या)। बालमनोरमाकार ने यहां मरीचिभिः संस्कृतम् (किरणों द्वारा संस्कृत) ऐसा विग्रह लिखा है। इस प्रकार मानने से **यस्येति च** (२३६) द्वारा भसंज्ञक इकार का लोप हो जायेगा।

(१) शृङ्गवेरेण संस्कृतः—शार्ङ्गवेरिकः (अदरक से संस्कृत सूप आदि)।
(२) शुण्ठ्या संस्कृतः—शौण्ठिकः (सोंठ से संस्कृत सूप आदि)।
(३) शर्करया संस्कृतम्—शार्करिकम् (शक्कर से संस्कृत दुग्ध आदि)।
(४) कर्मभिः संस्कृतः—कार्मिकः (कर्मों से संस्कृत द्विज आदि)।
(५) ज्ञानेन संस्कृतः—ज्ञानिको ब्राह्मणः।
(६) विद्यया संस्कृतः—वैद्यिको द्विजः।

यद्यपि इस सूत्र को भी **तेन दीव्यति खनति जयति जितम्** (१११७) सूत्र में डाल कर पढ़ा जा सकता था तथापि अष्टाध्यायी के अग्रिमसूत्र में केवल इसी अर्थ की अनुवृत्ति ले जाने की आवश्यकता के कारण इस का पृथक् उल्लेख किया गया है। अत एव काशिकाकार ने कहा है—**योगविभाग उत्तरार्थः।**

ठक् के अधिकार में एक अन्य अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१११९) तरति।४।४।५।।

तेनेत्येव। उडुपेन तरति औडुपिकः।।

अर्थः—तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'तैरने वाला—पार करने वाला' अर्थ में तद्धितसंज्ञक ठक् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तेन।५।१। (**तेन दीव्यति खनति जयति जितम्** सूत्र से)। तरति इति **तॄ प्लवनसन्तरणयोः** (भ्वा० परस्मै०) इत्यस्य धातोर्लटि प्रथमपुरुषैकवचनान्तं रूपम्। ठक्।१।१। (**प्राग्वहतेष्ठक्** से अधिकृत है)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तेन=तृतीयान्तात् प्रातिपदिकात्) तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (तरति इत्यर्थे) 'तैरने या पार करने वाला' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय होता है। उदाहरण यथा—

उडुपेन तरति—औडुपिकः (उडुप[1] अर्थात् छोटी नौका के द्वारा पार करने वाला)। यहां 'उडुप टा' से 'पार करने वाला' अर्थ में प्रकृत **तरति** (१११९) सूत्रद्वारा ठक् प्रत्यय, ककार अनुबन्ध का लोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि, **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को 'इक' आदेश तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'औडुपिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

(१) काण्डप्लवेन तरति—काण्डप्लविकः (काण्डनिर्मित नौकाद्वारा पार करने वाला)
(२) तृणप्लवेन तरति—तार्णप्लविकः (तृणनिर्मितनौकाद्वारा पार करने वाला)।
(३) शरप्लवेन तरति—शारप्लविकः (शरनिर्मितनौकाद्वारा पार करने वाला)।

---

१. **उडुपं तु प्लवः कोलः**—इत्यमरः। तृणादिनिर्मित क्षुद्रनौका को उडुप कहते हैं। उडुनः (जलात्) पाति=रक्षतीति उडुपम्। प्रयोग यथा—**तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्** (रघु० १.२)।

चरति (चरणा, खाना)

(४) गोपुच्छेन तरति—गौपुच्छिकः ।[1]

नोट—नौ (नौका) इस प्रातिपदिक से तथा दो अचों वाले प्रातिपदिक से 'तरति' के अर्थ में ठक् के अपवाद **नौद्व्यचष्ठन्** (४.४.७) सूत्र से ठन् प्रत्यय हो जाता है। ठन् प्रत्यय नित् है कित् नहीं, अतः इस के परे रहते आदिवृद्धि नहीं होती।[2] यथा—

नावा तरति—नाविकः ।

घटेन तरति—घटिकः ।

प्लवेन तरति—प्लविकः ।

कुम्भेन तरति—कुम्भिकः ।

दृत्या तरति—दृतिकः (मशक से तैरने वाला) ।

बाहुभ्यां तरति—बाहुकः (१०५२) ।

ठक् के अधिकार में एक अन्य अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११२०) चरति ।४।४।८॥

तृतीयान्ताद् 'गच्छति, भक्षयति' इत्यर्थयोष्ठक् स्यात् । हस्तिना चरति—हास्तिकः । दध्ना चरति—दाधिकः ॥

अर्थः—तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'जाने वाला' या 'खाने वाला' अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक ठक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तेन ।५।१। (**तेन दीव्यति खनति जयति जितम्** सूत्र से) । चरति इति **चर गतिभक्षणयोः** (भ्वा० परस्मै०) इत्यस्य लँटि प्रथमपुरुषैकवचनान्तं रूपम् । ठक् ।१।१। (**प्राग्वहतेष्ठक्** यह अधिकृत है) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तेन=तृतीयान्तात्) तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (चरति इत्यर्थे) 'जाने वाला' या 'खाने वाला' इन अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय हो जाता है।

यह प्रत्यय 'चरति' के अर्थ में विधान किया गया है। चर् धातु के दो अर्थ होते हैं—जाना और खाना। अतः यह प्रत्यय भी 'जाने वाला' और 'खाने वाला' इन दो अर्थों में प्रयुक्त होता है।

गमन अर्थ में उदाहरण यथा—

हस्तिना चरति (गच्छति)—हास्तिकः (हाथी के द्वारा गमन करने वाला)। यहां 'हस्तिन् टा' इस तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'जाने वाला' अर्थ में प्रकृत **चरति** (११२०) सूत्रद्वारा ठक् प्रत्यय, ककार अनुबन्ध का लोप, सुँब्लुक्, **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि, **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को 'इक' आदेश तथा **नस्तद्धिते** (९१९) से भसञ्ज्ञक

---

१. यहां **गोपुच्छाद् ठञ्** (४.४.६) सूत्र से ठञ् प्रत्यय होता है। ठक् और ठञ् में स्वर का भेद होता है। गाय की पूंछ पकड़ कर नदी को पार किया जा सकता है।

२. किञ्च स्त्रीत्व में भी ठन्प्रत्ययान्त से ङीप् न होकर टाप् ही होता है। यथा—नाविका, घटिका आदि।

टि (इन्) का लोप करने पर —हास्त् + इक = हास्तिक। अब विशेष्यानुसार विभक्ति-कार्य करने से पुंलिङ्ग में 'हास्तिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

भक्षण अर्थ में उदाहरण यथा—

दध्ना चरति (भक्षयति) —दाधिकः (दही के साथ खाने वाला) यहां 'दधि टा' इस तृतीयान्त से 'खाने वाला' अर्थ में **चरति** (११२०) सूत्रद्वारा ठक् प्रत्यय, अनुबन्ध-लोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि, ठ् को 'इक' आदेश तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक इकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'दाधिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

(१) शकटेन चरति (गच्छति)—शाकटिकः।

(२) विमानेन चरन्ति (गच्छन्ति)—वैमानिकाः।[1]

(३) वागुरया (मृगबन्धनरज्ज्वा) चरति (गच्छति)—वागुरिकः।[2]

(४) जालेन चरति (गच्छति)—जालिकः।

(५) वीतंसो बन्धनोपायः, तेन चरति—वैतंसिको व्याधः।

(६) व्यवहारेण चरति (आचरति)—व्यावहारिकः (प्रक्रियासर्वस्वे)।[3]

(७) व्यायामेन चरति—व्यायामिकः (प्रक्रियासर्वस्वे)।

नोट—रथ, अश्व और पाद इन तीन प्रातिपदिकों से **चरति** के अर्थ में ठक् न होकर **पर्पादिभ्यः ष्ठन्** (४.४.१०) से ष्ठन् (ठ्)[4] प्रत्यय हो जाता है अतः आदिवृद्धि नहीं होती। किञ्च पर्पादिगणस्थ **पादस्य पच्च** इस गणसूत्र से 'पाद' के स्थान पर पद् आदेश भी हो जाता है। यथा—

रथेन चरति— रथिकः (रथसवार)।

अश्वेन चरति—अश्विकः (घुड़सवार)।

पादाभ्यां चरति—पदिकः (पैदल)।

ठक् के अधिकार में एक अन्य अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११२१) संसृष्टे ।४।४।२२।।**

दध्ना संसृष्टं दाधिकम् ।।

अर्थः—तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'संसृष्ट' (मिला हुआ—मिश्रित हुआ) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ठक् प्रत्यय हो।

---

१. **वैमानिकाः पुण्यकृतस्त्यजन्तु मरुतां पथि**। (रघु० १०.४६)

२. **द्वौ वागुरिकजालिकौ** इत्यमरः।

३. **स्वागतादीनां च** (७.३.७) इत्यैच् न। एवं व्यायामिकशब्देऽपि बोध्यम्।

४. ष्ठन् में आदि षकार की **षः प्रत्ययस्य** (८३९) से इत् संज्ञा हो कर लोप हो जाता है। षकार अनुबन्ध स्त्रीत्व में **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५५) द्वारा ङीष्विधान के लिये जोड़ा गया है। यथा—रथिकी, अश्विकी, पदिकी।

व्याख्या—संसृष्टे ।७।१। तेन इति लुप्तपञ्चम्येकवचनान्तं पदम् । (**तेन दीव्यति०** सूत्र से) ठक् ।१।१। (**प्राग्वहतेष्ठक्** अधिकार से लब्ध) **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं । अर्थः—(तेन = तृतीयान्तात्) तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (संसृष्टे) 'मिश्रित हुआ' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय हो जाता है ।

संसृष्टम् एकीभूतम् अभिन्नमिति काशिका । मिश्रित हुए—एक हुए को संसृष्ट कहते हैं । जैसे नमक सूप में एकीभूत हो जाता है या मधु आदि दूध में अथवा खिचड़ी आदि में दही, मिर्च, अदरक आदि । संस्कृत और संसृष्ट में भेद होता है । संस्कृत तो तब होता है जब किसी द्रव्य का गुणाधान किया जाता है परन्तु संसृष्ट में केवल संसर्गमात्र अभीष्ट होता है ।[1] उदाहरण यथा—

दध्ना संसृष्टं दाधिकम् (दही से युक्त) । यहां 'दधि टा' से संसृष्ट (मिश्रित, मिला हुआ) अर्थ में प्रकृत **संसृष्टे** (११२१) सूत्र से ठक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि, **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को इक आदेश एवं **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक इकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'दाधिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । दाधिकमोदनम्—दहीमिला भात ।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) मरिचैः संसृष्टम् मारिचिकम् (मरिचों से युक्त) ।
(२) शृङ्गवेरेण संसृष्टं शार्ङ्गवेरिकम् (अदरक से युक्त) ।
(३) पिप्पल्या संसृष्टम् पैप्पलिकम् (पिप्पली से युक्त) ।
(४) तिलैः संसृष्टास्तैलिकास्तण्डुलाः (तिलयुक्त चावल) ।
(५) मधुना संसृष्टम् माधुकं[2] पयः (मधुयुक्त दूध या जल) ।

लवणशब्द से संसृष्ट अर्थ में हुए ठक् प्रत्यय का **लवणाल्लुक्** (४.४.२४) से लुक् हो जाता है—लवणेन संसृष्टो लवणः सूपः । लवणा यवागूः । लवणम्पयः ।

---

१. ननु यद् येन संसृष्टं तत् तेन संस्कृतं भवति, ततश्च **संस्कृतम्** (४.४.३) इत्येव संसृष्टेऽपि प्रत्ययः सिद्धः । न सिध्यति । सत उत्कर्षाधानं संस्कारः, एकीभावस्तु संसर्गः । न च यत्रासौ तत्रावश्यमुत्कर्षोऽस्ति, अशुचिद्रव्यसंसर्गे प्रत्युत अपकर्ष एव भवति । तस्मात् **संसृष्टे** (४.४.२२) इति वक्तव्यम् ।
ननु यदि अस्य निबन्धनमावश्यकं तर्हि एतदेवास्तु सूत्रम्, मा भूत् **संस्कृतम्** (४.४.३) इति । तदप्यवश्यं कर्त्तव्यम् । इहापि यथा स्यात्—विद्यया संस्कृतो वैद्यिक इति । न ह्यत्र संसर्गोऽस्ति मूर्त्ति-धर्मत्वात् । किञ्च **कुलत्थकोपधादण्** (४.४.४) इति संस्कृते एव यथा स्यात् संसृष्टे मा भूद् इत्येवमर्थं **संस्कृतम्** (४.४.३) इत्येतद् भवति । (पदमञ्जरी ४.४.२२)

२. **इसुसुक्तान्तात् कः** (१०५२) इति ठकः कादेशः ।

उञ्छति (चुगना)

मुद्गशब्द से संसृष्ट अर्थ में **मुद्गादण्** (४.४.२५) सूत्र से अण् प्रत्यय होता है जो ठक् का अपवाद है। यथा—मुद्गैः संसृष्टो मौद्ग ओदनः (मूंगमिश्रित भात)।

ठक् के अधिकार में एक अन्य अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११२२) उञ्छति ।४।४।३२॥

बदराण्युञ्छतीति बादरिकः ॥

अर्थः—द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'कण कण बटोरने वाला या चुनने वाला' अर्थ में तद्धितसंज्ञक ठक् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तत्—इति लुप्तपञ्चम्येकवचनान्तं पदम्। (**तत्प्रत्यनुपूर्वमीपलोमकूलम्** सूत्र से। द्वितीयान्त के अनुकरण 'तत्' शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये)। उञ्छति=इति **उछिँ उञ्छे** (तुदा० परस्मै०) इति धातोर्लटि प्रथमपुरुषैकवचनान्तं रूपम्। ठक् ।१।१। (**प्राग्वहतेष्ठक्** के अधिकार से लब्ध)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तत्=द्वितीयान्तात्) द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (उञ्छति इत्यर्थे) 'उञ्छन करने वाला' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय हो जाता है।

भूमि पर पड़े हुए अनाज आदि के कणों को चुन चुन कर बटोरना या संग्रह करना 'उञ्छन' कहाता है।[1]

सूत्र का उदाहरण यथा—

बदराणि उञ्छतीति बादरिकः (बेरों को चुन चुन कर बटोरने वाला)। यहां 'बदर शस्' इस द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'उञ्छन-कर्त्ता—चुन चुन कर बटोरने वाला' अर्थ में प्रकृत **उञ्छति** (११२२) सूत्र से ठक् प्रत्यय, ककार अनुबन्ध का लोप, **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (शस्) का लुक्, **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि, **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को इक आदेश एवं **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विशेष्यानुसार विभक्तिकार्य करने से 'बादरिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

(१) श्यामाकान् उञ्छति—श्यामाकिकः (स्वांकों को बीनने वाला)।
(२) कणान् उञ्छति—काणिकः (कणों को बीनने वाला)।
(३) नीवारान् उञ्छति—नैवारिकः (नीवारकणों को बीनने वाला)।
(४) शाकान् उञ्छति—शाकिकः (शाकों को बीनने वाला)।
(५) व्रीहीन् उञ्छति—व्रैहिकः (चावलकणों को बीनने वाला)।
(६) गोधूमान् उञ्छति—गौधूमिकः (गेहूं के दानों को बीनने वाला)।

ठक् के अधिकार में एक अन्य अर्थ का निर्देश करते हैं—

---

१. इस विषय पर पीछे तुदादिगणस्थ **उछिँ उञ्छे** (तुदा० परस्मै०) धातु पर विस्तृत प्रकाश डाल चुके हैं। विशेषजिज्ञासु उस का पुनरवलोकन करें।

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (११२३) रक्षति ।४।४।३३॥

समाजं रक्षतीति सामाजिकः ॥

अर्थः—द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'रक्षा करने वाला' अर्थ में तद्धितसंज्ञक ठक् प्रत्यय हो।

व्याख्या—**तत्प्रत्यनुपूर्वमीपलोमकूलम्** इत्यस्मात् सूत्रात् 'तत्' इति लुप्तपञ्चम्यन्तम्पदमनुवर्त्तते। रक्षति इति **रक्ष पालने** (भ्वा० परस्मै०) इत्यस्य लँटि प्रथमपुरुषैकवचनान्तं रूपम्। ठक् ।१।१। (**प्राग्वहतेष्ठक्** सूत्र से अधिकृत है)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तत्=द्वितीयान्तात्) द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (रक्षति इत्यर्थे) 'रक्षा करने वाला' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय हो जाता है। उदाहरण यथा—

समाजं रक्षतीति सामाजिकः (समाज की रक्षा करने वाला)। यहां 'समाज अम्' इस द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'रक्षा करने वाला' अर्थ में प्रकृत **रक्षति** (११२३) सूत्रद्वारा ठक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि, **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को इक आदेश तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'सामाजिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

(१) सन्निवेशं रक्षति—सान्निवेशिकः।[1]

(२) मण्डलं रक्षति—माण्डलिकः (मण्डल का रखवाला)।

(३) नगरं रक्षति—नागरिकः (नगरपाल)।[2]

(४) ग्रामं रक्षति—ग्रामिकः (ग्रामपाल)।[3]

(५) कुटुम्बं रक्षति—कौटुम्बिकः (कुटुम्ब का पालक)।

(६) गोमण्डलं रक्षति—गौमण्डलिकः (गोमण्डल का पालक)।

---

१. नगर से बाहर घूमने-खेलने आदि के मैदान को 'सन्निवेश' कहते हैं। इसीशब्द पर अमरकोष की व्याख्या में क्षीरस्वामी लिखते हैं—**समन्तान्निविशन्तेऽत्र सन्निवेशः पुराद् बहिर्विहरणभूः**। शब्दरत्नावली में भी लिखा है—

नगरादिबहिःस्वैरविहारचारुभूमिषु।
तत्र द्वयं निगदितं सन्निवेशो निकर्षणम्॥

२. प्रयोग यथा—
मद्वचनादुच्यतां नागरिकः (विक्रमोर्वशीयस्य पञ्चमेऽङ्के पाठभेदोऽयम्)। **ततः प्रविशति नागरिकः श्यालः पश्चाद्बद्धं पुरुषमादाय रक्षिणौ च** (शाकुन्तले षष्ठाङ्कस्यादौ पाठभेदोऽयम्)।

३. प्रयोग यथा—
ग्रामदोषान् समुत्पन्नान् ग्रामिकः शनकैः स्वयम्।
शंसेद् ग्रामदशेशाय दशेशो विंशतीशिने॥ (मनु० ७.११७)

अब ठक् के अधिकार में एक अन्य अर्थ का निर्देश करते हैं —

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११२४) **शब्ददर्दुरं करोति** ।४।४।३४।।

शब्दं करोति —शाब्दिकः । दर्दुरं करोति—दार्दुरिकः ।।

अर्थः —द्वितीयान्त 'शब्द' और 'दर्दुर' प्रातिपदिकों से 'करने वाला' अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ठक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—शब्ददर्दुरम् ।५।१। (यहां द्वितीयान्त के अनुकरण 'शब्ददर्दुरम्' से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये) । करोति इति **डुकृञ् करणे** (तना० उभय०) इत्यस्य लँटि प्रथमपुरुषैकवचनान्तं रूपम् । ठक् ।१।१। (**प्राग्वहतेष्ठक्** से अधिकृत) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । शब्दश्च दर्दुरश्चानयोः समाहारः शब्ददर्दुरम्, समाहारद्वन्द्वः । तत् (२.१)=शब्ददर्दुरम् । अर्थः—(शब्ददर्दुरम् = द्वितीयान्ताभ्यां शब्ददर्दुरप्रातिपदिकाभ्याम्) द्वितीयान्त 'शब्द' एवं 'दर्दुर' प्रातिपदिकों से (करोतीत्यर्थे) 'करने वाला' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय हो जाता है । उदाहरण यथा —

शब्दं करोति (प्रकृतिप्रत्ययविभागपरिकल्पनया व्युत्पादयति) इति शाब्दिकः । जो शब्द को बनाता अर्थात् उस में प्रकृति-प्रत्यय के विभाग की परिकल्पना करता है उसे 'शाब्दिक' कहते हैं । यह वैयाकरण के अर्थ में रूढ है ।[1] यहां 'शब्द अम्' इस द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'करोति=करने वाला=व्युत्पत्ति करने वाला' अर्थ में प्रकृत **शब्ददर्दुरं करोति** (११२४) सूत्र से ठक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि, **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को इक आदेश तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'शाब्दिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

दर्दुरं करोति — दार्दुरिकः । मिट्टी के पात्रविशेष को प्राचीन काल में 'दर्दुर' कहा जाता था । उस दर्दुर को बनाने वाला कुम्हार 'दार्दुरिक' कहाता था ।[2] यहां

---

१. अत एव शब्दं करोतीति शाब्दिकः खरः—ऐसा न बनेगा । बोपदेव ने अपने कवि-कल्पद्रुमग्रन्थ के प्रारम्भ में सुप्रसिद्ध आठ वैयाकरणों को शाब्दिक कहा है—

इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नाऽपिशली शाकटायनः ।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः ।।

परन्तु कुछेक व्याख्याकार इस से भिन्न मन्तव्य प्रकट करते हैं । वे शब्द करने वाली प्रत्येक वस्तु को ही शाब्दिक कहना पसन्द करते हैं । यथा पुरुषोत्तमदेव अपनी भाषावृत्ति में इस सूत्र पर उदाहरण देते हुए लिखते हैं- —**शाब्दिकः पटहश्छात्त्रो वा** । हरिनामामृतव्याकरण में 'शाब्दिको वेणुः' ऐसा उदाहरण दिया गया है ।

२. कुछ व्याख्याकार यहां दर्दुर का अर्थ बांसुरी की तरह बजने वाला एक वाद्य मानते हैं । इस का कुछ भाग मिट्टी से निर्मित होता था जिसे कुम्भकार बनाता था । दर्दुरशब्द के अन्य भी अनेक अर्थ कोषों में प्रसिद्ध हैं, जैसाकि अमरकोष की व्याख्या करते हुए भानुजिदीक्षित किसी कोष का वचन उद्धृत करते हैं—**दर्दुरस्तोयदे भेके वाद्यभाण्डाद्रिभेदयोः** ।

'दर्दुर अम्' इस द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'करने वाला = बनाने वाला' अर्थ में प्रकृत **शब्ददर्दुरं करोति** (११२४) सूत्र से ठक्, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि, ठ् को इक आदेश तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'दार्दुरिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अब एक अन्य अर्थ का निरूपण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११२५) धर्मं चरति ।४।४।४१।।

धर्मं चरति – धार्मिकः ।।

अर्थः—द्वितीयान्त 'धर्म' प्रातिपदिक से 'चरति' (आचरण करने वाला) अर्थ में तद्धितसंज्ञक ठक् प्रत्यय हो।

व्याख्या—धर्मम् ।५।१। (द्वितीयान्त के अनुकरण 'धर्मम्' शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। चरति इति **चर गतौ** (भ्वा० परस्मै०) इत्यस्य लँटि प्रथम-पुरुषैकवचनान्तं रूपम्। ठक् ।१।१। (**प्राग्वहतेष्ठक्** अधिकार से लब्ध)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः – (धर्मम् = द्वितीयान्ताद् 'धर्म' इति प्रातिपदिकात्) द्वितीयान्त 'धर्म' प्रातिपदिक से (चरति इत्यर्थे) 'आचरण करने वाला' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय हो जाता है। उदाहरण यथा—

धर्मं चरति—धार्मिकः (धर्म का आचरण करने वाला)। यहां 'धर्म अम्' इस द्वितीयान्त प्रातिपदिक से 'चरति' के अर्थ में प्रकृत **धर्मं चरति** (११२५) सूत्र से ठक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि, **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को इक आदेश तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'धार्मिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1] स्त्रीलिङ्ग में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) से ङीप् प्रत्यय हो कर 'धार्मिकी कन्या' बनेगा।

विशेष वक्तव्य—यहां 'चरति' से आसेवन अर्थात् बार बार करना या स्वभावतः करना अर्थ अभिप्रेत है। दुष्ट पुरुष यदि धर्म का कदाचित् सेवन कर ले तो वह धार्मिक नहीं कहायेगा। अत एव काशिकाकार ने कहा है—**चरतिरासेवायां नाऽनुष्ठानमात्रे।** सिद्धान्तकौमुदी की तत्त्वबोधिनी टीका भी यहां द्रष्टव्य है।

वार्त्तिककार 'अधर्म' प्रातिपदिक से भी ठक् का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(८८) अधर्माच्चेति वक्तव्यम् ।।

अधर्मं चरति – आधर्मिकः ।।

अर्थः— द्वितीयान्त 'अधर्म' प्रातिपदिक से भी 'चरति' (आचरण करने वाला) अर्थ में तद्धितसंज्ञक ठक् प्रत्यय हो।

व्याख्या—यह वार्त्तिक महाभाष्य में **धर्मं चरति** (४.४.४१) सूत्र पर पढ़ा गया है अतः तद्विषयक समझना चाहिये। **ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति** (प०)

१. **कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान्न धार्मिकः।** (हितोप०)

इस परिभाषा के अनुसार धर्मशब्द से विहित ठक् अधर्मशब्द से प्राप्त न था अतः इस वार्त्तिक का आरम्भ किया गया है। उदाहरण यथा—

अधर्म चरति—आधर्मिकः (अधर्म अर्थात् पाप का आचरण करने वाला)। यहां 'अधर्म अम्' से 'आचरण करने वाला' अर्थ में प्रकृत **अधर्माच्चेति वक्तव्यम्** (वा० ८८) वार्त्तिकद्वारा ठक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि, ठ् को इक आदेश तथा भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'आधर्मिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

ठक् के अधिकार में एक अन्य अर्थ का निर्देश करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**११२६**) **शिल्पम्** ।४।४।५५।।

मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य— मार्दङ्गिकः ।।

अर्थः—प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'शिल्प है इस का' इस अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ठक् प्रत्यय हो।

व्याख्या—शिल्पम् ।१।१। **तदस्य पण्यम्** (४.४.५१) सूत्र से 'तद् अस्य' पदों का यहां अनुवर्त्तन होता है। तत् ।५।१। (प्रथमान्त के अनुकरण 'तद्' शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। अस्य ।६।१। ठक् ।१।१। (**प्राग्वहतेष्ठक्** अधिकार से लब्ध)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तत्=प्रथमान्तात् प्रातिपदिकात्) प्रथमान्त प्रातिपदिक से (शिल्पम् अस्य इत्यर्थे) 'शिल्प है इस का' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय हो जाता है।

किसी क्रिया में अभ्यासपूर्वक निपुणता या विशेषज्ञान प्राप्त कर लेना 'शिल्प' कहाता है।[2] जैसे कोई मृदङ्ग (तबला) बजाने में निपुणता प्राप्त कर ले तो 'मृदङ्ग बजाना' उस का शिल्प या हुनर होगा। उदाहरण यथा—

मृदङ्गवादनं[3] शिल्पमस्य इति मार्दङ्गिकः। मृदङ्गबजानेविषयक विशेष नैपुण्य रखने वाला व्यक्ति 'मार्दङ्गिक' कहायेगा (An expert in playing on Mridanga drum)। यहां 'मृदङ्ग सुँ' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'शिल्प है इस का' इस अर्थ में **शिल्पम्** (११२६) सूत्रद्वारा ठक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि, रपर (२९), ठ् को इक आदेश तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य

---

१. यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि 'आधर्मिकः' प्रयोग नञ्तत्पुरुषसमास से सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि वैसा करने पर 'न धार्मिकः—अधार्मिकः' सिद्ध होगा न कि 'आधर्मिकः'। आधर्मिकशब्द का प्रयोग यथा—

तद्वग्निहन्मि मनुजान् यदि वृत्तिहेतोराधर्मिकः किल ततोऽस्मि न ते मृगघ्नाः।

(सोमसुतजातक ५०)

२. अभ्यासपूर्वं क्रियासु कौशलं शिल्पम् इति कैयटः। क्रियाभ्यासपूर्वको ज्ञानविशेष इति पदमञ्जरी।

३. मृदङ्गो वाद्यतेऽनेनेति मृदङ्गवादनम् इति न्यासकृत्।

करने से 'मार्दङ्गिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1] स्त्रीत्व में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) से ङीप् प्रत्यय हो जायेगा—मार्दङ्गिकी कन्या। ध्यान रहे कि 'शिल्प' अर्थ तद्धितवृत्ति के अन्तर्गत हो जाने से पृथक् शब्द से नहीं कहा जाता।

इसीप्रकार—

(१) वीणावादनं शिल्पमस्य—वैणिकः।

(२) पणववादनं शिल्पमस्य—पाणविकः।[2]

(३) मुरजवादनं शिल्पमस्य—मौरजिकः।[3]

(४) घण्टावादनं शिल्पमस्य—घाण्टिकः।

(५) मालागुम्फनं शिल्पमस्य—मालिकः।

(६) पिठरवादनं शिल्पमस्य—पैठरिकः।[4]

इसी ठगधिकार में एक अन्य अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११२७) प्रहरणम्** ।४।४।५७।।

तदस्येत्येव। असिः प्रहरणमस्य—आसिकः। धानुष्कः।।

अर्थः—प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'हथियार है इस का' इस अर्थ में तद्धित-संज्ञक ठक् प्रत्यय हो।

व्याख्या—प्रहरणम्।१।१। **तदस्य पण्यम्** (४.४.५१) सूत्र से यहां 'तद् अस्य' पदों का अनुवर्त्तन होता है। तत्।५।१। (प्रथमान्त के अनुकरण 'तद्' शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। अस्य।६।१। ठक्।१।१। (**प्राग्वहतेष्ठक्** अधिकार से लब्ध)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। प्रह्रियतेऽनेनेति प्रहरणम्। जिस से प्रहार किया जाता है उसे 'प्रहरण' कहते हैं। तलवार, धनुष्, चक्र,

---

१. यहां विग्रह (लौकिक) तो 'मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य' इस प्रकार किया जाता है परन्तु तद्धित की उत्पत्ति 'मृदङ्गवादन' से न हो कर केवल 'मृदङ्ग' शब्द से ही होती है। भाषाओं की शैली ही कुछ इस प्रकार की हुआ करती है कि उन में अनेक स्थानों पर संक्षेप के कारण संक्षिप्तशब्दों का ही प्रचलन हो जाया करता है। संस्कृतभाषा में भी 'मार्दङ्गिकः' आदि शब्दों की प्रकृति मृदङ्गवादन के स्थान पर संक्षेपवश 'मृदङ्ग' शब्द ही प्रचलित हो चुका है। अतः यहां लक्षणाशक्ति से मृदङ्गशब्दद्वारा मृदङ्गवादन अर्थ का बोध हो कर तद्धितप्रत्यय की उत्पत्ति की जाती है। ध्यान रहे कि व्याकरणशास्त्र का उद्देश्य लोकप्रचलित शब्दों की तत्तदर्थों में व्युत्पत्ति दर्शाना होता है न कि नये नये शब्दों का घड़ना। लक्षणाशक्ति का विवेचन साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थों में देखें।

२. पणवः=छोटा ढोल, ढोलक।

३. मुरजः=मृदङ्ग, तबला।

४. पिठरः=बटलोई। **पिठरः स्थाल्यां ना क्लीबं मुस्तामन्थानदण्डयोः**—इति मेदिनी।

दण्ड आदि हथियार 'प्रहरण' कहलाते हैं। अर्थः—(तत्=प्रथमान्तात् प्रातिपदिकात्) **प्रथमान्त समर्थ** प्रातिपदिक से (प्रहरणम् अस्य इत्यर्थे) 'हथियार है इस का' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय होता है। उदाहरण यथा—

असिः प्रहरणम् अस्येति आसिकः। जिस का हथियार तलवार है उस पुरुष को 'आसिक' कहते हैं। यहां 'असि सुँ' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'हथियार है इस का' इस अर्थ में प्रकृत **प्रहरणम्** (११२७) सूत्र से ठक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि, **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को इक आदेश एवं **यस्येति च** (२३६) सूत्रद्वारा भसंज्ञक इकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'आसिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

धनुः प्रहरणमस्येति धानुष्कः। जिस का हथियार धनुष् है उस पुरुष को 'धानुष्क' कहते हैं। यहां 'धनुष् सुँ' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'हथियार है इस का' इस अर्थ में प्रकृत **प्रहरणम्** (११२७) सूत्र से ठक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा **इसुसुक्तान्तात्कः** (१०५२) से ठ् को 'क' आदेश हो कर— धानुष्+क। अब **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) सूत्र से या लुप्तविभक्ति (सुँ) के सहारे से 'धानुष्' की पदसंज्ञा हो जाती है और इधर धनुष् में सकार के स्थान पर **आदेशप्रत्यययोः** (१५०) से हुआ षकार **ससजुषो रुँः** (१०५) की दृष्टि में असिद्ध है, वह इसे पदान्त सकार ही समझता है। तो इस प्रकार **ससजुषो रुँः** (१०५) सूत्र से पदान्त सकार के स्थान पर रुँ आदेश होकर रेफ को **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (९३) से विसर्ग आदेश करने से—धानुः+क। पुनः इस स्थिति में **सोऽपदादौ** (९८०) सूत्र से विसर्ग के स्थान पर सकार आदेश प्राप्त होता है परन्तु उस का बाध कर **इणः षः** (९८१) से विसर्ग को षकार हो जाता है—धानुष्क। **अब** विशेष्यानुसार विभक्तिकार्य करने पर पुंलिङ्ग में 'धानुष्कः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। स्त्रीलिङ्ग में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) से ङीप् करने पर 'धानुष्की' बनेगा।

इसीप्रकार—

(१) चक्रं प्रहरणम् अस्य—चाक्रिकः।

(२) प्रासः प्रहरणम् अस्य—प्रासिकः।

(३) पाशः प्रहरणम् अस्य—पाशिकः।

(४) मुष्टिः प्रहरणम् अस्य—मौष्टिकः।

(५) दण्डः प्रहरणम् अस्य—दाण्डिकः।

(६) भुशुण्डी प्रहरणम् अस्य—भौशुण्डिकः।

(७) शतघ्नी प्रहरणम् अस्य—शातघ्निकः।[1]

शक्ति और यष्टि प्रातिपदिकों से 'प्रहरणमस्य' अर्थ में **शक्तियष्ट्योरीकक्** (४.४.५९) सूत्र से ईकक् (ईक) प्रत्यय हो जाता है। तथाहि—

शक्तिः प्रहरणम् अस्य—शाक्तीकः।

---

१. प्रासः=भाला। भुशुण्डी=बन्दूक। शतघ्नी=तोप।

यष्टिः प्रहरणम् अस्य—याष्टीकः ।

दोनों स्थान पर ईकक् के परे रहते **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक इकार का लोप हो जाता है ।

ठक् के अधिकार में पुनः एक अन्य अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११२८) **शीलम्** ।४।४।६१॥

अपूपभक्षणं शीलमस्य—आपूपिकः ॥

अर्थः—प्रथमान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'शील है इस का' इस अर्थ में तद्धितसंज्ञक ठक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—शीलम् ।१।१। **तदस्य पण्यम्** (४.४.५१) सूत्र से 'तद्, अस्य' पदों का अनुवर्त्तन होता है । तत् ।५।१। (प्रथमान्त के अनुकरण 'तद्' शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है) । अस्य ।६।१। ठक् ।१।१। (**प्राग्वहतेष्ठक्** इस अधिकार के कारण लब्ध) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं । अर्थः—(तत्=प्रथमान्तात्) प्रथमान्त प्रातिपदिक से (शीलम् अस्य इत्यर्थे) 'शील[1] है इस का' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय हो जाता है । उदाहरण यथा—

अपूपभक्षणं शीलमस्य—आपूपिकः । मालपूए खाना जिस का स्वभाव है उस पुरुष को 'आपूपिक' कहते हैं । यहां 'अपूप सुँ' इस प्रथमान्त से 'स्वभाव है इस का' इस अर्थ में प्रकृत **शीलम्** (११२८) सूत्र से ठक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि, **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को इक आदेश तथा अन्त में **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'आपूपिकः'[2] प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) मोदकभक्षणं शीलमस्य—मौदकिकः । (काशिका)
(२) शष्कुलीभक्षणं शीलमस्य—शाष्कुलिकः । (काशिका)
(३) ताम्बूलचर्वणं शीलमस्य—ताम्बूलिकः । (शाकटायन)
(४) परुषवचनं शीलमस्य—पारुषिकः । (भाषावृत्ति)
(५) करुणा शीलमस्य—कारुणिकः । (अमरकोष व्याख्या)
(६) ओदनभक्षणं शीलमस्य—औदनिकः । (दयानन्द)
(७) सक्तुभक्षणं शीलमस्य—साक्तुकः ।[3] (दयानन्द)
(८) पयोभक्षणं शीलमस्य—पायसिकः । (चारुदेव)
(९) आक्रोशः शीलमस्य—आक्रोशिकः । (चारुदेव)

---

१. शीलं प्राणिनां स्वभावः । फलनिरपेक्षा वृत्तिः । (शाकटायनामोघावृत्तौ)

२. ध्यान रहे कि यहां तद्धितवृत्ति में अपूपशब्द अपूपभक्षण अर्थ में रूढ है अतः ठक्-प्रत्यय अपूपशब्द से ही होता है ।

३. **इसुसुक्तान्तात्कः** (१०५२) इति ठकः 'क' इत्यादेशः ।

'तदस्य शीलम्' के अर्थ में छत्त्र आदि शब्दों से **छत्त्रादिभ्यो णः** (४.४.६२) सूत्रद्वारा ण (अ) प्रत्यय हो जाता है। यथा—छत्त्रम् (गुरोर्दोषाणामावरणम्) शीलमस्येति छात्त्रः। तपः शीलमस्येति तापसः। चुरा शीलमस्येति चौरः।

ठक् के अधिकार में पुनः एक अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११२६) निकटे वसति ।४।४।७३॥

नैकटिको भिक्षुः ॥

अर्थः—सप्तम्यन्त 'निकट' प्रातिपदिक से 'रहने वाला' अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ठक् प्रत्यय हो।

व्याख्या—निकटे ।५।१। (सप्तम्यन्त निकटशब्द के अनुकरण 'निकटे' से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। वसति इति **वस निवासे** (भ्वा० परस्मै०) इत्यस्य लँटि प्रथमपुरुषैकवचनान्तं रूपम्। ठक ।१।१। (**प्राग्वहतेष्ठक्** से अधिकृत है)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(निकटे=सप्तम्यन्ताद् निकटप्रातिपदिकात्) सप्तम्यन्त निकटप्रातिपदिक से (वसति इत्यर्थे) 'रहने वाला, निवास करने वाला' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ठक्) ठक् प्रत्यय हो जाता है। उदाहरण यथा—

निकटे वसति—नैकटिकः (निकट रहने वाला)। यहां 'निकट ङि' इस सप्तम्यन्त से 'वसति—रहने वाला' अर्थ में प्रकृतसूत्र **निकटे वसति** (११२६) से ठक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि, **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को इक आदेश तथा अन्त में **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'नैकटिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। **आट नैकटिकाश्रमान्** (भट्टि० ४.१२), नैकटिकानाम् आश्रमान् आट=गतवान् इत्यर्थः।

काशिकाकार का कथन है कि निकट रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति या पदार्थ को नैकटिक नहीं कहना चाहिये किन्तु शास्त्रानुसार निकट रहने का जिस का विधान है उसे ही 'नैकटिक' कहा जायेगा। शास्त्र का आदेश है कि भिक्षु (संन्यासी) को ग्राम के निकट अर्थात् एक कोस छोड़ कर दूर रहना चाहिये (भिक्षा मांगने के लिये ही उसे ग्राम में प्रवेश करना चाहिये)। अतः इस प्रकार के भिक्षु को ही 'नैकटिक' कहा जायेगा।[1]

शेखरकार नागेशभट्ट का कथन है कि 'भिक्षु को ग्राम से एक कोस दूर रहना चाहिये' इस शास्त्रमर्यादा का उल्लङ्घन कर जो ग्राम के निकट रहता है उस निन्दित भिक्षु को ही 'नैकटिक' कहते हैं।

---

१. काशिकाकार के इस आशय को नारायणभट्ट ने प्रक्रियासर्वस्व में इस प्रकार पद्यबद्ध किया है—

ग्रामात्क्रोशे निवस्तव्यं भिक्षुणेति विधीयते।
तादृङ् निकटवासेऽयं विधिर्नैकटिको यतिः॥

शाकटायनव्याकरण की चिन्तामणिवृत्ति में लिखा है कि योगाभ्यास के लिये ग्राम के निकट रहने वाले आरण्य भिक्षु (वानप्रस्थ) को 'नैकटिक' कहते हैं ।

भोजव्याकरण (सरस्वतीकण्ठाभरण) में निकटशब्द के साथ साथ 'वृक्षमूल' और 'श्मशान' प्रातिपदिकों से भी 'वसति' अर्थ में ठक् का विधान किया गया है— वृक्षमूले वसतीति वार्क्षमूलिकः, श्मशाने वसतीति श्माशानिकः । शाकटायनव्याकरण में भी **निकटादिषु वसति** (शाकटायन० ३.२.७६) सूत्र कहा गया है । वृत्तिकार ने आदि-ग्रहण से वही भोज वाले उदाहरण दिये हैं । आचार्य हेमचन्द्र ने भी अपने व्याकरण में ऐसा ही मन्तव्य व्यक्त किया है ।

अभ्यास [७]

(१) विग्रहनिर्देशपूर्वक निम्नस्थ तद्धितान्तों की ससूत्र सिद्धि दर्शाएं —

१. धानुष्कः । २. आपूपिकः । ३. शाब्दिकः । ४. औडुपिकः । ५. आक्षिकः । ६. दाधिकम् । ७. सामाजिकः । ८. आसिकः । ९. हास्तिकः । १०. मारीचिकम् । ११. नैकटिकः । १२. मार्दङ्गिकः । १३. धार्मिकः । १४. दार्दुरिकः । १५. बादरिकः ।

(२) निम्नस्थ विग्रहों से सिद्ध होने वाले तद्धितान्त रूपों की ससूत्र सिद्धि करें —

१. हलेन खनति । २. अस्त्रैर्जितम् । ३. शलाकाभिर्दीव्यति । ४. विद्यया संस्कृतः । ५. रथेन चरति (कन्या) । ६. बाहुभ्यां तरति । ७. लवणेन संसृष्टः । ८. शक्तिः प्रहरणमस्याः । ९. मुद्गेन संसृष्टम् । १०. पादाभ्यां चरति । ११. गोपुच्छेन तरति । १२. करुणा शीलमस्य । १३. वीणा-वादनं शिल्पमस्य । १४. नावा तरति । १५. कुटुम्बं रक्षति ।

(३) ठगधिकार के अन्तर्गत किन्हीं दस अर्थों का ससूत्र सोदाहरण विवेचन करें ।

(४) दीव्यति, खनति आदि तिङन्त अर्थनिर्देशों में संख्या, काल, पुरुष और कारक इन में से किस का तद्धितवृत्ति में प्राधान्य माना जाता है ? सोदाहरण विवेचन करें ।

(५) **तरति** सूत्र पर द्व्यच् प्रातिपदिकों के उदाहरण क्यों नहीं दिये जाते ?

(६) व्याकरणप्रक्रिया में ठक् प्रत्यय की कौन सी दो अवस्थाएं हुआ करती हैं ? सप्रमाण सोदाहरण स्पष्ट करें ।

(७) ठक्, ठञ्, ठन्, ष्ठन् और ईकक् प्रत्ययान्त शब्दों से स्त्रीत्व की विवक्षा में कौन कौन से स्त्रीप्रत्यय होते हैं ? सप्रमाण स्पष्ट करें ।

(८) टिप्पण लिखें—

[क] मारीचिकम् का द्विविध विग्रह ।

[ख] संस्कृत और संसृष्ट का पारस्परिक अन्तर ।
[ग] **चरति** सूत्र के प्रतिपाद्य दो अर्थ ।
[घ] 'देवदत्तेन जितम्' में तद्धितप्रत्यय की अनुत्पत्ति ।
[ङ] 'शब्दं करोति रासभः' में तद्धितप्रत्यय की अनुत्पत्ति ।
[च] 'नैकटिकः' के अर्थ में मतभेद ।
[छ] 'तरति' का संग्रह **तेन दीव्यति०** में न किया जाना ।

(९) 'मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य' इस विग्रह में तद्धितोत्पत्ति 'मृदङ्गवादन' से क्यों नहीं होती ?

(१०) **तेन दीव्यति खनति जयति जितम्** सूत्र में 'जयति' के होते हुए 'जितम्' का उल्लेख क्यों किया गया है ?

(११) निम्नस्थ सूत्रों तथा वचनों की व्याख्या करें—
१. तेन दीव्यति० । २. प्राग्वहतेष्ठक् । ३. शब्ददर्दुरं करोति । ४. सतो गुणाधानं संस्कारः । ५. संस्कृतमेकीभूतमभिन्नम् । ६. चरतिरासेवायां नानुष्ठानमात्रे । ७. अभ्यासपूर्वं क्रियासु कौशलं शिल्पम् । ८. शीलं प्राणिनां स्वभावः, फलनिरपेक्षा वृत्तिः । ९. गुरोर्दोषाणामावरणं छत्त्रम्, तच्छीलमस्येति छात्त्रः ।

[लघु०] इति ठगधिकारः ॥

अर्थः—यहां ठक्प्रत्यय का अधिकार समाप्त होता है ।

व्याख्या—**प्राग्वहतेष्ठक्** (१११६) के कारण इस प्रकरण को 'प्राग्वहतीय' भी कहा जाता है । प्रक्रियाकौमुदी में इस प्रकरण को इसी नाम से लिखा गया है ।

(यहां पर ठगधिकार का विवेचन समाप्त होता है ।)

——:०:——

अथ यदधिकारः

अब यत् प्रत्यय के अधिकार का वर्णन करते हैं—

[लघु०] अधिकार-सूत्रम्—**(११३०) प्राग्घिताद्यत्** ।४।४।७५।।

तस्मै हितम् (५.१.५) इत्यतः प्राग् यद् अधिक्रियते ॥

अर्थः—अष्टाध्यायी में इस सूत्र से ले कर **तस्मै हितम्** (५.१.५) सूत्र से पूर्व तक यत् तद्धितप्रत्यय अधिकृत किया जा रहा है ।

व्याख्या—प्राक् इत्यव्ययपदम् । हितात् ।५।१। यत् ।१।१। **तस्मै हितम्** (५.१.५) इस आगे आने वाले सूत्र के 'हित' शब्द का यहां 'हितात्' से निर्देश किया गया है । अर्थः—(हितात् = **तस्मै हितम्** इत्यस्मात्) **तस्मै हितम्** सूत्र से (प्राक्) पहले

पहले (यत्) यत् प्रत्यय हो। अर्थात् यहां से लेकर **तस्मै हितम्** (५.१.५) सूत्र से पूर्व पूर्व यदि प्रत्यय का निर्देश न होगा तो वहां यत् प्रत्यय समझ लिया जायेगा।

यत् प्रत्यय में तकार अनुबन्ध का लोप हो कर 'य' मात्र शेष रहता है। तकार अनुबन्ध **यतोऽनावः** (६.१.२०७) द्वारा आद्युदात्तस्वर के लिये तथा क्वचित् **तित्स्वरितम्** (६.१.१७९) से स्वरितस्वरार्थ जोड़ा गया है।

अब इसी यदधिकार में अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११३१)**

तद्वहति रथ-युग-प्रासङ्गम् ।४।४।७६॥

रथं वहति रथ्यः। युग्यः। प्रासङ्ग्यः॥

अर्थः—द्वितीयान्त रथ, युग और प्रासङ्ग प्रातिपदिकों से 'वहति' (वहन करने वाला) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तत् ।५।१। ('रथं वहति' आदि में प्रयुक्त द्वितीयान्त पदों का अनुकरण 'तद्' शब्द से किया गया है। इस से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये)। वहति इति **वहँ प्रापणे** (भ्वा० उभय०) इत्यस्य लँटि प्रथमपुरुषैकवचनान्तं रूपम्। रथ-युग-प्रासङ्गम् ।५।१। (रथ, युग और प्रासङ्ग शब्दों के समाहारद्वन्द्व से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। यत् ।१।१। (**प्राग्घिताद्यत्** से अधिकृत है)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं। अर्थः—(तत्=द्वितीयान्तात्) द्वितीयान्त (रथ-युग-प्रासङ्गम्=रथयुगप्रासङ्गात्) रथ, युग और प्रासङ्ग प्रातिपदिकों से परे (वहति इत्यर्थे) 'वहन करने वाला' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (यत्) यत् प्रत्यय हो जाता है। उदाहरण यथा—

रथं वहति—रथ्यः (रथ को वहन अर्थात् खींच कर आगे ले जाने वाला घोड़ा आदि)। यहां 'रथ अम्' इस द्वितीयान्त से 'वहति' (वहन करने वाला) अर्थ में **प्राग्घिताद्यत्** (११३०) के अधिकार में प्रकृत **तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्** (११३१) सूत्र से तद्धितसंज्ञक यत् प्रत्यय हो कर अनुबन्ध तकार का लोप, प्रातिपदिकसंज्ञा (११७) तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुप् (अम्) का लुक् करने से—रथ + य। यत् प्रत्यय यकारादि है अतः इस के परे रहते **यचि भम्** (१६५) सूत्र से पूर्व की भसञ्ज्ञा हो जाती है। अब **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'रथ्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1] **रथ्यो वोढा रथस्य यः**—इत्यमरः।

युगं वहति—युग्यः। रथ आदि को खींचने के लिये बैल आदि पशु के गले में तिरछी लकड़ी के बने जिस ढांचे को डाला जाता है उसे 'युग' कहते हैं। हिन्दी में इसे 'जुआ' कहा जाता है। इस युग को खींचने वाले बैल, घोड़े आदि को तद्धितवृत्ति के द्वारा 'युग्य' कहा जाता है। यहां 'युग अम्' से 'वहति' (ढोने वाला) अर्थ में **तद्वहति**

---

१. **धावन्त्यमी मृगजवाऽक्षमयेव रथ्याः।** (शाकुन्तल १.८)

यत्, ढक् (?)

रथयुगप्रासङ्गम् (११३१) सूत्रद्वारा यत् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक् एवं भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'युग्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

प्रासङ्गं वहति—प्रासङ्ग्यः। अशिक्षित बैल, घोड़े आदि पशु को सिधाने के लिये रथ के शिक्षित बैल, घोड़े आदि के युग (जुए) के साथ एक अन्य युग को सम्बद्ध कर उसे अशिक्षितपशु के गले में डाल देते हैं। इस प्रकार के दूसरे युग को 'प्रासङ्ग' कहते हैं।[2] उस प्रासङ्ग को खींचने वाले अशिक्षित बैल, घोड़े आदि पशु को 'प्रासङ्ग्य' कहा जाता है। यहां 'प्रासङ्ग अम्' से 'वहति' के अर्थ में **तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्** (११३१) सूत्र से यत् प्रत्यय, सुँब्लुक् एवं भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'प्रासङ्ग्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसी अर्थ में यत् प्रत्यय के साथ साथ ढक् प्रत्यय का भी विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११३२) धुरो यड्ढकौ** ।४।४।७७॥

हलि च (६१२) इति दीर्घे प्राप्ते—

अर्थः—द्वितीयान्त 'धुर्' प्रातिपदिक से 'वहति' (वहन करने वाला) अर्थ में तद्धितसंज्ञक यत् और ढक् प्रत्यय हों। **हलि चेति—हलि च** (६१२) सूत्र से उपधादीर्घ के प्राप्त होने पर (अग्रिमसूत्र से निषेध हो जाता है)।

व्याख्या—धुरः ।५।१। यड्ढकौ ।१।२। तत् ।५।१। (**तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्** सूत्र से। द्वितीयान्त के अनुकरण 'तद्' से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। वहति इति क्रियापदम् (**तद्वहति०** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। यत् च ढक् च यड्ढकौ, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(तत् = द्वितीयान्तात्) द्वितीयान्त (धुरः) धुर् प्रातिपदिक से (वहति इत्यर्थे) 'वहन करने वाला' अर्थ में (तद्धितौ) तद्धितसंज्ञक (यड्ढकौ) यत् और ढक् प्रत्यय हो जाते हैं।

उदाहरण यथा—

धुरं वहति—धुर्यो धौरेयो वा। युग (जुए) का वह भाग जो पशु के कन्धे पर डाला जाता है 'धुर्' कहलाता है। उस धुर् को वहन करने वाले बैल, घोड़े आदि पशु को तद्धितवृत्ति से 'धुर्य' या 'धौरेय' कहा जाता है। यहां 'धुर् अम्' इस द्वितीयान्त से 'वहति' (वहन करने वाला) अर्थ में प्रकृत **धुरो यड्ढकौ** (११३२) सूत्र से यत् और ढक् तद्धितप्रत्यय पर्याय से हो जाते हैं। यत्-प्रत्यय के पक्ष में सुप् (अम्) का लुक् होकर 'धुर् + य' इस स्थिति में **हलि च** (६१२) सूत्र से रेफ की उपधा उकार को दीर्घ प्राप्त होता है परन्तु यकारादि स्वादि प्रत्यय के परे रहते **यचि भम्** (१६५) से भसञ्ज्ञा हो जाने के कारण **न भकुर्छुराम्** (६७८, ११३३) से भसञ्ज्ञक की उपधा को

---

१. **रामं पदातिमालोक्य लङ्केशं च वरूथिनम्।**
हरियुग्यं रथं तस्मै प्रजिघाय पुरन्दरः ॥ (रघु० १२.८४)

२. कुछ लोगों का कथन है कि बछड़ों के दमन के लिये उन के कन्धे में डाला जाने वाला युगसदृश काष्ठ 'प्रासङ्ग' कहाता है। **प्रासङ्गो ना युगान्तरम्** इत्यमरः।

दीर्घ का निषेध हो जाता है—धुर्य । अब विभक्तिकार्य करने से 'धुर्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[1]

ढक्प्रत्यय के पक्ष में सुँब्लुक् हो कर **किति च** (१००१) से आदि-वृद्धि तथा **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) सूत्र से ढप्रत्यय के आदि ढ् को एय् आदेश कर विभक्ति लाने से 'धौरेयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[2] **धूर्वहे धुर्य-धौरेय-धुरीणाः सधुरन्धराः** इत्यमरः ।[3]

धुर् को वहन करने वाला पशु सदा रथ आदि के आगे ही रहता है । इसी सादृश्य के कारण धुर्य आदि शब्दों के अगुआ, कृत्यभार को उठाने वाला, मुख्य, प्रधान, श्रेष्ठ आदि अर्थों में भी लाक्षणिक प्रयोग देखे जाते हैं । यथा—पण्डितधुर्यः, विद्वद्धौरेयः (पण्डितों या विद्वज्जनों में आगे रहने वाला, श्रेष्ठ) । कालिदास के प्रयोग यथा—**तस्या भवानपरधुर्यपदावलम्बी** (रघु० ५.६६), **न हि सति कुलधुर्ये सूर्यवंश्या गृहाय** (रघु० ७.७१) ।

अब ग्रन्थकार 'धुर्यः' में **हलि च** (६१२) द्वारा प्राप्त उपधादीर्घ का निषेध करने वाले पूर्वपठित सूत्र का पुनः स्मरण कराते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११३३) न भ-कुर्छुराम् ।८।२।७९।।**

भस्य कुर्छुरोरुपधाया दीर्घो न स्यात् । धुर्यः । धौरेयः ।।

अर्थः—भसञ्ज्ञक की उपधा एवं कुर् और छुर् की उपधा के स्थान पर दीर्घ आदेश न हो ।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम् । भ-कुर्-छुराम् ।६।३। उपधायाः ।६।१। दीर्घः ।१।१। (**र्वोरुपधाया दीर्घ इकः** सूत्र से) । समासः—भं च कुर् च छुर् च भकुर्छुरः, तेषाम्=भकुर्छुराम्, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(भ-कुर्-छुराम्) **भसंज्ञक** एवं कुर् और छुर् की (उपधायाः) उपधा के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ आदेश (न) नहीं होता । उदाहरण यथा—

'धुर्+य' यहां यकारादि स्वादि प्रत्यय परे होने के कारण **यचि भम्** (१६५)

---

१. धुर्यशब्द के प्रयोग यथा—

नाविनीतैर्व्रजेद् धुर्यैर्न च क्षुद्व्याधिपीडितैः । (मनु० ४.६७)
अथ यन्तारमादिश्य धुर्यान् विश्रामयेति सः ।
तामवारोहयत् पत्नीं रथादवततार च ।। (रघु० १.५४)

२. धौरेयशब्द का साहित्यगत प्रयोग यथा—

पिशाचमुखधौरेयं सच्छत्त्रकवचं रथम् ।
युधि कद्रथवद्भीमं बभञ्ज ध्वजशालिनम् ।। (भट्टि० ५.१०३)

३. **खः सर्वधुरात्** (४.४.७८) सूत्र के योगविभाग के कारण धुर्शब्द से 'ख' प्रत्यय भी हो जाता है । तब **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) सूत्रद्वारा प्रत्यय के आदि खकार को ईन् आदेश हो कर 'धुरीणः' प्रयोग भी सिद्ध हो जाता है ।

सूत्र से 'धुर्' की भसञ्ज्ञा हो जाती है अतः **हलि च** (६१२) सूत्रद्वारा प्राप्त इस की उपधा के दीर्घ का प्रकृत **न भ-कुर्छुराम्** (११३३) सूत्र से निषेध हो कर 'धुर्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

कुर् और छुर् की उपधादीर्घ के निषेध के उदाहरण क्रमशः 'कुर्वन्ति' और 'छुर्यात्' हैं।

यह सूत्र पीछे तिङन्तप्रकरण में (६७८) सूत्राङ्क पर व्याख्यात है। मन्दबुद्धियों को याद दिलाने के लिये इस का पुनरुल्लेख किया गया है।

अब तार्य आदि विशिष्ट अर्थों में कतिपय प्रातिपदिकों से यत् प्रत्यय का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११३४) नौ-वयो-धर्म-विष-मूल-मूल-सीता-तुलाभ्यस्तार्य-तुल्य-प्राप्य-वध्याऽऽनाम्य-सम-समित-संमितेषु ।४।४।९१।।

नावा तार्यं नाव्यम्। वयसा तुल्यो वयस्यः। धर्मेण प्राप्यं धर्म्यम्। विषेण वध्यो विष्यः। मूलेन आनाम्यं मूल्यम्। मूलेन समो मूल्यः। सीतया समितं सीत्यं क्षेत्रम्। तुलया सम्मितं तुल्यम्॥

अर्थः—(१) नौ, (२) वयस्, (३) धर्म, (४) विष, (५) मूल, (६) मूल, (७) सीता और (८) तुला—इन आठ तृतीयान्त प्रातिपदिकों से क्रमशः (१) तार्य, (२) तुल्य, (३) प्राप्य, (४) वध्य, (५) आनाम्य, (६) सम, (७) समित और (८) संमित—इन आठ अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो।

व्याख्या—नौ-वयो-धर्म-विष-मूल-मूल-सीता-तुलाभ्यः[1] ।५।३। तार्य-तुल्य-प्राप्य-वध्याऽऽनाम्य-सम-समित-सम्मितेषु ।७।३। यत् ।१।१। (**प्राग्घिताद्यत्** इस अधिकार से लब्ध)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। यहां समर्थविभक्ति नहीं दी गई, परन्तु तार्य आदि अर्थों के साथ तृतीया ही घटित हो सकती है अतः उसे समर्थविभक्ति मान लिया जाता है। यह तृतीया क्वचित् करण में क्वचित् कर्त्ता में और क्वचित् हेतु या तुल्यार्थयोग में सम्भव होती है। अर्थः—(नौ-वयो-धर्म-विष-मूल-मूल-सीता-तुलाभ्यस्तृतीयान्तेभ्यः) नौ, वयस्, धर्म, विष, मूल, मूल, सीता और तुला इन आठ तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिकों से (तार्य-तुल्य-प्राप्य

---

१. यहां 'नौ' आदि आठ शब्दों का इतरेतरद्वन्द्व समझना चाहिये। 'मूल' शब्द दो बार आया है तो भी एकशेष नहीं किया गया। कारण कि एकशेष करने से सात शब्द रह जाते, तब इन का आठ अर्थों के साथ यथासंख्य न हो सकता। अथवा—नौ, वयस्, धर्म, विष, मूल इन पाञ्च शब्दों का तथा मूल, सीता और तुला इन तीन शब्दों का पृथक् पृथक् द्वन्द्वसमास कर पुनः दोनों का द्वन्द्व करना चाहिये। इस प्रकार एकशेष की प्रसक्ति ही न होगी।

वध्याऽऽनाम्य-सम-समित-संमितेषु (तार्य, तुल्य, प्राप्य, वध्य, आनाम्य, सम, समित और संमित इन आठ अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (यत्) यत् प्रत्यय हो जाता है।

आठ प्रकृतियां और आठ ही अर्थ हैं अतः यथासंख्य-परिभाषा से क्रमशः अर्थ समझे जायेंगे। इन सब का कोष्ठक यथा—

शब्द	अर्थ	विग्रह	प्रत्यय	निष्पन्न रूप
(१) नौ (नौका)	तार्य	नावा तार्यम्	यत्	नाव्यम्
(२) वयस् (आयु)	तुल्य	वयसा तुल्यः	,,	वयस्यः
(३) धर्म	प्राप्य	धर्मेण प्राप्यम्	,,	धर्म्यम्
(४) विष	वध्य	विषेण वध्यः	,,	विष्यः
(५) मूल	आनाम्य	मूलेनानाम्यम्	,,	मूल्यम्
(६) मूल	सम	मूलेन समः	,,	मूल्यः
(७) सीता	समित	सीतया समितम्	,,	सीत्यम्
(८) तुला (तराजू)	सम्मित	तुलया सम्मितम्	,,	तुल्यम्

अब क्रमशः इन की व्याख्या और विस्तृत सिद्धि प्रस्तुत कर रहे हैं—

(१) नावा तार्यम्[1]—नाव्यं जलम्। नौकाद्वारा पार किये जा सकने वाला नदी आदि का जल। इसी प्रकार 'नावा तार्या—नाव्या नदी' भी कहा जा सकता है। 'नौ टा' इस करणतृतीयान्त[2] प्रातिपदिक से प्रकृत **नौवयोधर्म०** (११३४) सूत्रद्वारा तार्य (पार किये जा सकने वाला) अर्थ में यत् प्रत्यय, तकार अनुबन्ध का लोप, सुँब्लुक् तथा **वान्तो यि प्रत्यये** (२४) से औकार को आव् आदेश करने से—'नाव्य' बना। अब विशेष्य के अनुसार लिङ्ग और विभक्ति ला कर 'नाव्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[3] **नाव्यं त्रिलिङ्गं नौतार्यम्** इत्यमरः।

(२) वयसा[4] तुल्यः—वयस्यः। आयु में समान मित्र को 'वयस्य' कहते हैं।[5] यहां 'वयस् टा' इस तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'तुल्य' (समान, बराबर) अर्थ में प्रकृत **नौ-वयो-धर्म०** (११३४) सूत्रद्वारा यत् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (टा) का लुक् कर विभक्ति लाने से 'वयस्यः' प्रयोग सिद्ध

---

१. तरीतुं शक्यं तार्यम्। शक्यार्थे **ऋहलोर्ण्यत्** (७८०) इति कृत्यो ण्यत्प्रत्ययः।

२. स्वातन्त्र्यविवक्षायां कर्तरि वा तृतीयेति नागेशः।

३. नाव्यशब्द का साहित्यगत प्रयोग यथा—

नाव्यं पयः केचिदतारिषुर्भुजैः। (माघ० १२.७६)
मरुपृष्ठान्युदम्भांसि नाव्याः सुप्रतरा नदीः।
विपिनानि प्रकाशानि शक्तिमत्त्वाच्चकार सः॥ (रघु० ४.३१)

४. **तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम्** (२.३.७२) इति तुल्ययोगे तृतीया।

५. 'वयस्य' शब्द मित्र के अर्थ में रूढ हो चुका है अतः आयु में समान शत्रु को 'वयस्य' नहीं कहा जाता। **वयस्यः सवयाः सुहृद्** इति हैमः।

हो जाता है ।[1] यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि **यचि भम्** (१६५) द्वारा भसंज्ञा के हो जाने से सकार पदान्त नहीं रहता अतः **ससजुषो रुः** (१०५) से सकार को रुँत्व नहीं होता ।

(३) धर्मेण प्राप्यं धर्म्यम् । धर्मद्वारा प्राप्त किये जाने वाले सुख, स्वर्ग आदि को 'धर्म्य' कहते हैं ।[2] 'धर्म टा' इस तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'प्राप्य' (प्राप्त किये जाने वाले) अर्थ में प्रकृत **नौवयोधर्म०** (११३४) सूत्रद्वारा यत् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक् एवं **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'धर्म्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

(४) विषेण वध्यः[3]—विष्यः । विषेण वधमर्हतीत्यर्थः । विषद्वारा वध करने योग्य शत्रु आदि को 'विष्य' कहा जाता है । 'विष टा' इस तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'वध्य' (वध के योग्य) अर्थ में प्रकृत **नौवयोधर्मविष०** (११३४) सूत्रद्वारा यत् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक् तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'विष्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

(५) मूलेन आनाम्यम्—मूल्यम् । मूल (पूंजी) द्वारा आनाम्य=अभिभवनीय अर्थात् प्राप्त होने वाले लाभ को 'मूल्य' कहा जाता है । व्यापार में मूल धन लगा कर उस से जो लाभांश अर्जित किया जाता है उसे 'मूल्य कहते हैं ।[4] यहां 'मूल टा'

---

१. 'वयस्य' शब्द का साहित्यगत प्रयोग यथा—

अथ श्रिया भर्त्सितमत्स्यलाञ्छनः समं वयस्यैः स्वरहस्यवेदिभिः ।
पुरोपकण्ठोपवनं किलेक्षिता दिदेश यानाय निदेशकारिणः ॥

(नैषध० १.५६)

२. अष्टाध्यायी में इसी अधिकार के अन्तर्गत **धर्म-पथ्यर्थ-न्यायादनपेते** (४.४.९२) सूत्रद्वारा भी धर्मशब्द से यत् होकर 'धर्म्यम्' प्रयोग सिद्ध होता है (यथा—**अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि**—गीता २.३३) । वहां 'धर्मादनपेतं धर्म्यम्' इस प्रकार विग्रह होता है । वहां उस कार्य को धर्म्य कहा गया है जो धर्म से रहित न हो अर्थात् धर्मानुकूल कार्य । परन्तु 'धर्मेण प्राप्यं धर्म्यम्' यहां धर्म द्वारा प्राप्त होने वाले सुखादि फल को 'धर्म्य' कहा गया है । यही दोनों में अन्तर है ।

३. वधमर्हतीति वध्यः । **दण्डादिभ्यो यत्** (११४९) इति यत्प्रत्ययः ।

४. परन्तु लोक में जितने धन से माल बेचा जाता है उस सम्पूर्ण (Principal + Profit) धन को मूल्य कहा जाता है । भाषाविज्ञान के अनुसार अर्थविस्तार का यह सुन्दर उदाहरण है । केवल लाभांश में प्रयुक्त यह शब्द धीरे धीरे रूढिवशात् अपने अर्थ को विस्तृत कर 'मूल + लाभ' में प्रयुक्त होने लगा ।

इस कर्तृतृतीयान्त से आनाम्य[1] (अभिभूत किये जाने वाले —दबाए जाने वाले— दूसरे शब्दों में अर्जित किये जाने वाले) अर्थ में प्रकृत **नौवयोधर्मविषमूल०** (११३४) सूत्र से यत् प्रत्यय होकर सुँब्लुक् एवं भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'मूल्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

(६) मूलेन समः —मूल्यः। मूल अर्थात् अपने उपादानकारण तन्तु आदि के सदृश पट आदि पदार्थ 'मूल्य' कहाएंगे। 'मूल टा' इस तृतीयान्त से सम अर्थात् तुल्य अर्थ में प्रकृत **नौवयोधर्मविषमूलमूल०** (११३४) सूत्रद्वारा यत् प्रत्यय, सुँब्लुक् और **यस्येति**चलोप से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'तुल्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इस शब्द का ठीक ठीक तात्पर्य तथा संस्कृतवाङ्मय में इस के प्रयोग दोनों ही अन्वेष्टव्य हैं।[2]

(७) सीतया समितम् —सीत्यं क्षेत्रम्। हलाग्र से जोत कर एक समान किया गया खेत। यहां 'सीता टा' से समित (समान किया हुआ) अर्थ में **नौवयोधर्मविषमूल-मूलसीता०** (११३४) इस प्रकृतसूत्र से यत् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक् तथा भसञ्ज्ञक आकार का **यस्येतिच**लोप कर विभक्ति लाने से 'सीत्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[3]

---

१. आङ्पूर्वक नम् धातु से इसी सूत्र के निपातनद्वारा ण्यत् प्रत्यय हो जाता है, वरन् **पोरदुपधात्** (७७५) से यत् ही प्राप्त था। आनाम्यम् का अर्थ है—अभिभवनीयम् — अभिभूत किये जाने योग्य— दबाये जाने योग्य। मूलद्वारा हमेशा लाभ दबाया जाता है। दबाने का अर्थ है —उसे अपना अङ्ग बनाना। पूँजीद्वारा अर्जित लाभ सदा पूंजी का ही अङ्ग बन जाता है। अत एव लोक में कहा भी जाता है कि इस मूल पर इतना लाभ हुआ। मूल अङ्गी और लाभ उस का अङ्ग समझा जाता है। बस पूंजीद्वारा लाभ का यही दबाया जाना है। काशिका में कहा भी है— **मूल्यं हि सगुणं मूलं करोति**, अर्थात् लाभ पूंजी का अङ्ग बन कर उसे गुणान्वित (वर्धित) कर देता है। इसी भाव को प्रक्रियासर्वस्वकार ने इस प्रकार श्लोकबद्ध किया है—

अंशभूतं किलानाम्यमिति वृत्तावुदीरितम्।
मूलद्रव्याङ्गभूतत्वाल्लाभस्यात्रास्ति मूल्यता॥

२. काशिकाकार ने इस का अर्थ स्पष्ट करते हुए 'उपादानेन समानफल इत्यर्थः' ऐसा लिखा है। उत्तरवर्ती व्याख्याता भी प्रायः इन शब्दों को दोहराते चले गये। खोल कर किसी ने यहां का अभिप्राय व्यक्त नहीं किया।

३. पदमञ्जरीकार हरदत्तमिश्र ने 'सीता' का अर्थ 'हलाग्रम्' किया है। भट्टोजिदीक्षित ने भी अपने शब्दकौस्तुभ में इसी का अनुसरण किया है। अमरकोषकार ने **सीता लाङ्गलपद्धतिः** कहा है। इस में हलद्वारा भूमि पर खींची गई रेखा को 'सीता' कहा गया है। रभसकोष में भी **सीता लाङ्गलरेखा स्यात्** कह कर यही अभिप्राय व्यक्त किया गया है। परन्तु नागेशभट्ट का कथन है कि हलद्वारा भूमि के कृष्ट हो जाने पर उसके ऊपर भूमि के समीकरणार्थ जो लकड़ी चलाई जाती है उसे सीता कहते हैं—**सीता कृष्टक्षेत्रसमीकरणार्थः काष्ठविशेषो 'मई' इति मध्यदेशप्रसिद्धः** (शेखरे)। चाहे कुछ हो हल की जोत में आया क्षेत्र 'सीत्यम्' कहलाता है— **सीत्यं कृष्टं च हल्यवद्** इत्यमरः।

(८) तुलया सम्मितम्—तुल्यम् । तुला (तराजू) द्वारा परिच्छिन्न—तोला गया।[1] यहां 'तुला टा' इस तृतीयान्त से सम्मित (तोला गया) अर्थ में **नौवयोधर्मविषमूलमूल-सीतातुलाभ्यस्तार्य०** (११३४) इस प्रकृतसूत्र से यत् प्रत्यय, तकार अनुबन्ध का लोप, सुँप् (टा) का लुक् तथा भसञ्ज्ञक आकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्ति लाने से 'तुल्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[2]

अब सप्तम्यन्त से साधु (प्रवीण वा योग्य) अर्थ में यत् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११३५) तत्र साधुः ।४।४।९८।।**

अग्रे साधुः—अग्र्यः । सामसु साधुः—सामन्यः । **ये चाऽभावकर्मणोः** (१०२३) इति प्रकृतिभावः । कर्मण्यः । शरण्यः ।।

अर्थः—सप्तम्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'साधु' (प्रवीण वा योग्य) अर्थ में तद्धितसंज्ञक यत् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तत्र इत्यव्ययपदम् (सप्तम्यन्त के अनुकरण 'तत्र' शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये)। साधुः ।१।१। यत् ।१।१। (**प्राग्घिताद्यत्** से अधिकृत है)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तत्र = सप्तम्यन्तात् प्रातिपदिकात्) सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से (साधुरित्यर्थे) 'प्रवीण या योग्य' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (यत्) यत् प्रत्यय हो जाता है।

यहां 'साधुः' का अर्थ 'निपुण = प्रवीण = योग्य' लिया जाता है। साधु का एक अर्थ हितकारी भी होता है परन्तु उस में परत्वात् **तस्मै हितम्** (११३९) सूत्र की प्रवृत्ति होती है।

सूत्र के उदाहरण यथा—

अग्रे साधुः—अग्र्यः (आगे रहने में प्रवीण या योग्य)। यहां 'अग्र ङि' इस सप्तम्यन्त से साधु (प्रवीण या योग्य) अर्थ में प्रकृत **तत्र साधुः** (११३५) सूत्र से यत् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक् तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप हो विभक्तिकार्य करने से 'अग्र्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

---

१. यहां तुला में आग्रह नहीं करना चाहिये। तुल्यशब्द सदृश के अर्थ में रूढ हो चुका है। यहां उस की केवल व्युत्पत्तिमात्र प्रदर्शित की जा रही है।

२. काशिकाकार ने 'सम्मितम्' का अर्थ 'परिच्छिन्नम्' नहीं किया। वे 'सम्मितम्' का 'सदृशम्' अर्थ ही करते हैं। उन के मन्तव्यानुसार तराजू के समान कार्य करने वाली वस्तु 'तुल्य' कहलाती है। जैसे तराजू परिमेय को परिच्छिन्न करती है वैसे तुल्यवस्तु भी अपने प्रतियोगी को परिच्छिन्न करती है। शब्दकौस्तुभ में दीक्षित ने भी इसी प्रकार के भाव व्यक्त किये हैं। परन्तु तत्त्वबोधिनीकार ने काशिकोक्त अभिप्राय से भिन्न उपर्युक्त अभिप्राय व्यक्त किया है। नागेशभट्ट ने भी इसी का अनुसरण किया है।

सामसु साधुः—सामन्यः (साम अर्थात् सामगान में प्रवीण वा योग्य)। यहां 'सामन् सुप्' इस सप्तम्यन्त से साधु (योग्य या प्रवीण) अर्थ में प्रकृत **तत्र साधुः** (११३५) सूत्र से यत् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप एवं सुँप् (सुप्) का लुक् करने पर 'सामन्+य' हुआ। अब यहां **यचि भम्** (१६५) से भसंज्ञा हो कर **नस्तद्धिते** (९१९) सूत्रद्वारा टि (अन्) का लोप प्राप्त होता है। परन्तु **ये चाऽभावकर्मणोः** (१०२३) सूत्र से प्रकृतिभाव के कारण उस का वारण हो जाता है। इस तरह 'सामन्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

कर्मसु साधुः—कर्मण्यः (कर्मों के करने में प्रवीण वा योग्य)। यहां 'कर्मन् सुप्' से पूर्ववत् साधु (योग्य वा प्रवीण) अर्थ में **तत्र साधुः** (११३५) से यत् प्रत्यय, सुँब्लुक् तथा **नस्तद्धिते** (९१९) से प्राप्त टिलोप का **ये चाऽभावकर्मणोः** (१०२३) से वारण हो कर णत्व (१३८) और विभक्तिकार्य करने से 'कर्मण्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

शरणे (त्राणे)[1] साधुः—शरण्यः (रक्षा करने में प्रवीण, योग्य या समर्थ)। यहां 'शरण ङि' से साधु अर्थ में **तत्र साधुः** (११३५) सूत्र से यत् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'शरण्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[2]

इसी प्रकार—

वेमनि साधुः—वेमन्यः (खड्डी के काम में प्रवीण)।

अब **तत्र साधुः** के अर्थ में सभाशब्द से 'य' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११३६) सभाया यः ।४।४।१०५॥**

सभ्यः ॥

अर्थः—सप्तम्यन्त 'सभा' प्रातिपदिक से 'साधु' (निपुण-प्रवीण-योग्य) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक 'य' प्रत्यय हो।

व्याख्या—सभायाः ।५।१। यः ।१।१। **तत्र साधुः** (४.४.९८) सूत्र का पीछे से अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तत्र=सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त (सभायाः) 'सभा' प्रातिपदिक से (साधुरित्यर्थे) 'प्रवीण या योग्य' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (यः) 'य' प्रत्यय हो जाता है।

पूर्वसूत्र से यत् प्रत्यय प्राप्त था उस का अपवाद यह 'य' प्रत्यय विधान किया जा रहा है। यत् और य में स्वर का ही अन्तर पड़ता है। उदाहरण यथा—

सभायां साधुः—सभ्यः (सभा में निपुण वा योग्य)। यहां 'सभा ङि' इस सप्तम्यन्त से साधु (प्रवीण वा योग्य) अर्थ में प्रकृत **सभाया यः** (११३६) सूत्रद्वारा 'य' प्रत्यय हो कर **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक आकार का लोप तथा अन्त में विभक्ति-

१. **शरणं गृहरक्षित्रोर्वधरक्षणयोरपि**—इति मेदिनी।

२. **लवणत्रासितः स्तोमः शरण्यं त्वामुपस्थितः।** (उत्तररामः १.५०)

कार्य करने से 'सभ्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

व्युत्पन्न जिज्ञासु विद्यार्थियों के बोधार्थ इस प्राग्घितीयप्रकरण के कुछ अन्य उपयोगी सूत्र यहां संक्षेप से प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

[१] **शकटादण्** (४.४.८०) ॥

अर्थः —द्वितीयान्त शकट प्रातिपदिक से 'वहति' के अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक अण् प्रत्यय हो जाता है। उदाहरण यथा—

शकटं वहति—शाकटो वृषः (छकड़े को खींचने वाला बैल)।

[२] **वशं गतः** (४.४.८६) ॥

अर्थः —द्वितीयान्त 'वश' प्रातिपदिक से 'गतः' (गया हुआ) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो जाता है। उदाहरण यथा—

वशं गतो वश्यः (अधीन, वशवर्त्ती, आज्ञाकारी)। प्रयोग यथा—

पुण्यतीर्थे कृतं येन तपः क्वाप्यतिदुष्करम्।
तस्य पुत्रो भवेद्वश्यः समृद्धो धार्मिकः सुधीः॥ (हितोप० १९)

[३] **धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते** (४.४.९२) ॥

अर्थः —धर्म, पथिन्, अर्थ और न्याय इन पञ्चम्यन्त प्रातिपदिकों से 'अनपेत' (न हटा हुआ, अवियुक्त, अपृथग्भूत) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो जाता है। उदाहरण यथा—

धर्माद् अनपेतं धर्म्यम् आचरणम्।
पथः (वैद्योपदेशाद्) अनपेतम् पथ्यं भोजनम्।[2]
अर्थादनपेतम् अर्थ्यं वचः (अर्थयुक्त वचन)।
न्यायादनपेतो न्याय्यः पन्थाः।[3]

[४] **प्रतिजनादिभ्यः खञ्** (४.४.९९) ॥

अर्थः —सप्तम्यन्त प्रतिजन आदि प्रातिपदिकों से 'साधु' अर्थ में तद्धितसंज्ञक खञ् प्रत्यय हो जाता है।

उदाहरण यथा—जनं जनं प्रति प्रतिजनम् (वीप्सायामव्ययीभावः)। प्रतिजने साधुः प्रातिजनीनः। सर्वो जनः सर्वजनः (कर्मधारयसमासः)। सर्वजने साधुः सार्वजनीनः। संयुगे (युद्धे) साधुः (कुशलः) सांयुगीनः। **सांयुगीनो रणे साधु**रित्यमरः। **संयुगे सांयुगीनं तमुद्यतं प्रसहेत कः** (कुमार० २.५७)। प्रत्यय के आदि खकार को ईन् आदेश हो जाता है (१०१३)।

---

१. सभ्यशब्द का प्रयोग यथा—
तस्मै सभ्याः सभार्याय गोप्त्रे गुप्ततमेन्द्रियाः।
अर्हणामर्हते चक्रुर्मुनयो नयचक्षुषे॥ (रघु० १.५५)

२. **नस्तद्धिते** (९१९) से भसंज्ञक टि (इन्) का लोप हो जाता है।

३. **न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः।** (नीतिशतक ७४)

[५] **परिषदो ण्यः** (४.४.१०१) ॥

अर्थः—सप्तम्यन्त परिषद् (सभा) प्रातिपदिक से 'साधु' अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ण्य (य) प्रत्यय हो जाता है।

उदाहरण यथा—परिषदि साधुः पारिषद्यः (सभा में निपुण)। क्वचित् 'ण' प्रत्यय भी देखा जाता है। परिषदि साधु पारिषदम्। **सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्**—(महाभाष्य २.१.५८)।

[६] **कथादिभ्यष्ठक्** (४.४.१०२) ॥

अर्थः—कथा आदि सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से 'साधु' अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक **ठक्** प्रत्यय हो जाता है।

उदाहरण यथा—कथासु साधुः (कुशलः) काथिकः (बातचीत करने में निपुण)। जनवादे साधुः—जानवादिकः। आयुर्वेदे साधुः (कुशलः)—आयुर्वेदिकः। वितण्डायां साधुः—वैतण्डिकः (वितण्डा[1] करने में निपुण)। ठकार को **ठस्येकः** (१०२७) से 'इक' आदेश हो जाता है।

[७] **गुडादिभ्यष्ठञ्** (४.४.१०३) ॥

अर्थः—गुड आदि सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से 'साधु' अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक **ठञ्** प्रत्यय हो जाता है।

उदाहरण यथा—गुडे साधुः—गौडिक इक्षुः (गुड़निर्माण में उपयुक्त गन्ना)। सक्तुषु साधवः साक्तुका[2] यवाः (सत्तूनिर्माण में उपयुक्त जौ)। संग्रामे साधुः सांग्रामिकः (युद्ध में निपुण)।

[८] **पथ्यतिथि-वसति-स्वपतेर्ढञ्** (४.४.१०४) ॥

अर्थः—पथिन्, अतिथि, वसति (निवास) और स्वपति—इन चार सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से 'साधु' अर्थ में तद्धितसंज्ञक ढञ् प्रत्यय हो जाता है। प्रत्यय के ञित्त्व के कारण आदिवृद्धि हो जाती है। प्रत्यय के आदि ढकार को **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) से एय् आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—

पथि साधु पाथेयम् (मार्ग में उपयुक्त खाद्य वस्तु)।
अतिथिषु साधुः—आतिथेयः (अतिथिसेवा में निपुण)।[3]

---

१. **पक्षशून्यो जल्पो वितण्डा।** जब अपना पक्ष स्थापित किये विना दूसरों के पक्ष का खण्डन या निषेध किया जाता है तो उसे 'वाद' न कह कर 'वितण्डा' कहा जाता है। वितण्डा करने में निपुण को 'वैतण्डिक' कहते हैं। कहा भी है—**वैतण्डिकः प्रयतते निजपक्षसिद्ध्यै ताञ्चैव वेद परपक्षनिषेधलभ्याम्।**

२. **इसुसुक्तान्तात् कः** (१०५२) इति ठस्य कादेशः।

३. **प्रत्युज्जगामातिथिमातिथेयः**—(रघु० ५.२)।

वसतौ (निवासे) साधु वासतेयं गृहम् (निवास में उपयुक्त घर आदि) ।[1]
स्वपतौ साधु स्वापतेयम् (अपने मालिक के लिये उपकारक, धन) ।[2]

[९] **समानतीर्थे वासी** (४.४.१०७) ॥

अर्थः—सप्तम्यन्त 'समानतीर्थ' प्रातिपदिक से 'वासी = रहने वाला' अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो जाता है ।

समानं च तत् तीर्थम्—समानतीर्थम्, कर्मधारयसमासः । समानतीर्थे वासी सतीर्थ्यः । तीर्थशब्द से यहां 'गुरु' अभिप्रेत है ।[3] समानतीर्थ अर्थात् एक ही गुरु के समीप रह कर अध्ययन करने वाले छात्र परस्पर 'सतीर्थ्य' कहाते हैं । यत् प्रत्यय की विवक्षा में **तीर्थे ये** (६.३.८६)[4] सूत्रद्वारा समानशब्द के स्थान पर 'स' आदेश हो जाता है ।

[१०] **समानोदरे शयित ओ चोदात्तः** (४.४.१०८) ॥

अर्थः—सप्तम्यन्त 'समानोदर' प्रातिपदिक से 'शयितः' (स्थित) अर्थ में तद्धित-सञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो जाता है तथा समानोदरशब्द का ओकार भी उदात्त हो जाता है ।

उदाहरण यथा—समाने उदरे शयितः सोदर्यः । जो एक ही माता के पेट में रह चुका है अर्थात् सगा भाई । यकारादि प्रत्यय की विवक्षा में 'समान + उदर' में कर्म-धारयसमास हो कर **विभाषोदरे** (६.३.८७)[5] सूत्र से समानशब्द के स्थान पर विकल्प से 'स' आदेश हो जाता है । जहां सकार आदेश नहीं होता वहां प्रकृतसूत्र से 'समानोदर्यः' सिद्ध हो जाता है । स-आदेशपक्ष में 'सोदर' से अग्रिमसूत्रद्वारा 'य' तद्धितप्रत्यय का विधान करते हैं—

[११] **सोदराद् यः** (४.४.१०९) ॥

अर्थः— सप्तम्यन्त 'सोदर' प्रातिपदिक से 'शयितः' (स्थित) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक **'य'** प्रत्यय हो जाता है ।

उदाहरण यथा—समाने उदरे शयितः सोदर्यः (सगा भाई) । **एकं प्रसूयते माता**

---

१. **वनेषु वासतेयेषु निवसन् पर्णसंस्तरे ।**
शय्योत्थायं मृगान्विध्यन् नातिथेयो विचक्रमे ॥ (भट्टि० ४.८) ।

२. **द्रव्यं वित्तं स्वापतेयं रिक्थमृक्थं धनं वसु**—इत्यमरः ।

३. तरन्त्यनेनेति तीर्थम् । **तरतेस्थक्** (उणा० २.७) । **तीर्थं शास्त्राध्वरक्षेत्रोपायोपाध्याय-मन्त्रिषु । योनौ जलावतारे चेति** विश्वः । इह तूपाध्यायवाचिनः एव ग्रहणं नाऽन्यस्य, सञ्ज्ञाधिकाराद् इति तत्त्वबोधिन्यां ज्ञानेन्द्रस्वामी ।

४. **तीर्थे ये** (६.३.८६) । अर्थः—यकारादि प्रत्यय की विवक्षा में 'समान' शब्द के स्थान पर 'स' आदेश हो जाता है यदि तीर्थशब्द उत्तरपद में हो तो ।

५. **विभाषोदरे** (६.३.८७) । अर्थः—यकारादि प्रत्यय की विवक्षा में उदरशब्द के परे रहते समानशब्द के स्थान पर 'स' आदेश विकल्प से हो जाता है ।

द्वितीयं वाक् प्रसूयते। वाग्जातमधिकं प्राहुः सोदर्यादपि बान्धवात् (पञ्चतन्त्र ४.६)।[1]

अभ्यास [८]

(१) विग्रहप्रदर्शनपूर्वक निम्नस्थ तद्धितान्तों की ससूत्र सिद्धि प्रदर्शित करें—
१. रथ्यः। २. अर्घ्यं (वचः)। ३. नाव्यम्। ४. सीत्यम्। ५. सभ्यः। ६. सोदर्यः। ७. शरण्यः। ८. समानोदर्यः। ९. धौरेयः। १०. धर्म्यम्। ११. अग्र्यः। १२. आतिथेयः। १३. धुर्यः। १४. माल्यानि (पुष्पाणि)। १५. पथ्यम्। १६. वैतण्डिकः। १७. सार्वजनीनः। १८. प्रासङ्ग्यः। १९. सतीर्थ्यः। २०. युग्यः।

(२) प्रत्ययों और तद्विधायक सूत्रों का निर्देश करते हुए निम्नस्थ विग्रहों के तद्धितान्त रूप निर्दिष्ट करें—
१. वयसा तुल्यः। २. सामसु साधुः। ३. शकटं वहति। ४. स्वपतौ साधु। ५. वशं गतः। ६. संयुगे साधुः। ७. न्यायादनपेतम्। ८. पथि साधु। ९. वसतौ साधु। १०. विषेण वध्यः। ११. मूलेन समः। १२. मूलेनानाम्यम्। १३. गुडे साधुः। १४. आयुर्वेदे साधुः। १५. कथासु साधुः।

(३) निम्नस्थ प्रश्नों का सहेतुक उत्तर दीजिये—
[क] **तत्र साधुः** में 'साधुः' से क्या अभिप्रेत है ?
[ख] 'तीर्थम्' का 'गुरु' अर्थ कहां और कैसे किया जाता है ?
[ग] 'धुर्यः' में **हलि च** से उपधादीर्घ क्यों नहीं होता ?
[घ] धर्मादनपेतं धर्म्यम्, धर्मात्प्राप्यं धर्म्यम्—दोनों में क्या अन्तर है ?
[ङ] पारिषद्यम्, पारिषदम्—दोनों में कौन सा रूप शुद्ध है ?
[च] 'धुरीणः' में किस सूत्रद्वारा कौन सा प्रत्यय किया जाता है ?

---

१. सगे भाई के अर्थ में प्रसिद्ध 'सोदर' शब्द इस से भिन्न है। वह 'सह + उदर' के बहुव्रीहिसमास से निष्पन्न होता है। सह (समानम्) उदरं (मातुरुदरम्) यस्य स सोदरः सहोदरो वा। यहां बहुव्रीहिसमास में **वोपसर्जनस्य** (६.३.८१) सूत्रद्वारा 'सह' के स्थान पर विकल्प से 'स' आदेश हो जाता है। सोदरशब्द का साहित्यगत प्रयोग यथा—

यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यञ्चोऽपि सहायताम्।
अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति॥ (अनर्घराघव ४)

सहोदरशब्द का साहित्यगत प्रयोग यथा—

सहोदराः कुङ्कुमकेसराणां भवन्ति नूनं कविताविलासाः।
न शारदादेशमपास्य दृष्टस्तेषां यदन्यत्र मया प्ररोहः॥
(विक्रमाङ्कदेवचरित १.२१)

[छ] 'आनाम्यम्' से क्या अभिप्रेत है ?
[ज] भ्रातृवाचक सोदर और सहोदर शब्दों की निष्पत्ति कैसे होती है ?
[झ] 'सीत्यम्' का नागेशभट्टोक्त अर्थ क्या है ?

(४) तुलया सम्मितं तुल्यम्—यहां का काशिकोक्त तथा तत्त्वबोधिनीकारोक्त आशय स्पष्ट कीजिये ।

(५) 'वयसा तुल्यः शत्रुः' इस आशय के लिये क्या 'वयस्यः' का प्रयोग हो सकता है या नहीं ? सहेतु टिप्पण करें ।

(६) निम्नस्थ सूत्रों की व्याख्या करें—
१. तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम् । २. धुरो यड्ढकौ । ३. नौवयोधर्म० । ४. सभाया यः । ५. धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते । ६. समानोदरे शयित ओ चोदात्तः । ७. समानतीर्थे वासी । ८. पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ् । ९. तत्र साधुः । १०. परिषदो ण्यः ॥

[लघु०] इति यतोऽवधिः ॥

अर्थः—यहां यत् प्रत्यय का अधिकार समाप्त होता है ।

व्याख्या—प्राग्घिताद्यत् (११३०) के कारण इस प्रकरण को 'प्राग्घितीय' भी पुकारा जाता है । प्रक्रियाकौमुदी की प्रसादटीका में इसे इसी नाम से व्यवहृत किया गया है ।

(यहां यत् प्रत्यय का अधिकार समाप्त होता है ।)

——:o:——

अथ छयतोरधिकारः

अब छ और यत् प्रत्ययों का अधिकार प्रारम्भ हो रहा है । यह यहां विशेष ध्यातव्य है कि अष्टाध्यायीस्थ पञ्चमाध्याय के प्रत्यय अब प्रारम्भ किये जा रहे हैं ।

[लघु०] अधिकार-सूत्रम्—**(११३७) प्राक् क्रीताच्छः ।५।१।१॥**

तेन क्रीतम् (११४४) इत्यतः प्राक् छोऽधिक्रियते ॥

अर्थः—अष्टाध्यायी में यहां से ले कर **तेन क्रीतम्** (५.१.३६) सूत्र से पूर्व पूर्व 'छ' प्रत्यय अधिकृत किया जा रहा है ।

व्याख्या--प्राक् इत्यव्ययपदम् । क्रीतात् ।५।१। (**तेन क्रीतम्** सूत्र के क्रीतशब्द का यहां निर्देश किया गया है) । छः ।१।१। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः--(क्रीतात् प्राक्) यहां से ले कर अष्टाध्यायी **में तेन क्रीतम्** (५.१.३६) सूत्र से पूर्व (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (छः) 'छ' प्रत्यय अधिकृत **किया जाता है ।**

तात्पर्य यह है कि अष्टाध्यायी में इस सूत्र से ले कर आगे आने वाले **तेन क्रीतम्** (५.१.३६) सूत्र से पूर्व तक जहां जहां अर्थनिर्देश तो किया गया हो परन्तु प्रत्यय न बताया गया हो वहां वहां 'छ' प्रत्यय का अधिकार होगा। यथा आगे **तस्मै हितम्** (११३६) सूत्र पर प्रत्यय नहीं कहा गया, केवल अर्थ ही बताया गया है तो वहां 'छ' प्रत्यय होगा। वत्सेभ्यो हितो वत्सीयः। इस की सिद्धि और व्याख्या आगे उसी सूत्र पर देखें।

अब इसी अवधि तक प्रकृतिविशेष से यत् प्रत्यय के अधिकार का निरूपण करते हैं —

[लघु०] अधिकार-सूत्रम्—**(११३८) उगवादिभ्यो यत्**।५।१।२॥

प्राक् क्रीतादित्येव। उवर्णान्ताद् गवादिभ्यश्च यत् स्यात्। छस्यापवादः। शङ्कवे हितं शङ्कव्यं दारु। गव्यम्॥

अर्थः—उवर्णान्त प्रातिपदिक से परे तथा गवादिगणपठित प्रातिपदिकों से परे प्राक्क्रीतीय अर्थों में यत् तद्धितप्रत्यय अधिकृत किया जाता है। यह पूर्वोक्त छप्रत्यय का अपवाद है।

व्याख्या—उगवादिभ्यः ।५।३। यत् ।१।१। 'प्राक् क्रीतात्' का पूर्वसूत्र से अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—गोशब्द आदिर्येषान्ते गवादयः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः। उश्च गवादयश्च उगवादयः, तेभ्यः=उगवादिभ्यः। इतरेतरद्वन्द्वः। 'उ' को 'प्रातिपदिक' का विशेषण मान कर तदन्तविधि करने से 'उवर्णान्तात् प्रातिपदिकात्' उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—यहां से ले कर (प्राक् क्रीतात्) **तेन क्रीतम्** सूत्र से पहले के अर्थों में (उगवादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः) उवर्णान्त तथा गवादिगणपठित प्रातिपदिकों से (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (यत्) यत् प्रत्यय हो जाता है।

पूर्वसूत्र से प्राक्क्रीतीय अर्थों में 'छ' प्रत्यय प्राप्त था। अब इस सूत्र से उवर्णान्त तथा गवादियों से यत् प्रत्यय ही होगा छप्रत्यय नहीं। हां! शेषों से यदि कोई अपवाद न हो तो 'छ' ही होगा। यत् में तकार अनुबन्ध है जो स्वरार्थ जोड़ा गया है।

उवर्णान्त का उदाहरण यथा —

शङ्कवे हितं शङ्कव्यं दारु (शङ्कु=कीली=खूंटी के लिये हितकर=उपयोगी लकड़ी)। यहां 'शङ्कु ङे' इस उवर्णान्त चतुर्थ्यन्त प्रातिपदिक से **तस्मै हितम्** (११३६) के अर्थ में **प्राक् क्रीताच्छः** (११३७) द्वारा प्राप्त छप्रत्यय का बाध कर प्रकृत **उगवादिभ्यो यत्** (११३८) सूत्र से उवर्णान्तमूलक यत् प्रत्यय हो जाता है। यत् के तकार अनुबन्ध का लोप होकर तद्धितान्तत्वेन प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (ङे) का लुक् करने से 'शङ्कु+य' बना। पुनः **यचि भम्** (१६५) द्वारा भसञ्ज्ञक उकार को **ओर्गुणः** (१००५) सूत्र से गुण—ओकार तथा **वान्तो यि प्रत्यये** (२४) से ओकार को अव् आदेश करने पर—शङ्कव्य। अब विशेष्य (दारु) के अनुसार नपुंसक

के प्रथमैकवचन में सुँ प्रत्यय ला कर उसे अम् आदेश (२३४) तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'शङ्कव्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

(१) सक्तुभ्यो हिताः सक्तव्या धानाः (सत्तुओं के लिये उपयुक्त धानी)।

(२) कमण्डलवे हिता कमण्डलव्या मृत् (कमण्डलु के लिये उपयुक्त मिट्टी)।

(३) पिचवे हितः पिचव्यः कर्पासः (रूई के लिये उपयुक्त कपासझाड़)।[1]

(४) परशवे हितं परशव्यम् अयः (कुल्हाड़े के लिये उपयुक्त लोहा)।

(५) चरुभ्यो हिताश्चरव्यास्तण्डुलाः (चरुओं के लिये उपयुक्त चावल)।[2]

गवादियों का उदाहरण यथा—

गोभ्यो हितं गव्यं शष्पम् (गौओं के लिये हितकर तृणघास आदि)। यहां 'गो भ्यस्' इस चतुर्थ्यन्त गोशब्द से **तस्मै हितम्** (११३९) के अर्थ में अधिकृत छप्रत्यय का बाध कर **उगवादिभ्यो यत्** (११३८) से यत् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक् तथा **वान्तो यि प्रत्यये** (२४) से ओकार को अव् आदेश कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'गव्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अब ग्रन्थकार गवादिगण में पठित एक गणसूत्र को उद्धृत करते हैं—

[लघु०] गणसूत्रम्—**नाभि नभं च ॥**

नभ्योऽक्षः। नभ्यम् अञ्जनम् ॥

अर्थः—यत् प्रत्यय करते समय नाभिशब्द नभआदेश को प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—यह गवादिगण में पढ़ा गया एक गणसूत्र है। नाभि ।१।१। नभम् ।२।१। च इत्यव्ययपदम्। यत्प्रत्यये क्रियमाणे नाभिशब्दो 'नभ' इत्यादेशं प्रपद्यत इत्यर्थः। अर्थः—यत् प्रत्यय करने पर (नाभि) नाभिशब्द (नभं च) 'नभ' आदेश को भी प्राप्त होता है। यत् प्रत्यय गवादित्वात् **उगवादिभ्यो यत्** (११३८) सूत्र से होता है। उदाहरण यथा—

नाभये हितो नभ्योऽक्षः। रथचक्र की नाभि के लिये हितकर=उपयुक्त=fit अक्ष (रथ के पहियों का दण्ड)।[3] 'नाभि ङे' यहां **तस्मै हितम्** (११३९) के अर्थ में **प्राक् क्रीताच्छः** (११३७) से प्राप्त छप्रत्यय का बाध कर **उगवादिभ्यो यत्** (११३८)

---

१. **कर्पासस्तु बादरः स्यात् पिचव्य** इति हैमे।

२. अनवस्रावितान्तरूष्मपाक ओदनश्चरुरिति याज्ञिकाः। याज्ञिक लोग ऐसे भात को 'चरु' कहते हैं जिस से माण्ड न निकाला गया हो और जो भीतरी भाप से पकाया गया हो। कैयट उपाध्याय का कथन है—स्थालीवाची चरुशब्दः तात्स्थ्यादोदने भाक्त इति। अर्थात् 'चरु' का मुख्य अर्थ पाकपात्र है परन्तु उस में पकने वाले भात को भी 'चरु' कह दिया जाता है।

३. रथचक्राङ्गं सच्छिद्रं—नाभिः। तदनुप्रविष्टः काष्ठविशेषोऽक्षः। स च तदनुगुणत्वात् तस्मै हित इति तत्त्वबोधिन्यां ज्ञानेन्द्रस्वामी।

से यत् प्रत्यय, **नाभि नभं च** इस गणसूत्र से नाभि के स्थान पर 'नभ' सर्वादेश, सुँब्लुक् तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप करने से — नभ् + य = नभ्य । अब विशेष्य के अनुसार पुंलिङ्ग के प्रथमैकवचन में विभक्तिकार्य करने से 'नभ्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार नाभये हितं नभ्यम् अञ्जनम् । तैलसिञ्चन को 'अञ्जन' कहते हैं। नाभि के लिये हितकर तैलसिञ्चन को यहां 'नभ्य' कहा गया है । तैल-लगाने से नाभि और तद्द्वारा रथचक्र सरलता से घूमता है इसलिये इसे नाभि के लिये हितकर कहा गया है ।[1]

गवादिगण[2] के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) हविषे हितं हविष्यम् आज्यम् (हविः के लिये हितकर घृतादि) ।

(२) मेधायै हितं मेध्यं चूर्णम् (बुद्धि के लिये हितकर चूर्ण) ।

(३) अध्वने हितम् अध्वन्यं[3] मोदकम् (मार्ग के लिये हितकर मोदक) ।

(४) शुने हितं शून्यं शुन्यं वा (कुत्ते के लिये हितकर —एकान्तस्थान) ।[4]

(५) स्रुचे हितं स्रुच्यं काष्ठम् (स्रुवा के लिये उपयुक्त लकड़ी) ।

(६) ऊधसे हितम् ऊधन्यम् (चड्डे के लिये हितकर वस्तु) ।[5]

अब इस प्रकरण के अर्थविधायक सुप्रसिद्ध सूत्र का अवतरण करते हैं—

---

१. रथ आदि की नाभि का ही गवादिगण में पाठ समझना चाहिये । शरीरस्थ नाभि के हितकर में तो परत्व के कारण **शरीरावयवाद्यत्** (११४०) सूत्रद्वारा केवल यत् प्रत्यय ही होगा नभ आदेश नहीं । नाभये हितं नाभ्यं तैलम् (उदरस्थ नाभि के लिये हितकर तैल आदि) ।

२. गवादिगण यथा—
गो । हविस् । अक्षर । विष । बर्हिस् । अष्टका (इष्टका इति प्रक्रियासर्वस्वे) । स्खदा (स्खद इति काशिकायाम्) । युग । मेधा । स्रुच् (स्रज् इति काशिकायाम्) । **नाभि नभं च** (गणसूत्रम्) । **शुनः सम्प्रसारणं वा च दीर्घत्वं तत्सन्नियोगेन चान्तोदात्तत्वम्** (ग. सूत्रम्) । **ऊधसो नङ् च** (ग. सूत्रम्) । कूप । खद (खट इति काशिकायाम्) । दर (उदर इति काशिकायाम्) । खर । असुर । अध्वन् । क्षर । वेद । बीज । दीप्त (दसि) । स्कन्द ॥

३. **ये चाऽभावकर्मणोः** (१०२३) इति प्रकृतिभावेन **नस्तद्धिते** (९१९) इति टिलोपो बाध्यते ।

४. 'श्वन् + य' इति स्थितौ **शुनः सम्प्रसारणं वा च दीर्घत्वम्** इति गणसूत्रेण वकारस्य सम्प्रसारणे, पूर्वरूपे, वा च दीर्घे कृते शून्यं शुन्यञ्चेति सिध्यतः । गणसूत्रस्थचकारेण प्रकृतिभावः समुच्चीयते । तेन दीर्घतदभावयोष्टिलोपो न ।

५. ऊधस्शब्दाद् यति **ऊधसो नङ्** चेतिगणसूत्रेण सकारस्य नङि अनुबन्धलोपे प्रकृतिभावे च विहिते रूपं सिध्यति ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११३९) तस्मै हितम् ।५।१।५।।

वत्सेभ्यो हितो वत्सीयो गोधुक् ।।

अर्थः— चतुर्थ्यन्त समर्थ प्रातिपदिक से 'हित = हितकर' अर्थ में तद्धितसंज्ञक 'छ' प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तस्मै ।५।१। (चतुर्थ्यन्त के अनुकरण 'तस्मै' शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है) । हितम् ।१।१। छः ।१।१। (प्राक् क्रीताच्छः से अधिकृत है) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः— (तस्मै = चतुर्थ्यन्तात् प्रातिपदिकात्) चतुर्थ्यन्त प्रातिपदिक से (हितमित्यर्थे)[1] 'हित करने वाला' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (छः) 'छ' प्रत्यय हो जाता है । उदाहरण यथा—

वत्सेभ्यो हितः—वत्सीयः (गोधुक्) ।[2] (बछड़ों के लिये हितकारी ग्वाला) । यहां 'वत्स भ्यस्' इस चतुर्थ्यन्त प्रातिपदिक से 'हितकर' अर्थ में प्रकृत **तस्मै हितम्** (११३९) सूत्र से छ प्रत्यय, तद्धितान्त हो जाने के कारण प्रातिपदिकसंज्ञा, **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँब्लुक्, **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) से प्रत्यय के आदि छकार को ईय् आदेश तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'वत्सीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि उकारान्तों और गवादियों से तो यत् ही होगा जैसाकि **उगवादिभ्यो यत्** (११३८) सूत्र पर बताया जा चुका है । वहां के उदाहरण भी इस सूत्र के उदाहरण समझने चाहियें—शङ्कव्यम्, गव्यम् आदि ।

प्रकृतसूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) करभेभ्यो हितः करभीय उष्ट्रः ।

(२) मात्रे हितो मात्रीयः पुत्रः ।

(३) पित्रे हितः पित्रीयः पुत्रः ।

---

१. **हि गतिवृद्ध्योः** (स्वा० परस्मै०) या **डुधाञ् धारणपोषणयोः** (जुहो० उभय०) धातु से कर्ता या कर्म में क्तप्रत्यय करने पर 'हित' शब्द सिद्ध होता है । हितशब्द का मूल अर्थ—गया हुआ, बढ़ा हुआ, गतिशील, वृद्धिशील, धारण किया गया, रखा गया, पुष्ट किया गया इत्यादि समझने चाहियें । परन्तु यह शब्द अब अर्थविस्तार को प्राप्त कर अन्यविध अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है । यथा—पथ्य, सुखकारक, किसी के प्रति अच्छा, हितकर, लाभप्रद, उपयुक्त (Fit), अनुकूल, भला इत्यादि इस के अर्थ हैं । यथास्थान और यथावसर इन में से कोई हितशब्द का अर्थ ग्रहण करना चाहिये । सूत्रकार ने हितशब्द का इन्हीं अर्थों में प्रयोग किया है ।

२. गां दोग्धीति गोधुक् । गोकर्मण्युपपदे **क्विँप् च** (८०२) इति कर्तरि क्विँप् । इस की सुँबन्तप्रक्रिया 'दुह्' शब्द के समान समझनी चाहिये । बछड़ों को तृप्त करा कर बाद में दोहन करने वाला अथवा बछड़ों के लिये पर्याप्त दूध छोड़ने वाला ग्वाला बछड़ों के लिये हितकर होता है ।

स्त्रियै हितं स्त्रैणम्, पुंसे हितं पौंस्नम् । इन में **स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** (१००३) सूत्रद्वारा क्रमशः नञ् और स्नञ् प्रत्यय होते हैं।

वृष्णे हितम्, ब्राह्मणाय हितम् इत्यादियों में वाक्य ही अभीष्ट है तद्धितवृत्ति नहीं, अतः छप्रत्यय नहीं होता।[1]

अब शरीरावयववाचकों से यत् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११४०) शरीरावयवाद् यत् ।५।१।६।।**[2]

दन्त्यम् । कण्ठ्यम् । नस्यम् ।।

अर्थः—शरीर के अवयव के वाचक चतुर्थ्यन्त प्रातिपदिक से 'हित' (हितकर) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो।

व्याख्या—शरीरावयवात् ।५।१। यत् ।१।१। **तस्मै हितम्** सूत्र का अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—शरीरस्य अवयवः शरीरावयवः, तस्मात्=शरीरावयवात्। षष्ठीतत्पुरुष-समासः। शब्दानुशासनस्य अधिकृतत्वात् तद्वाचकादिति गम्यते। अर्थः—(तस्मै=चतुर्थ्यन्तात्) चतुर्थ्यन्त (शरीरावयवात्) शरीरावयववाची प्रातिपदिक से (हितम् इत्यर्थे) हितकर अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (यत्) यत् प्रत्यय हो जाता है। दन्त, कण्ठ, नासिका, ओष्ठ, चक्षुस् आदि शरीरावयववाची प्रातिपदिक हैं। यह सूत्र छप्रत्यय का अपवाद है। उदाहरण यथा—

दन्तेभ्यो हितं दन्त्यम् (दान्तों के लिये हितकारी मञ्जन आदि)। दन्तशब्द शरीरावयववाचक है अतः 'दन्त भ्यस्' इस चतुर्थ्यन्त प्रातिपदिक से 'हित=हितकर' अर्थ में प्रकृत **शरीरावयवाद्यत्** (११४०) सूत्र से यत् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप, सुँब्लुक् तथा भसंज्ञक अकार का लोप और अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'दन्त्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसी तरह—कण्ठाय हितं कण्ठ्यम् (कण्ठ के लिये हितकर)।

नासिकायै हितं नस्यम् (नासिका के लिये हितकर)। यहां 'नासिका ङे' इस चतुर्थ्यन्त से प्रकृत **शरीरावयवाद्यत्** (११४०) सूत्रद्वारा 'हित=हितकर' अर्थ में यत् प्रत्यय हो कर सुँप् (ङे) का लुक् करने से 'नासिका+य' हुआ। अब **नस् नासिकाया यत्-तस्-क्षुद्रेषु** (वा०[3]) इस वार्त्तिक से नासिका के स्थान पर नस् सर्वादेश कर विभक्ति-

---

१. **वृषन्-ब्राह्मण-राजाऽऽचार्येभ्यो हितप्रत्ययो नेष्टः** (प्रक्रियासर्वस्वे)।

२. पीछे शैषिकप्रकरण में **शरीरावयवाच्च** (१०६४) सूत्रद्वारा **तत्र भवः** (१०६२) के अर्थ में यत् प्रत्यय का विधान दर्शाया जा चुका है परन्तु यहां **शरीरावयवाद्यत्** (११४०) सूत्र से **तस्मै हितम्** (११३९) के अर्थ में यत् प्रत्यय का विधान किया जा रहा है। दोनों सूत्रों तथा उन के अर्थों के अन्तर को ध्यान में रखना बहुत आवश्यक हैं। इन में विद्यार्थी प्रायः भ्रान्त हो जाते हैं।

३. यह वार्त्तिक **पद्दन्नोमास्०** (६.१.६१) सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है। 'यत्, तस् और क्षुद्र—इन के परे रहते नासिकाशब्द के स्थान पर 'नस्' आदेश हो जाता है' यह इस का अर्थ है।

कार्य करने से 'नस्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। ध्यान रहे कि यहां **यचि भम्** (१६५) से भसञ्ज्ञा हो जाने के कारण सकार को **ससजुषो रुः** (१०५) से रुँत्व नहीं होता।

सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) ओष्ठाभ्यां हितम् ओष्ठ्यम् (होठों के लिये हितकर)।

(२) चक्षुर्भ्यां हितं चक्षुष्यम् (आंखों के लिये हितकर)।

(३) नाभये हितं नाभ्यम् (नाभि के लिये हितकर)।[1]

(४) मूर्ध्ने हितं मूर्धन्यम् (मस्तक के लिये हितकर)।[2]

अब आत्मन् आदि प्रातिपदिकों से 'हित=हितकर' अर्थ में 'ख' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**११४१**)

आत्मन्-विश्वजन-भोगोत्तरपदात् खः ।५।१।६।।

अर्थः—आत्मन्, विश्वजन तथा भोगोत्तरपद (भोगशब्द जिस में उत्तरपद है यथा—मातृभोग आदि)—इन चतुर्थ्यन्त समर्थ प्रातिपदिकों से 'हित' (हितकर) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक 'ख' प्रत्यय हो।

व्याख्या—आत्मन्-विश्वजन-भोगोत्तरपदात् ।५।१। खः ।१।१। **तस्मै हितम्** (५.१.५) सूत्र का अनुवर्त्तन हो रहा है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—भोगः (भोगशब्दः) उत्तरपदं यस्य स भोगोत्तरपदः, बहुव्रीहिसमासः। आत्मा च विश्वजनश्च भोगोत्तरपदश्चैषां समाहारः—आत्मन्-विश्वजन-भोगोत्तरपदम्, तस्मात् =आत्मन्-विश्वजन-भोगोत्तरपदात्, समाहारद्वन्द्वः।[3] अर्थः—(तस्मै=चतुर्थ्यन्तात्) चतुर्थ्यन्त (आत्मन्-विश्वजन-भोगोत्तरपदात्) आत्मन्, विश्वजन और भोगोत्तरपद प्रातिपदिक से (हितम् इत्यर्थे) 'हित=हितकर' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (खः) 'ख' प्रत्यय हो जाता है।

यह सूत्र औत्सर्गिक 'छ' प्रत्यय का अपवाद है। उदाहरण यथा—

आत्मने हितम् आत्मनीनम् (अपने लिये हितकर)। यहां 'आत्मन् ङे' इस चतुर्थ्यन्त से 'हित=हितकर' अर्थ में प्रकृत **आत्मन्-विश्वजन-भोगोत्तरपदात् खः** (११४१) सूत्र से 'ख' प्रत्यय हो जाता है। अब सुँप् (ङे) का लुक् हो कर **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) सूत्र से प्रत्यय के आदि खकार को ईन् आदेश करने पर—आत्मन्+ईन्

१. यहां का वक्तव्य पीछे (२१७) पृष्ठ पर लिख चुके हैं।

२. ये **चाऽभावकर्मणोः** (१०२३) इति प्रकृतिभावेन **नस्तद्धिते** (९१९) इति टिलोपो न।

३. इस समाहारद्वन्द्व में स्पष्टप्रतिपत्ति के लिये आत्मन् के नकार का लोप नहीं किया गया। अत एव काशिकाकार ने कहा है—

आत्मन् इति नलोपो न कृतः प्रकृतिपरिमाणज्ञापनार्थम्। तेनोत्तरपदग्रहणं भोगशब्देनैव सम्बध्यते न तु प्रत्येकम्।

अ = आत्मन् + ईन । पुनः इस स्थिति में **यचि भम्** (१६५) से भसञ्ज्ञा के कारण **नस्तद्धिते** (९१९) सूत्रद्वारा टि (अन्) का लोप प्राप्त होता है जो अनिष्ट है । इस पर उस के वारणार्थ अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— **(११४२) आत्माऽध्वानौ खे ।६।४।१६९।।**

एतौ खे प्रकृत्या स्तः । आत्मने हितम् आत्मनीनम् । विश्वजनीनम् । मातृभोगीणः ।।

अर्थः—'ख' प्रत्यय के परे रहते आत्मन और अध्वन् शब्द प्रकृतिभाव से रहते हैं ।

व्याख्या—आत्माऽध्वानौ ।१।२। खे ।७।१। प्रकृत्या ।३।१। (**प्रकृत्यैकाच्** सूत्र से) । समासः—आत्मा च अध्वा च आत्माध्वानौ, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(आत्माऽध्वानौ) आत्मन् और अध्वन् शब्द (प्रकृत्या) प्रकृति से रहते हैं (खे) 'ख' प्रत्यय परे हो तो ।

यदि टि (अन्) का लोप हो जाये तो आत्मन् और अध्वन् शब्दों की प्रकृति अर्थात् स्वरूप में विकृति आ जायेगी अतः प्रकृति से रहने का यही तात्पर्य है कि इन के अन् का लोप न हो ।

'आत्मन् + ईन' यहां ख (ईन) प्रत्यय के परे रहने से **आत्माध्वानौ खे** (११४२) इस प्रकृतसूत्र से आत्मन् की टि के लोप का निषेध हो कर विभक्ति लाने से 'आत्मनीनम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

'ख' परे रहते अध्वन् का उदाहरण है—अध्वानम् अलङ्गामी अध्वनीनः[1] (यात्रा करने वाला) । इसे सिद्धान्तकौमुदी या काशिका में देखना चाहिये ।

पूर्वसूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

विश्वे जनाः — विश्वजनाः, कर्मधारयसमासः । विश्वजनेभ्यो हितम्—विश्वजनीनम् (सब लोगों के लिये हितकर वस्तु) । यहां 'विश्वजन भ्यस्' इस चतुर्थ्यन्त से 'हित = हितकर' अर्थ में **आत्मन्-विश्वजन-भोगोत्तरपदात्खः** (११४१) सूत्रद्वारा खप्रत्यय हो जाता है । अब सुँप् (भ्यस्) का लुक्, **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) से प्रत्यय के आदि खकार को ईन् आदेश तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति-कार्य करने से 'विश्वजनीनम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[2]

---

१. **अध्वनो यत्खौ** (५.२.१६) इति खप्रत्ययः ।

२. **कर्मधारयादेवेष्यते** (काशिका) । अर्थात् विश्वजनशब्द यदि कर्मधारयसमास से उपपन्न हुआ हो तभी उस से खप्रत्यय करना अभीष्ट है अन्यथा (षष्ठीतत्पुरुष या बहुव्रीहि होने पर) औत्सर्गिक 'छ' प्रत्यय ही किया जायेगा । यथा—विश्वस्य जनो विश्वजनो वैद्यादिः, तस्मै हितं विश्वजनीयम् । यहां षष्ठीतत्पुरुषसमास के कारण 'छ' प्रत्यय ही होता है । इसीप्रकार विश्वो जनो यस्य स विश्वजनः, तस्मै हितम् — विश्वजनीयम् । यहां बहुव्रीहिसमास के कारण 'छ' ही होता है 'ख' नहीं ।

मातुर्भोगः (शरीरम्)[1] = मातृभोगः, षष्ठीतत्पुरुषः। मातृभोगाय हितो मातृभोगीणः (आहारः)। माता के शरीर के लिये हितकर आहार आदि। यहां 'मातृभोग ङे' इस चतुर्थ्यन्त से 'हित = हितकर' अर्थ में **आत्मन्-विश्वजन-भोगोत्तरपदात् खः** (११४१) सूत्रद्वारा 'ख' प्रत्यय, सुँब्लुक्, ख् को ईन् आदेश (१०१३), **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप तथा **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** (१३८) से नकार को णकार[2] कर विभक्ति लाने से 'मातृभोगीणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार— पितृभोगीणः, राजभोगीनः, आचार्यभोगीनः,[3] स्वभोगीनः आदि की सिद्धि समझ लेनी चाहिये।

इस सूत्र पर दो वार्त्तिक बहुत प्रसिद्ध हैं—

[१] **सर्वजनाट् ठञ् खश्च** (वा०)॥

अर्थः—चतुर्थ्यन्त 'सर्वजन' शब्द से 'हित = हितकर' अर्थ में ठञ् और ख तद्धित — प्रत्यय हो जाते हैं। उदाहरण यथा—

सर्वो जनः सर्वजनः, कर्मधारयसमासः। सर्वजनाय हितम्—सार्वजनिकम् (ठञ् प्रत्यय, आदिवृद्धि, ठ् को इक आदेश तथा यस्येतिचलोप), सर्वजनीनम् (खप्रत्यय, ख्

---

१. यद्यपि **भोगः सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोर्** इत्यमरेण अहेरित्युक्तं तथापि प्रयोगबाहुल्याभिप्रायं तत्। शक्तिस्तु शरीरमात्रे इत्याकरः।

२. ध्यान रहे कि **अट्कुप्वाङ्०** (१३८) सूत्रद्वारा समानपद अर्थात् अखण्डपद में णत्व होता है। जिस पद के खण्ड अर्थात् टुकड़े कर उन का स्वतन्त्ररूप से प्रयोग न किया जा सके उसे अखण्डपद कहते हैं। यथा—रामेण अखण्ड पद है, इस के खण्ड नहीं किये जा सकते। इसलिये यहां णत्व हो जाता है। रघुनाथः, रमानाथः, रामनाम—ये अखण्डपद नहीं, इन के खण्ड हो सकते हैं। रघु और नाथ इन दोनों खण्डों का स्वतन्त्र प्रयोग किया जा सकता है अतः इन में णत्व नहीं हुआ।
जिस पद का एक खण्ड हो सके परन्तु दूसरा न हो सके वह भी अखण्डपद समझना चाहिये। यथा—खरं पातीति खरपः, खरपस्यापत्यं खारपायणः (नडादित्वात् फक्) इत्यादि अखण्डपद हैं। इसीप्रकार—वारिणा, श्रीपेण आदि में समझना चाहिये। प्रकृत में 'मातृभोगीणः' भी अखण्डपद है, इस के खण्ड भी नहीं किये जा सकते। मातृशब्द का यद्यपि स्वतन्त्र प्रयोग होता है तथापि 'भोगीन' का नहीं होता क्योंकि ख (ईन) प्रत्यय केवल भोगशब्द से न होकर भोगोत्तरपद से विधान किया गया है। इस प्रकार 'मातृभोगीणः' में णत्वविधि निर्बाध सिद्ध हो जाती है। कुछ लोग यहां **कुमति च** (८.४.१३) से णत्व दर्शाया करते हैं जो नितान्त अशुद्ध है। उस का अर्थ विचारते ही अशुद्धि समझ में आ जाती है।

३. **आचार्यादणत्वं च** (आचार्यशब्दात् परस्य भोगीनशब्दस्य नस्य णत्वं न इत्यर्थः) इस वार्त्तिक से यहां णत्व का निषेध हो जाता है। परन्तु 'राजभोगीनः' में अनिष्ट जकार के व्यवधान के कारण णत्व का अभाव समझना चाहिये।

को ईन् आदेश तथा यस्येतिचलोप)। ये दोनों प्रत्यय भी कर्मधारय से ही इष्ट हैं। अन्य समास होगा तो छप्रत्यय हो कर 'सर्वजनीयम्' बनेगा।

[२] **सर्वाण्णो वेति वक्तव्यः** (वा०)॥

अर्थः—चतुर्थ्यन्त 'सर्व' शब्द से 'हित=हितकर' अर्थ में तद्धित 'ण' प्रत्यय विकल्प से हो जाता है। 'ण' में णकार इत् है, 'अ' मात्र शेष रहता है। उदाहरण यथा—

सर्वस्मै हितः सार्वः (सब के लिये हितकर)। 'ण' के अभाव में औत्सर्गिक 'छ' हो जायेगा—सर्वस्मै हितः सर्वीयः।

प्रकृतसूत्र के कुछ साहित्यगत उदाहरण यथा—

(१) **क्षणं मया विश्वजनीनमुच्यते।** (माघ० १.४१)

(२) **नैवात्मनीनमथवा क्रियते मदान्धैः।** (माघ० ५.४४)

(३) **आत्मनीनमुपतिष्ठते गुणाः सम्भवन्ति विरमन्ति चापदः।**
(किरात० १३.६९)

(४) **लब्धां ततो विश्वजनीनवृत्ति-**
स्तामात्मनीनामुद्वोढ रामः। (भट्टि० २.४८)

(५) **अमितम्पचमीशानं सर्वभोगीणमुत्तमम्।**
आवयोः पितरं विद्धि ख्यातं दशरथं भुवि॥ (भट्टि० ६.६८)

(६) **सौमित्रे! मामुपायंस्थाः कम्रामिच्छुर्वशंवदाम्।**
स्वभोगिनीं सहचरीमशङ्कः पुरुषायुषम्॥ (भट्टि० ४.२०)

अभ्यास [९]

(१) निम्नस्थ प्रश्नों के समुचित उत्तर दीजिये—

[क] छप्रत्यय का अधिकार कहां तक जाता है?

[ख] **आत्मन्विश्वजन०** सूत्र में 'भोग' शब्द किस का वाचक है?

[ग] 'मातृभोगीणः' को अखण्डपद मान कर कैसे णत्व हो जाता है?

[घ] 'आचार्यभोगीनः' में णत्व क्यों नहीं हुआ?

[ङ] 'आत्मनीनः' में टि का लोप क्यों नहीं हुआ?

[च] 'मूर्धन्यः' में **नस्तद्धिते** की प्रवृत्ति क्यों नहीं होती?

[छ] शरीरावयववाचियों से यत् प्रत्यय कहां कहां होता है?

(२) अन्तर स्पष्ट करें—

नाभ्यम्—नभ्यम्। विश्वजनीनम्—विश्वजनीयम्। सार्वजनिकम्—सर्वजनीयम्।

(३) निम्नस्थ सूत्रों की व्याख्या करें—

१. आत्मन्विश्वजन०। २. उगवादिभ्यो यत्। ३. तस्मै हितम्। ४. शरीरावयवाद्यत्। ५. आत्माध्वानौ खे। ६. नाभि नभं च। ७. ऊधसो

नङ् च । ८. शुनः सम्प्रसारणं० । ९. सर्वाण्णो वेति वक्तव्यम् । १०. सर्व-जनाट् ठञ् खश्च ।

(४) विग्रह का निर्देश करते हुए निम्नस्थ प्रयोगों की ससूत्र सिद्धि करें—
१. मातृभोगीणः । २. विश्वजनीनम् । ३. आत्मनीनम् । ४. वत्सीयः । ५. गव्यम् । ६. शङ्कव्यम् । ७. सार्वजनिकम् । ८. सार्वः । ९. नस्यम् । १०. दन्त्यम् ।

(५) निम्नस्थ विग्रहों के तद्धितान्त रूप सिद्ध करें ।
१. कण्ठाय हितम् । २. ऊधसे हितम् । ३. शुने हितम् । ४. नाभये हितम् । ५. पशुभ्यो हितम् । ६. अध्वने हितम् । ७. मेधायै हितम् । ८. मात्रे हितः । ९. राज्ञे हितः । १०. पुंसे हितम् । ११. आचार्याय हितम् । १२. स्त्रीभ्यो हितम् । १३. सक्तुभ्यो हिताः ।

[**लघु०**] इति छयतोरधिकारः ॥

(यहां छ और यत् प्रत्ययों के अधिकार का विवेचन समाप्त होता है ।)

——:०:——

अथ ठञधिकारः

अब ठञ् प्रत्यय के अधिकार का वर्णन करते हैं—

[**लघु०**] अधिकारसूत्रम्—(**११४३**) **प्राग्वतेष्ठञ्** ।५।१।१८॥

तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः (५.१.११४) इति वतिं वक्ष्यति, ततः प्राक् ठञ् अधिक्रियते ॥

अर्थः—अष्टाध्यायी में **तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः** (५.१.११४) सूत्रद्वारा वतिँप्रत्यय का विधान आगे कहा जायेगा । उस से पूर्व ठञ् प्रत्यय का अधिकार किया जा रहा है । अर्थात् उस से पूर्व कहे अर्थों में ठञ् प्रत्यय होगा ।

व्याख्या—प्राग् इत्यव्ययपदम् । वतेः ।५।१। ठञ् ।१।१। अर्थः—(वतेः प्राक्) वतिँप्रत्यय से पूर्व तक (ठञ्) ठञ् प्रत्यय अधिकृत है । वतिँप्रत्यय का विधान **तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः** (११५१) सूत्रद्वारा आगे किया जायेगा । उस सूत्र से पूर्व पूर्व ठञ् प्रत्यय का अधिकार है । अर्थात् यहां से ले कर **तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः** (११५१) सूत्र से पूर्व तक जहां जहां अर्थनिर्देश किया गया होगा और प्रत्यय नहीं बताया गया होगा वहां वहां ठञ् तद्धितप्रत्यय हो जायेगा । यथा—**तेन क्रीतम्** (११४४) । यहां अर्थ का निर्देश तो किया गया है परन्तु प्रत्यय का नहीं, अतः यहां ठञ् प्रत्यय होगा । यथा—सप्तत्या क्रीतं साप्ततिकम् । इस का विवेचन अगले सूत्र पर देखें ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११४४) तेन क्रीतम् ।५।१।३६।।

सप्तत्या क्रीतं साप्ततिकम् । प्रास्थिकम् ।।

अर्थः—तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'क्रीत=खरीदा हुआ' इस अर्थ में तद्धित-सञ्ज्ञक ठञ् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तेन ।५।१। (तृतीयान्त के अनुकरण 'तेन' से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये) । क्रीतम् ।१।१। ठञ् ।१।१। (प्राग्वतेष्ठञ् इस अधिकार से लब्ध) । प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तेन=तृतीयान्तात्) तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (क्रीतम् इत्यर्थे) 'खरीदा गया' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ठञ्) ठञ् प्रत्यय हो जाता है । उदाहरण यथा—

सप्तत्या क्रीतं साप्ततिकम् (सत्तर से खरीदी गई वस्तु) । यहां 'सप्तति टा' इस तृतीयान्त प्रातिपदिक से 'क्रीत=खरीदा गया' अर्थ में प्राग्वतेष्ठञ् (११४३) के अधिकार में तेन क्रीतम् (११४४) सूत्रद्वारा तद्धितसञ्ज्ञक ठञ् प्रत्यय होकर अनुबन्ध-लोप, तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः (७२१) से सुँप् (टा) का लुक्, तद्धितेष्वचामादेः (९३८) से आदिवृद्धि, ठस्येकः (१०२७) से ठ् को इक आदेश तथा यस्येति च (२३६) से भसञ्ज्ञक इकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'साप्ततिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

प्रस्थेन क्रीतं प्रास्थिकम् (प्रस्थ भर वजन की वस्तु दे कर खरीदी हुई वस्तु) । यहां 'प्रस्थ टा' से 'क्रीत' अर्थ में पूर्ववत् तेन क्रीतम् (११४४) सूत्र से ठञ् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि, ठ् को इक आदेश तथा यस्येति च (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'प्रास्थिकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

वणिजा क्रीतम्, देवदत्तेन क्रीतम्, पाणिना क्रीतम् इत्यादि स्थानों पर इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती । यह प्रत्यय मूल्यवाचक करणतृतीयान्त से ही प्रवृत्त होता है । द्विवचनान्त और बहुवचनान्त मूल्यवाचकों से भी इस की प्रवृत्ति नहीं होती । यथा—प्रस्थाभ्यां क्रीतम्, प्रस्थैः क्रीतम् । हां ! जहां एक से क्रय सम्भव नहीं होता वहां बहुवचनान्तों से भी इस की प्रवृत्ति हो जाती है । यथा—मुद्गैः क्रीतं मौद्गिकम्, माषैः क्रीतं माषिकम् । यहां एक मूंग या एक माष के दाने से क्रय सम्भव नहीं होता—(काशिका) ।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) गोपुच्छेन क्रीतम्—गौपुच्छिकम् (गाय की पूँछ से खरीदी वस्तु)[1] ।

---

१. गौपुच्छिक उस वस्तु को कहा गया है जो गोपुच्छ के बदले में ली जाती थी । डा० भण्डारकर ने गोपुच्छ को अदलाबदली या सिक्कों की तरह क्रयविक्रय का साधन माना है । किन्तु गोपुच्छ का अर्थ गाय की पूंछ नहीं, गौ ही है । गाय के लिये जो चराई का शुल्क दिया जाता है उसे आज भी 'पुच्छी' कहते हैं । प्राचीन प्रथा के अनुसार गाय को बेचते समय उस का स्वाम्यपरिवर्तन उसी समय पूरा होता था जब बेचने वाला गाय की पूंछ को खरीदने वाले के हाथ में पकड़ा देता था । (डा० वासुदेवशरण अग्रवाल)

(२) अशीत्या क्रीतम्—आशीतिकम् (अस्सी से खरीदी वस्तु)।
(३) षष्ट्या क्रीतम्—षाष्टिकम् (साठ से खरीदी वस्तु)।
(४) पणेन क्रीतम्—पाणिकम् (एक पण से खरीदी वस्तु)।[3]
(५) निष्केण क्रीतम्—नैष्किकम् (निष्क से खरीदी वस्तु)।
(६) पादेन क्रीतम्—पादिकम् (पाद से खरीदी वस्तु)।
(७) माषैः क्रीतम्—माषिकम् (उड़दों से खरीदी वस्तु)।
(८) मुद्गैः क्रीतम्—मौद्गिकम् (मूँगों से खरीदी वस्तु)।[2]
(९) वस्त्रेण क्रीतम्—वास्त्रिकम् (वस्त्र से खरीदी वस्तु)।

सावधान—तेन क्रीतम् (११४४) सूत्र के उदाहरण विद्यार्थी अपनी इच्छा से नहीं घड़ सकते। ठञ् का अधिकार अनेक प्रकार के अपवादों की उलझनों से भरा पड़ा है। विशेषजिज्ञासु काशिकावृत्ति का अवलोकन करें।[3]

अब 'सर्वभूमि' और 'पृथिवी' प्रातिपदिकों से अर्थविशेष में अण् और अञ् प्रत्ययों का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११४५) तस्येश्वरः ।५।१।४१॥**

सर्वभूमि-पृथिवीभ्याम् अणञौ स्तः॥

अर्थः—सर्वभूमि और पृथिवी इन षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से 'ईश्वर' (स्वामी) अर्थ में क्रमशः अण् और अञ् तद्धितप्रत्यय हों।

व्याख्या—तस्य ।५।२। (षष्ठ्यन्त के अनुकरण 'तस्य' शब्द से परे पञ्चमी के द्विवचन 'भ्याम्' का यहां सौत्रलुक् समझना चाहिये)। ईश्वरः ।१।१। **सर्वभूमि-**

---

१. **असमासे निष्कादिभ्यः** (५.१.२०) इति निष्कादित्वाट् ठक्। एवं नैष्किकम्, पादिकम्, माषिकम् इत्येतेष्वपि बोध्यम्।

२. **आर्हादगोपुच्छसंख्यापरिमाणाट् ठक्** (५.१.१९) इति ठक्। एवं वास्त्रिकम् इत्यत्रापि बोध्यम्।

३. अष्टाध्यायी में **प्राग्वतेष्ठञ्** (५.१.१८) से ले कर वतिँप्रत्ययपर्यन्त ठञ्प्रत्यय का अधिकार चला कर उस अधिकार के अन्तर्गत **आर्हादगोपुच्छसंख्यापरिमाणाट् ठक्** (५.१.१९) सूत्र से **तदर्हति** (५.१.६२) सूत्र के अन्त तक ठक् का अधिकार चलाया गया है। **तेन क्रीतम्** (५.१.३६) सूत्र भी उसी ठक् प्रत्यय के अधिकार में आता है। ठक्-अधिकार के आरम्भ में 'अगोपुच्छसंख्यापरिमाणात्' कहा गया है। अर्थात् गोपुच्छशब्द से एवं संख्यावाचक और परिमाणवाचक शब्दों से ठक् नहीं होता, अन्यों से ठक् होता है। इसप्रकार गोपुच्छ आदियों से क्रीत आदि अर्थों में ठञ् होगा और शेषों से ठक्। ठक् और ठञ् का भेद केवल स्वर में ही होता है और स्वरप्रकरण लघुसिद्धान्तकौमुदी में दिया ही नहीं गया, अतः ग्रन्थकार (वरदराज) विद्यार्थियों की सुविधा के लिये ठक् और ठञ् के झगड़े में नहीं पड़े।

पृथिवीभ्यामणञौ (५.१.४०) इस पिछले पूरे सूत्र का यहां अनुवर्त्तन होता है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । सर्वा भूमिः सर्वभूमिः, कर्मधारये पूर्वपदस्य पुंवद्भावः[1], सर्वभूमिश्च पृथिवी च सर्वभूमिपृथिव्यौ, ताभ्याम् = सर्वभूमिपृथिवीभ्याम्, इतरेतरद्वन्द्वः । अण् च अञ् च अणञौ, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः— (तस्य = षष्ठ्यन्ताभ्याम्) षष्ठ्यन्त (सर्वभूमिपृथिवीभ्याम्) सर्वभूमि तथा पृथिवी प्रातिपदिकों से (ईश्वर इत्यर्थे) 'स्वामी' अर्थ में (तद्धितौ) तद्धितसञ्ज्ञक (अणञौ) अण् और अञ् प्रत्यय होते हैं ।

दो प्रकृतियां तथा दो ही प्रत्यय दिये गये हैं, अतः **यथासंख्यमनुदेशः समानाम्** (२३) से क्रमशः प्रत्यय होंगे । सर्वभूमिशब्द से अण् एवं पृथिवीशब्द से अञ् प्रत्यय किया जायेगा । अण् और अञ् में स्वर का ही अन्तर पड़ता है । अण्प्रत्ययान्त अन्तोदात्त तथा अञ्प्रत्ययान्त आद्युदात्त होता है । सूत्र के उदाहरण यथा—

सर्वभूमेरीश्वरः सार्वभौमः (सारी भूमि का स्वामी अर्थात् चक्रवर्ती राजा) । 'सर्वभूमि ङस्' इस षष्ठ्यन्त से 'ईश्वर = स्वामी' अर्थ में प्रकृत **तस्येश्वरः** (११४५) सूत्र से अण् प्रत्यय हो कर णकार अनुबन्ध का लोप तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् = ङस् का लुक् करने से 'सर्वभूमि + अ' हुआ । अब यहां पूर्व तथा उत्तर दोनों पदों में वृद्धि करने के लिये अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११४६) अनुशतिकादीनां च ।७।३।२०।।

(एषामुभयपदवृद्धिर्ञिति णिति किति च तद्धिते) । सर्वभूमेरीश्वरः सार्वभौमः । पार्थिवः ।।

अर्थः— ञित्, णित् या कित् तद्धित के परे रहते अनुशतिक आदि गण में पठित शब्दों के पूर्व और उत्तर दोनों पदों के आदि अच् के स्थान पर वृद्धि आदेश हो ।

व्याख्या—यह सूत्र पीछे शैषिकप्रकरण में (१०९५) पर व्याख्यात हो चुका है । पुनः स्मरण कराने के लिये वरदराज ने इसे दुबारा पढ़ा है ।

'सर्वभूमि + अ' यहां णित् तद्धित परे है, 'सर्वभूमि' शब्द का अनुशतिकादिगण में पाठ भी आया है, अतः **अनुशतिकादीनां च** (११४६) सूत्र से 'सर्व' और 'भूमि' दोनों पदों के आदि अच् को वृद्धि हो जाती है—सार्वभौमि + अ । अब **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक इकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'सार्वभौमः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

पृथिवीशब्द का उदाहरण यथा—

पृथिव्या ईश्वरः पार्थिवः (पृथिवी का स्वामी अर्थात् राजा) । यहां 'पृथिवी ङस्' से 'ईश्वर = स्वामी' अर्थ में **तस्येश्वरः** (११४५) सूत्रद्वारा अञ्प्रत्यय, ञकार अनुबन्ध का लोप, सुँब्लुक्, **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से ऋकार को वृद्धि, रपर एवं

---

१. **पुंवत् कर्मधारयजातीयदेशीयेषु** (६.३.४१) इति पुंवद्भावः ।

अस्य परिमाणम्

यस्येति च (२३६) से भसंज्ञक ईकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'पार्थिवः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

नोट— तस्येश्वरः (५.१.४१) के बाद अष्टाध्यायी में **तत्र विदित इति च** (५.१.४२) सूत्र पढ़ा गया है। इस का अर्थ है— सर्वभूमि और पृथिवी इन सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से 'विदितः' (प्रसिद्ध या विख्यात) अर्थ में क्रमशः अण् और अञ् प्रत्यय होते हैं। यथा— सर्वभूमौ विदितः सार्वभौमः (सारी पृथिवी पर प्रसिद्ध)। पृथिव्यां विदितः पार्थिवः (पृथिवी पर प्रसिद्ध)।

अब पङ्क्ति आदि दस शब्दों का निपातन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११४७) पङ्क्ति-विंशति-त्रिंशच्-चत्वारिंशत्-पञ्चाशत्-षष्टि-सप्तत्यशीति-नवति-शतम् ।५।१।५८।।

एते रूढिशब्दा निपात्यन्ते ।।

अर्थः—पङ्क्ति (पाञ्च पादों वाला वैदिक छन्दोविशेष), विंशति (बीस), त्रिंशत् (तीस), चत्वारिंशत् (चालीस), पञ्चाशत् (पचास), षष्टि (साठ), सप्तति (सत्तर), अशीति (अस्सी), नवति (नव्वे) और शत (सौ)— ये दस रूढ शब्द 'अस्य परिमाणम्' (परिमाण है इस का) इस अर्थ में निपातन किये जाते हैं।

व्याख्या— पङ्क्ति-विंशति-त्रिंशत्-चत्वारिंशत्-पञ्चाशत्-षष्टि-सप्तति-अशीति-नवति-शतम् ।१।१। षङ्क्त्यादीनां दशानां समाहारद्वन्द्वः। **तदस्य परिमाणम्** (५.१.५६) सूत्र की पीछे से अनुवृत्ति आ रही है। अर्थः— (तदस्य परिमाणम् इति विषये) 'वह है परिमाण इस का' इस अर्थ में (पङ्क्ति-विंशति-त्रिंशच्चत्वारिंशत्-पञ्चाशत्-षष्टि-सप्तत्यशीति-नवति-शतम्) पङ्क्ति, विंशति, त्रिंशत्, चत्वारिंशत्, पञ्चाशत्, षष्टि, सप्तति, अशीति, नवति और शत— ये दस शब्द लोक में प्रयुक्त होते हैं।

पङ्क्ति आदि दस शब्द अपने अपने विशिष्ट अर्थों में रूढ अर्थात् लोकप्रचलित हैं। प्रकृतसूत्र में इन दस शब्दों का निपातन किया गया है। तात्पर्य यह कि मुनिवर पाणिनि ने प्रकृति, प्रत्यय तथा अन्य विशिष्ट कार्य स्वयं सम्पन्न कर बने-बनाये प्रयोगार्ह दस शब्द यहां प्रस्तुत किये हैं। इन में जो जो प्रकृति, प्रत्यय तथा अन्य प्राप्त वा अप्राप्त कार्य किये गये हैं उन का विवरण इस प्रकार समझना चाहिये।

(१) **पङ्क्ति** (स्त्रीलिङ्ग)

पङ्क्ति एक वैदिक छन्द का नाम है जिस में पाञ्च पाद तथा प्रत्येक पाद में आठ आठ अक्षर होते हैं। इस प्रकार इस छन्द में कुल चालीस अक्षर होते हैं।[1] पञ्च

---

१. **चत्वारिंशदक्षरा पङ्क्तिः, पञ्चपदाऽष्टाक्षरपादा** (निदानसूत्र प्रथम पटल)। उदाहरण के लिये ऋग्वेद ८.४६.२४ मन्त्र को देखें। वृत्तरत्नाकर आदि में सुप्रतिष्ठाजातिगत **भ्गौ गिति पङ्क्तिः** छन्द अर्वाचीन है। इस का पिङ्गलच्छन्दः-सूत्र में कहीं उल्लेख नहीं आता। प्राकृत में इस का नाम 'सम्मोहा' है (देखें प्राकृतपिङ्गल २.३४)। समवृत्तों में प्रतिपाद दशाक्षरा जाति का नाम भी 'पङ्क्ति' है। जैसाकि वृत्तरत्नाकर में केदारभट्ट ने कहा है—

उक्ताऽत्युक्ता तथा मध्या प्रतिष्ठाऽन्या सुपूर्विका ।
गायत्र्युष्णिगनुष्टुप् च बृहती पङ्क्तिरेव च ।। (प्रथमाध्याये)

(पादाः) परिमाणमस्येति पङ्क्तिः, पाञ्च पाद परिमाण हैं जिस का ऐसा छन्द । यहां 'पञ्चन् जस्' से **तदस्य परिमाणम्** (वह है परिमाण इस का) इस अर्थ में 'ति' प्रत्यय, सुँब्लुक् तथा प्रकृति के टि (अन्) भाग का लोप करने पर—पञ्च् + ति । **चोः कुः** (३०६) से कुत्व और **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** इस न्याय के अनुसार ञकार को नकार होकर—पन्क् + ति । अब **नश्चाऽपदान्तस्य झलि** (७८) से अपदान्त नकार को अनुस्वार एवम् **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** (७९) से अनुस्वार को परसवर्ण ङकार कर विभक्ति लाने से 'पङ्क्तिः' प्रयोग सिद्ध हुआ है । यहां पञ्चन् से 'ति' प्रत्यय तथा प्रकृति की टि का लोप ये दो कार्य निपातन से समझने चाहियें, शेष सब सामान्य-प्रक्रिया से प्राप्त थे ।

पङ्क्तिशब्द के अन्य भी अनेक अर्थ लोक में प्रचलित हैं । यथा—ब्राह्मण-पङ्क्तिः, पिपीलिकापङ्क्तिः । यहां 'पङ्क्तिः' का अर्थ क्रमसन्निवेश या कतार है ।[1] पङ्क्ति का अर्थ दस संख्या भी होता है अत एव 'दशरथः' को 'पङ्क्तिरथः' भी कहा जाता है—**नृपतेः प्रतिषिद्धमेव तत् कृतवान् पङ्क्तिरथो विलङ्घ्य यत्** (रघु० ९.७४) । कुछ वैयाकरण 'द्वौ पञ्चतौ[2] परिमाणमस्येति पङ्क्तिः' इसप्रकार द्विपञ्चत् शब्द से निपातनद्वारा इसे सिद्ध करते हैं ।

(२) विंशतिः

द्वौ दशतौ परिमाणमस्य सङ्घस्येति विंशतिः । दो दशत् (दहाई) जिस का परिमाण है ऐसा समूह अर्थात् बीस । 'द्विदशत्' शब्द से 'वह है परिमाण इस का' इस अर्थ में शतिच् (शति) प्रत्यय, प्रकृति (द्विदशत्) को विन् सर्वादेश[3] तथा **नश्चा-पदान्तस्य झलि** (७८) से अपदान्त नकार को अनुस्वार कर विभक्तिकार्य करने से 'विंशतिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इस का उच्चारण मतिशब्द की तरह होता है ।

(३) त्रिंशत्

त्रयो दशतः परिमाणमस्य सङ्घस्येति त्रिंशत् । तीन दशत् (दहाई) परिमाण वाला समूह अर्थात् तीस । यहां त्रिदशत् से शत् प्रत्यय तथा प्रकृति (त्रिदशत्) को त्रिन् सर्वादेश हो अपदान्त नकार को अनुस्वार और अन्त में विभक्तिकार्य करने से

---

१. कुछेक वैयाकरणों तथा कोशव्याख्याताओं ने क्रमसन्निवेश (कतार) अर्थ वाले पङ्क्तिशब्द को **पचिँ व्यक्तीकरणे** (भ्वा० आत्मने०) धातु से क्तिन् प्रत्यय ला कर सिद्ध किया है । कारण कि उपर्युक्त व्युत्पत्तिद्वारा यह अर्थ उपपन्न नहीं होता ।

२. पाञ्च के वर्ग (समूह) को पञ्चत् तथा दस के वर्ग को दशत् कहते हैं । पाणिनि ने इन दोनों का **पञ्चद्-दशतौ वर्गे वा** (५.१.५९) सूत्रद्वारा निपातन किया है । ये दोनों शब्द पुंलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं ।

३. विन् के नकार की अपदान्तता भी निपातनद्वारा समझ लेनी चाहिये ।

'त्रिंशत्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इस का उच्चारण स्त्रीलिङ्ग सरित्शब्द की तरह होता है।

(४) चत्वारिंशत्

चत्वारो दशतः परिमाणमस्य सङ्घस्येति चत्वारिंशत्। चार दशत् (दहाई) परिमाण वाला समूह अर्थात् चालीस। यहां 'चतुर्दशत्' शब्द से शत् प्रत्यय और प्रकृति (चतुर्दशत्) को चत्वारिन् सर्वादेश हो जाता है। इस का उच्चारण भी स्त्रीलिङ्ग सरित्शब्द की तरह होता है।

(५) पञ्चाशत्

पञ्च दशतः परिमाणमस्य सङ्घस्येति पञ्चाशत्। पाञ्च दशत् (दहाई) परिमाण वाला समूह अर्थात् पचास। यहां पञ्चदशत् शब्द से शत्प्रत्यय और प्रकृति (पञ्चदशत्) को 'पञ्चा' सर्वादेश हो जाता है। पञ्चाशत् का उच्चारण भी स्त्री-लिङ्ग 'सरित्' शब्द के समान होता है।

(६) षष्टिः

षड् दशतः परिमाणमस्य सङ्घस्येति षष्टिः। छः दशत् (दहाई) परिमाण-वाला समूह अर्थात् साठ। यहां 'षड्दशत्' शब्द से 'ति' प्रत्यय, प्रकृति षड्दशत् को षष् सर्वादेश एवं निपातन से पदत्वाभाव के कारण जश्त्वाभाव तथा अन्त में **ष्टुना ष्टुः** (६४) से ष्टुत्वेन तकार को टकार कर विभक्ति लाने से 'षष्टिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इस का उच्चारण स्त्रीलिङ्ग 'मति' शब्द के समान जानना चाहिये।

(७) सप्ततिः

सप्त दशतः परिमाणमस्य सङ्घस्येति सप्ततिः। सात दशत् (दहाई) परिमाण वाला समूह अर्थात् सत्तर। यहां 'सप्तदशत्' शब्द से 'ति' प्रत्यय तथा प्रकृति (सप्तदशत्) को 'सप्त' सर्वादेश कर विभक्ति लाने से 'सप्ततिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

(८) अशीतिः

अष्ट दशतः परिमाणमस्य सङ्घस्येति अशीतिः। आठ दशत् (दहाई) परिमाण वाला समूह अर्थात् अस्सी। यहां अष्टदशत् शब्द से 'ति' प्रत्यय तथा प्रकृति को 'अशी' सर्वादेश हो जाता है।

(९) नवतिः

नव दशतः परिमाणमस्य सङ्घस्येति नवतिः। नौ दशत् (दहाई) परिमाणवाला समूह अर्थात् नव्वे। यहां 'नवदशत्' शब्द से 'ति' प्रत्यय तथा प्रकृति को 'नव' सर्वादेश हो कर विभक्ति लाने से 'नवतिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

(१०) शतम्

दश दशतः परिमाणमस्य सङ्घस्येति शतम्। दस दशत् (दहाई) परिमाण वाला

समूह अर्थात् सौ (सैंकड़ा)। यहां 'दशदशत्' शब्द से 'त' प्रत्यय तथा प्रकृति को 'श' सर्वादेश हो जाता है।

ये सब प्रकृति-प्रत्ययों की कल्पनाएं येन-केन-प्रकारेण इष्ट रूप सिद्ध करने के लिये ही की गई हैं। इस के विपरीत प्रकृतिप्रत्यय की कल्पना भी की जा सकती है। अत एव काशिकाकार ने कहा है—**विंशत्यादयो गुणशब्दाः**[1], **ते यथाकथञ्चिद् व्युत्पाद्याः। नाऽत्रावयवार्थेऽभिनिवेष्टव्यम्** इति।

नोट—'शत' शब्द को छोड़ शेष विंशति आदि आठों शब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं, शतशब्द नपुंसक है। परन्तु इन सब का (शत का भी) एकवचन में ही प्रयोग किया जाता है न कि संख्येय (विशेष्य) के अनुसार द्विवचन या बहुवचन में। यथा—गवां विंशतिः (गौओं का बीसा), ब्राह्मणानां त्रिंशत् (ब्राह्मणों का तीसा), फलानां शतम् (फलों का सैंकड़ा)। परन्तु जब समूह के द्वित्व या बहुत्व की विवक्षा होती है तब द्विवचन और बहुवचन में भी प्रयोग किया जाता है। यथा—गवां द्वे विंशती (गौओं के दो बीसे), छात्त्राणां द्वे त्रिंशतौ (विद्यार्थियों के दो तीसे), फलानां त्रीणि शतानि (फलों के तीन सैंकड़े)। सङ्घ और सङ्घी का अभेद मान कर 'विंशति-र्गावः, त्रिंशद् ब्राह्मणाः, शतं फलानि' इत्यादिप्रकारेण सङ्ख्येयपरक भी प्रयोग होते हैं। एतद्विषयक एक हिन्दीटिप्पण इस व्याख्या के तृतीयभागस्थ कृदन्तप्रकरण में (८१८) सूत्र पर तथा दूसरा संस्कृतटिप्पण चतुर्थभागस्थ समासप्रकरण में (९७०) सूत्र पर लिखा जा चुका है। वे टिप्पण भी यहां पुनः ध्यातव्य हैं।

अब **आर्हादगोपुच्छ०** (५.१.१९) सूत्रद्वारा प्रवर्त्तित आर्हाधिकार के प्रसिद्ध सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११४८) तदर्हति ।५।१।६२॥

'लब्धुं योग्यो भवति' इत्यर्थे द्वितीयान्ताट्ठञादयः स्युः। श्वेतच्छत्त्र-मर्हति—श्वैतच्छत्त्रिकः॥

अर्थः—द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'प्राप्त करने के योग्य होना' इस अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ठञ् आदि प्रत्यय हों।

व्याख्या—तत् ।५।१। (द्वितीयान्त के अनुकरण 'तद्' से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये)। अर्हति इति **अर्ह पूजायाम्** (भ्वा० परस्मै०) इत्यस्य लँटि प्रथमपुरुषैकवचनान्तं रूपम्। ठञ् ।१।१। (**प्राग्वतेष्ठञ्** से अधिकृत है)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तत् = द्वितीयान्तात्) द्वितीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (अर्हति इत्यर्थे) 'अर्हति' के अर्थ में (तद्धितः) तद्धित-सञ्ज्ञक (ठञ्) ठञ् प्रत्यय हो जाता है।

पीछे बताया जा चुका है कि इस ठञ् के अधिकार के अन्तर्गत **आर्हादगोपुच्छ-संख्यापरिमाणाट्ठक्** (५.१.१९) सूत्र से 'अर्हति' के अर्थ की समाप्ति तक ठक् का

---

१. रूढिशब्दा इति भावः।

अधिकार किया गया है। इस ठक् के भी ठन्, यत्, कन् आदि अनेक अपवाद हैं। अतः प्रकृतसूत्र से यथायोग्य प्रत्यय समझना चाहिये। अत एव मूल में 'ठञादयः' कहा गया है।

'अर्हति' धातु के दो अर्थ सुप्रसिद्ध हैं। (१) योग्य होना। इस अर्थ में वह अकर्मक है। इस के प्रयोग यथा—

(१) **अनुद्योगेन तैलानि तिलेभ्यो नाप्तुमर्हति** (हितोप०)।
(२) **तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः** (रघु० १.१०)।
(३) **भक्तं शक्तं च मां राजन्नावज्ञातुं त्वमर्हसि** (हितोप०)।
(४) **विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति** (गीता० २.१७)।[1]

दूसरा अर्थ है—पाने के योग्य होना। इस अर्थ में वह सकर्मक है। इस के प्रयोग यथा—

(१) **न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति** (मनु० ६.३)।
(२) **स खलु गर्भः पित्र्यं रिक्थमर्हति** (शाकुन्तल ६)।
(३) **सर्वे ते जपयज्ञस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम्** (मनु० २.८६)।
(४) **अध्यापयन् गुरुसुतो गुरुवन्मानमर्हति** (मनु० २.२०८)।

यहां प्रकृतसूत्र में 'अर्हति' का दूसरा अर्थ (पाने के योग्य होना) ही सङ्गत हो सकता है क्योंकि यहां द्वितीयान्त समर्थ से प्रत्यय का विधान किया गया है। उदाहरण यथा—

श्वेतच्छत्त्रम् अर्हतीति श्वैतच्छत्त्रिकः (श्वेत छत्र को प्राप्त करने योग्य व्यक्ति)। यहां 'श्वेतच्छत्त्र अम्' इस द्वितीयान्त से **तदर्हति** (११४८) सूत्रद्वारा 'प्राप्त करने योग्य' अर्थ में **आर्हादगोपुच्छसंख्यापरिमाणाट्ठक्** (५.१.१९) से ठक् तद्धितप्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप, तद्धितान्त हो जाने के कारण प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, सुँब्लुक्, **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को इक आदेश एवं **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि और अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'श्वैतच्छत्त्रिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इस के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) प्रस्थमर्हतीति प्रास्थिकः (ठञ्)।	(तत्त्वबोधिन्याम्)
(२) वस्त्रयुग्ममर्हतीति वास्त्रयुग्मिकः (आर्हीयष्ठक्)[2]	(काशिकायाम्)
(३) दध्योदनमर्हतीति दाध्योदनिकः (आर्हीयष्ठक्)।	(जैनेन्द्रवृत्तौ)
(४) छत्त्रमर्हतीति छात्त्रिकः (आर्हीष्ठक्)।	(भोजवृत्तौ)
(५) चमरमर्हतीति चामरिकः (आर्हीयष्ठक्)।	(भोजवृत्तौ)

---

१. इस प्रकार के अर्थ वाले अर्ह् धातु के प्रयोग में **शक-धृष-ज्ञा-ग्ला-घट-रभ-लभ-क्रम-सहार्हास्त्यर्थेषु तुमुँन्** (३.४.६५) सूत्रद्वारा तुमुँन् प्रत्यय हुआ करता है। यथा—सोढुमर्हति, द्रष्टुमर्हति, भोक्तुमर्हति, गन्तुमर्हति इत्यादि।

२. वास्त्रयुग्मिकः=वर आदि। विवाह में वर को वस्त्रों का जोड़ा दिया जाता है।

(६) वस्त्रमर्हतीति वास्त्रिकः (आर्हीयष्ठक्) । (भोजवृत्तौ)
(७) अभिगममर्हतीति आभिगामिकः (आर्हीयष्ठक्) ।[1] (प्रक्रियासर्वस्वे)
(८) शतमर्हतीति शतिकः शत्यो वा[2] ।
(९) स्त्रियमर्हतीति स्त्रैणो युवा (१००३) ।
(१०) पुमांसमर्हतीति पौंस्नी युवतिः (१००३, वा० १०१) ।

नोट—भोजनमर्हतीति अनभिधानान्न भवतीति जैनेन्द्रवृत्तौ । भोजनपानादिषु अनभिधानान्नेति शाकटायनवृत्तौ ।

अब 'तदर्हति' के अर्थ में यत् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(**११४९) दण्डादिभ्यो यत् ।५।१।६५।।**[3]

एभ्यो यत् स्यात् । दण्डमर्हति दण्ड्यः । अर्घ्यः । वध्यः ।।

अर्थः—दण्डआदिगणपठित द्वितीयान्त प्रातिपदिकों से 'अर्हति' (पाने के योग्य होना) के अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक यत् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—दण्डादिभ्यः ।५।१। यत् ।१।१। यहां पूर्वोक्त **तदर्हति** (५.१.६२) सूत्र का अनुवर्त्तन होता है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—दण्डशब्द आदिर्येषान्ते दण्डादयः, तेभ्यः=दण्डादिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(तत्=द्वितीयान्तेभ्यः) द्वितीयान्त (दण्डादिभ्यः) दण्डादिगणपठित प्रातिपदिकों से (अर्हति इत्यर्थे) 'पाने के योग्य होना' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (यत्) यत् प्रत्यय हो जाता है । यत् में तकार अनुबन्ध है, उस का लोप हो कर 'य' मात्र शेष रहता है । उदाहरण यथा—

दण्डमर्हतीति दण्ड्यः[4] (सज़ा पाने के योग्य व्यक्ति) । यहां 'दण्ड अम्' इस द्वितीयान्त प्रातिपदिक से **दण्डादिभ्यो यत्** (११४९) सूत्रद्वारा 'अर्हति=पाने के योग्य होना' के अर्थ में यत् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (अम्) का लुक् तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'दण्ड्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[5]

---

१. **अनुशतिकादीनां च** (१०९५) इत्युभयपदवृद्धिः । आभिगामिकः—अर्थात् जिसे मिलने के लिये आगे बढ़ना चाहिये, आचार्य आदि गुरुजन ।
२. **शताच्च ठन्यतावशते** (५.१.२१) इति ठन्-यतौ प्रत्ययौ ।
३. कैयट, हरदत्त, भट्टोजिदीक्षित आदि अनेक वैयाकरण **दण्डादिभ्यः** इतना मात्र ही सूत्र मानते हैं तथा यत् का अनुवर्त्तन पिछले (**शीर्षच्छेदाद् यत्** ५.१.६४) सूत्र से करते हैं । काशिकाकार ने **दण्डादिभ्यो यः** इस प्रकार से सूत्र पढ़ा तथा व्याख्यात किया है । परन्तु **अचो यत्** (३.१.९७) सूत्रस्थ भाष्य के पर्यालोचन से 'य' प्रत्यय का विधान ठीक प्रतीत नहीं होता ।
४. अत्र दण्डो दमनं न तु यष्टिरिति वर्धमानः ।
५ **स्थित्यै दण्डयतो दण्ड्यान्** (रघु० १.२५) ।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति यः स्वधर्मे न तिष्ठति (मनु० ८.३३५) ।

अर्घम् =पूजाविधिम्[1] अर्हतीति अर्घ्यः (पूजाविधि को पाने के योग्य अर्थात् पूज्य)। अर्घशब्द दण्डादिगण में पढ़ा गया है। अतः 'अर्घ अम्' इस द्वितीयान्त से 'अर्हति=पाने के लिये योग्य होना' अर्थ में **दण्डादिभ्यो यत्** (११४६) से यत् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक् एवं **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'अर्घ्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[2]

वधम् अर्हतीति वध्यः (वध को पाने के योग्य, मृत्युदण्ड दिये जाने के योग्य)। वधशब्द भी दण्डादिगण में पढ़ा गया है। अतः द्वितीयान्त वधप्रातिपदिक से **दण्डादिभ्यो यत्** (११४६) सूत्रद्वारा 'अर्हति' के अर्थ में यत् प्रत्यय होकर सुँब्लुक् तथा यस्येतिचलोप करने से 'वध्यः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[3]

दण्डादियों से यत् के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) कशामर्हतीति कश्योऽश्वः।
(२) इभम् (हस्तिनम्) अर्हतीति इभ्यो धनी।[4]
(३) मुसलमर्हतीति मुसल्यः।
(४) मधुपर्कमर्हतीति मधुपर्क्यो वरः।
(५) युगमर्हतीति युग्यो वृषभः।
(६) मेघमर्हतीति मेघ्यः कालः।
(७) उदकमर्हतीति उदक्या कृषिः।
(८) स्तवमर्हतीति स्तव्यो देवः।

दण्डादिगण यथा—

दण्ड। मुसल। मधुपर्क। कशा। अर्घ। मेधा। मेघ। युग। उदक। वध। गुहा। भाग। इभ। शाकटायनगणपाठ में सुवर्ण, भङ्ग और युध ये तीन शब्द अधिक पढ़े गये हैं। 'पितृदेवता' शब्द गणरत्नमहोदधि में अधिक हैं। माधवीयधातुवृत्ति में **ष्टुञ् स्तुतौ** (अदा० उभय०) धातु पर आत्रेय के नाम से 'स्तव' शब्द और गिनाया गया है। वर्धमान और माधव इसे आकृतिगण मानते हैं।

अब ठञ् के अधिकार में एक अन्य अर्थ का निर्देश करते हैं—

---

१. **मूल्ये पूजाविधावर्घ** इत्यमरः।

२. अर्घ्यशब्द अन्य प्रकार से भी सिद्ध होता है। अर्घाय इदम् अर्घ्यम्, **पादार्घाभ्यां च** (५.४.२५) इति यत्। अतिथि आदि के पूजाविधान में जो दूर्वा-अक्षत-पुष्पादि-मिश्रित जल प्रयुक्त किया जाता है उसे भी 'अर्घ्य' कहते हैं। यथा—**तान् अर्घ्यान् अर्घ्यमादाय दूरात् प्रत्युद्ययौ गिरिः** (कुमार० ६.५०)। यहां प्रथम अर्घ्य-शब्द पूज्य अर्थ में तथा दूसरा पूजाद्रव्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसीप्रकार—**अनर्घ्यमर्घ्येण तमद्रिनाथः स्वर्गौकसामर्चितमर्चयित्वा** (कुमार० १.१८)।

३. **अद्यापि बध्यमानां वध्यः को नेच्छति शिखां मे** (मुद्राराक्षसप्रथमाङ्के)।

४. **इभ्य आढ्यो धनी** इत्यमरः।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११५०) **तेन निर्वृत्तम्** ।५।१।७८॥

अह्ना निर्वृत्तम् आह्निकम् ॥

अर्थः—तृतीयान्त कालवाचक प्रातिपदिक से निर्वृत्त (बनाया गया, पूरा किया गया, सम्पन्न किया गया, समाप्त किया गया) अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ठञ् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तेन ।५।१। (तृतीयान्त के अनुकरण 'तेन' से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् जानना चाहिये) । निर्वृत्तम् ।१।१। (अत्र अन्तर्भावितण्यर्थो वृतुः प्रयुक्तः) । कालात् ।५।१। (यह पूर्वतः अधिकृत है) । ठञ् ।१।१। (**प्राग्वतेष्ठञ्** के अधिकार से लब्ध) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तेन=तृतीयान्तात्) तृतीयान्त (कालात्) कालवाचक प्रातिपदिक से (निर्वृत्तम् इत्यर्थे) 'बनाया गया—पूर्ण किया गया—सम्पन्न किया गया—समाप्त किया गया' अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ठञ्) ठञ् प्रत्यय हो जाता है । उदाहरण यथा—

अह्ना[1] निर्वृत्तम् आह्निकम् (एक दिन से सम्पन्न किया गया कार्य आदि[2]) । 'अहन् टा' इस करणतृतीयान्त कालवाची अहन् प्रातिपदिक से निर्वृत्त (सम्पन्न किया गया) अर्थ में प्रकृत **तेन निर्वृत्तम्** (११५०) सूत्रद्वारा ठञ् प्रत्यय, ञकार अनुबन्ध का लोप, सुँब्लुक्, **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को इक आदेश, आदिवृद्धि तथा भसञ्ज्ञा हो **अल्लोपोऽनः** (२४७) से भसञ्ज्ञक अन् के अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'आह्निकम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि **नस्तद्धिते** (९१९) सूत्रद्वारा प्राप्त टिलोप **अह्नष्टखोरेव** (६.४.१४५) से 'ट' और 'ख' प्रत्ययों में ही नियमित होने से नहीं होता ।

इस सूत्र के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) मासेन निर्वृत्तं मासिकम् (एक महीने से समाप्त होने वाला) ।

(२) अर्धमासेन निर्वृत्तम् आर्धमासिकम् (अर्धमास से सम्पन्न होने वाला) ।

(३) संवत्सरेण निर्वृत्तं सांवत्सरिकम् (एक वर्ष से सम्पन्न होने वाला) ।

(४) पक्षेण निर्वृत्तं पाक्षिकम् (एक पखवाड़े से सम्पन्न होने वाला) ।

(५) सप्ताहेन निर्वृत्तं साप्ताहिकम् (एक सप्ताह से सम्पन्न होने वाला) ।

(६) मुहूर्त्तेन निर्वृत्तं मौहूर्त्तिकम् (मुहूर्त्त भर से सम्पन्न होने वाला) ।

नोट—चातुरर्थिकप्रकरण में भी **तेन निर्वृत्तम्** (१०५७) सूत्र पढ़ा जा चुका है । वहां 'तेन' के द्वारा कर्तृतृतीयान्त का अनुकरण किया गया था परन्तु यहां करण-तृतीयान्त का । इस के अतिरिक्त यहां 'कालात्' का अधिकार भी आ रहा है । अतः यहां 'तेन' से करणतृतीयान्त कालवाचक प्रातिपदिक का ग्रहण किया जाता है ।

---

१. यहां करण में तृतीया जाननी चाहिये ।

२. महाभाष्य में प्रकरणों का विभाग आह्निकों के द्वारा दर्शाया गया है । जितना भाष्य एक दिन में पूरा किया जाता था उसे आह्निक कह देते थे । यही सञ्ज्ञा अब तक व्यवहृत हो रही है । सम्पूर्ण महाभाष्य में इस समय (८४) आह्निक हैं ।

'निर्वृत्तम्' में दोनों जगह अन्तर्भावितण्यर्थ वृतुँ धातु से कर्मणि क्तप्रत्यय किया गया है अतः 'निर्वृत्तम्' का अर्थ है—निर्वर्त्तितम् । बृ० शब्देन्दुशेखर में नागेशभट्ट ने भी यही कहा है—

"तेन निर्वृत्तम् । तेन करणेन निर्वर्त्तितमित्यर्थः । चतुरर्थ्यन्तर्गते तेन निर्वृत्तम् (४.२.६८) इत्यत्र तेन कर्त्रेत्यर्थः । उभयत्राप्यन्तर्भावितण्यर्थाद् वृत्तेः कर्मणि क्तः ।"

अभ्यास [१०]

(१) निम्नस्थ सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—
१. तेन क्रीतम् । २. तदर्हति । ३. तत्र विदित इति च । ४. पङ्क्ति-विंशति० । ५. दण्डादिभ्यो यत् । ६. तस्येश्वरः । ७. आर्हादगोपुच्छ० । ८. तेन निर्वृत्तम् । ९. अनुशतिकादीनां च । १०. प्राग्वतेष्ठञ् ।

(२) निम्नस्थ विग्रहों के तद्धितान्तरूप ससूत्र सिद्ध करें—
१. मासेन निर्वृत्तम् । २. कशामर्हति । ३. षष्टचा क्रीतम् । ४. पृथिव्यां विदितः । ५. प्रस्थमर्हति । ६. सर्वभूमेरीश्वरः । ७. दश दशतः परिमाणमस्य । ८. स्त्रियमर्हति । ९. गोपुच्छेन क्रीतम् । १०. अभिगममर्हति । ११. पुमांसमर्हति ।

(३) विग्रह दर्शाते हुए निम्नस्थ तद्धितान्तरूपों की ससूत्र सिद्धि करें—
१. वध्यः । २. विंशतिः । ३. अर्घ्यः । ४. पङ्क्तिः । ५. पार्थिवः । ६. आशीतिकम् । ७. दण्ड्यः । ८. प्रास्थिकम् । ९. पञ्चाशत् । १०. सांवत्सरिकम् । ११. इभ्यः । १२. वास्त्रयुग्मिकः ।

(४) **तेन निर्वृत्तम्** सूत्र अष्टाध्यायी में दो बार क्यों पढ़ा गया है ?

(५) विंशति आदि शब्द किस लिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं ? इन का द्विवचनान्त और बहुवचनान्त प्रयोग कब और कैसे किया जाता है ?

(६) अर्घ्यशब्द का द्विविध विग्रह और ससूत्र सिद्धि प्रदर्शित करें ।

(७) निम्नस्थ प्रश्नों का समुचित उत्तर दीजिये—
[क] आर्हीयठक् से क्या अभिप्रेत है ?
[ख] 'भोजनमर्हति' विग्रह का तद्धितान्तरूप (?) क्या बनेगा ?
[ग] 'आह्निकम्' में टिलोप क्यों नहीं हुआ ?
[घ] दण्डमर्हति दण्ड्यः—यहां 'दण्ड' से क्या अभिप्रेत है ?
[ङ] प्रस्थैः क्रीतम्—यहां तद्धितवृत्ति क्यों नहीं होती ?

(८) अर्हति के सुप्रसिद्ध द्विविध प्रयोग दर्शाते हुए **तदर्हति** में सकर्मक का ही प्रयोग क्यों माना जाता है ? कारण बताएं ।

[लघु०] इति ठञोऽधिकारः ॥

(यहां ठञ् प्रत्यय के अधिकार का विवेचन समाप्त होता है ।)

——:o:——

वतिँ (वत्)

अथ त्वतलोरधिकारः

अब प्रातिपदिकों से होने वाले भाव और कर्मविषयक त्व और तल् प्रत्ययों के अधिकार का निरूपण करते हैं। ये प्रत्यय हिन्दी आदि अनेक भारतीयभाषाओं में संस्कृत से जा कर बहुत प्रचलित हुए हैं। यथा—महत्त्व, मनुष्यत्व, नेतृत्व, मातृत्व, पशुत्व, कृतघ्नता, विद्वत्ता, सुन्दरता, दासता, मूर्खता, स्वातन्त्र्य, सौन्दर्य, वैदुष्य आदि। परन्तु इन के अतिरिक्त इस प्रकरण के आदि में तुल्यार्थक एवं सादृश्यार्थक वतिँप्रत्यय का भी निरूपण किया गया है। यद्यपि वतिँप्रत्यय इस प्रकरण के उपयुक्त नहीं ठहरता तथापि अन्यत्र क्वचित् संगृहीत न होने तथा अतीव संग्राह्य होने के कारण उस का यहां सर्वप्रथम अवतरण किया जा रहा है[1]—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११५१)

तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिँः ।५।१।११४।।

(तृतीयान्तात् तुल्यमित्यर्थे वतिँप्रत्ययः, यत्तुल्यं तत् क्रिया चेत्)। ब्राह्मणेन तुल्यं ब्राह्मणवदधीते। क्रिया चेदिति किम्? गुणतुल्ये मा भूत्—पुत्रेण तुल्यः स्थूलः ।।

अर्थः—तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से 'तुल्य' अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक वतिँप्रत्यय हो परन्तु जो तुल्य हो वह क्रिया ही हो।

व्याख्या—तेन ।५।१। (तृतीयान्त के अनुकरण 'तेन' से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये)। तुल्यम् ।१।१। (सामान्ये नपुंसकम्)। क्रिया ।१।१। चेत् इत्यव्ययपदम्। वतिँः ।१।१। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(तेन=तृतीयान्तात्) तृतीयान्त समर्थ प्रातिपदिक से (तुल्यम् इत्यर्थे) तुल्य अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (वतिँ) वतिँप्रत्यय हो (चेत्) यदि तुल्य होने वाला पदार्थ (क्रिया) क्रिया हो तो।

वतिँप्रत्यय में इकार इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'वत्' ही शेष रहता है। उदाहरण यथा—

ब्राह्मणेन[2] तुल्यमधीते—ब्राह्मणवदधीते (ब्राह्मण के समान पढ़ता है)। 'ब्राह्मण टा' इस तृतीयान्त से तुल्य अर्थ में **तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिँः** (११५१) इस प्रकृतसूत्रद्वारा तद्धितसञ्ज्ञक वतिँप्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप तथा प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण उस के अवयव सुँप् (टा) का भी लुक् हो जाता है—ब्राह्मणवत्। अब **तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः**

---

१. सम्भवतः इसीलिये मध्यसिद्धान्तकौमुदी में वरदराज ने इस प्रकरण का नाम **त्वतलोरधिकारः** न रख कर **नञ्स्नञोरधिकारः** रखा है। लघुसिद्धान्तकौमुदी में भी क्वचित् ऐसा ही मुद्रितपाठ मिलता है।

२. अत्र **तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यामन्यतरस्याम्** (२.२.७२) इति तुल्ययोगे तृतीया बोध्या।

(३६८) से वतिँप्रत्ययान्त के अव्ययसञ्ज्ञक हो जाने के कारण इस से परे प्रथमा के एकवचन सुँ का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हो कर 'ब्राह्मणवत्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि क्रिया की क्रिया के साथ ही तुल्यता होती है द्रव्य या गुण के साथ नहीं । 'ब्राह्मणवदधीते' में अध्ययनक्रिया की तुल्यता ब्राह्मण के साथ नहीं की जा रही अपितु ब्राह्मण के अध्ययन के साथ की जा रही है । ब्राह्मण के अध्ययन के समान अध्ययन करता है—यह यहां अभिप्रेत है । ब्राह्मणकर्तृकाध्ययनेन तुल्यं यथा भवति तथाऽधीत इत्यर्थः । ब्राह्मणवत् में ब्राह्मणशब्द ब्राह्मणकर्तृकाध्ययन अर्थ में लाक्षणिक है ।

स्त्रिया तुल्यं स्त्रीवद् वर्त्तते, पुंसा तुल्यं पुंवद् वर्त्तते—यहां **स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** (१००३) सूत्रद्वारा वतिँ के विषय में नञ्-स्नञ् प्रत्यय नहीं होते । इस में **स्त्रीपुंवच्च** (१.२.६६), **स्त्रीवन्मा भूम इत्यध्येयं व्याकरणम्** (महाभाष्य पस्पशा) इत्यादि निर्देश ज्ञापक हैं । पीछे (१००३) सूत्र पर इस का विवेचन कर चुके हैं, वहीं देखें ।

क्रिया चेदिति किम् ? गुणतुल्ये मा भूत्—पुत्रेण तुल्यः स्थूलः ।

सूत्र में **क्रिया चेत्** कहा गया है, अतः जहां क्रिया की तुल्यता नहीं होती अपितु गुण या द्रव्य की तुल्यता होती है वहां प्रकृतसूत्र से वतिँप्रत्यय नहीं होता । यथा—पुत्रेण तुल्यः स्थूलो देवदत्तः (पुत्र के समान देवदत्त मोटा है) । यहां स्थूलत्वगुण की तुल्यता दिखाई गई है क्रिया की नहीं अतः वतिँप्रत्यय नहीं होता । 'पुत्रवत् स्थूलः' प्रयोग अशुद्ध है । इसीप्रकार 'ब्राह्मणेन तुल्यः क्षत्रियः' इस अर्थ में 'ब्राह्मणवत् क्षत्रियः' प्रयोग करना अशुद्ध है । इसीतरह 'महानसेन तुल्यः पर्वतः' इस अर्थ में 'महानसवत् पर्वतः' कहना अशुद्ध है । 'गवा तुल्यो गवयः' इस अर्थ में 'गोवद् गवयः' भी अशुद्ध है ।

इस सूत्र के साहित्यगत कुछ उदाहरण यथा—

(१) **विषयान् विषवत् त्यजेत् ।**

विषयों को विष के समान छोड़ दे । यहां त्यजनक्रिया की तुल्यता दर्शाई गई है । विषकर्मकत्यजनक्रियया तुल्यं यथा भवति तथा विषयान् त्यजेदित्यर्थः ।

(२) **अध्यापयन् गुरुसुतो गुरुवन्मानमर्हति** (मनु० २.२०८) ।

अध्यापन करने वाले गुरुपुत्र का गुरु के समान मान करना चाहिये । यहां 'मानमर्हति' क्रिया की तुल्यता दर्शाई गई है । गुरुकर्मकसत्करणक्रियया तुल्यं यथा भवति तथाऽध्यापयन् गुरुपुत्रः सत्कर्त्तव्य इति भावः ।

(३) **अजराऽमरवत् प्राज्ञो विद्यामर्थञ्च चिन्तयेत्** (हितोप० प्रस्तावना) ।

बुद्धिमान् पुरुष को अजर और अमर की तरह विद्या और धन का चिन्तन करना चाहिये । यहां चिन्तनक्रिया की तुल्यता दर्शाई गई है । अजरामरकर्तृकचिन्तनक्रियया तुल्यं यथा भवति तथा प्राज्ञो विद्यामर्थं च चिन्तयेदित्यर्थः ।

(४) **प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्** (चाणक्य०) ।

तत्र इव | तस्य इव

जब पुत्र सोलह वर्ष का हो जाये तो उस के साथ मित्र के समान आचरण करना चाहिये । यहां आचरणक्रिया की तुल्यता दर्शाई गई है । मित्रकर्मकाचरणक्रियया तुल्यं यथा स्यादेवं पुत्रमाचरेदिति भावः ।

(५) **मातृवत् परदारेषु परद्रव्येषु लोष्ठवत् ।**
आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः ।। (हितोप० १.१४)

जो व्यक्ति पराई स्त्रियों को माता की तरह, पराये धनों को मिट्टी के ढेले की तरह तथा सब प्राणियों को अपने आप के समान देखता है वह पण्डित है । यहां दर्शन-क्रिया की तुल्यता दर्शाई गई है । मात्रादिविषयकदर्शनेन तुल्यं यथा भवति तथा पण्डितेन परदारादिविषयकदर्शनं विधेयमिति भावः ।

(६) **चक्रवत् परिवर्त्तन्ते दुःखानि च सुखानि च** (सुभाषित) ।

दुःख और सुख रथ के पहियों के समान घूमते रहते हैं । यहां परिवर्त्तनक्रिया की तुल्यता दिखाई गई है । चक्रकर्तृकपरिवर्त्तनक्रियया तुल्यं यथा भवति तथा दुःखानि सुखानि च परिवर्त्तन्त इत्यर्थः ।

(७) **न ह्यकूपारवत् कूपा वर्धन्ते विधुकान्तिभिः** ।

चन्द्रमा की किरणों से जैसे समुद्र उछलता है वैसे कूप नहीं उछला करते । यहां वर्धनक्रिया की तुल्यता दर्शा कर पुनः उस का निषेध किया गया है । चन्द्रकिरणैः समुद्रकर्तृकवर्धनक्रियया तुल्यं यथा भवति तथा कूपा न वर्धन्त इति भावः ।

(८) **पूर्ववत् सनः** (७४२) ।

पाणिनीयमिदं सूत्रम् । अत्र आत्मनेपदम् इत्यनुवर्त्तते । सन् से पूर्व जो धातु, उस के समान सन्नन्त से भी आत्मनेपद होता है । यहां भवनक्रिया की समानता दर्शाई गई है । पूर्वधातोरात्मनेपदभवनक्रियया तुल्यं यथा स्यात् तथा सन्नन्तादप्यात्मनेपदं भवतीति भावः ।

विशेष वक्तव्य—यदि क्वचित् ऐसे वतिँप्रत्ययान्त प्रयोग देखे जायें जहां क्रिया न कही गई हो तो वहां वतिँप्रत्यय के रक्षणार्थ किसी यथायोग्य क्रिया का अध्याहार कर उस की तुल्यता समझ लेनी चाहिये । 'पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वाद् महानसवत्' इत्यादि स्थलों पर 'भवितुमर्हति' क्रिया का अध्याहार कर वतिँप्रत्यय का साधुत्व सिद्ध किया जाता है ।

अब अग्रिमसूत्र से वतिँ का पुनर्विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११५२) तत्र तस्येव ।५।१।११५।।**

(सप्तम्यन्तात् षष्ठ्यन्ताच्च इवार्थे वतिँः प्रत्ययः स्यात्) । मथुराया-मिव—मथुरावत् स्रुघ्ने प्राकारः । चैत्रस्येव—चैत्रवन्मैत्रस्य गावः ।।

अर्थः—सप्तम्यन्त और षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से इव (सदृश) के अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक वतिँ प्रत्यय हो ।

व्याख्या—तत्र इत्यव्ययपदम् (सप्तम्यन्त के अनुकरण 'तत्र' शब्द से परे पञ्चमी

का लुक् समझना चाहिये)। तस्य ।५।१। (षष्ठ्यन्त के अनुकरण 'तस्य' शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। इव इत्यव्ययपदम्। वतिः ।१।१। (**तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः (तत्र=सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त तथा (तस्य=षष्ठ्यन्ताच्च) षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से (इव इत्यर्थे) 'इव' के अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (वतिः) वतिँ प्रत्यय हो जाता है।

'इव' का अर्थ है—सदृश। इस प्रकार सदृश अर्थ में सप्तम्यन्त और षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से इस सूत्रद्वारा वतिँप्रत्यय का विधान किया जा रहा है। पूर्वसूत्र से क्रिया की तुल्यता में वतिँ का विधान किया गया था परन्तु इस सूत्र में ऐसा किसी तरह का बन्धन नहीं है, द्रव्य और गुण की तुल्यता में भी सप्तम्यन्त और षष्ठ्यन्त से वतिँ प्रत्यय किया जा रहा है। सप्तम्यन्त का उदाहरण यथा—

मथुरायामिव[1]—मथुरावत् स्रुघ्ने प्राकारः। मथुरा (में) की तरह स्रुघ्ननगर में प्राकार (परकोटा) है। यहां 'मथुरा ङि' इस सप्तम्यन्त से इव (सदृश) के अर्थ में **तत्र तस्येव** (११५२) इस प्रकृतसूत्र से वतिँ प्रत्यय, अनुबन्धलोप, तद्धितान्त हो जाने के कारण प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, सुँब्लुक् तथा पूर्ववत् अव्ययसञ्ज्ञा होकर **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से सुँविभक्ति का लुक् करने से 'मथुरावत्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यहां द्रव्य (प्राकार) की तुल्यता दर्शाई गई है[2] किसी क्रिया की नहीं अतः पूर्वसूत्र से वतिँ के प्राप्त न होने पर इस सूत्र से उस का विधान किया गया है।

षष्ठ्यन्त का उदाहरण यथा—

चैत्रस्येव—चैत्रवद् मैत्रस्य गावः। चैत्रनामक व्यक्ति की तरह मैत्रनामक

---

१. यहां यह ध्यातव्य है कि इवशब्द का प्रयोग होने पर उपमान और उपमेय में एक समान विभक्तियां प्रयुक्त होती हैं। यथा—
(क) चैत्र इव मैत्रोऽधीते। (दोनों में प्रथमा प्रयुक्त हुई है)
(ख) पुत्रमिव शिष्यं मन्यते गुरुः। (दोनों में द्वितीया प्रयुक्त हुई है)
(ग) देवदत्तेनेव यज्ञदत्तेन कार्यमकारि। (दोनों में तृतीया प्रयुक्त हुई है)
(घ) शत्रवे इव भ्रात्रे द्रुह्यति। (दोनों में चतुर्थी प्रयुक्त हुई है)
(ङ) आचार्यादिव अग्रजादधीते। (दोनों में पञ्चमी प्रयुक्त हुई है)
(च) देवदत्तस्येव यज्ञदत्तस्य दन्ताः। (दोनों में षष्ठी प्रयुक्त हुई है)
(छ) पितरीव ज्येष्ठे भ्रातरि वर्तितव्यम्। (दोनों में सप्तमी प्रयुक्त हुई है)

२. ध्यान रहे कि यहां मथुरा और स्रुघ्न का सादृश्य नहीं बताया जा रहा अपितु प्राकारों का ही सादृश्य विवक्षित है। तात्पर्य यह है कि मथुरा में जैसा प्राकार है वैसा स्रुघ्न में है। मथुरायाँ यादृशः प्राकारस्तेन तुल्यः प्राकारः स्रुघ्ने—इति तत्त्वबोधिनी। मथुरासम्बन्धिप्राकारसदृशः स्रुघ्नस्य प्राकार इति बोधः—इति बालमनोरमा।

तस्य भावः त्व / तल्

व्यक्ति की गौएं हैं। यहां 'चैत्र ङस्' इस षष्ठचन्त से इव (सदृश) के अर्थ में **तत्र तस्येव** (११५२) इस प्रकृतसूत्र से वतिँ प्रत्यय होकर अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, पूर्ववत् अव्ययसंज्ञा तथा अन्त में अव्ययत्वात् सुँ का लुक् कर देने से 'चैत्रवत्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यहां गौओं की तुल्यता दर्शाई गई है किसी क्रिया की नहीं, अतः **तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः** (११५१) सूत्र से वतिँ न हो सकता था इस सूत्र से विधान किया गया है।

इस इवार्थक वतिँ के कुछ अन्य उदाहरण यथा —

(१) **अचस्तास्वत् थल्यनिटो नित्यम्** (४८०)।
तासौ इव — तास्वत्।

(२) **आद्यन्तवदेकस्मिन्** (२७८)।
आद्यन्तयोरिव आद्यन्तवत्।

(३) देवदत्तस्येव—देवदत्तवत् तस्य दन्ताः।

(४) **क्षणशयितविबुद्धाः कल्पयन्तः प्रयोगान्**
उदधिमहति राज्ये काव्यवद् दुर्विगाहे।
गहनमपररात्रप्राप्तबुद्धिप्रसादाः
कवय इव महीपाश्चिन्तयन्त्यर्थजातम् ॥ (माघ० ११.६)
काव्ये इव — काव्यवत्।

(५) **क्षत्त्रियान्तकरणोऽपि विक्रमस्तेन मामवति नाजिते त्वयि।**
पावकस्य महिमा स गण्यते कक्षवज्ज्वलति सागरेऽपि यः ॥
कक्षे इव—कक्षवत्। (रघु० ११.७५)

अब भावार्थक प्रत्ययों का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११५३)**

तस्य भावस्त्वतलौ ।५।१।११८॥

प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारो भावः। (षष्ठचन्ताद् भावेऽर्थे त्वप्रत्ययः, तल्प्रत्ययश्च स्यात्)। गोर्भावः—गोत्वं, गोता। त्वान्तं क्लीबम्। तलन्तं स्त्रियाम् ॥

अर्थः— षष्ठचन्त समर्थ प्रातिपदिक से भाव अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक त्व और तल् प्रत्यय हों। **त्वान्तं क्लीबम्**— त्व-प्रत्ययान्तशब्द नपुंसक में प्रयुक्त होता है। **तलन्तं स्त्रियाम्**—तल्प्रत्ययान्तशब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होता है।

व्याख्या— तस्य ।५।१। (षष्ठचन्त के अनुकरण 'तस्य' से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये)। भावः ।१।१। त्व-तलौ ।१।२। **प्रत्ययः, परश्च,** ङ्याप्प्राति-**पदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। त्वश्च तल् च त्वतलौ, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(तस्य = षष्ठचन्तात् प्रातिपदिकात्) षष्ठचन्त प्रातिपदिक से (भाव इत्यर्थे) भाव अर्थ में (त्व-तलौ) तद्धितसञ्ज्ञक 'त्व' और 'तल्' प्रत्यय हो जाते हैं। तल् में लकार इत् है जो स्वरार्थ जोड़ा गया है।

यहां 'भाव' का अर्थ अभिप्राय, आशय या धात्वर्थ आदि नहीं है। इस का अर्थ है—**प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारो भावः।** अर्थात् प्रकृति[1] से उत्पन्न होने वाले बोध (ज्ञान) में जो विशेषणतया प्रतीत होता है उसे 'भाव' कहते हैं। यथा 'गो' यह प्रकृति है। इस के श्रवण से गोत्वयुक्त व्यक्ति का बोध होता है।[2] इस प्रकार के बोध में 'गोत्व' विशेषणतया प्रतीत होता है अतः यह भाव कहाता है। तात्पर्य यह है कि यहां शब्दों के प्रवृत्तिनिमित्त[3] को ही भाव कहा गया है। जातिशब्दों में जाति ही प्रवृत्तिनिमित्त या भाव हुआ करती है। यथा—गोत्वम्, पशुत्वम्, घटत्वम् आदि गो, पशु, घट आदि शब्दों के भाव हैं। कृदन्त, तद्धितान्त और समासों में सम्बन्ध ही भाव होता है। यथा—कृदन्तों में 'पाचकत्वम्' यहां पाचनक्रिया के साथ कर्तृत्वसम्बन्ध ही भाव है। तद्धितान्तों में 'औपगवत्वम्' यहां उपगु के साथ पुत्रत्वसम्बन्ध ही भाव है। समासों में 'राजपुरुषत्वम्' यहां राजा के साथ पुरुष का स्वस्वामिभावसम्बन्ध ही भाव है। शुक्ल आदि शब्द जब गुणवाचक होते हैं तब तद्गत जाति ही उन का भाव है। यथा—शुक्ले गुणे शुक्लत्वं नाम जातिर्भावः। जब शुक्ल आदि शब्द गुणिवाचक होते हैं तब शुक्ल आदि गुण ही उन का भाव होता है। यथा—शुक्ले पटे शुक्लत्वं नाम शुक्लो गुणः। डित्थ, डवित्थ, देवदत्त आदि सञ्ज्ञाशब्दों में तत्तत्पिण्डस्वरूप ही उन का भाव होता है। कुत्वं चुत्वम् आदि में भी कवर्ग, चवर्ग आदि का स्वरूप ही भाव समझना चाहिये। इस का विस्तृत विचार महाभाष्यस्थ प्रदीपोद्योतटीका में देखें।

---

१. **प्रत्ययात् पूर्वं क्रियते इति प्रकृतिः।** जो प्रत्यय से पूर्व की जाती है अर्थात् जिस से प्रत्यय विधान किया जाता है उसे 'प्रकृति' कहते हैं। यथा—'औपगवः' में 'उपगु' प्रकृति है, 'गोत्वम्' में 'गो' और 'दाशरथिः' में 'दशरथ' प्रकृति है।

२. क्या कारण है कि एक गोव्यक्ति को देखने से संसार भर की गौओं का ज्ञान हो जाता है? एक सिंह को देख कर संसार भर के सिंह ज्ञात हो जाते हैं? इस का उत्तर यही है कि किसी एक गाय को देखने से केवल उस गोव्यक्ति का ज्ञान नहीं होता बल्कि उस के साथ साथ गोओं में रहने वाली गोत्वजाति का भी ज्ञान हो जाता है। उस गोत्वजाति के ज्ञात हो जाने से सब गौओं में उस जाति के रहने से 'यह गौ है, यह भी गौ है' इस प्रकार संसार भर की प्रत्युत आगे पैदा होने वाली भी गौओं का ज्ञान हो जाता है। अतीत, वर्त्तमान और भविष्य सब कालों में स्थित गोव्यक्तियों में एक समानता रहती है जिसे 'गोत्व' (गायपना) कहते हैं। उस के एक बार पहचाने जाने से संसार भर की गौओं का ज्ञान हो जाता है। अत एव न्यायवैशेषिक ग्रन्थों में कहा है—**नित्यमेकमनेकानुगतं सामान्यम्।**

३. जिस जात्यादि धर्म के कारण शब्द का लोक में प्रचलन होता है उसे प्रवृत्तिनिमित्त कहते हैं। यह व्युत्पत्तिनिमित्त से सर्वथा भिन्न होता है। जैसाकि साहित्यदर्पण के द्वितीयपरिच्छेद में कहा है—**अन्यच्छब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तम् अन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम्।** प्रवृत्तिनिमित्त का विवेचन इस व्याख्या के प्रथमभागस्थ (२४९) सूत्र पर कर चुके हैं वहीं देखें।

सूत्र का उदाहरण यथा—

गोर्भावो गोत्वं गोता वा । गौ (गाय या बैल) का भाव गौपना या गोत्व जाति। यहां 'गो ङस्' से भाव अर्थ में **तस्य भावस्त्वतलौ** (११५३) इस प्रकृतसूत्र से 'त्व' या 'तल्' प्रत्यय हो कर तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (ङस्) का लुक् हो जाता है। त्वप्रत्ययान्तशब्द नपुंसक में तथा तल्प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं—ऐसा पाणिनीयलिङ्गानुशासन का आदेश है।[1] अतः त्वप्रत्ययान्तों से विभक्तिकार्य में प्रसङ्ग में सुँ प्रत्यय ला कर उसे **अतोऽम्** (२३४) से अम् आदेश तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप करने पर 'गोत्वम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। तल्प्रत्ययान्तों के स्त्रीत्व के कारण **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से टाप्, अनुबन्धलोप तथा **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ करने पर—गोता। सुँ विभक्ति का **हल्ङ्याब्भ्यः०** (१७९) द्वारा लोप हो कर 'गोता' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—घटस्य भावो घटत्वं घटता वा। पशोर्भावः पशुत्वं पशुता वा।

त्व और तल् के साहित्यगत कुछ प्रयोग यथा—

(१) **अहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता।** (किरात० १.२३)

(२) **अपि निर्वाणमायाति नाऽनलो याति शीतताम्।** (हितोप० १.१३३)

(३) **विद्वत्त्वं च नृपत्वं च नैव तुल्यं कदाचन।**
स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते॥ (पञ्च० २.५९)

(४) **सर्वद्रव्येषु विद्यैव द्रव्यमाहुरनुत्तमम्।**
अहार्यत्वादनर्घत्वादक्षयत्वाच्च सर्वदा॥ (हितोप०)

(५) **काश्मीरजस्य कटुताऽपि नितान्तरम्या।** (सुभाषितरत्न०)

(६) **विद्या ददाति विनयं विनयाद्याति पात्रताम्।**
पात्रत्वाद्धनमाप्नोति धनाद्धर्मं ततः सुखम्॥ (हितोप०)

(७) **मतिमतां च विलोक्य दरिद्रतां**
विधिरहो बलवानिति मे मतिः॥ (नीतिशतक)

(८) **यौवनं धनसम्पत्तिः प्रभुत्वमविवेकिता।**
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम्॥ (हितोप०)

(९) **पटुत्वं सत्यवादित्वं कथायोगेन बुध्यते।** (हितोप० १.९९)

(१०) **साधुः समत्वेन भयाद्विमुच्यते।** (भागवत०)

अब 'त्व' और तल् प्रत्ययों का अधिकार चलाते हैं—

---

१. **तलन्तः** (लिङ्गानु० १७)। अर्थः—तल्प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं। **त्वष्यञौ तद्धितौ** (लिङ्गानु० १२०)। अर्थः—भाव में विहित तद्धितसञ्ज्ञक जो त्व और ष्यञ् प्रत्यय, तदन्त शब्द नपुंसक होते हैं।

नञ्, स्नञ्, त्व, तल्—

[लघु०] अधिकार-सूत्रम्—**(११५४) आ च त्वात् ।५।१।११९।।**

ब्रह्मणस्त्वः (५.१.१३५) इत्यतः प्राक् त्व-तलौ अधिक्रियेते। अपवादैः सह समावेशार्थमिदम्। चकारो नञ्स्नञ्भ्यामपि समावेशार्थः। स्त्रिया भावः—स्त्रैणम्, स्त्रीत्वम्, स्त्रीता। पौंस्नम्, पुंस्त्वम्, पुंस्ता ।।

अर्थः— **ब्रह्मणस्त्वः** (५.१.१३५) सूत्र से पहले पहले 'त्व' और 'तल्' प्रत्ययों का अधिकार किया जा रहा है। **अपवादैः सह**—अपवादों (इमनिँच् आदि प्रत्ययों) के साथ त्व और तल् प्रत्ययों का भी समावेश हो सके इसलिये यह अधिकार चलाया गया है। **चकारो नञ्स्नञ्भ्यामपि**— सूत्र में 'च' के ग्रहण का यह प्रयोजन है कि नञ् और स्नञ् प्रत्ययों के साथ भी त्व और तल् प्रत्ययों का समावेश हो जाये।

व्याख्या—आ इत्यव्ययपदम्। च इत्यप्यव्ययपदम्। त्वात् ।५।१। त्व-तलौ ।१।२। (**तस्य भावस्त्वतलौ** सूत्र से)। 'आ' यह मर्यादा अर्थ में आङ् का प्रयोग किया गया है। **आङ् मर्यादावचने** (१.४.८८) से इस की कर्मप्रवचनीयसञ्ज्ञा हो कर इस के योग में **पञ्चम्यपाङ्परिभिः** (२.३.१०) द्वारा 'त्वात्' में पञ्चमी विभक्ति आई है। 'त्वात्' के 'त्व' शब्द से **ब्रह्मणस्त्वः** (५.१.१३५) सूत्र का निर्देश किया गया है। अर्थः— (आ त्वात्) **ब्रह्मणस्त्वः** इस सूत्र से पूर्व तक (च) भी (त्वतलौ) त्व और तल् प्रत्यय अधिकृत किये जा रहे हैं। अर्थात् यहां से ले कर **ब्रह्मणस्त्वः** (५.१.१३५) सूत्र तक जितने सूत्र कहेंगे उन में त्व और तल् प्रत्ययों का विधान होगा। उन उन सूत्रों में अपने अपने प्रत्यय तो विधान किये ही हैं परन्तु उन के साथ त्व और तल् प्रत्यय भी हो जायेंगे—यह इस अधिकार का प्रयोजन है। यथा आगे **पृथ्वादिभ्य इमनिँज्वा** (११५५) सूत्र से इमनिँच् प्रत्यय का विधान किया गया है, परन्तु इस अधिकार के कारण उस के साथ त्व और तल् प्रत्यय भी हो जायेंगे। पृथोर्भावः— प्रथिमा (इमनिँच्), पृथुत्वम् (त्व), पृथुता (तल्)। इन उदाहरणों का विवेचन वा सिद्धि आगे उसी सूत्र पर देखें।

यहां यह शङ्का उत्पन्न होती है कि त्व और तल् प्रत्ययों का विधान तो **तस्य भावस्त्वतलौ** (११५३) से किया ही जा चुका है पुनः इन के लिये इस अधिकार को चलाने की क्या आवश्यकता? इस पर ग्रन्थकार इस शङ्का का निवारण करते हुए लिखते हैं—

अपवादैः सह समावेशार्थमिदम्।

यदि त्व और तल् प्रत्ययों का प्रकृतसूत्र से अधिकार न चलाते तो अगले सूत्रों में इमनिँच् आदि प्रत्ययों के द्वारा **तस्य भावस्त्वतलौ** (११५३) से प्राप्त होने वाले त्व और तल् प्रत्ययों का बाध हो जाता जो अनिष्ट था। परन्तु अब अधिकार के व्यर्थ हो जाने के भय से उन उन प्रत्ययों के साथ त्व और तल् प्रत्ययों का भी समावेश हो

जाता है। इस अधिकार को चलाने का यही प्रयोजन है।[1]

अब पुनः प्रश्न उत्पन्न होता है कि '**आ च त्वात्**' सूत्र के स्थान पर 'आ त्वात्' सूत्र बनाने से भी तो त्व और तल् प्रत्ययों का अधिकार चल सकता था पुनः सूत्र में 'च' के ग्रहण की क्या आवश्यकता? इस का उत्तर ग्रन्थकार इस प्रकार देते हैं—

चकारो नञ्स्नञ्भ्यामपि समावेशार्थः।

तात्पर्य यह है कि 'च' का प्रयोग समुच्चय के लिये किया जाता है। यथा— देवदत्तश्च भुङ्क्ते (देवदत्त भी खाता है) इस कथन में 'च' के ग्रहण के कारण किसी अन्य व्यक्ति का भी 'भुङ्क्ते' से सम्बन्ध समझ लिया जाता है। इसी प्रकार **आ च त्वात्** (**ब्रह्मणस्त्वः** तक भी त्व और तल् अधिकृत हैं) सूत्र में 'च' के ग्रहण से यह प्रतीत होता है कि त्व और तल् क्वचिद् अन्यत्र भी अधिकृत हैं। इन के अधिकार का वह कौन सा स्थान है? इस का महाभाष्यसम्मत स्थान **स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** (१००३) सूत्र का विषय है। भवन अर्थात् **धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्** (११६४) तक के सब अर्थों में स्त्रीशब्द से नञ् और पुंस्शब्द से स्नञ् प्रत्यय अधिकृत है। इन आभवनीय अर्थों में **तस्य भावस्त्वतलौ** (११५३) द्वारा प्रतिपादित 'भाव' भी एक अर्थ है। इस भाव अर्थ में त्व-तल् का बाध कर नञ् और स्नञ् प्राप्त होते थे परन्तु अब **आ च त्वात्** (११५४) में 'च' के ग्रहण से उन के अधिकार में भी इन त्व और तल् प्रत्ययों की प्रवृत्ति हो जायेगी।[2] इस तरह भाव अर्थ में स्त्रीशब्द से नञ्, त्व और तल् और पुंस्शब्द से स्नञ्, त्व और तल् तीन तीन प्रत्यय प्रत्येक से हो जायेंगे। तथाहि—

स्त्रिया भावः—स्त्रैणं स्त्रीत्वं स्त्रीता वा (स्त्री का भाव, स्त्रीपना, ज़नानापन)। यहां 'स्त्री ङस्' से भाव अर्थ की विवक्षा में **स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** (१००३) से नञ् प्रत्यय, सुँब्लुक्, प्रत्यय के ञित्त्व के कारण आदिवृद्धि एवम् **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** (१३८) से नकार को णकार कर विभक्ति लाने से 'स्त्रैणम्' प्रयोग सिद्ध

---

१. इस अधिकार का एक और प्रयोजन भी महाभाष्य और काशिका आदि ग्रन्थों में बताया गया है—**कर्मणि च विधानार्थम्**। इस का तात्पर्य यह है कि आगे **गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च** (११६०) आदि सूत्रों में जब भाव और कर्म दोनों में प्रत्यय विधान किये जायेंगे तो उन के साथ ये दोनों त्व-तल् प्रत्यय भी भाव और कर्म दोनों अर्थों में प्रवृत्त हो जायेंगे केवल भाव में ही नहीं। इस का स्पष्टीकरण आगे उसी सूत्र पर देखें।

२. भाव अर्थ में त्व-तल् द्वारा नञ्-स्नञ् का बाध ही क्यों न मान लिया जाये? ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये। क्योंकि भाव अर्थ में यदि नञ्-स्नञ् करने अभीष्ट न होते तो सूत्रकार **स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** के स्थान पर 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भावात्' ही सूत्र बनाते। 'भवनात्' कथन का अभिप्राय ही यह है कि नञ्स्नञ्विधि में भाव अर्थ भी संगृहीत हो जाये। अतः भाव अर्थ में नञ्-स्नञ् के साथ त्व-तल् का समावेश ही होता है बाध नहीं।

हो जाता है। **आ च त्वात्** (११५४) में 'च' ग्रहण के कारण पक्ष में त्व और तल् भी हो जायेंगे—स्त्रीत्वम्, स्त्रीता। इस प्रकार—स्त्रैणम्, स्त्रीत्वम्, स्त्रीता ये तीन रूप बनेंगे।

पुंसो भावः—पौंस्नम् पुंस्त्वम् पुंस्ता वा (पुरुषपना, मर्दानापन, मर्दानगी)। यहां 'पुंस् ङस्' से भाव अर्थ में **स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** (१००३) से स्नञ् प्रत्यय, सुँब्लुक् तथा प्रत्यय के ञित्त्व के कारण **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदिवृद्धि करने पर—पौंस् + स्न। अब **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) द्वारा पद-संज्ञा होने के कारण **संयोगान्तस्य लोपः** (२०) से संयोगान्त सकार का लोप[1] तथा **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** इस न्यायानुसार अनुस्वार को मकार हो कर—पौम् + स्न। **नश्चापदान्तस्य झलि** (७८) से अपदान्त मकार को पुनः अनुस्वार कर नपुंसक के प्रथमैकवचन में विभक्तिकार्य करने से 'पौंस्नम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[2] **आ च त्वात्** (११५४) में 'च' ग्रहण के कारण पक्ष में त्व और तल् भी हो जायेंगे। त्व और तल् में सुँब्लुक् हो कर संयोगान्तलोप, **पुमः खय्यम्परे** (९४) से मकार को रुँत्व, पूर्व को अनुनासिक आदेश (९१), अनुस्वार का आगम (९२), रेफ को विसर्गादेश तथा **सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः** (वा० १५) से विसर्ग को सकारादेश करने से 'पुँस्त्वम्-पुंस्त्वम्, पुँस्ता-पुंस्ता' प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।[3]

अब अग्रिमसूत्रद्वारा भाव अर्थ में इमनिँच् प्रत्यय का विधान करते हैं—

---

१. अनुस्वार की गणना भी हल्प्रत्याहार में हो कर **हलोऽनन्तराः संयोगः** (१३) से संयोगसञ्ज्ञा हो जाती है। एतद्विषयक एक टिप्पण इस व्याख्या के प्रथमभाग में **पुंसोऽसुँङ्** (३५४) सूत्र पर लिखा जा चुका है वह यहां पुनर्ध्यातव्य है।

२. 'पौंस्नम्' में संयोगान्तलोप करने पर **पुमः खय्यम्परे** (९४) सूत्रद्वारा रुँत्व और तत्पश्चात् अनुनासिक-अनुस्वार (९१, ९२) एवं **सम्पुङ्कानां सो वक्तव्यः** (वा० १५) से विसर्ग को सकार आदेश हो जाता है—इस प्रकार का उल्लेख सिद्धान्तकौमुदी की बालमनोरमाटीका में यहां मुद्रित मिलता है जो नितान्त अशुद्ध है। भला 'पौम् + स्न' इस स्थिति में **पुमः खय्यम्परे** (९४) कैसे प्रवृत्त होगा? खय् परे कहां है? आश्चर्य तो यह है कि मद्रास्, लवपुर, वाराणसी, दिल्ली आदि कई महानगरों से यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है और मुखपृष्ठ पर लिखे अनुसार कई बड़े बड़े ख्यातनामा वैयाकरण इस के सम्पादक एवं संशोधक रहे हैं, परन्तु किसी का इस ओर ध्यान ही नहीं गया। इस के अतिरिक्त बालमनोरमाटीका के मुद्रित-संस्करणों में अन्यत्र भी बीसियों स्थान अशुद्ध हैं। इन के लिये हमारा लघुकाय-ग्रन्थ **बालमनोरमाभ्रान्तिदिग्दर्शन** देखना चाहिये। यह ग्रन्थ **भैमी-प्रकाशन** दिल्ली से प्रकाशित हो चुका है।

३. अत्र **ह्रस्वात् तादौ तद्धिते** (८.३.१०१) इति प्राप्तस्य षत्वस्य सवनादित्वाद् (८.३.११०) निषेधो भवतीति नागेशः।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११५५) पृथ्वादिभ्य इमनिँज्वा ।५।१।१२१।।**

(भावे पृथ्वादिभ्य इमनिँच् तद्धितप्रत्ययो वा स्यात्)। वावचनम् अणादिसमावेशार्थम् ।।

अर्थः—षष्ठ्यन्त समर्थ पृथुआदि प्रातिपदिकों से भाव अर्थ में विकल्प से इमनिँच् तद्धितप्रत्यय हो । **वावचनम्**—विकल्प का कथन अण् आदि प्रत्ययों के समावेश के लिये है ।

व्याख्या—पृथ्वादिभ्यः ।५।३। इमनिँच् ।१।१। वा इत्यव्ययपदम् । तस्य ।५।३। भावः ।१।१। (**तस्य भावस्त्वतलौ** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः – पृथुः (पृथुशब्दः) आदिर्येषां ते पृथ्वादयः, तेभ्यः=पृथ्वादिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । पृथ्वादि एक गण है जो गणपाठ में पढ़ा गया है[1] । अर्थः—(तस्य=षष्ठ्यन्तेभ्यः) षष्ठ्यन्त (पृथ्वादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः) पृथुआदि प्रातिपदिकों से (भाव इत्यर्थे) भाव अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (इमनिँच्) इमनिँच् प्रत्यय (वा) विकल्प से हो जाता है ।

इमनिँच् में अनुनासिक इकार और अन्त्य चकार इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं, 'इमन्' मात्र शेष रहता है । चकार अनुबन्ध स्वरार्थ जोड़ा गया है । इमनिँच्-प्रत्ययान्तशब्द संस्कृत में पुंलिङ्ग होते हैं । हिन्दीभाषा की देखादेखी इन को स्त्रीलिङ्ग समझना भूल है । इन की सुँबन्तप्रक्रिया तथा रूपमाला राजन्शब्द की तरह होती है ।

प्रकृतसूत्र में 'वा' का ग्रहण किया गया है अतः यह सूत्र विकल्प से इमनिँच् का विधान करता है । परन्तु वह विकल्प तो प्रकारान्तरेण सिद्ध है ही, इस के लिये 'वा' कथन की आवश्यकता नहीं । तथाहि—त्व-तल् अधिकृत हैं ही, उन का भी इमनिँच् के साथ समावेश होना है ऐसा पूर्वसूत्र पर बताया जा चुका है । इस तरह इमनिँच् तो स्वतः ही विकल्प से होगा इस के लिये 'वा' का ग्रहण अनावश्यक है । इस शङ्का को मन में रख कर इस का समाधान करते हुए ग्रन्थकार लिखते हैं—

वा-वचनम् अणादिसमावेशार्थम् ।

सूत्र में 'वा' (विकल्प) का कथन त्व और तल् के समावेश के लिये नहीं किया गया । उन का समावेश तो **आ च त्वात्** (११५४) अधिकार के कारण सिद्ध ही था । इस का कथन इस प्रकरण के अन्यसूत्रोंद्वारा प्राप्त होने वाले अण् आदि प्रत्ययों के समावेश के लिये किया गया है । अतः इमनिँच् के वैकल्पिक होने से पक्ष में यथाप्राप्त वे प्रत्यय भी हो जायेंगे । यथा इस प्रकरण का एक सूत्र है—**इगन्ताच्च लघुपूर्वात्** (११५८) अर्थात् लघु वर्ण जिस के पूर्व है ऐसा जो इक्, तदन्त प्रातिपदिक से भाव और कर्म अर्थों

---

१. पृथ्वादिगण यथा—

पृथु । मृदु । महत् । पटु । तनु । लघु । बहु । साधु । आशु । उरु । गुरु । बहुल । खण्ड । दण्ड । चण्ड । अकिञ्चन । बाल । होड । पाक । वत्स । मन्द । स्वादु । ह्रस्व । दीर्घ । प्रिय । वृष । ऋजु । क्षिप्र । क्षुद्र । अणु ।

में अण् प्रत्यय हो । पृथु आदि कई प्रातिपदिक इस के घेरे में आते हैं, अतः इमनिँच् के अभावपक्ष में उन से अण् प्रत्यय भी हो जायेगा[1] ।

पृथुशब्द से इमनिँच् प्रत्यय करने पर रविधि तथा टिलोप हुआ करते हैं अतः ग्रन्थकार सर्वप्रथम तद्विधायक सूत्रों को दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११५६) र ऋतो हलादेर्लघोः ।६।४।१६१।।**

हलादेर्लघोर्ऋकारस्य रः स्याद् इष्ठेमेयस्सु परतः ।।

अर्थः—हलादि अङ्ग के लघु ऋकार के स्थान पर 'र' (र् + अ) यह आदेश हो इष्ठन् इमनिँच् और ईयसुँन् प्रत्यय परे हों तो ।

व्याख्या—रः ।१।१। ऋतः ।६।१। हलादेः ।६।१। लघोः ।६।१। इष्ठेमेयस्सु ।७।३। (**तुरिष्ठेमेयस्सु** सूत्र से) । अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है) । समासः—हल् आदिर्यस्य तद् हलादि, तस्य=हलादेः । 'हलादेः' यह अङ्गस्य का विशेषण है । अर्थः—(हलादेः) हल् जिस का आदि वर्ण है ऐसे (अङ्गस्य) अङ्ग के अवयव (लघोर् ऋतः) लघु ऋकार के स्थान पर (रः) 'र' यह सस्वर आदेश हो जाता है (इष्ठेमेयस्सु) इष्ठ, इम, ईयस् परे हो तो ।

इष्ठ से इष्ठन्, इम से इमनिँच् और ईयस् से ईयसुँन् प्रत्ययों की ओर निर्देश किया गया है ।

'र' यह सस्वर आदेश होता है, केवल 'र्' नहीं । पृथु, मृदु आदि हलादि शब्दों में यह सूत्र प्रवृत्त होता है । इन में ऋकार लघुसंज्ञक है अतः इमनिँच् आदि के परे रहते ऋकार को 'र' आदेश हो जाता है । ऋजु आदि शब्द हलादि नहीं अजादि हैं अतः वे इस सूत्र का विषय नहीं । कृष्ण आदि शब्दों में ऋकार लघु नहीं, वह **संयोगे गुरु** (४४६) से **गुरु** है । अतः ऐसे शब्द भी इस सूत्र का विषय नहीं हैं ।

वार्त्तिककार ने इस सूत्र के विषय का परिगणन कर दिया है । पृथु, मृदु, भृश, कृश, दृढ और परिवृढ इन छः शब्दों में ही उन्होंने 'र' का विधान माना है अन्य शब्दों

---

१. पृथु आदि शब्दों में इमनिँच् के अभावपक्ष में—
   - (क) क्वचित् **इगन्ताच्च लघुपूर्वात्** (११५८) से अण् हो जाता है । यथा—पृथु, मृदु, पटु आदि में ।
   - (ख) क्वचित् **गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च** (११६०) से ष्यञ् हो जाता है । यथा—चण्ड, खण्ड आदि गुणवचनों में ।
   - (ग) क्वचित् **प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ्** (५.१.१२८) से अञ् हो जाता है । यथा—बाल, वत्स आदि वयोवाचियों में ।
   - (घ) क्वचित् किसी अन्य सूत्र से कोई अन्य प्रत्यय प्राप्त हो जाता है और कभी नहीं भी होता ।

   इसीलिये तो मूल में 'अणादिसमावेशार्थम्' में 'आदि' शब्द का प्रयोग किया गया है ।

में नहीं। आगे मूल में ही इस विषय का वार्त्तिक पढ़ा गया है। काशिकाकार ने इस परिगणन को इस प्रकार श्लोकबद्ध किया है—

पृथुं मृदुं भृशं चैव कृशं च दृढमेव च।
परिपूर्वं वृढं चैव षडेतान् रविधौ स्मरेत्॥

अब इष्ठन् आदि प्रत्ययों में टि के लोप का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११५७) टेः।६।४।१५५॥**

भस्य टेर्लोप इष्ठेमेयस्सु॥

अर्थः—इष्ठन्, इमनिँच् या ईयसुन् प्रत्यय परे हो तो भसञ्ज्ञक टि का लोप हो।

व्याख्या—टेः।६।१। भस्य।६।१। (यह अधिकृत है)। लोपः।१।१। (**अल्लोपोऽनः** सूत्र से)। इष्ठेमेयस्सु।७।३। (**तुरिष्ठेमेयस्सु** सूत्र से) अर्थः—(भस्य टेः) भसञ्ज्ञक टि का (लोपः) लोप हो जाता है (इष्ठेमेयस्सु) इष्ठन्, इमनिँच् अथवा ईयसुँन् प्रत्यय परे हो तो।

अब रविधि के लिये परिगणनवार्त्तिक लिखते हैं—

[लघु०] वा०—**(८९) पृथु-मृदु-भृश-कृश-दृढ-परिवृढानामेव रत्वम्॥**

पृथोर्भावः प्रथिमा। (इमनिँचोऽभावे—)

अर्थः—इष्ठन्, इमनिँच् और ईयसुँन् प्रत्ययों के परे रहते पृथु, मृदु, भृश, कृश, दृढ और परिवृढ इन छः शब्दों के ही ऋवर्ण को 'र' आदेश होता है अन्यों के ऋवर्ण को नहीं।

व्याख्या—यह वार्त्तिक महाभाष्य में **र ऋतो हलादेर्लघोः** (११५६) सूत्र पर पढ़ा गया है अतः तद्विषयक ही समझना चाहिये। इस की व्याख्या **र ऋतो हलादेर्लघोः** (११५६) सूत्र पर की जा चुकी है। इस परिगणन के कारण अन्यत्र रत्व नहीं होता। यथा—कृतम् आचष्टे कृतयति, मातरम् आचष्टे मातयति, भ्रातरम् आचष्टे भ्रातयति—इत्यादियों में **प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च** (वा०) द्वारा इष्ठवत्ता के कारण णिच् के परे रहते रविधि नहीं होती। इस का विशेष विवेचन व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखना चाहिये।

अब यहां प्रकरणप्राप्त पृथु आदि शब्दों से इमनिँच् आदि प्रत्ययों की सिद्धि दर्शाते हैं—

पृथोर्भावः प्रथिमा (विस्तृतपना, विस्तार, विशालता, मोटापन, महत्ता आदि)। 'पृथु ङस्' से भाव अर्थ में **पृथ्वादिभ्य इमनिँज्वा** (११५५) सूत्रद्वारा विकल्प से इमनिँच् प्रत्यय होकर सुँब्लुक् करने से—पृथु + इमन्। **र ऋतो हलादेर्लघोः** (११५६) से पृथु के ऋकार को 'र' आदेश हो कर—प्रथु + इमन्। **टेः** (११५७) सूत्रद्वारा भसंज्ञक टि (उ) का लोप करने से—प्रथ् + इमन् = प्रथिमन्। अब प्रथमा का एकवचन सुँप्रत्यय

ला कर राजन्शब्द की तरह पुंलिङ्ग में उपधादीर्घ (१७७), हल्ङ्यादिलोप (१७९) तथा **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से नकार का भी लोप करने पर 'प्रथिमा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। पक्ष में जहां इमनिँच् नहीं होता वहां अग्रिमसूत्र से अण् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११५८)

इगन्ताच्च लघुपूर्वात् ।५।१।१३०॥[1]

(लघुपूर्वादिगन्तात् षष्ठ्यन्तप्रातिपदिकाद् भावे कर्मणि चाण् प्रत्ययः स्यात्)। पार्थवम्। म्रदिमा। मार्दवम्॥

अर्थः—लघुवर्ण जिस के पूर्व तथा इक् जिस के अन्त में हो ऐसे षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से भाव और कर्म अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक अण् प्रत्यय हो।

व्याख्या—इगन्तात् ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। लघुपूर्वात्। ।५।१। तस्य ।५।१। भावे ।७।१। (**तस्य भावस्त्वतलौ** सूत्र से)। कर्मणि ।७।१। (**गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च** सूत्र से)। अण् ।१।१। (**हायनान्तयुवादिभ्योऽण्** सूत्र से)। **प्रत्ययः**, **परश्च**, **ङ्याप्प्रातिपदिकात्**, **तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—लघुः पूर्वः= अचाम्पूर्वो यस्य तत् लघुपूर्वं प्रातिपदिकम्, तस्मात्=लघुपूर्वात्, बहुव्रीहिसमासः। इक् अन्तोऽन्तावयवो यस्य तद् इगन्तम्प्रातिपदिकम्, तस्मात्=इगन्तात्, बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(लघुपूर्वात्) जिस के अचों का पहला अच् लघु हो तथा (इगन्तात्) इक् प्रत्याहार जिस का अन्त वर्ण हो तो ऐसे (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से परे (भावे, कर्मणि) भाव और कर्म अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय हो जाता है। अण् में णकार अनुबन्ध है जो आदिवृद्धि के लिये जोड़ा गया है। उदाहरण यथा—शुचेर्भावः कर्म वा शौचम्। मुनेर्भावः कर्म वा मौनम्। शुचि और मुनि प्रातिपदिकों के अचों का पहला अच् लघुसञ्ज्ञक है तथा इन का अन्त वर्ण इक्प्रत्याहारान्तर्गत इकार है अतः इन से अण् प्रत्यय हो कर आदिवृद्धि एवं **यस्येति च** लोप करने से उपर्युक्त प्रयोग सिद्ध हुए हैं।[2]

प्रकृत में पृथुशब्द लघुपूर्व इगन्त है अतः जिस पक्ष में इमनिँच् नहीं हुआ उस पक्ष में भाव में प्रकृत **इगन्ताच्च लघु-पूर्वात्** (११५८) सूत्र से अण् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, प्रत्यय के णित्त्व के कारण आदिवृद्धि (९३८), रपर (२९) तथा **ओर्गुणः** (१००५) सूत्रद्वारा भसञ्ज्ञक उकार को ओकार गुण और **एचोऽयवायावः** (२२) से ओकार को

१. क्वचिल्लघुकौमुदीसंस्करणेषु नेदं सूत्रमुपलभ्यते। परं सर्वत्र 'पार्थवम्' इत्युदाहरण-दर्शनादस्योल्लेख आवश्यकोऽत्रेति प्रतिभाति।

२. कवेर्भावः कर्म वा काव्यम्। कविशब्द लघुपूर्व इगन्त है अतः प्रकृतसूत्र से अण् हो कर 'कावम्' बनना चाहिये था परन्तु ऐसा नहीं होता। कारण कि ब्राह्मणादिगण के आकृतिगण होने से उस में कविशब्द का पाठ मान लेने से **गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च** (११६०) सूत्रद्वारा ष्यञ् प्रत्यय हो जाता है, अण् नहीं।

अव् आदेश करने पर—पार्थव । नपुंसक[1] में विभक्तिकार्य करने से 'पार्थवम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । **आ च त्वात्** (११५४) द्वारा त्व और तल् के भी अधिकृत होने से 'पृथुत्वम्, पृथुता' प्रयोग भी बनेंगे । इस प्रकार—प्रथिमा, पार्थवम्, पृथुत्वम्, पृथुता — ये चार रूप बनेंगे ।

इसी तरह—

(१) मृदोर्भावः—म्रदिमा, मार्दवम्, मृदुत्वम्, मृदुता ।

(२) पटोर्भावः—पटिमा, पाटवम्, पटुत्वम्, पटुता ।

(३) लघोर्भावः—लघिमा, लाघवम्, लघुत्वम्, लघुता ।

(४) तनोर्भावः—तनिमा, तानवम्, तनुत्वम्, तनुता ।

(५) गुरोर्भावः—गरिमा,[2] गौरवम्, गुरुत्वम्, गुरुता ।

(६) ऋजोर्भावः—ऋजिमा, आर्जवम्, ऋजुत्वम्, ऋजुता ।

(७) अणोर्भावः—अणिमा, आणवम्, अणुत्वम्, अणुता ।

(८) बहोर्भावः—भूमा[3], बाहवम्, बहुत्वम्, बहुता ।

(९) महतो भावः—महिमा,[4] महत्त्वम्, महत्ता ।

(१०) साधोर्भावः—साधिमा, साधुत्वम्, साधुता ।

(११) स्वादोर्भावः—स्वादिमा, स्वादुत्वम्, स्वादुता ।

---

१. भाव या कर्म में हुआ अण् प्रत्यय जिन के अन्त में हो वे शब्द नपुंसक में प्रयुक्त होते हैं । तथाहि—

यद्-य-ढग्-यग्-अञ् —अण्-वुञ्-छाश्च (लिङ्गानुशासन) ।

अर्थः —भाव अथवा कर्म में विहित जो यत्, य, ढक्, यक्, अञ्, अण्, वुञ् और छ प्रत्यय, तदन्त शब्द नपुंसक लिङ्ग होते हैं ।

२. **प्रिय-स्थिर-स्फिरोरु-बहुल-गुरु-वृद्ध-तृप्र-दीर्घ-वृन्दारकाणां प्र-स्थ-स्फ-वर्-बंहि-गर्-वर्षि-त्रप्-द्राघि-वृन्दाः** (६.४.१५७) ।

अर्थः—प्रिय, स्थिर, स्फिर, उरु, बहुल, गुरु, वृद्ध, तृप्र, दीर्घ, वृन्दारक—इन दस अङ्गों के स्थान पर क्रमशः प्र, स्थ, स्फ, वर्, बंहि, गर्, वर्षि, त्रप्, द्राघि, वृन्द—ये दस आदेश हो जाते हैं, इष्ठन् इमनिँच् या ईयसुँन् प्रत्यय परे हो तो। इस सूत्र से यहां गुरु को गर् आदेश हो कर 'गरिमा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

३. **बहोर्लोपो भू च बहोः** (१२२८) । अर्थः—बहुशब्द से परे इष्ठन्, इमनिँच् या ईयसुँन् प्रत्ययों के आदि इवर्ण का लोप हो जाता है तथा उस 'बहु' के स्थान पर 'भू' यह सर्वादेश भी हो जाता है । इस सूत्र से इमनिँच् के आदि इकार का लोप तथा बहुशब्द के स्थान पर 'भू' आदेश हो कर 'भूमा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

४. यहां **टेः** (११५७) सूत्रद्वारा 'महत्' की टि (अत्) का लोप हो जाता है । इसी प्रकार—साधिमा, स्वादिमा में भी समझना चाहिये ।

(१२) ह्रस्वस्य भावः—ह्रसिमा[1], ह्रस्वत्वम्, ह्रस्वता ।
(१३) क्षिप्रस्य भावः—क्षेपिमा, क्षिप्रत्वम्, क्षिप्रता ।
(१४) क्षुद्रस्य भावः—क्षोदिमा, क्षुद्रत्वम्, क्षुद्रता ।

इन के साहित्यगत कुछ प्रयोग यथा—

(१) **श्रुतो हितोपदेशोऽयं पाटवं संस्कृतोक्तिषु ।**
वाचां सर्वत्र वैचित्र्यं नीतिविद्यां ददाति च ॥ (हितोप०)

(२) **तुल्येऽपराधे स्वर्भानुर्भानुमन्तं चिरेण यत् ।**
हिमांशुमाशु ग्रसते तत् तन्निम्नः स्फुटं फलम् ॥ (माघ० २.४९)

(३) **तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु नृपाः ॥** (भर्तृहरि०)

(४) **आर्जवं हि कुटिलेषु न नीतिः ।** (किरात०)

(५) **भूम्ना रसानां गहनाः प्रयोगाः ।** (मालतीमाधव १.४)

(६) **इन्द्रोऽपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितैर्गुणैः ।** (सुभाषित)

(७) **निरतिशयं गरिमाणं तेन जनन्याः स्मरन्ति विद्वांसः ।**
यत्कमपि वहति गर्भं महतामपि यो गुरुर्भवति ॥ (पञ्च० १.३१)

(८) **मानुषतासुलभो लघिमा प्रश्नकर्मणि मां नियोजयति ।** (कादम्बरी)

(९) **अयि मलयज महिमाऽयं कस्य गिरामस्तु विषयस्ते ।** (भामिनी०)

(१०) **सेवां लाघवकारिणीं कृतधियः स्थाने श्ववृत्तिं विदुः ।** (मुद्रा०)

अब अग्रिमसूत्रद्वारा भाव में ष्यञ् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११५९)**

वर्ण-दृढादिभ्यः ष्यञ् च ।५।१।१२२॥

चाद् इमनिँच् । शौक्ल्यम्, शुक्लिमा । दार्ढ्यम्, द्रढिमा ॥

अर्थः—वर्ण (रङ्ग) वाचक षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से तथा दृढादिगणपठित षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से भाव अर्थ में तद्धितसंज्ञक ष्यञ् प्रत्यय भी हो जाता है। **चादिमनिँच्**—'भी' कथन के कारण पूर्वोक्त इमनिँच् प्रत्यय भी होगा ।

व्याख्या—वर्णदृढादिभ्यः ।५।३। ष्यञ् ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । **तस्य भावस्त्वतलौ** (११५३) सूत्र से 'तस्य भावः' का अनुवर्त्तन होता है। इस से षष्ठी समर्थविभक्ति और 'भाव' अर्थ उपलब्ध हो जाता है। 'च' ग्रहण के कारण पिछले

---

१. **स्थूल-दूर-युव-ह्रस्व-क्षिप्र-क्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः** (६.४.१५६) । अर्थः—स्थूल, दूर, युवन्, ह्रस्व, क्षिप्र और क्षुद्र—इन छः शब्दों का परला यणादि भाग लुप्त हो जाता है तथा उस यणादिभाग से पूर्व को यथासम्भव गुण हो जाता है इष्ठन्, इमनिँच्, या ईयसुँन् प्रत्यय परे हो तो । इस सूत्र से इमनिँच् के परे रहते 'ह्रस्व' शब्द में 'व' का, क्षिप्रशब्द में 'र' का एवं क्षुद्रशब्द में भी 'र' का लोप हो जाता है। क्षिप्र और क्षुद्र शब्दों में यणादिभाग से पूर्व इकार उकार को गुण भी हो जाता है ।

पृथ्वादिभ्य इमनिँज्वा (११५५) सूत्र से इमनिँच् का भी संग्रह हो जाता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। दृढादि एक गण है[1]। 'वर्ण' से वर्णविशेष के वाचक शुक्ल आदि शब्दों का यहां ग्रहण अभीष्ट है। समासः— दृढः (दृढशब्दः) आदिर्येषां ते दृढादयः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः। वर्णाश्च दृढादयश्च वर्णदृढादयः, तेभ्यः=वर्णदृढादिभ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(भाव इत्यर्थे) भाव अर्थ में (तस्य=षष्ठ्यन्तेभ्यः) षष्ठ्यन्त (वर्णदृढादिभ्यः) वर्णविशेषवाचकों तथा दृढादिगण-पठित प्रातिपदिकों से (तद्धितौ) तद्धितसञ्ज्ञक (ष्यञ्) ष्यञ् (च) और (इमनिँच्) इमनिँच् प्रत्यय हो जाते हैं।

ष्यञ्प्रत्यय के आदि षकार की **षः प्रत्ययस्य** (८३९) सूत्र से तथा अन्त्य ञकार की **हलन्त्यम्** (१) से इत्सञ्ज्ञा हो कर दोनों का लोप हो जाता है, 'य' मात्र शेष रहता है। ञकार अनुबन्ध आदिवृद्धि के लिये तथा षकार अनुबन्ध **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५५) द्वारा स्त्रीत्व में ङीष् प्रत्यय के विधान के लिये जोड़ा गया है।[2] उदाहरण यथा—

शुक्लस्य भावः शौक्ल्यं शुक्लिमा वा (शुक्लपना, सुफेदपना, सुफेदी)। शुक्ल-शब्द वर्णविशेष का वाचक है अतः 'शुक्ल ङस्' से भाव अर्थ में प्रकृत **वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् च** (११५६) सूत्र से ष्यञ् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा, उस के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक् (७२१), आदिवृद्धि और भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'शौक्ल्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इमनिँच्पक्ष में सुँब्लुक् हो कर **टेः** (११५७) सूत्रद्वारा टि (अ) का लोप करने से पुं० के प्रथमैक-वचन में 'शुक्लिमा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। **आ च त्वात्** (११५४) अधिकार के कारण त्व और तल् प्रत्यय भी होंगे—शुक्लत्वम्, शुक्लता।

इसीप्रकार—

---

१. दृढादिगण यथा—
दृढ। वृड। परिवृढ। भृश। कृश। शुक्र। **चक्र** (चुक्र)। आम्र। लवण। ताम्र। अम्ल। शीत। उष्ण। जड। बधिर। पण्डित। मधुर। मूर्ख। मूक। **वेर्यात-लाभ-मति-मनः-शारदानाम्** (गणसूत्रम्)। **समो मतिमनसोर्जवने** (गणसूत्रम्)। बाल। तरुण। मन्द। स्थिर। बहुल। दीर्घ। मूढ। आक्रुष्ट॥

२. **त्व-ष्यञौ तद्धितौ** (लिङ्गानुशासन) इस वचन से भावार्थक-ष्यञ्प्रत्ययान्त शब्द यद्यपि नपुंसक में प्रयुक्त होने चाहियें तथापि ष्यञ् का षित्करण इस बात का ज्ञापक है कि लक्ष्यानुरोध से ये शब्द क्वचित् स्त्रीलिङ्ग में भी प्रयुक्त होते हैं। स्त्रीलिङ्ग में ष्यञन्तों से ङीष् (१२५५) हो कर **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का तथा **हलस्तद्धितस्य** (१२५३) से उपधाभूत यकार का भी लोप हो जाता है। इस प्रकार—मधुरस्य भावो माधुरी, चतुरस्य भावश्चातुरी, उचितस्य भाव औचिती, निपुणस्य भावो नैपुणी, विशारदस्य भावो वैशारदी, मित्रस्य भावो मैत्री, शीलस्य भावः शैली इत्यादि रूप सिद्ध हो जाते हैं।

(१) कृष्णस्य भावः—कार्ष्ण्यम्, कृष्णिमा ।
(२) हरितस्य भावः—हारित्यम्, हरितिमा ।
(३) लोहितस्य भावः—लौहित्यम्, लोहितिमा ।
(४) श्वेतस्य भावः—श्वैत्यम्, श्वेतिमा ।
(५) धवलस्य भावः—धावल्यम्, धवलिमा ।
(६) कालस्य भावः—काल्यम्, कालिमा[1] ।
(७) पीतस्य भावः—पैत्यम्, पीतिमा ।

दृढादियों से—

दृढस्य भावो दार्ढ्यं द्रढिमा वा (दृढ़पना, दृढ़ता)। दृढशब्द दृढादिगण का पहला शब्द है अतः 'दृढ ङस्' से भाव अर्थ में **वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् च** (११५९) सूत्र से ष्यञ् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि, रपर (२९) और **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर नपुंसक में विभक्तिकार्य करने से 'दार्ढ्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इमनिँच्पक्ष में सुँब्लुक्, **र ऋतो हलादेर्लघोः** (११५६) से ऋवर्ण को 'र' आदेश और **टेः** (११५७) से भसंज्ञक टि (अ) का लोप करने पर—द्रढिमन् । राजन-शब्द की तरह पुंलिङ्ग में विभक्तिकार्य करने से 'द्रढिमा' प्रयोग बनता है ।

दृढादिगण के कुछ अन्य उदारण यथा—
(१) शीतस्य भावः—शैत्यम्, शीतिमा ।
(२) उष्णस्य भावः—औष्ण्यम्, उष्णिमा ।
(३) बधिरस्य भावः—बाधिर्यम्, बधिरिमा ।
(४) जडस्य भावः—जाड्यम्, जडिमा ।
(५) मधुरस्य भावः—माधुर्यम्, मधुरिमा ।
(६) तरुणस्य भावः—तारुण्यम्, तरुणिमा[2] ।
(७) मन्दस्य भावः—मान्द्यम्, मन्दिमा ।
(८) मूढस्य भावः—मौढ्यम्, मूढिमा ।
(९) मूर्खस्य भावः—मौर्ख्यम्, मूर्खिमा ।
(१०) पण्डितस्य भावः—पाण्डित्यम्, पण्डितिमा ।
(११) विमनसो भावः—वैमनस्यम्, विमनिमा (टि=अस् का लोप) ।
(१२) विशारदस्य भावः—वैशारद्यम्, विशारदिमा ।
(१३) विमतेर्भावः—वैमत्यम्, विमतिमा ।
(१४) कृशस्य भावः—कार्श्यम्, क्रशिमा (११५६) ।
(१५) स्थिरस्य भावः—स्थैर्यम्, स्थेमा ('स्थ' आदेश) ।
(१६) दीर्घस्य भावः—दैर्घ्यम्, द्राघिमा ('द्राघि' आदेश) ।

---

१. **कालिमा कालकूटस्य नाऽपैतीश्वरसंगमात् ।** (सुभाषित)
२. **अधः पश्यसि किं वृद्धे ! पतितं तव किं भुवि ।**
रे रे मूढ न जानासि गतं तारुण्यमौक्तिकम् ।। (सुभाषित)

ष्यञ्

नोट—अधिकृत (११५४) होने से त्व और तल् भी सर्वत्र हो जायेंगे—दृढत्वम्, दृढता। शीतत्वम्; शीतता। उष्णत्वम्, उष्णता। बधिरत्वम्, बधिरता। इत्यादि।

पुनः ष्यञ् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(**११६०**)

गुणवचन-ब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च ।५।१।१२३।।

चाद् भावे। जडस्य भावः कर्म वा जाड्यम्। मूढस्य भावः कर्म वा मौढ्यम्। ब्राह्मण्यम्। आकृतिगणोऽयम्।।

अर्थः—षष्ठ्यन्त गुणवाचकों एवं ब्राह्मणादिगणपठित प्रातिपदिकों से भाव और कर्म अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक ष्यञ् प्रत्यय हो।

व्याख्या—गुणवचन-ब्राह्मणादिभ्यः ।५।३। कर्मणि ।७।१। च इत्यव्ययपदम्। **तस्य भावस्त्वतलौ** (११५३) सूत्र से 'तस्य' और 'भावः' पदों का अनुवर्त्तन होता है। ष्यञ् ।१।१। (**वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् च** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। गुणम् उक्तवन्त इति गुणवचनाः। ब्राह्मणः (ब्राह्मणशब्दः) आदिर्येषान्ते ब्राह्मणादयः, तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिसमासः। गुणवचनाश्च ब्राह्मणादयश्च गुणवचनब्राह्मणादयः, तेभ्यः=गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः। गुणवचन वे शब्द होते हैं जो पहले गुण अर्थ में प्रवृत्त हो कर बाद में गुण-गुणी के अभेदोपचार या मतुँब्लुक् के कारण उस गुण से युक्त द्रव्य के वाचक हो जाते हैं। इन का विवेचन पीछे समासप्रकरणस्थ (९२५) सूत्राङ्क पर कर चुके हैं। ब्राह्मणादि एक गण है। जिसे आकृतिगण माना जाता है[1]। अर्थः—(तस्य=षष्ठ्यन्तेभ्यः) षष्ठ्यन्त

---

१. ब्राह्मणादिगण यथा—

ब्राह्मण। वाडव। माणव। **अर्हतो नुम् च** (गणसूत्रम्)। चोर। धूर्त। आराधय। विराधय। अपराधय। उपराधय। एकभाव। द्विभाव। त्रिभाव। अन्यभाव। अक्षेत्रज्ञ। संवादिन्। संवेशिन्। संभाषिन्। बहुभाषिन्। शीर्षघातिन्। शीर्षपातिन् (का.)। विघातिन्। समस्थ। विषमस्थ। परमस्थ। मध्यमस्थ। अनीश्वर। कुशल। चपल। निपुण। पिशुन। कुतूहल। क्षेत्रज्ञ। निश्न। बालिश। अलस। दुष्पुरुष। कापुरुष। राजन्। गणपति। अधिपति। गडुल। दायाद। विशस्ति। विषम। विपात। निपात। **सर्ववेदादिभ्यः स्वार्थे** (गणसूत्रम्)। **चतुर्वेदस्योभयपदवृद्धिश्च** (गणसूत्रम्)। शौटीर। मूक। कपि। विशसि। पिशाच। विशाल। धनपति। नरपति। निव। निधान। विष। स्वभाव। निघातिन्। राजपुरुष। विशाय। विशात। विजात। नयात। सुहित। दीन। विदग्ध। उचित। समग्र। शील। तत्पर। इदम्पर। यथातथा। पुरस्। पुनःपुनः। अभीक्ष्ण। तरतम। प्रकाम। यथाकाम। निष्कुल। स्वराज। महाराज। युवराज। सम्राज्। अविदूर। अपिशुन। अनृशंस। अयथातथ। अयथापुर। स्वधर्म। अनुकूल। परिमण्डल। विश्वरूप। ऋत्विज्। उदासीन। ईश्वर। प्रतिभू। साक्षिन्। मानुष। आस्तिक। नास्तिक। युगपद्। पूर्वाधर। उत्तराधर। आकृतिगणः।।

(गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः) गुणवचनों तथा ब्राह्मणादिगणपठित प्रातिपदिकों से (कर्मणि भावे च) कर्म तथा भाव अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ष्यञ्) ष्यञ् प्रत्यय हो जाता है।

अष्टाध्यायी में यहां से पूर्व केवल भाव में ही प्रत्यय विधान किये गये थे परन्तु अब यहां ष्यञ्प्रत्यय भाव और कर्म दोनों में विधान किया जा रहा है। **आ च त्वात्** (११५४) अधिकार के कारण त्व और तल् प्रत्यय भी भाव और कर्म दोनों में यहां हो जायेंगे। ष्यञ् के अनुबन्धों का लोप हो कर 'य' मात्र शेष रहता है—यह पीछे बताया जा चुका है।

उदाहरण यथा—

जडस्य भावः कर्म वा जाड्यम् (जड़ का भाव —जड़ता, जड़पना; अथवा जड़ का कर्म = क्रिया)। जडशब्द गुणवाची है अतः 'जड ङस्' से भाव या कर्म अर्थ में **गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च** (११६०) इस प्रकृतसूत्र से ष्यञ् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा सुँप् (ङस्) का भी लुक् हो कर—जड+य। अब **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदिवृद्धि एवं **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर नपुंसक के प्रथमैकवचन में विभक्तिकार्य करने से 'जाड्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]। अधिकृत होने से त्व और तल् भी हो जायेंगे—जडत्वम्, जडता। दृढादिगण में पाठ के कारण इमनिँच् भी हो जायेगा—जडिमा, परन्तु वह केवल भाव में ही होगा कर्म में नहीं। इसीप्रकार मूढस्य भावः कर्म वा मौढ्यम्, मूढत्वम्, मूढता। केवल भाव में दृढादित्वात् इमनिँच् हो कर 'मूढिमा' भी।

ब्राह्मणादियों से ष्यञ् का उदाहरण यथा—

ब्राह्मणस्य भावः कर्म वा ब्राह्मण्यम् (ब्राह्मण का भाव अर्थात् ब्राह्मणपना, अथवा ब्राह्मण का कर्म याग आदि)। ब्राह्मणशब्द ब्राह्मणादिगण का प्रथम शब्द है। अतः 'ब्राह्मण ङस्' इस षष्ठ्यन्त से भाव या कर्म अर्थ में **गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च** (११६०) सूत्र से ष्यञ् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा **यस्येतिच**लोप कर नपुंसक के प्रथमैकवचन में विभक्तिकार्य करने से 'ब्राह्मण्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। त्व और तल् के अधिकार के कारण 'ब्राह्मणत्वम्, ब्राह्मणता' ये दो रूप भी बनेंगे।

ब्राह्मणादियों से ष्यञ् के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) चोरस्य भावः कर्म वा—चौर्यम्, चोरत्वम्, चोरता।
(२) मूकस्य भावः कर्म वा—मौक्यम्, मूकत्वम्, मूकता।
(३) चपलस्य भावः कर्म वा—चापल्यम्, चपलत्वम्, चपलता।
(४) कुशलस्य भावः कर्म वा—कौशल्यम्, कुशलत्वम्, कुशलता।
(५) निपुणस्य भावः कर्म वा—नैपुण्यम्, निपुणत्वम्, निपुणता।

---

१. **जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यम्।** (नीतिशतक १९)

कर्म;आठ

५

(६) विदग्धस्य भावः कर्म वा—वैदग्ध्यम्, विदग्धत्वम्, विदग्धता ।
(७) दीनस्य भावः कर्म वा—दैन्यम्, दीनत्वम्, दीनता ।
(८) ईश्वरस्य भावः कर्म वा—ऐश्वर्यम्, ईश्वरत्वम्, ईश्वरता ।
(९) आस्तिकस्य भावः कर्म वा—आस्तिक्यम्, आस्तिकत्वम्, आस्तिकता ।
(१०) अधिपतेर्भावः कर्म वा—आधिपत्यम्, अधिपतित्वम्, अधिपतिता ।
(११) विषमस्य भावः कर्म वा—वैषम्यम्, विषमत्वम्, विषमता ।
(१२) नरपतेर्भावः कर्म वा—नारपत्यम्, नरपतित्वम्, नरपतिता ।

इसी तरह औदासीन्यम्, पौर्वापर्यम्, तात्पर्यम्, पौनःपुन्यम्, स्वातन्त्र्यम्, आलस्यम्, औचित्यम् (औचिती), आनुकूल्यम्, पैशुन्यम्, आनृशंस्यम्, यौगपद्यम् इत्यादि ष्यञ्प्रत्ययान्त समझ लेने चाहियें ।

आकृतिगणोऽयम् । ब्राह्मणादिगण को आकृतिगण माना गया है । अर्थात् लोक में शिष्टप्रयोगों में जहां ष्यञ् प्रयुक्त हुआ मिले और उस का विधायक कोई सूत्र या वचन न हो तो उसे भी ब्राह्मणादियों में परिगणित कर लेना चाहिये ।

अब भाव और कर्म अर्थों में सखिशब्द से 'य' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११६१) सख्युर्यः ।५।१।१२५।।

(षष्ठ्यन्तात् सखिप्रातिपदिकात् कर्मणि भावे च तद्धितो यः प्रत्ययः स्यात्) । सख्युर्भावः कर्म वा सख्यम् ।।

अर्थः—षष्ठ्यन्त सखि (मित्र) प्रातिपदिक से भाव और कर्म अर्थों में तद्धित-सञ्ज्ञक 'य' प्रत्यय हो ।

व्याख्या—सख्युः ।५।१। यः ।१।१। **तस्य भावस्त्वतलौ** (११५३) से 'तस्य भावः' का तथा **गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च** (११६०) से 'कर्मणि' का अनुवर्त्तन होता है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अनुवर्त्तित 'भावः' को सप्तम्यन्ततया विपरिणत कर 'भावे' बना लिया जाता है । अर्थः—(तस्य=षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त (सख्युः प्रातिपदिकात्) 'सखि' प्रातिपदिक से (भावे कर्मणि च) भाव और कर्म अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (यः) 'य' प्रत्यय हो जाता है । यह प्रत्यय न तो ञित्-णित् है और न ही कित्, अतः इस के परे रहते अङ्ग को आदिवृद्धि नहीं होती ।

उदाहरण यथा—

सख्युर्भावः कर्म वा **सख्यम्** (मित्रता, मित्रपना, मैत्री; अथवा मित्र का कर्म) । 'सखि ङस्' यहां षष्ठ्यन्त सखिप्रातिपदिक से भाव या कर्म अर्थ में प्रकृत **सख्युर्यः** (११६१) सूत्र से 'य' प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् एवं **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक इकार का लोप करने पर नपुंसक के प्रथमैकवचन में विभक्तिकार्य कर लेने से 'सख्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[1] त्व और तल् के अधिकृत (११५४) होने से 'सखित्वम्' और

१. **दुर्जनेन समं सख्यं प्रीतिं चापि न कारयेत् ।**
उष्णो दहति चाङ्गारः शीतः कृष्णायते करम् ।। (हितोप० १.८०)
समानशीलव्यसनेषु सख्यम् ।। (पञ्चतन्त्र १ ३०५)

ढक् [एय]

'सखिता' भी बनेंगे ।

अब भाव-कर्म अर्थों में कपि (वानर) और ज्ञाति (बन्धु) प्रातिपदिकों से ढक् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११६२) कपि-ज्ञात्योर्ढक् ।५।१।१२६।।**

(षष्ठ्यन्ताभ्यां कपि-ज्ञातिप्रातिपदिकाभ्यां भावे कर्मणि च तद्धितो ढक् प्रत्ययः स्यात्) । कापेयम् । ज्ञातेयम् ।।

अर्थः—षष्ठ्यन्त कपि और ज्ञाति प्रातिपदिकों से भाव और कर्म अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक ढक् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—कपिज्ञात्योः ।६।२। ढक् ।१।१। 'भावे' और 'कर्मणि' का पीछे से अनुवर्त्तन हो रहा है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । कपिश्च ज्ञातिश्च कपिज्ञाती, तयोः=कपिज्ञात्योः, इतरेतरद्वन्द्वः । यहां पञ्चमी के अर्थ में षष्ठी का प्रयोग प्राचीन वैयाकरणों के अनुकरण के कारण किया गया है अथवा किसी प्राचीन व्याकरण का यह सूत्र पाणिनि ने यथावत् उद्धृत कर लिया है । अर्थः—(तस्य=षष्ठ्यन्ताभ्याम्) षष्ठ्यन्त (कपिज्ञात्योः=कपिज्ञातिभ्याम्) 'कपि' और 'ज्ञाति' प्रातिपदिकों से (भावे कर्मणि च) भाव और कर्म अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (ढक्) ढक् प्रत्यय हो जाता है ।

ढक् में ककार अनुबन्ध **किति च** (१००१) द्वारा आदिवृद्धि करने के लिये जोड़ा गया है । ढक् के आदि ढकार को **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) द्वारा एय् आदेश हो जाता है ।

कपि और ज्ञाति यद्यपि दो प्रातिपदिक हैं और इधर भाव और कर्म दो अर्थ भी हैं तथापि इन में यथासंख्य नहीं होता, क्योंकि ऐसा मानना प्रकरण और लोक के सर्वथा विरुद्ध है । व्याकरण का कार्य शिष्टप्रयोगों का साधुत्व प्रदर्शन करना होता है न कि नये नये प्रयोगों वा अर्थों का घड़ना । अतः दोनों अर्थों में ही दोनों प्रातिपदिकों से ढक् होगा । उदाहरण यथा—

कपेर्भावः कर्म वा कापेयम् (कपि का भाव अर्थात् वानरपना या वानर का कर्म अनुकरणशीलता आदि) । यहां 'कपि ङस्' से भाव या कर्म अर्थ में प्रकृत **कपिज्ञात्योर्ढक्** (११६२) सूत्र से ढक् प्रत्यय, अनुबन्ध ककार का लोप, सुँब्लुक्, **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) से प्रत्यय के आदि ढकार को एय् आदेश, **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक इकार का लोप करने से—काप् एय् अ=कापेय । अब नपुंसक के प्रथमैकवचन में सुँप्रत्यय ला कर उसे अम् आदेश (२३४) तथा **अमि पूर्वः** (१३५) से पूर्वरूप एकादेश करने पर 'कापेयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[1]

ज्ञातेर्भावः कर्म वा ज्ञातेयम् (बन्धुता या बन्धु का कर्म) । यहां भी 'ज्ञाति ङस्'

---

१. **एतदप्यस्य कापेयं यदर्कमुपतिष्ठति** (महाभाष्य १.३.२५) । अर्थः—यह इस का वानरभाव (अन्धानुकरणशीलता) है जो यह सूर्योपस्थान सा कर रहा है ।

यक्

से पूर्ववत् भाव या कर्म में ढक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, ढ् को एय् आदेश, पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिन्याय से आदिवृद्धि तथा अन्त में **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक इकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'ज्ञातेयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

अब कुछेक प्रातिपदिकों से भाव-कर्म में यक् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११६३)**

पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् ।५।१।१२७॥

(षष्ठ्यन्तेभ्यः पत्यन्तेभ्यः पुरोहितादिभ्यश्च भावे कर्मणि च यक् तद्धितः स्यात्) । **सैनापत्यम्** । **पौरोहित्यम्** ॥

अर्थः—पत्यन्त एवं पुरोहितादि षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से भाव और कर्म अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक यक् प्रत्यय हो।

व्याख्या—पत्यन्त-पुरोहितादिभ्यः ।५।३। यक् ।१।१। यहां **तस्य भावस्त्वतलौ** (११५३) सूत्र से 'तस्य' और 'भावः' पदों का तथा **गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च** (११६०) सूत्र से 'कर्मणि च' पदों का अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—पतिः (पतिशब्दः) अन्तः (अन्तावयवः) येषां तानि पत्यन्तादीनि, बहुव्रीहिसमासः। पुरोहितः (पुरोहितशब्दः) आदिर्येषां तानि पुरोहितादीनि, बहुव्रीहिसमासः। पत्यन्तानि च पुरोहितादीनि च पत्यन्तपुरोहितादीनि (प्रातिपदिकानि)। तेभ्यः = पत्यन्तपुरोहितादिभ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः। अनुवर्त्तित 'भावः' को सप्तम्यन्ततया विपरिणत कर 'भावे' बना लिया जाता है। अर्थः—(तस्य = षष्ठ्यन्तेभ्यः) षष्ठ्यन्त (पत्यन्त-पुरोहितादिभ्यः) पतिशब्दान्त एवं पुरोहितादि प्रातिपदिकों से (भावे कर्मणि च) भाव और कर्म अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (यक्) यक् प्रत्यय हो जाता है।

यक् में ककार अनुबन्ध है जो आदिवृद्धि के लिये जोड़ा गया है।

पत्यन्तों से यक् का उदाहरण यथा—

सेनायाः पतिः सेनापतिः, षष्ठीतत्पुरुषः। सेनापतेर्भावः कर्म वा **सैनापत्यम्** (सेनापति का भाव या सेनापति का कर्म)। 'सेनापति' शब्द के अन्त में 'पति' शब्द विद्यमान है अतः यह पत्यन्त प्रातिपदिक है। 'सेनापति ङस्' इस षष्ठ्यन्त से भाव या कर्म अर्थ में **पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्** (११६३) सूत्र से यक् प्रत्यय, ककार अनुबन्ध का लोप, तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक्, **किति च** (१००१) द्वारा आदिवृद्धि से एकार को ऐकार तथा अन्त में **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक इकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'सैनापत्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार—गृहपतेर्भावः कर्म वा गार्हपत्यम्। प्रजापतेर्भावः कर्म

---

१. **एष प्रावृषिजाम्भोदनादी भ्राता विरौति ते।**
ज्ञातेयं कुरु सौमित्रे ! भयात् त्रायस्व राघवम् ॥ (भट्टि० ५.५४)

वा प्राजापत्यम् ।[१]

पुरोहितादि एक गण है ।[२] पुरोहितादि से यक् का उदाहरण यथा—

पुरोहितस्य भावः कर्म वा पौरोहित्यम् (पुरोहितपना या पुरोहिताई) । पुरोहित-शब्द पुरोहितादिगण का प्रथम शब्द है । अतः 'पुरोहित ङस्' इस षष्ठ्यन्त से भाव या कर्म अर्थ में प्रकृत **पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्** (११६३) सूत्र से यक् प्रत्यय, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि से उकार को औकार तथा अन्त में **यस्येति च** लोप कर विभक्ति लाने से 'पौरोहित्यम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[३]

इसीप्रकार—राज्ञो भावः कर्म वा राज्यम् (राजपना या राजा का कर्म) ।[४] **ये चाऽभावकर्मणोः** (१०२३) सूत्र में 'अभावकर्मणोः' कहा गया है अतः भाव-कर्म में प्रकृति-भाव नहीं होता, **नस्तद्धिते** (९१९) से भसंज्ञक टि (अन्) का लोप हो जाता है ।[५]

---

१. यहां यह विशेषतः ध्यातव्य है कि पत्यन्त होते हुए भी अधिपति, धनपति, गणपति और नरपति शब्दों से यक् नहीं होता । कारण कि इन का ब्राह्मणादियों में पाठ किया गया है अतः **गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च** (११६०) से ष्यञ् ही होता है । ष्यञ् और यक् में रूपसिद्धि तो एक जैसी होती है किन्तु स्वर में अन्तर पड़ता है (यदि कहीं स्त्रीत्व विवक्षित होगा तो उस में भी अन्तर पड़ सकता है) ।

२. पुरोहितादिगण यथा—
पुरोहित । **राजाऽसे** (गणसूत्रम्) । संग्रामिक (ग्रामिक) । पिण्डिक । सुहित । बाल । मन्द (बालमन्द) । खण्डिक । दण्डिक । वर्मिक (वर्मित) । कर्मिक । धर्मिक । शिलिक (शीलिक) । सूतिक । मूलिक । तिलक (तिलिका) । अञ्जलिक । अञ्ज-निक (अञ्जतिका) । ऋषिक (रूपिक) । पुत्रिक (पुत्रक) । अविक । छत्रिक । पर्षिक । पथिक (पथिका) । चर्मिक । प्रतिक । सारथि (सारथिक) । आस्तिक । सूचिक । संरक्ष । सूचक (संरक्षसूचक) । नास्तिक । अजानिक । शाक्वर (राक्वर) । नागर । चूडिक । एषिक । मिलिक । स्तनिक । चूडितिक । कृषिक । पूतिक । पत्रिक । सलनिक । पक्षिक । जलिक । शर्मिक । तिथिक । प्रचिक । प्रविक । परीक्षक (परिक्षक) । पूजनिक । मूचिक । स्वरिक ।

३. **नरकाय मतिस्ते चेत् पौरोहित्यं समाचर ।**
वर्षं यावत् किमन्येन मठचिन्तां दिनत्रयम् ॥ (पञ्चतन्त्र २.७०)

४. **स राज्यं गुरुणा दत्तं प्रतिपद्याधिकं बभौ ।**
दिनान्ते निहितं तेजः सवित्रेव हुताशनः ॥ (रघु० ४.१)
राज्ञः कर्म राज्यं प्रजापालनात्मकमिति मल्लिनाथः ।

५. पुरोहितादिगण में **राजाऽसे** (असमास में ही राजन्शब्द पुरोहितादियों में गिना जाना चाहिये) यह एक गणसूत्र आया है । अतः असमास अवस्था में ही इस से यक् प्रत्यय होता है । समासावस्था में ब्राह्मणादित्वात् इस से ष्यञ् (११६०) होता है । यथा—सुराज्ञो भावः कर्म वा सौराज्यम् । यौवराज्यम् । माहाराज्यम् । आधि-राज्यम् । इत्यादि ।

अभ्यास [११]

(१) निम्नस्थ स्थलों की अपने शब्दों में व्याख्या करें—

[क] क्रिया चेदिति किम् ? गुणतुल्ये मा भूत् ।

[ख] प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारो भावः ।

[ग] त्वान्तं क्लीबम् ।

[घ] अपवादैः सह समावेशार्थमिदम् ।

[ङ] चकारो नञ्स्नञ्भ्यामपि समावेशार्थः ।

[च] वावचनम् अणादिसमावेशार्थम् ।

[छ] यद्-य-ढग्-यग्-अञ्-अण्-वुञ्-छाश्च ।

(२) निम्नस्थ प्रयोगों की ससूत्र सिद्धि प्रदर्शित करें—

१. सैनापत्यम् । २. कापेयम् । ३. सख्यम् । ४. जाड्यम् । ५. ब्राह्मण्यम् । ६. दार्ढ्यम्-द्रढिमा । ७. प्रथिमा-पार्थवम् । ८. ब्राह्मणवदधीते । ९. मथुरावत् स्रुघ्ने प्राकारः । १०. गोत्वम् । ११. पौंस्नम्-पुंस्त्वम् । १२. पौरोहित्यम् । १३. शौक्ल्यम्-शुक्लिमा ।

(३) निम्नस्थ विग्रहों में तद्धितान्त रूप निर्दिष्ट करें—

१. स्त्रिया भावः । २. पुंसो भावः । ३. मृदोर्भावः । ४. मूढस्य भावः कर्म वा । ५. ज्ञातेर्भावः कर्म वा । ६. राज्ञो भावः कर्म वा । ७. बहोर्भावः । ८. गुरोर्भावः । ९. क्षुद्रस्य भावः । १०. ह्रस्वस्य भावः ।

(४) निम्नस्थ सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—

१. र ऋतो हलादेर्लघोः । २. गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च । ३. वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् च । ४. आ च त्वात् । ५. तत्र तस्येव । ६. तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः । ७. तस्य भावस्त्वतलौ । ८. इगन्ताच्च लघुपूर्वात् । ९. पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा । १०. पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् । ११. टेः ।

(५) भावे ष्यञ्प्रत्ययान्त एवम् इमनिच्प्रत्ययान्त कोई से दस प्रयोग लिखिये ।

(६) निम्नस्थ प्रश्नों के समुचित उत्तर दीजिये—

[क] षडेतान् रविधौ स्मरेत्—वे छः कौन कौन से हैं ?

[ख] ष्यञ् को षित् करने का क्या प्रयोजन है ?

[ग] स्त्रीवत् क्रन्दति—यहां नञ्प्रत्यय क्यों नहीं होता ?

[घ] त्व, तल्, ष्यञ् और इमनिच् प्रत्ययान्त शब्द किस किस लिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं ?

(७) निम्नस्थ विग्रहों में कौन सा तद्धित प्रत्यय करना उचित होगा ।

१. राज्ञो भावः कर्म वा । २. सुराज्ञो भावः कर्म वा ।

(८) पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वान्महानसवत्—यहां क्रिया के अभाव में वतिँ-प्रत्यय कैसे उपपन्न हो सकता है ?

[लघु०] इति त्वतलोरधिकारः ।।

(यहां त्व और तल् प्रत्ययों के अधिकार का विवेचन समाप्त होता है।)

———:o:———

अथ भवनाद्यर्थकाः

अब अष्टाध्यायी के पञ्चमाध्याय के द्वितीयपादस्थ तद्धित प्रत्ययों का विवेचन प्रारम्भ हो रहा है। इस पाद के प्रत्ययों को दो भागों में बांटा जा सकता है। जहां प्रथम भाग में भवन (उत्पत्तिस्थान) आदि विविध अर्थों में अनेक प्रत्ययों का वर्णन है वहां इसके द्वितीय भाग में मत्वर्थीय प्रत्ययों का सुव्यवस्थित प्रकरण है। कौमुदीकार भी इन दोनों का इसी क्रम से वर्णन करते हुए प्रथम भवनाद्यर्थक प्रत्ययों को प्रस्तुत करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्--(११६४)

धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् ।५।२।१।।

भवत्यस्मिन्निति भवनम् । (धान्यानां भवने क्षेत्रेऽर्थे षष्ठ्यन्तेभ्यो धान्यविशेषवाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यस्तद्धितः खञ् प्रत्ययः स्यात्) । मुद्गानां भवनं क्षेत्रम् मौद्गीनम् ।।

अर्थः—धान्यों के उत्पत्तिस्थान क्षेत्र अर्थ में धान्य-विशेष के वाचक षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से तद्धितसञ्ज्ञक खञ् प्रत्यय हो।

व्याख्या—धान्यानाम् ।६।३। भवने ।७।१। क्षेत्रे ।७।१। खञ् ।१।१। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। भवति=जायते=उत्पद्यते अस्मिन्निति भवनम्। यहां उत्पत्त्यर्थक भूधातु से अधिकरण में **करणाधिकरणयोश्च** (३.३.११७) सूत्रद्वारा ल्युट् प्रत्यय हो कर 'भवन' शब्द निष्पन्न होता है। इस का अर्थ है—जिस में उत्पन्न होता है अर्थात् उत्पत्तिस्थान। 'धान्यानाम्' में कृद्योगे कर्त्ता में षष्ठी समझनी चाहिये। 'भवने' पद 'क्षेत्रे' का विशेषण है। इस प्रकार 'धान्यविशेषों के उत्पत्तिस्थान खेत' अर्थ में यह प्रत्यय विधान किया जा रहा है। किस समर्थविभक्ति से यह प्रत्यय हो ? इस के लिये यहां गृहीत 'धान्यानाम्' के कारण षष्ठ्यन्त धान्यविशेषवाचकों से ही इस प्रत्यय का विधान माना जाता है। अर्थः—(धान्यानाम्=षष्ठ्यन्तेभ्यो धान्यविशेषवाचिभ्यः) धान्यविशेषवाची षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से (भवने क्षेत्रे) उन के उत्पत्तिस्थान खेत अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (खञ्) खञ् प्रत्यय हो जाता है।

खञ् में ञकार अनुबन्ध **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) द्वारा आदिवृद्धि करने के लिये जोड़ा गया है। 'ख' के आदि वर्ण खकार को **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) से ईन् आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—

मुद्गानां भवनं क्षेत्रम्—मौद्गीनम् (मूंगधान्य का उत्पत्तिस्थान खेत)। यहां 'मुद्ग आम्' इस धान्यविशेषवाची षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से 'उत्पत्तिस्थान क्षेत्र' इस अर्थ में प्रकृत **धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्** (११६४) सूत्र से खञ् प्रत्यय, ञकार अनुबन्ध का लोप, तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण सुँप् (आम्) का लुक्, प्रत्यय के आदि खकार को **आयनेयीनीयियः**० (१०१३) से ईन् आदेश तथा **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) सूत्रद्वारा आदिवृद्धि करने पर—'मौद्ग+ईन् अ=मौद्ग+ईन' हुआ। अब **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'मौद्गीनम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

(१) गोधूमानां भवनं क्षेत्रं गौधूमीनम् (गेहूं का खेत)।

(२) कुलत्थानां भवनं क्षेत्रं कौलत्थीनम् (कुल्थी का खेत)।

(३) कोद्रवाणां भवनं क्षेत्रं कौद्रवीणम् (कोदों का खेत)।

(४) नीवाराणां भवनं क्षेत्रं नैवारीणम् (स्वांक चावलों का खेत)।

(५) सर्षपाणां भवनं क्षेत्रं सार्षपीणम् (सरसों का खेत)।

स्कन्दपुराण में धान्यों के अठारह प्रकार गिनाये गये हैं—

यव-गोधूम-धान्यानि तिलाः कङ्गु-कुलत्थकाः।
माषा मुद्गा मसूराश्च निष्पावाः श्याम-सर्षपाः॥
गवेधुकाश्च नीवारा आढक्यश्च सतीनकाः।
चणकाश्चीणकाश्चैव धान्यान्यष्टादशैव तु॥

सूत्र में 'धान्यानाम्' इस बहुवचननिर्देश से यह सूचित होता है कि यहां धान्य-शब्द से स्वरूप का ग्रहण अभीष्ट नहीं, धान्यविशेषवाचकों से ही प्रत्यय करना वाञ्छित है। किञ्च 'धान्यानाम्' कथन के कारण 'तृणानां भवनं क्षेत्रम्' इस अर्थ में खञ् प्रत्यय नहीं होता।

सूत्रगत 'भवन' शब्द से 'गृह=घर' अर्थ न समझ लिया जाये इसलिये 'क्षेत्रे' शब्द का प्रयोग किया गया है। अत एव 'मुद्गानां भवनं कुसूलम्' (मूंगधान्यों को रखने का कोठा) इस अर्थ में प्रत्यय नहीं होता। यहां यह विशेषतः ध्यातव्य है कि 'क्षेत्रे' कथन के कारण ही 'भवन' में भूधातु को उत्पत्त्यर्थक मान कर उस का अर्थ उत्पत्ति-स्थान किया जाता है।

लोक में इस समय भी धान्यविशेषों के उत्पत्तिस्थान के लिये ऐसे प्रयोग बहुधा पाये जाते हैं। जैसे जिस खेत में तिल बोये जाते हैं उसे प्रान्तीयभाषा में तिल-वाड़ा कहा जाता है।

अब धान्यविशेषवाची व्रीहि (चावल) और शालि (शालीधान्य) प्रातिपदिकों से खञ् के अपवाद ढक्प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११६५) व्रीहि-शाल्योर्ढक् ।५।२।२॥**

(षष्ठ्यन्ताभ्यां व्रीहि-शालि-प्रातिपदिकाभ्यां भवने क्षेत्रे तद्धितो ढक् प्रत्ययः स्यात्)। व्रैहेयम्। शालेयम्॥

अर्थः—षष्ठ्यन्त व्रीहि और शालि प्रातिपदिकों से उन के उत्पत्तिस्थान खेत अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक ढक् प्रत्यय हो।

व्याख्या—व्रीहि-शाल्योः ।६।२। ढक् ।१।१। 'भवने क्षेत्रे' पदों का पूर्वसूत्र से अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—व्रीहिश्च शालिश्च व्रीहिशाली, तयोः=व्रीहिशाल्योः। इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(व्रीहिशाल्योः=षष्ठ्यन्ताभ्यां व्रीहिशालिभ्याम्) षष्ठ्यन्त व्रीहि और शालि प्रातिपदिकों से (भवने क्षेत्रे) उन के उत्पत्तिस्थान खेत अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ढक्) ढक् प्रत्यय हो जाता है। यह पूर्वोक्त खञ् प्रत्यय का अपवाद है।

ढक् में ककार अनुबन्ध **किति च** (१००१) सूत्रद्वारा आदिवृद्धि करने के लिये जोड़ा गया है। 'ढ' प्रत्यय के आदि वर्ण ढकार के स्थान पर **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) से एय् आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—

व्रीहीणां भवनं क्षेत्रं व्रैहेयम् (चावलों का उत्पत्तिस्थान खेत)। यहां 'व्रीहि आम्' इस धान्यवाचक षष्ठ्यन्त से 'भवन क्षेत्र' अर्थ में **धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्** (११६४) से प्राप्त खञ् का बाध कर प्रकृत **व्रीहिशाल्योर्ढक्** (११६५) सूत्रद्वारा ढक् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) से प्रत्यय के आदि ढकार को एय् आदेश और **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि करने पर—'व्रैहि+एय् अ=व्रैहि+एय' हुआ। अब **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक इकार का लोप कर नपुंसक के प्रथमैकवचन में विभक्तिकार्य करने से 'व्रैहेयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

शालीनां भवनं क्षेत्रं शालेयम् (शाली चावलों का उत्पत्तिस्थान खेत)। यहां 'शालि+आम्' से प्रकृतसूत्रद्वारा ढक्, सुँब्लुक्, ढ् को एय् आदेश तथा **पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिन्याय** से आदिवृद्धि कर—शालि+एय। अब **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक इकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'शालेयम् प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अष्टाध्यायी के कुछ अन्य सूत्रों के अनुसार—

यवानां भवनं क्षेत्रम्—यव्यम्।[1]

तिलानां भवनं क्षेत्रम्—तिल्यं तैलीनं वा।[2]

माषाणां भवनं क्षेत्रम्—माष्यं माषीणं वा।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा 'हैयङ्गवीन' शब्द का निपातन करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११६६)

हैयङ्गवीनं सञ्ज्ञायाम् ।५।२।२३।।

---

१. **यव-यवक-षष्टिकाद्** यत् (५.२.३) इति यत्।

२. **विभाषा तिल-माषोमा-भङ्गाऽणुभ्यः** (५.२.४) इति वा यत्। पक्षे खञ्। एवमग्रेऽपि बोध्यम्।

ह्योगोदोहशब्दस्य हियङ्गुरादेशः, विकारेऽर्थे खञ् च निपात्यते। दुह्यते इति दोहः—क्षीरम्। ह्योगोदोहस्य विकारः—हैयङ्गवीनम् = नवनीतम्॥

अर्थः—विकार अर्थ में षष्ठ्यन्त ह्योगोदोह (गत कल को दुहा गया गो-दुग्ध[1]) शब्द से तद्धितसञ्ज्ञक खञ् प्रत्यय हो तथा 'ह्योगोदोह' शब्द के स्थान पर 'हियङ्गु' सर्वादेश भी हो।

व्याख्या—हैयङ्गवीनम् ।१।१। सञ्ज्ञायाम् ।७।१। अर्थः—(हैयङ्गवीनम्) 'हैयङ्गवीन' यह शब्दस्वरूप (संज्ञायाम्) सञ्ज्ञा में निपातन किया जाता है। लोक में यह शब्द उस ताजे घृत या नवनीत (माखन) का वाचक है जो कल के दुहे गोदुग्ध से बनाया गया हो। इस निपातन से यह सूचित होता है कि मुनिवर पाणिनि 'ह्योगोदोह' शब्द से 'तस्य विकारः' के अर्थ में खञ् प्रत्यय तथा प्रकृति (ह्योगोदोह) को 'हियङ्गु' आदेश का विधान कर रहे हैं। आदिवृद्धि, गुण आदि अन्य कार्य तो स्वतः सामान्य नियमों के अन्तर्गत सिद्ध हैं ही। तथाहि—

ह्योगोदोहस्य विकारो हैयङ्गवीनम्। 'ह्योगोदोह ङस्' इस षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से **हैयङ्गवीनं सञ्ज्ञायाम्** (११६६) इस निपातन के कारण विकार अर्थ में तद्धित खञ् प्रत्यय तथा प्रकृति को 'हियङ्गु' आदेश हो कर सुब्लुक् करने से 'हियङ्गु + ख' हुआ। अब **आयनेयीनीयियः**० (१०१३) सूत्र से खप्रत्यय के आदिवर्ण खकार को ईन् आदेश, **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदिवृद्धि एवम् **ओर्गुणः** (१००५) से भसञ्ज्ञक उकार को ओकार गुण करने से—हैयङ्गो + ईन। अन्त में **एचोऽयवायावः** (२२) सूत्रद्वारा ओकार को अव् आदेश कर विभक्ति लाने से 'हैयङ्गवीनम्' (कल के दुहे गोदुग्ध का विकार—माखन या घृत) प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

भाष्यकार तथा अमरकोषकार आदि ताजे गोघृत का नाम 'हैयङ्गवीनम्' बताते हैं।[2] परन्तु हरदत्त, भट्टोजिदीक्षित आदि इसे गौ के ताजे माखन का वाचक मानते हैं। इस का साहित्यगत प्रयोग यथा—

हैयङ्गवीनमादाय घोषवृद्धानुपस्थितान्।
नामधेयानि पृच्छन्तौ वन्यानां मार्गशाखिनाम्॥ (रघु० १.४५)

अब इस प्रकरण के एक सुप्रसिद्ध सूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११६७)

तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच् ।५।२।३६॥

---

१. दुह् (दोहना) धातु से **अकर्तरि च कारके सञ्ज्ञायाम्** (३.३.१९) सूत्रद्वारा कर्म में घञ् प्रत्यय करने पर 'दुह्यते इति दोहः (दुग्धम्)' इस प्रकार दुग्धवाची 'दोह' शब्द निष्पन्न होता है। गोर्दोहः—गोदोहः, षष्ठीतत्पुरुषसमासः। ह्यः (ह्यस्तनः) गोदोहः—ह्योगोदोहः (कल का दुहा गोदुग्ध), सुँप्सुँपासमासः।

२. **तत्तु हैयङ्गवीनं यद् ह्योगोदोहोद्भवं घृतम्** इत्यमरः।

सञ्जात

(प्रथमान्तेभ्यस्तारकादिभ्यः सञ्जातमस्य इत्यर्थे तद्धित इतच् प्रत्ययः स्यात्)। तारकाः सञ्जाता अस्य—तारकितं नभः। पण्डितः। आकृतिगणोऽयम् ॥

अर्थः—प्रथमान्त तारकाआदिगणपठित प्रातिपदिकों से 'सञ्जातमस्य' (उत्पन्न हो गया है इस का) इस अर्थ में तद्धितसंज्ञक इतच् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तत् ।५।३। (प्रथमान्त के अनुकरण 'तत्' से परे पञ्चमी के बहुवचन का सौत्र लुक् समझना चाहिये)। अस्य ।६।१। सञ्जातम् ।१।१। तारकादिभ्यः ।५।३। इतच् ।१।१। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। तारका (तारकाशब्दः) आदिर्येषां तानि तारकादीनि (प्रातिपदिकानि), तेभ्यः=तारकादिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः। तारकादि एक गण है जिस का प्रथम शब्द 'तारका' है।[1] अर्थः—(सञ्जातम्[2] अस्य इत्यर्थे) 'उत्पन्न हो गया है इस का' इस अर्थ में (तत्=प्रथमान्तेभ्यः) प्रथमान्त (तारकादिभ्यः) तारकादि प्रातिपदिकों से (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (इतच्) इतच् प्रत्यय हो जाता है।

इतच् प्रत्यय का अन्त्य चकार **हलन्त्यम्** (१) सूत्रद्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'इत' मात्र शेष रहता है। चकार अनुबन्ध **चितः** (६.१.१५७) द्वारा अन्तोदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है। उदाहरण यथा—

तारकाः संजाता अस्य (नभसः)—तारकितं नभः (तारे उत्पन्न हो गये हैं इस के, ऐसा आकाश)। यहां 'तारका जस्' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'सञ्जाता अस्य' (उत्पन्न हो गये हैं इस के) इस अर्थ में प्रकृत **तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्**

---

१. तारकादिगण यथा—

तारका। पुष्प। कर्णक। मञ्जरी। ऋजीष। क्षण। सूच (सूचक)। मूत्र। निष्क्रमण। पुरीष। उच्चार। प्रचार। विचार। कुड्मल (वड्मल)। कण्टक। मुसल। मुकुल। कुसुम। कुतूहल। स्तबक (स्तवक)। किसलय। पल्लव। खण्ड। वेग। निद्रा। मुद्रा। बुभुक्षा। धेनुष्या। पिपासा। श्रद्धा। अभ्र। पुलक। अङ्गारक। वर्णक। द्रोह। दोह। सुख। दुःख। उत्कण्ठा (उत्कण्ठ)। भर। व्याधि। वर्मन्। व्रण। गौरव। शास्त्र। तरङ्ग। तिलक। चन्द्रक (चन्द्र)। अन्धकार। गर्व। मुकुर (कुमुर)। हर्ष। उत्कर्ष। रण। कुवलय। गर्ध। क्षुध् (क्षुधा)। सीमन्त। ज्वर। गर। रोग। रोमाञ्च। पण्डा। कज्जल। तृष्। कोरक। कल्लोल। स्थपुट। फल। कञ्चुक। शृङ्गार। अङ्कुर। शैवल। बकुल। श्वभ्र। आराल। कलङ्क। कर्दम। कन्दल। मूर्च्छा। अङ्गार। हस्तक (हस्त)। प्रतिबिम्ब। विघ्नतन्त्र (विघ्न, तन्त्र)। प्रत्यय। दीक्षा। गर्ज। **गर्भादप्राणिनि** (गणसूत्रम्)। तन्द्रा। स्रवक। कर। आन्दोल। गोर। राग। आकृतिगणोऽयम् ॥

२. 'सञ्जातम्' में लिङ्ग और वचन अविवक्षित हैं। इसीतरह 'अस्य' में भी समझने चाहियें।

(११६७) सूत्र से तद्धितसञ्ज्ञक इतच् प्रत्यय, चकार अनुबन्ध का लोप तथा तद्धितान्त की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (जस्) का **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् हो जाता है—तारका+इत। अब **यचि भम्** (१६५) से भसञ्ज्ञा एवं **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक आकार का लोप कर विशेष्यानुसार नपुंसक के प्रथमैकवचन में विभक्तिकार्य करने से 'तारकितम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

पण्डा[1] सञ्जाता अस्य (पुरुषस्य)—पण्डितः पुरुषः (सत् और असत् का विवेक करने वाली बुद्धि उत्पन्न हो गई है जिस की, ऐसा पुरुष)। यहां 'पण्डा सुँ' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'सञ्जाता अस्य' के अर्थ में **तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्** (११६७) सूत्र से इतच् प्रत्यय, सुँब्लुक् तथा भसञ्ज्ञक आकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्ति लाने से 'पण्डितः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। **शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः**—(गीता ५.१८)।

तारकादि आकृतिगण है। गण में न पढ़े जाने पर भी लौकिक शिष्टप्रयोगों को देख कर इतच् की प्रवृत्ति समझ लेनी चाहिये।

तारकादियों से इतच् के कुछ अन्य उदाहरण—

(१) पुष्पाणि संजातानि अस्य—पुष्पितो वृक्षः।
(२) कुसुमानि संजातानि अस्याः—कुसुमिता लता।
(३) बुभुक्षा सञ्जाताऽस्य—बुभुक्षितो बालः।[2]
(४) पिपासा संजाताऽस्य—पिपासितः पुरुषः।
(५ पुलकाः संजाता अस्य—पुलकितं वपुः।
(६) व्याधिः संजातोऽस्य—व्याधितः पुरुषः।
(७) उत्कण्ठा सञ्जाताऽस्य—उत्कण्ठितो नरः।
(८) तरङ्गाः सञ्जाता अस्य—तरङ्गितः सागरः।
(९) विघ्नाः सञ्जाता अस्य—विघ्नितं कार्यम्।[3]
(१०) निद्रा सञ्जाताऽस्य—निद्रितो बालः।
(११) रोमाञ्चः संजातोऽस्य—रोमाञ्चितो देहः।
(१२) अभ्राणि[4] सजातान्यस्य—अभ्रितं नभः।
(१३) गर्वः सञ्जातोऽस्य—गर्वितो मूर्खः।[5]
(१४) कलङ्कः सञ्जातोऽस्याः—कलङ्किता युवतिः।

---

१. सदसद्विवेकशालिनी बुद्धिः पण्डा।

२. **बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते पिपासितैः काव्यरसो न पीयते।**
न छन्दसा केनचिदुद्धृतं कुलं हिरण्यमेवार्जय निष्फला गुणाः॥
(सुभाषितरत्नभाण्डागार)

३. **जहार सीतां पक्षीन्द्रप्रयासक्षणविघ्नितः।** (रघु० १२.५३)

४. **अभ्रं मेघो वारिवाहः स्तनयित्नुर्बलाहकः** इत्यमरः।

५. **कोऽर्थान् प्राप्य न गर्वितो विषयिणः कस्यापदोऽस्तं गताः।** (हितोप० २.१५३)

(१५) मूर्च्छा सञ्जाताऽस्य—मूर्च्छितः पुमान् ।
(१६) फलानि सञ्जातान्यस्य—फलितो द्रुमः ।
(१७) दुःखं सञ्जातमस्य—दुःखितो राजा ।
(१८) सुखं सञ्जातमस्य—सुखितः पुरुषः ।
(१९) तन्द्रा सञ्जाताऽस्य—तन्द्रितो नरः ।
(२०) दीक्षा सञ्जाताऽस्य—दीक्षितो ब्राह्मणः ।

अब प्रमाणवाचकों से प्रमेय का बोध कराने के लिये तीन प्रत्ययों का अवतरण करते हैं—

• [**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**११६८**)

प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः ।५।२।३७।।

तदस्येत्यनुवर्त्तते । (तत्प्रमाणमस्य इत्यर्थे प्रमाणे वर्त्तमानात् प्रथमान्तात् प्रातिपदिकाद् द्वयसच् दघ्नच् मात्रच् इत्येते त्रयस्तद्धिताः प्रत्ययाः स्युः) । ऊरू प्रमाणमस्य ऊरुद्वयसम्, ऊरुदघ्नम्, ऊरुमात्रम् ।।

अर्थः—प्रमाण में वर्त्तमान प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'वह प्रमाण है इस का' इस अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक द्वयसच्, दघ्नच् और मात्रच् प्रत्यय हों ।

व्याख्या—प्रमाणे ।७।१। द्वयसज्-दघ्नञ्-मात्रचः ।१।३। 'तद्, अस्य' इन दो पदों का **तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्** (११६७) सूत्र से अनुवर्त्तन होता है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—द्वयसच् च दघ्नच् च मात्रच् च द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(प्रमाणे) प्रमाण में वर्तमान (तत्=प्रथमान्तेभ्यः) प्रथमान्त प्रातिपदिकों से (अस्य इत्यर्थे) 'प्रमाण है इस का' इस अर्थ में (तद्धिताः) तद्धितसञ्ज्ञक (द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः) द्वयसच्, दघ्नच् और मात्रच् प्रत्यय हों ।

इस नदी में घुटने घुटने जल है, यहां ऊरु जितना जल है, यहां कन्धों कन्धों जल है—इत्यादिप्रकारेण जब जानु आदि प्रमाण (माप) द्वारा जल आदि प्रमेय का बोध कराना अभीष्ट होता है तब तत्तत्प्रमाण में प्रयुक्त शब्दों से इन प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है ।

द्वयसच्, दघ्नच् और मात्रच् इन तीनों का अन्त्य चकार इत् है । चकार अनुबन्ध **चितः** (६.१.१५७) द्वारा अन्तोदात्त स्वर के लिये जोड़ा गया है ।

उदाहरण यथा—

ऊरू प्रमाणम् अस्य—ऊरुद्वयसम् ऊरुदघ्नम् ऊरुमात्रं वा (ऊरु अर्थात् पट्ट है प्रमाण जिस का ऐसा नदीजल आदि) । यहां प्रमाण में प्रयुक्त 'ऊरु सुँ' इस प्रथमान्त से 'प्रमाण है इस का' इस अर्थ में प्रकृत **प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः** (११६८) सूत्रद्वारा द्वयसच्, दघ्नच् और मात्रच् प्रत्यय पर्याय से लाने पर अनुबन्ध चकार का लोप, सुँब्लुक् तथा विशेष्यानुसार नपुंसक में विभक्तिकार्य करने से 'ऊरुद्वयसम्, ऊरुदघ्नम्,

ऊरुमात्रम्' ये तीन प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। ऊरुद्वयसमस्या नद्या जलम् ऊरुदघ्नम् ऊरुमात्रं वा।

इसीप्रकार—

जानु प्रमाणमस्य—जानुद्वयसम्, जानुदघ्नम्,[1] जानुमात्रम् (घुटने जितना प्रमाण वाला जल आदि), नाभिः प्रमाणमस्याः—नाभिद्वयसी, नाभिदघ्नी, नाभिमात्री[2] (नाभि जितने प्रमाणवाली परिखा, भीत आदि)। सौधः प्रमाणमस्य—सौधद्वयसः, सौधदघ्नः, सौधमात्रः (महल जितना ऊँचा वृक्ष आदि)। अंसः प्रमाणमस्य—अंसद्वयसः, अंसदघ्नः, अंसमात्रः (कन्धे जितने प्रमाण वाला क्षुप आदि)।

नोट—प्रमाण (माप) कई प्रकार के होते हैं। कुछ प्रमाण दीवार, जल आदि ऊँची वस्तुओं को मापते हैं, कुछ प्रमाण पट, खेत आदि फैली वस्तुओं को और कुछ भार-वज़न आदि के परिमापक होते हैं। यहां किस प्रकार के मान में ये प्रत्यय हों? इस का समाधान महाभाष्य में इस तरह दिया गया है—

प्रथमश्च द्वितीयश्च ऊर्ध्वमाने मतौ मम ॥

अर्थात् प्रथम (द्वयसच्) और द्वितीय (दघ्नच्) प्रत्यय ऊँचाई के मान में ही प्रयुक्त होते हैं। जैसे 'जानुदघ्नं जानुद्वयसं वा जलम्' अर्थात् घुटने जितने ऊँचा जल है। परन्तु मात्रच् प्रत्यय सब प्रकार के मानों में प्रयुक्त होता है। यथा—जानुमात्रं जलम्, प्रस्थमात्रमन्नम्, हस्तमात्रः पटः, आदि। अतः किसी कपड़े के मापने में 'हस्तद्वयसः' या 'हस्तदघ्नः पटः' लिखना अशुद्ध है, इस के लिये मात्रच् का ही प्रयोग करना चाहिये।

अब परिमाण में वर्त्तमान यद्, तद् और एतद् शब्दों से प्रमेय का बोध कराने के लिये वतुँप् प्रत्यय का विधान करते हैं—

---

१. **कियन्मात्रं जलं विप्र ! जानुदघ्नं नराधिप !।**
तथापीयमवस्था ते, नहि सर्वे भवादृशाः ॥
यहां एक दन्तकथा प्रसिद्ध है कि एक बार किसी नदी के किनारे महाराज भोज ने किसी निर्धन फटेवस्त्र ब्राह्मण से पूछा—**कियन्मात्रं जलं विप्र** (हे ब्राह्मण! इस नदी का जल कितना गहरा है?) ब्राह्मण ने उत्तर दिया—**जानुदघ्नं नराधिप** (हे राजन्! इस का जल घुटने-प्रमाण है)। राजा ने ब्राह्मणद्वारा प्रयुक्त दघ्नच् प्रत्यय के प्रयोग से भांप लिया कि यह ब्राह्मण व्याकरणशास्त्र का अच्छा ज्ञाता है। तब उन्होंने उस से पुनः कहा—**तथापीयमवस्था ते** (तुझ जैसे विद्वान् की यह दुर्दशा!)। इस पर ब्राह्मण ने उत्तर दिया—**न हि सर्वे भवादृशाः** (राजन्! सब लोग आप जैसे विद्वत्पारखी नहीं होते अतः मेरी यह दुर्दशा है)।

२. जब विशेष्य स्त्रीलिङ्ग होता है तब द्वयसच्आदिप्रत्ययान्त शब्दों से स्त्रीत्व की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्-द्वयसज्-दघ्नञ्-मात्रच्-तयप्-ठक्-ठञ्-कञ्-क्वरपः** (१२५१) सूत्र से ङीप् प्रत्यय लाकर **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप हो जाता है।

वतुँप्

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**११६९**)

यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुँप् ।५।२।३९॥

('तत्परिमाणमस्य' इत्यर्थे परिमाणे वर्त्तमानेभ्यः प्रथमान्तेभ्यो यत्तदेतेभ्यस्तद्धितसञ्ज्ञो वतुँप् प्रत्ययः स्यात्) । यत् परिमाणमस्य यावान् । तावान् । एतावान् ॥

अर्थः—परिमाण में वर्त्तमान यद्, तद् और एतद्—इन प्रथमान्त प्रातिपदिकों से 'वह है परिमाण इस का' इस अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक वतुँप् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—यत्तदेतेभ्यः ।५।३। परिमाणे ।७।१। वतुँप् ।१।१। **तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्** (११६७) सूत्र से 'तदस्य' पदों का अनुवर्त्तन होता है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । यत् च तत् च एतच्च, तेभ्यः=यत्तदेतेभ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(परिमाणे) परिमाण में वर्त्तमान (तत्=प्रथमान्तेभ्यः) प्रथमान्त (यत्तदेतेभ्यः) यद्, तद् और एतद् प्रातिपदिकों से (अस्य इत्यर्थे) 'वह परिमाण है इस का' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (वतुँप्) वतुँप् प्रत्यय हो जाता है ।

वतुँप् में उकार और पकार इत् हैं, इतों का लोप हो कर 'वत्' मात्र शेष रहता है । उकार अनुबन्ध उगित्कार्यों के लिये तथा पकार **अनुदात्तौ सुँप्पितौ** (३.१.४) द्वारा अनुदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है । उदाहरण यथा—

यत् परिमाणमस्य—यावान् (जो परिमाण है इस का अर्थात् जितना) । परिमाण में वर्त्तमान 'यद् सुँ' इस प्रथमान्त यद् प्रातिपदिक से 'परिमाण है इस का' इस अर्थ में **यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुँप्** (११६९) सूत्र से वतुँप् प्रत्यय, उकार पकार अनुबन्धों का लोप, तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसंज्ञा कर सुँप् का लुक् करने से—यद्+वत् । अब **आ सर्वनाम्नः** (३४८) से वतुँप् के परे रहते यद् सर्वनाम के दकार को आकार आदेश तथा **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ करने पर 'यावत्' शब्द निष्पन्न होता है । यह शब्द विशेष्य के अनुसार लिङ्ग को धारण करता है । पुंलिङ्ग की विवक्षा में प्रथमा के एकवचन में सुँ प्रत्यय को ला कर **अत्वसन्तस्य चाऽधातोः** (३४३) से उपधादीर्घ, **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** (२८९) से नुँम् आगम (यावान्त्+स्), हल्ङ्यादिलोप (१७९) एवं संयोगान्तलोप (२०) कर देने से 'यावान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । स्त्रीत्व की विवक्षा में **उगितश्च** (१२५०) द्वारा ङीप् प्रत्यय हो कर विभक्तिकार्य करने से—यावती । नपुंसक में **स्वमोर्नपुंसकात्** (२४४) द्वारा सुँ का लुक् कर देने से—यावत् । यावत्, यावती, यावन्ति ।

इसीप्रकार—तत् परिमाणमस्य तावान् (पुं०) । स्त्रीलिङ्ग में—तावती, तावत्यौ, तावत्यः । नपुंसक में—तावत्, तावती, तावन्ति ।

एतत् परिमाणमस्य—एतावान् (पुं०) । स्त्रीलिङ्ग में—एतावती, एतावत्यौ, एतावत्यः । नपुंसक में—एतावत्, एतावती, एतावन्ति ।

इन के साहित्यगत कुछ प्रयोग यथा —

[क] **एतावानस्य महिमा**
अतो ज्यायांश्च पूरुषः ॥ (ऋग्वेद १०.६.३)

[ख] **एतावदुक्त्वा विरते मृगेन्द्रे**
प्रतिस्वनेनास्य गुहागतेन ।
शिलोच्चयोऽपि क्षितिपालमुच्चैः
प्रीत्या तमेवार्थमभाषतेव ॥ (रघु० २.५१)

[ग] **यावानर्थ उदपाने सर्वतः सम्प्लुतोदके ।**
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥ (गीता २.४६)

[घ] **स तावदभिषेकान्ते स्नातकेभ्यो ददौ वसु ।**
यावतैषां समाप्येरन् यज्ञाः पर्याप्तदक्षिणाः ॥ (रघु० १७.१७)

[ङ] **पुरे तावन्तमेवास्य तनोति रविरातपम् ।**
दीर्घिकाकमलोन्मेषो यावन्मात्रेण साध्यते ॥ (कुमार० २.३३)

[च] **यावता सम्भवेद् वृद्धिस्तावतीं दातुमर्हति ॥** (मनु० ८.१५५)

अब परिमाण में वर्त्तमान किम् और इदम् प्रातिपदिकों से प्रकारान्तरेण घतुँप् प्रत्यय का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११७०) किमिदम्भ्यां वो घः ।५।२।४०॥**

आभ्यां वतुँप्, वकारस्य घश्च ॥

अर्थः—परिमाण में वर्त्तमान किम् और इदम् इन प्रथमान्त प्रातिपदिकों से 'वह है परिमाण इस का' इस अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक वतुँप् प्रत्यय हो तथा वतुँप् के वकार को घकार आदेश भी हो ।

व्याख्या—किमिदम्भ्याम् ।५।२। वः ।६।१। घः ।१।१। (घकारादकार उच्चारणार्थः) । परिमाणे ।७।१। वतुँप् ।१।१। (**यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुँप्** सूत्र से) । **तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्** (११६७) सूत्र से 'तदस्य' पदों का अनुवर्त्तन होता है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(परिमाणे) परिमाण में वर्त्तमान (किमिदम्भ्याम्) किम् और इदम् (तत् = प्रथमान्ताभ्याम्) प्रथमान्त प्रातिपदिकों से (अस्य इत्यर्थे) 'वह है परिमाण इस का' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (वतुँप्) वतुँप् प्रत्यय हो तथा उस के (वः) वकार के स्थान पर (घः) घ् आदेश भी हो ।

पूर्ववत् वतुँप् का 'वत्' मात्र शेष रहता है । वत् के वकार को घकार आदेश हो कर 'घत्' बन जाता है । पुनः **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) सूत्र से घत् के आदि घ् को इय् आदेश हो कर—'इय् अत् = इयत्' प्रत्यय बन जाता है ।

किम् से वतुँप् का उदाहरण यथा —

किम् परिमाणमस्य—कियान् (क्या है परिमाण इस का अर्थात् कितना, How much)। यहां परिमाण में वर्त्तमान 'किम् सुँ' इस प्रथमान्त से **किमिदम्भ्यां वो घः** (११७०) इस प्रकृतसूत्रद्वारा 'वह परिमाण है इस का' इस अर्थ में वतुँप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा वतुँप् के आदि वकार को घकार आदेश कर सुँप् का लुक् करने से—किम्+घत्। अब **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) से घत् प्रत्यय के आदि वर्ण घ् को इय् आदेश हो जाता है—किम्+इयत्। इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११७१) इदंकिमोरीश्की ।६।३।८९॥

दृग्दृशवतुँषु इदम ईश्, किमः की स्यात्। कियान्। इयान्॥

अर्थः—दृक् दृश या वतुँ परे हो तो इदम् के स्थान पर 'ईश्' तथा किम् के स्थान पर 'की' सर्वादेश हो।

व्याख्या—इदंकिमोः ।६।२। ईश्-की इति लुप्तप्रथमाद्विवचनान्तं रूपम्। दृग्दृशवतुँषु ।७।३। (**दृग्दृशवतुँषु** सूत्र से)। ईश् च की च ईश्की, इतरेतरद्वन्द्वे सौत्रत्वाद्विभक्तेर्लुक्। अथवा 'ईश्, की' इत्येवं द्वे पदे बोध्ये। अर्थः—(दृग्दृशवतुँषु) दृक्, दृश या वतुँ परे हो तो (इदंकिमोः) इदम् और किम् के स्थान पर (ईश्की) 'ईश्' और 'की' ये आदेश हो जाते हैं।

यथासंख्यमनुदेशः समानाम् (२३) से इदम् के स्थान पर 'ईश्' तथा किम् के स्थान पर 'की' आदेश होगा। ईश् में शकार इत् है अतः शित्त्व के कारण **अनेकाल्शित्सर्वस्य** (४५) सूत्रद्वारा यह आदेश इदम् शब्द के स्थान पर सर्वादेश होगा। 'की' आदेश भी अनेकाल् होने से किम् के स्थान पर सर्वादेश होगा।

'किम्+इयत्' यहां **एकदेशविकृतमनन्यवत्**न्याय के अनुसार वतुँ के परे रहते प्रकृत **इदंकिमोरीश्की** (११७१) सूत्र से 'किम्' के स्थान पर 'की' सर्वादेश हो कर—'की+इयत्' हुआ। अब **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक ईकार का लोप करने से 'क्+इयत्=कियत्' शब्द निष्पन्न होता है।[1] पुं० की विवक्षा में प्रथमा के एकवचन में इस से परे सुँ ला कर उगधादीर्घ (३४३), नुँम् का आगम (२८९), हल्ङ्यादिलोप तथा अन्त में संयोगान्तलोप (२०) कर देने से 'कियान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[2] धीमत् शब्द के समान इस की पुंलिङ्ग में रूपमाला चलती है—कियान्, कियन्तौ,

१. 'की' आदेश में ईकार रखने का यद्यपि यहां सर्वादेश के सिवाय अन्य कोई उपयोग नहीं तथापि दृक् और दृश में क्रमशः कीदृश् और कीदृश बनाने में इस का उपयोग स्पष्ट है।

२. कियत् शब्द का साहित्यगत प्रयोग यथा—

धिगस्तु तृष्णातरलं भवन्मनः समीक्ष्य पक्षान्मम हेमजन्मनः।
तवार्णवस्येव तुषारशीतलैर्भवेदमीभिः कमलोदयः कियान्॥

(नैषध० १.१३०)

कियन्तः । स्त्रीत्व की विवक्षा में **उगितश्च** (१२५०) से ङीप् हो कर कियती, कियत्यौ, कियत्यः । नदीवत् । नपुंसक में 'कियत्, कियती, कियन्ति' शकृत्शब्दवत् ।

इदम् से वतुँप् का उदाहरण यथा—

इदं प्रमाणमस्य—इयान् (यह है परिमाण इस का अर्थात् इतना) । यहां 'इदम् सुँ' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'वह है परिमाण इस का' इस अर्थ में **किमिदम्भ्यां वो घः** (११७०) सूत्र से वतुँप् प्रत्यय तथा साथ ही उस के वकार को घकार आदेश हो कर **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् का लुक् हो जाता है—इदम् + घत् । अब **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) से घ् को इय् आदेश एवम् **इदंकिमोरीश्की** (११७१) द्वारा इदम् को ईश् सर्वादेश करने पर 'ई + इयत्' इस स्थिति में **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक ईकार का लोप करने से 'इयत्' शब्द निष्पन्न हो जाता है । पुनः इस से पूर्ववत् पुंलिङ्ग में विभक्तिकार्य करने से—इयान्, इयन्तौ, इयन्तः । स्त्रीलिङ्ग में ङीप् (१२५०) कर—इयती, इयत्यौ, इयत्यः । नपुंसक में इयत्, इयती, इयन्ति ।

विशेष वक्तव्य—इयत् शब्द की सिद्धि में 'इदम्' प्रकृति को प्रथम ईश् (ई) आदेश हो पुनः उस का भी **यस्येति च** (२३६) द्वारा लोप करने से केवल प्रत्ययमात्र 'इयत्' ही शेष रह जाता है, प्रकृति का कहीं नामोनिशान नहीं रहता । इस प्रकृति-लयता तथा प्रत्ययमात्र की अवशिष्टतारूप सादृश्य को ले कर एक चमत्कारपूर्ण प्राचीन पद्य बहुधा उद्धृत किया जाता है—

> **उदितवति परस्मिन् प्रत्यये शास्त्रयोनौ**
> **गतवति विलयं च प्राकृतेऽपि प्रपञ्चे ।**
> **सपदि पदमुदीतं केवलः प्रत्ययो यत्**
> **तदियदिति मिमीते को हृदा पण्डितोऽपि ।।** (प्रौढमनोरमा)

यह मालिनी छन्द है । श्लेषद्वारा व्याकरण और वेदान्त दोनों पक्षों में इस का अर्थ किया जाता है । तथाहि—

व्याकरणपक्ष में—व्याकरणप्रक्रिया के अनुसार प्रकृति से परे प्रत्यय ला कर जब सम्पूर्ण प्रकृति का लोप हो एक ऐसा पद उत्पन्न हो जाता है जो केवल प्रत्ययमात्र ही होता है, तो वह पद 'इयत्' ही है इसे पण्डित होता हुआ भी कौन हृदय से पहचान पाता है ?

वेदान्तपक्ष में—शास्त्राभ्यासद्वारा जब पराकोटि ज्ञान का उदय हो कर प्रकृति (माया) का सम्पूर्ण जञ्जाल छिन्नभिन्न हो जाता है तब एक ऐसा पद उत्पन्न हो जाता है जो केवल ज्ञानमात्र ही होता है । वह इतना है अर्थात् उस की इयत्ता का कौन पण्डित पुरुष भी हृदय से अनुमान कर सकने में समर्थ हो सकता है ?

अब अवयवपरक संख्यावाचकों से अवयवी का बोध कराने के लिये तयप् प्रत्यय का विधान करते हैं—

अवयव
२७४
(सम्हूह)
तयप्

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११७२)

संख्याया अवयवे तयप् ।५।२।४२।।

[अवयवे वर्त्तमानात् संख्यावाचकात् प्रथमान्तात् प्रातिपदिकाद् अस्येत्यर्थे तद्धितस्तयप् प्रत्ययः] । पञ्च अवयवा अस्य—पञ्चतयम् ।।

अर्थः—अवयव में वर्त्तमान संख्यावाचक प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'अवयव हैं इस के' इस अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक तयप् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—संख्यायाः ।५।१। अवयवे ।७।१। तयप् ।१।१। **तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्** (११६७) सूत्र से 'तदस्य' पदों का अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(अवयवे) अवयव में वर्त्तमान (तत् = तस्मात् = प्रथमान्तात्) प्रथमान्त (संख्यायाः) संख्यावाचक प्रातिपदिक से (अस्य इत्यर्थे) 'अवयव हैं इस के' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (तयप्) तयप् प्रत्यय हो जाता है ।

तयप् का पकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'तय' मात्र शेष रहता है । पकार अनुबन्ध **अनुदात्तौ सुँप्पितौ** (३.१.४) सूत्रद्वारा अनुदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है । उदाहरण यथा—

पञ्च अवयवा अस्य—पञ्चतयम् (पांच अवयव हैं इस के, अर्थात् पाञ्च अवयवों वाला अवयवी) । यहां अवयव में वर्त्तमान 'पञ्चन् जस्' इस संख्यावाचक प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'अवयव हैं इस के' इस अर्थ में **संख्याया अवयवे तयप्** (११७२) सूत्र से तयप् प्रत्यय, पकार अनुबन्ध का लोप तथा तद्धितान्त के कारण प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर सुँप् का लुक् कर देने से—पञ्चन् + तय । अब **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) द्वारा पदसञ्ज्ञा के कारण पदान्त नकार का **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से लोप कर नपुंसक में विभक्तिकार्य करने से 'पञ्चतयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। स्त्रीत्व की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः** (१२५१) सूत्र से ङीप् प्रत्यय हो कर भसञ्ज्ञक अकार का लोप करने से 'पञ्चतयी' बनेगा ।[1]

---

१. तयप्प्रत्ययान्तों अथवा अयच्प्रत्ययान्तों का जब सामान्यतः धर्मप्रधान निर्देश किया जाता है तब नपुंसकलिङ्ग या स्त्रीलिङ्ग के द्वारा ही निर्देश हुआ करता है। यथा—चित्तवृत्तीनां पञ्चतयम्, चित्तवृत्तीनां पञ्चतयी । वर्णानां चतुष्टयम्, वर्णानां चतुष्टयी । लोकानां त्रयम्, लोकानां त्रयी । पक्षयोर्द्वयम्, पक्षयोर्द्वयी । समासद्वारा भी कहा जा सकता है—मुनीनां त्रयं मुनित्रयम् । परन्तु जब धर्मिप्रधान निर्देश विवक्षित होता है तब विशेष्य के अनुसार लिङ्ग हुआ करता है। यथा—त्रयाः त्रये वा लोकाः, त्रय्यः स्थितयः, त्रयाणि जगन्ति । **द्वये प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च** (ब्राह्मण०) दोनों प्रजापति की सन्तान हैं, देवता और असुर । त्रये, त्रयाः, द्वये, द्वयाः—ये प्रथमा के बहुवचन जस् के परे रहते **प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च** (१६०) सूत्रद्वारा वैकल्पिक सर्वनामसञ्ज्ञा के कारण बनते हैं। अन्यत्र सर्वनामसञ्ज्ञा न होने से सर्वनामकार्य नहीं होते—द्वयानाम्, त्रयाणाम्, पञ्चतयानाम् आदि ।

इसीप्रकार—
चत्वारोऽवयवा अस्य—चतुष्टयम् ।[1]
षड् अवयवा अस्य—षट्तयम् ।[2]
सप्त अवयवा अस्य—सप्ततयम् ।
अष्टौ अवयवा अस्य—अष्टतयम् ।
नव अवयवा अस्य—नवतयम् । इत्यादि ।

अब द्वि और त्रि शब्दों से परे तयप् के स्थान पर वैकल्पिक अयच् का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(**११७३**)

द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा ।५।२।४३।।

[द्वित्रिभ्यां परस्य तयस्य 'अयच्' इत्यादेशो वा स्यात्] । द्वयम्, द्वितयम् । त्रयम्, त्रितयम् ।।

अर्थः—द्वि और त्रि प्रातिपदिकों से परे 'तय' के स्थान पर विकल्प कर के 'अयच्' आदेश हो ।

व्याख्या—द्वित्रिभ्याम् ।५।२। तयस्य ।६।१। अयच् ।१।१। वा इत्यव्ययपदम् । द्विश्च त्रिश्च द्वित्री, ताभ्याम्=द्वित्रीभ्याम्, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(द्वित्रिभ्याम्) द्वि और त्रि प्रातिपदिकों से परे (तयस्य) 'तय' के स्थान पर (वा) विकल्प से (अयच्) अयच् आदेश हो जाता है ।

अयच् का चकार इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है । यह **चितः** (६.१.१५७) द्वारा अन्तोदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है । अनेकाल् होने से अयच् आदेश सम्पूर्ण तय के स्थान पर होगा । उदाहरण यथा—

द्वौ अवयवौ अस्य—द्वयं द्वितयं वा (दो अवयव हैं इस के अर्थात् दो अवयवों वाला अवयवी) । यहां अवयव में वर्त्तमान 'द्वि औ' से 'अवयव हैं इस के' इस अर्थ में **संख्याया अवयवे तयप्** (११७२) सूत्र से तयप् प्रत्यय, पकार अनुबन्ध का लोप तथा **सुंपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुंप् (औ) का भी लुक् हो कर—द्वि+तय । पुनः **द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा** (११७३) इस प्रकृतसूत्र के द्वारा 'तय' के स्थान पर विकल्प से अयच् आदेश हो कर चकार अनुबन्ध का लोप करने से—द्वि+अय । अब

१. चतुर् के रेफ को विसर्ग तथा **विसर्जनीयस्य सः** (१०३) से उसे सकारादेश हो कर **ह्रस्वात्तादौ तद्धिते** (८.३.१०१) से षत्व हो जाता है—चतुष्+तय । पुनः **ष्टुना ष्टुः** (६४) द्वारा ष्टुत्व कर विभक्ति लाने से उपर्युक्त रूप सिद्ध हो जाता है ।

२. 'षष्+तय' इस स्थिति में पदान्त में जश्त्व-चर्त्व हो जाते हैं । ष्टुत्व के प्राप्त होने पर **न पदान्ताट्टोरनाम्** (६५) से उस का निषेध हो जाता है ।

यचि भम् (१६५) से भसञ्ज्ञा तथा **यस्येति च** (२३६) से भञ्ज्ञक इकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'द्वयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। अयच् के अभाव में—द्वितयम्। इस तरह 'द्वयम्' और 'द्वितयम्' दो रूप सिद्ध हो जाते हैं।[1]

इसीप्रकार—त्रयोऽवयवा अस्य—त्रयं त्रितयं वा (तीन अवयव हैं इस के अर्थात् तीन अवयवों वाला अवयवी)। यहां 'त्रि जस्' से पूर्ववत् तयप् प्रत्यय, अनुबन्ध-लोप, सुँब्लुक् तथा तय को वैकल्पिक अयच् आदेश कर **यस्येति च** (२३६) द्वारा इकार का लोप करने पर 'त्रयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। अयच् के अभाव में 'त्रितयम्' बनेगा।[2]

विशेष वक्तव्य- पिछले सूत्र से तयप् की अनुवृत्ति ला कर उसे विभक्ति-विपरिणामद्वारा षष्ठ्यन्त बना लेने से जब यहां 'तयपः' प्राप्त हो सकता था तो पुनः इस सूत्र में 'तयस्य' का ग्रहण क्यों किया गया है? इस का उत्तर यह है कि यदि यहां 'तयस्य' न कहते तो अयच् को तयप् का अपवाद प्रत्ययान्तर समझ लिया जाता जो अनिष्ट था। क्योंकि तब **टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः** (१२५१) सूत्रद्वारा द्वयी, त्रयी आदि में तयप् के न होने से ङीप् न हो सकता जो अब स्थानिव-द्भाव के कारण हो जाता है। इसीप्रकार **प्रथमचरमतयाल्पार्धकतिपयनेमाश्च** (१६०) द्वारा जस् में होने वाली वैकल्पिक सर्वनामसञ्ज्ञा भी अयच् में प्रवृत्त न हो सकती जो अब स्थानिवद्भाव के कारण निर्बाध हो जाती है।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा उभ (दोनों) शब्द से परे तयप् को नित्य अयच् आदेश का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११७४) उभादुदात्तो नित्यम्।५।२।४४॥

उभशब्दात् तयपोऽयच् स्यात् स चाद्युदात्तः। उभयम्॥

अर्थः—'उभ' प्रातिपदिक से परे तयप् को नित्य अयच् आदेश हो तथा उस अयच् का आदि अकार उदात्त भी हो।

---

१. साहित्यगत प्रयोग यथा—

द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया पिनाकिनः।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी॥
(कुमार० ५.७१)

अधिकं शुशुभे शुभंयुना द्वितयेन द्वयमेव संगतम्।
पदमृद्धमजेन पैतृकं विनयेनास्य नवं च यौवनम्॥ (रघु० ८.६)

२. साहित्यगत प्रयोग यथा—

माता मित्रं पिता चेति स्वभावात् त्रितयं हितम्।
कार्यकारणतश्चान्ये भवन्ति हितबुद्धयः॥ (हितोप० १.३८)

जनाय शुद्धान्तचराय शंसते कुमारजन्मामृत-संमिताक्षरम्।
अदेयमासीत् त्रयमेव भूपतेः शशिप्रभं छत्त्रमुभे च चामरे॥ (रघु० ३.१६)

स्य पूरणे

व्याख्या—उभात् ।५।१। उदात्तः ।१।१। नित्यम् इति क्रियाविशेषणं द्वितीयैकवचनान्तम् । तयस्य ।६।१। अयच् ।१।१। (**द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा** सूत्र से) । अर्थः—(उभात्) उभशब्द से परे (तयस्य) 'तय' के स्थान पर (अयच्) अयच् आदेश (नित्यम्) नित्य होता है तथा उस का आदि अच्[1] (उदात्तः) उदात्त भी हो जाता है ।

उभशब्द लौकिकी संख्या नहीं अतः इस से परे **संख्याया अवयवे तयप्** (११७२) सूत्रद्वारा तयप् प्राप्त न था । परन्तु इस सूत्र में उस के स्थान पर अयच् के विधान के कारण उभ से परे भी तयप् करना मुनिसम्मत प्रतीत होता है । उदाहरण यथा—

उभौ अवयवौ अस्य—उभयम् (दोनों हैं अवयव इस के अर्थात् दो अवयवों वाला अवयवी) । यहां अवयव अर्थ में वर्त्तमान 'उभ औ' इस प्रथमान्त से 'अवयव हैं इस के' इस अर्थ में **संख्याया अवयवे तयप्** (११७२) से तयप् प्रत्यय, पकार अनुबन्ध का लोप तथा सुँप् (औ) का भी लुक् करने पर—उभ + तय । अब प्रकृत **उभादुदात्तो नित्यम्** (११७४) सूत्र से 'तय' को नित्य अयच् सर्वादेश कर—उभ + अय । **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'उभयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[2] उभयो मणिः—पीत और लोहित आदि दो अवयवों वाली मणि । 'उभय' में भकारोत्तर अकार उदात्त रहता है शेष अच् **अनुदात्तम्पदमेकवर्जम्** (६.१.१५२) से अनुदात्त । परन्तु **उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः** (८.४.६५) द्वारा उदात्त से परे अनुदात्त को स्वरित हो जाता है—उभयः । स्त्रीत्व की विवक्षा में स्थानिवद्भाव के कारण तयप्प्रत्ययान्त मान लिये जाने से **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) से ङीप् हो जाता है—उभयी । उभयी प्रवृत्तिः । **उभयीं सिद्धिमुभाववापतुः** (रघु० ८.२३) । उभयशब्द का द्विवचन में प्रयोग नहीं होता—यह पीछे (१५५) सूत्र पर कहा जा चुका है ।

अब द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ आदि पूरणी (क्रमसूचक) संख्याओं का निरूपण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११७५) तस्य पूरणे डट् ।५।२।४८॥

(संख्यावाचकात् षष्ठ्यन्तात् पूरणेऽर्थे तद्धितो डट् प्रत्ययः स्यात्) । एकादशानां पूरण एकादशः ॥

अर्थः—संख्यावाचक षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से पूरण अर्थ में तद्धितसंज्ञक डट् प्रत्यय हो ।

---

१. अयच् में दो अच् हैं किसे उदात्त माना जाये ? दोनों का उदात्तत्व तो **अनुदात्तम्पदमेकवर्जम्** (६.१.१५२) से बाधित है और अन्त का उदात्तत्व **चितः** (६.१.१५७) द्वारा सिद्ध है ही, इस के लिये सूत्र में उदात्तत्वविधान की आवश्यकता नहीं । अतः यहां आदि को ही उदात्तत्व होता है यही निश्चित होता है । विशेषजिज्ञासु आकरग्रन्थों का अवलोकन करें ।

२. **किं कथ्यते श्रीरुभयस्य तस्य ।** (कुमार० ७.७८)

व्याख्या—तस्य ।५।१। (षष्ठ्यन्त के अनुकरण 'तस्य' से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये) । पूरणे ।७।१। डट् ।१।१। संख्यायाः । ।५।१। (**संख्याया गुणस्य निमाने मयट्** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(तस्य = षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त (संख्यायाः) संख्यावाचक प्रातिपदिक से (पूरणे) पूरण अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (डट्) डट् प्रत्यय होता है।

पूर्यतेऽनेनेति पूरणः। पूरयतेर्ण्यन्तात् करणे ल्युट् । जिस से संख्या पूरी हो जाती है वह उस संख्या का पूरण होता है । जैसे एकादश संख्या दस व्यक्तियों तक पूरी नहीं होती किन्तु जब उस में ग्यारहवां जुड़ता है तो वह पूरी हो जाती है । इस प्रकार ग्यारह व्यक्तियों के समूह का पूरण (पूरा करने वाला अवयव) ग्यारहवां व्यक्ति ही होता है । इसीप्रकार अन्य संख्याओं के ग्रुपों में भी अन्तिम को पूरण समझना चाहिये । यहां समूह को प्रकृत्यर्थ तथा उस का पूरक अवयव प्रत्ययार्थ होता है।

डट् प्रत्यय का डकार **चुटू** (१२९) सूत्रद्वारा तथा टकार **हलन्त्यम्** (१) सूत्रद्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'अ' मात्र शेष रहता हैं । डित् करने का प्रयोजन **टेः** (२४२) सूत्रद्वारा टि का लोप करना एवं टित् करने का प्रयोजन स्त्रीत्व की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्रद्वारा ङीप् करना है । उदाहरण यथा—

एकादशानां पूरणः—एकादशः (ग्यारह संख्या को पूर्ण करने वाला अर्थात् ग्यारहवां) ।[1] यहां 'एकादशन् आम्' इस संख्यावाचक षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से पूरण अर्थ में **तस्य पूरणे डट्** (११७५) इस प्रकृतसूत्र से डट् प्रत्यय, डकार और टकार अनुबन्धों का लोप एवं **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (आम्) का लुक् कर देने पर 'एकादशन् + अ' हुआ। अब डित् के परे रहते **टेः** (२४२) सूत्रद्वारा भसञ्ज्ञक टि (अन्) का लोप करने पर—एकादश् + अ = एकादश । विभक्ति लाने से 'एकादशः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । एकादशः, एकादशौ, एकादशाः—पुं० में रामवत् रूपमाला चलेगी । स्त्रीत्व की विवक्षा में टित्त्वात् **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र से ङीप् हो कर भसञ्ज्ञक अकार का **यस्येतिच**लोप करने से 'एकादशी' बनेगा, रूपमाला नदीवत् चलेगी । नपुंसक में ज्ञानवत् रूपमाला होगी—एकादशम्, एकादशे, एकादशानि ।

इसीप्रकार—द्वादशानां पूरणः—द्वादशः । त्रयोदशानां पूरणः—त्रयोदशः । चतुर्दशानां पूरणः—चतुर्दशः । पञ्चदशः । षोडशः । सप्तदशः । अष्टादशः आदि ।

---

१. ग्यारहवां व्यक्ति एकादशसंख्या का पूरण नहीं होता अपितु एकादशत्व का ही पूरण हुआ करता है । अतः यहां संख्याओं से तत्तत्प्रवृत्तिनिमित्त संख्याओं का ही ग्रहण समझना चाहिये । इस से 'एकादशानां घटानां पूरणो जलादिः' ऐसे स्थलों पर डट् की प्रवृत्ति नहीं होती । विशेषजिज्ञासु आकरग्रन्थों का अवलोकन करें।

डट् [मँट्]

अब असंख्यादि[1] नकारान्त संख्यावाचकों से परे डट् को मँट् का आगम विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११७६) नान्तादसंख्यादेर्मँट् ।५।२।४९॥

डटो मँडागमः । पञ्चानां पूरणः—पञ्चमः । नान्तात् किम् ?—

अर्थः—जिस के आदि में कोई संख्याशब्द न जुड़ा हो तो ऐसे नकारान्त संख्या-वाचक प्रातिपदिक से परे डट् प्रत्यय को मँट् का आगम हो ।

व्याख्या—नान्तात् ।५।१। असंख्यादेः ।५।१। मँट् ।१।१। डटः ।६।१। (**तस्य पूरणे डट्** सूत्र से विभक्तिविपरिणामद्वारा) । समासः—न् अन्तो यस्य तत् नान्तम्, तस्मात्=नान्तात्, बहुव्रीहिसमासः । संख्या आदिर्यस्य तत् सख्यादि, बहुव्रीहिसमासः । न संख्यादि असंख्यादि, तस्माद् असंख्यादेः, नञ्तत्पुरुषः । अर्थः—(असंख्यादेः) संख्या जिस के आदि में न हो ऐसे (नान्तात्) नकारान्त प्रातिपदिक से परे (डटः) डट् का अवयव (मँट्) मँट् हो जाता है ।

मँट् में टकार और अनुनासिक अकार इत् हैं, इतों का लोप हो कर 'म्' मात्र शेष रहता है । मँट् टित् है अतः **आद्यन्तौ टकितौ** (८५) के अनुसार यह डट्प्रत्यय का आद्यवयव बनता है । डट् को जब मँट् का आगम होगा तो 'म्+अ=म' बन जायेगा ।

उदाहरण यथा—

पञ्चानां पूरणः—पञ्चमः (पाञ्च संख्या अर्थात् पञ्चत्व को पूर्ण करने वाला, पाञ्चवां) । यहां 'पञ्चन् आम्' से पूरण अर्थ में **तस्य पूरणे डट्** (११७५) सूत्र-द्वारा डट् प्रत्यय, डकार और टकार अनुबन्धों का लोप तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (आम्) का भी लुक् करने से—पञ्चन्+अ । अब अन्तरङ्ग होने से टिलोप (२४२) का बाध कर **नान्तादसंख्यादेर्मँट्** (११७६) इस प्रकृतसूत्रद्वारा डट् को मँट् का आगम हो जाता है—पञ्चन्+मँट् अ=पञ्चन्+म् अ=पञ्चन्+म । अब **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) से पदत्व के कारण **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से पञ्चन् के नकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'पञ्चमः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[2]

इसीप्रकार—सप्तमः । अष्टमः । नवमः । दशमः ।

नान्तात् किम् ?

सूत्र में नकारान्त से परे डट् को मँट् का आगम कहा गया है । यदि संख्या-

---

१. एकादशन्, द्वादशन्, त्रयोदशन् आदि जुड़वा संख्याएं संख्यादि संख्याएं कहाती हैं क्योंकि इन के आदि में एक, द्वि, त्रि आदि संख्याएं जुड़ी हुई हैं । परन्तु द्वि, त्रि, चतुर्, पञ्चन् आदि असंख्यादि संख्याएं हैं क्योंकि इन से पूर्व अन्य कोई संख्या जुड़ी हुई नहीं है ।

२. यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि मँट् आगम के कारण प्रत्यय के अजादि न रहने से भसञ्ज्ञा नहीं होती अतः **टेः** (२४२) सूत्रद्वारा टि का लोप नहीं होता ।

वाचक प्रातिपदिक नकारान्त न होगा तो मँट् का आगम न होगा। इसे प्रत्युदाहरण के द्वारा स्पष्ट करने के लिये अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११७७) **ति विंशतेर्डिति** ।६।४।१४२।।

विंशतेर्भस्य तिशब्दस्य लोपो डिति परे। विंशः। असंख्यादेः किम्? एकादशः॥

अर्थः—डित् परे रहते 'विंशति' के अवयव भसंज्ञक 'ति' का लोप हो।

व्याख्या—'ति' इति लुप्तषष्ठीकं पदम्। विंशतेः ।६।१। डिति ।७।१। लोपः ।१।१। (**अल्लोपोऽनः** सूत्र से)। भस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। ड् इद् यस्य स डित्, तस्मिन्=डिति, बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(डिति) डित् प्रत्यय के परे होने पर (विंशतेः) विंशतिशब्द के अवयव (भस्य) भसंज्ञक (ति=तेः) 'ति' का (लोपः) लोप हो जाता है।

यहां 'ति' के ग्रहण के सामर्थ्य से सम्पूर्ण 'ति' का लोप होता है, अलोऽन्त्य-परिभाषा से केवल अन्त्य इकार का नहीं, अन्यथा 'ति' ग्रहण की आवश्यकता ही न थी[1]।

उदाहरण यथा—

विंशतेः पूरणः—विंशः (बीस अर्थात् विंशतित्व संख्या को पूर्ण करने वाला, बीसवां)। यहां 'विंशति ङस्' से पूरण अर्थ में **तस्य पूरणे डट्** (११७५) से डट् प्रत्यय, अनुबन्धों का लोप तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) सूत्रद्वारा सुँप् (ङस्) का भी लुक् करने पर 'विंशति+अ' हुआ। यहां डित् प्रत्यय परे है, पूर्व की **यचि भम्** (१६५) से भसंज्ञा भी है अतः प्रकृत **ति विंशतेर्डिति** (११७७) सूत्र से विंशति के अवयव भसञ्ज्ञक 'ति' का लोप हो जाता है—विंश+अ। अब **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप प्राप्त होता है परन्तु **असिद्धवदत्राभात्** (५६२) द्वारा आभीय होने के कारण 'ति' का लोप असिद्ध है अतः **यस्येतिच**लोप प्रवृत्त नहीं हो सकता[2]। पुनः **अतो गुणे** (२७४) से पररूप एकादेश कर विभक्ति लाने से 'विंशः' प्रयोग सिद्ध

---

१. अथवा—**नाऽनर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे** इति परिभाषयाऽलोऽन्त्यविधिर्न प्रवर्त्तत इति।

२. **असिद्धवदत्राभात्** (५६२) अर्थात् समानाश्रय दो आभीय कार्यों में पहला किया गया कार्य दूसरे कार्य के करने में असिद्धवत् माना जाता है। यहां डट् (अ) को मान कर 'ति' का लोप पहले किया जा चुका है, अब पुनः उसी डट् को मानकर **यस्येति च** (२३६) द्वारा दूसरा कार्य अकार का लोप प्राप्त हो रहा है—दोनों कार्य आभीय हैं अतः इस दूसरे कार्य की कर्त्तव्यता में प्रथम किया गया 'ति' का लोप असिद्ध हो जायेगा। इस प्रकार मध्य में 'ति' के आ जाने से डट् परे नहीं रहता और परिणामतः अकार का लोप नहीं होता। आभीय कार्यों का विवेचन पीछे (५६२) सूत्र पर विस्तार से कर चुके हैं उसे पुनः हृदयङ्गम कर लें।

डट् थुँकागम

हो जाता है[1]। इस प्रयोग में यह बात विशेष ध्यातव्य है कि विंशतिशब्द नकारान्त नहीं इकारान्त है अतः **नान्तादसंख्यादेर्मँट्** (११७६) से मँट् का आगम नहीं हुआ।

असंख्यादेः किम् ? एकादशः।

नान्तादसंख्यादेर्मँट् (११७६) सूत्र में 'असंख्यादेः' क्यों कहा है ? इसलिये कि ऐसे नकारान्त संख्यावाचक प्रातिपदिकों से परे डट् को मँट् का आगम न हो जिस के आदि में कोई और संख्या जुड़ी हुई हो। एकादशन्, द्वादशन्, त्रयोदशन् आदि ऐसी संख्याएं हैं जिन के आदि में एक, द्वि, त्रि आदि अन्य संख्याएं जुड़ी रहती हैं अतः इन जुड़वा संख्याओं से परे मँट् का आगम न होगा। यथा—एकादशानां पूरणः—एकादशः, यहां मँट् का आगम नहीं हुआ। इसीतरह द्वादशन्, त्रयोदशन्, चतुर्दशन् आदि के विषय में मँट् की अप्रवृत्ति समझनी चाहिये।

अब डट् के परे रहते षष् आदि को थुँक् का आगम विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११७८)

षट्-कति-कतिपय-चतुरां थुँक् ।५।२।५१॥

एषां थुँगागमः स्याड्डटि। षण्णां पूरणः—षष्ठः। कतिथः। कतिपयशब्दस्याऽसंख्यात्वेऽपि अत एव ज्ञापकाड् डट्। कतिपयथः। चतुर्थः॥

अर्थः—डट् प्रत्यय के परे रहते, षष् (छः), कति (कितने), कतिपय (कुछेक) और चतुर् (चार)—इन चार प्रातिपदिकों को थुँक् का आगम हो। **कतिपयशब्दस्य**—कतिपयशब्द यद्यपि संख्यावाचक नहीं तथापि प्रकृतसूत्र में उस से थुँक्विधान करने से उस से भी पूरण अर्थ में डट् प्रत्यय हो जाता है—यह ज्ञापित होता है।

व्याख्या—षट्-कति-कतिपय-चतुराम् ।६।३। थुँक् ।१।१। डटि ।७।१। (**तस्य पूरणे डट्** से विभक्तिविपरिणामद्वारा)। समासः—षट् च कतिश्च कतिपयश्च चतुश्च षट्कतिकतिपयचतुरः, तेषाम्=षट्-कति-कतिपय-चतुराम्, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(डटि) डट् प्रत्यय के परे रहते (षट्-कति-कतिपय-चतुराम्) षष्, कति, कतिपय और चतुर् प्रातिपदिकों का अवयव (थुँक्) थुँक् हो जाता है।

थुँक् में ककार और उकार अनुबन्ध हैं, इन का लोप हो कर 'थ्' मात्र शेष रहता है। उकार उच्चारणार्थ है। कित् होने से यह आगम **आद्यन्तौ टकितौ** (८५) परिभाषाद्वारा षष् आदियों का अन्तावयव बनता है। उदाहरण यथा—

षण्णां पूरणः—षष्ठः (छः संख्या को पूर्ण करने वाला अर्थात् छठा)। यहां 'षष् आम्' इस षष्ठ्यन्त संख्यावाचक से पूरण अर्थ में **तस्य पूरणे डट्** (११७५) सूत्रद्वारा डट् प्रत्यय हो कर डकार-टकार अनुबन्धों का लोप तथा **सुँपो धातु-प्रातिपदि-**

---

१. **विंशत्यादिभ्यस्तमँडन्यतरस्याम्** (५.२.५६) सूत्रद्वारा विंशति आदि शब्दों से परे डट् को तमँट् का आगम विकल्प से होता है। जहां तमँट् होता है वहां 'विंशतितमः' बनता है, भसञ्ज्ञा न रहने से 'ति' का लोप नहीं होता। तमँट् के अभावपक्ष में यहां 'विंशः' प्रयोग सिद्ध किया गया है।

कयोः (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (आम्) का भी लुक् कर देने से 'षष्+अ' हुआ। यहां डट् प्रत्यय परे विद्यमान है अतः प्रकृत **षट्कतिकतिपयचतुरां थुँक्** (११७८) सूत्र से षष् को थुँक् का आगम हो जाता है जो कित्त्व के कारण षष् का अन्तावयव बनता है—षष्थुँक्+अ, अनुबन्धों का लोप होकर—षष्थ्+अ। अब **ष्टुना ष्टुः** (६४) द्वारा ष्टुत्वेन थकार को ठकार हो—षष्ठ्+अ। विभक्ति लाने से पुंलिङ्ग में 'षष्ठः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। स्त्रीत्व की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) से ङीप् लाने पर 'षष्ठी' बनेगा।[1]

कतीनां पूरणः—कतिथः (कितनों का पूरण अर्थात् कितनवां)। कतिशब्द यद्यपि लौकिकी संख्या नहीं है तथापि डतिप्रत्ययान्त होने से **बहुगणवतुँडति संख्या** (१८६) द्वारा संख्यासंज्ञक है। अतः पूरण अर्थ में 'कति आम्' से **तस्य पूरणे डट्** (११७५) सूत्र से डट् प्रत्यय हो अनुबन्धों का लोप करने पर 'कति आम्+अ' हुआ। अब प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (आम्) का लुक् कर डट् के परे रहते प्रकृत **षट्कति-कतिपयचतुरां थुँक्** (११७८) सूत्र से 'कति' को थुँक् का आगम हो जाता है—कतिथ्+अ=कतिथ। विभक्ति लाने पर 'कतिथः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

कतिपयानां पूरणः—कतिपयथः (कुछेक का पूरण अर्थात् कुछेकवां)। कतिपय-शब्द संख्यावाचक नहीं, न तो शास्त्र में इस की संख्यासञ्ज्ञा की गई है और न ही लोक में यह संख्यावाचक समझा जाता है। अतः इस से परे डट् कैसे होगा क्योंकि उस की प्रवृत्ति तो संख्यावाचकों से ही कही गई है? इस का उत्तर ग्रन्थकार इस प्रकार देते हैं—

कतिपयशब्दस्याऽसंख्यात्वेऽपि अत एव ज्ञापकाड् डट्।

अर्थात् जब प्रकृतसूत्र में डट् के परे रहते इसे थुँक् का आगम विधान किया जा रहा है तो असंख्या होते हुए भी इस से परे डट् प्रत्यय अवश्य होगा, अन्यथा इसे थुँक् का आगम विधान करना व्यर्थ हो जायेगा। मुनि सर्वज्ञ था उस का कोई वचन निरर्थक वा व्यर्थ नहीं है, अतः इस विधानसामर्थ्य से ही कतिपयशब्द से पूरण अर्थ में डट् हो जायेगा। 'कतिपय आम्+डट्' इस अवस्था मे अनुबन्धलोप तथा सुँप् (आम्) का

---

१. यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि मुनि ने मँट् का आगम जैसे डट् प्रत्यय को विधान किया है वैसे थुँक् का आगम डट् को विधान नहीं किया अपितु प्रकृति को ही किया है। वैसा करने से यद्यपि 'कतिथः' और 'कतिपयथः' तो सिद्ध हो जाते तथापि 'षष्ठः' और 'चतुर्थः' की सिद्धि न हो सकती। क्योंकि प्रथम में 'षष्+थ' इस अवस्था में पदान्त षकार को **झलां जशोऽन्ते** (६७) द्वारा जश्त्वेन डकार प्राप्त होता जो अनिष्ट था। इसीप्रकार दूसरे 'चतुर्+थ' में भी पदान्त रेफ को विसर्ग और उसे पुनः सकारादेश कर 'चतुस्थः' ऐसा अनिष्ट रूप बन जाता। अतः मुनि ने डट् की बजाय प्रकृति को ही थुँक् का आगम विधान करना उचित समझा। इस से मुनि की महती सूक्ष्मेक्षिका व्यक्त होती है।

भी लुक् करने पर—कतिपय+अ। अब **षट्कतिकतिपयचतुरां थुँक्** (११७८) सूत्र से कतिपय को थुँक् का आगम हो जाता है—कतिपयथ्+अ=कतिपयथ। विभक्ति ला कर 'कतिपयथः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

चतुर्णां पूरणः—चतुर्थः (चार संख्या को पूर्ण करने वाला अर्थात् चौथा)। 'चतुर् आम्' इस षष्ठ्यन्त से पूरण अर्थ में **तस्य पूरणे डट्** (११७५) सूत्र से डट् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा सुँप् (आम्) का भी लुक् करने से—चतुर्+अ। अब **षट्कतिकतिपयचतुरां थुँक्** (११७८) से चतुर् को थुँक् का आगम हो कर विभक्तिकार्य करने से 'चतुर्थः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

चतुर्शब्द से पूरण अर्थ में डट् प्रत्यय के अतिरिक्त **चतुरश्छयतौ आद्यक्षर-लोपश्च** (वा०) वार्त्तिकद्वारा छ और यत् प्रत्यय भी होते हैं और इन के साथ साथ चतुर् के आद्यक्षर (च) का लोप भी हो जाता है। छप्रत्यय के आदि छकार को **आयने-यीनीयियः०** (१०१३) से ईय् आदेश हो जाता है। इसप्रकार छप्रत्यय में—तुर्+ईय् अ='तुरीयः' तथा यत् में—तुर्+य='तुर्यः' प्रयोग भी बनते हैं।[2]

अब द्वि (दो) संख्या मे पूरण अर्थ में डट् के अपवाद 'तीय' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधिसूत्रम्—(११७९) द्वेस्तीयः ।५।२।५४॥

डटोऽपवादः। द्वयोः पूरणः—द्वितीयः॥

अर्थः—संख्यावाचक षष्ठ्यन्त द्वि (दो) प्रातिपदिक से परे पूरण अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक 'तीय' प्रत्यय हो। **डटोऽपवादः**—यह डट् का अपवाद है।

व्याख्या—द्वेः ।५।१। तीयः ।१।१। संख्यायाः ।५।१। (**संख्याया गुणस्य निमाने मयट्** सूत्र से)। तस्य ।५।१। पूरणे ।७।१। (**तस्य पूरणे डट्** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(संख्यायाः=संख्या-वाचकात्) संख्यावाचक (तस्य=तस्मात्=षष्ठ्यन्तात्) षष्ठ्यन्त (द्वेः) 'द्वि' प्राति-पदिक से (पूरणे) पूरण अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (तीयः) 'तीय' प्रत्यय हो जाता है। **तस्य पूरणे डट्** (११७५) द्वारा प्राप्त डट् प्रत्यय का यह अपवाद है। उदाहरण यथा—

द्वयोः पूरणः—द्वितीयः (दो संख्या को पूर्ण करने वाला अर्थात् दूसरा)। 'द्वि ओस्' इस षष्ठ्यन्त से पूरण अर्थ में **तस्य पूरणे डट्** (११७५) से प्राप्त डट् का बाध कर प्रकृत **द्वेस्तीयः** (११७९) सूत्र से 'तीय' प्रत्यय, सुँब्लुक् एवं विभक्तिकार्य करने से

---

१. **प्रथमे नार्जिता विद्या द्वितीये नार्जितं धनम्।**
तृतीये नार्जितं पुण्यं चतुर्थे किं करिष्यति॥ (सुभाषितरत्न०)

२. **गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।** (महाभाष्य पस्पशा)
प्रथमाङ्घ्रिसमो यस्य तृतीयश्चरणो भवेत्।
द्वितीयस्तुर्यवद् वृत्तं तदर्धसममुच्यते॥ (वृत्तरत्नाकर १.१५)

'द्वितीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]। स्त्रीत्व की विवक्षा में **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से टाप् (आ) प्रत्यय ला कर सवर्णदीर्घ करने से 'द्वितीया' बनेगा।

अब 'त्रि' से भी पूरण अर्थ में तीयप्रत्यय तथा उस के साथ त्रि को सम्प्रसारण का भी विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११८०) **त्रेः सम्प्रसारणं च** ।५।२।५५।।

तृतीयः ।।

अर्थः—संख्यावाचक 'त्रि' प्रातिपदिक से पूरण अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक 'तीय' प्रत्यय तथा 'त्रि' को सम्प्रसारण भी हो।

व्याख्या—त्रेः ।६।१। सम्प्रसारणम् ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। तीयः ।१।१। (**द्वेस्तीयः** सूत्र से)। संख्यायाः ।५।१। (**संख्याया गुणस्य निमाने मयट्** सूत्र से)। 'तस्य' और 'पूरणे' पदों की अनुवृत्ति **तस्य पूरणे डट्** (११७५) सूत्र से होती है। 'त्रेः' पद की आवृत्ति की जाती है और एक को पञ्चम्यन्त तथा दूसरे को षष्ठचन्त माना जाता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(संख्यायाः) संख्यावाचक (तस्य=षष्ठचन्तात्) षष्ठचन्त (त्रेः) 'त्रि' प्रातिपदिक से परे (पूरणे) पूरण अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (तीयः) तीय प्रत्यय हो जाता है (च) और (त्रेः) त्रि के स्थान पर (सम्प्रसारणम्) सम्प्रसारण भी हो जाता है।

यह भी **तस्य पूरणे डट्** (११७५) से प्राप्त डट् प्रत्यय का अपवाद है। 'त्रि' को सम्प्रसारण करना है। **इग्यणः सम्प्रसारणम्** (२५६) के अनुसार यण् के स्थान पर होने वाले इक् (इ, उ, ऋ, लृ) को सम्प्रसारण कहते हैं। अतः त्रिशब्द के यण्=रेफ के स्थान पर इक्=ऋकार करना ही सम्प्रसारण होगा। उदाहरण यथा—

त्रयाणां पूरणः—तृतीयः (तीन संख्या को पूर्ण करने वाला अर्थात् तीसरा)। यहां 'त्रि आम्' इस संख्यावाचक षष्ठचन्त से पूरण अर्थ में **तस्य पूरणे डट्** (११७५) से प्राप्त डट् प्रत्यय का बाध कर **त्रेः सम्प्रसारणं च** (११८०) सूत्रद्वारा तीय प्रत्यय, सुँब्लुक् तथा त्रि को सम्प्रसारण अर्थात् त्रि के रेफ को ऋकार आदेश करने से—तृइ+तीय। अब **सम्प्रसारणाच्च** (२५८) से 'ऋ+इ' के स्थान पर 'ऋ' यह पूर्वरूप एकादेश हो कर 'तृतीय' शब्द निष्पन्न होता है। विभक्ति लाने से 'तृतीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[2] स्त्रीत्व में **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से टाप् हो कर 'तृतीया' बनेगा। ध्यान रहे कि तीयप्रत्ययान्त इन द्वितीय तृतीय शब्दों की ङित् विभक्तियों में **तीयस्य ङित्सु वा** (वा० १६) द्वारा सर्वनामसञ्ज्ञा का विकल्पविधान किया जा चुका है।

---

१. **द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत्।** (मनु० ५.१६९)

२. तृतीयशब्द का प्रयोग यथा—

खादन्न गच्छामि हसन्न जल्पे गतं न शोचामि कृतं न मन्ये।
द्वाभ्यां तृतीयो न भवामि राजन्! किं कारणं भोज! भवामि मूर्खः।।

(किंवदन्ती)

तमँट् आगम

शङ्का—'त्रि' को सम्प्रसारण और पूर्वरूप कर चुकने पर 'तृ+तीय' इस स्थिति में अङ्ग के अवयव हल् से परे सम्प्रसारण को हलः (८१९) सूत्रद्वारा दीर्घ होना चाहिये था ?

समाधान—हलः (८१९) सूत्र में पूर्वपादस्थ **ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः** (११२) सूत्र से 'अणः' की अनुवृत्ति ला कर 'हल् से परे सम्प्रसारण जो अण् उसे दीर्घ हो' ऐसा अर्थ करेंगे। अण् प्रत्याहार **अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः** (११) सूत्र को छोड़ सर्वत्र पूर्व णकार से ही लिया जाता है। अतः ऋकार के अण् के अन्तर्गत न होने से हलः (८१९) द्वारा दीर्घ न होगा। अथवा—अण् के अनुवर्त्तन की आवश्यकता ही नहीं। **कर्तृकरणयोस्तृतीया** (८९५), **तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन** (९२५), **विभाषा तृतीयादिष्वचि** (२०७) इत्यादि अनेक निर्देशों से यहां सम्प्रसारण को दीर्घ न करना ज्ञापित हो जायेगा।

यदि डट्प्रकरण के तीन और सूत्र समझ लिये जायें तो प्रत्येक संख्या का पूरणप्रत्ययान्त रूप छात्रों को आसानी से समझ में आ सकता है। वे तीन सूत्र इस प्रकार हैं—

(१) **विंशत्यादिभ्यस्तमँडन्यतरस्याम्** (५.२.५६)।

अर्थः—विंशति आदि से परे डट् को विकल्प से तमँट् का आगम हो जाता है। तमँट् डट्=तम् अ=तम। इस तरह विंशति आदि से परे 'तम' लग कर पूरणप्रत्ययान्त रूप सिद्ध हो जाता है। यथा—विंशतितमः, एकविंशतितमः, त्रिंशत्तमः, एकत्रिंशत्तमः, चत्वारिंशत्तमः, एकचत्वारिंशत्तमः, पञ्चाशत्तमः, एकपञ्चाशत्तमः आदि। जहाँ तमँट् का आगम न होगा वहां डट् के परे रहते विंशति में तो भसंज्ञक 'ति' का (११७७) तथा अन्यत्र भसंज्ञक टि का (२४२) लोप हो जायेगा। यथा—विंशः, एकविंशः, त्रिंशः, एकत्रिंशः, चत्वारिंशः, एकचत्वारिंशः, पञ्चाशः, एकपञ्चाशः आदि।

(२) **षष्ट्यादेश्चाऽसंख्यादेः** (५.२.५८)।

अर्थः—षष्टि आदि संख्याओं से परे डट् को तमँट् का आगम नित्य होता है परन्तु ये षष्टि आदि संख्याएं जुड़वां संख्याएं न होनी चाहियें। अन्यथा पूर्वसूत्र से तमँट् की वैकल्पिक प्रवृत्ति होगी। यथा—षष्टितमः, सप्ततितमः, अशीतितमः, नवतितमः। जुड़वां संख्याओं से तमँट् का विकल्प होगा। यथा—एकषष्टितमः-एकषष्टः, एकसप्ततितमः, एकसप्ततः, एकाशीतितमः—एकाशीतः, एकनवतितमः-एकनवतः।

(३) **शतादिमासार्धमाससंवत्सराच्च** (५.२.५७)।

अर्थः—शत आदि संख्याएं चाहे जुड़वां या अजुड़वां हों इन से परे डट् को नित्य तमँट् का आगम हो जाता है। यथा—शततमः, एकशततमः, सहस्रतमः, अयुततमः। लक्षतमः इत्यादि।

छात्रों के अभ्यास के लिये एक से लेकर सौ संख्याओं के पूरणप्रत्ययान्त रूपों की यहां एक तालिका दी जा रही है—

[सङ्ख्याओं के तीनों लिङ्गों में पूरणप्रत्ययान्त रूप]

सङ्ख्याएं	(पुंलिङ्ग)	(स्त्रीलिङ्ग)	(नपुंसकलिङ्ग)
एक[1]	प्रथमः	प्रथमा	प्रथमम्
द्वि	द्वितीयः	द्वितीया	द्वितीयम्
त्रि	तृतीयः	तृतीया	तृतीयम्
चतुर्	चतुर्थः	चतुर्थी	चतुर्थम्
	तुरीयः	तुरीया	तुरीयम्
	तुर्यः	तुर्या	तुर्यम्
पञ्चन्	पञ्चमः	पञ्चमी	पञ्चमम्
षष्	षष्ठः	षष्ठी	षष्ठम्
सप्तन्	सप्तमः	सप्तमी	सप्तमम्
अष्टन्	अष्टमः	अष्टमी	अष्टमम्
नवन्	नवमः	नवमी	नवमम्
दशन्	दशमः	दशमी	दशमम्
एकादशन्	एकादशः	एकादशी	एकादशम्
द्वादशन्	द्वादशः	द्वादशी	द्वादशम्
त्रयोदशन्	त्रयोदशः	त्रयोदशी	त्रयोदशम्
चतुर्दशन्	चतुर्दशः	चतुर्दशी	चतुर्दशम्
पञ्चदशन्	पञ्चदशः	पञ्चदशी	पञ्चदशम्
षोडशन्	षोडशः	षोडशी	षोडशम्
सप्तदशन्	सप्तदशः	सप्तदशी	सप्तदशम्
अष्टादशन्	अष्टादशः	अष्टादशी	अष्टादशम्
नवदशन्	नवदशः	नवदशी	नवदशम्
एकोनविंशति	एकोनविंशतितमः	एकोनविंशतितमी	एकोनविंशतितमम्
	एकोनविंशः	एकोनविंशी	एकोनविंशम्
विंशति	विंशतितमः	विंशतितमी	विंशतितमम्
	विंशः	विंशी	विंशम्
एकविंशति	एकविंशतितमः	एकविंशतितमी	एकविंशतितमम्
	एकविंशः	एकविंशी	एकविंशम्
द्वाविंशति	द्वाविंशतितमः	द्वाविंशतितमी	द्वाविंशतितमम्
	द्वाविंशः	द्वाविंशी	द्वाविंशम्
त्रयोविंशति	त्रयोविंशतितमः	त्रयोविंशतितमी	त्रयोविंशतितमम्
	त्रयोविंशः	त्रयोविंशी	त्रयोविंशम्
चतुर्विंशति	चतुर्विंशतितमः	चतुर्विंशतितमी	चतुर्विंशतितमम्
	चतुर्विंशः	चतुर्विंशी	चतुर्विंशम्
पञ्चविंशति	पञ्चविंशतितमः	पञ्चविंशतितमी	पञ्चविंशतितमम्

१. एकसंख्या अपने आप में पूर्ण है अतः इस से परे पूरणप्रत्यय नहीं होता । हिन्दी में प्रयुक्त 'पहला' शब्द का अनुवाद संस्कृत में 'प्रथमः, आद्यः, आदिमः' से किया जाता है ।

सङ्ख्याएं	[सङ्ख्याओं के तीनों लिङ्गों में पूरणप्रत्ययान्त रूप] (पुंलिङ्ग)	(स्त्रीलिङ्ग)	(नपुंसकलिङ्ग)
	पञ्चविंशः	पञ्चविंशी	पञ्चविंशम्
षड्विंशति	षड्विंशतितमः	षड्विंशतितमी	षड्विंशतितमम्
	षड्विंशः	षड्विंशी	षड्विंशम्
सप्तविंशति	सप्तविंशतितमः	सप्तविंशतितमी	सप्तविंशतितमम्
	सप्तविंशः	सप्तविंशी	सप्तविंशम्
अष्टाविंशति	अष्टाविंशतितमः	अष्टाविंशतितमी	अष्टाविंशतितमम्
	अष्टाविंशः	अष्टाविंशी	अष्टाविंशम्
नवविंशति	नवविंशतितमः	नवविंशतितमी	नवविंशतितमम्
	नवविंशः	नवविंशी	नवविंशम्
एकोनत्रिंशत्	एकोनत्रिंशत्तमः	एकोनत्रिंशत्तमी	एकोनत्रिंशत्तमम्
	एकोनत्रिंशः	एकोनत्रिंशी	एकोनत्रिंशम्
त्रिंशत्	त्रिंशत्तमः	त्रिंशत्तमी	त्रिंशत्तमम्
	त्रिंशः	त्रिंशी	त्रिंशम्
एकत्रिंशत्	एकत्रिंशत्तमः	एकत्रिंशत्तमी	एकत्रिंशत्तमम्
	एकत्रिंशः	एकत्रिंशी	एकत्रिंशम्
द्वात्रिंशत्	द्वात्रिंशत्तमः	द्वात्रिंशत्तमी	द्वात्रिंशत्तमम्
	द्वात्रिंशः	द्वात्रिंशी	द्वात्रिंशम्
त्रयस्त्रिंशत्	त्रयस्त्रिंशत्तमः	त्रयस्त्रिंशत्तमी	त्रयस्त्रिंशत्तमम्
	त्रयस्त्रिंशः	त्रयस्त्रिंशी	त्रयस्त्रिंशम्
चतुस्त्रिंशत्	चतुस्त्रिंशत्तमः	चतुस्त्रिंशत्तमी	चतुस्त्रिंशत्तमम्
	चतुस्त्रिंशः	चतुस्त्रिंशी	चतुस्त्रिंशम्
पञ्चत्रिंशत्	पञ्चत्रिंशत्तमः	पञ्चत्रिंशत्तमी	पञ्चत्रिंशत्तमम्
	पञ्चत्रिंशः	पञ्चत्रिंशी	पञ्चत्रिंशम्
षट्त्रिंशत्	षट्त्रिंशत्तमः	षट्त्रिंशत्तमी	षट्त्रिंशत्तमम्
	षट्त्रिंशः	षट्त्रिंशी	षट्त्रिंशम्
सप्तत्रिंशत्	सप्तत्रिंशत्तमः	सप्तत्रिंशत्तमी	सप्तत्रिंशत्तमम्
	सप्तत्रिंशः	सप्तत्रिंशी	सप्तत्रिंशम्
अष्टात्रिंशत्	अष्टात्रिंशत्तमः	अष्टात्रिंशत्तमी	अष्टात्रिंशत्तमम्
	अष्टात्रिंशः	अष्टात्रिंशी	अष्टात्रिंशम्
नवत्रिंशत्	नवत्रिंशत्तमः	नवत्रिंशत्तमी	नवत्रिंशत्तमम्
	नवत्रिंशः	नवत्रिंशी	नवत्रिंशम्
एकोनचत्वारिंशत्	एकोनचत्वारिंशत्तमः	एकोनचत्वारिंशत्तमी	एकोनचत्वारिंशत्तमम्
	एकोनचत्वारिंशः	एकोनचत्वारिंशी	एकोनचत्वारिंशम्
चत्वारिंशत्	चत्वारिंशत्तमः	चत्वारिंशत्तमी	चत्वारिंशत्तमम्
	चत्वारिंशः	चत्वारिंशी	चत्वारिंशम्
एकचत्वारिंशत्	एकचत्वारिंशत्तमः	एकचत्वारिंशत्तमी	एकचत्वारिंशत्तमम्
	एकचत्वारिंशः	एकचत्वारिंशी	एकचत्वारिंशम्

[सङ्ख्याओं के तीनों लिङ्गों में पूरणप्रत्ययान्त रूप]

सङ्ख्याएं	(पुंलिङ्ग)	(स्त्रीलिङ्ग)	(नपुंसकलिङ्ग)
द्वाचत्वारिंशत्	द्वाचत्वारिंशत्तमः	द्वाचत्वारिंशत्तमी	द्वाचत्वारिंशत्तमम्
	द्वाचत्वारिंशः	द्वाचत्वारिंशी	द्वाचत्वारिंशम्
द्विचत्वारिंशत्	द्विचत्वारिंशत्तमः	द्विचत्वारिंशत्तमी	द्विचत्वारिंशत्तमम्
	द्विचत्वारिंशः	द्विचत्वारिंशी	द्विचत्वारिंशम्
त्रयश्चत्वारिंशत्	त्रयश्चत्वारिंशत्तमः	त्रयश्चत्वारिंशत्तमी	त्रयश्चत्वारिंशत्तमम्
	त्रयश्चत्वारिंशः	त्रयश्चत्वारिंशी	त्रयश्चत्वारिंशम्
त्रिचत्वारिंशत्	त्रिचत्वारिंशत्तमः	त्रिचत्वारिंशत्तमी	त्रिचत्वारिंशत्तमम्
	त्रिचत्वारिंशः	त्रिचत्वारिंशी	त्रिचत्वारिंशम्
चतुश्चत्वारिंशत्	चतुश्चत्वारिंशत्तमः	चतुश्चत्वारिंशत्तमी	चतुश्चत्वारिंशत्तमम्
	चतुश्चत्वारिंशः	चतुश्चत्वारिंशी	चतुश्चत्वारिंशम्
पञ्चचत्वारिंशत्	पञ्चचत्वारिंशत्तमः	पञ्चचत्वारिंशत्तमी	पञ्चचत्वारिंशत्तमम्
	पञ्चचत्वारिंशः	पञ्चचत्वारिंशी	पञ्चचत्वारिंशम्
षट्चत्वारिंशत्	षट्चत्वारिंशत्तमः	षट्चत्वारिंशत्तमी	षट्चत्वारिंशत्तमम्
	षट्चत्वारिंशः	षट्चत्वारिंशी	षट्चत्वारिंशम्
सप्तचत्वारिंशत्	सप्तचत्वारिंशत्तमः	सप्तचत्वारिंशत्तमी	सप्तचत्वारिंशत्तमम्
	सप्तचत्वारिंशः	सप्तचत्वारिंशी	सप्तचत्वारिंशम्
अष्टाचत्वारिंशत्	अष्टाचत्वारिंशत्तमः	अष्टाचत्वारिंशत्तमी	अष्टाचत्वारिंशत्तमम्
	अष्टाचत्वारिंशः	अष्टाचत्वारिंशी	अष्टाचत्वारिंशम्
अष्टचत्वारिंशत्	अष्टचत्वारिंशत्तमः	अष्टचत्वारिंशत्तमी	अष्टचत्वारिंशत्तमम्
	अष्टचत्वारिंशः	अष्टचत्वारिंशी	अष्टचत्वारिंशम्
नवचत्वारिंशत्	नवचत्वारिंशत्तमः	नवचत्वारिंशत्तमी	नवचत्वारिंशत्तमम्
	नवचत्वारिंशः	नवचत्वारिंशी	नवचत्वारिंशम्
एकोनपञ्चाशत्	एकोनपञ्चाशत्तमः	एकोनपञ्चाशत्तमी	एकोनपञ्चाशत्तमम्
	एकोनपञ्चाशः	एकोनपञ्चाशी	एकोनपञ्चाशम्
पञ्चाशत्	पञ्चाशत्तमः	पञ्चाशत्तमी	पञ्चाशत्तमम्
	पञ्चाशः	पञ्चाशी	पञ्चाशम्
एकपञ्चाशत्	एकपञ्चाशत्तमः	एकपञ्चाशत्तमी	एकपञ्चाशत्तमम्
	एकपञ्चाशः	एकपञ्चाशी	एकपञ्चाशम्
द्वापञ्चाशत्	द्वापञ्चाशत्तमः	द्वापञ्चाशत्तमी	द्वापञ्चाशत्तमम्
	द्वापञ्चाशः	द्वापञ्चाशी	द्वापञ्चाशम्
द्विपञ्चाशत्	द्विपञ्चाशत्तमः	द्विपञ्चाशत्तमी	द्विपञ्चाशत्तमम्
	द्विपञ्चाशः	द्विपञ्चाशी	द्विपञ्चाशम
त्रयःपञ्चाशत्	त्रयःपञ्चाशत्तमः	त्रयःपञ्चाशत्तमी	त्रयःपञ्चाशत्तमम्
	त्रयःपञ्चाशः	त्रयःपञ्चाशी	त्रयःपञ्चाशम
त्रिपञ्चाशत्	त्रिपञ्चाशत्तमः	त्रिपञ्चाशत्तमी	त्रिपञ्चाशत्तमम्
	त्रिपञ्चाशः	त्रिपञ्चाशी	त्रिपञ्चाशम्
चतुःपञ्चाशत्	चतुःपञ्चाशत्तमः	चतुःपञ्चाशत्तमी	चतुःपञ्चाशत्तमम्
	चतुःपञ्चाशः	चतुःपञ्चाशी	चतुःपञ्चाशम्
पञ्चपञ्चाशत्	पञ्चपञ्चाशत्तमः	पञ्चपञ्चाशत्तमी	पञ्चपञ्चाशत्तमम्
	पञ्चपञ्चाशः	पञ्चपञ्चाशी	पञ्चपञ्चाशम्

[सङ्ख्याओं के तीनों लिङ्गों में पूरणप्रत्ययान्त रूप]

सङ्ख्याएं	(पुंलिङ्ग)	(स्त्रीलिङ्ग)	(नपुंसकलिङ्ग)
षट्पञ्चाशत्	षट्पञ्चाशत्तमः	षट्पञ्चाशत्तमी	षट्पञ्चाशत्तमम्
	षट्पञ्चाशः	षट्पञ्चाशी	षट्पञ्चाशम्
सप्तपञ्चाशत्	सप्तपञ्चाशत्तमः	सप्तपञ्चाशत्तमी	सप्तपञ्चाशत्तमम्
	सप्तपञ्चाशः	सप्तपञ्चाशी	सप्तपञ्चाशम्
अष्टापञ्चाशत्	अष्टापञ्चाशत्तमः	अष्टापञ्चाशत्तमी	अष्टापञ्चाशत्तमम्
	अष्टापञ्चाशः	अष्टापञ्चाशी	अष्टापञ्चाशम्
अष्टपञ्चाशत्	अष्टपञ्चाशत्तमः	अष्टपञ्चाशत्तमी	अष्टपञ्चाशत्तमम्
	अष्टपञ्चाशः	अष्टपञ्चाशी	अष्टपञ्चाशम्
नवपञ्चाशत्	नवपञ्चाशत्तमः	नवपञ्चाशत्तमी	नवपञ्चाशत्तमम्
	नवपञ्चाशः	नवपञ्चाशी	नवपञ्चाशम्
एकोनषष्टि	एकोनषष्टितमः	एकोनषष्टितमी	एकोनषष्टितमम्
	एकोनषष्टः	एकोनषष्टी	एकोनषष्टम्
षष्टि	षष्टितमः	षष्टितमी	षष्टितमम्
एकषष्टि	एकषष्टितमः	एकषष्टितमी	एकषष्टितमम्
	एकषष्टः	एकषष्टी	एकषष्टम्
द्वाषष्टि	द्वाषष्टितमः	द्वाषष्टितमी	द्वाषष्टितमम्
	द्वाषष्टः	द्वाषष्टी	द्वाषष्टम्
द्विषष्टि	द्विषष्टितमः	द्विषष्टितमी	द्विषष्टितमम्
	द्विषष्टः	द्विषष्टी	द्विषष्टम्
त्रयःषष्टि	त्रयःषष्टितमः	त्रयःषष्टितमी	त्रयःषष्टितमम्
	त्रयःषष्टः	त्रयःषष्टी	त्रयःषष्टम्
त्रिषष्टि	त्रिषष्टितमः	त्रिषष्टितमी	त्रिषष्टितमम्
	त्रिषष्टः	त्रिषष्टी	त्रिषष्टम्
चतुःषष्टि	चतुःषष्टितमः	चतुःषष्टितमी	चतुःषष्टितमम्
	चतुःषष्टः	चतुःषष्टी	चतुःषष्टम्
पञ्चषष्टि	पञ्चषष्टितमः	पञ्चषष्टितमी	पञ्चषष्टितमम्
	पञ्चषष्टः	पञ्चषष्टी	पञ्चषष्टम्
षट्षष्टि	षट्षष्टितमः	षट्षष्टितमी	षट्षष्टितमम्
	षट्षष्टः	षट्षष्टी	षट्षष्टम्
सप्तषष्टि	सप्तषष्टितमः	सप्तषष्टितमी	सप्तषष्टितमम्
	सप्तषष्टः	सप्तषष्टी	सप्तषष्टम्
अष्टाषष्टि	अष्टाषष्टितमः	अष्टाषष्टितमी	अष्टाषष्टितमम्
	अष्टाषष्टः	अष्टाषष्टी	अष्टाषष्टम्
अष्टषष्टि	अष्टषष्टितमः	अष्टषष्टितमी	अष्टषष्टितमम्
	अष्टषष्टः	अष्टषष्टी	अष्टषष्टम्
नवषष्टि	नवषष्टितमः	नवषष्टितमी	नवषष्टितमम्
	नवषष्टः	नवषष्टी	नवषष्टम्

[सङ्ख्याओं के तीनों लिङ्गों में पूरणप्रत्ययान्त रूप]

सङ्ख्याएं	(पुंलिङ्ग)	(स्त्रीलिङ्ग)	(नपुंसकलिङ्ग)
एकोनसप्तति	एकोनसप्ततितमः	एकोनसप्ततितमी	एकोनसप्ततितमम्
	एकोनसप्ततः	एकोनसप्तती	एकोनसप्ततम्
सप्तति	सप्ततितमः	सप्ततितमी	सप्ततितमम्
एकसप्तति	एकसप्ततितमः	एकसप्ततितमी	एकसप्ततितमम्
	एकसप्ततः	एकसप्तती	एकसप्ततम्
द्वासप्तति	द्वासप्ततितमः	द्वासप्ततितमी	द्वासप्ततितमम
	द्वासप्ततः	द्वासप्तती	द्वासप्ततम्
द्विसप्तति	द्विसप्ततितमः	द्विसप्ततितमी	द्विसप्ततितमम्
	द्विसप्ततः	द्विसप्तती	द्विसप्ततम्
त्रयःसप्तति	त्रयःसप्ततितमः	त्रयःसप्ततितमी	त्रयःसप्ततितमम्
	त्रयःसप्ततः	त्रयःसप्तती	त्रयःसप्ततम्
त्रिसप्तति	त्रिसप्ततितमः	त्रिसप्ततितमी	त्रिसप्ततितमम्
	त्रिसप्ततः	त्रिसप्तती	त्रिसप्ततम्
चतुःसप्तति	चतुःसप्ततितमः	चतुःसप्ततितमी	चतुःसप्ततितमम्
	चतुःसप्ततः	चतुःसप्तती	चतुःसप्ततम्
पञ्चसप्तति	पञ्चसप्ततितमः	पञ्चसप्ततितमी	पञ्चसप्ततितमम्
	पञ्चसप्ततः	पञ्चसप्तती	पञ्चसप्ततम्
षट्सप्तति	षट्सप्ततितमः	षट्सप्ततितमी	षट्सप्ततितमम्
	षट्सप्ततः	षट्सप्तती	षट्सप्ततम्
सप्तसप्तति	सप्तसप्ततितमः	सप्तसप्ततितमी	सप्तसप्ततितमम्
	सप्तसप्ततः	सप्तसप्तती	सप्तसप्ततम्
अष्टासप्तति	अष्टासप्ततितमः	अष्टासप्ततितमी	अष्टासप्ततितमम्
	अष्टासप्ततः	अष्टासप्तती	अष्टासप्ततम्
अष्टसप्तति	अष्टसप्ततितमः	अष्टसप्ततितमी	अष्टसप्ततितमम्
	अष्टसप्ततः	अष्टसप्तती	अष्टसप्ततम्
नवसप्तति	नवसप्ततितमः	नवसप्ततितमी	नवसप्ततितमम्
	नवसप्ततः	नवसप्तती	नवसप्ततम्
एकोनाशीति	एकोनाशीतितमः	एकोनाशीतितमी	एकोनाशीतितमम्
	एकोनाशीतः	एकोनाशीती	एकोनाशीतम्
अशीति	अशीतितमः	अशीतितमी	अशीतितमम्
एकाशीति	एकाशीतितमः	एकाशीतितमी	एकाशीतितमम्
	एकाशीतः	एकाशीती	एकाशीतम्
द्व्यशीति	द्व्यशीतितमः	द्व्यशीतितमी	द्व्यशीतितमम्
	द्व्यशीतः	द्व्यशीती	द्व्यशीतम्
त्र्यशीति	त्र्यशीतितमः	त्र्यशीतितमी	त्र्यशीतितमम्
	त्र्यशीतः	त्र्यशीती	त्र्यशीतम्
चतुरशीति	चतुरशीतितमः	चतुरशीतितमी	चतुरशीतितमम्
	चतुरशीतः	चतुरशीती	चतुरशीतम्

[सङ्ख्याओं के तीनों लिङ्गों में पूरणप्रत्ययान्त रूप]

सङ्ख्याएं	(पुंलिग)	(स्त्रीलिङ्ग)	(नपुंसकलिङ्ग)
पञ्चाशीति	पञ्चाशीतितम:	पञ्चाशीतितमी	पञ्चाशीतितमम्
	पञ्चाशीत:	पञ्चाशीती	पञ्चाशीतम्
षडशीति	षडशीतितम:	षडशीतितमी	षडशीतितमम्
	षडशीत:	षडशीती	षडशीतम्
सप्ताशीति	सप्ताशीतितम:	सप्ताशीतितमी	सप्ताशीतितमम्
	सप्ताशीत:	सप्ताशीती	सप्ताशीतम्
अष्टाशीति	अष्टाशीतितम:	अष्टाशीतितमी	अष्टाशीतितमम्
	अष्टाशीत:	अष्टाशीती	अष्टाशीतम्
नवाशीति	नवाशीतितम:	नवाशीतितमी	नवाशीतितमम्
	नबाशीत:	नवाशीती	नवाशीतम्
एकोननवति	एकोननवतितम:	एकोननवतितमी	एकोननवतितमम्
	एकोननवत:	एकोननवती	एकोननवतम्
नवति	नवतितम:	नवतितमी	नवतितमम्
एकनवति	एकनवतितम:	एकनवतितमी	एकनवतितमम्
	एकनवत:	एकनवती	एकनवतम्
द्वानवति	द्वानवतितम:	द्वानवतितमी	द्वानवतितमम्
	द्वानवत:	द्वानवती	द्वानवतम्
द्विनवति	द्विनवतितम:	द्विनवतितमी	द्विनवतितमम्
	द्विनवत:	द्विनवती	द्विनवतम्
त्रयोनवति	त्रयोनवतितम:	त्रयोनवतितमी	त्रयोनवतितमम्
	त्रयोनवत:	त्रयोनवती	त्रयोनवतम्
त्रिनवति	त्रिनवतितम:	त्रिनवतितमी	त्रिनवतितमम्
	त्रिनवत:	त्रिनवती	त्रिनवतम्
चतुर्नवति	चतुर्नवतितम:	चतुर्नवतितमी	चतुर्नवतितमम्
	चतुर्नवत:	चतुर्नवती	चतुर्नवतम्
पञ्चनवति	पञ्चनवतितम:	पञ्चनवतितमी	पञ्चनवतितमम
	पञ्चनबत:	पञ्चनवती	पञ्चनवतम्
षण्णवति	षण्णवतितम:	षण्णवतितमी	षण्णवतितमम्
	षण्णवत:	षण्णवती	षण्णवतम्
सप्तनवति	सप्तनवतितम:	सप्तनवतितमी	सप्तनवतितमम्
	सप्तनवत:	सप्तनवती	सप्तनवतम्
अष्टानवति	अष्टानवतितम:	अष्टानवतितमी	अष्टानवतितमम्
	अष्टानवत:	अष्टानवती	अष्टानवतम्
अष्टनवति	अष्टनवतितम:	अष्टनवतितमी	अष्टनवतितमम्
	अष्टनवत:	अष्टनवती	अष्टनवतम्
नवनवति	नवनवतितम:	नवनवतितमी	नवनवतितमम्
	नवनवत:	नवनवती	नवनवतम्

[सङ्ख्याओं के तीनों लिङ्गों में पूरणप्रत्ययान्त रूप]

संख्याएं	(पुंलिङ्ग)	(स्त्रीलिङ्ग)	(नपुंसकलिङ्ग)
एकोनशत	एकोनशततमः	एकोनशततमी	एकोनशततमम्
शत[1]	शततमः	शततमी	शततमम्

'शत' से आगे की संख्याओं का पूरणप्रत्ययान्त रूप डट्प्रत्यय को तमँट् का आगम नित्य करने से बनता है। यथा—एकशततमः, द्विशततमः, सहस्रतमः, अयुततमः आदि।

अब अग्रिमसूत्र में निपातनद्वारा श्रोत्रिय (वेद को पढ़ने वाला) शब्द की उपपत्ति दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११८१)

श्रोत्रियँश्छन्दोऽधीते ।५।२।८४।।

श्रोत्रियः । वेत्यनुवृत्तेश्छान्दसः ।।

अर्थः—'वेद को पढ़ता है' इस अर्थ में 'श्रोत्रियन्' यह निपातित किया जाता है। **वेत्यनुवृत्तेः०**— 'वा' की अनुवृत्ति के कारण 'छान्दसः' प्रयोग भी बनेगा।

व्याख्या—श्रोत्रियन् इति लुप्तप्रथमैकवचनान्तं पदम् । छन्दः ।२।१। अधीते इति क्रियापदम् । 'छन्दोऽधीते' इत्यर्थे श्रोत्रियन् इति शब्दो निपात्यते । अर्थः—('छन्दोऽधीते' इत्यर्थे) 'वेद को पढ़ता है' इस अर्थ में (श्रोत्रियन्) श्रोत्रियन् शब्द निपातित किया जाता है।

श्रोत्रियन् में नकार अनुबन्ध है जो **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है। **ञ्नित्यादिर्नित्यम्** (६.१.१९१) सूत्र से आद्युदात्तस्वर के लिये इसे जोड़ा गया है। प्रयोग में 'श्रोत्रिय' शब्द ही आयेगा।

श्रोत्रियशब्द के निपातन के द्वारा आचार्य यहां दो कार्यों का प्रधानतः विधान कर रहे हैं—पहला— द्वितीयान्त छन्दस् (वेद) शब्द से 'तदधीते' के अर्थ में घन् प्रत्यय तथा दूसरा छन्दस् को श्रोत्र सर्वादेश। अन्य कार्य सामान्यनियमों के अनुसार ही हो जायेंगे। तथाहि—'छन्दोऽधीते' इस विग्रह में 'छन्दस् अम्' से तद्धितसञ्ज्ञक घन् प्रत्यय, अनुबन्ध नकार का लोप, सुँब्लुक् तथा छन्दस् को 'श्रोत्र' सर्वादेश करने से 'श्रोत्र+घ' हुआ। अब **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) से प्रत्यय के आदि घकार को इय् आदेश तथा **यस्येति च** (२३६) सूत्रद्वारा भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'श्रोत्रियः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इस का साहित्य में प्रयोग यथा— **ते श्रोत्रियास्तत्त्वविनिश्चयाय भूरिश्रुतं शाश्वतमाद्रियन्ते** (मालतीमाधव १.५)।

---

१. एक से लेकर शत तक की गिनती जानने के लिये इस व्याख्या के चतुर्थभागस्थ समासप्रकरणान्तर्गत (९६०, ९६१) सूत्रों की व्याख्याओं तथा फुटनोटों का अवलोकन करना चाहिये।

इनिँ (meaning → मतुप्)

ध्यान रहे कि यहां **तदधीते तद्वेद** (१०५३) से अण् प्रत्यय प्राप्त था उस का यह निपातन अपवाद है।

वेत्यनुवृत्तेश्छान्दसः।

प्रकृतसूत्र में मण्डूकप्लुतिन्याय से **तावतिथं ग्रहणमिति लुग्वा** (५.२.७७) सूत्र से 'वा' पद का अनुवर्त्तन होता है। इस से यह निपातन विकल्प से प्रवृत्त होता है। जिस पक्ष में निपातन प्रवृत्त नहीं होता वहां 'छन्दस् अम्' से 'अधीते' अर्थ में **तदधीते तद्वेद** (१०५३) सूत्र द्वारा अण् प्रत्यय, सुँब्लुक् तथा प्रत्यय के णित्त्व के कारण **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदिवृद्धि कर विभक्ति लाने से 'छान्दसः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। **श्रोत्रियच्छान्दसौ समौ** इत्यमरः।

अब क्रियाविशेषण पूर्वशब्द से कर्त्ता अर्थ में इनिँ प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११८२) **पूर्वादिनिः** ।५।२।८६॥

पूर्वं कृतमनेन—पूर्वी ॥

अर्थः—क्रियाविशेषण पूर्वशब्द से 'अनेन' (इस से) अर्थात् कर्ता अर्थ में तद्धित-सञ्ज्ञक इनिँ प्रत्यय हो।

व्याख्या—पूर्वात् ।५।१। इनिः ।१।१। अनेन ।३।१। (**श्राद्धमनेन भुक्तमिनिँठनौ** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। व्याख्यानद्वारा 'पूर्वं कृतम्, पूर्वं भुक्तम्' इत्यादियों में क्रियाविशेषणरूपेण प्रयुक्त पूर्व-शब्द का यहां ग्रहण अभीष्ट है। क्रियाविशेषण सदा नपुंसक में द्वितीयैकवचनान्त प्रयुक्त होते हैं[1]। अतः यहां भी द्वितीयैकवचनान्त पूर्वशब्द से प्रत्यय की उत्पत्ति समझनी चाहिये। 'अनेन' में कर्तृतृतीया है अतः यहां कर्त्ता अर्थ में ही प्रत्यय अभीष्ट है। क्रिया के बिना न तो कोई कर्त्ता होता है और न क्रियाविशेषण, अतः यहां कृतम्, भुक्तम्, गतम् आदि किसी भी क्रिया को प्रकरणानुसार ऊपर से समझ लिया जाता है। अर्थः—(पूर्वात्) क्रियाविशेषण पूर्वशब्द से (अनेन इत्यर्थे) कर्ता अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (इनिः) इनिँ प्रत्यय हो जाता है।

इनिँ में इकार उच्चारणार्थ एवं नकार को इत्सञ्ज्ञा से बचाने के लिये जोड़ा गया है। प्रत्यय का 'इन्' मात्र अवशिष्ट रहता है। उदाहरण यथा—

पूर्वं कृतम् अनेन—पूर्वी (पहले कर चुका व्यक्ति)। यहां 'पूर्व अम्' इस द्वितीयै-कवचनान्त क्रियाविशेषण पूर्वशब्द से 'अनेन' अर्थात् कर्त्ता अर्थ में **पूर्वादिनिः** (११८२) सूत्र से तद्धितसञ्ज्ञक इनिँप्रत्यय, प्रत्यय के अनुनासिक इकार का लोप, सुँब्लुक् तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का भी लोप करने से—पूर्व् + इन् = 'पूर्विन्' यह इन्नन्त शब्द निष्पन्न होता है। इस की रूपमाला शार्ङ्गिन्शब्द के समान चलती

---

१. **क्रियाविशेषणानां कर्मत्वं क्लीबता चेष्यते** (काशिका २.४.१८)। इस की व्याख्या समासप्रकरणस्थ **सामान्ये नपुंसकम्** (वा० ६४) पर देखें।

इनि

है— पूर्वी, पूर्विणौ, पूर्विणः । प्रथमैकवचन में सुँविभक्ति ला कर **सौ च** (२८५) से उपधा-दीर्घ, हल्ङ्यादिलोप (१७९) तथा **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से पदान्त नकार का भी लोप करने पर 'पूर्वी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । पूर्वी देवदत्तः—अर्थात् किसी क्रिया को पहले कर चुका देवदत्त । यहां क्रिया का प्रयोग न होने पर भी कृतम्, भुक्तम्, पीतम्, श्रुतम् आदि किसी भी क्रिया का या तो शब्दान्तरसान्निध्य से अथवा प्रकरण से बोध हो जाया करता है[1] ।

अब पूर्वशब्दान्त से भी इसी इनिँप्रत्यय का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११८३) सपूर्वाच्च ।५।२।८७।।**

विद्यमानपूर्वादपि पूर्वशब्दाद अनेनेति कर्त्रर्थे तद्धित इनिः प्रत्ययः स्यात्) । कृतपूर्वी ।।

अर्थः—जिस के पूर्व में कोई दूसरा पद विद्यमान हो तो ऐसे पूर्वशब्दान्त समस्त शब्द से परे भी 'अनेन' अर्थात् कर्त्ता अर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक इनिँ प्रत्यय हो ।

व्याख्या—सपूर्वात् ।५।१। च इत्यव्ययपदम् । पूर्वात् ।५।१। इनिः ।१।१। (**पूर्वादिनिः** सूत्र से) । अनेन ।३।१। (**श्राद्धमनेन भुक्तमिनिँठनौ** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । विद्यमानं पूर्वम् (पूर्व-पदम्) यस्य तत् सपूर्वम्, तस्मात्=सपूर्वात्, बहुव्रीहिसमासः । सहस्य स इत्यादेशः । पीछे केवल पूर्वशब्द से कर्ता अर्थ में इनिँ का विधान किया गया था परन्तु अब पूर्व-शब्दान्त से भी उस का विधान किया जा रहा है । अर्थः—(सपूर्वात्) जिस के साथ कोई पूर्वपद जुड़ा हुआ हो ऐसे (पूर्वात्) पूर्वशब्द से परे (च) भी (अनेन इत्यर्थे) कर्त्ता अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (इनिँः) इनिँ प्रत्यय होता है । उदाहरण यथा—

---

१. शब्दान्तरसान्निध्य से क्रिया का बोध यथा—'पूर्वी कटम्, पूर्वी ओदनम्, पूर्वी पयः' यहां कटादि पदों के सान्निध्य से क्रमशः कृतम्, भुक्तम्, पीतम् आदि क्रियाओं का बोध होता है । प्रकरण से क्रिया के बोध का एक सुन्दर उदाहरण वाल्मीकि-रामायण (३.१८.४) का यह पद्य है—

श्रीमानकृतदारश्च लक्ष्मणो नाम वीर्यवान् ।
अपूर्वी भार्यया चार्थी तरुणः प्रियदर्शनः ।
अनुरूपश्च ते भर्त्ता रूपस्यास्य भविष्यति ।।

श्रीरामचन्द्र शूर्पणखा को कह रहे हैं कि यह सुन्दर युवा लक्ष्मण जिसने पहले कभी स्त्रीसुख को नहीं भोगा, तेरे रूप के अनुरूप तेरा पति बन जायेगा (अतः तू उसी के पास जा) । यहां प्रकरणतः 'अपूर्वी' की क्रिया का पता चल जाता है—पूर्वं भार्यासुखं ज्ञातमनेनेति पूर्वी, न पूर्वी अपूर्वी, **पूर्वादिनिः** (५.२.८६) इति इनिँप्रत्ययः (देखें रामायण पर गोविन्दराजकृत भूषणटीका) ।

पूर्वं कृतम् अनेन—कृतपूर्वी (जो पहले कर चुका हैं ऐसा व्यक्ति)। यहां पहले 'पूर्वं कृतम्—कृतपूर्वम्' इस प्रकार 'भूतपूर्वः' की तरह सुँप्सुँपासमास (९०६) कर लेना चाहिये। अब 'कृतपूर्व सुँ' इस प्रकार पूर्वशब्दान्त प्रथमान्त से 'अनेन = इस से अर्थात् कर्ता' अर्थ में **सपूर्वाच्च** (११८३) सूत्र से इनिँप्रत्यय, इकार अनुबन्ध का लोप, तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (सुँ) का लुक् तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का भी लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'कृतपूर्वी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। कृतपूर्वी कटं देवदत्तः (देवदत्त चटाई को पहले बना चुका है)।

इसी प्रकार—भुक्तं पूर्वमनेन—भुक्तपूर्वी। भुक्तपूर्वी सक्तून् यज्ञदत्तः। श्रुतं पूर्वमनेन—श्रुतपूर्वी कथां ब्रह्मदत्तः। इत्यादि।[1]

विशेष वक्तव्य—यहां 'कट' आदि कर्म का सम्बन्ध 'कृत' आदि क्तान्तों के साथ साक्षात् नहीं है अन्यथा सापेक्ष होने के कारण 'कृत' और 'पूर्व' शब्दों का न तो समास हो सकता और न ही तद्धित प्रत्यय की उत्पत्ति। अतः 'कृत' आदि में क्तप्रत्यय कर्म की अविवक्षा में **नपुंसके भावे क्तः** (८७०) द्वारा भाव में ही समझना चाहिये। इस तरह समास और उस से परे तद्धितप्रत्यय के निर्बाध सिद्ध हो जाने के अनन्तर 'कृतपूर्वी किम्? कटम्' इत्यादि रीति से 'कृतपूर्वी' आदि पदों का 'कट' आदि के साथ सम्बन्ध जुड़ता है। इस प्रकार 'कट' आदि अनुक्त कर्म रहते हैं क्योंकि न तो वे कृत् (क्त) द्वारा उक्त होते हैं और न ही तद्धितद्वारा (तद्धितप्रत्यय तो यहां कर्त्ता अर्थ में हुआ है)। तब इस अनुक्त कर्म में **कर्मणि द्वितीया** (८९१) द्वारा द्वितीया विभक्ति हो जाती है जैसाकि ऊपर के उदाहरणों में दर्शाया गया है।

अब इष्टादिगणपठित प्रातिपदिकों से परे भी 'अनेन' अर्थात् कर्त्ता अर्थ में इनिँ प्रत्यय का विधान करते हैं—

---

१. यहां यह शङ्का उत्पन्न होती है कि इन पूर्वशब्दान्तों से इनिँप्रत्यय तो **पूर्वादिनिः** (११८२) सूत्र से ही तदन्तविधि के आश्रयण से सिद्ध हो सकता था पुनः इस नये सूत्र के बनाने की क्या आवश्यकता? इस का उत्तर यह है कि आचार्य इस नये सूत्र को बना कर एक परिभाषा का ज्ञापन कराना चाहते हैं—

ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्न (प०)।

अर्थात् जब किसी प्रातिपदिक का ग्रहण कर कोई विधि विधान की जाती है तो वह विधि उस प्रातिपदिक से तो होती है परन्तु तदन्तों से नहीं। यथा—**नडादिभ्यः फक्** (४.१.९९) सूत्रद्वारा नडादियों से गोत्रापत्य में फक् प्रत्यय का विधान किया गया है—नडस्य गोत्रापत्यं नाडायनः। परन्तु यह विधि नडाद्यन्तों से न होगी—सूत्रनडस्य गोत्रापत्यं सौत्रनाडिः, यहां फक् न हो कर **अत इञ्** (१०१४) से इञ् हो कर **अनुशतिकादीनां च** (१०९५) से उभयपदवृद्धि हो जाती है।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११८४) इष्टादिभ्यश्च ।५।२।८८॥**

(प्रथमान्तेभ्य इष्टादिभ्योऽनेनेत्यर्थे तद्धित इनिँः प्रत्ययः स्यात्)। इष्टमनेन इष्टी। अधीती॥

अर्थः—प्रथमान्त इष्ट आदि प्रातिपदिकों से 'अनेन' (इस से) अर्थात् कर्ता अर्थ में तद्धितसंज्ञक इनिँप्रत्यय हो।

व्याख्या—इष्टादिभ्यः ।५।३। च इत्यव्ययपदम्। इनिँः ।१।१। (**पूर्वादिनिः** सूत्र से)। अनेन ।३।१। (**श्राद्धमनेन भुक्तमिनिँठनौ** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—इष्टशब्द आदिर्येषान्ते इष्टादयः, तेभ्यः=इष्टादिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः। इष्टादि एक गण है जिस में क्तप्रत्ययान्त कुछ शब्द संगृहीत हैं[1]। यहां समर्थविभक्ति का निर्देश न होने पर भी सामर्थ्यात् प्रथमा को ही समर्थविभक्ति समझ लिया जाता है। अर्थः—(इष्टादिभ्यः) इष्ट आदि प्रथमान्त प्रातिपदिकों से (अनेन इत्यर्थे) 'इस से' अर्थात् कर्ता अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (इनिँः) इनिँ प्रत्यय हो जाता है। उदाहरण यथा—

इष्टमनेन—इष्टी (यज्ञ कर चुका व्यक्ति)। 'इष्ट' शब्द **यजँ देवपूजासंगतिकरण-दानेषु** ((भ्वा० उभय०) धातु से कर्म की अविवक्षा में भाव में **नपुंसके भावे क्तः** (८७०) से क्तप्रत्यय, **वचिस्वपियजादीनां किति** (५४७) द्वारा सम्प्रसारण, **सम्प्रसारणाच्च** (२५८) से पूर्वरूप तथा अन्त में षत्व (३०७) और ष्टुत्व (६४) करने से सिद्ध होता है। यहां 'इष्ट सुँ' इस प्रथमान्त से 'अनेन' अर्थात् कर्त्ता अर्थ में प्रकृत **इष्टादिभ्यश्च** (११८४) सूत्रद्वारा इनिँ प्रत्यय, अनुबन्ध इकार का लोप तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (सुँ) का भी लुक् करने पर—इष्ट+इन्। अब **यस्येति च** (२३६) सूत्रद्वारा भसंज्ञक अकार का लोप कर 'इष्टिन्' शब्द उपपन्न हो जाता है। इस से परे प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँप्रत्यय, उपधादीर्घ (२८५), हल्ङ्यादिलोप (१७९) तथा पदान्त नकार का भी लोप करने पर 'इष्टी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इष्टी, इष्टिनौ, इष्टिनः। यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि जब क्तान्त से तद्धित इनिँप्रत्यय किया जाता है तब उस इन्नन्त के कर्म में **क्तस्येन्विष-**

---

१. इष्टादिगण यथा—

इष्ट। पूर्त्त। उपासादित (उपसादित)। निगदित। परिगदित। परिवादित। निकथित। निषादित। निपठित। संकलित। परिकलित। संरक्षित। परिरक्षित। अर्चित। गणित। अवकीर्ण। आयुक्त। गृहीत। आम्नात। श्रुत (आम्नातश्रुत)। अधीत। आसेवित। अवधारित। अवकल्पित। निराकृत। उपकृत। उपाकृत। अनुयुक्त। अनुगणित। अनुपठित। व्याकुलित। परिकथित। संकलित। विकलित। निपतित। पठित। पूजित। परिगणित। उपगणित। अपवारित। उपनत। निगृहीत। अपचित॥

क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसंख्यानम् (वा० २.३.३६) वार्त्तिकद्वारा सप्तमी विभक्ति हुआ करती है[1] । यथा—इष्टी अध्वरेषु (यज्ञों को कर चुका व्यक्ति)।

इस सूत्र का दूसरा मूर्धाभिषिक्त उदाहरण यथा—

अधीतमनेन —अधीती (जिस ने अध्ययन कर रखा है ऐसा व्यक्ति) । यहां 'अधीत सुँ' से 'अनेन' अर्थात् कर्ता अर्थ में **इष्टादिभ्यश्च** (११८४) से इनिँ प्रत्यय, इकार अनुबन्ध का लोप, सुँब्लुक् तथा **यस्येति च** लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'अधीती' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। अधीती, अधीतिनौ, अधीतिनः । कर्म का योग होने पर पूर्वोक्त वार्त्तिक से कर्म में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग होगा । यथा—अधीती व्याकरणे (जिस ने व्याकरण का अध्ययन कर रखा है ऐसा व्यक्ति) ।

इष्टादियों से इनिँ के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) पठितमनेन—पठिती शास्त्रे ।
(२) अर्चितमनेन—अर्चिती गोविन्दे ।
(३) उपकृतमनेन—उपकृती मित्रेषु ।
(४) कृतमनेन—कृती कृत्येषु ।
(५) निराकृतमनेन—निराकृती शत्रुषु ।
(६) आम्नातमनेन—आम्नाती निगमेषु ।
(७) निगृहीतमनेन—निगृहीती शत्रुषु ।
(८) परिगणितमनेन—परिगणिती ज्योतिषि ।
(९) पूजितमनेन—पूजिती देवेषु ।
(१०) संरक्षितमनेन—संरक्षिती भृत्यवर्गे ।[2]

---

१. जब क्तान्त से तद्धितप्रत्यय इनिँ का विधान किया गया हो तो उस इनिँप्रत्ययान्त के कर्म में सप्तमी विभक्ति हो – यह इस वार्त्तिक का तात्पर्य है । यहां प्रकृत में 'इष्ट' इस क्तान्त से इनिँ प्रत्यय करने से 'इष्टिन्' शब्द बना है तो इस इष्टिन् के कर्म (अध्वर) में सप्तमी हो जाती है– इष्टी अध्वरेषु । 'कृतपूर्वी कटम्' में इस वार्त्तिकद्वारा 'कट' कर्म में सप्तमी नहीं होती, कारण कि वहां क्तान्त से इनिँ नहीं किया गया अपितु 'कृतपूर्व' से किया गया है ।

२. नारायणभट्ट ने प्रक्रियासर्वस्व में इस सूत्र के उदाहरण दो शार्दूलविक्रीडित पद्यों में इस प्रकार बद्ध किये हैं—

इष्टी सर्वमखे श्रुती श्रुतिशते तत्त्वे गृहीत्यर्चिती
गोविन्दे पठिती तथाऽनुपठिती शास्त्रेषु सर्वेष्वपि ।
शत्रौ व्याकुलिती तथा खलजने दूरं निराकृत्यसौ
मित्रेषूपकृती विभाति नृपतिर्दीनेषु संरक्षिती ॥१॥
आम्नाती निगमे ग्रहेषु गणिती धर्मेऽवधारित्यसा-
वाचारे परिरक्षिती निकथिती श्रेयस्सु नित्यं नृणाम् ।
न्यायेष्वप्यवकल्पिती परिकलित्युच्चैः कलाकौशले
वेद्ये संकलिती विराजति सुधीरासेविती केशवे ॥२॥

कुछ साहित्यगत उदाहरण यथा—

(क) **न खल्वनिर्जित्य रघुं कृती भवान्** । (रघु० ३.५१)

(ख) **कृती श्रुती वृद्धमतेषु धीमां-**
स्त्वं पैतृकं चेद्वचनं न कुर्याः ।
विच्छिद्यमानेऽपि कुले परस्य
पुंसः कथं स्यादिह पुत्रकाम्या ॥ (भट्टि० ३.५२)

(ग) **अध्वरेष्विष्टिनां पाता पूर्त्ती कर्मसु सर्वदा ।**
पितुर्नियोगाद्राजत्वं हित्वा योऽस्थगमद्वनम् ॥ (भट्टि० ५.७६)

अभ्यास [१२]

(१) निम्नस्थ विग्रहों के तद्धितान्त रूप ससूत्र सिद्ध करें—

१. तिलानां भवनं क्षेत्रम् ।	८. पण्डा सञ्जाताऽस्य ।
२. तत् परिमाणमस्य ।	६. उभाववयवौ अस्य ।
३. पञ्च अवयवा अस्य ।	१०. पूर्वं कृतमनेन ।
४. किं परिमाणमस्याः ।	११. षण्णां पूरणः ।
५. भुक्तं पूर्वमनेन ।	१२. द्वयोः पूरणः ।
६. छन्दोऽधीते ।	१३. कतीनां पूरणः ।
७. इष्टम् अनेन ।	१४. इदं परिमाणमस्य ।

(२) विग्रह दर्शाते हुए निम्नस्थ प्रयोगों की सिद्धि करें—

१. तारकितं नभः । २. हैयङ्गवीनम् । ३. जानुदघ्नम् । ४. ऊरुद्वयसम् । ५. शालेयम् । ६. एतावान् । ७. मौद्गीनम् । ८. एकादशः । ६. पञ्चमः । १०. विंशः । ११. तृतीयः । १२. त्रितयम् । १३. चतुर्थः । १४. तुरीयः । १५. कृतपूर्वी कटम् । १६. चतुष्टयम् ।

(३) अधोलिखित सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—

१. संख्याया अवयवे तयप् । २. तस्य पूरणे डट् । ३. नान्तादसंख्यादेर्मँट् । ४. धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् । ५. पूर्वादिनिँः । ६. सपूर्वाच्च । ७. यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुँप् । ८. प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः । ६. षट्-कति-कतिपय-चतुरां थुँक् । १०. उभादुदात्तो नित्यम् । ११. तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच् ।

(४) निम्नस्थ सूत्रों का केवल अर्थ लिखें—

१. इष्टादिभ्यश्च । २. श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते । ३. त्रेः सम्प्रसारणं च । ४. ति विंशतेर्डिति । ५. व्रीहिशाल्योर्ढक् । ६. किमिदम्भ्यां वो घः । ७. इदंकिमोरीश्की । ८. द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा । ६. द्वेस्तीयः । १०. हैयङ्गवीनं सञ्ज्ञायाम् ।

(५) एक से ले कर सौ तक की संख्याएं क्रमशः संस्कृत में लिखें ।

(६) निम्नस्थ संख्याओं के पूरणप्रत्ययान्त रूप पुं० और स्त्री० दोनों में निर्दिष्ट करें—
२, ३, ४, ५, ६, ७, ११, १२, १३, १६, १७, १८, १९, २०, २२, ४०, ४१, ५०, ५१, ५२, ६०, ७०, ८०, ८२, ८३, ८८, ९०, १००।

(७) निम्नलिखित वचनों की व्याख्या करें—
[क] भवत्यस्मिन्निति भवनम् ।
[ख] असंख्यादेः किम् ? एकादशः ।
[ग] नान्तात् किम् ? विंशः ।
[घ] कतिपयशब्दस्यासंख्यात्वेऽपि अत एव ज्ञापकाड्डट् ।
[ङ] वेत्यनुवृत्तेश्छान्दसः ।
[च] दुह्यत इति दोहः क्षीरम् ।
[छ] चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च ।
[ज] ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्न ।
[झ] प्रथमश्च द्वितीयश्च ऊर्ध्वमाने मतौ मम ।

(८) इयत् की सिद्धि दर्शा कर इस पर सुप्रसिद्ध सुभाषित का सार्थ विवेचन करें ।

(९) निम्नस्थ युगलों में शुद्ध रूप का विवेचन करें—
हस्तमात्रः पटः, हस्तद्वयसः पटः । श्रोत्रियः, छान्दसः । तुरीयः, चतुर्थः । द्विसप्ततिः, द्विसप्ततः । एकनवतिः, एकनवती । तुर्यः, चतुर्थः । त्रयम्, त्रितयम् ।

(१०) इष्टादिगण के इनिँप्रत्ययान्त कोई से पाञ्च प्रयोग विग्रहपूर्वक दर्शाएं ।

(११) 'पूर्वी' में क्रिया का किस प्रकार बोध हो सकता है सोदाहरण स्पष्ट करें ।

(१२) निम्नस्थ प्रश्नों का समुचित उतर दीजिये—
[क] 'अधीती व्याकरणे' में कर्मणि सप्तमी कैसे हो जाती है ?
[ख] 'एकादशः' में डट् को मँट् का आगम क्यों नहीं होता ?
[ग] 'तृतीयः' में हलः द्वारा दीर्घ क्यों नहीं होता ?
[घ] ति विंशतेर्डिति में अलोऽन्त्यविधि क्यों प्रवृत्त नहीं होती ?
[ङ] असंख्यादिसंख्या का क्या अभिप्राय है ?
[च] 'विंशः' की तरह 'विंशतितमः' में ति का लोप क्यों नहीं ?
[छ] 'एक' का पूरणप्रत्ययान्त रूप क्या बनेगा ?
[ज] 'चतुष्टयम्' की तरह 'षट्तयम्' में ष्टुत्व क्यों नहीं होता ?
[झ] 'श्रुतपूर्वी वार्त्ताम्' यहां वार्त्ताम् में द्वितीया कैसे होगी ?

तद् अस्य अस्ति, तद् अस्मिन् अस्ति मतुँप्

[ज] 'हैयङ्गवीनम्' और 'श्रोत्रियः' में कौन कौन से कार्य निपातित किये गये हैं।

[लघु०] इति भवनाद्यर्थकाः ॥

(यहां पर भवनाद्यर्थक प्रत्ययों का विवेचन समाप्त होता है।)

——:०:——

अथ मत्वर्थीयाः

अब अष्टाध्यायी के पञ्चमाध्याय के द्वितीयपादस्थ मत्वर्थीय प्रत्ययों का सुव्यवस्थित प्रकरण प्रारम्भ किया जा रहा है। मतुँप् प्रत्यय के पकार अनुबन्ध का लोप करने पर 'मतुँ' रह जाता है, उसी का यहां ग्रहण अभीष्ट है। मतोरर्थः—मत्वर्थः, षष्ठी-तत्पुरुषः। मत्वर्थे भवा मत्वर्थीयाः। गहादियों (१०७८) के आकृतिगण होने के कारण यहां मत्वर्थशब्द से भव अर्थ में छ प्रत्यय हो कर छकार को ईय् आदेश (१०१३) करने से 'मत्वर्थीय' शब्द निष्पन्न होता है। इसे 'मतुबर्थीय' भी कहा जाता है। 'वह इस के पास है' या 'वह इस में है' इन अर्थों में मतुँप् प्रत्यय का विधान किया जाता है। यथा—शक्तिरस्त्यस्य अस्मिन् वा—शक्तिमान्, बुद्धिमान् आदि। मतुँप् के अतिरिक्त इसी अर्थ में होने वाले इनिँ, ठन्, लच्, श, न, इलच् आदि सब प्रत्यय मत्वर्थीय कहलाते हैं। प्रायः सब भारतीय भाषाओं में मत्वर्थीयों के प्रचुर प्रयोग पाये जाते हैं। संस्कृतसाहित्य में इन की पदे पदे उपलब्धि होती है। अतः विद्यार्थियों को यह प्रकरण भली-भान्ति हृदयङ्गम कर लेना चाहिये।

अब सर्वप्रथम मतुँप् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम् (११८५)

तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप् ।५।२।९४॥

(प्रथमान्तात् प्रातिपदिकाद् अस्यास्तीत्यर्थे अस्मिन्नस्तीत्यर्थे वा तद्धितसञ्ज्ञो मतुँप् प्रत्ययः स्यात्)। गावोऽस्यास्मिन् वा सन्ति—गोमान् ॥

अर्थः—'वह इस का है' अथवा 'वह इस में है' इन अर्थों में प्रथमान्त प्रातिपदिक से परे तद्धितसंज्ञक मतुँप् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तत् ।५।१। (प्रथमान्त के अनुकरण तद् शब्द से परे पञ्चमी का सौत्र लुक् समझना चाहिये)। अस्य ।६।१। अस्ति इति लँटि अस्‌धातोः प्रथमपुरुषैकवचनान्तं क्रियापदम्। अस्मिन् ।७।१। इति इत्यव्ययपदम्। मतुँप् ।१।१। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। 'अस्ति' इस क्रियापद की आवृत्ति की जाती है। अर्थः—(तत्=तस्मात्=प्रथमान्तात्) प्रथमान्त प्रातिपदिक से परे (अस्य अस्ति इत्यर्थे) 'वह इस के पास है' इस अर्थ में अथवा (अस्मिन् अस्ति

इत्यर्थे) 'वह इस में है' इस अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (मतुँप्) मतुँप् प्रत्यय हो जाता है।

मतुँप् का पकार **हलन्त्यम्** (१) सूत्रद्वारा तथा अनुनासिक उकार **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (२८) सूत्रद्वारा इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'मत्' मात्र शेष रहता है। पकार अनुबन्ध **अनुदात्तौ सुँप्पितौ** (३.१.४) सूत्र से अनुदात्तस्वर के लिये तथा उकार अनुबन्ध **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** (२८९) आदि उगित्कार्यों के लिये जोड़ा गया है। उदाहरण यथा—

गावः सन्ति अस्य—गोमान्, अथवा—गावः सन्ति अस्मिन्—गोमान् (गौएं हैं जिस की अर्थात् गौओं वाला व्यक्ति, अथवा—गौएं हैं जिस में अर्थात् गौओं वाला प्रदेश आदि)। यहां 'गो जस्' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से 'सन्त्यस्य (इस की है)' इस अर्थ में अथवा 'सन्त्यस्मिन् (इस में हैं)' इस अर्थ में प्रकृत **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र से तद्धितसञ्ज्ञक मतुँप् प्रत्यय, उप् का लोप, तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (जस्) का भी लुक् हो कर 'गोमत्' शब्द निष्पन्न होता है। अब विभक्तिकार्य के प्रसङ्ग में इस से परे प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँप्रत्यय ला कर **अत्वसन्तस्य चाऽधातोः** (३४३) से उपधादीर्घ, **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** (२८९) से नुँम् का आगम, **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुँतिस्यपृक्तं हल्** (१७९) से सुँ के अपृक्त सकार का लोप तथा अन्त में **संयोगान्तस्य लोपः** (२०) से संयोगान्त तकार का भी लोप करने पर 'गोमान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार—धृतिमान्, शान्तिमान्, बुद्धिमान्, मातृमान्, पितृमान्, शक्तिमान् आदि की सिद्धि जाननी चाहिये। स्त्रीत्व की विवक्षा में मतुँबन्तों के उगित् होने के कारण **उगितश्च** (१२५०) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय हो जाता है। यथा—गोमती शाला, धृतिमती वीराङ्गना, बुद्धिमती आर्या, शक्तिमती दुर्गा इत्यादि।

प्रकृतसूत्र में मतुँप् के 'तदस्त्यस्य' और 'तदस्त्यस्मिन्' ये दो अर्थ बताये गये हैं। दोनों में 'अस्ति' द्वारा एकवचन का प्रयोग किया गया है, परन्तु यहां एकत्व विवक्षित नहीं, लक्ष्य में एकत्व, द्वित्व और बहुत्व कुछ भी हो सकता है। इसीप्रकार 'अस्य' द्वारा एकत्वनिर्देश में भी यही समझना चाहिये। परन्तु 'अस्ति' के कारण वर्त्तमानकाल की विवक्षा तो रहेगी ही। अतः गत या भावी धन के कारण कोई व्यक्ति 'धनवान्' नहीं कहा जायेगा। वर्त्तमान में धन होने से ही वह धनवान् होगा।

यहां सूत्र में मतुँप् के यद्यपि दो ही अर्थ निर्दिष्ट किये गये हैं तथापि 'इति' ग्रहण के कारण इस के इन दो मुख्य अर्थों के साथ साथ अन्य भी अनेक अनिर्दिष्ट अर्थ संगृहीत समझने चाहियें। 'इति' शब्द के द्वारा लोकप्रसिद्ध विवक्षा की ओर संकेत किया गया है। भाष्यकार ने एक प्राचीन श्लोक को उद्धृत करते हुए उन अर्थों को इस प्रकार निर्दिष्ट किया है—

भूम-निन्दा-प्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।
सम्बन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥[1]

'अस्ति' की विवक्षा में होने वाले मतुँप् आदि प्रत्ययों के प्रयोगों में प्रायः ये छः विषय पाये जाते हैं—

(१) भूमन् (बहुत्व) ।[2] अर्थात् होने वाली वस्तुओं का बाहुल्य । यथा—बह्व्यो गावः सन्त्यस्य गोमान् । एक गाय के होने से कोई 'गोमान्' नहीं होता । इस के लिये गौओं की बहुतायत होनी चाहिये । हां ! यह बहुतायत अपेक्षाकृत हो सकती है । क्योंकि जहाँ पाञ्च-दस गौओं के होने से ही कोई व्यक्ति 'गोमान्' कहाता है वहां राजा सौ-दो सौ गौओं के होने से भी 'गोमान्' नहीं होता । इसी प्रकार—बहु धनमस्त्यस्य धनवान्, बहूनि द्वाराणि सन्त्यस्या द्वारवती पुरी (द्वारिका नगरी) आदि में समझना चाहिये ।

(२) निन्दा । निन्दा को व्यक्त करने के लिये भी क्वचित् मतुँप् आदि प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है । यथा—कुष्ठी पुरुषः (कोढ़ी मनुष्य) । ककुदावर्त्तिनी कन्या (ककुदावर्त्तों वाली लड़की) । सङ्खादकी (दान्तों वाला) । इत्यादि ।

(३) प्रशंसा । यथा -- प्रशस्तं रूपमस्त्यस्य रूपवान् । प्रशस्ता माताऽस्त्यस्य मातृमान् । पितृमान् । आचार्यवान् । इत्यादि ।

(४) नित्ययोग । यथा—नित्यं क्षीरमस्त्येषाम्—क्षीरिणो वृक्षाः । कण्टकिनो द्रुमाः । यहां क्षीर या कांटों का वृक्षों के साथ नित्ययोग विवक्षित है ।

(५) अतिशायन (आधिक्य) । यथा—अतिशयितम् उदरम् अस्त्यस्या उदरिणी कन्या (बढ़े हुए पेट वाली कन्या) । बलवान् मल्लः (अधिक बल वाला पहलवान) ।

(६) सम्बन्ध (संयोग) । यथा—दण्डोऽस्त्यस्य दण्डी, छत्रमस्त्यस्य छत्री । यहां दण्ड और छत्र का व्यक्ति के साथ संयोग व्यक्त होता है । घर में रखे दण्ड और छत्र से कोई व्यक्ति दण्डी या छत्री नहीं कहलाता ।[3]

विशेष वक्तव्य—यहां एक बात विशेषतः ध्यातव्य है कि जब एक बार कोई मतुँबर्थीय प्रत्यय कहीं हो चुकता है तो वहां पुनः दूसरी बार मतुँबर्थ में वह प्रत्यय या

---

१. येऽस्तिविवक्षायां मतुँबादयो विधीयन्ते ते भूमादिषु विषयेषु भवन्तीति वाक्यार्थः—इति शेखरे नागेशः ।

२. बहोर्भावो भूमा । बहु + इमनिँच् = बहु + इमन् । **बहोर्लोपो भू च बहोः** (१२२७) सूत्र से इमनिँच् के आदि इकार का लोप तथा 'बहु' को 'भू' आदेश हो जाता है—भू + मन् = भूमन् = भूमा । इमनिँच्प्रत्ययान्त पुंलिङ्ग होते हैं ।

३. सम्बन्ध (संयोग) यद्यपि उभयनिष्ठ होता है तथापि मतुँप् आदि प्रत्यय दण्ड आदि से ही किये जाते हैं पुरुष आदि से नहीं । क्योंकि 'पुरुषवान् दण्डः' इत्यादि प्रकारेण लोक में व्यवहार नहीं देखा जाता । यह सब सूत्रगत 'इति' शब्द का ही माहात्म्य है कि लोकप्रसिद्धि का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता ।

उसके समान रूप वाला कोई दूसरा प्रत्यय नहीं होता। यथा—धनमस्यास्तीति धनवान्। यहां धनप्रातिपदिक से मतुँप् प्रत्यय कर उस के मकार को वकार आदेश करने से 'धनवत्' शब्द बना है। अब इस से धनवानस्यास्तीति इस विग्रह में पुनः मतुँप् प्रत्यय नहीं होगा। कारण कि दोनों मतुँबर्थीय प्रत्यय समानरूप हैं। हां ! यदि कोई दूसरा विरूप मत्वर्थीय प्रत्यय प्राप्त होता है तो वह अवश्य हो जाता है। उदाहरण यथा—दण्डोऽस्यास्तीति दण्डी, दण्डशब्द से **अत इनिँठनौ** (११९१) सूत्रद्वारा मत्वर्थीय इनिँ प्रत्यय करने से 'दण्डिन्' शब्द बना है। इस से 'दण्डिनः सन्त्यस्या इति दण्डिमती शाला' इस प्रकार दुबारा मत्वर्थ में दूसरा प्रत्यय (मतुँप्) हो जाता है। कारण स्पष्ट है कि पहले हुए मत्वर्थीय इनिँ प्रत्यय से यह मतुँप् प्रत्यय स्पष्टतः विरूप है। कहा भी है—

शैषिकान्मतुबर्थीयाच्छैषिको मतुबर्थकः।
सरूपः प्रत्ययो नेष्टः सन्नन्तान्न सनिष्यते॥

इस कारिका की व्याख्या पीछे शैषिकप्रकरणस्थ **शेषे** (१०६८) सूत्र पर की जा चुकी है वह यहां पुनर्ध्यातव्य है।

नोट—यहां मतुँप् के प्रकरण में पूर्वपठित **मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः** (१०६५) सूत्र का भी ध्यान रखना बहुत आवश्यक है। इस सूत्र द्वारा मकारान्त, अवर्णान्त, मकारोपध तथा अवर्णोपध प्रातिपदिकों से परे मतुँप् के मकार को वकार आदेश हो जाता है परन्तु यवादिगणपठित शब्दों से परे नहीं होता।

मकारान्तों से यथा—शम् (कल्याणम्) अस्त्यस्य—शंवान्। किंवान्। अवर्णान्तों से यथा—गुणाः सन्त्यस्यास्मिन् वा गुणवान्। ज्ञानवान्। वृक्षवान्। मालावान्। विद्यावान्। प्रज्ञावान्। मकारोपधों से यथा—लक्ष्मीरस्त्यस्य लक्ष्मीवान्। शमीवान्। अवर्णोपधों से यथा—पयोऽस्त्यस्य पयस्वान्। यशस्वान्। भास्वान्।

यवादियों से परे नहीं होता। यथा—यवाः सन्त्यस्य यवमान्। भूमिमान्। कृमिमान्। ऊर्मिमान्। ककुद्मान्। इत्यादि।

इस के अतिरिक्त **झयः** (१०६४) सूत्र द्वारा झयन्त से परे भी मतुँप् के मकार को वकार आदेश हो जाता है। यथा—मरुत्वान्। विद्युत्वान्। उदश्वित्वान्। अग्निचित्वान्। दृषद्वान्। इत्यादि।[1]

---

१. यहां यह ध्यातव्य है कि मतुँबर्थीयों का विग्रह शब्दों के हेरफेर से कई प्रकार से किया जाता है। निदर्शनार्थ 'गोमान्' का विग्रह यथा—

१. गावः सन्त्यस्य गोमान्। २. गावः सन्त्यस्येति गोमान्। ३. गावो विद्यन्तेऽस्य गोमान्। ४. गावो विद्यन्तेऽस्येति गोमान्। ५. गावः सन्त्यस्मिन् गोमान्। ६. गावः सन्त्यस्मिन्निति गोमान्। ७. गावो विद्यन्तेऽस्मिन् गोमान्। ८. गावो विद्यन्तेऽस्मिन्निति गोमान्। ९. गावः सन्त्यत्र गोमान्। १० गावः सन्त्यत्रेति गोमान्। ११. गावो विद्यन्तेऽत्र गोमान्। १२. गावो विद्यन्तेऽत्रेति गोमान्।

सन्ति, विद्यन्ते, अस्मिन् आदि के स्थान पर अन्य समानार्थक शब्द लगाने या इन को आगे पीछे करने से भी विग्रह दर्शाया जाता है। यथा—गावोऽस्य विद्यन्ते इति गोमान्, गावोऽत्र विद्यन्त इति गोमान्। कभी कभी 'गोयुक्ता गोमन्तः, गोस्वामिनो गोमन्तः' इत्यादिप्रकारेण भी विग्रह दर्शाया जाता है।

अब पदसंज्ञामूलक जश्त्व आदि का निषेध करने के लिये मत्वर्थीय प्रत्यय के परे रहते तकारान्त और सकारान्त की भसञ्ज्ञा का विधान करते हैं—

[लघु०] सञ्ज्ञासूत्रम्—**(११८६) तसौ मत्वर्थे ।१।४।१६।।**

तान्त-सान्तौ भसञ्ज्ञौ स्तो मत्वर्थे प्रत्यये परे। गरुत्मान्। वसोः सम्प्रसारणम् (३५३)—विदुष्मान् ।।

अर्थः—मतुँप् के अर्थ वाला कोई प्रत्यय परे हो तो तकारान्त और सकारान्त प्रातिपदिक भसञ्ज्ञक हो जाते हैं।

व्याख्या—तसौ ।१।२। मत्वर्थे ।७।१। भम् ।१।१। (**यचि भम्** से)। तश्च स् च तसौ, इतरेतरद्वन्द्वः। तकारादकार उच्चारणार्थः। मत्वर्थप्रत्ययद्वारा आक्षिप्त प्रकृति (प्रातिपदिक) का विशेषण होने से 'तसौ' से तदन्तविधि हो जाती है—तकारान्तं सकारान्तं च यत् प्रातिपदिकम्। मतोरर्थः—मत्वर्थः, तस्मिन् = मत्वर्थे, षष्ठी-तत्पुरुषः। अर्थः—(मत्वर्थे) मतुँप् के अर्थ में कोई प्रत्यय परे हो तो (तसौ) तकारान्त और सकारान्त प्रातिपदिक (भम्) भसञ्ज्ञक हो जाते हैं। **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) सूत्रद्वारा प्राप्त पदसञ्ज्ञा का यह अपवाद है। **आ कडारादेका सञ्ज्ञा** (१६६) इस अधिकार के कारण दो सञ्ज्ञाओं का एक में समावेश निषिद्ध होने से भसञ्ज्ञा अनवकाशता के कारण पदसंज्ञा का बाध कर लेती है।

तकारान्त का उदाहरण यथा—

गरुतौ (पक्षौ) स्तोऽस्येति गरुत्मान् (दो पंख हैं इस के, अर्थात् पक्षी या गरुड़)।[1] यहां 'गरुत् औ' इस प्रथमान्त से 'स्तोऽस्य' के अर्थ में **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्रद्वारा मतुँप् प्रत्यय हो कर **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (औ) का लुक् करने से—गरुत्+मत्। यहां **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) सूत्रद्वारा गरुत् की पदसञ्ज्ञा प्राप्त थी परन्तु एकसंज्ञाधिकार के कारण **तसौ मत्वर्थे** (११८६) इस प्रकृतसूत्रद्वारा उस का बाध कर भसंज्ञा प्रवृत्त हो जाती है। इस से पदान्तमूलक **झलां जशोऽन्ते** (६७) से तकार को जश्त्वेन दकार नहीं होता—गरुत्मत्।[2] अब विभक्तिकार्य के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में 'सुँ' प्रत्यय लाकर पूर्ववत् उपधादीर्घ (३४३), नुँम् (२८६), हल्ङ्यादिलोप (१७६) तथा अन्त में **संयोगान्तस्य लोपः** (२०) द्वारा संयोगान्तलोप करने से 'गरुत्मान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। गरुत्मान्, गरुत्मन्तौ, गरुत्मन्तः। धीमत् शब्द की तरह रूपमाला चलती है।

इसीप्रकार—विद्युत्वान्, मरुत्वान् आदि की प्रक्रिया होती है। केवल **झयः** (८.२.१०) सूत्रद्वारा वत्व विशेष है। गरुत् शब्द का यवादियों में पाठ होने से इस से परे मतुँप् के मकार को वत्व नहीं होता।

---

१. **नीडोद्भवा गरुत्मन्तः पित्सन्तो नभसंगमा** इत्यमरः।
गरुत्मान् गरुडस्तार्क्ष्यो वैनतेयः खगेश्वर इत्यमरः।

२. किञ्च पदत्वाभाव के कारण **प्रत्यये भाषायां नित्यम्** (वा० ११) द्वारा अनुनासिक भी नहीं होता।

सकारान्त का उदाहरण यथा—-

विद्वांसः सन्त्यस्य अस्मिन् वा विदुष्मान् (जिस के विद्वान् लोग हैं ऐसा वंश आदि, अथवा जिस में विद्वान् हैं ऐसा देश, प्रदेश आदि)। यहां 'विद्वस् + जस्' से 'सन्त्यस्य' या 'सन्त्यस्मिन्' अर्थों में **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र से मतुँप् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् करने से— विद्वस् + मत्। अब **तसौ मत्वर्थे** (११८६) से पदसञ्ज्ञा की अपवाद भसञ्ज्ञा के हो जाने से **वसुँ-स्रंसुँ-ध्वंस्वनडुहां दः** (२६२) द्वारा सकार को पदमूलक दत्व नहीं होता। पुनः **वसोः सम्प्रसारणम्** (३५३) से वसुँ के वकार को सम्प्रसारण इकार तथा **सम्प्रसारणाच्च** (२५८) से पूर्वरूप एकादेश करने पर विदुस् + मत्। अन्त में **आदेशप्रत्यययोः** (१५०) से सकार को मूर्धन्य षकार[1] आदेश कर पूर्ववत् विभक्तिकार्य करने से 'विदुष्मान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—वपुष्मान्, आयुष्मान्, चक्षुष्मान्, ज्योतिष्मान्, धनुष्मान् आदियों में भसञ्ज्ञा के कारण रुँत्व नहीं होता।

अब गुणवाचकों से मतुँप् के लुक् का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(६०) गुणवचनेभ्यो मतुँपो लुगिष्टः ॥

शुक्लो गुणोऽस्यास्तीति शुक्लः पटः। कृष्णः॥

अर्थः— गुणवचन प्रातिपदिकों से परे मतुँप् प्रत्यय का लुक् इष्ट है।

व्याख्या—यह वार्त्तिक महाभाष्य में **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र पर पढ़ा गया है अतः तद्विषयक समझना चाहिये। गुणमुक्तवन्त इति गुणवचनाः, **कृत्यल्युटो बहुलम्** (७७२) में 'बहुलम्' ग्रहण के कारण यहां भूतकाल में कर्तरि ल्युट् प्रत्यय किया गया है। जो शब्द पहले गुण को कह कर बाद में उस गुण से युक्त द्रव्य को भी उसी अभिन्न रूप से कहने लग जाये तो उसे गुणवचन कहा जाता है। शुक्ल, नील, कृष्ण आदि शब्दों की ओर यहां स्पष्ट संकेत किया गया है क्योंकि ये शब्द गुण और गुणी को समानरूप से कहते हैं। रूप, रस, गन्ध आदि शब्द गुणों को तो कहते हैं परन्तु गुणी को नहीं[2] अतः उन का यहां ग्रहण अभीष्ट नहीं। सूत्र के उदाहरण यथा—

शुक्लः (गुणः) अस्यास्तीति शुक्लः पटः (सुफेदगुणवाला अर्थात् सुफेद कपड़ा आदि)। यहां 'शुक्ल सुँ' से 'अस्यास्ति' के अर्थ में **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्रद्वारा मतुँप् प्रत्यय होकर सुँप् (सुँ) का लुक् हो जाता है—शुक्ल + मतुँप्। अब **गुणवचनेभ्यो**

---

१. **विद ज्ञाने** (अदा० परस्मै०) धातु से शतृँ प्रत्यय कर उस के स्थान पर **विदेः शतुर्वसुँः** (८३३) से वसुँ आदेश करने से 'विद्वस्' शब्द बना है। स्थानिवद्भाव के कारण शतृँ के स्थान पर होने वाला वसुँ आदेश प्रत्यय माना जाता है। अतः प्रत्यय के अवयव सकार को षत्व हो जाता है।

२. लोक में रूपवान् के लिये रूपशब्द का एवं रसवान् के लिये रसशब्द का प्रयोग नहीं देखा जाता।

लच्

मतुँपो लुगिष्टः (वा० ९०) इस प्रकृत वार्त्तिक से मतुप् का भी लुक् कर विशेष्यानुसार विभक्ति लाने से 'शुक्लः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। ध्यान रहे कि मतुँप् का लुक् हो जाने पर भी उस का अर्थ शेष रहता है। कहा भी है—**यः शिष्यते स लुप्यमानार्थाभिधायी** (जो शेष रहता है वह लुप्त होने वाले के अर्थ का भी वाचक होता है)।

इसीप्रकार—'कृष्णः पटः, नीलो घटः' आदि के विषय में भी समझना चाहिये।

नोट—गुणवाची शुक्ल आदि शब्द केवल पुंलिङ्ग में ही प्रयुक्त होते हैं, परन्तु जब मतुँप् प्रत्यय किया जाता है तब वे तद्गुणयुक्त द्रव्य का ही लिङ्ग धारण कर लेते हैं। जैसाकि अमरकोष में कहा है—**गुणे शुक्लादयः पुंसि, गुणिलिङ्गास्तु तद्वति।** शुक्लः पटः, शुक्ला शाटिका, शुक्लं रजतम् आदि। स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रत्ययलक्षणद्वारा मतुँप् को मान कर **उगितश्च** (१२५०) से ङीप् नहीं होता, कारणकि ङीप् उगिल्लक्षण है प्रत्ययलक्षण नहीं। अतः वहां **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से टाप् की ही प्रवृत्ति होती है—शुक्ला शुक्तिः, कृष्णा शाटिका आदि।

अब मत्वर्थीय लच् प्रत्यय का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११८७)

प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम् ।५।२।९६।।

चूडालः, चूडावान्। प्राणिस्थात् किम्? शिखावान् दीपः। प्राण्यङ्गादेव, नेह—मेधावान्।।

अर्थः—प्राणियों के अङ्गवाचक प्रथमान्त आकारान्त प्रातिपदिक से मत्वर्थ में विकल्प कर के तद्धितसञ्ज्ञक लच् प्रत्यय हो।

व्याख्या—प्राणिस्थात् ।५।१। आतः ।५।१। लच् ।१।१। अन्यतरस्याम् ।७।१। **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र से 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति' पदों का अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं। प्राणिषु तिष्ठतीति प्राणिस्थम्, तस्मात्=प्राणिस्थात्, प्राणिस्थवाचकादिति भावः। 'आतः' यह 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'आदन्तात् प्रातिपदिकात्' उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(प्राणिस्थात्) प्राणियों में स्थित वस्तु के वाचक (तत्=तस्मात्=प्रथमान्तात्) प्रथमान्त (आदन्तात् प्रातिपदिकात्) आदन्त प्रातिपदिक से परे (तदस्यास्त्यस्मिन् इति) 'वह इस के पास है' या 'वह इस में है' इन अर्थों में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (लच्) लच् प्रत्यय (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में हो जाता है। दूसरी अवस्था में न होने से विकल्प सिद्ध हो जाता है।

सार यह है कि मत्वर्थ में ऐसे प्रातिपदिक से लच् प्रत्यय विकल्प से हो जाता है जिस में निम्नस्थ तीनों शर्तें पाई जायें—

(१) वह प्रातिपदिक प्राणिस्थवस्तु का वाचक होना चाहिये।

(२) वह प्रातिपदिक आकारान्त होना चाहिये।

(३) वह प्रातिपदिक प्रथमाविभक्त्यन्त होना चाहिये।

यह सूत्र पूर्वोक्त मतुँप् प्रत्यय का अपवाद है, अतः इस के अभावपक्ष में वही मतुँप् हो जायेगा। लच् का चकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'ल' मात्र शेष रहता है। **लशक्वतद्धिते** (१३६) में 'अतद्धिते' कथन के कारण प्रत्यय के आद्य लकार की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती। चकार अनुबन्ध स्वरार्थ जोड़ा गया है।[1]

सूत्र का उदाहरण यथा—

चूडाऽस्त्यस्येति चूडालः, चूडावान् वा (चूडा है इस का अर्थात् चुटियावाला)। चूडाशब्द प्राणिस्थ चोटी का वाचक है और आदन्त भी है अतः 'चूडा सुँ' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से मत्वर्थ में प्रकृत **प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम्** (११८७) सूत्र से विकल्प से लच् प्रत्यय हो कर अनुबन्ध चकार का लोप तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (सुँ) का भी लुक् करने पर—चूडा+ल=चूडाल। रामशब्दवत् विभक्तिकार्य करने से 'चूडालः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। लच् के अभाव में **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र से मतुँप् प्रत्यय, सुँब्लुक् तथा **मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः** (१०६५) से मकार को वकार आदेश कर धीमत्शब्दवत् विभक्तिकार्य करने से 'चूडावान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इस तरह 'चूडालः' और 'चूडावान्' दो रूप बन जाते हैं।

इसीप्रकार—जङ्घाऽस्त्यस्येति जङ्घालो जङ्घावान् वा। जिह्वाऽस्त्यस्येति जिह्वालो जिह्वावान् वा। ग्रीवाऽस्त्यस्येति ग्रीवालो ग्रीवावान् वा।

प्राणिस्थात् किम् ? शिखावान् दीपः।

शिखावान् दीपः (शिखावाला दीपक)। दीपक प्राणी नहीं अतः शिखा शब्द से यहां प्रकृतसूत्रद्वारा मत्वर्थ में लच् प्रत्यय न होगा। **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र से केवल मतुँप् प्रत्यय हो कर **मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः** (१०६५) द्वारा मतुँप् के मकार को वकार आदेश हो जायेगा। सूत्र में यदि 'प्राणिस्थ' न कहते तो यहां पर 'शिखालो दीपः' ऐसा अनिष्ट प्रयोग बन जाता।

प्राण्यङ्गादेव, नेह—मेधावान्।

भाष्यकार का कथन है कि सूत्रगत 'प्राणिस्थात्' का 'प्राण्यङ्गात्' ही अभिप्राय समझना चाहिये।[2] इस से 'मेधास्त्यस्येति मेधावान्' यहां मेधाप्रातिपदिक से लच् न होगा, क्योंकि मेधा यद्यपि प्राणियों में तो रहती है। तथापि मूर्त्तरूप न होने से प्राणियों का अङ्ग नहीं होती। अतः पूर्वसूत्र से मतुँप् हो कर मकार को वकार आदेश (१०६५) हो जाता है। इसीप्रकार – चिकीर्षाऽस्त्यस्येति चिकीर्षावान्, जिहीर्षाऽस्त्यस्येति जिहीर्षावान्, शोभावान् नरः, इच्छावान् पुरुषः इत्यादियों में समझना चाहिये।

---

१. प्रत्ययस्वरेणैव सिद्धेऽन्तोदात्ते 'चूडालोऽसि' इत्यादौ **स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ** (८.२.६) इति स्वरितबाधनार्थश्चकार इति सिद्धान्तकौमुद्यां दीक्षितः।

२. यह सब पूर्वसूत्र से 'इति' के अनुवर्त्तन से लौकिकी विवक्षा के कारण सम्भव होता है।

श, न, इलच्

प्रकृतसूत्रद्वारा आदन्त प्राण्यङ्ग से ही लच् का विधान किया गया है। अतः 'हस्तौ स्तोऽस्येति हस्तवान्' इत्यादियों में 'हस्त' आदि के आदन्त न होने से लच् नहीं होता, मतुँप् हो जाता है।

अब मत्वर्थ में श, न और इलच् प्रत्ययों का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११८८)

लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः शनेलचः ।५।२।१००॥

(मत्वर्थे)—लोमादिभ्यः शः—लोमशः, लोमवान्। रोमशः, रोमवान्। पामादिभ्यो नः—पामनः। अङ्गात् कल्याणे (गणसूत्रम्)—अङ्गना। लक्ष्म्या अच्च (गणसूत्रम्)—लक्ष्मणः। पिच्छादिभ्य इलच्—पिच्छिलः, पिच्छवान्॥

अर्थः—(मत्वर्थ में) लोमादियों से 'श' प्रत्यय, पामादियों से 'न' प्रत्यय और पिच्छादियों से 'इलच्' ये तद्धितप्रत्यय विकल्प से हों।

व्याख्या—लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः ।५।३। श-न-इलचः ।१।३। 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति' पदों का **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र से तथा 'अन्यतरस्याम्' पद का **प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम्** (११८७) सूत्र से अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं। समासः—लोमन्शब्द आदिर्येषां ते लोमादयः, पामन्शब्द आदिर्येषां ते पामादयः, पिच्छशब्द आदिर्येषां ते पिच्छादयः, सर्वत्र तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः। लोमादयश्च पामादयश्च पिच्छादयश्च तेभ्यः=लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः। शश्च नश्च इलच्च शनेलचः, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(अस्यास्त्यस्मिन्निति) मत्वर्थ में (लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः प्रथमान्तेभ्यः) लोमादि, पामादि तथा पिच्छादि गणपठित प्रथमान्त प्रातिपदिकों से (तद्धिताः) तद्धितसञ्ज्ञक (शनेलचः) श, न और इलच् प्रत्यय (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में हो जाते हैं। दूसरी अवस्था में मतुँप् होता है।

श और न प्रत्ययों में कोई अनुबन्ध नहीं परन्तु इलच् के अन्त्य में चकार अनुबन्ध स्वरार्थ जोड़ा गया है। सावधान रहें कि 'श' तद्धित प्रत्यय है अतः **लशक्वतद्धिते** (१३६) में 'अतद्धिते' कथन के कारण इस के आद्य शकार की इत्सञ्ज्ञा नहीं होती। प्रकृत में तीन गण हैं और तीन ही प्रत्यय कहे गये हैं अतः यथासंख्यपरिभाषा से प्रत्ययों का क्रमशः विधान होगा।

(१) लोमादियों[1] से मत्वर्थ में 'श' प्रत्यय विकल्प से हो जायेगा। उदाहरण यथा—

लोमानि सन्त्यस्येति लोमशो लोमवान् वा पुरुषः (लोम हैं इस के, अर्थात् लोमों वाला व्यक्ति)। यहां 'लोमन् जस्' से मत्वर्थ में प्रकृत **लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः**

१. लोमादिगण यथा—

लोमन्। रोमन्। बभ्रु। हरि। गिरि। कर्क। कपि। मुनि। तरु॥

शनेलचः (११८८) सूत्र से लोमादित्वात् वैकल्पिक 'श' प्रत्यय हो कर **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) सूत्रद्वारा सुँप् (जस्) का लुक् करने से—लोमन् + श । अब **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) द्वारा पदत्व के कारण **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से पदान्त नकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'लोमशः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । जिस पक्ष में 'श' प्रत्यय नहीं होता वहां **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र से मतुँप् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, नकारलोप तथा **मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः** (१०६५) से मकार को वकार आदेश और अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'लोमवान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसप्रकार 'लोमशः' और लोमवान्' ये दो प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं ।[1]

इसीतरह—रोमाणि सन्त्यस्येति रोमशो रोमवान् वा । गिरिरस्त्यस्येति गिरिशो गिरिमान् वा । कपिशः कपिमान् वा । इत्यादि ।

(२) पामादिगणपठित शब्दों से मत्वर्थ में 'न' प्रत्यय विकल्प से होता है ।[2] उदाहरण यथा—

पाम अस्त्यस्येति पामनः पामवान् वा (पामन् अर्थात् गीलीखुजलीवाला व्यक्ति) । यहां 'पामन् सुँ' से मत्वर्थ में **लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः शनेलचः** (११८८) सूत्र से पामादित्वात् विकल्प से 'न' प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् तथा **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) द्वारा पदान्त नकार का भी लोप कर—पाम + न = पामन । अब रामशब्दवत् विभक्तिकार्य करने से 'पामनः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । 'न' प्रत्यय के अभाव में मतुँप्-प्रत्यय लाने पर सुँब्लुक्, पदान्त नकार का लोप तथा **मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः** (१०६५) से मतुँप् के मकार को वकार आदेश करने से—पामवत् । धीमत् शब्द की तरह विभक्तिकार्य करने पर 'पामवान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । इसप्रकार 'पामनः' और 'पामवान्' दो रूप बनते हैं।

इसीतरह—हेम (सुवर्णम्) अस्त्यस्येति हेमनो हेमवान् वा । श्लेष्मा (कफः) अस्त्यस्येति श्लेष्मणः श्लेष्मवान् वा । ऊष्म (गरमी) अस्त्यस्येति ऊष्मण ऊष्मवान् वा । क्रमयः सन्त्यस्येति क्रमिणः क्रमिमान्[3] वा ।

अङ्गशब्द भी पामादियों में परिगणित है परन्तु **अङ्गात् कल्याणे** इस गणसूत्र से कल्याण (सुन्दर) अर्थ में ही इस से 'न' प्रत्यय उत्पन्न होता है । कल्याणानि अङ्गानि सन्त्यस्या इति अङ्गना (शुभ वा सुन्दर अङ्गों वाली स्त्री) । यहां कल्याण अर्थ में

---

१. **स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः** । (महाभाष्य ४.१.३)

२. पामादिगण यथा—

पामन् । वामन् । वेमन् । हेमन् । श्लेष्मन् । कद्रू । बलि । श्रेष्ठ । पलल । सामन् । ऊष्मन् । क्रमि । **अङ्गात् कल्याणे** (गणसूत्रम्) । **शाकी-पलाली-दद्र्वां ह्रस्वत्वं च** (गणसूत्रम्) । **विष्वगित्युत्तरपदलोपश्चाकृतसन्धेः** (गणसूत्रम्) । **लक्ष्म्या अच्च** (गणसूत्रम्) ॥

३. यवादित्वाद् वत्वं नेति बोध्यम् ।

वर्त्तमान प्रथमान्त 'अङ्ग जस्' से मत्वर्थ में प्रकृत **लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः शनेलचः** (११८८) सूत्र से पामादित्वात् 'न' प्रत्यय, सुँब्लुक्, स्त्रीत्व की विवक्षा में **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से टाप्, सवर्णदीर्घ तथा विभक्तिकार्य करने से 'अङ्गना' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। 'न' के अभाव में 'अङ्गवती' बनेगा परन्तु उस से कल्याण अर्थ की प्रतीति न होगी जैसे कि 'अङ्गना' से होती है। वस्तुतः अङ्गनाशब्द सुन्दर स्त्री के अर्थ में योगरूढ है।

लक्ष्मीशब्द भी पामादियों में परिगणित है परन्तु **लक्ष्म्या अच्च** इस गणसूत्रद्वारा 'न' प्रत्यय के परे रहते इसे अकार अन्तादेश भी हो जाता है। तथाहि—लक्ष्मीरस्त्यस्येति लक्ष्मणो लक्ष्मीवान् वा (धनवान्)। यहां 'लक्ष्मी सुँ' से मत्वर्थ में प्रकृत **लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः शनेलचः** (११८८) सूत्रद्वारा वैकल्पिक 'न' प्रत्यय, सुँब्लुक्, **लक्ष्म्या अच्च** इस गणसूत्र से 'लक्ष्मी' को अकार अन्तादेश, **अट्कुप्वाङ्०** (१३८) से णत्व तथा अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'लक्ष्मणः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। 'न'प्रत्यय के अभावपक्ष में मतुँप् हो कर '**मादुपधायाश्च०** (१०६५) द्वारा मतुँप् के मकार को वकार आदेश करने से 'लक्ष्मीवान्' प्रयोग भी सिद्ध होता है।

(३) पिच्छ आदियों से मत्वर्थ में विकल्प से इलच् (इल) प्रत्यय हो जाता है।[1] उदाहरण यथा—

पिच्छमस्त्यस्येति पिच्छिलः (मोरपंखवाला, अथवा रपटनवाला मार्ग आदि, अथवा माण्डयुक्त भक्ष्य पदार्थ, यद्वा मलाईदार दधि आदि पदार्थ)। यहां 'पिच्छ सुँ' से मत्वर्थ में प्रकृत **लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः शनेलचः** (११८८) सूत्रद्वारा वैकल्पिक इलच् प्रत्यय, चकार अनुबन्ध का लोप, सुँब्लुक्, एवं **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप करने पर—पिच्छ्+इल=पिच्छिल। विभक्तिकार्य विशेष्यानुसार होगा। पुंलिङ्ग में रामशब्दवत् 'पिच्छिलः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[2] इलच् के अभाव में मतुँप् ला कर **मादुपधायाश्च०** (१०६५) से वत्व करने पर 'पिच्छवान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—उरोऽस्यास्तीति उरसिल उरस्वान् वा (चौड़ी छाती वाला)।[3]

---

१. पिच्छादिगण यथा—
पिच्छ। उरस्। ध्रुवका। क्षुवका। **जटा-घटा-कालात् क्षेपे** (गणसूत्रम्)। वर्ण। उदक। पङ्क। प्रज्ञा॥

२. पिच्छिलशब्द का साहित्यगत प्रयोग यथा—

काले वारिधराणामपतितया नैव शक्यते स्थातुम्।
उत्कण्ठिताऽसि तरले! नहि नहि सखि! पिच्छिलः पन्थाः॥
(साहित्यदर्पण-दशमे)

तरुणं सर्षपशाकं नवौदनं पिच्छिलानि च दधीनि।
अल्पव्ययेन सुन्दरि! ग्राम्यजनो मिष्टमश्नाति॥ (वृत्तरत्नाकर १.११)

३. **तसौ मत्वर्थे** (११८६) इति भत्वात् सकारस्य रुँत्वं न।

उरच्, व

पङ्कोऽस्यास्तीति पङ्किलः पङ्कवान् वा (कीचड़वाला मार्ग आदि)।

अब उन्नतोपाधिक दन्तशब्द से मत्वर्थ में उरच् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११८९) दन्त उन्नत उरच् ।५।२।१०६।।

(उन्नतोपाधिकात् प्रथमान्ताद् दन्तप्रातिपदिकान्मत्वर्थे उरच् तद्धितः स्यात्)। उन्नता दन्ताः सन्त्यस्य—दन्तुरः ॥

अर्थः—दान्तों का उन्नत होना गम्यमान हो तो प्रथमान्त दन्तप्रातिपदिक से मत्वर्थ में तद्धितसंज्ञक उरच् प्रत्यय हो।

व्याख्या—दन्ते ।७।१। उन्नते ।७।१। उरच् ।१।१। **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र से 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति' पदों का अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। यहां दन्तशब्द की आवृत्ति कर उसे पञ्चम्यन्त बना लिया जाता है। समर्थविभक्ति प्रथमा है जो प्रकरणतः ज्ञात है। अर्थः—(दन्ते उन्नते) दान्तों का उन्नत होना गम्यमान हो तो (प्रथमान्तात् दन्तप्रातिपदिकात्) प्रथमान्त दन्तप्रातिपदिक से (तदस्यास्त्यस्मिन्निति) मत्वर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (उरच्) उरच् प्रत्यय हो जाता है। उरच् में चकार अनुबन्ध है जो स्वरार्थ जोड़ा गया है, 'उर' मात्र अवशिष्ट रहता है। उदाहरण यथा—

उन्नता दन्ताः सन्त्यस्येति दन्तुरः (उन्नत दान्तों वाला)।[1] यहां उन्नत-उपाधि में वर्त्तमान 'दन्त जस्' इस प्रथमान्त से मत्वर्थ में **दन्त उन्नत उरच्** (११८९) सूत्रद्वारा उरच् प्रत्यय, चकार अनुबन्ध का लोप तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (जस्) का भी लुक् करने से—दन्त+उर। अब **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'दन्तुरः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

यदि दान्तों के उन्नतत्व की विवक्षा न होगी, केवल सामान्यतः 'दान्तों वाला' कहना ही अभीष्ट होगा तो उरच् प्रत्यय न हो कर मतुँप् हो जायेगा। तब **मादुपधायाश्च०** (१०६५) द्वारा मतुँप् के मकार को वत्व आदेश कर 'दन्ताः सन्त्यस्येति दन्तवान्' बनेगा।

निम्नोन्नत (ऊँची-नीची) भूमि के लिये जो 'दन्तुरा' का प्रयोग देखा जाता है वह उपचार (सादृश्य) के कारण लाक्षणिक समझना चाहिये।

अब केशप्रातिपदिक से मत्वर्थ में 'व' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११९०) केशाद्वोऽन्यतरस्याम् ।५।२।१०९।।

(प्रथमान्तात् केशप्रातिपदिकाद् मत्वर्थे तद्धितसञ्ज्ञो 'व' प्रत्ययो वा स्यात्)। केशवः। केशी। केशिकः। केशवान् ॥

---

१. यहां उन्नत दान्तों का अभिप्राय आगे की ओर झुके हुए दान्तों से है। इस प्रकार के दान्त ओष्ठों से प्रायः बाहर निकले रहते हैं। लोक में ऐसे व्यक्ति को 'उछले दान्तों वाला' कहा जाता है।

अर्थः—प्रथमान्त 'केश' प्रातिपदिक से मत्वर्थ में विकल्प से तद्धितसञ्ज्ञक 'व' प्रत्यय हो।

व्याख्या—केशात् ।५।१। वः ।१।१। अन्यतरस्याम् ।७।१। **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र से 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति' पदों का अनुवर्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। इस सम्पूर्ण प्रकरण में समर्थविभक्ति प्रथमा ही है। अर्थः—(केशात्) प्रथमान्त केशप्रातिपदिक से (तदस्यास्त्यस्मिन्निति) मत्वर्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (वः) 'व' प्रत्यय (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में अर्थात् विकल्प से हो जाता है।

मतुँप् के संग्रहार्थ पीछे **प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम्** (११८७) सूत्रस्थ 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति आ ही रही थी पुनः यहां दुबारा 'अन्यतरस्याम्' क्यों कहा गया है? इस का उत्तर यह है कि आचार्य यहां केवल मतुँप् का ही संग्रह नहीं चाहते अपितु 'व' के अभाव में **अत इनिँठनौ** (११९१) से प्राप्त होने वाले इनिँ और ठन् प्रत्ययों को भी संगृहीत करना चाहते हैं। इस तरह मत्वर्थ में 'केश' प्रातिपदिक से व, इनिँ, ठन् और मतुँप् ये चार प्रत्यय हो जायेंगे। उदाहरण यथा—

केशाः सन्त्यस्येति केशवः (केशों वाला)। यहां 'केश जस्' से मत्वर्थ में प्रकृत **केशाद्वोऽन्यतरस्याम्** (११९०) सूत्रद्वारा 'व' प्रत्यय विकल्प से होकर सुँब्लुक् और विभक्तिकार्य करने से 'केशवः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। 'व' के अभाव में **अत इनिँठनौ** (११९१) से इनिँ (इन्) और ठन् (ठ) प्रत्यय भी विकल्प से हो जाते हैं। इनिँ (इन्) प्रत्यय के परे रहते भसञ्ज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर—केश्+इन्=केशिन्। अब शार्ङ्गिन्शब्द की तरह सुँविभक्ति में **सौ च** (२८५) से उपधादीर्घ, हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० से हल्ङ्यादिलोप (१७९) तथा पदान्त नकार का भी **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से लोप कर देने से 'केशी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। ठन् (ठ) के पक्ष में **ठस्येकः** (१०२७) से ठ् को 'इक' आदेश कर **यस्येति च** लोप करने से 'केशिकः' प्रयोग निष्पन्न हो जाता है। इनिँ और ठन् के अभाव में **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र से मतुँप् प्रत्यय कर **मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः** (१०६२) से मतुँप् के मकार को वकार आदेश और अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'केशवान्' प्रयोग उत्पन्न हो जाता है। इसतरह - (१) केशवः, (२) केशी, (३) केशिकः और (४) केशवान् ये चार रूप सिद्ध हो जाते हैं।

अब इस वप्रत्यय के प्रकरण में एक वार्तिक का अवतरण करते हैं—

[लघु०] वा०—(८१) अन्येभ्योऽपि दृश्यते।

मणिवः॥

अर्थः—('केश' के अतिरिक्त) अन्य प्रातिपदिकों से भी मत्वर्थ में 'व' प्रत्यय देखा जाता है।

व्याख्या—अन्येभ्यः ।५।३। अपि इत्यव्ययपदम्। दृश्यते इति दृशेः कर्मणि लँटि क्रियापदम्। यह वार्तिक **केशाद्वोऽन्यतरस्याम्** (११९०) सूत्र पर महाभाष्य में प्रकारा-

न्तरेण पढ़ा गया है । केशप्रातिपदिक के अतिरिक्त अन्य प्रातिपदिकों से भी मत्वर्थ में 'व' प्रत्यय देखा जाता है —यह इस वार्त्तिक का तात्पर्य है । उदाहरण यथा —

मणिरस्त्यस्येति मणिवः (मणिवाला सर्पविशेष) । यहां 'मणि सुँ' से मत्वर्थ में प्रकृत **अन्येभ्योऽपि दृश्यते** (वा० ६१) वार्त्तिकद्वारा 'व' प्रत्यय, **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (सुँ) का लुक् तथा अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'मणिवः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । यह रूढशब्द है अतः पक्ष में इस का मतुँबन्त रूप नहीं बनता ।

इसीप्रकार—हिरण्यमस्यास्तीति हिरण्यवः (निधिविशेष) । इत्यादि ।

अब इसीप्रकरण में काशिकोक्त एक अन्य वार्त्तिक का निर्देश करते हैं—

[लघु०] वा०—(६२) **अर्णसो लोपश्च ।**

अर्णवः ।।

अर्थः—अर्णस् (जल) प्रातिपदिक से मत्वर्थ में 'व' प्रत्यय तथा अर्णस् के अन्त्य अल् = सकार का लोप भी हो जाता है ।

व्याख्या—अर्णसः ।६।१। लोपः ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । यह वार्त्तिक **केशाद्वोऽन्यतरस्याम्** (११६०) सूत्र पर काशिका में पढ़ा गया है अतः यह भी इसी वप्रकरण से सम्बद्ध है। अर्णस्शब्द जलवाचक है और नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होता है । प्रथमान्त अर्णस्शब्द से मत्वर्थ में 'व' प्रत्यय तथा इस के साथ अर्णस् का लोप भी हो जाता है । अलोऽन्त्यपरिभाषा से यह लोप अर्णस् के अन्त्य अल् सकार का ही होता है । उदाहरण यथा —

प्रभूतम् अर्णोऽस्त्यस्मिन्निति अर्णवः (बहुतजलवाला अर्थात् समुद्र) ।[1] यहां 'अर्णस् सुँ' से मत्वर्थ में प्रकृत **अर्णसो लोपश्च** (वा० ६२) वार्त्तिक से 'व' प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् तथा अर्णस् के सकार का भी लोप कर विभक्ति लाने से 'अर्णवः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[2] यह भी समुद्रार्थक रूढ शब्द है अतः पक्ष में इस का मतुँबन्त रूप नहीं बनता ।

अब मत्वर्थप्रकरण के सुप्रसिद्ध इनिँ और ठन् प्रत्ययों का अवतरण करते हैं —

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(**११६१**) **अत इनि-ठनौ ।५।२।११५।।**

(अदन्तात् प्रातिपदिकान्मत्वर्थे इनिँठनौ तद्धितप्रत्ययौ वा स्तः) । दण्डी, दण्डिकः ।।

अर्थः—प्रथमान्त अदन्त प्रातिपदिक से मत्वर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक इनिँ और ठन् प्रत्यय विकल्प से हों ।

व्याख्या—अतः ।५।१। इनिँठनौ ।१।२। 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति' पदों का **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र से अनुवर्त्तन होता है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अन्यतरस्याम् ।७।१। (**प्राणि-**

---

१. **उदन्वानुदधिः सिन्धुः सरस्वान् सागरोऽर्णव** इत्यमरः ।

२. **तवार्णवस्येव तुषारशीकरैर्भवेदमीभिः कमलोदयः कियान्** । (नैषध० १.१३०)

स्थादातो लजन्यतरस्याम् सूत्र से)। 'अत:' यह 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'अदन्तात् प्रातिपदिकात्' बन जाता है। समर्थविभक्ति सम्पूर्ण मत्वर्थप्रकरण में प्रथमा ही है। अर्थः —(अतः = अदन्तात् प्रातिपदिकात्) प्रथमान्त अदन्त प्रातिपदिक से (तदस्यास्त्यस्मिन्निति) मत्वर्थ में (तद्धितौ) तद्धितसंज्ञक (इनिँ-ठनौ) इनिँ और ठन् प्रत्यय (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में हो जाते हैं। पक्ष में **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र से मतुँप् का संग्रह हो जायेगा।

इनिँप्रत्यय में इकार अनुबन्ध नकार को इत् करने से बचाने के लिये तथा ठन् में नकार स्वरार्थ जोड़ा गया है। ठकारोत्तर अकार उच्चारणार्थ है। इनिँ का इन् और ठन् का ठ् शेष रहता है। **ठस्येकः** (१०२७) से ठकार को 'इक' आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा —

दण्डोऽस्यास्तीति दण्डी दण्डिको वा (दण्ड वाला)। दण्ड शब्द अदन्त प्रातिपदिक है अतः 'दण्ड सुँ' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से मत्वर्थ में प्रकृत **अत इनिँठनौ** (११९१) सूत्र से इनिँ और ठन् प्रत्यय हो जाते हैं। इनिँपक्ष में अनुबन्ध इकार का लोप एवं सुँब्लुक् करने से—दण्ड + इन्। **यस्येतिच**लोप हो कर 'दण्डिन्' शब्द निष्पन्न होता है। प्रथमा के एकवचन में सुँविभक्ति लाने पर **सौ च** (२८५) से उपधादीर्घ, हल्ङ्याब्भ्योदिलोप (१७९) तथा पदान्त नकार का भी **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से लोप करने पर 'दण्डी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। ठन्प्रत्यय के पक्ष में नकार और अकार अनुबन्धों का लोप, सुँब्लुक्, **ठस्येकः** (१०२७) से ठकार को 'इक' आदेश एवं **यस्येतिच**लोप कर विभक्ति लाने से 'दण्डिकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इनिँ और ठन् के अभाव में मतुँप् प्रत्यय, सुँब्लुक्, **मादुपधायाश्च०** (१०६५) से मतुँप् के मकार को वकार आदेश तथा अन्त में धीमत्शब्द की तरह विभक्तिकार्य करने से 'दण्डवान्' प्रयोग सिद्ध हो जायेगा। इस प्रकार 'दण्डी, दण्डिकः, दण्डवान्' ये तीन प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। एवम् —छत्त्रमस्यास्तीति छत्त्री, छत्त्रिकः, छत्त्रवान्। धनमस्त्यस्येति धनी, धनिकः, धनवान् इत्यादि।

सूत्र में 'अतः' कहा है इसलिये आकारान्त प्रातिपदिकों से इनिँ और ठन् नहीं होते, मतुँप् ही होता है। यथा —खट्वाऽस्त्यस्येति खट्वावान्, मतुँप् ही हुआ है।

इस सूत्र पर महाभाष्य में एक श्लोकवार्त्तिक इस प्रकार पढ़ा गया है—

एकाक्षरात् कृतो जातेः सप्तम्यां च न तौ स्मृतौ।

अर्थात् एकाक्षर प्रातिपदिक से, कृदन्त प्रातिपदिक से और जातिवाचक प्रातिपदिक से इनिँ-ठन् नहीं होते किञ्च सप्तमी के अर्थ में भी इन की प्रवृत्ति नहीं होती, मतुँप् हो जाता है। उदाहरण यथा—

एकाक्षर से—स्वम् (धनम्) अस्त्यस्येति स्ववान् (धनवान्)।
कृदन्त से—कारकोऽस्त्यस्येति कारकवान्। हारकवान्।
जातिवाचक से—व्याघ्रोऽस्त्यस्येति व्याघ्रवान्। सिंहवान्।
सप्तम्यर्थ में—दण्डाः सन्त्यस्यामिति दण्डवती शाला।

इनिँ, ठक् (इक)

यह नियम प्रायिक है । क्वचित् इस की प्रवृति नहीं भी देखी जाती । यथा—कार्यमस्यास्तीति कार्यी कार्यिको वा । हार्यी हार्यिको वा । यहां कृदन्त से भी इनिँ और ठन् हो जाते हैं ।[1]

अब कुछ अदन्तेतर प्रातिपदिकों से भी मत्वर्थ में इनिँ और ठन् प्रत्ययों का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११९२) व्रीह्यादिभ्यश्च ।५।२।११६।।**

(व्रीह्यादिभ्यः प्रथमान्तेभ्यो मतुँबर्थे इनिँ-ठनौ स्तः) । व्रीही, व्रीहिकः ।।

अर्थः—व्रीहिआदिगणपठित प्रथमान्त प्रातिपदिकों से भी मत्वर्थ में इनिँ और ठन् तद्धितप्रत्यय हों ।

व्याख्या—व्रीह्यादिभ्यः ।५।३। च इत्यव्ययपदम् । इनिँ-ठनौ ।१।२। (**अत इनिँ-ठनौ** सूत्र से) । **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र से 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति' पदों की अनुवृत्ति होती है । अन्यतरस्याम् ।७।१। (**प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम्** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—व्रीहिशब्द आदिर्येषान्ते व्रीह्यादयः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । व्रीहिआदि एक गण है ।[2] अर्थः—(व्रीह्यादिभ्यः) व्रीहिआदिगणपठित प्रथमान्त प्रातिपदिकों से (च) भी (तदस्यास्त्यस्मिन्निति) मत्वर्थ में (इनिँ-ठनौ) इनिँ और ठन् (तद्धितौ) तद्धितसञ्ज्ञक प्रत्यय (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में हो जाते हैं। दूसरी अवस्था में मतुँप् भी हो जाता है ।

सम्पूर्णप्रकरण में 'इति' के अनुवर्त्तन के कारण शिष्टानुसरण मुख्य बात रहती है । अतः सब व्रीह्यादियों से इनिँ और ठन् इष्ट नहीं अपितु शिखा-माला-सञ्ज्ञा आदियों से केवल इनिँ ही इष्ट है, ठन् नहीं । यवखद आदियों से ठन् प्रत्यय होता है इनिँ नहीं। शेष व्रीहिआदियों से दोनों इष्ट हैं ।[3] उदाहरण यथा—

व्रीहयः सन्त्यस्यास्मिन् वा—व्रीही, व्रीहिकः व्रीहिमान् वा (धानवाला) । यहां

---

१. **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र में 'इति' का ग्रहण सम्पूर्ण प्रकरण में व्याप्त रहता है । वह अभिधानमूलकता का द्योतक है । अतः शिष्टप्रयोगों के अनुसार ही इन प्रत्ययों की व्यवस्था समझी जाती है। इस के लिये व्याकरण को भी कई जगह ढील देनी पड़ जाती है ।

२. व्रीह्यादिगण यथा—
व्रीहि । माया । शिखा । मेखला । सञ्ज्ञा । बलाका । माला । वीणा । वडवा । अष्टका । पताका । कर्मन् । चर्मन् । वर्मन् । हंसा । यवखद । कुमारी । नौ । **शीर्षान्नञः** (गणसूत्रम्) । दंष्ट्रा । केका । शाला ।।

३. **शिखादिभ्य इनिर्वाच्य इकन् यवखदादिषु । परिशिष्टेभ्य उभयम्**—इति काशिका । [इकन्प्रत्यय का अभिप्राय ठन् से है ।]

'व्रीहि जस्' से मत्वर्थ में **व्रीह्यादिभ्यश्च** (११९२) सूत्रद्वारा इनिँ और ठन् प्रत्यय हो जाते हैं। इनिँपक्ष में अनुबन्धलोप तथा सुँब्लुक् हो कर—व्रीहि+इन्। **यस्येति च** (२३६) द्वारा भसञ्ज्ञक इकार का लोप करने से—व्रीह्+इन्=व्रीहिन्। विभक्ति लाने से—व्रीही, व्रीहिणौ, व्रीहिणः। ठन्पक्ष में **ठस्येकः** (१०२७) से ठकार को इक आदेश एवं **यस्येति**चलोप करने पर—व्रीहिकः, व्रीहिकौ, व्रीहिकाः। 'अन्यतरस्याम्' के अनुवर्त्तन से मतुँप् भी संगृहीत हो जाता है—व्रीहिमान्, व्रीहिमन्तौ, व्रीहिमन्तः।

इसीप्रकार—

(१) मायाऽस्त्यस्येति मायी, मायिकः, मायावान् (मायावाला)।
(२) शिखाऽस्त्यस्येति शिखी, शिखावान् (चोटीवाला, मोर)।
(३) मालाऽस्त्यस्येति माली, मालावान् (मालावाला)।
(४) सञ्ज्ञाऽस्त्यस्येति सञ्ज्ञी, सञ्ज्ञावान् (नामवाला)।
(५) केकाऽस्त्यस्येति केकी, केकावान् (केकाध्वनिवाला, मोर)।
(६) मेखलाऽस्त्यस्येति मेखली, मेखलावान् (मेखलावाला)।
(७) पताकाऽस्त्यस्येति पताकी, पताकावान् (पताकावाला)।
(८) यवखदः (यवसारः) अस्त्यस्येति यवखदिकः, यवखदवान्।
(९) नौरस्त्यस्येति नाविकः, नौमान्। इत्यादि।

अब मत्वर्थ में विनिँप्रत्यय का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११९३)

अस्-माया-मेधा-स्रजो विनिँः ।५।२।१२१॥

(असन्ताद् माया-मेधा-स्रज् इत्येतेभ्यश्च मत्वर्थे विनिँः तद्धितः स्यात्)। यशस्वी, यशस्वान्। मायावी। मेधावी। स्रग्वी॥

अर्थः—असन्त (अस्शब्द जिस के अन्त में है, यथा—यशस् आदि), माया, मेधा और स्रज्—इन प्रथमान्त प्रातिपदिकों से मत्वर्थ में तद्धितसञ्ज्ञक विनिँ प्रत्यय हो।

व्याख्या—अस्-माया-मेधा-स्रजः ।५।१। विनिँः ।१।१। **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** सूत्र से 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति' पदों का अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—अस् च माया च मेधा च स्रक् चैषां समाहारः—अस्मायामेधास्रक्, तस्मात्=अस्-माया-मेधा-स्रजः, समाहारद्वन्द्वे समासान्ताभावः सौत्रः। 'अस्' से यहां यशस्, पयस् आदि अस्शब्दान्त प्रातिपदिकों का ग्रहण अभीष्ट है। प्रकरणतः समर्थविभक्ति प्रथमा ही समझनी चाहिये। अर्थः—(अस्-माया-मेधा-स्रजः) असन्त, माया, मेधा और स्रज् इन प्रथमान्त प्रातिपदिकों से (तदस्यास्त्यस्मिन्निति) मत्वर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (विनिँः) विनिँ प्रत्यय हो जाता है। मतुँप् के संग्रह के लिये 'अन्यतरस्याम्' की भी पूर्ववत् अनुवृत्ति होती है।

विनिँ में नकारोत्तर इकार अनुबन्ध है जो नकार को इत् सञ्ज्ञा से बचाने के लिये जोड़ा गया है। विनिँ का 'विन्' शेष रहता है।

असन्त प्रातिपदिक से विनिँ का उदाहरण यथा—

यशोऽस्यास्तीति यशस्वी, यशस्वान् वा (यशवाला, कीर्तिवाला, प्रसिद्ध)। यशस्-शब्द के अन्त में 'अस्' आता है अतः यह असन्त प्रातिपदिक है। 'यशस् सुँ' इस प्रथमान्त से मत्वर्थ में प्रकृत **अस्-माया-मेधा-स्रजो विनिँः** (११९३) सूत्र से विनिँप्रत्यय, इकार अनुबन्ध का लोप एवं **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (सुँ) का भी लुक् करने से—यशस्+विन्=यशस्विन्। **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) से प्राप्त पदसञ्ज्ञा का बाध कर **तसौ मत्वर्थे** (११८६) से भसञ्ज्ञा हो जाती है। इस से सकार को **ससजुषो रुः** (१०५) द्वारा पदमूलक रुँत्व नहीं होता। अब विभक्त्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँप्रत्यय के लाने पर **सौ च** (२८५) से उपधादीर्घ, हल्ङ्यादिलोप (१७९) एवं पदान्त नकार का भी **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से लोप करने से 'यशस्वी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। 'अन्यतरस्याम्' के अनुवर्त्तन के कारण मतुँप् प्रत्यय भी संगृहीत हो जाता है। मतुँप्पक्ष में सुँब्लुक् हो कर 'यशस्+मत्' इस स्थिति में पूर्ववत् भसञ्ज्ञा के कारण पदमूलक रुँत्व नहीं होता। अकारोपध होने से यशस् से परे **मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः** (१०६५) द्वारा मतुँप् के मकार को वकार आदेश हो जाता है—यशस्वत्। सुँविभक्ति ला कर **अत्वसन्तस्य चाऽधातोः** (३४३) से उपधा-दीर्घ, **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** (२८९) से नुँम् का आगम, हल्ङ्यादिलोप (१७९) तथा **संयोगान्तस्य लोपः** (२०) से संयोगान्तलोप करने से 'यशस्वान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार 'यशस्वी' और 'यशस्वान्' ये दो प्रयोग निष्पन्न हो जाते हैं।

इसीतरह—पयस्वी, पयस्वान्। तेजस्वी,[1] तेजस्वान्। ओजस्वी, ओजस्वान्। महस्वी, महस्वान्। मेदस्वी। वर्चस्वी। मनस्वी[2] आदि समझने चाहियें।

'माया' से विनिँ का उदाहरण यथा—

मायाऽस्त्यस्येति मायावी, मायी, मायिकः, मायावान् वा (मायावाला, कपटी)। 'माया सुँ' इस प्रथमान्त से मत्वर्थ में **अस्-माया-मेधा-स्रजो विनिँः** (११९३) सूत्र से विनिँ प्रत्यय ला कर सुँब्लुक् करने से—माया+विन्=मायाविन्। विभक्ति ला कर 'मायावी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। व्रीह्यादिगण में पाठ के कारण **व्रीह्यादिभ्यश्च** (११९२) सूत्रद्वारा इस से परे इनिँ और ठन् प्रत्यय भी हो जाते हैं। इनिँपक्ष में—माया+इन्, भसंज्ञक आकार का लोप कर—मायिन्, विभक्ति लाने से 'मायी' बनता है[3]। ठन्पक्ष में - ठ् को **ठस्येकः** (१०२७) से इक आदेश होकर भसंज्ञक आकार का लोप एवं विभक्तिकार्य करने से 'मायिकः' प्रयोग निष्पन्न होता है। 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति के कारण मतुँप् भी संगृहीत हो जाता है—मायावान् (१०६५)।

---

१. **न तेजस्तेजस्वी प्रसृतमपरेषां विषहते।** (उत्तरराम० ६.१४)

२. **मनस्वी म्रियते कामं कार्पण्यं न तु गच्छति।**
अपि निर्वाणमायाति नाऽनलो याति शीतताम्॥ (हितोप० १.१३३)

३. **व्रजन्ति ते मूढतमाः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।** (किरात० १.३०)

ग्मिनिँ

मेधा (धारणावती बुद्धि)[1] शब्द से विनिँ का उदाहरण यथा—

मेधाऽस्यास्तीति मेधावी मेधावान् वा (बुद्धिमान्)। 'मेधा सुँ' से मत्वर्थ में **अस्मायामेधास्रजो विनिँः** (११९३) सूत्र से विनिँ, इकार-लोप और सुँप् का भी लुक् कर देने पर —मेधाविन्। यकारादि वा अजादि प्रत्यय के परे न होने के कारण भसञ्ज्ञा न होने से **यस्येति च** (२३६) द्वारा आकार का लोप नहीं होता। विभक्तिकार्य करने से 'मेधावी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[2]। मतुँप् का भी संग्रह हो जाता है। मेधा + मत्, वत्व (१०६५) हो कर 'मेधावान्' बनता है।

स्रज् (जकारान्त स्त्रीलिङ्ग, माला) शब्द से विनिँ का उदाहरण यथा—

स्रग् अस्यास्तीति स्रग्वी स्रग्वान् वा (मालावाला)। 'स्रज् सुँ' से मत्वर्थ में **अस्मायामेधास्रजो विनिँः** (११९३) सूत्र से विनिँ प्रत्यय हो कर सुँप् का लुक् कर देने से—स्रज् + विन्। **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) से पदत्व के कारण **क्विन्प्रत्ययस्य कुः** (३०४) द्वारा कुत्वेन जकार को गकार करने पर—स्रग्विन्। विभक्तिकार्य करने से 'स्रग्वी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[3]। पक्ष में मतुँप् ला कर कुत्व कर देने से 'स्रग्वान्' भी बनेगा।

अब वाच् (वाणी) प्रातिपदिक से मत्वर्थ में ग्मिनिँप्रत्यय का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११९४) वाचो ग्मिनिँः ।५।२।१२४।।

(प्रथमान्ताद् 'वाच्' इति प्रातिपदिकान्मत्वर्थे ग्मिनिँस्तद्धितप्रत्ययः स्यात्)। वाग्मी ।।

अर्थः— प्रथमान्त वाच्प्रातिपदिक से मत्वर्थ में तद्धितसंज्ञक ग्मिनिँ प्रत्यय हो।

व्याख्या—वाचः ।५।१। ग्मिनिँः ।१।१। **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र से 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति' पदों की अनुवृत्ति होती है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समर्थविभक्ति प्रथमा प्रकरणतः उपलब्ध है। अर्थः—(वाचः) प्रथमान्त वाच् प्रातिपदिक से (तदस्यास्त्यस्मिन्निति) मतुँप् के अर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (ग्मिनिँः) ग्मिनिँ प्रत्यय हो जाता है।

ग्मिनिँ का अन्त्य इकार इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'ग्मिन्' मात्र शेष रहता है। नकार को इत्सञ्ज्ञा से बचाने के लिये अन्त में इकार जोड़ा गया है। ग्मिन् तद्धित है अतः **लशक्वतद्धिते** (१३६) में 'अतद्धिते' कथन के कारण इस के आदि कवर्ग-गकार की इत्-सञ्ज्ञा नहीं होती। उदाहरण यथा—

---

१. **धीर्धारणावती मेधा**—इत्यमरः।

२. **यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।**
तया मामद्य मेधया अग्ने मेधाविनं कुरु।। (यजुः० ३२.४)

३. **स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत् प्रथमं गवा**। (मनु० ३.३)

प्रशस्ता वाग् अस्त्यस्येति वाग्ग्मी (प्रशस्त वाणी वाला, बोलने में चतुर[1])। 'वाच् सुँ' इस प्रथमान्त से प्राशस्त्यविषयक मत्वर्थ में प्रकृत **वाचो ग्मिनिः** (११९४) सूत्र से ग्मिनिँप्रत्यय, इकार अनुबन्ध का लोप और **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (सुँ) का भी लुक् करने पर — वाच् + ग्मिन्। अब **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) से पदत्व के कारण **चोः कुः** (३०६) से पदान्त चकार को ककार तथा **झलां जशोऽन्ते** (६७) से ककार को गकार करने पर — वाग् + ग्मिन् = वाग्ग्मिन्। प्रथमा के एकवचन में शार्ङ्गिन्शब्दवत् विभक्तिकार्य करने से 'वाग्ग्मी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[2]। ध्यान रहे कि 'वाग्ग्मी' में दो गकार हैं, **झरो झरि सवर्णे** (७३) द्वारा दूसरे गकार का लोप नहीं होता क्योंकि झर् परे नहीं। इसीतरह प्रथम गकार का भी लोप नहीं होता क्योंकि वह हल् से परे नहीं। अतः 'वाग्ग्मी' को 'वाग्मी' लिखना वैयाकरणों की दृष्टि में अशुद्ध है[3]।

अब मत्वर्थ में अच् प्रत्यय का विधान दर्शाते हैं —

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११९५) अर्शआदिभ्योऽच् ।५।२।१२७॥

(अर्शआदिभ्यः प्रथमान्तेभ्यो मत्वर्थेऽच् तद्धितः प्रत्ययः स्यात्)। अर्शोऽस्य विद्यते—अर्शसः। आकृतिगणोऽयम्॥

अर्थः—अर्शस्आदि प्रथमान्त प्रातिपदिकों से मत्वर्थ में तद्धितसंज्ञक अच् प्रत्यय हो।

---

१. **यो हि सम्यग्बहु भाषते वाग्ग्मीत्येव भवति**—इति भाष्यम्। **वाचोयुक्तिपटुर्वाग्ग्मी**—इत्यमरः। अनापशनाप बहुत बोलने वाले के अर्थ में **आलजाटचौ बहुभाषिणि** (५.२.१२५) सूत्र से आलच् और आटच् प्रत्यय होकर 'वाचालः' और 'वाचाटः' प्रयोग बनते हैं जो कुत्सित बहुभाषी के वाचक होते हैं। **स्याज्जल्पाकस्तु वाचालो वाचाटो बहुगर्ह्यवाक्**—इत्यमरः।

२. **साकारो निःस्पृहो वाग्ग्मी नानाशास्त्रविचक्षणः।**
परचित्तावगन्ता च राज्ञो दूतः स इष्यते॥ (पञ्च० ३.८६)
अनिर्लोडितकार्यस्य वाग्जालं वाग्ग्मिनो वृथा। (माघ० २.२७)

३. परन्तु कुछेक वैयाकरण 'वाग्मी' इस एकगकारघटितरूप को भी व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध मानते हैं। वे लोग **वाचो ग् मिनिँः** इसप्रकार सूत्र का छेद कर 'वाच्शब्द से परे मत्वर्थ में मिनिँ प्रत्यय तथा वाच् को गकार अन्तादेश हो' इस तरह अर्थ प्रतिपादन करते हैं। वाच् को गकार अन्तादेश के सामर्थ्य से **प्रत्यये भाषायां नित्यम्** (वा० ११) द्वारा अनुनासिक की प्रवृत्ति नहीं होती, इस तरह 'वाग्मी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। परन्तु भाष्यकार इस प्रकार के झगड़े में न पड़ते हुए द्विगकार और एकगकार रूपों के श्रवण में कुछ भी अन्तर नहीं मानते। जैसाकि महाभाष्य में कहा है—

नहि व्यञ्जनपरस्य एकस्यानेकस्य वा श्रवणं प्रति विशेषोऽस्ति।
(महाभाष्य ६.४.२२; ७.१.७२)

व्याख्या—अर्शआदिभ्यः ।५।३। अच् ।१।१। **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र से 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति' पदों की अनुवृत्ति आती है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्शस्शब्द आदिर्येषां तानि अर्शआदीनि, तेभ्यः=अर्शआदिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । अर्शस्आदि एक गण है जो गणपाठ में पढ़ा गया है[1] । समर्थविभक्ति प्रथमा प्रकरणतः उपलब्ध है । अर्थः—(अर्शआदिभ्यः) अर्शस् आदि प्रथमान्त प्रातिपदिकों से (तदस्यास्त्यस्मिन्निति) मत्वर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अच्) अच् प्रत्यय हो जाता है ।

अच्प्रत्यय में चकार इत् है । उस का लोप हो कर 'अ' मात्र अवशिष्ट रहता है । चित्करण स्वरार्थ किया गया है । उदाहरण यथा—

अर्शांसि (गुदकीलकाः, मस्से) विद्यन्तेऽस्येति अर्शसः (बवासीर के मस्सों वाला रोगी अर्थात् अर्शोरोग से पीडित व्यक्ति) । अर्शस्शब्द सकारान्त नपुंसक है—अर्शः, अर्शसी, अर्शांसि । पयस्शब्द की तरह रूपमाला चलती है । 'अर्शस् जस्' इस प्रथमान्त से मत्वर्थ में प्रकृत **अर्शआदिभ्योऽच्** (११९५) सूत्र से अच् प्रत्यय, चकार अनुबन्ध का लोप एवं **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (जस्) का भी लुक् करने पर—अर्शस्+अ=अर्शस । पुनः विभक्ति ला कर 'अर्शसः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । यहां **अस्-माया-मेधा-स्रजो विनिँः** (११९३) से विनिँ प्रत्यय प्राप्त था उस का बाधक यह अच् प्रत्यय विधान किया गया है ।

अर्शआदियों के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) उरोऽस्त्यस्येति उरसः (चौड़ी छाती वाला, बलवान्[2]) ।

(२) तुन्दमस्त्यस्येति तुन्दः (बड़ी तोन्द वाला)[3] ।

(३) अभ्राणि सन्त्यस्मिन्निति अभ्रं नभः (मेघाच्छन्न आकाश) ।

(४) कर्दमोऽस्त्यस्मिन्निति कर्दमः प्रदेशः (कीचड़वाला प्रदेश) ।

---

१. बहुव्रीहिसमास में सुँब्लुक् होकर 'अर्शस्+आदि' इस अवस्था में पदान्त सकार को रुँत्व, रेफ को यत्व तथा यकार का पुनः वैकल्पिक लोप हो जाता है । यह लोप त्रिपाद्यसिद्ध है अतः सवर्णदीर्घ नहीं होता । अर्शआदिगण यथा—
अर्शस् । उरस् । तुन्द । चतुर । पलित । जटा । घटा । अभ्र । कर्दम । अम्ल । लवण । **स्वाङ्गाद् हीनात्** (गणसूत्रम्) । **वर्णात्** (गणसूत्रम्) । आकृतिगणोऽयम् ॥

२. उरसा बलं लक्ष्यत इति गणरत्नमहोदधौ वर्धमानः ।

३. तुन्द आदि अदन्त शब्दों से परे प्रकृत मत्वर्थीय अच् प्रत्यय करने पर भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप हो जाता है । तब प्रत्यय (अ) के मिल जाने से पुनः वह शब्द अदन्त बन जाता है, उस के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता परन्तु अर्थ बदल जाता है । ध्यान रहे कि इसी अर्थ में तुन्दशब्द से **तुन्दादिभ्य इलच्च** (५.२.११७) सूत्रद्वारा इलच्, इनिँ, ठन् और मतुँप् प्रत्यय भी होते हैं—तुन्दिलः, तुन्दी, तुन्दिकः, तुन्दवान् ।

(५) अम्लो रसोऽस्त्यस्येति अम्लं फलम् (खट्टा फल)।

(६) लवणो रसोऽस्त्यस्येति लवणः (नमकीन पदार्थ)।

(७) पलितं (केशश्वैत्यम्) अस्त्यस्येति पलितं शिरः (सुफेदकेशों वाला सिर)।[1]

इस गण में दो गणसूत्रों का भी उल्लेख किया गया है। तथाहि—

[क] **स्वाङ्गाद् हीनात्** (गणसूत्रम्)

अर्थः—हीन अर्थात् विकृत स्वाङ्ग वाचक प्रातिपदिक से मत्वर्थ में अर्शआदित्वात् अच् तद्धितप्रत्यय हो जाता है। उदाहरण यथा—

(१) काणमक्षि अस्त्यस्येति काणः (पुरुषः)।

(२) खञ्जः पादोऽस्त्यस्येति खञ्जः (पुरुषः)।

(३) कुण्ठः पाणिरस्त्यस्येति कुण्ठः (पुरुषः)।

(४) खल्वाटं शिरोऽस्त्यस्येति खल्वाटः (पुरुषः)।

[ख] **वर्णात्** (गणसूत्रम्)।

अर्थः—वर्ण अर्थात् रङ्गवाचक प्रातिपदिक से मत्वर्थ में अर्शआदित्वात् अच् तद्धितप्रत्यय हो जाता है। उदाहरण यथा—

(१) शुक्लो वर्णोऽस्त्यस्येति शुक्लः पटः।[2]

(२) नीलो वर्णोऽस्त्यस्येति नीलो घटः।

आकृतिगणोऽयम्—यह अर्शआदि आकृतिगण है अर्थात् जहां कहीं किसी शब्द में परिवर्त्तन के विना 'तद्वान्=उस वाला' अर्थ प्रतीत हो तो उस शब्द को भी अर्शआदियों में परिगणित कर अच्प्रत्ययान्त समझ लेना चाहिये[3]। यथा—

(१) पद्मम् अस्त्यस्या इति पद्मा=लक्ष्मीः।[4]

(२) कमलम् अस्त्यस्या इति कमला=लक्ष्मीः।

(३) पापमस्त्यस्येति पापः पुरुषः (पापी)।[5]

(४) बलमस्यास्तीति बलः पुरुषः (बलवान् या बलराम)।

(५) तिमिरमस्त्यस्या इति तिमिरा निशा (अन्धेरी रात)।

(६) समानाधिकरणे पदे स्तोऽस्येति समानाधिकरणस्तत्पुरुषः।[6]

---

१. **न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।**
यो युवा वाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥ (मनु० २.१५६)

२. **गुणवचनेभ्यो मतुँपो लुगिष्टः** (वा० ६०) इत्येव सिद्धे स्वरभेदार्थमिह पुनरुपादानं बोध्यम्।

३. यत्राभिन्नरूपेण शब्देन तद्वतोऽभिधानं तत्सर्वमिह (अर्शआदिषु) बोध्यम् इति गणरत्नमहोदधौ वर्धमानः।

४. **लक्ष्मीः पद्मालया पद्मा कमला श्रीर्हरिप्रिया** इत्यमरः।

५. **पापं पापाः कथयत कथं शौर्यराशेः पितुर्मे।** (वेणीसंहार ३.८)

६. **तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः** (१.२.४२)

(७) मृगाणां तृष्णा मृगतृष्णा, मृगतृष्णाऽस्त्यस्यामिति मृगतृष्णा = मरुमरीचिका ।[1]

(८) पृषन्ति (विन्दवः) सन्त्यस्मिन्निति पृषतो मृगः ।

(९) आलस्यमस्त्यस्येति आलस्यः (आलसी पुरुष) । इत्यादि ।

अब मत्वर्थ में युस् प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(११९६) अहंशुभमोर्युस् ।५।२।१४०॥**

(अहम्, शुभम् इत्येताभ्यामव्ययाभ्यां मत्वर्थे तद्धितो युस्-प्रत्ययः स्यात्) । अहंयुरहङ्कारवान् । शुभंयुः शुभान्वितः ॥

अर्थः—अहम् (अहङ्कार) और शुभम् (शुभ, कल्याण) इन दो अव्ययों से परे मत्वर्थ में तद्धितसंज्ञक युस् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—अहं-शुभमोः ।६।२। (पञ्चम्यर्थे षष्ठी) । युस् ।१।१। **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र से 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति' पदों का अनुवर्त्तन होता है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववतः अधिकृत हैं । अहम् और शुभम् दोनों विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय हैं । इन की विस्तृत व्याख्या पीछे अव्यय-प्रकरणस्थ स्वरादिगण के अन्तर्गत की जा चुकी है । अहं च शुभं च अहंशुभमौ, तयोः = अहंशुभमोः, इतरेतरद्वन्द्वः । पञ्चम्यर्थे षष्ठीप्रयोगः सौत्रः । अर्थः—(अहंशुभमोः = अहंशुभम्भ्याम्) अहम् और शुभम् अव्ययों से परे (तदस्यास्त्यस्मिन्निति) मत्वर्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (युस्) युस् प्रत्यय हो जाता है ।

युस् का सकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'यु' मात्र शेष रहता है । इसे सित् करने का प्रयोजन सित् के परे रहते **सिति च** (१.४.१६)[2] सूत्रद्वारा पूर्व की पदसञ्ज्ञा करना है । इस से पदसञ्ज्ञामूलक अनुस्वार और परसवर्ण हो जाते हैं । उदाहरण यथा—

अहम् (अहंकारः) अस्त्यस्येति अहंयुः (अहंकार रखने वाला, घमण्डी) । 'अहम्' यहां अहंकार अर्थ में मकारान्त अव्यय है, इसे अस्मद्शब्द का प्रथमैकवचनान्त रूप समझने की भूल नहीं करनी चाहिये । इस से परे मत्वर्थ में प्रकृत **अहंशुभमोर्युस्** (११९६) सूत्रद्वारा युस् प्रत्यय ला कर सकार अनुबन्ध का लोप करने से—अहम् + यु । अब **यचि भम्** (१६५) से पूर्व की भसञ्ज्ञा प्राप्त होती है परन्तु **सिति च** (१.४.१६) सूत्र से उस का बाध हो पदसञ्ज्ञा हो जाती है । पदत्व के कारण अहम् के पदान्त मकार को **मोऽनुस्वारः** (७७) से अनुस्वार एवं **वा पदान्तस्य** (८०) से अनुस्वार को वैकल्पिक परसवर्ण अर्थात् यँ आदेश कर विभक्ति लाने से 'अहयँयुः' और 'अहंयुः' ये दो प्रयोग

---

१. **मृगतृष्णाम्भसि स्नातः शशशृङ्गधनुर्धृतः ।**
एष वन्ध्यासुतो याति खपुष्पकृतशेखरः ॥ (सुभाषित)

२. **सिति च** (१.४.१६) । अर्थः—सित् प्रत्यय परे होने पर पूर्व पदसञ्ज्ञक होता है । यह **यचि भम्** (१६५) का पुरस्तादपवाद है ।

सिद्ध हो जाते हैं। अहंयुशब्द की रूपमाला पुंलिङ्ग में भानुशब्दवत् चलेगी—अहंयुः, अहंयू, अहंयवः।

इसीप्रकार—शुभम् (कल्याणम्) अस्त्यस्येति शुभंयुः (शुभवाला, कल्याणवाला)। 'शुभम्' भी मकारान्त विभक्तिप्रतिरूपक अव्यय है जो शुभ का वाचक है। इस से परे भी मत्वर्थ में प्रकृत **अहंशुभमोर्युस्** (११९६) सूत्रद्वारा युस् प्रत्यय, सकार अनुबन्ध का लोप, **सिति च** (१.४.१६) से पदसञ्ज्ञा तथा पूर्ववत् अनुस्वार और वैकल्पिक परसवर्ण कर विभक्ति लाने से 'शुभय्ँयुः' और 'शुभंयुः' ये दो प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। इस की रूपमाला भी पुं० में भानुवत् चलेगी—शुभंयुः, शुभंयू, शुभंयवः।[1]

विशेष वक्तव्य—न कर्मधारयान् मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेत्तदर्थप्रतिपत्तिकरः (भाष्ये)। अर्थात् उस कर्मधारयसमास से मत्वर्थ प्रत्यय नहीं करना चाहिये जहां मत्वर्थ बहुव्रीहि से व्यक्त हो सकता है। यथा—'महारथः' इस कर्मधारयसमास से मत्वर्थ में इनिँप्रत्यय (११९१) हो कर 'महारथी' नहीं बनेगा, क्योंकि यह अर्थ 'महान् रथो यस्य स महारथः' इस तरह बहुव्रीहि से ही सिद्ध हो जाता है। 'सर्वशक्तिः' इस कर्मधारयसमास से मतुँप् होकर 'सर्वशक्तिमान्' न बनेगा, क्योंकि यह अर्थ 'सर्वाः शक्तयो यस्य यस्मिन् वा स सर्वशक्तिः' इस तरह बहुव्रीहि से ही सिद्ध हो जाता है। 'महाधनम्' इस कर्मधारय से मत्वर्थ में इनिँ हो कर 'महाधनी' नहीं बनेगा, क्योंकि यह अर्थ 'महद् धनं यस्य स महाधनः' इस तरह बहुव्रीहि से ही सिद्ध हो सकता है। 'निवृत्ताभिमानः' इस कर्मधारयसमास से मत्वर्थ में इनिँ प्रत्यय हो कर 'निवृत्ताभिमानी' नहीं बनेगा, क्योंकि यह अर्थ 'निवृत्तोऽभिमानो यस्य स निवृत्ताभिमानः' इस तरह बहुव्रीहि से ही सिद्ध हो जाता है।

परन्तु यदि मत्वर्थ के साथ **भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने**—इत्यादि विषय भी विवक्षित होंगे तो वे बहुव्रीहिद्वारा व्यक्त नहीं किये जा सकते, अतः ऐसी अवस्था में कर्मधारय से भी मत्वर्थीय प्रत्यय हो जायेगा। यथा—सर्वशक्तयो नित्यं सन्त्यस्य—सर्वशक्तिमान्। यहां मतुँप् हो जाता है क्योंकि यह अर्थ बहुव्रीहि से व्यक्त नहीं हो सकता।

अभ्यास [१३]

(१) विग्रह दर्शाते हुए निम्नस्थ तद्धितान्तों की ससूत्र सिद्धि करें—

---

१. **अहङ्कारवानहंयुः शुभंयुस्तु शुभान्वितः** इत्यमरः।
इन दोनों का साहित्यगत प्रयोग यथा—

स शुश्रुवांस्तद्वचनं मुमोह राजाऽसहिष्णुः सुतविप्रयोगम्।
अहंयुनाऽथ क्षितिपः शुभंयुरूचे वचस्तापसकुञ्जरेण॥ (भट्टि० १.२०)

अर्थः—महाराज दशरथ विश्वामित्र के उन वचनों को सुन कर पुत्रवियोग को सहन न करते हुए मोह को प्राप्त हो गये। तब अहंकारवान् तापसश्रेष्ठ विश्वामित्र ने अपना कल्याण चाहने वाले राजा को यह वचन कहा।

१. गोमान् । २. अर्णवः । ३. केशवः । ४. मेधावी । ५. दन्तुरः । ६. लोमशः । ७. विदुष्मान् । ८. व्रीहिकः । ९. पामनः । १०. पिच्छिलः । ११. यशस्वी । १२. वाग्मी । १३. अर्शसः । १४. अहंयुः । १५. चूडालः । १६. लक्ष्मणः । १७. अङ्गना । १८. शुक्लः (पटः) । १९. मणिवः । २०. दण्डी । २१. गरुत्मान् । २२. स्रग्वी । २३. पङ्किलः ।

(२) सूत्रों की व्याख्या करें—

१. अर्शआदिभ्योऽच् । २. तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप् । ३. अत इनिँठनौ । ४. प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम् । ५. लोमादि-पामादि-पिच्छादिभ्यः शनेलचः । ६. अस्-माया-मेधा-स्रजो विनिँः । ७. दन्त उन्नत उरच् । ८. तसौ मत्वर्थे । ९. अहंशुभमोर्युस् । १०. सिति च । ११. व्रीह्यादिभ्यश्च ।

(३) निम्नस्थ वचनों की व्याख्या करें—

[क] भूमनिन्दाप्रशंसासु—।

[ख] एकाक्षरात् कृतो जातेः सप्तम्यां च न तौ स्मृतौ ।

[ग] न कर्मधारयान्मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेत्तदर्थप्रतिपत्तिकरः ।

[घ] प्राणिस्थात् किम् ? शिखावान् दीपः ।

[ङ] प्राण्यङ्गादेव, नेह—मेधावान् ।

[च] शिखादिभ्य इनिर्वाच्य इकन् यवखदादिषु ।

[छ] अङ्गात् कल्याणे ।

[ज] लक्ष्म्या अच्च ।

[झ] अन्येभ्योऽपि दृश्यते ।

[ञ] अर्णसो लोपश्च ।

[ट] स्वाङ्गाद् हीनात् ।

[ठ] वर्णात् ।

(४) अधोलिखित प्रश्नों के सहेतुक उत्तर दीजिये—

[क] 'यवमान्' में वत्व क्यों नहीं होता ?

[ख] 'गरुत्मान्' में जश्त्व क्यों नहीं होता ?

[ग] 'पयस्वान्' में पदमूलक रुँत्व क्यों नहीं हुआ ?

[घ] लच्प्रत्यय के लकार की इत्सञ्ज्ञा क्यों नहीं हुई ?

[ङ] युस् को सित् करने का क्या प्रयोजन है ?

[च] 'मायावी' में विन् के परे रहते यस्येतिचलोप क्यों नहीं होता ?

[छ] किस शब्द से मतुँप् का लुक् इष्ट है ?

[ज] **तदस्यास्त्यस्मिन्निति०** सूत्र में 'इति' ग्रहण का क्या प्रयोजन है ?

[झ] अदन्त न होने पर भी 'शिखी' में इनिँ कैसे हो जाता है ?

(५) सहेतुक अशुद्धिशोधन कीजिये—
१. दण्डिनी शाला । २. दृषद्मान् (पर्वतः) । ३. ऊर्मिवान् (समुद्रः) । ४. शुक्लवान् (पटः) । ५. शिखालो (दीपः) । ६. महारथिनः । ७. विद्युन्मान् (बलाहकः) । ८. भूमिमान् । ९. पितृवान् । १०. निवृत्ताभिमानी ।

(६) 'वाग्मी' प्रयोग के शुद्धाशुद्धत्व का विवेचन करें ।

(७) अधोलिखित युगलों में अर्थ का अन्तर स्पष्ट करें—
सर्वशक्तिः, सर्वशक्तिमान् । दन्तुरः, दन्तवान् । अङ्गना, अङ्गवती । वाग्मी, वाचाटः ।

(८) अर्शआद्यच् के कोई से पाञ्च उदाहरण दीजिये ।

(९) निम्नस्थ विग्रहों के तद्धितान्त रूप लिखें—
१. नौरस्त्यस्य । २. शुभमस्त्यस्य । ३. पद्ममस्त्यस्याः । ४. काणमक्षि अस्त्यस्य । ५. नीलो वर्णोऽस्त्यस्य । ६. वर्चोऽस्त्यस्य । ७. रोमाणि सन्त्यस्य । ८. दण्डाः सन्त्यस्याम् ।

[लघु०] इति मत्वर्थीयाः ॥

(यहां मत्वर्थीय प्रत्ययों का विवेचन समाप्त होता है ।)

—:०:—

अथ प्राग्दिशीयाः

अब अष्टाध्यायी के पञ्चमाध्याय के तृतीयपादस्थ प्रत्ययों का वर्णन प्रारम्भ होने जा रहा है। इस पाद का सत्ताईसवां सूत्र है—**दिक्शब्देभ्यः सप्तमी-पञ्चमी-प्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः** (५.३.२७) । इस सूत्र के 'दिक्' शब्द को अवधि मान कर इस से पूर्व के २६ सूत्रों में जो प्रत्यय विधान किये गये हैं उन्हें 'प्राग्दिशीय' (दिक्-शब्द से पहले होने वाले) प्रत्यय कहा जाता है ।[1] ये सब स्वार्थिक प्रत्यय हैं ।[2] अब इन की व्याख्या की जायेगी ।

सर्वप्रथम इन प्रत्ययों की विभक्तिसञ्ज्ञा करते हैं—

[लघु०] संज्ञाधिकारसूत्रम्—**(११९७) प्राग्दिशो विभक्तिः ।५।३।१॥**

दिक्शब्देभ्यः० (५.३.२७) इत्यतः प्राग्वक्ष्यमाणाः प्रत्यया विभक्ति-सञ्ज्ञाः स्युः ॥

---

१. दिशः प्राक् प्राग्दिशम्, तत्र भवाः प्राग्दिशीयाः ।

२. स्वकीयप्रकृतेरर्थे भवाः स्वार्थिकाः । तसिँलादिषु अर्थनिर्देशाभावात् ते स्वार्थिका उच्यन्ते । उक्तञ्च—**अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्तीति ।**

अर्थः—यहां से ले कर **दिक्शब्देभ्यः सप्तमी-पञ्चमी-प्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः** (५.३.२७) इस सूत्र से पूर्व पूर्व जो जो प्रत्यय कहे जायें वे विभक्तिसञ्ज्ञक हों।

व्याख्या—प्राक् इत्यव्ययपदम्। दिशः ।५।१। विभक्तिः ।१।१। **प्रत्ययः, परश्च** आदि पूर्वतः अधिकृत हैं। 'दिशः' द्वारा **दिक्शब्देभ्यः०** सूत्र के दिक्शब्द की ओर संकेत किया गया है। यह संज्ञाविषयक अधिकारसूत्र है। अर्थः—यहां से ले कर (दिशः) **दिक्शब्देभ्यः सप्तमी-पञ्चमी-प्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः** [५.३.२७] सूत्र से (प्राक्) पहले पहले जो जो प्रत्यय कहा जाये वह (विभक्तिः) विभक्तिसञ्ज्ञक हो।

प्राग्दिशीय प्रत्ययों की विभक्तिसञ्ज्ञा हो जाने से उन प्रत्ययों में **न विभक्तौ तुस्माः** (१३१) की प्रवृत्ति हो कर इत्सञ्ज्ञा का वारण हो जाता है। विभक्ति परे होने से **त्यदादीनामः** (१९३) द्वारा त्यदाद्यत्व आदि कार्य हो जाते हैं। यह सब आगे के उदाहरणों में स्पष्ट हो जायेगा।

यहां यह भी विशेषतः ध्यातव्य है कि **समर्थानां प्रथमाद्वा** (९९७) अधिकार के 'समर्थानाम्' और 'प्रथमात्' पदों के अधिकार की यहां निवृत्ति हो जाती है।[1] केवल 'वा' पद ही यथासम्भव अधिकृत रहता है, अतः आगे आने वाले प्रत्यय विकल्प से होते हैं पक्ष में विग्रहपद भी रहता है।

अब प्राग्दिशीय प्रत्ययों में प्रकृति को अधिकृत करते हैं—

[**लघु०**] अधिकारसूत्रम्—(११९८)

किं-सर्वनाम-बहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः ।५।३।२।।

किमः सर्वनाम्नो बहुशब्दाच्चेति प्राग्दिशोऽधिक्रियते ।।[2]

अर्थः—किम्, द्वि आदि से भिन्न सर्वनाम तथा बहु—इन शब्दों से परे ही प्राग्दिशीय प्रत्यय हों, यह अधिकृत किया जाता है।

व्याख्या—किं-सर्वनाम-बहुभ्यः ।५।३। अद्व्यादिभ्यः ।५।३। प्राक् इत्यव्ययपदम्। दिशः ।५।१। (**प्राग्दिशो विभक्तिः** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—किम् च सर्वनाम च बहुश्च तेभ्यः = किंसर्वनामबहुभ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः। द्विशब्द आदिर्येषान्ते द्व्यादयः, न द्व्यादयः = अद्व्यादयः, तेभ्यः = अद्व्यादिभ्यः, बहुव्रीहिगर्भनञ्तत्पुरुषः। यह अधिकारसूत्र है। **दिक्शब्देभ्यः०** (५.३.२७) सूत्र तक इस का अधिकार जाता है। वक्ष्यमाण प्राग्दिशीय प्रत्यय किस किस प्रकृति से किये जा सकते हैं—इस के लिये यह अधिकार चलाया गया है। सर्वनामशब्दों अर्थात् सर्वादिगण में द्व्यादि (द्वि, युष्मद्, अस्मद्, भवतुँ, किम्) भी पढ़े गये हैं सो

१. स्वार्थिक प्रत्ययों में एक ही पद से प्रत्ययों के विधान के कारण सामर्थ्य और प्रथमत्व का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता, अतः ये दोनों अधिकार इन में प्रवृत्त नहीं होते।

२. अस्यां वृत्तौ 'प्राग्दिशः' इति पञ्चम्यन्तं न तु प्रथमाबहुवचनान्तम्। 'इति अधिक्रियते' इत्यन्वयो बोध्यः।

सर्वनाम कहने से उन से भी प्रत्ययों की प्राप्ति थी अतः 'अद्व्यादिभ्यः' कह कर उन का निषेध कर दिया। किन्तु इस तरह किम्शब्द से भी प्रत्ययों का निषेध हो जाता है जबकि उस से प्रत्ययों का विधान अभीष्ट है। अतः उसे निषेध से बचाने के लिये 'किम्' का पृथक् निर्देश किया है। इस प्रकार द्वि, युष्मद्, अस्मद् और भवतुँ इन चार शब्दों को छोड़ कर शेष सब सर्वनाम यहां गृहीत समझने चाहियें। बहुशब्द का सर्वादिगण में पाठ न होने से पृथक् ग्रहण किया है। अर्थः—यहां से आगे (दिशः प्राक्) **दिक्शब्देभ्यः०** सूत्र से पूर्व तक जो प्रत्यय कहे जायें वे (किंसर्वनामबहुभ्यः) किम्, सर्वनाम और बहु शब्दों से परे ही हों परन्तु (अद्व्यादिभ्यः) द्व्यादि शब्दों से नहीं।[1]

बहुशब्द यहां संख्यावाचक ही अभीष्ट है वैपुल्यवाची नहीं—ऐसा वार्त्तिककार का आशय महाभाष्य में व्यक्त किया गया है—**बहुग्रहणे संख्याग्रहणम्** (वा०)।

प्रकृति के निश्चित हो जाने पर अब प्रत्ययों का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(११९९) पञ्चम्यास्तसिँल् ।५।३।७॥

पञ्चम्यन्तेभ्यः किमादिभ्यस्तसिँल् वा स्यात् ॥

अर्थः—पञ्चम्यन्त किम् आदि प्रातिपदिकों से तद्धितसंज्ञक तसिँल् प्रत्यय विकल्प से हो।

व्याख्या—पञ्चम्याः ।५।१। तसिँल् ।१।१। **किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः** यह अधिकृत है। वा इत्यव्ययपदम् (**समर्थानां प्रथमाद्वा** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। 'पञ्चम्याः' से तदन्तविधि हो कर वचनविपरिणाम करने से 'पञ्चम्यन्तेभ्यः किमादिभ्यः' बन जायेगा। अर्थः—(पञ्चम्याः =पञ्चम्यन्तेभ्यः) पञ्चम्यन्त जो (किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः) किम्, द्व्यादिभिन्न सर्वनाम एवं बहुशब्द इन से परे (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (तसिँल्) तसिँल् प्रत्यय (वा) विकल्प से हो जाता है।

तसिँल् में इकार और लकार इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं, 'तस्' मात्र शेष रहता है। इकार उच्चारणार्थ तथा लकार **लिति** (६.१.१८७) सूत्रद्वारा उदात्तस्वरार्थ जोड़ा गया है। यहां तसिँल् प्रत्यय का कोई अर्थ निर्दिष्ट नहीं किया गया अतः **अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति** के अनुसार यह प्रत्यय स्वार्थ में होगा। अर्थात् प्रकृति का अपना जो अर्थ है प्रत्यय के हो जाने पर भी वह वैसा ही रहेगा उस में कुछ भी परिवर्त्तन न होगा। प्रत्यय से प्रकृति का अर्थ ही द्योतित होगा।

सर्वप्रथम किम्शब्द से तसिँल् का उदाहरण यथा—

कस्मात्=कुतः (किस से, किस कारण से)।[2] 'किम् ङसिँ' इस अलौकिकविग्रह

---

१. **किंशब्दाद् द्व्यादिवर्जाच्च सर्वनाम्नो बहोरपि।**
प्राग्दिशः प्रत्यया ज्ञेया नाऽपरेभ्यो भवन्त्यमी॥ (प्रक्रियासर्वस्वे)

२. यहां पर 'कुतः' का लौकिकविग्रह 'कस्मात्' समझना चाहिये। इसीप्रकार आगे भी जान लें।

में पञ्चम्यन्त 'किम्' प्रातिपदिक से स्वार्थ में **पञ्चम्यास्तसिँल्** (११९९) सूत्र से तद्धित-सञ्ज्ञक तसिँल् प्रत्यय विकल्प से हो जाता है। तसिँल् के अनुबन्धों का लोप करने पर 'किम् ङसिँ + तस्' इस स्थिति में तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) सूत्रद्वारा सुँप् (ङसिँ) का लुक् हो जाता है—किम् + तस्। तस्प्रत्यय **प्राग्दिशो विभक्तिः** (११९७) के अधिकार में पठित होने से विभक्तिसञ्ज्ञक है। अतः विभक्ति के परे रहते **किमः कः** (२७१) से 'किम्' के स्थान पर 'क' आदेश प्राप्त होता है। इस पर इस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२००) कु तिहोः ।७।२।१०४॥

किमः कुः स्यात् तादौ हादौ च विभक्तौ परतः। कुतः, कस्मात्॥

अर्थः—तकारादि या हकारादि विभक्ति परे हो तो 'किम्' के स्थान पर 'कु' यह आदेश हो।

व्याख्या—कु ।१।१। ति-होः ।७।२। विभक्तौ ।७।१। (**अष्टन आ विभक्तौ** सूत्र से)। किमः ।६।१। (**किमः कः** सूत्र से)। तिश्च ह् च तिहौ, तयोः=तिहोः, इतरेतर-द्वन्द्वः। तकाराद् इकार उच्चारणार्थः। 'तिहोः' यह 'विभक्तौ' का विशेषण है अतः **यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे** द्वारा तदादिविधि हो कर 'तकारादौ हकारादौ च विभक्तौ' यह उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(ति-होः=तकारादौ हकारादौ च) तकारादि या हकारादि (विभक्तौ) विभक्ति परे हो तो (किमः) किम् के स्थान पर (कु) 'कु' यह शब्दस्वरूप आदेश हो जाता है। 'कु' आदेश अनेकाल् है अतः **अनेकाल्शित्सर्वस्य** (४५) द्वारा सर्वादेश होता है। यह **किमः कः** (२७१) सूत्र का अपवाद है।

'किम् + तस्' यहां 'तस्' यह तकारादि विभक्ति परे विद्यमान है अतः प्रकृत **कु तिहोः** (१२००) सूत्र से किम् के स्थान पर 'कु' यह सर्वादेश हो कर—कु + तस् = कुतस्। अब **तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः** (३६८) द्वारा 'कुतस्' के अव्ययसञ्ज्ञक होने के कारण इस से परे सामान्यतः प्राप्त सुँ विभक्ति का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हो सकार को रुँत्व-विसर्ग करने से 'कुतः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। तसिँल् के अभाव में किम् का पञ्चम्येकवचनान्त रूप 'कस्मात्' भी बनेगा। इस की सिद्धि पीछे सुँबन्त प्रकरण मे की जा चुकी है। द्विवचन और बहुवचन में भी तसिँल्पक्ष में यही 'कुतः' रूप बनेगा। यथा—काभ्याम् = कुतः। केभ्यः = कुतः। स्त्रीलिङ्ग में भी यही रूप बनता है। यथा—कस्याः = कुतः। काभ्याम् = कुतः। काभ्यः = कुतः। यहां **तसिँलादिष्वाकृत्वसुँचः** (६.३.३४) से पुंवद्भाव के कारण टाप् चला जाता है।[1]

सर्वनाम से तसिँल् का उदाहरण यथा—

---

१. **तसिँलादिष्वाकृत्वसुँचः** (६.३.३४)। **अर्थः**—अष्टाध्यायी में तसिँल् प्रत्यय से ले कर कृत्वसुँच् प्रत्यय के पूर्व तक जितने प्रत्यय कहे गये हैं उन के परे रहते भाषित-पुंस्क अनूङ् (जिस से ऊङ् नहीं हुआ) स्त्रीलिङ्गशब्द को पुंवत् हो जाता है।

तसिँल्

अस्मात् = इतः (इस से, इस कारण से)। 'इदम्' शब्द सर्वादिगण में परिगणित है अतः **सर्वादीनि सर्वनामानि** (१५१) द्वारा इस की सर्वनामसञ्ज्ञा हो जाती है। यहां 'इदम् ङसिँ' इस पञ्चम्यन्त सर्वनाम से स्वार्थ में **पञ्चम्यास्तसिँल्** (११९९) द्वारा विकल्प से तद्धित तसिँल् प्रत्यय, अनुबन्धलोप एवं तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण उस के अवयव सुँप् (ङसिँ) का भी लुक् कर देने से 'इदम् + तस्' हुआ। अब यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२०१) इदम इश् ।५।३।३।।

प्राग्दिशीये परे। इतः ।।

अर्थः—प्राग्दिशीय प्रत्यय के परे रहते इदम् के स्थान पर इश् आदेश हो।

व्याख्या—इदमः ।६।१। इश् ।१।१। **प्राग्दिशो विभक्तिः** (११९७) से 'प्राग्दिशः' का अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च** दोनों पूर्ववत् अधिकृत हैं। 'प्राग्दिशः' को प्रत्यय के साथ विशिष्ट कर विभक्तिविपरिणाम करने से 'प्राग्दिशीये प्रत्यये' उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(प्राग्दिशः = प्राग्दिशीये प्रत्यये) प्राग्दिशीय प्रत्यय परे रहते (इदमः) इदम् के स्थान पर (इश्) इश् आदेश हो जाता है।

इश् का शकार **हलन्त्यम्** (१) सूत्रद्वारा इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'इ' मात्र शेष रहता है। इश् आदेश शित् है अतः **अनेकाल्शित्सर्वस्य** (४५) द्वारा यह सम्पूर्ण इदम् के स्थान पर प्रवृत्त होता है।

'इदम् + तस' यहां प्राग्दिशीय तसिँल् प्रत्यय परे विद्यमान है अतः प्रकृत **इदम इश्** (१२०१) सूत्र से इदम् के स्थान पर इश् सर्वादेश हो कर अनुबन्धलोप तथा सुँब्लुक् आदि विभक्तिकार्य करने से—इ + तस् = इतस् = 'इतः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। पक्ष में इदम् का पञ्चम्येकवचनान्त रूप 'अस्मात्' भी बनेगा। अन्य वचनों में भी तसिँल्प्रत्ययान्त का यही रूप बनेगा। यथा—आभ्याम् = इतः। एभ्यः = इतः। स्त्रीलिङ्ग में भी पुंवद्भाव हो कर यही 'इतः' रूप ही बनेगा।

सर्वनाम से तसिँल् का दूसरा उदाहरण यथा—

एतस्मात् = अतः (इस से, इस कारण से)। एतद्शब्द भी सर्वादियों में पठित होने से सर्वनामसञ्ज्ञक है। अतः 'एतद् ङसिँ' से स्वार्थ में **पञ्चम्यास्तसिँल्** (११९९) से वैकल्पिक तसिँल्, अनुबन्धलोप तथा तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण सुँप् (ङसिँ) का भी लुक् कर देने से—एतद् + तस्। अब इस स्थिति में **त्यदादीनामः** (१९३) सूत्रद्वारा अत्व के प्राप्त होने पर उस का अपवाद अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२०२) अन् ।५।३।५।।

एतदः प्राग्दिशीये (अन् इत्यादेशः स्यात्)। अनेकाल्त्वात् सर्वादेशः। अतः। अमुतः। यतः। बहुतः। द्व्यादेस्तु—द्वाभ्याम् ।।

अर्थः—प्राग्दिशीय प्रत्यय परे रहते एतद्शब्द के स्थान पर 'अन्' आदेश हो। **अनेकाल्त्वात्**—अन् आदेश अनेकाल् होने से सर्वादेश होता है।

व्याख्या—पाणिनि के **एतदोऽन्** (५.३.५) इस एक योग (सूत्र) के दो भाग किये जाते हैं—(१) एतदः । (२) अन् । यहां की प्रयोगसिद्धि में द्वितीयांश का उपयोग किया गया है । अन् ।१।१। एतदः ।६।१। (सूत्र के प्रथमांश से) । **प्राग्दिशो विभक्तिः** (११९७) से 'प्राग्दिशः' का अनुवर्त्तन हो रहा है । **प्रत्ययः, परश्च** आदि भी पूर्ववत् अधिकृत हैं । अर्थः—(प्राग्दिशः = प्राग्दिशीये प्रत्यये) प्राग्दिशीय प्रत्यय के परे रहते (एतदः) एतद् के स्थान पर (अन्) 'अन्' आदेश हो जाता है ।

अन् के नकार की प्रयोजनाभाव से इत्सञ्ज्ञा नहीं होती अतः अनेकाल् होने से **अनेकाल्शित्सर्वस्य** (४५) द्वारा अन् आदेश सर्वादेश अर्थात् सम्पूर्ण एतद् के स्थान पर होता है ।

'एतद् + तस्' यहां प्राग्दिशीय तसिँल् प्रत्यय परे विद्यमान है अतः प्रकृत **अन्** (१२०२) सूत्र से एतद् के स्थान पर अन् सर्वादेश हो जाता है—अन् + तस् । **स्वादिष्व-सर्वनामस्थाने** (१६४) से पदसञ्ज्ञा के कारण पदान्त नकार का **न लोपः प्रातिपदि-कान्तस्य** (१८०) से लोप हो कर—अ + तस् = अतस् । अब औत्सर्गिक सुँ विभक्ति ला कर **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से उस का लुक् कर देने से— अतस् = 'अतः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । पक्ष में त्यदाद्यत्व (१९३), पररूप (२७४) एवं **ङसिँङ्योः स्मात्स्मिनौ** (१५४) से ङसिँ को स्मात् आदेश करने से 'एतस्मात्' प्रयोग भी बनेगा ।

सर्वनाम (अदस्) से तसिँल् का तीसरा उदाहरण यथा—

अमुष्मात् = अमुतः (उस से) । अदस्शब्द भी सर्वादियों में पठित होने से सर्वनामसञ्ज्ञक है । 'अदस् ङसिँ' इस पञ्चम्यन्त से स्वार्थ में पूर्ववत् तसिँल्, अनुबन्ध-लोप तथा अन्तर्वर्त्ती सुँप्प्रत्यय (ङसिँ) का भी लुक् करने पर—अदस् + तस् । तस् विभक्तिसञ्ज्ञक (११९७) है अतः विभक्ति के परे रहते **त्यदादीनामः** (१९३) से अदस् के सकार को अत्व एवम् **अतो गुणे** (२७४) से पररूप एकादेश करने से—अद + तस् । पुनः **अदसोऽसेर्दादु दो मः** (३५६) सूत्रद्वारा 'द' को 'मु' कर विभक्तिकार्य करने से 'अमुतः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । तसिँल् के अभाव में—अदस् + ङसिँ, अद + ङसिँ (१९३), अद + स्मात् (१५४), 'अमुष्मात्' (३५६) प्रयोग भी बनेगा ।

सर्वनाम (यद्) से तसिँल् का चौथा उदाहरण यथा—

यस्मात् = यतः (जिस से, जिस कारण से) । यद्शब्द भी सर्वादियों में परि-गणित होने से सर्वनाम है । 'यद् ङसिँ' इस पञ्चम्यन्त सर्वनाम से स्वार्थ में पूर्ववत् तसिँल्, अनुबन्धलोप तथा अन्तर्वर्त्तिनी विभक्ति (ङसिँ) का लुक् करने से—यद् + तस् । त्यदाद्यत्व (१९३) और पररूप एकादेश (२७४) करने पर—य + तस् = यतस् । सुँविभक्ति ला कर **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से उस का लुक् एवं प्रकृति के सकार को रुँत्व-विसर्ग करने से 'यतः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । तसिँल् के अभाव में त्यदाद्यत्व, पररूप तथा **ङसिँङ्योः स्मात्स्मिनौ** (१५४) से ङसिँ को स्मात् आदेश करने पर 'यस्मात्' भी बनेगा ।

इसीप्रकार—तस्मात्=ततः । एकस्मात्=एकतः । सर्वस्मात्=सर्वतः । इत्यादियों की प्रक्रिया समझनी चाहिये ।

बहुशब्द से तसिँल् का उदाहरण यथा—

बहुभ्यः=बहुतः (बहुतों से) । 'बहु भ्यस्' से स्वार्थ में **पञ्चम्यास्तसिँल्** (११९९) द्वारा तसिँल्प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक् तथा पूर्ववत् विभक्तिकार्य करने से—बहुतस् ='बहुतः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । तसिँल् के अभाव में 'बहुभ्यः' बनेगा ।[1]

'अद्वयादिभ्यः' कथन के कारण द्विआदि सर्वनामों से तसिँल् नहीं होता । अतः 'द्वाभ्याम्' के स्थान पर 'द्वितः' का प्रयोग नहीं होता ।[2]

अब परि और अभि अव्ययों से परे भी तसिँल् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—**(१२०३) पर्यभिभ्यां च ।५।३।९।।**

आभ्यां तसिँल् स्यात् । परितः, सर्वत इत्यर्थः । अभितः, उभयत इत्यर्थः ।।

अर्थः—परि और अभि अव्ययों से परे भी स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक तसिँल् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—पर्यभिभ्याम् ।५।२। च इत्यव्ययपदम् । तसिँल् ।१।१। (**पञ्चम्यास्तसिँल्** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, वा** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—परिश्च अभिश्च ताभ्याम्=पर्यभिभ्याम्, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(पर्यभिभ्याम्) 'परि' और 'अभि' अव्ययों से परे भी स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (तसिँल्) तसिँल् प्रत्यय हो जाता है ।

सर्व-अर्थ में वर्त्तमान 'परि' अव्यय से तथा उभय (दोनों) अर्थ में वर्त्तमान 'अभि' अव्यय से यहां तसिँल् करना अभीष्ट है । जैसाकि वार्त्तिककार ने कहा है—**सर्वोभयार्थाभ्यामेव** (वा०) । उदाहरण यथा—

परि=परितः (सब ओर, चहुँ ओर) । अभि=अभितः (दोनों ओर) । यहां 'परि' अव्यय सर्वार्थक एवम् 'अभि' अव्यय उभयार्थक है अतः प्रकृत **पर्यभिभ्यां च** (१२०३) सूत्रद्वारा इन से तसिँल् प्रत्यय ला कर अनुबन्धलोप तथा विभक्तिकार्य करने से 'परितः' और 'अभितः' प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं । इन के योग में **अभितः-परितः-समया-निकषा-हा-प्रतियोगेऽपि** (वा०) इस वार्तिक से द्वितीया विभक्ति का विधान किया गया है । यथा—

अभितः केशवं गोपा गावस्तं परितः स्थिताः । (प्रक्रियासर्वस्वे)

नोट—समीप अर्थ में भी 'अभितः' बहुत प्रसिद्ध है परन्तु यह इस का लाक्ष-

---

१. ध्यान रहे कि संख्यावाचक बहुशब्द से ही तसिँल् इष्ट है वैपुल्यवाची से नहीं—यह पीछे (११९८) सूत्र पर बताया जा चुका है । अतः 'बहोः सूपात्' (विशाल छाज से) यहां तसिँल् नहीं होता ।

२. **नूनं मत्तः परं वंश्याः**—(रघु० १.६६) इत्यादिषु **आद्यादिभ्यस्तसेरुपसंख्यानम्** (वा० ९६) इति सार्वविभक्तिकस्तसिर्बोध्यः ।

2जप्रमी   त्रल्

णिक अर्थ समझना चाहिये क्योंकि जो दोनों ओर होता है वह समीप ही होता है। समीप अर्थ में प्रयोग यथा—

(क) **ततो राजाऽब्रवीद् वाक्यं सुमन्त्रमभितः स्थितम्।** (रामायण १.११.४)

(ख) **श्मशानमभितो गत्वा आससाद कुरूनथ।** (महाभारत विराट्० ३८.५)

अब प्राग्दिशीय त्रल् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१२०४) सप्तम्यास्त्रल् ।५।३।१०॥**

(सप्तम्यन्तेभ्यः किमादिभ्यस्त्रल् वा स्यात्)। कुत्र। यत्र। तत्र। बहुत्र॥

अर्थः—सप्तम्यन्त किम् आदि पूर्वोक्त प्रातिपदिकों से स्वार्थ में विकल्प से त्रल् तद्धितप्रत्यय हो।

व्याख्या—सप्तम्याः ।५।१। त्रल् ।१।१। **किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः** यह प्रकृति पूर्ववत् अधिकृत है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, वा** इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं। 'सप्तम्याः' से तदन्तविधि होकर बहुवचनान्ततया विपरिणाम करने से 'सप्तम्यन्तेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः' उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(सप्तम्याः=सप्तम्यन्तेभ्यः) सप्तम्यन्त (किं-सर्वनाम-बहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः) किम्, द्व्यादिभिन्न सर्वनाम तथा बहु—इन प्रातिपदिकों से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (त्रल्) त्रल् प्रत्यय (वा) विकल्प से हो जाता है।

त्रल् प्रत्यय का लकार **हलन्त्यम्** (१) सूत्रद्वारा इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'त्र' मात्र शेष रहता है। लकार अनुबन्ध **लिति** (६.१.१८७) सूत्रद्वारा उदात्तत्वविधान के लिये जोड़ा गया है।

किम् से त्रल् का उदाहरण यथा—

कस्मिन्=कुत्र (किस पर, किस में, कहां पर)। 'किम् ङि' यहां सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से स्वार्थ में **सप्तम्यास्त्रल्** (१२०४) सूत्रद्वारा त्रल् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक् तथा **कु तिहोः** (१२००) से किम् के स्थान पर 'कु' यह सर्वादेश करने पर—कुत्र। विभक्ति (सुँ) लाने पर **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) द्वारा उस का लुक् हो जाने से 'कुत्र' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। पक्ष में सुँबन्तप्रक्रिया के अनुसार 'कस्मिन्' प्रयोग भी रहेगा। अन्य वचनों एवं स्त्रीलिङ्ग में भी 'कुत्र' रूप निर्बाध रहेगा—कयोः=कुत्र, केषु=कुत्र, कस्याम्=कुत्र, कयोः=कुत्र, कासु=कुत्र।

सर्वनाम (यद्) से त्रल् का उदाहरण यथा—

यस्मिन्=यत्र (जिस में, जिस पर, जहां पर)। यहां पर सप्तम्यन्त सर्वनाम 'यद् ङि' से स्वार्थ में **सप्तम्यास्त्रल्** (१२०४) से त्रल् प्रत्यय, अनुबन्धलोप एवं प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण सुँप् (ङि) का भी लुक् (७२१) कर देने पर—यद्+त्र। 'त्र' प्रत्यय की **प्राग्दिशो विभक्तिः** (११९७) से विभक्तिसञ्ज्ञा है अतः विभक्ति के परे रहते **त्यदादीनामः** (१९३) से यद् के दकार को अत्व तथा **अतो गुणे** (२७४) से पररूप

एकादेश करने पर 'यत्र' बना । अब इस से औत्सर्गिक सुँविभक्ति ला कर उस का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् करने से 'यत्र' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । त्रल् के अभाव में 'यस्मिन्' भी रहेगा ।

सर्वनाम (तद्) से त्रल् का उदाहरण यथा—

तस्मिन्=तत्र (उस में, उस पर, वहां पर) । 'तद् ङि' से स्वार्थ में त्रल्, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, त्यदाद्यत्व, पररूप तथा अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'तत्र' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—सर्वस्मिन्=सर्वत्र । अन्यस्मिन्=अन्यत्र । एकस्मिन्=एकत्र । उभयस्मिन्=उभयत्र । विश्वस्मिन्=विश्वत्र । एतस्मिन्=अत्र ।[1] अमुष्मिन्=अमुत्र ।[2] इत्यादि ।

द्व्यादियों से यह त्रल् नहीं होता अतः 'द्वयोः' ही रहेगा, त्रल्प्रत्ययान्त रूप नहीं बनेगा ।

अब 'इदम्' सर्वनाम से त्रल् के अपवाद 'ह' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२०५) इदमो हः ।५।३।११॥

(सप्तम्यन्ताद् इदमो हः प्रत्ययः स्यात्) । त्रलोऽपवादः । इह ॥

अर्थः=सप्तम्यन्त 'इदम्' सर्वनाम से स्वार्थ में तद्धितसंज्ञक 'ह' प्रत्यय हो । यह पूर्वोक्त त्रल् का अपवाद है ।

व्याख्या—इदमः ।५।१। हः ।१।१। सप्तम्याः ।५।१। (**सप्तम्यास्त्रल्** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, वा** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(सप्तम्याः=सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त (इदमः) इदम् से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (हः) 'ह' प्रत्यय हो जाता है ।

सर्वनाम होने से इदम्शब्द से पूर्वसूत्रद्वारा त्रल् प्राप्त था, उस का अपवाद यह 'ह' प्रत्यय विधान किया जा रहा है । उदाहरण यथा—

अस्मिन्=इह (इस में, इस पर, यहां पर) । 'इदम् ङि' से **सप्तम्यास्त्रल्** (१०२४) सूत्रद्वारा त्रल् प्राप्त था परन्तु उस का बाध कर प्रकृत **इदमो हः** (१२०५) सूत्र से 'ह' प्रत्यय हो जाता है—इदम् ङि+ह । प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (ङि) का लुक् हो कर—इदम्+ह । 'ह' प्रत्यय प्राग्दिशीय है अतः इस के परे रहते **इदम् इश्** (१२०१) सूत्र से इदम् के स्थान पर इश् (इ) सर्वादेश हो जाता है—इश्+ह=इह । अब सुँविभक्ति ला कर उस का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् करने से 'इह' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । 'वा' अधिकार के कारण 'अस्मिन्' भी रहेगा ।

अब सप्तम्यन्त किम्शब्द से अत् प्रत्यय का भी विधान करते हैं—

---

१. **अन्** (१२०२) इत्यनेन एतदोऽन् इत्यादेशे नलोपः (१८०) ।

२. सप्तम्यन्ताद् अदस्शब्दात् त्रलि, सुँब्लुकि, त्यदाद्यत्वे, पररूपे, **अदसोऽसेर्दादु दो मः** (३५६) इति मुत्वे च कृते रूपं सिध्यति ।

सप्तमी

अत् त्रल्

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२०६) **किमोऽत्** ।५।३।१२।।

वाग्रहणमपकृष्यते। सप्तम्यन्तात् किमोऽद्वा स्यात्। पक्षे त्रल् ॥

अर्थः— इस सूत्र में अग्रिमसूत्र से 'वा' पद का अपकर्षण किया जाता है। सप्तम्यन्त 'किम्' प्रातिपदिक से स्वार्थ में तद्धितसंज्ञक अत् प्रत्यय विकल्प से हो। पक्ष में त्रल् हो जायेगा।

व्याख्या—किमः ।५।१। अत् ।१।१। सप्तम्याः ।५।१। (**सप्तम्यास्त्रल्** सूत्र से)। वा इत्यव्ययपदम् (**वा ह च च्छन्दसि** इस अग्रिमसूत्र से)।[1] प्रत्ययः, **परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(सप्तम्याः=सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त (किमः) किम् प्रातिपदिक से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अत्) अत् प्रत्यय (वा) विकल्प से हो जाता है।

अत् में तकार इत् है, 'अ' मात्र शेष रहता है। तकार अनुबन्ध **तित्स्वरितम्** (६.१.१७९) सूत्रद्वारा स्वरितस्वरार्थ जोड़ा गया है।[2]

अब अत्प्रत्यय के परे रहते 'किम्' को 'क्व' आदेश का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२०७) **क्वाऽति** ।७।२।१०५।।

किमः 'क्व' इत्यादेशः स्यादति। क्व, कुत्र ॥

अर्थः—अत् प्रत्यय के परे रहते 'किम्' के स्थान पर 'क्व' आदेश हो।

व्याख्या—क्व इतिलुप्तप्रथमैकवचनान्तं पदम्। अति ।७।१। किमः ।६।१। (**किमः कः** सूत्र से)। अर्थः—(अति) अत् प्रत्यय के परे रहते (किमः) किम् के स्थान पर (क्व) 'क्व' आदेश हो। यह **किमः कः** (२७१) द्वारा प्राप्त 'क' आदेश का अपवाद है।

'क्व' आदेश अनेकाल् है अतः **अनेकाल्शित्सर्वस्य** (४५) द्वारा सम्पूर्ण किम् के स्थान पर होगा। उदाहरण यथा—

कस्मिन्=क्व, कुत्र (किस में, किस पर, कहां पर)। 'किम् ङि' इस सप्तम्यन्त से स्वार्थ में **किमोऽत्** (१२०६) सूत्र से अत् प्रत्यय, तकार अनुबन्ध का लोप तथा तद्धितान्त की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो जाने से उस के अवयव सुँप् (ङि) का लुक् (७२१) करने पर —किम्+अ। अब अत् प्रत्यय के परे रहते **क्वाऽति** (१२०७) सूत्र से किम् के स्थान पर क्व सर्वादेश हो कर **यस्येति च** (२३६) से वकारोत्तर भसंज्ञक अकार का

---

१. ध्यान रहे कि जैसे पूर्वसूत्रों से अगले सूत्रों में पदों का अनुवर्त्तन होता है वैसे अगले सूत्रों से पूर्व के सूत्रों में भी पदों का अपकर्षण हुआ करता है। परन्तु यह अपकर्षण विरल स्थानों पर प्रयोजनसिद्ध्यर्थ ही हुआ करता है सर्वत्र नहीं।

२. ध्यातव्यं यदत्र **न विभक्तौ तुस्माः** (१३१) इति निषेधो न प्रवर्त्तते यत **इदमस्थमुँः** (१२१६) इति थमोरुकारेण मकारपरित्राणार्थेनास्यानित्यत्वं ज्ञाप्यते। [विस्तरस्तु तत्रस्थटिप्पणतोऽवगन्तव्यः]।

लोप करने से[1]—क्व्+अ=क्व। सुँविभक्ति ला कर **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से उस का लुक् करने पर 'क्व' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। अत् प्रत्यय विकल्प से होता है अतः अत् के अभावपक्ष में **सप्तम्यास्त्रल्** (१२०४) से त्रल् प्रत्यय हो कर **कु तिहोः** (१२००) से किम् को कु सर्वादेश करने से पूर्ववत् 'कुत्र' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। **समर्थानां प्रथमाद्वा** (९९७) सूत्रोक्त 'वा' इस महाविभाषा के कारण 'कस्मिन्' यह सप्तम्यन्त प्रयोग भी रहता है।

अब कुछ अन्यविभक्त्यन्तों से भी तसिँल् और त्रल् आदि पूर्वोक्त प्रत्ययों का विधान दर्शाते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**१२०८**) **इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते** ।५।३।१४।।

पञ्चमीसप्तमीतरविभक्त्यन्तादपि तसिँलादयो दृश्यन्ते। दृशिग्रहणाद् भवदादियोग एव। स भवान्। ततो भवान्। तत्रभवान्। तं भवन्तम्। ततो भवन्तम्। तत्रभवन्तम्। एवं दीर्घायुः, देवानांप्रियः, आयुष्मान्॥

अर्थः—पञ्चमी और सप्तमी के अतिरिक्त अन्यविभक्त्यन्त किम्आदियों से भी तसिँल् आदि प्रत्यय देखे जाते हैं। **दृशिग्रहणात्**—'देखे जाते हैं' इस कथन के कारण भवतुँ (आप) आदि शब्दों के योग में ही इन प्रत्ययों की प्रवृत्ति समझनी चाहिये।

व्याख्या—इतराभ्यः ।५।३। अपि इत्यव्ययपदम्। दृश्यन्ते इति दृशिधातोः कर्मणि लँटि प्रथमपुरुषबहुवचनान्तं रूपम्। तसिँलादयः ।१।३। (**पञ्चम्यास्तसिँल्, सप्तम्यास्त्रल्** आदि सूत्रों से)। **किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः** (११९८) यह अधिकृत है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, वा** इत्यादि भी पूर्वतः अधिकृत हैं। **पञ्चम्यास्तसिँल्** (११९९) द्वारा पञ्चम्यन्त से तसिँल् तथा **सप्तम्यास्त्रल्** (१२०४) द्वारा सप्तम्यन्त से त्रल् प्रत्यय का पीछे विधान कर चुके हैं। पञ्चमी और सप्तमी से भिन्न अन्यविभक्त्यन्तों से भी तसिँल् और त्रल् आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति के लिये यह सूत्र बनाया गया है। अर्थः—(इतराभ्यः) पञ्चमी और सप्तमी के अतिरिक्त जो अन्य विभक्तियां तदन्त (किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः) किम् आदि प्रातिपदिकों से (अपि) भी (तद्धिताः) तद्धितसञ्ज्ञक (तसिँलादयः) तसिँल् त्रल् आदि पूर्वोक्त प्रत्यय (दृश्यन्ते) देखे जाते हैं।

'दृश्यन्ते' कथन से यह सूचित होता है कि ये प्रत्यय जैसे शिष्टप्रयोगों में देखे जाते हैं वैसे ही प्रयुक्त करने चाहियें। शिष्टप्रयोगों में इतरविभक्त्यन्तों से ये प्रत्यय भवतुँ (आप), दीर्घायुष् (दीर्घ आयु वाला), देवानांप्रिय (देवताओं का प्यारा) तथा आयुष्मत् (बड़ी आयु वाला) इन चार शब्दों के योग में ही प्रायः[2] देखे जाते हैं, सो

---

१. कुछ लोग यहां **अतो गुणे** (२७४) सूत्रद्वारा पररूप किया करते हैं। परन्तु हमारे विचार में **वार्णादाङ्गं बलीयः** (प०) के अनुसार अङ्गकार्य **यस्येति च** (२३६) करना ही उचित है।

२. प्रायः इसलिये कहा है कि कहीं कहीं भवतुँ आदि के योग के विना भी ये प्रत्यय देखे जाते हैं। यथा—**प्रायः पित्तलमम्लम् अन्यत्र दाडिमामलकात्** (चरक० सूत्रस्थान २७.४)। यहां अन्यत्रशब्द अन्यत् इस प्रथमान्त के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

यहां भी इन चार भवतुँ आदि शब्दों के योग (सामानाधिकरण्य) में ही इस सूत्र की प्रवृत्ति समझनी चाहिये।

भवतुँ (भवत्=आप) शब्द के योग में सर्वविभक्त्यन्त तद् शब्द से तसिँल्-त्रल् के उदाहरण यथा—

(प्रथमान्त से यथा) स भवान्—ततो भवान्। स भवान्—तत्रभवान्। यहां प्रथमान्त 'तद् सुँ' से भवतुँशब्द के योग में **इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते** (१२०८) सूत्र से तसिँल् और त्रल् प्रत्यय हो गये हैं। सुँप् का लुक् हो पूर्ववत् विभक्तिकार्य करने से ये रूप सिद्ध हुए हैं। इन के अभाव में 'स भवान्' यह भी रहेगा।

(द्वितीयान्त से यथा) तं भवन्तम्—ततो भवन्तम्। तं भवन्तम्—तत्रभवन्तम्। यहां द्वितीयान्त तद्शब्द से तसिँल् और त्रल् हो गये हैं। पक्ष में 'तं भवन्तम्' यह भी रहेगा।

(तृतीयान्त से यथा) तेन भवता—ततो भवता। तेन भवता—तत्रभवता। यहां तृतीयान्त तद् से तसिँल् और त्रल् हुए हैं। पक्ष में 'तेन भवता' यह भी रहेगा।

(चतुर्थ्यन्त से यथा) तस्मै भवते—ततो भवते। तस्मै भवते—तत्रभवते। यहां चतुर्थ्यन्त तद् से तसिँल् और त्रल् हुए हैं। पक्ष में 'तस्मै भवते' यह भी रहेगा।

(पञ्चम्यन्त से यथा) तस्माद् भवतः—ततो भवतः। तस्माद् भवतः—तत्र-भवतः। यहां पञ्चम्यन्त तद् से तसिँल् और त्रल् हुए हैं। पक्ष में 'तस्माद् भवतः' यह भी रहेगा।

(षष्ठ्यन्त से यथा) तस्य भवतः—ततो भवतः। तस्य भवतः—तत्रभवतः। यहां षष्ठ्यन्त तद् से तसिँल् और त्रल् हुए हैं। पक्ष में 'तस्य भवतः' यह भी रहेगा।

(सप्तम्यन्त से यथा) तस्मिन् भवति—ततो भवति। तस्मिन् भवति—तत्र-भवति। यहां सप्तम्यन्त तद् से तसिँल् और त्रल् हुए हैं। पक्ष में 'तस्मिन् भवति' भी रहेगा।[1]

इन विभक्तियों के द्विवचन और बहुवचन में भी तसिँल् और त्रल् करने पर यही रूप बनते हैं। हां! भवतुँ आदि शब्दों में तथा विग्रहवचन में अन्तर तो होगा ही।

इसीप्रकार दीर्घायुष्[2] के योग में भी सर्वविभक्त्यन्त तद्शब्द से तसिँल् और त्रल् हो जायेंगे। यथा—

(प्रथमान्त से) स दीर्घायुः—ततो दीर्घायुः, तत्रदीर्घायुः।

(द्वितीयान्त से) तं दीर्घायुषम्—ततो दीर्घायुषम्, तत्रदीर्घायुषम्।

(तृतीयान्त से) तेन दीर्घायुषा—ततो दीर्घायुषा, तत्रदीर्घायुषा।

---

१. ऐसे स्थानों पर किस विभक्त्यन्त से तसिँल् या त्रल् किया गया है—इसे जानने के लिये संलग्न भवतुँ आदि शब्दों की विभक्ति को देखना चाहिये। भवतुँ आदि में जो विभक्ति होगी उसीविभक्त्यन्त से तसिँल् या त्रल् किया गया समझा जायेगा।

२. दीर्घम् आयुर्यस्य स दीर्घायुः। बहुव्रीहिसमासः।

(चतुर्थ्यन्त से) तस्मै दीर्घायुषे—ततो दीर्घायुषे, तत्रदीर्घायुषे ।
(पञ्चम्यन्त से) तस्माद् दीर्घायुषः—ततो दीर्घायुषः, तत्रदीर्घायुषः ।
(षष्ठ्यन्त से) तस्य दीर्घायुषः—ततो दीर्घायुषः, तत्रदीर्घायुषः ।
(सप्तम्यन्त से) तस्मिन् दीर्घायुषि—ततो दीर्घायुषि, तत्रदीर्घायुषि ।
इसीप्रकार 'देवानांप्रियः'[1] के योग में—
(प्रथमान्त से) स देवानांप्रियः—ततो देवानांप्रियः, तत्रदेवानांप्रियः ।
(द्वितीयान्त से) तं देवानांप्रियम्—ततो देवानांप्रियम्, तत्रदेवानांप्रियम् ।
(तृतीयान्त से) तेन देवानांप्रियेण—ततो देवानांप्रियेण, तत्रदेवानांप्रियेण ।
(चतुर्थ्यन्त से) तस्मै देवानांप्रियाय—ततो देवानांप्रियाय, तत्रदेवानांप्रियाय ।
(पञ्चम्यन्त से) तस्माद् देवानांप्रियात्—ततो देवानांप्रियात्, तत्रदेवानांप्रियात् ।
(षष्ठ्यन्त से) तस्य देवानांप्रियस्य—ततो देवानांप्रियस्य, तत्रदेवानांप्रियस्य ।
(सप्तम्यन्त से) तस्मिन् देवानांप्रिये—ततो देवानांप्रिये, तत्रदेवानांप्रिये ।
इसीप्रकार 'आयुष्मत्'[2] के योग में—
(प्रथमान्त से) स आयुष्मान्—तत आयुष्मान्, तत्रायुष्मान् ।
(द्वितीयान्त से) तम् आयुष्मन्तम्—तत आयुष्मन्तम्, तत्रायुष्मन्तम् ।
(तृतीयान्त से) तेनायुष्मता—तत आयुष्मता, तत्रायुष्मता ।
(चतुर्थ्यन्त से) तस्मै आयुष्मते—तत आयुष्मते, तत्रायुष्मते ।
(पञ्चम्यन्त से) तस्मादायुष्मतः—तत आयुष्मतः, तत्रायुष्मतः ।
(षष्ठ्यन्त से) तस्यायुष्मतः—तत आयुष्मतः, तत्रायुष्मतः ।
(सप्तम्यन्त से) तस्मिन्नायुष्मति—तत आयुष्मति, तत्रायुष्मति ।

उपर्युक्त ये सब तद्शब्द से प्रत्यय दर्शाए गये हैं । एतद्, इदम् आदियों से भी इसीप्रकार भवत् आदि के योग में प्रत्ययों की उत्पत्ति समझ लेनी चाहिये । यथा—एष भवान्—अतो भवान्, अत्रभवान् । एतम्भवन्तम्—अतो भवन्तम्, अत्रभवन्तम् । एतेन भवता—अतो भवता, अत्रभवता ।[3] एतस्मै भवते—अतो भवते, अत्रभवते । एत-

---

१. देवानां प्रियः—देवानांप्रियः । अलुक्समासः । **षष्ठ्या आक्रोशे** (६.३.२०) इतिसूत्रस्थेन **देवानांप्रिय इति च** इति वार्त्तिकेन षष्ठ्या अलुक् । मूर्खार्थे प्रसिद्धोऽयं शब्दः । मूर्खा हि देवानां प्रीतिं जनयन्ति देवपशुत्वादिति मनोरमायां दीक्षिताः । अयमाशयः—ब्रह्मज्ञानरहितत्वात् संसारिणो मूर्खाः । ते तु यागादिकर्माण्यनुतिष्ठन्तः पुरोडाशादिप्रदानद्वारा देवानामत्यन्तं प्रीतिं जनयन्ति । ब्रह्मज्ञानिनस्तु न तथा, तेषां यागाद्यनुष्ठानाभावात् । अतो गवादिस्थानापन्नत्वाद् मूर्खा एव देवपशव इति ।

२. अतिशयितम् आयुरस्त्यस्येति आयुष्मान् । **तसौ मत्वर्थे** (११८६) इति भत्वाद् रुँत्वं न ।

३. **ह्रीमताऽत्रभवतैव भूयते**—(माघ० १४.२)

कोल दा।

स्माद् भवतः—अतो भवतः, अत्रभवतः। एतस्य भवतः—अतो भवतः, अत्रभवतः। एतस्मिन् भवति—अतो भवति, अत्रभवति।

विशेष वक्तव्य—अत्रभवान्, तत्रभवान् आदि पूज्य अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।[1] पूज्य व्यक्ति यदि वक्ता के समक्ष हो तो 'अत्रभवान्' तथा दूर हो तो 'तत्रभवान्' का प्रयोग किया जाता है। काव्यकोश आदियों में ये एकशब्द के रूप में पढ़े जाते हैं। मल्लिनाथ ने अत्रभवान् तथा तत्रभवान् में सुँप्सुँपासमास माना है (देखें माघ० १४.२; किरात० ११.१८)।

अब प्राग्दिशीय 'दा' प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२०६)

सर्वैकाऽन्य-किं-यत्-तदः काले दा।५।३।१५॥

सप्तम्यन्तेभ्यः कालार्थेभ्यः स्वार्थे दा स्यात्॥

अर्थः—काल अर्थ में वर्त्तमान सर्व, एक, अन्य, किम्, यद् और तद् इन सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक 'दा' प्रत्यय हो।

व्याख्या—सर्वैकाऽन्यकिंयत्तदः।५।१। काले।७।१। दा इति लुप्तप्रथमैकवचनान्तं पदम्। सप्तम्याः।५।१। (**सप्तम्यास्त्रल्** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—सर्वश्च एकश्च अन्यश्च किं च यत् च तत् चैषां समाहारः सर्वैकान्यकियत्तद्, तस्मात् = सर्वैकान्यकियत्तदः, समाहारद्वन्द्वः, समासान्ताभावः सौत्रः। अर्थः—(काले) काल अर्थ में वर्त्तमान (सर्वैकान्यकिंयत्तदः) सर्व, एक, अन्य, किम्, यद् और तद् इन (सप्तम्याः = सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (दा) 'दा' प्रत्यय हो जाता है। **अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति** के अनुसार यह प्रत्यय भी पूर्ववत् स्वार्थ में ही होता है।

'काले' कथन से यहां प्रत्यय का अर्थ नहीं कहा गया अपितु प्रातिपदिक की उपाधि वर्णित की गई है। तात्पर्य यह है कि सर्व आदि शब्द किसी भी विषय में प्रयुक्त हो सकते हैं, परन्तु जब काल के विषय में प्रयुक्त होंगे तो इन से 'दा' प्रत्यय होगा। अत एव लौकिकविग्रह में 'काले' शब्द का प्रयोग होता है किन्तु तद्धितवृत्ति में वृत्ति के अन्तर्गत हो जाने से उस का प्रयोग नहीं होता।

यह सूत्र **सप्तम्यास्त्रल्** (१२०४) द्वारा प्राप्त त्रल् प्रत्यय का अपवाद है। काल से अतिरिक्त विषय में त्रल् ही होगा। उदाहरण यथा—

सर्वस्मिन् काले—सदा, सर्वदा (सब काल में अर्थात् हमेशा)। यहां सर्वशब्द काल में वर्त्तमान है अतः 'सर्व ङि' इस सप्तम्यन्त से **सर्वैकान्यकियत्तदः काले दा** (१२०६) सूत्र से 'दा' प्रत्यय हो कर प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (ङि) का **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् करने से 'सर्व + दा' हुआ। अब इस स्थिति में अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

---

१. **पूज्ये तत्रभवानत्रभवांश्च भगवानपि** – इति हैमकोषः।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२१०)

सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि ।५।३।६।।

दादौ प्राग्दिशीये सर्वस्य सो वा स्यात्। सर्वस्मिन् काले—सदा, सर्वदा। अन्यदा। कदा। यदा। तदा। काले किम्? सर्वत्र देशे।।

अर्थः—दकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय परे हो तो सर्वशब्द के स्थान पर विकल्प से 'स' आदेश हो।

व्याख्या—सर्वस्य।६।१। सः।१।१। अन्यतरस्याम्।७।१। दि।७।१। 'प्राग्दिशः' यह अधिकृत है। **प्रत्ययः** यह भी अधिकृत है। 'प्रत्ययः' को सप्तम्यन्ततया विपरिणत कर उस के साथ 'दि' को सम्बद्ध किया जाता है तब **यस्मिन्विधिस्तदादावल्ग्रहणे** (प०) से तदादिविधि हो कर 'दकारादौ प्रत्यये' उपलब्ध हो जाता है। 'प्राग्दिशः' को भी इसी का विशेषण बना कर 'प्राग्दिशीये' कर लिया जाता है। अर्थः—(दि = दकारादौ) दकारादि (प्राग्दिशीये प्रत्यये) प्राग्दिशीय प्रत्यय परे होने पर (सर्वस्य) सर्वशब्द के स्थान पर (सः) 'स' यह सस्वर आदेश (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में हो जाता है। दूसरी अवस्था में 'सर्व' ही रहता है अतः विकल्प सिद्ध हो जाता है।

'स' आदेश अनेकाल् है अतः **अनेकाल्शित्सर्वस्य** (४५) से सम्पूर्ण 'सर्व' के स्थान पर होता है।

'सर्व + दा' यहां 'दा' यह दकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय परे है अतः प्रकृत **सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि** (१२१०) सूत्र से 'सर्व' के स्थान पर विकल्प से 'स' आदेश हो जाता है—स + दा = सदा। पक्ष में—सर्व + दा = सर्वदा। दोनों की **तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः** (३६८) से अव्ययसञ्ज्ञा हो कर इन से परे आने वाले औत्सर्गिक सुँविभक्ति का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हो जाता है। इस प्रकार 'सदा' और 'सर्वदा' दो रूप सिद्ध हो जाते हैं।

एकस्मिन् काले—एकदा (एक काल में, एक बार)। यहां काल अर्थ में वर्त्तमान 'एक ङि' से **सर्वैकान्य०** (१२०९) सूत्र से स्वार्थ में 'दा' प्रत्यय हो कर पूर्ववत् सुँब्लुक् और विभक्त्यादिकार्य करने से 'एकदा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अन्यस्मिन् काले—अन्यदा (अन्य समय में)। यहां 'अन्य ङि' से **सर्वैकान्य०** (१२०९) सूत्रद्वारा 'दा' प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् और विभक्त्यादिकार्य करने से 'अन्यदा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

कस्मिन् काले—कदा (किस काल में, कब)। यहां 'किम् ङि' से **सर्वैकान्यकि०** (१२०९) सूत्रद्वारा 'दा' प्रत्यय हो जाता है। 'दा' प्रत्यय की **प्राग्दिशो विभक्तिः** (११९७) से विभक्ति संज्ञा है। अतः सुँब्लुक् करने के अनन्तर 'दा' विभक्ति के परे रहते **किमः कः** (२७१) से 'किम्' को 'क' सर्वादेश हो कर—क + दा = कदा। अव्यय होने से सुँविभक्ति का लुक् करने पर 'कदा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। कदागुरोकसो भवन्तः? (कदा + अगुः + ओकसः + भवन्तः, आप लोग घर से कब गये?)।

यस्मिन् काले—यदा (जिस काल में, जब)। यहां 'यद् ङि' से **सर्वैकान्य-किंयत्तदः०** (१२०६) से स्वार्थ में दाप्रत्यय, सुँब्लुक् तथा 'दा' की विभक्तिसञ्ज्ञा कर उस के परे रहते **त्यदादीनामः** (१६३) द्वारा दकार को अत्व और **अतो गुणे** (२७४) से पररूप एकादेश करने पर—य+दा=यदा। अव्ययत्वात् सुँविभक्ति का लुक् करने से 'यदा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

तस्मिन् काले—तदा (उस काल में, तब)। यहां 'तद् ङि' से स्वार्थ में **सर्वैकान्यकिंयत्तदः०** (१२०६) से दाप्रत्यय, सुँब्लुक्, त्यदाद्यत्व, पररूप तथा अव्ययत्वात् सुँविभक्ति का लुक् करने से 'तदा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

सर्व आदि शब्द यदि काल अर्थ में वर्त्तमान न होंगे तो 'दा' न होगा। तब **सप्तम्यास्त्रल्** (१२०४) से त्रल् ही होगा। यथा—सर्वत्र देशे। यहां देश में वर्त्तमान होने से 'सर्व ङि' से दाप्रत्यय न होकर त्रल् ही हुआ है। इसीप्रकार—एकत्र स्थाने, अन्यत्र प्रदेशे, कुत्र स्थाने, यत्र गृहे, तत्र ग्रामे आदियों में समझना चाहिये।

अब काल अर्थ में वर्त्तमान इदम्शब्द से 'र्हिल्' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२११) इदमो र्हिल् ।५।३।१६॥

सप्तम्यन्तात् काल इत्येव ॥

अर्थः—काल अर्थ में वर्त्तमान सप्तम्यन्त 'इदम्' प्रातिपदिक से स्वार्थ में र्हिल् प्रत्यय हो।

व्याख्या—इदमः ।५।१। र्हिल् ।१।१। काले ।७।१। (**सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा** सूत्र से)। सप्तम्याः ।५।१। (**सप्तम्यास्त्रल्** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(काले) काल अर्थ में वर्त्तमान (सप्तम्याः=सप्तम्यन्तात्) सप्तम्यन्त (इदमः) इदम् प्रातिपदिक से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (र्हिल्) र्हिल् प्रत्यय हो जाता है। **इदमो हः** (१२०५) सूत्र का यह अपवाद है।

र्हिल् में लकार इत् हो कर लुप्त हो जाता है, 'र्हि' मात्र अवशिष्ट रहता है। लित्स्वर (६.१.१८७) के लिये लकार अनुबन्ध जोड़ा गया है। उदाहरण यथा—

अस्मिन् काले—एतर्हि (इस काल में, अब)। यहां काल अर्थ में वर्त्तमान सप्तम्यन्त 'इदम् ङि' से स्वार्थ में प्रकृत **इदमो र्हिल्** (१२११) सूत्र से र्हिल् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप एवं सुँप् का भी लुक् कर देने से—इदम्+र्हि। अब **इदम इश्** (१२०१) से इदम् के स्थान पर इश् आदेश प्राप्त होता है। इस पर इस का बाधक अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२१२) एतेतौ रथोः ।५।३।४॥

इदम्शब्दस्य एत-इत् इत्यादेशौ स्तो रेफादौ थकारादौ च प्राग्दिशीये। अस्मिन् काले—एतर्हि। काले किम् ? इह देशे ॥

अर्थः—रेफादि और थकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय के परे रहते इदम् के स्थान पर 'एत' और 'इत्' आदेश हों।

व्याख्या—एतेतौ ।१।२। रथोः ।७।२। इदमः ।६।१। (**इदम इश्** सूत्र से)। 'प्राग्दिशः' का अनुवर्त्तन चल रहा है। **प्रत्ययः, परश्च** आदि अधिकृत हैं। समासः—एतश्च इत् च एतेतौ, इतरेतरद्वन्द्वः। रश्च थ् च रथौ, तयोः=रथोः, इतरेतरद्वन्द्वः। रेफादकार उच्चारणार्थः। 'प्रत्ययः' को विभक्ति और वचन के विपरिणाम से 'प्रत्यययोः' बना लिया जाता है। 'रथोः' यह 'प्रत्यययोः' का विशेषण है अतः **यस्मिन् विधिस्तदादावल्ग्रहणे** (प०) से तदादिविधि हो कर 'रेफादौ थकारादौ च प्रत्यये' उपपन्न हो जाता है। अर्थः—(प्राग्दिशः=प्राग्दिशीये) प्राग्दिशीय (रेफादौ थकारादौ च प्रत्यये) रेफादि और थकारादि प्रत्यय के परे रहते (इदमः) 'इदम्' के स्थान पर (एत-इतौ) 'एत' और 'इत्' आदेश हो जाते हैं।

यथासंख्यपरिभाषा से रेफादि परे होने पर 'एत' आदेश तथा थकारादि परे रहते 'इत्' आदेश होता है। यह **इदम इश्** (१२०१) का अपवाद है। ध्यान रहे कि एत आदेश अदन्त है और इत् आदेश तकारान्त। अनेकाल् होने से दोनों सर्वादेश हो जाते हैं।

'इदम्+र्हि' यहां रेफादि र्हिल् प्रत्यय परे है, यह प्राग्दिशीय भी है, अतः प्रकृत **एतेतौ रथोः** (१२१२) सूत्र से इदम् के स्थान पर 'एत' सर्वादेश हो कर—एत+र्हि=एतर्हि। पुनः **तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः** (३६८) से अव्ययसञ्ज्ञा हो कर अव्यय से परे आये हुए सुँविभक्ति का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् करने पर 'एतर्हि' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

काल अर्थ में वर्त्तमान सप्तम्यन्त इसी इदम् शब्द से **अधुना** (५.३.१७) सूत्र-द्वारा 'अधुना' प्रत्यय तथा **इदम इश्** (१२०१) सूत्र से इदम् के स्थान पर इश् सर्वादेश कर **यस्येति च** (२३६) से उस का लोप करने से प्रत्ययमात्रावशिष्ट 'अधुना' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीतरह **दानीं च** (५.३.१८) सूत्रद्वारा इदम् से दानीम् प्रत्यय तथा **इदम इश्** (१२०१) से इश् सर्वादेश कर 'इदानीम्' प्रयोग भी सिद्ध हो जाता है। इसप्रकार कालवाची सप्तम्यन्त इदम्शब्द से र्हिल्, अधुना और दानीम् ये तीन प्रत्यय हो कर क्रमशः एतर्हि, अधुना और इदानीम् ये तीन रूप बनते हैं।[2]

काल अर्थ में वर्त्तमान न होने पर इदम् से परे र्हिल् आदि प्रत्यय न होंगे। **इदमो हः** (१२०५) से 'ह' प्रत्यय हो कर **इदम इश्** (१२०१) से इश् सर्वादेश करने से 'इह' बनेगा। यथा—इह देशे।

अब अनद्यतनकाल में किम् आदियों से भी र्हिल् प्रत्यय का वैकल्पिक विधान करते हैं—

---

१. **भवन्तमेतर्हि मनस्विगर्हितं**
विवर्त्तमानं नरदेव वर्त्मनि।
कथं न मन्युर्ज्वलयत्युदीरितः
शमीतरुं शुष्कमिवाग्निरुच्छिखः॥ (किरात० १.३२)

२. **एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा** इत्यमरः।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२१३)

अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम् ।५।३।२१।।

अनद्यतनकालवृत्तिभ्यः किमादिभ्यो र्हिल् प्रत्ययो वा स्यात् । कर्हि, कदा । यर्हि, यदा । तर्हि, तदा ।

अर्थः—अनद्यतनकाल[1] में वर्त्तमान किम् आदि सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से तद्धितसञ्ज्ञक र्हिल् प्रत्यय विकल्प से हो ।

व्याख्या—अनद्यतने ।७।१। र्हिल् ।१।१। अन्यतरस्याम् ।७।१। सप्तम्याः ।५।१। (**सप्तम्यास्त्रल्** सूत्र से) । **किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः** यह अधिकृत है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, प्राग्दिशो विभक्तिः** (११९७) इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं । अर्थः— (अनद्यतने) अद्यतन से भिन्न काल में वर्त्तमान (किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः) किम्, द्व्यादिभिन्न सर्वनाम तथा बहु इन (सप्तम्याः=सप्तम्यन्तेभ्यः) सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (र्हिल्) र्हिल् प्रत्यय (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में अर्थात् विकल्प से हो जाता है । इस के यथासम्भव उदाहरण यथा[2]—

कस्मिन् अनद्यतने काले— कर्हि, कदा (किस अनद्यतन काल में, कब) । यहां 'किम् ङि' इस अनद्यतनकालवर्त्ती सप्तम्यन्त किम् प्रातिपदिक से स्वार्थ में **अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम्** (१२१३) सूत्रद्वारा विकल्प से र्हिल् प्रत्यय, लकार अनुबन्ध का लोप, सुँब्लुक् तथा र्हिल् की विभक्तिसञ्ज्ञा (११९७) होने से **किमः कः** (२७१) सूत्र से किम् को 'क' सर्वादेश तथा अन्त में अव्ययत्वात् सुँविभक्ति का लुक् कर देने से 'कर्हि' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । र्हिल् के अभाव में **सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा** (१२०९) से दा प्रत्यय हो कर किम् को क आदेश (२७१) करने से 'कदा' प्रयोग बनेगा ।

यस्मिन् अनद्यतने काले—यर्हि, यदा (जिस अनद्यतन काल में, जब) । यहां अनद्यतनकाल में वर्त्तमान 'यद् ङि' से **अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम्** (१२१३) सूत्रद्वारा विकल्प से र्हिल् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक्, त्यदाद्यत्व (१९३), पररूप (२७४) तथा अव्ययत्वात् सुँविभक्ति का लुक् कर देने से 'यर्हि' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । पक्ष में **सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा** (१२०९) से दाप्रत्यय हो कर त्यदाद्यत्व, पररूप और विभक्तिकार्य करने से 'यदा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार— तस्मिन् अनद्यतने काले—तर्हि, तदा (उस अनद्यतन काल में, तब) ।

एतस्मिन् अनद्यतने काले— एतर्हि, अत्र (इस अनद्यतन काल में, अब) । यहां अनद्यतनकाल में वर्त्तमान 'एतद् ङि' से **अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम्** (१२१३) सूत्रद्वारा

---

१. **अहरुभयतोऽर्धरात्रमेषोऽद्यतनः कालः** (काशिका) । अद्यतन-अनद्यतन की व्याख्या पीछे (३९१) सूत्राङ्क पर विस्तार से की जा चुकी है, वह यहां पुनर्ध्यातव्य है ।

२. **विधिरयं किंयत्तदन्येभ्य एवेति** भोजः । परं पाणिनीया एतदोऽपीच्छन्ति ।

विकल्प से र्हिल् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (ङि) का भी लुक् कर देने से—एतद्+र्हि। अब इस अवस्था में एतद् के स्थान पर **अन्** (१२०२) सूत्रद्वारा अन् आदेश प्राप्त होता है। इस पर उस का अपवाद अग्रिमसूत्र **प्रवृत्त** होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२१४) एतदः ।५।३।५॥

एतद एत-इत् एतौ स्तो रेफादौ थादौ च प्राग्दिशीये। एतस्मिन् (अनद्यतने) काले—एतर्हि ॥

अर्थः—रेफादि और थकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय के परे रहते एतद् के स्थान पर क्रमशः एत और इत् आदेश हों।

व्याख्या—योगविभागद्वारा पाणिनीय **एतदोऽन्** (५.३.५) सूत्र के दो खण्ड किये जाते हैं। पहला खण्ड है—**एतदः**। और दूसरा खण्ड है—अन्।[1] द्वितीखण्ड की व्याख्या (१२०२) सूत्राङ्क पर की जा चुकी है। यहां प्रथमखण्ड की व्याख्या प्रस्तुत है। एतदः ।६।१। एतेतौ ।१।२। रथोः ।७।२। (**एतेतौ रथोः** सूत्र से)। प्राग्दिशीय प्रत्ययों का प्रकरण चल रहा है अतः 'रथोः' को उस का विशेषण बना कर तदादिविधि करने से 'रेफादौ थकारादौ च प्राग्दिशीये' ऐसा उपपन्न हो जाता है। अर्थः—(रथोः=रेफादौ थकारादौ च प्राग्दिशीये) रेफादि और थकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय के परे रहते (एतदः) एतद् के स्थान पर (एतेतौ) एत और इत् आदेश हो जाते हैं। यथासंख्यपरिभाषा (२३) के अनुसार रेफादिप्रत्यय के परे रहते 'एत' आदेश तथा थकारादि प्रत्यय के परे रहते 'इत्' आदेश होगा। उदाहरण यथा—

---

१. पाणिनि ने **एतदोऽन्** (५.३.५) यह एक सूत्र बनाया है। जिस का अर्थ है—एतद्-शब्द के स्थान पर 'अन्' सर्वादेश हो प्राग्दिशीयप्रत्यय के परे रहते। इस से—'एतस्मात्=अतः, एतस्मिन्=अत्र' ये सिद्ध हो जाते हैं। परन्तु रेफादि और थकारादि प्राग्दिशीयों में इदम्शब्द की तरह (देखें १२१२) एतद् को भी क्रमशः एत और इत् आदेश करने अभीष्ट हैं—एतस्मिन् काले एतर्हि, एतेन प्रकारेण इत्थम्। इन दोनों अर्थों की सिद्धि के लिये महाभाष्य में **एतदोऽन्** (५.३.५) इस एक सूत्र के दो खण्ड किये गये हैं जिसे योगविभाग (योग=सूत्र का विभाग) कहते हैं। इस का प्रथम खण्ड है—एतदः। इस में **एतेतौ रथोः** (१२१२) सूत्र का अनुवर्त्तन हो कर यह अर्थ उपलब्ध हो जाता है—रेफादि और थकारादि प्राग्दिशीयों के परे रहते एतद् को क्रमशः एत और इत् आदेश हो जाते हैं। द्वितीय खण्ड है—**अन्**। यहां 'एतदः' का अनुवर्त्तन हो कर यह अर्थ हो जाता है—एतद् के स्थान पर अन् आदेश हो प्राग्दिशीय प्रत्यय के परे रहते।
इस प्रकार योगविभागद्वारा दोनों अभीष्ट अर्थ सिद्ध हो कर यथेष्ट रूप उपपन्न हो जाते हैं कोई दोष नहीं आता।

प्रकार वचने थाल्

'एतद् + हि' यहां रेफादि प्राग्दिशीय प्रत्यय परे है अतः प्रकृत **एतदः** (१२१४) से 'एतद्' के स्थान पर 'एत' सर्वादेश हो कर—एत + र्हि = एतर्हि। अब अव्ययसञ्ज्ञा (३६८) के कारण सुँविभक्ति का लुक् करने से 'एतर्हि' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। जिस पक्ष में र्हिल् न होगा वहां **सप्तम्यास्त्रल्** (१२०४) से त्रल् प्रत्यय, सुँब्लुक्, **अन्** (१२०२) सूत्रद्वारा एतद् के स्थान पर अन् सर्वादेश, **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से पदान्त नकार का लोप तथा अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'अत्र' बनेगा।

थकारादि में एतद् को इत् आदेश का उदाहरण 'इत्थम्' है। इस की सिद्धि आगे (१२१६) सूत्र पर देखें।

अब प्रकार में वर्त्तमान किम् आदियों से प्राग्दिशीय थाल् (था) प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२१५) प्रकारवचने थाल् ।५।३।२३।।

प्रकारवृत्तिभ्यः[1] किमादिभ्यस्थाल् स्यात् स्वार्थे। तेन प्रकारेण—तथा। यथा ।।

अर्थः—प्रकार अर्थ में वर्त्तमान किम् आदियों से स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक थाल् प्रत्यय हो।

व्याख्या—प्रकारवचने ।७।१। (पञ्चम्यर्थे सप्तमीति नागेशः)। थाल् ।१।१। **किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः** यह अधिकृत है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, प्राग्दिशो विभक्तिः** इत्यादि भी पूर्वतः अधिकृत हैं। उच्यतेऽनेनेति वचनम्। प्रकारस्य वचनम् प्रकारवचनम्, षष्ठीतत्पुरुषसमासः। सामान्यस्य भेदको विशेषोऽत्र प्रकारः। बहुभिः प्रकारैर्भुङ्क्त इत्यतो बहुभिर्विशेषैरित्यवगमात्। सादृश्यं तु नेह गृह्यते, सर्वथेत्यादौ तदप्रतीतेः। यथा हरिस्तथा हर इत्यादौ यत्प्रकारवान् हरिस्तत्प्रकारवान् हर इति बोधे जाते हरिसदृशो हर इति फलति। तदभिप्रायेण यथाशब्दस्य सादृश्यार्थकत्वोक्तिः। अर्थः—(प्रकारवचने = प्रकारवद्वृत्तिभ्यः) प्रकारवान् अर्थ में वर्त्तमान (किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः) किम्, द्व्यादिभिन्न सर्वनाम तथा बहु प्रातिपदिकों से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (थाल्) थाल् प्रत्यय हो जाता है।[2]

थाल् में लकार इत् है, 'था' मात्र अवशिष्ट रहता है। लकार अनुबन्ध लित्स्वर (६.१.१८७) के लिये जोड़ा गया है। सूत्र के उदाहरण यथा—

तेन प्रकारेण (विशिष्टः)[3]—तथा (उस विशेष से विशिष्ट, उस प्रकार वाला, वैसा)। यहां 'तद् टा' इस प्रकारवद्वृत्ति तद् सर्वनाम से **प्रकारवचने थाल्** (१२१५) सूत्र से थाल् प्रत्यय, अनुबन्ध लकार का लोप तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से

---

१. वचनग्रहणात् प्रकारवद्वृत्तिभ्य इत्यर्थ इति शेखरे नागेशः।

२. यहां समर्थ विभक्ति नहीं कही गई। परन्तु अभिधानवशात् तृतीया को ही समर्थ-विभक्ति मान लिया जाता है।

३. तेन प्रकारेणेत्यस्य विशिष्ट इति शेष इति लघुशब्देन्दुशेखरे नागेशः।

प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (टा) का भी लुक् हो कर—तद्+था । थाल् प्रत्यय **प्राग्दिशो विभक्तिः** (११९७) से विभक्तिसञ्ज्ञक है अतः विभक्ति के परे रहते **त्यदादीनामः** (१९३) से दकार को अकार आदेश एवम् **अतो गुणे** (२७४) से पररूप एकादेश करने से—त+था=तथा । अब **तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः** (३६८) सूत्र से अव्ययसञ्ज्ञा हो कर उस से परे सुँविभक्ति का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् करने से 'तथा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—येन प्रकारेण (विशिष्टः)—यथा (जिस विशेष से विशिष्ट, जिस प्रकार वाला, जैसा) । यहां 'यद् टा' से पूर्ववत् थाल् प्रत्यय, सुँब्लुक्, त्यदाद्यत्व, पररूप तथा तद्धितान्त की अव्ययसञ्ज्ञा हो कर उस से परे सुँविभक्ति का लुक् करने से 'यथा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इस के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

सर्वैः प्रकारैः (विशिष्टः)—सर्वथा ।

अन्येन प्रकारेण (विशिष्टः)—अन्यथा ।

उभयेन प्रकारेण (विशिष्टः)—उभयथा ।

इतरेण प्रकारेण (विशिष्टः)—इतरथा । इत्यादि ।

अब 'इदम्' से थाल् के अपवाद थमुँ (थम्) प्रत्यय का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२१६) इदमस्थमुँः ।५।३।२४।।

(प्रकारवृत्तेरिदमस्थमुँः प्रत्ययः स्यात् स्वार्थे) । थालोऽपवादः ।।

अर्थः—प्रकार अर्थ में वर्त्तमान इदम् प्रातिपदिक से स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक थमुँप्रत्यय हो । **थालोऽपवादः**—यह थाल् प्रत्यय (१२१५) का अपवाद है ।

व्याख्या—इदमः ।५।१। थमुँः ।१।१। प्रकारवचनात् ।५।१। (**प्रकारवचने थाल्** सूत्र से विभक्तिविपरिणामद्वारा) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, प्राग्दिशो विभक्तिः** (११९७) इत्यादि सब पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(प्रकारवचनात्) प्रकार-वान् अर्थ में वर्त्तमान (इदमः) इदम् प्रातिपदिक से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (थमुँः) थमुँ प्रत्यय हो जाता है । यह पूर्वोक्त थाल्प्रत्यय (१२१५) का अपवाद है ।

थमुँ में उकार इत् (२८) होकर लुप्त हो जाता है, 'थम्' मात्र शेष रहता है । **हलन्त्यम्** (१) सूत्रद्वारा मकार को इत् से बचाने के लिये उकार अनुबन्ध जोड़ा गया है ।[1]

---

१. यदि 'थम्' मात्र ही प्रत्यय कहते तो भी अन्त्य मकार की इत्संज्ञा न होती, क्योंकि थम् विभक्तिसञ्ज्ञक (११९७) है और **न विभक्तौ तुस्माः** (१३१) से विभक्तिस्थ तवर्ग-सकार-मकार को इत् करने का निषेध कहा गया है । तो पुनः उकार अनु-बन्ध का जोड़ना **न विभक्तौ तुस्माः** (१३१) इस निषेध की अनित्यता का ज्ञापन कराता है । इस से **किमोऽत्** (१२०६) द्वारा विहित अत्प्रत्यय के तकार की इत्सञ्ज्ञा हो जाती है, अनित्य होने से निषेध की प्रवृत्ति नहीं होती ।

इस सूत्र का उदाहरण तथा उस की सिद्धि अग्रिम वार्त्तिक पर देखनी चाहिये।

अब यही प्रत्यय एतद् से भी विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(९३) एतदोऽपि वाच्यः ॥

अनेन एतेन वा प्रकारेण—इत्थम् ॥

अर्थः—प्रकार अर्थ में वर्त्तमान एतद् प्रातिपदिक से भी स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक थमुँ प्रत्यय कहना चाहिये।

व्याख्या—यह वार्त्तिक **एतदोऽन्** (५.३.५) सूत्र पर महाभाष्य में **एतदश्च थम उपसंख्यानम्** इस रूप में पढ़ा गया है। यह भी थाल् प्रत्यय का अपवाद है। इस तरह प्रकारवृत्ति इदम् और एतद् दोनों प्रातिपदिकों से स्वार्थ में थमुँ प्रत्यय हो जाता है।

सर्वप्रथम इदम् से थमुँ का उदाहरण यथा—

अनेन प्रकारेण (विशिष्टः)—इत्थम् (इस प्रकार से विशिष्ट, इस प्रकार वाला, ऐसा)। यहां 'इदम् टा' से **इदमस्थमुँः** (१२१६) सूत्रद्वारा स्वार्थ में थमुँप्रत्यय, उकार अनुबन्ध का लोप, सुँब्लुक्, तथा थकारादि प्राग्दिशीय प्रत्यय के परे रहते **एतेतौ रथोः** (१२१२) सूत्र से इदम् के स्थान पर इत् सर्वादेश हो जाता है—इत्+थम्=इत्थम्।[1] तद्धितान्त की अव्ययसंज्ञा (३६८) हो जाने के कारण **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से सुँविभक्ति का लुक् कर देने से 'इत्थम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

एतद् से थमुँ का उदाहरण यथा—

एतेन प्रकारेण (विशिष्टः)—इत्थम् (इस प्रकार से विशिष्ट, इस प्रकार वाला, ऐसा)। यहां 'एतद् टा' से **एतदोऽपि वाच्यः** (वा० ९३) वार्त्तिक से स्वार्थ में थमुँप्रत्यय, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक् तथा **एतदः** (१२१४) सूत्रद्वारा एतद् को 'इत्' सर्वादेश कर विभक्तिकार्य करने से 'इत्थम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

नोट—इदम् और एतद् दोनों से यद्यपि एक ही थमुँ प्रत्यय हो कर 'इत्थम्' प्रयोग की सिद्धि होती है तथापि इन दोनों की कार्यसिद्धि में सूत्रों के अन्तर को ध्यान में रखना आवश्यक है।

अब प्रकारवृत्ति किम्प्रातिपदिक से भी थमुँ प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२१७) किमश्च ।५।३।२५॥

(प्रकारवृत्तेः किमः स्वार्थे थमुँस्तद्धितः स्यात्। थालोऽपवादः)। केन प्रकारेण—कथम् ॥

अर्थः—प्रकार अर्थ में वर्त्तमान किम् प्रातिपदिक से भी स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक थमुँ प्रत्यय हो।

व्याख्या—किमः ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। प्रकारवचनात् ।५।१। (**प्रकारवचने**

---

१. अत्र **स्वादिष्वसर्वनामस्थाने** (१६४) इति पदसञ्ज्ञायां **झलां जशोऽन्ते** (६७) इति जश्त्वेन तकारस्य दकारे **खरि च** (७४) इति चर्त्वेन दकारस्य पुनस्तकार इत्यप्यूह्यम्।

थाल् सूत्र से विभक्तिविपरिणामद्वारा)। थमुँः ।१।१। (**इदमस्थमुँः** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, प्राग्दिशो विभक्तिः** (११९७) इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(प्रकारवचनात्=प्रकारवृत्तेः) प्रकारवान् अर्थ में वर्तमान (किमः) किम् प्रातिपदिक से (च) भी स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (थमुँः) थमुँ प्रत्यय हो जाता है। यह भी **प्रकारवचने थाल्** (१२१५) द्वारा प्राप्त थाल् प्रत्यय का अपवाद है। उदाहरण यथा—

केन प्रकारेण (विशिष्टः)— कथम् (किस प्रकार से विशिष्ट, किस प्रकार वाला, कैसा)। यहां प्रकारवृत्ति 'किम् टा' से स्वार्थ में **किमश्च** (१२१७) सूत्रद्वारा थमुँ प्रत्यय, उकार अनुबन्ध का लोप तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (टा) का भी लुक् कर देने पर—किम्+थम्। **प्राग्दिशो विभक्तिः** (११९७) से थम् विभक्तिसञ्ज्ञक है। अतः विभक्ति के परे रहते **किमः कः** (२७१) द्वारा 'किम्' को 'क' सर्वादेश करने से—क+थम्=कथम्। अब अव्ययसञ्ज्ञा हो कर **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से सुँविभक्ति का लुक् कर देने पर 'कथम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अभ्यास [१४]

(१) प्राग्दिशीय प्रत्यय किसे कहते हैं? कोई से सात प्राग्दिशीय प्रत्यय सोदाहरण निर्दिष्ट करें।

(२) निम्नस्थ सूत्रों की व्याख्या करें—

१. किंसर्वनामबहु०	६. प्रकारवचने थाल्।
२. इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते।	७. पञ्चम्यास्तसिँल्।
३. सर्वैकान्यकियत्तदः०	८. सप्तम्यास्त्रल्।
४. एतेतौ रथोः	९. इदमस्थमुँः।
५. अनद्यतने हिलन्य०	१०. एतदोऽपि वाच्यः (वा०)

(३) निम्नस्थ विग्रहों में तद्धितान्त रूप सिद्ध करें—
१. तस्मिन्। २. तस्मिन् काले। ३. अनेन प्रकारेण। ४. एतेन प्रकारेण। ५. स भवान्। ६. अस्मात्। ७. एतस्मात्। ८. बहुपु। ९. अस्मिन्। १०. कस्मिन् (स्थाने, काले)।

(४) अधोलिखित रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—
१. क्व। २. अत्र। ३. परितः। ४. सदा। ५. इह। ६. अमुतः। ७. इतः। ८. कुतः। ९. यदा। १०. कथम्।

(५) किम्, इदम्, एतद्, तद्, यद्, अन्य, सर्व—इन शब्दों के प्रकारार्थक रूप दर्शा कर प्रत्ययों और तद्विधायक सूत्रों का भी निर्देश करें।

(६) इदम् और एतद् दोनों का थमुँ में 'इत्थम्' रूप बनता है परन्तु विधायक सूत्रों में अन्तर रहता है—इस का विवेचन करें।

(७) प्राग्दिशीयों की प्रकृति पर विवेचनात्मक टिप्पण लिखें।

(८) सप्रमाण अशुद्धिशोधन कीजिये—
१. अन्यदा देशे । २. एतर्हि ग्रामे । ३. बहुतः सूपात् । ४. क्व काले ।

(९) अधोलिखित सूत्र किस किस के अपवाद हैं ?
१. इदमो हिल् । २. सर्वैकान्यकियत्तदः काले दा । ३. एतेतौ रथोः । ४. क्वाति । ५. कु तिहोः । ६. किमोऽत् । ७. किमश्च । ८. इदमस्थमुः ।

(१०) **एतदोऽन्** सूत्र का योगविभाग क्यों और कैसे किया जाता है ?

(११) निम्नस्थ प्रश्नों के युक्तियुक्त उत्तर दीजिये—
[क] 'द्वि' से प्राग्दिशीय प्रत्यय क्यों नहीं होता ?
[ख] प्राग्दिशीयों की विभक्तिसंज्ञा क्यों की जाती है ?
[ग] **किंसर्वनाम०** में किम् के पृथक् उल्लेख का क्या कारण है ?
[घ] **न विभक्तौ०** द्वारा अत् के तकार की इत्संज्ञा का निषेध क्यों नहीं ?
[ङ] थमुँ के उकार अनुबन्ध से क्या ज्ञापित होता है ?
[च] 'सर्वत्र देशे' यहां 'दा' प्रत्यय क्यों नहीं हुआ ?
[छ] 'इह देशे' यहां 'हिल्' क्यों नहीं हुआ ?
[ज] 'बहोः सूपात्' तहां 'तसिँल्' क्यों नहीं हुआ ?
[झ] **इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते** में 'दृश्यन्ते' से क्या अभिप्रेत है ?

(१२) सूत्रनिर्देशपूर्वक उत्तर दीजिये—
[क] रेफादि प्राग्दिशीय परे रहते इदम् को क्या आदेश होगा ?
[ख] थकारादि ,, ,, ,, एतद् ,, ,, ,, ,, ?
[ग] दकारादि ,, ,, ,, सर्व ,, ,, ,, ,, ?
[घ] तकारादि ,, ,, ,, किम् ,, ,, ,, ,, ?
[ङ] हकारादि ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ?
[च] 'अत्' ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ,, ?

(१३) इदम् और एतद् दोनों से 'एतर्हि' निष्पन्न होता है, क्या इन के अर्थों में व्याकरणदृष्टया कोई विशेष है ? सप्रमाण स्पष्ट करें ।[१]

[लघु०] इति प्राग्दिशीयाः ॥

(यहां प्राग्दिशीय प्रत्ययों का विवेचन समाप्त होता है ।)

—:०:—

१. इदम् से बना 'एतर्हि' प्रयोग अद्यतन वा अनद्यतन दोनों कालों में प्रयुक्त हो सकता है क्योंकि **इदमो हिल्** (१२११) सूत्रद्वारा कालसामान्य में हिल् का विधान किया गया है । परन्तु एतद् से **अनद्यतने हिलन्यतरस्याम्** (१२१३) द्वारा अनद्यतनकाल में ही हिल् विधान किया गया है अतः वह अद्यतन में प्रयुक्त न होगा—यही दोनों में व्याकरणरीत्या अन्तर है । [किन्तु इस अन्तर का व्यवहारदशा में कुछ भी उपयोग नहीं हो सकता, क्योंकि 'एतर्हि' से अद्यतन-अनद्यतन दोनों प्रकार के कालों का बोध हो सकता है] ।

अतिशायन तमप्, इष्ठन्

अथ प्रागिवीयाः

प्राग्दिशीयप्रत्ययों के बाद प्रागिवीय तद्धितप्रत्ययों का विवेचन प्रारम्भ होता है। अष्टाध्यायी में प्राग्दिशीयप्रत्ययों के अनन्तर **इवे प्रतिकृतौ** (५.३.९६) सूत्र से पूर्व पूर्व जो प्रत्यय कहे गये हैं उन को यहां प्रागिवीय कहा गया है। सब से प्रथम आतिशायनिक (अतिशयद्योतक) तुलनार्थक प्रत्ययों का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२१८)

अतिशायने तमबिष्ठनौ ।५।३।५५।।

अतिशयविशिष्टार्थवृत्तेः स्वार्थे एतौ स्तः। अयमेषाम् अतिशयेन आढ्यः—आढ्यतमः। लघुतमः। लघिष्ठः ।।

अर्थः— प्रकर्षविशिष्ट अर्थ में वर्तमान प्रातिपदिक से स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक तमप् और इष्ठन् प्रत्यय हों।

व्याख्या—अतिशायने ।७।१। तमबिष्ठनौ ।१।२। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्; तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अतिपूर्वक **शीङ् स्वप्ने** (अदा० आत्मने०) धातु प्रकर्षद्वारा दूसरे को अभिभूत करने या लाङ्घने अर्थ में प्रयुक्त होती है।[1] इस धातु से भाव में ल्युट् करने पर 'अतिशयन' शब्द निष्पन्न होता है। इसी 'अतिशयन' को सूत्र में निपातनद्वारा दीर्घ कर 'अतिशायन' कहा गया है—अतिशयनमेव अतिशायनम्। लोक में भी 'अतिशायन' शब्द प्रसिद्ध हो चला है। **अबाधकान्यपि निपातनानि** (प०[2]) इस के अनुसार 'अतिशयन' शब्द भी साधु है। दोनों का लोक में प्रयोग होता है अर्थ एक ही रहता है। यहां सूत्रोक्त 'अतिशायन' से अतिशयविशिष्ट का ग्रहण अभिप्रेत है।[3] अर्थः—(अतिशायने) प्रकर्षविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से (तद्धितौ) तद्धितसञ्ज्ञक (तमबिष्ठनौ) तमप् और इष्ठन् प्रत्यय हो जाते हैं। प्रकर्षविशिष्टता प्रकृति का अर्थ है जो प्रत्ययद्वारा द्योतित किया जाता है अतः प्रत्यय स्वार्थ में हुए समझे जाते हैं।

तमप्प्रत्यय का पकार तथा इष्ठन् प्रत्यय का नकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं, 'तम' और 'इष्ठ' ही शेष रहते हैं। पकार अनुबन्ध **अनुदात्तौ सुप्पितौ** (३.१.४) द्वारा अनुदात्तस्वर के लिये तथा नकार अनुबन्ध **ञ्नित्यादिर्नित्यम्** (६.१.१९१) द्वारा उदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है।

---

१. इस अर्थ में यह सकर्मक होती है यथा—**पूर्वान् महाभाग तयाऽतिशेषे** (रघु० (५.१४)। **कृष्णमतिशेते कृष्णतरः, शुक्लमतिशेते शुक्लतरः** (महाभाष्य ५.३.५५)।

२. निपातन क्वचित् बाधक नहीं भी होते।

३. नागेशभट्ट अतिशायन में बाहुलकात् कर्ता में ल्युट् मान कर यही अर्थ प्राप्त करते हैं।

प्रकर्ष किसी की अपेक्षा से हुआ करता है । अतः दो या दो से अधिक वस्तुओं के समुदाय में से किसी एक का अतिशय या प्रकर्ष अभिव्यक्त करने में ये प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं । परन्तु दो के समुदाय में यदि किसी एक का प्रकर्ष प्रकट करना हो तो वक्ष्यमाण **द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुँनौ** (१२२२) सूत्रद्वारा इन के अपवाद तरप् और ईयसुँन् प्रत्ययों का विधान किया गया है । अतः यहां दो से अधिक वस्तुओं के समुदाय में से जब किसी एक का प्रकर्ष कहना अभीष्ट होगा तभी तमप् और इष्ठन् प्रत्ययों की प्रवृत्ति होगी ।

यहां पर यह बात विशेष ध्यातव्य है कि तमप् प्रत्यय तो प्रत्येक प्रातिपदिक से निर्बाध किया जा सकता है परन्तु इष्ठन् प्रत्यय केवल गुणवाचकों से ही होता है ।[1]

उदाहरण यथा—

अयम् एषाम्[2] अतिशयेन[3] आढ्यः—आढ्यतमः (सब से अधिक धनी) ।[4] यहां अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'आढ्य सुँ' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से स्वार्थ में प्रकृत **अतिशायने तमबिष्ठनौ** (१२१८) सूत्रद्वारा तमप् प्रत्यय, पकार अनुबन्ध का लोप, **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (सुँ) का लुक् करने से—आढ्य+तम=आढ्यतम । अब विशेष्यानुसार विभक्ति ला कर पुंलिङ्ग में 'आढ्यतमः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । आढ्यशब्द लघु-गुरु आदि शब्दों की तरह गुणवाची नहीं अतः इस से इष्ठन् प्रत्यय नहीं होता ।

इसीप्रकार—अयमेषामतिशयेन दर्शनीयः—दर्शनीयतमः (सब से अधिक सुन्दर) । अयमेषामतिशयेन सुकुमारः—सुकुमारतमः (सब से अधिक कोमल) । अयमेषामतिशयेन विद्वान्—विद्वत्तमः[5] (सब से अधिक विद्वान्) । अयमेषामतिशयेन दुष्टः—दुष्टतमः (सब से अधिक दुष्ट) । अयमेषामतिशयेन महान्—महत्तमः (सब से अधिक महान्) । अयमेषामतिशयेन दीर्घः—दीर्घतमः (सब से अधिक दीर्घ) । इत्यादि ।

दूसरा उदाहरण यथा—

---

१. **अजादी गुणवचनादेव** (५.३.५८) । अर्थः -आतिशायनिक अजादि प्रत्यय (इष्ठन् और ईयसुँन्) गुणवाचकों से ही होते हैं अन्यों से नहीं ।

२. यहां **यतश्च निर्धारणम्** (२.३.४१) सूत्र से निर्धारण में षष्ठी विभक्ति हुई है, सप्तमी का भी प्रयोग हो सकता है । इस सूत्र की व्याख्या इस ग्रन्थ के कारक-प्रकरणान्तर्गत परिशिष्ट में (४८) सूत्राङ्क पर देखें ।

३. **प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानम्** (वा०) से यहां तृतीया हुई है । इस वार्त्तिक की व्याख्या भी कारकप्रकरणान्तर्गत परिशिष्ट में (१८) सूत्राङ्क पर देखें ।

४. इस विग्रह को इस प्रकार भी दर्शाया जा सकता है—अयम् आढ्यः, अयम् आढ्यः, अयम् आढ्यः, अयमेषामतिशयेन आढ्यः—आढ्यतमः । अथवा—सर्वे इमे आढ्याः, अयमेषामतिशयेनाढ्यः—आढ्यतमः ।

५. **वसुँ-स्रंसुँ-ध्वंस्वनडुहां दः** (२६२) इति सकारस्य पदान्तस्य दत्वे चर्त्वम् ।

अयम् एषामतिशयेन लघुः—लघुतमो लघिष्ठो वा (सब से अधिक छोटा वा हल्का)। यहां प्रकर्षविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान गुणवाची 'लघु सुँ' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से स्वार्थ में प्रकृत **अतिशायने तमबिष्ठनौ** (१२१८) सूत्र से तमप् और इष्ठन् प्रत्यय हो जाते हैं। तमप्पक्ष में अनुबन्धलोप, सुँब्लुक् तथा विभक्तिकार्य करने से 'लघुतमः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इष्ठन्पक्ष में अनुबन्ध नकार का लोप कर सुँप् (सुँ) का भी लुक् कर देने से—लघु + इष्ठ। अब **टेः** (११५७) सूत्रद्वारा भसञ्ज्ञक टि (उकार) का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'लघिष्ठः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् हो कर (१२४९) 'लघुतमा' तथा 'लघिष्ठा' बनेगा। इसीप्रकार—अयमेषामतिशयेन पटुः—पटुतमः पटिष्ठो वा (सब से अधिक चतुर)।

अब सुँबन्तों की तरह तिङन्तों से भी आतिशायनिक प्रत्ययों का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१२१९) तिङश्च ।५।३।५६।।**

तिङन्ताद् अतिशये द्योत्ये तमप् स्यात् ॥

अर्थः—अतिशय के द्योत्य होने पर तिङन्त से भी तद्धितसञ्ज्ञक तमप् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तिङः ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। **अतिशायने तमबिष्ठनौ** (१२१८) सूत्र का पीछे से अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। **ङ्याप्प्रातिपदिकात्** (११९) इस अधिकार के कारण सुँबन्तों से ही आतिशयनिक प्रत्ययों की उत्पत्ति हो सकती है तिङन्तों से नहीं। परन्तु लोक में तिङन्तों से भी ये प्रत्यय देखे जाते हैं, इसलिये इस सूत्र का निर्माण किया गया है। अर्थः—(अतिशायने) प्रकर्षविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान (तिङः=तिङन्तात्) तिङन्त से (च) भी (तमबिष्ठनौ[1]) तमप् तद्धित प्रत्यय हो जाता है।

यहां भी पूर्ववत् दो से अधिक तिङन्तक्रियाओं के समुदाय से ही एक का अतिशय द्योत्य होने पर तमप् होगा। दो क्रियाओं के समुदाय में एक का अतिशय द्योत्य होने पर तो अग्रिम अपवाद **द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुँनौ** (१२२२) सूत्रद्वारा तरप् ही होगा।

इस सूत्र के उदाहरण देने से पूर्व तरप्-तमप् प्रत्ययों की प्रयोजनवशात घसञ्ज्ञा का विधान करते हैं—

[लघु]० सञ्ज्ञा-सूत्रम्—**(१२२०) तरप्तमपौ घः ।१।१।२१।।**

एतौ घसञ्ज्ञौ स्तः ॥

---

१. इष्ठन् की अनुवृत्ति आने पर भी उसे यहां सम्बद्ध नहीं किया जाता, कारण कि **अजादी गुणवचनादेव** (५.३.५८) नियम के अनुसार वह गुणवाचकों से ही होता है क्रियाप्रधान तिङन्तों से नहीं।

आमुँ

अर्थः —तरप् और तमप् प्रत्यय 'घ' सञ्ज्ञक हों ।

व्याख्या—तरप्तमपौ ।१।२। घः ।१।१। तरप् च तमप् च तरप्तमपौ, इतरेतर-द्वन्द्वः । अर्थः—(तरप्तमपौ) तरप् और तमप् प्रत्यय (घः) घसञ्ज्ञक हों ।

अब घसञ्ज्ञा करने का फल दर्शाते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**१२२१**)

किमेत्तिङव्यय-घादाम्वद्रव्यप्रकर्षे ।५।४।११॥

किम एदन्तात् तिङोऽव्ययाच्च यो घस्तदन्ताद् आमुँः स्यात्, न तु द्रव्यप्रकर्षे । किन्तमाम् । प्राह्णेतमाम् । पचतितमाम् । उच्चैस्तमाम् । द्रव्य-प्रकर्षे तु—उच्चैस्तमस्तरुः ॥

अर्थः—किम्, एदन्त, तिङन्त और अव्यय - इन चार से विहित जो घसञ्ज्ञक प्रत्यय, तदन्त प्रातिपदिक से परे स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक आमुँ प्रत्यय हो, परन्तु द्रव्य के प्रकर्ष में नहीं ।

व्याख्या—किमेत्तिङव्ययघाद् ।५।१। आमुँ इति लुप्तप्रथमैकवचनान्तं पदम् । अद्रव्यप्रकर्षे ।७।१। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधि-कृत हैं । **समासः**—किम् च एत् च तिङ् च अव्ययं च किमेत्तिङव्ययानि, तेभ्यो विहितः —किमेत्तिङव्ययविहितः, किमेत्तिङव्ययविहितो यो घः किमेत्तिङव्ययघः, तस्मात्= किमेत्तिङव्ययघात् । द्वन्द्वगर्भपञ्चमीतत्पुरुषे कृते शाकपार्थिवादिवन्मध्यमपदलोपिसमासः । 'प्रातिपदिकात्' अधिकार के कारण 'एत्' से तदन्तविधि हो कर 'एदन्तात्' बन जाता है । **प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्** परिभाषाद्वारा तिङ् से तदन्तविधि हो कर 'तिङन्तात्' बन जाता है । अर्थः—(किमेत्तिङव्ययघात्) किम्, एदन्त प्रातिपदिक, तिङन्त तथा अव्यय—इन से विहित जो घसंज्ञक प्रत्यय, तदन्त प्रातिपदिकों से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (आमुँः) आमुँ प्रत्यय हो जाता है (अद्रव्यप्रकर्षे) परन्तु द्रव्य का प्रकर्ष द्योत्य हो तो नहीं होता ।

आमुँ के उकार की इत्सञ्ज्ञा (२८) हो कर लोप हो जाता है, 'आम्' मात्र शेष रहता है । उकार अनुबन्ध आमुँ को नुँट् आगम से बचाने के लिये जोड़ा गया है ।[1] आमुँप्रत्ययान्त शब्द **तद्धितश्चासर्वविभक्तिः** (३६८) से अव्ययसंज्ञक हो जाते हैं, इसे ध्यान में रखना चाहिये ।

सर्वप्रथम घप्रत्ययान्त 'किम्' से उदाहरण यथा—

१. यदि आमुँ न कह कर केवल 'आम्' ही विधान करते तो 'किंतम+आम्, प्राह्णे-तर+आम्' इत्यादियों में आम् को **ह्रस्वनद्यापो नुँट्** (१४८) सूत्रद्वारा नुँट् का आगम होने लगता जो स्पष्टतः अनिष्ट था । अब आमुँ के विधान से यह दोष प्रसक्त नहीं होता, क्योंकि **निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य** (प०) परिभाषाद्वारा षष्ठीबहुवचन निरनुबन्ध आम् के उपलब्ध होने पर आमुँ इस सानुबन्ध में नुँड्विधि प्रसक्त नहीं होती ।

इदमेषामतिशयेन किम्—किन्तमाम् (सब से अधिक कुत्सित वस्तु)।[1] यहां अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'किम् सुँ' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से **अतिशायने तमबिष्ठनौ** (१२१८) सूत्र से तमप् प्रत्यय, पकार अनुबन्ध का लोप एवं सुँब्लुक् करने से—किम् + तम। पदसञ्ज्ञा (१६४) के कारण **मोऽनुस्वारः** (७७) से पदान्त मकार को अनुस्वार हो कर—किंतम। तरप् और तमप् प्रत्ययों की **तरप्तमपौ घः** (१२२०) से घसञ्ज्ञा की गई है, इस तरह यहां किम्शब्द से परे 'तम' यह घसञ्ज्ञक प्रत्यय विद्यमान है। अतः **किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे** (१२२१) सूत्रद्वारा इस से परे स्वार्थ में ही आमुँप्रत्यय ला कर उस के उकार अनुबन्ध का लोप करने से—किंतम + आम्। अब **यस्येति च** (२३६) सूत्रद्वारा भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य अर्थात् अव्ययत्वात् सुँविभक्ति का लुक् (३७२) कर देने से 'किंतमाम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। अनुस्वार को **वा पदान्तस्य** (८०) से वैकल्पिक परसवर्ण करने से 'किन्तमाम्, किंतमाम्' ये दो रूप बन जाते हैं।

घप्रत्ययान्त एदन्त से उदाहरण यथा—

अतिशयिते प्राह्णे—प्राह्णेतमाम्, अतिशयिते पूर्वाह्णे—पूर्वाह्णेतमाम् (दिन के अतीव पूर्वभाग में)।[2] अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'प्राह्ण ङि' तथा 'पूर्वाह्ण ङि' इन सप्तम्यन्त समस्त शब्दों से **अतिशायने तमबिष्ठनौ** (१२१८) सूत्रद्वारा तमप् प्रत्यय करने पर तद्धितान्तत्वेन प्रातिपदिकत्वात् **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (ङि) के लुक् की प्राप्ति होती है, परन्तु **घकालतनेषु कालनाम्नः** (६.३.१६)[3] सूत्र से उस का

---

१. कुत्सित अर्थ में किम्शब्द संस्कृतसाहित्य में बहुत प्रसिद्ध है। यथा—

> **स किंसखा साधु न शास्ति योऽधिपं**
> **हितान्न यः संशृणुते स किम्प्रभुः ॥** (किरात० १.५)

अथवा—'किन्तमां स उवाच' इत्यादि स्थलों पर 'उसने विशेष ज़ोर दे कर किसे कहा ?' ऐसा अभिप्राय समझना चाहिये।

२. प्रथमं च तदहः प्राह्णः। अत्र अहःशब्दस्तदवयवे वर्त्तते। प्रादिसमासे **राजाहःसखिभ्यष्टच्** (९५८) इति टच् समासान्तः। **अह्नोऽह्न एतेभ्यः** (५.४.८८) इति अहन्शब्दस्य स्थाने 'अह्न' इत्यादेशः। **अह्नोऽदन्तात्** (८.४.७) इत्यह्नशब्दस्य नकारस्य णत्वम्। **यस्येति च** (२३६) इति भस्याकारस्य लोपः। **रात्राह्नाहाः पुंसि** (९५७) इति पुंस्त्वम्।

पूर्वोऽह्नः पूर्वाह्णः। **पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे** (९३२) इत्येकदेशिसमासः। शेषं पूर्ववत्।

३. **घकालतनेषु कालनाम्नः** (६.३.१६)। अर्थः—घसंज्ञकप्रत्यय, कालशब्द तथा तनप्रत्यय के परे रहते कालवाचक शब्दों से परे सप्तमी का विकल्प से अलुक् हो। घ—पूर्वाह्णेतरे, पूर्वाह्णतरे; पूर्वाह्णेतमे, पूर्वाह्णतमे। काल—पूर्वाह्णेकाले, पूर्वाह्णकाले। तन—पूर्वाह्णेतने, पूर्वाह्णतने। इत्यादि।

अलुक् हो जाता है—प्राह्णेतम, पूर्वाह्णेतम। अब इस स्थिति में एदन्त से परे घसञ्ज्ञक (१२२०) तमप् प्रत्यय के विद्यमान रहने से **किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे** (१२२१) सूत्रद्वारा स्वार्थ में आमुँप्रत्यय, उस के उकार अनुबन्ध का लोप तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का भी लोप कर विभक्तिकार्य अर्थात् अव्ययत्वात् सुँविभक्ति का लुक् कर देने से 'प्राह्णेतमाम्, पूर्वाह्णेतमाम्' प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। यज्ञदत्तः प्राह्णे जागर्त्ति, तत्पिता प्राह्णेतरे, परं तत्पितामहस्तु प्राह्णेतमे। यज्ञदत्त सवेरे जागता है, उस का पिता उस से भी सवेरे। परन्तु उस के दादाजी तो और भी सवेरे जागते हैं।[1]

घप्रत्ययान्त तिङन्त से उदाहरण यथा—

आसामियमतिशयेन पचति— पचतितमाम् (इन सब में यह बढ़िया पकाती है)। अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'पचति' इस तिङन्त से **तिङश्च** (१२१९) सूत्रद्वारा तमप् प्रत्यय करने से 'पचतितम' बना। अब यहां तिङन्त से परे घसञ्ज्ञक तमप् प्रत्यय विद्यमान है अतः प्रकृत **किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे** (१२२१) सूत्र से स्वार्थ में आमुँ प्रत्यय ला कर उस के उकार अनुबन्ध का लोप, **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप तथा **तद्धितश्चासर्वविभक्तिः** (३६८) द्वारा अव्ययसञ्ज्ञा के कारण सुँविभक्ति का लुक् कर देने से 'पचतितमाम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

घप्रत्ययान्त अव्यय से उदाहरण यथा—

अतिशयेन उच्चैः—उच्चैस्तमाम् (अत्यधिक ऊँचे)। यहां अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'उच्चैस्' अव्यय से **अतिशायने तमबिष्ठनौ** (१२१८) सूत्रद्वारा तमप् प्रत्यय, पकार अनुबन्ध का लोप, पदान्त सकार को रुँत्वविसर्ग हो कर **विसर्जनीयस्य सः** (१०३) से विसर्ग को पुनः सकार आदेश कर देने से—उच्चैस्तम। अब यहां अव्यय से परे घसञ्ज्ञक तमप् प्रत्यय विद्यमान है अतः **किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे** (१२२१) सूत्र से स्वार्थ में आमुँ प्रत्यय हो कर उकार अनुबन्ध का लोप, **यस्येति च** (२३६) द्वारा भसंज्ञक अकार का लोप एवं **तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः** (३६८) से अव्ययसञ्ज्ञा के हो जाने से इस से परे सुँविभक्ति का लुक् (३७२) कर देने से 'उच्चैस्तमाम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[2] अयमुच्चैराक्रोशति, इयमुच्चैस्तराम्। परमनयोर्माता तु उच्चैस्तमाम्।

इसीप्रकार—नीचैस्तराम्, नीचैस्तमाम्। प्रातस्तराम्, प्रातस्तमाम्। अतितराम्, अतितमाम्। सुतराम्, सुतमाम्। नितराम्, नितमाम्। इत्यादि।

द्रव्यप्रकर्षे तु—उच्चैस्तमस्तरुः।

---

१. पूर्वावयवगतप्रकर्षादह्नः प्रकर्षो बोध्यः। अत्र अहर्न द्रव्यम्, सूर्योदयादारभ्य सूर्यास्तमयावधिकस्यैव कालस्य अहन्शब्दार्थत्वात्। तस्य च उदयादिक्रियाघटितत्वान्न द्रव्यत्वम्। तेन अद्रव्यप्रकर्षे इति निषेधो न।

२. अतिशयेन उच्चैराक्रोशनादिक्रियेत्यर्थः। अत्रापि क्रियाया एव प्रकर्षो न तु द्रव्यस्य।

तरप् / ईयसुँन्

सूत्र में 'अद्रव्यप्रकर्षे' कहा गया है अतः द्रव्य के प्रकर्ष के द्योत्य होने पर यह आमुँ प्रत्यय नहीं होता। यथा—उच्चैस्तमस्तरुः (यह वृक्ष सब से ऊँचा है)। यहां ऊँचाई के प्रकर्ष से वृक्ष का प्रकर्ष प्रतीत होता है। वृक्ष स्पष्टतः द्रव्य है अतः यहां आमुँ नहीं हुआ।[1]

अब दो में से एक के प्रकर्षकथन में तमप्-इष्ठन् के अपवाद तरप् और ईयसुँन् प्रत्ययों का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२२२)

द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुँनौ ।५।३।५७।।

द्वयोरेकस्य अतिशये विभक्तव्ये चोपपदे सुँप्तिङन्तादेतौ स्तः। पूर्वयोरपवादः। अयमनयोरतिशयेन लघुः—लघुतरः, लघीयान्। उदीच्याः प्राच्येभ्यः पटुतराः, पटीयांसः॥

अर्थः—दो अर्थों के प्रतिपादक शब्द के उपपद होने पर अथवा विभक्तव्य के उपपद होने पर अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान सुँबन्त और तिङन्त से तरप् और ईयसुँन् प्रत्यय हों। **पूर्वयोरपवादः**—यह पूर्वसूत्रों (१२१८, १२१६) का अपवाद है।

व्याख्या—द्विवचनविभज्योपपदे ।७।१। तरबीयसुँनौ ।१।२। सुँपः ।५।१। (सुँबन्तादेव तद्धितोत्पत्तिरिति सिद्धान्ताश्रयणात्)। तिङः ।५।१। (**तिङश्च** सूत्र से)। अतिशायने ।७।१। (**अतिशायने तमबिष्ठनौ** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। उच्यतेऽनेनेति वचनम्, करणे ल्युट्। द्वयोरर्थयोर्वचनं द्विवचनम्, षष्ठीतत्पुरुषः। द्व्यर्थप्रतिपादकमित्यर्थः। विभक्तुं योग्यं विभज्यम्। एतत्सूत्रनिपातनाद् **ऋहलोर्ण्यत्** (७८०) इति ण्यतं बाधित्वा यत्प्रत्ययः। विभक्तव्यमित्यर्थः। द्विवचनं च विभज्यं च द्विवचनविभज्यम्, समाहारद्वन्द्वः। द्विवचनविभज्यं च तद् उपपदम्—द्विवचनविभज्योपपदम्, तस्मिन्=द्विवचनविभज्योपपदे, कर्मधारयसमासः। 'उपपद' से यहां शास्त्रीय (पारिभाषिक) उपपद नहीं लिया जाता क्योंकि इस तद्धितप्रकरण में उस का पाया जाना सम्भव नहीं। अतः 'उप=समीपे उच्चारितं पदम् उपपदम्' इसप्रकार 'समीप में पढ़ा पद' इस का अभिप्राय समझना चाहिये। तरप् च ईयसुँन् च तरबीयसुँनौ, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(द्विवचनविभज्योपपदे) दो अर्थों का प्रतिपादक शब्द यदि समीप में उच्चारित किया गया हो या समीप में विभक्तव्य पद पढ़ा गया हो तो (अतिशायने) अतिशयनविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान (सुँपः=सुँबन्तात्) सुँबन्त और (तिङः=तिङन्तात्) तिङन्त से (तद्धितौ) तद्धितसञ्ज्ञक (तरबीयसुँनौ) तरप् और ईयसुँन् प्रत्यय हो जाते हैं स्वार्थ में।

---

१. उच्चैःशब्दोऽत्र उच्चत्वगुणवत्परः। द्रव्यस्य स्वतः प्रकर्षाऽभावेऽपि द्रव्यनिष्ठगुणादिप्रकर्ष एव द्रव्यप्रकर्ष इति बोध्यम्। अत्र उच्चैस्त्वप्रकर्षस्य तरौ द्रव्ये भानाद् आम्नेति भावः।

यद्यपि यहां सुँबन्त और तिङन्त दो प्रकृति हैं, द्विवचन और विभज्य दो उपपद हैं, तरप् और ईयसुँन् दो प्रत्यय हैं तथापि यथासंख्य नहीं होता—ऐसा व्याख्यानद्वारा आकरग्रन्थों में निर्णीत किया गया है।

अतिशायने तमबिष्ठनौ (१२१८) तथा **तिङश्च** (१२१९) सूत्रों से प्रकर्षसामान्य में तमप् और इष्ठन् प्रत्ययों का विधान किया गया है परन्तु इस प्रकृतसूत्रद्वारा दो में से किसी एक का अपेक्षाकृत प्रकर्ष बताना हो तो तरप् और ईयसुँन् प्रत्यय कहे गये हैं। इस तरह यह सूत्र उन दोनों प्रत्ययों का अपवाद है। अतः दो के मध्य प्रकर्षकथन में तरप्-ईयसुँन् प्रत्यय तथा दो से अधिक के मध्य प्रकर्ष बतलाने में पूर्वोक्त तमप्-इष्ठन् प्रत्यय होते हैं—यह समझना चाहिये।

तरप् का पकार एवम् ईयसुँन् के उकार और नकार इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं। 'तर' और 'ईयस्' मात्र अवशिष्ट रहते हैं। तरप् में पकार अनुदात्तस्वर के लिये तथा ईयसुँन् का नकार उदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है। ईयसुँन् का उकार उगित्कार्यों के लिये समझना चाहिये।

द्विवचन के उपपद रहते सुँबन्त का उदाहरण यथा—

अयमनयोरतिशयेन लघुः—लघुतरः, लघीयान् वा (इन दोनों में अधिक छोटा)। यहां 'अनयोः' यह द्विवचन अर्थात् दो वस्तुओं का प्रतिपादक पद समीप में पढ़ा गया है अतः अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'लघु सुँ' से स्वार्थ में तमप्-इष्ठन् प्रत्ययों का बाध कर प्रकृत **द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुँनौ** (१२२२) सूत्र से तरप् और ईयसुँन् प्रत्यय हो जाते हैं। प्रथम तरप्पक्ष में पकार अनुबन्ध का लोप हो कर **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (सुँ) का भी लुक् कर देने से—लघु + तर = लघुतर। अब विशेष्यानुसार विभक्तिकार्य करने से 'लघुतरः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। [स्त्रीलिङ्ग में **अजाद्यष्टाप्** (१२४९) से टाप् हो कर सवर्णदीर्घ करने से 'लघुतरा' बनेगा]। ईयसुँन्पक्ष में प्रत्यय के उकार नकार अनुबन्धों का लोप कर सुँब्लुक् कर देने से—लघु + ईयस्। **टेः** (११५७) सूत्रद्वारा भसञ्ज्ञक उकार का लोप हो कर—लघ् + ईयस् = लघीयस्। प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँविभक्ति ला कर **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः** (२८९) से नुँम् आगम, **सान्तमहतः संयोगस्य** (३४२) द्वारा सान्त संयोग के नकार की उपधा को दीर्घ करने पर 'लघीयान्स् + स्' इस स्थिति में हल्ङ्यादिलोप (१७९) तथा **संयोगान्तस्य लोपः** (२०) से संयोगान्तलोप करने से 'लघीयान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। संयोगान्तलोप के असिद्ध होने से नकार का लोप नहीं होता। लघीयान्, लघीयांसौ, लघीयांसः—इस तरह श्रेयस्शब्द की तरह रूपमाला चलेगी। [स्त्रीलिङ्ग में **उगितश्च** (१२५०) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय हो कर 'लघीयसी' बनेगा]।

इसीप्रकार—अयमनयोः पटुः—पटुतरः, पटीयान्। अयमनयोः साधुः—साधुतरः, साधीयान्। अयमनयोर्महान्—महत्तरः, महीयान्। अयमनयोरणुः—अणुतरः, अणीयान्। अयमनयोस्तनुः—तनुतरः, तनीयान्। इत्यादि।

द्विवचन के उपपद रहते तिङन्त का उदाहरण यथा—

इयमनयोरतिशयेन पचति — पचतितराम् (इन दो में यह बढ़िया पकाती है)। यहां 'अनयोः' यह दो वस्तुओं का प्रतिपादक शब्द उपपद में स्थित है अतः अतिशय अर्थ में वर्त्तमान 'पचति' इस तिङन्त से **तिङश्च** (१२१९) सूत्रद्वारा प्राप्त तमप् प्रत्यय का बाध कर प्रकृत **द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुँनौ** (१२२२) सूत्र से तरप् प्रत्यय हो कर 'पचतितर' इस स्थिति में **किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे** (१२२१) सूत्र से आमुँ प्रत्यय ला कर **यस्येतिच**लोप करने से — पचतितराम्। **तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः** (३६८) से यह अव्ययसञ्ज्ञक है अतः **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) सूत्रद्वारा इस से परे सुँविभक्ति का लुक् कर देने से 'पचतितराम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—जल्पतितराम्, विजयतेतराम् आदि।

विशेष वक्तव्य—प्रकृत (१२२२) सूत्रोक्त 'द्विवचन' से यहां व्याकरणपरिभाषितद्विवचन का ग्रहण नहीं करना चाहिये अपितु उपर्युक्त 'दो अर्थों का प्रतिपादक शब्द' इस यौगिक अर्थ का ही ग्रहण करना चाहिये। अन्यथा 'दन्तौष्ठस्य दन्ताः स्निग्धतराः (दान्तों और होठों में दान्त अधिक स्निग्ध है), पाणिपादस्य पाणी सुकुमारतरौ (हाथों और पैरों में हाथ अधिक कोमल हैं)' ऐसे स्थानों पर 'दन्तौष्ठस्य' और 'पाणिपादस्य' में द्विवचन न होने के कारण तरप् दुर्लभ हो जायेगा। परन्तु अब यौगिक अर्थ करने से समासवृत्ति में दो पदार्थों की उक्ति होने से कोई दोष नहीं आता। इसीप्रकार—अस्माकं देवदत्तस्य च देवदत्तोऽभिरूपतरः (मुझ में और देवदत्त में देवदत्त अधिक रूपवान् है)। यहां 'अस्माकम्' में **अस्मदो द्वयोश्च** (१.२.५९) से एकत्व में बहुवचन हुआ है। अतः द्विवचन ही उपपद है, निर्धारण में षष्ठी हुई है।

परुत् भवान् पटुरासीद् ऐषमस्तु पटुतरः (पिछले वर्ष आप चतुर थे परन्तु इस वर्ष उस से भी अधिक चतुर हैं)। यहां एक ही व्यक्ति में तत्तत्कालकृत भेद के आश्रयण से द्विवचन की कल्पना कर तरप् हो जाता है। वामन आचार्य का कथन है कि साक्षात् प्रयोग के विना भी बुद्धिस्थ द्विवचन आदि के कारण तरप्-तमप् आदि आतिशायनिक प्रत्यय हो जाते हैं।[1] यथा—बहुलतरं प्रेम, घनतरं पयः, **अल्पाच्तरम्** (९८९), **गुरुर्धरित्री क्रियतेतरां त्वया** (माघ० १.३६) इत्यादि।

विभज्य (विभक्तव्य = पृथक्करणीय) के उपपद रहते उदाहरण यथा—

उदीच्याः प्राच्येभ्यः पटुतराः पटीयांसो वा (उत्तरीलोग पूर्वीलोगों की अपेक्षा अधिक निपुण होते हैं)। यहां उदीच्यों से प्राच्यों को पृथक् करना है अतः प्राच्य विभज्य = विभक्तव्य = पृथक्करणीय हैं, **पञ्चमी विभक्ते** (२.३.४२) सूत्र से इस में

---

१. **बौद्धप्रतियोग्यपेक्षायामप्यातिशायनिकाः॥**

(वामनकाव्यालंकारसूत्र निर्णयसागर पृष्ठ ७५)

पञ्चमी विभक्ति हुई है ।[1] इस विभज्य के उपपद रहते अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'पटु जस्' से **द्विवचन-विभज्योपपदे तरबीयसुँनौ** (१२२२) सूत्रद्वारा तरप् और ईयसुँन् हो कर पूर्ववत् सिद्धि होती है ।

इसीप्रकार—

(१) माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढयतराः (मथुरावासी पाटलिपुत्रवासियों की अपेक्षा अधिक धनी हैं) । यहां 'पाटलिपुत्रकेभ्यः' यह विभज्य उपपद है ।

(२) माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्यः साङ्काश्येभ्यश्च आढयतराः । यहां उपपद में दो विभज्य हैं ।

(३) **मतिरेव बलाद् गरीयसी** । (हितोप० २.८६)

(४) **स्वार्थात् सतां गुरुतरा प्रणयिक्रियैव** । (विक्रमो० ४.१५)

(५) **कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः** । (गीता ३.८)

(६) **ततो दुःखतरं नु किम्** ? (गीता २.३६)

(७) **पुत्रादपि प्रियतरं खलु तेन दानं**
मन्ये पशोरपि विवेकविवर्जितस्य ।
दत्ते खले नु निखिलं खलु येन दुग्धं
नित्यं ददाति महिषी ससुतापि पश्य ।। (पञ्च० २.५५)

अब इस प्रकरण के एक अत्युपयोगी सूत्र को जिसे संक्षेपरुचि लघुकौमुदीकार ने छोड़ दिया है, यहां निर्दिष्ट कर रहे हैं—

अजादी गुणवचनादेव (५.३.५८) ।।

अर्थः—पूर्वोक्त (तमप्, इष्ठन्, तरप् और ईयसुँन्) चार प्रत्ययों में जो दो अजादि प्रत्यय हैं वे केवल गुणवाचकों से ही होते हैं अन्यों से नहीं । इष्ठन् और ईयसुँन् ही अजादि प्रत्यय हैं वे गुणवाचकों से ही होते हैं अन्यों से नहीं । यथा —लघु और पटु शब्द गुणवाचक हैं, इन से इष्ठन् और ईयसुँन् हो जायेंगे—एषामयमतिशयेन लघुः—लघिष्ठः, एषामयमतिशयेन पटुः—पटिष्ठः, अनयोरयमतिशयेन लघुः—लघीयान्, अनयोरयमतिशयेन पटुः—पटीयान् । पाचक शब्द क्रियापद है गुणवाचक नहीं अतः इससे ये न होंगे तमप् और तरप् ही होंगे । एषामयमतिशयेन पाचकः—पाचकतमः, अनयोरयमतिशयेन पाचकः—पाचकतरः । ध्यान रहे कि गुणवाचकों से अजादि प्रत्यय तो होते

---

१. प्रकृत उदाहरण में उदीच्य और प्राच्य यद्यपि पारस्परिक दृष्टि से दोनों विभज्य हैं तथापि यहां अतिशय्यमान विभज्य को ही उपपद में रखना उचित ठहरता है कारण कि अतिशयिता से तो प्रत्यय का विधान किया जा रहा है । अत एव न्यासकार ने कहा है— **यः पुनरतिशय्यमानस्तस्योपपदत्वं नातिशयितुः, ततः प्रत्यय-विधानात्** । तात्पर्य यह है कि विभाग के अवधिभूत पञ्चम्यन्त को ही यहां 'विभज्य' मान कर उस के उपपद रहते अतिशयिता से आतिशायनिक प्रत्ययों का विधान किया जाता है ।

इष्ठन्, ईयसुँन्

ही हैं परन्तु तमप्-तरप् भी हो जाते हैं, इन को रोकने वाला कोई सूत्र नहीं। यथा— लघुतमः, लघुतरः। पटुतमः, पटुतरः।

अब आतिशायनिक अजादि प्रत्ययों के परे रहते 'प्रशस्य' शब्द के स्थान पर 'श्र' आदेश का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२२३) **प्रशस्यस्य श्रः** ।५।३।६०।।

अस्य श्रादेशः स्यादजाद्योः परतः ।।

अर्थः—अजादि अर्थात् इष्ठन् और ईयसुँन् प्रत्ययों के परे रहते 'प्रशस्य' शब्द के स्थान पर 'श्र' आदेश हो।

व्याख्या—प्रशस्यस्य ।६।१। श्रः ।१।१। अजाद्योः ।७।२। (**अजादी गुणवचनादेव** सूत्र से 'अजादी' का अनुवर्त्तन कर उसे सप्तम्यन्ततया विपरिणत कर लिया जाता है)। प्रत्यययोः ।७।२। (**प्रत्ययः** अधिकार के विभक्ति और वचन का विपरिणाम कर लिया जाता है)। अर्थः—(प्रशस्यस्य) प्रशस्यशब्द के स्थान पर (श्रः) 'श्र' यह आदेश हो जाता है (अजाद्योः प्रत्यययोः) अजादि प्रत्ययों के परे रहते। इस आतिशायनिक प्रकरण में दो ही अजादि प्रत्यय कहे गये हैं—इष्ठन् और ईयसुँन्। अतः इन के परे रहते 'प्रशस्य' को 'श्र' आदेश हो जाता है। आदेश अनेकाल् है अतः **अनेकाल्शित्सर्वस्य** (४५) द्वारा सम्पूर्ण 'प्रशस्य' के स्थान पर आदेश हो जायेगा। उदाहरण अग्रिमसूत्र पर देखें।

अब 'श्र' आदेश के प्रकृतिभाव का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२२४) **प्रकृत्यैकाच्** ।६।४।१६३।।

इष्ठादिषु एकाच् प्रकृत्या स्यात्। श्रेष्ठः। श्रेयान् ।।

अर्थः—इष्ठन् आदि प्रत्ययों के परे रहते एक अच् वाला भसञ्ज्ञक अङ्ग प्रकृतिभाव को प्राप्त हो।

व्याख्या—प्रकृत्या ।३।१। एकाच् ।१।१। इष्ठेमेयःसु ।७।३। (**तुरिष्ठेमेयःसु** सूत्र से)। 'अङ्गस्य' और 'भस्य' दोनों अधिकृत हैं, विभक्तिविपरिणाम से 'अङ्गम् भम्' बन जाता है। एकोऽच् यस्य तद् एकाच्, बहुव्रीहिसमासः। अर्थः—(इष्ठेमेयःसु) इष्ठन्, इमनिँच् और ईयसुँन् प्रत्ययों के परे रहते (एकाच्) एक अच् वाला (भम् अङ्गम्) भसञ्ज्ञक अङ्ग (प्रकृत्या) प्रकृतिभाव से रहता है।

यह सूत्र **अल्लोपोऽनः** (२४७), **नस्तद्धिते** (६१६), **यस्येति च** (२३६) और **टेः** (११५७) के प्रकरण में अष्टाध्यायी में पढ़ा गया है अतः उन का अपवाद है।[1]

उदाहरण यथा—

अयमेषामतिशयेन प्रशस्यः—श्रेष्ठः (सब से बढ़कर प्रशंसनीय, बढ़िया या उत्तम)। यहां अतिशायनविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'प्रशस्य सुँ' से **अतिशायने तमबिष्ठनौ**

---

१. इसीलिये 'श्रेष्ठः, श्रेयान्' आदियों में प्रकृतिभाव के कारण गुण आदियों के करने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।

(१२१८) सूत्र से इष्ठन् प्रत्यय हो कर[1] सुँप् का लुक् (७२१) करने से—प्रशस्य + इष्ठ । अब **प्रशस्यस्य श्रः** (१२२३) सूत्र से इष्ठन् के परे रहते 'प्रशस्य' को 'श्र' सर्वादेश होकर – श्र + इष्ठ । **यचि भम्** (१६५) से 'श्र' की भसञ्ज्ञा है अतः इष्ठन् के परे रहते **टेः** (११५७) सूत्रद्वारा भसञ्ज्ञक अङ्ग (श्र) की टि (अ) का लोप प्राप्त होता है, इस पर **प्रकृत्यैकाच्** (१२२४) सूत्र से एकाच् भसंज्ञक अङ्ग 'श्र' के प्रकृतिभाव को प्राप्त हो जाने से टिलोप नहीं होता । पुनः **आद् गुणः** (२७) से गुण एकादेश कर विभक्ति लाने से 'श्रेष्ठः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । पक्ष में तमप् हो कर 'प्रशस्यतमः' भी बनेगा । यहां इष्ठन् के परे न रहने से प्रशस्य को श्र आदेश नहीं होता ।

अयमनयोरतिशयेन प्रशस्यः श्रेयान् (दो में अधिक प्रशंसनीय या बढ़िया) । यहां 'अनयोः' यह द्विवचन उपपद में है अतः अतिशायनविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'प्रशस्य सुँ' से **द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुँनौ** (१२२२) सूत्रद्वारा ईयसुँन् प्रत्यय हो कर सुँप् का लुक् करने से—प्रशस्य + ईयस् । अब पूर्ववत् **प्रशस्यस्य श्रः** से प्रशस्य को श्र सर्वादेश हो कर **टेः** (११५७) द्वारा 'श्र' की टि (अ) का लोप प्राप्त होता है । इस पर **प्रकृत्यैकाच्** (१२२४) से प्रकृतिभाव के कारण टि का लोप नहीं होता—श्र + ईयस् । पुनः **आद् गुणः** (२७) से गुण एकादेश हो कर 'लघीयान्, पटीयान्' की तरह विभक्तिकार्य (उगित्त्वान्नुँम्, नकार की उपधा को दीर्घ, हल्ङ्यादिलोप एवं संयोगान्तलोप) करने से 'श्रेयान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । पक्ष में तरप् हो कर 'प्रशस्यतरः' भी बनेगा ।

अब पक्ष में 'प्रशस्य' को 'ज्य' आदेश का भी विधान करते हैं —

[लघु०] विधि-सूत्रम् —(**१२२५) ज्य च** ।५।३।६१।।

प्रशस्यस्य ज्यादेशः स्याद् इष्ठेयसोः । ज्येष्ठः ॥

अर्थः—अजादि अर्थात् इष्ठन् और ईयसुँन् प्रत्ययों के परे रहते 'प्रशस्य' शब्द के स्थान पर 'ज्य' आदेश भी हो ।

व्याख्या—ज्य इतिलुप्तप्रथमैकवचनान्तं पदम् । च इत्यव्ययपदम् । प्रशस्यस्य ।६।१। (**प्रशस्यस्य श्रः** सूत्र से) । अजाद्योः ।७।२। (**अजादी गुणवचनादेव** सूत्र से प्राप्त 'अजादी' पद को सप्तम्यन्ततया विपरिणत कर लिया जाता है) । प्रत्यययोः ।७।२। (**प्रत्ययः** अधिकार के विभक्ति और वचन का विपरिणाम कर लिया जाता है) । अर्थः— (प्रशस्यस्य) प्रशस्यशब्द के स्थान पर (ज्य) 'ज्य' यह आदेश (च) भी हो जाता है

१. इष्ठन् प्रत्यय अजादि है, **अजादी गुणवचनादेव** (५.३.५८) नियम के अनुसार यह गुणवाचकों से ही होना चाहिये । यहां 'प्रशस्य' शब्द गुणवाचक नहीं पुनः इस से इष्ठन् कैसे हो जायेगा ? इस का उत्तर यह दिया जाता है कि जब आचार्य इष्ठन् के परे रहते प्रशस्य को श्र आदेश का विधान करते हैं तो इस से स्पष्ट ज्ञापित हो जाता है कि वे गुणवाचक न होते हुए भी इस शब्द से परे इष्ठन् का विधान मानते हैं ।

(अजाद्योः प्रत्यययोः) अजादि प्रत्ययों के परे रहते। इस प्रकरण में दो ही अजादि प्रत्यय कहे गये हैं—इष्ठन् और ईयसुँन्। अतः इन के परे रहते 'प्रशस्य' को 'ज्य' आदेश होता है। 'ज्य' अनेकाल् है अतः सर्वादेश (४५) होगा। 'च' ग्रहण के कारण पूर्वोक्त 'श्र' आदेश के साथ इस का भी समावेश समझना चाहिये।

इष्ठन् में उदाहरण यथा—

सर्वे इमे प्रशस्याः, अयमेतेषामतिशयेन प्रशस्यः—ज्येष्ठः (सब से बढ़ कर प्रशंसनीय, बढ़िया या उत्तम)। यहां पर अतिशायनविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'प्रशस्य सुँ' से पूर्ववत् इष्ठन् प्रत्यय, सुँब्लुक् तथा प्रकृत **ज्य च** (१२२५) सूत्र से 'प्रशस्य' को 'ज्य' सर्वादेश हो कर—ज्य+इष्ठ। अब **टेः** (११५७) से प्राप्त टिलोप का **प्रकृत्यैकाच्** (१२२४) द्वारा प्रकृतिभाव के कारण वारण हो जाता है। पुनः **आद् गुणः** (२७) से गुण एकादेश कर विभक्ति लाने से 'ज्येष्ठः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। पक्ष में 'श्रेष्ठः' और 'प्रशस्यतमः' ये दोनों पूर्वोक्त प्रयोग भी रहेंगे।

ईयसुँन् में उदाहरण यथा—

इमौ द्वावपि प्रशस्यौ, अयमनयोरतिशयेन प्रशस्यः—ज्यायान् (दोनों में अधिक प्रशंसनीय, अच्छा या बढ़िया)। यहां 'अनयोः' यह दो अर्थों का वाचक उपपद में है अतः अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'प्रशस्य सुँ' से **द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुँनौ** (१२२२) सूत्रद्वारा ईयसुँन्, सुँब्लुक् तथा प्रकृत **ज्य च** (१२२५) सूत्र से 'प्रशस्य' को 'ज्य' सर्वादेश हो कर 'ज्य+ईयस्' हुआ। अब यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२२६) ज्यादादीयसः ।६।४।१६०॥

(ज्यात् परस्य ईयस आकार आदेशः स्यात्)। आदेः परस्य (७२)—ज्यायान्॥

अर्थः—'ज्य' से परे ईयस् के ईकार को आकार आदेश हो।

व्याख्या—ज्यात् ।५।१। आत् ।१।१। ईयसः ।६।१। अर्थः—(ज्यात्) ज्य से परे (ईयसः) ईयस् के स्थान पर (आत्) आकार आदेश हो जाता है। यह आदेश अलोऽन्त्य-परिभाषा से ईयस् के सकार के स्थान पर प्राप्त होता है परन्तु **आदेः परस्य** (७२) परिभाषाद्वारा उसे न हो कर ईयस् के आदि वर्ण ईकार के स्थान पर हो जाता है। इस प्रकार 'ईयस्' का 'आयस्' बन जाता है।

'ज्य+ईयस्' यहां **आदेः परस्य** (७२) की सहायता से प्रकृत **ज्यादादीयसः** (१२२६) सूत्रद्वारा ईयस् के आदि वर्ण ईकार को आकार आदेश हो कर—ज्य+आयस्। अब **टेः** (११५७) से प्राप्त टिलोप का **प्रकृत्यैकाच्** (१२२४) सूत्र के द्वारा प्रकृतिभाव के कारण वारण हो कर **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ एकादेश करने से—ज्य् आ यस्=ज्यायस्। अब 'श्रेयान्' की तरह विभक्तिकार्य करने पर 'ज्यायान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। पक्ष में पूर्वोक्त 'श्रेयान्' तथा 'प्रशस्यतरः' प्रयोग भी रहेंगे।

अष्टाध्यायी में **ज्य च** (५.३.६१) सूत्र से आगे इसीप्रकार का एक अन्य सूत्र भी पढ़ा गया है—

वृद्धस्य च (५.३.६२) ॥

अर्थः— अजादि प्रत्यय (इष्ठन् और ईयसुँन्) के परे होने पर 'वृद्ध' शब्द के स्थान पर भी 'ज्य' आदेश हो जाता है। उदाहरण यथा—

अयमेषाम् अतिशयेन वृद्धः—ज्येष्ठः (सब से अधिक आयु वाला या बूढ़ा)। अयमनयोरतिशयेन वृद्धः—ज्यायान् (दोनों में अधिक आयु वाला या बूढ़ा)। इन की सिद्धि पूर्ववत् होती है परन्तु अर्थ में अन्तर है।

अब ईयसुँन् के परे रहते बहुशब्द को विशेषकार्य का विधान करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**१२२७**)

बहोर्लोपो भू च बहोः ।६।४।१५८।।

बहोः परयोरिमेयसोर्लोपः स्याद् बहोश्च भूरादेशः । भूमा । भूयान् ॥

अर्थः—बहुशब्द से परे इमनिँच् और ईयसुँन् प्रत्ययों का लोप हो तथा बहुशब्द के स्थान पर 'भू' आदेश भी हो।

व्याख्या— बहोः ।५।१। लोपः ।१।१। भू इतिलुप्तप्रथमैकवचनान्तम्पदम् । च इत्यव्ययपदम् । बहोः ।६।१। इमेयसोः ।७।२। (**तुरिष्ठेमेयस्सु** सूत्र से[1]) । अर्थः— (बहोः) बहुशब्द से परे (इमेयसोः) इमनिँच् और ईयसुँन् प्रत्ययों का (लोपः) लोप हो जाता है तथा (बहोः) 'बहु' के स्थान पर (भू) 'भू' यह आदेश (च) भी हो जाता है।[2]

'बहु' से परे इमनिँच् और ईयसुँन् का लोप कहा गया है परन्तु **आदेः परस्य** (७२) परिभाषा के अनुसार यह लोप इन प्रत्ययों के आदिवर्ण इकार और ईकार का ही होता है। बहुशब्द के स्थान पर भू आदेश **अनेकाल्शित्सर्वस्य** (४५) द्वारा सर्वादेश होता है।

इमनिँच् में उदाहरण यथा—

बहोर्भावः— भूमा (बहुतपना, बहुतायत)। यहां 'बहु ङस्' से भाव में **पृथ्वादिभ्य इमनिँज्वा** (११५५) सूत्रद्वारा इमनिँच् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा सुँप् (ङस्) का भी लुक् करने से—बहु + इमन् । अब **बहोर्लोपो भू च बहोः** (१२२७) इस प्रकृतसूत्र से इमन् के इकार का लोप एवं बहुशब्द के स्थान पर 'भू' सर्वादेश हो कर—भूमन् । विभक्ति लाने पर 'राजन्' शब्द की तरह सुँबन्तप्रक्रिया करने से 'भूमा' प्रयोग सिद्ध

---

१. यद्यपि यहां 'इष्ठेमेयस्सु' द्वारा इष्ठन्-इमनिँच्-ईयसुँन् इन तीनों की अनुवृत्ति आ रही है तथापि इष्ठन् का उत्तरसूत्र में पृथक् उल्लेख के कारण यहां दो को ही सम्बद्ध किया जाता है।

२. **बहोरिति पुनर्ग्रहणं स्थानिवत्त्वप्रतिपत्त्यर्थम् । अन्यथा हि प्रत्ययानामेव भूभावः स्यात्** । (काशिका)

हो जाता है । भूमा, भूमानौ, भूमानः । इमनिँच्प्रत्ययान्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं यह पीछे बताया जा चुका है ।

ईयसुँन् में उदाहरण यथा—

अयम्बहुः, अयम्बहुः, अयमनयोरतिशयेन बहुः—भूयान् (दो में अधिक विपुल या विशाल) । यहां 'अनयोः' यह द्विवचन उपपद में है अतः अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'बहु सुँ' से **द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुँनौ** (१२२२) से ईयसुँन् प्रत्यय, अनुबन्धलोप एवं सुँप् का भी लुक् करने से—बहु + ईयस् । अब **बहोर्लोपो भू च बहोः** (१२२७) इस प्रकृतसूत्र से ईयस् के ईकार का लोप तथा बहुशब्द को भू सर्वादेश हो कर[1]— भू + यस = भूयस् ।[2] अब 'श्रेयान्' की तरह विभक्तिकार्य करने से 'भूयान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

अब बहुशब्द से परे इष्ठन् के लिये विशेष कार्य का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (१२२८) **इष्ठस्य यिट् च** ।६।४।१५९।।

बहोः परस्य इष्ठस्य लोपः स्याद् यिडागमश्च । भूयिष्ठः ।।

अर्थः—बहुशब्द से परे इष्ठन् का लोप हो तथा उस इष्ठन् को यिट् का आगम भी हो किञ्च बहुशब्द के स्थान पर भू आदेश भी हो ।

व्याख्या—इष्ठस्य ।६।१। यिट् ।१।१। च इत्यव्ययपदम् । **बहोर्लोपो भू च बहोः** (१२२७) इस पिछले सूत्र की अनुवृत्ति होती है । अर्थः—(बहोः) बहुशब्द से परे (इष्ठस्य) इष्ठन् प्रत्यय का (लोपः) लोप हो जाता है तथा उसे (यिट्) यिट् का आगम भी हो जाता है । किञ्च (भू च बहोः) बहु के स्थान पर 'भू' आदेश भी हो जाता है । बहुशब्द से परे इष्ठन् का लोप कहा है अतः **आदेः परस्य** (७२) द्वारा इष्ठन् के आदि इकार का ही लोप होगा । यिट् में टकार इत् है, 'यि' मात्र शेष रहता है । **आद्यन्तौ टकितौ** (८५) के अनुसार यिट् का आगम इष्ठन् का आद्यवयव बनता है । उदाहरण यथा—

अयं बहुरयं बहुरयं बहुः । अयमेषामतिशयेन बहुः—भूयिष्ठः (सब में अधिक विपुल या विशाल) । यहां अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'बहु सुँ' से **अतिशायने तमबिष्ठनौ** (१२१८) सूत्रद्वारा इष्ठन् प्रत्यय हो कर सुँप् का लुक् करने से 'बहु + इष्ठ' हुआ । अब प्रकृत **इष्ठस्य यिट् च** (१२२८) सूत्र से इष्ठन् के आदि इकार का लोप, प्रत्यय को यिट् का आगम तथा बहु के स्थान पर 'भू' सर्वादेश कर देने से—भू +

---

१. यदि यहां 'भु' इस प्रकार ह्रस्वान्त आदेश करते तो भी **अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः** (४८३) से यकारादि प्रत्यय के परे रहते दीर्घ हो कर 'भूयस्' बन सकता था पुनः यहां दीर्घान्त आदेश क्यों किया गया है ? इस का उत्तर यह है कि 'भूयस्' के सिद्ध हो जाने पर भी 'भूमन्' की सिद्धि न हो सकती थी अतः मुनि को दीर्घान्त आदेश करना पड़ा है ।

२. अत्र भूभावस्य आभीयत्वेन असिद्धत्वाद् **ओर्गुणः** (१००५) इति गुणो न ।

यिष्ठ = भूयिष्ठ । विभक्ति लाने से 'भूयिष्ठः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

नोट—कुछ वैयाकरण 'इष्ठन् को यिँट् का आगम हो' इसे आदिलोप का अपवाद मानते हैं । उन के मतानुसार यिँट् में इकार और टकार दोनों इत् हैं, इस प्रकार यिँट् का 'य्' मात्र शेष रहता है—भू + य्इष्ठ = भूयिष्ठः । महाभाष्य में दोनों पक्ष स्वीकृत हैं ।

अब इष्ठन् और ईयसुँन् के परे रहते मत्वर्थीय विन् और मतुँप् प्रत्ययों के लुक् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२२६) विन्मतोर्लुक् ।५।३।६५।।

विनो मतुँपश्च लुक् स्यादिष्ठेयसोः । अतिशयेन स्रग्वी—स्रजिष्ठः । स्रजीयान् । अतिशयेन त्वग्वान्—त्वचिष्ठः । त्वचीयान् ।।

अर्थः—इष्ठन् या ईयसुँन् प्रत्ययों के परे रहते विन् और मतुँप् प्रत्ययों का लुक् हो ।

व्याख्या—विन्मतोः ।६।२। लुक् ।१।१। अजाद्योः ।७।२। (**अजादी गुणवचनादेव** सूत्र से 'अजादी' की अनुवृत्ति ला कर उसे सप्तम्यन्ततया विपरिणत कर लिया जाता है) । विन् च मत् च विन्मतौ, तयोः = विन्मतोः, इतरेतरद्वन्द्वः । अर्थः—(अजाद्योः प्रत्यययोः) अजादि प्रत्ययों अर्थात् इष्ठन् और ईयसुँन् के परे रहते (विन्मतोः) विनिँ और मतुँप् प्रत्ययों का (लुक्) लुक् हो जाता है । विनिँप्रत्यय का विधान **अस्माया-मेधास्रजो विनिँः** (११६३) आदि सूत्रों के द्वारा तथा मतुँप् प्रत्यय का विधान **तदस्या-स्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) आदि सूत्रों से पीछे दर्शाया जा चुका है । **प्रत्ययस्य लुक्-श्लु-लुपः** (१८९) के अनुसार लुक् पूरे प्रत्यय का ही हुआ करता है अतः अलोऽन्त्य-विधि (२१) न हो कर विन् और मत् इन पूरे प्रत्ययों का ही लुक् होगा ।

प्रथम विन् (विनिँ) प्रत्यय के लुक् के उदाहरण यथा—

सर्वे इमे स्रग्विणः, अयमेषामतिशयेन स्रग्वी—स्रजिष्ठः (सब मालावालों में अधिक मालावाला) । प्रथमान्त स्रज्शब्द से मत्वर्थ में **अस्-माया-मेधा-स्रजो विनिँः** (११६३) सूत्रद्वारा विनिँ प्रत्यय ला कर सुँब्लुक् तथा पदान्त में **क्विँन्प्रत्ययस्य कुः** (३०४) द्वारा कुत्व करने से 'स्रग्विन्' शब्द निष्पन्न होता है । अब अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'स्रग्विन् सुँ' से **अतिशायने तमबिष्ठनौ** (१२१८) द्वारा इष्ठन्प्रत्यय, तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, प्रातिपदिक के अवयव सुँप् का लुक्, **विन्मतोर्लुक्** (१२२६) इस प्रकृतसूत्र से इष्ठन् के परे रहते विन्प्रत्यय का भी लुक् कर **निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः** न्याय के अनुसार कुत्व के दूर हो जाने से 'स्रज् + इष्ठ' हुआ । **यचि भम्** (१६५) सूत्रद्वारा यहां 'स्रज्' की भसञ्ज्ञा है, अतः **टेः** (११५७) से टि (अज्) का लोप प्राप्त होता है । इस पर **प्रकृत्यैकाच्** (१२२४) द्वारा प्रकृतिभाव के कारण उस का वारण हो जाता है । अब भत्व के कारण कुत्व की प्रवृत्ति नहीं होती । इस प्रकार 'स्रजिष्ठः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इमौ द्वावपि स्रग्विणौ, अयमनयोरतिशयेन स्रग्वी स्रजीयान् (दो मालावान् व्यक्तियों में अधिक मालावान् व्यक्ति)। यहां द्विवचन 'अनयोः' के उपपद में रहते **द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुँनौ** (१२२२) सूत्र से ईयसुँन् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक् तथा **विन्मतोर्लुक्** (१२२६) से विन् का भी लुक् हो जाता है—स्रज् + ईयस्। अब **टेः** (११५७) द्वारा प्राप्त टिलोप का **प्रकृत्यैकाच्** (१२२४) से प्रकृतिभाव के कारण वारण हो कर—स्रजीयस्। विभक्तिकार्य करने से 'स्रजीयान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

मतुँप् प्रत्यय के लुक् के उदाहरण यथा—

सर्वे इमे त्वग्वन्तः, अयमेषामतिशयेन त्वग्वान्—त्वचिष्ठः (सब त्वचावालों में अधिक त्वचावान्)। प्रथमान्त त्वच्शब्द से **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्र-द्वारा मतुँप् प्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, **मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः** (१०६५) से मतुँप् के मकार को वत्व तथा **चोः कुः** (१०६) से कुत्वादि करने से 'त्वग्वत्' (प्रशस्त त्वचा वाला) शब्द निष्पन्न होता है। अतिशयविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'त्वग्वत् सुँ' से **अतिशायने तमबिष्ठनौ** (१२१८) से इष्ठन्, सुँब्लुक् तथा **विन्मतोर्लुक्** (१२२६) से मतुँप् का भी लुक् कर कुत्वादि के हट जाने से—त्वच् + इष्ठ। अब भसञ्ज्ञा के कारण **टेः** (११५७) द्वारा प्राप्त टिलोप का **प्रकृत्यैकाच्** (१२२४) से प्रकृतिभाव के कारण वारण हो कर 'त्वचिष्ठः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अयमनयोरतिशयेन त्वग्वान्—त्वचीयान्। यहां द्विवचन 'अनयोः' के उपपद में रहते **द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुँनौ** (१२२२) द्वारा ईयसुँन् प्रत्यय करने पर **विन्मतोर्लुक्** (१२२६) से मतुँप् का लुक् हो जाने से—त्वच् + ईयस्। अब **प्रकृत्यैकाच्** (१२२४) द्वारा प्रकृतिभाव के कारण **टेः** (११५७) से टि का लोप नहीं होता—त्वचीयस्। विभक्तिकार्य करने से 'त्वचीयान्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

मतिमत्—मतिष्ठः, मतीयान्।

धनवत्—धनिष्ठः, धनीयान्।

मेधाविन्—मेधिष्ठः, मेधीयान्।

बलवत्—बलिष्ठः, बलीयान्।[1]

अतिशायनिक (तुलनार्थक) प्रत्ययों के इस प्रसङ्ग में कुछ अन्य उपयोगी सूत्रों का जानना भी आरम्भिक विद्यार्थियों के लिये परम आवश्यक है। अतः उन सूत्रों का संक्षेप से कुछ विवरण यहां उपस्थित किया जा रहा है—

---

१. इन सब में मतुँप् या विन् का लुक् हो जाने पर **टेः** (११५७) सूत्रद्वारा टि का लोप हो जाता है। एकाच् न होने से **प्रकृत्यैकाच्** (१२२४) से प्रकृतिभाव नहीं होता। (शेखरकारेणात्र अन्यविधं प्रतिपादितम्, विशेषबुभुत्सुभिस्तत्तु तत्रैव द्रष्टव्यम्)।

(१) स्थूल-दूर-युव-ह्रस्व-क्षिप्र-क्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः (६.४.१५६) ॥

अर्थः—इष्ठन्, इमनिँच् या ईयसुँन् प्रत्ययों के परे रहते स्थूल, दूर, युवन्, ह्रस्व, क्षिप्र और क्षुद्र इन छः शब्दों के यण् से ले कर परले भाग का लोप हो जाता है किञ्च यण् से पूर्व इकार उकार के स्थान पर गुण भी हो जाता है। यथा—

स्थूल (मोटा)—स्थो + इष्ठन् = स्थविष्ठः। स्थवीयान्।
दूर (दूर)—दो + इष्ठन् = दविष्ठः। दवीयान्।
युवन् (जवान)—यो + इष्ठन् = यविष्ठः। यवीयान्।
ह्रस्व (छोटा)—ह्रस् + इष्ठन् = ह्रसिष्ठः। ह्रसीयान्।
क्षिप्र (शीघ्र)—क्षेप् + इष्ठन् = क्षेपिष्ठः। क्षेपीयान्।
क्षुद्र (छोटा)—क्षोद् + इष्ठन् = क्षोदिष्ठः। क्षोदीयान्।[1]

(२) युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम् (५.३.६४) ॥

अर्थः—इष्ठन् या ईयसुँन् प्रत्यय के परे रहते युवन् और अल्प शब्दों के स्थान पर विकल्प से कन् सर्वादेश होता है। यथा—

युवन् (जवान)—कन् + इष्ठन् = कनिष्ठः। कनीयान्।
पक्षे—यविष्ठः। यवीयान्। (**स्थूलदूरयुव०**)
अल्प (थोड़ा)—कन् + इष्ठन् = कनिष्ठः। कनीयान्।
पक्षे—अल्पिष्ठः। अल्पीयान्।

(३) अन्तिक-बाढयोर्नेदसाधौ (५.३.६३) ॥

अर्थः—इष्ठन् या ईयसुँन् प्रत्यय के परे रहते अन्तिक को नेद तथा बाढ को साध आदेश होता है। यथा—

अन्तिक (निकट)—नेद + इष्ठन् = नेदिष्ठः। नेदीयान्।
बाढ (दृढ़, अच्छा)—साध + इष्ठन् = साधिष्ठः। साधीयान्।

(४) प्रिय-स्थिर-स्फिरोरु-बहुल-गुरु-वृद्ध-तृप्र-दीर्घ-वृन्दारकाणां प्र-स्थ-स्फ-वर्-बंहि-गर्-वर्षि-त्रब्-द्राघि-वृन्दाः (६.४.१५७) ॥

अर्थः—इष्ठन्, इमनिँच् या ईयसुँन् प्रत्ययों के परे रहते प्रिय, स्थिर, स्फिर, उरु, बहुल, गुरु, वृद्ध, तृप्र, दीर्घ और वृन्दारक इन दस शब्दों के स्थान पर क्रमशः प्र, स्थ, स्फ, वर्, बंहि, गर्, वर्षि, त्रप्, द्राघि और वृन्द ये दस आदेश हो जाते हैं।[2] यथा—

---

१. इमनिँच् में इन के उदाहरण पीछे **त्वतलोरधिकारः** के अन्तर्गत (११५८) सूत्राङ्क पर दिये जा चुके हैं, वहीं देखें।

२. वर्षि-बंहि-द्राघिषु इकार उच्चारणार्थ इति नागेशः।

प्रिय (प्यारा)—प्र + इष्ठ = प्रेष्ठः । प्रेयान् ।
स्थिर (स्थायी)—स्थ + इष्ठ = स्थेष्ठः । स्थेयान् ।
स्फिर (बहुत)—स्फ + इष्ठ = स्फेष्ठः । स्फेयान् ।
उरु (विशाल) —वर् + इष्ठ = वरिष्ठः । वरीयान्
बहुल (बहुत)—बंहि + इष्ठ = बंहिष्ठः । बंहीयान् ।
गुरु (भारी)—गर् + इष्ठ = गरिष्ठः । गरीयान् ।
वृद्ध (बूढ़ा)—वर्षि + इष्ठ = वर्षिष्ठः । वर्षीयान् ।
तृप्र (सन्तुष्ट)—त्रप् = इष्ठ = त्रपिष्ठः । त्रपीयान् ।
दीर्घ (लम्बा) = द्राघि + इष्ठ = द्राघिष्ठः । द्राघीयान् ।
वृन्दारक (सुन्दर)[1]—वृन्द + इष्ठ = वृन्दिष्ठः । वृन्दीयान् ।

(५) **र ऋतो हलादेर्लघोः** (११५६) ॥

अर्थः—इष्ठन्, इमनिँच् या ईयसुँन् प्रत्ययों के परे रहते हलादि लघु ऋकार को 'र' आदेश हो जाता है । इमनिँच् में उदाहरण इसी सूत्र पर पीछे दिये जा चुके हैं। इष्ठन् और ईयसुँन् में उदाहरण यथा—

पृथु (विशाल, चौड़ा) —प्रथु + इष्ठन् = प्रथिष्ठः । प्रथीयान् ।
मृदु (कोमल)—म्रदु + इष्ठन् = म्रदिष्ठः । म्रदीयान् ।
भृश (अधिक) — भ्रश + इष्ठन् = भ्रशिष्ठः । भ्रशीयान् ।
कृश (कमज़ोर) —क्रश + इष्ठन् = क्रशिष्ठः । क्रशीयान् ।
दृढ (मज़बूत)—द्रढ + इष्ठन् = द्रढिष्ठः । द्रढीयान् ।
परिवृढ (प्रधान, स्वामी)—परिव्रढ + इष्ठन् = परिव्रढिष्ठः । परिव्रढीयान् ।

(६) **तुरिष्ठेमेयःसु** (६.४.१५४) ॥

अर्थः—इष्ठन्, इमनिँच् या ईयसुँन् प्रत्ययों के परे रहते 'तृ' का लोप हो जाता है । यहां सम्पूर्ण 'तृ' का ही लोप होता है, केवल ऋकार का नहीं, वह तो **टेः** (११५७) द्वारा सिद्ध था ही । उदाहरण यथा—

कर्तृ (करने वाला)—कर् + इष्ठ = करिष्ठः । करीयान् ।
विजेतृ (जीतने वाला)—विजे + इष्ठ = विजयिष्ठः । विजयीयान् ।
स्तोतृ (स्तोता)—स्तो + इष्ठ = स्तविष्ठः । स्तवीयान् ।[2]

विद्यार्थियों के सुखबोध के लिये यहां आतिशायनिक (तुलनार्थक) प्रत्ययों की एक तालिका दे रहे हैं । तरप्-तमप् प्रत्ययान्त रूप सरल होते हैं अतः उन का यहां संग्रह नहीं किया गया । ईयसुँन् और इष्ठन्प्रत्ययान्तों की ही तालिका यहां दी जा रही है—

---

१. **वृन्दारकः सुरे पुंसि मनोज्ञश्रेष्ठयोस्त्रिषु** इति मेदिनी ।

२. 'तृ' का लोप हो जाने पर भी प्रत्ययलक्षण के कारण धातु को गुण हो जाता है ।

शब्द Positive	दो में उत्कृष्ट Comparative	सब में उत्कृष्ट Superlative
१. पटु (चतुर)	पटीयान्	पटिष्ठः
२. लघु (छोटा)	लघीयान्	लघिष्ठः
३. प्रशस्य (प्रशंसनीय)	श्रेयान्, ज्यायान्	श्रेष्ठः, ज्येष्ठः
४. महत् (बड़ा)	महीयान्	महिष्ठः
५. बहु (बहुत)	भूयान्	भूयिष्ठः
६. स्रग्विन् (मालावाला)	स्रजीयान्	स्रजिष्ठः
७. त्वग्वत् (छालवाला)	त्वचीयान्	त्वचिष्ठः
८. स्थूल (मोटा)	स्थवीयान्	स्थविष्ठः
९. दूर (दूर)	दवीयान्	दविष्ठः
१०. युवन् (जवान)	कनीयान्, यवीयान्	कनिष्ठः, यविष्ठः
११. ह्रस्व (छोटा)	ह्रसीयान्	ह्रसिष्ठः
१२. क्षिप्र (शीघ्र)	क्षेपीयान्	क्षेपिष्ठः
१३. क्षुद्र (तुच्छ)	क्षोदीयान्	क्षोदिष्ठः
१४. अल्प (थोड़ा)	कनीयान्, अल्पीयान्	कनिष्ठः, अल्पिष्ठः
१५. अन्तिक (समीप)	नेदीयान्	नेदिष्ठः
१६. बाढ (दृढ़, अच्छा)	साधीयान्	साधिष्ठः
१७. प्रिय (प्यारा)	प्रेयान्	प्रेष्ठः
१८. स्थिर (स्थिर)	स्थेयान्	स्थेष्ठः
१९. स्फिर (बहुत)	स्फेयान्	स्फेष्ठः
२०. उरु (विशाल)	वरीयान्	वरिष्ठः
२१. बहुल (बहुत)	बंहीयान्	बंहिष्ठः
२२. गुरु (बड़ा)	गरीयान्	गरिष्ठः
२३. वृद्ध (आयु में बड़ा)	ज्यायान्, वर्षीयान्	ज्येष्ठः, वर्षिष्ठः
२४. तृप्र (सन्तुष्ट)	त्रपीयान्	त्रपिष्ठः
२५. दीर्घ (लम्बा)	द्राघीयान्	द्राघिष्ठः
२६. वृन्दारक (सुन्दर)	वृन्दीयान्	वृन्दिष्ठः
२७. पृथु (विशाल, चौड़ा)	प्रथीयान्	प्रथिष्ठः
२८. मृदु (कोमल)	म्रदीयान्	म्रदिष्ठः
२९. भृश (अधिक)	भ्रशीयान्	भ्रशिष्ठः
३०. कृश (पतला, कमजोर)	क्रशीयान्	क्रशिष्ठः
३१. दृढ (मज़बूत)	द्रढीयान्	द्रढिष्ठः
३२. परिवृढ (स्वामी, प्रधान)	परिव्रढीयान्	परिव्रढिष्ठः
३३. तनु (पतला)	तनीयान्	तनिष्ठः
३४. साधु (ठीक, युक्त)	साधीयान्	साधिष्ठः
३५. कर्तृ (करने वाला)	करीयान्	करिष्ठः
३६. अणु (अणु)	अणीयान्	अणिष्ठः

तुलनार्थकों के साहित्यगत कुछ प्रयोग यथा—

(१) **जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी ।**[1]

(२) **बलीयसा हीनबलो विरोधं**
न भूतिकामो मनसापि वाञ्छेत् ।[2] (पञ्चतन्त्र ३.१२६)

(३) **नैर्गुण्यमेव साधीयो धिगस्तु गुणगौरवम् ।**[3]
शाखिनोऽन्ये विराजन्ते खण्ड्यन्ते चन्दनद्रुमाः ॥ (भामिनी० १.८८)

(४) **त्वया साधु समारम्भि नवे वयसि यत्तपः ।**
ह्रियते विषयैः प्रायो वर्षीयानपि मादृशः ॥[4] (किरात० ११.१०)

(५) **मुनिरूपोऽनुरूपेण सूनुना ददृशे पुरः ।**
द्राघीयसा वयोऽतीतः परिक्लान्तः किलाध्वना ॥[5] (किरात० ११.२)

(६) **कलत्रवानहं बाले कनीयांसं भजस्व मे ।**
इति रामो वृषस्यन्तीं वृषस्कन्धः शशास ताम् ॥[6] (रघु० १२.३४)

(७) **विद्यावतां सकलमेव गिरां दवीयः ॥**[7] (भामिनी० १.६८)

(८) **यावदर्थपदां वाचमेवमादाय माधवः ।**
विरराम महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः ॥[8] (माघ० २.१३)

(९) **अमरसिंहो हि पापीयान् सर्वं भाष्यमचूचुरत् ।**[9]

(१०) **यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे ।**
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वाम्प्रपन्नम् ॥[10] (गीता २.७)

---

१. गरीयसी = गुरुतरा । ईयसुँनि गुरुशब्दस्य गर् इत्यादेशः (**प्रियस्थिर०**) ।

२. बलीयसा = बलवत्तरेण । **विन्मतोर्लुक्** (१२२६) इति मतोर्लुक् ।

३. साधीयः = साधुतरम् । ईयसुँनि **टेः** (११५७) इति टेर्लोपः ।

४. वर्षीयान् = वृद्धतरः । ईयसुँनि वृद्धशब्दस्य वर्ष् इत्यादेशः ।

५. द्राघीयसा = दीर्घतरेण अध्वना परिक्लान्तः । ईयसुँनि दीर्घशब्दस्य द्राघ् इत्यादेशः ।

६. शूर्पणखां प्रति रामस्योक्तिरियम् । कनीयांसम् = युवतरं लक्ष्मणम् । **युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम्** (५.३.६४) इति युवशब्दस्य कन् इत्यादेशः ।

७. दवीयः = दूरतरम् । ईयसुँनि दूरशब्दस्य यणादिपरभागस्य लोपे पूर्वस्य उकारस्य गुणे च कृतेऽवादेशः । [विद्वानों के सब कार्य वाणी से दूर अर्थात् अनिर्वचनीय होते हैं ।]

८. महीयांसः = महत्तराः । ईयसुँनि महच्छब्दस्य टेर्लोपः ।

९. पापीयान् = पापतरः, दुष्टतरः । ईयसुँनि टेर्लोपः ।

१०. श्रेयः = प्रशस्यतरम् । ईयसुँनि **प्रशस्यस्य श्रः** (१२२३) इति श्रादेशः ।

(११) **कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।**[1] (गीता ३.८)

(१२) **निरुक्तं वा एनः कनीयो भवति ।** (शतपथब्राह्मणे)[2]
(स्वीकार किया गया पाप कम हो जाता है ।)

(१३) **बृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति ।**
सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा ॥[3] (माघ० २.१००)

(१४) **यतिर्वशिष्ठो यमिनां वरिष्ठः ।**[4] (भट्टि० १.१५)

(१५) **अणोरणीयान् महतो महीयान् ।**[5]
आत्मास्य जन्तोर्निहितं गुहायाम् । (केन उपनिषद्)

(१६) **अश्वः पशूनाम् आशिष्ठः ।**[6] (शतपथब्राह्मणे)

(१७) **वायुर्वै क्षेपिष्ठा देवता ।**[7] (ऐतरेयब्राह्मणे)

(१८) **इयं हि—अभिरूपभूयिष्ठा परिषत् ।**[8] (शाकुन्तलप्रस्तावना)

(१९) **तेजस्विमध्ये तेजस्वी दवीयानपि गण्यते ।**[9] (माघ० २.५१)

(२०) **पूर्वपरनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः**[10] । (परिभाषा)

विशेष वक्तव्य—प्रकर्षप्रत्ययान्त से पुनः दूसरा प्रकर्षप्रत्यय नहीं होता—ऐसा

---

१. ज्यायः = प्रशस्यतरम् । ईयसुँनि **ज्य च** (१२२५) इति प्रशस्यस्य ज्यादेशः । **ज्यादादीयसः** (१२२६) इति आकारादेशः ।

२. कनीयः = अल्पतरम् । ईयसुँनि **युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम्** (५.३.६४) इति अल्पशब्दस्य कनादेशः ।

३. क्षोदीयान् = क्षुद्रतरः । ईयसुँनि क्षुद्रशब्दस्य यणादिपरभागे लुप्ते पूर्वस्य च गुणे रूपसिद्धिः ।

४. वरिष्ठः = उरुतमः = महत्तमः । इष्ठनि महत्पर्यायस्य उरुशब्दस्य वर् इत्यादेशः ।

५. अणीयान् = अणुतरः, सूक्ष्म इति भावः । महीयान् = महत्तरः । उभयत्र ईयसुँनि टेर्लोपः ।

६. आशिष्ठः = आशुतमः = शीघ्रतमः । इष्ठनि टेर्लोपः (११५७) ।

७. क्षेपिष्ठा = क्षिप्रतमा । इष्ठनि क्षिप्रशब्दस्य यणादिपरभागे लुप्ते पूर्वस्य इकारस्य च गुणे स्त्रियां टापि रूपं सिध्यति ।

८. अभिरूपाः = विद्वांसो भूयिष्ठाः = बहुतमा यस्यां सा तथोक्ता, विद्वद्बहुलेति भावः । बहुशब्दाद् इष्ठनि तस्यादेरिकारस्य लोपे यिडागमे बहोश्च भू इत्यादेशे च कृते भूयिष्ठशब्दः सिध्यति (१२२८) ।

९. दवीयान् = दूरतरः । सिद्धिरुक्तपूर्वा ।

१०. बलीयः = बलवत्तरम् । **विन्मतोर्लुक्** (१२२९) ।

अनेक वैयाकरणों का मन्तव्य है।[1] परन्तु काशिकाकार का मत है कि जब प्रकर्षवानों में भी पुनः प्रकर्ष की विवक्षा हो तो आतिशयनिकप्रत्ययान्तों से भी दूसरा प्रकर्ष-प्रत्यय आ सकता है। यथा—**देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे** (यजुः० १.१); **युधिष्ठिरः श्रेष्ठतमः कुरूणाम्** (अनुपलब्धमूलम्)। यहां 'श्रेष्ठ' इस आतिशयनिकप्रत्ययान्त से दूसरा आतिशयनिक तमप् प्रत्यय किया गया है।[2] परन्तु निषेध मानने वालों का कथन है कि प्रथम उदाहरण वैदिक है। इस में अतिशयनिकप्रत्ययान्त 'श्रेष्ठ' शब्द से स्वार्थ में तमप् प्रत्यय आया है। दूसरे लौकिक उदाहरण को वे लोग असाधु मानते हैं।

अब ईषदसमाप्ति (कुछ न्यूनत्व) अर्थ में वर्त्तमान सुँबन्त और तिङन्त दोनों से कल्पप् आदि प्रत्ययों का विधान करते हैं।

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**१२३०**)

ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः ।५।३।६७॥

(ईषदसमाप्तिविशिष्टेऽर्थे वर्त्तमानात् सुँबन्तात्तिङन्ताच्च कल्पब्देश्य-देशीयरः प्रत्ययाः स्युः)। ईषदूनो विद्वान् विद्वत्कल्पः। विद्वद्देशीयः। पचतिकल्पम् ॥

अर्थः—कुछन्यूनताविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान सुँबन्त या तिङन्त से स्वार्थ में कल्पप्, देश्य और देशीयर् ये तद्धित प्रत्यय हों।

व्याख्या—ईषदसमाप्तौ ।७।१। कल्पब्देश्यदेशीयरः ।१।३। तिङः ।५।१। (**तिङश्च** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। न समाप्तिः—असमाप्तिः, नञ्तत्पुरुषः। ईषच्चासावसमाप्तिः—ईषदसमाप्तिः, तस्याम् =ईषदसमाप्तौ, कर्मधारयसमासः। पदार्थों की पूर्णता को समाप्ति कहा जाता है, उस में कुछ कमी या न्यूनता रह गई हो तो उसे ईषदसमाप्ति कहेंगे। कल्पप् च देश्यश्च देशीयर् च कल्पब्देश्य-देशीयरः, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(ईषदसमाप्तौ) कुछन्यूनताविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान (प्रातिपदिकात्=सुँबन्तात्) सुँबन्त और (तिङः= तिङन्तात्) तिङन्त से स्वार्थ में (तद्धिताः) तद्धितसञ्ज्ञक (कल्पब्देश्यदेशीयरः) कल्पप्, देश्य और देशीयर् प्रत्यय हो जाते हैं।

कल्पप्प्रत्यय का अन्त्य पकार तथा देशीयर्प्रत्यय का अन्त्य रेफ इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं। ये स्वरार्थ जोड़े गये हैं।

सुँबन्त से उदाहरण यथा—

---

१. आतिशायनिकप्रत्ययान्ताद् आतिशायनिको न, अनभिधानात्। 'श्रेष्ठतमाय कर्मणे' इत्यादिकं तु छान्दसत्वात् स्वार्थे साधु। (लघुशब्देन्दुशेखरे)

२. यदा च प्रकर्षवतां पुनः प्रकर्षो विवक्ष्यते तदातिशायिकान्तादपर आतिशायनिकः प्रत्ययो भवत्येव। **देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे। युधिष्ठिरः श्रेष्ठतमः कुरूणामिति।** (काशिका ५.३.५५)

ईषदूनो विद्वान्—विद्वत्कल्पः, विद्वद्देश्यः, विद्वद्देशीयो वा (कुछ कम विद्वान्, लगभग विद्वान्, विद्वान् के सदृश, विद्वत्तुल्य आदि)। यहां ईषद्-असमाप्तिविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'विद्वस्+सुँ' इस सुँबन्त से प्रकृत **ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः** (१२३०) सूत्रद्वारा स्वार्थ में कल्पप्, देश्य और देशीयर् ये तद्धित प्रत्यय हो जाते हैं। अब तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (सुँ) का लुक्, पदत्वात् **वसुँ-स्रंसुँ-ध्वंस्वनडुहां दः** (२६२) से सकार को दकार तथा **खरि च** (७४) से चर्त्व कर विभक्ति लाने से 'विद्वत्कल्पः, विद्वद्देश्यः,विद्वद्देशीयः, ये तीन प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। अन्तिम दो में खर् परे न होने के कारण चर्त्व नहीं होता।[1]

तिङन्त से उदाहरण यथा—

ईषदूनं पचति—पचतिकल्पम् पचतिदेश्यं पचतिदेशीयं वा (कुछ न्यून पाकक्रिया करता है, कुछ कम पकाता है)। यहां 'पचति' यह तिङन्त ईषदसमाप्तिविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान है अतः **ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः** (१२३०) इस प्रकृतसूत्रद्वारा कल्पप्, देश्य और देशीयर् प्रत्यय हो कर लोकानुसार नपुंसकलिङ्ग के प्रथमैकवचन में विभक्ति-कार्य करने से पचतिकल्पम्, पचतिदेश्यम् तथा पचतिदेशीयम् ये तीन प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।

इसी प्रकार—पञ्चवर्षकल्पः, पञ्चवर्षदेश्यः, पञ्चवर्षदेशीयो वा (जो पाञ्च वर्ष से कुछ कम वयः का है, पूरे पाञ्च वर्ष का नहीं, लगभग पाञ्च वर्षों वाला)। पञ्च वर्षाणि[2] भूतः—यहां 'भूतः' (हो चुका) इस तद्धितार्थ की विवक्षा में 'पञ्चन् शस्+वर्ष शस्' में **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३६) से द्विगुसमास हो कर विभक्तियों का लुक् तथा पदान्त नकार का भी लोप कर देने से 'पञ्चवर्ष' बना। अब इस से **तमधीष्टो भृतो भूतो भावी** (५.१.७९)[3] सूत्रद्वारा 'भूतः' अर्थ में ठञ् प्रत्यय ला

---

१. **स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यनुवर्त्तन्ते** (स्वार्थिकप्रत्ययान्त शब्द अपनी प्रकृति के लिङ्ग और वचनों का अनुसरण किया करते हैं) इस वचन के अनुसार 'विद्वत्कल्पः' आदि में प्रकृति (विद्वस्) के समान लिङ्ग और वचन हो जाते हैं। परन्तु कहीं कहीं इस नियम का उल्लङ्घन भी देखा जाता है। यथा—गुडकल्पा द्राक्षा, शर्कराकल्पो गुडः, तैलकल्पा प्रसन्ना (सुरा)। इन में प्रकृति का लिङ्ग न हो कर अभिधेयवत् लिङ्ग हुआ है। अत एव कहा भी है—**क्वचित् स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्त्तन्ते।**

२. यहां **कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे** (२.३.५) सूत्र से द्वितीयाविभक्ति का प्रयोग हुआ है।

३. **तमधीष्टो भृतो भूतो भावी** (५.१.७९)। अर्थः—द्वितीयान्त कालवाची प्रातिपदिक से अधीष्ट (सत्कारपूर्वक प्रेरित), भृत (वेतन से खरीदा हुआ), भूत (हो चुका हुआ), भावी (होने वाला)—इन चार अर्थों में तद्धितसञ्ज्ञक ठञ् प्रत्यय हो जाता है। यथा—मासमधीष्टः—मासिकोऽध्यापकः। मासं भृतः—मासिकः कर्मकरः। मासं भूतः—मासिको व्याधिः। मासं भावी—मासिक उत्सवः। इन उदाहरणों में कालवाचक मासशब्द से **कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे** (२.३.५) द्वारा द्वितीया विभक्ति हुई है।

कर उस का **चित्तवति नित्यम्** (५.१.८८)[1] से लुक् हो जाता है—पञ्चवर्षः (पूरे पाञ्च वर्ष की वयः वाला)। अब ईषदूनः पञ्चवर्षः—पञ्चवर्षकल्पः, पञ्चवर्षदेश्यः इत्यादि प्रकृत सूत्रद्वारा सिद्ध हो जाते हैं। देवदत्तः पञ्चवर्षकल्पो न तु पञ्चवर्षः, देवदत्त लगभग पाञ्च वर्ष का है पूरे पाञ्च वर्ष का नहीं।

कल्पप् आदि प्रत्ययों के कुछ साहित्यगत प्रयोग यथा—

[क] **स पुण्यकीर्तिः शतमन्युकल्पो महेन्द्रलोकप्रतिमां समृद्ध्या।**
अध्यास्त सर्वर्त्तुसुखामयोध्यामध्यासितां ब्रह्मभिरिद्धबोधैः॥
(भट्टि० १.५)

[ख] **तं राजवीथ्यामधिहस्ति यान्तमाधोरणालम्बितमग्र्यवेशम्।**
षड्वर्षदेशीयमपि प्रभुत्वात् प्रैक्षन्त पौराः पितृगौरवेण॥
(रघु० १८.३९)

[ग] **ऐक्षेतामाश्रमादाराद् गिरिकल्पं पतत्रिणम्।**
तं सीताघातिनं मत्वा हन्तुं रामोऽभ्यधावत॥
(भट्टि० ६.४१)

[घ] **वनानि तोयानि च नेत्रकल्पैः पुष्पैस्सरोजैश्च विलीनभृङ्गैः।**
परस्परं विस्मयवन्तिलक्ष्मीमालोकयाञ्चक्रुरिवादरेण॥
(भट्टि० २.५)

[ङ] **शरीरसादादसमग्रभूषणा मुखेन साऽलक्ष्यत लोध्रपाण्डुना।**
तनुप्रकाशेन विचेयतारका प्रभातकल्पा शशिनेव शर्वरी॥
(रघु० ३.२)

अब इसी अर्थ में सुँबन्त प्रकृति से पूर्व बहुच् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**१२३१**)

विभाषा सुँपो बहुच् पुरस्तात्तु।५।३।६८॥

ईषदसमाप्तिविशिष्टेऽर्थे सुँबन्ताद् बहुज्वा स्यात्, स च प्रागेव न तु परतः। ईषदूनः पटुः—बहुपटुः। पटुकल्पः। सुँपः किम्? यजतिकल्पम्॥

अर्थः—कुछ न्यूनताविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान सुँबन्त से विकल्प कर के बहुच् तद्धितप्रत्यय हो, परन्तु वह प्रत्यय प्रकृति से परे न हो कर उस से पूर्व में ही हो।

व्याख्या—विभाषा।१।१। सुँपः।५।१।[2] बहुच्।१।१। पुरस्तात् इत्यव्ययपदम्।

---

१. **चित्तवति नित्यम्** (५.१.८८)। अर्थः—वर्षशब्दान्त द्विगु से अधीष्ट आदि अर्थों में हुए तद्धितप्रत्यय का नित्य लुक् हो, यदि चेतन अभिधेय हो तो।

२. हरदत्त, दीक्षित, नागेशभट्ट आदि अनेक प्रमुख वैयाकरण 'सुँपः' को पञ्चम्यन्त न मान कर षष्ठ्यन्त ही मानते हैं। उनके अनुसार 'पुरस्तात्' के योग में **षष्ठ्यतसर्थप्रत्ययेन** (२.३.३०) सूत्रद्वारा इस में षष्ठी हुई है। विस्तार के लिये इस स्थल पर तत्त्वबोधिनी आदि का अवलोकन करें।

तु इत्यप्यव्ययपदम् । ईषदसमाप्तौ ।७।१। (ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः सूत्र से)। प्रत्ययः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(ईषदसमाप्तौ) कुछ न्यूनत्वविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान (सुँपः) सुँबन्त से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (बहुच्) बहुच् प्रत्यय (विभाषा) विकल्प से हो जाता है, परन्तु यह प्रत्यय (पुरस्तात्) सुँबन्त से पूर्व (तु) ही प्रयुक्त होता है।

अष्टाध्यायी में समस्त प्रत्यय **प्रत्ययः** (३.१.१), **परश्च** (३.१.२) अधिकारों के कारण प्रकृति से परे ही विधान किये जाते हैं, परन्तु प्रकृत बहुच् प्रत्यय ही अकेला एक ऐसा प्रत्यय है जो प्रकृति से पहले जोड़ा जाता है।

बहुच्प्रत्यय का अन्त्य चकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'बहु' मात्र अवशिष्ट रहता है। चकार अनुबन्ध अन्तोदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है।

उदाहरण यथा—

ईषदूनः पटुः—बहुपटुः (कुछ कम चतुर, चतुरसदृश)। यहां ईषदसमाप्तिविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'पटु सुँ' इस सुँबन्त से **विभाषा सुँपो बहुच् पुरस्तात्तु** (१२३१) इस प्रकृत सूत्र से विकल्प कर बहुच् प्रत्यय प्रकृति से पूर्व में रखने पर—बहु पटु सुँ। अब **अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्** (११६) से समग्र समुदाय की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर[1] **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) द्वारा प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (सुँ) का लुक् करने से—बहुपटु। अब प्रातिपदिकत्वात् विभक्त्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में 'बहुपटुः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। जिस पक्ष में बहुच् प्रत्यय नहीं होता वहां **ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः** (१२३०) इस पूर्वसूत्र से कल्पप् आदि प्रत्यय हो कर 'पटुकल्पः, पटुदेश्यः, पटुदेशीयः' ये प्रयोग भी उपपन्न हो जाते हैं।[2]

---

१. ध्यान रहे कि तद्धितसञ्ज्ञक बहुच् प्रत्यय प्रकृति के आदि में किया जाता है, इस से 'बहुपटु सुँ' यह तद्धितान्त नहीं होता। तद्धितान्त न होने से **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) द्वारा इस की प्रातिपदिकसंज्ञा हो नहीं सकती। इसलिये **अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्** (११६) सूत्र से ही प्रातिपदिकसञ्ज्ञा की जा रही है। इस सूत्र में भी यद्यपि प्रत्ययान्त की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा करने का निषेध कहा गया है तथापि यहां अन्त में स्थित सुँप्रत्यय पटु से विधान किया गया है बहुपटु से नहीं, इस तरह वह प्रत्यय समुदाय का नहीं माना जा सकता। अतः प्रत्ययान्त न होने से इस की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा निर्बाध हो जाती है। विशेष जिज्ञासु यहां पर बालमनोरमाटीका का अवलोकन करें।

२. **क्वचित् स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्ते**। (प०)—स्वार्थिक प्रत्यय यद्यपि कहीं कहीं प्रकृति के लिङ्गवचनों का अतिक्रमण भी कर लिया करते हैं तथापि यह बात बहुच्प्रत्यय से जुड़े शब्दों पर लागू नहीं होती। बहुच् करने पर प्रकृति के लिङ्गवचनों का ही सदा अनुसरण करना चाहिये ऐसा भाष्यकार का मन्तव्य है। अत एव कहा भी है—

स्यादीषदसमाप्तौ तु बहुच् प्रकृतिलिङ्गता।

अज्ञात क, अकँच्

इस सूत्र में 'सुँपः' इसलिये कहा है कि यह प्रत्यय तिङन्त से न हो कर केवल सुँबन्त से ही हो। यद्यपि ङ्याप्प्रातिपदिकात् (११९) अधिकार के कारण यह प्रत्यय स्वतः ही सुँबन्त से सिद्ध था तथापि पीछे से 'तिङः' का अनुवर्त्तन चले आने और आगे भी चले जाने से कहीं यह भी तिङन्त से न हो जाये इसलिए सूत्र में 'सुँपः' का पुनः ग्रहण किया गया है। अतः यह प्रत्यय 'यजति' आदि तिङन्तों से कभी नहीं होता, वहां **तिङश्च** (१२१९) सूत्र से कल्पप् आदि तीन प्रत्यय ही होते हैं—यजतिकल्पम्, यजतिदेश्यम्, यजतिदेशीयम्।

बहुच्प्रत्यय के कुछ साहित्यगत प्रयोग यथा—

(१) **स्वयं प्रणमतेऽल्पेऽपि परवायावुपेयुषि।**
निदर्शनमसाराणां लघुर्बहुतृणं नरः॥ (माघ० २.५०)

(२) **कीर्णा रेजे साजिभूमिस्समन्तादप्राणद्भिः प्राणभाजां प्रतीकैः।**
बह्वारब्धैरर्धसंयोजितैर्वा रूपैः स्रष्टुः सृष्टिकर्मान्तशाला॥
(माघ० १८.७९)

अब 'क' प्रत्यय का अधिकार चलाते हैं—

[लघु०] अधिकारसूत्रम्—**(१२३२) प्रागिवात् कः।५।३।७०॥**

इवे प्रतिकृतौ (५.३.९६) इत्यतः प्राक् काधिकारः॥

अर्थः—अष्टाध्यायी में इस सूत्र से ले कर **इवे प्रतिकृतौ** (५.३.९६) सूत्र से पूर्व 'क' प्रत्यय अधिकृत किया जाता है।

व्याख्या—प्राक् इत्यव्ययपदम्। इवात् ।५।१। कः ।१।१। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। 'इवात्' से यहां **इवे प्रतिकृतौ** (१२३८) सूत्र की ओर संकेत किया गया है। अर्थः—यहां से ले कर (इवात्) **इवे प्रतिकृतौ** सूत्र से (प्राक्) पहले (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (कः) 'क' प्रत्यय अधिकृत किया जाता है।

यह अधिकारसूत्र है। यहां से ले कर अष्टाध्यायी में आगे आने वाले **इवे प्रतिकृतौ** (५.३.९६) सूत्र से पूर्व तक जो जो सूत्र कहे जायेंगे उन में 'क' प्रत्यय का विधान समझा जायेगा। यथा—**अज्ञाते** (१२३४), अज्ञातत्वविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से 'क' प्रत्यय हो। अज्ञातोऽश्वः—अश्वकः, गर्दभकः, उष्ट्रकः। इसीप्रकार अन्य सूत्रों में भी 'क' प्रत्यय का अधिकार समझा जायेगा।

अब इस काधिकार के अपवाद एक अन्य अधिकार का अवतरण करते हैं—

[लघु०] अधिकार-सूत्रम्—**(१२३३)**

अव्ययसर्वनाम्नामकँच् प्राक्टेः।५।३।७१॥

कापवादः। तिङश्चेत्यनुवर्त्तते॥

अर्थः—यहां से ले कर **इवे प्रतिकृतौ** (५.३.९६) से पूर्व के सूत्रों में अव्ययों, सर्वनामों तथा तिङन्तों की टि से पूर्व **तद्धितसञ्ज्ञक अकँच्** प्रत्यय हो (क प्रत्यय नहीं)।

यह सूत्र पूर्वोक्त 'क' प्रत्यय का अपवाद है। यहां **तिङश्च** सूत्र का भी पीछे से अनुवर्त्तन होता है।

व्याख्या—अव्ययसर्वनाम्नाम् ।६।३। अकँच् ।१।१। प्राक् इत्यव्ययपदम्। टे: ।५।१। **प्रागिवात्कः** से 'प्रागिवात्' का तथा **तिङश्च** (१२१६) इस पूरे सूत्र का पीछे से अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अव्ययानि च सर्वनामानि च अव्ययसर्वनामानि, तेषाम्=अव्ययसर्वनाम्नाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(प्राग् इवात्) यहां से ले कर **इवे प्रतिकृतौ** सूत्र से पूर्व के सूत्रों में (अव्ययसर्वनाम्नाम्) अव्ययों, सर्वनामों तथा (तिङः=तिङन्तानां च) तिङन्त शब्दों की (टेः) टि[1] से (प्राक्) पूर्व (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अकँच्) अकँच् प्रत्यय हो जाता है।

पूर्वोक्त अधिकार (१२३२) के द्वारा **इवे प्रतिकृतौ** (५.३.९६) सूत्र से पूर्व 'क' प्रत्यय अधिकृत किया गया था उस का यह अकँच् प्रत्यय अपवाद है। क और अकँच् प्रत्ययों में स्वरूप का तो अन्तर है ही परन्तु इस के अतिरिक्त दोनों में अन्य भी दो बड़े अन्तर हैं। तथाहि—

(१) 'क' प्रत्यय प्रकृति से परे होता है परन्तु अकँच् प्रत्यय अव्यय आदि की टि से पूर्व।

(२) 'क' प्रत्यय तिङन्तों से नहीं होता किन्तु अकँच् प्रत्यय तिङन्तों से भी हो जाता है।

अकँच् प्रत्यय में अन्त्य चकार तथा उस से पूर्व वाला अकार इत्सञ्ज्ञक है, अतः इन का लोप हो कर 'अक्' मात्र शेष रहता है। चकार अनुबन्ध **चितः** (६.१.१५७) सूत्रद्वारा अन्तोदात्तस्वर के लिये तथा अकार उच्चारणार्थ जोड़ा गया है।

इस सूत्र में 'सुँपः' और 'प्रातिपदिकात्' दोनों का अनुवर्त्तन होता है।[2] अतः यह प्रत्यय प्रयोगानुसार कहीं तो सुँबन्त की टि से पूर्व और कहीं प्रातिपदिक की टि से पूर्व होता है। युष्मद् और अस्मद् शब्दों को छोड़ सर्वत्र यह प्रातिपदिक की टि से पूर्व ही होता है। युष्मद्-अस्मद् शब्दों में यह उभयविध देखा जाता है। इस की व्यवस्था अग्रिमसूत्रस्थ वार्त्तिक (वा० ९४) द्वारा करेंगे।

उदाहरणप्रदर्शन से पूर्व अब इस प्रकरण में अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१२३४) अज्ञाते ।५।३।७३॥**

(अज्ञातविशिष्टार्थात् प्रातिपदिकात् तथैव च तिङन्तात् स्वार्थे यथाविहितं प्रत्ययः स्यात्)। कस्यायमश्वोऽश्वकः। उच्चकैः। नीचकैः। सर्वके॥

---

१. **अचोऽन्त्यादि टि** (३९)। किसी शब्द के अन्त्य अच् से ले कर अग्रिम सारा भाग 'टि' कहाता है। यथा—युष्मद्, अस्मद् शब्दों में 'अद्' टि है, पचति में 'इ' मात्र टि है, इसी प्रकार सर्व में 'अ' टि है।

२. 'सुँपः' का अनुवर्त्तन **विभाषा सुँपो बहुच् पुरस्तात्तु** (१२३१) सूत्र से होता है और 'प्रातिपदिकात्' तो **ङ्याप्प्रातिपदिकात्** (११९) द्वारा अधिकृत है ही।

अर्थः—अज्ञातत्वविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से अथवा तिङन्त से यथाप्राप्त (क और अकँच्) प्रत्यय हों।

व्याख्या—अज्ञाते ।७।१। कः ।१।१। अकँच् ।१।१। (दोनों पूर्वसूत्रों से अधिकृत हैं)। **तिङश्च** (१२१६) सूत्र से 'तिङः' का अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्ववत् अधिकृत हैं। अर्थः—(अज्ञाते) अज्ञातत्व-विशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिकों एवं तिङन्तों से यथाविहित (कः, अकँच्) 'क' अथवा 'अकँच्' ये (तद्धितौ) तद्धित प्रत्यय हो जाते हैं। उदाहरण यथा—

कस्यायम्[1] अश्वः—अश्वकः (जिस का स्वामी विदित नहीं ऐसा घोड़ा)। यहां अज्ञातत्वविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'अश्व सुँ' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से **प्रागिवात् कः** (१२३२) के अधिकार में **अज्ञाते** (१२३४) सूत्रद्वारा तद्धितसञ्ज्ञक 'क' प्रत्यय हो कर तद्धितान्तत्वेन प्रातिपदिकसंज्ञा के कारण **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से उस के अवयव सुँप् (सुँ) का लुक् हो जाता है—अश्व + क = अश्वक। अब विभक्ति लाने से 'अश्वकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—अज्ञातो गर्दभः—गर्दभकः। अज्ञात उष्ट्रः—उष्ट्रकः। इत्यादि।

अव्ययों से अज्ञात अर्थ में अकँच् यथा—

अज्ञातमुच्चैः—उच्चकैः (अज्ञात ऊँचा)। 'उच्चैस्' शब्द स्वरादिगण में पाठ के कारण **स्वरादिनिपातमव्ययम्** (३६७) से अव्ययसंज्ञक है। अज्ञातत्वविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान इस से काधिकार के अपवाद **अव्ययसर्वनाम्नामकँच् प्राक् टेः** (१२३३) के अधिकार में **अज्ञाते** (१२३४) सूत्रद्वारा टि (ऐस्) से पूर्व अकँच् प्रत्यय हो जाता है—उच्च् + अकँच् + ऐस् = उच्च् + अक् + ऐस् = उच्चकैस्। अब इस से आगे लाये गये 'सुँ' का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हो कर पदान्त सकार को रुँत्व तथा रेफ को विसर्ग आदेश (९२) करने पर 'उच्चकैः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—अज्ञातं नीचैः—नीचकैः। अज्ञातं शनैः—शनकैः। इत्यादि।

सर्वनामों से अज्ञात अर्थ में अकँच् यथा—

अज्ञाताः सर्वे—सर्वके (अज्ञात सब)। यहां 'सर्व जस्' इस प्रथमान्त सर्वनाम से **अज्ञाते** (१२३४) के अर्थ में **अव्ययसर्वनाम्नामकँच् प्राक्टेः** (१२३३) सूत्रद्वारा टि (अ) से पूर्व अकँच् प्रत्यय हो कर **अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्** (११६) से प्राति-पदिकसञ्ज्ञा तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) द्वारा सुँप् (सुँ) का लुक् हो जाता है—सर्व् + अकँच् + अ = सर्व् + अक् + अ = सर्वक। अब प्रथमा के बहुवचन में जस् प्रत्यय

१. अश्व की अज्ञातता को प्रकट करने के लिये 'कस्यायम्' शब्दावली का प्रयोग किया गया है। इस का वस्तुतः विग्रह 'अज्ञातोऽश्वः—अश्वकः' इस प्रकार करना चाहिये। स्वरूपेण ज्ञात पदार्थ में जब सम्बन्धविशेष आदि की अज्ञातता रहती है तब इस प्रत्यय का प्रयोग होता है। जैसाकि काशिकाकार ने कहा है— **स्वेन रूपेण ज्ञाते पदार्थे विशेषरूपेणाज्ञाते प्रत्ययविधानमेतत्।**

ला कर उसे **जसः शी** (१५२) से शी सर्वादेश, शकार अनुबन्ध का लोप तथा **आद् गुणः** (२७) से गुण एकादेश करने से 'सर्वके' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसी प्रकार—विश्वके। उभकौ। इत्यादि।

युष्मद् और अस्मद् सर्वनामों की टि से पूर्व अकँच् करना हो तो निम्नप्रकारेण व्यवस्था समझनी चाहिये।

[लघु०] वा०—(६४) ओकार-सकार-भकारादौ सुँपि सर्वनाम्नष्टेः प्रागकँच्, अन्यत्र सुँबन्तस्य ॥

युष्मकाभिः। युवकयोः। त्वयका॥

अर्थः—ओकारादि, सकारादि और भकारादि सुँब्विभक्ति के परे रहते मूल सर्वनामशब्द की टि से पूर्व अकँच् प्रत्यय होता है परन्तु अन्य सुँब्विभक्तियों में सुँबन्त सर्वनाम की ही टि से पूर्व अकँच् होता है।[1]

व्याख्या—यह वार्त्तिक महाभाष्य के अनुसार ऊहित किया गया है, साक्षात् महाभाष्य में पढ़ा नहीं गया। यहां सर्वनाम से केवल युष्मद्-अस्मद् शब्दों का ही ग्रहण अभीष्ट है अन्य सर्वनामों का नहीं, कारण कि महाभाष्य में इन दोनों के ही यहां उदाहरण दिये गये है।[2]

ओकारादि सकारादि और भकारादि सुँब्विभक्तियां ओस्, सुप्, भ्याम्, भिस् और भ्यस् ही हैं। इन के परे रहते मूल युष्मद्-अस्मद् शब्द की टि से पूर्व अकँच् होगा। अन्य विभक्तियों के विषय में विभक्त्यन्त युष्मद्-अस्मद् की टि से पूर्व अकँच् किया जायेगा।

भकारादि सुँब्विभक्ति में उदाहरण यथा—

अज्ञातैर्युष्माभिः—युष्मकाभिः (अज्ञात तुम सब से)। यहां अज्ञातत्वविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान युष्मद्शब्द से भिस् विभक्ति लाई गई है—युष्मद् + भिस्। अब यहां **अव्ययसर्वनाम्नामकँच् प्राक् टेः** (१२३३) से अकँच् प्रत्यय करना है। **ओकार-सकार-भकारादौ सुँपि सर्वनाम्नष्टेः प्रागकँच् अन्यत्र सुँबन्तस्य** (वा० ६४) इस प्रकृत वार्त्तिक से भकारादि विभक्ति के परे रहते शुद्ध सर्वनाम की टि से पूर्व अकँच् किया जायेगा—युष्म् अकँच् अद् + भिस् = युष्म् अक् अद् + भिस् = युष्मकद् + भिस्। पुनः **युष्मदस्मदोरनादेशे** (३२१) सूत्र से दकार को आकार तथा **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ करने पर—युष्मकाभिस् = 'युष्मकाभिः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार 'अस्म-

---

१. इसे प्रक्रियासर्वस्व में इस तरह श्लोकबद्ध किया गया है—

साद्योदादिभकारादिसुप्सु स्यात् प्रकृतेरकच्।
अन्यत्र तु सुबन्तस्येत्याहुर्भोजहरादयः॥

२. इदं वाक्यं युष्मदस्मच्छब्दमात्रविषयम्, भाष्ये तथैवोदाहरणात्। अन्येषां तु सर्वनाम्नां प्रातिपदिकटेरेव प्राग् अकँच् इति लघुशब्देन्दुशेखरे नागेशः।

काभिः' की सिद्धि जाननी चाहिये ।[1]

ओकारादि सुँब्विभक्ति में उदाहरण यथा—

अज्ञातयोर्युवयोः—युवकयोः (अज्ञात तुम दो का या अज्ञात तुम दो में)। यहां अज्ञातत्वविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान युष्मद् शब्द से षष्ठी या सप्तमी का द्विवचन 'ओस्' प्रत्यय लाया गया है—युष्मद्+ओस् । अब **अव्ययसर्वनाम्नामकँच् प्राक् टेः** (१२३३) से अकँच् प्रत्यय करना है। **ओकार-सकार-भकारादौ सुँपि सर्वनाम्नष्टेः प्रागकँच्, अन्यत्र सुँबन्तस्य** (वा० ९४) इस वार्त्तिक से ओकारादि सुँप् विभक्ति के परे रहते शुद्ध सर्वनाम की टि से पूर्व अकँच् किया जायेगा—युष्म् अकँच् अद्+ओस् । =युष्म् अक् अद्+ओस्=युष्मकद्+ओस् । पुनः **युवावौ द्विवचने** (३१४) से मपर्यन्त भाग को 'युव' आदेश, **अतो गुणे** (२७४) से पररूप तथा **योऽचि** (३२०) द्वारा दकार को यकार आदेश हो कर—युवकय्+ओस्='युवकयोः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसी-प्रकार—अज्ञातयोरावयोः—'आवकयोः' की सिद्धि समझनी चाहिये ।[2]

सकारादि सुँब्विभक्ति में उदाहरण यथा—

अज्ञातेषु युष्मासु—युष्मकासु (अज्ञात तुम सब में)। यहां अज्ञातत्वविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान युष्मद् शब्द से सप्तमी का बहुवचन सुप्प्रत्यय लाया गया है—युष्मद्+सुप्=युष्मद्+सु । अब **अव्ययसर्वनाम्नामकँच् प्राक्टेः** (१२३३) से अकँच् प्रत्यय करना है। **ओकारसकारभकारादौ०** (वा० ९४) इस वार्त्तिक से सकारादि सुप् प्रत्यय के परे रहते शुद्ध सर्वनाम की टि (अद्) से पूर्व अकँच् किया जायेगा—युष्म् अकँच् अद्+सु=युष्म् अक् अद्+सु=युष्मकद्+सु । पुनः **युष्मदस्मदोरनादेशे** (३२१) से दकार को आकार कर सवर्णदीर्घ (४२) करने से 'युष्मकासु' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार—अज्ञातेष्वस्मासु—'अस्मकासु' की सिद्धि समझनी चाहिये ।[3]

उपर्युक्त सुँब्विभक्तियों से भिन्न अन्य सुँब्विभक्तियों में सुँबन्त युष्मद्-अस्मद् की टि से पूर्व ही अकँच् होगा। यथा—अज्ञातेन त्वया—त्वयका, अज्ञातेन मया—मयका । यहां 'त्वया, मया' इन सुँबन्तों की टि (आ) से पूर्व अकँच् हो गया है—त्वय् अकँच् आ=त्वय् अक् आ=त्वयका । मय् अकँच् आ=मय् अक् आ=मयका ।

अब यहां विद्यार्थियों के सुखबोधार्थ अकँच्प्रत्यययुक्त युष्मद्-अस्मद् शब्दों की समग्र रूपमाला कोष्ठकों में दी जा रही है—

---

१. ध्यान रहे कि यदि सुँबन्त की टि से पूर्व अकँच् किया जाता तो 'युष्माभकिः, अस्माभकिः' ऐसे अनिष्ट रूप बनते। अतः इन से बचने के लिये उपर्युक्त वार्त्तिक की रचना की गई है।

२. यदि यहां सुँबन्त की टि से पूर्व अकँच् किया जाता तो 'युवयकोः, आवयकोः' ऐसे अनिष्ट रूप बन जाते। अतः इन से बचने के लिये वार्त्तिक बनाया गया है।

३. यदि यहां सुँबन्त युष्मद्-अस्मद् की टि से पूर्व अकँच् किया जाता तो 'युष्मासकु, अस्मासकु' ऐसे अनिष्ट रूप बन जाते। अतः इन से बचने के लिये वार्त्तिक बनाया गया है।

कुत्सिते

युष्मद्

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	त्वम् (त्वकम्)	युवाम् (युवकाम्)	यूयम् (यूयकम्)
द्वि०	त्वाम् (त्वकाम्)	युवाम् (युवकाम्)	युष्मान् (युष्मकान्)
तृ०	त्वया (त्वयका)	युवाभ्याम् (युवकाभ्याम्)†	युष्माभिः (युष्मकाभिः)†
च०	तुभ्यम् (तुभ्यकम्)	युवाभ्याम् (युवकाभ्याम्)†	युष्मभ्यम् (युष्मकभ्यम्)†
प०	त्वत् (त्वकत्)	युवाभ्याम् (युवकाभ्याम्)†	युष्मत् (युष्मकत्)
ष०	तव (तवक)	युवयोः (युवकयोः)†	युष्माकम् (युष्माककम्)
स०	त्वयि (त्वयकि)	युवयोः (युवकयोः)†	युष्मासु (युष्मकासु)†

अस्मद्

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
प्र०	अहम् (अहकम्)	आवाम् (आवकाम्)	वयम् (वयकम्)
द्वि०	माम् (मकाम्)	आवाम् (आवकाम्)	अस्मान् (अस्मकान्)
तृ०	मया (मयका)	आवाभ्याम् (आवकाभ्याम्)†	अस्माभिः (अस्मकाभिः)†
च०	मह्यम् (मह्यकम्)	आवाभ्याम् (आवकाभ्याम्)†	अस्मभ्यम् (अस्मकभ्यम्)†
प०	मत् (मकत्)	आवाभ्याम् (आवकाभ्याम्)†	अस्मत् (अस्मकत्)
ष०	मम (ममक)	आवयोः (आवकयोः)†	अस्माकम् (अस्माककम्)
स०	मयि (मयकि)	आवयोः (आवकयोः)†	अस्मासु (अस्मकासु)†

†यहां प्रातिपदिक की टि से पूर्व अकँच् होता है, अन्यत्र सुँबन्त की टि से पूर्व।

अव्ययसर्वनाम्नामकँच् प्राक् टेः (१२३३) सूत्र में 'तिङः' की भी अनुवृत्ति आती है, अतः अज्ञात आदि अर्थों में तिङन्त की टि से पूर्व भी अकँच् हो जाता है। यथा—'पचति' इस तिङन्त की टि (इ) से पूर्व अकँच् प्रत्यय करने पर—पचत् अकँच् इ=पचत् अक् इ='पचतकि' (अज्ञात पकाता है) प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार—जल्पतकि आदि।

अब इस प्रकरण में एक अन्य अर्थ का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(**१२३५**) **कुत्सिते** ।५।३।७४॥

कुत्साविशिष्टार्थात् प्रातिपदिकात् तिङन्ताच्च स्वार्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति। कुत्सितोऽश्वः—अश्वकः॥

अर्थः—निन्दाविशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से या तिङन्त से स्वार्थ में यथाविहित (क और अकँच्) तद्धितप्रत्यय हो।

व्याख्या—कुत्सिते ।७।१। कः ।१।१। अकँच् ।१।१। (दोनों अधिकृत हैं)। **तिङश्च** (१२१९) सूत्र से 'तिङः' पद का अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि भी पूर्ववत् अधिकृत हैं। अर्थः—(कुत्सिते) निन्दाविशिष्ट

अर्थ में वर्त्तमान (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से तथा (तिङः = तिङन्तात्) तिङन्त से स्वार्थ में यथाविहित (कः, अकँच्) क और अकँच् ये (तद्धितौ) तद्धितप्रत्यय हो जाते हैं। उदाहरण यथा —

कुत्सितोऽश्वः—अश्वकः (निन्दित घोड़ा)[1]। यहां कुत्सा अर्थात् निन्दा-विशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'अश्व सुँ' से **प्रागिवात् कः** (१२३२) के अधिकार में **कुत्सिते** (१२३५) इस प्रकृतसूत्रद्वारा 'क' प्रत्यय हो कर तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से अन्तर्वर्त्ती सुँप् (सुँ) का लुक् हो जाता है—अश्व + क = अश्वक। अब विभक्ति लाने से 'अश्वकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—कुत्सितो गर्दभः—गर्दभकः। कुत्सित उष्ट्रः—उष्ट्रकः।

अव्ययों, सर्वनामों तथा तिङन्तों से कुत्सित अर्थ में **अव्ययसर्वनाम्नामकँच् प्राक्टेः** (१२३३) सूत्रद्वारा टि से पूर्व अकँच् हो कर पूर्वोक्तप्रकारेण सिद्धि होती है। यथा— कुत्सितमुच्चैः—उच्चकैः। कुत्सितं नीचैः—नीचकैः। कुत्सिताः सर्वे—सर्वके। कुत्सितैर्युष्माभिः—युष्मकाभिः। कुत्सितयोर्युवयोः—युवकयोः। कुत्सितेन त्वया—त्वयका। कुत्सितं पचति—पचतकि। कुत्सितं जल्पति—जल्पतकि। इत्यादि।

इसीप्रकरण में **अल्पे** (५.३.८५) और **ह्रस्वे** (५.३.८६) सूत्रोंद्वारा अल्पत्व-विशिष्ट और ह्रस्वत्वविशिष्ट अर्थों में वर्त्तमान शब्दों से भी यही (क और अकँच्) प्रत्यय होते हैं। यथा—अल्पं तैलम्—तैलकम्। अल्पं घृतम्—घृतकम्। अल्पं सर्वम्—सर्वकम्। अल्पमुच्चैः—उच्चकैः। अल्पं पचति—पचतकि। इसीप्रकार—ह्रस्वो वृक्षः—वृक्षकः। ह्रस्वः प्लक्षः—प्लक्षकः। ह्रस्वः स्तम्भः—स्तम्भकः। इत्यादि।

अब दो में से एक के निर्धारण में डतरच् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१२३६)**

किंयत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच् ।५।३।९२।।[2]

(द्वयोरेकस्य निर्धारणे गम्ये किम्, यद्, तद् इत्येतेभ्यो डतरच् तद्धित-प्रत्ययः स्यात्)। अनयोः कतरो वैष्णवः। यतरः। ततरः।।

अर्थः—दो में से एक का निर्धारण गम्य होने पर किम्, यद् और तद् इन निर्धार्यमाण सर्वनामों से स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक डतरच् प्रत्यय हो।

व्याख्या—किंयत्तदः ।५।१। निर्धारणे ।७।१। द्वयोः ।६।२। (निर्धारणे षष्ठी)[3]।

---

१. धावन (दौड़ने) आदि में अयोग्य वा असमर्थ होने के कारण घोड़े को कुत्सित कहा जाता है। इसी की अभिव्यक्ति यहां 'क' प्रत्यय से की जाती है।

२. अनेक स्थानों पर यह सूत्र **कियत्तदोर्निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच्** इस प्रकार अशुद्ध मुद्रित प्राप्त होता है।

३. **यतश्च निर्धारणम्** (२.३.४१) इति षष्ठी अत्र बोध्या।

एकस्य ।६।१। डतरच् ।१।१। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। किम् च यच्च तच्च कियत्तत्, तस्मात् = कियत्तदः, समाहारद्वन्द्वः। अर्थः—(द्वयोः) दो में से (एकस्य) एक के (निर्धारणे) निर्धारण के गम्य होने पर (कियत्तदः) किम्, यद् और तद् इन प्रातिपदिकों से (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (डतरच्) डतरच् प्रत्यय हो जाता है।

डतरच् में **चुटू** (१२९) द्वारा डकार एवं **हलन्त्यम्** (१) द्वारा चकार इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं, 'अतर' मात्र शेष रहता है। डकार अनुबन्ध **टेः** (२४२) सूत्रद्वारा टिलोप के लिये तथा चकार अनुबन्ध अन्तोदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है। यह सूत्र **अव्ययसर्वनाम्नामकँच् प्राक्टेः** (१२३३) द्वारा प्राप्त होने वाले अकँच् प्रत्यय का अपवाद है।

जब किसी समुदाय में से जाति, गुण, क्रिया या सञ्ज्ञा के द्वारा किसी एकदेश का पृथक् निर्देश किया जाता है तो उसे निर्धारण कहते हैं[1]। जब दो में से किसी एक के निर्धारण का विषय हो तो निर्धार्यमाणवाची किम्, यद् और तद् सर्वनामों से डतरच् (अतर) प्रत्यय लाया जाता है। यह इस सूत्र का तात्पर्य है। उदाहरण यथा—

अनयोः को वैष्णवः—अनयोः कतरो वैष्णवः (इन दो में से कौन सा विष्णु-भक्त है)। यहां दो में से गुणद्वारा एक का निर्धारण करना है अतः 'किम् + सुँ' इस निर्धार्यमाणवाची से प्रकृत **कियत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच्** (१२३६) सूत्र से तद्धितसञ्ज्ञक डतरच् प्रत्यय, अनुबन्धों का लोप एवं तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिक-सञ्ज्ञा के कारण **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (सुँ) का भी लुक् कर देने से—किम् + अतर। अब प्रत्यय के डित्त्व के कारण **टेः** (२४२) सूत्रद्वारा किम् की टि (इम्) का लोप कर—क् + अतर = कतर। विभक्ति लाने से 'कतरः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[2]। **समर्थानां प्रथमाद्वा** (९९७) से 'वा' का अधिकार आ रहा है। अतः

१. निर्धारण में समुदायवाचकशब्द से षष्ठी या सप्तमी विभक्ति होती है। यथा—(जातिद्वारा) नृणां नृषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः। यहां नृसमुदाय में से उस के एकदेश ब्राह्मणजाति का श्रेष्ठत्व प्रतिपादन किया गया है अतः समुदायवाचक नृशब्द से षष्ठी या सप्तमी का प्रयोग किया गया है। (गुणद्वारा) गवां गोषु वा कृष्णा बहु-क्षीरा। (क्रियाद्वारा) गच्छतां गच्छत्सु वा धावन् शीघ्रः। (सञ्ज्ञाद्वारा) छात्त्राणां छात्त्रेषु वा मैत्रः पटुः। इन सब का विवेचन पीछे विभक्त्यर्थपरिशिष्ट में **यतश्च निर्धारणम्** (४८) सूत्राङ्क पर किया जा चुका है।

२. कतरशब्द डतरप्रत्ययान्त होने से **सर्वादीनि सर्वनामानि** (१५१) द्वारा सर्वनाम-सञ्ज्ञक है। कतरः, कतरौ, कतरे। स्त्रीलिङ्ग में **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से टाप् हो कर 'कतरा' शब्द बनेगा। तब इस का उच्चारण सर्वाशब्दवत् होगा। नपुंसक-लिङ्ग में इस से परे सुँ और अम् को **अद्ड् डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः** (२४१) से अद्ड् आदेश हो कर टिलोप (२४२) हो जाता है—कतरत्, कतरे, कतराणि। इन सब का विवेचन इस व्याख्या के प्रथमभागस्थ सुँबन्तप्रकरण में विस्तार से किया जा चुका है।

महाविभाषा के कारण डतरच् के अभाव में किम्शब्द का भी प्रयोग हो सकता है—अनयोः को वैष्णवः ।

इसीप्रकार—अनयोर्योऽध्यापकः—अनयोर्यतरोऽध्यापकः (इन दो में जो अध्यापक) । अनयोः स देवदत्तः—अनयोस्ततरो देवदत्तः (इन दो में वह देवदत्त है) । यहां क्रमशः यद् और तद् शब्दों से डतरच्, अनुबन्धलोप, सुँब्लुक् तथा डित्त्वात् टिलोप कर विभक्ति लाने से उपर्युक्त प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं ।

यह प्रत्यय निर्धार्यमाण से ही लोक में प्रसिद्ध है अतः 'कयोरन्यतरो देवदत्तः, तयोरन्यतरोऽध्यापकः, ययोरन्यतरो मूर्खः' इत्यादियों में किम् आदियों से यह प्रत्यय नहीं होता । ध्यान रहे कि अन्यतर और अन्यतम शब्द अव्युत्पन्न प्रातिपदिक हैं यह पीछे सर्वादिगण की व्याख्या में स्पष्ट कर चुके हैं ।

अब बहुतों में से एक के निर्धारण में डतमच् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**१२३७**)

वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच् ।५।३।९३।।

बहूनां मध्ये एकस्य निर्धारणे डतमज्वा स्यात् । 'जातिप्रश्ने' इति प्रत्याख्यातमाकरे । कतमो भवतां कठः । यतमः । ततमः । वाग्रहणम् अकँज-र्थम्—यकः । सकः ।।

अर्थः—बहुतों में से किसी एक के निर्धारण के गम्य होने पर किम्, यद् और तद् इन निर्धार्यमाण प्रातिपदिकों से स्वार्थ में विकल्प कर डतमच् प्रत्यय हो । **जाति-परिप्रश्ने**—सूत्रगत 'जातिपरिप्रश्ने' अंश का आकर अर्थात् व्याकरणमहाभाष्य[1] में खण्डन किया गया है । सूत्र में 'वा' का ग्रहण, पक्ष में अकँच्प्रत्यय की प्रवृत्ति के लिये किया गया है ।

व्याख्या—वा इत्यव्ययपदम् । बहूनाम् ।६।३। (निर्धारणे षष्ठी) । जातिपरि-प्रश्ने ।७।१। डतमच् ।१।१। कियत्तदः ।५।१। (**कियत्तदो निर्धारणे०** सूत्र से) । पूर्वसूत्र से 'एकस्य निर्धारणे' इन पदों का भी अनुवर्त्तन होता है । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्राति-पदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । सूत्रगत 'जातिपरिप्रश्ने' इस अंश का महाभाष्य में खण्डन किया गया है अतः अर्थ करते समय इस अंश का उपयोग नहीं

---

१. आकरशब्द मुख्यतः खान (MINE) के अर्थ में सुप्रसिद्ध है—**खनिः स्त्रियामाकरः स्यादित्यमरः** । प्रयोग यथा—**दिलीपसूनुर्मणिराकरोद्भवः प्रयुक्तसंस्कार इवाधिकं बभौ** (रघु० ३.१८), **आकरे पद्मरागाणां जन्म काचमणेः कुतः ?** (हितोप० प्रस्तावना) । जिस से कोई वस्तु उत्पन्न हो उसे भी लाक्षणिकदृष्टचा उस वस्तु का 'आकर' कह दिया जाता है, यथा—रत्नाकरः (समुद्रः) । व्याकरण के समस्त सिद्धान्त व्यक्त या अव्यक्तरीत्या महाभाष्य से ही प्रसूत होते हैं अतः पातञ्जल महाभाष्य को व्याकरणशास्त्र का आकरग्रन्थ कहा जाता है ।

करना चाहिये—ऐसा कौमुदीकार का कथन है[1] । अर्थः—(बहूनाम् एकस्य निर्धारणे) बहुतों में से एक के निर्धारण के गम्य होने पर (किंयत्तदः) किम्, यद् और तद् सर्वनामों से स्वार्थ में (वा) विकल्प कर के (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (डतमच्) डतमच् प्रत्यय हो जाता है।

डतमच्प्रत्यय में भी डकार और चकार पूर्ववत् इत्सञ्ज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं, 'अतम' मात्र शेष रहता है । डकार अनुबन्ध का प्रयोजन **टेः** (२४२) सूत्रद्वारा टि का लोप करना तथा चकार अन्तोदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है।

यह प्रत्यय विकल्प से किया जाता है । अतः पक्ष में अकँच्प्रत्यय भी हो जाता है[2] । उदाहरण यथा—

को भवतां कठः[3]— कतमो भवतां कठः (आप लोगों में कौन वैदिककठशाखा का अध्येता है ?) । यहां बहुतों में से एक के निर्धारण का विषय है अतः निर्धार्यमाण 'किम् सुँ' से प्रकृत **वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्** (१२३७) सूत्रद्वारा विकल्प से डतमच् प्रत्यय, अनुबन्ध डकार और चकार का लोप, सुँब्लुक् तथा प्रत्यय के डित्त्व के

---

१. अभिप्राय यह है कि इस के द्वारा प्रतिपादित डतमच् प्रत्यय केवल जातिपरिप्रश्न में ही नहीं अपितु अन्यत्र भी देखा जाता है । अतः 'जातिपरिप्रश्ने' अंश को छोड़कर सामान्यतः ही इस सूत्र की प्रवृत्ति समझनी चाहिये । चाहे जातिपरिप्रश्न का विषय हो या न हो, बहुतों में से एक के निर्धारण में इस सूत्र की प्रवृत्ति हो जाती है ।

२. यदि यह कहा जाये कि यहां **समर्थानां प्रथमाद्वा** (९९७) इस सूत्रोक्त महाविभाषा के कारण 'वा' तो उपलब्ध था ही पुनः 'वा' का ग्रहण क्यों किया गया है ? तो इस का उत्तर यह है कि महाविभाषा वाला विकल्प उत्सर्ग और अपवाद प्रत्ययों के लिये नहीं हुआ करता, वह तो तद्धित के अभाव में वाक्यप्रयोग के लिये हुआ करता है । अतः यहां सूत्र में 'वा' के ग्रहण से प्रकृत डतमच्प्रत्यय के अभावपक्ष में उत्सर्ग अकँच्प्रत्यय भी हो जायेगा । हां ! महाविभाषा से वाक्य भी बना रहेगा जैसाकि उदाहरण के विग्रह में दर्शाया गया है ।

३. कठेन प्रोक्तमधीते इति कठः (कठऋषिप्रोक्त वेदशाखा को पढ़ने वाला) । यहां ऋषिवाचक 'कठ' शब्द से **तेन प्रोक्तम्** (११०८) के अर्थ में **कलापि-वैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च**(४.३.१०४) सूत्र से णिनिँप्रत्यय हो कर **कठचरकाल्लुक्** (४.३.१०७) से उस का लुक् हो जाता है । कठ अर्थात् कठऋषिप्रोक्तवेदशाखा। पुनः इसी कठशब्द से तदधीते के अर्थ में **तदधीते तद्वेद** (१०५३) द्वारा अण्प्रत्यय करने पर **प्रोक्ताल्लुक्** (४.२.६३) से उस का लुक् हो जाता है । अब 'कठ' शब्द का अथ हो गया—कठऋषिप्रोक्त वैदिकशाखाविशेष का अध्ययन करने वाला । **गोत्रं च चरणैः सह** (१२६९ सूत्र पर उद्धृत कारिका) के अनुसार 'कठ' यह जातिवाचक प्रातिपदिक है ।

कारण **टेः** (२४२) सूत्र से भसञ्ज्ञक टि (इम्) का भी लोप हो जाने से—क्+अतम =कतम । विभक्ति ला कर 'कतमः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । जिस पक्ष में डतमच् नहीं होगा वहां मूल किम्शब्द की टि से पूर्व **अव्ययसर्वनाम्नामकँच् प्राक् टेः** (१२३३) सूत्रद्वारा अकँच् प्रत्यय हो कर—क् अक् इम्=ककिम् । अब इस से परे सुँविभक्ति ला कर **किमः कः** (२७१) द्वारा अकँच्सहित किम् के स्थान पर 'क' आदेश हो कर[1] सकार को रुँत्व-विसर्ग करने से 'कः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[2]

इसीप्रकार—यो भवतां पटुः—यतमो भवतां पटुः (आप लोगों में जो चतुर) । स भवतां पटुः—ततमो भवतां पटुः (आप लोगों में वह चतुर) । यहां यद् और तद् सर्वनामों से पूर्ववत् डतमच् प्रत्यय हो कर डित्त्व के कारण भसञ्ज्ञक टि (अद्) का लोप करने से—य्+अतम=यतम=यतमः । त्+अतम=ततमः । डतमच्के अभावपक्ष में यद् और तद् की टि से पूर्व **अव्ययसर्वनाम्नामकँच् प्राक्टेः** (१२३३) से अकँच् प्रत्यय हो कर—य् अक् अद्=यकद्, त् अक् अद्=तकद् । अब सुँविभक्ति ला कर त्यदाद्यत्व (१९३) और पररूप (२७४) करने से 'यकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । 'तकद्+सुँ' में भी त्यदाद्यत्व और पररूप करने के बाद **तदोः सः सावनन्त्ययोः** (३१०) से तकार को सकार हो कर 'सकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[3] यको भवतां पटुः, सक

---

१. **किमः कः** (२७१) । अर्थः—विभक्ति परे रहते किम् के स्थान पर 'क' आदेश हो । इस सूत्र के महाभाष्य में अकँच्सहित किम् को भी 'क' आदेश करने का विधान किया गया है—**कादेशः खल्वप्यवश्यं साकच्कार्थो वक्तव्यः** (महाभाष्य ७.२.१०२) ।

२. अकँच् के करने का यहां यद्यपि कुछ भी फल दिखाई नहीं पड़ता, तथापि आगे यद् और तद् में इसे स्पष्ट देखा जा सकेगा ।

३. यहां पर एक शङ्का उत्पन्न हो सकती है कि तद्शब्द से डतर या डतम प्रत्ययों के करने पर 'ततरः, ततमः' में **तदोः सः सावनन्त्ययोः** (३१०) से तकार को सकार आदेश नहीं होता परन्तु तद्शब्द से अकँच् प्रत्यय करने पर 'सकः' में उस की प्रवृत्ति हो जाती है, इस प्रक्रियाभेद का क्या कारण है ? इस का समाधान यह है कि **तदोः सः०** (३१०) सूत्र में सुँ के परे रहते त्यदादियों के अनन्त्य तकार दकार को सकार आदेश करने का विधान किया गया है । डतर-डतम करने पर त्यदादि अर्थात् तद्शब्द ही नहीं रहता, डतर-डतमप्रत्ययान्त नया शब्द आ जाता है जिस का पाठ त्यदादियों में नहीं अतः यहां **तदोः सः०** (३१०) की प्रवृत्ति नहीं होती । परन्तु अकँच् प्रत्यय तद्शब्द की टि से पूर्व अर्थात् तद्शब्द के मध्य में होता है, अतः **तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते** (किसी शब्द के बीच यदि कोई आ जाये तो उस के ग्रहण से उस का भी ग्रहण हो जाता है) इस परिभाषाद्वारा उसे भी तद्शब्द ही माना जाता है । इस से यहां **तदोः सः०** (३१०) द्वारा सत्व करने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती ।

इहागच्छतु (जो आप में चतुर है वह यहां आये)। महाविभाषा के कारण उपर्युक्त वाक्य भी रहेगा।

यहां पर एक अन्य सूत्र का जानना भी छात्रों के लिये बहुत सरल तथा उपयोगी रहेगा —

एकाच्च प्राचाम् (५.३.९४)

अर्थः—'एक' शब्द से भी पूर्वोक्तसूत्रद्वय के विषय में क्रमशः डतरच् और डतमच् प्रत्यय विकल्प से हो जाते हैं। यथा—अनयोरेको देवदत्तः, अनयोरेकतरो देवदत्तः (इन दोनों में एक देवदत्त है)। एषामेको देवदत्तः—एषामेकतमो देवदत्तः (इन सब में एक देवदत्त है)।

अभ्यास [१५]

(१) निम्नस्थ सूत्रों की उदाहरण दर्शाते हुए व्याख्या करें—

१. ईषदसमाप्तौ०। २. बहोर्लोपो भू च बहोः। ३. अतिशायने तमबिष्ठनौ। ४. तिङश्च। ५. किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे। ६. ज्यादादीयसः। ७. प्रकृत्यैकाच्। ८. अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः। ९. इष्ठस्य यिट् च। १०. विन्मतोर्लुक्। ११. किंयत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच्। १२. वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्। १३. अज्ञाते। १४. कुत्सिते। १५. अजादी गुणवचनादेव।

(२) विग्रह दर्शाते हुए निम्नस्थ रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—

१. पचतकि। २. कतरः। ३. कतमः। ४. सकः। ५. युष्मकाभिः। ६. त्वयका। ७. बहुपटुः। ८. विद्वत्कल्पः। ९. त्वचीयान्। १०. भूयिष्ठः। ११. ज्यायान्। १२. श्रेष्ठः। १३. ज्येष्ठः। १४. श्रेयान्। १५. पचतितमाम्। १६. उच्चैस्तराम्। १७. लघुतमः। १८. लघिष्ठः। १९. आढ्यतमः। २०. किन्तमाम्। २१. अतितराम्। २२. एकतमः। २३. अश्वकः। २४. यकः।

(३) क्या पाणिनीयव्याकरण में ऐसा भी कोई प्रत्यय है जो प्रकृति से परे न हो कर उस से पूर्व में किया जाता हो ? यदि है तो उस का सप्रमाण सोदाहरण विवेचन करें।

(४) निम्नस्थ विग्रहों के तद्धितान्त रूप लिखिये—

१. कुत्सित उष्ट्रः।	७. अयमेषामतिशयेन वृद्धः।
२. अज्ञाताः सर्वे।	८. अयमनयोरतिशयेन बलवान्।
३. ईषदूनं जल्पति।	९. अयमनयोरतिशयेन पटुः।
४. अज्ञातमुच्चैः।	१०. अयमनयोरतिशयेन साधुः।
५. ह्रस्वो वृक्षः।	११. बहोर्भावः।
६. अल्पं तैलम्।	१२. अज्ञातो गर्दभः।

(५) अन्यतर और अन्यतम शब्द क्या डतर-डतमप्रत्ययान्त हैं ? विवेचन कीजिये।

(६) **द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुँनौ** सूत्र की व्याख्या करते हुए 'विभज्य' का अभिप्राय खोल कर अपने शब्दों में प्रस्तुत करें।

(७) अधोलिखित वचनों की व्याख्या करें।

[क] वाग्रहणमकँजर्थम्।

[ख] जातिपरिप्रश्ने इति प्रतिख्यातमाकरे।

[ग] ओकारसकारभकारादौ सुँपि सर्वनाम्नष्टेः प्रागकँच्, अन्यत्र सुँबन्तस्य।

[घ] द्रव्यप्रकर्षे तु उच्चैस्तमस्तरुः।

[ङ] सुँपः किम्? यजतिकल्पम्।

[च] स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यनुवर्त्तन्ते।

[छ] क्वचित्स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्त्तन्तेऽपि।

[ज] आतिशायनिकप्रत्ययान्ताद् आतिशायनिको न, अनभिधानात्।

[झ] यदा च प्रकर्षवतां पुनः प्रकर्षो विवक्ष्यते तदातिशायिकान्तादपर आतिशायनिकः प्रत्ययो भवत्येव।

[ञ] कादेशः खल्वप्यवश्यं साकच्कार्थो वक्तव्यः।

[ट] अबाधकान्यपि निपातनानि।

(८) ईयसुँन् और इष्ठन् प्रत्ययों के परे रहते किस अङ्ग को प्रकृतिभाव हो जाता है और इस से रूपसिद्धि पर क्या प्रभाव पड़ता है? सोदाहरण स्पष्ट करें।

(९) निम्नस्थ प्रयोगों का विग्रह दर्शाते हुए प्रकृति, प्रत्यय और अर्थ का विवेचन कीजिये—

१. यविष्ठः। २. बंहिष्ठः। ३. स्थेष्ठः। ४. क्रशीयान्। ५. प्रथीयान्। ६. भूमा। ७. म्रदिष्ठः। ८. द्रढीयान्। ९. क्षोदिष्ठः। १०. कनीयान्। ११. करिष्ठः। १२. तनीयान्।

(१०) अजादि आतिशायनिक प्रत्ययों के परे रहते किस किस प्रकृति के स्थान पर ये आदेश होते हैं—

ज्य। श्र। भू। वर्षि। त्रप्। द्राघि। स्थ। प्र।

(११) अजादि आतिशायनिक प्रत्ययों के परे रहते निम्नस्थ शब्दों के स्थान पर क्या क्या आदेश होते हैं—

वृन्दारक। गुरु। उरु। स्फिर। बहु। वृद्ध। बहुल। प्रिय।

(१२) ईयसुँन् और इष्ठन् प्रत्ययों के परे रहते निम्नस्थ शब्दों के रूप लिखें—

१. पृथु। २. मृदु। ३. भृश। ४. कृश। ५. दृढ। ६. परिवृढ। ७. दूर। ८. क्षुद्र। ९. ह्रस्व। १०. युवन्। ११. अल्प। १२. अन्तिक। १३. बाढ। १४. क्षिप्र। १५. स्थूल। १६. कर्तृ। १७. महत्।

(१३) पञ्चवर्षः और पञ्चवर्षकल्पः का अन्तर व्याकरणरीत्या स्पष्ट करें।

प्रतिकृतौ

कन्

(१४) सर्वनामों में अकँच् प्रत्यय कहां प्रकृति की टि से पूर्व और कहां सुँबन्त की टि से पूर्व होता है ? सोदाहरण विवेचन करें—

(१५) अकँच्प्रत्यययुक्त युष्मद्-अस्मद् शब्दों की सातों विभक्तियों में रूपमाला लिखें।

(१६) लघुकौमुदीस्थ प्रागिवीयप्रकरण के कोई से दस प्रत्यय ससूत्र निर्दिष्ट करें।

(१७) समुचित उत्तर दीजिये—

[क] भूयान् में **ओर्गुणः** द्वारा गुण क्यों नहीं होता ?

[ख] 'घ' किसे कहते हैं ? इस का उपयोग कहां होता है ?

[ग] इष्ठन् और ईयसुँन् प्रत्यय प्रत्येक शब्द से क्यों नहीं होते ?

[घ] आमुँ में उकार अनुबन्ध का क्या प्रयोजन है ?

[ङ] निर्धारण किसे कहते हैं ? जिस समुदाय से निर्धारण किया जाये उस में कौन सी विभक्ति होती है ?

(१८) टिप्पणी करें।

१. यिट् में अनुबन्धविषयक मतभेद। २. प्रागिवीय का नामकरण। ३. श्रेष्ठतमः का शुद्धाशुद्धत्व। ४. अतिशयन और अतिशायन।

(१९) **बहोर्लोपो भू च बहोः** सूत्र में 'भु' ही कह देते **अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः** से दीर्घ हो जाता ?

(२०) अकँच्युक्त किम्शब्द की पुं० में सातों विभक्तियों में रूपमाला लिखें।

(२१) बहुच्प्रत्यय करने पर शब्द तद्धितान्त नहीं होता तब **कृत्तद्धितसमासाश्च** द्वारा उस की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा कैसे हो सकती है ? विवेचन करें।

(२२) जैसे 'सकः' में सत्व की प्रवृत्ति होती है वैसे 'ततरः, ततमः' में क्यों नहीं होती ?

[लघु०] इति प्रागिवीयाः ॥

(यहां पर प्रागिवीयप्रत्ययों का विवेचन समाप्त होता है।)

—:o:—

अथ स्वार्थिकाः

अब कुछ अन्य स्वार्थिक तद्धितप्रत्ययों का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२३८) **इवे प्रतिकृतौ** ।५।३।९६॥

कन् स्यात्। अश्व इव प्रतिकृतिरश्वकः ॥

अर्थः—'इव' के अर्थ अर्थात् सादृश्य में वर्त्तमान प्रातिपदिक से परे स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक कन् प्रत्यय हो, यदि वह सदृश वस्तु प्रतिकृति (प्रतिमा, मूर्त्ति) हो तो।

व्याख्या—इवे ।७।१। प्रतिकृतौ ।७।१। कन् ।१।१। (**अवक्षेपणे कन्** सूत्र से)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्; तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(इवे) 'इव' के अर्थ में वर्त्तमान (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से परे (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (कन्) कन् प्रत्यय हो जाता है (प्रतिकृतौ) यदि वह सदृश वस्तु प्रतिकृति हो तो।

घास-फूस-चर्म-काष्ठादि से निर्मित प्रतिमा (मूर्त्ति) को 'प्रतिकृति' कहते हैं। ये प्रतिकृतियां जानवरों पक्षियों मनुष्यों या देवी-देवता आदियों की बनाई जाती हैं। इस प्रकार की वाच्यता में प्रकृतसूत्र की प्रवृत्ति होती है। 'इव' का अर्थ है सादृश्य या उपमानत्व। उस उपमानत्व में वर्त्तमान अश्व आदि प्रातिपदिकों से प्रतिकृति अर्थात् उपमेय के अभिधेय होने पर कन् प्रत्यय किया जाता है।[1] तात्पर्य यह है कि जिस वस्तु की प्रतिकृति (प्रतिमा) हो तद्वाचक शब्द से कन् प्रत्यय ला कर ऐसा शब्द निष्पन्न हो जाता है जो उस की प्रतिकृति का वाचक होता है। यथा—अश्व की प्रतिकृति कहनी अभीष्ट हो तो अश्वशब्द से कन् प्रत्यय ला कर नकार अनुबन्ध का लोप तथा तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण विभक्ति लाने से 'अश्वकः' (अश्व इव प्रतिकृतिः, घोड़े के समान प्रतिमा) प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[2] यहां तद्धितवृत्ति में अश्वशब्द 'अश्व इव प्रतिकृतिः' के अर्थ में लाक्षणिक है। कन्प्रत्यय के द्वारा यह अर्थ व्यक्त किया जाता है अतः प्रत्यय स्वार्थ में हुआ माना जाता है।

इसीप्रकार—

उष्ट्र इव प्रतिकृतिः—उष्ट्रकः (ऊँट की प्रतिमा)।

गर्दभ इव प्रतिकृतिः—गर्दभकः (गधे की प्रतिमा)।

प्रतिकृति अभिधेय न होने पर यह कन् नहीं होता। यथा—गौरिव गवयः (गौ के समान गवय होता है)। यहां इव का अर्थ सादृश्य या उपमानत्व तो है परन्तु प्रतिकृति अभिधेय नहीं अतः यह प्रत्यय नहीं हुआ।

विशेष वक्तव्य—यदि कोई प्रतिमा जीविका के अर्जन के लिये बनाई गई हो परन्तु प्रतिमा को बेचा न जा रहा हो तो ऐसी अवस्था में प्रकृतसूत्रद्वारा होने वाले कन् प्रत्यय का **जीविकार्थे चाऽपण्ये** (५.३.९९) सूत्र से लुप् हो जाता है।[3] जैसे कोई देवल (देवोपजीवी भिक्षुक) व्यक्ति राम, लक्ष्मण, सीता, शिव, वासुदेव आदि की मूर्त्ति को ले कर घर घर घूमता हुआ जीविका का अर्जन तो करता है परन्तु उन मूर्त्तियों को

---

१. ध्यान रहे कि अश्वकः (अश्व की प्रतिकृति) में अश्व उपमान है और उस की प्रतिकृति उपमेय। उपमीयतेऽनेनेत्युपमानम्। उपमातुं योग्यमुपमेयम्।

२. 'अश्वकः' विशेषण है। इस का विशेष्य है—प्रतिकृतिः। प्रतिकृतिशब्द स्त्रीलिङ्ग है, परन्तु 'अश्वकः' शब्द स्त्रीलिङ्ग को धारण नहीं करता। इस का कारण वही पूर्वोक्त परिभाषा है—**स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यनुवर्त्तन्ते।**

३. **जीविकार्थे चाऽपण्ये** (५.३.९९)। अर्थः—जो प्रतिकृति जीविकार्थ तो हो परन्तु बेची न जा रही हो तो उस की वाच्यता में कन् प्रत्यय का लुप् हो जाता है।

बेचता नहीं है तो इन मूर्त्तियों की वाच्यता में कन् प्रत्यय का लुप् हो जायेगा । तब—राम इव प्रतिकृतिः रामः, सीतेव प्रतिकृतिः सीता, लक्ष्मण इव प्रतिकृतिर्लक्ष्मणः, शिव इव प्रतिकृतिः शिवः, वासुदेव इव प्रतिकृतिर्वासुदेवः । यहां राम आदि से **इवे प्रतिकृतौ** (१२३८) द्वारा होने वाले कन् प्रत्यय का **जीविकार्थे चाऽपण्ये** (५.३.९९) से लुप् हो कर विभक्ति लाने से 'रामः, लक्ष्मणः, सीता, शिवः, वासुदेवः' आदि बनेंगे । परन्तु यदि उन मूर्त्तियों को बेच कर जीविका-अर्जन की जायेगी तो कन् का लुप् न होगा । तब इन प्रतिमाओं को रामकः, लक्ष्मणकः, सीतकः[1], शिवकः, वासुदेवकः आदि कहा जायेगा । इस पर एक सुभाषित बहुत प्रसिद्ध है—

रामं सीतां लक्ष्मणं जीविकार्थे
विक्रीणीते यो नरस्तं च धिग् धिक् ।
अस्मिन् पद्ये योऽपशब्दं न वेत्ति
व्यर्थप्रज्ञं पण्डितं तं च धिग्धिक् ॥[2]

यहां प्रतिमाओं को जीविकार्थ बेचा जाता है अतः कन् का लुप् नहीं होना चाहिये । 'रामकं सीतकं लक्ष्मणकम्' इस प्रकार प्रयोग करना चाहिये था—यही इस में अपशब्दता या अशुद्धि है ।

अब एक अन्यविध अत्यन्तस्वार्थिक कन् प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] वा०—(९५) सर्वप्रातिपदिकेभ्यः स्वार्थे कन् ॥

अश्वकः ॥

अर्थः—प्रत्येक प्रातिपदिक से स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक कन् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—यह वार्त्तिक महाभाष्य में कहीं पढ़ा नहीं गया, परन्तु पाणिनीय **न सामिवचने** (५.४.५) सूत्र पर काशिका में ऊहित किया गया है ।[3] यहां अत्यन्त स्वार्थ में कन् प्रत्यय का विधान किया गया है अतः इस प्रत्यय के करने पर प्रत्येक प्रातिपदिक का अर्थ वही रहता है जो प्रत्यय करने से पहले होता है । उदाहरणार्थ यथा—

---

१. **अत्र केऽणः** (७.४.१३) इति ह्रस्वत्वं बोध्यम् ।

२. अर्थात् जो व्यक्ति जीविका के लिये राम, लक्ष्मण और सीता की मूर्त्तियों को बेचता है उसे बार बार धिक्कार है । परन्तु इस पद्यार्ध में जो अपशब्द को न पहचान सके ऐसे व्यर्थबुद्धि पण्डित को भी बार-बार लानत है ।

३. **न सामिवचने** (५.४.५) । अर्थः—सामि (अर्ध) वाचक उपपद होने पर क्तान्त से कन् प्रत्यय नहीं होता । उदाहरण यथा—सामिकृतम्, अर्धकृतम्, नेमकृतम् । यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इन उदाहरणों में किसी पूर्वसूत्रद्वारा कन् प्रत्यय तो प्राप्त था नहीं पुनः निषेध कैसा ? इस का उत्तर यही दिया जाता है कि यह सूत्र पूर्वोक्त कन् का निषेधक नहीं अपितु प्रातिपदिक मात्र से होने वाले अत्यन्तस्वार्थिक कन् प्रत्यय का निषेध करता है । इस से वैयाकरणों ने उपर्युक्त वार्त्तिक का ऊहन कर लिया है ।

अश्व एव अश्वकः (घोड़ा ही 'अश्वक' कहाएगा)। यहां अश्वप्रातिपदिक से अत्यन्त स्वार्थ में प्रकृत वार्तिक से कन् प्रत्यय, नकार अनुबन्ध का लोप तथा अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'अश्वकः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—बहुतरमेव बहुतरकम्। सुकरतरमेव सुकरतरकम्।

नोट—कुछ लोग इस वार्त्तिक का प्रामाण्य स्वीकार नहीं करते। उन का कथन है कि उपर्युक्त उदाहरण यावादियों के आकृतिगण होने से **यावादिभ्यः कन्** (५.४.२९) द्वारा ही सिद्ध हो सकते हैं। इन के लिये प्रत्येक प्रातिपदिक से कन् की कल्पना करना अयुक्त है।

अब प्राचुर्यद्योतक मयट् प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**१२३९**) **तत्प्रकृतवचने मयट्** ।५।४।२१॥

प्राचुर्येण प्रस्तुतम् प्रकृतम्, तस्य वचनम् = प्रतिपादनम्। भावे, अधिकरणे वा ल्युट्। आद्ये— प्रकृतमन्नम् अन्नमयम्। अपूपमयम्। द्वितीये तु—अन्नमयो यज्ञः। अपूपमयं पर्व॥

अर्थः—इस सूत्र का द्विविध अर्थ होता है—

(१) प्राचुर्य (आधिक्य) से विद्यमान वस्तु के वाचक प्रथमान्त प्रातिपदिक से स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक मयट् प्रत्यय हो।

(२) प्राचुर्य से विद्यमान वस्तु के वाचक प्रथमान्त प्रातिपदिक से अधिकरण की वाच्यता में तद्धितसञ्ज्ञक मयट् प्रत्यय हो।

व्याख्या—तत् ।५।१। (प्रथमान्त के अनुकरण तद्शब्द से पञ्चमी का सौत्र लुक् हुआ है)। प्रकृतवचने ।७।१। मयट् ।१।१। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। इस सूत्र में 'वचन' शब्द की द्विविध व्युत्पत्ति के कारण सूत्र के दो अर्थ हो जाते हैं। दोनों ही अर्थ वैयाकरणों को सदा से मान्य रहे हैं।[1] 'वचन' शब्द की पहली व्याख्या—वचनशब्द वच्धातु से **ल्युट् च** (८७१) सूत्र-द्वारा भाव में ल्युट् प्रत्यय करने से बना है। इस तरह इस का अर्थ होगा—वचनम् = कथनम् = प्रतिपादनम्। दूसरी व्याख्या—वचनशब्द **करणाधिकरणयोश्च** (३.३.११७) द्वारा अधिकरण में ल्युट् करने से बना है, उच्यतेऽस्मिन् इति वचनम्, जिस में कहा जाये वह। प्राचुर्येण कृतम् = प्रस्तुतम् प्रकृतम् (अधिकता से प्रस्तुत)। जो वस्तु बहुतायत से प्रस्तुत या विद्यमान रहे उसे यहां 'प्रकृत' कहा गया है। प्रकृतस्य वचनं प्रकृतवचनम् तस्मिन् = प्रकृतवचने, षष्ठीतत्पुरुषः। प्रथम अर्थ—(प्रकृतवचने) प्रचुरता से प्रस्तुत या विद्यमान वस्तु के कथन में (तत् = प्रथमान्तात्) प्रथमान्त प्रातिपदिक से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (मयट्) मयट् प्रत्यय हो जाता है। मयट् में टकार इत् है जो **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) द्वारा स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् प्रत्यय करने के लिये जोड़ा गया है। प्रथम अर्थ का उदाहरण यथा—

---

१. **द्वयमपि प्रमाणमुभयथा सूत्रप्रणयनात्** (काशिका ५.४.२१)।

प्रकृतम् (प्राचुर्येण प्रस्तुतम्) अन्नम्-- अन्नमयम् (अधिकता से विद्यमान अन्न)। यहां प्रचुरता से विद्यमान उपाधि से विशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान 'अन्न सुँ' इस प्रथमान्त प्रातिपदिक से **तत्प्रकृतवचने मयट्** (१२३९) सूत्रद्वारा मयट् प्रत्यय होकर टकार अनुबन्ध का लोप तथा तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण उस के अवयव सुँप् (सुँ) का भी **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से लुक् कर देने पर = अन्न + मय = अन्नमय। अब स्वार्थिक प्रत्ययान्त होने से प्रकृति (अन्न) के अनुसार[1] विभक्तिवचन लाने से 'अन्नमयम्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। अत्रान्नमयं वर्त्तते—यहां अन्न की प्रचुरता है। इसीप्रकार—प्रकृताः (प्राचुर्येण प्रस्तुताः) अपूपाः अपूपमयम् (अधिकता से विद्यमान मालपूए)। यहां 'अपूप जस्' से मयट् ला कर सुँप् का लुक् करने से प्रयोग की सिद्धि होती है। यहां प्रकृति (अपूप) के पुंलिङ्ग होने पर भी पुंस्त्व नहीं हुआ कारणकि स्वार्थिकों में कहीं कहीं प्रकृति के लिङ्ग और वचनों का अतिक्रमण भी देखा जाता है—**क्वचित् स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्त्तन्तेऽपि** (प०)।

द्वितीय अर्थ—(प्रकृतवचने—प्रकृतमुच्यतेऽस्मिन्निति प्रकृतवचनम्, तस्मिन्) प्रचुरता से विद्यमान वस्तु जिस में कही या पाई जाये उस अधिकरण की वाच्यता में (तत् = प्रथमान्तात्) प्रथमान्त प्रातिपदिक से (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (मयट्) मयट् प्रत्यय हो जाता है। यथा—प्रकृतम् (प्राचुर्येण विद्यमानम्) अन्नं यस्मिन् सोऽन्नमयो यज्ञः। जिस में अन्न की बहुतायत हो ऐसा यज्ञ। यहां 'अन्न सुँ' से अधिकरण में मयट् प्रत्यय ला कर सुँप् का लुक् करने से—अन्नमय। अब विशेष्यानुसार लिङ्ग विभक्ति और वचन लाने पर 'अन्नमयो यज्ञः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[2] इसीप्रकार—प्रकृता अपूपा यस्मिन् तद् अपूपमयं पर्व। जिस में मालपुओं का प्राचुर्य हो ऐसा उत्सव या त्यौहार। ध्यान रहे कि मयट् प्रत्यय टित् है अतः विशेष्य के स्त्रीत्व की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) से ङीप् प्रत्यय लाकर **यस्येति**चलोप एवं विभक्तिकार्य करने से——अन्नमयी यात्रा, अपूपमयी रथ्या आदि प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।

सार यह है कि प्रथम अर्थ में केवल प्राचुर्यविशिष्ट वस्तु का बोध होता है परन्तु दूसरे अर्थ में प्राचुर्यविशिष्ट वस्तु जिस में पाई जाती है उस अधिकरण का। बस इन दोनों अर्थों में यही अन्तर है।

अब स्वार्थ में अण् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[**लघु०**] विधि-सूत्रम्—(**१२४०**) **प्रज्ञादिभ्यश्च** ।५।४।३८॥

अण् स्यात्। प्रज्ञ एव प्राज्ञः। प्राज्ञी स्त्री। दैवतः। बान्धवः॥

---

१. **स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यनुवर्त्तन्ते** (प०)।

२. इस अर्थ में मयट् प्रत्यय स्वार्थिक नहीं होता। प्राचुर्ययुक्त वस्तु प्रकृत्यर्थ तथा उस का अधिकरण प्रत्ययार्थ होता है। अतः **स्वार्थिका प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यनुवर्त्तन्ते** वाला नियम यहां लागू नहीं होता, विशेष्य के अनुसार ही लिङ्ग, विभक्ति और वचन होंगे।

अर्थः—प्रज्ञ आदि प्रातिपदिकों से स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक अण् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—प्रज्ञादिभ्यः ।५।३। च इत्यव्ययपदम् । अण् ।१।१। (**तद्युक्तात् कर्मणोऽण्** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । प्रज्ञः (प्रज्ञशब्दः) आदिर्येषान्ते प्रज्ञादयः, तेभ्यः=प्रज्ञादिभ्यः[1], तद्गुणसंविज्ञान-बहुव्रीहिसमासः । अर्थः— (प्रज्ञादिभ्यः) प्रज्ञ आदिगणपठित प्रातिपदिकों से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (अण्) अण् प्रत्यय होता है ।

अण् में णकार इत् है जो आदिवृद्धि के लिये जोड़ा गया है । उदाहरण यथा—

प्रज्ञ[2] एव प्राज्ञः (जानकार, बुद्धिमान्, ज्ञाता) । यहां 'प्रज्ञ' प्रातिपदिक से स्वार्थ में **प्रज्ञादिभ्यश्च** (१२४०) सूत्रद्वारा अण् प्रत्यय, णकार अनुबन्ध का लोप, **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदिवृद्धि एवं **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप करने से—प्राज्ञ । अब विभक्ति ला कर प्रथमैकवचन में 'प्राज्ञः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । स्त्रीत्व की विवक्षा में अण्प्रत्ययान्त होने के कारण **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) द्वारा ङीप् प्रत्यय ला कर **यस्येतिच**लोप तथा विभक्तिकार्य करने से 'प्राज्ञी' (जानकार औरत) प्रयोग बनेगा ।[3]

---

१. प्रज्ञादिगण यथा—

प्रज्ञ । वणिज् । उशिज् । उष्णिह् । प्रत्यक्ष । विद्वस् । विदन् । षोडन् । षोडश । विद्या । मनस् । **श्रोत्र शारीरे** (गणसूत्रम्) । जुह्वत् । **कृष्ण मृगे** (गणसूत्रम्) । चिकीर्षत् । चोर । शत्रु । योध । वक्षस् । चक्षुस् । धूर्त्त । वसु । एत् । मरुत् । क्रुञ्च् । राजा । सत्वन्तु । दशार्ह । वयस् । आतुर । असुर । रक्षस् । पिशाच । अशनि । कार्षापण । देवता । बन्धु । आकृतिगणोऽयम् ॥

२. प्रजानातीति प्रज्ञः । **आतश्चोपसर्गे** (७८८) इति कप्रत्यये **आतो लोप इटि च** (४८९) इत्यातो लोपे च कृते 'प्रज्ञः' इति । स्त्रियाम् **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) इति टापि 'प्रज्ञा' इति ।

३. 'प्राज्ञा' रूप भी बनता है उस की सिद्धि इस तरह से समझनी चाहिये—
प्रज्ञानं प्रज्ञा (जानना), यद्वा प्रज्ञायतेऽनयेति प्रज्ञा (जिस से जाना जाता है अर्थात् बुद्धि) । यहां प्रपूर्वक **ज्ञा अवबोधने** (क्र्या० परस्मै०) धातु से भाव अथवा करण में **आतश्चोपसर्गे** (३.३.१०६) से अङ्प्रत्यय होकर आकारलोप एवं स्त्रीत्व में टाप् करने से 'प्रज्ञा' शब्द सिद्ध होता है । प्रज्ञाऽस्त्यस्य इस विग्रह में **प्रज्ञा-श्रद्धाऽर्चाभ्यो णः** (५.२.१०१) से मत्वर्थ में ण (अ) प्रत्यय ला कर आदि-वृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक आकार का लोप करने से 'प्राज्ञः' (बुद्धिमान्) प्रयोग बनता है । स्त्रीत्व की विवक्षा में अण्प्रत्ययान्त न होने के कारण इस से ङीप् (१२५१) न हो कर **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से टाप् ही होगा । इस प्रकार 'प्राज्ञा' बनेगा । अत एव अमरकोष में कहा है—**प्रज्ञा तु प्राज्ञी, प्राज्ञा तु धीमती ।**

देवता एव दैवतः (देवता)। देवताप्रातिपदिक से प्रज्ञादियों में पाठ के कारण **प्रज्ञादिभ्यश्च** (१२४०) द्वारा स्वार्थ में अण् प्रत्यय ला कर आदिवृद्धि एवं **यस्येति च** लोप द्वारा आकार का लोप करने से— दैवत् + अ = दैवत। विभक्ति ला कर प्रथमा के एक॰ वचन में 'दैवतः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। दैवतशब्द नपुंसकलिङ्ग में भी प्रयुक्त होता है— दैवतम्। **वृन्दारका दैवतानि पुंसि वा देवताः स्त्रियाम्** इत्यमरः।

बन्धुरेव बान्धवः (बन्धु, सम्बन्धी)। बन्धुप्रातिपदिक से स्वार्थ में **प्रज्ञादिभ्यश्च** (१२४०) द्वारा अण् प्रत्यय हो कर आदिवृद्धि (९३८), **ओर्गुणः** (१००५) से भसञ्ज्ञक उकार को ओकार गुण तथा **एचोऽयवायावः** (२२) से ओकार को अव् आदेश कर विभक्तिकार्य करने से 'बान्धवः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

प्रज्ञादियों से अण् के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

१. (चोर) चोर एव चौरः [चोर]।
२. (वणिज्) वणिग् एव वाणिजः [बनिया]।
३. (योध) योध एव यौधः [योधा, लड़ाकू]।
४. (शत्रु) शत्रुरेव शात्रवः [शत्रु, दुश्मन]।
५. (मनस्) मन एव मानसम् [मन]।
६. (रक्षस्) रक्ष एव राक्षसः [राक्षस]।
७. (पिशाच) पिशाच एव पैशाचः [पिशाच]।
८. (असुर) असुर एव आसुरः [दैत्य]।
९. (मरुत्) मरुद् एव मारुतः [वायु]।
१०. (वयस्) वय एव वायसः [कौवा]।
११. (क्रुञ्च्) क्रुङेव क्रौञ्चः [क्रौञ्च पक्षी]।

प्रज्ञादि के आकृतिगण होने के कारण—

१२. (चर) चर एव चारः [गुप्तचर]।
१३. (कुतूहल) कुतूहलमेव कौतूहलम् [उत्सुकता]।
१४. (चरित्र) चरित्रमेव चारित्रम् [चरित्र]।
१५. (चण्डाल) चण्डाल एव चाण्डालः [चण्डाल]।
१६. (जेतृ) जेतैव जैत्रः [जीतने वाला]।

अब स्वार्थिक शस् तद्धितप्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२४१)

बह्वल्पार्थाच्छस् कारकादन्यतरस्याम् ।५।४।४२॥

(बह्वर्थाद् अल्पार्थाच्च कारकाभिधायिनः प्रातिपदिकात् स्वार्थे तद्धितः शस् प्रत्ययः स्यादन्यतरस्याम्)। बहूनि ददाति— बहुशः। अल्पशः॥

अर्थः— बह्वर्थ और अल्पार्थ कारकाभिधायी प्रातिपदिक से स्वार्थ में तद्धित-सञ्ज्ञक शस् प्रत्यय हो।

व्याख्या—बह्वल्पार्थात् ।५।१। शस् ।१।१। कारकात् ।५।१। अन्यतरस्याम् ।७।१। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि अधिकृत हैं। समासः—बहुश्च अल्पश्च बह्वल्पौ, बह्वल्पौ अर्थौ यस्य तद् बह्वल्पार्थम् (प्रातिपदिकम्), तस्मात् =बह्वल्पार्थात् । द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिसमासः । अर्थः— (बह्वल्पार्थात्)'बहुत' अर्थ वाले तथा 'थोड़ा' अर्थ वाले (कारकात्) कारकसञ्ज्ञक (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (शस्) शस् प्रत्यय (अन्यतरस्याम्) एक अवस्था में हो जाता है। दूसरी अवस्था में वाक्य ही रहेगा।[1]

बहु, भूरि, प्रभूत आदि बह्वर्थ एवम् अल्प, स्तोक, कतिपय आदि अल्पार्थ प्रातिपदिक हैं। **कारके** (१.४.२३) के अधिकार में कर्त्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ये छः कारक होते हैं। जब बह्वर्थ या अल्पार्थ प्रातिपदिक कारकरूपेण कहा जा रहा हो तो उस से स्वार्थ में शस् प्रत्यय हो जाता है।

शस् में शकार की **लशक्वतद्धिते** (१३६) से इत्सञ्ज्ञा नहीं होती, क्योंकि सूत्र में 'अतद्धिते' कहा गया है। सकार की भी प्रयोजनाभाव से **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्सञ्ज्ञा नहीं होती। पूरा शस् प्रत्यय अविकल रहता है।

बह्वर्थ प्रातिपदिकों से शस् का उदाहरण यथा—

बहूनि (धनानि) ददाति—बहुशो ददाति (बहुत धन देता है)। यहां 'बहूनि' की जगह 'बहुशः' इस तद्धितान्त शब्द का प्रयोग हुआ है। बहुशब्द बह्वर्थ है, यहां यह दाधातु का कर्मकारक भी है, अतः प्रकृत **बह्वल्पार्थाच्छस् कारकादन्यतरस्याम्** (१२४१) सूत्रद्वारा स्वार्थ में इस से परे तद्धित शस् प्रत्यय आ कर सुँप् का लुक् कर देने से बहु+शस्=बहुशस्। अब **तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः** (३६८) से इस की अव्ययसञ्ज्ञा हो जाने के कारण इस से परे आये औत्सर्गिक सुँप्रत्यय का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हो कर पदान्त सकार को रुँत्व-विसर्ग करने से 'बहुशः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसी तरह प्रभूत, भूरि आदि शब्दों से भी शस् प्रत्यय समझ लेना चाहिये—प्रभूतशो ददाति, भूरिशो ददाति। कर्म के अतिरिक्त अन्य कारकों से भी इसीतरह प्रक्रिया होती है—(करणे) बहुभिर्ददाति, बहुशो ददाति। (सम्प्रदाने) बहुभ्यो ददाति, बहुशो ददाति। (अधिकरणे) बहुषु ददाति, बहुशो ददाति। इत्यादि।

अल्पार्थ प्रातिपदिकों से शस् का उदाहरण यथा—

अल्पानि (धनानि) ददाति—अल्पशो ददाति (थोड़ा धन देता है)। यहां भी पूर्ववत् कर्मकारक 'अल्प' प्रातिपदिक से स्वार्थ में प्रकृतसूत्र से शस् प्रत्यय हो कर

---

१. यहां 'अन्यतरस्याम्' का ग्रहण किसी अन्य प्रत्यय के संग्रहार्थ नहीं किया गया। पक्ष में वाक्य ही रहे—इतना मात्र ही इस से अभिप्रेत है। परन्तु यह सब तो महाविभाषा (**समर्थानां प्रथमाद्वा** ९९७) से ही सिद्ध था पुनः इस के लिये 'अन्यतरस्याम्' की क्या आवश्यकता? इस का उत्तर यह है कि प्रकृतसूत्र से पूर्वस्थ विधि को नित्य ज्ञापित करने के लिये यहां विकल्प कहा गया है। विशेषजिज्ञासु इसे समझने के लिये काशिका का अवलोकन करें।

अव्यय से परे औत्सर्गिक सुँ प्रत्यय का लुक् हो जाता है। इसीतरह स्तोक आदि प्रातिपदिकों से भी समझ लेना चाहिये—स्तोकानि ददाति। स्तोकशो ददाति। स्तोकेभ्यो ददाति। स्तोकशो ददाति। इत्यादि।

कारकादिति किम्? बहूनां स्वामी। अल्पानां स्वामी। यहां सम्बन्ध में षष्ठी हुई है। सम्बन्ध कारक नहीं होता अतः यहां 'बहु' और 'अल्प' से शस् न होगा।

बह्वल्पार्थादिति किम्? गां ददाति। अश्वं ददाति। यहां 'गो' और 'अश्व' कर्मकारक तो हैं परन्तु बह्वर्थ या अल्पार्थ प्रातिपदिक नहीं, अतः इन से शस् नहीं होता।

विशेष वक्तव्य— बह्वल्पार्थात् मङ्गलाऽमङ्गलवचनम् (वा०)। वार्त्तिककार का कथन है कि बह्वर्थों से तभी शस् होता है जब मङ्गल गम्य हो और अल्पार्थों से तभी शस् होता है जब अमङ्गल गम्य हो, अन्यथा शस् नहीं होता। यथा—बहूनि ददाति श्राद्धेषु। यहां श्राद्ध अमङ्गल है अतः बह्वर्थ बहुशब्द से शस् नहीं होता। इसीतरह—अल्पं ददाति आभ्युदयिकेषु। यहां आभ्युदयिक कार्य मङ्गल हैं अतः अल्पार्थ अल्पशब्द से शस् नहीं होता। कुछ व्याख्याकार इस वार्त्तिक को प्रायिक मानते हैं क्योंकि आचार्य पाणिनि ने स्वयम् इस का पालन न करते हुए **अपेतापोढमुक्तपतितापत्रस्तैरल्पशः** (२.१.३७) सूत्र में 'अल्पा पञ्चमी' के अर्थ में 'अल्पशः' का प्रयोग किया है—अल्पा पञ्चमी समस्यते—अल्पशः समस्यते।

अब सुप्रसिद्ध सार्वविभक्तिक तसिँ तद्धितप्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] वा०—(९६) आद्यादिभ्यस्तसेरुपसंख्यानम् ॥

आदौ—आदितः। मध्यतः। अन्ततः। पार्श्वतः। आकृतिगणोऽयम्। स्वरेण—स्वरतः। वर्णतः॥

अर्थः—'आदि' शब्द जिस के आदि में है ऐसे गणपठित सुँबन्तों से स्वार्थ में तसिँ प्रत्यय का विकल्प से उपसंख्यान करना चाहिये।

व्याख्या—आद्यादिभ्यः ।५।३। तसेः ।६।१। उपसंख्यानम् ।१।१। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, वा** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। आदिशब्द आदिर्येषान्ते आद्यादयः, तेभ्यः=आद्यादिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः। यह वार्त्तिक **प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः** (५.४.४४) सूत्र पर महाभाष्य में पढ़ा गया है। यह प्रत्यय प्रत्येक विभक्त्यन्त प्रातिपदिक से परे हो सकता है अतः इसे सार्वविभक्तिक तसिँ कहा जाता है। **समर्थानां प्रथमाद्वा** (९९७) इस महाविभाषा के कारण यह प्रत्यय विकल्प से होता है अतः पक्ष में सविभक्तिक रूप भी रहता है।

तसिँ में अनुनासिक इकार इत्सञ्ज्ञक हो कर (२८) लुप्त हो जाता है, 'तस्' मात्र शेष रहता है। इकार अनुबन्ध सकार को इत् से बचाने के लिये जोड़ा गया है। तसिँप्रत्ययान्त शब्दों की **तद्धितश्चासर्वविभक्तिः** (३६८)से अव्ययसंज्ञा हो जाती है, अतः इन से परे उत्पन्न विभक्ति का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हो जाता है।

उदाहरण यथा—

आदौ—आदितः (आदि में)। यहां 'आदि ङि' इस सप्तम्यन्त प्रातिपदिक से परे स्वार्थ में प्रकृत **आद्यादिभ्यस्तसेरुपसङ्ख्यानम्** (वा० ६६) वार्त्तिकद्वारा तसिँ-प्रत्यय हो कर तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा के कारण **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (ङि) का लुक् करने से—आदि+तस्=आदितस्। अब प्रातिपदिकत्वात् उत्पन्न औत्सर्गिक सुँविभक्ति का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् होकर सकार को रुँत्व तथा पदान्त रेफ को अवसान में विसर्ग आदेश करने से 'आदितः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। पक्ष में सुँबन्तप्रक्रिया हो कर 'आदौ' का प्रयोग हो सकता है। यहां सप्तम्यन्त से तसिँ का प्रयोग दर्शाया गया है, अन्यविभक्त्यन्तों से भी यह हो सकता है। यथा—आदेः—आदितः। इत्यादि।

इसीप्रकार—मध्ये=मध्यतः (बीच में)। अन्ते=अन्ततः (अन्त में)। पार्श्वे=पार्श्वतः (पास में)। पृष्ठे=पृष्ठतः (पिछाड़ी में)।

आद्यादि आकृतिगण है। अतः गणपठित उपर्युक्त पाञ्च शब्दों के अतिरिक्त अन्यत्र भी शिष्टप्रयोगों में जहां जहां सार्वविभक्तिक तसिँ देखा जाये उसे आद्यादि-गणान्तर्गत समझ लेना चाहिये।

शिष्टप्रयोगों में इस के कुछ उदाहरण यथा—

[१] **तस्यादित उदात्तमर्धह्रस्वम्** (१.२.३२)।

इस पाणिनीयसूत्र में 'आदौ' के स्थान पर 'आदितः' का प्रयोग किया गया है।

[२] **दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा**
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह॥ (महाभाष्य पस्पशा.)

यहां स्वरेण=स्वरतः, वर्णेन=वर्णतः। इस प्रकार तृतीयान्त से तसिँ किया गया है।

[३] **स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यनुवर्त्तन्ते।** (प०)

प्रकृतेः=प्रकृतितः। यहां षष्ठ्यन्त से तसिँ का प्रयोग किया गया है।

[४] **नाम च धातुजमाह निरुक्ते**
व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।
यन्न पदार्थविशेषसमुत्थम्
प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम्॥ (महाभाष्य ३.३.१)

प्रत्ययात्=प्रत्ययतः। यहां पञ्चम्यन्त से तसिँ का प्रयोग किया गया है।

[५] **विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्त्रियाणां च वीर्यतः।**
वैश्यानां धान्यधनतः शूद्राणामेव जन्मतः॥ (मनु० २.१५५)

ज्ञानेन=ज्ञानतः। वीर्येण=वीर्यतः। धान्यधनैः=धान्यधनतः। जन्मना=जन्मतः। इन सब में निमित्ततृतीयान्त से तसिँ का प्रयोग किया गया है।

[६] **शिक्षितोऽस्मि सारथ्ये तीर्थतः पुरुषर्षभ।** (महाभारत विराट० ४५.१८)

तीर्थेन (गुरुणा)=तीर्थतः। तृतीयान्त से तसिँ हुआ है।

च्विँ

[७] **यदि तावदस्य शिशोर्मातरं नामतः पृच्छामि ।** (शाकुन्तल० ७)

नाम्ना=नामतः । तृतीयान्त से तसिँ हुआ है ।

[८] **वित्तेन क्षीणो न क्षीणो वृत्ततस्तु हतो हतः ।** (महाभारत वन०)

वृत्तेन=वृत्ततः । तृतीयान्त से तसिँ हुआ है ।

[९] **रात्रौ च वृक्षमूलानि दूरतः परिवर्जयेत् ।** (मनु० ४.७३)

यहां दूरशब्द से द्वितीया, तृतीया, पञ्चमी या सप्तमी विभक्तियों में से किसी भी विभक्ति से परे तसिँ का प्रयोग माना जा सकता है ।

[१०] **यत्प्रौढत्वमुदारता च वचसां यच्चार्थतो गौरवम् ॥** (मालतीमाधव १)

अर्थे=अर्थतः । सप्तम्यन्त से तसिँ हुआ है ।

अब सुप्रसिद्ध च्विँ प्रत्यय का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१२४२)**

कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विँः ।५।४।५०॥

वा०—(९७) **अभूततद्भावे इति वक्तव्यम् ॥**

विकारात्मतां प्राप्नुवत्यां प्रकृतौ वर्त्तमानाद् विकारशब्दात् स्वार्थे च्विँर्वा स्यात् करोत्यादिभिर्योगे ॥

अर्थः—अभूततद्भाव[1] गम्य होने पर यह सूत्र प्रवृत्त होता है—ऐसा कहना चाहिये (वा०) । विकार को प्राप्त हो रही प्रकृति के अर्थ में वर्त्तमान जो विकार-वाचक शब्द उस से परे स्वार्थ में विकल्प कर के तद्धितसञ्ज्ञक च्विँप्रत्यय हो यदि उस का कृ, भू या अस् धातु के साथ योग हो तो ।

व्याख्या—कृभ्वस्तियोगे ।७।१। सम्पद्यकर्तरि ।७।१। च्विँः ।१।१। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः, वा** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं । कृ, भू, अस्ति—इत्येतेषामितरेतरद्वन्द्वः कृभ्वस्तयः, तैर्योगः=कृभ्वस्तियोगः, तस्मिन्=कृभ्वस्तियोगे, तृतीयातत्पुरुषसमासः । सम्पदनं सम्पद्यः[2], तस्य कर्त्ता सम्पद्यकर्त्ता, तस्मिन्=सम्पद्य-

---

१. जो वस्तु पहले जिस रूप में न हो और बाद में वह उस रूप को प्राप्त कर ले तो इसे अभूततद्भाव कहते हैं । जैसे—अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यते तं करोति—शुक्ली करोति (अशुक्ल शुक्ल हो जाता है—इस प्रकार करता है । अर्थात् अशुक्ल या मलिन को शुक्ल करता है) । यहां पहले जो वस्तु शुक्ल न थी वह अब शुक्लरूप को प्राप्त करती है । इस तरह यहां अभूत का तद्भाव कहा गया है । इस प्रकार के कथन में अभूतवस्तु प्रकृति या समवायिकारण होती है और उस का तद्भाव विकृति या कार्य होता है । दोनों में कारणकार्यभाव सम्बन्ध होता है ।

२. अस्मादेव निपातनाद् भावे कृत्सञ्ज्ञः शप्रत्ययः । दिवादित्वात् श्यन् । कुछ लोग निपातनद्वारा कर्त्ता में शप्रत्यय मान कर 'सम्पद्य' (सम्पन्न होने वाला) शब्द निष्पन्न करते हैं । उन के मतानुसार 'सम्पद्यश्चासौ कर्त्ता सम्पद्यकर्त्ता, तस्मिन्=सम्पद्यकर्त्तरि' इसप्रकार विशेषणसमास समझा जायेगा ।

कर्त्तरि, षष्ठीतत्पुरुषसमासः । अर्थः — (सम्पद्य-कर्तरि) 'सम्पद्य' धातु के कर्त्ता अर्थ में वर्त्तमान (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (च्विः) च्विँ प्रत्यय (वा) विकल्प से हो जाता है (कृभ्वस्तियोगे) यदि उस प्रातिपदिक का कृ, भू या अस् धातु के साथ योग हो तो। इस सूत्र के अर्थ में वार्त्तिककार ने एक बात और जोड़ दी है—

अभूततद्भावे इति वक्तव्यम् (वा०)। अर्थात् इस सूत्र की प्रवृत्ति तभी होती है जब अभूततद्भाव गम्य हो। अभूतस्य = कार्यरूपेण अपरिणतस्य तद्भावः—तेन कार्यरूपेण भावोऽभूततद्भावः । तस्मिन् गम्ये इत्यर्थः । ध्यान रहे कि केवल न हो कर होने को अभूततद्भाव नहीं कहते, इसीलिये तो तद्शब्द का ग्रहण किया है। अब सूत्र का अर्थ इस प्रकार हो जाता है - अभूततद्भाव अर्थात् कार्यरूप में अपरिणत कारण की जब कार्यरूप में परिणति गम्य हो तो सम्पद्यते (बनता है, होता है) का कर्त्ता जो प्रातिपदिक, उस से स्वार्थ में विकल्प से च्विँप्रत्यय हो जाता है यदि उस प्रातिपदिक का कृ, भू या अस् किसी धातु के साथ योग हो तो। इस अर्थ का उदाहरण में समन्वय यथा—

अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यते तं करोतीति शुक्ली करोति। यहां जो वस्तु पहले शुक्ल नहीं अब वह शुक्ल की गई है अतः अभूततद्भाव तो स्पष्ट है ही। यहां सम्पद्य के दो कर्त्ता हैं—अशुक्लः और शुक्लः। परन्तु वक्ता को प्रमुखरूप से विकारवाचक 'शुक्लः' ही कर्तृत्वरूपेण कहना अभीष्ट है, किञ्च इस का कृधातु के साथ योग भी है क्योंकि यह उस का कर्म है। अतः शुक्लप्रातिपदिक से च्विँप्रत्यय हो कर वक्ष्यमाण प्रक्रिया के अनुसार 'शुक्ली' बन जाता है। इसीप्रकार—अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यमानो भवतीति शुक्ली भवति। यहां सम्पद्य के कर्त्ता शुक्ल का भूधातु के साथ योग है। अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यमानः स्याद् इति शुक्ली स्यात्। यहां सम्पद्य के कर्त्ता शुक्ल का अस् धातु के साथ योग है।

कौमुदीकार ने उपर्युक्त सम्पूर्ण सूत्रार्थ को आत्मसात् कर सरल शब्दों में इस का अर्थ इस प्रकार व्यक्त किया है—विकार को प्राप्त हो रही प्रकृति के अर्थ में वर्त्तमान जो विकारवाचक प्रातिपदिक, उस से परे स्वार्थ में विकल्प कर के च्विँ प्रत्यय हो यदि उस प्रातिपदिक का कृ, भू या अस् धातु के साथ योग हो तो। पक्ष में वाक्य भी रहेगा। इस अर्थ का उदाहरण में समन्वय यथा—

अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यते तं करोतीति शुक्ली करोति।[1] इस में अशुक्ल प्रकृति है वह शुक्लरूप विकार को प्राप्त हो रही है। कारणकार्य के अभेद के विवक्षित होने से विकारशब्द प्रकृति के अर्थ में वर्त्तमान है, इस का कृधातु के साथ योग भी है अतः इसी विकारवाचक शुक्लप्रातिपदिक से ही च्विँ की उत्पत्ति होती है।

१. कुछ लोग इस का विग्रह इस प्रकार भी करते हैं—
अशुक्लं शुक्लं सम्पद्यमानं करोतीति शुक्ली करोति। यहां भी सम्पद्यधातु का कर्त्ता शुक्ल ही रहता है चाहे वह अब कृधातु का कर्म क्यों न बन गया हो।

सार यह है कि च्विँप्रत्यय के करने में निम्नस्थ तीन बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिये—

(१) अभूततद्भाव में ही च्विँ होता है, इस के विना च्विँ नहीं किया जाता। यथा—शुक्लं करोति, शुक्लो भवति, शुक्लः स्यात् इत्यादियों में कृ-भू-अस् का योग होने पर भी अभूततद्भाव के न होने से च्विँ नहीं होता।

(२) विकारवाचक प्रातिपदिक से ही च्विँ हुआ करता है प्रकृतिवाचक से नहीं। यथा—अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यते तं करोति—शुक्ली करोति। यहां अशुक्ल प्रकृतिवाचक तथा शुक्ल विकारवाचक प्रातिपदिक है। च्विँप्रत्यय विकारवाचक शुक्ल-प्रातिपदिक से ही होगा।

(३) विकारवाचक प्रातिपदिक का योग कृ-भू-अस् धातुओं के साथ होना आवश्यक है तभी च्विँ होगा अन्यथा नहीं। अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यते तं करोति—शुक्ली करोति। अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यमानो भवति—शुक्ली भवति। अशुक्लः शुक्लः सम्पद्य-मानः स्यात्। इन में विकारवाचक प्रातिपदिक 'शुक्ल' का क्रमशः कृ, भू और अस् के साथ योग है अतः च्विँ हुआ है। 'अशुक्लः शुक्लः सम्पद्यमानो जायते' यहां जन्धातु के योग में नहीं होता।

च्विँप्रत्यय का आदि वर्ण चकार **चुटू** (१२९) सूत्रद्वारा इत्संज्ञक होकर लुप्त हो जाता है। यह **चितः** (६.१.१५७) सूत्रद्वारा अन्तोदात्तस्वर के लिये जोड़ा गया है। अन्त में इकार अनुबन्ध उच्चारणार्थ है। इस प्रकार च्विँ का 'व्' मात्र ही शेष रहता है। इस वकार का भी **वेरपृक्तस्य** (३०३) से लोप हो जाता है। इस तरह च्विँ का सर्वापहारलोप होता है।

अब च्विँ के उदाहरणों के लिये प्रक्रिया दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२४३) अस्य च्वौ ।७।४।३२।।

अवर्णस्य ईत् स्याच्च्वौ। वेर्लोपः। च्व्यन्तत्वादव्ययत्वम्।[1] अकृष्णः कृष्णः सम्पद्यते तं करोति—कृष्णी करोति। ब्रह्मी भवति। गङ्गी स्यात्॥

अर्थः—च्विँ परे रहते अवर्ण के स्थान पर ईकार आदेश हो।

व्याख्या—अस्य ।६।१। च्वौ ।७।१। ईत् ।१।१। (**ई घ्राध्मोः** सूत्र से)। अङ्गस्य ।६।१। (यह अधिकृत है)। 'अस्य' यह 'अङ्गस्य' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'अवर्णान्तस्य अङ्गस्य' बन जाता है। अर्थः—(च्वौ) च्विँ प्रत्यय के परे रहते (अस्य=अवर्णान्तस्य) अवर्णान्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (ईत्) ईकार आदेश हो जाता है। अलोऽन्त्यपरिभाषा से अङ्ग के अन्त्य अल्=अवर्ण के स्थान

१. **प्राग्रीश्वरान्निपाताः** (१.४.५६) इत्यधिकारे **ऊर्यादि-च्विँ-डाचश्च** (९५०) इति निपातत्वे **स्वरादिनिपातमव्ययम्** (३६७) इत्यव्ययत्वमित्यर्थः। अथवा—**तद्धित-श्चाऽसर्वविभक्तिः** (३६८) इत्यत्र 'तसिप्रभृतयः प्राक् समासान्तेभ्यः' इति परिगणि-तेष्वन्तर्भावादव्ययत्वमिति बोध्यम्।

पर ही ईकार आदेश होगा। उदाहरण यथा—

अकृष्णः कृष्णः सम्पद्यते तं करोति[1]—कृष्णी करोति (जो कृष्ण नहीं उसे कृष्ण करता हैं)।[2] यहां अकृष्ण प्रकृति तथा कृष्ण उस का विकार है। कारणकार्य में अभेद-विवक्षा के कारण कृष्णशब्द प्रकृति (अकृष्ण) में वर्त्तमान है, किञ्च इस का कृधातु के साथ योग भी है (क्योंकि यह कृधातु का कर्म है)। अतः विकारवाचक 'कृष्ण अम्' से **अभूततद्भाव इति वक्तव्यम्** (वा० ६७) इस वार्त्तिक की सहायता से **कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्त्तरि च्विँः** (१२४२) सूत्रद्वारा च्विँ तद्धितप्रत्यय हो जाता है। च्विँ के चकार की **चुटू** (१२९) तथा इकार की **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (२८) से इत्सञ्ज्ञा हो कर लोप एवम् अवशिष्ट वकार का भी **वेरपृक्तस्य** (३०३) से लोप करने पर—कृष्ण अम् (करोति)। पुनः च्विँप्रत्ययान्तों की **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) सूत्रद्वारा उस के अवयव सुँप् (अम्) का लुक् हो जाता है—कृष्ण (करोति)। अब **प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्** (१९०) द्वारा च्विँ को परे मान कर **अस्य च्वौ** (१२४३) से अकार को ईकार आदेश करने पर—कृष्णी (करोति)। यहां 'कृष्णी' शब्द च्विँप्रत्ययान्त है, अतः **ऊर्यादिच्विँडाचश्च** (९५०) से इस की गतिसञ्ज्ञा, **प्राग्रीश्वरान्निपाताः** (१.४.५६) से निपातसञ्ज्ञा तथा **स्वरादिनिपातमव्ययम्** (३६७) से अव्ययसञ्ज्ञा हो जाती है। अव्ययत्व के कारण इस से परे उत्पन्न औत्सर्गिक सुँविभक्ति का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हो कर 'कृष्णी करोति' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[3]

ध्यान रहे कि 'कृष्णी' और 'करोति' पदों का समास नहीं होता क्योंकि लोक में सुँबन्त का तिङन्त के साथ समास वर्जित है (९०६)। अतः इन दोनों को पृथक् पृथक् लिखना चाहिये मिला कर नहीं। हां यदि कृधातु क्त्वान्त होगी तो **कुगतिप्रादयः** (९४९) से गतिसमास होकर क्त्वा को **समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्** (८८४) से ल्यप् आदेश भी हो जायेगा—कृष्णीकृत्य। इसीप्रकार कृदन्त कृधातु के साथ भी समास हो जाता है—कृष्णीकृतः, कृष्णीकृतवान्, कृष्णीकर्त्तुम् आदि।

भू के साथ योग का उदाहरण यथा—

अब्रह्म ब्रह्म सम्पद्यमानं भवति—ब्रह्मी भवति (जो ब्रह्म नहीं वह ब्रह्म सम्पन्न

---

१. अथवा—'अकृष्णं कृष्णं सम्पद्यमानं करोति' इस तरह विग्रह रखना चाहिये। कुछ लोग त्वरावश 'अकृष्णं कृष्णं करोति' इस प्रकार भी विग्रह प्रदर्शित करते हैं जो ठीक नहीं होता।

२. रासलीला या नाटक आदियों में अकृष्ण को कृष्ण बनाया जाता है। अथवा—जो काला नहीं उसे काला करता है यह अभिप्राय यहां समझना चाहिये।

३. ध्यान रहे कि 'कृष्णी करोति' प्रयोग को 'करोति कृष्णी' नहीं कहा जा सकता। कारणकि च्व्यन्त 'कृष्णी' की गतिसञ्ज्ञा (९५०) है, ते **प्राग्धातोः** (४१९) से गतिसञ्ज्ञक और उपसर्ग लोक में धातु से पूर्व ही प्रयुक्त करने चाहियें।

होता है) । यहां अब्रह्म प्रकृति तथा ब्रह्म उस का विकार है । कारणकार्य के अभेद के कारण ब्रह्मन्शब्द अपनी प्रकृति (अब्रह्मन्) में वर्त्तमान है, किञ्च इस का भूधातु के साथ योग भी है । अतः 'ब्रह्मन् सुँ' से अभूततद्भाव में **कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः** (१२४२) से तद्धितसञ्ज्ञक च्विँ प्रत्यय ला कर उस का सर्वापहारलोप, सुँब्लुक् एवम् अन्तर्वर्तिनी विभक्ति को मान पदत्व के कारण **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से पदान्त नकार का भी लोप हो **अस्य च्वौ** (१२४३) से अकार को ईकार आदेश करने पर— ब्रह्मी (भवति) ।[1] अब अव्ययसञ्ज्ञा के कारण इस से परे आई सुँविभक्ति का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हो जाने से 'ब्रह्मी भवति' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

अस् धातु के साथ योग का उदाहरण यथा—

अगङ्गा गङ्गा सम्पद्यमाना स्याद्—गङ्गी स्यात् (जो गङ्गा नहीं वह गङ्गा हो जाये) । यहां अगङ्गा प्रकृति तथा गङ्गा उस का विकार है । कारणकार्य की अभेदविवक्षा के कारण विकारवाचक गङ्गाशब्द अपनी प्रकृति (अगङ्गा) में वर्त्तमान है, किञ्च इस का अस्धातु के साथ योग भी है । अतः 'गङ्गा सुँ' से अभूततद्भाव में **कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्त्तरि च्विः** (१२४२) सूत्रद्वारा च्विँप्रत्यय, उस का सर्वापहारलोप, तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकसञ्ज्ञा, सुँब्लुक्, **अस्य च्वौ** (१२४३) से आकार को ईकार आदेश तथा अन्त में प्रातिपदिक से परे उत्पन्न औत्सर्गिक सुँविभक्ति का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् करने पर 'गङ्गी स्यात्' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[2]

अब च्विँ के परे रहते अव्ययों के अवर्ण को ईकार आदेश करने का निषेध करते हैं—

[लघु०] वा०—(९८) अव्ययस्य च्वावीत्वं नेति वाच्यम् ॥

दोषाभूतमहः । दिवाभूता रात्रिः ॥

---

१. यहां नकार का त्रैपादिक लोप **पूर्वत्रासिद्धम्** (३१) से असिद्ध होता हुआ भी ईत्व करने में बाधक नहीं होता । कारणकि **नलोपः सुँप्स्वरसञ्ज्ञातुग्विधिषु कृति** (२८२) द्वारा परिगणित विधियों में ही वह असिद्ध होता है अन्यत्र नहीं । अतः नकारलोप के सिद्ध होने से ईत्व निर्बाध हो जाता है ।

२. कृ और भू धातुओं का योग तो उदाहरणों में लँट् के द्वारा प्रदर्शित किया गया है । जैसे—कृष्णी करोति, ब्रह्मी भवति आदि । परन्तु अस् (होना) धातु के योग को लँट् लकार के द्वारा प्रदर्शित न कर विधिलिङ् के द्वारा क्यों प्रदर्शित किया गया है ? इस पर सब व्याख्याकार मौन धारण किये हुए हैं । केवल हरिनामामृतव्याकरण की बालतोषिणी व्याख्या में इस का समाधान इस तरह प्रस्तुत किया गया है—

अस्तेर्विध्यन्तस्यैव प्रयोगेऽभूततद्भावप्रतीतिः शब्दशक्तिस्वभावादिति सर्वशास्त्रसम्मतमित्यतो विध्यन्तमुदाहृतम् ॥

अर्थः — च्विँप्रत्यय के परे रहते अव्यय के अवर्ण के स्थान पर ईकार आदेश न हो —ऐसा कहना चाहिये ।

व्याख्या —अव्ययस्य ।६।१। च्वौ ।७।१। ईत्वम् ।१।१। न इत्यव्ययपदम् । इति इत्यप्यव्ययपदम् । वाच्यम् ।१।१। अर्थः—(च्वौ) च्विँ परे रहते (अव्ययस्य अस्य) अव्यय के अवर्ण के स्थान पर (ईत्वम्) ईकार आदेश (न) न हो (इति वाच्यम्) ऐसा कहना चाहिये ।

यह वार्त्तिक महाभाष्य में कहीं पढ़ा नहीं गया। परन्तु **अव्ययीभावश्च** (१.१.४०) सूत्र के भाष्य में इस की ओर संकेत पाया जाता है । अतः कौमुदीकार ने इसे वार्त्तिकरूप से प्रस्तुत किया है। जिस प्रातिपदिक से च्विँ प्रत्यय किया जाये यदि वह प्रातिपदिक अव्यय हो तो उस के अन्त्य अवर्ण को **अस्य च्वौ** (१२४३) द्वारा ईत्व नहीं होता — यह इस वार्त्तिक का तात्पर्य है । उदाहरण यथा—

अदोषा दोषा सम्पद्यमानं भूतम्—दोषाभूतम् अहः (जो रात्रि न था परन्तु रात्रि हो गया ऐसा दिन) ।[1] यहां 'दोषा' यह विकारवाचक प्रातिपदिक अपनी प्रकृति (अदोषा) के अर्थ में वर्त्तमान है । इस का भू धातु (भूतम्) के साथ योग भी है । अतः अभूततद्भाव में दोषा अव्यय से **कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विँः** (१२४२) सूत्रद्वारा च्विँ प्रत्यय कर — दोषा च्विँ (भूतम्) । अब च्विँ का सर्वापहारलोप हो कर **अस्य च्वौ** (१२४३) से दोषा के आकार को ईकार प्राप्त होता है । इस पर प्रकृत वार्त्तिक **अव्ययस्य च्वौ ईत्वं नेति वाच्यम्** (वा० ६८) से उस का निषेध हो जाता है क्योंकि दोषाशब्द अव्यय है — दोषा (भूतम्) । पुनः च्व्यन्त होने से गतिसञ्ज्ञा के कारण दोषा और भूत में गतिसमास हो कर दोषाभूतम् (अहः) प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—अदिवा दिवा सम्पद्यमाना भूता—दिवाभूता रात्रिः (जो दिन न थी पर दिन बन गई ऐसी रात) ।[2] यहां भी पूर्ववत् अभूततद्भाव अर्थ में 'दिवा' अव्यय से च्विँ, उस का सर्वापहारलोप, ईत्वनिषेध तथा अन्त में गतिसमास हो जाता है ।

सावधान—कई लोग —'अनेकत्र एकत्र सम्पद्यमानं भवति—एकत्री भवति । अनेकत्र एकत्र सम्पद्यमानं करोति—एकत्री करोति' इस प्रकार के प्रयोग किया करते हैं, ये सब सर्वथा अशुद्ध हैं । पहली बात तो यह है कि 'एकत्र' शब्द सम्पद्यधातु का कर्त्ता नहीं अपितु अधिकरण है, अतः इस से परे च्विँ प्रत्यय प्राप्त ही नहीं होता ।

---

१. जब दिन में घने बादलों या कोहरा आदि के आ जाने से प्रकाश का अभाव हो कर अन्धकार छा जाता है तब इस प्रकार की उक्ति कही जाती है—दोषाभूत-महः अर्थात् दिन भी यह रात हो गया है । दोषा अव्यय रात्रिवाचक है, इस का विवेचन पीछे अव्ययप्रकरण में किया जा चुका है ।

२. जब पूर्णचन्द्र आदि के कारण प्रकाशाधिक्य से रात भी दिन की तरह प्रकाशित हो उठती है तब इस प्रकार की उक्ति कही जाती है । यहां 'दिवा' अव्यय दिन का वाचक है, इस का विवेचन भी पीछे अव्ययप्रकरण में किया जा चुका है ।

साति

दूसरी बात यह है कि यदि च्विँ कर भी लें तो अव्यय होने से ईत्व न होगा (वा० ६८)। इसलिये ऐसे प्रयोग सर्वथा हेय हैं।

अब च्व्यर्थ में सातिँप्रत्यय का विधान दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२४४)

विभाषा सातिँ कार्त्स्न्ये ।५।४।५२।।

च्विँविषये सातिँर्वा स्यात् साकल्ये ।।

अर्थः—च्विँ के विषय में विकल्प से सातिँ प्रत्यय हो यदि सम्पूर्णता गम्य हो तो।

व्याख्या—विभाषा ।१।१। सातिँ इति लुप्तप्रथमैकवचनान्तं पदम्। कार्त्स्न्ये ।७।१। अभूततद्भावे, कृभ्वस्तियोगे, सम्पद्यकर्तरि इन पदों का पीछे से अनुवर्त्तन होता है। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। कृत्स्नस्य (सम्पूर्णस्य) भावः कार्त्स्न्यम्, भावे ष्यञ्। अर्थः—(अभूततद्भावे) अभूततद्भाव में (कृभ्वस्तियोगे) कृ, भू अथवा अस् धातु का योग होने पर (सम्पद्यकर्तरि) सम्पद्यधातु के कर्त्ता में वर्तमान प्रातिपदिक से (विभाषा) विकल्प कर के (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक (सातिँ) सातिँ प्रत्यय हो जाता है (कार्त्स्न्ये) कृत्स्नता=सम्पूर्णता गम्य हो तो।

तात्पर्य यह है कि यदि कार्त्स्न्य अर्थात् सम्पूर्ण प्रकृति का विकाररूप में परिणत होना गम्य हो तो च्विँ के विषय में सातिँ प्रत्यय विकल्प से प्रवृत्त हो जाता है। पक्ष में च्विँ भी हो जायेगा। महाविभाषा के अधिकार के कारण वाक्य भी रहेगा।

सातिँप्रत्यय का अन्त्य इकार अनुनासिक होने से इत्सञ्ज्ञक (२८) हो कर लुप्त हो जाता है। यह अनुबन्ध, तकार को इत् होने से बचाने के लिये जोड़ा गया है। सातिँप्रत्ययान्त शब्द **तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः** (३६८) से अव्ययसञ्ज्ञक होते हैं।

उदाहरण यथा—

कृत्स्नं शस्त्रम् अग्निः सम्पद्यते—अग्निसाद् भवति शस्त्रम् (सम्पूर्ण शस्त्र जो अग्नि नहीं आग हो जाता है अर्थात् जल जाता है)। यहां सम्पूर्ण शस्त्र जो अनग्नि है अग्निरूप विकार में परिणत हो रहा है अतः अभूतसद्भाव की सम्पूर्णता में 'सम्पद्यते' के कर्त्ता विकारवाचक 'अग्नि सुँ' से **विभाषा सातिँ कार्त्स्न्ये** (१२४४) इस प्रकृतसूत्र-द्वारा सातिँ तद्धितप्रत्यय हो कर इकार अनुबन्ध का लोप तथा **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् का भी लुक् कर देने से—अग्निसात् (भवति)। अब **तद्धितश्चाऽसर्व-विभक्तिः** (३६८) से सातिँप्रत्ययान्त के अव्ययसञ्ज्ञक हो जाने के कारण इस से परे उत्पन्न औत्सर्गिक सुँविभक्ति का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् हो कर **झलां जशोऽन्ते** (६७) से जश्त्वेन तकार को दकार करने से 'अग्निसाद् भवति' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। पक्ष में **कृभ्वस्तियोगे०** (१२४२) से च्विँ ला कर उस का सर्वापहारलोप, सुँब्लुक् तथा वक्ष्यमाण **च्वौ च** (१२४६) से इकार को दीर्घ कर विभक्तिकार्य करने से 'अग्नी भवति' प्रयोग भी सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—कृत्स्नं लवणमुदकं सम्पद्यते—उदकसाद् भवति लवणं वर्षासु (बरसात में सारा नमक पानी बन जाता है)। पक्ष में 'उदकी भवति' भी बनेगा। कृत्स्नं गृहं भस्म सम्पद्यते—भस्मसाद् भवति गृहम्, (पक्षे) भस्मी भवति गृहम् (सारा घर राख हो रहा है)। **यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा** (गीता ४.३७)। **स भस्मसाच्चकारारीन्** (भट्टि० १४.८०)।

'अग्निसात्' प्रयोग में 'सात्' प्रत्यय है, इस का अवयव सकार अपदान्त है और इण्प्रत्याहार से परे भी विद्यमान है अतः **आदेशप्रत्यययोः** (१५०) से इसे मूर्धन्य अर्थात् षकार होना चाहिये था जो नहीं हुआ, इस का क्या कारण है ? इस शङ्का के समाधान के लिये अग्रिमसूत्र का अवतरण करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१२४५) सात्पदाद्योः** ।८।३।१११॥

सस्य षत्वं न स्यात्। दधि सिञ्चति। कृत्स्नं शस्त्रम् अग्निः सम्पद्यते—अग्निसाद् भवति॥

अर्थः—सातिँप्रत्यय के सकार को तथा पद के आदि में स्थित सकार को मूर्धन्य (षकार) आदेश न हो।

व्याख्या—सात्पदाद्योः।६।२। सः।६।१। (**सहेः साडः सः** सूत्र से)। मूर्धन्यः।१।१। (**अपदान्तस्य मूर्धन्यः** सूत्र से)। न इत्यव्ययपदम् (**न रपरसृपिसृजि०** सूत्र से)। पदस्य आदिः पदादिः, षष्ठीतत्पुरुषः। सात् च पदादिश्च सात्पदादी, तयोः=सात्पदाद्योः, इतरेतरद्वन्द्वः। अर्थः—(सात्पदाद्योः) सात् के तथा पदादि के (सः) सकार के स्थान पर (मूर्धन्यः) मूर्धन्य षकार आदेश (न) नहीं होता। यह **आदेशप्रत्यययोः** (१५०) सूत्र का अपवाद है।

पदादि सकार के स्थान पर षकार न होने का उदाहरण यथा—

दधि सिञ्चति (दही छिड़कता है)। यहां 'सिञ्चति' यह **षिच क्षरणे** (तुदा० उभय०) धातु के लँट् लकार के प्रथमपुरुष का एकवचनान्त रूप है। यहां **शे मुचादीनाम्** (६५४) सूत्र से नुँम् का आगम तथा **धात्वादेः षः सः** (२५५) से धातु के आदि षकार के स्थान पर सकार आदेश हुआ है। आदेशरूप सकार होने से ('दधि' के इकार=इण् से परे) इसे **आदेशप्रत्यययोः** (१५०) से षत्व प्राप्त होता था जो अब **सात्पदाद्योः** (१२४५) इस प्रकृत निषेध के कारण नहीं हुआ। इसीप्रकार—वारि सिञ्चति, मधु सेवते आदि में समझ लेना चाहिये।

सात् में षत्वनिषेध का प्रकृत उदाहरण यथा—

कृत्स्नं शस्त्रम् अग्निः सम्पद्यते—अग्निसाद् भवति। यहां 'अग्निसात्' में प्रत्यय का अवयव सकार विद्यमान है, यह इण् से परे भी है अतः **आदेशप्रत्यययोः** (१५०) से षत्व की प्राप्ति होती है उस का प्रकृत **सात्पदाद्योः** (१२४५) सूत्र से निषेध हो जाता है—अग्निसात्। इसीप्रकार 'मधुसात्' आदि में जानना चाहिये।

सातिँप्रत्यय के अभाव में च्विँप्रत्यय (१२४२) होता है। च्विँ का सर्वापहार-

लोप आदि करने पर 'अग्नि (भवति)' इस दशा में दीर्घविधान करने के लिये अग्रिम-सूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२४६) **च्वौ च** ।७।४।२६॥

च्वौ च परे पूर्वस्य दीर्घः स्यात् । अग्नी भवति ॥

अर्थः—च्विँ के परे रहते भी पूर्व को दीर्घ हो ।

व्याख्या—च्वौ ।७।१। च इत्यव्ययपदम् । दीर्घः । १।१। (**अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः** सूत्र से) । अङ्गस्य । (यह अधिकृत है) । अचः ।६।१। (**अचश्च** इस परिभाषा-सूत्रद्वारा) । 'अचः' यह 'अङ्गस्य' का विशेषण है अतः विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'अजन्तस्याङ्गस्य' बन जाता है । अर्थः—(च्वौ) च्विँ परे होने पर (च) भी[1] (अचः=अजन्तस्य) अजन्त (अङ्गस्य) अङ्ग के स्थान पर (दीर्घः) दीर्घ आदेश हो जाता है । अलोऽन्त्यपरिभाषाद्वारा यह आदेश अजन्त अङ्ग के अन्त्य अल्=अच् के स्थान पर हो जाता है । अचों में अवर्ण के विषय में इस के अपवाद **अस्य च्वौ** (१२४३) सूत्र की प्रवृत्ति हो कर ईत्व हो जाता है । ऋकार के विषय में इस के अपवाद **रीङ् ऋतः** (१०४५) से रीङ् आदेश हो जाता है ।[2] अतः इन दोनों को छोड़ कर शेष अचों के विषय में इस की प्रवृत्ति होती है । परन्तु ए, ऐ, ओ, औ तो स्वयं दीर्घ हैं ही, इसलिये पारिशेष्यात् इकार और उकार के विषय में ही इस सूत्र की फलोन्मुखी प्रवृत्ति देखी जा सकती है । उदाहरण यथा—

अग्नि (भवति)—यहां सातिँ के अभावपक्ष में च्विँ का सर्वापहारलोप हो चुका है । प्रत्ययलक्षणद्वारा च्विँ को परे मान कर प्रकृत **च्वौ च** (१२४६) सूत्र से दीर्घ करने पर—अग्नी भवति । अब च्व्यन्त की गति और निपातसञ्ज्ञा (६५०) तथा निपातत्वात् अव्ययसञ्ज्ञा (३६७) कर **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से सुँविभक्ति का लुक् कर देने से 'अग्नी भवति' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसी तरह—अशुचिः शुचिः सम्पद्यते तं करोति—शुची करोति । शुची भवति । शुची स्यात् । अपटुः पटुः सम्पद्यते तं करोति—पटू करोति । पटू भवति । पटू स्यात् । इत्यादि ।

च्व्यन्तों के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) अस्वं स्वं सम्पद्यमानं करोति—स्वी करोति । स्वी भवति । स्वी स्यात् ।

---

१. अष्टाध्यायी में इस से पूर्व **अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः** (७.४.२५) सूत्रद्वारा दीर्घ का विधान किया गया है । पुनः च्विँ के परे रहते भी दीर्घ के समुच्चय के लिये यहां 'च' का ग्रहण किया गया है ।

२. **रीङ् ऋतः** (१०४५) । अर्थः—अकृद्यकारेऽसार्वधातुके यकारे च्वौ च परे ऋदन्तस्याङ्गस्य रीङ् आदेशः स्यात् । यथा—अपितरं पितरं सम्पद्यमानं करोति—पित्री करोति ।

(२) अनुन्मुखम् उन्मुखं सम्पद्यमानं करोति—उन्मुखी करोति। उन्मुखी भवति। उन्मुखी स्यात्।

(३) अघटं घटं सम्पद्यमानं करोति—घटी करोति मृदं कुम्भकारः। घटी भवति। घटी स्यात्।

(४) अराजानं राजानं सम्पद्यमानं करोति—राजी करोति। राजी भवति। राजी स्यात्।

(५) अपितरं पितरं सम्पद्यमानं करोति—पित्री करोति। पित्री भवति। पित्री स्यात्। (**रीङ् ऋतः** १०४५)।

(६) अमलिना बुद्धयो मलिनाः सम्पद्यमाना भवन्ति—मलिनी भवन्ति। **प्रायः समापन्नविपत्तिकाले धियोऽपि पुंसां मलिनी भवन्ति** (हितोप० १.२८)।

अब अव्यक्तध्वनि के अनुकरण से स्वार्थ में डाच् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— **(१२४७)**

अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच्।५।४।५७॥

द्व्यजेव अवरं न्यूनं न तु ततो न्यूनम् अनेकाजिति यावत्, तादृशम् अर्धं यस्य तस्माड् डाच् स्यात् कृभ्वस्तियोगे॥

अर्थः—(द्वित्व कर चुकने पर)[1] जिस के आधे भाग में कम से कम दो अच् पाये जायें ऐसे अव्यक्तानुकरण से स्वार्थ में तद्धितसञ्ज्ञक डाच् प्रत्यय हो, यदि कृ, भू या अस् धातु का योग हो तो। परन्तु यह प्रत्यय 'इति' शब्द के परे रहते नहीं होता।

व्याख्या—अव्यक्तानुकरणात्।५।१। द्व्यजवरार्धात्।५।१। अनितौ।७।१। डाच्।१।१। कृभ्वस्तियोगे।७।१। (**कृभ्वस्तियोगे सम्पद्य०** सूत्र से मण्डूकप्लुतिद्वारा)। **प्रत्ययः, परश्च, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः** इत्यादि पूर्वतः अधिकृत हैं। यत्र ध्वनौ अकारादयो वर्णविशेषा न व्यज्यन्ते सोऽव्यक्तो ध्वनिः। तस्यानुकरणम्—अव्यक्तानुकरणम्, तस्मात्=अव्यक्तानुकरणात्। षष्ठीतत्पुरुषः। द्वयोरचोः समाहारो द्व्यच्, द्व्यच् एव अवरम्=न्यूनान्यूनं न ततो न्यूनं द्व्यजवरम्, कर्मधारयसमासः। द्व्यजवरम् अर्धम् (अर्धभागः) यस्य तत्=द्व्यजवरार्धम्, तस्माद्=द्व्यजवरार्धात्, बहुव्रीहिसमासः। न इतिः—अनितिः, तस्मिन्=अनितौ, नञ्तत्पुरुषः। अर्थः—(द्व्यजवरार्धात्) जिस का आधा भाग कम से कम दो अचों वाला हो ऐसे (अव्यक्तानुकरणात्) अव्यक्तध्वनि के अनुकरण प्रातिपदिक से स्वार्थ में (तद्धितः) तद्धितसञ्ज्ञक (डाच्) डाच् प्रत्यय हो जाता है यदि (कृभ्वस्तियोगे) कृ, भू या अस् धातु का योग हो तो (अनितौ) परन्तु 'इति' शब्द के परे होने पर यह प्रत्यय नहीं होता।

---

१. डाच् की विवक्षा होते ही **डाचि च द्वे बहुलम्** (वा० ६९) इस अग्रिम वार्त्तिक से अव्यक्तानुकरण को सर्वप्रथम द्वित्व हो जाता है। द्वित्व के बाद ही इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है, अत एव यहां पर 'द्वित्व कर चुकने पर' ऐसा कहा गया है।

डाच् में चकार अनुबन्ध **लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्** (३.१.१३) सूत्र में विशेषणार्थ जोड़ा गया है[1] तथा डकार **टेः** (२४२) द्वारा टि का लोप करने के लिये लगाया गया है। दोनों अनुबन्धों का लोप कर डाच् का 'आ' मात्र शेष रहता है।

जब कोई पदार्थ धड़ाम से गिरता हुआ या अन्य किसी प्रकार से एकदम शब्द करता है तो उस अव्यक्तध्वनि का लोक में पटत्, दमत्, खरटत्, श्रत् आदि शब्दों से अनुकरण किया जाता है। उस अनुकरण को प्रकट करने के लिये उस से डाच् प्रत्यय किया जाता है। परन्तु अनुकरण से डाच् तभी होता है जब उस अनुकरण को द्वित्व करने पर उस के आधे भाग में कम से कम दो अच् पाये जाते हों। यथा—'पटत्' इस अव्यक्तानुकरण को द्वित्व कर 'पटत् पटत्' बनेगा। अब इस के आधे भाग 'पटत्' में दो अच् हैं। अतः कृ, भू, अस् धातुओं का योग होते ही इस से डाच् प्रत्यय हो जायेगा। कम से कम दो अचों का होना इसलिये कहा है कि दो से अधिक अच् होने पर भी इस की प्रवृत्ति हो जाये। यथा—'खरटत् खरटत्'। परन्तु जिस का अर्ध भाग एक अच् वाला होगा उस से डाच् न होगा। यथा—'श्रत् श्रत्' में डाच् नहीं होता।

अब डाच् की विवक्षा में सब से प्रथम द्वित्व का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(९९) डाचि च द्वे बहुलम् ॥

इति डाचि विवक्षिते द्वित्वम् ॥

अर्थः—डाच् की विवक्षा होने पर अव्यक्तानुकरण को बहुल से द्वित्व हो।

व्याख्या—यह वार्तिक **सर्वस्य द्वे** (८.१.१) के प्रकरण में महाभाष्यस्थ (८.१.१२) सूत्र पर पढ़ा गया है। 'डाचि' में विषयसप्तमी है। अर्थः—(डाचि) डाच् के विषय में (बहुलम्) बहुल कर के अव्यक्तानुकरण के स्थान पर (द्वे) दो शब्दस्वरूप हो जाते हैं। यह द्वित्व डाच् की विवक्षामात्र में अर्थात् डाच् करने से पूर्व ही हो जाता है। इस द्वित्व करने के बाद ही पूर्वसूत्र (१२४७) से डाच् की प्रवृत्ति होती है।

उदाहरण यथा—

'पटत्' एवं शब्दं करोति—पटपटा करोति ('पटत्' इस तरह की अव्यक्तध्वनि करता है)। यहां 'पटत्' यह किसी अव्यक्तध्वनि का अनुकरण है। इस से परे 'इति' शब्द नहीं है किञ्च इस का कृधातु के साथ कर्मत्वेन योग भी स्पष्ट है अतः डाच् की विवक्षा में डाच् के लाने से पूर्व ही **डाचि च द्वे बहुलम्** (वा० ९९) से 'पटत् अम्' को द्वित्व कर बाद में **अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच्** (१२४७) सूत्र से डाच् प्रत्यय एवम् उस के अनुबन्धों का लोप करने से—पटत् अम् पटत् अम् आ (करोति)। अब डाजन्त समग्र समुदाय के तद्धितान्त होने से **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) द्वारा प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर **सुपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से उस के अवयव दोनों

---

१. डाचश्चित्त्वं **लोहितादिडाज्भ्यः क्यष्** (३.१.१३) इति विशेषणार्थम्। तेन 'नाभा पृथिव्याः' इत्यादौ डेर्डादेशे निष्पन्नस्य अनुकरणे पटपटायतीत्यादाविव नाभा इति भवति इत्यर्थे क्यष्वारणायेति भाष्यस्वरसः। (इति लघुशब्देन्दुशेखरे नागेशः)

अम्प्रत्ययों का लुक् करने पर 'पटत् पटत् आ (करोति)' बना। अब इस स्थिति में अग्रिमवार्त्तिक से पररूप एकादेश का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(१००) नित्यमाम्रेडिते डाचीति वक्तव्यम् ॥

डाच्परं यद् आम्रेडितं तस्मिन् परे पूर्वपरयोर्वर्णयोः पररूपं स्यात्। इति तकारपकारयोः पकारः। पटपटा करोति ॥

अर्थः—डाच् है परे जिस के ऐसा जो आम्रेडित, उस के परे रहते पूर्व और पर दोनों वर्णों के स्थान पर पररूप एकादेश हो।

व्याख्या—यह वार्त्तिक **एकः पूर्वपरयोः** (६.१.८१) के अधिकार में पररूप-प्रकरण में पढ़ा गया है अतः तद्विषयक समझना चाहिये। अर्थः—(डाचि) डाच् के परे रहते जो (आम्रेडिते) आम्रेडित, उस के परे रहते (पूर्वपरयोः) पूर्व वर्ण तथा पर वर्ण दोनों के स्थान पर (नित्यम्) नित्य (पररूपम्) पररूप एकादेश हो जाता है।

द्वित्व का परला रूप आम्रेडित होता है—यह पीछे **तस्य परमाम्रेडितम्** (९९) सूत्र पर बताया जा चुका है। पटत् पटत् आ (करोति)—यहां डाच् (आ) के परे रहते दूसरा पटत् शब्द आम्रेडित है अतः **नित्यमाम्रेडिते डाचीति वक्तव्यम्** (वा० १००) इस प्रकृत वार्त्तिक से आम्रेडित के परे रहते पूर्ववर्ण (प्रथम पटत् का तकार) और उस से पर वर्ण (दूसरे पटत् का पकार) इन दोनों के स्थान पर पररूप पकार एकादेश हो जाता है—पट प् अटत् आ (करोति) = पटपटत् आ (करोति)। डाच् के परे रहते **यचि भम्** (१६५) सूत्र से पूर्व की भसञ्ज्ञा कर **टेः** (२४२) सूत्र से भसञ्ज्ञक टि (अत्) का लोप हो जाता है—पटपट् आ (करोति) = पटपटा (करोति)। अब 'पटपटा' की अव्ययसञ्ज्ञा होकर[1] इस से परे आई औत्सर्गिक सुँविभक्ति का **अव्ययादाप्सुँपः** (३७२) से लुक् करने पर 'पटपटा करोति' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—'दमत्' एवं शब्दं करोति—दमदमा करोति। 'खटत्' एवं शब्दं करोति—खटखटा करोति। अस् और भू धातुओं के योग में भी इसीतरह स्वार्थ में डाच् प्रत्यय हो जाता है। उदाहरणार्थ यथा— पटपटा भवति, पटपटा स्यात्। दमदमा भवति, दमदमा स्यात्। इत्यादि।

अब **अव्यक्तानुकरणाद्**० (१२४७) सूत्र के विषय को प्रत्युदाहरणों द्वारा और अधिक स्पष्ट करते हैं—

[लघु०] अव्यक्तानुकरणात् किम्? ईषत्करोति।
द्व्यजवरार्धात् किम्? श्रत् करोति।

---

१. 'पटपटा' शब्द डाजन्त है अतः **ऊर्यादि-च्विँ-डाचश्च** (९५०) से इस की गति और निपात दोनों सञ्ज्ञाएं हो जाती हैं। गतिसञ्ज्ञा के कारण **ते प्राग्धातोः** (४१६) द्वारा इस का धातु से पूर्व ही प्रयोग होता है—पटपटा करोति। 'करोति पटपटा' प्रयोग करना अशुद्ध है। निपातसञ्ज्ञा के कारण **स्वरादिनिपातमव्ययम्** (३६७) से इस की अव्ययसञ्ज्ञा हो जाती है।

अवरेति किम् ? खरटखरटा करोति ।
अनितौ किम् ? पटिति करोति ॥

व्याख्या—अव्यक्तानुकरणात् किम् ? ईषत्करोति । अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच् (१२४७) सूत्र में 'अव्यक्तानुकरणात्' कह कर अव्यक्तध्वनि के अनुकरण से ही डाच् का विधान किया गया है । यदि यह न कहते तो 'ईषत् करोति' (थोड़ा करता है) यहां भी डाच् होने लगता । 'ईषत्' शब्द 'थोड़ा' अर्थ में अव्यय है, यह किसी ध्वनि का अनुकरण नहीं, अतः इस से डाच् नहीं हुआ । डाच् के न होने से तन्मूलक द्वित्व आदि भी नहीं हुए ।

द्व्यजवरार्धादिति किम् ? श्रत् करोति ।

डाज्विधायकसूत्र (१२४७) में यह कहा गया है कि ऐसे अव्यक्तानुकरण से डाच् प्रत्यय होता है द्वित्व करने पर जिस के अर्ध भाग में कम से कम दो अच् रहते हों । यदि ऐसा न कहते तो 'श्रत् करोति' (श्रत् इस तरह अव्यक्तध्वनि करता है) यहां एकाच् वाले स्थानों पर भी डाच् हो जाता जो अनिष्ट था ।

अवरेति किम् ? खरटखरटा करोति ।

डाज्विधायकसूत्र (१२४७) में 'अवर' (न्यून=कम से कम) शब्द का प्रयोग किया गया है । उस का अभिप्राय यह है कि द्वित्व करने पर जिस के अर्धभाग में कम से कम दो अच् विद्यमान हों तो उस से डाच् हो जाता है । इसप्रकार के कथन से दो से अधिक अचों वाले अनुकरणों से भी डाच् हो जाता है । यथा—खरटखरटा करोति (खरटत् इस तरह अव्यक्तध्वनि करता है) । यहां द्वित्व करने पर अर्धभाग खरटत्शब्द में तीन अच् पाये जाते हैं । अतः यहां भी डाच् प्रत्यय निर्बाध हो जाता है । यदि 'द्व्यजवर' (कम से कम दो अचों वाला) न कह कर 'द्व्यच्' (दो अचों वाला) इतना मात्र कहते तो दो से अधिक अचों की अवस्था में डाच् न हो सकता ।[1]

अनितौ किम् ? पटिति करोति ।

डाज्विधायकसूत्र में 'अनितौ' इसलिये कहा गया है कि 'इति' शब्द के परे रहते डाच् न हो । डाच् न होगा तो तन्मूलक द्वित्व भी न होगा । यथा—'पटत्+इति' यहां 'इति' शब्द परे है अतः **अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच्** (१२४७) से

१. वस्तुतः 'द्व्यजवरार्धात्' के स्थान पर यदि सूत्रकार 'अनेकाचः' कह देते तो अच्छा होता, अनेक झञ्झटों से छुटकारा मिल जाता तथा प्रक्रिया भी बहुत सरल हो जाती । तब डाच् की विवक्षा में पहले द्वित्व कर फिर उस के अर्धभाग में कम से कम दो अचों को देखने आदि की आवश्यकता ही न होती । सीधा जो अनेकाच् होता उस से डाच् और डाच् के परे रहते द्वित्व हो जाता । सम्भवतः आचार्य ने यहां किसी पूर्वव्याकरण का आश्रय लिया होगा । पाणिनीयव्याकरण के सूत्रपाठ को वेदाङ्ग मानने वाले वैयाकरण ऐसे स्थलों को प्रायः अदृष्टार्थ ही माना करते हैं ।

डाच् न होगा। अब यहां **अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ** (६.१.९५)[1] सूत्र से 'पटत्' के 'अत्' तथा 'इति' के आदि 'इ' के स्थान पर पररूप (इ) एकादेश हो कर—पट् इ ति='पटिति करोति' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार— धमत्+इति=धमिति करोति। खरटत्+इति=खरटिति करोति।

अभ्यास [१६]

(१) निम्नस्थ प्रयोगों की ससूत्र सिद्धि प्रदर्शित करें—

१. अन्नमयम्। २. अश्वकः। ३. अन्नमयो यज्ञः। ४. प्राज्ञः। ५. आदितः। ६. कृष्णी करोति। ७. ब्रह्मी भवति। ८. दोषाभूतमहः। ९. अग्नी भवति। १०. पटपटा करोति। ११. चौरः। १२. अग्निसाद् भवति। १३. गङ्गी स्यात्। १४. भस्मसात् कुरुते। १५. स्वी चकार। १६. शुची भवति। १७. दमदमा भवति। १८. कौतूहलम्। १९. राक्षसः। २०. अल्पशो ददाति।

(२) निम्नस्थ विग्रहों के तद्धितान्त रूप सिद्ध करें—

१. स्वरेण। २. मध्ये। ३. बहूनि ददाति। ४. अश्व एव। ५. कृत्स्नं गृहं भस्म भवति। ६. खरटत् एवं शब्दं करोति। ७. अपटुः पटुः सम्पद्यते तं करोति। ८. अदिवा दिवा सम्पद्यमाना भूता। ९. कृत्स्नं लवणमुदकं सम्पद्यते। १०. अपितरं पितरं सम्पद्यमानं करोति। ११. चर एव। १२. अशुक्लं शुक्लं सम्पद्यमानं करोति। १३. प्राचुर्येण प्रस्तुता अपूपा यस्मिन्।

(३) निम्नस्थ सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—

१. तत्प्रकृतवचने मयट्। २. इवे प्रतिकृतौ। ३. कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः। ४. बह्वल्पार्थात् शस् कारकादन्यतरस्याम्। ५. अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यजवरार्धादनितौ डाच्। ६. विभाषा साति कार्त्स्न्ये। ७. सात्पदाद्योः। ८. जीविकार्थे चाऽपण्ये। ९. अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ। १०. अस्य च्वौ।

---

१. **अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ** (६.१.९५)। अर्थः—अव्यक्तानुकरण के 'अत्' तथा उस से परे इतिशब्द के आदि इकार के स्थान पर पररूप एकादेश हो जाता है। यथा—घटत्+इति=घटिति। छमत्+इति=छमिति। झटत्+इति=झटिति। [पटिति को प्रत्युदाहरण के रूप में प्रस्तुत करने वाले लघुकौमुदीकार को यहां यह सूत्र अवश्य देना चाहिये था। अथवा—लघुकौमुदीकार ने शायद यह समझ लिया होगा कि इस का निर्वाह तो 'पतत्+अञ्जलि=पतञ्जलिः' की तरह **शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्** (वा० ८) वार्तिक से ही कर लिया जायेगा क्योंकि शकन्ध्वादियों को आकृतिगण तो माना ही हुआ है।]

(४) निम्नस्थ वार्त्तिकों वा वचनों की व्याख्या करें—
१. अव्ययस्य च्वावीत्वं नेति वाच्यम् ।
२. डाचि च द्वे बहुलम् ।
३. नित्यमाम्रेडिते डाचीति वक्तव्यम् ।
४. आद्यादिभ्यस्तसेरुपसंख्यानम् ।
५. सर्वप्रातिपदिकेभ्यः स्वार्थे कन् ।
६. बह्वल्पार्थान्मङ्गलाऽमङ्गलवचनम् ।
७. च्व्यन्तत्वादव्ययत्वम् ।
८. अवरेति किम् ? खरटखरटा करोति ।

(५) **रामं सीतां लक्ष्मणं जीविकार्थे**
विक्रीणीते यो नरस्तं च धिग्धिक् ।
अस्मिन् पद्ये योऽपशब्दं न वेत्ति
व्यर्थप्रज्ञं पण्डितं तँ च धिग्धिक् ॥
इस पद्य में कौन कौन से अपशब्द हैं, उन का सप्रमाण विवेचन करें ।

(६) 'पटपटा करोति' को 'करोति पटपटा' क्यों नहीं लिखा जा सकता ? क्या इन दोनों में कोई समास हुआ है ?

(७) 'एकत्री भवन्ति' प्रयोग के शुद्धाशुद्धत्व का विवेचन करें ।

(८) प्रज्ञादियों से स्वार्थे अण् के चार उदाहरण दीजिये ।

(९) च्विँ के प्रसङ्ग में अस् धातु के विधिलिङ् का ही क्यों उदाहरण दिया जाता है, अन्य लकारों का क्यों नहीं ?

(१०) 'पटिति' में किस सूत्र से किस प्रकार की सन्धि होती है ? यहां डाच् की प्रवृत्ति क्यों नहीं होती ?

(११) प्रज्ञा, प्राज्ञा, प्राज्ञी— तीनों की ससूत्र सिद्धि प्रदर्शित करें ।

(१२) च्विँ के परे रहते अवर्ण, इवर्ण, उवर्ण और ऋवर्ण के स्थान पर क्या क्या आदेश होते हैं ? सप्रमाण सोदाहरण स्पष्ट करें ।

(१३) 'द्व्यजवरार्धात्' का अभिप्राय अपने शब्दों में स्पष्ट कीजिये ।

(१४) 'तत्प्रकृतवचने मयट्' सूत्र की द्विविध व्याख्या कैसे और किस आधार पर की जाती है ?

(१५) निम्नस्थ प्रश्नों के समुचित उत्तर दीजिये—
[क] 'प्रतिकृति' से यहां क्या अभिप्रेत है ?
[ख] 'अग्निसाद्भवति' में सकार को षत्व क्यों नहीं हुआ ?
[ग] 'दधि सिञ्चति' में षत्व हो या न हो ?
[घ] 'श्रत् करोति' में डाच् की प्रवृत्ति क्यों नहीं होती ?

[ङ] सार्वविभक्तिक तसिँ किसे कहते हैं ?

[च] च्विँ का सर्वापहारलोप किस प्रकार हो जाता है ?

[छ] देवता एव दैवतः—यहां प्रकृतिलिङ्गता क्यों नहीं होती ?

[ज] अभूततद्भाव का क्या आशय है ?

[झ] अव्यक्तानुकरण से क्या अभिप्रेत है ?

[लघु०] इति स्वार्थिकाः ॥

इति तद्धितप्रकरणम् ॥

[यहां पर स्वार्थिक प्रत्ययों का विवेचन समाप्त होता है ।]

[तद्धितप्रकरण का भी विवेचन यहां समाप्त होता है ।]

इति भूतपूर्वाऽखण्डभारतान्तर्गत-सिन्धुतटवर्ति-डेराइस्माईल-खानाख्य-नगरवास्तव्य - भाटियावंशावतंस-स्वर्गत - श्रीमद्रामचन्द्रवर्मसूनुना एम्० ए० साहित्यरत्नेत्याद्यनेकोपाधिभृता वैद्येन भीमसेनशास्त्रिणा विरचितायां लघुसिद्धान्तकौमुद्या भैमीव्याख्यायां तद्धितप्रकरणाख्योऽयम् पञ्चमो भागः पूर्तिमगात् ॥

वसु-वेद-नभो-नेत्रे वैक्रमे शुभवत्सरे ।
वारे शुक्रे तृतीयायां ज्येष्ठमासाऽसिते दले ॥
चिरात्प्रतीक्षितो भागो भैमीव्याख्याविभूषितः ।
तद्धितान् विषयीकृत्य पञ्चमः पूर्त्तिमागतः ॥

ज्येष्ठ कृष्णपक्ष (३१.५.१९९१ ई०)
तृतीया, सं० २०४८ वि०

अथ परिशिष्टानि

(१) परिशिष्ट—विशेष स्मरणीय पद्य वा वचन

[भैमीव्याख्या के इस तद्धितप्रकरण में उद्धृत सैंकड़ों वचनों में से कुछ विशेष स्मरणीय पद्य या वचन यहां संगृहीत किये गये हैं ।]

(१) तेभ्यः (प्रयोगेभ्यः) हिताः—तद्धिताः । (पृष्ठ २)

(२) संगच्छ पौंस्नि स्त्रैणं मां युवानं तरुणी शुभे ।
राघवः प्रोष्य-पापीयान् जहीहि तमकिञ्चनम् ॥ (पृष्ठ १७)

(३) सैष दाशरथी रामः सैष राजा युधिष्ठिरः ।
सैष कर्णो महात्यागी सैष भीमो महाबलः ॥ (पृष्ठ ३१)

(४) त्यजस्व कोपं कुलकीर्तिनाशनं भजस्व धर्मं कुलकीर्तिवर्धनम् ।
प्रसीद जीवेम सबान्धवा वयं प्रदीयतां दाशरथाय मैथिली ॥ (पृष्ठ ३१)

(५) सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद् वृत्तौ यच्च वार्त्तिके ।
सूत्रं योनिरिहार्थानां सर्वं सूत्रे प्रतिष्ठितम् ॥ (पृष्ठ ३५)

(६) शुभ्रादित्वेन गाङ्गेयो गाङ्गश्चापि शिवाद्यणि ।
गाङ्गायनिस्तिकादित्वादिति गङ्गा त्रिरूपिणी ॥ (पृष्ठ ३८)

(७) नक्षत्रगामिन्यणि तिष्यपुष्ययोश्छे ङ्यां च लोपोऽयमगस्त्यसूर्ययोः ।
ङ्यामेव मत्स्यस्य भवेदितीरणाद् व्यनाशि सूत्रं प्रविभज्य वार्त्तिके ॥
(पृष्ठ ६४)

(८) सिद्धे यस्येतिलोपेन किमर्थं य-यतौ ङितौ ।
ग्रहणं माऽतदर्थे भूद् वामदेव्यस्य नञ्स्वरे ॥ (पृष्ठ ६८)

(९) एकश्च बल्वजो बन्धनेऽसमर्थः, तत्समुदायश्च रज्जुः समर्था भवति ।
(पृष्ठ ९४)

(१०) शैषिकान्मतुबर्थीयाच्छैषिको मतुबर्थकः ।
सरूपः प्रत्ययो नेष्टः सन्नन्तान्न सनिष्यते ॥ (पृष्ठ १०९)

(११) अमेह-क्व-तसि-त्रेभ्यस्त्यब्विधिर्योऽव्ययात् स्मृतः ।
निनिर्भ्यां ध्रुवगत्योश्च प्रवेशो नियमे तथा ॥ (पृष्ठ ११९)

(१२) गता वेदविद्या गतं धर्मशास्त्रं गतं रे गतं रे गतं न्यायसूत्रम् ।
इदानीन्तनानां जनानां प्रवृत्तिः सुबन्ते तिङन्ते कदाचित् कृदन्ते ॥
(पृष्ठ १३९)

(१३) नहि देवदत्तः स्रुघ्ने सन्निधीयमानस्तदहरेव पाटलिपुत्रे सन्निधीयते ।
युगपदनेकत्र वृत्तावनेकत्वप्रसङ्गः स्यात् । (पृष्ठ १३९)

(१४) प्रायशब्दः साकल्यस्य किञ्चिन्न्यूनतामाह । (पृष्ठ १४१)

(१५) कारणे कार्यसद्भावपक्षात् सम्भूततोच्यते ।
विकारे वाच्यमेण्या ढञ् कोशाच्चेत्याह भाष्यकृत् ॥ (पृष्ठ १४४)

(१६) प्राण्योषधितरुभ्यस्तु विकारावयवार्थयोः ।
अन्येभ्यस्तु विकारेऽर्थे प्रत्ययाः स्युरतः परम् ॥ (पृष्ठ १७३)

(१७) इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नाऽपिशली शाकटायनः ।
पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः ॥ (पृष्ठ १६२)

(१८) ग्रामात्क्रोशे निवस्तव्यं भिक्षुणेति विधीयते ।
तादृङ् निकटवासेऽयं विधिर्नैकटिको यतिः ॥ (पृष्ठ १६८)

(१९) अंशभूतं किलानाम्यत्रिति वृत्तावुदीरितम् ।
मूलद्रव्याङ्गभूतत्वाल्लाभस्यात्रास्ति मूल्यता ॥ (पृष्ठ २०७)

(२०) वैतण्डिकः प्रयतते निजपक्षसिद्ध्यै ताञ्चैष वेद परपक्षनिषधलभ्याम् ।
(पृष्ठ २११)

(२१) अन्यच्छब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम् ॥ (पृष्ठ २४२)

(२२) पृथुं मृदुं भृशं चैव कृशं च दृढमेव च ।
परिपूर्वं वृढं चैव षडेतान् रविधौ स्मरेत् ॥ (पृष्ठ २४६)

(२३) अधः पश्यसि किं वृद्धे ! पतितं तव किं भुवि ।
रे रे मूढ ! न जानासि गतं तारुण्यमौक्तिकम् ॥ (पृष्ठ २५४)

(२४) एतदध्यस्य कापेयं यदर्कमुपतिष्ठति ॥ (पृष्ठ २५८)

(२५) एष प्रावृषिजाम्भोदनादी भ्राता विरौति ते ।
ज्ञातेयं कुरु सौमित्रे ! भयात् त्रायस्व राघवम् ॥ (पृष्ठ २५६)

(२६) यव-गोधूम-धान्यानि तिलाः कङ्गु-कुलत्थकाः ।
माषा मुद्गा मसूराश्च निष्पावाः श्याम-सर्षपाः ॥
गवेधुकाश्च नीवारा आढक्यश्च सतीनकाः ।
चणकाश्चीणकाश्चैव धान्यान्यष्टादशैव तु ॥ (पृष्ठ २६१)

(२७) बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते पिपासितैः काव्यरसो न पीयते ।
न छन्दसा केनचिदुद्धृतं कुलं हिरण्यमेवार्जय निष्फला गुणाः ॥
(पृष्ठ २६७)

(२८) प्रथमश्च द्वितीयश्च ऊर्ध्वमाने मतौ मम ॥ (पृष्ठ २६६)

(२९) कियन्मात्रं जलं विप्र ! जानुदघ्नं नराधिप ।
तथापीयमवस्था ते, न हि सर्वे भवादृशाः ॥ (पृष्ठ २६६)

(३०) उदितवति परस्मिन् प्रत्यये शास्त्रयोनौ
गतवति विलयं च प्राकृतेऽपि प्रपञ्चे ।
सपदि पदमुदीते केवलः प्रत्ययो यत्
तदियदिति मिमीते को हृदा पण्डितोऽपि ॥ (पृष्ठ २७३)

(३१) भूम-निन्दा-प्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।
सम्बन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥ (पृष्ठ ३०२)

(३२) गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणिलिङ्गास्तु तद्वति ॥ (पृष्ठ ३०६)

(३३) एकाक्षरात् कृतो जातेः सप्तम्यां च न तौ स्मृतौ ॥ (पृष्ठ ३१४)

(३४) नहि व्यञ्जनपरस्य एकस्यानेकस्य वा श्रवणं प्रति विशेषोऽस्ति। (पृष्ठ ३१६)

(३५) यो हि सम्यग्बहु भाषते वाग्मीत्येव भवति ॥ (पृष्ठ ३१६)

(३६) न कर्मधारयान्मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेत्तदर्थप्रतिपत्तिकरः ॥ (पृष्ठ ३२३)

(३७) अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्ति ॥ (पृष्ठ ३२५)

(३८) किंशब्दाद् द्व्यादिवर्जाच्च सर्वनाम्नो बहोरपि।
प्राग्दिशः प्रत्यया ज्ञेया नाऽपरेभ्यो भवन्त्यमी ॥ (पृष्ठ ३२७)

(३९) अहरुभयतोऽर्धरात्रमेषोऽद्यतनः कालः ॥ (पृष्ठ ३४२)

(४०) बौद्धप्रतियोग्यपेक्षायामप्यातिशायनिकाः ॥ (पृष्ठ ३५७)

(४१) यदा च प्रकर्षवतां पुनः प्रकर्षो विवक्ष्यते तदातिशायिकान्तादपर आतिशायनिकः प्रत्ययो भवत्येव ॥ (पृष्ठ ३७१)

(४२) आतिशायनिकप्रत्ययान्ताद् आतिशायनिको न अनभिधानात् ॥ (पृष्ठ ३७१)

(४३) स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यनुवर्तन्ते ॥ (पृष्ठ ३७२)

(४४) क्वचित्स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्तन्तेऽपि ॥ (पृष्ठ ३७२)

(४५) स्यादीषदसमाप्तौ तु बहुच् प्रकृतिलिङ्गता ॥ (पृष्ठ ३७४)

(४६) साद्योदादिभऊरादिसुप्सु स्यात्प्रकृतेरकच्।
अन्यत्र तु सुबन्तस्येत्याहुर्भोजहरादयः ॥ (पृष्ठ ३७८)

(४७) कादेशः खल्वप्यवश्यं साकच्कार्थो वक्तव्यः ॥ (पृष्ठ ३८५)

(४८) रामं सीतां लक्ष्मणं जीविकार्थे
विक्रीणीते यो नरस्तं च धिग्धिक्।
अस्मिन्पद्ये योऽपशब्दं न वेत्ति
व्यर्थप्रज्ञं पण्डितं तं च धिग्धिक् ॥ (पृस्ठ ३९०)

(४९) दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा
मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह ॥ (पृष्ठ ३९७)

(५०) नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्।
यन्न पदार्थविशेषसमुत्थं प्रत्ययतः प्रकृतेश्च तदूह्यम् ॥ (पृष्ठ ३९७)

—:×:—

(२) परिशिष्ट—तद्धितप्रकरणगताऽष्टाध्यायीसूत्रतालिका

[इस परिशिष्ट में तद्धितप्रकरण में व्याख्यात अष्टाध्यायीसूत्रों की अकारादि-क्रम से तालिका दी जा रही है। मूलोक्त सूत्र स्थूल टाइप में तथा व्याख्योक्त सूक्ष्म टाइप में मुद्रित किये गये हैं। सूत्रों के आगे इस ग्रन्थ की पृष्ठसंख्या दी गई है।]

(३) परिशिष्ट—तद्धितप्रकरणान्तर्गतवार्त्तिकादितालिका

[इस परिशिष्ट में तद्धितप्रकरणान्तर्गत वार्त्तिकों, गणसूत्रों, न्यायों, परिभाषाओं एवं महत्त्वपूर्ण भाष्यादिवचनों की अकारादिक्रम से सूची दी जा रही है। इन के आगे इस ग्रन्थ की पृष्ठसंख्या दी गई है।] संकेत—वा० = वार्त्तिक, ग. सू. = गणसूत्र, का. = काशिका, प० = परिभाषा, भाष्य = महाभाष्य इत्यादि।

(४) परिशिष्ट—मूलतद्धितप्रकरणगतोदाहरणतालिका

लघुसिद्धान्तकौमुदी के तद्धितप्रकरण में पठित समस्त उदाहरणों की अकारादिक्रम से यहां अनुक्रमणी दी जा रही है। इस के आगे तत्तद्रूपों के सिद्धिस्थल की पृष्ठ-संख्या अङ्कित की गई है। ध्यान रहे कि यहां मूलोक्त उदाहरणों की ही सूची दी गई है, भैमीव्याख्योक्त सैंकड़ों अन्य उदाहरण इस में संगृहीत नहीं।

(५) परिशिष्ट—तद्धितप्रत्ययानुक्रमणिका

[लघुकौमुदीस्थ तद्धितप्रकरण में लगभग एक सौ तद्धित प्रत्यय पाये जाते हैं, उन को अकारादिक्रम से यहां तालिका प्रस्तुत की जा रही है। प्रत्ययों के आगे कोष्ठकों में तत्तत्प्रत्ययों का अनुबन्धरहित शुद्ध रूप तथा उस प्रत्यय के विधायक किसी एक सूत्र का कौमुदीगत संख्याङ्क दिया गया है। प्रत्येक प्रत्यय के अन्त में छात्रों के सुखावबोधार्थ एक एक उदाहरण भी निर्दिष्ट कर दिया गया है।]

अ। (वा० ७१)। उडुलोमाः।
अकच् (अक्)। (१२३३)। त्वयका।
अच् (अ)। (११९५)। अर्शसः।
अञ् (अ)। (१००२)। औत्सः।
अण् (अ)। (१०१७)। शैवः।
अत् (अ)। (१२०६)। क्व।
आमुँ (आम्)। (१२२१)। किन्तमाम्।
इञ् (इ)। (१०१४)। दाक्षिः।
इतच् (इत)। (११६७)। तारकितं नभः।
इनिँ (इन्)। (११९१)। दण्डी।
इमनिँच् (इमन्)। (११५५)। प्रथिमा।
इलच् (इल)। (११८८)। पिच्छिलः।
इष्ठन् (इष्ठ)। (१२१८)। लघिष्ठः।
ईकक् (ईक)। (वा० ९१)। बाह्लीकः।
ईयसुँन् (ईयस्)। (१२२२)। लघीयान्।
उरच् (उर)। (११८९)। दन्तुरः।
एण्य। (१०८५)। प्रावृषेण्यः।
क। (१२३२)। अश्वकः।
कन् (क)। (१२३८)। अश्वकः।
कल्पप् (कल्प)। (१२३०)। विद्वत्कल्पः।
ख (ख = ईन)। (११४१)। विश्वजनीनम्
खञ (ख = ईन)। (११६४)। मौद्गीनम्।
ग्मिनिँ (ग्मिन्)। (११९४)। वाग्मी।
घ (घ = इय)। (१०२५)। क्षत्रियः।
घन् (घ = इय)। (१०४२)। शुक्रियम्।
च्विँ (×)। (१२४२)। कृष्णी करोति।
छ (छ = ईय)। (१०७७)। शालीयः।
ट्यण् (य)। (१०४३)। सौम्यम्।
ट्यु (यु = तन)। (१०८६)। सायन्तनम्।
ट्युल् (यु = तन)। (१०८६)। चिरन्तनम्।
ठक् (ठ = इक)। (१०२६)। रैवतिकः।
ठञ् (ठ, इक)। (वा० ८६)। आध्यात्मिकम्
ठन् (ठ = इक)। (११९१)। दण्डिकः।
ठप् (ठ = इक)। (१०८८)। प्रावृषिकः।
डट् (अ)। (११७५)। एकादशः।
डतमच् (अतम)। (१२३७)। कतमः।
डतरच् (अतर)। (१२३६)। कतरः।
डाच् (आ)। (१२४७)। पटपटा करोति।
ड्मतुँप् (मत्)। (१०६३)। कुमुद्वान्।
ड्य (य)। (१०३७)। वामदेव्यम्।
ड्यण् (य)। (वा० ७५)। पाण्ड्यः।
ड्यत् (य)। (१०३७)। वामदेव्यम्।
ड्वलच् (वल)। (१०६६)। नड्वलः।
ढक् (ढ = एय)। (११६२)। कापेयम्।
ढञ् (ढ = एय)। (१०९१) कौशेयम्।
ण्य (य)। (१०२९)। कौरव्यः।
तमप् (तम)। (१२१८)। लघुतमः।
तयप् (तय)। (११७२)। पञ्चतयम्।
तरप् (तर)। (१२२२)। लघुतरः।
तल् (त)। (११५३)। गोता।
तसिँ (तस्)। (वा० ९६)। आदितः।
तसिँल् (तस्)। (११९९)। कुतः।
तीय। (११७९)। द्वितीयः।
त्यक् (त्य)। (१०७२)। दाक्षिणात्यः।
त्यप् (त्य)। (१०७८)। अमात्यः।
थाल् (था)। (१२०४)। यथा।

त्व । (११५३) । गोत्वम् ।
थमुँ (थम्) । (१२१६) । इत्थम् ।
थाल् (था) । (१२१५) । यथा ।
दघ्नच् (दघ्न) । (११६८) । ऊरुदघ्नम् ।
दा । (१२१०) । सदा, सर्वदा ।
देशीयर् (देशीय) । (१२३०) । विद्वद्देशीयः ।
देश्य । (१२३०) । विद्वद्देश्यः ।
द्वयसच् (द्वयस) । (११६८) । ऊरुद्वयसम् ।
न । (११८८) । पामनः ।
नञ् (न) । (१००३) । स्त्रैणः ।
फक् (फ=आयन) । (१०१२) । गार्ग्यायणः
बहुच् (बहु) । (१२३१) । बहुपटुः ।
म । (१०८३) । मध्यमः ।
मतुँप् (मत्) । (११८५) । गोमान् ।
मयट् (मय) । (१११२) । अश्ममयम् ।
मात्रच् (मात्र) । (११६८) । ऊरुमात्रम् ।
य । (११३६) । सभ्यः ।
यक् (य) । (११६३) । सैनापत्यम् ।
यञ् (य) । (१००८) । गार्ग्यः ।
यत् (य) । (१११५) । गव्यम् ।
युस् (यु) । (११९६) । अहंयुः ।
व । (११९०) । केशवः ।
वतिँ (वत्) । (११५१) । ब्राह्मणवदधीते ।
वतुँप् (वत्) । (११६९) । यावान् ।
वलच् (वल) । (१०६७) । शिखावलः ।
विनिँ (विन्) । (११९३) । यशस्वी ।
वुञ् (वु, अक) । (११००) । औपाध्यायकः
वुन् (वु=अक) । (१०५५) । क्रमकः ।
रूप्य । (११०१) । समरूप्यम् ।
र्हिल् (र्हि) । (१२१३) । कर्हि ।
लच् (ल) । (११८७) । चूडालः ।
श । (११८८) । लोमशः ।
शस् । (१२४१) । बहुशो ददाति ।
ष्यञ् (य) । (११६०) । जाड्यम् ।
सातिँ (सात्) । (१२४४) । अग्निसाद्भवति
स्नञ् (स्न) । (१००३) । पौंस्नः ।
ह । (१२०५) । इह ।

नोट—आचार्य ने कुछ तद्धितान्तशब्द निपातन के द्वारा भी सिद्ध किये हैं। यथा—पितृव्य, मातुल, मातामह, पितामह, पङ्क्ति, विंशति, त्रिंशत्, चत्वारिंशत्, पञ्चाशत्, षष्टि, सप्तति, अशीति, नवति, शतम् आदि ।

(६) परिशिष्ट—विशेष—द्रष्टव्य-स्थल-तालिका

[इस तालिका में इस व्याख्या के कतिपय द्रष्टव्यस्थलों का निर्देश किया गया है । आगे पृष्ठसंख्या दी गई है ।]



भैमी प्रकाशन

के ग्रन्थों की नवीन सूची 2003

१. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (प्रथम भाग)   250/- रु०

लेखक के दीर्घकालिक व्याकरणाध्यापन का यह निचोड़ है । कौमुदी पर इस प्रकार की विस्तृत वैज्ञानिक विश्लेषणात्मक हिन्दी व्याख्या आज तक नहीं निकली । इस व्याख्या के **सन्धि षड्लिङ्ग तथा अव्ययप्रकरणात्मक** प्रथम भाग में प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद, विभक्तिवचन, समास-विग्रह, अनुवृत्ति, अधिकार, सूत्रगत तथा अनुवर्तित प्रत्येक पद का अर्थ, परिभाषाजन्य विशेषता, अर्थ की निष्पत्ति, उदाहरण प्रत्युदाहरण तथा विस्तृत सिद्धि देते हुए छात्रों और अध्यापकों के मध्य आने वाली प्रत्येक शङ्का का पूर्ण विस्तृत समाधान प्रस्तुत किया गया है। इस हिन्दी व्याख्या की देश-विदेश के डेढ़ सौ से अधिक विद्वानों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है । स्थान-स्थान पर परिपठित विषय के आलोडन के लिए बड़े यत्न से पर्याप्त विस्तृत अभ्यास सङ्गृहीत किये गये हैं । इस व्याख्या की रूपमालाओं में अनुवादोपयोगी लगभग दो हज़ार शब्दों का अर्थसहित बृहत्संग्रह प्रस्तुत करते हुए णत्वप्रक्रियोपयुक्त प्रत्येक शब्द को चिह्नित किया गया है । आज तक लघुकौमुदी की किसी भी व्याख्या में ऐसी विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती । व्याख्या की सबसे बड़ी विशेषता अव्ययप्रकरण है । प्रत्येक अव्यय के अर्थ का विस्तृत विवेचन करके उसके लिए विशाल संस्कृत वाङ्मय से किसी न किसी सूक्ति वा प्रसिद्ध वचन को सङ्गृहीत करने का प्रयास किया गया है । अकेला **अव्ययप्रकरण** ही लगभग सौ पृष्ठों में समाप्त हुआ है । एक विद्वान् समालोचक ने ग्रन्थ की समालोचना करते हुए यहां तक कहा था कि—**यदि लेखक ने अपने जीवन में अन्य कोई प्रणयन न कर केवल अव्यय-प्रकरण ही लिखा होता तो केवल यह प्रकरण ही उसे अमर करने में सर्वथा समर्थ था ।** सन्धिप्रकरण में लगभग एक हजार अभूतपूर्व नये उदाहरण विद्यार्थियों के अभ्यास के लिए संकलित किये गये हैं--उदाहरणार्थ अकेले **इको यणचि** सूत्र पर ५० नये उदाहरण दिये गये हैं। इस व्याख्या में ग्रन्थगत किसी भी शब्द की रूपमाला को तद्वत् नहीं लिखा गया प्रत्युत प्रत्येक शब्द एवं धातु की पूरी-पूरी सार्थ रूपमाला दी गई है । स्थान-स्थान पर समझाने के लिए नाना प्रकार के कोष्ठकों और चक्रों से यह ग्रन्थ ओत-प्रोत है । इस प्रकार का यत्न व्याकरण के किसी भी ग्रन्थ पर अद्ययावत् नहीं किया गया । यह व्याख्या छात्रों के लिए ही नहीं अपितु अध्यापकों तथा अनुसन्धान-प्रेमियों के लिए भी अतीव उपयोगी है । अन्त में अनुसन्धानोपयोगी कई परिशिष्ट दिये गये हैं ।

२. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (द्वितीय भाग) 300/- रु०

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी के इस भाग में **दस गण** और **एकादश प्रक्रियाओं** की विशद व्याख्या प्रस्तुत की गई है । तिङन्तप्रकरण व्याकरण की पृष्ठास्थि (Back bone) समझा जाता है । क्योंकि धातुओं से ही विविध शब्दों की सृष्टि हुआ करती है । अत: इस भाग की व्याख्या में विशेष श्रम किया गया है । लगभग दो सौ ग्रन्थों के आलोडन से इस भाग की निष्पत्ति हुई है । प्रत्येक सूत्र के पदच्छेद, विभक्तिवचन, समासविग्रह, अनुवृत्ति, अधिकार, प्रत्येक पद का अर्थ, परिभाषाजन्यवैशिष्ट्य, अर्थनिष्पत्ति, उदाहरण-प्रत्युदाहरण और सारसंक्षेप के अतिरिक्त प्रत्येक धातु के दसों लकारों की रूपमाला सिद्धिसहित दिखाई गई है। वैयाकरणनिकाय में सैंकड़ों वर्षों से चली आ रही अनेक भ्रान्तियों का सयुक्तिक निराकरण किया गया है। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में विद्यार्थियों के प्रवेश के लिए यत्र-तत्र अनेक भाषावैज्ञानिक नोट्स भी दिये हैं । चार सौ से अधिक सार्थ उपसर्गयोग तथा उनके लिए विशाल संस्कृतसाहित्य से चुने हुए एक सहस्र से अधिक उदाहरणों का अपूर्व संग्रह प्रस्तुत किया गया है। लगभग डेढ़ हजार रूपों की ससूत्र सिद्धि और एक सौ के करीब शास्त्रार्थ और शङ्का-समाधान इस में दिये गये हैं । अनुवादादि के सौकर्य के लिए छात्रोपयोगी **णिजन्त, सन्नन्त, यङन्त, भावकर्म आदि प्रक्रियाओं** के अनेक शतक और संग्रह भी अर्थसहित दिये गये हैं । जैसे नानाविध लौकिक उदाहरणों द्वारा प्रक्रियाओं को इस में समझाया गया है वैसे अन्यत्र मिलना दुर्लभ है । इस से प्रक्रियाओं का रहस्य विद्यार्थियों को हस्तामलकवत् स्पष्ट प्रतीत होने लगता है । अन्त में अनुसन्धानोपयोगी छ: प्रकार के परिशिष्ट दिये गये हैं । ग्रन्थ का मुद्रण आधुनिक बढ़िया मैप्लीथो कागज पर अत्यन्त शुद्ध वा सुन्दर ढंग से पांच प्रकार के टाइपों में किया गया है। सुन्दर, बढ़िया, सम्पूर्ण कपड़े की जिल्द तथा पक्की अंग्रेजी सिलाई ने ग्रन्थ को और अधिक चमत्कृत कर दिया है ।

३. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (तृतीय भाग) 250/- रु०

भैमीव्याख्या के इस तृतीय भाग में **कृदन्त** और **कारक** प्रकरणों का विस्तृत वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है । सुप्रसिद्ध कृत्प्रत्ययों के लिए कई विशाल शब्दसूचियां अर्थ तथा ससूत्रटिप्पणों के साथ बड़े यत्न से गुम्फित की गई हैं, जिनमें अढ़ाई हजार से अधिक शब्दों का अपूर्व संग्रह है । प्राय: प्रत्येक प्रत्यय पर संस्कृतसाहित्य में से अनेक सुन्दर सुभाषितों या सूक्तियों का संकलन किया गया है । **कारकप्रकरण** लघुकौमुदी में केवल सोलह सूत्रों तक ही सीमित है जो स्पष्टत: बहुत अपर्याप्त है । भैमीव्याख्या में इन सोलह सूत्रों की विस्तृत व्याख्या करते हुए अन्त में अत्यन्त उपयोगी लगभग पचास अन्य सूत्र-वार्तिकों

की भी सोदाहरण सरल व्याख्या प्रस्तुत की गई है । इस प्रकार कुल मिलाकर कारकप्रकरण ५६ पृष्ठों में समाप्त हुआ है । अनेक प्रकार के उपयोगी परिशिष्टों सहित यह भाग लगभग चार सौ पृष्ठों में समाश्रित हुआ है ।

४. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (चतुर्थ भाग) 250/- रु०

भैमीव्याख्या के इस चतुर्थ भाग में **समासप्रकरण** का अत्यन्त विस्तार के साथ लगभग तीन सौ पृष्ठों में विवेचन प्रस्तुत किया गया है । ग्रन्थगत प्रत्येक प्रयोग के लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार के विग्रह निर्दिष्ट कर उस की सूत्रों द्वारा अविकल साधनप्रक्रिया दर्शाई गई है । मूलोक्त उदाहरणों के अतिरिक्त सैंकड़ों अन्य नवीन उदाहरणों को विशाल संस्कृतसाहित्य से चुन-चुन कर इस व्याख्या में गुम्फित किया गया है । इस प्रकार इस व्याख्या में बारह सौ से अधिक समासोदाहरण संगृहीत किये गये हैं । साहित्यिक उदाहरणों के स्थलनिर्देश भी यथासम्भव दे दिये गये हैं । प्रबुद्ध विद्यार्थियों के मन में स्थान स्थान पर उठने वाली दो सौ से अधिक शङ्काओं का भी इस में यथास्थान समाधान किया गया है । जगह जगह उपयोगी पादटिप्पण (फुटनोट्स) दिये गये हैं । मूलगत सूत्रवार्तिक आदियों के अतिरिक्त छात्रोपयोगी कई अन्य सूत्रवार्तिक आदियों का भी इसमें सोदाहरण व्याख्यान किया गया है। लघुकौमदी के अशुद्ध या भ्रष्ट पाठों पर भी अनेक टिप्पण दिये गये हैं । व्याख्याकार की सूक्ष्मेक्षिका, स्वाध्याय-निपुणता तथा कठिन से कठिन विषय को भी नपे-तुले शब्दों में समझा देने की अपूर्व क्षमता इस व्याख्या में पदे पदे परिलक्षित होती हैं । समासप्रकरण पर इतनी विस्तृत व्याख्या आज तक लिखी ही नहीं गई । इस से विद्यार्थीवर्ग और अध्यापकवृन्द दोनों जहां लाभान्वित होंगे वहां अनुसन्धानप्रेमियों को भी प्रचुर अनुसन्धानसामग्री प्राप्त होगी। विद्वान् लेखक ने सततोत्थायी होकर दो वर्षों के कठोर परिश्रम से सैंकड़ों ग्रन्थों का मन्थन कर इस भाग को तैयार किया है । अन्त में विविध परिशिष्टों से इस ग्रन्थ को विभूषित किया गया है । व्याख्यागत बारह सौ उदाहरणों की समासनाम-निर्देशसहित बनी वर्णानुक्रमणी इस ग्रन्थ की प्रमुख विशेषताओं में एक समझी जायेगी । इसके सहारे सम्पूर्ण समासप्रकरण की आवृत्ति करने में विद्यार्थियों को महती सुविधा रहेगी । ग्रन्थ में यथास्थान अनेक अभ्यास दिये गये हैं । समीक्षकों का यह कहना है कि यदि इन अभ्यासों को सुचारु रूप में हल कर लिया जाये तो विद्यार्थियों को सिद्धान्तकौमुदी या काशिका में समासप्रकरण को समझने का स्वत: सामर्थ्य प्राप्त हो सकता है । (२३×३६)/१६ साइज के लगभग तीन सौ पृष्ठों में यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है । साफ सुथरी शुद्ध छपाई, पक्की सिलाई तथा सुन्दर स्क्रीन प्रिंटिड सुनहरी जिल्द से यह ग्रन्थ और भी अधिक आकर्षक बन गया है । यह ग्रन्थ का शोधित द्वितीय संस्करण है ।

५. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (पञ्चम भाग) 250/- रु०

इस भाग में लघुसिद्धान्तकौमुदी के **तद्धितप्रकरण** की अतीव सरल ढंग से सविस्तार व्याख्या प्रस्तुत की गई है । प्रत्येक सूत्र की व्याख्या के बाद हर एक उदाहरण का विग्रह, अर्थ तथा विशद सिद्धि इस में दर्शाई गई है । मूलगत उदाहरणों के अतिरिक्त साहित्यगत विविध उदाहरणों से भी यह ग्रन्थ विभूषित है । पठन पाठन में उठने वाली प्रत्येक शङ्का का इस में समाधान किया गया है । मूलोक्त सूत्रों के अतिरिक्त भी छात्रोपयोगी अनेक सूत्रों की इस में व्याख्या दर्शाई गई है। यत्र-तत्र यत्न से अभ्यास निबद्ध किये गये हैं जिन की सहायता से सारा प्रकरण दोहराया जा सकता है । अन्त में अनेक परिशिष्टों के अतिरिक्त उदाहरणसूची वाला परिशिष्ट इस ग्रन्थ का विशेष आकर्षण है ।

६. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (षष्ठ भाग) 100/- रु०

इस भाग में लघुकौमुदी के **स्त्रीप्रत्ययप्रकरण** की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गई है । प्रत्येक सूत्र की विशद व्याख्या के अनन्तर तद्गत प्रत्येक प्रयोग की विस्तृत सिद्धि तथा अनेकविध उदाहरण-प्रत्युदाहरणों एवं शङ्का-समाधानों से यह भाग विभूषित है । मूलोक्त सूत्रों के अतिरिक्त छात्रोपयोगी अन्य भी अनेक सूत्र और वार्त्तिक इस में सोदाहरण व्याख्यात किये गये हैं । जगह जगह साहित्यिक उदाहरण ढूंढ ढूंढ कर संकलित किये गये हैं । 'स्वाङ्गम्' और 'जाति' सरीखे पारिभाषिक शब्दों तथा अन्य कठिन स्थलों की सरलभाषा में विस्तार के साथ विवेचना की गई है । दूसरे शब्दों में ग्रन्थ का कोई भी व्याख्येयांश बिना व्याख्या के अछूता नहीं छोड़ा गया । पठितविषय की आवृत्ति के लिए यत्र-तत्र अनेक अभ्यास दिये गये हैं । नानाविध सूचीपरिशिष्टों विशेषत: प्रत्ययनिर्देशसहित दी गई उदाहरणसूची से इस ग्रन्थ का महत्त्व बहुत बढ़ गया है । अन्त में स्त्रीप्रत्ययसम्बन्धी एक सौ से अधिक पद्यबद्ध अशुद्धियों का सहेतुक शोधन दर्शा कर लक्ष्यों के प्रति विद्यार्थियों की जागरूकता को प्रबुद्ध करने का विशेष प्रयत्न किया गया है। अनुसन्धानप्रेमी जनों के लिए भी दर्जनों महत्त्वपूर्ण टिप्पण जहां तहां दिये गये हैं। कई स्थानों पर पाणिनीयेतरव्याकरणों का आश्रय लेकर भी विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है । वस्तुत: इतनी विशद सर्वाङ्गीण व्याख्या स्त्रीप्रत्ययप्रकरण पर पहली बार प्रकाशित हुई है । (२३×३६)/१६ साइज के डेढ़ सौ से अधिक पृष्ठों में यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है । सुन्दर शुद्ध छपाई, बढ़िया स्क्रीन प्रिंटिड जिल्द तथा पक्की सिलाई से यह ग्रन्थ और भी चमत्कृत हो उठा है ।

७. अव्ययप्रकरणम् 25/- रु०

लघुकौमुदी का **अव्ययप्रकरण भैमीव्याख्यासहित** पृथक् भी छपवाया गया है । इस में लगभग सवा पांच सौ अव्ययों का सोदाहरण साङ्गोपाङ्ग विवेचन

प्रस्तुत किया गया है । प्रत्येक अव्यय पर वैदिक वा लौकिक संस्कृतसाहित्य से अनेक सुन्दर सुभाषितों वा सूक्तियों का संकलन किया गया है । कठिन सूक्तियों का अर्थ भी साथ में दे दिया गया है । आज तक इतना शोधपूर्ण परिश्रम इस प्रकरण पर पहली बार देखने में आया है । साहित्यप्रेमी विद्यार्थियों तथा शोध में लगे जिज्ञासुओं के लिए यह ग्रन्थ विशेष उपादेय है । ग्रन्थ के अन्त में सब अव्ययों की **अकारादिक्रम से अनुक्रमणी** भी दे दी गई है, ताकि अव्ययों को ढूंढने में असुविधा न हो। इस ग्रन्थ में अव्ययों के अर्थज्ञान के साथ साथ सुभाषितों वा सूक्तियों का व्यवहारोपयोगी एक बृहत्संग्रह भी अनायास उपलब्ध हो जाता है।

८. वैयाकरण-भूषणसार भैमीभाष्योपेत (धात्वर्थनिर्णयान्त) 150/-रु०

वैयाकरण-भूषणसार वैयाकरणनिकाय में लब्धप्रतिष्ठ ग्रन्थ है । व्याकरण के दार्शनिक सिद्धान्तों के ज्ञान के लिए इस का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है । अत एव एम्०ए०, आचार्य, शास्त्री आदि व्याकरण की उच्च परीक्षाओं में यह पाठ्यग्रन्थ के रूप में स्वीकृत किया गया है । परन्तु इस ग्रन्थ पर हिन्दी भाषा में कोई भी सरल व्याख्या आज तक नहीं निकली—हिन्दी तो क्या अन्य भी किसी प्रान्तीय वा विदेशी भाषा में इस का अनुवाद तक उपलब्ध नहीं । विश्वविद्यालयों के छात्र तथा उच्च कक्षाओं में व्याकरण विषय को लेने वाले विद्यार्थी प्राय: सब इस ग्रन्थ से त्रस्त थे । परन्तु अब इस के विस्तृत आलोचनात्मक सरल हिन्दी भाष्य के प्रकाशित हो जाने से उन का भय जाता रहा । छात्रों वा अध्यापकों के लिए यह ग्रन्थ समानरूपेण उपयोगी है । इस ग्रन्थ के गूढ़ आशयों को जगह-जगह वक्तव्यों वा फुटनोटों में भाष्यकार ने भली भांति व्यक्त किया है । भैमीभाष्यकार व्याकरणक्षेत्र में लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् हैं, तथा वर्षों से व्याकरण के पठनपाठन का अनुभव रखते हैं । अत: छात्रों वा अध्यापकों के मध्य आने वाली प्रत्येक छोटी-से-छोटी समस्या को भी उन्होंने खोलकर रखने में कोई कसर नहीं छोड़ी। जगह जगह वैयाकरणों और मीमांसकों के सिद्धान्त को खोलकर तुलनात्मकरीत्या प्रतिपादित किया गया है । इस भाष्य की महत्ता इसी से व्यक्त है कि अकेली दूसरी कारिका पर ही विद्वान् भाष्यकार ने लगभग साठ पृष्ठों में अपना भाष्य समाप्त किया है । विषय को समझाने के लिए अनेक चार्ट दिये गये हैं । जैसे—वैयाकरणों और नैयायिकों का बोधविषयक चार्ट, धातु की साध्यावस्था और सिद्धावस्था का चार्ट, प्रसज्य और पर्युदास प्रतिषेध का चार्ट आदि। पूर्वपीठिका में भाष्यकार ने व्याकरण के दर्शनशास्त्र का विस्तृत क्रमबद्ध इतिहास देकर मानो सुवर्ण में सुगन्ध का काम किया है । ग्रन्थ के अन्त में अनुसन्धानप्रेमी छात्रों के लिए सात परिशिष्ट तथा आदि में विस्तृत विषयानुक्रमणिका दी गई है जो अनुसन्धान-क्षेत्र में अत्यन्त काम की वस्तु है । वस्तुत: व्याकरण में एक अभाव की पूर्ति भाष्यकार ने की है । इस भाष्य की प्रशंसा देश-विदेश के विद्वानों ने की है । ग्रन्थ का मुद्रण बढ़िया मैप्लीथो कागज पर अत्यन्त शुद्ध वा सुन्दर ढंग से छ: प्रकार के टाइपों में किया गया है । सुन्दर बढ़िया सम्पूर्ण कपड़े की जिल्द तथा पक्की अंग्रेजी सिलाई ने ग्रन्थ को और अधिक चमत्कृत कर दिया है ।

९. न्यास-पर्यालोचन 150/- रु०

यह ग्रन्थ काशिका की प्राचीन सर्वप्रथम व्याख्या काशिका-विवरणपञ्चिका अपरनाम न्यास पर लिखा गया बृहत् शोधप्रबन्ध है जिसे दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच्०डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत किया गया है । यह शोधप्रबन्ध शास्त्री जी द्वारा कई वर्षों के निरन्तर अध्ययन स्वरूप बड़े परिश्रम से लिखा गया है । इस में कई प्रचलित धारणाओं का खुल कर विरोध किया गया है । जैसे न्यासकार को अब तक बौद्ध समझा जाता है परन्तु इस में उसे पूर्णतया वैदिक धर्मी सिद्ध किया गया है । यह शोधप्रबन्ध छ: अध्यायों में विभक्त है । **प्रथम** अध्याय में न्यास और न्यासकार का सामान्य परिचय देते हुए न्यासकार का काल, निवासस्थान, न्यास का वैशिष्ट्य, न्यास की प्रसन्नपदा प्रवाहपूर्णा शैली तथा न्यास और पदमञ्जरी का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । द्वितीय अध्याय में **'न्यास के ऋणी उत्तरवर्ती वैयाकरण'** नामक अत्यन्त शोधपूर्ण नवीन विषय प्रस्तुत किया गया है । इस में केवल पाणिनीय व्याकरणों को ही नहीं लिया गया अपितु पाणिनीयेतर **चान्द्र, जैनेन्द्र, कातन्त्र, शाकटायन, भोजकृत सरस्वतीकण्ठाभरण, हैमशब्दानुशासन, मलयगिरिशब्दानुशासन, संक्षिप्तसार, मुग्धबोध तथा सारस्वत** इन दस प्रमुख व्याकरणों को भी सम्मिलित किया गया है। तृतीयाध्याय में **'उत्तरवर्ती वैयाकरणों द्वारा न्यास का खण्डन'** नामक अपूर्व विषय प्रतिपादित है । इस में उत्तरवर्ती वैयाकरणों द्वारा की गई न्यासकार की आलोचनाओं पर कारणनिर्देशपूर्वक युक्तायुक्तरीत्या खुल कर विचार उपस्थित किये गये हैं । चतुर्थ अध्याय में **'न्यास की सहायता से काशिका का पाठसंशोधन'** नामक महत्त्वपूर्ण विषय का वर्णन है । इस में काशिका ग्रन्थ की अद्यत्वे मान्य सम्पादकों (?) द्वारा हो रही दुर्दशा का विशद प्रतिपादन करते हुए उसके अनेक अशुद्ध पाठों का न्यास के आलोक में सहेतुक शुद्धीकरण प्रस्तुत किया गया है । पञ्चम अध्याय में **न्यासकार की भ्रान्तियों** तथा न्यास के **एक सौ भ्रष्टपाठों** का विस्तृत लेखा-जोखा उपस्थित किया गया है । छठा अध्याय अनेक नवीन बातों से उपबृंहित उपसंहारात्मक है । व्याकरण का यह ग्रन्थ पाणिनीय एवं पाणिनीयेतर व्याकरण के क्षेत्र में अपने ढंग का सर्वप्रथम किया गया अनूठा ज्ञानवर्धक प्रयास है । सुन्दर मैप्लीथो कागज, पक्की अंग्रेजी सिलाई और स्क्रीन प्रिंटिड आकर्षक जिल्द से ग्रन्थ सुशोभित है ।

१०. बालमनोरमा-भ्रान्ति-दिग्दर्शन 25/- रु०

भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्तकौमुदी पर श्रीवासुदेवदीक्षित की बनाई हुई बालमनोरमा टीका सुप्रसिद्ध छात्रोपयोगी ग्रन्थ है । पिछली अर्धशताब्दी में इस के कई संस्करण मद्रास, लाहौर, बनारस और दिल्ली आदि महानगरों में अनेक दिग्गज विद्वानों के तत्त्वावधान में प्रकाशित हो चुके हैं । परन्तु शोक से कहना पड़ता है

कि इन स्वनामधन्य विद्वान् सम्पादकों ने इस ग्रन्थ के साथ जरा भी न्याय नहीं किया, इसे पढ़ने तक का भी कष्ट नहीं किया । यही कारण है कि इस में अनेक हास्यास्पद और घिनौनी अशुद्धियां दृष्टिगोचर होती हैं । इस से पठन- पाठन में बहुत विघ्न उपस्थित होता है । इस शोधपूर्ण लघु निबन्ध में बालमनोरमाकार की कुछ सुप्रसिद्ध भ्रान्तियों की सयुक्तिक समीक्षा प्रस्तुत की गई है । आप इस शोध पत्र को पढ़ कर मनोरञ्जन के साथ साथ प्रक्रियामार्ग में अन्धानुकरण न करने तथा सदैव सजग रहने की भी प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं । इस में स्थान-स्थान पर विद्वानों की प्रमादपूर्ण सम्पादन कला पर भी अनेक चुभती चुटकियाँ ली गई हैं । यह निबन्ध प्रकाशकों, सम्पादकों, अध्यापकों एवं विद्यार्थियों सब की आंखों को खोलने वाला एक समान उपयोगी है । हिन्दी में इस प्रकार का प्रयत्न पहली बार किया गया है ।

११. प्रत्याहारसूत्रों का निर्माता कौन ? 25/- रु०

शोधपूर्ण इस निबन्ध में '**अइउण्**' आदि प्रत्याहारसूत्रों के निर्माता के विषय में खूब ऊहापोहपूर्वक विस्तृत विचार व्यक्त किये गये हैं । ये सूत्र पाणिनि की स्वोपज्ञ रचना हैं या किसी अन्य मनीषी की ? इस विषय पर **महाभाष्य, काशिकावृत्ति, भर्तृहरिकृत महाभाष्यदीपिका, कैयटकृत प्रदीप** आदि प्रामाणिक ग्रन्थों के दर्जनों प्रमाणों के आलोक में पहली बार नवीनतम विचार प्रस्तुत किये गये हैं । इन के **शिवसूत्र या माहेश्वरसूत्र** कहलाने का भी क्रमिक इतिहास पूर्णतया दे दिया गया है । ग्रन्थ के परिशिष्ट भाग में **कातन्त्र, चान्द्र, जैनेन्द्र, शाकटायन, सरस्वतीकण्ठाभरण, हेमचन्द्रशब्दानुशासन, मलयगिरिशब्दानुशासन, सारस्वत, मुग्धबोध, संक्षिप्तसार तथा हरिनामामृत**–इन ग्यारह पाणिनीयेतर व्याकरणों के प्रत्याहारसूत्रों को उद्धृत कर उन का पाणिनीयप्रत्याहारसूत्रों के परिप्रेक्ष्य में संक्षिप्त तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है । इस से प्रत्याहारसूत्रों के विषय में गत अढ़ाई हजार वर्षों के मध्य भारतीय व्याकरणविदों के विचार में आये क्रमिक परिवर्तनों पर प्रकाश पड़ता है । **इस के अन्त में बहुचर्चित नन्दिकेश्वरकाशिका ग्रन्थ भी अविकल दे दिया गया है**, जिस से पाठकों को इस विषय का पूरा-पूरा विवरण मिल सके ।

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी

भैमीव्याख्या

[षष्ठ भाग]

(स्त्रीप्रत्ययप्रकरणम्)

भीमसेन शास्त्री

भैमी प्रकाशन

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी

भैमीव्याख्या

[षष्ठ भाग]

(स्त्रीप्रत्ययप्रकरणम्)



भीमसेन शास्त्री

एम्०ए०, पी-एच्०डी०, साहित्यरत्न

भैमी प्रकाशन

537, लाजपतराय मार्केट, दिल्ली-110006

प्रकाशक :

नचिकेता भाटिया

18/99, गीता कालोनी

दिल्ली-110031

LAGHU-SIDDHĀNTA KAUMUDĪ-BHAIMĪ VYĀKHYĀ
Part VI, Third Edition 2009.

लघुसिद्धान्तकौमुदी भैमीव्याख्या

षष्ठ भाग, तृतीय संस्करण 2009

मूल लेखक : भीमसेन शास्त्री (1920-2002)

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग

पी.जी. डी. ए. वी. कॉलेज

(दिल्ली विश्वविद्यालय)

नई दिल्ली

मुख्य वितरक :

भैमी प्रकाशन

537, लाजपतराय मार्केट

दिल्ली-110006

मूल्य : एक सौ पचास रुपये केवल
Price : Rs. One Hundred Fifty only.

मुद्रक : अजय प्रिंटर्स

दिल्ली-110032

व्याकरण-प्रशस्तिः

ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च ।
प्रधानं च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम् ।
प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति ।।

(पातञ्जलमहाभाष्ये)

यद्यपि बहु नाऽधीषे तथापि पठ पुत्र ! व्याकरणम् ।
स्वजनः श्वजनो मा भूत् सकलं शकलं सकृत् शकृत् ।।

शब्दशास्त्रमनधीत्य यः पुमान्
वक्तुमिच्छति वचः सभान्तरे ।
रोद्धुमिच्छति वने मदोत्कटं
हस्तिनं कमल-नाल-तन्तुना ।।

भैमीव्याख्योपेताया

लघु-सिद्धान्त-कौमुद्याः

स्त्रीप्रत्ययप्रकरणस्य विषय-सूची

——:०:——

आत्मनिवेदनम्

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी की सुप्रसिद्ध भैमीव्याख्या का यह अन्तिम (षष्ठ)[1] भाग आज जनता के सामने प्रस्तुत करते हुए अपार हर्ष हो रहा है। इस व्याख्या का प्रणयन सन् १९४१ में प्रारम्भ हुआ था। आज ४८ वर्षों के बाद इस का अन्तिम खण्ड प्रकाश में आ रहा है। जब इस व्याख्या का प्रारम्भ हुआ था तब लेखक की वयः २०-२१ वर्षों की थी। आज लगभग सत्तर वर्षों की वयः में यह व्याख्या समाप्त हो रही है। इस अन्तराल में लेखक का स्वाध्याय तथा अध्ययन-अध्यापन सतत चलता रहा। देश-विभाजन तथा अन्य कई अनिवार्य आर्थिक बाधाओं के कारण इस व्याख्या के कुछ खण्डों का प्रकाशन बीच बीच में पर्याप्त विलम्ब से होता रहा। लेखक के स्वाध्याय तथा अध्ययन-अध्यापन से अर्जित ज्ञानसामग्री इस व्याख्या के विभिन्न भागों में बरा-बर संकलित होती चली गई। आज इस व्याख्या का जो स्वरूप है वह शायद पहले न हो पाता। इस काल में इस व्याख्या के पूर्वप्रकाशित प्रथम भाग को भी संशोधित तथा अनेक टिप्पणों से उपबृंहित कर नवीन द्वितीय संस्करण निकाला गया जो सामग्री और आकार में प्रथमसंस्करण से पर्याप्त समृद्ध है। इस में भी लेखक ने अपने नवीन-तम अनुभवों का सार भर देने का पूरा पूरा प्रयास किया है।

व्याख्या का प्रकृत भाग स्त्रीप्रत्ययों से सम्बद्ध है। संस्कृतभाषा में शब्दों का लिङ्गनिर्णय अतीव दुष्कर कार्य है। इस में पुंलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसक का निर्णय अन्य भाषाओं की तरह नहीं किया जाता। स्त्रीवाचक दारशब्द यहां पुंलिङ्ग है जबकि अन्य वनिता, योषित् आदि स्त्रीलिङ्ग हैं। जलवाचक अप्शब्द स्त्रीलिङ्ग है जबकि वारि, तोय आदि नपुंसक हैं। शरीरवाची कायशब्द पुंलिङ्ग है जबकि तनुस् स्त्रीलिङ्ग तथा शरीर नपुंसकलिङ्ग है। देवतावाचक अमर, निर्जर आदि शब्द पुंलिङ्ग है जबकि देवताशब्द स्वयं स्त्रीलिङ्ग है। मित्रवाचक सुहृद्शब्द पुंलिङ्ग है जबकि मित्रशब्द स्वयं नपुंसक है। नेत्रवाचक लोचन, अक्षि आदि शब्द नपुंसक हैं जबकि दृश् शब्द स्त्रीलिङ्ग है। अतः संस्कृत में लिङ्गों का ज्ञान सर्वथा शिष्टप्रयोगों की परंपरा पर ही निर्भर करता है। इसी को दर्शाने के लिये ही अष्टाध्यायी के कतिपय लिङ्गसम्बन्धीसूत्रों तथा पाणिनीयलिङ्गानुशासनीय सूत्रों में यत्न किया गया है।

संस्कृत में पुंलिङ्ग या नपुंसकलिङ्ग बनाने के लिये प्रातिपदिकों के आगे कोई प्रत्यय जोड़ा नहीं जाता, केवल स्त्रीलिङ्ग बनाने के लिये ही प्रत्यय जोड़े जाते हैं (वे भी सब शब्दों से नहीं)। अतः स्त्रीप्रत्ययप्रकरण ही प्रक्रियाग्रन्थों में पृथक् दर्शाया जाता है पुंलिङ्गप्रत्ययप्रकरण या नपुंसकप्रत्ययप्रकरण नहीं।

स्त्रीप्रत्ययान्त शब्द प्रायः पाञ्च श्रेणियों में विभक्त किये जा सकते हैं—

---

१. इस व्याख्या के चार भाग (प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ) पहले प्रकाशित हो चुके हैं। अब क्रमप्राप्त पञ्चम भाग (तद्धितप्रकरण) न छाप कर परीक्षार्थी विद्यार्थियों के तीव्र अनुरोध के कारण षष्ठ भाग (स्त्रीप्रत्ययप्रकरण) पहले प्रका-शित किया जा रहा है। यह भाग इस व्याख्या का अन्तिम भाग है। पञ्चमभाग भी प्रेस में दिया जा रहा है आशा है इसी वर्ष प्रकाशित हो जायेगा।

[१] **जातिलक्षणस्त्रीप्रत्ययान्त शब्द—**

जब जाति एक होते हुए उस जाति के स्त्रीव्यक्ति को निर्दिष्ट करना अभीष्ट होता है तो वहां जातिलक्षणस्त्रीप्रत्यय किये जाते हैं। इन में ङीष् प्रत्यय प्रमुख है। ङीन् आदि कुछ अपवाद प्रत्यय भी हैं। यथा--हयी, गवयी, मुकयी, मनुषी, मानुषी, मत्सी, ब्राह्मणी, शार्ङ्गरवी, बैदी, कठी, तटी, नारी आदि। 'जाति' से यहां पारिभाषिक जाति का ग्रहण किया जाता है, लौकिक जाति का नहीं। इस विषय में यह कारिका सुप्रसिद्ध है—

आकृतिग्रहणा जातिर्लिङ्गानां च न सर्वभाक्।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह॥

इस कारिका की व्याख्या इस ग्रन्थ के पृष्ठ (७०) पर की गई है वहीं देखें।

[२] **पुंयोगलक्षणस्त्रीप्रत्ययान्त शब्द—**

शिष्टप्रयोगानुसार जब पति (पुरुष) के कारण उस की स्त्री का नाम वैसा ही पड़ जाता है तब वहां पुंयोग में स्त्रीप्रत्यय किये जाते हैं। इन में ङीष् प्रत्यय प्रमुख है। चाप् आदि कुछ अपवाद प्रत्यय भी किये जाते हैं। उदाहरण यथा—गोपस्य स्त्री—गोपी। गोपालकस्य स्त्री—गोपालिका। अश्वपालकस्य स्त्री—अश्वपालिका। वरुणस्य स्त्री—वरुणानी। इन्द्रस्य स्त्री—इन्द्राणी। भवस्य स्त्री—भवानी। सूर्यस्य स्त्री—सूर्या, सूरी। मातुलस्य स्त्री—मातुलानी। श्वशुरस्य स्त्री—श्वश्रूः आदि। कहीं कहीं पिता या भाई के कारण भी पुत्री या बहन का नाम प्रसिद्ध हो जाता है, वहां पर भी पुंयोग में स्त्रीप्रत्यय समझना चाहिये। यथा—केकयस्य दुहिता—कैकेयी। देवकस्य दुहिता—देवकी। रेवतस्य दुहिता—रेवती। श्यालस्य भगिनी—श्याली। यमस्य भगिनी—यमी आदि।

[३] **स्वाङ्गलक्षणस्त्रीप्रत्ययान्त शब्द—**

जब समास के अन्त में कोई स्वाङ्गवाची शब्द आ जाता है तब स्त्रीलिङ्ग बनाने के लिये उस से परे स्वाङ्गलक्षण स्त्रीप्रत्यय किये जाते हैं। इन में वैकल्पिक ङीष् (पक्षे टाप्) प्रत्यय प्रमुख है। कई स्थलों पर केवल टाप् प्रत्यय भी हुआ करता है। निदर्शनार्थ उदाहरण यथा—चन्द्र इव मुखं यस्याः सा चन्द्रमुखी, चन्द्रमुखा। चन्द्रानना। शूर्पणखा। शूर्पनखी, शूर्पनखा। ताम्रमुखी, ताम्रमुखा। अतिकेशी, अतिकेशा। कल्याणक्रोडा। सुहस्ता। स्वाङ्ग भी यहां पारिभाषिक लिया जाता है, लौकिक नहीं। जैसाकि कहा है—

अद्रवं मूर्त्तिमत्स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्।
अतत्स्थं तत्र दृष्टं च तेन चेत्तत्तथायुतम्॥

इस कारिका की व्याख्या इस ग्रन्थ के पृष्ठ (६२) पर की गई है वहीं देखें।

[४] **साधारणस्त्रीप्रत्ययान्त शब्द—**

जब उपर्युक्त तीनों कोटियों में न आने वाले शब्दों अर्थात् व्यक्तिवाचकों, विशेषणों, सर्वनामों, वयोवाचकों, गुणवाचकों आदि से स्त्रीलिङ्ग बनाना अभीष्ट होता है तब वहां टाप्, ङीप् आदि विविध प्रत्यय किये जाते हैं। यथा—गङ्गा, नदी, खट्वा, सर्वा, एषा, भवती, कुमारी, तरुणी, कर्त्री, गौरी, पट्वी, मृद्वी, संहितोरूः, वामोरूः, युवतिः, धनक्रीता आदि।

[५] विविधार्थकस्त्रीप्रत्ययान्त शब्द—

कुछ एक शब्दों से विविध अर्थों के द्योतन के लिये भी स्त्रीप्रत्यय किये जाते हैं। यथा—दुष्टो यवो यवानी । महद् हिमं हिमानी । महद् अरण्यम् अरण्यानी । यवनानां लिपिः यवनानी आदि ।

संस्कृतव्याकरण के पाठकों को यह बात मन से निकाल देनी चाहिये कि प्रत्येक स्त्रीलिङ्गीशब्द का पुंलिङ्गरूप एवं हर एक पुंलिङ्गशब्द का स्त्रीलिङ्गरूप हुआ करता है। क्योंकि अनेक ऐसे शब्द हैं जो केवल स्त्रीलिङ्ग या पुंलिङ्ग आदि में प्रयुक्त होते हैं। यथा—सम्पद्, विपद्, स्त्री, शिखा, रात्रि, नौका, खट्वा, मेधा, बलाका आदि शब्द केवल स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयुक्त होते हैं, इन का पुंलिङ्गरूप नहीं होता। इसीतरह—पाकः, भागः, पाठः, रागः, महिमा, तनिमा आदि शब्द केवल पुंलिङ्ग में ही हुआ करते हैं, इन का स्त्रीलिङ्ग रूप नहीं होता। स्त्रीप्रत्ययों के लाने से ही शब्द स्त्रीलिङ्ग बनते हैं—यह बात भी नहीं है। अनेक शब्द विना स्त्रीप्रत्ययों के भी स्वतः स्त्रीलिङ्ग के द्योतक होते हैं। यथा—आप्, गिर्, पुर्, दिश्, वाच्, दृश्, सम्पद्, विपद् आदि शब्द विना स्त्रीप्रत्ययों के भी स्त्रीत्व को प्रकट करते हैं। अतः किस से स्त्री-प्रत्यय करना चाहिये और किस से नहीं—यह सारी व्यवस्था शिष्टप्रयोगों पर आश्रित व्याकरण के नियमों के अनुसार ही समझनी चाहिये।

प्रस्तुत भाग में स्त्रीप्रत्ययविधायक मूलोक्त सूत्रों, वार्त्तिकों वा गणसूत्रों की व्याख्या के अतिरिक्त छात्रोपयोगी अन्य भी अनेक सूत्र-वार्त्तिकों की सार्थ सोदाहरण व्याख्या प्रस्तुत की गई है ताकि विद्यार्थियों के सामान्यज्ञान का स्तर ऊँचा रहे। पूर्व भागों की तरह इस भाग में भी सूत्रों की वही व्याख्याशैली, स्थान स्थान पर उठने वाली शङ्काओं का समाधान, प्रत्येक रूप की सिद्धि, उदाहरणों की झड़ी, पाठशोधन तथा विषय के स्पष्टीकरणार्थ दरजनों टिप्पण दिये गये हैं। उदाहरणों के अर्थ तथा उन के साहित्यगत प्रयोगों को भी ढूंढ ढूंढ कर दर्शाने का पूरा प्रयास किया गया है।

ग्रन्थ के अन्त में पचास से अधिक पृष्ठों में नौ परिशिष्ट दिये गये हैं। वैसे तो ये सब परिशिष्ट छात्रों के लिये तथा शोधार्थियों के लिये अत्यन्त उपयोगी और ज्ञानवर्धक हैं पर इन में चार परिशिष्ट साधारण छात्रों के लिये भी लाभप्रद हैं। **शुद्धाऽशुद्धबोधकशतकम्** नाम वाले प्रथम परिशिष्ट में स्त्रीप्रत्ययों के विषय में विद्यार्थियों को सावधान एवं चौकन्ना रखने के लिये शुद्धाशुद्धमिश्रित प्रायः स्वनिर्मित एक सौ पद्यखण्ड दिये गये हैं जिन में स्त्रीप्रत्ययान्त अनेक पदों के शुद्धाशुद्धत्व का परीक्षण करना है। विद्यार्थियों के सौकर्य के लिये इन पद्यांशों के नीचे प्रत्येक पद का साधुत्व वा असाधुत्व सहेतुक एवं सप्रमाण प्रतिपादित किया गया है। इन के अभ्यास से विद्यार्थियों को निश्चय ही अशुद्धियों के पकड़ने में महती निपुणता प्राप्त हो सकती है। **स्त्रीप्रत्ययप्रकरणगतोदाहरणतालिका** नामक चतुर्थ परिशिष्ट में प्रकृतखण्ड में उदाहरणरूप से निर्दिष्ट प्रायः छः सौ रूपों की अकारादिक्रम से सूची दी गई है। प्रत्येक रूप के आगे कोष्ठक में उस से होने वाले स्त्रीप्रत्यय को निर्दिष्ट किया गया है। आगे उस उदाहरण की पृष्ठसंख्या भी दे दी गई जिस से विद्यार्थी उस स्थल को निकाल कर तुरन्त हृदयङ्गम कर सकें। स्त्री-प्रत्ययों के विधान में प्रायः विद्यार्थी ङीप्-ङीष्-ङीन् प्रत्ययों के करने में भूल कर दिया करते हैं। इस के लिये **स्त्रीप्रत्ययविधायकमुख्यसूत्राणि** के अन्तर्गत अष्टम परिशिष्ट में प्रत्येक स्त्रीप्रत्यय के नीचे तत्तद्विधायक सूत्रों को पृथक् पृथक् निर्दिष्ट कर दिया है। इस से विद्यार्थी

अपनी भूल को तुरन्त सुधार सकते हैं । **संक्षिप्तं पाणिनीयं लिङ्गानुशासनम्** के अन्तर्गत नवमपरिशिष्ट में पाणिनीयलिङ्गानुशासन के प्रसिद्ध प्रसिद्ध एक सौ सूत्रों की हिन्दी भाषा में सोदाहरण व्याख्या प्रस्तुत की गई है जिस से छात्र लिङ्गानुशासन-विषयक अत्युपयोगी क्षेत्र का भी कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकें । सम्भवतः लघु-सिद्धान्त-कौमुदी पर इस प्रकार का यह प्रथम यत्न है । प्रबुद्ध और उत्साही विद्यार्थियों के बोध के लिये **स्त्रीप्रत्ययप्रकरणोपयोगि अष्टाध्यायीसूत्रपाठः** इस पञ्चम परिशिष्ट के अन्तर्गत पाणिनीयाष्टाध्यायीस्थ स्त्रीप्रत्ययों का समग्र प्रकरण भी दे दिया है ताकि वे इसे कण्ठस्थ कर सदा के लिए लाभ उठा सकें । इन के अतिरिक्त **विशेषद्रष्टव्य-स्थलतालिका** नामक षष्ठ परिशिष्ट शोधार्थियों एवम् अध्यापकगण के लिये तथा **विशेष-स्मरणीय-पद्यमाला** नामक सप्तम परिशिष्ट समस्त होनहार छात्रों के लिये परम उपयोगी है । द्वितीय तथा तृतीय परिशिष्टों में ग्रन्थगत समस्त सूत्रों, वार्त्तिकों तथा गणसूत्र आदियों की अकारादिक्रम से सूची दी गई है । इस प्रकार इस खण्ड के परिशिष्ट अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होंगे ।

इस खण्ड के प्रणयन में भी सब से अधिक योगदान तो मेरे सतत उपचीयमान विशाल पुस्तकालय का है जिस में व्याकरण के शतशः दुर्लभ और सुलभ ग्रन्थ संगृहीत हैं । सच तो यह है कि यदि यह पुस्तकालय मेरे पास न होता तो निश्चय ही इस ग्रन्थ का प्रणयन ही न हो सका होता ।

इस खण्ड के प्रूफसंशोधन में अथाह परिश्रम किया गया है । मेरे तृतीय पुत्र **अश्विनी शास्त्री** का भी इस में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है । परन्तु फिर भी दृष्टि-दोष के कारण कहीं कहीं अशुद्धियां रह गई हैं (यथा—पृष्ठ २० पर **वयस्यचरमे** के स्थान पर **वयस्यप्रथमे** ऐसा अशुद्ध वार्त्तिक छप गया है) । आशा है पाठक अपने उदारभाव से क्षमा करने की कृपा करेंगे ।

यह है सब कुछ—जो मुझ से बन सका है । पाठक ही मेरे ग्रन्थों की सदा से कसौटी रहे हैं और रहेंगे भी । इतना कहकर विरत होता हूँ—

शास्त्रिसदनम्,
८/६४४२, मुकर्जी गली
गांधीनगर, दिल्ली—११००३१
पौषबदी ६, सम्वत् २०४५ (वै०)
१.१.१६८६ (ई०)

सुरभारती का तुच्छ समुपासक
भीमसेन शास्त्री

ॐ

श्रीमद्वरदराजाचार्यप्रणीता

* लघु-सिद्धान्त-कौमुदी *

श्रीभीमसेनशास्त्रिनिर्मितया भैमीव्याख्ययोद्भासिता

[षष्ठो भागः]

——:०:——

जीवनं सर्वजीवानां गतिं गतिमतां सदा ।
प्राणभूतं परं पूज्यं प्रपद्ये परमं पदम् ॥१॥
षाष्ठेऽस्मिंल्लघुकौमुद्या भैमीव्याख्याविभूषिते ।
भागे स्त्रीप्रत्ययाः सर्वे विव्रियन्तेऽधुना मया ॥२॥
पूर्ववद् गौरवं यायात् कृतिर्मे विदुषां हृदि ।
यतस्ते निकषीभूता ग्राह्याग्राह्यविवेचने ॥३॥

——:०:——

अथ स्त्रीप्रत्यय-प्रकरणम्

अब स्त्रीप्रत्ययों का प्रकरण प्रारम्भ किया जा रहा है । यह प्रकरण कृदन्त, समास और तद्धितों को समझे विना ठीक तरह से बुद्धिगम्य नहीं हो सकता, अतः उन सब प्रकरणों के अनन्तर इस प्रकरण को रख कर वरदराज ने अपनी सूक्ष्मेक्षिका का परिचय दिया है । भट्टोजिदीक्षित ने रामचन्द्राचार्यप्रणीत प्रक्रिया-कौमुदी को आधार बना कर अपनी सिद्धान्तकौमुदी में प्रायः प्रकरणों का विन्यास किया है । सिद्धान्त-कौमुदी और प्रक्रियाकौमुदी दोनों में स्त्रीप्रत्ययप्रकरण को समास, तद्धित और कृदन्त प्रकरणों से पूर्व रखा गया है । इस से विद्यार्थियों को विषय समझने में पदे पदे कठिनाई का कटु अनुभव होता है । क्योंकि विना समासप्रकरण को समझे स्त्रीप्रत्यय-

प्रकरण में **अनुपसर्जनात्** (४.१.१४), **द्विगोः** (१२५७), **क्रीतात्करणपूर्वात्** (१२६४), **ऊरूत्तरपदादौपम्ये** (१२७३) आदि सूत्रों को हृदयङ्गम कर सकना बहुत ही कठिन है। इसीप्रकार तद्धित और कृदन्त प्रकरणों के ज्ञान के विना **टिड्ढाणञ्०** (१२५१), **नञ्स्नञीकक्०** (वा० १०१), **कृदिकारादक्तिनः** (गणसूत्र), **सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके** (गणसूत्र) आदि स्थलों को समझा नहीं जा सकता। यही अवस्था **प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुंपः** (१२६२) आदि सूत्रस्थ उदाहरणों और प्रत्युदाहरणों की समझनी चाहिये। सिद्धान्तकौमुदी की इस त्रुटि को लघुसिद्धान्तकौमुदी में न दोहरा कर वरदराजाचार्य ने स्तुत्य कार्य किया है।

अब सब से प्रथम सम्पूर्ण स्त्रीप्रत्ययप्रकरण में व्यापृत होने वाले पाणिनीय अधिकारसूत्र का निर्देश करते हैं—

[**लघु०**] अधिकारसूत्रम्—(**१२४८**) **स्त्रियाम्** ।४।१।३।।

अधिकारोऽयं 'समर्थानाम्०' (४.१.८२) इति यावत् ॥

अर्थः—अष्टाध्यायी में यहां से ले कर **समर्थानां प्रथमाद्वा** (४.१.८२) सूत्र से पूर्व तक 'स्त्रियाम्' का अधिकार रहेगा, अर्थात् वहां तक जिस जिस प्रत्यय का विधान किया जायेगा वह स्त्रीत्व के द्योतन में ही होगा।

व्याख्या—स्त्रियाम् ।७।१। प्रातिपदिकात् ।५।१। (**ङ्याप्प्रातिपदिकात्** से 'प्रातिपदिकात्' अंश का अधिकार सम्पूर्ण प्रकरण में चला आ रहा है)। **प्रत्ययः, परश्च**—ये दोनों पीछे से अधिकृत हैं ही। यह अधिकारसूत्र है। अधिकारसूत्रों की अवधि निश्चित हुआ करती है। इस सूत्र की अवधि अष्टाध्यायी में **समर्थानां प्रथमाद्वा** (४.१.८२) सूत्र तक है। **स्त्रियाम्** यह भावप्रधान निर्देश है, इस का तात्पर्य है—'स्त्रीत्वे' (स्त्रीत्व में)। अर्थः—यहां से ले कर **समर्थानां प्रथमाद्वा** सूत्र तक जिन प्रत्ययों का विधान किया जाये वे प्रत्यय (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से परे (स्त्रियाम्=स्त्रीत्वे) स्त्रीत्व की विवक्षा में होते हैं। टाप्, डाप्, चाप्, ङीप्, ङीष्, ङीन्, ऊङ् और ति—ये आठ प्रत्यय इस अधिकार में कहे गये हैं[1]। ये सब स्त्रीत्व के द्योतक हैं। संस्कृतवैयाकरणों के अनुसार लिङ्ग भी प्रातिपदिक के अर्थ में ही सम्मिलित होता है। स्त्रीप्रत्यय केवल उसे द्योतित करते हैं, अत एव अनेक शब्दों में स्त्रीप्रत्ययों के विना भी स्त्रीत्व का बोध स्वतः ही हुआ करता है। यथा—वाच्, गिर्, पुर्, दृश् आदियों में स्त्रीत्वद्योतक प्रत्यय के विना भी स्त्रीत्व का बोध स्वतः होता है। तात्पर्य यह है कि यह जरूरी नहीं कि स्त्रीप्रत्यय के होने पर ही स्त्रीत्व का बोध हो, स्त्रीत्व का बोध प्रत्यय के विना भी कई जगह हो सकता है। परन्तु टाप् आदि प्रत्ययों के होने पर अवश्य स्त्रीत्व का बोध होता है—यह नियम है।

---

१. **टाप्-डाप्-चापस्त्रयोऽप्येते ङीप्-ङीष्-ङीन्प्रत्ययैः सह ।**
ऊङ्-तिभ्यां मिलिताश्चापि सन्त्यष्टौ प्रत्ययाः स्त्रियाम् ॥

स्त्रीत्व क्या है ? सर्वप्रथम इसे समझना जरूरी है। लोक में स्त्रीत्व आदि का लक्षण इस प्रकार किया जाता है—

स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः ।
उभयोरन्तरं यच्च तदभावे नपुंसकम् ॥

अर्थात् स्तनों और केशों के अतिशय से युक्त स्त्री होती है, लोमों के अतिशय से युक्त पुरुष होता है[1] । जब दोनों का अभाव अर्थात् अपूर्णता रहती है तो उस बीच की स्थिति को नपुंसक कहते हैं । परन्तु लिङ्गों का यह लौकिक लक्षण खट्वा, माला, तट, घट, पट आदि जड़ पदार्थों पर घटित नहीं हो सकता अतः व्याकरण में इस का आश्रय नहीं किया जाता । वैयाकरणों का कहना है कि सांख्यशास्त्रोक्त सत्त्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों का ही विपरिणाम प्रत्येक पदार्थ हुआ करता है । जब गुणत्रयात्मक किसी पदार्थ में इन गुणों का प्रसव=आविर्भाव=उपचय या वृद्धि कहनी अपेक्षित होती है तब पुंलिङ्ग, जब संस्त्यान=अपचय या ह्रास कहना अपेक्षित होता है तब स्त्रीलिङ्ग तथा जब केवल स्थितिमात्र कहनी अपेक्षित होती है तब नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग किया जाता है[2] । परन्तु यह विवक्षा अस्मदादि प्रयोक्ताओं के आश्रित नहीं होती, इस के नियामक तो शिष्ट लोग ही होते हैं । उन की विवक्षा को ही व्याकरण, लिङ्गानुशासन या कोष आदियों में निबद्ध किया गया है । यही हमें अनुसर्त्तव्य है, स्वेच्छा से कुछ नहीं । यही कारण है कि कुछ शब्द दो लिङ्गों या तीनों लिङ्गों में भी प्रयुक्त हुआ करते हैं । सार यह है कि संस्कृतभाषा में लिङ्गों का निर्णय सर्वथा शिष्ट प्रयोगों पर आश्रित व्याकरण आदि के नियमों से ही हुआ करता है, मनमाने ढंग या लौकिक ढंग से नहीं ।

अब सब से प्रथम स्त्रीप्रत्ययों में सुप्रसिद्ध टाप् प्रत्यय का विधान करते हैं—

---

१. वैयाकरणैर्भाष्योक्तोऽयं श्लोक इत्थं व्याख्यायते—
स्तनकेशवतीत्यत्र अतिशायने मतुप् । एवं 'लोमशः' इत्यत्रापि बोध्यः । स्तनकेशादि भगशिश्नादेरप्युपलक्षणम् । केचित्—केशो भगः, शिश्नं लोम इत्याहुः । परं केशपदं लोमपदं च स्वार्थपरमेवेति भाष्यमर्मविदः । तदभावे स्तनकेशलोमादिव्यञ्जकाभावे सति यद् उभयोः=स्त्रीपुंसयोर् अन्तरम्=सदृशं तन्नपुंसकमित्यर्थः ।

२. इस धारणा के अनुसार लिङ्ग अर्थनिष्ठ ठहरता है न कि शब्दनिष्ठ । परन्तु वाच्यवाचक के अभेदोपचार के कारण व्यवहार में शब्दों को ही पुंलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग या नपुंसकलिङ्ग माना जाता है । यहां एक बात और भी ध्यातव्य है कि ब्रह्मन्, आत्मन् आदि पदार्थ यद्यपि सत्त्व-रजस्-तमस् गुणों का विपरिणाम नहीं होते तथापि उन में भी सत्त्व आदि गुणों को आरोपित कर उपर्युक्तप्रकारेण लिङ्गव्यवस्था मान ली जाती है ।

[लघु०] विधिसूत्रम्—(१२४९) अजाद्यतष्टाप् ।४।१।४।।

अजादीनाम् अकारान्तस्य च वाच्यं यत् स्त्रीत्वं तत्र द्योत्ये टाप् स्यात् । अजा । एडका । अश्वा । चटका । मूषिका । बाला । वत्सा । होडा । मन्दा । विलाता । इत्यादिरजादिगणः । मेधा । गङ्गा । सर्वा ।।

अर्थः—अज आदि गणपठित प्रातिपदिकों के अथवा अदन्त प्रातिपदिकों के वाच्य स्त्रीत्व का द्योतन करना हो तो उन से परे टाप् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—अजाद्यतः ।६।१। टाप् ।१।१। प्रातिपदिकात् ।५।१। (**ङ्याप्प्रातिपदिकात्** इस अधिकृत से) । स्त्रियाम् ।७।१। (अधिकृत किया गया है) । **प्रत्ययः, परश्च**—ये दोनों भी अधिकृत हैं । समासः—अजः (अजशब्दः) आदिर्येषान्ते अजादयः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । अजादयश्च अत् च अजाद्यत्, तस्य=अजाद्यतः, समाहारद्वन्द्वः । 'अजाद्यतः' के कारण 'प्रातिपदिकात्' का भी षष्ठ्यन्ततया विपरिणाम हो जाता है—अजाद्यतः प्रातिपदिकस्य । 'अजाद्यतः' यह 'प्रातिपदिकस्य' का विशेषण है । अतः 'अत्' अंश से तदन्तविधि हो कर 'अदन्तस्य प्रातिपदिकस्य' बन जाता है[1] । 'अजाद्यतः प्रातिपदिकस्य' में षष्ठी वाच्यवाचकसम्बन्ध में हुई है । अर्थः—(अजाद्यतः प्रातिपदिकस्य) अज आदि प्रातिपदिक का अथवा अदन्त प्रातिपदिक का वाच्य (स्त्रियाम्) जो स्त्रीत्व उस के द्योतन करने की विवक्षा में इन से (परः) परे (टाप्) टाप् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है[2] ।

---

१. यहां **समासप्रत्ययविधौ प्रतिषेधः** (वा०) इस वार्त्तिक से तदन्तविधि का निषेध नहीं होता क्योंकि वहां **उगिद्वर्णग्रहणवर्जम्** (वा०) इस दूसरी वार्त्तिक से उगिद्-ग्रहण और वर्णग्रहण में तदन्तविधि का विधान कह दिया गया है ।
यह तदन्तविधि 'अजादि' अंश से भी यहां हो सकती है । **शूद्रा चाऽमहत्पूर्वा जातिः** (गण०) इस गणसूत्र तथा **अनुपसर्जनात्** (४.१.१४) इस अधिकार के कारण स्त्रीप्रत्ययों में भी तदन्तविधि का अनुमान किया जाता है ।

२. 'अजाद्यतः' को कौमुदीकार ने षष्ठ्यन्त पद माना है, पञ्चम्यन्त नहीं । यदि पञ्चम्यन्त मानते हैं तो—अजादि प्रातिपदिक तथा अदन्त प्रातिपदिक से परे स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् प्रत्यय हो—इस प्रकार अर्थ तो बहुत सरल हो जाता है परन्तु तब पञ्चाजी (पाञ्च बकरों का समूह) आदि प्रयोगों में भी टाप् प्राप्त होने लगता है जो अनिष्ट है । तथाहि—पञ्चानाम् अजानां समाहारः पञ्चाजी । यहां 'पञ्चन् आम्+अज आम्' इस अलौकिक विग्रह में **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३६) सूत्रद्वारा समाहार अर्थ में द्विगुसमास हो कर सुँब्लुक्, नकारलोप तथा सवर्णदीर्घ करने पर 'पञ्चाज' यह द्विगुसञ्ज्ञक प्रातिपदिक उत्पन्न हो जाता है । अब **अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः** (वा०) के अनुसार स्त्रीत्व की विवक्षा होने पर अन्त में 'अज' शब्द होने के कारण पञ्चम्यन्त वाला अर्थ

टाप् में चुटू (१२९) द्वारा टकार तथा हलन्त्यम् (१) द्वारा पकार इत्संज्ञक हैं अतः तस्य लोपः (३) से इन का लोप हो कर 'आ' ही शेष रह जाता है। टाप् में पकार अनुबन्ध अनुदात्तौ सुँप्पितौ (३.१.४) द्वारा अनुदात्त स्वर के लिये जोड़ा गया है। किञ्च औङ आपः (२१६), आङि चापः (२१८), याडापः (२१९) आदि में आप् कहने से डाप् और चाप् के साथ टाप् का भी ग्रहण हो सके, इस के लिये भी जोड़ा गया है। टाप् में टकार अनुबन्ध न जोड़ते तो 'आप्' कहने से ङ्याप्प्रातिपदिकात् (११९) आदि में केवल इसी का ग्रहण होता डाप् और चाप् का नहीं (एकानुबन्धग्रहणे न द्व्यनुबन्धकस्य), अतः सब का ग्रहण हो सके इस के लिये टकार जोड़ा गया है।

अजादिगण के उदाहरण यथा—

अज (बकरा) शब्द अजादिगण का प्रथम शब्द है[1]। स्त्रीत्व के द्योतन करने में इस से अजाद्यतष्टाप् (१२४९) सूत्रद्वारा टाप् प्रत्यय हो कर अनुबन्धों (ट्, प्) का लोप करने से—अज+आ। अब अकः सवर्णे दीर्घः (४२) सूत्र से सवर्णदीर्घ हो 'अजा'

करने से टाप् प्राप्त होने लगता है जो अनिष्ट है। परन्तु षष्ठ्यन्त वाला अर्थ मान कर 'अजादियों का वाच्य जो स्त्रीत्व उस की विवक्षा में टाप् हो' ऐसा अर्थ हो जाने से टाप् नहीं हो सकता, क्योंकि यहां स्त्रीत्वविशिष्ट समाहार अर्थ 'अज' का वाच्य नहीं, वह तो पूरे द्विगुसंज्ञक 'पञ्चाज' प्रातिपदिक का ही वाच्य है। अतः टाप् न हो कर द्विगोः (१२५७) से ङीप् करने से 'पञ्चाजी' यह इष्ट रूप सिद्ध हो जायेगा। इस तरह 'अजाद्यतः' को षष्ठ्यन्त मानना उचित है पञ्चम्यन्त नहीं। अत एव सिद्धान्तकौमुदीकार ने लिखा है—अजादिभिः स्त्रीत्वस्य विशेषणान्नेह—पञ्चाजी।

१. अजादिगण में अज आदि प्रातिपदिकों का साक्षात् पाठ नहीं किया गया किन्तु कृतटाप्प्रत्ययान्त अजा आदि शब्दों का परिगणनमात्र किया है। उन परिगणित टाबन्तों से तत्तत्प्रकृतिक प्रातिपदिकों की प्रक्रियादशा में स्वयं कल्पना कर ली जाती है। अजादिगण यथा—अजा। एडका। कोकिला। चटका। अश्वा। मूषिका। बाला। होडा (होढा का०)। पाका। वत्सा। मन्दा। विलाता। पूर्वापहाणा (पूर्वापहरणा का०)। अपरापहाणा (अपरापहरणा का०)। सम्भस्त्राजिनशणपिण्डेभ्यः फलात्—सम्फला। भस्त्रफला। अजिनफला। शणफला। पिण्डफला। सदच्काण्डप्रान्तशतैकेभ्यः पुष्पात्—सत्पुष्पा। प्राक्पुष्पा। प्रत्यक्पुष्पा। काण्डपुष्पा। प्रान्तपुष्पा। शतपुष्पा। एकपुष्पा। शूद्रा चाऽमहत्पूर्वा जातिः। क्रुञ्चा। उष्णिहा। देवविशा। ज्येष्ठा। कनिष्ठा। मध्यमा पुंयोगेऽपि। मूलान्नञः। दंष्ट्रा। आकृतिगणोऽयम्॥

शब्द बन जाता है[1]। आबन्त होने के कारण (११९) अब इस से सुँ आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति होती है। प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर उकार अनुबन्ध का लोप तथा **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुँतिस्यपृक्तं हल्** (१७९) सूत्रद्वारा अपृक्त सकार का भी लोप करने से 'अजा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। ~~'अजा'~~ का अर्थ है—बकरी।

इसीप्रकार—

एडक + टाप् = एडक + आ = एडका (भेड़)।
अश्व + टाप् = अश्व + आ = अश्वा (घोड़ी)।
चटक + टाप् = चटक + आ = चटका (चिड़िया)।
मूषिक + टाप् = मूषिक + आ = मूषिका (चूही)।[2]
बाल + टाप् = बाल + आ = बाला (बच्ची)।
वत्स + टाप् = वत्स + आ = वत्सा (बच्ची या बछिया)।
होड + टाप् = होड + आ = होडा (बाला)।
मन्द + टाप् = मन्द + आ = मन्दा (बालिका)।
विलात + टाप् = विलात + आ = विलाता (बाला या नवयौवना)।

अदन्त प्रातिपदिकों से यथा—

मेध + टाप् = मेध + आ = मेधा (बुद्धि)।
गङ्ग + टाप् = गङ्ग + आ = गङ्गा (नदीविशेष)।
सर्व + टाप् = सर्व + आ = सर्वा (सब)।
खट्व + टाप् = खट्व + आ = खट्वा (खाट)।
धनिक + टाप् = धनिक + आ = धनिका (धनी औरत)।

---

१. जो लोग 'अज + आ' इस स्थिति में भसंज्ञा कर **यस्येति च** (२३६) सूत्रद्वारा भसंज्ञक अकार का लोप कर रूपसिद्धि किया करते हैं—वे भ्रान्त हैं। क्योंकि **यस्येति च** (२३६) की प्रवृत्ति ईकार या तद्धित परे होने पर ही हुआ करती है। टाप् प्रत्यय तद्धिताधिकार से बहिर्भूत है। अतः सवर्णदीर्घद्वारा ही रूप सिद्ध करना चाहिये।

२. मुष्णातीति मूषिकः। **मुष स्तेये** (क्र्या० परस्मै०) धातु से **मुषेर्दीर्घश्च** (उणा० २.४३) इस औणादिकसूत्रद्वारा किकन् (इक) प्रत्यय कर धातु के उकार को दीर्घ करने से 'मूषिक' शब्द निष्पन्न होता है। इसी का यहां ग्रहण किया गया है। कुछ लोग भ्वादिगणीय **मूष स्तेये** (भ्वा० परस्मै०) धातु से संज्ञा में **क्वुन् शिल्पिसंज्ञयोरपूर्वस्यापि** (उणा० २.३३) सूत्र से क्वुन् (वु) प्रत्यय कर वु को अक आदेश करने से 'मूषक' शब्द की निष्पत्ति मानते हैं—मूषतीति मूषकः। उन के मतानुसार टाप् करने के बाद **प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुँपः** (१२६२) सूत्र से अकार को इकार करना विशेष कार्य होगा।

कृत्रिम + टाप् = कृत्रिम + आ = कृत्रिमा (बनावटी)।
स्वभावज + टाप् = स्वभावज + आ = स्वभावजा।
गत + टाप् = गत + आ = गता (गई हुई)।

शङ्का—अजादिगणपठितशब्द प्रायः अदन्त हैं। अदन्त होने से ही उन से टाप् स्वतः सिद्ध है, पुनः टाप् के विधान के लिये उन का सूत्र में पृथक् उल्लेख क्यों किया गया है?

समाधान—बाधक प्रत्ययों का बाध करने के लिये ही सूत्र में अजादियों का पृथक् उल्लेख किया गया है। यथा—अजा, अश्वा, चटका आदि में **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६६) से जातिलक्षण ङीष् प्राप्त था। वत्सा, बाला आदि में **वयसि प्रथमे** (१२५६) से ङीप् होना था। परन्तु अब विशेष उल्लेख के कारण उन का बाध हो कर टाप् प्रत्यय ही होता है।

पीछे अजन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरण में स्त्रीप्रत्ययविषयक दो सूत्र प्रसङ्गतः पढ़े गये थे। प्रकरणशुद्धि के लिये उन का यहां पुनर्ध्यान कर लेना उचित है। तथाहि—

[१] **ऋन्नेभ्यो ङीप्** (२३२)। **अर्थः**—ऋदन्त और नकारान्त प्रातिपदिकों से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् (ई) प्रत्यय हो जाता है। ऋदन्त प्रातिपदिकों से यथा—कर्तृ + ङीप् = कर्तृ + ई = कर्त् र् + ई (१५) = कर्त्री (करने वाली)। हर्तृ + ङीप् = हर्तृ + ई = हर्त् र् + ई = हर्त्री (हरण करने वाली)। धातृ + ङीप् = धातृ + ई = धात्री (धारण करने वाली)। इत्यादि। नकारान्तों से यथा—दण्डिन् + ङीप् = दण्डिन् + ई = दण्डिनी (दण्ड वाली)। योगिन् + ङीप् = योगिन् + ई = योगिनी (योग वाली)। रोगिन् + ङीप् = रोगिन् + ई = रोगिणी (रोग वाली)। राजन् + ङीप् = राजन् + ई = राज्न् + ई = राज्ञ् + ई = राज्ञी (रानी)। यहां **अल्लोपोऽनः** (२४७) सूत्र से भसंज्ञक अन् के अकार का लोप हो कर **स्तोः श्चुना श्चुः** (६२) से श्चुत्व के द्वारा नकार को ञकार हो जाता है। **जञोर्ज्ञः**।

अब इस सूत्र का अपवाद कहते हैं—

[२] **न षट्-स्वस्रादिभ्यः** (२३३)। **अर्थः**—स्त्रीत्व की विवक्षा में षट्सञ्ज्ञक प्रातिपदिकों तथा स्वसृ आदि प्रातिपदिकों से परे ङीप् और टाप् प्रत्यय नहीं होते। **ष्णान्ता षट्** (२६७) सूत्र से षकारान्त और नकारान्त संख्यावाचकों की षट्संज्ञा कही गई है। परन्तु षकारान्त षट्संज्ञक से किसी सूत्रद्वारा कोई स्त्रीप्रत्यय प्राप्त नहीं होता अतः उस का निषेध यहां अभीष्ट नहीं हैं, केवल नकारान्त षट्सञ्ज्ञकों से ही **ऋन्नेभ्यो ङीप्** (२३२) द्वारा ङीप् प्राप्त होता है अतः उन से ही यहां निषेध होता है। उदाहरण यथा—पञ्च स्त्रियः, सप्त नार्यः, दश देव्यः[1]। इसीप्रकार स्वसृ आदि

---

१. इन 'पञ्च' आदि उदाहरणों में प्रकृतसूत्र से प्रथम बार तो ङीप् का तथा दूसरी बार टाप् प्रत्यय का निषेध हो जाता है। तथाहि—पञ्चन् आदि से सुँबुत्पत्ति से

शब्दों[1] से ऋदन्तलक्षण ङीप् का प्रकृतसूत्र से निषेध हो जाता है— स्वसा, तिस्रः, चतस्रः, ननान्दा, दुहिता, याता, माता ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२५०) उगितश्च ।४।१।६॥

उगिदन्तात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीप् स्यात् । भवन्ती । पचन्ती । दीव्यन्ती ॥

अर्थः—उगिदन्त अर्थात् जिस का उक् (उ, ऋ, लृ) वर्ण इत् हो तदन्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—उगितः ।५।१। च इत्यव्ययपदम् । ङीप् ।१।१। (**ऋन्नेभ्यो ङीप्** से) । **प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—उक् (उ ऋ लृ—इति वर्णत्रयरूप उक्प्रत्याहारः) इद् यस्य स उगित्, तस्मात्=उगितः, बहुव्रीहिसमासः । 'उगितः' यह 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है, विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'उगिदन्तात् प्रातिपदिकात्' बन जाता है[2] । अर्थः—(उगितः=उगिदन्तात्) उक्प्रत्याहारान्तर्गतवर्ण जिस का इत् हो वह उगित् कहायेगा, वह उगित् जिस के अन्त में हो ऐसे (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से परे (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की

पूर्व ही स्त्रीत्व की विवक्षा में नान्तलक्षण ङीप् के प्राप्त होने पर **ष्णान्ता षट्** (२६७) से षट्संज्ञा के कारण प्रकृतसूत्रद्वारा उस का निषेध हो जाता है । अब जब जस् या शस् प्रत्यय ला कर **षड्भ्यो लुक्** (१८८) से उन का लुक् कर देते हैं तब **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) सूत्रद्वारा नकार का भी लोप हो कर 'पञ्च' आदि सिद्ध हो जाते हैं । परन्तु नकार का हुआ यह लोप **न लोपः सुँप्स्वरसञ्ज्ञातुँग्विधिषु कृति** (२८२) के अनुसार सुँब्विधि आदियों में ही असिद्ध होता है अन्यत्र टाप् आदि करने में नहीं । तो इस प्रकार टाप्विधान के प्रसङ्ग में नकारलोप के सिद्ध होने से **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) द्वारा अदन्तलक्षण टाप् प्रत्यय प्राप्त होने लगता है । परन्तु इस का वारण भी पूर्ववत् प्रकृतसूत्र से षट्संज्ञा के कारण ही हो जाता है । यहां यह ध्यातव्य है कि संज्ञाविधि के प्रति तो नकार का लोप असिद्ध है ही अतः षट्संज्ञा करने में 'पञ्च' की नकारान्तता अक्षुण्ण रहती है, इस से षट्संज्ञा निर्बाध हो कर अदन्तलक्षण टाप् का भी सुतरा निषेध हो जाता है ।

१. **स्वसा तिस्रश्चतस्रश्च ननान्दा दुहिता तथा ।**
याता मातेति सप्तैते स्वस्रादय उदाहृताः ॥

२. न च **समासप्रत्ययविधौ तदन्तप्रतिषेधः** (वा०) इति तदन्तविधेर्निषेधः शङ्क्यः, तत्र **उगिद्वर्णग्रहणवर्जम्** (वा०) इत्युक्तत्वात् ।

विवक्षा में (ङीप्) ङीप् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है। उक् (उ, ऋ, लृ) वर्ण जिस के इत् हों ऐसे शब्द दो प्रकार के हो सकते हैं—प्रातिपदिक या प्रत्यय। भवतुँ (आप) यह अव्युत्पन्न सर्वनाम है, इस का अन्त्य उकार इत् है अतः यह उगित् प्रातिपदिक है। शतृँ, वसुँ आदि प्रत्ययों के अन्त्य ऋकार वा उकार अनुनासिक होने से इत् हैं अतः ये उगित् प्रत्यय हैं। उगित् चाहे प्रातिपदिक हो या प्रत्यय, वह जिस के अन्त में हो उस प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् प्रत्यय हो जाता है। ङीप् का ङकार **लशक्वतद्धिते** (१३६) द्वारा तथा पकार **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'ई' मात्र शेष रहता है। पकार अनुबन्ध **अनुदात्तौ सुँप्पितौ** (३.१.४) द्वारा अनुदात्त स्वर के लिये तथा ङकार अनुबन्ध ङीष्, ङीप्, ङीन् इन के सामान्यग्रहण के लिये जोड़ा गया है।

उदाहरण यथा—

भवतुँ (आप) शब्द सर्वनाम है। इस का अन्त्य उकार **उपदेशेऽजनुनासिक इत्** (२८) सूत्र से इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है अतः 'भवत्' शब्द उगित् है। व्यपदेशिवद्भाव (२७८) से यह उगिदन्त भी है। इस से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृत **उगितश्च** (१२४६) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय हो कर ङकार-पकार अनुबन्धों का लोप करने से—भवत्+ई=भवती शब्द निष्पन्न होता है। अब ङ्यन्त होने से **ङ्याप्प्रातिपदिकात्** (११९) के अधिकार में इस से परे सुँ आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति होती है। प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुँतिस्यपृक्तं हल्** (१७९) द्वारा अपृक्त सकार का लोप करने से 'भवती' (आप स्त्री) प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]। **आश्लेषि न श्लेषकवेर्भवत्याः श्लोकद्वयार्थः सुधिया मया किम्?** (नैषध० ३.६९)। अत्रभवती या तत्रभवती के लिये इस व्याख्या के अव्ययप्रकरण में 'अत्र' शब्द पर टिप्पण देखें।

इसी तरह—**विदेः शतुर्वसुँः** (८३३) द्वारा विद् धातु से परे शतृँ को वसुँ आदेश करने पर 'विद्वस्' प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। यह उगित् है, अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से **उगितश्च** (१२४६) द्वारा ङीप् हो कर—विद्वस्+ई। अब ईकार के परे रहते भसंज्ञा हो कर **वसोः सम्प्रसारणम्** (३५३) से वस् के वकार को सम्प्रसारण उकार, **सम्प्रसारणाच्च** (२५८) से पूर्वरूप, **आदेशप्रत्यययोः** (१५०) से षत्व तथा अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'विदुषी' (जानती हुई) प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

---

१. ङीप्, ङीष्, ङीन् अथवा टाप्, डाप्, चाप्—इन स्त्रीप्रत्ययों के करने के बाद सुँ प्रत्यय लाने पर उपर्युक्त प्रक्रिया अच्छी तरह हृदयङ्गम कर लेनी चाहिये। इसे बार-बार विस्तार से नहीं लिखेंगे। इस प्रक्रिया को आगे प्रायः विभक्तिकार्य से निर्दिष्ट किया जायेगा।

भू सत्तायाम् (भ्वा० परस्मै०) धातु से वर्त्तमान काल में लँट्, उसे **लँटः शतृ॑-शानचावप्रथमासमानाधिकरणे** (८३१) से शतृँ आदेश, शप् (अ) विकरण, धातु के ऊकार को सार्वधातुकगुण से ओकार तथा **एचोऽयवायावः** (२२) से ओकार को अव् आदेश करने पर 'भवत्' यह शत्रन्त प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। इस के अन्त में 'शतृ॑' यह उगित् प्रत्यय किया गया है अतः 'भवत्' यह उगिदन्त प्रातिपदिक ठहरा। अब स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से प्रकृत **उगितश्च** (१२५०) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय हो कर अनुबन्धों का लोप करने से 'भवत्+ई' इस स्थिति में **शप्श्यनोर्नित्यम्** (३६६) से नुँम् का आगम, उँम् अनुबन्ध का लोप, **नश्चाऽपदान्तस्य झलि** (७८) से अपदान्त नकार को अनुस्वार तथा **अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः** (७९) से अनुस्वार को परसवर्ण नकार करने पर—भवन्ती। अब ङ्यन्त होने से स्वाद्युत्पत्ति के प्रसङ्ग में प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय ला कर विभक्तिकार्य करने से 'भवन्ती' (होती हुई) प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

इसीप्रकार **डुपचँष् पाके** (भ्वा० उभय०) धातु से शतृँ प्रत्यय कर स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप्, नुँम् तथा नकार को अनुस्वार-परसवर्ण कर विभक्तिकार्य करने से 'पचन्ती' (पकाती हुई) प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

दिवुँ क्रीडा-विजिगीषा-व्यवहार-द्युति-स्तुति-मोद-मद-स्वप्न-कान्ति-गतिषु (दिवा० परस्मै०) धातु से इसी तरह वर्त्तमानकाल में लँट्, उसे शतृँ आदेश, **दिवा-दिभ्यः श्यन्** (६२९) से श्यन् विकरण तथा **हलि च** (६१२) से धातु की उपधा इकार को दीर्घ करने पर 'दीव्यत्' प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से **उगितश्च** (१२५०) सूत्र से ङीप्, **शप्श्यनोर्नित्यम्** (३६६) से नुँम् का आगम तथा नकार को अनुस्वार और परसवर्ण कर विभक्ति लाने से 'दीव्यन्ती' (चमकती हुई) प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—नमन्ती, पठन्ती, पतन्ती, चोरयन्ती आदि की सिद्धि समझनी चाहिये।

ध्यान रहे कि जहां शप् और श्यन् नहीं होता वहां नुँम् का आगम भी नहीं होता। यथा—मुष्णती, ददती, कुर्वती, जानती, अदती, शृण्वती आदि। तुदादिगणीय तथा आकारान्त अदादिगणीय धातुओं के शत्रन्तों में ङीप् के परे रहते **आच्छीनद्योर्नुँम्** (३६५) से वैकल्पिक नुँम् का आगम हो जाता है। यथा—तुदन्ती-तुदती, लिखन्ती-लिखती, पृच्छन्ती-पृच्छती, यान्ती-याती, पान्ती-पाती आदि दो दो रूप बनते हैं। इसीप्रकार भविष्यत्काल में लृँट् के स्थान पर शतृँ आदेश करने पर भी दो दो रूप बनते है—भविष्यन्ती-भविष्यती आदि। इस विषय पर इस व्याख्या के प्रथम भाग में (३६६) सूत्र पर विस्तृत टिप्पण कर चुके हैं वहीं देखें।

---

१. पूर्वोक्त 'भवती' और इस 'भवन्ती' के अर्थ एवं प्रक्रिया के अन्तर को अच्छी तरह समझ लेना चाहिये।

अब लोक में कर्णकटुत्वदोष के लिये प्रसिद्ध[1] अग्रिमसूत्र के द्वारा ङीप् का पुन-र्विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२५१) **टिड्-ढाऽणञ्-द्वयसज्-दघ्नञ्-मात्रच्-तयप्-ठक्-ठञ्-कञ्-क्वरपः ।४।१।१५।।**

अनुपसर्जनं यद् टिदादि, तदन्तं यद् अदन्तं प्रातिपदिकं, ततः स्त्रियां ङीप् स्यात् । कुरुचरी । नदट्—नदी । देवट्—देवी । सौपर्णेयी । ऐन्द्री । औत्सी । ऊरुद्वयसी । ऊरुदघ्नी । ऊरुमात्री । पञ्चतयी । आक्षिकी । प्रास्थिकी[2] । लावणिकी । यादृशी । इत्वरी ।।

अर्थः—अनुपसर्जन (अगौण अर्थात् प्रधान) जो टित् या ढ आदि प्रत्यय, वे जिस के अन्त में हों ऐसे अदन्त प्रातिपदिक से परे स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—टित्-ढ-अण्-अञ्-द्वयसच्-दघ्नच्-मात्रच्-तयप्-ठक्-ठञ्-कञ्-क्वरपः[3] । १।३। ङीप् ।१।१। (**ऋन्नेभ्यो ङीप्** से) । अनुपसर्जनात् ।५।१। (यह पीछे से अधिकृत है) । अतः ।५।१। (**अजाद्यतष्टाप्** से)[4] । स्त्रियाम् ।७।१। (यह अधिकृत है) । **प्राति-पदिकात्, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब भी पूर्वतः अधिकृत हैं । टित् से ले कर क्वरप् तक का समाहारद्वन्द्व है । न उपसर्जनम् अनुपसर्जनम्, तस्मात् = अनुपसर्जनात्, नञ्तत्पुरुषः ।

---

१. **टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरप्**...

टिड्ढाणञ्द्वयसच्चुटूङसिङसोस्तिप्तस्झिसिप्थस्थमिब्-
वस्मस्ताहशिचष्टुनाष्टुरतइञ्शश्छोऽटचचोऽन्त्यादि टि ।
लोपोव्योर्वलिवृद्धिरेचियचिभं दाधाघ्वदाप्छेच टे-
रित्यब्दानखिलान्नयन्ति कतिचिच्छब्दान् पठन्तः कटून् ।।
(सुभाषितरत्न० । शार्दूलविक्रीडितम्)

२. **पाठोऽयं क्वचिन्नोपलभ्यते ।**

३. **संहितैकपदे नित्या नित्या धातूपसर्गयोः ।**
नित्या समासे वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ।।

इस नियम के अनुसार समास में सन्धि नित्य हुआ करती है । अतः यहां सन्धि-रहित पदों का विच्छेद दर्शाया नहीं जा सकता । परन्तु विद्यार्थियों के सुखबोध के लिये यहां सन्धिरहित पदों का विश्लेष दिखाया गया है, परमार्थतः नहीं ।

४. **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से 'अतः' पद का अनुवर्त्तन सम्पूर्ण स्त्रीप्रत्ययप्रकरण में व्याप्त रहता है । यदि इस प्रकरण में किसी प्रकार के विशेषविधान से अन्यथा नहीं कहा जाता तो इसी का ही अधिकार रहता है तब अदन्त प्रातिपदिक से ही प्रत्यय का विधान समझना चाहिये ।

टित्, ढ आदि प्रत्यय हैं[1]। **प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः** के अनुसार इन से तदन्तविधि हो कर टिदन्त, ढान्त, अणन्त आदि बन जाता है। तब इस का 'प्रातिपदिकात्' के साथ अन्वय होता है। इधर 'अतः' यह भी 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है, इसलिये इस से भी तदन्तविधि हो कर 'अदन्तात् प्रातिपदिकात्' उपलब्ध हो जाता है। 'अनुपसर्जनात्' को 'टिड्ढाणञ्०' से अन्वित किया जाता है, 'प्रातिपदिकात्' से नहीं। इस प्रकार सूत्र का यह अर्थ प्राप्त होता है—(अनुपसर्जनात् टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः) अनुपसर्जन अर्थात् प्रधान जो टित्, ढ, अण्, अञ्, द्वयसच्, दघ्नच्, मात्रच्, तयप्, ठक्, ठञ्, कञ् और क्वरप् प्रत्यय—वे जिस के अन्त में हों ऐसे (अतः =अदन्तात्) अदन्त (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से परे (ङीप् प्रत्ययः) ङीप् प्रत्यय हो जाता है (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में।

इन के क्रमशः उदाहरण यथा—

टित्—ट् इत् यस्य स टित्, जिस का टकार इत् हो वह टित् कहाता है। टित् दो प्रकार का होता है। (१) प्रत्यय का टित् होना। (२) प्रातिपदिक या धातु का टित् होना। यहां दोनों प्रकार के टित् अभिप्रेत हैं। यथा—'कुरुचर' शब्द **चरेष्टः** (७९२) सूत्रद्वारा टप्रत्ययान्त सिद्ध होता है। 'ट' प्रत्यय टित् है क्योंकि इस के टकार की **चुटू** (१२९) द्वारा इत्संज्ञा हो जाती है। तो इस प्रकार यहां टित्प्रत्यान्त अदन्त प्रातिपदिक 'कुरुचर' से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृत **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र से ङीप् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप करने से 'कुरुचर+ई' हुआ। अब अजादि स्वादि प्रत्यय 'ई' के परे रहते **यचि भम्** (१६५) द्वारा पूर्व की भसंज्ञा हो जाती है। पुनः **यस्येति च** (२३६) सूत्र से भसंज्ञक अकार का लोप कर ङ्यन्त होने से प्रथमैकवचन में सुँ प्रत्यय लाने पर उस का हल्ङ्यादिलोप हो 'कुरुचरी' (कुरुषु चरति स्त्री कुरुचरी, कुरुदेश में घूमने वाली स्त्री) प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि 'कुरुचर' में तत्पुरुषसमास के कारण उत्तरपद की प्रधानता है अतः यहां 'चर' यह टित्प्रत्ययान्त शब्द अनुपसर्जन (प्रधान) है इसलिये इस से ङीप् प्रत्यय हो गया है। यदि टिदन्त आदि उपसर्जन (गौण) होंगे तो ङीप् न होगा। यथा—बहवः कुरुचरा यस्यां सा बहुकुरुचरा नगरी। यहां अन्यपदप्रधान बहुव्रीहिसमास में 'कुरुचर' यह टिदन्त गौण (उपसर्जन) है अतः 'बहुकुरुचर' शब्द से प्रकृतसूत्रद्वारा ङीप् न हो कर **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से अदन्तलक्षण टाप् ही होता है।

नदट्, देवट्, चोरट् आदि शब्द पचादिगण (७८६) में अच्प्रत्ययान्त पढ़े गये हैं। इन के टकार की **हलन्त्यम्** (१) द्वारा इत्संज्ञा हो कर लोप करने से 'नद, देव,

---

१. टित् को छोड़ अन्य सब प्रत्यय हैं। टित्—प्रत्यय अप्रत्यय दोनों प्रकार का होता है। यदि टित् अप्रत्यय होगा तो भी 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण होने के कारण इस से तदन्तविधि हो जायेगी।

चोर' आदि रह जाते हैं। टित्त्व के कारण इन प्रातिपदिकों से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृतसूत्र से ङीप् प्रत्यय हो कर भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से नदी (दरिया), देवी (दिव्यगुणयुक्ता स्त्री), चोरी (चोर स्त्री) आदि प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।

धातु के टित्त्व के उदाहरण स्तनंधयी (स्तनपान करने वाली बच्ची) आदि व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखें[1]।

ढ प्रत्यय का उदाहरण यथा—'सुपर्णी ङस्' से अपत्य अर्थ में **स्त्रीभ्यो ढक्** (१०२०) सूत्र से तद्धित ढक् (ढ) प्रत्यय, तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकत्व के कारण **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (ङस्) का लुक्, **आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) से ढ् को एय् आदेश, प्रत्यय के कित्त्व के कारण **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक ईकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर 'सौपर्णेय' यह ढक्प्रत्ययान्त प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। अब स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से प्रकृत **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय हो भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'सौपर्णेयी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। सुपर्ण्या अपत्यं स्त्री सौपर्णेयी (सुपर्णी की कन्या, गरुड़ की बहन)। इसीप्रकार विनताया अपत्यं स्त्री वैनतेयी[2]।

अण्प्रत्यय का उदाहरण यथा—

देवतावाचक प्रथमान्त 'इन्द्र' शब्द से **सास्य देवता** (१०४१) के अर्थ में तद्धित-सञ्ज्ञक अण् प्रत्यय हो कर—इन्द्र सुँ+अण्। तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकत्व के कारण **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँप् (सुँ) का लुक्, प्रत्यय के णित्त्व के

---

१. यहां यह विशेषतः ध्यातव्य है कि आगम के टित्त्व के कारण कोई प्रातिपदिक टित् नहीं होता। अत एव 'पठित' आदि को इट् आगम के कारण टित् न मानने से टित्त्वलक्षण ङीप् नहीं होता, अदन्तलक्षण टाप् ही होता है। यथा—पठिता अष्टाध्यायी, चलिता लक्ष्मीः, ग्रथिता माला, पूजिता विद्या, भूषिता कन्या, पतिता पुष्पावलिः इत्यादि। इस में प्रमाण है **सायं-चिरं-प्राह्णे-प्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुँट् च** (१०८६) सूत्र में तुँट् आगम को टित् करने पर भी ट्यु और ट्युल् प्रत्ययों को पुनः टित् करना। यदि आगमों का टित्त्व ङीप् का निमित्त होता तो प्रत्ययों को ङीप् के लिये पुनः क्यों टित् करते? उदाहरण यथा—सायन्तनी वेला, चिरन्तनी गाथा आदि।

२. नन्वत्र **निरनुबन्धकग्रहणे न सानुबन्धकस्य** (प०) इति परिभाषया **शिलाया ढः** (५.३.१०२), **ढश्छन्दसि** (४.४.१०६) इत्यनयोरेव ग्रहणमुचितं न तु सानुबन्धकस्य ढकः। सत्यम्। तयोः स्त्रियामप्रवृत्तेरगत्या सानुबन्धकस्य ढस्य ग्रहणं क्रियत इति भाष्ये स्पष्टम्।

कारण **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) द्वारा आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप करने पर 'ऐन्द्र' यह अण्प्रत्ययान्त प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। अब स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय, भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप तथा विभक्तिकार्य करने से 'ऐन्द्री' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। **इन्द्रो** देवताऽस्य इति ऐन्द्री। इन्द्र जिस का देवता है ऐसी दिशा (पूर्वा), ऋचा आदि।

अण् प्रत्यय तद्धित और कृत् दो प्रकार का हुआ करता है। यहां तद्धित का उदाहरण दिया गया है। कृत्सञ्ज्ञक अण् प्रत्यय के उदाहरण—कुम्भकारी, नगरकारी आदि समझने चाहियें। तद्धित अण् का अन्य उदाहरण—चन्द्रमस इयम्—चान्द्रमसी[1]।

अण्प्रत्यय की तरह **शीलम्** (११२८), **छत्रादिभ्यो णः** (४.४.६२) इन से णप्रत्यय करने पर भी ज्ञापक के आश्रय से इस में भी ङीप् की प्रवृत्ति हो जाती है—**ताच्छीलिके णेऽपि** (अण्कार्यं भवति)—सि० कौ०। उदाहरण यथा—'चुरा शीलमस्याः' इस अर्थ में चुराशब्द से **छत्रादिभ्यो णः** (४.४.६२) सूत्रद्वारा णप्रत्यय करने पर 'चौर' शब्द निष्पन्न होता है। स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से भी ङीप् प्रत्यय हो कर 'चौरी' (चोरी करने के स्वभाव वाली औरत) प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार—तपः शीलमस्या इति तापसी आदि में समझना चाहिये। परन्तु **ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र** (ज्ञापकों से ज्ञाप्यमान कार्य सब जगह प्रवृत्त नहीं होता, अर्थात् कहीं-कहीं रुक भी जाता हैं) इस परिभाषा का आश्रय ले कर 'छात्त्र' इस णप्रत्ययान्त प्रातिपदिक का स्त्रीलिङ्ग 'छात्त्रा' ही बनेगा, ङीप् हो कर 'छात्त्री' नहीं, अदन्तलक्षण टाप् ही होगा। गुरोर्दोषाणाम् आवरणं छत्त्रम्, तच्छीलमस्या इति छात्त्रा (बृ० शब्देन्दुशेखर में नागेशभट्ट)[2]।

अञ्प्रत्यय का उदाहरण यथा—

सप्तम्यन्त 'उत्स' शब्द से **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में **उत्सादिभ्योऽञ्** (१००२) सूत्र से तद्धित अञ् प्रत्यय, तद्धितान्त के प्रातिपदिकत्व के कारण सुँप् (ङि) का लुक्, प्रत्यय के ञित्त्व के कारण आदिवृद्धि (९३८) तथा अन्त में **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप करने से 'औत्स' यह अञ्प्रत्ययान्त प्रातिपदिक निष्पन्न

---

१. **चन्द्रं गता पद्मगुणान् न भुङ्क्ते**
पद्माश्रिता चान्द्रमसीमभिख्याम्।
उमामुखं तु प्रतिपद्य लोला
द्विसंश्रयां प्रीतिमवाप लक्ष्मीः॥ (कुमार० १.४३)

२. इसीप्रकार—प्रज्ञाऽस्त्यस्या इति प्राज्ञा। यहां **प्रज्ञा-श्रद्धाऽर्चाभ्यो णः** (५.२.१०१) सूत्रद्वारा मत्वर्थीय 'ण' प्रत्यय किया गया है। ङीप् नहीं होता, टाप् हो जाता है।

होता है। स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से प्रकृतसूत्र **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) द्वारा ङीप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप, भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'औत्सी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। उत्से भवा—औत्सी, झरने में होने वाली मच्छली आदि[1]।

द्वयसच्, दघ्नच् और मात्रच् प्रत्ययों के उदाहरण यथा—

प्रथमाद्विवचनान्त 'ऊरु औ' से 'ऊरू प्रमाणमस्याः' (ऊरु हैं प्रमाण जिस के) इस अर्थ में **प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः** (११६८) सूत्रद्वारा तद्धितसंज्ञक द्वयसच्, दघ्नच् और मात्रच् प्रत्यय हो कर सुँप् (औ) का लुक् करने से 'ऊरुद्वयस, ऊरुदघ्न, ऊरुमात्र' ये तीन तद्धितान्त प्रातिपदिक निष्पन्न होते हैं। स्त्रीत्व की विवक्षा में इन से प्रकृत **टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्०** (१२५१) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'ऊरुद्वयसी, ऊरुदघ्नी, ऊरुमात्री' ये प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। ऊरु=पट्टों के प्रमाण जितनी गहरी नदी आदि। इसीप्रकार—जानुद्वयसी, जानुदघ्नी, जानुमात्री आदि प्रयोग बनते हैं। जानुदघ्न्य आपः सरितोऽस्याः (इस नदी का जल घुटनों प्रमाण वाला है)।

तयप् प्रत्यय का उदाहरण यथा—

प्रथमाबहुवचनान्त पञ्चन्शब्द से 'पञ्च अवयवा अस्याः' (पाञ्च हैं अवयव इस के) इस अर्थ में **संख्याया अवयवे तयप्** (११७२) सूत्र से तद्धितसंज्ञक तयप् प्रत्यय हो सुँप् (जस्) का लुक् तथा पदान्त नकार का **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से लोप करने पर 'पञ्चतय' प्रातिपदिक निष्पन्न हो जाता है। अब स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से प्रकृत **टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्०** (१२५१) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने पर 'पञ्चतयी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्चतय्यो वृत्तयः। दश अवयवा (मण्डलरूपाः) अस्या इति दशतयी ऋक्संहिता।

ठक्प्रत्यय का उदाहरण यथा—

अक्षैर्दीव्यतीति आक्षिकी स्त्री (पासों से जुआ खेलने वाली स्त्री)। तृतीयाबहुवचनान्त अक्षशब्द से 'पासों से खेलता या जीतता है' इस अर्थ में **तेन दीव्यति खनति जयति जितम्** (१११७) सूत्रद्वारा तद्धितसंज्ञक ठक् (ठ) प्रत्यय, तद्धितान्त के प्राति-

---

१. उत्स नाम के ऋषि की कन्या (उत्सस्यापत्यं स्त्री) इस अर्थ की विवक्षा में **उत्सादिभ्योऽञ्** (१००२) से अञ्प्रत्यय तो होगा—औत्स, परन्तु स्त्रीत्व की विवक्षा में वहां प्रकृतसूत्र से ङीप् न हो कर इस के बाधक **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६६) से जातिलक्षण ङीष् प्राप्त होगा। पुनः उस का भी **शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्** (१२७५) से बाध हो कर ङीन् प्रवृत्त हो जायेगा। ध्यान रहे कि **गोत्रं च चरणैः सह** के अनुसार यह जातिवाचक है। ङीप्, ङीष्, ङीन् प्रत्ययों के कारण स्वर में ही अन्तर पड़ता है लौकिकरूपसिद्धि में नहीं।

पदिकत्व के कारण सुँब्लुक्, ठकार को **ठस्येकः** (१०२७) से इक् आदेश, प्रत्यय के कित्त्व के कारण **किति च** (१००१) से आदिवृद्धि तथा अन्त में भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप करने पर 'आक्षिक' प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। अब स्त्रीत्व की विवक्षा में इस प्रकृत **टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्०** (१२५१) सूत्र-द्वारा ङीप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप एवं भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'आक्षिकी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

ठञ् प्रत्यय का उदाहरण यथा—

प्रस्थेन क्रीता प्रास्थिकी (प्रस्थ भर वस्तु दे कर खरीदी हुई स्त्रीलिङ्ग वस्तु)। तृतीयान्त प्रस्थशब्द से **तेन क्रीतम्** (११४४) अर्थ में तद्धितसंज्ञक ठञ् (ठ) प्रत्यय, तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकत्व के कारण सुँप् (टा) का लुक्, प्रत्यय के ठकार को **ठस्येकः** (१०२७) से इक् आदेश, प्रत्यय के कित्त्व के कारण **किति च** (१००१) से आदि अच् को वृद्धि (आकार) तथा भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप करने पर 'प्रास्थिक' यह तद्धितान्त प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। अब इस से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृत **टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्०** (१२५१) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'प्रास्थिकी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

ठञ् प्रत्यय का दूसरा सुप्रसिद्ध उदाहरण—

लवणं पण्यमस्या इति लावणिकी (लवण जिस का पण्य है अर्थात् लवण बेचने वाली स्त्री)। प्रथमान्त लवण शब्द से **तदस्य पण्यम्** (४.४.५१) के अर्थ में **लवणाट्-ठञ्** (४.४.५२) सूत्र से तद्धितसंज्ञक ठञ् (ठ) प्रत्यय, तद्धितान्त होने से प्रातिपदिकत्व के कारण सुँप् (सुँ) का लुक्, ठकार को इक् आदेश, प्रत्यय के कित्त्व के कारण आदि-वृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप करने पर 'लावणिक' यह तद्धितान्त प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। अब स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से प्रकृत **टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्०** (१२५१) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'लावणिकी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

कञ्प्रत्यय का उदाहरण यथा—

---

१. जब ठक् और ठञ् दोनों प्रत्ययों का इस सूत्र में ग्रहण अभीष्ट है तो केवल 'ठ' ही क्यों नहीं कह देते, इस से ठक् और ठञ् दोनों का ग्रहण हो जायेगा? इस शङ्का का उत्तर यह है कि यदि 'ठ' ही कहते तो ठक् और ठञ् के साथ साथ ठन् का भी ग्रहण हो जाता जो अनिष्ट था। तथाहि—**दण्डोऽस्त्यस्या इति दण्डिका**। यहां **अत इनिठनौ** (११६१) से ठन् प्रत्यय किया गया है। इस से स्त्रीत्व में ङीप् न कर टाप् करना ही अभीष्ट है।

यादृश (जैसा) शब्द पीछे हलन्तपुंलिङ्गप्रकरण में **त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ् च** (३४७) सूत्रद्वारा कञ्प्रत्ययान्त सिद्ध किया जा चुका है। कृदन्त होने से **कृत्तद्धित-समासाश्च** (११७) सूत्रद्वारा इस की प्रातिपदिकसंज्ञा हो जाती है। स्त्रीत्व की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्०** (१२५१) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय, अनुबन्ध-लोप तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का भी लोप कर विभक्ति लाने से 'यादृशी' (जैसी) प्रयोग सिद्ध हो जाता है। **यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी** —(पञ्च० ५.९८)। इसीप्रकार—तादृशी (वैसी), कीदृशी (कैसी), मादृशी (मुझ जैसी), त्वादृशी (तुझ जैसी), सदृशी (वैसी) आदियों में ङीप् प्रत्यय समझना चाहिये।

क्वरप्प्रत्यय का उदाहरण यथा—

इण् गतौ (अदा० परस्मै०) धातु से तच्छील आदि कर्त्ता अर्थ में **इण्-नश्-जि-सर्त्तिभ्यः क्वरप्** (३.२.१६३) सूत्रद्वारा कृत्संज्ञक क्वरप् (वर) प्रत्यय कर **ह्रस्वस्य पिति कृति तुँक्** (७७७) से तुँक् का आगम करने पर 'इत्वर' (गमनशील) यह कृदन्त प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। अब इस से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृत **टिड्ढाणञ्द्वय-सज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः** (१२५१) सूत्रद्वारा ङीप्, अनुबन्धलोप एवं भ-सञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'इत्वरी' (गमनशीला, पुंश्चली-कुलटा) प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]। इसीप्रकार—नश्वरी (नाशशीला), जित्वरी (जयशीला), सृत्वरी (प्रसरणशीला), गत्वरी (गमनशीला) आदि प्रयोगों में ङीप् समझना चाहिये। साहित्यिक प्रयोग यथा—

शरदम्बुधरच्छाया गत्वर्यो यौवनश्रियः।
आपातरम्या विषयाः पर्यन्तपरितापिनः॥ (किरात० ११.१२)

विशेष वक्तव्य—यतमाना, पचमाना, एधमाना, वर्धमाना, वक्ष्यमाणा, वीक्ष्य-माणा, क्रियमाणा इत्यादियों में लँट् या लृँट के स्थान पर होने वाले शानच् प्रत्यय में

---

१. 'क्वरप्' इस सानुबन्ध कथन के कारण वरच्प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व में ङीप् नहीं होता, टाप् ही होता है। **स्थेशभासपिसकसो वरच्** (३.२.१७५)। स्था-वरः, स्थावरा; ईश्वरः, ईश्वरा; भास्वरः, भास्वरा; पेस्वरः, पेस्वरा; विकस्वरः, विकस्वरा। तथा च भारविः—

विन्यस्तमङ्गलमहौषधिरीश्वरायाः (किरात० ५.३३)। कहीं कहीं 'ईश्वरा' के स्थान पर 'ईश्वरी' का भी प्रयोग देखा जाता है। यथा देवीमाहात्म्य में—

प्रसीद विश्वेश्वरि पाहि विश्वं त्वमीश्वरी देवी चराचरस्य। इन स्थानों में ईश्वर-शब्द औणादिक वरट्प्रत्ययान्त है अतः टित्त्वान्ङीप् समझना चाहिये। अथवा इन स्थानों में पुंयोग में **पुंयोगादाख्यायाम्** (१२६१) द्वारा ङीष् समझा जा सकता है [**अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते** (७९९) इति क्वनिपि **वनो र च** (४.१.७) इति ङीब्रौ—इत्यपरे]।

स्थानिवद्भाव के कारण टित्त्व संक्रमित नहीं होता, अतः ङीप् नहीं हो सकता। **अजाद्य-तष्टाप्** (१२४९) सूत्रद्वारा अदन्तलक्षण टाप् ही होता है। इस में लिँङ्स्थानी परस्मैपदों में यासुँट् आगम को ङित् करना ज्ञापक है। यदि लिँङ् के आदेश तिप् आदियों में स्था-निवद्भाव के कारण ङित्त्व आ जाये तो यासुँट् को ङित् अतिदेश करना व्यर्थ हो जाये। अतः इस से यह ज्ञापित होता है कि लकाराश्रित अनुबन्धकार्य आदेशों में नहीं हुआ करते। इस से लृँट् के स्थान पर होने वाले शानच् में उगित्त्वधर्म के न आने से **उगि-तश्च** (१२५०) द्वारा 'वक्ष्यमाणा' आदि में ङीप् नहीं होता। इस विषय पर विशेष विचार व्याकरण के उच्च ग्रन्थों में देखें।

अब इस सूत्र पर एक वार्त्तिक का अवतरण करते हैं—

[लघु०] वा०—(१०१) नञ्-स्नञीकक्-ख्युंस्तरुण-तलुनानामुप-संख्यानम् ॥

स्त्रैणी। पौंस्नी। शाक्तीकी। आढ्यङ्करणी। तरुणी। तलुनी॥

अर्थः—नञ्प्रत्ययान्त, स्नञ्प्रत्ययान्त, ईकक्प्रत्ययान्त और ख्युन्प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों से तथा तरुण और तलुन प्रातिपदिकों से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् प्रत्यय हो।

व्याख्या—यह वार्त्तिक **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र पर भाष्य में पढ़ा गया है अतः इस से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् का विधान अभीष्ट है। इस वार्त्तिक में परि-गणित नञ्, स्नञ्, ईकक् और ख्युन् प्रत्यय हैं। तरुण और तलुन प्रातिपदिक हैं। **प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः** (प०) के अनुसार प्रत्ययों से तदन्तों का ग्रहण समझना चाहिये। वार्त्तिक के क्रमशः उदाहरण दिये जाते हैं—

नञ्प्रत्ययान्त का उदाहरण यथा—

सप्तम्यन्त स्त्रीशब्द से प्राग्भवनीय भव आदि अर्थों में **स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** (१००३) सूत्रद्वारा तद्धित नञ् (न) प्रत्यय हो कर तद्धितान्तत्वेन प्रातिपदिक-संज्ञा के कारण सुँप् (सुप्) का लुक्, प्रत्यय के ञित्त्व के कारण **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदिवृद्धि एवं नकार को णकार करने से 'स्त्रैण' यह नञ्प्रत्ययान्त प्राति-पदिक निष्पन्न होता है। अब इस से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृत **नञ्-स्नञीकक्०** (वा० १०१) वार्त्तिक से ङीप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'स्त्रैणी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। स्त्रीषु भवा स्त्रैणी। स्त्रियों में होने वाली (कथा, चर्चा, प्रवृत्ति आदि)।

स्नञ्प्रत्ययान्त का उदाहरण यथा—

सप्तमीबहुवचनान्त पुंस् शब्द से प्राग्भवनीय भव आदि अर्थों में **स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** (१००३) सूत्रद्वारा तद्धितसंज्ञक स्नञ् (स्न) प्रत्यय हो कर तद्धितान्त-त्वेन प्रातिपदिकसंज्ञा के कारण सुँप् (सुप्) का लुक्, प्रत्यय के ञित्त्व के कारण आदिवृद्धि

तथा पदत्व के कारण पुंस् के सकार का संयोगान्तलोप हो कर स्नञ्प्रत्ययान्त 'पौंस्न' शब्द निष्पन्न होता है। अब स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से प्रकृत **नञ्स्नञीकक्०** (वा० १०१) वार्त्तिकद्वारा ङीप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'पौंस्नी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। पुंसु भवा पौंस्नी। पुरुषों में होने वाली (कथा, चर्चा, प्रवृत्ति आदि)। साहित्यगत प्रयोग यथा—

संगच्छ पौंस्नि ! स्त्रैणं मां युवानं तरुणी शुभे।
राघवः प्रोष्य पापीयान् जहीहि तमकिञ्चनम् ॥ (भट्टि० ५.६१)

[सीता के प्रति रावण कह रहा है—हे सीते! हे पुरुषयोग्ये! तरुणी तुम, स्त्रियों के योग्य मुझ तरुण के पास रहो। रामचन्द्र राज्य से भ्रष्ट हो कर भाग्यहीन हो चुका है अत एव उस निर्धन को छोड़ दो। पुंसे हिता पौंस्नी, तत्सम्बुद्धौ—'पौंस्नि'।]

ईकक्प्रत्ययान्त का उदाहरण यथा—

शक्तिः प्रहरणमस्या इति शाक्तीकी (शक्ति=बरछी है हथियार जिस का, ऐसी स्त्री)। प्रहरण (शस्त्र) वाचक प्रथमान्त 'शक्ति' शब्द से **तदस्य प्रहरणम्** के अर्थ में **शक्तियष्ट्योरीकक्** (४.४.५६) सूत्रद्वारा तद्धितसंज्ञक ईकक् (ईक) प्रत्यय हो, सुँब्लुक्, प्रत्यय के कित्त्व के कारण आदिवृद्धि एवं **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक इकार का लोप करने पर 'शाक्तीक' यह ईकक्प्रत्ययान्त प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। अब स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से प्रकृत वार्त्तिक **नञ्स्नञीकक्०** (वा० १०१) द्वारा ङीप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्ति-कार्य करने से 'शाक्तीकी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार—यष्टिः प्रहरणमस्या इति 'याष्टीकी' [लाठी हथियार धारण करने वाली स्त्री] प्रयोग सिद्ध होता है।

ख्युन्प्रत्ययान्त का उदाहरण यथा—

अनाढ्यम् आढ्यं कुर्वन्ति अनयेति आढ्यङ्करणी (विद्या)। जिस के द्वारा अनाढ्य (निर्धन) व्यक्ति को आढ्य (धनी) बनाया जाता है, ऐसी विद्या आदि। यहां च्व्यर्थ अर्थात् अभूततद्भाव में वर्त्तमान 'आढ्य' कर्म के उपपद रहते **डुकृञ् करणे** (तना० उभय०) धातु से करण कारक में **आढ्य-सुभग-स्थूल-पलित-नग्नाऽन्ध-प्रियेषु च्व्यर्थेष्वच्वौ कृञः करणे ख्युन्** (३.२.५६)[1] सूत्रद्वारा करणकारक में कृत्संज्ञक ख्युन् (यु) प्रत्यय, **युवोरनाकौ** (७८५) से 'यु' को 'अन' आदेश, धातु को आर्धधातुकगुण, उपपदसमास, खित् के परे रहते **अरुर्द्विषदजन्तस्य मुँम्** (७६७) से मुँम् का आगम, मकार को अनुस्वार, अनुस्वार को वैकल्पिक परसवर्ण तथा अन्त में **अट्कुप्वाङ्०** (१३८) से नकार को णकार करने पर 'आढ्यङ्करण' यह ख्युन्प्रत्ययान्त कृदन्त शब्द निष्पन्न हो जाता है। अब इस से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृत **नञ्स्नञीकक्ख्युंस्तरुणतलुना-**

१. आढ्यादिषु च्व्यर्थेषु अच्व्यन्तेषु कर्मसूपपदेषु कृञः ख्युन् प्रत्ययः स्यात्।

नाम्० (वा० १०१) से ङीप् प्रत्यय हो कर भसञ्ज्ञक अकार का लोप एवं विभक्ति-कार्य करने से 'आढ्यङ्करणी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार—सुभगङ्करणी, स्थूलङ्करणी, पलितङ्करणी (जरा), नग्नङ्करणी, अन्धङ्करणी, प्रियङ्करणी' प्रयोगों की सिद्धि जाननी चाहिये।

तरुण और तलुन प्रातिपदिकों के उदाहरण यथा—

तरुण और तलुन प्रातिपदिक युववाचक हैं। इन से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृतवार्त्तिक **नञ्स्नञीकक्ख्युंस्तरुणतलुनानामुपसंख्यानम्** (वा० १०१) से ङीप् प्रत्यय, अनुबन्धलोप एवं भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'तरुणी' 'तलुनी' प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं। दोनों का अर्थ है—युवति स्त्री।[2]

विशेष वक्तव्य—तरुण और तलुन शब्द वयोवाचक हैं। इन से स्त्रीत्व की विवक्षा में **वयस्यचरमे** (वा०) वार्त्तिकद्वारा ङीप् प्रत्यय होना चाहिये था। परन्तु गौरादिगण में पाठ के कारण **षिद्-गौरादिभ्यश्च** (१२५५) सूत्रद्वारा ङीप् को बाध कर ङीष् का विधान किया गया है। इस पर प्रकृतवार्तिक से ङीप् का पुनर्विधान किया जाता है। गौरादिगण में पाठ के सामर्थ्य से पक्ष में ङीष् भी हो जायेगा। ङीष् करने पर भी रूप में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा, पर स्वर में अन्तर आ जायेगा। ङीप् करने पर आद्युदात्त तथा ङीष् करने पर अन्तोदात्त स्वर हो जायेगा।

न्यासकार तथा कैयट आदियों का कथन है कि इस वार्त्तिक में पढ़े तरुण और तलुन शब्द वयोवाचक नहीं अपितु सुरा आदि की प्रत्यग्रता (तीक्ष्णता, नवीनता, उत्कृष्टता) आदि के वाचक हैं अतः प्रकृत वार्त्तिक से ङीप् हो कर 'तरुणी तलुनी वा सुरा' बनेगा। वयोवाचकों से तो गौरादित्वात् ङीष् ही होगा ङीप् नहीं। परन्तु प्रदीपोद्द्योतकार नागेशभट्ट का कथन है कि तरुण और तलुन शब्द मुख्यतया वयोवाचक ही हैं प्रत्यग्रता आदि तो इन का लाक्षणिक अर्थ है अतः उपर्युक्तप्रकारेण ङीप् और ङीष् प्रत्ययों की पर्याय से ही प्रवृत्ति होगी।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा यञन्त से ङीप् का विधान करते हैं—

---

१. सुभगङ्करणी (जो कल्याणयुक्त नहीं उसे कल्याणयुक्त बनाया जाता है जिस के द्वारा)। स्थूलङ्करणी (जो स्थूल नहीं उसे स्थूल बनाया जाता है जिस के द्वारा)। पलितङ्करणी (जो बूढ़ा नहीं उसे बूढ़ा बनाया जाता है जिस के द्वारा)। नग्नङ्करणी (जो नङ्गा नहीं उसे नङ्गा किया जाता है जिस के द्वारा)। अन्धङ्करणी (जो अन्धा नहीं उसे अन्धा किया जाता है जिस के द्वारा)। प्रियङ्करणी (जो प्रिय नहीं उसे प्रिय बनाया जाता है जिस के द्वारा)।

२. **अनभ्यासे विषं विद्या, अजीर्णे भोजनं विषम्।**
विषं सभा दरिद्रस्य, वृद्धस्य तरुणी विषम्॥ (हितोप०)

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (१२५२) **यञश्च** ।४।१।१६।।

यञन्तात् स्त्रियां ङीप् स्यात् । अकारलोपे कृते—

अर्थः—स्त्रीत्व की विवक्षा में यञ्प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से परे ङीप् प्रत्यय हो । **अकारलोपे कृते**—**यस्येति च** (२३६) सूत्रद्वारा अकार का लोप करने पर (अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है) ।

व्याख्या—यञः ।५।१। च इत्यव्ययपदम् । ङीप् ।१।१। (**ऋन्नेभ्यो ङीप्** से) । **प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं । यञ् यह प्रत्यय है, अतः **प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः** (प०) परिभाषाद्वारा तदन्तविधि हो कर 'यञन्तात् प्रातिपदिकात्' उपलब्ध हो जाता है । अर्थः—(यञः =यञन्तात्) यञन्त (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से (परः) परे (च[1]) भी (ङीप्) ङीप् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में । यदि पूर्वस्थ **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र में टित्, ढ, अण् आदियों के साथ यञ् को भी पढ़ देते तो इस सूत्र के बनाने की आवश्यकता न पड़ती । परन्तु मुनि ने ऐसा नहीं किया । इस का कारण यह है कि वे इस से अगले **प्राचां ष्फ तद्धितः** (१२५४) सूत्र में केवल 'यञः' का ही अनुवर्तन चाहते हैं टिड्ढाणञ्० आदि का नहीं अतः उन्होंने पृथक् सूत्र बनाया है[2] ।

सूत्र का उदाहरण यथा —

गर्गस्य गोत्रापत्यं स्त्री गार्गी (गर्ग की गोत्रसन्तति कन्या) । गोत्रापत्य अर्थ में षष्ठ्यन्त गर्गशब्द से **गर्गादिभ्यो यञ्** (१००८) सूत्रद्वारा तद्धितसंज्ञक यञ् (य) प्रत्यय करने पर तद्धितान्त हो जाने से प्रातिपदिकत्व के कारण **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से प्रातिपदिक के अवयव सुँप् (ङस्) का लुक्, प्रत्यय के ञित्त्व के कारण **तद्धितेष्वचामादेः** (९३८) से आदिवृद्धि एवम् अन्त में **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप करने पर 'गार्ग्य' यह तद्धितान्त प्रातिपदिक निष्पन्न हो जाता है । अब इस से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृत **यञश्च** (१२५२) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय, उस के अनुबन्धों का लोप तथा पूर्ववत् भसंज्ञक अकार का लोप करने पर—'गार्ग्य् + ई' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

---

१. यहां 'च' का कोई विशेष प्रयोजन प्रतीत नहीं होता, ङीप् की अनुवृत्ति यहां समाप्त नहीं हो रही । आगे **वयसि प्रथमे** (१२५६) आदि सूत्रों में भी इस का अनुवर्तन हो रहा है । न्यासकार के अनुसार यहां 'च' का ग्रहण अनुक्तों के समुच्चयार्थ है, अतः **नञ्स्नञीकक्०** (वा० १०१) वार्तिक पाणिन्यनुमत सिद्ध हो जाता है ।

२. टिड्ढाणञ्सूत्रे एव यञः पाठेन ङीपि सिद्धे **प्राचां ष्फ तद्धितः** (१२५४) इत्युत्तरसूत्रे यञ एवानुवृत्तिर्यथा स्यादित्यतो योगविभाग इत्यवसेयम् ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२५३) **हलस्तद्धितस्य ।६।४।१५०।।**

हलः परस्य तद्धितयकारस्य उपधाभूतस्य लोप ईकारे परे । गार्गी ।।

अर्थः—हल् से परे तद्धित के उपधाभूत यकार का लोप हो जाता है ईकार परे हो तो ।

व्याख्या—हलः ।५।१। तद्धितस्य ।६।१। उपधायाः ।६।१। यः ।६।१। (**सूर्य-तिष्याऽगस्त्य-मत्स्यानां य उपधायाः** सूत्र से) । लोपः ।१।१। (**ढे लोपोऽकद्र्वाः** सूत्र से) । ईति ।७।१। (**यस्येति च** से) । अर्थः—(हलः) हल् से परे (तद्धितस्य) तद्धित के अवयव (उपधायाः) उपधा (यः) यकार का (लोपः) लोप हो जाता है (ईति) ईकार परे हो तो ।

'गार्ग्य् + ई' यहां ईकार परे है अतः हल्-गकार से परे तद्धित-प्रत्यय यञ् की उपधा यकार का प्रकृतसूत्र से लोप हो जाता है—गार्ग् + ई = गार्गी । विभक्तिकार्य हल्ङ्यादिलोप करने से 'गार्गी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—वत्सस्य गोत्रापत्यं स्त्री वात्सी (वत्स की गोत्रसन्तति कन्या) । वत्सशब्द भी गर्गादिगण में पढ़ा गया है ।

शङ्का—इस सूत्र में 'उपधायाः' की अनुवृत्ति लाने की आवश्यकता ही क्या है ? सीधा—हल् से परे तद्धित के यकार का लोप हो ईकार परे होने पर—ऐसा सरल अर्थ क्यों नहीं कर देते ? गार्ग्य् + ई = 'गार्गी' सिद्ध हो जायेगा । यदि कहो कि **यस्येति च** (२३६) द्वारा लुप्त हुआ अकार **अचः परस्मिन्पूर्वविधौ** (६९६) सूत्र से स्थानिव-द्भाव के कारण उपस्थित हो कर पूर्वविधि (यकारलोप) में रुकावट डालता है अतः 'उपधायाः' का ग्रहण किया गया है, तो यह भी ठीक नहीं, क्योंकि **न पदान्त-द्विर्वचन-वरे-यलोप-स्वर-सवर्णानुस्वार-दीर्घ-जश्-चर्विधिषु** (१.१.५७)[1] सूत्र से यकार का लोप करने में स्थानिवद्भाव का निषेध कहा गया है । इस तरह ईकार और यकार के मध्य किसी प्रकार का व्यवधान न पड़ने से सीधा लोप हो जायेगा ।

समाधान—**यस्येति च** (२३६) वाला लोप तथा प्रकृतसूत्रद्वारा विहित यह यकार का लोप—दोनों आभीय कार्य हैं । समानाश्रय कोई आभीय कार्य करना हो तो पहले से किया गया आभीय कार्य **असिद्धवदत्राभात्** (५६२) अधिकार के कारण उस की दृष्टि में असिद्ध हो जाता है । तदनुसार यहां प्रकृत यकारलोप की कर्त्तव्यता में **यस्येति च** (२३६) द्वारा पूर्व किया गया अकार का लोप असिद्ध हो जाने से यकार और ईकार के मध्य में अकार के आ जाने से उस तथाकथित सरलार्थ से यकार का

---

१. पदान्तविधि, द्विर्वचनविधि, 'वर' के परे रहते विधि, यकारलोपविधि, स्वरविधि, सवर्णविधि, अनुस्वारविधि, दीर्घविधि, जश्विधि और चर्विधि—इन विधियों में परनिमित्तक अजादेश स्थानिवत् नहीं होता ।

लोप नहीं हो सकता था अतः 'उपधायाः' का अनुवर्त्तन किया गया है। अब अकार का लोप असिद्ध हो कर ही 'य' प्रत्यय के यकार को उपधात्व प्रदान कर देता है इस से उपधा के लोप में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती[1]।

विशेष वक्तव्य—प्रकृत **यञश्च** (१२५२) सूत्र में 'यञ्' से अपत्याधिकार में पठित यञ्प्रत्यय का ही ग्रहण अभीष्ट है अन्य यञ् का नहीं—ऐसा वार्त्तिककार का आशय महाभाष्य में व्यक्त किया गया है। इस से अपत्याधिकार से बहिर्भूत यञ् होने पर तदन्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् न होगा, अदन्तलक्षण टाप् ही किया जायेगा। यथा—द्वीपे भवा द्वैप्या (द्वीप में होने वाली)। यहां सप्तम्यन्त द्वीप-शब्द से **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में **द्वीपादनुसमुद्रं यञ्** (४.३.१०) से यञ् प्रत्यय कर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का लोप करने पर 'द्वैप्य' शब्द निष्पन्न होता है। अब इस से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृतसूत्र से ङीप् न हो कर अदन्तलक्षण टाप् ही होता है। क्योंकि यहां यञ् प्रत्यय अपत्याधिकार में पढ़ा नहीं गया। इसीप्रकार—देवस्य अपत्यं दैव्या (देव की लड़की) यहां षष्ठयन्त देवशब्द से अपत्य अर्थ में **देवाद् यञञौ** (वा० ६७) वार्त्तिक से यञ्प्रत्यय हो कर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तया भसंज्ञक अकार का लोप करने पर 'दैव्य' शब्द निष्पन्न होता है। यहां यञ्प्रत्यय अपत्यार्थक होता हुआ भी अपत्याधिकार में पढ़ा नहीं गया अपितु प्राग्दीव्यतीय अधिकार में **दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः** (९९९) सूत्र पर पढ़ा गया है अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में यहां पर भी ङीप् न हो कर टाप् ही होता है। विस्तार के लिये सिद्धान्तकौमुदी की टीकाओं का अवलोकन करें।

अब यञ्प्रत्ययान्तों से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्राच्य आचार्यों के मत का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१२५४) प्राचां ष्फ तद्धितः ।४।१।१७।।**

यञन्तात् (स्त्रियां) ष्फो वा स्यात्, स च तद्धितः ।।

अर्थः—यञ्प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में विकल्प ये ष्फ प्रत्यय हो और वह तद्धितसंज्ञक भी हो।

व्याख्या—प्राचाम् ।६।३। ष्फ इति लुप्तप्रथमैकवचनान्तं पदम्। तद्धितः ।१।१। यञः ।५।१। (**यञश्च** सूत्र से)। **प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। प्रत्यय होने के कारण 'यञः' ये तदन्तविधि हो कर 'यञन्तात् प्रातिपदिकात्' उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(प्राचाम्) पूर्वदेशवासी आचार्यों के मत

---

१. परन्तु अन्य लोगों का कथन है कि 'उपधायाः' की अनुवृत्ति न होने की दशा में ईकार से अव्यवहित पूर्व यकार तो कहीं मिल ही न सकेगा सर्वत्र अकार का व्यवधान अनिवार्यतः रहेगा ही, अतः सूत्रारम्भसामर्थ्य से ही तब यकार का लोप हो जायेगा, इस के लिये 'उपधायाः' का अनुवर्त्तन करना व्यर्थ ही है।

में (यञः=यञन्तात्) यञन्त (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से परे (ष्फ=ष्फः) ष्फ (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है और वह (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक भी होता है (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में। यह प्राच्य आचार्यों का मत है, अन्य आचार्यों का मत पीछे निर्दिष्ट कर चुके हैं। हमें सब आचार्य प्रमाण हैं अतः विकल्प सिद्ध हो जाता है। ष्फप्रत्यय के आदि षकार की **षः प्रत्ययस्य** (८३९) से इत्संज्ञा हो कर लोप हो जाता है, 'फ' मात्र शेष रहता है। 'फ' के आदि फकार को **आयनेयीनीयियः फ-ढ-ख-छ-घां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) से आयन् आदेश हो जाता है। ष्फ को षित् करने का प्रयोजन **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५५) द्वारा ङीष् प्रत्यय का विधान करना है। **तद्धिताः** (९१६) के अधिकार से बहिर्भूत होने के कारण ष्फ तद्धित न था अतः यहां इसे तद्धित अतिदिष्ट किया गया है। इस से ष्फप्रत्ययान्त शब्द **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से प्रातिपदिकसञ्ज्ञक हो जाता है। प्रातिपदिकत्वात् पुनः ङीष् की उत्पत्ति होती है।

उदाहरण यथा—

गर्गस्य गोत्रापत्यं स्त्री गार्ग्यायणी गार्गी वा (गर्ग की गोत्रसन्तति कन्या)। षष्ठ्यन्त गर्गशब्द से गोत्रापत्य अर्थ में **गर्गादिभ्यो यञ्** (१००८) से यञ् प्रत्यय, सुँब्लुक्, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का लोप कर पूर्ववत् 'गार्ग्य' यह यञन्त प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। अब इस से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्राच्य आचार्यों के मतानुसार प्रकृत **प्राचां ष्फ तद्धितः** (१२५४) सूत्र से ष्फ प्रत्यय, **षः प्रत्ययस्य** (८३९) से प्रत्यय के आदि षकार की इत्संज्ञा, उस का लोप तथा **आयनेयीनीयियः०** (१०१३) से 'फ' के आदि फकार वर्ण को आयन् आदेश हो जाता है—गार्ग्य आयन् अ=गार्ग्य+आयन। अब **यचि भम्** (१६५) से पूर्व की भसंज्ञा हो कर **यस्येति च** (२३६) द्वारा भसञ्ज्ञक अकार का लोप करने पर 'गार्ग्य्+आयन=गार्ग्यायन' इस स्थिति में अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२५५) षिद्-गौरादिभ्यश्च ।४।१।४१॥

षिद्भ्यो गौरादिभ्यश्च (स्त्रियां) ङीष् स्यात्। गार्ग्यायणी। नर्त्तकी। गौरी॥

अर्थः—जिस का षकार इत् हो ऐसे प्रातिपदिकों से तथा गौर आदि गणपठित प्रातिपदिकों से परे स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् प्रत्यय हो।

व्याख्या—षिद्-गौरादिभ्यः ।५।३। च इत्यव्ययपदम्। ङीष् ।१।१। (**अन्यतो ङीष्** सूत्र से)। **प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब अधिकृत हैं। ष् इद् यस्य स षित्, बहुव्रीहिसमासः। गौरः (गौरशब्दः) आदिर्येषान्ते गौरादयः, तद्गुण-संविज्ञानबहुव्रीहिसमासः। षितश्च गौरादयश्च षिद्गौरादयः, तेभ्यः=षिद्गौरादिभ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः। 'प्रातिपदिकात्' का सम्बन्ध 'षिद्गौरादिभ्यः' के साथ है अतः वचन-विपरिणाम हो कर 'प्रातिपदिकेभ्यः' बन जाता है। अर्थः—(षिद्गौरादिभ्यः) षित् तथा गौरादिगणपठित (प्रातिपदिकेभ्यः) प्रातिपदिकों से (परः) परे (ङीष्) ङीष् (प्रत्ययः)

प्रत्यय हो (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में। ङीप् और ङीष् प्रत्ययों के विधान में यही अन्तर होता है कि ङीप्प्रत्ययान्त शब्द आद्युदात्त तथा ङीष्प्रत्ययान्त अन्तोदात्त होते हैं। ङीष् का ङकार **लशक्वतद्धिते** (१३६) से तथा षकार **हलन्त्यम्** (१) सूत्र से इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाता है, 'ई' मात्र अवशिष्ट रहता है।

उदाहरण यथा—

'गार्ग्यायन' यह ष्फप्रत्ययान्त होने से षित् है[1]। तद्धितान्त होने से प्रातिपदिक भी है अतः प्रकृत **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५५) सूत्र से स्त्रीत्व की विवक्षा में[2] इस से ङीष् (ई) प्रत्यय हो भसंज्ञक अकार का लोप, णत्व तथा विभक्तिकार्य करने पर 'गार्ग्यायणी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। प्राच्य आचार्यों से भिन्न अन्य आचार्यों के मत में पूर्ववत् 'गार्गी' ही बनेगा। इस प्रकार 'गार्ग्यायणी' और 'गार्गी' दो रूप सिद्ध हो जाते हैं।

षित् का अन्य उदाहरण यथा—

नृतीँ **गात्रविक्षेपे** (दिवा० परस्मै०) धातु से **शिल्पिनि ष्वुन्** (३.१.१४५) सूत्र-द्वारा शिल्पी कर्त्ता अर्थ में ष्वुन् (वु) प्रत्यय हो कर षकार और नकार अनुबन्धों का लोप करने से—'नृत्+वु' हुआ। अब **युवोरनाकौ** (७८५) से 'वु' को 'अक' आदेश

---

१. यहां षित्त्व यद्यपि प्रत्यय का धर्म है तथापि प्रत्यय के लिये वह निष्प्रयोजन है अतः इसे समुदाय (प्रातिपदिक) में उपचरित कर लेते हैं। इस प्रकार समूचा प्रातिपदिक षित् कहलाने लगता है। जैसा कि कहा है—**अवयवे कृतं लिङ्गं समुदायस्य विशेषकं भवति**। [त्रपूष्प्रभृतीनां धातूनां षित्त्वं तु **षिद्भिदादिभ्योऽङ्** (३.३.१०४) इत्यङ्विधौ चरितार्थमिति न तेन प्रातिपदिकं षिद् भवतीति। अतः 'त्रपा' (लज्जा, शरम) इत्यादौ षित्त्वनिमित्तको ङीष् प्रत्ययो न भवति, अपितु अदन्तलक्षणष्टाबेव]।

२. जब 'ष्फ' प्रत्यय ने एक बार स्त्रीत्व का द्योतन करा दिया तो पुनः स्त्रीत्व की विवक्षा कहां रह गई जिस के लिये दूसरा प्रत्यय ङीष् किया जा रहा है? **उक्तार्थानामप्रयोगः** इस न्याय के अनुसार यहां दूसरा स्त्रीप्रत्यय न होना चाहिये—यह शङ्का यहां व्युत्पन्न विद्यार्थियों को प्रायः हुआ करती है। इस का समाधान यह है कि ष्फप्रत्यय के षित्करणसामर्थ्य से ही यहां दुबारा स्त्रीप्रत्यय किया जा रहा है, अन्यथा ष्फ का षित्करण व्यर्थ हो जायेगा, उस का कोई उपयोग न होगा। यहां ष्फ और ङीष् दोनों प्रत्ययों का समुदाय एक ही स्त्रीत्व का द्योतन करा रहा है—ऐसा समझना चाहिये। जैसे 'द्वौ पुरुषौ' में दोनों का समुच्चय एक ही द्वित्व का द्योतन कराता है वैसे यहां भी दो स्त्रीप्रत्ययों का समुच्चय एक ही स्त्रीत्व का द्योतक है।

एवं **पुगन्तलघूपधस्य च** (४५१) से लघूपधगुण करने से 'नर्तक' (नाचने के शिल्प वाला) यह कृदन्त प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। ष्वुन् प्रत्यय के षित्त्व के कारण 'नर्तक' षित् है। अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से परे प्रकृत **षिद्-गौरादिभ्यश्च** (१२५५) सूत्र से ङीष् (ई) प्रत्यय हो भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'नर्तकी' (नाचना जिस का शिल्प है ऐसी स्त्री) प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—खनकी (खोदने के शिल्प वाली), रजकी (रङ्गने के शिल्प वाली) आदियों में षिल्लक्षण ङीष् जानना चाहिये।

गौरादियों के उदाहरण यथा—

'गौर' शब्द गौरादिगण का प्रथम शब्द है। स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से प्रकृतसूत्र **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५५) द्वारा ङीष् प्रत्यय हो अनुबन्धों का लोप एवं भसंज्ञक अकार का भी **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'गौरी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। गौरी=गौरवर्णा स्त्री, शंकरपत्नी अथवा अष्टवर्षीया कन्या—**अष्टवर्षा भवेद् गौरी** (पाराशरस्मृति ७.६)। **गौरी तु नग्निकाऽनागतार्तवा**—इत्यमरः। ध्यान रहे कि गौरशब्द अन्तोदात्त है अतः वर्णवाची होने पर भी **अन्यतो ङीष्** (४.१.४०)[1] से यहां ङीष् प्राप्त न था इसलिये प्रकृतसूत्र से इस का विधान किया है।

गौरादिगण के कुछ अन्य उदाहरण—

सुन्दर+ङीष्=सुन्दरी। नट+ङीष्=नटी। कट+ङीष्=कटी (कमर)। श्वन्+ङीष्=श्वन्+ई। यहां ईकार के परे रहते **यचि भम्** (१६५) से पूर्व की भसंज्ञा हो कर **श्व-युव-मघोनामतद्धिते** (२६०)[2] सूत्र से श्वन् के वकार को सम्प्रसारण उकार, एवं **सम्प्रसारणाच्च** (२५८)[3] से पूर्वरूप एकादेश करने पर 'शुनी' (कुतिया) प्रयोग सिद्ध हो जाता है। तरुण+ङीष्=तरुणी। तलुन+ङीष्=तलुनी। यहां का वक्तव्य पीछे **नञ्स्नञीकक्ख्युंस्तरुणतलुनानामुपसङ्ख्यानम्** (वा० १०१) वार्त्तिक पर कह चुके हैं। पिप्पल+ङीष्=पिप्पली (पीपर)। पिप्पलीशब्द जाति-वाचक नित्यस्त्रीलिङ्ग है अतः **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६६) द्वारा इसे ङीष् प्राप्त न था इसलिये इस का गौरादिगण में पाठ किया गया है। मातामह+ङीष्=मातामही (मां की मां, नानी)। पितामह+ङीष्=पितामही (पिता की मां, दादी)।

---

१. अर्थः—तकारोपध से भिन्न, वर्णवाची अनुदात्तान्त प्रातिपदिक से परे स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् प्रत्यय हो जाता है।

२. अर्थः—अन् शब्द जिन के अन्त में है ऐसे भसंज्ञक श्वन्, युवन् और मघवन् शब्दों को तद्धितभिन्न प्रत्यय परे होने पर सम्प्रसारण हो जाता है।

३. अर्थः—सम्प्रसारण से अच् परे होने पर पूर्व और पर के स्थान पर पूर्वरूप एकादेश हो जाता है।

अब ग्रन्थकार गौरादिगणगत अनडुह् शब्द पर एक विशेष बात का उल्लेख करते हैं—

[लघु०] (गणसूत्रम्)—आमनडुहः स्त्रियां वा ।।

अनड्वाही, अनडुही । आकृतिगणोऽयम् ।।

अर्थः—स्त्रीलिङ्ग में ङीष् परे रहते अनडुह् शब्द को विकल्प से आम् का आगम हो जाता है । **आकृतिगणोऽयम्**—गौरादि आकृतिगण है ।

व्याख्या—गौरादिगण में 'अनडुही' और 'अनड्वाही' दोनों का उल्लेख है । अनडुह् (बैल) शब्द हकारान्त है, अदन्त नहीं, अतः इस से स्त्रीत्व में न तो जातिलक्षण (१२६६) ङीष् प्राप्त होता था और न ही किसी प्रकार से ङीप् । गौरादिगण में पाठ के कारण इस से ङीष् हो जाता है—अनडुह् + ङीष् = अनडुह् + ई = अनडुही (गाय) । गण में 'अनड्वाही' के भी पाठ के कारण ङीष् परे रहते इसे आम् का आगम भी विकल्प से विधान किया गया प्रतीत होता है । इस से कौमुदीकार ने प्रकृत गणसूत्र को ऊहित कर लिया है । आम् के मकार की इत्संज्ञा हो जाती है, 'आ' मात्र शेष रहता है । **मिदचोऽन्त्यात्परः** (२४०) के अनुसार आम् का आगम अनडुह् शब्द के अन्त्य अच् उकार से परे होता है । आम् के पक्ष में 'अनडु आ ह् + ई' इस दशा में **इको यणचि** (१५) सूत्र से उकार को यण्-वकार हो कर विभक्ति लाने से 'अनड्वाही' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । जिस पक्ष में आम् नहीं होता वहां केवल ङीष् ही रहता है—अनडुही ।

गौरादि आकृतिगण है । अर्थात् स्त्रीत्व की विवक्षा में जहां ङीष् का विधायक कोई सूत्र न मिले उसे गौरादियों के अन्तर्गत समझ लेना चाहिये ।[1]

---

१. गौरादिगण यथा—

गौर । मत्स्य । मनुष्य । शृङ्ग । हय । गवय । मुकय । ऋष्य । पुट । तूण । द्रुण । द्रोण । हरिण । पटर । उकण (उणक इति पाठान्तरम्) । आमलक । कुवल । बदर । बिम्ब । कर्कर । तर्कार । शर्कार । पुष्कर । शिखण्ड (शष्कण्ड इति पाठान्तरम्) । सुनन्द । सुषम । सुषव । सलन्द (सलद इति पाठान्तरम्) । अलिन्द । गडुल । षाण्डश । आनन्द । अश्वत्थ । सृपाट । आढक । शष्कुल । सूर्म । सुब (सूच इति पाठान्तरम्) । सूर्य (शूर्प इति पाठान्तरम्) । शूष । पूष । मूष । (यूष इति पाठान्तरम्) । यूथ । घातक (धातक इति पाठान्तरम्) । सकलूक । सल्लक । मालक । मालत । साल्वक । उभय । भृङ्ग । वेतस । अतस । पृस (बृस इति पाठान्तरम्) । मह । मठ । छेद । श्वन् । तक्षन् । अनडुही । अनड्वाही । **एषण करणे** (गणसूत्रम्) । देह । काकादन । गवादन । तेजन । रजन । लवण । पान (यान इति पाठान्तरम्) । मेघ । **गौतम** । आयःस्थूण । भौरि (भौरिकि इति पाठान्तरम्) ।

अब वयोविशेष के वाचकों से स्त्रीप्रत्ययों का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(**१२५६**) **वयसि प्रथमे** ।४।१।२०॥

प्रथमवयोवाचिनोऽदन्तात् स्त्रियां ङीप् स्यात् । कुमारी ॥

अर्थः—प्रथम वयः (आयु) के वाचक अदन्त प्रातिपदिक से परे ङीप् प्रत्यय हो जाता है स्त्रीत्व की विवक्षा में ।

व्याख्या—वयसि ।७।१। प्रथमे ।७।१। ङीप् ।१।१। (**ऋन्नेभ्यो ङीप्** सूत्र से) । **प्रत्ययः, परश्च, प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, अतः**—ये सब पीछे से अधिकृत हैं । 'अतः' यह 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है, इसलिये इस से तदन्तविधि हो कर 'अदन्तात् प्रातिपदिकात्' बन जाता है । 'वयसि प्रथमे' के आगे 'वर्त्तमानात्' का अध्याहार किया जाता है । अर्थः—(प्रथमे) प्रथम (वयसि) वयः के अर्थ में (वर्त्तमानात्) वर्तमान (अतः=अदन्तात्) अदन्त (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से (परः) परे (ङीप्) ङीप् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में । **प्राणिनां कालकृताऽवस्थाविशेषो वयः**—प्राणियों की कालकृत अवस्थाविशेष बचपन आदि को वयः (वयस्) कहते हैं । कुमार, किशोर, आदि शब्द प्राणियों की कालकृत अवस्था के प्राथम्य को कहते हैं अतः ये प्रथमवयोवाचक हैं । स्त्रीत्व की विवक्षा में इन से प्रकृतसूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय हो कर—कुमार+ङीप्=कुमार+ई । अब **यस्येति च** (२३६) से भ-संज्ञक अकार का लोप हो प्रथमा के एकवचन में सुँ प्रत्यय ला कर उस का **हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्** (१७९) से लोप करने पर 'कुमारी' 'किशोरी' आदि प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं ।

वयः तीन होते हैं—कौमार (बचपन), यौवन (जवानी) और स्थाविर (बुढ़ापा) । जैसाकि स्त्रीरक्षणविषय को ले कर मनु ने कहा है—

पिता रक्षति कौमारे, भर्ता रक्षति यौवने ।
पुत्रश्च स्थाविरे भावे, न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति ॥ (मनु० ९.३)

भौलिकि । भौलिङ्गि । औद्गाहमानि । आलिङ्गि । आपिच्छि । आलजि । आलब्धि । आलक्षि । आरट । टोट । नट । नाट । मूलाट । ज्ञातन (शातन इति पाठान्तरम्) । पातन । पावन । आस्तरण । अधिकरण । अधिकार । आग्रहायणी । प्रत्यवरोहिणी । सेवन । **सुमङ्गलात् संज्ञायाम्** (गणसूत्रम्) । अण्डर । सुन्दर । मण्डर । मण्डल । पट । पिण्ड । कुर्द (ऊर्द इति पाठान्तरम्) । गूर्द । सूर्द । पाण्ट (पाण्ढ इति पाठान्तरम्) । लोफाण्ट (लोहाण्ढ) । कदर । कन्दर । कन्दल । बृहत् । महत् । **सौधर्म** । **रोहिणी नक्षत्रे** (गणसूत्रम्) । **रेवती नक्षत्रे** (गणसूत्रम्) । विकल । निष्कल । पुष्कल । **कटाच्छ्रोणिवचने** (गणसूत्रम्) । पिङ्गल । देह । काकण । **पिप्पल्यादयश्च** (गणसूत्रम्)—पिप्पली । हरीतकी । कोशातकी । शमी । करीरी । पृथिवी । क्रोष्ट्री । मातामही । पितामही । आकृतिगणोऽयम् ॥

कुछ लोग वयः के चार भेद करते हैं—बाल्य, कौमार, यौवन और वार्धक्य। इन सब को देखते हुए वार्त्तिककार ने इस सूत्र को **वयस्यचरमे** (वयसि + अचरमे) बनाने की सलाह दी है। उन का तात्पर्य यह है कि चरम अर्थात् अन्त्यवयोवाची शब्दों को छोड़ कर अन्य सभी (प्रथम, द्वितीय) वयोवाचकों से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् प्रत्यय करना चाहिये। इस अर्थ के कारण यौवनवयोवाची वधूट और चिरण्ट प्रातिपदिकों से भी ङीप् प्रत्यय हो कर 'वधूटी, चिरण्टी' (नौजवान औरत) प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं[1]। 'अचरमे' कथन के कारण 'वृद्धा' 'स्थविरा' आदि अन्त्यवयोवाचकों से ङीप् नहीं होता **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से अदन्तलक्षण टाप् ही होता है[2]।

यह ङीप् अदन्त प्रातिपदिकों से ही किया जा सकता है, अन्यों से नहीं। अतः 'शिशु' से ङीप् नहीं होता—**शिशुरयम्, शिशुरियम्**। बालशब्द का पाठ अजादिगण में आया है अतः उस से ङीप् न हो कर टाप् प्रत्यय ही होता है—बाला (लड़की)[3]। इसीप्रकार 'वत्सा' के विषय में समझना चाहिये। 'कन्या' शब्द **कन्यायाः कनीन च** (१०२१) इस ज्ञापक के कारण टाप् प्रत्ययद्वारा सिद्ध किया जाता है।

प्रश्न—यदि प्रथमवयोवाची से ङीप् होता है तो 'वृद्धा चासौ कुमारी वृद्धकुमारी' यहां ङीप् न हो सकेगा? क्योंकि यहां प्रथमवयः की तो बात किञ्चित् भी नहीं है, कुमारी तो वृद्धा हो चुकी है।

---

१. **नूतनजलधररुचये गोपवधूटीदुकूलचौराय।**
तस्मै कृष्णाय नमः संसारमहीरुहस्य बीजाय॥ (कारिकावली १)
चिरण्टी तु स्ववासिनी—इत्यमरः। **स्ववासिन्यां चिरण्टी स्याद् द्वितीयवयसि स्त्रियाम्** इति रुद्रः। ऊढा अनूढा वा पितृगृहस्थिता युवतिरिति शब्दकल्पद्रुमः। चिरिण्टी इत्यपि क्वचिद्।

२. वस्तुतः वयः दो प्रकार का ही है एक—उपचयलक्षण अर्थात् वह **वयः** जिस में शरीरगत धातुओं का उपचय (वर्धन) होता रहता है। यह वयः यौवनान्त रहता है। दूसरा—अपचयलक्षण अर्थात् वह वयः जिस में शरीरगत धातुओं का ह्रास होता रहता है। आचार्य पाणिनि का यही मन्तव्य प्रतीत होता है। आचार्य ने इसी मन्तव्य को दृष्टि में रखते हुए **वयसि प्रथमे** (१२५६) सूत्र का निर्माण किया है। उन के मत के अनुसार यौवन तक प्रथम वयः ही है। अतः वधूटी, चिरण्टी आदि के लिये पृथक् वार्त्तिक बनाने की आवश्यकता ही नहीं रहती, प्रथमवयोवाचक होने से सूत्रद्वारा ही ङीप् सिद्ध हो जाता है। वार्त्तिक की आवश्यकता तो वयः को तीन या चार प्रकार का मानने वालों के मत में ही पड़ती है।

३. **जाने तपसो वीर्यं सा बाला परवतीति मे विदितम्।**
न च निम्नादिव सलिलं निवर्त्तते मे ततो हृदयम्॥
(शाकुन्तल ३.१)

उत्तर—यह प्रयोग साधर्म्य के कारण लाक्षणिक है। वृद्धा होती हुई भी वह पुरुषसंयोगराहित्य के कारण या मौग्ध्य आदि गुणों के कारण कुमारी (प्रथमवयस्का) के सदृश है।

नोट—जिन के श्रवणमात्र से ही वयः की प्रतीति होती है वे शब्द ही यहां वयोवाचक समझे जाते हैं। प्रकरणादि के बल से वयः की प्रतीति कराने वाले शब्द वयोवाचक नहीं माने जाते। यथा—द्विवर्षा कन्या, त्रिवर्षा कन्या। यहां 'कन्या' पद के सामीप्य के कारण ही 'वयः' की प्रतीति होती है, स्वतः नहीं। क्योंकि द्विवर्षा, त्रिवर्षा कोई शाला भी हो सकती है। इसी प्रकार—उत्तानशया बाला (मुंह ऊपर कर सोने वाली बच्ची), लोहितपादिका बाला (स्वभावतः लाल पैरों वाली बच्ची) आदि में समझना चाहिये।

अब अदन्त द्विगु से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१२५७) द्विगोः ।४।१।२१॥**

अदन्ताद् द्विगोर्ङीप् स्यात्। त्रिलोकी। अजादित्वात्—त्रिफला, त्र्यनीका॥

अर्थः—अदन्त द्विगुसमास से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् प्रत्यय हो। **अजादित्वात्**—अजादिगण में पाठ के कारण टाप् हो कर त्रिफला और त्र्यनीका शब्दों की सिद्धि होती है।

व्याख्या—द्विगोः ।५।१। ङीप् ।१।१। (**ऋन्नेभ्यो ङीप्** सूत्र से)। **अतः, प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, प्रत्ययः, परश्च** ये सब अधिकृत हैं। 'अतः' यह 'द्विगोः' का विशेषण है। विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'अदन्ताद् द्विगोः' बन जाता है। अर्थः—(अतः=अदन्तात्) अदन्त (द्विगोः) द्विगु (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से परे (ङीप्) ङीप् प्रत्यय हो जाता है (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में। **अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः** (वा०) अर्थात् जब समाहार अर्थ में द्विगुसमास किया जाये तथा उस का उत्तरपद अकारान्त शब्द हो तो वह द्विगु स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त करना अभीष्ट होता है[1]। तो ऐसी अवस्था में प्रकृतसूत्रद्वारा द्विगुसमास से ङीप् प्रत्यय किया जाता है।

उदाहरण यथा—

त्रयाणां लोकानां समाहारः—त्रिलोकी (तीन लोकों का समाहार)। यहां 'त्रि आम् + लोक आम्' इस अलौकिकविग्रह में **तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च** (९३६) सूत्र से समाहार अर्थ में समास हो कर **सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः** (९४१) से उस की द्विगुसंज्ञा हो जाती है। अब समास में **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँपों (दोनों आम् प्रत्ययों) का लुक् हो कर 'त्रिलोक' प्रातिपदिक निष्पन्न हो जाता है। तब **अकारान्तो-**

---

१. इस वार्तिक का विवेचन समासप्रकरण में इस व्याख्या के चतुर्थभागस्थ (९४३) सूत्र पर विस्तार से किया जा चुका है। वह यहां पुनः मननीय है।

त्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः (वा०) इस इष्टि से स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् का बाध कर प्रकृत **द्विगोः** (१२५७) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय, अनुबन्ध-लोप तथा भसञ्ज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्ति लाने से 'त्रिलोकी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]। इसीप्रकार—

(१) त्रयाणां पादानां समाहारः—त्रिपादी।
(२) अष्टानाम् अध्यायानां समाहारः—अष्टाध्यायी।
(३) पञ्चानां वटानां समाहारः—पञ्चवटी।
(४) चतुर्णां सूत्राणां समाहारः—चतुःसूत्री।
(५) दशानां रथानां समाहारः—दशरथी।
(६) पञ्चानां पूलानां समाहारः—पञ्चपूली (पांच बण्डलों का समूह)।

त्रयाणां फलानां समाहारः—त्रिफला (हरड़, बहेड़ा और आंवला इन तीन फलों का समाहार)। यद्यपि यहां पर भी समाहार अर्थ में द्विगुसमास हुआ है और इस का उत्तरपद अकारान्त भी है तथापि इस का अजादिगण में पाठ मान लेने के कारण प्रकृत **द्विगोः** (१२५७) सूत्र से ङीप् न हो कर **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से टाप् हो जाता है। इसीतरह—त्रयाणाम् अनीकानां समाहारः—त्र्यनीका सेना (घोड़े, हाथी और रथ इन तीन सैन्यदलों का समाहार अर्थात् सेना) यहां पर भी टाप् प्रत्थय समझना चाहिये[2]।

शङ्का—त्रयाणां भुवनानां समाहारः—त्रिभुवनम् (तीन भुवनों का समाहार)। यहां समाहार अर्थ में द्विगुसमास किया गया है। इस समास में 'भुवन' यह अकारान्त शब्द उत्तरपद में है। तो भला यहां **द्विगोः** (१२५७) इस प्रकृतसूत्रद्वारा ङीप् क्यों नहीं होता?

समाधान—अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः (वा०) इस वार्त्तिक का एक अपवाद है—**पात्राद्यन्तस्य न** (वा०) अर्थात् पात्र आदि शब्द जिस के अन्त में हों ऐसे समाहारद्विगु का स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग नहीं होता। पात्रादि को आकृतिगण माना जाता है। जहां जहां शिष्टप्रयोगों में समाहारद्विगु से ङीप् प्रत्यय का प्रयोग नहीं देखा जाता वहां के अकारान्त उत्तरपद को पात्रादियों में परिगणित मान लिया जाता है। 'भुवन' शब्द को भी उन पात्रादियों के अन्तर्गत समझना चाहिये, अतः स्त्रीत्व विवक्षित न होने से यहां ङीप् नहीं होता। **स नपुंसकम्** (९४३) सूत्रद्वारा नपुंसक का ही प्रयोग होता है।

---

१. **यदि त्रिलोकी गणनापरा स्यात्तस्याः समाप्तिर्यदि नायुषः स्यात्।**
पारेपरार्धं गणितं यदि स्याद् गणेयनिःशेषगुणोऽपि स स्यात् ॥ (नैषध० ३.४०)

२. जैसाकि कहा है—

स्मृत्याऽजादिगणे युक्ता टाबुत्पत्तिर्द्विगोरपि।
त्र्यनीकेति गणे कीर्त्यः स्यादाकृतिगणो हि सः॥

इसीप्रकार—

(१) चतुर्णां युगानां समाहारः—चतुर्युगम् ।
(२) त्रयाणाम् ऊषणानां समाहारः—त्र्यूषणम् (सोंठ, काली मिर्च और पीपर) ।
(३) पञ्चानां पात्राणां समाहारः—पञ्चपात्रम् ।
(४) दशानां मूलानां समाहारः—दशमूलम् ।
(५) पञ्चानां लवणानां समाहारः—पञ्चलवणम् ।

द्विगोः (१२५७) सूत्र में 'अतः' की अनुवृत्ति आ रही है इसलिये अनदन्त द्विगु से ङीप् नहीं होता । यथा—त्रयाणां कटूनां समाहारः—त्रिकटु (कृष्णमरिच, पीपर और सोंठ का समाहार), पञ्चानां धेनूनां समाहारः—पञ्चधेनु, पञ्चानां कुमारीणां समाहारः—पञ्चकुमारि ।

अब अग्रिमसूत्र से ङीप् का पुनः विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२५८) **वर्णादनुदात्तात्तोपधात् तो नः ।** ।४।१।३९।।

वर्णवाचो योऽनुदात्तान्तस्तोपधः, तदन्ताद् अनुपसर्जनात् प्रातिपदिकात् (स्त्रीत्वे) वा ङीप् तकारस्य नकारादेशश्च । एता, एनी । रोहिता, रोहिणी ॥

अर्थः—वर्णवाची (रङ्गवाची) जो अनुदात्तान्त तकारोपध शब्द, तदन्त अनुपसर्जन प्रातिपदिक से परे स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् प्रत्यय तथा तकार को नकार आदेश—ये दोनों कार्य विकल्प से हों ।

व्याख्या—वर्णात् ।५।१। अनुदात्तात् ।५।१। तोपधात् ।५।१। तः ।६।१। नः ।१।१। (नकारादकार उच्चारणार्थः) । ङीप् ।१।१। (**ऋन्नेभ्यो ङीप्** से) । वा इत्यव्ययपदम् (**मनोरौ वा** सूत्र से) । अतः, **अनुपसर्जनात्, प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब अधिकृत हैं । समासः—तः = तकार उपधा यस्य स तोपधः, बहुव्रीहिसमासः । न उपसर्जनम् अनुपसर्जनम्, तस्माद् अनुपसर्जनात्, नञ्तत्पुरुषः । 'अनुदात्तात्' तथा 'तोपधात्' ये दोनों 'वर्णात्' के विशेषण हैं । प्रथमविशेषण से तदन्तविधि हो कर 'अनुदात्तान्तात् तोपधाद् वर्णात्' बन जाता है । वर्णशब्द से यहां वर्णवाची (लाल, पीले आदि रङ्गों के वाची) शब्दों का ही ग्रहण अभीष्ट है, 'वर्ण' इस शब्द का नहीं, अन्यथा 'तोपधात्' विशेषण व्यर्थ हो जायेगा । 'वर्णात्' यह 'अदन्तात् प्रातिपदिकात्' का विशेषण है अतः इस से तदन्तविधि हो कर 'वर्णवाचिशब्दान्ताद् अदन्तात् प्रातिपदिकात्' हो जाता है । 'अनुपसर्जनात्' का सम्बन्ध 'प्रातिपदिकात्' से है । इस प्रकार सूत्र का यह अर्थ निष्पन्न होता है—(अनुदात्तात् = अनुदात्तान्तात्) अनुदात्त जिस के अन्त में है तथा (तोपधात्) तकार जिस की उपधा है ऐसा (वर्णात्) रङ्गवाची जो शब्द,

तदन्त[1] (अनुपसर्जनात्) अनुपसर्जन (अतः=अदन्तात् प्रातिपदिकात्) अदन्त प्रातिपदिक से परे (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में (ङीप् प्रत्ययः) ङीप् प्रत्यय तथा (तः =तकारस्य) वर्णवाचिशब्द के तकार के स्थान पर (नः) न् आदेश—ये दोनों कार्य (वा) विकल्प से हो जाते हैं। **सन्नियोगशिष्टानां सह वा प्रवृत्तिः सह वा निवृत्तिः** (प०) इस परिभाषा के अनुसार जहां ङीप् होगा वहां पर ही तकार को नकार आदेश होगा। जिस पक्ष में ङीप् न होगा वहां तकार को नकार आदेश भी न होगा।

---

१. तदन्त अर्थात् पूर्वोक्त वर्णवाचक शब्द जिस के अन्त में हो ऐसा अनुपसर्जन अदन्त प्रातिपदिक। लघुकौमुदीस्थ यह सूत्रार्थ भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्तकौमुदी से लिया गया है। दीक्षितजी से पूर्व किसी वैयाकरण ने इस सूत्र का ऐसा अर्थ नहीं किया। स्वयं दीक्षितजी ने भी अपनी पूर्वकृति शब्दकौस्तुभ में ऐसा अर्थ नहीं किया। सब वैयाकरण 'अनुपसर्जनात्' को 'वर्णात्' के साथ सम्बद्ध करते चले आ रहे थे। परन्तु दीक्षितजी ने उसे 'वर्णात्' के साथ सम्बद्ध न कर तदन्त अर्थात् वर्णवाचिशब्दान्त के साथ सम्बद्ध कर दिया है। भट्टोजिदीक्षित ने ऐसा क्यों किया ? आइये, इस पर थोड़ा प्रकाश डालते हैं—

पारस्करगृह्यसूत्र आदियों में चूडाकरणप्रकरण के अन्तर्गत शल्यक (साही) के परों से बनी हुई शललीनाम से प्रसिद्ध एक सूची का वर्णन आता है—**त्रेण्या शलल्या विनीय केशान्**—(पारस्कर० २.१) अर्थात् तीन जगह श्वेतरङ्गवाली शललीनामक सूची से केशों को—। यहां शलली के विशेषण 'त्र्येणी' शब्द का प्रयोग किया गया है। 'त्र्येणी' का विग्रह करते हुए गृह्यवृत्तिकार इसे बहुव्रीहि (त्रीणि एतानि यस्याः) मान कर प्रकृतसूत्र से ङीप्+नत्व का विधान करते हैं और णत्व को आर्ष मानते हैं। परन्तु बहुव्रीहि में सब पद उपसर्जन होते हैं अतः यहां का 'एत' शब्द भी उपसर्जन हुआ। अब यदि 'अनुपसर्जनात्' का सम्बन्ध 'वर्णात्' (वर्णवाचिनः) से करते हैं तो 'एत' से ङीप्+नत्व नहीं हो सकता क्योंकि वह उपसर्जन है। अतः वृत्तिकार की व्याख्या के अनुरोध से उस की व्याख्या को सत्यापित करने के लिये दीक्षितजी ने 'अनुपसर्जनात्' का सम्बन्ध वर्णवाची से न कर वर्णवाचिशब्दान्त प्रातिपदिक से कर दिया है। इस से वृत्तिकार के मत में कोई दोष नहीं आता, क्योंकि वर्णवाची के उपसर्जन होने पर वर्णवाचिशब्दान्त समुदाय तो अनुपसर्जन है ही। अतः 'त्र्येत' शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप्+नत्व सिद्ध हो जाता है।

परन्तु भाष्यमर्मज्ञ नागेशभट्ट का कहना है कि ऐसा मानना महाभाष्य के स्वारस्य से विरुद्ध है। गृह्यमाण 'वर्णात्' के साथ ही 'अनुपसर्जनात्' को सम्बद्ध करना चाहिये। उन का यह भी कहना है कि गृह्यसूत्र के उपर्युक्त 'त्र्येणी' शब्द में बहुव्रीहिसमास न मान कर 'त्रिषु एणी' इस प्रकार सुंप्सुंपासमास मानना उचित है। विशेषजिज्ञासु शेखरद्वय का अवलोकन करें।

वर्ण (रङ्ग) के वाचक शब्द हमेशा दो तरह का अर्थ दिया करते हैं । एक तो वे गुणवाचक हो कर सुफ़ेद, लाल, नीले, पीले आदि रङ्गों को प्रकट करते हैं । दूसरे वे उस उस रङ्ग वाले पदार्थ के भी वाचक होते हैं । यथा—'श्वेत' शब्द जहां श्वेतगुण का वाचक है वहां श्वेतगुणयुक्त पदार्थ का भी वाचक है । गुणवाची होने पर इस का प्रयोग पुंलिङ्ग में तथा गुण वाले पदार्थ का वाचक होने पर इस का प्रयोग विशेष्यानुसार तीनों लिङ्गों में होता है । अत एव अमरकोष में कहा है—**गुणे शुक्लादयः पुंसि, गुणिलिङ्गास्तु तद्वति** । व्याकरणप्रक्रिया के अनुसार गुणवाचक श्वेत आदि शब्दों से **तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुँप्** (११८५) सूत्रद्वारा विहित मतुँप् प्रत्यय का **गुणवचनेभ्यो मतुँपो लुगिष्टः** (वा० ६०) इस वार्त्तिक से लुक् हो जाता है । इस प्रकार गुणवाचक शब्द तत्तद्गुण वाले पदार्थों के भी वाचक हो जाते हैं । तब वे विशेष्यानुसार लिङ्ग को धारण करते हैं । यथा—श्वेतः पटः, श्वेता शाटिका, श्वेतं वस्त्रम् आदि ।

सूत्र के उदाहरण यथा—

'एत' (चितकबरा, रङ्गबिरङ्गा, नाना रङ्गों वाला) शब्द[1] वर्णवाची है । इस का अन्त्य अकार **वर्णानां त-ण-ति-नि-तान्तानाम्** (फिट्सूत्र ३३)[2] के अनुसार अनुदात्त है । इस की उपधा में तकार विद्यमान है । व्यपदेशिवद्भाव से इसे तदन्त भी माना जा सकता है । इस की किसी सूत्र के द्वारा उपसर्जनसञ्ज्ञा भी नहीं की गई है । अतः इस अदन्त 'एत' प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृतसूत्र **वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः** (१२५८) द्वारा ङीप् प्रत्यय हो जाता है । ङीप्पक्ष में तकार को नकार आदेश एवं भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'एनी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । जिस

---

१. **चित्रं किर्मीर-कल्माष-शबलैताश्च कर्बुरे**—इत्यमरः । एतशब्दः श्वेतपर्याय इति कल्पसूत्रव्याख्यातारो धूर्तस्वामि-भवस्वामि-हरदत्तप्रभृतयो याज्ञिका इति बालमनोरमा ।

२. अर्थः—जिस वर्णवाची शब्द के अन्त में त, ण, ति, नि अथवा त् हो उस शब्द का आदि अच् उदात्त हो जाता है । जब किसी पद में एक स्वर उदात्त हो जाता है तब **अनुदात्तं पदमेकवर्जम्** (६.१.१५२) सूत्र से उस पद के शेष सब स्वर अनुदात्त हो जाते हैं ।

'त' अन्त वाला वर्णवाची यथा—एतः, रोहितः ।

'ण' अन्त वाला वर्णवाची यथा—शोणः ।

'ति' अन्त वाला वर्णवाची यथा—शितिः ।

'नि' अन्त वाला वर्णवाची यथा—पृश्निः ।

'त्' अन्त वाला वर्णवाची यथा—पृषत् ।

इन सब का आदि स्वर उदात्त विधान किया गया है अतः शेष सब स्वर अनुदात्त हैं । इस प्रकार ये शब्द अनुदात्तान्त समझने चाहियें ।

पक्ष में ङीप् + नत्व नहीं होता वहां **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से टाप्, अनुबन्धलोप, सवर्णदीर्घ तथा विभक्तिकार्य करने से 'एता' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार 'रोहित' (लाल रङ्ग वाला) प्रातिपदिक से 'रोहिणी' और 'रोहिता', 'श्येत' (सुफेद रङ्गवाला) प्रातिपदिक से 'श्येनी' और 'श्येता', 'हरित' प्रातिपदिक से 'हरिणी' और 'हरिता' दो दो रूपों की सिद्धि होती है।

वर्णवाची शब्द के अन्त में यदि अनुदात्त न होगा तो प्रकृतसूत्र की प्रवृत्ति न होगी। यथा 'श्वेत' शब्द का अन्त्य अकार **घृतादीनां च** (फिट्सूत्र २१)[1] इस फिट्सूत्र मे उदात्त है अतः ङीप् + नत्व नहीं होता। अदन्तलक्षण टाप् हो कर 'श्वेता' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

वर्णवाचिशब्दान्त प्रातिपदिक अदन्त होना चाहिये तभी प्रकृतसूत्र से ङीप् + नत्व की प्रवृत्ति होती है। 'शिति' शब्द धवल-रङ्ग का वाचक है, **वर्णानां तणतिनितान्तानाम्** (फिट्सूत्र ३३) के अनुसार अनुदात्तान्त है और तोपध भी। पर अदन्त न हो कर इदन्त है अतः प्रकृतसूत्र से ङीप् + नत्व नहीं होता। अदन्त न होने से अदन्तलक्षण टाप् भी नहीं होता। स्त्रीत्व में भी वैसे का वैसा रहता है। यथा—शितिर्ब्राह्मणी।

अमरकोष में—**अवदातः सितो गौरः** इस प्रकार अवदातशब्द श्वेतार्थक कहा गया है। परन्तु **पुंयोगादाख्यायाम्** (४.१.४८) सूत्रस्थ महाभाष्य के अनुसार वह स्वच्छ या विशुद्ध अर्थ का ही वाचक है[2]। साधर्म्य के कारण उसे सित या गौर कह दिया जाता है। अतः **लघावन्ते द्वयोश्च बह्वषो गुरुः** (फिट्सूत्र ४२)[3] इस फिट्सूत्र से अनुदात्तान्त होते हुए भी वर्णवाची न होने से इस में प्रकृतसूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। अदन्तलक्षण टाप् ही होता है—अवदाता कीर्तिः।

नोट—असित (काला) और पलित (श्वेत) शब्दों से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृतसूत्रद्वारा ङीप् + नत्व नहीं होता—**असितपलितयोर्न** (वा०)[4]। अतः अदन्तलक्षण टाप् हो जाता है—असिता, पलिता।

जिन की उपधा में तकार नहीं होता ऐसे वर्णवाची अनुदात्तान्त शब्दों से स्त्रीत्व

---

१. अर्थः—घृत आदि शब्दों का अन्त्य स्वर उदात्त होता है।

२. अवदातायां ङीप् प्राप्नोति—अवदाता ब्राह्मणी, **वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः** (४.१.३९) इति। नैष वर्णवाची। किन्तर्हि विशुद्धवाची। आतश्च विशुद्धवाची—
त्रीणि यस्यावदातानि विद्या योनिश्च कर्म च।
एतच्छिवे ! विजानीहि ब्राह्मणाग्र्यस्य लक्षणम्॥ (महाभाष्य ४.१.४८)

३. अर्थः—जिसके अन्त में एक लघु या दो लघु हों, ऐसे बहुत अचों वाले प्रातिपदिक का गुरु उदात्त हो जाता है।

४. अर्थः—स्त्रीत्व की विवक्षा में असित और पलित शब्दों में **वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः** (१२५८) सूत्र द्वारा ङीप् + नत्व की प्रवृत्ति नहीं होती।

की विवक्षा में **अन्यतो ङीष्** (४.१.४०)[1] सूत्रद्वारा ङीष् प्रत्यय का विधान किया जाता है। ङीप् और ङीष् करने में पद के स्वर में ही अन्तर पड़ जाता है—यह हम पीछे बता चुके हैं। कल्माषी, शबली, सारङ्गी। कृष्ण और कपिल शब्द अनुदात्तान्त नहीं अपितु उदात्तान्त हैं अतः इन से टाप् ही होता है—कृष्णा कपिला वा गौः।

अब उदन्त गुणवाचकों से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्— **(१२५६) वोतो गुणवचनात्** ।४।१।४४।।

उदन्ताद् गुणवाचिनो वा ङीष्[2] स्यात्। मृद्वी, मृदुः॥

अर्थः—ह्रस्व उकारान्त गुणवाची प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में विकल्प से ङीष् प्रत्यय हो।

व्याख्या—वा इत्यव्ययपदम्। उतः ।५।१। गुणवचनात् ।५।१।। ङीष् ।१।१। (**अन्यतो ङीष्** सूत्र से)। **प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब अधिकृत हैं। यहां सूत्रगत 'गुण' शब्द से **अदेङ् गुणः** (२५) वाला पारिभाषिक गुण नहीं लेना चाहिये वरन् उस का 'उतः' विशेषण संगत न हो सकेगा। गुणम् उक्तवान् इति गुण-वचनः, कर्तरि भूते ल्युट्। जो शब्द गुण को कह कर उस गुणयुक्त द्रव्य को कहता है उसे गुणवचन कहते हैं। तात्पर्य यह है कि गुणविशिष्ट द्रव्य के वाचक को गुणवचन कहते हैं। मृदु (कोमल), लघु (छोटा), गुरु (भारी), पटु (चतुर), साधु (ठीक, युक्त, भला), तनु (पतला) आदि शब्द गुणवचन हैं। 'उतः' यह 'गुणवचनात् प्रातिपदिकात्' का विशेषण है, विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'उदन्ताद् गुणवचनात् प्रातिपदिकात्'

---

१. अर्थः—तकारोपध से भिन्न अन्य वर्णवाची अनुदात्तान्त प्रातिपदिकों से ङीष् प्रत्यय हो जाता है स्त्रीत्व की विवक्षा में।

२. अत्र क्वचिद् ङीप् इति पाठान्तरमुपलभ्यते। तत्तु अत्रत्यं वार्त्तिकं भाष्यञ्चाश्रित्योक्तं प्रतीयते। तथा चाऽत्र भाष्यम्—

गुणवचनाद् ङीब् आद्युदात्तार्थः (वा०)। गुणवचनाद् ङीब् वक्तव्यः। किं प्रयोजनम्? आद्युदात्तार्थः। आद्युदात्ताः प्रयोजयन्ति। वस्वी। पट्वी॥

(महाभाष्य ४.१.४४)

वसुपटुशब्दौ नित्स्वरेण आद्युदात्तौ गुणवचनौ। ताभ्यां ङीपि ईकारोऽनुदात्तः पित्त्वात्। आभ्यां यदि ङीष् स्यात्तदा प्रत्ययस्वरेण ङीष ईकार उदात्त इत्यनिष्टं प्रसज्येत। अन्तोदात्ताद् मृद्वादिप्रातिपदिकाद् ङीब्ङीषोर्नास्ति विशेषः। **उदात्त-यणो हल्पूर्वात्** (६.१.१६८) इति ङीप उदात्तत्वविधानात्। तस्मादत्र ङीपो विधानमेव न्याय्यम्। तथा चोक्तं शब्दकौस्तुभे दीक्षितैः—

इदं सूत्रमपनीय **मनोरौ वा** (४.१.३८) इत्यस्मादनन्तरं 'गुणवचनादुतः' इति पाठ्यम्। उत्तरसूत्रं तु स्वस्थाने एव वाशब्दसहितम्पाठ्यम्—बह्वादिभ्यो वा इति। तेनाद्युदात्तेषु गुणवचनेषु ङीपि स्वरः सिध्यति (शब्दकौस्तुभ ४.१.४४)।

बन जाता है। अर्थः—(उतः=उदन्तात्) उदन्त (गुणवचनात्) गुणवाची (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से परे (वा) विकल्प से (ङीष्) ङीष् प्रत्यय हो जाता है (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में। उदाहरण यथा—

'मृदु' यह उदन्त प्रातिपदिक है जो मृदुत्वविशिष्ट द्रव्य का वाचक होने से गुणवचन है। इस से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृत **वोतो गुणवचनात्** (१२५६) सूत्रद्वारा ङीष् प्रत्यय, ङीष् के अनुबन्धों का लोप तथा **इको यणचि** (१५) से उकार को यण्=वकार कर विभक्ति लाने से 'मृद्वी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]। ङीष् के अभाव में 'मृदुः' ही रहेगा। मृद्वीयं लता, मृदुरियं लता—दोनों तरह से प्रयोग हो सकता है।

इसीतरह—'तनु' से तन्वी और तनुः; 'पटु' से पट्वी और पटुः; 'गुरु' से गुर्वी और गुरुः; 'लघु' से लघ्वी और लघुः; 'पृथु' से पृथ्वी और पृथुः; 'साधु' से साध्वी और साधुः इत्यादिप्रकारेण प्रयोग जानने चाहियें।

खरुसंयोगोपधान्न (वा०)—खरु (मूर्ख, कठोर, क्रूर, श्वेत आदि) तथा संयोगोपध गुणवचनों से स्त्रीत्व की विवक्षा में **वोतो गुणवचनात्** (१२५६) सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती—खरुर्ब्राह्मणी। संयोगोपध से—पाण्डुरियं लता।

उदन्त प्रातिपदिक यदि गुणवाची न होगा तो उस से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृतसूत्रद्वारा ङीष् न होगा। यथा—आखुरियम् (यह चुहिया है)। 'आखु' शब्द गुणवाचक नहीं अपितु द्रव्यवाचक है अतः उस से स्त्रीत्व में भी ङीष् नहीं हुआ।

विशेष वक्तव्य—इस सूत्र में 'गुण' से क्या अभिप्रेत है? इस के लिये महाभाष्य (४.१.४४) में एक प्राचीन श्लोक उद्धृत किया गया है—

सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथग्जातिषु दृश्यते।
आधेयश्चाऽक्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः॥[2]

इस श्लोक की खण्डशः व्याख्या प्रस्तुत करते हैं—

सत्त्वे निविशते—जो पदार्थ केवल सत्त्व (द्रव्य) में ही निवेश करता या ठहरता है उसे गुण कहते हैं। इतने कथन से सत्ता जाति की व्यावृत्ति हो जाती है, सत्ता को गुण नहीं कहा जा सकता। कारण कि सत्ता केवल द्रव्य में ही नहीं रहती अपितु द्रव्य, गुण, कर्म तीनों में रहती है। अच्छा तो द्रव्यत्वजाति केवल द्रव्य में ही रहती है, इस लक्षण से वह भी गुण होने लगेगी। इस पर कहते हैं—**अपैति**। अर्थात् गुण पदार्थ द्रव्य से दूर भी हो जाता है। यथा पकने पर आम्र में नीलिमा हट कर पीतिमा आ जाती है। पर द्रव्यत्वजाति तो द्रव्य से तीनों कालों में कभी नहीं हटती, इसलिये द्रव्यत्व-

---

१. **शिरीषमृद्वी गिरिषु प्रपेदे यदा यदा दुःखशतानि सीता।**
तदा तदास्याः सदनेषु सौख्यलक्षाणि दध्यौ गलदश्रु रामः॥ (साहित्यदर्पणे)

२. जो द्रव्य में रहता है, द्रव्य से हट भी जाता है, नानाविध जातियों में रहता हुआ उत्पाद्य भी है और अनुत्पाद्य भी, ऐसे द्रव्यभिन्न पदार्थ को गुण कहते हैं।

जाति को गुण नहीं कहा जा सकता । **सत्त्वे निविशतेऽपैति**— इस लक्षण पर पुनः एक शङ्का उत्पन्न होती है कि गोत्वजाति जो गोव्यक्तियों में तो नित्य विद्यमान रहती है पर अश्व आदियों से व्यावृत्त रहती है तो इस लक्षण के अनुसार वह भी गुण होने लगेगी । इस दोष की निवृत्ति के लिये लक्षण में जोड़ते हैं—**पृथग्जातिषु दृश्यते** । अर्थात् गुण पदार्थ द्रव्य की नाना जातियों में दिखाई देता है । जैसे मेघ में दीखने वाली नीलिमा तृणादियों में भी देखी जाती है । गोत्वजाति तो द्रव्य की अन्य अश्वत्व आदि जातियों में नहीं रहती । इस प्रकार श्लोक के पूर्वार्धोक्त **सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथग्जातिषु दृश्यते** इस गुणलक्षण से किसी प्रकार की जाति गुण के अन्तर्गत नहीं आती ।

अच्छा ! तो इस लक्षण के अनुसार कर्म भी गुण होने लगेगा । कर्म भी द्रव्यों में स्थित रहता है, उन से हट भी जाता है तथा नानाजातियों में भी देखा जाता है । इस के परिहार के लिये कहते हैं—**आधेयश्चाक्रियाजश्च** । अर्थात् गुण-पदार्थ आधेय[1] (उत्पाद्य) भी होता है और अक्रियाज[2] (अनुत्पाद्य) भी । जैसे घटादिगत रक्तिमादि गुण पाकक्रियाजन्य होने से उत्पाद्य है और आकाश में रहने वाला महत्त्व गुण नित्य होने से अनुत्पाद्य है । परन्तु कर्म तो हमेशा उत्पाद्य ही होता है अतः वह गुण न होगा ।

अच्छा ! **सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथग्जातिषु दृश्यते । आधेयश्चाऽक्रियाजश्च** इतना कहने पर द्रव्यपदार्थ में अतिव्याप्ति होगी वह भी गुण कहलाने लगेगा । द्रव्य घटादि अवयवी अपने कपाल आदि द्रव्यरूप अवयवों में अवस्थित होता है और असमवायिकारण संयोग के नाश होते ही उन अवयवों से हट जाता है । घट पट आदि अनेक जातियों में रहता है और यह उत्पाद्य और अनुत्पाद्य दोनों प्रकार का हुआ करता है, घटपटादि अनित्यद्रव्य उत्पाद्य तथा आकाशादि नित्यद्रव्य अनुत्पाद्य हैं । इस के परिहार के लिये कहते हैं—**सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः** । गुण असत्त्वप्रकृति अर्थात् द्रव्यरूप नहीं होता । इस प्रकार जातिभिन्न क्रियाभिन्न तथा द्रव्यभिन्न गुण होते हैं यह निर्दोष लक्षण प्राप्त होता है । परन्तु इस लक्षण को अनेक वैयाकरण सर्वथा ठीक नहीं मानते । उन का कथन है कि भाष्य में यह एकदेशी की उक्ति है, भाष्यकार का स्वमन्तव्य नहीं । अत एव भाष्य में इस कारिका की व्याख्या नहीं की गई । उन का कथन है कि **आकडारादेका सञ्ज्ञा** (१.४.१) के भाष्य में जो गुण का लक्षण किया गया है वही युक्त है । वहां कहा गया है कि समास, कृदन्त, तद्धितान्त, अव्यय, सर्वनाम, जाति, संख्या तथा संज्ञाशब्दों को छोड़ कर अन्य अर्थवान् शब्द गुणवाचक होते हैं । शेखरकार नागेशभट्ट इसी लक्षण को ही निर्दुष्ट मानते हैं ।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा पुनः ङीष् का वैकल्पिक विधान करते हैं—

---

१. आधातुं योग्य आधेयः, उत्पाद्य इत्यर्थः ।

२. क्रियया जायत इति क्रियाजः, न क्रियाजः—अक्रियाजः । अनुत्पाद्य इत्यर्थः ।

[लघु०] विधि-सूत्रम्— (१२६०) **बह्वादिभ्यश्च** ।४।१।४५।।

एभ्यो वा ङीष् स्यात् । बह्वीः । बहुः ।।

अर्थः—बहु आदि गण में पठित प्रातिपदिकों से स्त्रीत्व की विवक्षा में विकल्प से ङीष् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—बह्वादिभ्यः ।५।३। च इत्यव्ययपदम् । वा इत्यव्ययपदम् (**वोतो गुणवचनात्** सूत्र से) । ङीष् ।१।१। (**अन्यतो ङीष्** सूत्र से) । **प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब पीछे से अधिकृत हैं । 'प्रातिपदिकात्' का बहुवचनान्त में विपरिणाम हो कर 'प्रातिपदिकेभ्यः' बन जाता है । समासः—बहुः (बहुशब्दः) आदिर्येषान्ते बह्वादयः, तेभ्यः = बह्वादिभ्यः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(बह्वादिभ्यः) बहु आदि (प्रातिपदिकेभ्यः) प्रातिपदिकों से परे (वा) विकल्प से (ङीष्) ङीष् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में । उदाहरण यथा—

बहु (बहुत, विपुल) प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में **बह्वादिभ्यश्च** (१२६०) इस प्रकृतसूत्र से ङीष् प्रत्यय, ङकार और षकार अनुबन्धों का लोप एवम् **इको यणचि** (१५) से उकार को वकार आदेश कर विभक्ति लाने से 'बह्वी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । ङीष् के अभाव में विभक्ति ला कर 'बहुः' ही रहेगा । बह्वी सम्पत्, बहुः सम्पत् । **एकस्य बह्व्यो जाया भवन्ति, नैकस्यै बहवः सपतयः**—(ऐत० ब्रा० ३.२३) । **अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः**—(तै० आ० १०.१०.१) ।

कुछ लोगों का विचार है कि बहुशब्द गुणवचन है अतः इस से **वोतो गुणवचनात्** (१२५९) इस पूर्वसूत्रद्वारा ही वैकल्पिक ङीष् सिद्ध था, यहां उस का ग्रहण अगले सूत्र में अनुवृत्ति के लिये ही किया गया है । परन्तु अन्य वैयाकरणों का कहना है कि बहुशब्द **बहुगणवतुडति संख्या** (१८६) द्वारा संख्यासंज्ञक है, संख्याशब्दों को पीछे महाभाष्य-प्रमाणानुसार गुणवचन माना नहीं गया, इसलिये यहां उस से विधान करना पड़ा है ।

अब बह्वादिगण के अन्तर्गत दो गणसूत्रों का उल्लेख करते हैं—

[लघु०] (गणसूत्रम्)—**कृदिकारादक्तिनः** ।।

रात्री । रात्रिः ।।

अर्थः—कृत्प्रत्ययसम्बन्धी इकार, जो क्तिन् का अवयव न हो, तदन्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में विकल्प से ङीष् प्रत्यय हो जाता है ।

व्याख्या—कृदिकारात् ।५।१। अक्तिनः ।५।१। **प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं । यह **बह्वादिभ्यश्च** (१२६०) सूत्रस्थ बह्वादिगण का एक गणसूत्र है अतः वैकल्पिक ङीष् का विधान करता है । कृत इकारः कृदिकारः, तस्मात् = कृदिकारात्, षष्ठीतत्पुरुषः । न क्तिन् अक्तिन्, तस्माद् = अक्तिनः, नञ्तत्पुरुषः । ये दोनों समस्त पद 'प्रातिपदिकात्' के विशेषण हैं । अर्थः—(कृदिकारात्) कृत् प्रत्यय का

जो इकार तदन्त (अक्तिनः) क्तिन्भिन्नप्रत्ययान्त (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में (वा) विकल्प से (ङीष्) ङीष् प्रत्यय हो जाता है।

उदाहरण यथा—

रात्रि (रात) शब्द **रा दाने** (अदा० परस्मै०) धातु से **राशदिभ्यां त्रिप्** (उणादि० ४.६७) इस औणादिकसूत्रद्वारा त्रिप् प्रत्यय करने से सिद्ध होता है। इस के अन्त में कृत्संज्ञक त्रिप् प्रत्यय का इकार मौजूद है, किञ्च इस के अन्त में क्तिन् प्रत्यय भी नहीं है अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में **बह्वादिभ्यश्च** (१२६०) इस गणस्थ के **कृदिकारादक्तिनः** इस गणसूत्र से वैकल्पिक ङीष् प्रत्यय हो जाता है। ङीष्पक्ष में **यस्येति च** (२३६) सूत्रद्वारा भसंज्ञक इकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'रात्री' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। ङीष् के अभाव में 'रात्रिः' रहेगा। इसीप्रकार—

राजी, राजिः (पङ्क्ति)। वापी, वापिः (बावड़ी)। ओषधी, ओषधिः (वनस्पति)। दर्वी, दर्विः (कड़छी)। धरणी, धरणिः (पृथ्वी)। भूमी, भूमिः। श्रेणी, श्रेणिः (पङ्क्ति)। श्रोणी, श्रोणिः (कमर)। रजनी, रजनिः (रात)। धमनी, धमनिः (नाडी)। अवनी, अवनिः (पृथ्वी)। खनी, खनिः (खान)। तमी, तमिः (अन्धेरी रात)। इत्यादिप्रयोग जानने चाहियें।

'अक्तिनः' कथन के कारण—कृतिः, स्तुतिः, मतिः, नीतिः, रीतिः इत्यादियों में इस ङीष् की प्रवृत्ति नहीं होती।

अब दूसरे गणसूत्र को निर्दिष्ट करते हैं—

[लघु०] (गणसूत्रम्)—सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके ॥

शकटी। शकटिः॥

अर्थः—कई आचार्यों का मत है कि क्तिन्नर्थकप्रत्ययान्तों से भिन्न किसी भी इदन्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में विकल्प से ङीष् प्रत्यय हो जाता है।

व्याख्या—सर्वतः इत्यव्ययपदम् (पञ्चम्यर्थे सार्वविभक्तिकस्तसिः)। अक्तिन्नर्थात् ।५।१। 'इति' इत्यव्ययपदम्। एके ।१।३। यह गणसूत्र पूर्वोक्त गणसूत्र को लक्ष्य में रख कर बनाया गया है। समासः—क्तिनोऽर्थो यस्य सः=क्तिन्नर्थः, व्यधिकरणबहुव्रीहिः। न क्तिन्नर्थः=अक्तिन्नर्थः, तस्मात्=अक्तिन्नर्थात्, नञ्तत्पुरुषः। यह 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है अतः तदन्तविधि हो कर 'क्तिन्नर्थकभिन्नप्रत्ययान्ताद् इदन्तप्रातिपदिकात्' ऐसा उपलब्ध हो जाता है। अर्थः—(अक्तिन्नर्थात्) क्तिन्नर्थकप्रत्ययान्तों से भिन्न (सर्वतः) सब तरह के[1] (इतः=इदन्तात्) इदन्त (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में (वा) विकल्प से (ङीष्) ङीष् प्रत्यय हो जाता है (इति) ऐसा (एके) कई आचार्य कहते हैं।

यह गणसूत्र पूर्वगणसूत्र से दो बातों में अधिक व्यापक है—

---

१. सर्वतः=सब तरह का। अर्थात् इकार चाहे कृत् का हो या अकृत् का।

[१] पूर्वगणसूत्र में केवल कृत्सम्बन्धी इकारान्त प्रातिपदिकों से ही ङीष् का वैकल्पिक विधान किया गया था। परन्तु इस में कृत् या अकृत् किसी से भी सम्बद्ध इकारान्त प्रातिपदिक से ङीष् का वैकल्पिक विधान किया जा रहा है। यथा 'शकटि' (छोटा छकड़ा) शब्द अव्युत्पन्न प्रातिपदिक है। इस के अन्त में न तो क्तिन् प्रत्यय है और न ही क्तिन्नर्थक कोई अन्य प्रत्यय, अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में **सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके** इस प्रकृतगणसूत्र से ङीष् प्रत्यय विकल्प से हो जाता है। ङीष्पक्ष में भसंज्ञक इकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्ति लाने से 'शकटी' एवं ङीष् के अभाव में 'शकटिः' ये दो प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।

[२] पूर्वगणसूत्र में केवल क्तिन्प्रत्ययान्तों से ही ङीष् का निषेध किया गया था परन्तु इस में क्तिन्नर्थक किसी भी प्रत्यय के करने पर इदन्त से ङीष् का निषेध कहा गया है। पूर्वोक्त कृतिः, स्तुतिः, मतिः आदि तो इस के प्रत्युदाहरण हैं ही, किन्तु अजननिः, अकरणिः इत्यादि क्तिन्नर्थक-अनिप्रत्ययान्तों (३.३.११२) से भी ङीष् का निषेध सिद्ध हो जाता है[1]।

बह्वादिगण के कुछ अन्य उदाहरण यथा—

(१) **पद्धति**[2]—पद्धती, पद्धतिः (पगडण्डी, मार्ग)।

(२) अंहति—अंहती, अंहतिः (दान, कष्ट, रोग)।

(३) वहति—वहती, वहतिः (नदी)।

(४) शक्ति—शक्ती; शक्तिः (बरछी)।[3]

(५) अहि—अही, अहिः (सर्पिणी)।

(६) कपि—कपी, कपिः (वानरी)।

---

१. **स्त्रियां क्तिन्** (३.३.९४) के अधिकार में यह सूत्र पढ़ा गया है—
आक्रोशे नञ्यनिः (३.३.११२)। अर्थः—आक्रोश गम्यमान हो तो नञ् के उपपद रहते स्त्रीत्व की विवक्षा में धातु से भाव आदि में कृत्संज्ञक 'अनि' प्रत्यय हो जाता है। यथा—**जनीँ प्रादुर्भावे** (दिवा० आत्मने०) से—अजननिः, **डुकृञ् करणे** (तना० उभय०) से—अकरणिः। **न लोपो नञः** (९४७) से नञ् के नकार का लोप हो जाता है। अजननिस्ते शठ! भूयात् (रे दुष्ट! तेरा जन्म न रहे अर्थात् तू मर जाये)। अकरणिस्ते दुष्ट! भूयात् (ऐ दुष्ट! तेरी करनी का नाश हो)।

२. पादाभ्यां हन्यत इति पद्धतिः। हन्धातोः कर्मणि क्तिनि धातोर्नकारलोपे, समासे सुँब्लुकि **हिम-काषि-हतिषु च** (६.३.५३) इति पादस्य पदादेशे रूपसिद्धिः। क्तिन्नन्त से गणसूत्रों द्वारा ङीष् का निषेध कहा गया है परन्तु गण में पाठसामर्थ्य से यहां ङीष् हो जाता है, निषेध नहीं होता।

३. **शक्तिः शस्त्रे**—इस गणसूत्र से शस्त्र (बरछी) अर्थ में ही इस का बह्वादिगण में पाठ माना गया है अन्यत्र नहीं। अतः सामर्थ्यवाची शक्तिशब्द से ङीष् न होगा। यथा—शक्तिः (सामर्थ्यम्)।

(७) यष्टि—यष्टी, यष्टिः (छड़ी)।
(८) मुनि—मुनी, मुनिः (वानप्रस्थ स्त्री)।
(९) चण्ड—चण्डी, चण्डा (अत्यन्त कोपशीला)।
(१०) पुराण—पुराणी, पुराणा (पुरानी)।
(११) चन्द्रभाग—चन्द्रभागी, चन्द्रभागा (चिनाब नदी)।
(१२) विकट—विकटी, विकटा (विकराल, विशाल)।
(१३) विशाल—विशाली, विशाला।
(१४) कृपाण—कृपाणी, कृपाणा।
(१५) कल्याण—कल्याणी, कल्याणा।

विशेष जिज्ञासु बह्वादिगण का अवलोकन करें।[1]

अब पुंयोग में स्त्रीप्रत्ययों का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२६१) **पुंयोगादाख्यायाम्** ।४।१।४८॥

या पुमाख्या पुंयोगात् स्त्रियां वर्त्तते ततो ङीष्। गोपस्य स्त्री गोपी॥

अर्थः—पुरुष के साथ सम्बन्ध के कारण जब पुंवाचक शब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त हो तो उस अदन्त प्रातिपदिक से परे ङीष् प्रत्यय होता है।

व्याख्या—पुंयोगात् ।५।१। आख्यायाम् ।७।१। (**छन्दोवत् सूत्राणि भवन्ति**—इति पञ्चम्यर्थे सप्तमी)। ङीष् ।१।१। (**अन्यतो ङीष्** सूत्र से)। **स्त्रियाम्, अतः, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। समासः—पुंसो योगः पुंयोगः, तस्मात् = पुंयोगात्, षष्ठीतत्पुरुषः। **विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्** (२.३.२५) इति हेतौ पञ्चमी। आख्यायते बोध्यतेऽर्थोऽनयेति आख्या, **आतश्चोपसर्गे** (३.३.१०६) इत्यङ्-प्रत्ययः। वाचकः शब्द इत्यर्थः। कस्य वाचक इत्याकाङ्क्षायाम् 'पुंयोगाद्' इत्युपस्थितत्वात् पुंस इति लभ्यते तेन पुंसि प्रसिद्धात् शब्दादिति गम्यते। अर्थः—(पुंयोगात्) पुरुष के सम्बन्ध के कारण जब (स्त्रियाम्) स्त्रीलिङ्ग में (पुंसः आख्यायाः) पुरुष वाचक शब्द प्रयुक्त होता है तो उस (अतः=अदन्तात्) अदन्त (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से परे

---

१. बह्वादिगण यथा—बहु। पद्धति। अञ्चति। अङ्कति। अंहति। शकटि। **शक्तिः शस्त्रे** (गणसूत्रम्)। शारि। वारि। राति। राधि (शाधि)। अहि। कपि। यष्टि। मुनि। **इतः प्राण्यङ्गात्** (गणसूत्रम्)। **कृदिकारादक्तिनः** (गणसूत्रम्)। **सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके** (गणसूत्रम्)। चण्ड। अराल। कृपण (कृपाण)। कमल। विकट। विशाल। विशङ्कट। भरुज। ध्वज। **चन्द्रभागान्नद्याम्** (चन्द्रभागा **नद्याम्**—गणसूत्रम्)। कल्याण। उदार। पुराण। अहन्। क्रोड। नख। खुर। शिखा। बाल। शफ। गुद। **आकृतिगणोऽयम्**। तेन भग, गल, राग इत्यादि। इति बह्वादयः। [यह गण शोधनापेक्ष है]।

(ङीष् प्रत्ययः) ङीष् प्रत्यय हो जाता है। अभिप्राय यह है कि पुंलिङ्ग के लिये प्रयुक्त होने वाला अदन्त प्रातिपदिक यदि पतिपत्नीभावसम्बन्ध के कारण स्त्री के लिये भी प्रयुक्त होने लगे तो उस से ङीष् प्रत्यय हो जाता है। जैसे हिन्दी में चौधरी की स्त्री को चौधरायन, पण्डित की स्त्री को पण्डितायन या पण्डितानी आदि कहा जाता है वैसे संस्कृत में भी इस प्रकार के प्रयोग ङीष् प्रत्यय लगा कर स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं।

उदाहरण यथा—

गोपस्य स्त्री (पत्नी)—गोपी (गोप अर्थात् ग्वाले की पत्नी[1])। गोपशब्द गौओं का पालन करने के कारण मुख्यतया पुंलिङ्ग है। पतिपत्नीभावसम्बन्ध के कारण इस का प्रयोग स्त्रीलिङ्ग में भी होता है। तब इस से **पुंयोगादाख्यायाम् (१२६१)** इस प्रकृतसूत्रद्वारा ङीप् (ई) प्रत्यय होकर भसंज्ञक अकार का लोप एवं विभक्तिकार्य करने से 'गोपी' (ग्वालिन) प्रयोग सिद्ध हो जाता है[2]।

इसीप्रकार—गणकस्य पत्नी गणकी (ज्योतिर्विद् की पत्नी), महापात्रस्य पत्नी महापात्री (प्रधानमन्त्री की पत्नी), गिरिशस्य पत्नी गिरिशी (शिव की पत्नी, पार्वती)। इत्यादि।

सूत्र में 'पुंयोगात्' इस लिये कहा है कि 'देवदत्ता' में ङीष् न हो जाये। यहां किसी स्त्री का 'देवदत्ता' यह स्वतः नाम है पुंयोग के कारण नहीं। 'आख्या' ग्रहण इसलिये किया है कि वह शब्द पुरुषवाचक होना चाहिये अन्यथा ङीष् न होगा। यथा— प्रसूता (प्रसूत हुई औरत)। यहां यद्यपि प्रसव पुंयोग के कारण हुआ है तथापि वह पुमाख्या नहीं। किञ्च इस सूत्र में 'अतः' का अनुवर्त्तन होने से अदन्त प्रातिपदिक से ही इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है, इसलिये सहिष्णोर्भार्या सहिष्णुः। यहां उकारान्त 'सहिष्णु' शब्द से ङीष् नहीं होता।

विशेष वक्तव्य—पुंयोग = पुरुषसम्बन्ध से यहां केवल दाम्पत्यसम्बन्ध (पति-पत्नीभावसम्बन्ध) ही नहीं समझना चाहिये अपितु पितापुत्रीभाव आदि अन्य सम्बन्ध भी ग्रहण किये जा सकते हैं - ऐसा प्रौढमनोरमा में भट्टोजिदीक्षित तथा तत्त्वबोधिनी में ज्ञानेन्द्रसरस्वती का कथन है। प्रक्रियासर्वस्वकार ने भी यहां स्पष्ट कहा है—

क्वचित्पुत्र्यामपि हरः पुंयोगे ङीषमिच्छति।
केकयी केकयसुता देवकी देवकात्मजा ॥

अत एव भट्टिकाव्य में—

कौसल्ययाऽसावि सुखेन रामः प्राक्केकयीतो भरतस्ततोऽभूत्। (भट्टि० १.१४)

---

१. गाः पाति (रक्षति) इत्यर्थे आतोऽनुपसर्गे कः (७९१) इति कप्रत्यये, उपपदसमासे 'गोपः' इति। तस्य स्त्रियां यदि गोपशब्दो लक्षणया वर्त्तते तदा ङीष्।

२. यदि स्त्री, पति के कारण 'गोप' न हो कर स्वयं गौओं का पालन करने के कारण 'गोप' होगी तब ङीष् न हो कर अदन्तलक्षण टाप् ही होगा—गोपा।

'केकयीतः' यह प्रयोग उपपन्न हो जाता है। तथाहि—केकयदेश का राजा भी केकय कहलायेगा। 'केकयस्य दुहिता' इस अर्थ में पुंयोग (पितापुत्रीभावसम्बन्ध) के कारण **पुंयोगादाख्यायाम्** (१२६१) सूत्र से ङीष् प्रत्यय होकर 'केकयी' प्रयोग निष्पन्न होता है। अन्यथा—'केकयस्यापत्यं स्त्री' इस अर्थ में **जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ्** (१०२८) से अपत्यार्थ में अञ् प्रत्यय हो कर **केकय-मित्रयु-प्रलयानां यादेरियः** (७.३.२) सूत्रद्वारा 'य' को 'इय' आदेश, गुण, आदिवृद्धि एवं भसंज्ञक अकार का लोप करने पर 'कैकेयी' रूप बनता[1]। इसीप्रकार—देवकस्य दुहिता देवकी, रेवतस्य सुता रेवती आदि में पितापुत्रीभावसम्बन्धरूप पुंयोग में ङीष् समझना चाहिये। भगिनीभ्रातृभाव-सम्बन्धरूप पुंयोग में भी यह ङीष् देखा जाता है। यथा—श्यालस्य भगिनी श्याली, यमस्य भगिनी यमी।

परन्तु महाभाष्य के मर्मवित् नागेशभट्ट इस से सहमत नहीं। उन का यह मन्तव्य है कि पुंयोग से दाम्पत्यरूपसम्बन्ध का ही ग्रहण करना उचित है, क्योंकि—**यथैवासावकुर्वती किञ्चित्पापं भर्तृकृतान् वधबन्धनादीन् क्लेशान् लभते एवं—शब्दमपि लभते** (महाभाष्य ४.१.४८)—भाष्य के इस उद्धरण से दाम्पत्यरूपसम्बन्ध की ही प्रतीति स्पष्ट होती है। केकयी, देवकी, रेवती आदि प्रयोग गौरादिगण को आकृतिगण मान कर ङीष् करने से सिद्ध करने चाहियें। यहां पर शेखरद्वय द्रष्टव्य हैं।

अब अग्रिमवार्त्तिकद्वारा पुंयोग में पालकान्त शब्दों से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् का निषेध करते हैं—

[लघु०] वा०—(१०२) पालकान्तान्न ॥

गोपालिका। अश्वपालिका॥

अर्थः—'पालक' शब्द जिस के अन्त में हो ऐसे प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा मे पुंयोग में ङीष् प्रत्यय नहीं होता।

व्याख्या—पालकान्तात् ।५।१। न इत्यव्ययपदम्। यह वार्त्तिक महाभाष्य मे **पुंयोगादाख्यायाम्** (१२६१) सूत्र पर पढ़ा गया है अतः इस निषेध को तद्विषयक ही समझना चाहिये। पालकशब्दोऽन्तः (अन्तावयवः) यस्य स पालकान्तः, तस्मात्=पाल-कान्तात्। बहुव्रीहिसमासः। पालक-अन्त वाले शब्द गोपालक[2], अश्वपालक, पशुपालक, प्रजापालक आदि होते हैं।

---

१. न च अञः **अतश्च** (४.१.१७५) इति स्त्रियां लुक् स्यादिति वाच्यम्, केकयशब्दस्य भर्गादौ पाठेन **न प्राच्य-भर्गादि-यौधेयादिभ्यः** (४.१.१७६) इति लुको निषेधात्।

२. अत्र पालयतीति पालकः (ण्वुलि वोरकादेशः, णिलोपश्च), गवां (कर्मणि षष्ठी) पालकः—गोपालकः इत्येवं समासो नैव कार्यः, **तृजकाभ्यां कर्तरि** (२.२.१५) इति समासनिषेधप्रसङ्गात्। शेषषष्ठ्या समासश्चेत्तदपि न, तथा सति टापः सुंपः

गोपालकस्य स्त्री (भार्या, पत्नी)—गोपालिका (गोपालक अर्थात् ग्वाले की पत्नी)। 'गोपालक' शब्द से पुंयोग में स्त्रीत्व की विवक्षा में **पुंयोगादाख्यायाम्** (१२६१) सूत्रद्वारा ङीष् प्रत्यय प्राप्त होता है, परन्तु अन्त में पालकशब्द होने के कारण प्रकृत-वार्त्तिक **पालकान्तान्न** (वा० १०२) से उस का निषेध हो जाता है। अब **अजाद्यतष्टाप्** (१२४६) से अदन्तलक्षण टाप्, अनुबन्धों का लोप, वक्ष्यमाण **प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुँपः** (१२६२) सूत्र से ककार से पूर्व अकार को इकार आदेश, सवर्णदीर्घ एवं विभक्तिकार्य करने पर 'गोपालिका' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—अश्वपालकस्य भार्या—अश्वपालिका। पशुपालकस्य स्त्री—पशुपालिका। द्वारपालकस्य स्त्री—द्वारपालिका। भूपालकस्य पत्नी—भूपालिका। इत्यादि प्रयोग जानने चाहियें।[1]

गोपालकशब्द से टाप् प्रत्यय करने पर 'गोपालक+आ' इस स्थिति में इत्त्व-विधायकसूत्र का निर्देश करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२६२) प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुँपः ।७।३।४४।।

प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्याकारस्य इकारः स्याद् आपि, स आप् सुँपः परो न चेत्। सर्विका। कारिका। अतः किम्? नौका। प्रत्ययस्थात् किम्? शक्नोतीति शका। असुँपः किम्? बहुपरिव्राजका नगरी।।

अर्थः—प्रत्यय में स्थित ककार से पूर्व ह्रस्व अकार के स्थान पर ह्रस्व इकार आदेश हो यदि आप् (टाप्, डाप्, चाप्) प्रत्यय परे हो तो, परन्तु वह आप् सुँप् से परे नहीं होना चाहिये।

व्याख्या—इस सूत्र में सात पद हैं—प्रत्ययस्थात् ।५।१। कात् ।५।१। (ककारादकार उच्चारणार्थः)। पूर्वस्य ।६।१। अतः ।६।१। इत् ।१।१। आपि ।७।१। असुँपः

परत्वेन **प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुँपः** (१२६२) इत्यनेन इत्त्वस्य दुर्लभत्वात्। अतोऽत्रेत्थम्प्रक्रियाऽवसेया—

गां पालयतीति विग्रहे **कर्मण्यण्** (७६०) इत्यणप्रत्यये, **णेरनिटि** (५२९) इति णेर्लोपे, उपपदसमासे च कृते 'गोपालः' इति निष्पद्यते। ततः—गोपाल एव गोपालकः, स्वार्थे कः। गोपालकस्य स्त्रीति पुंयोगे ङीषि प्राप्ते प्रकृतवार्त्तिकेन तन्निषेधे, टापि, अनुबन्धलोपे, **प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुँपः** (१२६२) इति लकारोत्तरस्य अकारस्य इत्वे, सवर्णदीर्घे, विभक्तिकार्ये च कृते 'गोपालिका' इति रूपं साधु।

१. हिन्दी में नगरपालिका (Municipality) शब्द आजकल प्रसिद्ध हो चला है। इस में पुंयोग जैसी कोई विवक्षा नहीं। केवल स्त्रीत्व के द्योत्य में टाप् प्रत्यय करने से उसे भी संस्कृतशब्द बनाया जा सकता है।

।५।१। समासः—प्रत्यये तिष्ठतीति प्रत्ययस्थः, तस्मात्=प्रत्ययस्थात्, **सुँपि स्थः** (३.२.४) इति कप्रत्यये आतो लोपे (४८६) उपपदसमासः । न सुँप् असुँप्, तस्मात्=असुँपः, नञ्तत्पुरुषः । प्रसज्यप्रतिषेधोऽयम् । अर्थः—(प्रत्ययस्थात्) प्रत्यय में स्थित (कात्) क् से (पूर्वस्य) पूर्व (अतः) ह्रस्व अकार के स्थान पर (इत्) ह्रस्व इकार आदेश हो जाता है (आपि) आप् प्रत्यय परे हो तो, परन्तु वह आप् प्रत्यय (असुँपः) सुँप् से परे नहीं होना चाहिये । उदाहरण यथा—

'गोपालक+आ' यहां 'गोपालक' में पूर्वोक्तप्रकारेण कन् प्रत्यय किया गया था अतः प्रत्यय के ककार से पूर्व लकारोत्तर अत् को प्रकृत **प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुँपः** (१२६२) सूत्र से ह्रस्व इकार आदेश हो जायेगा, आप् परे है ही । पुनः सवर्णदीर्घ कर विभक्ति लाने से 'गोपालिका' प्रयोग सिद्ध हो जायेगा ।

इस सूत्र के अन्य उदाहरण यथा—

सर्विका (अज्ञात सब स्त्रीसमूह) । 'सर्व'प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में अदन्त होने से **अजाद्यतष्टाप्** (१२४६) से टाप् (आ) प्रत्यय कर सवर्णदीर्घ करने से 'सर्वा' शब्द निष्पन्न हो जाता है । यहां सवर्णदीर्घ एकादेश को **अन्तादिवच्च** (४१) सूत्रद्वारा पूर्वान्तिवत् मान कर 'सर्वा' की **सर्वादीनि सर्वनामानि** (१५१) से सर्वनामसञ्ज्ञा बनी रहती है । अब अज्ञात आदि अर्थों में इस सर्वनाम की टि से पूर्व **अव्ययसर्वनाम्नामकँच् प्राक्टेः** (१२३३) सूत्र से अकँच् प्रत्यय करने से—सर्व् अकँच् आ=सर्व् अक् आ='सर्वका' इस स्थिति में आप् (टाप्) के परे रहते प्रकृत **प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुँपः** (१२६२) सूत्रद्वारा अकँच् प्रत्यय के ककार से पूर्व अकार को इकार आदेश कर विभक्तिकार्य करने से 'सर्विका' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

कारिका (करोति या स्त्री सा कारिका, करने वाली) । **डुकृञ् करणे** (तना० उभय०) धातु से कर्तृकारक में **ण्वुल्तृचौ** (७८४) सूत्र से ण्वुल् (वु) प्रत्यय, **युवोरनाकौ** (७८५) से 'वु' को 'अक' आदेश एवम् **अचो ञ्णिति** (१८२) से ऋकार को वृद्धि (आर्) आदेश हो कर—'कारक' प्रातिपदिक निष्पन्न होता है । अब स्त्रीत्व की विवक्षा में अदन्त होने के कारण इस से **अजाद्यतष्टाप्** (१२४६) से टाप् (आ) प्रत्यय हो जाता है । आप् के परे रहते प्रत्यय के ककार से पूर्व अकार को प्रकृत **प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुँपः** (१२६२) सूत्र से इकार आदेश हो कर विभक्तिकार्य करने से 'कारिका' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—अध्यापिका, तारिका, हारिका, धारिका, परिव्राजिका, शायिका, नायिका, गायिका आदियों में इत्त्व की निष्पत्ति समझनी चाहिये ।[1]

---

१. प्रत्ययस्थ ककार यहां दो प्रकार का गृहीत होता है । एक—प्रत्यय के अन्त में स्थित, तथा दूसरा प्रत्यय के उपान्त (अन्त से पूर्व) में स्थित । अकँच् (अक्) में ककार प्रत्यय के अन्त में स्थित है । वु (अक), कन् (क) आदि में उपान्त में

अब ग्रन्थकार प्रत्युदाहरणों के द्वारा इस सूत्र के अर्थ को हृदयङ्गम कराते हैं—

अतः किम् ? नौका ।

प्रत्ययस्थ ककार से पूर्व अत् (ह्रस्व अकार) को ही इकारादेश होता है अन्य किसी वर्ण को नहीं। यथा—नौ (नाव) शब्द से स्वार्थ में 'क' प्रत्यय हो कर स्त्रीत्व की विवक्षा में अदन्तलक्षण टाप् (आ) करने पर 'नौका' शब्द निष्पन्न होता है। इस में प्रत्यय के ककार से पूर्व अत् नहीं अपितु औकार है, इसलिये इसे इकार आदेश नहीं होता। इसीप्रकार—राका, कटुका, गोका आदि में समझना चाहिये।

प्रत्ययस्थात् किम् ? शक्नोतीति शका ।

ककार भी यदि प्रत्यय में स्थित होगा तभी उस से पूर्व अत् को इकार होगा, अन्यथा नहीं। यथा—शक् [**शक्लृँ शक्तौ,** स्वा० परस्मै०] धातु से कर्तृ-कारक में **नन्दि-ग्रहि-पचादिभ्यो ल्युणिन्यचः** (७८६) सूत्रद्वारा पचादित्वात् अच् (अ) प्रत्यय कर स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप्, सवर्णदीर्घ एवं विभक्तिकार्य करने से 'शका' (शक्नोतीति शका, समर्थ स्त्री) प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यहां आप् के परे रहते भी ककार से पूर्व शकारोत्तर अत् को इकार आदेश नहीं होता। कारण कि ककार प्रत्यय में स्थित नहीं, वह तो शक् धातु का अवयव है।

असुँपः किम् ? बहुपरिव्राजका नगरी ।

आप् प्रत्यय यदि सुँप् से परे होगा तो इस सूत्र की प्रवृत्ति न होगी। यथा—बहवः परिव्राजका यस्यां सा बहुपरिव्राजका नगरी (बहुत संन्यासियों वाली नगरी)। यहां **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से 'बहु' और 'परिव्राजक'[1] पदों का बहुव्रीहिसमास हुआ है।

विद्यमान है। इन दो प्रकारों को समझाने के लिये ही मूल में दो उदाहरण दिये गये हैं। पहला 'सर्विका' उदाहरण अन्त में ककार का तथा दूसरा 'कारिका' उदाहरण उपान्त्य ककार का है। इन के अतिरिक्त यदि प्रत्यय में कहीं अन्यत्र ककार मिलेगा तो उस का इस सूत्र में ग्रहण न होने से उस से पूर्व अत् को इत्त्व न होगा। यथा—पुत्रकाम्य + टाप् = पुत्रकाम्य + आ = पुत्रकाम्या। यहां काम्यच् प्रत्यय में स्थित ककार न तो प्रत्यय के अन्त में है और न ही उपान्त में, अतः प्रकृतसूत्र-द्वारा इत्त्व नहीं होता। इसीप्रकार—रथानां समूहः—रथकट्या। यहां **तस्य समूहः** (४.२.३६) के अर्थ में रथशब्द से **इनि-त्र-कट्यचश्च** (४.२.५०) सूत्रद्वारा कट्यच् (कट्य) प्रत्यय कर स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप् लाने पर 'रथकट्य + आ' इस स्थिति में कट्यप्रत्यय में ककार न तो अन्त में स्थित है और न ही उपान्त में, अतः यहां प्रकृतसूत्र से इत्त्व नहीं होता। केवल सवर्णदीर्घ हो कर विभक्ति लाने से 'रथकट्या' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इस सब की उपपत्ति के लिये आकरग्रन्थों का अवलोकन करें।

१. परिपूर्वाद् व्रजेर्वुल्, वोरकादेशः। **अत उपधायाः** (४५५) इत्युपधावृद्धिः।

'बहु जस् + परिव्राजक जस्' इस अलौकिकविग्रह में बहुव्रीहिसमास, समास की प्रातिपदिकसंज्ञा, **सुंपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) से समास के अवयव दोनों सुँपों (जस् प्रत्ययों) का लुक्, स्त्रीत्व की विवक्षा में अदन्त-लक्षण (१२४६) टाप्' सवर्णदीर्घ तथा विभक्तिकार्य करने से 'बहुपरिव्राजका, प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यहां आप् (टाप्) प्रत्यय परे तो है पर वह समास के अन्तावयव लुप्त हुए जस्-सुँप् से परे है क्योंकि प्रत्ययलक्षणद्वारा लुप्त हुए जस् को माना जा सकता है। [**न लुमताऽङ्गस्य** (१९१) से यहां प्रत्ययलक्षण का निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि उस की प्रवृत्ति तो तब होती है जब लुवाले शब्द से लुप्त हुए प्रत्यय को मान कर अङ्ग के स्थान पर कोई कार्य करना हो, यहां तो सुँप् से परे जो टाप् उस को मान कर अङ्ग को इत्त्व का निषेध करना है।][1]

इस इत्त्वविधायकसूत्र के कुछ अपवादस्थल भी हैं। उन में कुछ यथा—

(वा०) **क्षिपकादीनां च**। अर्थः—क्षिपका आदि शब्दों में **प्रत्ययस्थात्०** (१२६२) सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। यथा—क्षिपतीति क्षिपः, **इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः** (७८७) इति कप्रत्ययः। कित्त्वाद् लघूपधगुणो न। ततः स्वार्थे कन्—क्षिपकः। स्त्रियाम् टापि क्षिपका। इसीप्रकार—चटका। कन्यका। तारका (नक्षत्र)। ध्रुवका। आदि।

(वा०) **त्यकनश्च प्रतिषेधः**। अर्थः—त्यकन्प्रत्ययान्तों में **प्रत्ययस्थात्०** (१२६२) सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। यथा—उपत्यका (पर्वत के समीपवर्ती भूमि)। अधित्यका (पर्वत के उपर वाली भूमि)। **उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः** (५.२.३४) इति त्यकन्प्रत्ययः।

(वा०) **मामकनरकयोरुपसङ्ख्यानम्**। अर्थः—मामक और नरक शब्दों से स्त्रीत्व में आप् के परे रहते ककार से पूर्व अत् को ह्रस्व इकार आदेश हो जाता है।

---

१. प्रौढमनोरमा तथा तत्त्वबोधिनी आदि में 'असुँपः' का 'सुँबन्तात् परो यः टाप्प्रत्ययः तस्मिन् इत्वं न' ऐसा व्याख्यान किया गया है। अतः उन के अनुसार समास में परले जस् का लुक् हो जाने पर भी प्रत्ययलक्षणद्वारा उसे पुनः मान कर समास का उत्तरपद सुँबन्त हो जाता है तब इस सुँबन्त से परे टाप् के स्थित होने से इत्त्व की प्रवृत्ति नहीं होती। ध्यान रहे कि 'असुँपः' में प्रसज्यप्रतिषेध माना जाता है पर्युदास नहीं। यदि पर्युदास-प्रतिषेध मानेंगे तो पर्युदास के सदृग्ग्राही होने के कारण 'सुँबन्त से जो भिन्न; उस से परे टाप् हो तो इत्त्व हो जाता है' ऐसा अभिप्राय निकलेगा। तब 'बहुपरिव्राजका' में भी इत्त्व होने लगेगा, क्योंकि यहां समुदाय से तो सुँप् किया नहीं गया इसलिये समुदाय सुँबन्त से भिन्न है और इस से परे टाप् है ही, अतः यहां पर भी प्रकृतसूत्र से इत्त्व प्राप्त होने लगेगा जो अनिष्ट है। इसलिये यहां प्रसज्यप्रतिषेध माना गया है—सुँप् अर्थात् सुँबन्त से परे टाप् नहीं होना चाहिये। यहां सुँबन्त 'परिव्राजक जस्' से परे टाप् है अतः इत्त्व नहीं होता।

मामिका सम्पत्[1]। नरिका[2]। दोनों स्थानों पर ककार प्रत्ययस्थ न था अतः उस से पूर्व अकार को इत्त्व प्राप्त न था, अतः इस वार्त्तिक से विधान किया गया है।

प्रासङ्गिक इत्त्वविधायकसूत्र की व्याख्या कर पुनः पुंयोग में स्त्रीप्रत्ययों का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(१०३) सूर्याद् देवतायां चाब्वाच्यः ॥

सूर्यस्य स्त्री देवता—सूर्या। देवतायां किम्?

अर्थः—'सूर्य' प्रातिपदिक से पुंयोग में देवता स्त्री (पत्नी) वाच्य होने पर 'चाप्' प्रत्यय कहना चाहिये।

व्याख्या—सूर्यात् ।५।१। देवतायाम् ।७।१। चाप् ।१।१। वाच्यः ।१।१। यह वार्त्तिक महाभाष्य में **पुंयोगादाख्यायाम्** (१२६१) सूत्र पर पढ़ा गया है, अतः इसे तद्विषयक ही समझना चाहिये। पुंयोग में ङीष् के प्राप्त होने पर उस का अपवाद यह 'चाप्' प्रत्यय विधान किया जा रहा है। 'चाप्' में **चुटू** (१२९) से चकार तथा **हलन्त्यम्** (१) से पकार इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं, 'आ' मात्र शेष रहता है। टाप् और चाप् प्रत्ययों के करने में स्वर में अन्तर पड़ता है। टाप् प्रत्यय करने पर **अनुदात्तौ सुप्पितौ** (३.१.४) से टाप् का आकार अनुदात्त रहता है परन्तु चाप् प्रत्यय करने से **चितः** (६.१.१५७) द्वारा अन्तोदात्त स्वर होता है, यही दोनों का अन्तर है। चाप् में पकार **ङ्याप्प्रातिपदिकात्** (११९) सूत्र में सामान्यग्रहण के लिये जोड़ा गया है।

पौराणिक आख्यानों में सूर्यदेव की दो पत्नियां मानी जाती हैं एक देवता पत्नी और दूसरी मानुषी अर्थात् मनुष्यजातीया। इस वार्त्तिक की प्रवृत्ति सूर्य की देवता पत्नी के वाच्य होने पर ही होती है अत एव इस में 'देवतायाम्' कहा गया है। उदाहरण यथा—

सूर्यस्य स्त्री देवता—सूर्या। यहां 'सूर्य' प्रातिपदिक से पुंयोग में देवता-पत्नी की विवक्षा में **पुंयोगादाख्यायाम्** (१२६१) सूत्र से ङीष् प्रत्यय प्राप्त होता था, परन्तु प्रकृतवार्त्तिक **सूर्याद् देवतायां चाब्वाच्यः** (वा० १०३) से उस का बाध हो

---

१. ममेयम् इति विग्रहे **युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्च** (१०७९) इत्यणि **तवकममकावेकवचने** (१०८१) इति ममकादेशे आदिवृद्धौ, टापि, प्रकृतवार्त्तिकेन इत्त्वे 'मामिका' इति सिध्यति। [अत्र **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) इति ङीप् तु न, **केवलमामकभागधेय०** (४.१.३०) इत्यादिना संज्ञाछन्दसोरेव ङीब्नियमात्]।

२. नरान् कायति इति नरिका। **कै शब्दे** (भ्वा० परस्मै०), **आदेच उपदेशेऽशिति** (४९३) इत्यात्त्वे, **आतोऽनुपसर्गे कः** (७९१) इति कप्रत्यये, **आतो लोप इटि च** (४८९) इत्याकारलोपे, उपपदसमासे, सुंपो लुकि टापि इत्त्वे विभक्तिकार्ये च कृते रूपसिद्धिः।

चाप् प्रत्यय हो जाता है। चाप् के चकार और पकार अनुबन्धों का लोप हो कर सवर्णदीर्घ तथा विभक्तिकार्य करने पर 'सूर्या' (सूर्य की देवता पत्नी) प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

सूर्यस्य स्त्री मानुषी—सूरी (सूर्य की मनुष्य स्त्री)। यहां मनुष्य स्त्री के वाच्य होने पर 'सूर्य' प्रातिपदिक से प्रकृतवार्त्तिक **सूर्याद् देवतायां चाब्वाच्यः** (वा० १०३) से चाप् नहीं होता। **पुंयोगादाख्यायाम्** (१२६१) से ङीष् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप हो जाता है—सूर्य् + ई। अब अग्रिम वार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—(१०४) सूर्यागस्त्ययोश्छे च ङ्यां च ॥

यलोपः। सूरी (कुन्ती)। मानुषीयम् ॥

अर्थः—छ या ङी प्रत्यय परे होने पर जो अङ्ग, उस के उपधा के यकार का लोप हो जाता है यदि वह यकार 'सूर्य' या 'अगस्त्य' शब्दों का अवयव हो तो।[1]

व्याख्या—यह वार्त्तिक महाभाष्य में **सूर्य-तिष्याऽगस्त्य-मत्स्यानां य उपधायाः** (६.४.१४९) सूत्र पर पढ़ा गया है। उक्त सूत्र का सरलार्थ यह है—ईकार वा तद्धित

---

१. सूर्य और अगस्त्य शब्दों की उपधा के यकार का लोप हो जाता है छ या ङी प्रत्ययों के परे होने पर—ऐसा सरल अर्थ न कर उपर्युक्त व्यायामपूर्ण **अर्थ** इस लिये किया गया है ताकि 'सौरी प्रभा' आदि में यकार का लोप हो सके अन्यथा सरलार्थ से यह सिद्ध न होता। तथाहि—

सूर्यशब्द से **तस्येदम्** (११०९) के अर्थ में अण् प्रत्यय, आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप करने से 'सौर्य' प्रातिपदिक बनता है। अब इस से स्त्रीत्व की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय करने पर 'सौर्य + ई' इस स्थिति में सरलार्थ से काम नहीं चल सकता, क्योंकि ङी (ई) के परे रहते 'सूर्य' शब्द तो रहा ही नहीं वहां तो अण्प्रत्ययान्त 'सौर्य' यह नया शब्द आ गया है अतः उपधा के यकार का लोप नहीं हो सकता। परन्तु उपर्युक्त व्यायामपूर्ण अर्थ करने से कोई बाधा नहीं आती, आसानी से यकार का लोप सिद्ध हो जाता है। क्योंकि 'ङी' के परे रहते अङ्ग है—सौर्य, इस अङ्ग की उपधा के यकार का लोप हो सकता है, कारण कि वह यकार सूर्यशब्द का मौलिक अवयव है कोई भिन्न वर्ण नहीं। अतः **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप हो प्रकृतवार्त्तिक के उपर्युक्त अर्थ से यकार का भी लोप कर विभक्ति लाने से 'सौरी प्रभा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। [न च 'सौर्य + ई' इत्यत्र **यस्येति च** (२३६) इत्यनेन अणोऽकारलोपे **एकदेशविकृतमनन्यवद्** इतिन्यायेन स एव सूर्य-शब्द इति वाच्यम्, अल्लोपयलोपयोरुभयोरप्याभीयत्वेन यलोपे कर्तव्ये पूर्वप्रवृत्त-स्याल्लोपस्यासिद्धत्वेन सूर्यशब्दकल्पनाया अन्याय्यत्वादिति]।

परे हो तो अङ्ग की उपधा यकार का लोप हो जाता है यदि यह यकार सूर्य, तिष्य, अगस्त्य या मत्स्य शब्दों का अवयव हो तो। इस सूत्रद्वारा तद्धितमात्र में प्राप्त उपधा के यकार का लोप प्रकृतवार्त्तिक तथा कुछ अन्य वार्त्तिकों के द्वारा नियमित किया जाता है। प्रकृतवार्त्तिक में सूर्य और अगस्त्य शब्दों के उपधा यकार का लोप ङी (ई) में तथा तद्धितप्रत्ययों में केवल छप्रत्यय के परे रहते ही नियमित किया गया है। अतः 'छ' से भिन्न अन्य तद्धितों में इस का लोप न होगा। उदाहरण यथा (ङी में)—

'सूर्य्+ई' यहां ङी परे है अतः **सूर्यागस्त्ययोश्छे च ङ्यां च** (वा० १०३) इस प्रकृतवार्त्तिक से अङ्ग की उपधा यकार का लोप हो जाता है क्योंकि यह यकार सूर्य-शब्द का अवयव है—सूर्+ई=सूरी। अब ङ्यन्त से प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ विभक्ति ला कर उस का हल्ङ्यादिलोप (१७९) करने से 'सूरी' (सूर्य की मनुष्य स्त्री अर्थात् कुन्ती[1]) प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—**तस्येदम्** (११०९) के अर्थ में सूर्यशब्द से अण् हो कर आदिवृद्धि एवं भसञ्ज्ञक अकार का लोप करने पर 'सौर्य' शब्द निष्पन्न होता है। अब स्त्रीत्व की विवक्षा में अण्प्रत्ययान्त होने के कारण **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र से इस से परे ङीप् (ई) प्रत्यय हो कर भसञ्ज्ञक अकार का लोप एवं प्रकृतवार्त्तिकद्वारा उपधा के यकार का भी लोप करने पर विभक्ति लाने से 'सौरी प्रभा' (सूर्य की चमक) प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

'छ' प्रत्यय में उदाहरण यथा—

सौरीयः (सूर्यसम्बन्धी प्रकाश आदि में होने वाला)। सूर्यशब्द से पूर्ववत् **तस्येदम्** (११०९) के अर्थ में अण् प्रत्यय करने पर 'सौर्य' शब्द निष्पन्न होता है। अब इस से **तत्र भवः** (१०९२) के अर्थ में **वृद्धाच्छः** (१०७७) से छप्रत्यय, प्रत्यय के आदि छकार को **आयनेयीनीयियः फ-ढ-ख-छ-घां प्रत्ययादीनाम्** (१०१३) सूत्रद्वारा ईय् आदेश एवं **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर 'सौर्य्+ईय' हुआ। अब प्रकृत **सूर्याऽगस्त्ययोश्छे च ङ्याञ्च** (वा० १०३) वार्त्तिक से अङ्ग की उपधा यकार (जो सूर्यशब्द से सम्बन्ध रखती है) का लोप कर विभक्ति लाने से 'सौरीयः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार अगस्त्यशब्द में प्रक्रिया समझनी चाहिये। अगस्त्यस्य पत्नी—अगस्ती [पुंयोग में ङीष्, **यस्येति च** (२३६) से भसञ्ज्ञक अकार का लोप तथा प्रकृत-वार्त्तिक से उपधा के यकार का लोप]। 'छ' में पूर्ववत् 'आगस्तीयः'।

प्रकृतवार्त्तिकद्वारा नियमित किये जाने से अन्य तद्धित प्रत्ययों में इन के यकार का लोप नहीं होता। यथा—सूर्यो देवताऽस्येति सौर्यो मन्त्रः [**साऽस्य देवता** (१०४१) से अण्, आदिवृद्धि तथा **यस्येति च** (२३६) से अकार का लोप]। अगस्त्यस्या-

---

१. सूर्य की मानुषी पत्नी कुन्ती का आख्यान **महाभारत** आदि-पर्व अध्याय ११० में देखना चाहिये।

पत्यम्— आगस्त्यः [**ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च** (१०१८) से अण्, आदिवृद्धि, **यस्येति च** (२३६)]।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा ङीष् का पुनः विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२६३) **इन्द्र-वरुण-भव-शर्व-रुद्र-मृड-हिमाऽरण्य-यव-यवन-मातुलाऽऽचार्याणाम् आनुँक्** ।४।१।४९।।

एषाम् आनुँगागमः स्यान्ङीष् च । इन्द्रस्य स्त्री—इन्द्राणी । वरुणानी । भवानी । शर्वाणी । रुद्राणी । मृडानी ॥

अर्थः—इन्द्र, वरुण, भव, शर्व, रुद्र, मृड, हिम, अरण्य, यव, यवन, मातुल और आचार्य—इन बारह प्रातिपदिकों से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् प्रत्यय तथा इन प्रातिपदिकों को आनुँक् का आगम भी हो जाता है।

व्याख्या—इन्द्र-वरुण—मातुलाचार्याणाम् ।६।३। आनुँक् ।१।१। ङीष् ।१।१। (**अन्यतो ङीष्** सूत्र से।)। **प्रत्ययः, परश्च, प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्**—ये सब अधिकृत हैं। इन्द्रश्च वरुणश्च भवश्च शर्वश्च रुद्रश्च मृडश्च हिमं च अरण्यं च यवश्च यवनश्च मातुलश्च आचार्यश्च — इन्द्र-वरुण-भव-शर्व-रुद्र-मृड-हिमाऽरण्य-यव-यवन-मातुलाऽऽचार्याः, तेषाम् = इन्द्र-वरुण-भव-शर्व-रुद्र-मृड-हिमाऽरण्य-यव-यवन-मातुलाऽऽचार्याणाम्, इतरेतरद्वन्द्वसमासः। **प्रत्ययः, परश्च**—इन अधिकारों के अनुरोध से इस पद की आवृत्ति कर इसे पञ्चमीबहुवचनान्त में परिणत कर लिया जाता है। एवं 'प्रातिपदिकात्' को बहुवचनान्त में परिणत कर 'प्रातिपदिकेभ्यः' बना लिया जाता है। अर्थः—(स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में (इन्द्र—आचार्येभ्यः) इन्द्र, वरुण, भव, शर्व, रुद्र, मृड, हिम, अरण्य, यव, यवन, मातुल और आचार्य—इन बारह (प्रातिपदिकेभ्यः) प्रातिपदिकों से परे (ङीष्) ङीष् प्रत्यय हो जाता है तथा इन प्रातिपदिकों का अवयव (आनुँक्) आनुँक् आगम भी हो जाता है।

यह सूत्र अष्टाध्यायी में पुंयोग के प्रकरण में पढ़ा गया है। परन्तु इन्द्र, वरुण, भव, शर्व, रुद्र, मृड, मातुल और आचार्य— इन आठ शब्दों से ही पुंयोग में स्त्रीत्व की विवक्षा में इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है, अन्यों (हिम, अरण्य, यव) से असम्भव होने के कारण एवं यवनशब्द से अप्रसिद्ध होने के कारण पुंयोग में प्रवृत्ति नहीं होती। उन से वक्ष्यमाण वार्त्तिकोक्त अर्थों में ही इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है।

आनुँक् के अन्त में उँकार और ककार इत् हो कर लुप्त हो जाते हैं, 'आन्' मात्र ही शेष रहता है। कित् होने से यह आगम **आद्यन्तौ टकितौ** (८५) परिभाषा के अनुसार इन्द्र आदि प्रातिपदिकों का अन्तावयव बनता है। उदाहरण यथा—

इन्द्रस्य स्त्री (भार्या, पत्नी)—इन्द्राणी (इन्द्र की पत्नी)। यहां 'इन्द्र' प्रातिपदिक से पुंयोग में स्त्रीत्व की विवक्षा में **इन्द्रवरुणभवशर्व०** (१२६३) इस प्रकृतसूत्र से ङीष् प्रत्यय तथा प्रातिपदिक के अन्त में आनुँक् का आगम हो कर अनुबन्धलोप करने से 'इन्द्र आन्+ई' हुआ। अब **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ तथा

अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि (१३८) से नकार को णकार कर अन्त में विभक्तिकार्य करने से 'इन्द्राणी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

इसीप्रकार—वरुणस्य स्त्री (भार्या, पत्नी)—वरुणानी (वरुण की पत्नी)। भवस्य स्त्री—भवानी। शर्वस्य स्त्री—शर्वाणी। रुद्रस्य स्त्री—रुद्राणी। मृडस्य स्त्री—मृडानी। भव, शर्व, रुद्र और मृड—ये सब शिव के नाम हैं, शिव की पत्नी पार्वती को भवानी, शर्वाणी, रुद्राणी और मृडानी कहते हैं।

इन्द्र आदि शब्दों से ङीष् तो पुंयोग में **पुंयोगादाख्यायाम्** (**१२६१**) सूत्र से ही सिद्ध था, केवल आनुंक् आगम के लिये ही सूत्र में इन का ग्रहण किया गया है।[2]

अब अग्रिम वार्त्तिकों के द्वारा अन्य शब्दों के अर्थों तथा विशिष्ट कार्यों का निर्देश करते हैं—

[लघु०] वा०—(१०५) हिमाऽरण्ययोर्महत्त्वे ॥

महद् हिमं हिमानी। महद् अरण्यम् अरण्यानी ॥

अर्थः—हिम और अरण्य इन दो प्रातिपदिकों से महत्त्व (बड़ा होना) अर्थ में ही ङीष् और आनुंक् का विधान समझना चाहिये।

व्याख्या—वार्त्तिकार्थ सरल है। उदाहरण यथा—

महद् हिमम्—हिमानी (बड़ी बरफ)[3]। महद् अरण्यम्—अरण्यानी (बड़ा जङ्गल)[4]। इन अर्थों में इन का प्रयोग स्त्रीलिङ्ग में ही होता है। इन की सिद्धि 'इन्द्राणी' की तरह समझनी चाहिये।

[लघु०] वा०—(१०६) यवाद् दोषे ॥

दुष्टो यवो यवानी ॥

अर्थः—दोष द्योत्य होने पर 'यव' प्रातिपदिक से परे ङीष् प्रत्यय और प्रकृति को आनुंक् का आगम हो जाता है।

---

१. **पुलोमजा शचीन्द्राणी**—इत्यमरः।
२. आनुंक् आगम की बजाय यदि अनुंक् आगम कर देते तो **अतो गुणे** (२७४) सूत्र-द्वारा सवर्णदीर्घ का बाध कर पररूप हो जाता। इस प्रकार 'इन्द्राणी, वरुणानी, भवानी' आदि के स्थान पर 'इन्द्रणी, वरुणनी, भवनी' आदि अनिष्ट रूप बन जाते। अतः आगम को दीर्घघटित किया गया है। विशेषजिज्ञासु इस विषय पर विस्तृत विचार लेखक के शोधप्रबन्ध **न्यास-पर्यालोचन** में पृष्ठ (१५१, १५२, १५३, १५४, १५५, १५६) पर देखें। यह ग्रन्थ भैमीप्रकाशन से प्रकाशित हो चुका है।
३. आचार्य युधिष्ठिर मीमांसक का कथन है कि महत्त्व से हिम का घनत्व अपेक्षित है (देखें ट्रस्टद्वारा प्रकाशित अष्टाध्यायीभाष्य पर ४.१.४९ सूत्र पर उन की टिप्पण)।
४. निरुक्त (९.२९) में 'अरण्यस्य पत्नी अरण्यानी' ऐसा भी उपलब्ध होता है।

व्याख्या—वार्त्तिकार्थ सरल है। दुष्टो यवः—यवानी (दुष्ट यव अर्थात् अजवायन)। 'यवानी' वह द्रव्य है जो जात्या तो यव नहीं पर आकृत्या यव के सदृश है। दोष से यहां वैयाकरणों को यही अभिप्रेत है। जैसाकि कैय्यटकृतप्रदीप में लिखा है—**जात्यन्तरमेवाभिधीयते। दोषस्तु यवत्वजातेरभावे तदाकारानुकृतिमात्रम् इत्याहुः** [प्रदीप ४.१.४६]। हरदत्त, भट्टोजिदीक्षित आदियों ने भी कैय्यट का अनुसरण किया है।

[लघु०] वा०—(१०७) यवनाल्लिप्याम् ॥

यवनानां लिपिर्यवनानी ॥

अर्थः—'यवन' प्रातिपदिक से ङीष् प्रत्यय तथा प्रकृति को आनुँक् का आगम लिपिविशेष के वाच्य होने पर ही होता है।

व्याख्या—यवनात् ।५।१। लिप्याम् ।७।१। वार्तिकार्थ सरल है। अक्षरों के विन्यास की विशिष्ट शैली को लिपि कहा जाता है। ब्राह्मी, शारदा, नागरी आदि लिपिविशेषों की संज्ञाएं हैं। यवनों (यूनानियों) की भाषा जिस लिपि में लिखी जाती थी उसे प्राचीन काल में 'यवनानी' कहा जाता था। ब्राह्मी आदि भारतीय लिपियां जहां बाईं ओर से दाईं ओर को चला करतीं थीं वहां यवनानी लिपि इस के विपरीत दाईं ओर से बाईं ओर को अग्रसर होती थी। आजकल उर्दू, फ़ारसी, अरबी आदियों की लिपियां यवनानीशैली पर अग्रसर होती हैं।

इस वार्त्तिकद्वारा लिपि के विषय में विधीयमान इस ङीष् और आनुँक् को **तस्येदम्** (११०९) द्वारा प्राप्त अण् प्रत्यय का अपवाद समझना चाहिये। अत एव 'यवनानामियम्—यावनी लिपिः' ऐसा प्रयोग नहीं होता। हां! भाषा आदि के वाच्य होने पर अण् का प्रयोग देखा जाता है। यथा—

न वदेद् यावनीं भाषां प्राणैः कण्ठगतैरपि।
गजैरापीड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम् ॥ (भविष्यपुराणे)

नोट—यवन प्रातिपदिक से पुंयोग में **पुंयोगादाख्यायाम्** (१२६१) सूत्रद्वारा केवल ङीष् प्रत्यय ही होगा आनुँक् नहीं। अतः यवनस्य स्त्री 'यवनी' ही बनेगा 'यवनानी' नहीं।

[लघु०] वा०—(१०८) मातुलोपाध्याययोरानुँग्वा ॥

मातुलानी, मातुली। उपाध्यायानी, उपाध्यायी ॥

अर्थः—मातुल (मामा) और उपाध्याय—इन दो प्रातिपदिकों से पुंयोग में स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् प्रत्यय तो नित्य होता है पर आनुँक् का आगम विकल्प से।

व्याख्या—मातुलोपाध्याययोः ।६।२। आनुँक् ।१।१। वा इत्यव्ययपदम्। वार्त्तिक का अर्थ पूर्ववत् सरल है। मातुलस्य स्त्री (भार्या, पत्नी) मातुलानी (मामी)। जहां आनुँक् का आगम न होगा वहां केवल ङीष् प्रत्यय हो कर भसंज्ञक अकार का

लोप कर विभक्ति लाने से 'मातुली' प्रयोग बनेगा । इसीप्रकार—उपाध्यायस्य[1] स्त्री—उपाध्यायानी, उपाध्यायी (उपाध्याय की पत्नी) वा ।

यदि 'उपाध्यायस्य स्त्री' इस प्रकार पुंयोग विवक्षित न होगा अर्थात् कोई स्त्री स्वयम् अध्यापिका होगी तो वहां ङीष् का विकल्प होगा आनुँक् की प्रवृत्ति न होगी—उपाध्यायी, उपाध्याया वा । यह बात महाभाष्य में **इङश्च** (२.४.४८) सूत्र पर कही गई है । अत एव सिद्धान्तकौमुदी में भट्टोजिदीक्षित ने लिखा है—**या तु स्वयमेवाध्यापिका तत्र वा ङीष् वाच्यः** (सि० कौ०) । इस से यह भी प्रमाणित होता है कि प्राचीनकाल में स्त्रियां भी वेद का अध्यापन करती थीं । बाद में पुरुषों ने उन से यह अधिकार छीन लिया प्रतीत होता है ।

[लघु०] वा०—(१०९) आचार्यादणत्वं च ॥

आचार्यस्य स्त्री—आचार्यानी ॥

अर्थः—आचार्यप्रातिपदिक से परे आनुँक् (आन्) के नकार को णकार नहीं होता ।

व्याख्या—'आचार्य'[2] प्रातिपदिक से पुंयोग में ङीष् और आनुँक् तो सूत्र से ही सिद्ध हैं परतु इस के साथ आनुँक् के नकार को णकार आदेश भी नहीं होता—इस के संग्रह के लिये वार्त्तिक में 'च' का ग्रहण किया गया है । उदाहरण यथा—

आचार्यस्य स्त्री (पत्नी) आचार्यानी [आचार्य की पत्नी] । यहां आचार्यशब्द से पुंयोग में **इन्द्रवरुणभवशर्व०** (१२६३) सूत्रद्वारा ङीष् प्रत्यय हो कर प्रकृति को आनुँक् का आगम हो जाता है—आचार्य आन् + ई=आचार्यानी । अब **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** (१३८) सूत्र से नकार को णकार प्राप्त होता है, इस पर प्रकृतवार्त्तिक **आचार्यादणत्वं च** (वा० १०९) से उस का निषेध हो जाता है । पुनः विभक्तिकार्य करने से 'आचार्यानी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

नोट—यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि यदि कोई स्त्री स्वयं व्याख्यात्री पण्डिता होगी तो पुंयोग के अभाव में प्रकृतसूत्र से ङीष् और आनुँक् न हो कर **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से टाप् प्रत्यय ही होगा—आचार्या ।

[लघु०] वा०—(११०) अर्यक्षत्त्रियाभ्यां वा स्वार्थे ॥

अर्याणी, अर्या । क्षत्त्रियाणी, क्षत्त्रिया ॥

---

१. उपाध्याय का लक्षण यथा—

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः ।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ॥ (मनु० २.१४१)

२. आचार्य का लक्षण यथा—

उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ (मनु० २.१४०)

अर्थः—'अर्य' (स्वामी या वैश्य)[1] एवं 'क्षत्रिय' प्रातिपदिकों से स्वार्थ में (पुंयोग में नहीं बल्कि जाति आदि वाच्य होने पर) स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष्-प्रत्यय+आनुँक्-आगम विकल्प से होते हैं।

व्याख्या—पक्ष में अदन्तलक्षण टाप् (१२४९) हो जायेगा[2]। उदाहरण यथा—अर्याणी, अर्या (स्वामिनी या वैश्य जाति की स्त्री)। क्षत्रियाणी, क्षत्रिया (क्षत्रिय-जाति की स्त्री)। पुंयोग में **पुंयोगादाख्यायाम्** (१२६१) से निर्बाध ङीष् हो जायेगा। यथा—अर्यस्य भार्या—अर्यी (स्वामी की पत्नी अथवा वैश्य की पत्नी)। क्षत्रियस्य भार्या—क्षत्रियी (क्षत्रिय की पत्नी)[3]।

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१२६४) क्रीतात् करणपूर्वात् ।४।१।५०।।**

क्रीतान्ताद् अदन्तात् करणादेः[4] स्त्रियां ङीष् स्यात्। वस्त्रक्रीती। क्वचिन्न—धनक्रीता ।।

अर्थः—'क्रीत' शब्द जिस के अन्त में तथा करणवाचक जिस का पूर्वावयव हो उस अदन्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् प्रत्यय हो।

---

१. अर्यः **स्वामि-वैश्ययोः** (३.१.१०३)।

२. यहां यह ध्यातव्य है कि पक्ष में **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६६) सूत्रद्वारा ङीष् नहीं होता, क्योंकि उक्तसूत्र में 'अयोपधात्' कहा गया है। अर्य और क्षत्रिय दोनों की उपधा में यकार है।

३. अमरकोष में इन का संग्रह सुन्दररीति से किया गया है—

अर्याणी स्वयमर्या स्यात् क्षत्रिया क्षत्रियाण्यपि।
उपाध्यायाऽप्युपाध्यायी स्यादाचार्यापि च स्वतः ।।
आचार्यानी तु पुंयोगे स्यादर्यी क्षत्रियी तथा।
उपाध्यायान्युपाध्यायी ।।

अर्थः—पुंयोग के विना स्वार्थ में 'अर्याणी-अर्या; क्षत्रियाणी-क्षत्रिया' रूप बनते हैं। इसीप्रकार पुंयोग के बिना स्वतः अध्यापन कार्य करने पर 'उपाध्यायी-उपाध्याया' तथा 'आचार्या' रूप बनते हैं। पुंयोग में—अर्यी, क्षत्रियी, उपाध्यायानी-उपाध्याया तथा आचार्यानी रूप बनते हैं।

४. क्रीतान्ताद् अदन्तात् करणादेः—इन तीनों के पुंलिङ्ग विशेष्य 'प्रातिपदिकशब्दात्' का यहां अध्याहार करना चाहिये। केवल 'प्रातिपदिकात्' इस नपुंसक विशेष्य का अध्यहार स्वीकार करेंगे तो 'करणादेः' यह पुंलिङ्ग प्रयोग अनुपपन्न होगा—ऐसा बालमनोरमाकार श्रीवासुदेवदीक्षित का कथन है। परन्तु हमारे विचार में 'करणादि' शब्द भाषितपुंस्क है अतः नपुंसक के पञ्चम्येकवचन में इस के 'करणादेः और करणादिनः' दोनों रूप बन सकते हैं। यहां 'प्रातिपदिकात्' इस नपुंसक विशेष्य के साथ किसी भी रूप का प्रयोग हो सकता है—कोई दोष नहीं आता।

व्याख्या—क्रीतात् ।५।१। करणपूर्वात् ।५।१। ङीष् ।१।१। (**अन्यतो ङीष्** सूत्र से) । **अतः, प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं । **करणं** (**करणवाचकम्**) **पूर्वम्** (**पूर्वपदम्**) यस्य प्रातिपदिकस्य तत् करणपूर्वम्, **तस्मात्**= करणपूर्वात्, बहुव्रीहिसमासः । 'अतः' और 'क्रीतात्' ये दोनों 'प्रातिपदिकात्' के विशेषण हैं । विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'क्रीतशब्दान्ताद् अदन्तात् प्रातिपदिकात्' उपलब्ध हो जाता है । अर्थः—(क्रीतात्=क्रीतशब्दान्तात्) क्रीतशब्द जिसके अन्त में हो तथा (करणपूर्वात्) करणवाचक जिस के पूर्व में हो ऐसे (अतः=अदन्तात्) अदन्त (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से परे ङीष् प्रत्यय हो जाता है (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में । उदाहरण यथा—

वस्त्रैः क्रीता वस्त्रक्रीती (वस्त्रोंद्वारा खरीदी गई स्त्री, भूमि आदि कोई स्त्रीलिङ्ग वस्तु) । 'वस्त्र भिस्+क्रीत' इस अलौकिकविग्रह में 'क्रीत' शब्द से सुँबुत्पत्ति से पूर्व ही **गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक् सुँबुत्पत्तेः**[1] इस परिभाषा के बल से **कर्तृकरणे कृता बहुलम्** (९२६) सूत्रद्वारा तत्पुरुषसमास हो कर **सुँपो धातुप्रातिपदिकयोः** (७२१) से सुँब्लुक् करने पर 'वस्त्रक्रीत' बना । इस शब्द के अन्त में क्रीतशब्द तथा इस के आदि में करणवाचक वस्त्रशब्द मौजूद है किञ्च यह समस्त प्रातिपदिक अदन्त भी है, इसलिये स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से प्रकृत **क्रीतात्करणपूर्वात्** (१२६४) सूत्रद्वारा ङीष् (ई) प्रत्यय हो भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'वस्त्रक्रीती' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[2]

क्वचिन्न—धनक्रीता ।

प्रकृतसूत्रद्वारा विधीयमान ङीष् क्वचित् नहीं भी होता । यथा—धनेन क्रीता धनक्रीता[3] (धन से खरीदी हुई स्त्री, भूमि आदि कोई स्त्रीलिङ्ग वस्तु) । कारण यह है कि **कर्तृकरणे कृता बहुलम्** (९२६) सूत्र में 'बहुलम्' ग्रहण के कारण **गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक्सुँबुत्पत्तेः** (प०) इस परिभाषा का क्वचित् आश्रयण नहीं भी किया जाता । तब **सह सुँपा** (९०६) अधिकार के कारण सुँबन्त का सुँबन्त के साथ ही समास होने के कारण 'क्रीत' को सुँबन्त बनाने से पूर्व ही स्त्रीप्रत्यय करना पड़ता है । ऐसी अवस्था में उस से **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) द्वारा टाप् ही हो सकता है, ङीष् नहीं, क्योंकि ङीष् की प्रवृत्ति तो तब होती है जब उस के पूर्व करणकारक

---

१. इस परिभाषा की सोदाहरण विस्तृत व्याख्या इस भैमीव्याख्या के चतुर्थभाग समास प्रकरण में पृष्ठ १५०—१५३ तक देखें ।

२. 'वस्त्रक्रीती' की और अधिक विस्तृत सिद्धि को जानने के लिये समासप्रकरण में पृष्ठ (१५२) पर लिखी 'अश्वक्रीती' की सिद्धि को देखें ।

३. **सा हि तस्य धनक्रीता प्राणेभ्योऽपि गरीयसी**—इत्युद्धृतं काशिकायाम् । मूलमस्य मृग्यम् ।

जुड़ा हो। इस प्रकार 'धन टा+क्रीता सुँ' इस अलौकिकविग्रह वाले समास में सुँपों (टा और सुँ) का लुक् कर 'धनक्रीता' यह आदन्त प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। अब इस से स्त्रीत्व की विवक्षा होने पर भी प्रकृतसूत्र से ङीष् नहीं होता क्योंकि इस में अदन्त प्रातिपदिक से ही ङीष् का विधान किया गया है आदन्त से नहीं। इस तरह प्रथमा के एकवचन में सुँ का हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०ादिलोप (१७९) हो कर 'धनक्रीता' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

सूत्र में 'करणपूर्वात्' कहने के कारण 'सुक्रीता, दुष्क्रीता, विक्रीता' आदि में ङीष् न होगा। इसीप्रकार 'स्वक्रीता' में कर्तृकारक पूर्व में जुड़ा होने के कारण भी ङीष् की प्रवृत्ति नहीं होती।

'वस्त्रैः क्रीता' इत्यादि विग्रहवाक्यों में 'क्रीत' से ङीष् न हो कर टाप् ही होता है। कारण कि यह करणादि एवं क्रीतान्त प्रातिपदिक नहीं है।

——:०:——

अभ्यास [१]

(१) क्या स्त्रीप्रत्यय लगा कर ही स्त्रीत्व प्रकट किया जा सकता है या अन्यथा भी? सोदाहरण स्पष्ट करें।

(२) संस्कृतभाषा में स्त्रीत्व का निर्णय किस आधार पर किया जाता है?

(३) निम्नस्थ प्रश्नों का यथोचित उत्तर दीजिये—

[क] पाणिनीयव्याकरण के कुल स्त्रीप्रत्यय नामतः निर्दिष्ट करें।

[ख] 'श्वेता' में **वर्णादनुदात्तात्तोपधात्०** की प्रवृत्ति क्यों नहीं होती?

[ग] 'चटका' में ककार से पूर्व अत् को इत्त्व क्यों नहीं होता?

[घ] 'त्रिभुवनम्' में **द्विगोः** द्वारा ङीप् क्यों नहीं होता?

[ङ] **प्राचां ष्फ तद्धितः** में ष्फ को तद्धित क्यों कहा है?

[च] **यवाद् दोषे** में दोष से क्या अभिप्रेत है?

[छ] वत्स, बाल और शिशु में **वयसि प्रथमे** की प्रवृत्ति होगी या नहीं?

[ज] **वोतो गुणवचनात्** से 'आखु'शब्द में ङीष् होगा या नहीं?

[झ] युवावस्थावाची 'वधूटी' में **वयसि प्रथमे** द्वारा ङीष् कैसे हो जाता है?

[ञ] जाति के वाच्य होने पर 'क्षत्रिय' और 'अर्य' का क्या रूप बनेगा?

[ट] प्रथमवयोवाची कन्याशब्द में ङीप् न हो कर टाप् कैसे?

[ठ] 'आचार्यानी' में णत्व क्यों नहीं होता?

(४) अधोलिखित प्रातिपदिकों के स्त्रीलिङ्ग रूप सिद्ध करें—

१. राजन्। २. अनडुह्। ३. विद्वस्। ४. शिव। ५. सुन्दर। ६. दण्डिन्। ७. पञ्चन्। ८. कर्तृ। ९. गच्छत्। १०. जानत्। ११. नश्वर। १२. यतमान। १३. कुप्यत्। १४. कुर्वत्। १५. मातुल। १६. बहुकुरुचर। १७. देव।

(५) स्त्रीप्रत्ययविधायकसूत्रों का निर्देश करते हुए रूपों को सिद्ध करें—
१. वस्त्रक्रीती । २. मृदुः-मृद्वी । ३. कुमारी । ४. बहुः-बह्वी । ५. मूषिका । ६. पचन्ती । ७. त्रिलोकी । ८. नदी । ९. लावणिकी । १०. गार्गी-गार्ग्यायणी । ११. एनी-एता । १२. यावनी । १३. गौरी । १४. गोपालिका । १५. नर्त्तकी । १६. गोपी । १७. अजा । १८. इन्द्राणी । १९. तरुणी । २०. दीव्यन्ती । २१. नदी । २२. स्त्रैणी । २३. ऐन्द्री । २४. रात्रिः-रात्री । २५. सर्विका ।

(६) **इन्द्रवरुण०** सूत्र की सोदाहरण व्याख्या करें ।

(७) **टिड्ढाणञ्०** सूत्रोक्त प्रत्येक प्रत्यय के उदाहरण की सिद्धि करें ।

(८) निम्नस्थ सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—
१. प्रत्ययस्थात्० । २. वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः । ३. वोतो गुणवचनात् । ४. पुंयोगादाख्यायाम् । ५. यञश्च । ६. प्राचां ष्फ तद्धितः । ७. द्विगोः । ८. अजाद्यतष्टाप् । ९. उगितश्च । १०. षिद्गौरादिभ्यश्च । ११. क्रीतात्करणपूर्वात् । १२. वयसि प्रथमे । १३. वह्वादिभ्यश्च । १४. हलस्तद्धितस्य । १५. न षट्स्वस्रादिभ्यः । १६. ऋन्नेभ्यो ङीप् ।

(९) निम्नस्थ वार्त्तिकों एवं गणसूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—
१. कृदिकारादक्तिनः । २. सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके । ३. नञ्स्नञीकक्० । ४. आमनडुहः स्त्रियां वा । ५. सूर्याद्देवतायां चाब्वाच्यः । ६. सूर्यागस्त्ययोश्छे च ङ्यां च । ७. यवाद् दोषे । ८. यवनाल्लिप्याम् । ९. हिमारण्ययोर्महत्त्वे । १०. मातुलोपाध्याययोरानुँग्वा । ११. पालकान्तान्न । १२. वयस्यचरमे । १३. अर्यक्षत्रियाभ्यां वा स्वार्थे ।

(१०) व्याख्या करें—
[क] देवतायां किम् ? सूरी कुन्ती । मानुषीयम् ।
[ख] अजादित्वात् त्रिफला । त्र्यनीका सेना ।
[ग] प्रत्ययस्थात् किम् ? शका । अतः किम् ? नौका ।
[घ] असुँपः किम् ? बहुपरिव्राजका नगरी ।
[ङ] क्वचिन्न —धनक्रीता ।

(११) निम्नस्थ युगलों में अर्थ का अन्तर स्पष्ट करें—
१. गोपी-गोपा । २. यवनानी-यवनी । ३. आचार्यानी-आचार्या । ४. सूर्या-सूरी । ५. भवती-भवन्ती । ६. क्षत्रियाणी-क्षत्रिया । ७. अर्याणी-अर्यी । ८. उपाध्यायानी-उपाध्याया । ९. हिमम्-हिमानी । १० अरण्यम्-अरण्यानी ।

(१२) **ताच्छीलिके णेऽपि अण्कार्यं भवति**—इस वचन को समझा कर इस की प्रवृत्ति **और** अप्रवृत्ति के कुछ स्थल दर्शाएं ।

(१३) **पुंयोगादाख्यायाम्** में पुंयोग पर वैयाकरणों के मतभेद का निरूपण करें ।

(१४) **सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके** यह गणसूत्र किन किन बातों में **कृदिकारादक्तिनः** सूत्र की अपेक्षा अधिक व्यापक है ?

(१५) निम्नस्थ कारिका की सोदाहरण विस्तृत व्याख्या करें—

सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथग्जातिषु दृश्यते ।
आधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः ॥

(१६) **न षट्स्वस्रादिभ्यः** द्वारा ङीप् और टाप् दोनों का निषेध किया जाता है । टाब्निषेध को उदाहरणों में घटा कर समझाएं ।

(१७) **अजाद्यतष्टाप्** में कौमुदीकार 'अजाद्यतः' को षष्ठ्यन्त क्यों मानते हैं ?

(१८) प्रत्यय में ककार किस स्थान पर हो तो इत्त्व की प्रवृत्ति होती है ?

(१९) आगम के टित्त्व के कारण कोई प्रातिपदिक टित् नहीं होता—इस कथन की सोदाहरण पुष्टि करें ।

(२०) लकाराश्रित अनुबन्धकार्य लादेशों में संक्रमित नहीं होते—इस कथन की सोदाहरण सप्रमाण व्याख्या करें ।

——:०:——

अब पुनः ङीष् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२६५) **स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात् ।४।१।५४।।**

असंयोगोपधम् उपसर्जनं यत् स्वाङ्गं तदन्ताद् अदन्ताद् ङीष् वा स्यात् (स्त्रियाम्) । केशान् अतिक्रान्ता अतिकेशी, अतिकेशा । चन्द्रमुखी, चन्द्रमुखा । असंयोगोपधात् किम् ? सुगुल्फा । उपसर्जनात् किम् ? शिखा ।।

अर्थः—जिस की उपधा में संयोग न हो ऐसा जो उपसर्जनसञ्ज्ञक स्वाङ्गवाची शब्द तदन्त अदन्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में विकल्प से ङीष् प्रत्यय हो ।

व्याख्या—स्वाङ्गात् ।५।१। च इत्यव्ययपदम् । उपसर्जनात् ।५।१। असंयोगोपधात् ।५।१। ङीष् ।१।१। (**अन्यतो ङीष्** सूत्र से) । वा इत्यव्ययपदम् । **प्रातिपदिकात्, अतः, स्त्रियाम्, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब पूर्ववत् अधिकृत हैं । समासः—संयोग उपधायां यस्य स संयोगोपधः, न संयोगोपधः—असंयोगोपधः, बहुव्रीहिगर्भनञ्तत्पुरुषः । 'असंयोगोपधात्' और 'उपसर्जनात्' ये दोनों 'स्वाङ्गात्' में अन्वित होते हैं । 'स्वाङ्गात्' तथा 'अतः' ये दोनों 'प्रातिपदिकात्' के विशेषण हैं अतः इन से तदन्तविधि हो जाती है । अर्थः—(असंयोगोपधात्) जिस की उपधा में संयोग न हो ऐसा जो (उपसर्जनात्) उपसर्जनसञ्ज्ञक (स्वाङ्गात्) स्वाङ्गवाची शब्द, तदन्त (अतः=अदन्तात्) अदन्त (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से परे (वा) विकल्प से (ङीष्) ङीष् (प्रत्ययः) प्रत्यय हो जाता है (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में । उदाहरण यथा—

केशान् अतिक्रान्ता—**अतिकेशी, अतिकेशा** वा (केशों को जो लाङ्घ चुकी है अर्थात् केशों से अधिक लम्बी माला आदि, अथवा लम्बे केशों वाली स्त्री आदि) । यहां 'केश शस्+अति' इस अलौकिकविग्रह में **अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया** (वा० ५९) इस वार्त्तिक से प्रादिसमास, **सुँपो धातु-प्रातिपदिकयोः** (७२१) सूत्र से

सुँब्लुक् तथा प्रथमानिर्दिष्ट 'अति' की उपसर्जनसञ्ज्ञा (९०९) एवम् **उपसर्जनम्पूर्वम्** (९१०) से उस का पूर्वनिपात कर 'अतिकेश' प्रातिपदिक निष्पन्न हुआ। यहां प्रातिपदिक के अन्त में स्वाङ्गवाची शब्द है—केश। इस की उपधा में कोई संयोग नहीं किञ्च विग्रह में नियतविभक्तिक होने से **एकविभक्ति चाऽपूर्वनिपाते** (९५१) सूत्रद्वारा यह उपसर्जनसंज्ञक भी है अतः तदन्त 'अतिकेश' शब्द से विभक्ति लाने से पूर्व स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृतसूत्र **स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्** (१२६५) द्वारा विकल्प से ङीष् (ई) प्रत्यय हो जाता है। ङीष्पक्ष में भसंज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्ति लाने से 'अतिकेशी' तथा ङीष् के अभाव में **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से अदन्तलक्षण टाप् हो सवर्णदीर्घ कर विभक्ति लाने से 'अतिकेशा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]। इस तरह अतिकेशी, अतिकेशा—ये दो प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।

इसीप्रकार—चन्द्र इव मुखं यस्याः सा चन्द्रमुखी, चन्द्रमुखा वा (चन्द्र के समान सुन्दर मुखवाली स्त्री)। यहां 'चन्द्र सुँ+मुख सुँ' इस अलौकिकविग्रह में **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) सूत्रद्वारा बहुव्रीहिसमास में सुँपों का लुक् हो कर 'चन्द्रमुख' प्रातिपदिक निष्पन्न हुआ। इस प्रातिपदिक के अन्त में स्वाङ्गवाची 'मुख' शब्द विद्यमान है। इस की उपधा में कोई संयोग नहीं। **सर्वोपसर्जनो बहुव्रीहिः** (अर्थात् बहुव्रीहिसमास में सब पद उपसर्जन होते हैं)[2] इस वचन के अनुसार यह उपसर्जन भी है अतः तदन्त 'चन्द्रमुख' से विभक्ति लाने से पूर्व स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृतसूत्र **स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्** (१२६५) द्वारा पाक्षिक ङीष् (ई) प्रत्यय हो भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'चन्द्रमुखी' तथा पक्षान्तर में अदन्तलक्षण टाप् (१२४९), सवर्णदीर्घ एवं विभक्ति लाने से 'चन्द्रमुखा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

असंयोगोपधात् किम्? सुगुल्फा।

यदि स्वाङ्गवाची उपसर्जनसञ्ज्ञक शब्द की उपधा में संयोग होगा तो तदन्त प्रातिपदिक से प्रकृतसूत्रद्वारा ङीष् न होगा बल्कि **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से केवल अदन्तलक्षण टाप् ही होगा, कारण कि सूत्र में 'असंयोगोपधात्' कहा गया है। यथा—शोभनौ गुल्फौ यस्याः सा सुगुल्फा (सुन्दर गुल्फों=गिट्टों वाली)। यहां 'सु+गुल्फ औ' इस अलौकिकविग्रह में **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से बहुव्रीहिसमास हुआ है।

---

१. 'अतिकेश' में यद्यपि तत्पुरुषसमास है और तत्पुरुषसमास में **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९६२) के अनुसार परवल्लिङ्गता हुआ करती है तथापि यहां प्राप्त परवल्लिङ्गता का **द्विगु-प्राप्ताऽऽपन्नाऽलम्पूर्व-गतिसमासेषु प्रतिषेधो वाच्यः** (वा० ६३) इस वार्त्तिक से निषेध हो कर विशेष्यानुसार लिङ्ग होता है। विशेष्य यहां स्त्रीलिङ्ग विवक्षित है अतः स्त्रीत्व में वैकल्पिक ङीष् किया गया है।

२. **सर्वोपसर्जनो बहुव्रीहिः**—इस वचन की व्याख्या समासप्रकरण में (९६६) सूत्र पर कर चुके हैं वहीं देखें।

समास में सुँब्लुक् हो स्त्रीत्व की विवक्षा में अदन्तलक्षण टाप्, सवर्णदीर्घ एवं विभक्ति-कार्य करने पर 'सुगुल्फा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यहां 'गुल्फ' इस स्वाङ्गवाची शब्द की उपधा में 'ल्फ्' यह संयोग वर्त्तमान है अतः 'सुगुल्फ' प्रातिपदिक से प्रकृतसूत्रद्वारा ङीष् नहीं हुआ। इसीतरह—सुपार्श्वा, सुवक्त्रा, सुहस्ता आदियों में ङीष् का अभाव समझना चाहिये।[1]

उपसर्जनात् किम् ? शिखा[2] ।

स्वाङ्गवाची शब्द यदि उपसर्जन न होगा तो भी तदन्त से प्रकृतसूत्रद्वारा पाक्षिक ङीष् न होगा। यथा—शिखा (चोटी)। यहां **शीङ् स्वप्ने** (अदा० आत्मने०) धातु से **शीङो ह्रस्वश्च** (उणा० ५.२४) इस उणादिसूत्रद्वारा 'ख' प्रत्यय तथा धातु को ह्रस्व हो कर 'शिख' प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। इस की उपसर्जनसंज्ञा नहीं है अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृतसूत्र से पाक्षिक ङीष् न हो कर अदन्तलक्षण टाप्, सवर्णदीर्घ एवं विभक्तिकार्य करने पर 'शिखा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इस सूत्र में 'स्वाङ्ग' से 'अपना अङ्ग' नहीं समझना चाहिये। व्याकरण में यह पारिभाषिक शब्द माना गया है। इस की त्रिविध परिभाषा वैयाकरणों के अनुसार इस प्रकार कही जाती है—

(१) **अद्रवं मूर्त्तिमत् स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम्** ।
(२) **अतत्स्थं तत्र दृष्टं च** (३) **तेन चेत्तत्तथायुतम्** ॥

स्वाङ्ग का प्रथम लक्षण यथा—

---

१. ध्यान रहे कि **नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गाच्च** (४.१.५५) इस सूत्र के अनुसार ओष्ठ, जङ्घा, दन्त, कर्ण और शृङ्ग इन पाञ्च संयोगोपधों के अन्त में आने पर निषेध की प्रवृत्ति नहीं होती, वैकल्पिक ङीष् हो जाता है। यथा—बिम्बौष्ठी-बिम्बौष्ठा, दीर्घजङ्घी-दीर्घजङ्घा, समदन्ती-समदन्ता, चारुकर्णी-चारुकर्णा, तीक्ष्णशृङ्गी-तीक्ष्णशृङ्गा। उपर्युक्तसूत्र में 'च' ग्रहण के कारण अङ्ग, गात्र, कण्ठ और पुच्छ इन चार संयोगोपधों का भी ग्रहण किया जाता है—मृद्वङ्गी-मृद्वङ्गा, तनुगात्री-तनुगात्रा, स्निग्धकण्ठी-स्निग्धकण्ठा, कल्याणपुच्छी-कल्याणपुच्छा।

२. कुछ लोग यहां 'सुशिखा' प्रत्युदाहरण पढ़ते हैं। उन का कथन है कि—शोभना शिखा सुशिखा। यहां **कु-गति-प्रादयः** (९४९) द्वारा प्रादितत्पुरुषसमास में प्रथमानिर्दिष्ट होने से 'सु' तो उपसर्जन है पर 'शिखा' नहीं, अतः इस से प्रकृतसूत्रद्वारा ङीष् प्रत्यय न होगा। परन्तु उन का यह कथन युक्त प्रतीत नहीं होता। कारण यह है कि तब 'शिखा' शब्द के अदन्त न होने से स्वतः ही ङीष् प्राप्त न होगा।

अद्रवं मूर्त्तिमत् स्वाङ्गं प्राणिस्थम् अविकारजम् ।[1] अर्थात् जो पदार्थ द्रव (तरल) न हो, मूर्त्तिमान् (दृश्य) हो, विकार से उत्पन्न न हुआ हो एवं प्राणियों में स्थित रहता हो—वह 'स्वाङ्ग' कहाता है। जैसे प्राणिस्थ केश, मुख, स्तन आदि 'स्वाङ्ग' हैं। अतः तदन्तों से प्रकृतसूत्रद्वारा ङीष् तथा पक्ष में टाप् हो जाता है—सुकेशी-सुकेशा, चन्द्रमुखी-चन्द्रमुखा, पीनस्तनी-पीनस्तना आदि।

'कफ' और 'स्वेद' (पसीना) में उपर्युक्त अन्य सब लक्षण घटित होते हैं परन्तु वे द्रव (तरल) हैं अतः वे स्वाङ्ग नहीं, इसलिये तदन्तों से प्रकृत-सूत्रद्वारा ङीष् नहीं होता। यथा—सुकफा (बहुत कफ वाली), सुस्वेदा (बहुत पसीने वाली)। **अजाद्यतष्टाप्** (१२४६) द्वारा अदन्तलक्षण टाप् ही होता है।

'ज्ञान' मूर्तिमत् (दृश्य, आकार वाला) नहीं होता अतः शेष सब लक्षणों के घटित होने पर भी वह 'स्वाङ्ग' नहीं होता। अतः तदन्त से प्रकृतसूत्रद्वारा ङीष् नहीं होता। यथा—सुज्ञाना (शोभनं ज्ञानं यस्याः सा सुज्ञाना, श्रेष्ठ ज्ञान वाली)। **अजाद्यतष्टाप्** (१२४६) से अदन्तलक्षण टाप् ही होता है।

सुमुखा शाला (सुन्दरं मुखं यस्याः सा सुमुखा। सुन्दर द्वार वाला घर)। यहां का 'मुख' शब्द प्राणिस्थ नहीं अतः स्वाङ्ग नहीं। इसलिये तदन्त से यहां प्रकृत-सूत्रद्वारा ङीष् नहीं हुआ। **अजाद्यतष्टाप्** (१२४६) से अदन्त-लक्षण टाप् हो हुआ है।

सुशोफा (बहुत सूजन वाली स्त्री)। यहां 'शोफ' (शोथ, सूजन) में अन्य तो सब लक्षण पाये जाते हैं पर वह अविकारज नहीं, शारीरिक विकाररूप रोग से उत्पन्न होता है। अतः वह स्वाङ्ग नहीं। इसलिये तदन्त से प्रकृतसूत्रद्वारा ङीष् नहीं होता। अदन्तलक्षण टाप् ही होता है।

स्वाङ्ग का दूसरा लक्षण यथा—

अतत्स्थं तत्र दृष्टं च (स्वाङ्गम्)।[2]

चाहे अब प्राणियों में स्थित न हो परन्तु प्राणियों में देखा अवश्य गया हो वह भी स्वाङ्ग होता है। तात्पर्य यह है कि प्राणियों के अङ्ग यदि अब प्राणियों में विद्यमान न होकर कहीं अन्यत्र पड़े हुए हों तो भी वे स्वाङ्ग कहलाते हैं। यथा—सुकेशी सुकेशा वा रथ्या (सुन्दर या बहुत केशों वाली गली)। यहां के 'केश' अब प्राणियों में स्थित नहीं (गली में विद्यमान हैं) परन्तु वे हैं ती प्राणियों के अङ्ग ही,

---

१. न विद्यते द्रवो द्रवत्वं (तरलता) यस्मिंस्तद् अद्रवम्। मूर्त्तिः=अवयवसंयोगोऽस्यास्तीति मूर्त्तिमत्। प्राणिषु=जन्तुषु विद्यमानं प्राणिस्थम्। अविकारजम्=रोगादि-विकाराऽजन्यं च यत् तत् प्रथमं स्वाङ्गमित्यर्थः।

२. तच्छब्देन प्राणी परामृश्यते। अतत्स्थम्=अप्राणिस्थम्, तत्र=प्राणिनि दृष्टं यत् तदपि स्वाङ्गमित्यर्थः।

अतः इस द्वितीय लक्षण के अनुसार वे 'स्वाङ्ग' हैं। इसलिये तदन्त से प्रकृतसूत्रद्वारा ङीष् की विकल्प से प्रवृत्ति हो जाती है।

स्वाङ्ग का तृतीय लक्षण यथा—

तेन चेत् तत् तथायुतम्।[1]

तात्पर्य यह है कि जैसे यह स्वाङ्ग प्राणियों में स्थित होता है यदि उसी प्रकार अन्यत्र मूर्त्ति आदि में स्थित हो तो भी उसे 'स्वाङ्ग' समझना चाहिये। यथा—सुस्तनी सुस्तना वा प्रतिमा (सुन्दर स्तनों वाली मूर्ति)। यहां स्तन प्राणियों की तरह प्राणिसदृश प्रतिमा में स्थित हैं अतः ये भी स्वाङ्ग हैं। इसलिये तदन्त से प्रकृतसूत्रद्वारा विकल्प से ङीष् हो जाता है।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने शब्दानुशासन में इन तीनों लक्षणों को सुन्दर सरल शब्दों में इस प्रकार पद्यबद्ध किया है—

अविकारोऽद्रवं मूर्त्तं प्राणिस्थं स्वाङ्गमुच्यते।
च्युतं च प्राणिनस्तत्तद् निभं च प्रतिमादिषु॥

(बृहद्-हैमवृत्ति २.४.३८)

अब कुछ स्वाङ्गवाची शब्दों से ङीष् का निषेध करते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(१२६६) **न क्रोडादि-बह्वचः** ।४।१।५६॥

क्रोडादेर्बह्वचश्च स्वाङ्गान्न ङीष्। कल्याणक्रोडा। आकृतिगणोऽयम्॥

अर्थः—क्रोडादिगणपठित स्वाङ्गवाचकों से तथा बह्वच् (दो से अधिक अचों वाले) स्वाङ्गवाचक शब्दों से परे स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् प्रत्यय नहीं होता। क्रोडादि आकृतिगण है।

व्याख्या—न इत्यव्ययपदम्। क्रोडादि-बह्वचः ।५।३। ङीष् ।१।१। (**अन्यतो ङीष्** सूत्र से)। स्वाङ्गात् ।५।१। उपसर्जनात् ।५।१। (**स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्** सूत्र से)। **स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब अधिकृत हैं। समासः—क्रोडा (क्रोडाशब्दः) आदिर्येषां ते क्रोडादयः, तद्गुणसंविज्ञानबहुव्रीहिः। बहवोऽचो यस्य स बह्वच्, बहुव्रीहिसमासः। क्रोडादयश्च बह्वच् च क्रोडादिबह्वच्, तस्मात्=क्रोडादिबह्वचः। समाहारद्वन्द्वः। समासान्तविधेरनित्यत्वाद् **द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात् समाहारे** (९९२) इति टच् न। 'स्वाङ्गात्' और 'उपसर्जनात्' ये दोनों 'क्रोडादिबह्वचः' के साथ अन्वित होते हैं। 'क्रोडादिबह्वचः' यह 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है अतः

---

१. तेन चेत्तत्तथायुतमिति तृतीयं स्वाङ्गलक्षणमिति बोध्यम्। अत्र भाष्ये 'स्वाङ्गमप्राणिनोऽपि' इति शेषः पूरितः। तेन=प्राणिस्थेन स्तनाद्यङ्गाकृतिकावयवविशेषेण तत्=अप्राणिद्रव्यं प्रतिमादि तथा=प्राणिद्रव्यवद् युतम्=सम्बद्धं चेद् भवति तदा तत्=स्तनाद्यङ्गाकृतिकम् अप्राणिनोऽपि स्वाङ्गमित्यर्थः। **(बालमनोरमा)**

विशेषण से तदन्तविधि हो जाती है । अर्थः—(उपसर्जनात्) उपसर्जनसंज्ञक (स्वाङ्गात्) स्वाङ्गवाची (क्रोडादिबह्वचः) जो क्रोडादिशब्द अथवा दो से अधिक अचों वाले शब्द, तदन्त (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में (ङीष्) ङीष् प्रत्यय (न) नहीं होता । यह सूत्र **स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्** (१२६५) सूत्रद्वारा प्राप्त ङीष् का अपवाद है । इस से ङीष् का निषेध हो जाने पर **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से अदन्तलक्षण टाप् हो जाता है । क्रोडादि स्वाङ्गों का उदाहरण यथा—

कल्याणी क्रोडा (वक्षःस्थलम्) यस्याः सा=कल्याणक्रोडा अश्वा (शुभ छाती वाली घोड़ी) । 'क्रोडा' शब्द घोड़े के वक्षःस्थल का वाचक है और नित्यस्त्रीलिङ्ग है । 'कल्याणी सुँ+क्रोडा सुँ' इस अलौकिकविग्रह में **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से बहुव्रीहिसमास, सुँपों का लुक् (७२१) तथा **स्त्रियाः पुंवद् भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु** (९६९) से 'कल्याणी' को पुंवद्भाव के कारण 'कल्याण' कर देने पर 'कल्याणक्रोडा' इस स्थिति में **गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य** (९५२) से उपसर्जनह्रस्व हो जाता है—कल्याणक्रोड । अब सुँबुत्पत्ति से पूर्व स्त्रीत्व की विवक्षा में स्वाङ्गवाची 'क्रोडा' शब्द अन्त में होने के कारण **स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्** (१२६५) से पाक्षिक ङीष् प्राप्त होता है परन्तु प्रकृत **न क्रोडादि-बह्वचः** (१२६६) सूत्र से उस का निषेध हो जाता है । तब **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से अदन्तलक्षण टाप्, अनुबन्धलोप, सवर्णदीर्घ तथा विभक्ति (सुँ) ला कर उस का हल्ङ्यादिलोप (१७९) करने पर 'कल्याण-क्रोडा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसी प्रकार—कल्याणखुरा, कल्याणनखा, कल्याणगुदा, कल्याणघोणा, सुगला, सुभगा आदि प्रयोगों की सिद्धि समझनी चाहिये ।

क्रोडादि[1] आकृतिगण है । आकृत्या गण्यते=बुध्यते=परिचीयते इत्याकृति-

---

१. क्रोडादिगण का पहला शब्द 'क्रोड' है या 'क्रोडा' यह विवादग्रस्त है । महाभाष्य में यह सूत्र व्याख्यात नहीं । काशिकाकार ने इस पर कुछ प्रकाश नहीं डाला । न्यासकार जिनेन्द्रबुद्धि एवं पदमञ्जरीकार हरदत्तमिश्र इसे 'क्रोडा' मानते हैं । हरदत्त ने लिखा है—"अश्वानामुरः क्रोडा, स्त्रीलिङ्गोऽयम् । तत्र बहुव्रीहौ पूर्वपदस्य पुंवद्भावः, उत्तरपदस्योपसर्जनह्रस्वत्वम् ।" माधवाचार्य धातुवृत्ति में तौदादिक **कुड निमज्जने** धातु पर स्पष्ट लिखते हैं—"क्रोडः, घञ् । क्रोडा अश्वानामुरः । टाबन्तोऽयं स्वभावतो विशेषविषयः । क्रोडादिषु टाबन्तमात्रस्य पाठाद् भुजान्तरवाचकस्य क्रोडशब्दस्य बहुव्रीहौ स्वाङ्गलक्षणो ङीब्विकल्प एव भवति । कल्याणक्रोडी कल्याणक्रोडा मयूरीति ।" परन्तु गणरत्नमहोदधिकार आचार्य वर्धमान अपने ग्रन्थ में इसे 'क्रोड' पढ़ते हैं और स्वोपज्ञ-व्याख्या में स्पष्ट लिखते हैं—"रत्नमतिस्तु कल्याणः क्रोडो यस्या इति विग्रहं दर्शयन् पुंलिङ्गतां ख्यापयति" । इन सब को देखते हुए तत्त्वबोधिनीकार ज्ञानेन्द्रसरस्वती तथा

गणः । आकृति (कार्यदर्शन) से ही इस गण की पहचान होती है । तात्पर्य यह है कि लोक में जहां स्वाङ्गवाचिशब्दान्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् की अप्रवृत्ति दिखाई दे और उस अप्रवृत्ति का विधान किसी सूत्र या वार्त्तिक से न हुआ हो तो वहां स्वाङ्गवाची शब्द को क्रोडादिगण के अन्तर्गत समझ लेना चाहिये ।

पदमञ्जरीकार हरदत्तमिश्र ने क्रोडादिगण में ये शब्द गिनाये हैं—**क्रोडा बालखुरोखाः शफो गुदं भगगलौ चेति** । गणरत्नमहोदधिकार वर्धमान ने इस गण का परिगणन इस प्रकार किया है—

क्रोड-बाल-गला भाल-भगोखाः खुरसंयुताः ।
शफो भुजो गुदं घोणाकरौ क्रोडादिनामनि ॥

अब बह्वच् स्वाङ्गवाची का उदाहरण यथा—

शोभने जघने यस्याः सा सुजघना (सुन्दर जघनों वाली स्त्री) । यहां 'सु+जघन औ' इस अलौकिकविग्रह वाले बहुव्रीहिसमास में सुँब्लुक् होकर 'सुजघन' बना । 'जघन' शब्द स्वाङ्गवाची है अतः तदन्त 'सुजघन' से स्त्रीत्व की विवक्षा में **स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्** (१२६५) से वैकल्पिक ङीष् प्राप्त होता है । परन्तु 'जघन' शब्द दो से अधिक अचों वाला है अतः प्रकृत **न क्रोडादिबह्वचः** (१२६६) सूत्र से ङीष् का निषेध हो जाता है । अब अदन्तलक्षण टाप् कर सवर्णदीर्घ एवं विभक्ति-कार्य करने पर 'सुजघना' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

इसीप्रकार—पृथुजघना, सुवदना, पद्मवदना, चन्द्रवदना, स्वधरा, महाललाटा, सुनयना, वामलोचना, पादार्पितेक्षणा आदि प्रयोगों की सिद्धि समझनी चाहिये । परन्तु नासिका और उदर इन दो स्वाङ्गवाचकों में बहु-अच्-निमित्तक यह निषेध प्रवृत्त नहीं होता, वहां **नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गाच्च** (४.१.५५) सूत्रद्वारा वैकल्पिक ङीष् प्रवृत्त हो जाता है—तुङ्गनासिकी-तुङ्गनासिका; कृशोदरी-कृशोदरा ।[1]

अब कुछ अन्य स्वाङ्गवाचकों से ङीष् के निषेध का विधान करते हैं—

[लघु०] निषेध-सूत्रम्—(१२६७) नखमुखात् संज्ञायाम् ।४।१।५८॥

न ङीष् ॥

अर्थः—स्वाङ्गवाची जो 'नख' अथवा 'मुख' शब्द, तदन्त प्रातिपदिक से

बालमनोरमाकार वासुदेवदीक्षित का कहना है कि यहां पर तीनों लिङ्गों में उदाहरण दिये जा सकते हैं । 'क्रोड' शब्द गोद और छाती का वाचक प्रसिद्ध है । **न ना क्रोडं भुजान्तरम्** इत्यमरः । अमरकोष में इसे पुंलिङ्ग नहीं माना गया परन्तु अन्य कोषकारों ने इसे पुंलिङ्ग भी माना है । अतः तीनों लिङ्गों में उदाहरण सम्भव हैं ।

१. इस विषय पर एक टिप्पण पीछे (६२) पृष्ठ पर लिख चुके हैं वह यहां पर भी पुनः ध्यातव्य है ।

स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् प्रत्यय नहीं होता यदि संज्ञा अर्थात् किसी का नाम गम्यमान हो तो ।

व्याख्या—नखमुखात् ।५।१। संज्ञायाम् ।७।१। न इत्यव्ययपदम् (**न क्रोडादि-बह्वचः** सूत्र से) । ङीष् ।१।१। (**अन्यतो ङीष्** सूत्र से) । स्वाङ्गात् ।५।१। (**स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्** सूत्र से) । **प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब पूर्ववत् अधिकृत हैं । समासः—नखं च मुखं च तयोः समाहारः नखमुखम्, तस्मात्=नखमुखात्, समाहारद्वन्द्वः । 'स्वाङ्गात्' यह 'नखमुखात्' में अन्वित होता है । 'नखमुखात्' यह 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है । विशेषण से तदन्तविधि हो जाती है । अर्थः—(स्वाङ्गात्) स्वाङ्गवाची जो (नखमुखात्) नख और मुख शब्द, तदन्त (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से परे (ङीष्) ङीष् प्रत्यय (न) नहीं होता (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में (संज्ञायाम्) संज्ञा गम्य हो तो । यह सूत्र **स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्** (१२६५) द्वारा प्राप्त ङीष् का निषेध करता है । ङीष् के न होने पर **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से अदन्तलक्षण टाप् हो जाता है ।

उदाहरण यथा—

शूर्पणखा । यह रावण की बहन राक्षसी की संज्ञा है[1] । संज्ञाएं यद्यपि लौकिकविग्रहद्वारा प्रदर्शित नहीं की जा सकतीं तथापि अज्ञों को समझाने के लिये अलीकमार्ग का आश्रय कर किसी तरह विग्रह प्रदर्शित किया जाता है । शूर्पाणीव नखानि यस्याः सा तन्नाम्नी राक्षसी शूर्पणखा (छाज की तरह नाखूनों वाली तन्नाम्नी राक्षसी, रावण की बहन) । यहां 'शूर्प जस्+नख जस्' इस अलौकिकविग्रह में **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) सूत्र से बहुव्रीहिसमास हो कर सुँपों का लुक् हो जाता है—शूर्पनख । अब स्त्रीत्व की विवक्षा में **स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्** (१२६५) सूत्रद्वारा प्राप्त पाक्षिक ङीष् का प्रकृत **नखमुखात्संज्ञायाम्** (१२६७) से निषेध हो जाता है । पुनः **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से अदन्तलक्षण टाप्, अनुबन्धलोप, सवर्णदीर्घ एवं वक्ष्यमाण **'पूर्वपदात्सञ्ज्ञायामगः'** (१२६८) से नकार को णकार कर विभक्ति लाने से 'शूर्पणखा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । यदि यह किसी का नाम न होगा तो यौगिकवृत्ति से 'शूर्पाणीव नखानि यस्याः' इस विग्रह में **स्वाङ्गाच्चोप०** (१२६५) सूत्र से पाक्षिक ङीष् एवं टाप् हो कर—'शूर्पनखी-शूर्पनखा' बनेगा । तब वक्ष्यमाण (१२६८) सूत्र से णत्व भी न होगा, क्योंकि वह सञ्ज्ञा में ही णत्व का विधान करता है ।

---

१. कुबेर ने अपने पिता विश्रवा (विश्रवस्) की सेवा के लिये तीन सुन्दरी राक्षसकन्याओं को नियुक्त किया था । जिन के नाम थे—पुष्पोत्कटा, राका तथा मालिनी (देखें महाभारत वन० २७५, ३-५) । इन के द्वारा पुष्पोत्कटा से रावण और कुम्भकर्ण का, राका से खर और शूर्पणखा का तथा मालिनी से विभीषण का जन्म हुआ (देखें महाभारत वन० २७५, ७-८) ।

दूसरा उदाहरण यथा—

गौरमुखा (गोरे मुख वाली तन्नाम्नी कोई स्त्री)। गौरं मुखं यस्याः सा तन्नाम्नी काचित् स्त्री। यहां 'गौर सुँ+मुख सुँ' इस विग्रह में भी पूर्ववत् बहुव्रीहि-समास, सुँब्लुक् तथा **स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्** (१२६५) से प्राप्त पाक्षिक ङीष् का प्रकृत **नखमुखात्संज्ञायाम्** (१२६७) सूत्र से निषेध हो कर अदन्तलक्षण टाप् कर विभक्ति लाने से 'गौरमुखा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यहां भी यदि संज्ञा विवक्षित न होगी तो यौगिकवृत्ति से पाक्षिक ङीष् हो कर 'गौरमुखी-गौरमुखा' बनेगा।

सञ्ज्ञा न होने पर प्रकृतसूत्र से निषेध नहीं होता। यथा—ताम्रमुखी कन्या (ताम्बे की तरह लाल मुख वाली कन्या)। यह किसी का नाम नहीं यौगिक शब्द है अतः बहुव्रीहिसमास में सुँब्लुक् कर स्त्रीत्व की विवक्षा में **स्वाङ्गाच्चोपसर्जनाद-संयोगोपधात्** (१२६५) से ङीष् तथा पक्ष में टाप् करने से 'ताम्रमुखी-ताम्रमुखा' रूप सिद्ध होते हैं। सञ्ज्ञा न होने से प्रकृतसूत्रद्वारा निषेध नहीं होता।

'शूर्प+नखा' के णत्वविधान में समानपद न होने से रेफ से परे **अट्कुप्वाङ्-नुम्व्यवायेऽपि** (१३८) द्वारा नकार को णकार नहीं हो सकता। अतः इस के लिये अग्रिमसूत्र दर्शाते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१२६८) पूर्वपदात् संज्ञायामगः।८।४।३॥**

पूर्वपदस्थान्निमित्तात्परस्य नस्य णः स्यात् संज्ञायां न तु गकारव्यव-धाने। शूर्पणखा। गौरमुखा। संज्ञायां किम्? ताम्रमुखी कन्या॥

अर्थः—पूर्वपदस्थ निमित्त (ऋ, र्, ष्) से परे नकार को णकार हो जाता है सञ्ज्ञा में, परन्तु गकार का व्यवधान होने पर इस सूत्र से णत्व नहीं होता।

व्याख्या—पूर्वपदात् ।५।१। संज्ञायाम् ।७।१। अगः ।५।१। रषाभ्याम् ।५।२। नः ।६।१। णः ।१।१। (**रषाभ्यां नो णः समानपदे** सूत्र से)। पूर्वपद का अभिप्राय यहां 'पूर्वपदस्थ' से है। 'पूर्वपद' कहने से सम्बन्धिशब्द के कारण 'उत्तरपद' को अध्याहृत कर उस को 'नः' से सम्बद्ध कर लिया जाता है। समासः—अविद्यमानो गकारो यस्मिन् तद् अग्, तस्माद् अगः, बहुव्रीहिसमासः। 'अगः' यह 'पूर्वपदात्' का विशेषण है। अर्थः—(अगः) जिस में गकार विद्यमान नहीं ऐसा जो (पूर्वपदात्) पूर्वपद, उस में स्थित (रषाभ्याम्) रेफ या षकार निमित्त से परे (उत्तरपदस्थस्य) उत्तरपदस्थ (नः) न् के स्थान पर (णः) ण् आदेश हो जाता है (संज्ञायाम्) संज्ञा में। **अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि** (१३८) सूत्र से अट्, कवर्ग, पवर्ग आदियों के व्यवधान में भी णत्व का विधान हो जाता है। इसीप्रकार **ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्** (वा० २१) वार्त्तिकद्वारा रेफ और षकार के साथ ऋवर्ण को भी णत्वविधि में निमित्त समझना चाहिये। समास में अखण्डपद न होने के कारण णत्व प्राप्त न था अतः इस सूत्र के द्वारा विशेष परिस्थितियों में णत्व का विधान किया गया है।

'शूर्प + नखा' यहां समास में 'शूर्प' पूर्वपद है, इस में गकार विद्यमान नहीं है तथा इस में रेफ निमित्त भी मौजूद है। अतः 'नखा' इस उत्तरपदस्थ नकार को प्रकृत **पूर्वपदात् सञ्ज्ञायामगः** (१२६८) सूत्र से णकार हो कर 'शूर्पणखा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। बीच में अट् और पवर्ग का व्यवधान पड़ता था जो अनुमत होने से बाधक नहीं था। 'शूर्पणखा' यह संज्ञा है—यह पूर्वसूत्र की व्याख्या में बताया जा चुका है।

इसीप्रकार—द्रुणसः, वाध्रीणसः आदि संज्ञावाचकों में णत्व हो जाता है।[1]

पूर्वपद में गकार नहीं होना चाहिये, गकार के व्यवधान में इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती। यथा – ऋचाम् अयनम् ऋगयनम्। यहां षष्ठीतत्पुरुषसमास में ऋच् के चकार को **चोः कुः** (३०६) से कुत्व-ककार हो कर **झलां जशोऽन्ते** (६७) से जश्त्व के कारण ककार को गकार हो गया है। यह ग्रन्थविशेष की संज्ञा है। परन्तु गकार के व्यवधान में णत्व नहीं होता।

प्रश्न—यदि संज्ञा में पूर्वपदस्थ निमित्त से परे प्रकृतसूत्रद्वारा उत्तरपदस्थ नकार को णकार हो जाता है तो रघुनाथः, रमानाथः, पुनर्नवा, स्वर्भानुः (राहु), चित्रभानुः (अग्नि), नरवाहनः (कुबेर) आदियों में भी प्रकृतसूत्रद्वारा णत्व होना चाहिये क्योंकि ये भी संज्ञाएं हैं।

उत्तर—इन का क्षुभ्नादिगण में पाठ मान लेने से **क्षुभ्नादिषु च** (७१७) सूत्रद्वारा णत्व का निषेध हो जाता है। अथवा—सञ्ज्ञाएं तो ये नत्व अवस्था में ही हैं णत्व करने से तो ये संज्ञाएं ही नहीं रहेंगी, अतः इन में णत्व नहीं होता। जैसाकि नागेशभट्ट ने कहा है—**णत्वेन चेत् संज्ञा गम्यते तदाऽस्य सूत्रस्य प्रवृत्तिः। इह तु कृते णत्वे संज्ञाभङ्गापत्तेर्न णत्वम्।** (लघुशब्देन्दुशेखरे)।

[लघु०] विधिसूत्रम्—(१२६९) जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् ।४।१।६३॥

जातिवाचि यद् न च स्त्रियां नियतमयोपधं ततः स्त्रियां ङीष् स्यात्। तटी। वृषली। कठी। बह्वृची। जातेः किम्? मुण्डा। अस्त्रीविषयात् किम्? बलाका। अयोपधात् किम्। क्षत्रिया॥

अर्थः—जो जातिवाचक प्रातिपदिक नित्यस्त्रीलिङ्ग न हो तथा उस की उपधा में यकार भी न हो तो उस से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् प्रत्यय हो।

व्याख्या—जातेः ।५।१। अस्त्रीविषयात् ।५।१। अयोपधात् ।५।१। ङीष् ।१।१।

---

१. द्रुरिव = वृक्ष इव = वृक्षशाखेव नासिका यस्य तन्नामा पुरुषो द्रुणसः। वाध्रीव = रज्जुविशेष इव नासिका यस्य स वाध्रीणसो मृगविशेष इति हरदत्तः। उभयत्र बहुव्रीहौ अच् **नासिकायाः संज्ञायां नसञ्चास्थूलात्** (५.४.११८) इत्यच्समासान्तो नासिकायाश्च नसादेशः।

(अन्यतो ङीष् सूत्र से)। **स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, अतः, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब पूर्ववत् अधिकृत हैं। समासः—स्त्री विषयो (नियमेन वाच्या) यस्य तत् स्त्रीविषयम्, नित्यस्त्रीलिङ्गमित्यर्थः। न स्त्रीविषयम् अस्त्रीविषयम्, तस्मात्=अस्त्रीविषयात्, बहुव्रीहिगर्भनञ्तत्पुरुषः। नित्यस्त्रीलिङ्गभिन्नादिति भावः। यः (यकारः) उपधा यस्य तत्=योपधम्, न योपधम् अयोपधम्, तस्मात्=अयोपधात्, बहुव्रीहिगर्भनञ्तत्पुरुषः। अत्र जात्या जातिवाचकं प्रातिपदिकं गृह्यते, अर्थे कार्याऽसम्भवात्। स्वरूपमपि न गृह्यते, अस्त्रीविषयाद् इति वैयर्थ्यापत्तेः। अर्थः—(अस्त्रीविषयात्) जो नित्यस्त्रीलिङ्गी नहीं तथा (अयोपधात्) जिस की उपधा में यकार भी नहीं ऐसे (जातेः=जातिवाचकात्) जातिवाचक (अतः=अदन्तात्) अदन्त (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में (ङीष्) ङीष् प्रत्यय हो जाता है।

यहां 'जाति' से पारिभाषिक जातिवाचकों का ही ग्रहण अभीष्ट है। 'जाति' की व्याकरणसम्मत परिभाषा इस प्रकार है—

आकृतिग्रहणा जातिः, लिङ्गानां च न सर्वभाक्।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या, गोत्रञ्च चरणैः सह॥

इस श्लोक में जाति के चार लक्षण दिये गये हैं। तद्यथा—

[१] **आकृतिग्रहणा जातिः।**

गृह्यतेऽनेन इति ग्रहणम्=व्यञ्जकम्, करणे ल्युट्। आकृतिः ग्रहणम्=व्यञ्जकं यस्याः सा=आकृतिग्रहणा। आकृति से पहचाने जाने वाली 'जाति' होती है। तात्पर्य यह है कि आकृतिविशेष जिस का व्यञ्जक होता है उसे 'जाति' कहते हैं। जैसे एक कुक्कुट (मुर्गे) या सूकर (सूअर) आदि को देख कर उस में गृहीत अवयवसंस्थान से अन्यत्र सर्वत्र कुक्कुट सूकर आदि व्यक्तियों का ज्ञान हो जाता है तो ये कुक्कुट, सूकर आदि प्रातिपदिक व्यक्तिवाचक होते हुए भी जातिवाचक हैं। अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में इन से प्रकृत **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६९) सूत्रद्वारा ङीष् प्रत्यय होकर भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'कुक्कुटी' (मुर्गी) 'सूकरी' (सूअर की माद्दा) आदि सिद्ध हो जाते हैं।

इसीप्रकार 'तट' शब्द भी जातिवाचक है। जल के समीप प्रदेश में एक तट को देख कर अन्यत्र सब तटों का ज्ञान हो जाता है। अतः इस जातिवाचक प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृतसूत्र से ङीष् प्रत्यय हो भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'तटी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

[२] **लिङ्गानां च न सर्वभाक् सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या** (जातिः)।[1]

---

१. या सर्वाणि लिङ्गानि न भजते। एकस्यां व्यक्तौ सकृद् आख्यातेन=उपदेशेन व्यक्त्यन्तरे उपदेशं विनाऽपि या सुग्रहा साऽपि जातिरिति जात्या लक्षणान्तरमित्यर्थः।

किसी व्यक्ति में एक बार जिस के कथन से अन्य अनेक व्यक्तियों में उस का बोध हो जाये तो उसे भी जाति समझना चाहिये। परन्तु ऐसा शब्द त्रिलिङ्गी या सर्वलिङ्गी नहीं होना चाहिये। यथा—किसी को जब वृषल (शूद्र) कह दिया जाये तो उस के पिता, पितामह, पुत्र, भ्राता आदि का भी वृषलत्व स्वयं विदित हो जाता है। इस तरह यह 'वृषल' प्रातिपदिक जातिवाचक हुआ। इस से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृत **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६६) सूत्र से ङीष् प्रत्यय हो अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'वृषली' (शूद्रजाति की स्त्री) प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इस द्वितीय लक्षण में **लिङ्गानां च न सर्वभाक्** इसलिये कहा है कि शुक्ल आदि त्रिलिङ्ग प्रातिपदिकों[1] से **सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या** के अनुसार स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् प्रत्यय न हो जाये। यथा—शुक्ला (बलाका)। यहां शुक्लशब्द से अदन्तलक्षण टाप् ही होता है, जातिलक्षण ङीष् नहीं।

इस द्वितीय लक्षण के अनुसार 'ब्राह्मण' शब्द भी जातिवाचक है, इस से भी प्रकृतसूत्रद्वारा ङीष् प्राप्त होता है, परन्तु शार्ङ्गरव आदि गण में इस का पाठ होने के कारण **शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्** (१२७५) सूत्र से ङीष् का बाध कर ङीन्[2] प्रत्यय हो जाता है—ब्राह्मणी। 'शूद्र' शब्द भी इसी तरह जातिवाचक है परन्तु अजादिगण में पाठ के कारण इस से प्रकृतसूत्रद्वारा ङीष् नहीं होता, **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से टाप् हो सवर्णदीर्घ कर विभक्ति लाने से 'शूद्रा' (शूद्रजाति की औरत) प्रयोग सिद्ध हो जाता है[3]। क्षत्रियशब्द के विषय में आगे मूल में ही कहेंगे।

---

१. शुक्ल आदि शब्दों का तीनों लिङ्गों में प्रयोग देखा जाता है। यथा—शुक्लो हंसः, शुक्ला बलाका, शुक्लं वस्त्रम्। अत एव अमरकोष में कहा गया है—

गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणिलिङ्गास्तु तद्वति।

२. ङीष् और ङीन् प्रत्ययों के करने में स्वर का ही अन्तर पड़ता है। ङीष्प्रत्ययान्त अन्तोदात्त तथा ङीन्प्रत्ययान्त आद्युदात्त होते हैं।

३. अजादिगण में यह गणसूत्र पढ़ा गया है—**शूद्रा चाऽमहत्पूर्वा जातिः।** अर्थात् यदि शूद्रशब्द जातिवाचक हो और उस से पूर्व 'महत्' शब्द भी न हो तो स्त्रीत्व की विवक्षा में उस से टाप् प्रत्यय होता है—शूद्रा (शूद्रजाति की औरत)। 'महत्' पूर्व में हो तो टाप् नहीं होता, जातिलक्षण ङीष् ही होता है—महाशूद्री (अहीर जाति की औरत)। पुंयोग में तो **पुंयोगादाख्यायाम्** (१२६१) से ङीष् निर्बाध होगा ही—शूद्रस्य स्त्री शूद्री, महाशूद्रस्य स्त्री महाशूद्री। जैसा कि अमरकोष में कहा है—

शूद्री शूद्रस्य भार्या स्याच्छूद्रा तज्जातिरेव च।
आभीरी तु महाशूद्री जातिपुंयोगयोः समा॥

[३-४] **गोत्रं च चरणैः सह** (जातिः)।[1]

गोत्र अर्थात् अपत्यप्रत्ययान्त प्रातिपदिक तथा चरणवाची (वेदशाखाध्येतृवाचक) प्रातिपदिक भी जाति-वाचक होते हैं। यथा—उपगोरपत्यम् औपगवः (उपगु की सन्तान)। यहां 'उपगु ङस्' से अपत्य अर्थ में **तस्याऽपत्यम्** (१००४) सूत्र से अण् तद्धित प्रत्यय ला कर सुँब्लुक्, आदिवृद्धि, **ओर्गुणः** (१००५) से भसंज्ञक उकार को ओकार गुण तथा **एचोऽयवायावः** (२२) से ओकार को अव् आदेश करने पर 'औपगव' प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। अपत्यप्रत्ययान्त होने से इस तृतीयलक्षणानुसार यह जातिवाचक है। अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से परे प्रकृतसूत्रद्वारा ङीष् प्रत्यय आ कर भसंज्ञक अंकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'औपगवी' (उपगु की लड़की) प्रयोग सिद्ध हो जाता है। यहां यह विशेष ध्यातव्य है कि अण्प्रत्ययान्त होने से 'औपगव' से स्त्रीत्व में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्रद्वारा ङीप् प्राप्त था, उस का यह अपवाद है।

चरणवाचियों का उदाहरण यथा—

कठेन प्रोक्तमधीते इति कठी (कठऋषिद्वारा प्रोक्त वेदशाखा को पढ़ने वाली स्त्री)। सर्वप्रथम ऋषिवाचक 'कठ' से **तेन प्रोक्तम्** (११०८) के अर्थ में **कलापि-वैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च** (४.३.१०४)[2] सूत्र से णिनिँ प्रत्यय हो कर **कठचरकाल्लुक्** (४.३.१०७)[3] से उस का लुक् हो जाता है। 'कठ' अर्थात् कठऋषिप्रोक्त वेदशाखा। पुनः इस 'कठ' से **तदधीते** (उसे पढ़ता है) के अर्थ में **तदधीते तद्वेद** (१०५३) द्वारा अण् प्रत्यय हो कर उस का भी **प्रोक्ताल्लुक्** (४.२.६३)[4] से लुक् हो जाता है। अब 'कठ' शब्द का अर्थ हो गया—कठऋषिप्रोक्त वेदशाखा का अध्ययन करने वाला। **गोत्रं च चरणैः सह** के अनुसार 'कठ' यह जातिवाचक प्रातिपदिक है। अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६६) इस प्रकृतसूत्रद्वारा इस से ङीष् प्रत्यय हो भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'कठी' (कठऋषिप्रोक्त वेद-शाखा का अध्ययन करने वाली स्त्री) प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

---

१. चरणैः सह गोत्रं जातिरित्यर्थः। गोत्रं चरणं च जातित्वं लभते इति भावः। गोत्रशब्देनेह अपत्यमात्रं विवक्षितं न तु **अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्** (१००६) इति पारिभाषिकम्। गोत्रस्य आकृतिग्रहणत्वाऽभावात् सर्वलिङ्गत्वाच्च पूर्वलक्षणा-भ्याम् असंग्रहात् पृथगुपादानम्।

२. कलापिन् के शिष्यवाची तथा वैशम्पायन के शिष्यवाची तृतीयासमर्थ प्रातिपदिकों से प्रोक्तार्थ में णिनिँ प्रत्यय होता है। 'कठ' को वैशम्पायन का शिष्य माना जाता है।

३. कठ और चरक प्रातिपदिकों से परे प्रोक्त प्रत्यय का लुक् हो जाता है।

४. प्रोक्तप्रत्ययान्त द्वितीयासमर्थ प्रातिपदिक से अध्येतृ-वेदितृ अर्थ में उत्पन्न प्रत्यय का लुक् हो जाता है।

चरणवाची का दूसरा उदाहरण यथा—

बह्व ऋचो (अध्येतव्याः) यस्याः सा बह्वृची (बहुत ऋचाओं अर्थात् ऋग्वेद का अध्ययन करने वाली स्त्री)। 'बहु जस् + ऋच् जस्' इस बहुव्रीहिसमास में सुँपों का लुक् हो कर **ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे** (९९३) सूत्रस्थ **अनृचबह्वृचौ अध्येतर्येव** (वा०) इस इष्टि के अनुसार समासान्त 'अ' प्रत्यय करने से 'बह्वृच' यह अदन्त प्रातिपदिक निष्पन्न होता है[1]। चरणवाचक होने से यह जातिवाचक है। अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६६) इस प्रकृतसूत्र से इस से ङीष् प्रत्यय हो कर भसंज्ञक अकार का लोप एवं विभक्तिकार्य करने पर 'बह्वृची' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[2]

जातेः किम् ? मुण्डा।

प्रकृत सूत्र द्वारा जातिवाचक से ही ङीष् का विधान किया गया है अन्य से नहीं। यथा—मुण्डा (सिर मुण्डी औरत)। 'मुण्ड' शब्द जातिवाचक नहीं, क्योंकि यहां आकृति से जाति की अभिव्यक्ति नहीं होती। सिर के मुण्डाने या न मुण्डाने से आकृति एक सी रहती है। जाति का द्वितीय लक्षण भी इस में घटित नहीं होता क्योंकि यह सर्वलिङ्गी है। अपत्यप्रत्ययान्त एवं चरणवाची न होने से **गोत्रं च चरणैः सह** के अनुसार भी यह जातिवाची नहीं। अतः प्रकृतसूत्रद्वारा इस से जातिलक्षण ङीष् न हो कर **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से अदन्त-लक्षण टाप् हो सवर्णदीर्घ कर विभक्तिकार्य करने से 'मुण्डा' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अस्त्रीविषयात् किम् ? बलाका।

प्रकृतसूत्र में 'अस्त्रीविषयात्' कहा गया है। अर्थात् जातिवाचक शब्द केवल स्त्रीलिङ्ग नहीं होना चाहिये। यथा—बलाका (बकविशेष)[3]। यह शब्द सदा स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयुक्त होता है अतः प्रकृतसूत्र से ङीष् न हो कर **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से अदन्तलक्षण टाप् ही होता है। इसीप्रकार—मक्षिका, पिपीलिका, यूका (जूं), खट्वा (खाट) आदि में जानना चाहिये।

---

१. इस प्रयोग की विस्तृत सिद्धि के लिये इस व्याख्या के चतुर्थभागस्थ (९९३) सूत्र की व्याख्या का अवलोकन करें।

२. कठी, बह्वृची आदि प्रयोगों से यही सिद्ध होता है कि प्राचीनकाल में स्त्रियों को भी पुरुषों की तरह वेद के अध्ययन-अध्यापन का पूरा पूरा अधिकार प्राप्त था, बाद में यह अधिकार किसी तरह उन से छीन लिया गया। अत एव यमस्मृति (?) में कहा है—

पुरा कल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।
अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवचनं तथा॥

३. **बलाका विसकण्ठिका**—इत्यमरः।

अयोपधात् किम् ? क्षत्रिया ।

जातिवाचक प्रातिपदिक की उपधा में यकार नहीं होना चाहिये अन्यथा प्रकृतसूत्र से ङीष् न होगा । यथा—क्षत्रिया (क्षत्रियजाति की औरत) । क्षत्रियशब्द उपर्युक्त द्वितीय जातिलक्षण के अनुसार जातिवाचक है परन्तु इस की उपधा में यकार है अतः प्रकृतसूत्र से ङीष् नहीं होता । **अजाद्यतष्टाप्** (१२४६) से टाप् हो कर रूप सिद्ध हो जाता है । इसीप्रकार—वैश्या (वैश्यजाति की स्त्री), इभ्या (हथिनी) आदि में जानना चाहिये ।

यहां यह भी ध्यातव्य है कि 'अतः' की अनुवृत्ति के कारण इस सूत्र की प्रवृत्ति जातिवाचक अदन्त प्रातिपदिकों तक ही सीमित है । अत एव आखुः, तित्तिरिः, गौः इत्यादियों में जातिलक्षण ङीष् नहीं होता ।

अब कुछ यकारोपध प्रातिपदिकों से भी जातिलक्षण ङीष् का विधान करने के लिये अग्रिमवार्त्तिक प्रवृत्त होता है—

[लघु०] वा०—(१११) योपधप्रतिषेधे हय-गवय-मुकय-मनुष्य-मत्स्यानामप्रतिषेधः ।।

हयी । गवयी । मुकयी । हलस्तद्धितस्य (१२५३) इति यलोपः—मनुषी ।।

अर्थः—यकारोपध जातिवाचकों से पूर्वसूत्रद्वारा जो ङीष् का निषेध किया गया है वह निषेध हय, गवय, मुकय, मनुष्य और मत्स्य इन पांच शब्दों में प्रवृत्त नहीं होता ।[1]

व्याख्या—प्रतिषेध का प्रतिषेध विधान हुआ करता है । तो इस प्रकार हय आदि पाञ्च प्रातिपदिकों से पूर्वसूत्रद्वारा जातिलक्षण ङीष् हो जाता है । उदाहरण यथा—हय (घोड़ा)—हयी (घोड़ी) । गवय (नीलगाय)—गवयी (नीलगाय की मादा) । मुकय (खच्चर)—मुकयी (खच्चरी) । ये सब जाति के प्रथमलक्षण (**आकृतिग्रहणा जातिः**) के अनुसार जातिवाचक हैं । इस प्रकृतवार्त्तिक की सहायता से **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६६) इस पूर्वसूत्रद्वारा ङीष् हो कर भसञ्ज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से उक्त रूप सिद्ध हो जाते हैं ।

मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च (४.१.१६१) सूत्रद्वारा मनुशब्द से तद्धित यत् प्रत्यय कर प्रकृति को षुक् का आगम करने से 'मनुष्य' शब्द निष्पन्न होता है । यह भी जातिवाचक है । इस का भी प्रकृतवार्त्तिक में उल्लेख आया है । अतः योपध होते हुए भी स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से जातिलक्षण ङीष् हो कर भसंज्ञक अकार का लोप

---

१. हय, गवय, मुकय, मनुष्य और मत्स्य—इन शब्दों का परिगणन गौरादिगण में भी किया गया है । परन्तु प्रकृतवार्त्तिक के कारण इन का गणगत पाठ अप्रामाणिक प्रतीत होता है । यदि गणगत पाठ को प्रामाणिक मानें तो इस वार्त्तिक की आवश्यकता नहीं रहती ।

करने से 'मनुष्य् + ई' हुआ । अब **हलस्तद्धितस्य** (१२५३) से उपधाभूत यकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'मनुषी' (मनुष्यजाति की स्त्री) प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।[1]

'मत्स्य' शब्द भी जातिवाचक है[2] । इस में भी प्रकृत **योपधप्रतिषेधे हय-गवय-मुकयमनुष्यमत्स्यानामप्रतिषेधः** (वा० १११) वार्त्तिक की सहायता से **जातेरस्त्री-विषयादयोपधात्** (१२६६) सूत्रद्वारा ङीष् प्रत्यय हो कर भसञ्ज्ञक अकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप करने पर 'मत्स्य् + ई' हुआ। अब यहां उपधाभूत यकार तो है परन्तु वह तद्धित का अवयव नहीं अतः **हलस्तद्धितस्य** (१२५३) के प्राप्त न होने पर अग्रिमवार्त्तिक से यकार के लोप का विधान करते हैं—

[लघु०] वा०—(११२) मत्स्यस्य ङ्याम् ॥

यलोपः । मत्सी ॥

अर्थः—ङी परे होने पर ही मत्स्यशब्द के उपधाभूत यकार का लोप हो ।

व्याख्या—यह वार्तिक **सूर्य-तिष्याऽगस्त्य-मत्स्यानां य उपधायाः** (६.४.१४९) सूत्र पर पढ़ा गया है। उक्त सूत्र का सरल अर्थ यह है—सूर्य, तिष्य, अगस्त्य और मत्स्य शब्दों के उपधाभूत भसंज्ञक यकार का लोप हो जाता है तद्धित या ईकार परे हो तो । इस के अनुसार ङी (ई) या तद्धित परे होने पर 'मत्स्य' के उपधाभूत यकार का लोप प्राप्त था ही पुनः **सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः** इस न्याय के अनुसार इस वार्तिक को नियमार्थ समझना चाहिये । मत्स्य के उपधाभूत भसंज्ञक यकार का लोप केवल ङी (ई) परे होने पर ही होता है अन्यत्र नहीं—यह यहां नियम फलित होता है । इस नियम के कारण तद्धित परे होने पर मत्स्य के उपधाभूत भसञ्ज्ञक यकार का लोप न

---

१. **मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च** (४.१.१६१)। अर्थः—यदि समुदाय से जाति गम्यमान हो तो मनुशब्द से तद्धितसञ्ज्ञक अञ् तथा यत् प्रत्यय होते हैं किञ्च इन प्रत्ययों के सन्नियोग में मनुशब्द को षुक् का आगम भी हो जाता है। अञ् करने पर आदिवृद्धि हो कर 'मानुषः', तथा यत् करनें पर 'मनुष्यः' प्रयोग सिद्ध होता है । मनुष्य का स्त्रीलिङ्ग 'मनुषी' तथा मानुष का स्त्रीलिङ्ग 'मानुषी' बनेगा । मानुषी का प्रयोग यथा—

मानुषीभ्यः कथं नु स्यादस्य रूपस्य सम्भवः ।
न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात् ॥ (शाकुन्तल १.२८)

स्त्रीणामशिक्षितपटुत्वममानुषीणां
सन्दृश्यते, किमुत याः परिबोधवत्यः ।
प्रागन्तरिक्षगमनात् स्वमपत्यजात-
मन्यैर्द्विजैः परभृताः किल पोषयन्ति ॥ (शाकुन्तल ५.२३)

२. मद् धातु से औणादिक (उणा० ४.२) स्यन् प्रत्यय करने से 'मत्स्य' शब्द सिद्ध होता है । इसे तद्धितान्त समझने की भूल नहीं करनी चाहिये ।

होगा। इस से—मत्स्यस्य इदम् मात्स्यं मांसम्—इत्यादियों में **तस्येदम्** (११०९) से हुए अण् तद्धित के परे रहते यकार का लोप नहीं होता।

प्रकृत में 'मत्स्य + ई' इस स्थिति में **मत्स्यस्य ङ्याम्** (वा० ११२) इस वार्त्तिक के नियमानुसार ङी के परे रहते मत्स्यशब्द के उपधाभूत यकार का लोप कर विभक्ति-कार्य करने से 'मत्सी' (मादा मच्छली) प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

अब एक अन्य सूत्र के द्वारा जातिलक्षण ङीष् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२७०) इतो मनुष्यजातेः ।४।१।६५॥

ङीष्। दाक्षी॥

अर्थः— मनुष्यजातिवाचक ह्रस्व-इकारान्त प्रातिपदिक से परे ङीष् प्रत्यय हो जाता है स्त्रीत्व की विवक्षा में।

व्याख्या—इतः।५।१। मनुष्यजातेः।५।१। ङीष्।१।१। (**अन्यतो ङीष्** सूत्र से)। **प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, प्रत्ययः, परश्च** —ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। 'इतः' यह 'प्राति-पदिकात्' का विशेषण है। विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'इदन्तात् प्रातिपदिकात्' बन जाता है। अर्थः—(मनुष्यजातेः) मनुष्यजातिवाचक (इतः = इदन्तात्) ह्रस्व-इकारान्त (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में (ङीष् प्रत्ययः) ङीष् प्रत्यय हो जाता है। **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६९) सूत्र में 'अतः' के अनुवर्त्तन के कारण उस की प्रवृत्ति अदन्त जातिवाचकों तक ही सीमित है। यहां पुनः मनुष्यजाति-वाचक इदन्त प्रातिपदिकों से ङीष् का विधान किया जा रहा है।

उदाहरण यथा—

दक्षस्यापत्यं स्त्री दाक्षी (दक्ष की सन्तति कन्या)। यहां 'दक्ष' प्रातिपदिक से **तस्याऽपत्यम्** (१००४) के अर्थ में अत इञ् (१०१४) सूत्र से तद्धितसंज्ञक इञ् (इ) प्रत्यय हो कर आदिवृद्धि एवं **यस्येति च** (२३६) द्वारा भसञ्ज्ञक अकार का लोप करने पर 'दाक्षि' यह ह्रस्व-इकारान्त प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। अपत्यप्रत्ययान्त होने से **गोत्रं च चरणैः सह** के लक्षणानुसार यह जातिवाचक है। मनुष्यजाति का वाचक होने के कारण स्त्रीत्वविवक्षा में प्रकृत **इतो मनुष्यजातेः** (१२७०) सूत्रद्वारा इस से ङीष् प्रत्यय हो भसञ्ज्ञक इकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'दाक्षी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]।

इसीप्रकार—प्लक्षस्यापत्यं स्त्री प्लाक्षी (प्लक्ष की लड़की) आदि प्रयोगों की सिद्धि जाननी चाहिये।

---

१. महाभाष्य आदि कई प्राचीन ग्रन्थों में अष्टाध्यायी के प्रणेता आचार्य पाणिनि को दाक्षीपुत्र कहा गया है। यथा—

सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः। (महाभाष्य १.१.२०)

इस से स्पष्ट भासित होता है कि आचार्यवर की माता दक्षकुल की कन्या थी।

अवन्ति और कुन्ति—ये शब्द जनपदवाची भी हैं और क्षत्रियवाची भी। अवन्तयो नाम जनपदाः, अवन्तयो नाम क्षत्रियाः। क्षत्रियवाची अवन्ति और कुन्ति इन इदन्त शब्दों से अपत्यार्थ में **वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ्** (४.१.१६९)[1] सूत्र से ञ्यङ् प्रत्यय हो स्त्रीत्व की विवक्षा में **स्त्रियामवन्तिकुन्तिकुरुभ्यश्च** (४.१.१७४)[2] से उस प्रत्यय का लुक् हो जाता है। परन्तु **प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्** (१९०) से अवन्ति और कुन्ति को अपत्यप्रत्ययान्त मान **गोत्रं च चरणैः सह** के अनुसार उसे जातिवाचक (मनुष्यजाति-वाचक) स्वीकार कर स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृत **इतो मनुष्यजातेः** (१२७०) सूत्र से ङीष्, भसंज्ञक इकार का लोप तथा विभक्तिकार्य करने से 'अवन्ती' (अवन्तेरपत्यं स्त्री, अवन्ती की लड़की), कुन्ती (कुन्तेरपत्यं स्त्री, कुन्ति की लड़की) प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।

पीछे से 'जातेः' की अनुवृत्ति आने पर भी इस सूत्र में 'जातेः' का पुनः उल्लेख यह व्यक्त करता है कि आचार्य मनुष्यजातिवाचक से सर्वथा ङीष् चाहते हैं। इस से इदन्त मनुष्यजातिवाचक शब्द यदि यकारोपध भी हो तो भी उस से ङीष् कर लिया जाता है। यथा—उदमेयस्याऽपत्यं स्त्री औदमेयी (उदमेय की लड़की)। 'उदमेय' से अपत्यार्थ में **तस्यापत्यम्** (१००४) से इञ् प्रत्यय, आदि अच् को वृद्धि एवं भसंज्ञक अकार का लोप कर 'औदमेयि' प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। अब स्त्रीत्व की विवक्षा में यकारोपध होते हुए भी इस से प्रकृतसूत्रद्वारा ङीष् प्रत्यय हो भसञ्ज्ञक इकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'औदमेयी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इदन्त प्रातिपदिक यदि मनुष्य से भिन्न अन्य जाति का वाचक होगा तो उस से प्रकृतसूत्रद्वारा ङीष् न होगा। यथा—तित्तिरिः (तीतर की मादा)। यह इदन्त जाति-वाचक तो है परन्तु मनुष्यजाति का वाचक नहीं, अतः इस से ङीष् नहीं होता।

अब ऊङ् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२७१) **ऊङुतः ।४।१।६६॥**

उदन्ताद् अयोपधाद् मनुष्यजातिवाचिनः स्त्रियामूङ् स्यात्। कुरूः। अयोपधात् किम्? अध्वर्युर्ब्राह्मणी॥

अर्थः—जिस की उपधा में यकार न हो ऐसे मनुष्यजातिवाची उदन्त प्राति-पदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में ऊङ् प्रत्यय हो।

---

१. अर्थः—क्षत्रियाभिधायी जनपदवाची वृद्धसंज्ञकों, इदन्तों, तथा कोसल और अजाद प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में तद्धितसंज्ञक ञ्यङ् प्रत्यय हो। उदाहरण यथा—(वृद्धसंज्ञकों से) आम्बष्ठानामपत्यम् आम्बष्ठ्यः, सौवीराणाम् अपत्यं सौवीर्यः। (इदन्तों से) आवन्त्यः, कौन्त्यः। कौसल्यः। आजाद्यः।

२. अर्थः—क्षत्रियाभिधायी जनपदवाची जो अवन्ति, कुन्ति तथा कुरु शब्द उन से उत्पन्न जो तद्राज प्रत्यय उन का भी स्त्रीत्व की विवक्षा में लुक् हो जाता है।

व्याख्या—ऊङ् ।१।१। उतः ।५।१। मनुष्यजातेः ।५।१। (**इतो मनुष्यजातेः** सूत्र से) । अयोपधात् ।५।१। (**जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** सूत्र से) । **स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं । 'उतः' यह 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण है । विशेषण से तदन्तविधि हो कर 'उदन्तात् प्रातिपदिकात्' बन जाता है । **अर्थः**—(अयोपधात्) जिस की उपधा में यकार नहीं ऐसे (मनुष्यजातेः) मनुष्यजातिवाचक (उतः = उदन्तात्) उदन्त (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से परे (ऊङ् प्रत्ययः) **ऊङ्** प्रत्यय हो जाता है (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में । ऊङ् प्रत्यय के ङकार अनुबन्ध की इत्सञ्ज्ञा एवं लोप करने पर 'ऊ' मात्र शेष रहता है । ऊङ् में ङकार अनुबन्ध **नोङ्धात्वोः** (६.१.१६९) इस स्वरविधायकसूत्र में ऊङ् के ग्रहण के लिये है अन्यथा कोई सा भी ऊकार गृहीत हो जाता । ऊङ् में दीर्घ ऊकार का ग्रहण श्वशुरस्य स्त्री—'श्वश्रूः' यहां दीर्घ के श्रवण के लिये किया गया है ।

उदाहरण यथा—

कुरोरपत्यं स्त्री—कुरूः (कुरु की लड़की) । 'कुरु' शब्द से **तस्याऽपत्यम्** (१००४) के अर्थ में **कुरु-नादिभ्यो ण्यः** (१०२९) से तद्धितसञ्ज्ञक ण्य प्रत्यय हो कर **स्त्रियामवन्ति-कुन्ति-कुरुभ्यश्च** (४.१.१७४) से उस का लुक् हो जाता है । इस प्रकार प्रत्ययलक्षणद्वारा अपत्यप्रत्ययान्त होने से **गोत्रं च चरणैः सह** के अनुसार यह जातिसञ्ज्ञक ठहरता है । पुनः इस से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृत **ऊङुतः** (१२७१) सूत्र से ऊङ् प्रत्यय हो कर **सवर्णदीर्घ** करने से 'कुरू' शब्द निष्पन्न हो जाता है । अब इस की प्रातिपदिकसंज्ञा करनी है जिस के कारण इस से सुँ आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति हो सके । परन्तु कृदन्त, तद्धितान्त या समास इन में से कोई सा भी न होने के कारण इस की **कृत्तद्धित-समासाश्च** (११७) से प्रातिपदिकसंज्ञा कैसे हो क्योंकि यह ऊङ्प्रत्ययान्त है, ऊङ्प्रत्यय अष्टाध्यायी में **तद्धिताः** (९१६) अधिकार के आरम्भ होने से पहले पढ़ा गया है ? इस समस्या के समाधान के लिये यहां एक परिभाषा का आश्रयण किया जाता है—**प्रातिपदिकग्रहणे लिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्** (प०) अर्थात् प्रातिपदिक के ग्रहण में लिङ्ग-विशिष्ट (लिङ्गयुक्त) प्रातिपदिक का भी ग्रहण हो जाता है । इस से ऊङ्प्रत्ययान्त का भी ग्रहण हो कर 'कुरू' की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा सिद्ध हो जाती है । तब प्रथमा के एक-वचन की विवक्षा में 'सुँ' प्रत्यय ला कर सकार को **ससजुषो रुः** (१०५) से रुँत्व तथा रेफ को अवसान में **खरवसानयोर्विसर्जनीयः** (९३) से विसर्ग आदेश करने पर 'कुरूः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । ध्यान रहे कि यहां ङी अथवा आप् न होने से हल्ङ्यादिसूत्र (१७९) द्वारा सकार का लोप नहीं होता ।

अयोपधात् किम् ? अध्वर्युर्ब्राह्मणी ।

यदि उपधा में यकार होगा तो **ऊङुतः** (१२७१) सूत्र की प्रवृत्ति न होगी । यथा—अध्वर्युः (ब्राह्मणी)[1] । यजुर्वेद का अध्ययन करने वाली ब्राह्मणी । यहां चरण-

---

१. अध्वर्युशब्दोऽत्र अध्वर्युशाखाध्यायिनीपरः, अध्वर्युशाखाध्यायिवंशोद्भवा वा, तद्वंश्य-त्वात् ताच्छब्द्यम् ।

वाची होने से 'अध्वर्यु' जातिवाचक है। परन्तु उपधा में यकार होने के कारण स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से प्रकृतसूत्रद्वारा ऊङ् नहीं होता, स्त्रीलिङ्ग में भी पुंलिङ्ग की तरह 'अध्वर्युः' रूप ही रहता है।

अब अग्रिमसूत्रद्वारा पङ्गुशब्द से स्त्रीत्व में ऊङ् का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२७२) **पङ्गोश्च** ।४।१।६८॥

पङ्गूः ॥

अर्थः—पङ्गुप्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में ऊङ् प्रत्यय हो।

व्याख्या—पङ्गोः ।५।१। च इत्यव्ययपदम्। ऊङ् ।१।१। (**ऊङुतः** सूत्र से)। **प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। अर्थः—(पङ्गोः प्रातिपदिकात्) पङ्गु प्रातिपदिक से परे (ऊङ् प्रत्ययः) ऊङ् प्रत्यय हो (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में।

पङ्गुशब्द गुणवाचक है जातिवाचक नहीं, अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से **ऊङुतः** (१२७१) सूत्र द्वारा ऊङ् प्राप्त नहीं होता था, इसलिये प्रकृतसूत्र से उस का विधान किया गया है। उदाहरण यथा—

'पङ्गु' प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में **पङ्गोश्च** (१२७२) इस प्रकृतसूत्र से ऊङ्प्रत्यय, ङकार अनुबन्ध का लोप तथा **अकः सवर्णे दीर्घः** (४२) से सवर्णदीर्घ करने पर 'पङ्गू' शब्द निष्पन्न होता है। अब पूर्वोक्त लिङ्गविशिष्टपरिभाषा से इस की प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर सुँ आदियों की उत्पत्ति होती है। प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सुँ प्रत्यय आ कर सकार को रुँत्व तथा रेफ को अवसान में विसर्ग आदेश करने पर 'पङ्गूः' (लङ्गड़ी औरत) प्रयोग सिद्ध हो जाता है। पङ्गुरयं बालः, पङ्गूरियं वनिता।

अब श्वशुरशब्द के स्त्रीलिङ्ग का निर्देश करते हैं—

[लघु०] वा०—(११३) **श्वशुरस्योकाराकारलोपश्च** ॥

श्वश्रूः ॥

अर्थः— श्वशुर (ससुर) प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में पुंयोग में ऊङ् प्रत्यय हो जाता है तथा इस के साथ 'श्वशुर' शब्द के उकार तथा अन्त्य अकार का भी लोप हो जाता है।

व्याख्या—श्वशुरस्य ।६।१। उकाराऽकारलोपः ।१।१। च इत्यव्ययपदम्। यह वार्त्तिक ऊङ्प्रत्यय के प्रकरण में पढ़ा गया है अतः ऊङ् का विधायक ही समझना चाहिये। अर्थः—(श्वशुरात्) श्वशुर प्रातिपदिक से (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में (ऊङ्) ऊङ् प्रत्यय हो जाता है तथा इस के साथ (श्वशुरस्य) श्वशुरशब्द के (उकाराऽकारयोः) उकार और अकार का (लोपः) लोप (च) भी हो जाता है। **श्वशुरः श्वश्र्वा** (१.२.७१) सूत्र के आधार पर यह वार्त्तिक ऊहित किया गया है अतः अन्त्य अकार

का ही लोप समझा जायेगा नकि वकारोत्तर का। ऊङ् प्रत्यय तद्धितसंज्ञक नहीं है अत: उस के परे रहते **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप प्राप्त नहीं होता था अत: इस वार्त्तिक में उस के लोप का विधान करना पड़ा है। पूर्वोक्त ज्ञापक से इस वार्त्तिक की प्रवृत्ति पुंयोग में ही होती है।

उदाहरण यथा—

श्वशुरस्य स्त्री (पत्नी)— श्वश्रूः (ससुर की पत्नी अर्थात् सास)। यहां श्वशुर-शब्द से पुंयोग में स्त्रीत्व की विवक्षा में **पुंयोगादाख्यायाम्** (१२६१) से ङीष् प्रत्यय प्राप्त होता था उस का बाध कर प्रकृत **श्वशुरस्योकाराकारलोपश्च** (वा० ११३) वार्त्तिक से ऊङ् प्रत्यय हो कर 'श्वशुर' के उकार तथा अन्त्य अकार का लोप करने पर —श्वश्र्+ऊ='श्वश्रू' बना। अब पूर्ववत् लिङ्गविशिष्टपरिभाषा से प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर सुँआदियों की उत्पत्ति होती है। प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में 'सुँ' प्रत्यय आ कर सकार को रुँत्व-विसर्ग करने से 'श्वश्रूः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

पुनः ऊङ् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—**(१२७३) ऊरूत्तरपदादौपम्ये ।४।१।६९।।**

उपमानवाचिपूर्वपदम् ऊरूत्तरपदं यत् प्रातिपदिकं तस्माद् ऊङ् स्यात्। करभोरूः ।।

अर्थः—जिस का पूर्वपद उपमानवाचक तथा उत्तरपद 'ऊरु' हो तो उस समस्त प्रातिपदिक से परे स्त्रीत्व की विवक्षा में ऊङ् प्रत्यय हो।

व्याख्या—ऊरूत्तरपदात् ।५।१। औपम्ये ।७।१। ऊङ् ।१।१। (ऊङुतः सूत्र से)। **स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। ऊरुरुत्तरपदं यस्य तद् ऊरूत्तरपदम्, तस्मात् = ऊरूत्तरपदात् (प्रातिपदिकात्)। बहुव्रीहिसमासः। उत्तरपद के कथन से 'पूर्वपद' का आक्षेप किया जाता है। 'औपम्ये' का अन्वय उसी आक्षिप्त पूर्वपद में होता है। उपमीयतेऽनया इत्युपमा, उपमानमित्यर्थः, करणेऽङ्। उपमैव औपम्यम्, स्वार्थे ष्यञ्। इस प्रकार 'उपमानवाचिपूर्वपदम्' यह पद प्राप्त हो जाता है। इसे 'प्रातिपदिकात्' के साथ सम्बद्ध कर विभक्तिविपरिणाम से 'उपमानवाचिपूर्वपदात्' बना लेते हैं। अर्थः—(औपम्ये = उपमानवाचिपूर्वपदात्) उपमानवाचक जिस का पूर्वपद है तथा (ऊरूत्तरपदात्) 'ऊरु' शब्द जिस का उत्तरपद है ऐसे समस्त (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से परे (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में (ऊङ्) ऊङ् प्रत्यय हो जाता है।

उदाहरण यथा—

करभाविव ऊरू यस्याः सा करभोरूः (करभ के समान मांसल पट्टों वाली स्त्री)। मणिबन्ध (हाथ के पहुँचे) से ले कर कनिष्ठिका अङ्गुलि तक जो हाथ की हथेलियों का

---

१. **श्वश्रूजनानुष्ठितचारुवेषां कर्णीरथस्थां रघुवीरपत्नीम् ।**
प्रासादवातायनदृश्यबन्धैः साकेतनार्योऽञ्जलिभिः प्रणेमुः ।।
(रघु० १४.१३)

पार्श्ववर्ती मांसल भाग होता है उसे करभ कहते हैं।[1] यहां समास में 'करभ' शब्द 'करभ के समान' अर्थ में लाक्षणिक है। 'करभ औ+ऊरु औ' इस अलौकिकविग्रह वाले अन्यपदप्रधान बहुव्रीहिसमास में **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) सूत्र से समास हो सुँब्लुक् कर गुण करने से 'करभोरु' यह समस्त प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। इस में पूर्वपद (करभ) उपमानवाचक तथा उत्तरपद 'ऊरु' है अतः प्रकृत **ऊरूत्तरपदादौपम्ये** (१२७३) सूत्र से स्त्रीत्व की विवक्षा में ऊङ् प्रत्यय, सवर्णदीर्घ तथा लिङ्गविशिष्टपरिभाषा से स्वादियों की उत्पत्ति हो प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में सकार को रुँत्व-विसर्ग करने से 'करभोरूः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—रम्भोरूः, कदलीस्तम्भोरूः, गजनासोरूः आदि प्रयोग समझने चाहियें।

रघुवंश (६.८३) में 'करभोपमोरूः'[2] पद का प्रयोग अशुद्ध है इस के स्थान पर 'करभोपमोरुः' होना चाहिये। करभ उपमा ययोस्तौ करभोपमौ, करभोपमौ ऊरू यस्याः सा करभोपमोरुः। यहां बहुव्रीहिसमास में 'करभ' उपमान तो है पर पूर्वपद नहीं (पूर्वपद तो 'करभोपम' है), अतः प्रकृतसूत्र से ऊङ् न होगा। इसीप्रकार—उपमान पूर्वपद न होने से 'सुन्दरौ ऊरू यस्याः सा सुन्दरोरुः, पीवरौ ऊरू यस्याः सा पीवरोरुः[3], वृत्तौ ऊरू यस्याः सा वृत्तोरुः' इत्यादियों में ऊङ् न होगा।

यदि उत्तरपद में केवल 'ऊरु' शब्द न हो कर ऊर्वन्त कुछ और होगा तो भी ऊङ् न होगा। यथा—स्वामिन ऊरू स्वाम्यूरू, हस्तिन इव स्वाम्यूरू यस्याः सा हस्तिस्वाम्यूरुः। उत्तरपद में 'ऊरु' न हो कर 'स्वाम्यूरु' है अतः ऊङ् प्रत्यय नहीं होता[4]।

---

१. **मणिबन्धाद् आकनिष्ठं करस्य करभो बहिर्**—इत्यमरः। 'करभ' शब्द हाथी या ऊँट के बच्चे के लिये भी प्रसिद्ध है। यदि यह अर्थ होगा तो 'उष्ट्रमुखः' की तरह समास होगा। तथाहि—करभस्य ऊरू करभोरू। करभोरू इव ऊरू यस्याः सा= करभोरूः। इस दशा में **सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्च** (वा०) इस वार्त्तिक से बहुव्रीहिसमास होगा।

२. **सा चूर्णगौरं रघुनन्दनस्य धात्रीकराभ्यां करभोपमोरूः।**
आसञ्जयामास यथाप्रदेशं कण्ठे गुणं मूर्त्तमिवानुरागम्॥ (रघु० ६.८३)

३. कुमारसम्भव (८.३६) में कालिदास ने **'पीवरोरु! पिबतीव बर्हिणः'** इसप्रकार 'पीवरोरू' शब्द के सम्बोधन में **अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः** (१९५) सूत्र प्रवृत्त कर जो 'पीवरोरु' प्रयोग किया है वह पाणिनीयव्याकरण की दृष्टि से ठीक नहीं है। यहां उपमानपूर्वपद न होने से ऊङ् का विधान सम्भव नहीं। [अथवा—**सञ्ज्ञापूर्वको विधिरनित्यः** इत्याश्रित्य **ह्रस्वस्य गुणः** (१६९) इत्यस्याऽप्रवृत्तेः कथञ्चित्समाधेयोऽयम्प्रयोगः]।

४. इस सूत्र के अर्थ का वैयाकरणों में क्रमिक विकास हुआ है। विशेषजिज्ञासु इस के लिये लेखक के सुप्रसिद्ध शोधप्रबन्ध **न्यासपर्यालोचन** (२.३०) का अवलोकन करें।

अब पूर्वपद उपमानवाची न होने पर भी ऊरूत्तरपद से अग्रिमसूत्रद्वारा ऊङ् प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२७४) **संहित-शफ-लक्षण-वामादेश्च** ।४।१।७०॥

अनौपम्यार्थं सूत्रम् । संहितोरूः । शफोरूः । वामोरूः ॥

अर्थः—संहित (संश्लिष्ट, जुड़ा हुआ, सटा हुआ), शफ (खुर), लक्षण (लक्षणवान्, सुलक्षण), वाम (अतिसुन्दर)—इन में से कोई जिस का पूर्वपद तथा 'ऊरु' शब्द जिस का उत्तरपद हो तो ऐसे समस्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में ऊङ् प्रत्यय हो।

उपमानवाची पूर्वपद न होने के कारण पूर्वसूत्रद्वारा ऊङ् प्राप्त न था अतः प्रकृतसूत्र से विधान किया जा रहा है।

व्याख्या—संहित-शफ-लक्षण-वामादेः ।५।१। च इत्यव्ययपदम् । ऊरूत्तरपदात् ।५।१। (**ऊरूत्तरपदादौपम्ये** सूत्र से) । ऊङ् ।१।१। (ऊङुतः सूत्र से) । **प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं । समासः—संहितश्च शफश्च लक्षणश्च वामश्च संहित-शफ-लक्षण-वामाः, संहित-शफ-लक्षण-वामा आदयः (आद्यवयवाः) यस्य सः=संहित-शफ-लक्षण-वामादिः, तस्मात्=संहितशफलक्षणवामादेः, द्वन्द्व-गर्भबहुव्रीहिसमासः । अर्थः—(संहित-शफ-लक्षण-वामादेः) संहित, शफ, लक्षण, वाम—आदि वाले तथा (ऊरूत्तरपदात्) ऊरु-उत्तरपद वाले (प्रातिपदिकात्) प्रातिपदिक से परे (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में (ऊङ् प्रत्ययः) ऊङ् प्रत्यय हो जाता है। क्रमशः उदाहरण यथा—

संहितौ ऊरू यस्याः सा=संहितोरूः (संश्लिष्ट अर्थात् परस्पर सटे हुए पट्टों वाली स्त्री) । यहां 'संहित औ+ऊरु औ' इस अलौकिकविग्रह में अन्यपद के अर्थ में **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) से बहुव्रीहिसमास हो सुँब्लुक् कर गुण करने से 'संहितोरु' प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। इस से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृत **संहित-शफ-लक्षण-वामादेश्च** (१२७४) सूत्रद्वारा ऊङ् प्रत्यय हो सवर्णदीर्घ कर पूर्ववत् प्रथमा के एकवचन में सुँ प्रत्यय के सकार को रुँत्व-विसर्ग करने पर 'संहितोरूः' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार—

शफौ (खुरौ)[1] ऊरू यस्याः सा शफोरूः (खुर हैं ऊरु जिस के, अर्थात् खुरों की

---

१. खुरवाची शफशब्द अमरकोष में **शफं क्लीबे खुरः पुमान्** इस प्रकार नपुंसकलिङ्ग माना गया है। परन्तु लोक में यह पुंलिङ्ग भी देखा जाता है। अत एव हेमचन्द्र ने अपने कोष में **शफः खुरे गवादीनां मूले विटपिनामपि** इस प्रकार इसे पुंस्त्व में प्रयुक्त किया है। **ग्राम्यपशुसङ्घेष्वतरुणेषु स्त्री** (१.२.७३) सूत्र की व्याख्या में पदमञ्जरी में इसे पुंलिङ्ग प्रयुक्त किया गया है। राथ् ने अपने कोष में भी इस की पुन्नपुंसकता कही है।

तरह संश्लिष्ट पट्टों वाली स्त्री)। यहां भी पूर्ववत् बहुव्रीहिसमास में सादृश्य के कारण ऊरुओं में खुरत्व का आरोप किया गया है, अतः उपमानवाचिपूर्वपद न होने से पूर्वसूत्र-द्वारा ऊङ् प्रत्यय प्राप्त न था।

सूत्रगत 'लक्षण' शब्द **अर्शआदिभ्योऽच्** (११९५) से प्राशस्त्य अर्थ में मत्वर्थीय अच् प्रत्यय करने से निष्पन्न हुआ है। प्रशस्तं लक्षणम् अस्त्यस्येति लक्षणः (शुभलक्षण वाला)। लक्षणौ (शुभलक्षणवन्तौ) ऊरू यस्याः सा = लक्षणोरूः (शुभलक्षणयुक्त पट्टों वाली स्त्री)। पूर्ववत् बहुव्रीहिसमास में ऊङ् हो गया है।

वामशब्द अतिसुन्दर अर्थ में त्रिलिङ्गी है[1]। वामौ = अतिसुन्दरौ ऊरू यस्याः सा = वामोरूः (अतिसुन्दर पट्टों वाली स्त्री)[2]। पूर्ववत् बहुव्रीहिसमास में सुँब्लुक् हो कर ऊङ् हो गया है।

अब ङीन् प्रत्यय का अग्रिमसूत्र से विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम् - (१२७५) शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन् ।४।१।७३॥

शार्ङ्गरवादेरञो योऽकारस्तदन्ताच्च जातिवाचिनो ङीन् स्यात्। शार्ङ्गरवी। बैदी। ब्राह्मणी॥

अर्थः—शार्ङ्गरव आदि गणपठित प्रातिपदिक से तथा अञ् प्रत्यय का जो अकार तदन्त जातिवाचक प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीन् प्रत्यय हो।

व्याख्या—शार्ङ्गरवादि।५।३। (लुप्तपञ्चम्यन्तं पृथक्पदम्)। अञः।६।१। ङीन् ।१।१। जातेः।५।१। (**जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** सूत्र से)। **अतः, प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, प्रत्ययः, परश्च**— ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं। 'अञः' इस षष्ठ्यन्त का अन्वय 'अतः' के साथ होता है। किञ्च 'प्रातिपदिकात्' का विशेषण होने से 'अतः' से तदन्तविधि हो जाती है। 'अञो योऽत्, तदन्ताद् जातिवाचिनः प्रातिपदिकात्' ऐसा अर्थ निष्पन्न हो जाता है। अर्थः—(शार्ङ्गरवादेः) शार्ङ्गरव आदि गण में पढ़े प्रातिपदिक से तथा (अञः) अञ् प्रत्यय का जो (अतः) अत् तदन्त (जातेः प्रातिपदिकात्) जातिवाचक प्रातिपदिक से (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में (ङीन्) ङीन् प्रत्यय हो जाता है।[3]

ङीन् में ङकार और नकार इत्संज्ञक हो कर लुप्त हो जाते हैं, 'ई' मात्र शेष रहता है। ङीन्प्रत्ययान्त शब्द **ञ्नित्यादिर्नित्यम्** (६.१.१९१) सूत्रद्वारा आद्युदात्त होते

---

१. **वामं सव्ये प्रतीपे च द्रविणे चातिसुन्दरे**—इति विश्वः।

२. **तदिदं विषहिष्यते कथं वद वामोरु! चिताधिरोहणम्**—(रघु० ८.५७)। हे वामोरु!, सम्बुद्धौ **अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः** (१९५) इति ह्रस्वः।

३. 'जातेः' का सम्बन्ध यथासम्भव 'शार्ङ्गरवादि' से भी कर लेना चाहिये। इस से शार्ङ्गरवादियों से विहित यह ङीन् जातिलक्षण ङीष् का ही अपवाद होगा, पुंयोग में होने वाले ङीष् का नहीं। अत एव 'शार्ङ्गरवस्य स्त्री' इस प्रकार पुंयोग की विवक्षा में **पुंयोगादाख्यायाम्** (१२६१) से ङीष् ही होता है ङीन् नहीं।

हैं जबकि ङीष्प्रत्ययान्त शब्द प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त, यही ङीन् और ङीष् करने में अन्तर होता है।

उदाहरण यथा—

शृङ्गरोरपत्यं स्त्री शार्ङ्गरवी (शृङ्गरु की लड़की)। शृङ्गरु नामक कोई व्यक्ति है। तद्वाचक 'शृङ्गरु' शब्द से **तस्यापत्यम्** (१००४) के अर्थ में अण् प्रत्यय, आदिवृद्धि, **ओर्गुणः** (१००५) सूत्र से उकार को ओकार गुण एवम् **एचोऽयवायावः** (२२) से ओकार को अव् आदेश हो कर 'शार्ङ्गरव' प्रातिपदिक निष्पन्न होता है। **गोत्रञ्च चरणैः सह** के अनुसार अपत्यप्रत्ययान्त होने से यह जातिवाचक है, अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६६) सूत्रद्वारा प्राप्त ङीष् का बाध कर प्रकृत **शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्** (१२७५) सूत्र से इस मे परे ङीन् प्रत्यय हो कर अनुबन्धलोप करने से 'शार्ङ्गरव+ई' हुआ। अब **यस्येति च** (२३६) से भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'शार्ङ्गरवी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

इसीप्रकार 'ब्राह्मण' शब्द शार्ङ्गरवादियों के अन्तर्गत पढ़ा गया है। यह **लिङ्गानां च न सर्वभाक्। सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या** के अनुसार जातिवाचक है[1]। अतः इस से भी पूर्ववत् प्राप्त जातिलक्षण ङीष् का बाध कर प्रकृतसूत्र से ङीन् प्रत्यय कर भसंज्ञक अकार का लोप तथा विभक्तिकार्य करने से 'ब्राह्मणी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। याद रहे कि 'ब्राह्मणी' में जातिलक्षण ङीष् करना अशुद्ध है।

अञ् का जो अकार तदन्त जातिवाचक का उदाहरण यथा—

बिदस्य गोत्रापत्यं स्त्री बैदी (बिदनामक व्यक्ति की गोत्रापत्य लड़की)। यहां 'बिद' से गोत्रापत्य अर्थ में **अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ्** (१०१६) सूत्र से अञ् प्रत्यय, आदिवृद्धि एवं भसंज्ञक अकार का लोप कर 'बैद' शब्द निष्पन्न होता है। यहां अञ् का जो अकार तदन्त प्रातिपदिक 'बैद' है ही। अपत्यप्रत्ययान्त होने से **गोत्रं च चरणैः सह** के अनुसार यह जातिवाचक भी है। अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६६) सूत्र से प्राप्त जातिलक्षण ङीष् का बाध कर प्रकृतसूत्र से ङीन् प्रत्यय, अनुबन्धलोप तथा भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्तिकार्य करने से 'बैदी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[2]

---

१. अथवा—ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मणः [**तस्यापत्यम्** (१००४) इत्यण्, अन् (१०२४) इति टिलोपो न] इस प्रकार अपत्यप्रत्ययान्त होने के कारण **गोत्रं च चरणैः सह** के अनुसार जातिवाचक है।

२. अञन्त जातिवाचक से ङीन् हो—ऐसा सीधा सरल अर्थ न कर के 'अञ् का जो अकार तदन्त जातिवाचक से ङीन् हो' इस प्रकार का अर्थ करना तथा सूत्र के सीधे 'शार्ङ्गरवाद्यञः' पद में 'शार्ङ्गरवादि' को लुप्तपञ्चम्यन्त तथा 'अञः' को षष्ठ्यन्त मान कर उपर्युक्त झमेलों से भरे अर्थ करने की यहां आवश्यकता ही

अब शाङ्गर्रवादिगण के अन्तर्गत एक गणसूत्र का निर्देश करते हैं--

[लघु०] गणसूत्रम्---**नृनरयोर्वृद्धिश्च** ॥

नारी ॥

अर्थः—नृ और नर इन दो जातिवाचक प्रातिपदिकों से परे स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीन् प्रत्यय तथा इस के साथ नृ और नर शब्दों को वृद्धि भी हो जाती है।

व्याख्या—यह गणसूत्र शाङ्गर्रवादियों में पढ़ा गया है अतः ङीन्‌विषयक ही समझना चाहिये। नृ (मनुष्य) शब्द **आकृतिग्रहणा जातिः** के अनुसार जातिवाचक है। परन्तु अदन्त न होने से इस से **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६९) द्वारा स्त्रीत्व में ङीष् प्राप्त नहीं, **ऋन्नेभ्यो ङीप्** (२३२) से ङीप् ही प्राप्त है। इसी तरह 'नर' शब्द भी जातिवाचक है परन्तु अदन्त होने से यहां **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६९) से ङीष् प्राप्त है। इन दोनों का अपवाद यह ङीन् प्रत्यय विधान किया जा रहा है किञ्च ङीन् के साथ इन प्रातिपदिकों में वृद्धि का विधान भी हो रहा है।

नृशब्द का उदाहरण यथा—

'नृ' शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में शाङ्गर्रवादिगणान्तर्गत **नृनरयोर्वृद्धिश्च** इस गणसूत्र से ङीन् प्रत्यय तथा 'नृ' के इक्-ऋकार को वृद्धि (आर्) हो कर विभक्तिकार्य करने से 'नारी' (स्त्री) प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]।

क्या है? यह शङ्का प्रबुद्ध जिज्ञासुओं के मन में बार बार उठा करती है। इस का प्रयोजन समझने के लिये 'शूरसेनी' उदाहरण को समझना होगा। शूरसेनस्यापत्यं स्त्री शूरसेनी (शूरसेन की सन्तान लड़की)। यहां 'शूरसेन' से अपत्य अर्थ में **जनपद-शब्दात् क्षत्रियादञ्** (१०२८) सूत्र से अञ् प्रत्यय हो कर **अतश्च** (४.१.१७५) सूत्र से उस का लुक् हो जाता है—शूरसेन। अब स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से परे प्रत्यय करना है। यदि प्रकृतसूत्र का सीधा सरल 'शाङ्गर्रवादियों तथा अञ्-प्रत्ययान्त जातिवाचकों से ङीन् हो' इस प्रकार का अर्थ करते हैं तो यहां भी प्रत्ययलक्षणद्वारा अञन्त मान लेने से ङीन् प्रत्यय की प्राप्ति होने लगती है जो अनिष्ट है। परन्तु उपर्युक्त अर्थ करने से 'अञ् का जो अकार तदन्त जातिवाचक से ङीन् हो' इस प्रकार अञ् के अकार के न रहने से यहां ङीन् नहीं होता। अकार को प्रत्ययलक्षण से भी नहीं माना जा सकता—**वर्णाश्रये नास्ति प्रत्ययलक्षणम्**। अब **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६९) सूत्र से ङीष् हो कर 'शूरसेनी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। ध्यान रहे कि यदि ङीन् किया गया होता तो 'शूरसेनी' में आद्युदात्त स्वर होता जो अब ङीषन्त होने से अन्तोदात्तस्वर होता है।

१. **यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।**
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः॥ (मनु० ३.५६)
नाना नारीं निष्फला लोकयात्रा (गणरत्न०), विना स्त्री के लोकयात्रा निष्फल है।

इसीप्रकार 'नर' प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में **नृनरयोर्वृद्धिश्च** इस गणसूत्र से ङीन् प्रत्यय हो कर—नर+ई। अब इसी गणसूत्र से अलोऽन्त्यपरिभाषाद्वारा 'नर' के अन्त्य अकार को वृद्धि (आ) प्राप्त होती है और इधर **यस्येति च** (२३६) सूत्रद्वारा उस अकार का लोप प्राप्त होता है। **वार्णादाङ्गं** बलीयः (वर्णसम्बन्धी कार्य से अङ्गसम्बन्धी कार्य बलवान् होता है) इस परिभाषा के अनुसार अङ्गसम्बन्धी कार्य अर्थात् भसंज्ञक अकार का लोप हो जाता है—नर्+ई। अब यहां लौकिकप्रयोग के अनुरोध से अथवा आन्तरतम्य से 'नर्' के नकारोत्तर अकार को ही वृद्धि (आ) हो कर विभक्तिकार्य करने से नारी (मनुष्यजाति की स्त्री) प्रयोग सिद्ध हो जाता है[1]।

'नारी' प्रयोग 'नृ' शब्द से ही सिद्ध हो जाता है पुनरपि 'नर' शब्द से जाति-लक्षण ङीष् हो कर कहीं 'नरी' न बन जाये इसलिये नरशब्द से भी 'नारी' बनाया गया है। यहां जातिलक्षण ङीन् है, पुंयोग में **पुंयोगादाख्यायाम्** (१२६१) से तो ङीष् होगा ही—नरस्य स्त्री नरी (पत्नी)। नृशब्द से पुंयोग में ङीष् नहीं होता कारण कि वह अदन्त नहीं।[2]

अब 'ति' प्रत्यय का विधान करते हैं—

[लघु०] विधि-सूत्रम्—(१२७६) **यूनस्तिः** ।४।१।७७।।

युवन्शब्दात् स्त्रियां तिः प्रत्ययः स्यात्। युवतिः ।।

अर्थः—युवन्शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में 'ति' प्रत्यय हो।

---

१. कई वैयाकरणों का कथन है कि इस वार्त्तिक में ही लुप्त-अकार नरशब्द (नर्) के नकारोत्तर अकार को ही वृद्धि करने का स्पष्ट उल्लेख है। वे लोग वार्त्तिकगत 'नृनरयोः' पद की व्याख्या इस प्रकार करते हैं—
नर्शब्द का षष्ठ्येकवचन बनेगा—नरः (नर्शब्द का)।
नरः अः=नरः, षष्ठीतत्पुरुषः, अर्थ होगा—नर् का अ।
नृशब्द का प्रथमैकवचन 'ना' बनता है। ना च नरः च—
नृनरौ, तयोः=नृनरयोः, द्वन्द्वसमासः। नृशब्द के स्थान पर तथा नर् शब्द के अकार के स्थान पर वृद्धि हो—इस प्रकार वार्त्तिक का अर्थ हो जायेगा। नृशब्द के स्थान पर होने वाली वृद्धि **इको गुणवृद्धी** (१.१.३) परिभाषा के अनुसार नृशब्द के ऋकार को ही होगी।

२. शार्ङ्गरवादिगण यथा—
शार्ङ्गरव। कापटव। गौगुलव। ब्राह्मण। गौतम। कामण्डलेय। ब्राह्मकृतेय। आनिचेय। आनिधेय। आशोकेय। वात्स्यायन। मौञ्जायन। कैकसेय। काव्य। शैव्य। एहि। पर्येहि। आश्मरथ्य। औदपान। अराल। चण्डाल। वतण्ड। **भोगवद्गौरिमतोः संज्ञायाम्**—भोगवती, गौरिमती। **नृनरयोर्वृद्धिश्च**—नारी। इस गण का विवेचन काशिका, शब्दकौस्तुभ आदि में देखें।

व्याख्या—यूनः ।५।१। तिः ।१।१। **स्त्रियाम्, तद्धिताः, प्रत्ययः, परश्च**—ये सब पूर्वतः अधिकृत हैं । अर्थः—(यूनः) युवन् प्रातिपदिक से (स्त्रियाम्) स्त्रीत्व की विवक्षा में (तिः) ति (प्रत्ययः) प्रत्यय होता है और वह (तद्धितः) तद्धितसंज्ञक होता है ।

उदाहरण यथा—

युवन् (जवान) प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में प्रकृत **यूनस्तिः** (१२७६) सूत्र से तद्धितसंज्ञक 'ति' प्रत्यय हो कर—'युवन् + ति' हुआ । अब **स्वादिष्वसर्वनाम-स्थाने** (१६४) से तिप्रत्यय के परे रहते युवन् की पदसंज्ञा हो **न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य** (१८०) से उस के अन्त्य नकार का लोप हो जाता है—युवति । तद्धितान्त होने के कारण **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) द्वारा प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर अब 'युवति' से स्वादियों की उत्पत्ति होती है[1] । प्रथमा के एकवचन की विवक्षा में 'सुँ' प्रत्यय ला कर सकार को रुँत्व और रेफ को विसर्ग आदेश करने से 'युवतिः' (जवान स्त्री) प्रयोग सिद्ध हो जाता है[2] ।

प्रकृतसूत्र **अनुपसर्जनात्** (४.१.१४) के अधिकार में पढ़ा गया है अतः बहुव्रीहि-समास में जब युवन्शब्द उपसर्जन होता है तब इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती—बहवो युवानो यस्यां सा बहुयुवा नगरी[3] ।

---

१. **ङ्याप्प्रातिपदिकात्** (११६) इस अधिकार के कारण सुँ आदियों की उत्पत्ति ङी और आप् से तो हो सकती है पर तिप्रत्ययान्त से नहीं, इसलिये प्रकृत में 'ति' प्रत्यय की तद्धितसंज्ञा की गई है जिस से तद्धितान्त की **कृत्तद्धितसमासाश्च** (११७) से प्रातिपदिकसंज्ञा हो कर उस से स्वादियों की उत्पत्ति हो सके । परन्तु यह प्रयोजन लिङ्गविशिष्टपरिभाषा से भी सिद्ध हो सकता है जैसाकि ऊङ्प्रत्ययान्तों में प्रातिपदिकसञ्ज्ञा हो कर स्वादियों की उत्पत्ति हुआ करती है । अतः यहां 'ति' की तद्धितसंज्ञा करना निष्प्रयोजन सा प्रतीत होता है । तद्धितसंज्ञा का उपयोग अष्टाध्यायी में आगे किया जाना उचित है । शायद इसी विचार से प्रेरित हो कर लघुसिद्धान्तकौमुदीकार वरदराज ने यहां वृत्ति (सूत्रार्थ) में तिप्रत्यय की तद्धितसंज्ञा का कोई उल्लेख नहीं किया ।

२. **युवतिजनकथामूकभावः परेषाम्** । (नीतिशतक ५४)
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः । (शाकुन्तल ४.१८)

३. 'ति' से मुक्त होने पर **ऋन्नेभ्यो ङीप्** (२३२) से ङीप् प्राप्त होता है । उस का **अनो बहुव्रीहेः** (४.१.१२) से निषेध हो जाता है । पुनः **डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्** (४.१.१३) सूत्रद्वारा विकल्प से डाप् प्रत्यय हो जाता है । डाप्पक्ष में डित्त्व के कारण टि का लोप हो जाता है । पक्षान्तर में राजन्शब्दवत् प्रक्रिया होती है । प्रथमैकवचन में रूप दोनों पक्षों का एक जैसा बनता है—बहुयुवा (नगरी) ।

कहीं कहीं साहित्य में 'युवती' ऐसा दीर्घघटित प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है।[1] वहां 'युवति' शब्द से **सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके** (गणसूत्र) से ङीष् प्रत्यय कर भसञ्ज्ञक इकार का **यस्येति च** (२३६) से लोप करने पर 'युवती' शब्द की सिद्धि समझनी चाहिये। अथवा—**यु मिश्रणाऽमिश्रणयोः** (अदा० प०) धातु के शत्रन्त 'युवत्' रूप से **उगितश्च** (१२५०) द्वारा ङीप् कर विभक्ति लाने से 'युवती' प्रयोग निष्पन्न हो जाता है। यौति=मिश्रीकरोति आत्मानं पत्येति युवती।

स्त्रीप्रत्ययप्रकरण के कुछ अन्य उपयोगी सूत्र एवं वार्त्तिक व्युत्पन्न विद्यार्थियों की ज्ञानवृद्धि के लिये यहां संक्षेप से सोदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

(१) वनो र च ।४।१।७॥

अर्थः—वन्प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से परे स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् प्रत्यय तथा इस के साथ वन् के नकार को रेफ आदेश भी हो जाता है।

ङीप् तो **ऋन्नेभ्यो ङीप्** (२३२) से प्राप्त था ही, वन् के नकार को रेफ आदेश विधान करने के लिये ही यह सूत्र बनाया गया है। उदाहरण यथा—

पारदृश्वन्—पारदृश्वरी (जो पार को देख चुकी है, पारंगता)।[2]
शास्त्रदृश्वन्—शास्त्रदृश्वरी (शास्त्रों की ज्ञाता स्त्री)।
राजकृत्वन्—राजकृत्वरी (राजा को बनाने वाली स्त्री)।[3]
सहकृत्वन्—सहकृत्वरी (साथ कर चुकी स्त्री)।[4]
प्रातरित्वन्—प्रातरित्वरी (प्रातःकाल जाने वाली स्त्री)।[5]
पीवन्—पीवरी (स्थूला स्त्री, रक्षा करने वाली)।[6]

---

१. **न सोऽस्ति पुरुषो लोके यो न कामयते श्रियम्।**
परस्य युवतीं रम्यां सादरं नेक्षतेऽत्र कः॥ (हितोप० २.१३१)

२. पारं दृष्टवतीति पारदृश्वरी। शास्त्रं दृष्टवतीति शास्त्रदृश्वरी। **दृशेः क्वनिंप्** (८०८) सूत्रद्वारा इन में क्वनिंप् प्रत्यय किया गया है। सम्पूर्ण सिद्धि इसी सूत्र (८०८) पर लिख चुके हैं वहीं देखें।

३. राजानं कृतवतीति राजकृत्वरी। **राजनि युधि-कृञः** (८०९) सूत्रद्वारा 'कृ' धातु से क्वनिंप् प्रत्यय हो कर तुँक् का आगम (७७७) हो जाता है।

४. सह कृतवतीति सहकृत्वरी। **सहे च** (८१०) सूत्र से क्वनिंप् प्रत्यय हो जाता है। तुँक् का आगम पूर्ववत् समझना चाहिये।

५. प्रातर् एति (गच्छति) इति प्रातरित्वरी। प्रातर्पूर्वक **इण् गतौ** (अदा० परस्मै०) धातु से **अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते** (७९९) सूत्र से क्वनिंप् प्रत्यय हो कर तुँक् का आगम हो जाता है।

६. **प्यैङ् वृद्धौ** (भ्वा० आत्मने०)। **प्याय्योः सम्प्रसारणं च** (उणा० ४.११६) इति क्वनिंपि सम्प्रसारणम्, **हलः** (८१९) इति दीर्घः।

धीवन्—धीवरी (ध्यान करने वाली)।[1]
सुत्वन्—सुत्वरी (निचोड़ने वाली)।[2]
इस सूत्र की प्रवृत्ति वन्नन्तान्त से भी होती है।
यथा—धीवानम् अतिक्रान्ता—अतिधीवरी। अतिपीवरी।

(२) **वा०—वनो न हश इति वक्तव्यम्॥**

अर्थः—यदि हशन्त धातु से वन्प्रत्यय विधान किया गया हो तो उस वन्नन्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप्+रत्व नहीं होता। उदाहरण यथा—

राजयुध्वन्—राजयुध्वा, राजयुध्वानौ, राजयुध्वानः।[3]
सहयुध्वन्—सहयुध्वा, सहयुध्वानौ, सहयुध्वानः।[4]
अवावन्—अवावा ब्राह्मणी (चुराने वाली ब्राह्मणी)।[5]

(३) **पादोऽन्यतरस्याम्।४।१।८॥**

अर्थः—'पाद' शब्द जिस के अन्त में हो ऐसे प्रातिपदिक से परे स्त्रीत्व की विवक्षा में विकल्प से ङीप् हो।

अप्राप्ति में ङीप् का विधान किया गया है। उदाहरण यथा—

---

१. **ध्यै चिन्तायाम्** (भ्वा० परस्मै०)। पूर्ववत् क्वनिँपि सम्प्रसारणे **हलः** (८१९) इति दीर्घत्वम्।

२. **षुञ् अभिषवे** (स्वा० उभय०)। **सुयजोर्ङ्वनिँप्** (३.२.१०३) इति ङ्वनिँपि तुँगागमः (७७७)।

३. राजानं योधितवतीति राजयुध्वा। **राजनि युधिकृञः** (८०९) सूत्र पर इस की सिद्धि देखें।

४. सह युद्धवतीति सहयुध्वा। **सहे च** (८१०) सूत्र पर इस की सिद्धि देखें।

५. **ओणृँ अपनयने** (भ्वा० परस्मै०) धातु से **अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते** (७९९) सूत्रद्वारा वनिँप् प्रत्यय कर **विड्वनोरनुनासिकस्यात्** (८०१) से णकार को आकार तथा **एचोऽयवायावः** (२२) से ओकार को अव् आदेश करने पर 'अवावन्' शब्द निष्पन्न होता है। यहां प्रकृतवार्त्तिकद्वारा ङीप्+रत्व का निषेध हो कर स्त्रीलिङ्ग में भी पुंलिङ्गवत् 'अवावा' प्रयोग बनता है। परन्तु न्यासकार प्रकृतवार्त्तिक को क्वाचित्क मान कर यहां पर भी ङीप्+रत्व का विधान मानते हैं—अवावरी। साहित्य में ऐसे प्रयोग देखे भी जाते हैं—

अवावरीं धीतिमिरस्य पीवरीं
संसारसिन्धोः परमार्थदृश्वरीम्।
सुधीवरीं सत्पुरुषार्थसम्पदां
नमामि भक्त्या परया सरस्वतीम्॥

(लौगा० गृ० सूत्र की टीकारम्भ)

सु (शोभनौ) पादौ यस्याः सा सुपदी सुपाद् वा (सुन्दर पैरों वाली)।
द्वौ पादौ यस्याः सा द्विपदी द्विपाद् वा (दो पैरों वाली)।
त्रयः पादा यस्याः सा त्रिपदी त्रिपाद् वा (तीन पैरों वाली)।
चत्वारः पादा यस्याः सा चतुष्पदी चतुष्पाद् वा (चार पैरों वाली)।

बहुव्रीहिसमास में **संख्यासुपूर्वस्य** (९७५) सूत्र से पादशब्द के अन्त्य अकार का समासान्त लोप हो जाता है। तब प्रकृतसूत्र से वैकल्पिक ङीप् करने पर ङीप्पक्ष में भसंज्ञा हो कर **पादः पत्** (३३३) सूत्र से भसंज्ञक 'पाद्' को 'पद्' आदेश हो जाता है। ङीप् के अभाव में भसंज्ञा न होने से पद् आदेश नहीं होता—सुपाद्। इन रूपों की सिद्धि समासप्रकरण में (९७५) सूत्र पर देखें।

(४) **मनः** ।४।१।११॥

अर्थः—'मन्' जिस के अन्त में हो उस प्रातिपदिक से परे स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् प्रत्यय नहीं होता।

'मन्' चाहे सार्थक हो या निरर्थक दोनों का यहां ग्रहण हो जाता है।[1]

उदाहरण यथा—

दामन् (रस्सी)—दामा, दामानौ, दामानः।
पामन् (खुजली)—पामा, पामानौ, पामानः।
सीमन् (सीमा-हद्द)—सीमा, सीमानौ, सीमानः।
अतिमहिमन्[2]—अतिमहिमा, अतिमहिमानौ, अतिमहिमानः।

(५) **अनो बहुव्रीहेः** ।४।१।१२॥

अर्थः—'अन्' जिस के अन्त में हो उस बहुव्रीहि से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् प्रत्यय नहीं होता। उदाहरण यथा—

शोभनं चर्म यस्याः सा सुचर्मा मृगी। सुचर्माणौ, सुचर्माणः।
शोभनानि पर्वाणि यस्याः सा सुपर्वा यष्टिः। सुपर्वाणौ, सुपर्वाणः।
बहवो यज्वानो यस्यां सा बहुयज्वा नगरी। बहुयज्वानौ, बहुयज्वानः।

(६) **डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्** ।४।१।१३॥

अर्थः—पूर्वोक्त मन्नन्तों तथा अन्नन्तबहुव्रीहि से स्त्रीत्व की विवक्षा में एक पक्ष में डाप् प्रत्यय भी हो जाता है।

डाप् (आ) करने पर **टेः** (२४२) सूत्र से भसंज्ञक टि का लोप हो जाता है। डाप् के अभाव में पूर्वोक्त निषेधों के कारण नान्त रूप ही रहेंगे। उदाहरण यथा—(मन्नन्तों से)

---

१. **अनिनस्मन्ग्रहणान्यर्थवता चाऽनर्थकेन च तदन्तविधिं प्रयोजयन्ति** (प०)। इस परिभाषा की व्याख्या (२८७) सूत्र पर देखें।

२. महिमानम् अतिक्रान्ता—अतिमहिमा देवी। **अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया** (वा० ५९) इति समासः। 'महिमन्' शब्द इमनिँच्प्रत्ययान्तः पुंलिङ्गः।

दामन् + डाप् = दामन् + आ = दाम् + आ = दामा, दामे, दामाः ।

पामन् + डाप् = पामन् + आ = पाम् + आ = पामा, पामे, पामाः ।

सीमन् + डाप् = सीमन् + आ = सीम् + आ = सीमा, सीमे, सीमाः ।

अतिमहिमन् + डाप् = अतिमहिमन् + आ = अतिमहिम् + आ = अतिमहिमा, अतिमहिमे, अतिमहिमाः ।

अन्नन्त बहुव्रीहि से भी—

सुचर्मन् + डाप् = सुचर्मन् + आ = सुचर्म् + आ = सुचर्मा, सुचर्मे, सुचर्माः ।

सुपर्वन् + डाप् = सुपर्वन् + आ = सुपर्व् + आ = सुपर्वा, सुपर्वे, सुपर्वाः ।

बहुयज्वन् + डाप् = बहुयज्वन् + आ = बहुयज्व् + आ = बहुयज्वा, बहुयज्वे, बहुयज्वाः ।

(७) अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम् ।४।१।२८।।

अर्थः—जिस की उपधा का लोप होता हो ऐसे अन्नन्त बहुव्रीहि से स्त्रीत्व विवक्षा में ङीप् प्रत्यय विकल्प से होता है । पक्ष में डाप् तथा ङीप्-निषेध प्रवृत्त होंगे ।

उदाहरण यथा—

'बहवो राजानो यस्यां सा' इस बहुव्रीहिसमास में सुँपों का लुक् हो कर 'बहुराजन्' इस अवस्था में स्त्रीत्व के विवक्षित होने पर प्रकृतसूत्र से वैकल्पिक ङीप् हो जाता है ।

ङीप्पक्ष में—बहुराजन् + ङीप् = बहुराजन् + ई । अब **यचि भम्** (१६५) से भसंज्ञा हो कर **अल्लोपोऽनः** (२४७) से अन् के अकार का लोप हो जाता है—बहुराज्न् + ई । **स्तोः श्चुना श्चुः** (६२) द्वारा श्चुत्व से नकार को ञकार कर विभक्ति लाने से 'बहुराज्ञी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है । बहुराज्ञी, बहुराज्ञ्यौ, बहुराज्ञ्यः । नदीवत् रूपमाला चलेगी ।

पक्ष में **डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्** (४.१.१३) से डाप् प्रत्यय हो जाता है—बहुराजन् + डाप् = बहुराजन् + आ । **टेः** (२४२) सूत्र से भसंज्ञक टि का लोप हो कर —बहुराज् + आ = 'बहुराजा' यह आबन्त शब्द सिद्ध हो जाता है । बहुराजा, बहुराजे, बहुराजाः । रमावत् रूपमाला चलेगी ।

डाप् के अभावपक्ष में **अनो बहुव्रीहेः** (४.१.१२) से ङीप् का निषेध रहेगा । तब 'बहुराजन्' नकारान्त रहेगा, रूपमाला स्त्रीलिङ्ग में भी राजन्शब्द की तरह होगी —बहुराजा, बहुराजानौ, बहुराजानः ।

(८) दाम-हायनान्ताच्च ।४।१।२७।।

अर्थः—संख्यावाचक जिस के आदि में हो तथा दामन् या हायन शब्द जिस के अन्त में हो ऐसे समस्त प्रातिपदिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् प्रत्यय हो जाता है ।

उदाहरण यथा—

द्वे दाम्नी यस्याः सा द्विदाम्नी वडवा (दो रस्सियों वाली घोड़ी) । त्रीणि दामानि

यस्याः सा त्रिदाम्नी वडवा (तीन रस्सियों वाली घोड़ी)। ङीप् के परे रहते भसंज्ञक अन् के अकार का **अल्लोपोऽनः** (२४७) से लोप हो जाता है।

द्वे हायने यस्याः सा द्विहायनी बाला (दो वर्ष की लड़की)। त्रिहायणी। चतुर्हायणी। आयुर्वाचक 'हायन' शब्द ही का यहां ग्रहण अभीष्ट है। त्रिहायणी, चतुर्हायणी—इन में णत्व भी वयोवाच्य होने पर ही इष्ट है। वयोवाच्य न होने पर ङीप् और णत्व दोनों नहीं होते। यथा—त्रिहायना शाला, चतुर्हायना शाला। टाप् ही होता है।

(९) केवल-मामक-भागधेय-पापाऽपर-समानाऽऽर्यकृत-सुमङ्गल-भेषजाच्च ॥ ।४।१।३०॥

अर्थः—केवल, मामक, भागधेय, पाप, अपर, समान, आर्यकृत, सुमङ्गल और भेषज—इन नौ शब्दों से स्त्रीत्व की विवक्षा में नित्य ङीप् प्रत्यय हो जाता है संज्ञा या । अन्यत्र टाप् होगा।

शब्द	वेद या संज्ञा में	अन्यत्र लोक में
१. केवल	केवली	केवला[1]
२. मामक	मामकी	मामिका[2]
३. भागधेय	भागधेयी	भागधेया
४. पाप	पापी	पापा
५. अपर	अपरी	अपरा[3]
६. समान	समानी[4]	समाना
७. आर्यकृत	आर्यकृती	आर्यकृता
८. सुमङ्गल	सुमङ्गली[5]	सुमङ्गला
९. भेषज	भेषजी	भेषजा

(१०) वा०—पाणिगृहीती भार्यायाम् ॥

अर्थः—यदि विधिवत् पाणिग्रहण किया गया हो तो उस स्त्री को पाणिगृहीती (ङीष्प्रत्ययान्त) कहना चाहिये अन्यथा पाणिगृहीता (टाप्प्रत्ययान्त)।[6]

---

१. **किं तया क्रियते लक्ष्म्या या वधूरिव केवला।** (पञ्च० २.१३४)

२. **सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।** (गीता० ९.७)

३. **स्त्रीरत्नसृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे।** (शाकुन्तल २.१०)

४. **समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।**
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥
(ऋग्वेद १०.१९१.३)

५. **सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत।** (ऋग्वेद १०.८५.३३)

६. पाणिर्गृहीतो यस्याः (विधिवत्) सा पाणिगृहीती भार्या। यस्यास्तु कथञ्चित् पाणिर्गृह्यते सा पाणिगृहीता।

(११) **सख्यशिश्वीति भाषायाम् । ४।१।६२॥**

अर्थः—सखी और अशिश्वी ये दो ङीषन्त प्रयोग स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में लौकिकसंस्कृत में प्रयुक्त होते हैं।

सखि (मित्र) शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् प्रत्यय कर भसंज्ञक इकार का लोप करने पर 'सखी' शब्द निष्पन्न होता है। सहेली को 'सखी' कहते हैं।[1] **आलिः सखी वयस्या च**—इत्यमरः।

अविद्यमानः शिशुर्यस्याः सा अशिश्वी (अनपत्या, सन्ततिरहिता स्त्री)। यहां बहुव्रीहिसमास में 'अशिशु' से ङीष् प्रत्यय कर **इको यणचि** (१५) से उकार को वकार आदेश करने से 'अशिश्वी' निष्पन्न होता है। **अशिश्वी शिशुना विना**—इत्यमरः।

(१२) **अन्तर्वत्पतिवतोर्नुँक् ।४।१।३२॥**

अर्थः—अन्तर्वत् तथा पतिवत् प्रातिपदिकों को स्त्रीत्व की विवक्षा में नुँक् का आगम हो जाता है। **आद्यन्तौ टकितौ** (८५) परिभाषा के अनुसार यह आगम अन्तावयव होता है। तब शब्दों के नान्त हो जाने से **ऋन्नेभ्यो ङीप्** (२३२) से ङीप् हो जाता है।

उदाहरण यथा—

अन्तर्वत् नुँक्+ङीप्=अन्तर्वत्नी (सगर्भा स्त्री)।

पतिवत् नुँक्+ङीप्=पतिवत्नी (जीवित पतिवाली स्त्री)।[2]

(१३) **पत्युर्नो यज्ञसंयोगे ।४।१।३३॥**

अर्थः—स्त्रीत्व की विवक्षा में पतिशब्द के इकार को नकार आदेश हो जाता है,

---

१. **गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।**
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम्॥

(रघु० ८.६७)

२. अन्तर्+मतुँप्=अन्तर्वत्। यहां अन्तर्शब्द अधिकरण-शक्तिप्रधान अव्यय है अतः प्रथमान्त न होने से इस से मतुप् की प्राप्ति न थी। उस का यहां निपातन समझना चाहिये। मतुप् के मकार को वत्व **मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः** (१०६५) से हो जाता है।

पति+मतुँप्=पतिवत्। यहां मतुँप् तो प्राप्त है परन्तु वत्व नहीं उस का इस सूत्र से निपातन समझना चाहिये।

ध्यान रहे कि अर्थविशेष में ही इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है। सगर्भा अर्थ में 'अन्तर्वत्नी' का तथा जीवितभर्तृका के अर्थ में 'पतिवत्नी' शब्द का प्रयोग होता है। अन्तरस्त्यस्यां गर्भ इत्यन्तर्वत्नी गर्भवती। **आपन्नसत्त्वा स्याद् गुर्विण्यन्तर्वत्नी च गर्भिणी**—इत्यमरः।

पतिरस्त्यस्या इति पतिवत्नी जीवत्पतिः। **पतिवत्नी सभर्तृका**—इत्यमरः।

यज्ञ के साथ संयोग गम्यमान हो तो। नकारादेश हो कर प्रातिपदिक नकारान्त हो जाता है तब **ऋन्नेभ्यो ङीप्** (२३२) से ङीप् प्रत्यय हो जाता है।

पत्नी पति के साथ मिल कर यज्ञ की अधिकारिणी होती है और इस तरह यज्ञ के फल की भी भोक्त्री होती है।

उदाहरण यथा—

यजमानस्य पत्नी। वसिष्ठस्य पत्नी अक्षमाला। याज्ञवल्क्यपत्नी मैत्रेयी।

यज्ञसंयोग गम्य न होने पर नहीं होता। यथा—ग्रामस्य पतिरियं ब्राह्मणी (यह ब्राह्मणी ग्राम की स्वामिनी है)।

पत्नीव पत्नी—ऐसा औपचारिक प्रयोग भी होता है। यथा—वृषलस्य पत्नी। शूद्रस्य पत्नी।[1]

(१४) विभाषा सपूर्वस्य ।४।१।३४।।

अर्थः—पूर्वपद से युक्त पतिशब्दान्त प्रातिपदिक को स्त्रीत्व की विवक्षा में विकल्प से नकारादेश होता है। जहां नकार आदेश होगा वहां **ऋन्नेभ्यो ङीप्** (२३२) से ङीप् होगा। नकार के अभाव में वैसे का वैसा रूप रहेगा।

उदाहरण यथा—

गृहस्य पतिः—गृहपत्नी गृहपतिर्वा।

सभायाः पतिः—सभापत्नी सभापतिर्वा।

बहुव्रीहिसमास में भी इस सूत्र की प्रवृत्ति हो जाती है—

वृद्धः पतिर्यस्याः सा वृद्धपत्नी वृद्धपतिर्वा। जीवतीति जीवः, पचाद्यच्। जीवः पतिरस्या इति जीवपत्नी जीवपतिर्वा।

(१५) नित्यं सपत्न्यादिषु ।४।१।३५।।

अर्थः— सपत्नी आदि शब्दों की सिद्धि के लिये इकार के स्थान पर पूर्वोक्त नकार आदेश नित्य हो जाता है। पूर्वसूत्र से विकल्प के प्राप्त होने पर इस सूत्र से नित्य विधान कर रहे हैं।

उदाहरण यथा—

समानः पतिरस्या इति सपत्नी[2] (समान पति वाली, सौत)। निपातन से 'समान' को 'स' आदेश हो जाता है।

इसीप्रकार—एकः पतिरस्या इति एकपत्नी। वीरपत्नी।

(१६) नासिकोदरौष्ठ-जङ्घा-दन्त-कर्ण-शृङ्गाच्च ।४।१।५५।।

अर्थः—नासिका, उदर, ओष्ठ, जङ्घा, दन्त, कर्ण और शृङ्ग—ये जो स्वाङ्ग-

---

१. **पत्नीमूलं गृहं पुंसां यदि छन्दोऽनुवर्तिनी।**
गृहाश्रमसमं नास्ति यदि भार्या वशानुगा।। (आप्टेकोष से उद्धृत)

२. **कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने**—(शाकुन्तल ४.१७)।

वाचक उपसर्जन शब्द, तदन्त प्रातिपदिकों से स्त्रीत्व की विवक्षा में विकल्प से ङीष् हो जाता है। पक्ष में अदन्तलक्षण टाप् होता है।

उदाहरण यथा—

तुङ्गनासिकी, तुङ्गनासिका।[1]
कृशोदरी, कृशोदरा।
बिम्बोष्ठी, बिम्बोष्ठा।[2]
सुजङ्घी, सुजङ्घा।
समदन्ती, समदन्ता।
चारुकर्णी, चारुकर्णा।
तीक्ष्णशृङ्गी, तीक्ष्णशृङ्गा।

ओष्ठ, जङ्घा, दन्त, कर्ण और शृङ्ग—ये पाञ्च शब्द स्वाङ्गवाचक होते हुए भी संयोगोपध हैं, **स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्** (१२६५) सूत्रद्वारा इन से वैकल्पिक ङीष् प्राप्त न था अतः इन से विधान किया गया है। नासिका और उदर ये दो अनेकाच् स्वाङ्गवाची हैं, इन में **स्वाङ्गाच्चोप०** (१२६५) द्वारा प्राप्त वैकल्पिक ङीष् का **न क्रोडादिबह्वचः** (१२६६) द्वारा निषेध होना था अतः इस सूत्र में इन का पुनर्विधान किया गया है।

प्रकृतसूत्र में 'च' के ग्रहण के कारण कुछ अन्य संयोगोपधों से भी वैकल्पिक ङीष् की प्रवृत्ति हो जाती है। यथा—मृद्वङ्गी-मृद्वङ्गा, सुगात्री-सुगात्रा, रक्तकण्ठी-रक्तकण्ठा, कल्याणपुच्छी-कल्याणपुच्छा। अत एव वार्त्तिककार ने कहा है—**अङ्ग-गात्र-कण्ठेभ्य इति वक्तव्यम्** (वा०), **पुच्छाच्चेति वक्तव्यम्** (वा०)।

कुण्डोध्नी, घटोध्नी आदि शब्द बहुत दूध देने वाली गाय के लिये प्रसिद्ध हैं। कुण्डमिव ऊधः[3] (आपीनम्) यस्याः सा कुण्डोध्नी (कुण्ड की तरह चड्डे=हवाने वाली गाय)। 'कुण्ड सुँ+ऊधस् सुँ' इस अलौकिकविग्रह में **अनेकमन्यपदार्थे** (९६६) सूत्र से बहुव्रीहिसमास हो सुँब्लुक् करने से—कुण्डोधस्। अब **ऊधसोऽनँङ्** (५.४.१३१)[4] सूत्र

---

१. तुङ्गे नासिके यस्याः सा तुङ्गनासिकी तुङ्गनासिका वा। यहां नासिका को बहुव्रीहि-समास में उपसर्जनह्रस्व हुआ है तथा 'तुङ्गा' पद को पुंवद्भाव। इसीप्रकार 'सुन्दर्यौ जङ्घे यस्याः सा सुजङ्घी सुजङ्घा वा' में उपसर्जनह्रस्व समझना चाहिये।
२. बिम्बमिव (बिम्बफलमिव) ओष्ठौ यस्याः सा बिम्बोष्ठी बिम्बोष्ठा वा।
ओत्वोष्ठयोः समासे वा (वा०) इस वार्त्तिकद्वारा यहां वैकल्पिक पररूप होता है। पक्ष में वृद्धि भी हो जाती है—बिम्बौष्ठी, बिम्बौष्ठा वा।
३. **ऊधस्तु क्लीबमापीनम्** इत्यमरः।
४. अर्थः—ऊधस्शब्दान्त बहुव्रीहिसमास में ऊधस् के सकार को अनँङ् आदेश हो जाता है स्त्रीत्व की विवक्षा में।

से ऊधस् के अन्त्य अल् सकार को समासान्त अनँङ् आदेश हो जाता है—कुण्डोध अनँङ् =कुण्डोध अन्=कुण्डोधन् (**अतो गुणे** से पररूप)। अब यहां अग्रिमसूत्र प्रवृत्त होता है—

(१७) **बहुव्रीहेरूधसो ङीष्** ।४।१।२५॥

अर्थः—ऊधस् (हवाना, चड्डा) शब्द जिस के अन्त में हो ऐसे बहुव्रीहिसमास से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् प्रत्यय हो जाता है।

'कुण्डोधन्' के अन्त में **एकदेशविकृतमनन्यवत्** के अनुसार ऊधस् शब्द विद्यमान है और यह बहुव्रीहिसमास भी है अतः प्रकृतसूत्र से ङीष् प्रत्यय हो कर **अल्लोपोऽनः** (२४७) से भसञ्ज्ञक अन् के अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'कुण्डोघ्नी'[1] प्रयोग सिद्ध हो जाता है। इसीप्रकार—घट इव ऊधो यस्याः सा घटोघ्नी[2] गौः।

——:०:——

अभ्यास [२]

(१) निम्नलिखित गणसूत्रों तथा वार्त्तिकों की सोदाहरण व्याख्या करें—

१. शूद्रा चाऽमहत्पूर्वा जातिः। २. श्वशुरस्योकाराकारलोपश्च। ३. नृनरयोर्वृद्धिश्च। ४. योपधप्रतिषेधे हय-गवय०। ५. मत्स्यस्य ङ्याम्। ६. पाणिगृहीती भार्यायाम्। ७. वनो न हश इति वक्तव्यम्।

(२) निम्नस्थ सूत्रों की सोदाहरण व्याख्या करें—

१. जातेरस्त्रीविषयाद्०। २. स्वाङ्गाच्चोप०। ३. ऊरूत्तरपदादौपम्ये। ४. संहितशफलक्षणवामादेश्च। ५. न क्रोडादिबह्वचः। ६. यूनस्तिः। ७. ऊङुतः। ८. इतो मनुष्यजातेः। ९. शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्। १०. पत्युर्नो यज्ञसंयोगे। ११. वनो र च। १२. अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम्। १३. सख्यशिश्वीति भाषायाम्। १४. अन्यतो ङीष्। १५. नित्यं सपत्न्यादिषु। १६. दामहायनान्ताच्च। १७. मनः। १८. अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक्। १९. नासिकोदरौष्ठ०। २०. पूर्वपदात्संज्ञायामगः। २१. नखमुखात्संज्ञायाम्। २२. पादोऽन्यतरस्याम्। २३. बहुव्रीहेरूधसो ङीष्। २४. केवलमामक०।

(३) निम्नलिखित युगलों में अर्थ का अन्तर स्पष्ट करें—

१. शूद्री—शूद्रा। २. सुमुखी—सुमुखा। ३. शूर्पणखा—शूर्पनखी।

---

१. **भुवं कोष्णेन कुण्डोघ्नी मेध्येनावभृथादपि।**
प्रस्नवेनाभिवर्षन्ती वत्सालोकप्रवर्त्तिना॥ (रघु० १.८४)

२. **अथैकधेनोरपराधचण्डाद् गुरोः कृशानुप्रतिमाद् बिभेषि।**
शक्योऽस्य मन्युर्भवता विनेतुं गाः कोटिशः स्पर्शयता घटोघ्नीः॥ (रघु० २.४९)

४. युवतिः—युवती । ५. पाणिगृहीती—पाणिगृहीता । ६. केवली—केवला । ७. समानी—समाना । ८. त्रिहायना—त्रिहायणी ९. नारी—नरी । १०. त्रिपदी—त्रिपादी ।

(४) व्याख्या करें—

[क] असंयोगोपधात् किम् ? सुगुल्फा ।

[ख] उपसर्जनात् किम् ? शिखा ।

[ग] जातेः किम् ? मुण्डा ।

[घ] अयोपधात् किम् ? अध्वर्युर्ब्राह्मणी ।

[ङ] अयोपधात् किम् ? क्षत्त्रिया ।

[च] संज्ञायां किम् ? ताम्रमुखी कन्या ।

[छ] अस्त्रीविषयात् किम् ? बलाका ।

(५) ङीप्, ङीष्, ङीन्—इन में अनुबन्धभेद के कारण रूपसिद्धि पर क्या प्रभाव पड़ता है ?

(६) निम्नलिखित प्रातिपदिकों के स्त्रीलिङ्ग रूप ससूत्र सिद्ध करें—

१. चतुष्पाद् । २. कोमलाङ्ग । ३. पारदृश्वन् । ४. बहुयज्वन् । ५. नर । ६. सीमन् । ७. कुण्डोधस् । ८. वामलोचन । ९. नृ । १०. उत्स । ११. तट । १२. सखि । १३. पतिमत् । १४. मामक[1] । १५. श्वन्[2] । १६. मघवन्[3] । १७. सुवक्त्र । १८. अगस्त्य । १९. सभापति ।

---

१. ममायमिति मामकः । **युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्च** (१०७९) सूत्रद्वारा अस्मद् से अण्, **तवकममकावेकवचने** (१०८१) से अस्मद् को 'ममक' सर्वादेश, आदिवृद्धि तथा भसंज्ञक अकार का लोप कर विभक्ति लाने से 'मामकः' प्रयोग निष्पन्न होता है । स्त्रीत्व की विवक्षा में 'मामक' से टाप् कर **मामकनरकयोरुपसंख्यानम्** वार्त्तिक से ककार से पूर्व अकार को इत्व कर विभक्ति लाने से—मामिका । ममेयम्—मामिका ।

२. स्त्रीत्व की विवक्षा में श्वन् से **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५५) द्वारा ङीष् प्रत्यय, **श्वयुवमघोनामतद्धिते** (२९०) से वकार को उकार सम्प्रसारण तथा पूर्वरूप (२५८) कर विभक्ति लाने से 'शुनी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है ।

३. मघोनः स्त्री—मघोनी । मघवन् शब्द से स्त्रीत्व में **ऋन्नेभ्यो ङीप्** (२३२) से ङीप्, **श्वयुवमघोनामतद्धिते** (२९०) से वकार को सम्प्रसारण उकार, पूर्वरूप तथा **आद् गुणः** (२७) से गुण कर विभक्ति लाने से—मघोनी (इन्द्र की पत्नी) । **मघवा बहुलम्** (२८८) द्वारा तृ त्वपक्ष में **उगितश्च** (१२५०) द्वारा ङीप् करने से 'मघवती' भी बनेगा ।

(७) अधोनिर्दिष्ट रूपों की ससूत्र सिद्धि करें—

१. पङ्गूः । २. कुरूः । ३. दाक्षी । ४. वामोरूः । ५. ब्राह्मणी । ६. नारी । ७. मत्सी । ८. हयी । ९. श्वश्रूः । १०. करभोरूः । ११. शार्ङ्गरवी । १२. युवतिः । १३. बैदी । १४. अतिकेशी-अतिकेशा । १५. शूर्पणखा । १६. बह्वृची । १७. कल्याणक्रोडा । १८. कुण्डोध्नी । १९. अवावा (अवावरी) । २०. क्षत्रिया । २१. अशिश्वी । २२. अन्तर्वत्नी । २३. सपत्नी । २४. सुपदी । २५. बिम्बोष्ठी-बिम्बोष्ठा ।

(८) निम्नस्थ दो कारिकाओं की सोदाहरण व्याख्या करें—

(क) **अद्रवं मूर्त्तिमत्स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम् ।**
अतत्स्थं तत्र दृष्टं च तेन चेत्तत्तथायुतम् ॥

(ख) **आकृतिग्रहणा जातिः लिङ्गानां च न सर्वभाक् ।**
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या गोत्रं च चरणैः सह ॥

(९) निम्नस्थ प्रश्नों का सहेतुक उत्तर दीजिये—

[क] 'सुस्वेदा' में स्वाङ्गलक्षण ङीष् क्यों नहीं होता ?

[ख] किन किन योपधों में जातिलक्षण ङीष् अनुमत है ?

[ग] बैदी में अजन्तत्वात् **टिड्ढाणञ्०** से ङीप् क्यों नहीं होता ?

[घ] 'हस्तिस्वाम्यूरुः' में ऊङ् की प्रवृत्ति क्यों नहीं होती ?

[ङ] संज्ञा होते हुए भी 'रघुनाथः' में **पूर्वपदात्०** से णत्व क्यों नहीं ?

[च] बहवो युवानो यस्यां सा बहुयुवा । **यूनस्तिः** द्वारा 'ति' प्रत्यय क्यों नहीं हुआ ?

[छ] **यूनस्तिः** सूत्र को **तद्धिताः** के अधिकार में क्यों पढ़ा गया है ?

[ज] **पूर्वपदात्संज्ञायामगः** में 'अगः' क्यों कहा गया है ?

[झ] यज्ञसंयोग के विना 'शूद्रस्य पत्नी' कैसे उपपन्न होता है ?

[ञ] ऊङन्तों से स्वाद्युत्पत्ति कैसे हो जाती है ?

[ट] पीवरोरूः; करभोपमोरूः—इन में ऊङ् का प्रयोग शुद्ध है या अशुद्ध ?

[ठ] जब 'नृ' से 'नारी' बन गया तो 'नर' से पुनः क्यों बनाते हैं ?

[ड] 'सुमुखा शाला' यहां स्वाङ्गलक्षण ङीष् क्यों नहीं होता ?

[ढ] 'आखु' से **ऊङुतः** द्वारा ऊङ् क्यों नहीं होता ?

[ण] पिपीलिका, मक्षिका आदियों में जातिलक्षण ङीष् क्यों नहीं हुआ ?

(१०) 'सुजघना' में जातिलक्षण ङीष् नहीं होता परन्तु 'कृशोदरी' में हो जाता है—इस वैषम्य का क्या कारण है ?

(११) मामक शब्द अण्प्रत्ययान्त है । स्त्रीत्व में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) द्वारा ङीप् हो कर 'मामकी' क्यों नहीं बनता ? 'मामिका' क्यों बन जाता है ?[१]

---

१. 'मामकी' प्रयोग वेद में या संज्ञा में होता है । परन्तु लोक में **केवलमामक०** (४.१.३०) इस नियम के कारण ङीप् न होकर टाप् होता है ।

[लघु०] इति स्त्रीप्रत्ययप्रकरणम् ।।

यहां पर स्त्रीप्रत्ययों का प्रकरण समाप्त होता है।

[लघु०] शास्त्रान्तरे[1] प्रविष्टानां बालानां चोपकारिका । कृता वरदराजेन लघु-सिद्धान्त-कौमुदी ।।

अन्वयः—शास्त्रान्तरे प्रविष्टानाम् अप्रविष्टानां च बालानाम् उपकारिका (इयं) लघुसिद्धान्तकौमुदी वरदराजेन कृता (वेदितव्या)।

अर्थः—चाहे दूसरे शास्त्रों में प्रवेश हुआ हो या न हुआ हो, बालकों को व्याकरण का बोध कराने में उपकारक यह लघुसिद्धान्तकौमुदी वरदराज (आचार्य) ने बनाई है।

व्याख्या—'शास्त्रान्तरे प्रविष्टानाम्' का दूसरा छेद 'शास्त्रान्तरे+अप्रविष्टानाम्' भी यहां 'च' के बल से अभीष्ट है। 'बालानाम्' से अभिप्राय यहां दूध-पीते या अबोध बालकों से नहीं, अपितु व्याकरण से अनभिज्ञ छात्रों से है। ऐसे छात्र दो प्रकार के हो सकते हैं। (१) अन्यशास्त्रों में प्रविष्ट अर्थात् अन्य शास्त्रों का ज्ञान रखने वाले तथा (२) अन्यशास्त्रों में अप्रविष्ट अर्थात् अन्य शास्त्रों का ज्ञान न रखने वाले। दोनों प्रकार के व्याकरणानभिज्ञ छात्रों को लघु-सिद्धान्त-कौमुदी के माध्यम से व्याकरण-ज्ञानरूप लाभ पहुँचेगा—ऐसी वरदराजजी की मान्यता है।

[लघु०] इति श्रीवरदराजकृता लघु-सिद्धान्त-कौमुदी समाप्ता ।।

इति भूतपूर्वाऽखण्डभारताऽन्तर्गत-सिन्धुतटवर्त्ति-डेराइस्माईल-
खानाख्यनगरवास्तव्य-भाटियावंशावतंस-श्रीमद्रामचन्द्र-
वर्मसूनुना एम. ए. साहित्यरत्नेत्याद्यनेकोपाधिभृता
वैद्येन भीमसेनशास्त्रिणा विरचितायां
लघुसिद्धान्तकौमुद्या भैमीव्याख्यायां
स्त्रीप्रत्ययप्रकरणात्मकः षष्ठो
भागः पूर्त्तिमगात् ।।

---

१. अन्यत् शास्त्रम्—शास्त्रान्तरम्। मयूरव्यंसकादित्वात् समासः। तस्मिन्=शास्त्रान्तरे।

अथ परिशिष्टानि

[१] शुद्धाऽशुद्धबोधक-शतकम्

[२] स्त्रीप्रत्ययप्रकरणगताष्टाध्यायीसूत्र-तालिका

[३] स्त्रीप्रत्ययप्रकरणान्तर्गतवार्तिकादि-तालिका

[४] उदाहरण-तालिका

[५] स्त्रीप्रत्ययप्रकरणोपयोगि अष्टाध्यायी-सूत्रपाठः

[६] विशेष-द्रष्टव्य-स्थल-तालिका

[७] विशेष-स्मरणीय-पद्यमाला

[८] स्त्रीप्रत्ययविधायकमुख्यसूत्राणि

[९] संक्षिप्तं पाणिनीयं लिङ्गानुशासनम्

[१] परिशिष्टे--शुद्धाऽशुद्धबोधकशतकम्

[इस परिशिष्ट में विद्यार्थियों को स्त्रीप्रत्ययों के विषय में सावधान एवं चौकन्ना रखने के लिये शुद्धाऽशुद्धमिश्रित प्रायः स्वनिर्मित एक सौ पद्यखण्डों का समायोजन किया गया है । इन में स्त्रीप्रत्ययविषयक विवेच्य पदों को सूक्ष्म टाइप में दर्शाया गया है । प्रत्येक पद्यखण्ड के नीचे विवेच्य पदों का साधुत्व वा असाधुत्व सहेतुक सरल भाषा में खोल कर समझाया गया है । विद्यार्थियों को इस परिशिष्ट के अभ्यास से अन्यत्र भी अशुद्धियों के पकड़ने में महती निपुणता प्राप्त होगी ।]

—※—

(१) **प्राणानामी**श्वरी **मे त्वं जीवताच्छरदः शतम् ॥**

विवेचन—ईश् धातु से **स्थेश-भास-पिस-कसो वरच्** (३.२.१७५) सूत्रद्वारा वरच् प्रत्यय करने पर 'ईश्वर' शब्द निष्पन्न होता है । स्त्रीत्व में अदन्तलक्षण टाप् करने से 'ईश्वरा' होना चाहिये । यदि यहां औणादिक वरट् (उणा० ५.५७) प्रत्यय मानें तो **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) से टित्त्वलक्षण ङीप् हो कर उपर्युक्त प्रयोग भी शुद्ध कहा जा सकता है ।

(२) नश्वरां **सम्पदं प्राप्य को धन्यो भुवि मानवः ॥**

विवेचन—नश्धातु से **इण्-नश्-जि-सर्त्तिभ्यः क्वरप्** (३.२.१६३) सूत्रद्वारा ताच्छीलिक क्वरप् प्रत्यय करने पर 'नश्वर' शब्द निष्पन्न होता है । स्त्रीत्व में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय करने से 'नश्वरी' प्रयोग बनेगा । अतः यहां 'नश्वराम्' के स्थान पर 'नश्वरीम्' होना चाहिये ।

(३) **इयं** शैलि**र्महाक्लिष्टा शब्दजालसमन्विता ॥**

विवेचन—शीले भवा शैली, शीलादागता वा शैली । शीलशब्द से अण् प्रत्यय हो कर स्त्रीत्व की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र से ङीप् करने पर 'शैली' प्रयोग होना चाहिये ।

(४) **भक्तिरस्तु** समानी **मे देवयोरुभयोरपि ॥**

विवेचन—**केवल-मामक-भागधेय-पापाऽपर-समानाऽऽर्य-कृत-सुमङ्गल-भेषजाच्च** (४.१.३०) इस सूत्र से संज्ञा या वेद में ही ङीप् का विधान किया गया है, अतः लोक में अन्यत्र टाप् ही होता है । इस प्रकार यहां 'समाना' होना चाहिये, 'समानी' नहीं ।

(५) **समदृष्टेर्भवन्त्येव सर्वाः** सुखमया **दिशाः ॥**

विवेचन—सुखमयशब्द मयट्प्रत्ययान्त है अतः **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) से टित्त्वलक्षण ङीप् हो कर 'सुखमयी' शब्द का प्रथमाबहुवचन 'सुखमय्यः' प्रयोग होना

चाहिये। दिश्शब्द से भागुरिमत के अनुसार[1] आप् (आ) हो कर 'दिशाः' शुद्ध प्रयोग है।

(६) **दशामेतादृशां प्राप्य निःस्वो याति यमालयम् ॥**

विवेचन—'एतादृश' शब्द **त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च** (३४७) सूत्रद्वारा कञ्प्रत्ययान्त निष्पन्न हुआ है। अतः स्त्रीत्व में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) द्वारा ङीप् हो कर 'एतादृशीम्' होना चाहिये।

(७) **मूर्त्तिर्भयङ्करी तस्य प्रत्यहं समजायत ॥**

विवेचन—'भयङ्कर' शब्द **मेघर्त्तिभयेषु कृञः** (३.२.४३) द्वारा खच्प्रत्ययान्त निष्पन्न हुआ है, अतः ङीप् की अप्राप्ति में अदन्तलक्षण टाप् हो कर 'भयङ्करा' प्रयोग होना चाहिये।

(८) **इयं शूर्पनखी कन्याऽत्येति शूर्पणखामपि ॥**

विवेचन—'शूर्प इव नखा यस्याः' इस यौगिक अर्थ में **स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्** (१२६५) सूत्रद्वारा विकल्प से ङीष् हो (पक्ष में टाप्) कर 'शूर्पनखी' या 'शूर्पनखा' दो रूप सिद्ध होते हैं। परन्तु जब यह संज्ञा हो तब **नखमुखात्संज्ञायाम्** (१२६७) से ङीष् का निषेध हो कर अदन्तलक्षण टाप् ही होता है। किञ्च **पूर्वपदात्संज्ञायामगः** (१२६८) से नकार को णकार भी संज्ञा-अवस्था में हो जाता है—शूर्पणखा (रावण की बहन का नाम)।

(९) **तावकीयं मतिस्तात विपरीता तु मामकी ॥**

विवेचन—तवायं तावकः, ममायं मामकः। एकवचनान्त युष्मद् और अस्मद्

---

१. जैसाकि कहा है—

वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः।
आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा ॥

भागुरि आचार्य कुछेक हलन्तस्त्रीलिङ्गों से भी आप् (आ) प्रत्यय की उत्पत्ति मानते हैं। यथा—

वाच् (वाणी) भागुरिमते—वाच्+आ (आप्)=वाचा।
निश् (रात्रि) भागुरिमते—निश्+आ (आप्)=निशा।
दिश् (दिशा) भागुरिमते—दिश्+आ (आप्)=दिशा।

इसीप्रकार—क्षुध्—क्षुधा; गिर्—गिरा; तृष्—तृषा; रुज्—रुजा; मुद्—मुदा; प्रतिपद्—प्रतिपदा; वीरुध्—वीरुधा; दृश्—दृशा; शुच्—शुचा; रुष्—रुषा; विपद्—विपदा; आपद्—आपदा; रुच्—रुचा; मृद्—मृदा; त्वच्—त्वचा; ऋच्—ऋचा; त्विष्—त्विषा; इत्यादि।

इस मत का विवेचन इस व्याख्या के प्रथमभागस्थ अव्ययप्रकरण के अन्त में किया जा चुका है वहीं देखें।

शब्दों से शैषिक अर्थों में अण् प्रत्यय हो कर **तवकममकावेकवचने** (१०८१) से उन को क्रमशः तवक और ममक आदेश कर आदिवृद्धि आदि कार्य करने से 'तावकः, मामकः' प्रयोग सिद्ध होते हैं। स्त्रीत्व की विवक्षा में अण्प्रत्ययान्त होने के कारण तावक से ङीप् हो 'तावकी' रूप सिद्ध हो जाता है। मामक शब्द भी यद्यपि अणन्त है तथापि **केवल-मामक-भागधेय०** (४.१.३०) इस सूत्रद्वारा संज्ञा और वेद में ही ङीप्-विधान के नियम के कारण अन्यत्र ङीप् न हो कर अदन्तलक्षण टाप् ही होता है। तब **मामकनरकयोरुप-संख्यानम्** इस वार्त्तिक से ककार से पूर्व अत् को इकार आदेश हो 'मामिका' प्रयोग सिद्ध होता है। अतः यहां 'मामकी' के स्थान पर 'मामिका' होना चाहिये। 'तावकी' प्रयोग शुद्ध है।

(१०) शूद्रा-शूद्री-महाशूद्री-**शब्दतत्त्वं निरूपय** ॥

विवेचन—'शूद्र' शब्द जातिवाचक है अतः इस से स्त्रीत्व की विवक्षा में **जातेरस्त्रीविषयाद्०** (१२६९) से ङीष् प्राप्त होता है। परन्तु अजादिगण में पठित **शूद्रा चाऽमहत्पूर्वा जातिः** इस गणसूत्र के कारण उस का बाध हो कर टाप् हो जाता है—शूद्रा (शूद्रजाति की औरत)। गणसूत्र में 'अमहत्पूर्वा' कहा गया है अतः महत्शब्द पूर्व में होगा तो टाप् न हो कर जातिलक्षण ङीष् ही होगा—महाशूद्री (अहीरजाति की औरत)। परन्तु पुंयोग में तो **पुंयोगादाख्यायाम्** (१२६१) से ङीष् होगा ही—शूद्रस्य भार्या शूद्री (शूद्र की पत्नी)।

(११) तरुणा रूपवन्ती **चेत्सादरं वीक्ष्यतेऽखिलैः** ॥

विवेचन—तरुणशब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में **नञ्स्नञीकक्ख्युंस्तरुण०** (वा० १०१) वार्त्तिक से ङीप् हो कर 'तरुणी' प्रयोग सिद्ध होता है। 'रूपवत्' शब्द मतुंप्रत्ययान्त होने से उगित् है अतः **उगितश्च** (१२५०) द्वारा ङीप् हो कर 'रूपवती' प्रयोग बनता है, नुंम् का आगम किसी तरह प्राप्त नहीं।

(१२) **युवानो बहवो यस्यां ज्ञेया बहुयुवा पुरी**।

विवेचन—यूनस्तिः (१२७६) सूत्र **अनुपसर्जनात्** (४.१.१४) के अधिकार में पढ़ा गया है अतः यहां बहुव्रीहिसमास में युवन् शब्द के उपसर्जन होने के कारण स्त्रीत्व में 'ति' प्रत्यय नहीं हुआ।

(१३) शाक्तीकया **तया देव्या रिपुसैन्यं पराजितम्** ॥

विवेचन—'शाक्तीकया' के स्थान पर 'शाक्तीक्या' होना चाहिये। 'शक्तिः प्रहरणमस्याः' इस अर्थ में 'शक्ति' शब्द से **शक्तियष्ट्योरीकक्** (४.४.५९) सूत्रद्वारा ईकक् प्रत्यय हो कर 'शाक्तीक' शब्द निष्पन्न होता है। इस से स्त्रीत्व की विवक्षा में **नञ्स्नञीकक्०** (वा० १०१) वार्त्तिक से ङीप् करने पर 'शाक्तीकी' प्रयोग बनता है।

(१४) **पाण्डुपत्रसमाच्छन्ना** पाण्ड्वी **भूमिरजायत** ॥

विवेचन—'पाण्ड्वी' अशुद्ध है, 'पाण्डुः' होना चाहिये। पाण्डुशब्द उदन्त गुण-वाचक है। स्त्रीत्व की विवक्षा में **वोतो गुणवचनात्** (१२५९) से प्राप्त ङीष् का

स्वरुसंयोगोपधान्न (वा०) वार्त्तिक से निषेध हो जाता है। अदन्त न होने से टाप् भी नहीं होता।

(१५) भूपालिक्या **तया दत्तं भृत्याय विपुलं धनम् ॥**

विवेचन—'भूपालिक्या' के स्थान पर 'भूपालिकया' होना चाहिये। भूपालक-शब्द से स्त्रीत्व में **पुंयोगादाख्यायाम्** (१२६१) सूत्रद्वारा प्राप्त ङीष् का **पालकान्तान्न** (वा० १०२) वार्त्तिकद्वारा निषेध हो जाता है। तब अदन्तलक्षण टाप् हो कर **प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्यात०** (१२६२) सूत्र से इत्व करने पर 'भूपालिका' शब्द उपपन्न होता है। भूपालकस्य स्त्री भूपालिका, तया = भूपालिकया।

(१६) **सम्मान्या** विदुषा **नारी धर्माऽधर्मं विजानती ॥**

विवेचन—यदि यहां नारी का वैदुष्य विवक्षित हो तो वसुँप्रत्ययान्त विद्वस्-शब्द से स्त्रीत्व में **उगितश्च** (१२५०) द्वारा ङीप् प्रत्यय कर सम्प्रसारण आदि करने से 'विदुषी' बनना चाहिये। परन्तु पुरुष के वैदुष्य के विवक्षित होने पर यथोक्त प्रयोग तृतीयान्ततया ठीक ही मानना चाहिये।

(१७) हयया **यात्ययं दूतो बहुदूरतरं वनम् ॥**

विवेचन—'हय' शब्द गौरादिगण में पढ़ा गया है अतः **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५५) सूत्र से ङीष् हो कर 'हयी' शब्द बन कर तृतीया के एकवचन में 'हय्या' बनेगा। अथवा—**योपधप्रतिषेधे हय-गवय-मुकय-मनुष्याणामप्रतिषेधः** (वा० १११) इस वार्त्तिक की सहायता से **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्** (१२६९) सूत्र से जातिलक्षण ङीष् हो कर 'हयी' बनना चाहिये। तृतीयैकवचन में 'हय्या' बनेगा।

(१८) तादृक्षीं **सम्पदं प्राप्य मानवः को न गर्वितः ?**

विवेचन—यहां 'तादृक्षीम्' के स्थान पर 'तादृक्षाम्' होना चाहिये। तादृक्ष-शब्द **दृशेः क्सश्च वक्तव्यः** (वा०) वार्त्तिकद्वारा क्सप्रत्ययान्त निष्पन्न होता है, इसे कञ्प्रत्ययान्त समझना भूल है। अतः यहां **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) द्वारा ङीप् न हो कर अदन्तलक्षण टाप् ही होता है।

(१९) कोकिलीकूजितं **श्रुत्वा हृष्यन्ति सर्वमानवाः ॥**

विवेचन—'कोकिल' शब्द अजादिगण में पढ़ा गया है अतः जातिलक्षण ङीष् का बाध हो कर **अजाद्यतष्टाप्** (१२४९) से टाप् हो जायेगा—कोकिलाकूजितम्।

(२०) **नयत्यशिशुरप्येषा कालं शान्तेन चेतसा ॥**

विवेचन—'अविद्यमानः शिशुरस्याः' इस बहुव्रीहिसमास में 'अशिशु' बन कर स्त्रीत्व की विवक्षा में **सख्यशिश्वीति भाषायाम्** (४.१.६२) से ङीषन्त 'अशिश्वी' निपातन किया जाता है। अतः यहां 'अशिशुः' के स्थान पर 'अशिश्वी' प्रयुक्त करना चाहिये। अशिश्वी = सन्ततिहीना स्त्री।

(२१) **भार्या** पाणिगृहीत्येव **शस्यते सर्वबन्धुभिः।**
सैव पाणिगृहीता **चेल्लोके भवति निन्दिता ॥**

विवेचन—पाणिर्गृहीतोऽस्या (यथाविधि) इति बहुव्रीहिः । **पाणिगृहीती भार्यायाम्** (वा०) इस वार्त्तिक से ङीषन्त 'पाणिगृहीती' शब्द निपातित किया जाता है। जिस का विधिवत् पाणिग्रहण नहीं हुआ होता वह 'पाणिगृहीता' कहाती है।

(२२) **धत्ते चन्द्राननी गर्भं राजवंशविवृद्धये ॥**

विवेचन—'चन्द्राननी' के स्थान पर 'चन्द्रानना' होना चाहिये। **स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्** (१२६५) से प्राप्त स्वाङ्गलक्षण ङीष् का **न क्रोडादिबह्वचः** (१२६६) से निषेध हो जाता है। तब अदन्तलक्षण टाप् हो कर 'चन्द्रानना' प्रयोग उपपन्न होता है।

(२३) आखवी **गृहाद्बहिष्कार्या ग्रन्थागाराद्विशेषतः ॥**

विवेचन—आखु (चूहा) शब्द उदन्त होता हुआ भी गुणवचन नहीं अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में **वोतो गुणवचनात्** (१२५९) द्वारा ङीष् प्राप्त नहीं होता। इसलिये यहां स्त्रीलिङ्ग में भी 'आखुः' ही रहेगा।

(२४) **सर्वाऽऽवश्यकता ज्ञाप्या त्यक्तलज्जेन श्रीमता ॥**

विवेचन—अवश्यम्भावः—आवश्यकम्। **द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च** (५.१.१३२) सूत्रद्वारा मनोज्ञाद्यन्तर्गत होने के कारण 'अवश्यम्' अव्यय से भाव में वुञ् प्रत्यय, आदिवृद्धि, वु को अक आदेश तथा **अव्ययानां भमात्रे टिलोपः** (वा०) से टि का लोप कर 'आवश्यकम्' प्रयोग उपपन्न होता है। वुञ् द्वारा भाव के उक्त होने पर दुबारा त्व-तल् का प्रयोग अनुचित है। आवश्यकम् अस्त्यस्येति आवश्यकम्, यहां मत्वर्थ में **अर्शआदिभ्योऽच्** (११९५) द्वारा अच् प्रत्यय हुआ है। आवश्यकम्=अवश्य होने वाला कार्य, वस्तु आदि। यही यहां विवक्षित है। अतः यहां 'सर्वमावश्यकं ज्ञाप्यम्' ऐसा लिखना उचित है।

(२५) बिम्बोष्ठी चारुकर्णा **या समदन्ती** कृशोदरी।
सुजङ्घी **चापि चेल्लोके नूनं रूपवती हि सा ॥**

विवेचन—**नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गाच्च** (४.१.५५) सूत्र से वैकल्पिक ङीष् का विधान होता है, पक्ष में अदन्तलक्षण टाप् भी होगा। यथा—तुङ्गनासिकी-तुङ्गनासिका; कृशोदरी-कृशोदरा; बिम्बोष्ठी-बिम्बोष्ठा; सुजङ्घी-सुजङ्घा; समदन्ती-समदन्ता; चारुकर्णी-चारुकर्णा; तीक्ष्णशृङ्गी-तीक्ष्णशृङ्गा। सूत्रगत चकार से कुछ अन्य स्थानों पर भी—मृद्वङ्गी-मृद्वङ्गा; सुगात्री-सुगात्रा; रक्तकण्ठी-रक्तकण्ठा। अतः उपर्युक्त प्रयोग शुद्ध हैं।

(२६) सुशृङ्गी **शस्यते धेनुस्तीक्ष्णशृङ्गा तु निन्दिता ॥**

विवेचन—पूर्वोक्तसूत्र में शृङ्ग शब्द का भी पाठ है अतः ङीष् का वैकल्पिक विधान होता है, पक्ष में टाप् भी होगा। सुशृङ्गी-सुशृङ्गा, तीक्ष्णशृङ्गी-तीक्ष्णशृङ्गा।

(२७) **पित्रा** तुल्यतमी **रूपे** सदृशी **न गुणेष्वियम् ॥**

विवेचन—'सदृश' शब्द **त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च** (३४७) सूत्रस्थ **समा-**

नाऽन्ययोश्चेति वाच्यम् (वा०) वार्तिकद्वारा कञ्प्रत्ययान्त सिद्ध किया जाता है। **दृग्दृशवतुषु** (६.३.८८) द्वारा 'समान' को 'स' आदेश हो जाता है—समानः पश्यतीति सदृशः, कर्मकर्तरि प्रयोगः। समानत्वेन ज्ञानविषयो भवतीत्यर्थः। स्त्रीत्व में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) द्वारा ङीप् हो कर 'सदृशी' रूप बनता है। परन्तु 'तुल्यतम' शब्द तमप्प्रत्ययान्त है, इस में किसी तरह ङीप् प्राप्त नहीं, टाप् हो कर 'तुल्यतमा' बनेगा।

(२८) **उत्सवे च विवाहादौ नारी कार्या पुरःसरा ॥**

विवेचन—'पुरःसर' शब्द **पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्तेः** (३.२.१८) सूत्रद्वारा टप्रत्ययान्त सिद्ध होता है। अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में टित्त्व के कारण ङीप् हो कर 'पुरःसरी' बनना चाहिये।

(२९) कन्ये ! चिरायुषी **भूयाः सुखं च प्राप्नुयाः सदा ॥**

विवेचन—'कन्य' शब्द से **वयसि प्रथमे** (१२५६) द्वारा स्त्रीत्व में ङीप् प्राप्त होता है परन्तु **कन्यायाः कनीन च** (१०२१) इस ज्ञापक के आधार पर टाप् हो जाता है। 'चिरायुष्' शब्द अदन्त नहीं हलन्त है। इस से कोई स्त्रीप्रत्यय प्राप्त नहीं होता अतः यहां 'चिरायुः' होना चाहिये।

(३०) सुन्दरेयं **कथा सर्वैर्वारं वारं निपीयताम् ॥**

विवेचन—'सुन्दर' शब्द गौरादिगण में पढ़ा गया है अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५५) से ङीष् प्रत्यय हो कर 'सुन्दरी' प्रयोग होना चाहिये।

(३१) शैलया **सर्वतोषिण्या पुनरूचे नृणां वरः ॥**

विवेचन—शीलादागता शीले भवा वा शैली। शीलशब्द से अण्प्रत्यय हो कर स्त्रीत्व की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) द्वारा ङीप् करने से 'शैली' शब्द निष्पन्न होता है। अतः यहां तृतीयैकवचन में 'शैल्या' बनना चाहिये।

(३२) **इयं त्रिंशत्तमा नौका पारं याता महोदधेः ॥**

विवेचन—'त्रिंशत्' शब्द से डट् (११७५) प्रत्यय हो कर तमट् (५.२.५६) का आगम करने से 'त्रिंशत्तम' शब्द बनता है। अतः टित्त्व के कारण स्त्रीत्व में ङीप् प्रत्यय हो कर 'त्रिंशत्तमी' बनना चाहिये।

(३३) **नैजां शक्ति समालोच्य कार्यारम्भपरो भवेत् ॥**

विवेचन—निजशब्द से स्वार्थ में अण् प्रत्यय करने पर 'नैज' शब्द निष्पन्न होता है। अतः स्त्रीत्व में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय करने पर 'नैजी' बनता है। द्वितीया के एकवचन में यहां 'नैजीम्' प्रयोग होना चाहिये।

(३४) नूतनीयं **प्रथा मित्र ! स्वमूत्रं पीयते बुधैः ॥**

विवेचन—नवस्य नू आदेशः, त्नप्-तनप्-खाश्च प्रत्यया वक्तव्याः (वा०) इस वार्तिक से नूत्न, नूतन और नवीन ये तीन शब्द निष्पन्न होते हैं। स्त्रीत्व में इन से ङीप्-ङीष्-ङीन् कोई प्रत्यय प्राप्त नहीं, अतः अदन्तलक्षण टाप् हो कर यहां 'नूतनेयम्' प्रयोग होना चाहिये।

(३५) **सुखाय** सम्पदा **दैवी** विपदायै **मताऽऽसुरी** ॥

विवेचन—सम्पद् और विपद् दोनों हलन्त स्त्रीलिङ्ग हैं। **आपं चैव हलन्तानाम्०** इस भागुरिमतानुसार इन से आप् (आ) प्रत्यय हो कर 'सम्पदा, विपदा' शब्द बनते हैं। कुछ लोग ऐसे प्रयोगों को भाष्यानुक्त होने के कारण अप्रमाण मानते हैं।

(३६) आर्षेयं **विमला वाणी सर्वभूतहिते रता** ॥

विवेचन—ऋषीणामियम् आर्षी। **तस्येदम्** (११०९) के अर्थ में ऋषिशब्द से औत्सर्गिक अण् प्रत्यय हो कर आदिवृद्धि एवं स्त्रीत्व में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) से ङीप् करने से 'आर्षी' प्रयोग सिद्ध होता है। 'आर्षा' अशुद्ध है।

(३७) कामुकी-कामुका-**मध्ये को भेदः प्रतिपाद्यताम्** ॥

विवेचन—**जानपद-कुण्ड-गोण०** (४.१.४२) सूत्र से मैथुनेच्छावती स्त्री की वाच्यता में 'कामुकी' तथा अन्यत्र (केवल अभिलाषा करने वाली) 'कामुका' का प्रयोग होता है। कामुकीशब्द ङीषन्त तथा कामुकाशब्द टाबन्त होता है।

(३८) **नहि वन्ध्या विजानाति** गुर्वीं **प्रसववेदनाम्** ॥

विवेचन—गुरुशब्द उदन्त गुणवाचक है अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में **वोतो गुणवचनात्** (१२५९) से वैकल्पिक ङीष् हो कर यण् करने से 'गुर्वी' बन कर द्वितीया के एकवचन में 'गुर्वीम्' निष्पन्न होता है। पक्ष में 'गुरुम्' भी होता है।

(३९) पद्धतीं **स्वां परित्यज्य यथाशास्त्रं समाश्रय** ॥

विवेचन—'पद्धति' शब्द बह्वादिगण में पढ़ा गया है, अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में **बह्वादिभ्यश्च** (१२६०) से वैकल्पिक ङीष् हो कर 'पद्धती-पद्धतिः' दो रूप बनते हैं।

(४०) क्षीरपीणां सुरापीभि**र्मैत्री प्रायोऽस्ति** दुर्लभी ॥

विवेचन—'क्षीरप' शब्द **आतोऽनुपसर्गे कः** (७९१) द्वारा कप्रत्ययान्त निष्पन्न हुआ है अतः अदन्तलक्षण टाप् हो कर स्त्रीत्व में 'क्षीरपाणाम्' होना चाहिये। 'सुराप' शब्द **गापोष्टक्** (३.२.८) तथा **सुरासीध्वोरिति वक्तव्यम्** (वा०) द्वारा टक्प्रत्ययान्त निष्पन्न हुआ है अतः टित्त्व के कारण **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) से ङीप् हो कर स्त्रीत्व में 'सुरापीभिः' का प्रयोग युक्त है। 'दुर्लभ' शब्द **ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्** (८७६) सूत्र से खल्प्रत्ययान्त निष्पन्न हुआ है अतः ङीप्-ङीष्-ङीन् किसी का विषय न होने के कारण अदन्तलक्षण टाप् हो कर 'दुर्लभा' बनना चाहिये।

(४१) **अपीदानीन्तना भाषाः संग्राह्या भूतिमिच्छता** ॥

विवेचन—'इदानीम्' अव्यय से **सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुँट् च** (१०८६) सूत्रद्वारा ट्युल् प्रत्यय तथा तुँट् का आगम करने पर 'इदानीन्तन' शब्द निष्पन्न होता है। स्त्रीत्व की विवक्षा में टित्त्व के कारण **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) द्वारा ङीप् करने पर द्वितीया के बहुवचन में 'इदानीन्तनीः' होना चाहिये।

(४२) **फलाभिलाषां परिहाय नित्यं कुर्वीत कर्माणि गृहे स्थितोऽपि** ॥

विवेचन—'अभिलाष' शब्द घञन्त है। **घञबन्तः** इस लिङ्गानुशासनीयसूत्र के

अनुसार घञन्त पुंलिङ्ग हुआ करते हैं। अतः यहां 'फलाभिलाषम्' होना चाहिये।

(४३) **सद्यो** बलहरी **नारी सद्यो बलकरं पयः** ॥

विवेचन—बलं हरतीति बलहरा नारी। **हरतेरनुद्यमनेऽच्** (३.२.९) सूत्र से अच्प्रत्ययान्त बलहर शब्द से स्त्रीत्व में अदन्तलक्षण टाप् हो कर 'बलहरा' बनना चाहिये।

(४४) त्रिसूत्रीयं **दृढा रज्जुः सर्वभारसहा मता** ॥

विवेचन—त्रीणि सूत्राणि यस्याः सा त्रिसूत्रा। बहुव्रीहिसमास में ङीप्-ङीष्-ङीन् की अप्राप्ति में अदन्तलक्षण टाप् हो जायेगा।

(४५) **वेदान्तस्य समध्येया** चतुःसूत्री **प्रयत्नतः** ॥

विवेचन—चतुर्णां सूत्राणां समाहारश्चतुःसूत्री। द्विगुसमास में **अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः** (वा०) इस वचन से स्त्रीत्व की विवक्षा में **द्विगोः** (१२५७) से ङीप् हो जाता है।

(४६) रुद्राणी **रुद्रभार्येति प्रक्रिया व्याकृतेः कथम्** ?

विवेचन—रुद्रस्य भार्या रुद्राणी। **इन्द्रवरुणभवशर्व०** (१२६३) सूत्र से 'रुद्र' को आनुंक् का आगम तथा ङीष् प्रत्यय करने से 'रुद्राणी' प्रयोग सिद्ध होता है।

(४७) **अगस्त्यस्त्री** अगस्तीति **व्याकृत्या प्रतिपाद्यताम्** ॥

विवेचन—अगस्त्यस्य भार्या अगस्ती। अगस्त्यशब्द से **पुंयोगादाख्यायाम्** (१२६१) द्वारा स्त्रीत्व में ङीष् प्रत्यय हो कर भसंज्ञक अकार का लोप तथा **सूर्याऽगस्त्ययोश्छे च ङ्याञ्च** (वा० १०४) इस वार्त्तिक से यकार का भी लोप करने पर 'अगस्ती' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

(४८) दर्वी रात्री तमी श्रोणी खनी भूमी **तथाऽवनी**।
व्याकृतेर्वचसा केन ङीषन्ता वा स्मृता अमी ॥

विवेचन—**बह्वादिभ्यश्च** (१२६०) सूत्रस्थ बह्वादिगणान्तर्गत **सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके** इस गणसूत्र से वैकल्पिक ङीष् कर भसंज्ञक इकार का लोप करने से उपर्युक्त प्रयोग सिद्ध होते हैं। पक्ष में—दर्विः, रात्रिः, तमिः, श्रोणिः, खनिः, भूमिः, अवनिः—ये रूप भी बनेंगे।

(४९) लोके लावणिका **योषिन्निन्दनीया मता परम्** ॥

विवेचन—'लवणं पण्यमस्याः' इस अर्थ में **लवणाट्ठञ्** (४.४.५२) सूत्र से ठञ्, आदिवृद्धि तथा ठकार को इक आदेश हो कर 'लावणिक' बना। अब स्त्रीत्व की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) से ङीप् प्रत्यय करने पर 'लावणिकी' प्रयोग बनना चाहिये।

(५०) अष्टाध्यायी **जगन्माताऽमरकोषो जगत्पिता**।
भट्टिकाव्यं गणेशश्च त्रयीयं **सुखदाऽस्तु वः** ॥

विवेचन—अष्टानाम् अध्यायानां समाहारः—अष्टाध्यायी। **अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः** (वा०) इस वार्त्तिक से स्त्रीत्व की विवक्षा में **द्विगोः** (१२५७) सूत्र

से ङीप् हो कर 'अष्टाध्यायी' प्रयोग सिद्ध होता है। त्रयोऽवयवा अस्या सा त्रयी (पङ्क्तिः)। 'त्रि' शब्द से **संख्याया अवयवे तयप्** (११७२) से तयप् प्रत्यय हो कर **द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा** (११७३) द्वारा उसे अयच् सर्वादेश करने से 'त्रय' शब्द निष्पन्न होता है। स्थानिवद्भाव द्वारा इसे भी तयप्प्रत्ययान्त मान लेने से स्त्रीत्व में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) से ङीप् प्रत्यय हो कर 'त्रयी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

(५१) **नित्ययाचनशीलेयं वृत्तिर्लघुतरी तृणात्** ॥

विवेचन – 'लघुतर' शब्द तरप्प्रत्ययान्त है अतः स्त्रीत्व में इस से परे ङीप्-ङीष्-ङीन् कोई प्राप्त नहीं होता। अदन्तलक्षण टाप् करने से 'लघुतरा' होना चाहिये।

(५२) पङ्गुः कुब्जाऽपि वामोरूर्धन्या **सा चेत्पतिप्रिया** ॥

विवेचन—स्त्रीत्व में पङ्गुशब्द से **पङ्गोश्च** (१२७२) सूत्रद्वारा ऊङ् प्रत्यय कर सवर्णदीर्घ करने से 'पङ्गूः' बनना चाहिये। इसीप्रकार **संहित-शफ-लक्षण-वामादेश्च** (१२७४) द्वारा 'वामोरु' से स्त्रीत्व में ऊङ् हो 'वामोरूः' बनेगा। कुब्जशब्द गुणवचन होता हुआ भी उदन्त नहीं अतः इस से **वोतो गुणवचनात्** (१२५६) द्वारा ङीष् नहीं होता, अदन्तलक्षण टाप् ही होता है—कुब्जा।

(५३) भयानिक्या **तया शक्त्या हतोऽसौ पुरुषाधमः** ॥

विवेचन—'भयानिक्या' अशुद्ध है, इस के स्थान पर 'भयानकया' होना चाहिये। 'भी' धातु से **आनकः शीभियः** (उणा० ३.८२) सूत्रद्वारा औणादिक आनकप्रत्यय करने पर 'भयानक' शब्द निष्पन्न होता है। स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से अदन्तलक्षण टाप् हो **प्रत्ययस्थात्०** (१२६२) द्वारा प्राप्त इत्व का **क्षिपकादीनां च** (वा०) वार्तिक से निषेध हो जाता है।

(५४) नरी-नारी-**द्वयोर्मध्ये भेदो व्याक्रियते कथम्** ?

विवेचन—नरस्य स्त्री नरी। 'नर' शब्द से पुंयोग में यहां ङीष् हुआ है। जातिवाच्य हो तो **नृनरयोर्वृद्धिश्च** (गणसूत्र) द्वारा ङीन् + वृद्धि करने से 'नारी' बनेगा।

(५५) दुहित्री **पुत्रवत्पाल्या शिक्षणीया तथैव च** ॥

विवेचन—'दुहित्री' के स्थान पर 'दुहिता' होना चाहिये। दुहितृशब्द स्वस्रादियों में पठित है अतः ऋदन्तलक्षण ङीप् का **न षट्स्वस्रादिभ्यः** (२३३) से निषेध हो जाता है।

(५६) मूषिकी **परिहर्त्तव्या धान्यागाराद् विपश्चिता** ॥

विवेचन—मूषिकशब्द अजादिगण में पढ़ा गया है अतः जातिलक्षण ङीष् (१२६६) का बाध कर **अजाद्यतष्टाप्** (१२४६) से टाप् करने पर 'मूषिका' बनना चाहिये।

(५७) **कथां स्त्रैणां त्यजेन्नित्यं ब्रह्मचर्यव्रते स्थितः** ॥

विवेचन—स्त्रीशब्द से **स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्** (१००३) सूत्रद्वारा नञ्

प्रत्यय करने पर 'स्त्रैण' शब्द निष्पन्न होता है । स्त्रीत्व की विवक्षा में **नञ्स्नञीकक्ख्युंस्तरुणतलुनानामुपसंख्यानम्** (वा० १०१) वार्तिकद्वारा ङीप् प्रत्यय करने पर 'स्त्रैणी' प्रयोग बनता है । अतः यहां 'स्त्रैणाम्' के स्थान पर 'स्त्रैणीम्' होना चाहिये ।

(५८) **रम्येयं सुभुजी मूर्त्ती राजते गिरिसंश्रिता ॥**

विवेचन—'भुज' शब्द क्रोडादिगण में पढ़ा गया है अतः स्वाङ्गलक्षण ङीष् (१२६५) का **न क्रोडादिबह्वचः** (१२६६) से निषेध हो कर टाप् करने से 'सुभुजा' बनना चाहिये ।

(५९) ऐन्द्राया **नाथ आदित्य उदेति प्रत्यहं दिवि ॥**

विवेचन—इन्द्रो देवताऽस्या इति ऐन्द्री (पूर्वा दिक्) । **साऽस्य देवता** (१०४१) के अर्थ में इन्द्रशब्द से तद्धित अण् प्रत्यय करने से 'ऐन्द्र' शब्द निष्पन्न होता है । स्त्रीत्व की विवक्षा में इस से **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय करने पर 'ऐन्द्री' बनता है । अतः यहां 'ऐन्द्रयाः' प्रयोग होना चाहिये ।

(६०) **भार्या चेद्** भर्तृदेवी **स्यात् प्राप्तं पत्या न किं भुवि ?**

विवेचन—'भर्त्ता देवो यस्याः' इस प्रकार बहुव्रीहिसमास की विवक्षा में पचादियों में टित् पढ़े गये भी देवशब्द से **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) द्वारा ङीप् नहीं होता कारण कि टित् यहां उपसर्जन है । उस सूत्र में **अनुपसर्जनात्** (४.१.१४) का अनुवर्त्तन होता है । इसलिये यहां अदन्तलक्षण टाप् कर 'भर्तृदेवा' प्रयोग होना चाहिये ।

(६१) **आचचक्षे नृपो वाचं** नमस्कारपुरःसरीम् ॥

विवेचन—'पुरःसर' शब्द **पुरोऽग्रतोऽग्रेषु सर्त्तेः** (३.२.१८) सूत्रद्वारा टप्रत्ययान्त निष्पन्न होता है । 'नमस्कारः पुरःसरो यस्याः' इस बहुव्रीहिसमास में टप्रत्ययान्त पुरःसरशब्द के उपसर्जन होने के कारण टित्त्वलक्षण ङीप् नहीं हो सकता, अदन्तलक्षण टाप् हो कर 'नमस्कारपुरःसराम्' प्रयोग होगा ।

(६२) **संसर्गो** वामलोचन्यास्त**पो हन्ति मुनेरपि ॥**

विवेचन—वामे (सुन्दरे) लोचने यस्याः सा वामलोचना । यहां बहुव्रीहिसमास में स्वाङ्गलक्षण वैकल्पिक ङीष् प्राप्त होता था परन्तु **न क्रोडादिबह्वचः** (१२६६) से उस का निषेध हो कर अदन्तलक्षण टाप् हो जाता है—वामलोचना । अतः 'वामलोचन्याः' के स्थान पर 'वामलोचनायाः' होना चाहिये ।

(६३) हेयाऽनावश्यकी **चिन्ता भूपे शासति धार्मिके ॥**

विवेचन—अवश्यम्भावः—आवश्यकम् । **द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च** (५.१.१३२) सूत्रद्वारा मनोज्ञाद्यन्तर्गत होने के कारण 'अवश्यम्' अव्यय से भाव में वुञ् प्रत्यय, आदिवृद्धि, वु को अक आदेश तथा **अव्ययानां भमात्रे टिलोपः** (वा०) से टि का लोप कर 'आवश्यकम्' प्रयोग उत्पन्न होता है । आवश्यकम् अस्त्यस्येति आवश्यकम्, यहां मत्वर्थ में **अर्शआदिभ्योऽच्** (११९५) द्वारा अच् प्रत्यय किया गया है । इस से स्त्रीत्व की

विवक्षा में अदन्तलक्षण टाप् हो कर **प्रत्ययस्थात् कात्०** (१२६२) द्वारा ककार से पूर्व अकार को इकार आदेश करने पर 'आवश्यिका' बनना चाहिये। कुछ वैयाकरण गौरादिगण को आकृतिगण मान कर यहां ङीष् प्रत्यय विधान कर 'आवश्यकी' रूप को भी शुद्ध मानते हैं। (मनोज्ञादिसूत्रे स्पष्टञ्चेदं बृहच्छब्देन्दुशेखरे)।

(६४) **नाथहीना विनङ्क्ष्यन्ति सर्वास्तेऽनुचराः स्त्रियः ॥**

विवेचन—अनुचरतीति अनुचरी। पचादियों में 'चरट्' इस निर्देश के कारण 'अनुचर' से स्त्रीत्व में टित्त्वलक्षण ङीप् के कारण 'अनुचरी' बनेगा। अतः यहां 'अनुचर्यः' होना चाहिये।

(६५) **तदमन्दरसस्यन्दमुन्दरेयं निपीयताम्।**
श्रोत्रशुक्तिपुटैः स्पष्टा साङ्गराजतरङ्गिणी ॥ (राजतरङ्गिणी १.२४)

विवेचन—'सुन्दर' शब्द का गौरादियों में पाठ आया है अतः **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५५) सूत्र से ङीष् हो कर 'सुन्दरी' होना चाहिये।

(६६) **वीराश्चेत् पतयो यासां ता वीरपतयो मताः ॥**

विवेचन—'वीराः पतयो यासाम्' इस बहुव्रीहिसमास में **नित्यं सपत्न्यादिषु** (४.१.३५) सूत्रद्वारा पति के इकार को नकार आदेश तथा ङीप् प्रत्यय करने पर 'वीरपत्नी' बनता है। अतः यहां 'वीरपत्न्यः' होना चाहिये।

(६७) **किं स्यात् सूर्याऽथवा सूरी सूर्यपत्न्यां विविच्यताम् ॥**

विवेचन—**सूर्याद् देवतायां चाब्वाच्यः** (वा० १०३) इस वार्त्तिक से सूर्य की देवता भार्या वाच्य होने पर 'सूर्या' बनता है। सूर्य की मानुषी भार्या अभिप्रेत हो तो **पुयोगादाख्यायाम्** (१२६१) से ङीष् प्रत्यय हो कर 'सूरी' बनेगा। कुन्ती को सूर्य की मानुषी भार्या स्वीकार किया जाता है।

(६८) **पिता रत्नाकरो यस्य लक्ष्मीर्यस्य** सहोदरी।
शङ्खो रोदिति भिक्षार्थी फलं भाग्यानुसारतः ॥

विवेचन—'सहोदरी' के स्थान पर 'सहोदरा' होना चाहिये। तथाहि—'सह (समानम्) उदरं यस्याः' इस बहुव्रीहिसमास में **वोपसर्जनस्य** (६.३.८१)[1] द्वारा 'सह' के स्थान पर विकल्प से 'स' आदेश होकर 'सोदर' या 'सहोदर' बनता है। अब स्त्रीत्व की विवक्षा में प्राप्त हुए स्वाङ्गलक्षण वैकल्पिक ङीष् का **न क्रोडादिबह्वचः** (१२६६) से निषेध हो जाता है। पुनः **नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गाच्च** (४.१.५५) से उस की प्राप्ति होती है, इस का भी **सहनञ्विद्यमानपूर्वाच्च** (४.१.५७)[2] से निषेध

---

१. **वोपसर्जनस्य** (६.३.८१)। अर्थः—उपसर्जन अर्थात् बहुव्रीहि के अवयव 'सह' के स्थान पर विकल्प से 'स' आदेश हो जाता है। सपुत्रः, सहपुत्रः।

२. **सहनञ्विद्यमानपूर्वाच्च** (४.१.५७)। अर्थः—जिस के पूर्व में सह, नञ् और विद्यमान शब्द हो तथा अन्त में उपसर्जन स्वाङ्गवाची शब्द हो तो ऐसे प्रातिपदिक से स्त्रीत्व में ङीष् प्रत्यय नहीं होता। यथा—सकेशा, अकेशा, विद्यमाननासिका।

हो जाता है। अब **अजाद्यतष्टाप्** (१२४६) से अदन्तलक्षण टाप् करने पर 'सोदरा' और 'सहोदरा' दो रूप सिद्ध हो जाते हैं।

(६९) **समरूपाऽपि सोदर्यी शीलभिन्ना भवेदिह ॥**

विवेचन—'सोदर्यी' के स्थान पर 'सोदर्या' या 'समानोदर्या' होना चाहिये। तथाहि—यकारादि तद्धित प्रत्ययों की विवक्षामात्र में 'समानञ्च तद् उदरम्' इस कर्मधारयसमास में **विभाषोदरे** (६.३.८७)[1] सूत्र से समानशब्द के स्थान पर वैकल्पिक 'स' आदेश हो कर 'सोदर' और 'समानोदर' ये दो रूप निष्पन्न होते हैं। अब 'समानोदर' शब्द से **समानोदरे शयित ओ चोदात्तः** (४.४.१०८)[2] सूत्र से यत्प्रत्यय तथा दूसरे 'सोदर' शब्द से **सोदराद् यः** (४.४.१०९)[3] सूत्र से यप्रत्यय हो कर 'समानोदर्य' तथा 'सोदर्य' ये दो प्रातिपदिक निष्पन्न होते हैं। इन दोनों का अर्थ है—समान उदर में सोने वाला अर्थात् सगा भाई। अब स्त्रीत्व की विवक्षा में इन दोनों से ङीप् आदियों की अप्राप्ति में अदन्तलक्षण टाप् होकर 'समानोदर्या' और 'सोदर्या' ये दो प्रयोग सिद्ध हो जाते हैं।

(७०) **स्वयमध्यापिका या स्त्री सोपाध्याया स्मृता बुधैः ॥**

विवेचन—'उपाध्यायस्य स्त्री' इस पुंयोग में **मातुलोपाध्याययोरानुंग् वा** (वा० १०८) वार्त्तिक से ङीष् तो नित्य पर आनुंक् आगम का विकल्प हो कर 'उपाध्यायानी' तथा 'उपाध्यायी' ये दो प्रयोग सिद्ध होते हैं। परन्तु जब कोई स्त्री स्वयम् अध्यापन करती है तब वहां ङीष् का विकल्प भाष्य में विधान किया गया है—उपाध्यायी, उपाध्याया। यहां आनुंक् नहीं होता।

(७१) **गिरिशस्य भवेद् भार्या** गिरिशा गिरिशीति **वा ?**

विवेचन—गिरिशस्य भार्या गिरिशी। पुंयोग में **पुंयोगादाख्यायाम्** (१२६१) से ङीष् होगा। टाप् की प्राप्ति का ङीष् बाधक है।

(७२) **स च भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा** विशाला।

मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान् को दरिद्रः ॥

विवेचन—'विशाल' शब्द बह्वादिगण में पढ़ा गया है अतः स्त्रीत्व की विवक्षा

---

१. **विभाषोदरे** (६.३.८७) अर्थः—यकारादिप्रत्यय की विवक्षा में उदरशब्द के परे रहते समानशब्द के स्थान पर विकल्प से 'स' आदेश हो जाता है। यथा—सोदर्यः, समानोदर्यः।

२. **समानोदरे शयित ओ चोदात्तः** (४.४.१०८)। अर्थः—सप्तम्यन्त समर्थ समानोदरशब्द से शयित (शयन किया हुआ) अर्थ में यत् प्रत्यय होता है तथा समानोदरशब्द का ओकार भी उदात्त हो जाता है। यथा—समाने उदरे शयितः समानोदर्यः।

३. **सोदराद् यः** (४.४.१०९)। अर्थः—सप्तम्यन्त समर्थ सोदरशब्द से शयित (शयन किया हुआ) अर्थ में 'य' प्रत्यय होता है। यथा—सोदरे शयितः सोदर्यः।

में **बह्वादिभ्यश्च** (१२६०) सूत्रद्वारा ङीष् का विकल्प होगा, पक्ष में अदन्तलक्षण टाप् होगा—विशाली, विशाला। परन्तु साहित्य में ङीषन्त प्रयोग अन्वेष्टव्य हैं।

(७३) विकटीं **स्थितिमासाद्य नरो भाग्यानि निन्दति ॥**

विवेचन—विकटशब्द भी बह्वादिगण में पढ़ा गया है अतः पूर्ववत् ङीष् का विकल्प हो कर 'विकटी, विकटा' बनेंगे। इस के ङीषन्त प्रयोग भी अन्वेष्टव्य हैं।

(७४) **भ्रातः पश्य तडागेऽस्मिन् द्वे मीने क्रीडतो मिथः ॥**

विवेचन—मीनशब्द जातिवाचक होता हुआ भी साहित्य में स्त्रीलिङ्ग में दृष्टिगोचर नहीं होता। मत्स्यशब्द का स्त्रीलिङ्ग 'मत्सी' रूप ही प्रायः प्रयुक्त देखा जाता है। अतः यहां 'द्वे मत्स्यौ' कहना उचित होगा।

(७५) **सुकुमारा लता भाति पवनेरितपल्लवैः ॥**

विवेचन—स्त्रीप्रत्ययों में तदन्तविधि अनुमत है। अतः कुमारशब्द की तरह सुकुमारशब्द से भी **वयसि प्रथमे** (१२५६) द्वारा ङीप् होकर 'सुकुमारी' बनेगा। सुकुमारशब्द में प्रादिसमास है अतः कुमारशब्द की अनुपसर्जनता अक्षुण्ण है, इस से **अनुपसर्जनात्** (४.१.१४) इस अधिकार के साथ विरोध नहीं पड़ता। वयोवाचक कुमारशब्द कोमल अर्थ में उपचरित होता है।

(७६) **भोगप्रवृत्तिः खलु मानवानां** स्वाभाविकेति **प्रवदन्ति सन्तः ॥**

विवेचन—स्वभावाद् आगता स्वाभाविकी। स्वाभाविक शब्द ठक्प्रत्ययान्त है अतः **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्र से ङीप् होगा टाप् नहीं।

(७७) **गिरः** क्षोभकराः **श्रुत्वा कस्य नो दूयते मनः ॥**

विवेचन—'क्षोभकर' शब्द **कृञो हेतु-ताच्छील्याऽऽनुलोम्येषु** (७६४) द्वारा टप्रत्ययान्त निष्पन्न हुआ है। अतः स्त्रीत्व की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) से ङीप् हो कर 'क्षोभकरी' बनेगा। द्वितीया के बहुवचन में 'क्षोभकरीः' प्रयोग होना चाहिये।

(७८) नानारूपधरी **माया कस्य नो मोहकारिणी ॥**

विवेचन—धरतीति धरः, पचाद्यच्। स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप्, ङीष्, ङीन् कोई प्राप्त नहीं, अतः अदन्तलक्षण टाप् हो कर 'नानारूपधरा' होना चाहिये।

(७९) **प्राज्ञा-प्राज्ञीद्वयोर्मध्ये भेदाख्यानं निरूपय ॥**

विवेचन—प्रज्ञा (बुद्धिः) अस्त्यस्या इति प्राज्ञा। प्रज्ञाशब्द से मत्वर्थ में **प्रज्ञाश्रद्धार्चाभ्यो णः** (५.२.१०१) द्वारा ण (अ) प्रत्यय करने पर आदिवृद्धि कर स्त्रीत्व में टाप् करने से 'प्राज्ञा' (बुद्धिमती) प्रयोग सिद्ध होता है। प्रपूर्वक ज्ञा धातु से **आतश्चोपसर्गे** (७८८) द्वारा कप्रत्यय करने पर 'प्रज्ञ' बना। प्रज्ञ एवं प्राज्ञः, स्वार्थ में अण्। इस 'प्राज्ञ' से स्त्रीत्व की विवक्षा में **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) द्वारा ङीप् करने

पर 'प्राज्ञी' प्रयोग सिद्ध होता है। अत एव अमरकोष में कहा है—**प्रज्ञा तु प्राज्ञी, प्राज्ञा तु धीमती।**

(८०) कण्डूतिर्बाधते **नित्यं दुष्टरक्तं नरं सदा॥**

विवेचन—'कण्डूतिः' प्रयोग का साधुत्व चिन्त्य है, यहां क्तिन् प्राप्त नहीं। **कण्ड्वादिभ्यो यक्** (७३०) से यक्प्रत्ययान्त 'कण्डूय' धातु से **अ प्रत्ययात्** (८६७) द्वारा 'अ' प्रत्यय हो कर यक् के अकार का **अतो लोपः** (४७०) से लोप कर टाप् लाने से 'कण्डूया' बनेगा। सम्पदादियों में पाठ के कारण क्विँप् प्रत्यय कर अकार एवं यकार का लोप करने से 'कण्डूः' भी बनता है।[1]

(८१) पावनेयं **सरिद् गङ्गा** निर्मली तापहारिणी॥

विवेचन—पावनशब्द ल्युडन्त है अतः टित्त्व के कारण **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) से ङीप् हो कर 'पावनी' रूप बनना चाहिये। 'निर्मली' अशुद्ध है, ङीप्-ङीष्-ङीन् कोई प्राप्त नहीं, अदन्तलक्षण टाप् हो कर 'निर्मला' बनेगा। 'तापहारिणी' ठीक है, यहां नान्तलक्षण ङीप् हुआ है।

(८२) **आत्मबुद्धिः** प्रमाणा **चेद् वृथा शास्त्रानुशीलनम्॥**

विवेचन—प्रमाणशब्द नपुंसक के एकवचन में सदा नियत है। अतः वेदाः प्रमाणम् की तरह यहां भी 'प्रमाणम्' कहना चाहिये।

(८३) परिक्रमा **विधातव्या गिरिराजस्य सर्वतः॥**

विवेचन—परिक्रमशब्द घञन्त है अतः पुंलिङ्ग में नियत है। इसलिये यहां 'परिक्रमो विधातव्यः' कहना चाहिये।

(८४) चिरन्तना **इमा रम्या मूर्त्तयो** मृन्मया **अपि॥**

विवेचन—यहां पर 'चिरन्तन्यः' तथा 'मृन्मय्यः' प्रयोग करना चाहिये। 'चिरम्' अव्यय से ट्यु ल् प्रत्यय तथा तुँट् का आगम करने से 'चिरन्तन' शब्द उपपन्न होता है। स्त्रीत्व की विवक्षा में टित्त्व के कारण इस से ङीप् प्रत्यय हो कर 'चिरन्तनी' बनता है। 'मृन्मय'[2] शब्द मयट्प्रत्ययान्त है अतः स्त्रीत्व में यहां भी टित्त्वात् ङीप् होगा।

---

१. परन्तु 'कण्डूति' का प्रयोग कई जगह देखा जाता है। यथा—

सुभग ! त्वत्कथाऽऽरम्भे कर्णे कण्डूतिलालसा।
उज्जृम्भवदनाम्भोजा भिनत्त्यङ्गानि साङ्गना॥

(साहित्यदर्पण तृतीयपरिच्छेद)

आचार्य हेमचन्द्र ने अभिधानचिन्तामणि की स्वोपज्ञव्याख्या में कण्डूयाशब्द की व्याख्या करते हुए 'कण्डूतिरपि' लिखा है।

२. 'मृद्+मय' में **प्रत्यये भाषायां नित्यम्** (वा० ११) वार्त्तिक से दकार को नित्य अनुनासिक हो कर 'मृन्मय' बनता है। **ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्** (वा० २१) से प्राप्त णत्व का पदान्त में **पदान्तस्य** (१३९) द्वारा निषेध हो जाता है। अतः 'मृण्मय' लिखना अशुद्ध है।

(८५) पुरी निर्यादवी जाता देवदेवे दिवं गते ॥

विवेचन—'यादव' शब्द यद्यपि अण्प्रत्ययान्त है तथापि **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) द्वारा यहां ङीप् नहीं होता, क्योंकि **अनुपसर्जनात्** का अधिकार आ रहा है। बहुव्रीहिसमास के कारण 'यादव' यहां उपसर्जन है अनुपसर्जन नहीं। अतः टाप् हो कर 'निर्यादवा' होना चाहिये।

(८६) प्रियाः कतिपया लोके महाभाष्यस्य सूक्तयः ॥

विवेचन—कतिशब्द से अयच् प्रत्यय तथा पुंक् का आगम करने पर 'कतिपय' शब्द बनता है। स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप्-ङीष्-ङीन् की प्राप्ति न होने से टाप् हो जाता है। परन्तु शतपथब्राह्मण में **'कतिपयीर्गा ददाति'** ऐसा प्रयोग देखा जाता है, तो इस प्रयोग के कारण अयट् प्रत्यय की कल्पना करनी भी उचित प्रतीत होती है।

(८७) मा ते सहचरा भूयाद् दुःशीलोतरदायिका ॥

विवेचन—यहां 'सहचरा' के स्थान पर 'सहचरी' होना चाहिये। पचादियों में अच्प्रत्ययान्त चरशब्द 'चरट्' इस तरह टित् पढ़ा गया है अतः टित्त्वात् ङीप् हो कर चरतीति चरी बनेगा। पुनः इस का 'सह' के साथ सुँप्सुँपासमास हो कर 'सहचरी' निष्पन्न हो जायेगा। अथवा—सह चरतीति सहचरी, **भिक्षासेनादायेषु च** (३.२.१७) सूत्र में चकार के बल से सहशब्द के उपपद रहते भी 'चर्' धातु से टप्रत्यय करने से 'सहचरी' बन जायेगा। दोनों अवस्थाओं में टित्त्वान्ङीप् होगा। इसी तरह 'अनुचरी' के विषय में भी समझना चाहिये।

(८८) पापीयं नापिती वृद्धा दुष्टा कर्णेजपी सदा ॥

विवेचन—'पापी' अशुद्ध है, इस के स्थान पर 'पापा' होना चाहिये। **केवलमामकभागधेयपापापरसमानार्यकृतसुमङ्गलभेषजाच्च** (४.१.३०) सूत्रद्वारा संज्ञा और वेद में ही ङीप् का विधान कहा गया है। नापितस्य स्त्री नापिती, यहां पुंयोग में ङीष् ठीक ही है। 'कर्णेजप' शब्द **स्तम्बकर्णयोरमिजपोः** (३.२.१३) सूत्रद्वारा अच्प्रत्ययान्त सिद्ध हुआ है अतः यहां स्त्रीत्व में टाप् हो कर 'कर्णेजपा' होना चाहिये।

(८९) अहो त्रिहायना बाला गीर्वाणीभाषणे रता ॥

विवेचन—'त्रिहायना' के स्थान पर 'त्रिहायणी' होना चाहिये। यहां **दामहायनान्ताच्च** (४.१.२७) सूत्रद्वारा वयः अर्थ में हायनान्त शब्द से स्त्रीत्व में ङीप् तथा **त्रिचतुर्भ्यां हायनस्य णत्वं वाच्यम्** (वा०) वार्तिक से णत्व करने पर 'त्रिहायणी' निष्पन्न होता है। इसीप्रकार 'चतुर्हायणी कन्या' के विषय में समझना चाहिये।

(९०) त्रिहायणीषु शालासु मोदन्ते धनिका जनाः ॥

विवेचन—'त्रिहायणीषु' के स्थान पर 'त्रिहायनासु' होना चाहिये, क्योंकि पूर्वोक्त **दामहायनान्ताच्च** (४.१.२७) द्वारा विधीयमान ङीप् और वार्तिकोक्त णत्व

दोनों वयोवाच्य होने पर ही हुआ करते हैं। यहां वयः की कोई बात ही नहीं, 'शालासु' को विशेषित किया जा रहा है अतः ङीप्+णत्व न हो कर टाप् ही होगा।

(६१) छात्रीणां **छात्रवृन्देन सङ्गोऽनर्थकरो महान्** ॥

विवेचन—छादनं छत्त्रम्, छत्त्रं शीलमस्येति छात्त्रः। छत्त्रशब्द से '**छत्त्रादिभ्यो णः**' (४.४.६२) द्वारा तद्धित 'ण' प्रत्यय करने पर 'छात्त्र' शब्द निष्पन्न होता है। अब स्त्रीत्व की विवक्षा में **ताच्छीलिके णेऽपि अण्कार्यं भवति** (ज्ञापक) इस के आश्रय से अण्निमित्तक **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) द्वारा ङीप् प्राप्त होता है। परन्तु **ज्ञापकसिद्धं न सर्वत्र** के अनुसार यहां ङीप् न हो कर टाप् ही होता है—छात्त्रा। इसीलिये तो मुनि ने **छत्त्रादिभ्योऽण्** सूत्र न बना कर **छत्त्रादिभ्यो णः** (४.४.६२) बनाया है। इस प्रकार छात्त्रीणाम् के स्थान पर छात्त्राणाम् ऐसा स्त्रीलिङ्ग प्रयोग होना चाहिये। [दृश्यतां **छत्त्रादिभ्यो णः** (४.४.६२) इत्यत्रत्यः शब्देन्दुशेखरः।]

(६२) आकृतिग्रहणा **जातिर्लिङ्गानां च न सर्वभाक्** ॥

विवेचन—गृह्यते=ज्ञायतेऽनेनेति ग्रहणम्, करणे ल्युट्, सामान्ये नपुंसकम्। आकृतिः (अवयवसन्निवेशः) ग्रहणम्=ज्ञानसाधनं यस्याः सा आकृतिग्रहणा। यहां बहुव्रीहिसमास में 'ग्रहण' शब्द उपसर्जन है अतः ल्युडन्त होते हुए भी टित्त्व के कारण ङीप् नहीं होता। अदन्तलक्षण टाप् ही होता है।

(६३) जीवपत्नी **तु या नारी** पतिवत्नी**ति भण्यते** ॥

विवेचन—जीवतीति जीवः, पचाद्यच्। जीवः पतिर्यस्याः सा जीवपत्नी जीवपतिर्वा। बहुव्रीहिसमास में स्त्रीत्व की विवक्षा में **विभाषा सपूर्वस्य** (४.१.३४) से पतिशब्द के इकार को विकल्प से नकार आदेश हो जाता है। नकारादेश वाले पक्ष में नान्तलक्षण ङीप् होकर 'जीवपत्नी' तथा अन्यत्र 'जीवपतिः' बनता है। इसी अर्थ में **अन्तर्वत्-पतिवतोर्नुक्** (४.१.३२) सूत्र से पतिवत् को नुंक् का आगम हो कर **ऋन्नेभ्यो ङीप्** (२३२) से नान्तलक्षण ङीप् करने से 'पतिवत्नी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।[1]

(६४) **गर्भं धत्ते तु या नारी सान्तर्वत्नी स्मृता बुधैः** ॥

विवेचन—गर्भिणी स्त्री के वाच्य होने पर **अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक्** (४.१.३२) सूत्रद्वारा 'अन्तर्वत्' शब्द को नुंक् का आगम हो कर नान्तलक्षण ङीप् करने से 'अन्तर्वत्नी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है। जैसाकि अमरकोष में कहा गया है—**आपन्नसत्त्वा स्याद् गुर्विण्यन्तर्वत्नी च गर्भिणी।**

(६५) द्रष्टारो **वेदमन्त्राणाम् आसन् कतिपयाः स्त्रियः** ॥

विवेचन—'द्रष्टृ' शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में **ऋन्नेभ्यो ङीप्** (२३२)

---

१. **मत्वर्थे पतिमच्छब्दे स्त्रियां वत्वं निपात्यते।**
नुगागमे ततो ङीपि पतिवत्नीति सिध्यति ॥

सूत्रद्वारा ङीप् प्रत्यय हो कर 'द्रष्ट्री' शब्द बनता है। अतः यहां प्रथमा के बहुवचन में 'द्रष्ट्र्यः' प्रयोग करना चाहिये।

(९६) **वृद्धहस्तगता यूनी मोदते न कदाचन ॥**

विवेचन—'यूनी' यह अपशब्द है। **यूनस्तिः** (१२७६) द्वारा युवन्शब्द से 'ति' प्रत्यय करने से 'युवतिः' प्रयोग बनता है।

(९७) **नदीयं** जानुदघ्नापि **वेगेन** दुस्तरी **मता ॥**

विवेचन—'जानुदघ्ना' यह अपशब्द है। **टिड्ढाणञ्०** (१२५१) सूत्रद्वारा ङीप् हो कर 'जानुदघ्नी' होना चाहिये। 'दुस्तर' शब्द खल्प्रत्ययान्त है। स्त्रीत्व में इस से ङीप्-ङीष्-ङीन् किसी की प्राप्ति नहीं। अदन्तलक्षण टाप् हो कर 'दुस्तरा' बनेगा।

(९८) **विशदा विमला मेधा विद्यानां** पारदृश्वनी।
दीयतां मे सदा देव किञ्चिदन्यन्न कामये ॥

विवेचन—'पारदृश्वनी' के स्थान पर 'पारदृश्वरी' होना चाहिये। पारं दृष्टवतीति पारदृश्वरी। 'पार' कर्म के उपपद रहते दृश्धातु से क्वनिँप् प्रत्यय करने पर 'पारदृश्वन्' शब्द बनता है। स्त्रीत्व की विवक्षा में **वनो र च** (४.१.७) सूत्र से ङीप् प्रत्यय तथा वन् के नकार को रेफ आदेश करने से 'पारदृश्वरी' प्रयोग सिद्ध हो जाता है।

(९९) **सा हि तस्य** धनक्रीता **प्राणेभ्योऽपि** गरीयसी ॥ **(काशिका)**

विवेचन—**गतिकारकोपपदानां कृद्भिः सह समासवचनं प्राक्सुँबुत्पत्तेः** (प०) इस परिभाषा के अनुसार सुँबुत्पत्ति से पूर्व ही 'क्रीत' इस कृदन्त के साथ 'धन टा' का समास हो कर **क्रीतात् करणपूर्वात्** (१२६४) से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीष् हो कर 'धनक्रीती' बनना चाहिये जो यहां नहीं हुआ। परन्तु इस का समाधान इस प्रकार करते हैं कि पूर्वोक्त परिभाषा अनित्य या प्रायिक है, कभी कभी इस की प्रवृत्ति नहीं भी होती। अतः यहां भी इस की अप्रवृत्ति मान लेने से, पहले 'क्रीत' शब्द से विभक्त्युत्पत्ति करते समय टाप् हो कर 'क्रीता' बन जायेगा। तब 'धन टा + क्रीता सुँ' का तृतीयातत्पुरुषसमास हो कर 'धनक्रीता' बन जायेगा। 'गरीयस्' शब्द ईयसुँन्-प्रत्ययान्त है अतः **उगितश्च** (१२५०) द्वारा ङीप् हो जाता है।

(१००) **परस्य युवतीं रम्यां सादरं नेक्षतेऽत्र कः ?**

विवेचन—युवन्शब्द से स्त्रीत्व की विवक्षा में **यूनस्तिः** (१२७६) सूत्रद्वारा तद्धित 'ति' प्रत्यय हो कर 'युवतिम्' प्रयोग होना चाहिये। कुछ लोगों का कहना है कि 'युवति' शब्द से **सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके** (गणसूत्र) द्वारा ङीष् प्रत्यय करने पर

'युवती' बनाया जा सकता है[1]। अन्य लोग **यु मिश्रणाऽमिश्रणयोः** (अदा० परस्मै०) धातु से शतृँप्रत्यय कर 'युवत्' शब्द बना **उगितश्च** (१२५०) द्वारा ङीप् कर 'युवती' की सिद्धि किया करते हैं। परन्तु इस प्रकार प्रयोग की सिद्धि हो जाने पर भी वयः का बोध नहीं होता जिस की यहां विवक्षा है।

[२] परिशिष्टे--स्त्रीप्रत्ययप्रकरणगताऽष्टाध्यायीसूत्रतालिका

[इस परिशिष्ट में इस प्रकरण में प्रयुक्त अष्टाध्यायीसूत्रों की अकारादिक्रम से तालिका दी गई है। मूलोक्त सूत्र स्थूल टाइप में तथा व्याख्योक्त सूक्ष्म टाइप में मुद्रित किये गये हैं। सूत्रों के आगे पृष्ठसंख्या जाननी चाहिये।]

अजाद्यतष्टाप्	४	**द्विगोः**	३०
अन उपधालोपिनो०	९१	**न क्रोडादिबह्वचः**	६४
अनुपसर्जनात्	४,१२,८७	**नखमुखात्संज्ञायाम्**	६६
अनो बहुव्रीहेः	९०	न षट्स्वस्रादिभ्यः	७
अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक्	९३	नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्त०	९४
अन्यतो ङीष्	३६	नित्यं सपत्न्यादिषु	९४
इतो मनुष्यजातेः	७६	**पङ्गोश्च**	७९
इन्द्रवरुणभवशर्व०	५२	पत्युर्नो यज्ञसंयोगे	९३
उगितश्च	८	पादोऽन्यतरस्याम्	८९
ऊङुतः	७७	**पुंयोगादाख्यायाम्**	४२
ऊरूत्तरपदादौपम्ये	८०	**पूर्वपदात्संज्ञायामगः**	६८
ऋन्नेभ्यो ङीप्	७	**प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्या०**	४५
केवल-मामक-भागधेय०	९२	**प्राचां ष्फ तद्धितः**	२३
क्रीतात्करणपूर्वात्	५६	बहुव्रीहेरूधसो ङीष्	९६
जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्	६९	**बह्वादिभ्यश्च**	३९
टिड्ढाणञ्द्वयसज्०	११	मनः	९०
डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्०	९०	मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च	७५
दामहायनान्ताच्च	९१	**यञश्च**	२१

१. इस प्रकार स्वीकार करने से एक दोष प्रसक्त होता है। तथाहि—जब 'ति' द्वारा एक बार स्त्रीत्व कह दिया गया तो पुनः ङीष् के द्वारा उसे व्यक्त करने की क्या जरूरत। कहा भी गया है—**उक्तार्थानामप्रयोगः**। इस का परिहार इस तरह किया जाता है कि स्त्रीप्रत्ययों में **उक्तार्थानामप्रयोगः** वाला नियम लागू ही नहीं होता, तभी तो **कृदिकारादक्तिनः** में 'अक्तिनः' कहा गया है, अन्यथा क्तिन्द्वारा स्त्रीत्व के उक्त हो जाने पर दूसरे स्त्रीप्रत्यय के लाने का प्रश्न ही नहीं उठता, उस के लिये 'अक्तिनः' निषेध की जरूरत ही क्या थी?

[३] परिशिष्टे——स्त्रीप्रत्ययप्रकरणान्तर्गतवार्त्तिकादितालिका

[इस परिशिष्ट में वार्त्तिकों, परिभाषाओं, गणसूत्रों, न्यायों, फिट्सूत्रों एवं महत्त्वपूर्ण भाष्यवचन आदियों की अकारादिक्रम से सूची दी जा रही है। इन के आगे पृष्ठसंख्या दी गई है।]

[४] परिशिष्टे—स्त्रीप्रत्ययप्रकरणगतोदाहरणतालिका

[भैमीव्याख्या के इस षष्ठभाग के अन्तर्गत उदाहरणरूप से निर्दिष्ट प्रायः छः सौ रूपों की अकारादिक्रम से यहां अनुक्रमणी दी जा रही है। इन रूपों के आगे कोष्ठकों में स्त्रीप्रत्यय दर्शाये गये है। (×) इस चिह्न से चिह्नित स्थानों पर किसी स्त्रीप्रत्यय के न होने को संकेतित किया गया है। कोष्ठकों के आगे पृष्ठसंख्या दी गई है। मूलोक्त उदाहरण स्थूल टाइप में तथा व्याख्योक्त उदाहरण सूक्ष्म टाइप में अङ्कित समझने चाहियें।]

[अ]

[५] परिशिष्टे—स्त्रीप्रत्ययप्रकरणोपयोगि अष्टाध्यायीसूत्रपाठः

[इस परिशिष्ट में सम्पूर्ण स्त्रीप्रत्ययप्रकरण अष्टाध्यायीक्रमानुसार दिया जा रहा है। विद्यार्थी यदि इसे कण्ठस्थ कर लें तो इस प्रकरण में ऐसा नैपुण्य प्राप्त हो सकता है जो कौमुदीक्रम में दुर्लभ है। इन सूत्रों में जो सूत्र लघुसिद्धान्तकौमुदी के मूल में पढ़े गये हैं उन्हें स्थूल टाइप में तथा अन्यों को बारीक टाइप में दिया गया है।]

अष्टाध्यायीसूत्रपाठे—

चतुर्थोऽध्यायः

प्रथमः पादः

(१) ङ्याप्प्रातिपदिकात्।

(२) स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङे-भ्याम्भ्यस्ङसिँभ्याम्भ्य-स्ङसोसांङ्योस्सुप्।

(३) **स्त्रियाम्।**

(४) **अजाद्यतष्टाप्।**

(५) **ऋन्नेभ्यो ङीप्।**

(६) **उगितश्च।**

(७) वनो र च।

(८) पादोऽन्यतरस्याम्।

(९) टाबृचि।

(१०) **न षट्स्वस्रादिभ्यः।**

(११) मनः।

(१२) अनो बहुव्रीहेः।

(१३) डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्

(१४) अनुपसर्जनात् ।
(१५) **टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः ।**
(१६) **यञश्च ।**
(१७) **प्राचां ष्फ तद्धितः ।**
(१८) सर्वत्र लोहितादिकतन्तेभ्यः ।
(१९) कौरव्यमाण्डूकाभ्यां च ।
(२०) **वयसि प्रथमे ।**
(२१) **द्विगोः ।**
(२२) अपरिमाणबिस्ताचितकम्बल्येभ्यो न तद्धितलुकि ।
(२३) काण्डान्तात् क्षेत्रे ।
(२४) पुरुषात् प्रमाणेऽन्यतरस्याम् ।
(२५) बहुव्रीहेरूधसो ङीष् ।
(२६) सङ्ख्याऽव्ययादेर्ङीप् ।
(२७) दामहायनान्ताच्च ।
(२८) अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम् ।
(२९) नित्यं सञ्ज्ञाछन्दसोः ।
(३०) केवल-मामक-भागधेय-पापाऽपर-समानाऽऽर्यकृत-सुमङ्गल-भेषजाच्च
(३१) रात्रेश्चाजसौ ।
(३२) अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक् ।
(३३) पत्युर्नो यज्ञसंयोगे ।
(३४) विभाषा सपूर्वस्य ।
(३५) नित्यं सपत्न्यादिषु ।
(३६) पूतक्रतोरै च ।
(३७) वृषाकप्यग्निकुसितकुसीदानामुदात्तः ।
(३८) मनोरौ वा ।
(३९) **वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः ।**
(४०) अन्यतो ङीष् ।
(४१) **षिद्गौरादिभ्यश्च ।**
(४२) जानपद-कुण्ड-गोण-स्थल-भाज-नाग-काल-नील-कुश-कामुक-कबराद् वृत्त्यमत्रा-वपनाकृत्रिमाश्राणास्थौल्य-वर्णानाच्छादनायोविकार-मैथुनेच्छाकेशवेशेषु ।
(४३) शोणात् प्राचाम् ।
(४४) **वोतो गुणवचनात् ।**
(४५) **बह्वादिभ्यश्च ।**
(४६) नित्यं छन्दसि ।
(४७) भुवश्च ।
(४८) **पुंयोगादाख्यायाम् ।**
(४९) **इन्द्र-वरुण-भव-शर्व-रुद्र-मृड-हिमाऽरण्य-यव-यवन-मातुलाचार्याणामानुक् ।**
(५०) **क्रीतात्करणपूर्वात् ।**
(५१) क्तादल्पाख्यायाम् ।
(५२) बहुव्रीहेश्चान्तोदात्तात् ।
(५३) अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वा ।
(५४) **स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात् ।**
(५५) नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गाच्च ।
(५६) **न क्रोडादिबह्वचः ।**
(५७) सहनञ्विद्यमानपूर्वाच्च
(५८) **नखमुखात्संज्ञायाम् ।**
(५९) दीर्घजिह्वी च च्छन्दसि ।
(६०) दिक्पूर्वपदान्ङीप् ।
(६१) वाहः ।
(६२) सख्यशिश्वीति भाषायाम् ।
(६३) **जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् ।**
(६४) पाक-कर्ण-पर्ण-पुष्प-फल-मूल-वालोत्तरपदाच्च ।

(६५) इतो मनुष्यजातेः ।
(६६) ऊङुतः ।
(६७) बाह्वन्तात् संज्ञायाम् ।
(६८) पङ्गोश्च ।
(६९) ऊरूत्तरपदादौपम्ये ।
(७०) संहितशफलक्षणवामादेश्च ।
(७१) कद्रु-कमण्डल्वोश्छन्दसि ।
(७२) सञ्ज्ञायाम् ।
(७३) शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन् ।
(७४) यङश्चाप् ।
(७५) आवट्याच्च ।
(७६) तद्धिताः ।
(७७) यूनस्तिः ।

[६] परिशिष्टे—विशेषद्रष्टव्य-स्थल-तालिका

[इस तालिका में इस व्याख्या के कतिपय द्रष्टव्यस्थलों का निर्देश किया गया है । आगे पृष्ठसंख्या दी गई है ।]

[७] परिशिष्टे--विशेष-स्मरणीय-पद्यमाला

[भैमीव्याख्या-षष्ठभागस्थ दर्जनों पद्यों में से व्याकरणसम्बन्धी कुछ विशेष स्मरणीय पद्य यहां संकलित किये गये हैं ।]

(१) टाप्-डाप्-चापस्त्रयोऽप्येते ङीप्-ङीष्-ङीन्प्रत्ययैः सह ।
ऊङ्तिभ्यां मिलिताश्चापि सन्त्यष्टौ प्रत्ययाः स्त्रियाम् ॥ (पृष्ठ २)

(२) स्तनकेशवती स्त्री स्याल्लोमशः पुरुषः स्मृतः ।
उभयोरन्तरं यच्च तदभावे नपुंसकम् ॥ (पृष्ठ ३)

(३) स्वसा तिस्रश्चतस्रश्च ननान्दा दुहिता तथा ।
याता मातेति सप्तैते स्वस्रादय उदाहृताः ॥ (पृष्ठ ८)

(४) टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः ख्युन्-
वस्मस्ताहृशिचष्टुनाष्टुरत इञ्शश्छोऽटचचोऽन्त्यादि टि ।
लोपोव्योर्वलिवृद्धिरेचियचिभं दाधाघ्वदाप्छेचटे-
रित्यब्दानखिलान्नयन्ति कतिचिच्छब्दान् पठन्तः कटून् ॥ (पृष्ठ ११)

(५) स्मृत्याऽजादिगणे युक्ता टाबुत्पत्तिर्द्विगोरपि ।
त्र्यनीकेति गणे कीर्त्यः स्यादाकृतिगणो हि सः ॥ (पृष्ठ ३१)

(६) त्रीणि यस्यावदातानि विद्या योनिश्च कर्म च ।
एतच्छिवे ! विजानीहि ब्राह्मणाग्रचस्य लक्षणम् ॥ (पृष्ठ ३५)

(७) सत्त्वे निविशतेऽपैति पृथग्जातिषु दृश्यते ।
आधेयश्चाक्रियाजश्च सोऽसत्त्वप्रकृतिर्गुणः ॥ (पृष्ठ ३७)

(८) क्वचित्पुत्र्यामपि हरः पुंयोगे ङीषमिच्छति ।
केकयी केकयसुता देवकी देवकात्मजा ॥ (पृष्ठ ४३)

(९) एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः ।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ॥ (पृष्ठ ५५)

(१०) उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते ॥ (पृष्ठ ५५)

(११) अर्याणी स्वयमर्या स्यात् क्षत्त्रिया क्षत्त्रियाण्यपि ।
उपाध्यायाऽप्युपाध्यायी स्यादाचार्यापि च स्वतः ॥
आचार्यानी तु पुंयोगे स्यादर्यी क्षत्त्रियी तथा ।
उपाध्यायाऽप्युपाध्यायी ॥ (पृष्ठ ५६)

(१२) सा हि तस्य धनक्रीता प्राणेभ्योऽपि गरीयसी ॥ (पृष्ठ ५७)

(१३) अद्रवं मूर्त्तिमत् स्वाङ्गं प्राणिस्थमविकारजम् ।
अतत्स्थं तत्र दृष्टं च तेन चेत्तत्तथायुतम् ॥ (पृष्ठ ६२)

(१४) क्रोड-बाल-गला भाल-भगोखाः खुरसंयुताः ।
शफो भुजो गुदं घोणाकरौ क्रोडादिनामनि ॥ (पृष्ठ ६६)

(१५) अविकारोऽद्रवं मूर्तं प्राणिस्थं स्वाङ्गमुच्यते ।
च्युतं च प्राणिनस्तत्तद् निभं च प्रतिमादिषु ॥ (पृष्ठ ६४)

(१६) आकृतिग्रहणा जातिः, लिङ्गानां च न सर्वभाक् ।
सकृदाख्यातनिर्ग्राह्या, गोत्रं च चरणैः सह ॥ (पृष्ठ ७०)

(१७) गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणिलिङ्गास्तु तद्वति ॥ (पृष्ठ ७१)

(१८) शूद्री शूद्रस्य भार्या स्याच्छूद्रा तज्जातिरेव च ।
आभीरी तु महाशूद्री जातिपुंयोगयोः समा ॥ (पृष्ठ ७१)

(१९) पुरा कल्पे तु नारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते ।
अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवचनं तथा ॥ (पृष्ठ ७३)

(२०) सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षीपुत्रस्य पाणिनेः ॥ (पृष्ठ ७६)

(२१) अवावरीं धीतिमिरस्य पीवरीं
संसारसिन्धोः परमार्थदृश्वरीम् ।
सुधीवरीं सत्पुरुषार्थसम्पदां
नमामि भक्त्या परया सरस्वतीम् ॥ (पृष्ठ ८९)

[८] परिशिष्टे—स्त्रीप्रत्ययविधायकमुख्यसूत्राणि

[स्त्रीप्रत्ययों के विधायकसूत्रों में विद्यार्थी प्रायः ङीप्-ङीष्-ङीन् आदि में अशुद्धि कर जाते हैं। अतः यहां उन के सौकर्य के लिये तत्तत्प्रत्ययों के विधायकसूत्र पृथक् पृथक् दर्शाए जा रहे हैं।]

[१] टाप्-विधायक—
१. अजाद्यतष्टाप् (१२४९)

[२] डाप्-विधायक—
१. डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम् (४.१.१३)

[३] चाप् विधायक—
१. सूर्याद्देवतायां चाब्वाच्यः (वा०)

[४] ङीप्-विधायक—
१. ऋन्नेभ्यो ङीप् (२४२)
२. उगितश्च (१२५०)
३. यञश्च (१२५२)
४. टिड्ढाणञ्० (१२५२)
५. नञ्स्नञीकक्० (वा०)
६. वयसि प्रथमे (१२५६)
७. द्विगोः (१२५७)
८. वर्णादनुदात्तात्तोप० (१२५८)
९. वनो र च (४.१.८)
१०. पादोऽन्यतरस्याम् (४.१.८)
११. अन उपधालोपिनो० (४.१.२८)
१२. दामहायनान्ताच्च (४.१.२७)
१३. केवलमामकभागधेय० (४.१.३०)

[५] ङीष्-विधायक—

१. षिद्गौरादिभ्यश्च (१२५५)
२. आमनडुहः स्त्रियां वा (गण०)
३. अन्यतो ङीष् (४.१.४०)
४. वोतो गुणवचनात् (१२५६)
५. बह्वादिभ्यश्च (१२६०)
६. कृदिकारादक्तिनः (गण०)
७. सर्वतोऽक्तिन्नर्थाद्० (गण०)
८. पुंयोगादाख्यायाम् (१२६१)
९. इन्द्रवरुणभवशर्व० (१२६३)
१०. मातुलोपाध्याययोरानुंग्वा (वा०)
११. आचार्यादणत्वं च (वा०)
१२. अर्यक्षत्रियाभ्यां वा स्वार्थे (वा०)
१३. क्रीतात्करणपूर्वात् (१२६४)
१४. स्वाङ्गाच्चोपसर्जनाद० (१२६६)
१५ जातेरस्त्रीविषयाद० (१२६९)
१६. योपधप्रतिषेधे हयगवय० (वा०)
१७. इतो मनुष्यजातेः (१२७०)
१८. नासिकोदरौष्ठ० (४.१.३०)
१९. अङ्गगात्रकण्ठेभ्य० (वा०)
२०. पुच्छाच्चेति वक्तव्यम् (वा०)
२१. बहुव्रीहेरूधसो ङीष् (४.१.२५)
२२. पाणिगृहीती भार्यायाम् (वा०)
२३. सख्यशिश्वीति भाषायाम् (४.१.६२)

[६] ङीन्-विधायक—

१. शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन् (१२७५)
२. नृनरयोर्वृद्धिश्च (गण०)

[७] ऊङ्-विधायक—

१. ऊङुतः (१२७१)
२. पङ्गोश्च (१२७२)
३. श्वशुरस्योकाराकारलोपश्च (वा०)
४. ऊरूत्तरपदादौपम्ये (१२७३)
५. संहितशफलक्षणवामादेश्च (१२७४)

[८] ति-विधायक—

१. यूनस्तिः (१२७६)

[९] परिशिष्टे—संक्षिप्तं पाणिनीयं लिङ्गानुशासनम् (सव्याख्यम्)

[संस्कृत में शब्दों के लिङ्गों का ज्ञान अन्य भाषाओं की अपेक्षा अधिक जटिल, ध्यातव्य एवं चिन्तनीय है। यहां विशेष्य के लिङ्ग के अनुसार ही प्रायः विशेषण का लिङ्ग होता है। सर्वनामों से भी विशेष्यानुसार लिङ्गव्यवस्था मानी जाती है। अतः लिङ्गज्ञान इस में अत्यावश्यक होता है। लिङ्गविषयक अशुद्धि से सारा वाक्य ही गड़बड़ा सकता है। प्राचीनकाल में जब संस्कृत लोकभाषा थी तब लोकव्यवहार से ही लिङ्गों का ज्ञान हो जाता था, अतएव भाष्यकार ने कहा है—**लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्य** (महाभाष्य)। परन्तु अब जबकि संस्कृत लोकभाषा नहीं रही, ग्रन्थों तक ही सीमित तथा विद्वत्समाज की ही व्यवहार्य वस्तु रह गई है तो लिङ्गज्ञान की आवश्यकता पूर्वापेक्षया और भी अधिक बढ़ गई है। अद्यत्वे सुधीजन भी लिङ्ग के विषय में व्यामूढ़ हो कर बहुधा स्खलन करते देखे जाते हैं। अत एव लिङ्गज्ञान को अत्यावश्यक समझते हुए संस्कृत कोषकार प्रत्येक शब्द के लिङ्ग को दर्शाने में सयत्न देखे जाते हैं।]

पाणिनीय लिङ्गानुशासन से पूरी तरह तो नहीं पर हां कुछ सीमा तक लिङ्गज्ञान की आवश्यकता पूरी हो जाती है और इस से विद्यार्थी लिङ्गज्ञान के प्रति

जागरूक एवं प्रबुद्ध हो जाते हैं। बस यही सोचकर यहां बालोपयोगी संक्षिप्त पाणिनीय-लिङ्गानुशासन की व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं। आशा है छात्रवृन्द इस से लाभान्वित हो सकेगा।

पुंलिङ्ग आदि शब्दो में पुम्स् आदि शब्द भावप्रधान निर्दिष्ट किये गये हैं। पुंस्त्वं लिङ्गम् अस्येति पुंलिङ्गोऽर्थः। स्त्रीत्वं लिङ्गमस्येति स्त्रीलिङ्गः। नपुंसकत्वं लिङ्गमस्येति नपुंसकलिङ्गः। वैयाकरण लिङ्ग को अर्थ-निष्ठ मानते हैं पर शब्द और अर्थ के अभेदोपचार के कारण शब्दों में भी पुंलिङ्ग आदि का व्यवहार किया जाता है।

☆ अथ संक्षिप्तं पाणिनीयं लिङ्गानुशासनम् ☆

[१] **लिङ्गम्** ॥

यह अधिकारसूत्र है। यहां से आगे शब्दों के लिङ्गों का अनुशासन किया जायेगा।

[२] **स्त्री** ॥

सर्वप्रथम स्त्रीलिङ्ग का अधिकार चला रहे हैं।

[३] **ऋकारान्ता मातृ-दुहितृ-स्वसृ-यातृ-ननान्दरः** ॥

मातृ (माता), दुहितृ (पुत्री), स्वसृ (बहन), यातृ (देवर की पत्नी), ननान्दृ ननन्द)—ये पांच ऋदन्त प्रकृतियां स्त्रीलिङ्ग होती हैं। इयं माता, इयं दुहिता, इयं स्वसा, इयं याता, इयं ननान्दा। कर्तृ आदि यौगिक शब्दों में या क्रोष्टृ आदि रूढशब्दों में स्त्रीत्व की विवक्षा में **ऋन्नेभ्यो ङीप्** (२३२) से ङीप् प्रत्यय हो कर कर्त्री, क्रोष्ट्री आदि रूप बन जाते हैं, वे ऋदन्त नहीं रहते। तिसृ और चतसृ ऋदन्तप्रकृति नहीं अपितु त्रि और चतुर् शब्दों के स्थान पर होने वाले आदेश हैं[1]। अतः ऋदन्तप्रकृतिक उपर्युक्त पाञ्च शब्द ही स्त्रीलिङ्ग हैं। इन में **न षट्स्वस्रादिभ्यः** (२३३) से ङीप् का निषेध कहा गया है।

[४] **अन्यूप्रत्ययान्तो धातुः** ॥

धातु से अनिप्रत्यय अथवा ऊप्रत्यय करने पर निष्पन्न होने वाले शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं। **उणादयो व्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि** (उणाद्यन्त भी व्युत्पन्न=यौगिक प्रातिपदिक होते हैं) इस मत का आश्रयण कर इस सूत्र का निर्माण किया गया है।

अनिप्रत्ययान्त यथा – इयम् अवनिः (पृथ्वी), सरणिः (मार्ग), धरणिः (पृथ्वी), धमनिः (नाड़ी, धौंकनी) आदि। **कृदिकारादक्तिनः** (गण०) से पक्ष में ङीष् हो कर अवनी, सरणी आदि भी बनेंगे।

ऊप्रत्ययान्त यथा—इयं चमूः (सेना), तनूः (शरीर), वधूः, कण्डूः (खारिश), खर्जूः (खाज), दर्द्रूः (दाद) आदि।

[५] **अशनिभरण्यरणयः पुंसि वा** ॥

---

१. त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ (२२४)।

अनिप्रत्ययान्त अशनि (तडित्, बिजली), भरणि (नक्षत्र-विशेष), अरणि (काष्ठविशेष : जिसके मन्थन से अग्नि उत्पन्न होती है)—ये शब्द पुंलिङ्ग भी होते हैं। पूर्वसूत्र से इन की स्त्रीलिङ्गता प्राप्त होती है। अयम् इयं वा अशनिः। अयं भरणिः, इयम्भरणिः। अयमरणिः, इयमरणिः। स्त्रीत्वपक्ष में वैकल्पिक ङीष् भी होगा—अशनी, भरणी, अरणी।

[६] **मिन्यन्तः ॥**

मिप्रत्ययान्त तथा निप्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं। यथा—भूमिः। ग्लानिः। हानिः। इत्यादि।

[७] **वह्निवृष्ण्यग्न्यः पुंसि ॥**

यह पूर्वसूत्र का अपवाद है। वह्नि, वृष्णि और अग्नि शब्द निप्रत्ययान्त होते हुए भी पुंलिङ्ग होते हैं। अयं वह्निः। अयं वृष्णिः। अयम् अग्निः।

[८] **क्तिन्नन्तः ॥**

क्तिन्प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं। यथा—कृतिः, दृष्टिः, भूतिः, प्रसूतिः आदि। 'अक्तिनः' कथन के कारण पक्ष में ङीष् न होगा।

[९] **ईकारान्तश्च ॥**

'ई' प्रत्ययान्त शब्द भी स्त्रीलिङ्ग होते हैं। यथा—इयम् अवीः (रजस्वला स्त्री), तरीः (नौका), स्तरीः (धूम), तन्त्रीः (वीणा), लक्ष्मीः। ईप्रत्यय औणादिक है।

[१०] **ऊङाबन्तश्च ॥**

ऊङ्प्रत्ययान्त तथा आबन्त (टाप्-डाप्-चाप्—प्रत्ययान्त) शब्द भी स्त्रीलिङ्ग होते हैं। ऊङन्त यथा—इयं कुरूः, पङ्गूः, श्वश्रूः, करभोरूः, संहितोरूः आदि। आबन्त यथा—इयं विद्या, गङ्गा, जरा, त्वरा, सूर्या आदि।[1]

[११] **य्वन्तमेकाक्षरम् ॥**

एक अच् वाले जो ईकारान्त और ऊकारान्त शब्द वे स्त्रीलिङ्ग होते हैं। यथा—इयं श्रीः, भूः, धीः ह्रीः, भीः, भ्रूः। इत्यादि। एकाच्कथन से बहुव्रीहि में नहीं होता—पृथुश्रीः, प्राप्तभूः इत्यादि शब्द विशेष्यानुसार लिङ्ग धारण करते हैं।

[१२] **विंशत्यादिरानवतेः ॥**

विंशति से ले कर नवनवति तक के शब्द चाहे संख्येयवाची हों या संख्यावाची सदा स्त्रीलिङ्ग होते हैं। यथा—इयं विंशतिः, इयं त्रिंशत्, इयं चत्वारिंशत्, इयं

---

१. कई ग्रन्थों में इस सूत्र का पाठ इस प्रकार पाया जाता है—**ऊङ्ङ्याबन्तश्च।** इस का अर्थ होगा— ऊङ्प्रत्ययान्त, ङी (ङीप्-ङीष्-ङीन्) प्रत्ययान्त तथा आप् (टाप्-डाप्-चाप्) प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं। ऊङ्प्रत्ययान्तों तथा आप्-प्रत्ययान्तों के उदाहरण ऊपर दे दिये गये हैं। ङीप्रत्ययान्तों के उदाहरण हैं—नदी, गौरी, ब्राह्मणी आदि।

पञ्चाशत्, इयं षष्टिः, इयं सप्ततिः, इयमशीतिः, इयन्नवतिः। विंशतिः आदि यदि संख्यापरक हों तो द्विवचन और बहुवचन में भी प्रयुक्त हो सकते हैं परन्तु रहेंगे तब भी स्त्रीलिङ्ग। यथा—छात्राणां द्वे विंशती, बालानां तिस्रो विंशतयः। चतस्रो नवतयो रूप्यकाणाम्।

[१३] **तलन्तः॥**

तल्प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं। यथा—शुक्लस्य भावः शुक्लता। शुभ्रता। जडता। मृदुता। ब्राह्मणस्य कर्म भावो वा ब्राह्मणता। जनानां समूहो जनता। ग्रामता। बन्धुता। देव एव देवता [**स्वार्थिका अपि प्रत्ययाः क्वचित् प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्त्तन्ते** इत्युक्तेः प्रकृतिभिन्नलिङ्गत्वम्]।

[१४] **भूमि-विद्युत्-सरिल्लता-वनिताभिधानानि॥**

भूमि, विद्युत्, सरित् (नदी), लता और वनिता (स्त्री) इन के पर्यायशब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं।

भूमि के पर्याय यथा—इयं भूमिः, अचला, विश्वम्भरा, वसुधा आदि।

विद्युत्पर्याय यथा—इयं विद्युत्, तडित्, सौदामनी, चपला, चञ्चला आदि।

सरित्पर्याय यथा—इयं सरित्, तटिनी, निम्नगा, आपगा, स्रोतस्वती आदि।

लतापर्याय यथा—इयं लता, व्रततिः, वल्ली, वल्लरी आदि।

वनिता के पर्याय यथा—इयं योषित्, वनिता, अबला, वामा आदि।

[१५] **भास्-स्रुक्-स्रग्-दिगुष्णिगुपानहः॥**

भास् (सकारान्त, प्रकाश), स्रुच् (चकारान्त, स्रुवा), स्रज् (जकारान्त, पुष्पमाला), दिश् (दिशा), उष्णिह् (छन्दो-विशेष), उपानह् (जूता)—ये शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं। इयं भाः। इयं स्रुक्। इयं स्रक्। इयं दिक्। इयम् उष्णिक्। इमे उपानहौ।

[१६] **प्रावृड्-विप्रुड्-रुड्-विट्-त्विषः॥**

प्रावृष् (बरसात), विप्रुष् (बूंद), रुष् (क्रोध), विष् (विष्ठा), त्विष् (कान्ति)—ये शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं। यथा—इयं प्रावृट्। एता विप्रुषः परिहरेत्। महत्या रुषाऽऽक्रान्तोऽयंसर्पः। एतया विषा दूषितं जलम्। महत्या त्विषा भासतेऽस्य मुखम्।

[१७] **शष्कुलि-राजि-कुट्यशनि-वर्त्ति-भ्रुकुटि-त्रुटि-वलि-पङ्क्तयः॥**

शष्कुलि आदि नौ शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं। यथा—इयं शष्कुलिः (कर्णमार्ग), राजिः (पङ्क्ति), कुटिः (कुटिया), अशनिः (बिजली), वर्त्तिः (बत्ती), भ्रुकुटिः (भौं), त्रुटिः (क्षण, लेश, कण आदि), वलिः (झुरी), पङ्क्ति (कतार) पक्ष में ङीष् हो कर शष्कुली, राजी आदि भी बनते हैं।

[१८] **अप्-सुमनस्-समा-सिकता-वर्षाणां बहुत्वं च॥**

अप् (जल), सुमनस् (पुष्प), समा (वर्ष, संवत्सर), सिकता (रेत), वर्षा (बरसात)—ये शब्द स्त्रीलिङ्ग हैं, इनका बहुवचन में प्रयोग होता है। यथा—इमा

आपः । एताः सुमनसः । **मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः** (रामायणे) । **लभेत सिकतासु तैलमपि यत्नतः पीडयन्** (भर्तृहरेः) । वर्षासु वर्षन्ति मेघाः । देवतावाची सुमनस् शब्द पुंलिङ्ग है । सिकता और समा शब्द कहीं कहीं अबहुवचनान्त भी देखे जाते हैं । **एका सिकता तैलदानेऽसमर्था, त्वार्थेप्यसमर्था** (महाभाष्ये) । (५.२.१२) ।[1]

[इति स्त्रीलिङ्गाधिकारः]

[१९] **पुमान्** ॥

यह अधिकारसूत्र है । अब यहां से आगे पुंलिङ्ग शब्दों का अधिकार चला रहे हैं ।

[२०] **घञबन्तः** ॥

घञ्प्रत्ययान्त तथा अप्प्रत्ययान्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं । घञ्प्रत्ययान्त यथा—पाकः, त्यागः, रागः, भागः, पाठः, नाशः, दाहः आदि । अप्प्रत्ययान्त यथा—करः, गरः, यवः, लवः, स्तवः, पवः आदि ।

[२१] **घाजन्तश्च** ॥

घप्रत्ययान्त तथा अच्प्रत्ययान्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं । घप्रत्ययान्त यथा—विस्तरः । आकरः । आलयः । दन्तच्छदः (ओष्ठ) । गोचरः । सञ्चरः । वहः (स्कन्ध) । व्रजः (गोष्ठ) । आपणः (दुकान) । निगमः (वेद) । अच्प्रत्ययान्त यथा—चयः, जयः, क्षयः आदि[2] ।

[२२] **नङन्तः** ॥

नङ्प्रत्ययान्त पुंलिङ्ग होते हैं । **यज-याच-यत-विच्छ-प्रच्छ-रक्षो नङ्** (८६०)—यज्ञः, यत्नः, विश्नः, प्रश्नः, रक्ष्णः ।

[२३] **याच्ञा तु स्त्रियाम्** ॥

याच्ञाशब्द नङ्प्रत्ययान्त होता हुआ भी स्त्रीलिङ्ग होता है । **याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा** (मेघदूत ६) ।

[२४] **क्यन्तो घुः** ॥

घुसंज्ञकधातु से 'कि' प्रत्यय करने पर निष्पन्न शब्द पुंलिङ्ग होते हैं । **उपसर्गे घोः किः** (८६२)—प्रधिः, उपधिः, आधिः, व्याधिः, विधिः, निधिः, सन्धिः आदि ।

---

१. **आपः सुमनसो वर्षा अप्सरःसिकतासमाः ।**
एते स्त्रियां बहुत्वे स्युरेकत्वेऽप्युत्तरत्रयम् ॥

२. इस के कई अपवादस्थल भी हैं । यथा—महद् भयम् । भयशब्द अप्प्रत्ययान्त होता हुआ भी नपुंसक होता है । कहा भी गया है—**भय-लिङ्ग-भग-पदानि नपुंसके** ।

[२५] **देवाऽसुरात्म-स्वर्ग-गिरि-समुद्र-नखकेश-दन्त-स्तन-भुज-कण्ठ-खड्ग-शर-पङ्काभिधानानि ॥**

देव, असुर, आत्मन्, स्वर्ग, गिरि, समुद्र, नख, केश, दन्त, स्तन, भुज, कण्ठ, खड्ग, शर और पङ्क—इन सब के पर्याय पुंलिङ्ग होते हैं।

देव के पर्याय—अमरः, निर्जरः, देवः, सुरः आदि[1]।

असुर के पर्याय—असुरः, राक्षसः, दानवः, दनुजः आदि।

आत्मन् के पर्याय—आत्मा, क्षेत्रज्ञः, पुरुषः आदि।

स्वर्ग के पर्याय—स्वर्गः, नाकः, सुरलोकः, आदि[2]।

गिरि के पर्याय—गिरिः, पर्वतः, नगः आदि।

समुद्र के पर्याय—समुद्रः, सागरः, रत्नाकरः, पारावारः आदि।

नख के पर्याय—पुनर्भवः, कररुहः, नखः आदि।

केश के पर्याय—चिकुरः, कुन्तलः, बालः, केशः आदि।

दन्त के पर्याय—रदः, रदनः, दन्तः आदि।

स्तन के पर्याय—स्तनः, कुचः, वक्षोजः आदि।

भुज के पर्याय—भुजः, बाहुः आदि।

कण्ठ के पर्याय—कण्ठः, गलः आदि।

खड्ग के पर्याय—खड्गः, असिः, निस्त्रिंशः आदि।

शर के पर्याय—शरः, बाणः, आशुगः आदि।

पङ्क के पर्याय—पङ्कः, कर्दमः आदि।

[२६] **नान्तः ॥**

नकारान्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं। यथा—राजा, श्वा, तक्षा, वृषा, ऋभुक्षाः, वृत्रहा, तनिमा, गरिमा आदि। ब्रह्मन्, चर्मन् आदि शब्द **मन् द्व्यच्कोऽकर्त्तरि** (७१) इस लिङ्गानुशासनीय अग्रिमसूत्र से नपुंसक होते हैं। **सर्वं खल्विदं ब्रह्म।** चर्म। वर्म। आदि।

[२७] **क्रतु-पुरुष-कपोल-गुल्फ-मेघाभिधानानि ॥**

क्रतु (यज्ञ), पुरुष, कपोल (गाल), गुल्फ (गिट्टा) और मेघ—इन पाञ्च के वाचक शब्द पुलिङ्ग होते हैं।

क्रतुवाचक—क्रतुः। यज्ञः। अध्वरः। मखः। आदि।

पुरुषवाचक—पुरुषः। नरः। पुमान्। आदि।

कपोलवाचक—कपोलः। गण्डः। आदि।

---

१. देवता शब्द नित्यस्त्रीलिङ्ग है।

२. स्वर्गवाची 'त्रिविष्टप' शब्द नपुंसक तथा 'द्यो' और 'दिव्' शब्द स्त्रीलिङ्ग हैं। **द्योदिवौ द्वे स्त्रियां क्लीबे त्रिविष्टपम्**—इत्यमरः।

गुल्फवाचक—गुल्फः । पादग्रन्थिः । आदि ।

मेघवाचक—मेघः । जलधरः । वारिदः । आदि ।

[२८] **अभ्रं नपंसकम् ॥**

यह पूर्वसूत्र का अपवाद है । मेघवाचक अभ्रशब्द नपुंसक लिङ्ग होता है । अभ्रं मेघः ।

[२९] **उकारान्तः ॥**

उकारान्त शब्द पुलिङ्ग होते हैं । यथा—विधुः । इक्षुः । शत्रुः । प्रभुः । आदि । यह उत्सर्गसूत्र है । इस के कई अपवादस्थल हैं । निदर्शनार्थ एक अपवादस्थल यथा—

[३०] **धेनु-रज्जु-कुहु-सरयु-तनु-रेणु-प्रियङ्गवः स्त्रियाम् ॥**

धेनु आदि उकारान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं । धेनुरियम् । रज्जुरियम् । कुहुः (अमावस, कोयलध्वनि) । इत्यादि । अन्य अपवाद आकरग्रन्थों में देखें ।

[३१] **रुत्वन्तः ॥**

रु-अन्त वाले तथा तु-अन्त वाले शब्द पुंलिङ्ग होते हैं । यथा—मेरुः । सेतुः । हेतुः आदि ।

[३२] **दारु-कसेरु-जत्रु-वस्तु-मस्तूनि नपुंसके ॥**

यह पूर्वसूत्र का अपवाद है । दारु आदि शब्द नपुंसकलिङ्ग होते हैं । इदं दारु (लकड़ी), कसेरु (जलजकन्द विशेष), जत्रु (गले के नीचे की दो हड्डियां), वस्तु, मस्तु (छाछ, लस्सी) ।

[३३] **कोपधः ॥**

जिनकी उपधा में ककार हो ऐसे अदन्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं । यथा—स्तबकः (गुच्छा) । कोरकः (कली) । कल्कः (सिल पर पिसा) आदि । इस सूत्र के कई अपवादस्थल हैं । यथा—चिबुक (ठोडी), अंशुक (महीन वस्त्र), प्रातिपदिक, उल्मुक (जलती हुई लकड़ी), कण्टक, मस्तक, पुस्तक, मोदक (लड्डू) आदि शब्द नपुंसक में देखे जाते हैं ।

[३४] **टोपधः ॥**

जिस की उपधा में टकार हो ऐसे अदन्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं । यथा—घटः । पटः । आदि । इस के कुछ अपवादस्थल भी हैं । यथा—किरीट, लोष्ट, ललाट, मुकुट आदि नपुंसक में देखे जाते हैं । इदं किरीटम् इत्यादि ।

[३५] **णोपधः ॥**

जिन की उपधा में णकार हो ऐसे अदन्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं । यथा—पाषाणः । गुणः । गणः । पणः । आदि । ऋण, लवण, सुवर्ण, तृण, तोरण, पर्ण, चूर्ण आदि कुछ शब्द नपुंसक में प्रयुक्त होते हैं ।

[३६] **थोपधः ॥**

जिन की उपधा में थकार हो ऐसे अदन्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं। यथा—रथः। अर्थः आदि। काष्ठ, पृष्ठ, रिक्थ (दाय भाग) सिक्थ (मोम) उक्थ (सामवेद का अवयव) आदि कुछ शब्द नपुंसक में प्रयुक्त होते हैं।

[३७] **नोपधः ॥**

नकारोपध अदन्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं। यथा—इनः (स्वामी या वैश्य), फेनः (झाग)। कानन, वन, विपिन, तुहिन, जघन, सोपान, रत्न, श्मशान, चिह्न, अजिन (चमड़ा) आदि कुछ शब्द नपुंसक में प्रयुक्त होते हैं।

[३८] **पोपधः ॥**

पकारोपध अदन्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं। यथा—यूपः। सर्पः। दीपः। सूपः। कूपः आदि। पाप, रूप, पुष्प आदि कुछ शब्द नपुंसक में प्रयुक्त होते हैं।

[३९] **भोपधः ॥**

भकारोपध अदन्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं। यथा—स्तम्भः। कुम्भः। शलभः। करभः (ऊँट, सूंड) आदि। जृम्भ-शब्द तीनों लिङ्गों में प्रयुक्त देखा जाता है—जृम्भः, जृम्भा, जृम्भम् (जम्भाई)।

[४०] **मोपधः ॥**

मकारोपध अदन्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं। यथा—सोमः। भीमः। स्तोमः। होमः। आदि। रुक्म (सुवर्ण), कुङ्कुम (केसर), इध्म (लकड़ी) आदि शब्द नपुंसक होते हैं।

[४१] **योपधः ॥**

यकारोपध अदन्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं। यथा—समयः। हयः। गवयः आदि। हृदय, इन्द्रिय, किसलय (पल्लव, पत्ता), उत्तरीय (ओढ़ने की चादर) आदि नपुंसक होते हैं।

[४२] **रोपधः ॥**

रकारोपध अदन्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं। यथा—शूरः। वीरः। अङ्कुरः। क्षुरः आदि। द्वार, तक्र, तीर, रन्ध्र, पत्त्र, पात्त्र, छिद्र, शस्त्र, शास्त्र, नेत्र, वक्त्र (मुख), क्षेत्र, मूत्र, केयूर, गह्वर (गुफा) आदि शब्द नपुंसक होते हैं।

[४३] **षोपधः ॥**

षकारोपध अदन्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं। यथा—वृक्षः। मेषः। यक्षः आदि। पुरीष (विष्ठा), किल्बिष (पाप, अपराध) आदि शब्द नपुंसक में प्रयुक्त होते हैं।

[४४] **सोपधः ॥**

सकारोपध अदन्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं। यथा—वत्सः। वायसः। महानसः आदि। बुस (भूसा), मानस, साहस, बिस (कमलनाल) आदि शब्द नपुंसक में प्रयुक्त होते हैं।

[४५] **दाराऽक्षत-लाजाऽसूनां बहुत्वं च ॥**

दार (पत्नी, स्त्री), अक्षत (साबुत चावल), लाज (लाजा), असु (प्राण)—ये शब्द पुंलिङ्ग हैं तथा बहुवचन में प्रयुक्त होते हैं। यथा—इमे दाराः, अक्षताः, लाजाः, असवः। नासावसून् मुञ्चति।

[४६] **रश्मि-दिवसाभिधानानि ॥**

रश्मि (किरण) तथा दिवस (दिन) के पर्याय पुंलिङ्ग होते हैं। रश्मि के पर्याय यथा—रश्मिः। मयूखः। किरणः। आदि। किरणवाची दीधितिशब्द स्त्रीलिङ्ग होता है। दिवस के पर्याय यथा—दिवसः। वासरः। घस्रः। आदि। **दिनाहनी नपुंसके**—दिनम्। अहः।

[४७] **ध्वज-गज-मुञ्ज-पुञ्जाः ॥**

ध्वज आदि शब्द पुंलिङ्ग होते हैं। ध्वजः। गजः। मुञ्जः (मूंज)। पुञ्जः (समूह)।

[४८] **ह्लद-कन्द-कुन्द-बुद्बुद-शब्दाः ॥**

ये पुंलिङ्ग हैं। ह्लदः (अगाधजल जलाशय)। कन्दः। कुन्दः (चमेली का पौधा)[1]। बुद्बुदः (बुलबुला)। शब्दः।

[४९] **सारथ्यतिथि-कुक्षि-बस्ति-पाण्यञ्जलयः ॥**

सारथि आदि इकारान्त छः शब्द पुंलिङ्ग होते हैं। सारथिः। अतिथिः। कुक्षिः। बस्तिः (मूत्राशय)। पाणिः। अञ्जलिः (जुड़े हुए दोनों हाथ)।

[इति पुंलिङ्गाधिकारः]

[५०] **नपुंसकम् ॥**

यह अधिकारसूत्र है। यहां से आगे नपुंसकलिङ्ग का अधिकार है।

[५१] **भावे ल्युडन्तः ॥**

भाववाची ल्युट् प्रत्यय जिसके अन्त में हो वह शब्द नपुंसक होता है। यथा—गमनम्, हसनम्, श्रवणम्, भक्षणम् आदि[2]। 'भावे' कहने से 'पचनोऽग्निः' इत्यादि में नपुंसक नहीं होता, विशेष्यानुसार लिङ्ग होता है। यहां 'पच्यतेऽनेनेति पचनः' इस तरह **करणाधिकरणयोश्च** (३.३.११७) सूत्र से करण में ल्युट् प्रत्यय हुआ है। इसी तरह 'प्रवृश्च्यन्तेऽनेनेति प्रव्रश्चनः, इध्मानां प्रव्रश्चनः इध्मप्रव्रश्चनः' इत्यादियों में समझना चाहिये।

[५२] **निष्ठा च ॥**

'भावे' का अनुवर्त्तन हो रहा है। भाव में जो निष्ठा (क्त[3]) तदन्त शब्द

---

१. पुष्प अर्थ में नपुंसक होता है—कुन्दम् (चमेली का फूल)।

२. **नपुंसके भावे क्तः** (८७०), **ल्युट् च** (८७१)।

३. निष्ठा से यहां केवल 'क्त' ही अभिप्रेत है, **क्तवतु नहीं,** क्योंकि वह भाव में नहीं होता कर्त्ता में ही हुआ करता है।

नपुंसक होता है। **नपुंसके भावे क्तः** (८७०)—हसितम्, रुदितम्, ज्वलितम्, गतम्, स्थितम्, नृत्तम् आदि। भावार्थक क्त के प्रयोग में कर्त्ता से शेष की विवक्षा में **षष्ठी शेषे** (६०१) द्वारा षष्ठी विभक्ति होती है। यथा—विद्युतो विलसितम् (बिजली का चमकना), छात्त्रस्य हसितम् (छात्र का हंसना), शिशोः शयितम् (बच्चे का सोना), मयूरस्य नृत्तम् (मोर का नाचना), कोकिलस्य व्याहृतम् (कोयल का कूकना), मतङ्गजस्य गतम् (हाथी की चाल)। इन स्थानों पर कृद्योग में प्राप्त कर्ता में षष्ठी का **न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्** (२.३.६९) से निषेध हो कर अनभिहित कर्त्ता में तृतीया-विभक्ति प्राप्त होती थी परन्तु **क्तस्य च वर्त्तमाने** (२.३.६७) सूत्रस्थ भाष्य के प्रामाण्य से ऐसे स्थानों पर केवल शेष की ही विवक्षा मानी जाती है कर्तृत्व की नहीं (देखें The Students' Guide to Sanskrit, by V. S. Apte, Page 105)।

[५३] **त्व-ष्यञौ तद्धितौ ॥**

भाव में विहित तद्धितसंज्ञक जो 'त्व' और 'ष्यञ्' प्रत्यय, तदन्त शब्द नपुंसकलिङ्ग होते हैं। यथा—शुक्लस्य भावः शुक्लत्वं शौक्ल्यम्। जडस्य भावो जडत्वं जाड्यम्। मूढस्य भावो मूढत्वं मौढ्यम्। इन में त्व और ष्यञ् किये गये हैं। चतुरस्य भावः चातुर्यम्। निपुणस्य भावो नैपुण्यम्। मधुरस्य भावो माधुर्यम्। उचितस्य भाव औचित्यम्। इन में ष्यञ् हुआ है। ष्यञ् को षित् किया गया है अतः लक्ष्यानुसार क्वचित् षित्त्वसामर्थ्य से **षिद्-गौरादिभ्यश्च** (१२५५) द्वारा ङीष् हो कर भसंज्ञक अकार का तथा तद्धित यकार का लोप करने से चातुरी, नैपुणी, माधुरी, औचिती आदि स्त्रीलिङ्ग प्रयोग भी बनते हैं।

स्वार्थ में ष्यञ् होने पर भी नपुंसकलिङ्ग का प्रयोग देखा जाता है[१]। यथा—सुखमेव सौख्यम्। सन्निधिरेव सान्निध्यम्। समीपमेव सामीप्यम् आदि।

[५४] **यद्-य-ढग्-यग्-अञ्-अण्-वुञ्-छाश्च भावकर्मणि ॥**

भाव अथवा कर्म में होने वाले यत्, य, ढक्, यक्, अञ्, अण्, वुञ् और छ—ये प्रत्यय जिसके अन्त में हों वे शब्द नपुंसकलिङ्ग होते है। उदाहरण यथा—

यत्प्रत्यय—स्तेनस्य भावः कर्म वा स्तेयम् (चोरी)।[२]

यप्रत्यय—सख्युर्भावः कर्म वा सख्यम् (मित्रता)।[३]

ढक्प्रत्यय—कपेर्भावः कर्म वा कापेयम् (चञ्चलता, अनुकरणशीलता)।[४]

यक्प्रत्यय—सेनापतेर्भावः कर्म वा सैनापत्यम् (सेनापतित्व)।[५]

---

१. **चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे (ष्यञः) उपसंख्यानम्** (वा०)।
२. **स्तेनाद्यन्नलोपश्च** (५.१.३२५)।
३. **सख्युर्यः** (५.१.१२६)।
४. **कपिज्ञात्योर्ढक्** (११६२)।
५. **पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्** (११६३)।

पुरोहितस्य भावः कर्म वा पौरोहित्यम् (पुरोहिताई)।
अञ्प्रत्यय—अश्वस्य भावः कर्म वा आश्वम् (घोड़े का भाव)।[1]
कुमारस्य भावः कर्म वा कौमारम् (लड़कपन)।
अण्प्रत्यय—यूनो भावः कर्म वा यौवनम् (जवानी)।[2]
वुञ्प्रत्यय—रमणीयस्य भावो रामणीयकम्।[3]
छप्रत्यय—अच्छावाकस्य भावः कर्म वा अच्छावाकीयम्।[4]

[५५] **अव्ययीभावः** ॥

अव्ययीभावसमास नपुंसकलिङ्ग होता है। नपुंसकत्व के कारण इसे **ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य** (२४३) द्वारा ह्रस्व आदेश हो जाता है। यथा—मालायाम् इत्यधिमालम्। अधिखट्वम्। अधिगोपम्। नद्याः समीपम् उपनदि (टचोऽभावे)। उपपौर्णमासि। अष्टाध्यायी में **अव्ययीभावश्च** (९११) द्वारा प्रतिपादित विषय का यहां पुनः स्मरण कराया गया है। इसीप्रकार आगे के कुछ सूत्रों में समझना चाहिये।

[५६] **द्वन्द्वैकत्वम्** ॥

समाहारद्वन्द्व द्वारा निष्पन्न शब्द नपुंसकलिङ्ग होता है। यथा—पाणी च पादौ च एषां समाहारः पाणिपादम्। मार्दङ्गिकवैणविकम्। रथिकाश्वारोहम्। **द्वन्द्वश्च प्राणि-तूर्यसेनाङ्गानाम्** (९९१) सूत्रद्वारा यहां एकवद्भाव समझना चाहिये।

[५७] **परवत्** ॥

तत्पुरुषसमास परवल्लिङ्ग होता है अर्थात् तत्पुरुष समास में परपद का जो लिङ्ग होता है वही समस्त पद का हो जाता है। यह सूत्र अष्टाध्यायीस्थ **परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः** (९९२) का स्मारक है। उदाहरण यथा—पिप्पल्या अर्धम् अर्ध-पिप्पली। इयमर्धपिप्पली ग्राह्या। पूर्वं कायस्य पूर्वकायोऽयम्। इस के कई अपवाद-स्थलों का समासप्रकरण में वर्णन आ चुका है वहीं देखें।

[५८] **रात्राह्नाहाः पुंसि** ॥

यह परवल्लिङ्गता का अपवाद है। रात्र, अह्न, अह—ये शब्द जिस के अन्त में हों ऐसा तत्पुरुषसमास पुंलिङ्ग होता है। पूर्वरात्रः। अपररात्रः। पूर्वाह्णः। अपराह्णः। द्व्यहः। त्र्यहः।

यह सूत्र अष्टाध्यायी में भी पढ़ा गया है। वहां इस सूत्र में 'द्वन्द्व' की भी

---

१. **प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ्** (५.१.१२९)।
२. **हायनान्तयुवादिभ्योऽण्** (५.१.१३०)। **श्वयुवमघोनामतद्धिते** (२९०) सूत्र में तद्धितपर्युदास होने से सम्प्रसारण नहीं हुआ।
३. **योपधाद् गुरूपोत्तमाद् वुञ्** (५.१.१३२)।
४. **होत्राभ्यश्छः** (५.१.१३५)। अच्छावाक ऋत्विग्विशेषः।

अनुवृत्ति आती है अतः रात्रान्त द्वन्द्व भी पुंलिङ्ग समझना चाहिये—अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रः ।

[५९] **संख्यापूर्वा रात्रिः ॥**

संख्यावाचक जिस का पूर्वपद तथा रात्रिशब्द जिस का उत्तरपद हो ऐसा तत्पुरुषसमास नपुंसकलिङ्ग होता है । यथा—द्वयो रात्र्योः समाहारः—द्विरात्रम् । तिसृणां रात्रीणां समाहारः—त्रिरात्रम् । चतसृणां रात्रीणां समाहारः—चतूरात्रम् । संख्यावाचक पूर्वपद न हो तो परवल्लिङ्गता का बाध कर **रात्राह्नाहाः पुंसि** (९५७) सूत्र से पुंस्त्व हो जायेगा—सर्वरात्रः । संख्यातरात्रः । पुण्यरात्रः । इन सब उदाहरणों की सिद्धि इस व्याख्या के समासप्रकरण में देखें ।

[६०] **द्विगुः स्त्रियां च ॥**

द्विगुसमास स्त्रीलिङ्ग में और कहीं कहीं नपुंसकलिङ्ग में भी होता है[1] । स्त्रीलिङ्ग में यथा—त्रयाणां लोकानां समाहारः—त्रिलोकी । नपुंसकलिङ्ग में यथा—त्रयाणां भुवनानां समाहारः—त्रिभुवनम् । पञ्चपात्रम् ।

[६१] **इसुसन्तः ॥**

इस् या उस् जिस के अन्त में हो वह शब्द नपुंसकलिङ्ग होता है । यथा—हविः, सर्पिः, धनुः, वपुः, चक्षुः आदि ।

[६२] **अर्चिः स्त्रियां च ॥**

परन्तु अर्चिस् (अग्निज्वाला) शब्द स्त्रीलिङ्ग में भी प्रयुक्त होता है । इयमर्चिः । अर्चिरिदम् ।

[६३] **छदिः स्त्रियामेव ॥**

छदिस् (पटल, छत) स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयुक्त होता है । जीर्णा छदिर्वर्षासु प्रश्च्योतति । अमरकोष में **पटलं छदिः** ऐसा पाठ है । यहां पटलम् इस नपुंसक के साहचर्य से छदिस् को भी व्याख्याकारों ने नपुंसक माना है परन्तु यह पाणिनिसूत्र के विरुद्ध समझना चाहिये ।

[६४] **मुख-नयन-लोह-वन-मांस-रुधिर-कार्मुक-विवर-जल-हल-धनाऽन्नाभिधानानि ॥**

मुख आदियों के वाचक शब्द नपुंसकलिङ्ग होते हैं ।

---

१. अस्य व्यवस्था सूत्रवार्त्तिकपाठयोरित्थं प्रदर्शिता—**स नपुंसकम्** (२.४.१७)—स समाहारद्विगुर्नपुंसकलिङ्गः स्यात् । परवल्लिङ्गताऽपवादः । पञ्चगवम् । **अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः** (वा०)—पञ्चमूली । त्रिलोकी । **आबन्तो वा** (वा०)—आबन्तो द्विगुः स्त्रियां क्लीबे च स्यात् । पञ्चखट्वी, पञ्चखट्वम् । **अनो नलोपश्च, वा च द्विगुः स्त्रियाम्** (वा०)—अन्नन्तस्य द्विगोर्नलोपः, स्त्रीत्वं वा च, पक्षे क्लीबतेत्यर्थः । पञ्चतक्षी, पञ्चतक्षम् । **पात्राद्यन्तस्य न** (वा०)—स्त्रीत्वं न, अपि तु **स नपुंसकम्** इति क्लीबत्वमेव, अदन्तत्वेन स्त्रीत्वे प्राप्ते तदपवादार्थं वार्त्तिकम् । पञ्चपात्रम्, त्रिभुवनम् ।

मुखवाचक—मुखम्, वदनम्, वक्त्रम्, आननम् आदि ।

नयनवाचक—नेत्रम्, नयनम्, अक्षि, लोचनम् आदि ।[1]

लोहवाचक—लोहम्, अयः, कालायसम् आदि ।

वनवाचक—वनम्, अरण्यम्, विपिनम्, कान्तारम् आदि ।[2]

मांसवाचक—मांसम्, आमिषम्, पिशितम् आदि ।

रुधिरवाचक—रुधिरम्, रक्तम्, शोणितम्, अस्रम् आदि ।

कार्मुक (धनुष) वाचक—धनुः, कार्मुकम्, शरासनम् आदि ।

विवर (छिद्र) वाचक—विवरम्, छिद्रम्, बिलम्, रन्ध्रम् आदि ।

जलवाचक—जलम्, पयः, सलिलम्, वारि, तोयम् आदि ।

हलवाचक—हलम्, लाङ्गलम् आदि ।

धनवाचक—धनम्, वित्तम्, द्रविणम्, वसु आदि ।[3]

अन्नवाचक—अन्नम्, अशनम्, अन्धः आदि ।

इस सूत्र के अनेक अपवाद कोषग्रन्थों में पाये जाते हैं ।

[६५] सीरार्थोदनाः पुंसि ॥

सीर (हल), अर्थ (धन) और ओदन शब्द पुलिङ्ग में पाये जाते हैं । यह पूर्वसूत्र का अपवाद है । सीरः । अर्थाः **पादरजोपमा गिरिनदीवेगोपमं यौवनम्** (हितोप० १.१५५) । ओदनः ।

[६६] लोपधः ॥

अदन्त लकारोपध शब्द नपुंसकलिङ्ग होते हैं । यथा—कुलम् । कूलम् (किनारा) । स्थलम् । आदि । इस के कई अपवादस्थल हैं । यथा—तूल, उपल (पत्थर), ताल, कुसूल (धान्यसंग्रहस्थान), कम्बल, वृषल आदि कई शब्द पुंलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं ।

[६७] शतादिः संख्या ॥

संख्या या संख्येय अर्थ में वर्त्तमान शत आदि संख्याएं नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होती हैं । यथा—शतं जनाः । जनानां शतम् । सहस्रं जनाः । जनानां सहस्रम् । इत्यादि ।

[६८] शताऽयुत-प्रयुताः पुंसि च ॥

शत, अयुत (दस हजार), प्रयुत (दस लाख)—ये संख्याएं पुंलिङ्ग में भी प्रयुक्त होती हैं । पूर्वसूत्रानुसार नपुंसकत्व के प्राप्त होने पर पुंलिङ्ग का भी विधान किया गया है । शतोऽयम्, इदं शतम् । अयुतोऽयम्, इदम् अयुतम् । प्रयुतोऽयम्, इदम्प्रयुतम् ।

---

१. दृश् और दृष्टि शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं ।

२. अटवी और अरण्यानी शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं ।

३. धनवाची रै शब्द पुंलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग दोनों में प्रयुक्त होता है ।

[६९] **लक्षा कोटिः स्त्रियाम् ॥**

लक्षा (लाख) और कोटि (करोड़) शब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं। यह सूत्र **शतादिः संख्या** सूत्र का अपवाद है। इन का एक सुभाषित में प्रयोग यथा—

कियती पञ्चसहस्री कियती लक्षापि कोटिरपि कियती ।
औदार्योन्नतमनसां रत्नवती वसुमती कियती ॥

(सुभाषितरत्न० पृष्ठ ७०)

अमरकोषादियों में लक्षशब्द को नपुंसक भी माना गया है।

[७०] **शङ्कुः पुंसि ॥**

शङ्कु (सौ खरब) शब्द पुंलिङ्ग में प्रयुक्त होता है। यह भी **शतादिः संख्या** सूत्र का अपवाद है। शङ्कुरयम्।

[७१] **मन्द्व्यच्कोऽकर्तरि ॥**

दो अचों वाला मन्प्रत्ययान्त शब्द जो कर्तृवाची न हो वह नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होता है। यथा—इदं वर्म। इदं चर्म। 'द्व्यच्क' इसलिये कहा है कि दो से अधिक अचों वाले शब्दों में इस की प्रवृत्ति न हो। यथा—अणोर्भावः—अणिमा, लघोर्भावः—लघिमा, महतो भावः—महिमा। ये सब पूर्वोक्त **नान्तः** (लिङ्गा० २६) सूत्र से पुंलिङ्ग हैं। प्रयोग यथा—**एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः** (ऋग्वेद १०.९०:३)। 'अकर्त्तरि' इसलिये कहा है कि—ददातीति दामा (मनिन्प्रत्यय) इत्यादियों में नपुंसकत्व न हो।

[७२] **ब्रह्मन् पुंसि च ॥**

ब्रह्मन्शब्द नपुंसक के अतिरिक्त पुंलिङ्ग में भी देखा जाता है। यहां व्यवस्थितविभाषा समझनी चाहिये। चतुरानन (ब्रह्माजी) के अर्थ में यह पुंलिङ्ग तथा अन्यत्र परमात्मा आदि अर्थों में इसे नपुंसक समझना चाहिये। ब्रह्मा विधाता चतुर्मुखः। **सर्वं खल्विदं ब्रह्म।**

[७३] **असन्तो द्व्यच्कः ॥**

दो अचों वाला अस्-अन्त शब्द नपुंसक होता है। यथा—यशः। तपः। पयः। मनः आदि। 'द्व्यच्क' कथन के कारण 'चन्द्रमाः' आदि में नहीं होता। वह पुंलिङ्ग है। 'वेधस्' शब्द पूर्वोक्त **देवासुर०** (लिङ्गा० २५) सूत्र से पुंलिङ्ग समझना चाहिये। कुछ लोग इस सूत्र में भी 'अकर्तरि' पद का अनुवर्त्तन कर 'विदधातीति वेधाः' इस तरह परिहार करते हैं।

[७४] **अप्सराः स्त्रियाम् ॥**

अप्सरस्-शब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होता है। यह शब्द प्रयोग में प्रायः बहुवचनान्त देखा जाता है। इमा अप्सरसः। कहीं कही एकवचनान्त भी प्रयुक्त होता है—उर्वशी नामाप्सराः।

[७५] **त्रान्तः ॥**

'त्र' शब्द जिस के अन्त में हो वह नपुंसकलिङ्ग होता है। यथा—छत्त्रम्, पत्त्रम्, पात्त्रम्, दात्रम्, नेत्रम् आदि।

[७६] **यात्रा-मात्रा-भस्त्रा-दंष्ट्रा-वरत्राः स्त्रियामेव ॥**

यात्रा, मात्रा, भस्त्रा (धौंकनी), दंष्ट्रा (दाढ़), वरत्रा (चमड़े की पेटी जो घोड़े आदि की छाती के नीचे बान्धी जाती हैं)—ये पाञ्च शब्द स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयुक्त होते हैं। पूर्वोक्त **त्रान्तः** (७५) सूत्र का यह अपवाद है। इयं यात्रा। इयं मात्रा। भस्त्रेयम्। दंष्ट्रेयम्[1]। वरत्रेयम्।

[७७] **भृत्राऽमित्रच्छात्त्र-पुत्त्र-यन्त्र-वृत्र-मेढ्रोष्ट्राः पुंसि ॥**

भृत्र (?), अमित्र (शत्रु), छात्त्र, पुत्त्र, यन्त्र वृत्र (मेघ आदि), मेढ्र (मूत्रेन्द्रिय) और उष्ट्र (ऊँट)—ये शब्द पुंलिङ्ग होते हैं। यह भी **त्रान्तः** (७५) सूत्र का अपवाद है। अयम्भृत्रः। न मित्रम्—अमित्रः (शत्रु)। तत्पुरुष-समास में परवल्लिङ्गता का प्रकृतसूत्र से बाध हो जाता है। **तस्य मित्राण्यमित्रास्ते** (माघ २.१०१)। छात्त्रोऽयम्। यन्त्रोऽयम। **को वृत्रः ? मेघ इति नैरुक्ताः।** मेढ्रोऽयम्। उष्ट्रोऽयम्। भृत्र और पुंलिङ्ग यन्त्र शब्द के प्रयोग अन्वेषणीय है।

[७८] **बल-कुसुम-शुल्व-पत्तन-रणाभिधानानि ॥**

बल आदि के वाचक शब्द नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं।

बलवाची यथा—बलम्, सहः (सहस्) वीर्यम् आदि।[2]

पुष्पवाची यथा—पुष्पम्, कुसुमम्, प्रसूनम् आदि।

ताम्रवाची यथा—ताम्रम्, शुल्वम्, म्लेच्छमुखम् आदि।

नगरवाची यथा—पत्तनम्, नगरम्, पुरम् आदि।[3]

रणवाची यथा—रणम्, युद्धम्, जन्यम्, मृधम् आदि।[4]

[७९] **फलजातिः ॥**

फलजातिवाचक शब्द नपुंसक होते हैं। यथा—आमलकम्। आम्रम्। कुछेक

---

१. दंष्ट्राशब्द **दाम्नीशस०** (८४४) सूत्रद्वारा ष्ट्रन्प्रत्ययान्त सिद्ध होता है। परन्तु षित्त्वात् **षिद्गौरादिभ्यश्च** (१२५५) द्वारा ङीष् के प्राप्त होने पर अजादिगण में पाठ के कारण उस का बाध हो कर टाप् हो जाता है। उपर्युक्त सूत्र में 'दंष्ट्रा' का पाठ भी टाप् करने में ज्ञापक हो सकता है।

२. इस के कई अपवादस्थल भी हैं। यथा—पराक्रमः (पुं०), शक्तिः (स्त्री०)।

३. नगरवाची पुर् और नगरी शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं। नगरविशेषवाची यथाश्रुत-लिङ्ग को धारण करते हैं। यथा—कान्यकुब्जः, मथुरा, काशी, पाटलिपुत्रम् आदि।

४. युद्धवाची कई शब्द पुंलिङ्ग होते हैं। यथा—संग्रामः, आहवः आदि। कुछ स्त्रीलिङ्ग भी होते हैं। यथा—आजिः, संयत्, युत् (युध्) आदि।

शब्द अन्य लिङ्गों में भी प्रयुक्त देखे जाते हैं। यथा—हरीतकी। जाम्बवम्।

[८०] **वृक्षजातिः स्त्रियामेव ॥**

वृक्षजातिवाचक शब्द (क्वचित्) स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयुक्त होते हैं। यथा—हरीतकी (हरड़ का पेड़), आमलकी (आमले का पेड़)।

[८१] **वियज्जगत्-शकृत्-शकन्-पृषद्-यकृदुदश्वितः ॥**

वियत् (आकाश), जगत्, शकृत् (विष्ठा), शकन् (?), पृषत् (विन्दु), यकृत् (जिगर) और उदश्वित् (छाछ, मठा)—ये सात शब्द नपुंसक होते हैं। तारकितं वियत्। इत्यादि।

[८२] **नवनीताऽवतानाऽनृताऽमृत-निमित्त-वित्त-चित्त-व्रत-रजत-वृत्त-पलितानि ॥**

नवनीत (माखन), अवतान (चँदोआ), अनृत, (झूठ) अमृत, निमित्त, वित्त (धन), चित्त, व्रत, रजत (चान्दी), वृत्त (वृत्तान्त) और पलित (वृद्धत्वजन्य श्वेतता)। ये शब्द नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त होते हैं। **नीतं यदि नवनीतं नीतं नीतं च किं तेन। आतपतापितभूमौ माधव मा धाव मा धाव ॥** इत्यादि।

[इति नपुंसकलिङ्गाधिकारः]

[८३] **स्त्रीपुंसयोः ॥**

यह अधिकारसूत्र है। अब यहां से आगे जो शब्द कहेंगे वे स्त्रीलिङ्ग और पुंलिङ्ग अर्थात् दोनों लिङ्गों में प्रयुक्त होंगे।

[८४] **गो-मणि-यष्टि-मुष्टि-पाटलि-वस्ति-शाल्मलि-त्रुटि-मसि-मरीचयः ॥**

गो आदि दस शब्द स्त्रीलिङ्ग और पुंलिङ्ग दोनों में प्रयुक्त होते हैं। गोशब्द बैल अर्थ में पुंलिङ्ग तथा गाय अर्थ में स्त्रीलिङ्ग है। अयं गौः। गौरियम्। इयं मणिः। अयं मणिः। यष्टि (छड़ी) शब्द स्त्रीलिङ्ग में तो उपलब्ध है परन्तु इस के पुंलिङ्ग में प्रयोग मृग्य हैं। अयं मुष्टिः, इयं मुष्टिः (मुट्ठी)। पाटलि (श्वेतरक्त पुष्पविशेष) शब्द को कोषकारों ने स्त्रीलिङ्ग ही माना है। पुंलिङ्ग में प्रयोग अन्वेषणीय है। इयं बस्तिः, अयं बस्तिः (मूत्राशय)। शाल्मलिरयम्, शाल्मलि शब्द पुंलिङ्ग में ही देखा जाता है। त्रुटि (लव, लेश, कण आदि) शब्द स्त्रीलिङ्ग में ही प्रयुक्त मिलता है। मसि (स्याही) शब्द दोनों लिङ्गों में उपलब्ध होता है। मरीचि (किरण) शब्द उभयलिङ्ग है, बहुधा बहुवचनान्त देखा जाता है।

[८५] **मृत्यु-शीधु-कर्कन्धु-कण्डु-रेणवः ॥**

मृत्यु (मौत), शीधु (मद्य), कर्कन्धु (बेर), कण्डु (खारिश) और रेणु (धूलि)—ये शब्द स्त्रीलिङ्ग और पुंलिङ्ग दोनों में प्रयुक्त होते हैं। इयं मृत्युः, अयं मृत्युः। इयं शीधुः। अयं शीधुः। इयं कर्कन्धुः, अयं कर्कन्धुः। इयं कण्डुः, अयं कण्डुः। इयं रेणुः, अयं रेणुः। कर्कन्धुः और कण्डु से स्त्रीत्वपक्ष में **अप्राणिजातेश्चाऽरज्ज्वादीनामिति वक्तव्यम्** (वा०) वार्त्तिक से ऊङ् प्रत्यय हो कर—कर्कन्धूः, कण्डूः भी बनेगा।

[८६] **गुणवचनमुकारान्तं नपुंसके च ॥**

उकारान्त गुणवाची शब्द स्त्रीलिङ्ग, पुंलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग अर्थात् तीनों लिङ्गों में प्रयुक्त होते हैं। यथा—पटुरयं छात्रः, पट्वीयं कन्या, पटुविदं कुलम्।

[८७] **अपत्यार्थस्तद्धिते ॥**

अपत्यार्थ में विहित जो तद्धितप्रत्यय तदन्त शब्द पुंलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग दोनों में प्रयुक्त होते हैं। यथा—उपगोरपत्यम् (पुमान्) औपगवः। उपगोरपत्यं (स्त्री) औपगवी। गार्ग्यः, गार्गी। इत्यादि।

[इति स्त्रीपुंसाधिकारः]

[८८] **पुन्नपुंसकयोः ॥**

यह अधिकारसूत्र है। यहां से आगे जो शब्द कहेंगे वे पुंलिङ्ग और नपुंसक दोनों लिङ्गों में प्रयुक्त होते हैं।

[८९] **घृत-भूत-मुस्त-क्ष्वेलितैरावत-पुस्तक-बुस्त-लोहिताः ॥**

घृत, भूत आदि शब्द पुंलिङ्ग और नपुंसक दोनों लिङ्गों में प्रयुक्त होते हैं।

घृतशब्द अर्धर्चादिगण में भी पढ़ा गया है। लोक में यह शब्द नपुंसकलिङ्ग में ही देखा जाता है। **आयुर्वै घृतम्**। पुंलिङ्ग में इस के प्रयोग वेद में ही उपलब्ध होते हैं। जैसा कि अमरकोष में कहा है—**अर्धर्चादौ घृतादीनां पुंस्त्वाद्यं वैदिकं ध्रुवम्**।

भूतशब्द पारद अर्थ में पुन्नपुंसक है। सारथि अर्थ में पुंलिङ्ग है।

मुस्त (नागरमोथा) शब्द पुंनपुंसक के साथ साथ स्त्रीलिङ्ग में भी देखा जाता है। मुस्तः, मुस्तम्, मुस्ता।

क्ष्वेलित या क्ष्वेडित शब्द सिंहगर्जन एवं संग्रामघोष अर्थों में पुन्नपुंसक है।

ऐरावतशब्द इन्द्र के हाथी के अर्थ में पुंलिङ्ग प्रसिद्ध है।

पुस्तकशब्द प्रायेण नपुंसकलिङ्ग है परन्तु क्वचित् पुंलिङ्ग में भी प्रयुक्त होता है।[1]

बुस्तः, बुस्तम्। फलादि के ऊपर के छिलके को बुस्त कहते हैं।

लोहितशब्द रुधिर अर्थ में नपुंसक तथा मङ्गलग्रह के अर्थ में पुंलिङ्ग है।

[९०] **कबन्धौषधाऽऽयुधान्ताः ॥**

कबन्ध (सिरकटा चेष्टायुक्त देह)[2], औषध, आयुध (शस्त्र) और अन्त (मौत)—ये शब्द पुन्नपुंसक हैं। कबन्धः, कबन्धम्। औषधशब्द नपुंसक में ही उपलब्ध होता है—औषधम्। आयुधम्। आयुधशब्द के पुंलिङ्ग में प्रयोग मृग्य हैं—**आयुधं तु प्रहरणं शस्त्रमस्त्रम्** इत्यमरः। अन्तः, अन्तम्—**अथाऽस्त्रियामन्त** इत्यमरः।

---

१. **अस्ति कस्मिंश्चिन्नगरे सागरदत्तो नाम वणिक्। तत्सूनुना रूपकशतेन विक्रीयमाणः पुस्तको गृहीतः।** (पञ्चतन्त्रे, द्वितीयतन्त्रे)

२. **कबन्धोऽस्त्री चेष्टायुक्तमपमूर्धकलेवरम्** इत्यमरः।

[९१] **दण्ड-मण्ड-खण्ड-शव-सैन्धव-पार्श्वाकाश-कुश-काशाऽङ्कुश-कुलिशाः ॥**

दण्ड आदि ग्यारह शब्द पुन्नपुंसक होते हैं। दण्डः, दण्डम्। मण्डः, मण्डम्। खण्डः, खण्डम्। शवः, शवम् (**कुणपः शवमस्त्रियाम्**—इत्यमरः)। सैन्धवशब्द घोड़े के अर्थ में पुंलिङ्ग तथा लवण अर्थ में पुन्नपुंसक है। पार्श्वः, पार्श्वम्—**बाहुमूले उभौ कक्षौ पार्श्वमस्त्री तयोरधः** इत्यमरः। आकाशः, आकाशम्—**तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः** (तै० उप० २.१); **शब्दगुणकमाकाशम्** (तर्कसंग्रह)। कुशः, कुशम्। काशः, काशम्। अङ्कुशः, अङ्कुशम्—**अङ्कुशोऽस्त्री सृणिः स्त्रियाम्**—इत्यमरः। कुलिशः, कुलिशम् (इन्द्र का वज्र)।

[९२] **गृह-मेह-देह-पट्ट-पटहाऽष्टापदाऽम्बुद-ककुदाश्च ॥**

गृह आदि आठ शब्द पुन्नपुंसक होते हैं। गृहशब्द का पुंलिङ्ग में प्रयोग अन्वेषणीय है, लोक में नपुंसक-प्रयोग उपलब्ध होते हैं—**न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते** (पञ्चतन्त्रे)। मेह (मूत्र) शब्द के पुंलिङ्ग में ही प्रयोग मिलते हैं। देहः, देहम्। ललाटपट्टः, ललाटपट्टम्। पटहः, पुंलिङ्ग उपलब्ध होता है। अष्टापदः, अष्टापदम् (सुवर्ण)। अम्बुद (मेघ) शब्द पुंलिङ्ग में ही देखा जाता है[१]। ककुदः, ककुदम् (बैल का कुहान, पर्वतशृङ्ग)। इस का श्रेष्ठ अर्थ में भी प्रयोग हुआ करता है—**इक्ष्वाकुवंशः ककुदं नृपाणाम्** (रघु० ६.७१)।

[इति पुन्नपुंसकाधिकारः]

[९३] **अविशिष्टलिङ्गम् ॥**

अब त्रिलिङ्ग शब्दों का अधिकार चला रहे हैं। यहां से आगे जो जो शब्द कहेंगे वे तीनों लिङ्गों में प्रयुक्त होते हैं।

[९४] **अव्यय-डति-युष्मदस्मदः ॥**

अव्ययशब्द, डतिप्रत्ययान्तशब्द तथा युष्मद् और अस्मद् शब्द त्रिलिङ्गी होते हैं।

अव्यय यथा—उच्चैस्तरुः लता मन्दिरं वा।
डतिप्रत्ययान्त यथा—कति पुरुषाः स्त्रियो मित्राणि वा।
युष्मद् यथा—त्वं पुमान्। त्वं स्त्री। त्वं मित्रम्।
अस्मद् यथा—अहम्पुमान्। अहं स्त्री। अहं मित्रम्।

[९५] **ष्णान्ता संख्या ॥**

षकारान्त एवं नकारान्त संख्यावाची शब्द त्रिलिङ्गी होते हैं।
षकारान्त यथा—षट् पुरुषाः। षट् स्त्रियः। षड् मित्राणि।
नकारान्त यथा—पञ्च पुरुषाः। पञ्च स्त्रियः। पञ्च मित्राणि।

---

१. कई लोग इस सूत्र में 'अम्बुद' के स्थान पर 'अर्बुद' (दस करोड़) शब्द का पाठ मानते हैं। अर्बुदः, अर्बुदम्।

[९६] **शिष्टा संख्या परवत् ॥**

षकारान्त और नकारान्त संख्या से भिन्न संख्यावाची शब्द विशेष्य के लिङ्ग को धारण करते हैं। यथा—एको बालः। एका कन्या। एकं मित्रम्। द्वौ बालौ। द्वे कन्ये। द्वे मित्रे। त्रयो बालाः। तिस्रः कन्याः। त्रीणि मित्राणि। चत्वारो बालाः। चतस्रः कन्याः। चत्वारि मित्राणि। विंशति आदि संख्याओं के विषय में पहले कह चुके हैं।

[९७] **गुणवचनं च ॥**

गुणवाचकशब्द जब गुणिपरक होते हैं तो वे त्रिलिङ्ग अर्थात् विशेष्यनिघ्न होते हैं। यथा—शुक्लः पटः। शुक्ला शाटिका। शुक्लं वस्त्रम्। मृदुः पुरुषः। मृदुः (मृद्वी) माला। मृदु पुष्पम्। यदि गुणपरक हों तो पुंलिङ्ग में ही प्रयोग होता है। यथा—शुक्लः। अमरकोष में कहा है—**गुणे शुक्लादयः पुंसि, गुणिलिङ्गास्तु तद्वति।**

[९८] **कृत्याश्च ॥**

कृत्यप्रत्ययान्तशब्द विशेष्यनिघ्न अर्थात् विशेष्य के अनुसार लिङ्ग को धारण करते हैं। यथा—पठितव्यो ग्रन्थः। पठितव्या स्तुतिः। पठितव्यं पुस्तकम्।

[९९] **करणाधिकरणयोर्ल्युट् ॥**

करण तथा अधिकरण में हुआ जो ल्युट् प्रत्यय, तदन्त शब्द विशेष्यानुसार लिङ्ग को धारण करते हैं।

करणे ल्युट्—पलाशशातनः कुठारः। पलाशशातनी कुठारिका। पलाशशातनं कुठारमण्डलम्।

अधिकरणे ल्युट्—सक्तुधानो घटः। सक्तुधानी घटी। सक्तुधानं पात्रम्।

[१००] **सर्वादीनि सर्वनामानि ॥**

सर्व आदि सर्वनामसंज्ञक शब्द विशेष्य के अनुसार तीनों लिङ्गों को धारण कर लेते हैं। यथा—

अयं पुमान्। इयं स्त्री। इदं मित्रम्। स नरः। सा नारी। तद् मित्रम्। इत्यादि।

पाणिनीये महातन्त्रे लिङ्गशास्त्रानुशासने।
भैमीव्याख्यासमायुक्तं सूत्राणां शतकं गतम् ॥

भू-न-वेद-ख-पक्षेऽब्दे वैक्रमे शुभवत्सरे।
रविवारे नवम्याञ्च पौषमासाऽसिते दले ॥१॥
लघु-सिद्धान्त-कौमुद्या भैमीव्याख्यासमन्वितः।
भागः षष्ठः समायातः पूर्तिमीशानुकम्पया ॥२॥

शुभं भूयात्सुरभारतीसमुपासकानाम्

——:०:——

भैमी प्रकाशन

के ग्रन्थों की नवीन सूची 2009

१. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (प्रथम भाग)

लेखक के दीर्घकालिक व्याकरणाध्यापन का यह निचोड़ है । कौमुदी पर इस प्रकार की विस्तृत वैज्ञानिक विश्लेषणात्मक हिन्दी व्याख्या आज तक नहीं निकली । इस व्याख्या के **सन्धि षड्लिङ्ग तथा अव्ययप्रकरणात्मक** प्रथम भाग में प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद, विभक्तिवचन, समास-विग्रह, अनुवृत्ति, अधिकार, सूत्रगत तथा अनुवर्तित प्रत्येक पद का अर्थ, परिभाषाजन्य विशेषता, अर्थ की निष्पत्ति, उदाहरण प्रत्युदाहरण तथा विस्तृत सिद्धि देते हुए छात्रों और अध्यापकों के मध्य आने वाली प्रत्येक शङ्का का पूर्ण विस्तृत समाधान प्रस्तुत किया गया है। इस हिन्दी व्याख्या की देश-विदेश के डेढ़ सौ से अधिक विद्वानों ने भूरि-भूरि प्रशंसा की है । स्थान-स्थान पर परिपठित विषय के आलोडन के लिए बड़े यत्न से पर्याप्त विस्तृत अभ्यास सङ्गृहीत किये गये हैं । इस व्याख्या की रूपमालाओं में अनुवादोपयोगी लगभग दो हज़ार शब्दों का अर्थसहित बृहत्संग्रह प्रस्तुत करते हुए णत्वप्रक्रियोपयुक्त प्रत्येक शब्द को चिह्नित किया गया है । आज तक लघुकौमुदी की किसी भी व्याख्या में ऐसी विशेषता दृष्टिगोचर नहीं होती । व्याख्या की सबसे बड़ी विशेषता अव्ययप्रकरण है । प्रत्येक अव्यय के अर्थ का विस्तृत विवेचन करके उसके लिए विशाल संस्कृत वाङ्मय से किसी न किसी सूक्ति वा प्रसिद्ध वचन को सङ्गृहीत करने का प्रयास किया गया है । अकेला **अव्ययप्रकरण** ही लगभग सौ पृष्ठों में समाप्त हुआ है । एक विद्वान् समालोचक ने ग्रन्थ की समालोचना करते हुए यहां तक कहा था कि–**यदि लेखक ने अपने जीवन में अन्य कोई प्रणयन न कर केवल अव्यय-प्रकरण ही लिखा होता तो केवल यह प्रकरण ही उसे अमर करने में सर्वथा समर्थ था ।** सन्धिप्रकरण में लगभग एक हजार अभूतपूर्व नये उदाहरण विद्यार्थियों के अभ्यास के लिए संकलित किये गये हैं–उदाहरणार्थ अकेले **इको यणचि** सूत्र पर ५० नये उदाहरण दिये गये हैं। इस व्याख्या में ग्रन्थगत किसी भी शब्द की रूपमाला को तद्वत् नहीं लिखा गया प्रत्युत प्रत्येक शब्द एवं धातु की पूरी-पूरी सार्थ रूपमाला दी गई है । स्थान-स्थान पर समझाने के लिए नाना प्रकार के कोष्ठकों और चक्रों से यह ग्रन्थ ओत-प्रोत हैं । इस प्रकार का यत्न व्याकरण के किसी भी ग्रन्थ पर अद्ययावत् नहीं किया गया । यह व्याख्या छात्रों के लिए ही नहीं अपितु अध्यापकों तथा अनुसन्धान-प्रेमियों के लिए भी अतीव उपयोगी है । अन्त में अनुसन्धानोपयोगी कई परिशिष्ट दिये गये हैं ।

२. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (द्वितीय भाग)

लघु-सिद्धान्त-कौमुदी के इस भाग में **दस गण** और **एकादश प्रक्रियाओं** की विशद व्याख्या प्रस्तुत की गई है । तिङन्तप्रकरण व्याकरण की पृष्ठास्थि (Back bone) समझा जाता है । क्योंकि धातुओं से ही विविध शब्दों की सृष्टि हुआ करती है । अत: इस भाग की व्याख्या में विशेष श्रम किया गया है । लगभग दौ सौ ग्रन्थों के आलोडन से इस भाग की निष्पत्ति हुई है । प्रत्येक सूत्र के पदच्छेद, विभक्तिवचन, समासविग्रह, अनुवृत्ति, अधिकार, प्रत्येक पद का अर्थ, परिभाषाजन्यवैशिष्ट्य, अर्थनिष्पत्ति, उदाहरण-प्रत्युदाहरण और सारसंक्षेप के अतिरिक्त प्रत्येक धातु के दसों लकारों की रूपमाला सिद्धिसहित दिखाई गई है। वैयाकरणनिकाय में सैंकड़ों वर्षों से चली आ रही अनेक भ्रान्तियों का सयुक्तिक निराकरण किया गया है। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में विद्यार्थियों के प्रवेश के लिए यत्र-तत्र अनेक भाषावैज्ञानिक नोट्स भी दिये हैं । चार सौ से अधिक सार्थ उपसर्गयोग तथा उनके लिए विशााल संस्कृतसाहित्य से चुने हुए एक सहस्र से अधिक उदाहरणों का अपूर्व संग्रह प्रस्तुत किया गया है। लगभग डेढ़ हजार रूपों की ससूत्र सिद्धि और एक सौ के करीब शास्त्रार्थ और शङ्का-समाधान इस में दिये गये हैं । अनुवादादि के सौकर्य के लिए छात्रोपयोगी **णिजन्त, सन्नन्त, यङन्त, भावकर्म आदि प्रक्रियाओं** के अनेक शतक और संग्रह भी अर्थसहित दिये गये हैं । जैसे नानाविध लौकिक उदाहरणों द्वारा प्रक्रियाओं को इस में समझाया गया है वैसे अन्यत्र मिलना दुर्लभ है । इस से प्रक्रियाओं का रहस्य विद्यार्थियों को हस्तामलकवत् स्पष्ट प्रतीत होने लगता है । अन्त में अनुसन्धानोपयोगी छ: प्रकार के परिशिष्ट दिये गये हैं । ग्रन्थ का मुद्रण आधुनिक बढ़िया मैप्लीथो कागज पर अत्यन्त शुद्ध वा सुन्दर ढंग से पांच प्रकार के टाइपों में किया गया है। सुन्दर, बढ़िया, सम्पूर्ण कपड़े की जिल्द तथा पक्की अंग्रेजी सिलाई ने ग्रन्थ को और अधिक चमत्कृत कर दिया है ।

३. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (तृतीय भाग)

भैमीव्याख्या के इस तृतीय भाग में **कृदन्त** और **कारक** प्रकरणों का विस्तृत वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है । सुप्रसिद्ध कृत्प्रत्ययों के लिए कई विशाल शब्दसूचियां अर्थ तथा ससूत्रटिप्पणों के साथ बड़े यत्न से गुम्फित की गई हैं, जिनमें अढ़ाई हजार से अधिक शब्दों का अपूर्व संग्रह है । प्राय: प्रत्येक प्रत्यय पर संस्कृतसाहित्य में से अनेक सुन्दर सुभाषितों या सूक्तियों का संकलन किया गया है । **कारकप्रकरण** लघुकौमुदी में केवल सोलह सूत्रों तक ही सीमित है जो स्पष्टत: बहुत अपर्याप्त है । भैमीव्याख्या में इन सोलह सूत्रों की विस्तृत व्याख्या करते हुए अन्त में अत्यन्त उपयोगी लगभग पचास अन्य सूत्र-वार्तिकों

की भी सोदाहरण सरल व्याख्या प्रस्तुत की गई है । इस प्रकार कुल मिलाकर कारकप्रकरण ५६ पृष्ठों में समाप्त हुआ है । अनेक प्रकार के उपयोगी परिशिष्टों सहित यह भाग लगभग चार सौ पृष्ठों में समाश्रित हुआ है ।

४. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (चतुर्थ भाग)

भैमीव्याख्या के इस चतुर्थ भाग में **समासप्रकरण** का अत्यन्त विस्तार के साथ लगभग तीन सौ पृष्ठों में विवेचन प्रस्तुत किया गया है । ग्रन्थगत प्रत्येक प्रयोग के लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार के विग्रह निर्दिष्ट कर उस की सूत्रों द्वारा अविकल साधनप्रक्रिया दर्शाई गई है । मूलोक्त उदाहरणों के अतिरिक्त सैंकड़ों अन्य नवीन उदाहरणों को विशाल संस्कृतसाहित्य से चुन-चुन कर इस व्याख्या में गुम्फित किया गया है । इस प्रकार इस व्याख्या में बारह सौ से अधिक समासोदाहरण संगृहीत किये गये हैं । साहित्यिक उदाहरणों के स्थलनिर्देश भी यथासम्भव दे दिये गये हैं । प्रबुद्ध विद्यार्थियों के मन में स्थान स्थान पर उठने वाली दो सौ से अधिक शङ्काओं का भी इस में यथास्थान समाधान किया गया है । जगह जगह उपयोगी पादटिप्पण (फुटनोट्स) दिये गये हैं । मूलगत सूत्रवार्त्तिक आदियों के अतिरिक्त छात्रोपयोगी कई अन्य सूत्रवार्त्तिक आदियों का भी इसमें सोदाहरण व्याख्यान किया गया है। लघुकौमदी के अशुद्ध या भ्रष्ट पाठों पर भी अनेक टिप्पण दिये गये हैं । व्याख्याकार की सूक्ष्मेक्षिका, स्वाध्याय-निपुणता तथा कठिन से कठिन विषय को भी नपे-तुले शब्दों में समझा देने की अपूर्व क्षमता इस व्याख्या में पदे पदे परिलक्षित होती है । समासप्रकरण पर इतनी विस्तृत व्याख्या आज तक लिखी ही नहीं गई । इस से विद्यार्थीवर्ग और अध्यापकवृन्द दोनों जहां लाभान्वित होंगे वहां अनुसन्धानप्रेमियों को भी प्रचुर अनुसन्धानसामग्री प्राप्त होगी। विद्वान् लेखक ने सततोत्थायी होकर दो वर्षों के कठोर परिश्रम से सैंकड़ों ग्रन्थों का मन्थन कर इस भाग को तैयार किया है । अन्त में विविध परिशिष्टों से इस ग्रन्थ को विभूषित किया गया है । व्याख्यागत बारह सौ उदाहरणों की समासनाम-निर्देशसहित बनी वर्णानुक्रमणी इस ग्रन्थ की प्रमुख विशेषताओं में एक समझी जायेगी । इसके सहारे सम्पूर्ण समासप्रकरण की आवृत्ति करने में विद्यार्थियों को महती सुविधा रहेगी । ग्रन्थ में यथास्थान अनेक अभ्यास दिये गये हैं । समीक्षकों का यह कहना है कि यदि इन अभ्यासों को सुचारु रूप में हल कर लिया जाये तो विद्यार्थियों को सिद्धान्तकौमुदी या काशिका में समासप्रकरण को समझने का स्वतः सामर्थ्य प्राप्त हो सकता है । (२३×३६)/१६ साइज के लगभग तीन सौ पृष्ठों में यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है । साफ सुथरी शुद्ध छपाई, पक्की सिलाई तथा सुन्दर स्क्रीन प्रिंटिड सुनहरी जिल्द से यह ग्रन्थ और भी अधिक आकर्षक बन गया है ।

५. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (पञ्चम भाग)

इस भाग में लघुसिद्धान्तकौमुदी के **तद्धितप्रकरण** की अतीव सरल ढंग से सविस्तार व्याख्या प्रस्तुत की गई है । प्रत्येक सूत्र की व्याख्या के बाद हर एक उदाहरण का विग्रह, अर्थ तथा विशद सिद्धि इस में दर्शाई गई है । मूलगत उदाहरणों के अतिरिक्त साहित्यगत विविध उदाहरणों से भी यह ग्रन्थ विभूषित है । पठन पाठन में उठने वाली प्रत्येक शङ्का का इस में समाधान किया गया है । मूलोक्त सूत्रों के अतिरिक्त भी छात्रोपयोगी अनेक सूत्रों की इस में व्याख्या दर्शाई गई है। यत्र-तत्र यत्न से अभ्यास निबद्ध किये गये हैं जिन की सहायता से सारा प्रकरण दोहराया जा सकता है । अन्त में अनेक परिशिष्टों के अतिरिक्त उदाहरणसूची वाला परिशिष्ट इस ग्रन्थ का विशेष आकर्षण है ।

६. लघु-सिद्धान्त-कौमुदी-भैमीव्याख्या (षष्ठ भाग)

इस भाग में लघुकौमुदी के **स्त्रीप्रत्ययप्रकरण** की विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की गई है । प्रत्येक सूत्र की विशद व्याख्या के अनन्तर तद्गत प्रत्येक प्रयोग की विस्तृत सिद्धि तथा अनेकविध उदाहरण-प्रत्युदाहरणों एवं शङ्का-समाधानों से यह भाग विभूषित है । मूलोक्त सूत्रों के अतिरिक्त छात्रोपयोगी अन्य भी अनेक सूत्र और वार्त्तिक इस में सोदाहरण व्याख्यात किये गये हैं । जगह जगह साहित्यिक उदाहरण ढूंढ ढूंढ कर संकलित किये गये हैं । 'स्वाङ्गम्' और 'जाति' सरीखे पारिभाषिक शब्दों तथा अन्य कठिन स्थलों की सरलभाषा में विस्तार के साथ विवेचना की गई है । दूसरे शब्दों में ग्रन्थ का कोई भी व्याख्येयांश बिना व्याख्या के अछूता नहीं छोड़ा गया । पठितविषय की आवृत्ति के लिए यत्र-तत्र अनेक अभ्यास दिये गये हैं । नानाविध सूचीपरिशिष्टों विशेषत: प्रत्ययनिर्देशसहित दी गई उदाहरणसूची से इस ग्रन्थ का महत्त्व बहुत बढ़ गया है । अन्त में स्त्रीप्रत्ययसम्बन्धी एक सौ से अधिक पद्यबद्ध अशुद्धियों का सहेतुक शोधन दर्शा कर लक्ष्यों के प्रति विद्यार्थियों की जागरूकता को प्रबुद्ध करने का विशेष प्रयत्न किया गया है। अनुसन्धानप्रेमी जनों के लिए भी दर्जनों महत्त्वपूर्ण टिप्पण जहां तहां दिये गये हैं। कई स्थानों पर पाणिनीयेतरव्याकरणों का आश्रय लेकर भी विषय को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है । वस्तुत: इतनी विशद सर्वाङ्गीण व्याख्या स्त्रीप्रत्ययप्रकरण पर पहली बार प्रकाशित हुई है । (२३×३६)/१६ साइज के डेढ़ सौ से अधिक पृष्ठों में यह ग्रन्थ समाप्त हुआ है । सुन्दर शुद्ध छपाई, बढ़िया स्क्रीन प्रिंटिड जिल्द तथा पक्की सिलाई से यह ग्रन्थ और भी चमत्कृत हो उठा है ।

७. अव्ययप्रकरणम्

लघुकौमुदी का **अव्ययप्रकरण भैमीव्याख्यासहित** पृथक् भी छपवाया गया है । इस में लगभग सवा पाच सौ अव्ययों का सोदाहरण साङ्गोपाङ्ग विवेचन

प्रस्तुत किया गया है । प्रत्येक अव्यय पर वैदिक वा लौकिक संस्कृतसाहित्य से अनेक सुन्दर सुभाषितों वा सूक्तियों का संकलन किया गया है । कठिन सूक्तियों का अर्थ भी साथ में दे दिया गया है । आज तक इतना शोधपूर्ण परिश्रम इस प्रकरण पर पहली बार देखने में आया है । साहित्यप्रेमी विद्यार्थियों तथा शोध में लगे जिज्ञासुओं के लिए यह ग्रन्थ विशेष उपादेय है । ग्रन्थ के अन्त में सब अव्ययों की **अकारादिक्रम से अनुक्रमणी** भी दे दी गई है, ताकि अव्ययों को ढूंढने में असुविधा न हो। इस ग्रन्थ में अव्ययों के अर्थज्ञान के साथ साथ सुभाषितों वा सूक्तियों का व्यवहारोपयोगी एक बृहत्संग्रह भी अनायास उपलब्ध हो जाता है।

८. वैयाकरण-भूषणसार भैमीभाष्योपेत (धात्वर्थनिर्णयान्त)

वैयाकरण-भूषणसार वैयाकरणनिकाय में लब्धप्रतिष्ठ ग्रन्थ है । व्याकरण के दार्शनिक सिद्धान्तों के ज्ञान के लिए इस का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है । अत एव एम्०ए०, आचार्य, शास्त्री आदि व्याकरण की उच्च परीक्षाओं में यह पाठ्यग्रन्थ के रूप में स्वीकृत किया गया है । परन्तु इस ग्रन्थ पर हिन्दी भाषा में कोई भी सरल व्याख्या आज तक नहीं निकली—हिन्दी तो क्या अन्य भी किसी प्रान्तीय वा विदेशी भाषा में इस का अनुवाद तक उपलब्ध नहीं । विश्वविद्यालयों के छात्र तथा उच्च कक्षाओं में व्याकरण विषय को लेने वाले विद्यार्थी प्राय: सब इस ग्रन्थ से त्रस्त थे । परन्तु अब इस के विस्तृत आलोचनात्मक सरल हिन्दी भाष्य के प्रकाशित हो जाने से उन का भय जाता रहा । छात्रों वा अध्यापकों के लिए यह ग्रन्थ समानरूपेण उपयोगी है । इस ग्रन्थ के गूढ़ आशयों को जगह-जगह वक्तव्यों वा फुटनोटों में भाष्यकार ने भली भाँति व्यक्त किया है । भैमीभाष्यकार व्याकरणक्षेत्र में लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् हैं, तथा वर्षों से व्याकरण के पठनपाठन का अनुभव रखते हैं । अत: छात्रों वा अध्यापकों के मध्य आने वाली प्रत्येक छोटी-से-छोटी समस्या को भी उन्होंने खोलकर रखने में कोई कसर नहीं छोड़ी। जगह जगह वैयाकरणों और मीमांसकों के सिद्धान्त को खोलकर तुलनात्मकरीत्या प्रतिपादित किया गया है । इस भाष्य की महत्ता इसी से व्यक्त है कि अकेली दूसरी कारिका पर ही विद्वान् भाष्यकार ने लगभग साठ पृष्ठों में अपना भाष्य समाप्त किया है । विषय को समझाने के लिए अनेक चार्ट दिये गये हैं । जैसे—वैयाकरणों और नैयायिकों का बोधविषयक चार्ट, धातु की साध्यावस्था और सिद्धावस्था का चार्ट, प्रसज्य और पर्युदास प्रतिषेध का चार्ट आदि। पूर्वपीठिका में भाष्यकार ने व्याकरण के दर्शनशास्त्र का विस्तृत क्रमबद्ध इतिहास देकर मानो सुवर्ण में सुगन्ध का काम किया है । ग्रन्थ के अन्त में अनुसन्धानप्रेमी छात्रों के लिए सात परिशिष्ट तथा आदि में विस्तृत विषयानुक्रमणिका दी गई है जो अनुसन्धान-क्षेत्र में अत्यन्त काम की वस्तु है । वस्तुत: व्याकरण में एक अभाव की पूर्ति भाष्यकार ने की है । इस भाष्य की प्रशंसा देश-विदेश के विद्वानों ने की है । ग्रन्थ का मुद्रण बढ़िया मैप्लीथो कागज पर अत्यन्त शुद्ध वा सुन्दर ढंग से छ: प्रकार के टाइपों में किया गया है । सुन्दर बढ़िया सम्पूर्ण कपड़े की जिल्द तथा पक्की अंग्रेजी सिलाई ने ग्रन्थ को और अधिक चमत्कृत कर दिया है ।

९. न्यास-पर्यालोचन

यह ग्रन्थ काशिका की प्राचीन सर्वप्रथम व्याख्या काशिका-विवरणपञ्चिका अपरनाम न्यास पर लिखा गया बृहत् शोधप्रबन्ध है जिसे दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच्०डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत किया गया है । यह शोधप्रबन्ध शास्त्री जी द्वारा कई वर्षों के निरन्तर अध्ययन स्वरूप बड़े परिश्रम से लिखा गया है । इस में कई प्रचलित धारणाओं का खुल कर विरोध किया गया है । जैसे न्यासकार को अब तक बौद्ध समझा जाता है परन्तु इस में उसे पूर्णतया वैदिक धर्मी सिद्ध किया गया है । यह शोधप्रबन्ध छ: अध्यायों में विभक्त है । प्रथम अध्याय में न्यास और न्यासकार का सामान्य परिचय देते हुए न्यासकार का काल, निवासस्थान, न्यास का वैशिष्ट्य, न्यास की प्रसन्नपदा प्रवाहपूर्णा शैली तथा न्यास और पदमञ्जरी का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । द्वितीय अध्याय में **'न्यास के ऋणी उत्तरवर्ती वैयाकरण'** नामक अत्यन्त शोधपूर्ण नवीन विषय प्रस्तुत किया गया है । इस में केवल पाणिनीय व्याकरणों को ही नहीं लिया गया अपितु पाणिनीयेतर **चान्द्र, जैनेन्द्र, कातन्त्र, शाकटायन, भोजकृत सरस्वतीकण्ठाभरण, हैमशब्दानुशासन, मलयगिरिशब्दानुशासन, संक्षिप्तसार, मुग्धबोध तथा सारस्वत** इन दस प्रमुख व्याकरणों को भी सम्मिलित किया गया है। तृतीयाध्याय में **'उत्तरवर्ती वैयाकरणों द्वारा न्यास का खण्डन'** नामक अपूर्व विषय प्रतिपादित है । इस में उत्तरवर्ती वैयाकरणों द्वारा की गई न्यासकार की आलोचनाओं पर कारणनिर्देशपूर्वक युक्तायुक्तरीत्या खुल कर विचार उपस्थित किये गये हैं । चतुर्थ अध्याय में **'न्यास की सहायता से काशिका का पाठसंशोधन'** नामक महत्त्वपूर्ण विषय का वर्णन है । इस में काशिका ग्रन्थ की अद्यत्वे मान्य सम्पादकों (?) द्वारा हो रही दुर्दशा का विशद प्रतिपादन करते हुए उसके अनेक अशुद्ध पाठों का न्यास के आलोक में सहेतुक शुद्धीकरण प्रस्तुत किया गया है । पञ्चम अध्याय में **न्यासकार की भ्रान्तियों** तथा न्यास के **एक सौ भ्रष्टपाठों** का विस्तृत लेखा-जोखा उपस्थित किया गया है । छठा अध्याय अनेक नवीन बातों से उपबृंहित उपसंहारात्मक है । व्याकरण का यह ग्रन्थ पाणिनीय एवं पाणिनीयेतर व्याकरण के क्षेत्र में अपने ढंग का सर्वप्रथम किया गया अनूठा ज्ञानवर्धक प्रयास है । सुन्दर मैप्लीथो कागज, पक्की अंग्रेजी सिलाई और स्क्रीन प्रिंटिड आकर्षक जिल्द से ग्रन्थ सुशोभित है ।

१०. बालमनोरमा-भ्रान्ति-दिग्दर्शन

भट्टोजिदीक्षित की सिद्धान्तकौमुदी पर श्रीवासुदेवदीक्षित की बनाई हुई बालमनोरमा टीका सुप्रसिद्ध छात्रोपयोगी ग्रन्थ है । पिछली अर्धशताब्दी में इस के कई संस्करण मद्रास, लाहौर, बनारस और दिल्ली आदि महानगरों में अनेक दिग्गज विद्वानों के तत्त्वावधान में प्रकाशित हो चुके हैं । परन्तु शोक से कहना पड़ता है

कि इन स्वनामधन्य विद्वान् सम्पादकों ने इस ग्रन्थ के साथ जरा भी न्याय नहीं किया, इसे पढ़ने तक का भी कष्ट नहीं किया । यही कारण है कि इस में अनेक हास्यास्पद और घिनौनी अशुद्धियां दृष्टिगोचर होती हैं । इस से पठन-पाठन में बहुत विघ्न उपस्थित होता है । इस शोधपूर्ण लघु निबन्ध में बालमनोरमाकार की कुछ सुप्रसिद्ध भ्रान्तियों की सयुक्तिक समीक्षा प्रस्तुत की गई है । आप इस शोध पत्र को पढ़ कर मनोरञ्जन के साथ-साथ प्रक्रियामार्ग में अन्धानुकरण न करने तथा सदैव सजग रहने की भी प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं । इस में स्थान-स्थान पर विद्वानों की प्रमादपूर्ण सम्पादन कला पर भी अनेक चुभती चुटकियाँ ली गई हैं । यह निबन्ध प्रकाशकों, सम्पादकों, अध्यापकों एवं विद्यार्थियों सब की आंखों को खोलने वाला एक समान उपयोगी है । हिन्दी में इस प्रकार का प्रयत्न पहली बार किया गया है ।

११. प्रत्याहारसूत्रों का निर्माता कौन ?

शोधपूर्ण इस निबन्ध में **'अइउण्'** आदि प्रत्याहारसूत्रों के निर्माता के विषय में खूब ऊहापोहपूर्वक विस्तृत विचार व्यक्त किये गये हैं । ये सूत्र पाणिनि की स्वोपज्ञ रचना हैं या किसी अन्य मनीषी की ? इस विषय पर **महाभाष्य, काशिकावृत्ति, भर्तृहरिकृत महाभाष्यदीपिका, कैयटकृत प्रदीप** आदि प्रामाणिक ग्रन्थों के दर्जनों प्रमाणों के आलोक में पहली बार नवीनतम विचार प्रस्तुत किये गये हैं । इन के **शिवसूत्र या माहेश्वरसूत्र** कहलाने का भी क्रमिक इतिहास पूर्णतया दे दिया गया है । ग्रन्थ के परिशिष्ट भाग में **कातन्त्र, चान्द्र, जैनेन्द्र, शाकटायन, सरस्वतीकण्ठाभरण, हेमचन्द्रशब्दानुशासन, मलयगिरिशब्दानुशासन, सारस्वत, मुग्धबोध, संक्षिप्तसार तथा हरिनामामृत**—इन ग्यारह पाणिनीयेतर व्याकरणों के प्रत्याहारसूत्रों को उद्धृत कर उन का पाणिनीयप्रत्याहारसूत्रों के परिप्रेक्ष्य में संक्षिप्त तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है । इस से प्रत्याहारसूत्रों के विषय में गत अढ़ाई हजार वर्षों के मध्य भारतीय व्याकरणविदों के विचार में आये क्रमिक परिवर्तनों पर प्रकाश पड़ता है । **इस के अन्त में बहुचर्चित नन्दिकेश्वरकाशिका ग्रन्थ भी अविकल दे दिया गया है**, जिस से पाठकों को इस विषय का पूरा-पूरा विवरण मिल सके ।